श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-58

श्रीमद्भगवदीताव्याख्या

श्रीकृष्ण-सन्देश

व्याख्याता

श्रीमत्परहंस पब्रिाजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

ॐ

भूमिका

वैदिक सनातन धर्म की आत्मा वेद है। वेदों को आचार्यों ने सामान्यतया त्रिकाण्डात्मक माना है। इनमें कर्मकाण्ड साधकों के लिये प्राथमिक सोपान है। उपासना काण्ड साधकों के चित्त की एकाग्रता का द्वितीय साधन है। ज्ञानकाण्ड मानव ही नहीं प्राणिमात्र का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष, ब्रह्मप्राप्ति का साधन माना गया।

वेदों के इन तीनों काण्डों का अनुशीलन साधारण जन के लिये अत्यन्त कठिन है। इसी बात को ध्यान में रखकर महर्षि वेदव्यास ने महाभारत की रचना की। शतसाहस्त्री महाभारत के मध्य भाग में श्रीमद्भगवद्गीता का गुम्फन भगवान् वेदव्यास ने किया। 'व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम् ' कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता को स्वयं भगवान् ने अर्जुन को उपदेश के रूप में दिया। यह भी अठारह अध्यायों में विभक्त है। इन अठारह अध्यायों को विषयानुक्रम से तीन विभाग में किया जाये तो यह भी त्रिकाण्डात्मक ही निकलती है। विद्वानों ने इसे इसी प्रकार विभाजित किया।

एक से लेकर छः अध्याय तक को किसी न किसी प्रकार कर्मकाण्डात्मक माना गया है। यद्यपि वेदों के कर्मकाण्ड कुछ भिन्न प्रकार का है, कामना के अनुरूप अनेक कर्म वेदों में वर्णित हैं, तथापि गीता में समग्र वैदिक कर्मों के अनुष्ठान को मनुष्य के चित्त-शुद्धि का साधन वह भी ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठीयमान होने पर माना गया है। इसी को भगवान् ने कहा- “यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" , "मुक्तसङ्गः समाचर”। कर्म बन्धन का कारण है यदि वह यज्ञ के लिये आचरित न हो तो। वह वेद-निर्दिष्ट कर्म यज्ञार्थ है तो चित्त-शुद्धि द्वारा मोक्ष में, साक्षात् तो नहीं परम्परया मोक्ष-सिद्धि में कारण है। इन सब बातों की विशद व्याख्या भगवान् ने एक से लेकर छठे अध्याय तक की है। सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक भगवान् ने वैदिक उपासना को स्मार्त भक्ति का नाम देकर निर्वचन किया है। तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक मोक्ष-प्रयोजक ज्ञान का ही ससाधन निरूपण भगवान् ने किया।

भारत वर्ष में जितने भी आचार्य हुए सब ने गीता पर अपना भाष्य अपने-अपने ढंग से किया, पर भगवान् आचार्य शंकर भगवत्पाद के भाष्यों को सारे संसार के मनीषियों ने वास्तविक भाष्य के रूप में मान्यता प्रदान की है। यही कारण रहा भगवान् शंकराचार्य को जगद्गुरु की उपाधि मिली। बाद में अन्य आचार्यों ने भी अपने नाम के पीछे जगद्गुरु शब्द जोड दिया। विचारकों के हृदय का (ज्ञान-) कमल तो भगवान् आचार्य शंकर के भाष्य से ही खिलता है। बारह सौ से भी ज्यादा वर्षों से आचार्य मधुसूदन सरस्वती, श्री शंकरानन्द सरस्वती, स्वामी आनन्द गिरि आदि महान् तत्त्ववेत्ताओं ने भी अपने जीवन का अधिकांश समय भगवान् आचार्य शंकर के भाष्य में ही लगाया ऐसा उनके ग्रन्थों के अध्येताओं को अज्ञात नहीं है।

गत शताब्दि के आधे से लेकर वर्तमान शताब्दि के आठ वर्ष तक मानों अद्वैत वेदान्तनिष्ठा एवं भगवान् आचार्य शंकर के सिद्धान्तों को स्वयं में आत्मसात् करते हुए शिष्यों एवं भक्तों को एक अद्वितीय दक्षता के साथ प्रभावित एवं ब्रह्मनिष्ठा से आप्लावित करने में श्री दक्षिणामूर्ति पीठ के एवं श्री निरञ्जन पीठ के अधीश्वर **आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री विभूषित स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज** का योगदान भी विद्वत् जगत् शताब्दियों तक कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करता रहेगा। क्या प्रवचन का क्षेत्र, क्या प्रकाशन का क्षेत्र, क्या भक्तों को सन्मार्ग में लगाने का कार्य, क्या आश्रम व्यवस्था की दूरदृष्टि; ये सब गुण अद्वितीय रूप से महाराज श्री में उपलक्षित होते थे। नियमित अद्वैत वेदान्त का उपदेश तो आप ने ब्रह्मलीन होने से सात दिन पूर्व तक लगातार अक्षुण्ण रखा।

सम्भवतः हम शिष्यों को "स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदितव्यम्" का उपदेश अपने आचरण से ही दे गये। वे स्वयं आज स्थूल शरीर से विद्यमान न होने पर भी उनका **"श्री कृष्ण सन्देश"** आज हम लोगों के सामने उपस्थित है। यह सन् २००४ से २००६ तक के प्रवचनों का संकलन है जो पुस्तक के रूप में आप सब के हाथों में आ रहा है। इस को मूर्त रूप प्रदान करने में अन्तरात्मा से प्रयत्नशील श्री स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि जी महाराज सद्ग्रन्थ अध्ययन एवं सम्पादन में संलग्न हमारे गुरुभ्राता हैं जिन से हम गम्भीर दार्शनिक विषयों के चिन्तन की और भी आशायें रखते हैं। आप को देखकर हमें महाकवि कालिदास की यह उक्ति याद आती है कि -

"यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्यकृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥"

अर्थात् एक ओर पूर्ण चन्द्र अस्ताचल को गया तो दूसरी ओर सूर्य स्वयं प्रकाशित होकर उदीयमान हो रहा है। यह भी हमारी वैदिक परम्परा को भगवान् भाष्यकार का अनुग्रह मानना चाहिये। इनसे आगे भी अनेक ग्रन्थरत्न भारतीय वाङ्मय को मिलेङ्गे यही विश्वास है। साथ में श्री कृष्ण सन्देश को मुद्रण योग्य बनाने में श्री स्वामी महानन्द गिरि जी, श्री स्वामी अद्वैतानन्द जी, श्री महेश पचोरी, श्रीमती बीना पचोरी, श्रीमती सुधा कपूर एवं श्री आशीष मेहरा का काफी बड़ा योगदान रहा है परम श्रद्धेय प्रातः स्मरणीय महाराज श्री के परोक्ष अनुग्रह के वे पात्र हैं। ग्रन्थ-प्रकाशन के व्ययभार के वहन में दिवंगत श्रीमती कृष्णा बैजल जी, श्री नचिकेता ओझा एवं श्री माधव ओझा ने सम्पूर्ण योगदान दिया है जो उनकी ओर से सम्पादित गीतोक्त (१८-६८) परा भक्ति उनके कल्याण का हेतु बनेगी। आगे भी इसी प्रकार महाराज श्री के आत्यन्तिक अनुग्रह की अनुभूति इन्हें हो, इसी शुभ कामना के साथ,

नव सम्वत्सर २०६६,
श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम,
दिल्ली-५४

स्वामी पुण्यानन्द गिरि
आचार्य महामण्डलेश्वर
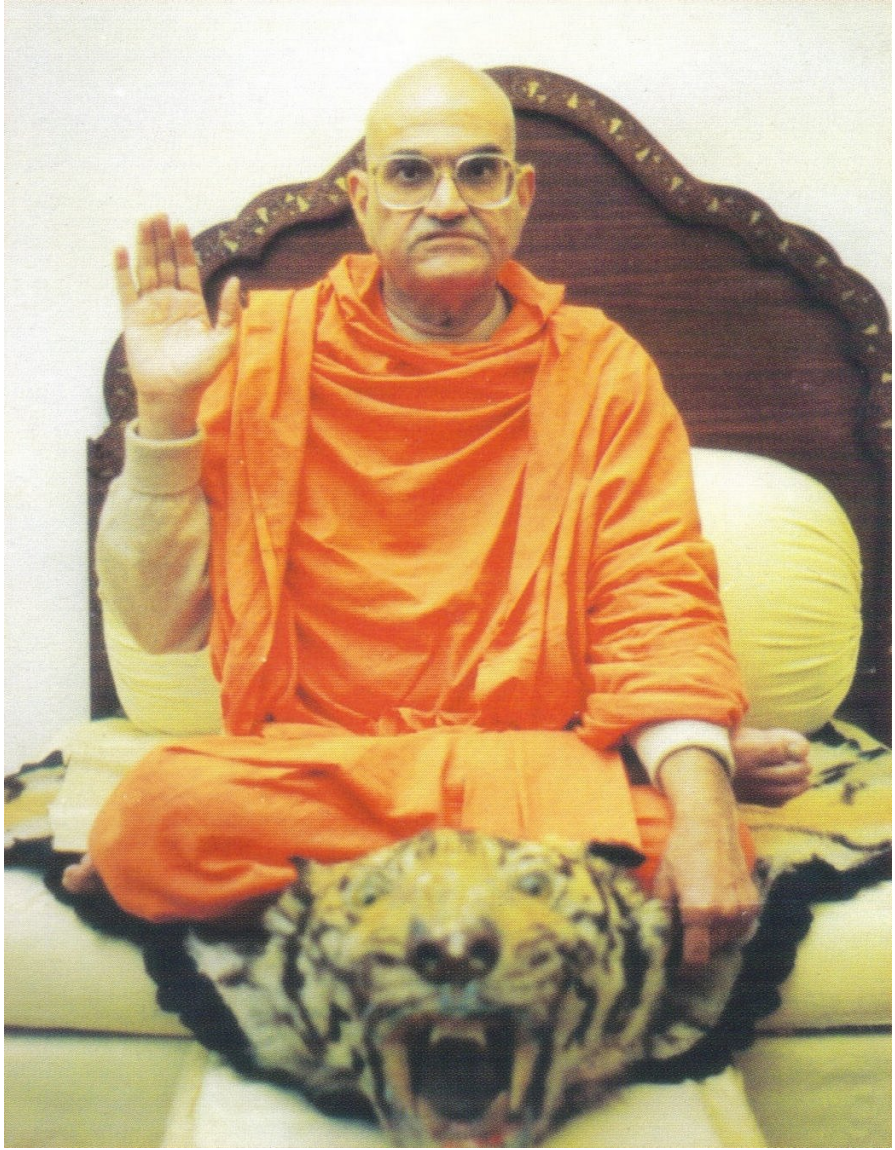
अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

अनुक्रमणिका

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

श्रीमद्भगवद्-गीता

प्रथम अध्याय : अर्जुनविषादयोग

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम श्रीमद्भगवद्गीता है। श्री अर्थात् श्रेय या कल्याण। भगवत् अर्थात् सारे ऐश्वर्यों से सम्पन्न परमेश्वर। यहाँ अर्जुन का प्रश्न और भगवान् का समाधान श्रेय के विषय में है। अतः इस श्रेयःपथ के बारे में सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न भगवान् ने जो गाया है वह गीता है। भगवान् के ऐश्वर्य को बताते हुए कहा है कि वे ज्ञान को भी जानते हैं और संसार के स्वरूप को भी जानते हैं।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना।।'

उनको संसार के बारे में सब कुछ पता है। श्रेय का उन्हें जो ज्ञान है उसे ही इस ग्रन्थ में उन्होंने भली प्रकार गाया है। इसलिये इसे केवल भगवद्गीता न कहकर श्रीमद्भगवद्-गीता कहा अर्थात् यह श्रीमत् भी और भगवद् की भी है। गाता आदमी तब है जब उसके मन में अत्यधिक आनन्द का प्रवाह होता है या अत्यधिक प्रसन्नता होती है। ऐसे साधक मिलना बहुत कठिन है जो वैराग्य से पूर्ण होकर प्रश्न करें कि कल्याण का क्या मार्ग है। ऐसा साधक मिले तो अत्यंत प्रसन्नता होती है। जिस समय मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है कि 'आप सबसे बड़े धन को तो साथ में ले जा रहे हैं और इस क्षुद्र धन, मकान आदि सम्पत्ति को दिखाकर कह रहे हैं कि तू ले लेयह मुझे स्वीकार नहीं है। अतः जिस धन को लेकर आप जा रहे हैं, मुझे वह धन दीजिये।' तब याज्ञवल्क्य जवाब देते हैं 'मैत्रेयी! तू मुझे पहले भी प्रिय तो थी ही क्योंकि पत्नी है, परन्तु आज उस धन को लेकर मेरी अर्द्धांगिनी न होकर मेरे स्वरूप में लीन हो जायेगी अर्थात् मेरे से सर्वथा अलग नहीं रहेगी। अतः मेरे प्रति तेरा प्रेम पूर्ण है।' परमेश्वर को प्रिय तो सभी हैं, परन्तु जब कोई भगवत्स्वरूप के विषय में जानना चाहता है तब वह परमेश्वर को अत्यधिक प्रिय होता है क्योंकि भगवान् ने खुद ही कहा है कि जो दुःख से छूटने के लिये मेरे पास आता है, जो कुछ जानने के लिये मेरे पास आता है, जो किसी चीज़ के लिये मेरे पास आता है, वे सब मुझे प्रिय हैं, 'उदाराः सर्व एवैते', परन्तु जो मेरे स्वरूप से एक होता है, वह तो मेरा आत्मा अर्थात् प्रियतम है। जब कोई इस प्रकार परमात्मा से एकता चाहता है तब परमात्मा को

अपने प्रियतम को देखकर अत्यंत आह्लाद होता है। उस आह्लाद से प्रेरित हो वह अपने स्वरूप को गाकर प्रकट करता है। इसलिये इस ग्रन्थ को भगवद्गीता कहा। इसके पहले अध्याय का पहला श्लोक है

धृतराष्ट्र उवाच
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।१।।

धृतराष्ट्र ने पूछाहे संजय! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा वाले मेरे पक्ष वालों ने और पाण्डवों ने क्या किया?

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से कौन-कौन समवेत हुए? यह खुद ही धृतराष्ट्र बताता है'मामकाः' मेरे लोग। वैसे तो एक तरफ उसके भतीजे हैं और एक तरफ बेटा है, इसलिये दोनों ही 'मेरे' हैं, परन्तु धृतराष्ट्र के मन में भेद-बुद्धि है इसलिये केवल यह नहीं कह रहा है कि 'मेरे लोग इकट्ठे हुए' बल्कि 'मामकाः पाण्डवाश्चैव'मेरे लोग और पाण्डव, अर्थात् पाण्डवों को भेद-बुद्धि से अलग कर कह रहा है। सबसे पहले धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र कहा। इसका तात्पर्य बताते हुए महाभारत में परमात्मा को कुरु नाम से कहा है। 'आत्मा हि शुद्धः परमेश्वराख्यः स एव कर्त्ता परमस्वतंत्रः' आत्मा सब दोषों से रहित है, सर्वथा शुद्ध है। वह शुद्ध आत्मा ही परमेश्वर नाम से कहा जाता है जो अपनी मायाशक्ति के द्वारा सब कुछ करता है, सृष्टि स्थिति लय करने वाला वही है। यह सृष्टि स्थिति लय चाहे महासृष्टि महालय मानकर समझ लो, चाहे यह मान कर समझ लो कि प्रत्येक चीज़ कुछ समय के लिये उत्पन्न होती है, कुछ समय रहती है और अंत में नष्ट हो जाती है। जो भी चीज़ है उसके ये तीन ही रूप हैं और तीनों को करने वाला अर्थात् सृष्टि स्थिति लय करने वाला परमेश्वर ही है। अतः जो कुछ भी किया जाता है, करने वाला वही है। सृष्टि स्थिति लय से परे जो शुद्ध आत्मा है उसी को कुरु कहा जाता है, क्योंकि 'स एव कर्त्ता परमस्वतंत्रः' वही सब कुछ करने वाला परमस्वतंत्र है। कुरु परमात्मा है। यह सारा मायिक संसार उसका क्षेत्र है। आगे भगवान् कहेंगे कि यह सारा जो किया गया है यह क्षेत्र है और मैं इसका क्षेत्रज्ञ हूँ। इसलिये कुरुक्षेत्र शुद्ध आत्मा का क्षेत्ररूप है। इस गीता शास्त्र के अन्दर उसी शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन है। धर्म के अवतार होने के कारण धर्मराज युधिष्ठिर को धर्म शब्द से कहा, भगवान् ने खुद भी कहा है 'मम प्राणा हि पाण्डवाः', पाण्डव मेरे प्राण हैं। धर्मराज क्षेत्र है और इसके क्षेत्रज्ञ स्वयं भगवान् हैं। धर्म जिसका क्षेत्र है वह परमेश्वर है। जिसमें खेती की जाये, जिसमें तुम सस्य को काटो, वह क्षेत्र है। यह जो धर्म का क्षेत्र है, इसके अन्दर हम यज्ञ, दान, तप आदि की खेती करते हैं और उसके फलों को ग्रहण करते हैं। खेती करना और सस्य का मिलना भगवती पृथ्वी, भगवान् सूर्य और भगवान् जल के ही अधीन है। कहते जरूर हैं कि 'हमने बड़ी मेहनत की तो खूब

खेती हुई', परन्तु बरसात नहीं बरसे तो चाहे जितनी मेहनत कर लो, कुछ नहीं होगा। यदि सूर्य समय पर ताप न दे तो भी खेती ठीक नहीं होगी। करने वाले तो पृथ्वी, जल, सूर्य हैं, परन्तु फल हमें मिलता है। ठीक इसी प्रकार हम जो कर्म करते हैं इसके अन्दर पंचमहाभूतों से बने हुए अंतःकरण, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब कारण बनते हैं। परन्तु चूँकि हमारा अभिमान यह है कि 'इनके द्वारा मैं करता हूँ' अतः इसका फल भी हम ही भोगते हैं। धर्मराज क्षेत्र है, इसके द्वारा प्रवृत्ति मार्ग को बता दिया। परमात्मा-रूप क्षेत्र कुरुक्षेत्र से कहा और धर्मरूप क्षेत्र को धर्मक्षेत्र से कहा। तात्पर्य है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही इसमें बताये गये हैं।

कौन-सा प्रवृत्ति धर्म और कौन-सा निवृत्ति धर्म है? भगवान् ने कामना से किये हुए कर्म की निन्दा ही की है। 'कामना से प्रयुक्त कर्म ही सब कुछ है' ऐसा मानने वालों को भगवान् ने 'अविपश्चित्' (२.४२) कहा है। जिस प्रवृत्ति मार्ग को भगवान् ने यहाँ बताया है वह धर्म है। जिसे याज्ञवल्क्य ने कहा है 'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्,' ईश्वरार्पण-बुद्धि से किया हुआ जो कर्म है, जिसके द्वारा आत्मदर्शन होता है, उसका ही यहाँ प्रतिपादन है। वेदों में कहा है 'ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' यज्ञादि सब कर्मों का विनियोग वेद विविदिषा के लिये करता है। विविदिषु के लिये प्रयुक्त प्रवृत्ति और साक्षात् ज्ञान का साधन श्रवण आदि, इन दोनों धर्मों का प्रतिपादन गीता में है।

भगवान् भाष्यकार ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्दर पहले ही प्रतिपादन करते हैं कि यह संसार अध्यास से हुआ है। बहुत-से लोग कह देते हैं कि यह उत्-शास्त्र है अर्थात् शास्त्र के अन्दर यह बात नहीं कही गई है। वे मानते हैं कि आचार्य शंकर इसे अपनी तरफ से कहते हैं। परन्तु यह अविचारित रमणीय है, जो लोग विचार नहीं करते उनकी समझ में ही ऐसा है। समझदार जानता है कि 'ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये यत्न कर्त्तव्य है, ब्रह्मज्ञान सफल है, यह तभी सिद्ध होगा जब बन्धन अज्ञान से हो। बन्धन अज्ञान से हैजब तक यह बात न बताई जाये तब तक ब्रह्मजिज्ञासा-सूत्र व्यर्थ हो जाता है। अतः इस सूत्र की संगतता बताने के लिये ही भगवान् भाष्यकार ने जगत् के मिथ्या स्वरूप का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का प्रतिपादन धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र से किया। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का किस प्रकार प्रवर्तन आदि हुआ, यह बताने के लिये भाष्यकार ने गीता का उपोद्धातभाष्य रचा। सृष्टि के प्रारंभ में परमेश्वर ने इस सारे जगत् की सृष्टि की। मूर्ख लोग चीज़ को तो बना देते हैं, लेकिन आगे उसका क्या होगा?इसका विचार नहीं करते। अगर हम मकान बनाते हैं तो वह मकान ठीक तरह से रक्षित रहे, उसका उपयोग आगे होता रहे, इस सबकी व्यवस्था करना हमारा काम होता है। ऐसा नहीं कि 'आगे जो होना होगा, होगा, हमसे मतलब नहीं।' भगवान् ने सृष्टि करके सोचा कि यह ठीक रहे, इसलिये उन्होंने मरीचि आदि प्रजापतियों की सृष्टि की और उनको वेद में कहे हुए प्रवृत्ति मार्ग को बताया। ये लोग इस सृष्टि का ठीक-ठीक संचालन

करेंगे ऐसा समझकर उन्होंने यह प्रवृत्ति धर्म उन्हें दे दिया जिससे जगत् की सृष्टि चलती रहे।

धर्म का अंतिम प्रयोजन क्या है? स्थिति बनी रहे यह तो है ही, लेकिन स्थिति बनी रहे इससे प्रयोजन क्या सिद्ध होगा? प्रयोजन तो इस सृष्टि का केवल मोक्ष ही है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है 'जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्म' हमारा जन्म इसलिये होता है कि हम जीवन्मुक्ति के सुख को प्राप्त करें। क्षुद्र भोगों की प्राप्ति तो पशु पक्षी शरीरों में भी होती है। इसके लिये बुद्धि वाले मनुष्य की कोई जरूरत नहीं है। भोग भोगना तो मन, इन्द्रिय से ही हो जाता है। उसमें उचित-अनुचित समझने वाली बुद्धि की जरूरत नहीं है। मनुष्य के अन्दर जो यह उचित-अनुचित की बुद्धि है वह इसलिये कि जीवन्मुक्ति के सुख को प्राप्त करे। अतः उस मार्ग का प्रवर्तन करने के लिये उन्होंने सनकादि को उत्पन्न किया और उनको निवृत्ति धर्म का उपदेश दिया। निवृत्तिलक्षण धर्म क्या है? 'ज्ञानवैराग्यलक्षणम्' जिसमें परमात्मा का ज्ञान हो और संसार के प्रति वैराग्य हो। यह निवृत्ति का स्वरूप है। यह सारा संसार ठीक-ठीक चलता रहे इसके लिये उन्होंने मरीचि आदि को प्रवृत्ति धर्म का उपदेश दिया जिसे यहाँ 'धर्मक्षेत्र' से कहा। सनकादि को उत्पन्न करके उन्होंने ज्ञान वैराग्य का उपदेश दिया, निवृत्तिलक्षण धर्म का उपदेश दिया, जिसे यहाँ 'कुरुक्षेत्र' से कहा। सनक सनंदन को उन्होंने क्यों चुना? क्योंकि इन्हें नित्यकुमार कहा है। 'कुत्सितः मारः येन स कुमारः' जिसने कामदेव को जीत लिया है, उसको कुत्सित कर दिया है, वही कुमार है। चूँकि सनकादियों ने पहले ही कामनाओं को नष्ट कर दिया था इसलिये वे इस उपदेश को पाने के योग्य थे। अतः उनके द्वारा निवृत्ति मार्ग का प्रवर्तन किया। केवल दो प्रकार के ही धर्म सारे शास्त्रों में प्रतिपादित हैंप्रवृत्ति और निवृत्ति। जगत् की स्थिति का कारण जो प्रवृत्ति धर्म है वही प्राणियों के अभ्युदय का कारण है। उसी धर्म का ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करने पर वह मोक्ष का कारण हो जाता है। वह धर्म ब्राह्मण आदि, गृहस्थ आदि जो वर्ण और आश्रम वाले हैं, उनके द्वारा अनुष्ठित होकर ही कल्याण का साधन होता है।

भगवान् ने उपदेश दे दिया, दीर्घ काल तक धर्म चलता भी रहा। सनकादि तो कामशून्य थे परन्तु अधिकतर लोग कामना वाले ही होते हैं। इसलिये अधिकतर ब्राह्मणादि वर्णाश्रमी विज्ञान के लिये हेतु बनने वाले निष्काम कर्मों को छोड़कर कामनापूर्ति के कर्मों मे ही प्रवृत्त होते हैं। विवेक की कमी के कारण उचित-अनुचित को अलग-अलग न कर अधर्म को ही ठीक मान लेते हैं अतः अधर्म ही बढ़ता जाता है। यह समझने के लिये अनुमान की जरूरत नहीं है, आजकल के युग में सर्वत्र देख ही रहे हो। विवेक विज्ञान न होने के कारण ही हम अधर्म को आवश्यक मानते हैं और कहते हैं कि अधर्म के बिना काम नहीं चल सकता। ऐसा ही अधिकतर लोगों के मन में बैठा हुआ है। इस तरह से अधर्म के द्वारा धर्म दब जाता है और चारों तरफ अधर्म ही देखने में आता है।

परमेश्वर ने इस सृष्टि की रचना मोक्ष के प्रयोजन के लिये की थी और प्राणियों के कल्याण के लिये की थी। यह अधर्म के द्वारा नष्ट ही होती जायेगी तो इसको कैसे बचाया जाये? इसके अन्दर रह कर ही इसको बचाया जा सकता है, इससे दूर रहकर नहीं बचाया जा सकता। इसमें भी प्रधान रूप से किसको बचाना है? सनातन धर्म में ब्राह्मण ही धर्म का रक्षक है। इसलिये इस ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिये देवकी के पेट और वसुदेव के वीर्य से भगवान् प्रकट हुए। सारे वर्णाश्रम भेदों को ब्राह्मण ही बताता है कि कैसे क्या करना है, क्या नहीं करना है, क्या जानना है, क्या नहीं जानना है इत्यादि। इसलिये उसकी रक्षा करने से ही वैदिक धर्म की रक्षा हो सकती है। मनुष्य शरीर में आने पर भी भगवान् के ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, वीर्य, तेज वैसे ही रहते हैं। जिस प्रकार से माया के द्वारा ईश्वर सृष्टि करते हुए भी माया के अधीन नहीं होते इसी प्रकार जब वे मनुष्य शरीर में आकर अज्ञान और उसके कार्य से सब कुछ करते हैं उस समय में भी उनका कार्य अज्ञान शरीर आदि के अधीन नहीं होता। उनकी जो माया शक्ति है उसके द्वारा वे शरीर वाले दीखते हुए भी, लोगों का उपकार करते हुए दीखते हुए भी, अपने नित्य शुद्ध स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। जो शुद्धात्मभाव में स्थिर है वह अविद्या और तत्कार्य के द्वारा व्यवहार करते हुए दीखने पर भी उससे कभी भी प्रभावित नहीं होता। साथ ही, उसका कोई स्वप्रयोजन नहीं होता। परमेश्वर का कोई प्रयोजन नहीं होता, यह भगवान् ने आगे स्वयं कहा 'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि' मुझे कुछ प्राप्त करना नहीं है और न कुछ भी है जो मेरे लिये प्राप्त करने के योग्य है। क्योंकि सारे मायिक संसार में जो कुछ है वह जल में बुलबुले की तरह है अतः संसार में न कुछ प्राप्त करने के योग्य है और न इसके लिये कोई काम उचित हो सकता है। जो भी आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित है उसके लिये कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है।

भगवान् ने प्राणियों के ऊपर केवल करुणामात्र से ही, प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों का तथा परमात्मज्ञानका, शोक-मोह में डूबे हुए अर्जुन को निमित्त बनाकर, उपदेश दिया। अर्जुन 'सम्भावित' पुरुष, सारे संसार में प्रतिष्ठित पुरुष था। राजसूय के समय उसने सारे देशों से धन लाकर यज्ञ सम्पन्न कराया था। वह केवल धनंजय ही नहीं था वरन् संयत भी था। इन्द्र ने एक बार उसके पास उर्वशी को भेजा था, उसने अर्जुन से कहा था कि 'मुझे इन्द्र ने आपकी सेवा के लिये कहा है।' तब अर्जुन ने कहा 'तू मेरी माँ है, देवयोनि में है। अतः तू मेरी भार्या कैसे हो सकती है?' उर्वशी ने सारा उपदेश दिया कि देवताओं में ये नियम नहीं हैं, ये सब मनुष्यों के नियम हैं, परन्तु अर्जुन तो सर्वथा अविचलित ही रहा। इसलिये अर्जुन केवल धनंजय नहीं, कामजयी भी था। चूँकि वह धनंजय और कामजयी था इसलिये उसे सब लोग अत्यंत प्रतिष्ठित समझते थे। अतः उसे निमित्त बनाने का भाव है कि जब अर्जुन इस उपदेश को ग्रहण करके तदनुकूल आचारण करेगा तो चूँकि वह श्रेष्ठ है अतः उसे देखकर दूसरे भी वैसा आचरण करेंगे। भगवान् ने खुद ही गीता में कहा कि जो-जो काम श्रेष्ठ पुरुष करते हैं वही काम दूसरे भी उसे देखकर करते हैं। अतः

भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया। अर्जुन समझे हुए धर्म का आचरण करेगा तभी लोग उसे देखेंगे। जो मरीचि आदि को उपदेश दिया, वही उपदेश सनकादि को दिया, वह का वह उपदेश अर्जुन को दिया और वही सभी को उपलब्ध है।

इसके लिये भगवान् ने वेदव्यास को प्रेरणा दी। जैसा उस धर्म को भगवान् ने बताया था वैसा ही व्यास जी ने सात सौ श्लोकों के द्वारा प्रकट किया। भगवान् भाष्यकार ने श्लोकों की संख्या सात सौ गिना दी है। कुछ संस्करणों में जो सात सौ से अधिक श्लोक मिलते हैं वे अप्रामाणिक हैं क्योंकि भाष्यकार ने गिनकर बता दिया। आचार्य शंकर ने हमारे ऊपर कृपा करके बता दिया कि ये सात सौ श्लोक ही व्यास जी ने इसका प्रतिपादन करने के लिये बनाये हैं। यह शास्त्र प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों धर्मों को बताता है। गीता शास्त्र में वेद का सार इकट्ठा किया गया है।

इस गीता पर अनेक लोगों ने टीकायें लिखी हैं, प्राचीन काल में भी और वर्तमान काल में भी। परन्तु प्रायः वे भिन्न-भिन्न और अत्यंत विरुद्ध अर्थ करते हैं, आगे-पीछे का विचार नहीं करते। गीता शास्त्र के अन्दर संक्षेप से यही बताया है कि गीता का प्रयोजन परम निःश्रेयस, मोक्ष ही है जिसके कारण स्वतः संसार की निवृत्ति हो जाती है, ऐसी निवृत्ति होती है कि फिर कभी भी संसार का बन्धन नहीं होता। यह फल सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक आत्मज्ञाननिष्ठा के द्वारा सम्पन्न किया हुआ धर्म ही कर सकता है। भगवान् ने अन्यत्र खुद ही कहा है कि जो धर्म मैंने गीता में बताया है उतना ही पर्याप्त है, और कुछ ढूँढने की जरूरत नहीं है। परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये यही पर्याप्त है जो मैंने इसमें कह दिया। स्वर्गादि जाने की अनेक साधनायें वेद में कही हैं, उनका सारसंग्रह यहाँ नहीं है। और यही उपदेश अंत में अर्जुन को देंगे 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। इस प्रकार से भगवान् ने स्पष्ट किया है कि स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति करने के लिये जो वर्णाश्रम धर्म हैं उनको ईश्वरार्पण-बुद्धि से करने से, फल की इच्छा को छोड़कर करने से, बुद्धि शुद्ध होकर आत्मज्ञान की योग्यता आ जाती है और ऐसी योग्यता आने पर ही निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान् ने जगह-जगह पर कहा'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः' 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये' (५.१०,११) अर्थात् बुद्धि की शुद्धि के लिये सारे कर्म करने चाहिये। इस प्रकार धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र से सारे पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

गीता में प्रश्नोत्तर शैली को क्यों लिया है? अपनी प्राचीन परम्परा है कि जहाँ-कहीं ब्रह्मविद्या का प्रसंग आता है वहाँ इसका उपदेश कथनोपकथन के द्वारा, गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर के द्वारा किया गया है। चाहे याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद हो, चाहे श्वेतकेतु-उद्दालक का, चाहे नारद-सनत्कुमार का संवाद हो, चाहे इन्द्र-ब्रह्मा का संवाद हो, सर्वत्र इसी प्रकार गुरु-शिष्य के संवाद हैं। पिप्पलाद के पास शिष्य जाते हैं, वहाँ भी प्रश्नोत्तर हैं। नचिकेता यम के पास जाता है, वहाँ भी प्रश्नोत्तर हैं। इस प्रकार से हर जगह प्रश्नोत्तर के रूप में

वर्णन है। अतः यहाँ पर भी प्रश्नोत्तर रूप से उपदेश उचित है। इस शैली में बतायी विषयवस्तु सरलता से समझ में आ जाती है। आजकल भी हर परीक्षा के लिये प्रश्नोत्तर रूप से ही किताबों का संक्षेप करते हैं।

जिसको उपदेश किया जाता है उसे जानना चाहने वाला होना चाहिये। दो प्रकार के लोग होते हैंएक वे हैं जो जिस चीज़ को जानते हैं उसमें निश्चय वाले हैं। कुछ लोग संसार को जैसा है वैसा ही सच्चा मानते हैं। उनको लाख समझाने की कोशिश करो, परन्तु उनको संसार जैसा है वैसा ही सच्चा लगता है। वर्तमान में बहुत-से लोग कहते हैं कि मरने के बाद किसने देखा है! अर्थात् हमने परलोक देखा नहीं तो कैसे मान लें? ऐसे आग्रहियों को उपदेश देना व्यर्थ है। दूसरे वे हैं जिन्होंने तत्त्व-निष्ठा प्राप्त कर ली, वे भी निश्चय वाले हैं। अज्ञानी निश्चय वाला है कि जो कुछ है वह संसार ही है। ज्ञानी भी निश्चय वाला है कि ब्रह्म ही सब कुछ है। दोनों को उपदेश देना व्यर्थ है। निश्चय वाले को उपदेश देने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिये। इनसे विलक्षण जो जिज्ञासु है अर्थात् जानना चाहता है, निश्चय वाला नहीं है इसलिये वह समझना चाहता है, उसी को उपदेश दिया जा सकता है। अतः अर्जुन प्रश्न के द्वारा जब अपने जिज्ञासा-भाव को प्रकट करता है तब भगवान् ने उपदेश दिया है।

यहाँ 'समवेताः' कहा है अर्थात् ये सब लोग इकट्ठे हुए थे। परन्तु समवेत शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिये। समवेत का अर्थ होता है प्रविष्ट होकर एक हो जाना। इसका प्रसिद्ध प्रयोग एक विशेष संबंध के लिये होता है। जाति-व्यक्ति, गुण-द्रव्य आदि का जो आपसी सम्बंध उसे समवाय सम्बंध कहते हैं। जो एक-दूसरे से एक हुए हैं, उन्हें अलग-अलग नहीं दिखा सकते, उनका परस्पर समवाय सम्बन्ध होता है। जैसे ब्राह्मणत्व को ब्राह्मण से अलग करके नहीं दिखा सकते, इसी प्रकार गुण और द्रव्य को अलग कर नहीं दिखा सकते। अतः इनका आपसी संबंध समवाय है। अतः ध्वनित है कि युद्ध भूमि के अन्दर, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में प्रवेश करके ये एक हो गये हैं अर्थात् दोनों युद्ध की इच्छा वाले हैं।

यद्यपि युद्ध की इच्छा वाले दोनों ही हैं, तथापि 'मामकाः' जो मेरे हैं, वे जैसे मैं अन्धा हूँ ऐसे ही बुद्धि के अन्धे ही हैं। अतः यह जानने पर भी कि थोड़े दिन पहले अकेले अर्जुन ने विराट् नगर में भीष्म द्रोण आदि सबको हरा दिया था, उससे लड़ने को तैयार हुए हैं। विराट् नगर के युद्ध में अर्जुन ने हराया भी ऐसा था कि उनके कपड़े भी ले आया था! किसी के कपड़े उतार लो और वह कुछ न कर सके, इससे बड़ा अपमान और क्या हो सकता है? परन्तु ये ऐसे अन्धे हैं कि मरने की तैयारी करके युद्ध की इच्छा वाले हैं। 'किम् अकुर्वत' क्या उन्होंने सचमुच में युद्ध किया या कृष्ण, अर्जुन इत्यादि फौज को देखकर समझ गये कि युद्ध नहीं करना ठीक है, और निपटारा कर लिया? दूसरी ओर, पाण्डुपुत्र शुद्ध बुद्धि वाले हैं, इन्हीं के मन में आ सकता है कि 'इस प्रकार सारा कुलक्षय करके क्या

होगा! जाने दो', अतः लड़ाई-झगड़ा छोड़कर जैसे पहले झूठे जुए के द्वारा हार कर चले गये थे वैसे ही वहाँ से चले गये हों। क्या उन्होंने बुद्धि में ऐसी शुद्धि आने पर युद्ध छोड़ दिया, या सचमुच लड़ाई हो ही गई? यह प्रश्न है। यह याद रखना कि यह गीता युद्ध छिड़ने के दस दिन बाद संजय ने सुनाई है। जब वह दस दिन बाद आया तब उसने पहले बताया 'हतो भीष्मः' सबके दादाजी भीष्म आज के दिन मारे गये। वह दसवाँ दिन था जब भीष्म मारे गये थे। तब धृतराष्ट्र ने विस्तार से जानने के लिये प्रश्न किया। अतः 'किमकुर्वत' का केवल यह अर्थ नहीं कि क्या युद्ध हुआ? वरन् विस्तार और क्रम के बारे में प्रश्न है। 'किम्' आक्षेप में भी समझना कि कौरवों व पाण्डवों ने यह क्या कियाअर्थात् निंदनीय कार्य किया।

राष्ट्र को जिसने कब्जे में कर लिया हो वही धृतराष्ट्र है। महाभारत में यह स्पष्ट है कि अन्धे होने के कारण धृतराष्ट्र को गद्दी नहीं मिली, पाण्डु राजा हुए। जब पाण्डु का शरीर चला गया तब पाण्डु के पुत्र अभी छोटे थे। नियम यही है कि राजा के बाद उसका लड़का ही राजा होता है। किंतु पुत्र यदि अधिक छोटा हो तो ऐसी परिस्थिति में वर्तमान काल में भी 'रीजेण्ट' या प्रतिशासक नियुक्त किया जाता है कि जब तक लड़का बड़ा न हो जाये तब तक के लिये यह राज्य चलायेगा। इसी प्रकार जब तक युधिष्ठिर बड़ा न हो जाये तब तक के लिये धृतराष्ट्र को राज्य दिया गया था, परन्तु वह उसको कब्जे करके बैठ गया और आगे के लिये भी चाहता था कि मेरे बड़े लड़के दुर्योधन को राज्य मिले। इसलिये धर्मराज को राज्य देने के बजाय वह खुद ही राज्य चलाता रहा। प्रकृति का राजा परमात्मा है, उसी ने प्रकृति का निर्माण किया है। शरीर आदि प्रकृति के कार्य हैं। अहंकार से लेकर स्थूल शरीर पर्यन्त मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सारे पांचभौतिक हैं। भूत-भौतिक जगत् का निमित्त व उपादान कारण एकमात्र परमेश्वर है। लेकिन जीव अहम् के अन्दर अध्यास करके इस शरीर आदि का मालिक बना बैठा है। इसलिये यह धृतराष्ट्र है। चूँकि माया के आवरण के द्वारा इसको दीखता नहीं है कि 'यह परमेश्वर का है, मेरा नहीं है' इसलिये यह अंधा है। देखते हुए भी नहीं देखता है कि शरीर से लेकर मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि किसी के ऊपर इसका अधिकार नहीं है। 'यह, यह'इस रूप से हर बार उनको अपने से अलग अनुभव भी कर रहा है, फिर भी 'यह सब मैं ही हूँ' ऐसा अध्यास छोड़ता नहीं; यों इसे कब्जे किये हुए है, शरीर से अहंकार-पर्यन्त जो परमात्मा की चीज़ें हैं उनपर अपना अधिकार करके बैठा है इसलिये धृतराष्ट्र है। जीव इसका मालिक नहीं है, केवल काम चलाने के लिये उसे यह क्षेत्र दिया गया है, संचालन करने के लिय परमेश्वर का प्रतिबिम्ब अहंकार के अन्दर है, वहीं यह अध्यास है कि 'यह मैं ही हूँ', इसलिये मान लेता है कि यह सब मेरी ही मिलकियत का है।

वही सबसे पहले यह प्रश्न करता है कि हूँ तो मैं इसका मालिक, परन्तु इसमें निरंतर युद्ध क्यों चल रहा है? 'मम इति कायति इति मामकाः' 'मेरा-मेरा' इस प्रकार का जो शोर

करता है वही मामकाः है। शास्त्र के द्वारा जो मार्ग बताया गया‘पाण्डवाश्चैव’वह शुद्ध मार्ग है। यह मेरा है अर्थात् अविद्या के कारण राग-द्वेष से प्रेरित होकर जो संस्कार आदि हैं वे तो सब मेरे हैं और शास्त्र के द्वारा जिन चीज़ों का पता लगता है उनको समझता है कि ये दूसरे हैं। इसलिये ‘मामकाः पाण्डवाश्चैव’। हर शरीर के अन्दर इनमें युद्ध हो रहा है। हम ही कहते हैं ‘सत्य बोलना चाहते हैं।’ यह जानकर कह रहे हो या बिना जान कर कह रहे हो? जानकर कह रहे हैं। यह तो ‘पाण्डव’ हो गये, परन्तु साथ ही जोड़ देते हैं‘इससे काम नहीं चल सकता।’ अविद्या के द्वारा प्रवृत्त जो झूठ बोलना है, जिससे मेरा राग-द्वेष पूर्ण होता है, इसी को अपना समझते हैं। अतः हमारी दृष्टि बनती है कि ‘इस काम से मेरा लाभ होता है। सत्य बोलने से ईश्वर का या शास्त्र का लाभ होता होगा, मेरा लाभ तो नहीं होता क्योंकि मेरा काम तो झूठ से ही चलता है’, इस तरह राग-द्वेष से जो प्रवृत्ति होती है वह हमें अपनी लगती है। शास्त्र के द्वारा जो प्रवृत्ति होती है वह हमें भिन्न लगती है। इन्हें ‘समवेताः’ कहा। यहाँ पर एक तरफ राग खड़ा है और दूसरी तरफ वैराग्य है। एक तरफ क्रोध है, दूसरी तरफ क्षमा खड़ी है। इन सबका यहाँ पर समुदाय है। ये सारे इकट्ठे हुए हैं। इनमें जो अविद्या या अविद्या, काम, कर्म से होने वाला संकल्प वह संकल्प तो मेरा है और शुद्ध विद्या से होने वाला जो ऊँचा संकल्प है, वे सब पाण्डव हैं। दैवी और आसुरी संस्कार हमारे अन्दर, हर मनुष्य शरीर में, हमेशा झगड़ा करते रहते हैं। इसलिये यह धर्मक्षेत्र होते हुए कुरुक्षेत्र भी है। हम इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ करते हैं उन सबका यह क्षेत्र है लेकिन धर्मक्षेत्र भी है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं ‘अयं तु परमो धर्मः यद् योगेनात्मदर्शनम्’; इसलिये यह धर्म का क्षेत्र भी है। सारे ही धर्मों की इसके अन्दर प्राप्ति होती है। क्षेत्र का यह अर्थ भी होता है कि जहाँ सारी चीज़ें क्षय हो जायें। इसमें मोक्ष की प्राप्ति के द्वारा सबका क्षय करके हमारा त्राण हो जाता है इसलिये भी क्षेत्र है। सारे ही कर्मों का क्षय होकर कर्मसंन्यास के द्वारा हमारा त्राण हो जाता है, हम अविद्या के बन्धन से छूट जाते हैं। यदि यह प्राप्त किया जाता है तब तो हमने अधिकारी शरीर, मोक्ष के योग्य शरीर बनाया, अन्यथा कुरुक्षेत्र अर्थात् करणों के क्षेत्र ही रह गये।

इस प्रकार का जो यह धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र मनुष्य शरीर है इसके अन्दर ‘समवेता युयुत्सवः मामकाः पाण्डवाश्चैव;’ विद्या और अविद्या दोनों ही वृत्तियाँ एकत्रित हुई हैं। ‘किमकुर्वत’ आसुरी के ऊपर विजयी हुई अथवा असुरों ने देवताओं पर विजय की?यह प्रश्न है। धृतराष्ट्र का कहना है कि यहाँ आ कर कौरवों की ही बुद्धि बदल गई हो और कुछ ले-देकर युद्ध से बच जायें यह भी संभव है। राग, क्रोध इत्यादि ही कम करके वैराग्य आदि का वर्धन हो सकता है। थोड़ी-बहुत राग की बातें रख कर, कुछ राग की बातों को छोड़कर भी आचरण कर सकते हैं। अथवा दैवी सम्पत्ति ही हार मानकर प्रेरणा छोड़ सकती है। किसी को लगता है कि ‘ज़माना बड़ा खराब है, इस ज़माने में ज्ञान हो ही नहीं सकता। यह ज्ञान कभी सत् युग में होता होगा! इस कलियुग में तो कुछ नहीं हो सकता। ‘कलियुग

केवल नाम अधारा' केवल नाम का ही जप कर सकते हैं। सार तो वह ही है! व्यवहार के नाम पर सारे काम कर लो और जब व्यवहार-काल नहीं है उस समय राम-राम भी जप लो।' इस प्रकार के समझौते के कारण दैवी पक्ष युद्ध न करे तो यह संसार का चक्र चलता ही रहेगा, बन्धन बना ही रहेगा। दोनों संभावनाओं के कारण 'क्या किया?' यह प्रश्न उठता है। इस शंका का एक कारण यह भी है कि जिस समय युद्ध प्रारम्भ होना था उस समय युधिष्ठिर ने यह घोषणा की थी कि 'यदि कोई भी मेरे पक्ष से निकल कर दुर्योधन के पक्ष में जाना चाहता हो अथवा दुर्योधन के पक्ष से मेरे पक्ष में आना चाहता हो तो वह ऐसा कर सकता है।' तब दुर्योधन का एक सौतेला भाई युयुत्सु था जो पाण्डव पक्ष में चला गया था। जिस समय दुर्योधन आदि को उत्पन्न होना था उसी समय यह भी दूसरी स्त्री के गर्भ में आया था। गांधारी का गर्भ लम्बे समय तक नहीं निकला था, फिर बड़ी मुश्किल से निकला तो गर्भ के सौ टुकड़े करके सौ बच्चे हुए। इसलिये सामान्य दृष्टि से तो युयुत्सु पहले पैदा हुआ, क्योंकि गर्भ की दृष्टि से दुर्योधनादि के समान था। जब युधिष्ठिर ने यह घोषणा की तब युयुत्सु अपने दल-बल को लेकर युधिष्ठिर के पक्ष में आ गया। उस समय युधिष्ठिर ने कहा था कि 'तुम ही केवल बच जाओगे जो कौरवों का श्राद्ध आदि कर सकोगे'। इसलिये कौरव पक्ष *अयुयुत्सु* पक्ष था। युयुत्सु-रहित पक्ष होने के कारण जो 'मामकाः' थे उनके अन्दर कमज़ोरी आ गई थी। 'युयुत्सा' का अर्थ है 'युद्ध की इच्छा'। यह सारा उपदेश तब सफल होता है जब आसुरी वृतियाँ कुछ युद्ध करने की सोचें। प्रायः देवासुर संग्राम में असुर विजयी होते हैं। फिर, भगवान् की मदद मिलती है तब देवता जय को प्राप्त करते हैं। जब असुर जीत लेते हैं और अधिकार पर आ जाते हैं तब वे युद्ध के लिये जैसी तैयारी रखते थे उस तैयारी में शिथिलता आ जाती है और उधर देवता भगवान् की शरण में चले जाते हैं और तब भगवान् उनकी मदद करते हैं। इसलिये जीतने पर असुरों की युयुत्सा कमज़ोर हो जाती है, देवताओं की युयुत्सा बनी रहती है, इसलिये भगवान् की मदद मिलती है। इसी प्रकार यहाँ पर भी कौरवों की मान्यता थी कि भीष्म, द्रोण आदि सब हमारे साथ हैं, हमें क्या चिन्ता है! परन्तु पाण्डव सर्वथा भगवान् के ही अधीन होकर युद्ध कर रहे थे इसलिये अंततोगत्वा पाण्डव विजयी हुए।।१।।

संजय धृतराष्ट्र के प्रश्न का जवाब देता है

सञ्जय उवाच
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

पांडवों की व्यूहबद्ध सेना देखकर तो राजा दुर्योधन आचार्य के पास जाकर तब (ये) वचन बोला।

संजय दिव्य चक्षु से सम्पन्न था। व्यास जी ने कृपा करके उसे ऐसी दृष्टि दी थी

जिससे वह युद्ध के मैदान की सारी घटनायें देख-सुन सकता था। पूर्वोक्त प्रश्न का वह विस्तार से उत्तर देता है : शुरू में तो दुर्योधन यह सोचता था कि पाण्डव लोग बारह साल वनवास में रह चुके, एक साल अज्ञातवास में रहे, इसलिये इनके जितने भी पुराने सहयोगी थे वे सब दूर हो गये होंगे, अब ये अकेले क्या कर सकेंगे! इसे एक ही विश्वास था कि बारह साल के वनवास में इन्हें हमेशा कृष्ण से ही मदद मिली है। अतः कृष्ण इनकी मदद के लिये जा सकता है। अतः उसने बड़ी भारी सावधानी बरती। वह पहले ही भगवान् के पास पहुँच गया। क्षात्र धर्म में कहा गया है कि दो दल यदि युद्ध कर रहे हों तो उनमें से जो पहले मदद माँगने आये उसे मदद देनी चाहिये। इसलिये उसने सोचा कि यदि कृष्ण मुझे मना करेंगे तो क्षात्र धर्म के विरुद्ध होगा और यदि मेरी मदद करेंगे तो पाण्डव पूरी तरह असहाय हो जायेंगे। यह सोचकर वह भगवान् के पास पहुँचा था। उस समय भगवान् सो रहे थे, चाहे सचमुच या बनकर ही सही। दुर्योधन सम्राट् था। कृष्ण का अभिषेक तो हुआ नहीं था। अतः जाकर कृष्ण के सिर की तरफ बैठ गया। भगवान् नींद में थे। थोड़ी देर बाद अर्जुन आ गया और उनके पैरों की तरफ बैठ गया। वह तो हमेशा भगवान् को अपने से बड़ा मानता था इसलिये पैरों की तरफ बैठना ही ठीक था। अर्जुन आकर बैठा तो भगवान् की नींद खुली। सोया हुआ व्यक्ति उठेगा तो पैरों की तरफ वाला सामने पड़ेगा। भगवान् ने अर्जुन से कहा‘आ गये! बड़ा अच्छा हुआ।’ तब तक दुर्योधन ने कहा ‘पहले मैं आया हूँ।’ भगवान् ने कहा‘अच्छा! आप भी आये हैं। बड़ा अच्छा किया।’ दुर्योधन ने कहा‘चूँकि मैं पहले आया हूँ इसलिये मुझे पहल देनी पड़ेगी। मैं युद्ध का निमंत्रण देने आया हूँ।’ भगवान् ने कहा‘मुझे तो अर्जुन पहले दीखा इसलिये यह मेरे लिये पहले है।’ दुर्योधन ने कहा‘किसी से भी पूछ लो, कौन पहले आया?’ भगवान् ने कहा‘बात तो ठीक है, लेकिन मैं कह रहा हूँ मुझे अर्जुन पहले *दीखा*। इसका समाधान यह है कि मैं कुल मदद के दो हिस्से कर देता हूँ, दोनों को एक-एक हिस्सा मिल जायेगा। एक तरफ तो मेरी नारायणी दो अक्षौहिणी फौज रहेगी, दूसरी तरफ मैं रहूँगा और मैं कोई युद्ध नहीं करूँगा। इसमें से तुम लोग जो चुनना चाहो चुन लो।’ दुर्योधन ने कहा‘मैं पहले चुनूँगा, मैं नारायणी सेना लूँगा।’ अर्जुन ने प्रसन्न होकर कहा‘ठीक हो गया। हमें तो आप ही चाहिये।’ भगवान् ने फिर कहा‘मैं लड़ाई नहीं करूँगा।’ फिर भी अर्जुन ने कहा‘बस, आप हमारे साथ रह गये, इतना काफी है। आपके लड़ने की कोई जरूरत नहीं है।’ दुर्योधन को फौज दे दी और अर्जुन की परीक्षा हो गई कि फौज से प्रेम है या भगवान् से प्रेम है। जब दुर्योधन फौज की मदद चुनकर चला गया तब भगवान् ने अर्जुन से कहा‘तूने कितनी मूर्खता की! तुझे ज़िद करनी चाहिये थी कि फौज लेगा।’ अर्जुन ने कहा‘हमें फौज से मोह नहीं है, हमें तो आप ही चाहिये।’

यह अर्जुन की पहली कड़ी परीक्षा थी। विचार करके देखो तो यह बड़ी ही कड़ी परीक्षा है। इस परीक्षा के कारण उसे गीता या तत्त्वज्ञान का उपदेश मिला। भगवान् कौरव पक्ष

में चले गये होते तो उसे कौन उपदेश देता? अर्जुन ने कहा 'मुझे साधारण फौज की आवश्यकता नहीं, आपकी आवश्यकता है।' ठीक इसी प्रकार सच्चा साधक कहता है कि सारी सृष्टि का नियंत्रण करने वाली ईश्वर की माया शक्ति हमें नहीं चाहिये। हमें तो मायारहित जो परमात्मा का अपना रूप है, उसी से प्रेम है। केवल तभी अर्जुन ने ऐसा कहा हो, ऐसी बात नहीं है, युद्ध में भी उसने यही कहा 'यच्छ्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूहि तन्मे।' अर्थात् मुझे तो निश्चित कल्याण ही चाहिये। जब तक आसुरी तत्त्व अपने अन्दर प्रधान रहता है तब तक भगवान् *की* शक्तियों की प्रार्थना होती है कि 'हमें अमुक चीज़ मिल जाये।' मोटी भाषा में, सगुण की उपासना प्रधान रहती है क्योंकि लगता है कि 'निर्गुण को लेकर क्या होगा, सारी सृष्टि का संचालन करने वाली तो शक्ति है, हमें वही चाहिये।' ऐसे लोग लिखा करते हैं कि शक्ति से ही काम होता है 'शक्तिहीनः शिवः शवः' शक्तिहीन शिव तो शव है! कुछ करने के लायक नहीं है। अतः उनके सामने निर्गुण परमेश्वर की बात करते हैं तो वे सुनते ही कहते हैं कि ऐसे ब्रह्म से क्या होगा जो हमें कुछ दे न सके? परन्तु जिन्हें सचमुच में *परमात्मा* से प्रेम होता है वे उसके निर्गुण रूप को ही चाहते हैं, परमात्मा को ही चाहते हैं, उनकी शक्तियों को नहीं चाहते।

नारायणी सेना चले जाने से पाण्डवों की फौज दो अक्षौहिणी और कम हो गई थी। दुर्योधन क्षात्र धर्म का खूब ज्ञाता था। दूसरे मददगार शल्य हो सकते थे क्योंकि वे नकुल, सहदेव के सगे मामा थे। शल्य अपने राज्य से युधिष्ठिर की मदद करने चला। युधिष्ठिर भी बुद्धि से सोचता था कि मामाजी मदद करेंगे। दुर्योधन क्षात्रधर्म का ज्ञाता था। जहाँ शल्य का राज्य समाप्त और दुर्योधन का राज्य प्रारम्भ होता था वहाँ दुर्योधन ने शल्य के लिये बढ़िया से बढ़िया इन्तजाम कर दिया जिससे रास्ते-भर शल्य और उसकी फौज को कोई तकलीफ नहीं हुई, खूब आनन्द आया। शल्य समझता था कि युधिष्ठिर की ओर से सारा इन्तजाम किया गया होगा! चलते-चलते जब कुरुक्षेत्र के पास पहुँचा तब वहाँ दुर्योधन ने आकर पूछा'मामा जी! कोई तकलीफ तो नहीं हुई? मैंने सब लोगों से कह दिया था कि अच्छी तरह से इन्तजाम करना।' शल्य ने कहा'क्या तूने यह सब इन्तजाम किया था?' उन्होंने प्रारम्भ में इंतजामियों से पूछा ही नहीं था कि किस ओर से व्यवस्था है, अगर पता लग गया होता तो वे दुर्योधन की मेहमानदारी करते ही नहीं, पहले ही मना कर देते। सोचने लगे, 'गजब हो गया, अब क्या हो सकता है?' क्षात्रधर्म का नियम है कि जिसका स्वागत स्वीकार कर लिया उसकी ही मदद करेंगे। शल्य की भी दो अक्षौहिणी सेना दुर्योधन के हाथ पड़ गई। हिसाब लगाकर देखोगे तो यदि ये चार अक्षौहिणीदो भगवान् की व दो शल्य कीयुधिष्ठिर के पास होती तो युधिष्ठिर की फौज बड़ी होती। दुर्योधन का तो विचार था कि इनके पास कुछ फौज नहीं होगी, और जो दो सम्भावनायें थीं वे उसने वैसे ही काट दीं। फिर भी युद्ध-क्षेत्र में आकर देखता है कि उनके साथ सात अक्षौहिणी सेना तो हो ही गई! इसलिये पाण्डवों की फौज देखकर दुर्योधन को आश्चर्य

होना ही था।

वह फौज भी व्यूढ थी, व्यूहरचना में खड़ी थी। महाभारत में कहा है कि वज्र नाम के व्यूह को बनाकर यह फौज खड़ी थी। दुर्योधन ने उस फौज को देखा जो वज्राकार में स्थित थी। उस फौज को देखकर दुर्योधन की घबड़ाहट स्वाभाविक थी कि इनके पास इतनी फौज हो गई और उसका इतना सुन्दर व्यूह भी हो गया। राजा तो वही था, युद्ध उसी को करना था।।२।।

वज्र व्यूह को देखकर दुर्योधन भी समझ गया कि यह व्यूह धृष्टद्युम्न का बनाया हुआ नहीं लग रहा। पाण्डवों का सेनापति धृष्टद्युम्न था, व्यूह-रचना का अधिकार उसी का था। परन्तु महाभारत में बताया है कि अर्जुन ने व्यूह रचकर कहा 'अरे! सब लोग धृष्टद्युम्न से पूछो, मैंने सही रचा है?' इसलिये बनाया हुआ उसका ही कहा जायेगा क्योंकि सेनापति धृष्टद्युम्न ही था। दुर्योधन अपने सेनापति भीष्म के पास नहीं गया, द्रोणाचार्य के पास गया और बोला 'तुमने तो चेले को तैयार किया और यह चेला अब तुम्हारे ऊपर ही तैयारी करके आ रहा है।' इस प्रकार आचार्यको उत्तेजित करते हुए दुर्योधन ने जो बातें कहीं वे ग्यारहवें श्लोक तक संजय सुना रहा है।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र द्वारा व्यूह में बाँधी पांडवों की इस महान् सेना को देखिये।

द्रोण धनुर्विद्या के आचार्य थे, उन्हें दुर्योधन कह रहा है 'पाण्डु के पुत्र पाण्डवों की यह बड़ी भारी फौज देखो!' आसुरी सम्पत्ति वालों में यह हमेशा होता है कि अपने पास ज़्यादा धन हो तो भी वह थोड़ा लगता है और दूसरे के पास का थोड़ा भी धन हो तो वह ज़्यादा लगता है! अपनी फौज को यह *महती* नहीं कहेगा। 'बेचारे पाण्डवों की चार अक्षौहिणी सेना मैंने निकाल ली, मेरी सेना इतनी महती है' इसे नहीं देखता, यही देख रहा है कि इनकी सेना बड़ी भारी है। आसुरी संपत्ति वाला हर चीज़ के अन्दर दूसरे की सम्पत्ति को बड़ा मानता है। यही दुर्योधन की प्रवृत्ति है। इसलिये कहता है'हे आचार्य! इतनी बड़ी सेना को देखो तो सही। पाण्डुपुत्रों ने इतनी सेना इकट्ठी कर ली है। द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा यह व्यूहरचना की गई है लेकिन इसे बुद्धि देने वाला तुम्हारा जो प्यारा शिष्य है, जिसको तुम हर तरह से सब चीज़ें बताते रहे वह अर्जुन ही है। उसी ने धृष्टद्युम्न को यह बुद्धि दी है कि ऐसे रचना करो।' 'धीमता' कहकर भी आचार्य को क्रोध दिलाना चाहता है। उसका भाव है, 'अर्जुन इतना बुद्धिमान् है कि तुमसे सीख कर तुम्हीं को मारना चाहता है। तुमने बेवकूफ की तरह इसे सब सिखा दिया।' इसलिये 'तव शिष्येण धीमता' कहकर छींटाकसी करना चाहता है। साथ में यह संकेत भी देता है कि 'तुम्हें ही पता है कि अपने

शिष्य को क्या-क्या पढ़ाया, क्या-क्या नहीं पढ़ाया। इसलिये इस वज्र व्यूह के प्रतिकार रूप में क्या करना है यह तुम ही जानते हो।'

भीष्म जैसे महारथी, साक्षात् परशुराम से युद्ध करके उनसे भी नहीं हारने वाले जो सेनापति थे उनके पास दुर्योधन नहीं गया, द्रोणाचार्य के पास उन्हें उकसाने वाली बातें कहने के लिये गया। इस प्रकार की बातों से आदमी को जोश आ जाता है और फिर वह भयंकर युद्ध करेगायह सोचकर ही ऐसा कह रहा है। दुर्योधन राजनीति, क्षात्रनीति का जानकार था। इसी प्रकार आसुरी सम्पत्ति वाले लोग भी सब बड़े जानकार होते हैं कि इह लोक में कैसे जीता जा सकता है परन्तु वे सब नीतियाँ हैं व्यर्थ की ही क्योंकि अंत में उनसे वे जो कुछ भी प्राप्त करते हैं वह सब क्षय वाला ही होता है अतः इन नीतियों की अपेक्षा जो केवल परमेश्वर का आश्रय लेता है वही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

यदि व्यूह अर्जुन के निर्देश में बना इस बात को छोड़ दें तो धृष्टद्युम्न ही सेनापति था, इसलिये उसने रचना की केवल इतना ही कहा जाये तब भी दुर्योधन का भाव होगा कि 'धृष्टद्युम्न को तुम जानते थे कि यह तुमको मारने के लिये ही पैदा किया गया है, यह जानते हुए भी तुमने उसको शिष्य बनाकर उसे सारी शस्त्रविद्या सिखा दी। वह शिष्य धीमान् है क्योंकि उसने तो तुमसे विद्या ले ली जबकि तुमने अविचारपूर्वक, यह जानते हुए भी कि वह तुमको मारने के लिय उत्पन्न किया गया है, उसको विद्या दे दी।' दुर्योधन की दृष्टि से यह तो गैर बुद्धि का लक्षण है। जहाँ तक द्रोणाचार्य का संबंध है, वे तो उनके पास जो आये उसे शिक्षा देने वाले थे, आचार्य-धर्म का पालन कर रहे थे। परन्तु दुर्योधन धर्म की दृष्टि वाला है नहीं, अतः वह कहता है कि 'यदि उपदेश न देते तो तुमको आज के दिन इस कठिन व्यूह को काटने की समस्या न होती।' इसलिये उसने धृष्टद्युम्न का नाम न लेकर 'द्रुपदपुत्र' कहा। द्रुपद ने द्रोणाचार्य का अपमान किया था। वे जब उसके पास गये तब उसने उनको पहचानने की भी सभ्यता नहीं दिखाई। द्रोणाचार्य को द्रुपद पर क्रोध आया भी था। यह सब याद दिलाने के लिये द्रुपदपुत्र नाम लिया ताकि उन्हें क्रोध आ जाये क्योंकि दुश्मन का नाम लेने से क्रोध आ ही जाता है। 'धीमता' के द्वारा यह भी कहा कि इसकी उपेक्षा नहीं करना, 'धृष्टद्युम्न कोई बड़ा योद्धा नहीं है, मैं इसे सलट लूँगा'ऐसा नहीं समझना वरन् उसने तो तुमको ही मारने के लिये विद्या का ग्रहण किया है, अतः वह अपना काम बनाने में बड़ा कुशल है, इसलिये, तुम उससे सावधान रहना। इस प्रकार से दुर्योधन ने आचार्य की अवज्ञा करते हुए भी बात बड़े अच्छे ढंग से कही है। साथ ही 'धीमता' शब्द का प्रयोग करके यह भी बता दिया कि द्रोण को क्रोध दिलाना उसका प्रयोजन है। 'तव शिष्येण' में 'तव' शब्द का प्रयोग करके वह यह भी कहना चाहता है कि 'शिष्य तो मैं भी आपका हूँ परन्तु आपका उसके ऊपर प्रेम ज़्यादा है। उसको उपदेश देने की आपकी जो मूर्खता थी, वही मेरे लिये इस समय अनर्थ का कारण है। आपके तो और ज़्यादा अनर्थ का कारण है क्योंकि मैं तो हारूँगा ही

लेकिन आपके तो मरने का डर है।' इस प्रकार से दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के पास जा करके उन्हें किसी-न-किसी तरह से क्रोध दिलाने का प्रयास किया।।३।।

शायद द्रोणाचार्य के मन में हो कि 'यह धृष्टद्युम्न मेरा क्या कर सकता है!' इसलिये धृष्टद्युम्न ने अपने साथ और भी जो-जो लोग इकट्ठे किये हैं उनका भी नाम दुर्योधन लेता है

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

इस पाण्डव-सेना में भीम व अर्जुन के समान युद्ध करने वाले, महान् धनुष वाले और भी वीर हैंयुयुधान (= सात्यकि), विराट्, महारथी द्रुपद।

'अत्र' अर्थात् धृष्टद्युम्न के सेनापतित्व में अथवा यहाँ कुरुक्षेत्र में बहुत से शूरवीर बहादुर हैं, धृष्टद्युम्न ही नहीं है। ये सभी भीम और अर्जुन की तरह युद्ध करने वाले अर्थात् युद्ध में अत्यंत कुशल हैं। भीम का नाम लेकर यह संकेत करता है कि 'केवल धृष्टद्युम्न ने आपको मारने के लिये यह सारा काम किया है इतना ही नहीं, मुझे मारने का और मेरे सब भाईयों को मारने का संकल्प भीम ने भी कर रखा है। अर्जुन तो प्रसिद्ध ही है। भीम और अर्जुन के समान युद्ध करने वाले जो बहादुर हैं उनकी तरफ भी ध्यान दीजिये, उपेक्षा मत करिये।' वे योद्धा महेष्वास अर्थात् महान् धनुष लेने वाले हैं। भीम धनुष-बाण चलाने में तो प्रसिद्ध था नहीं, अर्जुन धनुषबाण चलाने में कुशल था। इसलिये यहाँ या तो 'महेष्वासाः' से अर्जुनसमा युधि' यों एकदेश से अन्वय करने का दोष मानना पड़ेगा अथवा महेष्वासा से संकेत है कि बड़े-बड़े शस्त्र धारण करने वाले हैं। नाम केवल धनुषबाण का लिया है परन्तु उससे उपलक्षित सभी शस्त्र समझे जा सकते हैं।

योद्धाओं का नाम लेकर बताता है कि इनके बारे में सब लोग जानते हैं कि ये महारथी हैं। सबसे पहले युयुधान, सात्यकि का नाम लेता है। भगवान् ने जब नारायणी सेना दी थी तभी सात्यकि पांडवपक्ष में आ गया था क्योंकि सात्यकि को अर्जुन ने स्वयं शिक्षा दी थी। अतः अर्जुन के समान ही वह भी पराक्रमी था। जिस समय भगवान् दूत बनकर गये थे और दुर्योधन ने भगवान् को ही पकड़ने की योजना बनाई थी, तब सात्यकि ही वहाँ भगवान् की रक्षा के लिये तैयार होकर पहुँचा हुआ था। विदुर इस बात को पहले ही भगवान् से कह चुके थे कि 'आप तो दूत बनकर आये हैं परन्तु यह दुर्योधन बड़ा दुष्ट है, आपकी बात मानेगा नहीं इसलिये हो सकता है कि आपको पकड़ने का प्रयास करे। अतः आप दौत्यकर्म न करें तो अच्छा है।' भगवान् हँसे थे कि 'मेरी नारायणी फौज पाण्डवों से चाहे युद्ध करे लेकिन दुर्योधन ने मेरे ऊपर वार किया तो मेरी सेना के सारे लोग उसके विरुद्ध हो जायेंगे।' फिर भी भगवान् ने सात्यकि को साथ ही कर लिया था। वहाँ भगवान् ने विश्वरूप दिखाया तो सब लोग घबड़ा गये और लड़ाई-झगड़े की जरूरत नहीं पड़ी परन्तु

दुर्योधन ने बाद में विश्वरूप आदि देखने को केवल जादूगर का खेल माना और उसने समझा कि 'मैं इन्हें इसलिये नहीं पकड़ पाया कि सात्यकि इनकी सहायता के लिये मौजूद था।' अतः उसके मन में प्रधान रूप से तो यह बैठा था कि सात्यकि अत्यंत शूरवीर है। सात्यकि ने पहले ही कह दिया था कि 'चाहे नारायणी फौज कौरवपक्ष में जाये, मैं नहीं जाऊँगा।' इसलिये सात्यकि युद्ध भूमि में गुरु अर्जुन के साथ ही था। इस प्रकार दुर्योधन द्रोणाचार्य से कहता है कि 'देखिये, सात्यकि को चाहिये यह था कि नारायणी फौज के साथ मेरे पक्ष में आता, लेकिन यह तो हमसे लड़ने के लिये ही सामने मौजूद है।' इसलिये सबसे पहले उसी का नाम लिया। सात्यकि भी महारथी था, श्लोक में 'महारथः' शब्द का सभी से अन्वय समझना चाहिये।

फिर दुर्योधन विराट् का नाम लेता है। राजा विराट् के यहाँ जिस समय कौरव लोग गौओं की चोरी करने गये थे उस समय विराट् राजा के पुत्र द्वारा वे लोग बुरी तरह से परास्त हुए थे। परास्त तो अर्जुन से हुए थे परन्तु जिस समय वहाँ युद्ध हो रहा था उस समय अर्जुन अर्जुन के रूप में प्रकट नहीं था। अतः विराट् के पुत्र ने ही कौरवों को हरायायही प्रसिद्ध था। वैसे भी अर्जुन तो वहाँ केवल रथ हाँकने के लिये गया था। वहाँ जाकर विराट् के लड़के ने जब भीष्म, द्रोण आदि को देखा तो उसके बेचारे के छक्के छूट गये। वह भागने की तैयारी करने लगा। तब अर्जुन ने बृहन्नला रूप में उससे कहा'तू डर मत, मैं इन्हें सम्भाल लेता हूँ।' इस तरह युद्ध तो अर्जुन ने ही किया था। फिर भी जब वापिस गये तब विराट् ने बेटे को ही बड़े-बड़े उपहार दिये कि 'तुम बड़ी बहादुरी से हराकर आ गये।' इसलिये प्रसिद्ध यही था कि विराट्पुत्र ने हराया, जबकि हराया अर्जुन ने था। युद्ध में भीष्म, द्रोण को तो कुछ शंका हो गई थी क्योंकि अर्जुन के बाण जब लगते थे तब पता लग जाता था कि वे किसी साधारण के बाण नहीं हैं; भीष्म, द्रोण तो समझ गये थे कि 'विराट् का बेटा तो ऐसे नहीं लड़ सकता। हो न हो, यह अर्जुन ही है।' भीष्म ने अपनी शंका प्रकट भी की थी। इस पर दुर्योधन ने यह भी कह दिया था 'यदि आपको निश्चय है तो अभी तेरह साल पूरे नहीं हुए हैं, इसलिये इन्हें फिर बारह साल के लिये जंगल जाना पड़ेगा।' तब भीष्म ने समाधान किया था 'यह ठीक है कि सौर संवत् के हिसाब से तेरह साल पूरे नहीं हुए हैं परन्तु नाक्षत्र संवत् के हिसाब से तेरह साल पूरे हो गये हैं। जब शर्त रखी गई थी तब यह स्पष्ट नहीं किया था कि तेरह वर्ष कौन से संवत् से माने जायेंगे। पाँच तरह के संवत् होते हैं जिनमें नाक्षत्र संवत् भी एक संवत् है। नाक्षत्र संवत् के हिसाब से तेरह साल खत्म हो गये हैं। इसलिये पुनः वनवास का नियम नहीं लगा सकेंगे।' परन्तु ये सब शंकास्पद बातें ही थी क्योंकि 'यह अर्जुन है' इसका कोई स्पष्ट प्रमाण मिला नहीं था। अतः यह बात सामने आने पर भी कि अर्जुन ने किया होगा, सर्वत्र प्रसिद्धि यही थी और दुर्योधन भी समझता था कि शायद विराट्पुत्र ने ही युद्ध में उन्हें परास्त किया था। इसलिये कहता है कि 'सामने विराट् है, उसका बेटा तो अभी छोटा है,

विराट् तो सब तरह से योग्य है।' जिस प्रकार सात्यकि कृष्ण व अर्जुन के साथ रहने के लिये ही कटिबद्ध था, उसी प्रकार विराट् ने अपनी लड़की अर्जुन के पुत्र को दी थी। अतः वह भी कटिबद्ध ही था, क्योंकि आगे उसी के दामाद को गद्दी बैठना था। इसी प्रकार जैसे युयुधान दृढप्रतिज्ञ था कि 'मुझे इन्हें हराना ही है', ऐसे ही विराट् भी था।

ये सारे महारथी थे। यद्यपि 'द्रुपदश्च महारथः' एकवचन होने के कारण द्रुपद ही महारथी है, ऐसा कह सकते हैं परन्तु चकार के साथ पठित होने से केवल द्रुपद ही नहीं दूसरे भी सब महारथी ही हैं। महारथी कहते हैं किसको?

'एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः।।

जो अकेले दस हजार योद्धाओं के साथ लड़ सकता हो और शस्त्र व शास्त्र दोनों को जानता हो, वह महारथी होता है। केवल शस्त्र-प्रवीण होने से महारथी नहीं होता, साथ में शास्त्र का ज्ञाता भी होना चाहिये। उसी को महारथी कहते हैं।।४।।

दुर्योधन बाकियों को भी गिनाता है

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।।५।।

धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज, और पुरुषश्रेष्ठ शैब्य भी पाण्डवसेना में हैं।

जैसे पहले तीनों को महारथी कहा था वैसे ही इन तीनों को वीर्यवान् कहा अर्थात् ये तीनों अत्यंत बहादुर हैं। तीन महारथियों को और तीन लड़ने में अत्यंत तेजस्वी को गिना दिया। अनेकों युद्धों में जय प्राप्त की थी, इसलिये जिसका विशेषण ही था पुरुजित् अर्थात् अनेक युद्धों में जीतने वाला, वह कुन्तिभोज कुन्ती के सम्बन्ध से युद्ध में आया था। जिस समय वनवास का काल समाप्त हो गया तब कुन्ती ने कुन्तिभोज को सूचना दी थी कि 'युद्ध का समय हो गया है, तुम युद्ध में आ जाओ।' इस प्रकार अनेक युद्ध जीतने वाला कुन्तिभोज भी युद्ध में पूरी तरह लगने वाला था। द्रुपद आदि महारथी थे ही। धृष्टकेतु आदि स्वभाव से ही वीर्यवान् थे। पुरुजित् कुन्तिभोज चूँकि कुन्ती से सम्बन्ध वाला था इसलिये इसे भी युद्ध में पूरी तरह रुचि थी। (कुछ व्याख्याता पुरुजित् को अलग मानते हैं। उद्योगपूर्व १७२.२ के अनुसार पुरुजित् कुन्तिभोज का विशेषण है।) शैब्य मनुष्यों में सब प्रकार से अत्यंत श्रेष्ठ है। इन सबका नाम लेने से दुर्योधन की अधीरता का पता लगता है।

दुर्योधन-पक्ष में भीष्म, द्रोण आदि पाण्डवों की जीत चाहने वाले थे, सचमुच में वे उनका नाश चाहने वाले नहीं थे। केवल कर्ण ही पांडवों के विरुद्ध पूरे तेज से लड़ने के

लिये तैयार था। कर्ण शस्त्रास्त्रों का बड़ा जबर्दस्त ज्ञाता था। साक्षात् परशुराम से उसने शिक्षा प्राप्त की थी। परन्तु साथ में परशुराम ने उसे शाप दिया था 'तूने चूँकि ब्राह्मण बन कर विद्या प्राप्त की है, इसलिये किसी को सिखाना होगा तो तुझे सारी विद्या उपस्थित रहेगी, परन्तु क्षत्रिय के काम में अर्थात् खुद लड़ने जायेगा तो तुझे ठीक-ठाक याद नहीं रहेगा।' यह उसे शाप था। इसलिये युद्ध के प्रारम्भ में जब बड़े-बड़े योद्धाओं की गिनती हुई तब भीष्म ने सबमें किसी को महारथी, किसी को अतिरथी और किसी को रथी गिना, लेकिन कर्ण को अर्द्धरथी गिना। कर्ण को बड़ा गुस्सा आया कि 'मुझे क्यों अर्द्धरथी गिना?' भीष्म ने कहा'राजा दुर्योधन है और बहुत मानता है, इसलिये उसके मन को रखने के लिये अर्द्धरथी गिन दिया। अन्यथा इतना भी नहीं गिनता। तू बातें करने के लिये बड़ा योद्धा है, परन्तु जब कटाकटी का मामला आयेगा तब तू कुछ नहीं कर सकेगा।' दुर्योधन जानता था'मेरे पक्ष में दो तो खुलकर पाण्डवों की जीत चाहते हैं और एक यह कर्ण है जो युद्ध के मैदान में सामर्थ्य वाला नहीं होगा। शल्य तो नकुल सहदेव की जीत ही चाहता है। अपना खेमा अन्तर्द्वन्द्व से भरा हुआ है, इसलिये इसके अन्दर ताकत की कमी है। यद्यपि फौज की संख्या तो काफी है लेकिन उसके अन्दर अन्तर्द्वन्द्व है।' चौथे श्लोक में सबसे पहले युयुधान का नाम लिया कि यह तो खुलकर सामने आ गया लेकिन आगे नारायणी फौज कितना साथ देगी, पता नहीं। सामने कृष्ण होंगे तो उनकी सेना पूरी तरह से नहीं लड़ेगी। इसलिये दुर्योधन अन्दर-ही-अन्दर अधीर होकर डर रहा था।।५।।

पाण्डवों के खेमे का और भी वर्णन करता है

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

अतिपराक्रमी युधामन्यु, शूरवीर उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँच पुत्रये सभी महारथी (पाण्डवपक्ष में हैं)।

युधामन्यु विक्रान्त अर्थात् युद्ध करने में अत्यंत तेजस्वी है। दूसरे के ऊपर आक्रमण करने की जिसकी अत्यधिक विशेषता हो उसी को विक्रांत कहेंगे अर्थात् दूसरे को आ-क्रान्त करने के लिये जो विशेष योग्यता वाला हो। किसी भी कार्य के अन्दर दो तरह के लोग होते हैं। एक, संरक्षा की दृष्टि से अधिक तेज होते हैं और दूसरे, आक्रमण की दृष्टि से अधिक तेज होते हैं। युधामन्यु आक्रामक दृष्टि से लड़ने वाला था, इसलिये उसे विक्रान्त कहा। उत्तमौजा अत्यंत तेजस्वी है, जैसे पहले काशिराज चेकितान को कहा था ऐसे ही यह भी अत्यंत तेजस्वी है। सौभद्र, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु भी युद्ध के मैदान में मौजूद है और द्रौपदेय, द्रौपदी के पाँच पुत्र प्रतिविन्ध्य, श्रुतसेन, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतकर्माभी मौजूद हैं। ये सब महारथी हैं। यहाँ महारथी से अतिरथी की उपलक्षणा मान लेनी चाहिये अर्थात् अतिरथियों को भी महारथी गिन लिया है। किसी-किसी आचार्य

ने कहा है कि महारथी, वीर्यवान्, नरपुंगव, विक्रांतइनको सबके साथ समझ लेना चाहिये। दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से जाकर इस प्रकार कहा, जिसमें प्रधान तात्पर्य तो यही था कि द्रोणाचार्य भी यह समझ लें कि जो वे पाण्डवों के लिये दया रखते हैं, उसका कोई कारण नहीं है क्योंकि पांडव तो पूरी तैयारी के साथ लड़ने आये हैं। दुर्योधन ने जानबूझकर महारथियों में अर्जुन को नहीं गिना! वह अर्जुन का नाम नहीं लेना चाहता है और जानता है कि उसका नाम लेने से द्रोणाचार्य नरम पड़ जायेंगे। धृष्टद्युम्न का नाम लिया जिससे उन्हें गुस्सा आ जाये। इसलिये अर्जुन को पहले नहीं गिना।।६।।

दुर्योधन की बातें सुनकर द्रोणाचार्य कह सकते हैं कि 'इस प्रकार तू शत्रुओं के बल को अत्यंत समर्थ मान रहा है, इसके कारण तेरे अन्दर डर नज़र आ रहा है, तो सीधे सन्धि ही कर ले। मैं मध्यस्थ बनकर कुछ तुझे भी दिला दूँगा, विग्रह का आग्रह क्यों करता है?' ऐसा वे न कह दें, इसलिये वह अपने पक्ष की विशेषता भी बताता है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! हमारे पक्ष में तो जो मेरी सेना के खास नेता हैं, उन्हें समझ लीजिये; सभी आपके स्मृतिपटल पर आ जायें इसलिये उनका नाम लेता हूँ।

'तु' के द्वारा सूचित किया कि 'यह तो मैंने सामने वाले की बड़ाई बताई। अपनी बड़ाई भी जानता हूँ। इसलिये संधि आदि की बात मत करना।' इसके द्वारा अन्दर-ही-अन्दर भय को दबाता हुआ अपनी धृष्टता भी प्रकट करता है, क्योंकि जैसे वहाँ 'पश्य' कहा था वैसे यहाँ 'निबोध' कहता है, मानो मेरे कहे बिना तुम्हें पता ही नहीं है!

अपने पक्ष की विशेषता बताता है कि 'हमारे अन्दर बड़े-बड़े विशिष्ट योद्धा हैं। वैसे भी अपनी ग्यारह अक्षौहिणी फौज है, उसमें भी अनेक विशिष्ट हैं। उन्हें मैं बताता हूँ। 'तान्निबोध' अर्थात् मेरे वचन से निश्चय करोइससे वह द्रोणाचार्य को यह प्रकट करना चाहता है कि 'मैं राजा हूँ, मेरी ही श्रेष्ठता है' इसीलिये कहा 'मम सैन्यस्य''यह ठीक है कि भीष्म सेनापति हैं, तुम भी महारथी हो, लेकिन फौज तो मेरी ही है, तुम सब मेरे ही अन्तर्गत हो।'

किंतु इस प्रकार कहने से द्रोणाचार्य कहीं नाराज न हो जायें इसलिये उन्हें 'द्विजोत्तम' भी कह देता है कि 'आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं।' जब किसी को कार्य में प्रवृत्त करना हो तो उसकी स्तुति करनी चाहिये, ऐसी नीति है। अतः पहले तो 'पश्य, तान्निबोध' कह दिया पर चूँकि युद्ध में प्रवृत्त करना है इसलिये द्विजोत्तम भी कहा। द्विजोत्तम विशेषण के द्वारा थोड़ी-सी अपनी दुष्टता भी प्रकट करता हैः 'आखिर हैं तो आप ब्राह्मण ही! ब्राह्मण युद्ध के मैदान में ज्यादा नहीं डटता है।' इसके द्वारा ही तो कर्ण की पहचान हुई थी। कर्ण के शरीर से खून निकला, फिर भी कर्ण घबड़ाया नहीं तो परशुराम समझ गये कि इतना खून

निकलने पर भी घबड़ाया नहींअतः यह क्षत्रिय ही है। ब्राह्मण लड़ने में श्रेष्ठ होने पर भी मरने-मारने का काम हो तो नहीं कर सकता। 'द्विजोत्तम' के द्वारा यह कहता है कि 'चूँकि आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं अतः आप अच्छी तरह नहीं भी लड़ेंगे तो हमारे पास जो भीष्म आदि क्षत्रिय हैं उनसे मैं तो जीत ही जाऊँगा।'

'संज्ञार्थं'आपको जनाने के लिये; हिन्दी में जिसे कहते हैंहोश में लाने के लिये। 'आप अपने प्रिय शिष्य अर्जुन और पाण्डवों की फौज को देखकर बड़े प्रसन्न हुए होंगे कि उनकी फौज कितनी तगड़ी है। लेकिन उनको देखकर आप घबड़ाओ नहीं! अपने पक्ष में भी बड़े-बड़े महारथी हैं। आप होश में आओ, इनको देखकर बेहोश मत हो जाओ। हमारे लड़ने वाले उनसे ज्यादा बहादुर हैं।' इस प्रकार दुर्योधन ने कुछ अपना भय छिपाते हुए व कुछ अपनी दुष्टता प्रकट करते हुए द्रोणाचार्य से कहा।।७।।

दुर्योधन विरोधी पक्ष को देखकर खुद घबड़ा रहा था, उस घबड़ाहट में उसने जो-जो बातें कहीं, उन सबको आचार्य द्रोण ने बिल्कुल उदासीन भाव से सुना। उसने उनके उदासीन भाव से उन्हीं पर आक्षेप लगाना शुरू किया कि 'आप ही डर रहे हो! इसलिये ज़रा हमारे लोगों को भी देखिये हम भी कमज़ोर नहीं हैं।' अपने पक्ष के लोगों को गिनाता है

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

हमारे खेमे में आप, भीष्म, कर्ण, युद्धजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा (विशेष योद्धा हैं)।।८।।

यद्यपि सेनापति होने के नाते पहले भीष्म का नाम लेना चाहिये था तथापि द्रोणाचार्य को प्रसन्न करने के लिये सबसे पहले उनको गिना कि आप तो हैं ही। तात्पर्य है कि सबको युद्ध की शिक्षा देने वाले होने से आप अत्यंत कुशल हैं ही। साक्षात् परशुराम से भी युद्ध में न हारने वाले होने से भीष्म भी अप्रतिम हैं। फिर कर्ण है। 'भवान्भीष्मश्च' को इकट्ठा करके चकार कह दिया, फिर कर्ण को अलग करने के लिये चकार कहा। क्योंकि द्रोण और भीष्म तो कर्ण को कोई बड़ा भारी योद्धा नहीं मानते थे इसलिये उन्हें नागवार था कि कर्ण का नाम लिया जाये। अतः दुर्योधन का संकेत है कि आप लोगों को छोड़कर कर्ण भी सबसे योग्य हैमैं तो ऐसा मानता ह ूँ। अगला नाम कृपाचार्य का लेता है। कृपाचार्य बड़े भारी योद्ध भी हैं और चिरजीवी भी हैं। सात चिरजीवियों में कृपाचार्य भी हैं। अतः इनको तो मारना असम्भव है। इसलिये उनका नाम लेना ठीक है। कृपाचार्य द्रोणाचार्य के साले थे। कर्ण का नाम पहले और कृपाचार्य का नाम बाद में लेने से द्रोणाचार्य कहीं नाराज न हों इसलिये कर्ण का केवल नाम लिया जबकि कृपाचार्य को समितिंजय भी कहा अर्थात् वे हमेशा युद्ध में जय ही प्राप्त करते हैं, कहीं भी हारे नहीं हैं, जहाँ भी युद्ध किया वहाँ जीते ही हैं। कृपाचार्य का कर्ण के बाद नाम लेने से द्रोणाचार्य के मन में कोई बात न आये

इसलिये उनके नाम में 'समितिंजय' विशेषण लगा दिया। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र था, वह भी सप्त चिरजीवियों में है। अतः इसे भी जीतना असम्भव ही है। अतः कृपाचार्य के विशेषण से ही देहलीदीप-न्याय से अश्वत्थामा को समितिंजय अर्थात् महान् योद्धा बता दिया। दुर्योधन का छोटा भाई विकर्ण भी युद्ध के अन्दर कुशल था। विशेषकर जब अभिमन्यु से युद्ध हुआ उस समय इसका वैशिष्ट्य प्रकट हुआ। सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा हाथी की लड़ाई में बड़ा प्रसिद्ध था। गज-सैन्य का संचालन करने में यह सबसे आगे था। युद्ध में जो भी अक्षौहिणी होती थी उसमें हाथी, घोड़े, रथ, पदाती सब हुआ करते थे। रथ सैन्य में तो महारथी गिना ही दिये, भूरिश्रवा कुशल गज-संचालकों में आ गया।

एक महत्त्वपूर्ण नाम यहाँ छूटा है जयद्रथ का। अभिमन्यु-वध में सबसे बड़ा हाथ जयद्रथ का ही था। अभिमन्यु जिस समय उस व्यूह में प्रवेश करने लगा उस समय उसने कहा 'मैं व्यूह में प्रवेश करना तो जानता हूँ लेकिन वापिस निकल कर आना नहीं जानता।' तब सात्यकि और भीम ने कहा था 'एक बार तुम अन्दर चले जाओगे तो हम एक साथ तुम्हारे पीछे आ जायेंगे। एक बार तुम अन्दर घुस गये तो फिर हम सम्भाल लेंगे।' परन्तु जयद्रथ व्यहू के द्वार पर ही खड़ा था। अभिमन्यु को तो पता था कि व्यूह के अन्दर कैसे जाना है। भीम और सात्यकि सोचते तो थे कि हम भी इसके साथ ही चले जायेंगे परन्तु वह व्यूह-रचना ऐसी थी कि जैसे ही अभिमन्यु अन्दर गया, वह तुरन्त फिर बन्द हो गया! फिर सारा प्रयत्न करके भी भीम अन्दर नहीं जा पाया। अभिमन्यु अकेला पड़ जाने से मारा गया। इसी का बदला लेने के लिये अर्जुन ने घमासान युद्ध कर जयद्रथ को मारा। जयद्रथ के पिता सिन्धु नदी के किनारे तपस्या कर रहे थे कि 'जो भी मेरे लड़के का सिर गिरायेगा उसके सिर के भी हजार टुकड़े हो जायेंगे'। अर्जुन इस बात को जानता था। इसलिये अर्जुन ने जयद्रथ को बाण से ऐसा मारा कि वह बाण उसके सिर को लेकर सिन्धु नदी के किनारे उसके बाप की गोद में जाकर गिरा! खून से लथपथ सिर को देखकर वे हड़बड़ाकर उठे तो उन्हीं के हाथ से जयद्रथ का सिर गिर गया, उनके ही सिर के फलतः सौ टुकड़े हो गये। इस प्रकार जयद्रथ भी अश्वत्थामा, कृपाचार्य इत्यादि की तरह करीब-करीब अजेय जैसा ही था। और जयद्रथ चूँकि पहले पाण्डवों के द्वारा परास्त किया गया था इसलिये अन्दर से उनके प्रति पूरी तरह खार खाये हुए भी था। इसलिये इसका भी नाम लिया जा सकता था। किंतु दुर्योधन द्योतित कर रहा है कि अपने पक्ष में इतने ज़्यादा वीर योद्धा हैं कि सबके नाम नहीं गिनाये जा सकते। अतएव जयद्रथ जैसे का नाम यहाँ छोड़ दिया।।८।।

अपनी सेना के सभी नायकों की प्रशंसा में केवल इतना ही कहता है

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

विविध शस्त्रों से प्रहार करने वाले युद्धकुशल और भी बहुतेरे वीर हैं जो सभी मेरे लिये अपने जीवन का भी परित्यागकर (युद्ध में उपस्थित) हैं।

आप लोगों से अतिरिक्त शल्य, कृतवर्मा तथा और भी बहुत-से वीर हैं। वे सब भी मरने तक के लिये तैयार हैं। 'मदर्थे' अर्थात् मेरे साथ सहयोग कर मेरे प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये, पाण्डवों को हराने के लिये अपने जीवन की भी बलि देने को तैयार हैं अर्थात् लड़ाई के बीच से कोई भागने वाले नहीं हैं। आप यह मत समझियेगा कि ये सब भीष्म पितामह और आपकी तरह अन्दर से पाण्डवों की जीत चाहते हों! आप लोग चाहे जैसे हों लेकिन बाकी सब लोगकर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा, जयद्रथ, शल्य, कृतवर्मा आदि सब मेरे लिये लड़ने-मरने के लिये तैयार हैं। 'त्यक्तजीविताः' इसलिये कहा कि सभी सेनानायक क्षात्रधर्म से संस्कृत हैं अतः युद्ध के मैदान में आने के बाद आपसी रिश्तों को याद रखने वाले नहीं हैं। इसी प्रकार आप और भीष्मपितामह अन्दर से चाहे पाण्डवों की जीत चाहें परन्तु युद्ध के अन्दर आप अपने मन में किसी प्रकार का ऐसा भाव नहीं रखेंगे कि 'हम बच जायें, चाहे दुर्योधन हार जाये।' 'अन्ये च' में चकार संग्रहार्थ है अर्थात् दूसरे तो त्यक्तजीवित हैं ही, आप लोग भी 'मदर्थे त्यक्तजीविताः' हैं।

'नानाशस्त्रप्रहरणाः' सब योद्धा शस्त्र एवं प्रहरण में कुशल हैं। तलवार आदि जो हाथ में लेकर चलाये जाते हैं उन्हें शस्त्र कहते हैं। जो प्रहार करने के काम आते हैं जैसे गदा आदि, उन्हें प्रहरण कहते हैं। सेनानी शस्त्रकुशल और प्रहरण कुशल हैं। शस्त्रकुशल हैं इसलिये अर्जुन से डर नहीं और प्रहरणकुशल हैं इसलिये भीम से डर नहीं है। इन दो से दुर्योधन को भय था। इसीलिये पाण्डव पक्ष को गिनाते हुए 'भीमार्जुनसमा' कहकर पहले भीम का नाम लिया था। यहाँ भी इसे ये दोनों याद आ रहे हैं। भीम उनके यहाँ कुशल है तो अपने यहाँ भी ऐसे बहुत लोग कुशल हैं। प्रहरण-कुशलता में, गदा-युद्ध के अन्दर भीम की बराबरी करने वाला दुर्योधन ही था। शस्त्र-कुशल तो भीष्म, द्रोण भी थे। 'नानाशस्त्रप्रहरणाः' कहकर अपना संकेत भी कर दिया।।९।।

'मैं घबड़ाया नहीं हूँ', इस बात को बताने के लिये कहता है

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

भीष्म से सब तरह रक्षित वह हमारी सेना अपर्याप्त है, जबकि भीम द्वारा सब तरह रक्षित इनकी यह सेना पर्याप्त है।

'अस्माकं बलम् अपर्याप्तं' हमारी जो फौज है वह भीष्म के सेनापतित्व के अन्दर होने के कारण अपर्याप्त है, कोई दूसरा इसे जीत सके यह सम्भव नहीं है। हमारी फौज ग्यारह अक्षौहिणी है इसलिये अपरिमित है। भीष्म युद्ध में सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हैं, केवल शस्त्र विशारद नहीं, शस्त्र-शास्त्र दोनों में विशारद हैं। अतः बहुत ही सूक्ष्म बुद्धि वाले हैं। केवल

अपनी बुद्धि से काम करना एक बात है। शास्त्र से अनेक लोगों के अनुभवों को जानकर कार्य करने से सामर्थ्य और ज्यादा बढ़ जाती है। ऐसे भीष्म के द्वारा अभिरक्षित होने से हमारी फौज किसी के द्वारा जीती जा सके, यह संभव नहीं। 'एतेषां तु इदं बलं पर्याप्तं' पाण्डव लोगों की फौज तो केवल सात अक्षौहिणी है इसलिये हमारी ग्यारह अक्षौहिणी उन्हें कुचल देगी। सात और ग्यारह में बहुत फर्क होता है। हमारी फौज भीष्म से अभिरक्षित है जो अत्यंत सूक्ष्म बुद्धि वाले और शस्त्र-शास्त्र विज्ञाता हैं जबकि इनकी फौज भीम जैसे चपल-बुद्धि के हाथ में है। जैसे अपने सेनापति का नाम लिया वैसे ही पांडवों के भी सेनापति का नाम लेना चाहिये, परन्तु उसका नाम नहीं लेकर भीम का नाम लिया, तात्पर्य यह है कि भीष्म नाम के अन्तर्गत भीम आ जाता है। भीम में आधा मूर्धन्य 'ष' डाल दो तो भीष्म शब्द बन जाता है। भीष्म के अन्तर्गत भीम है अतः भीष्म भीम की अपेक्षा अपर्याप्त हो यह ठीक ही है! और भी एक कारण है : भीम ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि 'मैं दुर्योधन के सौ भाईयों को मारूँगा।' इसलिये दुर्योधन के मन में भीम छाया हुआ था। अतः भीम का ही नाम लिया।

दूसरा अर्थ उसकी घबड़ाहट का भी द्योतक है : हमारा बल उन भीष्म से अभिरक्षित है जो अन्दर से पाण्डवों की जीत चाहते हैं। यदि सेनाध्यक्ष ही सामने वाले की जीत चाहे तो वह ग्यारह अक्षौहिणी होने पर भी अपर्याप्त ही है अर्थात् काफी नहीं है जबकि सामने वालों का बल चाहे सात अक्षौहिणी ही है, पर भीम के द्वारा अभिरक्षित है जो दृढप्रतिज्ञ है कि 'मैं तो ज़रूर ही मारूँगा।' उसके मन में भीष्म और आपकी तरह कोई दया का भाव नहीं है। उसके द्वारा अभिरक्षित होने से उनकी सात अक्षौहिणी होने पर भी पर्याप्त है, काफी है।

पर्याप्त-अपर्याप्त शब्दों के विविध अर्थ समझते हुए आचार्यों ने अनेक अर्थ इस श्लोक के लिये हैं।।१०।।

इतना सब कहने पर और छेड़ने पर भी द्रोणाचार्य पूरे उदासीन रहे कि इस मूर्ख को क्या जवाब दें! दुर्योधन ने तब अपना राजापना दिखाया कि 'मैं तुम्हारे पास भय से नहीं आया हूँ। मैं तो तुम्हें तुम्हारा काम बताने आया हूँ।'

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

सभी मोर्चों पर अपने नियत स्थानों पर स्थित हुए आप सभी भीष्म की ही रक्षा करें।

जिस समय युद्ध के मैदान में योद्धा लोग पहुँचते हैं उस समय उनको अलग-अलग जगह पर अलग-अलग जिम्मेदारी दी जाती है, जिसे अंग्रेजी में 'फॉर्मेशन' कहते हैं। उसी को अयन कहते हैं। जहाँ-जहाँ जिसे सेनापति ने नियुक्त कर दिया है उन सब जगहों पर अपने-अपने भाग में सब स्थित होकर रहते हैं। चारों तरफ तो भीष्म ने लोगों को नियुक्त किया था और मध्य में स्वयं थे।

युद्ध के प्रारभ में ही दुर्योधन ने यह पूछा था कि क्या कोई ऐसा भी है जो दोनों पक्ष की अठारह अक्षौहिणी सेना को जीत सके? तब भीष्म ने कहा था कि 'यद्यपि मैं बुड्ढा हो गया हूँ, फिर भी एक दिन में अठारह अक्षौहिणी को मैं अकेला मार सकता हूँ। द्रोणाचार्य तीन दिन में मार सकते हैं।' दुर्योधन ने पूछा'फिर क्या एक ही दिन में लड़ाई हो जायेगी?' तब भीष्म ने कहा'लड़ाई तो लड़ाई के ढंग से होती है। मैं अकेला रोज दस हजार योद्धाओं को मारूँगा। जब दस हजार मर जायेंगे, उसी समय उस दिन युद्ध की छुट्टी कर दूँगा।' मध्य में रहकर इन्हें अकेले दस हजार तो मारने ही हैं, यह दुर्योधन जानता था, फिर भी एक दिन उसने कहा 'आप कहते तो हो कि दस हजार मार दिये, लेकिन यहाँ तो सब वैसे ही दिखाई देते हैं!' भीष्म के प्रत्येक बाण पर एक निश्चित संकेत होता था। उन्होंने अपने बाणों से मरे लोगों से वे बाण निकलवाकर दुर्योधन को दिखवाये थे ताकि उसे उन पर संदेह न रहे।

क्योंकि दुर्योधन जानता है कि भीष्म के सहारे ही जीत हो सकती है इसलिये कहता है कि जहाँ-जहाँ आप लोगों को उन्होंने रख दिया है वहाँ यह ख्याल रखना कि भीष्म पर आक्रमण न हो सके। भीष्म तो दस हजार को मारने और सैन्य व्यवस्था में लगे होंगे, इसलिये उन्हें शायद अपना ख्याल न रहे, आप सब लोग उनका ख्याल रखते हुए सेनापति की रक्षा का काम करना। भीष्म सेनापति थे, सब चीज़ें जानते थे। परन्तु दुर्योधन यह कहकर द्रोणाचार्य को याद दिलाना चाहता है, कि केवल आप ही बड़े नहीं हैं, भीष्म भी हैं, उनकी रक्षा जरूर करना।।११।।

थोड़ी दूर खड़े भीष्म देख रहे थे कि दुर्योधन द्रोणाचार्य से खुस-पुस कर रहा है, डर के मारे इसका रंग भी पीला पड़ रहा है और जो बातें यह कह रहा है वे द्रोणाचार्य को बिल्कुल अच्छी नहीं लग रही हैं, वे उदासीन भाव से खड़े हैं। ताकि प्रारंभ में ही कुछ गड़बड़ी न हो जाये इसलिये भीष्म चाहते थे कि दुर्योधन वहाँ से हटे। भीष्म का मतलब था कि यह चाहे स्तुति करे या निन्दा करे, चाहे हम लोगों का अपमान करे, कुछ भी करे, हम लोगों को तो अपना शरीर युद्ध के अन्दर बलिदान करना ही है। अतः उसका साहस बढ़ाने के लिये और वह वहाँ से हटे इसके लिये भीष्म ने शंखनाद किया

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

कुरुकुल के सबसे बुजुर्ग व प्रतापी भीष्म पितामह ने दुर्योधन को प्रसन्न करते हुए ऊँचे स्वर से सिंह के समान गर्जकर शंख बजाया।

चूँकि दुर्योधन पाण्डव सेना और उनके बड़े-बड़े महारथियों को देखकर अत्यंत भयभीत हो रहा था इसलिये उसके भय को निवृत्त करने के लिये और उसको हर्ष हो इसके लिये 'हम युद्ध के लिये तैयार हैं, युद्ध प्रारम्भ कर रहे हैं,' यह दर्शाने के लिये

उच्चस्वर से उन्होंने शंख बजाया ताकि उसे संतोष हो कि सचमुच में भीष्म ने लड़ाई का डंका बजा दिया है, अब लड़ाई हो जायेगी, समझौते आदि की कोई बात नहीं होगी। ऐसा क्यों किया? क्योंकि दुर्योधन कौरव था और कुरुकुल में छोटा था। छोटा चाहे जितनी नालायकी करे लेकिन बड़े तो उसे प्रसन्न करने की ही चेष्टा करते हैं। इसलिये भीष्म को कुरुवृद्ध कहा। आचार्य ने तो इसे जवाब भी नहीं दिया, उदासीन भाव से उसकी सारी बातें सुन रहे थे। भीष्म ने सोचा 'अब मैं यह युद्ध-निनाद कर दूँगा तो वह उनके द्वारा की हुई उपेक्षा से अपने को उपेक्षित महसूस नहीं करेगा क्योंकि मैं तो युद्ध की तैयारी कर ही रहा हूँ।' भीष्म सबके दादा थे, सबसे ज्यादा बुड्ढे थे फिर भी बड़े ज़ोर से सिंहनाद किया। सिंहनाद विरोधी में भय उपजाने के लिये किया जाता है और अपने लिये बड़े हर्ष का कारण बनता है। इसलिये उन्होंने 'हम ही जीतेंगे' इसको बताने वाला सिंहनाद किया। सिंहनाद की विशेषता वर्त्तमान काल में कराटे वाले जानते हैं। वे जब किसी के ऊपर आक्रमण करने जाते हैं, अथवा ईंट ही तोड़ने जायें, तो बड़े ज़ोर की आवाज़ पहले करते हैं, फिर मारते हैं। कभी किसी कराटे वाले से पूछो कि मारते हो, यह ठीक है लेकिन यह हल्ला क्यों मचाते हो? वे कहते हैं कि यह जरूरी है क्योंकि इससे विरोधी दब जाता है। जो लोग ज़ोर से बोलते हैं उनके सामने ताकत वाला भी दब जाता है। बात में दम कुछ नहीं होता लेकिन बोलते ज़ोर से हैं इसीलिये सामने वाला दब जाता है। इसी प्रकार ज़ोर से सिंह- नाद करना सामने वाले के हृदय में एक तरह के भय का संचार करता है और अपनी जीत को निश्चित करता है। इसलिये भीष्म ने सिंहनाद किया। 'सिंहनाद करके' कहना ही पर्याप्त है क्योंकि सिंहनाद में नाद तो आ ही गया, फिर 'विनद्य' कहना कुछ विचित्र लगता है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से 'सिंहनादम्' णमुल्-प्रत्ययान्त शब्द है अतः धातु का पुनः प्रयोग उचित है।

सिंहनाद दुर्योधन को पूरी तरह दिलासा दिलाने के लिये था। फिर युद्ध प्रारम्भ हो गयाइसको बताने के लिये शंख को भी बजाया। प्राचीन काल से रीति है कि शंख बजने से युद्ध का प्रारम्भ होता है। इसके द्वारा यह भी कह दिया कि 'युद्ध की तैयारी हो गई, इसलिये युद्ध शुरू कर दो।' युद्ध की घोषणा करने का उनका मतलब यह भी था कि युद्ध करना प्रारंभ हो जाये तो फिर दुर्योधन इधर-उधर की बातें करके दूसरों को विक्षेप नहीं करेगा। लड़ाई शुरू हो जाये इसलिये उन्होंने शंख बजा कर युद्ध की घोषणा करना आवश्यक समझा। जब उन्होंने शंख बजाया तो युद्ध की घोषणा होने के साथ ही दूसरे सब लोग भी शंख बजाने लगे।।१२।।

सेनापति के शंख बजाने से युद्ध प्रारम्भ होने की सूचना हो जाती है। जब उन्होंने शंख बजा दिया तो

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

फिर सहसा ही शंख, भेरी (नगाड़े), पणव (ढोल), आनक (मृदंग), गोमुख (आदि अनेक बाजे) बज उठे (जिनसे उठा) वह नाद भयावह हो गया था।

'ततः' अर्थात् सेनापति भीष्म की प्रवृत्ति के बाद; जैसे ही सेनापति ने युद्ध का घोष किया वैसे ही जितने भी उनके अधीन सेना-नायक थे उन्होंने भी अपने-अपने युद्ध का द्योतन करने वाले वाद्यों को बजा दिया। द्रोणाचार्य, कर्ण, विकर्ण आदि ने भी शंख बजाये, साथ में नगाड़े भी बजने लग गये। युद्ध में अभी भी ऐसा करते हैं। शंख का प्रयोग तो पहले से कम हो गया है परन्तु नगाड़ा तो अब भी बजता है जब युद्ध प्रारंभ होता है। आनक, गोमुख आदि सब भिन्न-भिन्न वाद्य हैं, हैं ये प्रायः कूट या मारकर बजाने वाले ही, शंख फूंक कर बजाया जाने वाला है। यहाँ बहुवचन अनुक्त वाद्यों के उपलक्षण के लिये है क्योंकि जहाँ युद्धशास्त्र का वर्णन आया है वहाँ अन्य भी अनेक बाजे बताये गये हैं। सब बाजे बजेयही तात्पर्य है। 'सहसा एव अभ्यहन्यन्त' का मतलब होता है इकट्ठे ही सब बजे। ऐसा नहीं कि जब शंख बजना बन्द हो तब नगाड़ा बजे, जब नगाड़ा बजना बन्द हो तब पणव बजे आदि; कोई क्रम नहीं है। 'दध्मौ' शंख के लिये कह आये हैं इसलिये 'अभ्यहन्यन्त' से उसका भी संग्रह कर देना चाहिये। 'स शब्दः तुमुलः अभवत्' उससे जो आवाज़ हुई वह बड़ी भयंकर थी। जब सबों ने इतनी तेज़ ध्वनि की, सिंहनाद और शंखनाद भी किया, तब आवाज़ तो भयंकर होनी ही थी। ऐसी आवाज़ इसलिये की जाती है कि सामने वाला हतोत्साह हो जाये। आवाज़ करने के कई तरह के ढंग होते हैं। अनजान व्यक्ति सीधे-सीधे करें तो खास आवाज़ नहीं होती लेकिन योद्धाओं की आवाज़ बड़े जोर की होती है। सामने वाले का लड़ने का हौसला कम करने के लिये ही यह आवाज़ की जाती है।।१३।।

यदि सामने वाला कमज़ोर होता है तब तो प्रतिपक्षियों की आवाज़ से थोड़ा घबड़ाता है परन्तु सामने वाला यदि तगड़ा होता है तो फिर उसको और उत्साह आता है! इसलिये पहलवान् एक ताल ठोकता है तो सामने वाला उससे भी जोर से ठोकता है कि 'मैं तुम से कमज़ोर नहीं हूँ।' यद्यपि उन वाद्यों का शब्द बड़े जोर का था तथापि उससे पाण्डवों के मन में घबड़ाहट नहीं होकर उल्टा उनमें वीर रस का उद्रेक हुआ अतः

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।१४।।

तदनन्तर सफेद घोड़ों से जुते महान् रथ पर चढ़े श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख फूँक दिये।

पाण्डव-सेना का सेनापति धृष्टद्युम्न था, अंत तक वह सेनापति रहा, परन्तु सचमुच में उनकी फौज में जो प्राधान्य अर्जुन को प्राप्त था वह और किसी को नहीं था। यह वैसा ही था कि जैसे इस समय सोनिया के प्राधान्य में प्रधानमंत्री तो मनमोहन सिंह

बन गये, फिर भी महत्ता सोनिया की है। इसलिये बजाय धृष्टद्युम्न के, अर्जुन ने ही सर्वप्रथम युद्ध का उद्घोष किया। अर्जुन को दिव्य रथ मिला हुआ था। जब उसने खाण्डव वन का दहन करवाया था, अग्नि की रक्षा की थी, तब अग्नि ने सबको जलाया था, वहीं इन्द्रप्रस्थ की स्थापना की गई थी। उस समय अग्नि ने प्रसन्न होकर उसे एक रथ दिया और कहा कि 'यह रथ दूसरे के द्वारा जीता नहीं जा सकता।' उसके अन्दर चार घोड़े बिल्कुल सफेद रंग के 'हय' नाम के घोड़े थे। हय नाम घोड़े का तो है ही, हय का यह अर्थ भी होता है 'हे आकाशे याति' जो आकाश में उड़कर जाते हैं उन्हें हय कहते हैं। उड़ने का मतलब परों (या पंखों) से उड़ना नहीं समझना! लोक में भी कोई तेज़ी से जा रहा हो तो कहते हैं उड़कर जा रहा है अर्थात् बहुत तेज़ चलता है। पृथ्वी पर चलने पर पृथ्वी चलने में कुछ रुकावट या अवरोध पैदा करती है लेकिन आकाश के अन्दर इस प्रकार का अवरोध नहीं होता, इसलिये जब बहुत तेज़ी से चलते हैं तब उड़ना कहते हैं। तात्पर्य तो यह है कि ऐसे चल रहे हैं कि किसी प्रकार के प्रतिरोध को प्राप्त नहीं कर रहे हैं। इसी प्रकार अर्जुन के ये हय या घोड़े अत्यंत तेज़ चलने वाले थे। अर्जुन का महत् मायने कोई लम्बे-चौड़े परिमाण वाला नहीं वरन् महान् अर्थात् दिव्य या अत्यंत तेजस्वी रथ था।

उस रथ में दो जने बैठे थे। सभी रथों में दो जने बैठते हैंरथी और सारथि। रथ के ऊपर जो मालिक बनकर बैठता है उसे रथी और जो उसके निर्देश के अनुसार रथ को चलाता है उसको सारथि कहते हैं। अर्जुन तो वहाँ प्रधान था ही क्योंकि रथी था। परन्तु उसके जो सारथि थे वे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण थे। युद्ध-भूमि में जितने लोग मौजूद थे उन सबमें सबसे ज्यादा युद्ध-विशारद श्री कृष्ण ही थे। राजसूय यज्ञ के समय प्रश्न उठा था कि क्षत्रियों में सबसे ज्यादा श्रेष्ठ कौन है? भीष्म आदि कइयों के नाम लिये गये परन्तु अंत में राय हुई कि श्री कृष्ण ही प्रधान हैं इसलिये राजसूय यज्ञ में उनकी ही प्रथम पूजा की गई। दुर्योधन के साथी शिशुपाल ने इसका बड़ा विरोध किया और इसलिये वह मारा गया। पाण्डव दल में सेनापति धृष्टद्युम्न था परन्तु प्रधान अर्जुन था। जो क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ माने जा चुके थे, और पाण्डव भी जिन्हें श्रेष्ठ मानते थे, उन श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता का क्या कहना! युद्ध की घोषणा न धृष्टद्युम्न ने की, न अर्जुन ने की वरन् माधव श्रीकृष्ण ने की। 'माधव''मा' अर्थात् माया लक्ष्मी, उसके 'धव', पति, मायाधीश श्रीकृष्ण हैं। अतः माया या लक्ष्मी के द्वारा जो जीत प्राप्त होनी है वह सब तो उनके हाथ में ही है। उन्हीं ने पांडवों की तरफ से युद्ध की घोषणा की है। उनके साथ बैठा था अर्जुन। जब भगवान् ने शंख बजाया तब अर्जुन ने भी अपना शंख बजाया। इनके शंख दिव्य थे 'दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः'।।१४।।

भगवान् और पाण्डवों के शंखों के नाम बताते हैं

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

हृषीकेश कृष्ण ने पांचजन्य, धनंजय अर्जुन ने देवदत्त और भयानक कर्म करने वाले वृकोदर भीम ने पौण्ड्र नामक उत्तम शंख फूँका।

श्री कृष्ण के शंख का नाम पांचजन्य था। कोशकार कहते हैं कि सारी मनुष्य जाति को पंचजन कहते हैं। पंचजन अर्थात् सारे मनुष्यों के हित के लिये अर्थात् उनके दुःखों के निवारण के लिये जो शंख है वह पांचजन्य शंख है। श्री कृष्ण सबके हित के लिये कार्य करते हैं। इसमें शंका होती है कि श्री कृष्ण ने तो यह कहा है 'विनाशाय च दुष्कृतां' दुष्ट कर्मियों का नाश करने के लिये मैं आया हूँ; इसलिये, सत्कर्मियों का हित करते हैंयह समझ में आता है, परन्तु दुष्टकर्मियों का तो हित नहीं करते? उत्तर है कि दुष्टकर्मियों के नाश में ही उनका भी हित है।

एक मौलवी साहब थे। उनका कोई यजमान मर गया। मौलवी जी के पास खबर आई, उसके लिये मरसिया पढ़ने के लिये उन्हें जाना था। लेकिन उस दिन उन्हें कोई ज़रूरी काम था, उन्होंने अपने लड़के से कहा'मेरे बदले तुम वह ाँ चले जाओ।' उसने कहा'मैं चला तो जाऊँगा लेकिन वहाँ जाकर मैं क्या बात करूँ? आप जाते हैं तो कुछ सुनाते हैं। वह सब तो आपने मुझे पढ़ाया नहीं है।' मौलवी साहब ने कहा 'जब जनाज़ा जा रहा होगा तब लोग रास्ते में मृत व्यक्ति के बारे में बात कर रहे होंगे, तुम उनकी बातें सुन लेना और उसी के आधार पर बोल देना।' मौलवी साहब का बेटा वहाँ देरी से पहुँचा। जनाज़ा जा रहा था। यह भी जनाज़ा ले जाने वालों के बीच में मिलकर पीछे-पीछे चलने लगा। पीछे जो लोग थे वे आपस में बातें कर ही रहे थे कि 'अच्छा हुआ यह मर गया, बड़ी दुष्ट प्रकृति का था। इसका सारा घर इसके पीछे बदनाम हो रहा था। इसका बाप भी बड़ा अच्छा आदमी था। इसका भाई भी बड़ा अच्छा है परन्तु यह बड़ा ही दुष्ट था। लोगों से पैसा ले लेता था। लोग इसके बाप के कारण दे भी देते थे, लेकिन यह पैसा लेकर फिर कभी वापिस नहीं करता था। इसलिये अच्छा हुआ चला गया, नहीं तो घर की बदनामी बढ़ती जा रही थी।' जब वहाँ पहुँच कर मरसिया पढ़ने का मौका आया तब उसने कहना शुरू कर दिया कि 'अच्छा हुआ मर गया। बदनाम तो भाई हो रहे थे। वह ज़िन्दा रहता तो और ज़्यादा बदनामी होती। मर गया तो अच्छा ही हुआ।' लोग बेचारे क्या करते! चुप-चाप बैठे सुनते रहे। फिर उसे दफना दिया। उसके घर वाले प्रायः तो मौलवी को बड़ी दक्षिणा देते थे पर इसे कुछ नहीं दिया, उससे बात भी ठीक से नहीं की। वह वापिस घर आ गया। शाम को मौलवी साहब से कहा 'वे लोग तो बड़े कंजूस हैं, एक धेला दक्षिणा भी नहीं दी। जैसा सब लोग कह रहे थे, मैंने वैसा ही सुना दिया कि बड़ा दुष्ट आदमी था। बाप, भाई सबको बदनाम कर रहा था। यही बात सब लोग कह रहे थे।' मौलवी जी ने सिर पर हाथ रख कर कहा'गजब हो गया! ऐसा नहीं कहा जाता।' उसने कहा'आपने

ही तो कहा था; लोग यही कह रहे थे, मैंने भी वही कह दिया।' मौलवी बेटे पर बहुत नाराज हुए कि 'तू बड़ा नालायक है, इतना भी नहीं जानता।' अगले दिन मौलवी खुद उसी यजमान के घर पहुँचे और कहने लगे 'मैं तो किसी काम में फँसा था इसलिये लड़के को भेजा लेकिन वह बड़ा नालायक निकला। अब की बार तुम्हारा बड़ा लड़का मरेगा तो चाहे जितना काम होगा, सब छोड़कर खुद आऊँगा।' वे लोग बड़े अचम्भे में पड़ गये कि 'छोटे मियाँ तो छोटे मियाँ, बड़े मियाँ सुभानअल्लाह! यह तो बेटे के मरने की बात करता है।'

दुष्ट लोग जितना ज्यादा ज़िन्दा रहेंगे उतना ज्यादा अहित करेंगे, अपना भी और दूसरे का भीयह बात तो उसने ठीक ही कही थी अतः ऐसे लोगों का जल्दी मरना अच्छा है। वे जितना ज़िन्दा रहेंगे उतनी ही अपने लिये नरक की ज्यादा तैयारी करेंगे, दूसरे को भी दुःखी करेंगे। इसलिये भगवान् ने कहा 'विनाशाय च दुष्कृताम्।' लगता तो है कि वे दुष्ट कर्मियों का विरोध कर रहे हैं, परन्तु सच यह है कि दुष्ट कर्मी का जल्दी मरने में हित ही है। इसलिये, भगवान् सबके हित का ही कार्य करते हैं। दुष्टों का नाश करना उनके लिये हितकर ही है। चिकित्सक देखता है कि रोगी का अपेंडिक्स दुख दे रहा है तो वह उसे काट देता है। यद्यपि उसने तुम्हारे शरीर के हिस्से को काट कर अलग किया, तथापि तुम्हारे हित के लिये ही किया। इसीलिये छाँदोग्य उपनिषद् में बताया कि पंचजन अर्थात् चार वर्ण और पाँचवें निषाद कह देने से बाकी सभी उसमें आ जाते हैं। भगवान् सबके हित के लिये ही करते हैं, सबका अनिष्ट निवारण ही करते हैं, इसलिये उनके शंख को पांचजन्य कहा जाता है।

और भी एक कारण हैः पांचजन्य शंख भगवान् को समुद्र से प्राप्त हुआ था। उनके पिता जी ने उनसे एक बार यह प्रार्थना की कि 'तुम्हारे पहले सात भाई कंस ने मार दिये। हम लोगों को उन्हें देखने का भी मौका नहीं मिला। तुम बहुत सामर्थ्य वाले हो, उन सातों को हम देख लें, ऐसा कुछ डौल बिठाओ।' भगवान् ने ध्यान करके यमराज के द्वारा पता लगाया कि वे कहाँ हैं? वे लोग उस समय एक असुर के अधीन होकर रहते थे। उस असुर का नाम पंचजन था। उनको लाने के लिये भगवान् गये। उस असुर को मार कर अपने सातों भाईयों को लाकर पिता जी को दिखाया। तभी वहाँ से उसका विशिष्ट शंख लाये थे। पंचजन से प्राप्त किया गया, इसलिये उसे पांचजन्य शंख कहा गया। यह पंचजन असुर भगवान् के सातों भाइयों को अपने अधीन करके रख रहा था। इसी प्रकार से जो असुर हुआ करते हैं वे देव-संबंधी लोगों को अपने अधीन या अपने नीचे रखते हैं। देव असुरों से दबे रहेंयह भगवान् को अच्छा नहीं लगता। इसलिये देवों को असुरों से छुड़ाना सबके लिये हितकारी है।

पांचजन्य शंख को माधव ने बजाया। भगवान् का दूसरा नाम हृषीकेश लिया है। हृषीका का मतलब इन्द्रियाँ होता है। इन्द्रियों का जो अधिपति हो वह हृषीकेश है। सभी की इन्द्रियों के अधिपति भगवान् हैं। अतः सभी क्रियाओं के प्रवर्तक भगवान् ही हैं। अतः

क्रिया की घोषणा भगवान् की तरफ से हो यही सबसे उचित है। इसके द्वारा यह भी कह दिया गया कि सभी की इन्द्रियों के प्रवर्तक होने से भीष्म द्रोण आदि की इन्द्रियों के प्रवर्तक भी वे ही हैं। किस समय इन्द्रियों को कैसी प्रवृत्ति करनी है, यह उन्हीं के हाथ में है। अतः जिस पक्ष में हृषीकेश हैं, उस पक्ष की ही जीत सम्भव है क्योंकि विपक्ष वालों की इन्द्रियों से भी वही कार्य करायेंगे। इस प्रकार हृषीकेश पद का प्रयोग करके कहा कि 'भीष्म, द्रोणादि की इन्द्रियाँ भी इनके वश में हैं। इसलिये हे धृतराष्ट्र! तू अपने मन में कोई आशा मत बाँध।'

उसके बाद अर्जुन ने देवदत्त नाम का दिव्य शंख बजाया। यह शंख इन्द्र ने अर्जुन को दिया था, इसकी ध्वनि से ही बहुत से लोग मारे जाते थे। भगवान् और अर्जुन दोनों के दिव्य शंख थे। भीष्म आदि के शंखों को दिव्य नहीं कहा गया। उनका नाम भी नहीं लिया गया है क्योंकि कोई प्रसिद्ध बाजा होता है तब तो उसका नाम पड़ जाता है, परन्तु सामान्य बाजे का नाम नहीं पड़ता। बहुत-सी कलमें बाज़ार में मिलती हैं जिन पर कोई नाम अंकित नहीं रहता पर जो नामी कलम होती हैं उनके हर अंग पर नाम लिखा रहता है। माधव और अर्जुन आदि के शंख तो प्रसिद्ध नामों के द्वारा अंकित थे लेकिन भीष्म आदि के तो सामान्य शंख थे। अर्जुन के दिव्य शंख का नाम देवदत्त था। उसे 'अर्जुन ने बजाया' न कहकर 'धनंजय' ने बजाया कहा। धनंजय नाम लिया क्योंकि अर्जुन ने राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने के लिये समस्त भूमण्डल में घूमकर राजाओं को परास्त करके उनसे कर वसूल किया था। इस प्रकार से सारे भूमण्डल को जिसने जीता और वहाँ से धन भी एकत्रित करके लाया ऐसा यह धनंजय अर्जुन है। जैसे माधव हृषीकेश, इन्द्रियों के प्रवर्तक हैं वैसे ही यह जीतने वाला है इसलिये इसे धनंजय कहा। अथवा जब वे लोग अभी थोड़े दिन पहले विराट् नगर में गोधन को जीतने गये थे तब दुर्योधन को जिन पर बड़ा घमण्ड है वे भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, सभी वहाँ थे पर सब मिलकर भी उस धन को नहीं ला पाये और अर्जुन ने अकेले ही उस गोधन पर जय कर लिया। अतः ऐसा जो यह धनंजय है उसने और हृषीकेश ने अपने-अपने दिव्य शंख बजाये।

'पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः' भीम ने अपना पौण्ड्र नाम का शंख बजाया। भीम भीमकर्मा है, भयानक कर्म करने वाला है। भीम के सारे ही कर्म भयानक हैं, हिमाचल प्रदेश में हिडिम्ब राक्षस जो सबको मारता था, उसको भीम ने मल्लयुद्ध में पछाड़कर मार डाला। बाद में उसकी बहन हिडिम्बा से विवाह किया जिससे घटोत्कच पैदा हुआ। इसी प्रकार विराट् नगर में विराट् का एक साला था जो द्रौपदी के साथ दुष्ट कर्म करने में प्रवृत्त हो रहा था। उसे भी भीम ने ऐसा मारा कि उसके सिर को पेट में डाल दिया! अगले दिन उसे पहचानना भी मुश्किल हो गया। इसी प्रकार जब लाक्षागृह से बचकर गये थे, एक गाँव में ठहरे हुए थे। उस गाँव में हर साल एक आदमी को अपने आपको एक राक्षस को समर्पण करना पड़ता था, वह राक्षस उसे खा लेता था। गाँव के

लोगों ने बड़े हाथ पैर जोड़े थे तब यह निर्णीत हुआ कि साल में एक आदमी भेज देने पर वह राक्षस गाँव में नहीं आयेगा। उसके लिये सबकी बारी निश्चित कर दी गई कि इस वर्ष आमुक के घर से और अगले वर्ष अमुक के घर से आदमी भेजा जायेगा, यही क्रम चल रहा था। जिस घर में जाकर पांडव ठहरे थे तभी वह दिन आ गया जब उस घर से आदमी भेजना था। लड़के की माँ महान् दुःखी थी। कुन्ती ने उससे पूछ लिया 'क्या बात है, तू इतनी दुखी क्यों है?' उसने कहा'हम लोगों को एक घर से हर साल एक आदमी राक्षस के पास भेजना पड़ता है जो उसे खा लेता है। इस बार हमारी बारी आ गयी है, इसलिये भेजना ही पड़ेगा।' कुन्ती ने कहा'तुम मत भेजना।' उसने कहा'नहीं भेजेंगे तो वह राक्षस आ कर सारे गाँव को दुःखी करेगा।' कुन्ती ने कहा'मेरे पाँच बेटे हैं, मैं एक बेटा भेज देती हूँ।' वह कहने लगी'मैं अतिथि के साथ ऐसा नहीं कर सकती।' कुन्ती ने कहा 'यह जो मेरा लड़का भीम है इसको देवताओं का वरदान है, इसलिये इसको भेजती हूँ, तुम घबड़ाओ नहीं, यह जाकर वापिस आ जायेगा।' बुढ़िया मना करती रही लेकिन कुन्ती ने समझा दिया और भीम को भेज दिया गया। उस राक्षस के लिये केवल आदमी ही नहीं भेजा जाता था, कई गाड़ियों में खाने की चीज़ें भी ले जाई जाती थी। भीम वहाँ गया। वहाँ जाकर साथ भेजी गई गाड़ियों का सामान खुद ही खाने लग गया! गाड़ी वाले ने कहा'तुम खा रहे हो, वह आयेगा तो हमें मार डालेगा।' भीम ने कहा'आने दो, मैं सलट लूँगा।' चूँकि कई गाड़ी सामान खा लिया इसलिये उसे यहाँ वृकोदर कहा है कि बहुत खा लेता है। आज तक भी जब भोजन नहीं पचता है तब भीम का स्मरण कर लो तो हजम हो जाता है!

'अगस्त्यं कुम्भकर्णं च शनिं च वडवानलम्।
आहारपरिपाकार्थं स्मरेद् भीमं च पंचमम्।।'

अगस्त्य से भीम तकपाँचों को याद कर लो तो जो कुछ खाओगे सब पच जायेगा। राक्षस आया तो पूछा'मेरा सामान किसने खाया?' भीम ने कहा'मैंने खाया।' राक्षस ने कहा'तुमने ऐसी हरकत कैसे की?' भीम ने कहा'तुमसे लड़ने के लिये ही खाया।' भीम ने उसे वहाँ सर्वथा मारकर खत्म कर दिया। प्रातः काल लौटकर गाँव आया तो बुढ़िया ने पूछा'कोई चोट वगैरह तो नहीं आई?' भीम ने कहा'कुछ नहीं, वह कोई खास राक्षस नहीं था।' इस प्रकार भीम के कार्य बड़े भयंकर हुआ करते थे। जब उसने देखा कि अर्जुन ने शंख बजा दिया, तब भीम ने सोचा 'जब श्री कृष्ण और अर्जुन ने बजा दिया तो हम भी बजा दें कि हम युद्ध के लिये तैयार हैं'। उसका भी शंख महाशंख था अर्थात् जैसा वह भीमकर्मा था वैसे ही उसका शंख भी भयंकर आवाज करने वाला था। पौण्ड्र नाम के शंख को उसने बजाया।

वृकोदर शब्द के कई प्रकार के अर्थ शास्त्रों में बताये गये हैं।

‘भक्तिर्ज्ञानं सवैराग्यं प्रज्ञा मेधा धृतिः स्थितिः।
योगः प्राणो बलं चैव वृकोदर इति स्मृतः।।’

भक्ति आदि इन दस को वृकोदर कहा जाता है। वृकोदर का एक अर्थ भक्ति भी होता है। वृक नाम की अग्नि पेट में बहुत से भोजन को पचाने की सामर्थ्य वाली होती है। जिसमें वह पुष्कल मात्रा में हो उसे वृकोदर कहते हैं। भक्ति को भी वृकोदर कहा जाता है क्योंकि भक्ति सांसारिक रोग को खत्म कर देती है। भक्ति का आधारभूत अर्थ प्रेम है। संसार में हमारी प्रवृत्ति का कारण संसार के पदार्थों के प्रति हमारा प्रेम है। इसलिये जितना परमेश्वर से ज्यादा प्रेम होगा उतना संसार के विषयों से प्रेम अपने-आप कम होता जायेगा क्योंकि प्रेम का स्वरूप ही ऐसा है कि जो चीज़ प्रिय होती है उससे भिन्न चीज़ अपने-आप अप्रिय हो जाती है। परमेश्वर से जब प्रेम होता है तब चूँकि परमेश्वर आत्मा है इसलिये अनात्मा से मन हट जाता है। भक्ति को वृकोदर कहा जाता है क्योंकि संसार की सारी आसक्तियों को पचा लेती है।

ज्ञानम्सारा संसार अज्ञान का कार्य है। ज्ञान अज्ञान का नाशक होने से मूल अज्ञान नष्ट हो जाने पर उस से उत्पन्न हुई चीज़ें रह नहीं पातीं। अज्ञान नष्ट हो जाता है तो अज्ञान के सब कार्य भी धीरे-धीरे क्षीण होते चले जाते हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं ‘कुतः शाड्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे स्थितः’ जैसे पेड़ के तने में जो कोटर, खोह होता है वहाँ अगर आग लग जाये तो वह पेड़ कितने दिन हरा रह सकता है! ऐसे ज्ञानाग्नि से जलते चित्त में संसार के प्रति कितना आकर्षण रह सकता है! अतः अज्ञान और उसके सब कार्यों को नष्ट करने वाली होने से विद्या या ज्ञान को भी वृकोदर कहा जाता है।

सवैराग्यम्ज्ञान वैराग्य के साथ होना चाहिये। भक्ति के अन्दर तो परमात्मा से प्रेम है इसलिये वैराग्य हो जाता है। ज्ञान संसार के सारे पदार्थों में मिथ्यात्व-दृष्टि को दृढ कर देता है। मिथ्यात्व-दृष्टि दृढ होने से उन पदार्थों से प्रेम हटता है। परन्तु यहाँ सवैराग्य कहना इसलिये ज़रूरी है कि कई बार मिथ्या चीज़ों के लिये भी प्रवृत्ति देखी जाती है! जानते हैं कि चीज़ मिथ्या है, फिर भी प्रवृत्ति करते हैं। जैसे सब लोग जानते हैं कि जादूगर जिन चीज़ों को दिखाता है वे मिथ्या हैं, फिर भी उसका खेल देखकर उसे दो आना, चार आना देते ही हैं, और उसका खेल देखने भी जाते ही हैं। परन्तु, याद रखना चाहिये, जैसा भाष्यकार कहते हैं कि पदार्थों की जो रज है वह कब तुम्हारे अदृढ ज्ञान को ढाँक दे इसका कोई ठिकाना नहीं है। दृढ ज्ञान वैराग्य के साथ ही होता है। ज्ञान की दृढता को रोकने वाले दो ही दोष हैंआवरण और विक्षेप। आवरण को तो ज्ञान हटाता है, परन्तु वह ज्ञान तब तक दृढ नहीं होता जब तक वैराग्य साथ में न हो। इसलिये ज्ञान की मोक्षपर्यन्त जो स्थिति है वह बिना वैराग्य के नहीं होती। इसलिये आचार्यों ने कहा‘‘वैराग्यस्य फलं बोध ाो बोधस्योपरतिः फलम्’’। बोध श्रवण-मनन से ही होगा। वैराग्य तो बौद्धों को भी है लेकिन

उन्हें ज्ञान नहीं है। वैराग्य का होना दृढ ज्ञान के लिये जरूरी है किन्तु वैराग्य खुद ही पर्याप्त नहीं, श्रवणादि से ज्ञान भी आवश्यक है।

प्रज्ञाज्ञान की सामर्थ्य प्रज्ञा है। बिना प्रज्ञा हुए, कहने वाले का वास्तविक अर्थ हाथ नहीं लगता। अतः अविवेक हटाने के लिये प्रज्ञा की आवश्यकता है। प्रज्ञा सब प्रकार के अविवेकों को नष्ट करती है इसलिये यह भी वृकोदर है। क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, किस परिस्थिति में क्या उचित है, क्या अनुचित है, इन सबके अविवेक को प्रज्ञा नष्ट करती है। मेधाजो हमको प्राप्त हुआ है उसको धारण करने की सामर्थ्य मेधा कही जाती है। जितनी तुम्हारे अन्दर मेधा शक्ति या धारण करने की शक्ति होगी उतनी ही वह तुम्हारी विस्मृति को नष्ट करेगी। अतः इसको भी वृकोदर कहा। धृतिःधैर्य, संसार के अन्दर अनेक कार्यों में असफलता का मूल कारण अधैर्य है। और यह धैर्य आत्मज्ञान के लिये तो और ज्यादा जरूरी हो जाता है क्योंकि आत्मज्ञान सद्यः फल देने वाला है, यहीं पर उसका फल हो जाता है। धर्म का फल मरने के बाद होगा। अतः धर्म करने वाले तो यह मानकर चलते हैं कि इसका फल अभी नहीं होना है। ज्ञान का फल तुरन्त हो जाता है। अतः आदमी बार-बार देखना चाहता है कि 'मेरा ज्ञान सफल हुआ या नहीं।' किन्तु यह देखने की जरूरत नहीं है। कोई बच्चा जब सोने जाने लगा तो उसने माँ से कहा 'अगर मुझे पेशाब लगे तो जगा देना,' माँ ने कहा'जब पेशाब लगेगा तो अपने आप तुम्हारी आँख खुल जायेगी।' अथवा जब तुम भोजन कर रहे हो तो तुम्हें यह जानने के लिये किसी चिह्न की जरूरत नहीं कि तुम्हारा पेट भरा या नहीं! पेट भरने पर अपने आप पता लग जाता है। इसी प्रकार दृढ ज्ञान होने पर हमको यह जिज्ञासा नहीं होती कि ज्ञान हुआ या नहीं क्योंकि वह अपना फल दे देता है, सारे बंधनों को निवृत्त कर देता है। अतः श्रवण-मनन रूप साधन में लगे रहना चाहिये। जब फल आयेगा तब स्वतः पता लग जायेगा, 'हुआ या नहीं'यह देखना नहीं पड़ेगा। अन्यथा 'हुआ या नहीं' इसकी परीक्षा के चक्कर में हम उसे हाथ से खोते रहेंगे। इसलिये भगवान् गौडपाद ने कहा'समं प्राप्तं न चालयेत्' जब समता की प्राप्ति हो तब 'हुआ या नहीं' ऐसा मत सोचो। इसके लिये धैर्य चाहिये। सारी अधीरताओं को हटाने वाली धृति होने से उसे भी वृकोदर कहा। स्थितिःकिसी भी चीज़ में जब मनुष्य स्थित होता है तब चंचलता हट जाती है। चंचलता का मतलब होता है एक स्थिति से दूसरी स्थिति की तरफ जाना। धृति और स्थिति काफी मिलती-जुलती चीज़ें हैं। धृति में फल हुआ या नहीं इसकी चिंता है और स्थिति में यह चिंता है कि 'मैं फिर चंचल न हो जाऊँ'।

योगःयोग चित्तवृति का निरोध है। चित्तवृत्तियाँ अनन्त हैं। अतः योग भी वृकोदर ही है। प्राणःहमारी जीवनी शक्ति प्राण है जो शरीर के ऊपर अनेक प्रकार के रोगादिकों के आक्रमण होने पर स्वयं ही उससे लड़ लेती है। औषधि हमारी प्राण-शक्ति को मदद तो कर सकती है परन्तु हमारा स्वस्थ होना हमारे प्राण पर ही निर्भर करता है। बचपन से

लेकर बुढ़ापे तक न जाने कितने आक्रमण इस शरीर पर हुए, घाव इत्यादि भी हुए, उन सबको प्राण ने भर दिया। इसलिये इसे भी वृकोदर कहते हैं। बलम्‌बल भी वृकोदर है। सभी प्रकार की निर्बलताओं को बल ही दूर करता है। चिकित्सक हमेशा हमारे अन्दर पुष्टि आये इसके लिये ज़रूरी औषधि का प्रयोग करता है। आजकल के जमाने में जो विटामिन हैं वे स्वयं रोग को दूर नहीं करते हैं लेकिन शरीर की शक्ति को बढ़ाते हैं जिससे रोग दूर हो। परन्तु आधुनिक चिकित्सक चूँकि यह मानते हैं कि रोग का कारण बाहर से किसी चीज़ के आने से होता है इसलिये उन लोगों को ज़्यादा चिन्ता यह होती है कि बाहर से कीट न आये। प्राचीन चिकित्सा शास्त्र मानता था कि शरीर में रोग से लड़ने की शक्ति का न होना बीमारी का कारण है। एक कमरे में दस आदमी सोये हैं, मच्छर सबको काटते हैं। उनमें से तीन को मलेरिया होता है, सात को कुछ नहीं होता। इसलिये प्राचीन चिकित्सा का सिद्धांत है कि सात को क्यों नहीं होताइसका पता लगाकर इन तीन में भी वह विशेषता लाने पर ये तीन भी प्रभावित नहीं होंगे। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र यह विश्लेषण करता है कि तीन को क्यों हुआ? उसी से बाकी सात को भी हो सकता है। प्राचीन कहता है कि इन सातों को नहीं हुआ तो इनके अन्दर कोई शक्ति है, वह अगर इन तीन में होती तो इन्हें भी नहीं होता। इसलिये प्राचीन लोग बलवर्द्धक औषधि की तरफ बहुत ज़ोर दिया करते थे।

इस प्रकार से भक्ति, वैराग्य, ज्ञान, प्रज्ञा, मेधा, धृति, स्मृति, योग, प्राण और बल, इन दस चीज़ों को वृकोदर कहा जाता है। 'एतद् दशात्मको वायुः तस्माद् भीमस्तदात्मकः।' ये दसों चीज़ वायु में हैं। भीम चूँकि वायु का पुत्र है इसलिये उसमें भी ये दसों चीज़ें हैं। अतः उसे वृकोदर कहा गया। खाता बहुत था, यह तो अर्थ है ही, जो वृकोदर शब्द के अन्य अर्थ हैं वे भी सब उसमें घटते हैं, इसलिये वह वृकोदर है। वृकोदर भीम के शंख का नाम पौण्ड्र महाशंख था। काशी में पौण्ड्रक नाम का एक राजा था। उसने भगवान् कृष्ण से बराबरी करने के लिये बहुत कुछ किया था। उसने अपने शरीर में दो और हाथ भी लगा लिये थे! बाद में भगवान् ने उसे खत्म किया। भगवान् की बराबरी करने के लिये उसने तपस्या करके एक शंख भी प्राप्त किया था क्योंकि शंख, चक्र, गदा और पद्म ही भगवान् के चिह्न हैं। जब उसे मार दिया गया तब उसका पौण्ड्र शंख भगवान् ने भीम को दे दिया था। तपस्या से प्राप्त किया हुआ प्रभावशाली शंख भीम ने बजाया।।१५।।

अनंतविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोष-मणिपुष्पकौ।।१६।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नाम का, नकुल ने सुघोष नाम का एवं सहदेव ने मणिपुष्पक नाम का शंख फूँका।

युधिष्ठिर को राजा इसलिये कहा कि राजसूय यज्ञ में उनका अभिषेक किया गया था।

इनको कुन्ती ने धर्मराज के द्वारा प्राप्त किया था। अतः कुन्तीपुत्र कहकर सूचित किया कि धर्मराज के अवतार होने से धर्मराज युधिष्ठिर धर्म स्वरूप ही थे। जैसे भीम वायुरूप वैसे ही वे धर्मरूप। क्षात्र धर्म में सबसे पहला यही हैयुद्ध में स्थिर रहना। युधियुद्ध में स्थिर रहने वाले होने से वे युधिष्ठिर कहलाये थे। उन्होंने अनंतविजय नाम का शंख बजाया। धर्म कभी पराजित नहीं होता, उल्टा यही कहा गया है कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः' जो धर्म का रक्षण करता है उसका भी रक्षण हो जाता है। अतः धर्मात्मा चाहे जितना पराजित होता दीखे, अन्ततोगत्वा उसी की जय है। चूँकि यह धर्मात्मा है, क्षत्रिय है, इसलिये युधिष्ठिर है इसीलिये इसकी विजय अनंत होगी अर्थात् वह विजय फिर कभी खत्म नहीं होगी। पांडव कभी भी परास्त नहीं हुए, खुद राज्य छोड़कर चले गये, वह बात दूसरी है। अतः उनके शंख का नाम अनंतविजय ठीक ही है। वस्तुतः किस विजय का अन्त नहीं होता? ज्ञान के द्वारा जो अज्ञान का नाश है वही वस्तुतः अनंत है। इसके द्वारा यह बताया कि धर्म ही मनुष्य को ज्ञान देने की सामग्री उपस्थित कर सकता है। धर्म के ऊपर अधर्म से अनेक आपत्तियाँ आती हैं। जो धर्म-अधर्म के युद्ध में हमेशा स्थिर रहता है, धर्म के ऊपर ही दृढ रहता है वह युधिष्ठिर है। अन्यथा, जब अधर्म आक्रमण करता है तब कहते हैं कि 'थोड़ा, आटे में नमक जितना झूठ तो बोल ही लें!' तब फिर अनंतविजय की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अर्जुन, भीम, और युधिष्ठिर तीनों कुन्ती-पुत्रों ने शंख बजाये तो उनके दोनों भाई नकुल और सहदेव ने भी अपने-अपने शंख बजाये। नकुल ने सुघोष नामक शंख और सहदेव ने मणिपुष्पक नाम का शंख बजाया।।१६।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७
द्रुपदौ द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्।।१८।।

हे राजन्! श्रेष्ठ धनुर्धारी, महारथी, सदा विजयी, काशिराज, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट्, सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदीपुत्र एवं सुभद्रापुत्रइन सभी ने सब प्रकार से अपने-अपने अलग-अलग शंख फूँके।

काशी के राजा धनुष धारण करने में अत्यन्त ही सामर्थ्य वाले थे, महान् धनुष को धारण करने वाले थे। शिखण्डी, जो भीष्म को मारने के लिये ही उत्पन्न हुए थे, वे भी महारथी थे। आजकल नाटक आदि में शिखण्डी को हीजड़े की तरह दिखा देते हैं! किंतु महाभारत के अनुसार वह महारथी था। भीष्म ने तो यह कहा था 'मुझे पता है कि यह पूर्वजन्म में स्त्री था इसलिये मैं इसे नहीं मारूँगा।' उन्होंने यह नहीं कहा कि यह इस जन्म में स्त्री है। लोगों को भ्रम है कि वह जनाना तरह का आदमी होगा। वह तो महारथी था।

दक्षिण भारत में प्रचलित कथा के अनुसार तो अम्बाने तप करके कार्तिक स्वामी से भीष्म को मारने का वर माँगा। उन्होंने उसे एक माला देकर कहा 'जिसे यह माला पहनने को दोगी वही भीष्म को मार देगा।' अम्बाने वह माला द्रुपदपुत्र शिखण्डी को दी अतएव वह उन्हें मार पाया। भीष्म क्योंकि जानते थे कि स्त्री की तप से प्राप्त शक्ति के बल पर शिखण्डी उनका सामना कर रहा है इसीलिये उन्होंने शिखण्डी पर प्रहार न करने का नियम निभाया। इस कथा के अनुसार भी था शिखण्डी पुरुष ही। अपराजित सात्यकि जो अर्जुन का अपना शिष्य था, वह कभी भी हारा नहीं, बाणासुर से युद्ध में भी जीता था। महाप्रतापी बाणासुर साक्षात् भगवान् शंकर से वरदान प्राप्त किये हुए था। अनेकों को उसने हराया। परन्तु सात्यकि उसके सामने भी नहीं हारा और वहाँ से अनिरुद्ध को छुड़ा कर लाया। भगवान् स्वर्ग लोक जाकर पारिजात हरण करके लाये थे। भगवान् की प्रिय पत्नी सत्यभामा ने कहीं पारिजात फूल को देखा तो भगवान् से कहा कि 'मुझे यही लाकर दो।' भगवान् ने समझाया भी कि यह देवलोक की चीज़ है, लेकिन औरत तो औरत ठहरी, ज़िद पकड़े रही। तब भगवान् स्वर्गलोक में जाकर वहाँ से पारिजात को लेकर आये। पारिजात को न लेकर जाने के लिये इन्द्र के सारे लोगों ने प्रयत्न किया परन्तु सात्यकि उन सब को हरा कर पारिजात को लेकर आया। भगवान् साथ थे। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े भयानक युद्धों में भी जो हारा नहीं ऐसा सात्यकि अपराजित था।

पांडवों से अतिरिक्त उनकी फौज के सेनानायकों के शंख तो कौरव फौज की तरह के शंख थे, किसी नामविशेष से प्रसिद्ध शंख नहीं थे। यहाँ सुभद्रा-पुत्र को महाबाहु कह कर युद्ध में अत्यंत कुशल बताया है। आनन्द गिरि स्वामी ने यहाँ पर परमेष्वासः महारथः अपराजितः और महाबाहुःइन सारे विशेषणों को उक्त सबके साथ सम्बंधित माना है अर्थात् एक विशेषण किसी एक के बारे में ही कहा गया हो ऐसी बात नहीं है। सभी इन सब विशेषणों वाले थे। ऐसा भी नहीं कि एक ने शंख बजाया तो दूसरा उससे लेकर बजाये। सब लोगों के पास अपने-अपने शंख थे और सबने अपने-अपने शंख बजाये।।१७-१८।।

कौरवों की तरफ से जो शंख बजे थे उनसे पाण्डवों में तो बहुत उत्साह का उद्रेक हुआ था कि 'बहुत अच्छा हुआ, युद्ध के लिये हम तैयार हैं', पर पांडवों ने जो शंख बजाये वे बड़े भयंकर घोष वाले थे

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

पांडव-पक्षीय शंखों के उस भीषण घोषने आकाश व समूची पृथ्वी को गुंजाते हुए धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये।

संजय कहता है कि 'धृतराष्ट्र ! तुम्हारी तरफ से तो नगाड़े, पणव, आनक, गोमुख

आदि अनेक प्रकार की चीज़े बजी थीं, लेकिन पाण्डवों की तरफ से हुई उनके शंखों की ध्वनि से ही ऐसा भयंकर घोष हुआ कि तुम्हारे बच्चों के, और केवल तुम्हारे पुत्र ही नहीं, तुम्हारी फौज के जितने भी लोग थे, उन सबके हृदयों को विदीर्ण कर दिया, चीर दिया। निघण्टु में हृदय शब्द के दोनों अर्थ बताये हैंचित्त अर्थात् मन को भी हृदय कहते हैं और छाती अर्थात् वक्ष को भी हृदय कहते हैं। जैसे किसी से कहते हैं 'अपने हृदय पर हाथ रखकर कहो कि तुमने किया या नहीं,' तो वहाँ हृदय का मतलब छाती है। 'उसने मेरे हृदय को दुखा दिया' आदि में हृदय का मतलब मन है। चित्त या मन का विदारण क्या है? चित्त में होने वाले ज्ञान, इच्छा, धैर्य, उत्साह आदि का नाश होना ही चित्त का विदारण होना है। जब अत्यंत भय की प्राप्ति होती है तब क्या करें, क्या न करेंकुछ होश नहीं रहता। भय की स्थिति में इच्छा का भी नाश हो जाता है। एक बड़ी भारी फैक्ट्री के मालिक थे। उन्होंने घर वाली को फोन किया कि मैं घर पर आकर चाय पियूंगा। उनकी घर वाली पकोड़े बढ़िया बनाती थी। वे घर आये और हाथ-पैर धोकर खाने बैठे। घर वाली ने गरम-गरम पकोड़े परोसे। उसी समय टेलीफोन बज गया तो बेचारों ने एक हाथ से पकोड़ा उठाया और दूसरे हाथ से टेलीफोन पकड़कर सुनने लगे। सुनने के साथ ही हाथ का पकोड़ा गिर गया, घर वाली से कहा'मैं जा रहा हूँ।' उसने कहा'बड़े प्रेम से बनवाये हैं तो खाकर जाओ।' कहा'नहीं खा सकता क्योंकि अभी टेलीफोन आ गया कि फैक्ट्री में आग लग गई है।' उनकी तो पकोड़े खाने की बहुत इच्छा थी परन्तु फैक्ट्री में आग लगने की खबर सुनी तो उस भय के अन्दर कि पता नहीं कितना नुक्सान हो गया, वह इच्छा हट गई। जैसे ज्ञान, इच्छा नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार भय के अन्दर मनुष्य की क्रिया शक्ति, कार्य करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है, कुछ कर नहीं पाता। धैर्य नष्ट हो जाता है। चाहे जितना उत्साह हो, यदि सामने भय की परिस्थिति आ जाती है तो उत्साह भी खत्म हो जाता है। उत्साह का मतलब है प्रतिबन्धक को खत्म कर देना, परन्तु सामने भय आ जाये तो उसे खत्म नहीं कर सकते, बल्कि उस काम के बारे में जो उत्साह था वह भी खत्म हो जाता है। इस प्रकार की मन की वृत्तियाँ भय से नष्ट हो जाती है। इसलिये यह चित्त का विदारण कर देता है। वक्ष का विदारण भी हो जाता है क्योंकि भय देने वाली कोई महान् विपत्ति होती है तो उसके अन्दर सचमुच में छाती में ऐसा लगता है मानो छाती बीच से फट रही हो। जैसे गर्भ माता के पेट को चीर कर निकलता है इसी प्रकार उस भय के कारण छाती लगती है कि चिर जायेगी। इसलिये वक्ष का निर्भेद भी है।

इन दोनों के निर्भेद के द्वारा वह बता रहे हैं जो भगवान् को आगे जाकर कहना है 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।' ग्यारहवें अध्याय में भगवान् कहेंगे कि 'इन सबको तो मैंने ही मार दिया है।' कब मार दिया? 'जब मैंने पांचजन्य शंख बजाया था, उस समय ही इनका हृदय विदीर्ण हो गया। इसलिये इनमें उत्साह आदि नहीं रह गया है, इनकी छाती चिर गई है। इसलिये ये जिन्दा भी नहीं रह गये हैं क्योंकि पूर्व

में अर्थात् शंख-वादन काल में ही मैंने इन्हें मार दिया था।' तो फिर आगे युद्ध क्यों हुआ? वहीं भगवान् ने कह दिया कि 'मेरे द्वारा मारे हुओं को तुम मारो। 'मया हतांस्त्वं जहि' मार तो मैंने शंख-वादन काल में ही दिया है, उसी समय सब मर गये। परन्तु जैसे सिर कटने के बाद भी धड़ कार्य करता रहता है ऐसे ये लड़ते दीख रहे हैं। स्वयमेव ये गिर पड़ेंगे ही, तुम निमित्त बनकर यश पा सकते हो।' ज्ञान होने के बाद भी अज्ञान का कार्य प्रारब्ध-भोग काल तक काम करता रहता है। सिर कटने पर भी धड़ सप्राण रहता है। इसलिये धड़ लड़ सकता है। थोड़ी देर में जब प्राण खत्म हो जाते हैं तब अपने-आप खत्म हो जाता है। उस धड़ को मारने के लिये कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। 'फिर भी तुम्हें कीर्ति की प्राप्ति हो, इसके लिये तुम निमित्त मात्र हो जाओ। मैंने मार दिया है, लेकिन तुम्हें कीर्ति की प्राप्ति हो इसके लिये जरूरी है कि तुम इनके मरने में निमित्त बनते दीखो।' शंका होगी कि भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी कि महाभारत युद्ध में शस्त्र नहीं उठायेंगे, फिर 'मार दिया' कैसे कहा? समाधान है कि शंख-घोष को किसी शस्त्रास्त्र में नहीं गिना है! इसलिये प्रतिज्ञा यथावत् रही, शस्त्र आदि का कोई सहारा नहीं लिया।

इसके द्वारा यह कहा जा रहा है कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य-घोष के श्रवण के द्वारा ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। प्रारब्ध के कारण वह सप्राण है, इसलिये कुछ करता हुआ दीखता है परन्तु वह न करने जैसा ही है और वह भी समाप्त ही होने वाला है।

यह भी बता दिया कि वह घोष कैसा था? ठेठ आकाश पर्यन्त वह घोष गया। क्योंकि शब्द आकाश का ही गुण है इसलिये घोष नभ या आकाश तक जाये यह स्वाभाविक है। साथ में 'इतने ज़ोर से दहाड़ा कि उससे आकाश भी फट गया,' यह लोकोक्ति भी सफल हो जाती है। वह घोष केवल ऊपर ही नहीं गया, पृथ्वी में भी चारों तरफ फैल गया। वह घोष तुमुल अर्थात् अत्यंत तीव्र था। शंख तो एक बार बजा परन्तु उसकी गूंज या प्रति-ध्वनि ही चारों तरफ फैल गई। इसलिये 'नादयन्' न कहकर 'वि+अनुनादयन्' कहा। इस प्रकार धार्तराष्ट्रों को अत्यंत भय की प्राप्ति उनके हृदयों के विदारण से बताकर संजय ने कई बातें संकेतित कर दीं।।१८-१६।।

कौरव योद्धा डरे तो सही परन्तु फिर भी खड़े वे वैसे ही रहे

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यम् इदम् आह महीपते!

हे राजन्! तदनन्तर कपिध्वज अर्जुन ने कौरवों को युद्ध के लिये तैयार देखकर शस्त्र चलना प्रारंभ होने के मौके पर धनुष उठाकर तब हृषीकेश से यह वाक्य कहा :।

शंखों के फूँकने के बाद जब पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त सर्वत्र घोष हो गया, उस भयंकर घोष के बाद कपिध्वज अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों और उनकी फौज को देखा कि शंखनाद के बाद भी वे युद्ध के लिये तैयार हैं। यहाँ अर्जुन को कपिध्वज कहा, हनुमान्

जी स्वयं उसकी ध्वजा पर बैठे हुए उसकी रक्षा के लिए तत्पर थे। हनुमान् जी ने राम-रावण युद्ध के अन्दर बहुत बड़ा हिस्सा लिया था और रावण को हराने में वे एक बड़ा कारण थे। जब भगवान् कृष्ण का अवतार हुआ तब महाभारत युद्ध के समय भी भगवान् कृष्ण की मदद करने के लिये वहाँ उपस्थित थे। इनकी उमरों का हिसाब लगाना मुश्किल होता है। जाम्बवन्त भी राम जी के समय का था पर जाम्बवन्त की लड़की कृष्ण से विवाह के योग्य थी! एक कथा हनुमान् जी की आती है कि जब भीम द्रौपदी के कहने से विशेष प्रकार के कमल लेने जा रहा था तब रास्ते में हनुमान् जी पड़े थे। भीम ने उनसे रास्ता देने को कहा। उन्होंने कहा‘मैं बहुत बुड्ढा हूँ, उठ नहीं सकता, तुम ही मुझे उठा दो।’ अपना पूरा बल लगाकर भी भीम उन्हें उठा नहीं पाया। कहीं तो लिखा है कि उनकी पूँछ को भी नहीं हिला पाया! इतने वृद्ध थे फिर भी महाभारत युद्ध में पहुँच ही गये! इन आश्चर्यों का समाधान तो उनकी दिव्य शक्तियों को लेकर ही किया जा सकता है।

कपिध्वज अर्जुन ने धार्तराष्ट्रों को देखा। धृतराष्ट्र के पुत्र तो धार्तराष्ट्र थे ही, उनकी सारी ही सेना धृतराष्ट्र से सम्बद्ध होने के कारण धार्तराष्ट्र कही जा रही है। इसीलिये छब्बीसवें श्लोक में कहेंगे कि भाइयों को ही नहीं, अन्य सबको भी अर्जुन ने देखा। वे सभी व्यवस्थित थे, अपने-अपने नियत स्थानों पर ही तैनात थे। शंखों के घोष से उनके अन्दर किसी प्रकार की कोई भयव्याप्ति दिखाई नहीं दी। इसलिये ‘अब ये सारे लोग युद्ध के लिये तैयार हैं, शंखनाद के बाद भी इधर-उधर नहीं हो रहे हैं’इस प्रकार उनको देखा। इसके बाद युद्ध प्रारम्भ ही होना है। ‘शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते’ अब तो केवल शस्त्र ही छूटने बाकी हैं, क्योंकि युद्ध की घोषणा हो ही गई है। शस्त्र का सम्पातशस्त्र का गिरना अर्थात् चलने का समय हो जाने पर, युद्ध की प्रवृत्ति होने पर, अर्थात् अभी युद्ध होने ही वाला था, हुआ नहीं था, ऐसे समय अर्जुन ने भी अपने धनुष को चढ़ा लिया। धनुष का यह नियम होता है कि जिस समय उसका काम नहीं उस समय उसकी प्रत्यंचा को खोल कर रख दिया जाता है, हमेशा तना रहने से उसकी सामर्थ्य कम हो जाती है। जैसे ही चलाने का समय आता है, प्रत्यंचा चढ़ा दी जाती है। इसलिये युद्ध से पूर्व तक तो प्रत्यंचा खुली हुई थी और अब शस्त्रों को चलाने का समय आ गया तो उसने भी अपने धनुष को प्रत्यंचा चढ़ाकर उठा लिया। धनुष उठा कर अर्जुन ने आगे आने वाले वाक्य को भगवान् कृष्ण हृषीकेश के प्रति कहा।

धृतराष्ट्र को महीपति कहकर संजय उन्हें याद दिलाना चाहता है कि अभी तक राज्य तुम्हारे ही हाथ में है, मही के पति तुम ही हो। इसलिये अभी भी तुम चाहो तो युद्ध को रोक सकते हो। साथ में यह भी संकेत करता है कि तुम्हारी फौज को देखकर अर्जुन के अन्दर किंचित् भी भय नहीं है। वह धनुष उठाकर लड़ने के लिये तैयार है।

हृषीकेशहीषका अर्थात् इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का जो अधिपति होता है उसे हृषीकेश कहते हैं। सारी इन्द्रियों की और अंतःकरण की वृत्तियों को जानने वाले श्री कृष्ण के प्रति

अर्जुन यह वाक्य कहता है। पाण्डव लोग पहले भगवान् से बात करते हैं और तब आगे कुछ करते हैं।।२०-२१।।

अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।
यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामान् अवस्थितान्।।
कैर्मया सह योद्धव्यम् अस्मिन् रणसमुद्यमे।।२२।।
योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

अर्जुन ने कहाहे अच्युत! दोनों सेनाओं के बीच (तब तक) मेरा रथ खड़ा कीजिये जब तक लड़ने को उत्सुक एवं व्यूहबद्ध इन प्रतिपक्षियों का मैं निरीक्षण करूँ (और समझ लूँ कि) युद्ध के इस उद्यम में मुझे किन से लड़ना है। युद्ध में दुर्मति धृतराष्ट्र-पुत्र का प्रिय करना चाहने वाले जो यहाँ आये हैं और अब युद्ध करने ही वाले हैं, इन्हें मैं देखता हूँ।

अर्जुन ने कहा कि दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को रखो अर्थात् मेरे पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के बीच में मेरे रथ को स्थापित करो। 'स्थापय' कहकर सारी इन्द्रियों के प्रवर्त्तक हृषीकेश को, जो सर्वेश्वर हैं, उन्हें भी यह नियुक्त करता है कि 'ऐसा करो' क्योंकि वे सारथि की जगह बैठे हैं। दूसरा संकेत मिलता है कि भक्तों के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है! वे भगवान् को भी नियुक्त कर सकते हैं। अर्जुन भक्त था, इसी कारण भगवान् उसके सारथि बने। जिसकी मानो आज्ञा में भगवान् भी चल रहे हों उसकी जीत तो निश्चित ही है। 'महीपते' कहकर संजय ने जो धृतराष्ट्र को सम्बोधित किया था उसका कारण यहाँ स्पष्ट हो जाता है: पाण्डव लोग भगवान् के साथ परामर्श किये बिना कुछ भी करते नहीं। अतः इन्हें तो नीति और धर्म की सब प्रकार की कुशलता प्राप्त है और इनका इतना ज़ोर है कि भगवान् को भी कह सकते हैं कि यह करो अर्थात् अत्यधिक भक्त हैं।

भगवान् कह सकते थे कि 'तुम कहते हो कि दोनों सेनाओं के बीच में रथ स्थापन करो, शस्त्रसम्पात की प्रवृत्ति हो रही है तो युद्ध के बीच में खड़े होने पर कोई भी शत्रु युद्ध की घोषणा होने के कारण शस्त्र चला सकता है, इसलिये यह समय बीच में रथ ले जाने का नहीं है। इस समय तो युद्ध शुरू होने वाला है। अतः जहाँ युद्ध हो रहा है वहाँ चलना है। इस समय बीच में जाकर खड़े होकर तो जीने-मरने का प्रश्न है।' इस प्रश्न को मानकर अर्जुन भगवान् से कहता है कि दूसरों के लिये तो यह जीवन-मरण का प्रश्न हो सकता है, परन्तु आप अच्युत हैं अर्थात् आपको तो किसी भी देश काल वस्तु के द्वारा च्युत नहीं किया जा सकता, आप हमेशा अपने ही स्वरूप में स्थित हैं अतः कोई आपको मार सके इसकी सम्भावना ही नहीं है! आप हृषीकेश हैं। कोई मारने के लिये शस्त्र तब उठायेगा जब आप उसे प्रवृत्त करेंगे। आप जब तक प्रवृत्त नहीं करेंगे तब तक वह प्रवृत्त हो नहीं

सकता तो कैसे सम्भव है कि आपको कोई हानि पहुँचा सके या और कुछ कर सके? अर्जुन के वाक्य में जो आज्ञा देने का भाव था, उससे उन्हें कहीं गुस्सा न आ जाये, इसका परिहार कर दिया कि आप हमेशा अच्युत, निर्विकार हैं, अतः मेरी इस उद्दण्डता से भी आपमें किसी प्रकार का विकार नहीं आ सकता, मेरे कहे हुए से भी आपमें कोई परिवर्तन नहीं आ सकता क्योंकि आप हमेशा निर्विकार ही रहते हैं। इस प्रकार से स्तुति प्रदर्शन करते हुए क्षमा-प्रार्थना भी हो जाती है।

भगवान् कह सकते थे 'लड़ने का समय है तो जिससे लड़ना है उससे लड़ाई शुरू करें। बीच में रथ-स्थापन का क्या मतलब?' इसके समाधान में अर्जुन ने कहा कि उतने ही समय तक आपको रथ स्थापित करना है जब तक मैं देख लूँ; कोई निरन्तर वहाँ रथ खड़ा रखना है ऐसा नहीं है! अथवा यावत् से स्थान भी कहा जा सकता है अर्थात् उतनी दूर ही ले जाइये जहाँ से मैं इन सबको अच्छी तरह देख सकूँ। अतः जितने काल तक मैं निरीक्षण करूँ अथवा जहाँ से देखा जा सके वहाँ तक रथ को ले जाइये। एतान्जितने भी भीष्म, द्रोण आदि हैं, उन सबको देख सकूँ। इन सबमें क्या देखना है? कहता है ये लोग दुर्योधन को समझाने के लिये इकट्ठे नहीं हुए वरन् युद्ध की इच्छा से आये हुए हैं। ये संधि-कामना वाले नहीं हैं। मैं भी युद्ध की दृष्टि से ही देखने जा रहा हूँ। युद्ध प्रारम्भ होने के पहले युधिष्ठिर हथियार आदि रखकर भीष्म के पास गये थे। उन्हें नमस्कार करके उनसे पूछा था कि 'दादा जी! मैं युद्ध कर रहा हूँ तो कोई गलती तो नहीं कर रहा हूँ?' भीष्म ने कहा'ठीक ही कर रहे हो। वैसे भी मैं तुम्हारी जीत चाहता था, अब चूँकि तुमने युद्ध की आज्ञा माँगी है तो मैं प्रसन्न होकर कहता हूँ कि तुम ही जीतोगे।' इसी प्रकार वे गुरु जी के पास गये, उनसे भी आज्ञा ली। द्रोणाचार्य ने भी कहा था'बड़ा अच्छा किया जो तुमने आज्ञा माँगी।' जब युधिष्ठिर गये थे, उस समय तो हो सकता था कि कोई संधि की बात हो जाये। परन्तु ये भीष्म, द्रोण आदि भी युद्ध की ही कामना वाले हैं, संधि की कामना वाले नहीं हैं। इसीलिये 'अवस्थितान्' हम लोगों ने इतना जबर्दस्त शंखनाद किया, फिर भी ये अपनी-अपनी जगह डटे हुए हैं। अब इनकी केवल युद्ध की ही कामना है।

भगवान् पूछ सकते थे कि 'इनको क्या देखोगे? युद्ध करना है, युद्ध करो। तुम भी तो यहाँ युद्ध करने ही आये हो, कोई प्रेक्षक बनकर तो आये नहीं हो! दोनों तरफ की फौजों को देखने के लिये तो प्रेक्षक या रैफ्री होता है। तुम इस काम के लिये तो यहाँ आये नहीं हो। तुम खुद योद्धा हो, लड़ने के लिये आये हो। इसलिये इन्हें क्यों देखना चाहते हो?' अतः अर्जुन कहता है 'मया कैः सह योद्धव्यम्' मुझे किस-किस से लड़ना है। दोनों अर्थ समझ लेनाकौन लोग मुझसे लड़ेंगे और मैं किन से लड़ूँगा। युद्ध में मेरे युद्ध-प्रतियोगी कौन हैं और कौन मुझे युद्ध का प्रतियोगी बनायेंगे। तात्पर्य यह है कि इनमें भी जो बड़े-बड़े होंगे वे ही मुझसे लड़ना चाहेंगे। छोटे-मोटे लोग तो मेरे सामने आना नहीं चाहेंगे। और मैं भी जो बड़े-बड़े हैं, उन्हीं से लड़ूँगा, छोटे-मोटों से तो मुझे भी नहीं लड़ना है। यह

बन्धुओं का परस्पर युद्ध है। अतः चाहे जिसको मार देना मात्र इस युद्ध का प्रयोजन नहीं है। इसके अन्दर जो जिसकी बराबरी का हो वही उससे लड़ेगा। कौन मुझे अपनी बराबरी का समझता हैयह मेरे लिये कौतुक का विषय है। संसार में सर्वत्र जय करके मैं धनंजय बन चुका हूँ, फिर भी इनकी हिम्मत है कि ये मुझ से लड़ना चाहते हैं। कौन से ऐसे महारथी हैं जिनसे मैंने अभी युद्ध नहीं किया है, जिनके बारे में मैं जानता हूँ कि ये बड़े प्रसिद्ध हैं? इस प्रकार दोनों ही बातें हैं।

'अहम् अवेक्षे' मैं इनको देखता हूँ; जो यहाँ आ गये हैं, उनको देखता हूँ। क्यों आ गये? धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन दुर्बुद्धि है, उचित और अनुचित के विवेक से रहित है, धर्म-अधर्म के विवेक से रहित है और नीतिशास्त्र के हिसाब से अपनी सामर्थ्य-ज्ञान से भी रहित है। मैं जीत सकता हूँ या नहीं, मेरी सामर्थ्य कितनी हैइसके ज्ञान से भी रहित है। अगर इनके ज्ञान से रहित न होता तो साक्षात् श्री कृष्ण के मौजूद रहते हुए जब वे दूत बनकर गये थे तब कुछ-न-कुछ समझौता करने की सोचता। समझ लेता कि श्री कृष्ण के पाण्डवों के पक्ष में रहते हुए कौरवों की जीत तीन काल में सम्भव नहीं है, क्योंकि ये सर्वेश्वर हैं। भगवान् सर्वेश्वर हैं यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उस दुर्बुद्धि की इच्छा से युद्ध करने को तैयार होकर आये हुए हैं। इसके द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि भीष्म, द्रोण, शल्य, कृपाचार्य इत्यादि खुद अपनी इच्छा से लड़ने नहीं आये थे, धृतराष्ट्र की आज्ञा से आये थे। धृतराष्ट्र दुर्योधन के वश में था अतः उसका हठ मानकर युद्ध के लिये राजाज्ञा दे दी थी। स्वयं ये युद्ध की इच्छा वाले नहीं थे। देखना जरूरी है कि मैं किससे युद्ध करूँ और किससे कैसे युद्ध हो?।।२१-२३।।

अर्जुन ने भगवान् को रथ-स्थापन के लिये कहा तो शायद भगवान् अहिंसा रूप धर्म को प्रधान मानकर अर्जुन को युद्ध से दूर करने की सोचेंयह भाव धृतराष्ट्र के चेहरे पर देखकर संजय कहता है

संजय उवाच
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून् इति।।२५।।

संजय बोलाहे भारत! गुडाकेश द्वारा यों जिन्हें कहा गया उन हृषीकेश ने दोनों सेनाओं के बीच भीष्म, द्रोण तथा सभी राजाओं के सामने उत्तम रथ स्थित कर कहा 'पार्थ! एकत्र हुए इन कुरुवंश वालों को देखो।'

दोनों फौजों के बीच में किस-किस से लड़ना हैइसका विमर्श करने के लिये अर्जुन आया हुआ है। जैसा भगवान् भाष्यकार कहते हैं, अर्जुन के निमित्त से गीताका उपदेश

सभी को देना है। जब कार्य करने का समय आता है, जैसे अर्जुन का युद्ध करने का समय आया, तब हर व्यक्ति यह देखना चाहता है कि किससे क्या करे क्या नहीं करे। वास्तव में जब कर्म करने का समय आये तब जीव यह विचार करे 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' कर्म करके जो भी फल मिलेगा वह सारा क्षीण होगा, नष्ट होगा। 'पराचः कामान् अनुयन्ति बालाः' अपने से बाहर जो संसार के पदार्थ हैं उनसे आकृष्ट होकर, उसका अनुक्रमण करने वाले बाल हैं अर्थात् बुद्धिहीन हैं। जैसे बालक को लाल रंग की चीज दिखाई दे तो यह नहीं सोचता कि इससे फायदा होगा या नुक्सान, झट पकड़ लेता है, इसी प्रकार जो लोग जो चीज़ अच्छी लगे उसे लेना चाहते हैं वे बालक की तरह निर्बुद्धि ही हैं। 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते' कर्म के द्वारा जो प्राप्त होता है वह मनुष्य को अन्ततोगत्वा घोर अन्धकार में ही डालता है। इस प्रकार की श्रुतियों और इनमें संकेतित किये हुए जन्यत्व, दृश्यत्व आदि दोषों को युक्तिपूर्वक सोच कर यह विचारे कि अरे! जिन देवताओं की हम पूजा करते हैं वे सचमुच पूजा करने के लायक भी हैं या नहीं और उन देवताओं के लिये हम जो कर्म करेंगे, उसका जो फल होगा वह क्या सचमुच हमारे लाभ का है या नहीं? 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति' वे सारे कर्म बार-बार नीचे गिराने के लिये ही हैं। इस प्रकार से भली प्रकार से सोचे कि जो कर्म हम करने जा रहे हैं, प्रवृत्ति करने जा रहे हैं, वह ठीक है भी या नहीं? जैसे अर्जुन यहाँ कर्तव्य कर्म प्राप्त होने पर कहता है 'यावदेतान् निरीक्षेऽहम्', इसी प्रकार कोई भी कर्म करने जाओ तो पहले विचार करके देखो कि यह कर्म जिन देवताओं को प्रसन्न करने के लिये हम करते हैं वे देवता पूज्य हैं भी या नहीं। आगे भगवान् कहेंगे कि दीखता तो है कि देवता फल देते हैं परन्तु देवताओं के अन्दर फल देने की कोई सामर्थ्य नहीं है, उनमें बैठा हुआ जो सर्वेश्वर है वही कर्मफल देने की सामर्थ्य वाला है, वही कर्म-फल देता है। देवताओं के लिये जो कर्म हम करते हैं और उससे जो फल मिलता है वह अति-अल्प और अतितुच्छ है। उसकी जगह उन्हीं कर्मों के द्वारा यदि हम सर्वेश्वर की पूजा करें तो अंतःकरण शुद्ध होकर हम उस ज्ञान को प्राप्त करके आगे नित्य आनन्द फल को प्राप्त कर सकते हैं। चूंकि ऐसा विचार नहीं करते अतः केवल देवताओं को ही मानकर उनके लिये ही सारे कर्म करते रहते हैं। अर्जुन भी यह विचार कर रहा है कि मेरा कर्त्तव्य किससे लड़ने का है? जो मेरी बराबरी का है उससे ही लड़ना है, सामान्य किसी को मारना नहीं है। आगे विचार करेंगे कि युद्ध-कार्य करने योग्य है या नहीं, उसका फल जय भी पाने योग्य है या नहीं? जैसे अर्जुन अपनी प्राप्त प्रवृत्ति का विश्लेषण कर रहा है वैसे ही हरेक मुमुक्षु को विचार करना चाहिये।

'भारत' सम्बोधन से संजय कह रहा है कि हे धृतराष्ट्र! तू भरतकुल में उत्पन्न हुआ है, तुझे तो प्रकाश में रत रहना चाहिये। अर्जुन देखने जा रहा है, तू भी तो विचार करके देख, कि युद्ध को रोक देना चाहिये या युद्ध करना चाहिये?

हृषीकेश से, सारी इन्द्रियों के प्रवर्त्तक श्री कृष्ण से गुडाकेश ने कहा। गुडाकेश अर्जुन

को कहते हैं। गुडाकेश का एक तो अतिस्थूल अर्थ है 'अंगुष्ठतर्जनीयोगात् गुडनामा तु मुद्रिका। तत्परिमाणाः केशा यस्य स गुडाकेशः' अंगूठा और तर्जनी को इकट्ठा करके (चुटकी भर) जो मात्रा बनती है उसे गुड कहा जाता है। बस, उतने ही बाल अर्जुन के सिर पर थे इसलिये उसे गुडाकेश कहा। युद्ध के समय बाल बहुत छोटे होने चाहिये अन्यथा प्रसंग आने पर कोई तुम्हारे बालों को खींचे तो तुम सामर्थ्य वाले होने पर भी कुछ नहीं कर सकोगे! इसलिये अर्जुन के बाल उस समय बहुत छोटे थे अर्थात् अर्जुन युद्ध के लिये तैयार होकर आया था। अर्जुन को इस समय भगवान् युद्ध के लिये तैयार नहीं कर रहे हैं, केवल उसके मन में जो मोह आ गया है उतने मात्र को हटा रहे हैं। युद्ध में प्रवृत्ति करने तो वह स्वयं ही आया था। इसलिये अंत में वह स्वयं कहेगा 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'।

अथवा 'गुडो गोलेक्षुपाकयोः' गुड का अर्थ है गन्ने के रस को पका कर जो बनाया जाता है, जिसे हिन्दी में गुड़ कहते हैं और गोली, गोल चीज़ को भी गुड कहते हैं। जैसे गोल लोहा हो और उसको गरम किया जाये तो उसके अन्दर और बाहर सर्वत्र अग्नि व्याप्त हो जाती है, इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड गोल को भगवान् शंकर अन्दर से भी सच्चिद्रूपता दे रहे हैं और बाहर से भी सच्चिद्रूपता दे रहे हैं। अन्दर से अंतःकरण आदि में ज्ञानरूप से प्रकाश दे रहे हैं और बाहर से पदार्थों में सद्रूप से 'यह है' ऐसा प्रकाश दे रहे हैं। पदार्थों में जो सद्रूपता दीखती है कि 'यह है' वह 'है-पना' भगवान् शंकर का दिया हुआ है। इसी प्रकार से अपने अन्दर 'मैं जानने वाला' यह जो प्रतीति है वह भी उनकी ही उपस्थिति के कारण है। इसलिये उपनिषद् ने कहा कि इस सारे विश्व को अन्दर बाहर सब तरफ से प्रवेश या व्याप्त करके रहने वाला जो शिव है उसके ज्ञान से ही शांति मिलती है, और कोई दूसरा उपाय नहीं है। वह शिव ही है ईश, अधिपति जिसका वह गुडाकेश है। अर्जुन ने भगवान् शंकर से ही तपस्या करके पाशुपतास्त्र प्राप्त किया था। ऐन्द्रकील पर्वत पर जब अर्जुन ने तपस्या की थी उस समय भगवान् शंकर ने ही प्रसन्न होकर उसे गुडाकेश कहा था।

गुडाका का मतलब निद्रा होता है, निद्रा का ईश होने से गुडाकेश है। निद्रा का ईश होना अर्थात् जब चाहे सोये, नहीं तो न सोये। केवल सोना ही निद्रा नहीं समझ लेना, अविवेकग्रस्त रहना भी सोना ही है! हमेशा जागरूक रहना है। जिस प्रकार कुत्ता पड़ा सोता है, चोर आयेंगे तो समझेंगे यह सो रहा है, परन्तु जैसे ही वे तुम्हारे घर में पैर रखेंगे, वह कुत्ता झट भौंकने लगेगा। इसलिये कुत्ते की नींद जागरूकता वाली है। इसी प्रकार गुडाकेश का मतलब है कि चाहे जितना निद्रा में हो, वह अंदर से जागरूक रहता है। कोई बात आये तो खट उसे विचारने के लिये तैयार है।

गन्ने के रस को पकाकर बनाया गुड़ प्रसिद्ध है। भगवान् शंकर गुड़ की तरह मधुर होकर 'भक्तान् अकति प्राप्नोति' भक्तों के सामने प्रकट होते हैं। इसलिये गुडाक शिव का नाम है। ऐसे गुडाक शिव हैं संपूर्ण ईश इष्ट जिसके वह अर्जुन ही गुडाकेश कहा गया है।

इस प्रकार से जब अर्जुन ने कहा कि दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को स्थापित करो तब कौरवों और पाण्डवों की, पक्ष और प्रतिपक्ष की फौजों के मध्य में भगवान् ने रथ को स्थापित किया। वह रथ कैसा था? उत्तम रथ था। जिस समय खाण्डव वन को अग्नि ने जलाया था उस समय अर्जुन ने रक्षा की थी। उस समय उसे यह श्रेष्ठ रथ दिया गया था जिसमें बैठकर उसे सर्वत्र जय की प्राप्ति हुई। सबसे उत्तम रथ शरीर ही है। उपनिषद् ने शरीर को ही रथ कहा है।

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।' ।कठ. १-३-३।।

अतिधन्य वेद कहता है कि यह शरीर ही रथ है। मनुष्य शरीर सारे शरीरों में उत्तम है। इस उत्तम रथ के अन्दर जो गुडाकेश होकर बैठता है, हमेशा जागरूक रह कर भगवान् शंकर की भक्ति में रत होता है और सारी इन्द्रियों के अधिपति श्री कृष्ण को जो अपना सारथि बनाता है वह विजयी होता है। आगे ही कठ में कहा है 'विज्ञानसारथिर्यस्तु' विज्ञान को सारथि बनाना है। विज्ञान भगवान् कृष्ण हैं। आगे जाकर भगवान् खुद कहेंगे 'ज्ञानं विज्ञानसहितं' ज्ञान और विज्ञान दोनों भगवान् श्री कृष्ण के हाथ में हैं। यह वह ज्ञान और विज्ञान है जिसे इस सारी गीता में बतायेंगे। उसके अनुसार जो अपनी बुद्धि को चलाता है वही इस महाभारत युद्ध में विजय प्राप्त करता है।

दोनों सेनाओं में एक तरफ शुभ वासनायें हैं, दूसरी तरफ अशुभ वासनायें हैं। किस-किस अशुभ वासना को कैसे-कैसे जीतना हैइसका निर्णय उन वासनाओं को भली प्रकार देखकर किया जा सकता है। इसलिये भगवान् गौडपाद कहते हैं

'लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत्।।'

यदि नींद आने लगे तो परमात्मा का ध्यान, आत्मविचार करने लगो। अगर संसार के पदार्थ याद आने लग जायें तो फिर उन विषयों से मन को हटाओ। जब न नींद लेने देते हैं अर्थात् न परमेश्वर को भूलने देते हैं और न परमेश्वर से अतिरिक्त किसी चीज़ को याद करने देते हैं तब मन स्तब्ध हो जाता है मानो बड़ी भारी थकावट आ गई हो, तब न भगवान् का चिंतन और न विषय-चिंतन करना है। बहुत से लोग समझते हैं कि यह बहुत अच्छी स्थिति है! विक्षिप्त होने की आदत इतनी पड़ी हुई है कि यदि विक्षेप कम हो जाये तो समझते हैं कि अच्छा हो गया। व्यर्थ की चिंताओं को मन में भर लेते हैं, ध्यान के नाम पर वे कुछ कम होती हैं तो लगता हैबड़ा अच्छा हो गया, बहुत आराम मिल गया। इसलिये भगवान् गौडपाद कहते हैं कि जिस समय न विक्षेप है, न परमात्मचिंतन है वह सकषाय स्थिति है। केवल कषाय वहाँ मौजूद है जो तुम्हें परमात्मा का अनुभव नहीं करने

देता। उसको 'विजानीयात्' जैसे अर्जुन यहाँ खोज रहा है कि दोनों फौजों में मुझे किससे लड़ना है, इसी प्रकार किन कारणों से वह कषाय है, उन अशुभ वासनाओं को किन शुभ वासनाओं से जीतना है यह खोजना चाहिये। शुभ और अशुभ वासनाओं के बीच में समझना है कि अशुभ वासनाओं को कैसे जीतना है। इसलिये यहाँ बीच में रथ खड़ा करने के लिये कहा जा रहा है।

भीष्म, द्रोण जिनमें प्रमुख हैं ऐसे सभी राजाओं को सामने रखकर भगवान् ने रथ स्थिर किया। कई बार आदमी हृदय से किसी की बात तो मान लेता है परन्तु सबके सामने दूसरे की बात जल्दी नहीं मानता। बड़े को कोई बात कहो तो सबके सामने वह स्वीकार नहीं करता कि 'मैंने तेरी कही हुई बात मान ली।' परन्तु भगवान् ने अर्जुन की बात को जिनमें भीष्म, द्रोण आदि बड़े-बड़े थे, उन सारे राजाओं के सामने ही मान लिया। भगवान् हृषीकेश हैं, वे कह सकते थे कि 'युद्ध करने आये हो, युद्ध करो। देखना-दिखाना क्या करना है!' भगवान् को पता था ही कि यह सबको देखेगा तो ढीला पड़ जायेगा। परन्तु फिर भी भगवान् ने यह बात नहीं कही वरन् रथ ले जाकर खड़ा कर दिया क्योंकि अर्जुन के व्यवहार को निमित्त बना कर भगवान् ने युद्ध के पहले ही अर्जुन को वह ज्ञान दे देना था जिससे इतना भयंकर और भीषण काम करके भी उसके ऊपर उसका कोई प्रभाव न आये। सामान्यतः किसी साधारण आदमी को मारना भी बड़ी भारी बात होती है, तो जब अपने प्रिय और पूज्य दादा व गुरु, प्रिय मामा, प्रिय मित्र आदि सबको मारना पड़े तो बड़ी भयंकर स्थिति हो जाती है। इस प्रकार के कर्म को भगवान् को अर्जुन से करवाना है। अतः जरूरी है कि अर्जुन पहले ही इस बात को जान ले कि ये सब माया के द्वारा प्रवृत्त हैं, इनमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। 'मैं' यह शरीर-मन नहीं हूँ जो इनके कर्मों से मुझ में कर्त्तापना आये। मैं तो ब्रह्मरूप हूँ जिसके अन्दर किसी भी प्रकार से माया और उसके कार्य का संबंध ही नहीं है। यह तभी हो जब उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश मिले। ब्रह्मविद्या का उपदेश तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कोई प्रश्न न करे, यह मर्यादा है। जब तक मनुष्य के अन्दर वैराग्य पूरी तरह से न हो तब तक सत्य के बारे में वह प्रश्न उठायेगा नहीं। भगवान् जान रहे थे कि दादा, गुरु आदि को संमुख देखने पर अर्जुन के मन में वैराग्य होगा और फिर उसे उपदेश देंगे।

इसलिये 'पार्थ' सम्बोधन करते हैं'तू पृथा का पुत्र है, पृथा स्त्री है और स्त्री का स्वभाव होता है कि परिस्थिति सामने आने पर उसे घबड़ाहट होती है, यह स्त्री का सहज स्वभाव है। तू उससे उत्पन्न हुआ है, इसलिये तेरे अन्दर भी यह स्वभाव आया है। शोक-मोह से ग्रस्त होना स्त्री के लिये स्वाभाविक है। उसका पुत्र होने से उसके सम्बन्ध से यह दोष तेरे अन्दर भी आया हुआ है फिर भी तू जिस स्त्री का बेटा है वह मेरी बुआ है अतः मैं तेरा रक्षण करूँगा, घबड़ाओ नहीं।' वह शोक-मोह में जा रहा है यह भी इसी सम्बोधन से बता दिया और मैं तेरी रक्षा करने वाला हूँयह आश्वासन भी दे दिया। जो

वहाँ उपस्थित हैंये कुरुवंशी हैं। कुरुवंश वालों के सहयोगियों को भी यहाँ कुरुओं में गिन लिया। भीष्म व द्रोण इनमें प्रमुख हैं, और भी बहुत से राजा हैं, सभी युद्ध के लिये समवेत हैं।

'तुमने मुझे अच्युत कहा है, मैं इस रथ में बैठा हूँ तो यह रथ भी अच्युत है इसलिये यह रथ भी गिरेगा नहीं।' महाभारत युद्ध में रोज़ तो भगवान् रथ से पहले उतरते थे, जैसा नियम है कि सारथि पहले उतरता है। वर्तमान मैं भी यही नियम है कि जब गाड़ी रुकती है तो पहले चालक ही उतरता है। इसी प्रकार रथ से भी पहले सारथि उतरेगा तब रथी को उतरने में सहायता देगा। रोज इसी नियम से भगवान् पहले उतरते थे। जब सारा युद्ध खत्म हो गया और रथ से उतरने का समय आया तब भगवान् ने अर्जुन से कहा'पहले उतरो।' अर्जुन ने पूछा'पहले तो आपके उतरने का नियम है, मैं क्यों उतरूँ?' भगवान् ने कहा'नहीं, मैं कहता हूँ, तुम उतरो।' वह उतर गया। मारुति-नंदन को भगवान् ने इशारा किया तो वे भी ध्वजा से उतर गये। तब भगवान् रथ से नीचे उतरे और भगवान् के उतरते ही वह रथ जलकर राख हो गया! अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह क्या हो गया, कैसे जल गया! भगवान् ने हँस कर कहा'जितने दिव्य अस्त्र अपने रथ पर चले हैं उनमें से एक-एक ही इसको नष्ट करने में समर्थ था। परन्तु मैं इसमें बैठा हुआ था, मेरा संकल्प था कि जब तक यह युद्ध होगा तब तक यह रथ रहेगा। मेरे इस संकल्प से यह रथ बचा रहा। अब युद्ध की समाप्ति हुई अतः इसे जल ही जाना था। इसीलिये तुम्हें और हनुमान् जी को पहले उतार दिया, तब मैं उतरा।' इस प्रकार भगवान् ने अपना अच्युतत्व बिल्कुल स्पष्ट करके बता दिया। उनका जो संकल्प है वही सर्वत्र सामर्थ्य वाला है।

भगवान् 'पश्य' से इंगित कर रहे हैं कि 'मैं अपने सारथि-भाव से अच्युत होने से स्थिर रहूँगा। बहुत सावधान रहूँगा। तू रथी बनकर बैठा है परन्तु इनको देखते ही तेरा रथीपना खत्म हो जायेगा! क्योंकि रथी तभी तक है जब तक युद्ध करे। महारथी, अर्द्धरथी, रथी आदि सभी नाम युद्ध करने वाले को लेकर हैं, जो युद्ध न करे वह युद्ध के मैदान में रथी कहाँ रहा! मैं तो सारथि बनकर स्थिर रहूँगा, परन्तु तू मेरी बुआ का बेटा होकर, पार्थ होकर, स्त्री-स्वभाव से प्रभावित होकर घबड़ाकर युद्ध को छोड़ने की इच्छा वाला होगा। तू जो इतना उत्सुक होकर दूसरे की सेना को देखना चाहता है, उनको देखकर घबड़ाने का कारण नहीं है, ऐसा मैं तेरे से कहता हूँ। तू अच्छी तरह से देख।' अगर भगवान् को यह संकेतित नहीं करना होता तो रथ को उचित स्थान पर स्थापित कर देते, भगवान् को बोलने की क्या जरूरत थी? परन्तु भगवान् अर्जुन को बताना चाहते हैं कि 'मैं हृषीकेश अर्थात् अंतःकरण को जानने वाला होने के कारण इस बात को जानता हूँ कि तू शीघ्र ही अपने स्त्री-स्वभाव का परिचय शोक-मोह के रूप में दिखा देगा'।।२४-२५।।

भगवान् द्वारा कुरुवंशियों को देखने के लिये कहने पर अर्जुन की किन-किन पर दृष्टि

पड़ी यह बताते हैं

तत्राऽपश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄन् अथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा।।२६।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धून् अवस्थितान्।।२७।।

पार्थ ने वहाँ दोनों ही सेनाओं में स्थित (इन सब) को देखापिता-तुल्यों को, दादों को, गुरुओं को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पोतों को, मित्रों को, ससुरों को, और प्रेम रखने वाले सहयोगियों को। युद्ध के लिये तैयार उन सब बन्धुओं को ध्यानपूर्वक देखकर वह कुन्तीपुत्र (ममताग्रस्त हो गया।)

दोनों सेनाओं के बीच में पहुँचकर (तत्र =) जब भगवान् ने उसे देखने के लिये कह दिया तब पार्थ अर्जुन ने उन्हें देखा जो युद्ध के लिये आकर डटे हुए थे। सामने खड़ी सेनाओं में पितरों को देखा। पितृ का निरुक्त करते हुए बताया है 'पिबति चुम्बति तुष्यति च' पितृ वह होता है जो बच्चे को चूमता है और उससे प्रसन्न होता है। सामने खड़े साक्षात् पिता तो नहीं लेकिन पितृव्य थे, उन्हें यहाँ पितॄन् कह दिया अर्थात् चाचा, ताऊ। चाचा भी बाप की तरह ही बच्चे को चूमकर प्रसन्न या तृप्त होता है, इसलिये उसे भी पितृ कहना ठीक ही है। पितामह, दादा, को देखा। भीष्म तो वहाँ दादा स्पष्ट हैं ही क्योंकि अर्जुन के पिता पाण्डु और पाण्डु के पिता विचित्रवीर्य थे जो भीष्म के सौतेले भाई थे। दादा का सौतेला भाई हुआ तो दादा ही। और भूरिश्रवा का बाप सोमदत्त भी वहाँ था। इसलिये बहुत सारे पितामह थे। पितामह कहने पर साक्षात् दादा और संबंध से दादा दोनों का संग्रह हो जाता है। आचार्यान्द्रोणाचार्य तो आचार्य हैं ही, कृपाचार्य भी द्रोणाचार्य की तरह ही इन सबको पढ़ाते थे। अतः द्रोण और कृपाचार्य दोनों ही आचार्य थे। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य से अतिरिक्त जिन-जिन से सीखा था वे लोग भी थे। मनु कहते हैं कि किसी से एक अक्षर भी सीख लिया तो वह भी तुम्हारा आचार्य हो जाता है क्योंकि ज्ञान तुम्हें उसने दिया ही। यह ठीक है कि शस्त्र की शिक्षा अधिकतर द्रोणाचार्य से ही ली थी पर और बहुत-सी विद्याएँ बहुतों से सीखी थीं जैसे कृपाचार्य से सीखी हुई है। मामा शल्य थे। शल्य नकुल सहदेव के सगे मामा थे अतः अर्जुन के भी मामा ही माने जायेंगे। इसी तरह शकुनि भी इनका मामा ही था। भ्रातॄन्भाई दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ भाई, और भी अन्य भाई थे। पुत्रान्दुर्योधन दुःशासन आदि के पुत्र थे, भतीजे भी पुत्र ही हैं। दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण आदि सब पांडवों के भी पुत्रों में गिने जायेंगे। पौत्रान्दुर्योधन के पोते, लक्ष्मण के पुत्र इत्यादि सभी पौत्र वहाँ थे। सखींस्तथाअपने मित्र अश्वत्थामा आदि साथ पढ़ने वाले थे। जयद्रथ आदि भी सखाओं में थे। श्वशुरान्पत्नी के पिता को श्वशुर कहते हैं। जब दुर्योधन आदि भाई हुए तो उनके ससुर पांडवों के भी ससुर लगे।

सुहृद्कृतवर्मा, भगदत्त आदि सब सुहृद् थे। भगवान् ने नारायणी फौज कौरवों को दी तो वे लोग उधर चले गये लेकिन हमेशा ही पाण्डवों का हित करने वाले थे। सुहृद् से जिस-जिसने कभी भी उपकार किया उन सबको संग्रह कर लेना चाहिये। सुहृद् मायने उपकार करने वाला। मनु ने लिखा है कि कोई एक बार भी उपकार करे तो उसे सुहृद् समझना चाहिये। ऐसा नहीं कि एक बार उपकार किया और बाद में नहीं किया तो सुहृद् नहीं रहा!

केवल दुश्मनों की सेना को ही नहीं देखा, अपनी सेना को भी देखा, दोनों सेनाओं के लोगों को देखा। अनेक तो आँखों से ही दीख गये, बाकी याद आ गये। वस्तु दीखने पर तत्सम्बद्ध अन्य वस्तुएँ याद आ ही जाती हैं। एक चाचा दीखा तो अन्य चाचे याद आ जाना स्वाभाविक है। यों प्रत्यक्ष और स्मृति, दोनों से उसे सब बंधुओं का उस समय ज्ञान हो गया। 'अपश्यत्', देखा अर्थात् जाना, कुछ को प्रत्यक्ष व बाकी को स्मृति से।

इन सबको देखने पर युद्ध जो धर्म है उसमें अर्जुन को अधर्म बुद्धि हो गयी। युद्ध धर्म है, हिंसा अधर्म है। धर्म युद्ध में उसे अधर्म हिंसा दीखने लगी। जैनियों के और हम लोगों के विचार में यह आधारभूत फर्क है : हम लोग हिंसा उसे कहते हैं जिसमें दूसरे का नुक्सान करने की भावना हो और वे लोग हिंसा उसे कहते हैं जिसमें दूसरों को किसी भी प्रकार से भौतिक दृष्टि से नुक्सान पहुँचे जैसे मार-काट करना। किसी को कर्जा देकर इतना ज़्यादा ब्याज वसूल करना कि उसका घर भी बिक जायेयह करते हुए जैनी को कभी ऐसा महसूस नहीं होता कि 'मैं हिंसा कर रहा हूँ', परन्तु एक चींटी को पैर से मार दे तो उसे वह हिंसा समझता है। हम लोग कहेंगे कि किसी को बेघर कर देना बड़ी भारी हिंसा है। जैसे जैनियों की विपरीत बुद्धि है वैसी ही विपरीत बुद्धि अर्जुन की हो गई। युद्ध तो उसे हिंसा दीखने लग गया और युद्ध को छोड़कर अधर्म को विजयी होने देना उसे धर्म दीखने लगा गया! यह जो विपरीत बुद्धि धर्म में अधर्म दर्शन है इसी को मोह कहते हैं। कोई कर्म धर्म है या अधर्म, यह आँखों से तो देखा नहीं जा सकता। धर्म-अधर्म का ज्ञान शास्त्र के आधार पर ही हो सकता है। धर्म युद्ध का शास्त्र ने विधान किया है। परन्तु विपरीत ज्ञान कि यह अधर्म है, शास्त्र से जाने हुए ज्ञान को भी प्रतिबद्ध कर देता है।

अर्जुन को यह मोह क्यों हुआ? यह मेरा हैइस ममकार के कारण ही मोह हुआ। इससे पहले अर्जुन सैंकड़ों युद्ध कर चुका है, धनंजय हो चुका है परन्तु वहाँ उसके मन में कभी नहीं आया कि 'मैं अधर्म कर रहा हूँ।' यहीं आकर यह भाव क्यों आया कि अधर्म कर रहा हूँ? 'ये मेरे हैं' इस ममता के कारण ही आया। शास्त्र से नहीं वरन् ममता से कार्यरूप में उपस्थित हुआ इसलिये अधर्म है। उसका चित्त विह्वल हो गया। इसी को शोक से अभिभूत होना कहते हैं। प्रथम अध्याय का मतलब आचार्य ने शोक-मोह से अभिभूत होना ही बताया है। धर्म में अधर्म दृष्टि मोह है और ममकार के कारण चित्त में सर्वथा घबड़ाहट होना शोक है। इस प्रकार यद्यपि वह खुद ही युद्ध में आया था परन्तु इस स्वधर्म से उपरत हो गया। धर्म का परित्याग ही महान् अधर्म है। आदमी धर्म को अधर्म

समझकर ही छोड़ता है। लोग कहते भी हैं कि 'हम अधर्म करना तो नहीं चाहते परन्तु अपने बच्चों के लिये, पत्नी के लिये करना पड़ता है। यह भी तो धर्म है!' हमारे सामने ही कहते हैं कि बच्चों का पालन करना भी तो कर्त्तव्य है। केवल अर्जुन को ही ऐसा हुआ हो, ऐसा नहीं है। सबसे बड़ा अनर्थ यही है कि प्राप्त धर्म का परित्याग करके हम अधर्म का सेवन करें। अर्जुन भी यही करने में प्रवृत्त था। धर्म को अधर्म समझकर धर्म से उपरत हो रहा था।

भगवान् ने अर्जुन को युद्ध करने के लिये नहीं कहा, 'युद्ध करना मेरा धर्म है' यह समझ कर ही अर्जुन वहाँ युद्ध करने आया था। चूंकि उसे धर्म में अधर्म-दृष्टिरूप मोह की प्राप्ति हुई, इसलिये केवल उस मोह को ही भगवान् के उपदेश द्वारा हटाया गया है। ठीक जिस प्रकार मोतियाबिंद हो जाता है तो सामने की चीज़ नहीं दीखती। मोतियाबिंद हटाया जाता है तो ऐसा नहीं है कि तुम्हारा देखना शुरू होता है। लोगों को यह भ्रम होता है कि शल्य (ऑप्रेशन) से आँख ठीक हो जायेगी और इसलिये उन्हें नहीं दीखता तो समझते हैं कि शल्य सफल नहीं हुआ। किन्तु न दीखने का कारण यह भी होता है कि अन्य रोग से आँख में ही खराबी आ चुकी है। कई बार यह जानते हुए कि मोतियाबिंद हटाने पर भी दीखेगा नहीं, मोतियाबिंद को हटाना पड़ता है ताकि अन्य रोग न हों। अतः मोतियाबिंद दीखने में रुकावट कर सकता है लेकिन मोतियाबिंद हटाना ही काफी नहीं कि दीखने लगे, इसके लिये आँख ठीक होनी चाहिये। नेत्र-ज्योति, अन्दर की शक्ति खत्म हो चुके तो वह किसी भी शल्य से वापिस नहीं आ सकती। इसी प्रकार अर्जुन को धर्म का ज्ञान था, शास्त्र पढ़ा हुआ था, पहले भी अनेक जगह युद्ध कर चुका था; ज्ञान था परन्तु ममता इत्यादि के कारण मोह होकर वह प्राप्त ज्ञान भी उसे उपस्थित नहीं था। ममकार शरीर-मन के साथ तादात्म्य बुद्धि के कारण ही होता है। अतः जब आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर दिया जाता है तब वह अज्ञान दूर होकर पूर्व में अर्जित धर्म-विषयक ज्ञान प्रकट हो जाता है। अतः आत्मज्ञान से धर्म का स्मरण हो जायेगा, परन्तु उसी को जिसे पहले से धर्म का ज्ञान है। वह ज्ञान अज्ञान के कार्यों से प्रतिबद्ध हुआ, अज्ञान के हटने पर वह पहले से स्थित धर्म-ज्ञान प्रकट हो जाता है।

जैसे पहले भगवान् ने 'पार्थ' कहा था वैसे ही यहाँ व्यास जी 'कौन्तेय' कुन्ती का पुत्र कह रहे हैं। यह भी उसके स्त्री-स्वभाव का द्योतन करने वाला संबोधन है।।२६-२७।।

हार-जीत के निर्णय पर्यन्त लड़ने-मरने को तैयार अपने सभी सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन का क्या हाल हुआ यह बताते हैं

कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदम् अब्रवीत्।
अर्जुन उवाच
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२६।।

(उन सब बन्धुओं को देखकर) परम कृपा के परवश हो ग्लानि का अनुभव करते हुए यह बोलाअर्जुन ने कहा 'हे कृष्ण! लड़ने की इच्छा वाले एवं युद्ध के लिये पूर्णतः तैयार हो निकट खड़े इस अपने बन्धुवर्ग को देखकर मेरे अंग शिथिल पड़ रहे हैं, मुँह सर्वथा सूख रहा है, मेरे शरीर में कम्पन और रोमांच हो रहा है।'

पार्थ और कौन्तेय शब्दों से जो स्त्री-स्वभाव कहा था, वह प्रकट होने लग गया। 'कृपा के द्वारा आविष्ट' कहने का मतलब है कि स्वाभाविक कृपा इसमें कारण नहीं है। किसी दुःखी को देखकर स्वाभाविक रूप से जो करुणा या कृपा प्रकट होती है, वह स्वभाव होने से गुण है। परन्तु जैसे किसी के ऊपर भूत-चढ़ जाता है, वैसे जब सोचने-समझने से रोक देने वाला भावोद्रेक हो तब दोष है। भूत केवल काला या सफेद ही नहीं समझ लेना! बहुत से लोगों के ऊपर धन का भूत चढ़ जाता है तो वे अपने मित्र को भी नहीं पहचानते! उस आवेश में गरीब मित्र आये तो उसे नहीं पहचान सकते हैं। ऐसे ही ममता के द्वारा कृपा चढ़ जाती है। ऐसी कृपा से आविष्ट हुए अर्जुन को विषाद हुआ। स्वाभाविक कृपा से आदमी विषाद को प्राप्त नहीं होता। जो स्वाभाविक कृपा है उसके द्वारा मन में प्रसन्नता और क्रियाशीलता आती है कि इसका दुःख दूर करें। जब किसी दुःखी या बीमार को देखते हैं तो जो कृपा आती है उसके कारण यदि वैद्य हुए तो दवाई देते हैं अन्यथा डॉक्टर की फीस देते हैं ताकि उसका दुःख दूर हो, यह उस कृपा का रूप होता है। परन्तु यहाँ इनका दुःख दूर होऐसी भावना तो है नहीं क्योंकि वे सब तो युद्ध करने के लिये तैयार होकर आये थे इसलिये उनके ऊपर दया या स्वाभाविक कृपा नहीं है। स्वाभाविक नहीं है, इसके लिये ही भगवान् वेदव्यास ने 'परया कृपया' कहा अर्थात् इसकी अपनी कृपा नहीं जो स्वाभाविक हो, क्योंकि वह तो गुण है, परन्तु यह उससे भिन्न, दूसरी कृपा है जो ममता या अज्ञान से हो रही है। उससे उसे विषाद हुआ।

विषाद होने पर अर्जुन बोलता है'हे कृष्ण!' कृष्ण सम्बोधन करके वह भगवान् को कहना चाहता है कि 'आपने तो अपने मामा कंस को मार दिया, परन्तु मुझे भी इसी तरह से अपने मामा, दादा आदि को मारने में मत लगाईये। ये जो युद्ध के लिये आये हुए मेरे सामने उपस्थित हैं, जिन्हें मैं देख रहा हूँ, ये सभी स्वजन हैं। इन्हें देखकर आत्मीयता के बोध से मेरी हालत बिगड़ रही है। मेरे सारे अंग व्यथित हो रहे हैं।' जब इस प्रकार की ममता का आवेश होता है तो पहली प्रतिक्रिया यही होती है कि शरीर में दर्द होने लग जाता है। शरीर को हिलाना भी मनुष्य को भारी पड़ता है। 'और मेरा मुख अन्दर से सूख रहा है।' आवेश में यह भी होता है। वैसे यदि इसका शरीर की क्रियाओं से सम्बंध देखें तो ऐसी किसी भी परिस्थिति में शरीर के स्रावों में फर्क पड़ जाता है। रक्त के अन्दर चीनी

की मात्रा बढ़ जाती है। रक्त में चीनी की मात्र बढ़ने और स्रावों की कमी के कारण शरीर में दर्द होना भी स्वाभाविक है। सभी जानते हैं कि जब आदमी के पैर बहुत जल्दी थक जाते हैं, बहुत जल्दी उनमें दर्द होने लगता है, ज्यादा चला भी नहीं, फिर भी पैरों में दर्द रहता है, तब कहते हैं मधुमेह रोग होगा। इसी प्रकार विषाद में पानी ज्यादा पीने लगते हैं क्योंकि मुँह सूखता है। शारीर विज्ञान के अनुसार तो मन में विषाद की स्थिति आने पर शरीर के स्रावों की कमी और चीनी की बढ़ोत्री खून में होने से ये सब लक्षण शरीर में होने लग जाते हैं। ये दोनों ही शोक के लक्षण हैं। मधुमेह हो तो ये लक्षण स्थायी रहते हैं, विषाद से आयें तो विषाद रहने तक दीखते हैं। भय या शोक की स्थिति में उसका सामना करना हो तो, और उससे भागना हो तो, दोनों दशाओं में शरीर में विशेष ऊर्जा चाहिये जिसके लिये खून में स्वभावतः शक्कर बढ़ जाती है ऐसा आधुनिक चिकित्सा-शास्त्री बताते हैं।

इसलिये 'सीदन्ति' और 'परिशुष्यति' दोनों ही शोक का लिंग है। 'और मेरा शरीर काँप रहा है।' कोई भी भय की परिस्थिति होती है तो मनुष्य का शरीर काँपने लगता है। 'मुझे यह अधर्म करना है'इस बात से अर्जुन को भय हो रहा है। यह भय इस बात को बता रहा है कि वस्तुतः वह अधर्म करना नहीं चाहता। 'और रोमहर्ष भी हो रहा है।' भय की परिस्थिति में जैसे शरीर काँपने लगता है, वैसे ही शरीर के रोंयें खड़े हो जाते हैं। इसलिये कार्टून बनाने वाले जब दिखाना चाहते हैं कि यह भयभीत हो गया तो उसके सिर के बाल खड़े बना देते हैं। सिर के बाल ऐसे तो खड़े नहीं होते, लेकिन कार्टून में दिखा देते हैं। शरीर के रोम अवश्य तन जाते हैं। इस प्रकार अर्जुन ने अपनी शोकग्रस्त दशा बतायी।।२८-२९।।

जैसे ही विरोधी के रूप में अर्जुन ने अपनी ममता के विषय निकट सम्बन्धियों को देखा वैसे ही ममता के कारण धर्म में उसको अधर्म-दृष्टि हो गई। 'ये लोग अधर्म का साथ दे रहे हैं, इसलिये इनको मारना धर्म है' इसकी जगह ममता के कारण उत्पन्न मोह से यह बुद्धि हो गई कि यह हिंसा है! उसे लगा अहिंसा धर्म है और हम जो करने जा रहे हैं वह हिंसा युद्ध अतः अधर्म है। दुष्ट के दमन में हिंसा की दृष्टियह धर्म में अधर्म की दृष्टि है। उसे मोह हो गया तो शरीर क्रिया-तत्पर नहीं रह गया, क्रिया-शक्ति का लोप होने लगा। जब आदमी को शोक होता है तब वह किसी भी कार्य को नहीं कर पाता अतः यह शोक का चिह्न है और शरीर काँपना भय का लिंग है। रोयें खड़े होना भी भय का लिंग है। अपनी अधीरता भी प्रकट करते हुए उसने आगे कहा

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

गाण्डीव हाथ से छूट रहा है और चमड़ी खूब जल रही है। मैं बैठा (या खड़ा) नहीं रह सक रहा, और मेरा मन मानो घूमता जा रहा है।

अर्जुन बैठने में भी अपने को असमर्थ समझ रहा है। यहाँ दोनों अर्थ सम्भव हैंबहुत बड़ी भीड़ को देखने के लिये आदमी गाड़ी में खड़ा भी हो जाता है। अर्जुन देखने के लिये खड़ा हुआ था लेकिन अब उससे खड़ा नहीं रहा जाता। यदि वह बैठा ही हुआ था तो समझना चाहिये कि अतिशोक में आदमी बैठने में भी अपने को असमर्थ पाता है, झट इधर-उधर सहारा लेता है। यदि खड़ा था तो मतलब है कि 'अब मैं खड़ा नहीं रह पा रहा हूँ' और यदि बैठा था तो मतलब है कि 'मैं पीछे की तरफ ढासना या सहारा ले लेता हूँ क्योंकि मुझसे अब सीधा नहीं बैठा जाता।' यह धैर्यहीनता का लिंग है। जब आदमी अधीर हो जाता है तब उसका शरीर ठीक प्रकार से स्थित नहीं रह सकता। अर्जुन का मन मानो चक्कर काट रहा था। चक्कर आने पर सारा संसार घूमता दीखता है। प्रायः ऐसा हो तो मूर्च्छा भी आ जाती है। अतः अर्जुन का तात्पर्य है कि 'मानो मैं बेहोश होने जा रहा हूँ, ऐसा चक्कर आ रहा है।' 'च' कार को हेतु में भी लगा सकते हैं कि 'चूंकि मुझे चक्कर आ रहा है इसलिये अब मैं खड़ा नहीं रह सकता।' 'भ्रमतीव च' में चकार को चाहे और-अर्थ में लो चाहे हेतु-अर्थ में लो कि 'इसीलिये मेरे हाथ से गाण्डीव खिसक रहा है।' अस्त्र को अच्छी तरह से पकड़कर रखना पड़ता है। जब सारा शरीर ढीला पड़ रहा हो तब हाथ की पकड़ भी ढीली हो जाती है।

अर्जुन का गाण्डीव धनुष बहुत बड़ा था इसलिये उसमें अनेक जगह पर गाँठें थीं। गाण्डी गांठ को कहते हैं 'गाण्डयः ग्रन्थयः', जिसके अन्दर गांठें होती हैं उसी को गाण्डीव कहते हैं। भगवान् पाणिनी ने (५.२.११०) भी गाण्डी और अजग दोनों से 'व' का विधान किया हैगाण्डी से गाण्डीव बनता है जो भगवान् विष्णु का धनुष है और अजग से अजगव बनता है जो भगवान् शंकर का धनुष है। गाण्डीव धनुष महिषासुर के गण्ड से बनाया गया था। गण्ड का मतलब होता है चेहरे का एक हिस्सा जो आँख से नीचे होता है। उससे पैदा किया अतः भी उसे गाण्डीव कहते हैं।

प्रह्लाद बद्री नारायण गया, वहाँ भगवान् नारायण और उनके साथ नर, दोनों तपस्या कर रहे थे। प्रह्लाल राजा था। उसने देखा कि एक तरफ तो ये जटाजूट और वल्कल धारण किये हुए हैं जो तपस्वी का लक्षण है और दूसरी तरफ धनुषबाण लिये हुए हैं जो योद्धा का लक्षण है! उसको संदेह हुआ कि ये कुछ गड़बड़ लोग हैं। उसने नारायण से कहा'यह क्या सांकर्य कर रखा है कि एक तरफ गाण्डीव है और दूसरी तरफ जटाजूट रखा है? इनमें एक रखो, नहीं तो मैं तुमको ठीक कर दूँगा!' नारायण ने कहा 'हम एकांत में भजन कर रहे हैं, तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं रहे, तुम हमसे क्यों भिड़ रहे हो?' उसने कहा'मैं राजा हूँ, राजा का काम होता है कि जहाँ कहीं गलत काम हो उसे ठीक करे। तुम यह गलत काम कर रहे हो।' उन्होंने कहा'हमने किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं किया, हथियार रखने की मनाही नहीं है और वल्कल की भी मनाही नहीं है, किसी का कुछ बिगाड़ रहे हों तब तो तुम्हारा कहना बनता है। हम अपना भजन कर रहे हैं।' प्रह्लाद के मन में राजा का

अभिमान था, कहने लगा‘तुम हमसे मत भिड़ो, नहीं तो तुम्हारी दुर्गति होगी।’ प्रह्लाद अस्त्र शस्त्र उठाकर मारने को तैयार हुआ, नारायण व नर ने भी अपना धनुष बाण उठा लिया। प्रह्लाद का कोई अस्त्र काम नहीं कर पाया! उस युद्ध के समय नर ने महिषासुर के गण्ड से बने हुए धनुष को हाथ में लिया। गाण्डीव वराह पर्वत की तरह अत्यंत ऊँचा और मुड़ा हुआ है जब प्रह्लाद अपने सारे अस्त्रों से सब तरह से असफल हुआ तब वह भगवान् विष्णु का ध्यान करने लगा कि ‘आप बचाईये।’ ध्यान में उसने देखा कि भगवान् विष्णु ही यहाँ नारायण रूप से तपस्या कर रहे हैं! फिर उनसे माफी माँगी। तब यही गाण्डीव धनुष नर के हाथ में था।

नारायण के अवतार कृष्ण और नर का अवतार अर्जुन माना जाता है। इस जन्म में वह धनुष उसको अग्नि ने प्रदान किया था। ऐसे अत्यंत बलशाली, प्रभावशाली साक्षात् नर के धनुष की इज्जत का भी उसे ख्याल नहीं रहा, वह भी उसके हाथ से खिसकने लगा। और सारे शरीर में जलन-सी हो रही थी मानो सारा शरीर जल रहा हो इसके द्वारा उसके संताप का दर्शन है कि यह अत्यंत तप्त हो रहा था। जब आदमी दुःख से अत्यंत तप्त होता है तब उसे लगता है कि सारा शरीर ही जल रहा है। इस प्रकार से अर्जुन अपनी भयानक स्थिति को बता रहा है।।३०।।

आगे भी कहता है

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

हे केशव! मैं अनिष्ट शकुन भी देख रहा हूँ और युद्ध में स्वकीय जनों को मारकर कोई कल्याण नहीं समझ पा रहा।

अनिष्ट के सूचक शकुन जैसे युद्ध के प्रारम्भ में देवताओं की मूर्तियों से आँसू निकलने लगे थे, अग्निहोत्रियों की अग्नियाँ ठण्डी पड़ गईं थीं, आँधी चलने की तैयारी हो रही थी। इस प्रकार अनेक अशुभ चिह्न थे। जब राम-रावण का युद्ध प्रारम्भ हुआ था तब भी अशुभ चिह्न होने लगे थे, तब लक्ष्मण घबड़ाया था तो विभीषण ने कहा था कि ‘ये अशुभ चिह्न रावण के लिये हैं, अपने लिये नहीं हैं। अर्थात् रावण का नाश होना है।’ अशुभ चिह्न तो किसी के लिए उपस्थित हो सकते हैं। अभी तक तो अर्जुन यही समझ रहा था कि अपशकुन कौरवों के लिये हैं परन्तु जब उसे लगा कि अपना पक्ष अधर्म का है तब उसे लगने लगा कि ये सब हमारे लिये ही होंगे अर्थात् पाण्डवों के लिये हैं। बाईं भुजा का फड़कना, बाईं आँख का फड़कना आदि सब अशुभ चिह्न माने जाते हैं। आजकल भी इन संकेतों को अशुभ मानते हैं। दाहिना नेत्र और दाहिनी भुजा फड़के तो अच्छा होता है दाहिने हाथ में खाज आये तो अच्छा होता है, बायें हाथ में खाज आये तो बुरा होता है। जब अशुभ चिह्नों की प्रतीति होने लगे तब शास्त्र में कहा है ‘केशवं क्लेशनाशाय’

केशव का नाम लेने से क्लेश नष्ट हो जाते हैं। विपरीत निमित्त शान्त हों, अरिष्ट शमन हो जायें, इसलिये अर्जुन केशव नाम का स्मरण करता है ताकि हमारे क्लेश नष्ट हो जायें।

'श्रेयः न पश्यामि' मैं इस लड़ाई के अन्दर कोई फायदा नहीं देखता। फायदे दो प्रकार के होते हैंइहलोक का फायदा और परलोक का फायदा। आगे यह स्वयं विस्तार से बतायेगा कि इहलोक का फायदा यही है कि हमें ज़मीन मिल जायेगी, धन मिल जायेगा और राज्य प्रयुक्त अनेक भोगों की प्राप्ति हो जायेगी। ये सब तो इह लौकिक लाभ हैं, युद्ध के अन्दर अगर हम डटकर सामने रहे तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी। भगवान् भी कहेंगे 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।' यदि युद्ध में कोई मारा जाता है तो सीधा स्वर्ग जाता है। जिस प्रकार यज्ञ करने के लिये स्रुक् स्रुवा आदि चाहिये जिससे यज्ञ करते हैं, उसी प्रकार युद्ध करने के लिये बाण, भाला आदि चाहिये, ये सभी स्रुक्-स्रुवा की तरह हैं। लेकिन जब स्रुवा ही हाथ से गिरने लगे तो यज्ञ कैसे सम्पन्न होगा! इसी प्रकार अर्जुन कहता है 'गाण्डीव ही हाथ से छूट रहा है तो न हमें राज्यरूपी श्रेय की प्राप्ति हो सकेगी और न स्वर्ग की प्राप्ति हो सकेगी। अपने ही रिश्तेदारों को युद्ध में मारकर हमें इसकी भी सम्भावना नहीं लगती कि कुछ स्वर्ग आदि की प्राप्ति होगी। इहलोक और परलोक दोनों का कोई लाभ मुझे इस युद्ध में नहीं दीख रहा है।' दोनों लोकों में किसी लाभ की प्राप्ति का आधार है अनात्मा में आत्मदर्शन।

शरीर और मन आदि सब पाँच भूतों से बने हैं, पांचभौतिक हैं। शरीर पांचभौतिक है, स्पष्ट सामने दीखता है। मन पांचभौतिक है इसे समझाने के लिये ही आरुणि उद्दालक ने कहा कि मन अन्न से बनता है, जो हम खाते-पीते हैं उसी से मन बनता है। आज भी लोगों की समझ में यह बात नहीं आती, इसलिये बहुत से लोग यही कहते हैं कि मन शुद्ध होना चाहिये, खाने-पीने में क्या रखा है! ऐसे लोगों ने अपना नारा भी बना रखा है 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' कठौती शरीर हुआ और उसमें रहने वाला जल गंगा अर्थात् मन हुआ। अर्थात् अशुद्ध शरीर में भी यदि शुद्ध मन रहता है तो ठीक है। लेकिन यह सब यह मानकर है कि मन पांचभौतिक नहीं है। मन पांचभौतिक है इसे देखना हो तो शाम को आठ बजे आबू में चारों तरफ घूमना, जगह-जगह अच्छे हृष्ट-पुष्ट लोग नाली के किनारे पड़े हुए दिखाई देंगे। उन्हें क्या हो गया? क्यों गिर गये? क्योंकि ठर्रा (दारू) पी लिया है। ठर्रा तो शरीर ने पिया, मन क्यों बेहोश हो रहा है? कुछ भी अण्ड-बण्ड बोलने लगते हैं। वह गड़बड़ी क्यों आई? शरीर ने पिया था तो शरीर में विकार होता, मन में ऐसा क्यों हुआ? उद्दालक आरुणि ने श्वेतकेतु को कुछ समय तक अन्न से दूर रखा तो उसका मन काम नहीं करने लगा। फिर उसे खिलाया-पिलाया तो मन काम करने लग गया। तब मन कहाँ से काम करने लगा? क्योंकि खाया-पिया था तो मन काम करने लगा। इसलिये जो लोग कहते हैं कि

मन शुद्ध होना चाहिये, शरीर क्या खाता है, किसको छूता है, इसमें क्या रखा हैयह प्रत्यक्ष अनुभव से ही विरुद्ध पड़ता है। शरीर भी पांचभौतिक और मन भी पांचभौतिक है। अन्न का विचार करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि यहाँ केवल मुँह से लिया हुआ अन्न ही नहीं समझना, सभी इन्द्रियों का अपना-अपना भोजन है। जैसे शरीर दाल चावल का भोग करता है वैसे ही आँख रूप का, कान शब्द का भोग करता है। जब तुम रूप का ग्रहण करते हो तब रूपवान् पदार्थ का ही ग्रहण होता है। इन्द्रियों से जो ग्रहण करते हो उससे मन बनता है। अतः स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर पांचभौतिक हैं। राज्य का भोग होगा तो स्थूल सूक्ष्म शरीर से ही होगा। स्वर्ग में दिव्य भोग भी मन से ही भोगोगे।

शरीर और मन के भोग को अपना भोग समझना अनात्मा में आत्मबुद्धि है, अर्जुन को लग रहा है कि शरीर मन को कोई लाभ नहीं होगा अतः कह रहा है 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' अर्थात् शरीर और मन को न यहाँ सुख मिलेगा और न स्वर्ग का सुख मिलेगा। वस्तुतः तो अनात्मा और आत्मा का कोई सम्बन्ध विचार करने पर मिलता नहीं, बनता भी नहीं। अतः शरीर और मन के स्वर्ग में जाने-न जाने से आत्मा में कोई भी फ़र्क नहीं है परन्तु इस बात को नहीं समझने के कारण वह कहता है 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' कि मुझे इसमें कोई श्रेय या फायदा नहीं दीखता।

वह भगवान् को संकेत करता है 'ये सब आपके भी वैसे ही स्वजन हैं जैसे मेरे हैं।' दोनों के रिश्ते आपस में फँसे हुए थे। 'आप तो आत्मवेत्ता होने के कारण शोक में नहीं पड़े हैं और मैं अनात्मा को आत्मा समझता हूँ इसलिये शोक में पड़ा हूँ। अतः आप मुझे भी अपने जैसा आत्मदर्शी बनाइये।' 'केशव' सम्बोधन करके कह रहा है 'आप साक्षात् परमेश्वर हो। 'क' अर्थात् ब्रह्मा, ईश अर्थात् शंकर और व अर्थात् विष्णु; ब्रह्मा विष्णु शंकर रूप से सृष्टि स्थिति संहार करने वाले हो अर्थात् मायाधीश हो अतः स्वरूप में स्थित रह कर आप इनको देखकर प्रभावित नहीं हो रहे हो। मैं इनको देखकर शोक में डूबा जा रहा हूँ। आप कृपा करके मुझे भी आत्मदर्शन दीजिये।' भगवान् को केशव इसलिये भी कहते हैं कि केशि नाम के दुष्ट दैत्य को उन्होंने मारा था। आत्मा में अनात्मबुद्धि रूप अज्ञान केशि दैत्य से किसी तरह से कम नहीं है। अर्जुन का भाव है 'मेरे में इस शोक-मोह के कारणभूत अज्ञान को, जैसे आपने केशि राक्षस को मारा था, ऐसे ही आप नष्ट कर दीजिये। आपने केशि-वध भक्तों के अनुग्रह के लिये किया था। मैं भी आपका भक्त ही हूँ इसलिए आप मेरे शोक का निवारण करके भक्त-पालन कीजिये। भक्त-पालन आपके लिये स्वाभाविक है।'

स्मृतिकारों ने यह साफ बताया है कि युद्ध के अन्दर प्राणों का मोह छोड़कर जो युद्ध करता है वह उसी पद को प्राप्त करता है जो संन्यासी संन्यास के द्वारा पाता है।

‘द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः।।’

दोनों प्रकार के लोग सूर्य-मंडल का भेदन करते हैंजो क्षत्रिय प्राणों की बिना परवाह किये युद्ध करते हुए काम आता है और जो संन्यासी चित्त को एकाग्र करके योगाभ्यास करता हैये दोनों सूर्यमण्डल का भेदन करते हैं। अर्जुन की विपरीत बुद्धि देखो! यही कहा है कि जो सामने रहकर मरता है, वह सूर्यमण्डल की प्राप्त करता है। जो *मारता* है वह सूर्यमण्डल को प्राप्त करता है यह तो कहा नहीं है। इसलिये मारने वाले को कोई पुण्य नहीं होता, मरने वाले को पुण्य होता है। अर्जुन कह रहा है ‘इनको मारकर हमें तो हिंसा का दोष लगेगा ही और ये मरेंगे तो सूर्यमण्डल का भेदन करके चले जायेंगे। हमारे हाथ तो केवल पाप ही रह जायेगा। इसलिये मुझे श्रेय नहीं दीखता है। युद्ध करके कोई फायदा है यह बहुत प्रकार से विचार करने पर भी समझ में नहीं आता। युद्ध में मरना तो अच्छा बताया है परन्तु मारना पुण्यप्रद कहा नहीं है।’ यह अर्जुन की विपरीत बुद्धि हो गई है। जो अपने लोग नहीं हैं उनको भी मारकर पुण्य नहीं कहा, उनसे भी मरने को ही पुण्य कहा है। इसका मतलब है कि युद्ध में किसी को मारकर तो हिंसा का दोष लगेगा ही। उसमें भी दादा और गुरु को मारने का और ज़्यादा दोष लगेगा। इसलिये युद्ध न करना ही श्रेयस्कर है।।३१।।

अर्जुन स्पष्ट करता है कि परलोक में श्रेय तो नहीं ही होगा, इह लोक में भी श्रेय नहीं होना है

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

हे कृष्ण! विजय, राज्य और सुखों की मुझे आकांक्षा नहीं। हे गोविंद! राज्य, भोग और जीवन से भी हमें क्या लाभ होगा!

फल की इच्छा ही कर्म में प्रवृत्ति का कारण होती है क्योंकि, जैसा भगवान् भाष्यकार बार-बार याद दिलाते हैं, अविद्या-काम-कर्म, यही क्रम है। कर्म तभी होगा जब उसके फल के प्रति कामना हो और कामना तभी होगी जब जो ‘नहीं है’ उसके अन्दर ‘है’ बुद्धि हो। है तो सर्वत्र एक परमात्मा ही परन्तु उसमें हमें रसगुल्ला, गुलाब जामुन की प्रतीति हो रही है, इस अविद्या के रहते ही हम उसे खाने जाते हैं। कर्म तभी होगा जब हमें फल की कामना होगी और फल की कामना तब होगी जब हमको असत् में सद्बुद्धि होगी। अर्जुन को युद्ध से मिलने वाले राज्य की आकांक्षा ही नहीं हो रही है। जिस प्रकार जिसे भूख नहीं लगी है वह भोजन बनाने में प्रवृत्ति करता नहीं देखा जाता, वैसे ही युद्ध का फल नहीं चाहिये तो उसमें प्रवृत्ति कैसे होगी? इसलिये भगवान् को सम्बोधित करता हैहे कृष्ण! आप तो कृष्ण हैं अर्थात् ‘कर्षति पापानि शरणागतानां’ जो आपकी शरण आता है उसके

पापों को आप समाप्त कर देते हैं। अतः हमको भी आप इस होने वाले युद्ध के पापों से बचा लीजिये। हम आपके शरणागत हैं। हमें यही इच्छा है कि कल्याण की प्राप्ति हो। इहलोक के पदार्थ राज्य आदि की अब हमें कोई आकांक्षा ही नहीं है। विजय होकर क्या मिलेगा? राज्य ही मिलेगा। विजय की इच्छा इसलिये नहीं है कि विजय का मतलब है राज्य की प्राप्ति। उस राज्य की ही हमें इच्छा नहीं है।' राज्य की इच्छा भी इसीलिये होती है कि राज्य होगा तो भोग मिलेगा। जैसे इतना लम्बा-चौड़ा चुनाव लड़ते हैं तो किसलिये लड़ते हैं? इसीलिये कि चुनाव जीतने पर सब तरह की सुविधायें मिलेंगी। मंत्री बनने पर बढ़िया से बढ़िया मकान, मोटर, टेलिफोन आदि कई चीज़ें मुफ्त में मिलेंगी। ये सब भोग मिलते हैं तभी राजा बनने की इच्छा करते हैं। अगर यह घोषणा कर दी जाये कि भारत में जो मंत्री बनेगा उसका मंत्री काल समाप्त होने पर उसका सब कुछ ले लिया जायेगा, केवल एक लंगोटी देकर किसी आश्रम में रख दिया जायेगा, तो शायद कोई चुनाव नहीं लड़ेगा! दूसरे कहेंगे भी तो कहेगा कि 'हमारे बाल-बच्चे हैं, हमें ये सब नहीं चाहिये।' इसलिये राज्य भी भोग के लिये ही होता है। भोगों से भी अर्जुन को लगता नहीं कि कुछ प्राप्ति होनी है क्योंकि भोग भी क्षणिक होते हैं। अधर्म में जब धर्म की दृष्टि होती है तब अधर्म को ही धर्म कहेंगे। अतः अर्जुन कर्त्तव्य से विमुखता को वैराग्य के रूप में प्रकट कर रहा है ताकि कर्तव्य-त्याग धर्म प्रतीत हो।

भगवान् कह सकते हैं 'अब तो शंख फूँके जा चुके हैं, तुम नहीं लड़ोगे तो तुम्हें ये मार डालेंगे, इसलिये ज़िन्दा रहने के लिये ही लड़ो।' अतः अर्जुन कहता है 'जीवितेन वा किं' 'ज़िन्दा रहने से भी क्या फायदा! इतने वर्ष हम लोगों ने वनवास में निकाले, हम तब भी युद्ध कर सकते थे। इसीलिये निकाले कि सब लोग इस बात को जानते हैं कि हम धर्म के मार्ग पर चलने वाले हैं। यदि हमने युद्ध किया तो हमारी धार्मिकता पर लांछन लगेगा कि अंत में लड़ाई करके अपना राज्य ले ही लिया। यदि हम जीवित रहने के लिये लड़ाई करेंगे तो हमेशा अपयश के साथ जियेंगे, एवं अधर्म भी होगा। अगर हम इनके द्वारा मार दिये गये तो हमारा यश उज्ज्वल हो जायेगा। सब कहेंगे 'इनकी सामर्थ्य होने पर भी क्या त्याग किया है! मर गये, लेकिन अपने लोगों को तो नहीं मारा, देखो ये कितने त्यागी हैं।' इसलिये यश सुरक्षित रह जायेगा, चाहे जीवन न रहे। यशस्वी जीवन ही जीना है। नाम पर बट्टा लग गया तो वह जीना बेकार है। इसलिये जीने के लिये मैं युद्ध नहीं करना चाहता, राज्य के लिये नहीं और राज्य में मिलने वाले भोगों के लिये भी नहीं। सब सुखों के लिये भी मैं युद्ध नहीं करना चाहता।'

'गोविन्द'गो नाम वेद का है। 'वेदों के द्वारा आपको प्राप्त किया जाता है। वेद का मतलब धर्म है क्योंकि वेद में प्रतिपादित धर्म हैं। धर्म के द्वारा आपको प्राप्त किया जाता है। इसलिये हम भी आपको ही प्राप्त करना चाहते हैं। बाकी राज्य आदि की हमारी कोई इच्छा नहीं है।' इस प्रकार अर्जुन की अधर्म में धर्म की बुद्धि बड़ी दृढ हो रही है।।३२।।

प्रश्न होता है कि अधर्म के द्वारा तुमको भोग की इच्छा नहीं है यह तो ठीक है, लेकिन मनु ने कहा है कि न करने लायक सौ काम भी करके जिनका हमें भरण-पोषण करना चाहिये उन स्त्री, बच्चे, नौकर आदि की व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। तुमको अपने लिये नहीं चाहिये तो भी अपने भर्त्तव्यों के लिये करो। स्वयं को वैराग्य होने पर भी जो अपने स्वीय हों उनके लिये यत्न क्यों नहीं करते? इसके उत्तर में अर्जुन कहता है

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

जिन स्वजनों के प्रयोजन से हमें राज्य, भोग और सुख चाहिये हो सकते हैं, वे तो प्राणों और धनों को भी छोड़कर युद्ध में प्रत्यक्ष ही उपस्थित हो गये हैं।

मनु की आज्ञा तो उचित है किन्तु इस परिस्थिति में वह लागू इसलिये नहीं होती कि जिनके लिये राज्य आदि अर्जित किया जाना जरूरी हो सकता है वे सभी युद्ध भूमि में उतर गये हैं। और वे यहाँ युद्ध में कैसे आये हैं? 'प्राणांस्त्यक्त्वा' का मतलब प्राणों को छोड़कर अर्थात् मर कर तो आये नहीं हैं! इसलिये 'प्राणाशा और धनाशा छोड़कर आये हैं'यह अर्थ लेना पड़ेगा। अर्जुन और भीम के द्वारा सभी कौरव मारे जायेंगे, इसलिये उन्हें प्राणाशा भी नहीं है और जीतेंगे नहीं इसलिये धन की भी आशा नहीं है। इसलिये जब ये रहेंगे ही नहीं तो इनके लिये युद्ध क्या करना है! यहाँ भोग और सुख दोनों को अलग गिना है। भोग का तात्पर्य है, भोग के विषय और सुख वह है जो उन विषयों के द्वारा प्रतीति होती है। फिर भी धन को अलग लेने की ज़रूरत इसलिये है कि कई बार ऐसी परिस्थिति आती है कि आदमी कहता है 'मैं मर भी जाऊँगा तो दस लाख छोड़े जा रहा हूँ, घरवालों का काम चलता रहेगा।' इसलिये धन को अलग गिना है।।३३।।

स्वीय कौन हैं जिनके लिये राज्यादि अपेक्षित हो सकता है

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन!।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

हे मधुसूदन! गुरुजन, पितातुल्य आदरणीय लोग, दादा आदि बुजुर्ग, बेटे, मामे, ससुर लोग, पोते, साले तथा अन्य सम्बन्धी (यहाँ लड़ने आ गये हैं)। भूमि के लिये तो क्या, त्रिलोकी के राज्य के लिये भी यदि ये मुझे मारते हों तो भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता।

मनुष्य बड़े-से-बड़ा प्रयत्न करके गुरु-सेवा करता है, गुरुदक्षिणा देता है। गुरुदक्षिणा के लिये बड़ी भयानक परिस्थिति में जाकर भी कार्य करता है। एक शिष्य को गुरुपत्नी ने कह दिया कि अमुक कुण्डल लाओ। वह कुण्डल नागराज के पास था। बहुत भयंकर

परिस्थितियों से निकल कर वह शिष्य उस कुण्डल को लाया था। यह दृष्टांत प्रसिद्ध ही है। यों पूजनीय आचार्य जन युद्ध में संमुख उपस्थित हैं, उन्हें मारना कैसे उचित हो सकता है? इसी प्रकार से मनुष्य पिता चाचा इत्यादियों के लिये सारे कार्य करता है, ये भी सब रण में अभिमुख हैं। यहाँ 'श्यालाः' में तालव्य 'श' का प्रयोग है परन्तु नीलकण्ठ ने दन्त्य 'स' का ही प्रयोग किया है। आचार्य एवं सब सम्बन्धी सेवा, भरण-पोषण आदि के योग्य हैं, न कि मारने योग्य अतः इन्हें मारने की इच्छा कृपावेश वाले अर्जुन को न हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

भगवान् कह सकते हैं 'ये सब यहाँ संधि करने तो आये नहीं हैं, ये युद्ध करने आये हैं। शंख भी बज गये हैं। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो ये तुझे मार डालेंगे क्योंकि ये तो राज्य और धन के लोभ वाले हैं ही। ये दुर्बुद्धि दुर्योधन के पीछे यहाँ इकट्ठे होकर आये हैं।' इस पर अर्जुन कहता है 'यदि ये मुझे मार भी डालें तब भी मैं इनको मारना नहीं चाहता!' अर्थात् मरना ही श्रेयस्कर है। 'हे मधुसूदन!' भगवान् ने मधु नाम के राक्षस को मारा था इसलिये भगवान् का नाम मधुसूदन है। मधु दैत्य था, उसने ब्रह्मा जी के पास जो वेद थे उनका हरण कर लिया था। तब भगवान् ने मत्स्यावतार लेकर वेदों का उद्धार किया था। वैदिक मार्ग का रक्षण करने के लिये ही वेदों का उद्धार किया। इसलिये अर्जुन कहता है 'आप वैदिक मार्ग के प्रवर्तक हैं। आपको इस बात को मान ही लेना चाहिये कि दुष्ट लोग मुझे मार डालें, फिर भी मैं युद्ध न करूँ यह ठीक है। आप चूँकि मधु को मारने वाले हैं इसलिये आप मुझे इस पाप से बचा सकते हैं। मैं अपनी जान की रक्षा के लिये इन्हें नहीं मारूँगा इतना ही नहीं है त्रिलोकी का राज्य भी मुझे मिल सके तब भी मैं इन्हें नहीं मारूँगा तो केवल पृथ्वी को प्राप्त करने के लिये मैं इनके साथ क्या युद्ध करूँ!' इस प्रकार से अर्जुन का कहना है कि वे लोग उसे मार भी डालेंगे तब भी वह युद्ध नहीं करना चाहता।।३४-३५।।

यदि कहा जाये कि 'तुम जिन भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शल्य आदि को नहीं मारना चाहते उनको मत मारो, लेकिन जिन दुष्ट दुर्योधन, दुःशासन आदि ने तुम्हें बहुत दुःख दिया है, वे क्रूर लोग हैं, उन दुःख देने वालों को तो मारने की इच्छा तुम्हारे में होनी ही चाहिये।' तब कहता है कि उन दुःख देने वाले धृतराष्ट्र के पुत्र इत्यादियों को मार कर क्या होगा।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।।३६।।

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारकर हमें क्या खुशी हो सकती है! इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा। (अथवा इन्हें मारें तो हम ही आततायी बनकर पापी हो जायेंगे। अथवा, यदि ये हमें मारेंगे तो इन आततायियों को ही पाप लगेगा)।

अधर्म में धर्म-दृष्टि कहाँ तक होती है इसको संकेतित कर रहा है'दुर्योधन, दुःशासन आदि जिन लोगों ने हमें बहुत कष्ट दिया है, हैं तो वे हमारे भाई और रिश्तेदार ही, उनको मारकर हमको क्या प्रसन्नता हो सकती है अर्थात् उनको मारकर कोई प्रसन्नता नहीं हो सकती। मूर्ख क्षण भर का सुख लेने में प्रवृत्त होते हैं। जिसने हमें दुःख दिया उसे हमने दुःख दिया तो क्षणभर का ही हमें सुख होगा जो सचमुच में सुख नहीं सुखाभास है। उसने हमें दुःख दिया तो उसने पाप किया, हमने फिर उसे दुःख दिया तो हमने पाप किया! यह ठीक है कि उसे अपने पाप का फल दुःख भोगना पड़ेगा, परन्तु हमने जो उसे दुःख दिया उस पाप का फल हमें भी तो भोगना ही पड़ेगा। उस क्षणभर के सुखाभास के लिये अतिदीर्घकाल तक नरक की यातना प्राप्त करके क्या प्रसन्नता हो सकती है, अर्थात् कोई प्रसन्नता नहीं हो सकती। इसलिये इन धार्तराष्ट्रों को भी हम क्यों मारना चाहें? इनको मारने से हमें तो पाप लगेगा ही।

भगवान् को जनार्दन सम्बोधन किया। भगवान् साधारण प्रलय काल में लोगों का अर्दन या नाश करते हैं, इसलिये उन्हें जनार्दन कहते हैं। भगवान् को कहता है 'आप जिसको मर्ज़ी उसे मारो। प्रलयकाल में सारे संसार को मारकर भी आपको तो कोई पाप लगता नहीं है क्योंकि आप शुद्धरूप होने से पाप से असंसर्गी हैं। परन्तु हम तो ऐसे नहीं हैं। आप कहेंगे कि मैं निमित्तमात्र बनूँ, पर निमित्त बनकर भी मुझे तो आगे नरक भोगना ही पड़ेगा। इसलिये मुझे क्यों निमित्त बना रहे हैं?'

विचार करो, यहाँ जिन्हें मारना है वे कैसे हैं? आततायी हैं। शास्त्र कहता है 'नाततायि वधे दोषः' आततायी को मारने से कोई दोष नहीं होता। धर्मशास्त्र तो यह कहता है और अर्जुन को धर्म में अधर्म-बुद्धि होने से 'आततायी को मारने से पाप होगा' ऐसी बुद्धि हो रही है! आततायी छह प्रकार के बताये गये हैं

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः।।'

जो तुम्हारे घर आदि को आग से जलाये वह आततायी है। दुर्योधन ने लाक्षागृह में पांडवों को मारने का सारा इन्तजाम किया था, वे लोग उससे बच गये यह बात दूसरी है। जहर देने वाला भी आततायी होता हैकौरव जहर देने वाले भी थे। भीम को उन्होंने जहर दिया था, फिर वह नदी में कूदकर बच गया था यह बात दूसरी है। हाथ में शस्त्र लेकर आये ही हुए हैं, अतः प्रत्यक्ष ही आततायी हैं। धन का अपहर्ता भी आततायी होता है। पांडवों के सारे राज्य और धन का अपहरण करके कौरव बैठे ही थे। बात तो यही थी कि जब ये वनवास काटकर आयेंगे तब पांडवों को पुनः राज्य मिल जायेगा। वनवास का काल पूरा हो गया तो उन्हें उनकी चीज़ वापिस कर देनी चाहिये थी, लेकिन कौरव राज्य दबाकर बैठे गये। किं च उन्होंने पांडवों की पत्नी को नंगा करने का भी पूरा यत्न किया था। पत्नी

का अपहरण करने वाला भी आततायी कहलाता है। इन छहों में से एक काम करने वाला भी आततायी होता है, कौरवों ने तो पाण्डवों के प्रति छहों काम किये थे। इसलिये उनके आततायी होने में कोई संदेह नहीं है। यह कहा गया है कि

''आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।।''

तुम्हारे क्या लगते हैं, ब्राह्मण हैं, अब्राह्मण हैं, आदि कुछ विचार करने की जरूरत नहीं है, आततायी को आते देखकर ही मार डालना चाहिये। धर्मशास्त्र तो यह कहते हैं परन्तु अर्जुन को लग रहा था कि इनको मार कर पाप होगा! इस प्रकार से धर्म में अधर्म-दृष्टि कर रहा था।

वाक्य मिलता है 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिये। साथ ही आततायी को मारने का विधान भी किया है। कुछ लोग कहते हैं कि निषेध ही प्रधान है कि किसी को नहीं मारना चाहिये, आततायी को मारना इत्यादि इतना ही बताता है कि आततायी को मारने से *कम* दोष होता है, लेकिन दोष तो होगा ही। परन्तु विचार करके निश्चय यह किया गया है कि सामान्य को विशेष विधि दबा लेती है। विशेष विधि है कि आततायी को मारना चाहिये, सामान्य निषेध है कि किसी को न मारो। आततायी को मारने के स्थल को छोड़कर, जो आततायी नहीं हैं उनको नहीं मारने से सामान्य निषेध अपना काम कर लेगा। इसलिये विशेष विधि सामान्य निषेध के विरोध में नहीं है। सामान्य का मतलब ही होता है जो विशेष स्थलों को छोड़कर प्रवृत्त हो। इसलिये सिद्धान्त है कि आततायी को *विधि-प्रयुक्त* होकर मारोगे तो दोष की सम्भावना ही नहीं है। इसी तरह विधिप्रयुक्त होकर यज्ञयागादि में हिंसादोष की प्राप्ति ही नहीं है। राग से जहाँ प्रवृत्ति होगी वहाँ शास्त्रानुकूल होने पर भी राग वाला दोष रहेगा ही। यदि हमको धन की कामना है और हमने शास्त्रविहित कर्म किया तो भी क्योंकि कामना का परित्याग शास्त्र ने कहा है इसलिये कामना करना दोष है, उस दोष की प्राप्ति होगी ही। इसी प्रकार यदि राज्य की इच्छा से हमने लोगों को मारा तो दोष है ही, यद्यपि आततायी को मारने में पाप नहीं है। जहाँ कहा जाता है कि दोष है वहाँ तात्पर्य यही है कि रागवालेको दोष है, चूँकि सबसे बड़ा दोष ही राग है। यदि केवल शास्त्राज्ञा से, गुरु की आज्ञा से या ईश्वर की इच्छा से करते हो तब उससे कोई दोष नहीं है। आततायी को मारने में कोई दोष नहीं, परन्तु यदि अपना कुछ भी स्वार्थ है तो उतने अंश में दोष होगा ही।

किसी-किसी आचार्य ने यहाँ पर दूसरा अर्थ भी करने का प्रयत्न किया है : हम इन्हें नहीं मारेंगे तो ये हमें मारेंगे चूंकि ये दुष्ट प्रवृत्ति के लोग हैं ही; हम आततायी नहीं हैं जबकि ये आततायी होने से पहले ही पाप वाले हैं और हमें मारकर ये और ज्यादा अपने

लिये पाप इकट्ठा कर लेंगे। जिससे इन्हें और घोरतर नरकों में पड़ना पड़ेगा। यह भी अर्थ किया है कि इन्हें मारने पर हम ही आततायी हो जायेंगे।।३६।।

मेरे लिये प्रयोजनहीन ही नहीं दोषप्रद होने से भी यह हिंसात्मक युद्ध कर्त्तव्य नहींयह अर्जुन उपसंहार करता है

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

हे माधव! उक्त कारणों से हमारे लिये उचित नहीं कि अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों की हत्या करें। निज सम्बंधियों को मारकर हम सुखी कैसे हो पायेंगे!

उक्त कारण अर्थात् इनको न मारकर और इनके द्वारा मारे जाने पर ही लाभ होने से, ये जो धृतराष्ट्र आदि की फौज में आये हुए भीष्म, द्रोण आदि सब अपने ही बन्धु-मित्र हैं, इनको मारना हमारे लिये योग्य नहीं है अर्थात् हमें उन्हें नहीं मारना चाहिये। 'हि' क्योंकि अपने ही लोगों को मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं? अपने लोगों को मारकर सुखी होना बनता नहीं है।।३७।।

भगवान् पूछ सकते हैं कि तुम दृष्ट-अदृष्ट फल की बात कर रहे हो, ये कौरव भी सब पढ़े-लिखे लोग हैं, बेवकूफ तो हैं नहीं। अगर युद्ध ऐसा बुरा होता तो ये भी क्यों लड़ने को तैयार होते? इसके जवाब में अर्जुन कहता है

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

लोभ से प्रतिबद्ध चित्त वाले ये कौरव कुल के नाश से होने वाला दोष और मित्रों से द्रोह का पाप यद्यपि देख नहीं रहे (तथापि हमें तो वह स्पष्ट ही है)।

ये बेचारे क्या करें! इनकी चित्तवृत्ति या बुद्धि तो लोभ के द्वारा मारी गई है। जब मनुष्य को किसी चीज़ का लोभ होता है तब कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य बुद्धि हट जाती है। एक बार किसी ने आकर किसी महात्मा से पूछा कि सारे पापों में प्रवृत्त कराने वाला मूल कारण कौन-सा है? प्रश्न करने वाले ने गंवार भाषा में पूछा 'पाप का बाप कौन है?' अर्थात् पाप का मूल क्या है? महात्मा ने कहा 'मैं इस प्रश्न का जवाब नहीं दूँगा। अमुक शहर में एक वेश्या रहती है, उसके पास जाओ, वह तुम्हें जवाब दे सकती है। वह मेरी शिष्या है, सब विषयों को समझती है इसलिये वह ठीक जवाब देगी।' वह आदमी उस वेश्या के पास पहुँचा और उससे कहा कि 'महात्मा ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, इसलिये मैं प्रश्न पूछने आया हूँ।' वही प्रश्न पूछा कि सारे पापों का मूल कारण क्या होता है? उस वेश्या ने कहा 'आपको मेरे गुरुजी ने भेजा है तो पहले भोजन कीजिये, आराम कीजिये। फिर प्रश्नोत्तर होगा।' उसने कहा'देखो! मैं ब्राह्मण हूँ इसलिये मैं तुम्हारे यहाँ नहीं खा

सकता, खाने की बात जाने दो।' वेश्या ने कहा'देखिये! आज पूर्णिमा का बड़ा अच्छा दिन है, आज जो मेरे यहाँ भोजन करेगा उसे मैं सात तोड़े अर्थात् एक मन सोना दक्षिणा में दूँगी।' ब्राह्मण सोचने लगा कि एक मन सोना लेकर तीर्थ यात्रा करके वेश्या के यहाँ खाने का पाप धो देंगे! कहने लगा'तुम चूंकि उनकी शिष्या हो, इसलिये तुम्हारे यहाँ भोजन कर लूँगा।' वेश्या ने भोजन बनवाया, थाली लेकर आई। जैसे ही ब्राह्मण ने खाने के लिये कौर तोड़ा उस वेश्या ने तुरन्त थाली हटा ली और कहा'मेरे हाथ का खाना पाप है, आपको पता है फिर आप क्यों खा रहे हैं?' ब्राह्मण कहने लगा 'इसमें तो एक मन सोने का लोभ ही कारण है।' वेश्या ने कहा'बस यह लोभ ही सारे पापों का मूल कारण है। ऐसे मैं कहती तो आप उसमें कई संदेह करते। अब आपको निश्चय हो गया। मुझे आपको भोजन नहीं कराना है। मैं किसी का धर्म बिगाड़ने वाली नहीं हूँ और फिर आप तो गुरु जी के द्वारा भेजे हुए हैं।'

लोभ ही सारे पापों में प्रवृत्ति कराता है। अर्जुन कहता है 'चूंकि इन बेचारे कौरवों की बुद्धि लोभ के द्वारा आहत हो गई है इसलिये हम जो करने जा रहे हैं इसमें क्या दोष इत्यादि हैंइसका अनुसंधान ये लोग कर ही नहीं सकते। अतः ये उधर ही प्रवृत्ति करेंगे। किन्तु इस युद्ध में प्रत्यक्ष ही कुलक्षय का दोष है, कुल के सब मर जायेंगे। हम लोग भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य की बहुत इज़्ज़त करते हैं, इनके लिये सब कुछ करने को तैयार हैं। ऐसा होने पर भी ये दुर्योधन का साथ देकर हमें नष्ट करने के लिये तैयार हो रहे हैं! इन्हें न कुलक्षय का और न मित्रद्रोह का विचार है।'

शास्त्र में हमारे यहाँ एक नियम बताया है कि यदि अपने किसी फ़ायदे के लिये किसी धर्म की बात कोई कहे तो वह नहीं माननी चाहिये। शिष्टाचार हमारे यहाँ प्रमाण है, जो वेद स्मृति में लिखा है वह करो और जो शिष्ट पुरुष आचरण करते हैं वह करो। चूँकि धर्म की सारी बातें वेद या स्मृति में लिखी हुई नहीं मिलेंगी इसलिये बाकी शिष्टों के आचार से सीखनी पड़ती हैं। एक प्रश्न उठता है कि जहाँ शिष्टों का आचार अपने किसी मतलब के लिये हो तो क्या उसको भी धर्म माना जाये? जैसे एक जगह आता है कि यज्ञ में जो लम्बा आठ पहलू का ध्वजदण्ड लगता है, उसके ऊपर कपड़ा लपेटना चाहिये। वहाँ इतना ही लिखा है कि कपड़ा लपेटना चाहिये। किसी आचार्य ने कहा कि कपड़ा लपेटने को कहा है तो सारे दण्डे को कपड़े से लपेट दो। किंतु आगे आता है कि उस दण्ड को छू कर अमुक मंत्र का पाठ करो। यदि सारे दण्डे को कपड़े से लपेट दोगे तो उसे छुओगे कैसे? उन आचार्य ने कहा कि कपड़ा तो सारे पर लपेटो, फिर उसे बीच में कुछ खिसका कर छू लो! किन्तु सिद्धान्त किया गया है कि यों खिसकाने के लिये कहा न होने पर भी उक्त आचार्य ऐसी कल्पना कर रहे हैं तो इसमें हेतु लोभ है। उन्हें लगा कि पूरे पर लपेटा कपड़ा ऋत्विक् को मिल जायेगाइस लालच में ऐसी व्याख्या कर दी। अतः उनकी व्याख्या प्रमाण नहीं। इसलिये जहाँ लोभ इत्यादि देखा जाता है वहाँ पर शिष्ट का कार्य भी प्रामाणिक नहीं होता।

इसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि भी दुर्योधन आदि से धन आदि की प्राप्ति के लोभ वाले हैं, अतः ये यहाँ आकर युद्ध करने में प्रवृत्त हैं। ये धर्म करने में प्रवृत्त हैंऐसा नहीं है क्योंकि लोभ से प्रवृत्ति देखने में आ रही है। शिष्टाचार वहीं प्रमाण होता है जहाँ प्रवर्त्तक कारण लोभ आदि स्वार्थ न हों। उपनिषद् ने कहा है कि जिसको शिष्ट पुरुष *धर्मबुद्धि से* अनुष्ठान करता है, 'यह धर्म है' इसलिये करता है, उस शिष्टाचार को ही धर्म मानना चाहिये। बाकी सारे आचार उनके मानने चाहियेऐसा नियम नहीं है। अतः ये यहाँ युद्ध करते दीख रहे हैं तो ठीक ही होंगेयह मानना सही नहीं है क्योंकि ये लोभ वाले होने से उचित करने वाले नहीं हैं।।३८।।

कौरवों की लोभ-प्रेरित दुष्प्रवृत्ति बताकर अर्जुन स्पष्ट करता है कि युद्ध के दोष जानते हुए पाण्डव उसमें प्रवृत्त हों यह अनुचित है।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३९।।

हे जनार्दन! कुलनाश से होने वाले दोष को भलीभाँति समझने वाले हम लोगों को कैसे न लगे कि इस पाप से निवृत्त होना ही उचित है।

'कौरव नहीं समझ रहे क्योंकि ये लोभ से प्रवृत्त हुए हैं परन्तु हम धर्मराज के नेतृत्व में जन्मभर धर्म पर स्थित रहकर दुःख बर्दाश्त करते रहे ताकि हम धर्म-विरुद्ध कार्य न करें। जब हम अब तक धर्म पर रहे तो अब भी धर्म पर रहना ही चाहिये। हम इस बात को कैसे न समझें कि यह पाप है? हम लोभ से नहीं वरन् धर्म से प्रवृत्त हैं। स्वजनों को मारने के पाप से निवृत्त होना श्रेष्ठ है, यह बात हम कैसे न समझें?'

शंका हो सकती है कि यह धर्म-युद्ध है, धर्म से विरुद्ध नहीं है। धर्म-शास्त्र में कहा है'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि,' युद्ध के लिये यदि कोई चुनौती दे देता है, तो क्षत्रिय को युद्ध से हटना नहीं चाहिये। अतः यह तुम्हारा धर्म है। इन लोगों ने युद्ध का आह्वान किया है, अतः उस युद्ध को छोड़ना तुम्हारा धर्म नहीं है। अतः तुम्हारा इसे पाप समझकर निवृत्त होना नहीं बनता। बल्कि इससे तुम्हारा निवृत्त होना ही पाप होगा।

अर्जुन इसका समाधान करता है 'यह ठीक है कि कोई युद्ध की चुनौती दे तो क्षत्रिय को युद्ध से निवृत्त नहीं होना चाहिये चूँकि इसका निषेध किया है परन्तु यह सामान्य युद्ध नहीं है, इसमें कुलक्षय होगा और कुलक्षय को शास्त्र में सबसे बड़ा पाप बताया है। 'स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनं' कोई अपने कुल का नाश करे यह सबसे बड़ा पाप है। बड़े पापों में भी यह सबसे बड़ा पाप है, इसलिये केवल पापिष्ठ नहीं कहा, पापिष्ठतम कहा। अतः यह वाक्य 'आहूतो न निवर्तेत' वाक्य के विषय को सीमित कर देगा।

इतना ही नहीं, धर्मशास्त्र का विचार करते हुए यह देखना पड़ता है कि जो कर्म हम कर रहे हैं वह फल में तो पाप को पैदा नहीं कर रहा है? इसलिये कहा है

'फलतोऽपि च यत् कर्म नाऽनर्थेनानुबद्ध्यते।
केवलं प्रीतिहेतुत्वात् तद् धर्म इति कथ्यते।।'

फल के द्वारा भी जो पाप उत्पन्न नहीं करने वाला हो, अनर्थ को उत्पन्न करने वाला नहीं हो, जो केवल इष्ट को दे अनिष्ट को न दे, उसी को धर्म कह सकते हैं। हमको किसी दुश्मन के प्रति द्वेष हुआ, हम उस दुश्मन को खत्म करना चाहते हैं। दुश्मन को मारने के लिये वेद ने श्येनयाग का विधान किया है कि शत्रु को मारने के लिये श्येन याग करो। फल यह होगा कि शत्रु मर जायेगा। श्येन विधान किया है, यह विहित कर्म है। उसके फलस्वरूप शत्रु मर जायेगा और वह शत्रु को मारने की प्रवृत्ति द्वेषमूलक होने से उसके मारने का पाप तुम्हें लगेगा। अतः श्येन याग विहित होने पर भी उसे कल्याणकारी नहीं माना गया क्योंकि उसका फल पाप तुमको अनिष्ट देगा।

इसी प्रकार अर्जुन कहता है कि 'आहूतो न निवर्तेत' कहा है इसलिये हम युद्ध करें तो युद्ध करने पर जो कुलक्षय होगा उसे करने का दोष हमें लग जायेगा। युद्ध करने का दोष तो नहीं होगा, परन्तु युद्ध करने का फल जो कुलक्षय वह दोष का कारण बन जायेगा। अतः हमारे लिये यह युद्ध कर्त्तव्य नहीं है। 'प्रपश्यद्भिः' यह हमें प्रत्यक्ष दीख रहा है कि ये सब सामने हैं, हम इनको मारेंगे तभी हमारी जय होगी। 'जनार्दन'! आप उपसंहार काल में लोगों को मारते हैं पर आपका किसी उपाधि से सम्बन्ध न होने के कारण आप किसी राग या द्वेष से प्रवृत्त नहीं होते हैं इसलिये आपको दोष नहीं लगता है। परन्तु हम द्वेष से प्रवृत्ति कर रहे हैं इसलिये हमें दोष लगेगा।' भविष्य के अन्दर भगवान् सारे यादव वंश का नाश करेंगे, खुद ही सबको मारेंगे। अपने कुल का नाश करेंगे तो भी उन्हें दोष नहीं लगेगा। अर्जुन का तात्पर्य है कि यह युद्ध करना पाण्डवों से लिये श्रेयस्कर नहीं है।।३९।।

कुलक्षय को क्यों पापिष्ठतम कहा हैइसी बात को और स्पष्ट कहता है

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

कुल का क्षय होने पर कुल के सनातन धर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। धर्म नष्ट हो जाने पर सारे ही कुल को अधर्म अभिभूत कर लेता है।

युद्ध में कुल वाले मर जाते हैं, यह दोष नहीं है क्योंकि यह तो 'आहूतो न निवर्तेत' के अन्तर्गत आ जाता है, परन्तु कुल का क्षय होने पर कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कुलधर्म प्रवर्त्तन करने वाले पुरुषों का नाश हो जाता है, यह दोषों का मूल होने से दोष की बात है। कुल की औरतें तो बच ही जाती हैं क्योंकि औरतें युद्ध में आती नहीं है, परन्तु कुलधर्म का प्रवर्त्तन करने वाले अर्थात् कुलधर्म ठीक से चले इस बात को देखने वाले पुरुष ही होते हैं, स्त्रियों को इतनी समझ नहीं हो सकती। कुल का क्षय होने पर

कुलधर्म का प्रवर्तन करने वाले ऐसे पुरुष नष्ट हो जाते हैं। कुलधर्म सनातन हैं, वंश-परम्परा से ही पता लगते हैं। जैसे अग्निहोत्र कब करेइसमें दो पक्ष हैंसूर्योदय होने पर करे या सूर्योदय से पहले करे। यही बताया गया है कि जिसके कुल में जो परम्परा चली आ रही है उसके अनुसार करे। लेकिन जब कुलधर्म-प्रवर्तक पुरुष नहीं रह जायेंगे तब कैसे पता लगेगा कि क्या परम्परा है? इसी प्रकार से स्वाध्याय (स्वशाखा) का अध्ययन करना है तो किस शाखा का अध्ययन करे? जो अपनी शाखा है उसका अध्ययन करे। इसका पता तो कुल-पुरुषों से ही लगेगा। इस प्रकार चाहे श्रौत कर्म हों, चाहे स्मार्त कर्म हों उनका पता कुलधर्म-प्रवर्त्तक पुरुषों से ही लगेगा। उन कर्मों को करने के जो तरीके हैं, वे भी अलग-अलग परंपराओं में अलग-अलग होते हैं। जैसे कहीं प्राणायाम करने के लिये सीधे ही अपने नाक को हाथ से पकड़ लेते हैं और किन्हीं की परम्परा ऐसी थी कि हाथ को सिर के चारों ओर घुमाकर नाक पकड़ते हैं। कुछ लोग सिर के चारों तरफ चुटकी बजाकर नाक पकड़ते हैं। 'प्राणायाम करे' यह तो शास्त्र मिलता है लेकिन हाथ से सीधा नाक को पकड़ें, चुटकी बजाकर पकड़ें, या सिर के चारों तरफ हाथ घुमाकर नाक पकड़ेंयह बिना परम्परा के पता नहीं लग सकता। एक मुसलमान का प्रसिद्ध दृष्टांत है कि वह तरबूज नहीं खाता था। किसी ने उससे पूछातुम तरबूज क्यों नहीं खाते हो? उसने कहा'तरबूज खाने की चीज़ है यह तो पता है क्योंकि मोहम्मद साहब खाते थे, यह बात कुरान में आती है। लेकिन वे उसे तोड़ कर खाते थे या फाड़कर, यह तो वहाँ नहीं लिखा है, इसलिये मुझे संदेह है कि कैसे खाना चाहिये? इसलिये मैं खाता ही नहीं ताकि दोष न लगे।' इसी प्रकार शास्त्र से यह पता लग गया कि प्राणायाम करो, परन्तु कैसे करो यह वंश-परम्परा से ही पता लगता है।

ऐसे ही बहुत से काम ऐसे होते हैं जिनका श्रुति-स्मृति से पता नहीं परन्तु शिष्टाचार से पता लगता है। जब कुल के शिष्ट पुरुष नहीं रहेंगे, कुलधर्म-प्रवर्त्तक पुरुष नहीं रह जायेंगे तब सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। कुलक्षय दोष इसलिये भयंकर है कि इससे सनातन धर्म का नाश होता है।

श्रौत-स्मार्त धर्म ही नहीं छोटे-छोटे कुलाचार भी कुलवृद्धों से प्राप्त न होने पर उनकी परंपरा लुप्त हो जाती है यह आजकल सर्वत्र दीख ही रहा है। धर्म की क्या कहें, लोग अपना गोत्र तक भूल गये हैं! अतः अर्जुन का कहना है कि युद्ध में जब कुल के सभी लोग समाप्त हो जायेंगे तब कुल के धर्म नष्ट होंगे ही। ऐसे में कुल अधर्म द्वारा अभिभूत हो जायेगा। धर्म सिखाना पड़ता है, अधर्म बिना सीखे भी आ जाता है! बड़े-बुजुर्ग न रहने पर बचे बच्चों को सिखाने वाला नहीं होगा तो वे अधर्म से कुल को ढाँक देंगे। अभिभूत करना अर्थात् यों घेर लेना कि स्थिति अपने वश में हो जाये। अधर्म कुल में इतना व्याप्त हो जाता है कि सारा कुल अधर्म के ही वशीभूत हो जाता है। चाहे जितना हमारे अन्दर धर्म रहे परन्तु हम यदि लोगों को अधर्म करते हुए देखते हैं तो द्वन्द्व बना रहता है कि 'यह करूँ या यह करूँ'। कई बार अधर्म कर लेते हैं, कई बार धर्म कर लेते हैं। परन्तु जब

सनातन धर्म का पता ही नहीं होगा तब तो अधर्म ही करना प्राप्त होगा। अज्ञान के कारण अधर्म तो सहज है जबकि धर्म शास्त्रज्ञान के अधीन है। चाहे कुछ भी खानाइसके लिये किसी को सिखाने की जरूरत नहीं क्योंकि हर चीज़ खाने को प्राप्त है। लेकिन शास्त्रीय संस्कार होंगे तभी सामने अण्डा आने पर मन में होगा कि 'अपने बड़े नहीं खाते थे, इसलिये नहीं खायेंगे'। अगर अधर्म के संस्कार होंगे तो होगा 'अभी खा लें'। धर्म के संस्कारों से कुछ-न-कुछ रुकावट रहती है, अधर्म स्वाधीन होकर व्याप्त नहीं कर पाता। परन्तु जब कुलधर्म-प्रवर्त्तक नहीं रह जायेंगे तब धर्म का कोई संस्कार ही नहीं रहेगा।

यहाँ 'उत' का अर्थ अपि कर लेना चाहिये अर्थात् सारे ही कुल के लोगों को अभिभूत कर लेता है। यदि कुलधर्म के प्रवर्तक रहते हैं तो धर्म बचना संभव है। कुल में अगर हजार आदमी हैं तो नौ सौ नब्बे अधार्मिक बन जायेंगे पर दस लोगों में कुछ-न-कुछ धर्म के संस्कार रहेंगे। अतः सारा कुल अधर्म के वश में नहीं चला जाता। परन्तु जब कुल-धर्म-प्रवर्त्तक रह ही नहीं जायें तब तो अधर्म व्याप्त करेगा ही। यह धीरे-धीरे हम लोगों के सामने देखने में आ रहा है। पहले भी लोग पैण्ट पहनते थे, परन्तु भोजन आदि कार्यों के लिये धोती पहनना जरूरी होता था तो धोती पहनना आता था, उसका अभ्यास बना रहता था। अब धीरे-धीरे सब काम पैण्ट पहनकर करने लगे तो नतीजा हुआ कि बीस-पच्चीस साल के लोग धोती पहनना जानते ही नहीं। धीरे-धीरे जब इनकी संख्या बढ़ जायेगी तब किसी को पता ही नहीं रहेगा कि धोती कब पहनी जाती है या कैसे पहनी जाती है। कोई मर जाता है तो उसके पुत्रादि को पाग बाँधी जाती है। बहुत लोगों को यह तो पता है कि कपड़े को सिर पर लपेटा जाता है परन्तु पाग या साफा बाँधा कैसे जाता हैइसका उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है! उनसे पाग बँधती ही नहीं, बार-बार गिरती जाती है, थोड़ी देर बाद प्रयास छोड़ देते हैं। बुड्ढे लोग भी वहाँ बैठे होते हैं लेकिन किसी को पता नहीं कि साफा कैसे बाँधा जाता है। ये छोटी-मोटी बातें ही जब भूलती जा रही हैं तब कुलधर्म विस्मृत होकर अधर्म का प्रताप हो जाना क्या आश्चर्य है! इसलिये अर्जुन कुल के क्षय के हेतुभूत युद्ध को इतना बुरा बता रहा है।।४०।।

कुल अर्धम के वश में हो जाये तो खराबी क्या है इसे अर्जुन स्पष्ट करता है

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।४१।।

हे कृष्ण! अधर्म से अभिभूत हो जाने के कारण कुल की स्त्रियाँ बहुत दोष वाली हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय! स्त्रियाँ सदोष हो जाने पर वर्णसंकर औलाद पैदा होती है।

जब कुल के अन्दर सारे ही लोग अधर्म से अभिभूत हो जाते हैं और कुल की स्त्रियाँ उन्हें अधर्म करते देखती हैं तब सोचती हैं कि जब 'हमारे पति ही किसी धर्म का आचरण नहीं करते तो हम किसी धर्म को आचरण क्यों करें?' स्त्री का प्रधान धर्म पातिव्रत्य है

अर्थात् एक पुरुष को छोड़कर अन्य किसी पुरुष से भोग नहीं करनाउसका प्रधान धर्म है। जब वे देखती हैं कि हमारे पति लोग ही सनातन धर्म की कोई बात मान ही नहीं रहे हैं तो उन्हें भी धर्मपालन की रुचि नहीं रहती। आज हम लोगों को प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकिसी का भी घर हो, सब जगह कहते हैं 'यह तो बचपन की विधवा है, बीस साल बीत गये। इसकी शादी तो हो जानी चाहिये।' स्त्रियाँ भी राजी हो जाती हैं क्योंकि सोचती हैं कि 'जब कोई धर्म मान ही नहीं रहा है तो हम क्यों मानें?' चाहे विधवा-विवाह हो या पुनर्विवाह हो, यह सब कुल की स्त्रियों को दुष्ट करने वाला है। व्यभिचार में उन्हें कोई दोष नहीं दीखता और लोग भी खुलकर बोलते हैं कि इसमें दोष क्या है! न उन्हें तलाक में दोष दीखता है; तलाक वालों के साथ बैठते हैं, उनके साथ खाते-पीते हैं। किसी को नहीं लगता कि कोई बहुत बुरा कर्म हुआ है। इसलिये कुल में अधर्म व्याप्त होने पर स्त्रियाँ दुष्ट हो जाती हैं, व्यभिचार आदि में प्रवृत्त हो जाती हैं। 'दुष्यन्ति' कहने से हो जाता फिर भी 'प्रदुष्यंति' इसलिये कहा कि एक बार अधर्म के रास्ते खुल जाते हैं तो आगे फिर उस पर कोई भी रुकावट नहीं रहती।

विद्यालय में भर्ती होते समय अर्जी (फार्म) में, पहले अपना नाम और बाप का नाम लिखा जाता था, लेकिन पंजाब आदि में नियम बन गया है कि अपना नाम और माँ का नाम लिखना होगा, बाप का नहीं! अन्यत्र कई जगह विकल्प हो गया है कि पिता/माता अर्थात दोनों में से एक का नाम लिखना होगा। इसके पीछे विचार है कि पता कैसे लगे कि पिता कौन है? माता का तो प्रत्यक्ष पता लग जाता है। अतः आज ऐसा समाज स्वाभाविक स्वीकारा जा रहा है जिसमें पिता के नाम का ही लोगों को पता नहीं है। इस प्रकार जब व्यभिचार का रास्ता खुलता है तो स्त्रियाँ सदोष हो जाती हैं। अतः जिन्होंने कुल-क्षय किया वे दोषी होते हैं। पापी के संसर्ग से पाप में प्रवृत्ति होना सहज है। आज से पचास साल पहले कोई भी भले घर की औरत शराब पीने वाली नहीं मिलती थी। आदमी तो ईसाइयों के साथ मिलकर शराब पी लेते थे, पर औरतें नहीं पीती थीं। कई लोग कह देते थे कि 'आदमी को तो काम के लिये पीना पड़ता है लेकिन औरतें क्यों पियें।' किन्तु शराबी के साथ संसर्ग करोगे तो उनके अन्दर का शराबीपन आने से कैसे रोकोगे? धीरे-धीरे आज औरतें पीने लग गईं। जब आदमियों के लिये उसे बुरा नहीं माना तब औरतों के लिये बुरा मानने का आधार नहीं रहा। अगर आदमी के लिये पीना बुरा नहीं है तो औरतों के लिये क्यों बुरा है? इसलिये, कुलक्षयकारी के साथ सम्बन्ध से भी दोष आ जाता है। याज्ञवल्क्य महर्षि ने लिखा है अगर कोई महापातकी हो, तो जब तक वह प्रायश्चित्त करके शुद्ध नहीं हो जाता तब तक उसकी स्त्री को उसके साथ संग नही ंकरना चाहिये। उसके शुद्ध होने तक स्त्री को प्रतीक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार दोनों तरह से प्रदूषण है : कुलधर्म के प्रवर्त्तक नहीं रहने से और कुल को नष्ट करने वालों के साथ संसर्ग होने से; दोनों का फल एक ही है।

'वर्णसंकरः जायते' स्त्रियों के दुष्ट होते ही वर्णसांकर्य हो जाता है। शास्त्र के अन्दर जो इतना ज़ोर स्त्रियों की शुद्धि के लिये दिया गया है वह इसीलिये कि जहाँ स्त्री दुष्ट हुई वहाँ वर्णसांकर्य हो जाता है, उसको रोक नहीं सकते। वर्णधर्म तभी हो सकता है जब हम वर्ण में हैं। सांकर्य होने के बाद वर्णधर्म का प्रवर्त्तन ही नहीं रहेगा। जब वर्णधर्म का प्रवर्त्तन ही नहीं तब आश्रम धर्म का प्रवर्त्तन भी नहीं होगा। वर्णाश्रम-धर्म परम्परा सारी की सारी स्त्री के आधार पर ही लटकी हुई है। इसलिये कहा कि स्त्रियों के दुष्ट होने पर सब धर्म नष्ट हो जायेगा।।४१।।

वर्णसंकर पैदा होंगे तो क्या हानि हैयह अर्जुन ही कहता है

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

संकर सन्तान न केवल कुलनाशकों की अपितु सारे कुल की नरक-प्राप्ति का कारण बन जाती है। क्योंकि पिण्डार्पण तर्पण आदि करने वाले रह नहीं जाते इसलिये कुलनाशकों के पितर भी नरक में गिर पड़ते हैं।

वर्णसांकर्य मनुष्य को नरक में ले जाता है। किस को नरक में ले जाता है? केवल कुलघ्न को ही नहीं, वह तो दोष का भागी है ही, परन्तु उसके कारण कुल-पुरुष नहीं रहे, स्त्रियाँ दुष्ट हो गईं, वर्णसांकर्य हो गया, इन सब कारणों से सारे कुल को ही नरक की प्राप्ति हो जाती है। अतः केवल कुलघ्न को ही नरक होता हो ऐसा नहीं, उसके सारे कुल को नरक की प्राप्ति हो जाती है। वर्णसांकर्य हो जाने से आगे आने वाली सारी पीढ़ियों के लिये ही वर्णाश्रम धर्म का रास्ता बन्द हो जाता है और इस वर्णाश्रम धर्म के रास्ते को ही भगवान् राजमार्ग कहेंगे जिसमें परमेश्वरार्पण-बुद्धि से स्वकर्म को करके मोक्ष पर्यन्त जाया जा सकता है। वर्णाश्रम के बिना केवल कामना से प्रवृत्ति ही बची रहती है। अगर हम ब्राह्मण वर्ण के हैं तब तो हमें शास्त्र से पता है कि हमें क्या करना है। हम करें चाहे नहीं करें, करना जान तो सकते हैं। इसलिये हम उसको ईश्वरार्पण बुद्धि से करके मोक्ष तक जा सकते हैं। परन्तु यदि हमें पता नहीं है कि ब्राह्मण या क्षत्रिय हैं तो कुछ भी कर्म करें, उसमें प्रवृत्ति का कारण केवल कामना ही रह जायेगी। जो हमें अच्छा लगेगा वही करेंगे। अच्छा वह लगेगा जिसमें धन आदि की प्राप्ति हो, या हमारा मन संतुष्ट हो या कम से कम काम करके चला सकें अर्थात् सब निर्णय रजोगुण या तमोगण के आधार पर होगा। जिस कर्म में गुणों के कारण प्रवृत्त हुए हैं वे कर्म ईश्वराज्ञा से तो हमने किये नहीं, वे हमने अपने मन से किये हैं। अतः ईश्वराज्ञा से किये जाने वाले कर्म का प्रभाव उसमें कैसे आयेगा? आ ही नहीं सकता। इस तरह वह रास्ता बन्द हो जायेगा।

ऐसा नहीं है कि दूसरा रास्ता नहीं है। जैसे राजमार्ग पर रुकावट हो तो छोटे-मोटे अन्य मार्गों पर चलकर देर से, परेशानी से गंतव्य तक पहुँचा ही जा सकता है, इसी प्रकार

संकर को यह तो पता नहीं लगेगा कि हमारे लिये ईश्वराज्ञा क्या है, इसलिये कामना से ही प्रवृत्ति हो सकती है, परन्तु परमेश्वर का चिंतन-भजन, योगाभ्यास, नामजप, मंत्रजप, ध्यान आदि जो सबके लिये विहित किये गये हैं, वे सब कोई कर सकते हैं। उनका आचरण करते हुए दीर्घकाल में पहुँच तो सकते ही हैं, परन्तु है बड़ा कठिन। इतनी कठिनाई में कुल के सब लोगों को डाल देना अत्यधिक दोष का कार्य है। परन्तु जो सबसे ज्यादा कठिनाई होगी वह होगी कुल के पितरों को। यदि विचार करें तो अपने ही कुल का नाश करने वाला भविष्य में आने वाली पीढ़ियों को भी मुसीबत में डालता है, खुद तो मुसीबत में पड़ता ही है, अपने पूर्वजों को भी मुसीबत में डालता है क्योंकि उसके पितर भी गिर जाते हैं।

वर्णसंकर के द्वारा किये हुए श्राद्ध आदि में दिया पिण्डादि पितरों को प्राप्त नहीं हो सकता। जो तर्पण आदि वे करेंगे वह भी पितरों को प्राप्त नहीं हो सकता। धर्मानुसार उत्पन्न पुत्र का ही श्राद्धादि में अधिकार है, पति की अपेक्षा अन्य पुरुष से उत्पन्न पुत्र द्वारा किया श्राद्ध पितरों को तृप्त नहीं कर सकता। अतएव पुरानी परंपरा में आवश्यक होने पर अपने भतीजे कोसगे या एक पीढ़ी दूर के भी भतीजे कोगोद लेते थे क्योंकि
वह जन्म से ही उसका श्राद्ध करने में अधिकृत था जो उसे गोद ले रहा है। गोद लेने से श्राद्ध में अधिकार नहीं मिल जाता। अतः अनाथालय आदि से या सर्वथा अन्य कुल-गोत्र वाले को गोद लेना श्राद्ध आदि की दृष्टि से निरर्थक है। इस प्रकार जब श्राद्धादि के योग्य कोई रहेगा नहीं तब पितरों को पिंडादि न मिलने पर वे नरकपात से नहीं बचेंगे। इसलिये कुलनाशक वर्तमान और भविष्य के ही नहीं भूत के भी कुलजनों की घोर हानि करता है। अतः उसे पूर्व में (श्लो. ३६ व्याख्या में) पापिष्ठतम कहा था।।४२।।

जब कुल के प्रधान लोगों का नाश हो जाता है तब केवल बच्चे बच जाते हैं, उनका कोई मार्गदर्शक न होने के कारण उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति हमेशा अधार्मिक होती है। धर्म की प्रवृत्ति शास्त्रानुकूल होती है। स्वभाव से तो मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये ही जियेगा। शास्त्र की ज़रूरत कामनाओं को *रोकने* के लिये होती है। कामनाओं की पूर्ति करना शास्त्र का प्रयोजन नहीं है। धर्म की प्रवृत्ति कराने वाले रहे नहीं तो कुल अधर्म से ही अभिभूत हो जाता है। कुल की स्त्रियों के धर्मभ्रष्ट होने से वर्ण-सांकर्य हो जाता है। वर्ण-सांकर्य हो जाने से आगे आने वाली पीढ़ियों का भी नाश होता है। श्राद्ध आदि कर्म नहीं होते इसलिये पूर्व पितर लोग भी नरक में जाते हैं। इस प्रकार कुलघ्न भूत, भविष्य, वर्तमान सारे कुल का नाश कर देता है। अतः वह सबसे बड़ा पापी है। इसी को अर्जुन और स्पष्ट करता है

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

कुलनाशकों द्वारा संपादित वर्णसंकरों के हेतुभूत इन दोषों से सनातन कुलधर्म और जातिधर्म लुप्त कर दिये जाते हैं।

वर्ण-सांकर्य, पितरों की नरक-प्राप्ति, स्त्रियों की दुष्टता, बालकों का अधर्म से अभिभूत होना इत्यादि सब दोषों से धर्म की हानि होती है। उक्त परिस्थिति में जाति की और कुलकी परंपरा से चले आये धर्मों का न ज्ञान रह जाता है, न उनका संपादन कराने वाला कोई कुलवृद्ध रह जाता है इसलिये वे धर्म लुप्त हो जाते हैं, वे सब उत्सन्न होने लग जाते हैं। जाति-धर्म वे हुए जो एक जाति के सब लोगों के धर्म हैं, जैसे क्षत्रिय जाति के युद्धादि धर्म हैं। एक जाति में भी विभिन्न कुलों के परंपरागत अनेक धर्म होते हैं। जाति बड़ा समूह है, कुल छोटा समूह है। जैसे क्षत्रियों में सूर्यवंश के अलग धर्म होंगे, चंद्रवंश के अलग धर्म होंगे। पूर्वोक्त दोष आ जाने पर जातिधर्म और कुलधर्म दोनों ही उत्सन्न हो जाते हैं अर्थात् दोनों का ही प्रवाह रुक जाता है। ये जातिधर्म और कुलधर्म शाश्वत हैं, जिसे पहले सनातन कहा था। अर्थात् एक बार यह परम्परा समाप्त होने के बाद हमारा क्या धर्म है, क्या कुलधर्म है, क्या जातिधर्म है?इनका पता ही नहीं लग सकता।

यह विशेष कर हम लोगों की ही, हिंदुओं की, समस्या है। जो सीमित धर्म होते हैं वे अधिकारी का भेद नहीं करते अर्थात् उस धर्म वाले सबके एक ही मान्यता होती है, उसे मानें या न मानेंदो ही विकल्प हैं। परन्तु हमारे यहाँ अधिकारी का विचार पहले आ जाता है। जैसे जो ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है उसका धर्म और जो क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है उसका धर्म अलग है। ब्राह्मण के लिये कहा है कि मन्दिर में दर्शन करके पूजन करे। अन्त्यज के लिये कहा है कि मन्दिर के बाहर से शिखर-दर्शन करे। शास्त्र के अनुसार ब्राह्मण को पूजा करके जो पुण्य मिलेगा वह शूद्र या अन्त्यज को केवल दर्शन या केवल शिखर-दर्शन मात्र से हो जायेगा। अतः यदि ब्राह्मण कहता है कि 'शिखर-दर्शन मात्र से मेरा पुण्य पूर्ण हो गया' तो वह गलती करेगा, और अन्त्यज कहे कि 'मैं अन्दर जाकर पूजा करूँ' तो वह करना उसके लिये नरक का रास्ता हो जायेगा। इस प्रकार का अधिकार-भेद अन्य मत-मतांतरों में नहीं है। उनके अन्दर मान्यताओं की सर्वथा समानता हो ऐसा नहीं है। ईसाइयों में जो कैथलिक मानते हैं वह प्रोटेस्टेण्ट नहीं मानते, जो शिया मुसलमान मानते हैं वह सुन्नी नहीं मानते। भेद उन सबमें भी है। लेकिन शिया सुन्नी नहीं बन सकता, ऐसी बात नहीं है। कैथॉलिक ऑर्थोडॉक्स नहीं बन सकता ऐसी बात नहीं है। मान्यता अलग होने पर भी हर मान्यता वाला मानता है कि उसी की मान्यता सबसे ज़्यादा ठीक है। उसे जो नहीं मानेंगे वे सब पापी हैं, दोषी हैं। हिंदू धर्म में दूसरे सब धर्मों से भिन्नता है कि हम जो कर्म ब्राह्मण के लिये पुण्य मानेंगे वह अन्त्यज के लिये पाप मानेंगे। इसलिये हमारे यहाँ सबके लिये एक नियम नहीं लग सकता। हमारे यहाँ अधिकार-भेद खास महत्त्व रखता है और अधिकार के अनुसार व्यवस्था शाश्वत है। वर्त्तमान में

सुधारवादियों का कहना है कि जो ब्राह्मण का कर्म करे या जिसमें ब्राह्मण के गुण हों उसे ब्राह्मण मान लो। किंतु यों मान लेने से सनातन धर्म की मर्यादा नहीं रहेगी। जैसे खुद को कैथलिक या प्रोटेस्टेण्ट मान सकते हो ऐसे खुद को ब्राह्मण या क्षत्रिय मान नहीं सकते वरन् ब्राह्मण या क्षत्रिय की परम्परा में पैदा होकर उस अभिमान वाले होने से उनके धर्मों का पालन कर सकते हो। यह मूलभूत भेद सनातन धर्म और दूसरे धर्मों में है।

यह याद रखना कि इसका विरोध भी प्राचीनकाल से होता रहा है, यह कोई नई बात नहीं है। बौद्ध और जैनों ने इसका विरोध किया। शैव-शाक्तों ने भी इसका विरोध किया। वैष्णव कहते हैं कि उनकी कण्ठी बाँधोगे तभी तुम कल्याण के भागी होगे, नहीं तो नहीं होगे। तुम चाहे ब्राह्मण कुल में पैदा हुए लेकिन कण्ठी नहीं बाँधी तो कल्याण नहीं पा सकते। शाश्वत धर्म यह है कि यदि तुम ब्राह्मण पैदा हुए हो तो ब्राह्मण हो, चाहे जितने पतित हो जाओ, पतित होकर नरकगामी होगे लेकिन रहोगे ब्राह्मण। शूद्र ब्राह्मण बन सकता हो ऐसी बात नहीं है। जन्मान्तर में कोई ब्राह्मण बने यह बात दूसरी है, इस जन्म में नहीं बन सकता। जातिधर्म, कुलधर्म यदि एक बार उच्छिन्न हो गये तो वापिस नहीं आ सकते।।४३।।

ये जाति धर्म व कुलधर्म नष्ट हो जायें तो क्या हर्जा है? यह बताता है

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

हे जनार्दन! जिन मनुष्यों के कुलधर्म विनष्ट हो चुकते हैं उनका नरक में वास निश्चित है ऐसा हमने प्रामाणिकों के मुख से सुना है।

जिनके कुलधर्म का उच्छेद हो जाता है उन्हें वंश-परम्परा, पितृ-परम्परा का क्या धर्म है इस बात का ज्ञान नहीं रहा। सनातनी को धर्म का तभी पता लगता है जब पहले उसे यह निर्णय हो कि उसकी जाति और कुल क्या है। दूसरे मज़हबों में धर्म और अधर्म दो भेद हैं। सनातन धर्म में हमारे लिये जो धर्म है, वह दूसरे के लिये अधर्म हो सकता है और दूसरे का धर्म हमारे लिये अधर्म हो सकता है। मनुष्यमात्र के लिये धर्म भी कहा गया है, परन्तु वह वर्णादि के लिये विहित विशेष धर्म नहीं है। वैदिक धर्म की विशेषता जाति-धर्म और कुलधर्म हैं। जो सामान्य धर्म मनुष्यमात्र के लिये कहे गये हैं उन्हें अपने-आप में हम लोग पूर्ण नहीं मानते। जब एक बार कुलधर्म उत्सन्न हो गये तो फिर वे हमारे लिये अनुपलब्ध ही रहेंगे। जैसे हमको यह पता नहीं है कि हम माध्यंदिन संहिता वाले ब्राह्मण हैं तो कोई तरीका नहीं जिससे यह पता लग सके। अथवा जैसे गोत्र का पता नहीं है तो फिर तुम कभी भी गोत्र को नहीं जान सकते। इसलिये जिनके ये धर्म नष्ट हो जायें उनका नरक में जाना निश्चित हो जाता है। वे निश्चित रूप से नरक में ही निरन्तर रहेंगे।

कुछ आचार्यों ने यह कहा हैः आदमी मर जाता है तो 'प्रेत' हो जाता है। अमुक समय

के बाद, उसके प्रेतत्व की निवृत्ति करके, उसे 'पितरों' में मिलाया जाता है। तत्तत् कर्म से एक-एक अंग के प्रेतत्व की निवृत्ति होती है। जब उसके प्रेतत्व की निवृत्ति हो जाती है तभी फिर आगे उसके अपने कर्म के अनुसार उसका जन्म होगा। कुलधर्म उत्सन्न हो जायेंगे तो प्रेतत्व की निवृत्ति का कोई उपाय नहीं रहेगा, वह प्रेत बना ही रहेगा। यह जो निरन्तर प्रेत बने रहना है इसी को यहाँ 'निश्चित नरक में वास' कहा गया है। ऐसा कुछ आचार्यों ने यहाँ माना है। लेकिन उपनिषदों में जो कर्म के द्वारा ही जन्मान्तर की प्राप्ति बताई है उससे इसका विरोध आता है। जहाँ श्रुति से विरोध आता है वहाँ स्मृति को प्रमाण नहीं मानते। इसलिये उक्त व्याख्यान प्रेतत्व-निवृत्ति के धर्म की प्रशंसा के लिये ही माना जा सकता है। 'नरकेनियतं वासः' वाक्य को निन्दा का वाक्य ही माना जाता है क्योंकि सबका नियत नरक वास नहीं हो सकता वरन् अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही आगे जन्म होगा।

'अनुशुश्रुम' इसे हमने सुन रखा है। अर्थात् यह नियत नरकवास की बात साक्षात् श्रुति आदि में नहीं है परन्तु हमने यह परम्परा से सुना है। इसके द्वारा अर्जुन यह कहना चाहता है कि 'मैं इस समय अपनी तर्क-बुद्धि से इसकी कल्पना नहीं कर रहा हूँ, वरन् मैंने ऐसा सुना है।' यह जो कुल धर्म या सारी वंशपरम्परा के नाश आदि की बात है, इसका जवाब भगवान् आगे कहीं नहीं देंगे। इसलिये जवाब नहीं देंगे कि श्रौत कर्म-सिद्धांत के अनुसार हरेक व्यक्ति अपने कर्मों को भोगने के लिये जाता है। अतः कुछ लोगों के अधार्मिक होने से सारा कुल नष्ट हो जायेयह बात श्रुतिसिद्ध नहीं है।।४४।।

भगवान् कह सकते हैं कि 'फिर यहाँ क्यों आया है? जानता ही था कि यहाँ झगड़ा करना ही पड़ेगा!' अतः अर्जुन कहता है

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

आश्चर्य और खेद की बात है कि राज्य के सुख के लालच में स्वकीय लोगों की हत्या को तैयार हुए हम महापाप करने को कृतनिश्चय हो गये थे।

अर्जुन कह रहा है कि 'आततायिवध की निर्दोषता को बताने वाले वचन सुनकर हम लोग पाप की तरफ प्रवृत्त हो गये।' वेद में कहा कि शत्रुवध के लिये श्येन याग करो। श्रुति ने यह नहीं कहा कि शत्रु को नष्ट करो, केवल शत्रुनाश का उपाय बताया है। आज कल बहुत से लोग कह देते हैं कि श्रुति में जो कहा है वह करना चाहिये। किंतु काम्य कर्मों में यह नियम नहीं लगता। जैसे कहा कि पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि याग करे, उसी प्रकार से कहा है कि शत्रुवध की कामना से श्येन याग करे। वेद यह नहीं कहता है कि तुम पुत्र की कामना करो। पुत्र-सुख की आशा से हम उस श्रुति को लेकर पुत्रेष्टि याग करते हैं। तुमको पुत्र-कामना है तो करो, नहीं हो तो नहीं करो। बेटा पैदा हो गया तो हर पाँच-दस

दिन में उसे जुकाम होगा, कभी उसका पेट खराब होगा तो रात भर सोने नहीं देगायह सब दुःख जो तुम भोगोगे वह वेद ने जो कहा उसको करके नहीं हो रहा है। वेद ने यह नहीं कहा कि पुत्र-कामना करो। अगर पुत्र-कामना है तो उसकी पूर्ति का केवल उपाय बताया है।

श्रुति का ढंग है कि जिस कामना की पूर्ति का उपाय बताती है उसकी प्रशंसा भी कर देती है, उसको देखकर आदमी समझ लेता है कि श्रुति इस कर्म को ही करवाना चाहती है। किंतु आगे भगवान् खुद ही कहेंगे 'यामिमां पुष्पितां वाचं' यह सब जो कर्मों की प्रशंसा आती है इसके कारण बहुत से लोग धोखे में पड़ जाते हैं कि यह वेद का तात्पर्य होगा! वेद का तात्पर्य तो तुमको आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष देना ही है। जब तक तुम उसके योग्य नहीं हो तब तक तुम्हें कर्म बता देती है। प्ररोचन श्रुतियों से विषय-सुख की आशा होकर तुम्हारी श्रौत कर्म में प्रवृत्ति तो होगी पर उस प्रवृत्ति से भी जन्म-मरण का चक्र ही चलेगा, वैकुण्ठ लोक, गोलोक जाओगे, फिर वापिस यहाँ आओगे और तरह-तरह के दुःख उठाओगे। दुःख तो उन लोकों में भी होते हैं। प्रसिद्ध कथा है कि जय-विजय वैकुण्ठ पहुँच गये, चतुर्भुजी बन गये, भगवान् के द्वारपाल भी बन गये पर फिर रावण, कुम्भकर्ण बनना पड़ा! अथवा गोलोक से वापिस आकर शिशुपाल, दन्तवक्त्र बनना पड़ा। ऐसा नहीं है कि वेद ने तुम्हें वैकुण्ठ जाकर नीचे गिरने का रास्ता बताया। तुम खुद जिन चीज़ों को चाहते थे उनके लिये तुमने प्रवृत्ति की, वेद ने तुम्हें उनका उपायमात्र बताया। प्रवृत्ति तुमने खुद विषयसुख की आशा से की जिसका अंतिमफल जन्म-मरण का प्रवाह ही है। अतः जो विवेकी है वह इसे छोड़ेइसी में श्रुति का तात्पर्य है।

यह कुलक्षय दोष की प्राप्ति कहाँ से हुई? क्षत्रिय को युद्ध करना चाहिये, आततायी को मारना चाहिये। हम खुद आततायी को खत्म करना चाहते थे, अन्दर से गुस्सा था इसलिये आततायी को मारने की बात जँच गयी। उस समय कुलक्षय की बात ध्यान में नहीं आयी इसलिये कुलधर्मनाश का जो महान् पाप है उसको करने के लिये हम निश्चय वाले हो गये। 'वयं' पद का प्रयोग करके अर्जुन कहना चाहता है कि यह केवल मेरा निश्चय नहीं है, बड़े भाई धर्मराज और भीम का भी यही निश्चय है। इसलिये हमारे इस गलत निर्णय को हटा दीजिये अर्थात् युधिष्ठिर भीम को भी समझा दीजिये कि हमने यह गलत निर्णय कर लिया है। आततायी को मारने आदि की जितनी बातें कहीं वे राज्यसुख के लोभ वालों के लिये हैं। हमने समझ लिया कि राज्यसुख की प्राप्ति से कोई फायदा नहीं है तो हम क्यों उस मार्ग पर जायें? जिस प्रकार मुमुक्षु स्वर्गादिफलक कर्म का परित्याग करता है इसी प्रकार हमें भी आततायिवध का त्याग करना चाहिये। हम बिना विचार किये हुए अविवेक से इन सबको मारने के लिये उद्यत हो गये, 'यह विनाशकारी है' इसके बिना विमर्श के हमने ऐसा निश्चय कर लिया। पहले विवेक नहीं किया, इसलिये युद्ध भूमि में आ गये। यह हमारा उद्धत आचरण था।।४५।।

यदि भगवान् कहें कि 'यदि तुमने युद्ध नहीं किया तो भी ये लोग तुम्हें मारेंगे।' तो अर्जुन उत्तर देता है

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

प्रतिरक्षा न करने वाले और शस्त्ररहित मुझे यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र-पुत्र युद्ध में मार डालें तो वह मेरे लिये अधिक हित होगा।

अर्जुन कहता हैइन लोगों ने शंख फूँक दिये हैं, हाथ में हथियार लिये हुए हैं, अतः मैं वार नहीं करूँगा तो ये झट से मुझे मार देंगे। धृतराष्ट्र की फौज में जो लोग हाथ में शस्त्र लेकर मारने को तैयार खड़े हैं, ये मुझे रण में मार देंगे। मैं कैसा हूँ? अप्रतीकार हूँ, प्रतीकार नहीं करने वाला हूँ। सामने वाला युद्ध करे उसके विरोध में युद्ध प्रतियुद्ध है। युद्ध के प्रति वैसा ही युद्ध करें, तब प्रतीकार हुआ। जो प्रतियुद्ध न करे वह अप्रतीकार है। मैं प्रतीकार नहीं करूँगा तो ये मुझे मार देंगे। रण में यदि ऐसा होता है तो वह मेरे लिये बड़ा अच्छा हो जायेगा। मैं निःशस्त्र हूँ क्योंकि हाथ से गांडीव भी खिसक गया है। जो क्षत्रिय सामने से शस्त्र खाकर मरता है वह स्वर्ग जाता है, निःशस्त्र को जो मारते हैं, वे नरक जाते हैं। ये हमें मारेंगे तो हमारा स्वर्ग जाना निश्चित हो गया और ये चूँकि हमारे दुश्मन हैं इसलिये इनका नरक जाना भी निश्चित हो ही गया! इस प्रकार दुश्मन से बदला तो निकल ही गया। यह भी एक तरह का बदला लेना होता है। एक आदमी गाँव में लोगों को आपस में लड़ाता रहता था। इधर की बात उधर और उधर की बात इधर करता रहता था। थोड़े साल तो चलता रहा लेकिन फिर लोग समझ गये कि यह हमको आपस में लड़ाने के लिये ऐसा करता है। अब वह जो बात कहे, कोई उसकी बात नहीं मानता था। वह बेचारा दुःखी हो गया। अंत में उसे एक उपाय सूझा। वह जंगल में चला गया। उधर एक महात्मा जा रहे थे। उन्होंने उससे कहा'तू यहाँ कहाँ आ गया! इस घोर जंगल में खूँखार जानवर हैं। तू मेरे साथ चल, तुझे ठीक रास्ता बता देता हूँ।' उसने कहा'बाबा जी! मैं जान-बूझकर इधर आया हूँ। इसलिये आया हूँ कि मुझे कोई शेर खा लेगा तो वह नरभक्षी हो जायेगा। एक बार शेर नरमांस खा लेता है तो वह नरभक्षी हो जाता है। शेर नरभक्षी हो जायेगा तो गाँव के लोगों को मारेगा। मैं मर जाऊँगा तो कोई बात नहीं है क्योंकि ज़िन्दा रहकर मैं लोगों को दुःखी नहीं कर पा रहा हूँ, मरकर तो दुःखी करता रहूँगा।'

इसी प्रकार अर्जुन कह रहा हैये लोग मुझ निःशस्त्र को मारने पर नरक जायेंगे, इसलिये मैंने बदला ले लिया। मेरा कोई नुक्सान होगा नहीं, मैं स्वर्ग जाऊँगा और ये नरक जायेंगे यह मेरे लिये क्षेमतर होगा। मैंने युद्ध नहीं किया, और इन्होंने भी मुझे नहीं मारा तो इनके पास राज्य रह जायेगा, मुझे भी पाप नहीं होगायह क्षेम है। परन्तु इनके द्वारा मारा जाकर, इनके नरक की प्राप्ति का कारण बनकर मेरे लिये क्षेमतर हो जायेगा। अर्जुन के चिन्तन का आधार है कि 'मैंने इनको नहीं मारा, यह धर्म है।' चूँकि स्वर्ग जाने की बात अर्जुन के मन में है इसलिये प्राणियों के ऊपर दया की बात नहीं है। बहुत से लोगों को ऐसा लगता है कि यह लड़ाई नहीं करनी चाहिये थी, अहिंसा अच्छी थी, भगवान् ने अर्जुन

को हिंसा में प्रवृत्त किया। किन्तु ऐसी बात नहीं है, यह अर्जुन के 'क्षेमतर' कहने से पता चल जाता है कि 'इन्हें मारूँगा तो मुझे पाप लगेगा, इस पाप से बच जाऊँ'इतना ही उसका मतलब था। उसका भी कारण मोह था'ये मेरे लोग हैं' इस भावना के कारण युद्ध से पीछे हट रहा था। कहीं-कहीं 'क्षेमतरं' की जगह 'प्रियतरं' पाठ है अर्थात् वह मुझे और ज्यादा प्रिय होगा। तात्पर्य एक ही निकलेगा।।४६।।

अर्जुन ने अपना विषादवर्णन पूरा किया यह बताते हुए अध्याय समाप्त करते हैं

संजय उवाय
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४६।।

।।इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनाविषादयोगो नाम
प्रथमोऽध्यायः।।

संजय बोलाशोक से अभिभूत मन वाला अर्जुन धनुष-बाण छोड़कर, उक्त वचन बोलकर युद्धारंभ में रथ के उपस्थ पर बैठ गया।

संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि इस प्रकार से अर्जुन ने युद्ध से अपनी उपरति को बताया। वह युद्ध नहीं करना चाहता हैयह कहकर उसने युद्ध के बीच में अपने रथ पर रथी के बैठने की जगह छोड़ दी। जब तक संग्राम होता है तब तक रथी अपने बैठने की जगह बैठता है, अर्जुन वह जगह छोड़कर रथ के एक तरफ, रथ के उपस्थ पर बैठ गया। रथ के जिस स्थान पर बैठकर युद्ध किया जाता है उसके ऊपर नहीं बैठे तो इसका मतलब है कि उसे युद्ध नहीं करना है। अथवा यह भी हो सकता है, कि देखने के लिये खड़ा हुआ था, अब निढाल होकर बैठ गया। रथी तो तनकर सीधा बैठता है तभी शस्त्र चलाने संभव हो सकते हैं। यदि पीछे की तरफ ढासना लेकर बैठे तो रथी के ढंग से नहीं बैठा। इसलिये कह दिया 'रथोपस्थ उपाविशत्'। हर हालत में चाहे उस जगह, चाहे रथ के दण्डे पर बैठ गया, बैठा रथ में ही। आजकल कई जगह ऐसे चित्र बनते हैं कि अर्जुन रथ के नीचे बैठा हुआ है। यदि रथ के नीचे उतरा होता तो 'रथोपस्थ' कहना नहीं बनता। जो वह तूणीर (बाणों का भत्ता) बाँधे था, वह भी खोलकर नीचे डाल दिया। जो तना हुआ धनुष था उसकी गाँठ खोलकर नीचे कर दिया। उस समय अर्जुन कैसा था? 'शोकसंविग्नमानसः' इसके द्वारा संजय स्पष्ट कर रहा है कि वास्तविक विवेक होने पर तो मन के अन्दर शांति आती है। विवेक के अन्दर शोक का उद्वेग नहीं रहता। लेकिन अर्जुन शोक से अत्यंत पीडित था। अतः भगवान् के लिये उसे शोक-मोह से हटाना जरूरी था।

इस प्रकार से अर्जुन के विषाद का वर्णन करने वाला यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

प्रथम अध्याय

ॐ

दूसरा अध्याय : सांख्ययोग

भगवद्गीता के दूसरे अध्याय का विचार करेंगे। छः चीज़ों के समूह को हमारे यहाँ 'भग' शब्द से कहा जाता है—''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानं वैराग्यमित्येषां षण्णां भग इतीरणा'' सारा ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। चाहे जो करने की सामर्थ्य को ऐश्वर्य कहा जाता है। ईश्वर का लक्षण है सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्। जो सब कुछ कर सकता है, जिसके लिये कोई भी चीज़ अज्ञात नहीं है। संस्कृत के किसी कवि ने कहा है कि भगवान् दो काम नहीं कर सकते जो हम कर सकते हैं! एक तो भगवान् आत्महत्या नहीं कर सकते। वे कुछ भी करके चाहें कि वे न रहें, यह नहीं कर सकते। दूसरा, कोई चीज़ उन्हें पता न हो यह नहीं हो सकता। हम कई बार चाहते हैं कि यह खबर न मिली होती तो अच्छा था भगवान् के लिये यह सम्भव नहीं है। कोई घटना हो और वे न जानें, यह नहीं हो सकता। ऐश्वर्य का मतलब ही है सब कुछ करने की सामर्थ्य। ईश्वर को कोई प्रयत्न करके कुछ भी नहीं करना पड़ता। वे कोशिश करें, चेष्टा करें तब कार्य हो, यह नहीं हो सकता। उनके संकल्पमात्र से ही सब कुछ हो जाता है। जैसे ही माया के अन्दर संकल्प उठा, वह तुरन्त हो जाता है। हम तो पहले कुछ होता है तब उसको कहते हैं। परमेश्वर का ऐश्वर्य ऐसा है कि वे पहले कहते हैं, तब होता है। कहना केवल मुख से कहना ही नहीं समझना। जैसे कोई काम हम करते हैं तो मन में पहले कहते ही हैं अर्थात् मन में वृत्ति तो बनती ही है। परन्तु मन में वृत्ति बनती है फिर प्रयत्न करते हैं तब कार्य होता है। ऐश्वर्य उसको कहते हैं कि जैसे ही संकल्प हो वह पूरा हो जाये, कोई चेष्टा न करनी पड़े। सारा ऐश्वर्य अर्थात् ईश्वर का भाव जिसमें हो वह ईश्वर या भगवान् है।

सारे धर्म उसमें मूर्तिमान् हैं। कोई भी अधर्म भगवान् को स्पर्श नहीं कर सकता। इसलिये रामायण में कहा, ''रामो विग्रहवान् धर्मः''। विग्रह अर्थात् शरीर। सारे धर्म उसमें एक-साथ रहते हैं। हम लोगों में भी धर्म रहते हैं परन्तु क्रम से हैं। जब हम ब्रह्मचारी हैं तब गृहस्थ नहीं, जब गृहस्थ हैं तब वानप्रस्थी नहीं। जब औरत हैं तब आदमी नहीं आदमी

हैं तब औरत नहीं। सब के धर्म भी अलग-अलग हैं। हर औरत, पिता, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, ग्रहस्थ का धर्म अलग-अलग है। हमारे अन्दर ये क्रम से तो हो सकते हैं, एक के बाद एक हो सकते हैं, एक-साथ नहीं हो सकते। परन्तु परमेश्वर में ये सारे धर्म एक-साथ रहते हैं।

सारी कीर्ति परमेश्वर की ही है। जहाँ कोई यश है, वह वस्तुतः परमेश्वर का ही यश है। इसलिये गीता में ही जब अर्जुन कहता है 'महाराज! आप विभूतियों को बताइये' तब भगवान् ने कुछ विभूतियाँ गिनाई। परन्तु अंत में कहा कि 'ये तो मैंने थोड़ी-सी बताई, बाकी भी जहाँ कहीं जो है वह मेरा ही स्वरूप समझो। मेरे होने से ही वह होता है। श्री अर्थात् धन-धान्य आदि जितनी सम्पत्ति है। ईश्वर ही उन सबका एकमात्र मालिक है। प्रश्न होगा कि कुछ हमारी भी तो सम्पत्ति होगी? ऐसे समझ लो कि तुम किसी बैंक या कोठी के मालिक हो। लाखों करोड़ों का व्यवहार तुम्हारा मुनीम करता है, तुम तो बैठे रहते हो पर मिल्कियत तो तुम्हारी है। उसे वह काम तुमने दे रखा है। इसी प्रकार तुम्हें लगता है कि यह शरीर तुम्हारा है। प्रश्न करें कि आज से सौ साल के बाद क्या यह शरीर तुम्हारा रहेगा? नहीं रहेगा। कहाँ चला जायेगा? पंचमहाभूतों में चला जायेगा। मिट्टी की राख हो जायेगी जल भाप हो जायेगी, अग्नि अग्नि में, वायु वायु में लीन हो जायेगा। उन सब भूतों का मालिक तो परमेश्वर है। जब तुम्हारे शरीर का यह हाल है तो आगे तुम्हारी धन-सम्पत्ति का तो कहना ही क्या! तुम्हें यह शरीर सौ साल के लिये दिया गया है। जैसे मुनीम को कह दिया गया कि 'यह काम तुम करो'। काम अच्छा किया तो उसे इनाम मिलता है। उसका वेतन भी एक हजार के बजाय बारह सौ रुपये कर देते हो। बुरा काम किया तो एक हजार का आठ सौ कर देते हैं। बहुत बुरा किया तो नौकरी से निकाल देते हो क्योंकि मिल्कियत तुम्हारी है। इसी प्रकार सौ साल तक तुमने अच्छे कर्म किये तो तुम्हें ज्यादा सामर्थ्य वाले देवादि शरीर मिल सकते हैं। अथवा यहीं राजा आदि बन सकते हो। कम अच्छा किया तो पशु-पक्षी आदि योनियों में जा सकते हो। बहुत बुरे कर्म किये तो पेड़-पौधे बन जाओगे। तुम इस शरीर का जैसा उपयोग करोगे उसके अनुसार तुमको आगे मिलेगा, इसकी मिल्कियत तुम्हारी कभी होने वाली नहीं है। इसलिये कोई भी श्री तुम्हारी नहीं है, सारी श्री परमेश्वर की ही है। तुम को तो काम करने के लिये मिलती है। इसका सदुपयोग करने से पुरस्कार और दुरुपयोग करने से दण्ड मिलता है।

परमेश्वर सर्वज्ञ है इसलिये समग्र ज्ञान उसमें है। भगवान् सब कुछ करते हुए किसी चीज़ में लिप्त नहीं है। राग का मतलब होता है 'यह चीज़ मुझे मिले तो सुख हो। यह चीज़ मुझ से दूर हो जाये तो मुझे दुःख होगा' यह भाव। बुखार आ जाये तो दुःख होगा, यह किसी तरह दूर हो जाये और बढ़िया गुलाब जामुन मेरे मुँह में चला जाये तो सुख होगा। भगवान् गीत में कहेंगे ''नानवाप्तमवाप्तव्यं'' कुछ भी ऐसा नहीं है जो मैं पाना चाहूँ और कुछ भी ऐसा नहीं है जो मुझे पहले से प्राप्त नहीं है। जीव और ईश्वर का फर्क

क्या है यह समझना जरूरी है। जीव को वैराग्य होता है तो वह काम करना छोड़ देता है। जब कुछ चाहिये नहीं तब कार्य क्यों करना! कुछ पाना चाहोगे तो उसके लिये काम करोगे। आजकल के लोग इस रहस्य को भूल गये हैं। लोग समझते हैं कि जीव ईश्वर हो गया! सरकार कानून बनाती है कि काम करो, न करो, वेतन एक जैसा मिलेगा। एक बार सरकारी अधिकारी बन गये तो काम ज्यादा करो, कम करो, वेतनवृद्धि एक जैसी मिलेगी। क्लर्क बन गये तो चाहे एक चिट्ठी टाइप करो, चाहे सौ चिट्ठियाँ टाइप करो, वेतनवृद्धि एक जैसी मिलेगी। फिर कहते हैं कि लोग काम नहीं करते। हम कहते हैं वे ईश्वर थोड़े ही हैं! परमेश्वर को कुछ भी प्राप्त नहीं करना है फिर भी ''वर्त एव च कर्मणि'' कर्म में लगा रहता है। इसलिये जितना-जितना जीव परमश्वेर की तरफ जायेगा उतना-उतना वैराग्य के साथ कर्म उसकी समझ में आ सकेगा।

ऐश्वर्य आदि ये छह चीज़ें जिसमें एक-साथ रहती हैं उसी को भगवान् कहते हैं। हम लोगों की दृष्टि से कृष्ण के अन्दर ये चीज़ें हैं इसलिये उन्हें हम भगवान् कहते हैं।

इस ग्रन्थ का नाम भगवद्‌गीता है। जो मस्ती में कहा (गाया) जाता है उसे गीत कहते हैं। आबू में औरतें दिन भर काम करती हैं, बालू, ईट, पत्थर उठाती हैं। काम खत्म करके घर जाती हैं तब एक-दूसरे के हाथ में हाथ डाले हुए बड़े मज़े से गाती हैं। तुम सोचोगे इनके यहाँ कोई उत्सव हो रहा है। कोई उत्सव नहीं हो रहा है, काम करके अपनी मस्ती में गाते हुए जा रही हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। इसी प्रकार भगवान् ने जो मस्ती में गाया उसी को भगवद्‌गीता कहते हैं। यह भगवान् का गीत है। स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'यह मैंने मस्ती में गाया है। बड़ा आनन्द आया तब गाया है'। महाभारत में युद्ध के बाद अर्जुन ने भगवान् से कहा—'महाराज! आपने हमें जो उपदेश दिया था वह बहुत अच्छा था लेकिन उसके बाद तुरन्त लड़ने में लग गये इसलिये वह उपदेश याद नहीं रहा।' जैसे तुम लोग कहते हो कि कथा याद नहीं रहती क्योंकि सीढ़ी उतरते ही किसी को कपड़े के थान याद आते हैं, किसी को अस्पताल याद आता है और किसी को मकान में लोहा कितना लगाना है, यही याद आता है। इसी प्रकार अर्जुन ने कहा कि 'उपदेश के तुरन्त बाद लड़ने में लग जाने के कारण वह उपदेश पूरा याद नहीं रहा, फिर सुना दीजिये।' भगवान् तो सर्वज्ञ हैं परन्तु इस बात को समझाने के लिये कहा कि 'वह तो मैंने पूर्ण मस्ती में ईश्वर-भाव में कहा था, तू कैसे भूल गया! उसको मैं अब वैसा नहीं बता सकता।' फिर अर्जुन ने अनुनय-विनय की तो उपदेश दिया किन्तु यह गीता नहीं दुहराई। इस मस्ती का कारण क्या है? भगवान् दिव्यधाम से यहाँ आते हैं, उसका प्रयोजन भगवान् ने स्वयं बताया है ''परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।'' मैं तीन कामों के लिये यहाँ आता हूँ : मैं यहाँ आकर अच्छे पुरुषों की रक्षा करता हूँ, जो दुष्कर्मी लोग हैं उनका नाश करता हूँ और धर्म की स्थापना करता हूँ। कभी साधु पुरुषों का परित्राणा होता है और दुष्ट पुरुषों का नाश होता। कभी धर्म के उपदेश के द्वारा

धर्म की स्थापना होती है। इस प्रकार अलग-अलग समय में अलग-अलग काम होते हैं। युद्ध का एक ही ऐसा मौका आया जहाँ ये तीनों काम इकट्ठे हो गये, यही मस्ती का कारण है। युधिष्ठिर आदि सत्पुरुषों की रक्षा और महाभारत युद्ध के द्वारा दुर्योधन आदि दुष्टों का नाश भी हो रहा है। और ऐसे समय में अर्जुन ने धर्म-विषयक प्रश्न किया है जिसके जवाब में धर्म-स्थापना हो जायेगी। आचार्य शंकर कहते हैं ''समस्तवेदार्थसार-संग्रहमिदं गीता शास्त्रम्''। वेद के दो ही उद्देश्य (प्रतिपाद्य) हैं—धर्म और ब्रह्म। धर्म की मीमांसा पूर्वमीमांसा है जहाँ कर्म और उपासना बताई गई है। जिसने कर्म और उपासना कर ली उसके करने की उत्तरमीमांसा है। पूर्वमीमांसा का प्रथम सूत्र 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' और उत्तरमीमांसा का प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' है। धर्म और ब्रह्म ही वेद का अर्थ है। धर्म और मोक्ष का जो सार है, अर्थात् उन दोनों अर्थों को यहाँ बता दिया। मोक्ष वाले और अंतःकरण को शुद्ध करने वाले, दोनों प्रकार के धर्मों की स्थापना भी इस गीता के उपदेश से की गई। गीता का उपदेश—इस एक ही कार्य के द्वारा धर्म की स्थापना भी हो जाती है और उसी के द्वारा प्रेरित अर्जुन के द्वारा दुष्ट पुरुषों का नाश भी होता है। महाभारत से अर्जुन को हटा दो तो बेचारे युधिष्ठिर आदि कुछ करने योग्य नहीं थे! वह अर्जुन ही कह रहा था कि युद्ध नहीं करना है। अर्जुन के युद्ध के द्वारा दुष्टों का नाश और युधिष्ठिर आदि की रक्षारूप धर्मस्थापन भी होना था। गीतोपदेश के द्वारा दोनों काम हो गये। इसलिये भगवान् ने कहा कि 'पहले वाला उपदेश मैंने मस्ती में किया था। इस समय वह सब कुछ सामने नहीं है। अब जो उपदेश मैं दूँगा वह धर्म संस्थापनार्थ ही होगा, उससे दुष्टों का नाश तथा साधु रक्षणा नहीं होगा'। इसीलिये इस ग्रन्थ को भगवद्गीता कहा है।

गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन अपनी स्थिति का वर्णन करता है। इसलिये उसमें कुछ बहुत सोचने की बात नहीं है। उसमें अर्जुन ने अपने शोक और मोह का वर्णन किया है। आचार्य शंकर कहते हैं कि शोक और मोह होना ही संसार है। हम कहते हैं कि परमेश्वर के ज्ञान से संसार निवृत्त हो जाता है तो लोग सोचते हैं कि हम अन्धे, लूले, लंगड़े हो जायेंगे! इसलिये पंचदशीकार कहते हैं कि जो लोग ज्ञान का फल फालिज की बीमारी हो जाना समझते हैं उन्हें हम क्या समझा सकते हैं! बहुत-से लोग ज्ञान का फल समझते हैं कि हाथ-पैर काम न करें, अंधे हो जायें, यही मुक्ति है। लेकिन संसार की निवृत्ति का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे मन बुद्धि और इन्द्रियाँ काम नहीं करेंगे। बल्कि मन बुद्धि और इन्द्रियाँ सब पूरा काम करेंगे। यहाँ *पूरा* शब्द अच्छी तरह समझने का है : अभी तुम्हारी इन्द्रियाँ पूरा काम नहीं करती। नई गाड़ी को सीमित गति से ही चला सकें ऐसी उसमें व्यवस्था रहती है। जब तक एक हज़ार किलोमीटर नहीं चलती तब तक पूरा प्रयत्न करने पर भी गाड़ी की गति पचास किलोमीटर प्रति घंटा से अधिक नहीं होती। उसके बाद जब वह नियंत्रण हटा लिया जाता है तब उसे चाहे सौ किलोमीटर से अधिक

गति से चला लो। ठीक इसी प्रकार अभी तुम्हारे मन, बुद्धि, इन्द्रियों के अन्दर जीवभाव का नियंत्रण लगा है। जितनी जीव-सामर्थ्य है उतना ही चला सकते हैं। जब जीवभाव की निवृत्ति हो गई तब तुम्हारे मन बुद्धि इन्द्रियाँ पूर्णरूप से काम करेंगे क्योंकि उन्हें रोकने वाला कोई नहीं है। अथवा दूसरी तरह से समझ लो :

बिजली मीटर के अंदर से आती है तो मीटर जितने किलोवाट का है उतनी ही आयेगी। ज्यादा लोगे तो फ्यूज़ हो जायेगा। लेकिन जब बीच में बिजली का मीटर है ही नहीं तब चाहे जितनी बिजली लो, फ्यूज़ है ही नहीं। मीटर के कारण तुम्हारी बिजली की सीमा या बन्धन है। मीटर नहीं तो कोई बन्धन नहीं। बिजली तो साधरण तार से आ जाती है। मीटर की जगह तुम्हारा जीवभाव या अहं है। इसलिये जब तुम्हारे अहं में से सामर्थ्य आती है तब तो जितने तुम्हारे पुण्य हैं उतना ही तुम कर सकते हो, जब जीवभाव की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् अहं का बन्धन नहीं रह जाता, तब परमेश्वर की शक्ति से तुम्हारा सीधा संबंध हो जाता है इसलिये तुम्हारी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब पूर्णरूप से कार्य करते हैं। इसलिये जो कुछ लोग समझते हैं कि ज्ञान से फालिज का रोग जैसा कुछ होगा या इन चीजों की निवृत्ति हो जाती होगी, ऐसा नहीं है। आचार्य शंकर कहते हैं कि शोक और मोह ही संसार है, ज्ञान से वह निवृत्त हो जाता है। ज्ञानी को कभी शोक और मोह नहीं होता। अर्जुन ने अपने शोक और मोह का सारा वर्णन पहले अध्याय में किया अर्थात् उससे सारे संसार का वर्णन हो गया। दूसरे अध्याय के शुरू में भी अर्जुन उन कुछ बातों को कहते हुए अंत में कहता है कि 'मेरे इस शोक-मोह की निवृत्ति का उपाय आप बताइये। जिससे मेरा निःश्रेयस हो, उसका आप उपदेश दीजिये।' केवल 'उपदेश दीजिये' इतना ही नहीं कहा बल्कि कहा कि गुरुभाव से उपदेश दीजिये। जब कहा कि 'मैं सर्वथा आपकी शरण में आ गया, आप गुरुभाव से उपदेश दीजिये', तब भगवान् ने आत्मतत्त्व के ज्ञान को बताना शुरू किया।

भगवान् ने किन परिस्थितियों में गीता का उपदेश दिया और इस ग्रन्थ को गीता क्यों कहा है इस पर विचार किया। अब यह परिस्थिति कैसे आई थी—इस पर विचार करते हैं। महाभारत का विषय आप लोग जानते ही हैं। बचपन से दुर्योधन प्रयत्न करता रहा कि पाण्डवों को समाप्त किया जाये। बिल्कुल छोटी उम्र में भीम आदि को जहर दिया, फिर लाक्षागृह में जलाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार शुरू से ही दुर्योधन की यह दृष्टि रही। आजकल के लोग महाभारत को ठीक से नहीं पढ़ते क्योंकि आज कल हम लोगों की संस्कृति फूलन देवी की संस्कृति हो गई है। उसने डकैत होकर सौ आदमियों को मार दिया। इसलिये वह बुरी नहीं है। बुरे तो वे हैं जो मरे। इसलिये राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री जाकर फूलन को श्रद्धांजलि देते हैं। उसने जिनको मारा उनके प्रति कोई श्रद्धांजलि की भावना नहीं बनती है। ऐसे ही रावण, दुर्योधन के प्रति श्रद्धा रखते हैं, वहाँ भी कहना चाहते हैं कि गलती द्रौपदी की थी जो उसने हँसी की थी। द्रौपदी ने कब हँसी की, कहाँ

हँसी की, इन्द्रप्रस्थ में या हस्तिनापुर में? इससे उन्हें कोई मतलब नहीं। इसकी कोई जानकारी उन्हें नहीं कि इन्द्रप्रस्थ की स्थापना क्यों हुई? बचपन में ही दुर्योधन ने जो-जो आचरण किये, उन्हें पाण्डव सहन करते रहे। खाण्डववन को हटाकर इन्द्रप्रस्थ में शासन स्थापित किया। पूर्वजों की कोई सम्पत्ति उन्हें नहीं मिली थी। उन्होंने स्वयं अपने वीर्य से इन्द्रप्रस्थ बनाया। उसको धृतराष्ट्र से आज्ञा दिलवाकर शकुनि के द्वारा धोखे का जुआ खिलवाकर ले लिया गया। युधिष्ठिर और अन्य लोगों ने मना किया था। फिर भी धृतराष्ट्र से आज्ञा दिलाई कि 'मैं कहता हूँ, तुम खेलो।' इसी प्रकार पाण्डव तेरह वर्ष वनवास को गये। राज्य दुर्योधन को दे दिया था। वनवास से वापिस आये तो राज्य वापिस माँगा। जब वह भी देने को तैयार नहीं हुआ तो उसमें से छोटे से हिस्से को माँगा, जब उसका भी निषेध किया तब युद्ध के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया। लोगों ने निर्णय किया कि युद्ध की उपयुक्त भूमि कुरुक्षेत्र है क्योंकि कुरुक्षेत्र को 'देवानांसदनं' देवताओं की यज्ञभूमि बताया गया है। दूसरे, क्षत्रिय का धर्म युद्ध है और युद्ध को यज्ञ के रूप में किया जाये, इसलिये कुरुक्षेत्र को चुना गया।

युद्ध की तैयारी शुरू हो गई तो स्वयं भगवान् कृष्ण अंतिम संदेश लेकर दुर्योधन के पास गये कि शायद समझ जाये। परन्तु फिर भी वह नहीं माना, तब यह युद्ध हुआ। इसलिये इस युद्ध के अंदर पाण्डवों की तरफ से अधर्म का कहीं कोई स्पर्श तक नहीं था। जब तक भीष्म रहे तब तक युद्ध के नियमों के अनुसार युद्ध हुआ क्योंकि भीष्म ने कहा था कि मुझे सेनापति बनाओगे तो मैं धर्म-विरुद्ध काम नहीं होने दूँगा और दस दिन तक जब तक वे रहे, कोई धर्म-विरुद्ध काम नहीं हुआ। उनके मरने के बाद दूसरे सेनापतियों में उतनी हिम्मत नहीं थी, कारण जो भी रहा हो। तब कौरवों की तरफ से एक के बाद एक अधर्म का कार्य होता रहा। युद्ध का नियम है कि दुश्मन दुष्टता करे तो उसे वैसा जवाब दिया जाये। युद्ध में प्रतिदिन के व्यवहार की स्थिति सामने होती है। इसलिये युद्ध के अंदर भी पाण्डवों पर यह दोषारोपण नहीं बनता है कि वे अन्यायकारी थे। उसका प्रधान आधार ही यह था कि जब तक भीष्म ने धर्म युद्ध किया तब तक पाण्डवों ने भी धर्म युद्ध किया। जब दुर्योधन ने अधर्म का व्यवहार किया, तब दुष्ट को दुष्टता का जवाब दुष्टता से देना भी नियम है।

जब युद्ध होने वाला था तब अर्जुन ने कहा कि 'मैं पहले दोनों सेनाओं के बीच में जाकर देख लूँ कि क्या परिस्थिति है, मुझे किस से लड़ना है, दूसरे कौन-कौन हैं।' अर्जुन युद्ध-भूमि में जाकर देखने लगा कि कौन-कौन मेरे युद्ध के लायक हैं। मनुष्य का एक स्वभाव होता है कि परिस्थिति सामने आने पर भावना में परिवर्तन हो जाता है। प्रायः रोज के व्यवहार में यह देखोगे कि किसी आदमी के प्रति मन में कोई कड़वी बात कहने की आती है, परन्तु जैसे ही वह आदमी सामने आता है, वैसी कड़वी बात नहीं कह पाते, यह सहज होता है। इसी प्रकार अब तक तो युद्ध की तैयारी हो रही थी और अब देख रहा

है कि *मुझे* किस-किस से लड़ना है। वे सामने सभी दीख रहे हैं, दुर्योधन से उसे नहीं लड़ना है क्योंकि दुर्योधन से तो दूसरे लड़ेंगे। अर्जुन से लड़ने वाले भीष्म, द्रोण, कृप आदि हैं। उन्हें ही अर्जुन को मारना पड़ेगा। स्वाभाविक है कि भीष्म का चेहरा देखकर याद आया कि 'मैं दादा जी की गोद में खेला करता था'। फिर द्रोणाचार्य की तरफ दृष्टि गई, सोचने लगा 'मुझे धनुष पकड़ना नहीं आता था, इन्होंने मुझे धनुर्विद्या सिखाई।' कहता है ''कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन'' इन भीष्म, द्रोण को मैं कैसे मारूँगा?

इस परिस्थिति में दो धर्मों का संघर्ष है। एक धर्म है—''आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचा-रयन्'' जो आततायी हों उन्हें बिना विचार किये मार देना चाहिये। जो तुम्हारे घर में आग लगाये, तुम्हें जहर दे, हाथ में शस्त्र लेकर मारने आये इत्यादि, उसे आततायी कहते हैं। दुर्योधन आदि ने तो यह सब किया है इसलिये ये आततायी हैं। इनको तो बिना विचार किये मार सकता है। भीष्म, द्रोण ने यह सब नहीं किया और दुर्योधन ने इन्हीं को आगे करके रखा है। जब तक इनको न मारे तब तक उन्हें नहीं मार सकता। जो धर्मशास्त्र आततायी को मारने को कहता है उससे भीष्म आदि को मारने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती लेकिन वे आततायी की मदद कर रहे हैं। दादा, गुरु आदि को हुंकार, तुंकार भी नहीं की जाती। शास्त्र कहता है कि इनकी हमेशा ही इज़्ज़त करे, उनके ऊपर घात न करे। इसलिये दो धर्मों का विरोध है।

विचार तभी उपस्थित होता है जब परिस्थिति ऐसी हो कि दोनों तरफ पाप हो। न लड़े तो अधर्म को प्रश्रय देने का पाप और लड़े तो दादा, गुरु आदि को मारने का दोष; ऐसी परिस्थिति में 'मैं क्या करूँ' यह विचार उपस्थित होना स्वाभाविक है। बुद्धि के प्रयोग का अवसर तभी आता है जब विरुद्ध चुनाव सामने हों। जहाँ योग्य विकल्प नहीं है वहाँ तो सीधे ही कार्य कर लिया जाता है। भीष्म द्रोण सामने हैं। यहाँ *सामने* वाला भाव प्रधान है। युद्ध करने में क्या-क्या खराबी है यह सब विस्तार से अर्जुन पहले अध्याय में बताता है। भीष्म द्रोण को *न* मारने से धर्म की क्या हानि होगी—यह बात उसके सामने नहीं आ रही है। प्रधानता यह हो रही है कि इनको मारने से क्या हर्जा होगा। इससे कुल-धर्म जातिधर्म नष्ट हो जायेंगे। अंत में जाकर कहता है कि मुझे तो ऐसा लगता है कि सबसे बढ़िया तो यह है कि मैं शस्त्र छोड़ दूँ और ये मुझे मारें। यह बड़ी स्वाभाविक मानवीय नीति है जिसे शतुर्मुर्ग की नीति कहते हैं कि अपनी गर्दन बालू में घुसा लो तो बाज क्या करेगा! मैं मर जाऊँगा तो परिस्थिति ठीक हो जायेगी। है यह अविचार की पराकाष्ठा क्योंकि मेरे मरने से परिस्थिति का समाधान तो होगा नहीं। परिस्थिति तो जैसी है, वैसी ही रहनी है। जब मनुष्य के अविचार की पराकाष्ठा होती है तब अनुचित ही उचित लगता है। जैसा अर्जुन ने कहा—''तन्मे क्षेमतरं भवेत्''—'ये ही मुझे मार डालें तो बेहतर है; क्योंकि ज़िन्दा रहूँगा और दुर्योधन बार-बार सामने आयेगा तो सोचूँगा कि लड़ लेता तो अच्छा था। लड़कर इन्हें मार दूँगा तो मन में बार-बार होगा कि मैंने ऐसा पाप किया!'

अविचार की पराकाष्ठा यहाँ तक है कि उसने केवल कहा ही नहीं, बल्कि सब छोड़-छाड़कर लड़ने की जगह से हटकर ''रथोपस्थ उपाविशत्'' रथके उपस्थ में जाकर बैठ गया कि 'मुझे युद्ध नहीं करना है। मैंने हथियार छोड़ दिये, वे मुझे मार दें।' इस परिस्थिति में उसके शरीर मन में तरह-तरह के उतार-चढ़ाव आते रहे। कभी युद्ध के कारण काँप रहा था। कभी रोमांच हो रहा था। भगवान् वेदव्यास ने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन प्रथम अध्याय में किया है कि अर्जुन यह निर्णय करके कि मुझे युद्ध नहीं करना है, कैसे चुपचाप बैठ गया।

यहीं से दूसरा अध्याय शुरू होता है।

संजय उवाच
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

यों जिसमें कृपा का आवेश हो गया था, जिसकी आकुल आँखें आँसुओं से भरी थीं तथा जो विषादग्रस्त था उस अर्जुन के प्रति मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण ने यह वाक्य कहा।

जैसे भूत का आवेश हो जाता है, ऐसे ही अर्जुन के अंदर कृपा का आवेश था। जैसे हिन्दी भाषा में कहते हो कि 'इसे भूत चढ़ गया' तो उसका मतलब होता है कि यह अपने आपे में नहीं है, इसी प्रकार दुर्योधन आदि के ऊपर कृपा नहीं करनी चाहिये परन्तु उसे कृपा का भूत चढ़ गया। ऐसा भूत भी चढ़ जाता है। जैसे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बनने का आधार यह था कि हिन्दू व मुसलमान साथ नहीं रह सकते। हिंदू लोग कहते थे कि साथ रह सकते हैं, मुसलमान कहते थे कि साथ नहीं रह सकते। इस मुद्दे पर हुए चुनाव वे जीत गये कि साथ नहीं रहेंगे। फिर साथ रहने की कोई तुक नहीं थी। लेकिन 'साथ ही रहेंगे' यह भूत हम पर चढ़ गया। साथ रखना ही था तो अलग नहीं होने देते। जब भूत चढ़ जाता है तब विचार शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार जब कृपा आविष्ट हो जाती है तब वह सचमुच में गुण नहीं रह जाता। फिर वह अवगुण हो जाता है। जैसा आजकल चल रहा है : दुष्ट के लिये हम कहते हैं कि 'वह बेचारा क्या करता? परिस्थितियों ने उससे ऐसा करा दिया।' वही परिस्थिति एक हज़ार लोगों की रही है। उनमें से नौ सौ निन्यानबे बुरे नहीं बने, इसलिये उस एक व्यक्ति में कोई खराबी है—यह नहीं मानते। लेकिन कृपा का भूत हमें विचार नहीं करने देता। यही अर्जुन की मनःस्थिति थी। वस्तुतः तो भीष्म द्रोण के बारे में यह भाव था, फिर भी दुर्योधन के प्रति भी कृपा का भूत चढ़ गया।

उसी दशा का शारीरिक वर्णन करते है : उसकी आँखें आँसुओं से भर गईं। कृपा का नतीजा वस्तुतः तो होना चाहिये कि *दुःख न हो*; जब किसी को दुःखी देखते हैं तब उसकी मदद करने की इच्छा होती है। किंतु अर्जुन को ज़बर्दस्ती की कृपा है! यह बात व्यापारी समझ जायेंगे! जब हम कहते हैं कि अफसरों को घूस नहीं देनी चाहिये, तब व्यापारी लोग कृपा से आविष्ट होकर कहते हैं कि 'इस महँगाई के ज़माने में अफसर बेचारे

क्या करें? उनको भी तो अपने लड़के-बच्चे पढ़ाने हैं। उनके शादी-ब्याह करने हैं।' यह अर्जुन जैसी अश्रुपूर्ण कृपा है, वस्तुतः कृपा नहीं है, उसे कृपा से ढाँक देते हैं। इसी प्रकार अर्जुन कहता है कि 'दुर्योधन को बिना युद्ध के छोड़कर मैं मरने को तैयार हूँ।' उसे है तो दुःख, इसीलिये आँखों में आँसू हैं और नज़र टिक नहीं रही है। 'आकुलेक्षणः' जब मनुष्य न चाहते हुए प्रवृत्ति करता है तब उसकी नज़र इधर-उधर होने लगती है कि जो कर रहा हूँ, वह ठीक है या नहीं है? इससे पता लगता है कि कृपयाविष्ट का वास्तविक अर्थ क्या है।

इस प्रकार जब अर्जुन विषण्ण हो रहा था तब मधुसूदन ने वक्ष्यमाण वाक्य कहा। मधु राक्षस को मरने वाले होने से वे मधुसूदन हैं अर्थात् दुष्टों का दमन करना भगवान् का स्वभाव है। दुष्ट को छोड़ना भगवान् का स्वभाव नहीं है। हैं तो भगवान् करुणाघन उनके मन में करुणा के सिवाय कुछ नहीं है, परन्तु वह करुणा ऐसी नहीं है जो दुष्ट का मर्दन न करे। महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति देखोगे कि एक हाथ में भाला लेकर पूरे ज़ोर से महिषासुर को मार रही है परन्तु ओठों पर हँसी और आँखों में दया का भाव है। 'चित्ते क्षमा समरनिष्ठुरता।' चित्त में पूर्ण क्षमा लेकिन समर में किसी प्रकार की कमी नहीं है। हम लोगों में इसके ठीक विपरीत है—युद्ध के समय दया और अंदर ही अंदर भाव यह रहता है कि 'इसका कुछ बिगड़ जाये, हानि हो जाये, हमें कुछ न करना पड़े।' दुष्टों का दमन करने पर भी चित्त में पूरी क्षमा होनी चाहिए। अर्जुन की विषम परिस्थिति देखकर भगवान् ने उसकी उपेक्षा नहीं की वरन् युक्तियों से उसे समझाया।।१।।

भगवान् ने क्या वाक्य कहा यह बताते हैं—

श्रीभगवानुवाच
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरमर्जुन।।२।।

अर्जुन! इस अनुचित मौके पर तुम में यह मलिनभाव कैसे आ गया कि युद्ध से पराङ्मुख हो जाना चाहिये? अनार्य लोग ही ऐसे विपरीत निश्चयों के अनुसार चलते हैं। युद्ध से मुँह मोड़ना न स्वर्ग का, न कीर्ति का कारण बनेगा।

जब अर्जुन कहेगा कि मैं आपका शिष्य हूँ ''शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नं'' तब उसे तत्त्व की बात बतायेंगे। अभी उसने यह नहीं कहा है इसलिये पहले उसे लोक-मर्यादा से समझाते हैं कि यह कालिख तुझमें कहाँ से आ गई? जब आदमी अधर्म की बात सोचता है तब उसके चेहरे पर कालिख आ जाती है। इसलिये, तू जो यह विपरीत बात सोच रहा है, इसके कारण ही तेरे चेहरे पर कालिख आई हुई है। संस्कृत में अर्जुन शब्द का अर्थ सफेद होता है। अर्जुन स्वभाव से सत्त्वगुणी था इसलिये उसका नाम भी अर्जुन और उसके स्वभाव को भी यह शब्द बताता है। गोरे आदमी के ऊपर हल्की सी झांई भी पड़ जाये तो

स्पष्ट दीखती है। शुद्धान्तःकरण में थोड़ी-सी कालिख भी अधिक दीखती है। यदि अन्तःकरण पहले ही तमोगुणी हो तो उसमें अनेक दोष होने पर भी नहीं दीखते। यहाँ 'अर्जुन' सम्बोधन से भगवान् कह रहे हैं कि तू शुद्ध चरित्र वाला है, यह कालिख तुझ में कहाँ से आ गई!

लगता है भगवान् पूछ रहे हैं कि कालिख कहाँ से आई, लेकिन भगवान् सर्वज्ञ हैं, उन्हें पता है कि कहाँ से आई। युद्ध की तैयारी हो गई थी। भगवान् वापिस आ गये थे। धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को समझाने के लिये संदेश भेजा था जिसमें कुलधर्म आदि की बातें कही थीं और कहा था कि 'तू समझदार है।' जैसे घर में बाप का प्रेम छोटे लड़के से है तो बड़े लड़के को कहेगा कि 'वह तो नालायक है, तू समझदार है, तू ही समझ ले।' ऐसे धृतराष्ट्र ने कहा था कि 'दुर्योधन तो नालायक है, युधिष्ठिर! तुम तो समझदार हो।' युधिष्ठिर धर्म को जानने वाले थे। वे सारी बातें सुन गये, प्रभावित नहीं हुए। उन्होंने जो जवाब देना था दे दिया। अर्जुन वहाँ बैठा हुआ था। धृतराष्ट्र की बातों को सुनकर अर्जुन के मन में संस्कार पड़ गये थे। परिस्थिति सामने आने पर वे सारे संस्कार उदय हो गये। संस्कारों को इसलिये बड़ी सावधानी से बनाना पड़ता है।

हम निरंतर चाहते हैं कि बुरे संस्कार पड़ें पर हम बुरे न बनें। दूसरे लोग भी उपदेश देते हैं कि 'अपने मन को वश में रखो। जो होता है उससे तुम्हें क्या फ़र्क पड़ता है?' किंतु परिस्थिति है कि मन जिसको देखेगा उसके आकार को लेगा। वेदान्त की प्रक्रिया में इन्द्रियों के द्वारा मन विषय तक पहुँचेगा तब उसे देखेगा। वर्तमान काल के चार्वाकों की तरह हम नहीं मानते कि चीज़ आँख में दीखती है। वे कहते हैं कि आँख के पर्दे रैटिना पर पदार्थ की छवि पड़ती है। जब उनसे पूछते हैं कि चीज़ वहाँ है यह पता कैसे लगता है? तब कहते हैं कि पूर्वानुभव के आधार पर कितनी दूर है यह पता लग जाता है। प्रश्न है कि पहली बार ही कैसे पता लगा कि चीज़ वहाँ है? हमने आँख के द्वारा कोई चीज़ देखी तो आँख के बाहर है यह कैसे पता लगा? इसका कोई जवाब उनके पास नहीं है। हम लोग कहते हैं कि जहाँ चीज़ है वहीं दीख रही है। जहाँ आवाज़ है वहीं सुनाई दे रही है। कोई पीछे से बोलता है तो पता लगता है कि पीछे से बोल रहा है। जहाँ चीज़ को छुआ वहीं वह है। जहाँ विषय है वहाँ उसका अनुभव न मानकर जो ग़लती आधुनिक लोग कर रहे हैं यही ग़लती बौद्धों ने की थी। वेदांत की प्रक्रिया है कि कोई चीज़ दीखेगी तो अंतःकरण उस तक जायेगा, उसका आकार लेगा। अंतःकरण देखे और आकार न ले, यह कैसे हो सकता है! दूध में पानी पड़े और उसे अशुद्ध न करे यह कैसे हो सकता है! इसलिये संस्कारों से इतना बचने को कहते हैं।

अर्जुन के मन में भी धृतराष्ट्र की बातों के संस्कार पड़ गये हैं यह भगवान् को पता है, इसलिये 'कुतः' का अर्थ है कि तू उन बातों से क्यों प्रभावित हो गया है? वे बातें कहने वाला तो अधार्मिक व्यक्ति था। उसकी बातों से धर्मज्ञ होकर कैसे प्रभावित हो गया? और

प्रभावित भी विषम परिस्थिति में हुआ है। थोड़ी देर में युद्ध शुरू होने वाला है। इसलिये शान्ति से बैठकर समझाने का समय नहीं है।

एक ही वाक्य में भगवान् उस कालिख को कई विशेषणों से बताते हैं। पहला विशेषण दिया ''अनार्यजुष्टम्'' अर्थात् आर्य पुरुष जिसका कभी सेवन नहीं करते। इस प्रकार दुष्टों के प्रति दया का भाव अनार्य लोग किया करते हैं, आर्य नहीं किया करते। अनार्य कहते हैं कि कोई गुण्डा तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर दो। यह अनार्यों की किताब में लिखा है। अनार्यों की पुस्तक में लिखा रहता है कि किसी की बुराई मत देखो। प्रश्न होता है कि उसे सुधारोगे कैसे? उनकी बात का मतलब है कि सब लोगों को बिगड़ने दो। 'जहाँ बुराई नहीं है वहाँ बुराई मत देखो।'–यह हम कहते हैं। इसलिये हम लोग रोज़ प्रार्थना करते हैं ''भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः'' हम कान से भद्र बातों को सुनें, अभद्र बात को न सुनें न देखें। सामने अभद्र चीज़ होगी और नहीं दीखे, यह नहीं होगा क्योंकि हमारी आँख फूट नहीं गई है। कोई अभद्र बात कहे और हम सुनें नहीं तो हमें बहरा ही होना पड़ेगा। इसलिये आर्य कहता है कि अभद्र कार्य को न होने दो तब भद्र देखोगे। अनार्यों के व्यवहार का प्रवेश हमारी चिंतन-प्रणाली में हो रहा है, उससे बचना चाहिये।

इसलिये भगवान् भी कह रहे हैं कि यह अनार्यों की सोच तू कैसे सोच रहा है? तू सोच रहा है कि यह युद्ध नहीं करेगा तो अच्छा होगा। इस प्रकार की दया का भाव और इस प्रकार के लोगों को दण्ड न देना इत्यादि यह सब करने वाला स्वर्ग में नहीं नरक में जाता है। तू सोचता है कि यहाँ दुःखी हो पर आगे तो स्वर्ग मिलेगा, लेकिन इससे तो आगे संसार ही मिलना है। इसलिये दुर्गुण को गुण समझोगे तो अस्वर्ग होगा, आगे भी सुख नहीं होगा। और इससे तेरी कीर्ति नहीं होनी है। अंत में लोग कहेंगे कि सारे राज्य को बिगाड़ गया। जब भ्रष्टाचार शुरू हुआ तब के नेता 'दया' के नाम पर घूसखोरों को दण्ड देने से कतराते रहे अतः अब लोग कहते हैं कि वे सारे देश को भ्रष्ट कर गये। क्षाणिक सोच वाले लोग ऐसे कार्यों को अच्छा कह देते हैं। पर आगे जब नतीजा आता है तब कोई नहीं कहेगा कि अच्छा कर गये। इससे न तो लोक में कीर्ति और न आगे सुख होना है। इसलिये हमेशा आर्यों के करने लायक कार्य करो, अनार्यों के करने लायक कार्य मत करो। यह भगवान् अर्जुन को सावधान कर रहे हैं।

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होते समय ही विचार हो गया था कि हमें भीष्म द्रोण आदि को मारना पड़ेगा। सीधा तो यही प्रतीत होता है कि भीष्म-द्रोण को मारना, अथवा गुरु, दादा आदि को मारना अधर्म है। परन्तु वास्तविकता यह है कि जो भी दुष्ट की रक्षा में प्रवृत्त हो, वह दण्डनीय ही है। इस धर्म दृष्टि से ही पांडवों ने युद्ध की चुनौती स्वीकारी थी, सारी तैयारी की थी। किन्तु अब अर्जुन को धर्म में अधर्म और अधर्म में धर्म की भ्रान्ति हो रही थी। जो लोग धर्म-विषयक विचार से रहित हैं वे तो उपदेश के पात्र ही नहीं

होते। जो धर्म में प्रवृत्त है उसको समझाया जा सकता है कि क्या धर्म और क्या अधर्म है। जो धर्म-विचार की इच्छा वाले ही नहीं हैं अर्थात् काम-परायण हैं वे धर्म के उपदेश के अधिकारी नहीं हैं। 'अधिकारी' शब्द के अर्थ को ठीक से याद रखना क्योंकि आजकल लोग अधिकारी शब्द का गलत अर्थ समझते हैं। काम को करके जो व्यक्ति फल प्राप्त कर सकता है वह उसका अधिकारी है और जिस काम को करके वह उस फल को प्राप्त नहीं कर सकता वह उसका अधिकारी नहीं है। एक बार एक राजा ने एक महात्मा से पूछा कि 'मैं अमुक कार्य कर सकता हूँ तो मैं इसका अधिकारी क्यों नहीं?' वर्तमान में यह शंका बहुत उठती है। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र-भाष्य में कहते हैं 'यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मः न तु यो यं स्वनुष्ठातुं शक्यते।' जिसका जिसके लिये विधान किया गया है वही उसका धर्म होता है। कोई किसी काम को अच्छी तरह कर सकता है इतने मात्र से वह उसका धर्म नहीं हो जाता। जिसका विधान किया है उसको करने से धर्म है, जिसका विधान नहीं है उसको करने से धर्म नहीं होगा। आजकल एक विचित्र बात कही जाती है कि अच्छा काम है तो अच्छा फल होगा। परन्तु हमेशा यह विचार करना पड़ेगा कि अच्छा काम किसके लिये? तुम्हारे लिये वह अच्छा काम है या नहीं? पड़ौसी की औरत तुमको बहुत अच्छी लगती है और तुम उसको प्रसन्न करने के लिये बहुत अच्छा काम कर सकते हो। परन्तु उसको प्रसन्न करने के लिये वह अच्छा काम करोगे तो क्या वह तुम्हारा धर्म होगा? तुम्हारे लिये तो अपनी पत्नी की प्रसन्नता के लिये कार्य करना ही विहित है। तुम दूसरे की पत्नी को अच्छी तरह खुश कर सकते हो इससे वह न तुम्हारा धर्म है, न तुम उस कार्य के अधिकारी हो। ठीक इसी प्रकार जो तुम्हारे लिये विधान किया गया है वही तुम्हारे करने लायक है। शास्त्र ने विधान किया कि किस मंत्र के जप का कौन अधिकारी है। लोग कहते हैं कि मंत्र तो अच्छा है, करने में क्या हर्ज़ा है? हर्ज़ा यही है कि फल पैदा नहीं होगा। क्षत्रिय राजसूय का अधिकारी है इसलिये उसे फल होगा। ब्राह्मण राजसूय करेगा तो कुछ फल नहीं होगा। केवल घी और सामग्री की बरबादी होगी। ब्राह्मण वाजपेय करेगा तो फल होगा पर क्षत्रिय वह करेगा तो कुछ फल नहीं होगा। इसलिये शास्त्रों में अधिकारी शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसका अर्थ है जिसे फल उत्पन्न हो।

यह बात महात्मा राजा को समझा रहे थे, फिर भी राजा कह रहा था कि कोई भी अच्छा काम करेंगे तो अच्छा फल क्यों नहीं होगा? महात्मा ने राजा को प्रत्यक्ष उदाहरण से समझाने के लिये स्वयं में क्रोध का आवेश लाकर वहाँ खड़े अंग रक्षकों से कहा 'पकड़ों राजा को और मारो दो डण्डे।' अंगरक्षक वहीं खड़े रहे। राजा ने सोचा–महात्मा को क्या हो गया! राजा को गुस्सा आ गया और अंगरक्षकों से कहा–'पकड़ो इसे और मारो दो डण्डे।' अंगरक्षकों ने तुरन्त दो डण्डे मार दिये। महात्मा ने राजा से कहा–'हम दोनों ने एक ही वाक्य बोला, एक ही फल होना चाहिये था। लेकिन तुम्हारे वाक्य का फल हुआ, मेरे कहने से कुछ नहीं हुआ। यही फ़र्क है। मुझे हुक्म देने का *अधिकार* नहीं है तो देने

पर भी फल नहीं हुआ। ठीक इसी प्रकार से जो धर्म को नहीं करना चाहता है, धर्म में जिसकी कोई रुचि नहीं है उसको चाहे जितना धर्म समझाओ, फल उत्पन्न नहीं होगा। धर्म को जानने का प्रयोजन है कि धर्म करो ताकि फल उत्पन्न हो। जो धर्म करना चाहता ही नहीं उसे तुम समझाते रहो। उससे तुम्हारा गला सूखने के अलावा कुछ फल उत्पन्न नहीं होगा जैसे बिना अधिकार के किये हुए यज्ञ में घी तो व्यर्थ हो जायेगा, फल उत्पन्न नहीं होगा।

अर्जुन धर्म का अधिकारी है क्योंकि धर्म करना चाहता है। भ्रम उसे यह हो गया है कि धर्म को अधर्म समझ रहा है। अर्थात् वह करना तो धर्म ही चाहता है परन्तु उसे भ्रम है। इसलिये जब उसे उपदेश दिया जायेगा तो अधिकारी को दिया गया होने से सफल होगा। अतः अंत में जा कर अर्जुन कहेगा कि 'मेरा मोह नष्ट हो गया। मेरे में जो अविवेक आ गया था वह नष्ट हो गया। इसलिये अब आपके कहे अनुसार मैं करूँगा।' उपदेश का फल उसमें हुआ क्योंकि वह धर्म और अधर्म को मानने वाला था। केवल उसे धर्म में अधर्म का भ्रम हो गया था और वह भ्रम भगवान् ने हटा दिया। इसलिये भगवान् ने पहले तो कहा कि तू धर्म में प्रवृत्त होने के कारण है तो आर्य, परन्तु भ्रम के कारण अनार्यों की तरह सोचने लगा है।।।२।।

अब भगवान् उसे थोड़ी-सी ठोकर मारते हैं—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।३।।

पार्थ! परन्तप! तुम नपुंसक (अधीर) मत बनो, यह तुम में युक्त नहीं है। तुच्छता लाने वाली मन की दुर्बलता छोड़कर युद्ध के लिये खड़े हो जाओ।

जिस वातावरण में मनुष्य रहता है, उसका रंग उस पर चढ़ जाता है। 'क्लैब्य' शब्द के प्रयोग का हृदय यह है कि अभी-अभी तुम अज्ञातवास करके आये हो। अज्ञातवास में तुम्हें हीजड़ा बनकर रहना पड़ा, और वहाँ तुम्हें नाच गान का काम सौंपा गया था। अर्जुन के स्कंध बहुत चौड़े थे। बचपन से ही तूणीरों का भार उसके ऊपर रहता था इसलिये उसके कन्धे बहुत चौड़े हो गये थे। उतने चौड़े कंधे छिपाकर रहना कठिन था इसलिये उसके लिये सिवाय हीजड़ा बनकर रहने के और कोई उपाय नहीं था जिससे वह कंधे छिपा सके। वैसे, अर्जुन नृत्य गान में विशारद था ही। इसके द्वारा भगवान् कह रहे हैं कि इतने दिन तू हीजड़ा बनकर रहा, अब वह अज्ञातवास खत्म हो गया, अब हीजड़ा मत बन अर्थात् क्लैब्य, हीजड़ापना मत दिखा।

जो न पुरुष हो, न स्त्री हो, उसी को हीजड़ा कहते हैं। विचार यह करना है कि पुरुष और स्त्री का अर्थ क्या है? ''पूर्णत्वात् पुरुषः'' जो पूर्ण होता है उसी को पुरुष कहते हैं। पूर्ण केवल और एकमात्र ब्रह्म है। पूर्ण उसे कहते हैं जिसकी जरूरत दूसरों को तो पड़े,

परन्तु उसे किसी की जरूरत न पड़े। जैसे किसी की विद्या पूर्ण है अर्थात् उसकी विद्या सबके लिये है। किसी के पास पूर्ण धन है। इसका मतलब है कि वह तो दूसरों को धन दे सकता है, उसको किसी के धन की जरूरत नहीं। परमात्मा ही एकमात्र पूर्ण है क्योंकि वह चिद्रूप है, चेतन के बिना सारा सौंदर्य व्यर्थ है। किसी आदमी का चेहरा मांस-पेशियाँ हाथ-पैर सब बड़े सुंदर हैं कहीं कोई कमी नहीं है। केवल एक छोटा-सा दाग़ है कि वह मर गया है। सारा जड संस्थान तो वैसा का वैसा है, बस एक चेतन ही नहीं है। वह चला गया तो सारा सौंदर्य व्यर्थ हो जाता है। जड तो बिना चेतन के व्यर्थ है परन्तु चेतन को जड की आवश्यकता नहीं है। इसका पता कैसे लगता है? रोज़ आप लोगों को गहरी नींद आती है। सुषुप्ति के अंदर सिवाय मेरे कुछ नहीं रहता। न शरीर, न मन, न बुद्धि और संसार की कोई चीज़ भी वहाँ नहीं है। उठकर क्या कहते हो? कि वहाँ कुछ भी नहीं था। 'मेरा तो सब कुछ लुट गया'—यह नहीं कहते बल्कि कहते हो कि 'बहुत बढ़िया नींद आई, कुछ पता नहीं लगा' और साथ ही कहते हो, 'बड़ा आनंद आया, बड़े मज़े में था।' गहरी नींद में कोई सो रहा हो, उसे उठाओ तो मन में आता है 'इसे थप्पड़ मार दूँ, बड़े आनन्द से सो रहा था।' विचार करो, वहाँ कुछ नहीं था, केवल चेतन था, पूर्ण आनन्द था। इसका मतलब है कि चेतन को किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। न तुम्हारे शरीर की ज़रूरत है, न मन की। आनन्द के लिये किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। चेतन इसीलिये पूर्ण है, उसकी ज़रूरत सबको है और उसको किसी की ज़रूरत नहीं है।

शरीर के साथ संबंध होने पर हम शरीर को फ़ायदा पहुँचा सकते हैं। अपने को उसका कोई फायदा नहीं है। भ्रम यहाँ तक है कि कहते हो कि 'शरीर के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता।' यही लगता है कि चेतन के बिना कुछ नहीं कर सकते—यह ठीक है, लेकिन शरीर के बिना भी तो नहीं कर सकते। पर विचार करो, कुछ किसलिये करते हो? सुख-प्राप्ति के लिये ही सब कुछ करते हो। आज तक यह तो किसी ने नहीं कहा कि 'चार साल हो गये, हमें टाइफाइड नहीं आया। कृपा करो आ जाये। अथवा बहुत साल से काम अच्छा चल रहा है। ज़रा कृपा करो, दीवाला निकल जाये तो अच्छा हो।' यह तो कहते हो कि धन कम हो गया है, पूरा हो जाये; बीमारी हो गई, चली जाये। अर्थात् सब कुछ सुख के लिये करते हो। जब आदमी कहता है कि शरीर के बिना कुछ नहीं कर सकते तो शरीर के साथ सुख प्राप्त करना चाहते हैं और वह सुख क्या बिना शरीर के गहरी नींद में नहीं मिल रहा है? इसलिये यह केवल भ्रम है कि शरीर से ही हम कुछ कर सकते हैं। हम तो बिना शरीर के भी कर सकते हैं। शरीर हमारे बिना नहीं कर सकता। इसलिये चेतन ही पूर्ण है, पुरुष है।

जड को उत्पन्न करने वाली जो प्रकृति या माया है वह स्त्री है। ''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरं'' माया और प्रकृति एकार्थक शब्द हैं। उसे माया इसलिये कहते हैं कि उसमें से कुछ भी निकले, वह कभी खाली नहीं होती। जैसे बाजीगर एक खेल

दिखाता है : एक टोकरी में से एक के बाद एक मुर्गी निकालता चला जाता है। मुर्गियाँ खत्म नहीं होतीं। ऐसे ही इस माया में से अनादि काल से न जाने कितनी चीज़ें निकलती जा रही हैं, कभी ख़त्म तो होती नहीं। कम से कम १७५ सालों से मनुष्य के अंगूठों की छापों को एकत्र किया जा रहा है; दस्तावेज़ पर अंगूठों की छाप लेते हैं। करोड़ों छापें ली गईं, परन्तु अब तक दो अंगूठों की छाप सर्वथा एक जैसी नहीं मिली। इसी से अंदाज लगा सकते हो कि माया में से कितना असीम प्रपंच निकल सकता है। बाजीगर क्यों निकालता चला जाता है? क्योंकि सच्ची चीज़ की सीमा होती है और वह तो इन्द्रजाल है, बाजीगर का खेल है इसलिये उसकी सीमा नहीं है। इसी प्रकार यदि यह माया सच्ची चीज़ को पैदा करती तो इसकी भी सीमा होती। चूँकि यह माया अनन्त चीज़ों को निकालती जाती है और कभी ख़त्म नहीं होती, इसी से पता लगता है कि सचमुच में कुछ नहीं है।

प्रकृति जड है। जड जगत् के अंदर व्यवहार किया जाता है। पुरुष चेतन है, वह अव्यवहार्य है। सारी प्रकृति व्यवहार के अन्दर है और पुरुष वह चीज़ है जिसके बिना कोई व्यवहार नहीं हो सकता। परन्तु व्यवहार से उसका कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं है। व्यवहार से उसे न लाभ है, न हानि है।

अर्जुन को भगवान् कह रहे हैं कि तू जिस धर्म की बात कर रहा है अर्थात् सब कुछ छोड़ने की बात कर रहा है और कह रहा है ''तन्मे क्षेमतरं भवेत्'' वह बात ठीक होती जब तू पुरुष होता अर्थात् अगर वह पूर्णभाव होता तो तेरा कहना बन सकता था। तू तो कह रहा है कि 'सब कुछ छोड़ने से ही मेरा क्षेमतर होगा।' अर्थात् अपने क्षेम की अधिकता के लिये तू किसी और पर निर्भर है। इसका मतलब है कि तू प्रकृति में है, पूर्ण नहीं है। तू व्यवहार भूमि और परमार्थ भूमि दोनों का विवेक किये बिना उन की बात कर रहा है—यही धर्म और अधर्म में मोह होने का कारण होता है। हमारे यहाँ यह परिस्थिति बुद्ध देव के समय से आई। हमारे यहाँ पहले प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म यों अधिकार-भेद से धर्म व्यवस्थित थे। कोई सांकर्य नहीं था। प्रवृत्ति करनी है तो उसमें सत्त्वगुण आदि त्रिगुणात्मिका प्रकृति प्रधान है। निवृत्ति करनी है तो उसके अंदर तीनों गुणों को छोड़ना पड़ता है। वह पुरुष-प्रधान है। उसमें केवल चेतनमात्र को लेकर चलना है। बुद्ध ने सर्वप्रथम निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया और उस मार्ग का उपदेश उन्होंने सब लोगों के लिये कर दिया जो अव्यावहारिक था क्योंकि जो अभी संसार में आसक्त हैं, पदार्थों को चाहते हैं उनके लिये निवृत्ति मार्ग का अधिकार नहीं बनता।

इस अधिकार-विचार को सामने नहीं रखने से अव्यवस्था पैदा हो गई और तब से लेकर अब तक यह अव्यवस्था है। अधिकतर लोग जो अर्जुन कह रहा है वही प्रश्न करते हैं कि जिसने अपराध नहीं किया, केवल अपराध करने वाले को प्रश्रय दिया, उसे दंड क्यों दिया जाये? अपराधी को दण्ड दिया जाये—यह प्रायः स्वीकार लेते हैं पर उसे प्रश्रय देने वाले का अपराध नहीं समझ पाते। यह प्रश्न बार-बार हमारे सामने आता है। अंग्रेज़ों के

समय भारतवर्ष में मुसलमान मुसलमान को वोट देते थे। हिन्दू हिन्दू को वोट देते थे। उस समय चुनाव हुआ तो ९५ प्रतिशत सीटें मुस्लिम लीग को मिली जो पाकिस्तान की समर्थक थी, पाकिस्तान बनने की पक्षधर थी। फिर भी लोग कहते हैं कि 'सब मुसलमान थोड़े ही पाकिस्तान की बात कर रहे थे।' जब उनसे पूछते हैं कि ९५ प्रतिशत मत उस पक्ष को कैसे मिल गये? तब कहते हैं कि उन्हें गुमराह कर दिया गया था अर्थात् गुमराह करना और हो जाना कोई अपराध नहीं है। इसी तर्क से कहते हैं कि फूलनदेवी गुमराह हो गई थी, उसकी कोई ग़लती नहीं। अतः इस विचारधारा वालों के अनुसार ग़लती तो राह पर चलने वालों की है! निवृत्ति धर्म वाले के लिये अत्यन्त क्षमा धर्म हो सकता है लेकिन प्रवृत्ति धर्म वाला यदि वैसा करना चाहे तो पूरी तरह कर नहीं पायेगा और जितना प्रयास करेगा उतना ही अधर्म बढ़ायेगा। इस स्थिति को समझना ही पड़ेगा कि दोनों धर्म अलग-अलग हैं। ''प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं धर्मवैदिकम्'।

इसका बड़ा सुन्दर वर्णन आता है : अगस्त्य महर्षि भगवान् राम से मिले। भगवान् उनसे कहते हैं कि 'इस प्रकार सीता हरण हो गया है। रावण को मारना है। उसके लिये आप कोई मार्ग बताइये।' अगस्त्य महर्षि निवृत्ति मार्ग की बात कहने लगे 'रहने दो। रावण को मारना बड़ा मुश्किल है। पहले समुद्र पार करना ही मुश्किल है उसमें दोष भी बहुत है।' श्री राम जवाब देते हैं—'जिसकी स्त्री का हरण कर लिया गया हो, वह यदि शान्त रहेगा तो पुरुषों में अधर्म माना जायेगा। मैं इस निवृत्ति धर्म का अधिकारी नहीं हूँ।' महर्षि ने तो उन्हें टटोला था। इसलिये फिर उन्होंने रावण को मारने के लिये पाशुपतास्त्र आदि प्राप्त करने के सारे साधन बता दिये।

जो प्रवृत्ति धर्म का अधिकारी है, वह यदि निवृत्ति मार्ग की बात करता है तो मनुष्यों में नीच माना जायेगा। अधिकतर वर्तमान में लोग निवृत्ति की बात करके कहेंगे कि यह कोई बुरी बात तो नहीं है। लेकिन वास्तव में वह तुम्हारे लिये अर्थात् प्रवृत्तिमार्गी के लिये बुरी बात ही है। निवृत्ति-परायण के लिये जो बुरी बात नहीं है, प्रवृत्ति-परायण के लिये बुरी बात हो सकती है। दोनों धर्मों का सांकर्य नहीं करना चाहिये। अधर्म में धर्म-दृष्टि अर्थात् जो मेरा धर्म नहीं है। उसमें मुझे धर्म दीखे इससे हमेशा बचना चाहिये।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तू पुरुष-धर्म अर्थात् निवृत्ति धर्म का अधिकारी नहीं है क्योंकि खुद कह रहा है कि 'मेरे लिये यह क्षेमतर होगा और मेरा कुलधर्म नष्ट हो जायेगा, अपकीर्ति होगी आदि।' ये सब तो प्रवृत्ति धर्म की बातें हैं। इसलिये न तू पुरुष की बात कर रहा है, न प्रकृति की बात कर रहा है, दोनों को मिलाकर बात कर रहा है। दो विपरीत चीज़ों को मिलाना ही वेदान्त शास्त्र में अन्योन्याध्यास कहा जाता है। अन्य में अन्य का अध्यास अर्थात् जड में चेतन और चेतन में जड, पवित्र में अपवित्र और अपवित्र में पवित्र, एक दूसरे के बारे में जो भ्रम होता है इसी को अन्योन्याध्यास कहते हैं। मोह का बीज यही है।

शरीर मन को मैं जानने वाला हूँ; जानने वाला जिसको जानता है वह उससे अलग होता है, इसलिये मैं शरीर-मन से अलग हूँ। बहुत-से लोग कहते हैं ''मैं अलग हूँ''—यह हम नहीं जानते। किंतु ऐसी बात है नहीं। कल्पना करो : एक ट्रक बड़ी तेज़ गति से सामने से आ रहा है, उसकी टक्कर से तुम्हारे बचने की कोई संभावना नहीं है। उस समय मन में होता है ''मैं मरा।'' मरने वाला कौन है? यही कहोगे कि शरीर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। इस बात से कौन डर रहा है कि शरीर टुकड़े-टुकड़े होगा तो बहुत कष्ट होगा? शरीर जान नहीं रहा है। शरीर तब जानेगा जब ट्रक टक्कर मार देगा। तुम तो पहले ही डर रहे हो। अतः शरीर से मैं अलग हूँ—यह अनुभव सब को है, सब जानते हैं।

कहोगे 'शरीर से अलग तो जान लेते हैं, मन से अलग नहीं जानते', किन्तु मन से अलग भी जानते हो : कोई घोर चिन्ता की बात होती है। लोगों से चार करोड़ का कर्ज़ा ले लिया है। चारों तरफ से लोग पैसा माँग रहे हैं, देने की कोई व्यवस्था नहीं है। उस समय क्या करते हो? नशे की गोली लेते हो। नींद आ जाती है। जब तक मन रहेगा, तब तक दुःख रहेगा नींद आ जायेगी तो उतनी देर दुःख नहीं रहेगा। मन को हटाकर कौन चैन से सोना चाहता है? लोग नशा भी इसीलिये करते हैं कि मन नहीं रहेगा तो *मुझे* बड़ा मजा आयेगा। मन से अलग हो, तभी यह इच्छा होती है कि मन को भले ही दुःख है, लेकिन मैं उस दुःख से बच जाऊँ। शरीर व मन से अलग होने का अनुभव हम सब को है।अनुभव होने पर भी अन्योन्याध्यास करते हो कि फिर भी शरीर मन मैं हूँ। इसी का नाम अन्योन्याध्यास है; शरीर को चेतन, चेतन को शरीर, मन को चेतन, चेतन को मन समझते हो। मन और शरीर प्रकृति हैं क्योंकि दोनों ही पंचमहाभूतों से बने हैं। चेतन पुरुष है। अन्योन्याध्यास करके हम न पुरुष हैं, न स्त्री हैं। पुरुष की बात के मौके पर स्त्री की और स्त्री की बात के मौके पर पुरुष की बात करने लगते हैं।

भगवान् कहते हैं कि पुरुष और प्रकृति का अन्योन्याध्यास करके क्लीब मत बन। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के स्वरूप को जान। दोनों को मिलाने से पुरुष स्त्री दोनों भाव नहीं रह जाते हैं। यही हीजड़ापना है। ''एतत् त्वयि न उपपद्यते'' तेरे में यह उपपन्न, युक्तिसंगत नहीं होता क्योंकि तू विचारशील है, जानने वाला है। संकेत यह भी है कि अब तू विराट् नगर को छोड़कर युद्ध के मैदान में पहुँच गया है। वहाँ हीजड़ा बनकर रहा, वह तो ठीक था, अब यहाँ मत बन। यह किसी युक्ति से समझ में नहीं आता कि तेरे अंदर यह हीजड़ापना कैसे आ गया।

भगवान् हम सब को भी कह रहे हैं कि जिन लोगों ने सनातन धर्म को सुना ही नहीं वे हीजड़े बने रहें तो कोई बात नहीं है क्योंकि उन्होंने सुना ही नहीं है। लेकिन तुमको तो समझा कर कह दिया गया है कि क्या नित्य है, क्या अनित्य है, क्या मिथ्या है और क्या सत्य है; यह सब समझा दिया गया, फिर तुम वही गलती करो, प्रवृत्ति-निवृत्ति को मिलाकर देखो, इनकी वास्तविकता को नहीं देखो तो अवश्य ही तुम्हारी अपकीर्ति होगी। आगे

कहेंगे कि कर्म हमेशा प्रकृति में होता है, अकर्म पुरुष का होता है ''कर्मणि अकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः स सुखी नरः।।'' कर्म करने वाले शरीर-मन हैं। शरीर-मन क्या करें—यह प्रकृति-मार्ग है। इसमें चेतन की निष्क्रियता, एकता मत ले आओ। व्यवहार शरीर-मन से ही होगा। दुष्ट को दंड देने के लिये उसके शरीर-मन को दुःख दिया जायेगा। आत्मा को तो कोई दुःख दे सकता ही नहीं। अतः सर्वव्यापक एक निष्क्रिय आत्मा है—इस तथ्य का किसी को दंड देने से कोई विरोध नहीं है। किंतु अविचारशील आत्मा की एकता आदि की बात लाकर दंड देने से बचना चाहते हैं तो धर्म-सांकर्य हो जाता है।

दुष्ट में भी मेरा ही आत्मा है, इसमें संदेह नहीं है। हम उसकी आत्मा को कुछ नहीं करेंगे, हम तो उसकी गर्दन काटेंगे। शरीर-मन कर्म करने वाले हैं, वे क्या करें—इसका विचार प्रवृत्ति मार्ग है। नहीं करने वाला चेतन हमेशा अविकारी है। शरीर-मन कर रहे हैं तब भी वह नहीं ही कर रहा। शरीर-मन कभी निकम्मे नहीं हो सकते। तुम्हारा हृदय, मन आदि सब काम करते रहते हैं। भगवान् आगे कहेंगे ''न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'' एक क्षण भी शरीर काम नहीं करे तो मर जाओगे। हृदय और मन काम न करें, इसका नाम ही मृत्यु है। शरीर-मन नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं कर सकते और चेतन कभी कर्त्ता नहीं बन सकता। वह हमेशा ही नैष्कर्म्य में स्थित है। शरीर मन को चेतन समझना, चेतन को कर्त्ता समझना ही भ्रम है।

भगवान् अर्जुन को उद्बोधित करते हैं कि तुम्हें ये बातें समझाई गई हैं। तुम सनातन धर्मी हो फिर भी प्रवृत्ति के समय निवृत्ति और निवृत्ति के समय प्रवृत्ति की चर्चा करते हो यह ठीक नहीं। संकेत भगवान् का यह भी है कि इस समय प्रवृत्ति करने को आया है और बात निवृत्ति मार्ग की करने लगा! इस समय यह उपपन्न नहीं है। जहाँ जिस समय जो करना है उस समय वह न करना ही हीजड़ापना है। यही हृदय की दुर्बलता है।

अर्जुन धर्म और अधर्म के विषय में अन्योन्याध्यास करके धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझ रहा था। इसी अन्योन्याध्यास से हम सभी चेतन, पुरुष, आत्मा को शरीर, मन इत्यादि अनात्मा में देखते हैं। और शरीर मन इत्यादि की क्रियाओं को आत्मा में देखते हैं। किस चीज़ का क्या धर्म है, यह भूले रहते हैं। शरीर, मन आदि क्रियाओं का आश्रय होकर कर्त्ता-भोक्ता हैं और कर्त्ता-भोक्ता ही रहेंगे। आत्मा पूर्ण होने के कारण इन सब चीज़ों को कर्त्ता-भोक्ता बनने की सामर्थ्य देते हुए भी खुद अकर्त्ता-अभोक्ता बना रहता है। धर्म में अधर्म का अध्यास, अधर्म में धर्म का अध्यास और धर्म वाले में अधर्म वाले का अध्यास, अधर्म वाले में धर्म वाले का अध्यास होता है। इसको वेदान्त में धर्म-धर्मी अध्यास कहते हैं। धर्म का अध्यास जैसे गर्मी अग्नि का स्वरूप है। अग्नि के बिना गर्मी किसी चीज में रहेगी नहीं क्योंकि गर्मी अग्निस्वरूप है। किंतु हमारा व्यवहार होता है 'चाय के पानी से जल गये।' पानी का धर्म तो ठंडा होना है। पानी कभी किसी को जला

नहीं सकता। पानी में जो अग्नि थी उस अग्नि ने जलाया। अग्नि के जलाने के धर्म का पानी में अध्यास हो गया। यहाँ धर्मी अध्यास नहीं है। अध्यास अर्थात् मिथ्या या ग़लत ज्ञान। यह मिथ्या ज्ञान तो नहीं हुआ कि पानी आग है परन्तु पानी में आग के धर्म का अध्यास हो गया कि 'पानी गर्म है।' इसे धर्म का अध्यास कहते हैं। कहीं धर्मी का अध्यास होता है : जैसे जब तुमको रस्सी में साँप दीखता है। वहाँ रस्सी के धर्म सामने नहीं दीख रहे हैं। रस्सी का धर्म ऐंठन है, वह दीख नहीं रही है। इसलिये यहाँ धर्मी अर्थात् साँप का अध्यास रस्सी में है। जहाँ धर्मी का अध्यास होता है वहाँ सच्ची वस्तु दीखती नहीं है और जैसे ही सच्ची चीज़ दीखती है वहाँ झूठी चीज़ नहीं रहती। किंतु जहाँ धर्मों का अध्यास होता है वहाँ धर्मी अर्थात् सच्ची चीज़ तो दीखती है, पर उसमें वह धर्म दीखता है जो उसमें नहीं है। वहाँ अध्यास निवृत्त होने पर भी प्रतीति वैसी ही रहेगी। अर्थात् तुमको यह निश्चय है कि अग्नि जलाती है, पानी नहीं जलाता, फिर भी चाय का पानी गिरेगा तो जलायेगा। रस्सी दीखने के बाद वह साँप तुम्हारी प्रतीति का विषय नहीं है। परन्तु 'पानी ठंडा है' यह जानने वाला भी उस पानी से जलेगा ही। उसको यह भ्रम नहीं होगा कि पानी ने जलाया है।

शरीर मन में रहने वाले कर्त्ता-भोक्ता धर्मों का अध्यास आत्मा में हो रहा है। धर्म का अध्यास हुआ है, धर्मी का अध्यास नहीं है। आत्मा (चेतन) का अध्यास शरीर मन में हुआ है। इसलिये शरीर-मन और चेतन, दोनों को तुम देख रहे हो। परन्तु अध्यास के कारण तुम अपने को कर्त्ता-भोक्ता देख रहे हो। शरीर मन के धर्मों को अपने में और अपने धर्म को शरीर मन में देख रहे हो। जब यह पता लग जाता है कि आत्मा चेतनमात्र है और शरीर मन जड है तब भी जैसे वह पानी जलाता है वैसे ही शरीर मन अपनी सारी क्रियाओं को करेंगे और तुम उन्हें प्रकाशित करोगे, तुम उसे जानोगे। इस ज्ञान से फ़र्क यह होगा कि अभी तुम कर्त्ता-भोक्ता बन कर अपने को विकारी जानते हो, उन धर्मों को अपने में देख रहे हो और तब तुम उनको शरीर मन में देखोगे। *अपने में* देखना भ्रम है। इनको देखना भ्रम नहीं है। जब तुम अपने इस साक्षिभाव को अच्छी तरह से समझ लेते हो तब वह भ्रम फिर कभी नहीं होगा। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति के धर्मों का एक-दूसरे में अध्यास होना ही क्लैब्य (हीजड़ापन) है।

यह हीजड़ापन किससे होता है? भगवान् कहते हैं 'हृदयदौर्बल्यं' हृदय की दुर्बलता ही इसका कारण है। हृदय का निरुक्त स्वयं वेद ने किया है ''हृदि अयं हृदयं'' हृत् में जो होता है वह हृदय है। हृत् 'मैं' है 'मैं' ही चिज्जड ग्रंथि है। 'मैं' बहुत विचित्र पदार्थ है। संसार में सबसे प्रधान केवल 'मैं' है। परन्तु इसकी स्थिति क्या है? कहीं एक बारात गई हुई थी। पुराने जमाने की बारात थी। एक आदमी वहाँ ऐसा था जो लड़की वालों से तो कहे कि 'आपका अमुक इन्तजाम ठीक नहीं' और लड़के वालों से पूछे कि 'आपको कोई कमी हो तो बताइये।' दोनों तरफ वाले उसका आदर करते थे। दो दिन में कन्या-पक्ष वाले

उससे परेशान हो गये। जब शादी हो गई तब लड़की वालों ने पूछा 'आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ?' लड़के वालों ने कहा—'आपका सारा इन्तजाम बहुत अच्छा था।' तब लड़की वालों ने कहा—'बाकी तो सब ठीक है लेकिन आपकी तरफ का एक व्यक्ति बड़ा परेशान करता रहा।' उन लोगों ने पूछा 'वह कौन व्यक्ति है?' उसका हुलिया बताया तो लड़के वालों ने कहा 'वह तो आपकी तरफ से आता था।' लड़की वालों ने कहा 'वह तो इधर का आदमी नहीं था। हम उसे जानते ही नहीं। आपकी तरफ से आता था।' वह आदमी बड़ा चतुर था, सोचा अब पिटाई होगी, तुरन्त वहाँ से गायब हो गया, पता ही नहीं चला कहाँ गया।

ठीक इसी प्रकार अहंकार वर पक्ष अर्थात् चेतन की तरफ से कहता है 'मैं चेतन हूँ, शरीर मन सभी को चलाता हूँ'। चेतन कौन? मैं चेतन हूँ; मैं के अतिरिक्त और कहीं चेतन का अनुभव नहीं होता। सुख-दुःख का अनुभव भी मैं को होता है, 'चेतन' को होता है। लाख कहते रहो—घुटने में दर्द है, तुम घुटने को जानने वाले हो, इसलिये घुटने का दर्द तुम्हें नहीं है। फिर भी प्रतीति क्या होती है? 'दर्द मुझे है।' कन्या की तरफ से कर्त्ता-भोक्तापने का मालिक भी यही बना हुआ है। यही चेतन और जड की गाँठ है। जब इसकी असलियत का पता लगता है तब 'मैं' नाम की चीज़ नहीं मिलती। चेतन मिलेगा तो इसी 'मैं' में। गाँठ में तो दोनों तरफ की रस्सी रहेगी। प्रकृति वाली रस्सी का हिस्सा तुम देख ही रहे हो, गाँठ भी देख रहे हो लेकिन गाँठ में जो दूसरी तरफ वाली रस्सी का हिस्सा है उसको देखते हुए भी उसका पता नहीं है। आत्मा और कहीं नहीं मिलेगा, इसी ग्रंथि में, अहं में मिलेगा। इसलिये आचार्य शङ्कर विवेक-चूडामणि में कहते हैं—

'वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः।
आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्तिर्न सिद्ध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि।।'

चाहे जितने कर्म कर लो, देवताओं का भजन कर लो, तीर्थों में घूम लो, कहीं भी यह परमात्मा मिलने वाला नहीं है। इस चिज्जडग्रन्थि में ही मिलेगा। जब अर्जुन ने भगवान् से कहा कि आप अपनी विभूतियाँ बताइये तब भगवान् कहते हैं—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' सारे प्राणियों की हृदयगुहा में रहने वाला मैं हूँ। कोई यह न समझे कि वह जीव ही है अतः आगे कहते हैं 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'; जिसे, मैंने 'मैं' कहा है वही ईश्वर है, वह और कहीं मिलने वाला नहीं है। इस हृदय गुहा में ही मिलेगा। विचार करो; जो चीज़ तुम्हारे पास है उसके बारे में क्या कोई कानून बनाकर कह सकते हो कि यह तुम्हारे पास नहीं हो सकती? कानून से तो तुम बैंक से पैसे उठाने से भी दूर हो सकते हो, कई बार अदालत से ऐसा फैसला हो जाता है कि तुम बैंक से पैसे नहीं उठा सकते। लेकिन जो गिन्नी तुम्हारे पल्ले में है उसको क्या कोई कानून रोक सकता है? इसलिये दूसरी चीज़ों के बारे में सारे अधिकारों का विचार हो सकता है परन्तु

परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति करने में तुम अधिकारी नहीं हो, यह कानून कौन बना सकता है? कहीं से मिलना होता तो विचार हो सकता था। तुम्हारी गाँठ में, इस चिज्जड-ग्रन्थि में ही वह है। इस अपनी पास वाली चीज़ के ज्ञान से ही तुमको मोक्ष प्राप्त होता है।

ईश्वर की प्राप्ति तुम्हारे लिये इतनी सरल है तो फिर इतनी मुश्किल क्यों होती है? उसका कारण यह हृदय ही है। यह जो चिज्जड-ग्रन्थि है यह दुनियाभर की कामनाओं से त्रस्त है। गाँठ में गिन्नी तो बन्धी है परन्तु हम दूसरी चीज़ों से इतने आकृष्ट हैं कि गाँठ में बन्धी गिन्नी की तरफ हमारी नज़र ही नहीं जाती। इसलिये हम सोचते हैं कि मुझ से भिन्न कुछ है। मुझ से भिन्न कुछ हो तब उसको जानूँगा। किसी से कह दो 'ज्ञान है' तो तुरन्त पूछेगा, किस चीज़ का ज्ञान है? अगर जवाब दो—'किसी चीज़ का ज्ञान नहीं है, केवल ज्ञान है', तो कहेगा 'मुझे बेवकूफ़ बना रहे हो'। लोक में 'यह बड़ा ज्ञानी है' का मतलब है कि दुनिया भर की चीज़ों को जानता है। उसका मतलब सिर्फ़ 'ज्ञान वाला' नहीं है। इसी प्रकार 'है' कहते हो तो भी प्रश्न उठता है—'क्या है?' यदि कहो 'मुझे बड़ा सुख है' तो भी जिज्ञासा होती है 'किस चीज का सुख है?' इसलिये सच्चिदानंद कहते हुए भी उसे दूसरी चीज़ों में ढूँढते रहते हो, अपने सच्चिदानन्द रूप को नहीं देखते। इस ढूँढने को 'राग' कहते हैं। अनेक लोग पंद्रह-बीस दिनों बाद भोजन करने होटल जाते हैं। घर में स्वादिष्ट भोजन बनता है, बाहर का भोजन स्वादिष्ट होता भी नहीं, फिर भी कुछ नया ढूँढने के लिये जाते हैं। यह राग ही हमको घर का आनन्द लेने नहीं देता, दूसरी तरफ जाने को प्रवृत्त करता है। हमारी गाँठ में बंधा हुआ धन है, परन्तु यह राग दूसरी तरफ प्रवृत्त करता है, इसलिये अपने परम सुख का अनुभव नहीं कर पाते। राग के केन्द्र को 'दिल' कहते हैं। 'दिल नहीं मानता' या 'हृदय नहीं मानता' अर्थात् बात तो ठीक है परन्तु राग अन्यत्र है।

हृदय कामना का केन्द्र है। यही हमारी दुर्बलता है; और हमारी कोई कमज़ोरी नहीं है। इस राग के कारण हम बिल्कुल दुर्बल बने हुए हैं। तुम वह हो जिसके बारे में वेद कहता है ''तस्मै देवा बलिमाहरन्ति'' तुम वह हो जिसके सामने देवता आकर नाक रगड़ते हैं कि हम से कुछ ले लो। तुम अर्थात् परमात्मा। तुम्हारी दुर्बलता इतनी है कि देवताओं के सामने जाकर प्रार्थना करनी पड़ती है कि हमें कुछ दो! देवताओं को छोड़ो, उनसे भी नीचे ग्रहों से भी माँगते रहते हो। ग्रहों को छोड़ो, लोग मुसलमान पीरों से भी माँगते रहते हैं। जैसे कोई संसार का चक्रवर्ती किसी से दुअन्नी की भीख माँगे, उससे भी बुरी स्थिति तुम्हारी है। वह एक राज्य का राजा है। तुम तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के राजा हो और ये भूत, ओझा, पीर जिनकी कोई सत्ता ही नहीं है, उनसे डरते हो! व्यापारी आयकर विक्रयकर के अधिकारियों से डरते रहते हैं। तुम्हारी कामनाओं के कारण ही तुम्हारे हृदय की यह दुर्बलता है। अर्जुन जैसा वीर, भीष्म द्रोण के प्रति राग के कारण ही दुर्बल बना। हृदय की दुर्बलता के कारणभूत इस राग को भगवान् ने 'क्षुद्र' कहा है।

'त्यक्त्वा' कह कर संकेत है कि इस राग को छोड़ दो। इसलिये श्रुति कहती है 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।' जब तुम्हारे हृदय में रहनेवाली कामना छूट जाती है तब जैसे तुम अमरणधर्मा हो, वैसे ही रह जाते हो। मरणधर्मा बने हुए हो, राग हटते ही अमरणधर्मा हो जाओगे। 'भवति' से श्रुति कह रही है कि अमरणधर्मा होता है अर्थात् है तो अभी भी परन्तु 'अत्र' अर्थात् यहाँ जीते हुए ही ब्रह्म की प्राप्ति है। जिस 'अहं' के साथ एक होकर तुम अपने को दुर्बल समझ रहे हो उसी के स्वरूप को जानकर तुम्हारा अनुभव होगा 'मैं अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का नायक हूँ।' उस समय अनुभव का रूप होता है ''नारायणोऽहं नरकान्तकोहं'' मैं ही नारायण हूँ और मैंने ही नरकासुर को मारा है। अपनी सर्वरूपता का उस समय बोध होता है। वेद ने कहा है—'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' मैं ही मनुरूप में और मैं ही सूर्यरूप में हूँ। 'अत्र' अर्थात् जहाँ तुमने अपने उस 'अहं' को समझ रखा है वहीं पर ब्रह्मप्राप्ति होती है।

'उत्तिष्ठ परंतप'। इस प्रतीति को छोड़कर और कहीं चलना या जाना नहीं है, केवल खड़े हो जाओ। छान्दोग्य उपनिषद् कहती है 'तस्योदिति नाम' उत् अर्थात् ब्रह्म में स्थिर हो जाओ, जैसे यहाँ तुम अपने पैरों पर खड़े हुए हो वैसे ही तुम ब्रह्मरूप में स्थित हो जाओ। इसीलिये कहीं-कहीं परब्रह्म परमात्मा को 'तद्विष्णोः परमं पदं' विष्णु का परमपद कहा है। जो सबका अधिष्ठान है उसी की स्थिति है। उत्तिष्ठ अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। और कुछ करना नहीं है, पहले की प्रतीति को छोड़कर इस स्वरूप में स्थित हो जाना है।

तुम्हारे लिये यह कठिन नहीं है क्योंकि तुम 'भारत' हो। 'भा' अर्थात् ज्ञान में ही जो रत है अर्थात् जिसका अन्यत्र कहीं राग नहीं है, उसे भारत कहते हैं। हिन्दी में 'र' का 'ल' होकर 'लत' शब्द बनता है; हिन्दी में कहते हैं कि इसको अमुक चीज़ की लत पड़ गई है अर्थात् किसी प्रकार से वहाँ से हट नहीं सकता। ऐसे ही भारत अर्थात् ज्ञान में रति वाला। भगवान् अर्जुन को 'पार्थ' सम्बोधन से कहते हैं कि तू अपने को पृथा का बेटा समझ रहा है इसलिये क्षुद्र हृदय-दुर्बलता वाला बना है। तभी कह रहा है 'ये दादा और गुरु हैं; इन्हें कैसे मारूँ?' इस पार्थपने को छोड़ दे जो तुझे राग से प्राप्त है। तू 'भारत' है। इसलिये वास्तविक स्थिति को देख कि अधर्म पक्ष वालों के साथ क्या करना है? जब तक पार्थ रहेगा तब तक हृदय की दुर्बलता रहेगी। जब तू भारत बनेगा तब यह दुर्बलता कैसे रहेगी?

क्यों भारत है? क्योंकि तू परंतप है, परम तपस्या वाला है। पृथा से भरतकुल में उत्पन्न हुआ है। परन्तु इन सब सम्बन्धों से अतीत होने के लिये तू परंतप है, परम तप वाला है। अथवा जो दूसरों को तपा सकता है, दूसरों को जो कष्ट दे सकता है उसे भी परंतप कहते हैं। अपने से दूसरे कौन हैं? जो हमारा धन चुरा रहे हैं। राग-द्वेष ही तो हमारे धन को चुरा रहे हैं। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं कि जागो, ज्ञान-रत्न चुराने

वालों से बचो। तू है भारत, भरतकुल में उत्पन्न हुआ है। लेकिन अपने को पृथा का पुत्र ही मान कर हृदय की दुर्बलता वाला बना है। राग द्वेष तेरे सामने आये हैं। तू इन सबको जलाकर हटा दे, ये राग द्वेष दूसरे बने हुए हैं इसलिये इन सब राग-द्वेष आदि को जलाकर हटा दे। ये तेरा स्वरूप नहीं हैं। इन सब को नष्ट करना ही परम तपस्या है।

कोई कहता है माघ के महीने में प्रयाग में कल्पवास करना बड़ी तपस्या है। कोई कहता है एक महीने का चान्द्रायण व्रत करोगे तो बड़ी तपस्या है। कोई चारों तरफ आग जलाकर और ऊपर से धूप की गर्मी में खड़ा हो तो कहते हैं बड़ा तपस्वी है। भगवान् वेदव्यास तो कहते हैं ''मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः'' मन और इन्द्रियों को 'एक' में लगा देना ही परम तप है। 'एक' में अर्थात् जब तक तुम ध्यान करने वाले हो और किसी का ध्यान कर रहे हो तब तक एक कहाँ है! तब तक तो दो हैं। एकाग्रता का मतलब है दो न रहें। इस द्वैत को मिटा देना ही परम तप है। इन्द्रियों से उसका श्रवण और मन से उसका विचार करो। इतना ही नहीं, जब इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करें तब भी तुम उसको ग्रहण करो। ग्रहण तो अभी भी उसको करते हो लेकिन तपस्या नहीं होने से उधर ही ध्यान नहीं है। रात-दिन कहते हैं 'मेरा पुत्र है, घर है' आदि। पुत्र-घर आदि को स्पष्ट समझते हो, उनका पूरा विचार करते हो, लेकिन 'है' को समझने का किंचित् भी प्रयास नहीं करते। 'है' का अता-पता नहीं है। जितने व्यवहार करते हो उन सबमें 'है' है, परन्तु उस है कि तरफ ध्यान नहीं देते क्योंकि पुत्र आदि के प्रति राग है। 'है' की तरफ राग नहीं है। और यह 'है' ही ब्रह्म है। 'है' का विचार करोगे तब पता लगेगा कि पहले 'है' तब और कुछ। अगर 'है' नहीं तो कुछ नहीं है। कोई कहे 'हमारे सौ लड़के। परन्तु नहीं हैं।' जैसे इसका कोई मतलब नहीं है, वैसे ही 'है' है तो सबकी कीमत, नहीं है तो किसी की कोई कीमत नहीं। सबको सत्ता देने वाले, सबको मूल्यवान् बनाने वाले की तरफ ध्यान ही नहीं है। सब चीज़ों में है रहता है और है वह एक ही है। दो नहीं हैं। चाहे मन से विचार करो, चाहे इन्द्रियों से व्यवहार करो उस 'है' को पकड़ो, उसे आगे रखो। एक है आगे जिसके उसे 'एकाग्र' कहते हैं। एकाग्रता को भगवान् वेदव्यास ने परम तप कहा है।

भगवान् ने अर्जुन से परंतप कहा अर्थात् तू इस सब राग-द्वेष को हटाकर अपने स्वरूप को देखने में समर्थ है। परन्तु ऐसी सामर्थ्य वाला होकर हृदय की दुर्बलता से बँधा है। भगवान् ने अर्जुन से कहा था कि 'आगे महाभारत युद्ध होगा इसलिये भगवान् शङ्कर से पाशुपतास्त्र प्राप्त कर ले, आगे जरूरत पड़ेगी।' इसलिये भगवान् ने वनवास के समय उससे घोर तपस्या करवाई थी। अर्जुन घोर तपस्या करते हुए रहता था। भगवान् शङ्कर वहाँ किरात रूप लेकर आये। किरात जंगली जाति के लोग होते हैं। अर्जुन ने एक सूअर को बाण मारा। किरात का बाण भी उसी सूअर को लगा। शिकार का नियम है कि जिसका बाण पहले लगे शिकार उसी का होता है। किरात ने कहा 'मेरा बाण पहले लगा' और अर्जुन ने कहा 'मेरा पहले लगा। इसलिये यह शिकार मेरा है।' दोनों में युद्ध होने

लगा। अंत में अर्जुन ने भगवान् को उठाकर पटकने का प्रयास किया तो देखता है पूजा के समय उसने जो माला शिवजी को चढ़ाई थी वही उसकी गर्दन में पड़ी है। तब भगवान् से प्रार्थना की कि 'भूल हो गई'। भगवान् ने कहा कि 'कोई बात नहीं, मुझे पता है कि तू पाशुपतास्त्र चाहता है अतः तेरी योग्यता की परीक्षा के लिये यह लीला की। अगर तुम किसी को उठा लो तो उसकी गर्दन जल्दी नहीं दीखती। परन्तु तुम्हारी एकाग्रता ऐसी पूर्ण थी कि जैसे ही मुझे उठाया, गर्दन के अंदर पड़ी हुई माला देख ली।' जैसे कुछ भी काम कर रहे हो, शरीर के प्रति एकाग्रता नहीं जाती। चाहे जितनी खास चिट्ठी लिख रहे हो लेकिन चींटी ने कहाँ काटा उधर पूर्ण एकाग्रता होती है! अर्जुन को ऐसी पूर्ण एकाग्रता थी कि ऊपर उठाते हुए ही माला को देख लिया। ऐसी एकाग्रता वाला ही अस्त्र को प्राप्त कर सकता है। तब भगवान् शंकर ने उसे पाशुपतास्त्र दिया। संस्कृत में इसी कथानक पर 'किरातार्जुनीयम्' एक काव्य भी है।

इसी प्रकार हम भी जब सब कुछ करते हुए उस एक 'है' को देखते हैं तब एकाग्रता होती है। सारे पदार्थ उस 'है' के ऊपर अधिष्ठित हैं, उसी पर अध्यस्त हैं। इसलिये उन सब से व्यवहार करते हुए उस अधिष्ठान से दृष्टि न हटे यह परम तप है।

किन्तु अर्जुन की स्थिति ऐसी हो गई है कि उसके अंदर पृथा वाला संबंध प्रधान हो गया है जिससे वह 'भीष्म द्रोण दुष्ट का पक्ष ले रहे हैं' इसे नहीं देख रहा है। भगवान् ने कहा, 'इसलिये तुम पार्थभाव को छोड़कर अपने मूल भारतभाव को लेकर परम तप कर सकते हो। राग आदि को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ'।।३।।

अर्जुन के विषाद के द्वारा त्रस्त हो जाने पर भगवान् ने दो श्लोकों में उसकी समस्या को वास्तविक रूप में बता दिया : 'वास्तविक समस्या यह है कि तुमको धर्म में अधर्म का और अधर्म में धर्म का भ्रम हो रहा है। और उसका मूल कारण है कि आत्मा को अनात्मा और अनात्मा को आत्मा समझ रहे हो।' इस प्रकार भगवान् ने संक्षेप में अपने जवाब को बता दिया। इसी बात का आगे गीता में विस्तार करना है। हमारे यहाँ प्राचीन ढंग यह है कि पहले मूल चीज़ों को संक्षेप में समझा देते हैं फिर उस संक्षेप का विस्तार करते हैं और अंत में फिर संक्षिप्त वाक्य में उसका निगमन करते हैं। यह अपने शास्त्रों की प्रणाली है क्योंकि जैसा आचार्य शंकर कहते हैं कि संक्षेप और विस्तार से समझाने पर मनुष्य को बात पक्की समझ आ जाती है। प्रायः जब कभी लोग हमारे वेदान्त ग्रन्थों को देखते हैं तो पहली बात सुनकर लोगों को बहुत डर लगता है। इसलिये कहा जाता है कि वेदान्त का सिर शेर का है, देखते ही बड़ा डर लगता है। और वेदान्त का हृदय बकरी का है। हृदय के अन्दर वह बड़ा नरम है। परन्तु उसका मुख शेर का है। अन्य शास्त्रों में ठीक इसके विपरीत उनका मुख बकरी का है, दीखता बड़ा अच्छा है, परन्तु हृदय शेर का होता है। हृदय से वे चाहते हैं कि तुम्हें आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति न हो। वे हमेशा संसार की वास्तविकता के सहारे से तुम्हें भ्रम में डालते हैं। राग वाले को इसलिये

वेदान्त भयंकर लगता है क्योंकि वह सारी भ्रम की चीज़ों को नोचकर फैंक देगा। परन्तु वह वस्तुतः राग को दूर करके तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति के मार्ग में ले जाता है। तुमको जो यह भ्रम है कि तुम्हारे राग की चीज़ बनी रहे इस भ्रम को वह हटाता है। जब तक राग रहता है तब तक वह शेर की तरह भयंकर लगता है। परन्तु जब राग दूर हो जाता है तब पता लगता है कि इस राग के कारण ही हम इस संसार से बँधे हुए थे। संक्षेप से चूँकि सत्य को समझाया जाता है इसलिये वह भयंकर लगता है और जब विस्तार से समझाते हैं कि 'तुम जो अपने को समझ रहे हो वह तुम नहीं हो।' तब चूँकि यह तुम्हारी वास्तविकता का वर्णन है इसलिये तुमको वह चीज ठीक लगती है। अंत में निगमन करके बता देते हैं कि यही हमारा तात्पर्य है। संक्षेप से कहने पर बात समझ में नहीं आती इसलिये विस्तार से बताते हैं। समझ में बात नहीं आई यह बात शिष्य के प्रश्न से या उसके संशय से स्पष्ट होती है। उन संदेहों को हटाने के लिये ही विस्तार है। कहीं यह बात शिष्य मुख से कहता है। कई बार शिष्य मुख से नहीं भी कहता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि शिष्य के मुख को देखने से 'यह बात इसकी समझ में नहीं आई' इसको समझना गुरु की विशेषता है। अतः 'ऊहापोहविचक्षणः' गुरु को कहा है। गुरु शिष्य के मुख को देखकर उसके वास्तविक भाव को समझता है। पहले तो ऊह से समझना पड़ता है कि शिष्य क्या कहना चाहता है। कई बार शिष्य कहता है लेकिन बात स्पष्ट नहीं कर पाता। फिर उस संशय को हटाने की योग्यता भी गुरु में होनी चाहिये।

भगवान् की बात सुनकर भी अर्जुन को अपना अविवेक स्पष्ट नहीं हुआ अतः मानो भगवान् को अपना तात्पर्य समझाते हुए उसने कहा—

अर्जुन उवाच
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

मधु-नामक राक्षस तथा अन्य दुश्मनों को नष्ट करने वाले कृष्ण! पूजा के योग्य जो भीष्म और द्रोण उनसे में संग्राम में बाणों से लडूँ, यह कैसे हो पायेगा!

भगवान् ने कहा था कि यह हृदय की दुर्बलता है। अर्जुन कहता है 'हृदय की दुर्बलता के कारण लड़ना नहीं चाहता ऐसी बात नहीं है वरन् लड़ना नहीं चाहिये। इसका कारण सामने खड़े हुओं को देखना है। सामने दादा हैं, गुरु हैं। उनके साथ बाणों से कैसे युद्ध करूँ? वे पूजा के योग्य हैं, उन्हें मैं बाणों से कैसे बींधू? युद्ध के अंदर जब ये बाण मारेंगे तब जो पूजा के योग्य हैं उनको मुझे बाण मारने पड़ेंगे। मैंने कहा था कि ये मुझे मार दें तो हर्ज़ा नहीं है। मैं इनके वारों के बदले में इनके ऊपर बाण कैसे चलाऊँ?' है तो यह हृदय की दुर्बलता लेकिन अर्जुन इसको नहीं समझ रहा है।

इस श्लोक में भगवान् के लिये दो सम्बोधन दिये हैं—मधुसूदन और अरिसूदन। अर्जुन भगवान् से कहा रहा है कि आपने मधु राक्षस को मारा। वह राक्षस था इसलिये आपने उसे मारा यह ठीक है। ये तो मेरे दादा हैं, गुरु हैं, पूज्य हैं, दुश्मन नहीं हैं।

आप जो हृदय की दुर्बलता की बात कह रहे हैं, वह नहीं है। इनको मारकर मुझे क्या मिलेगा! इसलिये यह हृदय की दुर्बलता नहीं है। मार सकता हूँ पर नहीं मारूँगा। हृदय की दुर्बलता वहाँ होती है जहाँ मनुष्य सोचता है कि इस कार्य को करने से मुझे मेरे राग का विषय नहीं मिलेगा। मुझे इस की शंका नहीं है। आप खुद जानते हैं कि थोड़े दिन पहले ही विराट् नगर में ये सब आये हुए थे। मैंने उन्हें बेहोश कर दिया था, उनके कपड़े तक उतार दिये थे और उत्तरा को दे दिये थे। मैं चाहता तो इन्हें मार सकता था।

इस बात को अर्जुन भी जानता है और भीष्म द्रोण भी जानते हैं। कर्ण भले ही नहीं समझता था। युद्ध के प्रारम्भ में दुर्योधन ने यह प्रश्न किया था कि 'ग्यारह अक्षौहिणी सेना अपने पास है और सात अक्षौहिणी पाण्डवों के पास है। क्या कोई ऐसा योद्धा है जो अकेले अठारहों अक्षौहिणी से इकट्ठा लड़ सके?' तब भीष्म ने कहा था कि 'अब तो मैं बुड्ढा हो गया हूँ लेकिन एक दिन में सूर्योदय से सूर्यास्त तक के समय में मैं अठारहों अक्षौहिणी सेना को अकेले मार सकता हूँ। तीन दिन तक युद्ध करें तो द्रोण मार सकते हैं। और अर्जुन एक क्षण में मार सकता है।' दुर्योधन ने पूछा 'फिर युद्ध चलेगा कैसे?' तब भीष्म ने कहा कि 'युद्ध तो युद्ध के नियमों से होता है। परन्तु यदि सामर्थ्य की बात करते हो तो अर्जुन के पास जो पाशुपतास्त्र है वह उसके बल से अठारह अक्षौहिणी को मार सकता है। और भगवान् तो सङ्कल्पमात्र से सारे ब्रह्माण्ड को प्रलय कर सकते हैं। परन्तु न भगवान् ऐसी प्रलय करेंगे और न अर्जुन पाशुपतास्त्र का प्रयोग करेगा और न हम अपने पूरे बल से युद्ध करेंगे क्योंकि युद्ध तो नियम से होगा।' इसलिये इस बात को भीष्म द्रोण जानते थे कि अर्जुन के पास शक्ति है और वह जीत जायेगा। और अर्जुन स्वयं जानता था इसमें कहना ही क्या है।।४।।

परन्तु प्रश्न यह है कि युद्ध करके जीत कर मुझे मिलेगा क्या?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

महानुभाव गुरुओं को न मार कर यदि भीख माँगकर भी शरीर चलाना पड़े तो बेहतर है। गुरुओं को मारकर तो इह लोक में केवल अर्थ और काम ही मिलेंगे और जो भोग हम भोगेंगे वे इनके खून से ही सने होंगे।

'लड़कर जीतने से मेरा प्रयोजन मुझे मिल जायेगा, राज्य मिल जायेगा, दुर्योधन आदि

मर जायेंगे। लेकिन मुझे जिस राज्य की प्राप्ति होगी, जिस अर्थ और काम की प्राप्ति होगी वह सब उनके खून से भीगा होगा। इसलिये मुझे इन्हें मारकर प्रसन्नता नहीं होगी। राज्य अर्थात् अर्थ और काम प्राप्त करके मुझे यहाँ पूर्ण आयु तक, सौ वर्षों तक उन भोगों की प्राप्ति होगी लेकिन परलोक बिगड़ जायेगा और इन्हें मारने से कोई मोक्ष तो मिल नहीं जायेगा। इसलिये मेरा प्रश्न धर्म-विषयक है, औचित्य-विषयक है। धर्म वहीं से शुरू होता है जब यहाँ के बाद का प्रश्न हो। यहाँ कोई चीज़ सुख देगी—इतने मात्र से ''यहाँ के बाद को भूल जाना'' यह धार्मिक कभी नहीं कर सकता। यहाँ भी मुझे सुख मिलने वाला नहीं है, बाद में भी मन में यही होगा कि मैंने यह राज्य अनुचित ढंग से प्राप्त किया। धार्मिक पुरुष अनुचित ढंग से किसी चीज का भोग करता है तो मन में दुःख होता है कि मैंने उचित ढंग से प्राप्त नहीं किया। भोग भी नित्य नहीं है। इसलिये नित्यानित्य को मैं समझ रहा हूँ। ''महानुभावान्''; ठीक है कि ये लोग कारणविशेष से दुष्टों को साथ दे रहे हैं लेकिन हैं तो ये महानुभाव। लोक में भी किसी कारण से यदि कोई महान् व्यक्ति कोई गलत कार्य भी करता है तो उसकी महत्ता कम नहीं हो जाती। ये ऐसे महानुभाव और पूज्य लोग हैं जिन्हें मारकर मुझे रुधिर से सने भोग मिलेंगे।

हो सकता है कि आप पूछें कि 'गुजारा कैसे होगा?' आजकल सभी का प्रश्न होता है : अमुक गलत काम नहीं करेंगे या अदालत में झूठ नहीं बोलेंगे तो संसार का काम कैसे चलेगा? हम गलत काम करना तो नहीं चाहते लेकिन झूठ बोलना पड़ता है। घूस देकर काम कराना पड़ता है, चाहते हम नहीं हैं। गृहस्थ हैं, हमें सब चीज़ों की ज़रूरत है। अर्जुन इस सवाल का जवाब देता है—'यह कार्य न करने पर मुझे भीख माँग कर गुजारा करना पड़े तो भी अच्छा है। ऐसे महानुभावों को मार कर, अधर्म का आचरण कर मिले हुए भोगों को भोगते समय दृष्टि रहेगी कि मुझे गलत काम करके मिला है। हमेशा यह मन में रहेगा तो सुख नहीं, दुःख और ग्लानि ही बने रहेंगे। इसलिये गुजारा चलाने के लिये भिक्षा माँगना ही बेहतर है।' इस लोक में श्री की प्राप्ति की अपेक्षा यह श्रेय है। अर्थ, काम सभी श्री है। इससे बेहतर अर्थात् रुधिर से सने भोगों की अपेक्षा भीख माँग कर गुजारा चलाना ठीक है।

यहाँ 'इह' पद दो बार आया है—'गुरून् इहैव' और 'भैक्ष्यं भोक्तुं अपि इह'। अर्जुन का भाव है 'यहाँ तो भीख माँग कर गुजारा चलाऊँगा, लेकिन यह संतोष रहेगा कि इसी लोक में हमने इन भोगों के लिये कोई गलत कार्य तो नहीं किया।' सौ साल निकलने में देरी ही क्या लगती है! यदि पाप कर्म कर भी लिया तो पाप कर्म से प्राप्त किये हुए अर्थ-काम यहीं रह जायेंगे। पाप की गठरी बाँध कर आगे ले जायेंगे। औरंगजेब अपनी रोज़मर्रा की बातें रोज़नामचे में लिखता था। वह हैदराबाद में मरा था। उस रोज़नामचे में अंतिम दिनों में वह लिखता है कि 'पापों के बोझ से केवल मेरी कमर ही नहीं झुक गई है, उन पापों के बोझ से मेरी आत्मा भी कुबड़ी हो गई है।' उसने रुधिर-प्रदिग्ध भोग भोगे

थे। उसके मन में भी आया कि अब जब यहाँ से जा रहा हूँ तो पापों की गठरी के सिवाय क्या ले जा रहा हूँ? राज्य यहीं रह जायेगा। 'ऐसा ही हाल मेरा भी होगा', यह अर्जुन कह रहा है। अतः युद्ध न करना ही बेहतर है। यहाँ तो गुज़ारा जैसे-तैसे हो जायेगा लेकिन आगे पाप की गठरी नहीं जायेगी। इसलिये यहाँ 'इह' पद का प्रयोग दो बार किया।।५।।

क्षत्रियों के लिये स्वधर्म होने से युद्ध करना उचित है। लेकिन अर्जुन कहता है कि यही संदिग्ध है कि युद्ध बेहतर है या भीख माँगकर गुज़ारा निकालना–

न चैतद्विद्मः करतन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामः
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

हमें मालूम नहीं कि भिक्षावृत्ति और युद्ध में से इस परिस्थिति में हमारे लिये क्या बेहतर है। हमें यह भी पता नहीं कि क्या बेहतर है–हम जीतें या जीत लिये जायें? जिन्हें मारकर हम जीना ही नहीं चाहते हैं वे ही धृतराष्ट्र-संबंधी लोग युद्ध के लिये तैयार हो सामने खड़े हैं।

धृतराष्ट्र की तरफ से जो लोग युद्ध करने आये हैं वे कौन हैं? किनके लिये आदमी सब काम करता है? अपने पूज्यों को प्रसन्न करने के लिये ही आदमी सब काम करता है। उनके मरने से हमको लगता है कि हम मर गये होते तो अच्छा था। प्रायः ऐसा होता है कि यदि कोई प्रिय मर जाये या बेटा मर जाये तो माँ छाती पीट कर कहती है कि 'मैं मर गई होती तो अच्छा था।' ठीक इसी प्रकार, जिनके मरने पर हम जीना भी नहीं चाहते, लगता है हम मर गये होते तो अच्छा था, ऐसे लोग धृतराष्ट्र की तरफ के प्रमुख योद्धा हैं। कौरवों में भीष्म-द्रोणादि जो प्रधान हैं उन्हीं को मारना अर्जुन को बुरा लग रहा है। बाकी दुर्योधन दुःशासन आदि को ही मारना होता तो इतना बुरा न लगता। किन्तु भीष्मादि को मारे बिना अन्यों से लड़ना संभव नहीं। दूसरी तरफ, अर्जुन सोच रहा है 'युद्ध करके नहीं जीतते हैं तो जिस द्रौपदी ने कहा था 'बाकी जो भी हो, यह याद रखना कि मेरे बाल तब तक नहीं सँवरेंगे जब तक दुःशासन का खून इनमें नहीं लगेगा।' उसके बालों में खून नहीं लगेगा तो अपने पक्ष के लोग सब दुःखी हो जायेंगे। इनको दुःखी करूँ या पूजा-योग्यों को मारूँ? एक तरफ गड्ढा है तो दूसरी तरफ आग है। इनको मारता हूँ तो आग की तरह जलता रहूँगा कि मैंने कैसा पाप करके राज्य प्राप्त किया। नहीं मारूँगा तो गड्ढा है कि द्रौपदी आदि ने मेरे भरोसे ही सारा वनवासादि दुःख झेला, वे सब हताश हो जायेंगे। इस प्रकार मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा है कि इन दोनों में कौन-सी चीज़ बेहतर है।' युद्ध करने न करने से बहुत कुछ जुड़ा है, उस सबके बारे में अर्जुन की दुविधा है।

कुछ लोगों ने यहाँ अर्जुन के मन में संदेह द्योतित माना है कि हम जीतेंगे या नहीं।

परन्तु वस्तुतः यह संदेह नहीं है। वह तो यह कह रहा है कि युद्ध करके जीतूंगा तो भी दुःख मुझे है क्योंकि पूज्यों को मारने से मन हमेशा सालता रहेगा। युद्ध न करके रह जाऊँ तो मेरे साथ वाले सब हताश हो जायेंगे। इसलिये भी मुझे दुःख ही होगा।।६।।

इस असमंजस की स्थिति में उसे सब पक्षों में दोष दीखा अतः सभी ओर से विरक्त हो वह शिष्यभाव से अपने कल्याण की जिज्ञासा करता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्याद् निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं।।७।।

कृपणता (दीनता) से दूषित चित्तवाला और धर्म-विषयक विवेक न करने वाला मैं आप से पूछ रहा हूँ, जो निश्चित श्रेयस् हो वह मुझे बताइये। मैं आपकी शरण आया शिष्य हूँ, मुझे उपदेश दीजिये।

अर्जुन समझ गया है कि इस समय उसका चित्त स्वाभाविक स्थिति में नहीं है। वह कहता है कि मेरा स्वभाव है 'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनं' कि मैं न दीन बनूँ और न युद्ध से पलायन करूँ। यदि युद्ध नहीं करता तो भी पलायन ही है, जो मेरा स्वभाव नहीं है। परन्तु युद्ध करके जीत कर भी दीनता ही रहेगी क्योंकि पूज्यों को मार गिराना भी मेरे स्वभाव से विरुद्ध है। हमेशा ग्लानि रहेगी कि ऐसा काम कैसे किया? इसी कारण कार्पण्य दोष से मेरा स्वभाव दब गया है। कृपणता का मतलब होता है—कंजूसी अर्थात् न मुझे इधर के राग को छोड़ने की इच्छा हो रही है और न उधर के राग को छोड़ने की। भीष्म द्रोण की रक्षा करूँ—यह भी राग है, युधिष्ठिर आदि की रक्षा करूँ—यह राग है ही, मैं दोनों को नहीं छोड़ना चाहता। मेरा स्वभाव उपहत हो गया है इसलिये आपको पूछता हूँ। आप कहेंगे कि एक तरफ का राग छोड़ना पड़ेगा; तो बताइये, किस तरफ का छोड़ूं? धर्म के विषय में मेरी यह समस्या है कि कौन-सा छोड़ने की ज़रूरत है? जो मेरे आश्रित हैं उनकी रक्षा करना उचित है या जो पूज्य हैं उन्हें न मारकर उनसे हार जाना श्रेष्ठ है? यह धर्म-सम्मूढता है। जो सचमुच श्रेय वाली चीज़ है, दोनों में से बेहतर है उसे निश्चित करके कहिये। आप केवल दोनों पक्षों के गुण दोष सुनाकर किनारे मत हो जाइये वरन् निश्चितकर यह बताईये कि दोनों में से कौन-सा उचिततर है। इस समय मैं शिष्य-भाव से पूछ रहा हूँ इसलिये जो ठीक चीज़ हो वह बताईये। मैं आपकी शरण में हूँ।

प्रपत्ति अर्थात् यह निश्चय कि जो गुरु कहे वैसा ही करना है; उसमें अपनी बुद्धि लगायेगा तो वह प्रपन्न नहीं है। 'मैं प्रपन्न हूँ इसलिये उपदेश का अधिकारी हूँ।' इन दोनों शब्दों से गीताशास्त्र का अधिकारी बता दिया कि जो प्रपन्न हो और जिसमें शिष्य-भाव हो वह गीताशास्त्र का अधिकारी है। जहाँ केवल 'यह करो' यह कहा जाता है वहाँ 'शास'

(शाधि) शब्द का प्रयोग होता है। दो तरह का उपदेश होता है : सामान्य उपदेश अर्थात् सामान्य नियम बता देना। और विशेषतः निर्धारित कर कर्तव्य बता देना। विशेष उपदेश का अधिकारी शिष्य होता है। तुम शिव जी का पूजन करो।—यह शिष्य को उपदेश है। किसी भी रूप में भगवान् की पूजा करो, कल्याणकारी है—यह सामान्य उपदेश है। जब तक प्रष्टा में शिष्य-भाव न हो, वक्ता भी गुरुभाव से विशेष उपदेश नहीं देता। यहाँ अर्जुन सामान्य के बजाये विशेष उपदेश चाह रहा है कि भगवान् निश्चित कर उसे उसका हितोपाय बता दें। विशेष उपदेशका भी औचित्य तो समझाया ही जायेगा अतः तदंगतया सामान्य उपदेश भी मिल ही जायेगा यह भाव है।।७।।

अर्जुन अपने असमंजस की स्थिति बताते हुए प्रश्न का उपसंहार करता है—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

पृथ्वी पर शत्रुहीन सम्पन्न राज्य पाकर या देवताओं का अधिपति बनकर भी मुझे ऐसा कोई उपाय नहीं सूझ रहा जो इन्द्रियों को सुखा डालने वाले मेरे शोक को उन्मूलित कर दे।

अर्जुन कह चुका है कि जो श्रेय हो वह बताईये। अतः अब कह रहा है कि 'केवल स्वर्ग आदि की प्राप्ति का रास्ता मत बता दीजियेगा। यह तो मैं भी जानता हूँ कि युद्ध के मैदान में सामने से बाण खाकर मरने वाला स्वर्ग लोक में जाता है और युद्ध के अंदर पीठ दिखा कर भागने वाला नरक लोक को जाता है। परन्तु दोनों में से कुछ भी करने से मेरे मन का शोक दूर नहीं होगा। मुझे उस शोक को दूर करने का उपाय बताईये। सामान्य धर्म बताने से काम नहीं चलेगा। सामान्य धर्म है कि ऐसे पूज्यों के विरोध का कार्य छोड़ देना चाहिये; और जो अपने आश्रित हैं उनकी व्यवस्था करना भी कर्त्तव्य है। मनु महाराज कहते हैं कि नहीं करने लायक सौ काम करके भी अपने बाल बच्चों की रक्षा करना धर्म है। पूज्यों की प्रसन्नता का ध्यान रखना चाहिये, यह भी सामान्य धर्म है। इन दोनों में से श्रेय अर्थात् कल्याण का मार्ग कौन-सा है—यह मुझे समझ में नहीं आ रहा है। ''पश्यामि'' अर्थात् दोनों रास्तों को देख तो रहा हूँ लेकिन ''न हि प्रपश्यामि'' दोनों में से भली प्रकार से कल्याण का कौन-सा रास्ता है, यह प्रकर्ष पूर्वक नहीं देख पा रहा हूँ। मेरा शोक तो यहाँ तक हैं कि वह इन्द्रियों को सुखा रहा है।' अत्यधिक दुःख होने पर केवल मन का शोक नहीं रह जाता। आँखें जलने लगती हैं।

'मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं। मुख सूख रहा है। मेरी सारी इन्द्रियों का शोक किससे हटेगा? सामान्य उपदेश से तो नहीं हटेगा। विशेष उपदेश से ही यह काम होगा। अब मुझे जहाँ मेरा कोई दुश्मन न हो और जहाँ पूर्ण समृद्धि हो, ऐसी सारी पृथ्वी का राज्य मिल

जायेगा तो भी मेरा यह शोक नहीं जायेगा।' चाहे जितना बड़ा राज्य हो, यदि दुश्मन बना रहे तो शोक बना रहता है। कोई दुश्मन नहीं हो लेकिन राज्य में समृद्धि नहीं हो, जैसे अफ्रीका में कई देश आजाद तो हो गये हैं लेकिन लोग वहाँ भूखे मर रहे हैं, तो भी शोक बना ही रहता है। 'इतना ही नहीं, मुझे इन्द्र का राज्य मिल जाये, तो भी मेरा शोक दूर होने वाला नहीं है।'

आजकल लोग कहते हैं कि अर्जुन ने तो केवल यह पूछा था कि 'मैं लड़ूं या न लड़ूं'—और भगवान् आत्मज्ञान का उपदेश देने लगे! यह संगत नहीं, अतः यह बात बाद में जोड़ी गई है। परन्तु अर्जुन के इस वाक्य से स्पष्ट है कि अर्जुन का प्रश्न धर्म-विषयक नहीं है क्योंकि धर्म से स्वर्ग तक की ही प्राप्ति होगी यह वह जानता है। उसका प्रश्न है 'मेरा शोक-मोह कैसे निवृत्त होगा?' यही अर्जुन का प्रश्न है और उसके लिये ही भगवान् का उपदेश है। न अर्जुन सामान्य जवाब चाहता है और न भगवान् ने उसके प्रश्न का सामान्य उत्तर दिया है। क्योंकि धर्म से तो स्वर्ग ही मिल सकता है और इस लोक में सार्वभौम राजा हो सकता है लेकिन ऐसे इहलोक और परलोक की प्राप्ति से शोक-मोह निवृत्त नहीं होगा। इसलिये जो लोग आक्षेप करते हैं कि भगवान् ने इतना लम्बा-चौड़ा आत्मज्ञान का उपदेश व्यर्थ दिया और उसे अर्जुन पर जबर्दस्ती थोप दिया, उनकी धारण की गलती अर्जुन के इस वाक्य से प्रकट हो जाती है। जब अर्जुन स्वयं कह रहा है 'मुझे भोगों को गिनाना नहीं, मैं तो केवल शोक-मोह की निवृत्ति चाहता हूँ।' चूँकि शोक-मोह की निवृत्ति धर्म से नहीं हो सकती, वह तो केवल आत्मज्ञान से हो सकती है, इसलिये भगवान् शुरू में ही आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करने में प्रवृत्त हुए।

इस ज्ञान की प्राप्ति के प्रारंभिक अंग हैं विवेकादि। इनमें विवेक का वर्णन पूर्व में कर आये हैं। यहाँ दूसरा अंग इहामुत्रार्थ-फलभोगविराग को बता दिया कि यहीं राज्य-प्राप्ति और मरकर स्वर्गप्राप्ति इन दोनों लोकों के भोगों से अर्जुन को वैराग्य है। इस प्रकार विवेक और वैराग्य दोनों साधन बता दिये। इसलिये वेदान्त शास्त्र में प्रवेश के लिये अर्जुन को अधिकार प्राप्त है। उसने कहा कि 'मैं श्रेय चाहता हूँ' इसलिये मुमुक्षा भी है। वैराग्य के कारण शम, दम आदि भी हैं ही। इस प्रकार चारों साधनों को बताकर अर्जुन की अधिकारिता को बता दिया और वह आत्मज्ञान का ही अधिकारी है यह बात 'प्रपन्न शिष्य' कहने से ही स्पष्ट हो गई।।८।।

अर्जुन के प्रश्न का समापन और भगवान् के प्रतिवचन का प्रारंभ बताते हुए संजय ने कहा।

संजय उवाच
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

परंतप गुडाकेश ने हृषीकेश से पूर्वोक्त बातें कहकर फिर गोविंद से यह कहकर चुप हो गया 'नहीं लड़ूंगा।'

हृषीक अर्थात् इन्द्रियाँ, उनके नियामक भगवान् हैं इसलिये उन्हें हृषीकेश कहते हैं। 'मैं प्रपन्न हूँ; आप हमारी इन इन्द्रियों के मालिक हमेशा हैं मेरी यह शरणागति इन्द्रियों की शरणागति नहीं है क्योंकि इनके तो हमेशा ही आप मालिक हैं। यह प्रपत्ति मेरे अहं की प्रपत्ति है।' संजय अर्जुन का भाव बताना चाहता है कि मन का सोचना, इन्द्रियों का व्यवहार आदि सब तो तुम्हारे प्रारब्ध के अनुरूप होते हैं, वह सब ईश्वर ही करता है। ऐसी बात नहीं है कि तुम जो चाहो करो। तुम तो वही कर सकते हो जो भगवान् तुम से करवाना चाहते हैं। वह जो कराना चाहता है वह मैं करना नहीं चाहता और वह जो नहीं कराना चाहता है वह मैं करना चाहता हूँ। होगी तो हमेशा उसकी ही इच्छा पूर्ण क्योंकि सारी इन्द्रियों का अधिपति वही है। इसलिये प्रपत्ति यह करनी है कि अपना यह विपरीत आग्रह छोड़ें। अभी हम सोचते हैं कि हमारे मन का कार्य नहीं हुआ तो बुरा हुआ। मारवाड़ी किसी के मरने पर चिट्ठी में लिखता है कि 'ठाकुर जी खोटो कियो।' प्रपन्न कहता है कि भगवान् ने जो किया है वह ठीक ही किया है। उनका कोई काम कभी खोटा नहीं होता है। मेरा सोचना गलत है। प्रपत्ति का यह मतलब है। अभी हम इंद्रियों के प्रपन्न हैं, उनकी पसंद के अनुसार चलते हैं। ईश्वर के प्रपन्न होना अर्थात् उसकी इच्छा के अनुसार चलना, उसे जो अच्छा लगे उसे अपनी पसंद बनाना।

अर्जुन के लिये दो विशेषण कहे 'गुडाकेश' और 'परंतप'। गुडाका का अर्थ नींद है। अर्जुन नींद का अधिपति है अर्थात् जब चाहे सो जाये, जब चाहे न सोये। चाहे तो कई दिनों तक न सोये। इसलिये गुडाकेश है। अतः अप्रमादी है। नींद में अर्थात् रात्रि में ही मनुष्य प्रमाद करता है। परंतप का अर्थ तीसरे श्लोक में बता दिया था कि वह दुश्मनों को खत्म करने वाला है। इसलिये आन्तरिक दुश्मनों को खत्म करने वाला होने से शम-दम गुण सम्पन्न है। वह चाहेगा तो मन सोचेगा, चाहेगा तो इन्द्रियाँ प्रवृत्ति करेंगी। अन्यथा न सोचेगा और न प्रवृत्ति करेगा। उसमें प्रमाद नहीं है। और बाह्य दुश्मनों को मारने में समर्थ है इसमें कहना ही क्या है! ऐसा गुडाकेश और परंतप कह रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा। यह बात मैं कोई घबड़ा कर और प्रमादी होकर नहीं कह रहा हूँ, खूब विचारपूर्वक कह रहा हूँ, असामर्थ्य से नहीं कह रहा हूँ। उसका तो एकमात्र कारण है कि मैं शोक की निवृत्ति का उपाय जानना चाहता हूँ। 'युद्ध करके मेरी शोक-निवृत्ति होगी यह भी हो सकता है, परन्तु अभी तो श्रेष्ठ लगता है कि युद्ध न करूं।'

'गो' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। एक अर्थ इन्द्रियाँ हैं जो हृषीकेश से कह दिया। दूसरा अर्थ ज्ञान होता है। अर्थात् 'ज्ञान के द्वारा एकमात्र आप ही प्राप्त करने के योग्य हैं इसलिये ज्ञान के लिये आपकी शरण में आया हूँ।' यह कहकर अर्जुन चुप हो गया। जो कहना था वह सब कह दिया, इसलिये अब चुप हो गया। उसकी बात का जवाब अब

भगवान् देंगे।।६।।

जब अर्जुन ने भगवान् की शिष्यरूप से शरण ली और शरण लेकर वह उनके प्रपन्न हुआ उसके बाद उसने अपना भाव भी प्रकट किया कि 'मैं तो युद्ध नहीं करूँगा।' इस प्रकार उसका शोक प्रकट हुआ। अर्जुन के शोक के दो कारण हैं–सामान्य कारण और विशेष कारण। सामान्य का मतलब होता है जो सबको होता है। विशेष उसको कहते हैं जो उसको है और उसके जैसे कुछ को है परन्तु सबको नहीं है। यह इसलिये स्पष्ट करते हैं कि वर्तमान काल में हिन्दी के अन्दर 'सामान्य' शब्द का दो भिन्न अर्थों में प्रयोग होने लगा है। साधारण और स्वाभाविक दोनों के लिये हिन्दी में 'सामान्य' शब्द का प्रयोग करते हैं। यहाँ सामान्य का अर्थ 'साधारण' है। शोक का सामान्य कारण अर्थात् जीवमात्र में जो शोक का कारण रहता है। विशेष कारण वह जो किसी परिस्थिति में होता है। जैसे मेरी माँ मर गई और उसका मुझे शोक है। माँ के मरने का मुझे शोक है परन्तु जिसकी माँ ज़िन्दा है, उसको वह शोक नहीं है। यह विशेष है। सामान्य शोक वह है जो सबके अंदर हमेशा है ही। शोक का सामान्य कारण है जड और चेतन का एक-दूसरे में अध्यास। शरीर अर्थात् स्थूल शरीर जो हमको दिखाई देता है। मन अर्थात् सूक्ष्म शरीर जो हमको दिखाई तो नहीं देता परन्तु जिसका कार्य हमें दिखाई देता है। जैसे मोटर कार का एक वह शरीर है जो हम लोगों को सब समय दिखाई देता है और एक उसका वह यन्त्र है जिसके कारण वह चलती है। जो बाहर से दिखाई देता है वह स्थूल शरीर है। मोटर को चलाने वाला यन्त्र उसका सूक्ष्म शरीर है। कई बार आदमी को धोखा हो जाता है।

एक बार दो बच्चों ने एक मोटर खरीदी। कई साल पहले की बात है। हमें बड़े प्रेम से चिट्ठी लिखी कि उन्हें पाँच हजार रुपयों में मोटर मिल गई और बहुत बढ़िया मोटर है। बड़े खुश हुए। कुछ समय बाद जब मिले तो हमने पूछा कि मोटर ठीक तो चल रही है? हूँ-हाँ करने लगे कि खरीदने के बाद चली नहीं। दो तीन बार ठीक कराई। मरम्मत कराने में बीस हजार रुपये खर्च हो गये। लेकिन ठीक से चली नहीं। ऐसा धोखा क्यों खाया? मोटर का स्थूल शरीर तो बिल्कुल ठीक था। उसकी चमक दमक देख कर खरीद ली क्योंकि बच्चे थे। समझदार लोग पहले मोटर को चलाकर परीक्षा करते हैं। बाहर का दरवाजा ठीक नहीं भी है लेकिन चलती ठीक है तो भी खरीद लेते हैं। जो उसको चलाने वाला यन्त्र है उसका पता क्रिया से लगता है। जैसे स्थूल शरीर को देखकर पता लग जाता है ऐसे सूक्ष्म शरीर को देखकर पता नहीं चल सकता। अगर उसे खोलकर भी देखोगे तो इंजन ठीक दीखेगा परन्तु वह ठीक चलता है या नहीं–यह परीक्षा देखकर नहीं, चलाकर ही हो सकती है।

ठीक इसी प्रकार एक तो हमारा यह स्थूल शरीर है जो हमें आँख से दीखता है। दूसरा इसमें सूक्ष्म शरीर है जो इसको चलाता है। ये स्थूल और सूक्ष्म शरीर स्वरूप से जड हैं। इनको कहीं-न-कहीं से शक्ति चाहिये तब क्रिया करेंगे। जैसे मोटर में चाहे पैट्रोल या

डीजल डालो अथवा जैसे कुछ देशों में होता है, सूर्यकिरणों की बिजली डालो; हर हालत में मोटर का स्थूल सूक्ष्म शरीर चाहे जितना बढ़िया है लेकिन जब तक इन्हें ऊर्जा देने वाली चीज़ नहीं होगी तब तक ये कुछ काम नहीं कर सकते। ऊर्जा मोटर नहीं और मोटर ऊर्जा नहीं है। ठीक इसी प्रकार हमारे जो स्थूल सूक्ष्म शरीर हैं इनको चलाने वाली ऊर्जा आत्मा में है। वह आत्मा इसमें जिससे शक्ति देती है उसको माया कहो, अज्ञान या अविद्या कुछ भी कह सकते हो। स्थूल सूक्ष्म को चेतन समझ लेना और चेतन को स्थूल सूक्ष्म समझ लेना—यह अन्योन्याध्यास प्राणिमात्र को है।

वास्तविकता को ठीक से नहीं जानना ही जीव का अज्ञान है। यही जीवभाव है, जो प्राणिमात्र को है। स्थूल सूक्ष्म शरीर जड होने के कारण विनाशी है, क्षण-भङ्गुर है, नष्ट होने वाला है। ऐसे समझ लो कि मैंने लाख रुपये कमा लिये। लाख रुपये के गहने लेकर रख दिये। मैं मर गया तो अब मुझे उस लाख रुपये से कुछ लाभ होना नहीं है। वह डूब जाये तो, बना रहे तो, मुझे कुछ नहीं होना है। परन्तु हमसे अलग तो हो गये। मरते समय जो घबड़ाहट होती है वह इसलिये होती है कि मैंने अपना प्रेम पत्नी पर डाला था वह अब नहीं रहेगी। मैंने जो धन कमाया था वह सब अब छूट जायेगा। पुत्र-पौत्र आदि छूट जायेंगे। पत्नी अभी मरी नहीं, बच्चे भी मरे नहीं, धन की भी हानि नहीं हुई, परन्तु मैं जा रहा हूँ। मेरा सम्बन्ध उनसे वियुक्त हो रहा है इसलिये शोक हो रहा है। अथवा मैं बना रहा, पत्नी मर गई, बेटा मर गया। लगाया हुआ पैसा डूब गया। मैं तो बना हुआ हूँ परन्तु वे चीज़ें नष्ट हो गईं तब भी शोक होता है। इस शोक का मूल कारण जड-चेतन को एक करके समझना है। यह वियोग अवश्यम्भावी है क्योंकि सब कुछ हमेशा रहना असम्भव है। मैं छोड़कर जाऊँगा तो, और ये छोड़कर जायेंगे तो भी शोक है। संयोग के समय 'ये हमारे हैं' ऐसा भाव होता है। हैं वे शरीर से संबंधित, परन्तु मैं शरीर से स्वयं को एक समझता हूँ इसलिये लगता है कि मेरे हैं। यह शोक प्राणिमात्र को है।

यह तब तक दूर नहीं होता जब तक यह पता न लग जाये कि स्थूल-सूक्ष्म शरीर से मेरा वास्तविक कोई संबंध नहीं है। यह नहीं कह रहे हैं कि संबंध नहीं है। आध्यासिक संबंध, मायिक या आविद्यिक संबंध है, परन्तु वास्तविक संबंध नहीं है। शोक इसलिये होता है कि उसे हम वास्तविक समझ लेते हैं। कई लोग ताश खेलते हैं, सत्सङ्गी नहीं खेलते क्योंकि 'ताश करे सत्यानाश'। दो तरह से ताश खेलते हैं। कई जगह तो झूठे सौ-पचास के नोट रखते हैं और उन्हीं को लगाते हैं। हार जीत वहाँ भी होती है। हारने से दुःख और जीतने से थोड़ी प्रसन्नता भी होती है। परन्तु वह क्षणिक है। खेल से उठकर आये तो कोई असर नहीं रहता क्योंकि जो रुपये हारे थे वे झूठे थे। कुछ दूसरे लोग खेलते हैं तो रिजर्व बैंक के सच्चे नोट रखकर खेलते हैं। वहाँ यदि लाख रुपये हार गये तो ऐसा नहीं कि उसका दुःख मिट जाये क्योंकि जिन नोटों को तुम हारे हो वे सच्चे हैं। हार जीत दोनों जगह एक जैसी है। परंतु सच्चे नोटों से खेलना तुम्हारे में व्यथा को उत्पन्न करता है; झूठे

नोट क्षणिक दुःख देते हैं, असर कुछ नहीं है। ठीक इसी प्रकार जो यह जानता है कि ये सारे विषय झूठे हैं वह भी इन विषयों से खेलता है परन्तु उन्हें झूठा जानने के कारण उसे व्यथा नहीं होती। 'यं हि न व्यथयन्त्येते', क्षणिक दुःख की प्रतीति होती है। परन्तु जब तक अज्ञान है तब तक हम इस सम्बन्ध को सच्चा समझते हैं इसलिये हमें व्यथा या शोक होता है। जब तक शरीर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक यह शोक तो सबको होता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं ''शोक-मोहोपलक्षितो हि संसार :'' शोक मोह से उपलक्षित संसार है।

दूसरा होता है विशेष शोक; जैसा कहा था, 'मेरी माँ मरी है, उसका मुझे ही शोक है।' अर्जुन को प्रथम शोक तो है ही, विशेष शोक भी उसे है। दोनों के निवारणार्थ भगवान् उसे समझाना प्रारंभ कर रहे हैं यह संजय बताता है–

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

हे भारत (धृतराष्ट्र), दोनों सेनाओं के बीच स्थित उस विषाद करते हुए अर्जुन को हृषीकेश ने मानो हँसते हुए ये वचन कहे।

दोनों सेनाओं के बीच में आकर अर्जुन यह विचार कर रहा है इसलिये भगवान् को हँसी-सी आई। उनका भाव है कि 'यह विचार तुम को युद्ध के पहले करना चाहिये था। अब तक तुमने यह विचार क्यों नहीं किया?' हँसी सी आई; हँसे नहीं, क्योंकि कभी भी शिष्य का दिल नहीं तोड़ना चाहिये। आजकल बहुत से अध्यापक कह देते हैं 'तू मूर्ख है, कुछ नहीं समझता', ऐसे को हम लोग अच्छा गुरु नहीं मानते। मन में तो आता है कि यह मूर्ख है, परन्तु चूंकि शिष्य का दिल नहीं तोड़ना चाहिये इसलिये गुरु सीधे कहता नहीं। भगवान् को हँसी आई कि यह बात पहले ही घर में बैठकर सोचने की थी, अब यहाँ आकर विषाद करना मूर्खता है।

भगवान् को और भी एक कारण से हँसी आई; वह कारण अगले श्लोक से स्पष्ट होता है कि अर्जुन शोक कर किसका रहा है! शोक योग्य का शोक करना तो समझ आता है पर शोक के अयोग्य का शोक कर रहा है इसलिये हँसी आ गयी। इस प्रकार शोक का विषय ग़लत और शोक करने का मौका ग़लत–इन दो कारणों से भगवान् मुस्करा दिये। इसके द्वारा भगवान् ने यह बात स्पष्ट कर दी कि कोई भी कार्य करने जाओ तो उसके सब पक्षों को पहले सोच लो तब कदम उठाओ। हमारे यहाँ संस्कृत में कहते हैं 'अनारंभो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणं। आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्।।' किसी काम को शुरू मत करो यह उत्तम है परन्तु शुरू कर दो तो अंत तक निभाओ।

इस विषय पर हम लोगों का बौद्धों के साथ मतभेद है। बुद्ध देव कहते हैं कि जब वैराग्य हो तब सांसारिक कर्तव्य छोड़ दो। हमारा धर्मशास्त्र ठीक इसके विपरीत कहता है

कि ब्रह्मचर्य आश्रम में विचार कर लो, वहाँ तुम्हें अध्ययन करा दिया गया। अब विचार तुमको यह करना है कि तुम्हें गृहस्थी बनना है या संन्यासी। गृहस्थ बन गये तो फिर जब तक पत्नी की आज्ञा न मिल जाये तब तक नहीं छोड़ सकते। जिसका हाथ पकड़ लिया उसको निभाना है। अन्यथा पतित हो जाओगे, ज्ञान तो होना कहाँ से है! बुद्ध देव ने दूसरी परम्परा शुरू की। पत्नी भी थी, बच्चा पैदा हुआ, अभी गोद में खेलने वाला था तभी वे घर छोड़कर चल दिये। लोग इसे अच्छी बात कह देते हैं। हम इसको अच्छी बात नहीं कहते। यह विचार तो विवाह के पहले करना चाहिये था। विवाह करते ही तीनों ऋण चढ़ जाते हैं, उन्हें बिना चुकाए कर्मत्याग अनुचित है। गृहस्थ में प्रवेश करो-न करो इसमें तुम्हारी स्वतन्त्रता है, परंतु प्रवेश कर लिया तो उससे निकलने का जो सही तरीका है उसी से निकलना चाहिये।

इसी प्रकार सभी कार्यों के बारे में समझ लेना—पहले विचार करो, शुरू कर दिया तो पूरा करो। आजकल भगवान् की यह बात किसी को नहीं जँचती। एक जगह नौकरी कर रहे हैं और देखते रहते हैं किस दूसरी जगह नौकरी अच्छी मिल जाये तो चले जायें। जहाँ नौकरी करनी है, इसका खूब अच्छी तरह निश्चय करो; यदि मास्टर बनना है तो मास्टर ही रहना है कोई दूसरा काम नहीं करना है। हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था का सारा आधार ही यह है कि सुनार हो तो सुनार रहो, लुहारी मत करो। सुनारी में विशेषता प्राप्त करो। जीवन के हर कार्य में यह विचार करना चाहिये कि काम करना शुरू किया तो कठिनाई आने पर भी उसे छोड़ना नहीं चाहिये। शुरू करने से पहले खूब सोच लो। जीवन के प्रधान कार्यों में तो यह विचार करना ही चाहिये और अभ्यास यह करना चाहिए कि किसी भी कार्य को शुरू करने से पहले विचार कर लो। हिंदी में भी कहावत है कि 'ऊखल में सिर दिया तो मूसल से क्या डरना!' भगवान् की हँसी में यह कारण है कि इसने युद्ध के निर्णय से पूर्व यह सब विचार नहीं किया, अब आकर घबड़ा रहा है।

ऐसे विषाद करने वाले अर्जुन के प्रति भगवान् 'हृषीकेश' ने कहा : अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना तो उनके बायें हाथ का खेल है क्योंकि इन्द्रियों के मालिक हैं। परन्तु उसे समझा रहे हैं कि अब प्रवृत्ति करो। इसलिये जो आधुनिक लोग कहते हैं कि 'लड़ने के लिये कहा' वह नहीं बनता क्योंकि वे तो बिना उपदेश के भी उसे लड़ा सकते थे। आगे भगवान् स्वयं कहेंगे 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' कि 'तुम्हारी प्रकृति तुम्हें ज़बर्दस्ती लड़वायेगी। फ़र्क़ यह है कि ज़बर्दस्ती से करोगे तो मेरी प्रसन्नता नहीं होगी। समझ कर करोगे तो मेरी प्रसन्नता होगी।' अर्थात् साक्षी रूप ईश्वर जो हृदय में बैठा है, वह परमात्मा हृषीकेश जो चाहेगा, होना तो वही है। परन्तु बुद्धिमान् मुमुक्षु साक्षी परमात्मा का विचार करते हुए प्रसन्नता का अनुभव करता है। इसलिये भगवान् ने उसे समझने के लिये कहा।

यहाँ 'भारत' सम्बोधन अर्जुन के लिये नहीं है, वरन् धृतराष्ट्र के लिये है। यह बात संजय धृतराष्ट्र को कह रहे हैं। इसके द्वारा धृतराष्ट्र को संजय याद दिला रहे हैं कि 'तू

भारत है। ज्ञान में तेरी रति होनी चाहिये लेकिन तू अपनी रति ज्ञान में नहीं लगा पाया। तू केवल आँखों का ही अंधा नहीं है। तेरा मन भी अन्धा है। उचित-अनुचित को जो न देख सके वह मन अंधा कहा जाता है। जैसे अंधे को ठीक रास्ता नहीं दीखता काँटों में चला जाता है, गड्ढे में गिर जाता है, इसी प्रकार जिसका मन अंधा होता है उसको पता नहीं चलता कि मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये। अर्जुन तो भगवान् के पास है इसलिये वह अपने स्वरूप को क्षणभर के लिये भूल तो गया है, परन्तु भगवान् खड़े हैं इसलिये रास्ते में ले आयेंगे। हे धृतराष्ट्र! तुझे रास्ते में लाने के लिये भगवान् दूत बन कर आये थे लेकिन तू चूंकि अंधा है इसलिये उनकी बात तुझे समझ में नहीं आई। अर्जुन है तेरे ही कुल का, वह सचमुच में भारत है, भरतकुल का है। तू तो केवल भरतकुल में उत्पन्न हुआ है, तदनुरूप चरित्र वाला नहीं बन पाया।।१०।।

अब भगवान् गीतोपदेश का उपक्रम कर रहे हैं। यहाँ सबसे पहले भगवान् सामान्य शोक का निरूपण करते हैं। विशेष शोक का निरूपण तो ''सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तम् इंद वचः'' से कर चुके हैं। यद्यपि विशेष हेतु भी उपलक्षणविधया सभी जीवों के लिये उपस्थित होता है तथापि सामान्य हेतु तो उपस्थित है ही इसलिये इस श्लोक के अवतरण में भाष्यकार ने कहा है कि अर्जुन को निमित्त बनाकर सब लोगों पर अनुग्रह कर भगवान् ने यह उपदेश दिया है।

श्रीभगवानुवाच
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

जो शोक के अयोग्य हैं उनके बारे में तुमने शोक किया जबकि बातें ऐसी कर रहे हो जैसी विद्वान् लोग करते हैं! जिनके प्राण जा चुके और जिनके प्राण गये नहीं हैं, दोनों के ही बारे में पण्डितजन शोक नहीं किया करते।

भगवान् कहते हैं कि तू किसका शोक कर रहा है : भीष्म, द्रोण को मारना पड़ेगा, इस बात का शोक कर रहा है। यह बता कि शोक का विषय कौन होता है? शोक किसका किया जाता है? जो व्यक्ति ग़लत कार्य करने वाला हो वह शोक के योग्य होता है क्योंकि उस ग़लत कार्य के फल से वह नरक आदि, पशु पक्षी आदि योनियों को जायेगा। भीष्म द्रोण ने क्या जन्म भर कोई ऐसा कार्य किया है कि शोक के विषय हों। तूने खुद ही कहा है कि ये महानुभाव हैं, उन्होंने कोई ग़लत काम नहीं किया। इसलिये भीष्म, द्रोण शब्दों से कहे जाने वाले जो वे व्यक्ति हैं उनका शोक बनता नहीं। शोक तो तेरा किया जाना चाहिये! भीष्म द्रोण धर्म को जानने वाले हैं, धर्म पालन के लिये ही युद्ध के मैदान में आये हैं। तू भी धर्म पालन के लिये आया है। वे तो शोक नहीं कर रहे हैं। तू कर रहा है। उनको तो धर्म के विषय में निर्भ्रान्त ज्ञान है। किस परिस्थिति में क्या करना है—वे इसे

स्पष्ट जानते हैं। इसलिये भीष्म द्रोण आदि व्यक्ति शोक के विषय नहीं।

व्यक्ति शोक के विषय न हों लेकिन उनका स्थूल शरीर तो मर जायेगा, वही शोक का विषय है—ऐसा कहना भी निरर्थक है क्योंकि, जैसा आगे भगवान् स्वयं कहेंगे, यह शरीर तो सबका मरेगा ही, तू युद्ध कर या न कर। अमर होकर तो कोई आया नहीं है। स्थूल शरीर मरने वाले हैं, वे मर जायेंगे। इसलिये उनका भी शोक करना व्यर्थ है। यदि समझते हो कि 'इनकी आत्मा को मैं दुःख दूँगा।' तो जान लो कि आत्मा कभी भी दुःख का विषय नहीं होता, वह आनन्दघन है। इसलिये इनका मूल आत्मा भी शोक का विषय नहीं है।

इसके द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी कि हर कार्य में हमेशा किसका विचार करना पड़ता है : न कभी यह विचार करो कि इससे मेरे शरीर का क्या होगा क्योंकि वह तो मरने वाला है, मरेगा ही। न आत्मा का विचार करो क्योंकि वह निष्क्रिय अविकारी है, उसका कुछ नहीं बिगड़ता। सुधरना-बिगड़ना तो सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन का होता है। इसलिये हमेशा विचार यह करो कि 'यह करने से मेरे मन का क्या हाल होगा?' आत्मा तो नित्य शुद्ध है, शरीर हमेशा नष्ट होने वाला है, रहने वाला तो सूक्ष्म शरीर है इसलिये उससे कोई ग़लती न हो, यह विचार का विषय है। कई बार लोग यह प्रश्न करते हैं कि आत्मा शुद्ध है तो कुछ भी ग़लत काम हो जाये तो क्या हर्ज़ा है? आत्मा का तो हर्ज़ा नहीं है, लेकिन ग़लत काम करने में राग-द्वेष के कारण मन प्रवृत्ति करता है, वह मन दुःख का भागी बनेगा। इसलिये क्या चीज़ सुधारनी है? हमेशा अपने सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन को सुधारना है। मन शुद्ध हो गया तो आत्मज्ञान होकर मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। मन बिगड़ गया तो संसार में डूबते-उतराते रहोगे। मन सर्फ आदि पदार्थ से तो शुद्ध होगा नहीं! मन की अशुद्धि राग है, इसलिये वैराग्य अपेक्षित है जो विवेक से उत्पन्न होता है। विवेक के द्वारा ही मन शुद्ध होगा। विवेकरूपी साबुन जितना लगाओगे उतना मन शुद्ध होगा। भीष्म, द्रोण वाले शरीर मरण-धर्मा होने से उनका मृत्यु-निमित्तक शोक भी उचित नहीं और सूक्ष्म शरीरों से उन्होंने कोई गलत काम किया नहीं इसलिये वे शोक का विषय नहीं। शोक का कोई उचित विषय है नहीं फिर भी तू शोक कर रहा है। इसलिये तू ही शोक का विषय है।

न करने लायक शोक करके तू उसे सही ठहराने के लिये प्रज्ञावादी बन रहा है, बड़ी-बड़ी बुद्धिमत्ता की बातें कर रहा है। यह प्रज्ञावाद है अर्थात् सचमुच प्रज्ञा नहीं है परन्तु बातें प्रज्ञा की हैं। जब आदमी ग़लती करता है तो उसे छिपाने के लिये बड़ी-बड़ी बातें बनाने लगता है। ऐसी-ऐसी बातें बनाता है कि सामने वाला सोचता है कि यह बड़ा समझदार आदमी है। इसी प्रकार तू कह रहा है कि 'धर्म की दृष्टि से मैं इनको मारना नहीं चाहता। इससे शाश्वत कुलधर्म नष्ट हो जायेंगे इत्यादि।' पहले अध्याय में बड़ी-बड़ी बातें कह आया है। क्योंकि सब क्षत्रिय मर जायेंगे तो शाश्वत कुलधर्म नष्ट हो जायेंगे। कोई भी इसे अच्छी बात नहीं कहेगा। वृंदावन में उड़िया बाबा नाम के एक महात्मा बड़े विरक्त भाव से रहते थे। फिर शिष्य लोग इकट्ठे हो गये। स्थान बन गया। भोजन आदि की

व्यवस्था आश्रम में हो गई। लोग ज़्यादा होते हैं तो बर्तन खड़कने लगते हैं। जब व्यवस्थापक किसी के बारे में कुछ कहता था तो उसे समझा देते थे। एक बार व्यवस्थापक गुस्सा हुआ कि 'आप डाँटते नहीं, ऐसे कैसे आश्रम चलेगा।' उन्होंने कहा 'मैं लोगों को हमेशा समझाता हूँ कि क्रोध करना दुर्गुण है। तुम लोग कह रहे हो कि आश्रम की व्यवस्था या इन सबको समझाने के लिये मैं बिगड़ जाऊँ पर मैं ऐसा करने वाला नहीं। मैं कहूँ भी तो कोई सुधरने वाला नहीं है फिर मैं अपना बिगाड़ क्यों करूँ?' आज जितने प्रज्ञावादी हैं वे यही कहते हैं कि 'किसी चीज़ को सुधारने के लिये तुम बिगड़ो।' घूम-फिरकर लोग यही कहते हैं कि 'ऐसा नहीं करेंगे तो समाज बिगड़ जायेगा, इसलिये ऐसा नहीं करो, तुम बिगड़ जाओ, समाज को सुधारो' अर्थात् दूसरे को ठीक करो, खुद बिगड़ो। हमारे धर्म-शास्त्र कहते हैं, जैसा उक्त महात्मा ने कहा, तुम बिगड़ोगे तो एक बिगड़ा हुआ बढ़ जायेगा, सुधर कोई नहीं जायेगा। ठीक इसी प्रकार तू (अर्जुन) कह रहा है कुलधर्म नष्ट हो जायेंगे और जो तेरा कुलधर्म है, वह तो तू छोड़ रहा है। 'मैं कुलधर्म छोड़ दूँगा तो कुछ बिगड़ जायेगा।' यह नहीं समझ रहा है, यही प्रज्ञावाद है।

वास्तविक प्रज्ञा क्या है? 'पंडिताः पण्डा आत्मविषया बुद्धिः येषां ते पण्डिताः' पण्डा अर्थात् आत्मज्ञान, वह आत्मज्ञान जिसे बुद्धि में है वह पण्डित कहा जाता है। स्वयं वेद ने यह अर्थ किया है। यजुर्वेद की बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है 'बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य' जब राग-द्वेष को सर्वथा छोड़ देता है, पूर्ण वैराग्यवान् हो जाता है तब जो आत्मज्ञान होता है वह पाण्डित्य है तब कहा है 'अथ ब्राह्मणः' जब यह प्राप्त कर लेता है तब इसका नाम ब्राह्मण होता है। इसलिये श्रुति के अनुसार पण्डित का मतलब आत्मबुद्धि वाला है, जिसमें आत्मज्ञान है, वह पण्डित है। जो आत्मज्ञानवाला है वह तो यह कहता है 'गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'। जो मरा हुआ है उसका शोक व्यर्थ है। उसका क्या शोक जो मर ही गया! जो ज़िन्दा है वह भी शोक के योग्य नहीं, वह ज़िन्दा ही है। इसलिये दोनों का शोक नहीं कर सकते। मरा हुआ कौन है? स्थूल शरीर अर्थात् जड जगत्। पञ्चमहाभूतों से जैसे शरीर वैसे ही सारा संसार बना। संसार के सारे जड पदार्थ लिङ्ग शरीर वाले नहीं होते, उनका शोक व्यर्थ है। उनमें दुःख सम्भव ही नहीं है। ऐसा नहीं है कि ईंट तोड़ो तो वह कहे कि 'मुझे क्यों दुखा रहे हो? और जिसका कभी भी प्राण नहीं निकलता है वह आत्मा है। इसलिये न आत्मा और न अनात्मा शोक का विषय होता है। शोक का विषय तो अनात्मा-आत्मा का अध्यास है। आत्मा में अनात्मा को, अनात्मा में आत्मा को देखते हैं, यह शोक का विषय है। प्राणिमात्र में रहने वाले अज्ञान को देखकर शोक करना चाहिये कि 'इसका अज्ञान नष्ट नहीं हुआ, यह शोक का विषय है'। न शरीर आदि शोक के विषय हैं, न आत्मा शोक का विषय है। तू शोक किसका कर रहा है? शोक अपने अज्ञान का करना चाहिये था, उस अज्ञान को तो अपने ऊपर ओढ़ कर प्रज्ञावान् की बातें कर रहा है मानों बड़ा पण्डित है। शोक का विषय वह अज्ञान है।

जब तक अज्ञान है तब तक अज्ञानकार्य सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन भी ज्ञान की तरफ नहीं जा रहा है अर्थात् स्वधर्म पालन नहीं कर रहा है, अतः शोक का विषय हो रहा है। इसलिये शोक का विषय तू है। अज्ञान शोक का कारण है। अज्ञान प्राणिमात्र के अंदर सामान्यरूप से मौजूद है। विशेषरूप से जब-जब धर्म में अधर्म और अधर्म में धर्म का भ्रम होता है तब-तब वह ग़लती कराकर शोक का हेतु बनता है। सामान्यतः सभी अज्ञानी शोक के विषय हैं और विशेषरूप से जो मनुष्य अधर्म में प्रवृत्त होता है वह शोक का विषय है।।११।।

अर्जुन दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति वाली दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा था। कौरव आसुरी सम्पत्ति वाले थे। असुर का मतलब है 'असौ प्राणे रमते इति असुरः' जो प्राणों में ही रमण करता है उसे असुर कहते हैं। अर्थात् खाना-पीना और शारीरिक सुख ही जिसके जीवन में एकमात्र रमण का विषय है। शरीर को छोड़कर इसमें रहने वाला कोई आत्मा है, उसका सुख-दुःख क्या है, इसकी तरफ उसका कोई ध्यान ही नहीं होता है। यही आसुरी सम्पत्ति है। वर्तमान काल का राज्य इस आसुरी सम्पत्ति को ही मानता है। संसार की चीज़ों का ही इसमें विचार रहता है। परलोक की कोई बात वे सामने नहीं रखेंगे। अतः सेक्युलर का (secular) का ठीक मतलब हिन्दी में आसुरी ही होगा। इसलिये यह राज्य अपने को आसुरी राज्य ही मानता है। चूंकि शिक्षा-पद्धति भी इन्होंने अपने हाथ में ले ली है इसलिये आसुर धर्म की ही शिक्षा देते हैं और आसुर धर्म का प्रचार भी करते हैं। हिरण्यकशिपु की पाठशाला में भी यही पढ़ाना पड़ता था कि उसके अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है। इसलिये यह कोई नई संस्कृति नहीं है। वर्तमान काल में भी राजा या राज्य की आज्ञा मानना ही धर्म है। उससे अतिरिक्त और किसी धर्म को वे नहीं मानते। इतना फ़र्क जरूर है कि हिरण्यकशिपु सबके लिये एक नियम लागू करता था। वर्तमान राज्य तो यह भी नहीं कर पाता! एक नियम बनायें तो लोगों को कुछ जँच भी जाये। अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग नियम हैं। परीक्षा में कुछ लोग ७० प्रतिशत नंबर लायेंगे तब उत्तीर्ण माने जायेंगे, कुछ लोग २० प्रतिशत लायेंगे तब उत्तीर्ण माने जायेंगे। इसी प्रकार सर्वत्र भेद मिलेगा। यह व्यवस्था आसुर से भी और ज़्यादा बुरी है। हिरण्यकशिपु आसुरी सम्पत्ति वाला होने पर भी भेद मानने वाला नहीं था। अतः उसका लड़का भी उस शिक्षा का विरोध करता था तो उसे भी दण्ड देता था। वर्तमान राज्य में ऐसा भी नहीं क्योंकि ये भेदमूलक आसुरी सम्पत्ति वाले हैं।

एक ओर कौरव अधर्म को ही संस्कृति का आदर्श मानने वाले थे, दूसरी तरफ धर्मराज युधिष्ठिर धर्म को ही एकमात्र उद्देश्य मानने वाले थे और उन्हीं की आज्ञा में रहने वाले बाकी पाण्डव थे। क्षणिक वेग आता था परन्तु युधिष्ठिर की आज्ञा में रहने से धर्म का उल्लंघन नहीं करते थे। यही कारण था कि भगवान् स्वयं उनके पक्ष में थे। आजकल लोग यह दोष भी देते हैं कि कृष्ण का पाण्डवों के प्रति पक्षपात था। ऐसा पक्षपात हमेशा

रहेगा क्योंकि दैवी सम्पत्ति की अभिवृद्धि ही परमेश्वर का एकमात्र तात्पर्य है। इसलिये जो उस उद्देश्य से चलेगा उसी की सहायता की जायेगी। पक्षपात बुरा तब होता है जब तुम ग़लत पक्ष की मदद करते हो। ठीक पक्ष की मदद करना ग़लत बात नहीं है, यह तो ठीक बात है। पाण्डवों में कोई ग़लती हो और उन्होंने उनका पक्ष लिया हो तब वह दोष वाला पक्ष होगा। ऐसा कोई दिखा नहीं सकता क्योंकि कोई दोष था ही नहीं। इसलिय गीता के अन्त में भी संजय यही बात कहेंगे 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।' जहाँ अर्थात् जिस पक्ष में या जिस तरफ योगेश्वर कृष्ण हैं और जिस पक्ष में धनुर्धारी अर्जुन है; भगवान् अर्जुन के पक्ष में हैं, अर्जुन भगवान् के पक्ष में है। इसलिये संजय ने पहले कहा 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः' अर्थात् जो भगवान् का पक्ष है उस पक्ष में अर्जुन है। इसलिये उसी पक्ष में श्री विजय इत्यादि होती है।

एक दृष्टि होती है कि हमको पता है कि क्या ठीक है और शास्त्र को उसके अनुसार लगा लेते हैं। दूसरी दृष्टि है, जैसा आचार्य शङ्कर लिखते हैं—मेरा तो एक ही इच्छा का विषय है, अभीप्सित है, कि जो श्रुति या वेद कहता है उस रास्ते का विस्तार करना; अर्थात् हमारा अपना कोई प्रयोजन नहीं, परमेश्वर का प्रयोजन ही हमारा प्रयोजन है, परमेश्वर जो ठीक समझते हैं उसी को मैं ठीक समझता हूँ। मुझे वह ठीक लगे या ग़लत लगे उससे कोई मतलब नहीं। वर्तमान काल में अधिकतर लोग शास्त्र को उसके अनुसार लगाना चाहते हैं जिसको वे ठीक समझते हैं। परन्तु आचार्य शङ्कर कहते हैं कि श्रुति जो ठीक समझती है उसके अनुसार हम सबको आचरण करना है। इसलिये जिधर योगेश्वर हैं उसी पक्ष में पार्थ धनुर्धर है। कौन-सा धनुर्धारण करना है? बाँस का लकड़ी का या टीन का, किसका धनुष बनाना है? वेद कहता है 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।' ॐकाररूप धनुष और जीवरूपी बाण है। ॐ ब्रह्म का सबसे प्रिय नाम है। अतः ॐ नामक परमात्मा ही हमारा धनुष है। उस धनुष पर हम ही चढ़े हुए हैं। परमात्मारूपी धनुष पर चढ़ा हुआ आत्मा (जीव) ही बाण है। तब ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अर्जुन इस प्रकार भगवान् के पक्ष में है क्योंकि उसने धनुर्धारण कर लिया है, परमात्मा को ही एकमात्र अपना आश्रय बनाया है। सारी गीता सुनकर अर्जुन का वचन था 'करिष्ये वचनं तव' 'आपने जो कहा है, मैं वही करूंगा, अपने मन से मैं कुछ नहीं करूंगा। आपका जो तात्पर्य है या आपने जो कहा है वही मैं करूंगा।' इस प्रकार दैवी सम्पत्ति वाले, पाण्डवों का पक्ष वह है जो कृष्ण का पक्ष है। दूसरों का पक्ष वह है जो संसार में सुख-भोग का पक्ष है।

जैसे बाहर वैसे ही अर्जुन के मन में भी दैवासुर-सम्पत्ति का विरोध उपस्थित हो गया। कौन-सा पक्ष कृष्ण का है और कौन-सा पक्ष मन का है—इसका वह निर्णय नहीं कर पा रहा है। युद्ध करने में भी वह दोष देख रहा है। अतः वह भी कृष्ण का पक्ष नहीं होगा क्योंकि कृष्ण के पक्ष में कहीं दोष नहीं हो सकता। युद्ध न करने के पक्ष में भी दोष देख रहा है। अर्जुन ने जब कहा कि 'आप मुझे उपदेश दें, मैं आपका शिष्य बनता हूँ', तब

उसका तात्पर्य है कि दोनों तरफ मुझे हानि और गुण तो नज़र आते हैं। परन्तु सचमुच में आप क्या चाहते हैं? वही चीज़ ठीक होगी, उसी का आप उपदेश दें।

उस भ्रम के दो कारण बताये थे। आत्मा में अनात्मा का भ्रम और धर्म में अधर्म का भ्रम। अच्छे वैद्य की तरह भगवान् ने सबसे पहले मूल कारण को दूर करने के लिये उपदेश देते हुए बताया कि जो शोक का विषय नहीं, उसका तू शोक कर रहा है। शोक का विषय शरीर नहीं क्योंकि भीष्म हो या द्रोण, सबको मरना तो है ही इसलिये तद्विषयक शोक व्यर्थ है। अवश्यम्भावी चीज़ के बारे में बुद्धिमान् शोक नहीं करते। जैसे 'सूर्य मुझे अच्छा लगता है। हाय! वह अस्त हो जायेगा। तो क्या होगा!'—क्या कोई ठीक समझ वाला व्यक्ति मानेगा कि यह शोक करना उचित है? वह यही कहेगा कि सूर्य उदय हुआ है तो अस्त होगा ही और अस्त हुआ है तो उदय होगा ही। इसलिये आगे भगवान् कहेंगे कि अपरिहार्य विषयों में अर्थात् जिसका कभी परिहार हो नहीं सकता, जिसको कभी हटाया ही नहीं जा सकता उसके विषय में शोक करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। यदि तू शरीर का शोक कर रहा है तो व्यर्थ है। दूसरा शोक का विषय बताया था कि ग़लत कार्य करने वाला शोक का विषय होता; वैसे भीष्म द्रोण नहीं हैं। आत्मा नित्य होने से शोक का विषय नहीं। यह कहा था। अब आत्मा की नित्यता को सिद्ध करते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

मैं नहीं था—ऐसा तो कभी नहीं हुआ। तुम और ये राजा न रहे हों ऐसा भी कभी नहीं हुआ। इस शरीर के छूट जाने के बाद हम सब नहीं रहेंगे ऐसा भी नहीं होगा।

भगवान् कहते हैं कि 'किसी काल में मैं नहीं हूँ' ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं पहले नहीं था और फिर हो गया—ऐसा नहीं है। यह बड़ी विलक्षण बात है। किसी चीज़ का नहीं होना हमारे यहाँ चार प्रकार का होता है। 'न होना' अर्थात् अभाव चार प्रकार का होता है। पैदा होने के पहले का अभाव, प्रागभाव। पैदा होने के पहले घड़ा नहीं था। या पैदा होने के पहले बेटा नहीं था। जो चीज़ पैदा होती है वह पैदा होने के पहले नहीं होती। वह एक प्रकार का न होना (अभाव) है। जैसे ही घड़ा या बेटा पैदा हो गया, वैसे ही उसका अभाव अर्थात् प्रागभाव नष्ट हो गया।

दूसरा है घड़ा फूट जाने के बाद का अभाव या लड़का मरने के बाद वह लड़का नहीं है। जैसे पैदा होने के पहले वह नहीं था वैसे ही मरने के बाद भी नहीं होगा। इसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। एक पैदा होने के पहले न रहना और दूसरा नष्ट होने के बाद न रहना। प्रागभाव कब से है? या बेटा कब से पैदा नहीं हुआ? तो कहोगे अनादि काल से पैदा नहीं हुआ। यह घड़ा आज से पहले कभी नहीं बना, इसलिये घड़े का प्रागभाव है। प्रागभाव कभी शुरू नहीं होता। तुम जर्मन भाषा कब से नहीं जानते? तो कहोगे अनादि काल से नहीं जानते। जैसे ही घड़ा पैदा हो गया तो वह प्रागभाव समाप्त हो गया। कब

तक के लिये समाप्त हुआ? हमेशा के लिये समाप्त हो गया। घड़ा पैदा होते ही उसका प्रागभाव हमेशा के लिये समाप्त हो गया। बाँझ का बेटा पैदा होते ही बाँझपना हमेशा के लिये समाप्त हो गया। एक बेटा पैदा हो गया तो भी हमेशा के लिये बाँझपना गया अर्थात् प्रागभाव हमेशा के लिये समाप्त हो गया। बेटा मर गया तो अभाव है। कब नहीं रहा? झट बताओगे कि अमुक आदमी सात बजकर पन्द्रह मिनट पर मर गया। अमुक घड़ा अमुक समय कुएं में डाला था, वह फूट गया। यह प्रध्वांसाभाव है। यह अभाव कब हुआ? यह बता सकते हैं। प्रध्वंसाभाव आदि वाला है पर अनंत है। प्रागभाव अनादि है पर सान्त है।

तीसरा अभाव वस्तु के स्थितिकाल में भी है। जब चीज़ है, उस समय भी उसका अभाव है जैसे दिल्ली आश्रम के विद्यालय का घण्टा घर दिल्ली में है। इसी समय आबू में नहीं है। इस समय आबू की ठंड दिल्ली में नहीं है। इस देश में है, उस देश में नहीं है। अथवा उस देश में है, इस देश में नहीं है। दिल्ली में आबू की ठंड नहीं तो ठंड का अभाव है। किस समय नहीं है? जिस समय आबू में है। इसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।

चौथा अभाव जैसे यहीं पर मुकुट बिहारी भी है और देवदत्त भी है। एक ही देश में दोनों यहीं पर हैं। परन्तु देवदत्त मुकुट बिहारी नहीं है, मुकुट बिहारी देवदत्त नहीं है। अथवा घड़ा कपड़ा नहीं है, कपड़ा घड़ा नहीं है। इसे अन्योन्याभाव या भेद कहते हैं।

भगवान् यहाँ कहते हैं—'अहं न आसं जातु न' मैं नहीं था, ऐसा कभी नहीं अर्थात् मेरा प्रागभाव कभी नहीं था अर्थात् कोई काल ऐसा नहीं जब मैं नहीं था किन्तु हमेशा था ही। अर्थात् मैं न होऊँ ऐसा कोई काल नहीं। विचार करके देखो कि किसी भी चीज़ की सिद्धि करने के लिये तुम को कोई प्रमाण चाहिये। कोई भी बात ठीक है या ग़लत, यह तभी पता लगेगा जब तुम्हें उसमें कोई प्रमाण मिले। जो किसी चीज़ की सत्ता में प्रमाण है वही उसके न होने में भी प्रमाण होता है। जैसे कमरे में आँख से रोशनी दीखती है, कमरे में रोशनी नहीं है यह भी आँख से ही दीखेगा। अगर आँख पर पट्टी बाँध दें और तुम से कहें 'बताओ कमरे में रोशनी है या नहीं?' तो कहोगे 'पता नहीं, क्योंकि आँख पर आपने पट्टी बाँध दी है।' रोशनी को जो आँख देखती है, रोशनी के अभाव को भी वही आँख देखती है। अंधे आदमी को न प्रकाश का और न अन्धकार का पता लगता है। इसी प्रकार से कान से अगर हम शब्द सुनते हैं तो यहाँ शोर नहीं है—यह भी कान वाले को ही पता लगता है। बहरे आदमी को यह भी पता नहीं चलता कि कोई क्या बोल रहा है और यह भी पता नहीं कि कोई कुछ नहीं बोल रहा है। इसलिये यह नियम है कि जो जिस चीज़ को जिस इन्द्रिय से जानता है, उसी इन्द्रिय से उसका अभाव भी जानेगा।

विचार करो कि 'मैं' को कौन जानता है? 'मैं' को तुम ही तो जानते हो। तुम्हारे 'मैं' को और तो कोई नहीं जानता। मैं का अनुभव केवल खुद ही करते हो। इसलिये ब्रह्मसूत्र में विचार आया है कि शास्त्र कहता है आत्मा मन और वाणी का विषय नहीं, शब्द का

भी विषय नहीं। जो चीज़ मन और वाणी का विषय नहीं उसका उपदेश तुम कैसे करोगे या उसको कैसे जानोगे? सब कुछ वाणी, मन से ही जाना जाता है और कहा जाता है। वह जब दोनों का विषय नहीं तो उसे न बताया जा सकता और न जाना जा सकता है। फिर उसके बारे में तुम्हारा शास्त्र क्या करेगा! आचार्य शंकर समाधान बताते हैं–''नायम् एकान्तेन अविषयः अस्मत्-प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः'' मन आदि का विषय आत्मा नहीं इसका मतलब यह नहीं कि वह इनकी सहायता से जाना ही नहीं जा सकता। जैसे आँख से आँख नहीं दीख सकती। अपनी ही आँख को अपनी ही आँख से नहीं देख सकते। यह तो पक्का निश्चय है। फिर भी जब डाक्टर तुम्हारी आँख की परीक्षा करता है तो कहता है कि 'बाँचकर देखो, अक्षर दीखते हैं या नहीं'। अगर तुम उससे कहो–'डाक्टर साहिब! ५० रुपये फीस आपने ली है। आप बताओ, मैं क्यों बताऊँ?' तो क्या डाक्टर कभी बता सकता है? मेरी आँख ठीक देख रही है इस बात को मेरी आँख ही जानती है। तुम्हारी आँख ही अपनी परीक्षा करती है। फिर कैसे कहते हैं कि आँख आँख को नहीं देख सकती? तात्पर्य है कि यह जो स्थूल आँख है वह इसकी जो देखने की शक्ति है उसको नहीं देख सकती। परन्तु इसके अंदर की शक्ति को तुम देख सकते हो अर्थात् आँख वाला जान ही सकता है। दूसरा कोई उस आँख को नहीं देख सकता। दूसरा केवल आँख के स्थूल रूप को ही देख सकता है। आँख का जो असली रूप है उसको आँख वाला खुद देखेगा।

इसी प्रकार भीष्म के स्थूल शरीर को तो सब देखेंगे। लेकिन 'मैं भीष्म हूँ' इसको तो भीष्म शरीर वाला ही देखेगा। जो कहा जाता है आत्मा मन-वाणी का विषय नहीं है उसका मतलब है कि अपने से अलग करके विषय नहीं है। अपने से एक करके तो समझ आता है ही। ''मैं''–इस प्रतीति में ही आत्मा की प्रतीति है। अतः सर्वथा अविषय नहीं है। आत्मा नहीं है इसको मैं ही जान सकता हूँ क्योंकि आत्मा है इस बात को मैं जानता हूँ। मैं होऊँगा तभी मैं जानूंगा। आत्मा का अभाव तब जान सकते हो जब तुम हो। किसी काल में 'मैं नहीं था' यह बात जानने के लिये 'मैं' को ही रहना पड़ेगा। शरीर नहीं रहा, इसको तो दूसरा जान लेगा। परन्तु मैं रहा या नहीं–यह बात तो मैं ही जान सकता हूँ। इसलिये आत्मा का प्रागभाव कभी नहीं जाना जा सकता और जिसमें कोई प्रमाण न हो, उसे मानने को अंध-विश्वास ही कहते हैं।

जन्मान्तर को मानने वालों को दूसरे कहते हैं कि तुम अंधविश्वासी हो जब कि बिना प्रमाण के यह मानने वाले कि जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद मैं नहीं रहता, अंधविश्वासी अपने को बुद्धिजीवी कहने लगे हैं। जो प्रागभाव के लिये, वही प्रध्वंसाभाव के लिये है : 'मैं था, अब नहीं हूँ' इस बात को तभी कह सकता हूँ जब मैं होऊँ। मैं नहीं हूँ तो कैसे जानूँगा कि मैं नहीं हूँ? आत्मा का प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव कभी नहीं हो सकता इसलिये भगवान् ने कहा 'मैं नहीं था ऐसा कदाचित् सम्भव नहीं है।'

अर्जुन को एक शंका हो सकती है कि 'आप तो भगवान् हैं, वैकुण्ठ से लीला करने के लिये आ गये, इसलिये आप पहले थे। लेकिन हम लोगों का क्या हाल है?' अतः भगवान् ने कहा 'न त्वं नेमे जनाधिपाः' तू नहीं था, ऐसा भी नहीं क्योंकि तू भी अपने को अहं-रूप से जानता है। कहोगे अर्जुन भगवान् का भक्त था, वैकुण्ठ में उनके साथ रहता था। हम लोगों की क्या गति है? इसलिये कहा 'नेमे जनाधिपाः' ये सारे राजा लोग कभी नहीं थे ऐसा नहीं है क्योंकि सब अपने को अहं-रूप से जानते हैं। तीनों का ग्रहण इसलिये कि भाषा में तीन तरह के पुरुष होते हैं—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष—मैं खाता हूँ, तुम खाते हो, वह खाता है। तीनों को लेने से सारे जीवों का संग्रह हो गया। आत्मा के बारे में नहीं था या नहीं रहेगा ऐसा समझा ही नहीं जा सकता।

भगवान् की इस बात को लोगों ने बड़ा विपरीत मान रखा है। कई लोग मानते हैं कि जैसे हम यहाँ बैठे हैं, ऐसे ही किसी कल्प में हम ऐसे के ऐसे बैठे थे। इन्दिरा बैठी थी, हम बोल रहे थे। इसलिये मोक्ष भी असम्भव है। ऐसा मानने वाले कहते हैं कि संसार मानो एक बाईस्कोप (चलचित्र) है जो बार-बार होता रहता है। किन्तु भगवान् का यह तात्पर्य नहीं है। वे तो केवल यह कह रहे हैं कि *आत्मा* हमेशा रहता है। बाकी सब चीज़ों के बारे में यहाँ नहीं कहा है। बहुत-से लोग सोचते रहते हैं कि बार-बार ऐसी ही घटनायें होती रहती हैं। कभी यह विचार करके नहीं देखते कि भगवान् पाँच उंगलियों की छाप एक जैसी नहीं बनाते तो बार-बार एक ही कार्य क्यों करेंगे! क्या माया सीमित है? माया तो असीम है। इसलिये 'सर्वे वयमतः परं' का यह मतलब नहीं है कि हमारे शरीर आदि ऐसे रहेंगे। यह तो आत्मा के विषय में कहा जा रहा है, कि जैसा कहा था, शरीर सर्वथा विनाशी है इसलिये शोक का विषय नहीं, आत्मा नित्य होने के कारण शोक का विषय नहीं। भीष्म ने व्यवहार भी अच्छा ही किया, उनका कोई व्यवहार दोष वाला नहीं, इसलिये भी वे शोक का विषय नहीं; फिर तू जो शोक कर रहा है, यह प्रज्ञावाद है।।१२।।

अर्जुन ने जब अपने शोक को प्रकट किया तो भगवान् ने शोक के सामान्य और विशेष कारण बताये। सामान्य कारण को वेदान्त शास्त्र में मूल अज्ञान कहते हैं। मूल अर्थात् वह जड है जिससे आगे अनेक तूल अज्ञान आ जाते हैं। परमात्मा का ज्ञान नहीं होना मूल अज्ञान है और जब परमात्मा का ज्ञान नहीं हुआ तब जो-जो पूर्व अज्ञानों के संस्कार हैं उनके प्रवाह वाले तूल अज्ञान होंगे ही। धर्म और अधर्म के विषय में अर्जुन को संस्कारों के प्रवाह से होने वाला शोक, विशेष शोक है क्योंकि ये उसके विशेष संस्कार हैं। पूज्यों में पूज्यभाव के संस्कार और दुष्टों का दमन करने के संस्कार विशेष संस्कार हैं। इस परिस्थिति में उसको अधर्म में पूज्यभाव है। दुष्टों के अंदर यह भाव कि 'ये पूज्य हैं', अधर्म है। यह विशेष अज्ञान है। यही उसके शोक का कारण है।

अच्छा वैद्य रोग के मूल कारण को पहले दूर करता है और जो अच्छा वैद्य नहीं होता है वह रोग के मूल कारण को दूर किये बिना उसके प्रतीत होने वाले दुःखों को दूर करता

है। जैसे किसी का पेट खराब है, उदर के विकार के कारण उसके सिर में या शरीर में दर्द है। डॉक्टर ने तुरंत सिर के दर्द की दवाई दे दी, पेट साफ करने की दवाई नहीं दी; तो दर्द की क्षणिक निवृत्ति हो जायेगी, थोड़ी देर के लिये रोगी ठीक अनुभव करेगा परंतु थोड़ी देर बाद रोग फिर वहाँ का वहाँ है। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली की सबसे बड़ी कमी यही है कि रोग क्या है, वे इसका निर्णय नहीं करते। शरीर में दर्द है तो उसे दर्द की दवाई दे दी। कमर दर्द है तो उसकी दवाई दे दी। चलते-चलते साँस फूलती है तो एक और दवाई लिख दी। यह निर्णय नहीं किया कि किस कारण से सिर दर्द है, साँस फूलती है। जिसके कारण यह सब हो रहा है उसका विचार नहीं करते। आयुर्वेद के अंदर नियम है कि पहले रोग का निदान करो, इस निर्णय पर पहुँचो कि रोग क्या है। निदान करने वाला पहले उस रोग का निर्णय करता है। पेट की खराबी से यदि सिर दर्द है तो पहले पेट ठीक करने का प्रयत्न करेगा। अगर किसी को बहुत ही दर्द है तो थोड़ी बहुत दवाई उस दर्द की दे देगा लेकिन प्रधान तो रोग का निदान और निवृत्ति ही रहेगी।

इसी प्रकार परमात्मा को नहीं जानना-रूप मूल अज्ञान जब तक निवृत्त नहीं होता तब तक शोक निवृत्त नहीं होता। इसलिये अच्छे वैद्य की तरह भगवान् इस रोग की निवृत्ति का उपाय बताते हैं। आत्मा शोक के योग्य नहीं क्योंकि नित्य आनन्द-स्वरूप है। यह जो आत्मा की नित्यता है, इसी को आगे स्पष्ट करते हैं कि यह नित्यता कैसी है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

जैसे इस शरीर में बाल्य यौवन वार्धक्य अवस्थाओं के आने-जाने से देहवाले आत्मा का नाश नहीं होता ऐसे इस शरीर को छोड़कर अन्य शरीर की प्राप्ति से भी आत्मा निर्विकार रहता है अतः इस शरीर के छूटने के प्रसंग पर बुद्धिमान् मोहग्रस्त नहीं होता।

'देहिनः' में भगवान् ने एकवचन का प्रयोग किया है। इससे पूर्व में 'अशोच्यान्, गतासून्, अगतासून्' में भगवान् ने बहु-वचन का प्रयोग किया था। यहाँ 'देहिनः' में एक-वचन का प्रयोग यह बताने के लिये है कि जब हम शोक की विषयता की बात करते हैं तब उपाधि प्रधान है क्योंकि कोई एक समय में रो रहा है, उसी समय दूसरे की शादी हो रही है, खुश हो रहा है। जिस समय एक के शरीर से प्राण चला गया है, दूसरे के शरीर में प्राण चल रहा है। अतः शोक की विषयता अथवा प्राणों का चलना-न-चलना, इन दोनों में उपाधि प्रधान है। अतः जब हम उपाधि को प्रधान मानते हैं तब जीवों की अनेकता कही जाती है, परन्तु जब उपाधि वाले को प्रधान रूप से कहेंगे तब आत्मा एक है। ऐसे समझ लो, द्रष्टा देखने वाला, श्रोता सुनने वाला वक्ता बोलने वाला, मन्ता सोचने वाला। यदि द्रष्टा, श्रोता आदि इन उपाधियों को कहना होगा तो अंधे के लिये कहना पड़ेगा कि यह

द्रष्टा नहीं है, परन्तु श्रोता है। बहरे के लिये कहना पड़ेगा कि यह श्रोता नहीं परन्तु द्रष्टा है। द्रष्टा और श्रोता के भेद को लेकर ही कह रहे हैं कि यह द्रष्टा नहीं श्रोता है, मन्ता नहीं वक्ता है। परन्तु जब उस व्यक्ति को कहेंगे तब तो वह एक ही है। आँख की उपाधि से वह व्यक्ति द्रष्टा है, कान की उपाधि से श्रोता है। जो द्रष्टा नहीं, वही श्रोता है। जो अंधा है, वही सुनने वाला है। वस्तुतः दोनों में एकता है। एकता होने पर भी जो द्रष्टा है वह बहरा होने से श्रोता नहीं है। जब उपाधि की प्रधानता कहोगे तब अनेकता का विचार होगा। जब उपाधि की प्रधानता नहीं, उपाधि वाले की प्रधानता होगी तब एकता का विचार होगा। ठीक इसी प्रकार कोई शोक का विषय है, कोई शोक का विषय नहीं है। कई बार ऐसी परिस्थिति हो जाती है।

एक बार एक गाँव के अंदर दो लड़के रहते थे। एक दिन दोनों नदी के किनारे खेलने गये हुए थे। वहाँ एक लड़के को मकर (घड़ियाल) ने खा लिया। शहरों में आजकल ट्रक के नीचे आ जाते हैं। घड़ियाल के लिये तो कहोगे कि उसे मार देना चाहिये, पर ट्रक ड्राइवर के लिये कहते हैं 'उसका बेचारे का क्या कसूर, उसकी तो ब्रेक खराब हो गई थी!' घड़ियाल भी भूखा था, खा लिया तो क्या हुआ? लेकिन ट्रकों के प्रति चूँकि हमें मोह है इसलिये ट्रक नष्ट कर देने चाहिये यह नहीं कहते, ऐसा मानते भी नहीं। इस घटना के बाद आठ साल बीत गये। ज़िन्दा लड़के का यज्ञोपवीत होने जा रहा था। ब्राह्मणों में उपनयन का बहुत महत्त्व होता है। उसके घर में तुरही, नगाड़े बज रहे थे। औरतें गीत गा रही थीं। सामने वाले घर में जिनके लड़के को मकर ने खा लिया था उन लोगों के मन में आ रहा था कि 'आज हमारा बच्चा ज़िन्दा होता तो उसका भी जनेऊ हो रहा होता', वे अत्यंत दुःख में थे। एक ही घटना एक के दुःख को उभार रही है। दूसरे को सुख हो रहा है कि जनेऊ होने जा रहा है।

एक महात्मा उधर से निकले। उन्होंने देखा कि आमने-समाने एक घर में बड़ा उत्सव मन रहा है और दूसरे घर में इतनी उदासी; बात क्या है, ये इतने दुःखी क्यों? लोगों ने बताया कि 'आठ साल पहले इनके लड़के को घड़ियाल ने खा लिया था। इसलिये दुःखी हैं।' महात्मा के मन में करुणा आई। नदी के किनारे गये। भगवान् शंकर से प्रार्थना की कि 'वे लोग बहुत दुःखी हैं, उनका बच्चा उनके पास आ जाये'। भगवान् शंकर तो आशुतोष हैं ही, भक्त की प्रार्थना स्वीकार कर ली। भक्त ने देखा कि घड़ियाल ने मुख फाड़ा तो वहाँ आठ साल से अधिक उम्र का लड़का खड़ा है। उसे उसके घर ले गये और उसके घरवालों को कहा कि 'तुम लोग भी इसका जनेऊ करो, दुःखी मत होओ।' उसके घरवालों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। एक ही घटना एक उपाधि में शोक दे रही थी, दूसरी उपाधि के अंदर ठीक उसके विपरीत बड़ा आनन्द हो रहा था। परन्तु उन दोनों में स्थित भगवान् शिव तो एक थे। उपहित शिव एक ही है, उपाधियाँ अलग-अलग हैं। उपाधि को लेकर जब बात करते हैं तब अनेक शब्दों का, बहुवचन का प्रयोग करते हैं और

उपाधि वाले की बात करते हैं तो एकवचन का प्रयोग होता है। इसलिये पूर्व में बहुवचन का और यहाँ एकवचन का प्रयोग है।

''देहिनः यथा अस्मिन् देहे'' उपाधि के विचार में द्रष्टा श्रोता आदि कुछ सूक्ष्म हैं और कुछ स्थूल हैं। इस श्लोक में स्थूल शरीर को उपाधि रूप में बताते हुए उसके परिवर्तनों के बावजूद आत्मा की अपरिवर्तनीयता बता रहे हैं। इस शरीर में कुमारावस्था आती है। 'कुमारो पंचहायनः', पाँच साल की उम्र के बच्चे को कुमार कहते हैं। पाँच साल के छोटे बच्चे के चित्र को देखो तो पहचान नहीं सकते कि यह वही है जो सामने जवान होकर खड़ा है। इतना फ़र्क़ पड़ जाता है। परन्तु जो पाँच साल का था वही अब अस्सी साल का है। उपाधि बदल गई, पहचानने में नहीं आता, लेकिन है तो वही। क्यों वही है? क्योंकि बचपन की प्रत्यभिज्ञा उस बुढ़ापे में भी है। 'बचपने में मैंने माता की गोद में 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' सीखा था, वह आज भी मुझे याद है?' कैसे याद है? कहता है 'माँ ने मुझे याद कराया था।' शरीर पहचानने में नहीं आता पर प्रत्यभिज्ञा के आधार पर एकता स्पष्ट हो जाती है। बच्चा पैदा होकर माँ के स्तन को पकड़कर दूध पीता है। किसी चिकित्सक से पूछना कि स्तन के पीने में मुँह और गले की कितनी माँस-पेशियाँ काम करती हैं। ऐसा नहीं है कि माँ उसके मुँह में स्तन डाले और वह निगल जाये। गले से निगलने के लिये वहाँ की माँस-पेशियाँ, पीने में होठ, जबड़े आदि सब की माँस-पेशियाँ काम करेंगी तब दूध पिया जायेगा। इसके लिये बच्चे ने शिक्षा कहाँ से प्राप्त की थी? पैदा होते समय किसी अध्यापक को तो रखा नहीं था! इसका मतलब है कि हमने चूसना कहीं सीखा है अन्यथा याद कैसे रहा कि ऐसे पिया जाता है? शरीर तो एक जैसा नहीं दीख रहा है लेकिन प्रत्यभिज्ञा है कि पाँच साल की बात मुझे याद है इसलिये 'वही है' यह निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार बच्चे को स्तनपान की क्रिया याद है, इसलिये निश्चित हो जाता है कि पूर्व में वह किसी शरीर में रहकर सीख चुका है। ऐसे ही मलमूत्र-विसर्जन आदि भी वह बच्चा सीखा हुआ है, इसीलिये कर लेता है। इसी प्रकार 'यौवनं जरा' अर्थात् जवानी-बुढापे का अन्तर होने पर भी व्यक्ति की अखण्डता निश्चित होती है। जवानी की बातें भी याद हैं; बुढ़ापे में किसी को पहाड़ पर चढ़ते देखते हो और कहते हो कि 'कभी मैं भी इस पर ऐसे ही चढ़कर गया था' तो जवानी याद है तभी कहते हो।

भगवान् कहते हैं कि जैसे यहाँ उपाधि बदलने पर भी उपाधि वाला एक ही है, बचपन का शरीर, जवानी का शरीर बदलने पर भी आत्मा एक ही है, वैसे ही जब दूसरे शरीर मिलते हैं तब भी आत्मा वही रहता है, आत्मा में भेद मानने की कोई ज़रूरत नहीं। शरीरों के बदलने से जैसे आत्मा नहीं बदला ऐसे ही अनन्त शरीरों के रहने पर भी आत्मा एक ही है। एक जीव के उपाधिभेदों से उसकी अभिन्नता में अन्तर न आना बताकर उपलक्षण से भगवान् ने संकेत दिया कि अनन्त शरीरों का अभिमान रहते हुए भी आत्मा में कोई भेद नहीं है। 'देहिनः' के एकवचन से भी यह अभिप्राय पुष्ट होता है। देहान्तर-प्राप्ति चाहे

मरणानंतर समझी जा सकती है, चाहे यहीं दृश्यमान अनन्त शरीरों में उपस्थित आत्माभिमान समझा जा सकता है। देहान्तर की प्राप्ति होने पर अधीर हो चाहता है कि 'मैं अब भी ऐसा हो जाऊँ कि उस पहाड़ पर चढ़ जाऊँ।' धैर्य वाला सोचता है कि 'मैंने अपने ज़माने में पहाड़ चढ़ लिये, अब इनके चढ़ने की उम्र है' इसलिये उसे प्रसन्नता रहती है। अधीर दुःखी होता है 'हाय! मैं नहीं चढ़ सकता'।

धैर्यवाला तुरन्त फल को नहीं चाहता है। इसलिये सारे पापों की जड़ अधीरता है। संसार के अंदर अनेक मत-मतान्तरों में किसी में किसी धर्म की विशेषता है। महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा को प्रधानता दी इसलिये साधनों में सबसे पहले अहिंसा को गिना। वेदों में सबसे ज़्यादा प्रधानता सत्य को दी। इसलिये जब शिष्य को उपदेश करते हैं तब कहते हैं 'सत्यं वद धर्मं चर' सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो। आचार्य शंकर प्रश्न उठाते हैं कि सत्य बोलना धर्म ही है,'धर्मंचर' से सत्यवदन आ ही जाता, फिर अलग से कहने का क्या तात्पर्य है? वे उत्तर देते हैं कि इसके द्वारा सत्य की श्रेष्ठता को बताया गया है कि सब धर्मों में सत्य ही श्रेष्ठ है। इसी बात को भगवान् वेदव्यास ने एक रूपक के द्वारा बताया कि हाथ में तराजू लेकर एक तरफ सारे धर्म और दूसरी तरफ केवल सत्य को रखो तो दोनों पलड़े बराबर हो जायेंगे। इसलिये वेद ने 'सत्यं वद' को अलग कहा कि सत्य सबसे अधिक महत्त्व का है।

महाराजा मनु ने धैर्य को सबसे पहले गिना। इसका मतलब यह नहीं कि वे दूसरे धर्मों को नहीं कहते, पर एक धर्म की प्रधानता सूचित होती है। आचार्यों की अपनी-अपनी दृष्टि होती है; मनु महाराज सर्वथा व्यावहारिक थे। मनुस्मृति व्यवहार का ग्रन्थ है। वेदान्त का विचार भी उसमें आया है, परन्तु प्रधानता व्यवहार की है। महाराजा मनु ने देखा कि आदमी झूठ इसलिये बोलता है कि जल्दी फल हो जाये। अतः उन्होंने कहा कि यदि धैर्य नहीं होगा तो न सत्य बोल पाओगे, न अहिंसा कर पाओगे। इसलिये उन्होंने सबसे पहले धृति को कहा। धैर्य होगा तो बाकी सब धर्म आ जायेंगे। इसलिये भगवान् ने कहा 'धीरस्तत्र न मुह्यति' धीर को मोह नहीं होता। वह जानता है कि उम्र आदि के अनुसार ही शरीर-मन आदि की चेष्टाएँ होती हैं, इसमें अधीरता की जरूरत नहीं, जैसे आज मैंने सत्य बोला तो उसका फल जरूर होगा, अधीर होने की ज़रूरत नहीं।

यह धैर्य कैसे आता है? 'धी' मायने बुद्धि और 'र' अर्थात् रमण करना; जो बुद्धिपूर्वक विचार करता है उसी में धैर्य आता है। आप लोगों ने देखा होगा कि आज से पचास साल पहले किसी आदमी को सौ-पचास रुपये का प्रलोभन देकर ग़लत काम करवा लेते थे। जब कहते थे कि 'ऐसा ग़लत काम मत करो' तब जवाब होता था कि 'यह व्यावहारिक नहीं है, व्यवहार में ऐसा नहीं होता है। सौ रुपये दिये, काम हो गया। साल भर कौन बैठा रहे!' उनमें से कई लोग आज भी ज़िन्दा हैं जो शिकायत करते हैं कि 'अफसर कहते हैं कि तुम्हारा ठीक काम करने का भी पैसा दो, ग़लत काम के लिय तो कहना ही क्या!' अफ़सरों

का कहना है कि तनख्वाह तो कुर्सी पर बैठने की मिलती है। आगे सेवा-शुल्क दोगे तब काम होगा। हम उन्हें याद दिलाते हैं कि उन्हें पैसा लेना किसने सिखाया? तब सोचा था कि पैसा देंगे तो ग़लत काम भी हो जायेगा। अगर तब ही विचार करते कि ग़लत काम किया तो उसका फल क्या होगा? तो ऐसी दुर्व्यवस्था न देखनी पड़ती। एक राजा ने पृथ्वी के अन्तिम छोर पर विजय प्राप्त करके अपने साथियों से कहा 'उस चट्टान पर मेरा नाम लिख दो कि यह पहाड़ मैंने जीता।' साथी वापिस आये तो राजा ने पूछा 'मेरा नाम लिख दिया?' उन लोगों ने कहा 'वहाँ पहले ही अनेक नाम लिखे हुए थे, कोई जगह ही नहीं थी कि एक नाम और लिख सकें। फिर भी, एक नाम मिटा कर आपका नाम लिख दिया।' राजा का चेहरा उदास हो गया। कहा, 'यह ग़लत परम्परा है। तुमने दूसरे का नाम मिटाया है, आगे मेरा नाम भी कोई मिटायेगा ही। यह ग़लत परम्परा शुरू कर दी।' इसी प्रकार पैसा खिलाने की परम्परा तुमने शुरू की, वह अब तुम्हारे ही सिर पर पड़ रही है। उस समय धैर्य नहीं था, अगर उस समय विचार कर लेते कि आगे इसका क्या नतीजा होना है, तो वह ग़लत काम कभी न करते।

धैर्य तभी होता है जब बुद्धिपूर्वक विचार करते हो कि जल्दबाजी का नुक्सान तुम्हें आगे उठाना पड़ेगा। जितने कर्म हैं उनका फल तुमको ही भोगना पड़ेगा, किसी दूसरे को नहीं। इसलिये धैर्य का कारण बुद्धि है। तुम्हारी बुद्धि विचार न कर सके, इसीलिये आधुनिक लोगों ने तुम्हारे हाथ में एक अच्छी चुस्की दी जिसका नाम है धर्मनिरपेक्षता जिसको मानने वालों का कहना है 'आगे किसने देखा है'। पहले-पहल इतना ही था कि मरने के बाद किसने देखा है पर अब तो उसकी सीमा यहाँ तक आ गई है कि जिन कार्यों का इसी जीवन में दुष्प्रभाव काफी सम्भावित है उन्हें करते वक्त भी लोग यही सोचने लगे हैं कि आगे किसने देखा है। उधार लेते हुए भी नहीं विचार करते कि लौटायेंगे कैसे, तत्काल का भोग ही दृष्टि में रखते हैं। सोचते हैं 'आगे किसने देखा है, हमने तो चार दिन की मौज ले ली।' यह सब धर्मनिरपेक्षता की भावना का ही प्रभाव है। अगर बुद्धि से विचार करो तो समझ आये कि धैर्य ही ठीक है। हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि रात को सोकर अगले दिन हम उठते हैं; बच्चे पैदा होकर स्तन-पान आदि करते हुए देखे जाते हैं; इन पर जो बुद्धिपूर्वक विचार करेगा, उसको तो यह मोह नहीं होगा कि आगे किसने देखा है क्योंकि उसको निश्चय रहेगा कि आगे है। इस निश्चय के कारण वह जानता है कि यदि किसी कार्य ने तुरंत फल नहीं दिया तो आगे अवश्य फल देगा। बहुत-से लोग सिग्रेट पीते हैं, कहते हैं 'मुझे तीन साल सिग्रेट पीते हुए हो गये, कुछ नुकसान नहीं हुआ।' जब बीस-पचीस साल बाद रोग-पीडित होते हैं तब पछतायें भी तो बेकार है क्योंकि तब भी अन्य ऐसी चेष्टाएँ नहीं छोड़ते जो भविष्य में हानिकारक हैं। 'आगे किसने देखा है' यह सोचने वाला ग़लत कामों को करेगा क्योंकि बार-बार उसकी बुद्धि यही कहती है कि 'आगे रहूँ, न रहूँ'। परन्तु जब निश्चय है कि 'आगे मैं रहूँगा ही। मैं नित्य हूँ, कभी न रहूँ यह

हो नहीं सकता' तब पाप प्रवृत्तियाँ रोकना ही स्वाभाविक हो जाता है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तेरे अविवेक या मोह का कारण भी यही है कि तू सोच रहा है कि भीष्म, द्रोण आदि नहीं रहेंगे। भीष्म द्रोण आदि रहेंगे ही—यह समझ लेगा तो अर्जुन का मोह मिट जायेगा। इसीलिये भगवान् आत्मा के नित्य स्वभाव को स्पष्ट कर रहे हैं। इस बात को आगे बतायेंगे। मूल अज्ञान की निवृत्ति ही मनुष्य को अपेक्षित है, यह बता दिया। अब जो विशेष घटनायें हैं अर्थात् तात्कालिक स्थिति है इसे आगे बतायेंगे और किस प्रकार भीष्म द्रोण आदि आगे और हमेशा रहेंगे इस पर भी विचार करेंगे।

जब अर्जुन युद्ध के बीच में पहुँचा तब न केवल बाहर का युद्ध उपस्थित हुआ वरन् उसके अपने अंदर भी दैवी और आसुरी भावों का युद्ध उपस्थित हो गया। दोनों प्रकारों के युद्ध के मैदान के बीच में वह खड़ा था। इसीलिये उसका विषाद अत्यधिक बढ़ा हुआ था। उसने प्रपत्ति के द्वारा, सर्वथा अपना समर्पण कर भगवान् से मार्ग-दर्शन की प्रार्थना की। अंदर के युद्ध का मूल कारण आत्मा और अनात्मा का अविवेक है। उसको हटाने के लिये भगवान् ने आत्मा के विषय में बताना शुरू किया। भगवान् ने कहा कि जिनको तू शोक का विषय समझ रहा है वे शोक के विषय नहीं हैं। शोक के विषय तीन हो सकते हैं—आत्मा, अनात्मा और आत्मा-अनात्मा को मिलाकर सारे व्यवहार को सिद्ध करना। इसमें भीष्म द्रोण आदि का व्यवहार स्वयं ही शोक के योग्य नहीं है क्योंकि तुम स्वयं उन्हें 'महानुभाव' कह रहे हो। बाकी जो दो बचे, उनमें आत्मा शोक का विषय नहीं क्योंकि नित्य है। शरीर आदि अनात्मा भी शोक का विषय नहीं हैं क्योंकि वे हैं ही अनित्य। आत्मा की नित्यता को बताने के लिये भगवान् ने कहा कि किस प्रकार 'मैं' का अभाव न पहले सिद्ध होता है और न बाद में। अर्थात् 'मैं' का न प्रागभाव और न प्रध्वंसाभाव हो सकता है।

'मैं' का अन्योन्याभाव भी नहीं हो सकता। यज्ञदत्तरूप 'मैं' का देवदत्त रूप 'मैं' से भेद हो यह सम्भव नहीं। किसी भी चीज़ की एकता कैसे मानते हो? जिस चीज़ का नाम एक हो और रूप भी एक हो उसी को एक मानते हो। देवदत्त नाम भी वही है, चेहरा मोहरा भी वही है, तो ऐसा नहीं मानते कि वह कल नीला स्वेटर पहनकर आया था, आज हरा स्वेटर पहन कर आया है तो व्यक्ति बदल गया है। क्योंकि देवदत्त का निरूपण करने वाला चेहरा वही है, नाम भी वही है। नाम बदले तब भी कोई सम्भावना होती है कि व्यक्ति एक नहीं है। एक बार मनाली गये हुए थे। वहाँ के मकान-मालिक को कोई काम बताया, उसने कहा वह शाम तक कर देगा। जब वह दूसरे दिन आया तो हमने उससे पूछा—'वह काम नहीं किया?' कहने लगा 'मुझ से तो नहीं कहा था।' हमने सोचा सर्वथा झूठ बोलने वाला है। फिर कहा—'आज दोपहर तक कर दूँगा।' उसने काम कर दिया। हमने कहा 'तुमने बहुत अच्छा किया।' कहने लगा 'कल शाम को आदमी नहीं मिला इसलिये नहीं करवा सका।' हमने कहा—'तुमने सवेरे झूठ क्यों बोला?' कहने लगा 'मैं सवेरे नहीं आया था,

मेरा भाई होगा! हम जुड़वाँ भाई हैं, इसलिये हम दोनों का चेहरा एक जैसा है।' ऐसे, कई बार चीज़ें दो होने पर भी एक प्रतीत हो जाती हैं। नाम और रूप ही दो चीज़ों को अलग या एक बताता है। घड़ा नाम और कपड़ा नाम अलग-अलग है, घड़े का रूप और कपड़े का रूप भी अलग-अलग है तभी उन्हें दो मानते हैं।

आत्मा का विचार करो : आत्मा किस प्रतीति का विषय है? 'मैं' इस प्रतीति का विषय है, 'अस्मत् प्रत्ययविषयत्वात्', 'मैं' से जिसकी प्रतीति होती है वही आत्मा है। चेतन ही आत्मा का रूप है। ज्ञान या जानना ही आत्मा का रूप है और वह 'मैं' इस प्रतीति का विषय है। देवदत्त, भानुदत्त, यज्ञदत्त, इन्द्रदत्त सभी अपने को 'मैं' कहते हैं। इसलिये नाम भी एक 'मैं' और उनसे रूप पूछते हैं तो सभी कहते हैं 'हम चेतन हैं, जानने वाले हैं'। नाम रूप दोनों एक हैं फिर आत्मा अनेक कैसे माने जायें? केवल स्वेटर बदलने से तो दूसरा आदमी नहीं मान लेंगे। नाम रूप एक है तो आदमी एक है; चाहे कपड़ा बदल दें। किन्तु आत्मा के विषय में हम यही भूल करते हैं कि नाम एक ही है और रूप भी एक ही है फिर भी आत्मा अनेक मान लेते हैं। 'मैं' नाम भी सबका एक, चेतन यह रूप भी सबका एक है फिर भी लोग कहते हैं कि गोरा 'मैं' अलग, काला 'मैं' अलग है। पहले भगवान् ने बताया था कि बालक, जवान, बुड्ढा—यों अवस्थाएँ बदल जाने से तुम आत्मा को बदला हुआ नहीं मानते। बालक और जवान शरीरों का रूप अलग-अलग होने पर भी आत्मा का अपना चेतन रूप तो एक ही है। उसमें कोई फ़र्क़ नहीं है। स्थूल शरीर की अवस्थाएँ बदलने पर जैसे आत्मा नहीं बदलता वैसे मृत्त्यु के बाद शरीर बदल जाने पर भी आत्मा नहीं बदलता। अब अगला कदम हिम्मत का है : प्रधानमंत्री अटल बिहारी से लेकर कल्लू तक सब अपना नाम 'मैं' और अपना रूप चेतन बताते हैं। फिर तुम इनमें आत्मा को अलग-अलग कैसे मान लेते हो? कोई आकर दरवाजा खटखटाता है, पूछते हो 'कौन?' तो कहता है 'मैं'। फिर पूछते हो 'मैं कौन?' तब वह शरीर का नाम बताता है 'यज्ञदत्त'। लेकिन पहले तो अपने को 'मैं' ही कहता है। इन शरीरों को अलग देखकर तुम उस चेतन को अलग-अलग कैसे मानते हो जबकि उसका न नाम अलग है, न रूप अलग है? इसलिये 'देहान्तरप्राप्ति' से भगवान् ने कह दिया कि अगले देहों की प्राप्ति में भी नहीं बदलेगा और यहाँ भी अनेक देहों के रहने पर भी आत्मा एक ही है। अतः आत्मा का अलगाव केवल भ्रम से है। शरीरों को अलग देखकर हम आत्मा को अलग मान लेते हैं, यह मानना सर्वथा अप्रामाणिक है। अतः सबमें रहने वाले इस आत्मा के विषय में शोक कैसे करें!।।१३।।

आत्मा की नित्यता तो कुछ आसानी से समझ में आती है। कपिल, कणाद, गौतम आदि के मतों को मानने वाले तथा अन्य अनेक द्वैतवादी लोग आत्मा को नित्य मानने को तैयार हो जाते हैं। शरीर के मरने पर आत्मा नहीं मरता, बना रहता है अर्थात् जन्मान्तर में बना रहता है—यहाँ तक मानने वाले लोग तो मिल जाते हैं। परन्तु सब शरीरों में एक आत्मा है इस प्रकार आत्मा की विभुता उन्हें सहन नहीं होती, यह बात ये लोग नहीं मान

पाते। क्यों नहीं मान पाते? सांख्यकारिका में बताया है कि एक आत्मा एक समय सुखी और दूसरा दुःखी हो रहा है तो दोनों एक कैसे हो सकते हैं? एक बद्ध है दूसरा मुक्त हो रहा है, एक स्वर्ग में जा रहा है, दूसरा नरक में जा रहा है; इन भेदों के कारण वे कहते हैं कि आत्मा नित्य तो है परन्तु हरेक का अलग-अलग आत्मा है। अब इन भेदों को भी भगवान् हटाते हैं–

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

हे कुन्तीपुत्र, भरतवंशी! इन्द्रियों के अपने विषयों से संबंध सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख प्रदान करते हैं। इन्द्रिय-संबंध कभी होता व कभी नहीं होता है अतः अनित्य है इसलिये सर्दी, गर्मी आदि से हर्ष या विषाद मत कर।

श्लोक में दो सम्बोधन दिये हैं–कौन्तेय और भारत। 'कुन्ती का पुत्र' बोधक कौन्तेय पद के द्वारा मातृकुल की शुद्धि और 'भारत' से पितृकुल की शुद्धि बताई। श्रुति में नियम किया है कि जिसके मातृकुल और पितृकुल दोनों शुद्ध होते हैं उसे ज्ञान होता है 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् वेद' माता से जिस तत्त्व की शिक्षा पाई हो, पिता से भी उसी तत्त्व की शिक्षा पाई हो, तब आचार्य से उस तत्त्व को जाना जाता है। अगर इनमें से एक से पाई और दूसरे से नहीं पाई तो दृढता नहीं हो पाती। हम लोगों के यहाँ इतने सब जो विवाह संबंधी नियम हैं कि अपनी-अपनी जाति में ही विवाह करना चाहिये अन्यत्र नहीं, उसका आधार यही है। मातृकुल पितृकुल अन्यथा होगा तो संतान को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये भगवान् अर्जुन से कहते हैं 'तू मातृकुलसे भी शुद्ध है और पितृकुल से भी शुद्ध है इसलिये इस चरम तत्त्व को समझ सकता है कि सर्वत्र एक आत्मा है। आचार्य मैं तुमको कह ही रहा हूँ। मैं भी तुम्हारे ही कुल का हूँ।' इन दो संबोधनों में भी पहली पंक्ति में 'कौन्तेय' कहा और दूसरी पंक्ति में 'भारत' कहा क्योंकि पहली पंक्ति में प्रकृति का प्राधान्य बता रहे हैं और दूसरी पंक्ति में पुरुष का प्राधान्य बता रहे हैं।

'आभिर्मीयन्ते' अर्थात् जिससे किसी चीज़ का ज्ञान होता है उसे मात्रा कहते हैं अर्थात् इन्द्रियाँ। इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान होता है। ऋग्वेद के कौषीतकी ब्राह्मण में 'प्रज्ञामात्रा' शब्द का प्रयोग है, वहाँ जिससे प्रज्ञा होती है उसे प्रज्ञामात्रा कहा है। स्पर्श अर्थात् इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध। इन्द्रियों से ज्ञान होता है परन्तु होगा तब जब इन्द्रियाँ विषय को स्पर्श करें। यह दरवाजा यहाँ है। हमारी त्वगिन्द्रिय से हमें इसके कड़ेपन का भान नहीं होगा। वह तभी होगा जब हम इसका स्पर्श करेंगे। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा स्पर्श किये जाते हैं इसलिये स्पर्श का अर्थ विषय भी है। विषय और इन्द्रिय का संबंध कहीं दूर से और कहीं नज़दीक से होता है। दरवाजा तो नज़दीक होगा तब स्पर्श होगा। परन्तु हम चन्द्रमा को भी तो देखते हैं। चन्द्रमा का ज्ञान कैसे हो जाता है? वह इस प्रकार होगा कि आँख

से चलने वाला जो चक्षु का प्रकाश है वह वहाँ पहुँचेगा। अथवा सूर्य का उदय हो चुका है, परन्तु हमें सूर्य नहीं दीख रहा है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय छत को भेद कर नहीं जा सकती। छत पर जाते हैं तब चक्षु इन्द्रिय वहाँ जाकर सूर्य का स्पर्श करती है, तब ज्ञान होता है।

आँख बहुत दूर जा सकती है, ध्रुव तक चली जाती है, इसलिये ध्रुव भी दीख जाता है। कान थोड़ी दूर तक जा सकते हैं लेकिन ज़्यादा दूर तक नहीं जा सकते। हम लोगों के हिसाब से ज़्यादा से ज़्यादा एक मील तक की आवाज़ कान सुन सकते हैं। इसलिये हम लोग दो मील की दूरी को 'कोस' कहते हैं। आजकल के बच्चे यह हिसाब नहीं समझ पायेंगे। एक कोस में लगभग दो मील होते हैं। कोस को ही संस्कृत में क्रोश कहते हैं। यदि कोई ज़ोर से आवाज़ दे, तो दोनों ओर एक-एक मील तक ही आवाज़ फैल सकती है। यह मानकर दो मील की दूरी को क्रोश कहते हैं। 'आक्रोश' शब्द में भी 'क्रोश' है। आक्रोश गुस्से को कहते हैं, गुस्से में व्यक्ति ज़ोर से चिल्लाने लगता है। यद्यपि चिल्लाने से कोई बात सत्यापित नहीं होती तथापि अविचारशीलों को लगता है कि चिल्ला देने से उनकी बात प्रामाणिक हो जाती है। इसी से हमारी संसद में सदस्य इतना हल्ला-गुल्ला करते हैं। जिन देशों में सांसद समझदार होते हैं वहाँ चीखना-चिल्लाना नहीं होता वरन् विचार और विश्लेषण, अपने-अपने दलों के सिद्धान्तों के अनुसार निर्णय होते हैं। ज़ोर-आजमाइश तो अखाड़े में होती है न कि सभा में! गाय की आवाज़ को प्रमाण लें तो कह सकते हैं कि एक मील तक उसकी ध्वनि जा सकती है। इसलिये दो मील की दूरी क्रोश कही जाती है। कान ज़्यादा से ज़्यादा इतनी दूर का सुन सकते हैं, है यह भी मुश्किल, लेकिन उससे आगे नहीं सुन सकते। आँख तो सूर्य, चन्द्र और ध्रुव तक पहुँच जायेगी। कान उतनी दूर नहीं जायेंगे, परन्तु क्रोश भर जा सकते हैं आर्थात् उतनी दूर तक सुन सकते हैं।

आजकल का विज्ञान हमें उल्टी विद्या सिखा देता है। वह कहता है कि वहाँ जाकर आँख नहीं देखती, यहीं देख लेती है। वहाँ से किरणें आकर आँख के पर्दे पर पड़ती हैं तब ज्ञान होता है। उनसे पूछो कि फिर यहाँ ज्ञान होना चाहिये, सूर्य या चन्द्र वहाँ है, यह ज्ञान कैसे हो जाता है? अपनी उल्टी विद्या से हिसाब लगा कर कहते हैं कि 'वहाँ है' यह अनुमान होता है! निकट की चीज़ें देखकर उन्हें छूने पकड़ने जाते हैं तो अन्दाज़ लगता है कि किस तरह दीखने पर कितनी दूर चीज़ होती है, तब सूर्यादि देखकर भी अनुमान कर लेते हैं कि वह अत्यधिक दूर है। किन्तु ऐसा अनुमान किसी के अनुभव में नहीं आता, 'दूर है' यह प्रत्यक्ष ही होता है, परोक्ष नहीं। स्पर्शेन्द्रिय से तो ज्ञान तभी होगा जब बिल्कुल समीप संबंध हो जायेगा। इसी प्रकार जीभ के ऊपर रसगुल्ला आ जाये तभी स्वाद का पता लगेगा। अगर जीभ, आँख कान की तरह हो तो हलवाई सब दीवालिये हो जाते क्योंकि रसगुल्ला देखते तो रसगुल्ले का स्वाद आ जाता! घ्राणेन्द्रिय बीच की स्थिति वाली है। नाक से दूर की गंध भी आती है और पास की गंध तो आती ही है। परन्तु नाक से विषय का ग्रहण नहीं होता। गुलाब की गंध आने से वहाँ गुलाब का फूल है या कोई गुलाब का इत्र

लगाकर आया है—यह पता नहीं लगता केवल गंध आती है, विषय को नासिका ग्रहण नहीं करती। जैसे आँख से पता लगता है कि यह आदमी है या घोड़ा है। ऐसे नासिका से विषय का पता नहीं लगता। रसनेन्द्रिय और त्वक् से तो तभी ग्रहण होता है जब विषय अत्यन्त समीप हो, चक्षु व श्रोत्र काफी दूर का विषय ग्रहण करती हैं, घ्राण दूर और पास दोनों जगह की गंध सूंघ लेती है। किन्तु इन्द्रियों से ग्रहण होता तभी है जब विषय-इन्द्रिय का संबंध हो।

इन्द्रिय और विषय का जो आपस का संबंध है उसी से शीत-उष्ण और सुख-दुःख होता है। सर्दी गर्मी से सारे विषयों की उपलक्षणा कर लेना। सर्दी गर्मी की तरह ही सारे भिन्न-भिन्न विषय हैं। स्थूल शरीर से ही तुम्हें सर्दी-गर्मी लगती है इसलिये शीत-उष्ण को पहले ले लिया। दूसरी चीज़ सुख-दुःख को लिया। जैसे इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों का ज्ञान करती हैं वैसे ही अंदर के पदार्थों का ज्ञान करने वाला मन है। इसलिये मन को भी कहीं-कहीं इन्द्रिय कहा। मन सुख-दुःख को ग्रहण करता है। सुख और दुःख विषयों से नहीं होता। सर्दी-गर्मी का अनुभव तो इन्द्रिय और विषय के अधीन है लेकिन सुख-दुःख का अनुभव मन के अधीन है। सुख अर्थात् अनुकूल अनुभव। जो चीज़ हमें अनुकूल लगती है वह सुख देती है। इसलिये सुख-दुःख का भेद बना रहता है : एक के लिए जो ठंडा है, दूसरे के लिये वह गर्म भी हो जाता है। विज्ञान में एक प्रयोग करते हैं। काँच के तीन गिलास लेते हैं। एक में बर्फ का पानी, दूसरे में कदोष्ण (निवाया गर्म) और तीसरे में ठंडा (नलका) पानी डाल देते हैं। अपना एक हाथ बर्फ के पानी में और दूसरा हाथ निवाये पानी में डाल देते हैं। थोड़ी देर बार दोनों हाथ नल के पानी में डालते हैं तो एक हाथ से वह गर्म और दूसरे से ठंडा लगता है! एक हाथ को जो ठंडा लग रहा है, दूसरे हाथ को वह गर्म लग रहा है! इसलिये शीत-उष्ण के अनुभव में कोई नियम नहीं है, वह सापेक्ष है। क्या ठंडा क्या गर्म—यह निर्णय नहीं कर सकते। परंतु सुख-दुःख में ऐसा नहीं है। वह तो हरेक को एक जैसा है। जो अनुकूल है उससे सुख और जो प्रतिकूल है उससे दुःख होता है। इसलिये सुख-दुःख तो एक ही स्वभाव वाले हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। इस तरह बाह्य इन्द्रियों का संबंध और मन का संबंध दोनों का संग्रह हो गया।

मन से भी सुख-दुःख हमेशा किसी विषय से होता है। जैसे गर्मी-सर्दी विषय के द्वारा ही होगी इसी प्रकार मन भी किसी-न-किसी विषय को लेकर ही अनुकूलता या प्रतिकूलता लायेगा। इन्द्रियाँ भी महाभूतों से बनी हुई हैं। मन भी महाभूतों से बना हुआ है और विषय भी महाभूतों से बने हुए हैं। इसलिये इनमें प्रकृति का प्राधान्य है जिसने महाभूत बनाये हैं। इसलिये 'कौन्तेय' विशेषण दिया कि कुन्ती का पुत्र होने से इनका अनुभव करता है। यह कुन्ती माता अर्थात् प्रकृति के प्राधन्य से है। 'भारत' संबोधन से बताया कि पितृकुल की प्रधानता से इनको सहन करना सीख, तितिक्षा करना सीख। तितिक्षा तब कर पायेगा जब पुरुष-प्रधान होगा। 'मैं चेतन इनको जानने वाला वैसा का वैसा हूँ, वह

मैं निर्विकार हूँ और ये सारे आगमापायी हैं' यह बोध बनाये रखना है। आगम अर्थात् आना, अपाय अर्थात् चले जाना; ये सब आने जाने वाले हैं। आजकल ठंड पड़ रही है। क्या कोई बैठकर रोता है कि क्यों सर्दी पड़ रही है! थोड़े दिन में बसन्त आ जायेगा। सर्दी लगती है, जानते हैं इस समय लग रही है। आगे गर्मी आ जायेगी। इसके लिये तुम्हें कोई प्रयत्न करने की ज़रूरत नहीं है। फिर क्या करते हो? तितिक्षा करते हो, सहन करते हो। भगवान् कहते हैं कि इसका मतलब यह हुआ कि जो आगमापायी हैं उनकी तितिक्षा कर लेनी चाहिये। विषय और इन्द्रियों के जितने संबंध हैं वे सब आगमापायी हैं। कभी-न-कभी विषय का संबंध इन्द्रिय से हुआ, थोड़ी देर में चला जायेगा। उसके बारे में शोक क्यों किया जाये? उससे न तो हर्ष और न शोक करने का प्रसङ्ग है।

किंतु लोग इसी से परेशान रहते हैं। बड़े से बड़े दुःख की परिस्थिति आती है, निकल जाती है। हल्ला मचाओ तो, नहीं माचाओ तो, निकल तो जायेगी ही। तुम साक्षी रूप में पुरुष-प्रधान होकर देखते रहो कि ये आये हैं, चले जायेंगे। जैसे शीत, उष्ण हैं अथवा दूसरे विषय हैं, वैसे ही सुख-दुःख हैं। सुख आता है चला जाता है, दुःख आता है वह भी चला जायेगा। विचित्र परिस्थिति है कि कोई कभी किसी डाक्टर को नहीं कहता—'डाक्टर साहेब! हमें पाँच साल से टायफाय्ड नहीं हुआ है, कोई इंजैक्शन लगाईये कि टायफाय्ड हो जाये।' कोई नहीं बुलाता, बिना बुलाये रोग आ जाता है। विचार करो, जैसे बिना प्रयत्न किये आया है वैसे ही चला भी जायेगा। परन्तु मनुष्य को लगता है कि दुःख बिना प्रयत्न के आता है, परन्तु सुख बिना प्रयत्न के नहीं आता है! यह मन में जाँच गया है, जबकि रोज़ अनुभव होता है कि सुख भी बिना प्रयत्न के आता है। ठंड पड़ रही है, एक दिन धूप खिल गई, उसमें बैठकर बड़ा सुख हुआ। इसके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। गर्मी में बैठे हैं। अकस्मात् आंधी आ गई, मौसम में ठंडक आ गयी। इस अनुभव के होते हुए भी हमने गाँठ बाँध रखी है कि दुःख तो अपने आप आता है, सुख हमारे प्रयत्न के बिना नहीं आयेगा। इसलिये दुःख को सहन नहीं कर पाते, विषाद करने लगते हैं। जब प्रयत्न से सुख होता है तब सोचते हैं कि 'मैंने बड़ा भारी काम कर लिया, दुःख के बारे में तो नहीं सोचते कि 'मैंने कितना बड़ा काम कर लिया। जुकाम से मेरे टान्सिल बढ़ गये, मैंने कितनी मेहनत की'—ऐसा कोई नहीं कहता। भगवान् कहते हैं कि जैसे सुख को देखने वाले बनते हो, ऐसे ही दुःख को भी देखने वाले बनो। उसे सहन करो, आया है, चला जायेगा।

अतः सुख-दुःख के कारण या सर्दी-गर्मी के कारण जो तुम अनेक आत्माओं को मानते हो, वह नहीं बनता। जिस प्रकार से एक रस्सी में मन्दान्धकार में एक व्यक्ति को माला दीखती है, दूसरे को साँप दीखता है, तीसरे को जलधारा दिखती है तो क्या कोई कहता है कि यहाँ तीन रस्सियाँ होनी चाहिये? एक ही रस्सी में तीन जनों को तीन भ्रम होते हैं। रस्सी एक ही रहती है। ठीक इसी प्रकार एक आत्मा में एक मन

को सुख का, दूसरे को दुःख का भ्रम होता है। एक इन्द्रिय को शीत का, दूसरी इन्द्रिय को उष्ण का भ्रम हो रहा है। इससे आत्मा अनेक कैसे सिद्ध हो जायेंगे? इसलिये कहा है 'भारत!' अर्थात् एक अद्वितीय आत्मा ही है यह निश्चिय करके तुम उस ज्ञान के अन्दर रत होकर रहो।

अर्जुन जब विषाद-मग्न था और उस विषाद से निकलने के लिये उसने भगवान् से मार्ग पूछा तब भगवान् ने उसके विषाद में एक मूल कारण और दूसरा अवान्तर कारण बताया। मूल कारण आत्मा और अनात्मा का अविवेक है और अवान्तर कारण धर्माधर्म का अविवेक है। भगवान् ने इसे हटाने के लिये उपदेश दिया। अतः धर्माधर्म को और आत्मा-अनात्मा को अलग करके बताया। ये दो ही गीता के तात्पर्य हैं। साथ में, दोनों किस प्रकार एक-दूसरे से संबंधित हैं, यह भी बताया। यही सारे वेदों का तात्पर्य है; धर्म और मोक्ष—इन दो चीज़ों का प्रतिपादन ही वेदों का तात्पर्य है। इन दोनों के संबंध को भी शास्त्र में स्पष्ट किया है। सबसे पहले भगवान् ने अच्छे वैद्य की तरह मूल कारण को दूर करने के लिये आत्मतत्त्व का उपदेश प्रारम्भ किया। अच्छा वैद्य रोग-निदान के द्वारा रोग के मूल कारण का पता लगाकर उसको दूर करने के लिये मुख्य औषधि देता है। और अवान्तर कारण को दूर करने के लिये जिन चीज़ों को रोगी मुश्किल समझता है उसका उपाय बता देता है। मूल कारण के रहते रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती। और रोग की निवृत्ति हुए बिना रोगी स्वस्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि आत्मा के विषय में भ्रम है तो एक प्रकार का दुःख जायेगा भी तो दूसरे प्रकार का दुःख आ जायेगा। अतः मूल कारण की निवृत्ति को ही अच्छे वैद्य की तरह प्रधान समझ कर भगवान् ने आत्मतत्त्व का उपदेश देना प्रारम्भ किया। उसी क्रम में भगवान् ने उसे बताया कि स्थूल देहों से भी आत्मा अलग है और जिसे हम 'मैं' शब्द से कहते हैं उस सूक्ष्म देह से भी आत्मा अलग है। प्रश्न उठा कि सुख-दुःख इत्यादि अलग-अलग दीखते हैं तो कैसे मान लें कि सुखी-दुःखी एक ही है? भगवान् ने बताया कि सुख-दुःख इन्द्रिय, मन और विषय के संबंध से होते हैं। सुख-दुःख का संबंध मन से है, आत्मा से नहीं।

इन्द्रियों को 'मात्रा' कहते हैं। इन्द्रिय और मन वाला जब आत्मा होता है तब उसे 'जानने वाला' या 'प्रमाता' कहते हैं। प्रमाता अर्थात जानने वाला। प्रमाता जानने वाला क्यों हैं? क्योंकि ज्ञान का आश्रय है। जिसको ज्ञान होता है वह प्रमाता है, जानने वाला है। धन वाला धन तो नहीं है क्योंकि कभी उसका धन रहता है, कभी नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार जानने वाला ज्ञान नहीं होता। वह जानने वाला है जैसे धनी धन वाला है परन्तु धन नहीं है। जानने वाला ज्ञान के होने पर जानने वाला है। 'जानने वाला मैं हूँ' यह पक्की बात है। भ्रम तुम को यह हो जाता है कि मैं जानने वाला ही ज्ञान हूँ। ज्ञान जिसमें रहता है, वह प्रमाता है। ज्ञान के रहने से जानने वाला है। और जब इसमें ज्ञान नहीं रहता तब जानने वाला नहीं है। इस 'मैं' का ज्ञान हमेशा किसी साधन या औजार से होता है।

बिना औजार के जान नहीं सकते। आचार्य शंकर कहते हैं, जैसे तुम किसी बढ़िया से बढ़िया बढ़ई को बुलाकर कहो 'इस मेज़ का यह हिस्सा टूट गया है, बना दो।' तो वह कहेगा 'मैं जा कर अपने औजार लाता हूँ।' तुम कहो 'औजार से क्या होगा! तुम तो बढ़ई हो।' वह कहेगा 'हूँ तो, लेकिन बिना औजारों के कैसे बनाऊँगा!' बसूला, छैनी आदि सब चीज़ें मेज बनायेंगी लेकिन बनाने वाला बढ़ई है। न हथौड़ा और न छैनी मेज बनायेगी। न केवल बनाने वाले से काम होगा।

केवल औजार से भी काम नहीं होता है। एक जगह डकैती बहुत होने लगी। वहाँ के एक सेठ जी बहुत घबड़ाये कि कहीं मेरे घर भी डाका न पड़ जाये। उन्होंने वहाँ के ठाकुर साहब से पूछा 'यहाँ डकैती बहुत हो रही है। आपने कुछ इंतजाम नहीं किया?' उन्होंने कहा 'मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है! मेरे पास दुनाली बंदूक है, तलवार है। भाला भी है। चोर मेरे यहाँ आयेंगे तो उन्हें ठीक कर दूँगा। इनसे बचाव हो जायेगा। आप तो धनी हैं। आप भी ऐसे दो चार हथियार रख लीजिये।' सेठ जी ने मान लिया। कुछ लोगों ने सेठ जी से कहा 'डकैती बहुत हो रही है, आप अपनी रक्षा के लिये चार-छह आदमी रख लीजिये।' सेठ जी ने कहा 'आदमियों की कोई ज़रूरत नहीं है, अपने पास सब हथियार हैं।' एक बार उनके यहाँ डकैत आ गये।

जब डाकुओं ने दरवाज़ा तोड़ना शुरू किया तो सेठ जी ने बंदूक से कहा—'चल, इन्हें मार दे।' तब तक दरवाज़ा टूट गया, वे अन्दर आ गये। सेठ जी ने भाले से कहा—'तू ही कुछ कर।' डाकू लूटकर जाने लगे तो तलवार से कहा—'अब तू तो इन्हें काट दे।' उसे क्या काटना था! सेठ जी को गुस्सा आया कि 'मैंने तुम्हारे ऊपर इतने रुपये खर्च किये और तुमने कुछ काम नहीं किया।' तलवार पर गुस्से में पैर मारा और कहा 'नालायक कहीं की' और उनका पैर कट गया। कहने लगे, 'दुश्मन को मारती नहीं और घर में घाव करती है!' उन्होंने ठाकुर साहब से कहा—'मैंने आपके कहने से सब कुछ मंगाया लेकिन सब नालायक निकले। कुछ काम नहीं किया।' ठाकुर साहब ने कहा—'बंदूक चलाने वाला कोई अच्छा आदमी रखा था या नहीं?' कहने लगे 'वह तो नहीं रखा था।' तब ठाकुर साहब ने कहा—'जब इन्हें चलाने वाला नहीं रखा तो ये अपने आप थोड़े ही चलेंगे।' केवल चलाने वाले को रखो और उसके हाथ में हथियार नहीं है तब भी काम नहीं होगा। केवल चलने वाली बंदूक आदि रखो तब भी काम नहीं होगा। बसूला, छैनी, हथौड़ा होगा और बढ़ई होगा तभी तुम्हारी मेज़ बनने का काम होगा।

इसी प्रकार ज्ञान जिसको होगा वह प्रमाता चलाने वाला मैं, क्योंकि जानने वाला 'मैं' है। वह काम तब कर सकेगा जब जिसे चलाना है वे आँख, कान, नाक इत्यादि हों। इसलिये प्रमाता वह जो चलाने वाला है, जिसमें ज्ञान रहेगा और प्रमाण वे औजार आँख, कान आदि जिनसे ज्ञान होगा। जिस विषय का ज्ञान होना है, जो ज्ञान का विषय है, वह प्रमेय है। हमारे पास आँख भी है। हम चलाने वाले भी हैं। लेकिन कमरे में कुछ हो ही

नहीं तो क्या देखेंगे! अतः जानने वाला प्रमाता या ज्ञाता; जिससे जानता है वे प्रमाण इन्द्रियाँ, मन; और जिसको जानता है वह प्रमेय; तीनों मिलें तब ज्ञान होता है। इनमें से कोई भी एक अकेला काम नहीं कर सकता। कमरे में कितनी भी चीज़ें भरी हुई हों, यदि मैं जानने वाला नहीं तो वे जानी नहीं जा सकतीं। तीनों चीज़ें मिलें, तभी ज्ञान होगा।

इन तीनों में प्रधान प्रमाता माना जाता है। 'मैं' प्रधान है क्योंकि मैं हूँ तब इन्द्रियों को भी प्रवृत्त करूंगा। मैं हूँ तभी मैं प्रमेय को जानूँगा। यद्यपि तीनों एक दूसरे से सिद्ध होंगे, इनमें से कोई एक काम नहीं कर सकता, फिर भी इन सबके अंदर प्रधानता जानने वाले की मानी जाती है। कोई चीज़ बढ़िया नहीं बनी तो यही कहा जाता है कि यहाँ बढ़ई अच्छा नहीं था। इसी प्रकार यहाँ पर प्रमाता प्रधान है क्योंकि सबका प्रयोजक वही होता है। प्रमाता होता है तब प्रमाण से प्रमेय को जानता है। लेकिन तीनों सापेक्ष हैं, एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

इन तीनों से अलग जो ज्ञानमात्र है, वह निरपेक्ष है क्योंकि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय तीनों उससे हैं, वह इन तीनों से नहीं है। अतः 'ज्ञानमात्र' शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। 'घड़े का ज्ञान' इस (प्रयोग) में ज्ञानमात्र नहीं है। यहाँ घड़े के साथ ज्ञान है, अतः घड़े की अपेक्षा, जानने वाले की अपेक्षा और आँख आदि की अपेक्षा करेगा। 'ज्ञानमात्र' से इस ज्ञान को नहीं कह रहे हैं। ज्ञानमात्र अर्थात् जिसके आने से मैं जानने वाला बना वह ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान है। ज्ञानमात्र तो इन तीनों की अपेक्षा नहीं करता परन्तु ये तीनों एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं और बिना ज्ञान के ये तीनों सिद्ध होते नहीं।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय की अपेक्षा से जो होता है अर्थात् इन तीनों से जो होता है वह तुम्हें सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख देता है। ये सब सापेक्ष होने से आगमापायी हैं। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय का संबंध कहीं होता है, कहीं नहीं होता है। इस निरपेक्ष ज्ञान की सिद्धि कैसे होती है? इन सापेक्ष आगमापायी ज्ञानों के होने से निरपेक्ष ज्ञान की सिद्धि होती है। ये प्रमाता आदि अवस्थाओं के भी सापेक्ष हैं। जाग्रत् की इंद्रियाँ और विषय स्वप्न में काम नहीं आते, स्वप्न के इंद्रियादि जाग्रत् में काम नहीं आते। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एक-दूसरे के सापेक्ष हैं और अवस्था के सापेक्ष हैं इसलिये सच्चे नहीं हैं। परन्तु जाग्रत् का 'मैं' और स्वप्न का 'मैं' तो एक ही है। उसमें तो कोई फ़र्क नहीं है। इसलिये वह निरपेक्ष ही रहा।

जानने वाला वह हुआ जिसमें ज्ञान रहता है। पर ज्ञान, जानने वाले के सापेक्ष नहीं कि कोई जानने वाला हो तब ज्ञान हो! वह तो सर्वथा निरपेक्ष है। दूसरे कहते हैं कि यहाँ तक तो आपकी बात ठीक है कि जानने वाला आत्मा है, परन्तु यह जो आप कहते हैं कि 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म' वह ज्ञानमात्र कहाँ सिद्ध होता है? जानने वाला तो स्वप्न जाग्रत् में सिद्ध कर दिया, ज्ञानमात्र कहाँ सिद्ध होता है? भगवान् ने कृपा करके हमें सुषुप्ति दे दी।

किसी-किसी को मूर्च्छा भी होती है। कोई-कोई समाधि का अभ्यास भी करता है। सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि में क्या कोई 'जानने वाला' रहता है? सुषुप्ति के अंदर क्या मैं जानने वाला रहता हूँ? इसी प्रकार मूर्च्छा, समाधि में भी नहीं रहता। जानने वाला मैं भी सुषुप्ति में नहीं रहता, परन्तु क्या वहाँ ज्ञान नहीं रहता? नहीं रहता तो उठकर कैसे कहते हो कि 'मैं बड़े मज़े से सोया।' यह जो 'जानने वाला' 'मैं' है यह भी आगमापायी है। यह जाग्रत् स्वप्न में आता है और सुषुप्ति में चला जाता है। किन्तु इन तीनों अवस्थाओं में रहने वाला ज्ञान एक जैसा है। उस ज्ञान में कहीं कोई फ़र्क नहीं है। मैं हो तो इस ज्ञान का आश्रय बनता है, इन्द्रियाँ हों तो ज्ञान का साधन बनती हैं, विषय हों तो ज्ञान का प्रमेय या ज्ञेय होते हैं, परन्तु ज्ञान तो जैसा जाग्रत् में वैसा ही स्वप्न और सुषुप्ति में है। जाग्रत् में प्रमाता, प्रमाण प्रमेय हैं तो तीनों में ज्ञान आ जाता है। स्वप्न में जानने वाला है और जिसको जानता है वह मन है। मन को जानने के लिये इन्द्रियों की ज़रूरत नहीं है। सुषुप्ति में ज्ञानमात्र रह जाता है। सुख-दुःख आगमापायी हैं, अनित्य हैं, उनके लिये ज़्यादा माथा-फोड़ी कोई बुद्धिमान् नहीं करता है। छोटा (ना समझ) बच्चा थोड़ी-सी चीज के लिये बड़ा परेशान हो जाता है। वह कहता है 'मुझे चॉकलेट खानी है।' उसको कहते हैं 'नौकर को भेजकर मंगवा देते हैं।' उसकी समझ में नहीं आता। वह रोने लगता है, जब तक चॉकलेट नहीं आ जाती तब तक रोता ही रहेगा। समझदार को कहते हैं कि नौकर को भेजा है, तो उसका रोना बन्द हो जाता है क्योंकि समझ लेता है कि दस मिनट में आ जायेगा। वह ज़्यादा परेशान नहीं होता। ठीक इसी प्रकार अविचारशील लोग, जैसे ही कोई दुःख आता है कहते हैं 'तुरन्त चला जाये', इसलिये परेशान हो जाते हैं। जो समझदार है वह कहता है 'आया है तो चला जायेगा, इसमें दुःखी क्या होना है!' इसी प्रकार सुख आया है तो वह भी चला जायेगा, इसलिये हर्ष से फूलकर दर्प वाला नहीं बन जाना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है—कि जब सुख ज़्यादा होता है तब हर्ष होता है जिससे दर्प होता है कि 'वाह! मैं बड़ा धन्य हूँ, मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है।' दर्प वाला धर्म का अतिक्रमण करता है और आगे के लिये दुःख उपजा लेता है। दुःख प्रायः मनुष्य को इस प्रकार से अधर्म में प्रवृत्त नहीं करता। सुख आता है तो विचारशील जानता है कि यह भी आगमापायी है, निकल जायेगा, परन्तु मैंने दर्प में धर्म का अतिक्रमण कर लिया तो वह पाप हमेशा मेरे साथ रहेगा। सुख के समय वह आने वाले दुःख को देखता है। दुःखके समय वह इसको आगमापायी समझ कर सुख को देखता है कि दुःख आया है, चला जायेगा, आगे सुख होगा।

प्रायः जब पहले मोतीझरा (टायफाइड) होता था तब इक्कीस दिन तक कुछ खाने को नहीं देते थे। उदर का सारा विकार दूर हो जाता था। फिर खाने-पीने लगते थे तो तगड़े हो जाते थे और प्रायः दो तीन साल तक कोई बुखार नहीं आता था। अब कहते हैं इतने दिनों तक कौन भूखा रहे! दवाई खा लेते हैं, बुखार उतर जाता है। फिर कुछ दिन में बुखार

आ जाता है फिर दवाई लेते हैं। जिस किसी से बात करो, वह 'रिलैप्स' (पुनः ज्वरस्थिति) की बात करता है। यह बात आज से तीस साल पहले वालों को समझ में ही नहीं आती कि वही रोग बार-बार क्यों आता है? उस समय आगमापायिता का विचार था कि इक्कीस दिन तक भूख सहन कर लेंगे तो फिर तगड़े हो जायेंगे। लेकिन आज अधीर हो जाते हैं कि 'इक्कीस दिन तक कैसे सहन करेंगे!' इसलिये चिकित्सक भी सात-आठ दिन में बुखार उतार देते हैं और फिर साल भर तक रोग चलता रहता है।

दुःख आने पर धैर्य वाला कहता है कि दुःख आया है तो यह हमारे पापों को दूर करके चला जायेगा, हम स्वस्थ हो जायेंगे, इसलिये उसे भोग कर ख़त्म कर देता है। अविचारशील इस बात को नहीं सोचता कि यह दुःख निवृत्त होकर सुख आयेगा। इसलिये उस दुःख को हटाने के लिये हाथ-पैर मारता रहता है और ज़्यादा पाप इकट्ठा करता रहता है। जो व्यक्ति सुख आने पर दुःख का विचार और दुःख आने पर सुख का विचार करता है उसकी तितिक्षा सिद्ध होती है। न दुःख को भगाने में परेशान होता है और न सुख में इस बात को भूलता है कि 'मैं क्या करूं और क्या न करूं' क्योंकि जानता है कि यह भी हमेशा रहने वाला नहीं है।

भगवान् ने कहा कि इस प्रकार सुखादि को आगमापायी, अनित्य समझना है और ज्ञानमात्र को नित्य जानना है। नित्य ज्ञान पर प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय खेल कर रहे हैं। 'मैं' वह अधिष्ठान है जिसके ऊपर इनका खेल होता है। व्यवहार के अन्दर हमेशा सुखादि की आगमापायिता को जानना है। आत्मा, मैं जब तक प्रमाता बना रहेगा तब तक अपने को दुःखी समझेगा। जब अपने को अधिष्ठान जानता है तब उसे पता है कि चिदाभास दुःखी है, 'मैं' दुःखादि से रहित हूँ। मेरे कारण सुख-दुःख हैं, पर मैं सुखी-दुःखी नहीं हूँ।।१४।।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय सभी आगमापायी हैं अतः इनके संबंधों से होने वाले शीत-उष्ण इत्यादि ऐन्द्रिय ज्ञान और सुख-दुःख आदि मानस ज्ञान सभी आने जाने वाले हैं। इनके प्रति प्रतिक्रिया से रहित होकर इनको सहन कर लेना चाहिये। अन्यथा क्रिया और प्रतिक्रिया के प्रवाह में पड़कर अपने वास्तविक उद्देश्य से मनुष्य च्युत हो जाता है। जो व्यक्ति दर्जी को कपड़ा देकर दिन में चार बार उसके सिर पर जाकर खड़ा होता है कि 'मेरा कपड़ा बन गया या नहीं' उसका कपड़ा तो दो दिन में सी दिया जाता है। जिसे दर्जी ने कहा, 'सोमवार को आना,' और वह सोमवार को पहुँचता है तो दर्जी कहता है 'थोड़ा काम बाकी है, बृहस्पतिवार को आना।' यों उसका कपड़ा महीने भर में भी तैयार नहीं होता। ठीक इसी प्रकार हम लोगों के जीवन में शीत-उष्ण सुख-दुःख आदि ऐन्द्रिय और मानस चीज़ें एक के बाद एक आती हैं, वे क्रियायें होती रहती हैं, उनमें से हरेक का हमको प्रतिकार करना पड़ता है। एक को निपटाओ तो दूसरा काम आ जाता है। उसे निपटाओ तो तीसरा आ जाता है। इसी सब के अन्दर हमारा सारा समय लग जाता है और जो

असली उद्देश्य आत्मतत्त्व की प्राप्ति है उससे हम च्युत हो जाते हैं। आस्तिक आत्मतत्त्व की प्राप्ति करना चाहता नहीं, ऐसी बात नहीं है। हर बार वह सोचता है कि 'बस, यह काम निपटाकर करूंगा।' प्रारब्ध भोग जब तक है तब तक ये चीजें सामने आती ही रहेंगी, जब प्रारब्ध भोग ख़त्म होगा तभी ख़त्म होंगी। इसलिये, 'काम निपटाकर हम साधना करेंगे' यह सम्भावना नहीं हो पाती। जब हम शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादि ऐन्द्रिय और मानस क्रियाओं के प्रति प्रतिक्रिया करना छोड़ देते हैं इस निश्चय के साथ कि 'इनको होना है, होने दो, हमको तो अपना काम बनाना है', तभी आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये भगवान् ने कहा कि इनकी तितिक्षा करो, इन्हें सहन करो। सहन करने से क्या फल होगा, यह बताते हैं—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख-दुःख में सम बने रहने वाले जिस धीर पुरुषको ये शीतोष्णादि विचलित नहीं करते, वह मोक्ष पाने में समर्थ होता है।

भगवान् कहते हैं कि तितिक्षा करने वाला मोक्ष के योग्य बन जाता है। तितिक्षु मोक्ष-योग्य बनता है यह याद रखना। लोग आकर पूछते रहते हैं कि सहन करने से सांसारिक सफलता मिलेगी या नहीं? वे कहते हैं कि 'हम तो सहन करेंगे लेकिन सामने वाला फिर भी विक्षेप करता रहे तो क्या करें?' अर्थात् हमारे सहन करने से सामने वाला बदल जायेगा या नहीं, अर्थात् इससे लौकिक फायदा क्या होगा? भगवान् ने यह नहीं कहा कि लौकिक फायदा होगा, उन्होंने तो कहा है कि मोक्ष-योग्य बनोगे। यदि सांसारिक सफलता चाहते हो तो क्रिया-प्रतिक्रिया की कड़ी तोड़ने से नहीं होगा। प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग अलग-अलग हैं। क्रिया-प्रतिक्रिया की कड़ी जहाँ है वहाँ धर्म का प्रसङ्ग है। और जहाँ क्रिया-प्रतिक्रिया की कड़ी के टूटने का प्रसंग है वहाँ सहन करना है।

भगवान् ने कहा कि मोक्ष के योग्य कौन हो जाता है? 'यं एते न व्यथयन्ति' शीत-उष्ण, सुख-दुःख जिसे व्यथा नहीं देते। सुख, सुख ही दीखेगा; दुःख, दुःख ही दीखेगा। दुःख, सुख दीख जाये, या सुख, दुःख दीख जाये, ऐसा नहीं है। सर्दी गर्मी और गर्मी सर्दी दीख जाये, ऐसा नहीं होता है। सर्दी, सर्दी ही दीखेगी, गर्मी, गर्मी ही दीखेगी। परन्तु व्यथा नहीं होगी। व्यथा उन चीज़ों को अपना स्वरूप समझकर होती है। ऐसे समझो, अखबार में बाँचते हो कि काश्मीर में बम फटा, पाँच आदमी मर गये। पढ़कर दुःख होता है परन्तु व्यथा नहीं होती। दुःखी होकर, हाथ-पैर ठंडे पड़कर दुकान जाना नहीं छोड़ते। परन्तु अगर मेरा बेटा मरता है तो केवल दुःख नहीं, व्यथा भी होती है। घटना तो एक ही है, मरने की घटना दोनों जगह हुई। लेकिन बेटे के मरने से व्यथा होती है। हाथ पैर ठंडे पड़ जाते हैं, छाती बैठने लगती है। यही व्यथा और दुःख में अन्तर है। दुःख तो

दोनों जगह है लेकिन एक जगह दुःख से व्यथा हो रही है क्योंकि इसके साथ अपना तादात्म्य अध्यास है। गौण तादात्म्य है, इसलिये दुःख व्यथा में बदलता है। जहाँ अपने संबंध का अध्यास नहीं है, गौण तादात्म्य भी नहीं है, वहाँ के कष्ट से दुःख होता है, व्यथा नहीं होती। ठीक इसी प्रकार शीत-उष्ण भी समझ लेना। सुख-दुःख तो मानस हो गये। शरीर को ठंड लग रही है, यह मिथ्या तादात्म्य से है। परन्तु जब केवल स्थूल शरीर को मैं समझते हैं तब उसे सर्दी में ठंडे पानी से नहलाने में व्यथा होती है जबकि जिस समय सूक्ष्म शरीर को मैं समझकर पुण्य कमाने के लिये माघ के महीने में सुबह चार बजे गंगा जी में डुबकी लगाते हैं उस समय पानी गर्म नहीं लगता किन्तु व्यथा नहीं होती बल्कि सन्तोष होता है कि मेरा धर्म सिद्ध हो गया। इस प्रकार दुःख और व्यथा का विवेक स्पष्ट हो जाता है। जिसे सुखादि व्यथा नहीं देते वह योग्य साधक है।

भगवान् ने कहा कि ये 'पुरुष' को व्यथा नहीं देते। पुरुष शब्द के कई अर्थ होते हैं। एक अर्थ है कि यह जो हमारा शरीररूप पुर है, इसमें रहने वाला। हमारी पुरी शरीर में आठ खंड हैं और नौ द्वार हैं। जैसे किसी पुराने शहर में जाओ तो उसमें कई दरवाजे होते हैं वैसे शरीर में नौ द्वार है। इस शरीर को बताते हुए अथर्ववेद में कहा है–''अष्टचक्रा नव-द्वारा अयोध्या नाम पुरी'' आठ चक्र और नौ दरवाज़ों वाला यह देह है। आठ चक्र हैं– १. पंचमहाभूत–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश २. इसमें रहने वाले पाँच प्राण–प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान। ३. पाँच कर्मेन्द्रियों का चक्र–हाथ, पैर, वाणी, पायु, उपस्थ। ४. पाँच ज्ञानेन्द्रियों का चक्र–आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा। ५. अन्तःकरण जिसमें चार चक्र हैं–मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। ६. कामनाओं का चक्र–कामनाओं के चक्र की गिनती नहीं कर सकते, अनन्त कामनायें हैं। है यह एक ही चक्र ७. अब तक किये हुए पुण्य-पाप। जैसे वासनाओं की सीमा नहीं वैसे पुण्य-पापों की भी सीमा नहीं। एक घंटे में हम इतने पुण्य-पाप कर सकते हैं कि दस पूरे पन्नों पर लिखें तो भी पूरे नहीं लिखे जा सकते। अंतःकरण भी वस्तुतः अनन्त है, इसलिये श्रुति ने कहा है कि अंतःकरण में अनन्त क्रियायें रहती हैं। केवल उनकी जातियों को गिनकर चार कह देते हैं। मन संकल्प-विकल्प करता रहता है। पाँच मिनट में सैंकड़ों संकल्प कर लेता है। इसी प्रकार बुद्धि निश्चय करती है। चित्त में संस्कार हैं। मन आदि चार यद्यपि असीम-से हैं फिर भी कम-से-कम अंतःकरण में चार *तरह* की क्रियाओं को लेकर कुछ गिनती है। परन्तु कामनाओं और कर्मों की गिनती करना सम्भव नहीं है। ८. जो हमेशा इन सब का आधार है, वह अविद्या या अज्ञान है। है तो वह एक ही, अज्ञान स्वरूप से तो एक ही है, परन्तु वह इन सब अनन्त चीजों को प्रकट करता रहता है। स्वरूप से एक होने पर भी इसकी सामर्थ्य बहुत है। ये अष्ट चक्र 'पुर्यष्टक' कहे जाते हैं।

नौ दरवाजों वाला इसे गीता में कहा, 'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।' सात मुख के दरवाज़े हैं–२ कान, २ आँखें, २ नासिका और मुँह; तथा दो नीचे के मल और मूत्र

के दरवाज़े है। इस प्रकार नौ द्वार हैं।

इसे 'देवानां पूः' कहा है क्योंकि इसमें सारे देवता बैठते हैं। ऋग्वेद की ऐतरेय उपनिषद् में कहा है कि भगवान् ने सृष्टि की तो गाय, घोड़ा आदि सभी दूसरे प्राणियों को बनाया, देवताओं से कहा 'इनमें बैठो', देवताओं ने कहा 'ये हमारे बैठने लायक नहीं हैं।' अंत में जब पुरुष शरीर को बनाया तब देवताओं ने कहा कि 'यह हमारे बैठने लायक है।' सारे देवता इस मनुष्य शरीर में बैठ गये। देवता इस शरीर में इसलिये बैठे कि इसमें बैठकर हम महादेव के साथ एक हो जायेंगे। मनुष्य शरीर की विशेषता यह है कि यहाँ आकर तुम जीवभाव को छोड़कर ब्रह्मभाव में स्थित हो सकते हो। इसकी कोई और विशेषता नहीं है। लोक में जिन्हें विशेषता कहते हैं, वे तो हम लोगों से पशु-पक्षियों में बहुत ज़्यादा हैं। चाहे जितनी सुन्दर साड़ी बना लो, मोर के पर जैसी नहीं बना सकते। चाहे जितना बढ़िया घर बना लो बया के घोसले जैसा नहीं बना सकते। चाहे जितने बगीचे लगा लो, पक्षियों से ज़्यादा ताज़े फल तुम्हें नहीं मिल सकते। इन सब चीजों में तुम्हारी विशेषता पशु-पक्षियों से ज़्यादा नहीं हो सकती।

परन्तु एक चीज़ तुम कर सकते हो जो पशु-पक्षी नहीं कर सकते। तुम महादेव से एक हो सकते हो, वे नहीं हो सकते। इसीलिये देवता इसमें आकर बैठे थे कि इसमें आने वाला जीव स्वयं मुक्त होकर हम सबको भी मुक्त कर देगा। परब्रह्म-भाव की प्राप्ति के लिये शरीर में आकर तुम शयन कर रहे हो। परन्तु ऐसा शयन करने लग गये कि जगते ही नहीं! आदमी थोड़ी देर सो जाये, यहाँ तक तो ठीक है, लेकिन सोया ही पड़ा रहे, यह ठीक नहीं। इसलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं काम, क्रोध, लोभ इत्यादि तुम्हारे ज्ञानरत्न का अपहरण कर रहे हैं, इसलिये जग जाओ, जग जाओ। अरे राहगीर! तू सोता ही रहेगा क्या! डकैत तेरा माल चुरा कर ले जा रहे हैं।

इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि इसमें शयन करने वाला पुरुष है परन्तु तभी जब वह ऐसा हो जाता है कि उसे शीत-उष्ण आदि व्यथा नहीं देते। यह कैसे हो? यह समझाने के लिये भगवान् विशेषण देते हुए अर्जुन को 'पुरुषर्षभ' संबोधन करते हैं कि तू केवल पुरुष नहीं है, पुरुषों में ऋषभ है। सांड को ऋषभ कहते हैं। ऋषभ की श्रेष्ठता यह है कि वह गाय को सफल कर देता है, गाय के फल अर्थात् बच्चे हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार उस परमात्मा रूप पुरुष के कारण प्रकृति के सारे कार्य सफल हो जाते हैं। इसलिये सारी प्रकृति के अर्थात् सारे शरीरों के कार्यों को सफल करने के लिये तू उसमें शयन तो कर रहा है परन्तु तू ऋषभ बन, आत्मज्ञान के द्वारा इसे सफलता का गहना पहना दे। सो तो रहा है, तभी ये सारे संदेह पैदा हो रहे हैं, परन्तु साथ में तू ज्ञान मार्ग का पाथिक हो गया है, निःश्रेयस का रास्ता चाहता है। तू ऋषभ है, इसीलिये उसमें सफल हो सकता है, अपने ज्ञान धन को संभाल लेगा, जग जायेगा।

जिसको ये व्यथित नहीं करते उसके लिये सुख-दुःख दोनों समान हैं। दुःख तो दुःख

रहेगा और सुख सुख रहेगा, फिर समान का क्या अर्थ है? अलग-अलग चीज़ों की समानता किस दृष्टि से होती है? हिन्दुस्तान में हम लोगों को पाकिस्तानी विरोधी लगते हैं। अमेरिका, कनाडा चले जाओ, वहाँ बाकी सब गोरे ही हैं। उनके साथ तुम्हारी कोई समानता नज़र नहीं आती। परन्तु वहाँ पाकिस्तानी से व्यवहार करते हुए पता लगता है कि उससे तुम्हारी कितनी समानता है। इसी प्रकार जनसंख्या गिनी जाती है तो मनुष्यों की समानता देखते हैं। फिर पूछें कि कितनी औरते हैं और कितने आदमी हैं? तो पुरुषों और स्त्रियों की समानता देखी जायेगी। धर्मदृष्टि से संख्या पूछें तो आदमी-औरत मिल जायेंगे, हिन्दू-मुसलमान आदि की समानता देखेंगे। जब कहते हैं कि हिन्दुस्तान में एक अरब दस करोड़ लोग हैं तब ऐसा नहीं कि औरतों को आदमी देखने लगें, या हिन्दु को हिन्दु और मुसलमान को मुसलमान नहीं देखें। परन्तु जिस दृष्टि से विचार कर रहे हैं उस दृष्टि से समानता देखते हैं। दुःख दुःख और सुख सुख रहेगा। अनुकूल अनुकूल और प्रतिकूल प्रतिकूल रहेगा। समानता इस दृष्टि से है कि ये सारे *दृश्य* हैं। सर्दी-गर्मी इत्यादि सारे दृश्य हैं, इनका अनुभव होता है। सुख-दुःख आदि भी दृश्य हैं क्योंकि इनका अनुभव होता है। दृश्य होने से, प्रकाश्य होने से, भास्य होने से ये सब एक हैं। ज्ञान होने पर काला लाल तो नहीं दीखेगा! इसी प्रकार सुख सुख और दुःख दुःख ही दीखेगा। समानता तो इसमें है कि दोनों प्रकाश्य हैं, दीख रहे हैं।

सुख-दुःख दोनों दृश्य होकर एक जैसे हैं—यह देखने की प्रवृत्ति कराने वाला कौन है? 'धीर', धी अर्थात् बुद्धि, उसको जो 'ईरयति प्रेरयति', बुद्धि को जो प्रेरणा देता है, बुद्धि के अंदर प्रविष्ट होकर चिदाभास को प्रवृत्त कराता है। अगर उसका आभास बुद्धि में न पड़े तो अहंकारात्मिका वृत्ति कुछ नहीं कर सकती क्योंकि वृत्ति तो जड है, पंचमहाभूतों का कार्य है। उसके साथ जब चेतन का अध्यास होता है तभी वह प्रवृत्ति करती है। तादात्म्य अध्यास के द्वारा अहंकारात्मिका वृत्ति को प्रेरणा देने वाला होने से अपने स्वरूप को जो जानता है वह धीर है। शीत-उष्ण, सुख-दुःख का अनुभव तो अहंकार करेगा। 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इसका अनुभव अहंकार को होता है। किन्तु इसकी सामर्थ्य उसे चेतन से प्राप्त होती है, चेतन का आभास होने से ही वह यह सब कर पाता है।

इसके द्वारा भगवान् ने बता दिया कि बंधन किसका है। आत्मा नित्यमुक्त है। अहंकारात्मिका वृत्ति मन आदि जड है। फिर बंधन किसका? बहुत-से लोगों को यह बात खटकती है। आत्मा का बंधन बनता नहीं, नित्यमुक्त होने से; अनात्माका बंधन बनता नहीं क्योंकि जड है। आत्मा का जो चेतन प्रकाश अंतःकरण में पड़ा हुआ है, चिदाभास है, उसी का बंधन है। उसी को चिज्जड-ग्रन्थि आदि किसी भी शब्द से कह दो, बंधन उसी का है, परन्तु वह बंधन इसलिये है कि तादात्म्य अध्यास है। काँच में मुँह बालक भी देखता है और जवान भी देखता है। बालों को ठीक करना है तो कहीं-न-कहीं से काँच का जुगाड़ सब करते हैं। बालक सोचता है कि अंदर कोई बैठा है, वह उसको कहता है 'आ जा,

खेलें', वह नहीं आता तो रोता है, माँ से कहता है 'नहीं आ रहा है'; वह कहाँ से आयेगा! बालक और युवा दोनों को एक ही चीज़ दीख रही है, अपना ही मुँह दीख रहा है। परन्तु जवान तो उस मुँह को देखकर अपने बाल संवार लेता है, प्रतिबिम्ब के बाल संवारने की कोशिश नहीं करता! बालक इस बात को नहीं समझता, उसे लगता है कि सामने दूसरा बच्चा है। उसी प्रकार जो चित् के स्वरूप को जानता है वह अहंकार में पड़े हुए को समझता है कि वह चिदाभास है। काँच में दीख तो मैं ही रहा हूँ परन्तु मैं काँच में नहीं हूँ। ठीक इसी प्रकार अहंकारात्मिका वृत्ति में दीख तो मैं ही आत्मा रहा हूँ परन्तु मैं वहाँ नहीं हूँ।

ज्ञान भूमिका जिसने प्राप्त की है वह इस बात को जानता है। अज्ञानी इस बात को नहीं जानता, वह समझता है कि आभास ही मैं हूँ! चिदाभास के द्वारा ही बंधन है और चिदाभास से अपने को अलग जानना ही मुक्ति है। बुद्धि को तादात्म्य अध्यास के द्वारा मैं प्रेरणा देता हूँ—इस बात को जिसने जान लिया वह धीर है। अभी तो तुम समझ रहे हो कि 'मैं कर रहा हूँ', फिर पता लगता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, करवा भी नहीं रहा, परन्तु मेरा प्रतिबिम्ब पड़ रहा है तो सब हो रहा है। सुख-दुःख की समानता इसलिये है कि ये सब भास्य हैं, दृश्य हैं, प्रकाश्य हैं। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय तीनों ही जिसके प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं वह मैं चेतन हूँ। कुछ अनुभव हुआ तो प्रमाता ने जाना। कैसे जाना? प्रमाण आँख से जाना और प्रमेय घड़े को जाना एवं जानने का कार्य प्रमिति हुआ। ये सारी चीज़ें तब हुई, जब अनुभव हुआ। ज्ञान होने पर ही सब आये। उसी ज्ञान के होने से प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय होते हैं। आगे कोई पूछे कि उस ज्ञान को किसने जाना? उसी से तो सब जान रहे हो, उसे कैसे जान सकते हो! जिसके प्रकाश से सब प्रकाशित हो रहे हैं उसके जानने में यदि तुम प्रमाण पूछते हो तो तुम्हारा प्रश्न ही बेढब है। जो इस चीज़ को जान लेता है वह धीर है।

यह तभी होगा जब तितिक्षा के द्वारा शीत-उष्ण सुख-दुःख के प्रति प्रतिक्रिया करना छोड़ोगे क्योंकि जब-जब प्रतिक्रिया करते हो तब-तब अपने अध्यास को दृढ करते हो। 'यह मैं हूँ' ऐसा सोचोगे तभी प्रतिक्रिया करोगे। जैसे वैद्य बढ़िया दवाई दे और तुम कुपथ्य करो तो दवाई से क्या काम होगा! इसी प्रकार यदि तुम बार-बार यह अध्यास दृढ करते रहे कि 'मैं शरीर हूँ, मैं प्राण हूँ', और फिर दो घंटे विचार करो कि 'यह सब मैं नहीं हूँ' तो निश्चय कैसे होगा? इसलिये प्रतिक्रिया करना छोड़कर जब तुम तितिक्षा का अभ्यास करोगे, सहन करोगे, तभी अमृत को प्राप्त करने के योग्य होगे। सहन करने मात्र से अमृत को प्राप्त नहीं कर लोगे! इसलिये भगवान् ने यह नहीं कहा कि ऐसा करने वाला मुक्त हो जायेगा। 'सोऽमृतत्वाय कल्पते' अमृत के *योग्य* होगा अर्थात् तभी श्रवण-मनन कर सकेगा। मोक्ष मार्ग के योग्य तभी हो सकोगे जब तितिक्षा करोगे। बृहदारणयक उपनिषद् में साधन बताये—'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः (समाहितो) श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं

पश्येत्'। कब अपने आपको आत्मस्वरूप जान सकता है? जब शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, समाधि और श्रद्धावित्त हों। वहाँ भी तितिक्षा को कहा। तितिक्षु मोक्षमार्ग के योग्य हो जाता है अर्थात् श्रवण मनन में लगकर उस परमात्मभावका निश्चय करके मुक्त हो जाता है। तितिक्षा अपने आपमें मोक्ष नहीं देती लेकिन तितिक्षा से तुम श्रवण-मनन रूप मोक्ष-साधन को कर पाते हो। इसलिये इसकी आवश्यकता है।।१५।।

जब अर्जुन ने अपना शोक वर्णन किया तब भगवान् ने उसे समझाया कि किस चीज़ का शोक किया जा सकता है और किस का शोक नहीं किया जा सकता। कोई भी कार्य करने के पहले 'यह किया जा सकता है या नहीं' इसका विचार आवश्यक है। अगर गुस्से में आकाश को मुक्का मारना चाहो तो मूर्खता है क्योंकि आकाश मुक्का मारने के योग्य नहीं है। अतः तुम आज से लेकर अनन्त काल तक उसको मुक्का मारने की चेष्टा करो तो व्यर्थ है। कोई भी कार्य करने से पहले योग्यता का विचार करना आवश्यक है। भगवान् ने कहा कि तू जिस बात का शोक कर रहा है वह बात शोक के योग्य तो नहीं है। जहाँ जो चीज योग्य न हो और तुम को प्रतीत हो जाये उसी को भ्रम कहते हैं। जैसे तुमको 'आकाश नीला है' ऐसा दीख गया। तुमने विचार किया कि 'यह नीला या काला रंग अच्छा नहीं लगता इसलिये हम इसकी सफाई करके या पुताई करके सफेद कर देंगे'; क्या आकाश सफेद होगा? जो आकाश रंग-रहित है उसमें तुम्हें नीलेपन का भ्रम हो गया और उसे सफेदी करके हटाने के चक्कर में पड़ गये! भगवान् कह रहे हैं कि ज़रा विचार कर कि तू किसका शोक कर रहा है? शोक का विषय है कौन? सभी जीव आत्मरूप होने से नित्य हैं; कभी मर नहीं सकते, इसलिये इनका शोक योग्य नहीं। शरीर हर क्षण बदल रहे हैं। जो हर क्षण बदलने वाली चीज़ है, जिसका स्वभाव ही बदलना है वह बदलेगी ही, उसका शोक करने का क्या मतलब है!

ऋग्वेद में एक कथा आती है। एक बड़ा ही योग्य राजा था। वह मर गया। उसकी रानी, नौकर-चाकर, मन्त्री, प्रजाजन, सब बैठकर रोने लगे। बहुत दुःखी हुए। उस दुःख में इतने मग्न हो गये कि आगे सोचा ही नहीं कि हमें क्या करना है। हफ्ता भर हो गया, रात दिन रोते ही रहे। इन्द्र राजा का मित्र था, सोचने लगा कि ये इस प्रकार रोते ही रहेंगे तो इसके शव का दाह नहीं करेंगे। इन्द्र स्वयं वहाँ एक ब्राह्मण का शरीर लेकर आया और बड़े ज़ोर से दहाड़ मार कर रोया। उसकी दहाड़ सुन कर सब उधर देखने लगे कि 'यह पहचान में नहीं आ रहा है, कौन है? हम से भी ज्यादा रो रहा है! राजा का कोई जानकार होगा।' उससे पूछा 'तुम क्यों रो रहे हो?' ब्राह्मण ने उलट कर पूछा 'तुम लोग क्यों रो रहे हो?' उन्होंने कहा कि 'हमारा राजा बड़ा अच्छा था, वह मर गया इसलिये रो रहे हैं।' उस ब्राह्मण ने कहा कि 'मैं तुम्हें रो रहा हूँ। इस समय तुम्हारा काम राजा की अन्त्येष्टि करना है। तुम रो रहे हो, क्योंकि राजा मर गया। तुम भी पैदा हुए हो तो मरोगे ही, तुम्हारे मरने के निमित्त मैं पहले ही रो लेता हूँ।' यह सुनकर लोगों को थोड़ा होश आया। मनुष्य जब

किसी एक भावना के वेग में बह जाता है तब जब तक कोई विस्मयकारी चीज़ सामने नहीं आये। तब तक उसी में भूला रहता है। यदि इन्द्र सीधा ही जाता और यही बात कहता तो लोग कहते 'तुम्हें क्या पता! वह हमारा बड़ा प्रिय राजा था।' किंतु जब उसने इस तरह समझाया कि 'जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरता है, उसका क्या शोक करते हो', तब जनता को बात समझ आ गयी। यही बात भगवान् ने कही कि यदि शरीर को रो रहा है तो वह जीवनकाल में भी परिवर्तन वाला है, बदलना उसका स्वभाव है। इसलिये क्यों शोक कर रहा है? तब अर्जुन ने कहा 'बदलना उसका स्वभाव भले ही हो, परन्तु दुःख तो होता ही है।' उसका जवाब दिया कि सुख और दुःख आगमापायी हैं। इनको तो सहन ही करना पड़ेगा, इसके लिये शोक करने से क्या होगा! साधक सहन करने से आत्मज्ञान की प्राप्ति के योग्य हो सकता है। तब अर्जुन के मन में आया कि मोक्ष या अमृत तत्त्व की जो प्राप्ति है उसमें तो आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है; अर्थात् दुःख की ऐसी निवृत्ति कि उसके बाद फिर क्षणभर को भी दुःख हो नहीं सकता, ऐसी दुःख-निवृत्ति सहन करने से कैसे होगी? भगवान् ने इसका जवाब सूक्ष्म रूप से 'धीर' शब्द से दे दिया था। परन्तु वह केवल संकेतमात्र था।

जिस चीज को सहन कर रहे हो वह मन से हटी तो नहीं, अतः उसके हटने का उपाय भगवान् अर्जुन को बताते हैं। गीता का यह बड़ा गूढ और कठिन श्लोक है।

नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

असत् की अस्तिता और सत् का अभाव नहीं होता। इन दोनों के बारे में तत्त्वज्ञों ने यही निर्णय समझा है।

जो नहीं है, वह हो जाये यह नहीं हो सकता। परन्तु यह बात किसकी समझ में आयेगी? तत्त्वदर्शी की समझ में आयेगी। आचार्य शंकर कहते हैं 'तत् इति सर्वनाम', 'वह' सब चीज़ों का नाम है। सब चीज़ों को 'वह' इस शब्द से कहते हैं—वह आदमी, वह घड़ा, वह कपड़ा, इसलिये 'तत्' सारी चीज़ों का नाम है। सारी चीज़ों की जो वास्तविकता हो वह तत्पना (तत्त्व) है। जैसे कहते हैं कि देवदत्त में मनुष्यता नहीं है अथवा कोई बड़ा दुष्ट कर्म करने वाला हो तो कहते हैं कि इसमें आदमियत नहीं है। उसके नाक, कान, होठ तो सब हैं ही। मतलब है कि आदमी का जो साधारण गुण होना चाहिये वह उसमें नहीं है। मनुष्य की तरह दीखता है परन्तु उसमें मानवता का गुण नहीं है। इसी तरह सारा संसार 'वह' रूप में दीखता है। परन्तु इसकी वास्तविकता क्या है? इसका सत्य रूप क्या है? उसी वास्तविकता को तत्त्व, तत्ता, या वहपना कहेंगे। 'है' ही सब चीज़ों की वास्तविकता है। लोग 'तत्' को ही देखते हैं, जैसे मनुष्य के आँख, कान, नाक आदि सब को देखते हैं, परन्तु उसमें होने वाली मनुष्यता को तो कोई ही समझता है। प्रजातंत्र मनुष्य शरीर

वालों को ही मान्यता देता है। हाथ-पैर आदि से मनुष्य दीखे तो मताधिकार दे देता है, इससे कोई मतलब नहीं कि उसमें मनुष्यता, मानवोचित गुण हैं या नहीं। ऐसे ही 'धर्मनिरपेक्षता' किसी धर्म के तत्त्वों का परीक्षण बिना किये, धर्म-नाम से जो कुछ चल पड़ा उसे समान मान लेती है। गाय काटना और गाय पूजना अत्यंत विरुद्ध हैं फिर भी उन्हें समान मानना धर्मनिरपेक्षतावादियों को जँच जाता है।

जैसे ये लोग न मनुष्य की वास्तविकता देखने की कोशिश करते हैं, न धर्म की, वैसे हम लोग संसार के पदार्थ देखते हैं परन्तु उनकी वास्तविकता क्या है यह नहीं देखते। घड़े को देखते हो, कहते हो 'यह घड़ा है।' घड़े की वास्तविकता क्या है—यह नहीं देखते। घड़े की वास्तविकता क्या है? घड़े में दो चीज़ें हैं—एक मिट्टी है और दूसरी उसकी शक्ल है—मोटा पेट और लम्बी गर्दन। घड़े की वास्तविकता क्या है? बिना मिट्टी के वह शक्ल नहीं रह सकती परन्तु बिना उस शक्ल के मिट्टी रह सकती है। घड़े को फोड़ दिया। ठीकरे बन गये। ठीकरों का चूरा बना दिया; घड़े की शक्ल तो नहीं रह जायेगी परन्तु मिट्टी रह जायेगी। ऐसे ही सोना बना ही रहेगा, गहने बनते बिगड़ते रहेंगे। सोना कभी नष्ट नहीं होता। सोना होगा तो उसमें से नाम रूप बना लोगे पर नाम रूप से सोना कभी निकल नहीं सकता। इसलिये वास्तविक चीज़ सोना है। घड़े की वास्तविकता मिट्टी है। गहने की वास्तविकता सोना है। कारण ही वास्तविक होता है, कार्य नहीं। यह निश्चय हो गया, तब आगे सोचो कि मिट्टी कहाँ से आई? उसके कारण का विचार करो। चाहे आधुनिक ढंग से सोचोः मिट्टी परमाणुओं से आई। परमाणु ऋणाणु धनाणुओं से आये। ऋणाणु-धनाणु ऊर्जा से आये। संसार के सारे पदार्थों की ऊर्जा एक है या अलग-अलग? शास्त्रीय ढंग से सोचो तो मिट्टी जल से, जल अग्नि से, अग्नि वायु से और वायु आकाश से आयी। इस क्रम से भी अन्त में एक आकाश में पहुँचते हो। शास्त्रीय क्रम अनुभव का क्रम है। शास्त्र की बात अनुभव से सिद्ध है। दौड़ कर तब जाते हो जब आकाश हो; चारों तरफ ईंटें भरी हों तो नहीं दौड़ सकते। दौड़ते हो तो हवा लगती है। साईकिल जितनी तेज़ चलाओगे उतनी हवा तेज़ लगेगी। आकाश से हवा आई। जितनी तेज़ हवा आयेगी उतना शरीर गरम होता जायेगा। आकाश है तब दौड़ते हो, तब हवा लगती है और तब गर्मी आती है। फिर भी दौड़ते हो तो थोड़ी देर में पसीना निकलने लगता है और उसके बाद सवेरे शरीर में पसीने की पपड़ी (मैल) भी होती है। यों पृथ्वी तत्त्व तक पहुँच गये। श्रुति ने जो क्रम बताया वह अनुभवसिद्ध है।

हर हालत में चाहे आधुनिक ढंग से पहुँचो, या शास्त्रीय ढंग से, एक ही चीज़ पर पहुँचते हो। वह जो अंतिम तत्त्व है उसी को वेदान्त कहता है कि वह 'सत्' है। हिन्दी में सत् को ही 'है' कहते हैं। घड़े की वास्तविकता मिट्टी, मिट्टी की वास्तविकता जल और अन्त में हर चीज की वास्तविकता 'है' ही सिद्ध होती है। यदि 'है' न हो तो घड़ा कुछ नहीं रह जायेगा। कहोगे कि करोड़ रुपये से तुम करोड़पति हो; परन्तु करोड़ रुपये 'है' नहीं,

मरोगे तो क्या कोई तुमको सैकड़ापति भी मान लेगा? जो है उसकी सत्ता है, जो है नहीं, वह क्या रह गया? यही कहोगे कि नहीं रह गया। भगवान् ने कहा कि यह बात तत्त्वदर्शी की समझ में आयेगी। सारी चीज़ों की वास्तविकता जो सत् है उसकी ही दृष्टि करने का जिनका स्वभाव है, वे तत्त्वदर्शी हैं।

हमने किसी को पाँच सौ रुपये या पाँच करोड़ रुपये दिये और कहा कि 'पड़ौसी को दे आओ'। जब तक वह पड़ौस के मकान तक पहुँचा तब तक वह करोड़पति है, लेकिन क्या उसे करोड़पति मान लोगे? जब करोड़ रुपये वाला होना उसका स्वभाव हो जाये, हमेशा उसके पास रहें तब वह करोड़पति है। ऐसे ही तत्त्व को समझा भले ही हो लेकिन वह तुम्हारा स्वभाव नहीं बना तो तुम तत्त्वदर्शी नहीं बने। जो हमेशा वास्तविकता, सद्रूपता को देखते हैं वे तत्त्वदर्शी हैं। सूत के व्यापारी की नज़र बिना प्रयास इस बात पर जाती है कि कपड़े का सूत कैसा है। उसे कोई प्रयोजन हो या न हो, वह कपड़े की इस वास्तविकता को कभी नजरंदाज नहीं करता। ठीक इसी प्रकार तत्त्वदर्शी की जिस किसी 'तत्' (वह) पर नजर पड़ती है उसे वहाँ पहले 'सत्' नजर आ जाता है कि 'सद्ब्रह्म पर ही ये सब अधिष्ठित हैं', यह उसकी समझ में झट आ जाता है। कोई पूछता नहीं है, फिर भी उसका स्वभाव है।

'सतः' अर्थात् 'है' का और 'असतः' अर्थात् 'नहीं है का'; जो है और जो नहीं है इनकी यथार्थता का निर्णय तत्त्वदर्शी करते हैं। यह तभी सम्भव है जब नाम-रूप और उनसे होने वाले सुख-दुःख तुम्हारा ध्यान न खींच लें। उस ओर ध्यान जाने से असलियत पर दृष्टि नहीं जाती जैसे कपड़े का चित्र यदि आकृष्ट कर ले तो सूत पर नजर नहीं टिकेगी। अज्ञानवश हमारा स्वभाव न केवल नाम-रूप पर ध्यान देने का है वरन् पूर्वानुभवों से पड़े संस्कारों के प्रकाश में ही चीज़ें देखने का है इसलिये प्रायः यथार्थ की ओर दृष्टि नहीं डाल पाते।

एक राजा था। उसका नियम था कि जो कोई भस्म-रुद्राक्ष धारण कर आये उसके पैर धोकर उसे भोजन कराता था। एक बार राजा के घर के नौकर ने चोरी की; पकड़ा गया और उसको जेल हुई। दो-तीन साल जेल में काटे। उसके बाद उसे खाने-पीने की बहुत दिक्कत हुई। वह राजा का नियम और स्वभाव जानता था। एक दिन वह भी भस्म रुद्राक्ष धारण करके वहाँ पंक्ति में आ कर खड़ा हो गया। नियम के अनुसार रानी सोने की झारी से पानी डालती थी और राजा अतिथि के पैर धोता था। राजा जैसे ही उस अतिथि (नौकर) के पैरे धोने को झुका, रानी ने कहा कि 'यह तो अपने यहाँ का वही चोर नौकर है।' यह सुनते ही राजा ने तुरन्त वह सोने की झारी अपने एक हाथ में ले ली और दूसरे हाथ से उस नौकर के पैर धोने लगा। रानी को बड़ा विचित्र लगा। जब सबका भोजन आदि हो गया तब रानी ने राजा से पूछा कि 'आपने मेरी बात सुन ली थी?' राजा ने कहा 'सुन ली थी, तभी मैंने तुम्हारे हाथ से पानी की झारी ले ली थी क्योंकि तुम्हारे मन में यह

भाव नहीं रह गया था कि वह व्यक्ति भस्म रुद्राक्ष धारण किये हुए अतिथि है। तुम पूर्वानुभव को मन में ले आई कि यह चोर था। इसलिये यदि तू पानी डालती तो भक्त के बजाय चोर के पैरों पर पानी डालती और वह गलत काम हो जाता।' रानी ने पूछा—'फिर आपने उसमें क्या देखा?' राजा बोला 'हमने उसे चोर नहीं देखा, हमें तो वह भस्म-रुद्राक्ष धारण किये भक्त दीखा। इसलिये हमने भक्त के ही पैर धोये।'

विचार करो कि वह भक्त था या चोर था? उस समय वह भक्त था। उस समय क्या वह चोरी कर रहा था? नहीं कर रहा था। उसकी वास्तविकता क्या है? 'है' ही उसकी वास्तविकता है। इस समय चोर नहीं, भक्त है। उस समय भक्त नहीं चोर था। वास्तविकता तो उसकी 'है' है। उस 'है' से ही कभी भक्त तो कभी चोर प्रकट हो गया। पूर्व संस्कारों के कारण भक्त में चोर दृष्टि हो रही थी। पूर्व संस्कारों के कारण भी प्रतीति हो जाती है जैसे था वहाँ भक्त और दीख रहा था चोर। इसीलिये आचार्य शंकर भ्रम का लक्षण करते हैं 'परत्र पूर्वदृष्टावभासः'। पूर्व दृष्ट अर्थात् पहले देखा हुआ चोर, परत्र अर्थात् भक्त में। हमारे साथ रहने वाली रानी हमारी बुद्धि है। शिव-मानसपूजा में कहते हो 'आत्मा त्वं गिरिजा मतिः' भगवान् शंकर आत्मा और बुद्धि गिरिजा है। हमारी बुद्धि पूर्व संस्कारों को लेकर चीज़ों को देखती है। बुद्धि के प्रधान रूप 'अहं' इत्याकारक वृत्ति से जब देखते हैं तब पूर्व अनुभव या संस्कारों से देखते हैं। तत्त्वदर्शी साक्षी से देखता है इसलिये उसमें संस्कारों का प्रवाह नहीं होता। अतः वह केवल सन्मात्र को ग्रहण करता है। एक ही को एक ही समय में राजा भक्त और उसकी पत्नी चोर देख रही थी। इसी प्रकार जिस समय तत्त्वदर्शी साक्षी 'है' को ग्रहण कर रहा है उसी समय अहंकारात्मिका वृत्ति 'यह घड़ा है, यह लड्डू है' इसका ग्रहण कर रही है। सचमुच में वह 'है' के सिवाय कुछ नहीं है। तत्त्वदर्शी ठीक प्रकार से ग्रहण करता है।

तत्त्वदर्शी ही 'है' और 'नहीं है' के स्वरूप को सही समझते हैं। हमें पदार्थ कारणों व कार्यों के रूप में मिलते हैं। पैदा होने वाली चीज़ें कार्य कही जाती हैं। जिससे कुछ पैदा हो वह कारण कहा जाता है। क्या पैदा होता है और कौन पैदा करता है—इस बारे में अलग-अलग दार्शनिकों के अलग-अलग मत हैं। तत्त्वदर्शी वह है जिसने वास्तविकता को ग्रहण करने का स्वभाव बना लिया है। जो व्यावहारिकता को देखने के स्वभाव वाला है वह वास्तविकता को नहीं देखता। वास्तविकता देखने की योग्यता हो तभी देख सकोगे, अन्यथा नहीं। वर्तमान शिक्षा कहती है कि सभी सब करने में योग्य हैं! यह सर्वथा ग़लत विचारधारा आज प्रचलित है। रोगोपचार जैसे स्थूल कार्य में भी देखते हैं कि अध्ययनादि की परवाह बिना किये भी प्रसिद्धि सुनकर लोग इलाज लेने पहुँच जाते हैं क्योंकि योग्यता का विचार ही अनावश्यक समझते हैं। वास्तविकता वही समझ सकता है जिसमें राग-द्वेष नहीं रह गये हैं। सत्य चाहे भयंकर, अनिष्ट हो पर उसे पहचानने के लिये तत्त्वदर्शी सत्य पर एकाग्र रहता है, व्यवहार-सिद्धि को महत्त्व नहीं देता। कार्य-कारण की वास्तविकता को

समझने के लिये तत्त्वदर्शीका दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

भारतीय दर्शनों में इस विषय पर चार मत हैं—आरंभवाद, संघातवाद, परिणामवाद, और विवर्तवाद। कणाद व गौतम के अनुयायी आरंभ मानते हैं अर्थात् जो पहले नहीं था ऐसा नवीन कार्य पैदा होता है जैसे धागों से कपड़ा पैदा होता है। बौद्ध संघात मानते हैं कि कारण का किसी ढंग से इकट्ठा हो जाना ही कार्य है। सांख्य योग मतों में परिणाम माना जाता है अर्थात् जो पैदा होता है वह नया नहीं वरन् कारण में छिपा रहता है, उसका ढक्कन हटाने से वह प्रकट हो जाता है। उदाहरणार्थ तिल में तेल छिपा है तभी पेरने से खली हटने पर प्रकट होता है, पत्थर में तेल नहीं तो प्रकट भी नहीं होता। इस मत में कार्य को परिणाम या विकार कहते हैं।

इन तीनों पक्षों पर विचार करके देखते हैं तो तीनों में दोष नज़र आते हैं। पहला दोष यह है कि धागों से कपड़ा तब बने जब *कई* धागे हों। परंतु ऐसा तो नहीं है कि कई ईश्वर हों तब उनसे संसार पैदा हो! मकड़ी जाले को बनाती है तो क्या कई मकड़ियाँ मिलकर जाला बनाती हैं? एक ही मकड़ी बना लेती है। लगभग यही दोष संघातवाद में भी आ जायेगा। कई चीज़ें हों तब उनका संघात होगा। सृष्टि होने के बाद तो ये मत काम कर सकते हैं कि कई चीज़ें उत्पन्न हो गईं तब उनका संघात हो सकता है। किंतु जब मूल कारण का विचार कर रहे हैं तब कई चीज़ें अभी पैदा नहीं हुई हैं। इन प्रश्नों से बचने के लिये कुछ लोगों ने कह दिया कि सृष्टि कभी पैदा ही नहीं हुई! आजकल भी लोग कह देते हैं कि 'यह तो हमेशा से ऐसे ही चलता है। कभी पैदा नहीं होता।' हम अपने बाप से पैदा हुए, हमारे बाप दादा से पैदा हुए, दादा परदादा से पैदा हुए इसलिये हम पैदा होने वाले हैं। अब कोई कह दे कि हमारा लड़का हमसे पैदा नहीं हुआ, तो क्या मान लोगे? हम पैदा होने वाली जाति के हैं तो हमारी जाति का जो होगा, वह पैदा होने वाला होगा। सब चीज़ें सृष्टि में पैदा होने वाली जाति की हैं फिर सब बिना पैदा होकर पैदा होने वाली जाति की हैं—इतना बड़ा अंधविश्वास कैसे लोग कर लेते हैं पता नहीं, परन्तु करते हैं।

परिणामवाद की कठिनाई यह है कि जब कोई चीज़ परिणत होती है तब पहले वाली चीज़ में परिवर्तन आ जाता है। तुमने जब दूध से घी बना लिया तो अब बचा हुआ दूध घी पैदा नहीं करेगा। पर जब सृष्टि को देखते हैं तब पता लगता है कि अनादि काल से इसमें से चीज़ें निकल रही हैं और इसमें कोई कमी आई नहीं है। आज से पचास साल पहले तक सुनते थे कि किसी चीज़ की ऊर्जा खर्च होती जाती है तो वह कम हो जाती है। उन लोगों ने माना था कि सूर्य से निरंतर ऊर्जा निकल रही है इसलिये सूर्य धीरे-धीरे ठंडा हो रहा है। बड़ी उम्र वालों ने पढ़ा होगा, उस समय की चिन्ता थी कि सूर्य धीरे-धीरे ठंडा हो रहा है और अन्त में इतना ठंडा हो जायेगा कि सूर्य की गर्मी नहीं मिलेगी तो हम मर जायेंगे। अब पता चला कि सूर्य तो पहले से ज़्यादा गर्म हो रहा है! पहले की सर्दी की अपेक्षा अब सर्दी कम और गर्मी ज़्यादा हो रही है। एटलाण्टिक ग्लेशियर भी

धीरे-धीरे घटते जा रहे हैं। इसका मतलब है कि सूर्य की ऊर्जा बढ़ती जाती है। जैसे सूर्य की ऊर्जा निकलती जाती है और बढ़ती जाती है इसी प्रकार इस माया से अनेक चीज़ें निकलती जाती हैं और उसमें कोई कमी नहीं आती। जब सूर्य की ही ऊर्जा खत्म नहीं होती तो आत्मा की ऊर्जा कहाँ से खत्म होगी! यह तो निरंतर इसी प्रकार प्रगति करती रहेगी। तुम दुरुपयोग करो, सदुपयोग करो, यह तुम्हारे हाथ में है। लेकिन यह खत्म हो जायेगी—यह कल्पना तुम कभी नहीं कर सकते। यदि परिणामवाद स्वीकार करते हैं तो मानना पड़ेगा कि कुछ-न-कुछ कमी आ रही है।

कहाँ कमी नहीं आती? रस्सी में साँप, जलधारा, डंडा, मोतियों की माला पैदा होती है। दस साल तक भी पैदा होती रहें तो क्या कोई कह सकता है कि क्योंकि दस साल तक दीख गया इसलिये अब रस्सी में साँप नहीं दीख सकता? इसलिये विचार दृष्टि से विवर्तवाद ही सिद्ध होता है। अनन्त सृटिष्याँ उत्पन्न हुई हैं, हो रही हैं और अनन्तकाल तक होती रहेंगी। अपने बचपन को याद करना कि तब तुम्हारे मन में कितनी इच्छायें थीं। चॉकलेट मिल जाये, माँ स्कूल जाने को न कहे, खेलने को बच्चे हों, गुल्ली डंडा मिल जाये। अब कोई पचास साल का है, कोई साठ साल का है। अब मन में होता है कि लड़का पढ़ जाये, पोता पढ़ जाये, उसे नौकरी मिल जाये, लड़की का ऐसा वर मिल जाये जो उसे प्रेम से रखे, सास डाँटने वाली न हो। ऐसा तो नहीं है कि इतने साल में मन की इच्छायें हट जायें। महाराज भर्तृहरि तो कहते हैं कि सब बुड्ढे हुए हैं परन्तु 'तृष्णैका तरुणायते' इच्छाओं का जाल रोज़ नया और जवान होता जाता है। तुम्हारी शक्ति कितनी है! इतनी इच्छायें कर लीं फिर भी इच्छायें जवान बनी हैं। यह तभी हो सकता है जब तुम में परिणाम न होता हो। परिणाम हुआ होता तो शक्ति घटी होती। इसलिये वेदान्त ने कहा कि विवर्तवाद मानो। बिना इसके, दूसरी कारण-व्यवस्था बनती नहीं।

यह मानने में हिम्मत चाहिये। उपन्यासकार एक के बाद एक बीस उपन्यास लिख देता है लेकिन उसके उपन्यास लिखने में कोई कमी नहीं आती। परन्तु उस उपन्यास में लिखी हुई घटनाएँ सच नहीं होतीं। वास्तविक जीवन में तो मरा हुआ ज़िन्दा नहीं हो सकता, लेकिन उपन्यास में ऐसा भी हो सकता है। काल्पनिक जगत् में कुछ भी हो सकता है। अतः जो संसार के इस स्वरूप को जानता है कि सब चीज़ें आगमापायी हैं, प्रतीत हो रही हैं परन्तु इनकी वास्तविकता कुछ नहीं है, वही हिम्मत वाला है।

भगवान् शंकर के एक भक्त हुए हैं अप्पर। छोटी उम्र में ही उनके माता-पिता मर गये थे। एक बहन थी। परिवार में शिवभक्ति की परम्परा थी। कुछ बड़े हुए। वहाँ चारों तरफ जैनधर्म का प्रचार था। राजा भी जैनी था। उसी प्रचार के असर से वे भी जैन साधु बन गये। बहन ने बहुत चेष्टा की कि न बनें, लेकिन नहीं माने। जैन धर्म में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। उन्हें पढ़ने भेज दिया गया, उनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। बड़ी उन्नति की, ग्रन्थ भी लिखे। धीरे-धीरे वे उस सम्प्रदाय के आचार्य बन गये। जैन धर्म का प्रचार-प्रसार

आदि करते थे। उनकी बहन यह सारी उन्नति सुनकर मन में दुःखी होती थी। उसके मन में होता था कि 'ये परमेश्वर से दूर होकर आगे भी ऐसे ही जन्म-मरण के चक्रों में पड़ने का काम कर रहे हैं। किसी तरह इनको सद्बुद्धि आ जाये।' वह बार-बार भगवान् शंकर से प्रार्थना करती थी कि उसका भाई सन्मार्ग पर आये।

भगवान् शंकर तो करुणावतार हैं। रास्ते लाने के लिये कोई-न-कोई उपाय करना पड़ता है। अप्पर के पेट में भयंकर तकलीफ हो गई। चूंकि बहुत बड़े पद पर थे और जैनों के आचार्य भी थे इसलिये उनके इलाज के लिये उस जमाने के बड़े से बड़े वैद्य आये, सब तरह से उनका अच्छे से अच्छा इलाज हुआ लेकिन पेट का शूल दूर नहीं हुआ, धीरे-धीरे कमज़ोर होते गये। जैनियों ने मंत्र-तंत्र शुरू किये, फिर भी कोई फायदा नहीं हुआ, तकलीफ बढ़ती गई। कुछ समय बीत गया। संसार का स्वरूप तो जानते ही हो! चाहे कितने बड़े आचार्य हो, लेकिन लोग कहाँ तक सेवा करें! धीरे-धीरे लोग दूसरे कार्यों में लग गये। वे बहुत दुःखी हुए। बचपन के संस्कार उदित हुए, सोचा कि बहन से मिल लें। दो-एक सेवकों को लेकर वहाँ गये। बहन ने बहुत सेवा की और बार-बार बोली कि 'रोग का कारण शिव-विरोध है। तुम उनसे हृदय से प्रार्थना करो तो ज़रूर ठीक हो जाओगे।' कई साल के संस्कार जल्दी दूर नहीं होते। इसलिये सोचते थे कि यह तो बे पढ़ी-लिखी है। परन्तु उन्होंने एक भेद देखा कि जो उनको बहुत मानने वाले थे, उनकी बीमारी बढ़ने पर वे सब ठंडे पड़ गये और बहन को बचपन में ही छोड़कर चले गये थे, जैन साधु बन गये थे, फिर भी वह बड़े प्रेम से सेवा करती थी, उसकी सेवा में कोई कमी नहीं पाई। यह जो भेद देखा तो सोचने लगे कि फर्क तो यही है कि वे ईश्वर को नहीं मानते और यह ईश्वर को मानती है। धीरे-धीरे समय के साथ मन में आया कि 'शिव से प्रार्थना कर ली जाये, हो सकता है शिव हो ही।' बहन उन्हें शिव मन्दिर में ले गई। बचपन के संस्कार थे ही वे उदय होने ही थे, इतना कष्ट भी पा चुके थे। वास्तविक भावना आई तो शिव से प्रार्थना की। वापिस आने पर धीरे-धीरे रोग दूर होने लगा और सर्वथा ठीक हो गये। अब निश्चित हो गया कि 'इस संसार के रक्षक एकमात्र शिव हैं। वे करुणा के अवतार हैं। हमने इतना विरोध किया फिर भी हृदय से प्रार्थना करने पर उन्होंने ऐसी कृपा कर दी।' अब वे रोज़ मन्दिर में जाने लगे और शिव धर्म को मानने लगे।

साथ वालों ने जाकर जैनियों को खबर दी कि 'यह उल्टा काम करने लगा है और भ्रष्ट हो गया है।' जब जैनियों को पता लगा कि वे ठीक हो गये हैं तब वे लोग बड़े आदर से छत्र-चवर लेकर आये कि 'आप हमारे आचार्य हैं, हमारे साथ चलिये।' अप्पर ने कहा 'वह आचार्य तो दूर चला गया! हमारे लिये तो भस्म रुद्राक्ष ही ठीक है।' सब समझाने लगे कि संयोग था कि प्रार्थना की और रोग ठीक हो गया। शिवप्रार्थना से क्या होता है!' उन्होंने कहा—'यह सब मैं समझ चुका हूँ, देख चुका हूँ।' जैनों ने राजा से शिकायत की 'यह हमारा बड़ा आचार्य था, इसे दंड देना चाहिये।' राजा ने सिपाहियों को भेजकर अप्पर को

बुलाया और पूछा–'क्या बात है?' उन्होंने कहा 'आप हमारा जैनों से विचार करा दीजिये, यदि वे जैन मत सिद्ध कर दें तो मान जाऊँगा।' राजा ने उन लोगों से यह बात कही तो वे कहने लगे 'इसको तो दंड ही देना चाहिये। इसलिये इसको चूने की भट्टी में बिठाकर आग लगा दी जाये क्योंकि हम किसी को साक्षात् मारते नहीं हैं।' ऐसा ही किया गया। सात दिन बाद भट्टी खोली तो अप्पर वैसे के वैसे बैठे थे! सिपाहियों ने जाकर राजा से कहा। राजा ने फिर जैनियों को बुलाया तो उन्होंने कहा–'यह तंत्र मंत्र जानता है। इसको जहर देना चाहिये।' उन्होंने वह भी खा लिया, फिर भी कुछ नहीं हुआ। अब सब घबड़ाने लगे। किसी ने कहा 'हाथी से कुचलवा देना चाहिये। ज़िन्दा रहेगा तो हमारे धर्म का विरोध करता रहेगा।' उनके ऊपर पागल हाथी को छोड़ा। उनकी तो सर्वत्र शिवदृष्टि थी। जानते थे कि अग्नि भी शिवस्वरूप है, जहर भी शिवस्वरूप है। सत् है तब जहर है। इस प्रकार सत् की ही दृष्टि थी। जब हाथी को देखा तो उनकी दृष्टि बनी कि 'भगवान् गणेश सामने आ रहे हैं।' उन्होंने हाथी को प्रणाम किया और वह हाथी जैनियों की तरफ दौड़ा, पागल था ही, सब भागने लगे। फिर जाकर राजा से कहा कि 'इसने बड़े तंत्र-मंत्र सीख रखे हैं। इसको पत्थरों से बांधकर समुद्र में फैंक देना चाहिये।' उन्हें जंजीरों से पत्थरों से बांधकर समुद्र में फैंक दिया। जल भी तो शिव का ही रूप है। समुद्र में डूबे तो शृंखलायें टूट गईं' पत्थर दूर हो गये और वे किनारे पर आ गये। सभी लोगों ने यह सब दृश्य देखा तो जाकर राजा से कहा।

अब राजा की भी दृष्टि बदल गई। यह तभी हो सका जब कष्टों पर उनकी आगमापायिता की दृष्टि बनी, उन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं की कि 'मैं निरपराध हूँ, ये लोग अन्याय क्यों कर रहे हैं।' जो चीज़ सामने आई उसके अंदर शिवदृष्टि बनाई कि शिव से अतिरिक्त कुछ है नहीं। शिव से अतिरिक्त जो दीख रहा है, वह मिथ्या है। 'दीख रहा है अतः शिव नहीं'–ऐसी जब दृढ दृष्टि हो जाती है, तब जैसा भगवान् ने कहा, 'अमृतत्वाय कल्पते।' उनको समुद्र से व्यथा नहीं हुई, चूने की भट्टी में गर्मी ही थी किन्तु उन्हें व्यथा नहीं हुई। शीत, शीत और उष्ण, उष्ण ही रहेगा; सुख, सुख और दुःख, दुःख ही रहेगा; परन्तु यह निश्चय रहा कि यह सब शिव का ही विवर्त है। एकमात्र सच्चिदानन्द ही इन रूपों में प्रतीत होता है तो व्यथा नहीं होगी और तभी अमृतत्व की प्राप्ति हो सकेगी, मोक्षमार्ग के योग्य बन जाओगे, अंततः मोक्ष की प्राप्ति कर लोगे।

विवर्तवाद का स्वरूप पहले बताया कि जो नहीं है जाति की चीज़ होती है उसकी जाति नहीं बदलती, वह 'नहीं है' ही रहेगी। 'है' दीखेगी तब भी रहेगी 'नहीं है' और जो 'है' जाति की चीज़ है वह 'नहीं है' जाति की नहीं हो सकती। उसमें भी 'नहीं 'है' की प्रतीति हो सकती है पर तब भी रहेगी है ही। अभी हमको यह सारा संसार 'है' दीख रहा है परन्तु यह सब नहीं है। कैसे पता लगा? पता लगने का आगमापायिता ही सूत्र

है। जो लड़का पैदा हुआ वह पैदा होने के पहले कब से नहीं था? हमेशा से ही नहीं था। जो घड़ा पैदा हुआ वह पैदा होने से पहले हमेशा से नहीं था। जब यह लड़का मर जायेगा, घट फूट जायेगा तब हमेशा तक नहीं रहेगा। विचार करके देखो, अनादिकाल से आज तक अरबों कल्पों से वह 'नही है' जाति का रहा। मरने अथवा फूटने के बाद अनन्त काल तक 'नहीं है' जाति का रहेगा। पचास या सौ साल के लिये ही तुम्हें 'है' जाति का दीख गया तो उसको कैसे 'है' जाति का मानते हो! रस्सी में साँप देखने के पहले नहीं था। रोशनी आने के बाद साँप नहीं रहा। तब यह निश्चय होता है कि जब दीख रहा था तब भी 'नहीं है' जाति का ही था। 'नहीं है' जाति का होकर ही दीखा था। जो 'नहीं है' जाति का है वह कभी भी है हो जाये ऐसा, नहीं हो सकता। इसी प्रकार तुम को अनादिकाल से आज तक आत्मज्ञान नहीं हुआ, आत्मा में क्या कोई कमी आई? तुम वैसे के वैसे बने रहे।

केवल भारत में ही धर्मनिरपेक्षता हो ऐसा नहीं है। फ्रांस में भी ऐसी परिस्थिति आई थी जब वहाँ प्रस्ताव पारित कर दिया था कि आज से ईश्वर नहीं है! चार बार क्रान्ति हो गई, फिर भी वह ईश्वर वैसा का वैसा है। प्रस्ताव पारित करने वाले चले गये। आज ही नहीं, सत्य युग के अंदर हिरण्यकशिपु कह रहा था कि 'ईश्वर कुछ नहीं है। जो है सो मैं ही हूँ।' अनादि काल से 'ईश्वर नहीं है' ऐसा तुम देख रहे हो फिर भी वह वैसा ही रहता है। कभी भी वह 'नहीं है' जाति का नहीं हो पाता। अनादिकाल से न दीखने पर भी वह है ही। कभी ऐसा नहीं होगा कि वह 'नहीं है' जाति का हो जाये। इसलिये कहा—'नाभावो विद्यते सतः।' सत्‌रूप परमात्मा का कभी अभाव हो यह नहीं हो सकता। असत्-रूप संसार कभी 'है' ऐसा नहीं हो सकता। यह इनकी वास्तविकता है। दृश्यमान जगत् की वास्तविकता 'है' नहीं है। शिव की वास्तविकता 'है' है—इस प्रकार दोनों को जो समझ लेता है उसे सारे शीत उष्ण सुख दुःख दीखने पर भी निश्चय होता है कि ये प्रतीति मात्र हैं, हैं नहीं, जैसे प्रतीति से रस्सी में साँप दीख रहा है पर होता नहीं है; उसे व्यथा नहीं होती और अमृत के योग्य हो जाता है।

भगवान् ने कह दिया कि यह बात तत्त्वदर्शी जानते हैं। प्रश्न होता है कि है को है और नहीं है को नहीं है जानना तो सर्वलोकप्रसिद्ध है। इसमें तत्त्वदर्शी होने जैसी क्या विशेषता है? सच्ची बात है कि उक्त बात कोई नहीं जानता! रात-दिन हमें अनुभव उन चीज़ों के हैं जो कभी हैं और कभी नहीं हैं। जो 'है' अर्थात् हमेशा है उसका हमें अनुभव नहीं, जो कभी नहीं है उसका तो अनुभव होगा ही कहाँ से! इसलिये हमारे अनुभव के विषय तो वे हैं जो कभी हैं और कभी नहीं हैं। न वे 'है' जाति के हैं और न वे 'नहीं है' जाति के हैं। भगवान् ने तितिक्षा करने के लिये कहा था कि आने-जाने वाली चीज़ सहन करनी पड़ती है। सारी समस्या इन आने-जाने वाली चीज़ों की ही तो है।

जो आने-जाने वाली है वह चीज़ क्या है? यह प्रश्न उठता है। रस्सी में अंधकार में,

साँप आता है और रोशनी होने पर चला जाता है। इसलिये वह जो साँप तुम्हें प्रतीत हुआ उसे झूठा मानते हो। साँप को झूठा मानने में क्या कारण है? तुमको आँख से साँप वैसा ही दीखा जैसे रस्सी दीखी। इसीलिये जो साँप पहले नहीं था और आगे नहीं रहेगा, बीच में दीख गया वह झूठा है, सचमुच में नहीं है। 'है' तो एक जाति वाला है जबकि 'नहीं है' की दो जातियाँ हैं : एक तो नहीं है और कभी प्रतीत भी नहीं होता है। अर्थात् है भी नहीं और प्रतीत भी नहीं होता जैसे गधे के सींग नहीं हैं और गधे के सींग कभी दीखते भी नहीं हैं। बांझ का बेटा नहीं है और बांझ का बेटा कभी प्रतीत भी नहीं होता। इसलिये 'नहीं है' की एक जाति तो वह हुई जो न है और न प्रतीत होती है, अर्थात् अनुभव में नहीं आती। 'नहीं है' की दूसरी जाति की चीज़ें प्रतीत होती हैं पर सचमुच नहीं होती। जो प्रतीत होती है और सचमुच में नहीं होती उसके लिये हमारा पारिभाषिक शब्द 'मिथ्या' है, साधारण भाषा में 'झूठ' कहते हैं। मैंने लड़के से पूछा 'रात में घर देर से आया, कहाँ गया था?' लड़के ने कहा 'सत्संग में गया था।' हमको प्रतीत हुआ कि लड़का बड़ा अच्छा है, रात में भी सत्संग में पहुँच जाता है। उसकी पत्नी ने सास से कहा कि 'ये रात में शराब पीकर आये थे।' उसके कहने से भी ज्ञान हुआ कि शराब पी थी। पहले ज्ञान हुआ कि लड़का बड़ा अच्छा है, सत्संग में गया था। दूसरी बात सुनकर ज्ञान हुआ कि लड़का शराबी और धूमपायी हो गया है। फिर लड़के को बुलाते हैं। दो-दो थप्पड़ दोनों गालों पर मारते हैं तो वह तुरंत घिघियाने लगता है, ग़लती मान लेता है। उसके घिघियाने से तुमको निश्चय हो गया कि यह सत्संग में नहीं गया था। प्रतीति तो हुई थी जब कहा था 'सत्संग में गया था', परन्तु बाद के ज्ञान से बाध हो गया और निश्चय हो गया कि सत्संग में नहीं गया था। इसी को व्यवहार में झूठ कहते हो। पारिभाषिक भाषा में इसे मिथ्या कहते हैं।

इस तरह 'नहीं है' दो तरह के, एक जो प्रतीत भी न हो और दूसरा जो प्रतीत होने पर भी हो नहीं। यह इसलिये याद रखना चाहिये कि जब-हम जगत् को मिथ्या कहते हैं तब लोगों का प्रश्न होता है कि क्या गधे के सींग की तरह नहीं है? हम कहते हैं—नहीं हो तो देख कैसे रहे हो? जैसे लड़का सत्संग में नहीं गया था लेकिन तुमको प्रतीत हुआ कि गया था। इसलिये संसार को हम असत् नहीं कहते, मिथ्या कहते हैं। यह प्रतीत होता है, परन्तु विचार करने पर पता लगता है कि नहीं है, आगमापायी है, आता-जाता है। आने-जाने वाली चीज़ मिथ्या होती है। संसार के जितने पदार्थों का हम अनुभव करते हैं वे न सत् हैं और न असत् हैं न हमेशा हैं, और न हमेशा नहीं हैं।

भगवान् ने कहा कि तत्त्वदर्शी ये दो चीज़ें ही देखता है—क्या है और क्या नहीं है। जिस मिथ्या जगत् को हम देखते हैं, उसे वह नहीं देखता। नहीं देखता का मतलब ऐसा नहीं है कि इसकी प्रतीति नहीं करता। कपड़े पर किस प्रकार की कढ़ाई या चित्र है इस बात को सूत का परीक्षक नहीं देखता ऐसी बात नहीं है। वरन् नक्काशी देखते

हुए भी उसकी नज़र सूत पर रहती है कि कितने नम्बर का सूत है, एक इंच में सात धागे हैं या नौ धागे हैं। अतः चित्र को देखते हुए भी उसकी नज़र सूत के मोटाई की तरफ है। इसी प्रकार जो तत्त्वदर्शी है वह प्रत्येक अनुभव में कौन-सी चीज़ है और कौन-सी चीज़ नहीं है इस को देखता है—जो प्रतीत हो रहा है उसमें है क्या है और नहीं क्या है? इस प्रकार वह 'है' और 'नहीं है' को अलग करके देखता है। तुमको वह चीज़ इसलिये प्रतीत होती है कि तुम 'है' और 'नहीं है' को अलग नहीं करते हो, मिलाकर देखते हो।

जब दोनों को अलग करके देखोगे तब जो तुम्हारी प्रतीति है कि जो आगमापायी है वह 'नहीं है', जो सदा स्थायी है वही 'है', वह तत्त्वदर्शन के अनुकूल होगी। उन्हें अलग नहीं करके देखते हो तब तक तो प्रतीयमान मिथ्या है और जैसे ही अलग करके देखो वैसे ही पता लगेगा कि ये तो सत् और असत् दो ही हैं। दाल में मिले कंकड़ दाल जैसे ही दीखते हैं। दाल-कंड़ को एक-मेककर दाल समझ कर खाओ तो चबाने में क्लेश होगा। उन्हें अलग कर कंकड़ फैंक दो तो दाल खाने में क्लेश नहीं होगा। इसी प्रकार जैसे ही तुम को चीज़ की वास्तविकता सत् और असत् की प्रतीति होती है, दोनों अलग हो जाते हैं,वैसे ही अब उनसे व्यवहार करते समय तुमको व्यथा नहीं करनी पड़ती है, बिना मतलब की कट-कट नहीं करनी पड़ती। अर्थात् जो चीज़ हमेशा रह नहीं सकती, उसके रहने की सोच कर दुःखी नहीं होना पड़ता। जो चीज़ हमेशा रहेगी उसके लिये 'यह नष्ट हो जायेगी' इसकी व्यथा भी नहीं करनी पड़ती। अभी तो व्यथा है कि 'जो नष्ट नहीं हो सकता वह नष्ट हो गया तो क्या होग?' जैसे, भीष्म द्रोण आदि व्यक्ति हैं, ये नष्ट हो जायेंगे, इसकी व्यथा है। जिसने अलग करके देख लिया कि भीष्म द्रोण आदि की आत्मा कभी नष्ट नहीं हो सकती, उनके शरीर अवश्य नष्ट होंगे; यह विवेक कर लिया, उसे बिना मतलब व्यथा नहीं होगी। बाकी सारे व्यवहार तो वैसे ही होंगे।

कई बार लोग पूछते हैं कि ज्ञानी को सुख-दुःख होता है या नहीं। ब्रह्मसूत्र में इसका विचार इसलिये आया कि ज्ञानी को ''सर्वभूतात्मभूतात्मा'' कह दिया गया है। सारे प्राणियों में वह अपने आपको देखता है। तब क्या सारे प्राणियों के दुःखों से वह दुःखी भी होगा? इसी तरह ईश्वर सबके हृदय में है। तो क्या वह भी सबके दुःखों से दुःखी है? सिद्धान्त बताया है कि दुःख का कारण अज्ञान है, सुख का कारण अज्ञान नहीं है। सुख या आनन्द तो आत्मा का स्वरूप है। परन्तु दुःख का कारण अज्ञान है। ईश्वर में या जीवन्मुक्त में अज्ञान नहीं है। इसलिये सारे प्राणियों के हृदय में रहते हुए भी उनके आनन्द की अनुभूति तो उसको है, परन्तु अज्ञान नहीं रहने के कारण दुःख का अनुभव उसे नहीं है।

उसी दुःख को यहाँ भगवान् ने व्यथा कहा था। व्यथा क्यों नहीं होती, इसे अगले श्लोक में कहा कि वह तत्त्वदर्शी होने के कारण हर अनुभव में सत् और असत् को अलग जानता है, उसको यह अज्ञान नहीं होता कि यह 'मिथ्या चीज' है। इसका मोटा दृष्टान्त

समझ लोः विचार करो, मुसलमानों ने सोमनाथ मंदिर पाँच सात बार तोड़ा। क्या कभी हमने सोचा कि शिव जी मर गये! दूसरा मंदिर बना लिया। यद्यपि हम सोमनाथ के लिङ्ग पर वैसे ही पूजा करते हैं जैसे साक्षात् सोमनाथ भगवान् हों। पूरी भावना करते हैं, परन्तु हमारी *भावना* है कि वे सोमनाथ हैं, शिवलिंग सचमुच में सोमनाथ है—यह भ्रम नहीं है। अगर भ्रम होता तो श्राद्ध करने लगते कि भगवान् मर गये हैं! सोमनाथ की मूर्त्ति से सारा व्यवहार सोमनाथ का कर रहे हैं, परन्तु जानते हैं कि ये सच्चे सोमनाथ नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार से सारे संसार का व्यवहार करते हुए तत्त्वदर्शी उसे मिथ्या जानता है और हमको जानने का अभ्यास करना है। सारा व्यवहार करते समय हर समय 'यह सच्चा नहीं है', यह निश्चय रखना है। जैसे सोमनाथ की पूजा करते हुए जानते हैं कि यह सच्चे सोमनाथ नहीं हैं, इसी प्रकार संसार का सारा व्यवहार करते हुए यह निश्चय रखना है कि यह सच्चा नहीं है। सत्य का हिस्सा अलग, असत्य का हिस्सा अलग है, उनको मिलाओ मत। जब यह नहीं मिलाने का अभ्यास हो जाये तब तत्त्वद्रष्टा हो, अन्यथा तत्त्वदर्शी बनने के साधक हो।।१६।।

जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता उस 'सत्' का भगवान् वर्णन करते हैं—

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।।१७।।

यह सब जिससे फैला हुआ है उसे तो अविनाशी जानो। इस अव्यय का नाश कोई नहीं कर सकता।

भगवान् कहते हैं कि जिसको मैंने पहले 'सत्' (है) शब्द से कहा था, वह अविनाशी है। 'तु' व्यावृत्त करने के लिये है। जैसे किसी को कहते हैं कि देवदत्त और यज्ञदत्त जो भोजन करने आयेंगे उनमें देवदत्त तो ब्राह्मण है। यहाँ 'तो' शब्द का अर्थ है कि यज्ञदत्त ब्राह्मण नहीं है। अलग करके बताने के लिये 'तो' शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार मैंने जो सत् और असत् कहा उसमें जो सत् है वह 'तो' अविनाशी है अर्थात् जो असत् है वह विनाशी है। विनाश का मतलब क्या है? 'नश अदर्शने' धातु से विनाश शब्द बनता है। विनाश दो तरह के होते हैं। एक, किसी चीज़ के अनुभव न होने को विनाश कहते हैं। दूसरा, उस चीज़ के न रह जाने को विनाश कहते हैं। बढ़िया घी बड़ों ने तो खाया ही होगा, बच्चों ने नहीं खाया होगा। बढ़िया घी में दाना होता है। उस घी को गरम कर दिया तो कहते हो 'अब दाना नहीं रहा, घी का दाना नष्ट हो गया।' सर्दी का मौसम है, जो खाना-पीना था खा-पी लिया। बटलोई में घी रखा हुआ है। शाम तक जम जाता है। उसमें फिर दाना आ जाता है। वह दाना क्या कहीं से आया है? गरम करने से दाना दीखना बन्द हो गया था, था वहीं इसलिये जैसे ही गर्मी गई, वैसे ही वह दाना फिर वहाँ का वहाँ है। छान्दोग्योपनिषद् में गुरु ने शिष्य को अधिक स्थूल रूप से बताया

है। शिष्य से नमक की डली मंगवाई और पानी के लोटे में डलवा कर लोटा अल्मारी में बंद करवा दिया, अल्मारी की चाबी शिष्य के हाथ में दे दी। अगले दिन शिष्य से कहा 'अल्मारी खोलकर वह लोटा ले आओ।' शिष्य लोटा लाया तो उससे कहा 'इसमें से वह नमक की डली निकालो।' शिष्य ने चारों तरफ देखा, डली कहीं दिखाई नहीं दी। कहा–'इसमें डली नहीं है। गुरु जी ने कहा–'तुम खा गये होगे।' शिष्य ने कहा–'चाबी तो मेरे पास रही लेकिन मैंने नहीं खाई।' गुरु जी ने कहा–'नहीं खाई तो गई कहाँ?' शिष्य घबड़ाया। तब गुरु जी ने कहा–'इसका पानी ऊपर से चख।' चखा तो कहा–'यह तो नमकीन है।' फिर कहा 'नीचे से चख।' शिष्य ने कहा–'नीचे का पानी भी नमकीन है।' अगल-बगल से भी चखा तो नमकीन था। तब गुरु जी ने उसको समझाया कि वह नमक की डली ही इस सारे पानी में है। वह डली आँख से नहीं दीख रही है परन्तु जीभ से दीख रही है।

एक है जो दीख नहीं रहा है, परन्तु है। दूसरा है जो नहीं है इसलिये नहीं दीख रहा, जैसे घड़ा फूट गया तो ऐसा नहीं कि घड़ा कहीं है और दीख नहीं रहा है वरन् घड़े का अभाव हो गया, सचमुच में घड़ा नहीं है। परमात्मा जगत् के अन्दर कहीं दीख नहीं रहा है। सब प्रश्न करते हैं कि भगवान् के दर्शन कब होंगे कहाँ होंगे? हम लोग तो बद्री नारायण, जगन्नाथ, रामेश्वर हो आये, द्वारिका भी हो आये, चारों धाम कर लिये, लेकिन भगवान् के दर्शन नहीं हुए। कहाँ जायें कि भगवान् के दर्शन हों? आप कहते हैं कि तत् अर्थात् वह अविनाशी है अर्थात् उसका दर्शन ना हो यह कभी नहीं हो सकता। उसका दर्शन तो हो नहीं रहा है, कैसे हो? भगवान् ने इसका जवाब दिया ''येन सर्वमिदं ततम्'' जैसे ऊपर नमक के दृष्टांत में कहा था कि आँख से न दीखने पर भी पानी जीभ से चखते हो तो पता लगता है कि यहाँ सारे पानी में व्याप्त रूप से विद्यमान नमक ही है पर आँख से नहीं दीखता, जीभ से दीखता है, इसलिये अदर्शन नहीं है। कोई चीज़ एक इन्द्रिय से न दीखे तो यह नहीं कह सकते कि वह चीज़ ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार से इस संसार में हम घड़े को देखते हैं तो साथ में 'है' को देखते हैं कि 'घड़ा है'। इसी प्रकार सभी चीज़ों का अनुभव 'है' को छोड़कर नहीं होता। जैसे पूर्वदृष्टान्त में पानी का स्वाद नमक छोड़कर नहीं था इसलिये वहाँ नमक नष्ट नहीं समझा गया, विद्यमान ही समझ आया, ऐसे ही 'है' अविनाशी है क्योंकि सर्वत्र अनुगत उपलब्ध हो रहा है। जहाँ कहीं जो कोई अनुभव हो रहा है उसमें 'है' भास ही रहा है। विचार से, विवेक से सद्रूप परमात्मा सर्वत्र दीख रहा है जैसे जीभ से नमक दीखा था।

इस विचार के लिये वैराग्य चाहिये। स्वर्ण की परीक्षा करो तो गहने का आकार बिगड़ेगा, आकार का मोह रखोगे तो स्वर्ण में ठगे जाओगे। ऐसे ही नाम-रूप के मोह के कारण हम सत्-तत्त्व पर चित्त एकाग्र नहीं कर पाते, सत् का महत्त्व समझने पर नाम-रूप निःसार लगेंगे इस डर से उन्हीं पर दृष्टि जमाये रहते हैं। लोक में भी नाम-रूप के मोह से

ही सत्य का तिरस्कार किया जाता है। हर चीज़ में असत्य का आश्रयण इसलिये करते हो कि नाम रूप के प्रति जो तुम्हें प्रेम है, वह सत् के प्रति प्रेम नहीं है। हमने सत्य बोला, हम सत्य पर स्थिर रहे—इसकी भी क्या कोई कीमत नहीं है? जब बोलने में ही सत्य का आश्रयण नहीं करते तब उस सत् परमात्मा की प्राप्ति, उसकी दृष्टि अथवा 'सत्' दृष्टि हर चीज़ में कैसे बने! जब प्रतीति होती है तब दोनों की होती है। जो 'नहीं है' उस नाम रूप की भी प्रतीति होती है और जो 'है' उस सत् की भी प्रतीति होती है। 'है' की प्रतीति के बिना नाम रूप है—यह प्रतीति नहीं होगी। परंतु राग के कारण नाम-रूप की तरफ दृष्टि है, 'है' की तरफ दृष्टि नहीं है। ज्ञान साधना करोगे तो यह दृष्टि बदल जायेगी, तुम्हारी मुख्य दृष्टि 'है' की तरफ जायेगी और नाम-रूप केवल प्रतीतिमात्र रहेंगे। इसलिये तुमको अपने व्यवहार में कभी व्यथा नहीं हो सकती।

इसके लिये भगवान् ने केवल यह नहीं कहा 'अविनाशी तु तत्' बल्कि साथ में 'विद्धि' भी कहा है अर्थात् जिससे ये सब चीज़ें व्याप्त हैं उस सत् को जानो, हर बार उसकी तरफ दृष्टि करो जो नष्ट नहीं होने वाला है। तुमने झूठ बोलकर या घूस देकर नक्शा पास करा लिया और मकान बनाया; आखिर क्या होगा? बड़ा भारी लालकिला भी आज पुरातत्त्व विभाग का है, किसी के रहने के लायक नहीं है। कितना भी बढ़िया मकान बनाओगे उसका रूप सत् नहीं होना, ऐसे असत्य के लिये तुमने सत्य को छोड़कर क्या लाभ कमाया? इससे विपरीत, यदि तुम सत्य पर रहे तो हमेशा के लिए सत्य रहेगा। युधिष्ठिर का बनाया किला गया परन्तु उसका सत्य पर रहना तो रहा ही। वह तो कहीं गया नहीं। सत् सबमें व्याप्त है परन्तु उसको जानो, हर ज्ञान में तुमको उसकी सावधानी होनी चाहिये। इस प्रकार, सत् का अभाव नहीं। विनाश का दूसरा अर्थ बताया था अदर्शन। उस अर्थ में भी विनाश सत् का इसलिये नहीं कि सत् के दर्शन के बिना किसी दूसरे का दर्शन हो ही नहीं सकता। इसलिये भगवान् ने कहा कि वह अव्यय तत्त्व है।

आत्मा वह तत्त्व है जिसका कभी अदर्शन नहीं होता। जिस सद्रूप आत्मा से ये सब चीज़ें प्रतीत होती हैं उस सत् रूप आत्मा से सब कुछ अनुस्यूत है। हमको सारा संसार दीख रहा है। किससे दीख रहा है? वह सब 'है' इससे दीख रहा है। यह बात समझ में भी आती है कि जो चीज़ 'है' वही दीख रही है। परन्तु कहते हुए भी इसका मतलब क्या है, यह नहीं समझते। तुम कह रहे हो कि जो चीज़ है वह दीखती है अर्थात् दीखने वाली चीज़ 'है' है। इसके अतिरिक्त तो कुछ दीख नहीं रहा है। वह 'है' अर्थात् 'सत्' रूप ही परमात्मा है।

सद्रूप सर्वत्र उपलब्ध होने पर भी हम उसे ग्रहण क्यों नहीं कर पाते? कारण है हमारा राग-द्वेष। 'है' अधिष्ठान रूप से अनुस्यूत है अर्थात् क्योंकि संसार है-रूप अधिष्ठान पर अध्यस्त है इसीलिये है का सर्वत्र प्रवेश है। विवर्तवाद को कंजूस नहीं समझ पाता, सर्वज्ञात्ममहामुनिने 'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते विगतकल्मषधीस्तु विवर्तताम्' बताया है।

आगमापायी को भी हाथ से निकलने देना न चाहने वाला कंजूस परिणाम तो स्वीकारता है पर जब तक बुद्धि के रागादि दोष दूर न हो जायें, कृपणता दूर न हो जाये, तब तक विवर्त को स्वीकार नहीं पाता। परिणामवाद को वह ठीक समझता है कि नष्ट होने के बाद भी वह चीज़ कारण में है। जब बुद्धि की कालिख दूर हो जाती है तब विवर्तवाद समझ में आता है। पदार्थों में राग ही कालिख है। राग का स्वरूप समझ लोः हमारे पास दस लाख रुपये हैं। अब हमको वैराग्य हो गया कि संसार में धन की कोई कीमत नहीं है। हमने निश्चय किया कि नोटों को इकट्ठा करके नोटों की होली जला देंगे। घरवाले, अड़ौसी-पड़ौसी कहते हैं 'आपको वैराग्य हो गया तो घरवालों को दे दीजिये, उनके काम आयेंगे, जलाते क्यों हो? जो तुम्हारे काम की चीज़ नहीं है वह दूसरों को दे देनी चाहिये।' किन्तु विचार करो, तुम्हारे घर में चालीस बिच्छू निकलें, पड़ौसी से कहो 'आप ने ही उपदेश दिया था कि जो चीज़ आपको नहीं चाहिये वह हम लोगों को दे दिया करो, तो ये भी आप लोग रख लो!' तो क्या वह लेगा? लोग कहते हैं 'दे दिया करो' उसी के लिये जिस चीज़ में उन्हें राग है। पैसा दुःख की चीज़ है—यह जो समझेगा वह यह नहीं चाहेगा कि मैं दूसरे को देकर दुःखी करूं। यह विगतकल्मष धी है। जब हमको यह निश्चय होगा कि संसार के सारे पदार्थ दुःखरूप हैं तब यह वृत्ति नहीं हो सकती कि हम किसी दूसरे को दे देवें। जब तक यह कल्मष नहीं गया है तब तक होता है कि चीज़ हमारे नहीं तो दूसरे के काम आ जायेगी। जब तक दूसरे के काम आ जायेगी—यह वृत्ति है तब तक पदार्थ के प्रति तुम्हारी कृपण बुद्धि है। पदार्थ में कुछ अच्छा है—जब यह राग चला जाता है तब विवर्त दृष्टि समझ में आती है।

विवर्त अर्थात् सत्य अधिष्ठान किंचित् भी बदले बिना किसी मिथ्या चीज़ के रूप में प्रतीत हो जाये। जैसे रस्सी बिल्कुल बिना बदले हुए ही अज्ञान से सर्प दीख जाती है। रस्सी से सर्प बना है; इसका मतलब न तो सर्प का आरम्भ हुआ, न सर्प रस्सियों का संघात है, न सर्प रस्सी में घुसा हुआ था जहाँ से निकला। रामानुजाचार्य परिणामवादी हैं, वे कहते हैं कि रस्सी में सर्प है ज़रूर, अंधकार में दीखता है इसलिये उसमें अवश्य है। परन्तु यह बात जँचती नहीं है। सींप में चाँदी का भ्रम होता है पर कोई सींप को चाँदी है मानकर पावभर चाँदी के बदले मनभर भी सींप लेने को तैयार नहीं होगा।

सत् परमात्मा में इस जगत् का अज्ञान से भ्रम हो रहा है। जैसे यह रस्सी है इस बात को नहीं जानते वैसे ही यहाँ सत् परमात्मा है इस बात को नहीं जानते। जब पदार्थों के प्रति राग का कुछ भी कल्मष नहीं रह जाता है तब सर्वत्र यह ब्रह्मदृष्टि होती है। असली बात को बिना जाने हुए भ्रम होता ही रहता है। रात-दिन हम लोगों का व्यवहार भ्रम से होता है। है कुछ, प्रतीत कुछ और होता है। इसका मूल अज्ञान है। है परमात्मा पर हमको परमात्मा के अतिरिक्त सब कुछ दीखता है। जैसे कड़ा, हार, कर्णफूल सब दीखते हैं; सोना नहीं दीखता।

सारी सृष्टि परमात्मा ने उत्पन्न की, परमात्मा के सिवाय कोई इसको उत्पन्न करने वाला नही हैं। इसलिये वेद में दृष्टांत दिया कि जैसे मकड़ी जाला बनाती है इसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्मा ने बिना किसी सहायता के अपनी शक्ति से ही यह सारा जगत् बना दिया। सारी चीज़ों को उसी ने बना दिया।

किससे बनाया? अपने में से ही बना दिया। कैसे बनाया? रस्सी में साँप की तरह बनाया। रस्सी साँप, जलधारा, दंड आदि बना देती है। परन्तु क्या रस्सी में कोई फर्क पड़ता है? सोने में गहना बनाने के लिये कुछ करना पड़ेगा, धागों को कपड़ा बनाने के लिये कुछ करना पड़ेगा, परन्तु रस्सी से जब सर्प आदि पैदा होते हैं तब क्या उसमें कुछ भी परिवर्तन होता है? नहीं होता है। व्यय मायने खर्च अर्थात् कुछ निकल जाना या कमी आ जाना। वह परमात्मा अव्यय है अर्थात् उसमें बिना कुछ परिवर्तन हुए ही उसमें से यह सब बन गया। इसलिये वह अव्यय है। पुराने लोग कहा करते थे कि यदि आमद नहीं होगी तो कुएँ में भरा हुआ जल भी खत्म हो जायेगा। अब परमेश्वर की कठिनाई भी समझ लो : परमेश्वर अनादिकाल से अनन्तकाल तक सृष्टि बनाता है, खर्च ही खर्च है। उससे अलग दूसरा कोई परमेश्वर है नहीं जिससे वह कुछ ले सके। उसे खर्च ही खर्च करना है। आमदनी होनी नहीं है तो क्या एक दिन ऐसा होगा कि परमेश्वर सृष्टि कर ही नहीं सकेगा? अनादिकाल से ऐसा हुआ नहीं। भगवान् भाष्यकार एक जगह लिखते हैं कि यदि संसार को खत्म होना होता तो बहुत पहले ही खत्म हो गया होता। जो अनादिकाल से आज तक खत्म नहीं हुआ उसे खत्म होना ही नहीं है। यह तभी संभव हो सकता है जब रस्सी में साँप की तरह प्रकट होता रहे; वहाँ कभी खत्म नहीं होता है इसलिये क्योंकि उसमें से कोई चीज़ निकलती नहीं है! सारी चीज़ें उसमें से निकलने पर भी वह वैसा का वैसा पूर्ण बना रहता है।

क्योंकि परमात्मा अव्यय है, उसमें से कभी कुछ निकल नहीं जाता, इसलिये उसका विनाश होता नहीं है। इसका भी मूल कारण समझ लेनाः टुकड़ा उसमें से निकल सकता है जिसमें अवयव हों। परमात्मा निरवयव है। सावयव में से कुछ निकल सकता है। जैसे लोक में आकाश निरवयव पदार्थ है तो आकाश को कोई खत्म नहीं कर सकता। परमात्मा निरवयव है इसलिये अवयवों का व्यय होकर वह खत्म हो जाये, यह नहीं हो सकता।

एक और भी विनाश होता है। 'करोड़पति सेठ खत्म हो गया' अर्थात् उसका करोड़ रुपया खत्म हो गया। किसी से सम्बन्धित चीज़ के जाने से भी उसका नाश कहा जाता है। इस अर्थ में भी परमेश्वर का विनाश तब हो सकता है जब उससे संबंधित कुछ होता हो। वह भी नहीं बनता क्योंकि संबंध होने के लिये कोई दूसरा चाहिये। परमात्मा अद्वितीय होने से उससे संबंध वाला कोई है नहीं जिसके जाने से कहा जाये कि परमात्मा का विनाश हो जायेगा। यदि कोई दूसरा होता तो उस संबंधी के नाश से परमात्मा को नष्ट कर सकते थे। इसलिये वह विनाश भी परमेश्वर का संभव नहीं। पहले बताया था कि

परमेश्वर है की जाति का है और नाम रूप नहीं है की जाति के हैं। इसलिये परमेश्वर से जो दूसरा होगा वह 'नहीं है' की जाति का होगा। जिस आदमी ने कभी दस रुपये का नोट भी नहीं पाया उसके बारे में यदि कहो कि 'इसका करोड़ रुपया नहीं रह गया, वह दीवालिया हो गया' तो कोई मायने नहीं हैं। जो स्वयं 'नहीं है' उसके न होने से 'है' को क्या फ़र्क़ पड़ सकता है! क्योंकि परमात्मा से अन्य केवल 'नहीं है' इसलिये परमात्मा का किसी से संबंध संभव नहीं। अतः सम्बन्धी के नाश से प्रयुक्त नाश भी परमेश्वर का नहीं हो सकता।

तीसरी बात, क्या उसको कोई दूसरा नष्ट करता है या खुद नष्ट होता है? कई चीज़ें खुद नष्ट हुआ करती हैं। जैसे कपूर की डली रख दो, कुछ भी मत करो, दो साल बाद देखोगे कि वह नहीं रही। आजकल के विज्ञान में 'रेडियम' ऐसा पदार्थ होता है जो छह महीने बाद आधा रह जाता है। ऐसी चीज़ों को चाहे जितना बंद करके रखो, वे खुद नष्ट हो जाती हैं। वह सत् परमात्मा क्या खुद नष्ट हो जाता है, स्वयं नष्ट होने वाला है? वह स्वयं नष्ट होने वाला नहीं है क्योंकि अव्यय है। स्वयं नष्ट होने वाली चीज़ के अवयव हुआ करते हैं। कपूर और रेडियम के अवयव होते हैं। इसलिये स्वतः भी परमात्मा नष्ट नहीं हो सकता। उसे कोई दूसरा नष्ट कर सकता होगा? किन्तु दूसरा कोई है ही नहीं! जो नहीं है वह है को क्या नष्ट करेगा! जो मेरा दुश्मन है वही मुझे मार सकता है। जो दुश्मन पैदा ही नहीं हुआ, वह मुझे क्या मारेगा! परमात्मा को नष्ट करने वाला खुद ही नहीं है तो परमात्मा कैसे नष्ट होगा?

छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है—देवासुर-संग्राम हुआ। देवताओं ने सोचा कि परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिये उपासना करनी चाहिये। उन्होंने आँख में बैठकर उपासना शुरू की। असुरों ने सोचा, 'देवता दिखाई नहीं दे रहे हैं। कहाँ चले गये?' उन्होंने देखा कि वे आँख में बैठकर उपासना कर रहे हैं। सोचा कि उपासना करके ये सिद्ध हो जायेंगे तो हमें मार डालेंगे। असुरों ने वही काम किया जो आजकल लोग करते हैं, उन्होंने आँख को घूस दे दी। इसीलिये आँख अच्छा भी देखती है और बुरा भी देखती है। मन्दिर में भगवान् के दर्शन भी करते हैं और औरतें दूसरों की साड़ियाँ देखकर ईर्ष्या करती हैं, आदमी भी दूसरों की औरतों को वह साड़ी पहने देखकर सोचते हैं कि मेरी पत्नी सुन्दर नहीं है। मंदिर का दर्शन भी वही आँख कर रही है। नियम है कि जहाँ बैठकर उपासना करो वह स्थल दूषित होने से उपासना भी दूषित हो जाती है।

स्थल की पवित्रता होनी चाहिये। इसलिये भगवान् ने भी कहा "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य" शुद्ध देश में बैठकर उपासना करनी चाहिये। आँख सदोष हो जाने पर देवता कान में बैठे। असुरों ने वहाँ भी पकड़ लिया, कान को भी घूस दे दी। कान भी इसलिये दोनों काम करते हैं—भगवान् का नाम भी सुनते हैं और जब दूसरा कहता है कि 'अमुक की लड़की किसी के साथ भाग गई' तो यह बात भी सुनते हैं। कान अच्छी बात भी सुनेगा और दूसरे की

निंदा भी सुनेगा। असुरों ने कान को भी दूषित कर दिया तो देवता वाणी, नासिका आदि सब जगह बैठते चले गये। असुरों ने उन सबको दूषित कर दिया।

तब देवता सारी चीज़ों को छोड़कर मन में जाकर बैठे। असुरों ने मन को भी दूषित कर दिया। इसलिये मन अच्छी बुरी दोनों बातें सोचता है।

इन सब स्थलों के बाद देवता प्राण में बैठे। असुरों ने जाकर प्राण को भी घूस देनी चाही परन्तु सामवेद कहता है कि जैसे मिट्‌टी के लोन्दे को पत्थर पर डालो तो वह टुकड़े-टुकड़े हो जाता है इसी प्रकार जब असुरों ने प्राण को बींधने का प्रयत्न किया तो वे स्वयं ही टुकड़े-टुकड़े हो गये। इसलिये प्राण कभी अच्छा-बुरा नहीं करता। आँख, कान मन आदि सब अच्छा बुरा करते हैं। परन्तु प्राण कभी बुरा नहीं करता। इसीलिये शास्त्रों में अन्नदान का इतना माहात्म्य बताया क्योंकि जब किसी को भोजन कराते हैं तो वह भोजन उसके प्राणों को जाता है और प्राण कभी गलत काम नहीं करेगा। भोजन के अतिरिक्त और कुछ भी दो तो उसका दुरुपयोग हो सकता है। भूख-प्यास को दूर करने के लिये उसे जो अन्न-जल दोगे, वह कभी भी बुरे काम में नहीं लग सकता। प्राण का वास्तविक स्वरूप क्या है? ऐतरेय उपनिषद् में बताया कि परमात्मा ही प्राण में हिरण्यगर्भ रूप से प्रवेश करता है। प्राण सोपाधिक, सगुण ब्रह्म है, यह सत्य है। यह सारा जगत् एकमात्र परमेश्वर का शरीर है। उसमें होने वाली सब चीज़ें उसके अवयव हैं। उनकी परमेश्वर से अलग सत्ता नहीं है। हिरण्यगर्भ की सत्ता से ही उनकी सत्ता है।

सत्य परमात्मा का शरीर होने से संसार को भी सत्य कहा गया है। अतः परमात्मा को 'सत्य का सत्य', 'सत्यस्य सत्यम्' बताया गया है। श्रुति कहती है 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इस सृष्टि को सत्य बनाने वाला जो है, वह परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है। सत्य संसार को सच्चा बनाने वाला परमात्मा है। ठीक जिस प्रकार तुमको दीखता है 'साँप है' परन्तु साँप का 'है'-पना रस्सी से आया है। रस्सी है तभी सर्प का भ्रम हुआ क्योंकि बिना किसी अधिष्ठान के भ्रम नहीं हो सकता। इसलिये रस्सी का है-पना ही साँप में दीख रहा है। केवल है-पना ही नहीं, बाकी चीज़ें भी साँप में रस्सी की ही दीख रही हैं। कितना लम्बा साँप? जितनी लम्बी रस्सी। कितना मोटा साँप? जितनी मोटी रस्सी। इसी प्रकार परमात्मा की सत्यता के कारण ही चीज़ों का ज्ञान होता है कि चीज़ें हैं। सच्चिदानन्द रूप परमात्मा एक जैसा बने रहते हुए ही, अपने सच्चिदानन्द रूप को संसार को देते हुए भी अव्यय होने से उसकी अखण्ड सच्चिदानन्दरूपता में कोई कमी नहीं आती। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा कि उसका न अदर्शन हो सकता है और न वह किसी दूसरे से नष्ट हो सकता है न स्वतः नष्ट हो सकता है।

अंत में एक संभावना किसी ने कही कि कोई दूसरा नष्ट नहीं कर सकता क्योंकि उसके अवयव नहीं हैं, परन्तु वह आत्महत्या तो कर सकता है! इस पर आचार्य शङ्कर लिखते हैं 'ब्रह्मणो विनाशं न कश्चित् कर्तुमर्हति न कश्चिदात्मानं विनाशयितुं शक्नोति

ईश्वरोऽपि।' क्योंकि उसकी जाति 'है' है और मर जाने का मतलब नहीं है हो जाना होता है इसलिये वह कभी मर नहीं सकता क्योंकि 'है' जाति की वस्तु 'नहीं है' कभी नहीं हो सकती। परमात्मा सर्वशक्तिमान् है, सब कुछ कर सकता है। अपने को 'नहीं है' *जैसा* दिखा सकता है क्योंकि सर्वशक्तिमान् है। शक्ति से जो दिखायेगा उससे भ्रम हो सकता है। परन्तु सचमुच में वह 'नहीं है' नहीं हो सकता। अतः जिसका अभाव असंभव उस सत् का अव्यय अविनाशी स्वरूप इस श्लोक में स्पष्ट किया।।१७।।

जिसे असत् कहा वह कौन है? उसके बारे में भगवान् कहते हैं–

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अनाशी, अप्रमेय, नित्य शरीरी के ये शरीर अन्तवाले बताये गये हैं अतः हे भरतवंशी! तू लड़।

असत् क्या है? ये सारे शरीर भीष्म द्रोण आदि के एवं हम लोगों के भी अपने स्थूल-सूक्ष्म देह, नश्वर अतः असत्, मिथ्या हैं। हिरण्यगर्भ का ब्रह्माण्ड शरीर भी यहाँ समझ लेना चाहिये। 'इमे' अर्थात् जो सामने हैं, दृश्य हैं; भीष्म द्रोण के शरीर अर्जुन के सामने हैं। हम लोगों के अपने शरीर हमारे सामने हैं और भी जहाँ जो है वह किसी-न-किसी के सामने है ही। ये सारे असत् हैं क्योंकि अन्त वाले हैं। अन्त अर्थात् सीमा तीन तरह की होती है। जहाँ कोई चीज़ ख़त्म हो जाये उसे सीमा कहते हैं। देश की सीमा–अमुक चीज़ किसी स्थान में होती है, उससे अन्यत्र नहीं होती। काल की सीमा–वस्तु किसी समय में है, अन्य समय में नहीं है। वस्तु की सीमा–देवदत्त यज्ञदत्त नहीं है, यज्ञदत्त देवदत्त नहीं है, घड़ा कपड़ा नहीं है कपड़ा घड़ा नहीं है अर्थात् चीज़ों में आपसी भेद होता है। विभिन्न वस्तुएं एक-दूसरे की सीमा हो जाती हैं। ये सब देश-काल-वस्तु के परिच्छेद, सीमा, अंत कहे जाते हैं।

भगवान् शंकर का जब पार्वती से विवाह हुआ तब देवता, असुर, गन्धर्व सबको निमंत्रण गया क्योंकि वे तो सारे जगत् के अधीश्वर हैं। भगवान् शंकर का विवाह देखने के लिये सब तैयार हो गये। पृथ्वी ने विश्वकर्म्मा से कहा कि 'सब कैलास पहुँच जायेंगे तो मैं लुढ़क जाऊंगी! क्योंकि एक ही दिशा में सारा वजन पड़ जायेगा।' विश्वकर्म्मा बड़े भारी इंजिनियर और आर्किटैक्ट हैं। उन्होंने सोचा कि भार को नियमित करने वाली कोई समतोल चीज़ होगी तो संतुलन को ठीक कर देगी। उन्होंने पृथ्वी से कहा 'अगस्त्य महर्षि ऐसे हैं जो यदि दक्षिण दिशा की तरफ चले जायें तो सब संतुलित हो जायेगा।' सबने भगवान् शंकर से कहा कि 'अगस्त्य को अपने विवाह में न आने दीजिये।' जब अगस्त्य को यह पता लगा तो उन्हें गुस्सा आया। उन्होंने विश्वकर्म्मा को शाप दिया कि 'तूने शिव-विवाह का दर्शन करने से मुझे रोका है, इसलिये अच्छा आर्किटैक्ट होने पर भी तेरी

बनाई हुई चीज़ सब खत्म हो जायेगी।' यह इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) भी उसी ने बनाया था जो सब खत्म हो ही गया क्योंकि अगस्त्य ऋषि का शाप लगा है।

यह जो सारा नाम-रूपात्मक प्रपञ्च है वह 'नहीं है' और उस सबको संतुलित करने वाली एक चीज़ है परमात्मा, वह 'है' है। वह इन सब 'नहीं है' को संभाल लेता है। वह है तो ये सब 'नहीं है' होकर भी 'है' ही बने रहते हैं। यह नाम-रूपात्मक जगत् जिसको भगवान् ने 'देह' शब्द से कहा, अन्त वाला है। यह देश, काल और वस्तु तीनों से परिच्छिन्न है इसलिये अन्तवाला है। परन्तु अन्तवाले इन सारे शरीरों को धारण किये हुए वह नित्य है। इस शरीर का अधिपति जो सच्चिदानन्द परमात्मा है उसी से यह है। जैसे शरीरी शरीर को धारण करता है ऐसे ही इन सारे 'नहीं है' को 'है' धारण किये हुए है। शरीर में अङ्ग-प्रत्यङ्ग आदि अनन्त हैं। बालों को गिनने बैठो तो गिनना मुश्किल है! शरीर के रोये (रोम) ही अनन्त हैं। इस सारे अनन्त को धारण तुम किये हुए हो। तुम चले जाते हो तो सारे अङ्ग बिखर जाते हैं। ठीक इसी प्रकार इस सारे जगत् को, अंत वाली चीज़ों को धारण किये हुए वह शरीरी सच्चिदानन्द है। उसके कारण ये सब सद्रूप, चिद्रूप और आनन्दरूप हैं।

भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि ये देह अन्त वाले हैं और देही नित्य है। वह शरीरी अनाशी और अप्रमेय है—इस बात को समझ कर तू युद्ध कर। तू ग़लत ज्ञान के कारण युद्ध से विमुख हो रहा है। इस ठीक ज्ञान को समझ ले तो आया हुआ अज्ञान खत्म हो जायेगा और जिस कर्म को शुरू किया था वह कर्म ठीक से करेगा।

एक सज्जन हैं, उनका स्वभाव क्रोधी है। एक बार हम समझा रहे थे कि लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहिये। कहने लगे 'आप कहते हैं कि लड़ना नहीं चाहिये, भगवान् ने तो गीता में युद्ध करने का आदेश दिया है', किन्तु ऐसा आदेश नहीं समझना! आचार्य शङ्कर ने स्पष्ट किया है कि भगवान् युद्ध की विधि नहीं कर रहे हैं। वे तो कह रहे हैं कि तू जिस कर्म में प्रवृत्त हुआ था उसमें रुकावट वाली चीज़ मोह हट गया है। वह प्रतिबन्धक हटने से तेरी पहले वाली प्रवृत्ति हो जायेगी। जैसे चुम्बक के सामने यदि कोई अन्य पदार्थ रख दो तो दूसरे लोहे उसकी तरफ नहीं खिंचते, यदि वह पदार्थ हटा दो तो चुम्बक उन्हें खींच लेता है। इसका मतलब यह नहीं है कि कागज़ ने हटकर लोहे खिंचवाये; लोहे को तो चुम्बक स्वभाव से खींचता है। न खींचने का कारण प्रतिबन्धक था, उसे दूर किया तो चुम्बक ने स्वभाव से काम किया। इसी प्रकार अर्जुन युद्ध के स्वभाव वाला क्षत्रिय था। युद्ध क्रिया में प्रवृत्त था। मोह के कारण उस प्रवृत्ति को रोक रहा था। उस मोह को हटा दिया तो उसकी प्रवृत्ति खुद होनी उचित है। भगवान् उसे प्रवृत्त नहीं कर रहे हैं।

अर्जुन के मूलभूत अज्ञान को निवृत्त करने के लिये भगवान् ने नित्य और अनित्य दोनों को अलग करके बताना शुरू किया। जो है वह हमेशा है, जो नहीं है वह हमेशा ही नहीं है। जो कभी है और कभी नहीं है वह रस्सी में साँप की तरह मिथ्या है, वास्तविक नहीं

है क्योंकि वास्तविक केवल है है। जिस प्रकार रेगिस्तान में मृगमरीचिका के अन्दर तुमको बड़ा भारी तालाब दिखाई देता है परन्तु उस तालाब से वहाँ की मरु भूमि रञ्चमात्र भी गीली नहीं होती। प्रतीतिमात्र से व्यवहार-सिद्धि तो हो सकती है पर प्रतीत वस्तु सत्य सिद्ध नहीं हो जाती। एक बड़े प्रसिद्ध भक्त और कवि जयदेव हुए हैं। उनकी पत्नी का उनसे बहुत ज्यादा प्रेम था और वे राजा से कहते थे कि मेरी पत्नी मेरे बिना नहीं जी सकती। राजा को यह बात जँची नहीं। एक बार जयदेव कहीं बाहर गये। राजा ने उनकी पत्नी को खबर दी कि जयदेव मर गये। खबर सुनने के साथ ही पत्नी मर गई! खबर गलत थी। जयदेव मरे तो थे नहीं, परन्तु उसे प्रतीति हुई कि मर गये। प्राचीनकाल की कथा अश्वत्थामा की है। अश्वत्थामा मरा नहीं था, परन्तु युधिष्ठिर के कहने से द्रोण को प्रतीति हुई कि अश्वत्थामा मर गया तो उन्होंने हथियार छोड़ दिये। इसलिये बहुत-से व्यवहार प्रतीति से सिद्ध होते हैं। आजकल एक प्रतीति लोगों को बहुत होती है : एक छोटा-सा कागज़ का टुकड़ा देकर कहते हैं कि ये पाँच सौ रुपये हैं! वह केवल प्रतीति है क्योंकि उसमें रूप (चाँदी) नाम की कोई चीज़ नहीं है। अगर उसमें वास्तविक रूप हो तो सरकार द्वारा मान्यता समाप्त करने पर भी उसकी कीमत मिला करे, पर मिलती नहीं है। जो सच्चा रुपया है, चाँदी का एक रुपये का सिक्का है, वह सरकारी विनिमय साधन न होने पर भी मूल्यवान् बना हुआ है, लगभग सौ रुपये में बिक जाता है। किसी की घोषणा करने मात्र से किसी चीज़ की मूलभूत कीमत खत्म नहीं हो जाती लेकिन पाँच सौ रुपये के कागज़ की तो एक धेला भी वास्तविक कीमत नहीं है। फिर भी प्रातीतिक कीमत से सारा व्यवहार चल जाता है। यह इसलिये स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रायः लोगों की शंका होती है कि चीज़ है नहीं तो व्यवहार कैसे होता है? प्रतीति होने के लिये वास्तविक होना ज़रूरी नहीं है।

भगवान् ने कहा 'अन्तवन्त इमे देहाः' ये सारे शरीर अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म समष्टि-व्यष्टि सभी शरीर अन्त वाले हैं। आगे भगवान् कहते हैं 'शरीरिणः नित्यस्य।' शरीरिणः = शरीर वाला; यहाँ एकवचन का प्रयोग है। इन सारे शरीरों के अन्दर चाहे वह विराट् हिरण्यगर्भ रूप हो, चाहे ये दीखने वाले अनेक शरीर हों, इन सब में शरीर वाले की तो एकता है। अनेक शरीरी भगवान् ने नहीं कहे। इन सारे शरीरों से शरीर वाला वह एक ही आत्मा बना हुआ है। शरीरी नित्य है और शरीर अन्त वाले हैं। एक ही आत्मा सारे शरीरों के अन्दर विद्यमान है और शरीर वाला वह है। हम लोगों का भेद तब तक हमारे सामने रहता है जब तक ये शरीर रहते हैं। ये सारे शरीर, चाहे समष्टि चाहे व्यष्टि, तब तक हैं जब तक तुम जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में हो। जाग्रत् अवस्था में तुम्हारा स्थूल शरीरों के साथ संबंध है। स्वप्न में मनरूप सूक्ष्म शरीरों को देखते हो। नींद में जाते हो तो न वहाँ स्थूल शरीर हैं और न सूक्ष्म शरीर हैं। यह तुम्हारा रोज का अनुभव है कि सुषुप्ति में स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर नहीं हैं। सुषुप्ति का अनुभव जितनों से पूछते हो सब एक ही बताते हैं कि 'बड़े आनन्द से सोया, कुछ नहीं जाना।' स्थूल शरीर में सब अपना

अलग-अलग अनुभव बतातें हैं—मैंने अमुक काम किया। मैं आज शादी में गया, आज मुर्दानगी में गया था; अर्थात् बिल्कुल अलग-अलग काम किये। जाग्रत् व स्वप्न में सब हमेशा अपने अनुभवों का भेद बतायेंगे। परन्तु गहरी नींद में सब प्राणी एक ही अनुभव बताते हैं—बड़े आनन्द से सोया, कुछ नहीं जाना।

अनेक जीवों को मानने वाले जितने लोग हैं वे सब जीवों के भेद में कारण यह बताते हैं कि उनके ज्ञान और कर्म अलग-अलग हैं। एक को सुख तो दूसरे को दुःख है। एक बिछौने में पड़ा है, दूसरा काम कर रहा है। वे अनेक जीवों को इसीलिये मानते हैं कि उनके अन्दर सुख-दुःख कर्तृत्व भोक्तृत्व अलग मिलते हैं। जब उनसे पूछते हैं कि गहरी नींद में तुम क्यों अलग-अलग आत्मा मानना चाहते हो? तब उनके पास कोई हेतु नहीं है। उपाधियों से प्रतीत होने वाला रूप वास्तविक नहीं, उपाधि के बिना वाला रूप वास्तविक है। उपाधियों वाले रूप उपाधियों के अधीन हैं, इसलिये वे उसके रूप नहीं हैं। जैसे एक आदमी देवदत्त है, साथ में जिले का कलैक्टर है। इनमें से उसका वास्तविक स्वरूप कौन-सा है, देवदत्त वाला या कलैक्टर वाला?

बहुत साल पहले काशी में एक बार महाराष्ट्री ब्राह्मणों का भंडारा हुआ। उन ब्राह्मणों का नियम यह है कि जब एक दूसरे के यहाँ जाते हैं तब एक पैसा दक्षिणा दी जाती है। भोजन में दक्षिणा देने का नियम है। उस भंडारे में बड़े-बड़े वकील लोग, जज और अन्य अधिकारी भी थे, सबको एक-एक पैसा दक्षिणा दी। उसी में उस समय के उत्तर प्रदेश के प्रधान न्यायाधीश भी थे। उन्होंने खट से वह एक पैसा दक्षिणा उठायी और अंटी में रख ली। कुछ नये वकील लड़के वहाँ बैठे थे, वे एक-दूसरे को इशारा करके मुस्कुराने लगे। जज साहब ने देख लिया। भोजन करके उठे तो उन्होंने उन दोनों लड़कों को बुलाया और पूछा—'किस बात पर हँस रहे थे?' वे खिसिया गये, कहने लगे 'ऐसे ही।' जज साहब ने कहा—'ऐसे ही नहीं, मैंने पैसा टेंट में लगाया इसलिये हँसे! यह 'जस्टिसी' तो मिली हुई है, कल नहीं रहेगी। लेकिन मैं महाराष्ट्री ब्राह्मण हूँ इसलिये एक पैसा तो मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।' इसी प्रकार कलैक्ट्री औपाधिक है। देवदत्त वास्तविक है। प्रायः लोग अपने औपाधिक रूप को इतना महत्त्व देते हैं कि अपनी जो वास्तविकता है उसे खो देते हैं।

ठीक इसी प्रकार से हम लोग भी स्थूल सूक्ष्म उपाधि वाले रूप को इतनी महत्ता दे देते हैं कि अपने वास्तविक स्वरूप का विचार ही नहीं करते। यहाँ तक कि कारणोपाधि या सुषुप्ति वाले रूप की बात करें तो कहते हैं कि 'जगने की बात करिये, सोने की बात छोड़िये' अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों से अतिरिक्त की बात मत करिये, व्यक्त उपाधि की बात करिये। सुषुप्ति में शरीरों के नहीं होने से भेद नहीं रहता। यह बात शास्त्रसिद्ध तो है ही, अनुभवसिद्ध भी है। अनुभवरूप अभेद नित्य है। नित्य क्यों है? सुषुप्ति में आनन्द और अज्ञान को जान रहे हैं। स्वप्न में मन के बनाये हुए जगत् को जान रहे हैं। यह जानने

का स्वरूप कभी कम नहीं होता। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में तीनों जगह एक-जैसा रहता है। जाग्रत् स्वप्न में जो चीज़ होती है उसे जानते हैं। जाग्रत् में आधिभौतिक पदार्थों को जानते हैं। स्वप्न में मानस जगत् को जानते हैं। सुषुप्ति में कुछ नहीं है तो इसी बात को जानते हैं। ज्ञान आत्मा का वास्तविक रूप है, अनौपाधिक रूप है। जाग्रत् स्वप्न के अनुभव उसमें होते हैं। जैसे मृगमरीचिका के बड़े भारी समुद्र की एक बूंद पानी से भी वहां की बालू का एक कण भी गीला नहीं होता इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न के इन सारे प्रपञ्चों से चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, उस आत्मा के अन्दर कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। गहरी नींद में जाने के बाद स्वयं श्रुति कहती है कि ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं रहता, क्षत्रिय, क्षत्रिय नहीं रहता। आगे श्रुति कहती है कि मच्छर भी मच्छर नहीं रहता, शेर, शेर नहीं रहता, सूअर, सूअर नहीं रहता इत्यादि। सुषुप्ति में जाने पर उपाधियों का कोई प्रभाव नहीं रहता। डकैत भी वैसे ही सोयेगा जैसा बड़ा भारी कर्मकाण्डी ब्राह्मण सोयेगा। इसलिये वहाँ स्पष्ट है कि एक ही आत्मा है जहाँ जाकर सब एक हो जाते हैं। जैसा कि पूर्व श्लोक में बताया था कि नाश दो प्रकार के हैं, इसी प्रकार इस श्लोक में भी 'अनाशिनः' से दोनों नाशों को मना कर दिया।

वह तत्त्व कैसा है? अप्रमेय है, वह कभी भी प्रमा या ज्ञान का विषय नहीं होता। यह समझने की बात है। वेदान्त कहाँ से शुरू होता है? 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् क्या कह रहे हैं? वह अप्रमेय है अर्थात् ब्रह्मज्ञान कभी होता ही नहीं! फिर सारा प्रयत्न किसके लिये है? जहाँ भ्रम होता है वहाँ सभी लोग धर्मी के विषय में अभ्रान्त होते हैं, धर्म के विषय में भ्रम होता है। जैसे 'यह साँप है' यह अनुभव हुआ। 'यह' क्या है? 'यह' साँप है। 'क्या है' यह भ्रम है। 'यह' अर्थात् पुरोवर्ती; 'यह' के बारे में भ्रम नहीं है। यह 'क्या' है—इसके विषय में भ्रम है। 'यह' तो भ्रम का विषय नहीं हुआ। 'यह' साँप है इस भ्रम को हटाने के लिये 'यह रस्सी है' यह ज्ञान होना चाहिये। सभी लोग धर्मी के विषय में निर्भ्रान्त होते हैं अर्थात् वह ज्ञान तो ठीक ही होता है, धर्म के विषय में भ्रांति होती है। ठीक इसी प्रकार से सारे ज्ञान आत्मा में होते हैं। घड़े का ज्ञान मुझे हुआ, कपड़े का ज्ञान मुझे हुआ। घड़े का ज्ञान, कपड़े का ज्ञान संशय या विपरीत ज्ञान भी हो सकता है, परन्तु मुझे हुआ; वह जो 'मैं' आत्मा है उसके विषय में तो तुम्हें कोई भ्रम नहीं है। ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता। जैसे 'यह' को साँप देखा वैसे ही 'मैं' को देवदत्त, यज्ञदत्त, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, हिन्दू, मुसलमान आदि देखते हैं, ये सारे धर्म हैं। इनके बारे में तो सोच सकते हैं कि कौन-सा सच्चा कौन-सा झूठा है, परन्तु मैं के बारे में तो कोई संदेह नहीं हो सकता क्योंकि धर्मी के विषय में सभी निर्भ्रान्त होते हैं। धर्म के विषय में भ्रम होता है। चूंकि सारे ही ज्ञान मुझ में हो रहे हैं इसलिये मैं तो किसी भ्रम का विषय नहीं हूँ।

प्रमा का एक लक्षण है कि जो चीज़ पहले न जानी हो उसे वैसा जानो जैसी वह हो

तब उस जानने को प्रमा कहते हैं। अर्थात् पहले नहीं जाना हो और फिर जानें तभी प्रमा कहेंगे परन्तु 'मैं अपने को नहीं जानता' ऐसा अनुभव कभी नहीं होता। 'मैं हूँ' यह बात तो हमेशा ही जानते हैं। इसलिये 'मैं' का नया ज्ञान तो हो नहीं सकता। मैं के बारे में जिन धर्मों को तुम मान रहे हो वे ठीक हैं या गलत—इसका विचार ही हो सकता है। इसलिये ब्रह्मज्ञान का प्रयत्न करो—इसका तात्पर्य केवल यह होता है कि ब्रह्म को तुमने जो गलत ढंग से जान रखा है उसे हटा दो। गलत ढंग से जाना हुआ है कि वह गुणों व क्रियाओं वाला है जबकि वह सर्वथा निर्गुण और निष्क्रिय है। इसलिये, जिन-जिन गुणों और क्रियाओं को तुम अपने में देख रहे हो उन सबको हटाना ही शास्त्र का तात्पर्य है। ब्रह्म को जानने का मतलब है कि अब्रह्म को ब्रह्म का स्वरूप समझने के भ्रम को छोड़ देना है। प्रश्न था कि एक तरफ तो कहते हैं ब्रह्मज्ञान का यत्न करो, तो दूसरी तरफ भगवान् ने कैसे कह दिया कि वह अप्रमेय है, ब्रह्म का ज्ञान होता ही नहीं? उत्तर स्पष्ट कर दिया कि विरोध नहीं; अप्रमेय का मतलब है कि ब्रह्म को तुम जानते हो, उसके बारे में जो ग़लत जानना है उसको हटाना मात्र है। उसको तो पहले ही जान रहे हैं इसलिये जानना नहीं। ग़लत ढंग से जानने के कारण ही तुम्हारी भूख बढ़ी हुई है। सारी भूख शरीर और मन के लिये है। जितना तृष्णा या राग का विषय है वह सब या शरीर के लिये या मन के लिये है। जब तुमको पता लग गया कि 'शरीर और मन मेरा स्वरूप है ही नहीं' तब सारी तृष्णा बैठेगी कहाँ!

एक बार दुर्वासा महर्षि को वरुण ने निमंत्रण दिया। महर्षि भोजन करने पहुँचे। दुर्वासा महर्षि की भूख बड़ी जबर्दस्त होती थी, बहुत खाते थे। फिर महीनों नहीं भी खाते थे। वरुण तो जलचरों का राजा है। ऐसे बड़े लोग कम खाया करते हैं। उनका लड़का वारुणि भी वहीं बैठा था। दुर्वासा महर्षि को खाते देखकर उसको हँसी आ गई। दुर्वासा महर्षि क्रोधी तो हैं ही, उन्होंने उसे कहा—'क्या हँसता है, तुझे पता नहीं कि बड़े पेट वालों का क्या हाल होता है।' उसे शाप दे दिया 'जा, तू ऐसा हाथी हो जा जिसका पेट हाथी का और मुँह बकरी का होगा।' वारुणी वैसा ही हाथी हो गया। ऐसे हाथी का पेट कैसे भरे जिसका मुँह बकरी का हो? बड़ा दुःखी हो गया क्योंकि उसका पेट भरता ही नहीं था। अंत में रामेश्वरम् के पास मदुरै की तरफ जाकर उसने तपस्या की। भगवती ने प्रसन्न होकर उसे उस योनि से मुक्त किया।

यह केवल एक वारुणि की कथा नहीं समझ लेना, हम लोग सब उस वारुणि के हाल वाले हैं। हम लोगों की कर्त्तृत्व शक्ति बकरी की तरह और भोक्तृत्व शक्ति हाथी की तरह है। इसलिये हमारी भूख कभी मिटती नहीं। 'चाहिये, चाहिये' की आशा कभी नहीं मिटती। ऐसा होना चाहिये, ऐसा करना चाहिये, देश को ऐसा होना चाहिये, अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिये, इत्यादि अपेक्षाएँ असंख्य हैं जबकि हमारा कर्तृत्त्व बकरी की तरह है। जब कहते हैं कि 'इसके बारे में कुछ करो' तब जवाब मिलता है 'हम क्या कर सकते हैं?'

अर्थात् कुछ नहीं कर सकते। कर नहीं सकते पर चाह सकते हैं। इसीलिये निरंतर दुःखी बने हुए हैं। जैसे वारुणी को निरंतर दुःख का ही अनुभव हो रहा था क्योंकि खाने वाला मुख और भरने वाला पेट दोनों में सामञ्जस्य नहीं था, ऐसे ही हमारी भोक्तृत्त्व शक्ति बहुत ज्यादा और कर्त्तृत्त्व शक्ति सीमित है इसलिये दुःख का अनुभव करते हैं। यह दुःख का अनुभव तब जाये जब हाथी के शरीर से छूटे। बकरी के मुख और हाथी के शरीर से छूटना जरूरी है। हमारा बंधन कर्त्तृत्व भोक्तृत्व उपाधि को लेकर है। तृष्णा शरीर और मन के लिये है। शरीर व मन न हो तो तृष्णा नहीं हो सकती। कर्त्तृत्त्व कर्मेन्द्रियों और प्राण को लेकर है। जब कर्मेन्द्रियों से मेरा संबंध नहीं तो मेरे में कर्त्तृत्त्व का भी संबंध नहीं। तभी इस दुःख से छूट सकते हैं। जैसे वारुणि दुर्वासा ऋषि के शाप से ग्रस्त हुआ था वैसे ही हम भी अनादि काल की वासनाओं से ग्रस्त हैं। वासनायें हमारे में भरी हुई हैं, उसी के शाप से हम कर्त्ता-भोक्ता बने हुए हैं अन्यथा हैं तो हम वरुण के पुत्र। वेद कहता है—'अमृतस्य पुत्राः' तुम लोग परमात्मा के पुत्र हो। परन्तु वासनाओं के शाप से हम जीव बने हुए हैं। वासनाओं का प्राकट्य जाग्रत् स्वप्न में होता है। जब सुषुप्ति में जाते हैं तब परम तृप्ति है क्योंकि तब हमारे अंदर कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व कुछ प्रकट नहीं रहता है। जाग्रत्-स्वप्न में आते ही दुर्वासा का शाप लग जाता है। इसलिये भगवान् ने कहा कि अमृत के पुत्र होकर भी तुम मृत बने हुए हो। ये शरीर अन्त वाले हैं। कर्त्ता-भोक्तापने का अनुभव कराने वाले तो ये शरीर हैं। तुम्हारे स्वरूप में ये सब कुछ नहीं हैं। तुम स्वयं तो नित्य हो, शरीरी हो, तुम्हारा कभी नाश नहीं हो सकता, तुम अप्रमेय हो। हमेशा ही अपने स्वरूप में स्थित हो। इसलिये इन उपाधियों को हटाना मात्र है, ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करनी है क्योंकि वह तो हमेशा ही तुम्हारा स्वरूप है। 'मैं जानता हूँ' इससे स्पष्ट है कि अपने ज्ञान स्वभाव को हमेशा जान रहे हो। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार तुम अपने को अभी नहीं जान सके।

इस बात को बिना समझे हुए ही अर्जुन का प्रश्न है। वह कह रहा है कि भीष्म, द्रोण मरेंगे। यदि उसका मतलब देहरूपी उपाधियों से है तो वे अंत वाले ही हैं और भीष्म, द्रोण का आत्मा तो एक ही है। वह कभी मर नहीं सकता। युद्ध न करने का कारण यही भाव है कि 'मैं भीष्म, द्रोण को कैसे मारूं?' विचार करे तो समझ जायेगा कि सचमुच में जो भीष्मादि हैं उन्हें अर्जुन क्या यमराज भी नहीं मार सकता! और जो उनका झूठ-मूठ का रूप है उसे हर हालत में मरना ही है। जैसे यदि पेड़ सूख गया तो तुम उसे छोड़ भी दोगे तो उसमें दीमक लगकर वह गिर ही जायेगा। इसलिये उसे गिराओ-न-गिराओ वह तो गिरा हुआ ही समझो। शरीर तो अन्त वाले हैं। इसलिये 'भीष्म, द्रोण के शरीरों को मैं केसे मारूं'—यह सोचना व्यर्थ है। भीष्म द्रोण का आत्मा अविनाशी है, अप्रमेय है। न लड़ने का मानस इस ग़लत भावना से बना कि 'मैं इन्हें मार सकता हूँ।' भगवान् आत्मा के स्वरूप के वर्णन से यही स्पष्ट कर रहे हैं कि इस ग़लत भावना को छोड़कर यथाधर्म व्यवहार होने देना उचित है, भ्रमवश धर्मत्याग अनुचित है।।१८।।

भगवान् ने अब तक जो कहा इसमें वेद का प्रमाण देते हैं। वेद के दो मंत्रों का उद्धरण देते हैं जहाँ आत्मा का यही स्वरूप बताया है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

उक्त शरीरी को जो हननक्रिया का कर्त्ता या कर्म मानता है–आत्मा हत्या करता है या उसकी हत्या होती है ऐसा समझता है–वह आत्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ ही है क्योंकि आत्मा हननक्रिया का न कर्त्ता है, न कर्म।

कठोपनिषत् १.२.१९ वाँ मंत्र है 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।' इसे ही यहाँ उद्धृत किया गया है। भगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं कि जो यह समझता है कि आत्मा मारने वाला है, जैसे तू सोच रहा है कि 'मै मारने वाला हूँ' ('मैं' अर्थात् आत्मा)–वह सच्ची बात नहीं जानता। और जो मानता है कि आत्मा मारा गया, वह भी सच्ची बात नहीं जानता। दोनों ही भ्रम हैं–मैं मारने वाला और भीष्म द्रोण मरने वाले। जो आत्मा को मारने वाला मानता है वह, और जो आत्मा को मरने वाला मानता है वह, दोनों ही सत्य को नहीं जानते। वे दोनों विज्ञान की अर्थात् समझ की बात नहीं कर रहे हैं। केवल उपाधि की प्रतीति से प्रातीतिक बात कर रहे हैं, समझ कर या विचार कर बात नहीं कर रहे हैं क्योंकि यह आत्मा न मारा जा सकता है और न मारता है।।१९।।

आत्मा में केवल दो ही विकार नहीं हैं ऐसी बात नहीं है। आत्मा में छहों भाव-विकार नहीं हैं। यह भी कठोपनिषत् (१.२.१८) के अनुसार बताते है–

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

यह आत्मा न कभी पैदा होता है न मरता है। कभी होकर फिर न होता हो–ऐसा भीयह नहीं है। जन्म-नाश-अपक्षय-वृद्धि से रहित यह आत्मा शरीर के मारे जाने से मारा नहीं जाता।

उपनिषत् में द्वितीयार्ध तो ऐसा ही है, पूर्वार्द्ध है–'न जायते म्रियते वा विपश्चिद् नायं कुतश्चिद् न बभूव कश्चित्।' चित्स्वभाव होने से आत्मा को विपश्चित् कहा एवं इसके किसी भी कारण व कार्य का निषेध किया। भगवान् ने सीधे ही आत्मा के विकारों का निषेध कर दिया है।

महर्षि यास्क ने निरुक्त में छह भाव विकार बताये हैं। जितने पदार्थ होते हैं उनमें ये छह विकार हुआ करते हैं : १. पैदा होता है २. रहता है ३. बढ़ता है ४. बदलता है ५. घटता है और अंत में ६. नष्ट होता है। शरीर में ही देख लो–पैदा हो गया, रहता है तभी जन्म-दिन मानते हो। पैदा होता है पाँच किलोग्राम का और फिर पचास किलोग्रम का

सामने खड़ा हो जाता है। फिर परिणाम को प्राप्त करता है, पहले बिना दाँत का और फिर दाँत वाला हो जाता है, बदलता रहता है, काले बाल सफेद बाल हो जाते हैं। फिर घटने लगता है। चालीस साल तक बदलेगा लेकिन बढ़ेगा। उसके बाद घटना शुरू हो जायेगा। अंत में नष्ट हो जायेगा। संसार के जितने भी पदार्थ हैं सब इन विकारों वाले हैं। फैक्ट्री में साड़ी पैदा होती है तभी लिखते हैं '१९७७ में बनाई ।' उसे खरीद लेते हो। उसके बाद जितना संभाल कर गॉदरेज की अल्मारी में बंद करके रखो, धीरे-धीरे कमज़ोर होती जायेगी। खादी की दुकान में कई बार कपड़े बिकते नहीं फिर क्योंकि खादी के कपड़े बनाने वाले लिखते नहीं कि वह कपड़ा कब बना इसलिये कई लोग खरीद लेते हैं और पहले ही दिन पहनते हैं तो वह चर्र करके फट जाता है। वह आज नहीं फटा, रखे-रखे ही उसमें कमी आ गई। अन्त में सब पदार्थ नष्ट हो जाते हैं।

भगवान् कहते हैं कि आत्मा में ये छहों भाव विकार नहीं हैं। आत्मा न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है। एक बार होकर फिर न हो और पहले न होकर फिर हो जाये, ऐसा नहीं। यहाँ 'न' शब्द भी दोनों तरफ लगेगा। होकर नहीं होगा ऐसा भी नहीं और पहले न होकर अब हो गया—ऐसा भी नहीं। होकर नहीं होना नाश है और न होकर होना जन्म है। जन्म उसी का है जो पहले नहीं है। यह नित्य है, हमेशा एक जैसा ही रहता है। इसके अंदर न कोई चीज़ बढ़ती है, न घटती है। सारे संसार या सारे ब्रह्मांड को उत्पन्न करके उस परमात्मा के अंदर कोई विशेषता नहीं आती। भगवान् ने इतनी बड़ी सृष्टि की, क्या उसके पहले कुछ नहीं था? वह तो जैसा था, पूर्ण ही था। ठीक जैसे कोई यह नहीं कह सकता कि सोना गहना बन गया तो सोने की तरक्की हो गई। सोना तो वैसा का वैसा है। न इसमें कोई चीज़ बढ़ सकती है और न घट सकती है। न बढ़ने, न घटने में मूल कारण पहले बताया था कि वह निरवयव है। इसलिये अवयव निकलने से वह न घट सकता है, न अवयव मिल कर बढ़ सकता है। वह शाश्वत है, सदा है और है वह पुराण अर्थात् हमेशा ऐसा ही रहता है। 'पुरापि नव एव' ऐसा का ऐसा तरोताजा हमेशा बना रहता है। ऐसा नहीं है कि वह बहुत पुराना हो गया तो उसके अन्दर बासीपना आ गया, या घिसा-पिटा हो गया। वह हमेशा नया ही है। कैसे पता लगता है? क्योंकि हर क्षण उसमें से हमेशा नई सृष्टि होती रहती है। उसके अंदर नवीनता है, तभी नई सृष्टि होती रहती है।

शरीर के मारे जाने पर अर्थात् उपाधि के नष्ट होने पर वह नहीं मारा जाता। ठीक जैसे घड़े के फोड़ने पर घड़े के अंदर वाली जगह नष्ट नहीं होती इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने से आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता क्योंकि सारे शरीरों में रहने वाला आत्मा एक ही है। भगवान् ने वेद के दो वाक्यों का प्रमाण दिया कि उनकी बात श्रुतिसम्मत है, वेद के द्वारा कही गई है।।२०।।

आत्मा की निर्विकारता को युक्ति-प्रमाण सहित निरूपित कर उपसंहार करते हुए

उसका अकर्तृ स्वरूप बताते हैं–

वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज, अव्यय जान लेता है वह क्यों और किसे मार या मरवा सकता है! अर्थात् मारने या मरवाने का कार्य वह नहीं करता।

दो बातें भगवान् ने कहीं–मारता नहीं और घात करवाता नहीं अर्थात् मरवाता नहीं। कौन मरवावे? और कौन मारे? ये दो प्रश्न हैं। आत्मा के विषय में ये दोनों भ्रम हैं। जीवात्मा के विषय में भ्रम है 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं मारता हूँ' और परमात्मा के विषय में भ्रम है कि वह मरवाता है अर्थात् वही सब कुछ करवाता है। जीवात्मा के विषय में भ्रम है 'मारता है', परमात्मा के विषय में भ्रम है 'मरवाता है'। परमात्मा भी आत्मा ही है। बहुत से दार्शनिक यह तो मान लेते हैं कि जीव कुछ नहीं करता परन्तु चूंकि उनको यह निश्चय है कि संसार सच्चा है और इसमें परिवर्तन हो ज़रूर रहे हैं इसलिये यह सब करवाने वाला परमात्मा है ऐसा वे स्वीकारते हैं। ज़्यादातर लोग तो परमात्मा को करीब-करीब रद्दी की टोकरी मानते हैं! अच्छे-अच्छे काग़ज़ दराज में बंद कर दिये जाते हैं और बेकार काग़ज़ रद्दी की टोकरी में फैंक दिये जाते हैं। इसी प्रकार अच्छे-अच्छे सब कार्य तो हम लोग कर लेते हैं। हरित क्रांति में अनाज की उपज, श्वेत क्रांति में दूध की उपज हमने बढ़ाई। सड़कें, रेल, हवाई जहाज़ हमने बनाये। किन्तु अकाल परमात्मा लाता है, बरसात से सड़कें परमात्मा तोड़ता है। जितने बुरे काम हैं वे सब हम परमात्मा पर डाल देते हैं।

भगवान् कहते हैं कि ये दोनों भ्रम हैं। जीवात्मा करता नहीं और परमात्मा करवाता भी नहीं क्योंकि यदि कुछ होता तो करने और करवाने की बात आती। जिस प्रकार चलचित्र में दीखने वाला चोर चोरी करता दीखता है, चोरी करता नहीं है। पुलिस उसे पकड़ते दीखती है, परन्तु पुलिस उसे पकड़ती नहीं है। जिस समय सिनेमा में उसे जेल में देख रहे होते हैं उसी समय वह ताज होटल में बैठकर कॉफी पी रहा होता है। ठीक इसी प्रकार जब तुम परमात्मा को कराने वाला और जीवात्मा को करने वाला देख रहे हो तब भी वह साक्षी और अधिष्ठान रूप से परमात्मा वैसा का वैसा स्थित है। इसलिये भगवान् ने केवल यह नहीं कहा कि वह मारता नहीं है, साथ में यह भी कहा कि वह मरवाता भी नहीं है। इतना याद रखना कि 'हन्' धातु का अर्थ मारना भी होता है और क्रिया भी होता है। क्रिया के अर्थ में मारने का प्रयोग हिन्दी में भी होता है जैसे 'मैं गप्प मार रहा था', यहाँ 'मारना' शब्द का अर्थ है गप्प की क्रिया कर रहा था। भगवान् यहाँ 'हन्' धातु का दोनों अर्थों में प्रयोग कर रहे हैं। अतः तापर्त्य है कि आत्मा करवाता नहीं है, करता भी नहीं है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं 'मैं अर्थात् ईश्वर मरवा रहा हूँ' यह भी तेरा भ्रम है और 'मैं अर्थात् जीव मार रहा हूँ' यह भी तेरा भ्रम है। इस प्रकार पूर्वोक्त 'युध्यस्व' का स्पष्टीकरण

किया कि वह भगवदाज्ञा नहीं वरन् स्वतः प्राप्त की अनुमति है। हन् का हत्या-अर्थ विशेषतः अर्जुन के लिये है तथा हन् धातु का साधारण क्रियापरक अर्थ सबके लिये है ही अर्थात् आत्मा न करता है और न करवाता है।

करना और करवाना किसी न किसी साधन से होता है। इसलिये भगवान् ने कहा 'कथं' अर्थात् किस साधन से करेगा। ठीक जिस प्रकार कोई साधारण व्यक्ति आकर कहता है कि 'कपड़े की मिल खोल रहा हूँ' तो उससे पहला प्रश्न होता है—कैसे खोलेगा, कहाँ से रुपये का इंतजाम किया है? अर्थात् कोई साधन होगा तभी कोई काम करेगा। हमारे पास करने के साधन ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं जिनके द्वारा हम कुछ करेंगे। पैर होंगे तो चलेंगे, वाणी होगी तो बोलेंगे इत्यादि। विद्वान् जानता है कि जो विनाशी है वह मैं नहीं, मैं अविनाशी हूँ। सारे साधन विनाशी हैं इसलिये इन साधनों से मेरा संबंध कैसे हो सकता है! केंचुए एक बार साँपों के पास गये और कहने लगे कि 'हम दोनों रेंगने वाले हैं इसलिये हम दोनों का परस्पर शादी-ब्याह होना चाहिये, भेद-भाव नहीं होना चाहिये।' साँपों ने सोचा कि यदि इन से कहेंगे कि 'तुम नीची जाति के केंचुए हो' तो भारतीय संविधान के अनुसार जेल हो जायेगी। वृद्ध सर्पो ने जवाब दिया कि 'हमारे मन में भेद-भाव नहीं है। हम शादी करने को तैयार हैं, परन्तु हमारे सम्प्रदाय और कुल की परम्परा है कि हम लोग जेठ में ब्याह करते है।' केंचुए जेठ की गर्मी में बचने वाले नहीं हैं इसलिये ब्याह की सभावना ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार आत्मा अविनाशी है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब विनाशी हैं। इनका संबंध कैसे हो! संबंध होगा तो केवल भ्रम से होगा। जैसे 'जेठ में परस्पर शादी-ब्याह कर लेंगे।' यह वाक्य केचुओं में भ्रम से संतोष देगा क्योंकि शादी तब हो जब दोनों रहें और जेठ में दोनों रहने नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार संबंध तब हो जब दो अविनाशी हों। जो दोनों साथ रहते नहीं हैं उन दोनों का संबंध कैसे हो सकता है? यदि फिर भी संबंध दीखता है तो भ्रम है। जैसे जेठ में शादी हो जायेगी, यह केचुओं को भ्रम है। ऐसे ही आत्मा और अनात्मा का संबंध हो नहीं सकता परन्तु प्रतीत होता है।

इसलिये पहला 'कथम्' आक्षेपार्थक है। भगवान् का कथन है कि दोनों का संबंध कैसे हो अर्थात् संबंध हो नहीं सकता क्योंकि एक अविनाशी है और दूसरा विनाशी है। साधारण रूप से अविनाशी और नित्य एक अर्थ वाले दीखते हैं परन्तु एक फ़र्क़ समझ लेना—चीज़ नष्ट हो गई यह तब कहते हैं जब किसी काल में वह चीज़ थी। कोई यह नहीं कहता कि 'ठूंठ में हमें चोर दीखा था। आने पर वह चोर मर गया। गंगाजल लाकर शुद्ध करो।' क्या कोई ऐसा करता है? चोर नहीं रहा—यह वह कह रहा है, परन्तु उसका मतलब यह नहीं है कि चोर *मर* गया। निश्चय यह होता है कि कभी भी नहीं था। भगवान् ने पहले ही कह दिया था 'नासतो विद्यते भावः' यह असत् है अर्थात् कभी भी नहीं है। इसके ठीक विपरीत है—सत् है। ऐसा नहीं है कि कभी *होकर* आत्मा नित्य हो, वह तो हमेशा है ही।

इसका कभी बाध हो नहीं सकता। न इसे कोई नष्ट कर सकता है, न इसका बाध कर सकता है। अन्यथा आत्मा के सभी लक्षण अभाव में भी घट जाते हैं जैसा कि भगवान् आगे दो-तीन श्लोकों से बतायेंगे कि इसे शस्त्र काट नहीं सकता, पानी गीला नहीं कर सकता, हवा सुखा नहीं सकती, ऐसा वह आत्मतत्त्व है। घड़े के अभाव को क्या कभी शस्त्र से काट सकते हैं? उसे गीला भी नहीं कर सकते। इसलिये सारे लक्षण अभाव में चले जायेंगे। काशी के मधुसूदन शास्त्री हुए हैं, उन्होंने गीता की टीका में कहा है कि आत्मा के ये सारे लक्षण छाया में भी जाते हैं! छाया को हवा में सुखा नहीं सकते, पानी से गीला नहीं कर सकते। यदि आत्मा को केवल अविनाशी कहेंगे तो छाया में लक्षण चले जायेंगे। इसीलिये 'नित्य' कहना ज़रूरी है। केवल नष्ट होने वाला नहीं ऐसा नहीं, वरन् हमेशा रहने वाला है, सत्-रूप है।

वह अज है, जन्मरहित है। जैसे ही कहते हो 'है' तो आदमी सोचता है कि कभी हुआ है तभी है, क्योंकि लोक में कोई चीज़ है तो कभी न कभी पैदा हुई है। छह भाव विकारों में पहले जन्म लेगा तब होगा, यह स्वाभाविक है। इसलिये नित्य कहने पर जन्म प्राप्त हुआ। बार-बार यह प्रश्न लोग पूछते हैं कि सनातन धर्म कब से चला? हम उनसे पूछते हैं कि, सनातन मायने क्या? कहते हैं 'सदा होने वाला।' अगर उसका जन्म होगा तो हमेशा होने वाला कैसे होगा? परन्तु फिर भी भ्रम हो जाता है। ईसाई धर्म ईसा ने और मुस्लिम धर्म मोहम्मद ने चलाया, इसी प्रकार यह सनातन धर्म किससे चला? यह प्रश्न सभी सनातन पदार्थों के बारे में समझना। सबको पैदा करने वाला ईश्वर और उस ईश्वर को किसने पैदा किया? 'नित्य' कहने के बाद अज इसलिये कहते हैं कि लोग इसके बारे में सन्देह करते हैं कि कभी तो हुआ होगा। इसलिये कहना पड़ा कि वह जन्म-रहित है।

आत्मा अविनाशी और नित्य है, जिन साधनों के द्वारा करेगा वे विनाशी और अनित्य है, आत्मा अज और ये जन्म वाले हैं, आत्मा अव्यय और ये सारे खर्च होते रहते हैं। कान, आँख, मन आदि सब थक जाते हैं। ये सब थकने पर भी सुषुप्ति में आत्मा स्पष्ट रूप से जानता है कि 'यहाँ कुछ नहीं है और बड़े आनंद में हूँ।' आत्मा जानता है; अहंकार नहीं, क्योंकि अहंकार तो मन की वृत्ति है और वह थक जाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति किसी में भी आत्मा का कोई भी व्यय नहीं होता। 'दस साल से जान रहा हूँ, अब थोड़े दिन बिना जाने रहूँ', यह नहीं हो सकता! इसलिये वह अव्यय है। साधन सारे व्यय होने वाले हैं। ये अव्यय आत्मा के साधन कैसे बने? इसलिये भगवान् ने पहले आक्षेप किया कि कोई भी ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा वह हनन क्रिया का कर्त्ता बने।

ठीक इसी प्रकार से परमात्मा के पास करवाने का भी कोई साधन नहीं है। किस साधन से करवाये? जो दोष जीव के साधनों में बताये वे सारे दोष ईश्वर के साधनों में भी हैं। आत्मा दोनों जगह एक लक्षण वाला है। इसलिये परमात्मा घात नहीं करवा

सकता। कुछ लोगों ने यहाँ केवल हनन क्रिया का निषेध माना है। कुछ आचार्य ऐसे हुए हैं जिन्होंने माना है कि जो इस प्रकार का ज्ञानी होता है वह हिंसा नहीं करता, बाकी सारे व्यवहार करता है! परन्तु भगवान् केवल हिंसा की बात नहीं कह रहे हैं वरन् उनका अर्थ है कि कोई भी कर्म वह कैसे करे और कैसे करवाये।

जैसे साधन का अभाव है वैसे ही किसको मारे 'कं हन्ति', अनात्मा को मार नहीं सकता क्योंकि वह तो पहले ही मरा हुआ है। आत्मा को मार नहीं सकता क्योंकि अविनाशी है। कैसे मारे, अर्थात् कैसे क्रिया करे और कौन-सा विषय है जिसको उद्देश्य करके वह क्रिया करे? दोनों का निषेध है। आत्मा के अन्दर न करना और न करवाना रह सकता है क्योंकि वह क्रिया का न कर्म बनता है और न कर्ता बनता है। कोई औजार भी नहीं जिससे वह करे। जहाँ किसी चीज़ की सिद्धि नहीं और प्रतीति हो वही मिथ्या होती है। और मिथ्या चीज़ को जितना मानो उतनी बढ़ती है।

एक भड़भूंजा था। वह एक बार राजा की सवारी देखने, राजा को हाथी पर बैठा देखने के लिये गया और एक ऊँचे पेड़ पर जा बैठा। सवारी बहुत दूर थी फिर भी उसे अच्छी तरह दीखी। राजा किसी बगीचे में पहुँचा तो उस बगीचे में भी उसे वह राजा दीखा क्योंकि पेड़ ऊँचा था। बगीचे में तुरंत वितान आदि कर दिया गया। सब नौकरों को दूर करके राजा रानी हँसी-ठिठोली करने लगे। नाच-गान वाले अपना नाच-गान करने लगे। भड़भूंजे की पत्नी बड़ी कर्कशा थी। रानियाँ सब बहुत अच्छा बोल रही थीं। वह पेड़ पर से सब देख सुन रहा था। उसके मन में आया कि 'ये रानियाँ कितनी सुन्दर हैं। मैं भी अगर कभी राजा बन जाऊँ तो खूब मज़ा करूंगा।' वहाँ बैठा-बैठा तरह-तरह के नाच गाना देख सुनकर उसका चित्त उनमें मग्न हो गया। दो-चार घंटे ऐसे ही बीत गये। उसके बाद राजा वहाँ से चला गया। भड़भूंजा भी पेड़ से उतर कर अपनी दुकान पर आ गया। वहाँ बैठा हुआ भी वह वही सोच रहा था कि 'मैं कभी राजा बनूं, अच्छा नाच-गान सुनूं तो बड़ा मज़ा आये।' सोचते-सोचते उसी में मग्न हो गया। जिस चीज़ का निरन्तर चिंतन करो चित्त उसी में मग्न हो जाता है। वह भी इतना मग्न हो गया कि उसको कोई होश ही नहीं रहा। बैठा तो दुकान पर था। कोई ग्राहक आया और उससे चना-मुड़ी मांगा। उसने सुना नहीं क्योंकि अपनी सोच में ही मग्न था। ग्राहक ने सोचा नींद आ गई होगी। फिर ज़ोर से बोला, फिर भी नहीं सुना। तीसरी बार बड़े ज़ोर से आवाज़ दी तो घर में उसकी औरत ने सुन लिया। बाहर आई, बड़े कर्कश स्वर में बोली 'बड़ी नींद ले रहा है।' और उसे लात मारी! उसे थोड़ा होश आया लेकिन अभी पूरा नशा नहीं उतरा था। कहा—'मैं राजा हूँ, मेरी रानियाँ कहाँ चली गई।' उसकी पत्नी ने और डाँटा तो उसे होश आया कि 'हाँ! मैं अपने स्थान पर हूँ।'

ठीक जिस प्रकार भड़भूंजा राजा बन गया इसी प्रकार विषयों का चिंतन करते-करते उन विषयों का चिंतन करने वाला जो जीवभाव हम में आ गया, उसे हमने बांध लिया।

अपने ब्रह्म स्वभाव से हम जीव-स्वभाव में आ गये। हम इसमें मग्न हो गये। आँख से देखते तो कोई हर्जा नहीं था। परन्तु हमें निश्चय हो गया कि 'मैं देखने वाला ही हूँ'। हल्की सी चपेट सुषुप्ति में लगती है। उठकर थोड़ा भी विचार करो कि 'मैं सुषुप्ति में सुनने देखने वाला नहीं था', तब तो संस्कार कुछ ढीले पड़ें। परन्तु यह तो ऐसा मग्न हुआ है कि जब कहते भी हैं कि 'स्वप्न में जो देख रहा था वह क्या सच्चा था?' तब कहता है कि स्वप्न की बात जाने दो! सुषुप्ति में बिना विषय के बड़े आनन्द में था, लेकिन जीव उस स्थिति का विचार करना ही नहीं चाहता, केवल जाग्रत् की स्थिति का विचार करता है। जाग्रत् के बंधन को सोचते-सोचते इतना मग्न है कि रोज़ अनुभव करते हुए भी स्वप्न सुषुप्ति का विचार करना नहीं चाहता। आसक्ति के कारण उसे निश्चय है कि 'मैं ऐसा ही हूँ।' जैसे भड़भूंजे को पहले ग्राहक ने जगाया, ऐसे ही यदि वेद पहले सीधा ही यह कहता कि 'जाग्रत् कुछ नहीं है' तो हम कहते–यह फालतू बात है। इसलिये पहले वेद हल्के से जगाता है कि 'तुम यह ज्योतिष्टोम करोगे तो स्वर्ग में तुम्हें उर्वशी आदि अप्सरायें मिलेंगी। सोमरस पान करने को मिलेगा। इसलिये ज्योतिष्टोम करो।' इस कथन से जीव का भ्रम तो नहीं हट रहा है लेकिन पहले जो सोच रहा था कि 'मैं शरीर वाला ही हूँ', यह भ्रम कुछ ढीला होता है क्योंकि मरकर शरीर नहीं जायेगा। चूंकि यह ज़ोर की लात नहीं लगती है इसलिये नींद खुली तो नहीं परन्तु इतना हुआ कि 'मैं शरीर नहीं हूँ।'

जब इस बात को दृढता से समझ लिया कि मैं शरीर नहीं हूँ तब वैराग्य की लात मारी गई कि 'वहाँ जिन भोगों को प्राप्त करोगे वे तुम्हारी जाति के नहीं हैं। जैसे यहाँ की विनाशी चीज़ें तुम्हारी नहीं हैं वैसे ही वहाँ के भोग भी विनाशी ही हैं। पहले जिससे पता लगा कि 'मैं शरीर से भिन्न हूँ' वह तो बिना राग हटाये कहा था क्योंकि जो-जो चीज़ यहाँ अच्छी लगती है वही वहाँ बताई। जब निश्चय हो गया कि 'मैं शरीर नहीं हूँ' तभी निश्चय होगा कि अविनाशी हूँ। जब तक शरीर हो तब तक अविनाशी होने का निश्चय नहीं हो सकता। परलोक-संबंधी आत्मा पता चलने पर यह निश्चय होता है कि शरीर के नष्ट होने से मैं नष्ट होने वाला नहीं हूँ। आत्मा विनाशी नहीं है। जब यह निश्चय हुआ तब कहा 'तू अविनाशी है। स्वर्ग आदि के भोग विनाशी है।' इस ज्ञान से जब वैराग्य आया तब कुछ जगा। तब वेद ने कहा कि 'तू इन सबसे भिन्न केवल साक्षी है। द्रष्टा, मन्ता, श्रोता, विज्ञाता कुछ नहीं, केवल चिन्मात्र है।' अपनी सुषुप्ति और स्वप्न का विचार करे तो पता लगे कि हूँ तो मैं चिन्मात्र ही। स्वप्न में केवल मन रहता है, वहाँ सब कुछ मन खड़ा कर देता है। अतः जो मन के सामने आता है वह सत्य हो, ऐसा ज़रूरी नहीं। स्वप्न की प्रतीति और जाग्रत् की प्रतीति में फ़र्क़ कुछ नहीं है। स्वप्न में कभी यह अनुभव तुम को नहीं होता कि 'मैं स्वप्न देख रहा हूँ'। सब चीज़ें जाग्रत् ही प्रतीत होती हैं। उठने के बाद 'स्वप्न था' यह पता लगता है। वैसे ही जाग्रत् में कैसे पता लगे कि यह जाग्रत् अवस्था है, तुम्हारी वास्तविक अवस्था नहीं? स्वप्न में मन ने सब खड़ा कर दिया था, यहाँ माया ने खड़ा कर

दिया है। जब मन भी नहीं है तब सुषुप्ति में तुम अपने स्वरूप में जाते हो, तुम आनन्दघन रह जाते हो। ज्ञानमात्र सुषुप्ति में है। वह असली रूप है।

सुनने पर थोड़ी देर तक तो बोध रहता है कि 'मैं चिन्मात्र हूँ', पर बाद में नहीं रहता। कई बार लोग कहते हैं कि 'विचार काल में यह ज्ञान रहता है, बाद में नहीं रहता। लगता है पदार्थ हैं। रानियाँ आदि हैं।' जितना-जितना चीज़ों की विनाशिता का निश्चय और अपनी अविनाशिता का निश्चय होता चला जाता है उतना वे पिछले संस्कार नहीं रहते, तब अपने स्वरूप का बोध कायम रह जाता है। महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि हम चीज़ों को अपनी वासनाओं के द्वारा ही देखते हैं। वे वासनायें दो तरह की हैं—शुद्ध और मलिन। सच्ची बात कैसी है—इसकी वासना शुद्ध वासना है। नामरूपात्मक यह मिथ्या जगत् कैसा है—इसकी वासना मलिन वासना है। अनात्म पदार्थों की वासना मलिन और आत्मा की वासना शुद्ध है। शुद्ध वासना और मलिन वासना का फल अलग-अलग है। तुम तो शुद्ध स्वरूप हो परन्तु मन के द्वारा, अहम् के द्वारा देखोगे। अहम् मन की एक वृत्ति है। मन में जब तक मलिन वासना है तब तक लगेगा कि 'मैं मलिन हूँ' और उस मलिनता को पकड़ कर रखा तो कभी स्वरूप का निश्चय नहीं होगा। गलत चीज़ का निश्चय पहले छोड़ो तब सच्ची चीज़ का निश्चय हो। इसमें तीन कोटियाँ होती हैं। पहली, तुम्हें गलत निश्चय है कि यह चीज़ ऐसी ही है। उसके बाद संशय होता है, कुछ अन्य प्रमाणों से पता लगने से संशय होता है कि शायद ऐसा है, शायद ऐसा नहीं है; इस प्रकार द्विकोटिक ज्ञान होता है। पहले निश्चय होता है कि 'यह साँप है'। फिर दस मिनट तक देखते हैं कि हिलता-डुलता नहीं है तो संशय होता है कि साँप ऐसे जमकर नहीं रह सकता, तभी रोशनी लाने का प्रयत्न करते हो। अन्यथा रास्ते में बीस चीज़ें दीखती हैं। हर चीज़ का निश्चय करने में प्रवृत्ति नहीं होती। जिस चीज़ के विषय में संशय उत्पन्न होगा उसी का निश्चय करने में प्रवृत्त होगे। इसलिये पहले जिज्ञासा अर्थात् जानने की इच्छा होनी चाहिये। 'जानने की इच्छा' यह संशय अवस्था है, अन्यथा तो जैसा जान रहे हैं वैसा है ही। बहुत-से लोग कह देते हैं कि संशय अवस्था अच्छी नहीं, परन्तु बिना संशय के कभी निश्चय नहीं होगा। बहुत-से लोगों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि उनसे कुछ भी कहो, वे कहेंगे 'सत् वचन महाराज!' आगे उसे अपने अनुभव से मिलाकर नहीं देखते कि है या नहीं है। जिस विषय में संशय ही नहीं, वह जिज्ञासा का विषय नहीं। इसलिये पहली अवस्था है गलत चीज़ का निश्चय और दूसरी अवस्था संशय है। संशय होने पर विचार करके अनुभव से मिलाकर जो निश्चय होता है वह सच्ची चीज़ का निश्चय है। सच्ची चीज़ का निश्चय होने के बाद उसकी वासना बनानी पड़ती है।

जैसे अधिकतर आदमी जानते हैं कि सत्य बोलना अच्छी बात है यह निश्चय है। किंतु दिन भर वासना बनाते हैं कि आजकल के ज़माने में सच बोलने से काम नहीं चलता। फिर कहते हैं कि सत्य बोलने का निश्चय क्यों नहीं होता? ज्ञान हो गया, उसके बाद मन के

अंदर उस सच्ची चीज की वासना बनानी पड़ेगी। उसका तरीका यही है कि सच्चा निश्चय तो मन में बार-बार लाओ और गलत भावना आये तो उसे बार-बार हटाओ। हर बार जब लगे कि 'मैंने झूठ बोला और काम हो गया' तब दस ऐसी जगह सोचो जहाँ झूठ बोलने से काम नहीं हुआ। झूठ बोलने से काम हुआ—यह तो कह देंगे किंतु काम नहीं होता ऐसी भी दस जगह हैं। अदालत में दोनों पक्ष झूठ बोलते हैं परन्तु झूठ के प्रचारक ज़्यादा होने के कारण मूछों पर ताव देते हैं कि झूठ बोलने पर मुकदमा जीत गये। दूसरा पक्ष झूठ बोलने से हारा, उसकी बात नहीं करते। जब-जब हमको ग़लत प्रतीति हो तब-तब उसे विचार से काटना पड़ेगा।

जब-जब यह प्रतीति हो कि 'मैं देखने, सुनने, सूंघने वाला हूँ, मैं चलता फिरता हूँ' तब-तब तुम दस बार इस बात को सोचो कि 'मैं चलने फिरने वाला नहीं हूँ, मैं क्रिया करने वाला नहीं हूँ', तब वह वासना बनेगी। वसिष्ठ जी कहते हैं कि ये दोनों वासनायें हैं। आगे जन्म देने वाली वासना मलिन वासना है। अनात्म पदार्थों की सोचोगे तो आगे भी अनात्म पदार्थों का ही अनुभव होगा। और जब अपने नित्य अविनाशी रूप को सोचते हो तब शुद्ध वासना बनती है जो जन्म की निवृत्ति का कारण बन जाती है।

भगवान् ने कहा 'य एनं वेद' जो इसको जानता है और जानकर इसके संस्कारों को दृढ करता है। पहले गलत ज्ञान था कि मैं शरीर हूँ। फिर संदेह आया कि शायद शरीर नहीं, जीव हूँ। तब जिज्ञासा हुई कि जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है? जब तक शरीर को अपना स्वरूप समझेगा तब तक तो संशय ही नहीं है। आधुनिक लोग मानते हैं कि आगे कुछ नहीं है क्योंकि शरीर समाप्त हुआ तो आगे कुछ नहीं। जब अपने को शरीर से अलग समझो तब वह जीव आगे रहे। जब उसके स्वरूप का निर्णय करते हो तब पता लगता है कि वह अविनाशी, नित्य, अज, और अव्यय है। जब वह वासना बन गई तब न ये साधन करने को रह गये और न कोई दूसरा रह गया जिसको तुम मारो। जड को मार नहीं सकते क्योंकि मरा हुआ है। चेतन को मार नहीं सकते क्योंकि वह तुम्हारा स्वरूप है। अब परमात्मा भी दूसरा नहीं रह जाता जो कुछ कराये। जब आत्मा करने-कराने वाला है नहीं तो ईश्वर द्वारा कराने का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् ने कहा कि बार-बार इसका चिंतन करो। तब न क्रिया का कोई विषय रह जायेगा और न कोई क्रिया करने का साधन रह जायेगा, अपने निष्क्रिय भाव में स्थित हो जाओगे।।२१।।

भगवान् ने कहा था कि आत्मा जीवरूप में करता नहीं है और ईश्वर भी आत्मा होने से करवाता नहीं है। ये दोनों ही विचार केवल अज्ञान से हैं। अर्जुन के मन में प्रश्न आया—जब आत्मा करता नहीं, करवाता नहीं, तब आप हम से कैसे कह रहे हैं 'युध्यस्व'? आप नहीं करवाते हैं, यह भी हमने मान लिया, परन्तु शरीर का घात तो होता है। भीष्म, द्रोण के शरीरों को तो युद्ध के अंदर मारा जायेगा। यह तो ठीक है कि आत्मरूप से न मारता है और न मरवाता है परन्तु शरीररूप से, अर्जुन का शरीर मारने वाला और भीष्म,

द्रोण के शरीर मरने वाले हैं। भीष्मादि महानुभाव हैं। उनको मारना ठीक नहीं। भीष्म द्रोण के शरीर तो युद्ध में मारे जायेंगे और उनके शरीरों से व्यवहार का विचार भी करना चाहिये। वास्तविक दृष्टि से न होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक नहीं है। इसका उत्तर देने के लिये भगवान् दृष्टान्त से समझाते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

जिस तरह नर पुराने कपड़े छोड़कर नये दूसरे कपड़े ग्रहण कर लेता है उसी तरह देहधारी पुराने शरीर छोड़कर अन्य नये शरीरों में चला जाता है।

व्यवहार की दृष्टि से भी सोचें कि भीष्म द्रोण को मारना ठीक है या नहीं : जैसे कोई पुरुष पुराने कपड़े पहने हुए है, तुम उसके पुराने कपड़े उतार देते हो और उसे उनसे बढ़िया अच्छे कपड़े पहना देते हो; यह उचित है या अनुचित है? मान लिया कि पुराना कपड़ा बहुत अच्छा है, पुरानी थाती है, परंपरा से चला आया है। फिर भी जब जीर्ण हो गया तब न चाहने पर भी उसे बदलना बेहतर होता है। चाहे जितना बढ़िया कपड़ा है पर अब क्षीण हो गया है तो उसे हटाकर नया ही पहना देना चाहिये। अतः भगवान् कह रहे हैं कि पुराने कपड़े को उतार देना चाहिये। 'वास' शब्द साहित्यिक दृष्टि से विचारने का है। 'वस' धातु का अर्थ 'रहना' है। जहाँ रहा जाये उसे वास कहते हैं। 'त्र' का अर्थ स्थान होता है जैसे अत्र, कुत्र, तत्र, सर्वत्र इत्यादि। अर्थात् जहाँ रहना होता है उसे वस्त्र कहते हो। राजस्थान में तो जो जिस मोहल्ले में रहता है उसे वास ही कहते हैं जैसे सुनारों का वास, लोहारों का वास। इसलिये रहने के स्थान को वास कहते हैं। मनुष्य कपड़े में रहता है इसलिये उसे वास या वस्त्र कहते हैं। हम लोग स्नान भी कभी बिना कपड़े के नहीं करते क्योंकि स्नान कर्म भी किसी में बैठकर किया जाता है। आजकल लोग इस बात का ध्यान नहीं रखते। पुराने ज़माने में औरतें इस बात का ध्यान कम रखती थीं और संभवतः आज भी यही बात है। आदमी धोती चद्दर पहनता है तो उसे पहने हुए नहाकर उसे धोकर सुखा देता है। औरतों के कपड़े घाघरा आदि होते थे जो रोज़ नहीं धोये जाते थे इसलिये औरतें कपड़े उतारकर स्नान कर लेती थी ताकि रोज़ धोना न पड़े। इसी नियम को औरतों को समझाने के लिये भगवान् ने उनके वस्त्र चुरा लिये थे। यमुना के किनारे गोपियाँ वस्त्र उतार कर नहाने गईं तो उन्होंने उनके वस्त्र उठा लिये थे यही बताने के लिये कि तुम मेरे सामने यदि शर्म करती हो तो मेरा ही रूप वरुण है। जल का अधिष्ठाता वरुण है। जब मेरे सामने नग्न नहीं आना चाहती तो मेरे ही रूप वरुण के सामने नग्न क्यों जा रही हो? अस्तु, चूंकि उसमें वसते हैं इसलिये वस्त्र को वास कहते हैं।

यह जो हमारा स्थूल शरीर है इसमें भी तो हम बसते हैं, इसलिये यह भी वास ही है। यह आत्मा का वास है। शरीर का वास अर्थात् जिसमें शरीर रहता है वह कपड़ा है। आत्मा जिसमें रहता है वह हुआ शरीर। कहीं पर क्या तुमको शरीर के बिना आत्मा का अनुभव होता है? आत्मा का अनुभव हमेशा शरीर में ही होता है। सारे कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का आधार शरीर ही है। इसलिये श्रुति ने जहाँ कहीं कर्म का विधन किया है वहाँ शरीर का नाम लेकर किया है। ब्राह्मण अमुक कर्म करे, क्षत्रिये अमुक कर्म करे, पुरुष अमुक कर्म करे, स्त्री अमुक कर्म करे, मालिक नौकर आदि सबके शरीर को लेकर ही कर्म का विधान है। जैसे कपड़े के बिना कोई भी काम नहीं हो सकता वैसे ही शरीर के बिना भी कोई काम नहीं हो सकता। शरीर के रहते ही सारा कर्त्ता-भोक्तापना है। इसलिये इन दोनों की समानता है। वास शब्द का प्रयोग करके भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि आत्मा के लिये शरीर वैसे ही है जैसे शरीर के लिये वस्त्र है। जैसे कपड़ा क्षीण हो जाता है वैसे ही शरीर भी क्षीण हो जाता है। भीष्म, द्रोण आदि महानुभाव हैं, इन लोगों ने धर्माचरण के द्वारा इस शरीर को क्षीण किया है। बड़ी से बड़ी तपस्या, बड़े से बड़े नियम इन्होंने अपने जीवन में पालन किये हैं। ऐसे भीष्म द्रोण कपड़े (शरीर) अब क्षीण हो गये। जिस प्रकार कुछ लोग अपने कपड़ों से विशेष प्रेम कर उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होते ऐसे ही इन लोगों ने अपने शरीर को धारण करते हुए कुछ ऐसे नियमों को बना लिया है जिसके कारण ये सामान्यतः मर नहीं सकते। भीष्म इच्छा-मृत्यु वाले हैं। इनके कपड़े तो क्षीण हो गये हैं पर ये स्वयं इनको उतारेंगे नहीं क्योंकि इन्होंने इच्छा-मृत्यु प्राप्त कर रखी है। जब तक इन्हें इच्छा न हो जाये कि 'इस शरीर को नहीं रखना है' तब तक इनका यह शरीर छूटेगा नहीं। द्रोण ने नियम बना लिया है कि जब तक कभी न मरने वाला अश्वत्थामा मरेगा नहीं तब तक मैं शरीर छोड़ूंगा नहीं। कभी न मरने वाला अश्वत्थामा कभी मर नहीं सकता। इनका शरीर क्षीण हो गया है। इन्होंने इस शरीर से सारे काम अच्छे-से-अच्छे कर लिये हैं। अब यह शरीर इनके लिये शोभा का विषय नहीं रह गया है क्योंकि इन्होंने जो कुछ करना था, वह सब कर लिया। यह अपने शरीर को सहज स्वाभाविक ढंग से छोड़ेंगे नहीं। अब इनका यह पुराना कपड़ा उतार दिया जायेगा तो इनके कर्मों के फलस्वरूप ये दिव्य लोकों को जायेंगे। भीष्म अष्ट वसुओं में से एक हैं। ये वापिस अपने वसु लोक को जायेंगे और वहाँ दिव्य भोगों को प्राप्त करेंगे। इसी प्रकार द्रोण सप्त ऋषियों में हैं, ये वापिस अपने ऋषि लोक को चले जायेंगे और वहाँ इन्हें दिव्य शरीर की प्राप्ति होगी। तू सोच रहा है कि 'मैं इनका कपड़ा उतारूंगा अर्थात् मैं इन्हें मारूंगा।' परन्तु वस्तुतः इन क्षीण शरीरों को उतारकर, छुड़ाकर इनको दिव्य शरीर धारण करवायेगा। इस तरह व्यावहारिक दृष्टि से भी यह काम अच्छा है, बुरा नहीं है।

'अपर' का मतलब है उपस्थित की अपेक्षा अन्य, और साथ में 'नवानि' कहा है। जैसे नया कपड़ा अच्छा होता है। वैसे ही दिव्य लोक में दिव्य शरीर इनके अच्छे वस्त्र

होंगे। शरीर दूसरा तो होगा लेकिन होगा वह नया अर्थात् दिव्य। ये क्षीण शरीरों को छोड़कर जायेंगे जो इनके वास्तविक सच्चे दिव्य शरीर हैं उनको ही, अर्थात् उन दिव्य शरीरों को प्राप्त करेंगे। वे भी इनके नये कपड़े जैसे ही होंगे। इसलिये इस कर्म में कोई दोष नहीं है।

आत्मा के कारण कह दो तब भी युद्ध करना दोष बनता नहीं और अनात्मा के कारण भी दोष बनता नहीं। इन्हें नये शरीरों की प्राप्ति हो इसमें कारण तुम बनोगे इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से तुम कोई अनुचित कार्य नहीं बल्कि उचित कार्य ही कर रहे हो। अन्यथा ये पुनः वहाँ जायेंगे नहीं। यह व्यावहारिक दृष्टि से कहा, मैं तुम से गलत काम नहीं करवा रहा हूँ, ठीक ही करवा रहा हूँ। यह मान्य नियम है कि मनुष्य की मृत्यु का कारण उसका प्रारब्ध समाप्त हो जाना है। भीष्म द्रोण के प्रारब्ध-समापन में कुछ रुकावट है। तुम उसे दूर करोगे। सामान्य दृष्टि से जब देह कर्मों को करने के योग्य नहीं रह जाता तब आत्मा अपनी पूर्णता के लिये उस शरीर को छोड़कर नये दिव्य शरीर को प्राप्त करता है। है यह भगवान् की करुणाकर व्यवस्था।

दक्षिण भारत में मदुरांतक शहर है। वहाँ भगवान् की मूर्ति का नाम ही करुणाकर मूर्ति है। सत्-युग में ऋषियों ने जब तपस्या की तो ध्यान के लिये उन्हें कोई आलम्बन चाहिये था। ध्यान किसी सहारे से ही होता है क्योंकि ध्यान का मतलब होता है किसी चीज़ पर चित्त को एकाग्र करना। चीज़ होगी तभी चित्त को एकाग्र करोगे। आजकल बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जो कहते हैं कि चित्त की एकाग्रता शून्य पर करो; कुछ नहीं सोचो–इसी को वे ध्यान कह देते हैं। ध्यान से तुमको ध्येय की प्राप्ति होती है। ध्यान का उद्देश्य होता है जिसका तुम ध्यान कर रहे हो उसकी प्राप्ति हो। ध्यान ठीक का करोगे तो फल अच्छा हो जायेगा। ध्यान जिस चीज़ का भी करोगे उस चीज़ की तरफ तुम को कुछ-न-कुछ विशेषता प्राप्त होगी। 'कुछ नहीं' पर ध्यान करोगे तो लक्ष्य चूंकि 'कुछ नहीं' है अतः कुछ नहीं ही मिलेगा। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं–'भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता। पूर्णवृत्त्या हि पूर्णत्वं तस्मात् पूर्णत्वमभ्यसेत्।।' किसी सामान्य पदार्थ को लेकर ध्यान करोगे तो तुमको उसकी प्राप्ति होगी। अगर तुम शून्य का अर्थात 'कुछ नहीं' का ध्यान करोगे तो तुम्हें 'कुछ नहीं' की प्राप्ति होगी। पूर्ण परमेश्वर का ध्यान करोगे तो पूर्ण परमेश्वर की प्राप्ति होगी, पूर्णता की प्राप्ति होगी। इसलिये आचार्य कहते हैं कि पूर्ण पर ध्यान करो।

ऋषियों ने निश्चय किया कि ध्यान के द्वारा पुरुषार्थ प्राप्त करें। लेकिन प्रश्न हुआ कि किसका ध्यान करें? परमेश्वर कैसा है? इसका पता नहीं होने से उसका ध्यान कैसे करें? तब भगवान् ने स्वयं अपनी मूर्ति उन्हें दी। भगवान् किसी मूर्ति वाले नहीं हैं और यह उनकी करुणा है कि किसी मूर्ति वाले न होने पर भी ध्यान के लिये उन्होंने मूर्ति रूप धारण किया। करुणा के द्वारा ही उन्होंने वह रूप लिया। ठीक जिस प्रकार दादा जी घोड़ा

नहीं हैं लेकिन छोटा बच्चा कहता है कि 'मैं घोड़े की सवारी करूंगा, आप घोड़ा बन जाओ।' तो दादा जी घोड़ा बनकर उसे पीठ पर बिठाते हैं। दादा जी सचमुच में घोड़ा तो बन नहीं गये लेकिन बच्चे की इच्छा पूर्ण हो गई। जैसे वहाँ करुणा कारण है, ऐसे ही अमूर्त परमात्मा ध्यान के लिये करुणा करके मूर्त रूप में प्रकट हो जाते हैं। उसी मूर्ति की मदुरान्तक में स्थापना है। इसलिये उसे करुणाकर मूर्ति कहते हैं।

१७५६ ईस्वी की वहाँ की एक घटना है। उस मन्दिर के पास बड़ा पुराना तालाब था। उसमें वर्षा के मौसम में पानी भर जाता था। उस पर बना हुआ बांध कमज़ोर था इसलिये हर साल टूट जाता था। उस समय प्लेस नाम का एक अंग्रेज कलैक्टर वहाँ नियुक्त था, उसने विचार किया कि इस बांध को हम मज़बूत बनवा दें। वहाँ उस समय पगोड़ा नाम का सिक्का चला करता था। तीन हज़ार पगोड़े की लागत से उस कलैक्टर ने उस बांध को मज़बूत बना दिया। परन्तु पानी बरसा तो वह बांध फिर टूट गया! अगले साल उसने दस हज़ार पगोड़े खर्च करके उस बांध को और मज़बूत बनवा दिया ताकि लोगों को पानी की कमी न पड़े। सोचा कि अब बांध बिल्कुल मज़बूत बन गया लेकिन जैसे की पानी बरसा, वह बांध फिर टूट गया। वह विचार कर रहा था कि 'अपनी जान तो मैंने पूरा मज़बूत बांध बना दिया था। अब क्या किया जाये?' उस समय वहाँ मन्दिर की हालत बहुत कमज़ोर थी। लोग उस मन्दिर को पुख्ता बनाने के लिये प्रयत्न कर रहे थे। कलैक्टर वहाँ से निकला और सुना कि लोग मन्दिर निर्माण की सोच रहे हैं। उसने कहा कि 'तुम लोग उन्हें करुणाकर कहते हो, उसका मन्दिर बनाने से क्या होगा?' सारे अधिकारी लोग भी ऐसी बातें कर रहे थे कि 'यह सामान इकट्ठा करके तुम लोग उस बांध को मज़बूत करो तो तुम्हारा कुछ काम चलेगा, मन्दिर को बनाने से क्या होगा!' प्लेस साहब तो ईसाई थे ही। लोगों ने कहा कि 'बांध बांध की जगह है, मन्दिर मन्दिर की जगह है। हम लोग तो मन्दिर बनाने के लिये यत्न कर रहे हैं, बांध के लिये आप जो करते हो करो।' उस कलैक्टर ने कहा' मैं फिर दस हजार पगोड़े लगाकर इस बांध को बनवाता हूँ इसमें आप लोग भी सहयोग करो। अगर बांध नहीं टूटा तो मैं अपनी तरफ से अर्थात् सरकार की तरफ से तुम्हारे मन्दिर को बिल्कुल नया बनवा दूंगा। तुम जो सामग्री ला रहे हो वह सब बांध निर्माण में लगा दो और यदि बांध नहीं टूटा तो हम तुम्हारा मन्दिर बनवा देंगे।'

वे लोग मान गये। उन्होंने जाकर भगवान् से प्रार्थना की कि 'हम लोग मन्दिर बनाना चाहते हैं और ये लोग ऐसा कह रहे हैं। इसलिये आप कृपा करना कि यह बांध पुख्ता हो जाये।' उतना ही पैसा लगा और बांध बन गया। उस साल इतनी वृष्टि हुई जैसी पिछले अनेक सालों में नहीं हुई थी। प्लेस साहब को डर लगा कि इतनी वृष्टि हुई है तो बांध ज़रूर टूट गया होगा। क्योंकि तीन दिन तक निरंतर इतनी वृष्टि हुई कि वह अपने मकान से बाहर भी आकर नहीं देख सका। इसलिये उसको निश्चय हो गया कि बांध टूट गया होगा। तीन दिन बाद वृष्टि थोड़ी कम हुई तो वह वहाँ निरीक्षण करने पहुँचा। पहुँचते ही

उसने विचित्र दृश्य देखा कि बांध एक जगह से तेड़ खा रहा है, टूटने जा रहा है और एक व्यक्ति निरंतर बाणों को चलाकर उस तेड़ को बंद कर रहा है और पानी बिल्कुल नहीं निकल रहा है। वह स्तब्ध रह गया। उसने लोगों से पूछा–'तुम लोगों को नहीं दीख रहा है कि यह कौन व्यक्ति है जो बाणों के द्वारा तेड़ को बंद कर रहा है?' भगवान् राम ही बाणों के द्वारा रक्षा कर रहे थे। वह बांध ऐसा मज़बूत हो गया कि ढाई सौ सालों से वह बांध आज भी वैसा ही मज़बूत है। जब उसने प्रत्यक्ष देखा कि उसने अपने बाणों से उसे बंद कर दिया तब उसने वहाँ अपनी तरफ से मन्दिर बनवा दिया और आज भी वहाँ शिला लेख पर लिखा है कि 'इस मन्दिर को प्लेस साहब की सरकार ने बनवाया।' उसने कहा कि 'मैं ईसाई हूँ। कई बार तो मन में आता था कि केवल ईसाई धर्म ही ठीक हो सकता है परन्तु यह नहीं समझ में आता था कि तुम्हारी मूर्ति ठीक है। अब मुझे निश्चय हो गया कि तुम्हारी मूर्ति निश्चित ही परमात्मा के स्वरूप में विद्यमान है। यह निश्चित करुणाकर भगवान् है।'

करुणाकर भगवान् ठीक इसी प्रकार मूर्त रूप लेकर हम सब की रक्षा करते हैं। हम देख भले ही नहीं पाते। सबसे बड़ी रक्षा है कि ध्यान के लिये वे मूर्त रूप लेते हैं, जिन रूपों का ध्यान करने से हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। हम लोगों का रूप तो बदल जाता है परन्तु उसका रूप पूर्ण होने से पूर्ण ही रहता है। इसलिये भगवान् ने यहाँ दो शब्द कहे, नर और देही। नर शब्द का प्रयोग इसके पहले नहीं किया है। मनुष्य नये शरीर को प्रारब्ध समाप्त होने से ग्रहण करता है। परमात्मा का शरीर प्रारब्ध के कारण नहीं है। इसलिये वह जिस मूर्ति को धारण करता है वह हमेशा रहती है। उस मूर्त रूप में भी कौन है? देही है। प्रथम पंक्ति में नर कहा, दार्ष्टान्त में वापिस देही कह दिया। हम भी प्रारब्ध के कारण शरीर लेते हैं परन्तु शरीर वाले वही बने रहते हैं। इसलिये भगवान् ने कहा कि जैसे पुराने वस्त्र को उतारते हैं ऐसे ही भीष्म द्रोण के वस्त्र भी उतर जायेंगे क्योंकि वे नर योनि में हैं। यद्यपि भीष्म स्वयं वसु और द्रोण ऋषि हैं तथापि इस समय नर रूप में हैं। जब ये इन मनुष्य शरीर रूप वस्त्रों को उतार कर अपने दिव्य लोक को जायेंगे तब उन्हें वह शरीर प्राप्त होगा जो हमेशा रहता है। वसुओं का शरीर महाप्रलय तक रहेगा। ऐसे ही सप्त ऋषियों का शरीर भी महाप्रलय तक रहेगा।।२२।।

यह देही आत्मतत्त्व है। इस देह की हानि होती है लेकिन इस देही आत्मतत्त्व की हानि नहीं होती। इसको बताते हैं–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

देह में प्रविष्ट-सा प्रतीयमान जो देही उसे शस्त्र काटते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगाता नहीं, हवा सुखाती नहीं।

शरीर सावयव हैं, अवयव वाले हैं। इसलिये इनका छेदन किया जा सकता है, काटा जा सकता है। काटने में अवयवों को दूर कर देते हो। साग काटते हो तो उसके अवयव अलग हो जाते हैं, जैसे भिंडी पूरी है, उसे काटा तो वह पूरी नहीं रही। सावयव पदार्थों को काटा जा सकता है, परन्तु शरीर धारण किये हुए जो आत्मा इसके अंदर है वह निरवयव है। इसलिये शरीर के कटने पर भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। वह निरवयव पदार्थ सावयव में रहता है। सावयव उसका वास्तविक रूप नहीं है। इसी प्रकार अग्नि इसे जला नहीं सकती। अग्नि जलाती है का मतलब है कि उस चीज़ में परिणाम को लाती है। लकड़ी जलकर कोयला और कोयला जलकर राख हो गया। अग्नि पदार्थ को परिणत करती है। परमात्मा जो इसमें रहने वाला है वह अपरिणामी है, उसमें कोई परिणाम नहीं होता है। शरीर को जब तुम अपना स्वरूप समझते हो तब तक शरीर के कटने से 'मैं कट गया', शरीर के जलने से 'मैं जल गया' ऐसा लगता है, परन्तु शरीर में रहने मात्र के कारण ऐसे अनुभव नहीं है वरन् अज्ञान से शरीर को अपना स्वरूप समझने के कारण है। शरीर के कटने से मैं कटता हूँ—ऐसा नहीं है किंतु जैसे कपड़े को ही जिसने अपना स्वरूप समझ लिया वह कपड़े के फटने से 'मैं फट गया' ऐसा मान लेता है, ऐसे ही शरीर के कटने जलने से 'मैं कट गया, मैं जल गया', ऐसा हम मानते हैं।

भीष्म, द्रोण ऐसे अज्ञानी नहीं हैं। शरीर के अंदर उनकी आत्मबुद्धि नहीं है। यह कैसे पता लगता है? जब महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने लगा तब युधिष्ठिर ने अकस्मात् अपने सारे शस्त्र-अस्त्र उतार दिये, जूते खोल दिये और नंगे पैर दुर्योधन की फ़ौज की तरफ जाने लगे। भीम ने भगवान् से कहा—'इन्हें समझाइये, लगता है फिर समझौता करने जा रहे हैं।' भगवान् ने कहा 'युधिष्ठिर कभी धर्म से च्युत होने वाले नहीं हैं। ये जो करते हैं उसमें कोई गड़बड़ी की संभावना नहीं है। तुम लोग भी इनके पीछे इसी प्रकार जाओ।' भीम के मन में था कि 'ये वहाँ जा रहे हैं, वे कोई मार पीट करेंगे तो मैं सहायता करूंगा।' युधिष्ठिर सीधे सेनाध्यक्ष भीष्म के पास पहुँचे, उन्हें नमस्कार किया। भीष्म ने आशीर्वाद दिया 'विजयी भव, तुम जय को प्राप्त करो।' पहले तो युधिष्ठिर ने पूछा 'महाराज! हम कोई गलत काम तो नहीं कर रहे हैं?' भीष्म ने कहा 'तुम उचित काम कर रहे हो।' युधिष्ठिर ने कहा—'हम उचित काम कर रहे हैं और आपने आशीर्वाद भी किया है 'विजयी भव', लेकिन आपके सामने रहते हमको विजय कैसे मिलेगी?' भीष्म ने कहा—'मैंने जो आशीर्वाद दिया है, वह ठीक है। मैं कब मरूंगा—इस बात को और कोई नहीं जानता है। तुम्हारी सेना में महारथी शिखण्डी भी है, उस शिखण्डी को निमित्त बनाकर हमें मारना। मैं चूंकि उसे स्त्री जानता हूँ इसलिये उसके सामने आने पर मैं हथियार नहीं उठाऊँगा। यह नहीं समझना कि वह स्त्री मुझे मार लेगी! अर्जुन के बाणों के बिना मैं मर नहीं सकता, लेकिन शिखण्डी को आगे करके मारना।' ऐसा उपाय बताने वाला क्या शरीर को 'मैं' समझने वाला हो सकता है? 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' इस बात को जानने के कारण ही

भीष्म कह सकते हैं कि 'इस प्रकार से मेरा भेदन होगा'।

फिर युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य के पास जा कर पूछा—'मैं कोई गलत काम तो नहीं कर रहा हूँ।' उन्होंने भी कहा—'तुम कोई गलत काम नहीं कर रहे हो, तुम विजयी होगे।' फिर युधिष्ठिर ने पूछा—'आप लोगों के रहते हम कैसे जय प्राप्त कर सकते हैं।' द्रोणाचार्य ने कहा—'अश्वत्थामा के मरने की खबर सुने बिना मैं हथियार रखूंगा नहीं और मरूंगा नहीं। इसलिये अश्वत्थामा की मृत्यु का मुझे विश्वास दिला देना।' उनको मारने का निमित्त धृष्टद्युम्न था। परन्तु वह कारण बना कब? जब द्रोण ने हथियार रखने का कारण बताया। अन्यथा उनके मरने का कारण वह भी नहीं हो सकता था। इस प्रकार से बताने वाले द्रोणाचार्य क्या शरीर को अपना आत्मा समझते थे? इसलिये वे इस बात को जानते थे कि आत्मा का स्वरूप क्या है। व्यवहार में क्या करना है, यह विचारपूर्वक निर्णय करते रहने पर भी वे अपने स्वरूप को कभी भूलते नहीं थे।

जैसे आत्मा जल नहीं सकता, कट नहीं सकता, वैसे ही कोई दूसरी चीज़ भी उसे प्रभावित नहीं कर सकती। जल किसी चीज़ को गीला करता है तो उसके अवयवों में प्रवेश करता है। निरवयव पदार्थ को कोई गीला नहीं कर सकता। आकाश में इतनी वृष्टि होती है परन्तु आकाश गीला कभी नहीं होता क्योंकि निरवयव है। सामान्य व्यवहार में भी तुम लोहे या सोने के टुकड़े को पानी में डालो, उस पर ऊपर-ऊपर पानी भले ही आ जाये परन्तु लोहा या सोना गीला नहीं हो सकता। जहाँ प्रवेश करने में कठिनाई है वहाँ भी गीला नहीं होता तो निरवयव पदार्थ के अंदर तो जाने की संभावना ही नहीं है। ये ही किसी चीज़ को नष्ट करने के साधन हैं, और ये सब आत्मा में काम नहीं कर सकते। शस्त्र, अग्नि तत्त्व, जल, वायु कोई काम नहीं कर सकते। वायु उसे सुखा नहीं सकता। वायु किसी चीज़ के अंदर प्रविष्ट स्निग्ध पदार्थ को खींच लेता है, सुखा देता है। बरसात के मौसम में दरवाजे खिड़की फूल जाते हैं क्योंकि उनमें जल का प्रवेश हो जाता है। धूप पड़ती है तो सूख कर वैसे ही रह जाते हैं। जल्दबाज़ लोग जैसे ही दरवाजे खिड़की बंद करने में मुश्किल पड़े, कहते हैं कि इसे कटवा देना चाहिये। फिर जेठ के महीने में उस दरवाजे में जगह हो जाती है। चारों तत्त्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु सावयव हैं, वे निरवयव आत्मा को कुछ नहीं कर सकते। आकाश किसी चीज़ के नष्ट होने का कारण नहीं बनता। निरवयव को न कोई कुछ कर सकता है और न वह किसी को कुछ कर सकता है। आकाश लोक में प्रसिद्ध निरवयव पदार्थ है। सब चीज़ों में आकाश रहता है। खाली जगह सब जगह है। जिन चीज़ों में आकाश रहता है वे चीज़ें विकारी हो जाती हैं परन्तु उसमें रहने वाले आकाश में तो कोई विकार नहीं होता। आत्मा भी निरवयव है इसलिये शरीर के अंदर सारे विकार आने पर भी आत्मा में कोई विकार नहीं आ सकता क्योंकि वह निरवयव पदार्थ है। ऐसा आत्मतत्त्व भीष्म, द्रोण भी हैं। वे ऐसे देही हैं जो शरीर के कारण शरीर के अंदर रहते हुए शरीर के साथ अपने को एक नहीं मानते। इसलिये शरीर के कटने से

उनके अदंर कोई दूसरा भाव नहीं आ सकता। अतः भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि तुम जो भीष्म, द्रोण के बारे में चिन्ता कर रहे हो वह चिन्ता तुम्हारी व्यर्थ है। न आत्मा का कुछ होगा और न अनात्मा का और उन दोनों के बीच का अध्यास भीष्मादि को है नहीं। जीर्ण मानव देह छूटने पर वे दिव्य देह को प्राप्त करेंगे। इसलिये उनसे युद्ध करना व्यवहार दृष्टि से भी उचित है।।२३।।

पूर्व श्लोक में बताया कि किसी भी प्रकार से आत्मा का नाश करने वाली कोई चीज़ सिद्ध नहीं होती। इसमें कारण बताते हैं–

अच्छेद्योऽयम् अदाह्योऽयम्
अक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुः।
अचलोऽयं सनातनः।।२४।।

यह आत्मतत्त्व न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है। यह न भिगाने के योग्य है, न सुखाने के। हमेशा सर्वत्र रहने वाला यह चिरंतन आत्मा स्थिर व निश्चल है। (तात्पर्य है कि कटने आदि के अयोग्य स्वभाव वाला होना इसमें कारण है कि शस्त्रादि इसे काटते आदि नहीं हैं।)

इसका छेदन करना असंभव होने से यह अच्छेद्य है। 'नैनं छिन्दन्ति' से जो कहा उसी को अच्छेद्य से कहा। प्रश्न होता है कि यह तो पुनरुक्ति दोष है। एक ही बात को बार-बार कहना साहित्य में दोष माना जाता है। फिर भगवान् ने यहाँ पुनरुक्ति क्यों की? यह केवल भगवान् ने ही नहीं किया, वेदों में भी बार-बार इस प्रकार से आत्म-तत्त्व का निरूपण आता है। आचार्य शंकर लिखते हैं कि इसका कारण भगवान् की करुणा है। विषय की सूक्ष्मता होने से कई प्रकार से कहने से कोई-न-कोई प्रकार किसी-न-किसी की समझ में बैठ जाता है। अतः वेदान्त शास्त्र के अंदर पुनरुक्ति को दोष नहीं माना है। 'न मंत्राणां जामिता अस्ति' आचार्य शंकर लिखते हैं कि वेद के मंत्रों को आलस्य नहीं है! जो आलसी होता है उससे कोई बात दुबारा पूछो तो कहता है 'समझा तो दिया, बार-बार थोड़े ही बताया जाता है।' अर्थात् वह आलसी है। इसलिये कहा कि वेद के मंत्रों को आलस्य नहीं है। एक जगह आचार्य शंकर कहते हैं कि जब तक हम ज़िन्दा हैं और तुम ज़िन्दा हो तब तक हम तुमको समझाते ही रहेंगे। जब तक तुम्हारी समझ में नहीं आयेगा, समझायेंगे ही। क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक होता है, क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान को हटाता है, इसलिये समझायेंगे।

अन्य मत-मतान्तरों का तरीका है कि हम कहते हैं, तुम मान लो। तुमने कहा 'नहीं समझ में आया' तो डंडा मारेंगे, गला काट देंगे। डंडा मारने या गला काटने से ज्ञान थोड़े ही हो जायेगा।! अतः जब तक नींद न आये और जब तक मर न जाये तब तक विचार

ही करना चाहिये। यहाँ 'मरने' शब्द का अर्थ समझकर रखना। साँस बन्द होना मरना नहीं है। मरता कौन है? मैं मरता हूँ अर्थात् 'अब यह शरीर मैं नहीं हूँ।'—इस ज्ञान का ही नाम मृत्यु है। अतः शरीर में साँस चलते हुए भी यदि यह ज्ञान हो जाता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ' तो मृत्यु हो गई।

सोने का मतलब क्या होता है? शरीर का भान न होना ही तो सोना है। शरीर और मन दोनों का भान नहीं रह गया, इसी का मतलब है—यह सो गया। शरीर का भान किस रूप से होता है? 'मैं शरीर हूँ' प्रारब्धभोग काल में 'शरीर हूँ' यह भावना उत्पन्न होती है। वस्तुतः तो तुम्हारा स्वरूप आत्मा है। उस आत्मस्वरूप की जब तुम्हें विस्मृति हो जाती है तभी तुम समझते हो 'मैं शरीर हूँ।' सुषुप्ति में 'मैं शरीर हूँ' यह भाव नहीं रह जाता। जब-जब शरीर में आत्मभाव हो अर्थात् 'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मेरे को थप्पड़ मारी गई, मेरे को घूसा मारा गया, मेरी हड्डी टूट गई—ऐसी प्रतीति हो, तब समझो सो गये। जब सत्य की विस्मृति हो तब तुरन्त वेदान्त-विचार करो कि 'कौन टूट गया? कौन देख रहा है? यदि मैं देख रहा हूँ तो अंधा होने के बाद भी देख सकता हूँ इसलिये आँख रूप साधन के कारण मैं देख रहा हूँ।' जैसे ही यह विचार करोगे और भली प्रकार पहले शोधन कर रखा है तो तुरन्त अपने स्वरूप में आ जाओगे। जब तक नींद न आये अर्थात् जब तक तुम को देहात्मभावना होती रहे तब तक उसको वेदान्त-चिंतन से, वेदान्त-विचार से काट देना है। जब शरीर में आत्मबुद्धि होना बंद हो जाये तभी विचार न करने की छूट है। प्रारब्ध-भोग काल में मैं और मेरे की बुद्धि न हो, न शरीर को मैं समझो न किसी को अपने से संबद्ध समझो, तब तक वेदान्त-विचार करना। चूंकि इसे निरंतर करना है, इसलिये वेद इसे बार-बार दोहराता है।

भगवान् सनत्कुमारों से धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया कि मृत्यु किसको कहते हैं। कोई कहता है शरीर के अंदर प्राण का स्पंद न होना मृत्यु है। कोई कहता है मन का भान न रह जाना मृत्यु है, इत्यादि अनेक विकल्प उठाये। सनत्कुमारों ने कहा—'प्रमादो वै मृत्यमहं ब्रवीमि' मुझ से यदि पूछते हो तो प्रमाद ही मृत्यु है। प्रमाद अर्थात् अपना जो आत्मस्वरूप है उसका ध्यान न रहकर जो आत्मस्वरूप नहीं है उसको अपना आत्मस्वरूप देखने लग जाना—यही सचमुच में मृत्यु है। उपदेष्टा में भी प्रमाद नहीं होना चाहिये। भगवान् भी एक बात को बार-बार कहते हैं और कई लोगों का यह आक्षेप रहता है कि भगवान् बार-बार वही बात कह रहे हैं। विषय की सूक्ष्मता के कारण भगवान् की अनुकम्पा है, इसलिये बार-बार समझाते हैं। कहीं शब्द का भेद होता है और कहीं अर्थ में कुछ वैशिष्ट्य होता है परन्तु प्रतिपाद्य नहीं बदलता।

पिछले श्लोक में कहा कि शस्त्र आत्मा का छेदन नहीं कर सकता और इसमें कहा कि उसका स्वरूप छेदन के योग्य ही नहीं है। दोनों में कार्य-कारण-भाव है। क्योंकि वह छेदन के अयोग्य है इसलिये शस्त्र उसे काट नहीं सकते, जैसे आकाश कट ही नहीं सकता। ठीक

इसी प्रकार कहा था कि उसे अग्नि जला नहीं सकती। यहाँ कहा कि वह जलाने के योग्य नहीं है। पानी उसे गीला नहीं कर सकता और वह गीला होने के योग्य नहीं है। उसको हवा सुखा नहीं सकती और वह सुखाने के योग्य ही नहीं है।

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलः'—इसके द्वारा सारी क्रियाओं का अभाव बता दिया। गत श्लोक और इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में बताया कि महाभूत इसे नष्ट नहीं कर सकते। तब प्रश्न होता है कि नष्ट न कर सकते हों लेकिन कुछ तो विकार करते ही होंगे। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि क्रिया से चार काम कर सकते हो—''उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलं'' जो चीज़ नहीं है उसे पैदा कर सकते हैं। घड़ा पहले नहीं है, क्रिया से ही घड़ा बनता है। जहाँ हम न हों वहाँ क्रिया से पहुँच सकते हैं। यहाँ बैठे हो, दौड़ने की क्रिया करो तो विश्वविद्यालय पहुँच जाओगे। यह आप्ति या प्राप्तिरूप क्रियाफल है। चाहे तुम क्रिया कर कहीं पहुँचो और चाहे अन्य कोई व्यक्ति क्रिया कर कोई चीज़ लाकर तुम्हें दे, दोनों ही क्रियाओं का फल प्राप्ति ही है। हिन्दी में भी प्रयोग होता हैः यहाँ से रेल में बैठकर गये तो कहते हैं कि कानपुर आ गया। क्या कानपुर आया या तुम कानपुर पहुँच गये? और यह भी कहते हैं कि कानपुर का रहने वाला देवदत्त यहाँ आ गया। तुम कानपुर पहुँचे तो, देवदत्त यहाँ आ गया तो, दोनों हालतों में परस्पर मिलना हुआ अर्थात् क्रिया का फल आप्ति हुआ।

संस्कार्य—किसी चीज़ को सुधारना या संस्कार करना भी क्रियाफल है। संस्कार अर्थात् अच्छा बना देना। साग को छीलकर उसे पकाने लायक बना दिया तो उस साग का संस्कार हो गया, छील कर खाने लायक बनाया, न खाने लायक चीज़ को हटा दिया।

ठीक उसका उल्टा विकार है अर्थात् चीज़ को बिगाड़ देना। बढ़िया खीर बनानी है, पर दूध जला दो तो खीर बिगड़ जाती है। चूल्हे पर चढ़ा दिया। दूसरे काम में लग गये। समय पर नहीं हिलाओगे तो जल जायेगी। उस खीर में चावल, चीनी और दूध, कोई चीज़ खराब नहीं है, उनका स्वाद भी खराब नहीं है लेकिन उसमें गंध आ जाये तो कहते हैं कि खीर बिगड़ गई। विकार का ही अपभ्रंश बिगाड़ है। यह भी कुछ करके ही होगा। अच्छी तरह से सोच लो, जितनी क्रियायें करते हो उनमें इन चार के अतिरिक्त पाँचवा और कोई फल नहीं होता।

आत्मा में इन चारों क्रियाओं का फल उत्पन्न नहीं कर सकते। अर्थात् आत्मा कभी किसी क्रिया का विषय नहीं है। केवल काटने इत्यादि का विषय नहीं ऐसा नहीं, वरन् किसी भी क्रिया का विषय नहीं। इसलिये सबसे पहले कहा कि वह नित्य है। जो नित्य होता है उसे पैदा कैसे करो? जो पहले न होकर हो जाये उसी का नाम उत्पत्ति है। पहले भगवान् कह आये हैं कि पहले न होकर हो जाये ऐसा आत्मा नहीं है। कोई काल ऐसा नहीं है जब परमात्मा नहीं है। आत्मा का स्वरूप बार-बार याद दिला देते हैं। आत्मा सत् और चिद् रूप है। वह कभी 'नहीं है' नहीं हो सकता। परमात्मा नहीं है का मतलब हो जायेगा

कि सत् नहीं है। यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार परमात्मा चिद्रूप, ज्ञानस्वरूप है। 'ज्ञान नहीं है' इस बात का भी तो ज्ञान होगा! तुम चेतन हो, तुम्हें मालूम है कि क्या समय हुआ इसका तुम्हें ज्ञान नहीं। पत्थर जड है, उसे कुछ मालूम नहीं, इसलिये उसे समय का अज्ञान है यह भी कहना नहीं बनता। 'किसी चीज़ का मुझे अज्ञान है' यह भी तुम्हारा ज्ञान है। अतः ज्ञान नहीं है यह भी ज्ञान की ही अपेक्षा करता है। इसलिये सत् चित् रूप नहीं था और फिर जन्मा, यह नहीं कह सकते। प्रश्न होगा कि यदि ज्ञान हमेशा है, पैदा नहीं होता, तो कैसे कहते हो कि 'मुझे ज्ञान हो गया?' अज्ञान का ज्ञान है तो ज्ञान लेकिन लोक में अज्ञान के ज्ञान को ज्ञान कहते नहीं हैं, अन्य पदार्थों के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। जैसे किसी से पूछो—'जर्मन जानते हो?' वह कहे—'जानता हूँ। मैं जर्मन भाषा नहीं जानता हूँ, यह जानता हूँ अर्थात् जर्मन भाषा के अज्ञान को जानता हूँ।' तो इतने ज्ञान से वह जर्मन भाषा का ज्ञानी है, यह लोक में कहा नहीं जाता है। अतः ज्ञान नित्य है। किसी विषय से संबंधित होने पर लोग उसे ज्ञान कहते हैं। अज्ञान से संबंधित होने पर उसे ज्ञान कहा नहीं जाता है। है वह भी ज्ञान ही। इसलिये सत् चित् रूप कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता, नित्य है।

शंका होगी कि यह ठीक है कि सच्चिदानन्द परमात्मा नित्य है, लेकिन वह कहीं वैकुण्ठ लोक या ब्रह्मलोक में रहता होगा, वहाँ जायेंगे तब मिलेगा। उसकी आप्ति तो होनी चाहिये। भगवान् विष्णु के दूत बढ़िया विमान लेकर आयेंगे, उसमें बिठाकर ले जायेंगे, तब उसकी आप्ति होगी। इसके समाधान में कहा 'सर्वगतः' सब चीज़ों में वह पहले ही प्राप्त है इसलिये उसकी प्राप्ति भी नहीं होगी। दिल्ली के संन्यास आश्रम में कथा सुनते हुए कहो 'बहुत देरी हो गई, जाना है।' कहाँ जाना है? 'दिल्ली के संन्यास आश्रम में कथा सुनने जाना है।' तो यही कहा जायेगा कि वहीं तो बैठे हो! इसी प्रकार जब परमात्मा सर्वगत है, कण-कण और क्षण-क्षण में विद्यमान है तब तुम वहाँ पहुँचोगे कैसे? जैसे तुम सच्चिदानंद परमात्मा के पास नहीं पहुँच सकते ऐसे ही सच्चिदानंद परमात्मा भी तुम्हारे पास चलकर नहीं आ सकता क्योंकि वह तो पहले ही बैठा है। भगवान् ने यही ठिकाना बताया 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।' सारे प्राणियों के हृदय में मैं बैठा हुआ हूँ। न भगवान् तुम्हारे पास कुछ करके आ सकते हैं, न तुम क्रिया करके उनके पास पहुँच सकते हो क्योंकि वह तो सर्वव्यापक हैं। अतः जिस दूरी को तुम सोच रहे हो वह दूरी न होकर तुम को दूरी लग रही है। प्रायः आचार्य दृष्टान्त देते हैः गले में पड़ी हुई माला पीछे चली जाये तो आदमी सोचता है कि माला नहीं रही। एक सज्जन थे, उनको दूर देखने के लिये चश्मे की ज़रूरत नहीं पड़ती थी, लिखने-पढ़ने के समय ज़रूरत पड़ती थी। पढ़ते समय कोई मिलने आ जाये तो चश्मे को उतारते नहीं थे, सिर पर कर लेते थे। कभी कोई काम करते समय चश्मा उतार भी देते थे। एक बार कुछ काम कर रहे थे। किसी कारण चश्मा उतारा नहीं, सिर पर कर दिया। दूसरा काम करने लगे तो चश्मा ढूंढने लगे। कहीं मिला

नही। पत्नी, नौकर सब दो घंटे तक चश्मा ढूंढने में लगे रहे। तब तक उनकी लड़की स्कूल से घर आ गई। पिता जी को नमस्कार किया, पूछा–'क्या ढूँढ रहे हैं?' माँ ने कहा–'चश्मा ढूंढ रहे हैं?' बाकी सब ढूंढने में लगे थे और वह तो अभी आई ही थी। उसने सिर पर चश्मा देखा तो कहा 'चश्मा सिर पर है?' सब कहने लगे अरे! मिल गया। वह चश्मा कहीं से आया नहीं और कहीं जाकर भी नहीं मिला। केवल तुम्हारी दृष्टि उधर नहीं थी इसलिये होने पर भी नहीं *था*। अज्ञान के कारण उसकी प्रतीति नहीं थी। ठीक इसी प्रकार सारे प्राणियों के हृदय में 'मैं' बैठा हूँ। इन्द्रियाँ और मन बाहर की तरफ देखते हैं, जैसे वहाँ पत्नी, नौकर सब अन्य जगहों की तरफ देख रहे थे, उनकी तरफ कोई नहीं देख रहा था इसलिये लग रहा था कि चश्मा कहीं खो गया है, लड़की ने उन्हें देखा तो तुरन्त पता चल गया कि चश्मा यहीं है इसी प्रकार जब इन्द्रिय-मन की बहिर्मुखता को छोड़ते हो तब आश्चर्य होता है कि यह यहीं बैठा था और हम दुनिया भर में ढूंढ रहे थे!

बहुत-से लोग कहते हैं कि परमात्मा को कोई ढूंढता नहीं और वेदांती कहता है कि सब परमात्मा को ही ढूंढ रहे हैं! जिनको तुम नास्तिक से नास्तिक समझते हो वे शराबी-कबाबी भी परमात्मा को ढूंढ रहे हैं। जब पूछते हैं शराब क्यों पीते हो? कहते हैं–'आनन्द आता है। कबाब खाते हैं क्योंकि आनन्द आता है।' धन कमाने में रात-दिन क्यों लगे हो? कहते हैं 'धन मिलेगा तभी तो आनंद आयेगा जी।' ऐसा घोर नास्तिक नहीं मिला जो आकर कहे कि कोई दुःख का उपाय बताइये। सुख का उपाय तो सब पूछते हैं, दुःख का उपाय कोई नहीं पूछता। आनन्द ही परमात्मा का रूप है इसलिये सब प्राणी परमात्मा को ही ढूंढ रहे हैं। फिर ब्रह्मजिज्ञासा का क्या मतलब है? आचार्य शंकर कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान के लिये यत्न करो। अज्ञान के कारण अप्राप्त सा है इसलिये ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयत्न करो। कुछ करके तुम उसको प्राप्त कर लो, यह नहीं हो सकता। न कुछ करके उसे उत्पन्न कर सकते हो, न प्राप्त कर सकते हो। क्योंकि वह सर्वव्यापक है।

'गत'-शब्द गत्यर्थक धातु से बना है। गति को बताने वाले धातु ज्ञान को भी बताते हैं। इसलिये 'गो' शब्द के बारह-तेरह अर्थ कोश में मिलते हैं। अतः 'सर्वगतम्' से सर्वव्यापक की तरह यह भी बता दिया कि सब उसे जान रहे हैं। ऐसा कोई नहीं जो उसे न जान रहा हो। कैसे जान रहे हैं? 'मैं' इस प्रतीति में जान रहे हैं। क्या कभी कोई डाक्टर से कहता है कि 'देखिये! मैं मर तो नहीं गया हूँ?' मैं चेतन हूँ यह सब जान रहे हैं। चेतन कौन है? ब्रह्म ही तो चेतन है। 'मैं चेतन हूँ' इसके द्वारा सर्वगत है, सबको ज्ञान है। भ्रम यह है कि वह 'मैं' केवल चेतन हूँ यह नहीं जानते। मैं चेतन ब्राह्मण, क्षत्रिय हूँ–यों जानते हैं। मैं चेतन है, इस प्रकार ब्रह्म को जानने के साथ कुछ और उसमें मिला देते हैं। अगर ताजी लौकी या भिंडी लो और उसे केवल उबाल कर खाओ तो कहोगे कि इसमें कोई स्वाद नहीं है। छह महीने वैसी खाते रहो। तब तुमको उसके स्वाद का पता लगता है कि लौकी का स्वाद यह है। जब उसके उस मिठास या स्वाद का पता लग जाता है तब उसमें

मज़ा आने लगेगा। लौकी तो पहले भी खा रहे थे लेकिन मसालों के साथ खाने से असली स्वाद या मिठास का पता नहीं लग रहा था। असली मिठास का पता तब लगा जब बिना किसी मसाले से मिला कर खाया। ठीक इसी प्रकार मैं देवदत्त चेतन, मैं आँख-कान वाला चेतन, मैं गोरा चेतन आदि इन सब चीज़ों में मिले हुए चेतन का अनुभव अब तक किया है लेकिन इन सब के बिना जो तुम्हारा शुद्ध चेतन स्वरूप है उसका पता ही नहीं लग रहा है। 'मैं चेतन हूँ' यह जानने से क्या होगा? होगा कुछ नहीं, केवल दूसरी चीज़ों को छोड़कर देखोगे कि उस चेतन में, उस 'मैं चेतन हूँ' में जो सुख या आनन्द का अनुभव होगा वह और कहीं नहीं हो सकता। जब अपने शुद्ध चेतन का स्पष्ट रूप से अनुभव कर लेते हो तब देवदत, ब्राह्मण आदि के साथ मिला हुआ चेतन होगा तो भी उस चेतन को पहचान जाओगे, अन्यथा नहीं पहचान पाओगे। सब के द्वारा वह ज्ञात है परन्तु शुद्ध रूप से ज्ञात नहीं है, मिले हुए रूप में ज्ञात है। ब्रह्मज्ञान का मतलब सारे विकारों से रहित अपने स्वरूप को जान लेना है।

क्रिया के चार फलों में बाकी दो हैं—विकार और संस्कार। विकार दो तरह का होता है। चीज़ों की अवस्था बदल जाये, यह विकार है। जैसे दूध फट जाये अर्थात् उसका ठोस भाग और पानी का भाग अलग हो जाये। दूध तरल अवस्था है, विकार हो गया, बिगड़ गया अर्थात् पानी अलग हो गया। अवस्थान्तर हो जाने को भी विकार कहते हैं। वही अवस्था रहे और परिवर्तन आ जाये तो भी विकार है। एक में अवस्था बदल गई और दूसरे में अवस्था तो वही है फिर भी बदल गया। जैसे तुम्हारे पास बढ़िया काँच है। तुम छह महीने के लिये कहीं घूमने चले गये। फिर आये तो बालों को ठीक करने के लिये उस काँच के सामने खड़े होते हो। मुँह साफ नहीं दीखता। काँच वही लगता है, वैसा ही है। उसमें अवस्था का कोई परिवर्तन नहीं है। अपनी पत्नी पर चिल्लाते हो कि 'तुम से इतनी भी सफाई नहीं रखी जाती, काँच को बिगाड़ दिया!' काँच तो वैसा का वैसा है। वह एक गीला कपड़ा लेकर आती है और काँच साफ हो जाता है। जहाँ अवस्था परिवर्तित होती है वहाँ पुनः वैसा नहीं हो सकता। लाख कोशिश करो कि फटा हुआ दूध पहले जैसा दूध हो जाये, नहीं हो सकता क्योंकि अवस्थान्तरण हो गया। लेकिन अवस्था वही रही अतः केवल धूल हटाने से काँच यथावत् हो गया। अतः विकार का दो रूपों में निषेध किया—'स्थाणुः अचलः'। स्थाणु अर्थात् ठूंठ, निष्क्रिय, अचल अर्थात् अवस्था का बदलना नहीं होता है। चल अर्थात् चलना, अवस्था का बदल जाना। आत्मा में कोई विकार होकर वह आत्मरूप न रहे, यह नहीं हो सकता। अगर आत्मा में दूध से दही की तरह विकार होता तो जर्मनी के बड़े भारी दार्शनिक नीत्शे ने जो लिखा है वह बात ठीक हो जाती। वह अपने एक ग्रन्थ में लिखता है 'तुमने ताज़ा खबर सुनी कि भगवान् मर गया?' यदि आत्मा अवस्थान्तर या परिवर्तन वाला होता तो जीव और जगत् रूप में बनने के बाद ईश्वर रह नहीं जाता। जैसे दूध में पानी और पनीर रह गया ऐसे जीव और जगत् रह जाता, ईश्वर नहीं रहता। परन्तु

भगवान् शंकर का एक नाम ही है स्थाणु। स्थाणु ठूंठ को कहते हैं। आत्मा का अवस्थान्तरण (परिवर्तन) नहीं होता।

शंका होती है कि—आत्मा की अवस्था तो नहीं बदलती परन्तु जैसे काँच में धूल लग जाती है वैसा बदलना तो हो ही सकता है? एक सम्प्रदाय है जो मानता है कि परमात्मा इस प्रकार से बदल जाता है। वह अपने को 'अविकृत-परिणामवादी' कहते हैं। अर्थात् वे उसको स्थाणु तो मान लेते हैं परन्तु अचल नहीं मानते। वे कहते हैं कि परमात्मा के अंदर विशेष शक्तियाँ हैं। वे शक्तियाँ जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं ऐसे उठती रहती हैं। लहरों के उठने से समुद्र में परिवर्तन होने पर समुद्र नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार परमात्मा सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, परन्तु *सच्चा* अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। समुद्र से लहरें उठी। समुद्र ही उनका निमित्त कारण है और वही उनका उपादान कारण है। परन्तु समुद्र से सच्ची लहरें उठीं। इस मत वाले अपने को 'शुद्धाद्वैतवादी' कहते हैं। समुद्र, समुद्र ही रहता है—यह मानते हैं और समुद्र से ही सब कुछ होता है, यह भी मानते हैं। वे मानते हैं कि समुद्र से *सच्ची* लहरें पैदा हुई और लीन हुई। इसीलिये वे अपने को अविकृत परिणामवादी कहते हैं, अर्थात् विकार या परिवर्तन परमात्मा में हुआ।

भगवान् यहाँ ऐसे सिद्धान्त का निषेध करते हैं कि वह अचल है। समुद्र में लहरें उठीं क्योंकि समुद्र चलने वाला है। अवस्था वही रहे और चलना हो जाये—इसका निषेध अचल शब्द से किया। अतः अविकृत परिणामवाद भगवान् को इष्ट नहीं है। समुद्र में लहर का दृष्टान्त अद्वैती भी देता है पर उसका मानना है कि समुद्र से बिना पृथक् हुए पृथक्-सी लगने के कारण लहर समुद्र में कल्पित है जैसे गहना सोने में कल्पित है। उन्होंने माना कि समुद्र में लहर सच्ची है और हम लोगों का कहना है कि समुद्र में लहर दीख सकती है परन्तु होती नहीं। समुद्र में लहर सच्ची इसलिये प्रतीत होती है कि समुद्र सावयव पदार्थ है। इसलिये उसके अवयव कुछ ऊपर नीचे हो जायेंगे। परमात्मा निरवयव है। उसमें ऐसा कुछ है नहीं जो ऊपर नीचे हो जाये। दीखता है और है नहीं इसलिये यह मिथ्या है। इसलिये जब कभी लहर की बात कहते हैं तब साथ में कह देते हैं कि माया-विजृम्भित है। छान्दोग्य उपनिषत् में मिट्टी, लोहा, सोना—ये दृष्टान्त लिये किन्तु, कार्य की सत्यता का भ्रम न हो इसलिये स्पष्ट कहा 'वाचारंभणं विकारो नामधेयम्' अर्थात् परिवर्तन कहने ही को हैं, नाममात्र हैं, वस्तु तो मिट्टी आदि अर्थात् कारण ही है। सावयव चीज़ों में किसी तरह अविकृत परिणाम समझा भी जा सके, निरवयव वस्तु में उसकी संभावना नहीं।

परमात्मा तो निरवयव पदार्थ है, अचल है, इसलिये दोनों तरह के विकारों का उसमें अभाव है : न उसकी अवस्था बदलती है, और न उसके अंदर एक अवस्था रहते हुए ही कोई परिवर्तन होता है। माया शक्ति परमेश्वर में कोई परिवर्तन नहीं ला पाती। नाममात्र को परिवर्तन लाती है।

इसे समझाने के लिये अन्यत्र दूसरा दृष्टान्त दिया है। यह दूसरा दृष्टान्त ज़रा सूक्ष्म है।

सूर्य का प्रतिबिम्ब काँच में पड़ता है। काँच में जो सूर्य दिखाई देता है वह उसका प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब सूर्य का है इसलिये सूर्य बिम्ब हो गया। प्रतिबिम्ब पड़ता है तो सूर्य को बिम्ब कहना पड़ेगा। प्रतिबिम्ब पड़ने के बाद काँच को हटा दिया या वहीं उलटा करके रख दिया। अब क्या सूर्य को बिम्ब कह सकते हैं? नहीं कह सकते। बिम्ब नहीं रहा लेकिन सूर्य रह गया। विचार करो, काँच के आगे करने से क्या सूर्य में कोई परिवर्तन आया? प्रतिबिम्ब पड़ने से उसका नाम बिम्ब हो गया, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह तो जैसा है, वैसा ही है। ''बिम्बत्वं प्रतिबिम्बत्वं यथा पूषणि कल्पितम्। ईश्वरत्वं च जीवत्वं तथा ब्रह्मणि कल्पितम्।।'' जिस प्रकार काँच में पड़ने पर सूर्य को प्रतिबिम्ब और कांच के बाहर उसको बिम्ब कहते हैं लेकिन होते दोनों कल्पित ही हैं; उसी प्रकार जब तक अज्ञान है, और हम अपने को जीव मानते हैं तब तक उसी ब्रह्म का नाम जीव हो गया। हम जीव, तो हमारा शासन करने वाला ब्रह्म ईश्वर हो गया। हम जीव नहीं रहे, हमारा शासन नहीं रहा तो उसी को ब्रह्म कहते हैं। हममें तो परिवर्तन हुआ कि पहले स्वयं को जीव समझा और फिर ईश्वर समझा, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं कि वह पहले अपने को ईश्वर समझे और फिर ब्रह्म समझे! वह तो हमेशा एकरूप से स्थित है। हमारे जीवभाव की कल्पना के कारण उसमें परमेश्वरभाव की कल्पना होती है। वह तो अचल है। माया से उसमें कोई परिवर्तन होता नहीं। हमारी दृष्टि में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार, विकार का अभाव दो प्रकार का होने से, यहाँ स्थाणु और अचल दो विशेषणों से स्पष्ट कर दिया।

क्रिया का अन्तिम फल संस्कार अर्थात् सम्यक् करना है। यदि आत्मा में कोई बिगाड़ या विकार आया हो तो उसका संस्कार या परिवर्तन हो। वह सनातन है। 'सना' का मतलब 'हमेशा' होता है। वह हमेशा बना रहता है इसलिये सनातन है। उसको तुम सम्यक् नहीं कर सकते या उसमें कुछ सुधार नहीं कर सकते। जितना सुधार होगा वह तुम्हारे अहम् तक होगा। शरीर बीमार है, उसे दवाई देकर ठीक कर सकते हो। प्राण कमज़ोर है तो उसे वाजीकरण आदि से पुष्ट कर सकते हो। मन कमज़ोर है तो ध्यान आदि के द्वारा उसे ठीक कर सकते हो। बुद्धि गड़बड़ है तो युक्ति के द्वारा बुद्धि को ठीक तरह से सोचने का तरीका सिखा सकते हो। इस प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय सबका सुधार कर सकते हैं परन्तु आत्मा का कोई सुधार नहीं हो सकता। जब तक तुम इन चीज़ों को आत्मा समझते हो तब तक शरीर ठीक होने से तुम समझते हो कि मैं ठीक हो गया। दूसरे का भी शरीर ठीक हो गया तो हम समझते हैं कि वह ठीक हो गया, पहले बीमार था। सत्तर साल पहले क्वेटा में जहाँ हिंगलाज देवी का बड़ा प्रसिद्ध मन्दिर है जो बावन शक्ति पीठों में है, बड़ा भारी भूकंप आया था, बहुत ज़्यादा नुकसान हुआ था। हम लोगों ने वहाँ बहुत मदद भेजी थी। क्वेटा अब भी वही है। आज अगर वहाँ उस तरह का भूकंप आयेगा तो क्या वैसी सहायता भेजोगे? नहीं भेजोगे, क्योंकि अब तुम्हारा निश्चय है कि वह हिन्दुस्तान नहीं है। ठीक इसी प्रकार जब तक शरीर में मैं-निश्चय है तब तक शरीर

के लिये परेशान होता हूँ लेकिन शरीर मैं नहीं—यह निश्चय होने पर शरीर की तकलीफ़ उसी में दीखती है, अपने में नहीं दीखती, 'मैं बीमार हूँ' यह अनुभव नहीं होता। ऐसे ही प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय से विवेक हो चुकने पर उनके विकार अपने में नहीं लगते। कोशों में सुधार आवश्यक भी है, किया जा भी सकता है लेकिन उनके विकृत होने से आत्मा कभी विकृत नहीं होता। इसलिये आत्मा का सुधार नहीं कर सकते। आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। बुरी से बुरी चीज़ को भी हम उतनी ही स्पष्टता से जानते हैं जितनी स्पष्टता से अच्छी से अच्छी चीज़ को जानते हैं। अपनी जवानी का भी उतनी स्पष्टता से पता लगता है जितनी स्पष्टता से बुढ़ापे का पता लगता है। ऐसा नहीं है कि अब मैं बुड्ढा हो गया, मुझे पता नहीं लगता कि मैं बुड्ढा हो गया! घुटना चलता है—यह जितना स्पष्ट रूप से जानते हैं, जब वह घुटना नहीं चलता और दर्द करता है, तब भी उतना ही स्पष्ट रूप से जानते हैं कि घुटना दर्द करता है। इसलिये ज्ञानस्वरूप आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, अर्थात् उसमें कुछ विकार हो और तुम ठीक कर सको यह सम्भव नहीं है। इसलिये सनातन कहा, हमेशा एक जैसा ही रहता है ''सदाभवः सनातनः।'' ।२४।।

और वह आत्मा कैसा है?

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम् अविकार्योऽयम् उच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुम् अर्हसि।।२५।।

किसी भी इन्द्रिय का विषय न होने से यह आत्मा अव्यक्त और इसीलिये अनुमानादिरूप चिन्तन का विषय नहीं है। इसे अपरिवर्तनीय बताया जाता है। क्योंकि यह ऐसा है इसलिये इसे उक्त ढंग का अनुभवकर 'मैं इन्हें मारूँगा, ये मुझसे मरेंगे' इत्यादि अनुशोक (संताप) करना तुम्हारे लिये उचित नहीं।

व्यक्त का मतलब 'प्रकट होना' होता है। हिन्दी में अभिव्यक्त कहते हैं अर्थात् प्रकट हो गया। प्रकट हो गया अर्थात् इन्द्रियों का विषय हो गया। आँख रूप देखती है, कान से गाना सुनाई देता है तो कहते हो कि रूप या शब्द प्रकट हो गया। आत्मतत्त्व कभी इन्द्रियों का विषय होता नहीं इसलिये हमेशा अव्यक्त है। इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण कभी नहीं होता क्योंकि रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श से वह अलग है। आगे भगवान् कहेंगे 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्।' इन्द्रियों से ग्राह्यतारूप व्यक्तता उसमें नहीं है इसलिये वह हमेशा अव्यक्त है। एक आदमी सत्संग करता था, वेदान्त का श्रवण भी करता था पर आत्मा रूप रस गंध शब्द स्पर्श का विषय नहीं यह बात उसे जँचती नहीं थी। उसे वेदांत की तीन बातें बड़ी खटकती थी : आज तक हमने जिस चीज़ को माना है वह या देखी है या उसे चखा है, छुआ है तभी उसे मानते हैं लेकिन वेदांत कहते हैं कि आत्मा है और फिर भी वह अव्यक्त है। है वही चीज़ होगी जो व्यक्त हो। यह हो सकता है कि इस समय व्यक्त न हो, आगे व्यक्त हो जाये। परन्तु जो कभी व्यक्त न हो ऐसी चीज़ कैसे मान लें?

अव्यक्त अनेक बार लोगों को असत् जैसा लगता है, 'नहीं है' जैसा लगता है। इसी गैर समझी की खाई में बौद्ध लोग गिर गये, उन्होंने कहा कि आत्मा है ही नहीं! वे अनात्मवादी हैं। एक तो यह बात उसे नहीं जमती थी। दूसरी, जो संसार दीखता है उसमें सुख-दुःख होता है। यह सब अपने प्रारब्ध के अनुसार होता है यह भी उसे नहीं जँचता था। कहता था कि किसी भी देश में कोई किसी को मार डाले तो कोई भी राज्य व्यवस्था या हाकिम यह नहीं कहता कि उसको तो मरना ही था, मर गया। कोई आदमी किसी के रूपये लेकर भाग जाये या किसी ने दीवाला निकाल दिया तो भी कोई हाकिम यह नहीं कहता कि 'यह तो तुम्हारा प्रारब्ध है, तुम क्यों हल्ला मचाते हो!' फिर प्रारब्ध से फल कैसे मानें? कोई करता है, तब होता है। वह बार-बार कहता था कि ये बातें नहीं जमतीं। तीसरी बात ज़रा सूक्ष्म है। भागवत आदि पुराणों में जहाँ नरकों का वर्णन किया है वहाँ बताया है कि कामी पुरुष को दंड दिया जाता है तो लौह के स्त्री-पुरुष बनाकर उसके साथ उस कामी पुरुष को चिपका दिया जाता है और वह लोहा बड़ा गरम होता है इसलिये वह जलता है। वह कहता था कि काम स्वयं अग्नि है। अग्नि को अग्नि में जलाने से दंड क्या मिला! अतः यह बात भी उसे नहीं जँचती थी।

गुरु जी ने कई बार समझाया और उसकी समझ में नहीं आया तो उसे एक बड़े अनुभवी महात्मा के पास भेज दिया, कहा 'उनके पास जाकर अपनी शंका रखना, शायद वे समाधान कर दें।' वह जिज्ञासु था, पैदल चलकर महात्मा के पास पहुँचा और नमस्कार किया। महात्मा बोलते बहुत कम थे। उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। उसी ने कहा कि 'वेदान्त के विषय में मेरी शंका है, आप उसे हटाइये।' महात्मा फिर भी चुप रहे और उसकी बात का कोई जवाब नहीं दिया। उसने फिर अपनी शंका बताई और बड़ा अज़ीज़ होकर प्रार्थना करने लगा कि आप समझाइये। उन्होंने समझाने का प्रयत्न किया। लेकिन उसकी समझ में नहीं आया। जब तीन चार बार प्रयास किया और उसकी समझ में नहीं आया तब उन्होंने एक पत्थर उठाया और ज़ोर से उस पर दे मारा। उसे गुस्सा आया कि यह कौन महात्मा है, यह तो राक्षस है। उसने जाकर उन्हें दो-चार मुक्के मारे। महात्मा जी हँसने लगे और कहा 'तुमने जो सवाल पूछे थे उनका जवाब दे दिया।' उसने कहा—'यह कैसा जवाब है?' उन्होंने कहा—'तुम्हारे तीनों सवालों का जवाब हो गया। तुम्हें दर्द हो रहा है? वह दर्द क्या आँख से दिखाई दे रहा है? नहीं। कान से सुनाई दे रहा है? नहीं। अपने दर्द को सूंघ सकते हो? या चख सकते हो? नहीं। दर्द किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। और फिर तुम कह रहे हो कि 'मुझे दर्द हो रहा है?' जैसे तुम्हें आत्मा नहीं जँचता, वैसे ही मुझे तुम्हारा दर्द नहीं जँचता। एक सवाल का जवाब मैंने दे दिया।' इस पर उसका कहना स्वाभाविक था कि 'दर्द बाहर से दिखाई नहीं देता, अंदर तो पता लग रहा है।' उन्होंने कहा—'ऐसे ही आत्मा किसी इन्द्रिय का विषय न होने पर भी अंदर तो पता लगता है कि मैं आत्मा हूँ। जब तुम्हें वेदान्त-वाक्य मारा जायेगा तब पता लगेगा कि मैं आत्मा

हूँ। है तुम्हारे अंदर ही परंतु वेदांत-विचार का डंडा लगे बिना प्रकट नहीं होगा। जैसे पत्थर मारने से दर्द तुम्हारे अंदर अुनभव होता है ऐसे ही वेदांत वाक्य के द्वारा हमेशा तुम्हारे अंदर रहने वाला परमात्मा प्रकट हो जाता है।' उसने कहा–'यह बात भी मेरी समझ में आ गई, परन्तु सुख दुःख प्रारब्ध से होता है, यह कैसे?' उन्होंने कहा–'जब दर्द हुआ तब तुम्हें दुःख हुआ या नहीं? मैंने पत्थर मारा तब तुम्हें दुःख हुआ अर्थात् मैंने कोई कार्य किया तब तुम्हें दर्द हुआ। इस प्रकार सुख-दुःख का कारण तो कर्म ही सिद्ध होता है। तुमने भी घूंसे मारे परन्तु मैं तो हँसा, मुझे दुःख नहीं हुआ। मैंने तुम्हें पत्थर मारा, यह *तुम्हारे लिये* तो कर्म था। तुमने मुझे घूंसे मारे–यह भी तुम्हारे लिये कर्म था। न पत्थर मारते समय *मैं* तुम्हें मार रहा था और जब तुमने मारा तब *मुझे* कोई दर्द की प्रतीति नहीं हुई। शरीर ने तुम को मारा और शरीर को तुमने मारा। स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों से कर्म होकर ही उसका फल हो सकता है। बिना कर्म के तो फल नहीं होता। परंतु जहाँ अभिमान है वहीं फल होता है अन्यथा जैसे तुम्हें दर्द हुआ, ऐसे मुझे भी होता। जिसको करने का अभिमान होता है उसी को सुख-दुःख होता है, अन्यथा नहीं। इसलिये सुख-दुःख का कारण कर्म ही हो सकता है।

तीसरी शंका थी कि काम स्वयं अग्नि है तो कामना की अग्नि को अग्नि क्या जलायेगी? उसके भी जवाब में उन्होंने कहा–'यह पत्थर भी पार्थिव तत्त्व है। शरीर में भी पार्थिव तत्त्व प्रधान है। इसलिये दोनों पार्थिव तत्त्व एक जैसे हैं। जैसे–कामना भी अग्नि तत्त्व और नरक में भी अग्नि तत्त्व है वैसे शरीर और पत्थर पार्थिव तत्त्व होने पर भी पत्थर मारने से तुम्हें दर्द हुआ, इसी प्रकार कामाग्नि और नरकाग्नि दोनों अग्नि तत्त्व होने पर भी नरक की अग्नि में दुःख होगा। जैसे रसगुल्ला खाना सुख का कारण और डंडा खाना दुःख का कारण है, वैसे ही यहाँ पर समान तत्त्व होने पर भी नरक में जाकर वह अग्नि दुःख का कारण है। भगवान् कहते हैं ''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते'' ज्ञान भी अग्नि ही है। यदि ज्ञान की अग्नि के साथ कामना कर्मादि का संबंध हो तो तुम्हें आनंद की प्राप्ति होती है। नरक की अग्नि में जिस प्रकार कामाग्नि दुःख का अनुभव कराती है उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि से कामना जलकर सुख का कारण हो जाती है? 'आत्मकामस्तु आप्तकामः' अगर तुम्हारे में आत्मा की कामना हो गई तो तुम्हारी सारी कामनायें पूर्ण हो जाती, नष्ट हो जाती हैं। भगवान् ने भी कहा ''यस्त्वात्मरतिरेव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते'' जिसकी आत्मा में रति होती है उसके लिये आगे फिर कुछ करने को नहीं रह जाता। कामना ही मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है। जैसा कि मनु महाराज कहते हैं 'यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत् कामस्य चेष्टितम्'। जब आत्मकामना हो जाती है तब आप्तकाम हो जाता है क्योंकि तब कामना प्रवृत्त कर नहीं सकती। ज्ञानाग्नि तुम्हारी सारी कामनाओं को नष्ट करके तुमको सुखी कर देती है।

उसके तीनों प्रश्नों का समाधान हो गया। उसके तीनों प्रश्न व्यक्त चीज़ के थे। व्यक्त चीज़ अर्थात् शरीर; इन्द्रियों का विषय व्यक्त स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर आत्मा नहीं है।

अनेक चीज़ें होती हैं जो इन्द्रियों का विषय न होने पर भी विचार करने से पता लगती हैं। बिजली किसी ने देखी नहीं है। बिजली को छू नहीं सकते, देख नहीं सकते, चख नहीं सकते, सूंघ नहीं सकते। किसी भी इन्द्रिय का विषय बिजली नहीं है। परन्तु लट्टू जल रहा है, पंखा चल रहा है, ठण्डी अल्मारी चीज़ों को ठंडा कर रही है, पानी गरम हो रहा है—इन सबका कारण कोई है जो बिजली है। इस प्रकार विचार करने से, चिंतन करने से बिजली का पता लगता है। हम लोगों को अनेक चीज़ों के ज्ञान चिंतन से पैदा होते हैं, मनन से पैदा होते हैं यद्यपि वे चीज़ें इन्द्रियों का विषय नहीं हैं। इसी प्रकार हमारा देखना आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। परन्तु हमको दीखता है, इससे पता लगता है कि हमारे अंदर आँखें हैं अर्थात् देखने की शक्ति है। आँख को कोई देख नहीं सकता। जो दीख रही है वह गोलक है। इसमें देखने की शक्ति ही इन्द्रिय है। उसको न देख सकते हैं न सूंघ सकते हैं। परन्तु दीखता है इसलिये पता लगता है कि आँख है। ठीक जिस प्रकार लट्टू जल रहा है इसलिये पता लगता है कि बिजली है। सुन रहे हैं इसलिये पता लगता है कि कान हैं। सूक्ष्म शरीर का पता चिंतन या मनन, विचार से लगता है।

क्या परमात्मा का भी पता विचार, मनन करने से लगता है? भगवान् ने कह दिया 'अयम् अचिन्त्यः' वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं। अनुमान प्रमाण का भी विषय नहीं है। अनुमान से अर्थापत्ति का भी ग्रहण कर लेना। चिन्तन मनन करके भी इसका पता नहीं लग सकता। चिन्तन उसका कर सकते हो जिसका कार्य हो क्योंकि कार्य को देखकर कारण का अनुमान कर सकते हो। आत्मा का कोई कार्य नहीं है तो कारण के रूप में उस का अनुमान कैसे करोगे? सूक्ष्म शरीर का पता तो चिंतन से लगता है परंतु आत्मा उससे भी सिद्ध होता नहीं। इससे यह भी बताया कि यह सूक्ष्म शरीर भी आत्मा नहीं है।

समझाने के लिये पहले स्थूल शरीर में आत्मा को समझाना पड़ता है। फिर कहते हैं स्थूल शरीर आत्मा नहीं है। जैसे बच्चों को गिनती सिखाते हैं तो नींबू रखकर या एक तार में गोले लटका कर एक-एक गोले को हटाकर, फिर मिलाकर सिखाते हैं कि तीन और दो पाँच हो गये। वह गोला एक नहीं है। यदि पहले ही बच्चे को कहें कि संख्या अमूर्त पदार्थ है तो उसकी समझ में कुछ नहीं आयेगा। इसलिये पहले गोले को दिखाकर कहते हैं—यह एक है। अक्षर भी ऐसे ही सिखाते हैं : क मायने कमल, ख मायने खरगोश नहीं होता परन्तु वह चीज़ दिखा दी तो उसकी समझ में आ जाता है। इसलिये पहले स्थूल चीज़ से समझाना पड़ता है। यदि छात्र स्थूल चीज़ में ही अटका रह जायेगा तो भी ठीक नहीं। अतः उसे सूक्ष्म चीज़ बताते हैं। गोले से नहीं, अंगुली से या अंगुली के पोरों से गिनाते हैं। जब

अंत में अभ्यास हो जाता है तब किसी सहारे की ज़रूरत नहीं क्योंकि कोई *चीज़* एक या दो नहीं होती। एक या दो तो तुम्हारे अन्दर एक समझमात्र है। कहने को कह देते हैं कि एक और एक दो होता है परन्तु क्या संभव है कि एक और एक दो हो जाये? जो एक है वह एक तो रहेगा ही। 'दस पैंसिल हैं' का मतलब यह नहीं है कि वहाँ एक-एक पैंसिल नहीं है। एक-एक पैंसिल रहते हुए ही दस तुम्हारी बुद्धि में है। ठीक इसी प्रकार स्थूल शरीर के अंदर यह चेतन है। चेतन और जड का भेद एक तरफ ईंट-पत्थर और दूसरी तरफ शरीर का उल्लेखकर दिखाते हैं। शरीर के द्वारा ही जड-चेतन का भेद करना पड़ता है। किन्तु केवल स्थूल शरीर में मत अटके रहो। स्थूल शरीर की अपेक्षा से सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं। भगवान् ने कहा था कि शरीर बदलते हुए भी तुम नहीं बदले। 'कौमार, यौवन आदि अवस्थाओं के बदलने पर भी तुम नहीं बदले। वैसे ही तुम्हारे अंदर सूक्ष्म शरीर है जो स्थूल के बदलने से नहीं बदलता। सूक्ष्म तब समझ में आयेगा जब स्थूल समझ में आ चुका है। इसलिये सूक्ष्म चीज़ों को समझाने के लिये आचार्यों ने तरीका ही यह बताया है–'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' किसी भी चीज़ का अध्यारोप और फिर अपवाद ही सूक्ष्म चीज़ को समझने का एकमात्र तरीका है। आत्मतत्त्व सर्वथा निष्प्रपञ्च है इसलिये उस पर सारे आरोप करके फिर उन्हें हटाना है। यह समझने का तरीका है।

अव्यक्त से स्थूल शरीर को और अचिन्त्य से सूक्ष्म को हटाया। जब ये दोनों नहीं हैं तो फिर क्या है? जगत् का कारण, जिसने इस सारे जगत् को प्रकट किया–इस रूप से उसे जानो। कैसे? जैसे जाग्रत् में तुम को स्थूल शरीर दीखता है, स्वप्न में सूक्ष्म शरीर दीखता है। स्वप्न में सब मन ही है, सूक्ष्म है, और कुछ नहीं है। ये दोनों जाग्रत् और स्वप्न किसमें से आते हैं? सुषुप्ति से आते हैं। सुषुप्ति में न स्थूल शरीर और न सूक्ष्म शरीर रह गया। परन्तु सुषुप्ति में तुम थे, तभी जाग्रत् और स्वप्न आये। अतः सुषुप्ति में तुम हो, वही स्थूल और सूक्ष्म का कारण है। वहाँ दो अनुभव हैं–मैं सुख से सोया और मैंने कुछ नहीं जाना। वहाँ आनंदरूपता और अज्ञान है। जैसे तुम्हारी सुषुप्ति से तुम्हारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रकट होते हैं वैसे ही उस परमात्मतत्त्व से स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च प्रकट होता है। परमात्मा का स्वरूप आनंद है परन्तु उसका अज्ञान है। सुषुप्ति में आनंदरूप प्रकट होता है परन्तु अज्ञान के द्वारा। ठीक जैसे रस्सी साँप बनती है, परन्तु किस के द्वारा? अज्ञान के द्वारा। रस्सी का अज्ञान है इसलिये साँप दीख रहा है। रस्सी के ज्ञान के द्वारा सर्प निवृत्त हो जायेगा। इसी प्रकार से आनंद के ज्ञान के द्वारा यह अज्ञान निवृत्त हो जायेगा। तब जाग्रत्, स्वप्न, स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च कुछ नहीं रह जायेगा। 'नहीं रह जायेगा' से यह मत समझ लेना कि *कुछ नहीं* रह जायेगा। इसका मतलब है कि एक आत्मा को छोड़कर और कुछ वास्तविक नहीं रह जायेगा। प्रातीतिक भी नहीं रह जाये ऐसा नियम मत समझना। जैसा आचार्य विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि ज्ञान का फल अंधा, लूला, लंगडा हो जाना नहीं है! ज्ञान होने के बाद देख नहीं सकेगा सुन नहीं सकेगा, आदि तो कोई ज्ञान का फल

नही हैं। अज्ञान के कारण यह प्रपच तुम 'है'-रूप देखते हो, ज्ञान के बाद तुम इसके वास्तविक रूप अर्थात् मायिक रूप को देखोगे। तब चूँकि आनन्दस्वरूप परमात्मा को देखोगे, इसलिये आनन्द का ही अनुभव करोगे।

अव्यक्त के द्वारा स्थूल का, अचिन्त्य के द्वारा सूक्ष्म का निषेध किया। अब कहते हैं "अविकार्योऽयम्" सचमुच में वह कारण भी नहीं है। कहते हैं कि रस्सी अज्ञान के कारण सर्प बनी; इस वाक्य का अर्थ होता है कि रस्सी सर्प नहीं बनी। अज्ञान के कारण जो होता है वह नहीं हुआ करता है। रस्सी अज्ञान से सर्प बनी अर्थात् रस्सी सर्प बनी नहीं, रस्सी तो जैसी है वैसी ही है। इसलिये कहा कि यह सारा जगत् उसका विकार नहीं है। जितने भी वादी परमात्मा को कारण मानते हैं उनका निषेध भगवान् यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं। शंका होती है कि न आप इसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण से जान सकते हैं, न कारण रूप से आप इसे सिद्ध करना चाहते हैं तो फिर यह कुछ नहीं होगा? इसके समाधान के लिये भगवान् यहाँ तीन जगह 'अयं' शब्द का प्रयोग करते हैं। तीन बार 'अयं' (यह) का प्रयोग क्यों कर रहे हैं? इसलिये कर रहे हैं कि इन तीनों रूपों में प्रकट होने वाला वह ही है। ठीक जिस प्रकार से रस्सी में जब साँप देखते हो तब कहते हो 'यह साँप है'। 'यह साँप है' वाक्य में दो बातें हैं—'यह है' और 'साँप है'। रोशनी आने पर देखकर कहते हो 'यह रस्सी है'; इसमें भी दो बातें हैं—'यह है' और 'रस्सी है'। निषेध किस का हुआ? साँप का निषेध हुआ। 'यह' (अयं) का निषेध नहीं हुआ। क्योंकि जब वाक्य में कहते हो कि 'यह साँप नहीं है' तो नहीं का संबंध 'यह' के साथ नहीं है, वरन् 'यह तो है पर साँप नहीं है'। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं कि जाग्रत् में स्थूल शरीर आत्मा नहीं है। इसी प्रकार आत्मा सूक्ष्म शरीर नहीं, आत्मा कारण शरीर नहीं है। तीन बार 'अयम्' कहकर स्पष्ट करते हैं कि ये तीन नहीं होते हैं परन्तु आत्मा होता है। आत्मा है इसीलिये कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर भी हैं।

'उच्यते' अर्थात् लक्षणा से कहा जाता है। स्थूल चीज़ को इशारे आदि से बता सकते हैं पर सूक्ष्म वस्तु समझाई तो जा सकती है लेकिन क्योंकि इंद्रियमात्र से ग्राह्य नहीं इसलिये उससे किसी शब्द का शक्ति-संबंध ग्रहण नहीं किया जा सकता। सोना किसी शक्ल में ही मिलता है पर सोना शब्द का अर्थ कोई शक्ल नहीं है, सब शक्लों से पृथक् सोना समझा जा सकता है, अकेली आँखों से देखा नहीं जा सकता। अतः वह सोना शब्द का मानो लक्ष्यार्थ ही होना संभव है। इसी प्रकार आत्मा जाग्रत् में स्थूल शरीर में, स्वप्न में सूक्ष्म शरीर में और सुषुप्ति में कारण शरीर में मिलेगा। इन भिन्न-भिन्न शक्लों में मिलने वाला आत्मा है। इसलिये लक्षणा से बताया जाता है कि सत् चित् आनंद जहाँ है वह आत्मा है। जैसे कसौटी पर कस कर पता लगता है कि यह सोना है, इसी प्रकार जिस-जिस चीज़ में 'है' की प्रतीति होती है वह आत्मा है। स्थूल शरीर भी 'है' रूप से दीख रहा है। स्थूल शरीर पासा की जगह है और 'है' सोने की जगह है। इसी प्रकार से चेतन है; स्थूल शरीर

भी मुझ चेतन का रूप है। जैसे कंकण का रूप सोना नहीं है पन्तु कंकण सोने के अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में, स्वप्न में जो 'है' या चेतन की प्रतीति है वह आत्मा है। अंततोगत्त्वा सुषुप्ति के अंदर कुछ नहीं जानता। अर्थात् 'कुछ नहीं है' इस बात को जानता हूँ। हम किसी से कहते हैं कि कमरे में बत्ती जलाकर देखो वहाँ कौन है। वह वापिस आकर कहता है 'कोई नहीं है।' उस 'कोई नहीं है' को वह देखकर आया है तभी कह रहा है। इसलिये जब घुप्प अंधेरे में कहें कि देखो कौन बैठा है? तो कहोगे कि 'टार्च जलाकर देखते हैं।' कोई नहीं है यह पता रोशनी जलाकर ही लगता है। 'कोई नहीं है' में भी 'है' है। इसी प्रकार सुषुप्ति में कुछ नहीं है तो 'कुछ नहीं' का पता लगता है। अतः सत् चित् रूप से तीनों जगह पर परमात्मतत्त्व मिलता है। इसलिये तीनों जगह 'अयम्' कहा। स्थूल शरीर के अंदर भी अयम्, सूक्ष्म शरीर के अंदर चिन्त्य न होने पर भी अयम्, और सबको उत्पन्न करने वाले विकारी कारण अज्ञान के होने पर भी वह अविकार्य आत्मा है। जो लक्षणा को नहीं जानता वह शक्ल और सोने को अलग करके नहीं देख सकता। जिसकी समझ में सोना नहीं आया उसकी समझ में नहीं आता कि गोल कड़ा और लम्बा पासा एक कैसे हो सकता है?

'तस्मात्' से भगवान् समापन करते हैं। चूंकि आत्मा का यह स्वरूप है इसलिये आत्मा के इस रूप का वेदन अर्थात् निश्चय करके शोक करना अयोग्य है। जब चीज़ अपने को बिल्कुल स्पष्ट लगती है, अपने मन में कोई शंका नहीं होती है, तब ज्ञान को वेदन कहते हैं। जैसे तुम कहते हो कि मेरे सिर में या कमर में वेदन है अर्थात् वहाँ कहीं संदेह की जगह नहीं है। कभी कोई डॉक्टर से नहीं कहता कि आप बताइये कि मेरे सिर या कमर में दर्द है या नहीं! कोई डाक्टर कहता है कि 'सारे परीक्षण कर लिये, तुम्हारे सिर में कोई दर्द नहीं है', तो क्या उसके कहने से तुम्हारे सिर का दर्द चला जायेगा? डाक्टर यह कह सकता है कि 'तुम्हारे सिर के दर्द का कारण मुझे पता नहीं लगा।' यदि कहता है कि इसका कारण मनोवैज्ञानिक समस्या है तो यह मतलब नहीं कि सिर का दर्द नहीं है, वरन् यह कि इसका इलाज वह नहीं कर सकता, दूसरा डाक्टर कर सकता होगा। रोग नहीं है, यह अर्थ नहीं। चाहे जितनी विरोधी चीज़ मिल जाये, फिर भी जो ज्ञान हटता नहीं, उसे वेदन कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं कि आत्मा को 'इस प्रकार' समझना है कि समग्र शरीरों के अंदर, केवल अपने ही स्थूल सूक्ष्म शरीर नहीं, समग्र स्थूल सूक्ष्म शरीरों में सच्चिद् रूप है। जहाँ जाते हैं वहाँ सत् चिद् रूप मिलता ही है। वेदन का मतलब है कि है देखते ही तुम जानते हो 'आत्मा', चित् देखते ही तुम जानते हो 'आत्मा'। जब तक ऐसा नहीं देखते तब तक वेदन नहीं हुआ। जैसे तुम कहते हो कि मेरी जांघ में कुछ लग गया है। कहाँ लगा? कहते हो–पता नहीं। फिर हाथ से दबाते हैं तो दर्द होता है। इसका मतलब है वह वेदन नहीं बना, दबाने से पता लगा। इसी प्रकार जब तक सोचने से पता लगे कि इसका वास्तविक रूप क्या है, तब तक जानते तो हो परन्तु वेदन नहीं है। वेदन

का मतलब है कि देखते ही सच्चित् रूप को पहचानो। सर्वत्र एकमात्र वही सच्चिद् रूप है, सभी रूपों में सर्वत्र वही प्रकट है। ऐसा नहीं है कि आँख खोल कर कुछ और दीखता है और आंख बन्द करके सच्चिद् रूप ही दीखता है।

जब सर्वत्र एक रूप है तब 'शोचितुं न अर्हति।' किसी चीज़ का शोक तब होता है जब उसका वियोग हो। लड़का दूसरे कमरे में बैठा हो तो नहीं रोते क्योंकि वियोग नहीं हुआ। न दीखने पर भी जानते हो कि वियोग नहीं हुआ। स्वामी शंकरानन्द ने एक जगह लिखा है कि लड़का कमरे के बाहर जाये तो रो लेना चाहिये कि दीखता नहीं है तो मर गया! कुछ लोग इस तरह सोचा करते हैं– लड़का छह बजे कॉलेज से घर आ जाता है। साढ़े छह बज गये; बाप चिन्ता करने लगता है कि 'अभी तक नहीं आया। कहीं कोई दुर्घटना न हो गई हो, आजकल एक्सीडेंट बहुत हो रहे हैं!' वियोग शुरू हो गया। लड़का तो सात बजे आ जाता है और कहता है 'दोस्त पकड़ कर पकौड़े खिलाने ले गये।' लड़का भला चंगा है परन्तु विपरीत ज्ञान की कल्पना कर लेते हो। ठीक इसी प्रकार से कोई नाम-रूप दीख गया तो सोचते हो—परमात्मा कहाँ चला गया? हे भगवान्! कब दर्शन दोगे? भगवान् परेशान हैं कि हम तुम्हारे सामने खड़े हैं। हमको जिस ढंग से देखना चाहिये वह ढंग तो अपना नहीं रहे हो, फिर कहते हो 'वियोग है, परमात्मा कब मिलेगा?' वह नित्य तुम से मिला हुआ है। इसी को बताने के लिये कबीर ने कहा कि समुद्र के बीच में मछली प्यासी है। इसी प्रकार चारों तरफ नित्य-निरंतर सच्चिद् रूप अनुभव करते हुए कहते हैं कि 'परमात्मा का अनुभव नहीं है, कब अनुभव होगा?' जब किसी चीज़ का वियोग संभव ही नहीं है तब शोक कैसे होगा? आत्मा का वियोग कभी हो नहीं सकता, वह वियोग का विषय ही नहीं है। इसलिये शोक करने की कोई बात नहीं है।।२५।।

अर्जुन के द्वारा शोक की निवृत्ति का मार्ग पूछने पर भगवान् ने सबसे पहले बताया कि शोक का मूल कारण अज्ञान है जिसकी निवृत्ति से शोक की निवृत्ति होती है। यही वेदांत का तरीका रहा है। वेदांत के अंदर पहले मूल कारण को बता देते हैं और फिर जब वह समझ में नहीं आता तब अवान्तर कारण को बताते हैं। आत्मज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति होती है। अतः गुरु प्रारंभ में आत्मस्वरूप का वर्णन कर देते हैं ताकि शिष्य का कल्याण हो जाये। पर जब वह समझ नहीं पाता तब उसे क्रमशः साधना का निर्देश दिया जाता है। गणित में 'गुर' या सूत्र होते हैं जिनसे उत्तर निकल आता है पर जिसने गुरु सीख नहीं रखा है उसे क्रमशः ही समझाना पड़ता है। सूत्र हुआ कि 'जितने रुपये का मन उतने आने के ढाई सेर।' जिसे यह सूत्र नहीं आता उसे समझाना पड़ता है कि ऐसे-ऐसे गुणा भाग करो तो यह नतीजा निकलेगा। ठीक इसी प्रकार वेदांत मुख्य सूत्र के अनुसार कहता है कि सत् और असत्, आत्मा और अनात्मा एक नहीं हो सकते, इस सूत्र के अनुसार झट किसी भी समस्या का समाधान हो जाता है। जब यह नहीं समझ पाते तब जिस कारण से नहीं समझ पाते उसका विचार करते हैं। वेदांत की इस मर्यादा के कारण जो इसको नहीं समझते वे

कहते हैं कि 'पहले आप व्यक्ति के अधिकार को देखिये तब आगे की बात बताइये'। वे यह समझते हैं कि शिष्य अनात्मा है, बेवकूफ है! परन्तु आत्मज्ञानी को लगता है कि शिष्य आत्मा है। यदि उसमें कोई गलत संस्कार पड़े हैं तो उन्हें दूर किया जाये, पहले ही यह न मान लिया जाये कि यह गलत संस्कार वाला है। यह आधारभूत भेद समझाने के तरीके में आता है। भगवान् ने आत्मा के स्वरूप को समझाकर बता दिया कि तुम इस बात का संवेदन कर लो, फिर किसी शोक को नहीं कर सकते–'नानुशोचितुमर्हसि' अर्थात् शोक के योग्य नहीं रहोगे। आत्मज्ञानी चाहे भी कि मैं शोक कर लूँ तो नहीं कर सकता! क्योंकि शोक तब तक नहीं हो सकता जब तक तुम किसी चीज़ से वियुक्त न हो। अपनी सर्व- व्यापकता को छोड़े बिना शोक कहाँ होगा? इसलिये भगवान् ने केवल यह नहीं कहा कि 'शोक मत करो' वरन् बताया कि 'शोक करने के योग्य नहीं रह जाओगे।'

किन्तु भगवान् ने देखा कि अर्जुन के चेहरे पर कोई चमक नहीं आई अर्थात् आत्मा की बात यह नहीं समझ पा रहा है। तब कहते हैं कि यदि इस को नहीं समझ पाता है तो भी शोक व्यर्थ है–

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

और अगर तुम इस आत्मा को शरीरोत्पत्ति से पैदा होने वाला और शरीर-मृत्यु से मरने वाला मानते हो तो भी इस अवश्यम्भावी विकार के लिये तुम शोक करो यह योग्य नहीं।

अथ अर्थात् आत्मविचार के श्रवण के अनन्तर भी यदि तुम्हें शोक हो रहा है तो इसका मतलब है कि वेद के द्वारा बताया हुआ ज्ञान तुम्हें स्पष्ट नहीं हुआ। न स्पष्ट होने का कारण यह है कि पहले कुछ दूसरी चीज़ मान रखी है। पहले कुछ और मान रखते हो तो दूसरी बात कहने पर भी पहले वाली बात ही बुद्धि में आती रहती है।

'नित्यजातम्' में तीन तात्पर्य हैं–शरीर को आत्मा मानने वाले लोकायत लोग मानते हैं 'नित्यं नियमेन जातं' शरीर के रूप में आत्मा हमेशा पैदा ही होने वाला है। जैसे कहीं भी घड़ा दीखता है तो जानते हो कि घड़ा बना है तो फूटेगा। इसी प्रकार लोकायतों को भी शरीर को देखते ही पता लगता है कि यह पैदा हुआ आत्मा है, और यह आत्मा मरेगा क्योंकि ऐसा आत्मा हो ही नहीं सकता जो पैदा हो नहीं और मरे नहीं। चार्वाक, लोकायत शरीर से अतिरिक्त आत्मा को मानते नहीं और शरीर कोई भी न पैदा होने वाला और न मरने वाला हो यह हो नहीं सकता। इसलिये हर आत्मा अवश्य पैदा होता है और अवश्य मरता है। यदि तुम ऐसा मानते हो तो भी शोक नहीं बनता। काँच का गिलास है, लम्बे समय तक चल गया। वह काँच का गिलास तो फूटेगा ही। इसलिये उसका टूटना शोक का विषय बन नहीं सकता। 'अथ मन्यसे' से कह रहे हैं कि ऐसा नास्तिक तू हो ही नहीं सकता क्योंकि यदि ऐसा नास्तिक होता तो तेरे को यह चिन्ता न होती कि ऐसे धार्मिकों

को मारकर मैं अधर्म करूंगा। शरीर को आत्मा मानने वाला सैक्युलर, धर्मनिरपेक्ष होता है। अतः वह यह कभी भी नहीं सोचता कि धर्म और अधर्म कोई वास्तविकता हैं। वे इसे गोल मटोल भाषा में कहते हैं कि सब धर्म सच्चे हैं। जब तुम कहते हो सब धर्म सच्चे हैं तब यदि तुम्हें गाय मारनी है तो धर्म है क्योंकि मुसलमान कहते हैं कि गाय मारना धर्म है। हिन्दू कहते हैं गाय को बचाओ तो भी धर्म है। शराब पीनी है तो ईसाई उसे धर्म मानते हैं। नहीं पीनी है तो मुसलमान उसे अधर्म कहते हैं, मत पियो। सब धर्म सच्चे हैं तो जो-जो तुम्हें करना है वह सब कहीं-न-कहीं धर्मरूप में मिल जायेगा। धर्म मानने वाला तो हमेशा यह देखेगा कि धर्म एक हो सकता है। किसी कर्म को करने से पाप होगा और किसी को करने से पुण्य होगा। अन्यथा तो वैसी ही बात हो गई। कि रस्सी को कोई साँप देखता है, कोई जलधारा तो कोई दंड देखता है तो यह मान लो कि जिसको जैसा दीखता है वही *ठीक* है! ऐसा लौकिक व्यवहार में कोई नहीं करता। परन्तु जिसको अपना मनमाना आचरण करना है उसके लिये यह रास्ता हो गया कि मुझे यह नहीं कह सकते कि मैं 'अधर्म' करता हूँ। धर्म नाम लोगों में अच्छा माना जाता है। करना तो मुझे वह है जो मैं चाहता हूँ। नरमांसभक्षण आदि कुछ भी कार्य धर्म के नाम पर करने की छूट लेने के लिये मानते हैं कि सब धर्म सच्चे हैं। जो लोग कहते हैं कि सब धर्म सच्चे हैं वे किसी को सच्चा नहीं मानते। आचार्य शंकर कहते हैं ''येन रूपेण यन्निश्चितं तेन रूपेण तन्न व्यभिचरति तत्सत्यं'' जो रूप जिसका निश्चित हो और कभी छूटे नहीं वह सत्य है। कसौटी पर जो अमुक रंग ही दे तब वह सोना है। सोने को किसी भी शक्ल में बना लो उसका कुछ भी विकार कर लो परन्तु यह नहीं हो सकता कि वह कसौटी पर निश्चित रंग न दे। जो चीज़ जिस रूप में निश्चित है उस रूप से अतिरिक्त वह कभी भी अन्य रूप में नहीं होती तभी उसे सत्य कहा जाता है। विरुद्ध बातों को सत्य मानने का आन्तरिक भाव यह है कि यह कुछ भी सत्य नहीं है। लोकायत और चार्वाक ऐसा मानते हैं कि जो हमेशा ही जन्मता और मरता है वही आत्मा है और चूंकि शरीर ही जन्मता और मरता है इसलिये यही आत्मा है। जो यह मानेगा वह फिर शोक नहीं करेगा कि बड़ों को मारने से पाप होगा क्योंकि उनके यहाँ पाप नाम की चीज़ नहीं रह जाती। भगवान् कहते हैं कि तुम महाबाहु हो अर्थात् बड़ी भुजा वाले हो। इसलिये ऐसी कमज़ोर बात को तुम मानते हो ऐसा नहीं लगता।

'नित्यजातं' का दूसरा अर्थ होता है जो नित्य हो और पैदा हो 'नित्यं च जातं च इति नित्यजातं'; आस्तिक लोग आत्मा को नित्य मानते हैं। चार्वाक शरीर को आत्मा मानते हैं और वेद को मानने वाले आस्तिक आत्मा को नित्य मानते हैं। परन्तु आस्तिकों में अनेक ऐसा हैं जो कहते हैं कि आत्मा नित्य होते हुए भी शरीर आदि में पैदा होता है इसलिये वे जीव को व्यापक न मानकर अणुपरिमाणी मान लेते हैं! उन्हें भी वाक्य मिल जाता है 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' जीव मेरा अंश है अर्थात् एक छोटा हिस्सा है।

जीवात्मा है तो नित्य परन्तु पैदा होता है। अर्थात् शरीर के अंदर आकर अपने प्रारब्ध के अनुसार आत्ममनः संयोग होता है। हमारे यहाँ वेदान्त में वह संबंध होता नहीं है, प्रतीत होता है। परंतु दूसरे चूंकि जीव को अंग मानते हैं इसलिये जीव एक जगह से दूसरी जगह जाता है ऐसा मानते हैं। मोटी भाषा में जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं उसी को वे आत्मा कहते हैं। चूंकि वे जीव को शरीर से शरीरान्तर में जाने वाला मानते हैं इसलिये जीव नित्य और जात है। अगर ऐसा मानते हैं तो प्रत्येक जीव अपने प्रारब्ध का भोग करने के लिये शरीर में आता है। प्रारब्ध-भोग समाप्त होते ही वह चला जायेगा। प्रारब्ध-भोग के रहते हुए जा नहीं सकता और प्रारब्ध-भोग के समाप्त होने के बाद रह नहीं सकता। अतः तू जो यह सोचता है कि 'मैं इन भीष्म द्रोण को मारूंगा', वह सोचना तेरा ठीक नहीं क्योंकि उनका प्रारब्ध यदि रहने का है तो तू कुछ भी कर लेगा, मार नहीं सकता और अगर उनका प्रारब्ध-भोग समाप्त हो गया है तो तेरे मारे बिना भी ये रहने वाले नहीं हैं ''ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे''। इस पक्ष में भी तेरा शोक करना नहीं बनता।

अर्जुन के मन में प्रश्न उठ सकता है कि 'भले ही ये अपने प्रारब्ध-समापन से मरें, मैं इनकी मृत्यु का निमित्त क्यों बनूं?' इसके उत्तर में भगवान् का अभिप्राय है कि क्षत्रिय होने के कारण युद्ध से निवृत्त होना तेरा धर्म नहीं है। युद्ध से हट जायेगा तो पाप को प्राप्त करेगा। मीमांसा के अंदर नियम है कि कर्म नित्य भी होते हैं जो हमेशा करने के होते हैं और काम्य भी होते हैं जो कामना से किये जाते हैं। जैसे हमको धन की कामना है तो हमने श्रीसूक्त से आहुति दी। यह नित्य कर्म नहीं है कि ज़रूर करें। अग्निहोत्र नित्य कर्म है, प्रतिदिन करना है। नित्य कर्म हमेशा करने के होते हैं और काम्य कर्म कामना होने पर किये जाते हैं। कामना नहीं है तो काम्य कर्म मत करो। शास्त्र सारी संभावनाओं को सोचता है, इसलिये एक प्रश्न आया : किसी आदमी के मन में धन की इच्छा है और उसने श्रीसूक्त से चार आहुति दे दीं। इसके बाद उसके मन में धन के प्रति वैराग्य हो गया कि 'धन दुःख का कारण है, लेकर क्या करूंगा? तीन-तीन साल में पूरे होने वाले कर्म हो सकते हैं। उसके बीच में वैराग्य हो ही सकता है। हमने कर्म शुरू कर दिया, बीच में हमें वैराग्य हो गया तो उस कर्म को छोड़ सकते हैं या नहीं? न्याय है कि निमित्ति हटने पर नैमित्तिक हट जाता है। जिस कारण से कर रहे हो वह कारण हट गया तो कार्य हट जाना चाहिये। इस पर मीमांसा शास्त्र में उत्तर निश्चित किया कि जैसे ही हमने कामनापूर्वक कर्म प्रारम्भ कर दिया तो वह हमारे लिये नित्य-सा हो गया अतः पूरा करना पड़ेगा। प्रारम्भ करने में कारण तो कामना है परन्तु प्रारम्भ करने के बाद कामना निवृत्त होने पर भी तुमको वह काम समाप्त करना पड़ेगा, बीच में नहीं छोड़ सकते। काम्य कर्म भी कामना के हट जाने पर, यदि प्रारम्भ कर दिया गया है तो नित्य-सा हो जाता है। इसी प्रकार तुमने युद्ध के शंख बजा दिये, पहले ही विचार करके कहते कि 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' तो बात दूसरी थी। अब युद्ध प्रारम्भ करने के बाद, सब लोगों को इकट्ठा करने के बाद, यदि

तुम्हारे में वैराग्य है तो भी इस युद्ध की समाप्ति पर ही क्षत्रिय धर्म को छोड़ सकते हो। कुछ श्लोकों के बाद भगवान् स्वयं कहेंगे ''स्वधर्म मपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि धर्म्याद्धि युद्धा च्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।'' पहले तो क्षत्रिय होने के कारण युद्ध तुम्हारा नित्य कर्म भी है। 'युद्धे चाप्यपलायनं' युद्ध से नहीं भागना क्षत्रिय का कर्म है। यदि तू इसे काम्य कर्म समझता है तो भी प्रारम्भ किया हुआ होने से तू छोड़ नहीं सकता। तुझे शोक है कि भीष्म द्रोण मर रहे हैं जबकि वे अपने प्रारब्ध से मरेंगे। यदि शोक है कि इन पूज्यों को मारने से अधर्म होगा, तो ग़लत है क्योंकि युद्ध से पाप नहीं होगा, उल्टा यदि तू युद्ध छोड़ेगा तब अधर्म होगा। दोनों कारणों से शोक नहीं बनता।

तीसरा एक पक्ष और है जो बौद्धों का है। वे कहते हैं कि आत्मा हर क्षण पैदा और नष्ट होता है। आत्मा अर्थात् उनके यहाँ ज्ञान है। घटज्ञान, पटज्ञान आदि निरंतर हमारे ज्ञान बदलते रहते हैं। घटज्ञान हुआ, वह समाप्त हुआ तो कपड़े का ज्ञान हो गया, वह खत्म हुआ तो अन्य ज्ञान हो गया। क्षणिक ज्ञान को वे आत्मा कहते हैं। अपने यहाँ तो ज्ञान या आत्मा नित्य पदार्थ है। लेकिन वे कहते हैं कि 'ऐसा कोई नित्य ज्ञान हम लोगों को दीखता नहीं, वेद को हम मानते नहीं। आत्मा ज्ञानरूप है, यह ठीक है लेकिन ज्ञान तो हर क्षण पैदा होता है।' इस पक्ष में 'नित्यं जातं, नित्यं मृतं' अर्थात् हर क्षण ज्ञान होता है और नष्ट होता है। इसके सिवाय कोई स्थायी आत्मा नहीं है। अगर यह सौगत पक्ष स्वीकार करते हो तब भी यह बात नहीं बनती कि शोक करो क्योंकि जो भीष्म द्रोण दस मिनट पहले महानुभाव थे वे महानुभाव तो अब रहे नहीं, हर क्षण नष्ट हो रहे हैं। बौद्धों का दृष्टांत है कि जब कहते हैं कि 'गंगा-स्नान कर रहे हैं' तो यह केवल तुम्हारी झूठी कल्पना है क्योंकि भगीरथ जो पानी लाये थे वह तो कब का बहकर समुद्र में चला गया। तुमको तो उसके जैसा पानी अब देखकर भ्रम हो रहा है कि यह वही गंगा है जो भगवान् शंकर की जटा से आई है। इसी प्रकार तुम्हें भ्रम हो रहा है कि जिस मां ने मुझे पैदा किया वह बीस साल बाद भी है। वह कब की चली गई। वह तो हर क्षण पैदा और नष्ट हो रही है। क्षणिक ही आत्मा है। वह नित्य जात और नष्ट होता है। इसीलिये 'भीष्म द्रोण को मैं मारूंगा', यह विचार व्यर्थ है और आगे पाप होगा यह सोचना भी व्यर्थ है क्योंकि जो तू मारेगा वह अगले क्षण नहीं रहना है। अतः न यह शोक बनता है कि भीष्म, द्रोण नहीं रहेंगे क्योंकि हर क्षण नष्ट हो रहे हैं, और न यह शोक बनता है कि मैं मारूंगा तो नरक जाना पड़ेगा। जब रहेगा नहीं तो नरक कौन जायेगा? अतः दोनों बातों का शोक बनता नहीं।

'अथ चैनं नित्यजातं' के द्वारा भगवान् ने इन तीनों मतों का निषेध कर दिया। जो वेद को मानने वाले आत्मा को अणु परिमाणी मानते हैं उनका भी निषेध, शरीर को आत्मा मानने वालों का भी निषेध और क्षणिकविज्ञानवाद का भी निषेध हो गया। 'तथापि' इन मतों को मानने वाला है तो भी, तू महाबाहु है। प्रथम पक्ष में तू ऐसी भुजाओं वाला है,

इसलिये ऐसे नास्तिक मत तू नहीं मान सकता। दूसरे अर्थ में, धर्म मार्ग में प्रवृत्त होने के कारण महाबाहु है इसलिये युद्ध रूपी धर्म में प्रवृत्ति करेगा। तीसरे अर्थ में, आचार्य ने कहा है कि भगवान् के महाबाहु का प्रयोग 'सोपहास' किया है अर्थात् इसके द्वारा अर्जुन की हँसी की है। प्रायः लोग कहते हैं कि जिसका शरीर बड़ा होता है उसकी बुद्धि भी मोटी होती है। कालिदास ने लिखा है 'आकारसदृशी प्रज्ञा' मनुष्य का जैसा आकार होता है वैसी उसकी प्रज्ञा भी होती है। शरीर मोटा होता है तो बुद्धि भी मोटी होती है, शरीर सूक्ष्म होता है तो बुद्धि भी सूक्ष्म होती है। यह लोकप्रसिद्धि है, वास्तविकता नहीं समझ लेना। भगवान् उपहास करते हैं कि केवल भुजायें ही मोटी नहीं हैं, तेरी बुद्धि भी मोटी है। क्षणिक विज्ञान को सत्य मान लेना कि इस क्षण है अगले क्षण नहीं रहेगा; यह मोटी बुद्धि वाला ही मान सकता है। यदि वैदिक पक्ष लेते हैं तो शोक योग्य नहीं है। यदि इन पक्षों को लेता है तब भी शोक योग्य नहीं है अर्थात् शोक करना सर्वथा अयोग्य है।।२६।।

पूर्वोक्त को ही स्पष्ट करते हैं–

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

जिसने जन्म लिया है उसका मरण और जो मरा है उसका जन्म अवश्य होता ही है। क्योंकि इस बात से बचा नहीं जा सकता इसलिये इसका शोक करना योग्य नहीं है।

कहीं पर भी जो चीज़ पैदा होती है वह अवश्य ही नष्ट होती है। पैदा होगे तो मरना अवश्यंभावी है, उससे बच नहीं सकते। इसलिये इसका शोक करना योग्य नहीं है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि मरने से कभी डरो मत। ''मृत्योर्बिभेषि किं तात भीतं मुञ्चति किं यमः'' अगर डरे हुओं को मृत्यु छोड़ता हो तो कांपते रहो, मृत्यु छोड़ देगा! ऐसा देखने में नहीं आता। यह बात ज़रूर है कि मरता वही है जो पैदा हुआ है। जो पैदा नहीं हुआ है उसको मृत्यु कभी नहीं मार सकता। इसलिये ''अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नम् अजन्मनि'' मैं पैदा न होऊँ–ऐसा करने की चेष्टा करो। यदि मैं पैदा नहीं हुआ तो मर नहीं सकता, पैदा हुआ हूँ तो बच नहीं सकता। आजकल लोग बड़े ज़ोर शोर से धूम धड़ाके से याद दिलाते हैं कि तू पैदा हुआ है, मरेगा। लेकिन उचित तो है कि याद दिलाओ कि तू अजन्मा है, शायद कभी समझ ले। जब पैदा न होने वाली चीज़ को हम समझ लेते हैं तब मृत्यु हमें कैसे पकड़ेगी। जो जात पदार्थ है, वह मरने वाला है–यह नियम हो गया। चूंकि ऐसा है इसलिये अपरिहार्य अर्थ है अर्थात् जन्मे हुए का मरना किसी भी तरह से बचाया नहीं जा सकता।

'बचाया नहीं जा सकता' का मतलब है कि जीव के द्वारा नहीं बचाया जा सकता। परमात्मा के लिये कोई भी अपरिहार्य अर्थ नहीं होता। वह किसी भी चीज़ का परिहार कर सकता है। कार्य किसी के लिये असंभव और किसी के लिये संभव होता है, यह याद

रखना चाहिये।

अभिराम भट्ट नामक एक ब्राह्मण भगवती के बड़े भक्त थे। कावेरीपत्तनम् के पास साम्भोजी महाराज के राज्य में एक मन्दिर में पुजारी थे। एक बार माघ की मौनी अमावास्या के दिन कावेरी संगम में स्नान करके मन्दिर में पहुँचे तो पूजा करते हुए उनका ध्यान ऐसा एकाग्र हो गया कि उन्हें कुछ होश नहीं रहा। उस दिन महाराजा भी मन्दिर में दर्शन करने पहुंचे तो वे उठे नहीं और महाराजा को प्रसाद चरणामृत भी नहीं दिया। राजा ने समझा कि यह सो रहा है। हम लोगों के यहाँ नियम है कि सोये हुए को जगाना नहीं चाहिये। पंजाबी लोग भी कहते हैं 'सुत्ते नु जगाइये ना।' यह वेद की बात है कि सुप्त का प्रबोधन नहीं करना चाहिये। बृहदारण्यक में इसका विस्तृत वर्णन है। राजा ने सोचा चरणामृत लेना ज़रूरी है, इसलिये ज़ोर से पूछा—'पंडित जी! आज क्या तिथि है?' पंडित जी को होश आया, मुँह से निकल गया 'आज पूर्णिमा है।' और तुरंत राजा को चरणामृत देने को तैयार हो गये। राजा को निश्चय हो गया कि 'यह शराबी है! सारी दुनिया अमावास्या का स्नान करने आई हुई है और यह पूर्णिमा बता रहा है! यह ज़रूर नशा करता है। इसलिये पुजारी रहने के लायक नहीं है।' परन्तु प्राचीनकाल में ब्राह्मण का अपमान नहीं करते थे। उन्होंने कहा—'ठीक हैं, मैं सायंकाल आऊंगा मुझे चन्द्रदर्शन करा दीजियेगा।' पंडित जी ने कहा—'ज़रूर पधारियेगा।' लोगों ने उनसे कहा—'आज आपने पूर्णिमा कह दी, आज तो माघ की अमावास्या है। आप राजा से क्षमा-प्रार्थना करो।' भट्ट ने कहा—'भगवती के सामने बैठकर किससे क्षमा याचना करनी है!' अपने लड़के को मन्दिर में बिठाकर वह भगवती की आराधना में लग गये कि 'हे भगवती! तुम्हारे सामने कही हुई बात झूठी नहीं होनी चाहिये।' राजा के सामने ग़लत कह दिया तो कोई बात नहीं है, लेकिन भगवान् के सामने कहा है तो मर्यादा-भंग होती है। लोक में भी कहते हैं कि झूठ बोलने वाला भी मन्दिर में जा कर नहीं बोलता। और यहाँ तो भगवती सन्निधि में झूठ निकल गया था।

भक्त तो थे ही, चिन्तन करते-करते देखा कि भगवती ने अपने हाथ का कंकण आकाश की तरफ फैंका और वह कंकण चन्द्रमा की तरह चमक रहा था। राजा आया तो उसने और अन्य सब लोगों ने भी चन्द्रमा का दर्शन किया! राजा ने विचार किया कि मेरे मन में गलत विचार आ गया था कि यह शराबी है और अंड-बंड बोलता है। इसलिये राजा ने उसे बहुत बड़ी जागीर लेने को कहा। भट्ट ने कहा 'मैंने कुछ नहीं किया इसलिये कुछ नहीं लूँगा। करने वाला कोई और है इसलिये मैं नहीं लूँगा।' उसने साम्भोजी से कहा कि 'अब मैं तुम्हारा पुजारी नहीं रहूँगा।'

अमावास्या के दिन पूर्णिमा परमेश्वर तो कर सकते हैं परन्तु हमारे लिये यह असम्भव है। इसलिये आगे भगवान् कहेंगे कि तुम्हारा उद्धार करने वाला मैं हूँ। तुम अपने को जन्मने वाला मानते हो। तुम कुछ भी करके अपने को जन्मरहित नहीं कर सकते। तुम इसका

परिहार कर सको यह नहीं हो सकता। परन्तु मेरा जो वेदवाक्य है 'तत्त्वमसि' उसके द्वारा मैं इसको कर सकता हूँ। तुम अपने प्रयत्न से चाहो तो नहीं कर सकते। इसकी सीधी युक्ति भी समझ लेना : 'मैं अकर्त्ता हूँ' यह करने के लिये पहले अपने को कर्त्ता मानना पड़ेगा। मैं कर्त्ता हूँ और प्रयत्न कर रहा हूँ अकर्त्ता बनने के लिये—यह वदतोव्याघात है। इसलिये आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि तत्त्वज्ञान ध्यान से नहीं हो सकता। ध्यान मत करो, ऐसा उल्टा अर्थ नहीं समझना! तुम तो ध्यान ही कर सकते हो। ध्यान तो कर्त्ता बनकर करोगे। ज्ञान इस बात का होना है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ। वह केवल परमेश्वर के ही द्वारा हो सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। इसलिये आगे भगवान् कहेंगे 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (१०.१०)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तुम जन्मे हो तो मरोगे, इसको तुम नहीं बचा सकते। तुम कर्त्ता, अकर्त्ता नहीं बन सकते, किन्तु परमेश्वर के लिये यह परिहार्य है। वह तुम्हारे कर्तृत्त्व को हटा सकता है। चूंकि तुम्हारे लिये अपरिहार्य है इसलिये तुम्हारा यह शोक करना नहीं बनता। जो बचा नहीं सकते उसके बारे में शोक करना योग्य नहीं। यह भगवान् ने मतान्तर की दृष्टि से कहा। स्वमत को भगवान् ने पहले बता दिया। किसी भी प्रकार से शोक करना नहीं बनता।।२७।।

शरीरसंघातरूप भूतों के लिय भी शोक करना उचित नहीं यह बताते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

सभी भूत जन्म से पूर्व व निधन के बाद अव्यक्त ही होते हैं, केवल जन्म से निधन के मध्य ही व्यक्त रहते हैं। ऐसों के बारे में क्या रोना!

जो भी भूत हैं वे आने के पहले अर्थात् प्रकट होने के पहले अव्यक्त थे। व्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का विषय अर्थात् इन्द्रियों से जिसका ज्ञान होता है उसे व्यक्त कहते हैं। इन्द्रियों के सामने जो चीज़ प्रकट होगी उसी को व्यक्त कहेंगे। इन्द्रियों के सामने परमात्मा नहीं होता क्योंकि वह रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श वाला विषय नहीं इसलिये परमात्मा को भी अव्यक्त कहते हैं। दो श्लोकों के पहले ही कहा था 'अव्यक्तोऽयम्'; चूंकि परमात्मा इन्द्रियों के द्वारा प्रकट नहीं होता इसलिये परमात्मा को भी अव्यक्त कहते हैं। इसी प्रकार से कारण में कार्य प्रकट नहीं होता। मिट्टी देखकर इन्द्रिय के द्वारा तुम्हें पता नहीं लग सकता कि इससे कौन-कौन सी चीज़ें बन सकती हैं। कार्य, कारण के अन्दर अव्यक्त है अर्थात् कारण के अन्दर स्थित वह तुम्हारे द्वारा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अतः कारण को अव्यक्त कहते हैं। कारण अव्यक्त इसलिये है कि उसमें कार्य प्रकट नहीं रहता। इस प्रकट नहीं होने के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों में मतभेद है। महर्षि कणाद का कहना है कि कारण के अंदर कार्य का प्रागभाव अर्थात् मिट्टी के अंदर घड़ा नहीं, घड़े का प्रागभाव रहता है। कपिल महर्षि कहते हैं कि अभाव हमेशा प्रतियोगी के द्वारा निरूपित होता है।

इस मिट्टी में 'क्या नहीं है' का पता तब लगता है जब तुम किसी चीज़ को देखने की इच्छा से देखो अतः बिना चीज़ को जाने हुए प्रागभाव का कैसे निरूपण होगा? इसलिये कारण के अन्दर कार्य *छिपा* रहता है। कैसे छिपा रहता है? महर्षि कपिल कहते हैं कि जैसे कोई बहुरूपिया हो तो कभी डाकिया, कभी पुलिसवाला बनकर सामने आता है लेकन एक-साथ अनेक रूपों वाला नहीं बन सकता, जब डाकिया बनता है तब बाकी रूप छिप जाते हैं, ऐसे ही जब पुलिस वाला बनता है तब डाकिया आदि बाकी रूप छिप जाते हैं। यद्यपि उसमें अन्य रूपों की योग्यता तो रहती है तथापि दूसरा रूप तब दीखता नहीं है, लेकिन है। अतः कार्य बनने की जो योग्यता है वह कारण में रहती है।काणाद तो कहता है कि कार्य का अभाव है, कार्य आगे पैदा होगा। कपिल कहते हैं कि बिना प्रतियोगी के अभाव की सिद्धि नहीं होने से, अभाव देखने के लिये प्रतियोगी होना चाहिये। अतः प्रतियोगी बनने की योग्यता उसमें मौजूद है। दीखती इसलिये नहीं कि एक आकार लिये हुए है। एक-साथ विभिन्न आकार नहीं हो सकते। कारण में कार्य मौजूद है। किसी को प्रागभाव रूप से मौजूद दीखता है और किसी ने कहा कि उसमें अव्यक्त रूप से मौजूद है। इसलिये जब तुम दूसरे रूप को व्यक्त करोगे तब पहले वाला रूप उसी में छिप जायेगा।

रघु के दरबार में एक बहुरूपिया पहुँचा। राजा उसके खेल देखकर प्रसन्न हुआ और उसे पुरस्कार दिया। वह कई बार आया। एक दिन राजा ने उससे कहा कि 'तुमने कई रूप दिखाये, परन्तु महात्मा बनकर नहीं दिखाया।' उसने कहा–वह भी मैं दिखा दूंगा।' कहकर वहाँ से चला गया। साल दो साल आया ही नहीं तो राजा ने सोचा कि कहीं दूसरी जगह चला गया होगा। धीरे-धीरे वहाँ प्रसिद्धि हुई कि एक बड़े सिद्ध महात्मा आये हुए हैं। खबर रानी तक भी पहुँची। और लोगों ने भी कहा कि उनके दर्शन ज़रूर करने चाहिये। राजा ने पहले पता लगाया तो पता लगा कि महात्मा बड़े अच्छे हैं और त्यागी हैं। राजा रानी दोनों दर्शन करने पहुँचे। जैसे ही महात्मा के पास पहुँचे, महात्मा ने उनसे मुँह फेर लिया। दूसरी तरफ पहुँच, उन्होंने फिर मुँह फेर लिया। शास्त्रों में बताया है कि राजा दस वेश्याओं से भी खराब होता है। अर्थात् राजा से कुछ चीज़ लो तो दस वेश्याओं से लेने का फल होता है। इसलिये राजा से कुछ नहीं लेना चाहिये। दूसरी बार मुँह फेर कर महात्मा ने कहा कि 'तुम लोग यहाँ से चले जाओ। तुम्हारा मुँह मुझे नहीं देखना है।' रानी उसके त्याग से प्रसन्न हुई और अपना नौलक्खा हार उन्हें भेंट किया। उन्होंने गुस्से में तुरंत उस हार को सामने धूने में डाल दिया। हार जल गया। राजा रानी ने उन्हें प्रणाम किया और वापिस महल में आ गये। अगले दिन वह बहुरूपिया राजा के दरबार में पहुँचा और कहा 'मेरा इनाम दीजिये।' राजा ने पूछा 'किस बात का इनाम देना है?' उसने कहा 'दो साल पहले आपने कहा था कि महात्मा बनकर दिखाओ तो मैंने वह बन कर दिखा दिया।' राजा ने कहा–'बेवकूफ! वह नैलक्खा हार क्यों जला दिया।' उसने कहा–'मैं उस समय महात्मा था, यदि वह हार रख लेता तो महात्मा कैसे सिद्ध होता? जो वेश धारण करूंगा उसे

लजवाऊँगा नहीं। हूँ मैं बहुरूपिया, इसलिये आज जो इनाम देंगे वह लूंगा।' जिस एक वेश को धारण किया उसी समय दूसरा वेश धारण नहीं हो सकता।

इसी प्रकार प्राणी जो-जो रूप धारण करता है वह-वह रूप धारण करने की योग्यता तो उसमें है, अन्य रूपों में बनने की योग्यता भी उसमें है। अगर प्राणी ने मनुष्य का शरीर धारण कर लिया तो पक्षी की तरह आचरण कैसे करेगा! गाय का रूप लिया तो घोड़े का आचरण कैसे करेगा! ठीक जिस प्रकार जब घड़े को फोड़कर सिकोरा बनाया तो उस सिकोरे में घड़ा कहाँ से दीख सकता है? अथवा हाथ के कड़े को गलाकर कर्धनी बना दी तो उस कर्धनी में घड़ा कहां से दीखेगा? होने की योग्यता है, इसलिये उसे अव्यक्त कहते हैं। कार्य का कारण में अभाव हो तब कार्य को अव्यक्त कहते हैं–यह एक ढंग है एवं दूसरे कार्यों से छिपा हो तब वह अव्यक्त है–यह दूसरा ढंग है। एक कार्य के होने पर दूसरा कार्य अव्यक्त हो जाता है।

वेदांत कहता है कि इस प्रकार की बात भी ठीक नहीं बनती। कारण वह होता है जो सब कार्यों में प्रकट हो। इसलिये मिट्टी का घड़ा हो, सिकारो हो, जो कुछ भी हो वह मिट्टी है। घड़ा है तब भी वह मिट्टी दीख रही है। सिकोरा, ईंट जो भी बना वह मिट्टी है और वही दीख रही है। अतः कारण वह है जो कार्य में हमेशा उपस्थित रहता है। घड़े से सिकोरा नहीं बनता है। घड़े में जो मिट्टी है उससे सिकोरा बनता है। कारण वह है जो कार्यकाल में प्रकट रहता है।

''व्यक्तमध्यानि'' भूत या प्राणी बीच में प्रकट होते हैं। जन्म के पहले भी वे अप्रकट हैं और जब वह व्यक्त रूप लीन हो जाता है तब फिर से अव्यक्त ही हो जाते हैं। कारण वह है जो कार्य से छिपा हुआ नहीं है। कार्य उसे छिपा नहीं सकता। कारण तो वह है जो भिन्न-भिन्न कार्य या नाम-रूपों को धारण करते हुए भी प्रकट रहता है। परन्तु वह स्वयं इन्द्रियों के द्वारा प्रकट नहीं होता इसलिये अव्यक्त है। मिट्टी को जब देखो तब किसी रूप में देखोगे, चूर्ण रूप दीखेगा, घड़ा, सिकोरा, ईंट का रूप दीखेगा; मिट्टी दीखेगी तो किसी-न-किसी रूप में ही दीखेगी। रूप प्रकट होने वाले हैं। न जन्म के पहले प्रकट हैं और न निधन के बाद प्रकट हैं। घड़ा, सिकोरा, ईंट तीनों रूप हैं, इन रूपों में जो उपस्थित है वह मिट्टी है। किन्तु उस मिट्टी को देखने के लिये तुम्हें बुद्धि चाहिये। बुद्धि से उसका ग्रहण होगा। कोई एक रूप दिखाकर नहीं कह सकते कि यह मिट्टी का रूप है। मिट्टी के रूप को केवल लक्षण से बता सकते हैं कि जो गन्ध वाला होता है इत्यादि। लेकिन दिखाओगे तो किसी-न-किसी नाम-रूप में ही दिखाना पड़ेगा। सुनार जानता है कि चाहे पासा हो, बिस्कुट या कर्धनी हो, सब सोने का रूप है। सोने का रूप वह है जो कसौटी पर कसने से विशेष रंग दे। नाम-रूप किसी चीज़ का *लक्षण* नहीं है। लक्षण से विचारपूर्वक वस्तु समझनी पड़ती है।

महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा कि ब्रह्म का स्वरूप बताओ तो उन्होंने कहा 'अस्थूलमनणु'

यह स्थूल नहीं वह अणु नहीं। पूछने वाले ने वापिस प्रश्न किया कि किसी से पूछते हैं 'गाय क्या होती है?' तो वह गाय को सामने करके दिखाता है कि 'यह गाय है', घड़ा दिखाकर यह नहीं कहता कि 'यह गाय नहीं!' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—आत्मा किसी एक नाम-रूप वाला नहीं है कि जो गाय की तरह उसके कान पकड़कर लाकर खड़ा कर दें। यह तो सूक्ष्म चीज़ है। अतः जो मैंने कहा वही इसको समझने का तरीका है। ये प्राणी जहाँ से उत्पन्न होते हैं, जो इन सारे प्राणियों में दिखाई देता है, वह परमात्मा है परन्तु समझ में बिना समझाये नहीं आता।

एक बार देवर्षि नारद कहीं जा रहे थे, उन्होंने देखा कि एक मकोड़ा (चींटा) रास्ते के बीच में बड़े ज़ोर से दौड़ रहा था। नारद जी पशुओं की भाषा जानते हैं। उन्होंने उस मकोड़े से कहा—इतना भागकर कहाँ जा रहा है?' उस कीड़े ने कहा—'चुप रहो, मुझे सड़क से उतर जाने दो।' जब उतर गया तब उसने कहा—'मैं मकोड़ा हूँ, मुझे वह आवाज़ सुनाई देती है जो आपको नहीं सुनाई देती। दूर से रथ आ रहा है, बीच सड़क में रहता तो मर जाता, इसलिये भाग रहा था। अब नीचे आ गया, इसलिये कोई डर की बात नहीं है।' नारद जी ने उससे कहा—'तू इतनी निकृष्ट जाति का है, तेरे को मरने का इतना डर क्यों हैं? मर जायेगा तो इस नारकीय योनि से छूट जायेगा।' उसने कहा—'ऐसी बात मत कहो। जैसे आपको अपने प्राण प्रिय हैं, ऐसे ही मुझे भी अपने प्राण प्रिय हैं।' एक मकोड़ा भी अपने आपको प्रिय समझता है।

तुम प्रिय उसे समझते हो जिससे सुख होता है। मकोड़ा अपने आपको प्रिय समझता है अर्थात् मकोड़ा भी अपने आपको आनन्दरूप समझता है। अपना आपा आनन्दरूप है। और मकोड़े को भी यह ज्ञान है कि 'मैं इसके नीचे आ जाऊंगा तो मरूंगा इसलिये बचूँ'। जो राग की चीज़ हो उसकी तरफ जाना और जिससे दुःख हो उससे बचना सह मकोड़े और देवराज इन्द्र में एक-सा दीखेगा। प्राणिमात्र में ये दोनों चीज़ें दीखती हैं। सब आत्मा को प्रिय समझते हैं; आत्मा की आनन्दरूपता है, उस बात का ज्ञान है और उस ज्ञान से प्रवृत्ति है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि हरी-हरी घास लेकर कोई गाय की तरफ जाता है तो गाय प्रेम से उसकी तरफ आती है और डंडा लेकर उसकी तरफ लाल-लाल आँखें करके आता है तो गाय भी उससे दूर भागती है। चिद्रूपता और आनन्दरूपता सभी प्राणियों में एक जैसी पाई जाती है। अपने आपको प्रिय समझने के कारण अपने को जो प्रिय होता है उसकी तरफ जाते हैं। प्रतिकूल होता है तो उससे दूर होते हैं। चूंकि प्राणी के आंदर यह चित् और आनन्द रूपता मिलती है इसलिये यही आत्मा का स्वरूप है। अपने स्वरूप को नहीं जानने के कारण जीव अपने आपको शरीर समझ रहा है। इसलिये शरीर के सुख से अपने को सुखी और शरीर के दुःख से अपने को दुःखी समझता है। है तो आत्मा चिदानन्दरूप परंतु भ्रान्ति के कारण शरीर को अपने सुख का कारण समझता है इसलिये शरीर को जो प्रिय अप्रिय अनुभव हो उसके अनुसार व्यवहार

करता है। देवराज इन्द्र अपने देवराज रूप को 'मैं' समझता है। उसे जो प्रिय हो उसी को ठीक मानता है और अप्रिय हो तो उससे दूर जाता है। असुर आकर आक्रमण करते हैं तो भागता है। अपने को छिपाने के लिये गधा बनकर भी किसी गुफा में छिपता है क्योंकि उसी रूप को अपना स्वरूप समझता है।

जो मन को अपना रूप समझेगा वह मन के सुख-दुःख को लेकर प्रवृत्त होगा। बड़े-बड़े ऋषि घोर तपस्या करते हैं ताकि आगे जाकर स्वर्ग, वैकुण्ठ या ब्रह्मलोक में सुख प्राप्त हो। शरीर तो यहाँ रह जायेगा परन्तु जिस मन के साथ संबंध है उस मन से वहाँ जाकर सुख की प्राप्ति होगी। अन्तःकरण की ही वृत्तिविशेष अहंकार है। अहं के साथ एक होकर–'मैं सुख का अनुभव करूं' ऐसा चाहते हैं क्योंकि वृत्ति ही मैं हूँ यह अनुभव करते हैं। चिदानन्दरूपता नाम-रूप से छिपती नहीं है। नाम-रूप कल्पित होता है, वह आत्मा का वास्तविक रूप नहीं है। ठीक जिस प्रकार सोने का वास्तविक रूप तो वह है जो कसौटी पर कसने से आता है, गहने उसका स्वरूप नहीं हैं। अज्ञानी गहने को ही वास्तविक रूप समझ लेते हैं। इसी प्रकार से शरीर के अंदर हमको चिदानंद की प्रतीति होती है तो हम शरीर को भ्रान्ति से अपना आत्मा समझते हैं। जब मन में ऐसी प्रतीति होती है तब हम मन को आत्मा समझ लेते हैं। लेकिन जिसकी समझ में सत्य स्वरूप आ गया है वह समझता है कि शरीर, मन, बुद्धि, अहं में दीखने वाला चिदानंद रूप आत्मा है। जिस नाम-रूप में वह प्रकट होता है, वह केवल लगता है कि आत्मा है।

यहाँ चूंकि प्रसंग प्राणियों का है इसलिये प्रधानरूप से 'भूतानि' अर्थात् प्राणी, परन्तु वस्तुतः केवल प्राणी ही नहीं, जड जगत् भी यहाँ समझ लेना चाहिये। जो 'होता है' उसको भूत कहते हैं। इसलिये पृथ्वी, जल, तेज सब भूत हैं, ये सब अव्यक्त में थे। जब मिट्टी नहीं थी तो जल में थी, जल अग्नि में था। अग्नि प्रकट होने के पहले वायु में था। इस प्रकार अन्त में सत् ही बचता है। इसलिये जितने भी तत्त्व हैं–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और इनसे बने हुए सारे भौतिक पदार्थ, इन सब में 'है' एक जैसा मिलता है। 'है' में ये सब अव्यक्त रूप से मौजूद हैं। लोग समझते हैं कि परमात्मा का अनुभव भी किसी नाम-रूप में होता होगा, वही नाम-रूप भगवान् का होता होगा। किन्तु आचार्य बार-बार कहते हैं ''इदम्बुद्धिकालेऽपि सर्वं ब्रह्म एव'' जिस समय नाम-रूप देख रहे हो, उस समय भी वह ब्रह्म ही है। अज्ञान से लगता है कि परमात्मा का दर्शन कब होगा और ज्ञान होने पर लगता है कि आज तक परमात्मा के सिवाय और किसी का दर्शन किया ही नहीं है क्योंकि उसके सिवाय कुछ है ही नहीं। जिस प्रकार से हमारे पास पचास तोला सोना है तो कर्धनी, कड़ा जो बनाना हो वह सब बनने वाली चीज़ हमारे पास है। कारण पास होते हुए भी लोग नहीं समझते और कहते हैं 'हाय! मेरे पास कर्धनी नहीं है' क्योंकि सोने को समझा नहीं है। इसी प्रकार सारे प्राणी चिदानन्द रूप हैं और उसके बिना कुछ प्रतीत नहीं होता। जड चीज़ों की प्रतीति में सत् की प्रतीति है–क्योंकि हैं इसीलिये उनकी प्रतीति है।

वेदांत शास्त्र के अनुसार अव्यक्त परमात्मा में रहता है। अव्यक्त अव्याकृत, प्रकृति, माया पर्याय हैं। वह परमात्मा में शक्ति रूप से है। मिट्टी में घड़ा बनने की शक्ति है,परन्तु मिट्टी उसे जानती नहीं है। कुम्हार उस शक्ति को जानता है इसलिये उसमें से प्रकट कर देता है। इस प्रकार माया से जगत् प्रकट करने के लिये कोई दूसरा कारण नहीं चाहिये है क्योंकि मायाधीश ही उस शक्ति से अपने को अनेक रूपों में व्यक्त कर देता है। नाम रूप का कारण परमात्मा की शक्ति है। जैसे बाजीगर या जादूगर में कई तरह की चीज़ें दिखाने की शक्ति है, जब जो चाहे दिखा सकता है। उसे दिखाने वाला कोई दूसरा नहीं है। इसी प्रकार जो परमात्मा की शक्ति है उससे परमात्मा किसी एक नाम-रूप को व्यक्त करता है। फिर जब उसे अपने में लीन कर देता है तब वह स्वरूप फिर अव्यक्त हो जाता है।

जब परमात्मा अपनी माया शक्ति से अपने को इन सब रूपों में प्रकट करता है और रूपों को विलीन करता है, तब 'का परिदेवना' तुम्हें किसी भी प्रकार के दुःख की प्रतीति का अनुभव क्यों होता है? जब तक हम किसी अन्य को कारण मानते हैं तब तक तो प्रश्न होता है कि यह क्यों हो गया, परन्तु ईश्वर अपनी माया से क्रीडा कर रहा है यह समझ लेने पर शोक का अवसर नहीं रह जाता। जब तक इसे नहीं समझते तब तक अव्यक्त के अंदर भी किसी कारणान्तर को ढूंढते रहते हैं, किसी-न-किसी आकार को कारण मानते हैं। परमात्मा को भी हम लोग स्वतन्त्र स्वीकार नहीं करना चाहते। इसलिये सोचते हैं कि परमात्मा करता है परन्तु कुछ और कारण ज़रूर होगा! इसलिये भगवान् ने कहा कि एकमात्र अव्यक्त अर्थात् उसकी माया शक्ति ही जड-चेतन सारे जगत् का एकमात्र कारण है। जब कारणान्तर नहीं है तब फिर परिदेवना कैसे होगी? जब सब कुछ वह बन रहा है और बना रहता है तब तुम इस बात में किस बात का सुख-दुःख कर सकते हो?

जड और चेतन इसी रूप से प्रकट होते हैं कि एक के अंदर परमात्मा अपनी जानने की शक्ति का आधान करता है, दूसरे के अंदर विषय होने की शक्ति का। एक में ज्ञान का आश्रय होने की शक्ति है और जड वह है जो ज्ञान का विषय हो सकता है, दृश्य हो सकता है, द्रष्टा नहीं हो सकता। प्राणी वे हैं जो द्रष्टा हो सकते हैं, दृश्य नहीं हो सकते। सारा जगत् द्रष्टा-दृश्य रूप है। द्रष्टा दृश्य के अधीन है, दृश्य द्रष्टा के अधीन है। कोई देखेगा तब कुछ दृश्य है। कोई दृश्य है तब उसका द्रष्टा है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सारे सापेक्ष हैं। इसलिये व्यक्त हैं।

कहीं-कहीं जीव की दो ही अवस्थाओं से काम चला लेते हैं अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न को एक गिनते हैं, सुषुप्ति दूसरी बताते हैं। भगवान् गौडपाद कहते हैं—"अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः" जो चीज़ जैसी नहीं है उसे वैसा जानना अन्यथा ग्रहण है और नहीं जानना ही निद्रा है। नींद में अर्थात् सुषुप्ति में कुछ नहीं जानते हो, वहाँ नहीं जानना है और जाग्रत्-स्वप्न दोनों में है तो वह सच्चिदानन्दरूप परन्तु उसे घट-पट, देवदत्त, यज्ञदत्त रूप में जानते हैं। देवदत्त यज्ञदत्त आदि जानने वाले रूपों में और घट पट आदि

ज्ञेय रूपों में जानते हैं। वस्तुतः तत्त्व द्रष्टा दृश्य भावों से अतीत है पर उसे नाम-रूपों के आकार में देख रहे हैं तो स्वप्न ही है। स्वप्न के दो भेद कर दिये—एक, जो मोक्षपर्यन्त रहेगा और दूसरा, जो उसके पहले खत्म हो जायेगा। स्वप्न वह है जो दस-पाँच मिनट या घंटे दो घंटे में मिट जाये। जो अपना कर्त्ता-भोक्ताभाव है, वह जब तक मोक्ष नहीं होगा तब तक नहीं हटेगा। इसको लेकर स्वप्न जाग्रत् का भेद भी किया जाता है। सुषुप्ति में सब भेदों का विलय हमें प्रत्यक्ष है, तब न दृश्य व्यक्त रहता है, न परिच्छिन्न हुआ द्रष्टा रहता है, केवल प्रकाशरूप आत्मा रहता है और अव्यक्त रूप अज्ञान रहता है।

हर हालत में, जीव चूंकि द्रष्टा बनता है इसलिये अंत में वही अपने ज्ञान स्वरूप को जानता है। जड पदार्थ चूंकि कभी भी इस शक्ति वाले नहीं हैं इसलिये उनकी ब्रह्म से उस प्रकार की एकता नहीं है। अर्थात् दृश्य का बाध होता है, द्रष्टा के केवल द्रष्टृत्व का बाधःहोता है, स्वयं का नहीं। शास्त्रीय भाषा में बाध-सामानाधिकरण्य और मुख्य सामानाधिकरण्य कहकर यह भेद समझाया जाता है। यह जड चेतन में भेद होने पर भी है तो सभी ब्रह्म से ही अभिन्न।

यहाँ भगवान् अर्जुन को भारत नाम से संबोधन करते हैं; अर्थात् तू ज्ञान में रति वाला है। क्योंकि तूने इस बात को कहा है कि 'आप मुझे श्रेय का उपदेश करें।' अधिकतर लोग ज्ञान में रति या प्रेम वाले नहीं होते। आगे भगवान् कहेंगे कि मेरी आराधना कई लोग करते हैं। अधिकतर लोग तो इसलिये करते हैं कि कोई दुःख आ गया है, वह हट जाये। अन्य कुछ लोग इसलिये आराधना करते हैं कि अमुक चीज़ की प्राप्ति नहीं हुई है वह प्राप्त हो जाये। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो परमात्मा को जानने के लिये प्रयत्न करते हैं। परमात्मा *से* तो चाहते हैं, कि परमात्मा से हमको वांछित पदार्थ या अनुकूल परिस्थिति या अवस्था मिल जाये यह तो चाहते हैं, पर बहुत कम भक्त परमात्मा को ही चाहते हैं। तूने यह श्रेय का प्रश्न किया है, इसलिये तू भारत है। तू इस बात को समझ ले कि मैं ही जगत् के सारे जड चेतन पदार्थों का, दृश्य-द्रष्टा का रूप धारण करता हूँ, मैं ही उन सब रूपों को प्रकट करता हूँ, व्यक्त करता हूँ और फिर उनको अव्यक्त कर देता हँ, दूसरे रूपों को व्यक्त कर देता हूँ। चूंकि यह सब मुझसे है और मुझ सच्चिदानंद स्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है इसलिये तू उन रूपों में आकर्षण वाला मत बन, तू भारत बन, चिद् रूप में रति वाला बन। तब तेरी यह व्यथा चिन्ता या परिदेवना सब निवृत्त हो जायेगी। परमात्मा यदि अपने को भीष्म द्रोण रूप में प्रकट करते हैं तो उसे भी देख। और आगे उन्हें अव्यक्त बनाते हैं तो वह देख ले। हर हालत में कोई परिदेवना नहीं बनती क्योंकि न ये तेरे कारण प्रकट होते हैं और न ये तेरे कारण नष्ट होंगे। इस प्रकार भगवान् ने बता दिया कि क्षणिक व्यक्त के रूप में भी अव्यक्त ही है। अव्यक्त के द्वारा अपनी विशेष सामर्थ्य माया को बताकर कह दिया कि सब चीज़ों का एकमात्र कारण मैं ही हूँ। इसलिये इसमें कुछ भी परिदेवना का विषय नहीं है।

आस्तिक और नास्तिक सब लोगों को यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि जब तक कोई चीज़ प्रकट या व्यक्त नहीं होगी तब तक वह अव्यक्त ही है। अव्यक्त के रूप के बारे में जो भी मतभेद हैं, परन्तु प्रकट होने के पहले प्रकट नहीं है—यह तो सबको स्वीकार करना ही पड़ेगा। व्यक्त होने के पहले और नष्ट होने के बाद में वस्तुएँ अव्यक्त हैं यह मानना ही पड़ेगा। बीच में वे व्यक्त होती हैं। जब यह स्थिति है तो जो परिवर्तन अवश्यम्भावी है, स्वाभाविक रूप से होना ही है, उसके बारे में कोई भी बुद्धिमान् परिताप नहीं करता। जिस चीज़ को हम होने से बचा सकें उस चीज़ को बचाने का प्रयत्न किया जाता है और अगर नहीं बचा पाते तो अवश्य मन में परिताप होता है। परन्तु जो चीज़ अवश्यम्भावी है उसके बारे में कोई बुद्धिमान् परिताप नहीं करता। इसलिये कहा 'तत्र का परिदेवना'। यह विचार तो सारे मतों की दृष्टि से हुआ। भगवान् ने अपनी दृष्टि पहले ही कह दी कि एकमात्र सद् ब्रह्म ही हमेशा रहता है। उसके अंदर जो व्यक्त होने की शक्ति हमेशा है उसके द्वारा वह अनन्त नाम-रूपों में व्यक्त होता है। सद्रूप होने से नित्य है और तत्तद् रूप में प्रकट होता हुआ मिथ्या है। ठीक जिस प्रकार से रस्सी एकरूप से रहती है। मन्द अंधकार में वह हमको साँप जैसी दीखती है, रोशनी आने पर वह फिर रस्सी ही रह जाती है। इसलिये रस्सी ही सत्य है। साँप दीखा ज़रूर था परन्तु मिथ्या है। मिथ्या का मतलब है कि जो आगे पीछे अव्यक्त हो और बीच में व्यक्त है। सत् वह है जो कभी भी 'नहीं है' नहीं होता। सत् अर्थात् है और 'है' कभी 'नहीं है' नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'नहीं है' कभी 'है' नहीं हो सकता। जैसे गधे के सींग नहीं हैं तो गधे के सींग कभी है नहीं हो सकते। जो चीज़ कभी व्यक्त होती है और कभी अव्यक्त होती है वही मिथ्या है। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि जो चीज़ शुरू में नहीं है अर्थात् व्यक्त नहीं है और बाद में भी जो नहीं रहती है, वह जिस समय में दीख रही है उस समय में भी सचमुच में होती नहीं है जैसे रस्सी में साँप। जितने भाव अर्थात् पदार्थ हैं वे सारे हैं तो वितथ अर्थात् तथ्य से रहित, परन्तु अवितथ अर्थात् सच्चे की तरह प्रतीत होते हैं।

जब साँप दीखता है तब सच्चे की तरह दीखता है। बाध होने पर पता लगता है कि वह सच्चा नहीं था। भ्रम में कोई भी चीज़ 'यह झूठी है' ऐसी प्रतीत नहीं हो सकती, सत्य रूप से ही प्रतीत होगी। परन्तु अवितथ या सच्चे की तरह प्रतीत होती है और बाद में पता लगता है कि झूठ है। आचार्यों ने विचार किया है कि कोई व्यक्ति बिल्कुल झूठी बात भी कहता है परन्तु वह भी सच्ची लगती है। मेरी कोई बहन या चचेरी बहन भी पैदा हुई ही नहीं है और कोई कहता है 'अबे साले!' तो तुम्हें साले शब्द का अर्थ-बोध होता है तभी गुस्सा चढ़ता है। तुम्हारी कोई बहन नहीं है तो 'साला' शब्द का प्रयोग तुम्हारे लिये बनता नहीं है। फिर भी सच्ची प्रतीति होती है। इसलिये बिल्कुल झूठी बात भी कोई कहे तो सच्ची प्रतीत होगी, तब तुम उसे युक्ति से काटोगे और तभी तुम्हें पता लगेगा कि यह बात

झूठी है। ठीक इसी प्रकार संसार के पदार्थ तुम्हें सच्चे ही प्रतीत होंगे; सच्चे की तरह प्रतीत होंगे। परन्तु प्रमाण के द्वारा उन्हें काटा जायेगा।

जब रस्सी में साँप का दृष्टान्त देते हैं तो एक प्रश्न होता है कि रोशनी आने के बाद तो हमें साँप दीखता नहीं, परन्तु 'यह सब परमात्मरूप है' यह जानने के बाद भी यहाँ चीज़ें दीखती हैं। इसलिये दूसरा दृष्टान्त सोपाधिक भ्रम का दिया जाता है। हमें पता लग गया कि यह स्फटिक है और स्फटिक सफेद होता है यह निश्चित ज्ञान हमें है। परन्तु लाल फूल के पास रखा है तो स्फटिक लाल दीखेगा। परन्तु लाल दीखते हुए भी हमारी समझ रहेगी कि लाल फूल के कारण हमें स्फटिक लाल दीख रहा है परन्तु है तो सफेद ही। ठीक इसी प्रकार यह जगत् जैसा दीख रहा है वैसा ही दीखता रहेगा। अहंकारात्मिका वृत्ति के अंदर चिदाभास भी दीखता रहेगा। फर्क यह पड़ेगा कि अभी तो अहंकार में चित् की प्रतीति है, तुम समझ रहे हो कि 'यह मैं हूँ' और तब तुम्हें पता लगेगा कि यह चिदाभास है, मैं अर्थात् चेतन के जैसा है, मैं तो अलग हूँ। अहंकार से लेकर पृथ्वी जल पर्यन्त सब चीज़ें जो पहले सच्ची प्रतीत होती थीं वे सत् रूप से दीखेंगी और जहाँ-जहाँ चित् रूप से दीखी थीं वहाँ-वहाँ चित् रूप से दीखेंगी। शरीर से अहंकार पर्यन्त चेतन का भान होता है। फ़र्क यह होगा कि अभी हमारी प्रतीति है कि ये सच हैं और फिर प्रतीति होगी कि सच की तरह प्रतीत हो रहे हैं। जैसे जब काँच में मुँह देख रहे हो तो प्रतीति होती है कि यह मेरा मुख है। परंतु काँच को हटा दो तो क्या यह प्रतीति होगी कि मेरा मुँह नहीं है? क्योंकि तुरंत कहोगे कि वह कोई सच्चा मुँह थोड़े ही था। सच्चा मुँह तो गर्दन के ऊपर है। छोटा बच्चा इस बात को नहीं समझता। छोटा बच्चा काँच में मुख देखता है तो उससे कहता है कि 'मेरे साथ खेल', वह नहीं खेलता तो माँ से कहता है कि 'यह नहीं आता।' माँ काँच हटा देती है तो और ज़ोर से रोता है कि 'तूने उसे भगा दिया', क्योंकि सोचता है कि उसमें कुछ है।

इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि अहंकार में चेतन है, इसलिये अहंकार लुप्त हो गया तो मानता है कि कुछ लुप्त हो गया। छोटे बच्चों की मातायें जानती होंगी कि बहुत से बच्चे सोते समय बहुत रोते हैं, चिल्लाते हैं। माँ बच्चे को कंधे से लगाकर उसकी पीठ थपथपा देती है तो उसे नींद आ जाती है। क्योंकि सोते हुए बच्चे की प्रतीति है कि 'मैं खत्म हो रहा हूँ।' वह अहंकार की वृत्ति को ही अपना स्वरूप समझता है इसलिये उसे वैसा लगता है। हम अपने को शरीर समझते हैं और शरीर में जब साँस न आकर बेहोशी की स्थिति होने लगती है तब हमेशा इसी बात की घबड़ाहट होती है कि मैं नहीं रहूँगा। धीरे-धीरे जब बच्चे को आदत पड़ जाती है कि 'मैं नींद से वापिस आ जाता हूँ' तब उसे धैर्य होता है। इसलिये हम लोग नींद में जाने से तो नहीं डरते क्योंकि हमें पता है कि वापिस आ जायेंगे, पुनः व्यक्त हो जायेंगे लेकिन मरने से इसलिये डरते हैं कि पुनः व्यक्त होंगे यह नहीं जानते! अहंकार के अंदर चिदाभास देखते हुए भी जो ज्ञान वाला है वह

जानता है कि यह मेरे *जैसा* है, चित् का आभास है। मैं तो चित् हैं, यह चित् की तरह है। इसी प्रकार आकाश आदि सारे पदार्थ सत् की तरह लग रहे हैं, सत् नहीं हैं। ठीक जिस प्रकार से हम लोग मन्दिर में जाते हैं, भगवान् के दर्शन करते हैं, नमस्कार करते हैं, पूजा करते हैं। किसकी पूजा करते हैं? भगवान् की पूजा करते हैं, इसमें संदेह नहीं है। परंतु जब भगवान् का हाथ टूट जाता है तो क्या सोचते हैं कि भगवान् का हाथ टूट गया? जानते हैं कि मूर्ति का हाथ टूट गया इसलिये दूसरी मूर्ति ले आते हैं। सारा व्यवहार भगवान् समझकर करते हो, परंतु मन में निश्चय है कि यह तो भगवान् की मूर्ति है इसलिये दूसरी मूर्ति ले आते हो। उसकी भी वैसी ही पूजा करते हो। मूर्ख इस बात को नहीं समझता। वह समझता है कि मूर्ति ही भगवान् है। हम लोग तो सनातनी हैं इसलिये इस बात को जानते हैं। परन्तु जिन लोगों में संस्कार नहीं हैं वे यही समझते हैं कि यह भगवान् खत्म हो गये! ठीक जिस प्रकार से मूर्ति की पूजा करते हुए हम जानते हैं कि यह मूर्ति है, इसी प्रकार इस सारे ब्रह्माण्ड को हम जानते हैं कि यह परमात्मा की मूर्ति है, परमात्मा नहीं है। सत्य की मूर्ति है, सत्य (सच्चा) नहीं है। इसके साथ व्यवहार तो ऐसा करेंगे मानो सच्चा है। परन्तु जानते हैं कि यह सचमुच में सच्चा नहीं है। फ़र्क इतना ही है कि सामान्यतः जिसे हम मूर्ति मानते हैं वह मनुष्य की गढ़ी हुई मूर्ति है और यह ब्रह्माण्ड भगवान् की अपनी बनाई हुई मूर्ति है।

मनुष्य की शक्ति सीमित है, एक मूर्ति बनाने में दो महीने लग जाते हैं इसलिये दनादन मूर्तियों को नहीं बना सकते। परमात्मा अनन्त शक्ति वाला है। इसलिये प्रतिक्षण अनन्त मूर्तियों को बना लेता है। कभी किसी डाक्टर से पूछोगे तो बतायेगा कि तुम्हें जुखाम होता है तो तुम्हारे अंदर अनेक वाइरस आ जाते हैं। आये तो दो चार वायरस लेकिन अनेक हो गये। एक डाक्टर ने लिखा है कि जब मैं लिफ्ट में गया तो मेरे मुँह में २५ कीटाणु घुस गये। तीसरे तल्ले तक पहुँचा तो उनकी संख्या ढाई हज़ार हो गई! जब तक कमरे में पहुँचा वे ढाई लाख हो गये थे! विचार करो तो पता लगता है कि परमात्मा की कैसी अनन्त और भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। वह वाइरस में भी उतना ही पूर्ण है जितना पूर्ण देवराज इन्द्र के रूप में, जैसा कि इसके पूर्व देवर्षि नारद और मकोड़े के दृष्टान्त से बताया था।

अनन्त रूपों में प्रकट होता हुआ भी वह जैसा सच्चिदानंद है वैसा ही सच्चिदानन्द बना रहता है। केवल बीच में व्यक्त नाम-रूप धारण करता है। जिसकी अनन्त चीज़ें बनाने की सामर्थ्य है, वह जब एक के बाद दूसरी चीज़ बनाता है तो रोता नहीं, बल्कि खुश होता है कि मैं कैसे जल्दी-जल्दी चीज़ें बना रहा हूँ। क्या कारण है कि तुम दस हज़ार रुपये खर्च करके कम्प्यूटर खरीदते हो? क्योंकि जल्दी काम करता है। इसीलिये खुश होते हो। सबसे जल्दी काम करने वाला परमात्मा, जो एक-एक क्षण में अनन्त शक्तियों को प्रकट करके अपने में लीन करता है, वह स्वयं को इस संसार को प्रकट करने वाला समझने पर

परिताप करेगा या आनन्द लेगा? तुम पुराना डिजाईन नहीं पहनना चाहते और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा से चाहते हो कि ब्रह्माण्ड एक जैसा बना रहे! बुद्धिमान् व्यक्ति अपने बच्चों को नये-नये कपड़े पहने हुए देखता है तो खुश होता है। पुराने लोग भले ही दुःखी हों कि पुराना अभी पड़ा है, फिर नया ले आये। जो सचमुच अपने पुत्र को प्रेम से देखता है उसे दुःख नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब परमात्मा अपने रूपों को बदलता है तो जो अधिकतर अज्ञानी हैं वे परिताप करते हैं कि क्यों बदल गया। फिर से नया कपड़ा दे दिया—यह नहीं समझते। लोग घर में पुराने कपड़े हटते और नये आते देख इसलिये दुःखी होते हैं कि उनके पैसे में कुछ कमी हो रही है, परन्तु जो इस बात को जानता है कि उसके पास अनन्त धन है, क्या वह दुःखी होगा? परमात्मा प्रतिक्षण नवीन-नवीन चीज़ों का निर्माण करता है। बुद्धिमान् आदमी तो उसका आनन्द लेता है कि परमात्मा की कैसी अनन्त शक्ति है! अज्ञानी पुरुष परिदेवना अर्थात् परिताप करता रहता है जब वह अव्यक्त से व्यक्त होना देखता है। इस प्रकार भगवान् ने स्पष्ट किया कि 'भूतों' के बारे में, संसार के चर-अचर घटकों के बारे में शोक करना अनुचित ही है। दृश्य के मिथ्यात्व का निश्चय हो चुकने पर उसके बारे में दुःख हो यह संभव नहीं।।२८।।

अभी तक भगवान् ने अर्जुन को उलाहना-सा दिया कि 'तू नासमझी कर रहा है', अब संकेत करते हैं कि यह तत्त्व दुर्विज्ञेय है अतः तेरा इसके बारे में मोह भी अनुचित नहीं है।

एक बार मृकण्डु के पुत्र मार्कण्डेय के मन में विचार आया कि परमात्मा कैसे अव्यक्त से व्यक्त होता है। यह कैसी शक्ति है? एक दिन वे किसी तालाब में स्नान करने गये हुए थे। तालाब में गोता लगाया तो बड़े ज़ोर की बाढ़ आई, चारों तरफ समुद्र ही समुद्र हो गया। बड़ी मुश्किल से उसके ऊपर तैर रहे थे। उन्होंने देखा कि सारी पृथ्वी समुद्र में लीन हो गई है। सोचने लगे कि यह प्रलय काल कहाँ से आ गया! तैरते-तैरते देखते हैं कि बर्गद के पत्ते पर एक बच्चा लेटा हुआ तैर रहा है। उनके मन में बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह क्या हो रहा है! उस बच्चे के पास गये। वह इतने ज़ोर से साँस ले रहा था कि मार्कण्डेय उसकी नाक में घुस गये और नाक के अंदर जाकर देखा कि वहाँ पूरा ब्रह्माण्ड है। नक्षत्र, सूर्य, तारे सब वहाँ विद्यमान हैं। वहाँ चारों तरफ देखा तो अपना आश्रम भी दीख गया। उन्हें आश्चर्य हुआ कि ये सब तो डूब गये थे, फिर यहाँ कैसे दीख रहे हैं? सारे घरवालों को देखा कि सब सुरक्षित हैं। बड़े खुश हुए कि सब बच गये। तब तक इतने ज़ोर की हवा आई कि मार्कण्डेय वहाँ से उड़कर उस बच्चे की नाक से बाहर निकल गये और अपने को पुनः तालाब में खड़ा पाया। देखा कि कपड़े भी वहीं रखे हैं। तब भगवान् ने उन्हें यह बात समझाई कि जैसे साँस लेना और छोड़ना तुम्हारे लिये सहज है; कोई यह नहीं कहता कि 'इतनी साँस मत लो, कुछ बचा कर रखो', क्योंकि साँस लेना सहज है; इसी प्रकार सृष्टि करना, प्रलय करना परमेश्वर के लिये सहज है। जिस समय तुम प्रलय देख रहे थे उसी समय प्रलय नहीं है। उनके पेट में प्रलय नहीं, उनके बाहर प्रलय है।

ऐसा नहीं कि हम जिस काल में बँधे हैं ऐसे ही परमेश्वर भी बँधा हो! ठीक जिस प्रकार से रस्सी में जब एक आदमी साँप देखता है उसी समय दूसरा आदमी उसे रस्सी ही देखता है। कई बार ऐसा हो जाता है। एक ही चीज़ को दो आदमी देखते हैं। एक को वह चीज़ सच्ची और दूसरे को वही चीज़ झूठी दीखती है और एक समय में ही दीखती है। इसी प्रकार से ठीक जिस समय हम उसको व्यक्त समझ रहे हैं उसी समय में वह दूसरे के लिये अव्यक्त है और जब हम अव्यक्त समझ रहे हैं तब भी किसी के लिये व्यक्त है। इसी व्यक्त अव्यक्त होने के क्रम के प्रति लोगों के आकर्षण को उपनिषत् ने बताया कि परमेश्वर के इस जगद्रूप आराम या बगीचे को ही देखते रह जाते हैं, इसके रचयिता को नहीं देख पाते। इसलिये जो परमेश्वर का दर्शन पा ले वह एक आश्चर्य ही है। कठोपनिषत् में (२.७) भी आत्मा के बारे में बताने और समझने वाले को आश्चर्य कहा है। इसे ही भगवान् बताते हैं–

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनम् अन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२६।।

कोई विरला ही इस आत्मा को देखता है किन्तु उसे लगता है मानो यह एक अद्भुत वस्तु है। जो कोई इसके बारे में बोलता है वह भी ऐसे मानो यह अचम्भे की सी बात है। इसे सुनने वाला भी इसे आश्चर्य जैसा समझता है। इसके बारे में सुनकर, बोलकर और इसे देखकर भी इसका साक्षात्कार हर-किसी को सुलभ नहीं। (इसे देखने-सुनने-बताने वाले भी आश्चर्य जैसे ही हैं।)

इस सृष्टि को कोई बुद्धिमान् देखता है तो उसे बड़ा आश्चर्य लगता है। बाजीगर के पास सोने की टक्साल नहीं है। कोई हलवाई की दुकान भी नहीं है। बाजीगर पूछता है–'क्या देखना चाहते हो?' एक कहता है–'सोने के मोहरें दिखाओ', तो वह झट निकालकर दिखा देता है। दूसरा कहता है–'गुलाब जामुन खाना है', तो उसे गुलाब जामुन दिखा देता है। तुम बड़े आश्चर्य से देखते हो कि कैसे झट से निकालकर दिखा दिया! ठीक इसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को निरन्तर अपने में से निकाल रहा है। जैसे उस बाजीगर के पास न टक्साल, न हलवाई की दुकान, ऐसे ही उस परमात्मा के पास कोई अन्य साधन नहीं है, फिर भी सारे संसार को अनन्तकाल से प्रकट कर रहा है। आगे अनन्तकाल तक प्रकट करता रहेगा, हर क्षण अनन्त रूपों में प्रकट होगा। जो समझदार है वह तो इस सारे ब्रह्मांड को आश्चर्य की तरह देखता है जिसके लिये कहा 'तत्र का परिदेवना।' जो इसे नहीं समझता वह हर क्षण दुःखी होता है कि यह कहाँ चला गया! जो समझता है कि यह परमात्मा की अनन्त लीला है वह इसे भगवान् का बगीचा समझता

है, इसमें अनेक प्रकार के फूलों को खिलाता रहता है। बगीचे के दृष्टान्त से यह बताया कि बगीचे में नये फूल तभी खिलेंगे जब पुराने फूलों को हटाया जाये। जब बगीचे में नये फूल होते हैं तो खुश होते हो, दुःखी नहीं होते। इसी प्रकार नई सृष्टि होने पर सुख होना चाहिये या दुःख होना चाहिये? अज्ञानी तो परिताप करता है और ज्ञानी इस अनन्त बगीचे को देखकर इस बगीचे के माली की प्रशंसा करता है अतः आश्चर्य की तरह देखता है। देखने का ही फ़र्क है। ज्ञानी संसार की विविधता को आश्चर्य की दृष्टि से देखता है, आश्चर्य में प्रसन्नता की भावना रहती है, और अज्ञानी परिताप की दृष्टि से देखता है, दुःखी होता है। जो संसार के पदार्थ अज्ञानी को दुःखी करते हैं वे ज्ञानी को सुखी करते हैं।

आश्चर्य शब्द 'आः चर्य' से समझना चाहिये। किसी भी चीज़ को नियम से करने को चर्या कहते हैं। जैसे ब्रह्मचारी निरंतर वेद के अध्ययन में लगा हो तो उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि निरंतर वेद का अध्ययन करने वाला रोटी नहीं खाता या स्नान नहीं करता है। सब करता है, परन्तु उसका उद्देश्य निरंतर वेदाध्ययन है इसलिये उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। ठीक इसी प्रकार से ज्ञानी को संसार के दूसरे व्यवहारों को करते हुए हर व्यवहार में 'आह!' आनन्द की प्रतीति होता है। जब कोई चीज़ अच्छी लगती है तो आदमी कहता है–'आह् मज़ा आ गया।' आः और चर्य को मिलाने पर आश्चर्य शब्द बनता है। हर चीज़ में प्रशंसा होने से आह! निकलता रहता है, इसलिये उसे आश्चर्य है अर्थात् प्रसन्नता है। जबकि दूसरे के लिये परिताप है। ज्ञानी सृष्टि को तो आश्चर्य की तरह देखता है और परमात्मा को आनंदघन देखता है। तभी आश्चर्य करता है कि कैसे दुःख का नाटक कर रहा है! लोग कहते हैं 'मेरा जवान लड़का मर गया, बड़ा दुःख है?' दूसरे भी कहते हैं–'हां, बड़ा दुःखी है।' लेकिन समझदार इस बात का आश्चर्य करता है कि यह आनन्दघन होकर बेवकूफ बना रहा है कि 'दुःखी हूँ!' है तो यह आनन्दघन, दुःखी होने का नाटक कर रहा है। कौन नाटक कर रहा है? सच्चिदानन्द साक्षी। कैसे? अंतःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति से मिलकर। यह नहीं कह रहे हैं कि अहंकार में दुःख नहीं है परन्तु अहंकार की वृत्ति से मिलकर आत्मा दुःखी होने का नाटक कर रहा है। जैसे यह आश्चर्य होता है कि परमात्मा कैसी अनन्त शक्ति वाला है, इन सब चीज़ों को प्रकट करने वाला है, वैसे ही यह भी आश्चर्य है कि द्रष्टा रूप में प्रकट होकर लीला कर रहा है कि 'मैं दुःखी हूँ।' किसी की लाट्री आ गई, उसे दस करोड़ रुपये मिल गये। बड़ा खुश होकर फल और मिठाई की टोकरी लेकर आता है, कहता है कि 'आपके आशीर्वाद से मेरी लाट्री खुल गई।' सबको प्रसन्न नज़र आ रहा है। लेकिन जानने वाला क्या देख रहा है? मानो चौदह अरब का चैक काटने वाला टाटा कम्पनी का मालिक रतन टाटा सड़क पर पड़ा हुआ एक पैसा उठाकर कहे कि 'मैं सुखी हो गया' तो यह नाटक ही हो सकता है। जैसे उसे एक पैसा मिलने का सुख नाटक ही है, इसी प्रकार जो व्यक्ति आकर कह रहा

है कि 'दस करोड़ रुपये मिल गये, मैं बड़ा सुखी हूँ', वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का नायक है। इसके भ्रू-क्षेपमात्र से देवराज इन्द्र का सिंहासन इधर से उधर होता है। वह ऐसा कह कर नाटक ही कर रहा है। परमात्मा द्रष्टा बना है यह भी एक महान् आश्चर्य है। अहंकार के अंदर द्रष्टा को हर्ष और विषाद, सुख और दुःख करते देखकर ज्ञानी को आश्चर्य होता है कि चेतन कैसा सुन्दर नाटक कर रहा है। है तो वह निर्विकार, उसमें किसी हर्ष-विषाद का संबंध हो नहीं सकता।

आत्मा एक है और वह ज्ञानस्वरूप है। ऐसा भ्रम कभी मत करना कि 'मेरा आत्मा शुद्ध है, इसका अशुद्ध है!' आत्मा एक है और वह नित्यशुद्ध है। इसलिये भगवान् ने कहा कि इसे कोई आश्चर्य की तरह से देखता है। 'आश्चर्यवत्' को कर्म के साथ लगाना–जिसे देखता है वह आश्चर्य है। आश्चर्यवत् को क्रिया के साथ भी लगा लेना, 'आश्चर्यवत् पश्यति' अर्थात् यह सारा संसार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध हुआ भी सच्चा नहीं है क्योंकि अतिधन्य वेद-प्रमाण कह रहा है 'नेति नेति'। जैसे हमें कोई चीज़ पानी की तरह दीखी, आँख से दीखी और आँख प्रमाण है। उसको छुआ तो पता लगा कि ग्रेनाईट पत्थर है जो पालिश किया हुआ है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से हमें संसार दीख रहा है। वेद प्रमाण से पता लगता है कि यह संसार जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सच्चा दीख रहा है वह सच्चा नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रबल प्रमाण वेद है और वेद कह रहा है कि यह संसार सच्चा नहीं है। उस पर विश्वास करते हैं, फिर भी आँखों से सच्चा ही दीखेगा! जिस प्रकार आँख से पानी दीखने पर भी हाथ से छूने पर 'पानी नहीं है' यह निश्चय होने पर भी, दूर से आँख से पुनः पानी ही दीखता है, उसी प्रकार 'नेति नेति' वाक्य के द्वारा मिथ्यात्व का अनुभव होने पर भी प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा सच्चा दीखता है, इसलिये आश्चर्य है। 'नहीं है' का निश्चय होते हुए भी 'है' रूप में देखना–यह देखने का आश्चर्य है। जो दीख रहा है वह भी आश्चर्य है, इसका दीखना भी आश्चर्य है। यह क्या आश्चर्य नहीं है कि हज़ारों बार निश्चय कर लें कि आकाश में रंग नहीं होता, फिर भी जिस दिन बादल नहीं है उस दिन आकाश नीला ही दीखेगा? लोग कहते हैं कि प्रतिबिम्ब तभी होगा जब कोई बिम्ब सच्चा हो। मुँह है, तब न मुँह का प्रतिबिम्ब पड़ता है! परन्तु काँच में नीला आकाश दीख रहा है, वह क्या कहीं से भी कभी भी सच्चा हुआ है? इसलिये प्रतिबिम्ब पड़ने के लिये बिम्ब सच्चा हो, यह ज़रूरी नहीं है। यह संसार नीले आकाश की तरह प्रतीत हो रहा है। इसलिये कहा 'आश्चर्यवत् पश्यति।'

जो व्यक्ति इस प्रकार से समझ लेता है वह भी आश्चर्य है। वह 'कश्चित्' भी आश्चर्य ही है। विचार करने लगें तो समझ में नहीं आ सकता। ज्ञान बुद्धि से होना है और बुद्धि अज्ञान से उत्पन्न है। फिर अज्ञान से उत्पन्न बुद्धि की वृत्ति से ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। बहुत समय तक तो आदमी ऊहापोह में रहता है कि बुद्धि की वृत्ति अज्ञान से उत्पन्न होकर अज्ञान को कैसे नष्ट करेगी? परन्तु दृष्टान्त से समझो तो स्पष्ट हो जाता है : घास

को पैदा करने के लिये सूर्य की किरण चाहिये, इसलिये जहाँ छाया होती है वहाँ घास नहीं बढ़ती, धूप से घास बढ़ती है, यह पक्की बात है। जो सूर्य की किरणें घास को बढ़ाती हैं, उन्हीं किरणों को उन्नतोदर काँच (आतशी शीशे) से एकाग्र करो तो वे घास को जलाती हैं। 'सूर्यकान्तमुपारूढन्यायं सर्वत्र योजयेत्' शास्त्रकार कहते हैं कि जो सूर्य का प्रकाश घास को बढ़ाता है वही सूर्य का प्रकाश उन्नतोदर काँच (सूर्यकान्तमणि) पर चढ़ा हुआ उसे नष्ट करता है। ठीक इसी प्रकार से ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा वही ब्रह्म अज्ञान को नष्ट करता है और ब्रह्माकार वृत्ति से अतिरिक्त जितनी वृत्तियाँ हैं उनके द्वारा संसार को पुष्ट भी वह ब्रह्म ही करता है। संसार को पुष्ट करने वाला और जलाने वाला दोनों ही वृत्तिरूप हैं–ब्रह्माकार वृत्ति से नष्ट करता है, अन्य वृत्तियों से नष्ट नहीं करता। उक्त दृष्टांत से बात समझ में आती है; नहीं तो ऊहापोह करते हैं कि 'हम अज्ञानी हैं। हमें कैसे ज्ञान होगा?' अज्ञानी को ही तो ज्ञान होगा, ज्ञानी को तो ज्ञान हो नहीं सकता। इसलिये जिसको यह ज्ञान होता है वह भी एक आश्चर्य है। वह जिसको देखता है वह भी आश्चर्य है। जिससे देखता है वह भी आश्चर्य है।

आत्मतत्त्व का दर्शन करने में कोई प्रवृत्त होता है, यह भी एक आश्चर्य ही है। हम लोगों ने दृश्य को देखा है। इन्द्रियों के द्वारा जिसका ज्ञान होता है उसी को हम कोई पदार्थ समझते हैं, मानते हैं, स्वीकार करते हैं। दृश्य को छोड़कर द्रष्टा की तरफ किसी का ध्यान चला गया, यह स्वयं भी एक आश्चर्य है। द्रष्टा की तरफ आज तक ध्यान गया नहीं, इसीलिये हम संसार चक्र में है। एक बार भी यदि यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाये कि देखने वाला कौन है, तो समझ लो कि परमात्मा की कृपा हो गई। दीखने वाले को देखने की इच्छा तो सबकी है। यहाँ से लेकर ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक में जाकर देखते हैं कि सर्वत्र क्या है। परन्तु देखने वाला कौन है–इसकी जिज्ञासा नहीं होती और यही कारण है कि उसका दर्शन नहीं होता। इसके अतिरिक्त और कोई रुकावट नहीं है। इसलिये इसको देखना दुर्लभ है अर्थात् देखने की जिज्ञासा होना भी अतिदुर्लभ है। बोलते ही विरोध लगता है; किसी *को* देखना तो समझ में आता है। लम्बे समय तक लोगों को शंका होती रहती है कि जिस तत्त्व को आप कह रहे हैं वह तत्त्व किसी अनुभव का तो विषय बनता होगा? किंतु तुम ही वह तत्त्व हो। अपनी तत्त्वरूपता का ग्रहण नहीं कर पाते, इसलिये उसकी जिज्ञासा भी नहीं होती।

उसका ज्ञान बिना तत्त्वज्ञान के उपदेश के संभव नहीं है। उपनिषत् स्पष्ट कहती है 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति (छां. ४.९.३) आचार्य के द्वारा ही यह विद्या प्राप्त की जा सकती है। इसलिये आगे कहा 'आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः' इसका उपदेश करता है वह भी एक आश्चर्य है। क्यों आश्चर्य है? निरंतर एकता का दर्शन करने के कारण उसकी बोलने की प्रवृत्ति ही नहीं बनती। क्योंकि बोला किसी दूसरे से जाता है अतः एकता का दर्शन करने वाला किससे बोले? बोलने के लिये कोई दूसरा चाहिये जिससे

बोले। जिसकी दृष्टि में दूसरा है ही नहीं, वह बोलने में प्रवृत्ति क्यों करेगा? फिर भी वह बोलता है यह आश्चर्य है। एक को देखते हुए भी वह दूसरे को देखता है—यह आश्चर्य है। इस को कराने वाली चीज़, द्वितीय को दिखाने वाली चीज़ भी एक आश्चर्य है जिसे कई नामों से शास्त्रकारों ने बताया है। आचार्य शंकर कहते हैं कि पूर्व संस्कारों के कारण प्रतीति होती है। प्रायः यह बात किसी की समझ में नहीं आती कि एक को देखते हुए अनेक को कैसे देखता है? इसलिये ब्रह्मसूत्रों में जहाँ विचार किया वहाँ भाष्यकारों ने कहा है 'नात्र विवदितव्यं'कोई भी जीवन्मुक्ति मानता है या नहीं इसके विषय में कोई विवाद नहीं करना चाहिये क्योंकि किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँचोगे। यह शंका बनी ही रहती है कि दूसरे को देख नहीं सकता, और देखता है तो अज्ञान मिटा नहीं है। रस्सी दीखती है तो साँप नहीं दीखता, साँप दीखता है तो रस्सी नहीं दीखती। इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि इस विषय में विवाद नहीं करना चाहिये क्योंकि शास्त्र प्रमाण से उत्पन्न अनुभव विद्वान् को होते, 'नहीं हो सकता' कहना असंगत है। 'मैं ब्रह्म हूँ, शरीर धारण भी कर रह हूँ' यह जीवन्मुक्त का अनुभव अज्ञानी साहसमात्र से नकार नहीं सकता। आचार्य शंकर कहीं पर भी अपने अनुभव की बात नहीं करते लेकिन यहाँ जो कहा है, इसके ऊपर टीकाकारों ने स्पष्ट किया है कि स्वयं अपने को ही दृष्टान्त बनाकर आचार्य कह रहे हैं। किस को कह रहे हैं 'शिष्यान् प्रति' मुझे यह अनुभव होता है, यह शिष्य को तो बोध करा सकते हैं, दूसरे को नहीं करा सकते। शिष्य इस बात को स्वीकार करेगा कि यह अनुभव है। परन्तु दूसरों को यह जँच नहीं सकता क्योंकि युक्ति का विरोध है। अधिष्ठान दीखते हुए भी अध्यास का व्यवहार सर्वथा युक्ति के विरुद्ध है। अतः आचार्य शंकर ने तो स्पष्ट कह दिया कि यह विषय विवाद का नहीं है। शास्त्र यही तो कह सकते हैं कि अधिष्ठान साक्षात्कार से अधास की निवृत्ति होती है। आगे, क्या होता है यह स्वयं अनुभव की बात है, किसी दूसरे को कहने की बात नहीं है।

जब इसके ऊपर विचार करना प्रारम्भ किया तो नाना प्रकार से इसे संगत बनाया।

'गन्धच्छायालेशसंस्कारभाषा विज्ञातव्या भाष्यकारीयतन्त्रे।
स्वाऽविद्याया बाधितायाः प्रतीतिः पौर्वापर्येणार्थमालोच्य बुद्ध्या।।'

सर्वज्ञात्म-महामुनि ने संग्रह कर स्पष्ट किया है : कुछ आचार्यों ने बताया कि मान लो किसी बर्तन में तुमने लहसुन का छौंक दे दिया। फिर उस बर्तन को तुमने अच्छी तरह रगड़-रगड़ कर माँज दिया इसलिये वहाँ लहुसन बचा हुआ नहीं है, परन्तु फिर भी उस बर्तन में लहसुन की गंध आती है। ठीक इसी प्रकार से ज्ञानी में से अविद्या सर्वथा निकल गई है परन्तु जैसे वहाँ गंध आती है ऐसे ही उसमें अविद्या की गंध रह जाती है। उस गंध को हटाने का कोई प्रयास नहीं किया जाता। अथवा गर्मी के दिनों में ऊनी कपड़ों में फिनाईल की गोलियाँ डालकर रख देते हें। दीवाली के दिन वे कपड़े निकालते हैं। ढूंढने

पर गोली नहीं मिलती लेकिन कपड़ों में उनकी गंध होती है। उसको हटाने के लिये कुछ करते नहीं हैं। अपने आप ही वह गंध एक दो दिन में चली जाती है। ठीक इसी प्रकार से जब तक शरीर है तब तक उस शरीर के अंदर द्वैतदृष्टि इत्यादि अविद्या की गंध देखने में आती है। परन्तु हम उससे यह नतीजा नहीं निकाल सकते कि अविद्या है, वरन् इतना ही कह सकते हैं कि पहले थी। जैसे लहसुन है नहीं, क्योंकि बर्तन अच्छी तरह माँज कर साफ कर दिया गया है, कपड़ों में फिनाईल है नहीं, कपड़ा खूब झटक दिया है, परन्तु उसमें गंध है क्योंकि पहले लहसुन या फिनाइल थी। इसलिये कुछ आचार्यों ने कहा कि एक का ज्ञान होने के बाद भी अनेक की गंध रहती है। उससे वह उपदेश आदि व्यवहार कर लेता है। यह एक आश्चर्य ही है।

कुछ अन्य आचार्यों ने कहा कि यह अविद्या की छाया है। आजकल आप लोग छायाचित्र (फोटो) लेते हैं। वह छायाचित्र तुम्हारे जैसा दीखता है, पहचानने में आता है परन्तु तुम तो वह हो नहीं। इसी प्रकार, ज्ञानी में अविद्या की छाया है, अविद्या जैसी लगने पर भी अविद्या नहीं है। दूसरे तो उसे अविद्या पहचानते हैं, जैसे तुम्हारे चित्र को देखकर पहचान लिया जाता है कि यह तुम हो। पूछते भी हैं कि 'आप कैसे रह गये?' छायाचित्र देखकर यह तो पहचान लेते हो कि यहाँ 'मैं नहीं हूँ या हूँ' परन्तु वह छाया तुम तो नहीं हो। ठीक इसी प्रकार से शरीर आदि के अंदर छाया रूप से पहचानने पर भी, चिदाभास को देखने पर भी, 'मैं चिदाभास हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। उसे वह छाया की तरह ही देखता है। चूंकि छाया उसके रूप की है इसलिये चिदाभास के द्वारा खाना-पीना, उपदेश आदि व्यवहार हो जायेगा, परन्तु 'यह मैं हूँ' ऐसा बोध नहीं होता। जीवन्मुक्त में अविद्या सर्वथा निवृत्त हो चुकती है यह निश्चित है।

कुछ विचारक यों छाया की प्रतीति न स्वीकारने से मानते हैं कि प्रारब्ध समाप्त होने पर ही अविद्या पूर्णतः निवृत्त होती है। जीवन्मुक्तिकाल में अविद्या की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती अतः यहाँ सारा व्यवहार हो जाता है। काफी अविद्या तो मिट चुकती है, थोड़ी, 'लेश' मात्र बची रहती है। अज्ञानियों का व्यवहार तो अविद्या से कामना और कामना से कर्म यों होता है। उनकी प्रवृत्ति का कारण राग-द्वेष होते हैं। ज्ञानी की प्रवृत्ति का कारण राग-द्वेष नहीं होते परन्तु अविद्यालेश है। अविद्यालेश से उपदेश आदि व्यवहार बन जाते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि इसका कोई वदन करता है अर्थात् बोलता है, यह भी एक आश्चर्य है।

जिस चीज़ को किसी शब्द से बोला भी नहीं जा सकता उसे वह बोलता है यह भी एक आश्चर्य ही है! बार-बार वेद कहता है कि वाणी से उसको कभी प्रकट नहीं कर सकते। जो वाणी से कभी प्रकट नहीं हो सकता उसको वह वाणी से प्रकट करता है। कैसे करता है—यह एक बड़ा भारी आश्चर्य है। सामान्यतः समझाने के लिये कह देते हैं कि लक्षणा से जान लेते हैं। परंतु लक्षणा भी उसी चीज़ में की जाती है जिसको पहले तुम जानते हो।

जैसे किसी ने कहा कि गंगा में गाँव है या किसी से पूछा—तुम्हारा मकान कहाँ है? आज कल की भाषा में कहेगा कि 'मेरा मकान सड़क पर है।' तुमने सारी *सड़क* ढूंढ ली, मकान नहीं मिला! उससे पूछते हैं तो वह कहता है 'चलो मैं दिखाता हूँ।' वह जाकर सड़क के *किनारे* पर मकान दिखाता है। 'सड़क पर मकान है' से किनारे पर है समझने के लिये तुम्हें किनारे का ज्ञान होना चाहिये। यदि किनारे का ज्ञान ही नहीं है तो कैसे बोध होगा कि सड़क से सड़क का किनारा समझ लो। कहाँ, किस चीज़ में लक्षणा करनी है—यह पता कैसे लगे क्योंकि लक्षणा से तो कई तरह की चीज़ें समझी जा सकती हैं? सिंधु देश में सिंधु लोग भी होते हैं। सिंधु देश का घोड़ा भी होता है। सेन्धा नमक भी सिंधु देश में होता है। इस प्रकार सिंधु शब्द के उच्चारण से कई चीज़ें समझी जा सकती हैं। जब किसी ने कहा, 'सेन्धा' तो इनमें से किस चीज़ को समझें? यही कहना पड़ेगा कि कहने वाले के तात्पर्य के अनुसार लक्षणा करो। जब उसका तात्पर्य पता ही लग गया तो फिर लक्षणा की क्या जरूरत है! इसलिये उसका वदन अर्थात् वह कैसे कहा जाता है, यह समझ में नहीं आता।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यह इसलिये हो जाता है—

'दुर्बलत्वाद् अविद्याया आत्मत्वाद् बोधरूपिणः।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद् विद्मस्तं मोहहानतः।।'

अज्ञान एक दोष है और दोष हमेशा कमज़ोर हुआ करता है। यह बहुत समझने की बात है। रोग कमज़ोर होता है इसलिये औषधि उसे दूर करती है। रोग दोष है, स्वास्थ्य दोष नहीं है। लोग आजकल यह कहने लगे हैं कि दोष प्रबल होता है और वह गुण को दबा देता है। यह केवल इस बात को बताता है कि तुमने गुण को काफी इकट्ठा नहीं किया। दवाई तभी रोग दूर करेगी जब रोग से अधिक दवाई का प्रयोग करोगे। चिकित्सक ने कहा कि पाँच दिन तक इस औषधि का सेवन करो। तुमने औषधि लेना शुरू किया, तुम्हारा रोग दो दिन में ठीक हो गया और तुमने औषधि लेना बंद कर दिया। पन्द्रह दिन बाद रोग फिर हो गया, तुमने फिर दवाई लेना शुरू किया। लोग कहते हैं कि आजकल की दवाईयाँ ही ऐसी होती हैं जड से रोग को नहीं हटातीं! दवाई ने रोग क्यों नहीं हटाया? क्योंकि जो दवाई पंद्रह दिन तक लेनी थी वह नहीं ली। दवाई कमज़ोर नहीं है, परन्तु चूंकि तुमने सेवन अच्छी तरह नहीं किया, इसलिये रोग दूर नहीं हुआ। दोष को दूर करने में दवाई समर्थ है। यह नियम समझ लेना कि गुण को बढ़ाने से दोष दूर होता है। दोष को बढ़ाने से दोष दूर नहीं होता। वर्तमान में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि दोष की जीत होते देखते हैं तो हम सोचते हैं कि गुण से काम नहीं होता तो दोष को बढ़ाओ! परन्तु यह ठीक नहीं है। गुण को बढ़ाओगे तो दोष दूर होगा। दोष को बढ़ाओगे तो दोष वाले को तुमने अपना मालिक बना दिया। अविद्या दोष है, इसलिये वह दुर्बल है। उसको दूर करने वाली चीज़

क्या है? भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि शब्द की शक्ति की प्रबलता को तुम सोच भी नहीं सकते कि शब्द में असीम शक्ति है। शब्द से अविद्या नष्ट होती है, शब्द की शक्ति अविद्या को नष्ट करने में समर्थ है। क्योंकि शब्दशक्ति से तुम्हारा मोह नष्ट हो जाता है इससे सिद्ध होता है कि शब्द में अविद्या को नष्ट करने की सामर्थ्य है। इसलिये लक्षणा करो या मत करो, शब्द में ऐसी शक्ति है कि वह फल को उत्पन्न कर देती है। यदि शब्द का श्रवण ठीक से किया जाये तो वह फल को अवश्य उत्पन्न करेगा क्योंकि अविद्या कमज़ोर है। जो लोग समझते हैं कि अज्ञान को दूर करने के लिये कुछ और करना पड़ेगा वे शब्द की इस अचिन्त्य शक्ति को स्वीकार नहीं करते जबकि वास्तविकता यह है कि अज्ञाननाश होगा शब्द की शक्ति से ही, और किसी से अज्ञाननाश होने वाला नहीं है। इसलिये आगे ही आचार्य ने दृष्टान्त दिया है कि सोया आदमी कुछ सुन सके यह नामुमकिन होने पर भी उसका नाम पुकारा जाये तो उठ बैठता है। कई बार देखा है कि कोई आदमी गहरी नींद में है, खुर्राटे भर रहा है। 'देवदत्त!' यह आवाज़ देते ही वह खट से उठ जाता है। गहरी नींद में उसके कान तो काम कर नहीं रहे थे। सोये हुए आदमी के पास चाहे जितनी बातें कर लो, उसे सुनाई नहीं देतीं, कान काम नहीं करते; चोर तिजोड़ी तोड़कर सामान ले जाते हैं; इतनी आवाज़ होने पर भी नहीं उठता क्योंकि कान उस आवाज़ को ग्रहण नहीं करते; परन्तु उसका नाम लेते ही वह उठ जाता है। उसने उस आवाज़ को कैसे सुन लिया? कान काम कर नहीं रहे हैं, मन के न रहने पर कैसे जाना कि मुझे आवाज़ दी गयी? यही मानना पड़ेगा कि शब्द में अचिन्त्य शक्ति है, सोच नहीं सकते, परंतु शब्द के प्रभाव से वह उठ जाता है। इसी प्रकार (अविद्या) निद्रा में पड़ा हुआ 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य का श्रवण करके कैसे जग जाता है; यह बात समझ में तो नहीं आती कि अविद्या में पड़ा हुआ अविद्या से अतीत को कैसे समझे, परन्तु अविद्या-निद्रा से उठ जाता है, इसलिये मानना पड़ता है कि यह शब्द की शक्ति है। उस शक्ति को अधिकतर आचार्यों ने लक्षणा माना है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि शब्द की अचिन्त्य शक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। यह एक आश्चर्य है कि वह 'तत्त्वमसि' के द्वारा जग जाता है। इसलिये उसका कहना भी एक आश्चर्य है। उपदेश देने वाला भी आश्चर्य है और उसके उपदेश का तरीका, कि शब्द से जगा देना, भी आश्चर्य है।

जग गया, इसका बोध केवल इसी से है कि 'तरति शोकमात्मवित्।' कई बार लोग पूछते हैं कि ज्ञान हो गया या नहीं, इसका पता कैसे लगे? उपनिषद् बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहती है 'तरति शोकमात्मवित्' जिसे आत्मा का ज्ञान हो गया उसे कभी क्षण भर को भी दुःख का अनुभव नहीं होता है। इस स्वानुभव से ही पता लगता है कि ज्ञान हो गया। यह वेद ने हमारे सामने मापक यंत्र की तरह रख दिया। कब तक श्रवण करना है? गुरु से कब तक सुनना है? जब तक कभी भी क्षणमात्र को शोक उत्पन्न नहीं होता। जब शोक से तर गया, बस तभी उसको आत्मज्ञान हो गया। कोई नया ज्ञान आना है, ऐसा नहीं है।

अज्ञान और उसके कार्यों को जो लपेट रखा है वे केवल निकल जाते हैं। सोने को चमकाने के लिये कुछ नहीं जोड़ना पड़ता। सोना तो हमेशा ही चमकता है। उसके ऊपर धूल आ जाये तो तुम्हें वह चमकता हुआ दीखता नहीं है। उस आई हुई धूल को हटा दिया तो चमक स्वाभाविक है। इसी प्रकार आत्मा नित्य ब्रह्मस्वरूप है। तुमने उसे अपने शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि सबके द्वारा ढाँक रखा है। इसलिये तुम्हें लगता है कि 'मैं जीव हूँ, ब्रह्मरूप नहीं हूँ, क्या करूं जो ब्रह्मरूप बन जाऊं?' करना कुछ नहीं है। तुम तो इस समय भी ब्रह्मरूप हो। यह जो आई हुई अविद्या और अविद्या का कार्य है इसे झटक देना है। जितना इन्हें तत्त्व के श्रवण मनन के द्वारा झटकते चले जाओगे वह ब्रह्मरूपता स्फुट हो जायेगी। ब्रह्मरूपता आती नहीं है, अब्रह्मरूपता जाती है। जितना शोक होता है वह अब्रह्मता के कारण होता है। दुःख, या शरीर को लेकर होता है या प्राण और मन को लेकर होता है। घुटने या कमर में दर्द है, इसका दुःख शरीर को लेकर है। अथवा, कहते हैं कि आजकल भूख नहीं लगती, प्यास नहीं लगती या भूख-प्यास बहुत ज़्यादा लगती है। भूख-प्यास तो प्राणों में रहेगी, तुम्हारे में नहीं रह सकती है। इसी प्रकार चिंता आदि तुम्हारे मन में रहेगी। ये सारी अनात्म चीज़ें ही तुम्हारे शोक का कारण हैं। तुम में तो कभी शोक नहीं होता है। इन कारणों को हटा दो, बस यही शोक की निवृत्ति है। ओढ़ी हुई चीज़ों को न ओढ़ना ही अपेन ब्रह्मस्वरूप को जानना है। लगता तो यह है कि हमको ज्ञान होता है परन्तु वस्तुतः अज्ञान और तत्कार्यों की निवृत्ति होती है, ज्ञानस्वरूप तो सदा है ही इसलिये उसका कथन एक आश्चर्य है। शब्द हटाता अज्ञान को है और प्रतीत होता है कि ज्ञान हो गया। अतः आचार्य आश्चर्य, वदन क्रिया आश्चर्य, आत्मा कर्म बनता है यह आश्चर्य, उसके बोलने को तुम सुन लेते हो यह भी आश्चर्य है।

गुणशील नाम का एक राजा था। वह शिकार का बड़ा प्रेमी था। एक बार शिकार करते-करते घोर जंगल में चला गया। आजकल लोगों को धन कमाने का नशा होता है। धन कमाते-कमाते म्लेच्छ देशों में चले जाते हैं। भूल जाते हैं कि हैं कहां के! वापिस आते हैं तो वहीं की बातों को सुनाते रहते हैं कि वहाँ अमुक अच्छाई थी। कभी उनसे पूछते हैं कि जब हिन्दुस्तान से गये थे तब कितने साल के थे? कहते हैं–'चालीस साल के थे।' वहाँ गये दस साल हो गये तो यहाँ के चालीस साल का भी तो कुछ अनुभव कहो, केवल दस साल का ही अनुभव बोले जा रहे हो! जितनी वहाँ की महिमा बताते हैं, वह सारी महिमा धन की है। वहाँ की सारी विशेषतायें पैसे को लेकर हैं। पहले लोगों को शिकार का शौक होता था तो जंगल में चले जाते थे, आजकल लोगों को धन का शिकार करने का शौक है तो उस जंगल में चले जाते हैं। म्लेच्छ देश भी जंगल ही है।

इसी प्रकार गुणशील राजा को शिकार का शौक था। पशुओं का शिकार करता था। शिकार के नशे में घोर जंगल में चला गया। शाम हो गई, थक कर चूर हो गया। बड़े ज़ोर की भूख लगी थी। इधर-उधर भटकते हुए परेशान हो गया। तब तक उसे एक झोपड़ी

दिखाई दी। झोपड़ी में जाकर देखा कि शायद उसमें कोई साधु हो। वहाँ कोई दिखाई नहीं दिया लेकिन कोने में एक पत्तल पर ताजा भोजन परोसा हुआ रखा था। भूख से पीडित तो था ही, आगे कुछ नहीं सोचा और बैठकर वहीं खाने लगा। जब खाते-खाते थोड़ी देर हुई अकस्मात् उसे लगा कोई आया है। घूम कर दरवाजे की तरफ देखा कि एक ऋषि खड़े हैं।

ऋषि को बड़ा क्रोध आया, बोले 'तू मेरी कुटिया में कैसे घुसा? किस निमित्त से भोजन बना कर रखा है—तूने उसका विचार भी नहीं किया और खाने लगा! तेरा यह सारा आचरण कुत्ते के जैसा है। इसलिये तू अब कूकर योनि में चला जा! मैंने भगवान् को भोग लगाने के लिये बड़ी मुश्किल से भोजन तैयार करके रखा था, कोई सामग्री लेने चला गया था और तू देखते ही बिना विचारे खाने लगा।' राजा बड़ा दुःख प्रकट करने लगा कि 'मैं बहुत भूखा था, मुझसे नहीं रहा गया। ग़लती तो हुई है, आप क्षमा करें।' ऋषि लोग स्वभाव से करुणा वाले होते हैं। उनके क्रोध में कोई स्थिरता नहीं होती। दुष्ट पुरुष का क्रोध पत्थर की लकीर होता है। ऋषियों में यह संभावना नहीं है। जब उसने क्षमा प्रार्थना की तो ऋषि ने कहा—'देखो, मेरे मुँह से जो बात निकली है वह अन्यथा तो नहीं होगी, परन्तु तू कूकर योनी में घूमते हुए किसी विशिष्ट तीर्थ में पहुँचेगा और वहाँ स्नान करते ही पुनः इस शरीर में आ जायेगा।'

वह उस योनि में घूमते हुए जा रहा था। रास्ते में उसे एक मदारी मिला जो जानवर रखता था। मदारी ने देखा कि कुत्ता बड़ा सुन्दर है। मदारी ने उसे अपने साथ ले लिया और उसे लेकर सर्वत्र घूमने लगा। उसे रोटी खिलाता और खेल दिखाता रहता था। वह घूमते हुए एक दिन ऐसे स्थल पर पहुँचा जहाँ एक तालाब था। कुत्ते ने उस तालाब में स्नान किया तो बाहर अपने राजा के रूप में निकला! तालाब के किनारे लोगों ने देखा तो आश्चर्य में पड़ गये कि 'यह मदारी बड़े आश्चर्य वाला है जिसने कुत्ते को आदमी बना दिया, हमने कुत्ते को कभी आदमी बनते नहीं देखा!' लेकिन उस मदारी को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। कुत्ता तो राजा था ही, अपने राज्य में चला गया!

यह केवल एक गुणशील की कथा नहीं समझ लेना। तुम्हारा स्वभाव गुणमय बना हुआ है अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण ही तुम्हारा शील है। गुणों से रहित हम कभी नहीं हैं। गुण ही हमारा शील बना हुआ है। राजा जीव त्रिगुणों से आच्छादित है। यहाँ विषयों का शिकार कर रहा है। विषयों का शिकार करते हुए कभी ऐसा अवसर आ गया कि ऋषि के निवास में पहुँच गया। सत्पुरुष का संग किसी भी प्रकार से हो, असर करेगा। जैसे अन्दर बढ़िया भोजन मिला तो उसने खा लिया इसी प्रकार यह जीव कभी वेदांत आदि शास्त्रों को देख लेता है। अभी उसका अधिकारी हुआ नहीं, इसलिये उसे उसमें भी भोज्य दीखता है कि इस ज्ञान से 'मेरे सारे कर्म आदि की निवृत्ति हो जायेगी और मैं सारे झंझटों से छूट जाऊँगा।' वह झटपट अपने को तद्रूप समझने लगता है जबकि तद्रूप हुआ है नहीं।

नतीजा होता है कि महर्षि उसे शाप देते हैं कि 'तू अपनी ब्रह्मरूपता को समझे बिना, मोहहानि हुए बिना सोचता है कि मैं राजा हूँ। पूछना तो चाहिये था! भगवान् का भोग लगने के बाद तुझे भोजन मिल जाता। तूने कुत्ते जैसा आचरण किया। इसलिये तू कुत्ता बन जायेगा।' अभी तक राजा था, अब कुत्ता बना तो मदारी के इशारे पर नाचना पड़ा। इसी प्रकार जीव अपनी ब्रह्मरूपता को प्राप्त करने के बजाय ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्री, पुरुष आदि बनता जाता है। मन की गुलामी करने लगता है। इसके पहले तो राजा था, धर्म के अनुकूल आचरण कर रहा था। भय से कर रहा था, लेकिन कर तो ठीक अचारण रहा था। परन्तु इस अनधिकार चेष्टा के कारण यह समझ लिया कि 'मेरा मन ही खराब है, मैं तो मन का मालिक उससे अलग, शुद्ध ही हूँ'। इस प्रकार वह मनोमुखी हो जाता है और मन की गुलामी करके समझता है कि यही अपना स्वरूप है! स्वरूप मन की गुलामी तो हो नहीं सकता। पहले राजा था, शास्त्रीय आचरण करता था, होना तो और कुछ था परन्तु उसकी जगह वह मन का दास बन गया। मन की गुलामी बड़ी खराब है। प्रायः जो तुम्हारा मालिक होता है उसके कहे हुए काम को करो तो वह खुश होता है। परन्तु मन ऐसा है कि उसके कहे हुए काम को करो तो भी नाखुश होता है! रास्ते में जा रहे हो, चाट की दुकान आई, मन कहता है 'चाट खा लो।' बुद्धि कहती भी है कि 'पेट ठीक नहीं है, मत खाओ!' मन कहता है, 'दो महीने से ठीक ही चल रहा है, थोड़ी ही खायेंगे।' मन के कहने से खा लिया। शाम को अम्ल पित्त बढ़ कर उल्टी होने लगी। मन के कहने से खाया और वही मन डाँटता है कि 'क्यों खाया?' इसलिये शास्त्र की गुलामी को छोड़कर जो मन की गुलामी में फँस जाता है वह अवश्य दुःखी रहता है।

जैसे राजा को कूकर योनि से छूटने का उपाय तीर्थ बताया था वैसे तीर्थ रूप आचार्यों से वेदवाक्यों के श्रवणरूप स्नान से जीव मन की गुलामी से अर्थात् जीवभाव से छूटकर मुक्त हो जाता है, जो ब्रह्मस्वरूप उसका वास्तव में हमेशा था उसी रूप में रह जाता है, मिथ्या जीवरूप निवृत्त हो जाता है।

जिसने शरीर मन की प्रवृत्ति शास्त्रानुकूल बना ली है वही ज्ञान का फल प्राप्त कर पाता है अन्यथा विपरीत फल प्राप्त करता है। वर्तमान काल में लोग कहते हैं कि यह सारा संसार ही झूठा है तो झूठ बोलने में क्या दोष! परंतु यह चतुराई शोकनिवृत्ति नहीं कर पाती। यह बिल्कुल ठीक है कि संसार झूठा है, तुम्हारा दीवाला निकल जाये, वह भी झूठा है। पर उससे मन बड़ा दुःखी होता है या नहीं? तो फिर झूठ बोलने में मन दुःखी क्यों नहीं होगा? जब तक गुणशील है तब तक लगता है कि शब्दशक्ति कार्यकारी नहीं है, परन्तु शब्द की अचिन्त्य शक्ति काम करती है और स्वरूपबोध होते ही मोह नष्ट हो जाता है। वह कैसे प्रकट कर देता है—यह आश्चर्य है।

'आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति' साधक उसको कैसे सुनता है—यह भी एक आश्चर्य है। आत्मा के विषय को सुनना भी एक आश्चर्य है। कई बार लोग यह कहते हैं कि जो व्यक्ति

विवेक वैराग्य आदि से सम्पन्न नहीं है उसको आत्मतत्त्व का उपदेश देना व्यर्थ है। किन्तु जैसे वक्ता अनुभव के अनुसार नहीं कह सकता, इसलिये कहता है यह आश्चर्य है, इसी प्रकार साधक आत्मज्ञान की बात को सुनता है, यह भी एक आश्चर्य है। प्रत्यक्ष प्रमाण से उसको यह सारा संसार सत्य प्रतीत होता है और खुद उसको ही नहीं, चारों तरफ के जितने लोग हैं, उन सबको सत्य दीखता है। जो संसार उसको और सबको सत्य लगता है उसे कहा जाता है कि मिथ्या है तो लगेगा कि बात केवल कल्पना से कह रहे हैं अतः इसे सुन नहीं सकता। इसलिये जो अधिकारी नहीं होगा वह सुन ही नहीं सकेगा! जैसे चालनी में वस्तुएँ छन जाती हैं वैसे वेदांत के श्रवण-मनन चालनी हैं, जो उसमें तत्पर रह गया, विरत नहीं हुआ, उसमें अवश्य योग्यता है यह समझना चाहिये। श्रवण कराया जाता है तो जो अधिकारी नहीं होगा वह सुन ही नहीं सकेगा, उसको वह व्यर्थ लगेगा। विचार करके देखो कि जिसको संसार में पूर्ण राग या आसक्ति है, उसको तो संसार की चीज़ें कैसे प्राप्त होंगी–इस उपाय को ही सुनने की इच्छा होगी। कोई पदार्थ हमें न मिले इस बात को सुनने की इच्छा उसे होगी कैसे? कई बार लोग पूछते हैं कि वेदान्त से दुनिया का क्या फ़ायदा होगा? ब्रह्मज्ञान से जीव मुक्त हो जायेगा लेकिन देश या समाज का क्या बनेगा? देश और समाज का तो कुछ नहीं बनना है क्योंकि देश और समाज कुछ हो तो उसका कुछ बने! जिसे सीप में चाँदी दीख रही है और उस चाँदी में उसे राग है, जैसे ही उससे कहो कि यह चाँदी नहीं है, वह कहेगा कि 'यह ठगी की बात है, मुझे बढ़िया चाँदी दीख रही है, मुझे गहनों की प्राप्ति होगी, मुझे बरगलाने की बात करते हैं। चाँदी का प्रयोग कैसे हो यह बताते हो ठीक था, ये तो कहते हैं कि चाँदी ही नहीं है!' ठीक इसी प्रकार जो राग वाला व्यक्ति है वह तो छननी में से अपने आप ही निकल जायेगा। एक बार सुना भी तो उसे व्यर्थ समझेगा। सुनने का मतलब होता है उस चीज़ को समझने का प्रयत्न करना। सुनी बात यदि व्यर्थ लगेगी तो समझने की चेष्टा क्या करेगा! अतः अनधिकारी को मत सुनाओ यह कहना ही व्यर्थ है क्योंकि अनधिकारी खुद ही दूर हो जायेगा। बिना वैराग्य के वेदांत का श्रवण हो ही नहीं सकता। कर्म और उपासना के अन्दर तो जो चीज़ तुम सच्ची समझते हो, वह तुमको कैसे मिले इसके उपाय बताने का प्रयत्न है। अतः वह कर्म और उपासना की बात को सुनेगा। कर्म से हमें चीज़ें या स्वर्ग अथवा यहीं जीवन में सुख मिलेगा, परलोक में सुख मिलेगा अथवा वैकुण्ठ आदि लोकों में जाकर बहुत अच्छे पदार्थ मिलेंगे, अच्छी सामर्थ्य आयेगी; इसलिये इसमें तो रुचि हो सकती है, परन्तु ये सब चीज़ें कुछ नहीं रहेंगी–इसको सुनने में कैसे प्रवृत्ति होगी?

यह वैराग्य कब आता है? जब अनेक जन्मों तक मनुष्य शुभ कर्म कर लेता है। वैराग्य और श्रवण तभी हो सकता है जब अनेक जन्मों में पुण्य कर्मों के फलस्वरूप अन्तःकरण में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि 'नास्ति अकृतः कृतेन' जो मिलता है वह अवश्य नष्ट होता है। ''संयोगाः विप्रयोगान्ताः'' जो चीज़ मिलने वाली होती है या तुम्हारे साथ संयुक्त

होती है वह तुम्हारा स्वभाव नहीं है तभी मिली है। जो चीज़ मिली है तो कहीं से हट कर तुम्हें मिली है, इसलिये उस चीज़ का स्वभाव हटना है। वह वहाँ से हट कर तुम्हारे पास आई है तो तुम्हारे पास से हटकर दूसरी जगह भी जायेगी! जितने भी संयोग होते हैं उनका वियोग में ही अंत होता है। धन किसी दूसरे से तुम्हारे पास आया है। इसलिये धन का स्वभाव है कि तुमको छोड़कर फिर दूसरी जगह जायेगा। इसी प्रकार पुत्र तुम्हारे यहाँ पैदा हुआ है तो कहीं से मरकर ही आया है अतः मरना उसका स्वभाव है। वहाँ से मरकर तुम्हारे पास आया है तो तुम से अलग होकर मरकर वह कहीं और जायेगा। चाहे हम मरें या वह मरे, वियोग अवश्य होगा। ''संयोगाः विप्रयोगान्ताः मरणान्तं हि जीवितम्।'' भगवान् ने भी कहा था 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' यह समझ में आता है तो मनुष्य दीर्घकाल तक पुण्य कर्म करता है, अन्यथा समझता है कि दूसरे से मेरे पास तो आ गया परन्तु मेरे पास बना ही रहेगा!

वैराग्य अनेक जन्मों तक पुण्य कर्म करने के फलस्वरूप आता है। तब यह जिज्ञासा होती है कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है और संसार सचमुच में क्या है, इस सारे संसार का एकमात्र कारण क्या है? उस एकमात्र कारण को समझने की तीव्र इच्छा और उस तीव्र इच्छा के साथ उसके जैसा बनने की इच्छा का नाम ही प्रेम है। प्रेम का स्वरूप है 'तत्सुखसुखिता,' जिससे प्रेम हो उसके सुख से सुखी होना। जगत् का कारण जो कुछ भी है वह परमेश्वर है उस परमेश्वर को जानो और उसके सुख से सुखी होवो। उसकी इच्छा के अनुसार ही अपने को ढालो क्योंकि वह जगत् का कारण है। तुम्हारी इच्छा में वह तो ढल नहीं सकता, इसलिये तुम्हें अपने को उसकी इच्छा में ढालना है। जब परमात्मा के प्रति यह तीव्र प्रेम होता है तभी यह भाव आता है कि उसकी इच्छा में मुझे अपने आपको ढालना है। इसी का नाम भक्ति या उपासना है। जब यह इच्छा हो, तभी जीव परमात्मा को समझने में पूरा प्रयत्न करता है। अर्थात् वह इस बात का निश्चय करना चाहता है कि परमात्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है। जो सृष्टि का एकमात्र कारण है, जिससे यह सारी सृष्टि उत्पन्न होती है, जिसकी इच्छा के अनुसार ही यह स्थित रहती है और अन्त में जिसमें यह लीन हो जाती है–यही परमात्मा का लक्षण है। सृष्टि, स्थिति संहार करने वाला जो परमात्मा है उसको जब समझूं तब उसकी इच्छा समझ में आये और उसके अनुसार अपने को ढालूं। उसकी इच्छा का पता कैसे लगे? वेद ही उसकी इच्छा को और उसके स्वरूप को भी बताता है। अतः वेद में जो बात कही है उसके द्वारा परमात्मा का निश्चय करना पड़ता है। श्रवण का मतलब केवल कान से सुनना मात्र नहीं है। सारी उपनिषदें परमात्मा का यह रूप ही निश्चित रूप से बताती हैं–इस निश्चय करने के प्रयत्न को श्रवण कहते हैं। सारी उपनिषदें परमात्मा के विषय में जिस स्वरूप को बताती हैं उसका निश्चय करना कि यही परमात्मा का स्वरूप है, इसके अतिरिक्त वेद नहीं कह रहा है, श्रवण है। इसलिये श्रवण में प्रवृत्ति दुर्लभ है। ऐसा वैराग्यवान् पुरुष दुर्लभ है जो परमात्मा के स्वरूप

का निश्चय करने में प्रवृत्त होता है, जानने में प्रवृत्त होता है कि परमात्मा ऐसा ही है; अन्यथा, आदमी चाहता है कि 'परमेश्वर को अपने अनुसार ढालूं, परमेश्वर को ऐसा होना चाहिये।' परमात्मा ऐसा है यह जानने की प्रवृत्ति नहीं है।

जब सर्वत्र यह दृष्टि छोड़कर जैसा परमात्मा ने कहा वैसा ही ठीक है यह निश्चय रख धर्म में प्रवृत्त होंगे तभी जब शास्त्र कहेगा कि 'परमात्मा तुम्हारा वास्तविक सच्चिदानंद स्वरूप है' तब हमें वह निश्चय भी हो जायेगा। तब यह मन में नहीं आयेगा कि परमात्मा कुछ तो और होना ही चाहिये। क्योंकि ऐसे सुसंस्कृत मन वाला होना दुर्लभ है इसलिये कहा कि इस तत्त्व का श्रोता आश्चर्य है।

परमात्मा को संसार के सभी मतमतांतर और मज़हब कहते हैं कि वह ऊपर वाला है। हम से अलग है, बहुत बड़ा है। वेदांत तुम से कहेगा कि परमात्मा ऊपर वाला नहीं अंदर वाला है। हर चीज़ के अंदर परमात्मा है और तुम्हारे अंदर भी परमात्मा है। हर चीज़ में परमात्मा कैसे है? हर चीज़ में 'सत्' (है पना) रहता है। हमारे अंदर चेतनपना रहता है। 'है' पना भी है, साथ में चेतन भी है। चेतन कौन है? 'सत्' कौन है? जगत् के कारण रूप में सत् का पता चलता है। और हमारे अंदर चित् कौन है? इसे खोजने पर प्रत्यगात्मा का पता चलता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में 'तत् और त्वं पदार्थो का शोधन' कहते हैं। संसार में कोई चीज़ है के बिना नहीं मिलती। जैसे लड्डू है, पेड़ा है। इसी तरह अपने अंदर द्रष्टा का विवेक करने पर चित् की उपलब्धि होती है। पहले हमें स्थूल देह चेतन, जानने वाला, लगता है। किन्तु स्वप्न के विचार से वह बात कट जाती है। स्थूल शरीर अस्सी सालका हो तो भी सपने में व्यक्ति स्वयं को बीस साल का विद्यार्थी देख लेता है! अतः 'मैं' स्थूल शरीर नहीं हो सकता। उसके बदलते रहने पर भी न बदलने वाला मैं हूँ। इससे लगता है कि द्रष्टा-रूप मैं मन हूँ। पर सुषुप्ति इसे भी झुठला देती है। गहरी नींद में कोई दृश्य न रह जाने से द्रष्टा भी नहीं बचता, मन नहीं रह जाता, इन्द्रियाँ नहीं रह जाती; फिर भी मैं तो रहता ही हूँ, मैं ही तब सो रहा होता हूँ। अतः मन व अहंकार से रहित तत्त्व मैं निश्चित होता है। अहंकार से स्थूल पर्यान्त सब मैं नहीं, मेरी उपाधियाँ हैं। इनसे विलक्षण मैं ही चित्, चेतन हूँ।

जगत् का कारण 'सत्' सिद्ध हुआ। वह तत्-पदार्थ है। जीव का स्वरूप चित् सिद्ध हुआ जो त्वं-पदार्थ है। अतिधन्य वेद कहता है कि सत् चित् एक है। सत् चित् में कोई भेद नहीं है। सारे दुःखों का कारण सत् और चित् में भेद है। कलकत्ते में बाग बाज़ार का रसगुल्ला खाता हूं। मैं दिल्ली में हूँ तो 'हाय! वह रसगुल्ला मुझे खाने को नहीं मिला' इसी बात का दुःख है। अगर वह रसगुल्ला मुँह में हो तो दुःख नहीं होगा। दृश्य अलग और द्रष्टा अलग है तभी तो दुःख है। कलकत्ते में बाग़ बाजार के अंदर रसगुल्ला खाने वाला जो बंगाली वहाँ खड़ा है उस बंगली में चेतन वही है जो मेरा चेतन है। चेतन दो नहीं हो सकते जैसे सत् दो नहीं हो सकते। सबमें होने वाला 'है' एक है। ऐसे ही सब में रहने

वाला 'चित्' एक है। इन्द्र और ब्रह्मा से लेकर गंदी नाली में कुलबुलाकर रहने वाले कीड़े तक सब में 'मैं' एक जैसा हूँ–यह निश्चय हो जाये तो मुझे दुःख किस चीज़ का होगा? विचार करके देखोः मच्छर काटता है तो मच्छर को मज़ा आ रहा है और तुम्हारे अदंर से खून जा रहा है तो तुम दुःखी हो रहे हो। परन्तु दोनों में रहने वाले चेतन में क्या कोई फ़र्क़ है? इस सत् चित् की एकता को जानने पर हर क्षण आनन्द का स्फुरण होता है। यह सच्चिदानंद तत्त्व अद्वितीय है, निर्भेद है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। सत् में दृश्य का भेद नहीं, चित् में द्रष्टा का भेद नहीं है। वह एकमात्र तत्त्व कैसे समझ में आया–यह एक आश्चर्य है क्योंकि निरंतर भेद देखने में आता है। गहने सब अलग-अलग दीख रहे हैं परन्तु सुनार सोने को देखता है। जो गहने को ही देखता है उसे बहुत आश्चर्य होगा जब सुनार सब गहनों को एक सोनामात्र कह देगा।

एक महात्मा गणेश जी के भक्त थे। उन्होंने पाँच तोले सोने की गणेश जी की मूर्त्ति बनवाई। गणेश जी जिस चूहे पर बैठे थे वह चूहा भी पाँच तोले सोने का बनवाया। जीवन के पचास साल तक गणेश जी का पूजन बड़े प्रेम से करते रहे। गणेश जी की कृपा भी उन पर थी, गणेश जी सारे विघ्नों को दूर करने वाले हैं। विघ्नों का नाश करना ही गणेश जी का काम है। विघ्न दूर होते हैं तो बाकी सब काम हो ही जाते हैं। पचास साल तक पूजा करते रहे। पूजा पूरी हुई तो सोचने लगे कि 'अब मैं बुड्ढा हो गया हूँ। इस शरीर का क्या भरोसा, कब चला जाये। यही पास में कीमती सामान है, इस मूर्ति को बेच दूं। उससे जो द्रव्य आयेगा उससे कुम्भ में जाकर महात्माओं का भंडारा कर दूंगा।' वह मूर्ति लेकर किसी सुनार के पास बेचने के लिये गये। उसने कसौटी पर कसा और तराजू पर तोल कर कहा–स्वामी जी! २५ हजार रुपये गणेश जी के और २५ हजार रुपये ही चूहे के हैं। स्वामी जी गणेश जी के भक्त थे, दोनों का एक दाम सुनकर स्वामी जी को गुस्सा आया और सुनार से कहा–तू बड़ा नास्तिक है! गणेश जी और चूहे का एक ही मूल्य आंकता है। कुछ तो ध्यान रखना चाहिये। सुनार ने कहा–आप विचार करने की बात कहते हैं : जिसे पूजा करनी है वह सोने से बनी मूर्ति में गणेश जी की पूजा करेगा, सोने की नहीं। उसके लिये तो गणेश और चूहे में बड़ा भारी भेद है। लेकिन सुनार की दृष्टि में दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों पाँच तोले सोना ही है।

हमारे इतिहास में बड़ी विचित्र कथा आई है। रामचरितमानस पढ़ा होगा; रावण ने भगवान् के साथ युद्ध किया। युद्ध के बाद रावण मारा गया। वहाँ लिखते हैं कि रावण मरा तो उसकी ज्योति भगवान् के चरणों में लीन हो गई। यह बात कैसे समझ में आये! बड़े-बड़े ऋषियों ने घोर तपस्या की जिसके फलस्वरूप उनको परमात्मा की प्राप्ति हुई, जबकि रावण ने दुनिया भर का बुरा काम किया और उसको भगवान् की प्राप्ति हो गई! विचार करके देखो कि उन ऋषियों में और रावण में कोई फ़र्क़ है क्या? व्यावहारिक दृष्टि से उनमें गणेश और चूहे की तरह अत्यन्त भेद है। परन्तु वास्तविक

दृष्टि से रावण भी चेतन है और ऋषि भी चेतन हैं; इस एकता को बताने के लिये ही रामायण में इस बात को स्पष्ट किया गया है। इस चेतन की एकता को छोड़कर और कोई अर्थ उसका नहीं निकल सकता। अन्यथा अर्थ निकालोगे कि हम भी भगवान् की खूब निन्दा करें। तगड़े नास्तिक बन जायें, यहाँ भी चोरी ठगी करके मौज करें और फिर भगवान् में भी लीन हो जायेंगे! यह विपरीत बात मन में आयेगी। ऐसा नहीं समझना कि ऐसी विपरीत बात मन में नहीं आती। लोग कहते हैं कि 'आगे किसने देखा है?' अर्थात् उनका कहना है कि जन्मभर सत्य या असत्य बोलते रहो, आगे दोनों एक जैसे हो जायेंगे। यदि चेतन की एकता का तात्पर्य समझो तो व्यवहार की गड़बड़ी नहीं करोगे। पूजा करनी है तो गणेश जी की करोगे परन्तु दाम लेना है तो दोनों की कीमत एक जानोगे। पूजा चूहे की करोगे तो काम नहीं बनने वाला है। व्यवहार करते हुए गणेश जी और चूहा है परन्तु वास्तविक दृष्टि में केवल पाँच-पाँच तोले सोना है। अतः शास्त्रकारों ने बताया कि राम-रावण की सारी कथा इसलिये लिखी है कि रावण की तरह आचारण मत करो, और राम की तरह आचरण करो। व्यवहार तो राम की तरह करो लेकिन समझो कि अन्ततः चेतन एक ही है। अथवा ऋषियों की तरह आचरण करो, राक्षसों की तरह आचरण मत करो। परन्तु वास्तविक एकता चिन्मात्र की है। इस प्रकार समग्र प्रमाणों से देखने वाला भेद को काटकर, बाध करके, इस आत्मतत्त्व के सच्चिदानन्दरूप को समझ लेता है; यह बहुत बड़ा आश्चर्य है।

सुनते अनेक शब्दों को हैं पर उन अनेक शब्दों से जिसका ज्ञान होता है वह अनेक नहीं है। लोक में जब अनेक शब्दों का प्रयोग करते हो तब ज्ञान भी अनेक होते हैं। यहाँ आश्चर्य यह है कि शब्द तो अनेक हैं पर ज्ञान एक का है। इसे बताने के लिये हम लोग विष्णुसहस्रनाम, ललितासहस्रनाम आदि का पाठ करते हैं। नाम तो हज़ार हैं लेकिन हज़ार नाम हैं एक के। ठीक इसी प्रकार वेदान्त के अंदर अनेक शब्द आयेंगे लेकिन बतायेंगे एक को। हर शब्द का अर्थ अलग होगा। विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में हर नाम (शब्द) का अर्थ अलग-अलग है, परन्तु सब का मायने एक विष्णु भगवान् ही है। इसी प्रकार से वेदांत के अंदर अनेक प्रकार से समझाया है। शब्द अनेक हैं। समझाने के प्रकार अनेक, युक्तियाँ अनेक, और दृष्टांत अनेक हैं। परन्तु जिस चीज़ को समझेंगे वह एक है। यह समझने का तरीका भी आश्चर्य है कि चीज़ बिल्कुल अलग ढंगों से कही जाती है और समझ लेते हैं एकको।

जो अधिकारी नहीं होगा वह अनेक को देखकर अनेक ही समझता रहेगा। ऐसा नहीं समझ लेना कि यह भ्रम हम लोगों को नहीं होता है। हम लोग सनातनी हैं, लेकिन लोग कई बार प्रश्न करते हैं–'महाराज! शिवरात्रि को शिवजी की, जन्मष्टमी को कृष्ण भगवान् की, नवरात्रि में देवी जी की और गणेश चतुर्थी को गणेश जी की पूजा करते हैं। क्या अपने यहाँ एक इष्ट नहीं होना चाहिये? तभी चित्त की एकाग्रता होगी जब एक इष्ट

होगा।' जैसे विष्णु भगवान् के सहस्रनाम हैं तो हज़ार नाम वाले हज़ार नहीं एक हैं; जैसे उसके नाम अनेक हैं, ऐसे ही उसके रूप भी अनेक हैं। अतः इष्ट तो एक ही सच्चिदानन्द परमात्मा है। इसलिये परमात्मा के दस-बीस-पचास-सौ नाम-रूप ही नहीं, अनेक नाम-रूप हैं; परन्तु परमात्मा एक ही है।

पुराणों में एक कथा आती है कि पहले पृथ्वी को धारण किये हुए हाथी थे। वे थक गये तो उन्होंने ब्रह्माजी से कहा कि 'आपने हमें बड़ा भारी कर्तव्य सौंप दिया। अब यह काम किसी दूसरे को दे दीजिये।' ब्रह्माजी ने विचार किया कि मैं किसे कहूँ? कौन मानेगा? एक का कार्य दूसरे के दो तो वह कहता है कि 'पहले ही मेरे पास बहुत काम हैं!' इसलिऐ ब्रह्मा जी ने उनसे कहा कि 'तुम ही किसी को ढूंढे लो जो इस वजन को लेने को तैयार हो।' वे जिससे कहें वह यही कहे कि 'यह काम हम से नहीं होगा।' एक बार शेषनाग से कहा कि 'आप इस भार को धारण कर लो।' शेषनाग बड़ी सामर्थ्य वाले हैं, स्वयं भगवान् विष्णु उन पर शयन करते हैं। शेषनाग ने पूँछा—'कितनी देर तक के लिये यह काम देना चाहते हो?' हाथियों ने सोचा कि ऐसे तो थोड़ी देर बाद फिर सारा बोझ हमारे सिर पर आ जायेगा! उन्होंने कहा 'आप भगवान् के *सारे* नाम एक बार ले लें, तब यह भार वापिस ले लेंगे।' शेषनाग ने सोचा 'मेरे पास हज़ार मुँह हैं और हर मुँह में हज़ार जीभें हैं। इनसे भगवान् के नाम लूंगा तो थोड़ी देर में सारे नाम पूरे हो जायेंगे।' यह सोचकर उनसे बोझ ले लिया। लेकिन तबसे लेकर आज तक शेषनाग भगवान् के नामों को ले रहे हैं, अब तक वे नाम खत्म नहीं हुए और आज तक उस बोझ को लिये हुए हैं। भगवान् के अनन्त नाम हैं।

इसी प्रकार उनके अनन्त रूप हैं। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" अतिधन्यवेद कहता है कि इष्ट एक ही हुआ करता है। इष्ट अनेक नहीं हुआ करते। पुरानी औरतें सोने का गहना पहनना चाहती थीं। उनका इष्ट सोना था। परंतु क्या सोने की सिल अपने माथे पर रख कर घूमती थीं? सोने के अनेक गहने बनाये जाते थे जैसे कर्णफूल हार आदि। अतः वे एल्यूमिनम आदि के गहने पहने नहीं घूमती थीं! उनका आकर्षण गहने के प्रति न होकर सोने के प्रति था। इसी प्रकार हिंदुओं का इष्ट एक ही है। वह कभी चार हाथ वाला, कभी पाँच मुँह वाला तो कभी छः मुँह वाला बनकर हमारे सामने आता है, कभी औरत का रूप तो कभी हाथी, आदि का रूप भी लेकर आ जाता है। भिन्न-भिन्न देवताओं का पूजन हमारी बुद्धि में अनेकता लाने के लिये नहीं वरन् भेदों को देखते हुए भी एकता पहचनवाने के लिये है। दृष्टि यह प्राप्त करनी है कि प्राणिमात्र के हृदय में सच्चिदानंद परमात्मा एक ही है और सारे प्राणियों में मैं हूँ, मेरे अंदर वास्तविकता एकमात्र सच्चिदानन्द है। इष्ट तो एक सच्चिदानन्द है, उसके सिवाय और कोई नहीं है। उसके ही ये अनन्त रूप हैं। इन रूपों के अंदर कभी सान्तता नहीं आने वाली है। ऐसा नहीं होने वाला है कि इतने रूप ले लिये, आगे और रूप नहीं हो सकते!

इसको समझने के लिये हम लोग समावर्तन के समय स्पष्ट कहते हैं 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव' माता भी वही एक देव है। सचमुच में सब औरतें किसी-न-किसी की माँ हैं, सब मर्द किसी के पिता हैं। सारे देव एक ही हैं। जो इस बात को नहीं समझते उनकी दृष्टि होती है 'मेरी माँ देवता, दूसरे की नहीं' लेकिन वेद में यह नहीं कहा कि तुम्हारी मां या तुम्हारे पिता। परमात्मा की अनन्त मूर्तियाँ हैं, पहले इन मूर्त्तियों में देखो, शिव विष्णु इत्यादि में देखो, बाद में सारे देवताओं में देखो। धीरे-धीरे सारे प्राणियों में उस एक इष्ट को देखना है। हम क्यों चाहते हैं कि एक ही रूप मिले? क्योंकि हमको एक शरीर मिला हुआ है इसलिये हम चाहते हैं कि भगवान् का भी एक ही शरीर होना चाहिये! यदि उनका भी एक शरीर होता तो वे भगवान् कैसे होते! वे तो अनंत हैं, इसीलिये भगवान् हैं। अनन्त रूपों में सुनते हुए भी वह एक है—यह समझना आश्चर्य है। इन सब अनेकताओं के अंदर एकता का निश्चय करना आश्चर्य है। सारी उपनिषदों में परमात्मा का एक ही रूप बताया है।

तीन पादों से तीन आश्चर्य बताये। पहला आश्चर्य तो आत्मतत्त्व को समझना है। उसका दर्शन मन में स्पष्ट हो जाये, यह कठिन है अर्थात् आत्मा का श्रवण होकर, साक्षात् अनुभव करने पर भी स्पष्ट समझ में आ जाये, यह कठिन है। कोई चीज़ नई देखो तो जल्दी समझ में आ जाती है क्योंकि आदमी ध्यान देकर देखता है। परन्तु जिस चीज़ का रोज़ अनुभव करते हैं उसके बारे में ना-समझ बनी रह जाती है। जैसे अर्जुन भगवान् के साथ एक ही आसन पर बैठ जाते थे, एक साथ ही खाते थे, इतना निकट संबंध और इतने सालों तक सब कुछ साथ में करते रहने पर भी अर्जुन कहता है 'अजानता महिमानं तवेदं' आप सचमुच में कैसे हैं—यह नहीं समझ पाया! कृष्ण के साथ रात-दिन रहने पर भी अर्जुन उन्हें नहीं समझा। ठीक यही हाल हम सबका है। हम जो कुछ करते हैं उसमें वह आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व हमारे साथ ही बैठा हुआ है। जब अर्जुन पूछता है कि 'आप अपनी विभूति बताईये' तब भगवान् यही कहते हैं—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' सारे प्राणियों में मैं 'मैं' के रूप में बैठा हूँ। हम उसे छोड़कर घूमने भी नहीं जा सकते, सोते हैं तो मैं के साथ, उठना-बैठना सब मैं के साथ होता है; रात दिन इसके साथ व्यवहार होता है, परन्तु मैं ही ब्रह्म हूँ—इस महिमा को नहीं जानते। इसलिये अत्यंत तुच्छ और घृणित टट्टी-पेशाब से भरे इस चमड़े को 'मैं' कहते हैं! आजकल ब्याह के समय लोग पाँच हज़ार रुपये खर्च करके शरीर को सजा कर आते हैं। सोचते हैं इससे सुन्दर हो जायेंगे। विचार करोः मैं तो अतिशुद्ध ब्रह्म हूँ जिसके लिये कहा है 'पवित्रमिदमुत्तमम्'। इससे ज़्यादा कोई पवित्र शुद्ध या सुन्दर चीज़ नहीं है। परन्तु इस शरीर के साथ एकता करके यह मान बैठे हो कि शरीर की सुन्दरता से मैं सुंदर होऊंगा। अपनी महिमा को जानो, उसे जानना कोई कठिन नहीं है। सुंदर से सुंदर शरीर हो, जब मैं चला जाऊंगा तब इसका क्या होगा? आचार्य शंकर कहते हैं ''भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये'' जो पत्नी सत्तर साल साथ रही वही

पति के मुर्दे के पास अकेले बैठने में घबराती है। जैसे शरीर को सुंदर बनाने वाला मैं उसकी सुन्दरता से अपने को सुंदर मानने वाला हो गया, वैसे ही मन के साथ है : मन के बुरा होने से मैं बुरा हूँ। मन अच्छा, तो मैं अच्छा हो गया। विवेक, वैराग्य, शम-दम आदि से मन शुद्ध हो गया तो मैं शुद्ध हो गया। शास्त्र कहता है कि मन क्या शुद्ध होगा! मन तो त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सत्त्वगुण का कार्य है। मैं हूँ तब मन की शोभा है। अन्यथा क्या शोभा है! मेरे कारण मन की पवित्रता है, मन की पवित्रता से मैं थोड़े ही पवित्र हो जाऊंगा! फिर भी शरीर मन को ठीक करने में लगे हुए हैं, बुद्धि को ठीक करने में लगे हुए हैं। परन्तु जो सबसे ठीक है उसको नहीं समझ पाते। तुम खुद हमेशा अपने शुद्ध स्वरूप में रहते हुए भी उसे नहीं जान पाते। आश्चर्य है, उधर ध्यान नहीं जाता। कोई दूसरा यदि कृष्ण को देखता तो ज़रूर उनकी महिमा समझ जाता। लेकिन रात-दिन साथ रहने के कारण अर्जुन नहीं समझ पाया।

एक बार भगवान् कृष्ण दरबार में बैठे थे। दिन के समय अकस्मात् दूर चमकता हुआ तारा दिखाई दिया। सब कहने लगे कि दिन के समय तारा कैसे दीख रहा है? सोच ही रहे थे कि तारा बड़ा हो गया। लोग कहने लगे कि 'सूर्य भगवान् कृष्ण की महिमा से प्रभावित होकर इनका दर्शन करने आ रहे होंगे।' पहले तारा दीखा, फिर सूर्य दीखा। फिर बड़ा होता चला गया। दिखाई दिया कि यह कोई दिव्य पुरुष आ रहा है। और पास आ गया तो 'नारद इत्यबोधि सः' सबने देखा कि देवर्षि नारद हैं। जब तारा दीखा था तब भी नारद दीखे थे। जब सूर्य दीखा, तब भी नारद दीखे थे। दिव्य पुरुष के रूप में भी नारद दीखे थे। जब नारद दीखे तब निश्चित पता लगा यह कौन है। अन्त में दीखा कोई नया नहीं। जब तारा दीखा था तब भी नारद दीख रहे थे लेकिन नारद को नारद रूप से नहीं जाना। इसी प्रकार इस समय में भी 'मैं' के, चेतन के रूप में ब्रह्म को देख रहे हो, अपरोक्ष ज्ञान है। वेद कहता है कि 'तुम ब्रह्म हो' तो अपरोक्ष ज्ञान होता है। नारद का परोक्ष ज्ञान नहीं था, देख नारद को रहे थे, किन्तु अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी यह क्या या कौन है?—यह नहीं जाना। इसी प्रकार 'मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता, मैं यज्ञदत्त' आदि अनुभवों में 'मैं' को देख रहे हो। मैं का अपरोक्ष ज्ञान है। जब विचार में प्रवृत्त हुए तब 'मैं' सूर्य की तरह दीखने लगा, उसका कुछ तेज समझ में आया। इसी प्रकार 'मैं शरीर नहीं हूँ' तो 'मैं' का तेज कुछ समझ में आया। फिर उसके बाद 'मैं मन नहीं हूँ' यह समझ में आया तब दिव्य पुरुष की तरह मैं का स्वरूप समझ में आया। उसके बाद जब 'तत्त्वमसि' समझ में आया तब पता लगा कि मैं ही ब्रह्म हूँ! 'मैं' को हम हमेशा जान रहे थे, परन्तु शरीर, मन, बुद्धि से एकता के कारण उसकी ब्रह्मरूपता समझ में नहीं आ रही थी। कोई कहे कि 'तारा नारद *हो गया*' तो क्या इसका कोई मतलब है? तारा तो नारद ही था। इसी प्रकार मैं ब्रह्म *हो* नहीं गया, मैं ब्रह्म ही था, हमेशा से ब्रह्म ही रहा हूँ।

इसलिये भगवान् ने कहा कि पहले तो उसको समझना मुश्किल है। 'मैं ही परब्रह्म हूँ'

इसकी अप्रबुद्धता अविद्या है। परब्रह्म को नहीं जानकर 'कोई दूसरा है' ऐसा समझने का नाम अविद्या है। लोग सोचते हैं कि 'ठगिनी माया कुछ है जो पकड़कर रखती होगी, इस माया से कैसे छूटेंगे? जब कृपा होगी तब छूटेंगे।' कृपा ज़रूर होनी है लेकिन तुम्हारी अपनी कृपा होनी है। अज्ञान और कोई चीज़ नहीं है। जर्मन भाषा का मुझे अज्ञान है। जर्मन भाषा को पढ़ लिया तो मेरा अज्ञान मिट गया। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' यह नहीं समझे—यही माया है। वास्तविकता के परमार्थ स्तर पर यह तीनों कालों में नहीं है। आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। किन्तु भ्रम से हम उसे अज्ञात समझ रहे हैं अतः उसके बारे में ग़लतफ़हमियाँ पाले रहते हैं। यहाँ तक कि सामान्य व्यक्ति से कहें 'तुम परब्रह्म परमात्मा हो' तो वह कानों को छूता है, कहता है 'हमारे सिर पाप मत चढ़ाइये। हम अदने-से जीव, हमें परब्रह्म मत कहिये।' यह बात सुनने की भी हिम्मत नहीं होती।

आगे भगवान् कहते हैं कि आत्मा को देखकर, सुनकर उसके बारे में दूसरों को बातकर भी 'वेद न चैव कश्चित्' कोई उसे जानता नहीं! बोलता भी है कि 'सब कुछ ब्रह्मरूप है, मैं ब्रह्मरूप हूँ;' शास्त्र का श्रवण भी कर लिया, समझता भी है कि उसका क्या मतलब है; फिर भी उसका साक्षात् बोध नहीं होता।

कई बार लोग कहते हैं कि 'समझते तो हैं फिर भी अनुभव क्यों नहीं होता?' भगवान् भी कह रहे हैं कि सुनने-समझने पर भी अनुभव नहीं होता। क्यों नहीं होता? भगवान् वेदव्यास ने बताया 'ऐहिकमपि अप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' अर्थात् यदि कोई रुकावट मौजूद न हो तो इसी जन्म में विद्या की उत्पत्ति हो जाती है। वस्तुतः ज्ञान तो श्रवण से हो जाता है, परन्तु प्रतिबन्धक बैठा रहता है इसलिये ज्ञान नहीं हुआ जैसा रह जाता है। कभी केदारनाथ जाओ, चूल्हा जलाकर उस पर दाल चढ़ा दो। दो घंटे हो जायेंगे, दाल नहीं गलेगी। सोचोगे आँच में कुछ कमी होगी, और लकड़ियाँ डाल दो; दो घंटे बाद देखो, दाल फिर भी नहीं गली होगी! क्या आग नहीं जल रही है? धोखा नहीं खा जाना, उसमें अंगुली डालकर मत देखना, अंगुली डालोगे तो जल जायेगी परन्तु दाल नहीं गलेगी क्योंकि प्रतिबन्धक या रुकावट है। वायु का कम दबाव गलने में रुकावट डालता है। जल का स्वभाव है बहना। तुमने बांध बना दिया तो क्या जल बहने वाला नहीं रहा? जल तो बहने वाला ही है, दीवार के कारण बह नहीं रहा है, ऐसा दीखता है परन्तु बांध में थोड़ी-सी तरेड़ आ जाये तो झट उसमें से पानी निकलने लगेगा। पानी का बहना तो स्वाभाविक है परन्तु रुकावट के कारण बह नहीं रहा है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि के उपदेश-श्रवण से ज्ञान तो हो जाता है। परन्तु प्रतिबंधक बैठा होने के कारण साक्षात् प्रतीति नहीं होती कि 'मैं कर्त्ता भोक्ता नहीं हूँ।' बुद्धि वेद के उपदेश से निश्चय करती है कि मैं कर्त्ता भोक्ता नही हूँ, परन्तु यह अनुभव नहीं हो पाता। सुना भी है, दूसरे को समझाते भी हैं कि जड कभी कर्त्ता हो नहीं सकता, हमारे सिवाय कोई चेतन है नहीं, आदि; सब समझ में आता है। काशी में पंडित हरिहर

कृपालु जी वेदांत के विद्वान् थे। महात्मा उनसे वेदांत पढ़ने जाते थे। महात्माओं को वे अलग चद्दर बिछा कर बिठाते थे। उनसे पढ़ने अन्य ब्राह्मण भी आते थे। उन्हें बताते थे—'तुम जानते हो मैं इन्हें अलग क्यों बिठाता हूँ? मैं पढ़ा रहा हूँ, युक्तियों से सिद्ध कर रहा हूँ कि संसार मिथ्या है। परन्तु मुझे अपना लड़का अपना ही लगता है। मैं जानता हूँ कि लड़का बीमार नहीं हो सकता, और युक्ति से समझाता भी हूँ। ये उस युक्ति को नहीं जानते हों लेकिन इस चीज़ को समझकर ये सब कुछ छोड़ चुके हैं। जानने पर भी मेरा 'यह मेरा लड़का' यह भाव नहीं जाता है। ये उस बात को अपने जीवन में ला रहे हैं। ठीक है कि विद्या पढ़ रहे हैं। इसलिये यह बात अपने मन से निकाल दो कि पढ़ने वाले सब एक जैसे है।' तत्त्व को कहते सुनते, समझते हैं, फिर भी माता-पिता बन जाते हैं! ब्रह्म का अनुभव कभी परोक्ष नहीं होता, फिर भी कोई प्रतिबंधक है कि ज्ञान अपने फल शोक-निवृत्ति को नहीं कर पा रहा।

भगवान् सुरेश्वराचार्य ने बताया है कि प्रतिबंधक तीन प्रकार का होता है। कोई भावी प्रतिबंधक है जो आगे ही निवृत्त होगा। कोई पहले का प्रतिबंधक है, कोई वर्तमान प्रतिबंधक है जो अभी बैठा है। अतः भूत, भविष्य, वर्तमान तीन प्रकार के प्रतिबंधक हैं। पंचदशी में (६.३६ आदि) इनका संग्रह स्पष्ट है। भावी प्रतिबंधक सृष्टि करने वाले हिरण्यगर्भ का है। सृष्टि कौन करता है? बृहदारण्यक में कहा कि जिस जीव ने इस कल्प के अंदर सबसे ज़्यादा श्रेष्ठ कर्म और सबसे ज़्यादा श्रेष्ठ उपासना की उसके फलस्वरूप वह अगली सृष्टि का स्रष्टा बनेगा। इसलिये उसको ज्ञान नहीं होता, यह भावी प्रतिबंधक है क्योंकि उसे अगले जन्म का ब्रह्मा बनना है। सृष्टि के प्रारम्भ में जैसे ही प्रकट होता है, वह चारों तरफ देखता है कि 'मेरे सिवाय कहीं कुछ नहीं है। मैं ही सर्वरूप हूँ, मैं ही सब कुछ बनने वाला हूँ', इस रूप से स्वयं को देखता है। स्रष्टा बनकर यह अनुभव उसे वहाँ होता है। यह भावी प्रतिबंधक का हटना है, जब अगली सृष्टि बनेगी तभी उसका ब्रह्मा बनेगा। ब्रह्मा बनना बाकी रहा यह प्रतिबंधक था, ब्रह्मा बन गया तो प्रतिबंधक निवृत्त हो गया।

भूत प्रतिबंधक वामदेव का था। वेद कहता है कि गर्भ में लेटे हुए ही वामदेव को ज्ञान हुआ। यह कैसे हो सकता है? पूर्व जन्म में ऋषि मंडली में रहते हुए उसने वेदांत का खूब श्रवण मनन किया था, खूब अच्छी तरह समझा था। परन्तु कुछ पाप ऐसे होते हैं जिनको अगला जन्म देना है। प्रतिबन्धक केवल पाप ही नहीं, पुण्य भी प्रतिबंधक होता है। इसलिये पाप-पुण्य दोनों को छोड़ने को कहना पड़ता है। पुण्य प्रतिबंधक हिरण्यगर्भ का था। ब्रह्मा बनना बड़े महत्त्व की बात हो सकती है पर तत्त्वज्ञान में प्रतिबंधक तो है ही।

नचिकेता के तीव्र वैराग्य को देखकर यमराज कठोपनिषद् में कहते हैं 'तू बड़ा भाग्य वाला है। मैंने पहले इतने कर्म और इतनी उपासना कर ली कि यमराज के पद पर आया

और मुझे ज्ञान हुआ। अब मैं जानता हूँ कि यह सब कुछ सत्य नहीं है, परन्तु उस पुण्य के फलस्वरूप इस पद पर बैठा हूँ तो जब तक यह सृष्टि ख़त्म नहीं होगी तब तक मुझे ये अनुभव करने पड़ेंगे।' यमराज ज्ञानी हैं और नचिकेता को ज्ञान दे रहे हैं परन्तु साथ में कह रहे हैं कि 'तू भाग्यशाली है जो इसे किये बिना ही मुमुक्षु बन गया।' जैसे हिरण्यगर्भ, यमराज आदि का भावी प्रतिबंधक था वैसे वामदेव का भूत प्रतिबंधक था। पूर्वजन्म में उसने ज्ञानसाधना कर ली परन्तु कोई पाप कर्म बैठा था जिसने उसे प्रत्यक्ष नहीं होने दिया। कोई पाप एक जन्म और कोई तीन जन्म दिलवाता है। ऐसे पापके फलदान प्रारम्भ कर चुकने पर दूसरे जन्म में उन्होंने समग्र ज्ञानसाधना सम्पन्न कर ली। ज्ञान हो जाना चाहिये था, कोई कमी नहीं थी। सुना भी, कहा भी, देखा भी, लेकिन क्योंकि वह पाप तीन जन्म देने वाला था, अतः तीसरा जन्म होते ही पाप नष्ट हो गया इसलिये उन्हें गर्भ में ही इस तत्त्व का ज्ञान हुआ कि मनु और सूर्य रूप में भी मैं ही आया था। इस प्रकार अपनी सर्वज्ञता का बोध हो गया क्योंकि भूत प्रतिबंधक हट गया।

इसी प्रकार वर्तमान प्रतिबंधक होता है जैसा श्वेतकेतु का था। उसे पिता ने तत्त्वज्ञान कराया तो उसकी समझ में नहीं आया। उसने कहा 'फिरसे समझाइये।' पिता ने फिर से समझाया, बात वही थी जो पहली बार कही थी, दोबारा भी वही बात समझाई। नौ बार समझाया। तब श्वेतकेतु ने समझा। श्वेतकेतु को नौ बार उपदेश देना पड़ा क्योंकि वर्तमान प्रतिबंधक था। किसी को नौ बार में तो किसी को नब्बे बार में हो सकता है।

'तत्त्वमसि' आदि के उपदेश से होने वाला ज्ञान यहीं होता है, परन्तु कोई प्रतिबंधक बैठा हो तो उसकी निवृत्ति होने पर ही होगा। जैसे केदार में दाल उबाल रहे हो लेकिन उबल नहीं रही है तो मानना पड़ेगा कि कोई प्रतिबंधक है जिसके कारण दाल नहीं उबल रही है। वहाँ क्या प्रतिबंधक है? वहाँ चूंकि हवा का दबाव कम है इसलिये दाल नहीं गलती है। अगर तुम यहाँ से प्रैशर कुकर लेकर जाओ तो उसमें उसी आग से दाल गल जायेगी। प्रैशर अर्थात् दबाव, कुकर से आवश्यक दबाव बन जाता है तो प्रतिबंधक की निवृत्ति हो जाती है। अथवा जैसे बांध की चार ईंटें निकालो तो पानी बह जायेगा। पानी को बहाना नहीं पड़ता, या आग में और कुछ नहीं करना पड़ता, रुकावट हटते ही कारण सामग्री कार्य संपन्न कर देती है। कई बार विवेक वैराग्यादि से सम्पन्न साधक को श्रवणादि के फलस्वरूप ज्ञान होने पर भी शोकादि बने रहते हैं। उसे ज्ञानप्राप्ति के लिये अब कुछ करना बाकी नहीं, प्रतिबंधक हटने का इंतज़ार ही करना है। पंचदशी में बताया कि बहुत से काम काल से होते हैं–

'कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
तद्वदात्मविचारोऽपि कालेन परिपच्यते।।'

खेती, गर्भ आदि को पकने में समय लगता है, ऐसे ही आत्मा का विचार समय से परिपक्व

होता है। जैसे खेत की देख-भाल, सिंचाई आदि करते रहना पड़ता है वैसे श्रवणादि का अभ्यास करते रहना पड़ता है, शमादि से उपेत बने रहना पड़ता है। बार-बार अपनी दृढता का परीक्षण मत करते रहो। बीज को खोदकर देखते रहे कि अंकुर निकला या नहीं, तो खेती होगी ही नहीं! निश्चय कायम रखते रहो, समय से वह स्वयं दृढ हो जायेगा जिसका पता शोकनिवृत्ति से स्वयमेव लग जायेगा। दृढता को प्राप्त करने के लिये काल अपेक्षित होता है। भूत और भावी प्रतिबंधक पहले किये हुए कर्मों के कारण हैं, इसलिये तुम उसमें कुछ नहीं कर सकते। परन्तु वर्तमान प्रतिबंधक तो बार-बार श्रवण मनन करने से ही दूर होगा।

इसलिये भगवान् ने कहा ''श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'' श्रवण करके भी कोई इसको नहीं जान पाता, क्योंकि जब तक प्रतिबंधक नहीं हटेगा तब तक साक्षात् नहीं होगा। भूत और भावी प्रतिबंधक हटाना तुम्हारे हाथ में नहीं है क्योंकि पहले किये हुए पुण्य-पाप का फल तो भोग कर ही क्षय होगा। यदि पुण्य किया है तो दिव्य पदों को प्राप्त करके, ब्रह्मा आदि बनकर नष्ट होगा। पाप किया है तो पुनः गर्भ आदि में आकर हटेगा। वर्तमान प्रतिबंधक बार-बार श्रवण मनन करने से हटेगा। अतः निरंतर श्रवण मनन करना पड़ता है। ज्ञान कुछ नया नहीं होना है। ज्ञान तो प्रारंभिक श्रवण मनन से हो गया। लेकिन प्रतिबंधक-निवृत्ति आवश्यक है।।२९।।

आत्मा को समझना कठिन है इसे आत्मज्ञ आदि की आश्चर्यरूपता से स्पष्टकर भगवान् इस बात का उपसंहार करते हैं कि आत्मा की यथार्थता के दर्शन से शोकादिका अवसर नहीं रह जाता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

हे भारत! सभी प्राणियों के शरीरों में स्थित शरीरी का कभी भी वध नहीं हो सकता। इसलिये भीष्मादि किसी के लिये भी तेरा शोक करना उचित नहीं।

भगवान् कहते हैं कि सब लोगों के देह (शरीर) में जो देही अर्थात् शरीर वाला रहता है, उनमें शोक का कारण क्या देह का मरना है या देही का मरना है? या शरीर मरा है या शरीर वाला मरा है इसलिये दुःख है। भगवान् ने युक्तियों से बताया कि शरीर मरने वाला पदार्थ होने से शरीर के मरने से दुःख होना उचित नहीं। निश्चित चीज़ के बारे में कोई बुद्धिमान् दुःख नहीं करता। यदि कहो कि शरीर वाला जिसे हम सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग देह कहते हैं, इस शरीर को छोड़ जायेगा इसलिये दुःख होता है; तो भगवान् कहते हैं कि देही अवध्य है, शरीर वाला मर नहीं सकता। तुम्हारे शरीर के दोनों मालिक हैं—सर्व-व्यापक परमात्मा तो उसका एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से मालिक है ही, परन्तु व्यावहारिक मालिक तुम्हारा अहंकार है। सचमुच में तो अपने शरीर के चलाने वाले

अतः उसके मालिक तुम हो। जो अहंकार-उपाधि वाला अपने को मालिक समझता है वह देही है। भगवान् कहते हैं कि यह देही अर्थात् अहंकार कभी भी वध के योग्य नहीं है। अहं (मैं) को न तलवार से काट सकते हैं, न अग्नि से जला सकते हैं, न पानी में डुबा सकते हैं। इसलिये यह 'मैं' वध के योग्य नहीं है।

वध के योग्य न होने पर भी इससे पिण्ड छूट जाता है क्योंकि यह बाध के योग्य है। बाध के योग्य का मतलब है : जैसे रस्सी में साँप दीखता है। रस्सी में दीखने वाले साँप को तुम आग से जला नहीं सकते। उसे तुम पानी में डुबा नहीं सकते। रस्सी में दीखने वाले साँप का वध नहीं हो सकता। परंतु रस्सी के ज्ञान से उसका बाध हो जाता है कि वह सर्प न था, न है, न रहेगा। वध शब्द का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ कुछ बच जाये। ऐसे नाश को सावशेष नाश कहते हैं। तुमने कहा—'इस आदमी की गर्दन काट दी।' वह आदमी तो मर गया परन्तु तुमको उसकी गर्दन या धड़ दीख रहा है। जला दिया तो राख रह गई। इसी प्रकार डुबा दो, आदि कुछ भी कर लो, सावशेष नाश होगा। वह चीज़ नष्ट हो जायेगी परन्तु उसका कुछ हिस्सा बच जायेगा। लेकिन जब रस्सी में साँप का बाध होता है तब क्या उस साँप की कोई चीज़ बच जाती है? निश्चय होता है कि साँप न था, न है, न होगा। जहाँ बाध होता है वहाँ उस साँप की कोई चीज़ बच नहीं जाती है, निश्चय ही होता है कि साँप न था, न है, न होगा। जहाँ बाध होता है वहाँ निरवशेष नाश और जहाँ वध होता है वहाँ सावशेष नाश होता है। भगवान् ने कहा कि देही अहं का कभी वध नहीं हो सकता, परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि देहीपना छूट नहीं सकता! क्योंकि इसका बाध हो सकता है। अन्यथा संदेह हो जाता कि यदि नित्य अवध्य है तो हमेशा बना ही रहेगा। लेकिन बाध हो जाता है, निरवशेष नाश हो जाता है, उस अहं का कुछ नहीं बचता जैसे साँप का कुछ नहीं बचता। उसका अधिष्ठान, अर्थात् जिसमें वह साँप दीख रहा था वह रस्सी वैसी की वैसी रह जाती है। इसी प्रकार तुम्हारे अहंकार का बाध हो जाने पर जो तुम चेतन हो, वह वैसे के वैसे रह जाओगे।

फ़र्क क्या होगा? अहंकार के कारण तुम अल्पज्ञ, और अल्पशक्तिमान् हो। सर्व-व्यापक होते हुए भी तुम अपने आपको साढ़े तीन हाथ के शरीर में सीमित करके रहते हो कि 'यह मैं हूँ'। अहंकार के नाश होने पर प्राणिमात्र के हृदय में अपने को देखोगे अर्थात् यह परिच्छिन्नता नहीं रहेगी। अभी भी तुम चेतन हो, 'मैं चेतन हूँ' यह अनुभव होता है। वह अधिष्ठान चेतन तो रहोगे परन्तु 'मैं' नहीं होने से किसी एक शरीर या मन *में* नहीं रह जाओगे। यह 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' का भाव प्रकट हो जायेगा। जैसे रस्सी में साँप का अनुभव होता है कि 'यह साँप है'। जब पता लगता है कि 'यह साँप नहीं है, यह रस्सी है' तब *यह* तो वैसा का वैसा रह जाता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। ठीक इसी प्रकार से चेतन मैं हूँ। मैं अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति, परिच्छिन्न करने वाली वृत्ति। जब अहं हट गया, परिच्छिन्न करने वाली वृत्ति नष्ट हो गई, बाधित हो गई, तब चेतन व्यापक रह गया।

इसलिये वेदांत में बार-बार सावधन करते हैं कि तुम ब्रह्म से एक *होते* नहीं हो, 'ब्रह्म से अलग हूँ', केवल यह भ्रम हट जाता है।

वेदांत ने अपने को कभी भी एकत्ववादी नहीं कहा। आजकल लोग उल्टी सीधी बात कह देते हैं; ऐसे लेख पढ़े हैं जिनमें लोग कहते हैं कि आचार्य शंकर का अद्वैतवाद भी मोहम्मद साहब के एकत्ववाद जैसा ही है! वे लोग मोहम्मद साहब के इस विचार से प्रभावित हुए कि एक ही अल्लाह है, दूसरा कोई नहीं है। परन्तु यदि ऐसा होता तो जैसे वे अपने को एकतावादी कहते हैं वैसे ही हम भी अपने को एकतावादी कहते। हमारे सिद्धान्त का नाम अद्वैतवाद है, हम एकतावादी नहीं हैं। द्वैतभाव झूठा है, हमने इतना ही कहा है। यह आधारभूत भेद दूसरे एकेश्वरवादी और हम लोगों में है। अतः अद्वैतवाद के अंदर तैंतीस करोड़ देवताओं की पूजा होने पर भी कोई विरोध नहीं होता क्योंकि कोई दूसरा प्रतियोगी उसका है नहीं। उनके यहाँ एक अल्लाह से दूसरा हो जाये तो उनका अल्लाह नहीं रह जाता! इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा 'तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते।' जितने दूसरे वादी हैं वे व्यावहारिक प्रपञ्च को सत्य मानकर उसकी ही बात कर रहे हैं और हम व्यावहारिक प्रपञ्च की बात नहीं कर रहे हैं। इसलिये हमारे यहाँ परमार्थतः अद्वैतवाद रहते हुए तैंतीस करोड़ देवता रहते हैं। इसी प्रकार से ब्रह्मस्वरूप रहते हुए अनन्त प्राणी व्यवहार कर रहे हैं। अधिदैव प्रपञ्च में अनेक देवता, आधिभौतिक प्रपञ्च में अनेक भौतिक पदार्थ और आध्यात्मिक प्रपञ्च में अनेक जीव रहेंगे। व्यावहारिक प्रपञ्च में इन सारे भेदों के रहते हुए परमार्थतः अद्वैत है। दूसरे कहते हैं कि व्यावहारिक प्रपञ्च ही सच्चा है। हम कहते हैं कि व्यावहारिक प्रपञ्च केवल प्रतीतिमात्र है। जिसके कारण ये सारी प्रतीतियाँ हो रही हैं, बस वही परमार्थ है। यह बाध और वध का भेद है।

लोग समझते हैं कि अद्वैत सच हो तो द्वैत उपलब्ध न हो! लेकिन हमारे यहाँ दो के रहते हुए भी एक है! विचार करो : एक देवदत्त दूसरा यज्ञदत्त और तीसरा ब्रह्मदत्त, तीन लोग बैठे हुए हैं। तीन बैठे होने पर भी देवदत्त क्या एक नहीं रहा? एक देवदत्त तो है ही। यज्ञदत्त और ब्रह्मदत्त बैठे हुए हैं इसलिये उसे तीसरा कह देते हैं। है तो वह एक ही। जैसे किसी चीज़ की वास्तविक एकता बने रहते हुए ही अनेकता की प्रतीति होती है इसी प्रकार एकमात्र चैतन्य सत्ता के रहते हुए ही व्यावहारिक माया को लेकर अनेकता की प्रतीती है। अद्वितीय आत्मतत्त्व एक रहते हुए भी माया के कारण उसमें अनेकता का व्यवहार बनता है।

हम द्वैत प्रपञ्च का वध नहीं करते, मारते नहीं। अगर मारते तो कुछ शेष बच जाता, अद्वैत सिद्ध नहीं होता। कई लोग सोचते हैं कि ज्ञान होगा तो फिर कुछ नहीं रहेगा। आचार्य शंकर लिखते हैं कि यदि ऐसा होता तो सबसे पहले मुक्त होने वाले शुकादि के साथ ही यह संसार न रहता, लेकिन यह संसार तो वैसा का वैसा है! इसलिये यह रहता नहीं—ऐसा हम नहीं कहते। हम कहते हैं कि यह न है, न था, और न रहेगा। 'रहता नहीं

है’ कहने वाले सोचते हैं कि पहले था, अब नहीं है। अतः भगवान् ने केवल यह नहीं कहा कि यह देही अवध्य है या इस देहाभिमानी को कोई मार नहीं सकता; साथ में कहा कि यह देही *नित्य* अवध्य है। इसके द्वारा स्पष्ट कर दिया कि यह नित्य अर्थात् सदा ही अवध्य है। अहं की जो प्रातीतिक नित्यता है, अहंकारात्मिका वृत्ति को लेकर जो नित्यता है, वह इसलिये है कि सृष्टिकाल से लेकर प्रलयकाल पर्यन्त जीव एक ही रहता है। सारे शरीरों में एक देही अर्थात् अहंकार का भी जो साक्षी है वह नित्य है। सृष्टि से प्रलयकाल तक रहने वाले जीवों की वास्तविक नित्यता नहीं है। महाप्रलय में जीव नहीं रहते। भगवान् यहां नित्य शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जो देही का अहंकार है वह भी लिंग शरीर का अंग है, अतः वह भी सापेक्ष नित्य है। अनन्तकाल से अनन्त सृष्टियाँ हुई हैं। अनन्त सृष्टियाँ और प्रलय होते रहे, लेकिन उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। जीव उत्पत्ति-नाश वाला नहीं है। व्यास जी ने स्पष्ट कहा है ‘नात्माऽश्रुतेः’ (ब्र.सू. २.३.१७) कि श्रुतियाँ जीव की उत्पत्ति कहीं नहीं बताती बल्कि उसे नित्य कहती हैं। सारे शरीरों में देही नित्य बना रहता है।

भगवान् ने ‘भारत’ सम्बोधन देकर ज़रा सूक्ष्म बात कह दी : क्या तू जानता है कि तू किस कुल में पैदा हुआ है? तू भरत-कुल में उत्पन्न हुआ है। भरत ने अपने देही भाव का साक्षात् अनुभव किया था। चूंकि तू उस कुल में उत्पन्न हुआ है अतः तू भी इसके योग्य है, इसलिये तू भी यह अनुभव कर। पूर्व श्लोक में बताया था कि आत्मा का ज्ञान दुर्लभ है और उसकी दुर्लभता के चार कारण बताये थे। उससे संभवतः अर्जुन को यह विचार आयेगा कि ‘यदि आत्मज्ञान इतना दुर्लभ है तो मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ!’ अतः भगवान् ने ‘भारत’ कहकर तुरन्त याद दिलाया कि तू कर सकता है क्योंकि तू भरतकुल में उत्पन्न हुआ है।

ये शरीर अशोच्य हैं क्योंकि नित्य मरने वाले ही हैं। शरीरी से यदि अहं को लें तो वह प्रलयान्त नित्य है, तुम्हारे मारने से नहीं मरेगा। यदि देही का मतलब आत्मा लेते हो तो वह सर्वथा नित्य होने से उसके वध की कल्पना ही नहीं। भरतकुल में उत्पन्न होने से तू ज्ञान का अधिकारी भी है। इसलिये कोई भी भूत, प्राणी ऐसा नहीं है जो शोक के योग्य है। केवल भीष्म द्रोण ही नहीं, वस्तुतः कोई भी शोक के योग्य नहीं है। इस प्रकार से भगवान् ने शोक का जो मूल कारण शरीर में चेतन का अध्यास है, उसकी निवृत्ति को प्रधान करके शोक की निवृत्ति को बताया।।३०।।

शरीर नश्वर निश्चित होने से विवेकी उसके नाश का शोक करे यह योग्य नहीं। शरीरी नित्य होने से उसका नाश होना नहीं कि उसका शोक किया जाये। भीष्मादि ने कोई कुकर्म किये नहीं कि उनकी भावी गति की चिन्ता से शोक हो। किंतु शोक का एक और कारण है–अर्जुन को लग रहा है कि भीष्म-द्रोण आदि को मारने से उसे पाप होगा। उसे धर्म भी अधर्म लग रहा है और उससे वह बचना चाहता है। शोक के इस कारण को

हटाने के लिये भगवान् समझाना शुरू करते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

अपने धर्म का विचार कर भी निश्चय कर कि धर्म से विमुख होना तेरे योग्य नहीं। धर्मानुसारी युद्ध से अन्य कोई कल्याणोपाय क्षत्रिय के लिये नहीं है।

आत्मज्ञान का प्रसङ्ग समाप्त हुआ। अब विचार प्रारम्भ करते हैं कि क्या करना चाहिये, स्वधर्म क्या है? भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि जिस व्यवहार भूमि में तू स्थित है उस व्यवहार भूमि में क्या धर्म है—यह सोचना पड़ेगा। तू क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ है इसलिये क्षत्रिय का धर्म तेरा धर्म है। व्यवहार में तुम जो हो वही व्यवहार करोगे। इसीलिये पहले यह स्पष्ट कर दिया कि आत्मज्ञान अधिष्ठान को लेकर है और व्यवहार प्रपञ्च, द्वैत को लेकर है। इसमें गड़बड़ करने वाले यह चेष्टा करते हैं कि अधिष्ठान की एकता को हम ज़बर्दस्ती अध्यस्त में लागू कर लें। सारे सनातन धर्म का आधार है चातुर्वर्ण्य। भगवान् कहेंगे 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार के धर्मों को तो मैंने बनाया है। अब उसी के ऊपर हथौड़ा चलाकर कहा जाता है 'यह तो आदमियों ने बना दिया है, असल में तो सब आदमी एक ही हैं। आप भी तो अद्वैतवाद ही मानते हैं!' हमारे अद्वैतवाद में तो हम तुम्हें मक्खी-मच्छर से भी एक मानते हैं! आज के लोगों को केवल भगवान् का चातुर्वर्ण्य नहीं मानना है, बाकी सब भेद तो मानने हैं।

कर्त्तव्य प्राप्त होने पर क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—इसके लिये भगवान् ने 'स्वधर्म' शब्द का प्रयोग किया है। कई जगह यह शब्द आयेगा। 'जैसे स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (३.३५) अर्थात् स्वधर्म पालन करने में चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, उसका पालन करना ही चाहिये। तेतींसवे श्लोक में स्वधर्म-त्याग से पाप बतायेंगे। 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' यह भी दो बार (३.३५, १८.४७) कहा गया है। इसलिये क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, इसके निर्णयार्थ स्वधर्म का विचार करना ज़रूरी है। 'अपि च' अर्थात् और भी; तात्पर्य है कि पूर्वोक्त आत्मदृष्टि छोड़े बिना, उसके साथ ही स्वधर्म की भी दृष्टि रखनी चाहिये, एक दृष्टि को छोड़कर दूसरी अपनाने को नहीं कह रहे। अर्थात् न आत्मा की दृष्टि से शोक बनता है और न धर्म की दृष्टि से शोक बनता। लेकन तब, जब अवेक्षण करोगे। विचारपूर्वक देखने को अवेक्षण कहते हैं। देखना दो तरह का होता है। एक तो आपात दृष्टि होती है। और दूसरा विचारित निर्णय होता है। अदालत भी प्रथम दृष्ट्या मुकदमा संगत लगे तभी उसे विचारार्थ दाखिल करती है। मीमांसा की भी पद्धति है कि संशय होने पर पूर्वपक्ष उपस्थित कर तब खंडन में प्रवृत्ति हो। पूर्वपक्ष की प्रौढता से ही सिद्धान्त का महत्त्व बढ़ता है। वार्तिक में सुरेश्वराचार्य ने प्राभाकरों की तरफ से पूर्वपक्ष इतना ज़ोरदार उपस्थित किया है कि विद्वान् अनुभव करते

हैं कि प्राभाकरों के ग्रंथों की अपेक्षा वार्तिक से प्राभाकर सिद्धान्त ज़्यादा स्पष्ट होता है! विचार की दोषहीनता के लिय बलिष्ठ पूर्वपक्ष सामने रखना चाहिये। यों किये विचार को अवेक्षण कहा जा रहा है।

भगवान् का अभिप्राय है कि तू अत्यधिक विकंपित तो हो गया पर क्या इस बारे में तूने साफ-साफ विचार किया है कि यह युद्ध धर्म है या अधर्म? बिना विचारे तूने निर्णय कर लिया 'अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्' और फलतः तू काँप उठा, तेरे रोये खड़े हो गये, गांडीव हाथ से छूट गया, इत्यादि! भगवान् कहते हैं कि इतना काँपने से पहले यह सोच तो लेता कि यह युद्ध महापाप है या मोह के कारण तू पुण्य को पाप समझ रहा है? तू स्वधर्म का भली प्रकार विचार कर : पूर्व पक्ष और सिद्धान्त पक्ष क्या है? तू जिसे अधर्म समझ रहा है वह अधर्म है या नहीं? जिसे धर्म समझ रहा है वह धर्म है या नहीं? उसको समझने के लिये '*मेरा* धर्म क्या है' यह विचार कर। धर्म बड़ी विचित्र चीज़ है। हम परमात्मा को स्वयं धर्मरूप मानते हैं, परन्तु वह भिन्न रूपों में धर्म होता है। भिन्न-भिन्न रूप से धर्म प्रकट होता है। धर्म कहने में हमेशा यह याद रखना पड़ेगा कि *किसका* धर्म? अग्नि का धर्म जलाना है। अतः यदि अग्नि जला नहीं रही हो तो कहेंगे कि इसका धर्म ठीक नहीं है, इसे ठीक करो, इसे अच्छी तरह जलाओ। पानी का धर्म ठण्डा करना है। यदि वह ठंडा नहीं करेगा तो कहेंगे कि यह पानी ठीक नहीं है। यदि कोई पलट कर प्रश्न करे कि 'पानी गरम हो तो कहते हो ठीक नहीं, अग्नि ठंडी हो तो कहते हो ठीक नहीं। एक बात कहिये, ठंडा होना ठीक नहीं या गरम होना ठीक नहीं है?' तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि—

'यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः प्रसेवन्ते तस्मै धर्मात्मने नमः।।'

परमात्मा धर्मरूप है लेकिन धर्म का आचरण अलग-अलग है। आग का धर्म गरम होना, पानी का धर्म ठंडा होना, लकड़ी का धर्म तैरना, लोहे का धर्म डूब जाना; इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सबके धर्म अलग-अलग होंगे। इसमें गड़बड़ी के कारण वर्तमान काल में लोग कहते हैं कि जो ब्राह्मण के लिये धर्म है, वही शूद्र के लिये क्यों नहीं अथवा जो शूद्र के लिये धर्म है वह ब्राह्मण के लिये क्यों नहीं। ब्राह्मण को वेदाध्ययन करना चाहिये, इसलिये वेद के द्वारा वह परमेश्वर की आराधना करता है। शूद्र परमात्मा का केवल नाम स्मरण कर लेता है तो उसका काम हो जाता है। ब्राह्मण मन्दिर के अंदर जा कर भगवान् का पूजन करता है तब उसका धर्म होता है। शूद्र शिखर का दर्शन कर लेता है तो उसका धर्म हो जाता है। वर्तमान में ब्राह्मण का कहना है कि शूद्र का काम नाममात्र से हो जाता है तो हमारे ऊपर वेद को क्यों लादा जाता है? शूद्र कहता है कि ब्राह्मण का धर्म यदि वेद पढ़ना है तो उसे वेद पढ़ने से क्यों रोका जाता है? इसी प्रकार

ब्राह्मण कहता है कि मोटर से जाते हुए शिखरदर्शन हो जाता है तो उसे पुण्य क्यों नहीं होता और शूद्र कहता है कि हम क्यों न मन्दिर में जाकर पूजा करें? ये सारी गड़बड़ियाँ इसलिये होती हैं कि लोग समझते हैं कि धर्म एक है। यहाँ धर्म का मतलब स्वधर्म से है कि तुम्हारा क्या धर्म है। इसे मोटे दृष्टान्त से समझा देते हैः हम समझाते हैं कि पति की पूजा करो, उसके मन का काम करो। पड़ौसिन का पति भी तो 'पति' है! विचार करो कि 'पति की सेवा करो' कहने में स्वपति ही अर्थ हो सकता है, पतिमात्र नहीं। पड़ौसी स्त्री के लिये उस की आज्ञा मानना धर्म है, तुम्हारे लिये अपने पति की आज्ञा मानना धर्म है।

इसलिये भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तू क्षत्रिय है। इस बात को याद रखकर तुझे अपने धर्म का विचार करना चाहिये लेकिन तू उसके विपरीत अपने धर्म को छोड़ने की बात कहने लगा कि अगर ये मुझे मार भी डालें तो अच्छा हो! क्या क्षत्रिय का धर्म युद्ध से पलायन करना है? तूने स्वधर्म का विचार नहीं किया। तूने ब्राह्मण के धर्म याद कर लिये हैं, इसलिये कहता है कि वही करूं, लेकिन 'मैं कौन हूँ? मेरे लिये क्या धर्म है?' यह विचार कर।

धर्मों के भेद में केवल 'पृथग्धर्मचरणाः' नहीं कहा बल्कि भिन्न-भिन्न फलों की एषणा वालों के लिये भिन्न-भिन्न धर्म भी कहे हैं। एक आदमी पुत्रेष्टि यज्ञ करता है क्योंकि उसके पुत्र नहीं है, लेकिन जिसके पहले ही अठारह बच्चे हैं वह क्यों पुत्रेष्टि यज्ञ करेगा! दोनों के लिये एक धर्म नहीं हो सकता कि वह पुत्रेष्टि यज्ञ करता है तो हम क्यों न करें। अलग-अलग धर्मों के अलग-अलग फल हैं। जिसे जिस फल की इच्छा है उसका साधन उसका धर्म है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी किसी अन्य धर्म की इच्छा करता है और संन्यासी किसी अन्य धर्म की। इसलिये भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तू केवल यही मत सोच कि मेरा धर्म क्या है, साथ में यह भी सोच कि 'मेरी एषणा क्या है? मैं चाहता क्या हूँ?' चाहता तू कल्याण का मार्ग है और उस कल्याण मार्ग को छोड़कर अन्य बातों को सोचने लगा।

व्यवहार करोगे तो प्रधान चीज़ है औचित्य। किसी भी परिस्थिति में क्या उचित है—इसका विचार करना पड़ता है। औचित्य का विचार आते ही किसके लिये? कब? और किस उद्देश्य वाले के लिये क्या कर्त्तव्य है—यह विचार आता है। न एक चीज़ सब लोगों के लिये उचित होती है, न सब देशों में उचित होती है, न सब कालों में उचित होती है, न सभी प्रयोजनों या उद्देश्यों के लिये उचित होती है। अतः औचित्य के बारे में इन सबका विचार करने पर ही निर्णय होगा। इन सब चीज़ों को भगवान् ने एक शब्द 'स्व' के द्वारा कहा, 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' अर्थात् मैं कहाँ हूँ? कब हूँ? कैसा हूँ और किस प्रयोजन वाला हूँ? इन सबका विचार करे। 'स्व' कहने से ये सब चीज़ें आयेंगी। ये सारी चीज़ें प्रकृति में होने वाली हैं। 'स्व' मायने खुद भी होता है। वास्तविक खुद तो सच्चिदानन्द है। अतः उस स्वधर्म का मतलब होगा कि 'मैं सचमुच में सच्चिदानन्द हूँ, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ'

आचार्य शङ्कर इसकी मर्यादा बताते हैं: 'देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम्।' अभी यह निश्चय है कि मैं यह शरीर हूँ। हम चाहे जितनी बातें करें, चाहे जितना विचार करें, चाहे जितनी साधना कर लें परन्तु 'यह शरीर मैं हूँ' यह निश्चय हटता नहीं। जैसे सब कुछ करने पर भी इस शरीर से 'यह मैं हूँ' नहीं हटता, आचार्य कहते हैं कि वैसा ही दृढ निश्चय हो जाये कि किसी भी परिस्थिति में 'मैं शरीर हूँ' यह बुद्धि हो ही नहीं, तब स्वधर्म होगा केवल साक्षिरूप में स्थित रहना। तुम्हारा स्वरूप अकर्त्ता, अभोक्ता है। इस निश्चय को करके तो स्वधर्म सर्वकर्मसंन्यास है जिसको भगवान् अंत में जाकर बतायेंगे 'सर्वधर्मान् परित्यज्य।' यहाँ कह रहे हैं 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' स्वधर्म का विचार करो और वहाँ कहा सारे धर्म का परित्याग करो। जब हम अपने साक्षी स्वरूप, निर्मल स्वरूप को समझ लेते हैं तब तो एकमात्र सर्वकर्मसंन्यास ही अपना धर्म रह जाता है। इसलिये आचार्य शङ्कर कहते हैं कि शम, दम अर्थात् इन्द्रियों का न दौड़ना, मन का न दौड़ना आदि सब आत्मज्ञानी में सहज है। वह उसके लिय प्रयास नहीं करता। जिस प्रकार से आग किसी को जलाती नहीं है। उसका तो स्वधर्म जलाना है। अपना धर्म करते हुए किसी दोष को प्राप्त नहीं होता। यह आगे चलकर भगवान् कहेंगे कि जैसे अग्नि जलाकर किसी दोष की भागी नहीं बनती ठीक इसी प्रकार से जिसने स्व को केवल सच्चिदानन्दरूप समझ लिया उसका तो केवल सर्वकर्मसंन्यास धर्म है जो ज्ञाननिष्ठारूप बताया है। परन्तु उस स्व को यहाँ लेना नहीं है क्योंकि उस स्व का विचार तो कर आये हैं।

आत्मा के तीन रूप शास्त्रकारों ने बताये हैं: जब तक हम अपने स्वरूप को नहीं जानते तब तक दो स्व रहते हैं—एक को मिथ्या आत्मा और दूसरे को गौण आत्मा कहते हैं। मिथ्या आत्मा वह है जो सृष्टि के आदि से लेकर जब तक सृष्टि का अन्त नहीं हो जाता, चाहे वह अन्त मोक्ष से हो चाहे महाप्रलय से हो, तब तक रहता है। वेदान्त में उस आत्मा को मिथ्या आत्मा कहते हैं। मिथ्या वह चीज़ है जो प्रतीत होती ही रहती है। जैसे काँच में तुमको तब तक अपना मुँह दीखता ही रहेगा जब तक काँच फूट न जाये। काँच रहेगा तो तुम्हारे मुँह के सामने काँच आने पर तुम्हें मुँह दीखेगा। दूसरा ऐसा मिथ्या है जो कि पहले प्रतीत होता है परन्तु बाद में नहीं होता। जैसे रस्सी में साँप दीखता है परंतु रज्जुदर्शन के बाद में नहीं दीखता, इसी प्रकार एक हमारा शरीर ऐसा है जो सृष्टि के प्रारम्भ से महाप्रलय या मोक्ष पर्यन्त रहता है, उसे हम सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर कहते हैं और उसी को व्यवहार में जीवात्मा कहते हैं। वह तो अन्त तक रहना ही है। और दूसरा, यह स्थूल शरीर मिथ्या है, जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त 'यह शरीर मैं हूँ' यह भाव रहता ही है। मरने के बाद 'यह शरीर मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं रहेगी। इस प्रकार दो तरह के मिथ्या आत्मा हैं। शरीर इसलिये मिथ्या आत्मा है कि महाप्रलय से पहले ही मरने पर हट जाता है। और दूसरा लिङ्ग शरीर या मन जो सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक छूटता ही नहीं।

इनसे अन्य गौण आत्मा है। 'यह मैं नहीं हूँ' जानते हुए भी जिससे 'मैं' का व्यवहार करते हैं वह गौण आत्मा है। जैसे मैं इस मकान का मालिक हूँ। मकान बेच दिया तो मकान का मालिक मैं नहीं हूँ। जब तक मकान मेरा था तब तक मकान-मालिक हूँ। 'मैं कौन' तो इस मकान का मालिक। ठीक जिस प्रकार 'मैं कौन?' मैं देवदत्त, जबकि देवदत्त तो शरीर है। अथवा मैं क्रोधी—यह मन को लेकर है। ऐसे ही अभिमान होता है कि मैं मकान का मालिक हूँ। परन्तु शरीर रहते हुए ही मकान बेच दिया तो मैं मकान का मालिक नहीं रहता। जब तक मकान-मलिक हूँ तब तक मकान का नुकसान अपना नुकसान मानता हूँ। इसलिये इसे गौण आत्मा कहते हैं।

यहाँ 'स्व' से मुख्य आत्मा को इसलिये नहीं लेना है क्योंकि भगवान् उसे पहले कह आये हैं। बाकी दो बचे, उन दोनों के धर्म हैं। गौण आत्मा के रहते हुए मेरा कुछ धर्म है। 'मैं मकान-मालिक हूँ तो उस मकान में रहने वालों के लिये मुझे जो उचित व्यवहार करना है वह मेरा धर्म है। मकान-मालिक का भी एक धर्म है। मैं कहीं नौकरी कर रहा हूँ इसलिये मेरा एक धर्म है। नौकरी छोड़ सकता हूँ, यह दूसरी बात है। नौकरी करते हुए कोई कहे 'मैं नौकर नहीं। कौन किसका नौकर होता है।' तो धोखा-धड़ी कही जायेगी। नौकरी छोड़ सकता हूँ। परंतु नौकरी करते हुए, तन्ख्वाह लेते हुए कहना कि 'मैं नौकर नहीं, मैं तो चेतन हूँ, आत्मा हूँ', यह धोखा है। इसलिये गौण आत्मा के औचित्य का विचार करना पड़ता है कि मेरा क्या धर्म है।

इसी प्रकार शरीर में जन्म लिया है। इसलिये इस शरीर के अंदर रहते हुए मेरा क्या धर्म है यह भी सोचना पड़ता है। मैं मन हूँ, सूक्ष्म शरीर हूँ, इसलिये सूक्ष्म शरीर के क्या धर्म हैं, यह भी सोचना पड़ता है। जिसको यह निश्चय हो गया है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ' उसका धर्म कुछ और होता है। स्थूल शरीर 'मैं' नहीं है ऐसा जिसको दृढ ज्ञान हो गया है, शरीर के प्रति जिसे मैं-बुद्धि नहीं रह गई है उसके धर्मों को अलग समझना पड़ेगा।

याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा है कि आचार, तप, वेदाभ्यास आदि की अपेक्षा योग से आत्मदर्शन करना परम धर्म है। 'परम' कहकर सूचित किया कि अन्य भी धर्म हैं ही। आचार आदि का इतना दृढ अभ्यास हो जाये कि उनको कर्त्तव्य न समझकर स्वाभाविक-सा समझा जाये तब साधक उनकी ओर ध्यान दिये बिना परम धर्म का सेवन कर सकता है। खुजली करना हमारे लिये स्वाभाविक-सा हो गया है, बिना कार्याकार्य विचार किये हम यथावश्यक खुजली कर लेते हैं, ऐसे आचार आदि भी स्वाभाविक से हो जाने चाहिये। खुजली भी है सीखी हुई क्रिया, सहज नहीं है, अतः सद्योजात बालक स्वयं को खुजला नहीं पाता, खाज आने पर रोता ही है, धीरे-धीरे खुजली करना सीखा जाता है पर फिर स्वाभाविक-सा हो जाता है। ऐसे ही आचार आदि सीखकर स्वाभाविक से बना लेने चाहिये, तब साधक केवल मन की शुद्धि पर एकाग्र रह सकेगा। मन आत्मदर्शन के योग्य तब होगा जब अहंकार क्षीण हो। जब तक आचार आदि के लिये प्रयासपूर्वक विचार कर

चेष्टा करनी पड़े तब तक शरीरों में अहंकार प्रबल रहेगा, आत्मदर्शन की योग्यता नहीं आयेगी। आत्मा शुद्ध है–इन शब्दों को याद करने मात्र से अहंकार नहीं क्षीण होगा। इस ज्ञान के होने पर भी अभिमान शिथिल होता है। शरीर में आत्मबुद्धि की तरह ब्रह्मात्मबुद्धि दृढ हो तभी शरीर को आत्मा समझना समाप्त होगा। जब तक वैसा न हो तब तक शरीरों के धर्मों का विचार आवश्यक रहेगा।

शरीर का विचार करते हुए दो संभावनायें सामने आयेंगी : यह शरीर आकस्मिक है या किसी के द्वारा निर्णीत है? माँ-बाप के द्वारा मैं अकस्मात् पैदा हुआ हूँ या माँ-बाप को साधन बनाकर मुझे पैदा किया गया है। ये आधारभूत विकल्प हैं। यदि शरीर आकस्मिक है तब तो तुम्हारा धर्म भी आकस्मिक होगा। धर्मों का कोई कारण नहीं रह जायेगा। रहेंगे तो शरीर के ही धर्म, परन्तु जब जन्म ही आकस्मिक है तब धर्म भी आकस्मिक होंगे। और यदि हमारा जन्म किसी के द्वारा निर्णीत है तो जिसने हमको जन्म दिया है उसने हमारे लिये जो कर्तव्य निर्धारित किये हैं वे हमारे धर्म होंगे। आस्तिक लोगों की मान्यता, उनका निश्चय है कि इस जगत् में कोई कार्य आकस्मिक नहीं होता। जब छोटी से छोटी घटना भी आकस्मिक नहीं है तो जन्म कैसे आकस्मिक होगा! कस्मात् मायने 'किस कारण से' और अकस्मात् मायने अकारण। अकारण कुछ नहीं होता, यह सभी आस्तिकों का निश्चय है। हमको कारण दिखाई न दे यह हो सकता है परन्तु कारण है अवश्य। जैसे यह निश्चय आस्तिकों का है वैसे ही वैज्ञानिकों का भी है। कोई वैज्ञानिक यह नहीं मानता कि कोई कार्य बिना कारण के होता है। सारा अन्वेषण कारणों का होता है। आज हमें कारण पता नहीं लगे, परंतु ढूंढते-ढूंढते कारण मिलेगा ज़रूर क्योंकि कारण है ज़रूर, यह धारणा होगी तभी कारण ढूंढोगे, नहीं तो किसी भी चीज़ को अकस्मात् (अकारण) मान लोगे। यदि छोटी से छोटी चीज़ अकस्मात् नहीं है तो जन्म भी आकस्मिक नहीं है।

भगवान् कहते हैं कि जन्म कहाँ होता है इस बात का निर्धारण मैं करता हूँ और इसलिये उस शरीर के अन्दर कौन-सा कर्म किया जाये यह भी मैं बताता हूँ। आगे भगवान् कहेंगे कि चार वर्णों का स्रष्टा मैं हूँ। 'गुणकर्मविभागशः' तुमको मैं वहाँ पैदा करता हूँ जहाँ योग्य गुणों को तुम अपने अन्दर लाओ और उचित कर्मों को तुम करो। जन्म के साथ ही तुम्हें पता लग जाना चाहिये कि कौन-से गुण अपने में लाने हैं और कौन से कर्म करने हैं। क्योंकि परमेश्वर जन्म का निर्धारण करता है इसलिये हमें मालूम है कि जहाँ, जिस वर्ण में हम पैदा हुए हैं तदनुकूल गुण-कर्मों का विकास हमारा धर्म है, ईश्वरेच्छा है कि हम उनका ही विकास करें।

दूसरा पक्ष कहा था कि जन्म आकस्मिक है, अर्थात् अकारण है; तब क्या करें? गीता में यह भी प्रश्न उठाया गया है : अर्जुन ने पूछा है कि जो शास्त्रज्ञान से रहित है, वह धर्म का कैसे निश्चय करे? तब भगवान् ने स्पष्ट रूप से कहा कि माया से उत्पन्न चीज़ों के अन्दर तीनों गुण न हों, यह नहीं हो सकता। चाहे स्वर्ग आदि लोकों में जाओ अथवा

बड़े से बड़े देवता के पास जाओ, सबके अंदर ये गुण होंगे ही। किसी भी पुराण में देख लो, सब देवताओं में अलग-अलग गुण अलग-अलग काल में देखे जाते हैं। इसलिये भगवान् ने स्पष्ट कर दिया 'सत्त्वं' कोई भी 'है' वाला पदार्थ, जिसमें सत्ता है, वह चाहे जड हो या चेतन; जो भी सत्ता वाला पदार्थ है वह इन तीन गुणों से रहित हो, ऐसा कहीं नहीं मिलता है। इस शरीर में अपने सत्त्व रज तम का कैसे निर्णय करें? इसे भगवान् ने बड़े विस्तार से बताया है कि कैसा भोजन, कैसी बुद्धि आदि किस गुण वाली है। शरीर के अंदर मैं-पना रहते हुए हमको शरीर के धर्मों का विचार करना पड़ेगा।

ब्रह्मनिष्ठा होने तक शरीर-मन में ज़रूर रहोगे। आचार्य शंकर ने इस बात को स्पष्ट किया है : एक जगह भगवान् ने कह दिया कि केवल शरीर से होने वाले कर्मों से मनुष्य लिप्त नहीं होता। वहाँ आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं कि केवल शरीर से कर्म नहीं किया जा सकता। शरीर में कर्म होने से पहले मन में कर्म करना ही पड़ेगा। शंका हुई कि फिर भगवान् ने 'शारीरं केवलं कर्म' कैसे कह दिया? आचार्य ने समाधान दिया कि शरीर-निर्वाह मात्र के कर्मों के बारे में कह रहे हैं। केवल शरीर से कभी कर्म नहीं होता। आत्मा अहं को, अहं सूक्ष्म शरीर को, सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को स्पर्श करेगा तभी स्थूल शरीर क्रिया कर सकता है। भगवान् का कहना है कि शरीर-निर्वाह मात्र के लिये जो कर्म किया जाता है उससे दोष नहीं होता।

जो आकस्मिक जन्म मानते हैं उनकी इसलिये किसी भी शारीरिक धर्म में दृढ भावना नहीं बनती। ब्राह्मण तो जन्म से मरणपर्यन्त एक ही रहेगा। इसलिये उसे पता है कि उसे क्या गुण-कर्म प्राप्त करने हैं। परन्तु जो आकस्मिक मानते हैं वे हमेशा भ्रम में पड़े रहते हैं। पूछो–बारहवीं कक्षा में क्या पढ़ रहे हो? कहते हैं–'विज्ञान लिया है।' आगे क्या करोगे? 'देखिये, क्या करते हैं? अभी निश्चय नहीं किया। अगर इंजीनियरिंग में आ गये तो इंजीनियर बन जायेंगे नहीं तो बी०एस०सी०, बी०एड० करके अध्यापक बन जायेंगे।' अर्थात् निश्चय नहीं है कि मैं कौन हूँ? मास्टरी कर रहे हैं। कहीं विज्ञापन देखा कि क्लर्क की जगह खाली और तन्ख्वाह ज्यादा है तो वहाँ आवेदन दे देते हैं। चूंकि निश्चय नहीं होता अथवा निश्चय नहीं कर पाते इसलिये हमेशा भ्रम में पड़े रहते हैं। कोई अपवाद हो जाये, वह दूसरी बात है। जिसे निश्चय नहीं वह बदलता रहता है। इसलिये भगवान् ने कहा कि चातुर्वर्ण्य मेरा बनाया हुआ है। भगवान् ने आकाश, वायु इत्यादि बना दिये तो कोई प्रश्न नहीं करता कि पानी से प्यास क्यों बुझती है, आग से क्यों नहीं? यह इसलिये कि पदार्थों का धर्म पता है। इसी प्रकार भगवान् के बनाये हुए चातुर्वर्ण्य के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया जाता है। चूंकि ईश्वर द्वारा निश्चित है इसलिये मैं अपना धर्म करूं–यह भाव रहता है। जिसे शास्त्रीय ज्ञान नहीं है उसके लिये भगवान् ने उपाय बता दिये। परन्तु उस उपाय में भी दृढ निश्चय वाला बनना ही पड़ेगा अन्यथा कोई संस्कार हमारे दृढ नहीं होंगे।

आचार के साथ विचार का संयोग आवश्यक है। अनाचार और अत्याचार, दोनों से बचना है। 'अनाचारस्तु मालिन्यम् अत्याचारस्तु मूर्खता।' आचार का पालन न किया तो शरीर-मन इतने मलिन हो जायेंगे कि आत्मविचार के लायक नहीं रहेंगे। शौच-स्नान आदि सामान्य आचार का चार-छह दिन पालन न करें तो ही इतनी गंदगी हो जाती है कि सफाई किये बिना आत्मचिन्तन में प्रवृत्त नहीं हो पाते। अनाचार में हेतु तमोगुण है पर वह स्वयं को उपस्थित 'निवृत्तिमार्ग' के रूप में करता है! सदाचारी न होना प्रमाद है, निवृत्ति मार्ग की साधना नहीं है। जैसे अनाचार ग़लत वैसे अति-आचार भी ग़लत है। केवल आचार में ही तत्पर रहकर परमात्मविचार में तल्लीन न होना भी साधक के लिये व्यर्थ है। आचार को ही जीवन का लक्ष्य नहीं बना लेना चाहिये। विचार-आचार के मेल से ही सही व्यवहार होता है। यहाँ भगवान् ने स्वधर्म की बात रखकर सावधान किया कि व्यवहारभूमि में जो 'स्व' है उसके धर्म का निर्णय कर अपने व्यवहार को शुद्ध रखना चाहिये तभी परमार्थ स्व-का विचार भी संभव होगा। अर्जुन जब स्वधर्म का निश्चय करेगा तब उसका विकम्पन मिटेगा क्योंकि धर्मविषयक भ्रम दूर हो जायेगा। खाण्डव वन जलाकर इन्द्रप्रस्थ की स्थापना हुई थी। अर्जुन के निमित्त से ही वह वन जल सका था। अतः इन्द्रप्रस्थ में बसे लोगों के हित के प्रति अर्जुन का दायित्व था। हस्तिनापुर पारंपरिक राज्य था, उसके वाशिन्दों के बारे में वहाँ का राजा धृतराष्ट्र जिम्मेवार हो सकता था, पर इन्द्रप्रस्थ वालों का धर्मानुसार पालन हो यह अर्जुन का धर्म था, उन्हें दुर्योधन के भरोसे छोड़ना अनुचित होता। शरीर से बाह्य होने से प्रजा गौणात्मा है पर तन्निमित्तक धर्म का विचार भी आवश्यक है। युधिष्ठिर आदि को अर्जुन ने भरोसा दिया था तभी वे भी युद्ध के लिये तैयार हुए, उनके प्रति अत एव उसका कर्तव्य था। द्रौपदी की प्रतिज्ञा, कि दुःशासन के भुजा-रक्त से वह अपने केश धोये बिना वेणी नहीं बांधेगी, भी अर्जुन के बल पर निर्भर थी। इन सभी के प्रति कर्तव्य का विचार स्वधर्म-अवेक्षण में आ जाता है। विराट्, द्रुपद 'अर्जुन लड़ेगा' इस भरोसे ही युद्ध में तत्पर हुए थे क्योंकि वे अकेले भीष्म-द्रोण को नहीं हरा सकते यह जानते थे। राजा युद्ध में तुम्हारी सहायता के लिये आये हैं। युद्ध के बाद दुर्योधन इनका घोर दुश्मन बन जायेगा। तुम्हारे जाने के बाद भी वह इनके ऊपर अत्याचार करेगा कि ये तुम्हारी सहायता के लिये आये थे। इसलिये अपने गौण आत्माओं के प्रति तू औचित्य का विचार कर।

अर्जुन यदि कहे कि 'गौण आत्मा का विचार तो कर लूं, परन्तु मेरे शरीर के बारे में क्या होगा? शरीर को तो युद्ध से परेशानी होगी। दिव्यास्त्रों की चोट आदि खानी पड़ेगी?' तो उत्तर है : तू वेद को मानने वाला है। क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ है, शरीर से क्षत्रिय है। क्षत्रिय का धर्म है ''शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनं'; शूरता इत्यादि क्षत्रिय का धर्म है। शूरता का मतलब है कि यदि कोई युद्ध के लिये आहूत करे तो क्षत्रिय उस आह्वान को कभी भी न ठुकराये। यहाँ पहला शंख भीष्म ने बजाया था अर्थात् युद्ध का

आह्वान कर दिया है। अब यदि तू आह्वान को ठुकरायेगा तो तू क्षत्रिय धर्म से विमुख हो जायेगा। युद्ध के मैदान में आकर भागना—यह तुम्हारे शरीर का धर्म नहीं है। इसलिये शरीर के धर्म की दृष्टि से भी तेरा धर्म युद्ध करना ही है।

तेरी प्रकृति, गुणानुसारी स्वभाव भी शूरता का ही है अतः त्रैगुण्य के विचार से भी युद्ध तेरा धर्म है। साक्षात् भगवान् शंकर जब किरात रूप धारण करके आये थे तब तूने उन्हें अपनी शूरता दिखाई भी है। गन्धर्वों के साथ युद्ध करते हुए तुमने अपने तेज को प्रदर्शित किया है। अगर तेरी ऐसे प्रकृति नहीं होती तो विराट् नगर के अंदर जब तू केवल नाच-गान सिखाने के लिये बैठा हुआ था, तेरे को क्या ज़रूरत थी कि कहता कि 'मैं रथ हांक सकता हूँ?' विराट् का पुत्र तो घबड़ा रहा था, तू वहाँ शांत बैठा था, तूने खुद ही कहा कि 'मैं रथ चलाना जानता हूँ'। जब विराट् का पुत्र घबड़ाने लगा तो तू रथ को भगाकर ले आता। वह न करके तू अपने अस्त्रों को उठाकर युद्ध में कूद पड़ा। वह सब किसलिये किया था? भगवान् आगे भी कहेंगे कि तेरी प्रकृति ही तेरे को नियुक्त करेगी। जैसे विराट् नगर में कोई ज़रूरत न होने पर भी प्रकृति ने तेरे को प्रवृत्त किया इसी प्रकार अब भी तेरी प्रकृति ऐसा करेगी। क्षात्र धर्म की दृष्टि से भी तेरे शरीर का धर्म युद्ध करना है और यदि तू त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अधीन होकर कहता है तो भी तेरा यही धर्म है। जब लोग कहेंगे कि 'अर्जुन डर कर भाग गया, भीष्म के सामने कोई टिक सकता है!' तब तेरे से नहीं रहा जायेगा। उस प्रकृति की दृष्टि से भी तेरे शरीर ने जो जन्म लिया है वह युद्ध के लिये ही है। उस धर्म का तू अतिक्रमण कर रहा है।

अर्जुन कह सकता है कि 'शरीर के धर्म को जाने दीजिये, नहीं पालन होगा तो क्या होगा, असली चीज़ तो मन है।' यह मन वाला दर्शन भारत में भी आ गया है कि शरीर से कुछ भी करो, मन शुद्ध होना चाहिये! ग्रीस के अंदर प्लेटो हम लोगों की तरह मानता था कि मन और शरीर का आश्रय-आश्रित भाव संबंध है। अरस्तू ने अलग माना कि शरीर और मन अलग-अलग हैं। तभी से वहाँ यह दर्शन चल गया। भारत में पहले यह दर्शन नहीं आया था लेकिन अब आने लगा है कि शारीरिक धर्म का पालन न करके मन शांत हो जाये क्योंकि असली चीज़ तो मन ही है। अर्जुन भी यही कह सकता है कि 'शरीर से धर्म का पालन नहीं करूंगा। मन से कर लूंगा।'

भगवान् कहते हैं कि मन बनता किससे है? 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' जिन विषयों का सेवन करते हो उसी से मन बनता है। मन कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। आँख से रूप देखते हो तो मन में उसके संस्कार आ गये। कान से शब्द सुनते हो तो मन में उस शब्द के संस्कार आ गये। जिन-जिन विषयों को ग्रहण करते हो उन-उन का वासनाजाल मन में भर जाता है। जैसे मुँह से भोजन लेते हो और शरीर का निर्माण करने वाला वह आहार है वैसे ही मन का निर्माण करने वाला भी यह आहार है। यदि तुम विषयों का सेवन गलत ढंग से करोगे तो तुम्हारा मन कभी भी ठीक नहीं हो सकता। युद्ध के मैदान में प्रत्याहार अर्थात्

इन्द्रियों का विषयों से रुकना सहज स्वाभाविक होता है। सबका सुना हुआ है कि द्रोणाचार्य ने जब परीक्षा ली थी कि चिड़िया की आँख में तीर मारना है तब हरेक से तीर चलाने से पहले पूछते थे कि 'क्या दीखता है?' सब को पेड़ आदि सब चीज़ें दीखती थी। केवल अर्जुन ने ही कहा था कि 'मेरे को लक्ष्य आँख के अलावा और कुछ नहीं दीख रहा है।' समग्र इन्द्रियों का नियंत्रण करोगे तभी लक्ष्य-भेदन कर सकोगे। युद्ध के अंदर सहज रूप से तुम्हारी वृत्ति एकाग्र हो जाती है क्योंकि वहाँ यदि थोड़ी-सी भी असावधानी की तो गर्दन कटी! ऐसी एकाग्रता का तुम्हें अभ्यास है। अतः युद्ध करने से तुम्हारे मन में कोई खराबी आने वाली नहीं है। युद्ध करने का तरीका मैं तुम्हें बताऊँगा–

''सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।''

अर्जुन प्रश्न उठाता है कि 'युद्ध करने में भीष्म, द्रोण आदि को मारना पड़ेगा और बड़ों को मारना धर्म नहीं है। इसी डर से मैं युद्ध छोड़ रहा हूँ।' भगवान् कहते हैं कि भीष्म, द्रोण का वध या कोई भी बड़े-से-बड़ा दुष्कर्म तभी पाप उत्पन्न कर सकता है जब तुम्हारा उद्देश्य सुख-दुःख, लाभ-हानि या जय-पराजय है। अगर ये सामने नहीं हैं, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से तुम युद्ध कर रहे हो तो अधर्म नहीं होगा। विचार करो, गुरु जी ब्राह्मण हैं, उनके पेट में बड़ा दर्द है। वे ब्राह्मण भी हैं, गुरु भी हैं और मैं पेट का सबसे अच्छा शल्य करने वाला चिकित्सक हूँ। परन्तु ब्राह्मण का रक्त निकालना बुरा है और वह भी गुरु का, अतः मैं उनका शल्य नहीं करता! क्या इसको कोई भी धर्म समझेगा? उनका शल्य करना धर्म है, अधर्म नहीं है क्योंकि वहाँ उद्देश्य गुरु की सेवा है, ब्राह्मण की सेवा है, खून बहाना नहीं है। शास्त्र का वचन तो यही कहता है कि ब्राह्मण का खून बहा कर घोर नरक में जाओगे। उस वाक्य को देखकर यही ठीक लगता है कि मैं यह पाप नहीं करूंगा। इसीलिये मनु महाराज ने बहुत पहले इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि प्रज्ञा से रहित व्यक्ति कभी भी धर्मपालन नहीं कर सकता। 'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किं' स्वयं प्रज्ञाहीन शास्त्र के अर्थ को उलट-पुलट करेगा तो उसके मन की शुद्धि कहाँ से होनी है! अतः भीष्म द्रोण मर रहे हैं, परन्तु तुम्हारे उद्देश्य जय-पराजयादि नहीं हैं। केवल धर्ममात्र तुम्हारा उद्देश्य है।

मन वासना या इच्छा का केन्द्र है। समग्र इच्छाओं को तुम्हें परमेश्वर की तरफ ले जाना है। 'परमेश्वर की इच्छा ही मेरी इच्छा है' इस स्थिति में पहुँचना है। भगवान् आगे कहेंगे कि मेरी इच्छा भीष्मादि के मरण की हो चुकी है। जिनको तू कह रहा है कि इन्हें मारूं या न मारूं, वे सब तो मर चुके हैं! उन सबको मैंने मार रखा है। जिसके प्रति परमात्मा का संकल्प हो चुका है कि वे मरे हुए हैं, उन्हें मरना ही है। वैसा न करके तू मेरी इच्छा का ही प्रतिरोध करेगा। अतः ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा न मिलाकर अपनी

इच्छा के अनुसार करेगा और स्वेच्छाचरण ही अधर्म होता है। यदि तू चाहता है कि मन एकाग्र हो तो भी मन की शुद्धि का साधन जय-पराजय की भावना को छोड़कर युद्ध करना है। इस प्रकार मन को ठीक करने का भी यही साधन है। अतः यदि तू अपने आपको मन के साथ एक कर रहा है तो तेरी इच्छा परमात्मा की इच्छा में मिलाते हुए जय-पराजय की भावना को छोड़ते हुए ईश्वर की इच्छा के अनुसार युद्ध करना तेरा स्वधर्म है। तभी मन की शुद्धि होगी, अन्यथा मन के धर्म का पालन नहीं होगा।

अर्जुन यदि मन भी नहीं बुद्धि की, अहं की बात उठाये कि 'मुझे अकर्तृत्वभाव पाना है, मन के धर्मों का पालन क्यों करूं?' तो भगवान् ने इसका भी जवाब दिया है। आगे कहेंगे 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।' सुकृत-दुष्कृत मैं-में रहते हैं, 'मैंने पुण्य किया, पाप किया' आदि अभिमानरूप से वे मैं-में रहते हैं। अहंकार में रहने वाले सुकृत-दुष्कृत दोनों को छोड़ना है, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों का त्याग चाहिये, 'युद्ध नहीं करूंगा' इस अभिमान को रखने से अकर्त्तृत्वभाव नहीं मिलेगा। इसीलिये 'अकर्मणि च कर्म यः' से भगवान् इस बात को स्पष्ट करेंगे। शरीरादि के करने या न करने पर निर्भर न रहने वाली आत्मा की अकर्तृता है। बाह्य क्रिया करना और उसे रोकना दोनों कर्तृत्व हैं जैसे गाड़ी की रफ़्तार बढ़ाना और उसे अतिशीघ्र रोकना—दोनों चालक के कार्य ही हैं। ऐसा नहीं कि चालक केवल गाड़ी चलाये, कहे कि 'मैं चालक हूँ, रोकूं क्यों!' रोकना भी क्रिया ही है, प्रयास-साध्य है। बल्कि रफ्तार बढ़ाने में चालक को कम ज़ोर पड़ता है, तेज़ चलती गाड़ी रोकने में अधिक ज़ोर पड़ता है। ऐसे ही 'मैं नहीं करूंगा' ऐसा निश्चय कर बैठने वाला ज़्यादा क्रिया कर रहा है बजाये उसके जो अपने स्वभावानुसार संकल्पपूर्वक भी कार्य कर रहा है। अतः अर्जुन बुद्धियुक्त होने की बात करे तो भी उसे युद्ध न करने का हठ छोड़ना ही उचित है।

इस प्रकार, चाहे जिस गौण या मिथ्या आत्मा के संदर्भ में सोचा जाये, युद्ध से अतिरिक्त और कुछ स्वधर्म नहीं बनता, उसका उस अवसर पर उचित व्यवहार युद्ध ही है।।३१।।

भगवान् कहते हैं कि क्षत्रिय के लिये धर्म से प्राप्त युद्ध अर्थात् जिस युद्ध में कहीं अधर्म का प्रश्न ही नहीं है वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। जितने आततायी के लक्षण बताये हैं वे सारे दुर्योधन में घटते हैं अतः यह युद्ध केवल धर्म के लिये ही हो रहा है। अन्यथा, युधिष्ठिर, जो स्वयं धर्मराज हैं, वे कभी भी इस युद्ध में अगवानी न करते। इस कारण से जो क्षात्र धर्म वाला है उसके लिये इस धर्म से अतिरिक्त और कोई श्रेय नहीं है। अर्जुन का प्रश्न था कि 'मुझे श्रेय का मार्ग बताइये।' यहाँ भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि मैं तुझे यह श्रेय का मार्ग बता रहा हूँ। यह युद्ध करना तेरे कल्याण का साधन है।

विचार करो : पहली बात तो यह है कि ये सब क्षत्रिय जो युद्ध के मैदान में आये हैं, इनमें से दुर्योधन की तरफ से बहुत से लोग पापकर्मी हैं इसलिये ये सब मिलकर नरक जाने

वाले हैं। परन्तु क्षत्रिय हैं इसलिये युद्ध में सामने मारे जाने के फलस्वरूप स्वर्ग लोक को जायेंगे जिसके अतिरिक्त और उनका स्वर्गप्राप्ति का कोई उपाय नहीं है क्योंकि पापी हैं। भीष्म, द्रोण तो अपनी योग्यता से स्वर्ग चले जायेंगे। बाकी लोगों को भी अंत में मरना ही पड़ेगा। धर्मयुद्ध का जो मौका उन्हें मिला है उसे हटाने का तू निमित्त बनेगा। दूसरी बात है कि अग्निहोत्र आदि करो, अन्य सब यज्ञ करो तो जब प्रारब्ध कर्म समाप्त होगा, तब स्वर्ग जाओगे, तब तक स्वर्ग नहीं मिलेगा। और निश्चित भी नहीं है कि तेरा अग्निहोत्र आदि ठीक संपन्न हुआ या नहीं। यज्ञादि कर्मों में कोई गलती रह गई तो स्वर्ग नहीं मिलेगा। परन्तु यहाँ युद्ध के मैदान में मरने पर क्षत्रिय स्वर्ग जाते हैं यह तो निश्चित पता है। इसलिये दुर्योधन के पक्ष वालों को भी तुम इस युद्ध से उपकृत करोगे ही, इसमें संदेह नहीं। इसलिये यह धर्मयुद्ध है और श्रेयस्कर है जो तुम्हारे लिये भी कल्याण का मार्ग बनायेगा और दूसरों के लिये भी स्वर्ग आदि का मार्ग बना देगा। उस धर्म युद्ध को स्पष्ट करते हैं।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

यदृच्छा से सामने आया यह युद्ध स्वर्ग जाने के लिये खुला दरवाज़ा है। हे पृथापुत्र! जो क्षत्रिय ऐसा युद्ध पाते हैं वे सुखी होते हैं।

भगवान् कहते हैं कि इन सब क्षत्रियों को स्वर्ग जाने का यह मौका मिला है। भगवान् ने पूरा प्रयास करके अंत में दुर्योधन से कहा था कि पाण्डवों को पाँच गाँव दे दो तो युद्ध टल सकता है। अगर दुर्योधन ने पाँच गाँव दे दिये होते तो पाण्डवों को अपने गाँव मिल जाते और दुर्योधन को अपनी सम्पत्ति मिल जाती, लेकिन इन सारे क्षत्रियों को जो यहाँ इकट्ठे हुए हैं, स्वर्ग जाने का मौका कैसे मिलता? जिसे अंग्रेजी वाले 'चान्स' कहते हैं, संस्कृत में उसके लिये 'यदृच्छा' शब्द है। यह एक प्रकार से 'चांस' या यदृच्छा ही हो गयी है कि दुर्योधन ने इतनी बड़ी सल्तनत में से पाँच गाँव देना भी नहीं माना और सब लोगों के लिए स्वर्ग जाने का रास्ता खुल गया। भगवान् अर्जुन को पार्थ सम्बोधन से याद दिलाते हैं कि तू क्षत्रिय है, पृथा का पुत्र है। कहाँ तो ऐसे मौके पर तुम्हें प्रसन्नता होनी चाहिए और कहाँ तू दुःखी होने लगा! क्षत्रिय लोग तो ऐसा मौका आने पर सुखी होते हैं कि अच्छा हुआ जो धर्म युद्ध हुआ। यहाँ भी जितने लोग आये हुए हैं वे सब प्रसन्न हो रहे हैं कि युद्ध का मौका मिला। ईदृशं युद्धं अर्थात् धर्म्य युद्ध, इस युद्ध का कारण कोई अधर्म नहीं है, केवल धर्म के लिए ही यह युद्ध मिल रहा है। ऐसा मिलना अत्यन्त कठिन है और वह मौका इन सब क्ष्त्रियों को मिल गया। यह देखकर ये सब हर्षित हो रहे हैं। अतः तेरा युद्ध से विमुख होना अनुचित है।।३२।।

अर्जुन के शोक का सामान्य अर्थात् मूल कारण आत्मा-अनात्मा में परस्पर अध्यास था

जिसे हटाने के लिये पहले आत्मस्वरूप का वर्णन किया। उसके शोक के प्रति विशेष कारण था धर्म के बारे में अविवेक-पूर्वक विपरीत बुद्धि, धर्म को अधर्म समझना। इसे दूर करते हुए भगवान् क्षत्रिय के धर्म का वैशिष्ट्य बता रहे हैं : ज्योतिष्टोमादि सही सम्पन्न हुए या नहीं यह निश्चय नहीं किया जा सकता जबकि युद्ध में लड़कर मरना यह क्षात्र धर्म सम्पन्न हो गया यह निश्चित हो जाता है जिससे स्वर्गलाभ भी असन्दिग्ध रहता है। इसलिये युद्ध को स्वर्ग का खुला द्वार कहा। ऐसे युद्ध को उपस्थित होने पर भी छोड़ना ग़लत है यह स्पष्ट बताते हैं–

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

यदि तू धर्मयुक्त यह संग्राम नहीं करेगा तो स्वधर्म और यश छोड़कर पाप एकत्र करेगा।

'अथ' से भगवान् पक्षान्तर को बताते हैं कि अपने धर्म का पालन नहीं करने से क्या होता है। युद्ध करने के लाभ को बताकर युद्ध न करने से क्या हानि होगी वह बताते हैं। यह धर्म्य संग्राम है अर्थात् धर्म के लिये किया जाने वाला संग्राम है। क्षत्रिय के धर्मों का जहाँ विचार किया है वहाँ स्मृतिकारों ने कहा कि क्षत्रिय का मुख्य धर्म प्रजापालन है। प्रजापालन धर्म तभी हो सकता है जब तुम प्रजाओं के पालन करने वाले राजा पद को प्राप्त करो। इसका मतलब केवल राजा बनना नहीं समझ लेना, राजा के किसी अंग के अंदर भी राजधर्म ही रहेगा। अतः अधर्म का राज्य होगा तो तुम अधर्म के द्वारा प्रजापालन करोगे और अधर्म के द्वारा प्रजापालन करने से अधर्म ही होगा, धर्म नहीं होगा। यह बात अच्छी तरह याद रखना, क्योंकि आज प्रायः लोग कह देते हैं कि 'राज्य जो कहे उसे करना धर्म है ऐसा शास्त्रों में कहा है।' परन्तु जहाँ यह कहा है वहाँ उसका तात्पर्य है कि जहाँ राज्य धर्मानुसारी हो वहाँ उसकी आज्ञा का पालन धर्म होता है। अन्यथा हिरण्यकशिपु वेद का विरोध करने वाला था, ऋषि राजाज्ञा पालन नहीं कर रहे थे तो क्या वे अधर्म कर रहे थे? अतः राजाज्ञा तभी धर्म होती है जब राजा अर्थात् राज्य-व्यवस्था धार्मिक हो। शास्त्रकारों ने यह नियम किया है कि अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र प्रबल है। सांसारिक लाभों को देने वाला अर्थशास्त्र है। यहाँ अर्थशास्त्र से आधुनिक अर्थशास्त्र(Economics) नहीं समझना। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–चार में से इहलोक की कामनाओं को पूर्ण करने के साधनों को अर्थ कहा जाता है। जो परलोक का साधन बताता है वह धर्मशास्त्र कहा जाता है। पुराणों में या महाभारत आदि कई जगह अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी कह दिया गया है। अतः वहाँ लिखा है–इतने मात्र से निर्णय नहीं होता, किस संदर्भ में और तात्पर्य से लिखा है इसका विचार करना पड़ता है।

अर्जुन की शंका यही है कि युद्ध न करने पर हमें राज्य फल नहीं मिलेगा अतः इसकी

अपेक्षा भीष्म, द्रोण आदि पूज्यों को नहीं मारना *धर्म* है। यही उसकी शंका का हृदय है। भगवान् कहते हैं कि जहाँ क्षत्रिय के धर्म बताये गये हैं वहाँ धर्मानुसारी राज्य की व्यवस्था से प्रजा-पालन उसका धर्म बताया गया है। पिता की आज्ञा के कारण भीष्म, भीष्म के संबंध के कारण द्रोण इस समय अधर्म-राज्य की मदद करने वाले हैं अतः इनका वध न करना अधर्म हो जायेगा, अधर्म को बढ़ाने का कारण हो जायेगा। इसलिये भगवान् ने कहा कि यह धर्म्य युद्ध है, धर्म के लिये किया जाने वाला युद्ध है। क्षत्रिय का प्रधान धर्म धर्मानुसार प्रजापालन है जो दुर्योधन के कारण धृतराष्ट्र नहीं कर रहा है, अतः यह युद्ध धर्म्य है। यदि तू इसे नहीं करेगा तो तेरा जो प्रजापालन रूप धर्म है उससे तू विमुख हो जायेगा। तू अपने धर्म से च्युत हो जायेगा।

अर्जुन की शंका युद्ध को काम्य कर्म मानकर है। राज्यप्राप्ति की कामना से प्रेरित होकर युद्ध करने से राज्य ग्रहण करना ठीक है यह अर्थशास्त्र कहेगा। धर्मशास्त्र कहेगा कि भीष्म, द्रोण आदि महानुभावों को न मारना ठीक है। अतः अर्जुन की शंका है कि धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र से प्रबल है। इसका जवाब भगवान् ने दिया कि धर्म्य संग्राम के अंदर धर्म के लिये संग्राम कर रहे हो; राजा बनने के लिये नहीं वरन् प्रजापालन के लिये कर रहे हो। प्रजापालन क्षत्रिय का नित्य कर्म है अतः यह काम्य नहीं रह जाता। आगे भगवान् इसे और स्पष्ट करेंगे। फलतः, यदि युद्ध से विरत होगा तो 'स्वधर्मं हित्वा' तू अपने स्वधर्म से च्युत हो जायेगा। तुम्हारा यह कहना है कि 'भीष्म द्रोण के खून से सने हुए भोगों की प्राप्ति मैं नहीं चाहता;' यदि भोगप्राप्ति के लिये तू युद्ध करे तो यह प्रसंग आयेगा, परन्तु यह युद्ध भोगप्राप्ति के लिये नहीं है। इस प्रकार कर्तव्य-बुद्धि से किया युद्ध धर्म होकर अहिंसावाक्य की बात काट देगा।

भगवान् दूसरी बात और कहते हैं : यदि धर्म की दृष्टि छोड़कर इहलोक की दृष्टि से सोचा जाये तब भी युद्ध छोड़ना ठीक नहीं। इस लोक के फलों में सबसे बड़ा फल कीर्ति, यश या अच्छा नाम है। कोई कार्य करने-न करने का निर्णय लेते समय वह यश का कारण बनेगा या नहीं—इसका विचार करना चाहिये। इतिहास में प्रसिद्ध है : एक शेर गाय को मारने के लिये उसके पीछे जा रहा था। राजा दिलीप ने उस गाय को बचाने का प्रयत्न किया तो वह हथियार भी नहीं चला पाया। वह दैवी शेर था, उसने मनुष्य की भाषा में कहा कि 'तेरा परिश्रम व्यर्थ जायेगा, मेरे को तू नहीं मार सकेगा।' तब राजा ने उसके जवाब में कहा 'तेरे को खाना है तो मुझे खा ले, गाय को छोड़ दे।' शेर ने कहा 'तेरा इतना अच्छा शरीर है, तू इसे क्यों नष्ट करना चाहता है?' राजा जवाब देता है 'यशः शरीरे भव मे दयालुः' यदि तू मेरे शरीर पर दया करना चाहता है तो मेरे यश रूपी शरीर पर दया कर। तू मुझे खा लेगा तो शरीर जायेगा लेकिन मेरा यश रूप शरीर रहेगा कि 'गाय की रक्षा के लिये राजा ने अपना शरीर दे दिया।' अन्यथा मेरी हमेशा अपकीर्ति रहेगी कि 'इन्होंने अपने शरीर को बचा कर गाय को मरने दिया'।

मनुष्य का इस लोक में सबसे प्रधान शरीर यश है, कीर्ति है। भगवान् कहते हैं कि युद्ध से विमुख होने पर तेरी कीर्ति चली जायेगी। इसलिये इस लोक में तेरे को श्रेष्ठ फल होगा।

केवल धर्म नहीं होगा या कीर्ति नहीं होगी इतना ही नहीं पाप की भी प्राप्ति होगी। प्रजापालन नित्य कर्म है। नित्य कर्म और काम्य कर्म में यह फ़र्क है कि फल की कामना होने पर जिसे करो वह काम्य कर्म है। यदि तुमको वह कामना नहीं है तो वह कर्म मत करो, कोई दोष नहीं होगा। नित्य कर्म वह है जो अवश्य करना चाहिये, उसे न करना दोष बन जाता है। यदि यह युद्ध काम्य कर्म होता, धर्म्य संग्राम न होता, तो तू कह सकता था कि युद्ध नहीं करेगा। युद्ध करने से जो पुण्य होता, वह तुझे नहीं मिलता। नित्य कर्म वह है जो तुम्हें कामना से नहीं करना है, वरन् शास्त्र ने विधि की है इसलिये करना है। जैसे प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर स्नान सन्ध्यादि करना है। यह कार्म्य कर्म नहीं है। किसी फल की इच्छा से नहीं वरन् विधि है इसलिये किया जाता है। इसलिये यदि तुम सुबह उठकर नहीं नहाते हो तो नहाने का पुण्य नहीं होता, इतना ही नहीं वरन् न नहाने का पाप भी होता है। नित्य कर्म न करने से दोष की प्राप्ति होती है अथवा प्रत्यवाय होता है। इसलिये नित्य कर्म में तुम यह नहीं कह सकते कि 'मुझे इसका फल नहीं चाहिये तो इसे न करूं। प्रजापालन तुम्हारा नित्य कर्म होने से यदि तुम उसे नहीं करोगे तो उसको न करने से धर्म तो नहीं ही होगा, कीर्ति भी जायेगी और साथ में पाप भी होगा।' अर्जुन ने बड़े ज़ोर शोर से कहा था 'इससे अच्छा तो मैं भीख माँग कर गुज़ारा कर लूंगा।' भगवान् कहते हैं कि ऐसा करने से पाप कमायेगा, धर्म छूटेगा। अतः युद्ध न करने से न इहलोक में फायदा है और न परलोक में फायदा है।

अगर तू मोक्ष का साधक है तो जान ले कि नित्य कर्म न करने से प्रत्यवाय के कारण तेरा चित्त शुद्ध नहीं होगा क्योंकि शास्त्रकारों ने बताया है कि जो मोक्ष का साधक हो वह उन कर्मों को न करे जिनका वेद ने मना किया है और जिन कर्मों को कामनापूर्वक करने को कहा है उनको भी न करे परन्तु ''नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया'' प्रत्यवाय से बचने के लिये नित्य-नैमित्तिक कर्मों को तो करता रहे क्योंकि प्रत्यवाय तुम्हारे अंतःकरण को शुद्ध नहीं होने देगा और अंतःकरण की अशुद्धि के कारण तुम्हारा अंतःकरण परमात्मप्राप्ति की योग्यता को प्राप्त नहीं करेगा। इस प्रकार भगवान् ने सिद्ध कर दिया कि युद्ध से विमुख होना न अर्थ और काम को संपन्न करेगा, न धर्म और मोक्ष का उपाय बनेगा वरन् ऐहिक सुविधाओं से तो वंचित करेगा ही, अपयश देकर सांसारिक दुःख का हेतु बनेगा, पाप का कारण होगा और इसलिये मोक्ष मार्ग का भी विरोधी होगा।३३।।

इहलोक की दृष्टि से, युद्ध न करने में अपयश की प्राप्ति रूप दोष है इसी को और स्पष्ट करते हैं—

अकीर्तिं चाऽपि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणाद् अतिरिच्यते।।३४।।

किंच, लोग तेरी चिरस्थायी अपकीर्ति का कथन भी करते रहेंगे। समाज में जो धर्म के निमित्त से सम्मानित हो, उसकी अपकीर्ति फैले, यह उसके लिये मरण से भी ज़्यादा कष्ट-कर हो जाता है।

'भूतानि' अर्थात् देवता, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य आदि जितने प्राणी हैं उनके बीच यह बात कभी भी ख़त्म नहीं होगी कि अर्जुन धर्मयुद्ध को छोड़कर भाग गया! हमेशा तुम्हारी यह बदनामी रहेगी। अब तक तो भीष्म, द्रोण और इन्द्र आदि देवता, सब यह कहते थे कि अर्जुन आदि पाण्डव लोग धर्म के ऊपर चलने वाले हैं। इसीलिये तुमने ये सब कष्ट उठाये। 'धार्मिक है' तेरी इस कीर्ति की जगह अकीर्ति हो जायेगी। हमेशा लोग यही कहेंगे कि 'अर्जुन मौके पर धर्मच्युत हो गया, इसलिये पहले भी यह धार्मिक होने का नाटक कर रहा था।'

जिसको पहले लोग न जानते हों कि धार्मिक है, वह यदि अधर्मी होता है तो उतनी अकीर्ति नहीं होती परन्तु जिसकी पहले खूब कीर्ति ख्यापित हो, जिसे पहले धार्मिक समझ रखा हो, वह यदि अधार्मिक होता है तो लोगों की दृष्टि में बहुत खटकता है। इसलिये हम कई बार कहते हैं कि धर्म का नुक्सान जितना धार्मिक लोग करते हैं उतना अधार्मिक लोग नहीं करते! क्योंकि यदि कोई ठगी करता है, झूठ बोलता है तो इतनी ही बात होती है कि 'यह ठग है, झूठा बोला है।' परन्तु साथ में यदि वह धार्मिक कार्यों को कर रहा है–मन्दिर में जाता है, सत्संग में जाता है–तो लोग कहेंगे कि 'मन्दिर में जाने वाले ऐसे होते हैं, ऊपर से ही धर्म करते हैं, अन्दर से अधर्म करते हैं।' इससे धर्म के प्रति लोगों की भावना ज़्यादा खराब होती है। यही भगवान् कह रहे हैं : अब तक तू धार्मिक रूप से सम्भावित था, सब लोग तेरे को धार्मिक समझते थे अतः तेरा अधर्म करना लोगों को ज़्यादा बुरा लगेगा। लोक में ऐसा होता है : दुनिया के लोग झूठ बोलते हैं तो कोई चर्चा नहीं होती। परन्तु युधिष्ठिर धर्मराज थे, जिस किसी कारण से आधा झूठ बोले तो आज तक लोग कहते हैं कि 'युधिष्ठिर को भी तो झूठ बोलना पड़ा।' इस प्रकार की अकीर्ति मरने से भी ज़्यादा बुरी है। अपयश मरने से भी बुरा है। विशेषकर यशस्वी व्यक्ति के लिये यह अपयश और बुरा होता है। इस प्रकार कीर्ति तो चली ही जायेगी और हमेशा के लिये यह अकीर्ति बनी रहेगी। अतः युद्धत्याग अनुचित है।।३४।।

हो सकता है अर्जुन के मन में आया हो कि 'साधारण लोग भले ही अपकीर्ति करेंगेब़ड़े-बड़े लोग तो समझेंगे कि इसके अंदर कितनी करुणा या दया है कि इसने युद्ध नहीं किया क्योंकि युद्ध में अनेक लोग मर जाते।' इस संभावना को भाँपकर भगवान् कहते हैं–

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

महारथी लोग यही मानेंगे कि डर के कारण तुम लड़ाई से विमुख हुए हो। जो अब तक तुम्हें बहुत सन्मान देते रहे, उनसे सम्मानित होकर तुम उनकी दृष्टि में तुच्छता (गौरवहीनता) प्राप्त करोगे (यदि युद्ध न किया तो)।

'महारथाः' अर्थात् भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि जो बड़े-बड़े महारथी लोग हैं वे सभी इस बात को कहेंगे कि 'इसके पास सात अक्षौहिणी ही सेना थी। सामने ग्यारह अक्षौहिणी सेना को देखकर, और चूँकि भीष्म, द्रोण आदि इसके पक्ष में नहीं थे, इसलिये यह डर कर युद्ध से भाग गया।' अतः भीष्म द्रोण भी करुणा की बात नहीं कहेंगे, यही कहेंगे कि 'महाडरपोक है, मौके पर भाग गया।' जो भीष्म, द्रोण आदि तुम्हें बहुत बड़ा मानते हैं वे सारे उस मत को छोड़कर 'यह अत्यंत तुच्छ है, समय पर धोखा देकर भाग जाता है' इस प्रकार तेरे को अत्यंत छोटा मानेंगे। यही अपकीर्ति होगी, कोई तुम्हारी करुणा को स्वीकार नहीं करेगा। हरेक यही समझेगा कि भय से भागा है।।३५।।

भीष्मादि तो डरपोक समझ लेंगे इतना ही, लेकिन दुर्योधन आदि तो मुखर होकर निन्दा करेंगे, यह बताते हैं–

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाऽहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

तेरे शत्रु तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए ऐसी बहुत-सी बातें कहेंगे जो कहने लायक नहीं हैं। इससे ज़्यादा दुःखद क्या हो सकता है!

न कहने योग्य बातें जैसे–यह तो नपुंसक है इसीलिये तो विराट् नगर में नपुंसकों को पढ़ाता था इत्यादि। भगवान् इसके द्वारा एक सूक्ष्म भाव प्रकट करते हैः जब अग्नि ने अर्जुन को गाण्डीव और अक्षय तूणीर दिया था तब अर्जुन ने कहा था कि 'कोई भी यदि इसकी निन्दा करेगा तो मैं उसे मारे बिना नहीं रहूँगा।' यह तेरी प्रतिज्ञा है। ये लोग कहेंगे कि 'तेरे गाण्डीव को और अक्षय तूणीर को धिक्कार है'। तेरे जो हितकारी भीष्म आदि हैं वे सब भी तेरे इस गाण्डीव को धिक्कारेंगे, तब तू अपनी प्रतिज्ञा के लिये लड़ेगा! आगे भी भगवान् कहेंगे 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।' तेरे से सहन नहीं होगा, फिर तू युद्ध करेगा। तुम्हारी सामर्थ्य है कि तुमने साक्षात् भगवान् शंकर से युद्ध करके पाशुपतास्त्र लिया है। लोग कहेंगे 'ये सब कहने की बाते हैं, यदि ऐसा होता तो युद्ध से भाग थोड़े ही जाता!' तुम पाशुपतास्त्र इसीलिये प्राप्त करने गये थे कि महाभारत युद्ध में तुम्हें इतने बड़े-बड़ों के सामने लड़ना पड़ेगा। विशेषकर के भीष्म, द्रोण ही ऐसे थे जिन्हें इस प्रकार के दिव्यतम अस्त्रों के बिना हराया नहीं जा सकता था। इसीलिये तुमने दीर्घकाल तक तपस्या करके पाशुपतास्त्र प्राप्त किया।

भीष्म को अर्जुन नहीं हरा सकता था। महाभारत युद्ध के पहले जब भीष्म से पूछा गया है कि 'कौन, ऐसा है जो अठारह अक्षौहिणी सेना से लड़ सकता है?' तब उन्होंने कहा

कि 'अब मैं बुड्ढा हो गया हूँ फिर भी एक दिन के युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना को अकेला मार सकता हूँ। तीन दिन में द्रोणाचार्य मार सकते हैं।' उस समय में भी वे अकेले अठारह अक्षौहिणी सेना को मार सकते थे और उन्हें दुःख इस बात का था कि उन्हें *दिन भर* लग जायेगा!

अतः भगवान कह रहे हैं–तेरे लिये पाशुपतास्त्र की प्राप्ति के बिना उन्हें मारना सम्भव नहीं था। सबको पता है कि तुमने यह अस्त्र प्राप्त किया। यदि तुम्हें भीष्म द्रोण से लड़ना नहीं था तो तुमने इसे क्यों प्राप्त किया? अतः लोग कहेंगे कि पाशुपतास्त्र प्राप्त किया यह व्यर्थ की बात है। ये सब कहेंगे कि तू घुड़की देकर डराना चाहता था, सामने आ गये तो भाग खड़ा हुआ! इस प्रकार तेरे सामर्थ्य की निन्दा होगी तो उससे ज़्यादा दुःख और क्या होगा?।।३६।।

अब भगवान् इस लौकिक दृष्टि वाले प्रसंग का समापन करते हुए कहते हैं कि युद्ध करने में दोनों तरह से तुम्हारा लाभ है–

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

इस युद्ध में यदि मर गया तो स्वर्ग पायेगा और अगर जीत गया तो पृथ्वी का पालन करते हुए राज्य सुख का उपभोग करेगा। कुन्तीसुत! 'युद्ध करना है' इस निश्चयपूर्वक उठ खड़ा हो।

युद्ध छोड़ना दृष्ट अदृष्ट दोनों अकल्याणों का, जबकि लड़ लेना दोनों कल्याणों का कारण है। इसलिये जो तुमने कहा कि 'ये मुझे मार डालें तो अच्छा हो', तो बिना युद्ध लड़े मर कर भी तेरा अकल्याण ही होगा और इस धर्म युद्ध में भाग लेगा तो मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति अवश्य होगी। युद्ध में दो ही बातें होनी हैं–या मारे जाओगे या जीतोगे। यदि जीतोगे तो प्रजा-पालन का अवसर मिलेगा। राजा बनोगे, प्रजापालन करके तुम स्वर्ग को जाओगे। 'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'। पृथ्वी के भोग का मतलब केवल कामनापूर्ति के भोग नहीं वरन् प्रजापालन रूपी धर्म का पालन करना है।

पहले भगवान् ने पार्थ सम्बोधन किया था, अब कहते हैं तू कौन्तेय है, कुन्ती का पुत्र है अर्थात् ज़रा विचार कर कि तेरी वंश-परम्परा के अन्दर क्या कोई ऐसे युद्ध से भागने वाला पहले कभी भी हुआ है? यह विचार करके तू खड़ा हो जा अर्थात् युद्ध करने का निश्चय कर।

जैसे कि पहले बताया था, अर्जुन के लिये वहाँ युद्ध का ही प्रसङ्ग है, परन्तु यह बात सभी के लिये भगवान् कह रहे हैं कि धर्म के अनुसार आचरण करने पर यदि तुम्हारा नुक्सान होता है तो उस नुक्सान को सहने पर वह तुम्हारी तपस्या होकर तुम्हारे लिये स्वर्ग की प्राप्ति का कारण बन जायेगा। और यदि धर्म पर रहकर तुम्हें सफलता मिलेगी तो उस सफलता के द्वारा तुम और धर्म कर सकोगे। अधर्म से प्राप्त की हुई सम्पत्ति से धर्म किया

ही नहीं जा सकता। इसलिये भीष्म ने शांति पर्व में कहा है कि सभी शुचिताओं में परम है अर्थ की शुचिता। धर्म के अनुसार प्राप्त शुद्ध सामग्री से धर्म करना पड़ता है। अशुद्ध चीज़ों से करने से धर्म नहीं होता। मान लो तुमने हवन करने के तिल लिये और उन तिलों में कीड़े पड़े हुए हैं तो दोष के भागी बनोगे क्योंकि द्रव्य की अशुद्धि है। इसी प्रकार कर्त्ता की अशुद्धि है। कर्म किया लेकिन उपयुक्त वस्त्र आदि धारण नहीं किये तो अशुद्धि हो जायेगी। अतः किसी भी कर्म को करने के लिये सब प्रकार की पवित्रता रखनी पड़ती है। भीष्म कहते हैं कि सब पवित्रताओं में जिस धन के द्वारा तुम सब कार्य कर रहे हो उसकी पवित्रता सबसे अधिक आवश्यक है। यदि अर्थोपार्जन अधर्म से किया है और उससे चाहो कि धर्म कर लो तो वह होगा नहीं। यदि तुमने अधर्म से धन प्राप्त नहीं किया, धर्म पर रहने से तुमको नुक्सान हो गया, तब वह तपस्या तुम्हारे स्वर्ग का कारण बनेगी। यदि धर्म पर रहकर धन प्राप्त हो गया तो उस के द्वारा तुम शुभ कर्मों को करके फिर स्वर्ग के योग्य बन जाओगे।

स्वर्ग किसे कहते हैं? एक स्वर्ग तो पुराण में बतायेंगे जहाँ इन्द्र आदि राजा है। परन्तु जो कर्मकाण्ड के विचारक हैं, उन्होंने स्वर्ग का कुछ और लक्षण किया है–

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनंतरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदं।'

'स्वः' वह है जिसके बीच में कोई दुःख न आये। प्रसिद्ध पौराणिक स्वर्ग में तो सुनते ही हो कि वहाँ राक्षस दुःख देते रहते हैं। इन्द्र कभी गधा बन कर छिपता है। देवता इधर-उधर भागते फिरते हैं! क्योंकि असुर स्वर्ग पर कब्जा कर लेते हैं अतः वह स्वर्ग दुःख से सम्भिन्न है। वास्तव में स्वः का लक्षण आत्मा में जाता है। आत्म-सुख में कभी दुःख नहीं आता क्योंकि परमात्मा आनन्दघन है। बीच में कहीं एक परमाणु भी ऐसा नहीं है कि जहाँ दुःख हो। वह दुःख से कभी ग्रस्त भी नहीं होता। यह लक्षण सुषुप्ति के सुख में चला जाता है। जितनी देर गहरी नींद है तब तक कोई दुःख नहीं है। उठकर कहते हो 'बड़े मज़े से सोया, बीच में कोई दुःख नहीं हुआ।' सुषुप्ति का सुख तो उठने पर खत्म हो जाता है परन्तु आत्मसुख कभी खत्म नहीं होता। सौषुप्त सुख ऐसा नहीं है क्योंकि अभी तुम्हारा अज्ञान बचा है और उस अज्ञान में तुम्हारे सारे कर्म बचे हैं। वही तुम्हें जाग्रत् व स्वप्न में खींच कर ले आते हैं। अज्ञान है तो सुषुप्ति का सुख मिलने पर भी उठने पर खत्म हो जाता है। वह आत्मसुख अभिलाषोपनीत है अर्थात् उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इच्छामात्र से प्राप्त हो जाता है। इसलिये आत्मसुख ही ऐसा है कि आनन्दघन होने से उसमें दुःख का लवलेश भी नहीं है। अज्ञान नष्ट हो जाने से वह आत्मसुख कभी भी खत्म नहीं होगा।

यह अज्ञाननाश अंतःकरण की केवल शुद्धवृत्ति की अपेक्षा करता है, किसी कर्म की

अपेक्षा नहीं करता, इसलिये ब्रह्मसूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से शुरू होता है। जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मज्ञान की इच्छा या अभिलाषा। जिज्ञासा होने पर विचार में प्रवृत्ति होती है। आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि सामान्य जिज्ञासा तो सबको हो सकती है कि 'ब्रह्म को जान जायें तो बड़ा अच्छा है।' लोग चाहते हैं कि बाकी सब काम भी करते रहें और ब्रह्मज्ञान भी हो जाये। कोई कहता है घंटा दो घंटा हो जाये तो अच्छा है। इसलिये उन्होंने स्पष्ट किया है कि विवेक वैराग्य शम आदि और मुमुक्षा से युक्त जो ब्रह्म की जिज्ञासा होती है वही वस्तुतः जिज्ञासा है। इसके लिये उन्होंने बड़ा विचित्र दृष्टान्त दिया हैः जैसे तुम्हारे सिर पर यदि अंगारा पड़ जाये तो क्या सोचते हो कि यह अखबार थोड़ी बाँच लें या हिसाब खत्म कर लें तब हटा देंगे, या तुरंत उसे हटाने की सोचते हो? उसमें कोई भी व्यवधान नहीं आता। इसी प्रकार जिसके अंदर विवेक, वैराग्य आदि सम्पत्ति होती है, उसे यह संसार सिर पर रखे हुए अंगारे जैसा लगता है कि इसे तुरन्त हटाये। ऐसी तीव्र जिज्ञासा अवश्य मोक्ष का कारण बनती है। मोक्ष कठिन नहीं लेकिन तब जब परमात्मा के लिये तड़प पैदा हो जाये। हम सब परमात्मा को चाहते तो हैं लेकिन सिर पर रखे अंगारे की तरह हमारे अंदर तड़प नहीं है। ऐसी जिज्ञासा को भगवान् वेदव्यास ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से कहा है। जिसके अंदर वह जिज्ञासा होगी वह ज्ञानप्राप्ति के लिये निरंतर श्रवण मनन में लगेगा, इसमें संदेह नहीं, इसलिये अवश्य ज्ञान हो जायेगा। आत्मरूप स्व-पद ही वास्तविक स्वर्ग है।

इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि उस स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अर्थात् यदि तू अभी कामना वाला है तो पुराणों में कहे हुए स्वर्ग आदि को जायेगा। परन्तु यदि तू उस कामना वाला नहीं है तो यह जो तुम्हारा धर्म है, यही तुम्हारी चित्तशुद्धि का हेतु बन कर तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति करायेगा। इसलिये 'उत्तिष्ठ' कहा। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है 'तस्य उद् इति नाम' उत् अर्थात् ब्रह्म; अतः उत्तिष्ठ अर्थात् तू परमात्मा में स्थित हो जा। भगवान् केवल युद्ध में खड़े होने को नहीं कह रहे हैं! वे तो कह रहे हैं कि वास्तव में परमात्मा में निश्चयपूर्वक इस धर्माचरण को करो क्योंकि यही तुम्हारे अन्तःकरण को शुद्ध करके तुम्हारी जिज्ञासा को पूर्ण करेगा। जो तुमने श्रेय का मार्ग पूछा है, वह यही है। इसलिये तुम्हारे लिये यही साधन है।।३६।

ब्रह्म में स्थिति होने के लिये युद्ध कैसे करना पड़ेगा, यह भगवान् अगले श्लोक में बता रहे हैं–

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीत-हार इन्हें 'सम' करके तब युद्ध के लिये सचेष्ट हो, यों करने पर तुझे पाप नहीं होगा।

भगवान् अर्जुन को समझाते हैं कि विषमता से युद्ध करेगा तो भी धर्म होने से सामान्य सुख की प्राप्ति होगी परन्तु यदि सम होकर युद्ध करेगा तो परमात्मा की प्रसन्नता होगी। इस कर्म से सुख या दुःख दोनों में एक जैसे रहो, अर्थात् न सफलता से सुख और न असफलता से दुःख अनुभव करो, दोनों में समभाव रखो। यह तभी होगा जब यह निश्चय रखो कि हमको परमात्मा ने जो कार्य निर्णीत कर दिया उसे करना है, परमात्मप्रसन्नता के लिये करना है। जैसे मालिक हमें चाहे सुख के काम में भेजे या दुःख के, हमें वही करना है। एक पण्डितजी कहा करते थे कि नौकरी में न ना करो न नू करो! यह काम ठीक है या गलत—यह तो काम बताने वाला जाने, तुम से मतलब नहीं। इसी प्रकार सुख मिले या दुःख, तुम केवल परमात्मा की प्रसन्नता के लिये करो। आगे भगवान् कहेंगे कि जब मेरी प्रसन्नता हो जायेगी तब आने वाले सारे विघ्न नष्ट हो जायेंगे।

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।'

जब मेरी प्रसन्नता हो जायेगी तब आने वाले सारे विघ्न नष्ट हो जायेंगे अर्थात् तुम्हारी ब्रह्माकार वृत्ति स्थिर हो जायेगी। सुख-दुःख का कारण लाभ, अलाभ होता है। कुछ मिला तो सुख और नहीं मिला तो दुःख होता है। सुख-दुःख में समान होने के लिये लाभ-अलाभ में समान होना पड़ता है। कर्तव्य-बुद्धि रखने पर ही यह संभव है। इस प्रकार विषम बुद्धि को छोड़कर समबुद्धि रख कर तेरे लिये निणीर्त धर्मयुद्ध कर। इस प्रकार से तू युद्ध को करेगा तो पाप को प्राप्त नहीं करेगा। अज्ञान ही सबसे बड़ा पाप है क्योंकि उस अज्ञान से ही तुम्हारी धर्म में अधर्मबुद्धि और आत्मा में अनात्मबुद्धि होती है। यह पाप तुम्हें नहीं होगा। महाभारत में कहा है 'किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा' जिसने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया, उसने क्या पाप नहीं कर लिया! क्योंकि सारे पापों का बीज अज्ञान ही है। इसलिये यहाँ भगवान् सूचित कर रहे हैं कि समभाव से स्वधर्मानुष्ठान के द्वारा अज्ञानरूपी पाप हट जायेगा और मेरी कृपा के द्वारा तुम्हारी बुद्धि स्थिर हो जायेगी।

इस प्रकार भगवान् ने शोकनिवृत्ति का व्यावहारिक उपाय स्पष्ट किया। परमात्मप्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग इसी तरह तय किया जा सकता है, राग-द्वेषादि विषमता रखकर नहीं। समबुद्धि रखकर स्वधर्मपालन करता रहने वाला परमात्मा में स्थिर हो सकता है, अन्यथा अज्ञानरूप पाप से पिण्ड कभी छूट नहीं सकता। सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग का प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ।।३८।।

जब महाभारत युद्ध की तैयारी हो गई तब अर्जुन ने देखना चाहा कि उसकी बराबरी के कौन-कौन योद्धा हैं। उसने देखा कि विरोध में भीष्म द्रोण आदि ही प्रधान रूप से उपस्थित हैं। तब उसके मन में यह धर्मसंकट आया कि इन लोगों को मारकर राज्य प्राप्त करना चाहिये या नहीं? वह विचार आने पर इस निश्चय में बदल गया कि 'युद्ध नहीं ही

करना चाहिये। इन लोगों के खून से सने हुए राज्य को लेकर क्या करूंगा!' भगवान् से उसने यह कहा तो पहले भगवान् ने उसके इस दुःख का निवारण करने के लिये आत्मज्ञान का उपदेश दिया। उसके बाद (३१ वें श्लोक से ३८ वें श्लोक तक) भगवान् ने बताया कि सामान्य धर्मदृष्टि से भी यह धर्म करना कर्त्तव्य है। इस पर प्रश्न होता है कि गलत काम का फल तो होगा ही, जब कोई कर्म करोगे तो उसका फल होगा, लेकिन कर्म संपन्न करने की क्रियाओं का भी अच्छा-बुरा प्रभाव होगा ही। जैसे मान लो, यहाँ से चलकर भगवान् का दर्शन करने मन्दिर में गये और रास्ते में बेध्याने होने के कारण कोई कीड़ा मर गया तो यह नहीं कह सकते कि 'हम तो धर्मकार्य मंदिर-दर्शन के लिये जा रहे थे इसलिये कीड़ा मरने का दोष नहीं लगेगा।' इसी प्रकार युधिष्ठिर इत्यादि राज्य को प्राप्त करें इसके लिये युद्ध लड़ना स्वधर्म है क्योंकि अपनी माँ, भाई, पत्नी आदि सबकी रक्षा करना धर्म है; यह भी ठीक है कि ऐसा नहीं करने से यश आदि सब नष्ट हो जायेंगे; परन्तु इस धर्म के कार्य को करते हुए अपने पूज्य दादा, गुरु इत्यादि को मारना पड़ेगा तो उसका दोष भी क्या नहीं लगेगा?

यह कर्म की कठिन परिस्थिति हमेशा है। कोई पुण्य कर्म तुम करते हो तो उससे धर्म उत्पन्न होता है परन्तु अवान्तर रूप से, कितना भी प्रयत्न करो कुछ-न-कुछ अधर्म भी हो ही जाता है । एक बार एक महर्षि प्रातःकाल अग्निहोत्र कर रहे थे। जब यज्ञ करके चले तो अभी मन्दान्धकार था। जाते हुए एक मकोड़े पर उनका पैर पड़ा और वह मर गया। उनके मन में आया कि 'इस मकोड़े को मरना था तो मर गया लेकिन मैं इसके मरने का निमित्त क्यों बना?' वे यमराज के पास पहुँचे, यमराज ने उन्हें बड़े आदर से बिठाया और आने का कारण पूछा तो महर्षि ने कहा कि 'एक मकोड़ा यहाँ आया होगा, उसके मरने का कारण मैं क्यों बना?' यमराज ने कहा 'आहुति देने में नियम है कि आहुति अग्नि की लपट में पड़नी चाहिये। आप थोड़े-से बे-ध्यान हो गये तो आहुति का एक दाना बाहर पड़ गया। उस दाने को इस मकोड़े ने खा लिया। आप जैसे ऋषि के मंत्र द्वारा पवित्र किया हुआ दाना मकोड़े ने खा लिया तो क्या उसकी असद् गति होती? इसलिये वह उस शरीर में नहीं रह सकता था। आपके प्रमाद के कारण उसको मरना पड़ा, इसलिये आप निमित्त बने। वह तो मरकर अच्छे लोक को जायेगा, लेकिन आपको उसकी हत्या का दोषी बनना पड़ गया।' असावधानी थोड़ी-सी हो पर मनुष्य के द्वारा होती ज़रूर है, उसका फल भी भोगना पड़ता है।

इसलिये अर्जुन की भी समस्या थी कि आपने 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (३१ वें श्लोक) से स्वधर्म की बात कही, वह तो ठीक ही है लेकिन दादा, गुरु आदि को मारने का दोष भी लगेगा ही। दोष कर्म करने वाले को लगता है, फल सब भोगते हैं। वाल्मीकि की कथा प्रसिद्ध ही है : जब वह नारद जी को पकड़ रहा था तब उन्होंने उससे यही पूछा था कि 'पाप करके तू कमाता है, खाते तो सब घर वाले हैं, दोष वे नहीं लेंगे, तुम्हें ही भोगना

पड़ेगा।' उसने घर जाकर पूछा तो सबने यही कहा कि 'तुम कैसे कमाते हो—इससे हमें कोई मतलब नहीं, पाप के भागी हम क्यों बनेंगे?' इसी प्रकार युधिष्ठिर राजा बनेगा, द्रौपदी की वेणी बँध जायेगी, माता प्रसन्न होगी, लेकिन इन सबको मारने का पाप तो मुझे ही भोगना पड़ेगा। इसलिये मैं कैसे लड़ूं?

तब भगवान् ने कहा—

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

हे पृथापुत्र! यह तुम्हें परम सत्य आत्मा के बारे में ज्ञान बताया। इस ज्ञान की प्राप्ति के उपाय के बारे में जानकारी सुनो जिस जानकारी से संपन्न होकर तुम कर्मरूप बंधन को छोड़ दोगे।

भगवान् आगे के प्रकरण का महत्त्व बताते हैं कि मैंने परमात्म-तत्त्व का उपदेश तो अब तक तुम्हें दे दिया; उसको प्राप्त करने के लिये जो योग है अर्थात् जिस प्रकार के कर्म-उपासना करने से तू उस ज्ञान को अपने अनुभव का विषय बना सकेगा, उसे अब बताता हूँ।

दो प्रकार के ज्ञान होते हैं—परोक्ष और अपरोक्ष। तुमने यहाँ बैठकर न्यूयार्क का वर्णन सुना तो तुम्हें ज्ञान हुआ लेकिन यह परोक्ष ज्ञान है, वह चीज़ तुम्हारे सामने नहीं है, अथवा तुमने न्यूयार्क के विषय में पढ़ा तो शब्द से ज्ञान हुआ परन्तु न्यूयार्क यहाँ नहीं है, इसलिये परोक्ष ज्ञान हुआ। मान लो कोई यहाँ आकर पूछता है—क्या दीपा यहाँ है? हम कहते हैं 'है।' वह कहता है—'मुझे उससे मिलना है।' उससे कहते हैं—'यहाँ बैठी तो है, उसे देख लो।' 'दीपा है' यह ज्ञान तो उसे हो गया, परन्तु 'यह दीपा है' यह उसे पता नहीं है इसलिये अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। सबको बैठा देखकर उसे भी देख रहा है। लेकिन उसे देखते हुए 'यह दीपा है', यह पता नहीं लग रहा है। शब्द से परोक्ष ज्ञान भी होता है और शब्द से अपरोक्ष ज्ञान भी होता है। जहाँ चीज़ अपरोक्ष है वहाँ शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है। जैसे ही हम कह देंगे कि 'बैंगनी रंग की साड़ी पहने बैठी है', तब उसे अपरोक्ष ज्ञान हो जायेगा। शब्द से दोनों ज्ञान होते हैं। चीज़ सामने है तो अपरोक्ष ज्ञान होता है और चीज़ सामने नहीं है तो परोक्ष ज्ञान होता है। परमात्मा सर्वव्यापक है। सर्वव्यापक होने पर भी उसका ज्ञान क्यों नहीं हो रहा है? इसलिये कि सर्वव्यापक होने पर भी वह हमारे सामने नहीं है। परमात्मा का रूप सच्चिदानन्द है। संस्कृत में जिसे सत् कहते हैं हिन्दी में उसे 'है' कहते हैं। 'है' परमात्मा का रूप है। हर चीज़ में 'है' व्यापक दीख रहा है। घड़ा है, कपड़ा है आदि में घड़ा और कपड़ा तो खूब विस्तार से बता सकते हैं, परन्तु आगे पूछते हैं कि 'घड़ा है' में 'है' क्या चीज़ है? तो कुछ मालूम नहीं। नीला घड़ा है। इसमें तुम नीले घड़े का मतलब बता दोगे परन्तु आगे 'है' शब्द का मतलब भी तो बताना चाहिए! रात-दिन

है तुम्हारे सामने है, बिना हुए कुछ नहीं होता यह जानते हो, परन्तु जानने पर भी वह क्या है यह पता नहीं है। इसी प्रकार 'लड्डू का ज्ञान, पेड़े का ज्ञान' इसमें लड्डू-पेड़े का वर्णन कर देंगे। परन्तु इन सब चीज़ों के साथ जो ज्ञान कहते हैं उस ज्ञान का रूप नहीं जान रहे हैं। इसी प्रकार रसगुल्ले, खीर मोहन का आनंद है। 'आज के आनन्द की जय' भी बोल देते हैं, पर वह आनंद चीज़ क्या है? जिस चीज़ का आनन्द है उसका वर्णन होगा परंतु वह आनन्द क्या है–यह नहीं बता सकते। सभी सत्, चित् आनंद का व्यवहार कर रहे हैं, दीख रहा है, लेकिन जैसे दीपा को वह यहाँ देख रहा है परन्तु 'यह दीप है' यह नहीं जानता, इसी प्रकार सच्चिदानन्द परमात्मा से व्यवहार करते हुए भी 'यह परमात्मा है' इस बात को नहीं जानते। उसको जानने का साधन योग है।

योग दो प्रकार का है–शरीर से करने का साधन और मन से करने का साधन। शरीर और मन दोनों को जो ठीक प्रकार से साध लेगा उसको तो सर्वव्यापक होने पर भी परमात्मा का ज्ञान हो सकेगा। परमात्मा साध्य है जो प्राप्त करना है, योग साधन है जिससे परमात्मा प्राप्त होगा; अर्थात् परमात्मा योग के द्वारा प्राप्त होगा। साधन को बताने में खास हेतु है "कर्मबन्धं प्रहास्यसि।" अर्जुन का विचार था कि कर्म करूंगा तो आगे बन्धन होगा, क्योंकि कर्म करने से जो दोष होगा वह भोगना ही पड़ेगा। कर्म ही बाँधता है। अतः भगवान् कहते हैं कि यह जो योग-विषयक ज्ञान हम बतायेंगे उस ज्ञान से युक्त होकर कर्म करोगे तो वह तुम्हारे कर्मरूप बंधन को नष्ट कर देगा अर्थात् कर्म करते हुए भी तुम्हें दोष की प्राप्ति नहीं होगी, कर्म से होने वाला बंधन नहीं होगा। इस बात को मैं इसलिये कह रहा हूँ कि तू पार्थ है, बुआ का लड़का है, मैं तुम्हें वास्तविक बात बता रहा हूँ।।३६।।

इस योग की विशेषता व्यक्त करते हैं–

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

मोक्षमार्गरूप कर्मयोग प्रारंभ हो जाये तो नष्ट नहीं होता और न इसके अभ्यास में कोई पाप होता है। यह धर्म थोड़ा भी अनुष्ठित हो जाये तो महान् भय से बचा लेता है।

यह जो योग का विषय मैं तुम्हें बताने जा रहा हूँ इसमें तुमने बीच में कुछ और कर लिया तो वह नष्ट हो जाय, ऐसा नहीं है। अन्य जितने शास्त्रीय कर्म हैं उनके बीच में कोई दूसरा कर्म कर लिया तो तुरन्त प्रायश्चित्त करना पड़ता है। दूसरी कोई बात भी मुँह से नहीं बोल सकते। प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि भगवान् विष्णु, शंकर भगवान् का सहस्रार्चन करने बैठे, रोज़ ही करते हैं। लक्ष्मी जी हज़ार कमल चुन कर लाती थी और वे सहस्रार्चन कर लेते थे। एक दिन ६६६ नाम पूरे होने पर कमल खत्म हो गये तो सहस्रार्चन पूरा नहीं

हुआ। अब एक कमल कहाँ से लायें? बीच में बोल नहीं सकते। आजकल के लोग तो बोल देंगे, लेकिन नियम यह है कि कोई भी दूसरा कर्म बीच में कर लिया तो वह सहस्रार्चन खंडित हो जाता है। इसलिये लक्ष्मी जी को बुला नहीं सकते थे इशारा भी नहीं कर सकते थे। तब उन्होंने विचार किया कि 'मुझे वेद में कमलनयन कहा है। इसलिये यदि यह नेत्र चढ़ता है तो वेद की बात सिद्ध होती है'। नेत्र चढ़ाते ही भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। चूंकि उन्होंने अपनी आँख चढ़ाई थी इसलिये भगवान् शंकर ने उन्हें सुदर्शन चक्र दे दिया। दर्शन करने का काम आँख का है। उससे वे सारे संसार की रक्षा करते हैं। जितने भी श्रौत-स्मार्त कर्म हैं उनके बीच में यदि कुछ और कर्म आ जाता है तो प्रारंभ किया मूल कर्म नष्ट हो जाता है। ऐसा लोक में भी होता है। जैसे हमने कहा कि 'देवदत्त को मैंने देखा, वह रंगीन कपड़े पहने था। रोटी आजकल बहुत कम मिलती है। कमल गट्टे की खीर खाई।' इस प्रकार कहने से क्या किसी को "मैंने रोटी खाई" का ज्ञान होगा? तीनों शब्द बोले, पर बीच में दूसरे शब्द भी तो बोले। यही कहोगे कि इससे अभिक्रम नष्ट होता है। क्रम से बोलो तो ज्ञान होता है। इसी प्रकार वैदिक, स्मार्त आदि कर्मों के अंदर क्रम से करना पड़ता है। जैसा क्रम बताया है उसी क्रम से करना पड़ता है।

भगवान् कहते हैं 'इह अभिक्रमनाशः न अस्ति'; 'इह' अर्थात् यह जो योगविषयक बुद्धि मैं तुमको दूँगा इसमें अभिक्रम-नाश नहीं है। इस समय तुमने करना शुरू किया, बीच में छूट गया, फिर दो साल बाद भी करोगे तो शुरू करने में कोई हर्जा नहीं है। जैसे हज़ार नामों में से एक नाम छूट गया तो ९९९ नामों का पुण्य भी नहीं लगेगा ऐसा यहाँ नहीं है। जितना किया उतना फल तो देगा ही। कर्म ऐसा नहीं है। वरन् कर्म पूरा होने पर ही फल देगा। परन्तु जो योग बुद्धि मैं बताने जा रहा हूँ उसके अनुसार साधन करने पर बीच में कुछ व्यवधान भी होगा तो जहाँ से छोड़ा है वहाँ से फिर शुरू कर सकते हैं। आगे भगवान् कहेंगे कि यदि इस जन्म में योग शुरू कर दिया और किसी कारण से दूसरे व्यवहार में लग गये, तुम्हारा साधन पूरा होना रह गया और मर गये–उसी को योगभ्रष्ट कहते हैं अर्थात् योग के लिये प्रवृत्त हुआ और फिर दूसरी तरफ चला गया–तो जहाँ से छोड़ा है, अगले जन्म में वहीं से आगे मौका मिलेगा। यहाँ दूसरा कर्म कर लिया तो भी कर्म-नाश नहीं होगा, और जन्मान्तर मिल गया तो भी अगले जन्म में कर्मनाश नहीं होगा, फिर मौका मिल जायेगा। दूसरे कर्मों की अपेक्षा यहाँ यही विशेषता है। तुम से कहा कि जुकाम में अमुक दवाई ले लो और पथ्य बता दिया कि दही मत खाना, ठंडा कोका कोला मत पीना। तुमने दवाई तो खाई लेकिन दही खाते रहे और ठंडा कोका कोला भी पीते रहे। तीन दिन बाद कहते हैं कि 'मेरा जुकाम बढ़ गया।' वैद्य कहेगा कि दवाई खाने पर भी पथ्य नहीं रखा तो रोग बढ़ना ही है। अनेक प्रकार की दवाईयाँ लो, लेकिन ढंगपूर्वक या पथ्यपूर्वक नहीं लोगे तो दोष और बढ़ जायेगा, कम नहीं होगा। इसी प्रकार कर्म के अंदर भी है।

कर्म जिस प्रकार से करना चाहिये उसी प्रकार से न करके मनमाना करते हो तो उससे दोष उत्पन्न होता है। यह भी समझने की बात है। जैसे अभिक्रम के बारे में उसी प्रकार प्रत्यवाय के बारे में लोग कहते हैं कि 'मैंने कर्म तो अच्छा ही किया, दोष कैसे हो सकता है?' लेकिन यह निर्णय है कि जिसको जिस कर्म का अधिकार नहीं है उसे उसको करने से दोष होगा। केवल फल नहीं मिलेगा इतना ही नहीं। जैसे सवेरे उठे, लेकिन बिना नहाये-धोये माला लेकर जप किया; काम तो अच्छा किया है लेकिन अशुद्ध अवस्था में किया, अतः केवल फल नहीं होगा इतना ही नहीं दोष भी उत्पन्न होगा। किंतु यहाँ बताये योग में प्रत्यवाय या दोष नहीं होगा, थोड़ा भी किया, आधा-अधूरा भी किया तो भी दोष नहीं लगेगा। बहुत थोड़ा, नहीं जितना भी यह योग किया गया तो भी यह संसारभय से छुड़ाने में ही सहायक होगा। पुनः जन्म लेने व मरने का ही भय सबसे बड़ा है। इस जन्म-मृत्युप्रवाह में पड़ चुकने पर जो अन्य शोक आते रहते हैं उनका भय कोई महत्त्व का नहीं, संसरणभय ही महत्त्वपूर्ण है। जैसे सेना में कोई विशेष बहादुरी के लिये खास तमगा (मैडल) मिल जाये तो अवान्तर समूहों द्वारा कई तमगे भेंट में मिल जाते हैं या भारत के राष्ट्रपति बन जाओ तो अनेक डाक्ट्रेट आदि उपाधियाँ मिलती जाती हैं वैसे सारे दुःख इसीलिये मिलते हैं कि तुमने जन्म ले लिया है! जन्म न लेते तो कोई दुःख नहीं होता। इसलिये सब दुःखों का पहला 'मैडल' जन्म है। जन्म हुआ तो दूसरे दुःख आने ही हैं। लोग बाकी दुःखों की बात तो करते हैं लेकिन इस मूल दुःख की बात नहीं करते। हमारी गरीबी आदि कैसे दूर हो—इसकी बात करते हैं। जन्म दूर करने की बात कोई नहीं करता। जन्म ही सबसे बड़ा दुःख है इसलिये इसको महान् भय कहते हैं। जो योग मैं तुम्हें बताने जा रहा हूँ वह यदि तुमने बहुत थोड़ा भी कर लिया तो अभिक्रम-नाश नहीं, प्रत्यवाय भी नहीं, वह तुम्हें संसार-बंधन से छुड़ा ही देगा। ज़्यादा करोगे तो जल्दी छूट जाओगे, थोड़ा करोगे तो समय ज़्यादा लगेगा, जन्मान्तर भी लग सकते हैं, लेकिन छूट ज़रूर जाओगे।।४०।।

क्यों इसमें प्रत्यवाय नहीं लगता और क्यों छूट जाते हैं, इसका कारण भगवान् बताते हैं—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

कुरुकुल को आनंद देने वाले अर्जुन! कल्याण के मार्ग के बारे में बुद्धि निश्चयात्मिका और एक है। प्रामाणिक विवेक से रहित लोगों की बुद्धियाँ अनन्त और बहुत भेदों वाली होती हैं।

यह जो योग का अभ्यास है इसके अंदर निश्चयात्मिका बुद्धि अर्थात् निश्चय वाली बुद्धि होना कठिन है। इसमें यही एक कठिनाई है। यह निश्चयात्मिका बुद्धि एक है। प्रायः

लोग संशय को निश्चय मान लेते हैं! आज एक निश्चय, तीन दिन बाद दूसरा निश्चय, दस दिन बाद तीसरा निश्चय, महीनेभर बाद फिर अन्य निश्चय होता है। वे निश्चय नहीं हैं। इसलिये भगवान् ने कहा कि एक निश्चय कर लेना है कि मुझे परमात्मा को प्राप्त करना है। अगर यह निश्चय कर लेते हैं तब तो आगे सारी साधना ठीक चलेगी। परन्तु यदि यह निश्चय नहीं है तो वह निश्चय-स्वभाव वाली बुद्धि से अलग अव्यवसायी बुद्धि है कि परमात्मा को भी प्राप्त करना है और अन्य चीज़ों को भी प्राप्त करना है। वह अव्यवसायी बुद्धि अनेक शाखाओं वाली बुद्धि होती है। कोई डाली नीचे से ऊपर तक एक-जैसी रहती है पर अधिकतर डालियाँ अनेक तरफ बढ़ती हैं। जो बहुत कामनाओं वाले लोग हैं उनकी बुद्धि बहुत शाखाओं से निकलती है। वे बहुशाखा वाले अनन्त हैं।

ऐसे समझ लोः यदि हमको यह निश्चय है कि बम्बई जाना है तो हमारा रास्ता निश्चित हो जायेगा और जगह-जगह पर मील का पत्थर भी मिल जायेगा जिससे पता लगेगा कि बम्बई के नज़दीक पहुँच रहे हैं, रास्ता घटता चला जा रहा है। पहले यह निश्चय है कि मुझे बम्बई पहुँचना है तब तो चलकर पहुँच जाओगे, तेज़ी से या धीरे-धीरे, पहुँच ज़रूर जाओगे; चाहे कोई रास्ता खड्डे वाला आयेगा तो भी ठीक पहुँच जाओगे। यदि कोई यह सोचता है कि 'अपने को तो अच्छी सड़क से चलना है, कभी-न-कभी तो बम्बई पहुँच जायेंगे', तो खराब सड़क देखकर दूसरी तरफ चला जायेगा, बम्बई कभी नहीं पहुँच पायेगा। ठीक इसी प्रकार से अधिकतर लोगों की यह निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं है कि 'मुझे पाना क्या है,' जैसे सड़कें अनन्त हैं ऐसे ही उन लोगों की बुद्धि भी अनेक शाखाओं वाली है। इसीलिये अधिकतर लोग जीवन में कभी संतोष का अनुभव नहीं कर पाते। एक उद्देश्य हो तो प्रगति का पता चलता है और संतोष होता है कि कुछ आगे बढ़े। अन्यथा, धन कमाने में लगे, लड़के कहना नहीं मानते तो दुःखी हो जाते हैं। यदि धन की ही बुद्धि थी तो लड़के माने न माने, धन कमाने से सुखी रहो। बहुशाखा वाले यह नहीं सोच पाते, सोचते हैं कि लड़कों को ही ठीक किया होता। उन्हें ठीक किया तो सोचते हैं कि बिना पैसे के कुछ नहीं होता! अनेक शाखायें और उनमें भी फिर अनेक प्रकार, इस प्रकार पहुँचने लायक जगह नहीं होती। इसलिये जिन लोगों की बुद्धि अव्यवसायी या निश्चयहीन होती है, उनके जीवन में हमेशा असंतोष ही रहता है। जो निश्चय वाले होते हैं वे इस योगमार्ग में लग सकते हैं। बहुशाखा वाला व्यक्ति इस मार्ग में लग नहीं सकता।।४१।।

लोगों को वेदों में इसलिये भ्रम होता है कि वेदों ने सभी और सब तरह के लोगों के लिये तरह-तरह के उपाय बताये हैं। धन कमाने वाले के लिये धन-प्राप्ति का उपाय बताया, विद्याप्राप्ति चाहने वाले के लिये उसका उपाय और राज्य-कामना वाले को राज्य-प्राप्ति का उपाय बताया। जिसको जो चाहिये वह उसका साधन अपनाये—यह वेद का भाव है। हम कई बार कहते हैं कि वेद अमरीका के डिपार्टमेन्टल स्टोर की तरह है जहाँ

सुई से लेकर मोटर तक जो चाहो खरीद लो! कहते हैं कि वहाँ बच्चा पैदा होने से लेकर मरने तक की चीज़ें मिल जायेंगी, सिर्फ मरने के बाद गाड़ने का इंतजाम नहीं है इसी प्रकार वेद जिसको जो चाहिये उसको वह प्राप्त करने का उपाय बता देता है। लोग वेद को देखकर उन्हीं चीज़ों में फँस जाते हैं। निश्चय तो यह करना चाहिये था कि यदि वेद से सब चीज़ें मिल जाती हैं तो *वेद* हमें क्या करने को कहता है। बाकी सब जगह वेद ने कर्म के फल बताये, परन्तु एक जगह केवल कहा है कि यह तुम्हें *करना चाहिये;* बाकी सर्वत्र *करना चाहिये* नहीं कहा, सर्वत्र कहा है कि अमुक कर्म करने से यह फल मिलेगा। लेकिन एक जगह यही कहा है कि यह तुम्हारा कर्तव्य है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' अर्थात् परमात्मा का दर्शन करना चाहिये। यहाँ फल नहीं बताया, अमुक कामना वाला करे–यह भी नहीं कहा। वहाँ श्रुति ने अपना तात्पर्य बताया कि अन्यत्र कामनापूर्ति के साधन क्यों बताये गये हैं? जैसे किसी बच्चे का मन पढ़ाई में नहीं लगता तो कहते हैं 'अगर तुम्हारे ८० प्रतिशत नम्बर आयेंगे तो एक मोटर गाड़ी देंगे।' छोटा बच्चा होगा तो कहेंगे 'चाकलेट देंगे, खेलने की छूट देंगे।' वहाँ सर्वत्र तात्पर्य चीज़ देने में नहीं है, वरन् तात्पर्य है कि बच्चे अच्छी तरह पढ़ें। इसी प्रकार वेद ने तुम्हारी सारी कामनाओं की पूर्ति के उपाय बताये लेकिन वेद स्वयं क्या कहता है–परमात्मा का दर्शन करो। यदि परमात्मदर्शन करने में प्रवृत्त हो गये तो यह सब मिल जायेगा। अगर कोई पिता कहे कि 'तेरे को कुछ नहीं मिलेगा, केवल पढ़ो,' तो कोई दुर्लभ बच्चा होगा जो शौक से पढ़े, अन्यथा जिसे विद्या के आनंद का पता ही नहीं है वह स्वतः पढ़ने में प्रवृत्त नहीं होगा। इसी प्रकार वेद ने भी सारे कर्मफलों को इसलिये नहीं बताया कि इनकी प्राप्ति करो। यह तो वैसे ही है जैसे प्राचीन काल में बच्चा दूध नहीं पीता था तो कहते थे कि दूध पियोगे तो चोटी बढ़ जायेगी। दूध पीने का चोटी बढ़ने से कोई संबंध नहीं है। फिर भी ऐसा कहने से बच्चा दूध पी लेता था। अथवा कोई कड़वी दवाई की गोली खिलानी होती थी तो गुड़ में लपेट कर खिला देते थे; वहाँ भी तात्पर्य गुड़ खिलाने में नहीं था। इसी प्रकार वेद ने सारे फल तो इसलिये बताये कि आदमी परमात्मा के ज्ञान में प्रवृत्त हो यह समझकर कि वेद यही कहना चाह रहा है। लेकिन होता क्या है? भगवान् कहते हैं–

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

हे पार्थ! अल्प मेधा वाले लोग वेदोक्त अर्थवादों में ही रति रखते हैं और कहते हैं कि विषयसाधन कर्मों से परे कुछ नहीं है। वे यह बात बोलते हैं जो फूलों से लदे पेड़ की तरह सुन्दर लगती है (पर तथ्य से परे है)।

कर्मफल तो एक प्रकार से फूलों की सजावट है जिससे परमात्मा की तरफ प्रवृत्त हो। पेड़ में फूल हों तो पेड़ सुदर लगता है। ठीक इसी प्रकार वेदरूप पेड़ में अनेक प्रकार के

फूल और फल लगे हों तो वेद शोभायमान हो जाता है। अच्छे से अच्छा पेड़ हो, उसमें फूल नहीं हैं तो साधारण आदमी आकृष्ट नहीं होगा। खासकर फूल इसलिये हैं कि मक्खी आकर उस फूल को फल के योग्य बनाये। आठ-दस साल पहले शिमला में सेबों के बगीचों में दो-एक साल खेती अच्छी नहीं हुई। वहाँ वालों ने बताया कि एक साल खेती अच्छी नहीं हो तो अगले साल खेती अच्छी होती है। दो साल लगातार खेती खराब हुई तो कुछ विशेषज्ञों ने भी आकर देखा तो बताया कि तुम लोगों ने पेड़ों पर कीटनाशक दवाइयों का प्रयोग करके उनके फूलों पर बैठने वाली मक्खियों को मार दिया तो उन पर फल कहाँ से होने हैं? फल होने के लिये आवश्यक होता है कि मक्खी एक फूल से दूसरे फूल पर बैठे, तभी पेड़ पर फल आ सकते हैं। जब कीटनाशकों से मक्खियों को मार दिया तब फूल तो आये लेकिन फल नहीं आये। अतः उस साल मक्खियों को ही आयात किया फिर उन्हीं पेड़ों पर अगले साल से फल आने लगे। जैसे मक्खी फूलों से आकृष्ट होकर फल पैदा करती है इसी प्रकार मनुष्य वेद की इन फूलों वाली वाणी को देखकर आकृष्ट होगा, फलप्राप्ति के लिये कार्य करेगा। एक बार वेद में प्रवृत्त हो तो धीरे-धीरे परमात्मप्राप्ति रूपी फल को भी प्राप्त कर लेगा।

यदि यह मान लिया कि वेद सब कामनाओं को ही पूर्ण करता है तो उसका असली उपदेश नहीं समझ पाते। जिनकी मेधा शक्ति कमज़ोर होती है, वे आगे-पीछे के ग्रन्थ का अर्थ नहीं बता पाते। तत्तत् प्रकरण की बात ही बता सकते हैं। आगे-पीछे के अर्थ को समझने के लिये मेधा की ज़रूरत होती है। बुद्धि की दो शक्तियाँ हैं—मेधा शक्ति और प्रज्ञा शक्ति। किसी चीज़ को पूरी तरह समझने की शक्ति को प्रज्ञा और उसे याद रखने की शक्ति को मेधा कहते हैं। प्रायशः लोगों में दोनों की कमी होती है। परन्तु जो वेदों का अच्छी प्रकार आवर्त्तन करते हैं उनमें मेधा तो होती है, प्रज्ञा नहीं होती। सचमुच में वेद क्या कहना चाहता है—इसको वे नहीं समझ पाते। इसलिये वे लोग इन फलों की ही बात करते रहते हैं। परन्तु इनके द्वारा अंतिम फल क्या उत्पन्न होना चाहिये—उसे नहीं बता पाते। वे लोग वेदवादरत हैं अर्थात् वेद-सिद्धान्त में रति वाले नहीं हैं। वेद क्या कहना चाहता है, इसे नहीं समझ पाते, वहाँ जो कहा है उतना ही समझ पाते हैं। ऐसे समझ लो : कोई ही ऐसा ब्राह्मण मिलेगा जिसने कम-से-कम गायत्री भी न सीखी हो। उपनयन होने पर गायत्री लेकर ही ब्राह्मण बनता है अन्यथा तो भावी ब्राह्मण रहता है अर्थात् आगे जब उपनयन होगा तब ब्राह्मण बनेगा इसलिये पहले भी ब्राह्मण कहा जाता है। इसलिये जहाँ कहीं ब्रह्मभोज होता है वहाँ जनेऊ वाला यदि आठ साल का है तो उसे दक्षिणा मिल जाती है और बिना उपनयन वाले १८ साल वाले ब्राह्मण को भी दक्षिणा नहीं मिलती क्योंकि अभी वह भावी ब्राह्मण है। गायत्री में कहा है 'तत्सवितु र्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि' शिव ही वरण करने के योग्य है अर्थात् सारे पापों को भूंजने वाले भगवान् शंकर के सिवाय और कोई चीज़ बुद्धि से चुनने लायक नहीं है।

उसी का वरण करना है। जिस प्रकार लड़की ने जिस लड़के का वरण कर लिया, उसके लिये उस लड़के के अलावा पतिरूप का कोई आदमी नहीं रहता। तुलसीदास जी ने भी कहा है ''सपनेउँ आन पुरुष कोउ नाहीं''। सूर्य भी भर्ग है, गर्मी में सब चीज़ों को भूंज देता है। लेकिन जो वेदवादरत लोग हैं, कर्मफलों को ही चाहने वाले हैं, संसार की चीज़ों को ही ग्रहण करने में लगे रहते हैं, उनके जीवन का और कोई उद्देश्य नहीं रह गया है, वे इस तात्पर्य का प्रतिपादन ही नहीं करेंगे कि परमात्मा ही वरेण्य है। बल्कि, 'वेद में कर्म के द्वारा जो फल बताये हैं इनके अतिरिक्त और कोई परमात्मा तत्त्व नहीं है। यही सब कुछ है'–वेदवादरत लोग इसी प्रकार प्रतिपादन करते हैं। चूंकि वे अविपश्चित् हैं, विवेकादि साधनों से सम्पन्न होकर यथासम्प्रदाय श्रुतियों के तात्पर्य का ज्ञान व निश्चय नहीं प्राप्त कर पाये हैं, इसीलिये ऐसा प्रतिपादन करते हैं। वैदिक होने से यह संभव है कि कोई विपश्चित् उन्हें सही बात समझा देगा तो वे भी कल्याण के भागी हो सकेंगे।।४२।।

वेदवादरत अविपश्चित् लोग ऐसा ही प्रतिपादन क्यों करते हैं कि वेद में बताये कर्म और उनके फलों की प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई परमात्मतत्त्व नहीं है, इसका कारण भगवान् अगले श्लोक में बताते हैं कि वे लोग कामना वाले हैं–

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

कामपरायण स्वर्गप्रधान लोग ऐसी बातें बताते हैं जो जन्मरूप कर्मफल देती हैं तथा भोग व ऐश्वर्य की प्राप्ति के प्रति साधनभूत बहुत-सी विशेष क्रियाओं को प्रकट करती हैं।

'कामात्मानः' काम ही उनका स्वरूप है, उनकी आत्मा कामना में ही रत रहती है। वेद के द्वारा वे अपनी कामना-पूर्ति ही चाहते हैं। आत्मा चूंकि उनका विषय ही नहीं है इसलिये आत्मतत्त्व को जानने में उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। मेधा की कमी होने के कारण वे आगे-पीछे की बात का विचार ही नहीं करते। केवल उतना ही अर्थ निकालते हैं जिससे कामना पूर्ण हो। अथवा 'कामात्मानः'–'कामः आत्मा स्वरूपं येषां', उनका स्वरूप ही काम है अर्थात् चीज़ को चीज़ की दृष्टि से न देखकर केवल 'मुझे चाहिये' या 'मुझे नहीं चाहिये' यही उनकी दृष्टि होती है। अतः कामना उनका आत्मा है, स्वरूप ही है। कामना इन्द्रिय, मन और बुद्धि में रहती है, आगे भगवान् कहेंगे–'इन्द्रियाणि मनो बुद्धि रस्याधिष्ठानमुच्यते।'

तीन अवस्थायें होती हैं। इसलिये आचार्य शंकर ने तीन तरह के प्राणियों का वर्णन किया है–

'बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।।'

बालक, तरुण अर्थात् जवान और वृद्ध–तीन अवस्थायें हैं। बालक खेल में लगा रहता है। विषय सामने होगा तभी उससे खेलोगे। बालक को ध्यान से देखो तो पता लगेगा। यदि उसे नीले रंग का डिब्बा अच्छा लगता है तो सामने आने पर वह झट उसे पकड़ लेगा और यदि विषय सामने नहीं आया तो उसे याद भी नहीं आयेगा। जब किसी चीज़ को देखते हैं तो आँख पर उसकी छाप पड़ती है। यदि उससे सुख हुआ तो उसे अच्छा समझता है, उससे दुःख हुआ तो उसे बुरा समझता है। बच्चे को कोई बढ़िया चीज़ दिखलाओ तो उसे देखेगा, देखकर प्रसन्न भी हो जायेगा, लेकिन बिना देखे उसे याद भी नहीं करेगा। अगर पहले किसी ने उसे थप्पड़ मारा है तो जैसे ही वह उसे आते देखेगा, रोने लगेगा, डर जायेगा। जैसे दृष्टि के विषय में ऐसे ही कान के विषय में समझ लो। दूसरे की निन्दा सुनते हैं तो हमें उसमें सुख होता है और हमें कोई डाँटता है तो दुःख होता है। इसी प्रकार नाक पर गंध की और त्वक् पर स्पर्श की छाप पड़ती है। जो-जो चीज़ इन्द्रिय के साथ सम्पर्क में आती है, वह उस पर छाप छोड़कर जाती है। इस छाप को ही संस्कृत में वासना कहते हैं, अर्थात् चीज़ चली गई और छाप रह गई। ठीक जिस प्रकार तुमने कपड़े में कपूर रख दिया तो वह कपूर थोड़े दिनों में उड़ जायेगा परन्तु उस कपड़े में उसकी छाप या गंध रह जायेगी। इसी को वासना कहते हैं। इन्द्रियों पर विषय की छाप पड़ती है। वह छाप पड़ी रहती है, विषय सामने आता है तो वह वासना प्रकट हो जाती है और विषय सामने नहीं होता तो प्रकट नहीं होती। छाप इन्द्रियों में भी है, विषय सामने आने पर उसकी कामना हो जाती है। जिस विषय की छाप नहीं है वह विषय सामने आने पर बच्चा शुरू में कोई प्रतिक्रिया नहीं करेगा। कोई नया आदमी आ गया तो उसकी तरफ देखेगा। जिसने चाकलेट दी उसकी तरफ जाता है और जिसने थप्पड़ मारा है उससे दूर जायेगा अन्यथा केवल देखेगा, क्योंकि इन्द्रिय पर कोई छाप नहीं है। 'बालस्तावत् क्रीडासक्तः' जब तक बच्चा है, तब तक क्रीडा में आसक्त है।

'तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः'। इन्द्रियों पर पड़ी हुई छाप बढ़कर मन पर पड़ जाती है। इसलिये तरुणी-*रक्त* कहा। क्रीडा में आसक्त था। अब विषय में रक्त हो गया अर्थात् बचपन में रंग चढ़ गया, इन्द्रियों पर पड़ी हुई छाप अब मन में आ गयी अतः विषय सामने न होने पर भी जवान आदमी उसे सोचता रहता है। इन्द्रियों पर पड़ी हुई छाप के कारण अर्थात् इन्द्रियों की वासना से तो जब चीज़ सामने है तब उसकी कामना होती है। जब छाप इन्द्रियों से छन कर मन पर आ जाती है तब विषय सामने न होने पर भी मन के अंदर उसके प्रति रक्ति बनी रहती है जिससे प्रायः उसके लिये प्रयत्न या चेष्टा करता है। इसलिये कहा कि वह रक्त हो जाता है अर्थात् उस पर रंग चढ़ जाता है, वह चीज़ सामने न होने पर भी उसकी ओर प्रवृत्ति करता है। उल्टा, अनेक बार विषय सामने होने पर उतनी कामना नहीं होती जितनी सामने न होने पर होती है। महीने भर से जलेबी खाने को नहीं मिली तो जलेबी में राग है। जब जलेबी मिली तब राग होने से आठ जलेबी खा

लीं, नौवीं जलेबी अच्छी नहीं लगती! विषय मौजूद होने पर भी अच्छा नहीं लगता। जब तक विषय नहीं मिला और उसके लिये उत्कण्ठा होती है 'कब मिले, कैसे मिले'—यह रक्ति है, परंतु जलेबी मिल जाने पर उसकी तीव्रता कम होती जाती है। आचार्य शंकर ने 'तरुणी' शब्द विशेषकर प्रयुक्त किया है। पति-पत्नी साथ में रहते हैं तो कुछ-न-कुछ खटर-पटर करते हैं। पत्नी महीने भर के लिये मायके चली जाये तो पति बार-बार सोचता है कि कब आयेगी, इसलिये सामने होने पर उतना राग प्रकट नहीं होता, दूर होने पर कामना बढ़ जाती है।

यह तो मन की बात हुई। इसके बाद जब मन की छाप गहरी हो जाती है तो बुद्धि पर आ जाती है। बुद्धि में ही अहं है। जब छाप बुद्धि पर आ जाती है तब अपने आपको उसके बिना सर्वथा अपूर्ण देखता है। अर्थात् वह नहीं है तो 'मैं पूर्ण नहीं हूँ' ऐसा प्रतीत होता है। जैसे, आजकल के बच्चे सोचते हैं कि प्रथम श्रेणी नहीं आई तो पढ़ना बेकार है! उनसे कहो कि 'पढ़ने से ज्ञान हुआ, वह ज्ञान तो तुम्हारे पास है'; तो कहते हैं 'ज्ञान का क्या करें! फर्स्ट डिविज़न तो आई नहीं।' जब बुद्धि में यह छाप चली जाती है तब 'वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः।' पहले आसक्त हुआ, फिर रक्त हुआ और अब *मग्न* हो गया। वृद्ध हमेशा चिंता में मग्न रहता है। किसी-न-किसी चीज़ की चिंता ही हमेशा करता रहता है, निश्चिंत कभी होता ही नहीं। कारण भी ऐसे बन जाते हैं : जवान था तो पत्नी की सोचता था, फिर बच्चे हो गये, बच्चों का विवाह हो गया, बहुएँ आ गई, जंवाई हो गये, फिर नाती पोते हो गये। इतने लोगों में कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी पर कष्ट आना ही है; कभी बीमारी आयेगी, कभी किसी के काम का हर्जा हो जायेगा। पहले केवल पत्नी की ही सोचता था और अब तो दुनिया भर की चिंतायें सिर पर आ गई, निश्चिंतता कहाँ होनी है! इसलिये अब राग केवल मन तक नहीं रहा, बुद्धि में पहुँच गया।

कामनाओं की प्रौढता के विकास का भी यही क्रम समझना चाहिये। प्रारंभ में इन्द्रिय-विषय की ही कामना होती है। उसे कामना की बाल्यावस्था कह सकते हैं। इससे उस विषय का बार-बार अनुभव करते हैं, इन्द्रियों पर उसकी छाप पड़ती जाती है तथा वहाँ गहरी हो चुकने पर मन में छाप आ जाती है। यह उसकी युवावस्था है। मन अत्यन्त चंचल है, वह किसी एक कामना पर भी टिका नहीं रहता, एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी कामना पर कूदता रहता है। फिर जब मन से आगे बढ़कर बुद्धि पर छाप पड़ जाती है तब कामना लगातार सताती रहती है। यही उसकी वृद्धावस्था है। अब चिंता निरंतर बनी रहती है। इस प्रकार कामना की तीन अवस्थाएँ हैं।

प्रायः कहा जाता है कि आत्मा कामना से परे है। श्रुति ने भी कहा है 'निष्कामः'। फिर यहाँ 'कामात्मानः' कैसे कहा? शास्त्र में जिस आत्मा की बात कही जाती है वह आत्मा *मैं* नहीं है। आत्मा मैं नहीं है यह कैसे पता लगता है? गहरी नींद में 'मैं' नहीं रहता। मैं सो रहा हूँ या आनन्द में हूँ, ऐसा कुछ पता नहीं लगता क्योंकि वहाँ मैं नहीं है, परन्तु आत्मा

है। जब जाग्रत् में आते हो तब मैं आता है। जगोगे तभी मैं आयेगा। उस मैं में चूंकि आत्मा है इसलिये आत्मा के अनुभव का स्मरण भी कर लेते हो। अतः जगने पर मैं को पता लगता है कि 'सुषुप्ति में मैंने नहीं जाना, मैं मजे में था।' लेकिन मैं, सुषुप्तिगत आत्मा को नहीं जानता चूंकि तब आत्मा तो है पर मैं नहीं है। जब जाग्रत् में आते हो तब उस आत्मा का अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रवेश रहता है। तुम लाल धागे से कपड़ा बनाते हो; कपड़ा धागे से बनता है। लेकिन केवल कपड़ा नहीं बनता, लाल कपड़ा बनता है। रंग धागे में था परंतु उससे कपड़ा बना तो धागे का रंग कपड़े में प्रतीत होता है। इसलिये ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रारम्भ में ही आचार्य शङ्कर ने कहा है 'अन्योन्यधर्मांश्च अध्यस्य' केवल एक चीज़ का दूसरी चीज़ में भ्रम नहीं होता, वरन् उनके धर्मों का भी भ्रम हो जाता है। इन्द्रिय मन और बुद्धि के अलग-अलग धर्म हैं। कामनायें इनका धर्म है। इन्द्रियों के साथ एक हुआ तो इन्द्रियों के धर्मों का 'मै' में अध्यास हो जाता है। मन के साथ एक हुआ तो मन के धर्म का और बुद्धि के साथ एक हुआ तो बुद्धि के धर्म का अध्यास हो जाता है। दूसरी तरफ, आत्मा के धर्मों का भी मन आदि पर अध्यास हो जाता है। आत्मा का धर्म सच्चिदानन्द है परन्तु प्रतीत मैं में होता है—'मैं हूँ, मैं जानता हूँ, और मैं बड़े आनन्द में हूँ'। सच्चिदानन्द है परमात्मा का स्वरूप परन्तु मैं में प्रतीत होता है। यह अध्यास है। इसी प्रकार इन्द्रियों में और मन में भी प्रतीति होती है—इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियाँ जानती हैं, इन्द्रियों से सुख होता है। आत्मा के सच्चिदानन्द का अध्यास इन्द्रिय, मन और बुद्धि में हो जाता है और इन्द्रिय मन और बुद्धि के धर्म कामना आदि का अध्यास 'मैं' में हो जाता है। वेदान्त जब कहता है कि आत्मा कामनारहित (निष्काम) है तो वह बिना मैं के आत्मा की बात है। हम जब कहते हैं 'मैं आत्मा' तो वह मिली-जुली स्थिति है।

इन्द्रियाँ ही नहीं, प्राण और शरीर भी आत्मा के अनुभव में आ जाते हैं। प्राण के धर्म भूख प्यास हैं। खाने की इच्छा मन में नहीं रहती। बहुत-से लोग इन्हें अलग नहीं कर पाते परन्तु शारीरिक और मानसिक इच्छायें अलग-अलग हैं। मैं दो दिन से भूखा हूँ—यह खाने की इच्छा प्राण की है। भूख प्यास प्राणों का धर्म है। प्रतीति मन में होती है परन्तु है वह प्राण का धर्म। मैं कपड़ा पहने हुए बैठा हूँ, परन्तु 'अमुक का कपड़ा मेरे से अच्छा है। हाय! यह कपड़ा मेरा होता या मैं पहने होता'—यह शारीरिक इच्छा नहीं है। यह मन की प्रवृत्ति है। जो प्राण की भूख है अर्थात् प्राणों के लिये जो तुम्हारी आवश्यकता है वह शरीर रहते रहती है। शरीर की स्थिति के लिये आवश्यक प्रतीत होना कामना नहीं है। कामना का अधिष्ठान इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं जबकि शरीर की आवश्यकता प्राणों में रहती है। है वह भी इच्छा का रूप परन्तु उसे कामना नहीं कहते; उसका कारण यह है कि 'काम्यन्त इति कामाः विषयाः' विषय की कामना होती है। भूख लगने पर खाने की इच्छा या कामना है, अमुक चीज़ खाने की कामना नहीं है। प्राणों की रक्षा के लिये जो चीज़ आवश्यक है उसमें विषयविशेष आवश्यक नहीं है, 'अमुक चीज़ ही हो' ऐसा नहीं। इन्द्रिय

मन और बुद्धि में जो कामना है वह किसी विशेष विषय की ही होती है। है वह भी इच्छा का रूप, उसका भी अध्यास होता है।

देहधर्मों का भी अध्यास होता है। ब्राह्मणी के पेट से ब्राह्मण पति से जो उत्पन्न हुआ वह ब्राह्मण है। आजकल के ज़माने में ब्राह्मण आदि का अध्यास नहीं तो हिन्दुस्तानी आदि समझ लो। हिन्दुस्तानी मायने जिसके माँ-बाप हिन्दुस्तानी हैं। यह अध्यास शरीर को लेकर रहेगा। परन्तु प्रतीति होती है कि मैं हिन्दुस्तानी हूँ। मैं हिन्दुस्तानी हूँ अथवा मैं ब्राह्मण हूँ इत्यादि शरीर के धर्मों की प्रतीति आत्मा में होती है। आत्मा के धर्मों की प्रतीति शरीर में भी होती है। यही अन्योन्याध्यास है। शरीर में किसी ने चुटकी काटी तो कहते हो कि 'यह क्या कर रहे हो? मैं जड नहीं हूँ, मैं चेतन हूँ।' वस्तुतः शरीर और जड पदार्थों में फ़र्क नहीं है पर आत्मा के जानने वाले धर्म का शरीर में अध्यास कर लिया जाता है। यद्यपि शरीर व प्राण के धर्मों का अध्यास भी होता है, तथापि यहाँ 'कामात्मानः' इन्द्रिय, मन और बुद्धि के धर्मों के अध्यास को लेकर कहा है।

कामना ही मनुष्य को सारे धर्मों में प्रवृत्त करती है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है 'यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत् कामस्य चेष्टितं' आदमी जो भी कर्म करता है वह किसी कामना से ही प्रवृत्त होकर; दुःख को हटाने के लिये या सुख को लेने के लिये करता है। यहाँ तक कि आदमी चलते हुए खड़ा हो जाता है तो वहाँ भी कारण है, ऐसे ही खड़ा नहीं हो जाता; या पैर थक गये होंगे अथवा पैर या पीठ में दर्द हो गया होगा। कोई भी कर्म करोगे तो बिना कामना के नहीं कर सकते। इसलिये जब कामना होगी तब तदनुकूल कर्म होगा।

एक श्लोक पहले व्यवसायी और अव्यवसायी बुद्धि कही थीं। एक निश्चय वाली बुद्धि व्यवसायी बुद्धि है। जिसको जीवन के लक्ष्य का पता है कि मुझे कहाँ पहुँचना है, उसकी भी कामना तो होगी इसलिये वह भी 'कामात्मा' है, परन्तु चूंकि उसकी कामना निश्चयात्मिका है इसलिये उसके सारे कर्म निश्चय वाले हो जाते हैं। परन्तु जो दूसरे कामात्मा हैं, जिन्हें यहाँ कह रहे हैं, वे अव्यवसायी हैं, अनिश्चय वाले हैं। उनकी कामना बदलती रहती है, यह मिला तो अब वह मिले इत्यादि अव्यवसायी कामना रहती है। इसलिये वे कामात्मा होकर हमेशा चंचल ही बने रहते हैं। अनेक बार तो कामनायें बिना प्रयोजन के हो जाती हैं। विज्ञापन या अड़ोसी-पड़ोसी को देखकर बहुत-सी चीज़ों की कामना हो जाती है। कई काल्पनिक संभावनाओं के उद्देश्य से भी कामना होती हैः जब करोड़पति और धन चाहता है तो किसी उपस्थित ज़रूरत से नहीं वरन् 'यदि कभी कोई ऐसी बीमारी आई जिसके इलाज के लिये विदेश जाना पड़ा तो'—इस संभावित उद्देश्य से चाहता है। कामना छोटी चीज़ की हो या बड़ी की, दोनों में कोई अंतर नहीं है।

व्यवसायी बुद्धि तो एक लक्ष्य सामने रखती है। हम लोग नापासर जाते हैं। आज से चालीस साल पहले तक तो ऐसे लोग थे जो गाँव से परदेश व्यापार करने गये और उन्होंने व्यवसायी, निश्चयात्मिका बुद्धि रखी कि पाँच लाख रुपये हो जायेंगे तो आगे रुपया

कमाना बंद कर देंगे अथवा दस साल काम करके वापिस अपने गाँव आ जायेंगे और सचमुच में वे वहाँ से वापिस आकर भजन-पूजन सत्संग आदि में लगे रहते थे। एक लक्ष्य था कि इतना कमाने के बाद और ज़रूरत नहीं है। परंतु अव्यवसायी बुद्धि वाले संसारी चीज़ों के बारे में भी निश्चय नहीं कर पाते। अतः अब जब अव्यवसायी होने का रिवाज हो गया है तब ऐसे लोग मिलना भी बहुत कम हो गया। अब जो कमाना शुरू करते हैं वे मरते-दम तक कमाते ही रह जाते हैं। अव्यवसायी बुद्धि कैसी है, इसे भगवान् स्वयं अपने वचन से कहेंगे–कि वह सोचती है कि 'यह तो पा लिया, वह और पाना है, इतना धन मेरा है ही, इतना और हो जायेगा' (१७.१३)। ये अव्यवसायी बुद्धि वालों की कामनायें हैं।

व्यवसायी बुद्धि वाले भी कामना वाले हैं लेकिन उनका लक्ष्य स्पष्ट है, इसलिये उन्हें लक्ष्य का ज्ञान होने से उनकी कामना की सीमा है। ऐसे लोग 'स्वर्गपराः' स्वर्ग को ही एकमात्र लक्ष्य समझते हैं। अर्थात् स्वर्ग के लिये ही प्रयत्न करते हैं कि पुण्य-विशेष करके मरकर लोक-विशेष में जायेंगे। हम लोग मरकर जाने की जगह को ही स्वर्ग नहीं कहते। मरकर जाने की जगह स्वर्ग नहीं है, यह नहीं कह रहे हैं, परन्तु स्वर्ग का मतलब है–

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनंतरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्।।

स्वर्ग शब्द का अर्थ सुख है। स्वर्ग अर्थात् आनन्द। आजकल के लोग कहते हैं कि मरकर तो कहीं जाना नहीं है! ऐसा कहने पर भी वे स्वर्गपर हैं क्योंकि ऐसा कहने वाले जितने लोग हैं वे सभी सुख चाहते हैं। ऐसा कोई नहीं मिल सकता जो 'स्वर्गपरायण' न हो अर्थात् सुख न चाहता हो। सभी सुख चाहते हैं। स्वर्ग का सुख कैसा सुख है? ऐसा सुख है जिसके बीच-बीच में कभी दुःख न हो। कोई नहीं चाहता कि बच्चा कभी बीमार हुआ करे, बल्कि यही चाहते हैं कि कभी बीमार न हो। अथवा व्यापार चलता रहे, बीच-बीच में घाटा हो–ऐसी किसी की इच्छा नहीं होती। अर्थात् बीच में दुःख न हो ऐसा सुख सभी चाहते हैं। चाहते हैं कि वह सुख आगे कभी खत्म न हो। हरेक व्यक्ति ऐसा सुख चाहता है जो मिला हुआ कभी ख़त्म न हो। कोई नहीं चाहता कि जो विषय मिला है वह नष्ट हो जाये। किंच, जिसकी इच्छा करें वह झट मिल जाये, ज़्यादा कोशिश न करनी पड़े–ऐसे सुख को ही स्वर्ग कहा जाता है। प्राप्त हो या न हो, यह दूसरी बात है, लेकिन कामना ऐसे सुख की ही है।

प्रसिद्ध स्वर्ग लोक में यह लक्षण पूरी तरह नहीं जायेगा। वहाँ देवताओं का बार-बार दुःख से संबंध होता है। प्रसंग आते रहते हैं कि असुरों ने आक्रमण किया तो भगवान् से प्रार्थना की और भगवान् ने उनकी सहायता करके देवताओं को अपने स्थान पर बिठाया। जब पुण्य क्षीण हो जायेंगे तब स्वर्ग से गिरना भी पड़ेगा, जैसा भगवान् भी कहेंगे 'क्षीणे

पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' और वहाँ अभिलाषामात्र से भी सुख नहीं होता। स्वर्ग में भी जिसने सौ अश्वमेध किये हैं वह इन्द्र बनकर बैठेगा। जिसने बीस-पच्चीस यज्ञ किये हैं, वह वरुण, यम आदि पदों पर बैठेगा और जिसने केवल दस यज्ञ किये हैं वह वहाँ सभासद होगा। किसी ने एक ही यज्ञ किया है तो वह स्वर्ग में चौकीदार ही होगा! है वह भी स्वर्ग में ही। जीव का स्वभाव है—जैसा कि आचार्य वाचस्पति लिखते हैं—कि दूसरे की उन्नति से अपने चित्त में दुःख होता है। दो आदमी एक-साथ काम कर रहे हैं। एक का वेतन दो हज़ार रुपये बढ़ा और दूसरे का पंद्रह सौ रुपये बढ़ा। जिसका पंद्रह सौ रुपये बढ़ा वह बढ़ने पर भी दुःखी होता है क्योंकि दूसरे का दो हज़ार बढ़ गया! दूसरे की उन्नति देख कर मन में आता है कि 'मैं भी इस पद को प्राप्त क्यों नहीं करता।' इसलिये जो प्रसिद्ध स्वर्ग लोक है उसमें स्वर्ग का उक्त लक्षण नहीं घटता। फिर उसे स्वर्ग क्यों कहते हैं? लोक में जो यहाँ से ज़्यादा सुख की जगह है उसे स्वर्ग कह देते हैं। जैसे किसी ज़माने में काश्मीर को स्वर्ग कहते थे। ऐसे ही यहाँ की अपेक्षा जहाँ ज़्यादा सुख है उस लोक को स्वर्ग कहा जाता है। मनुष्यों के हिसाब से वहाँ का जीवनकाल भी बहुत लम्बा हो जाता है अतः सापेक्ष नित्यता प्रतीत होती है। अतः सर्वथा लक्षण के अनुरूप न होने पर भी उसके निकट है इसलिये स्वर्ग के रूप में प्रसिद्ध और अभिलषित है। ऐसे सुख के अभिलाषी होने से वे 'स्वर्गपर' कहे जाते हैं।

ऐसा सुख अनादि काल से सब ढूंढ रहे हैं लेकिन मिल नहीं रहा है। मान लो किसी कमरे में एक रुपया खो गया और दस-पंद्रह मिनट तक चार-पाँच आदमी ढूंढते रहें लेकिन नहीं मिले तो अंत में निर्णय करेंगे कि 'यहाँ रुपया नहीं हैं, कहीं और चला गया।' ऐसा तो नहीं कि अनन्त काल तक ढूंढते रहें! इस प्रकार का जो स्वर्ग या सुख है इसे अनादि काल से सारे ही जीव ढूंढ रहे हैं लेकिन *इस संसार में* किसी को मिला नहीं! विचारशील सोचेगा कि लाखों करोड़ों साल से ढूंढ रहे हैं, नहीं मिला तो *संसार में* वह सुख नहीं है। यहाँ नहीं है तो आदमी पता लगाना चाहेगा कि कहाँ है? स्वर्गपर तो वे हैं जो यहीं ढूंढते रहते हैं। वस्तुतः वह सुख परमात्मा में ही मिलेगा। संसार में वह सुख किसी को मिला नहीं और मिल सकता नहीं क्योंकि वह सुख यहाँ है नहीं। परन्तु जो कामात्मा हैं वे परमात्मा को नहीं मानते। ऐसे लोग कहते हैं कि 'भगवान् भी कामना वाले हैं, हमारी भक्ति की कामना करते हैं।' ऐसा सोचने में गड़बड़ यह हो रही है कि तुम्हारे भजन या भक्ति से उन्हें क्या मिलना है! उन्हें किसी विषय की कामना तो है नहीं, केवल तुम्हारे कल्याण की कामना है। उन्हें न कोई इन्द्रियों की, न मन की और न बुद्धि की कामना है। इसलिये वस्तुतः परमेश्वर कामात्मा नहीं है। आगे भगवान् स्वयं कहेंगे 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' कोई चीज़ ऐसी नहीं जो मुझे प्राप्त नहीं और कोई चीज़ ऐसी नहीं जो मुझे प्राप्त करनी है। यद्यपि परमात्मा कामनारहित है तथापि कामात्मा लोग सोचते हैं कि परमात्मा भी कामना वाले हैं। कामात्मा लोग विषयों के अंदर ही सुख ढूंढते रहते हैं। परमात्मा में जो सहज

और स्वाभाविक सुख है, कहते हैं इसमें कुछ नहीं रखा है।

'जन्मकर्मफलप्रदाम्' वे कामात्मा होकर निरन्तर जन्म प्राप्त हो ऐसे ही कर्मों को करते रहते हैं, जन्मरहित बनाने वाले कर्मों की तरफ वे नहीं जाते। जन्म लेंगे तो उसमें कर्म का फल भोगना पड़ेगा। जन्म-कर्म से अतीत वस्तु को वे व्यर्थ की बात समझ लेते हैं। इसलिये ऐसे लोग वेद में जहाँ कहीं परमात्मा के विषय में बात आती है, उसके लिये कहते हैं कि वह 'ऊषर भाग' है। परमात्मा का प्रतिपादन करने वाला हिस्सा ऊषर है, वहाँ कुछ पैदा नहीं होता है। जहाँ यज्ञ-भाग आदि करने को कहा है वहाँ तो करने से कुछ फल होगा, परन्तु 'परमात्मा ऐसा है' यह जानने से तो कुछ होना नहीं है इसलिये वे बेकार की बातें हैं। कामात्मा लोग वेद की वे ही बातें मान पाते हैं जिन्हें करने से कोई फल मिले। कामनाएँ अनंत होने से उनके साधनभूत कर्म भी अनंत और विस्तृत हैं अतः उन कर्मों में संलग्न लोगों को सारी बारीकियाँ संभालने में परेशान भी रहना पड़ता है। जो परमात्मा की तरफ जाता है उसको तो यह परेशानी नहीं है। परंतु जो फलों को चाहेगा, उसकी परेशानी का कोई अंत नहीं है।

'भोगैश्वर्यगतिं प्रति' वह या भोग चाहता है या चाहता है कि दूसरे पर शासन कर सके। ये दो ही इच्छायें होती हैं कि हमें अमुक पदार्थ मिल जाये और सब हमारे अधीन हो जायें। इसलिये 'नान्यदस्तीति वादिनः'। वे कहते हैं कि इसके अतिरिक्त परमात्मा और कुछ नहीं है कि संसार के भोग मिल जायें और हम सब इसके मालिक बन जायें। बस यही सब कुछ है। अव्यवसायी बुद्धि वाले कामना-प्रधान रहकर सुख को सब कुछ समझ लेते हैं। कामात्मा और स्वर्गपर होने के कारण उनकी बुद्धि कभी निश्चयात्मिका नहीं हो पाती। अतः जन्म-कर्म फल देने वाली बातें करते हैं। जन्म के बाद ही तुम कर्म कर सकते हो। कर्म किसी-न-किसी वासना से या पहले की छाप से ही इन्द्रियों को, मन को या बुद्धि को प्रवृत्त करेंगे। इसीलिये आचार्य शंकर ने कहा है कि कर्म के कारण जन्म और जन्म में आने के बाद तुम कोई-न-कोई कर्म करोगे। आगे भगवान् भी कहेंगे 'नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (३-५) एक क्षण भी बिना काम किये नहीं रह सकते। कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं।

इतना याद रखना कि 'न करना' भी करना है। जैसे तुम सवेरे चार बजे नहीं उठे तो तुम दोष के भागी हो गये, प्रत्यवाय हो गया। ऐसा नहीं कह सकते कि 'हमने कुछ किया नहीं तो प्रत्यवाय कैसा हुआ?' आजकल बहुत-से लोग ऐसा कहते हैं कि 'मैंने कभी किसी के लिये बुरा नहीं किया, फिर मेरे ऊपर दुःख कैसे आ गया?' सच्ची बात यह है कि रुपये में बारह आना तो इसी जन्म का कर्म यहीं फल जाता है। कई बार कुछ करके किसी का अपकार करते हैं तो कई बार न करके ही अपकार कर जाते हैं। स्मृतियों में बताया है कि मान लो तुम कहीं जा रहे हो; कोई दुष्ट किसी को सता रहा है। तुममें ताकत है, तुम उसे रोक सकते हो, नहीं रोकते हो तो जितना पाप उस सताने वाले को लगेगा उतना ही पाप

तुम्हें भी लगेगा। तुम उसकी दुष्टता को रोक सकते थे लेकिन नहीं रोका अतः उस दुष्टता को करने में तुमने सहयोग किया। उस अपराध में सहयोग के लिये तुमने कुछ नहीं किया, पर कुछ न करके भी उसकी दुष्टता का फल भोगना पड़ेगा। जब आदमी कहता है कि 'मैंने कुछ बुरा नहीं किया।' तो उसका मतलब है कि कुछ *करके* बुरा नहीं किया, *नहीं करके* मैंने हज़ारों बुरे काम किये—यह नहीं सोचता। इसी प्रकार प्रातःकाल चार बजे उठना है, नहीं उठे तो दोष हो गया। सूर्योदय के समय सूर्य को अर्घ्य नहीं दिया तो दोष हो गया। इसीलिये, जन्म होगा, तो भगवान् कहते हैं कि, एक क्षण भी बिना किये नहीं रह सकते हो। यदि सवेरे चार बजे उठ गये तो तुम्हें उसका फल मिलेगा। नहीं उठोगे तो दंड मिलेगा। उठने मात्र का भी फल है। उस समय क्या किया इसका फल अलग होगा।

आचार्य शंकर कहते हैं 'कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये'। शरीर की प्राप्ति कर्म कराता है अर्थात् कर्म करने के फलस्वरूप हमें शरीर मिलता है। शरीर प्राप्त करके कौन-सा सुख-दुःख भोगोगे यह निर्णय शरीर से किये हुए कर्मों से होता है और वह सुख-दुःख कहाँ जाकर भोगोगे यह मनसे किये हुए कर्म से निर्णय होगा 'यथाकर्म यथा-श्रुतम्'। जैसे एक कुत्ता वातानुकूलित कमरे में रहता है, वातानुकूलित मोटर में घूमने जाता है। दूसरी तरफ एक आदमी जेठ की चिलचिलाती धूप में सिर पर बोझा लेकर जाता है। दोनों में क्या फ़र्क है। जहाँ तक बाह्य कर्मों का प्रसंग है, वे तो उस आदमी के बुरे थे इसलिये उसे भोगने पड़ रहे हैं, परन्तु उस कुत्ते के बाह्य कर्म बहुत अच्छे थे। इसलिये उस आदमी को बाह्य सुख की अपेक्षा दुःख बहुत है। परन्तु उस कुत्ते ने मानसिक कर्म बुरे किये थे इसलिये वह कुत्ते की योनि में है और जो मनुष्य की योनि में है उसके मानस कर्म शुभ थे। कहाँ जन्म लोगे यह इस पर निर्भर करता है कि तुमने कैसे मानसिक कर्म किये हैं और सुख-दुःख बाह्य कर्मों के अनुसार होंगे।

विचारों व कर्मों की इस महत्ता के कारण ही भगवान् अगले श्लोक में मन को 'समाधि' नाम से कहेंगे। मानव मन का उपयोग ही यह है कि इससे समाधि का अभ्यास किया जाये। जैसे मानव-कानों का उपयोग वेदश्रवण करने में है, न कि लौकिक आवाज़ें सुनने में क्योंकि लौकिक आवाज़ें तो जानवर भी सुन सकते हैं, ऐसे मानव मन समाधि से ही गतार्थ है, लौकिक विचारों से नहीं। विचार उत्तम हों तथा कर्म श्रेष्ठ हों, दोनों ज़रूरी हैं।

कर्मों से अर्थात् बाह्य व मानसिक कर्मों से शरीर मिलेगा। शरीर में क्या सुख-दुःख मिलेगा यह बाह्य कर्म निर्णीत करेंगे और कौन-सा शरीर मिलेगा यह मानसिक कर्म निश्चित करेंगे। जैसे कोई आदमी रात-दिन अपने कुत्ते की सोचता है तो वह अगले जन्म में कुत्ता ही बनेगा! सबसे बढ़िया ताज़ा मांस होता है पर प्रायः मनुष्य वह नहीं खाता, अफ्रीका के लोगों की बात जाने दो। ताज़ा मांस तो शेर को मिलेगा। जो ऐसा मांस खाने का शौकीन होगा उसे शेर की योनि में जाना पड़ेगा।

जब तक तुम्हारे पास शरीर है तब तक शरीर को कोई चीज़ प्रिय और कोई चीज़

अप्रिय लगेगी। इसमें तुम कुछ नहीं कर सकते। जेठ के महीने में कोई तूश की शाल ओढ़ेगा तो अप्रिय लगेगी और माघ के महीने में बर्फ की सिल्ली अप्रिय लगेगी। जब तक शरीर में हो तब तक प्रिय-अप्रिय से बच नहीं सकते। प्रिय चीज़ फिर से प्राप्त हो, इसकी कोशिश करोगे। अप्रिय से बचने की कोशिश करोगे। प्रिय से राग और अप्रिय से द्वेष होगा। इस प्रकार कर्म से शरीर; शरीर मिलने पर कोई चीज़ प्रिय और कोई चीज़ अप्रिय लगेगी, उससे राग-द्वेष होंगे। प्रिय चीज़ की प्राप्ति के लिये और अप्रिय को दूर करने के लिये कोशिश करोगे तो कर्म हो जायेंगे जो आगे जन्म का कारण बन जायेंगे। इसमें तुम्हारी स्वतंत्रता कहाँ है? राग होने पर तुम जो कार्य करोगे वह कार्य शास्त्र के अनुसार या शास्त्र के विरुद्ध कर सकते हो, यह तुम्हारे अधीन है। हमें आम खाना अच्छा लगता है। रात में पड़ौसी के पेड़ से तोड़ कर आम खा सकते हैं या दिन में उस पड़ौसी के घर घंटा भर मेहनत करके दो आम लेकर खा सकते हैं। शास्त्र के अनुकूल कार्य हुआ तो पुण्य और शास्त्र-विपरीत कर्म किया तो पाप होगा। इतने में ही हमारी स्वतंत्रता है। राग-द्वेष से प्रवृत्ति निश्चित होगी, परन्तु उस प्रवृत्ति का प्रकार हमारे हाथ में है। कर्म शास्त्र-अनुकूल और शास्त्र-विरुद्ध दोनों हैं। उनमें नियम है कि शास्त्र-अनुकूल कर्म को करो और शास्त्र-विरुद्ध को मत करो—बस इतनी ही स्वतंत्रता है। कर्म कर लिया तो शरीर जरूर मिलेगा। यही क्रम है कि जन्म मिला तो कर्म और कर्म किया तो फलभोग अवश्य होगा। भगवान् ने यहाँ जन्म को कर्मफल कहा।

भाष्यकार स्पष्ट करते हैं 'जन्मैव कर्मफलम्'। कर्मों के अन्य बहुत-से फल निरंतर मिलते रहते हैं पर प्रारंभ जन्म से होता है, जन्म मिलने पर ही अन्य फल मिल सकते हैं। अनेक कर्म इसी जीवन में फल देकर समाप्त हो जाते हैं जैसे भोजन करने से पुष्टि यहीं हो जाती है। किन्तु कर्मों का जो पुण्य-पापरूप अदृष्ट फल होता है वह प्रायः जन्मान्तर में भोगा जाता है। जैसे भोजन ही यदि निषिद्ध वस्तुओं से, मांसादि से किया तो यहाँ की भूख मिटना आदि यहीं हो जाने पर भी जो मांसभक्षण का पाप है वह बाद में ही फल देगा। अतः समस्त कर्मों का फलभोग जन्म से ही प्रारम्भ होने के कारण जन्म को प्रधान कर्मफल कहा। जन्म के बाद जिन कर्मों का फल इस जीवन में भोगना है वे प्रारब्ध हैं। प्रारब्ध किस्मत नहीं है। किस्मत तो 'ऊपर वाला' लिख दिया करता है, उसमें तुम कोई फेर-बदल नहीं कर सकते, जबकि प्रारब्ध तुमने खुद तैयार किया है, तुम्हारे किये कर्मों से ही वह तैयार हुआ है और यदि मंद व मध्यम प्रारब्ध है तो प्रयास से तुम उसके भोग में रुकावट भी डाल सकते हो। अदृष्ट कर्म किसी दृष्ट द्वार से फल देता है। दुःख का प्रारब्ध है तो रोग, दुर्घटना, नुकसान आदि दृष्टकारण उपस्थित होंगे जिनसे दुःख मिलेगा। यदि इन दृष्ट कारणों को नियंत्रित कर सके तो दुःख भोगने से बच जाओगे। मंद प्रारब्ध लौकिक उपायों से टल जाता है जैसे रोग आने पर दवा से ठीक हो सकता है। मध्यम प्रारब्ध को उपासना आदि से टाला जा सकता है। तीव्र प्रारब्ध अवश्य भोगना पड़ता है, उसे टाल नहीं

सकते। मृत्यु को कोई टाल नहीं सकता। मृत्यु के बाद आगे जन्म अवश्य होगा, तब चक्र चलेगा अतः जन्म से ही कर्मफलभोग का क्रम प्रारंभ होता है।

वेदों में जितने कामनाप्रयुक्त कर्म बताये हैं, उन सबमें यह बताया कि उनको करने से कैसा जन्म होगा और कैसा फल होगा। ऐसी जो वेद की वाणी है बस उस वाणी से ही वे लोग बंधे रहते हैं। जन्म भी अनेक प्रकार के हैं, चौरासी लाख योनियाँ हैं। उससे भी ज़्यादा योनियाँ हों तो भी कोई विरोध नहीं है। अवान्तर जातियाँ अलग गिनने से संख्या बढ़ जाती है। जन्म लेने के बाद सुख-दुःख के भोग अलग-अलग तरह के हैं। कैसी योनि हमें मिले, कैसे हम उसमें सुख-दुःख भोगें इनके फ़र्क से क्रियाविशेष बताये हैं। क्रिया-विशेष बताने वाली वाणी को ये इसलिये सुनते हैं कि भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति ही इनका एकमात्र उद्देश्य है।।४३।।

कर्मों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होकर क्या ऐसे लोगों को मोक्ष नहीं मिलेगा? भगवान् कहते हैं कि बहिर्मुखियों को कर्म मोक्षमार्ग में आगे नहीं बढ़ा पाते–

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

क्रियाविशेषबहुल वाणी से जिनकी विवेकप्रज्ञा ढाँक दी गयी है अतः जो भोगों के उपभोग और ऐश्वर्य-प्राप्ति में ही प्रेम रखते हैं उनके अन्तःकरण में न सांख्य के व न योग के बारे में कोई निश्चय स्थिर रह पाता है।

भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के प्रति ऐसे लोगों की प्रकर्ष से आसक्ति होती है। जब तक आत्मज्ञान नहीं होगा तब तक भोग व ऐश्वर्य की इच्छा समाप्त नहीं होगी। आत्मज्ञान होने से पहले सुख की इच्छा और ऐश्वर्यप्राप्ति की इच्छा रहेगी। इसलिये अज्ञानी उसके प्रति प्रकर्ष से आसक्त होते हैं। सामान्य आकर्षण होने पर भी ठीक और गलत का विवेक करके तुम गलत से अपने को रोक सको–यह तो आसक्ति है। आधुनिक भाषा में–वह चीज़ चाहते हैं परन्तु एक सीमा से ज्यादा उसका दाम नहीं देंगे। साड़ी का दाम दो हज़ार जँचा लेकिन दुकानदार चार हज़ार माँग रहा है इसलिये छोड़ कर आ गये; इसका मतलब यह नहीं है कि उसे चाहते नहीं, आसक्ति है, प्रसक्ति नहीं। दो दिन बाद चांदनी चौक से ला सकते हैं। पर इतना सब्र न रखकर, न जँचते हुए भी चार हज़ार में खरीदने को तैयार हो जायें–यह प्रसक्ति है।

आत्मज्ञान होने के पहले भोग और ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति तो सभी को रहेगी परन्तु प्रसक्ति नहीं होनी चाहिये। भोगैश्वर्य की प्रसक्ति से तुम्हारा चित्त अपहृत हो जाता है, चुरा लिया जाता है, तुम विवेक खो बैठते हो। जिनका चित्त भोग-ऐश्वर्य के उपाय बताने वाली वाणी द्वारा सर्वथा अपहृत हो गया है उनको कभी भी समाधि की बुद्धि नहीं हो सकती।

भोग और ऐश्वर्य दो चीज़ें कहीं। इन्द्रियों से विषय की प्राप्ति को भोग कहते हैं। आँख ने रूप देखा तो भोग हो गया। अच्छी चीज़ से सुख और बुरी चीज़ से दुःख हो जाता है। एक बार बम्बई के हैंगिंग गार्डन में बहुत अच्छे फूल खिले हुए थे। लोग रात में वहाँ देखने व घूमने जाते हैं और कुछ लोग वहाँ मैला (शौच) भी कर जाते हैं। फूलों को देखकर प्रसन्न होते हैं, मैले के तरफ नज़र जाती है तो मुँह फेर लेते हैं। एक बार रवीन्द्रनाथ टैगोर और हजारी प्रसाद जी वहाँ घूम रहे थे। अकस्मात् हजारी प्रसाद जी ने कहा–'गुरुदेव! बचकर।' बाबू ने कहा–'देख लिया, गोबर पड़ा है।' हजारी प्रसाद जी ने सोचा, ठीक से नहीं देखा होगा, कहा–'गोबर नहीं मैला पड़ा है' रवीन्द्र बाबू ने कहा–'रास्ते में इस प्रकार मैला करने वाला कोई इंसान नहीं हो सकता। गाय-भैंस ही हो सकती है।' आँख के द्वारा फूल देखा तो वह भी भोग है, मैला देखा, वह भी भोग है। एक में सुख का भोग और दूसरे में दुःख का भोग है। इसी प्रकार कान इत्यादि सारी इन्द्रियों से जो विषयों की प्राप्ति होती है वह सभी भोग है। इन भोगों की जब तुम्हें प्रसक्ति है तो व्यवसायी बुद्धि समाधि में नहीं हो सकती।

वि + अवसाय व्यवसाय अर्थात् निश्चय। भोग में पूरा अंत कभी नहीं आता; इतना भोग लिया, आगे नहीं चाहिये–यह कभी नहीं होगा, चाहे जितने भोगों की प्राप्ति हो जाये। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है–

'यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्।।'

पृथ्वीभर का अन्न मिल जाये तब भी यह नहीं होगा कि 'और नहीं चाहिये'। लेकिन व्यवसायी बुद्धि वाले को निश्चय हो जाता है। एक महात्मा लंगोटी पहने बैठे थे, भिक्षा कर चुके थे। उधर से एक आदमी जा रहा था। उसे सड़क पर एक अशर्फी दीख गई, उसने झट उठा ली। लेकिन सत्संगी था, आगे चला तो विचार आया कि 'सोने को चुराना तो पाप है। मैंने बुरा काम किया।' सोचने लगा कि महात्मा को दे दूंगा तो दान हो जायेगा। उसने उसमें चांदी का रुपया और मिला दिया एवं उस महात्मा को देने के लिये पहुँच गया। महात्मा ने कहा–'यह क्या कर रहा है? मैं तो भोजन कर चुका हूँ, मुझे इसकी ज़रूरत नहीं है। तुझे देना है तो किसी कंगले को दे।' उस आदमी की लौकिक बुद्धि थी, कहने लगा–'आप से ज़्यादा कंगला कहाँ मिलेगा।? महात्मा ने कहा–'मैं कंगला नहीं।' उधर से राजा की सवारी जा रही थी, उधर इशारा करके कहा–'वह कंगला जा रहा है, जाकर उसे दे दो।' उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा के पास गया, जैसे ही उसके सामने अशर्फी दिखाई, राजा ने सोचा नज़राना दे रहा है; राजा ने झट से हाथी बिठाया और वह अशर्फी ले ली। उसे निश्चय हो गया कि महात्मा ने ठीक ही कहा था! राजा ने तो पूछा भी नहीं और ले ली। अविवेकी को अवसाय नहीं होता कि मेरे पास इतना है, और नहीं

चाहिये। उस महात्मा में ऐसा निश्चय था कि सवेरे का भोजन हो गया है, और नहीं चाहिये, शाम को फिर देख लेंगे। अविवेक रहते संसार-भर का धन-धान्य किसी को मिल जाये तो भी अवसाय बुद्धि नहीं होती।

अगर सारी दुनिया की औरतें किसी आदमी को मिल जायें, तब भी यह नहीं होगा कि और नहीं चाहिये। अप्सरायें आयेंगी तो फिर चाहेगा कि इनका भोग कर लूं। कई बार लोग कहते हैं कि बुढ़ापे में इच्छा मिट जाती होगी। आचार्य शंकर कहते हैं कि बुढ़ापे में डंडा लेकर चलता है फिर भी तृष्णा मिटती नहीं 'वृद्धो याति गृहीत्वा दंडं तदपि न मुञ्चति आशा पिण्डम्।' वृद्धावस्था में लकड़ी लेकर चल रहा है फिर भी आशा बंधी है। कवि केशवदास कहते हैं कि बाल सफेद होने से बुढ़ौती के दुःख से ज़्यादा इस बात का दुःख है कि षोडशी बालायें 'बाबा' कहकर पुकारती हैं! अतः वार्धक्य भी भोग से उपराम नहीं कर पाता। जैसे धन से संतोष नहीं होता वैसे ही स्त्रियों से नहीं होता। प्राचीनकाल में घोड़ागाड़ी आदि होते थे, आजकल मोटरें हैं। ऐस-ऐसे लोग हैं कि जिनके घर में दस मोटरें हैं। फिर भी लड़के की शादी में एक मर्सिडीज और चाहिये। विचार नहीं करते कि पहले ही दस गाड़ियाँ हैं, हम इसका क्या करेंगे? कभी भी वह बुद्धि अवसान वाली नहीं होती कि इतना हो गया, और नहीं चाहिये। जैसे भोग के प्रति वैसे ही ऐश्वर्य के प्रति होता है कि और मिले तो बेहतर है।

ऐश्वर्य शब्द का अर्थ ईश्वरता अर्थात् ईश्वरपना होता है। ईश्वर का एक अर्थ मालिक होता है। इसलिये किसी समय में दिल्ली के बादशाह के लिये कहते थे 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' दिल्ली का मालिक सारी दुनिया का मालिक है। ईश्वरत्व प्रकृति का मतलब ऐसा स्वभाव हुआ कि मैं मालिक बनूं। लोग मालिक बनना चाहते हैं परन्तु अव्यवसायात्मिका बुद्धि होने से निश्चय नहीं होता। एक चीज़ के मालिक हो जाते हैं तो उससे बड़े मालिक को देखकर वैसा बनना चाहते हैं। अगर कोई किसी जनपद का मालिक है तो राज्य का मालिक बनना चाहता है। राज्य का मालिक साम्राज्य का मालिक बनना चाहता है। आजकल की भाषा में सांसद मंत्री बनना चाहते हैं और मंत्री प्रधानमंत्री बनना चाहते हैं। प्रधानमंत्री चाहता है कि उसे विश्व का नेता माना जाये! इस प्रकार ईश्वर बनना सब चाहते हैं। इच्छा की समाप्ति तब होगी जब तुम शरीर के मालिक परमेश्वर बन जाओ। कर्म के द्वारा कभी परमेश्वर-भाव को प्राप्त नहीं कर सकते। कुछ बड़े बन जाओगे, परंतु परमेश्वर-भाव की प्राप्ति कर्म से नहीं हो सकती। नतीजा होता है कि ऊपर जाकर नीचे और नीचे गिरकर फिर ऊपर जाते हो। ईश्वर अर्थात् मालिक बनना चाहते हैं परन्तु सभी के मालिक बन नहीं पाते क्योंकि वह बनना कर्म से संभव नहीं है। मालिक बनने की यह इच्छा सबके अंदर स्वाभाविक है। कहने को कह देते हैं कि 'हम परमेश्वर के दास बनना चाहते हैं, परमेश्वर-भाव की प्राप्ति नहीं चाहते' किंतु व्यवहार में मालिकता की इच्छा प्रकट होती ही है। साधु भी चाहते हैं कि छोटे आश्रम के मालिक तो हैं, बड़े

आश्रम के मालिक बन जायें, छोटे मकान के मालिक हैं, बड़े मकान के मालिक बन जायें! यह मालिक बनने की इच्छा स्वाभाविक है, दास नहीं बनना चाहते हैं।

ऐश्वर्य या ईश्वरभाव का दूसरा अर्थ मिल्कियत होता है जिसे साधारण भाषा में अधिकार, सामर्थ्य या शक्ति कह सकते हैं। मालिक बनने की तरह मिल्कियत की भी इच्छा होती है अर्थात् मेरा अधिकार चले। केवल मालिक बनकर संतोष नहीं होता। एक महात्मा विरक्त थे, कौपीन पहने जा रहे थे। उधर से अकस्मात् एक हाथी सूंड में माला लिये हुआ आया और उनके गले में माला डाल दी। तब तक पीछे से कई लोग आ गये और उनसे कहा कि आप हमारे राजा हो गये। महात्मा ने कहा 'मेरा राजा से कोई रिश्ता वास्ता नहीं है।' लोगों ने कहा कि 'हमारे देश की परम्परा है कि राजा के मरने पर हम हाथी की सूंड में माला देकर भेज देते हैं और वह जिसके गले में माला डाल दे वह हमारा राजा हो जाता है।' महात्मा ने बहुत प्रतिवाद किया लेकिन लोग नहीं माने। राजा बनाने की रीतियाँ हरेक की अलग-अलग होती हैं। जैस आजकल की रीति है कि डिब्बे में जिसके वोट ज़्यादा पड़े वह राजा। ऐसे ही उस देश की रीति थी कि हाथी जिसके गले में माला डाल दे, वह राजा। प्रतिवाद करने पर भी लोग नहीं माने तो महात्मा ने भी सोचा कि 'ये लोग परेशान करेंगे, राजा ही बन जायें, सिर पर आया है तो निभा देना चाहिये।' लोग उन्हें राजमहल में ले गये। महात्मा ने एक सन्दूक मँगाया और उसमें अपनी लंगोटी बंद कर दी। राज्य करने लगे। दो चार साल अच्छा राज्य किया। अड़ोस-पड़ोस के राजाओं ने सुना कि वहाँ एक संन्यासी राजा बन गया है तो सोचा कि वह क्या राज्य चलायेगा। अतः उस पर चढ़ाई कर दी। महात्मा को खबर मिली तो मंत्रियों से कहा 'मैं दुश्मन से बात करना चाहता हूँ।' लोगों ने कहा कि 'डरने की कोई बात नहीं है। हम लोग लड़कर जीत जायेंगे।' फिर भी महात्मा ने कहा 'मैं मिलना ही चाहता हूँ।' वह राजा आया तो महात्मा ने उससे पूछा 'तू किस मतलब से लड़ना चाहता है? राजा बनना चाहता है या मंत्री?' उसने कहा–'मैं राजा ही बनूंगा।' तब महात्मा ने कहा 'फिर एक शर्त है कि राजा बनेगा तो मंत्रियों को नहीं बदलेगा।' राजा ने यह बात स्वीकार कर ली। महात्मा ने सब मंत्रियों को बुलाकर कहा 'तुम्हारी समस्या थी कि कोई राजा नहीं था। यह राजा बनने को तैयार है। और किसी मंत्री को नहीं बदलेगा मैंने यह शर्त करवा दी है। इसलिये तुम नहीं बदले जाओगे, राजा तुमको मिल गया। राज्य तुम करो, राजा वह बन जायेगा। मैं संदूक से अपनी लंगोटी कमंडलु लेकर जाता हूँ'।

महात्मा राजा तो बन गये थे, लेकिन उनके मन में मिल्कियत का भाव नहीं था कि 'मेरी चले।' उनकी ओर से शासन सब मंत्री चलाते थे। मालिक और मिल्कियत में फ़र्क़ होता है। नेपाल में दो सौ साल तक यही रीति चली–शासन प्रधानमंत्री का होता था जिसे ३ सरकार कहते थे और राजा ५ सरकार होता था, राजा को सारी बात प्रधानमंत्री की माननी पड़ती थी। प्रधानमंत्री राजा को सलाम करता था, सिंहासन पर बिठाता था। राजा

भी खुश था। उसके बाद त्रिविक्रम ऐसे हुए जिन्होंने कहा कि 'मैं तो राज्य करूंगा।' एक बार यहाँ भाग कर आये तो नेहरू जी ने मदद की। तब ३ सरकार का राज्य खत्म हुआ। उससे पहले प्रधानमंत्री ने कभी चेष्टा नहीं की सिंहासन पर बैठने की, केवल मिल्कियत चले यही चाहते थे, मालिक बनने की इच्छा नहीं थी। कुछ लोग मालिक बनना चाहते हैं और कुछ लोग मिल्कियत चाहते हैं।

जैसे बड़े राज्य में ऐसे ही छोटी जगह में भी होता है। एक महात्मा भिक्षा मांगने के लिये किसी के घर पहुँचे। भिक्षा शब्द का अर्थ धातु कोश के अनुसार मिलने और न मिलने दोनों को एक भाव से ग्रहण किया जाये, तब उसे भिक्षा कहते हैं। एक घर के सामने भिक्षा के लिये पहुँचे, वहाँ एक जवान औरत खड़ी थी, उसने कहा–'यहाँ से भाग जा, आजकल हमारे यहाँ कुछ नहीं मिलता, घर के बड़े देख लेंगे तो तेरी पिटाई करेंगे।' महात्मा चल दिये। उसी समय एक बुजुर्ग औरत आ रही था, उसने महात्मा को देखा और पूछा 'क्यों जा रहे हो?' महात्मा ने कहा 'उस घर में भिक्षा के लिये गया था। लेकिन उस औरत ने कहा–यहाँ भिक्षा नहीं मिलती। इसलिये जा रहा हूँ।' बुजुर्ग औरत ने कहा–'उसकी इतनी हिम्मत! बड़ी नालायक है। आप मेरे साथ चलिये।' महात्मा प्रसन्न हुए, सोचा शायद भिक्षा देगी। वह वहाँ पहुँची तो पहले जिसने मना किया था उसे डाँटने लगी कि 'तू मना करने वाली कौन होती है।' महात्मा को आशा बंधी कि अब भिक्षा मिलेगी। लेकिन अब उसने महात्मा को डाँटते हुए कहा–'इस घर में मेरी चलती है। भाग यहाँ से, यहाँ भिक्षा नहीं मिलती।' महात्मा सोचने लगे कि फिर इसने इतना हल्ला-गुल्ला क्यों किया? यह मिल्कियत है। अधिकार की दृष्टि, कि 'मेरी चले', यह भी मनुष्य के अन्दर बड़ी सहज है। बड़े-से-बड़े पद से लेकर छोटे-से-छोटे घर तक यह भावना चलती है।

इस संसार में वस्तुतः किसी का अधिकार किसी के ऊपर नहीं चलता। जैसे मालिक एक परमेश्वर है वैसे ही मिल्कियत भी एक परमेश्वर की ही है, और किसी की मिल्कियत नहीं है। परमेश्वर तुम्हारे ऊपर विचित्र ढंग से शासन करता है। परमेश्वर मनुष्य के हृदय में रहता है। हृदय अर्थात् मन या मोटी भाषा में अहंकार। तुम बैठे हो, तुम्हारे मन में आता है कि आज रसगुल्ला खाऊं। खरीदते हो और खाते हो। कभी सोचने की चेष्टा करते हो कि आज मेरे मन में रसगुल्ला खाने की क्यों आई, समोसा खाने की क्यों नहीं आई? परमेश्वर जो तुम्हारे मन में बैठा हुआ है, वही तुम्हारे मन में रसगुल्ला खाने की इच्छा पैदा कर देता है। अंदर बैठा हुआ है इसलिये उसका शासन हमेशा चलता है क्योंकि वह बाहर से आकर हुक्म नहीं देता कि तुम ऐसा करो। बाहर से हुक्म दे तो कोई माने, न माने। परन्तु चूंकि वह मन में या अहंकार में आकर बैठता है इसलिये तुम्हें लगता है कि 'मैं अपने मन की कर रहा हूँ।' यह समझ में नहीं आता कि मन के अंदर वह चीज़ ला कौन रहा है? इसलिये ऋग्वेद कहता है कि 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो

लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवैनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते।' जिसे परमात्मा उन्नत लोकों में ले जाना चाहता है उससे शुभ कर्म कराता है, जिसे निम्न लोकों में ले जाना चाहता है उससे अशुभ कर्म कराता है। जीव के मन में इच्छा पैदा करके ईश्वर करा लेता है अतः जीव को स्वतंत्रता का भ्रम बना रहता है और ईश्वर का अलंघ्य शासन भी कायम रहता है। इसी प्रकार मिल्कियत परमेश्वर के सिवाय और किसी की नहीं हो सकती। पर उस परमेश्वर की प्राप्ति कर्म से कभी नहीं हो सकती। कर्म से न तुम मालिक बन सकते हो और न मिल्कियत मिलेगी।

ऐश्वर्य का तीसरा अर्थ अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ है। अणिमा—एक छोटा-सा देह बन जाने की योग्यता। महिमा—बहुत बड़ा बनने की सामर्थ्य। जिन्होंने रामायण पढ़ी होगी उन्हें विदित होगा कि हनुमान् जी लंका पहुँचे तो सुरसा उनके आगे खड़ी हो गई। उसका विशाल रूप था, हनुमान् जी उससे भी बड़े हो गये। सुरसा ने और मुँह बढ़ाया। हनुमान् जी भी बढ़ते गये। राक्षसी थी, इसलिये उसकी भी सिद्धि थी। हनुमान् जी देवता थे, उनके पास भी सिद्धियाँ थीं। उसका मुँह तो बहुत बड़ा हो गया, लेकिन झट-से छोटा बनना नहीं जानती थी। हनुमान् जी अचानक छोटे से भुनगे बन गये और झट उसके मुँह में जाकर निकल आये। इसी प्रकार बहुत हल्का हो जाने की शक्ति (लघिमा) और बहुत भारी हो जाने की शक्ति (गरिमा) भी सिद्धि है।

बहुत बड़े सिद्ध गोरखनाथ जी ने एक शिष्य को बारह साल की साधना बता दी। उन्होंने साधना की और सफल हो गये। उनके अंदर भारी और हल्का बनने आदि की सामर्थ्य आ गई। किसी शहर से होते हुए गंगा किनारे जाकर बैठ गये। वहाँ कुछ लोग आये तो उनसे कहा कि 'हमारा कमण्डलु उठाकर इधर कर दो।' कोई उसे नहीं उठा सका। वहाँ दो-चार पहलवान बैठे थे, उनसे भी कहा, लेकिन वे भी नहीं उठा पाये। एक छोटे बच्चे से कहा; उठाया तो कमण्डलु फूल जैसा हल्का हो गया! गाँव वाले उनकी इस सिद्धि से बहुत प्रभावित हुए। चार-छह महीने बाद गोरखनाथ जी ने नदी के दूसरे किनारे चिमटा गाड़ दिया। शिष्य उधर जाना चाहता था। नाव से न जाकर नदी को पैरों से पार कर दिया और गोरखनाथ जी को आकर दण्डवत् प्रणाम किया। गोरखनाथ जी शिष्य को चिमटा मारने लगे। सभी भक्त आश्चर्य में पड़ गये। लेकिन गोरखनाथ जी को कौन रोके? शिष्य खूनाखून हो गया। जब थोड़ी देर बाद उठ कर बैठा तो उन्होंने उससे पूछा 'नाव से नदी पार करने के कितने पैसे लगते हैं?' उसने कहा 'एक पैसा लगता है और साधु से तो नाव वाले कुछ भी नहीं लेते।' तब गोरखनाथ जी ने कहा—'बारह साल की साधना में एक पैसा कमाना सीखा है! हिमालय से भारी तू हो नहीं सकता।' शिष्य की समझ में बात आ गई। फिर उसे दूसरे साधन बताये और उससे फिर बारह साल की साधना कराई।

इन सब सिद्धियों को भी ऐश्वर्य कहते हैं। ये ऐश्वर्य भी लोग प्राप्त करना चाहते हैं।

सारा विज्ञान इसी प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त करना चाहता है और प्राप्त करता भी है। यहाँ बैठे हुए एक चोंगे के दो-चार बटन दबाते हैं और लंदन में बात कर लेते हैं। प्राचीन काल में मंत्र से और आजकल यंत्र से सिद्धि कर लेते हैं। सब सिद्धियों का ही खेल है। लंदन में जिस समय नाच हो रहा है उसी समय दूरदर्शन यंत्र से यहाँ देख लेते हैं। इन सिद्धियों की कामना मनुष्य में स्वाभाविक है। परंतु ये जितने ऐश्वर्य या सिद्धियाँ हैं वे सारी जैसा कि भगवान् आगे कहेंगे, समाधि में उपसर्ग अर्थात् विघ्न हैं। व्युत्थान में सिद्धि हैं परन्तु समाधि में विघ्न हैं। इन ऐश्वर्यों का भी पूर्णभाव तो परमात्मा में ही है। इसलिये जैसा गोरखनाथ ने कहा, कि हिमालय से ज़्यादा भारी नहीं हो सकते वैसे तुम्हारे जितने ऐश्वर्य हैं उन सबकी सीमा है और जितना उनका प्रयोग करते हो उतने क्षीण होते जाते हैं, इसलिये विघ्न हैं। इन ऐश्वर्यों का भाव पूर्णरूप से है तो केवल परमात्मा में ही है। उनके अंदर तो ये सिद्धियाँ स्वाभाविक, सहज रूप से रहती हैं। इसलिये आचार्य शंकर ने कहा 'सिद्ध्येत्तत् पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम्।' उसका ऐश्वर्य अव्याहत है। न क्षीण होता है और न किसी सीमा में बंधा हुआ है।

ऐसा ऐश्वर्य कब प्राप्त होता है, जब परमात्मा को प्राप्त करते हो, परमेश्वर से एक हो जाते हो तब अव्याहत ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, अन्यथा सीमित प्राप्ति होती है। सीमित होने से इनसे कभी पेट नहीं भरता, 'इतनी सिद्धि हो गई, और न हो'—ऐसा भाव नहीं आता, और हो, और हो—ऐसा ही भाव बना रहता है। यहाँ तीनों प्रकार के ऐश्वर्य समझ लेना मालिक बनना, अधिकर रखना और योग से होने वाली सिद्धियाँ। वैज्ञानिक सिद्धियों की प्राप्ति में लगे हुए हैं पर उन्हें कहाँ संतोष हो रहा है? दूरभाषका यंत्र देख लो, कितने परिवर्तन इसमें हाल में ही आते जा रहे हैं। क्या किसी स्तर वाले यंत्र से तृप्ति होती है? हर प्रकार वाले यंत्र से अतृप्ति के ही कारण अन्य ढंग से यंत्र की खोज की जाती है।

ये सब वैज्ञानिक सिद्धियाँ हैं, इनका कोई अंत नहीं है। लेकिन इस प्रकार के ऐश्वर्य में जो प्रसक्त रहेगा वह कभी भी संतुष्ट नहीं होगा, उसे अवसानात्मिका बुद्धि नहीं होगी, आगे और कामना बढ़ती रहेगी। प्रसक्ति के द्वारा उनका चित्त हमेशा अपहृत रहता है इसलिये वे कभी भी समाहित नहीं हो पाते। उनकी व्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका बुद्धि कभी नहीं हो सकती क्योंकि उनका कोई लक्ष्य है ही नहीं। लक्ष्य हो तो निश्चय हो। इसलिये इनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधि के लिये उत्पन्न नहीं होती अर्थात् परमात्म-प्राप्ति में उसका विनियोग नहीं है।।४४।।

जो व्यवसायी लोग नहीं हैं, जो अव्यवसायी हैं, वे विवेक बुद्धि से रहित हैं। जो इस प्रकार निश्चय वाले नहीं हैं वे विवेकी हो नहीं सकते। विवेक का मतलब है बीनना, जैसे दाल बीनते हुए कंकड़ अलग कर देते हैं। अगर तुमको पता ही नहीं है कि दाल को रखना है, कंकड़ को फेंकना है, तो बीन नहीं सकोगे। बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जो बीनना नहीं जानते, हमें क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये, इसे अलग नहीं कर

पाते। वे हरेक चीज़ को सोचते हैं कि यह भी चाहिये, वह भी चाहिये; उन्हें एक निश्चय नहीं है। हर बार कहते यही हैं कि 'इस लड़की के हाथ पीले हो जायें तो गंगा नहाये, बस और कोई इच्छा नहीं है'। लड़की का ब्याह हुए तीन साल हो गये, उसके पेट नहीं हुआ। कहते हैं 'किसी तरह इसके संतान हो जाये, बस और कुछ नहीं चाहिये'। उसके संतान भी हो गई। दो लड़कियाँ हो गईं। कहते हैं 'ससुराल वाले दुःखी हैं, एक लड़का हो जाये।' इस प्रकार कभी व्यवसायी बुद्धि नहीं होती। अगर व्यवसायी बुद्धि होती तो एक निश्चय पर टिके रहते। अव्यवसायी बुद्धि कभी किसी चीज़ में स्थिर नहीं रहती। क्योंकि विवेक नहीं करते कि क्या रखना है और क्या फेंकना है इसलिये विवेक बुद्धि से रहित होते हैं। उपादेय और हेय को अलग नहीं कर पाते। उस विवेक बुद्धि से रहित होने में कारण कामात्मा होना है जिसके कारण भोगैश्वर्य में प्रसक्त हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

हे अर्जुन! वेद संसार का (भी) प्रतिपादक है लेकिन तू इस त्रिगुणात्मक संसार से रहित, निष्काम हो जा। द्वन्द्वों से परे, हमेशा सत्त्व में रहने वाला, योग-क्षेम छोड़कर अप्रमादी बन जा।

त्रैगुण्य अर्थात् संसार। भगवान् खुद कहेंगे–'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।१८-५०।।' इस पृथ्वी में हो अथवा देवलोक में हो, ऐसा कोई भाव पदार्थ नहीं है जो तीन गुणों वाला न हो। संसार में जो कुछ है वह सब तीन गुणों वाला है। इन तीन गुणों वाले संसार को कौन पैदा करता है? बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है–'मेधया तपसा अजनयत् पिता'। कोई कहेगा परमात्मा पैदा करता है लेकिन वेद कहता है कि अपना कर्म और अपनी उपासना ही इस संसार को पैदा करते हैं। 'मेधया' जैसा तुम मन से सोचते हो और 'तपसा' जो तुम शरीर से करते हो, उस उपासना और कर्म के द्वारा ही इस सारे संसार को पैदा करने वाले तुम हो। 'तुम' केवल एक तुम नहीं, वरन् सारे जीव ही तुम हो।

जिन कर्मों और मन की भावनाओं को जीव करते हैं उसके फल के लिये पदार्थ बनते हैं, परन्तु एक पदार्थ बनने में अलग-अलग कारण होते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि एक अत्यंत सुंदर, अच्छे स्वभाव वाली सुशील लड़की है। लड़की एक ही है, दो नहीं है। उसका पति उसे देखता है तो बड़ा प्रसन्न होता है कि मेरी पत्नी बड़ी सुंदर और सुशील है। ऐसे सुख को उत्पन्न करने वाला सत्त्वगुण होता है। पति के लिये उस औरत में सत्त्वगुण वाला हिस्सा प्रकट होता है, उसे सुख देता है। वही औरत उसी समय अपनी सौत को दुःख देती है। जितनी सुंदर और सुशील होगी उतनी ही सौत को जलन होगी।

दुःख रजोगुण से होता है। उस औरत के शरीर में रजोगुण ही दुःख दे रहा है। इसी प्रकार कोई बदमाश उस स्त्री को देखकर सोचता है कि 'इसे भगा ले जाऊँ और इससे दुष्कर्म करूं।' उसके लिये वही स्त्री मोह अर्थात् तमोगुण को पैदा कर रही है। एक साथ ही उस स्त्री को पैदा करने वाले तीनों प्राणी हैं। एक सत्त्वगुणांश का, दूसरा रजोगुणांश का और तीसरा तमोगुणांश का कारण बना।

यह एक दृष्टांत लिया है। इसी प्रकार संसार के सारे पदार्थों को समझ लो। हर पदार्थ किसी के सुख का कारण है, किसी के दुःख का कारण है। कोई पदार्थ सबके दुःख का कारण नहीं है। एक ही पदार्थ कहीं सत्त्वगुण को प्रकट करता है, कहीं रजोगुण को उत्पन्न करता है। अत्यंत घृणित जो कौए की बीट है, वह भी एक चर्मरोग-विशेष में दवाई का काम करती है। उसके लेप करने से वह रोग दूर हो जाता है। जिससे सारे लोग बचना चाहते हैं उसी को रोगी व्यक्ति ढूंढता है और मिलने पर प्रसन्न होता है क्योंकि उसका रोग ठीक हो जाता है। सामान्यतः हम समझते हैं कि अमुक चीज़ सबके दुःख का कारण होगी लेकिन ऐसा नहीं है, जिसे हम अत्यंत घृणित चीज़ समझते हैं वह भी किसी के लिये सुख का कारण बन जाती है। इसलिये भगवान् आगे कहेंगे कि पृथ्वी पर हो या देव लोक में हो, इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि को पैदा करने वाले हम हैं। जैसे-जैसे कर्म और उपासना करोगे तदनुरूप वे पदार्थ तुम्हारे लिये उपस्थित हो जायेंगे।

फिर, परमात्मा उत्पन्न करता है यह क्यों कहा जाता है? जैसे एक न्यायाधीश किसी को फाँसी का दंड देता है। अखबार वाले लिखते भी हैं कि जज ने उसे फाँसी का दंड किया। परंतु क्या जज ने दंड दिया? अपराधी ने जो कसूर किया उसके कारण वह दंड है, जज तो केवल उस कर्मफल को देने में निमित्त है। ठीक इसी प्रकार प्राणियों के द्वारा किये हुए कर्मों का फल देने वाला परमात्मा है। इसलिये कहा जाता है कि उसने दुनिया बनाई, किंतु उसे तो कोई चीज़ नहीं चाहिये। आगे भगवान् खुद कहेंगे—'नानवाप्तमवाप्तव्यम्' उसके अंदर कोई कामना नहीं है। उसे कुछ नहीं चाहिये क्योंकि न कोई ऐसी चीज़ है जो उसे प्राप्त नहीं है और न कोई ऐसी चीज़ है जो प्राप्त होने वाली है। अविचारशील कहता है कि 'भगवान् भी भक्ति से प्रसन्न होते हैं'। क्या तुम सोचते हो कि तुम्हारी भक्ति से पहले भगवान् मुँह फुला कर बैठा था? एक तरफ तो कहते हो कि वह सच्चिदानन्दघन है, दूसरी तरफ मानते हो कि कभी ही प्रसन्न होता है अर्थात् कभी अप्रसन्न भी रहता है—यह विरोध है। वस्तुतः वह तुम्हारी भक्ति की अपेक्षा नहीं करता। भक्ति करोगे तो तुम्हारे चित्त में प्रसन्नता आयेगी इसलिये कहा जाता है कि भगवान् ने तुम्हारे चित्त को प्रसन्न कर दिया। उससे भगवान् को प्रसन्नता होती हो ऐसी कोई संभावना भी नहीं है। वह पहले ही आनंदघन है। किसी को किसी प्रकार का दुःख हो, तब उसमें प्रसन्नता आये। जो पहले ही प्रसन्न है उसे क्या प्रसन्न करोगे? 'उसे प्रसन्न करोगे' इसका मतलब है कि उसके कारण तुम्हारे चित्त में प्रसन्नता आयेगी। इसी प्रकार सृष्टि का कारण परमेश्वर को कहा

जाता है। अन्यथा, सृष्टि हुई ही नहीं है। जीवों के कर्म और उपासना है, तदनुरूप ही सृष्टि होती है। कर्मफलदाता ईश्वर है।

''त्रैगुण्यविषया वेदाः।'' त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणात्मक संसार। यह संसार है विषय जिसका वह वेद है। तुम गणित की कोई किताब लेकर बैठे हो, पूछते हैं कि 'इस किताब का विषय क्या है?' तो यही कहोगे कि इसका विषय गणित है। इसी प्रकार संसार के सारे ही कार्यकारण-भावों को, साधन-साध्य-भावों को बताने वाला होने से संसार ही वेद का विषय है। वेद संसार की सारी चीज़ों को बताता है। संसार को बताते हुए भी वह परमात्मा का साधक भी है। जो परमात्मा का साधक है वह परमात्मा को चाहता है। विषय को वह नहीं चाहता अर्थात् विषय की कामना वाला नहीं है इसलिये वह परमात्मा का साधक है।

एक स्त्री ही एक साथ तीनों गुण प्रकट करने वाली बन रही है, परन्तु क्यों बन रही है? पति उसकी कामना करता है तब उसे सुख मिल रहा है। सौत उसकी निवृत्ति की कामना करती है तब दुःख मिल रहा है। दुःख का कारण भी कामना है। इसी प्रकार मोह है : जो उस प्रकार के भोग को चाहता है, उस कामना के कारण ही भोगने की सोच रहा है। तीनों गुण प्रकट होते हैं परन्तु कामना वाले के लिये प्रकट होते हैं। जो कामना से रहित है उसके लिये तीनों गुण प्रकट नहीं होंगे। मान लो वहाँ एक संन्यासी खड़ा है। उसे न स्त्रीभोग की और न वहाँ से हटने की कामना है और न उसे भगा ले जाने की कामना है। तीनों कामनाओं से रहित होने के कारण वह स्त्री किसी गुण का फल नहीं देती। कामना के द्वारा ही फल की प्राप्ति है।

इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि संसार जिस वेद से प्रकाशित होता है उसके अंदर तो ये अव्यवसायी बुद्धि वाले भोगैश्वर्य की प्रसक्ति से लगे रहते हैं। परन्तु जो निष्काम है अथवा कामना से रहित है उसके लिये वेद परमात्मा का बोध करा देता है। परमात्मा की कामना ही कामना से रहित होना है। जैसे वैद्य कहता है 'तीन दिन की दवाई ले जाओ, और कुछ मत खाना', अर्थात् दवाई के अतिरिक्त कुछ मत खाना; इसी प्रकार 'कामना को छोड़ो' अर्थात् आत्मा को छोड़कर दूसरी अनात्म पदार्थ की कामना मत करो। ऐसा नहीं कि आत्मा की कामना भी मत करो! जो निष्काम है उसे वेद सांसारिक फल नहीं दे सकता है। इसलिये हे अर्जुन! तुम त्रिगुण से रहित हो जाओ। आचार्य शंकर इसका अर्थ करते हैं ''निष्कामो भव इत्यर्थः'' कामना से रहित हो जाओ।

कुछ आधुनिक लोग अपनी बुद्धि लगाते हैं और इस श्लोक का उल्टा अर्थ करते हैं। वे कहते हैं कि वेद तीन गुणों की बात बताता है। भगवान् उससे ऊपर की बात बताते हैं। आजकल इस प्रकार ऊपर-नीचे की बात बहुत लोग करते हैं। कुछ और लोग कहते हैं कि भगवान् ने यहां वेदों की निन्दा की! यह सब तात्पर्य को ठीक से न समझने के कारण है। ''त्रैगुण्यविषया वेदाः'' के पहले भगवान् ने यह नहीं कहा कि तुम इनसे रहित को जानो। भगवान् ने तो कहा है कि तुम निस्त्रैगुण्य हो जाओ। अगर वैसा कहना होता

तो कहते 'निर्वेदो भव' वेद के झंझट को छोड़ या वेद को छोड़। उल्टा, निस्त्रैगुण्य कहकर वेद के विषय को बताया है कि जो अव्यवसायी बुद्धि वाले हैं, जिनका मन भोगैश्वर्य से अपहृत हुआ है, वे वेद का वास्तविक उद्देश्य नहीं समझ पाते। लोक में भी ऐसा होता है : विज्ञापन देखते हैं तो थोड़े लोगों को छोड़कर ज़्यादातर लोग नहीं समझ पाते कि विज्ञापन का उद्देश्य क्या है? विज्ञापन का उद्देश्य है कि तुम मूर्ख बनकर अपना पैसा लुटाओ और हम लूटें। परन्तु वे इतने सुन्दर ढंग से कह जाते हैं कि यह बात समझ में नहीं आती। समझ में आ जाये तो विज्ञापन के भ्रम में नहीं पड़ोगे। चूंकि तुम्हें उस विषय की इच्छा है इसलिये असली बात को नहीं समझ पाते। इसी प्रकार वेद का असली उद्देश्य था कि जो कर्म और उपासना तुम कर रहे हो उसे निष्काम भाव से करके परमात्मा को प्राप्त करो। यही वेद का तात्पर्य था। परन्तु चूंकि वे उन विषयों की कामना वाले हैं इसलिये वहाँ तक पहुँचे ही नहीं। तुम्हें धन चाहिये तो श्रीसूक्त कर लो, बस इसी में कृतार्थ हो गये।

एक मुसलमान कभी नमाज नहीं पढ़ता था। मौलवी ने उससे पूछा 'तू नमाज क्यों नहीं पढ़ता?' उसने कहा 'कुरान में मना किया है' और झट से लाकर कुरान दिखा दी जहाँ लिखा था 'नमाज मत पढ़।' मौलवी ने कहा–'आगे भी तो पढ़–लिखा है 'जबकि नापाक हो।' अर्थात् अपवित्र अवस्था में मत पढ़।' उसने कहा–'आगे का आप पढ़ लो।' इसी प्रकार लोग शास्त्र की अधूरी बातें सामने रख कर स्वयं भ्रम में पड़े रह जाते हैं, अनर्थ प्राप्त करते हैं। उदाहरण के लिये, यदि तुम्हें शत्रु को नष्ट करने की इच्छा है तो वेद ने उसका उपाय बता दिया 'अभिचारकामो श्येनेन यजेत' श्येन याग करो। साथ में वेद ने कहा है 'मा हिंस्यात्' किसी प्राणी की हिंसा न करे। प्राणिहिंसा का दोष नहीं लगेगा, यह वेद ने नहीं कहा। उस आदमी को मारने का पाप लगेगा। वेद यह नहीं कह रहा है कि तुम मारो। वेद ने कहा है कि तुम मारे बिना नहीं रह सकते, तुम्हारी इच्छा है तो करो, लेकिन नरक जाओगे। वेद की इच्छा तुम्हें नरक ले जाने की नहीं है। कामनाग्रस्त लोग श्येन की विधि को ही देखते हैं, हिंसा के निषेध पर ध्यान नहीं देते। यों अधूरी बातें मानने से अनर्थ होता है।

इसी प्रकार तुम्हारी कामनाओं की पूर्ति तुम करो, यह वेद की इच्छा नहीं है। वेद की तो इच्छा है कि तुम निष्काम होकर परमात्मा की प्राप्ति करो। परन्तु लोग उन कर्मों और उपासनाओं को ही तात्पर्य मान लेते हैं। इसलिये भगवान् ने वेद की निंदा नहीं की। वेद यथार्थ चीज़ को बताने वाला है। हर प्रकार के कर्म का फल भी बताया और उन कामनाओं से किन दुःखों की प्राप्ति होती है, यह भी बताया। कामना को छोड़कर निष्काम कर्म करोगे तो परमात्मा की प्राप्ति, मोक्ष मिलेगा, यह बताया। वेद में कही बातों से कामनाओं की पूर्ति होती है, बात गलत नहीं है लेकिन तुझे कामना को छोड़कर उन कर्मों को करने वाला बनना है।

प्रश्न उठता है कि कामना-रहित होने का साधन क्या है? संसार के पदार्थ कामना के

द्वारा ही अपने सत्त्व, रज और तमोगुण को प्रकट कर सकते हैं। अगर तुमने कामना छोड़ दी तो पदार्थ न तुमको सुख-दुःख दे सकते हैं और न मोह उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु त्रिगुणातीत कैसे बना जाये? भगवान् उपाय बताते हैं–'निर्द्वन्द्वो' अर्थात् द्वंद्व-रहित हो जा। जोड़ा ही द्वंद्व का रूप है। द्वंद्व युद्ध होता है तो उसमें एक योद्धा और दूसरा प्रतियोद्धा होगा, दोनों लड़ेंगे तब द्वंद्व युद्ध होगा। इसी प्रकार संसार में सुख-दुःख एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हैं। सुख को खत्म करो तब दुःख और दुःख को खत्म करो तब सुख है। इसी प्रकार लाभ-हानि, यश-अपयश, मान-अपमान एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हैं। लाभ होगा तब हानि हटेगी और हानि होगी तब लाभ हटेगा। पहले भगवान् कह आये हैं "सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ"(२-३८)। इसी प्रकार शीत-उष्ण, मान-अपमान सब जोड़े में मिलते हैं। सर्दी आयेगी तो गर्मी जायेगी, गर्मी आयेगी तो सर्दी जायेगी। जो चीज़ जोड़े में होगी वह एक-दूसरे की प्रतिद्वंद्वी होगी।

जोड़े को छोड़ो तो कामना हट जायेगी। जीत-हार, दोनों से ऊपर चले जाओ। न जीत से संबंध रखना है, न हार से। चीज़ें सब रहेंगी परन्तु तुम्हारे लिये कोई मूल्य नहीं रहेगा। काशी में विश्वनाथ मंदिर के शिखर पर सोना लगा हुआ है। बाहर से लोग आते हैं तो बड़ी सावधानी से देखते हैं कि कितना सोना मढ़ा है। पहले तो ऊपर से रास्ता था, वहाँ जाकर छूकर देखते थे कि कितनी मोटी परत का सोना है। लोगों को आकर्षक लगता है। सोना भी पदार्थ है। जो उसका मालिक है उसको वह सुख देता है। विश्वनाथ मंदिर के पास लोगों ने दूसरा विश्वनाथ मंदिर बनाया, उस पर भी लोग सोना चढ़ाना चाहते थे। कुछ लोगों ने उसके लिये सोना दिया भी परंतु उतना सोना ही नहीं मिल पाया। इतना मिला कि जिससे एक घड़ा ही मुश्किल से बन सके। पुराने विश्वनाथ मंदिर का सोना नये विश्वनाथ वाले लोगों को दुःख दे रहा है कि 'हाय हम नहीं चढ़ा पाये।' एक ही पदार्थ से सुख-दुःख का जोड़ा है। कई बार वहाँ ध्यान से देखते हैं कि कबूतर उस पर बैठ कर बीट करते हैं जैसे पत्थर पर बैठकर बीट करते हैं। उन्हें वह सोना न सुख देने वाला है, न दुःख देने वाला है क्योंकि वह चीज़ उन्हें सुख-दुःख देने वाली नहीं है। उनमें द्वंद्व-भाव नहीं होने से वे सुख-दुःख दोनों से रहित हैं। अर्थात् कबूतर उसके प्रति निर्द्वंद्व हो गये।

इसलिये योगवासिष्ठ में शुरू के कई अध्यायों में स्त्री, धन, राज्य आदि संसार के पदार्थों के दुःख ही दुःख का वर्णन किया है। आधुनिक उसे बाँच कर कहते हैं कि यह निराशावादिता है। वैसा कुछ नहीं है, क्योंकि इन पदार्थों के सुख को तो तुम जानते ही हो, पदार्थों के दुःख को नहीं जानते इसलिये उसे बताना पड़ता है। जब तुम समझ लेते हो कि पदार्थ के अंदर सुख भी है और दुःख भी है इसलिये पदार्थ होगा तो उससे सुख भी होगा और दुःख भी होगा, तब द्वंद्व चला जाता है। जैसे यदि खून की शुद्धि करनी है तो नीम को घोट कर पीना पड़ेगा और वह कड़वा लगेगा। नहीं पियोगे तो खून साफ नहीं होगा। कड़वी दवाई के बिना रोग नहीं जायेगा। उसकी कड़वाहट से दुःख नहीं होता

क्योंकि पता है कि दवा है तो पीना ही है। इसी प्रकार संसार के सब पदार्थों की सुख-दुःखरूपता है। एक-एक करके नहीं कि कभी सुख कभी दुःख देते हों। यदि ऐसा हो तब तो प्रवृत्ति होगी कि 'सुख वाला समय फिर आ जाये, दुःख देने वाला समय न आये' और द्वंद्व में ही पड़े रहोगे। संसार के पदार्थ जिस समय सुख दे रहे हैं उसी समय दुःख देने वाले हैं जैसे नीम जिस समय कड़वी लग रही है उसी समय खून को साफ करने वाली है। इसी प्रकार पदार्थों की सुख-दुःखरूपता को युगपत् समझ लोगे तो उनसे निर्द्वन्द्व हो जाओगे। इसलिये योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में संसार के पदार्थों की दुःखरूपता का लम्बा चौड़ा वर्णन निराशावाद नहीं वरन् वास्तविकता का वाद है।

आशा और निराशा तो द्वंद्व है। एक को आशा तो दूसरे को निराशा होगी। परंतु दोनों को छोड़कर वास्तविकता देखनी है। इसी प्रकार किसी ने तुम्हारी प्रशंसा की तो तुम सोचते हो अच्छा किया, फूल जाते हो; किसी ने निंदा की तो दुःखी हो जाते हो। प्रशंसा-निंदा दोनों द्वंद्व में आयेंगे। प्रशंसा में भी कुछ शब्दों का उच्चारण हुआ, निन्दा में भी कुछ शब्दों का ही उच्चारण हुआ। दोनों ही हवा में उड़ जाने वाले हैं। दोनों ही शब्द नहीं रह जायेंगे। उनमें भेद यही है कि प्रशंसा में आवाज़ प्रेम से और निंदा में आवाज़ द्वेष से उठती है। जैसे जिसके हृदय में कस्तूरी भरी है, वहाँ से हवा आयेगी तो सुगन्धि मिलेगी और गटर में ऊपर से हवा आयेगी, तो बदबू आयेगी। दोनों गंध आई हवा से ही। इसी प्रकार जिसके हृदय में द्वेष भरा है वहाँ से जो शब्द निकलते हैं उनमें बदबू आती है और जिसके हृदय में तुम्हारे प्रति सद्भावना भरी है उसमें से जो शब्द निकलते हैं उसमें से सुगंधि आती है। शब्द में कुछ विशेष नहीं है। मान-अपमान कुछ नहीं हैं, मात्र शब्द ही हैं।

जब हम द्वंद्वों या जोड़ों का विचार करते हैं तो वास्तविक स्थिति समझते हैं जो जोड़ों से परे की है। हम लोगों को कबूतर नहीं बन जाना है क्योंकि कबूतर सापेक्ष निर्द्वंद्व हैं। सोने के प्रति तो उनका भाव नहीं है लेकिन वे भी आपस में लड़ते हैं, दाने के प्रति उनका प्रेम है तो उसके लिये दोनों झगड़ने लगते हैं। कबूतर तो दृष्टांत है कि जैसे वे सोने के प्रति निर्द्वंद्व हैं, उसी प्रकार तुम संसार के सब पदार्थों को देखकर वास्तविक रूप से निर्द्वंद्व हो जाओ। निरपेक्ष निर्द्वंद्वता इसमें है कि 'मयि अखण्ड सुखाम्बोधौ बहुधा विश्ववीचयः। उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात्।।'' मेरा वास्तविक स्वरूप तो अखण्ड आनन्द है, सच्चिदानन्द ही मेरा स्वरूप है। मेरी वास्तविकता में कहीं भी दुःख का एक ज़र्रा नहीं हो सकता। ऐसा जो अखण्ड आनंद का स्वरूप है उसमें अज्ञान की वायु के कारण लहरें उठ रही हैं। अज्ञान की वायु अर्थात् जिस चीज़ को नहीं जानते हो उसे न जानने के कारण ही उसमें तरह-तरह की चीज़ें पैदा होती हैं। जैसे मंदान्धकार में हमने रस्सी को नहीं देखा तो उस रस्सी से साँप, जलधारा, भूछिद्र, बैल का मूत्र आदि सब पैदा हो जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ मैंने अपने अखण्ड आनंद स्वरूप को नहीं जाना, इसके कारण ही सुख-दुःख आदि द्वंद्व पैदा होते हैं।

साधारणतः लोग समझते हैं कि विषयों से सुख दुःख होता है—रसगुल्ला मिला तो सुख, डंडा पड़ा तो दुःख हुआ। परन्तु कभी विचार करके देखो, और यही बात अनेक विचारकों ने कही भी है, कि सुख-दुःख का कारण विषय नहीं वरन् इन्द्रियाँ हैं। जैसे तेज़ जुकाम के कारण वस्तु में स्वाद प्रतीत नहीं होता तो सुख नहीं होता। यदि विषय सुख देता तो जुकाम होने पर भी स्वाद आता। इसी प्रकार विषय से दुःख नहीं होता। जैसे डाक्टर चीर-फाड़ करता है तो दुःख नहीं होता क्योंकि सुन्न कर देने से नाडियाँ कार्यकारी नहीं रहती। साधारणतः एक चींटी भी काट जाये तो दुःख होता है पर वहाँ चक्कू चलता है, चीर-फाड़ होती है तो भी दुःख नहीं होता। जैसे जुकाम होने पर तुम्हारी जीभ स्वाद को नहीं ले सकती। इसलिये विषय से सुख-दुःख नहीं होता, इन्द्रियाँ सुख-दुःख को देती हैं।

कह सकते हो कि केवल इन्द्रियाँ सुख-दुःख नहीं देतीं, इसलिये योग का अभ्यास बताया। नासिका के अग्रभाग में ध्यान करने से दिव्य गंध का भान होता है, जबकि विषय वहाँ कुछ नहीं है। इसी प्रकार कान के अंदर ध्यान करने से दिव्य शब्दों का श्रवण होता है। विषय के न रहने पर भी इन्द्रियों का भोग होता है। कहोगे, 'हमने योग का अभ्यास नहीं किया', तो कभी अपाहिजों, विकलांगों के अस्पताल में चले जाना। डाक्टर ने आदमी की टांग काटी दी, फिर भी वह कहता है कि 'मेरी एडी में ज़ोर की खुजली चल रही है' जब कि वहाँ एड़ी है नहीं! इसका कारण यह है कि अंग कटने पर भी उसकी संवेदना मस्तिष्क में होती है, इसलिये वहाँ प्रतीति होती है। इसलिये विषय होने से ही प्रतीति होती है ऐसा नहीं है, विषय होने पर भी प्रतीति नहीं होती और विषय न होने पर भी प्रतीति होती है। इसलिये कुछ लोगों का कहना है कि इन्द्रियाँ ही विषय की प्रतीति में कारण हैं।

कुछ विचारक आगे चले कि इन्द्रियाँ न होने पर भी विषय की प्रतीति होती है। उनके लिये स्वप्न प्रसिद्ध दृष्टांत है। स्वप्न में न इन्द्रियाँ हैं और न विषय हैं, फिर भी स्वप्न में सुख-दुःख होता है। कई बार स्वप्न से रोते हुए उठते हैं और कई बार हँसते हुए उठते हैं। वहाँ न विषय है, न इन्द्रियाँ हैं। दोनों का अभाव है। इसलिये उन्होंने कहा कि इन्द्रियाँ कारण नहीं हैं, मन ही कारण है क्योंकि स्वप्न में केवल मन है। स्वप्न का मतलब है जब तुम इन्द्रियों के बिना केवल मन से ग्रहण करते हो। कई बार जगे-जगे भी स्वप्न देखते हो। सोम शर्मा नाम का एक भिक्षुक ब्राह्मण था। एक बार उसे भिक्षा में बहुत ज़्यादा सत्तू मिल गया। चलते-चलते थक गया तो किसी के घर के सामने बैठकर सत्तू का झोला लटका कर लेट गया। लेटे-लेटे सोचने लगा कि आज मुझे इतना सत्तू मिल गया। इसे बेचू दूंगा तो इतने पैसे मिल जायेंगे कि उससे चने खरीदकर बेचूंगा। और ज़्यादा पैसे मिल जायेंगे। कपड़े के थान खरीद कर सिर पर रखकर बेचने लग जाऊंगा। उससे और ज़्यादा पैसा मिलेगा तो एक दुकान खोल लूंगा। और खूब काम चलेगा। कई लोग लड़की देने को तैयार हो जायेंगे, शादी हो जायेगी, बच्चे हो जायेंगे। मैं काम कर रहा होऊंगा और बच्चे शोर

मचायेंगे तो मैं उन्हें लात मारकर कहूँगा 'शोर मत मचाओ'। यह सोचते हुए उसने वास्तव में लात मार दी और ऊपर लटके झोले का सारा सत्तू बिखर गया! अब रोने लगा। दूसरे भिक्षुक वहाँ आये और उससे कहने लगे 'रो मत, हमारे पास बहुत सत्तू है, ले ले।' उसने कहा 'मैं सत्तू को थोड़ी ही रो रहा हूँ। मेरी तो दुकान चली गई, पत्नी चली गई, दीवाला निकल गया।' इसको दिवा स्वाप कहते हैं। इसलिये स्वप्न केवल लेटे-लेटे ही नहीं आता, जहाँ तुम विषयों से सुख-दुःख का अनुभव करते हो, परन्तु वहाँ न विषय हैं न इन्द्रियाँ हैं, केवल मन है, वह स्वप्न है।

यहाँ तक तो अनेक विचारकों ने विचार किया। परन्तु वेद एक कदम आगे गया। वेद कहता है कि स्वप्न में तुम्हें सुख का अनुभव हुआ तो मन था। लेकिन जब गहरी नींद में चले जाते हो, वहाँ मन भी नहीं रहता, विषय नहीं हैं, इन्द्रियाँ भी नहीं हैं। फिर भी कहते हो कि 'बढ़िया नींद आई, बड़ा सुख हुआ, बड़ा मज़ा आया।' यदि पाँच-सात दिन नींद नहीं आये तो महादुःखी होते हो। इसका मतलब है कि गहरी नींद में सुखरूपता है, जहाँ न मन है न इन्द्रियाँ हैं और न कोई विषय है। वहाँ केवल तुम हो। गहरी नींद में तुम्हारे सिवाय कोई नहीं है। इसलिये कुछ न होने पर भी तुम हो तो सुख है, तुम नहीं हो तो मन भी सुखी नहीं हो सकता। मन नहीं है तो इन्द्रियाँ भी सुखी नहीं हो सकती। इन्द्रियाँ नहीं हैं तो विषयों से भी सुख नहीं हो सकता। तुमने अपनी सारी समझ उल्टी कर रखी है। तुम सोचते हो कि विषय से इन्द्रियों को सुख और इन्द्रियों से मन को सुख और मन सुखी तो मैं सुखी, जबकि बात बिल्कुल उल्टी है, तुम सुखरूप हो तो मन को सुख, मन से इन्द्रियों को सुख और इन्द्रियों से विषय में सुख आता है। यदि ऐसा क्रम न होता तो सुख देने वाली चीज़ सब को सुख देने वाली होती। बढ़िया रवेदार कलाकंद बनी हो तो एक को वह मिठाई बड़ा सुख देती है और वहीं कोई मिठाई का शौकीन लेकिन मधुमेह का रोगी हो तो उसे घोर दुःख हो जाता है। यदि विषय कलाकंद में सुखरूपता होती तो दोनों को अवश्यमेव सुख होता, लेकिन नहीं होता। उसी विषय से जिस काल में एक को सुख, उसी काल में दूसरे को दुःख हो रहा है। गहरी नींद में इन सबके अभाव में भी सबको सुख ही होता है, वहाँ कोई दुःखी नहीं होता। कोई नहीं कहता कि 'बड़ी गहरी नींद आई और मैं दुःखी हो गया!' सुषुप्ति में प्राणिमात्र सुख का अनुभव करता है। वहाँ कोई विषय है ऐसी बात नहीं है। इसीलिये विषय से सुख नहीं वरन् तुमसे विषय को सुखरूपता मिलती है।

यह विपरीत ज्ञान क्यों होता है? होता यह है कि हमारा आनन्द जिस जगह अर्थात् अन्तःकरण में पहुँचता है उसी जगह विषय का प्रतिबिम्ब भी पड़ता है। जहाँ विषय का प्रतिबिम्ब पड़ा वहाँ तुम्हारा मन भी है इसलिये तुम्हें भ्रम हो जाता है कि विषय से आनन्द आया। जैसे अगर लाल बती जल रही हो और उसमें कोई सफेद कुर्त्ता पहन कर आये, यदि लाल बती का भान नहीं हो तो समझते हैं कि लाल कुर्त्ता पहने है। कुर्त्ता तो सफेद

है परन्तु चूंकि उस पर लाल लट्टू की रोशनी पड़ रही है इसलिये लाल दीखता है। इसी प्रकार मन के अंदर जहाँ कलाकंद की छाया पड़ी वहीं तुम्हारे आनंद की छाया पड़ी, इसलिये तुम्हें लगता है कि कलाकंद आनन्द दे रही है। जब इस प्रकार सुख-दुःख, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-हानि की द्वंद्वता का विचार करोगे तब सर्वत्र विराग होगा।

जब मनुष्य में सत्त्वगुण होता है तब उसका मन, इन्द्रियाँ ठीक बात को सोच पाती हैं। रजोगुण-तमोगुण की स्थिति में जो चीज़ जैसी है वैसी प्रतीत नहीं होती। सत्त्वगुण में चीज़ जैसी है वैसी प्रतीत होती है। इसलिये भगवान् ने आगे 'नित्यसत्त्वस्थ' कहा है। हमेशा सत्त्व गुण में स्थित रहोगे तो निर्द्वंद्व हो पाओगे; तभी वास्तविकता का पता चलेगा, अन्यथा रजोगुण से राग होकर अन्यथा प्रतीति व प्रवृत्ति होगी या तमोगुण से द्वेष द्वारा अन्यथा प्रतीती होगी। इसलिये पहली बात तो यह है कि सत्त्वगुणी बनना पड़ेगा और सत्त्वगुणी बनने के लिये रजोगुण और तमोगुण को छोड़ना पड़ेगा। भगवान् सत्रहवें अध्याय से शुरू करके बतायेंगे किस प्रकार से खान-पान, देवता-पूजन आदि सब में त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति काम करती है। तमोगुणी को भूत-प्रेत की पूजा अच्छी लगेगी, रजोगुणी को यक्ष राक्षस की पूजा अच्छी लगेगी। देवताओं की पूजा की तरफ उनका मन ही नहीं जायेगा। इसी प्रकार श्रद्धा आदि सबको तीन गुणों में बाँट कर बतायेंगे। वहाँ आचार्य भी स्पष्ट करेंगे कि भगवान् यह सब रजोगुण, तमोगुण को छोड़ने के लिये बता रहे हैं। ऐसा नहीं कि भगवान् ने कहा है तो तीनों को पकड़कर रखो! ठीक जिस प्रकार वेदों की बात बताते हुए कहा था कि वेद में दुनिया-भर के काम्य कर्म बताये हैं; दुनिया में आसक्ति वाले कहेंगे कि ये सब कर्म करने के लिये ही बताये हैं, नहीं तो ये सब व्यर्थ हो जायेंगे! इसी प्रकार भगवान् ने तीन गुण बताये हैं, इसलिये तीनों गुण होने चाहिये—ऐसा कोई कह सकता है। लोग कहते भी हैं कि संसार में तीनों गुणों की ज़रूरत है।

वास्तविकता है कि जब तुम सात्त्विक कर्म, श्रद्धा आदि को करोगे तब तुम सत्त्वस्थ हो पाओगे अन्यथा नहीं हो पाओगे। यही स्थिरता आज के जीवन में सबसे ज़्यादा कठिन है। इसलिये भगवान् ने नित्य सत्त्वस्थ होने को कहा। कभी-कभी सत्त्वस्थ तो हो जाते हैं : सत्संग में बैठे हुए सत्त्वस्थ हो जाते हैं, लेकिन जैसे ही यहाँ से उठकर गये तो रजोगुण तमोगुण का व्यवहार करते हैं।

व्यवहार में रजोगुणी तमोगुणी किसलिये बनते हो? इसका जवाब भगवान् ने आगे दिया 'निर्योगक्षेम आत्मवान्'। क्योंकि तुम्हारा सारा व्यवहार योग-क्षेम के लिये है इसलिये जब तक चाहोगे कि अमुक चीज़ दूसरे के पास है, मेरे पास आ जाये तब तक उसको पाने के लिये दौड़ोगे और कहोगे कि रजोगुण तमोगुण के बिना नहीं चलता। इसी प्रकार 'अमुक चीज़ मेरे पास है, कहीं मेरे पास से निकल न जाये' यह चाहोगे तो सत्त्व से डिगोगे ही। इस योग-क्षेम के कारण ही हम सत्त्वगुण को छोड़कर रजोगुण तमोगुण का अवलम्बन करते

हैं। इसलिये भगवान् ने कहा—योग क्षेम से अलग हट जाओ, कोई चीज़ मुझे मिले या मेरे पास बनी रहे इसको सामने मत रखो। यह तभी करोगे जब तुमको परमेश्वर पर भरोसा होगा। परमेश्वर का भरोसा करने वाला योग-क्षेम की चिंता नहीं करेगा। भगवान् कहेंगे 'योगक्षेमं वहाम्यहं' अर्थात् जो इस प्रकार निर्द्वंद्व और नित्य सत्त्वस्थ है उसके योग क्षेम को मैं चलाता हूँ।

चलाता तो वह सबका है। जिन चीज़ों की तुम कल्पना नहीं करते हो वे भी तुम्हें प्राप्त हो जाती हैं, चाहे उसे ईश्वरेच्छा से कहो, चाहे प्रारब्ध से कहो। विचित्र परिस्थिति हैः दुःख के लिये तो हम कभी स्वयं को कारण नहीं मानते कि दुःख में हमारा प्रयत्न कारण है। कोई डाक्टर से यह नहीं कहता कि छह साल से बीमार नहीं हुए, कुछ करें कि सिर दर्द हो जाये। फिर भी सिर दर्द हो जाता है बिना प्रयत्न के। वहाँ कहते हैं 'भगवान् की मर्जी या हमारे प्रारब्ध कर्म के कारण हो गया।' यदि दुःख बिना बुलाये आ रहा है, तो सुख भी उसी जाति की चीज़ है, वह भी बिना बुलाये आयेगा। घर से अच्छे-भले चले, किसी के घर पहुँचे वह कहता है कि 'कानपुर से लड्डू आये हैं, दो तो खा लीजिये।' उसे लेने का तुमने कोई प्रयत्न नहीं किया, कैसे आ गया? कहोगे प्रारब्ध से आ गया। इसलिये सुख भी प्रारब्ध से आता है। प्रारब्ध न हो तो सारे प्रयत्न बेकार हो जाते हैं।

बम्बई में एक सेठ जी शाम को ५ बजे घर आये। उनकी पत्नी पकोड़े बढ़िया बनाती थी और उस दिन बड़े प्रेम से पकोड़े बनाये थे। उन्होंने खाने के लिये पकोड़ा उठाया ही था कि टेलीफोन की घंटी बजी, टेलीफोन सुनते ही झट उठ खड़े हुए, मुश्किल से एक कौर खाया होगा, पकौड़े वहीं छोड़ कर चलने लगे। पत्नी ने पूछा तो कहा, 'अब नहीं खाऊंगा। फैक्ट्री में आ लग गई है।' घरवाली ने सारा प्रयत्न किया था, बढ़िया पकोड़े बनाकर सामने रखे थे, लेकिन सेठ नहीं खा पाया।

योग-क्षेम को चलाने वाले तो भगवान् ही हैं और सबका योग-क्षेम वही चलाते हैं। प्रारब्ध ईश्वरेच्छारूप ही है। फिर भगवान् ने क्यों कहा कि मैं चलाता हूँ? इसलिये कि भगवान् सबका योग-क्षेम चला रहे हैं यह दूसरे जानते नहीं जबकि सत्त्वगुणी व्यक्ति इस बात को जानता है। जानने के कारण वह योग-क्षेम के प्रति प्रवृत्ति नहीं करता। जब यह प्रवृत्ति छोड़ोगे तब सत्त्वगुण में स्थित होकर निर्द्वंद्व होगे और अंततोगत्वा निस्त्रैगुण्य भी हो जाओगे।

वेदान्त और सांख्य के तीन गुणों में यह आधारभूत फ़र्क है। सांख्य के तीन गुणहमेशा साथ रहते हैं और वेदान्त शुद्ध सत्त्व को मानता है। विवेक चूडामणि में विशुद्ध सत्त्व व मिश्र सत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। सांख्य मिश्र सत्त्व तक पहुँचता है, शुद्ध सत्त्व को नहीं समझ पाता। जब इस विशुद्ध सत्त्व में स्थित होते हैं तभी तीन गुणों से अतीत हो सकते हैं अन्यथा नहीं हो सकते। जब तक नित्य सत्त्वस्थ नहीं हुए तब तक निर्द्वंद्व नहीं हुए लेकिन नज़दीक पहुँचे क्योंकि शम, दम आदि भी सत्त्व की स्थिति है जो आगे श्रवण

मनन के द्वारा मोक्ष दे सकती है। निस्त्रैगुण्य तो मोक्ष होने पर ही हो सकते हैं।

यह तभी कर पाओगे जब आत्मवान् होगे। भगवान् भाष्यकार कहते हैं–''आत्मवान् अप्रमत्तश्च भव'' प्रमाद अर्थात् असावधानी छोड़ोगे तब यह स्थिति होगी। सब चीज़ों में सावधानी समझना। तुम करोगे तो लगेगा 'मैंने किया तब हुआ।' सावधान रहोगे तो होगा कि मेरे करने से नहीं, परमात्मा ने किया तो हुआ। पुराने जमाने में मुँह से बोलने की शिक्षा देते थे। कोई काम सफल होने पर लोग प्रशंसा करते थे तो कहते थे कि 'भगवान् की कृपा से हो गया।' अब वह बोलना भी लोगों का बंद हो गया है। सचमुच में तब भी भगवान् की कृपा समझ पाते थे, ऐसी बात नहीं है। कर्तृत्व-भावना रहती थी, लेकिन मुँह से बोलते थे तो भाव याद रहता था। अब कहते हैं कि 'मैंने मेहनत की, तब मुकदमा जीता।' इससे अभिमान ही बढ़ता है। असावधान न होकर योग-क्षेम का व्यवहार करते समय तुरंत याद रखो कि योग-क्षेम वहन करने वाले भगवान हैं।

इसी प्रकार नित्यसत्त्वस्थ के लिये भी अप्रमादी होना ज़रूरी है। जिस प्रकार सड़क पर चलते हुए सावधानी बरतते हैं तो गड्ढों से बचकर चलते हैं अन्यथा गड्ढे में पैर पड़ेगा तो दुःखी होंगे; इसी प्रकार अंतःकरण में रजोगुणी, तमोगुणी संस्कार उठने पर भी नित्य-सत्त्वस्थ तभी रह पाओगे जब अप्रमादी, आत्मवान् बनोगे और तभी निर्द्वंद्व हो पाओगे।

भगवान् ने प्रारंभ किया था कि यहाँ तक ज्ञान बताया अब यहाँ से योग बता रहा हूँ। ''एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।'' फिर व्यवसायी बुद्धि और अव्यवसायी बुद्धि अर्थात् एक निश्चय करने वाली और अनन्त शाखाओं वाली बुद्धि को बताया। अनन्त शाखाओं वाली बुद्धि से हटकर व्यवसायी बुद्धि वाले बनते हो तो यही तुम्हारे लिये मार्ग जो जायेगी। इसलिये संक्षेप में भगवान् ने जो योग बताने की प्रतिज्ञा की थी, वह यहाँ पूरी होती है। इसलिये भाष्यकार ने यहाँ स्पष्ट किया है ''एष तव उपदेशः स्वधर्ममनुतिष्ठतः''। अर्थात् इस प्रकार करने वाला स्वधर्म का अनुष्ठान करेगा।

प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अलग है, इसलिये दो व्यक्तियों का धर्म एक नहीं हो सकता। अतः महाभारत में स्पष्ट कहा है–

''यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः प्रसेवन्ते तस्मै धर्मात्मने नमः।।''

धर्मस्वरूप परमात्मा है। परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के धर्मों का आचरण करना आजकल लोगों को जहर लगता है। आजकल कहते हैं कि पति पत्नी क्यों नहीं हो सकता? आदमी औरत, औरत आदमी क्यों नहीं हो सकता? सर्वत्र लोग कहते हैं कि पृथक् धर्म नहीं होना चाहिये, सब एक हो जायें। लेकिन एक हो नहीं सकते। 'पृथग्धर्म-फलैषिणः' अलग-अलग धर्मों के फलों की इच्छा भी लोगों की अलग-अलग है। किसी के पहले ही सत्रह बच्चे हैं, उसे पुत्र की इच्छा ही नहीं है। उसे कोई कहे कि 'पुत्रेष्टि करो' तो उसे क्या

प्रवृत्ति होनी है! ठीक इसी प्रकार कोई स्वस्थ है, उसे कहो कि 'मृत्युंजय जप करा लो', तो वह उसके काम का नहीं है। धर्मों के फल भिन्न-भिन्न हैं। किसी को किसी चीज़ की इच्छा है, किसी को किसी दूसरी चीज़ की। इसलिये सबके लिये एक नियम नहीं कर सकते। इसी प्रकार ''पृथग्धर्मान् प्रसेवन्ते'' सब अलग-अलग धर्मों से परमात्मा का ही सेवन करते हैं।

धर्मस्वरूप परमात्मा है। इसीलिये भाष्यकार ने कहा कि अपने धर्म का अनुष्ठान नहीं करोगे तो कभी भी निर्योगक्षेम नहीं हो पाओगे। ब्राह्मण से कहते हैं 'वेद पढ़ो' तो वह कहता है कि 'आजकल कौन दक्षिणा देता है? इसलिये चौकीदारी ही अच्छी है?' उसे ईश्वरकृत योग-क्षेम नहीं जँचे, लगता है 'मैं करूंगा तभी प्राप्त होगा।' शूद्र कहता है 'हम वेद क्यों नहीं पढ़ सकते?' उससे कहते हैं कि भगवान् ने कहा है ''परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्'' इसलिये तुम नौकरी करो। लेकिन वह अपना धर्म नहीं करना चाहता। जिसका धर्म वेद पढ़ना है वह चौकीदारी करना चाहता है और जिसका धर्म चौकीदारी करना है वह उसे नहीं करना चाहता। इस प्रकार सर्वत्र धर्म का विप्लव हो रहा है। पुरुष स्त्री के धर्म और स्त्री पुरुष के धर्म करना चाहती है। कर्मयोगाभ्यासी अपने धर्म का पालन करेगा। मनमाना आचरण करने वाला कर्मयोग का अभ्यास नहीं कर सकता। कर्मयोग के अभ्यास से ही अन्ततोगत्वा निस्त्रैगुण्य को प्राप्त करके तुम अपने स्वरूप में स्थित रह पाओगे।।४५।।

प्रश्न होता है कि व्यवसायात्मिका बुद्धि से क्या फ़ायदा है? हम रोज़ भोजन बनाते हैं, रोज़ खाते हैं। यह चक्र चलता है तो क्या खाना बंद कर दिया जाये? अव्यवसायी बुद्धि में दोष दिया था कि कर्म से फल होता है, फल के अंदर राग-द्वेष होते हैं, उनसे फिर क्रिया होती है और उससे फिर जन्म होता है, इसलिये यह चक्र छूटता नहीं। आखिर इस चक्र में बुराई क्या है? और जहाँ तक 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च' का विचार है : जैसे हम रोज़ दाल भात साग और अन्य कई चीज़ें खायें तभी खाने का मज़ा आता है। इसमें कोई एक निश्चय कर ले कि रोज़ खिचड़ी ही खानी है, तो भोजन में कोई मज़ा नहीं रहेगा। विविधता वाली बुद्धि को अव्यवसायी क्यों बताते हैं? अव्यवसायी बुद्धि का विचार करते हुए उसमें दो दोष बताये थे : एक तो तुम वहाँ के वहाँ रहते हो और चक्र काटते रहते हो। दूसरा, उसके लक्ष्य अनेक हैं। ये दोनों ही *दोष* नहीं हैं। इसी प्रकार कोई कपड़े का दृष्टांत देगा। हम कपड़ा पहनते हैं, गंदा होता है, उसे धोते हैं और फिर पहनते हैं तो क्या सब नागा बाबा बन जायें कि रोज़ धोने-पहनने से क्या फ़ायदा! इतना ही नहीं, अलग-अलग ढंग के कपड़े लाते हैं। क्या माओ की तरह हम सब आदमी-औरत एक रंग ढंग का पायजामा पहन कर घूमें? क्या यही व्यवसायात्मिका बुद्धि है? इसी प्रकार मकान को पुतवाते हैं। गंदा हो जाता है तो फिर रंगवाते हैं, फिर गंदा हो जाता है; तो क्या मकान का रंगवाना पुतवाना छोड़ दें? हर बार रंगाई पुताई में भी थोड़ा फ़र्क करते ही हैं। इसलिये 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च' में हमें कोई *दोष* नहीं दीखता। त्रिगुणातीत हो जाने से क्या फ़ायदा

होगा? इसलिये अव्यवसायी बुद्धि में जो दोष दिये, वे दोष सिद्ध नहीं होते और व्यवसायात्मिका बुद्धि की जो प्राप्ति बताई वह भी बेकार-सी लगती है।

इस पर भगवान् कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

परिच्छिन्न जल से जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना सब तरह से पूर्ण जलाशय से भी होता ही है; इसी तरह सब वेदोक्त कर्मों में बताये फल तत्त्वदर्शी ब्राह्मण को मिल जाते हैं।

जितने दृष्टान्त दिये वे सब अनन्यगतिक दृष्टांत हैं अर्थात् और कोई उपाय ही नहीं हैः जैसे मकान गंदा होगा ही, कपड़े भी मैले होंगे ही। लेकिन जहाँ उपाय होता है वहाँ तो तुम परिवर्तन करते ही हो। जैसे, पहले बर्तन से कलई उतर जाती थी तो फिर उस पर कलई करवाते थे। जब स्टेनलैस स्टील आ गया, दूसरी गति मिल गई अर्थात् बिना हर बार कलई कराये काम चल गया, तब कहना कि 'पहले वाला ढंग क्यों छोड़ दिया?' नहीं बनता। जब तक बिना कलई के नहीं चलता था तब तक करवाते रहे। अब ज़रूरत नहीं रही तो छोड़ दिया। इसी प्रकार कपड़ों को धोना, गर्म लोहा फेरना आदि रोज़ काम करते थे। अब ऐसे कपड़े आ गये जिन पर लोहा नहीं फेरना पड़ता तो लोग उनका प्रयोग करने लगे। जहाँ चक्र में चलना ही पड़ता है, वहाँ जब तक कोई उपाय नहीं होता तभी तक चला जाता है। कोई चाहता नहीं है कि हम चक्र में चलते रहें। यहाँ भी अगतिक गति होती है—कर्म करना, फिर फल भोगना—इस चक्र में जब तक दूसरा उपाय नहीं तब तक घूमते रहते हैं।

भगवान् कहते हैं कि कुछ काम तुम छोटे जलाशयों से कर लेते हो—जैसे कुएं के पानी से खाने पीने का काम, बावड़ी के पानी से नहाने का काम और तालाब के पानी से तैरने का काम चल जाता है। अलग-अलग काम के लिये अलग-अलग पानी की ज़रूरत पड़ती है परन्तु यदि तुम्हारे चारों तरफ शुद्ध जल फैला हो तो चाहे पियो, चाहे नहाओ चाहे उसमें तैरो। क्या फिर भी बावड़ी का पानी लेने जाओगे? जो-जो अर्थ अर्थात् प्रयोजन तुम उससे सिद्ध करते हो वे सारे के सारे प्रयोजन तुम्हारे चारों तरफ भरे हुए शुद्ध जल से ही सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार सारे वैदिक कर्म और उपासनाओं से जो-जो फल मिलते हैं वे सारे फल उसे मिल जाते हैं जो ब्रह्मज्ञानी अनुभव वाला है।

छांदोग्य में कथा आती हैः जानश्रुति एक राजा था। गर्मी के मौसम में एक रात वह छत पर सो रहा था। पूर्णिमा की बढ़िया चांदनी रात थी। ऊपर से कुछ हंस उड़ रहे थे। एक हंस ने दूसरे हंस से कहा कि 'नीचे एक प्रतापी राजा लेटा है इसलिये इसके ऊपर से नहीं जाना।' हम लोगों की परम्परा में किसी बड़े आदमी को ऊपर से लांघने को खराब मानते हैं। दूसरा हंस बोला—'तू तो ऐसे बोल रहा है मानो यह रैक्व हो।' राजा ने सुना

तो उसके मन में आया कि 'यह रैक्व कौन है जो हमसे बड़ा है?' सवेरा होने पर उसने लोगों से कहा कि पता लगाओ यह रैक्व कौन है। चारों तरफ ढूंढा लेकिन वह कहीं नहीं मिला। राजा से आकर कहा–'बहुत ढूंढा लेकिन वह कहीं नहीं मिला।' फिर भी राजा ने कहा–'और ढूंढो।' लोग फिर ढूंढने निकले। अंत में वह मिल गया। वह एक गाड़ी में रहता था। लोगों ने राजा से आकर कहा कि रैक्व मिल गया। हंस ने उसकी विशेषता बताई थी कि पूरी पृथ्वी में जो कोई जो शुभ कर्म करता है, उस सारे शुभ कर्म का फल रैक्व को मिल जाता है! राजा ने जाकर पहले उससे कहा 'जिस विद्या के कारण आपने यह स्थिति प्राप्त की है वह विद्या मुझे दीजिये।' पहले तो रैक्व ने उसको बड़े ज़ोर से डाँट दिया 'अरे शूद्र! जा, हट यहाँ से।' जानश्रुति राजा था पर उसके मन में शोक भरा था कि 'हाय! यह मुझसे श्रेष्ठ है।' जिसमें शोक का भाव होता है वही शूद्र होता है। इसलिये रैक्व ने कहा कि 'तू शूद्र है, तुझे क्या उपदेश दूं!' फिर राजा ने बहुत प्रार्थना की तो अंत में उसे प्राण-विद्या का उपदेश दिया।

सारे वेदों के कर्म और उपासनाओं का जो फल है वह सब उसको अपने आप प्राप्त हो जाता है जो ब्रह्मज्ञानी है, विज्ञानी है। ज्ञान अर्थात् परमात्मा की जानकारी और विज्ञान अर्थात् परमात्मा का साक्षात् अनुभव। ठीक जिस प्रकार, दूर से देखने पर भी चीज़ का पता लगा, उसे ज्ञान कहते हैं। जब पास जाकर पूरी तरह से स्पष्ट पता लग गया, तब विज्ञान कहते हैं। एक बार भगवान् द्वारिका में बैठे थे। अकस्मात् दूर से एक तेजस्वी नक्षत्र दिखाई दिया। दिन का समय था। सब लोग उधर देखने लगे कि यह तारा कहाँ से आ रहा है? धीरेधीरे ऐसे लगा जैसे सूर्य चमक रहा हो, अथवा उतर कर दर्शन करने आ रहा हो। वह प्रकाशपुञ्ज और बड़ा होता चला गया, फिर एक आदमी दिखाई दिया। लोगों ने सोचा कि कोई दिव्य पुरुष आ रहा है। जब वह पास पहुँच गया तब लोगों ने समझा कि नारद जी पधारे हैं।

'चयस्त्विषाम् इत्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवः पुमानिति
क्रमाद् अमुं नारद इत्यबोधि सः।।'

जब तारा दीखा था तब भी दीखे तो नारद ही थे। जब सूर्य दीखा तब भी वही नारद और जब आदमी दीखा तब भी नारद ही दीखे थे। परन्तु नारदरूप से उन्होंने उसे पहचाना नहीं था, ज्ञान उन्हीं का हो रहा था। जब नारदरूप से पहचान लिया तब विज्ञान हुआ अर्थात् पूरा समझ लिया कि यह कौन है।

ठीक इसी प्रकार जब परमात्मा का हम पहले श्रवण करते हैं तब दूर के तारे की तरह अनुभव तो परमात्मा का ही होता है। क्योंकि परमात्मा हमारा आत्मा है इसलिये आत्मरूप से उसका अनुभव होगा ही। परन्तु वह परमात्मा ही सारी सृष्टि को एकमात्र बनाने वाला,

चलाने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला है, इस बात को नहीं जानते। जानते तो उसी को हैं। फिर धीरे-धीरे अन्त में पता लगता है कि परमात्मा ही सृष्टि, स्थिति, लय का एकमात्र कर्त्ता है। उसके सिवाय कहीं कोई न करने वाला है और न भोगने वाला है। बाकी लोग तो बेकार के करने वाले और भोगने वाले बने रहते हैं। हम लोग सब काम चलाऊ करने वाले हैं! ऐसे समझ लो : आजादी के बाद अंग्रेजों की नकल करके हमने ज़मीन का मालिक सरकार को माना था। प्राचीन भारत में तो ज़मीन का मालिक आदमी खुद होता था पर अब मान लिया गया कि सारी ज़मीन की मालिक सरकार है और उसने जो हमें दिया वह हमारा है। अभी कुछ साल पहले जैसलमेर की तरफ से इंदिरा कैनाल निकली। उस समय राजस्थान के गवर्नर मेहरा थे। सोचा गया कि ज़मीनों के दाम बढ़ जायेंगे इसलिये पूरा विवरण लिया जाये ताकि जिनके पास से नहर निकलेगी उनसे टैक्स ज़्यादा लिया जायेगा। किंतु लोगों ने बताया कि वहाँ ज़मीनों का रिकार्ड कहीं था नहीं क्योंकि जैसलमेर में ब्रिटिश राज्य नहीं गया था। वहाँ किसी के नाम कोई ज़मीन नहीं थी। जो ज़मीन घेरे हुए है बस वह उसकी ज़मीन है। तब सरकार ने कार्यवाही की—जिसके पास जो ज़मीन है उसके नाम का पट्टा बनवा दिया गया और बाकी सारी ज़मीन पर सरकार का कब्जा हो गया।

अंग्रेजी पद्धति में क्योंकि सारी ज़मीन सरकार की है इसलिये आवश्यक होने पर वह किसी की भी ज़मीन का अधिग्रहण कर सकती है। ठीक इसी प्रकार तुम्हारा शरीर, इंद्रियाँ और मन आदि सब तुमको काम करने के लिये मिले हुए हैं, तुम इसके मालिक नहीं हो। इसलिये जब परमात्मा चाहेगा, तुम्हारी इन्द्रियाँ मन आदि कोई काम नहीं करेंगे। ये तुमको मिले हुए हैं बस इतना ही तुम्हारा अधिकार है। सारे संसार का एकमात्र कर्त्ता परमात्मा है और कोई नहीं है। तुम कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो। परन्तु तुमने इन पर कब्जा कर रक्खा है कि 'यह शरीर तो मेरा ही है।' इसी प्रकार इंद्रियों को अपना मानते हो पर ईश्वर के निर्देशानुसार तुम्हारे देखते-देखते ये इंद्रियाँ तुम्हारे लिये काम करना बंद कर देती हैं, तुम बहरे, गूंगे हो जाते हो। जिस क्षण यमराज को ले जाना होगा वह ले ही जायेगा, 'मेरा है' कहते ही रहोगे! मन का समापन रोज़ हो जाता है; जब नींद में चले जाते हो तो तकिये के नीचे से चाबी निकाल ले जायें, तुम्हें पता नहीं चलता! गहरी नींद में तुम्हे कुछ पता नहीं रहता क्योंकि वहाँ मन नहीं है और मन के बिना कुछ पता नहीं लग सकता। विषय और इंद्रिय का संयोग होगा, इंद्रिय और मन का संयोग होगा, तभी तुम्हें ज्ञान या आनन्द हो सकता है। सुषुप्ति में मन भी भगवान् ने ले लिया तो तुम बिस्तर पर पड़े हुए भी कुछ नहीं कर सकते। रोज़ मन लीन हो जाता है, यह जानते हो, अनुभव करते हो, फिर भी निश्चय है कि यह मेरा मन है! इसलिये जैसे ही मन दुःखी होता है, तब कहते हो 'मैं दुःखी हो गया।' मन दुःखी हुआ, तुम कहाँ से दुःखी हुए? मन सुखी हो, तो तुम कैसे सुखी हो गये? शरीर पर भी कब्जा है कि मैं यही हूँ। ज्ञान तो हो जाता है कि शरीर तुम नहीं हो। उसे

तुमसे जब चाहे दूर किया जा सकता है। इंद्रियाँ मैं नहीं हूँ, जब चाहे ये दूर की जा सकती हैं। जैसा अभी बताया, ज़मीन कभी भी अधिगृहीत की जा सकती है; इस बात को सब लोग जानते हैं, फिर भी निश्चय है कि यह ज़मीन तो मेरी ही है। इसी प्रकार बार-बार मृत्यु के पाश में जाने पर भी 'ये शरीर मन, इंद्रियाँ मैं ही हूँ', यह निश्चय नहीं छोड़ते। इनके द्वारा करने वाले और भोगने वाले परमात्मा हैं परन्तु तुम जबरदस्ती इनमें कर्ता भोक्ता बने हो।

सृष्टि स्थिति लय करने वाला परमात्मा है—इस रूप से परमात्मा का ज्ञान होता है कि एकमात्र वही सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। समझाने पर ज्ञान हुआ परन्तु यह विज्ञान नहीं है, अभी अनुभव में नहीं बदला। अनुभव में बदलोगे तो लगेगा कि सचमुच में मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं, एकमात्र परमात्मा ही कर्त्ता-भोक्ता है। यह निश्चय जब हो जायेगा तब विज्ञान कहेंगे। जैसे दृष्टांत में क्रम बताया था, अंत में नारदरूप से पहचान लिया गया था, वैसे ही परमात्मा कर्त्ता-भोक्ता है यह पढ़ समझ लेने पर कुछ चीज़ों के बारे में सोचोगे कि इन में परमात्मा कर्त्ता-भोक्ता है, तो थोड़ा स्पष्ट होगा। धीरे-धीरे स्पष्ट होता है। ऐसा जो विज्ञानी ब्राह्मण है उसके लिये सारे कर्मों के फलों की उपलब्धि हो जाती है। जब इस ज्ञान को प्राप्त करोगे तब अगतिकगति नहीं रही। पहले तो कलई के बिना गति नहीं थी, अब स्टील मिल गया। पहले कपड़े को धोना, आदि ज़रूरी था, अब जीन्स आ गये तो धोने की भी ज़रूरत नहीं रह गई। इसी प्रकार जिसे विज्ञान का अनुभव हो गया, उसे किसी कर्म की ज़रूरत नहीं रह गई और चूंकि सारे फल इकट्ठे मिल गये इसलिये 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च' होने की ज़रूरत भी नहीं रह गई। जब तक अलग-अलग चीज़ें थी तब तक बहुशाख बने हुए थे 'यह चाहिये, यह चाहिये'; लेकिन जब सारे फल इकट्ठे मिल गये तब बहुशाख होने की ज़रूरत ही नहीं रही। व्यवसायीबुद्धि हो गये, अव्यवसायीबुद्धि नहीं रहे।।४६।।

ऐसे निश्चय वाले कैसे हों? भगवान् कहते हैं कि यह ज्ञान अभी तुम्हें हुआ नहीं है इसलिये—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

तेरा कर्म में ही अधिकार है, फलों में कभी नहीं है। कर्मफल को प्रवृत्ति के प्रति हेतु मत समझ तथा अकर्म में तेरी आसक्ति न हो।

पूर्व श्लोक को सुनने से किसी को भ्रम हो सकता है कि वेद में बताये हुए कर्म अनावश्यक हैं। भगवान् ऐसा नहीं कह रहे हैं। भगवान् तो कह रहे हैं कि जिसके चारों तरफ शुद्ध जल भरा हुआ है उसके लिये कुएं, बावड़ी तालाब का जल बेकार है लेकिन जब तक वह पानी नहीं मिल जाता तब तक तो कुएं बावड़ी आदि के जल से काम चलाना पड़ेगा। इसी प्रकार जब तक तुम्हें परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो गया तब तक वेदों में

कहे हुए कर्मों से ही काम चलाना पड़ेगा। इसलिये इस श्लोक में भगवान् ने कहा कि अभी तुम्हें ज्ञाननिष्ठा में अधिकार नहीं है। कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है। जैसे कर्म और कर्म-निष्ठा में फ़र्क है ऐसे ही ज्ञान और ज्ञान-निष्ठा में फ़र्क है। कर्म करना एक बात है और कर्म-निष्ठा दूसरी बात है। कर्म करना ही अंतिम तत्त्व है—इस निश्चय को कर्म-निष्ठा कहते हैं। यह फ़र्क समझना ज़रूरी है। निष्ठा अर्थात् नितरां स्थिति। ठीक जैसे एक व्यापारी समय पर दुकान खोलता है, झाड़ू लगाता है, समय पर दुकान बंद करता है। संध्या को दिया बत्ती करता है, हिसाब ठीक से लिखता है; परन्तु उसकी निष्ठा न समय पर दुकान खोलने में, न झाड़ू लगाने में, न हिसाब लिखने में है। उसकी निष्ठा तो धन कमाने में है। बाकी सब चीज़ें धन कमाने के लिये आवश्यक हैं इसलिये वह सब कर रहा है, निष्ठा उसकी धन में है।

ठीक इसी प्रकार से ज्ञान-निष्ठा का मतलब है केवल ज्ञान में ही स्थिति होना। ज्ञान होने मात्र से ज्ञाननिष्ठा नहीं होती। ठीक जिस प्रकार कर्म करने मात्र से कर्मनिष्ठा नहीं होती, कर्म में ही स्थिति हो तब कर्मनिष्ठा है। कई बार लोग पूछते हैं कि अगर हम लोगों को कर्मों में ही अधिकार है तो आप हमें परमात्मा के विषय में क्यों बताते हैं? हम परमात्मा का ज्ञान करने के लिये परमात्मा के विषय में कहते हैं। पहले ज्ञान होगा तब तुम्हारी बुद्धि यह बन सकती है कि 'ऐसा परमात्मा मुझे मिले।' परमात्मा के विषय में ज्ञान कराया जाता है क्योंकि अभी तुम ज्ञाननिष्ठा के योग्य नहीं हो गये पर ज्ञान के योग्य तो हो ही गये। अभी तुम कर्मनिष्ठा में हो अर्थात् कर्म करना ही एकमात्र उद्देश्य समझते हो। कर्म के साथ भोग भी समझ लेना, करना-भोगना ही एकमात्र कर्त्तव्य समझते हो। जब हम तुम्हें परमात्मा का ज्ञान कराते हैं तब तुम वास्तविकता समझते हो। अभी तुम कर्म करते रहोगे और परमात्मज्ञान प्राप्त करते रहोगे। ज्ञान प्राप्त करते-करते कभी ऐसी स्थिति होगी कि तुम्हारे मन में आयेगा कि 'अब मुझे परमात्मा को ही प्राप्त करना है'। तब ज्ञान-निष्ठा हो जायेगी। उसके बाद भी कर्म करते रहोगे। ज्ञाननिष्ठा होने पर भी कर्म करते रहोगे। कर्म-निष्ठा है तब भी ज्ञान कर सकते हैं और ज्ञान में निष्ठा हो तब भी कर्म कर सकते हैं।

भगवान् कहते हैं कि अभी तुम्हें ज्ञान में निष्ठा नहीं है इसलिये परमात्मज्ञान में तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः अभी तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है। अधिकार शब्द ठीक से समझना 'अधिक्रियते अनेन इति अधिकारः' अर्थात् तुम्हें जिस कर्म के फल की प्राप्ति संभव हो उसमें तुम्हारा अधिकार कहते हैं। जैसे ब्राह्मण का जब उपनयन संस्कार होता है तब वह जनेऊ का अधिकारी होता है। जनेऊ बाजार में बिकते हैं और कोड़ी के हिसाब से मिलते हैं। उसे लेकर कोई भी कह सकता है कि 'मैं भी खरीद कर पहन सकता हूँ इसलिये मेरा अधिकार है।' खरीदकर पहन सकते हो—यह अधिकार नहीं है। संस्कार के द्वारा उस यज्ञोपवीत से जो फल पैदा कर सकते हो, वह पहननेमात्र से नहीं कर सकते।

जिस ब्राह्मण को अधिकार प्राप्त है वह फल प्राप्त कर सकता है।

अधिकार की बात को लेकर एक राजा अपने गुरु जी से हमेशा कहता 'आप कहते हैं इसमें इसका अधिकार है, इसका अधिकार नहीं है। यह कैसे? जो जिस काम को कर सके वह उसका अधिकारी होता है।' भाष्यकार ने ब्रह्मसूत्र (३.४.४०) भाष्य में कहा है– 'यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मः, न तु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते, चोदनालक्षणत्वाद् धर्मस्य।' जिसका जिसके लिये विधान किया गया है उसका उसी कर्म में अधिकार है। कोई किसी काम को अच्छी तरह कर सकता है, इतने मात्र से उसका उसमें अधिकार नहीं हो जाता। वर्तमान में लोग यही कहना चाहते हैं–कि जो जिस कार्य को कर सके वह उसमें अधिकारी माना जाये। किंतु हम ऐसा इसलिये नहीं मानते कि यदि वह उस कार्य से फल पाने में अक्षम है तो हमारी दृष्टि में उसमें अधिकारी नहीं है। राजा भी यही कह रहा था कि जो व्यक्ति जो कर्म कर सकता है वह उसे करे।

एक दिन ऐसे ही इधर-उधर की बात चल रही थी, वहाँ चौकीदार भी था। गुरु जी ने चौकीदार से कहा–'इस राजा को पकड़कर मारो।' चौकीदार देखने लगा कि ये क्या कह रहे हैं! इतने में राजा को गुस्सा आ गया, उसने चौकीदार से कहा कि 'पकड़ो इनको और मारो कोड़ा।' चौकीदार ने खट से गुरु जी को पकड़ लिया। गुरुजी ने कहा–'राजन्! वाक्य तो हम दोनों ने एक ही बोला है। बोल तो एक जैसा *सकते* हैं लेकिन क्या कारण है कि तुम्हारे बोलने से मैं पकड़ा जाता हूँ, मेरे बोलने से कुछ नहीं होता? कारण है कि तुम्हारा इसमें अधिकार है, मेरा नहीं है।'

तुम कर सकते हो इतने मात्र से अधिकारी नहीं बन जाते। जिसका जिसके लिये भगवान् ने विधान किया है, वही उसमें अधिकारी है। कोई कहे 'मैं तुम्हारा हिसाब देखूंगा क्योंकि मैं हिसाब का जानने वाला हूँ', तो तुम नहीं दिखाओगे। दूसरा, बिल्कुल हिसाब नहीं जानने वाला लेकिन आयकर अधिकारी पहुँच जाता है और हिसाब दिखाने को कहता है तो दिखाना पड़ेगा क्योंकि उसके लिये विहित है। जिसका विधान जिसके लिये किया गया है वही उसका अधिकारी है। उसकी योग्यता-अयोग्यता सरकार जाने, परन्तु वह अधिकृत है तो उसकी बात माननी पड़ेगी, जैसे महात्मा ने राजा को समझाया था कि जिसमें जिसको बोलने का अधिकार है वह फल उत्पन्न करेगा, दूसरा भले ही बोले, फल उत्पन्न नहीं करेगा।

इसी प्रकार भगवान् ने कहा कि तेरा कर्म में अधिकार है। अभी तक तुम निश्चित समझते हो कि मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ इसलिये तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है अर्थात् तुम तो कर्म करके ही फल प्राप्त कर सकते हो। अभी तुम्हारी ज्ञान की स्थिति नहीं है। ज्ञान का फल है सब कामनाएं मिट कर परम आनंद की स्थिति। यह उसे नहीं मिल सकता जो विवेक वैराग्यादि से सम्पन्न होकर अधिकारी नहीं बना है। ज्ञाननिष्ठा नहीं हुई इसलिये अकर्म में अधिकार नहीं है। अभी केवल कर्म में ही अधिकार है।

फिर परमात्मा की इतनी बात क्यों सुनाई? इसलिये सुनाई कि 'मा फलेषु कदाचन' तुम्हारा अधिकार कर्म करके फल उत्पन्न करने में है परन्तु फल तुम उत्पन्न कर नहीं सकते क्योंकि फल को देने वाला मैं हूँ! फल देने वाला परमात्मा है। कर्म तो तुम कर सकते हो, फल उत्पन्न तभी होगा जब परमात्मा देगा। फल में तुम्हारा अधिकार नहीं है पर तुम उसमें अपने को अधिकारी समझ रहे हो कि 'मैंने किया है तो मुझे फल अवश्य मिलना चाहिये।' यह जो परमात्मा की बात हम बता रहे हैं कि वह कर्मफल देने वाला है इसको सोचकर तुम कर्म करो, फल की मत सोचो, वह परमात्मा के सोचने का विषय है। अभी कर्म करने के साथ हम फल की ही सोचते रहते हैं। जिस कर्म का फल सामने नहीं हो, उसे करने को ही तैयार नहीं हैं। इसलिये कहा कि कर्मफल को कर्म करने में कारण मत बनाओ। अभी तो तुम फल को ही कारण बनाकर कर्म करते हो। अब समझो कि फल तो परमात्मा के हाथ में है, मेरे हाथ में कर्म करना है।

इसका मतलब यह नहीं समझना कि फिर कर्म चाहे जैसे करो! प्रायः यह होता है कि कर्मफल नहीं सोचते तो कर्म ढीला-ढाला हो जाता है। कोई बीमार है, मृत्युञ्जय जप कराना है तो सेठ जी कहते हैं–'पण्डित जी! किसी प्रकार की कमी नहीं होनी चाहिये, सारी सामग्री ठीक से जुटा लें और कर्म अच्छी तरह से हो।' परन्तु आज जन्माष्टमी है, भगवान् के पूजन का कोई फल तो है नहीं, अतः केला, नारियल, आदि कैसे हैं, इसका कोई विचार नहीं! ऐसा नहीं है कि वे समझते नहीं हैं। नहीं समझते हों तो मृत्युंजय के अनुष्ठान में भी सड़ी चीज़ें ली जाये। किंतु वहाँ पता है कि सामग्री ठीक नहीं होगी तो मेरी तबीयत ठीक नहीं होगी जबकि यहाँ पता है कि भगवान् को क्या फ़र्क पड़ता है? यह मत सोचो कि कर्मफल के लिये कर्म नहीं करना तो मन-माना कर्म करें, क्योंकि यदि कर्म ठीक तरह से नहीं किया तो फल उत्पन्न ही नहीं होगा। कर्मफल देने का अधिकार भगवान् को है परंतु देंगे तब जब कर्म करके फल उत्पन्न हो जाये। यदि मनमाना करोगे तो वह फल उत्पन्न ही नहीं होगा। इसलिये कर्मफलों को कारण बनाकर कर्म मत करो।

भगवान् यहाँ कह रहे हैं 'ते कर्मणि एव अधिकारः' तुम्हारा *ही* कर्म में अधिकार है। फल देने में मेरा अधिकार, तुम्हारा अधिकार नहीं। फल उत्पन्न हो ऐसा कर्म किया है तो फल पैदा होगा ही, भगवान् फल देंगे ही। इसमें नई बात क्या आई? नई बात यह आई कि 'कर्मफल मेरा हो' यह बुद्धि इस निश्चय वाले को नहीं होगी। कर्म किया है, उसका फल तो होगा ही, परन्तु उस फल में मेरा अधिकार नहीं है। कई बार व्यवहार में ऐसे कर्म करते हो जिसका फल तुम्हें नहीं मिलता। अपनी लड़की का ब्याह करने के लिये जितनी मेहनत करते हो उसका फल तुम अपने लिये चाहते भी नहीं, तुम्हें मिलता भी नहीं; लड़की सुखी हो इसीलिये करते हो। ऐसे ही देश के लिये, समाज के लिये लोग बड़े बलिदान देते हैं, उनका फल अपने लिये नहीं चाहते! इसी प्रकार फल में अधिकार नहीं–

यह जानकर जो कर्म करोगे उसके भी फल का विचार नहीं करोगे, उस विचार को परमेश्वर के लिये छोड़ दोगे। वास्तव में अभी भी फलदाता वही है पर अभी फल पर अपना अधिकार जताते हो—कि 'मैंने किया तो फल मेरा हो।' यह बात दूसरी है कि देश स्वतंत्र हुआ तो जिन्होंने लड़ाई लड़ी वे भी स्वतंत्र हो ही गये। सबको फल मिलेगा तो उसमें तुम भी आ जाओगे किंतु इसको अधिकार नहीं कहा जाता। बहु घरवालों के लिये भोजन बनाती है, केवल अपने लिये नहीं बनाती, सबके लिये बनाती है, सबके अन्तर्गत वह भी आ जाती है।

भगवान् ने 'ते' कहा अर्थात् कर्म तो तुम करो। वर्तमान में हम सोचते हैं कि देश में अमुक-अमुक खराबी है, *किसी को* आकर सुधारना चाहिये, कोई कर्म करने वाला होना चाहिये। सुधर जायेगा तो फल भोगने वाला मैं बैठा हूँ! यह सोचने का तरीका ही नहीं कि करने वाला मैं बनूं। मैं यह करूँगा—यह विचार ही नहीं है। कह भी देते हैं कि एक जने के करने से क्या होगा? यह सूत्र याद रखो कि तुम्हारी जितनी ताकत है, वह तुम करो, उसका क्या प्रभाव होगा, इसकी मत सोचो। तुम परिस्थिति को यथाशक्ति ठीक करो। 'कोई फल नहीं होगा इसलिये नहीं करूंगा' ऐसा मत सोचो।

अंत में कहा 'मा ते संगः अस्तु अकर्मणि'। प्रायः लोग समझते हैं कि करने से कोई फ़ायदा नहीं तो नहीं करना ही ठीक है! यह 'नहीं करने' में आसक्ति है। ऐसा क्यों नहीं करना चाहिये? क्योंकि यह प्रमाद है। अकर्म में आसक्ति तमोगुण की आसक्ति है, प्रमादी की आसक्ति है। कर्म न करने में आसक्ति मत करो। कर्म करो, फल में आसक्ति मत करो। कर्म करो और फल को छोड़ो—यह ज्ञाननिष्ठा में पहला कदम है। अकर्ता-अभोक्ता बनने के क्रम में पहले यह कर रहे हो कि फलभोग के लिये कर्म करना छोड़ रहे हो। सर्वथा अकर्ता भाव अभी नहीं है। सर्वथा अकर्ता भाव न होने पर भी 'मेरे कर्म का फल मुझे ही मिले' यह भाव नहीं है। जो तुम्हारे अधिकार का कर्म है उसको करो, फल की इच्छा मत करो।

भगवान् ने चार सूत्र बताये—अपने अधिकार वाला कर्म करो; दूसरे के अधिकार वाले कर्म में घुसने का प्रयत्न मत करो; कर्म का जो फल है वह मुझे प्राप्त हो—यह भावना मत करो; फल के लिये नहीं करना तो मैं न करूं—ऐसी भी आसक्ति मत करो क्योंकि यह फल-भोग की आसक्ति से भी गई बीती है क्योंकि फलभोग की इच्छा में रजोगुण है जबकि अकर्म की आसक्ति में तमोगुण है। व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधि की प्राप्ति से होगी जिसके लिये पहले कदम के रूप में ये चार सूत्र बताये।।४७।।

भगवान् ने योग की बुद्धि को बताते हुए व्यवसायात्मिका बुद्धि को योग बुद्धि कहा। व्यवसायात्मिका बुद्धि के साथ कर्म कैसे किया जाता है, यह बताना प्रारम्भ किया। तुम्हारा अधिकार कर्म में है। कर्म करके फल की प्राप्ति तुम कर सकते हो। परन्तु उस प्राप्त फल को अपने लिये न रखकर उस का त्याग कर दो। 'कर्मफल मुझे हो'—यह भावना मत रखो

और कामना नहीं तो कर्म न करूं–यह आसक्ति भी छोड़ दो। प्रश्न होता है कि फल के लिये नहीं, तो किसलिये कर्म करना चाहिये? इसका उत्तर देते हैं–

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जयः।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

हे धनंजय! ईश्वर संतुष्ट हो यह आसक्ति भी छोड़कर, योग में स्थित रहते हुए, सिद्धि व असिद्धि के प्रति तुल्य रहकर कर्मों को करो। यह समता योग कही जाती है।

योग क्या है? समता को ही योग कहते हैं। योग का अर्थ है युक्ति अर्थात् काम करने का ढंग। जैसे जब कटहल छीलते हैं तब उसका दूध हाथ में ऐसा चिपकता है कि चाकू से भी हटाने की कोशिश करो तो नहीं हटता। यदि कटहल छीलने से पहले अपने हाथों में तेल लगा लो और फिर काटो, तो पानी से हाथ धोते ही वह दूध निकल जायेगा, अर्थात् चिपका नहीं रहेगा। यह युक्ति है, इसे योग कहते हैं। इससे कटहल काटने का काम भी कर लिया और उसका दूध चिपका भी नहीं। ऐसे ही, कार्य करने की युक्ति समत्व है। 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समः' फल की सिद्धि हो या असिद्धि हो, तुम जो काम कर रहे हो वह ठीक से हो–यह तुम्हारा ध्येय होना चाहिये। कर्म में तुम्हारा अधिकार है इसलिये कर्म करो, फल भी उत्पन्न होगा, परंतु वह कर्मफल तुम्हें सिद्धि दे, न दे, इससे कर्म करने में कोई अन्तर नहीं है।

एक बार रमण महर्षि बैठे थे, किसी ने पूछा कि कर्मयोग का क्या अर्थ है? जैसी उनकी आदत थी, जवाब नहीं दिया। लोगों ने सोचा कि कोई नयी बात नहीं, कभी जवाब देते हैं, कभी नहीं देते हैं। शाम को घूमने जा रहे थे। महर्षि वज्रदंती की डाली काटने लगे। सबने कहा–'हम काट देते हैं', लेकिन उन्होंने खुद ही काटी। फिर एक चट्टान पर बैठ कर खुद ही काट-छांट कर उसका छिलका निकाला। बढ़िया लकड़ी तैयार हो गई। उसे लेकर चल दिये। सबने सोचा कि किसी को देंगे। उधर से एक बकरी चराने वाला जा रहा था। वह रो रहा था क्योंकि उसकी लकड़ी खो गई थी। महर्षि ने वह तैयार की हुई लकड़ी उसे दे दी। और लोगों से कहा, 'इसका नाम है कर्मयोग।' यही सिद्धि-असिद्धि में समता है। ऐसा नहीं कि फल न हो, परन्तु वह फल *मुझे* मिले– इसमें आग्रह नहीं रखना है।

कार्य की सफलता-असफलता में समान रहना–ऐसा इस भगवद्वाक्य का अर्थ कुछ लोग करते हैं। ऐसा अर्थ करने में सबसे पहला दोष यह है कि लौकिक कर्म में तो सफलता-असफलता की संभावना है क्योंकि यहाँ उसका फल तुम्हें दीख जायेगा तो पता लग जायेगा कि काम सिद्ध या असिद्ध हो गया। परंतु पारलौकिक कर्म में क्या करोगे? तुमने अभिषेक किया, इस अभिषेक का फल होगा या नहीं होगा–यह कैसे पता लगे कि सिद्धि-असिद्धि में सम होओ? दूसरी बात है कि कर्म में वेदाज्ञा प्रमाण है। इसलिये ठीक

से कर्म किया और फल उत्पन्न न हो यह हो नहीं सकता। संदेह का प्रश्न ही नहीं क्योंकि सिद्धि होगी ही। जब सिद्धि अवश्य होती है तब असिद्धि की संभावना कैसे है? इसलिये वह अर्थ गलत है। फल मेरा कोई काम सिद्ध करे–यह भाव नहीं रखना चाहिये, यह भगवान् के वाक्य का अर्थ है। हमने किसी गरीब की मदद की, उसका काम हो गया; यहाँ हमने जो कर्म किया वह सिद्ध हो गया। वह आदमी मेरी निन्दा करता है। तब मन में होता है कि 'मैंने इसकी मदद की और यह उल्टा मेरी निंदा कर रहा है। मैंने उसका फायदा किया तो वह उपकार माने।' ऐसा मन में होना ही नहीं चाहिये। काम तो हो गया, कर्म सफल है, लेकिन इस फल का मुझसे संबंध हो या न हो, इसमें निर्विकारता रखनी है। इसे सिद्धि-असिद्धि में समान होना भगवान् कह रहे हैं।

इस समता अर्थात् समभाव में रहना ही युक्ति है जिससे तुम कर्म के फलों से बच जाते हो। कौन से कर्म के फल से ऐसा योगी बचेगा? पाप कर्म तो वह करेगा ही नहीं क्योंकि योगी है। पुण्य कर्म करेगा। पुण्य कर्म बंधन का कारण है क्योंकि पुण्य कर्म सुख देगा और सुख किसी-न-किसी शरीर मन से भोगेगा। पुण्य भी तुम्हें शरीर और मन के बंधन में रखने वाला है। पाप करने से बच सकते हो और गलती से हो गया तो प्रायश्चित्त से छूट भी सकते हो। परन्तु पुण्य कर्म से कैसे छूटें? कहीं उपाय नहीं बताया कि प्रायश्चित्त से पुण्य कर्मों से छूट जाओगे। पुण्य कर्म से शरीर की प्राप्ति वैसी ही है जैसे पाप कर्म से है। पुण्य कर्म के बंधन से छूटो इसका एकमात्र उपाय है कि तुम सिद्धि-असिद्धि में समान हो जाओ। जैसे कटहल काटने में दूध चिपकने से बचने का एक ही उपाय है कि हाथ में तेल लगा लो, इसी प्रकार पुण्य कर्म के फल से बचने का एक ही उपाय है कि तुम समता को धारण कर लो। इस अर्थ में ही भगवान् कहते हैं 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इस योग में स्थित होकर अर्थात् समत्व योग में स्थित रहकर कर्मों को करो।

और, संग को छोड़कर करो। बाकी कामनाओं को मनुष्य छोड़ भी देता है तो एक संग रह जाता है कि 'इस कर्म से ईश्वर प्रसन्न हो अथवा मेरा अंतःकरण शुद्ध हो।' आचार्य शंकर कहते हैं–परमेश्वर प्रसन्न हो या मेरा चित्त शुद्ध हो इस आसक्ति को भी मत रखो। यह कहना क्यों ज़रूरी है? अन्यथा मनुष्य ईश्वर की तुष्टि को संसार-विषयक स्थिति में देखता रहता है। जब कभी कोई सुख आता है तो 'ईश्वर प्रसन्न हो गया' यह प्रतीति और दुःख आता है तो 'ईश्वर प्रसन्न नहीं है' ऐसी प्रतीति होती है। यही बात चित्तशुद्धि में समझना यदि यह सोचते हैं कि ईश्वर-प्रसन्नता से चित्तशुद्धि अथवा कर्म किया तो चित्त-शुद्धि, तो दोनों ही हालात में जब एकाग्रतादि नहीं रह पाते तब कर्म या ईश्वर-प्रसन्नता की कारणता जँचती है तथा एकाग्रता आदि हो जायें तब भी वही कारणता जँचती है। कार्य और कारण का संबंध है–यह भी एक आसक्ति है। मैंने ठीक कर्म किया है तो परमेश्वर प्रसन्न होगा–यह कार्यकारणभाव है। पहले भी बताया था, परमेश्वर तो नित्य आनन्दघन है। तुम्हारे किसी कर्म से उसे कभी प्रसन्नता या दुःखी होना बनता

नहीं। तुम्हारे कुछ करने से खुश भी होगा नहीं क्योंकि वह आनन्दरूप है। इसलिये यह आसक्ति छोड़कर केवल 'मुझे कर्म करने की अधिकृति है' इसलिये करना है। 'मेरे ऊपर ईश्वर प्रसन्न हो या चित्तशुद्धि हो' यह इच्छा भी मन में नहीं लानी है। इस प्रकार फल-तृष्णा से सर्वथा शून्य होना कर्मयोग के लिये आवश्यक है।

'फल से शून्य होना' नहीं कह रहे हैं। प्रायः लोग यह गलती करते हैं। फल की इच्छा मत करो–यह नहीं कह रहे हैं। फल *मुझे* हो–यह इच्छा मत करो। कर्म तो फलवाला हो परन्तु मुझे हो यह आकर्षण नहीं रखना है। सबको होगा तो उनमें तुम भी आ जाओगे, यह बात दूसरी है। अधिकतर वैदिक कर्मों में अग्नि में आहुति देते हैं क्योंकि उसका पवित्र धुआँ चारों तरफ फैल जाता है, एक जगह सीमित नहीं रहता। भगवान् को भोग लगेगा तो वह भोग सबको नहीं दे सकते, सौ-दो सौ को दे दोगे। परन्तु हवन सामग्री की सुगन्धि तो चारों तरफ फैल जाती है। इसी प्रकार भावना रखनी है कि कर्म का फल सबको मिले। सब में मैं आ ही गया। इस समत्व में स्थित होकर कर्म करो, आसक्ति में स्थित होकर नहीं।

भगवान् 'धनञ्जय!' सम्बोधन कर रहे हैं। राजसूय यज्ञ के लिये धन एकत्र करने के लिये अर्जुन चारों तरफ गया, विजय प्राप्त करके धन लेकर आया। लेकिन उस धन में से उसने अपने पास कुछ नहीं रखा। सब कुछ राजा होने के नाते युधिष्ठिर को दे दिया। जैसे वह उस समय बड़ी मेहनत करके धन लाया परंतु सब अर्पण कर दिया, इसी प्रकार फलों की आसक्ति को छोड़कर समग्र कर्मों को करो।।४८।।

भगवान् ने बुद्धियोग बताने की प्रतिज्ञा की थी, वह बुद्धियोग बता दिया कि समता में स्थिर रहकर आसक्ति के बिना कर्म करना बुद्धियोग है। अब भगवान् इसका महत्त्व कहते हैं–

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

हे धनंजय! बुद्धियोग की अपेक्षा (सकाम) कर्म बहुत निकृष्ट है। फलतृष्णा से ही प्रेरित होने वाले दीन ही रहते हैं। तुम (हो सके तो सांख्यबुद्धि का या कम-से-कम उक्त समत्व) बुद्धि का ही आश्रयण करो।

बुद्धियोग और सकाम कर्म, इन्हें कभी भी एक नहीं समझ लेना, यह भगवान् का तात्पर्य है। प्रायः लोग कर्म करने को ही कर्मयोग समझ लेते हैं। भगवान् बार-बार ज़ोर दे रहे हैं कि कर्म करना कर्मयोग नहीं है वरन् समता की बुद्धि में रहकर कर्म करना कर्मयोग है। कर्म इस बुद्धियोग की अपेक्षा निकृष्ट से निकृष्ट है क्योंकि वह संसार बंधन में डालने वाला है। कर्मयोग संसार बंधन से छुड़ाने वाला है। कर्म और कर्मनिष्ठा एक चीज़ नहीं है जैसे ज्ञान और ज्ञाननिष्ठा एक चीज़ नहीं है। कर्म करते हुए भी कर्मनिष्ठा नहीं होती क्योंकि तुम कर्म को ही सब कुछ नहीं मानते। इसी तरह बहुतों को ज्ञान करते हुए भी,

सारे वेदांत आदि शास्त्रों को पढ़ते हुए भी ज्ञाननिष्ठा नहीं है, केवल जानना चाहते हैं कि क्या लिखा है, ज्ञान में नितरां स्थिति (ज्ञान निष्ठा) नहीं है। बड़े-बड़े दर्शन के प्रवक्ता होते हैं, उनकी निष्ठा ज्ञान में नहीं होती है। जगत्-मिथ्यात्व समझ-समझा लेने मात्र से स्वयं को यह जँच नहीं जाता कि जगत् सत्य नहीं है। वैराग्यादि अनुबन्धनों के अभाव में ज्ञान उद्देश्य नहीं बन पाता, ज्ञान से अन्य जो कुछ मिल सके वही उद्देश्य रहता है। इसी प्रकार कर्म कर रहे हैं तो कर्मनिष्ठा है—यह ज़रूरी नहीं है।

कर्म तो भक्त भी करता है लेकिन निष्ठा उसकी भगवान् में होती है। आचार्य मधु- सूदन ने बड़ा स्पष्ट करके लिखा है कि प्रवृत्ति कर्म करने वाला भी निवृत्ति मार्गी हो सकता है, निवृत्ति कर्म करने वाला भी प्रवृत्ति मार्गी हो सकता है। रावण आदि ने घोर तपस्या आदि निवृत्ति धर्म किया लेकिन उनकी निवृत्ति, प्रवृत्ति के लिये थी कि 'इससे ताकत मिलेगी तो देवताओं के राज्य को जीतेंगे।' यह प्रवृत्ति मार्ग है जिसमें निवृत्ति कर रहे हैं प्रवृत्ति के लिये। इसी प्रकार यदि प्रवृत्ति कर रहे हैं निवृत्ति के लिये तो वह निवृत्ति मार्ग है। इसलिये भगवान् ने कहा कि कर्म और कर्मयोग में यह बहुत बड़ा फ़र्क है।

भगवान् नतीजा निकालते हैं 'हे अर्जुन! यह जो बुद्धियोग तुम्हें बताया है, इसी का सहारा लो।' यहाँ भगवान् ने बड़ी विचित्र बात कह दी कि बुद्धि में शरण लो। शरण का अर्थ या तो घर होता है क्योंकि उसमें सर्दी-गर्मी से बचकर रहते हैं, या विपत्ति आई हो और कोई उससे रक्षा करे तो उसे शरण कहते हैं। वस्तुतः तो दोनों जगह अर्थ एक ही है। घर जड रक्षक है। सभी से बचाता तो है पर जड है। रक्षा करने वाला भी हमें विपत्ति से बचाता है परन्तु चेतन है। शरण का मुख्य अर्थ 'बचाने वाला' है। ऐसे बुद्धि कोई चीज़ तो है नहीं जो तुम्हें बचायेगी। बुद्धि अर्थात् तुम्हारा निश्चय। फिर भगवान् ने कैसे कहा कि बुद्धि में शरण लो? तात्पर्य है कि इस निश्चयात्मिका बुद्धि को करने पर तुम्हारी रक्षा होती है। 'बुद्धौ सत्यां' यह बुद्धि होने पर शरण की प्राप्ति होती है। इसलिये इसे 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' कहा। अथवा कठोपनिषद् में कहा है 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' शरीर को रथ समझो और बुद्धि को सारथि जानो। अर्जुन के सामने भगवान् श्री कृष्ण सारथि बैठे हैं इसलिये बुद्धि रूपी जो परमात्मा भगवान् श्री कृष्ण हैं, उनकी शरण लो। अथवा, बुद्धि का मतलब ज्ञान भी होता है इसलिये ज्ञान को बताने वाले जो गुरु हैं उनकी शरण लो। तात्पर्य है कि बुद्धि रक्षा करने वाली है अथवा सारथि रूप से श्रीकृष्ण रक्षा करने वाले हैं अथवा ज्ञान को देने वाले गुरु रक्षा करने वाले हैं। इनमें से किसी एक की शरण ले लो।

शरण लेने का मतलब होता है जिसकी शरण लेते हैं उसके सर्वथा अनुकूल चलना। कोई पाकिस्तान से आये, शरण माँगे, तुम उसे शरण दे दो; वह शरण लेकर पाकिस्तान की गुप्तचरी का काम करने लगे तो क्या उसे बचाओगे या कहोगे कि शरण ली है तो यहीं

का बनना पड़ेगा? इसी प्रकार इस बुद्धि में शरण लो अर्थात् समता में शरण लो तो कभी भी विषमता नहीं आने दो। अथवा भगवान् की शरण लो अर्थात् भगवान् की आज्ञा का पालन करो। अथवा गुरु की शरण लो तो गुरु की आज्ञा का पालन करो। यह शरण कौन ले सकता है? जो फल को कारण बनाना छोड़ देता है। जैसे पूर्व श्लोक में कहा था कि कर्म फल को हेतु मानकर कर्म मत करो क्योंकि जो फल के लिये कर्म करेगा वह समता में भी स्थित नहीं रह सकता है।

समता में स्थित रहने का मतलब बेवकूफी नहीं समझ लेना! मैंने दुकान खोली लेकिन घाटा हो रहा है, फायदे की सम्भावना भी नहीं दीख रही है तो फिर क्या मैं अपना धन्धा बंद करके दूसरा करूं या न करूं या सिद्धि असिद्धि में सम रहूँ और घाटा खाता रहूँ? भगवान् नहीं कह रहे हैं कि नफे-नुकसान में सम रहकर दिवालिये हो जाओ। यदि शास्त्रीय कर्म है तो शास्त्र के अनुसार समझ कर करो, लौकिक कर्म है तो लौकिक दृष्टि से विचार करके करो। सिद्धि और असिद्धि में समता अर्थात् फल उत्पन्न होने के बाद 'यह मेरा ही है' ऐसी बुद्धि न होना। इस योगबुद्धि में स्थिर रहना है।

जो फलहेतु वाले होंगे वे इस योग-बुद्धि में स्थिर नहीं रह पायेंगे। इसी प्रकार फलहेतु वाले भगवान् की शरण में भी स्थिर नहीं रह पायेंगे। आगरे में एक व्यक्ति थे, भगवान् की खूब पूजा करते थे, जब काम अनुकूल नहीं हुआ तो उन्होंने भगवान् की मूर्ति को चौराहे पर लाकर तोड़ दिया कि क्या फायदा ऐसे भगवान् की पूजा करने का! ऐसे लोग भगवान् की शरण नहीं ले पायेंगे। गुरु की शरण भी नहीं ले पायेंगे।

फलहेतु वाले बुद्धि में शरण नहीं ले सकते क्योंकि कृपण हैं। यह हेतुगर्भ विशेषण है। कंजूस को कृपण कहते हैं। घी में मक्खी पड़ जाये तो मक्खी को अच्छी तरह निचोड़ कर फेंकते हैं ताकि उसमें से घी तो निकल ही जाये, चाहे थोड़ा मक्खी का हिस्सा भी निकल आये! ठीक इसी प्रकार जो कृपण लोग हैं वे कहते हैं कि कर्म का फल मुझे ही मिले, कुछ और ज़्यादा मिल जाये। इसलिये कई लोग कहते हैं कि 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' कहकर भगवान् को जो दिया जाता है वह सौ गुना होकर मिलता है इसलिये भगवान् को अपर्ण करना चाहिये। ऐसे कृपण न भगवान् की और न गुरु की शरण ले सकते हैं। न उनकी बुद्धि समता में स्थिर रह सकती है। वे सोचते हैं कि फलत्याग से कुछ बड़ा फल मिल जाता है! भगवान् को देने से हज़ार गुणा मिलता है तो सचमुच में देना नहीं पड़ा, सचमुच में तो हमें ही मिला।

ऐसे कृपण को कभी परमात्मप्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य महर्षि ने गार्गी से कहा है कि जो परमात्मज्ञान को प्राप्त किये बिना यहाँ से जाता है, वह कृपण होता है। मनुष्य शरीर में आ गये तो इसमें तुम परमात्मा को प्राप्त कर सकते हो, लेकिन कब? जब पशुभाव से होने वाले सुखों को छोड़ो। मनुष्य विचित्र प्राणी है। एक तरफ तो उसका संबंध देवताओं से है और दूसरी तरफ शरीर पशु जैसा है।

पशु की तरह मनुष्य में भी खाना-पीना, सोना, बच्चे पैदा करना आदि सब सामान्य है। और इसमें दैवी धर्म भी है। मनुष्य शरीर की उपयोगिता देवता बनने में है, पशुभाव की प्राप्ति करने में नहीं है। परन्तु मनुष्य, पशुभाव के सुखों को नहीं छोड़ना चाहता क्योंकि कंजूस है। इसलिये देवभाव की प्राप्ति नहीं कर सकते क्योंकि पशुभाव के सुख को छोड़कर ही देवभाव प्राप्त कर सकते हैं। जो लोग इस प्रकार पशुभाव को प्रधानता देते हैं और देवभाव की ओर नहीं जा पाते वे सब कृपण हैं। जैसे कंजूस उस मक्खी के द्वारा सारे घी में जहर फैला देता है; मक्खी को उठाकर फेंक देता तो घी की दो चार बूंदें व्यर्थ हो जातीं परन्तु उतना बचाने में सारे घी में जहर भर देता है; इसी प्रकार पशुभाव को छोड़ने में कुछ लौकिक दुःख हो सकते हैं। मनुष्य शरीर में आकर पशुभाव को छोड़ोगे तो कुछ असुविधायें होंगी परन्तु देवभाव को प्राप्त करोगे। यदि कृपण बनकर सोचोगे कि मनुष्य शरीर में जानवरों की तरह खायें-पियें, मौज करें, तो सारा जीवन व्यर्थ हो जायेगा जैसे वह सारा घी बेकार हो जाता है।।४९।।

समताबुद्धि वाला बनकर स्वधर्म करने का फल क्या है यह बताते हैं–

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

उक्त बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति इस लोक में पुण्य-पाप दोनों छोड़ देता है। अतः योग के लिये चेष्टा करो। समत्वबुद्धिरूप योग कर्मों में कुशलता है।

‘इह’ अर्थात् इस मनुष्य शरीर के अंदर सुकृत दुष्कृत (पुण्य-पाप) दोनों ही होंगे चाहे जितना बचाकर करो। आगे भगवान् कहेंगे ‘‘सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः’। लकड़ी चाहे जितनी सुखाओ, घी डालकर जलाओगे तो धुआं निकलेगा ही, थोड़ा ही निकले, परन्तु निकलेगा ज़रूर। इसी प्रकार जितने भी कर्म हैं उनमें कुछ-न-कुछ दोष तो होगा ही। लाख कोशिश कर लोगे तो भी कुछ दोष न हो यह नहीं हो सकता। इसलिये जहाँ-कहीं वैदिक यज्ञों का प्रकरण आता है वहाँ हर कर्म के साथ प्रायश्चित्त आता है कि यदि ऐसा हो जाये तो यह प्रायश्चित्त कर लो। कितनी भी सावधानी से करो, तो भी कुछ-न-कुछ प्रायश्चित्त की बात आ ही जाती है। खूब सावधानी से तुमने लकड़ी तैयार की, पूरी सावधानी बरती और रात में वह ठीक तरह से रख दी। सवेरे हवन शुरू किया, उस लकड़ी में एक चींटा घुस गया, नहीं दीखा, प्रातः चार बजे हवन कर लिया। अथवा चावल साफ करके रात में रख दिया लेकिन रात में ही उसमें एक घुन चला गया। आहुति में वह घुन भी जल गया। वेद ने यह तो कहा नहीं था कि घुन की आहुति दोगे तो अपराध नहीं होगा। कई बार लोग कहते हैं ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’; यह ठीक है कि वेद में जिस चीज़ की बलि देने को कहा उसकी बलि से हिंसा का दोष नहीं होगा, परन्तु घुन हवन कर देने से दोष नहीं होगा यह तो नहीं कहा। हवन को छोड़ो, भगवान् के लिए भोग ही

बनाना है। दाल का हलवा पका रहे हो, उसमें एक मच्छर गिर गया, तुम माइक्रोस्कोप तो लेकर भोजन बनाने बैठोगे नहीं! वह मच्छर मर ही जायेगा। शास्त्र ने भगवान् के भोग के लिये कहा था, मच्छर को भूनने के लिये तो कहा नहीं था। इसलिये भगवान् ने कहा कि कितनी भी सावधानी रखोगे, कर्म करने में कुछ-न-कुछ दोष उत्पन्न होगा ही। मनुष्य शरीर में आकर दोष उत्पन्न न हो यह नहीं हो सकता।

काशीखण्ड में एक विचित्र कथा आती है : काशी में मरने से मुक्ति होती है। लेकिन उसके लिये काशी क्षेत्र में रहने के बड़े नियम हैं जैसे काशी में थूक नहीं सकते, पेशाब नहीं जा सकते, टट्टी नहीं जा सकते। वहाँ रहते हुए इन नियमों में कही-न-कहीं भूल होती रहती है। बहुत भूलें होती हैं। एक आदमी ने काशी में रहकर बिल्कुल पूरे नियमों से सब किया, कुछ भी गलत काम नहीं किया। वह काशी में मर गया। भगवान् शंकर ने विचार किया कि इसने कोई गलत काम नहीं किया, इसलिये इसे मुक्त कर दें। उन्होंने उसे गोद में लिया लेकिन काल भैरव ने उनसे तुरंत छीन लिया, कहा 'इसे मुक्त कैसे करेंगे?' भगवान् ने कहा 'इसने तो कोई गलती नहीं की।' भैरव ने कहा—'गलती कैसे नहीं की? जब यह मर रहा था तब अंतिम समय में इसके मुँह से लार गिरी, यह गलती तो हो गई।' काल भैरव ने उसे ज़ोर से एक डंडा मारा और फिर भगवान् को दे दिया कि 'अब यह शुद्ध हो गया, इसे मुक्त कर दीजिये।' यह कथा यही बताने के लिये है कि कितनी भी सावधानी रखो, कहीं-न-कहीं कोई भूल होगी ही।

भगवान् ने कहा कुछ-न-कुछ गलती भी होगी और सुकृत भी करोगे लेकिन जो समत्व बुद्धियोग हमने यहाँ बताया इससे युक्त होकर करते हो तो सुकृत-दुष्कृत दोनों को ही छोड़ दोगे। न सुकृत के द्वारा किये हुए कर्मों से स्वर्ग आदि जाना पड़ेगा और न दुष्कृत के द्वारा नरक जाना पड़ेगा। आगे जन्म होगा ही नहीं क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति कर लोगे, तभी दोनों से छूटोगे।

अर्जुन की शंका थी कि युद्ध करूं या न करूं; यही मूल प्रश्न था 'युद्ध करूंगा तो उसमें भी दोष है, गुरु को, दादा को मारना पड़ेगा। युद्ध नहीं करूंगा तो भी दोष है। जिन भाइयों ने मेरे सहारे यह सब शुरू किया है उन सबको नुक्सान होगा।' यही उसकी शंका थी। अब भगवान कहते हैं कि चाहे दादा और गुरु को मारना पड़े, चाहे यह दुष्कर्म हो जाये और चाहे दुर्योधन आदि को मारने का पुण्य हो जाये, तुम दोनों से छूट जाओगे यदि इस बुद्धियोग से कर्म करोगे तो। इसलिये इस बुद्धियोग को करने के लिये तुम युक्त हो जाओ अर्थात् इस बुद्धियोग को करने के लिये अपने आपको तैयार कर लो।

योग कर्म में कुशलता है। यहाँ कहा है 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्म में कुशलता कहा है कर्म *की* कुशलता नहीं कहा। बहुत-से लोग अर्थ करते हैं कि कर्म को कुशलता से करना योग है। कर्मसु अर्थात् तुम अपने कर्म में स्थित हो, कर्म कर रहे हो, तब उसमें स्थिर होकर सिद्धि और असिद्धि के प्रति समता बुद्धि अथवा ईश्वरार्पण बुद्धि रखते हो, उसे ही

यहाँ कुशलता कहा है। कर्म करते हुए कुशलता की बात हो रही है, कर्म की कुशलता की बात नहीं हो रही है। कर्म करते हुए या तो तुम मन को परमेश्वर में रखो, यह कुशलता है अथवा समता में रखो, यह कुशलता है। कर्म में स्थित रहते हुए अपनी दृष्टि या तो ईश्वर की तरफ रखो या समता की तरफ रखो।

इसको कुशलता क्यों कहा? कुशलता का अर्थ चतुराई है। कर्म बंधन को देने वाला है। इसमें चतुराई यह है कि कर्म कर रहे हो पर बंधन नहीं होता। कुशल का मूल अर्थ है : कुशा के दोनों तरफ तेज़ धार होती है। कुश+ल अर्थात् कुश को जब लवन किया जाता है अर्थात् काटा जाता है उस समय अगर तुम्हें काटना ढंग से आता है तब तो कुश को काट लाते हो और अंगुली को बचा लेते हो, अन्यथा जो कुश काटना नहीं जानता है उसकी अंगुली कट जाती है। कुश को काटते हुए अपनी अंगुली को बचाना कुशलता है। इसी प्रकार कर्म का स्वभाव है एक तरफ फल को उत्पन्न करना और दूसरी तरफ वासना को उत्पन्न करना। फल आगे भोगोगे और वासना के द्वारा वह कर्म फिर करोगे। जिस कर्म का अभ्यास करोगे उसी को फिर करोगे। वासना के द्वारा कर्म की पुनरावृत्ति होती है। कर्म का फल भी भोगना पड़ता है। कर्म की यह दोनों तरफ की धार है। दोनों धारें काटती हैं। वासना से पुनः प्रवृत्ति होकर संसार-चक्र में चलते हो। कर्म का फल भोगो, फल भोगते हुए फिर कर्म करो, उससे फिर फल उत्पन्न होगा; कर्म से फल और फल से कर्म—यह एक चक्र तथा कर्म से उसकी वासना और वासना से पुनः प्रवृत्ति—यह दूसरा चक्र; दोनों में फँसते हो।

कर्म में कुशलता यह है कि कर्म करो परन्तु न वासना बनने दो और न फल उत्पन्न होने दो। फल न उत्पन्न होने का तरीका बताया कि 'कर्म का फल मुझे हो' यह इच्छा न होना; तभी सिद्धि-असिद्धि में समत्व बुद्धि होगी। समत्व बुद्धि है इसलिये फल उत्पन्न नहीं हो रहा है। वासना इसलिये नहीं बन रही है कि ईश्वरार्पण बुद्धि से कर रहे हो। यद्यपि कर्म बंधनस्वभाव वाला है तथापि कर्म के अंदर समत्व बुद्धि या ईश्वरार्पण भावना के द्वारा वह अपना फल नहीं दे पाता। इसलिये भगवान् ने ''कर्मसु कौशलम्'' कहा।।५०।।

योग की उक्त विशेषता का प्रभाव बताते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

उक्त बुद्धि वाले विवेकी क्योंकि कर्मजन्य फल छोड़कर जन्मादि बन्धन से पूर्णतः छूट जाते हैं इसलिये सभी उपद्रवों से रहित पद प्राप्त करते हैं।

फल अर्थात् सुख-दुःख और उसके अध्यास से जो वासना उत्पन्न होती है वह भी एक प्रकार का फल ही है। इन दोनों को छोड़ना है। इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति कर्मज फल है। उस इष्ट और अनिष्ट को भोगने के लिये तुम्हें देह की प्राप्तिरूप फल होगा। इसलिये

आचार्य शंकर ने लिखा 'इष्टानिष्टदेहप्राप्तिः कर्मजं फलं' कर्म का फल तो इष्ट-अनिष्ट है लेकिन वह किसी देह में ही भोगोगे। जैसे तुम्हें मांस प्रिय है तो मांस खाने के लिये तुम्हें शेर या कुत्ता आदि योनि में जाना पड़ेगा। इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति के लिये शरीर की प्राप्ति होगी। यह समझना इसलिये ज़रूरी है कि आगे भगवान् ''जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः'' कह रहे हैं। जन्म एवं बंध दोनों से छूटना है। जन्म से कर्म, उसका फल भोगने के लिये जन्म और फिर उससे कर्म—यह जन्मबंधन है। किंच जिन कर्मों से शरीर मिला है उन प्रारब्ध कर्मों को भोगने में बंधे हुए हो। एक जन्म-चक्र का बंधन और दूसरा, सुख-दुःख रूपी बंधन। तुम चाहो कि दुःख न हो या सुख न हो तो भी वे आयेंगे और भोगने ही पड़ेंगे। इष्ट-अनिष्ट पदार्थ तो बंधन हुए और इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति के लिये जो जन्म मिला वह फल हुआ। इसलिये जन्मरूपी फल और इष्ट-अनिष्टरूपी फल भी समझना है।

कर्मज फल को किससे (या कैसे) छोड़ोगे? 'बुद्धियुक्ताः' जो बुद्धि से युक्त होता है अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि वाला होगा वही छोड़ सकेगा। निश्चयात्मिका बुद्धि यह है कि लक्ष्य एकमात्र परमात्मा है। परमेश्वर को लक्ष्य नहीं माना तो तत्तद् कर्म अनेक और उनके फल भी अनेक होंगे, जैसा कि 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च' में अव्यवसायात्मिका बुद्धि कही थी। यदि परमेश्वर लक्ष्य है तो व्यवसायात्मिका बुद्धि होगी, तब तुम्हारे में समता की बुद्धि होगी। परमात्मा से अतिरिक्त यदि किसी चीज़ को कीमत देते हो तो तुम्हारी बुद्धि सम नहीं हो सकती क्योंकि एक चीज़ को अच्छा और दूसरी को बुरा मानोगे। यदि लक्ष्य परमात्मा है तब समत्वबुद्धि होगी क्योंकि तुम दोनों को कोई महत्त्व नहीं दोगे। जैसे तार आ गया 'पिताजी की तबियत बहुत खराब है, तुम्हें पटना पहुँचना है।' तब तुम्हारे सामने व्यवसायात्मिका बुद्धि है कि पिताजी के पास पहुँचना है, तब जो भी टिकट मिला, प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, वातानुकूल, तत्काल सेवा में, जो भी मिलेगा वह मिलने पर तुम्हें प्रसन्नता होगी क्योंकि तुम समय पर पहुँच सकते हो। यदि मौज शौक के लिये जा रहे हो तो प्रथम श्रेणी का टिकट नहीं मिलेगा तो नहीं जाओगे क्योंकि समत्व बुद्धि नहीं है। लक्ष्य के लिये गये अर्थात् लक्ष्य निश्चित हो गया तो टिकट में समत्व बुद्धि होती है। इसी प्रकार यदि परमात्मा लक्ष्य है तो जो भी सुख-दुःख मिलता जाता है उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता, सिद्धि-असिद्धि में सम हो सकते हो। यदि परमात्मा लक्ष्य नहीं है, वह चीज़ सामने है जो तुम्हें मिलेगी तो मिलने पर सुख और नहीं मिलने पर दुःख होगा। यदि परमात्मा लक्ष्य होगा तो सोचोगे कि 'ये सब निकलते जाते हैं, मुझे तो वहाँ पहुँचना है।' तभी बुद्धियुक्त होगे अर्थात् तब तुम्हारी व्यवसायात्मिका बुद्धि होगी, समत्व सिद्ध होगा क्योंकि तब फल छोड़ देते हो।

जब फल छोड़ देते हो तब तुम मनीषी बनते हो अर्थात् तब तुम श्रवण, मनन निदिध्यासन के योग्य मनीषा अर्थात् बुद्धि प्राप्त करते हो। श्रवण, मनन में तभी लग सकते हो जब तुम्हारी बुद्धि पहले समत्व में स्थित हो। अन्यथा, तुम इन चीज़ों की प्राप्ति

की सोचते रहोगे तो यह काम नहीं बनेगा। बनारस में पहले लोग पढ़ने आते थे, अब भी आते हैं लेकिन तब गर्मी बहुत पड़ती थी और कमरों में पंखे भी नहीं थे। यदि दस महात्मा विद्यार्थी पहुँचते थे तो उनमें से आठ ज्येष्ठ की गर्मी शुरू होते ही उत्तरकाशी चले जाते थे, फिर शिवरात्रि के पास परीक्षा का पर्चा भरने आ जाते थे। तब पढ़ाई नहीं हो पाती थी। दस साल पढ़कर भी लघु कौमुदी वहीं की वहीं रह जाती थी। जो दो बचते थे, उन्हें गर्मी में चाहे जितनी परेशानी हो, फिर भी किताब लेकर बैठते थे और विद्वान् हो जाते थे। सर्दी-गर्मी को जिसने भोग लिया वह तो पढ़ सकता है। जो सर्दी गर्मी से घबरा गया उसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती। निश्चय नहीं है कि पढ़ना ही है, बाकी सुविधायें भी देखनी हैं, तो विद्यावान् नहीं बन सकते। इसी प्रकार लोग कहते हैं कि परमात्मा को प्राप्त करना है किंतु बाकी चीज़ों को भी रखना है। जो समझता है कि केवल परमेश्वर के भरोसे कैसे काम चलेगा, उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्मों के द्वारा आवश्यक चीज़ों की प्राप्ति होने पर भी उसे संतोष नहीं मिलता, इसलिये असली सुख नहीं मिलता, दोनों तरफ से च्युत हो जाता है। इसलिये समता अथवा निश्चय-बुद्धि से जब फलाशा को छोड़ दिया और समत्व बुद्धि उत्पन्न हो गई तब परमात्मा के श्रवण-मनन में लग सकते हो।

जब इस प्रकार फल को समता बुद्धि से छोड़ता है तब मनीषी होता है तभी श्रवण-मनन के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है अन्यथा ज्ञान नहीं हो सकता। एक सज्जन कहते थे कि 'सब का सार तो भगवान् राम का नाम है, उसी से मुक्त हो जायेंगे। इसलिये हम तो भगवान् का नाम लेते हैं।' हम कहते हैं ठीक है, नाम से सब हो जाता है तो फिर आज दुकान तो नहीं जाओगे, यहीं राम-राम करते रहो! जो लोग इस प्रकार की बातें करते हैं कि 'इतने श्रवण-मनन में क्या रखा है, केवल रामनाम से काम हो जायेगा,' उनके सांसारिक व्यवहार में कहीं कमी नहीं होती। अतः ऐसा कहकर परमात्ममार्ग में मोक्ष की प्राप्ति का सस्ता मार्ग ढूंढते हैं। वस्तुतः समत्व-बुद्धि होने पर ही श्रवण-मनन में लगकर जन्म और जन्म से होने वाले बंधन से मुक्ति होती है।

यहाँ भगवान् ने जन्मबंध-विनिर्मुक्त क्यों कहा? जन्म के बंधन से तो मरने पर सब निवृत्त हो जाते हैं। तुम जहाँ पैदा हुए हो वहाँ माँ-बाप, भाई-बहन, पोता-पोती सब बांधते हैं, बंधन हैं। मरते ही ये सब बंधन छूट जाते हैं। इसके लिये मनीषी या ज्ञानी बनने से क्या विशेषता है? इसलिये इसका तात्पर्य भाष्यकार कहते हैं–'जीवंत एव जन्मबन्ध-विनिर्मुक्ताः सन्तः' जीते हुए ही, शरीर में रहते हुए ही इससे होने वाले जितने बंधन हैं, बच्चे पोते आदि, इन सबसे छूट जाता है। इसलिये अन्यत्र शास्त्रकारों ने इस बात को स्पष्ट किया है कि मृत्यु के बाद हमारी जन्म-निवृत्ति हो जायेगी–ऐसा नहीं है। स्वयं श्रुति कहती है 'यदेवेह तदमुत्र' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' यहाँ जो तुम्हारी स्थिति है वही आगे भी जाकर होगी। इसी प्रकार भगवान् भी आगे गीता में

कहेंगे कि जन्मकाल में ही जो काम-क्रोध से वियुक्त हो जाता है, उन्हें जो सहने में समर्थ हो जाता है, शरीर छूटने से पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाला जो वेग है, उसको जो यहीं सहन कर जाता है अर्थात् उसे ये यहीं विघ्न नहीं करते, वही सुखी नर है। इसी बात को यहाँ कहा कि शरीर में रहते हुए ही इस जन्म से होने वाले बंध से हम छूट जाते हैं।

तीन अवस्थायें हैं—मुक्ति निर्मुक्ति, और विनिर्मुक्ति। विवेक के द्वारा मुक्ति होती है कि सचमुच में ये शरीर आदि नहीं हैं। इसी प्रकार से जब अपने को शरीर आदि से अलग *जानते* हैं तब जीते हुए ही बंधन से छूट जाते हैं परन्तु निर्मुक्त नहीं होते अर्थात् जब विचार करते हैं तब स्वयं को छूटा हुआ अनुभव करते हैं परंतु नितरां मुक्ति 'निर्मुक्ति' नहीं है चूंकि फिर व्यवहार काल में बंधन का अनुभव करते हैं। प्रायः शुरू-शुरू में सभी साधकों की यही स्थिति होती है : बैठकर सोचते हैं तब लगता है कि यह सब कुछ नहीं है। परन्तु व्यवहार करने जाते हैं तो सत्य की तरह लगता है। मिथ्या ज्ञान दो तरह का है—बहुत से सिनेमा देखते हुए रोते हैं, हँसते हैं। ऐसा नहीं है कि वे सिनेमा को सच्चा समझ लेते हों! अगर उनसे पूछोगे तो जवाब देंगे कि सच्चा तो नहीं है। फिर रो कैसे लेते हैं? क्योंकि देखते हुए सच्चा लग जाता है। जैसे सिनेमा देखने वाले को पता है कि सच्चा नहीं है, ऐसे ही विवेकी को पता तो है, परंतु पता होने पर भी उतनी देर के लिये अध्यास ऐसा दृढ होता है कि वह रो देता है। अध्यास हटने में देर नहीं लगती। जैसे ही सिनेमा समाप्त होता है वैसे ही सत्यत्व बुद्धि हट जाती है। किसी-किसी को बाद में भी घंटा दो घंटा वह अध्यास बना रहता है, सोचते हैं कि 'वह पात्र बेचारा दुःख में था'; वह था कहाँ जो दुःखी हो! ऐसे ही नाम का बंधन होता है। लोग जासूसी उपन्यास बाँचते हैं। उनसे कहते हैं 'भोजन कर लो', तो कहते हैं 'अभी थोड़ी देर में करते हैं, बस वह चोर को पकड़ने वाला ही है।' वहाँ चोर है कहाँ जो पकड़ में आना है! इसी प्रकार विवेकी मुक्त है, निर्मुक्त नहीं है।

जब वह विवेक अवस्था नहीं टूटती तब जीव निर्मुक्त होता है। फिर भी संसार की प्रतीति रह जाती है। विनिर्मुक्ति वह है जब प्रतीति ही न हो। ज्ञानी या मनीषी की पंचम भूमिका तक मुक्ति है, षष्ठ भूमिका में निर्मुक्ति है। सप्तम भूमिका में विनिर्मुक्ति है। ऐसे लोग ही, जो विनिर्मुक्त हो गये, चाहे घंटे दो घंटे की विनिर्मुक्ति हो, वे ही उस परम पद को प्राप्त करते हैं। सारा विश्व विष्णुरूप है, उसका अधिष्ठान सच्चिदानन्द ही है। इसलिये भगवान् आगे कहेंगे ''ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं'' वहाँ जिसे प्रतिष्ठा शब्द से कहा उसी को यहाँ पद शब्द से कहा। भगवान् विष्णु का परम पद क्या है? अक्षय तृतीया के दिन भगवान् विष्णु के चरण-दर्शन किये जाते हैं। चरण क्या है? प्रायः तो लोग किसी के मुख को देखना चाहते होंगे। हमारे यहाँ चरणों का दर्शन इतना प्रधान क्यों माना जाता है? विश्व (विष्णु) के चरणों की इतनी महिमा इसलिये कही कि वे उस सच्चिदानन्दरूप

अधिष्ठान को बताते हैं। मनीषी लोग विनिर्मुक्त होकर उसी को देखते रहते हैं अर्थात् संसार के नाम-रूप को देखते हुए भी उसमें रहने वाले अधिष्ठान सच्चिदानन्द को ही देखते हैं। मोटी भाषा में, सुनार के पास चाहे जैसा गहना लेकर जाओ, वह सोने को ही देखता है। इसी प्रकार, सभी चीज़ें शब्द और अर्थ रूप से ही सामने आती हैं। उनमें सबसे पहले भगवान् विष्णु के चरण को देखो, असली चीज़ वह है। उस सच्चिदानन्दरूप अधिष्ठान को देख कर फिर जो मर्जी सो देखो। उन चरणों को देख लोगे तो अक्षय होगा, नहीं तो हर साल दर्शन करते हैं, कुछ होता नहीं!

अधिष्ठानरूप अक्षय का दर्शन करने वाला आमय से रहित अर्थात् सारे दुःख और उपद्रवों से रहित जो पद है, उसे प्राप्त करता है। उपद्रव की प्रतीति होने पर भी उसे सब परमात्मरूप ही प्रतीत होगा। जैसे कैसी भी मिठाई को खाते समय सबसे पहले ध्यान मीठे की तरफ जायेगा; बढ़िया गुलाब जामुन बना है लेकिन चीनी डालना भूल गये तो क्या कहोगे? बेकार है। मिठाई में सबसे पहले चीनी को देखते हो। इसी प्रकार सुख-दुःख आये तो सबसे पहले सच्चिदानन्द परमात्मा को देखो कि वही सुख-दुःख, रोग-शोक के रूप में आया है। तब जीते हुए ही तुम अनामय पद अर्थात् दुःख से रहित जो परमात्मा का पद है, उसे देखते हो अर्थात् जानते हो। तब तुम्हें सच्चिदानन्द की प्रतीति होगी, नाम-रूप की प्रतीति नहीं होगी। नाम-रूप ही तो उपद्रव है। उनसे रहित होकर सप्तम भूमिका में जाते हैं। पंचम और षष्ठ भूमिका में विचार करने का नतीजा निकलेगा कि आमयों की पूरी तरह समाप्ति हो जायेगी।

जिसने इस अनामय पद को प्राप्त कर लिया, उसके लिये फिर तत्तद् कर्मफल की अपेक्षा नहीं रह जाती। तत्तत् कर्मों के फलों से तत्तत् परिच्छिन्न सुख की प्राप्ति की तब तक ज़रूरत थी जब तक अपरिच्छिन्न सुख नहीं मिला। जब वह अपरिच्छिन्न सुख मिल गया तब परिच्छिन्न सुख की ज़रूरत नहीं रही। इसी को सर्वतः सम्प्लुतोदक स्थानीय कहा था। कर्मयोग से होने वाली अंतःकरण की शुद्धि से उत्पन्न हुई जो ब्रह्माकार वृत्ति वही सारे सुख-दुःख (रूप उपद्रव) को साक्षात् नष्ट कर देती है।।५१।।

भगवान् बताते हैं कि ऐसी बुद्धि कब मिलती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

जब तुम्हारी बुद्धि अविवेकरूप कालुष्य को पार कर जायेगी, तब श्रुत और श्रोतव्य के प्रति तुम्हें वैराग्य हो जायेगा।

सत्त्व अर्थात् अंतःकरण की शुद्धि में या ज्ञान में रुकावट क्या है? मोह। जब तुम्हारी बुद्धि मोह के कीचड़ को पार कर जायेगी उस काल में ही तुम्हारी यह बुद्धि सत्य पर स्थिर होगी। मोह कई तरह का है। पञ्चदशीकार ने प्रज्ञामान्द्य को भी मोह कहा। किसी

चीज़ की वास्तविकता को समझने की जिनमें योग्यता ही नहीं है उन्हें जितना कहो उतना तो दोहरा सकते हैं परंतु आगे उन्हें कुछ करना या समझना सम्भव ही नहीं है। जैसे बहुत-से लड़के गणित का अभ्यास तो कर लेते हैं, लेकिन हर सवाल में माँ या अध्यापक से पूछते हैं कि भाग करना है या गुणा! कैसे सवाल में क्या करना—यह नहीं समझ पाते, गुणा या भाग क्यों करना है यह नहीं समझते। इसे प्रज्ञामांद्य कहते हैं। समझने के बाद समझे हुए को जीवन में लाना चाहिये, यह बहुत-सों से नहीं होता। बहुत-से लोगों में प्रज्ञा तो है परंतु उसे जीवन में व्यवहार्य नहीं बनाते। कभी विचार नहीं करते कि यह चीज़ हमारे जीवन में किसी व्यवहार का रूप कैसे ले।

कई लोग कुतर्की होते हैं। तर्क और कुतर्क में फ़र्क यह है कि किसी चीज़ को समझने के लिये तो तर्क किया जाता है और बात को काटने के लिये ही जो किया जाता है वह कुतर्क है। कुतर्की से आगे पूछो 'तुम क्या कहना चाहते हो?' तो कहेगा 'मैं कुछ नहीं कहना चाहता!' वह समझना नहीं चाहता, केवल बात को काटना चाहता है। हमारे यहाँ की संसद इसका दृष्टांत है। यहाँ विपक्ष का काम केवल विरोध करना है। उनसे पूछो 'तुम क्या करना चाहते हो?' तो कहते हैं 'जब हम सत्ता में आयेंगे तब बतायेंगे।' जर्मनी के संविधान में बड़ा अच्छा प्रावधान हैः वहाँ चांसलर के विरोध में प्रस्ताव नहीं ला सकते; तुम यह प्रस्ताव ला सकते हो कि अमुक को चांसलर बनाना चाहिये, यह नहीं कह सकते कि अमुक को चांसलर नहीं रहना चाहिये। इसलिये वहाँ समस्या नहीं है कि सरकार कौन बनाये। वहाँ किसी-न-किसी के पक्ष में ही मत दे सकते हैं, केवल विरोध में मत नहीं दे सकते। हमारे यहाँ विपक्ष कुतर्की है, जर्मनी का विपक्ष तर्की है।

विपर्यय और दुराग्रह भी मोह का प्रकार है। विपरीत बात में दुराग्रह होता है कि इस उल्टी बात को रखना ही है। ये सब चीज़ें मोह कलिल हैं। इन कीचड़ों में फँसा रहते मनुष्य कभी भी उस समत्व बुद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—''मोहात्मकम् अविवेकरूपं कालुष्यम्'' अविवेक अर्थात् चीज़ों को अलग-अलग करके न समझना, जैसे क्या आत्मा है? क्या अनात्मा है? आधारभूत ढंग से आत्मा और अनात्मा का विवेक न होना ही मोह है। यही सारे कलुषों का बीज है। मैं आत्मा हूँ इसलिये मुझे आत्म-संबंधी ज्ञान को प्राप्त करना है अनात्म-संबंधी ज्ञान से मतलब नहीं है। ऐसा विवेक होने पर मोहकलिल हटता है। क्योंकि विपर्यय ज्ञान भी प्रज्ञामान्ध है, इसलिये लोग अनात्म विषयों में प्रज्ञा लगाते रहते हैं। ऐसा नहीं है कि उनमें प्रज्ञा नहीं होती। प्रज्ञा सबमें है, परंतु उसे लगाते हैं संसार के विषयों में। इसलिये इन सारे दोषों को आचार्य शंकर ने आत्मा-अनात्मा का अविवेकरूप कह दिया। हमें आत्मा से मतलब है, अनात्मा से नहीं। कुतर्क अनात्मा को लेकर होता है। दुराग्रह भी अनात्म-विषयक होता है इसलिये यह मोहकलिल है, जो इस अविवेक को करके कालिख लगा देता है। श्रवण मनन में और विवेक की बात में यह अविवेक कालिख लगा देता।

ऐसा कलुष होने पर जब अन्तःकरण विषयों के प्रति प्रवृत्त होता है तब शुद्ध भाव को प्राप्त नहीं कर पाता। ठीक जिस प्रकार से तुम कहीं से निकल रहे हो। एक जगह काजल की कोठरी से निकलना है, जगह छोटी है। इधर से सब कपड़े साफ करके निकले थे, उधर से निकलने पर कपड़े काले हो ही जायेंगे। इसी प्रकार शास्त्र-विचार करके, श्रवण-मनन करके अपनी बुद्धि को आत्मविषय में कुछ स्पष्ट किया। उसके बाद जैसे ही व्यवहार करने गये, मोहकलिल में प्रवेश किया, वैसे ही आत्मानात्म-विवेक को छोड़कर अनात्मा को ही समझने में लग जाते हैं। नतीजा यह होता है कि जब उससे निकलकर जाते हैं तब फिर वैसी का वैसी कालिख लग जाती है। बहुत-से लोग कहते हैं कि 'सत्संग सुनते हुए बात जँचती है, शाम तक फिर वैसे के वैसे हो जाते हैं।' उसका कारण यही है कि मोहकलिल लगता रहता है इसके कारण ही बुद्धि शुद्ध भाव को प्राप्त नहीं होती।

इस कलिल को तुम्हारी बुद्धि पार कर जायेगी अर्थात् व्यवहार के नाम पर तुम आत्मानात्म-विवेक को नहीं छोड़ोगे। व्यवसायात्मिका बुद्धि की यही विशेषता है कि व्यवहार करते हुए भी व्यवसायात्मिका बुद्धि लक्ष्य को नहीं छोड़ती। जब तक जीवित हैं तब तक व्यवहार करना पड़ेगा। लक्ष्य सामने है तो कालिख नहीं लगेगी। अन्यथा व्यावहारिकता के नाम पर कालिख लगती रहती है। असल में 'स्वकार्यं साधयेद् धीमान्' अपना काम बना लेना ही बुद्धिमत्ता है। संसार में व्यवहार करते हुए ज्ञान प्राप्त कर लो—यह तो स्वकार्य है। इसको प्राप्त न करके हम अगर अनात्मा को, जो पर है, सुधारने में लग जायेंगे तो अपने आत्मकल्याण को छोड़ देंगे। मनुष्य आत्मकल्याण को छोड़ देता है क्योंकि अनात्मा का कार्य करने में लग जाता है जबकि अनात्मा तो स्वयं कालिख ही रहेगी, उसे नहीं सुधार पाओगे, खुद बिगड़ जाओगे।

जब बुद्धि इस मोह-कलिल को पार कर जायेगी अर्थात् व्यवहार के नाम पर आत्मा और अनात्मा के विवेक को नहीं छोड़ेगी, तब निर्वेद को प्राप्त करेगी। तुमने कर्मकाण्ड के अंदर जो तरह-तरह के फलों का श्रवण किया है उसके कारण तुम्हारा मन उन चीज़ों को प्राप्त करने में लग जाता है। दोनों कर्मकाण्ड समझ लेना—वैदिक कर्मकांड स्वर्ग आदि की प्राप्ति के हेतु और लौकिक कर्मकाण्ड अर्थात् संसार के कार्य। वेद के द्वारा श्रुत कर्म अश्वमेध आदि हैं और श्रोतव्य आत्मा के विषय में भी नैयायिक, द्वैतवादी, विशिष्टा-द्वैतवादी, अचिन्त्यभेदाभेदवादी आदि सब अपनी अलग-अलग बातें कहेंगे। कोई कहेगा परमेश्वर अनेक है। विष्णु, शंकर, देवी आदि सब अलग-अलग नाम दीखते हैं। मूर्तियाँ भी अलग-अलग दीखती हैं। पहले तो विष्णु भगवान् और शंकर भगवान् आदि अनेक हो गये; और आगे चले तो अमुक विष्णु की अपेक्षा तिरुपति ज़्यादा प्रबल है। इन हनुमान् जी से वे हनुमान् जी तगड़े हैं। पहले तो भगवानों में भेद और फिर उन-उन मूर्तियों में भी भेद! सबको खुश करने में लगे रहते हैं। इसलिये परमेश्वर के विषय में भी मोह-कलिल आ

जाता है। परमात्मा आत्मरूप है। श्रुति कहती है 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' तो राम और रावण के हृदय में रहने वाला एक परमात्मा है। तुम्हारी और पड़ोसी की मूर्ति में रहने वाले दो अलग-अलग विष्णु कैसे हो जायेंगे?

इसी प्रकार आत्मा के विषय में संदेह हो जाता है। कोई उसे अणुपरिमाणी मानते हैं तो कोई उसे मध्यम परिमाणी या विभु मानते हैं। अनेक मतभेद हो जाते हैं। इन सबके अंदर तुम निर्वेद को प्राप्त करोगे अर्थात् तुम समझ जाओगे कि ये सब निष्फल हैं, इनसे कोई प्रयोजन नहीं। निर्वेद अर्थात् वैराग्य अर्थात् यह निर्णय कि इन सब चीज़ों का कुछ फल नहीं, निष्फल हैं।।५२।।

जब बुद्धि से मोहरूपी कालिख अर्थात् आत्मा-अनात्मा का अविवेक नष्ट हो जाता है तब निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त करता है। दो अलग-अलग चीज़ों को अलग-अलग करने की सामर्थ्य का न होना मोह है। जैसे शरीर जड है, मैं चेतन हूँ—ये दोनों बातें समझने के बाद भी मैं अपने को शरीर से अलग नहीं कर सकता, इसी का नाम मोह है। इसके कारण ही अर्थात् अविवेक के कारण ही सारे कालुष्य आते हैं। कालिख क्या है? विषयों के प्रति आकर्षण। चाहे विषय लौकिक हो और चाहे शास्त्रीय हो, हमको विषयों में प्रवृत्ति कराते हैं। भूलोक से अच्छे स्वर्ग, वैकुण्ठ गोलोक आदि हैं। वहाँ जिन अच्छाइयों का वर्णन करते हैं, वह सब विषयों का ही वर्णन है। उसे सुनकर हम आकृष्ट होते हैं, यह मोह की कालिख है। इसी प्रकार इस लोक के विषयों से आकृष्ट होते हैं। रेफ्रिज्रेटर में यह आराम है। एयरकण्डीशनर में यह आराम है। गीजर में यह आराम है—आदि सब विषयों की ही बातें हैं। अखबारों में पढ़कर या सुनकर और टी०वी० में देख-सुनकर उन विषयों में प्रवृत्त होते है क्योंकि लगता है कि उनसे सुख मुझे प्राप्त होगा। मैं तो चेतन हूँ—इसका विचार नहीं रहता है। जड और चेतन हैं तो दोनों अलग-अलग चीज़ें, परंतु यह जानने पर भी दोनों को अलग करने की सामर्थ्य का अभाव मोह है। उससे होने वाली कालिख विषयों में प्रवृत्ति कराती है। जब उन्हें अलग-अलग जानकर बुद्धि मोहकलिल को पार कर जायेगी तब वैराग्य (निर्वेद) की प्राप्ति होगी। इस प्रकार मोहकलिल को पार करके आत्मविवेक से होने वाली जो प्रज्ञा है वह प्राप्त होती है। तब क्या होता है? यह भगवान् बताते हैं—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

विभिन्न साध्य-साधनसंबंध सुनने से विक्षिप्त हुई तुम्हारी बुद्धि जब आत्मा में निश्चल व अचल रह जायेगी तब तुम विवेकप्रज्ञा पा जाओगे।

कर्मयोग से होने वाला जो फल परमार्थ योग है अर्थात् निर्वेद (वैराग्य) की प्राप्ति होना रूप जो ज्ञान योग है वह तब प्राप्त होगा जब हमारी बुद्धि आत्मा में स्थिर होगी। हमारी

बुद्धि अभी श्रुतिविप्रतिपन्न है अर्थात् अनेक प्रकार के (लौकिक) साधन-साध्य भाव में आकृष्ट है। बहुत-से इहलौकिक साध्य-साधन एवं कई शास्त्रीय साध्य-साधन हमारी बुद्धि को आकृष्ट करते हैं। चाहे लोक में सुनकर और चाहे शास्त्र में सुनकर हमारी बुद्धि विप्रतिपन्न है अर्थात् किसी एक चीज़ में स्थिर नहीं रहने वाली है। क्योंकि कोई एक चीज़ सबको सुख नहीं दे सकती इसलिये हर-एक साध्य के लिये साधन अलग चाहिये। इसलिये बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती। अनेक साध्य-साधनों के संबंध का प्रकाशन करने वाले श्रौत वाक्य और लौकिक वाक्य हैं। वेदों में इसीलिये मनुष्यों के लिये अलग-अलग साधन कहे। किसी को बेटा चाहिये तो किसी को यश चाहिये, किसी को राज्य तो किसी को धन चाहिये। इसलिये वेदों ने अलग-अलग साधन बताये। वेद यह नहीं कहते कि 'तुम इस चीज़ को चाहो' वरन् यदि तुम चाहते हो तो यह उपाय है अर्थात् वेद साध्य-साधन का प्रकाशक है, यह बताता है कि अमुक साध्य की प्राप्ति अमुक साधन से होती है। जैसे आयुर्वेद यह नहीं कहता कि कुछ दवाई खाओ, वरन् यह कि अमुक रोग है तो अमुक दवाई खाओ। रोग चूंकि अलग-अलग हैं इसलिये दवाईयाँ भी अलग-अलग हैं। आयुर्वेद दवाई खाने का विधान नहीं कर रहा है। इसी प्रकार वेद बताता है कि तुम्हें अमुक चीज़ चाहिये तो तुम यह साधन करो। चूंकि साध्य अनेक हैं इसलिये साधन भी अनेक हैं। लोग लम्बे समय तक इस भ्रम में पड़े रहते हैं कि इतना हो गया, यह भी हो जाये इसलिये बुद्धि साध्य-साधन बोधक वाक्यों के द्वारा क्षुब्ध हुई, फैली हुई रहती है, बुद्धि कभी एकाग्र नहीं हो पाती।

बुद्धि निश्चल, विक्षेपरहित बनानी है, बुद्धि का चलना कोई मोटर की तरह तो है नहीं! विक्षेप ही बुद्धि का चलना है। इधर-उधर की चीज़ों को सोचना ही चलना है। जब बुद्धि इस विक्षेप से रहित हो जाती है तब निश्चल हो जायेगी और तब यह आत्मा में समाहित हो जायेगी। जिसमें चित्त समाहित होता है उसे समाधि कहते हैं। शंका हो सकती है कि यहाँ समाधि से आत्मा क्यों समझें, प्रसिद्ध समाधि ही क्यों न समझें? उत्तर है कि यदि आत्मा-अर्थ नहीं लोगे तो भगवान् ने जो कहा—'समाधौ अचला बुद्धिः' वह नहीं बनेगा। प्रसिद्ध समाधि में अचल बुद्धि तो हमेशा रहेगी। इसलिये 'समाधि में अचल बुद्धि' कहना नहीं बनेगा और समाधि में अचल बुद्धि होने से योग अर्थात् समाधि को प्राप्त करोगे—यह भी नहीं बनेगा क्योंकि योग के मायने भी समाधि है। फल भी समाधि है और जिसको लगाना है वह अचल बुद्धि भी समाधि है। इसलिये यहाँ समाधि का मतलब आत्मा है। जहाँ (जिसमें) समाधि लगाई जाती है उसे भी समाधि कहते हैं। जैसे लोक में भी कहते हैं कि आज चावल बना या नहीं? मुझे चावल दो। यदि कोई चावल ही दे दे तो डाँटोगे, कहोगे मेरा मतलब है कि भात दो। जैसे चावल का अर्थ भात करना पड़ता है, ठीक इसी प्रकार जिसमें मन को लगाया जाता है उस परमात्मा को भी समाधि शब्द से कहते हैं। जिसमें मन को एकाग्र किया जाता है वह आत्मा है। जब सारे साध्य-साधनों से बुद्धि हट

जायेगी अर्थात् निश्चल हो जायेगी तब आत्मा में बुद्धि विक्षेप से रहित होकर रहेगी। यह निश्चला शब्द से अर्थ निकला।

दूसरा, अचला विशेषण बुद्धि के बारे में है अर्थात् निश्चल मन, विक्षेप से रहित मन। यहाँ अचल का मतलब 'विकल्प से रहित' है। अंतःकरण का यह स्वभाव है कि हर संकल्प के साथ विकल्प लगा देता है। जहाँ किसी भाव चीज़ को कहो वहाँ झट अभाव उपस्थित हो जाता है। मन की चंचल अवस्था में संकल्प-विकल्प साथ खड़े हो जाते हैं इसलिये आत्मा में विक्षेप-रहित होने पर भी साथ में अनात्मा आ जाता है। जैसे परमात्मा सच्चिदानन्द है अर्थात् सद्रूप चिद्रूप और आनन्दरूप है; फिर आगे ही कहते हैं 'सच्चिदानन्द श्री कृष्णचन्द्र भगवान् की जय', सच्चिदानन्द है तो काला-गोरा नहीं हो सकता, उसमें गुण नहीं हो सकते। यदि गुण हैं तो सच्चिदानन्द नहीं हो सकता। इसी प्रकार संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। इसलिये जब अचल बुद्धि अर्थात् विकल्प से रहित बुद्धि होती है, 'तदा' तब साधक योग अर्थात् विवेकप्रज्ञारूपी योग अर्थात् समाधि को प्राप्त कर लेगा।

इस श्लोक में चार शब्दों पर ध्यान रखना। पहली बात समाधि से 'आत्मा' लेना है। 'निश्चल' से विक्षेप-रहित (बुद्धि), 'अचल' से विकल्प-रहित और 'योग' शब्द से समाधि अर्थात् विवेकप्रज्ञा को लेना है। भगवान् ने कहा है कि आत्मा पर एकाग्र निश्चल, अचल बुद्धि होने पर विवेकज प्रज्ञा की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् विवेक-प्रज्ञारूप जो समाहितता है उसकी प्राप्ति हो जाती है।।५३।।

तीन शब्द हैं—आधि, व्याधि और समाधि। मन में विकार है तो आधि, वह विकार शरीर में आ गया तो व्याधि और यदि वहीं (मन में) उसको काट दिया तो समाधि है। यही विवेक प्रज्ञा है जिसकी प्राप्ति हो जाती है। इस विवेक प्रज्ञा की प्राप्ति को सुनते ही अर्जुन के मन में प्रश्न आया कि जब यह प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है तब साधक कैसा होता है?

अर्जुन उवाच
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

हे केशव! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ की भाषा क्या है, वह क्या बोलता है, कैसे बैठता व चलता है?

केशी राक्षस को भगवान् ने मारा था इसलिये उन्हें केशव कहते हैं। कहीं-कहीं केशिनिषूदन भी कहा है। इसके द्वारा यह याद दिलाते हैं कि जैसे आपने केशी राक्षस को मारा था वैसे ही हमारी इस जानने की इच्छा रूप राक्षस को भी आप मारें अर्थात् मेरी इस शंका को समाप्त करें।

जिसको विवेकज प्रज्ञा प्राप्त होती है वही स्थितप्रज्ञ है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह विवेकज

प्रज्ञा है जिसको भगवान् ने कहा था ''योगमवाप्स्यसि'' ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसी प्रज्ञा स्थित हो जायेगी अर्थात् प्रज्ञा प्रतिष्ठित होगी। जब प्रज्ञा वहाँ से हटती नहीं, तब वह प्रतिष्ठित है। मैं ही परब्रह्म हूँ, परब्रह्म से अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं हूँ–ऐसे स्थितप्रज्ञ की भाषा क्या है? भाषा का मतलब यहाँ परिभाषा है अर्थात् उसका लक्षण क्या है? जिससे निश्चित, परिसीमित हो जाता है कि यह चीज़ ऐसी ही है उसे परिभाषा कहते हैं। अथवा भाषा क्या है–अर्थात् दूसरे उसका किस प्रकार निर्वचन करते हैं, उसे कैसे बताते हैं? किसी भी चीज़ को बताने के लिये उसका लक्षण करना पड़ता है। किसी वस्तु की सिद्धि के लिये पहले उस चीज़ का लक्षण बताना पड़ेगा कि तुम किस चीज़ का वर्णन करने जा रहे हो। फिर तुम्हें प्रमाण बताना पड़ेगा कि उसके ज्ञान का साधन क्या है? जब तक ये दो चीज़ें नहीं बताई जाती तब तक कोई किसी चीज़ को कहता है तो वह*सिद्ध* नहीं होती, 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'।

आजकल अनेक समस्याएँ इसीलिये बनी रहती हैं कि लोग विषय को न परिभाषित करते हैं व न उसमें प्रमाण निर्धारित करते हैं। कई लोग भूतों के बारे में तरह-तरह की बातें करते हैं पर न वे उसका लक्षण कहते हैं न प्रमाण। उसे रूपवान् अतः स्थूल भी मानते हैं, क्योंकि उन्हें भूत दीखता है, और वह बंद कमरे में भी आ-जा सकता है अतः सूक्ष्म है यह भी मानते हैं। दोनों के विरोध का कोई परिहार भी नहीं सोचते। उसे अंधेरे में दीखने वाला बताते हैं जबकि दृश्य वस्तु रोशनी में ही सही दीखा करती है! फिर भी कहते हैं 'भूत है'। वस्तु की सिद्धि लक्षण व प्रमाण से होती है। यदि मन से मानना चाहते हो तो जो मर्जी मानो। जिस आदमी ने ब्याह नहीं किया उसे लड़का होना नहीं है, वह रो रहा है 'हाय! मेरा पोता मर गया!' तो उसे कैसे समझायें? अधिकतर लोगों की शंकायें ठीक इसी कोटि की हैं।

अर्जुन पूछता है कि जिसने इस विवेक प्रज्ञा को प्राप्त कर लिया, 'मैं ब्रह्म हूँ' यह निश्चय कर लिया उसका लक्षण क्या है? अर्थात् दूसरे उसे किस प्रकार से निरूपित करते हैं। यह परिभाषा का प्रश्न क्यों उठा? जब स्थितप्रज्ञ समाधि में स्थित है तब खुद उसका व्यवहार हो नहीं सकता, उस समय दूसरे कैसे समझेंगे कि वह स्थितप्रज्ञ है? इसके लिये उसका लक्षण जानना आवश्यक है। अतः स्थितप्रज्ञ दूसरे की दृष्टि में कैसा है–यह प्रश्न है।

उसकी अपनी दृष्टि में पूछा 'स्थितधीः किं प्रभाषेत?' मैं ब्रह्म हूँ, जिसकी बुद्धि ऐसी स्थित हो गई है, वह स्वयं क्या बोलता है? पहला प्रश्न था कि उसको दूसरे कैसे बताते हैं। दूसरा प्रश्न है कि वह स्वयं अपने को कैसे बताता है? 'किमासीत व्रजेत किं' वह कैसे बैठता है या चलता है। बैठना अर्थात् कर्म न करना, चलना अर्थात् कर्म करना। कर्म करते हुए और कर्म न करते हुए, दोनों में उसमें क्या फ़र्क है अथवा दोनों में कोई फर्क है या नहीं? इस प्रकार स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को तीन तरह से पूछा। १. जब वह समाधि

में स्थित है तब दूसरे उसे कैसे देखते हैं, उसका लक्षण कैसे होता है? २. स्थितबुद्धि किस प्रकार से अपने को बताता है? और ३. जब वह कर्म कर रहा है या कर्म नहीं कर रहा है उन दोनों दशाओं में उसकी स्थिति में क्या फ़र्क है, दोनों में फ़र्क है या समान हैं?।।५४।।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता में तीन जगह बताये है—यहाँ दूसरे अध्याय में, बारहवें अध्याय के अंत में और तेरहवें अध्याय के अंत में। इन्हें अलग-अलग नाम से कहा गया है, परन्तु लक्षण एक ही हैं। भगवान् जवाब देते हैं—

श्रीभगवान् उवाच
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

हे पार्थ! स्थितप्रज्ञ तब कहा जाता है जब मन में स्थित सारी कामनाएँ सर्वथा छोड़ देता है एवं आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है।

दो प्रकार से स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति भगवान् बता आये हैं। एक तो जो ब्रह्मचर्य से संन्यास को लेकर ज्ञानयोगनिष्ठा को प्राप्त करता है और दूसरा जो कर्मयोग के द्वारा अंतःकरण की शुद्धि को प्राप्त करता है और तब ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त करता है। दोनों तरह के लोग स्थितप्रज्ञ हैं। एक प्रश्न उठता है कि ये लक्षण किसके लिये बताये जा रहे हैं? स्थितप्रज्ञ के अपने लिये तो हैं नहीं, क्योंकि वह तो स्थितप्रज्ञ है ही, उसे लक्षणों को जानने की क्या ज़रूरत है? एक बार हम कानपुर में थे। दो ब्राह्मण लड़के पूछने लगे कि ब्राह्मण कर्म से होता है या जन्म से? हमने जवाब नहीं दिया। उन्होंने सोचा कि हमने सुना नहीं होगा। फिर पूछा तो हमने कहा—'हम तुम्हारे प्रश्न का जवाब नहीं देंगे।' उन्होंने सोचा स्वामी जी गुस्सा हो गये! कहने लगे 'हम तो केवल पूछ रहे हैं।' तब हमने उनसे कहा कि तुम्हारे प्रश्न का जवाब बनता नहीं है। अगर बनिया पूछे कि 'मैं बनिया हूँ या नहीं?' तो क्या कहा जाये! ऐसे ही यदि क्षत्रिय पूछे कि ब्राह्मण कैसे पैदा होता है, तो जवाब दे सकते हैं। तुम खुद ही ब्राह्मण हो और पूछते हो तो क्या जवाब दें? जैसे कोई पूछे 'मैं आदमी हूँ या घोड़ा?' तो क्या जवाब दें! क्योंकि आदमी ही पूछ रहा है। ऐसे ही ब्राह्मण पूछ रहा है तो क्या जवाब दिया जाये?

स्थितप्रज्ञ को स्थितप्रज्ञ होने से किसी लक्षण की ज़रूरत नहीं है। लक्षण की ज़रूरत उसे है जो स्थितप्रज्ञ नहीं है। अध्यात्मशास्त्र में नियम है कि जो सिद्ध के लिये स्वभाव होता है वह साधक के लिये कर्तव्य होता है। सिद्ध बिना कोशिश के जो करता है वह उसका स्वभाव है, उसके अनुकरण से साधक प्रगति कर जाता है। लोक में विशेषज्ञ गवैया स्वभावतः शुद्ध व मधुर गाता है, सीखने वाला उसकी नकल करते-करते वैसा गाने लगता है। अथवा जो नर्तक है वह नृत्य करते समय अपने हाथ, पैर आदि जैसे करता है, वैसे तुम करोगे तो तुम एक दिन नर्तक बन जाओगे; और कोई उपाय नर्तक बनने का नहीं। चाहे

जितनी किताबें पढ़ लो, नर्तक या गवैये नहीं बन सकते। जैसे गवैया गाता है वैसे गाने का अभ्यास करना पड़ेगा। इसी प्रकार सर्वत्र अध्यात्मशास्त्र में सिद्ध के लिये जो स्वभाव है, साधक उसे करते-करते सिद्धि को प्राप्त कर जाता है। इसलिये बार-बार कहा जाता है कि गुरु की शरणागति से सिद्धि होती है। जैसे गवैये या नर्तक के पास रहना ही पड़ेगा तभी सीखोगे, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास रहकर ही तुम्हारी ब्रह्मज्ञान की साधना हो सकती है।

अध्यात्म शास्त्र में सर्वत्र सिद्ध के लक्षण सिद्ध के लिये नहीं, साधक के लिये बताये हैं। साधक उन चीज़ों को अपने जीवन में लाता रहे इसीलिये वे लक्षण किये जाते हैं। इससे साधक को अपनी स्थितप्रज्ञता का पता लगता है क्योंकि जितना-जितना वह उन लक्षणों को अपने जीवन में लाता रहेगा उतना-उतना उसको पता लगता जायेगा कि मेरे अंदर स्थितप्रज्ञता आ रही है। जब उसकी साधना पूरी हो जायेगी तब उसे भी उन लक्षणों की कोई ज़रूरत नहीं रहेगी। जिस शहर की ओर जा रहे हो उसकी दूरी के सूचक मील के पत्थर रास्ते में मिलना ज़रूरी है ताकि तुम्हें ज्ञान रहे कि सही मार्ग पर हो, लेकिन शहर में पहुँचकर पत्थरों की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति वाले को लक्षण की ज़रूरत नहीं, परन्तु जब तक स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति नहीं हुई तब तक लक्षण देखने पड़ते हैं कि ये लक्षण मुझमें घट रहे हैं या नहीं। इसलिये ये लक्षण खुद में ही घटाने पड़ते हैं।

यहाँ पहला प्रश्न समाधिस्थ का लक्षण है। उस समय मन में रहने वाली उसकी सारी कामनायें छूटी रहती हैं। स्थितप्रज्ञ का स्वरूप शास्त्रसिद्ध है, उसको मैं देखता हूँ जो साधक हूँ। उन लक्षणों को देखने वाला साधक मैं हूँ और जहाँ दीख रहे हैं वह सिद्ध है, चूंकि लक्षण वाला स्थितप्रज्ञ आत्मस्वरूप है। *मैं* उन लक्षणों वाला नहीं हूँ इसलिये साधक हूँ, और स्थित प्रज्ञा वाले आत्मा को देख रहा हूँ। जिसकी कामना नष्ट हो गई है वह स्थितप्रज्ञ है। जो स्थितप्रज्ञ का स्वरूप है, वैसा मुझ साधक को आचरण करना है। स्पष्ट कर दिया कि कामना मन में रहती है, कामना मुझमें नहीं रहती, आत्मा में नहीं रहती। यह स्पष्ट करना आवश्यक है क्योंकि बहुत से लोग इस भ्रम से नहीं निकल पाते कि कामना मेरी है। कामना मन में रहती है इसका निश्चय गहरी नींद में होता है। गहरी नींद में तुम रहते हो लेकिन कामना नहीं रहती। यदि तुम्हारे में कामना रहती होती तो गहरी नींद में भी रहती। जाग्रत् में मन है, मन में कामना है। इसलिये निश्चय होता है कि कामनायें सब मन में रहती हैं। यह साधक के लिये कर्त्तव्य है कि जब-जब कामना उठे तब देखे कि 'यह कामना मन की है, मेरी नहीं। कामना मेरी होगी तो मैं उससे निकल नहीं सकता, मन की होगी तो उससे निकल सकूंगा।' स्थितप्रज्ञ मन में रहने वाली सारी कामनाओं को छोड़ देता है।

'प्रजहाति'; एक छोड़ना होता है और एक ऐसा छोड़ना होता है कि छोड़ा है इसकी

याद भी नहीं रहती! कोई श्लोक तुमने बचपन में याद किया था। फिर दूसरे धन्धों में फँस गये, वह श्लोक भूल गये। बीस साल बाद कोई वह श्लोक बोल देता है तो तुम्हें पता ही नहीं चलता कि वही श्लोक तुम्हें भी याद था और भूल गये। अर्थात्, भूल गये यह बात भी भूल गये! किसी आदमी को देखा, फिर चार-छह महीने उसे नहीं देखा। पूछें तो कहते हो 'चेहरा याद नहीं हैं, मिला तो था।' दस साल बाद तो 'मैं उससे मिला था' यह भी याद नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार जब तक कामनायें वैराग्य से छोड़ी गई हैं तब तक भावना रहती है कि 'कामना थी और दोष वाला समझ कर कामना को छोड़ दिया।' 'प्रजहाति', प्रहाण मायने 'यह कामना कभी मेरे (मन) में थी', यह भी भूल गये। अर्थात् मैं मन से इतना दूर हो गया कि यह कामना थी यह याद भी नहीं रहा। पहले कामना को खुद में मानता था अतः उसकी याद रहती थी। अब निश्चय है कि मुझ में तो हो नहीं सकतीं, मन में भले ही रही हों अतः 'मेरी इच्छा' के रूप में याद आना संभव नहीं।

शंका होती है कि सारे सुखों का बीज कामना है। हमें हलवा खाने की कामना है। हलवा खिला दो तो प्रसन्नता होगी। यदि मुझे हलवे की कामना नहीं है वरन् वज़न घटाने की कामना है तो बढ़िया से बढ़िया हलवा बनाकर लाओगे तो प्रसन्नता नहीं उल्टा दुःख होगा! अगर कामना है तभी चीज़ मिलने पर सुख देगी। जब सारी कामनाओं को छोड़ दिया तब सुख किससे होगा? अभी मरे तो हैं नहीं, प्रारब्ध बचा हुआ है। कामनायें सब छोड़ दीं तो प्रसन्नता या सुख कैसे होगा? शरीर-धारण के लिये व्यवहार क्या पागल की तरह करोगे या घोर प्रमादी की तरह करोगे? शरीर तो है और शरीर का निर्वाह भी होना है। आगे भगवान् कहेंगे 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः'(३-८)। परंतु प्रमादी शरीर में रहते हुए भी शरीर-निर्वाह के लिये कुछ नहीं करेगा, सोचेगा कि दूसरे क्यों नहीं करते! अथवा कोई कामना सामने है नहीं तो उन्मत्त की तरह व्यवहार कर सकता है। हम लोगों से तरतीब से काम कराने वाली भी कामना है। बम्बई जाने की कामना है तो उस रास्ते चलोगे, कोई कामना नहीं तो कभी इधर कभी उधर जाओगे।

इस प्रकार की शंका होने पर भगवान् कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' उसकी सारी कामनाओं का मूल केन्द्र आत्मा है। जो अपना प्रत्यगात्मस्वरूप है उसकी ही उसे कामना है अतः उसको किसी बाह्य लाभ की अपेक्षा हुए बिना ही आनंद मिलता है। उसको आत्मा में ही संतोष है। उसको कोई कामना नहीं है अर्थात् उसे कोई बाह्य कामना नहीं है। परंतु जो आनन्दस्वरूप आत्मा है वह तो उसमें मौजूद ही है इसलिये वह आनन्द उसे उपलब्ध ही है। परमार्थ-दर्शन रूप जो अमृत रस है उसकी प्राप्ति होने पर और किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं रहती। जैसे तुम दूध के समुद्र के किनारे बैठे हो तो जब प्यास लगे तब झट दूध पीने को मिल जाता है। तब क्या फिर गाय को दोहने जाओगे? इसी प्रकार, चूंकि अपने अंदर बैठा हुआ जो परब्रह्म परमात्मा है उसके द्वारा उसे निरंतर आनंद मिलता है। इसलिये किसी बाह्य विषय की कामना या उसकी

प्राप्ति उसकी प्रसन्नता के लिये हेतु नहीं है।

'आत्मनि एव'; यह आनंद आत्मा में कैसे मिलता है? आत्मा और अनात्मा का जो विवेक है उस विवेक प्रत्यय से होने वाली जो प्रतीति है उससे ही संतोष मिलेगा। जब मन में रहने वाली सारी कामनायें जल जाती हैं तब आत्मा का जो आनन्द है उस परमार्थ दर्शन के आनंद से वह भरा पूरा रहता है। उसमें हेतु विवेक प्रज्ञा है। आत्मा-अनात्मा को अलग-अलग करके जानने के काल में उसे स्थित प्रज्ञ कहा जाता है। चूंकि मनोगत कामनायें जल गईं इसलिये पुत्र-वित्त-लोकैषणा सब छूट गई, ऐसे आत्मा में ही आराम करने वाला, आत्मा में क्रीडा करने वाला स्थितप्रज्ञ है।।५५।।

अर्जुन का प्रश्न था कि स्थितप्रज्ञ दृढ ज्ञानी जिस समय समाधि में है उसका लक्षण या परिभाषा क्या है? उसका जवाब भगवान् ने दिया कि उस समय में उसके मन में होने वाली सारी कामनायें छूटी हुई हैं और उस समाधि की अवस्था में वह अपने आत्मानंद के समुद्र में ही तुष्ट हुआ है। समाधि काल में मन में कोई कामना नहीं है और कामनाओं की निवृत्ति हो जाने से उसका जो अपना आनंदरूप है, वह उसके सामने प्रकट है। जिस प्रकार से तालाब में हीरे, पन्ने, माणिक्य आदि पड़े हुए हों और उस तालाब में ऊपर लहरें उठ रही हों तो वे हीरे आदि नहीं दीखते, केवल लहरें दीखती हैं और तुम समझते हो कि केवल पानी है। परन्तु जब उस तालाब में लहरें नहीं होतीं, पानी स्थिर होता है तब वे हीरे पन्ने आदि दीखने लगते हैं और पता लगता है कि कितना धन वहाँ है। ठीक इसी प्रकार मन के अंदर सच्चिदानन्दरूप परमात्मा अधिष्ठान रूप से मौजूद है। जैसे हीरे, माणिक्य आधार हैं उनके ऊपर ही पानी है, इसी प्रकार तुम्हारे मन का अधिष्ठान सच्चिदानन्द परमात्मा है। परंतु इसमें कामनाओं की लहरें उठती रहती हैं अतः 'मुझमें कितना अनंत आनन्द का समुद्र है' यह नहीं दीखता। रसगुल्ले में तो सुख दीखता है, परन्तु अपने में सुख नहीं दीखता। इसलिये सोचते हैं कि कोई चीज़ दीखेगी या मिलेगी तब सुख होगा। जब कामनायें नहीं रहती, मन स्थिर रहता है, तब मन के तले पर जो सच्चिदानन्द परमात्मा है, उसे देखकर उसका जो अनन्त आनंद है, उससे सर्वथा तुष्टि हो जाती है। वह जो उस स्थितप्रज्ञ का समाधि काल है उसका यह लक्षण है–१. कामनाओं का सर्वथा अभाव और २. अधिष्ठान परमात्मा में पूर्ण आनंद का अनुभव; यह समाधि काल में स्थित की परिभाषा या लक्षण है।

अगला प्रश्न था 'स्थितधीः किं प्रभाषेत इस प्रकार का स्थितप्रज्ञ स्वयं क्या प्रकट करता है? अर्थात् वह स्वयं व्यवहार कैसा करता है? उसका जवाब देते हैं–

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

जो दुःखों में उद्वेगरहित मन वाला, सुखों के प्रति निस्पृह, राग भय व क्रोध से रहित

होता है उसे स्थितधी मुनि कहा जाता है।

व्यवहार में दो ही चीज़ें होती रहती हैं—दुःख और सुख का अनुभव ही व्यवहार का रूप है। समाधि में हो तो दुःख सुख नहीं हैं। वहाँ उसे अपने आत्मानंद का अनुभव है। परन्तु जब वह व्यवहार करता है तब प्रारब्ध के अनुसार कभी सुख और कभी दुःख आयेगा। सुख और दुःख में से किसी एक का भोग होना ही प्रारब्ध-भोग है। पहले भगवान् ने दुःख को कहा क्योंकि संसार में अधिकतर दुःख ही रहता है। भगवान् ने खुद ही कहा है कि इस सृष्टि की हर ईंट में दुःख है। इसलिये भगवान् ने इसका नाम ही रखा 'दुःखालयम् अशाश्वतम्।' जैसे जहाँ बर्फ ही है वहाँ हिमालय है इसी प्रकार जहाँ खूब दुःख ही दुःख है वह संसार दुःखालय है। जहाँ हिमालय है वहाँ चट्टानें आदि भी हैं परन्तु बर्फ इतनी अधिक है कि वही नज़र आती है। ठीक इसी प्रकार से संसार के अंदर दुःख और सुख दोनों का भोग है परंतु दुःख ही प्रधानरूप से दिखाई देता है। इसलिये पहले दुःख के अनुभव को कहा।

स्थितप्रज्ञ जब व्यवहार में दुःख का अनुभव करता है तब उसे उद्वेग नहीं होता क्योंकि उसका मनसे तादात्म्याध्यास नहीं है। दुःख का अनुभव मन में होता है। मन में दुःख का अनुभव होने के बाद उस मन के साथ जब तुम एक हो जाते हो तब *तुम्हें* उद्वेग होता है कि 'यह दुःख जल्दी हट जाय। मैं क्या करूं जो इस दुःख से जल्दी छूटूं!' स्थितप्रज्ञ को ऐसा उद्वेग नहीं होता। कई बार जब फोड़े में पीप भर जाता है तब उसका रंग इतना सुंदर होता है मानो बढ़िया बसरे का मोती हो! लेकिन उस रंग को देखकर तुम कभी भी प्रसन्न नहीं होते क्योंकि तुम्हारा मन उद्विग्न है कि यह कैसे हटे या कैसे जाये। दूसरे के फोड़े को देखो, तब उसका रंग तुम्हें फबता, सुंदर लगता है। अपने शरीर में होने पर वह सुंदर नज़र नहीं आता क्योंकि अपने शरीर में अध्यास के कारण उद्वेग है कि यह जल्दी से जल्दी कैसे हटे। जहाँ-जहाँ जितना ज़्यादा तादात्म्याध्यास होगा वहाँ उतना ही दुःख ज़्यादा होगा। स्थितप्रज्ञ के मन के अंदर चूंकि तादात्म्याध्यास नहीं है इसलिये उसे उद्वेग नहीं होता। इज़्राइल में भी मुसलमान मर रहे हैं, यहाँ भी मर रहे हैं। वहाँ मरते हैं तो उतना उद्वेग नहीं होता, यहाँ मरते हैं तो उद्वेग होता है। अपने घर में कोई मरे तो जितना उद्वेग होगा, उतना उद्वेग पड़ोसी के घर में किसी के मरने पर नहीं होता। जितना-जितना तादात्म्य अधिक होता है, उतना ही उद्वेग बढ़ता जाता है। ज्ञानी के भी मन के अंदर प्रारब्ध- भोग से दुःख तो है परंतु स्थितप्रज्ञ का मन के साथ तादात्म्याध्यास नहीं होने से उसे *उद्वेग* नहीं है, उसका मन उद्वेग से भरा नहीं है, उसे क्षोभ नहीं होता। 'दुःखेषु' बहुवचन का प्रयोग है अर्थात् चाहे जितने दुःख हों, परन्तु उसे कभी भी उद्वेग नहीं होगा क्योंकि जिस मन के अंदर दुःख हो रहा है उसके साथ उसको एकता का अनुभव नहीं है, 'यह मैं हूँ' यह तादात्म्यानुभव नहीं है। जैसे इज़्राइल में मरने वाले मुसलमानों के साथ तुम्हारा वैसा तादात्म्य नहीं है जैसा गुजरात के मुसलमानों

के साथ है, इसी प्रकार मन के अंदर दुःख है परंतु उसके साथ तादात्म्य नहीं है इसलिये उद्वेग या क्षोभ नहीं है।

प्रारब्ध के अनुसार सुख दुःख दोनों आयेंगे। जब सुख-भोग का काल आता है तब सुख भी मन में होगा। मन में सुख होता है और उस मन के साथ एक हो जाते हैं तो स्पृहा होती है कि यह सुख बना रहे, बढ़ता रहे। यह मन से एकता के कारण होता है। स्थितप्रज्ञ में वह एकता नहीं है इसलिये उसमें यह स्पृहा भी नहीं है कि यह सुख बना रहे या बढ़ता रहे। दुःख को दुःख रूप में और सुख को सुख रूप में देखने पर भी उससे होने वाला उद्वेग या विकार कि हट जाये या और हो या बना रहे—ऐसी प्रतिक्रिया उसकी नहीं है। व्यवहार में न उसे दुःख के प्रति और न सुख के प्रति कोई प्रतिक्रिया है। उदासीन भाव से देखता है। सामान्यतः जैसे आग में ईंधन डालने से आग की लपट बढ़ती है इसी प्रकार तुम्हें जब सुख के पदार्थों की प्राप्ति होती है तब तुम्हारी अभिलाषा और बढ़ती है। यह अभिलाषा स्थितप्रज्ञ में नहीं होती। उसका सारा व्यवहार स्पृहा और उद्वेग से रहित, शान्त रहता है।

स्थितप्रज्ञ वीतराग होता है। राग रंग को कहते हैं। जिस चीज़ से तुम्हें सुख का अनुभव होता है उस चीज़ का मन के ऊपर रंग चढ़ता है। इसलिये वह चीज़ बार-बार याद आकर तुम्हें अपनी ओर आकृष्ट करती है। सामने चीज़ होने पर तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति छोटे बालक की भी होती है। हम लोगों की प्रवृत्ति केवल चीज़ सामने होने पर नहीं वरन् चीज़ का जो रंग मन में चढ़ा है उससे भी होती है। स्थितप्रज्ञ की पदार्थ के होने पर उसकी तरफ प्रवृत्ति—यह सामान्य व्यवहार तो हो जायेगा। परन्तु राग के कारण प्रवृत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार भय है : जो सामने हो उससे तुम्हें निवृत्ति हो जाती है परन्तु चीज़ के सामने न होने पर भय बना रहता है। जैसे कोई गुंडा तलवार लेकर तुम्हें मारने आये, उससे बचने को भागो यहाँ तक तो ठीक है क्योंकि इन्द्रिय के सामने चीज़ होने से निवृत्ति होती है परन्तु सामने कोई नहीं है और मन की वृत्ति बनती है कि 'क्या पता कौन मार जाये!' तुम्हारा मकान अकेले में है, वहाँ तो सामने कुछ नहीं है। जैसे राग बिना चीज़ सामने हुए प्रवर्तक है वैसे ही भय भी बिना चीज़ सामने हुए निवर्त्तक हो जाता है। स्थितप्रज्ञ की यह प्रवृत्ति भी नहीं होती, भय से होने वाली निवृत्ति भी उसमें नहीं होती।

जब कभी कामना की पूर्ति में कोई रुकावट आती है तब मनुष्य के मन में क्रोध उत्पन्न होता है। मैं कोई चीज़ चाहता हूँ और उसमें किसी आदमी या जानवर ने रुकावट की, तब उस पर क्रोध आता है। आगे भगवान् कहेंगे कि काम से ही क्रोध होता है। कामना पूरी करने में जो रुकावट पैदा करे उस पर क्रोध होता है। स्थितप्रज्ञ की कोई कामना है ही नहीं। कामना न होने के कारण कामना की रुकावट के कारण होने वाला क्रोध भी उसमें नहीं हो सकता। स्थितप्रज्ञ में राग, भय और क्रोध तीनों चीज़ों

का अभाव उसके व्यवहार काल में बना रहता है। न अनुपस्थित पदार्थ उसका प्रवर्तक होता है, न उसकी स्मृति होती है, न उसका प्रतिबंधक होता है। जिसके कारण उसे क्रोध आये।

ऐसे स्थितप्रज्ञ को मुनि कहते हैं। मुनि शब्द संस्कृत में संन्यासी में रूढ है। जो इस प्रकार राग, भय और क्रोध से रहित है वह मुनि या संन्यासी है। यदि घर में होगा तो दो-चार दिन में घर वाले उसे धक्का मारकर निकाल देंगे! ऐसे व्यक्ति को कोई घरवाले बर्दाश्त नहीं कर सकते, उसे हरद्वार जाने को ही कहेंगे। इसलिये भगवान् कहते हैं कि वह मुनि है। महाभारत में कहा है 'नासौ त्यजति कर्माणि कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ' उसे कर्म-त्याग नहीं करना पड़ता, कर्म ही उसे त्याग देते हैं, वह अपने घर का त्याग नहीं करता, घरवाले ही उसे छोड़ जाते हैं! यह कैसा मुनि है? स्थितधी मुनि अर्थात् स्थितप्रज्ञ संन्यासी है। जो अभी ऐसा बनने का प्रयत्न कर रहा है वह स्थितप्रज्ञ नहीं है, लेकिन जो स्थितप्रज्ञ है उसके लिये यह सहज स्वभावरूप है। यह एक तरह से सूत्र वाक्य है। इसी को आगे विस्तार से कहेंगे।।५६।।

और भी लक्षणों द्वारा विविदिषु को अन्य कर्तव्य बताते हैं–

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

जो किसी भी वस्तु में अभिस्नेह नहीं रखता, शुभ पाकर हर्ष से नहीं फूलता, व अशुभ मिलने पर उससे द्वेष नहीं करता, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठा वाली हो जाती है।

शुभ और अशुभ दोनों में समान रहना सिद्ध में स्वाभाविक है। मनुष्य प्रायः चाहता है कि शुभ हो, अशुभ न हो। प्रसिद्ध दृष्टांत है : राजा का एक मंत्री हर चीज़ में कहता था अच्छा हुआ। कोई बात हो, घटना हो, 'अच्छा हुआ' कहना उसका तकिया कलाम था। एक बार राजा फल छील रहा था। चाकू तेज़ था, छीलते हुए राजा का अंगूठा कट गया। राजा ने मंत्री से कहा–'मेरा अंगूठा कट गया।' मंत्री ने कहा–'अच्छा हुआ।' राजा को बड़ा गुस्सा आया, कहा–'निकल जा यहाँ से, आगे कभी देखूंगा तो तुझे मार डालूंगा।' वह चला गया। थोड़े दिनों बाद राजा शिकार करने गया। जंगल में डाकुओं ने उसे पकड़ लिया। डाकू काली को बलि दिया करते थे। अब की बार राजा को बलि देने के लिये पकड़ा। मंदिर में जाकर सारी तैयारी कर ली। जब पूरी तैयारी हो गई तब देखा कि इसका तो अंगूठा कटा हुआ है! अंग-भंग वाले की बलि नहीं हुआ करती अतः राजा बचकर घर आ गया। अब उसे मंत्री की याद आई कि अंगूठा कटने पर उसने ठीक ही कहा था कि अच्छा हुआ! नहीं तो आज गर्दन कट गई होती। लोगों से कहा–'उसे वापिस बुलाओ।' वह आया तो राजा ने कहा 'तुम्हारी बात ठीक हो गई। यह तो अच्छा हुआ कि मैं बच गया, लेकिन मैंने तुम्हें निकाल दिया यह

कैसे अच्छा हुआ?' मंत्री ने कहा–'वह भी अच्छा हुआ क्योंकि मैं हमेशा आपके साथ जाता था। मैं आपके साथ होता तो आज मेरी बलि हो गई होती! इसलिये मेरी भी जान बच गई।' यद्यपि अंगुली कटना हमें अशुभ लगता है परन्तु परिणाम शुभ निकल जाता है।

इसी प्रकार जब आदमी कर्मयोग का अभ्यास शुरू करता है तो पहला कदम है कि किसी भी कर्म का फल हो–इस संकल्प को छोड़ देना है। कर्मयोग के पहले तो हर कर्म को शुरू करते समय संकल्प में बोलते हैं कि इस उद्देश्य के लिये करते हैं, पाप से निवृत्ति के लिये या प्रायश्चित्त आदि के लिये करते हैं। कर्मयोग के अभ्यास में सबसे पहले फल की इच्छा छोड़ देते हैं। क्यों छोड़ देते हैं? इसके कई कारण हैं। एक बड़ा कारण है कि क्या शुभ है, क्या अशुभ है, यह हम जानते नहीं हैं। संकल्प में कह देते हैं कि 'यह हो जाये'; वह हो जाता है तो दूसरी समस्या आ जाती है। तब कहते हैं–ऐसा नहीं हुआ होता तो अच्छा था! हम शुभ समझते हैं पर अशुभ निकल जाता है। हम कई लोगों को जानते हैं जिन्होंने माँ-बाप की बात न मानकर ब्याह किया। लेकिन कुछ सालों के बाद महादुःखी नज़र आते हैं, पति-पत्नी दोनों रोते दीखते हैं। विचार करो, वे तो इसे अच्छा ही मानकर प्रवृत्त हुए थे कि इस ब्याह से सुखी होंगे परन्तु हैं वे दुःखी। इसी चक्कर में एक आदमी ने ब्रिटेन का बड़ा भारी राज्य छोड़ दिया और बाद में उनकी आपस में बोल-चाल तक बंद हो गई। जिसे अशुभ समझते है वह शुभ और जिसे शुभ समझते हैं वह अशुभ निकल जाता है। कर्मफल के त्याग में कई कारण हैं। एक कारण यह है कि हमें पता ही नहीं कि हम क्या चाहें। जो बात विवाह की बताई वही बच्चों की बात है। आदमी सोचता है कि बच्चे बड़े होंगे तो सुख होगा। खूब खर्च करके लिखाते-पढ़ाते हैं, विलायत पढ़ने भेजते हैं। बाद में अनुभव होता है कि 'चाचा ही अच्छे हैं जिन्होंने शुरू में ही अपने साथ दुकान पर बिठाना शुरू किया। आज मेरा ही लड़का मुझे अंगूठा दिखाता है। बीमारी में भी उसे अमेरिका पत्र लिखते हैं तो कहता है कि छुट्टी ही नहीं मिलती।' तब सोचते हैं पढ़ा-लिखा कर अमेरिका नहीं भेजा होता तो अच्छा था। इसलिये पुत्र तक के लिये भी यही बात है कि सोचते थे पढ़-लिखकर काम आयेगा और वह कुछ काम नहीं आता। इसलिये कर्मयोगी कहता है कि हमें इस कर्म के उचित फल का पता नहीं। वेद में प्रार्थना ही यह कराई गई 'यद् भद्रं तन्न आसुव' हमें पता नहीं कि हमारे लिये क्या चीज़ भद्र है। हे ईश्वर! आप ही विचार करके हमारे लिये जो भद्र हो वह हमें दे देवें। इसलिये कर्मयोगी शुभ और अशुभ के प्रति अनभिस्नेह हो जाता है। शुभ प्राप्त हो अथवा अशुभ प्राप्त हो उसे दोनों में अनभिस्नेह रहता है। स्नेह और अभिस्नेह दो शब्द हैं। स्नेह अर्थात् अच्छा लगना। शुभ चीज़ मिलेगी तो इसको अच्छी लगेगी लेकिन अभिस्नेह नहीं होना चाहिये कि '*यही* चीज़ सब तरह से अच्छी है।' उसमें सोच या विचार होगा कि अच्छी होने पर भी इसमें कोई अशुभता हो सकती है। अशुभ लगने पर भी

सोचेगा कि इसमें कोई शुभ हो सकता है। शुभ के प्रति स्नेह तो होगा लेकिन अभिस्नेह नहीं होगा।

'तत्तत् प्राप्य' के द्वारा बताया कि कोशिश करके प्राप्त नहीं करता। यहाँ भगवान् ने कहा 'प्राप्य' अर्थात् प्रारब्ध के अनुसार शुभ अशुभ हमें प्राप्त होता है, जिसे प्रयत्न करके लाये नहीं। प्रारब्ध अपने आप हमारे सामने शुभ अशुभ लाता है। इस प्रकार से आयी हुई चीज़ के प्रति हम अभिस्नेह नहीं करें।

अनभिस्नेह का रूप बता दिया 'नाभिनन्दति' शुभ को प्राप्त कर लेने पर उसे अभिनन्द नहीं होता अर्थात् फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता कि देखो कैसी बढ़िया चीज़ मिल गई। कोई बड़ा आदमी आता है तो अभिनन्दन करते हो अर्थात् बड़ा आदमी आया इसकी हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। शुभ-प्राप्ति पर प्रसन्नता होना तो स्वाभाविक है लेकिन अभिनन्दन होना स्वाभाविक नहीं है कि 'वाह! आज का दिन तो हमारे जीवन में स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक है!' ऐसा अभिनन्दन उसमें नहीं होता। और अशुभ चीज़ के प्रति द्वेष नहीं करता है कि 'हाय! यह क्यों हो गया, फिर कभी ऐसा न हो', ऐसा भाव नहीं होता। अशुभ चीज़ को भी अच्छा समझ कर ग्रहण कर लेता है परन्तु उससे द्वेष नहीं करता कि कभी न हो। यह हर्ष और विषाद से रहित होना है। शुभ होने पर आदमी हर्षित हो जाता है और जब हर्ष होता है तब धर्म से विरुद्ध जाने लगता है। इसी प्रकार जब किसी चीज़ से विषण्ण हो जाते हैं, दुःख से भर जाते हैं तब भी धर्म से अलग हो जाते हैं। इसी को बताने के लिये जब किसी के घर बच्चा पैदा होता है तब भी दस दिन तक उसे धर्म के कार्यों से अलग कर देते हैं, उसे जातक सूतक लग जाता है। इसी प्रकार जिसके घर कोई मर जाता है उसे भी अलग कर देते हैं कि इतने दिनों तक पूजा आदि धर्म कार्य नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि हर्ष से भरे हैं इसलिये धर्म का अतिक्रमण करेंगे। इसी प्रकार दुःख से भरे हों तो भी धर्म का अतिक्रमण करेंगे। हर्ष और विषाद दोनों अवस्थाओं में मनुष्य धर्म का अतिक्रमण करता है। इसलिये कह दिया कि हर्ष-विषाद करना ही नहीं है। हर्ष और विषाद में धर्मानुसार आचरण न करके ऊट-पटांग आचरण हो जाता है। स्थितप्रज्ञ हर्ष और विषाद से रहित है क्योंकि इसकी प्रज्ञा विवेकज है। चाहे नज़दीक से नज़दीक के पुत्र उत्पन्न हो जाय तो, और नज़दीक से नज़दीक का कोई मर जाये तो, स्थितप्रज्ञ को अशौच नहीं होता। हर्ष-विषाद के कारण ही सारे अशौचों की प्राप्ति होती है। जो ऐसा है उसकी ही विवेकज प्रज्ञा है अर्थात् आत्मा-अनात्मा को बिल्कुल अलग करके देखने की बुद्धि-सामर्थ्य प्रतिष्ठित होती है। विवेक के बल से उसकी बुद्धि हिलती-डुलती नहीं है। अर्जुन का जो यह प्रश्न था कि व्यवहार करते समय स्थितप्रज्ञ क्या करता है, उसका उत्तर भगवान् ने दे दिया।।५७।।

अगला प्रश्न था ''किमासीत'' जिस समय वह व्यवहार नहीं करता है उस समय क्या करता है? भगवान् उसका जवाब देते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

जैसे कछुआ सब ओर से अपना शरीर सिमेट लेता है वैसे जब स्थितप्रज्ञ ऐन्द्रिय विषयों से इन्द्रियाँ उपसंहृत किये रहता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

जिस समय प्रारब्ध सुख-दुःख देता है उस समय हर्षादि-रहित व्यवहार कर लिया। लेकिन जब प्रारब्ध सुख-दुःख का भोग देने वाला नहीं है, तब क्या होता है? हम लोग प्रायः जब सुख-दुःख के भोग का काल नहीं है तब उन विषयों को देखकर उनकी तरफ मन को ले जाते हैं। स्थितप्रज्ञ उसके विपरीत, सुख-दुःख-भोगकाल में तो चूंकि प्रारब्ध दे रहा है इसलिये जबर्दस्ती भोग लेता है किंतु बाकी समय वह अपनी इन्द्रियों और मन को संहृत कर लेता है, विषयों की तरफ नहीं देखता, झट से अंदर आ जाता है। इसमें कछुए का दृष्टांत दे दिया। कछुए को कुछ खाना होता है तो गर्दन बाहर निकालकर खा लेता है और फिर झट वापिस अंदर कर लेता है, उसके ऊपर का जो मोटा कवच (त्वचा) है उसमें सर्वथा सुरक्षित रहता है। कई कछुए हज़ार साल पुराने भी हैं क्योंकि उनका कवच इतना दृढ होता है कि जल्दी कोई हानि नहीं कर सकता। जैसे कछुआ अपने अंगों को अन्दर कर लेता है उसी प्रकार यह स्थितप्रज्ञ अपनी आँख, कान आदि इन्द्रियों को झट अपने अंदर संहृत कर लेता है। प्रारब्ध के कारण जितना देखना-सुनना है उतना देख-सुन लेगा, उसके अतिरिक्त काल में अपनी इन्द्रियों को अंदर कर लेगा। इन्द्रियाँ बाहर रहेंगी तो कुछ न कुछ ऊधम कर सकती हैं, इसलिये प्रारब्ध-भोग से अतिरिक्त काल में विरुद्ध प्रवृत्ति-निवृत्ति होने ही न दो। इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से संहृत कर लेना चाहिये। इसी को योग शास्त्र में प्रत्याहार कहते हैं। अभ्यास होने पर कान से अंदर तक का शब्द नहीं सुन सकते! सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में असमर्थ हो जाती हैं।

'सर्वशः' किसी-किसी काल में प्रत्याहार का अनुभव तो सब करते हैं। जैसे सूअर की टट्टी देखते ही झट आँख दूसरी तरफ कर लेते हैं अथवा सड़ाँध (दुर्गन्ध) आने पर सभी नाक बंद करते हैं इत्यादि, इतना प्रत्याहार तो सभी करते हैं। लेकिन यह स्थितप्रज्ञ जैसे ही बढ़िया गुलाब के बगीचे के पास पहुँचता है वैसे ही नाक बंद कर लेता है। अब तक तो चीज़ों से अपने को यह समझ कर हटाते हो कि इनसे दुःख होगा, लेकिन कभी यह सोचा कि जो वह सुगन्धि या अच्छा रूप है वह हमें ज़्यादा बंधन में डालने वाला है? बदबू दो मिनट आयी और चली गई, लेकिन सुगन्धि तो दिमाग में बैठ जाती है कि 'कौन-सी सुगन्धि है, दिल्ली जायेंगे तो लायेंगे' इत्यादि, लेकिन ऐसा तो मन में नहीं होता कि 'वह बदबू हमें कब मिलेगी?' इसलिये 'सर्वशः' कहा। जो अच्छा नहीं लगता वहाँ तो प्रत्याहार सभी कर लेते हैं लेकिन जो चीज़ अच्छी लगती है उससे भी प्रत्याहार करना है। इसलिये स्थितप्रज्ञ सब प्रकार के इन्द्रियों के विषयों से (रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श से) इन्द्रियों का

उपसंहार कर लेता है जैसे कछुआ कर लेता है। ऐसा करने पर ही उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है, ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न था 'किमासीत' वह बैठता कैसे है? उत्तर दिया कि जब समाधि में भी नहीं है और प्रारब्ध के कारण सुख-दुःख का व्यवहार भी नहीं कर रहा है, तब इन्द्रियों को पूर्ण रूप से अंदर उपसंहृत करके, इन्द्रियों को विषयों से हटाकर रहता है। उसका व्यर्थ प्रयत्न कभी नहीं होता। हम लोगों के व्यर्थ प्रयत्न इसलिये होते हैं कि हमें लगता है कि हम करेंगे तब भोग मिलेगा जबकि मिलेगा तो उतना ही जितना प्रारब्ध-भोग है, उसके अतिरिक्त कुछ मिलने वाला नहीं है। जब प्रारब्ध-भोग से अतिरिक्त कुछ मिलेगा नहीं तो हमारा प्रयास व्यर्थ है। ऐसा व्यर्थ प्रयास स्थितप्रज्ञ कभी नहीं करता। जब प्रारब्ध-भोग के लिये विषय सामने आ गया तब व्यवहार कर लेगा परन्तु जब विषय सामने नहीं है तब वह विषयों से अपने को खींच कर रहता है।।५८।।

शंका होती है कि जो व्यक्ति बीमार होता है वह भी इन्द्रियों का संहार करके बैठता है! (आई०सी०यू०) सघन चिकित्साकक्ष में चला गया तो न कुछ देखने और न कुछ सुनने जा सकता है। इस प्रकार बीमार के अंदर भी इन्द्रियों का प्रत्याहार हो जाता है। अथवा जब किसी को जेल में बंद कर देते हैं तब उसकी सारी इन्द्रियाँ आहत हो जाती हैं। तब भी न कुछ देखने, न सुनने और न खाने जा सकता है। इस प्रकार बीमारी आदि अवस्थाओं में भी इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त रहती हैं। क्या ऐसा ही संहरण स्थितप्रज्ञ का है? तब कहते हैं कि ऐसा इस स्थितप्रज्ञ का इन्द्रियों का निरोध नहीं है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५६।।

विषय-सम्पर्क छोड़े हुए अज्ञानी देहाभिमानी के लिये भी विषय छूट जाते हैं पर विषयों के प्रति रस (राग) नहीं छूटता। परमार्थ तत्त्व का दर्शन कर इस मुनि का राग भी छूट जाता है।

आहार अर्थात् जो अंदर लिया जाता है। केवल मुख से जो अन्न अंदर लिया जाता है, उसी को हम लोग आहार नहीं कहते। वह भी आहार है। परन्तु आँख से रूप को, कान से शब्द को अंदर लेते हैं। त्वक् से स्पर्श और नासिका से गंध को अंदर लेते हैं। इसलिये यह सब भी आहार है। जहाँ वेद में कहा है 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' आहार की शुद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होता है, वहाँ आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि आहार का मतलब केवल भोजन नही हैं। सब इन्द्रियों के द्वारा आहार होता है। कई लोगों का भोजन शुद्ध होता है, कोई दोष नहीं होता, परन्तु जब उन्हें गुस्सा आता है तो नथुने फूल जाते हैं और उनके मुँह से क्या निकलेगा कोई ठिकाना नहीं है! केवल भोजन-शुद्धि से अंतःकरण शुद्ध होता तो उन सबका हो जाता। बड़े-बड़े मारवाड़ी व्यापारी एक पीढ़ी पहले तक घर से

बाहर जाने पर इधर-उधर कुछ खाते नहीं थे, ऊट-पटांग चीज़ खाने की तो कोई संभावना ही नहीं। भोजन के लिये शुद्ध घी भी मारवाड़ से ही आता था। परन्तु राजस्थान की कहावत के अनुसार पानी छानकर पीते थे, आदमी का खून बिना छाने पीते थे! किसी से ब्याज लेते थे तो हर घंटे उनका ब्याज चढ़ता था। हर दिन तो ब्याज वालों का ब्याज कभी से चढ़ता आ रहा था लेकिन उनका तो हर दिन चक्रवृद्धि ब्याज चढ़ता था। आजकल महीने में एक बार चक्रवृद्धि ब्याज देते हैं, उसी के हिसाब से परेशान रहते हैं। एक बार हम जसीडीह (बिहार) में थे। जिनके यहाँ ठहरे हुए थे उनका दरबान ब्राह्मण था। वहाँ एक औरत सफाई का काम करती थी। बता रही थी 'मैंने बीस साल पहले इस दरबान से दो हज़ार रुपये उधार लिये थे, इतने सालों से यह मेरी सारी तन्खाह ले रहा है और कहता है अभी भुगतान पूरा नहीं हुआ!' हमें आश्चर्य हुआ! हमने उस दरबान से पूछा तो हँसने लगा, कहने लगा 'स्वामी जी! हर मिनट का चक्रवृद्धि ब्याज लगता है।' हमने कहा 'कुछ शर्म करो, ब्राह्मण होकर ऐसा पैसा खा रहे हो।' वह पानी किसी के हाथ का नहीं पियेगा लेकिन खून बिना छाने पियेगा। इसलिये आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया कि सारी इन्द्रियों से आहार होता है। सब आहार शुद्ध होगा तब अंतःकरण शुद्ध होगा। भगवान् ने यहाँ स्पष्ट कर दिया कि जहाँ-जहाँ इन्द्रियों के द्वारा जो-जो विषय ग्रहण होता है वह आहार है।

विषयों को ग्रहण नहीं कर रहा है, ऐसा जो निराहार वह भी देह में अभिमान वाला होता है। देही अर्थात् देह को अपना समझने वाला, जैसे जो धन को अपना समझता है वह धनी है। धन पास में होने से कोई धनी नहीं होता। यदि ऐसा हो तो बैंक के सारे मैनेजर अरबपति हो जायें! वे धनी नहीं हैं क्योंकि 'यह धन मेरा है' ऐसा उनका ज्ञान नहीं है, वह तो बैंक का धन है। ठीक इसी प्रकार शरीर में कोई बैठा हुआ है इतने मात्र से देही नहीं हो जाता। 'यह देह मेरा है' ऐसा अभिमान करे तब देही है। वस्तुतः तो देह परमात्मा का है, हमारा है नही। तुमको तो इसमें बैठकर कुछ काम करने के लिये दिया गया है। जिस प्रकार तुमने दुकान खोली, तुम्हें पाँच लाख रुपये की ज़रूरत थी, तुम्हें पाँच लाख रुपये दे दिये। यदि यह ख्याल रखते हो कि 'ये पाँच लाख रुपये हमारे नहीं हैं, ये हमें काम करने के लिये दिये गये हैं।' तब उसके द्वारा काम करोगे। उस काम को करके जो कुछ मिलेगा, वह तुम्हारा है, यह तो तुम्हारा नहीं है। पुराने लोग यही करते थे। वर्तमान लोगों को ऐसे पाँच लाख रुपये मिलते हैं तो सबसे पहले तीस हज़ार का स्कूटर खरीद लेते हैं। इस प्रकार न जाने किस-किस काम में और भोगों में रुपया लगा देते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर भी यह होता है। विश्व बैंक सड़क बनाने के लिये रुपया देता है, लेकिन उसे जहाँ कहीं भी खर्च कर देते हैं। यू० पी० सरकार में लोगों से तो बिजली के पैसे बराबर ले रहे थे, पैसे न देते तो बिजली काट देते। लेकिन लोगों से पैसे लेकर जिसको पैसे देने थे उन्हें नहीं दे रहे थे, चट कर जाते थे। इतने साल में बारह सौ करोड़ रुपये का कर्जा हो गया। चाहे व्यक्तिगत स्तर पर हो, चाहे राष्ट्रीय स्तर पर हो, सर्वत्र यही हो रहा है।

इसी प्रकार से हमको यह शरीर भगवान् ने इसलिये दिया है कि इस शरीर में आकर हम धर्म या अधर्म कर सकते हैं। आगे भगवान् कहेंगे कि यह खेत तुम्हें उधार दिया गया है–"क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" (१३-३३) शरीर तो खेत है। जैसे खेत बटाई में देते हैं तो तुम खेती करो, आधा मालिक को दो और आधा खुद ले जाओ। लेकिन खेत तुम्हारा नहीं हो जाता। इसी प्रकार यह शरीर तुम्हें मिला है। उसमें खुद व्यापार करो। इसमें जो परमात्मा को देना है वह परमात्मा को दो। नित्य-नैमित्तिक कर्म परमात्मा के हैं वे करके परमात्मा को दो, बाकी जो काम्य प्रतिषिद्ध करोगे वे सब तुम्हारे हो जायेंगे। वह तुम्हारा फायदा है, उसका तुम भोग करो। गलती यह होती है कि 'यह शरीर हमारा है' ऐसा समझते हैं, यह भूल जाते हैं कि शरीर तो धर्म करने के लिये मिला था। हम इसके मालिक बनकर भोग करने में लग गये। जब इसकी देय तिथि आ जाती है अर्थात् यमराज आते हैं तब घबड़ाते हैं कि 'इतनी जल्दी कैसे आ गये! अभी तो बहुत काम बाकी है।' लेकिन वे तो समय-समाप्ति पर ले ही जायेंगे।

देह में जो है वह देही नहीं वरन् 'इस देह का मालिक मैं हूँ' यह जो मान लेता है वह देही है। जिसने इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को अंदर कर लिया इसलिये विषयों को ग्रहण नहीं करता है, वह चाहे बीमार है तो, जेल इत्यादि में है तो, उस काल में उसको विषयों की प्राप्ति नहीं है। इतने अंश में वह और स्थितप्रज्ञ एक जैसा है। परन्तु फ़र्क यह है कि स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को भी अंदर कर लेता है और विषयों के राग को भी नहीं रहने देता। जो व्यक्ति जेल में है अथवा बीमार है वह जेल में या उस बीमारी की अवस्था में सोचता रहता है कि 'जब मैं इस जेल से या बीमारी से छूटूंगा तब मुझे खामण ढोकला खाने को मिलेगा।' वहाँ तो उसे विषय नहीं मिल रहा है, परन्तु विषय का राग अंदर बना हुआ है। अथवा यदि बीमार है तो सोचता है कि 'थोड़े दिनों में मेरी बीमारी ठीक हो जायेगी तो फिर खूब खाऊंगा, खूब घूमूंगा।' स्थितप्रज्ञ के भी विषय तो विनिवृत्त हैं जैसे जेल वाले या बीमार व्यक्ति के हैं, लेकिन इन लोगों का अंदर ही अंदर विषय के प्रति राग है, स्थितप्रज्ञ में वह राग नहीं है। रस का मतलब राग है। जैसे कहते हैं कि वह संगीत का रसिक है अर्थात् उसे संगीत के प्रति राग है। कहीं से उसे पता लग जाये कि यहाँ भीमसेन जोशी का कार्यक्रम है तो झट वहाँ पहुँच जाता है। जिसको वह सुनने में राग नहीं है, यदि उससे पूछोगे भी कि 'भीमसेन जोशी आ रहे हैं, चलोगे?' तो वह कहेगा 'वे तो रात को ग्यारह बजे शुरू करेंगे, इतनी देरी तक कौन जगेगा, हमें तो नौ बजे सो जाना है।' रसिक कॉफी पी-पी कर भी जगेगा और सुनेगा। जिसको जिस विषय के प्रति राग होता है उसको उसका रसिक कहा जाता है।

'रसवर्जं' बीमारी अथवा जेल आदि में जो जबरदस्ती विषयों से अलग हुआ है उसका राग जाता नहीं है बल्कि अंदर से और ज़्यादा बढ़ता जाता है कि कब मुझे यह विषय मिले, लेकिन इस स्थितप्रज्ञ का वह रस या राग भी हट जाता है। इन्द्रियों से भी वह

विषयों से हटा हुआ है और अंदर में उस विषय के प्रति उसका राग भी नहीं है। 'यह मुझे मिल जाये अथवा मिल जाये तो अच्छा होगा' इत्यादि कुछ भी भाव उसके अंदर नहीं है क्योंकि राग भी उसका निवृत्त है।

''परं दृष्ट्वा'', आनंद की जो पराकाष्ठा है, वह उसे प्राप्त है। जिससे सुख मिलता है उसके प्रति राग होता है। लोक में भी देखने में आता है कि एक आदमी स्कूल या कॉलेज जाता है। रास्ते में बीसियों आदमियों को देखता है, लेकिन उनमें से इसको एक बहुत सुन्दर लड़की नज़र आती है। पहले-पहल देखकर इतना ही राग पैदा होता है कि लड़की अच्छी है। दो-चार दिन देखा। फिर पता लगाया कि किस क्लास में पढ़ती है और तब उससे मिलना-जुलना शुरू किया। धीरे-धीरे राग बढ़ना शुरू हुआ। अंत में कहता है कि 'मुझे तेरे से ही ब्याह करना है'। इस प्रकार धीरे-धीरे राग बढ़ता है। किसी भी चीज़ का रस धीरे-धीरे बढ़ता है। चूंकि वह लड़की देखने से चित्त में प्रसन्नता हुई, सुख हुआ, इसलिये राग बढ़ता है। उस राग का प्रधान कारण है उस चीज़ से हमको सुख-बोध होता है। जितना-जितना उस चीज़ से संबंध होता है उतना-उतना राग बढ़ता है। आनंद की पराकाष्ठा परमात्मा है। उसके अंदर आनन्दघन-रूपता है। वहाँ एक ज़र्रा भी नहीं जो दुःखरूप हो। अतः जब पहले एक क्षण को वह वृत्ति बनती है अर्थात् परमात्माकार वृत्ति के पहले क्षण में ही इतने सुख का अनुभव होता है कि आदमी कहता है कि फिर से वह वृत्ति बने क्योंकि उस परम सुख के प्रति उसका राग हो गया। फिर धीरे-धीरे जितना-जितना अभ्यास करता है उतना वह स्थिति स्थिर रहती है। अनुभव होता है कि किसी कारण से परमात्मा में वृत्ति एकाग्र हो जाती है, कई बार दुःख कारण पड़ जाता है। अत्यंत दुःख में परमात्मा में चित्त एकाग्र हो जाता है और परमात्मा का थोड़ा अनुभव होता है। उस समय में परमात्मा और हमारे बीच के भेद का आवरण हट जाता है। वह आवरण हटते ही जब वास्तविक सामर्थ्य प्रकट हो जाती है तब वह रोग या दुःख दूर हो जाता है। लोक में भी कहते हैं कि भगवान् की दया से रोग हट गया। वह दया यही है कि भगवान् और हमारे बीच में जो अज्ञान का पर्दा है वह थोड़ी देर के लिये हट गया, यही उसकी कृपा होना है।

वह प्रकट हुआ क्षणमात्र को और आनंद भी पूरा आया परंतु उसके बाद दूसरे धंधों में लग गये इसलिये फिर वह चीज़ सामने नहीं आती। कई बार मनुष्य दुःख में नहीं होता लेकिन साधना की तीव्रता में तत्त्व प्रकट हो जाता है और पूरा आनंद भी आ जाता है। फिर दूसरे कामों में फँस जाने से वह नहीं रहता। कई बार लोग कहते हैं कि 'उस समय मेरी स्थिति अच्छी हो गई थी, फिर बिगड़ गई'। बिगड़ती कुछ नहीं है, दूसरे कामों में लग जाने से वह प्रकट नहीं है। जैसे सुंदर लड़की देखी और बरेली चले गये, तो भूल गये, इसी प्रकार परमात्मा का अनुभव हुआ, फिर दूसरे काम में लग गये तो वह वृत्ति परमात्मा से हट गई। यदि वह वृत्ति बार-बार बनती चली गई तो वह परमात्मा आनन्दघन है, उससे बड़ा आनंद कोई नहीं है। जिसका नतीजा यह होता है कि चित्तवृत्ति सर्वथा

एकाग्र होकर परमात्मा में स्थिर हो जाती है। ऐसी अचल बुद्धि हो गई तो इस स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति हो गई। जब ऐसा परमात्म-दर्शन हो गया तब चूंकि संसार के किसी भी पदार्थ में चूंकि वह स्वाद (आनंद) है नहीं इसलिये वहाँ से निवृत्त हो जाता है। दिल्ली में रसगुल्ला खाते हैं, आगरे में भी खाते हैं। मान लो ऐसा मौका आ गया कि कलकत्ता चले गये। किसी बंगाली ने बाग बाजार के नवीन चंद्र के यहाँ से ताजा रसगुल्ला लाकर खिला दिया। वह ताजा रसगुल्ला खाने के बाद कहीं भी जाकर रसगुल्ला खाते हो तो बार-बार याद आता है कि वैसा मज़ा नहीं है। वैसा मज़ा तो फिर वहीं जाकर मिलेगा। इसी प्रकार संसार के पदार्थों में हमको आनंद का बोध होता है तभी राग होगा, अन्यथा उस पदार्थ में राग नहीं होगा। जब परमात्माकार वृत्ति से परमात्मा का अनुभव होगा तब उस आनंद का पता लगेगा। उसके बाद भी दाल का सीरा सामने आयेगा तो अच्छा लगेगा लेकिन बार-बार याद आयेगा कि वह समाधि वाला आनंद ही श्रेष्ठ है। इसलिये उसका दर्शन किये हुए स्थितप्रज्ञ का विषयों के प्रति राग सर्वथा हट जाता है। दोनों निराहार रहकर भी दोनों की स्थिति में फ़र्क है।

आजकल मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अगर विषयों से दूर रहोगे तो तुम्हारे मन में ग्रन्थि (मानसग्रंथि) पड़ जायेगी। उनका कहना गलत भी नहीं है पर गलती यह है कि वे इस बात को भूल जाते हैं कि हम केवल यह नहीं कहते कि विषय को न लो। हम कहते हैं कि विषय को न लेकर परमात्मा के आनंद को लो। यदि हम केवल यह कहते कि विषय के आनंद को मत लो तो ग्रन्थि हो जाती। ठीक जिस प्रकार से हम बच्चे को कहते हैं कि 'अभी टेलीवीजन मत देखो, बी०ए० प्रथम श्रेणी में पास कर लेना तब देख लेना।' चूंकि अब से पढ़ने में लगेगा तो बी०ए० प्रथम श्रेणी में पास कर लेगा। जब उसे अंग्रेजी में मिल्टन, वर्ड्स्वर्थ और कॉलरिज को पढ़ने का आनंद आ जायेगा तब फिर कोई टेलीवीजन चालू करेगा तो वही कहेगा कि 'बंद करो, ये बेकार की कथा और भाषा वाले खेलों को क्या देखना है!' यदि हम केवल यह कहते कि विषयों से हट जाओ, तब तो तुम्हारी मानस ग्रन्थि वाली बात बनती। हम तो कहते हैं कि उससे बड़ा जो आनंद है उसे ग्रहण करो। तब ग्रन्थि पैदा नहीं होगी। जिसने परमात्मानंद को देख लिया, विषयों का भोग न करने से उसमें ग्रन्थि नहीं बनेगी वरन् उसे उन विषयों में आनन्द ही नहीं आयेगा। जैसे बी०ए० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने वाले को टेलीविजन न देखने में कोई ग्रन्थि नहीं बनेगी, बल्कि उसे वहाँ आनन्द ही नहीं आयेगा, इसी प्रकार परमात्मदर्शन के लिये तुमने अपने को विषयों से अलग किया और तुम्हें परमात्मदर्शन हो गया, परम आनंद की प्राप्ति हो गई, फिर उससे कहें भी कि विषयों का सेवन करो, तो उसे वे विषय अब थोथे लगते हैं। अतः ग्रन्थि कहाँ से बनेगी!

भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि परमात्मदर्शन क्या है। भगवान् ने देखने के अर्थवाले 'दृश्' धातु का प्रयोग किया है। लेकिन यहाँ देखने का मतलब क्या है? ''परं

परमार्थतत्त्वं ब्रह्म दृष्ट्वा उपलभ्य अहमेव तद् इति वर्तमानस्य''। परमात्मदर्शन 'यह परमात्मा है' इस रूप से कभी नहीं होता। ऐन्द्रिय अपरोक्ष न होने से उसके दर्शन का प्रकार है कि 'मैं परमात्मरूप हूँ।' परमात्मा चेतन है, जड नहीं है और चेतन का अनुभव हमको केवल 'मैं' इस वृत्ति में होता है। मैं चेतन हूँ–इस प्रकार ही चेतन का अनुभव होता है, दूसरी जगह जब चेतनता कहते हो तो कोई कारण बताते हो। जैसे सामने बैठा व्यक्ति बोल रहा है इसलिये चेतन है अथवा हिल-डुल रहा है, चल रहा है, इसलिये चेतन है। क्या अपने बारे में कभी यह सोचते हो कि मैं चल रहा हूँ या बोल रहा हूँ इसलिये चेतन हूँ? अपनी चेतनता तो अपरोक्ष है, साक्षात् है। बाकी जगह चेतनता विचार करके, अनुमान लगाकर पता लगती है। डाक्टर भी सांस या नाडी या हृदय की गति को देखकर निर्णय करता है कि व्यक्ति मर चुका। इसलिये चेतना का अनुभव केवल एक जगह और वह 'मैं' में ही होता है। भगवान् भाष्यकार सूत्रभाष्य में कहते हैं ''नायम् एकान्तेन अविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वाद् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः'' परमात्मा सर्वथा ज्ञान का विषय नहीं है, ऐसी बात नहीं है क्योंकि 'मैं' इस प्रतीति में उसका दर्शन होता है। भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि 'अहमेव तत्' मैं ही वस्तुतः परमात्मा तत्त्व है–इस प्रकार से ही उसका दर्शन होता है।

उसका दर्शन होने पर ''निर्बीजं विषयविज्ञानं सम्पद्यत इत्यर्थः।।'' विषयों का अनुभव आगे कुछ पैदा करने की ताकत वाला नहीं रहता। जब तक हमने परमात्मतत्त्व को प्राप्त नहीं किया तब तक तो ये विषयज्ञान सबीज होने से हमारे में राग को उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु जब इस बात का पता लग गया तब सारे विषयज्ञान निर्बीज हो जाते हैं, आगे किसी राग को उत्पन्न नहीं कर पाते। इसके द्वारा भगवान् ने यह भी कह दिया कि रस का उच्छेद होने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। सम्यक् दर्शन हुए बिना राग का उच्छेद नहीं होता, चाहे जितना दोषदर्शन करने से वैराग्य करो। वैराग्य होने पर राग को काटने की क्षमता वाले तो हो जाते हैं क्योंकि वैराग्य का स्वरूप फरसे की तरह है : यदि फरसा है तो लकड़ी काट सकते हैं। इसी प्रकार यदि वैराग्य है तो किसी भी चीज़ में राग उत्पन्न होने पर उसे काट सकते हो। फिर भी राग उत्पन्न हो ही सकता है। जब सम्यक् दर्शन हो जाता है तब उस रस या राग को काटना नहीं पड़ता वरन् राग उत्पन्न ही नहीं हो सकता। सम्यक् दर्शन रूपी जो प्रज्ञा है, इसकी स्थिरता का ही यह फल है कि परमात्मदर्शन से रस निवृत्त हो जाता है। रस *हट* जाता है, ऐसा नहीं कह रहे हैं। *निवृत्त* हो जाता है अर्थात् राग की सम्भावना ही नहीं रह जाती। वैराग्य राग को काट सकता है परन्तु यहाँ राग की सम्भावना ही नहीं, राग है ही नहीं। इस प्रकार प्रज्ञा की स्थिरता का लक्षण सम्यक् दर्शन है। उसको जो चाहता है वह विषयों से इन्द्रियों को हटाकर सम्यक् दर्शन से राग को नष्ट करे–यह बता दिया।।५६।।

यदि ऐसा नहीं करता तो क्या होता है? प्रश्न था 'किमासीत' अर्थात् जब स्थितप्रज्ञ

व्यवहार नहीं कर रहा है, समाधि में भी नहीं है, तब क्या करता है? उसी का जवाब था कि विषयों से निवृत्त होकर परम दर्शन के द्वारा राग को हटाता है, नष्ट करता है। जो ऐसा नहीं करता उसके लिये भगवान् कहते हैं–

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

हे कुन्तीनन्दन! यत्नशील मेधावी पुरुष की भी विषयाभिमुख इन्द्रियाँ उसके विवेकयुक्त मन को हठात् बहिर्मुख बना डालती हैं अतः (इन्द्रियनियंत्रण अत्यावश्यक है)।

'विद्वान् विपश्चित् दोषज्ञः।' विपश्चित् अर्थात् विद्वान्, जिसने वेदान्तशास्त्र का श्रवण किया है। वेदान्तशास्त्र को जो जानने वाला है, ऐसा जो विपश्चित् पुरुष है, वह फिर श्रवण करके क्या करेगा? मनन निदिध्यासन का अभ्यास करेगा। जो चीज सुनी है उसका अभ्यास करेगा। जो मनन निदिध्यासन में लगा हुआ है, वही यत्न करने वाला है, अभी स्थितप्रज्ञ नहीं है। ऐसे मनन निदिध्यासन करने वाले को भी ये इन्द्रियाँ मथ देती हैं। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। आँख में देखने की इच्छा हो तो ज़बरदस्त खुजली मचती है। तुम विचार करने बैठे और पास के कमरे में टी०वी० चल रहा हो तो क्या तुम्हारा मन एकाग्र हो सकता है? एक सज्जन कहने लगे 'आज समझ में आया कि आप क्यों कहते हैं कि प्रातः अखबार इत्यादि मत पढ़ो। वैसे तो मैं सुबह पढ़ता नहीं लेकिन आज जब पूजा के लिये बगीचे से फूल लाकर जा रहा था तब अखबार रास्ते में पड़ा हुआ था, उस पर आँख पड़ गई, मोटे अक्षरों में लिखा था 'कैनेडी मारा गया।' बड़े अक्षरों में लिखा होने से उस पर नज़र पड़ गई। फिर पूजाघर में मैं जितनी देर पूजा करता रहा, मन में यही आता रहा 'क्यों मार दिया?' किसने मार दिया? किसलिये मार दिया? इत्यादि यही विचार मन में घूमता रहा। मैंने सोचा कि एक सैकेण्ड के लिये नज़र पड़ी तो यह हाल है, रोज़ पढ़ता तो क्या हाल होता!' इसी प्रकार यदि पड़ोसी के यहाँ से आवाज़ आ जाये कि केनेडी की हत्या हो गयी, तो तुम श्रवण में लगे हो, मन एकाग्र करने की कोशिश कर रहे हो, लेकिन वह सुनकर अंदर ही अंदर वही कीड़ा चलता रहेगा। इन्द्रियाँ प्रमथनशील हैं। तुम सोचोगे कि इनके वश में नहीं होंगे लेकिन ये मन को हरण करके ले जाती हैं। तुम मनन करने बैठे हो परंतु ये तुमको खींचकर ले जायेंगी मनन नहीं करने देंगी।

प्रमथन करके क्या करती हैं? तुम विषयों से विपरीत जा रहे हो और ये पुनः विषयों में प्रवृत्त कर देंगी। इसलिये यह कभी मत सोचो कि विषयों के सामने इन्द्रियाँ होंगी और मन को प्रवृत्त नहीं करेंगी। यह तीन काल में नहीं होना है। सावधान रहना पड़ता है क्योंकि इन्द्रियाँ विषय की तरफ गईं तो खींच कर तुम्हारे मन को उनमें ले जायेंगी, तुम रोक नहीं सकते। लेकिन यह कब होगा? जब तुम विषयाभिमुख होगे। इसलिये, जैसा दो श्लोक पहले बताया था, जैसे कछुआ अपने सारे अंगों को अपने अंदर कर लेता है तो

उधर प्रवृत्ति हो नहीं सकती, वैसे पहले जब तुम अपने को अंदर करोगे तभी यह प्रवृत्ति रुकेगी। प्रायः लोग कहते हैं कि 'तुम उसमें आसक्त मत होओ, व्यवहार होने दो।' सँपेरा शरीर में, सिर में, कमर में और पिटारी में साँप ही साँप रख लेता है। वह साँप का खेल दिखा देता है। चार दिन बाद तुम किसी साँप को देखो, कोबरा साँप को, गले में लपेटने के लिये उसे उठाने की कोशिश करो तो तुम्हारा जीवन ही मुश्किल में पड़ जायेगा! सँपेरे ने तो न जाने कितने समय तक उस साँप को वश में करने के लिये प्रयोग किये थे इसलिये वह साँपों से खेल भी सकता है। तुम वही कोशिश करोगे तो डसे जाओगे, जान खतरे में पड़ जायेगी। जनक, अश्वपति आदि की कथा पढ़कर लोग सोचते हैं कि जनक राज्य चला सकते थे तो हम व्यापार क्यों नहीं कर सकते? उन्होंने तो आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया था। मनन-निदिध्यासन की पूर्णता प्राप्त कर ली थी। इसलिये वे तो उस सँपेरे की जगह हैं। वे इन्द्रियरूपी सर्पों का नियंत्रण करना पूरी तरह समझ चुके थे। उन्हें देख कर तुम सोचो कि इन्द्रियों से व्यवहार करके प्रभावित नहीं होगे तो धोखा ही खाओगे। इन्द्रियाँ खट से अपने जहर से तुम्हें मार देंगी।६०।।

भगवान् स्पष्ट करते हैं कि इन्द्रियाँ वश में करके क्या कर्तव्य है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

उन सब इंद्रियों को वश में कर, समाहित हो, प्रत्यगात्मा ही परम है—यह निश्चय कायम रखना चाहिये। जिसकी इंद्रियाँ वश में हैं उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।

सभी इन्द्रियों का नियंत्रण करना पड़ता है। कुछ चीज़ें ऐसी हैं जहाँ से इन्द्रियों का नियंत्रण करना बहुत कठिन है। उनमें सबसे प्रबल जीभ है। रसना इन्द्रिय बड़ी प्रबल है क्योंकि खाये बिना ज़िंदा नहीं रह सकते इसलिये खाना तो पड़ेगा ओर खाओगे तो जीभ में स्वाद भी आयेगा ही। स्वाद सभी रागों की तरह ऐसा है कि परिवर्तित तो हो जाता है, परन्तु उसका बीज नष्ट नहीं होता। बहुत-से महात्मा प्रयत्न करके गंगा में धोकर खाते हैं ताकि स्वाद का पता न लगे। शुरू-शुरू में स्वाद परेशान करता है। फिर धीरे-धीरे उन्हें मिर्च मसाले का स्वाद तो नहीं रह जाता, परन्तु अब बिना नमक-मिर्च वाली चीज़ का स्वाद आने लगता है। उबली हुई सब्ज़ी का स्वाद पड़ जाता है तो छोंकी हुई सब्ज़ी आने पर उबली सब्ज़ी की याद आ जाती है! जिस प्रकार की वस्तु खाने का अभ्यास करोगे, वह तुम्हारे राग का विषय बन जायेगी। वैसे सभी इन्द्रियाँ प्रबल हैं, इसलिये 'सर्वाणि' कहा। जिस इन्द्रिय से व्यवहार जितना कम चलता है उस विषय में उस इन्द्रिय से सावधान रहना पड़ता है। हर हालत में सभी इन्द्रियों का संयमन अर्थात् उन सबको अपने वश में करना है। जैसे सँपेरे ने सर्प को वश में कर रखा है अर्थात् जैसा वह चाहता है वैसा वह साँप करता है।

एक आदमी ने ऐसा खेल दिखाया : उसके पास साँप था। वह कहता था 'एक सिक्का दो तो यह साँप खा जायेगा।' जो भी उसे दुअन्नी-चवन्नी का सिक्का देता था वह साँप खा जाता था। सँपेरा फिर उस साँप को झटक कर उसमें से वह सिक्का निकाल कर दे देता था। एक बार एक आदमी ने ५० रुपये का नोट निकाला और साँप को खिला दिया। सँपेरे ने सोचा कि पचास का नोट तो कोई-कोई देता है! वह साँप को इधर-उधर करने लगा लेकिन वह नोट तो निकला नहीं, वह सँपेरे ने अपने पास रख लिया। जिस प्रकार चाहे वह साँप खाकर निकाल दे, या साँप का खाया हुआ रह जाये, इसी प्रकार अपनी इन्द्रियाँ वश में करके अभ्यास हो जाता है कि जब हम चाहें तब इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण करें, जब न चाहें, तब न करें। बाहर जब आवश्यक व्यवहार का समय आये तब इन्द्रियवृत्ति निकालें अन्यथा न निकालें—यह सँपेरे की तरह वश में कर लेना है। जब सारी इन्द्रियों का वशीकरण हो जाता है, तब वह व्यक्ति युक्त है अर्थात् समाहित है, उसका चित्त एकाग्र है। वह मत्परायण होकर बैठे। यह इसका जवाब है कि वह कैसे बैठता है।

सभी इन्द्रियों का संयमन करके अर्थात् वश में करके तत्त्वज्ञ बैठता है। केवल इन्द्रियों को वश में करके रखोगे तो इन्द्रियाँ विषयों की तरफ जाने के लिये छटपटायेंगी। प्रसिद्ध है कि एक आदमी को भूत सिद्ध हो गया। भूत कहे 'मुझे कोई काम बताओ।' उससे कहा—'मकान बना दो।' उसने झट-पट मकान बना दिया, और भी जो-जो काम बताया वह घंटों में कर देता था। भूत ने कहा—'काम नहीं बताओगे तो मैं तुम्हें खा जाऊँगा।' वह आदमी बड़ा घबड़ाया। फिर किसी महात्मा के पास गया। उनसे कहा कि 'मैंने भूत सिद्ध तो कर लिया लेकिन अब वह मेरे पीछे पड़ा है, क्या काम बताऊँ?' महात्मा युक्ति जानते थे। उन्होंने उसे कहा-'भूत से कहो कि कुत्ते की पूंछ सीधी कर दो!' भूत पूंछ सीधे करे, वह फिर टेढ़ी हो जाये। भूत उसे सीधी करने में लगा रहा तो उस आदमी को शान्ति हो गई। इसी प्रकार मन भूत की तरह है। वह हमेशा कहता है—कुछ काम बताओ। मन ही इन्द्रियों को प्रेरित कर देता है। यदि केवल कहें 'इन्द्रियों की प्रवृत्ति मत करो' तो मन उन्हें प्रवृत्त करता ही रहेगा। उसे रोकने का उपाय यही है कि 'मत्पर' हो जाओ अर्थात् परमात्मा के अनन्त नामों, अनंत रूपों, अनन्त चरित्रों और अनंत गुणों का बार-बार विचार करो। वे कभी खत्म होने वाले नहीं हैं। पहले पृथ्वी को एक सांड ने अपने सींगों पर धारण किया हुआ था। वह थक गया। उसने ब्रह्माजी से कहा—'इतना वज़न लेकर रात-दिन खड़े रहना पड़ता है, कुछ आराम दीजिये।' उन्होंने कहा—'तुम खुद किसी को ढूंढ लो, जो कुछ देर बोझा उठाने को तैयार हो जाये, उसे दे दो।' वह सबसे पूछे लेकिन कोई भी बोझ लेने को तैयार नहीं हुआ। अन्त में नारद जी से पूछा तो उन्होंने उसे युक्ति बताई। उन्होंने कहा—'अब की बार जब कहो कि थोड़ी देर के लिये यह बोझ ले लो, और वह पूछे 'कितनी देर के लिये?' तब कहना भगवान् के सब नाम एक बार ले लो, उतनी देर के लिये।' उस वृषभ ने शेषनाग से यही कहा। शेषनाग के हज़ार मुँह और हर-एक

में हज़ार जीभें हैं। एक बार में सबसे नाम ले लेगा तो हज़ारों गुणा हो जायेंगे। शेषनाग ने सोचा–'मैं तो झट से सारे नाम ले लूंगा।' लेकिन वह तब से नाम लिये जा रहा है। न नाम खत्म होते हैं और न बोझा उतर रहा है!

परमात्मा के अनन्त नाम, अनन्त रूप, अनन्त गुण और अनंत चरित्र हैं। परमात्मा की कीर्ति को यदि देखो तो आश्चर्य होता है। डेढ़ सौ साल से लोगों के अंगूठों की छाप ली जा रही है, आज तक किन्हीं दो अंगूठों की छाप एक जैसी नहीं निकली। प्रत्येक व्यक्ति की हर अंगुली की छाप अलग-अलग होती है। जब अंगुलियों तक की छाप अलग-अलग होती है तब शरीर अलग-अलग होने ही हुए। अरबों सालों से इस प्रकार की सृष्टि हो रही है परन्तु कोई दो चीज़ें एक जैसी नहीं बनती। मनुष्य घमंड इस बात का करता है कि 'हमने एक जैसी सौ चीज़ें निकाली', क्योंकि उसकी शक्ति सीमित है। इसीलिये कोई एक नई डिज़ाईन निकलती है तो डिज़ाइनर की बड़ी भारी तारीफ होती है। एक नई चीज़ बनाते हैं और उसके जैसी भी अनेक बनती हैं, फिर भी साल भर में दस-पाँच चीज़ें ही बना पाते हैं। परमेश्वर की हर चीज़ नई है क्योंकि परमेश्वर की सृजनशक्ति अनन्त है। जैसे शेष नाग नाम लेने में लगा हुआ है, वैसे ही तुम भी निरंतर परमेश्वर के नामों का, रूपों का, चरित्रों का, गुणों का चिंतन करो तो फिर किसी दूसरी तरफ जाने का समय ही नहीं मिलेगा। इसी को 'मत्परः' कहते हैं।

वासुदेव सारे प्रत्यगात्माओं के अंदर एक जैसा विद्यमान है–इस प्रकार से ही अनन्त चीज़ों के अंदर बार-बार उसका चिंतन करना है। सर्वप्रत्यगात्मरूप से सबके अंदर वह परमात्मा वासुदेव ही है। उसने सारे रूप लिये, मेरा रूप भी उसका ही लिया हुआ है, इसलिये मैं उससे भिन्न नहीं हूँ। इस प्रकार उसमें स्थित होना ही 'मत्परः' होना है। ऐसा करने पर सारी इन्द्रियाँ फिर कहीं और जा नहीं सकती। महात्मा लोग भस्मी लगाते हैं। हर बार भस्मी लगाने में यह ख्याल आता है कि संसार की जितनी भी चीज़ें हैं, अंत में भस्म ही होकर रहती हैं। ''सब चीज़ों का अंतिम रूप परमात्मा ही मेरे को स्पर्श कर रहा है''–इस प्रकार से चिंतन कराते हैं।

भगवान् आगे विभूतियोग में कहेंगे ''पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'' इत्यादि पृथ्वी में जो सुगन्धि है, उस सुगन्धिरूप से परमात्मा ही मेरा स्पर्श कर रहा है। इस प्रकार प्रत्येक चीज़ में अपनी ही अर्थात् प्रत्यगात्मा की दृष्टि करनी है। हम नाम बोलते हैं, उस नाम का क्या अभिप्राय है? संस्कृत में 'एकाक्षरकोश' है जिसमें हर अक्षर का अर्थ परमात्मा से सम्बन्धित बताया है। बोलोगे शब्द ही, अगर बोलते ही इस बात का ख्याल रखो तो प्रत्येक अक्षर में परमात्मा का ही स्मरण होगा। इस प्रकार जो कुछ भी बोलोगे उसमें परमात्मा का स्मरण बना रहेगा। शब्द के द्वारा भी उसका इस प्रकार से ग्रहण हो जाता है। स्पर्श के द्वारा भी उसका ग्रहण हो जाता है। किसी चीज़ को देखते हैं तो बिना प्रकाश की खोल के नहीं देख सकते। जिस प्रकार तकिया जिस किसी भी शक्ल का हो, मैला-कुचैला भी हो, उसके ऊपर

नई खोल चढ़ा दो तो वह नया ही दीखता है, अन्दर क्या है, इसका पता ही नहीं, खोलकर देखोगे तो बिना मतलब दुःखी होगे कि यह तकिया खराब है। इस प्रकार संसार में हर चीज़ तुम्हें प्रकाश के खोल वाली दीखती है। प्रकाश परमात्मा का स्वरूप है। इसलिये संसार के हर धर्म में किसी-न-किसी रूप में ईश्वर को प्रकाशरूप बताते हैं। गिरजे में मोमबत्ती, मजार में दिया, पारसियों के यहाँ तो निरंतर अग्नि ही जलती रहती है। इस प्रकार से परमात्मा का संबंध प्रकाश के साथ मनुष्यों के अंदर माना जाता है। जब तुम प्रकाश की खोल को देखते हो तो उसके अंदर क्या नाम-रूप है उसे देखने की कोशिश ही क्यों करते हो? केवल प्रकाश को देखो क्योंकि प्रकाशरूप परमात्मा है।

हम लोग भगवान् को भोग लगाकर भोजन खाते हैं। खाते समय यह दृष्टि मत बनाओ कि इसका स्वाद कैसा है। यह भगवान् का प्रसाद बन कर आई हुई चीज़ है इसलिये उसमें परमात्मा का स्वाद है, वही स्वाद बनकर आया है। जल क्या है? मनुष्य के प्राण को पुष्ट करने वाला जल ही है। इसीलिये आयुर्वेद के अनुसार 'अजीर्णे भेषजं वारि' बदहज्मी हो तो खूब पानी पियो। तुम थके हो, पानी पी लो तो फिर ताकत आ जाती है। महात्मा अपने साथ पानी का कमण्डलु रखते हैं। कहीं भी थकावट महसूस हो तो झट पानी पी लेते हैं। जल हमारे प्राणों को बल देने वाला है। यह बल देने की शक्ति जल में कहाँ से आती है? जल नारायणस्वरूप है। इसलिये वह जल में नारायण की शक्ति है। इस प्रकार रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श—पाँचों इन्द्रियों के जो विषय हैं, जिनके द्वारा तुम व्यवहार करते हो, उन पाँचों के द्वारा पहले परमात्मा को ग्रहण करो, फिर विषय को ग्रहण करो। यह मत्परायणता है।

जो जानने वाला मैं है, उसमें जानने की शक्ति कहाँ से आई? यह भी परमात्मशक्ति है। 'जानने वाला मैं' यह वृत्ति बने तो परमात्मा को याद करो जिसके कारण 'मैं' जान रहा हूँ। इस प्रकार मत्पर रहोगे तो इन्द्रियाँ परमात्मा को छोड़कर और कहीं जा ही नहीं सकती।।६१।।

मत्पर नहीं होते हो तो क्या होता है? यह भगवान् बताते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष की विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना व उससे क्रोध पैदा होता है।

शंका हो सकती है कि घंटे दो घंटे इस प्रकार मत्परायण हो जायें, उसके बाद तो दुनिया का ग्रहण करना है, रूप, रस आदि का ग्रहण भी करना पड़ेगा, हमेशा ऐसा ही क्यों किया जाये? तब भगवान् कहते हैं कि यह खतरे का मामला है। जब कभी मनुष्य विषय का चिंतन करता है उसके बाद तो भण्टाढार होना ही है। यदि मन से भी तुमने विषय का

चिंतन कर लिया तो अपना अनर्थ कर बैठोगे। इन्द्रियों के द्वारा नाम-रूप ग्रहण करना तो आगे की बात है, अगर मन से भी विषय को सोच लिया तो बहुत बड़ा अनिष्ट है यहाँ विषय अर्थात् शब्दादि विषय-विशेष। विषय को विषय की तरह ग्रहण करो तो ठीक है, लेकिन उसमें विशेष विषय का ग्रहण करते हो कि इससे यह फायदा होगा अथवा यह मेरे मन के अनुकूल है, यह मेरे मन के प्रतिकूल है, तो उसका नतीजा होता है कि पुरुष अपने पुरुषत्व से नष्ट हो जाता है। यहाँ भगवान् ने 'पुंसः' (पुरुष का) शब्द का प्रयोग किया है।

पुरुष की पुरुषता या मनुष्य की मनुष्यता क्या है? पशु-पक्षियों से मनुष्य में विशेषता यही है कि मनुष्य में बुद्धि है, पशु-पक्षियों में बुद्धि नहीं है। 'बुद्धि' शब्द को ठीक से समझना अंग्रेज़ी भाषा में बुद्धि को ठीक से बताने वाला कोई शब्द नहीं है। अंग्रेज़ खुद कहते हैं 'हम आदमी तो हैं नहीं, हम तो बंदर थे, पूंछ घिस गई तो आदमी हो गये!' इसलिये उनके यहाँ बुद्धि के लिये कोई शब्द ही नहीं है। क्या कर्त्तव्य है? क्या अकर्त्तव्य है? इसको जानने की क्षमता का नाम बुद्धि है। जो हमें अच्छा लगता है उसका संबंध 'करना चाहिये' से नहीं है क्योंकि वह तो पशुओं के अंदर भी है। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र-भाष्य में लिखते हैं कि हरी-हरी घास आगे करके जाओ तो गाय तुम्हारी तरफ आती है और डण्डा लेकर जाओ तो वह भी दूर भागती है। इसलिये जो अच्छा लगे उसके प्रति जाना और बुरा लगे उससे भागना तो पशु-पक्षियों में भी है। 'करना चाहिये' का संबंध अच्छा लगने से नहीं है। पिता जी नब्बे साल के हो गये हैं। उनका स्वभाव भी चिड़चिड़ा है, बिस्तर में पड़े रहते हैं, जब उनके पास जाओ तो कुछ-न-कुछ ऊट-पटांग सुनाते रहते हैं। इसलिये उनके पास जाने की इच्छा भी नहीं होती। फिर भी वे मेरे पिता जी हैं, उनकी सेवा करनी ही है, उनकी बात सुननी ही है। यह पशु-पक्षी नहीं कर सकते। जब तक चीज़ उन्हें सुखदायक होगी, तब तक उसका सेवन करेंगे। जैसे ही दुःखदायक होगी वैसे ही वे उससे दूर होने लगेंगे। परन्तु मनुष्य वह कर सकता है। जब तक गाय दूध देती है तब तक उसे रखेंगे, यह तो पशु की तरह काम करना है। लेकिन गाय बुड्ढी हो गई है, उसमें दूध देने की क्षमता नहीं है, उसके दाँत भी घिस गये हैं इसलिये भूसी भी उबालकर देनी पड़ रही है। उस गाय की सेवा करते हो—यह मनुष्य ही कर सकता है, कोई पशु-पक्षी नहीं कर सकता। जो तुम्हें किसी प्रकार का सुख देने वाला नहीं लग रहा है उसके प्रति भी 'यह करना चाहिये' इस कर्त्तव्य-बुद्धि से जो प्रवृत्त कराती है, वह बुद्धि है। जो पशु-पक्षी है, पूंछ घिसे हुए लोग हैं, उनकी बात सुनकर हिन्दुस्तान में भी लोग कहते हैं कि बुड्ढों के लिये कहीं अलग जगह होनी चाहिये ताकि वे हमारी छाती पर तो न बैठे रहें! इसीलिये वृद्ध निवास बनाते हैं। उसके पीछे भावना यही है कि हमें उनकी तीमारदारी क्यों करनी पड़े? माता-पिता ही भारी पड़ रहे हैं तो गाय को कौन रखेगा! इसलिये लोग प्रश्न ही यह करते हैं कि गोवध नहीं होगा, इतनी गौएं बढ़ जायेंगी तो क्या हाल होगा? कर्त्तव्य का मतलब

यह नहीं है कि वह मुझे अच्छा लगे। जो मुझे अच्छा न लगे परन्तु फिर भी करना चाहिये इसलिये करना है, वह कर्तव्य है। कर्तव्य समझने की बुद्धि जिसमें होती है उसी को हम पुरुष कहते हैं।

भगवान् कहेंगे 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' यदि तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई तो तुम पुरुष नहीं रहे। तुम मर जाते हो—ऐसा नहीं है, क्योंकि पशु-पक्षी भी ज़िन्दा रहते ही हैं, लेकिन तुम्हें मनुष्य या पुरुष नहीं कहा जायेगा। पुरुष की सामर्थ्य है उसमें विवेक-बुद्धि अर्थात् क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—यह बुद्धि। जब तुम विषयों का ध्यान करते हो तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की बुद्धि न होकर जो तुम्हें अच्छा लगता है उसके प्रति आसक्ति और जो तुम्हें बुरा लगता है उससे द्वेष पैदा हो जाता है। राग-द्वेष से प्रवृत्ति तब करोगे जब विषयविशेष को देखोगे कि यह विषय मुझे सुख देता है या दुःख देता है; इस दृष्टि से जब विषयों को देखोगे तब उनमें आसक्ति बढ़ती चली जायेगी। उस आसक्ति या संग से काम उत्पन्न होता है। जिसको जिस चीज़ में आसक्ति हो जाती है, वह चीज़ सामने न रहने पर भी 'मुझे मिले' ऐसा भाव बना रहता है। आसक्ति पैदा तब होती है जब विषय-विशेष से संबंध करते हो। आसक्ति होने के लिये विषय चाहिये। परन्तु जब आसक्ति पैदा हो गई तब विषय सामने नहीं भी है तो अंदर कामना होती है अर्थात् 'यह चीज़ अच्छी है' ऐसा भाव बनता है।

'संगात् जायते कामः' न कहकर 'संजायते कामः' कहा है। कामना के जन्म की सम्यक्ता है कठिनाइयों का सामना करने की सामर्थ्य आ जाना। एक कामना ऐसी होती है कि आसानी से पूरी हो गई तो पूरी कर ली। 'सञ्जायते' का मतलब है कि उसके लिये कठिनाई भोग करके भी उस कामना को पूरा करने का प्रयत्न करते हो।

यदि कामना में कोई रुकावट आ गई, किसी भी चीज़ या व्यक्ति से यदि वह कामना प्रतिहत हो गई, तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है। जो रुकावट करने वाला है उसे नष्ट करने में प्रवृत्ति हो जाती है।।६२।।

विषयध्यान से प्रारंभ होने वाली अनर्थपरम्परा का ही क्रम बताते हैं—

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।६३।।

क्रोध से अविवेक, उसके कारण उचित बातों का विस्मरण, उससे बुद्धि में विवेक सामर्थ्य का ही क्षय और उससे प्रणाश हो जाता है।

यदि मत्पर नहीं रहोगे, इन्द्रियों के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के अंदर विद्यमान परमात्मा की दृष्टि नहीं रखोगे, तो पूर्वोक्त प्रकार के क्रोध तक पहुँच जाओगे। जब मनुष्य को क्रोध होता है तब उसे सम्मोह हो जाता है, कार्य-अकार्य का कुछ विचार नहीं रहता। आदमी यह सोचता ही नहीं है कि मुझे यह काम करना चाहिये या नहीं बल्कि यही ज़िद

हो जाती है कि किसी भी तरह से यह तो मुझे करना ही है। अन्यत्र आचार्य शंकर कहते हैं कि क्रोध में माता-पिता को भी 'हुं' कह देता है कि आप नहीं समझते। अपने यहाँ बड़ों को 'हुं' कहना बड़ों की हत्या करने की तरह माना है। 'हाँ जी' कहना सीखा है पर जब गुस्से में आता है तो ख्याल नहीं रहता। इस प्रकार कार्य-अकार्य का अविवेक क्रोध के कारण होता है। जब यह सम्मोह या अविवेक आ जाता है तो बचपन से लेकर अब तक जो कुछ भी तुम्हें सिखाया गया है वह सारी स्मृति लुप्त हो जाती है। न शास्त्र की और न गुरु की बाद याद रहती है। भगवान् ने विभ्रम कहा है। स्मृति का निमित्त आने पर स्मृति न आना विभ्रम है। सामने की परिस्थिति के कारण तुम्हें याद तो आना चाहिये कि शास्त्र में यह कहा है, बड़ों ने यह सिखाया है, परन्तु उस समय वह बात याद ही नहीं आयेगी क्योंकि याद आये तो कार्य-अकार्य के बारे में सोचोगे लेकिन स्मृतिविभ्रम होने से वह सोच नहीं होती है। कोई याद भी दिलाये तो कहेगा 'जाने दो, यह सब अव्यावहारिक है। दुनिया ऐसे नहीं चलती।' यह विभ्रम है। बुद्धि तो तब काम करे जब शास्त्र और आचार्य का उपदेश तुम्हें याद हो। स्मृति नष्ट हो जाती है अर्थात् वह स्मृति उत्पन्न ही नहीं होती। कार्याकार्य की बुद्धि तो स्मृति के ही अधीन है। ऐसा कुछ नहीं है कि बिना सिखाये हुए किसी में ठीक बुद्धि हो अर्थात् उसमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक हो! जो संस्कार तुमने बचपन से बनाये हैं वे ही विवेक लाते हैं। मनुष्य में बुद्धि होती है क्योंकि बचपन से उसे सिखाया जाता है। पशु में इस प्रकार की सीख संभव ही नहीं है। इस प्रकार की सीख का प्रधान आधार शब्द है। पुराने जितने ज्ञान हैं उन्हें संक्षेप से तभी कह सकते हो जब तुम्हारे पास शब्द है। यदि शब्द नहीं हो तो दूसरे को ज्ञान नहीं दे सकते। बुद्धितत्त्व शब्द के द्वारा आता है। शास्त्र और गुरु के जो शब्द हैं उनके द्वारा ही बुद्धि का निर्माण होता है। मनुष्य में ज्ञान देने-लेने की यह सामर्थ्य है इसलिये उसे बुद्धिवाला कहते हैं। बुद्धि कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि सबके अंदर हो! इसलिये यदि शुरू से ही बच्चों को संस्कार नहीं दोगे तो उनमें बुद्धि नहीं आने वाली है। बुद्धि की शक्ति तो उनमें है, उस शक्ति के साथ ही वे पैदा होते हैं, लेकिन जब उनमें संस्कार डालेंगे तभी उसका प्रयोग होगा।

जब स्मृतिनाश हो जाता है तब वह बुद्धि नष्ट हो गई ऐसा कहा जाता है। कार्य-अकार्य के विवेक की योग्यता का न होना ही बुद्धिनाश है। बुद्धि कोई स्थूल चीज़ नहीं है कि आदमी का वजन किया, वह साठ किलोग्राम का निकला, फिर उसे गुस्सा आ गया तो उनसठ किलोग्राम का रह गया! विवेक की योग्यता अर्थात् विवेक की सामर्थ्य नहीं रहना ही यहाँ नाश है। विवेक की सामर्थ्य स्मृति के अधीन है। इसलिये किसी भी कार्य को करने के पहले संकल्प करवाते हैं। उसमें सबसे पहले कहते हैं कि यह जो इतना बड़ा चौदह लोक का संसार है उसमें पृथ्वी लोक, फिर उसमें जम्बू द्वीप, उस जम्बू द्वीप में भारत वर्ष, उसमें आर्यावर्त, गंगा-यमुना के किनारे इत्यादि; ये सब इस बात को बता रहे हैं कि

यह काम तुम किस देश में कर रहे हो। फिर सृष्टि का काल बताते हैं। तिथि, नक्षत्र आदि सभी समय को बताते हैं। कोई भी काम करने के पहले सोचो कि मैं यह काम जिस देश में कर रहा हूँ वहाँ करने लायक है या नहीं। फिर सोचो कि किस काल में कर रहा हूँ। उस काल में वह कार्य करने लायक है या नहीं। फिर विचार करो कि मैं अमुक गोत्र में उत्पन्न हुआ शर्मा, वर्मा हूँ। अर्थात् मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ हूँ उस कुल के लायक यह काम है या नहीं। एक बार एक ऋषि ने कोई बात गुस्से में कह दी। बच्चे पर गुस्सा आया तो कह दिया–'मर जा।' बच्चा मरने को तैयार हो गया। बाप ने कहा–'नहीं, नहीं जाने दो, मैंने तो ऐसे ही कह दिया था।' बच्चा बोला 'पिताजी! याद कीजिये, आज तक अपने कुल में कभी कोई झूठ नहीं बोला। आगे विचार कीजिये कि जब लोग झूठ बोलेंगे तो आपका नाम लेकर कहेंगे कि हमारे कुल में उनके समय से झूठ बोलने की प्रथा चली आई है'। पिता जी समझ गये कि यदि मैंने झूठ बोलने की प्रथा डाल दी तो सारे कुल के लिये दोषी हो जाऊंगा। अपने कुल का विचार करो कि मैं कौन हूँ?

फिर आगे सोचो कि मैं जो यह करने जा रहा हूँ उससे जो फल मैं चाहता हूँ, वह पैदा होगा या नहीं। हम अपने बच्चों को ऐसे स्कूल-कालेजों में भेजते हैं जहाँ उनके संस्कार खराब हो जाते हैं और फिर कहते हैं कि आजकल बच्चे बिगड़ रहे हैं! हम कहते हैं कि बच्चे नहीं बिगड़ रहे हैं, यह कहो कि हम बच्चों को *बिगाड़* रहे हैं। तुमने सोचा नहीं कि शिक्षा का उद्देश्य ठीक चीज़ का ज्ञान देना है। गलत शिक्षा दोगे तो बच्चे गलत संस्कार लेकर आयेंगे। बच्चा सीख कर आता है कि कैसे हिसाब की चोरी की जाये। दिल्ली आश्रम में पुराने ढंग के बही खातों में हिसाब रखा जाता है। दो साल पहले चार्टर्ड एकाउंटेंट हमसे कहने लगे कि 'आप अपने बही खाते आधुनिक ढंग से रखना शुरू कर दीजिये।' हमने कहा–'ऐसा क्यों? इसमें तो हिसाब साफ दीख जाता है।' कहने लगे–'आजकल के तरीके में जब चाहे जो काग़ज़ हटाकर नया काग़ज़ जोड़ सकते हैं। इस पुराने ढंग में तो हमेशा सच बोलना पड़ेगा।' विचार करो, हिसाब रखने वाला तुम्हें सिखाता है कि कैसे बेईमानी की जाये। मैं यदि झूठ बोलूंगा तो आगे सोचो कि मेरा मैनेजर भी झूठ बोलेगा, बाजार से सौदा लाने वाला भी झूठा हिसाब देगा। क्या मैं चाहूँगा कि वह ठगी मेरे साथ हो? यदि यह याद रखोगे कि 'आज झूठ बोल कर हमने दस हज़ार बचा लिये तो आगे एक लाख चोरी होने वाले हैं', तो कभी झूठ नहीं बोलोगे। इसलिये देश, काल, कुल-गोत्र और फल चारों का विचार करो। कोई भी कार्य शुरू करने के पहले संकल्प करवाने का उद्देश्य है कि इन चार बातों का विचार करके कोई काम शुरू करो। यह सब स्मृति है जिससे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक होगा। यदि यह स्मृति नहीं रहेगी तो विवेक की क्षमता नहीं रहेगी, कार्याकार्य-विवेक की अयोग्यता हो जायेगी, यही बुद्धिनाश है।

बुद्धिनाश हो जाने से मनुष्य की मनुष्यता नष्ट हो जाती है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं :–'तावदेव हि पुरुषो यावद् अन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविषय-

विवेकयोग्यं, तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवति' पुरुष तभी तक कह सकते हैं जब तक उसका अन्तःकरण कार्याकार्य के विवेक के योग्य है। जब तक कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझने के योग्य है तभी तक वह मनुष्य है। जब उसके अयोग्य हो गया, जब यह विचार नहीं करेगा कि क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्त्तव्य है, तब मनुष्य नहीं रह जायेगा। तुम्हारा कोई गलत निर्णय तो हो सकता है, उससे तुम्हारी मनुष्यता नहीं जाती। ठीक सूचना तुम्हारे पास नहीं है इसलिये तुमने गलत निर्णय किया, इससे अयोग्य नहीं हो। परन्तु जब क्रोध के कारण सम्मोह हो जाता है तब यह योग्यता नहीं रहती। उस समय कुछ समझाएँ तो हमें ही ऊटपटांग सुनाओगे। यह योग्यता नष्ट होने से पुरुष ही नष्ट हो जाता है। जो मत्पर नहीं होता, वह विषय की तरफ अभिमुख हो जाता है और इस प्रकार नष्ट हो जाता है।।६३।।

जो मत्पर होता है वह कैसे कार्य करता है–

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

नियंत्रित मन वाला जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित व अपने नियंत्रण में लाई जा चुकी इंद्रियों से अनिवार्य विषयों का उपभोग करता है वह प्रसन्न रहता है।

जो मत्परायण होगा वह मेरी कृपा को प्राप्त करेगा। परमात्मा की कृपा स्वास्थ्य अर्थात् प्रसन्नता है। अपने आप में स्थित होना स्वास्थ्य है। इसीलिये तुम्हें कोई स्वस्थ नहीं बनाता। स्वस्थ तो तुम खुद ही हो। बीमारी आये तो उसे दूर किया जाता है। वह दूर होने पर स्वस्थ तो तुम खुद हो। ठीक इसी प्रकार से दोष को दूर कर देने पर स्वास्थ्य तुम्हारा अपना स्वरूप है।

लोग शंका करते हैं कि मन परमात्मा में क्यों नहीं लगता? उसका जवाब भगवान् दे रहे हैं : मन तो हमेशा परमात्मा में ही लग रहा है, तुम उसे कामनाओं के द्वारा परमात्मा में नहीं लगने दे रहे हो। जब कभी तुम किसी चीज़ के प्रति आसक्ति वाले नहीं होते हो तब वह चीज़ तुम्हें कभी विक्षेप नहीं देती। जो चीज़ नहीं मिली है और चाहो कि मिल जाये वह विक्षेप देती है। अथवा कई चीज़ें मिली हैं, तुम चाहते हो कि छूट जायें, तब विक्षेप होता है। साँप ने पैर पकड़ा तो चाहते हो छूट जाये, तब विक्षेप होता है। तुम चाहो कि कोई चीज़ तुम्हें मिल जाये–इसका नाम राग है और कोई चीज़ मिलने पर चाहो कि यह दूर हो जाये–इसका नाम द्वेष है। राग-द्वेष के कारण ही तुम स्वस्थ नहीं रहते हो। तुम्हें स्वस्थ करने की कोई दवा नहीं है, राग-द्वेष हटा दिये तो स्वस्थ हो ही।

'प्रसादम् अधिगच्छति' अधिपूर्वक गम् धातु का अर्थ जानना या समझना है। 'यह विषय मुझे अधिगत हो गया' अर्थात् इस विषय को मैंने ठीक तरह से समझ लिया। इसी अर्थ में भगवान् ने अधिगच्छति कहा है। प्रसाद को जाता है (गच्छति)–यह नहीं कहा वरन्

वह प्रसाद को समझ लेता है क्योंकि स्वस्थ तो सदा स्वरूप से है ही।

इन्द्रियाँ राग-द्वेष से रहित होंगी तो कर्त्तव्यबुद्धि से प्रवृत्ति करोगे। मुझे अच्छा लगता है इसलिये करता हूँ—ऐसा नहीं, वरन् यह मेरा कर्त्तव्य है इसलिये करता हूँ यह स्वभाव बनेगा। अथवा यह काम मुझे बुरा लगता है इसलिये इससे दूर होता हूँ—ऐसा नहीं वरन् यह अकर्त्तव्य है, मेरे करने लायक नहीं है इसलिये नहीं कर रहा हूँ—यह अनुभव होगा। अभी हमारी इन्द्रियाँ राग-द्वेष से प्रवृत्त होती हैं। परन्तु परमात्मपरायण की इन्द्रियाँ कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रवृत्ति करेंगी, धर्म-बुद्धि से प्रवृत्ति करेंगी। जो इन्द्रियाँ राग-द्वेष से रहित होकर विषयों से व्यवहार करें वे इन्द्रियाँ आत्मवश्य होंगी अर्थात् तुम्हारे वश में होंगी। अभी इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में नहीं, तुम इन्द्रियों के वश में हो! कई बार इन्द्रियों की वशता के कारण तुम चाहते हो सो जायें लेकिन नहीं सो पाते। रात में दो बजे दूरदर्शन पर विम्बल्डन का खेल आ रहा है, सोना चाहते हो लेकिन वह खेल निकल जायेगा इसलिये कॉफी पीकर जगते हो। यहाँ इन्द्रियों के अधीन तुम हो रहे हो। वर्तमान में हमारे अधिकतर व्यवहार इन्द्रियों के अधीन होकर हैं। इन्द्रियाँ हमारे अधीन नहीं हैं। डाक्टर ने कहा तो है कि घूमना ज़रूरी है, 'जाना चाहिये' कह भी रहे हो, मान भी रहे हो परन्तु दिल नहीं कर रहा है तो नहीं जाते। यहाँ भी तुम इन्द्रियाँ के वश में हो। शरीर और इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में नहीं हैं। जब राग-द्वेष हट जायेगा और केवल कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य बुद्धि से करोगे तब वे इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में हो जायेंगी। जहाँ तुम उन्हें लगाना चाहोगे वहाँ लगेंगी और जो योग्य विषय है, अवर्जनीय है उसमें लगेंगी।

इसलिये विधेयात्मा बनोगे। अब तुम अपनी इच्छा का विधान करोगे कि 'मुझे यह करना है।' अभी तक तुम विधेयात्मा नहीं, तुम *अपनी* इच्छा से इन्हें नहीं चला पाते। राग-द्वेष हटने पर इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में होंगी और तुम अपनी इच्छा से इन्हें प्रवृत्त करोगे।

तब परमात्मा की प्रसन्नता, स्वस्थता का अनुभव करोगे। इसके पहले तो प्रसन्नता नाम की चीज़ को हम जानते नहीं। महाराज भर्तृहरि कहते हैं कि दुःख हटने को हम सुख मान लेते हैं। प्यास लगी, ठंडा पानी पिया तो कहते हैं—बड़ा सुख हुआ। प्यास का दुःख मिटा, सुख कहाँ से आया! इसी प्रकार भूख लगी है। बढ़िया बासमती चावल का चार पर्तों वाला पुलाव खाया, मज़ा आ गया। मज़ा क्या आया! केवल भूख का दुःख हटा। इसी को 'सुखमिति विपर्यस्यति जनः' भतृहरि ने कहा। पहाड़ों की यात्रा में पहाड़ी लोग बोझा लेकर चलते हैं। एक बार हम पहाड़ में कहीं जा रहे थे तो देखा कि एक आदमी ने अपने सामान के बोझ के साथ एक पत्थर और रख लिया। उससे पूछा 'यह फालतू पत्थर का बोझ क्यों बढ़ा लिया?' तो वह कहने लगा 'आगे कड़ी चढ़ाई आने वाली है।' हमने पूछा—'लेकिन इस पत्थर से क्या होगा?' कहने लगा 'वहाँ इस पत्थर को फेंक दूँगा तो बोझा हल्का हो जायेगा, फिर आराम से चढ़ाई पार कर लूंगा।' यह एक मनोवैज्ञानिक असर है। वह तो

बे-पढ़ा लिखा था, हम पढ़े-लिखे भी यही करते हैं। दुःख अपने सिर पर लाते हैं और जब वह दूर होता है तो उसे सुख समझ लेते हैं। सुख एक भाव चीज़ है। दुःख का अभाव सुख नहीं है। इसलिये परमात्मा की प्रसन्नता अपने अंदर बैठी हुई है। वह प्रत्यगात्मा की प्रसन्नता केवल समझना ज़रूरी है। उसे न समझने तक हम दुःख मिटने को ही सुख माने रहते हैं।

सारे अनर्थ का मूल विषयों का चिंतन अथवा विषयाभिध्यान है। विषय बंधन का कारण नहीं हैं वरन् उनका अभिध्यान अथवा चिंतन बंधन का कारण है। विषय तो कभी ही सामने हैं पर जब चीज़ सामने नहीं है तब भी उसका चिंतन होता है। प्रायः आदमी यह भूल करता है कि सोचता है कि विषयों से बंधन होता है । विषय तो व्यवहार्य हैं। उनका चिंतन बंधन का कारण है। जिस समय जो चीज़ सामने है उस समय चिंतन तो केवल यह करना चाहिये कि 'इस समय इस परिस्थिति में मेरा क्या कर्त्तव्य है', और वह कर्त्तव्य पूरा कर लेना चाहिये। जब विषय उपस्थित नहीं होता है तब आदमी चिंतन करता है, यही सारे अनर्थों का मूल है। इसलिये भगवान् ने कहा कि विषयों से व्यवहार करो परन्तु राग-द्वेष से रहित होने पर ही स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।।६५।।

प्रसन्नता, स्वस्थता का फल बताते हैं–

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

स्वस्थता होने पर यत्नशील साधक के सब दुःखों का विनाश हो जाता है क्योंकि स्वस्थ चित्त वाले की ही बुद्धि आत्माकार में स्थिर होती है (इसलिये रागादि छोड़ना ही चाहिये)।

क्योंकि राग-द्वेष के कारण ही विषयों का चिंतन होता है अतः राग-द्वेष से रहित होकर जब तुम विषय से व्यवहार करते हो तब उसका चिंतन नहीं होता। दुकान में बैठा हुआ विक्रय-कर्मचारी सामान बेचने का सारा व्यवहार करता है परन्तु जैसे ही दुकान बढ़ाकर घर जाता है फिर सोचता ही नहीं कि दुकान में क्या है, क्या नहीं है। परन्तु मालिक दुकान में आये भी नहीं, बेचे भी कुछ नहीं, केवल पता लगाता है कि क्या बिका, क्या नहीं, फिर भी जो घाटा-नफा हुआ उसके प्रति राग-द्वेष उसे परेशान करता है। 'आज बिक्री कम हो गई, आज दीवाली का दिन था, ज़्यादा बिक्री होनी चाहिये थी' आदि यही चिंतन करता रहता है। इसलिये विषयों से व्यवहार करने से बंधन नहीं होता, यही रहस्य है। इस बात को समझ लेना कि इस संसार की हर चीज़ का मालिक परमात्मा है। तुम तो कर्मचारी की तरह हो। ग्राहक आये, माल बेच दो, आगे कुछ तुम्हें सोचने की ज़रूरत नहीं। इसी प्रकार जिस काल में, जिस देश में जो व्यवहार तुम्हारे सामने आ गया उसे तुम निपटा दो। मालिक बैठा है, नफा-नुकसान की वह जाने।

मुश्किल इसलिये आती है कि हम मालिक बने बैठे हैं! कलकत्ते में बिड़ला जी की एक जूट मिल थी। उसका सारा काम वहाँ के एक गोयन्का सम्हालते थे। वे भी बहुत बड़ी हैसियत के आदमी थे, करीब-करीब पचीस साल तक मिल देखते रहे। सारी दुनिया यही समझती थी कि वह मिल उनकी है। तीन भाई थे। लड़के बड़े हुए तो मतभेद हो गया। तीनों भाई अलग-अलग हो गये। विचार हुआ कि कौन-कौन क्या लेगा। बंटवारे में उस मिल का कहीं नाम नहीं आया। छोटे भाइयों ने कहा 'उस जूट मिल का क्या होगा?' तब उन्होंने कहा कि 'वह मिल हमारी नहीं है। उसके मालिक तो बिड़ला जी हैं। मैं तो इसका चेयरमैन हूँ, केवल काम देखने वाला हूँ।' घर तक में भी लोग समझते थे कि इन्हीं की मिल है। बाजार वाले तो समझते ही थे क्योंकि वे ही उसका सारा काम देखते थे।

जैसे यह भ्रम घरवालों को और बाहर वालों को था, ठीक इसी प्रकार से यह शरीर सौ साल के लिये हमारे प्रबंधन से चल रहा है। वहाँ तो दूसरों को भ्रम था और यहाँ हमें ही भ्रम हो गया है कि हम इसके मालिक हैं! यही सारे दुःख का कारण है। एक दम्पती का बेटा बहुत बीमार हो गया था। पिता बड़ी चिंता करते रहते थे। पत्नी उन्हें समझाती थी। एक दिन पति घर आया तो पत्नी उसे सुनाने लगी कि 'अपनी पड़ोसिन हलवा बनाने के लिये कढाई माँग कर ले गई थी। आज मैं वह वापिस माँगने गई तो कहने लगी कि 'इतने दिन से मेरे पास रही तो मैं अकस्मात् कैसे दे दूँ?'' पति ने कहा—'वह बड़ी बेवकूफ है, माँगी हुई चीज़ तो तुरंत वापिस दे देनी चाहिये।' उसका लड़का उस दिन मरा पड़ा था। माँ ने कहा—'इसी प्रकार परमात्मा ने हमें जो लड़का दिया था, वह वापिस ले लिया।' चूंकि सीधे ही नहीं कहा कि 'लड़का मर गया है', अतः पति का विचार भी बदल गया कि इसके लिये हल्ला-गुल्ला क्या करना है, जिसकी चीज़ थी उसने ले ली। व्यवहार जैसे नौकर करता है वैसे करना है। हमको सौ साल के लिये ये शरीर मन आदि दिये गये हैं, इनसे निपट लेना है, नफे-नुकसान का मालिक परमात्मा है। इस प्रकार राग-द्वेष से रहित होकर व्यवहार करते हो, तब स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है अर्थात् तुम्हारी असलियत तुम्हारे पास आती है।

असलियत से क्या होता है? असलियत की प्राप्ति होने पर इस प्रकार का जो साधक या यति है, उसके सारे दुःखों की हानि हो जाती है। दुःख विषयों से नहीं होता, दुःख तो विषयों के मालिक बनने से होता है, राग-द्वेष से दुःख होता है। इसीलिये तितिक्षा के अभ्यास पर इतना ज़ोर दिया जाता है। भगवान् ने कहा है कि शीत-उष्ण, सुख-दुःख मान-अपमान तो आगमापायी हैं, इसलिये तुम्हारे नहीं हैं। 'सहनं सर्वदुःखानां अप्रतीकार-पूर्वकम्' आचार्य शंकर कहते हैं कि जो दुःख आया है, कैसे जल्दी से जल्दी चला जाये—इसके लिये चेष्टा करने की ज़रूरत नहीं है। विचार करो, प्रारब्ध सुख और दुःख को लाता है। सुख के लिये तो तुम चेष्टा करते हो, सोचते हो सुख मिल जायेगा। दुःख के लिये तुमने कोई चेष्टा की नहीं, जब बिना चेष्टा के दुःख आया है तो बिना चेष्टा के सुख

भी आयेगा। इसलिये सुख आये तो फूल मत जाओ कि हमारा प्रयत्न सफल हो गया। सुख आया है तो विचार करो कि परमात्मा ने हमें सुख दिया है। इसी प्रकार दुःख आया है तो मैं इसके पीछे क्यों पड़ूं कि जल्दी चला जाये? यह भी परमात्मा ने दिया है।' यह चिंतन करना चाहिये। चाहे उसे प्रारब्ध का फल समझो, चाहे ईश्वर का दिया हुआ समझो, एक ही बात है।

प्रायः लोग समझते हैं, और कहते हैं, कि जैसे क्रिया की प्रतिक्रिया होती है वैसे कर्मों का फल होता है। परन्तु महिम्न स्तोत्र में कहा है 'क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते'। क्रिया की प्रतिक्रिया कहाँ होती है? हमने दीवाल पर गेन्द मारी, दीवार उसे तुरंत वापिस फेंकती है। ऐसा नहीं होता कि हमने आज दीवार पर गेंद मारी और वह वापिस दो महीने बाद हमारे सिर पर लगे! क्रिया की प्रतिक्रिया उसी समय होनी चाहिये। परंतु हम जो कर्म करते हैं वह तुरंत फल देता नहीं। कर्म प्रध्वस्त या समाप्त हो गया तो वह फल कहाँ से देगा? समाप्त हुआ कर्म एक परिस्थिति में फल देता है : किसी आदमी की तुम सेवा कर रहे हो। मालिक ने कहा 'आज बहुत से मेहमान आ रहे हैं, पाँच बजे न जाकर रात नौ बजे तक रह जाना।' तुम कहते हो 'ठीक है, रह जाऊँगा।' साढे नौ भी बज जाते हैं। वही मालिक दूसरे से कहता है तो वह जवाब देता है 'जी, मेरे तो पाँच बजे आठ घंटे पूरे हो गये, घर में काम है, मुझे जाना है।' वह चला जाता है, तुम रह जाते हो। मालिक उस दिन तुम्हें कुछ देता भी नहीं है। महीने-बीस दिन बाद फिर कोई काम हुआ तो मालिक तुमसे कहता है 'सवेरे कुछ लोग आ रहे हैं, इसलिये सात बजे आ जाना।' तुम कहते हो—'ठीक है, आ जाऊँगा।' दूसरे से भी मालिक कहता है तो वह जवाब देता है 'मेरी ड्यूटी तो दस बजे से पाँच बजे की है।' इसी प्रकार पाँच सात बार हो गया। तुमने रात की ड्यूटी की, सवेरे सात बजे भी आ गये। मालिक ने कोई फल तब तो दिया नहीं। कई महीने बाद जब तन्ख्वाह बढ़ाने का समय आता है तब मालिक तुम्हारे पाँच सौ रुपये बढ़ा देता है। जिसने नियम से काम किया उसके सौ ही रुपये बढ़ाता है। तुम्हारे पाँच सौ क्यों बढ़ा दिये? इसलिये कि तुम काम करते रहे हो। क्रिया-प्रतिक्रिया कहाँ होती है? क्रिया खुद फल देती है पर केवल तत्काल। यदि किसी पुरुष या चेतन की सेवा कर रहे हो तो उसका फल बाद में भी मिलता है। जब चेतन की आराधना की जाती है तब कर्म खत्म होने के बाद भी वह फल देता है। इसलिये भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में ईश्वर की सिद्धि में इस को भी हेतु बनाया है कि ईश्वर को नहीं मानने से कर्मफल की व्यवस्था बन नहीं सकती। चेतन ईश्वर है इसलिये कर्म का फल होता है। केवल क्रिया-प्रतिक्रिया से कर्म का फल सिद्ध नहीं होता। सबके कर्मों को जानने वाला और उन कर्मों का फल देने वाला सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् होगा तभी फल होगा, यही ईश्वर का लक्षण है। इसी से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सिद्धि होती है।

कर्मों का जो फल हमें मिला है, चाहे सुख हो या दुःख, वह ईश्वर ने दिया है। चाहे

कहो कि कर्म से फल हुआ या कहो कि ईश्वर ने प्रसन्न होकर फल दिया, बात एक ही है। सुख भी परमेश्वर ने और दुःख भी परमेश्वर ने दिया है अथवा सुख-दुःख हमारे कर्म का फल है तो दोनों का एक-जैसा स्वागत करना चाहिये। अविवेकी छोटे बच्चे की तरह दुःखी हो जाता है। बच्चा बाहर गया, कीचड़ से सन कर आ गया। माँ को पता है कि इससे इसे संक्रमण या रोग हो सकता है, इसलिये उसे रगड़कर साफ करती है। बच्चे की समझ में नहीं आता, वह रोता है कि माँ उसे क्यों दुःखी कर रही है। माँ दुःखी नहीं कर रही है बल्कि कीचड़ दूर नहीं होगा तो बीमार होकर दुःख पायेगा, लेकिन उसे लगता है कि माँ दुःखी कर रही है। बच्चा समझता नहीं तो चिल्लाता है। इसी प्रकार से हमने गलत काम किया जिससे गलत संस्कार बने। जब उस गलत काम को करने का फल दुःख हो तभी वह फल खत्म होगा, तब सुख को प्राप्त कर सकोगे। यदि ये दुःख के हेतु अंदर बने रहे तो आगे धीरे-धीरे ज़्यादा नुक्सान करेंगे। बच्चा बारह साल का हो जाये, माँ सर्दी में उसे पकड़कर नहलाये, तो अच्छा उसे भी नहीं लगता लेकिन वह इस बात को समझता है कि यदि ऐसा नहीं किया तो आगे चर्म-रोग होकर कष्ट होगा। ठीक इसी प्रकार जब हम इस बात को समझते हैं कि हमारे पापों को दूर करने के लिये, हमें शुद्ध करने के लिये ही परमेश्वर दुःख दे रहा है, तब भी तकलीफ होती है लेकिन दुःख नहीं होगा। इसलिये भगवान् ने कहा कि इस स्वास्थ्य की प्राप्ति अर्थात् परमेश्वर की प्रसन्नता होने पर इस यत्न करने वाले यति के सारे दुःखों की हानि हो जाती है अर्थात् कोई कष्ट इसे अंदर से दुःख नहीं लगता।

दुःखों की हानि होती है, दुःख नष्ट होते हैं परन्तु चूंकि हमने दुःखों को भी परमात्मा की कृपा मानकर स्वीकार किया था इसलिये उनसे भी हमारे चित्त में कोई क्षोभ नहीं होता। अविवेकी रहते जब हम दुःख देखते हैं तब क्षुब्ध हो जाते हैं, विवेक होने पर क्षोभ नहीं होगा। अतः सारे दुःखों की हानि का उपजन होता है यह कहा। विवेकी की स्थिति पहले से बेहतर हो जाती है। बेहतरपना यह है कि अब वह हमेशा केवल प्रसन्नचित्त रहता है। चित्त अर्थात् अंतःकरण, मन, वह हमेशा प्रसन्न रहता है। मन की प्रसन्नता तब होती है जब मन में किसी प्रकार की अशान्ति न हो। प्रसन्नचित्तता से हर परिस्थिति में वह इस बात को समझता है कि यह परमेश्वर की प्रसन्नता से हो रहा है इसलिये उसके अन्तःकरण में हमेशा शांति रहती है। एक बार लोग किसी जहाज में जा रहे थे। अकस्मात् बड़ा जबर्दस्त तूफान आया, लगा कि यह जहाज डूब जायेगा। कोई माला जपने लगा कोई इबादत करने लगा। एक भक्त वहाँ शांत भाव से सोये हुए थे। उनकी घरवाली को बड़ा गुस्सा आया, कहा 'आप भक्त बनते हैं, सब लोग पूजापाठ कर रहे हैं और आप चुपचाप पड़े सो रहे हैं!' पति झट से उठा और उसकी छाती पर बैठ कर कहा 'तुझे अभी मार डालता हूँ।' पत्नी ने कहा 'सभी मरने जा रहे हैं, मैं भी मरने जा ही रही हूँ, आप मेरे प्रियतम हैं, आपके हाथ से मरना और अच्छा है।' भक्त ने उसे समझाया 'इसी प्रकार मैं

जानता हूँ कि परमात्मा हमें डुबाना चाहता है तो हम बचने की कोशिश क्यों करें? इसलिये मैं आराम से हूँ।' विवेकी की प्रसन्नता हमेशा रहती है, परमात्मा ही उसे प्रसन्न रखता है।

जिसका अन्तःकरण हमेशा परमात्मा में स्थित है, ऐसे स्वस्थ अन्तःकरण वाला ही प्रसन्न रहता है। जिस प्रकार से आकाश सर्वत्र एक-जैसा है, ठीक इसी प्रकार से परमात्मा सर्वत्र एक-जैसा है इसलिये तुम्हारे आत्मस्वरूप से वही मौजूद है। बुद्धि यह बनानी है कि कण-कण और क्षण-क्षण में परमात्मा है और वही परमात्मा मेरे अंदर भी विद्यमान है। आकाश की तरह परमात्मा की सर्वव्यापकता है, उसके अंदर निश्चल भाव से बने रहना है। चूंकि प्रसन्न चित्त वाला है इसलिये सब परिस्थितियों के अंदर उसकी बुद्धि सर्वव्यापक परमात्मा के बारे में स्थिर बनी रहती है। इस प्रकार की बुद्धि से ही कृतकृत्यता आती है। कृत्य अर्थात् जो करना चाहिये और कृत अर्थात् जो कर लिया; जो कुछ करना चाहिये वह कर लिया इसका नाम कृतकृत्यता है। कृत्य एक ही है–कण-कण और क्षण-क्षण में परमात्मा का निश्चय होना। चूंकि चित्त की प्रसन्नता हो जाने पर यह बुद्धि स्थित होती है इसलिये उसे कृतकर्त्तव्यता की प्राप्ति हो जाती है। इस कृत-कर्त्तव्यता की प्राप्ति का बीज भगवान् ने पूर्व श्लोक में बताया था कि राग-द्वेष से रहित होकर जिस समय जो परिस्थिति या विषय सामने आये, उसमें 'मुझे क्या करना चाहिये' यह सोचो, इसके सिवाय नफे-नुकसान को मत देखो, नफा-नुकसान तो परमात्मा के हाथ में है क्योंकि वह मालिक है। और जब दुःख आये तब 'परमात्मा ने ही यह मुझे दिया है'–यह समझो। चूंकि इस प्रकार के आचरण से ही यह कृतकृत्यता आती है इसलिये भगवान् ने इसे करने के लिये कहा, यही एकमात्र उपाय है।।६५।।

इस प्रसन्नता की प्रशंसा भगवान् करते हैं–

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

जिसका अन्तःकरण समाहित नहीं है उसे आत्मस्वरूप का निश्चय नहीं होता, और न ही आत्मज्ञान में उसे अभिनिवेश हो पाता है जिसके अभाव में शांति नहीं होती। अशान्त को सुख कहाँ से होना है!

युक्त नहीं अर्थात् परमात्मा से जुड़ा हुआ नहीं है। परमात्मा से जुड़ा हुआ का मतलब है प्रसन्न चित्त वाला क्योंकि परमात्मा से अलग रहकर ही राग-द्वेष करता है। प्रसन्न चित्त वाले के चित्त में राग द्वेष हैं नहीं इसलिये वह परमात्मा से जुड़ा हुआ है। जो चीज़ जिससे जुड़ती है वह उसके भाव को प्राप्त करती है, यह स्वाभाविक है। गरम चीज़ को ठंडी चीज़ छुएगी तो ठंडी चीज़ की ठंड गरम चीज़ में जायेगी और गरम चीज़ की गर्मी ठंडी चीज़ में आयेगी। परमात्मा ज्ञानस्वरूप, आनंदस्वरूप है। तुम अज्ञानी और दुःख से मिले हुए हो। जितना-जितना परमात्मा से संबंध होता जायेगा उतने-उतने तुम्हारे दुःख नष्ट होते जायेंगे

और तुम्हारा ज्ञान प्रकट होता जायेगा।

विपरीत शंका नहीं करना कि क्या फिर हमारा दुःख भी परमात्मा में चला जायेगा? ब्रह्मसूत्र में किसी ने शंका की कि परमात्मा सब में है, सारे शरीरों में तो दुःख अनन्त हैं क्योंकि संसार में दुःख ही दुःख है। जीव अपने एक शरीर-मन के दुःखों से दुःखी होकर चला तो था परमात्मा से एक होकर आनन्दस्वरूप में स्थित होने, परन्तु परमात्मा से एक होकर तो उसके ऊपर सारे शरीरों के दुःख आ जायेंगे! जिसको कहते हैं 'चौबे जी गये छब्बे बनने दूबे बन के घर लौटे।' हम अपने दुःख को हटाने गये पर क्या दुनिया भर के दुःखों को सिर पर ले लिया? वहाँ समाधान दिया है कि संसार में दुःख अज्ञान का फल है। दुःख नाम की चीज़ संसार में है नहीं, केवल अज्ञान का फल है। जो भी चीज़ है उसके अंदर किसी की दृष्टि से सुखरूपता और किसी की दृष्टि से दुःखरूपता है। एक ही चीज़ में विरुद्ध भाव व्यक्ति की अपेक्षा से है। इसलिये दुःखरूपता किसी एक की दृष्टि से है, सबकी दृष्टि से उसमें दुःखरूपता नहीं रहेगी।

मान लो मुझे किसी ने पाँच रुपये की चीज़ पचास रुपये में बेची, मुझे उसने ठगा, मुझे दुःख हुआ। लेकिन जो ठग कर पचास रुपये ले गया है वह सुखी है। इसलिये एक ही चीज़ में दुःख मेरी दृष्टि से है, सुख उसकी दृष्टि से है। काशी में पिशाच मोचन के मंदिर में एक तपस्वी महात्मा को चोट लगी, घाव हो गया। उन्हें दवाई करने की इच्छा नहीं थी। घाव बहुत बढ़ गया। उनके किसी भक्त ने कहा कि इलाज करना चाहिये, वे नहीं माने। घाव में कीड़े पड़ गये थे। लोगों ने देखा कि एक बड़ा कीड़ा घाव में से गिर गया तो महात्मा जी ने कीड़ा वापिस उठाकर घाव में रख दिया। लोगों ने मना किया तो कहने लगे 'वह बाहर पड़ा-पड़ा मर जायेगा इसलिये उसे घाव में रख दिया।' एक की दृष्टि से दुःख है कि शरीर में घाव है, परन्तु उस कीड़े के लिये घाव सुख है। कोई परिस्थिति ऐसी नहीं जिसमें किसी-न-किसी को सुख न हो और किसी-न-किसी को दुःख न हो। पेट खराब होता है तो डाक्टर कहता है 'अमीबिक डिसेण्ट्री' है। डाक्टर से पूछो 'आपने कहीं अमीबा देखा है?' कहेगा 'एक बूँद में हजारों अमीबा होते हैं, और पेट में तो लाखों होंगे। दवाई से उन्हें मारते हैं।' तुम कहते हो 'पेट ठीक हो गया' और अमीबाओं को दुःख होता है। इसलिये कोई परिस्थिति ऐसी नहीं जिसमें एक को सुख और दूसरे को दुःख न हो।

चूंकि ईश्वर सबके अंतःकरण में एक-साथ मौजूद है इसलिये वहाँ दुःख की संभावना ही कहाँ है! इसलिये ईश्वर के सुख से जीव तो सुखी होगा, जीव के दुःख से ईश्वर दुःखी होने वाला नहीं है। जब तुम परमात्मा से युक्त होते हो तो तुम सुखी हो जाओगे, उल्टा नहीं कि परमात्मा दुःखी होगा। दुःख अज्ञान का फल है, उसी के कारण एक शरीर-मन में बंधन दीख रहा है इसलिये तुम्हारे लिये दुःख है। सर्वव्यापक भाव में तो दुःख की सम्भावना ही नहीं है।

अयुक्त की बुद्धि नहीं होती, निश्चय नहीं होता। अर्थात् जिसका अन्तःकरण परमात्मा

से युक्त नहीं है, उसको परमात्मविषयक निश्चय नहीं होता। वह कभी भी आत्मस्वरूप-विषयक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्यगात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है–ऐसा उसका निश्चय कभी हो नहीं सकता। इसलिये वर्तमान काल में एक नये तरह का विचित्र विचार चला है कि अध्यात्म के अंदर परमात्मा को मानने की ज़रूरत नहीं है। केवल अपने आत्मा को जान लो, काम हो जायेगा, परमात्मा की बात करते हैं तो उन्हें लगता है कि धर्म का विषय हो गया। परमात्मा का नाम लेंगे तो मुसलमान आदि कहेंगे कि हम नहीं मानते। इसलिये केवल आत्मा से काम चलाना चाहते हैं। किंतु प्रश्न है कि आत्मा क्या है जिसका ज्ञान करना है? आत्मा तो तुम हो ही। यदि इसके ज्ञान से मुक्ति होती तो अब तक हो जाती। यदि आत्मा जीव नहीं परमात्मा है इस ज्ञान से मुक्ति होगी, तो परमात्मा को मानना पड़ेगा! परमात्मा की बात करोगे नहीं तो आत्मा जैसा है वैसा ही रह जायेगा। ऐसे अयुक्त बुद्धि वाले चाहे जितना कह लें उनका आत्मस्वरूप-विषयक ज्ञान कभी हो ही नहीं सकेगा क्योंकि जिस आत्मा की वे बात करेंगे वह परिच्छिन्न रहेगा, एक अहंकार वाला ही रहेगा और उस अहंकार वाले आत्मा के ज्ञान से मोक्ष नहीं होगा। थोड़ी देर के लिये शांति मिलेगी, घंटे दो घंटे के बाद जब व्यवहार में जाओगे तब दूसरी चीज़ें तुम्हारे सामने आयेंगी, तुम्हारी अशान्ति फिर शुरू हो जायेगी। प्रायः जो ऐसी बात करते हैं वे कहते हैं कि घोर जंगल में जाकर एकांत में रहो जिससे चित्त में विक्षेप हो ही नहीं। हम कहते हैं कि एकांत है कहाँ? जहाँ भी जाओगे वहाँ मक्खी मच्छर होंगे ही। यहाँ के आदमियों से तो बच जाओगे लेकिन उनका क्या करोगे? ऋषिकेश में एक महात्मा कहते थे कि 'मैं आत्मज्ञानी हो गया होता, लेकिन ये मच्छर ध्यान नहीं लगाने देते!' जिसे एकांत समझते हो, वहाँ तरह-तरह के जीव-जन्तु मिलेंगे, एकान्त कहाँ मिलेगा?

योगवासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि : मैंने एकांत में जाने का सोचा। पृथ्वी पर कहीं एकांत नहीं मिला तो शून्य आकाश में चला गया। यहाँ तक कि जहाँ नक्षत्र, तारे आदि कुछ नहीं थे ऐसे शून्य आकाश में योगज सिद्धि से पहुँच गया। थोड़ी देर में वहाँ एक लड़की की आवाज़ सुनाई दी। चारों तरफ देखने लगा कि यहाँ लड़की कहाँ से आ गई। देखा कि चारों तरफ पेड़ हैं, पहाड़ है, जीव-जन्तु हैं। मैंने देखा कि वहाँ नदी के किनारे एक लड़की कुछ गा रही है। चलकर लड़की के पास पहुँचा और पूछा–तुम कौन हो? लड़की ने कहा–'मैं आपकी पुत्री हूँ।' मुझे आश्चर्य हुआ–मेरी पुत्री! तब उसने कहा–'आप यहाँ एकांत में बैठे तो मन के संस्कार सारे एक साथ यहाँ आकर बैठे। आप सिद्ध हैं इसलिये आपके मन के संस्कारों के फलस्वरूप यह बाहर का संसार आपके अनुकूल पैदा हो गया।' इसलिये, वसिष्ठ जी कहते हैं कि कहीं भी एकांत में जाकर बैठना बेकार है। बंगला भाषा में कहते हैं–आमि जाबे बोंगे कपाल जाबे सोंगे' कहीं भी जाओ, यह कपाल (सिर) तो साथ ही जायेगा। जिस प्रारब्ध को भोग देना है वह सारे भोग सामने लायेगा। परमात्मा सर्वव्यापक है और प्रारब्धफल देने वाला वही है। वसिष्ठ जी वहाँ से

वापिस आ गये। इसलिये एकांत में जा कर कुछ होगा—ऐसा कभी मत सोचो।

शंका होती है कि जगह-जगह एकान्त-वास की विशेषता बताई है 'एकान्ते सुखमास्यतां,' इत्यादि, उस एकांत की विशेषता क्या है? उपनिषद् ने एकांत का अर्थ किया है ''सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयं'' एक नाम परमात्मा का है, और कोई एक नहीं है। अंत अर्थात् सामने। एकमात्र परमात्मा ही सामने रहे—यह एकान्त है। एकान्त किसी देश-विशेष में जाने से नहीं होता। अगर तुम्हारे सामने केवल परमात्मा है तो एकांत है और यदि नाम रूप अनात्म पदार्थ सामने हैं तो अनेकान्त है।

परमात्मा से युक्त होगे तभी अन्तःकरण की समाहित अवस्था में आत्मस्वरूप-विषयक बुद्धि आयेगी। परमात्मस्वरूप-विषयक बुद्धि ऐसी बनेगी कि परमात्मा का अध्यात्म-विषयक ज्ञान हो जायेगा कि इसके अतिरिक्त सब भ्रममात्र है।

इतना ही नहीं, अयुक्त को ज्ञान भी नहीं होता और अयुक्त की भावना भी नहीं होती। भावना का मतलब है आत्मज्ञान-अभिनिवेश अर्थात् आत्मज्ञान को करना है इसका आग्रह होना। जिसका अंतःकरण शांत, समाहित नहीं होता है उसे यह भावना भी नहीं होती कि परमात्मा को प्राप्त करना चाहिये। वह तो हमेशा अनात्म विषयों को ही सोचता रहता है। परमात्मा को भी सोचता है तो अनात्मा के लिये सोचता है। आत्मज्ञान में अभिनिवेश करना पड़ता है। दोनों ज्ञान तुम्हारे सामने आते हैं। यदि थोड़ा भी शास्त्र का अध्ययन किया है तो—आत्मविषयक और अनात्मविषयक—दोनों ज्ञान आते हैं। आग्रहपूर्वक आत्मा में चित्त स्थिर करना पड़ता है।

जिस प्रकार बच्चे को यदि यह अभिनिवेश है कि 'परसों मेरी परीक्षा है, मुझे पढ़ना है' तब सब तरफ से मन को हटाकर पढ़ने लगेगा। जिसको यह अभिनिवेश नहीं होगा वह कहेगा कि 'इस टी०वी० सीरियल को तो देख ही लें, अमुक मित्र से तो मिलके बाद में पढ़ लेंगे।' इस प्रकार करते-करते पेपर का दिन आ जायेगा। ऐसे से कुछ होने वाला नहीं है। जिसका अभिनिवेश होगा वह केवल पढ़ने में लगेगा। इसी प्रकार खेती के बारे में है। दो किसानों की बात है। पानी बरसा नहीं था। दोनों किसान अपना-अपना खेत सींचने में लगे थे। सवेरे से लगे थे, दोपहर के बारह बज गये, लगे रहे। दोनों की घरवालियाँ खेत पर आई। एक की घरवाली ने कहा—'बारह बज गये हैं, धूप भी बहुत तेज़ है, खाना खा लो।' उसने खाना खा लिया और आकर सो गया। दूसरे किसान को जब उसकी घरवाली ने यह कहा तो उसने कहा, कि 'तुम सब लोग जा कर खा लो, मुझे तो आज काम पूरा करना है।' जैसी औरतों की आदत होती है, कहने लगी 'पहले खा लीजिये।' वह किसान ठहरा, डांट कर कहने लगे 'तुझे काट कर फेंक दूंगा, आज खेत नहीं सींचा तो साल भर क्या खायेंगे!' उसने रात को दस बजे तक खेत में पानी दे दिया। खेती के लिये पानी की नहरों का नियम होता है कि आज इतने बजे से इतने बजे तक पानी मिलेगा, फिर हफ्ते भर बाद मौका आयेगा। उसने उस दिन दस बजे तक पूरा खेत सींच लिया। उसके बाद

घर गया। तेल-मालिश करके स्नान किया और खाकर सो गया। उसकी खेती बढ़िया हो गई। इसका नाम अभिनिवेश है। दूसरे का खेत हफ्ते भर में चौपट हो गया!

इसी प्रकार से मनुष्य शरीर खेत के रूप में मिला है। इसमें गिनी हुई सांसें मिली हैं। उतनी ही सांसें आनी है। जिसका आत्मज्ञान में अभिनिवेश हो गया उसकी बुद्धि भी कहती है कि 'थोड़ा यह कर लें, थोड़ा वह कर लें', लेकिन वह बुद्धि को डाँटकर कहता है कि 'पहले आत्मज्ञान कर ले क्योंकि यह होगा तो सब ठीक हो जायेगा।' दूसरा बुद्धि की बात सुनकर कहता है 'यह काम कर लो, यह भी कर लो।' नतीजा यह होगा कि साँस बंद होने का समय आ जायेगा, संसार के काम तो कभी खत्म होने नहीं हैं! जो अयोगी है उसको यह अभिनिवेश नहीं बन पाता कि परमात्म-साक्षात्कार ही तुरंत कर्त्तव्य है, इसलिये वह वहाँ पहुँच ही नहीं पाता। जो ऐसा अभिनिवेश करके चलता है उसे यह सुख प्राप्त हो जाता है।

जिसे ऐसा आत्मज्ञान का अभिनिवेश नहीं होता उसे कभी शांति नहीं होती। संसार के अनेक विषयों में अशांति के कारण बने रहते हैं। इसलिये भावना से रहित को कभी शांति नहीं और बिना शांति के सुख संभव नहीं है। इन्द्रियों की विषयतृष्णा से निवृत्ति करने से ही इस सुख की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती।६६।।

जो योगी नहीं है उसको बुद्धि, भावना, शान्ति और सुख की प्राप्ति क्यों नहीं हो सकती? इसका उत्तर देते हैंः

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

जैसे तेज़ हवा, जल में तैरती नौका को सही रास्ते से भटका देती है वैसे इन्द्रियाँ विषयों से संबद्ध होने पर जो मन उन इन्द्रियों का अनुसरण करता है वह इस यत्नशील साधक की विवेकजन्य प्रज्ञा को आत्मा से हटाकर अनात्मा में लगा देता है।

अयोगी को प्रज्ञा या बुद्धि क्यों नहीं हो पाती? क्योंकि इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होने पर मन उन इन्द्रियों के विषयों की तरफ चला जाता है। इन्द्रियाँ अनेक हैं और मन एक है। शास्त्रकारों ने कहा है कि जिस की पत्नियाँ अनेक हों वे उस पति को नोचती हैं! एक बार एक चोर किसी बड़े आदमी के घर चोरी करने चला गया। उस आदमी की दो पत्नियाँ थीं। एक ऊपर के तल्ले में और दूसरी नीचे के तल्ले में रहती थी। दोनों चूँकि बार-बार झगड़ा करती थीं इसलिये दोनों का समय भी बाँट दिया था कि रात में बारह बजे तक सेठ नीचे वाली के पास और बारह बजे के बाद कलेवे तक दूसरी के पास रहता था। एक दिन देर से आया, थक गया था। ऊपर वाली के पास जाने का समय हुआ तो नीचे वाली ने कहा 'आज सात-आठ बजे के बजाय दस बजे तो आये हो, इसलिये आज घंटे भर बाद ऊपर जाना।' तब तक ऊपर वाली आ गई और कहने लगी 'मेरा समय

हो गया, ऊपर चलो।' एक ने ऊपर से हाथ पकड़ा और दूसरी ने नीचे से पैर खींचना शुरू किया। हल्ला-गुल्ला मच गया, नौकर चाकर भी जग गये। वहीं उन्होंने सीढ़ी में चोर को खड़े देखा और उसे पकड़ कर थाने ले गये। थानेदार ने कहा—'तुझे क्या सज़ा दी जाये?' उसने कहा—'हुजूर! मुझे जेल में भले ही डाल दो लेकिन दो पत्नियों का पति बनने के लिये मत कहना, उससे तो जेल ही अच्छी है।' दो पत्नियाँ ही बुरा हाल करती हैं और यहाँ तो बहुत पत्नियाँ हैं। आँख, कान, जीभ इत्यादि सब अपनी-अपनी तरफ खींचती हैं। ऐसे में इसको शांति और सुख कहाँ से मिले?

इन्द्रियाँ 'चरती' हैं, जैसे बकरी अपने खाने की चीज़, गाय अपने खाने की चीज़ चरेगी वैसे ही आँख रूप को, कान शब्द को चरेंगे अर्थात् सब अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होंगे। उनके ऐसा करने पर मन उनके पीछे-पीछे प्रवृत्त होता है। पहले जब कोई बात कही जाती है, उसे वाद कहते हैं और उसी बात को जब कोई दूसरी बार कहता है तो उसे अनुवाद कहते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों के पीछे मन प्रवृत्त होता है। इन्द्रियों के विषयों की विकल्पना में प्रवृत्त मन यति की, प्रयत्नशील साधक की, प्रज्ञा का हरण कर लेता है। जिस मन से परमात्मा में लगना है उसी मन को इन्द्रियाँ खींचकर विषयों में लगा देती हैं। आत्मा और अनात्मा के विवेक से होने वाला जो ज्ञान है उसी को प्रज्ञा कहते हैं। विवेक अर्थात् अलग-अलग करना। आत्मा और अनात्मा हम लोगों के लिये हमेशा मिले हैं।

आत्मा अर्थात् मैं। साधारण भाषा में 'मैं' कहते हैं उसी को शास्त्रीय भाषा में आत्मा कहते हैं। इसलिये सूत्रभाष्य में कहा है 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्'। 'मैं' इस प्रतीति का विषय आत्मा है। इस 'मैं' में कोई चीज़ आत्मा है, और कोई चीज़ अनात्मा है। ऐसे समझ लो : जलेबी को मीठा कहते हो लेकिन जलेबी में कुछ मीठा है और कुछ मीठा नहीं है। उसमें चीनी वाला हिस्सा तो मीठा है लेकिन उसमें मैदे वाला, घी वाला, पानी वाला हिस्सा मीठा नहीं है। यद्यपि कहने को कह देते हो कि मीठा परोसो लेकिन व्यवहार में मीठा और गैर मीठा मिलाकर व्यवहार होता है। यदि कहीं भोजन करने जाओ और वह तुम्हारे लिये चीनी परोस दे, क्योंकि भोजन के प्रारंभ में मीठी चीज़ परोसनी ही है; तो कहोगे कि 'उसने कोई मीठी चीज़ बनाई ही नहीं', जबकि चीनी से ज़्यादा मीठा और कुछ नहीं है! इसी प्रकार हम जब मैं के साथ व्यवहार करते हैं तो आत्मा के साथ अनात्मा मिला देते हैं। आत्मा तो वहाँ है जिसे 'मैं' शब्द से कहते हैं, परंतु अनात्मा मिला हुआ है। जब कहते हो 'मैं गोरा हूँ', तब गोरा तो शरीर है और शरीर आत्मा नहीं है। मैं और शरीर को तुमने एक कर दिया, तभी कहोगे मैं गोरा हूँ।

अथवा 'मैं ब्राह्मण हूँ'। ब्राह्मण तो शरीर है, ब्राह्मणी माँ और ब्राह्मण बाप से उत्पन्न शरीर ही ब्राह्मण है। इसलिये उसे जाति कहते हैं। 'जायते' जो पैदा होता है उसी को जाति कहते हैं। आजकल बहुत-से लोग जो यह प्रश्न करते हैं कि वह क्रोधी है, शराबी है, उसे आप ब्राह्मण कैसे कहते हैं? वे लोग यह नहीं समझते कि ब्राह्मण तो उसके शरीर को कहा

जा रहा है। शराब की आदत उसके मन ने डाली इसलिये उसका मन शराबी, क्रोधी है। परंतु शरीर तो ब्राह्मण का ही है। इसलिये पुराने लोग कहा भी करते थे कि चाहे जितनी दुलत्ती मारे लेकिन घोड़ा गधा तो नहीं हो जायेगा! साँप कितना ही शांत हो जाये परंतु वह रहेगा तो साँप ही, हाँ शांत साँप है। इसी प्रकार ब्राह्मण चाहे जितना बुरा हो, शराबी-कबाबी हो, है तो वह ब्राह्मण ही। जब कहते हो 'मैं ब्राह्मण हूँ,' तब ब्राह्मण शरीर है, मैं ब्राह्मण हूँ नहीं, परन्तु दोनों को मिलाकर व्यवहार करते हैं।

इससे आगे चले तो इन्द्रियों के साथ अपने को एक कर लेते हैं 'मैं देखने वाला हूँ'। पूछो किसने देखा था? कहता है 'मैंने खुद देखा था।' देखने वाली तो आँख है। यदि मैं देखने वाला हूँ तो आँख फूटने पर भी देखा करूं! अपने को आँख से एक करके कहते हो 'मैं देखने वाला हूँ।' या कान के साथ एक होकर कहते हो 'मैं सुनने वाला हूँ।' इसी प्रकार प्राणों से अपने को एक कर लेते हो। भूख-प्यास प्राण में रहेंगे। 'मैं भूखा हूँ' यहाँ प्राण में रहने वाली भूख से एक होकर कहते हो 'मैं भूखा-प्यासा हूँ' इसी प्रकार मन से एक होकर ही 'मैं सुखी, मैं दुःखी हूँ'। सुखी-दुःखी तो मन है, 'मैं' तो हूँ नहीं। कैसे पता लगे मैं सुखी दुःखी नहीं हूँ? विचार करो, जब आदमी बहुत दुःखी होता है तो डाक्टर उसे अफीम का इन्जैक्शन लगा देता है। वह मरता नहीं, लेकिन दुःखी नहीं रहता क्योंकि तब मन नहीं रहता। ऐसे ही गहरी नींद में चले गये, तो दुःख नहीं रहता। अफीम का नशा चढ़े, तो मन नहीं रहने से सुख-दुख नहीं रहते। विचार करने पर, समझाने पर आत्मा-अनात्मा अलग लगते हैं परन्तु जब मन इन्द्रियों के पीछे चल देता है, उस समय यह विवेकज प्रज्ञा हट जाती है। इन्द्रियों के पीछे जाने वाला मन इस प्रज्ञा का, इस आत्मा-अनात्मा के विवेक से हुए ज्ञान का हरण कर लेता है। उस समय यदि कोई तुम्हें समझाये भी तो कहोगे 'अपना वेदान्त रहने दो।' ऐसा क्यों कहते हैं? बात को समझ तो रहे हैं परन्तु प्रज्ञा का हरण हो गया है अतः स्वयं अपने अंदर वह प्रज्ञा नहीं उत्पन्न हो पाती है कि यह मैं नहीं हूँ। शान्ति से बैठकर विचार करके जो विवेकज प्रज्ञा हमने उत्पन्न की वह, जैसे ही इन्द्रियों के व्यवहार में लगे, कि गड़बड़ा जाती है। जिस प्रकार चारों तरफ चिल्लपों मची हो और वहाँ कोई संगीत का अध्यापक तुम्हें स्वर का ज्ञान कराने को कहे तो क्या स्वरज्ञान तुम्हें हो सकेगा? जहाँ कहीं शोर नहीं है, वहाँ एकान्त में बैठ कर स्वरज्ञान हो सकता है। फिर भी अधिक शोर के बीच स्वर पहचानना संभव नहीं होता। ठीक, इसी प्रकार से जब तुम व्यवहार की तेज़ी में जाते हो, तब विवेक से प्राप्त प्रज्ञा का भी हरण हो जाता है।

कैसे? भगवान् दृष्टांत देते हैं 'वायुर्नावमिवाम्भसि।' बड़ी भारी झील के अंदर नाव लेकर चले। तभी बड़े ज़ोर से हवा चले और तुम नाव को एक तरफ ले जाना चाहो तो हवा दूसरी तरफ ले जाती है। चाहो कि नाव इधर-उधर न डोले तो नहीं रोक सकते। जैसे वायु जल में नाव को बहा ले जाती है उसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ मन को बाहर हरण करके ले जाती हैं, आत्मा-अनात्मा के विवेक में स्थिर नहीं रहने देती। लेकिन जिस व्यक्ति ने

संगीत का दृढ अभ्यास कर लिया वह चिल्लपों में से भी स्वरों को पहचान लेगा। इसी प्रकार जो दृढ अनुभवी हो गया है उसके सामने तो विषयों से व्यवहार करते समय भी विषयों और विषयी का भेद स्पष्ट रहेगा। परन्तु अभ्यासी के लिये यह संभव नहीं है। होता क्या है? किसी बड़े गवैये को शोर के बीच में गाते हुए देख कर आदमी कहता है कि हम भी इस शोर में गाना क्यों नहीं सीख सकते! नहीं सीख सकते, क्योंकि वह विशेषज्ञ है, तुम अभी अभ्यासी हो।

जिसका आत्मा-अनात्मा का विवेक दृढ हो गया है वह जहाँ कहीं नाम-रूप को देखता है वहीं नाम-रूप का बाध करके आत्मा को पहचान लेता है। इसलिये उसके लिये यह संसार ही नंदन वन हो जाता है। प्रत्येक चीज़ उसके लिये कल्पवृक्ष हो जाती है क्योंकि उसने परब्रह्म का दृढ दर्शन या ज्ञान प्राप्त कर लिया अर्थात् उसे दृढ ज्ञान हो गया। कल्पवृक्ष उसे कहते हैं जहाँ बैठ कर अपनी इच्छा पूर्ण कर लो। ब्रह्मनिष्ठ के लिये सब चीज़ें उसकी इच्छा को पूर्ण करने वाली हो जाती है। तुम चाहते हो कि दो-चार लोग ही मेरी बात मान लें तो जीवन सुखी हो जाये पर वे ही नहीं मानते। जिन दो-चार को तुम चाहते हो कि तुम्हारी बात थोड़ी मान लें, वे ही तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं करते हैं। दूसरी ओर, ब्रह्मवेत्ता की इच्छा सब लोग पूरी करते हैं। मान लो तुम क्वीन एलिजाबेथ-द्वितीय नाम के पानी के जहाज में बैठे हो, जो दो सौ टन वजन का है। उस जहाज में बैठकर जाओगे तो चाहे जितनी तेज़ हवा चले, तुम्हें कोई उथल-पुथल नहीं महसूस होगी। परन्तु यदि तुम काशी की दो आदमियों के द्वारा चलने वाली नाव में जाओ तो हवा तेज़ होने पर झटके न लगें, यह कैसे होगा? जैसे पानी में कमज़ोर नौका को वायु इधर-उधर कर देती है, मज़बूत जहाज का कुछ नहीं बिगाड़ सकती, इसी प्रकार जो प्रज्ञा प्रबल होती है वह स्थिर बनी रहती है लेकिन इन्द्रियों के विषयों के पीछे चलने वाला मन इस कमज़ोर यति की प्रज्ञा का हरण कर लेता है। कमज़ोर नाव को मार्ग से ले जाना है तो उसको उस समय ले जाना पड़ता है जब वायु न चल रही हो। कलकत्ते में रहने वाले लोगों को पता होगा कि समुद्र से बड़े ज़ोर की लहर आती है जिसे 'बाण' कहते हैं क्योंकि वह तीर की तरह आती है और गंगा जी में एक साथ पचास-साठ फीट ऊपर तक पानी उछल जाता है। वह चालीस मिनट के करीब रहकर जब नीचे जायेगा तब पानी भी पचास फीट वापिस नीचे चला जायेगा। रोज़ अखबार में निकल जाता है कि आज अमुक समय पर बाण आयेगा, उसका आना चन्द्रमा से संबंधित है। उस समय को छोड़कर बाकी समय नौका वाले ले जायेंगे। उसी समय तुम जाने की ज़िद करोगे तो नहीं ले जायेंगे। उस बाण के अंदर नाव तो नहीं जाती परन्तु समुद्री जहाज आ जाते हैं क्योंकि उनके ऊपर उस बाण का कोई असर नहीं होता है।

ठीक इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त न हो रही हों उस समय तुम अपनी विवेकज प्रज्ञा को दृढ कर लो। दीर्घकाल तक यह कर लिया तो व्यवहार करते हुए भी दृढ

रह सकोगे। प्रायः यह समस्या रहती है : लोग पूछते हैं कि सवेरे जप करने का समय नहीं मिले तो मोटर में भी कर सकते हैं या नहीं? क्योंकि वे रात में टी.वी. पर विम्बल्डन टैनिस का मैच देखते हैं, सवेरे चार बजे तो सोते हैं। जप का समय निकल गया क्योंकि उसी समय सोना है। कुछ लोग कह भी देंगे कि भगवान् का नाम ही तो लेना है, क्या फ़र्क़ पड़ता है! जो अपनी इंद्रियों पर इतना भी नियंत्रण नहीं रख पाता कि सोने-उठने के समय का पालन हो, वह गाड़ी में चलते हुए भगवच्चिंतन कर सकेगा यह संभव नहीं। उसका जवाब भगवान् यहाँ दे रहे हैं कि 'बाण' के समय अपनी नौका को लेकर जाना चाहोगे तो सिवाय डूबने के और कुछ नहीं होने वाला है! उस समुद्री जहाज की नकल करके नाव नहीं चला सकोगे। इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति करके ही योग का अभ्यास सम्भव है। इन्द्रियों को जिसने वश में कर लिया है उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।।६७।।

इस प्रकार से 'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।' (श्लो-६०) से प्रारम्भ कर कही बात को अनेक प्रकार से समझाया। अब इस बात का उपसंहार करते हैं अर्थात् समझाई हुई बात का निगमन करते हैं।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

हे महाबाहो! (क्योंकि इंद्रिय नियंत्रण इतना प्रभावी है) इसलिये जिस यत्नशील साधक की इंद्रियाँ अपने विषयों से व्यवहार करने में हर तरह से नियंत्रित हो चुकी हैं उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है।

यहाँ तक जो बात समझाई उसका नतीजा बता रहे हैंः महाबाहु अर्थात् बड़ी-बड़ी भुजाओं वाला अर्जुन। बड़ी भुजाओं वाला आदमी बड़े काम करता है। इसलिये अपने यहाँ देवी-देवताओं के हाथों की संख्या बढ़ती रहती है! किसी के चार हाथ हैं, किसी के दस हाथ हैं। कलकत्ते में हावड़े की तरफ हजार भुजाओं वाली देवी है। इसी प्रकार एक राजा भी सहस्रबाहु हुआ है। अधिक भुजायें आदमी के कार्य करने की क्षमता को बताती हैं। यहाँ भगवान् अर्जुन को महाबाहु कह उसे उत्साहित कर रहे हैं कि तुम्हारे में यह करने की क्षमता है, भले ही तुमने इस क्षमता को अभी इधर नहीं लगाया है।

उपनिषद् में कथा आती है कि अजातशत्रु नाम का एक राजा था। उसने सारे संसार को विजय कर लिया। जो आये उससे पूछे 'क्या कोई ऐसी जगह है जिसे मैं जाकर जीतूं?' बहादुर के हाथों में लड़ाई के लिये खाज चलती है! धीरे-धीरे नारद जी को पता लगा। नारद जी उसके पास आये, उनसे भी पूछा, 'क्या कोई ऐसी जगह है जिसे मैं जीतूं?' नारद जी ने कहा—'है।' उसने तुरंत नगाड़ा बजा दिया। पुराने ज़माने में युद्ध के लिये जाना होता था तो नगाड़ा बजाते थे। सारी सेना तैयार होकर आ गई। अजातशत्रु ने नारद जी से कहा—'वह जगह बताइये, हम जाने के लिये तैयार हैं।' नारद जी ने कहा—'कहीं

जाने की ज़रूरत नहीं है। तुम्हारे पास ही शत्रु बैठे हैं। तुमको खुजली चलती है तो तुम जानते हो कि खुजली नहीं करनी चाहिये, क्योंकि एग्ज़िमा रोग बढ़ जायेगा, फिर भी करते हो।' अजातशत्रु ने माना कि 'वह तो करता हूँ।' नारद जी ने कहा—'खुजली तुमसे जबर्दस्ती करवा लेती है तो वह तुम्हारी दुश्मन हुई, जो तुम नहीं चाहते हो वह तुमसे कराती है। इसी प्रकार से तुम इन्द्रियों के गुलाम हो। अतः इन इन्द्रियरूपी दुश्मनों को जीतो।' अब अजातशत्रु की समझ में बात आई कि यह बात तो ठीक है। नारद जी ने उसे समझाया कि जैसे इन्द्रियाँ हैं, ऐसे ही मन भी एक इन्द्रिय है। इनके वश में न रहकर इन्हें जीतो। इन्हें जीतने के लिये बाहर की फौज काम नहीं करेगी।

इसी प्रकार से भारत की समस्या है : हम क्यों अपने यहाँ कानून और व्यवस्था को नहीं सुधार पाते? क्योंकि हम सोचते हैं कि आँख फोड़ लेंगे तो आँख ठीक हो जायेगी! हमको बाहर के शत्रुओं के प्रति जो व्यवहार करना चाहिये वही हम अपने अंदर के शत्रुओं के प्रति करने का प्रयत्न करते हैं। गाँव में झगड़ा हुआ तो झट फौज भेजो क्योंकि बाहर के शत्रुओं के लिये यही किया जाता है। अंदर के शत्रुओं को जीतने का ढंग कुछ और है, अगर तुम चाहते हो कि देश में कानून की व्यवस्था हो तो तुम्हें ऐसी शिक्षा देनी पड़ेगी कि लोग व्यवस्थित हों। शिक्षा तो सारी ऐसी है कि लोग अव्यवस्थित हों क्योंकि अव्यवस्था को तुम जागृति मानते हो! कहीं झंझट हो तो कहते हैं—लोग जग रहे हैं। जब लोग अव्यवस्थित होते हैं तभी कानून व्यवस्था बिगड़ती है। तुम समझते हो कि पुलिस या मिलिट्री के द्वारा रोक लें। ऐसे यह अव्यवस्था कभी रुकने वाली नहीं है।

अजातशत्रु विचार करने लगा कि इन इन्द्रियों को कैसे जीतूं? बाहर के शत्रु को मारने के लिये तो फौज थी, पर फौज अंदर के शत्रु के लिये काम नहीं आयेगी। अंदर की व्यवस्था सम्भालनी है तो ठीक शिक्षा देनी पड़ेगी। शिक्षा से संस्कृत पुरुष ही निश्चय रख पायेगा कि गलत काम नहीं करना है। प्रयत्न करने पर भी शिक्षित व्यक्ति गलत काम नहीं कर पायेगा। जिसने घूस देना ग़लत है यह निश्चय कर रखा है उससे मज़बूरी में भी घूस नहीं दी जायेगी, देगा भी तो शरम आयेगी। जैसे संस्कार शिक्षा के द्वारा डालोगे, वैसे ही कार्य होंगे। व्यवस्था के संस्कार वाले अव्यवस्थित नहीं हो पायेंगे। इन्द्रियाँ और मन तुम्हारे अंदर के दुश्मन हैं, बाहर के दुश्मन नहीं हैं। इन्हें शिक्षित करना पड़ेगा कि कैसे व्यवहार किया जाता है। व्यवहार करने का सारा तरीका शास्त्र में बताया है। हर-एक आदमी खुद निर्णय नहीं कर पाता। जब हम शास्त्र के अनुकूल इन्द्रियों से व्यवहार करते हैं तब वे संस्कृत हो जाती है और फिर ऊट पटांग नहीं दौड़ती।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन! तू महाबाहु है परन्तु अभी तूने अंदर के शत्रुओं को जीतना नहीं सीखा है। उस शिक्षा को अब दृढ करो। साधक को इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार से निगृहीत करनी पड़ती हैं। सब प्रकार से; व्यवहार शारीरिक वाचिक और मानस होते हैं, उन सभी व्यवहारों में शिक्षित होना पड़ेगा। शारीरिक व्यवहार—मैंने किसी

को थप्पड़ मारा; वाणी से व्यवहार उसे बेवकूफ गधा कहा; मन से व्यवहार 'तूने मुझे ऐसा कहा है, तुझे भगवान् देखेंगे' अर्थात् मन-ही-मन बुरा सोचना। इन्द्रियाँ विषयों के साथ तीनों प्रकार के व्यवहार करती हैं, शिक्षित व्यक्ति की सभी इन्द्रियों का व्यवहार निगृहीत हो जाता है।

'निग्रह' शब्द समझना चाहिये : ग्रह अर्थात् पकड़ना या रोध करना (रोकना)। जैसे कोई दौड़कर आ रहा है, उसे पकड़कर रोक देते हैं; पुलिस वाले दौड़ते हुए चोर को पकड़ लेते हैं अर्थात् उसे कुछ करने नहीं देते। दूसरा पकड़ना होता है जैसे तलवार को पकड़कर दूसरे की गर्दन काट देते हो। तलवार को पकड़ने का मतलब है कि तलवार से व्यवहार करने की क्षमता है, जैसे मैं चाहूँ वैसे तलवार चले। और चोर को पकड़ने का मतलब है कि चोर कुछ न कर सके। इन्द्रियों के निगृहीत होने का मतलब यह नहीं कि तुम अंधे, लूले, लंगड़े, बहिरे, गूंगे हो जाओ कि तुम्हारी कोई इन्द्रिय काम ही न करे! यह निग्रह नहीं है। वरन् तुम इन्द्रियों से जो करवाना चाहो वह करवाओ, वे अपने मन से कुछ न कर सकें, तुम्हें इन्द्रियों को चलाना आये—यह निग्रह है।

जब इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों का निग्रह कर लिया अर्थात् इन्द्रियाँ अपनी कामना से तुमको विषयों में प्रवृत्त नहीं करती, तुम इन्द्रियों को विषयों की तरफ प्रवृत्त करते हो; जब ऐसा हो जाता है अथवा जिस साधक का ऐसा अभ्यास हो जाता है तभी व उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। लौकिक और वैदिक व्यवहार जब तक जीवित हो तब तक करने पड़ेंगे। लौकिक अर्थात् जिसका दृष्ट फल है। हमने चावल उबाला, चावल गल गया, यह दृष्ट फल है। इसी प्रकार हमने बिस्तरे को लपेटा, जगह खाली हो गई, बैठकर भोजन कर सकते हैं। जो लोक में ही फल दे वह लौकिक व्यवहार जब तक जीवित हैं, करना ही पड़ेगा। मल-मूत्र का त्याग, खाना-पीना आदि सब करना पड़ेगा। जो इस लोक में फल नहीं देने वाले कर्म हैं, वे वैदिक व्यवहार हैं। तुमने संध्या की तो इससे पेट नहीं भर जायेगा। लौकिक वैदिक कार्य क्यों करने पड़ते हैं? क्योंकि मैं कर्त्ता हूँ, मैं करने वाला हूँ, इसलिये करने पड़ते हैं। करने वाले के साथ भोगने वाला भी होना पड़ेगा। सचमुच में मैं करने वाला नहीं और भोगने वाला नहीं हूँ। अपने अकर्त्ता-अभोक्तापने की अविद्या के कारण ही लौकिक और वैदिक कर्म होते हैं। जब विवेक ज्ञान उत्पन्न हो गया कि 'आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नहीं है और मैं आत्मा हूँ' तब अविद्या की निवृत्ति हो गई। मैं न कर्त्ता न भोक्ता तो न लौकिक और न वैदिक कर्म होंगे।

अविद्या-निवृत्ति के बाद भी लोगों के शरीर काम करते दीखते हैं किंतु एक फ़र्क है : ऐसे समझो—इस पंखे को बिजली चला रही है। इस बल्ब को बिजली जला रही है। लेकिन बिजली जाते ही रोशनी तो बंद हो जाती है परन्तु पंखे की हवा एकाध मिनट तक चलती रहती है यद्यपि वहाँ बिजली नहीं है! उस पंखे को अब बिजली नहीं चला रही है। अब तो चलने का जो संस्कार पड़ गया है उसके अनुसार चल रहा है। ठीक इसी प्रकार से आत्मा

और अनात्मा के संबंध से सारा लौकिक वैदिक व्यवहार हो रहा है। जैसे ही यह संबंध टूटता है वैसे ही वैदिक व्यवहार बंद हो जाते हैं क्योंकि उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा। वैदिक व्यवहार मरने के बाद फल देने वाले हैं। इसे तो जन्म लेना ही नहीं है अतः उन व्यवहारों का प्रसंग ही नहीं है। लौकिक व्यवहार पंखे की जगह हैं। शरीर में जो चाबी भरी है वह पहले के संस्कारों से चलती रहेगी। मुक्त को ऐसे व्यवहार चलाने के लिये न अविद्या चाहिये, न कर्तृत्वाध्यास। अगर लोकशिक्षा के लिये ज़रूरी समझेगा तो शास्त्रीय व्यवहार भी प्रदर्शित कर देगा किंतु उसे हमेशा अपने अकर्तृत्व का निश्चय बना रहेगा। अविद्या और विद्या परस्पर विरोधी हैं इसलिये साथ-साथ नहीं रह सकते।।६८।।

इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से जब निगृहीत हो जाती हैं तब प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। निगृहीत का मतलब है कि इन्द्रियाँ तुमको न खींच सकें, तुम इन्द्रियों के द्वारा व्यवहार कर सको। व्यवहार करना ही मनुष्य की विशेषता है। अज्ञानी मनुष्य अपने को कर्त्ता-भोक्ता समझता है इन्द्रिय और मन के अधीन हो कर। चाहिये यह कि कर्त्ता-भोक्ता न होते हुए इन्द्रिय और मन को अपने अधीन करके व्यवहार के लिये कर्त्ता-भोक्ता समझे। अभी इन्द्रिय और मन को चलाने की अपेक्षा उनके पीछे नाचने वाला कर्त्ता है। लोक में व्यवहार के कार्यों का कर्त्ता आदमी माना जाता है, परन्तु असल में कर्त्ता तो उसकी बीवी है! बीवी जैसा कहे वैसा वह करता है। बदनामी तो आदमी की होती है क्योंकि सब लोग कहते हैं कि 'इसने ऐसा किया।' इसी प्रकार मनुष्य कर्त्ता-भोक्ता है। सब उसी को कर्त्ता-भोक्ता मानते हैं, परन्तु उसे नचाने वाली तो इन्द्रियाँ और मन हैं। इन्द्रिय, मन के अधीन होकर वह बेचारा बदनाम होता है। इच्छा वह इन्द्रियों की पूरी करता है परन्तु सर्वत्र प्रसिद्धि यह होती है कि 'यह आदमी अच्छा नहीं है।' जब उसने इन्द्रियों का इन्द्रियों के विषय से निग्रह कर लिया, तब वह सच्चा कर्त्ता बन जाता है। अब वह इन्द्रियों और मन की कामनाओं के द्वारा कर्त्ता नहीं बनता है, इसलिये तदनुकूल भोक्ता भी नहीं होता है। अतः वह सारी दुनिया से दूसरे ढंग का हो जाता है। इसी को भगवान् दृष्टांत से बताते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६६।।

जो सब प्राणियों के लिये रात्री है उसमें संयमी सिद्ध जागता है। जिसमें सब प्राणी जागते हैं, वह जानकार मुनि के लिये रात है।

सारे संसार के लौकिक लोगों को परमात्मा रात की तरह लगता है : जैसे रात में कुछ नज़र नहीं आता ऐसे ही लौकिक लोगों को परमात्मा की कोई बात नज़र नहीं आती। रात में—अर्थात् परमात्मा, जो सारे प्राणियों के लिये रात्रि है उस में, संयम कर लिया अर्थात् इन्द्रियों को इन्द्रियार्थ से निवृत्त कर दिया। पतञ्जलि ने धारणा, ध्यान, समाधि तीनों को

संयम शब्द से कहा है 'त्रयमेकत्र संयमः'। समाधि के अंदर मन सर्वथा एकाग्र है, ध्यान के अंदर सर्वथा एकाग्र नहीं है। बीच-बीच में वृत्ति टूटती है पर पुनः वही वृत्ति बनाकर कायम रखी जाती है। प्रत्यय अर्थात् वृत्ति की एकतानता अर्थात् लम्बे समय तक कायम रहना ध्यान है। धारणा का मतलब है चित्त को बाहर या भीतर किसी स्थान-विशेष में बाँध देना। इसमें ध्यान से भी कम एकाग्रता रहती है। धारणा, ध्यान, समाधि–तीनों को मिलाकर संयम कहते हैं। संयमी का व्यवहार कभी तो धारणा होता है जैसे सबसे बात कर रहा है। कभी ध्यान से किसी को समझा रहा है। कभी एक ही बात में मग्न रहता है–यह समाधि की स्थिति है।

संयमी परमात्मा में हमेशा जगता रहता है। समाधिकाल में तो जगता ही है क्योंकि उस समय परमात्मा के सिवाय कोई दूसरा नहीं है; धारणा के समय में भी नाम-रूप को देखते हुए भी उन्हें परमात्मा के आकार में ही देखता है। ठीक जैसे सुनार जिस समय सोने का बिस्कुट खरीदता है उस समय केवल सोना देखता है परन्तु दुकान में जब वह गहने बेचता है तब सोने के साथ गहने को भी देखता है। इसलिये पाँच-पाँच तोले सोने के दो गहनों में दाम का फ़र्क करता है, जिसमें ज़्यादा काम हो उसे पाँच हज़ार रुपये का और कम काम वाले को तीन हज़ार रुपये का बताता है। सोना एक जैसा है, यह जानता है। इसी प्रकार प्राज्ञ नाम-रूप से व्यवहार करते काल में नाम-रूप का व्यवहार करता है परन्तु इस बात में जगा रहता है कि वहाँ पर है तो परमात्मा ही। जब परमात्मा के विषय में बात-चीत करता है तब परमात्मा प्रधान है ही। दृष्टांत आदि सबका प्रयोग करेगा, लेकिन ये सब गौण और परमात्मा ही प्रधान रहेगा। धारणा, ध्यान, समाधि–तीनों में वह हमेशा परमात्मा में जगता रहता है।

'यस्यां जाग्रति भूतानि' सारे प्राणी किस में जग रहे हैं? राग-द्वेषमूलक सारे संसार में। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, राग, द्वेष, मोह आदि से भरा जो संसार है, लोग इसी में जगते हैं। परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला जो मुनि मननशील है, उसे रात की तरह समझ में ही नहीं आता कि ये लोग बिना मतलब के राग-द्वेष कैसे करते हैं! पचास साल के हो गये, पचास साल में मर जायेंगे। सब कुछ छोड़कर चले जायेंगे, इसके पीछे इतनी चिंता में क्यों मग्न हैं?–यह उसकी समझ में ही नहीं आता। संसारी लोगों की समझ में यह नहीं आता कि वह परमात्मा में ही क्यों लगा रहता है! उन्हें लगता है कि संसार में व्यवहार करना चाहिये। ठीक है, परमात्मा भी है, लेकिन करना तो दुनिया का ही काम है! ज्ञानी को ठीक इसके विपरीत लगता है, कि ठीक है, प्रारब्ध के अनुसार दुनिया सामने आ गई है, परन्तु करना तो परमात्मा का ही काम है क्योंकि नित्य हमारा उससे संबंध है। पुरानी औरतें शाम को जब पति के घर आने का समय होता था तब गहने आदि पहनकर अच्छा श्रृंगार करके बैठ जाती थी। पति आता था तो प्रेम से मिलती थी, दोनों मीठी बातें करते थे। आधुनिक औरतों का व्यवहार है कि पति की प्रसन्नता के लिये श्रृंगार नहीं करती।

लेकिन जब पार्टी में जाना हो तब सोचेंगी कि कैसा शृंगार करके जाना चाहिये! रात-दिन रहना पति के साथ है, खुश तो उसे करना है, यह बात आधुनिक औरतों की समझ में नहीं आती। सोचती हैं 'इसके साथ तो सदा हो ही गईं, इसलिये इसके लिये यह सब क्या करना है!' जैसे पुरानी औरतों को नई औरतों का ढंग समझ में नहीं आता और नयियों को पुरानियों का ढंग समझ में नहीं आता, इसी प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी में है : आत्मज्ञान वाला मुनि पुरानी वृत्ति वाला है। वह कहता है कि परमात्मा से हमारा नित्य संबंध है, वह जो चाहता है वही काम करके उसको खुश करना है। संसार की चीज़ें तो पचास साल में चली जानी हैं, इनके पीछे क्यों परेशान होना है! अतः वह परमात्मा की इच्छा ही करता है। परमात्मा के अनुसार ही अपने को सजाकर रखता है। इसलिये 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' जो संसार को खुश करने में, इन्द्रिय-मन को खुश करने में लगे हैं, ज्ञानी की दृष्टि में वे रात की तरह हैं। वे इनको खुश करने में क्यों लगे हैं, यह उसकी समझ में ही नहीं आता।।६९।।

अविद्या-निशा और विद्या-निशा दोनों अलग-अलग हैं। ज्ञान की उत्पत्ति के पहले अज्ञान के कार्य को मनमाने रूप से ग्रहण करते हैं, इसलिये भेद-बुद्धि से ही सारे कर्मों की सिद्धि होती है। ज्ञान के बाद वे सारे व्यावहारिक प्रमाण अप्रमाण हो जाते हैं, सारे भेद ज्ञानी के लिये अभेदरूप हो जाते हैं। अभी हमारे अंदर भेद-बुद्धि ही प्रधान है, किसी को कितना अलग कर सकें—यही प्रधानता है। सारा विज्ञान भेदमूलक है। कई बार लोग कहते हैं कि विज्ञान बढ़ते-बढ़ते परमात्मा को पा लेगा परंतु कभी नहीं पा सकता क्योंकि विज्ञान भेद के परीक्षण में लगा है। जितना भेद कर सको उतनी ही वैज्ञानिक उन्नति ज़्यादा हुई। पहले एक ही डाक्टर होता था। फिर दो हुए—एक फिजीशियन (चिकित्सक) और दूसरा सर्जन (शल्यचिकित्सक)। अब तक पच्चीस-तीस हो गये होंगे। आँख, कान आदि सबके अलग-अलग डाक्टर हैं। आँख में भी एक आगे का बाहरी हिस्सा और दूसरा पिछला, अंदर का हिस्सा होता है। कोई डाक्टर आँख के अंदर वाले हिस्से के लिये बहुत अच्छा होता है, कोई बाहरी हिस्से के लिये। इस प्रकार जितने भेद होते जाते हैं उतनी ही तुम मानते हो कि तरक्की हो रही है।

संसार का सारा व्यवहार भेद-ज्ञान मूलक है। परमात्मा का ज्ञान अभेदमूलक है। सभी के अंदर जो स्थित है उसकी दृष्टि बनानी है। चाहे जितने गहने की डिजाइनिंग (नमूनों) के पाठ्यक्रम (कोर्स) पढ़ लो, उससे तुम्हारे अंदर सोने की एकता का ज्ञान नहीं आयेगा। सोने की एकता के ज्ञान के लिये तो तुम्हें सोने की तरफ नज़र करनी पड़ेगी, गहने से नज़र हटानी पड़ेगी। भेद से दृष्टि हटाने पर सब जगह विद्यमान परमात्मा की दृष्टि बनती है। जब गहनों की तरफ वृत्ति है तब गहनों में (स्थित) सोने की एकता की तरफ वृत्ति नहीं बनेगी। इसलिये परमात्मबुद्धि के लिये आगे स्वयं भगवान् कहेंगे ''तद्बुद्धयस्तदात्मानः तन्निष्ठास्तत्परायणाः'' (५-१७)। जो जिसका निश्चय करता है उसी को अपने हृदय में

धारण करता है। इसी प्रकार ज्ञानी जिस चीज़ में जगता है अज्ञानी उसमें सोता है और अज्ञानी जिसमें जगता है ज्ञानी उसमें सोता है। अतः भेद की एषणा को वह छोड़ता है। भेद के प्रति आकर्षण को वह छोड़ता है। भेद के आकर्षण को छोड़ेगा तभी अभेद की तरफ जायेगा। तुम्हें सुख का अनुभव भेद की चीज़ में होता है। जितना अलगाव की चीज़ को जानो उतना सुख होता है। गेहूं, दाल, साग अलग-अलग खाने में अच्छा लगता है। रोज़ दलिये में ही सब चीज़ें डालकर दे दें तो कितने दिन खाओगे? गाय आदि को सब मिलाकर बाँटा बना कर खिलाते हैं तो वह खा लेती है और उसे पूरा पुष्टिकर भोजन मिल जाता है क्योंकि अभेद है। ऐसे ही यदि आदमी को दोगे तो क्या होगा? खाना वही गेहूं है लेकिन कभी परावठा, कभी रोटा, कभी तंदूरी नान आदि अलग-अलग ढंग से बनाकर खाना अच्छा लगता है। यह सब भेदज्ञान ही है। अभी तुम्हें सुख इस भेदज्ञान का मिलता है, जितना भेद होगा उतना ही सुख होगा। यदि परमात्मा के अभेदज्ञान को लोगे तो सुख किस चीज़ का मिलेगा? भगवान् जवाब देते हैं–

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

जिस प्रकार, भरे जाते हुए फिर भी अपनी सीमाओं में बंधे रहने वाले समुद्र में समस्त जल प्रवेश करता है उसी प्रकार सब कामनाएं जिसमें प्रलीन हो जाती हैं वही शांति पाता है, विषयेच्छुक को शांति नहीं मिलती।

भगवान् कहते हैं कि चीज़ें तुमको किसके लिये चाहिये? चीज़ों के भेद को तुम सुख के लिये चाहते हो, यह निस्संदिग्ध बात है। सारे भेद वाली चीज़ों का प्रयोजन सुख है। कितनी भी भेद वाली चीज़ें दुःख की हों तो उनके पीछे नहीं जाओगे। साँप, बिच्छू आदि अनेक प्रकार के जहरीले जन्तु हैं, उन्हें इकट्ठा करके तुम खुश नहीं होते हो। उन्हीं जन्तुओं को इकट्ठा करोगे जो तुम्हारे लिये सुखप्रद हैं। भेद तुम सुख के लिये चाहते हो अर्थात्, सचमुच तो तुम सुख ही चाहते हो, भेद वाली चीज़ों को नहीं चाहते। भेद वाली चीज़ें सुख देती हैं इसलिये उन्हें चाहते हो। अगला प्रश्न है कि सुख किसलिये चाहते हो? सुख को सुख के लिये नहीं बल्कि अपने लिये चाहते हो, मैं के लिये या मेरे लिये चाहते हो। अतः दुश्मन को सुख होता है तो तुम्हें प्रसन्नता नहीं होती है! सब चीज़ें सुख के लिये और सुख मेरे लिये चाहते हो। आगे 'मैं' को क्यों चाहते हो? इसका कोई जवाब नहीं। मैं 'मैं' हूँ इसीलिये चाहता हूँ। सारे भेदों से प्राप्त होने वाला जो सुख है उसे भी मैं अपने लिये चाहता हूँ।

'मैं' कैसा है? दृष्टांत से बताते हैं : संसार में समुद्र एक ऐसी चीज़ है जिसमें बरसात

में अरबों टन पानी जाता है परन्तु समुद्र का स्तर ऊपर नहीं होता। गर्मी में वहाँ से अरबों टन पानी भाप बनकर आता है परन्तु समुद्र-स्तर नीचे नहीं जाता। दोनों परिस्थितियों में वैसा का वैसा बना रहता है। ठीक यही हाल हमारा है। जन्म से लेकर आज तक न जाने कितने सुख आते रहे परन्तु मेरे में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई, मैं वैसा का वैसा बना रहा। इसी प्रकार जन्म से लेकर आज तक न जाने कितने दुःख आये परन्तु उनसे मेरे में कोई घटोतरी नहीं हुई। मैं तो वैसा का वैसा हूँ। समुद्र पानी से भरा हुआ, आपूर्यमाण है, उसका स्तर न घटता है न बढ़ता है। इसलिये संसार में किसी स्थान की ऊँचाई नापनी हो तो समुद्र से नापते हैं। उस समुद्र में सारी नदियों का पानी जाता है परन्तु वह वैसा का वैसा अचल प्रतिष्ठा वाला है। उसी प्रकार सारी कामनाओं के विषय का अंतिम परिणाम 'मैं' रहा। चाहे सुख चाहे दुःख मिला, मिला तो मुझे ही। इसलिये सारी कामनायें आत्मा में ही प्रवेश कर रही हैं। विषय की जब सन्निधि होती है उस समय में भी जितनी इच्छायें हैं वे पुरुष-रूपी समुद्र के अंदर ही बिना किसी परिवर्तन को लाये हुए प्रवेश कर जाती हैं। मेरे अन्दर से ही कामना उठती है, विषय की तरफ जाती है, विषय मिलने पर वापिस वह कामना मेरे में ही प्रवेश कर जाती है। कामना पैदा तब हुई जब मैंने की। कोई चीज़ काम्य नहीं होती। काम्यता किसी चीज़ में नहीं है। कोई समोसा खाना चाहता है, कोई समोसे का नाम भी नहीं सुनना चाहता। समोसा नहीं बदलता। इसलिये मैं कामना करता हूँ तब पदार्थ काम्य विषय बनता है। पदार्थ में काम्यता नहीं है। उस पदार्थ में काम्यता मैं डालता हूँ। जब पदार्थ मिलता है तब मेरी ही कामना मेरे अंदर आ जाती है। इसलिये सारी ही कामनायें पुरुष रूपी समुद्र के अंदर ही लीन हो जाती हैं, आत्मा में ही प्रविलीन हो जाती हैं। जैसे समुद्र से पानी भाप बनकर उड़ा और समुद्र में ही पहुँचा, वैसे ही कामना हमारे अंदर से निकलकर फिर वापिस आ जाती है। जिसने अपनी कामनाओं को विषयों से हटाकर इस प्रकार अपने अंदर ही स्थिर कर लिया, सारी कामनायें उसी में प्रविष्ट हो गईं, तो उन कामनाओं से मिलने वाला सारा आनंद उसे मिल जाता है।

भगवान् ने तीन जगह जल का दृष्टान्त दिया है। पहले कहा था कि जब चारों तरफ पानी भरा है तब कुएँ, तालाब आदि के पानी से जो काम लेना हो वह सब उसी से ले सकते हैं क्योंकि साफ पानी अपने चारों तरफ उपलब्ध है। दूसरा दृष्टान्त दिया—जैसे जल में नाव को हवा बहा ले जाती है। तीसरा यह समुद्र का दृष्टांत दिया।

जब तुम्हारी सारी कामनायें आत्मा में प्रविष्ट हो जाती हैं तब सारा सुख तुम्हें उसी से मिलने लगता है। विषय सामने होने पर भी तुम आत्मा की कामना को सामने रखो तो कामना आत्मा में लीन हो जाती है। तब सारे सुख की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि सुख देने वाली चीज़ कामना है, चीज़ सुख नहीं देती, तुमने चीज़ की कामना की तो चीज़ ने सुख दिया। अगर तुमने कामना करना छोड़ दिया तो सारी कामनायें तुम्हारे आत्मा में ही रह

गई, अतः आनंद मिल गया। समुद्र का पानी समुद्र में ही रहता है। भाप बनकर उड़कर बरसता है पर अन्ततः पहुँचता समुद्र में ही है। ऐसे ही आत्मा के अंदर कामना का समुद्र है। विषयों की गर्मी पाकर कुछ कामना आत्मा से निकलती है पर विषय मिलते ही कामना आत्मा में लौट आती है। जिसकी कामना आत्मा में रह जाती है उसे शांति रहती है। जब तक विषय में सुख समझोगे तब तक कभी विषय मिलेगा, कभी नहीं मिलेगा, कभी जैसा चाहते थे वैसा नहीं मिलेगा, इसलिये शांति नहीं हो सकती। भगवान् ने पहले ही कह दिया था 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' शान्ति के बिना सुख नहीं हो सकता। शान्ति को प्राप्त करता है अर्थात् सुखी हो जाता है। उसे सुख अपने आत्मा से है। जब वह विषयों की कामना कर रहा था तब भी आत्मा के लिये कर रहा था। जब तक विषय की कामना करोगे तब तक शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। विषयों की ही कामना करना जिसका स्वभाव है वह कामकामी कभी शान्ति को प्राप्त नहीं करता। शान्ति को वह प्राप्त करता है जो विषयों की कामना को छोड़कर इस बात को समझता है कि विषय सुख के लिये और सुख मेरे लिये इसलिये सारी कामनाओं का अन्त 'मैं' में है, विषय में नहीं है। विषय सुख दे तब भी विषय में नहीं है। विषय सुख के लिये और सुख मेरे लिये अतः उस 'मैं' को ही केन्द्र बना लेने पर शान्ति हो जाती है।।७०।।

उक्त तथ्य का नतीजा निकालते हैं–

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

जो ममता-रहित व अभिमान-रहित पुरुष सारी कामनाएं छोड़कर स्पृहाशून्य हुआ विचरण करता है वह शांति प्राप्त करता है।

सब कामनाओं को छोड़ देता है इसका मतलब आत्मकामना को भी छोड़ देता है ऐसा नहीं! आत्मा की कामना तो है, आत्मा से भिन्न विषय की कामना नहीं है। जैसे डाक्टर कहता है कि 'यह दवाई दिन में तीन बार खाना और तीन दिन के लिये कुछ मत खाना' अर्थात् तीन बार दवाई को छोड़कर और कुछ मत खाना। अगर सोचो कि डाक्टर ने कहा था कुछ मत खाना तो दवाई भी न खायें, तो रोग दूर नहीं होगा। इसलिये सारी कामनाओं को छोड़ने का मतलब उल्टा नहीं कर लेना कि परमात्मा की कामना भी न करो। परमात्मकामना को छोड़कर और कामना नहीं करना क्योंकि परमात्मा ही सारे काम्यमान पदार्थों का आधार होने से उसकी ही कामना करनी है। जब अशेष कामनाओं को छोड़ देता है तब निःस्पृह व्यवहार करता है। प्रश्न होता है कि सब कामनाओं को छोड़ देगा तो फिर व्यवहार कैसे करेगा? इसलिये भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि 'चरति', व्यवहार करता है परन्तु निःस्पृह करता है अर्थात् स्पृहा से रहित होकर व्यवहार करता है। मेरे व्यवहार से अमुक प्रयोजन सिद्ध हो–इसलिये व्यवहार नहीं करता है। जो सामने प्रसंग

आ गया उस प्रसंग को कर देना मात्र ही उसका व्यवहार है। इस प्रकार से ही हो–ऐसी कोई स्पृहा नहीं है। ''शरीरजीवनमात्रेऽपि निर्गता स्पृहा यस्य स निःस्पृहः सन्'' आचार्य लिखते हैं कि शरीर रहे या न रहे इसकी स्पृहा भी नहीं रहती। जिस प्रकार तुम्हारे कार्यालय के बाहर कोई चपरासी बैठा है। तुमने बुलाया तो झट अंदर आ गया, नहीं तो चुपचाप बैठा है, बुलाओगे तो तुरंत आ जायेगा। इसी प्रकार मृत्यु उस निःस्पृह को आवाज़ देगी तो झट चला जायेगा। ऐसे नहीं कि वह आवाज़ दे और हम कहें कि अमुक काम रह गया है, अभी नहीं बुलाओ। इस प्रकार शरीर के जीवनमात्र की भी स्पृहा नहीं रहती। मृत्यु आ जाये–यह इच्छा भी नहीं, न आये–यह भी नहीं। जैसे चपरासी की यह इच्छा भी नहीं कि मुझे बुलायें और यह इच्छा भी नहीं कि न बुलायें। इस तरह जो भी व्यवहार सामने आया उसे कर लेता है।

वह निर्मम व्यवहार करता है। किसी भी चीज़ के प्रति 'यह मेरी ही है' यह उसके मन से निकल चुकता है। 'शरीर मेरा है' यह भी उसके मन में नहीं है। सब चीज़ों का एकमात्र मालिक परमात्मा है। हमारी किसी भी चीज़ पर मिल्कियत नहीं है। हमें सब चीज़े लीज़ (पट्टे) पर मिली हैं। काम चलाने के लिये पचास-साठ-सौ साल के लिये शरीर की लीज़ है, तब तक चाहे जैसा व्यवहार करें। लीज़ खत्म हुई तो सब काम खत्म हो जायेगा। इसलिये शरीर इत्यादि के प्रति भी उसकी ममता नहीं रहती है तो जीवन-निर्वाह के लिये जिन चीज़ों की ज़रूरत है, उनमें तो ममता कहाँ से होगी! 'यह ही मेरा, मेरा ही यह' इस प्रकार दोनों भाव नहीं रहते हैं। वह निरहंकार हो जाता है। मैं इतने बड़े कुल का हूँ, मैं इतना पढ़ा लिखा हूँ, मेरी ऐसी-ऐसी योग्यता है–इन सबके द्वारा जो आत्म-सम्भावनायें आती हैं कि मेरे में ये-ये विशेषतायें हैं, उन सब से रहित होता है। वह अपने में किसी विशेषता को नहीं देखता।

एक स्वामी जी थे। उन्होंने एक बांध बनवाया था, लोगों ने खूब मदद की थी। एक बार कह रहे थे कि 'मेरे मन में बंधा बनवाने की बात आई, लोगों से कहा और सबने सहयोग कर दिया। जिसको जो कहता था वह हो जाता था। किसी के लड़का नहीं था तो लड़का हो जाता था, किसी का ब्याह नहीं होता था तो हो जाता था। बंधा बनने के बाद भी लोग आते रहे लेकिन अब कहता हूँ तो कुछ नहीं होता! इसलिये भगवान् ने बंधा बनवाना था तो सारी शक्ति मेरे में दे दी, अब कुछ नहीं होता।' यह निरहंकार भाव है। परमेश्वर को जिस समय जो काम लेना है वही शक्ति देकर काम करवा देता है और जब उसका काम हो जाता है तब वह शक्ति ले लेता है।

इस प्रकार का ब्रह्मवेत्ता सारे संसार के दुःख का उपरम लक्षण जो निर्वाण है,उसे प्राप्त करता है। अधिपूर्वक गच्छति अर्थात् जानता है। तात्पर्य है कि सब कामनायें छोड़ चुका निरहंकार यति आत्मा के नित्यमुक्त स्वभाव का साक्षात्कार कर लेता है, स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है।।७१।।

ज्ञान-निष्ठा की प्रशंसा करते हुए इस अध्याय को समाप्त करते हैं–

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

।।इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम
द्वितीयोऽध्यायः।।

हे पृथानन्दन! यह ब्रह्म में होने वाली अवस्था है। इसे पाकर सिद्ध पुरुष पुनः मोहग्रस्त नहीं होता। अन्त समय में भी यदि इसमें स्थित हो जाये तो मोक्ष पा लेता है।

यह स्थिति, अवस्था ब्रह्म में होने वाली स्थिति है। अपने जितने कर्म हैं, उन सारे कर्मों को छोड़कर केवल अपने ब्रह्मरूप में स्थिति है। 'एषा' अर्थात् हैं तो सभी ब्रह्म में स्थित, परन्तु जानते नहीं। ये जितनी चीज़ें बताई हैं ये कोई नई नहीं आयेंगी। चाहे जितना समझ लो कि 'यह शरीर मेरा है', होगा कभी नहीं! जब भगवान् को लेना होगा, ले लेगा। चाहे जितना सोचो कि 'मुझमें इतनी विद्या है', जब उन्हें लेना होगा, ले ही लेंगे, तुम कितना भी रखो, रहेंगे नहीं। आगे भगवान् कहेंगे 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।' मैं जिस चीज़ को याद करवाना चाहता हूँ करा देता हूँ, जब किसी चीज़ को जनवाना चाहता हूँ तब जान लेते हो और जब स्मृति को हटाना चाहता हूँ तो हटा देता हूँ। यह सब मुझसे ही होता है। जवानी में बहुत याद रहता था, बुढापे में नहीं रहता, तुम कुछ नहीं कर सकते। परमात्मा ही है जिसने स्मृति हटाई है। इसी प्रकार ज्ञान है; एक ही किताब में एक ही श्लोक को दस बार पढ़ते हैं, कुछ खास नहीं समझ आता, ग्यारहवीं बार पढ़ते हैं तो अकस्मात् एक नया अर्थ भान हो जाता है। परमात्मा ही भान करवाता है। तुम इस रहस्य को जानो या न जानो, वास्तविकता यही है। किंतु जो जानता है वह शांत हो जाता है। अभी तक जिन सब कर्मों को अपना समझकर व्यग्र रहता था उन सबको छोड़कर ब्रह्मरूप स्थिति में पूर्ण संतुष्ट रहता है। परमात्मा की जो इच्छा है उसमें यह पूर्ण संतुष्ट होता है।

एक बार इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो फिर कभी उसको अज्ञान होता नहीं क्योंकि यह वास्तविक बात है। अगर यह सच्ची बात न हो, मानी हुई हो, तो ऐसा नहीं हो सकता। जैसे व्रज में भगवान् कृष्ण के साथ बच्चे खेलते थे। वे कृष्ण कृष्ण ही रहते थे। हम एक पत्थर की मूर्ति को परमेश्वर मानते हैं, उनके साथ मन से खेलते भी हैं परन्तु वह मूर्ति पत्थर ही रह जाती है, हम हम रह जाते हैं। ग्वाल-बाल तो कृष्ण को कृष्ण देखते थे, हम मूर्ति को कृष्ण देख रहे हैं। जो चीज़ सच्ची नहीं होती उसमें तुम चाहे जितनी भावना कर लो, समय आने पर वह भावना वाली वस्तु हट जायेगी। परन्तु 'यह सब परमात्मा का है'–यह जो ज्ञान है, यह ब्राह्मी स्थिति सच्ची बात है। तुम सोचोगे तब परमात्मा का है, ऐसा नहीं, यह तो परमात्मा का ही है। तुमने गलत सोच रखा है कि 'यह

मेरा है, परमात्मा का नहीं है, इसलिये जब 'परमात्मा का है' यह निश्चय हो गया, तब कभी नहीं हो सकता कि पुनः मानो कि यह मेरा है।

भगवान् कहते हैं कि यह स्थिति यदि तुम्हारे जीवन की चरमावस्था में भी आये, अत्यन्त वृद्धावस्था में भी यदि इसकी प्राप्ति हो जाये, तो भी तुम आनन्दस्वरूप स्थिति को प्राप्त करोगे, निर्वाण अर्थात् दुःखरहित स्थिति को प्राप्त करोगे। जो बचपन से इसमें लग जाये उसका तो क्या कहना! अन्तकाल में *ही* होता है—ऐसा भगवान् नहीं कह रहे हैं। साधना में लगे रहो और अंतिम क्षण में भी हो तो काम बन जायेगा। वस्तुतः तो जैसे ही विवेक जगे वैसे ही पूरी तत्परता से परमात्मदर्शन के मार्ग पर चल पड़ना चाहिये। ईमानदार साधक को मृत्यु से काफी पूर्व ही यह परम लाभ मिल जाता है और यदि प्रतिबंधक हो तो अंतकाल में मिलता ही है। अंतकाल में कर लेंगे—यह सोचकर विलंब करने वाला वास्तव में पूर्ण विवेकी ही नहीं है, विवेक पूरा हो तो मुमुक्षु साधना में तत्काल प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सांख्ययोग नामक अध्याय समाप्त हुआ।।७२।।

।।दूसरा अध्याय।।

ॐ

तृतीय अध्याय : कर्मप्रशंसायोग

अर्जुन दो धर्मों के आपसी संघर्ष का हल नहीं निकाल पा रहा था। एक तरफ क्षात्र धर्म था; राष्ट्र की, धर्म की, रक्षा के लिये युद्ध करना कर्तव्य है। मनुस्मृति में तो यहाँ तक कहा है कि यदि राष्ट्र के ऊपर घोर आपत्ति आ जाये तो सभी वर्ण के लोग युद्ध करके देश की रक्षा करें। राष्ट्र की, धर्म की, रक्षा करना कर्त्तव्य है अर्थात् नहीं करना अकर्त्तव्य है, अधर्म है। दूसरी तरफ, अपने पूज्य, दादा, गुरु, भाई, मामा आदि सबकी हर हालत में रक्षा करनी चाहिये, इनके साथ कभी गलत व्यवहार नहीं करना चाहियेयह भी धर्म है। स्मृतिकारों ने कहा है

'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः।।'

अर्थात् जो अपने गुरुजनों का बड़ों का, आदरणीय बुजुर्गों काहुँ, तुम आदि शब्दों से निरादर करता है या अनादर के भाव से उनसे तू-तड़ाका करता है, और जो वैदिक ब्राह्मण को विवाद से जीतता है, वह श्मशान में वृक्ष बनता है जिस पर कौवे और गीध बसते हैं। किसी की कोई बात पसंद नहीं आये तो आदमी ''हुँ'' कर देता है; इतना मात्र करना ही बड़ों को जान से मारने जैसा अपराध हो जाता है, इतना बड़ा अधर्म हो जाता है। अर्जुन के तो सामने दादा, आचार्य आदि अनेक प्रिय गुरुजन खड़े थे जिन्हें जान से मारने का प्रसंग उपस्थित था। अतः यदि युद्ध नहीं करता है तो अकर्त्तव्य, अधर्म है और यदि उन लोगों को मारता है तब भी अकर्तव्य, अधर्म है। इसलिये उसने कहा कि श्रेष्ठ गुरु, दादा, मामा, आदि को बिना मारे, भिक्षा करके गुजारा करना ही ठीक है। युद्ध करने का निर्णय करके वह कुरुक्षेत्र में आया ही था, पर पूज्य लोगों को सामने देखकर अर्जुन जैसा वीर भी काँप गया! प्रायः ऐसी परिस्थिति आने पर यही प्रतिक्रिया होती है। अपने दादा गुरु आदि की बात छोड़ो, कोई तुम्हारे घर को घेर ले और उसे मारने लगो तो दूसरे लोग चिल्लाने लगते हैं, 'अरे छोड़ो, छोड़ो, जाने दो बेचारे को।' जब प्रतिपक्षी की जान का सवाल आता

है तब लोगों में कृपा का आवेश दीखता ही है। इसी तरह अर्जुन की स्थिति थी अतः उसके मन में प्रश्न उठा कि युद्ध और युद्धत्याग, दोनों में से क्या हमारे कल्याण का है? इस अर्जुन की समस्या का प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में कभी-न-कभी सामना करना पड़ता है। अर्जुन ने अपनी समस्या के तात्कालिक हल का लालच छोड़कर मूलभूत प्रश्न उठाया कि कल्याण क्या करने में है।

अर्जुन ने भगवान् से कहा, 'कल्याण मार्ग का ही मैं पथिक हूँ इसलिये आपकी शरण लेता हूँ। मैं आपके शिष्य की जगह हूँ इसलिये मुझे दूसरी बात को मत बताइये। क्या मेरे लिये कल्याण का है यही बताइये। स्वर्ग का राज्य पाकर भी मेरा मन शांत नहीं होगा। अगर आप कहें, 'तुम जीत ही जाओगे, सब ठीक हो जायेगा', तब भी मुझे संदेह रहेगा क्योंकि कौन जानता है जीतेंगे या नहीं जीतेंगे! अतः जो निश्चित रूप से कल्याण का साधन है वही आप बतायें।'

कल्याण का साधन बताने में प्रवृत्त होकर भगवान् ने सबसे पहले उसे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान दिया। क्योंकि आत्मा के स्वरूप को जब तक नहीं जानें तब तक ऐसी परिस्थितियों में कर्त्तव्य स्पष्ट होता नहीं इसलिये भगवान् ने सबसे पहले आत्मा का स्वरूप बताया। आत्मा का स्वरूप बतलाकर उसकी प्राप्ति का साधन क्या है यह भी बताया। साधन के उपदेश में उन्होंने बार-बार कहा कि 'तुझे युद्ध ही करना है'। पूर्वाध्याय के समापन में भगवान् ने कह दिया कि श्रेष्ठ तो ज्ञान है। सारी कामनाओं को छोड़कर सब स्पृहाओं से रहित होकर, ममता अहंकार से रहित होकर, जो व्यक्ति आत्मस्वरूप में स्थित रहता है उसी को शांति की प्राप्ति होती है। अतः अर्जुन के मन में प्रश्न आना स्वाभाविक है कि

अर्जुन उवाच
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

हे जनार्दन! हे केशव! यदि आपको कर्म से ज्ञान बेहतर लगता है तो मुझे घोर कर्म में क्यों लगा रहे हैं?

भगवान् को दो सम्बोधन एक ही श्लोक में कर दियेजनार्दन और केशव। जनार्दन का मतलब होता है 'जनान् दुष्टान् अर्दयति नाशयति इति जनार्दनः'। जन का मतलब, जो व्यक्ति संस्कारहीन है, जैसा पैदा हुआ, वैसा ही है। जब 'जनजातियाँ' कहते हो तब तुम्हारा मतलब क्या होता है? जो संस्कार-रहित हैं। आजकल उन्हें 'पिछड़ी हुई जातियाँ' कह देते हैं। संस्कारहीन व्यक्तियों को गलतियों का दण्ड भोगना पड़ता है, इसलिये भगवान् जनार्दन हैं। अर्जुन का भाव है 'आप संस्कारहीन व्यक्तियों को नष्ट करने वाले हैं जबकि मैं संस्कार वाला हूँ। अतः मुझे मेरे नाश का हेतुभूत उपदेश तो नहीं बताना

चाहिये!'

'यदि आपका मत, अर्थात् निर्णीत सिद्धांत है कि ज्ञान ही कर्म से श्रेष्ठ है तो मेरे लिये ज्ञान का विधान क्यों नहीं करते? यदि मैं जन होता, तब तो ऐसा उपदेश ठीक था। कई बार राक्षसों को गलत रास्ता भी बतलाना पड़ता है, ताकि वे अपना नाश जल्दी करें! लेकिन मैं तो ऐसा नहीं हूँ। फिर मुझे बेहतर के बजाय बदतर का अनुष्ठान करने को क्यों कह रहे हैं? घोर कर्म में, अर्थात् अपने पूज्य, श्रेष्ठ दादा, गुरु आदि की हत्या में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं? आप यह मत कहिये कि 'गलत काम करने वाले को दण्ड दिया जा सकता है। शास्त्र कहता है कि अगर गुरु भी गलत मार्ग में चला जाता है, तो वह हेय हो जाता है।' क्योंकि मैं जिनकी बात कह रहा हूँ, वे वैसे नहीं हैं। वे तो अत्यन्त महान् हैं। उनके चरित्र में कहीं कोई दोष देखने में नहीं आता। इसलिये यह नहीं कह सकते कि वे गलत रास्ते गये अतः क्षत्रिय का काम है उन्हें दण्ड देना। ऐसे गुरुओं को युद्ध के अंदर मारना घोर कर्म है ही। इससे ज़्यादा और भयंकर काम क्या होगा! एक तरफ आप कह रहे हैं कि कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, और दूसरी तरफ मुझे कर्म मेंऔर वह भी किसी साधारण कर्म में नहीं वरन् अत्यन्त घोर कर्म मेंनियुक्त कर रहे हैं। अतः मेरा प्रश्न है कि आपके ऐसा करने में क्या कारण है?'

दूसरा सम्बोधन किया केशव! केशव शब्द बड़ा विचित्र है। 'क' का मतलब होता है प्रजापति ब्रह्मा, 'ईश' का मतलब होता है शिव, और 'व' का अर्थ है विष्णु। ब्रह्मा सृष्टि को बनाने की शक्ति, 'व' संसार की रक्षा करने की शक्ति और 'ईश' संसार को फिर से अपने में लीन करने की शक्ति। ये ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। ब्रह्मसूत्र में प्रतिज्ञा की 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्म के विषय में बतलाने जा रहे हैं। तो प्रश्न हुआ कि ब्रह्म क्या है? उत्तर में पहला ही लक्षण किया'जन्माद्यस्य यतः।' जिससे यह सृष्टि होती है, जो इसका निरन्तर पालन करता है, और अन्त में जो इसको अपने में लीन कर लेता है वह ब्रह्म है। जो तीनों शक्तियों वाला हो वही वैदिकों के मत में ईश्वर है। इनमें से किसी एक काम करने वाले को हम ईश्वर नहीं मानते। एक-एक कार्य करने वाले को गुणावतार तो मानेंगे, सत्त्वगुण के अंदर अवतार, रजोगुण के अंदर अवतार, तमोगुण के अंदर अवतार; परन्तु उसे ईश्वर नहीं कह सकते। ईश्वर वही होगा जो, *तीनों* कामों को करने वाला है। अर्जुन का भाव है कि 'आप ब्रह्मस्वरूप हैं। ऐसे होकर, आपकी शरण में आये हुये मुझे, आप ऐसे घोर कर्म में क्यों लगा रहे हैं?'

अर्जुन के प्रश्न को सारे वेदों का प्रश्न समझ लेना। वेदों में या कुछ करने को बतलाया गया है, या ईश्वर का स्वरूप बताया गया है। वेदों के तात्पर्य का निर्णय करने वाले दो ही प्रधान ग्रंथ हैंजैमिनि की पूर्वमीमांसा और बादरायण की उत्तरमीमांसा। वेद के पूर्व भाग के विचार का नाम हैधर्मजिज्ञासा। धर्म क्या है? उसका सीधा लक्षण किया है कि वेद ने जो काम करने को कहे हैं, वे धर्म हैं। धर्म अपनी बुद्धि से कभी निर्णीत नहीं हो

सकता। कारण क्या है? वेद तुमको वह बतलाता है, जिसे प्रत्यक्ष और अनुमान से जानने का कोई रास्ता तुम्हारे पास नहीं। 'अमुक काम करने से भविष्य में अमुक फल होगा।' इसको जानने का कोई प्रत्यक्ष व तन्मूलक रास्ता नहीं। धर्म का निर्णय अपनी मर्जी से करने लगो तो गलती ही होना स्वाभाविक है।

बड़ी अच्छी भावना वाला एक बनिया था। वह तीर्थ-यात्रा पर गया। एक जगह उसने देखा कि कन्याकुमारी के आस-पास मछुए हजारों मछलियों को पकड़ कर, बेच कर अपना गुज़ारा चलाते हैं। उसके मन में मछलियों पर बड़ी दया आई। उनसे कहा, 'अरे भाई, इतने प्राणियों की हत्या कर के तुम अपने एक घर का पालन करते हो, यह तो ठीक नहीं।' मछुओं ने कहा, 'हम लोग क्या भूखे मर जायें? धन का कोई और साधन तो है नहीं, यही हमारा साधन है। यही काम हम जानते हैं। हमारे बाप-दादे यही करते आये हैं।' उसने कहा, 'खाली भोजन के लिये ही ऐसा करते हो?' वे बोले 'हाँ, और क्या?' वह बहुत बड़ा आदमी था। उसने कहा, 'यदि यह है तो कोई चिन्ता की बात नहीं। तुम्हारा महीने का कितना खर्चा है, वह बता दो, हर महीने पहुँच जायेगा।' उसने खर्चा पता लगाकर अपने मुनीमों को बतला दिया और मछुओं के पास महीने का खर्च पहुँचने लग गया। वह बड़ा प्रसन्न था कि बड़ा अच्छा काम किया।

किन्तु उसके बाद व्यापार में उसके धीरे-धीरे कमी होने लगी, घाटा होने लगा। फिर भी उसने कहा, 'यह तो मैं धर्म के लिये कह आया हूँ, इसमें कोई कमी करूंगा नहीं।' ऐसी स्थिति आ गयी कि सुधार होने की संभावना ही नहीं दीख रही थी। उसके बुजुर्ग ब्राह्मण मुनीमों ने उस से कहा, 'कोई-न-कोई पाप का काम होता है, तभी इस प्रकार से अकस्मात् धन की हानि होती है। ये रुपये आप भिजवाते हैं, आपने कभी पता भी लगाया कि इनका उपयोग क्या हो रहा है?' उसने कहा 'मैंने तो खाने-पीने के लिये कहकर दिया था।' उन्होंने पूछा 'फिर बाकी, चौबीस घंटे वे लोग क्या करेंगे?' सेठ जी के लड़के को लेकर मुनीम वहाँ गये। जाकर देखा, तो मछुए खूब शराबी कबाबी हो रहे हैं, तरह-तरह के बुरे कर्म कर रहे हैं। क्योंकि कमाने के लिये उनको काम तो करना नहीं था इसलिये सब तरह के बुरे से बुरे कर्मों में वे फँसे थे। मुनीमों ने कहा 'सेठजी को बता देना कि उनके पैसे का यह उपयोग हो रहा है।' वापस जा कर उनको बतलाया, 'आपके पैसे का पाप में उपयोग हो रहा है इसी के कारण यह आपत्ति आ रही है।' सेठजी समझ गये, खर्च भेजना बंद किया। पुनः व्यापार ठीक चलने लगा। अपनी बुद्धि से निर्णय करोगे तो ऐसे निर्णय होंगे।

प्रत्यक्ष-अनुमान के द्वारा, धर्म का पता नहीं लग सकता। इसलिये परमेश्वर ने अत्यन्त दया कर हमें वेद दिया। मनु महाराज कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जिस बात का पता चलने का कोई तरीका नहीं, उसको ही वेद बतलाता है। यही वेद की वेदता है। प्रत्यक्ष और अनुमान से जिस बात का पता लग सके, उसको यदि वेद कहता हो तो वेद

की जरूरत क्या है? उसको प्रत्यक्ष अनुमान से पता लगा ही लेंगे। किन्तु उनसे पता नहीं लग सकता इसीलिये वेद को रास्ता बतलाना पड़ता है। वेद का जो पूर्व भाग है, उसके अन्दर बतलाया कि किसी भी परिस्थिति-विशेष के अंदर, किसी के लिये क्या कर्त्तव्य है। ठीक इसी प्रकार से इस सारी सृष्टि का बनाने वाला, चलाने वाला, जो परमात्मतत्त्व है, उसको भी तुम प्रत्यक्ष अनुमान से नहीं जान सकते। उसका पता लगता है केवल वेद से ही। वेद के अंदर केवल दो ही बातें बतायी हैं। हैं तो उसमें एक लाख मन्त्र, लेकिन बातें दो ही हैंकिसी भी परिस्थिति में क्या करना चाहिये और परमात्मा का स्वरूप क्या है। वह कौन है, जिसे जानने से सारे बंधन मिट जायेंगेइसका बिना वेद के पता नहीं लग सकता।

लोगों को ये दोनों एक-दूसरे से विरुद्ध लगते हैं। शास्त्र ने ये जो दो बातें बतलाई, इनमें एक प्रवृत्ति है, दूसरी निवृत्ति है। इसलिये मनुस्मृति में कहा

'सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।।'

वेद में प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों ही बतायीं। वृत्ति शब्द का अर्थ होता है, किसी भी कार्य को करना। संस्कृत में वृत्ति का अर्थ होता है, जिसको तुम लोग साधारण भाषा में अपना व्यवसाय कहते हो।

प्रवृत्ति से बतलाया कि संसार की चीज़ों को कैसे प्राप्त किया जाता है। कर्म के द्वारा तुमको संसार में कुछ-न-कुछ चीज़ प्राप्त होगी, उसी के लिये कर्म है। और संसार की चीज़ों से कैसे हटें, इसे निवृत्ति धर्म में बतलाया। मनुष्य के लिये दोनों जरूरी हैं इसलिये दोनों का उपदेश परमात्मा ने दिया। ऐसे समझ लोः तुमको बुखार आ गया, मोतीझरा हो गया। तुमको कुछ खाने को नहीं दिया जायेगा। अतः कमज़ोर हो ही जाओगे। उसके बाद जब ठीक हो गये तब वैद्य तुमसे खाने को कहता है। यदि पूछो कि खिलाना ही था तो मना क्यों किया? तो सिवाय इसके वैद्य क्या कह सकता है कि 'भाई, उस समय भूखा रहना जरूरी था। इस समय खाना जरूरी है, जिसमें जल्दी से जल्दी तुम वापस सबल हो जाओ।' हैं तो दोनों बिल्कुल उल्टी बातें'न खाओ', और 'खाना खाओ।' परंतु उस-उस समय पर दोनों जरूरी हैं। इसी प्रकार जब तक तुम्हारे अंदर संसार की कामना है, तब तक कर्म करना ही पड़ेगा, कर्म करते हुए उन कामनाओं को प्राप्त करोगे। जब तुम्हारी कामनाएँ ख़त्म हो जायें, कोई इच्छा नहीं रहे, तब तुमको उन विषयों से सर्वथा हटना ही पड़ेगा, नहीं तो परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही जरूरी हैं। इसीलिये वेद ने दोनों को बतलाया।

शंका होती है कि जो वेदादि को नहीं जानता वह भी जिन चीज़ों को चाहता है, उन के लिये कर्म करता ही है। अतः कर्म को बतलाने की क्या जरूरत थी वेद को? मनु

महाराज समाधान देते हैं

'न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते।।'

कामना, इच्छा विषय की प्राप्ति होने पर शांत नहीं होती। प्रायः लोग कहते हैं, कि 'एक बार मन की निकल जायेगी तो शांत हो जायेगा।' किन्तु मन ऐसे कभी शांत नहीं होगा। उल्टा क्या होता है? जैसे आग को चाहो कि घी डालकर शांत कर दें, तो नहीं होगी, और बढ़ेगी। ऐसे ही जिस विषय की कामना है उसके उपभोग से वह कामना और बढ़ेगी, समाप्त नहीं हो सकती। भगवान् दूसरे अध्याय में इसका संकेत कर आये हैं कि संग से कामना पैदा होती है। तुमने कर्म किया, उसके फलस्वरूप विषय की प्राप्ति हुई, उस भोग से तुमने सुख का अनुभव किया तो सुख का संस्कार पड़ गया; वह संस्कार तुम्हें फिर उसी कर्म में प्रवृत्त करेगा! जैसे घी से आग बढ़ती है वैसे ही विषय का भोग करने से इच्छा, कामना बढ़ेगी, शांत नहीं होगी। लौकिक ढंग से जब तुम प्रवृत्ति करके अपनी कामना को पूर्ण करते हो, तब यों चक्र चलता है।

किंतु वेद ने एक रास्ता बतलाया जिससे चीज़ मिले, भोग करो, पर कामना न बढ़े! तभी कामनाओं की निवृत्ति होगी और निवृत्ति मार्ग पर तुम चल सकोगे। उस ढंग से कर्मों का उपदेश वेद ने दिया है, जिससे तुम्हें विषय की प्राप्ति हो लेकिन साथ ही तुम्हारी कामना शांत हो, बढ़े नहीं। वह तरीका क्या है? भगवान् बतायेंगे 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः' परमेश्वर के लिये न करके अपनी बुद्धि के अनुसार तुम करते हो तब कर्म बंधन बनाता जाता है। जब तुम कर्म को ईश्वरार्पण-बुद्धि से करते हो, यज्ञार्थ करते हो, तब तुम्हें चीज़ तो मिल जायेगी, परन्तु साथ में तुम्हारे अंदर राग बढ़ेगा नहीं, घटता जायेगा। यह करने का जो तरीका है वह वेद ने बतलाया। प्रवृत्ति के द्वारा तुमको चीज़ों की प्राप्ति होगी। विषयों की प्राप्ति का जो प्रत्यक्ष-अनुमान से रास्ता मिलता है, उससे कामना मिटेगी नहीं। जिस प्रकार की प्रवृत्ति करने को वेद ने कहा, उससे विषय मिलेंगे परन्तु साथ ही कामना बढ़ेगी नहीं बल्कि घटेगी। तब तुम निवृत्तिके योग्य बनोगे।

भगवान् ने ज्ञान को अधिक महत्त्व का बताया पर साथ ही अर्जुन को कहा 'तू अभी कर्म के योग्य है, क्योंकि तेरी कामना अभी मिटी नहीं है। इसलिये कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, कर्म नहीं करने में आसक्ति मत करो। कौन झंझट करे? झंझट करके क्या फायदा? इतनी सब माथाफोड़ी करके अन्त में तो सब छोड़ना ही हैयह भाव मत आने दो। यदि तुम कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन में इच्छाओं को बनाये रखोगे, तो तुम मिथ्याचारी हो जाओगे।' इस प्रकार भगवान् ने स्पष्ट कर सारी बात बतला दी थी। लेकिन मनुष्य के मन में, यह भाव छिपा रहता है'मैं क्यों नहीं कर सकता?'

हर माँ अपने बच्चे से कहती है 'तू अव्वल क्यों नहीं आ सकता? दूसरे बच्चे में ऐसी क्या विशेषता है?' शरीर के अंदर, शरीर को चलाने वाला जो सूक्ष्म शरीर हैजिसको हम लोग लिंग देह कहते हैंवह तुमने पैदा नहीं किया, तुम्हें दीखता नहीं। वह जीव अपने साथ ले कर आता है। पूर्व जन्मों के संस्कारों और कर्मों का फल ही यहाँ भोगेगा। एक लड़का पहले जन्म में पढ़ने में ही लगा हुआ था, विशेषज्ञ था, अनेक अनुसंधान कर चुका था, हो सकता है राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान पा चुका था; वह भी आयेगा तुम्हारे पेट में ही। दूसरा, पढ़ने से अत्यन्त दूर था, खूब पहलवानी करता था, पाँच सौ दण्ड रोज़ निकालता था; वह भी आयेगा तुम्हारे ही पेट में! दोनों के लिंग शरीर अलग हैं। तुम स्थूल शरीर को देखते हो कि नाक, कान इसके भी हैं, उसके भी हैंइसलिये मानते हो कि दोनों एक जैसे हैं। यह भूल साधारण आदमियों ने ही नहीं, बीसवीं शताब्दि के अंदर बड़े-बड़े विचारकों ने की है। अत्यन्त प्रचलित मान्यता हो गयी है कि सब मनुष्य बराबर हैं। क्यों? क्योंकि नाक कान सब के एक जैसे हैं इसलिये! लिंग देहों के भेद की तरफ तो दृष्टि जाती ही नहीं। जो पूर्व जन्म में पढ़ आया है, वह यहाँ थोड़ा पढ़ता है और उसे सारी चीज़ याद आ जाती है। वह हमेशा प्रथम आ जाता है। बेचारे दूसरे ने दण्ड पेलना छोड़कर अभी ही हाथ में किताब पकड़नी शुरू की है। पढ़ नहीं *सकता* यह हम नहीं कहते हैं। दो-तीन जन्मों तक कोशिश कर लेगा तो वह भी विद्वान् बन जायेगा। लेकिन तुम चाहते हो कि आज ही अव्वल आवे!

इसी तरह जब किसी से कहते हैं कि 'परमात्मा का ज्ञान ही श्रेष्ठ है। परमात्मा को ही जानना है, और सब व्यर्थ है', तो लोग चाहते हैं कि वे भी उसी को समझ लेवें। अपनी योग्यता को पहचानना नहीं चाहते।

याज्ञवल्क्य की कथा चल रही थी। दूसरे ऋषि भी बैठे हुए थे, जनक भी गये हुए थे। सबके मन में था कि 'जनक कभी आने में दो चार मिनट की देरी कर दे, तो याज्ञवल्क्य पाठ रोक देते हैं कि, 'ज़रा उसे आ जाने दो।' किंतु किसी अन्य के लिये पाठ रोकते नहीं।' याज्ञवल्क्य ने सोचा कि यह भाव इनके मन में रहे यह ठीक नहीं। पाठ चल रहा था, बीच में दीखा कि कुछ दूर शहर में आग लग गई। थोड़ी देर तक तो सब बैठे रहे। जब आग आश्रम के पास आ गयी तब किसी ने कहा, 'अरे मेरा तो वहाँ कमण्डलु रखा है। झोंपड़ी में आग लग गयी, तो कमण्डलु जल जायेगा।' 'मेरे वहाँ कपड़े रखे हुए हैं। वे जल जायेंगे।' जो जिसको महत्त्व देता है, उसी की तरफ दृष्टि जाती है। स्वामी जनार्दन गिरि जी महाराज मण्डलेश्वर थे। एक बार हरिद्वार कुंभ में बड़ी जबर्दस्त आग लगी। मोहन पुरी उस समय उनकी सेवा में था। जब आग पास आई तो वह रुपयों की पेटी उठाकर बाहर लाया। उन्होंने उसको एक थप्पड़ मारा 'क्या बेकार की चीज़ लेकर आया! अरे किताबें लेकर आ।' जो जिसे महत्त्व देता है उसे वही बचाने लायक लगता है। इसी तरह से, ऋषि लोग अपनी-अपनी चीज़ों को बचाने के

लिये पाठ के बीच से उठकर चल दिये। तब तक किसी ने आकर जनक के कान में कुछ कहा। जनक ने कहा 'जाओ, काम करो'। फिर थोड़ी देर बाद किसी ने आकर कुछ कहा। जनक ने कहा 'जाओ अभी जाओ, वहाँ का काम करो।' याज्ञवल्क्य ने पूछा 'क्या बात है? ये बार-बार आकर तुम्हारे कान में क्या कह रहे हैं, हो क्या गया है?' जनक बोले 'कुछ नहीं महाराज, वह आग महलों में पहुँच गयी है। वही कहने आया था।' याज्ञवल्क्य ने कहा 'तो जाकर तुम बचाओ महलों को।' जनक ने कहा, 'मैं क्या बचाऊँ! मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन। सारी मिथिला के जलने से मुझे क्या फ़र्क पड़ेगा? आत्मा तो सर्वथा अभोक्ता है। आप अपनी कथा चलाइये। जो विचार चल रहा है, वह चलने दीजिये।' जनक के अंदर यह प्रवृत्ति नहीं हुई कि रानियों को, चीज़ों को बचाने जाये। जबकि बाकी लोगों की अपने थोड़े-बहुत कपड़ों के लिये ही प्रवृत्ति हो रही थी। तब वे लोग समझ गये, कि क्योंकि जनक में इतना दृढ वैराग्य है इसीलिये याज्ञवल्क्य उसे महत्त्व देते हैं।

असली भेद इससे है कि पहले कोई कितना कर आया है। कहने को तो सब कह देंगे कि 'हम भी इस तत्त्व की प्राप्ति कर लेवें यह श्रेष्ठ है'। परन्तु उस श्रेष्ठ की योग्यता है कि नहीं, यह तो तुम्हारे लिंगदेह को, तुम्हारे पूर्व-जन्म को अच्छी तरह से समझने वाला जो तुम्हारा मार्गदर्शक होगा, गुरु होगा, वही कह सकता है। तुम स्वयं निर्णय करना चाहो तो गलती करोगे। अर्जुन का प्रश्न ऐसा ही था। अर्जुन ने सोचा, 'मेरे अंदर भी वैराग्य आया हुआ है। मैं भी कह रहा हूँ कि स्वर्ग का राज्य मिलने से भी मुझे शांति नहीं होगी। तो फिर मुझे क्यों कह रहे हैं, कर्म ही करूं?' भगवान् ने अस्पष्ट कुछ नहीं कहा था किंतु अर्जुन अविवेकवश यह प्रश्न उठा रहा है।

कई आधुनिक विचारक कह देते हैं कि अर्जुन का प्रश्न इसलिये हुआ कि भगवान् ने बात साफ नहीं की। आजकल के लोगों को भगवान् पर दोष लगाने में एक सेकंड की देरी नहीं लगती! उनके मन में भी नहीं आता, कि भगवान् के अंदर दोष की कल्पना कैसे करें? भगवान् ने तो स्पष्ट करके दोनों को अलग-अलग बतलाया था, परन्तु अर्जुन इस प्रश्न को करता है क्योंकि अपनी अयोग्यता मानना नहीं चाहता। किंच इस प्रश्न से, और भगवान् का जो उत्तर है, उससे भी, यह स्पष्ट हो जाता है कि, प्रवृत्ति निवृत्ति एक साथ नहीं की जा सकतीं। कई लोग कहते हैं कि परमात्मा का ज्ञान भी कर लो और कर्त्तव्य कर्म भी कर लो। यदि दोनों कार्य साथ चल सकते होते तो पहले अर्जुन का प्रश्न नहीं बनता। और यदि कहो, अर्जुन समझदार नहीं था इसलिये उसने ऐसा प्रश्न किया, तो आगे भगवान् भी जवाब में यह कहते कि 'मैंने तो एक ही रास्ता बतलाया, दोनों मिलाकर कर लो!' इतना ही तो कहना था। पर भगवान् ने उसको समझाया कि दोनों में क्या फ़र्क है। इस प्रश्नोत्तर से ज्ञान-कर्म के समुच्चय का खण्डन हो जाता है। दोनों जरूरी हैं, दोनों वेद में कहे गये हैं। परन्तु एक पुरुष के लिये

दोनों एक-साथ करने के नहीं हैं। जब तक तुम्हारी कामनाएँ मिटी नहीं, तब तक के लिये प्रवृत्ति मार्ग है। और जब तुम्हारी कामनाएँ मिट गयीं, तब वेद तुम्हें कुछ करने को नहीं कहता, तब निवृत्ति मार्ग है।

केवल ज्ञान मोक्ष का पर्याप्त उपाय है इस वेदांत-सिद्धांत को बहुत-से प्राचीन नवीन विचारक स्वीकार नहीं पाते। कोई श्रौत कर्मों का ज्ञान से साहचर्य मानते हैं, स्मार्त-लौकिकों का त्याग स्वीकार लेते हैं, तो कोई श्रौत का ही त्याग मानकर स्मार्तपूजा-पाठ आदिकर्मों का साहचर्य चाहते हैं, जबकि कुछ ऐसे हैं जो शास्त्रीय कर्मों का त्याग अंगीकार कर लौकिक कर्मों के साहचर्य को आवश्यक मानते हैं। अतः आचार्य शंकर जगह-जगह समुच्चयवाद का विस्तार से खंडन करते हैं। इस प्रसंग में भी लम्बे-चौड़े शास्त्रार्थ के द्वारा आचार्य शंकर ने बतलाया कि, किसी भी कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं हो सकता। फिर कर्म को बताया क्यों? इसलिये कि क्रम से करना दोनों को है। पहले जिसने कर्म कर लिये हैं, वह फिर आगे ज्ञान कर सकेगा। इसका नाम है क्रम समुच्चय अर्थात् एक करके दूसरा करो। सह समुच्चय का मतलब है एक करते हुए ही दूसरा भी करो।

यह समझ लेना कि उपासना, भक्ति, भी कर्म ही है। कर्म का मतलब क्या होता है? जिसको करने में तुम स्वतन्त्र हो, वह कर्म है। अर्थात् तुम्हारे करने से जो होता है, उसको हम कर्म कहते हैं। उपासना, ध्यान, योगाभ्यास, पूजा-पाठ, दान, तपस्या ये सभी कर्म हैं। इससे विपरीत ज्ञान वह है जिसे तुम करते नहीं, जिसमें तुम स्वतन्त्र नहीं, प्रमाण-प्रमेय के अधीन हो। आँख को हम किसी तरफ ले जाते हैं, यह तो कर्म हुआ। आँख को इधर ले जाने पर हमें पीला दीखता तो 'यह पीला है' यह ज्ञान है। पीला होगा तो पीला ही दीखेगा। अतः 'पीला' इस ज्ञान को करने में हम स्वतन्त्र नहीं हैं। हम आँख बंद कर लेवें, कुछ न दीखे, यह हो सकता है। आँख खोलकर उधर न ले जायें, यह भी हो सकता है। पर आँख खोलकर, इसको हम हरा देख लेंयह नहीं हो सकता है। हरा *मान* सकते हो। ठीक जैसे मान सकते हैं कि शालिग्राम विष्णु है। हम शालिग्राम की पूजा करते हैं उसे विष्णु समझ करके। पर तुम चाहे पचास साल तक पूजा कर लो, वह रहेगा तो शालिग्राम ही, क्योंकि वह उपासना है, उसे तुम करते हो। तुम करोगे तो वह विष्णु है, तुम नहीं करोगे तो वह विष्णु नहीं है। जानने में तुम स्वतन्त्र नहीं हो। यदि विष्णु तुम्हारे सामने खड़े हैं, और तुम विष्णु के दर्शन कर रहे हो, तुम चाहो कि हम उनको शालिग्राम देख लेवें, तो कैसे देखोगे? ज्ञान वह है जिसमें तुम स्वतन्त्र नहीं हो। विषय स्वतंत्र है, वस्तु पीली है, तो पीली दीखेगी। उपासना, योगाभ्यास, पूजाये सभी तुम करोगे तो होंगे, नहीं तो नहीं होंगे, इसलिये ये सब कर्म हैं। किंतु परमात्मा को हम जैसा चाहें, वैसा नहीं जान सकते। परमात्मा जैसा है, वैसा ही जानने में आयेगा। तुमको पसंद हो, चाहे नहीं पसंद हो। भगवान् विष्णु के भक्त लाख चाहें कि भगवान् विष्णु ज़रा गोरे-चिट्टे होते तो अच्छा था, काला रंग तो ठीक नहीं है; परंतु जब दर्शन करेंगे तब काला ही देखना पड़ेगा। तुम्हारे

चाहने से वे गोरे-चिट्टे नहीं हो जायेंगे। ज्ञान के अंदर तुम स्वतन्त्र नहीं हो। परमात्मा का ज्ञान तो जैसे परमात्मा हैं वैसे ही होता है, तुमको पसंद आवे, न आवे। इसीलिये कहा जाता है कि परमात्मा खुद ही अपने को जनावे, तो जानने में आता है। यह कर्म और ज्ञान का जो फ़र्क है, इसको न समझ कर अर्जुन का सन्देह था। भगवान् विस्तार से उसके संदेह को दूर करेंगे।।१।।

प्रकृत संदर्भ समुच्चयानुसारी नहीं हो सकता यह स्पष्ट करते हुए अर्जुन प्रार्थना करता है

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

परस्पर मिले-जुले से अर्थ वाले वाक्य द्वारा आप मानो मेरी बुद्धि को मोह में डाल रहे हैं। अतः आप निश्चित कर वह एक बात कहिये जिससे मैं कल्याण पाऊँ।

अर्जुन कहता है 'आपने जो दूसरा अध्याय सुनाया, इसमें आपके वाक्य मिले-जुले से हैंव्यामिश्र हैं। मुझे कहते हैं'कर्म करो।' फिर कहते हैं कि मोक्ष तो ज्ञान से होता है! इन मिली-जुली बातों को छोड़िये।' लेकिन यह नहीं कहता है कि 'आपने मिला-जुला कहा।' यह फ़र्क है हम लोगों में और अर्जुन में। 'व्यामिश्रेण इव'इव मायने जैसा। अर्थात् *मानो* मिला हुआऐसा मेरी समझ में आ रहा है। आपने मिला-जुला नहीं कहा है, लेकिन मेरी समझ में गड़बड़ आया इसलिये मुझे ऐसा लगता है मानो मिला हुआ है। अतः इन वाक्यों से मेरी बुद्धि, निश्चय को मानो मोह में डाल रहे हैं। आप मोह में डालने के लिए नहीं कह रहे हैं, लेकिन मुझे ऐसा लग रहा है।' दो बार 'मानो-मानो' लगाकर स्पष्ट किया कि 'आपमें कोई दोष नहीं है, आपने तो ठीक कहा है; मैं ही नहीं ठीक से समझ पा रहा हूँ, मुझे ये चीज़ें मिली हुई लग रही हैं। मैं सीधा-सादा आदमी हूँ, मुझे एक बात पक्की कह दीजिये कि कर्म से मोक्ष होगा, श्रेय की प्राप्ति होगी, या ज्ञान से होगी। जिसके द्वारा मुझको श्रेय की प्राप्ति होवे, वह मुझे एक बार बतला दीजिये।'

अर्जुन के प्रश्न से यह स्पष्ट हो गया कि वह कर्म और ज्ञान दोनों को मिलाकर करने की बात समझा होऐसा नहीं है। वह भी यही समझा है कि हैं दोनों अलग-अलग। आगे भगवान् जो जवाब देंगे उससे भी इनका भेद ही स्पष्ट होगा।।२।।

अर्जुन ने भगवान् से निश्चित श्रेय का उपाय पूछा था। भगवान् ने कल्याण का मार्ग तो ज्ञान को बताया और अर्जुन से कर्म करने को कहा! अतः अर्जुन को लगा कि हो सकता है दो रास्ते हों कल्याण के। कल्याणोपाय पूछने पर भगवान् कर्म का विधान करें तो यही लगना स्वाभाविक है कि कर्म कल्याणोपाय है। और ज्ञान कल्याणोपाय है यह भगवान् ने मुखतः कहा। इसलिये दो उपाय हैंयह प्रतीत होना सहज है। अतः अर्जुन ने

इन दो में से निश्चित कर एक को बताने की प्रार्थना की। अर्जुन की जिज्ञासा का अनुरूप निवारण करने के लिये भगवान् कहते हैं

श्रीभगवान् उवाच
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

भगवान् ने कहानिष्पाप अर्जुन! सृष्टि के आदिकाल में अथवा पिछले अध्याय में, इस लोक में दो तरह के अधिकारियों के लिये मैंने दो प्रकार की स्थिति कही थी। सांख्यों की स्थिति ज्ञानयोग से तथा योगियों की कर्मयोग से होती है।

भगवान् ने कहा 'अस्मिन् लोके'। 'इस लोक में' कहने का क्या मतलब है? 'इस' से मतलब हैतुम प्रश्न करने वाले, वैदिक-धर्मी हो, वेद को मानने वाले हो। वेद को मानने वालों के लिये यह बात कही जा रही है। वेद को मानने वाला ही वेद में कही हुई बातों का अधिकारी है। हमारे शास्त्रों में हर शास्त्र के अधिकारी को बतलाते हैं अर्थात् यह शास्त्र किसे फायदा पहुँचायेगा, किसके काम का है। सब चीज़ें सब के काम की नहीं होतीं। वर्तमान काल में लोग कहते हैं, कि अच्छी चीज़ सब के लिये अच्छी, बुरी सब के लिये बुरी होती है। इस बात को हम वैदिक नहीं मानते। किसी का पेट खराब है। उसको खिचड़ी खिलाना श्रेयस्कर है। कोई हृष्ट-पुष्ट जवान पाँच सौ दंड पेल कर आया है। उस बेचारे को खिचड़ी खिला कर उसका शरीर और कमज़ोर क्यों करना? उसे तो बढ़िया खीर-जलेबी खिलानी पड़ेगी। अगर कोई पूछे कि इसके प्रति आपको द्वेष है कि आपने इसे खिचड़ी खिलाई? तो, उसके साथ द्वेष नहीं है लेकिन उसे खीर जलेबी खिलाएंगे तो वह और बीमार हो जायेगा।

स्वामी विवेकानंद जी ने लिखा है : वे शेखावाटी में घूम रहे थे। किसी महात्मा के आश्रम में गये। उन्हें पेचिश हो रखी थी। वहाँ जाकर महात्मा से कहा, ''मेरी तबियत ठीक नहीं है, मैं खिचड़ी या कोई ऐसी चीज़ खाऊँगा।'' महात्मा बोले 'खिचड़ी कैसे खाओगे? हलवा खाना पड़ेगा। हमारे आश्रम में आये हो, मैं क्या खिचड़ी खिला कर किसी महात्मा को भेज दूंगा? हमारे यहाँ अतिथि के स्वागत का नियम है। बैठ जाओ।' उन्होंने दो-तीन बार कहा कि 'मेरा पेट खराब है।' वे बोले 'नहीं नहीं, कुछ नहीं, हलवा-पूरी खाने से सब ठीक हो जायेगा।' तब स्वामीजी ने सोचा 'क्या करूँ?' थोड़ी देर बाद कहा 'मैं ज़रा जंगल जा कर आता हूँ।' जंगल गये, और वहीं से भाग गये।

यद्यपि उस महात्मा का प्रेम तो अपार था। तथापि अधिकारि-भेद का विचार नहीं था; किसके लिये क्या ठीक है, यह विचार नहीं था। इसलिये, हम लोग किसी भी शास्त्र की रचना करें, उसमें ज़रूर बतलाते हैं कि यह शास्त्र किसको फायदा करेगा; किसके लिये हैअधिकारी कौन है।

अधिकारी शब्द का मतलब यह नहीं है, कि दूसरा उसको पढ़ नहीं *सकता*। अधिकार का सही भाव न समझने से आजकल बड़े झगड़े चलते हैं। एक कहता है 'तुमको वेद में अधिकार नहीं है।' दूसरा पूछता है 'क्यों नहीं है जी? हम क्यों नही बाँच सकते?' बाँच सकते हो। तुम्हारे पास पैसा है, पुस्तक खरीद सकते हो। पढ़ाने वाले को भी तुम तनख्वाह देकर रख सकते हो। लेकिन अधिकारी न होने का मतलब है कि इस से तुमको फायदा कुछ नहीं होगा। तुम्हारा उसे पढ़ना व्यर्थ की बातें जानने का प्रयत्न होगा। जो इस शास्त्र के ज्ञान से फल होता है, वह तुमको नहीं मिल सकता। पढ़ तो कोई भी सकता है लेकिन उसे पढ़ने से फायदा नहीं उठा सकता क्योंकि वह अधिकारी नहीं है। जैसे, हलवा-पूरी ताकत की चीज़ है, पर पेचिश वाले के लिये नहीं। पेचिश वाला खा *सकता* तो है ही। पर उसे हानि ही होगी, लाभ नहीं। अधिकार को सामर्थ्य के रूप में समझ सकते हैं। जैसे रोगी की हलवा पचाने की सामर्थ्य नहीं होती ऐसे तत्तत् कर्म से अनेकों में सामर्थ्य नहीं होती कि उनका फल पा सकें। दृष्ट फल वाले कर्मों में लोकसिद्ध सामर्थ्य की तरह अदृष्ट फल वाले कर्मों में शास्त्रसिद्ध सामर्थ्य समझनी पड़ती है।

इन निष्ठाओं में अधिकारी कौन है? यहाँ प्रसंग है वैदिकों का। जो वेद को ही प्रमाण मानता है, वह इनमें अधिकारी है। जब मनुष्य का जो उपनयन संस्कार होता है, (जनेऊ का संस्कार जिसको साधारण भाषा में कहते हैं) उसके द्वारा वेद में अधिकार आता है। उस समय वह प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं वेद के अनुसार ही जीवन बिताऊंगा।' जनेऊ के ठीक एक दिन पहले जो कुछ खाना हो, जिस किसी के साथ बैठकर खाना हो, जो कुछ बोलना हो, गाली देना हो और कोई इधर-उधर की बातें करनी हों, उन सबको आखिरी बार कर लेने को कहते हैं। कामवादजो अपने मन में आये वह बोलो। कामचारजो अपने मन में आये वह आचरण कर लो। कामभक्षणजो मन में आये, वह खाना आज खा लो। कल से जनेऊ हो जायेगा। उसके बाद कोई गलत बात नहीं बोल सकोगे, कोई गलत आचरण नहीं कर सकोगे, कोई गलत चीज़ खा नहीं सकोगे। जब तुम्हारा उपनयन होता है, तब तुम इस प्रतिज्ञा में बंधते हो। तभी तुम वेद में अधिकारी होते हो अर्थात् वेद में कही हुई बातें तब तुम्हें फलीभूत होंगी। 'अस्मिन् लोके' अर्थात् जिन लोगों ने उपनयन संस्कार के द्वारा वेदाधिकार प्राप्त किया है। औरतें कहेंगी, 'हमारा तो उपनयन नहीं हुआ।' मनुस्मृति के अंदर (२.६६) लिखा है कि विवाह ही स्त्री के लिये यज्ञोपवीत है। अतः वे भी निष्ठाओं में अधिकार वाली हो जाती हैं। भगवान् ने कहा कि, जिन लोगों ने वैदिक धर्म में प्रवेश कर लिया है उन लोगों के लिये 'मया प्रोक्ता' मैंने दो तरह की निष्ठा बतायी है। वेद के अंदर जो मार्ग बतलाया है वह उनके लिये है जिन्होंने वेद के मार्ग में प्रवेश किया है।

पुरा के दो अर्थ हैंपुरा यानि पहले और पुरा का मतलब प्राचीन काल भी है। एक अर्थ है कि मैंने अर्थात् परमेश्वर ने पुरासृष्टि के आदि में, इसका उपदेश दिया। भगवान्

खुद कहेंगें 'मैंने पहले भी यह उपदेश दिया था। मनुओं को तो मैंने कर्म का उपदेश दिया और चार कुमारों को निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया।' इस के अनुरोध से, पुरा का एक अर्थ तो हो गया, सृष्टि के आदि में। इसमें 'प्रोक्ता' शब्द ज़रा समझने का है। भगवान् ने कहा, 'मैंने कहा', यह नहीं कहा 'मैंने निर्माण किया'। जैसे तुमने आज गीता का पंद्रहवाँ अध्याय याद किया, रात में सो गये, सबेरे उठे, और तुम उस अध्याय का पाठ करते हो तो तुम पंद्रहवें अध्याय को *बनाने* वाले नहीं हो, जैसा पहले था वैसा ही तुम उसे बोलते हो। इसी प्रकार वेद को परमेश्वर बनाते नहीं हैं। वेद अनादि है। सृष्टि के आदि में कुमारों को, ऋषियों को, मनुओं को, वे इसका उपदेश देते हैं। पूर्व कल्प के अंदर जैसा वेद था, वैसा ही वेद भगवान् फिर प्रकट करते हैं, उसको बनाने वाले नहीं हैं। इसलिये भगवान् ने यह नहीं कहा कि, 'मैंने पहले इसे बना दिया था', वरन् कहा कि जैसा था, वैसा प्रकट किया।

पुरा का दूसरा अर्थ हैपहले। इसी ग्रंथ में पहले अर्थात् दूसरे अध्याय में, भगवान् ने यह बात कही थी कि दो तरह के रास्ते हैं

'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।'

भगवान् ने सांख्य और योगये दो मार्ग बतला दिये थे। 'पुरा' का पहला अर्थ भगवान् भाष्यकार ने किया है और दूसरा अर्थ मधुसूदन स्वामी आदि ने किया है।

'द्विविधा निष्ठा'द्विविधादो प्रकार की, दो प्रकार का मतलब है कि दो रास्ते अलग-अलग नहीं कहे हैं। केवल दो विधाएँ कही हैं। अतः, आगे जाकर भगवान् कहेंगे 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'। रास्ता तो एक ही है। ज्ञान और कर्म एक दूसरे से बिलकुल उलटे हैं फिर भी रास्ता एक है। द्विविध का मतलब होता हैएक ही चीज़ के दो प्रकार। जैसे यहाँ द्विविधा है, वैसे ही आगे भगवान् कहेंगे 'चतुर्विधा भक्ताः'। चार तरह के भक्त हैं। इसका मतलब है कि वे सब भक्त ही हैं। इसी प्रकार 'त्रिविधा भवति श्रद्धा', वहाँ भी श्रद्धा एक ही है, उसी के तीन प्रकार हैं। अतः भाव है कि मैंने एक ही रास्ता कहा है, परन्तु उस रास्ते के अंदर निष्ठाएँ दो प्रकार की हैं। बहुत से लोगों ने यहाँ यह अर्थ करने की कोशिश की है कि एक ज्ञान-लोक का रास्ता है, एक कर्मलोक का रास्ता है, और दोनों रास्तों से लोग पहुँच जायेंगे भगवान् को! ऐसा ग़लत अर्थ इसीलिये करते हैं कि 'द्विविधा' को नहीं ध्यान में रखते हैं।

निष्ठा का मतलब होता है नितरां स्थिति। 'नि'नितराम्, भली प्रकार से; स्थारहना, स्थिति। दो प्रकार की निष्ठा है। हमें एक अनुभव तो होता है'मैं करूंगा तब होगा'। बहुत से कामों के बारे में अनुभव रहेगा, कि 'करूँगा तब होगा'। दुकान खोलनी है, 'मैं जाऊँगा तो खुलेगी।' अधिकतर कार्यों में तो हमारा अनुभव है, कि 'मेरे करने से होगा, मैंने नहीं किया इसलिये काम नहीं हुआ।' और कभी यह भी अनुभव होता है, कि 'मैंने पूरी कोशिश की पर काम हुआ नहीं! मैंने तो पूरी तरह से श्रम किया, सचमुच में किया,

लेकिन काम नहीं हुआ।' यह भी अनुभव होता है कि 'मैंने कुछ नहीं किया, फिर भी काम हो गया। किसी दोस्त के यहाँ गये, होली की रामा-श्यामा करने के लिये। उसने कहा 'बैठो, भोजन तैयार है, भोजन कर लो।' तुम कहते भी हो 'अरे! नहीं-नहीं', पर वह कहता है 'अरे आज तो बैठ जा।' भोजन में उसने मालपुए भी बना रखे हैं। इमरती भी बनाई रखी है, दाल का हलवा भी बना रखा है, पेठा भी है, दालमोठ भी है, समोसा भी है। तुम प्रेम से खाकर प्रसन्न हो जाते हो। तुमने क्या किया था यह सब खाने के लिये? कुछ नहीं किया। ये दोनों ही हमारी *स्थिति* हैं।

इसमें से एक में निष्ठा करनी पड़ेगी। या तो यह मानकर चलना पड़ेगा कि 'मेरे करने से ही होता है'। जहाँ बिना किये हो गया या करने पर भी नहीं हुआ, वहाँ अनुमान करेंगे कि पूर्व जन्म में कोई पाप किया था, इसलिये प्रयत्न करके भी नहीं हुआ। या, पूर्व जन्म में कोई पुण्य किया था इसलिये उसके फलस्वरूप हो गया। यदि मैं यह निश्चय करता हूँ कि 'मैं कर्ता हूँ', यदि मेरी यह निष्ठा है, तो मुझे एक निर्णय करना पड़ेगा, कि 'जो कुछ हो रहा है, वह मैंने पहले किया इसलिये हो रहा है।' पहले कियायह तो देखा नहीं परन्तु मेरी निष्ठा है कि कर्ता मैं ही हूँ, इसलिये जो भी फल हुआ है, वह मेरे कर्म का ही प्रभाव हैं। बार-बार इस निष्ठा को दुहरायेंगे तब यह दृढ होगी। यदि यह निष्ठा नहीं होगी तो कभी कर्त्ता बनोगे और कभी लगेगा कि 'मुझ पर यह अच्छा-बुरा फल लादा गया है, मेरे कर्म का प्रभाव नहीं है'।

यदि तुम्हें यह निष्ठा है कि 'करने वाला मैं नहीं हूँ', तो हमेशा ही 'मैं अकर्ता हूँ' यह निष्ठा रखनी पड़ेगी। फिर 'कुछ भी ऐसा नहीं है जो मैं कर सकता हूँ, क्योंकि मैं कर्ता हूँ ही नहीं।' कर्ता कौन है? भगवान् आगे जवाब देंगे कि पाँच चीज़ें मिलकर कार्य किया करती हैं।

इन दोनों में से एक ही निष्ठा करनी पड़ेगी। एक है'मैं कर्ता हूँ'; दूसरी है'मैं कर्ता नहीं हूँ'। 'मैं कर्ता हूँ' तो सारा कर्म मार्ग सामने है, 'मैं अकर्ता हूँ' तो सारा ज्ञान मार्ग सामने है। हम लोगों की गड़बड़ी यह होती है कि जब अच्छा काम होता है, तब तो 'मैं कर्ता हूँ' और जब बुरा होता है तब'जीव क्या कर सकता है जी! हम क्या कर सकते हैं!' अर्थात् मैं अकर्ता बन जाता हूँ। इसलिये हमारी निष्ठा न कर्म-मार्ग में रहती है न ज्ञान-मार्ग में। भगवान् ने स्पष्ट कहा द्विविधा निष्ठा, दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं, या कर्तृत्व में स्थिर हो जाओ, या अकर्तृत्व में स्थिर हो जाओ।

सांख्य का मतलब यहाँ कपलि मुनि का बनाया हुआ सांख्य-शास्त्र नहीं लेना। सांख्य का मतलब होता है 'संख्या वाला।' संख्या का मतलब होता है'सम्यक् ख्यायत इति संख्या'। जिसका भली प्रकार से निश्चय कर लिया जाता है, समझ लिया जाता है, विचार से जो पुष्ट हो जाता है, उसको कहते हैंसंख्या। जैसे पंजाबी में'तुमने क्या कहा'? के लिये कहते हैं, 'की आख्या?' वैसे ही यह 'ख्या' है। अंकों द्वारा कही जाने वाली को संख्या

क्यों कहते हैं? इसलिये, कि जब तुम उस संख्या का उल्लेख कर देते हो तब निश्चित कहते हो। जब तक हम कहते हैं, 'वहाँ बहुत आदमी आये थे', तब तक अनिश्चित है कि कितने थे। लेकिन जब हम कहते हैं, 'वहाँ पैंतीस आदमी आये थे', तब निश्चित हो गया, न चौंतीस थे, न छत्तीस थे। सम्यक् रूप से ख्यान कर देती है, कह देती है, इसलिये उसको भी संख्या कहते हैं।

इसी प्रकार आत्मा क्या है? अनात्मा क्या है?इन दोनों को जहाँ भली प्रकार से कह दिया जाये, आत्मा-अनात्मा का विवेक भली प्रकार से कर दिया जाये, वह है 'सांख्य शास्त्र'। विवेक की पुस्तक शुरू ही यहाँ से होती है कि सारे पदार्थ दो प्रकार के हैंएक जानने वाला, दूसरा, जिसको जानता है। जानने वाला जिसको जानता है, उससे हमेशा अलग होगा। जिस-जिस चीज़ को जानते हो, उसको सोचते चले जाओ। धीरे-धीरे करने का अभ्यास है, एक दिन में नहीं होगा। जो-जो चीज़ तुम जानते हो वह 'मैं जानने वाला नहीं', इसको समझ कर अपने से अलग करो। मैं जानता हूँ मेरी पाँच अंगुलियाँ हैं। इसलिये अंगुली मैं नहीं हो सकता। अगर होता, तो जानता कैसे? जानने वाला जिसको जानता है उससे अलग होता है। यह विचार करते-करते एक जगह पर पहुँचोगे जहाँ केवल एकमात्र अहंकारात्मिका वृत्ति रह जायेगी'मैं जानने वाला'। कपिल महर्षि ने यहीं तक पहुँचाया'जानने वाला मैं'। परंतु वेद एक कदम आगे जाता हैः वह कहता है, 'मैं जानता हूँ' इस बात को जानते हो कि नहीं जानते? 'मैं जानता हूँ', इस बात को भी जानते हो। इसका मतलब है एक मैं को दूसरा मैं जानता है। पहले मैं को छोड़ दो, तब तुम आत्मस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप हो। इस प्रकार से आत्मा का सम्यक् ख्यान हो जाता है, अच्छी तरह से, विवेक के द्वारा, परमात्मभाव की स्थापना हो जाती है। और कोई प्रकार कहने का या समझाने का है नहीं। यह साधना ज्ञान-योग है।

परन्तु यह होता कब है? विवेक कब कर सकते हो? भगवान् ने कह दिया 'अनघ' अनघ मायने निष्पाप। अघ कहते हैं पाप को, अनघ का मतलब है पापरहित। जब तुम पाप-रहित होगे तब यह काम कर सकोगे, उसके पहले नहीं कर सकते। कारण क्या है? पाप ढाँक देता है तुम्हारी विवेक शक्ति को। रोज़ अनुभव में देखते हो, अपने लड़के की आँख थोड़ी टेढ़ी होती है, तो लगता है कि'हाँ, आँख थोड़ी छोटी-बड़ी है।' और पड़ोसी के लड़के की आँखों में उससे कम फ़र्क हो तो भी लगता है कि भैंगा है! यों मोह हमारी बुद्धि को ढाँक देता है। जहाँ 'मैं-पना' और 'मेरा-पना' रहता है वहाँ हमेशा पाप, अघ रहेगा ही। जब तक अनघ नहीं बनोगे, तब तक, सांख्यों के योग्य ज्ञान योग नहीं हो सकता। हाथ को मैं जानता हूँ। कागज़ को भी मैं जानता हूँ। कागज़ से मैं अलग हूँयह तो निश्चय हो जायेगा। पर हाथ से अलग हूँयह निश्चय दुर्लभ है। जैसे इस हाथ को देखता हूँ वैसे कागज़ देखता हूँ, परन्तु क्या हाथ से उसी तरह अलग होता हूँ? थोड़ा-सा अंगारा ही कोई रख दे तो कैसा तड़प जाता हूँ! क्योंकि इसके अंदर हमें ममता है, मेरापन है। जहाँ

अहंता-ममता होगी, वहाँ विवेक ढक जाता है, विवेक कार्यकारी नहीं होता। लोक में देखने में आता है कि अनेकों मतभेदों में जो मध्यस्थ बनकर सफलता से उन्हें सुलझा देता है वह अपने घर के झगड़े नहीं निपटा पाता। कारण क्या है? कारण यही है कि बाकी सब जगह तो 'मेरा' का भाव नहीं है इसलिये झट उसका निर्णय हो जाता है। घर में आता है तो 'मेरा' का चक्कर आ जाता है। अतः उसका निर्णय ठीक नहीं हो पाता है। इसी तरह से जो हमारे शरीर के बाहर, मन के बाहर हैं, उनका तो मैं विवेक कर लेता हूँ। लेकिन अपने शरीर और मन का विवेक करके उससे अलग होना सम्भव नहीं होता। इसलिये कहा, अनघ! जब तू पाप-रहित हो जायेगा, अहंता-ममता से रहित हो जायेगा, तभी इस मार्ग की प्राप्ति करेगा।

स्वाभाविक प्रश्न हुआ कि फिर 'अनघ' कैसे बनूँ? तब कहा 'कर्मयोगेन योगिनाम्'। अभी अपने को अकर्ता मत सोचो, कर्ता सोचो। कर्ता सोच कर, शास्त्र ने तुमको जो करने को कहा है, वह करो। वह हुआ 'कर्म'। शास्त्र ने जो कहा, उसको करना कर्म है। उस कर्म से तुमको स्वर्गादि की प्राप्ति होगी। किंतु वह कर्म *योग* नहीं, उससे तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा, थोड़ी तो शुद्धि होगी, लेकिन ज्ञानोपयोगी शुद्धि नहीं होगी। इसलिये 'कर्मणः' नहीं कहा, कर्म से होगा ऐसा नहीं कहा, 'कर्मयोगेन' कहा, कर्म को जब युक्त होकर करोगे तब निष्ठा की ओर बढ़ोगे। युक्त होकर करने का मतलब है, इस भाव से करना कि 'परमेश्वर का मैं दास हूँ, नौकर हूँ, इसलिये उनके लिये कर्म करता हूँ, उन्होंने वेदों में आज्ञा दी है इसीलिये उनके कहे अनुसार करता हूँ, अपनी कामना को पूर्ण करने के लिये नहीं। परमेश्वर की आज्ञा है, इसलिये करता हूँ।' इस ढंग से जो करता है, वह पापरहित होता है। 'योगिनाम्' अर्थात् जो अभी अभ्यास करने वाले हैं उनको कर्मयोग का ही अभ्यास करना पड़ेगा, अनघ हो जाने के बाद ज्ञानयोग में जा पायेंगे।

आचार्य शंकर ने सांख्य उन्हें माना, आत्मा और अनात्मा का जिन्हें विवेक है। विवेक किनका दृढ होता है? जो ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधा संन्यास ही लेते हैं। ब्रह्मचर्य तो सब त्रैवर्णिकों के लिये कर्त्तव्य है, उपनयन करके वेद का अध्ययन करना पड़ेगायह तो सबके लिये कर्तव्य है। उसके बाद, यदि तुम्हारी कामना है तब तो गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करो, विवाह करो, और यदि तुमको संसार के किसी विषय की कामना नहीं है, तो संन्यास में प्रवेश करो। गृहस्थाश्रम में जाने के बाद, मनुष्य पर कई ऐसी ज़िम्मेदारियाँ वैदिक नियमों से आ जाती हैं, जिनको छोड़ना सरल नहीं होता। हमारे यहाँ स्पष्ट रूप से कहा है कि जब तक पत्नी आज्ञा न देवे, कि तुम संन्यास लो, तब तक संन्यास नहीं ले सकते। प्रश्न उठता है कि यदि वैराग्य हो जाये तो? तो भी संन्यास न लेवे क्योंकि पहले प्रतिज्ञा कर ली है कि 'तुम मेरी पत्नी हो, तुम्हारा भरण-पोषण मेरे ज़िम्मे है'यह स्वीकारा हुआ कर्तव्य तुम्हारे सिर पर बैठा हुआ है। इसलिये पत्नी की अनुज्ञा मिलने पर ही संन्यास ले सकते हो। वृद्ध माता-पिता हो, कोई दूसरा उनको सम्भालने वाला नहीं हो, तो उनकी अनुज्ञा

चाहिये। इस तरह एक बार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद अनेक नियम आते हैं। उन नियमों के बाद फिर मनुष्य को मौका मिले, यह कम होता है। सांख्य का रास्ता प्रधान रूप से उनका है जो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास लेते हैं। उन्हें वेदांत ज्ञान सुनिश्चित हो जाता है, वे ब्रह्म में ही निष्ठा वाले रहते हैं। यह होता उन्हीं को है जिन्होंने पूर्व जन्म में कर्मयोग कर लिया है। उसके कारण, वे जब पैदा हुए, तब से ही उनको 'मैं, मेरा' और कामनाएँ नहीं जैसी ही रहती हैं। उन्हें स्वभावतः अनघत्व की प्राप्ति है इसलिये ब्रह्मचर्य से वे सीधे संन्यास में चले जाते हैं। जिन्हें पूर्वकृत योग के फलस्वरूप ऐसा अनघत्व, ऐसा वैराग्य नहीं है, उन्हें योगाभ्यास, कर्मयोग का अभ्यास, अर्थात् कर्म में निष्ठा करनी पड़ती है कि 'मैं करूंगा तब मैं पापरहित हो जाऊँगा।' इसलिये अभी, 'मेरे करने से होगा'यह निष्ठा है।

'निष्ठा' कह करके भगवान् ने आज के लोगों को मुश्किल में डाल दिया! आज के लोग एक तरफ तो अपने को कर्ता मानते हैं, और दूसरी तरफ कहीं सुन लेते हैं कि 'सब कुछ करने वाला तो परमेश्वर है, जीव कुछ करने वाला नही है'। 'मैं कुछ करने वाला नहीं हूँ', यह अनुभव तब होवे जब पहले तुमको कोई इच्छा न होवे। 'दुकान खोलूंगा, तब माल बिकेगा, तब पैसा आयेगा, तब रोटी खायेंगे'यह जब तक तुम्हारे मन में कामना और कर्तृत्व है, तब तक बैठे-बैठे क्योंकि दुकान नहीं खुल जायेगी इसलिये यह निश्चय कर नहीं पाओगे कि 'मुझे' दुकान खोलने नहीं जाना है। यह नहीं कहना कि फिर दुकान कैसे खुल जायेगी? प्रसिद्ध कथा है : नरसिंह महता कीर्तन करते रहे, भगवान् ने उनका मायरा भर दिया। मायरा अर्थात् कन्या के विवाह के समय ननिहाल पक्ष से जो आता है और कन्या को दिया जाता है। नरसिंह महता भगवान् का भजन करते रहते थे। उनकी घरवाली कहती, कौन करेगा, कौन करेगा? किन्तु मौके पर भगवान् ने ही सब कार्य कर दिये। नरसिंह महता की तो निष्ठा थी कि 'मेरे करने से नहीं होता', लेकिन तुम यदि हाथ बाँधकर बैठोगे तो हर पाँच मिनट के बाद दूरभाष करोगे कि कार्य हो गया है कि नहीं! इसलिये जब तक कामना है, कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा है, तब तक निश्चय होना चाहिये कि 'मैं करूंगा तब प्राप्त होगा, मेरे किये बिना नहीं होगा'। इस निश्चय से चित्तशुद्धि के लिये कर्म करोगे तब अनघभाव की प्राप्ति होकर कामना निवृत्त हो जायेगी, कोई कामना रहेगी नहीं। नरसिंह महता के मन में यह कामना नहीं थी कि मायरा ज़रूर भरना है, बल्कि था कि भगवान् को भरवाना होगा तो भरवायेंगे। जब तक ऐसा भाव न हो तब तक कर्मयोग की निष्ठा ही हम लोगों के लिये कर्तव्य है। 'ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि कारण नहीं, मेरे करने का ही फल होगा, जो भी प्रतिबंधक आयेंगे मेरे ही कर्म के प्रभाव से हैं'यह निश्चय रखना होगा। द्विविधा कह कर भगवान् ने दो बातें कह दीं : दो रास्ते नहीं हैंयह तो एक बात है और दूसरी, जो पिछले अध्याय में (श्लोक. ५०) कहा था, उसे भी स्पष्ट कर दिया, कि ज्ञानयोग की प्राप्ति होती है

कर्मयोग के द्वारा; पापरहित हो जाओगे, तब ज्ञानयोग्यता की प्राप्ति हो पायेगी, उसके पहले नहीं।।३।।

अर्जुन के मन में प्रश्न हुआ कि 'बन्धनकारी कर्म में मुझे क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं? संन्यास-पूर्वक ज्ञान-निष्ठा में मुझे अधिकारी क्यों नहीं मान रहे? मैं कर्म छोड़ दूँ तो क्या हर्ज़ है?' इसका उत्तर देने के लिये भगवान् ने कहा

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

कर्मों का अनुष्ठान प्रारम्भ न करने मात्र से पुरुष निष्क्रिय आत्मस्वरूप से अवस्थित हो जाये यह संभव नहीं। और (ज्ञान के बिना) केवल कर्मत्याग से ही वह परम पुरुषार्थ सम्पन्न नहीं कर लेता।

कर्म को किये बिना, कर्म का आरम्भ किये बिना, अर्थात् कर्म का अभ्यास किये बिना चरम फल नहीं मिल सकता। पुरुष जिसको अन्यत्र देही कहा था, अर्थात् जो शरीर में अभिमान वाला है; अर्थात् हम सभी, जीवमात्र। नैष्कर्म्य अर्थात् संन्यास की स्थिति की प्राप्ति।

महाभारत में ही अन्यत्र कहा है

'ज्ञानम् उत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानम् आत्मनि।।'

सारे पाप कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तभी ज्ञान उत्पन्न होता है, नहीं तो ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसलिये कर्मों को किये बिना ज्ञाननिष्ठा सिद्ध हो जायेगी इसकी आशा नहीं रखनी चाहिये। जो ब्रह्मचर्य से ही विवेक-वैराग्य-वश संन्यासी होकर ज्ञानसाधना में लग जाते हैं उन्होंने पूर्व जन्मों में कर्मानुष्ठान से मन शुद्ध कर लिया है, तभी इस जन्म में यह संभव हुआ। इस जन्म में करें या पूर्व जन्म में कर चुके हों, हर हालत में, कर्म किये बिना ज्ञान की योग्यता नहीं आती, यह निश्चित है।

कर्म-शून्यता का अर्थ कर्म न करना नहीं है। नैष्कर्म्य का अर्थ साधारणतः यही लगता हैकर्म नहीं करना! मैं अकर्ता हूँयह निश्चय रहना नैष्कर्म्य है। जब तक लगे कि 'मैं करना चाहूँ तो कर सकता हूँ, लेकिन न करने की ठान ली है इसलिये कर नहीं रहा', तब तक नैष्कर्म्य नहीं वरन् कर्म ही है यह (४.१८) भगवान् स्पष्ट करेंगे। 'मेरा स्वरूप अकर्ता है, मैं कुछ कर ही नहीं सकता'यह निश्चय होने पर नैष्कर्म्य व्यक्त होता है। ब्रह्मसूत्रों में भगवान् वेदव्यास ने बड़ा अच्छा दृष्टान्त बतलाया : उन्होंने कहा कि 'तक्षा की तरह आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक न होकर औपाधिक है।' तक्षा कहते हैं बढ़ई को। तुमने बढ़ई को बुलाया किसी काम के लिये। तुमने कहा कि 'यह मेज़ ज़रा ठीक करना है।' वह कहता

है, 'जी, कल आऊँगा। मैं अपने औज़ार ले आऊँगा, ठीक कर दूँगा।' तुम पूछते हो 'अरे! बढ़ई तुम हो, औज़ारों को रहने दो, स्वयं बना दो।' तो क्या वह बना सकता है? इसका मतलब है कि औज़ारों के होने पर बढ़ई है, अन्यथा नहीं है, उसका नाम चाहे तुम बढ़ई रख दो। औज़ारों के बिना कार्य नहीं कर सकता है इसलिये कार्य करना उसका स्वरूप नहीं हुआ। इसी प्रकार आत्मा देख तब सकता है जब आँख होवे। अन्धे में आत्मा कोई आधा, चौथाई तो नहीं है! क्या नहीं है? औज़ार, आँख। इसी प्रकार से कोई बहरा है। क्या उसका आत्मा कम है? आत्मा तो वैसा ही है। लेकिन बहरा क्यों है? कान नहीं है, औज़ार नहीं है। लंगड़ा हैचल नहीं सकता। आत्मा सोचता कब है? जब साथ में मन है तब सोचता है। जब मन नहीं है, तब कैसे सोचेगा? कहाँ अनुभव होता है इसका? गहरी नींद में। गहरी नींद में, तुम क्या कुछ भी कर सकते हो? क्यों नहीं कर सकते हो? तुम तो वहाँ चौथाई नहीं हो गये, पर मन नहीं रहता इसलिये। जैसे औज़ारों के बिना बढ़ई कुछ नहीं कर सकता, वैसे ही इन्द्रिय, मन, आदि के बिना मैं अकर्ता हूँ। आत्मा के इस स्वरूप का दृढ साक्षात्कार ही नैष्कर्म्य है।

सांख्य वे साधक हैं जिनका चित्त शुद्ध हो चुकने से वे विचारप्रधान हैं, परमार्थ वस्तु के बारे में जिनका विवेक प्रबल है। बुद्धि से विचारपूर्वक शास्त्रतात्पर्य ठीक से समझना ही उपाय होने से योग है। दूसरी ओर, योगी वे साधक हैं जो अभी कुछ प्राप्त करना चाहते हैं। उनके लिये कर्म ही योग अर्थात् उपाय है। किन्तु अधिकारानुसार दोनों उपाय हैं, सांख्य बने बिना योगी रहते यदि ज्ञानयोग अपनाना चाहेगा तो साधक का पतन होगा। पहले कर्म करके चित्त शुद्ध करना पड़ेगा तभी कर्म छोड़कर ज्ञान योग का अभ्यास सफल होगा। बिना अधिकार आये वास्तव में कर्म छोड़े ही नहीं जा सकते। ज्ञान योग की निष्ठा उसी को हो सकती है, जिसके मन से कर्तृत्व-बुद्धि हट चुकी है। यह स्पष्ट करने के लिये भगवान् कहते हैं कि नैष्कर्म्य अर्थात् ज्ञान की स्थिति श्रेष्ठ है, परन्तु कर्म को किये बिना यह नैष्कर्म्य की स्थिति प्राप्त होती नहीं। कर्म को प्रारम्भ नहीं करने से, किसी मनुष्य को नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होती, कर्मरहितता की प्राप्ति नहीं होती। नैष्कर्म्य शब्द का अठारहवें अध्याय में भगवान् फिर प्रयोग करेंगेः 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यायेना-धिगच्छति' नैष्कर्म्य संन्यास के द्वारा ही प्राप्त होता है। संन्यास अर्थात् कर्म-त्याग। सर्व-कर्म-संन्यास अर्थात् सारे कर्मों को छोड़ना। अतः कर्मों को छोड़ना मात्र तो नैष्कर्म्य भगवान् को अभिमत है नहीं, क्योंकि तब यह कहना ही नहीं बनता है कि 'कर्मों को छोड़ने से कर्मों को छोड़ना सिद्ध होता है!' इसलिये दोनों में कुछ फ़र्क है।

कर्मरहितता दो प्रकार की है। एक, कर्म न *करने* की, और दूसरी, कर्म का *संबंध* न होने की। भगवान् के अनुसार, और सब शास्त्रों के अनुसार, कर्म को न करना भी एक तरह का कर्म है। जैसे गाड़ी को रोकने के लिये तुम ब्रेक लगाते हो तो उसमें भी ज़ोर

लगता है। 'मैं कर्म नहीं करूंगा' यह जहाँ मन में संकल्प है, वहाँ कर्म बैठा हुआ है, क्योंकि कर्म से ही तुम अपने को रोक रहे हो। जब भगवान् नैष्कर्म्य-सिद्धि कहते हैं तब उस नैष्कर्म्य की बात नहीं कर रहे, कर्म न *करने* की बात नहीं कर रहे, वरन् 'कर्म के साथ मेरा संबंध बनता ही नहीं' इस निश्चय की बात कर रहे हैं। कर्म निकल गया जिसमें से वह निष्कर्मा है। महाभारत में अन्यत्र कहा है 'नासौ त्यजति कर्माणि कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ'। ऐसा साधक कर्म को नहीं छोड़ता है, कर्म खुद ही उसको छोड़कर चले जाते हैं! अतः कर्म न *करने* वाली स्थिति नैष्कर्म्य-सिद्धि नहीं है। कर्म के साथ संबंध है ही नहींयह दृढ निश्चय नैष्कर्म्यसिद्धि है। इसलिये कहा कि कर्म किये बिना नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होती। कर्म न *करके* तो बैठ ही सकते हो, पर उससे नैष्कर्म्य-सिद्धि नहीं होगी अर्थात् 'मैं अकर्ता हूँ'यह सिद्ध नहीं होगा; मैं रोक सकता हूँयही सिद्ध होगा। अपने आत्मा को, अपने स्वरूप को जानकर 'मैं सर्वथा कर्मरहित हूँ' इस भाव से जो अवस्थान है, वही नैष्कर्म्य-सिद्धि है। केवल कर्म छोड़ने से इस भाव की प्राप्ति नहीं होती। ज्ञान जब तुम को होता है, विवेक विचार करके, तब उससे नैष्कर्म्य की प्राप्ति होती है, कर्म नहीं करने से नहीं होती। शास्त्रों में कई प्रकार की तृप्तियाँ अर्थात् बिना पहुँचे हुये, बीच में ही संतुष्ट हो जाना, तृप्त हो जाना, बतायी हैं। उनमें एक तृप्ति यह भी बतलाई है, कि 'मैंने संन्यास कर लिया, कर्म छोड़ दिया। बस, अब मुक्ति हो जायेगी, क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि त्याग से मुक्ति होती है। मैंने कर्म-त्याग कर दिया है, तो मुक्ति हो जायेगी।' यह एक भ्रम है। यों मोक्ष नहीं होता। श्रवण मननादि, शम दमादि का अभ्यास करके, तब ज्ञान होगा, ज्ञान होने से 'आत्मा अकर्ता है' यह पता लगेगा। 'मैं अकर्ता हूँ' यह कर्मशून्यता-रूप मोक्ष होगा।

हमारे में कर्तापना आया कैसे? जैसे तुम स्वभाव से अकर्ता हो, वैसे ही प्रकृति स्वभाव से कर्ता है। अर्थात् प्रकृति बिना कुछ किये रह नहीं सकती। हर क्षण प्रकृति क्रिया वाली है। आत्मा हर क्षण अकर्ता है। परंतु बंधन काल में भ्रान्ति से, प्रकृति के कार्यों को अपने में आरोपित कर लेता है, और अपने अकर्तापन को प्रकृति में केन्द्रित कर देता है। इसलिये लगता है कि'मेरे किये बिना नहीं हो सकता'। करेगी तो प्रकृति, उसे हमने अपने में आरोपित कर लिया है कि 'मैं करूंगा तब होगा।' यों भ्रम से अपने में कर्तापना आ गया है। किं च, 'मेरे किये बिना प्रकृति नहीं कर सकती'यों प्रकृति में अकर्तृता की प्रतीति होती है। कुर्सी यहाँ पड़ी है तो यहीं पड़ी रहेगी, अपने-आप उठकर थोड़े ही जायेगी। प्रकृति के बारे में लगता है कि यह कुछ नहीं कर सकती, 'मैं उठा कर रखूंगा तभी कुर्सी जायेगी'। इस तरह प्रकृति के अंदर अकर्तृत्व का आरोप, और अपने अंदर कर्तृत्व का आरोप होता है। इसी को दार्शनिक भाषा में अन्योन्याध्यास कहते हैं अर्थात् अन्य का अध्यास अन्य में। यद्यपि प्रकृति और पुरुष हैं सर्वथा भिन्न, तथापि अध्यास करके दोनों की खिचड़ी बन गयी है।

अध्यास का केन्द्र कौन है? अहम्। बाकी सब अध्यास इसके बाद आते हैं। मन की वृत्ति अहंकारात्मिका बनी'मैं'। यह 'मैं' मन की वृत्ति है, आत्मा तो है नहीं, क्योंकि यदि आत्मा होता तो गहरी नींद में भी 'मैं' बना रहता। गहरी नींद में 'मैं' तो है नहीं, परन्तु आत्मा है। यदि 'मैं' आत्मा का स्वरूप होता तो, गहरी नीद में भी होता। जब प्रकृति का कार्य आया, अर्थात् अन्तःकरण आया, मन आया, तब मन को तुमने अपने में माना, अपने को मन में माना; इसलिये कहते हो'मैं चेतन हूँ, मैं जानता हूँ।' जानना तो आत्मा का धर्म है और 'मैं' मन का धर्म है। लेकिन दोनों को एक करके 'मैं' को अपना स्वरूप समझते हो। अन्यत्र आचार्यों ने कहा है कि संसारहेतु प्रतिबन्धों का मूल अहंकार है 'तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहङ्कारः'। जब यह 'मैं' का अध्यास हो गया, उसके बाद बाकी सब अभिमान आते हैं। जैसे चुम्बक पत्थर के साथ तुम एक मोटी कील लटका दो तो लटक जायेगी, उयके नीचे एक सुई लटका दो, तो वह भी लटक जायेगी। यों तीन-चार सुइयों को तुम लटका सकते हो। चुम्बक के कारण बड़ी कील में चुम्बकपना आया। वह चुम्बकपना उसका अपना नहीं है। तुम अगर चुम्बक हो हटा दो, तो सारी कीलें या सुइयाँ इकट्ठी गिर जायेंगी। चुम्बक के साथ संबंधित होकर बड़ी कील में चुम्बकता आयी, उसके साथ मिलने से छोटी कील में भी चुम्बकता आयी, उसके साथ मिलने पर सुई में चुम्बकता आई। चुम्बकता सबमें दीखेगी, कोई ऐसे लटका देखे तो यही लगेगा कि ये सारे चुम्बक हैं, एक-दूसरे को पकड़े हुये हैं। परन्तु असल में चुम्बक तो केवल पत्थर है, वही उन कीलों के अंदर चुम्बकता ला रहा है। इसी प्रकार से आत्माका अहंकारात्मिका वृत्ति से संबंध हो कर लगता है 'मैं चेतन हूँ'। उस मैं का संबंध आगे प्राण से होता है, इसलिये प्राण भी चेतन लगता है। उसका संबंध शरीर से हो गया तो शरीर भी चेतन लगता है। वास्तव में आत्मा की चेतनता 'मैं' के द्वारा शरीर तक पहुँचती है।

छोटे चुम्बक पत्थर से तो कील का संयोग करना पड़ता है परन्तु यदि तुम्हारे पास बहुत तगड़ा चुम्बक है, बहुत शक्तिशाली चुम्बक है, तो तुमको कील *जोड़ने* की ज़रूरत नहीं होती है। उसके पास भी कील लाओ, बीच में कुछ रख भी दो ताकि उससे न चिपक सके, तो भी वह कील चुम्बक हो जाती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा और मन, अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्तिये *जुडते* नहीं हैं, आत्मा की सन्निधि में आने से ही मन 'मैं' चालू कर देता है और वह 'मैं' ही तुमने खुद को समझ लिया है। अहंकार में दो चीज़ें मिली हुई हैं। तुम वस्तुतः हो आत्मा वाला हिस्सा, मैं का जो मैं-पना है वह मन का हिस्सा है। मैं को ही तुम अपना स्वरूप समझते हो, उससे भिन्न समझते नहीं। मैं प्रकृति से जुड़ा हुआ है इसलिये 'मैं' कर्ता है। पर कर्तृत्व का अनुभव हो रहा है तुम्हें अपने स्वरूप में।

जब तक कर्तृत्वाभिमान है तब तक कर्म को प्रारम्भ किये बिना तुम्हारे अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होगी। श्रवण-मनन-निदिध्यासन, शम दमादि कर्म करके ही चित्त शुद्ध

होगा। यह क्रम समझ लेनाः जब तक वैराग्य न हो, आत्मा की जिज्ञासा न हो, तब तक यज्ञ, पूजा, जप, तप आदि कर्म आवश्यक हैं। जब जिज्ञासा हो जाये, वैराग्य हो जाये, तब बाह्य कर्म छोड़ कर शमादि-पूर्वक श्रवणादि कर्म आवश्यक है। जैसे संसारी लोग सांसारिक चेष्टाओं को ही कर्म मानते हैं, जप पूजा आदि को नहीं, वैसे कर्मकाण्डी यज्ञ-पूजा आदि को ही कर्म मानते हैं, श्रवणादि को नहीं। किंतु अधिकारभेद से फलभेद के लिये दोनों ही कर्म आवश्यक हैं। जैसे यज्ञादि नियमतः कर्तव्य हैं ऐसे श्रवणादि भी, जैसे यज्ञादि के विभिन्न इतिकर्तव्य अर्थात् करने के तरीके हैं वैसे श्रवणादि के शमादि इतिकर्तव्य हैं। जब तक शम दमादि से युक्त हो कर श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मा को नहीं जानेंगे, तब तक नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होगी। कर्म को छोड़ने मात्र से निष्कर्मा-भाव की प्राप्ति नहीं हो जायेगी। मोक्ष की स्थिति ही सिद्धि है, वह बिना ज्ञान के प्राप्त नहीं होती।

अठारहवें में (श्लोक ४६) संन्यास से परम नैष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति कहेंगे, यहाँ संन्यास से सिद्धि नहीं होती यह कह रहे हैं, पर इनमें विरोध नहीं है। भगवान् ने अविरोध स्पष्ट कर दिया 'संन्यसनाद् एव' कहकर। एव मायने 'ही'। खाली कर्म छोड़ने से सिद्धि नहीं होगी। कर्म छोड़कर, श्रवण मनन निदिध्यासन करने से होगी। श्रवण मनन निदिध्यासन करने की योग्यता तभी आयेगी तुम्हारे अन्तःकरण में, जब तुम कर्म कर चुकोगे। इस प्रकार कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति का कारण है। इसी बात को वेद ने कहा है ''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'। वेदाध्ययन से, यज्ञ से, दान से, तप से, अनशन से, इन सब साधनों के द्वारा, परमात्मा को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होती है, विविदिषा होती है, परमात्मा के ज्ञान की इच्छा होती है। यदि यज्ञ दान तप नहीं किये हैं, तो विविदिषा नहीं होगी।

बहुत बार लोग प्रश्न करते हैं कि 'आत्मा अकर्ता है, तो उसका दोष क्यों? मैं अकर्ता हूँ, मेरा दोष क्यों?' तुम्हारा दोष सबसे बड़ा क्या है? तुम अकर्तापना किसमें देख रहे हो? शरीर में। शरीर कुछ नहीं कर रहा है तो तुम समझते हो 'मैं नहीं कर रहा हूँ'। और अगर शरीर ने कुछ कर लिया, तो समझते हो 'मैंने कर लिया।' अकर्ता भाव का तो मतलब हुआ, 'मैं कर्ता हूँ ही नहीं'। शरीर करो न करो, उससे आत्मा में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इस अध्यास दोष के कारण ही तुम पर सब दोष चढ़ जाते हैं। कर्मयोग पूर्वक ज्ञानयोग पाकर मूल दोष हटा लो तो बाकी दोष स्वतः निवृत्त हो जायेंगे।।४।।

केवल कर्म का संन्यास कर देने मात्र से, नैष्कर्म्य की प्राप्ति क्यों नहीं? योगाभ्यास से समाधि की प्राप्ति कर लो, तो मन काम नहीं करता और शरीर भी कोई काम नहीं करता, तब भी नैष्कर्म्य की सिद्धि क्यों नहीं होती? भगवान् जवाब देते हैं, कि 'शरीर कुछ नहीं करता, मन कुछ नहीं करता' यह उनके स्वरूप को बिना समझे कह रहे हो

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कोई कभी क्षण भर भी कर्म न करते हुए नहीं ही रहता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा बेबस हुए सभी लोगों से कर्म कराया जाता है।

चाहे कोई होवेदेवता, दानव, मानव, एक क्षण भी बिना कुछ किये हुए नहीं रहता है। प्रकृति बिना कुछ किये रहती ही नहीं है। जिसे समझते हो 'यह चीज़ स्थिर है', उसमें भी धनाणु-ऋणाणु की गतियाँ चलती रहती हैं। शान्ति से कुछ कभी नहीं बैठेगा क्योंकि प्रकृति का स्वरूप ही ऐसा है। जब तुम कहते हो कि शरीर कुछ नहीं कर रहा है, तब भी खून दौड़ ही रहा है! मच्छर काटता है तो दापड़ भी पड़ रहा है। समाधि में बैठे तुम मन को रोकते हो। जब तक रोकते हो, वह रुका हुआ बस, बाट देखता है कि 'कब कूदूँ!' जैसे बंदर डाल पर बैठता है बिल्कुल समाधिस्थ होकर, लगता है कुछ नहीं करेगा, फिर अकस्मात् किसी फल को तोड़कर ले आयेगा। वह बैठा हुआ यही देख रहा था कि 'कहाँ जाऊँ?' उसी प्रकार समाधि के अंदर, सत्त्वगुण की अधिकता करके तुमने रजोगुण-तमोगुण को दबा लिया, तब रजोगुण-तमोगुण आशा कर रहे हैं कि 'बस, यह थोड़ा-सा ढीला पड़े और हम फिर उठ कर खड़े हो जायें'। और यही होता है। जब कहते हो समाधि में मन काम नहीं कर रहा, तब भी वहाँ रजोगुण-तमोगुण उठने की चेष्टा कर रहे हैं, तुमको भले ही नहीं दीखता। इसी प्रकार से जहाँ तुम समझते हो कि शरीर कुछ नहीं कर रहा, वहाँ भी क्रियाएँ हो रही हैं। बिना किये हुए, क्षण मात्र को भी कुछ नहीं रहता। 'जातु' मायने निश्चित है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। कैसे करता है? प्रकृति से उत्पन्न होने वाले रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण सभी से कर्म कराते रहते हैं। तुम्हारा स्वयं पर नियंत्रण नहीं रहता क्योंकि ये गुण तुम्हारे वश में नहीं हैं। इन्हें तुमने दबा दिया है, लेकिन ये तुम्हारे *वश* में नहीं हैं। रजोगुण तमोगुण चेष्टा कर रहे हैं कि 'कब मौका मिले और खड़े हो जायें'।

इसलिये 'सर्वः'अर्थात् जितने प्राणी हैं, उनसे इन गुणों के द्वारा कर्म कराया जाता है ही। इनके साथ जब तक तुम्हारा किंचित् संबंध भी है, तब तक तुम अकर्ता हो ही नहीं सकते। शरीर मन के साथ संबंध रखते हुए अकर्ता हो जाओ, यह हो ही नहीं सकता क्योंकि शरीर और मन कर्म करेंगे ही, और उनके साथ एक रहे तो तुम्हारा भी कर्म होगा ही। यहाँ भगवान् ने कहा 'सर्वः', उस का मतलब लेनाजो शरीर मन से अध्यास करने वाले प्राणी हैं। अर्थात् हम सब। 'हम सब' के अंदर सब-पना किसमें है? शरीरों में है, आत्मा में तो सब-पना है नहीं क्योंकि आत्मा एक है। सब-पना रहेगा शरीर-मनों को लेकर। 'सर्वः' का प्रयोग करके भगवान् ने बतला दिया कि जब तक तुम्हारा शरीर-मन में अध्यास है, तब तक काम कराया ही जायेगा। अज्ञानियों के लिये यह सम्भव नहीं है कि

सर्वथा अकर्मकृत् हो सकें। ज्ञानी जानता है कि 'ये सब क्रिया वाले हैं, इनसे मेरा संबंध नहीं,' इसलिये वह इनसे विचलित भी नहीं होता। इसीलिये उसके अंदर कर्मयोग उत्पन्न ही नहीं होगा! कर्म करना प्रारम्भ तभी होता है जब पहले निर्णय होवे कि तुम किस समाज के हो, तुम किस वर्ण के हो, तुम किस आश्रम के हो। इस सबके बिना कर्म शुरू होगा नहीं। जब तक तुम्हारी स्थिति निर्णीत न हो जाये, तब तक तुम्हारा कर्म कैसे निर्णीत होगा? ज्ञानी चूंकि जानता है कि शरीर आदि, जो वर्णाश्रमादि का निश्चय कराने वाले हैं, मैं हूँ नहीं', इसलिये उसमें कर्मयोग उपपन्न ही नहीं होता। तुम किसके लड़के होयह निर्णीत हो, तब निर्णय हो कि तुम किसकी सेवा करो। शास्त्र ने कह दिया, बाप की सेवा करो। ठीक है। पर *तुम्हारा* बाप कौन हैयह तो पता लगाना पड़ेगा। इस शरीर को जिसने पैदा किया वह तभी *मेरा* बाप है जब यह शरीर 'मैं' हूँ; जब मैं शरीर नहीं, तो वह बाप *मेरा* कहाँ से हो गया! यही देशसेवा के बारे में समझ लेना। शरीर भारत में पैदा हो सकता है; इससे *मैं* भारतीय कैसे यदि शरीर मैं नहीं हूँ? इसलिये कर्म का निर्णय करने के लिये पहले अध्यास ज़रूरी है। जब शरीरादि के साथ संबंध वाले तुम हो जाओ, तब कर्म निर्णीत होगा। ज्ञानी को क्योंकि यह पता है कि 'ये सब मेरे संबंध से रहित हैं' इसलिये उसके अंदर कर्मयोग कभी उपपन्न ही नहीं होगा।

भगवान् पहले भी कह आये हैं, दूसरे अध्याय में, कि जो इसको जानता है कि यह जन्म-रहित है, मरण-रहित है, वह किसको मारे और किसके द्वारा मारा जाये! 'मारना' या 'मरना' दोनों शरीर को लेकर हैं। मारेंगे तो शरीर से, मरेंगे तो शरीर से। जब यह पता है कि 'मैं तो जन्म-रहित हूँ, शरीर जन्म वाला है', तब न किसी को मार सकते हो, और न किसी के द्वारा मारे जा सकते हो। प्रसिद्ध दृष्टांत है कि सिकंदर यहाँ आया तो किसी महात्मा के पास गया। उसे उसके गुरु ने सुक्रात ने कहा था कि भारत में किसी महात्मा के पास जाना। उनसे कुछ बात चीत हुई। वह तो अपने को बड़ा भारी महाराजा समझता था। महात्मा किसको महाराजा समझे! बातचीत में सिकंदर ने गुस्से में आकर कहा 'तुमको पता है, मैं सारे संसार का राजा हूँ। मैं तुम्हें काट सकता हूँ।' बड़े ज़ोर से हँसे महात्मा। बोले, 'पहले मुझे देख तो सही! तू तो इस मांस के लोथड़े को देख रहा है। मुझे देखेगा, तब न काटेगा।' इसी तरह भगवान् ने कहाकिससे मरे और किसको मारे, दोनों ही नहीं बनते। इसलिये 'सर्व' अर्थात् अध्यास वाले, जो देही लोग हैं, वे सारे। उनको ये प्रकृति से होने वाले गुण, उनकी इच्छा के बिना भी नचाते रहेंगे। जो अपने स्वरूप को समझ गया है, उसके अंदर वे किसी प्रकार की क्रिया उत्पन्न कर ही नहीं सकते, क्योंकि वह उनसे संबंध वाला ही नहीं है। इसलिये बिना आत्मसाक्षात्कार के क्योंकि पूर्ण कर्मत्याग संभव नहीं अत एव भगवान् ने अर्जुन को, अज्ञानी जानते हुए, कर्म छोड़ने से मना किया, कर्मयोग करने के लिये कहा।।५।।

अब भगवान् समझाते हैं कि अज्ञानी का कर्मत्याग क्योंकि धोखाधड़ी है इसलिये

उसके द्वारा किया संन्यास सिद्धिका हेतु नहीं बनता।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

जो मोहग्रस्त व्यक्ति कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से ऐन्द्रिय-विषयों को याद करता रहता है उसे मिथ्या आचार वाला कहा जाता है।

जो अपने आत्मस्वरूप को नहीं जान सका है अर्थात् जिसका अज्ञान अभी नष्ट नहीं हुआ है वह हाथ, पैर, आदि जिनको कर्म का साधन समझता है, उन सब पर संयमन कर ले, रोक कर बैठ जाये, तो क्या होगा? 'मैं हाथ को रोके हुए हूँ, मैं पैर को रोके हुए हूँ'उन्हीं का स्मरण करेगा जिन्हें रोक कर बैठा हुआ है! जब इन्द्रियों को सोचेगा, तब इन्द्रियों के विषयों को भी सोचेगा कि 'उधर मेरा मन न जाये, उधर मेरी आँख न जाये, उधर मेरे पैर न जायें।' इन्द्रियों को रोक कर बैठेगा तो इन्द्रियों का भी उसे ख़्याल रखना पड़ेगा, कि कहीं जायें नहीं, और उन इन्द्रियों के विषयों के बारे में सोचना पड़ेगा। यदि वह कर्मयोग का अभ्यास करता, तो रात-दिन यों सोचता नहीं रहता, कर्म में लग जाता। कई लोगों ने हमें यह बात कही है, 'महाराज, जब हम ध्यान करने बैठते हैं तब दुनिया में जैसा मन दौड़ता है वैसे रसोई बनाने में लग जाते हैं, तो नहीं दौड़ता। रसोई बनाने में और चीज़ें याद नहीं आती, ध्यान करने बैठते हैं, तो पता नहीं कहाँ से, सब चीज़ें सामने आकर बैठ जाती हैं।' यह कर्म की विशेषता है कि कर्म करो तो तुम्हारा मन दौड़ना छोड़ देगा। इसीलिये हम लोग कहते हैं कि पहले भगवान् की पूजा करो, जब उसमें स्थिरता आ जाये तब ध्यान का अभ्यास करो। आजकल तो हरेक कहता है कि, 'पूजा तो बाहर की चीज़ है, असली तो मन से किया ध्यान है।' वह असली चीज़ तो है; लेकिन उनसे पूछो कि असली चीज़ मन है, तो हमें गुलाब जामुन खाने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिये। हम आलू का लौंदा बनाकर दे देते हैं, तुम उसे गुलाब जामुन समझकर खा लो! जैसे भोजन के व्यवहार में बाह्य विषय की आवश्यकता है वैसे भजन के व्यवहार में पूजा का महत्त्व है।

ऐसा व्यक्ति कर्म योग का अभ्यास क्यों नहीं करता है? विमूढ होने के कारण, अपनी मूर्खता के कारण, अपने मोह के कारण। चूंकि वह विमूढात्मा है, इसलिये इन्द्रियों के विषयों की तरफ उसका मन जाता है। ऐसा जो मूढात्मा है, उसे शास्त्रों ने मिथ्याचारी अर्थात् मन से करते हुए शरीर से नहीं करने वाला कहा है। शरीर से करोगे तो शास्त्रोक्त कर्म करोगे लेकिन मन से सोचोगे, तो चाहे कुछ सोचते रहोगे। जैसे मान लो, कोई चीज़ खाने की इच्छा तुम्हारे मन में हुई। खाने जाओगे तब तो शास्त्र याद आयेगा कि क्या खाने लायक है, कब खाने लायक है, और ग़लत खाने से बचोगे। लेकिन मन से तो कुछ भी खा सकते हो, किसी भी समय खा सकते हो, कोई रोकेगा नहीं। इसलिये, जो कर्मेन्द्रियों

को रोक कर मन से विषय-चिंतन करता रहता है वह मिथ्या आचार करने वाला हो जाता है। उसे मिथ्याचारी कहा गया है।

मिथ्या का मतलब क्या होता है? जो चीज़ जैसी हो, उसे वैसी न देखो, इसी का नाम मिथ्या है। रस्सी है, और उसे तुमने साँप देखा, इसलिये साँप को मिथ्या कहते हैं। मिथ्या का मतलब जो चीज़ जैसी दीखती है वैसी नहीं है। इसी प्रकार इस व्यक्ति को देखकर तो लगता है कि बड़ा तपस्वी है। कांटों की शय्या के ऊपर पड़ा हुआ है। भयंकर गर्मी पड़ रही है और पंचाग्नि तप रहा है।

एक खेल दिखाने वाला बहुरूपिया था। राजा को उसने बहुत से खेल दिखलाये। राजा देखता रहा, प्रसन्न होता रहा। आखिर खेल की सीमा है, कोई कितने दिखा लेगा। कुछ दिनों में राजा ने कहा 'बस, अब हमें खेल नहीं देखना, वही खेल दिखलाते हो!' उसने कहा, 'आपकी जो इच्छा वह बतला दीजिये।' उन्होंने कहा 'महात्मा बन कर तुमने कभी कुछ नहीं दिखलाया, महात्मा बनकर दिखलाओ।' उसने कहा 'उसमें तो कुछ समय लगेगा।' राजा ने कहा, 'ठीक है, जब आओगे तब मैं बहुत बड़ा इनाम दे दूंगा।' थोड़े दिनों बाद कोई एक महात्मा आकर नदी के किनारे बैठ गये। जो लोग जाते उनसे वे कोई इधर-उधर की बातें नहीं करते। चारों तरफ प्रसिद्धि होने लगी कि 'बड़े सिद्ध महात्मा आये हैं।' रानी ने भी सुना। रानी ने राजा जी से कहा 'बड़े सिद्ध महात्मा आये हैं, हमें भी दर्शन करने जाना चाहिये'। राजा-रानी दर्शन करने गये। बाकियों के तो सामने महात्मा बैठे रहते थे, लेकिन राजा-रानी से उन्होंने अपना मुँह ही मोड़ लिया! राजा ने प्रणाम आदि कर उनसे कुछ जमीन आदि लेने को कहा पर वे मना ही करते रहे। अन्त में रानी ने सोचा कि कुछ तो भेंट देनी ही चाहिये। अतः अपना नौलखा हार उतार कर उनके चरणों में रख दिया। उन्होंने नौलखा हार उठा कर धूनी में फेंक दिया! हार जल गया। राजा-रानी ने निश्चय किया कि सचमुच में, ये महात्यागी महात्मा हैं। नमस्कार करके लौट आये। दूसरे दिन वही बहुरूपिया राजा के पास पहुँचा, सलाम करके कहने लगा, 'मेरा इनाम दो'। राजा बोले 'किस बात का इनाम?' वह बोला 'आपने कहा था कि महात्मा बन कर दिखा। मैंने आपको दिखला दिया।' राजा ने आश्चर्य से कहा, 'अरे! वह तू था?' वह बोला 'हाँ, मैं ही था।' राजा ने पूछा 'तो अत्यन्त कीमती नौलखा हार तूने धूनी में जला दिया! यह क्या किया? इनाम चाहिये था तो वही रख लेता।' उसने कहा 'देखिये, यदि उस समय मैं उसे रख लेता तो महात्मा का स्वांग ठीक नहीं होता। महात्मा का आचार तो यही था। जिस भेष में रहूँ उसके अनुरूप आचार करना पड़ता है। अब महात्मा के भेष का त्याग कर दिया है, अतः इनाम लेने आपके पास आ गया हूँ।' वह दीख तो रहा था महान् त्यागी, लेकिन वह त्यागी-पने को *दिखा* रहा था। बस इसी का नाम मिथ्या है।

इसीलिये भगवान् ने कहा कि जो इन्द्रियों को रोक कर के मन विषयों की तरफ रखता है, वह मिथ्याचारी ही होता है। कर्मत्यागी का सदाचार तो विवेकादि सहित श्रवणादियों

में तत्परता है। उस आचार को छोड़कर विषय-चिंतन करता है अतः गलत आचार वाला होने से ऐसे व्यक्ति का पतन ही होता है। इसलिये भगवान् कर्मयोग की इतनी आवश्यकता समझा रहे हैं।।६।।

केवल कर्म का त्याग करने से मोक्ष नहीं होता, मोक्ष का कारण ज्ञान ही बनेगा। ज्ञान के लिये साधन है मन। जब तक मन शुद्ध नहीं होगा तब तक परमात्मा का दर्शन नहीं कर सकते। क्योंकि परमात्मा शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्ध से रहित है इसलिये आँख, कान, नाक, जीभ, त्वक्ये ज्ञानेन्द्रियाँ उसे विषय कर नहीं सकतीं। उसको विषय करने के लिये साधन केवल मन ही है। आँख यदि तुम्हारी साफ नहीं है, अगर पीलिया है, तो जो चीज़ जैसी है वैसी तुम्हें दीखेगी नहीं। सही देखने के लिये सही आँख चाहिये। इस प्रकार परमात्मा को देखने के लिये मन भी साफ चाहिये। मन में कोई दोष नहीं होगा, तभी परमात्मा का दर्शन होगा। मन का दोष क्या है? कामना। मन का असली दोष राग-द्वेष ही हैं जो चीज़ को जैसी है वैसी देखने नहीं देते। मन को शुद्ध करने के लिये कामना की शुद्धि चाहिये। कामना की शुद्धि कैसे होवे? कामना कर्म के हिसाब से होती है। तुम कुछ करते हो, उससे तुम्हें सुख का अनुभव होता है, तब उसकी कामना मन करता है। शराब की लत छुड़ाने के लिये, एक दवाई देते हैं, जिसे लेने के बाद व्यक्ति जैसे ही शराब पीयेगा, वैसे ही उल्टी हो जायेगी। जब कई दिनों तक यह होता है, तब धीरे-धीरे उसका मन शराब से हट जाता है क्योंकि उससे दुःख का अनुभव होता है। बार-बार जिससे दुःख का अनुभव होगा उस से मन हटता है। बार-बार सुख का अनुभव हो तो मन वहाँ लगता है। अतः कुछ *करके* ही संस्कार पड़ेगा। मन विषयों के प्रति इच्छा-रहित होवे, इसके लिए कुछ करना पड़ेगा।

क्या करना पड़ेगा? कर्म-योग करना पड़ेगा। कर्म तो तुम करते ही रहे हो, उससे मन शुद्ध नहीं होता। मन की शुद्धि के लिये कर्म-योग की ज़रूरत है। कर्मयोग के द्वारा जब तुम प्रवृत्त होगे, तब मन शुद्ध होगा। कर्मयोग के इस वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हैं

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

हे अर्जुन! जो तो मन से इंद्रियों पर नियंत्रण कर संगहीन हो कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करता है वह श्रेष्ठ है।

एक बात समाप्त करके दूसरी शुरू करते हैं, इसे 'तु' से सूचित किया जाता है। इसके पहले बताया था कि जो कर्मेन्द्रियों को रोकता है परन्तु मन की इच्छाएँ नहीं छोड़ता, वह मिथ्याचारी कहा जाता है। उससे विलक्षण अधिकारी की अब चर्चा करते हैं : वह कैसा है? मन के द्वारा इन्द्रियों का नियंत्रण करने वाला है। पहले उसे कहा था जो इन्द्रियों पर

तो नियमन कर लेता है पर मन को नियंत्रित नहीं करता। उससे यह ठीक उल्टा है, मन को इन्द्रियों से ऊपर रख कर मन से इन्द्रियों पर शासन करता है। हम लोगों की कठिनाई क्या है? हम वही कर्म करते हैं जो मन करने को कहता है, मन के हिसाब से कर्म करते हैं। करना क्या है? नियमन करना है अर्थात्, शास्त्र के अंदर जो कर्म करने को कहे गये है उन्हें ही करना है। वे मन को अच्छे न भी लगते हों, उनमें फ़ायदा न भी दीखता हो, परन्तु मन के द्वारा उन कर्मों को जान कर इन्द्रियों को उन कर्मो में ही लगाना है। यह इन्द्रियों के ऊपर मन का नियंत्रण हुआ। नियंत्रण कहाँ करना पड़ता है? मान लो तुम घोड़ा-गाड़ी में जा रहे हो। घोड़ा चलता है तो रास्ते में कहीं बढ़िया घास देखता है। वह चाहता है 'मैं ज़रा वहाँ घास में मुँह मार लूँ। घोड़ा उधर जायेगा तो तुम्हारी गाड़ी भी उधर चलेगी। पर उधर गड्ढा है। अतः तुम लगाम को कस कर उसे नहीं जाने देते। इसको कहते हैं नियंत्रण करना। इसी प्रकार, तुम्हारी इन्द्रियों ने जहाँ सुख का अनुभव किया है उसी तरफ जाना चाहती हैं। आकृष्ट उन्हें *सुख* का अनुभव करता है पर विषयों की तरफ जाना चाहती हैं! तुम उन्हें जाने नहीं देना चाहते, क्योंकि विषयों की तरफ जाकर ही जन्म-मरण के गड्ढे में गिरना पड़ता है। अतः मन के द्वारा इन्द्रियों पर नियंत्रण करते हो अर्थात् विषयों की तरफ नहीं जाने देते।

घोड़े को घास की तरफ जाने से रोकते हैं, और साथ ही सीधी सड़क की तरफ चलाते हैं। घोड़े को बिल्कुल चलने नहीं देनायह तो छठे श्लोक में बता दिया। यहाँ कह रहे हैं कि जिधर वे जाती हैं उधर जाने नहीं देना, परन्तु ठीक रास्ते पर चलाना भी है, कर्मेन्द्रियों के द्वारा, कर्मयोग करना है। यह कब हो सकता है? विषय तो मन को भी अच्छा लगता है; इन्द्रियों को ही अच्छा लगता हो, ऐसा नहीं है। इसीलिये कहते हैं'असक्तः।' विषयों से जो सुख होता है, उसके प्रति आसक्ति नहीं रखनी होगी। ठीक जिस प्रकार से व्यापारी व्यापार में केंद्रित होता है, उसके लिये मौके पर प्रिय विषयों की भी उपेक्षा कर देता है, उसी प्रकार साधक को विषयसुखों का आकर्षण छोड़ना पड़ेगा। पुराने ज़माने में ऊपर रहते थे, नीचे दुकान होती थी। घर से गरम-गरम पकौड़े आ गये और घरवाली ने कहा भी 'आज आपके मन के पकौड़े बने हैं,' लेकिन जिस समय पकौड़े आये, उसी सयम दस लाख के ग्राहक से सौदा पट रहा है। बढ़िया पकौड़े खाने में जिसकी आसक्ति होगी, वह तो कहेगा ग्राहक को 'ज़रा रुक जाओ, अभी मैं पकौड़े खा लूँ।' थोड़े दिन में वह पकौड़े ही खाता रह जायेगा! व्यापारी तो पकौड़े अच्छे लगने पर भी उन पकौड़ों से अपनी आसक्ति हटाता है क्योंकि बड़ा सुख सामने देख रहा हैदस लाख का सौदा पट रहा है। ठीक इसी प्रकार से, मनुष्य जीवन मिला है, इसमें परम-सुख जो परमात्मा का है वह मिल सकता है। विषयों से होने वाला सुख तो पशु शरीर में भी मिलता ही है! मनुष्य शरीर दुर्लभ है। यह विचार करने वाला तो विषयों से मन को हटाता है। विषय सुख से आसक्ति हटाता है, क्योंकि बड़ा सुख सामने है कि परमात्म-सुख की प्राप्ति हो सकती है। जो

नियंत्रण नहीं करता, वह जैसे पकौड़े ही खाता रहेगा, वैसे यहाँ फिर चौरासी के चक्कर में पड़कर विषयों का भोग करता रहेगा। जो इस प्रकार मन को सक्ति से हटाकर असक्त हो कर कर्मयोग का आचरण करता है, वह 'विशिष्यते' श्रेष्ठ है। क्यों? इस प्रकार कर्म करने से, जो पुराने अशास्त्रीय कर्म थे, उनके सारे संस्कार अति धूमिल पड़ जायेंगे, और मन निर्मल हो जायेगा, तब परमात्म-दर्शन हो जायेगा। इसलिये उसका, मिथ्याचारी की अपेक्षा, विशेष स्थान है।।७।।

उक्त विशेषता के कारण भगवान् अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश देते हैं

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

इसलिये तुम नियत कर्म करो। अकर्म से कर्म बड़ा है। किं च, अकर्म से तुम्हारी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं हो पायेगी।

भगवान् कहते हैं 'हे अर्जुन! तुझे मैंने इसीलिये कर्म करने को कहा है कि वही तेरे लिये बेहतर है, इसलिये तू कर्म को कर!' 'कौन-सा कर्म करूँ?' तब कहा, नियतं कर्म कुरू। यहाँ ज़रा कर्म का विचार समझ लेनाः हमारे यहाँ, नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म और प्रतिषिद्ध कर्मयों कर्मों को चार भागों में बाँटा है, चार तरह के कर्म हैं। प्रतिषिद्ध वह हो गया जिसे नहीं करने के लिये कहा है। प्रतिषिद्ध कर्मों को तो सर्वथा छोड़ना ही है। अब तीन कर्म बचेनित्य, नैमित्तिक और काम्य। कामना से प्रयुक्त होकर जो कर्म किया जाता है, वह काम्य कर्म है। जैसे तुम्हें पुत्र की इच्छा है तो तुम पुत्रेष्टि यज्ञ करते हो। धन की इच्छा है तो तुम श्रीसूक्त का प्रयोग करते हो। राज्य की इच्छा है तो तुम राजसूय करते हो। कामना से प्रयुक्त हो कर जो कर्म किया जाता है वह काम्य कर्म है। प्रतिषिद्ध कर्म से पाप होता है, काम्य कर्म से पाप तो नहीं होता, परन्तु काम्य कर्म तुम्हारे अन्तःकरण में ज्ञानोपयोगी शुद्धि भी नहीं लाता। कामना से प्रवृत्त होकर जो कर्म किया जाता है, वह शुद्धि नहीं लाता। सुख तो देगा, स्वर्ग के लिये किया है, धन के लिये किया है, पुत्र के लिये किया है, मकान के लिये किया है, बरसात के लिये किया हैसभी काम्य कर्म बताये हैंतो तुम्हारी कामना पूर्ण करेगा, पाप भी नहीं होगा, परन्तु मन की शुद्धि नहीं होगी। इसीलिये काम्य कर्म को भी कर्मयोगी छोड़ता है।

अब दो बचेनित्य और नैमित्तिक। नैमित्तिक कर्म किसी निमित्त से प्राप्त होगा। कोई कारण आ गया तो प्राप्त होता है। जैसे, कोई मर गया तो तुमको सूतक लग जायेगा, कोई पैदा हो गया तो जातक लग जायेगा। ऐसे कोई निमित्त प्राप्त हो तब जिसे करना पड़ता है वह नैमित्तिक है। इसलिये 'नैमित्तिक कर्म करो', यह नहीं कह सकते क्योंकि नैमित्तिक कर्म तो जब प्राप्त होगा तभी करोगे। नैमित्तिक कर्म नहीं करोगे तो तुमको दोष होगा, क्योंकि उसे करना ज़रूरी है। परन्तु करना निमित्ताधीन है, तुम्हारे हाथ में नहीं है। बचा

नित्य कर्म। नित्य कर्म वह है जो तुमको हमेशा करना है। जैसे, प्रातःकाल उठना, भूमि का स्पर्श करके नमस्कार करना, स्नान करना। कब स्नान करना? जब आकाश में तारे हों, तब स्नान करोगे तो सोने की थाली में मोती भर कर दान करने का पुण्य होगा। तारे डूब गये हों, परन्तु अभी सूर्य का प्रकाश आया नहीं हो, तब तक स्नान करोगे तो चांदी की थाली में चावल भर कर दान करने का पुण्य मिलेगा। सूर्य की किरण आ गयी फिर स्नान किया, तो लोहे की थाली में कोयला भर कर दान करने का पुण्य मिलेगा। स्नान नित्य कर्म है, इसे करना तुम्हारे हाथ में है। इसी प्रकार से, संध्या-वंदन, भगवान् का ध्यान आदि नित्य कर्म है। उठते ही अखबार पढ़ने मत लग जाना! कुछ लोग उठते तो हैं ज़रा समय से, लेकिन उठ कर पहला काम करते हैंअखबार बाँचना! स्नान, ध्यान, धारणा, जप, पूजा इन नित्य कर्मों को सबसे पहले करो, उसके बाद जो मन में आये वह करो। इसी प्रकार भोजन करने से पहले परमात्मा को वैश्वदेव के द्वारा अर्पित कर, अथवा शालिग्राम इत्यादि को पहले भोग लगाकर, तब खाना चाहिये। यह नित्यकर्म हैपहले भोग लगाओ, तब खाओ। उल्टा नहीं, जैसा मारवाड़ में कहते हैं 'पहले पेट-पूजा, फिर काम दूजा'। इस प्रकार के नित्य कर्म हमेशा कर्त्तव्य हैं, करने ही हैं। इसलिये भगवान् ने कहा, 'नित्य कर्मों का आचरण कर।'

अर्जुन कह सकता है कि 'तीन कर्म तो आप भी कहते हैं कि छोड़ने हैं, तो फिर चौथा भी क्यों न साथ में छोड़ देवें?' इसलिये कहते हैं'हि अकर्मणः कर्म ज्यायः'। 'हि' मायने चूंकि, कर्म करना, कर्म नहीं करने से श्रेष्ठ है। काम्य कर्म करोगे तो यह ठीक है कि उस से चित्त-शुद्धि नहीं होगी पर कामना का फल भोगने के लिये जितनी शुद्धि की ज़रूरत है उतनी शुद्धि तो वह देगा ही। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं, 'काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव'। काम्य कर्म से भी कुछ शुद्धि तो होती है ही। क्योंकि सूक्ष्म भोगों को भोगने के लिये भी बुद्धि की शुद्धि की ज़रूरत है। मोटी भाषा में समझ लोः बढ़िया संगीत का आनंद लेने के लिये पहले तुम्हारे मन में संगीत के कुछ संस्कार ज़रूरी होते हैं। संगीत सुनने के लिये संगीतज्ञ तो नहीं बनना पड़ेगा परन्तु संगीत सुन कर उसका सुख लेने के लिये तुम्हारे मन में संगीत के कुछ तो संस्कार होने पड़ेंगे, नहीं तो संगीत का तुमको आनन्द ही नहीं आयेगा। ऐसे ही स्वर्गादि जाकर सुख भोगने के लिये तुम्हारे अन्तःकरण में कुछ शुद्धि अपेक्षित होगी, नहीं तो वहाँ के सुख ही नहीं भोग सकते। इसलिये काम्य- कर्म भी थोड़ी शुद्धि करेंगे ही। नित्य नैमित्तिक कर्मों का शोधन फल है ही। अतः कर्म न करना शुद्धिहेतु न होने से उसकी अपेक्षा कहीं अच्छा है शास्त्रीय कर्म करना।

अकर्म से, अर्थात् नहीं करके कुछ सिद्ध हो नहीं सकता। इसलिये भी कर्म बेहतर है। प्रायः आदमी कहता है, कि कर्म को आगे छोड़ना है तो अभी करके क्या लाभ? किंतु अभी अज्ञान रहते 'नहीं करने' से ही क्या फ़ायदा होगा? 'नहीं करने' से, तो कुछ फ़ायदा होना ही नहीं है! इसलिये, कर्म श्रेष्ठ है। अगर कर्म नहीं करो तो शरीर-

यात्रा, अर्थात् खाना-पीना भी सिद्ध नहीं होगा, जीवन चलेगा नहीं। हिंदी में एक प्रसिद्धि है

‘अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।।’

किन्तु यहाँ भगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि बिना किये हुए तुम्हारा खाना-पीना भी सिद्ध नहीं होता। फिर अजगर का, पशु-पक्षी का कार्य कैसे बन जाता है? मनुष्य शरीर और बाकी सब शरीरों में यह फ़र्क है कि बाकी शरीर फल-योनियाँ हैं, केवल फल-भोग के लिये मिली हैं। फिर भी क्या इस बात को जानते हो कि जो पक्षी पहले आकर दाना चुगता है, उसको दाने ज़्यादा मिलते हैं, अच्छे मिलते हैं? जो सुग्गा पहले आता है, उसको आम बढ़िया मिलते हैं? इसी प्रकार से अजगर भी यदि पूरे ज़ोर से साँस खींचता है, तब मृगादि पशु, उसके अंदर जाता है। फल-भोग की प्रधानता होने से उनको विषय-प्राप्ति होती है, पर उसके लिये भी उन्हें प्रयत्न तो करना ही पड़ता है। दूसरी ओर, मनुष्य शरीर कर्म-प्रधान है। इसलिये मनुष्य शरीर के अंदर कर्म किये बिना कुछ मिलने वाला नहीं है।

‘यात्रा’ कहा है, इतना ख़्याल रखना! शरीर के निर्वाह के लिये तो प्रारब्ध काम कर लेता है। भगवान् ने संकल्प किया है कि अमुक जीव का शरीर इतने सालों तक बचे रहना है, इसलिये शरीर के निर्वाह के लिये, उसे ज़िन्दा रखने के लिये जितनी ज़रूरत है उतना प्रारब्ध कर देता है। पर उसका नाम ‘शरीर यात्रा’ नहीं है। यात्रा का मतलब है, किसी उद्देश्य से चलना। ‘या’ धातु का अर्थ, वही है जो हिन्दी में ‘जा’ का अर्थ है। यात्रा कहते हैं, जब तुम कहीं, किसी उद्देश्य से जाते हो। ऐसा भी होता है कि प्रारम्भ तो की यात्रा, बीच में अपना गन्तव्य भूल ही गये! घरवाली थैला दे देती है, ‘बाज़ार से साग लेकर आओ।’ पैसा लेकर साग लेने चल देते हो। रास्ते में कोई दोस्त मिल गया, उससे गप्पें मारने लग गये। गप्पें मारते-मारते, भूल ही जाते हो कि साग लेकर जाना है! वापिस घर पहुँचते हो, घरवाली पूछती है ‘अरे! थैला खाली ले आये, साग-सब्ज़ी क्यों नहीं लाये?’ तब याद आता है कि सब्ज़ी लेने गये थे। ऐसा नहीं कि कोई-कोई ही भूला करता हो। जब बच्चा गर्भ में आता है, तब गर्भ के कष्ट को पाकर के, भगवान् से प्रार्थना पूर्वक प्रतिज्ञा करता है

‘यदि योन्यां प्रमुञ्चामि ध्याये ब्रह्म सनातनम्’

‘मैं इस दुःख के, पीडा के, स्थल से छूट जाऊँगा तो आपका ध्यान करूंगा। आपका चिंतन करूंगा।’ परन्तु जैसे ही बाहर निकल कर आता है वैसे ही भूल जाता है! उसको याद ही नहीं रहता कि उस दुःख से छूटकर क्यों आये थे? आये भजन करके भगवत्-प्राप्ति करने के लिये, वह भूल ही गये और दुनियादारी की गप्पें मारते रहते हैं। उसी में बहुत व्यस्त हैं। कोई कह भी देवे, ‘चलो, मन्दिर का दर्शन करने चलो।’ तो कहते हैं‘इच्छा तो मेरी

बहुत रहती है, पर क्या करूं, सिर पर काम इतना है!' जो भोग की चीज़ें हैं, उन्हीं के बारे में सोचते रहते हैं। जिसके लिये यहाँ आये हैं उसको भूल जाते हैं।

मनुष्य शरीर की यात्रा का जो उद्देश्य है, उसकी ओर गति करें, तब यात्रा है। यदि तुम लौकिक यात्रा भी करते हो, किसी उद्देश्य से करते हो, तो कर्म करके ही होगा। शरीर के रक्षण के लिये कुछ भी खाना पीना पहनना ओढ़ना मिल जाये, उससे गुज़ारा करने को यात्रा नहीं कह सकते हैं। वह शरीर-निर्वाह तो है, लेकिन किसी प्रयोजन से शरीर कुछ नहीं कर रहा है। इसलिये भगवान् ने केवल शरीर का निर्वाह न कहकर 'शरीर की *यात्रा* भी सिद्ध नहीं होगी' कहा। अर्थात् बिना कर्म किये किसी उद्देश्य से शरीर का धारण नहीं होगा।।८।।

कर्म केवल बन्धन-फलक ही नहीं, ईश्वर-प्रसन्नता का भी हेतु है अतः कर्त्तव्य है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

कुन्तिनन्दन! परमेश्वर के लिये किये जाने वाले कर्मों से अन्य कर्मों में प्रवृत्त ये लोग कर्म से बंधन में बने रहते हैं। संग छोड़कर परमेश्वर के लिये कर्म का सही तरह आचरण करो।

अर्जुन के और सभी के मन में शंका हो सकती है कि कर्म तो करते ही रहते हैं! शास्त्र में यह नियम है कि जो नित्य कर्म नहीं करता, वह काम्य कर्म का अधिकारी नहीं है। अगर तुम अपने नित्य कर्म नहीं करते हो, रोज़ की पूजा नहीं करते हो और खाली सोचते हो कि तबियत खराब हो गयी तो हम मृत्युञ्जय का जप कर लेवें या करा लेवें, तो मृत्युंजय के जप से कुछ नहीं होगा! नित्य कर्म नहीं करने वाले को काम्य में अधिकार ही नहीं है। जिसने अपने नित्य कर्म किये हैं वही बड़ी-बड़ी कामनाओं की पूर्ति के लिये कर्म करे तो फल होगा। इसलिये नित्य कर्म तो श्रद्धा वाले लोग करते ही हैं। ठीक है, काम्य-कर्म भी करते हैं, लेकिन नित्य कर्म तो करते ही हैं। आप कहते हैं कि नित्य कर्म करने से काम बनता है, पर हमारा अभी तक बना नहीं। अनेक जगह शास्त्रों में कहा, 'कर्मणा बध्यते जन्तुः'कर्म के द्वारा प्राणी बन्धन में ही पड़ता है। ऐसा शास्त्र में कहा है, और अनुभव भी कह रहा है। अतः कर्म करना श्रेष्ठ कैसे?

इसके समाधान में भगवान् कहते हैंयह जो लोक है, संसार है, इसके अंदर कर्म का बंधन तो है परन्तु कौन-सा कर्म बंधन का कारण होता है? यज्ञ के लिये जो कर्म किया जाता है वह बंधन का कारण नहीं बनता। यज्ञ के लिये न कर अन्यत्र जो कर्म किया जाता है वह कर्म बन्धन का कारण बनता है। यज्ञ का अर्थ, वेद ने स्वयं ही किया है, 'यज्ञो वै विष्णुः।' यज्ञ अर्थात् विष्णु। परमेश्वर के लिये जो कर्म किया जाता है वह बंधन का कारण नहीं बनता। जो अपने लिये किया जाता है, स्वार्थ के लिये किया जाता है, वही कर्म

बन्धन का कारण बनता है। यज्ञ में क्या करते हो? जिस घी को तुम खा सकते थे उस घी को तुमने न खा कर हवन किया। उस घी के द्वारा जो धुआँ उठा वह सारे गाँव में फैल गया। तुमने खाया होता तो केवल तुम्हारे पेट में जाता। पर जब तुमने हवन किया, तब उस धुएँ से सारे गाँव में उसकी पहुँच हो गयी। इसी प्रकार से जो कर्म परमात्मा के लिये किया जाता है, वह अपने लिये नहीं होकर सबके लिये होता है। मन्दिर में भी इसीलिये भोग लगाते हैं तो जितने लोग वहाँ हों, सबको प्रसाद दिया जाता है। यज्ञ की मूल भावना यही है कि परमात्मा के लिये कर्म करना। परमात्मा कोई दूर बैठा तत्त्व नहीं है, सभी परमात्मा है। इसलिये जिसका फल सभी को मिले वह कर्म यज्ञ-रूप हो जाता है। जो सर्वव्यापक है, वही यज्ञ अर्थात् विष्णु है। इस के लिये किये कर्म से अन्य वह होगा जो सीमित के लिये, केवल अपने लिये ही किया जायेगा, वही कर्म बन्धन का कारण होगा।

भगवान् नतीजा निकालते हैं कि इसलिये, यज्ञ के लिये ही कर्म करो, परमात्मा के लिये ही कर्म को करो। 'उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं' इसके बारे में कुछ ख्याल न करो। सबको फल मिलेगा तो तुम्हें भी मिलेगा ही। जो धुआँ सारे गाँव में फैलेगा वह क्या तुम्हारे घर में नहीं फैलेगा? परन्तु यज्ञ इस *उद्देश्य* से नहीं किया जाता है कि बस मेरे घर में फैले, वरन् इस उद्देश्य से किया जाता है कि सबको प्राप्त हो। मुक्तसंग अर्थात् कर्मफल में आसक्ति से रहित रहकर। कर्म का फल मुझे ही मिले, और किसी को न मिलेयह संग है। मुक्तसंग होकर यदि देशसेवा करो तो भाव होना चाहिये 'मैंने देश की उन्नति कर दी। मेरा काम हो गया। उससे मुझे कुछ फ़ायदा मिले या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं।'

संस्कृत में एक नियम है'सर्वं वाक्यं सावधारणम्'। जो भी वाक्य हो, उसके अन्दर एक 'ही' को समझ ही सकते हैं। जैसे हमने किसी से कहा, 'कल तुम भोजन करने आना'। तुमको क्या समझना पड़ता है? तुम *ही* भोजन करने आना। ऐसा नहीं कि तुम और सौ आदमियों को साथ लेकर आ जाओ! 'तुम *ही* भोजन करने के लिये आना' तो कोई नहीं कहता, पर समझना पड़ता है। भगवान् ने कहा'तदर्थं कर्म' परमात्मा के लिये कर्म करो; इसमें भी एक 'ही' समझ लेना चाहियेपरमात्मा के लिये *ही* काम करो। अर्थात् परमात्मा के सिवाय और उद्देश्य तुम्हारे सामने न रहे।

आगे भगवान् ने कहा कि कर्म का समाचरण करो। यह दूसरा खतरा प्रायः प्राप्त होता है : मान लो कोई मृत्युंजय का जप करना है, या श्रीसूक्त का जप करना है, तो पण्डित जी को पहले ही आदमी कहता है, 'पंडित जी, किसी चीज़ का संकोच मत करना, सब चीज़ें पूरी तरह से, ठीक तरह से हो जायें।' बड़ी सावधानी रखता है कि सब काम ठीक से हो जाये। क्योंकि काम्य कर्म है! कामना पूरी नहीं होगी तो बेकार जायेगा। परन्तु नित्य कर्म में क्या होता है? भगवान् को चढ़ाना चाहिये वस्त्र, तो चढ़ा देते हैं अक्षत या मौलि। सब चीज़ों की कमी पूरी करने के लिये अक्षत चढ़ा देते हैं। कह भी देते हैं कि 'भगवान् तो भाव का भूखा है'। जब कामनापूर्वक कर्म करते हैं, तब कभी नहीं कहते कि 'भगवान्

भावना का भूखा है'। इसलिये भगवान् ने कहा कि ऐसा नहीं, सम्यक् आचरण करो। नित्य कर्म करना है, लेकिन उसको भी भली प्रकार से करना है, उसमें भी सारे अंगों को पूरा करना है। नित्य कर्म को ढील-ढाल से नहीं वरन् श्रद्धापूर्वक सांगोपांग करना है। तभी वह परमेश्वर को प्रसन्न कर मोक्ष का साधक बनेगा।।६।।

पहले कहा था'पुरा प्रोक्ता मयानघ'(श्लोक ३) 'पहले' अर्थात् गीता के दूसरे अध्याय में, और दूसरा अर्थ था कि प्राचीन काल में, सृष्टि के आदि में मैंने कहा था। उसी बात को कहते हैं कि सृष्टि के आदि से ही कर्म की अवश्यकर्तव्यता को मैंने निर्धारित कर दिया है

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञ-सहित प्रजायें उत्पन्न कर प्रजापति ने कहा 'इस यज्ञ से बढोतरी करो, यह तुम्हें अभीष्ट फल देवे'।

प्रजाओं के अधिपति परमेश्वर हैं, वे ही प्रजाओं को बनाने वाले हैं। उन्होंने जब प्रजाओं की सृष्टि की, तब प्रजाओं एवं यज्ञ के साथ इस सृष्टि को बनाया। प्रजाओं को बनाया, उनके साथ ही यज्ञों को बनाया। यज्ञ के मार्फत ही सारे कर्म सम्पन्न हो सकते हैं। बड़ी सुंदर कथा वेद में आयी हैः भगवान् ने जब सृष्टि की, तब गाय बनाई, भेड़ बनायी, घोड़े बनाये। सब देवताओं से कहा, 'तुम लोग इनमें बैठ जाओ'। देवताओं ने देख कर कह दिया, 'ये हमारे लायक नहीं हैं, हम इनमें नहीं बैठेंगे'। अन्त में उन्होंने मनुष्य का निर्माण किया। मनुष्य को देखकर देवताओं ने कहा'हाँ, यह हमारे लायक है, आपने ठीक बनाया, इसमें हम बैठेंगे'। देवता उसमें बैठ गये। अब देवता भी बैठ गये, शरीर भी बन गया, लेकन आगे कुछ हुआ नहीं तो भगवान् ने सोचा 'ये सब मेरे बिना तो चल नहीं सकता है। मेरे बिना कोई कैसे काम करेगा?' तब भगवान् इस मनुष्य शरीर के अंदर प्रविष्ट हुए। जैसे ही वे प्रविष्ट हुये वैसे ही देवता अपने-अपने काम करने लग गये, सारे अंग अपने-अपने काम करने लग गये। बिना परमेश्वर के सृष्टि का संचालन हो नहीं सकता। उसके द्वारा ही सृष्टि के अंदर हर चीज़ में अपना-अपना काम करने की शक्ति आती है। परमेश्वर अंदर बैठा है। तुम जब परमेश्वर के लिये कर्म करते हो, तब यज्ञ की दृष्टि से करते हो।

यह सारा संसार एक बड़ा भारी यज्ञ है। इसमें तुम अपना हिस्सा देते हो, देवता अपना हिस्सा देते हैं, आगे भगवान् खुद बतलाएँगे कि सब कैसे देते हैं। सब अपने-अपने कार्य करते हैं, तभी यह सृष्टि अपने-आप चल रही है। अपने-आप क्यों चल रही है? क्योंकि, यज्ञ-रूप परमेश्वर तुम्हारे अंदर बैठ कर, तुम से दूसरों के लिये काम करवाते हैं, और दूसरों के द्वारा तुम्हारे लिये काम करवाते हैं। अगर इस बात को जान कर करते हो, तब तो

बंधन से छूट जाते हो। अभी भी जो तुम करोगे उसका फल सभी को मिलेगा, सब जो करते हैं उसका फल तुमको मिलेगा। अभी भी यही होता है। पर तुम इस बात को जानते नहीं हो, जान कर नहीं करते, इसलिये इसका, मोक्ष-रूपी फल नहीं मिल पाता है।

प्रजाओं को परमेश्वर ने कह दिया था'यह जो यज्ञ है इस से तुम लोग सब चीज़ों को पैदा करो। प्रसव करो, बढ़ोत्तरी करो, अधिक करो, उत्पन्न करो। यज्ञ के द्वारा ही अपनी बढ़ोत्तरी करो। यह जो यज्ञ है, वह जो आपका इष्ट होवे, जो आप चाहते हों, उन्हीं विषयों को प्राप्त कराने वाला हो जाये। यज्ञ के द्वारा, जिस उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हो, उसको प्राप्त करो।' अर्थात् यह सारा संसार का व्यवहार लेन-देन का है। इसके द्वारा तुम लोग जितनी उन्नति करना चाहो, उतनी उन्नति करते चलो।।१०।।

कर्म किस तरह कामना-पूरक बनता है यह समझाते हैं

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

यज्ञ से देवताओं का संवर्धन करो, वे देवता तुम सभी को उन्नत करें। एक-दूसरे को तृप्त करते हुए परम कल्याण पाओ।

यज्ञ के द्वारा, इन्द्रादि जो देवता हैं, उनकी वृद्धि करो। 'देवता' से दोनों समझनाव्यष्टि देवता आँख आदि इंद्रियाँ और समष्टि देवतासूर्यादि। देवता अधिदैव भी है, और अध्यात्म भी, अर्थात् शरीर में बैठे हुए हैं, और ब्रह्माण्ड में भी बैठे हुए हैं। शरीर में बैठे उनके स्वरूप को व्यष्टि और ब्रह्माण्ड में बैठे स्वरूप को समष्टि कहते हैं। जब तुम यज्ञ के रूप में आचरण करोगे तब तुम्हारी इन्द्रियाँ भी बढ़ेंगी, उत्तम होंगी, पुष्ट होंगी, और उनके देवता भी पुष्ट होंगे। समष्टि भी पुष्ट होगा। शरीर में होने वाली इन्द्रियों को भी देवता कहते हैं। 'देव' का अर्थ होता है ज्ञान। इन्द्रियों से ज्ञान होता है इसलिये उनको देवता कहते हैं। बाहर जो प्रकाशमान है, जिनके प्रकाश से सारे संसार के काम होते हैं, उनको भी देवता कहते हैं। यज्ञ के द्वारा जब समष्टि की अभिवृद्धि होगी तब व्यष्टि की अपने आप ही पुष्टि होती है।

एक ज्योतिषी राजा के पास जाया करते थे, राजा उन्हें मान देता था। पुराने ज़माने में राजा पुरोहितों से, पण्डितों से प्रधानतः यही पूछते थे, कि ज़माना अर्थात् खेती-बाड़ी कैसी होगी? भारतवर्ष में तो, सारा उद्योगीकरण होने के बाद भी, पचहत्तर प्रतिशत अर्थव्यवस्था खेती पर ही निर्भर है। ज्योतिषी जी ठीक बता दिया करते थे। अनेक वर्षों तक यह क्रम चला, फिर वे मर गये। उनका जो लड़का था, उसने कभी पढ़ने में रुचि नहीं ली। पिता समझाते भी रहे, लेकिन खाने-पीने की कोई कमी नहीं थी, तो जैसा आजकल भी होता है, खाने-पीने की कमी नहीं हो तो लड़के पढ़ने में रुचि नहीं लेते। कुछ साल तक तो पिता द्वारा एकत्र किये धन से घर का काम चलता रहा। परन्तु यदि, कुआँ भी

होवे, पर उसमें पानी आवे नहीं और निकालते जाओ, तो एक दिन ख़त्म हो ही जाता है। ऐसे ही उनके पास भी धन की कमी हो गयी। माँ कहने लगी, 'अरे, राजा तुम्हारे पिता जी को बहुत देते थे, तुम राजा के पास जाओ। उनका बेटा जानकर कुछ दे देंगे।' उसने कहा 'ठीक है', चल दिया। रास्ते में एक पेड़ के नीचे आराम करने के लिये लेटा तो एक विषधर सर्प आया और फुफकारा। लड़के ने आँखें खोली, देखा, घबराया! सर्प मनुष्य की बोली में बोला 'अरे! भागो नहीं। डरो नहीं। कौन हो? कहाँ जा रहे हो ?' उसने कहा'मैं राज-ज्योतिषी जी का लड़का हूँ, राजा के यहाँ जा रहा हूँ।' साँप ने परिचय समझकर पूछा 'राजा के यहाँ जा कर क्या करोगे?' लड़के ने जवाब दिया 'उनसे कहूँगा कि पिताजी मर गये हैं, कुछ धन दे दो मुझे।' वह हँस कर बोला 'राजा लोग ऐसे धन नहीं दिया करते कि तुम जाकर माँगों और मिल जाये! मैं तुम्हारे पिता का मित्र हूँ। मुझे पता है, तुम्हारे पिता मुझे बतलाते रहते थे कि तुम कुछ पढ़े-लिखे ही नहीं। राजा के पास जाओगे तो राजा से कहना, 'साल में मैं एक सवाल का ही जवाब दूंगा। एक सवाल पूछ लो।' तो राजा सवाल पूछेगा। तुम उसका जवाब देना। फिर राजा तुमको धन देगा।' उसने पूछा, 'जी, वे कौन-सा सवाल पूछ लेंगे, और मैं कौन-सा जवाब दूंगा?' सर्प ने बताया'राजा तुम से यही पूछेगा कि ज़माना कैसा होगा? कहना कि इस साल भयंकर गर्मी पड़ेगी, पानी की बूंद नहीं बरसेगी, अकाल पड़ेगा। होगा वैसा ही अतः तेरे को धन मिल जायेगा।'

लड़का गया राजा के पास। उसने परिचय दिया, तो राजा ने कहा'तुम इतने साल नहीं आये। चलो, अब आ गये। अच्छा किया।' उसने कहा'जी, मैं तो एक साल में एक सवाल का ही जवाब देता हूँ। एक प्रश्न पूछो।' राजा ने वही पूछा कि ज़माना कैसा रहेगा? उसने कह दिया कि ऐसी-ऐसी गर्मी पड़ेगी। उन्होंने उसके रहने का इंतजाम कर दिया, आराम करने का निवास दे दिया। उस वर्ष सचमुच बहुत भयंकर गर्मी पड़ी। राजा को श्रद्धा हुई कि यह ठीक कहता है। उसे खूब धनादि दे दिया। वहाँ से चलने लगा तो उसके मन में आया कि 'साँप ने आज मुझे बतलाया है, कल और किसी को बतला देगा। यह ज़िन्दा रहेगा तो गड़बड़ करेगा। इसलिये इसे ख़त्म कर देना चाहिये।' राजा से कहा 'हमें एक गाड़ी भर कर जलाने की लकड़ी दे दीजिये।' यात्रा करते हुए पेड़ के नीचे आया तो जितनी साँपों की बाम्बियाँ थीं, सब के अंदर ठूस-ठूस कर आग जला दी! लड़के ने सोचा कि साँप मर जायेगा, और खुद गाँव चला गया। धन ले करके गया था, सब काम ठीक चलने लग गया। साल भर के बाद, फिर उसने सोचा 'फिर चलूँ राजा के पास।' उसी पेड़ के नीचे बैठा था आराम करने, वही जगह थी रास्ते में। सोच रहा था, कि गई बार तो बेचारे साँप ने मेरी मदद की थी, परन्तु अब कौन बतायेगा! लेकिन मूर्ख था हाँ, निश्चय किया कि राजा वही सवाल करेगा और इस बार भी जवाब वही होगा! यही समझकर निश्िंचत था। तभी साँप सामने आया। लड़का घबराया तो सही, पर नम्रता दिखा कर बात-चीत करने लगा। साँप ने पूछा 'इस साल क्या बतायेगा?' उसने पुराना जवाब ही

दुहरा दिया! साँप ने कहा 'ऐसा नहीं होता! इस बार बहुत पानी बरसेगा, बाढ़ आयेगी।' लड़के ने जाकर यही कहा और यही हुआ।

पुनः धन आदि लेकर बिदा होते समय उसने सोचा कि 'साँप ने क्रम बता दिया, एक साल सूखा पड़ता है, दूसरे साल बाढ़ आती है। यह मैं समझ चुका। अब साँप से फायदा नहीं, नुकसान की संभावना है। आग से वह मरा नहीं तो अब पानी से मारना चाहिये।' उसने साथ कई मज़दूर ले लिये। पेड़ के पास पहुँचकर सब बांबियों में पानी भरवा दिया यह मानकर कि सांप डूबकर मर जायेगा। अगले वर्ष राजदरबार की ओर जाते हुए वह लड़का जब फिर उसी स्थान पर रुका तब पुनः सर्पराज का दर्शन हुआ! वह बहुत सकपकाया पर सँभल कर अभिवादन करने गला। साँप ने पूछा 'इस बार क्या कहेगा?' लड़का बोला 'पिछली बार बाढ़ थी तो इस बार अकाल ही होगा!' साँप हँस दिया, कहने लगा 'नहीं, इस बार सुभिक्ष होगा, अनाज दूध आदि पर्याप्त होगा।' लड़के ने राजा से ऐसा ही कहा और हुआ भी ऐसा ही। इस बार लड़के ने सोचा 'ज़माने का तो कुछ पता नहीं चलता, कोई क्रम समझ नहीं आता, अतः साँप से बनाये रखने में ही फ़ायदा है, इसे मारने के बाद तो पता ही नहीं लगेगा कि क्या कहना है।' उसने राजा से कह कर प्रभूत दूध साथ लेकर यात्रा शुरू की और साँप के पास आकर उसकी प्रशंसाकर कहा 'यह सारा दूध आपके लिये, आपके संपूर्ण परिवार के लिये है।' सर्प ने सबको बुलाया सभी ने यथेष्ट दूध पिया। साँप भी दूध पीकर लौटने लगा।

लड़के को उसका व्यवहार अखरा, पूछा 'सर्पराज! दूध पीकर आप प्रसन्न तो हैं? आपने कुछ कहा नहीं?' साँप बोला 'क्या कहूँ! जब सारे राज्य में तपन थी, सूखा था, तब मेरे घर में भी आग लगी। जब सर्वत्र बाढ़ आई तब मेरे बिलों में भी पानी भर गया। उस समय भी मैंने कोई शिकायत नहीं की। इस साल सर्वत्र सुभिक्ष है तो मुझे भी दूध मिल गया। इसमें कहने जैसी क्या बता है!' यह विवेक की दृष्टि है, समष्टि से स्वतन्त्र व्यष्टि नहीं है, समष्टि में जो होगा वह व्यष्टि को मिलेगा ही। यज्ञार्थ कर्म से यही अभिप्रेत है कि समष्टि के हित के उद्देश्य चेष्टाएँ की जायें, व्यक्तिगत स्वार्थ से नहीं, तब कर्म बंधनकारी नहीं होता। तभी यज्ञ के द्वारा सारी इष्ट कामनाएँ पूरी होंगी। यज्ञ को भगवान् ने कामधुक् अर्थात् कामधेनु बतलाया। कामधुक् का मतलब होता है जिससे कामनाओं को दुहा जा सकता है। जैसे कामधेनु से जो चाहो सो दुह लो, वैसे ही यज्ञ इष्ट-कामधुक् है, जो तुम्हारी इष्ट-कामनाएँ हैं, उन सब के विषय तुम यज्ञ से प्राप्त कर सकते हो।

यज्ञों के द्वारा, भगवान् ने कहा कि, देवताओं कीअर्थात् जो समष्टि फल देने वाले हैं उनकी सेवा करो, समष्टि की सेवा करो। और समष्टि देवता तुम्हारी रक्षा करें। यह है परस्पर भावना। तुम कर्म करो, और वे उसका फल दें। जो फल दे रहे हैं, उनको तुम पुनः अर्पण करो, तब चक्र बना रहेगा। इसलिये कहा कि एक-दूसरे को बढ़ाते हुए कल्याण पाओ। व्यक्ति सब के लिये करे, और सब व्यक्ति का ख्याल रखें, तब समाज, संसार ठीक

चलेगा, यह भगवान् यहाँ कह रहे हैं।।११।।

इससे विपरीत यदि होगा, तो विपरीत फल को उत्पन्न करेगाइस बात को अब बतलाते हैं

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

यज्ञ से तृप्त हुए देव तुम्हें वांछित विषय प्रदान करेंगे। उनके द्वारा दिये भोग उन्हें समर्पित किये बिना जो स्वयं ही भोग लेता है वह चोर ही है।

पूर्व श्लोक में कहा था कि परस्पर एक दूसरे की 'भावना' करो, तुम देवताओं की सेवा करो, देवता तुम्हें पुष्ट करें, उसी को कारण रूप से यहाँ कहा 'हि' से। 'हि' मायने इसलिये, इस कारण से। यज्ञ के द्वारा पूजित हुए, तुम्हारे द्वारा कृत यज्ञ से संतुष्ट हुए जो देवता हैं वे तुम्हें फल देंगे। यज्ञ के द्वारा देवताओं की भावना अर्थात् उपासना की जाती है। उनके संतोष के लिये यज्ञ किया जाता है। यज्ञ से संतुष्ट हुए देवता तुम लोगों को जो भोग तुम चाहते हो, वे भोग देंगे। इष्ट सबका बदलता रहता है, परन्तु जिस इष्ट के लिये तुम काम करोगे वह तुमको देवता देंगे। यज्ञ से पुष्ट हुए देवताओं ने तुम्हें भोग्य पदार्थ दिये तो देवताओं को उनका हिस्सा फिर दो। उनके लिये जो इष्ट भोग है उन्हें देवताओं को बिना दिये हुए जो उनका भोग करता है, वह तो चोरी करता है!

देवताओं ने जो तुम्हें दिया, उसमें से देवताओं को देने का जो हिस्सा है, वह देना चाहिये। उन्होंने सारे भोग तुम्हें दे दिये, तुम उनको अगर वे विषय अर्पित नहीं करते हो, तो तुमने उनके हिस्सों की चोरी की, और यह सारा चक्र बिगाड़ दिया, क्योंकि अब तुमने दिया नहीं ताकि वे पुनः तुम्हें दें। दृष्टान्त के लिये अपने छोटे बच्चे को देखो : वह क्या कमाता है? कुछ नहीं। जो कुछ तुम देते हो वही है उसके पास। पर तुम्हारे जन्मदिन पर उसमें से बचाकर वह तुमको भेंट देता है, तब तुम सुखी होते हो। और अगर वह सारा अपने ऊपर ही खर्च करता रहे तो तुम प्रसन्न नहीं होगे। इसी प्रकार देवताओं द्वारा दी हुई चीज़ों में से जो उनके लिये उचित हिस्सा है वह उन्हें बिना दिये हुए अगर जो मिला उसका खुद ही भोग कर लिया, तो चोरी ही कर रहे हो।।१२।।

यदि देवार्पण करते रहते हो तो निर्दोष बन जाते हो यह बताते हैं

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

जो सत्पुरुष यज्ञ में अर्पण कर बचे अन्नादि का ही उपभोग करते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं। जो पापी केवल अपने लिये ही भोजन पकाते हैं वे (मानो) पाप ही खाते हैं।

यज्ञशिष्ट मायने यज्ञ के बाद बचा हुआ। देवताओं का हिस्सा उन्हें देने के बाद जो

बचे उसका जो भोग करते हैं वे निष्पाप होते हैं। 'अश्' धातु का मतलब 'खाना' होता है। यज्ञ से शिष्ट को अमृत कहते हैं। अमृत खाया ही जाता है। किंतु केवल भक्षण नहीं, सभी भोग देवार्पण के बाद ही जो करे वह यज्ञशिष्टाशी अभिप्रेत है। क्योंकि वह तुमको चित्तशुद्धि के द्वारा अन्त में मृत्यु से बचाता है अतः यज्ञ-शेष को अमृत कहा। पूजा करके, तुमने भगवान् को भोग लगाया। भोग लगाने के बाद तुमने खाया तो तुम यज्ञशिष्टाशी हुए अर्थात् यज्ञ करने के बाद जो शिष्ट है, बचा हुआ है, उसको खाने वाले हुए। खाने से यहाँ पहनना, सुनना आदि सभी भोग समझना। इस नियम के पालन से सभी पापों से बच जाते हो।

जीवन में रहते हुए पाँच जगह पर मनुष्य से पाप होता ही है।

'पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्यवस्करः।
कण्डनी चैव कुम्भश्च वध्यन्ते यास्तु वाहयन्।।'

जब तुम झाड़ू लागते हो तो चींटी इत्यादि मरती हैं। जाला निकालते हो तो मकड़ी इत्यादि मरती हैं। चूल्हे में लकड़ी डालते हो तो उसमें कई प्राणी रह जाते हैं, वे मर जाते हैं। जहाँ पानी को घड़ों में भर कर रखते हो, वहाँ पर भी कीड़े होते हैं जो मरते हैं। वर्तमान में पहले से ज़्यादा पाप करते हो। पहले गेहूँ आता था, उसको धो कर सुखाते थे। सुखा कर बीनते थे और उसके बाद चक्की में पीसते थे। इतना करने के बाद भी, किसी-किसी गेहूँ में, कोई-कोई कीड़ा रह ही जाता था। जब पीसते थे तब वह कीड़ा भी साथ ही में मर जाता था। अब तो तुम गेहूँ को धोते भी नहीं तो सुखाने का प्रश्न ही नहीं, बीनते भी नहीं। सब कीटाणुओं के साथ ही पीसा हुआ 'शक्तिभोग' खरीद लेते हो! यद्यपि कहोगे, कि 'हमने तो नहीं पीसा!' लेकिन तुम्हारे लिये ही तो पीसा गयाअतः खरीदा तो दोष भी साथ ही ले लिया। इस प्रकार प्रमाद के द्वारा हिंसा होती रहती है।

केवल हिंसा दोष ही होता हो ऐसा मत समझ लेना। जैसे हिंसा बतलाई है, वैसे सभी पाप समझ लेना। हमारी घड़ी बंद हो गयी, हमें पता नहीं है। किसी ने कहा, 'क्या समय है?' हमने कहा, 'सात बजे हैं।' बजे उस समय, सवा सात थे, प्रमाद से झूठ बोले। यह तो संभव नहीं है कि हर समय कान से घड़ी लगा कर देखो कि यह चल रही है या नहीं। यों असत्य का व्यवहार भी हो ही जाता है। इसी प्रकार अशुचि का व्यवहार हो जाता है। अपनी तरफ से तो तुम कोई अपवित्र स्पर्श नहीं करते लेकिन रास्ते में तुम जा रहे हो और कोई श्मशान से आ रहा है। उसका पल्ला तुमको लग गया। हर बार किसी का पल्ला लगे, तो तुम पता तो लगाओगे नहीं कि वह शुद्ध है कि नहीं! इस प्रकार से अनेक स्थल हैं जहाँ हम लोगों से इस तरह की भूलें होती हैं।

प्रमाद से चोरी की भूल भी हो जाती है। शंख और लिखित दोनों भाई थे। दोनों ही स्मृतिकार हुए है। शंख बड़े भाई थे, लिखित छोटा भाई था। लिखित भाई के घर गया

मिलने के लिये, भाई घर में थे नहीं उस समय। बगीचे में बैठ गया। वहाँ आम लगे हुए थे। उसने एक-दो आम खा लिये। तब तक भाई आ गये, बड़े प्रेम से मिले। भाई ने कहा, ‘बहुत अच्छा है तुम आ गये। परन्तु पढ़े-लिखे आदमी हो कर, तुमने ये आम कैसे खा लिये?’ लिखित बोला ‘भाई साहब! आपके बगीचे का था।’ ‘हमारे बगीचे का हमसे बिना पूछे लिया है। बिना पूछे लेनायही तो चोरी है!’ उसने भी माना, ‘हाँ, यह तो हो गई गलती!’ शंख ने कहा ‘जाओ राजा के पास। राजा से चोरी के बदले का दंड माँगो।’ लिखित गए राजा के पास। पहले तो राजा ने कहा कि ‘भाई का आम खाया है, कोई बात नहीं।’ उसने कहा, ‘हमारे भाई बड़े नाराज़ हुए हैं। इसलिये मुझे दंड दीजिये।’ चोरी का दंड हाथ काटना होता है। उनके दोनों हाथ काट दिये। हाथ कटवा कर वे आये भाई के पास, कहा ‘जी, मैंने दंड ले लिया।’ भाई ने कहा ‘अच्छा किया।’ फिर अपने आशीर्वाद और तपस्या के बल से उसे हाथ वापिस दिला दिये। विचार करो, इस प्रकार की कितनी चोरियाँ, हम करते रहते हैं। यद्यपि, स्मृति में केवल ‘पंच सूना’ कहा है, लेकिन उसका मतलब केवल पाँच की गिनती नहीं समझ लेना। जो प्रमाद से किये जाने वाले पाप हैं, उन सब का संग्रह है। इसलिये भाष्यकार ने‘प्रमादकृत-हिंसादि-जनितैश्चान्यैः’ कह दिया है। ‘आदि’ शब्द से सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि जो नियम बतलाये हैं, उन सभी में हम लोगों से प्रमाद जो हो जाता है उसे समझ लेना।

यज्ञ के बाद, जो बचा हुआ भोग है, जब उसी का सेवन किया जाता है तब प्रमाद से किये जो दोष हैं, पाप हैं, वे दूर हो जाते हैं। इसलिये गृहस्थ रोज़ पंच महायज्ञ करते हैं। देवयज्ञदेवताओं के लिये देना। भूतयज्ञग्राम्य पशु जैसे गाय के लिये देना। मनुष्य के अन्तर्गत रहने वाले पुशओं का गाय को प्रतिनिधि माना गया है अतः गाय को रोटी देते हैं। भोजन बनाने में नियम है कि पहली रोटी गाय को दी जायेगी, अन्तिम रोटी कुत्ते को दी जायेगी। यह रोज़ का काम है। कुत्ता आरण्य पशु है। हम लोगों के यहाँ गाय को तो पालते थे, कुत्ता गाँव में होता ज़रूर था, लेकिन उसको कोई पालता नहीं था। किसी के द्वारा पाला नहीं गया, ऐसा जो आरण्य पशु है उसको भी तुमने खिलाया। कबूतर को, चिड़ियों को तुमने दाना डाला। नृयज्ञअतिथि को, मनुष्य जाति के एक प्रतिनिधि को भोजन देना कर्तव्य है। जो बिना भोजनादि के जा रहा है, ऐसे अतिथि को भोजन कराना चाहिये। इससे अतिथि-यज्ञ हो जाता है। ऋषियज्ञ; मनुष्य की प्रधान विशेषता क्या है? अनादि काल से आज तक जितना ज्ञान हुआ है, वह सब मनुष्य को उपलब्ध हो जाता है। बया बहुत बढ़िया घोंसला बनाती है, पर चार हज़ार साल पहले जैसा बनाती थी, वैसा आज भी बनाती है। बीवर नाम का एक प्राणी बहुत बढ़िया बांध बनाता है, लेकिन हज़ार साल पहले जैसा बनाता था, आज भी वैसा ही बनाता है। अपनी संतान को पशु अपना ज्ञान दे नहीं सकते, हरेक को फिर से सीखना पड़ता है। मनुष्य की यह विशेषता है, कि हम अपना ज्ञान अपने बच्चों को दे देते हैं, उसे उन्हें पुनः सीखना नहीं पड़ता। इसलिये

आगे प्रगति कर के उस से अधिक उन्नत हो जाते हैं। ऋषियों की ज्ञान-परम्परा हमें प्राप्त हुई है। बदले में उचित है कि हम किसी को पढ़ावें। पढ़ाने का मतलब केवल किताबों का ज्ञान मत समझ लेना। अगर हम सुनार हैं, तो अगली पीढ़ी को अपना ज्ञान देते हैं, सुनारी का ज्ञान देते हैं। लोहार हैं, तो लोहारी का ज्ञान देते हैं। जो हमने सीखा है, वह हम आगे पढ़ाते हैं। अगर हम पढ़ाने की क्षमता वाले नहीं हैं, तो जहाँ पढ़ाई होती है वहाँ कुछ मदद कर सकते हैं। खुद वेद नहीं पढ़ सकते, किन्तु जहाँ वेद का पठन होता है वहाँ तुमने पढ़ने वालों की सुविधा के लिये इंतज़ाम किया, वह भी तुम्हारा ऋषियज्ञ में योगदान हो गया। इसी प्रकार पितृयज्ञ, जब तक माता-पिता जीवित हैं तब तक उनकी सेवा करनी चाहिये। जब माता-पिता चले जायें तब श्राद्ध आदि के द्वारा उनका स्मरण करना, सेवा करना आवश्यक है। जब मैं अंगुली हिलाने में भी स्वतन्त्र नहीं था, तब मेरी माँ ने मुझे बड़ा किया। जैसे बिहार में 'पितृ-गया' है, वैसे आबू के पास सिद्धपुर में 'मातृ-गया' है। वहाँ जाकर माता का श्राद्ध किया जाता है। उसमें संकल्प में बोलते हैं कि माता ने हमारा क्या-क्या उपकार किया, तब पता लगता है कि माता का कितना बड़ा उपकार हम पर है। हम लोगों को तो कुछ ख्याल नहीं है। अतः माता-पिता की किसी-न-किसी प्रकार से मदद होवे, इसके लिये जो भी शास्त्र में उपाय बताये हैं, उन्हें करना यज्ञ है। इस प्रकार से जितने लोगों से हम सीधे उपकृत हैं, उनके प्रति यज्ञ करना चाहिए। माता-पिता ने क्या किया था यह प्रमाद से भूल जाता है, तो दोष तो लगता ही है। परन्तु जब नियम से श्राद्ध तर्पण आदि करता है, तो दोष नहीं रहता। यज्ञ के नियम वाला प्रमाद के द्वारा जितने दोष होते हैं, उन सब से छूट जाता है।

इससे विपरीत, जो देवार्पण किये बिना ही स्वयं उपभोग में तत्पर रहते हैं उन पर पाप का बोझ बढ़ता जाता है। पहले भोजन बनाते थे, तो जब तक भगवान् को भोग न लग जाये, कोई उसको खाता नहीं था। भोग लगने के बाद जो बचे, वह खाते थे। अब लोग कहते हैं, 'हम तो अपने लिये बनाते हैं, ठाकुर जी के लिये काहे को बनावें?' जो अपने को ही कारण मानता है, रोटी बनाते समय यह नहीं सोचता है कि इसके अंदर गाय का भी हिस्सा है, अतिथि का भी हिस्सा है, कुत्ते का भी हिस्सा है; जो सब भोगों को अपने ही लिये प्राप्त करना चाहता है, वह पापग्रस्त रहता है। बड़ी उम्र वालों को याद होगा : गाँव का कोई आदमी बड़े शहर में चला गया, पढ़ लिख गया, वकील हो गया, डाक्टर हो गया। उसके पास घर है, तो गाँव का कोई भी आदमी बिल्कुल निःसंकोच वहाँ पहुँच जाता था। गाँव के किसी भी लड़के को शहर में पढ़ना है, तो उसके घर रह-खा लेता था। वह भी सोचता था 'चलो, इतने लोगों का भोजन बनता है, इसकी भी रोटी हो जायेगी।' इससे विपरीत, आज माता-पिता भी अपने लड़के के घर पहुँच जायें तो मेहमान, बोझ माने जाते हैं! कुछ लोगों के पास मकान था, उन्होंने वहाँ बहुमंजिली इमारत बनायी जिसमें अनेक फ्लैट बना लिये। उनमें से एक फ्लैट में खुद रहते हैं बाकी किराये पर चढ़ा दिये। कहते

हैं 'मकान बड़ा था, दुनिया भर के लोग आ जाते थे। अब तो कह सकते हैं कि हमारे पास कमरे ही नहीं हैं!' खुद भी सीमित स्थान में रहना पसंद करते हैं ताकि दूसरों को अर्पित न करना पड़े! जो केवल अपने लिये पकाते हैं, अपने ही भोग के लिये पदार्थों की प्राप्ति करते हैं, वे लोग पापात्मा हैं। जो अपने भोग के लिये ही प्रयत्न करता है, वह पापी है। विपत्ति आती है तो कई बार लोग कहते हैं, 'मैंने, कभी किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं, कभी किसी का कुछ नुकसान नहीं किया, मेरे साथ भगवान् ने यह क्यों किया?' भगवान् यहाँ कह रहे हैं, कि जो लोग केवल अपने भोग के लिये करते रहे, उन्होंने चाहे चोरी नहीं की, ठगी नहीं की, लेकिन सचमुच में तो चोरी ठगी करते रहे! क्योंकि उन्होंने देवताओं के लिये तो कुछ किया नहीं, केवल अपने ही लिये सब कुछ किया। भगवान् ने कह दिया कि ऐसे लोग पापी ही हैं। इसीलिये वे जो भी खाते हैं, जो भी भोग करते हैं, वह सब पाप ही है। पहले यज्ञ का लाभ बताया और अब यज्ञ को न करने से नुकसान बतला दिया। जो केवल अपने लिये ही आचरण करता है, बाकी सबकी नहीं सोचता, वह दोषी है।१३।।

कर्म इसलिये कर्त्तव्य है कि जगत् के चक्र को वही चलाता है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

अन्न से प्राणी पैदा होते हैं, अन्न पैदा होता है बरसात से, बरसात होती है यज्ञ से और यज्ञ उत्पन्न होता है कर्म से।

अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति को यज्ञ सम्पादित करना ही चाहिये। सभी प्राणी अन्न से पलते हैं। अन्न कब होगा? बारिश होगी, वृष्टि होगी, तभी अन्न उपजेगा। कुए, नहर, नदी आदि में भी पानी तभी आयेगा जब वर्षा हो। अन्न के लिये तो वृष्टि ही जरूरी है। बादल किस से आकर बरसेगा? 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः।' समष्टि के लिये किया हुआ जो यज्ञ है उसी से बादल बनता है। 'पर्जन्य' का मूल अर्थ है ऐसा बादल जिससे अन्न उत्पन्न होता है। तुमने अन्न बो दिया, ज़ोर की धूप पड़ी, वह सूख गया, उसके बाद पानी बरसाने वाले को हम लोग 'पर्जन्य' नहीं मानते क्योंकि उसका बरसाया हुआ पानी अन्न को पैदा नहीं कर सकता। जिस से अन्न उत्पन्न होता है वही पर्जन्य है। यज्ञ के द्वारा ऐसा पर्जन्य मिलता है। दूसरे बादल तो चाहे-जहाँ से आकर के बरस सकते हैं, उनके लिये यज्ञ की जरूरत नहीं है। और 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः।' यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। यहाँ 'यज्ञ' शब्द का मतलबकर्म से उत्पन्न हुआ जो अपूर्व, पुण्य, वह समझ लेना। जब तुम इस प्रकार का कर्म करते हो तब परमात्मा का संकल्प होता है, 'इसको अच्छा अन्न मिले,' उनका यह संकल्प ही पुण्य है। अतः कहा कि यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। पुरोहित व यजमान मिल कर यज्ञ करते हैं, यजमान इत्यादि के कर्म के द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न होता है।

अन्न शब्द का अर्थ वेद के अंदर बतलाया है, 'अद्यते इति अन्नम्'। जिसका भी भोग

किया जाता है, जिसको भी खाया जाता है, वह सब अन्न है। अन्न का मतलब केवल मुँह से खाया जाने वाला ही नहीं है। आचार्य शंकर ने 'अनशन' के विचार में कहा है 'कामानशनमनाशकं, न तु भोजननिवृत्तिः, भोजननिवृत्तौ म्रियत एव, नात्मवेदनम्' कामना का भोग न करना ही अनशन है। केवल भोजन नहीं करना, अनशन नहीं है। इसलिये, जो भोगा जाता है वह सब अन्न है। भगवान् ने पहले भी केवल अन्न को देने वाला यज्ञ को नहीं बताया वरन् तुम्हारी सारी इष्ट कामनाओं को पूर्ण करने वाला बताया है। इसलिये, अन्न से जो भी तुम्हें भोग्य-प्राप्ति होती है, सब समझ लेना। प्रधान होने से अन्न शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि अन्न की आवश्यकता हरेक को है ही। बाकी आवश्यकताएँ बदल जाती हैं लेकिन ऐसा कोई प्राणी नहीं मिलेगा जिसे अन्न नहीं चाहिये।

इष्टकामधुक् अर्थात् कामधेनु की तरह जिसे कहा वह परमेश्वर का संकल्प है, वही पर्जन्य है। उनके उस संकल्प के बिना चीज़ों के बीच में रहते हुए भी तुमको उनकी प्राप्ति नहीं होती। प्रायः लोग यह समझते हैं कि चीज़ पास में होगी तो भोग हो जायेगा। चीनी के व्यापारी को, चीनी की मिल के मालिक को मधुमेह हो जाता है तो क्या चीनी का भोग उसे हो रहा है? इसी प्रकार से नमक के व्यापारी को उच्च रक्तचाप हो जाता है, डाक्टर कह देता है कि 'नमक खायेगा, तो मर जायेगा', वह नमक का भोग नहीं कर पाता। अतः बिना ईश्वर-संकल्प के भोग नहीं होता। जिस प्रकार से उपयुक्त समयकी वर्षा ही अन्नहेतु है, जब कृषि सूख गयी, उसके बाद पानी बरसे तो भी अन्न पैदा करेगा नहीं; इसी प्रकार परमेश्वर के संकल्प से तुम्हारे भोग के लिये उत्पन्न हुआ जो अन्न है, वही तुम्हारे काम आयेगा। परमेश्वर का संकल्प किस से बनता है? जब तुम यज्ञ करते हो, समष्टि के लिये क्रिया करते हो, तब परमेश्वर का संकल्प होता है कि 'इसको चीज़ की प्राप्ति होवे।' अतः कर्म से ही यज्ञ द्वारा यह ईश्वर- संकल्प होगा। कठोपनिषद् के अंदर कहा 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म', कर्म में अठारह की ज़रूरत है। सोलह ऋत्विक् होते हैं, एक यजमान, और एक यजमानपत्नी। ठीक इसी प्रकार से शरीर के अंदर भी अठारह चीज़ों से हमारा लिंग शरीर बना हुआ हैपाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन बुद्धि और अहंमैं। मैं यजमान है और बुद्धि यजमान- पत्नी है। बाकी सब ऋत्विक् हैं। ये मिलकर जो कर्म करते हैं उससे यज्ञ होता है, अपूर्व पैदा होता है। इसीलिये यज्ञ का अर्थ, भाष्य के अंदर 'अपूर्व' किया है। अपूर्व, पुण्य भी होता है, और पाप भी होता है। इन अठारह के द्वारा शास्त्रानुसार करोगे तो पुण्य होगा, शास्त्र-विरुद्ध करोगे तो पाप होगा, किन्तु यज्ञ से यहाँ पुण्य ही अभिप्रेत है।।१४।।

पूर्वोक्त क्रम की आगे की परम्परा बताते हैं

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

कर्म को वेद से उत्पन्न समझो। वेद अक्षरस्वरूप परमात्मा से प्रकट हुआ है। (सभी

अर्थों का बोधक होने से) सर्वगत वेद सदा यज्ञ में तात्पर्य वाला है।

कर्म का कैसे पता लगे? हम कौन-सा कर्म करें ताकि ठीक अन्न हमें मिले? ब्रह्म मायने वेद। ब्रह्म के तीन अर्थ कोष में बतलाये हैंवेद, तत्त्व और तप। ब्रह्म शब्द का अर्थ 'वेद' भी होता है, ब्रह्म शब्द का अर्थ 'परमात्मा' भी होता है, और ब्रह्म शब्द का अर्थ 'तप' भी होता है। ब्रह्मोद्भवम् मायने वेदोद्भवम्। वेद से ही पता चलता है कि कौन-सा कर्म ठीक है, कौन-सा कर्म गलत है, किस कर्म का क्या फल होगा। ब्रह्म अर्थात् वेद अक्षर परब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण वही परमात्मा के संकल्प का कारण बनता है। जैसे, हम किस काम से खुश होंगे? हमने जो काम करने को कहा, वह तुम करो, तो हम खुश होंगे। उस काम को नहीं करोगे तो हम तुम पर गुस्सा होंगे। वेद परमात्मा की आज्ञा है। अक्षर परमात्मा से वेद उत्पन्न हुआ है। वेद की आज्ञा का पालन करेंगे, तो परमात्मा प्रसन्न होगा और उसके विरुद्ध जायेंगे, तो परमात्मा नाराज़ होगा।

इस प्रकार क्रम बतला दिया। जो पहले कहा था, 'चक्र' वह यहाँ पूरा हो गया। अन्न से यज्ञ करोगे, यज्ञ कर्म से होगा, कर्म पता वेद से लगेगा, और वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार चक्र पूरा हो गया।

क्योंकि ऐसा है, साक्षात् परमात्मा से ही वेद उत्पन्न हुआ है, इसलिये सर्वव्यापक जो वेद है, वह हमेशा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है क्योंकि वेद के अंदर प्रधान रूप से कर्तव्य का ही निर्देश किया है। एक लाख मंत्र वेद के हैं, उनमें छियानबे हज़ार तो कर्म को बतलाते हैं। परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करने वाले चार हज़ार ही हैं। छियानबे हज़ार में सोलह हज़ार मानसिक कर्म अर्थात् उपासना, भक्ति को बतलाते हैं। और अस्सी हज़ार जो बाह्य चीज़ों से कर्म करते हो, उसको बतलाते हैं। उपासना भी मन की क्रिया ही है। तुम कौन-सी उपासना, कैसी उपासना, करो या ना करोयह भी सब वेद से ही पता लगाना पड़ता है। बाह्य कर्म कैसे करोइसके लिये अस्सी हज़ार मंत्र हैं। परमात्मा का स्वरूप बताने वाले बाकी मंत्र हैं। इसलिये कहा कि वेद हमेशा, यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है, यज्ञ-विधियों को बताकर वेद का अधिकतम भाग गतार्थ है।।१५।।

चक्र बताने का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

पार्थ! पूर्वोक्त ढंग से ईश्वर द्वारा चलाया चक्र चलता रहे इसके अनुकूल जो प्रयास नहीं करता उसका जीना ही पाप है। ऐन्द्रिय विषयों से क्रीडा करते हुए ही समय बिता देने वाला वह व्यक्ति व्यर्थ ही जीवित रहता है।

चक्र की विशेषता क्या होती है? वह अपने आप घूमता है। विज्ञान के द्वारा आविष्कृत

चीज़ों में सबसे ज़्यादा प्रधानता अग्नि और चक्र की है। चक्र अपने आप घूम लेता है, यही उसकी विशेषता है। इसी प्रकार से, परमेश्वर ने यह सृष्टि ऐसी नहीं बनायी कि हर कदम पर वही बीच-बीच में कुछ करता रहे, तब यह चले। यह तो ऐसा चक्र है कि अपने आप ही चल सकता है। इस प्रकार जो ईश्वर ने चक्र का प्रवर्तन किया, इसके अंदर कहीं भी तुम यदि रोक लगाते हो, जो यह बनाया हुआ चक्र है उसका अनुवर्तन नहीं करते अर्थात् इस चक्र से जो मिले वह तो ले लेते हो, आगे जो करना है वह नहीं करते, तो पाप के भागी बनते हो। क्यों ऐसा करते हो? इन्द्रियों के अंदर ही प्रसन्नता है इसलिये। इन्द्रियों से होने वाले भोग को ही जो समझता है, वह इन्द्रियाराम है। अतः उसकी सारी आयु पाप करने में ही बीतती है।

वर्तमान काल में हमारे समाज में बहुत बड़ी कमी आयी हुई है कि हम *करने से* पाप होता हैयह मानते हैं, परन्तु *नहीं करने* से पाप होता हैयह नहीं मानते। इसलिये जो कुछ नहीं करता, उसे भला आदमी मानते हैं! परन्तु भगवान् यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि इस चक्र का जो अनुवर्तन नहीं करता है, काल-चक्र का अनुवर्तन नहीं करता है, वह अघायु, पाप से जीने वाला है। क्यों? कारण बतला दिया कि वह इन्द्रियों के अन्दर ही रमण करेगा। क्या कारण है कि तुम यज्ञ नहीं करते हो? तुम कहते हो 'मेरा भोग मुझे मिले, दूसरे को क्यों दें?' अर्थात् अपनी इन्द्रियों के द्वारा ही तुम सारे सुख लेना चाहते हो, उसी में रमण करते हो। यज्ञ रूप से सबके प्रति अपने जो कर्त्तव्य हैं, उनकी ओर से तुम्हारी आँख बंद है। विषयों के अंदर ही रमण करने वाला जीवन निष्प्रयोजन खोता है। इन्द्रियों में रमण, अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से ही प्रसन्न होना।

'पार्थ' के द्वारा क्या कहना चाहते हैं भगवान्? 'पृथा का पुत्र है, मेरी बुआ का लड़का है, ज़रा विचार कर, तू तो ऐसा नहीं बन!' लोक में जब किसी प्रिय व्यक्ति से कहते हैं '*तुमने* ऐसा किया!' तो उसके व्यक्तित्व को ललकारते हैं। ऐसे ही भगवान् कहते हैं'तू इस यज्ञ को छोड़ कर जाना चाहता है! धर्म की रक्षा के लिये युद्ध करने के काम को छोड़ना चाहता है? इसको छोड़ेगा तो तू भी पाप करने वाला ही हो जायेगा।'

इन्द्रियाराम व्यक्ति का जीवन मोघ, वृथा, निरर्थक है। उसके जीवन से न उसका कोई पुरुषार्थ सिद्ध होता है, न समाज का ही कोई हित होता है। बल्कि वह अपने लिये भी पाप ही बटोरता जाता है और समाज में भी अव्यवस्था फैलाता जाता है। वह जितना जल्दी मरे, उसके लिये व सभी के लिये बेहतर है क्योंकि जीकर फायदा कुछ नहीं उठायेगा, अपना व सबका नुकसान ही करता रहेगा।

यहाँ भगवान् ने बड़े स्पष्ट रूप से बतला दिया कि जो कर्माधिकारी है, उसे कर्म करना ही चाहिये, नहीं करेगा तो दोष का भागी बनेगा। जब तक आत्मज्ञान की निष्ठा की योग्यता प्राप्त नहीं हो जाये, अंतःकरण शुद्ध नहीं हो जाये, तब तक कर्मयोग का अनुष्ठान ही करना चाहिये। आत्मज्ञान के बाद क्या होता है, वह अगले श्लोक में बतलायेंगे। जब

तक आत्मज्ञान नहीं होता है, तब तक पहले अंतःकरण की शुद्धि के लिये काम करे, फिर श्रवण मननादि का कर्म करे। जब तक आत्मज्ञान नहीं हो जाता, तब तक कर्म करता ही रहे। इस प्रकार भगवान् ने अनात्मवेत्ता को कर्मानुष्ठान की अवश्यकर्तव्यता बतला दी, और न करने पर दोष भी बतला दिया। करने का फल भी बतला दिया और नहीं करने से व्यर्थ जीवन चला जायेगा यह समझा दिया।।१६।।

कर्मानुष्ठान से परमात्मज्ञान की योग्यता प्राप्त कर जो ज्ञान योग की निष्ठा में पहुँचा है, उसके लिये भगवान् आगे बतलाते हैं

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

जो मानव आत्मरति ही है, आत्मतृप्त भी है और आत्मा में ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है।

कर्मानुष्ठान करके, चित्त-शुद्धि प्राप्त करके, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके, जिसने ज्ञान-निष्ठा प्राप्त कर ली, उसके अधिकार में इन सब को छोड़ना ही है। अर्थात् वह इन सब कार्यों को छोड़े ही। यह ठीक है कि बिना छोड़े काम नहीं होता लेकिन कौन छोड़े, और कब तक न छोड़ेइसका भगवान् ने यहाँ बिल्कुल स्पष्ट विवेचन कर दिया। जब, 'मैं कर्ता हूँ', इस प्रकार का मिथ्याज्ञान निवृत्त हो जाता है, तब सारी एषणाएँ चली जाती हैं। अज्ञान से कामना होती है, कामना से कर्म। अज्ञान के नष्ट होने पर कामना नहीं रह जाती, कामना नहीं रह जाती तो कर्म भी नहीं रह जाता।

'यस्तु'। कर्मी से अलग करने के लिये 'तु'-कार दे दिया। पहला वाला तो 'इन्द्रियाराम' इन्द्रियों से सुख लेने वाला था; और यह किसी भी विषय में सुख नहीं लेता है, केवल परमात्मा में ही इसकी रति हैआत्मरति। केवल रति ही नहीं, आत्मा में ही तृप्त भी है। रति का मतलब होता हैमन से किसी चीज़ की इच्छा करना, रमण करना। तृप्ति का अर्थ होता हैउसके प्रति कोई अभिलाषा का न रह जाना। जैसे एक सौ पाँच रसगुल्ले खाने के बाद, फिर रसगुल्ला खाने की इच्छा नहीं रह जाती; कोई देवे तब भी कहोगे 'अब खायेंगे तो उल्टी हो जायेगी!' रसगुल्ला अच्छा लगता है, यह तो रति हुई; तथा 'अब और रसगुल्ला नहीं खाया जाता'यह तृप्ति हुई। जिसको केवल आत्मा ही अच्छा लगता है, विषय अच्छे बिल्कुल नहीं लगते, वह आत्मरति है; साथ में, आत्मा से ही जिसकी तृप्ति है, उसमें और बढ़ोत्तरी सम्भव नहीं है, वह आत्मतृप्त है। विषय मिलने से मनुष्य को सन्तोष होता है। कोई भली लगने वाली चीज़ मिलेगी तो सन्तोष होगा। जिसको किसी भी अनात्म पदार्थ के मिलने से सन्तोष नहीं होता, आत्मा से ही सन्तोष होता है, वह आत्मा में ही सन्तुष्ट कहा जाता है। आत्मा में ही उसकी रति होती है, आत्मा के अन्दर ही वह तृप्त रहता है, और आत्म-प्राप्ति से ही सन्तुष्ट होता है, किसी अनात्मा की प्राप्ति से उसे

सन्तोष नहीं होता। सन्तुष्ट को तृप्त से अलग कहा गया है। आदमी कहता है, 'बड़ा अच्छा भोजन हो गया, परन्तु पापड़ होता तो अच्छा होता।' इसी प्रकार से, बहुत से लोग कहते हैं कि, संतुष्ट तो भगवान् से ही हैं, परंतु फिर भी व्यवहार के लिये विषय तो चाहिये, उनके बिना व्यवहार कैसे चलेगा? व्यवहार के लिये चीज़ें उपलब्ध हों, न हों, विषयों के प्रति जिसे कभी यह नहीं होता कि 'थोड़े ज़्यादा होते तो बेहतर होता', वह सन्तुष्ट है। उसे आत्मा में ही तृप्ति और आत्मा में ही संतोष है। कोई अनात्म पदार्थ मिलने से 'चलो अच्छा हुआ, मिल तो गया'ऐसा नहीं होता है। जो ऐसी स्थिति में पहुँच गया है उसके लिये फिर कोई भी कार्य, करने योग्य, नहीं रह जाता। भाष्य में कहा कि आत्मज्ञान की निष्ठा से अतिरिक्त उनका कोई कार्य नहीं रहता। यद्यपि निष्ठा कोई कार्य नहीं है तथापि तात्पर्य है कि जीवनकाल में यदि किसी निमित्त से विचलन प्राप्त हो तो उसे हटाकर निष्ठा की स्थिति में बने रहें यही उनका मानो कार्य है।।१७।।

आत्मवेत्ता के लिये कर्तव्य नहीं बचता इसी को उपपन्न करते हैं

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

परमात्मरति मानव का कर्म से संसार में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और न ही कर्म न करने से उसे कोई अनर्थलाभ होता है। सारे प्राणियों में ऐसा कोई नहीं जिसके सहारे उसका कोई प्रयोजन सिद्ध हो सके।

जो आत्मरति है, उसको 'कृत' अर्थात् करने से, किये हुए कर्म से, कोई प्रयोजन ही नहीं है। यह नियम है कि प्रयोजन को सामने बिना रखे हुए मन्द भी प्रवृत्ति नहीं करता। कोई काम करेगा, तो किसी-न-किसी उद्देश्य से करेगा। इसका उद्देश्य आत्मा है। आत्मा नित्य, एक जैसा ही है, उसे बढ़ना-घटना है नहीं। अतः करने से उसका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। कर्म से जो प्राप्त होता है वह हमेशा विनाशी होता है यह नियम है। क्यों? करने के पहले वह चीज़ तुमको प्राप्त नहीं थी, कुछ प्रयत्न करके तुमने प्राप्त की। जितना तुमने प्रयत्न किया, उतना ही उसका फल टिकेगा। यह नियम पारलौकिक व्यवहार में भी है, और लौकिक व्यवहार में भी है। कोई व्यापारी यदि यह कहे, 'मेरा व्यापार ठीक से चल रहा है, अब मुझे ध्यान देने की ज़रूरत नहीं', तो थोड़े दिनों में व्यापार ठप्प होने लगेगा! कर्मव्यवहार तो जैसे बर्फ पर चलना हैबर्फ पर या तुम चढ़ते चले जाओगे, और अगर रुक गये तो नीचे सरक जाओगे। इसी प्रकार व्यवहार करने में तुमने ढिलाई की तो नीचे आ जाओगे। जो भी *किया* जाता है वह विनाशी होता है, स्थायी होता नहीं। आत्मा नित्य प्राप्त है, कुछ करके तो आत्मा की प्राप्ति होती नहीं है

पहले ही जो प्राप्त है उसकी प्राप्ति कैसी हो सकती है? जैसे किसी ब्राह्मण ने भांग पी ली। भांग के नशे में उसको जँचता है 'मैं तो चाण्डाल हूँ।' वह अपने को चाण्डाल

समझता है। उसको दही-वही खिला कर उसका नशा उतार देते हैं तो क्या वह ब्राह्मण *बन* जाता है? जब वह अपने को चाण्डाल समझ रहा था तब भी था ब्राह्मण ही! इसलिये उसका न तो फिर से जनेऊ करना पड़ता है, न नहलाना-धुलाना पड़ता है। कुछ करना नहीं पड़ता है। क्योंकि कुछ करके वह ब्राह्मण नहीं बना है। एक ग़लत विचार आ गया था नशे के कारण, वह दूर हुआ है। ऐसे ही परब्रह्म परमात्मा अज्ञान के कारण अपने को जीव समझ रहा है। जब जीव समझ रहा है तब भी है वह परमात्मा ही। जब उसके अज्ञान का नशा उतर जाता है तब वह कुछ करके ब्रह्म बनता नहीं। हमेशा ब्रह्म ही है। अतः आत्मा कुछ करके मिल नहीं सकता। इसलिये आत्मप्रयोजन से वह कर्म नहीं कर सकता।

आत्मातिरिक्त बाकी सब विनाशी होने से, उसकी चाहना के विषय हो ही नहीं सकते। बाजार में भी जब कुछ चीज़ खरीदने जाता है, तो समझदार आदमी देखता है कि मज़बूत टिकाऊ चीज़ होवे। बेसमझ आदमी बढ़िया सुंदर चीज़ देखकर ले लेता है, यह देखता ही नहीं कि यह सड़ा-गला पदार्थ है, किसी काम का है नहीं। इसी प्रकार से, जब तक हमारी आत्मरति नहीं थी, तब तक हम जल्दी-जल्दी बदलने वाले पदार्थों के लिये प्रयत्न करते थे। जब पता लग गया कि ये तो थोड़ी देर में नहीं रहने वाले हैं, तब इनके लिये कोशिश करना ही बेकार है। इसलिये करके जिस चीज की प्राप्ति हो, वह उसका प्रयोजन होता ही नहीं है।

प्रश्न होगा कि करके प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, परन्तु नहीं करने से प्रत्यवाय उसको लग जायेगा? बहुत से काम ऐसे हैं, जो नहीं करने से दोष उत्पन्न कर देते हैं। जैसे, भोजन 'नहीं करो', तो कमज़ोर हो जाते हो। तुमने कमज़ोर होने के लिये किया तो कुछ भी नहीं, भोजन *नहीं करने* से ही कमज़ोर हो गये। इसी तरह, अनेक कर्म हैं जिन्हें नहीं करने से प्रत्यवाय, दोष, लगता है। इसके उत्तर में कहा कि नहीं करने से प्रत्यवाय-प्राप्ति रूप हानि भी उसकी नहीं होती। क्यों नहीं होती? आत्मा उसको नित्य प्राप्त है। उसकी अप्राप्ति असंभव है, पाप भी आत्मा को अप्राप्त नहीं बना सकता। प्रत्यवाय अर्थात् पाप कुछ भी ऐसा नहीं कर सकता जो आत्मनिष्ठा के लिये अनर्थ हो क्योंकि उसका 'अर्थ' आत्मा ही है, उस पर पाप निष्प्रभाव है।

'इह' मायने मनुष्य शरीर में रहते हुए ही, जिन कर्मों के न करने से अब तक जो नुकसान होता था वह आत्मनिष्ठ को नहीं होता। इसका तो प्रयोजन केवल आत्मा है, और कोई प्रत्यवाय उसे दूर कर नहीं सकता। अनादि काल से ले कर आज तक, अरबों जन्म हो गये, उनमें हमने कितने पाप किये, इसकी कोई सीमा नहीं है। इतने पाप के बोझ से हमारा आत्मा हम से दूर नहीं हुआ, तो दस-बीस साल के 'नहीं करने' के दोष से क्या होगा! यदि पाप से हमारा परमात्मा हम से दूर हो गया होता, तो कब का हो गया होता! आत्मा स्वरूप होने के कारण ही, प्रत्यवाय दोष के कारण दूर होगा नहीं, और उस आत्मा के सिवाय और कोई चीज़ आत्मरति मानव को चाहिये नहीं।

रूस में जिस समय स्टेलिन का राज्य था, उस समय जो वहाँ का सबसे बड़ा आणविक बम बनाने का अनुसंधान करने वाला वैज्ञानिक था, उसे जेल में बंद कर जेल में ही प्रयोगशालाएँ उपलब्ध करा दी गयी थीं। उसे प्रयोग करना था अणु-बम बनाने के लिये। जेल में उसको रखा इसलिये गया था कि कहीं इधर-उधर बातें न कर दे। जेलर और जेल के कर्मचारी उस से वैसा व्यवहार करते थे जैसा दूसरे जेलियों से करते थे। अमरीका के अणु-बम कार्यक्रम के सफल होने की खबरें आने लगीं तो बार-बार स्टेलिन टेलीफोन कर जेलर को कहे 'उस वैज्ञानिक को कहो कि काम जल्दी करे, हम पिछड़ रहे हैं।' जेलर ने जाकर कहा 'मास्को से खबर आई है, यदि तुमने महीने भर में काम करके नहीं दिखलाया, तो तुम्हारा बुरा हाल होगा।' वह वैज्ञानिक बड़े ज़ोर से हँसा! कहने लगा'तुम मुझे खाने को एक सूखी डबल-रोटी देते हो दिन भर में, इस सर्दी में भी इतनी जगह से मेरा कोट फटा हुआ है, और तुम मेरा ले क्या सकते हो? जान से तुम मुझे मार सकते नहीं, नहीं तो तुम्हारी भी चमड़ी उधड़ जायेगी क्योंकि रूस में दूसरा कोई है नहीं यह प्रयोग करने वाला' वह लिखता है, 'जिसको दंड देना हो, उसके पास कुछ होना चाहिये जिसके खोने का उसे भय हो'। कोई चीज़ तुम्हारे पास हो, तुम्हें डर हो कि वह छिन जायेगी, तो उसको छीनने की तुम्हें धमकी दी जा सकती है। यदि तुम्हारे पास कुछ है ही नहीं जो छीना जा सके, तो तुमको दण्ड कैसे दिया जाय? ठीक इसी प्रकार से, आत्मज्ञानी से छीना जा सके ऐसा कुछ उसके सामने है ही नहीं। आत्मा उसका स्वरूप है, वह हट नहीं सकता। आत्मा के सिवाय किसी दूसरी चीज़ को वह अपना मानता ही नहीं है, कोई अनात्मवस्तु उसकी है ही नहीं जिसे छीनने से उसको कोई फ़र्क पड़े। इसलिये प्रत्यवाय रूप जो पाप है, वह भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

'सर्वभूतेषु'; अब यहाँ भूत-शब्द के दोनों अर्थ समझ लेना : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इत्यादि पदार्थों को भी भूत कहा जाता है और इनके द्वारा बने हुए शरीरों के अंदर रहने वाले जो जीव हैं वे भी भूत कहे जाते हैं। दोनों ही भूत शब्द के अर्थ हैं। इसलिये आचार्य कहते हैं'ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु।' जीवों में सबसे बड़ा जीव ब्रह्मा, सृष्टि करने वाला; और घास का जो छोटे-से-छोटा तिनका है, वह हो गया स्थावर। ब्रह्मनिष्ठ को न किसी जीव से कुछ प्रयोजन है, और न किसी जड चीज़ से कोई प्रयोजन है। जड-चेतन सारे ही जगत् में कोई और कुछ नहीं जिसका वह सहारा ले। प्रयोजन को सामने रख कर क्रिया के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसको 'व्यपाश्रय' कहते हैं। किसी उद्देश्य को सामने रख कर, उसके निमित्त से ही क्रिया से जो प्राप्त हो उसको व्यपाश्रय कहते हैं। कोई भी जड या चेतन चीज़ ऐसा नहीं है, जिसको प्रयोजन रख कर वह क्रिया के द्वारा उसे प्राप्त करना चाहे। क्योंकि किसी भी पदार्थ से उसके लिय साध्य कुछ नहीं है, प्राप्त करने योग्य कुछ नहीं है। इसीलिये किसी अनात्म पदार्थ के लिये वह क्रिया भी नहीं करता है। प्रयोजन न रह जाने से जो क्रिया का हटना है, वह आत्मज्ञानी में होता है। जब तक

ज्ञान नहीं होता, तब तक प्रयोजन नहीं मिटता है, किसी-न-किसी चीज़ से कोई-न-कोई प्रयोजन रहता है इसलिये उसको सामने रख कर प्राणी क्रिया करता है। आत्मज्ञानी के सामने चूंकि कोई प्रयोजन है नहीं, इसलिये उसकी क्रिया संभव ही नहीं है। प्रयोजनशून्य हो जाने से वह क्रिया छोड़ देता है। इसकी उपपत्ति भगवान् कह आये हैं: हमें कुएँ, बावड़ी की ज़रूरत पड़ती है, पानी के लिये। पर अगर चारों तरफ बाढ़ आ कर सारे घरों में पानी भर जाये, तो फिर क्या कोई कुएँ-बावड़ी से पानी लेने जायेगा? इसी प्रकार बाढ़ में स्थित की जगह परमात्म-स्थिति वाले के लिये, सब विषय कुएँ-बावड़ी की तरह हैं। उसके लिये इनका कोई प्रयोजन हो ही नहीं सकता। अनात्मवेत्ता चूंकि अर्थव्यपाश्रयता के बिना रह नहीं सकता इसलिये उसको यह चक्र चलाना ही उचित है, और ज्ञानी के अंदर क्योंकि अर्थव्यपाश्रयता नहीं है, इसलिये उसके लिये कोई कर्म कर्तव्य नहीं है।१८।।

अर्जुन का प्रश्न था 'ज्ञान श्रेष्ठ है तो मुझे घोर कर्म में नियुक्त क्यों करते हैं?' भगवान् स्पष्ट करते हैं कि अधिकारी न होने तक, अधिकार-लाभ के लिये कर्म ही कर्तव्य होने से अर्जुन का कर्म में ही नियोग उचित है

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

इसलिये फलकामना छोड़कर हमेशा नित्य कर्मों का सम्यक् आचरण करो क्योंकि फलकामना छोड़कर (ईश्वर-प्रसन्नतार्थ) कर्म करते हुए पुरुष मोक्ष पा जाता है।

भगवान् कहते हैं 'क्योंकि तू ऐसा नहीं है, अभी अर्थव्यपाश्रय है, इसलिये जो तेरा कर्त्तव्य कर्म है, उसका भली प्रकार आचरण कर। तू जो यह कह रहा था कि 'मैं तो भिक्षा माँग कर ही रह जाऊँगा', वह इसलिये नहीं बनता है कि तुझे अभी आत्मज्ञान हुआ नहीं है। इसलिये जो अपना कर्त्तव्य कर्म है, उसका भली प्रकार आचरण कर। 'सततं' हमेशा कर। जब कर्त्तव्य सामने आये, तब कर।' सतत मायने निरन्तर। अर्जुन कह सकता था'दादा को, गुरु को, मामा को, मारना मैं नहीं चाहता हूँ। बाकी कोई काम बता दीजिये।'

कई बार ऐसा होता है : किसी को कोई काम बतावें, उसे किसी कारण से वह काम न करना हो, तो कहता है, 'महाराज! मैं सेवा तो करना चाहता हूँ, पर दूसरा कोई काम बतला दीजिये।' किन्तु प्राप्त कर्म न कर सकने वाला अन्य कर्म भी क्या कर सकेगा! एक आदमी का घर में कुछ झगड़ा हुआ। प्रसिद्ध है, 'घर में हुई खटपट, तो चल बाबा के मठ पर।' वह महात्मा के पास पहुँचा। कहा 'महाराज, मैं तो सेवा करके आपके चरणों में रहूँगा।' महात्मा जानते थे कि कोई सत्संगी तो है नहीं। कहा 'बहुत ठीक। पर आश्रम में रहने पर कुछ करना पड़ेगा। तू जा कर देख आ, कौन-कौन क्या कर रहा है, फिर तू आ कर बतलाना कि तेरे को कौन-सा काम करना है।' वह गया और ध्यान से देखने लगा।

कोई चूल्हा फूँक रहा है, धुआँ निकल रहा है, कोई आश्रम को लीप रहा है, उसके हाथ गन्दे हो रहे हैं, कोई खेती में गड्ढे कर रहा है। ऐसे सब को मेहनत करते देखा तो सोचने लगा कि इससे तो घर का ही काम ठीक था! कुछ देर सोचता रहा, फिर उसने विचार किया, बाकी सब तो काम कर रहे हैं, ये महात्मा जी तो कुछ करते नहीं! उसने कहा कि 'स्वामी जी, आप क्या करते हैं?' वे बोले, 'मैं तो कुछ नहीं करता हूँ।' उसने कहा 'बस, यही काम मुझे भी चाहिय!'

ठीक इसी प्रकार से, अर्जुन कह सकता था, 'मुझे और कोई काम करने को दे दीजिये। जैसे आप कुछ नहीं करते हैं वैसे मुझे भी कुछ नहीं करने वाला बना दीजिये।' इसलिये भगवान् ने कहा कि निरन्तर कार्य करना है, कर्त्तव्य कर्म करना है। चाहे कुछ करने को भगवान् नहीं कह रहे हैं। जो तुम्हें कर्त्तव्य प्राप्त है, उसको करना है। क्यों? 'हि' मायने जिस कारण से, आसक्ति से रहित होकर 'यह मेरा कर्त्तव्य है इसलिये करना है'इस बुद्धि से कर्म का आचरण करने से, परम प्रयोजन को मनुष्य प्राप्त कर लेता है, अर्थात् आत्मज्ञान-प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न उठता है कि आसक्ति से रहित होकर कोई कर्म करेगा क्यों? उत्तर है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करने के लिये मुमुक्षु कर्तव्य कर्म करेगा। भगवान् ने पहले ही कह दिया है'मैंने जो यह   चक्र चलाया है, इसमें मैंने सबको काम बाँट दिया है। नहीं करने वाला तो मैं ही एक बचा!' जैसे वे महात्मा जी बचे थे। बाकी सब को तो इस चक्र को चलाना है। 'परमात्मा ने शुरू किया है, इसलिये मुझे यह चक्र चलाना है, मेरा कर्त्तव्य है'यह मान कर आचरण करना है, कुछ मिलेगाइस दृष्टि से नहीं। इस प्रकार जब आसक्ति से रहित होकर केवल ईश्वराज्ञा मान कर के ही कर्म करता है, तब परम वस्तु की प्राप्ति होती है अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध हो कर ज्ञान के योग्य हो जाता है।१९।।

प्राचीनों के आचार की नज़ीर देकर भगवान् अर्जुन को कर्त्तव्य-पालन के लिये प्रेरित करते हैं

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

क्योंकि जनकादि कर्म द्वारा ही संसिद्धि पाने को प्रवृत्त हुए थे इसलिये तुझे भी कर्म करना चाहिये। लोकसंग्रह को समझते हुए भी तुझे कर्म करना उचित है।

भगवान् समझाते हैं 'प्राचीन काल में जनक, अश्वपति आदि जो राजा हुए हैं उन्होंने कर्मानुष्ठान ही किया, कर्मत्याग नहीं किया। तू भी क्षत्रिय है, राजा है, पूर्व काल में तेरे पूर्वजों ने भी कर्म करके ही संसिद्धि पाने का प्रयत्न किया था। संसिद्धि मायने सम्यक् सिद्धि, मोक्ष, उसकी प्राप्ति के लिये तुम्हारे पूर्वज जनकादि प्रवृत्त थे, उन्होंने भी कर्म के द्वारा *ही* इसको प्राप्त किया है। कर्मद्वारा *ही* अर्थात् कर्मत्याग के बिना। मोक्ष की प्राप्ति

ज्ञान से है, इसमें यहाँ कर्म को वैकल्पिक साधन नहीं कह रहे। कर्म है तो ज्ञानयोग्यता पाने का साधन अतः वह मोक्ष का क्रम अर्थात् व्यवधान से ही उपाय है; कर्म से चित्त शुद्ध होकर ही ज्ञान से मोक्ष होता है यह तात्पर्य है। ज्ञाननिष्ठा के लिये कर्मसंन्यास अनिवार्य न मानकर कुछ अधिकारियों के लिये ही वह अनिवार्य है, इस मत से यहाँ व्याख्या की है।

भगवान् ने पहले बतलाया कि अर्जुन को क्या करना है, अब बतला रहे हैं कि उसके पूर्वज इसी रास्ते पर चले थे, इसलिये उसे भी इसी पर चलना ठीक है। इससे उसका कुछ हौसला बढ़े यह उनका भाव है। 'तुम्हारे पूर्वजों ने भी यह किया। उनका खून तुम्हारे अंदर बह रहा है, तुम ज़रूर कर सकते हो' यों कहने से उत्साह होता ही है।

अर्जुन कहे कि जनक इत्यादि आत्मज्ञानी की तरह प्रसिद्ध हैं और ज्ञानी को कर्मी माना नहीं जाता, तो इन्हें आप कर्मी कैसे कह रहे हैं? तब भगवान् कहते हैं, कि यदि तुम इनको आत्मज्ञानी की दृष्टि से देखते हो, तब समझो कि उन्होंने लोकसंग्रह के लिये किया था। लोकसंग्रह का मतलब, लोगों को इकट्ठा करना मत समझ लेना! बहुत-से लोग समझते हैं कि भीड़ इकट्ठी हो गयी तो लोक-संग्रह हो गया। लोकसंग्रह का मतलब है, जब तक प्रारब्ध है तब तक इस प्रकार के कर्म करें कि उसे देखकर दूसरा व्यक्ति गलत रास्ते न चला जाये। आगे इस बात को और स्पष्ट करेंगे। दोनों बातें भगवान् ने कह दीं: यदि वे मोक्ष के लिये कर रहे थे, तब तो उन्होंने कर्म के द्वारा ही अंतःकरण की शुद्धि के प्राप्ति के मार्ग को अपनाया इसलिये अर्जुन भी वही मार्ग अपनाये। और अगर वे ज्ञानी थे, तो उन्होंने लोकसंग्रहार्थ कर्म किया है। अर्जुन यदि स्वयं को तत्त्ववेत्ता समझे तो वह भी लोकसंग्रह के लिये कर्म करे। इस प्रकार अर्जुन को निमित्त कर जीवों को निर्देश है कि जनक को यदि ज्ञानी माानते हो तो जैसे उसने कर्म किया वैसे कर्म करो, और यदि उन्हें अज्ञानी मानते हो, तब भी जैसे उन्होंने कर्म किया वैसे करो।।२०।।

लोकसंग्रह का अर्थ क्या? इसको स्पष्ट करते हैं

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो आचरण करता है, अन्य लोग उसी-उसी आचरण को करते हैं। श्रेष्ठ जिसे प्रमाण मानता है, लोक उसी का अनुसरण करते हैं।

'श्रेष्ठ' अर्थात् जिसको लोग श्रेष्ठ समझते हैं। वह जैसा-जैसा करता है, वही-वही काम सामान्य लोग करते हैं। साधारण आदमी यदि कोई गलती भी करता है, तो उसकी गलती उसी तक रहती है। बाकी सब कहेंगे कि 'यह फालतू आदमी है, यह ग़लत काम करता है।' पर यदि श्रेष्ठ आदमी उसी काम को करता है तो सब लोग समझते हैं कि इतने बड़े आदमी ने किया तो अवश्य करना चाहिये। जैसे, किसी परिस्थिति में युधिष्ठिर को कुछ झूठा व्यवहार करना पड़ा। उनको पता था कि अश्वत्थामा नाम का

हाथी मरा है; परन्तु द्रोणाचार्य को गफलत में डालना था, इसलिये भी उन्होंने यह तो नहीं कहा कि, 'तुम्हारा बेटा अश्वत्थामा मरा', उन्होंने यही कहा, 'अश्वत्थामा मरा है', चाहे आदमी हो, चाहे हाथी हो, 'नरो वा कुंजरो वा'। आधा झूठ ही हुआ। युधिष्ठिर जन्मभर सत्य बोले, लेकिन यह आधा सत्य और आधा असत्य बोलने के कारण आज भी लोग कहते हैं'अरे! जब युधिष्ठर जैसे को झूठ बोलना पड़ा, तो हम कौन हैं! हमको तो बोलना ही है। हमारा काम कैसे चल सकता है!' इसलिये, श्रेष्ठ पुरुष को बड़ा सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि वह जो बुरा कर्म करेगा वह केवल उस तक नहीं रहेगा, दूसरे लोग भी गलत रास्ते पर चले जायेंगे। उन सब के दोष का भागी उसको भी बनना पड़ेगा। उसको देखकर जो बिगाड़ आयेगा, उसके लिये वह भी जिम्मेवार होगा।

'स यत्प्रमाणं कुरुते'। श्रेष्ठ जिस को प्रामाणिक बतलायेगा उसका भी लोग अनुसरण करेंगे। जिस लौकिक कर्म को वह कहेगा कि ठीक है, लोग समझेंगे कि वह कहता है तो ठीक ही होगा। वैदिक कर्म के अंदर भी, श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा करेगा लोग समझेंगे कि ऐसा ही किया जाता है। चाहे लौकिक कर्म हो चाहे वैदिक कर्म हो, वह जिसको प्रामाणिक कहेगा, साधारण लोग उसी का अनुवर्तन करेंगे।

इसलिये भगवान् ने कहा कि जनकादि क्षत्रिय कुल में थे, राजा थे, इसलिये उन्होंने क्षत्रियों के अनुकूल ही आचरण किया, राजा के अनुकूल ही आचरण किया, ज्ञानी थे या अज्ञानी, आचरण वही किया। यदि ज्ञानी थे, तब तो उन्होंने आचरण इसलिये किया कि लोग गलत रास्ते न चले जायें, और अज्ञानी थे तो इसलिये कि उनका अंतःकरण शुद्ध हो जाये। इसी तरह अर्जुन और अन्य अधिकारी को कर्मयोग का अनुष्ठान करना ही चाहिये।।२१।।

अर्जुन कह सकता है 'जनक तो त्रेता युग में हुए थे, हमारे लापड़-दादा ने भी उनको नहीं देखा! प्रसिद्ध ज़रूर है कि जनक हुए हैं। वर्तमान में ऐसा कैसे किया जाये?' अतः भगवान् कहते हैं 'उनको भले ही नहीं देखा, मुझे देख ले, मैं तो तेरे सामने खड़ा हूँ।'

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

हे पार्थ! तीनों लोकों में मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है, कोई प्राप्तव्य नहीं जो पाया हुआ न हो, फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ।

तीनों लोकों के अंदर कुछ भी ऐसा नहीं है जो भगवान् के लिये कर्त्तव्य होवे। इस लोक के अंदर कुछ ऐसा नहीं है जो वे प्राप्त करना चाहें, स्वर्ग या ब्रह्मलोक के अंदर भी कुछ ऐसा नहीं है जो प्राप्त करना चाहें। कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो उन्हें प्राप्त न होवे। सब कुछ उन्हें पहले से ही प्राप्त है और न उनके लिये कुछ प्राप्त करने के योग्य ही है।

जनक अश्वपति के द्रष्टांत में तो उन्होंने कहा था 'संसिद्धिम् आस्थिताः', इसलिये

दोनों अर्थ किये थेमोक्ष के लिये किया अथवा लोकसंग्रह के लिये किया। परन्तु अपने बारे में उन्होंने 'संसिद्धिम् आस्थितः' नहीं कहा। उनके लिये कोई न प्राप्त करने योग्य चीज़ है, और न ऐसी कुछ है जो प्राप्त न होवे। भगवान् कहते हैं, 'फिर भी मैं कर्म कर रहा हूँ। लोकसंग्रह के लिये जो कर्म किया जाता है, उसमें तू उदाहरणस्वरूप मुझे ही देख ले'।।२२।।

भगवान् समझाते हैं कि वे क्यों आचरण करते हैं

यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

हे पार्थ! अगर कभी ऐसा हो कि आलस्य छोड़ कर मैं कर्म में न लगा रहूँ (तो) क्योंकि मनुष्य हर तरह से मेरे रास्ते का अनुसरण करते हैं (इसलिये)। (अगले श्लोक से संबंध है।)

भगवान् कह रहे हैंएक क्षण भी बिना कर्म का व्यवहार किये मैं नहीं रहता। यदि मैं ऐसा करूँ, तो क्योंकि मेरे रास्ते पर ही बाकी सब चलते हैं, मुझे देखकर ही सभी व्यवहार करते हैं, इसलिये वे भी कर्म छोड़ बैठेंगे अतः नुकसान पायेंगे। 'सर्वशः' अर्थात् सब तरह से, मेरे लौकिक कर्मों को देखकरके भी आचरण करते हैं तथा मेरे वैदिक कर्मों को देखकर भी आचरण करते हैं। लौकिक हो चाहे पारलौकिक, मेरे रास्ते पर चलते हैं।।२३।।

भगवान् को तो कुछ प्राप्त करने लायक है नहीं लेकिन उन्हें देखकर लोग कर्म नहीं करेंगे तो क्या नतीजा होगा, यह बताते हैं

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

(...इसलिये) ये सभी लोक नष्ट हो जायेंगे। अगर मैं कर्म न करूँ तो (मेरी देखादेखी कर्मलोप हो जाने पर) जो संकर (कर्मसंकर, वर्णसंकर) होगा उसे करने वाला बनूँगा और इन प्रजाओं की मलिनता का हेतु बनूँगा। (अतः मैं सदा कर्म करता हूँ।)

भगवान् कह रहे हैंमैं यदि कर्म न करूँ, तो जितने लोग मुझे देखकर चलने वाले हैं, उत्सन्न हो जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे। इन सारी प्रजाओं को नष्ट करने वाला मैं हो जाऊँगा। साङ्कर्य का भी कर्ता हो जाऊँगा। कर्म-लोप होने के बाद क्योंकि सही ढंग जानने वाले रह नहीं जायेंगे इसलिये फिर लोग सही-ग़लत मिलाकर करने लगेंगे, कर्मसांकर्य होगा। इसी प्रकार, लोगों को मर्यादा में रखने वाला कर्म लुप्त हो जाने पर वर्णों का भी संकर रुकेगा नहीं। अतः कर्म न करने से मैं ही इन अर्थों का हेतु बनूँगा।

भगवान् का कार्य क्या है? सारी सृष्टि को बनाना, धारण करना, सबको कर्मफल देनायह भगवान् का काम है। अगर भगवान् कर्मफल न देवें तो व्यवस्था समाप्त हो

जायेगी। तुमने अश्वमेध किया, उस दौरान भगवान् को झोंका आ जाये, वे तुम्हारा कर्म देख नहीं पायें, तो तुम उस कर्म के फलस्वरूप स्वर्ग में नहीं जाओगे, जिससे लोग समझेंगे कि वेद अप्रमाण है। इस तरह लोग उत्सन्न हो जायेंगे। भगवान् को हर क्षण कर्मफल देना है। चाहे घोर बरसात हो रही हो, बाहर कीचड़ भरा हुआ हो, कोई कंगला भी जिस समय बाहर नहीं निकलता, छपरे के नीचे बैठा रहता है, ऐसी भीषण वृष्टि के अंदर, रात में दो बजे भी यमराज आ ही जाते हैं! हम लोग होवें तो सोचें कि 'आज जाने दो, कल चलेंगे!' किन्तु यमराज जिस क्षण आना है उसी क्षण आ जाते हैं। अन्यथा संसार उच्छिन्न हो जायेगा।

एक बार शिवरात्रि पर विश्वनाथ के मंदिर में, सब देवता दर्शन करने आये। विष्णु भगवान् भी दर्शन करने आये हुए थे। पीछे से यमराज भी दर्शन करने आये। विष्णु भगवान् अंदर मंदिर में अभिषेक वगैरह कर रहे थे। यमराज पीछे से आये हुए थे, इसलिये दरवाजे पर खड़े रहे कि 'विष्णु का पूजन हो जाये, तब फिर अंदर चलें।' इधर-उधर उनकी नज़र गयी तो उन्होंने देखा कि एक कबूतर वहाँ बड़े आनन्द से बैठा हुआ है। उन्होंने उसकी तरफ बड़े ध्यान से देखा। यमराज का नाम सुनकर ही लोग घबरा जाते हैं, और साक्षात् यमराज घूर कर देख लें तो फिर क्या कहना! बेचारे कबूतर का तो 'गुटर-गूं' करना वहीं चुप हो गया। तब तक भगवान् का अभिषेक समाप्त हो गया और यमराज अंदर चले गये। उधर गरुड बहुत देर से बाहर खड़ा था, विष्णु उसको बाहर खड़ा करके गये थे अंदर। उसने मंदिर में अपनी गर्दन डाल कर देखा कि 'क्या हाल है, अभिषेक खत्म हुआ कि नहीं हुआ, मैं तैयार हो जाऊँ भगवान् के लिये।' अंदर देखा, तो वह कबूतर दीखा, बेचारा एकदम घबराया हुआ, एकदम मलिन-सा। गरुड पक्षियों के राजा हैं। अपनी प्रजा को दुःखी देखकर राजा दुःखी होता है। उन्होंने कहा 'क्या बात है, तुम इतना घबरा क्यों रहे हो?' वह बोला 'महाराज! अभी यमराज मुझे घूरकर देख गये हैं, बचने की कोई आशा नहीं लगती।' उन्होंने कहा 'अच्छा! आओ, तुम मेरे ऊपर बैठ जाओ।' वे प्रलयंकारी जो उनका वायु है, उसके द्वारा पूरी तेज़ी से लोकालोक पर्वत पर पहुँच गये। खरबों मील दूर है लोकालोक पर्वत। वहाँ पहुँचकर उसको उतार दिया, कि 'अब तू संतुष्ट रह, यमराज यहाँ तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा।' गरुड वापिस आ गये।

तब तक, यमराज को तो अभिषेक करना नहीं था, थोड़ी पूजा की, दर्शन किये, और लौट चले। बाहर आये, तो देखा गरुड की बड़ी ज़ोर से साँस चल रही थी। यमराज ने कहा, 'क्यों क्या बात है, थक गये, क्या हो गया?' गरुड बोले 'आपकी दृष्टि पड़े तो किसका हाल बुरा न हो?' वे बोले 'बात तो ठीक है, लेकिन तेरा कुछ मैं बिगाड़ नहीं सकता हूँ। तुझे तो मुझसे कोई डर हो नहीं सकता।' गरुड ने कहा 'मेरे को तो नहीं, मेरी प्रजा को तो हो सकता है। अच्छा भला आप मंदिर में पूजा करने गये थे, बेचारे कबूतर को आपने ऐसी क्रूर दृष्टि से क्यों देखा?' यमराज ने कहा 'मेरी तो ऐसे ही स्वभाव से

दृष्टि पड़ गयी थी। मैंने देखा कि उसकी आज शाम को मृत्यु है, एक बिल्ली को इसे खाना है।' गरुड ने कहा, 'अच्छा! ऐसी बात थी। मैंने उसे लोकालोक पर्वत पर पहुँचा दिया। बिल्ली वहाँ नहीं जा सकती।' यमराज ने झट नमस्कार किया भगवान् को, और कहा 'भगवान् की महिमा अपार है। मैंने तुमसे यह कब कहा कि कौन-सी बिल्ली इसे खायेगी। मैंने उसे ध्यान से इसीलिये देख था, कि उसके भाग्य में था कि लोकालोक पर्वत की बिल्ली इसे खायेगी। मैंने सोचा कि यह क्या लिख दिया भगवान् ने! यह यहाँ से सैंकड़ो साल उड़ कर जाये तो वहाँ पहुँच नहीं सकता, वह वहाँ से लाखों साल चले तो यहाँ आ नहीं सकती। अब यह तो अमर हो जायेगा, और वह वहाँ भूखी रह जायेगी। लेकिन भगवान् की महिमा अपार है! अब तक उस बिल्ली ने उसका काम खत्म कर दिया होगा।'

चाहे जैसी परिस्थिति हो, भगवान् का काम, लगता है कि कैसे होगा, पर सब हो जाता है। वे थोड़ा भी बे-ध्याना नहीं होते अपना काम करने में।

इसलिये भगवान् कह रहे हैंअगर मैं बे-ध्याना हो जाऊँ, तो यह सारी सृष्टि का चक्र गड़बड़ा जायेगा और लोग सब उत्सन्न हो जायेंगे। हर क्षण सृष्टि, स्थिति, लय, कर्मफल-प्रदान आदि काम निरन्तर चलता ही रहता है। यदि मैं ऐसा न करूँ तो प्राजाओं का नाश करने वाला हो जाऊँ। मैं प्रवृत्त हूँ प्रजाओं पर अनुग्रह करने में, इनका उपघात करूँ यह ठीक नहीं। उपघात अर्थात् धर्म का लोप करने के द्वारा विनाश करना। कर्मभ्रष्ट प्रजा मलिन आचार-विचार वाली होकर नष्ट ही होती है। जब मैं साक्षात् परमेश्वर हो कर कर्म के ऊपर इतना ध्यान देता हूँ, तो फिर तू क्यों घबरा रहा है कर्म करने से?।२५।।

कृतकृत्य विद्वान् के लिये कोई प्रयोजन न रह जाने पर भी उसे अन्यों पर अनुग्रह कर उन्हें ग़लत मार्ग से बचाना ही योग्य है, यह निर्देश देते हैं

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।२५।।

हे भरतवंशी! कर्मफल में आसक्ति वाले अज्ञानी जैसे कर्म करते हैं, लोकसंग्रह करना चाहने वाला विद्वान् ज्ञानी उसी तरह करे, अंतर यही रहेगा कि विद्वान् में कोई आसक्ति नहीं होगी।

अज्ञानी लोग आसक्ति-पूर्वक कर्म करते हैं। जैसे वे आसक्ति पूर्वक करते हैं, वैसे ही ज्ञानी आसक्तिरहित रहते हुए करता है। यद्यपि 'कुर्यात्' में विधि लग रही है, तथापि तात्पर्य है कि वह करता है। ज्ञानी के लिये विधि नहीं की जा रही। वह स्वभावतः ही ऐसा आचरण रखता है कि उसे लोग देखकर गलत रास्ते न चलें। कर्म करने का ढंग समान होने पर भी फ़र्क इतना ही है कि अज्ञानी आसक्तिपूर्वक करता है, परन्तु ज्ञानी आसक्ति से रहित हो कर करता है। करता क्यों है? क्योंकि वह लोकसंग्रह को करना चाहता है।

लोकसंग्रह की इच्छा से कर्म करता है, जिससे उसे देखकर अज्ञानी ठीक कर्म करे ताकि उनको ठीक फल हो। उसे फल नहीं चाहिये इसलिये यदि गलत ढंग से करे, तो उसकी कोई हानि नहीं, लेकिन उसे देखकर दूसरे ग़लत कर अपनी हानि करेंगे। वे बेचारे फल के लिये कर्म करते हैं। ग़लत किया तो फल से वंचित रह जायेंगे। इसलिये कहा कि लोकसंग्रह करने की इच्छा से ज्ञानी वैसा आचार रखे जैसा अज्ञानी को रखना उचित है। कर्म करने में लाभ ही लाभ हैज्ञान होने के पहले अंतःकरण की शुद्धि होने का लाभ है, ज्ञान होने के बाद संसार के कल्याण का कारण बनता हैयह लाभ है।

इसलिये भगवान् समझा रहे हैं कि कर्म करने का ढंग समझना ज़रूरी है, कर्म-त्याग मात्र से काम नहीं चलता। साधारण मनुष्य यही समझता है कि 'काम नहीं करूँ। यही तो अन्तिम नतीजा है कि आत्मा अकर्ता-अभोक्ता है। मैं काम नहीं करूँगा तो अकर्ता हो गया।' इस भ्रम को दूर करने के लिये भगवान् ने कहाकाम को छोड़ने से कुछ नहीं होता। मोक्ष का कारण अज्ञान की निवृत्ति, और अज्ञान, ज्ञान से ही मिटता है। कर्म छोड़ने से अज्ञान तो मिटेगा नहीं। अर्जुन कह सकता था 'कर्म तो हम अनादि काल से कर ही रहे हैं। यदि कर्म करने से काम बन जाता तो अब तक बन ही गया होता!' भगवान् ने कर्म करने का तरीका सिखाया : कोई नया काम नहीं करना है। वैदिक संस्कृति कुछ कर्मों को जोड़ देना मोक्ष का कारण नहीं मानती। अन्य मत-मतान्तर वाले तो यह मानते हैं कि लौकिक कर्म जो तुम करते हो, वे लौकिक फल वाले हैं, साथ में तुम जप, ध्यान, पूजा, योगाभ्यास और करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा। इस प्रकार कुछ कामों को जोड़ देते हैं कि इन कामों को करने से कल्याण होगा। परन्तु वेद कहता हैजो तुम्हारे काम हैं, चाहे लौकिक हैं चाहे शास्त्रीय हैं, काम वही करने हैं, कोई नया काम नहीं जोड़ देना है, केवल करने की दृष्टि बदलनी है। क्या करें जो हमारा मोक्ष हो जाये, ज्ञान हो जाये? भगवान् ने काम नये नहीं बताये, तरीके का फ़र्क बताया। अज्ञानी कर्म में आसक्ति रख कर कर्म करता है। 'इस कर्म का फल मुझे हो' यह इच्छा कर्म में आसक्ति है। दूसरी भी एक आसक्ति यहाँ समझ लेना : 'यह काम मैं ही करूँ, मुझ से ही हो' यह भी कईयों की दृढ इच्छा होती है। साधारण मनुष्य में दोनों आसक्तियाँ होती हैं। इसलिये कोई काम किसी को बतलाओ तो वह सोचता है 'अरे! यह मेरे लायक है! मैं पढ़ा-लिखा समझदार आदमी, मेरे लायक काम है!' जो काम तुम्हारे सामने आ गया, वही तुम्हारे लायक काम है। 'यह काम मैं करूँ, और यह मैं न करूँ, यह काम मैं ही करूँ'यह कर्म में आसक्ति है। साथ में फलासक्ति रहती ही है'मैंने किया, इसका फल मुझे ही मिले।' प्रायः लोगों के भविष्य को देखने वाले ज्योतिषी एक बात कहते हैं, और वह हमेशा ठीक बैठेगी'जितना आप सबके लिये करते हो, उतना लोग आपको मानते नहीं!' हरेक आदमी को यह लगता है, 'मैं तो बहुत करता हूँ लेकिन दूसरे इसकी प्रधानता को समझते नहीं।' ये दोनों बातें मनुष्य के सामने रहती हैं: 'यह काम मैं ही करूँ, यह काम मेरे लायक नहीं'यह कर्म में आसक्ति

और 'जितना मैंने किया है उतना फल मुझे ही मिले'यह कर्मफल में आसक्ति। भगवान् कहते हैं कि ये दोनों आसक्तियाँ अज्ञानियों को ही होती हैं।

जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया तब भगवान् को द्वारका से पहुँचने में देरी हुई। राजसूय यज्ञ में सब घरवालों को सहायता करनी चाहिये। भगवान् ने पहुँच कर पूछा 'भाई, मेरे ज़िम्मे क्या काम है?' पाण्डवों ने निश्चय किया था कि भगवान् को कोई काम नहीं देंगे। बड़े हैं, पूज्य हैं, बैठे रहें, कुछ काम न करना पड़े। भीम ने कहा 'सारा काम बँट गया है, अब आपके लिये कुछ नहीं बचा।' भगवान् ने कहा, 'अरे भाई, मैं भी कुछ तो कर सकता हूँ। कुछ तो काम बतलाओ।' भीम ने कहा, 'अब कोई काम नहीं है?' उन्होंने कहा, 'लाओ, हमें कार्य-सूची दो, किसके हिस्से में क्या काम है, मैं भी देख तो लूँ।' देखकर भगवान् ने कहा, 'ठीक है, बचा हुआ काम मैनें ले लिया।' युधिष्ठिर ने पूछा, 'महाराज, इस में तो हमने कुछ छोड़ा नहीं था, कौन-सा बचा हुआ काम है?' भगवान् बोले'भोजन के बाद पत्तलें कौन उठायेगा, यह तो आपने लिखा ही नहीं है, वह किसी का कार्य निर्धारित नहीं है। बस, यह काम मैं करूँगा।' युधिष्ठिर आदि सब कहने लगे, 'नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है! आप पत्तल थोड़े ही उठायेंगे।' वे बोले, 'क्यों? क्यों नहीं उठाऊँगा? तुमने कहा था, 'बचा हुआ काम ले लो', तो यह बचा हुआ है, ले लिया।' और वही कार्य भगवान् ने किया।

'मैं क्या करूँ, क्या न करूँ' यह चुनाव नहीं करना है। जो कर्म सामने आ गया, उसको करना है। 'यही कर्म मैं करूँ', यह भी आसक्ति नहीं रखनी है। कर्मफल में तो आसक्ति नहीं ही रखनी है। अज्ञानी कर्म में भी आसक्ति रखता है और फल में भी। इन आसक्तियों का कारण क्या है? अज्ञान। अज्ञान क्या करता है? शरीर-मन के साथ आत्मा की एकता कर देता है। अज्ञान शरीर और मन के साथ तुमको एक कर देता है'यह शरीर मैं हूँ'। काम छोटा और बड़ा किसको लेकर होता है? 'मैं ब्राह्मण हूँ।' 'मैं राजा का लड़का हूँ।' राजा का लड़का शरीर है। उस-उस शरीर के लायक वह-वह काम नहीं होता है। इस शरीर के लायक जो काम नहीं है, वह लगता है मेरे लायक नहीं है! इसी प्रकार, 'यह काम मैं ही करूँ' भी अज्ञानी का आग्रह ही है। जो भी उस काम को करेगा, करने वाले का साक्षी आत्मा तो एक ही है। मेरे शरीर से ही यह काम हो, किसी दूसरे के शरीर से न होयह तभी होगा जब एक शरीर में अभिमान हो। जो इस बात को जानता है कि, यह शरीर मैं नहीं हूँ, उसे पता रहता है कि जो किसी को करना ही है वह काम अच्छा या बुरा नहीं हो सकता; और 'यह काम यही शरीर करे', यह भी उसे आग्रह नहीं हो सकता। इसी तरह, 'कर्म का फल मुझे मिले'यहाँ 'मुझे' अर्थात् किसको? शरीर-मन को मिले! मैंने कोई काम किया, तो उसका फल किसी को ज़रूर मिलेगा और उस शरीर में रहने वाला उसे भोगेगा, भोगने वाला आत्मा तो एक ही है। अतः आत्मज्ञ को कर्म फल के प्रति आसक्ति भी नहीं हो सकती है।

विवाह हमारे यहाँ संस्कार कहा गया है। संसार में सभी जातियों के अंदर, नर-मादा मिल कर बच्चे पैदा करते हैं। मनुष्य क्या, पशु पक्षी भी करते हैं। परन्तु हमारे यहाँ विवाह को संस्कार कहा गया है। संस्कार अर्थात् उससे कुछ-न-कुछ तुम्हारी शुद्धि होती है। वर्तमान काल में लोग भूल गये हैं कि विवाह कोई संस्कार है। कई बार लोग कहते हैं, 'महाराज, ब्याह के पहले कोई पूजा-पाठ रखवा लेवें!' उनको लगता है कि विवाह कोई अच्छा काम नहीं है! भारतीय संस्कृति में नये घर का आंगन तब तक पवित्र नहीं माना जाता जब तक वहाँ पर कम-से-कम एक लड़की का विवाह न हो जाये क्योंकि उससे घर की शुद्धि होती है। विवाह ऐसा संस्कार है जो सबकी शुद्धि का कारण बनता है। उसकी शुद्धि के लिये क्या पूजा-पाठ करना! वह खुद ही शुद्धि का हेतु है।

इसको संस्कार क्यों माना जाता है? बच्चे पैदा करने के लिये नहीं! सारे संसार में सभी बच्चे पैदा कर ही रहे हैं। कारण है कि विवाह करने के पहले मनुष्य केवल अपने शरीर को ही सोचता है। मेरे लिये क्या चाहियेबस यही सोचता है। विवाह करने के बाद कम-से-कम'मैं और मेरी पत्नी' दो को सोचना ज़रूरी हो जाता है। उसके बाद बच्चे होने पर बच्चों के लिये भी सोचता है। कहाँ-कहाँ से धन एकत्रित करके बच्चों के पढ़ने का इंतजाम करता है। उनके ऊपर क्यों खर्च करता है? उनमें स्वयं को समझता है इसीलये। कहाँ यह होगा? जहाँ विवाह संस्कार होगा। कविकुलगुरु कालिदास कहते हैं, 'विवाहो न विलासार्थम्' विवाह मौज-शौक करने के लिये नहीं है, यह तो परमात्मा की तरफ बढ़ने के लिये संस्कार है। अब धीरे-धीरे विवाह संस्कार नहीं रह गया। पण्डित जी को कहते हैं, 'पंडित जी पाँच सौ रुपये ले लो, झटपट ब्याह कराओ।' उनके मन में उस संस्कार का कोई महत्त्व नहीं है। नतीजालोग स्वार्थी बने रहते हैं। *विवाह* जिनका नहीं हुआ है, जो शादी करते हैं, उनकी औरत है, बच्चे भी हो गये, पर सोचने के लिये खाली अपना शरीर ही रहता है। उनके लिये विवाह केवल विलास की चीज़ है, उसकी और कोई उपादेयता नहीं है।

धीरे-धीरे तुम दूसरों को भी 'मैं' के अंतर्गत लाओ। पहुँचना वहाँ है जहाँ तुमको सारा संसार अपना स्वरूप लगे। इन्द्र, इन्द्रासन पर बैठ कर जिस अमृत को पीता है, वह मैं ही पी रहा हूँपहुँचना वहाँ तक है। कर्मफल के अंदर क्यों आसक्ति रहती है? क्योंकि हम समझते हैं कि शरीर को मिला तो ही हमको मिला! विवाह हो गया, तो पत्नी को मिलने से भी लगता है कि हमें मिला। पहले की अपेक्षा कुछ फैलाव आया। दो 'मैं' हो गये। फिर बच्चों में मैं आया। धीरे-धीरे फैलाव आता जाता है। लड़के-लड़कियों का ब्याह करोगे, तो जहाँ ब्याह होगा वे तुम्हारे क्या हो जायेंगे? समधी हो जायेंगे। अब तुम उनको भी सोचोगे। इस प्रकार धीरे-धीरे मैं का फैलाव आता है। जो अज्ञानी हैं, वे इस संस्कार से रहित होने के कारण, अंत तक अपने शरीर को 'मैं' समझते हैं, इसके आगे कुछ नहीं समझते। अतः कर्मफल की आसक्ति भी बनी रहती है। यह किसका परिणाम है? अज्ञान

का ही परिणाम है। अज्ञान ने क्या किया? एक शरीर-मन में तुमको बाँध दिया।

अज्ञानी कर्म में आसक्ति के साथ जैसे करता है, वैसे ही ज्ञानी भी करता है, काम करने में कोई फ़र्क नहीं है, अंतर क्या है? 'असक्तः' अज्ञानी सक्त है, ज्ञानी असक्त है। कर्म सामने आने पर जैसे अज्ञानी करता है वैसे ही ज्ञानी करता है। फ़र्क केवल है कि उसे 'यह कर्म मैं करूँ, यह न करूँ, यह कर्म मैं ही करूँ, इस कर्म का फल मुझे ही हो'ये सब आग्रह नहीं होते। सामने कर्म आने पर निपटाता तो उसी प्रकार से है जैसे अज्ञानी करता है, इसमें कोई फ़र्क नहीं है। फ़र्क संग और निःसंगता का है। अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर भी तुम्हारे सामने परिस्थितियाँ ये ही आयेंगी, जब तक जीवित हो, जब तक प्रारब्ध-भोग है, तब तक ऐसी ही परिस्थितियाँ सामने आयेंगी ही। उन परिस्थितियों में तुम वैसा ही करोगे जैसा अज्ञानी को करना चाहिये। तुम्हारा कोई कर्त्तव्य नहीं है, तुम्हें पता लग गया कि 'मैं अकर्ता अभोक्ता हूँ'। परन्तु शरीर का प्रारब्ध कर्म को भी सामने लायेगा और भोग को भी सामने लायेगा। खाना, पीना, पहनना, ओढ़नाये सारे भोग सामने आयेंगे। सवेरा होगा, दोपहर होगी, शाम होगी, विभिन्न स्थितियाँ समाने आयेंगी। उनमें व्यवहार ऐसा ही करना है जिसका अनुसरण कर अन्य लोग सन्मार्गी ही बनें, दुर्मार्गी नहीं। शुद्ध मन वाला, तत्त्व समझ चुका व्यक्ति अपने लिये प्रयोजन न होने पर भी सोचे कि 'यदि मैं प्रातःकाल उठ कर भजन नहीं करूँगा, तो दूसरे यही समझेंगे कि प्रातःकाल उठ कर भजन करना व्यर्थ है!' ज्ञाननिष्ठ तो सारा जाग्रत्काल आत्मचिंतन में लगा लेता है पर अज्ञानी जब भजन नहीं करेंगे तो सोयेंगे, खुर्राटे भरेंगे। उससे उनको पाप होगा, प्रत्यवाय लगेगा। उस प्रत्यवाय लगने में तत्त्वज्ञ कारण बना कि नहीं बना? पहले कह आये हैं'शिष्ट लोग जैसा आचरण करेंगे, वैसा दूसरे करेंगे।' जो सर्वत्र परमात्मा को देखता है, उसके लिये हर पत्थर में परमात्मा है। उसकी दृष्टि में तो कहीं कोई फ़र्क है नहीं। वह शालिग्राम और दूसरे पत्थरों में फ़र्क नहीं देखता परन्तु यदि वह शालिग्राम को पत्थर देखते हुए, जैसे दूसरे पत्थरों से आचरण करता है वैसा ही करे तो उस पर कोई उसका असर नहीं होगा, लेकिन उसने शालिग्राम पर तुलसी नहीं चढ़ाई यह देखकर दूसरे भी नहीं चढ़ायेंगे और उस दोष का भागी तत्त्वज्ञ भी होगा। अतः भगवान् ने अर्जुन से कहा कि लोकसंग्रह करने की इच्छा से वैसा ही करे जैसा सबके लिये उचित है। अनजान लोगों को ग़लत दृष्टांत मिले ऐसा करना ठीक नहीं। तत्त्ववेत्ता जानता है कि उसकी नकल की जायेगी और वह किसी को ग़लत रास्ते चलने की प्रेरणा देकर नरक भेजना चाहता नहीं इसलिये उसके लिये लोकसंग्रह को महत्त्व देकर उचित आचार करना ही युक्त है। इसलिये 'कुर्यात्' के साथ भगवान् ने कहा 'लोकसंग्रहं चिकीर्षुः' चिकीर्षा का मतलब होता है, करने की इच्छा। दूसरे लोग उन्मार्ग पर न जायें, इसलिये वह करता है। उसे कोई फ़ायदा या नुकसान नहीं है। परन्तु जिन अज्ञानियों को नुकसान होगा, उन्हें भी अपना ही स्वरूप समझता है इसलिये उनके फ़ायदे के लिऐ सम्यग् आचार कर लेता है। लोकसंग्रह को छोड़

कर और कोई भी दृष्टि उसके सामने नहीं रहती है। उसे कुछ प्राप्त करने योग्य है नहीं इसीलिये और कोई फल उसके सामने नहीं रह सकता है। 'मेरे द्वारा किसी का नुकसान न होवे'यही भाव रख कर वह उचित आचार करता है।।२५।।

सम्यक् आचार द्वारा लोक-शिक्षा का महत्त्व बताते हैं

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।

आत्मवेत्ता को चाहिये कि कर्म में आसक्ति वाले अज्ञानियों के 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' इस निश्चय को विचलित न करे, वरन् सावधान होकर सही आचरण करते हुए अज्ञानियों से भी सब कर्म कराये।

कर्म में आसक्ति वाले जो अज्ञ हैं, उनके अंदर बुद्धि-भेद पैदा नहीं करना चाहिये। उनका क्या निश्चय है? 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ।' उनका यही निश्चय है'मैं करने वाला हूँ, अपने किये का फल भोगने वाला हूँ।' अगर हम अपने व्यवहार से उनमें बुद्धि-भेद पैदा करेंगे, अर्थात् उनके इस निश्चय को ढीला करेंगे, तो वे नुकसान पायेंगे। अभी वे अपने को अकर्ता-अभोक्ता समझे नहीं हैं, इसलिये कामनाओं से तो प्रयुक्त होते रहेंगे। 'जब मैं कर्त्ता-भोक्त हूँ नहीं तो शुभ प्रवृत्तियों का श्रम क्यों करूँ' ऐसा सोचकर शास्त्रीय प्रवृत्ति को छोड़ देंगे। दो तरह से मनुष्य कर्म करता है : या तो मन की इच्छा को पूरी करने के लिये, या शास्त्र ने विधान किया है इसलिये। जैसे, सवेरे चार बजे शय्या छोड़ देनी चाहिये। सवेरे उठने में कामना तो काम करेगी नहीं। भगवान् की वैष्णवी माया विलक्षण है! रात भर गर्मी रहेगी, ठीक साढ़े तीन-चार बजे ठंडी हवा चलेगी! अतः नींद आने का ठीक समय वही होता है। उस समय कौन उठना चाहेगा? सर्दी होगी तो वही समय होगा जब लिहाफ से मुँह बाहर निकालना भयंकर कष्टकारी लगेगा। उस समय जो उठता है, वह कामना से नहीं वरन् शास्त्र-प्रयुक्त होकर कि 'नहीं उठूँगा तो दोष का भागी बनूँगा।' यदि अज्ञानी को सिखाएँगे कि 'तू अकर्ता है', तो कहेगा'सवेरे कौन उठे? मैं उठने वाला थोड़े ही हूँ!' लेकिन जब खाने के लिए मालपूआ सामने आयेगा तब मुँह से लार टपकेगी क्योंकि मन में कामना है। अतः वह कामना से प्रयुक्त कर्मों को करता रहेगा, शास्त्र-प्रयुक्त कर्मों को छोड़ देगा! कर्मसङ्गी व्यक्ति कामना-प्रयुक्त कर्मों को छोड़ नहीं सकेगा क्योंकि उनके फलों को छोड़ नहीं सकेगा।

इसलिये ऐसों में 'बुद्धिभेदं न जनयेद्', उनके अंदर बुद्धिभेद न पैदा करे, कि 'तुम अकर्ता हो, अभोक्ता हो।' जब उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन सिद्ध हो जायेगा, तब पता लगेगा कि अकर्ता-अभोक्ता होना क्या है। इसका यह अर्थ नहीं समझना कि लोगों को आत्मा का स्वरूप नहीं बताओ। आत्मा का स्वरूप तो बताओ। पर तुम्हारा आचरण देखकर उन्हें पता लगे कि ज्ञानी होकर भी सवेरे तो

उठना ही पड़ेगा! जब वह ज्ञानी हो जायेगा, अपने को अकर्ता-अभोक्ता समझ लेगा, तब वह इस बात को जान लेगा कि आत्मा में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। परन्तु उसके पहले वह यह देख कर कि ज्ञानी भी सवेरे ही उठते हैं, ज्ञानी भी भगवान् शंकर पर अभिषेक करते हैं, स्वयं सत्कर्म नहीं छोड़ेगा। 'यह मेरा कर्तव्य है, यह मेरा भोक्तव्य है'इस प्रकार जो अज्ञानी का निश्चय है उसे ज्ञानी तोड़े नहीं। कैसे नहीं टूटेगा? जब तत्त्वज्ञ सर्वथा शास्त्रानुसारी ही आचार सावधानी से करेगा तभी अज्ञानियों का उक्त निश्चय टूटने से बचेगा। खुद करे इतना ही नहीं, अज्ञों से कराये अर्थात् उन्हें प्रेरित करे कि वह युक्त आचार करें।

अन्तःकरण की शुद्धि के पहले, कर्म ज़रूरी है। अन्तःकरण की शुद्धि हो कर, जब ज्ञान उत्पन्न हो जाये, तब कर्म ज़रूरी नहीं रहा, लेकिन दूसरे ठीक रास्ते पर चलें इसलिये करते रहना ही उचित है। आत्मज्ञ भले ही जानता है 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ आत्मा ब्राह्मण होता नहीं है', लेकिन लोग तो उसको ब्राह्मण समझते हैं इसलिये उसको ब्राह्मण के अयोग्य कर्म करते देखेंगे, तो समझेंगे कि ब्राह्मणोचित कर्म आवश्यक नहीं अतः नित्यादि कर्म छोड़े देंगे, फलतः उनका पतन ही होगा। इसलिये लोगों का नुकसान न हो इस भाव से ज्ञानी अज्ञानियों में बुद्धि-भेद मत उपजाये, यह कहा।२६।।

अविद्वान् को कर्म में आसक्ति किस तरह होती है यह समझाते हैं

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

अहंकार के कारण जिसका अन्तःकरण अनेक तरह मोहग्रस्त है वह प्रकृति के विकारभूत स्थूल-सूक्ष्म शरीरों द्वारा हर तरह किये जाते कर्मों के बारे में मानता है कि इन्हें करने वाला मैं हूँ।

सारे शरीर मन प्रकृति से बने हैं। पंचमहाभूतों से ही मन और इन्द्रियाँ बनी हैं और पंच महाभूतों से ही शरीर बना है। पंच महाभूतों से यह सारी सृष्टि बनी है। इसलिये, यह दृश्य जगत् प्राकृत है, प्रकृति से बना है। प्रकृति अर्थात् महाभूतों को उत्पन्न करने वाली माया शक्ति। प्रकृति में हमेशा तीन गुण रहेंगेसत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। जब एक गुण प्रकट होगा तब दूसरे दो गुण दबे रहेंगे और टक्कर मार कर, जो कार्यकारी हुआ है उसे नीचे लाने का प्रयत्न करते रहेंगे। जैसे ही उसमें थोड़ी-सी कमज़ोरी आयी, झट वह दूसरा गुण कार्यकारी हो जायेगा। यह प्रकृति ठीक तुम्हारे राजनैतिक नेताओं की तरह है! एक अध्यक्ष बन गया, प्रधानमंत्री बन गया, दूसरे सब सोचते हैं, 'इसके कैसे लत्ती मारें कि हम प्रधानमंत्री बन जायें।' जिस दिन जो बन जायेगा, दूसरे सब सोचेंगे कि इसको कैसे लत्ती मारें! इसी प्रकार, प्रकृति के तीन गुण एक-दूसरे को ऊपर-नीचे करते रहते हैं। इसी हलचल में संसार के विभिन्न पदार्थ बनते हैं। सत्त्वगुण-प्रधान प्रकृति-भाग से अंतःकरण

व ज्ञानेन्द्रियाँ बनती हैं, रजोगुण-प्रधान भाग से प्राण व कर्मेन्द्रियाँ बनती हैं एवं तमोगुण-प्रधान भाग से स्थूल शरीर और विषय बनते हैं। इस तरह स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रकृति के ही विकार हैं। इन शरीरों से ही सारे कर्म होते रहते हैं। कौन कैसा कर्म करेगा इसमें संस्कार भी हेतु है तथा कर्म से भी संस्कार पड़ता रहता है। इस तरह प्रकृति संस्कारों से कर्म करती है। प्रकृति के गुणों के द्वारा कर्म हुए तो प्रकृति में, लेकिन उनके साथ एक बंधन लगा रखा है जिसका नाम है, अहंकार। अहंकार दोनों तरफ की चीज़ है!

पुराने ज़माने में ब्याह होता था तो चार-पाँच दिन बारात रहती थी। बारात जनवासे में ठहराते थे। सारा इन्तज़ाम लड़की वाले करते थे। यह ज़माना नहीं आया था कि होटलों के बैरों पर बारात की देख-रेख छोड़ दें। एक बारात कहीं ठहरी हुई थी। एक आदमी आवे बारात की तरफ से और लड़की वालों से कहे, 'वहाँ तुमने बाल्टी छोटी रखवा दी है, वह ठीक नहीं है, बड़ी बाल्टी भेजो। और बाल्टियाँ बड़ी गंदी हैं, यह ठीक नहीं है। चद्दरें ठीक नहीं हैं।' वे बेचारे जैसा वह कहे वैसा करें। और वही बारातियों के पास जाकर पूछता था 'आपको कोई तकलीफ़ तो नहीं? कोई चीज़ की ज़रूरत हो तो बतायें'। वे लोग समझते रहे कि वह लड़की वालों की तरफ से आता है। यों वह दोनों तरफ का माल खाता रहा। दो दिनों बाद फेरे हो गये, फेरे होने के बाद लड़की वालों को भी संतोष हो जाता है कि हो गया काम, क्योंकि तब तक नेहरू जी का तलाक बिल तो बना नहीं था! फेरों के बाद लड़का-लड़की के माता-पिता आपस में बातें करते थे। उसी में लड़की के पिता ने कहा 'आप जो आदमी भेजते हैं, उसकी जगह किसी दूसरे के द्वारा खबर भेजा करिये। वह बहुत गंदे ढंग से बोलता है।' लड़के वाले ने कहा, 'वह हमारा आदमी थोड़े ही है! वह तो आपकी तरफ से आकर उल्टा हमें कहता रहता है, 'संतोष रखो, शांति रखो।' लड़की वालों ने कहा, 'नहीं, नहीं, हमारा आदमी काहे का है? वह तो आपका है।' उस आदमी ने देख लिया कि दोनों समधी घुल-मिलकर उसकी बातें कर रहे हैं। वह समझ गया कि पोल खुल गयी तो ऐसा नदारद हुआ, कि फिर ढूंढने पर भी न मिला।

अहंकार भी ठीक वैसा ही है। इसके अंदर अहंकारात्मिका वृत्ति तो प्रकृति की है, जड है, और इसमें ज्ञानस्वरूप चेतन परमात्मा की तरफ से आया है। अहंकार में दोनों मिले हुए हैं। 'मैं चेतन हूँ' में 'मैं' और 'चेतन' हमें बिल्कुल एक लगते हैं, दो नहीं लगते हैं। जब विचार करते हैं, और श्रुति से उसका तात्पर्य समझते हैं, कि'मैं चेतन हूँ इस बात को मैं जानता हूँ। जानने वाला, जिसे जानता है, उससे अलग होता है। तो एक वह 'मैं' हुआ जो 'मैं चेतन हूँ' इस बात को जानता है, और एक वह 'मैं' हुआ जो चेतन है। यों दो मैं हैं।' जब इस बात का भेद खुल जाता है कि 'मैं चेतन हूँ' इस बात को जानने वाला साक्षी परमात्मा वाला हिस्सा है और जिस 'मैं' को जान रहे हो, वह प्रकृति वाला हिस्सा है, तब अहंकार का भ्रम टूट जाता है। जब तक दृग्दृश्य का विवेक न हो जाये तभी तक अहंकार मालिक बना बैठा है! 'मैं' क्या हुआ?कार्य-करण-संघात अर्थात् शरीर इन्द्रियाँ मन का

संघात, इसे चेतन परमात्मा मान लेना, यही अहंकार है। इस अहंकार के कारण विमूढात्मा अर्थात् अज्ञानी बना हुआ है। इसलिये कर्म किया तो प्रकृति ने, अर्थात् प्रकृति के कार्य शरीर-मन-बुद्धि ने, परन्तु अहंकार के कारण समझता है, 'मैंने किया।' जो लोग वेदांत की प्रक्रिया को ठीक से समझते नहीं, वे पूछते हैं 'महाराज! आत्मा कर्ता नहीं, जड प्रकृति करती नहीं, फिर करने वाला कौन है?' जैसे दृष्टांत में न लड़के वालों ने डाँटा, न लड़की वालों ने डाँटा, दोनों तरफ से जो मिला हुआ था, वह डाँट रहा था, उसी प्रकार करने वाला न आत्मा है और न जड प्रकृति है, दोनों का अध्यास जहाँ है उस अहंकार को अपना स्वरूप समझ करके, हमें लग रहा है 'मैं कर्ता'। अन्यथा, प्रमाण से कर्ता की सिद्धि ही नहीं होती। कर्ता कौन? इस प्रश्न का प्रमाणसिद्ध जवाब कुछ नहीं है क्योंकि कोई वास्तविक कर्ता है नहीं। रस्सी में जो साँप दीख रहा है, वह साँप कौन है? बस, उसका दीखना ही है। न तो रस्सी ही साँप है, न अंधेरा ही साँप है।

इसी प्रकार से अहंकार हैचेतन भी उसे नहीं कह सकते, जड भी नहीं कह सकते। 'मैं चेतन हूँ' यह ज्ञान होता है, इसलिये उसको जड नहीं कह सकते। और 'मैं चेतन हूँ' इस बात *का* भी ज्ञान होता है, इसलिये उसको दृगात्मा भी नहीं कह सकते। इस अहंकार के कारण ही तरह-तरह की मूर्खताएँ हमारे अंदर घुसी रहती हैं। मूर्खतावश ही जीव 'मैं कर्ता' यह मानता है, और जब 'मैं कर्ता' यह मान लिया, तब 'मैं ही करूँ', ''मेरे को ही कर्म का फल होवे', 'मेरे लायक यह काम नहीं'ये सब मूर्खताएँ भी आती हैं। यह अज्ञानी की परिस्थिति बतायी।।२७।।

इससे ठीक विपरीत ज्ञानी की स्थिति बताते हैं

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

हे महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभाग की वास्तविकता जानने वाला तो, करणरूप गुण विषयरूप गुणों से बर्ताव करते हैंऐसा विचारकर, कहीं आसक्ति नहीं करता।

अर्जुन का सम्बोधन है 'महाबाहो।' हमारे यहाँ लम्बी भुजाओं वाले आदमी को श्रेष्ठ, बुद्धिमान् माना जाता है। हाथ जिसके घुटने तक आवें, तो उसे सामुद्रिकशास्त्र में श्रेष्ठ लक्षण बतलाया है। 'महाबाहो' से कहते हैं कि 'तू श्रेष्ठ है। दूसरे कर्ता विमूढात्मा हैं। यदि तू विमूढात्मा होता को कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार न करता। दादा आदि जो सामने हों, लड़ लेता। ऐसा विमूढात्मा नहीं है। जिन लोगों ने पत्नी के साथ दुर्व्यवहार किया, सालों तक वनवास में भेज दिया, लाक्षागृह में जला दिया, जहर दे दिया, झूठ मूठ के जुए खिलवा दिये, ऐसे लोगों के प्रति भी तेरे मन में ऐसा द्वेष नहीं कि यह न सोचे कि क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये। इसलिये, तू साधारण विमूढात्मा नहीं है, कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक वाला है। परन्तु क्या नहीं है? अभी तक ज्ञानी नहीं है। बाकी,

तेरे अंदर कर्म की सारी श्रेष्ठताएँ हैं।'

'तु'कार से, विमूढात्मा से व्यावृत्त करते हैं। विमूढात्मा होता, तब तो आगे विचार ही नहीं करता। अर्जुन तत्त्ववित् नहीं है। जिज्ञासु है। यदि तत्त्ववेत्ता होता तो किस बात को जानता? गुण और कर्म का विभाग जानता। गुण प्रकृति के हैं, कर्म देहादि का है, आत्मा इन से भिन्न है, इस विभाग को जानता। गुण-विभाग को भी जानता, कर्म-विभाग को भी जानता। गुण-कर्म-विभाग का संक्षप में क्या तात्पर्य है? 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते।' प्रकृति के गुण, संसार के गुणों के साथ व्यवहार करते हैं। ऐसे समझ लो : तेज से सूर्य बना, और तेज से ही तुम्हारी आँख बनी। इसलिये बिना सूर्य के अनुग्रह के तुम्हारी आँख काम नहीं कर सकती। आकाश से ही शब्द बना, और आकाश से ही कान बना। इसलिये कान शब्द को ही सुनेगा, रूप को नहीं देखेगा। 'गुणेषु' जो बाह्य पदार्थ जगत् के हैं उनके बारे में गुणजो तुम्हारे सूक्ष्म शरीर के गुण, अंग हैं, वे बर्ताव करते हैं। यदि तू गुण-कर्म-विभाग का तत्त्ववेत्ता होता तो इस बात को जान कर के 'गुण, गुणों में प्रवृत्त होते हैं, मैं तो केवल चिन्मात्र हूँ' इस बात को समझता।

जिस प्रकार से बिजली और तार बिल्कुल दो अलग चीज़ें हैं। पर जो बिजली के रहस्य को नहीं जानता, वह तार को ही बिजली समझता है क्योंकि बिजली सूक्ष्म है, और तार के द्वारा चलती है। जहाँ भी जाती है, वहाँ किसी-न-किसी प्रकार का तार ही होगा। लेकिन बिजली उनसे भिन्न है। समझदार यह जानता है कि तार के कारण यह बिजली का संचार है, लेकिन बिजली तार नहीं है। इसी प्रकार से तत्त्ववित् जानता है कि सूक्ष्म शरीर के द्वारा आत्मा का संचार है परन्तु सूक्ष्म या स्थूल शरीर आत्मा नहीं है। क्योंकि सारा व्यवहार प्रकृति में है, आत्मा का किसी व्यवहार से कोई संबंध नहीं है, इसलिये आसक्ति की संभावना नहीं रह जाती। मेरा कुछ हो सके, मुझे कुछ मिल सके तभी मैं आसक्ति करूँगा। जब न मेरा कुछ हो सकता है, न मुझे कुछ मिल सकता है, तब आसक्ति की ही नहीं जा सकती। अज्ञानी यह रहस्य न जानकर ही आसक्त हो कर दुःखी रहता है, ज्ञानी यह जानते हुए अनासक्त अतः प्रसन्न बना रहता है। आसक्ति-अनासक्ति का अंतर इन दोनों में है, कर्म करने के ढंग में अंतर नहीं, यह तात्पर्य है।।२८।।

कर्म में संग वालों में बुद्धिभेद न पैदा करना विद्वान् के लिये उचित है। इस प्रसंग का उपसंहार करते हैं

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२६।।

प्रकृति के गुणों से गहरे मोह में पड़े जीव गुणों के कर्मों में आसक्त रहते हैं। सम्पूर्ण तत्त्व न जानने वाले उन कम प्रज्ञा वालों की अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व में श्रद्धा को कम न करे, यही ब्रह्मवेत्ता के लिय उचित है।

प्रकृति के गुणों के साथ संबंध को न समझने के कारण जीव मूढ हो जाते हैं। जैसे छोटे बच्चे रेल में बैठने पर, गर्मी से घबरा रहे हों, वहीं स्टेशन पर सामने दूसरी रेल चल दे तो बच्चों को क्या लगता है? अपनी रेल चल पड़ी। क्यों? चलती रेल देख कर अपनी रेल चलने का भ्रम होता है। सामने वाली रेल चलने को अपनी रेल के चलने पर आरोपित कर लेते हैं। आचार्य ने (गी. ४.१८ में) नाव का दृष्टांत दिया है।

नाव में बैठकर तुम चलते हो। तुमको दीखता क्या है? पेड़ और मकान चलते हुए दीखते हैं। नाव पर जाओगे, तो तुम्हें अपना चलना दीखेगा नहीं, तट की चीज़ें चलती हुई दीखेंगी। ठीक इसी प्रकार आत्मा अचल है। आत्मा, मतलब तुम्हारा असली रूप, वह अचल है। पर शरीर, इन्द्रियाँ, मनइनके परिवर्तनों को देखकर के तुम समझते हो, 'मैं बदल रहा हूँ।' कभी शांति से बैठ कर सोचोमैं चार साल का था और अब मैं चालीस साल का हो गया। तब कुछ नहीं समझता था, अब बहुत कुछ समझता हूँ। तुम्हारे में क्या फ़र्क पड़ा? तुम तो जैसे तब थे, वैसे ही अब हो। फ़र्क पड़ा तुम्हारे शरीर में, तुम्हारी इन्द्रियों में, तुम्हारे मन-बुद्धि में, इन सब में फ़र्क पड़ा। इनके फ़र्कों को छोड़ कर क्या तुम अपना कोई फ़र्क बतला रहे हो? क्या जान भी पाते हो? मैं तब जैसा था, वैसा ही अब हूँ। मैं में कोई फ़र्क नहीं है। शरीर-मन के फ़र्कों को देखकर अपने ऊपर आरोपित कर रहे हो कि मेरे में फ़र्क आ गया।

इसलिये कहा कि प्रकृति के गुणों के द्वारा सम्मूढ हो जाता है, मुग्ध हो जाता है। उन्हें देखने में ऐसा तन्मय हो जाता है कि अपना ध्यान ही नहीं रहता। शायद कभी ही कोई बैठ कर सोचता होगा, कि मेरे में क्या कोई फ़र्क आया खुद अपनी ओर ध्यान ही नहीं जाता, शरीर-मन-इत्यादि की तरफ ही ध्यान जाता है। इसलिये, गुणों के द्वारा जो कर्म हो रहे हैं, उन सारे कर्मों को अपने ऊपर चढ़ाता रहता है और उनमें सक्त होता है। और जैसे करना गुणकर्म है, वैसे ही फल भोगना भी गुणकर्म है। भोगते गुण हैं, हम मानते हैं कि मैंने भोगा। बढ़िया मलाई की गिलौरी आई, हाथ ने उठाया, जीभ ने दबाया, स्वाद लिया, मन को अच्छा लगा, यह सब तो हुआ, पर इन सबसे तुम्हारे में क्या फ़र्क आया? जैसे तुम एक मिनट पहले कड़वा करेला खा रहे थे और जान रहे थे कि यह कड़वा है, वैसे ही यह स्वादिष्ट चीज़ खा रहे हो, तो जान रहे हो कि यह स्वादिष्ट है। *यह* तो स्वादिष्ट है,या कड़वी है, तुम्हारे में क्या फ़र्क आया? परन्तु गुणों के कर्मों में इतना आसक्त हो जाता है कि जीव अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। इसीलिये उसे सम्मूढ कहा है।

मूढ ही नहीं कह कर सम्यक् मूढ कहा। इतना तो उम्रदार लोगों को भी भ्रम हो जाता है, स्टेशन से गाड़ी चले तो शंका होती है कि चली या नहीं चली? निश्चय करने के लिये हम खम्भा देख लेते हैं। शुरू में बिल्कुल हल्की चलती है, पता नहीं चलता कि रवाना हुई या नहीं हुई। झट से खम्भे को देख लेते हैं, अगर खम्भा थोड़ा भी हिलता हुआ लगे, तो समझ लेते हैं कि गाड़ी चल दी। खम्भे में गति दीखती हैइतना मोह, भ्रम होता है परन्तु

सम्यक् मोह यह नहीं होता कि खम्भा ही चल रहा है! खम्भा चल रहा हैयह समझ में आये, तब सम्मूढ हो, और नहीं तो, क्षण भर को खम्भे की गति देखते ही समझ लेते हो कि गाड़ी चल दी। ठीक इसी प्रकार, प्रारब्धभोग-काल में तत्त्ववेत्ता को भी इन सबकी गतियाँ दीखती हैं, और गतियों को देखने से लगता है मानो मैं चला; परन्तु अपनी स्थिरता का ज्ञान होने के कारण, वह तत्क्षण अपने विचलन का बाध कर लेता है। दृष्टांत में जैसे खम्भे की स्थिरता का ज्ञान है, तुमको निश्चय है कि खम्भा तो स्थिर है, इसलिये वह चल नहीं सकता, इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता को दृढ निश्चय है कि मैं अचल हूँ। उपाधियों के चलने से मैं चलता हुआ दीख सकता हूँ पर मैं हूँ अचल। इसीलिये स्वयं को चलता हुआ देखता तो है, पर सम्यक् मूढ नहीं है अर्थात् ऐसा समझ नहीं लेता है कि मैं ही चला।

सक्त होने वाले लोग मन्द हैं। मन्द का मतलब है, समझने में अकुशल हैं क्योंकि उनकी प्रज्ञा मन्द है, समझने की सामर्थ्य नहीं है। जैसे बच्चों को यह निश्चय नहीं होता कि खम्भा नहीं चल सकता, इसलिये बच्चे समझ लेते हैं कि सचमुच यही चल दिया होगा! उसके चलते दीखने से, रेल चलीयह समझने की शक्ति उनमें नहीं है। दीखता हमें भी खम्भा ही चलता हुआ है, परन्तु हम में प्रज्ञा है, इसलिये हम उसके चलने का मतलब समझते हैंकि रेल चल दी। बच्चा मन्द-प्रज्ञ है इसलिये यह नहीं समझ सकता। इसी प्रकार से आत्मा न हो, तो प्रकृति कुछ नहीं करेगायह निश्चित बात है। हमारे मरने के बाद यह शरीर पड़ा रहेगा, कुछ नहीं कर सकेगा। हमारे होने से यह चल रहा है। परन्तु इसके बदलने से 'मैं' बदल नहीं रहा हूँ। बदलना मुझ में दीख रहा है। दीख इसलिये रहा है क्योंकि मेरे बिना वह हो नहीं सकता। इस बात को समझना है, कि इनके चलते हुए मैं नहीं चला, क्योंकि अचल हूँ। मैं चलता हुआ दीखता हूँ, पर मैं नहीं चलता, यह निश्चय तुमने श्रवण-मनन के द्वारा कर लिया तो तुम्हारे में यह प्रज्ञा आ जायेगी कि अपने को चलता हुआ देखते हुए भी समझोगे कि उपाधियाँ चल रही हैं। जो मंद-प्रज्ञ है, जिसको इस अचलता का ज्ञान नहीं है, वह इसके चलने से, अपने को ही चलता हुआ समझता है। छाती ठोक कर कहता है 'कैसे कहते हैं कि मैंने नहीं किया? सवेरे सात बजे से लेकर रात में ग्यारह बजे तक खड़ा हूँ, तब यह इतना बड़ा महल तैयार हुआ है।' यह मंद प्रज्ञा का चिह्न है।

क्यों मंद-प्रज्ञ है? अकृत्स्नवित् होने से। 'कृत्स्न' कहते हैं 'पूरे' को। वह पूरी बात को नहीं समझता। समझता तो है, जानता तो है, परंतु पूरी बात को नहीं जानता। पूरी बात क्या है? मेरे होने से सब कुछ होता है, परन्तु मैं कुछ करता नहीं। मेरे होने से सारे भोग होते हैं, पर मैं कोई भोग भोगता नहीं। जो इस बात को नहीं जानता है वह अकृत्स्नविद् है। उसको कृत्स्नविद्जो पूरी बात को समझता है वह विचलित न करे। उसे कृत्स्न तत्त्व समझ आ सके इसके लिये सारा प्रयास करे, पर योग्यता आये बिना ऐसी स्थिति में मत पहुँचाये कि वह योग्यता पाने के उपायों से ही वंचित रह जाये। इसलिये वेद ने समझाने

की प्रक्रिया रखी ईश्वरमूलक : ब्रह्म-आत्मा एक हैयही सर्वत्र वेदान्तों का तात्पर्य है। किंतु ब्रह्मसूत्र में विचार प्रारंभ किया ब्रह्म से, उसका लक्षण बताया, ब्रह्म वह है जो जगत् को उत्पन्न करता है, स्थिर करता है, अन्त में अपने में लीन करता है। इसी प्रकार सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् के अंदर कहना है'तत् त्वम् असि।' तू ही ब्रह्म है। परन्तु सीधे ही नहीं कहा। शुरू किया'एक अद्वितीय अखण्ड सन्मात्र ही पहले था। फिर उस सत्‌से सृष्टि हुई!' उपनिषदों के अंदर बार-बार सृष्टि-प्रक्रिया बताते हैं। 'जिस से सृष्टि हुई, वह तुम हो'सीधा यही कह देते तो जँच नहीं सकता था। यदि तुम्हें कहें, 'यह सारी सृष्टि तुमने पैदा की', तो कुछ समझ में आयेगा तुम्हारे? इसलिये पहले सत् की तरफ नज़र ले जाते हैं कि परमेश्वर ने सृष्टि की। जब परमेश्वर की सृष्टि-कारणता पूरी तरह से बुद्धि में बैठ जाती है, तब रास्ता मिलता है आत्मा को समझने कापरमेश्वर सर्वरूप है; सर्वरूप होने से मैं भी परमेश्वर हूँ। बिना यों बुद्धि तैयार किये अगर यह कह दें, 'तुम सृष्टि का कारण हो,' तो तुम विचलित हो जाओगे, तुम्हें कुछ समझ नहीं आयेगा। इसलिये पहले जँचाना पड़ता है कि परमेश्वर सृष्टि का कारण है। वह बात समझ में आती भी है। फिर धीरे-धीरे आगे बतलाते हैं तो अद्वैत हृदय में बैठता है।

इसी प्रकार से यदि कह दें, कि 'कर्म करने वाला तू नहीं है', तो कुछ समझ में नहीं आयेगा! कृत्स्नवित्, ब्रह्मज्ञ ऐसा नहीं करता। पहले कहता है कि ठीक है, तुम्हीं करते हो, कोई शंका की बात नहीं है। उस स्थिति से उसे आगे ले जाने वाला उपदेश उसे देता है ताकि वह भी कृत्स्नवित् बन सके।।२६।।

प्रश्न उठता है कि अज्ञानी इस भ्रम में से छूटे कैसे? क्या अपने को कर्ता ही मानता रहे? मुमुक्षु किस प्रकार से कर्म करे? जो सर्वथा अज्ञ है, वह शरीर मन को जो अच्छा लगता है, वही करता है। जो मोक्षार्थी हो गया, मुमुक्षु हो गया, वह कैसे कर्म करे? भगवान् उत्तर देते हैं

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

विवेकबुद्धि से मुझ परमेश्वर को सारे कर्म समर्पित कर, आशा व ममता छोड़कर सन्तापहीन रहते हुए युद्ध करो।

मुमुक्षु, मुझ वासुदेव के लिए सारे कर्मों का संन्यास करे। यह निश्चय रखे कि जो भी कर्म किये जा रहे हैं, सारे वासुदेव के हैं। अभी कर्तापना नहीं गया है। 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान है। संन्यास का मतलब होता है छोड़ना। तुम्हारा व्यवस्थापक सवेरे से शाम तक दस लाख रुपये की बिक्री कर पैसे इकट्ठे करता है परन्तु इकट्ठे *करते* हुए भी जानता है कि 'मालिक के लिये इकट्ठे कर रहा हूँ', और शाम को रुपये तुम्हें दे देता है। इसी प्रकार मुमुक्षु समझे किमैं करता हूँ, परन्तु ईश्वर के नौकर की तरह। उसके लिये मैं सब

कर रहा हूँ। उसी ने यह सृष्टि-चक्र चलाया। परमेश्वर का लक्षण ही कियासृष्टि, स्थिति, लय करने वाला। उसने सृष्टि की, वही इसकी स्थिति कर रहा है, उसके लिये मैं इस संसार में सारे काम कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे जिस कार्य के लिये ईश्वर ने नियुक्त किया है वह मेरे करने से ही चलेगा। अगर व्यवस्थापक कहे कि, 'रुपये मेरे पास तो रहने नहीं हैं, मैं क्यों रुपये लूँ?' तो क्या दुकान चलेगी? उसे रुपया लेना पड़ेगा। इसी प्रकार इस संसार चक्र को परमेश्वर ने शुरू किया है, इसलिये परमेश्वर ने जो काम मुझे दे दिया, वह काम मैं परमेश्वर के लिये कर रहा हूँ। अर्थात् परमेश्वर के नौकर की तरह काम करे।

'सर्वाणि कर्माणि' क्यों कहा? हम खाते पीते हैं। उसमें भी याद रखो कि हमारा शरीर ठीक रहेगा तभी हम काम ठीक करेंगे। खाना भी इसलिये है कि परमेश्वर ने हमें शरीर दिया है, इसकी रक्षा करना हमारा काम है, जितनी उसने बुद्धि दी है, उस सबका प्रयोग करके इसकी रक्षा करनी है। इस शरीर की रक्षा, इस घर की रक्षा आदि का काम उन्होंने मुझे दिया है। 'मुझे अपना शरीर अपने लिये प्रिय है', ऐसा नहीं है; शरीर ठीक नहीं रहेगा, बीमार होगा, तो *काम नहीं कर सकेगा* इसलिये ठीक प्रकार से खाना-पीना है। कुछ विदेशी कम्पनियाँ अपने नौकरों को साल में एक महीने की घूमने के लिये छुट्टी और छुट्टी मनाने का सारा खर्च देती हैं। उनसे कहो, 'आपका इतना पैसा लगेगा ही; मैं काम करता रहता हूँ, मुझे पैसे दे दीजिये', तो नहीं देंगे! तुम्हें छुट्टी मनाने जाना पड़ेगा। कारण क्या है? वे कहते हैं कि तुम वहाँ जाकर तरोताज़ा हो आओगे तो कम्पनी का काम ज़्यादा स्फूर्ति से करोगे। ठीक इसी प्रकार, शरीर को, मन को, ठीक रखने के लिये जो करना है, वह इसलिये कि हमारे ज़िम्मे जो काम है उसको हम बेहतर तरह से कर सकें। इसलिये 'सर्वाणि कर्माणि' कहाअर्थात् खाना-पीना भी इसी दृष्टि से करना है।

यह कैसे होगा? 'अध्यात्मचेतसा'। 'परमात्मा मेरे अंदर बैठा हुआ है,' इस निश्चय से संन्यास करना है। 'मेरे अंदर बैठा हुआ परमेश्वर ही मुझे प्रेरित कर रहा है। यदि वह न हो तो एक क्षण भी मैं जी नहीं सकता।' शरीर के बारे में सोचोतुम बिल्कुल सफेद भात खाते हो और वह जाकर तुम्हारा बिल्कुल लाल खून बनता है। क्या हम लोगों में किसी को पता है कि वह लाल कैसे हो जाता है? कुछ नहीं पता । कुछ वैज्ञानिक थोड़ी-बहुत प्रक्रिया जानते भी हों पर पूरा ढंग उन्हें भी पता है यह संदिग्ध है। जितना भोजन हम करते हैं, कड़े से कड़ा भी जो भोजन करते हैं, वह भी इतना ही कड़ा है जो कि दाँतों से टूट जाता है, उससे ज़्यादा कड़ा भोजन तो नहीं करते। पर वह जाकर हमारे शरीर में कैसी ज़बरदस्त कड़ी हड्डी बन जाता है! तुम चाहो तो उसे सरोते से भी नहीं काट सकते। मुलायम भोजन कड़ा कैसे बन जाता है, कुछ पता है? कुछ नहीं पता। जब विवेक कर के देखते हैं तो पता लगता है कि शरीर में पिच्यानबे प्रतिशत काम हमारे बिना जाने हो रहे हैं। उनको करने वाला कौन है? अन्दर कोई भूत-प्रेत तो बैठा नहीं है! हमारे अन्दर बैठा हुआ परमेश्वर ही इन सारे कार्यों को करता है। वह बैठा हुआ है तब ये होते हैं। परमेश्वर

कोई कुम्हार की तरह तो काम करता नहीं है कि बैठकर कुछ बनाता होवे ! वह बैठा है, इतने से ही सब काम हो जाता है। जो थोड़े-से काम जानकर तुम करते हो, वे भी परमेश्वर बैठा हुआ है, तभी हो रहे हैं। गुण तो अपने आप बरत रहे हैं, उनको सामर्थ्य देने वाला परमेश्वर है। ये जो तुम्हारीअध्यात्मचेतस् अर्थात् विवेक-बुद्धि है, कि 'जो कुछ शरीर से हो रहा है, अहंकार से हो रहा है, वह इसलिये हो रहा है कि परमात्मा है। परमात्मा बैठा हुआ है तभी यह सब हो रहा है।' इस बुद्धि से सब चीज़ें उसी के अर्पण करनी हैं।

'निराशीः' फिर क्या नहीं होता है? किसी बात की आशा नहीं बाँध सकते। ठीक जिस प्रकार से मालिक तुमको क्या देगाइसकी तुम कोई आशा नहीं बाँध सकते। किसी काम को करके तुम समझते हो, मालिक बहुत खुश हुआ है, गिन्नी दे देगा, और वह खाली धन्यवाद कह कर छोड़ देता है! किसी काम को तुम खास महत्त्व नहीं देते, बड़ा मामूली समझते हो, पर उसे करने पर मालिक खुश होकर कहता है, 'बड़ा अच्छा काम किया, लो एक गिन्नी।' ठीक इसी प्रकार, हम बहुत मामूली काम जिसको समझते हैं, कभी उसके बदले में बड़ा फल आ मिलता है। कभी जिसे हम बहुत बड़ा काम समझते हैं, उससे फल कुछ नहीं निकलता। इसलिये जब मैं नौकर की तरह काम कर रहा हूँ तब आशा कुछ नहीं रख सकता, परमेश्वर ही जानता है कि मेरे करने से क्या होगा।

किं च 'निर्ममः'। यह सब मेरा हैइस भाव को छोड़ करके, यह सब परमात्मा का हैयह भाव लाना है। तुम्हारी आशा क्यों बनती है? तुम्हारा मानना है कि यह शरीर-मन मैं हूँ। मैंने अच्छा काम किया, अर्थात् इस शरीर-मन ने अच्छा काम किया। मैंने किया तो मुझे इसका फल मिलना चाहिये। किन्तु वास्तव में इस शरीर-मन का मालिक मैं हूँ तो नहीं! चाहे जितनी चेष्टा कर लो, एक क्षण ऐसा आयेगा जब करोड़, अरब रुपया देकर भी एक साँस और नहीं ले सकोगे! तुम्हारा होता तो तुम इच्छा पत्र लिखने का समय तो बढ़वा ही लेते। जिस समय वह चाहेगा, उसी समय प्राण ले लेगा।

हम लोगों का हल्ला-गुल्ला कैसा है? एक आदमी का एक ही बच्चा था, बड़ा बीमार पड़ गया। सभी घर वाले सेवा करते रहे। आदमी दुकान पर काम करने गया था, पीछे से बच्चा मर गया। जब शाम को घर आया, तो घरवाली ने सोचा कि 'जिसे मरना था वह तो मर ही गया, ये दिन-भर परिश्रम करके आ रहे हैं। कहने के साथ ही, खाना-पीना सब बंद हो जायेगा!' अतः आते ही जब पिता ने पूछा 'बच्चा कैसा है?' माँ बोली 'बड़े सुख से सो रहा है।' उन्होंने कहा 'बड़ा अच्छा है।' नहाए-धोए। भोजन करने बैठे। जब पत्नी ने देखा कि भोजन ख़त्म होने पर आ रहा है, तब कहाअपनी पड़ोसन महीना भर पहले मुझ से कढ़ाई आदि माँग कर ले गई थी, हलवा बनाने के लिये; आज मैंने हलवा बनाने की सोची, उससे कहा, 'मेरे बर्तन दे दे', तो हल्ला मचाने लगी'महीना भर से मेरे पास हैं, ऐसे कैसे दे दूँ! अब तो ये मेरे हो गये।' आदमी ने कहा, 'बड़ी बेवकूफ पड़ोसन है।'

माँ बोली, 'इसी तरह से जो बच्चा भगवान् ने हमें खेलने के लिये दिया था, वह भगवान् ने ही वापिस ले लिया, इसमें कोई दुःखी होने की बात नहीं है।' वह भी समझदार था, समझ गया कि ठीक ही बात है।

यह शरीर-मन हमें इसी तरह से मिला है। *हमारा* यह है नहीं। आज से चालीस साल पहले, अस्सी साल पहले, इस शरीर का सामान हमारा था? नहीं। अकस्मात् मिला। और इसकी रक्षा भी कैसे होती रही? अनाज पैदा होता है खेत में। उसे खाते हैं, उससे शरीर पुष्ट होता है। उस अनाज के मालिक क्या हम थे? तुमने व्यवहार में मान लिया कि 'हमने पैसा दे दिया तो पदार्थ हमारा हो गया।' तुम्हारा हो कैसे गया? शरीर मिला; इसका सामान हमारा नहीं था। उसके बाद यह पुष्ट हुआ, इसको पुष्ट करने वाला सामान भी हमारा नहीं था। फिर भी हम ज़बरदस्ती इस पर काबिज़ होकर बैठ गये उस औरत की तरह कि 'यह शरीर तो हमारा ही है'! कोई मरता है तो कितना हल्ला मचता है चारों तरफ! बड़े ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते हैं'हाय मेरा लड़का चला गया। हाय भगवान् ने यह क्या किया! हाय भगवान्, तुमने क्यों ले लिया? अरे तू बड़ा निर्दयी है।' ऐसी-ऐसी बातें कहते हैं। वह आया कहाँ से था तुम्हारे पास? जिसने दिया था, उसने वापस लिया तो तुम क्यों दुःखी होते हो? सब कुछ परमात्मा का है। करने की शक्ति और करने के साधन वही देता है। हमें केवल उसने जो काम बतलाया है वह करना है। दुकान मालिक ने खोली। दुकान में सामान मालिक ने लगाया। हम लोग आजकल के मज़दूर की तरह हो गये हैं : सब कुछ मालिक का लगने के बाद, फायदा होने पर कहते हैं, 'हमको बोनस (इनाम) दो।' अरे! मालिक ने रुपया लगाया तब फायदा हुआ! मज़दूर इनाम का *अधिकार* कैसे माँगता है। अगर घाटा होने पर देनदारी में भी मज़दूर हिस्सा बँटाये तब तो नफे में हिस्से का हकदार होगा, लेकिन ऐसा है नहीं, अपना इकतरफा अधिकार माँगते हैं। ऐसे ही आजकल लड़कियाँ बाप की संपत्ति में भाइयों जितना हिस्सा माँगती हैं। पर घाटा होने पर भाई तो अपने हिस्से से व्यापार चलाता है, श्रम भी करता है, जबकि लड़की तब न धन देने को बाध्य होती है, न मेहनत करने को। ये जैसे असंगत माँगें हैं, वैसे हमारी ईश्वर से माँगें असंगत ही हैं। नौकर का तनख्वाह तक ही हक है, हमारा भी प्रारब्ध तक ही अधिकार है। सब कुछ परमात्मा का है। उसी ने हमें पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन दिये जिनसे हम काम करते हैं। हमारी *मिल्कियत* कहाँ से हो गयी? हमें तो जो भगवान् दे देता है प्रारब्ध के फलस्वरूप, बस वही हमारा है। इसलिये ममताभाव से रहित होना ही उचित है।

और 'विगतज्वरः'। घाटे की भी हमें कोई चिंता नहीं है! नौकर हूँ, फायदा हुआ तो मालिक का, घाटा हुआ तो मालिक का। सरकारी उद्योग के सर्वेसर्वा अधिकारी सारा काम करते हैं पर नफे-नुकसान की मालिक सरकार है, अधिकारी को अपने घर से न कुछ देना पड़ता है, न लाभ में से कुछ खुद रख सकता है। इसलिये विगतज्वर अर्थात् सर्वथा शोक

से रहित रहना सीखना पड़ेगा। ममता, आशा और ज्वर अर्थात् शोक, सन्तापइन्हें छोड़ पाना कोई साधारण काम नहीं है, मुमुक्षु ही श्रद्धापूर्वक विवेकादि के अभ्यास से ऐसा कर सकता है।

एक महात्मा कहते थे कि भगवान् दो बार हँसता हैएक बार जब घर का कोई बीमार है, प्रतिक्षण मरने की तरफ जा रहा है। और तब कोई डाक्टर वहाँ आकर कहता है, 'घबराओ नहीं घबराओ नहीं, मैं बचा लूँगा।' इस आशा को देने वाले को देख कर भगवान् हँसता है कि जो इसके हाथों में नहीं, उसकी यह आशा दे रहा है! और दूसरी बार जब दो भाई लड़ते हैं, मकान का बटवारा करते हैं, आधा इन्च ज़मीन पर भी विवाद करते हैं कि 'मेरी है', तब भगवान् हँसते हैं कि न एक की है, न दूसरे की है, दोनों झगड़ रहे हैं कि हमारी है!

इस स्पष्ट तथ्य को हृदय से स्वीकारने पर ही न आशा रहती है, न ममता। जब हम किसी को आशा देते हैं, और ममता करते हैं, तब भगवान् को हँसी आती है, कि देखो! इसका अधिकार नहीं है, फिर भी मालिक बनकर बोल रहा है। आशा आदि छोड़कर 'युध्यस्व' युद्ध करना है अर्थात् प्राप्त कर्तव्य चाहे जितना नापसंद हो, उसे सावधानी से उत्साहपूर्वक पूरा करना है। भगवान् के सामने अर्जुन था और उसे प्राप्त कर्तव्य तब युद्ध था इसलिये भगवान् ने युद्ध करने को कहा। तात्पर्य है कि जिसका जो कर्तव्य सामने हो उसका निर्वाह करे। यों करता रहेगा तो मन शुद्ध होकर ज्ञानयोग्यता मिल जायेगी।।३०।।

अज्ञात मार्ग पर यात्रा करते समय उस मार्ग का जानकार जो रास्ता बताये उस पर भरोसा कर ही चलना पड़ता है अन्यथा यात्रा होगी नहीं। इसी प्रकार भगवान् के द्वारा बताये साधन को श्रद्धा से अपनाने पर ही कर्म-बंधन से छुटकारा मिलेगा। यह स्वयं भगवान् बताते हैं।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

श्रद्धालु और असूयारहित जो मानव मेरे इस सिद्धान्त का हमेशा पालन करते हैं, वे भी कर्मों से छूट जाते हैं।

जो साधारण मानव है वह इस मत का अनुसरण करे तो कल्याण पायेगा। 'मत' का मतलब होता हैहमने मनन करके जो निर्णय किया है। भगवान् का, वेद का यह निर्णय है कि फलेच्छा छोड़ कर कर्तव्यपालन से ज्ञानयोग्यता आती है। 'मे मतं' से यह स्पष्ट करते हैं कि साधारण मानव खुद इस बात को नहीं समझ रहा है लेकिन यह मानता है कि यह कृष्ण का मत है, कृष्ण इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं। या मानता है कि गुरु इस बात को बतलाते हैं। कृष्ण के दोनों रूप हैं गीता-शास्त्र मेंउपदेश दे रहे हैं इसलिये गुरुरूप भी है, और साक्षात् परमेश्वर का अवतार हैं इसलिये परमेश्वर-रूप भी है। चाहे परमेश्वर के

रूप से समझो, चाहे गुरु के रूप से समझो, भगवान् कह रहे हैं 'यह मेरा मत है, मैंने कहा है'। इसका नियम से अनुष्ठान करना है। निश्चय नहीं हुआ लेकिन भगवान् की कही बात के रूप में स्वीकारना है। बार-बार ममता आती है'यह मेरा है,' हर बार याद करना है कि भगवान् का दिया हुआ है। इसी प्रकार आशा और ममता को छोड़ने का अनुष्ठान करना है। साधारण मनुष्य बुद्धि से विचार करके, शास्त्र पर विचार करके, निश्चय पर पहुँचने के योग्य नहीं है, अतः उसे श्रद्धा वाला होना पड़ता है। भगवान् ने कहा है, वेद कह रहा है, इसलिये ठीक बात ही हैयह निश्चय रखना पड़ेगा। और 'अनसूयन्तः'; भगवान् में असूया नहीं करनी है। 'सारे कर्मों का फल अपने लिये ले रहे हैं! मेहनत मैं करूँ, मौज भगवान् मारे!' यह असूया है। असूया कहते हैं दोष-दर्शन को; जहाँ दोष नहीं होवे, वहाँ दोष देखनाइसे असूया कहते हैं। भगवान् में किसी प्रकार के दोष का दर्शन नहीं करे तभी उनके बताये मत का पालन करेगा। तभी स्वीकारेगा कि उन्होंने रास्ता बताया है तो ठीक ही है क्योंकि उनका कोई मतलब इससे सिद्ध होता हो, यह संभव नहीं है। जो इस प्रकार से अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्म-बंधन से छूट जाते हैं अर्थात्, धर्म और अधर्म जो कर्म से होना था, उससे बच जाते हैं।।३१।।

भगवान् का मत न मानना हानिकर है यह स्वयं कहते हैं

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

जो तो सब तरह से असूया (दोषदृष्टि, निंदा) करते हुए मेरे इस मत का अनुसरण नहीं करते, उनके बारे में समझ लो कि वे सभी ज्ञानों के बारे में हर तरह से अयोग्य हैं, अविवेकी हैं और पुरुषार्थों से भ्रष्ट हैं।

'तु'तोसे पूर्वोक्त मुमुक्षुओं से विलक्षणों की बात बता रहे हैं, यह कहा। अनेकों को स्वयं कृष्ण में दोष ही दीखते हैं। कई गीता के आधुनिक व्याख्याता कहते हैं कि कृष्ण अहंकारी थे अतः अपने लिये सब कुछ करने को कहते थे! अनेक लोग स्तोत्र साहित्य और स्तुति के विधान देख कर भगवान् पर आरोप लगाते हैं कि वे खुशामदी हैं, अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं! ये सब असूया के प्रकार हैं, जहाँ दोष की संभावना नहीं वहाँ दोष की कल्पना है। ऐसे अभ्यसूया अर्थात् हर तरह से दोषदृष्टि करने वाले, भगवान् के मत का पालन करेंगे ही नहीं।

वे सभी प्रकार की समझ से रहित हैं, सभी ज्ञानों के विषय में उन्हें भ्रम ही रहता है। भ्रम रह गया कि भगवान् दोषी हैं, तो बाकी भ्रम अपने आप आते हैं। यदि परमेश्वर के सिद्धांत में, परमेश्वर ने जो बात कही है उसमें, तुमको दोष दीख गया, तो समझ लो तुम्हारे सारे ज्ञान उल्टे हो गये! सर्वथा विवेक के अयोग्य, सर्वथा अविवेकी हुए ऐसे लोग नष्ट ही हो जायेंगे, यह निश्चय कर लो।।३२।।

अब तक यह बतलाया कि प्रकृति के कार्यों में जो आसक्ति करता है, वह बंधन में रहता है, जो परमात्मा को ही प्रकृति का एकमात्र नियामक मान कर परमात्मा की आज्ञा के अनुसार जीवन बिताता है, वह कल्याण का भागी होता है। यदि कोई मन्दबुद्धि शास्त्र का अध्ययन करके इस प्रकार के निर्णय पर नहीं पहुँच सके, तो उसको भी परमेश्वर की, या गुरु की बात पर श्रद्धा रखकर, और भगवान् में असूया अर्थात् दोष-दर्शन नहीं करके, निष्काम कर्मानुष्ठान ही करना चाहिये, उसी से वह भी धीरे-धीरे कर्म-बंधन से छूट जायेगा। तद्विपरीत, जो परमेश्वर में ही दोष-दर्शन करता है; 'भगवान् तो बड़ा भारी अत्याचारी है, अधिनायक है, सब लोग उसी के बुलावे में क्यों चलें? बड़ा खुशामदी है, उसी की स्तुति क्यों करें?' ऐसी असूया करता है, इसलिये भगवान् के कहे हुए मार्ग पर नहीं चलता है, उसको विवेक की प्राप्ति होती नहीं, और नष्ट ही होना पड़ता है।

प्रश्न उठता है, 'यदि आपकी आज्ञा से चलने से कल्याण है, और नहीं चलने से अकल्याण है, तो सब लोग क्यों आपके मत का अनुष्ठान नहीं करते? आपकी बात कल्याण का रास्ता है तो सब उस पर क्यों नहीं चलते? आपके शासन का अतिक्रमण करके, आपकी आज्ञा के विरुद्ध चलके, 'हम नष्ट हो जायेंगे'इससे भय क्यों नहीं प्राप्त करते? जब आपकी आज्ञा मानने से सब ठीक होगा, तो फिर सब लोग आपकी आज्ञा मान कर उसी रास्ते क्यों नहीं जाते?' इसके जवाब में भगवान् बहुत बड़े रहस्य की बात बतलाते हैं। सभी विचारकों के सामने समस्या आती है कि जो कार्य होता है, उसे किस्मत, प्रारब्ध, भाग्यये करवाने वाले हैं, अथवा स्वतंत्र जीव करने वाला है? इस आधारभूत रहस्य को भगवान् यहाँ खोलते है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

समझदार व्यक्ति भी अपनी प्रकृति के अनुरूप व्यवहार करता है। सभी प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करते हैं, (इसमें) निग्रह क्या करेगा!

भगवान् कहते हैं कि अपनी प्रकृति के अनुरूप लोगों की प्रवृत्ति होती है। प्रकृति मायने क्या? पहले जो हमने धर्माधर्म आदि किये हैं, उसके संस्कार पड़े हैं। उन संस्कारों में से जो वर्तमान जन्म में प्रकट हुए संस्कार हैं वही हमारी प्रकृति है। किसी जन्म में हम चिड़िया भी थे, उड़े भी हैं, परंतु अब तो हममें उड़ने के संस्कार नहीं अभिव्यक्त होते हैं। पहले कभी मछली होकर हम खूब तैरे भी हैं, लेकिन इस जन्म में तो वे संस्कार अभिव्यक्त नहीं हैं। पहले के सारे संस्कार हर जन्म में अभिव्यक्त होते नहीं, इस जन्म में उनमें से कुछ अभिव्यक्त होते हैं। हमारे पहले के धर्माधर्म के जो संस्कार इस जन्म में व्यक्त हुए हैं, उन्हें प्रकृति कहते हैं। क्यों कहते हैं? कृति का मतलब होता है, तुम्हारा किया हुआ। कृ धातु का मतलब करना है। जैसे गम् से गति बनता है, वैसे कृ से कृति बनता है। जो तुमने

किया, व तुम्हारी कृति है। उसमें से जो इस जन्म में प्रकट हुए, वह प्रकृति हुई। इसलिये अपनी प्रकृति कौन-सी है? जो इस जन्म में प्रकट हुई है। उसके सदृश अर्थात् अनुरूप, उसी के अनुकूल हम चेष्टा करते हैं। क्रिया के प्रति कारण हो, इच्छा से की जाये, उसे चेष्टा या कोशिश कहते हैं। प्रकृति के अनुसार क्रिया करें यह ज़रूरी नहीं, चेष्टा अवश्य करते हैं। जो धर्माधर्मादि संस्कार इस जन्म में अभिव्यक्त हुए हैं, उनके अनुरूप ही तुम चेष्टा करते हो। 'क्रिया करते हो' नहीं कहा क्योंकि क्रिया में तो और भी बहुत सारी चीज़ें आ जायेंगी जिनके कारण कर सको, न कर सको। पर चेष्टा तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल होती है। क्रिया को करने का जो तुम प्रयत्न करते हो वह तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल होता है। तुम्हारी यदि धन कमाने की प्रकृति है तो तुम धन कमाने के लिये चेष्टा करोगे। आगे, पुण्य और पाप के अनुरूप तुम्हारी सफलता और असफलता होगी, पर धन कमाने की चेष्टा तो तुम करोगे ही। धर्माधर्म तो तुमको सुख या दुःख देंगे। क्योंकि सफलता से सुख होता है, असफलता से दुःख होता है, इसलिये सफलता और निष्फलता तो धर्माधर्म देंगे, परन्तु उसके लिये चेष्टा करनायह प्रकृति का काम है, जो संस्कार इस जन्म में अभिव्यक्त हुए हैं उनका काम है।

भगवान् कहते हैं, यह नियम सब के लिये लागू है। जो ज्ञानी है, उसकी भी चेष्टा किस के अनुरूप होगी? उसकी प्रकृति के। मोटी भाषा में समझ लोतुम हिन्दी जानते हो, तुम्हें आत्मज्ञान हो गया, तो तुम किसी को समझाने का प्रयत्न किस भाषा में करोगे? हिन्दी में ही करोगे। दूसरा ज्ञानी तमिल भाषा को जानने वाला है, वह उसी का प्रयोग करता रहा है। उसको आत्मज्ञान हो गया, वह जब किसी दूसरे को लोकसंग्रह करने के लिये समझाना चाहेगा तो तमिल भाषा में बोलेगा। ज्ञान होने के पहले के जैसे संस्कार हैं उसके अनुरूप ही चेष्टा होगी। इसी प्रकार ज्ञानी के भी जन्म के समय ही उसकी प्रकृति प्रकट हुई थी, उसी के अनुरूप उसकी चेष्टा होती रहेगी। किसी ज्ञानी के पहले के संस्कार भक्ति करने के हैं, तो ज्ञान होने के बाद भी वह भक्ति करता है। दूसरे के संस्कार योगाभ्यास के हैं, तो ज्ञान के बाद भी वह योगाभ्यास करेगा। तीसरे के संस्कार कर्म करने के हैं, तो ज्ञान होने के बाद भी कर्म करेगा। ज्ञानी के भी जो संस्कार उद्बुद्ध हैं, तदनुरूप ही उसकी चेष्टा होती है। ज्ञानवान् प्रकृति से सर्वथा अलग हो गया, उसके भी शरीर-मन आदि उसकी प्रकृति के अनुसार ही प्रवृत्ति करेंगे तो जो अभी प्रकृति के साथ एक है, वह यथाप्रकृति करेगा, इसमें कहना ही क्या है! ज्ञानी, शरीर-मन से सर्वथा अपने को अलग जान चुका है। इतने पर भी, शरीर और मन की चेष्टाएँ उस शरीर-मन की प्रकृति के अनुरूप ही करेगा। जब ज्ञानवान् की ही यह बात है, तो दूसरों की बात ही क्या कहनी! जो शरीर-मन के संस्कारों को अपने संस्कार समझता है, वह तदनुरूप प्रवृत्ति करे इसमें कहना ही क्या है!।।३३।।

अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल ही प्रवृत्ति होगी। लोग भगवान् से डरते क्यों नहीं हैं?

भगवान् का निग्रह अर्थात् दोषियों को दण्ड देने की सामर्थ्य भी ग़लती करने पर कार्य करेगी, करने से रोकेगी नहीं, क्योंकि भगवान् पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं। जब भगवान् के बनाये हुए नियमों के अनुकूल भी लोग चल नहीं सकते हैं, तब दूसरा कोई सोचे कि उसके नियम माने जायेंगे, तो यह कैसे हो सकता है! मेरा भी निग्रह काम नहीं कर सकता, तो दूसरों का क्या करेगा! शरीर-मन में जो संस्कार हैं, उन्हीं के अनुकूल कार्य होगा। इस पर प्रश्न उठता है कि यदि सभी लोग अपनी प्रकृति के अनुसार करते हैं, और बिना प्रकृति वाला कोई पैदा होता नहीं, सभी अपने-अपने किये कर्मों के अनुसार करेंगे ही, तो क्या सारे शास्त्र बेकार हैं? शास्त्र कहता है, यह करो, यह नहीं करो। जिसकी प्रकृति होगी वह करेगा, जिसकी प्रकृति नहीं होगी, वह नहीं करेगा। शास्त्र नहीं होता, तो भी वह अपनी प्रकृति के अनुसार करता, शास्त्र बाँच कर भी अपनी प्रकृति के अनुसार करेगा। अतः इस मत से सारे शास्त्र व्यर्थ हैं। शास्त्र प्रवृत्त हैं यह मान कर कि पुरुषकार है। मनुष्य में स्वतंत्रता है कि करे या न करे, तभी सारे शास्त्र सार्थक हो सकते हैं। अगर सब अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, तो पुरुषकार कोई रहा ही नहीं। कोई पुरुषार्थ कुछ कर नहीं सकता। यह मानना संगत नहीं क्योंकि न शास्त्र निरर्थक है और न यह लोकानुभव से सिद्ध है कि प्रेरणा से अंतर नहीं पड़ता। अतः भगवान् स्पष्ट करते हैं कि पुरुषकार का क्षेत्र क्या है, प्रकृति को लांघकर पुरुष क्या कर सकता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

सभी इन्द्रियों के विषयों के प्रति अनुकूलता-प्रतिकूलता से नियत हो राग-द्वेष हुआ करते हैं। पुरुष को चाहिये कि उन राग-द्वेष के वश में न पड़े क्योंकि वे ही पुरुष के शत्रु हैं।

इन्द्रियाँ जैसे आँख, कान आदि और उनके विषय जैसे रूप, शब्द आदि। जिस इन्द्रिय को जिस विषय से अनुकूलता लगती है, उसके प्रति पुरुष राग करता है, और जिससे प्रतिकूलता लगती है, उसके प्रति द्वेष करता है। अच्छी लगने वाली चीज़ के प्रति राग, और बुरी लगने वाली चीज़ के प्रति द्वेष होता है यह व्यवस्थित अर्थात् निश्चित ढंग है। प्रकृति पुरुष से प्रवृत्ति कैसे कराती है? इन्द्रिय को जो अच्छा लगता है उस तरफ वह पुरुष को ले जाती है। इन्द्रिय को जो बुरा लगता है उससे दूर हटाती है। चेष्टा प्रकृति कराती है, किसके मार्फत? राग-द्वेष के मार्फत। अच्छे लगे विषय की तरफ तुम जाते हो, बुरे लगे की तरफ नहीं जाते हो। प्रकृति कोई डाकू की तरह हाथ पकड़ कर तुम से काम नहीं कराती! प्रकृति यह प्रतीति कराती है कि 'इस झूठ के बोलने से, यह आदमी मेरी बात मान लेगा तो मुझे सुख का अनुभव होगा।' इसीलिये पुरुष झूठ बोलता है। 'अगर मैं सच बोला, तो दो थप्पड़ पड़ेंगे, इन्द्रिय को बुरा लगेगा।' यह समझकर झूठ बोलता है। अच्छे-बुरे लगने

को, राग-द्वेष को ही आधार बना कर प्रकृति तुमको चलाती है, ज़बरदस्ती कुछ नहीं कराती। तुमको जो चीज़ अच्छी लगती है, तुम उसके लिये चेष्टा करते हो। तुमको जो चीज़ बुरी लगती है, उससे बचते हो, उससे बचने की चेष्टा करते हो। कराती प्रकृति है पर राग-द्वेष के माध्यम से। प्रारब्ध तुम से बलात् कुछ कराता नहीं दीखता, राग-द्वेष द्वारा ही प्रेरित करता है।

सारा पुरुषार्थ यही है कि राग-द्वेष के बस में न आवे। इन्द्रियों को जो चीज़ अच्छी लगे उसकी तरफ प्रवृत्ति न करे, जो बुरी लगे उससे न हटे। करने-न-करने में राग-द्वेष को हेतु नहीं बनने देना चाहिये। जब उसके अधीन नहीं होगे, तब शास्त्र के विरुद्ध नहीं चलोगे। 'शास्त्र के अनुकूल चलने पर मेरी इन्द्रियों को दुःख का अनुभव होगा'इसी दृष्टि से शास्त्र के अनुकूल नहीं चलते हो। प्रकृति यह दिखलाती है कि इस विषय के द्वारा तुम्हारी इन्द्रियों को व मन को सुख होगा, या दुःख होगा। पुरुषकार का, पुरुषार्थ का, और शास्त्र का प्रयोजन है कि शास्त्र में कही हुई बात में प्रवृत्त हो और राग-द्वेष के वश को छोड़ो! भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध ले जाने वाली चीज़ राग-द्वेष हैं। राग-द्वेष कराती कौन है? तुम्हारी प्रकृति। उनके अधीन नहीं होनाबस, यह तुम्हारे हाथ में है। जब राग-द्वेष के वश में होते हो, तब अपने धर्म का त्याग करते हो और अधर्म का ग्रहण करते हो। जब समझ लिया कि राग-द्वेष के वश में रहने से पाप बढ़ेगा अतः तकलीफ ही ज़्यादा होगी और यह पता चल गया कि जिनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता के पीछे पाप करते हैं वे इंद्रिय-मन हम हैं ही नहीं, तब उनकी दासता छोड़ी जायेयही पुरुषार्थ है। जो अच्छा लगे वह तुम्हें प्रवृत्त न करे, जो बुरा लगे वह निवृत्त न करे। अच्छा और बुरा तो लगता रहेगा, उससे प्रवृत्ति-निवृत्ति को रोकना है। चाहे जितनी साधना श्रेष्ठ हो जाये, अच्छा और बुरा तो लगता ही रहेगा। तुम्हारी प्रकृति इतना तो करेगी ही, लेकिन विवेक दृढ होने पर अच्छा-बुरा लगने से तुम क्रिया नहीं करोगे। तुम कहोगे कि 'जो मुझे अच्छा लगता है वह नहीं, वरन् जो भगवान् को अच्छा लगता है उसमें मुझे प्रवृत्त होना है। मुझे हटना है किस से? जो मुझे बुरा लगता है उससे नहीं, जो भगवान् को बुरा लगता है उससे।' इसलिये, कहा था कि परमेश्वर के नौकर की तरह काम करना है। मालिक ने कह दिया, 'एक दाम में चीज़ें बेचना।' तुमको पता है, कि मालिक का दिमाग खराब है! ऐसे काम नहीं चलता है, भाव-मोल करने से दाम ज़्यादा मिल सकता है। लेकिन तुम निश्चय करते हो कि मालिक कहता है कि एक दाम में बेचो, तो अपना क्या जाता है, घाटा है तो उसका, नफा है तो उसका। इससे विपरीत, यदि तुम मनमाने दाम लेकर नफा भी करा दोगे तो भी मालिक नाराज़ ही होगा कि उसकी नीतिका उल्लंघन क्यों किया। नौकर अपनी प्रकृति से प्रवृत्त होगा तो मालिक उचित नहीं समझेगा, उसे अपने संस्कारों की प्रेरणा त्याग कर मालिक की इच्छा से कार्य करना पड़ेगा, तभी मालिक संतुष्ट होगा। इसी प्रकार राग-द्वेष का वश छोड़कर शास्त्राज्ञा का पालन करने से ही परमेश्वर प्रसन्न होगा। राग-द्वेष को

हटायेगा तो अच्छा-बुरा लगने के कारण प्रवृत्ति-निवृत्ति करेगा नहीं। प्रवृत्ति-निवृत्ति करनी तो है ही। तब शास्त्रदृष्टि होगी, परमेश्वर की आज्ञा जो शास्त्र है, तदनुसार करोगे। जब राग-द्वेष प्रधान होगा, तब परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार नहीं करोगे। कभी यदृच्छा से शास्त्रानुसार हो भी जायेगा, तुमको भी वही चीज़ अच्छी लग जाये जो भगवान् को अच्छी लगती हैयह भी कभी हो जायेगा, तब कर लोगे। भगवान् को जो चीज़ अच्छी लगती है वह तुमको अच्छी नहीं लगेगी तो अधर्म कर लोगे। स्वयं को अच्छी लगने के अनुसार किया है, इसलिये उसका पुण्य-पाप भोगना पड़ेगा। मैं कर्ता हो गया तो भोक्ता बनना ही होगा। शास्त्र में कही हुई आज्ञा के अनुसार जब आचरण करोगे तब उसका फल नहीं भोगना पड़ेगा। वह ईश्वर का, मालिक का होगा, अतः कर्म से छूट जाओगे। प्रकृति की वशता को छोड़ करके, इस प्रकृति को चलाने वाला जो परमेश्वर है उसके वश में रहोयह तुम्हारे प्रयत्न से होगा।

अभी किसके गुलाम हो? अपने मन के गलुाम हो। तुम कुछ भी काम क्यों करते हो? मन उसको अच्छा समझता है, इसलिये करते हो। अभी भी तुम स्वतंत्र नहीं हो। अभी तुम मन के गुलाम हो। जो मन कहेगा वही करोगे। मन के गुलाम क्यों हो? मन के साथ तुमने तादात्म्य संबंध कर रखा है कि 'मन तो मैं ही हूँ, मन की चली तो मेरी चली।' मन को अपना स्वरूप मानता हूँ। इसलिये मन के अनुसार काम हो जाये तो मैं खुश हो जाता हूँ कि मेरे अनुसार हुआ! हुआ मेरे अनुसार नहीं, मन के अनुसार। विवेकपूर्वक साधना में लगकर मन के अनुसार नहीं चलता, परमेश्वर के अनुसार चलता हूँ, क्योंकि मैं यह जानता हूँ, कि मैं मनरूप नहीं हूँ, परमेश्वररूप हूँ, चेतन हूँ। इस प्रकार मनुष्य शास्त्र की दृष्टि वाला हो जाता है, किसी भी परिस्थिति में जो शास्त्र कहता है, वह करता है।

'अस्य तौ परिपन्थिनौ'। पुरुष के, साधक के परिपन्थी हैं राग और द्वेष। 'परिपन्थी' अर्थात् रास्ते को रोकने वाले, उस रास्ते पर जो तुम्हें चलने नहीं देते। ये ही सबसे ज़्यादा विघ्न हैं। जैसे, डाकू रास्ते को रोक कर तुमको लूट लेते हैं, इसी प्रकार राग-द्वेष तुमको शास्त्र के रास्ते पर चलने से रोक कर तुम्हारे स्वरूप को लूट कर और तुम्हें अधर्म के गड्ढे में डालकर पाप के दंडे खिलवाते हैं। इसलिये इनको परिपन्थी कहा है। ये जीव को कल्याण के रास्ते नहीं जाने देते। राग-द्वेष के कारण क्या होता है? इनसे ग्रस्त व्यक्ति शास्त्र पढ़े तो शास्त्र को भी अन्यथा समझने लगता है। राग-द्वेष हमको शास्त्र के भी अर्थ को उल्टा प्रतीत करवा देते हैं। जितने तुम्हारे सुधारवादी हैं, उन सब का यही कहना है कि शास्त्र का वह मतलब नहीं जो सम्प्रदायसिद्ध है क्योंकि हमारी बुद्धि के अनुकूल नहीं पड़ता! हमारी जो बुद्धि या तर्क है, उसके अनुसार जो बात सुख देने वाली नहीं वह शास्त्र का अर्थ नहीं! इसका एक मोटा दृष्टांत देते हैं : सब लोगों को पता है कि अनादिकाल से अपने यहाँ वर्ण-व्यवस्था है। सुधारवादी अपनी बुद्धि लड़ाते हैं कि 'मुसलमान, ईसाइयों के अंदर वर्ण-व्यवस्था नहीं है तो वे मिल कर काम कर लेते हैं। शास्त्र की जो

वर्ण-व्यवस्था है, इसके कारण ही हम लोगों में इतने भेद हो गये, समाज टुकड़े-टुकड़े हो गया। समाज का उत्थान करने के लिये, शास्त्र का मतलब कुछ और करना चाहिये।' वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य क्या है? बड़ी सीधी-सी बात हैमैं जहाँ पैदा हुआ, उसने निश्चित कर दिया कि मुझे क्या करना है। मुझे ढूंढना नहीं है कि मैंने क्या करना है। भगवान् ने मुझे उस घर मैं पैदा इसीलिये किया कि मैं उस काम को आगे करूँ। यदि तुम कहते हो कि जो पढ़ने में अच्छा हो, वह ब्राह्मण इत्यादि; तो सोचो, पढ़ने में तत्पर होगा कौन? किसी के मन में 'पढ़ना मेरा कर्तव्य है, धर्म है' यह भाव रहेगा नहीं और योग्य-अयोग्य का पता तो चलेगा काफी पढ़ने के बाद। ऐसी परिस्थिति में पढ़ना प्रारम्भ कौन करेगा? और कितना समय बिताकर निर्णय होगा कि पढ़ाई में अच्छा है या नहीं? ऐसे ही क्षात्रकर्म, वैश्यकर्म आदि सभी में प्रवृत्ति प्रारंभ करेगा कौन और क्यों? इस ढंग में कितना समय लगेगा इस निर्णय में ही कि कौन किसमें अच्छा है? तब उसमें विशेषज्ञता हासिल करेगा, तब कहीं जाकर कुछ कार्य कर पायेगा। अत्यन्त अव्यवस्था और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता ही बढ़ेगी। जब जन्मतः पता है मुझे क्या करना है, तब प्रारंभ से ही उसी में लग सकता हूँ और योग्यता की कमी मेहनत से काफी हद तक पूरी कर सकता हूँ। दृष्टांत से समझो : मुझे किस देश की सेवा करनी चाहिये? अगर यह कह दिया जाय, कि 'तुमको जो देश अच्छा लगे, उस देश के अनुसार तुम काम करना', तो क्या देश-भक्ति का कोई स्थान रह जायेगा? हमें पता है कि हम यहाँ पैदा हुए इसलिये यहाँ के हैं। तब तो इसी देश का हमें काम करना है। नहीं तो कभी हम सोचें कि रूस अच्छा है, रूस की भक्ति करें, फिर कोई कहेगा कि अमेरिका अच्छा है, तो हमें लगेगा अमेरिका की भक्ति करें! कभी निर्णय पर पहुँच सकेंगे? इसी प्रकार, मेरा काम क्या, मुझे क्या गुण प्राप्त करने हैंये मेरे लिये निर्णीत हो गये जन्म से, जैसे देश-भक्ति जन्म से निर्णीत हो जाती है। तभी तत्परता से उसी काम को करने में मैं लग जाऊँगा क्योंकि मुझे निश्चित पता है कि मुझे क्या करना है। अन्यथा, अपने कर्तव्य का चुनाव काहे से करोगे? राग-द्वेष से करोगे। परिश्रम का काम कोई नहीं चाहेगा, बाबूगिरी करना सब चाहेंगे क्योंकि राग-द्वेष से निर्णय करेंगे कि क्या करना है। सुधारवादी मुसलमानों की एकता तो देखते हैं, यह नहीं देखते कि विद्या आदि के क्षेत्र में वे कितने पिछड़े ही रहते हैं! अगर उनमें अनुकरण से कोई गुण आयेगा तो दोष भी आयेंगे ही। वे नये दोष क्या वर्तमान स्थिति से बेहतर होंगे? यों वे विचार नहीं करते क्योंकि शास्त्र-दृष्टि के बजाय राग-द्वेष से चलते हैं।

इसी दृष्टि से सनातनी कभी किसी के धर्म को बदलता नहीं। हम लोग यह मानते हैं कि भगवान् ने जिसको जहाँ पैदा किया, वह अपना वही धर्म माने। सुधारवादी कहते हैं कि 'आप दूसरों को हिंदू बनाते नहीं, इसीलिये तो आपकी संख्या कम हो रही है!' किसी को हिंदू बनाओ का मतलब यह है कि 'हमें पता है कि भगवान् ने उसे मुसलमान घर में पैदा करके ग़लती कर दी है। मैं बुद्धिमान हूँ, भगवान् की तरह बेवकूफ थोड़े हूँ! उसको

सुधारूँगा।' इसलिये सुधारवादी दृष्टि राग-द्वेष वाली होने से श्रद्धेय नहीं है। दृष्टि वह रखनी पड़ेगी जो शास्त्र दे रहा है। शास्त्र का तात्पर्य पता लगाना चाहिये, अपने मतानुसार शास्त्र का अर्थ नहीं लगा लेना चाहिये।।३४।।

राग-द्वेषवश ही अर्जुन को युद्ध जो स्वधर्म था, उसकी जगह भिक्षावृत्ति से जीवनयापन बेहतर लग रहा था। अतः भगवान् समझाते हैं

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

कुछ अंग कम भी किये जा सकें तो भी अपना धर्म पालन करना बेहतर है बजाये अच्छी तरह सम्पादित दूसरे के धर्म से। अपने धर्म पर रहते मरना भी अच्छा है, दूसरे के धर्म का अनुसरण भयप्रद ही है।

जो तुम्हें प्राप्त है, वह हुआ तुम्हारा स्वधर्म। हमें एक काणी और लंगड़ी माँ प्राप्त है। पड़ोसी की बड़ी सुंदर, अच्छी आँखों वाली, हिरणी की तरह चलने वाली औरत है। क्या उसी को मैं माँ मान लूँगा? काणी, लंगड़ी को माँ मान कर मैं क्यों सेवा करूँ? माँ के लिये चाहे तुम लोग अब तक यह बात नहीं कहते हो, लेकिन पत्नियों के लिये कह ही देते हो। इसी के आधार पर तलाक और पुनर्विवाह का झंझट है। मेरे चुनाव पर नहीं, जन्म पर निर्भर है कि यह मेरी माँ है, इसकी सेवा करना मेरा धर्म है। वह दूसरे की माँ है। उसकी सेवा करना मेरा *धर्म* नहीं है। माँ ही की तरह, पत्नी के बारे में समझ लोयह मेरी पत्नी है। इसलिये मुझे इसके साथ प्रेम से निर्वाह करना है। वह दूसरे की पत्नी है, इसलिये उसके साथ पति-भाव नहीं करना है। जो मुझे स्वभाव से प्राप्त मेरा कर्तव्य है, वह स्वधर्म है। वही कल्याणकारी है। प्रश्न होता है कि 'यदि स्वधर्म अच्छी तरह न कर सकूँ तो क्या करूँ?' ब्राह्मण पढ़ने में अतिमंद हो तो क्या उसे खेती आदि में नहीं लग जाना चाहिये? स्वधर्मों को त्यागने का यही आधार बनता है। इसके जवाब में भगवान् कहते हैंबिना गुण के अर्थात् अपूर्ण, गड़बड़ भी किया हुआ स्वधर्म तुम्हारे लिये कल्याणकारी ही है। नहीं पढ़ सकते हो तब भी पढ़ते ही रहो, वही तुम्हारा कल्याण करेगा। जैसा पढ़ने में वैसा ही सभी प्राप्त धर्मों में समझ लेना। मैं चाण्डाल के घर पैदा हुआ हूँ। शास्त्र कहता है कि चाण्डाल यदि मंदिर के ध्वज का दर्शन करता है तो उसको वही फल हो जाता है जो ब्राह्मण को मंदिर के अंदर जाकर पूजा करने का होता है। मैं चाण्डाल हूँ, मैं ध्वजा का ही दर्शन करता हूँ। सुधारवादी कहते हैं 'अरे! यह कोई बात है? ब्राह्मण अंदर जाकर पूजा कर सकता है तो तुम क्यों नहीं कर सकते?' विचारशील कहता हैमंदिर में मूर्ति की पूजा करनी चाहियेयह कैसे पता चला? इसमें कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण है नहीं, शास्त्र मानकर ही पता चलता है। वही शास्त्र जो व्यवस्था दे रहा है उसी के अनुसार पुण्य-पाप भी मानने होंगे। आधी बात शास्त्र की और बाकी मन-मानी करने से लाभ की कोई संभावना नहीं,

हानि की ही संभावना है। इसलिये सर्वांगपूर्ण न कर सके तो भी स्वधर्म ही करे, वही कल्याण का उपाय है। ठीक प्रकार से अनुष्ठान करने में असमर्थ हो, तो भी अपना धर्म ही कल्याणकारी है।

किसकी अपेक्षा? 'स्वनुष्ठितात् परधर्मात्।' सु अनुष्ठितअच्छी प्रकार से अनुष्ठान किया हुआ जो परधर्म, उसकी अपेक्षा आधा-अधूरा भी स्वधर्म ही श्रेयस्कर है। यह तभी होग जब पहले राग-द्वेष से हटो। नहीं तो असूया करोगे कि भगवान् ने बड़ा भेद-भाव कर दिया! भगवान् पर अच्छी भावना होगी तो कहोगे 'भगवान् ने ऐसा नहीं कहा होगा, यह तो लोगों ने लिख दिया। शास्त्र में लोगों ने मिला दिया होगा।' बहुत-से लोग कहते हैं 'प्रक्षेप' हो गया होगा अर्थात् किसी ने जोड़ दिया होगा। यह सब तभी जब शास्त्र में कही बात अपने मनकी नहीं होती। भगवान् ने स्पष्ट करके कह दिया, दूसरे के धर्म को तुम खूब अच्छी तरह कर सको, तब भी उसकी अपेक्षा स्वधर्म करना ही श्रेयस्कर है। इसी बात को सूत्रभाष्य में आचार्य शंकर ने कहा है कि 'यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मः, न तु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते, चोदनालक्षणत्वाद् धर्मस्य' (३.४.४०) जिसका जिसके लिये विधान किया गया, वही उसका धर्म है। कोई किसी काम को अच्छी तरह से कर सकता है, इतने मात्र से वह उसका धर्म नहीं हुआ करता क्योंकि धर्म में शास्त्रविधि ही प्रमाण है। संसार के व्यवहार में भी तुम यह मानते हो : मैं बहुत अच्छी व्यूह-रचना कर सकता हूँ फौज में, लेकिन हूँ कैप्टन! ब्रिगेडियर व्यूह-रचना करता है। मैं कहता हूँ, 'अरे! तुमको नहीं आती करनी, मैं करूँगा। मैं बढ़िया व्यूह रचना करने वाला हूँ।' तो ब्रिगेडियर कहेगा, 'इसको पकड़ कर बंद कर दो!' जो तुमको काम दिया गया है वह तुम करोयही सर्वत्र उचित माना जाता है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि स्वधर्म विगुण कर सको तो भी वही करो। बिल्कुल स्पष्ट करके कह दिया, जिसमें आज का भी कोई सुधारवादी इस सब को बदल नहीं सके। जो तुम अच्छी तरह से नहीं कर सकते हो, वह भी जो तुम अपना धर्म करते हो, वह जो खूब अच्छी तरह से अनुष्ठित कर सकते हो, उस परधर्म से अच्छा है।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'। अपना धर्म-पालन करने में, अपना कर्तव्य करने में, मरना भी पड़े तो अच्छा है! इसलिये भगवान् ने अर्जुन को कहा था, कि तेरा धर्म युद्ध करना है, अगर युद्ध करते हुए तू मारा गया, तो स्वर्ग जायेगा और अगर जीत गया, तो पृथ्वी पर राज्य करेगा। स्वधर्म करते हुए मरोगे तो भी स्वर्ग जाओगे। अपने धर्म को पालन करते हुए मरना भी श्रेष्ठ है। किसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है? दूसरे के धर्म से। पराये धर्म का अनुष्ठान भयावह है, नरकादि देने वाला महान् भयंकर है। शरीर-मन आदि के द्वारा जो किया जाता है, वह तुम्हारी चेष्टा से होता है, और वह चेष्टा राग-द्वेष से होती है। राग-द्वेष करना-न करना तुम्हारे हाथ में है। अच्छा लगना-न-लगना तुम्हारे हाथ में नहीं है। परन्तु अच्छा लगने पर भी राग करें या न करें, द्वेष करें या न करेंयह अपने हाथ में है। शरीर मन

वही करेंगे जो इनके अंदर संस्कार निहित हैं। इनका प्रवर्तक कौन बनेगा? या राग-द्वेष बनेंगे या भगवदाज्ञा बनेगी। किसे प्रेरक बनाओ, इसी में तुम्हारी स्वतंत्रता है। इस प्रकार भगवान् ने प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों को बिलकुल स्पष्ट शब्दों में बता दिया।।३५।।

अर्जुन के मन में प्रश्न आया कि यदि ऐसा है, तो लोग क्यों परिपन्थियों के वशीभूत होकर गलत रास्ते जाते हैं? भगवान् ने यद्यपि इसका जवाब दूसरे अध्याय में दे दिया था कि विषयों का ध्यान करने से, उन के प्रति आसक्ति होती है, आसक्ति से उनकी इच्छा होती है; इच्छा पूरी होने से भोग में प्रवृत्त होकर भोग-संस्कार दृढ होते हैं, नहीं पूरी हुई तो क्रोध होता है; क्रोध में कर्तव्य-अकर्तव्य सर्वथा भूल जाते हैं, उससे विवेक-शक्ति नष्ट हो कर तुम्हारे नाश का कारण बनता है। यह भगवान् ने पूर्वाध्याय में कह दिया था। अनर्थ का मूल विषयों का ज्ञान है। अर्जुन के मन में फिर शंका उठी, इसलिये पूछता है

अर्जुन उवाच
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

हे वृष्णिकुलावतंस! यह (लोकसिद्ध) पुरुष (अधिकारी) खुद न चाहते हुए भी मानो बलपूर्वक किसी का विधान मानते हुए जो पाप का आचरण करता है, यह किसकी प्रेरणा से हाता है?

यह ठीक है कि राग-द्वेष के कारण मनुष्य ग़लत रास्ते जाता है, पर किस की प्रेरणा से? साधारण आदमी को राग-द्वेष समझ में नहीं आते! लगता है जैसे 'ज़बरदस्ती मुझसे यह कराया जा रहा है'। कराया जाता है, पर अच्छा लगवा करके। जब सामने फल बुरा आ जाता है, तब आदमी कहता है, 'पता नहीं मुझे क्या हो गया था कि मैंने यह कर दिया!' रागवश करने में सुख प्रतीत हुआ, इसलिये किया। परन्तु अनुभव होता है कि किसी ने करवा दिया। इसलिये अर्जुन का प्रश्न है कि कौन भली प्रकार से ग़लत काम में लगा देता है? ज़बरदस्ती लगवायायह अनुभव कब होता है? जब पाप करते हैं। पुण्य करने में अनुभव यह नहीं होता कि किसी ने ज़बरदस्ती करवा दिया, बल्कि लगता है 'मैंने खूब कोशिश करके किया।' परन्तु जब पाप हो जाता है, तब लगता है 'किसी ने ज़बरदस्ती करवा दिया।' ऐसा लगता है, 'मेरी इच्छा नहीं थी, फिर भी करवा दिया।' कौन है जो ऐसा कराता है? भगवान् वृष्णि कुल में उत्पन्न हुए थे इसलिये उनको वार्ष्णेय कहते हैं। उनसे जिज्ञासा है कि इस प्रकार ज़बरदस्ती कौन करवाता है?

करवाने वाले राग-द्वेष हैं। परन्तु जैसे अर्जुन को, वैसे ही हम लोगों को यह बात समझ में नहीं आती की 'राग-द्वेष से प्रवृत्त होकर मैंने किया'। लगता है 'क्या करें? इस ज़माने में पैसा दिये बगैर काम होता नहीं। देना ही पड़ता है, ज़बरदस्ती देना पड़ता है।' यही लगता है कि ज़बरदस्ती देना पड़ता है। बात जबकि सीधी हैफ़ायदा चाहते हो, इसलिये

देना पड़ता है। लेकिन, 'फायदा चाहता हूँ'इस बात को छिपा कर कहेंगे कि, देना पड़ता है! इसी प्रकार मनुष्य जब कोई भी ग़लत काम करता है, तब उसे लगता है, कि ज़बरदस्ती करना पड़ा। राग-द्वेष ही प्रवर्तक है, और कोई दूसरा प्रवर्तक नहीं, इस बात को मन मानना नहीं चाहता, अतएव श्लोक ३४ में भगवान् के कहने पर भी अर्जुन ने यही प्रश्न उठाया। मनुष्य राग-द्वेष को प्रवर्तक क्यों नहीं मानना चाहता? राग-द्वेष में स्वतन्त्रता दोष है और स्वतन्त्रता को हम कारण नहीं बनाना चाहते नुकसान का। परन्तु कारण तो वे ही हैं। इसलिये भगवान् जवाब में पुनः वही बात बतलायेंगे।

सामान्यतः मनुष्य की प्रवृत्ति राग-द्वेष से है। परन्तु नौकर जेठ के महीने में, लू में, पान लेने नहीं भी जाना चाहता, लू के प्रति, धूप के प्रति, उसे राग नहीं है, लेकिन मालिक ने कह दिया ले आओ तो प्रवृत्ति करता ही है। प्रवृत्ति के दो ही कारण संसार में देखे जाते हैंया अपने मन में राग-द्वेष हों तब प्रवृत्ति होती है, अथवा किसी की आज्ञा मानना ज़रूरी हो, तब प्रवृत्ति होती है। फिर सब लोग ईश्वराज्ञा से प्रवृत्त न होकर क्यों कामना से प्रवृत्त होते हैं? अपने राग-द्वेष से प्रवृत्त होने पर धर्माधर्म होता है, संसारचक्र चलता है। जबकि परमेश्वर की आज्ञा मान कर चलने से, धर्माधर्म नहीं होगा, इसलिये संसार चक्र भी रुक जायेगा। फिर भी, क्यों मनुष्य कामना से ही प्रवृत्ति करता है? जहाँ कामना से प्रवृत्ति कर के धर्म होता है, वहाँ लगता है 'मैंने प्रवृत्ति की', पर जहाँ अधर्म होता है, वहाँ आदमी का अनुभव होता है कि 'मुझे तृष्णा ने ज़बरदस्ती इधर लगा दिया'। जब कहता है कि ज़बरदस्ती तृष्णा ने लगा दिया, तब मतलब है'मैं यह करना नहीं चाहता था'। मानो तृष्णा ज़बरदस्ती उधर ले जाती है।।३६।।

अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जवाब देते हैं। भगवान् किसे कहते हैं? सब लोगों के प्रवर्तक के बारे में उठाये प्रश्न का जवाब वही दे सकता है, जो सब चीज़ों को जानता हो। इसलिये यहाँ 'श्री भगवान् उवाच' से बताया कि श्रीकृष्ण संसार की उत्पत्ति के कारण को भी जानते हैं, प्रलय के कारण को भी जानते हैं, प्राणियों को कर्मफल मिल कर के स्वर्गादि की प्राप्ति कब और कैसे होती हैयह भी जानते हैं, और अधर्म करके नरकादि की प्राप्ति कैसे होती हैयह भी जानते हैं। सारी विद्याओं को भी जानते हैं, और अविद्याओं को भी जानते हैं। इस प्रकार वे सर्वज्ञ होने से यह भी जानते हैं कि मनुष्य बलपूर्वक पाप में प्रवृत्ति क्यों करता है? इतना ही नहीं, वे सर्वशक्तिमान् भी हैं। संसार के जितने ऐश्वर्य हैं, उन सब के मालिक हैं। सारे धर्म उनमें रहते हैं। सारा यश उनमें रहता है। सारी सम्पत्ति उनमें रहती है। इन सब के रहते हुए इन सबसे सर्वथा अस्पृष्ट रहते हैं, क्योंकि उनमें वैराग्य पूर्ण है। इसीलिये वे ही मोक्षरूप हैं। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने से वे ही निर्विवाद निर्णय दे सकते हैं।

अर्जुन का एक प्रश्न तो सीधा ही है कि, कौन नियुक्त करता है? एक निहित भाव यह भी है कि आप सर्वशक्तिमान् हैं, आप ही नियुक्त करते होंगे! संसार के अंदर, आप

सबके मालिक हैं, इसलिये अधर्म करने में भी आप ही नियुक्त करते होंगे।

भगवान् स्पष्ट करते हैं कि पाप में वे प्रेरित नहीं करते, कामना ही प्रेरक है

श्रीभगवान् उवाच
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

यह कामना ही है (जो सब अनर्थ प्राप्त कराती है)। यही (प्रतिरोध देखकर) क्रोध (बन जाती है)। इसका रजोगुण से कार्यकारणभाव संबंध है। यह बहुत खाती है, महान् पापों में प्रेरित करती है। संसार में इसे शत्रु जानो।

भगवान् ने कहा कि जीव को पाप आदि में प्रवृत्त करने वाला काम और क्रोध है। जीव कामना से प्रवृत्त होता है। और यदि कामना में किसी प्रकार की रुकावट आती है, तो क्रोध से प्रवृत्त होता है। काम-क्रोध ही सारे पापों का बीज है। अर्जुन का यही प्रश्न था कि किस से प्रयुक्त होकर पाप करता है? शास्त्र से प्रवृत्त होकर, या भगवान् से प्रयुक्त होकर पाप नहीं करेगा! पाप में प्रवृत्त करने वाला काम और क्रोध है। पाप कराने वाली चीज़ें ये हैं। इस काम को ही, अन्य मज़हब वाले शैतान, डेविल कहते हैं। वे मानते हैं कि गोड या अल्लाह तो लोगों को ठीक रास्ते ले जाता है, शैतान पथभ्रष्ट करता है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि शैतान कोई बाहरी चीज़ नहीं है, काम और क्रोध ही शैतान है।

राजोगुणसमुद्भवः। जब तुम्हारे अंतःकरण में रजोगुण बढ़ता है, तब काम उत्पन्न होता है। रजोगुण से काम उत्पन्न होता है। 'रजोगुणसमुद्भवः' का यह भी मतलब है कि जब कामना आती है, तब रजोगुण को बढ़ाती है। रजोगुण आने पर कामना होगी, और कामना होने पर रजोगुण बढ़ेगा। दोनों तरफ से बताने के लिये भगवान् ने 'रजोगुणसमुद्भवः' कह दिया। रजोगुण न बढ़े, इसके लिये आगे सत्रहवें और अठारहवें अध्यायों में विस्तार से समझायेंगे। रजोगुण, तमोगुण इसलिये नहीं बतला रहे हैं कि तुमको उनका प्रयोग करना है! रजोगुण और तमोगुण से बचने के लिये बतलाया जा रहा है कि उनके जो कारण कहे हैं, उनसे बचो। सत्त्वगुण के साधन कर्त्तव्य रूप से कहे हैं। पहले किये हुए धर्माधर्म-संस्कारों से मन में रजोगुण आयेगा तब तुम कामना करोगे। अगर तुमने कामना की, तो रजोगुण और बढ़ेगा, कामनाओं को बढ़ायेगा, उन कामनाओं को पूरा करने से फिर रजोगुण बढ़ेगा। किन्तु अगर पूर्व कृत धर्माधर्मादि-संस्कारों से रजोगुण उत्पन्न हुआ, उससे कामना हुई, शास्त्र-विरुद्ध होने से उस कामना को तुमने पूरा नहीं किया, तो रजोगुण बढ़ नहीं पायेगा और धीरे-धीरे घटकर ख़त्म हो जायेगा। 'रजोगुणसमुद्भव' के द्वारा भगवान् ने कह दिया कि कामना की उत्पत्ति का कारण रजोगुण है, परन्तु आगे रजोगुण बढ़ेगा तभी जब तुम कामना पूरी करोगे।

कामना तुमको कैसे प्रवृत्त करती है? जब तक तुम्हें कामना के साथ एकता का

अनुभव न होवे, 'यह मेरी कामना है, मैं चाहता हूँ' ऐसा न लगे, तब तक कामना प्रवृत्त नहीं करेगी। अगर तुमको यह बोध हो जाये कि 'यह किसी दूसरे की कामना है, मेरे दुःख का कारण बनेगी', तब उसे पूरा करोगे नहीं। कामना को तुम से एक प्रतीत करानायही अज्ञान का कार्य है। मन में कामना उत्पन्न हुई, वह मन की बात रही। जो तुम्हारे पहले डाले हुए मन में संस्कार हैं, चित्त में संस्कार हैं, उनसे तुम्हें कामना हो गयी। यदि लगता है 'यह मेरी कामना है', अर्थात् तुम मन से अपने को एक समझते हो, तब तो तुम उस कामना को पूरा करने चलोगे और रजोगुण को बढ़ाओगे। उससे फिर कामना होगी और वह चक्र चलता रहेगा। परन्तु यदि किसी प्रकार तुमको पता चल जाये कि 'यह कामना मेरी नहीं', तो तुम इस चक्र में फँसने से बच सकते हो क्योंकि तुम कामना पूरी करने जाओगे नहीं, तो जितना प्रारब्ध से रजोगुण आया है, वह अपना काम करके ख़त्म हो जायेगा, आगे बढ़ेगा नहीं।

उस अज्ञान को मिटाने के दो ही तरीके हैं। एक है, विचार-मार्ग के अंदर तुम यह विचार करो कि, 'मैं' सचमुच में कौन हूँ? एक ही चीज़ हमेशा स्पष्ट रहती है'मैं चेतन हूँ'। बाकी सब चीज़ें तो बदलती रहती हैं। मैं बच्चा हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँसब चीज़ें बदलती रहेंगी, पर क्या नहीं बदलता है? 'मैं चेतन हूँ'यह नहीं बदलता। चेतन मायने क्या? जो जाने, यही चेतन का लक्षण है। तुम कामना को जान रहे हो कि नहीं जान रहे हो? जब कहते हो, 'मेरी यह इच्छा है', तो तुम इच्छा को जानते हो। 'मेरी यह किताब है' जानते हो तो किताब तुम से अलग है। इसी प्रकार, 'मेरी यह कामना है', जानते हो तो कामना भी तुम से अलग ही है। जब विचारपूर्वक अपने को अलग कर लोगे कामना से, तब कामना तुमको प्रवृत्त नहीं कर सकेगी। यह एक उपाय है। दूसरा उपाय है शरणागतिका : यह भाव कि 'यह कामना मेरी नहीं है, क्योंकि, मैं परमात्मा का हूँ। शास्त्र में परमात्मा ने कहा है कि यह कामना ग़लत है'। इस उपाय में, 'मैं कामना वाला हूँ', यह नहीं हट रहा है। मैं तो कामना वाला हूँ, पर *इस* (शस्त्रविरुद्ध) कामना को ईश्वर चाहता नहीं और वही मेरा मालिक है, मैं उसके शरणागत हूँ। इस भावना से ग़लत कामनाओं का बल कट जाता है। ठीक जिस प्रकार नौकर चाहता है वातानुकूलित कक्ष में बैठा रहे, पर उसको वहाँ बैठाने वाला, तन्ख्वाह देने वाला मालिक कहता है, 'एक रुपया लो, पान का जोड़ा ले आओ', तो नौकर को अच्छा नहीं लगता, उसका द्वेष है बाहर जाने में, लेकिन जाना पड़ता है, क्योंकि मालिक ने कह दिया; नहीं जायेगा तो नौकरी से निकाल दिया जायेगा, खाने-पीने की ही कठिनाई आ जायेगी! अभी ज़बरदस्ती दस मिनट या आधा घंटा वहीं खड़ा भी रह गया तो आगे तो कभी यह सुविधा मिलनी नहीं है। उसकी इच्छा तो बैठे रहने की है पर मालिक की इच्छा है, अतः पान लेकर आता है। इसी प्रकार सेमेरे अंदर कामना आई। वह मेरी कामना तो है, परंतु शास्त्र के द्वारा परमात्मा ने कह रखा है, 'यह नहीं करो। उसकी जगह यह

करो'। इसलिये चूंकि मैं उसका नौकर हूँ, उसके शरणागत हूँ, इसलिये मन नहीं कर रहा तो भी उसकी आज्ञा के अनुसार ही करना है। ये दो ही रास्ते हैं। यदि विचार-शक्ति है तो तुम कामना से अपने को अलग जानो, तब वह प्रेरित नहीं कर सकेगी, और यदि वह नहीं कर सकते हो तो भगवान् की आज्ञा में बंध कर रहो। किंतु इसके लिये जो भगवान् ने कहा था'श्रद्धावन्तोनसूयन्तः', वह आवश्यक है। परमात्मा में, शास्त्र में श्रद्धा चाहिये, परमात्मा को, शास्त्र को दोष बिना दिये हुए उसकी बात स्वीकारनी चाहिये। जो श्रद्धा वाला और अनसूयु है वही परमात्मा की आज्ञा मान कर व्यवहार करेगा। नतीजा यह होगा कि कामना होगी प्रारब्ध से, पर आगे उसको पूरी करने नहीं जायेगा तो आगे रजोगुण बढ़ेगा नहीं। उल्टा, वह परमात्मा का चिन्तन करेगा, तो थोड़ी ही देर में अंतःकरण सात्त्विक हो जायेगा। इसको बतलाने के लिये भगवान् ने कह दिया 'रजोगुणसमुद्भवः'; रजोगुण से उत्पन्न है कामना, और कामना रजोगुण को उत्पन्न करती है, अर्थात् बढ़ाती है।

बहुत से लोग कहते हैं, 'मन में कामना होवे तो पूरी कर लेनी चाहिये, नहीं तो तृष्णा मिटेगी नहीं। यह धोखा आजकल प्रायः लोग खाते हैं! खास कर यूरोप में फ्रायड साहब हुए हैं, वे यही कहते हैं कि जो अपनी इच्छा हो वह पूरी कर लेनी चाहिये, नहीं तो मन के अंदर ग्रन्थियाँ बन जाती है। किंतु यह अनुभव से भी विरुद्ध है। कामना कभी भी पूरी करके *शांत* होती नहीं। अपने जीवन में देख लोहमें रसगुल्ला खाते हुए चालीस साल हो गये, आईसक्रीम खाते हुए चालीस साल हो गये, चाट खाते हुए चालीस साल हो गये, क्या उनकी कामना कम हुई? आज भी बढ़िया चाट आती है तो झट मुँह से पानी निकलने लगता है! इसलिये भगवान् कहते हैं कि कामना, कामना की पूर्ति से शान्त होती नहीं क्योंकि'महाशनः'यह बहुत खाने वाली है, इसको चाहे जितना खिला दो, फिर भी इसकी भूख मिटती नहीं। महाशन होने के कारण ही, बार-बार कामना आयेगी, बार-बार उसको पूरा करोगे, और तुम्हारे पाप बढ़ते जायेंगे। महान् पाप का यही कामना कारण है, क्योंकि इसकी भूख कभी मिटती नहीं। 'इह' इस लोक में, मनुष्य लोक में आकर निश्चित समझ लो कि कामना तुम्हारा दुश्मन है। लगती तो यह सबसे ज़्यादा मीठी है, पर है यह दुश्मन। निश्चय करो कि यह वैरी है। काम से प्रेरित होकर ही सारे पाप कर्म होते हैं। कोई पूछता है, 'कितने बजे हैं?' घड़ी में सात बजे हैं तो हम कहेंगे, 'सात बजे हैं।' जितने बजे होंगे, उतने बतला देंगे। पर यदि हमने किसी से कहा है कि, सात बजे मिलने आयेंगे। सात बज के दस मिनट हो गये हैं। जैसे ही तुम पहुँचते हो वह पूछता है, 'क्यों भाई, कितने बजे हैं?' तो क्या कहते हो? 'बस, सात से कुछ ही ऊपर।' क्यों? ताकि यह मुझे विलंब से आया न समझे, समय पर आया समझे, इसीलिये झूठ बोलते हो। कभी भी, कोई भी बिना मतलब के झूठ नहीं बोलता। कोई-न-कोई मतलब होगा, तभी झूठ बोलेगा। अखाद्य खाते हो। क्यों? वह चीज़ खाने में अच्छी लगती है, तब खाते ही। यदि अखाद्य

ही खाना होता किसी को, तो सूअर की टट्टी भी खा लेता! उसे नहीं न खाने जाता है। जो चीज़ पसंद आती है, उसी को खाने जाता है। इसी तरह, सब चीज़ों में व्यक्ति प्रवृत्ति किसमें करता है? जिसमें कामना है।

प्रश्न हो सकता है कि पुण्य करने की भी कामना हो कर आदमी पुण्य कर लेता है। पुण्य काम कराने वाली कामना को महापाप्मा क्यों कहा? उत्तर समझना चाहिये कि यहाँ प्रसंग है मोक्ष का। कामना पुण्य भी कराती है और पाप भी कराती है, यह तो ठीक है, परन्तु पुण्य करने से धर्म होगा, धर्म तुमको स्वर्गादि ले जायेगा किन्तु इस चक्र से बाहर नहीं निकालेगा। रखेगा इसी संसार चक्र में। इसलिये जो मोक्ष-मार्ग में चलना चाहता है उसके लिये पुण्य भी बंधक होने से पाप के ही समान है अतः उसमें प्रवर्तक कामना को महापाप्मा कहना उचित है। प्रसंग के अनुसार धर्म शब्द से अधर्म का भी ग्रहण करना पड़ता है, अधर्म शब्द से धर्म का भी ग्रहण करना पड़ता है। क्योंकि धर्म शुभकर्म करके, शुभफल देकर, बंधन पैदा करता है अतः मोक्ष के मार्ग में प्रतिबंधक है। इस दृष्टि से विचार करो, तो शुभकर्म का बंधन ज़्यादा तगड़ा होता है! शास्त्रकारों ने इसको इस तरह से कहा हैमोक्ष के लिये मनुष्य-जीवन श्रेष्ठ है। क्यों? स्वर्गादि में भोग इतना ज़्यादा है कि विचार में प्रवृत्ति नहीं होती। एक-के-बाद एक सुख मिलता जाये तो कौन विचार करेगा? सब भोगों की उपलब्धि होती है स्वर्गादि में, तो मोक्ष की इच्छा नहीं होती, विचार ही नहीं होता। पापादि के द्वारा प्राप्त निकृष्ट योनियों में दुःख की बहुलता होती है, तो प्राणी दुःख से छूटने के लिये इतना विह्वल होता है कि क्या विचार करेगा! अत्यन्त भोगी भी विचार जल्दी नहीं करता और अत्यन्त दुःखी भी विचार जल्दी नहीं करता। मनुष्य जीवन ऐसा है, जिसमें पुण्य और पाप दोनों फल देते हैं। इसलिये न तो इतना दुःख है कि विचार न करे, और न इतना सुख है कि विचार न करे। थोड़ा-सा सुख में डूबता है तो कोई-न-कोई दुःख बीच में आ जाता है। झट विचार की प्रवृत्ति होती है कि 'अरे! मेरा सुख कैसे चला गया?' इसी प्रकार से दुःख के बीच में सुख आ जाता है तो भी 'अचानक कैसे आ गया?' यह विचार होता है। जहाँ सुख-दुःख दोनों होते हैं, वहाँ विचार में प्रवृत्ति होती है। ब्रह्मसूत्रों में देवताधिकरण है। उपनिषदों में कथाएँ आती ही हैं कि इन्द्र आत्मज्ञान के लिये गया था, नारद आत्मज्ञान के लिये गये थे, नारद भी देव-ऋषि थे। देवताओं की भी प्रवृत्ति इस बात को बतलाती है कि, कोई-कोई वहाँ भी मोक्ष के रास्ते में जाते हैं। इसी तरह से, काक भुशुंडी कौए होकर भी इस रास्ते गये थे। जैसे उत्तम योनियों में भी कोई-कोई मोक्ष के रास्ते में जाने वाले हो जाते हैं वैसे निकृष्ट योनियों वाले भी कोई-कोई हो जाते हैं। परन्तु प्रायः करके विचार की प्रवृत्ति तब होती है, जब सुख और दुःख दोनों हों इस दृष्टि से चूंकि बंधन का कारण होता है, इसलिये यहाँ पाप शब्द से धर्म का भी ग्रहण कर लिया है।

कामना, स्वर्गादि देकर भी बंधन ही करेगी, और निकृष्ट फल देकर के, दुःख देकर के

भी बंधन का ही अनुभव करायेगी। अतः कामना से कभी भी मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिये उपनिषदों ने बड़ा स्पष्ट कर दिया है

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते।'

यह उपनिषद् का मंत्र स्पष्ट कहता है कि जब जीव सारी कामनाओं से छूट जाता है तभी मुक्त होता है। कामना कहाँ रहती है? हृदय के अंदर आश्रित होती है। जब कामनाएँ चली जाती हैं तब मरणधर्मा अमरणधर्मा हो जाता है, यहीं परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। इसलिये कामना को मोक्ष-शास्त्र में तो हमेशा वैरी ही मानना पड़ेगा।।३७।।

वैरी कैसा है? इसको ज़रा दृष्टांत से समझाते हैं

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

जैसे धुएँ से आग ढक जाती है, मल से दर्पण ढकता है, जरायु (जेर) से गर्भ ढका होता है, वैसे कामना से ज्ञान ढका रहता है।

भगवान् तीन दृष्टांत देते हैं ताकि कामना की दुश्मन-रूपता स्पष्ट हो। पहला दृष्टांत दियाजैसे धुआँ अग्नि का दुश्मन है। अग्नि जल रही है, धुआँ खूब होवे तो तुमको अग्नि नहीं दीखेगी। धुआँ हटे, तब अग्नि प्रकट होगी। इसलिये धुआँ अग्नि का वैरी है। धुएँ और अग्नि का दृष्टांत क्यों लिया? धुआँ अग्नि को ख़त्म नहीं करता, ढांकता है। इसी प्रकार, कामना भी आत्मा को ख़त्म तो कर नहीं सकती है, पर आत्मा की जो सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता है, उसको प्रकट नहीं होने देती। वैरी शब्द का कई भावों में प्रयोग होता है : जो जिसे मार डाले, वह उसका वैरी या शत्रु कहा जाता है। क्या कामना से आत्मा मर जाता है? यह शंका कोई कर सकता था। भगवान् कहते हैं, कि जैसे धुआँ, आग को आवृत करता है, ढाँकता है, वैसे ही कामना के कारण तुम्हारी जो अनन्त शक्तियाँ तुम्हारे अंदर हैं, वे सारी ढकी रहती हैं, इतनी ही उसकी शत्रुता है। ब्रह्मसूत्रभाष्य के अंदर एक जगह प्रश्न ही किसी ने किया है कि क्या आत्मा की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता अप्रकट ही रहती है? उत्तर दिया है कि जैसे-जैसे साधन बढ़ता है और शुद्धि आती है, वैसे-वैसे आत्मा की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होने लगती है अर्थात् वैसे-वैसे साधक का ज्ञान भी बढ़ेगा, सामर्थ्य भी बढ़ेगी। अतः सर्वथा नहीं रहते हैं ऐसा नहीं, परन्तु जब तक कामना का तेज रहेगा तब तक वह उन्हें प्रकट नहीं होने देगी। इसलिये पहला दृष्टांत दियाधूम-अग्निका।

दूसरी बात है कि धुआँ कब होता है? लकड़ी में जितनी जल की मात्रा होगी, उतना ही धुआँ ज़्यादा होगा। जितनी लकड़ी गीली होगी, जितना उसमें पानी होगा, उतना ही

धुआँ ज़्यादा होगा। अगर लकड़ी बिल्कुल सूखी है तो धुआँ नाममात्र को होगा, थोड़ा-बहुत पानी तो लकड़ी में रहता ही है। जो आग को ढाँकता है उस धुएँ को प्रकट करने वाला है आग के साथ रहने वाला पानी। इसी प्रकार, कामना केवल प्रकृति में नहीं हो सकती। प्रकृति तो जड है। जड चीज़ में कामना नहीं हो सकती। हमारा शरीर भी जड है, इसमें कामना नहीं हो सकती। यदि शरीर में कामना होती तो जब आत्मा इसमें से चला जाता है, व्यक्ति मर जाता है, तब भी कामना होती! शरीर इत्यादि जितनी जड चीज़ें हैं, उनमें कामना नहीं हो सकती। आत्मा में कामना कहाँ से होवे! जैसे आग में धुआँ नहीं होता। परन्तु आग जहाँ लकड़ी में है, वहाँ जो पानी है, उससे धुआँ प्रकट होता है। लकड़ी में पानी और आग, दोनों मिल कर हैं। कभी तुम लोगों ने यज्ञ देखा होगा, उसके लिये लकड़ी को घिसकर अरणि-मन्थन से आग पैदा करते हैं। लकड़ी को घिसकर आग तभी पैदा हो सकती है जब पहले लकड़ी में आग होवे। जो चीज़ जहाँ न हो, वह प्रकट होती हो, तो बालु को पेर कर तेल निकाल लो, पानी को मथ कर घी निकाल लो! दूध से ही घी निकलेगा क्योंकि दूध के अंदर घी है। तिलों से ही तेल निकलेगा क्योंकि तिलों के अंदर तेल है। जो चीज़ जहाँ है उसमें से, तरीके से वही निकल सकती है। लकड़ी को मथ कर अग्नि निकल सकती है इसलिये लकड़ी में अग्नि है। और पानी भी वहीं है। एक ही लकड़ी में पानी भी है और अग्नि भी है तभी धुआँ पैदा होता है।

इसी प्रकार से जो अहम् है, उसके अंदर परमात्मा भी है। 'मैं चेतन हूँ'इसमें चेतन वाला हिस्सा परमात्मा का है। और, जैसे अनुभव है कि 'मैं चेतन हूँ', वैसे ही अनुभव है कि 'मैं अज्ञानी हूँ।' 'सब चीज़ों को जानने वाला मैं हूँ'ऐसा अनुभव हमें तो होता नहीं है। हमेशा यही अनुभव होता है, कि कुछ जानता हूँ, कुछ नहीं जानता हूँ। थोड़ा भी बुद्धिमान् इस बात को जानता है, कि जो मैं नहीं जानता वह, जो मैं जानता हूँ उससे बहुत ज़्यादा है! इसलिये महाराजा भर्तृहरि ने कहा है, कि जब मैं बहुत थोड़ा जानने वाला था तब तो मैं हाथी की तरह मस्त होकर समझता था कि मैं सब कुछ जानता हूँ। जब विद्वानों के पास गया, तब पता लगा कि मैं कितना बड़ा मूर्ख हूँ, कुछ नहीं जानता हूँ। न्यूटन के बारे में कहते हैं कि उसे किसी ने कहा 'आप तो सब कुछ जानने वाले हैं'। उन्होंने कहा'बेवकूफ कहीं का। ऐसी बात नहीं कहते।' उन्होंने हाथ में समुद्रतट की बालु उठा ली और पूछा, 'इस मुट्ठी में ज़्यादा कण हैं, कि समुद्र के किनारे में इससे बहुत ज़्यादा कण हैं?' उसने कहा 'समुद्र के किनारे में इससे बहुत ज़्यादा हैं, अनन्त गुणा हैं।' उन्होंने कहा'इसी प्रकार, जो मैं जानता हूँ उससे, जो मैं नहीं जानता, वह अनन्त गुणा है।' थोड़ा भी विचारशील इस बात को जानता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ।'

इस तरह हम दोनों बातें जानते हैं'मैं चेतन हूँ, इसलिये मैं जानता हूँ, और मैं अज्ञानी हूँ इसलिये नहीं जानता।' ज्ञान और अज्ञान दोनों मिल कर ही 'मैं' हूँ। इसीलिये यदि इस 'मैं' को ठीक प्रकार से मथो, तो इसी में से आत्मा की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता

प्रकट हो जाती है। दही में पानी ज़्यादा रहे तो मक्खन पूरा नहीं निकलता, ऐसे ही कामना का हिस्सा ज़्यादा रहेगा, तो आत्मा ऐसा ढक जाता है कि लगता है 'बिल्कुल दबा हुआ हूँ, मुझ में न कोई ज्ञान है, न कोई शक्ति है।' इसलिये भगवान् ने पहला दृष्टांत दियाजैसे आग को धुआँ ढाँकता है। धुआँ आग से ही, जल के संबंध से, प्रकट होता है और उसे ढाँकता है। इसी प्रकार, कामना आत्मा के अज्ञान से संबंध के कारण ही पैदा होती है और आत्मा को आवृत करती है।

कामना का मूल क्या है? अज्ञान। सब कुछ परमात्मा का है। एक दिन यहाँ से सब छोड़ कर जाना पड़ेगा। परंतु फिर भी दृढ आग्रह है कि अपनी ज़मीन दूसरे के हिस्से में कैसे आने देवें? ज़मीन के लिये लोग कत्ल भी कर देते हैं। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान लड़ते हैं, किसलिये? दोनों किसी क्षेत्र को कहते हैं 'यह हमारी ज़मीन है।' ज़मीन न इनकी है, न उनकी है! ज़मीन मेरी रहेइस कामना का कारण क्या है? इस बात का अज्ञान कि सचमुच तो यह भगवान् की है, न हमारी है, न तुम्हारी है। इसी प्रकार से कामना होती है कि जैसे इन्द्र अमृत का भोग करता है वैसे मुझे भी अमृत का भोग मिले। हम आत्मा की सर्वज्ञता को नहीं जानते, इसलिये कामना करते हैं। गीता के अंत में भगवान् कहेंगे'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' हे अर्जुन! परमेश्वर सबके हृदय में है। तुम्हारे हृदय में बैठकर समोसा खा रहा है, इन्द्र के हृदय में बैठकर अमृत पी रहा है। वह जब चला जायेगा, तब तुम समोसा नहीं खा सकोगे, और इन्द्र अमृत नहीं पी सकेगा। परमात्मा की सर्वव्यापकता का यह अज्ञान है, इसीलिये इच्छा करते हैं। जितनी यह इच्छा कम हो जाती है उतना आत्मा स्पष्ट होता है। कामना घटेगी तभी जब आत्मा की व्यापकता समझोगे। लोक-दृष्टि से भी जब तुम्हारा 'मैं' एक शरीर-मन की अपेक्षा ज़्यादा विस्तृत होता है तब तुम्हारा भोग-क्षेत्र बढ़ने से तृप्ति का मौका ज़्यादा रहता है, जैसे पत्नी बच्चों के भोग से भी तुम तृप्त होते हो। जब समग्र ब्रह्माण्ड में स्वयं को जानते हो तब पूर्ण तृप्ति होगी इसमें क्या कहना! जब अज्ञान सर्वथा मिट जाता है और तुम जानते हो कि सर्वत्र एक ही परमात्मा बैठा है, तब किस चीज़ की कामना करो? कौन-सी चीज़ तुम्हारी नहीं है जिसकी तुम कामना करो?

जैसे लकड़ी में आग के साथ जल बैठा है इसलिये धुआँ होता है, इसी प्रकार 'मैं' के अंदर परमात्मा के साथ अज्ञान बैठा हुआ है इसलिये कामना का धुआँ होता है। यह धुआँ कैसे कम होगा? लकड़ी में जितना पानी कम होता जायेगा, लकड़ी सूखती जायेगी, उतना धुआँ कम होता जायेगा। इसी प्रकार जितना-जितना तुम्हारा अज्ञान कम होगा, उतनी-उतनी तुम्हारी कामना भी दूर होती जायेगी। प्रथम दृष्टांत का यह तात्पर्य है।

आग धुएँ से ढक जाती है, बस इतना ही होता है, आग की जगह और कुछ नहीं दीखता। ऐसे ही परमात्मा हमें न दीखता, पर सारे लोग, यह सारा संसार कैसे दीखने लग गया? इसके समाधान में दूसरा दृष्टांत दिया'आदर्शः मलेन च'। आदर्श कहते हैं काँच

को, शीशे को जिसमें मुँह दीखता है। यदि शीशे के ऊपर धूल हो तो शीशा ढकता है इतना ही नहीं, बिगड़ा प्रतिबिम्ब दीखता है। शीशे का गुण है कि उसमें तुम्हारा मुँह दीखेगा, जो भी चीज़ सामने होगी वह दिखेगी। मल होगा, धूल होगी, तो प्रतिबिंब साफ नहीं दीखेगा। दीखेगा तो मुँह ही, पर अस्पष्ट। यह कभी देखना हो तो बनारस आ जाना : बनारस में गंगा जी में नहाकर बाहर निकलोगे तो पण्डा तुमको एक काँच और चंदन देगा कि लगा लो। काँच में मुँह देखोगे तो कुछ पता ही नहीं चलेगा कि बंदर है, या घोड़ा है, या बुड्ढा है! क्योंकि वह काँच बड़ा दागी होता है। तुम्हारा ही मुँह उसमें है लेकिन काँच के ऊपर पड़ा हुआ जो मल है, उसके कारण, जैसा मुँह है वैसा नहीं दीखता, कुछ और दीखता है। यदि काँच को बिल्कुल साफ कर दो, कोई मल न रहे, तो जैसा तुम्हारा चेहरा है वैसा ही दीखेगा। ठीक इसी प्रकार तुमको सारा संसार कहाँ दीखता है? मन में दीखता है। ऐसा नहीं समझना कि हम कह रहे हैं कि संसार मन में है। संसार मन में *दीखता* है। बिना मन के संसार नहीं दीखता। गहरी नींद में मन नहीं होता तो संसार कहाँ दीखता है! मन में ही संसार दीखता है। मन मल वाला है इसलिये जो परमात्मा उसमें दीखना चाहिये वह न दीख कर तुमको सारा संसार दीख रहा है।

जब तुम्हारा मन पूर्ण शुद्ध हो जायेगा तब इस मन में ही तुमको परमात्मा के रूप का दर्शन होगा। इतना ख्याल रखना : औरत को अपनी नाक या आँख नहीं दीखती है, काँच में पड़ा हुआ अपना प्रतिबिम्ब ही दीखता है। दीखता प्रतिबिम्ब है, लेकिन वह समझ जाती है कि 'मेरी आँख ऐसी है या मेरी नाक ऐसी है।' इसी प्रकार मन में परमात्मा का प्रतिबिम्ब दीखेगा। परमात्मा तो बिम्बरूप है। लेकिन प्रतिबिंब से पता चल जायेगा कि परमात्मा कैसा है। जैसे काँच के ऊपर आया हुआ जो धूल आदि है, उसके कारण चीज़ ठीक नहीं दीखती वैसे ही समल मन में परमात्मा ठीक नहीं दीखता। मन के ऊपर धूल किसकी है? कामनाओं की। कामना ही धूल है। इसलिये, जितनी कामना दूर करोगे, मन साफ होता जायेगा, उतना ही परमात्मा का दर्शन स्पष्ट होता रहेगा। अन्त में मन जब बिल्कुल शुद्ध हो जायेगा, तब जैसा परमात्मा है, वैसा ही प्रकाशित हो जायेगा। इसी को समझाने के लिये यह दूसरा दृष्टांत दिया।

तीसरा दृष्टांत दिया, कि जैसे गर्भ उल्ब, जरायु, जेर-नामक झिल्ली के द्वारा ढका होता है। गर्भ के अंदर बच्चा जरायु से बिलकुल ढका होता है। उल्ब के अंदर ढके हुए गर्भ का पता नहीं लगता कि इसको क्या बनना है? कैसा है? कैसा नहीं है? उसकी वास्तविकता का पता नहीं लगता। लेकिन उल्ब, है उसका ही अंग। इसी प्रकार अहम् का अंग ही अज्ञान है क्योंकि अज्ञान व आत्मा मिलकर ही अहम् बना है, कारण ही कार्य का अंग होता है जैसे धागे ही कपड़े के अंग होते हैं। ऐसा अज्ञान कामना का रूप धरकर आत्मा को यों ढाँकता है कि इतना पता चलने पर भी कि अहम् चेतन है, उसकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो पाता। धुआँ व मैल आग व काँच के अंग नहीं पर उल्ब या जेर गर्भ का अंग

है, ऐसे अहम् अपने घटक से ही ढँका है यह तीरे दृष्टांत से बताया। अतः कामना व अज्ञान रहते ही विवेक प्रारंभ करना पड़ेगा, जब पूर्ण विवेक से अज्ञान व कामना दूर हो जायेंगे तब तो अहम् भी, अहंकार भी समाप्त ही हो जायेगा! उल्ब हटने पर तो बच्चा प्रकट हो जाता है, गर्भावस्था नहीं रहती। विवेकाभ्यास से ही धीरे-धीरे कामना व उसका मूल अज्ञान दूर होगा। इस तरह तीन उदाहरणों से भगवान् ने समझाया कि कामना कैसे आत्मा को ढाँके है।।३८।।

पूर्वोक्त दृष्टान्तों का दार्ष्टान्त बताते हैं

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३६।।

हे कौन्तेय! ज्ञानी का सदा का दुश्मन जो दुष्पूर और अनल काम, इसके द्वारा ज्ञान ढका है।

'एतेन' अर्थात् काम के द्वारा 'ज्ञानम् आवृतं', ज्ञान आवृत हो जाता है। परमात्मा के विषय में जो सुना है वह आवृत हो जाता है जब कामना आती है। परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, करुणाकर है इत्यादि बातें सुनी हैं। लेकिन कामना आती है तो सब ज्ञान ढक जाते हैं, इसलिये दुनिया-भर के दूसरे कारण हमारे सामने आ जाते हैं, परमात्मा एकमात्र कारण हैयह बात सामने नहीं रहती। कभी ग्रह सामने आ जाते हैं, कभी नक्षत्र सामने आ जाते हैं, कभी नज़र ही सामने आ जाती है, कभी वास्तु सामने आ जाता है! ऐसा क्यों हो गया? इधर खिड़की निकल गयी, इसलिये। एकमात्र परमात्मा ही संसार का सर्वशक्तिमान् कारण है, यह बात सामने रहती नहीं। परमात्मा के विषय में जो सुना है कि वह सर्वज्ञ है, दयाकर है, सर्वशक्तिमान् हैवह सब ढक जाता है, तथा और चीज़ें कारण बनकर दीखने लगती हैं।

परमात्मा का स्वरूप बतलाने वाला ग्रन्थ, ब्रह्मसूत्र सबसे पहले ब्रह्म का लक्षण करता है कि सृष्टि में जो भी उत्पन्न होता है उसका कारण परमात्मा है, संसार में जो भी चीज़ स्थित होती है वह भी इसलिये क्योंकि परमात्मा उसको स्थित रखता है और जो चीज़ नष्ट होती है वह इसलिये नष्ट होती है कि परमात्मा उसे नष्ट करता है। इस प्रकार, सृष्टि-स्थिति-लय का कारण परमात्माइस बात को सबसे पहले, परमात्मा का लक्षण करते हुए ही बतलाया। कैसे पता लगे कि परमात्मा ऐसी शक्ति वाला है? कहा कि इसमें शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। कारण के विषय में अपनी बुद्धि से सोचोगे, तब अनेक पदार्थ कारण लगेंगे। परन्तु जब शास्त्र की दृष्टि से सोचोगे, तब पता लगेगा कि ये सब कारण नहीं हैं। कृष्णयजुर्वेद की श्वेताश्वतर उपनिषद् के अंदर प्रश्न उठाया कि सारे जगत् का कारण कौन? कौन सारे जगत् को स्थित रखता है, जीवित रखता है? 'किम् कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाताः।' ऋषि लोग विचार करने लगे, तो अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग चीज़ें

कारण बतलायीं। किसी ने कहा काल ही कारण है। लोक में भी कहते हैं कि समय बड़ा बलवान् है, जब समय आता है तब काम हो जाता है। काल का पता कैसे लगे? सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों की गतिइन सब के द्वारा काल का पता लगता है। काल-कारणवादी सारे ज्योतिर्विद हैं ही। किसी ने कहा, 'काल कारण नहीं है, नियति कारण है।' एक किस्मत नाम की चीज़ होती है, वह कारण है। किसी ने कहा, 'काल, नियति, कारण नहीं हैं, हर चीज़ का अपना स्वभाव होता है, वह स्वभाव ही कारण है।' लोहे में जंग क्यों लगता है? उसका स्वभाव है जंग लगना। सोने का स्वभाव ऐसा नहीं है अतः उसमें नहीं लगता। कुछ लोगों ने कहायदृच्छा ही कारण है। आधुनिक लोगों के लिये सबसे बड़ा कारण कौन है? यदृच्छा, जिसे अंग्रेजी में चांस कहते हैं। आजकाल हर चीज चांस से हो जाती है। कोई आदमी सौदा करता है और तुरंत करोड़पति बन जाता है, दूसरा आदमी सौदा करता है और कंगाल बन जाता है! एक का चांस लग गया, दूसरे का नहीं लगा। आजकल सब से ज़्यादा कारणता चांस की सुनने को मिलती है।

कुछ भूतवादी होते हैं। वे कहते हैं, कारण तो ये महाभूत ही हैं। ये ही इधर-उधर होते हैं, उसी से सब कार्य हो जाता है। एक बहुत बड़े दार्शनिक थे, और मनोवैज्ञानिक थेएक बार उन्होंने बड़े ज़ोर-शोर से कहा कि हमने एक हज़ार आदमियों का परीक्षण करके देखा, जिस-जिस के शरीर में, अधिवृक्क (ऐड्रीनल) की क्रिया ज़्यादा होती है, वे आस्तिक होते हैं। प्रश्न होता है कि इससे ईश्वर की सिद्धि कैसे हो? आस्तिक की वह ग्रन्थि ज़्यादा काम करती हैयह तो सिद्ध हो भी जायेगा। लेकिन वह ज़्यादा काम करे तब ठीक है, या कम काम करे तब ठीक हैइसका निर्णय कैसे होगा? लेकिन जो पंच महाभूतों को कारण मानने वाले हैं वे हर चीज़ का कारण भूतों को ही मानते हैं। आदमी सोचता है, तो भी कहते हैं, कि ऐसा रसस्राव हो गया दिमाग में, या ऐसा नसों में प्रवाह हो गया, इसे ही कहते हैं कि विचार हो गया। इस प्रकार ये भूतवादी हैं। कुछ विचारकों ने कहा, प्रकृति ही कारण है। प्रकृति खेलती है, जैसा चाहती है, वैसा करवा लेती है।

इन सब चीज़ों के बारे में विचार करने जाओ, तो समर्थन में भी हेतु हैं, और उसके विरोध में भी हेतु हैं। कोई चीज़ निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि यही कारण है। कैसे पता लगा कि असली कारण कौन है? उपनिषत् कहती है कि उन लोगों ने ध्यान लगाया। ध्यान लगा कर उनको साक्षात्कार हुआ कि एक परब्रह्म परमात्मदेव अपनी शक्ति से सब करता है। उसके सिवाय और कोई कारण नहीं है। जब जो चीज़ हमें कार्य के पूर्व मिलती है, तब हम उसी को कारण मान लेते हैं। किन्तु हमेशा वह पर्याप्त कारण होता होऐसा है नहीं। हर दृष्ट कारण का जब विचार करते हैं, तो उसके बारे में दोनों तरफ की बात मिलती है। इसलिये किसी भी कारणता का विचार करके कोई निर्णय पर नहीं पहुँचता है। इसका निर्णय तो अंदर की प्रज्ञा से ही होता है, अन्यथा नहीं होता। प्रज्ञा से उन्होंने निर्णय किया कि उस परब्रह्म परमात्मदेव की शक्ति से ही वह जो चाहता है वह

करता है। उसके सिवाय और कोई कारण नहीं। वही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है।

परमात्मा के विषय में जो यह शास्त्र के द्वारा हुआ ज्ञान है, इसे कामना ढाँक देती है। लगता है 'अगर मैं इस अफसर को अपने साथ मिल लूँ तो मुझे सौदा मिल जायेगा। दस लाख का फायदा हो जायेगा।' अर्थात् 'इसको मिलाने से काम होगा, परमात्मा क्या करेगा! वह तो बैठा होगा कहीं वैकुण्ठ में। हमारा काम तो यह अफसर ही करेगा।' इस प्रकार परमात्मा के विषय में जो शास्त्र ने कहा है वह ज्ञान आवृत अर्थात् ढक जाता है।

जैसे परमात्मा के विषय में शास्त्र से ज्ञान होता है, वैसे शास्त्र का दूसरा प्रतिपाद्य है धर्माधर्म। जैसे संसार का अन्तिम कारण कौनइसका निर्णय बुद्धि से नहीं हो सकता वैसे ही धर्म क्या है और अधर्म क्या हैइसका निर्णय बुद्धि नहीं कर सकती। बहुत-सी चीज़ें जो हमें धर्म लगती हैं, होती अधर्म हैं। बहुत-सी चीज़ें जो अधर्म लगती हैं, होती धर्म हैं। एक सज्जन थे, कोई भिखमंगा आता था तो धेला नहीं देते थे। कोई उनसे पूछता कि, 'अरे भाई, थोड़ा तो तुम दे दो, तुम्हारे पास इतना है, कुछ दे दिया करो।' तो वे कहते 'नहीं। देने से परमात्मा नाराज़ होगा। वह क्यों दुःखी है? परमात्मा उसको पाप के फल रूप से दुःख देना चाहता है। जैसे यदि कोई कैदी भाग रहा हो, और तुम उसकी मदद करो, तो तुम्हारे ऊपर सरकार खुश होगी कि नाराज़ होगी? इसी प्रकार जो दुःखी है, उसको परमात्मा तो दुःखी करना चाहता है और तुमने उसको दुःखी न होने में मदद कर दी तो परमात्मा नाराज होगा या प्रसन्न होगा?' बुद्धि तो कहती है, मदद नहीं करनी चाहिये, परमात्मा नाराज होगा। पर शास्त्र कहता है कि हरेक दुःखी की मदद करो। करुणा होनी चाहिये। इस प्रकार धर्म को अधर्म भी बुद्धि लगा सकती है। इसी प्रकार अधर्म को धर्म प्रतीत करा सकती है। कई बार ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि मनुष्य सोचता है कि यह करना अधर्म नहीं है। मान लो कोई व्यक्ति किसी नशे का आदि है। उसको मदद करके शराब पिलाना धर्म है या नहीं? किसी भी प्राणी की मदद करना तो धर्म है। क्या उस शराबी को शराब पिलाना धर्म होगा? बुद्धि तो कहेगी, 'हाँ', शास्त्र कहता है कि अधर्म है।

धर्माधर्म का निर्णय भी बुद्धि से नहीं हो सकता जैसे परमात्मा के स्वरूप का निर्णय बुद्धि से नहीं हो सकता। शास्त्र दो ही चीज़ों का प्रतिपादन करता है, या धर्म का, या परमात्मा का। शास्त्र से पढ़ कर हमने जो धर्माधर्म समझा है, वह भी कामना से आवृत हो जाता है। जब किसी चीज़ की कामना होती है, तब शास्त्र से समझा हुआ धर्माधर्म भी उलट जाता है। जैसा अर्जुन में हो रहा है : अर्जुन शास्त्र पढ़ा हुआ है, समझदार है, और इसलिये युद्ध के मैदान में तो पहुँच गया। उसको कोई शंका नहीं थी कि युद्ध करना मेरा धर्म है। पर जब सामने देखा कि इस युद्ध में दादा को, गुरु को, मामा को मारना पड़ेगा, तब जो कामना कि ये हमारे पूज्य हैं, इसलिये इनको मारना ठीक नहींइसके द्वारा उसका ज्ञान ढक गया। जो कामना थी कि 'इनके मरने का कारण मैं न बनूँ', इसके कारण वह

डिग गया। कामना से ज्ञान आवृत हो जाता है।

भगवान् काम के साथ क्रोध को कह ही आये हैं। क्रोध के कारण भी समझा हुआ धर्माधर्म भूला जाता है। कर्ण ने अश्वत्थामा को कुछ कह दिया। अश्वत्थामा को गुस्सा आ गया। अश्वत्थामा ने कहा 'लड़ले मेरे साथ।' कर्ण ने कहा 'तू ब्राह्मण है, इसलिये मैं तेरे को नहीं मारना चाहता, नहीं तो मार कर ठीक कर देता!' अश्वत्थामा को क्रोध आया हुआ था, उसने अपना जनेऊ तोड़ कर फैंक दिया! कहा'ले, अब मैं ब्राह्मण नहीं रहा, अब मैं भी शूद्र हो गया। आ जा, लड़ ले।' फिर सब ने बीच में पड़ कर दोनों को ठण्डा किया। ऐसा नहीं कि अश्वत्थामा नहीं जानता था कि जनेऊ तोड़ना बुरा काम है, परन्तु गुस्से में व्यक्ति भूल जाता है। जैसे कामना में, वैसे ही क्रोध के अंदर भी, धर्माधर्म के विषय में भूल जाता है तो परमात्मा के विषय में तो भूलता है इसमें क्या कहना!

'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।' कामना ज्ञानी की नित्य वैरी है, ज्ञानी के लिये हमेशा दुश्मन है। भगवान् ने *सबकी* हमेशा दुश्मन नहीं बतलायी, ज्ञानी की हमेशा दुश्मन बतलाई। अज्ञानी जब कामना आती है, तब उसे अपना मित्र मानता है, इसलिये उस कामना की पूर्ति के लिये मेहनत करता है। जब उसके फलस्वरूप दुःख होता है, तब कहता है, 'अरे! मैंने बड़ी ग़लती की जो काम के वशीभूत होकर ऐसा किया।' जैसे, किसी को शक्कर की बीमारी है, डाक्टर उसे कहता है 'मीठा नहीं खाना।' बढ़िया मिठाई सामने आती है तो वह कहता है, 'खायेंगे, बड़ी अच्छी है। थोड़ी खायेंगे। ऐसे थोड़े ही मरा जाता है।' उस समय उसे वह कामना अच्छी लगती है। बाद में जब शक्कर बढ़ जाती है, चक्कर आने लगता है, जी घबराने लगता है, तब कहता है'अरे! खाने की इच्छा बड़ी खराब है, मुझे दुःखी करती है।' अज्ञानी पुरुष को तो जिस समय कामना आती है, उस समय अच्छी लगती है, जब उसका फल दुःखरूप होता है, तब बुरी लगती है, वैरी लगती है, शत्रु लगती है। लेकिन ज्ञानी के मन में जब कामना आती है, तभी उसे पता रहता है, कि 'यह बुरी तरफ प्रवृत्ति करा कर मेरे नाश का कारण है।' इसलिये, जब कामना उठती है तब भी वह उसको वैरी लगती है क्योंकि उसको पता है कि वह कहाँ ले जायेगी। बाद में तो जैसे अज्ञानी को दुःख देती है तो खराब लगती है, वैसे ज्ञानी को भी लगती है। उत्पत्ति काल में ज्ञानी के लिये तो वैरी है, अज्ञानी के लिये वैरी नहीं है, अज्ञानी को वह मित्र लगती है। ज्ञानी को हमेशा ही वैरी लगती है, जिस समय पैदा होती है, उस समय भी वह जानता ही है कि यह बंधन का कारण मेरे सामने आ गया।

'कामरूपेण' कामना अर्थात् इच्छा ही इस वैरी का रूप है। किसी भी चीज़ की इच्छा होना ही इसका रूप है, और कोई दूसरा इसका रूप नहीं है। अन्यत्र, अनेक जगह, अनेक प्रकार के शत्रुओं के रूपों का वर्णन किया है। परन्तु भगवान् वैरी का रूप कामना ही बता रहे हैं। शिव-पुराण में वर्णन है'भगवान् शंकर समाधि में बैठे हुए हैं, काम वहाँ आता है, उनके ऊपर बाण चलाता है।' यह सब सुनकर लगता है कि कामदेव कोई होता होगा

जो इस प्रकार मनुष्य को सन्मार्ग से च्युत करता होगा। किन्तु भगवान् कह रहे हैं कि ऐसा कोई मूर्ति धारण करके आने वाला नहीं है! इच्छा ही इसका रूप है। जिस चीज़ की इच्छा हो, समझ लो वही कामदेव है। 'दुष्पूरेण।' कामना को कभी कोई पूरी कर नहीं सकता। इसको पूरा करने में दुःख ही दुःख होगा, फिर भी पूरी यह कभी होगी नहीं। क्यों नहीं पूरी होगी? तो कहा दिया'अनलेन च।' कामना कभी भी पदार्थों से शान्त नहीं होती। महाराजा भर्तृहरि कहते हैं कि जब सौ की इच्छा होती है, तब व्यक्ति सोचता है कि सौ मिलेंगे तो सुखी हो जाऊँगा। जब सौ मिल जाता है, तब हज़ार की इच्छा होती है, लगता है हज़ार मिल जायें तो शान्त हो जायेंगे। फिर जब हज़ार मिलते हैं, तब लाख की इच्छा होती है! परन्तु शान्ति कभी होती नहीं। इसलिये कामना अनल है। आग को भी अनल क्यों कहते हैं? अलम् का मतलब होता है पर्याप्त। अनल का मतलब होता है, जो कभी भी पर्याप्त न हो। पर्याप्त मायने जिसको 'काफ़ी' कहते हो। कामना के लिये कभी भी 'काफ़ी' नहीं होता। जिसके पास दस मोटरें हैं, उसके मन में यह नहीं होता कि ग्यारहवीं मोटर हमारे पास न आवे। कामना को पूरा करना, सिवाय दुःख के और कुछ नहीं देता है। और यह कभी भी, पर्याप्तता का अनुभव नहीं करने देती, कि 'बस, अब इतना हो गया, और नहीं चाहिये'।

'कौन्तेय!' से भगवान् ध्वनित कर रहे हैं तू मेरी बुआ का लड़का है इसलिये मैं तुझे जो बात कह रहा हूँ, वह बिल्कुल ठीक है, कोई धोखाधड़ी की बात नहीं कर रहा हूँ। जैसे मित्र कहता है, 'मैं तेरा दोस्त हूँ इसलिये कह रहा हूँ', वैसे ही भगवान् कह रहे हैं कि 'मैं तेरा भाई हूँ इसलिये कह रहा हूँ।' ।३९।।

अर्जुन के मन में प्रश्न होता है कि ऐसी इस कामना को कैसे जीता जाये? दुश्मन को जीतने के लिये, दुश्मन कहाँ बैठता है इसका पता लगाना पड़ता है। शत्रु कहीं-न-कहीं किला बनाकर बैठता है। जब तक जहाँ वह बैठता है उस किले को तुम तोड़ो नहीं, उसका अधिष्ठान टूटे नहीं, तब तक उसे ख़त्म नहीं कर सकते। इसी प्रकार कामना कहाँ रहती है, कौन इसके अधिष्ठान हैं, क्या स्थान हैं?यह पता लगे तब इसे ख़त्म किया जा सके। इसी जिज्ञासा को शांत करने के लिये भगवान् उसका अधिष्ठान कहते हैं

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामना के आश्रय हैं। इनके द्वारा यह ज्ञान को ढाँक कर देहाभिमानी को विमोहित कर देती है।

कामना के तीन अधिष्ठान हैं, तीन जगह यह रहती है। एक तो यह इन्द्रियों में रहती है। बचपन से लेकर के आज तक तुमने कितनी बार खट्टा, मीठा, चिरका, जीभ को खिलाये हैं। आज तक इसको क्या पर्याप्त-बोध हुआ? चांदनी चौक में पहुँचते ही यह

चटकारा मारती है! इच्छा होती है कि थोड़ा तो खा ही लें। कभी भी पर्याप्त-बोध नहीं होता। इतना खा लिया, अब और आगे कभी नहीं खाना हैऐसा भाव नहीं बनता। सभी इन्द्रियों का यही हाल है। अनादि काल से कितनी चीज़ें देख लीं। पर फिर भी दुनिया देखने की, नयी चीज़ें, नयी जगहें, नये लोग देखने की इच्छा बनी ही रहती है। चाहे चीज़ों में कोई नयापन मिले नहीं, जगहें भी एक-सी लगें, लोग भी हमेशा देखे लोगों जैसे मिलें, फिर भी 'और नहीं देखना।'यह निश्चय नहीं बनता, मौका मिलते ही पुनः देखने को चल पड़ते हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में से कोई ऐसी नहीं है जो संतुष्ट होकर कह देवे, 'अब हमें नहीं चाहिये'। इस तरह इन्द्रियों के अंदर कामना रहती है।

मनःमन में भी कामना बैठती है। इसको तो प्रायः लोग मानते ही हैं कि मन में कामना रहती है। इन्द्रियों में जो कामना है, उसकी तरफ लोगों का जल्दी ध्यान नहीं जाता है। प्रायः करके लोग यह समझते हैं कि मन पर नियंत्रण कर लेंगे तो काम चल जायेगा। शास्त्रों के अंदर, शम और दम को पृथक् गिना है। शम मायने मन को रोकना, विषयों की तरफ जाने न देना। और दम मायने इन्द्रियों को रोकना। कई बार लोग पूछते हैं कि क्या मन को रोकने से काम हो जायेगा? केवल मन को रोकने से काम नहीं होगा क्योंकि इन्द्रियों में भी कामना बैठती है। इसलिये भगवान् ने पहले इन्द्रियों को कहा क्योंकि इन्द्रियों की कामनाओं को आदमी समझता नहीं है, मन में ही कामना समझता है।

मन तो हो गया, जो तुम्हारी भावनाओं का आशय है, संकल्प-विकल्प रूप है। तुम्हारी जो बुद्धि है, वह भी कामना के द्वारा ग्रस्त हो जाती है। बुद्धि है निश्चयात्मक। किसी भी चीज़ का निश्चय करने वाली बुद्धि है। बुद्धि भी जब कामना से ग्रस्त हो जाती है तब निश्चय गड़बड़ा देती है। स्पष्ट जानते हुए कि 'अमुक कार्य ग़लत है, हमारे अधिकार से परे है', लोग घूस के लालच में उस कार्य को कर डालते हैं! बुद्धि को मालूम रहते हुए भी धन की कामना बुद्धि से वह कार्य करा लेती है।

तुम्हारी भावना का क्षेत्र है हृदय या मन, और तुम्हारे निर्णय का केन्द्र है बुद्धि। बुद्धि और अहम्ये हमेशा साथ रहते हैं। 'मैं' का अनुभव हमेशा निश्चयात्मक होता है। 'मैं' का तुम्हें कभी कोई संकल्प-विकल्प नहीं होता है। इसीलिये बुद्धि के साथ ही अहम् को गिन लेना चाहिये। जहाँ अलग-अलग बताते हैं वहाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चार कह देते हैं। जहाँ दो कहते हैं, वहाँ अहम् को बुद्धि के साथ गिन लेते हैं और चित्त, जहाँ पर सारे संस्कार रहते हैं, उसे मन के साथ गिन लेते हैं। मन को उद्वेलित करने वाले चित्त के संस्कार हैं। पहले के संस्कारों के अनुरूप ही मन में संकल्प-विकल्प होते हैं। रस्सी साफ न दीखने पर पहले मन उन चीज़ों की संभावना ही उठायेगा जिनके अधिक संस्कार हैं, तब बुद्धि सही या गलत निश्चय करेगी। संकल्प-विकल्पात्मक मन सारी भावनाओं का केन्द्र है, उसी को हृदय भी कहते हैं, हिन्दी वाले दिल भी कहते हैं। बुद्धि निश्चयात्मक है, उसी को दिमाग भी कहते हैं। निश्चय-रूपा बुद्धि भी कामना का आश्रय है। बुद्धि की कामना हमें

ज़्यादा तकलीफ में डालती है! वह हमारे निश्चय को, हमारे स्वरूप को ही बदल देती है। इसलिये भगवान् का तात्पर्य है कि न कामनापूर्वक निश्चय करो, न कामनापूर्वक संकल्प-विकल्प करो, न कामनापूर्वक इन्द्रियों को प्रवृत्त होने दो।

'एतैः'इन तीनों के द्वारा, 'एषः'अर्थात् काम, 'ज्ञानमावृत्य' देहधारियों के ज्ञान को आवृत करता है और 'देहिनम् विमोहयति' देही को विमोह में डाल देता है। देहिनम् क्यों कहा? इन्द्रिय, मन और बुद्धितीनों का आश्रय शरीर ही है। शरीर में ही इन्द्रियाँ रहेंगी। शरीर में ही मन रहेगा, शरीर के अंदर ही बुद्धि का निवास रहेगा, अहम् का निवास रहेगा। कोई तुमको कामना ऐसी नहीं होती है जो शरीर-संबंधी न हो। इन्द्रिय, मन, बुद्धि के द्वारा है तो शरीर-संबंधी ही। शरीर-संबंधी नहीं ऐसी कामना शास्त्र से तो हो सकती है'मैं यहाँ यज्ञ करूँ जिससे यह शरीर छोड़कर स्वर्ग में जाकर अमृत का भोग करूँ।' शास्त्र से यह ज्ञान हो जाता है कि यहाँ कर के वहाँ फल होगा, परन्तु शास्त्र के बिना जितना ज्ञान होगा वह इस शरीर को ही लेकर होगा। इसलिये भगवान् ने कह दिया कि जो देही है अर्थात् देह का अभिमानी हैउसी के ज्ञान को आवृत करती है। जिस व्यक्ति ने देही होना छोड़ दिया, अर्थात् देह का अभिमान छोड़ दिया, उसे कामना विमोहित नहीं कर सकती।

देहधारी का ज्ञान अर्थात् हम लोगों का ज्ञान। हम लोग देही भी हैं, शरीर के अभिमान से रहित भी नहीं हैं, शरीर के अभिमान वाले हैं भी, और साथ में हमने शास्त्र का श्रवण किया है, शास्त्र को पढ़ा सुना है, हमें यह भी पता है कि क्या धर्माधर्म है और परमात्मा कौन है। किन्तु क्योंकि हम देही हैं इसलिये हम लोगों के ज्ञान को ढाँक कर कामना मोह में डाल देती है। विमोहयतिविविधं मोहयति, तरह-तरह से मोह में डालती है। एक तरफ से रोको तो दूसरी तरफ चली जाती है। इसका कुछ ठिकाना नहीं है! बहुत बार आदमी सोचता है, स्वादिष्ट चीज़ अच्छी लगती है, तो स्वाद से दूर हो जायें। ऋषिकेश में बहुत से महात्मा इसका अभ्यास करते हैंजो भी भिक्षा मिलती है उसे पहले गंगा जी में धो लेते हैं, जिसमें खट्टा-मीठा सब बह जाये, उसके बाद खा लेते हैं। यह मानकर कि धीरे-धीरे हमारे स्वाद की कामना चली जायेगी। लेकिन ऐसा कई साल करने के बाद खट्टा मीठा सहन नहीं होता! कभी प्रयोग करके देखो : छह महीने नमक न खाओ, उसके बाद थोड़ा-सा भी नमक पड़ेगा तो तुम्हें जहर की तरह लगेगा। छह महीने तक मिर्च न खाओ, तो उसके बाद थोड़ी-सी भी अगर मिर्च हो तो सहन नहीं होगी तुमको मसाले नहीं खाने की आदत पड़ गयी, मीठा नहीं खाने की आदत पड़ गयी तो अब उसी की कामना रहेगी। इसलिये कहा 'विमोहयति।' इसी प्रकार सभी चीज़ों में समझ लेना। पुराने ज़माने में हम लोग हृष्ट-पुष्ट आदमी को अच्छा समझते थे। दुबला-पतला हो तो समझते थे, कि कागज़ी आदमी है, किसी काम का नहीं है। आजकल सबको अच्छा लगता है कि व्यक्ति दुबला-पतला होवे। हड्डियाँ निकली होवें तो सुंदर लगता है! पुराने लोगों को वह बड़ा ही भद्दा लगता है। चाहे रूप हो, रस हो, गंध हो, सब की यही स्थिति है कि कामना उनके

बारे में विविध प्रकार से मोह करती है। सर्वत्र कामना का स्वरूप एक जैसा हैजो मेरी इच्छा का विषय है, वही ठीक है, दूसरा गलत है। इसलिये इस कामना से बचना बड़ा ज़रूरी है। किसी भी चीज़ की कामना नहीं होनी चाहिए।

एक आदमी कभी किसी भी बात पर गुस्सा नहीं करता था। कोई गुस्सा न करे तो किसी भी तरह से उसको गुस्सा दिलाने का शौक होता है बहुत-से लोगों को। किसी ने दूसरे से कहा कि 'उसे कभी भी गुस्सा नहीं आता है।' दूसरे ने कहा, 'आता कैसे नहीं! आदमी को गुस्सा आता ही है।' अपनी बात सिद्ध करने के लिये उसने उस आदमी के नौकर के साथ दोस्ती की। जब चार छह महीने हो गये, तब उसने पूछा 'तुम्हारे मालिक को कभी गुस्सा आता है?' वह बोला 'नहीं, उनको गुस्सा कभी नहीं आता है।' 'कुछ तो होगा जो उनको अच्छा न लगता होवे?' 'और तो किसी चीज़ की उनको परवाह नहीं रहती है, लेकिन सोते समय बिस्तरा उनका सीधा होना चाहिये। बिस्तरे में सलवट हो तो उनको अच्छा नहीं लगता।' उसने नौकर को झट से हज़ार रुपये पकड़ाये और कहा 'तुम उसके बिस्तर पर सलवट डाल दो। उसने सलवट डाल दी। वह सबेरे उठा तो उसने नौकर से कहा, 'अरे, तुमको पता है कि मुझे सलवट डाला हुआ बिस्तरा रात में सोने में अच्छा नहीं लगता है और तुमने सलवट छोड़ दी!' नौकर कुछ नहीं बोला। उस आदमी ने नौकर से पूछा, कि 'आज उन्होंने क्या किया?' उसने बताया कि केवल कह भर दिया, गुस्सा नहीं किया।

उसने कहा, 'ऐसा करो, आज दो सलवट छोड़ दो।' दो हज़ार रुपया भी दे दिया। उसने दो सलवट छोड़ दिये। अगले दिन फिर उसने पूछा तो नौकर ने कहा, 'बस उन्होंने इतना कहा, 'देख, तेरे को कल भी समझाया था और आज तूने फिर दो सलवट छोड़ दी।' झट उसने तीन हज़ार रुपये पकड़ाये कि, अब की तीन सलवट छोड़ देना। इस प्रकार पाँच-छह दिन हो गये, तो एक दिन मालिक ने नौकर से कहा, 'अब तू सलवटें छोड़ दिया कर, कोई बात नहीं, मुझे सलवट पर सोने की आदत हो गयी है।' नौकर ने जाकर बताया तो रुपये देने वाले ने कहा 'मेरे रुपये बरबाद गये! उसको तो गुस्सा आने वाला नहीं है।'

जिस चीज़ की कामना होगी, वही तुम्हारे दुःख का कारण हो सकती है, और अगर तुम किसी चीज़ की कामना करो ही नहीं, तो तुमको दुःखी किया कैसे जाये! क्रोध तो तभी आवे जब तुमको दुःख होवे। और जब तुमको दुःखी किया न जा सके तो क्रोध कैसे करोगे? इसलिये भगवान् ने कहा, कि कामना ज्ञान को आवृत करके नाना प्रकार के मोह में डाल देती है।।४०।।

भगवान् बतलाते हैं कि करना क्या चाहिये

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

हे भरतवंशोत्तम! इसलिये तुम प्रारंभ में इंद्रियाँ वश में लाकर ज्ञान और विज्ञान के

नाशक इस पापरूप कामना को सर्वथा छोड़ो।

क्योंकि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इसके अधिष्ठान हैं, इसलिये सबसे पहले इन्द्रियों को नियमित करो, नियन्त्रित करो अर्थात् किसी भी अशास्त्रीय कर्म में इन्द्रियों को प्रवृत्त होने न दो। मन और बुद्धि पर नियंत्रण तो बाद में कर पाओगे, पर इन्द्रियाँ स्थूल हैं। स्थूल पर पहले नियंत्रण करना सरल पड़ता है, सूक्ष्म का बाद में नियंत्रण किया जा सकता है। सब से स्थूल शरीर है। शरीर जो प्रवृत्ति करता है, इन्द्रियों के द्वारा ही करता है। अगर इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं होने दोगे, तो शरीर प्रवृत्ति करेगा नहीं। इसलिये जिनके अंदर कामना रहती है, उनमें सबसे स्थूल इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों में यहाँ कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सभी ले लेना।

सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ मनुष्य के अंदर है मन। शरीर के अंदर चेतन का प्रवेश मन के बिना नहीं होता। जब तक मन का संबंध शरीर से है, तभी तक चेतन का संबंध रहता है। चेतन आत्मा सर्वव्यापक है, सर्वत्र विद्यमान है। मुर्दे में भी विद्यमान है, पत्थर में भी विद्यमान है। चेतन आत्मा व्यापक होने के कारण सब जगह है। मुर्दे में भी आत्मा है पर क्या नहीं है? मन नहीं है। उसी को वेदान्त की पारिभाषिक भाषा में कहते हैं, सूक्ष्म शरीर नहीं है। मन नहीं होने से आत्मा रहता हुआ भी, अहम् रूप को धारण बिना किये, शरीर की प्रवृत्ति का हेतु और शरीर के सुख दुःख को भोगने वाला नहीं बनता। जिस समय 'मैं' नहीं रहता उस समय शरीर-संबंध का भान नहीं रहता। गहरी नींद में मन नहीं रहता तो तुमको मन का, शरीर का कोई भान नहीं रहता। कई बार सवेरे उठते हो, हाथ अकड़ा होता है। क्या हो गया? हाथ पर रात भर लेटे रह गये, पता ही नहीं चला। अगर शरीर का पता होता, तो तुम ठीक कर लेते अपने को। शरीर का भी पता तभी चलता है जब मन आता है। इसी प्रकार शरीर के अंदर जीवन भी लाने वाला मन ही है। सुषुप्ति में मन, शरीर से जाता कहीं नहीं है, रहता यहीं है, परन्तु कार्यकारी नहीं रहता है। जैसे अभी हमारी आँख फूटी तो नहीं है, पर हम पलकों को बंद कर लेवें, तो आँख कार्यकारी नहीं रहती, मुझे कुछ नहीं दीखता, मैं अंधे जैसा हो जाता हूँ, पर अंधा नहीं होता क्योंकि आँख मौजूद है। इसी प्रकार सुषुप्ति काल में, मन कार्यकारी नहीं रहता, अपना काम नहीं करता, अहम् का अनुभव होने नहीं देता, परन्तु मौजूद है। जब जीव मरता है, तब मन शरीर से चला जाता है। अहम् जब तक रहता है तभी तक कामना का वेग काम करता है। इन्द्रियों को वश में करने के लिये, पहली चीज़ है कि मन को इन्द्रियों से हटाना पड़ेगा। इन्द्रियों को कार्य करने से कब रोक सकोगे? जब उधर मन को नहीं जाने दोगे। कामना बैठी तो इन्द्रियों में है, पर बिना मन के काम करेगी नहीं। इसीलिये शास्त्रकारों ने सबसे पहले प्राणायाम का अभ्यास बतलाया इन्द्रियों को वश में करने के लिये। प्रत्याहार के अंदर इन्द्रियों पर नियंत्रण किया जाता है। उसके पहले ही प्राणायाम का अभ्यास बतलाया है। प्राणायाम का अभ्यास क्यों बतलाया? मन और प्राण समनियत हैं। जब मन हिलता है तब

प्राण हिलता है और जब प्राण हिलता है तब मन हिलता है। यह आदमी मर गया, अर्थात् अब इसका मन नहीं रहा। इसका पता काहे से लगाते हो? प्राण की क्रियाएँ देख कर कि साँस नहीं चलती, हृदय नहीं चलता, नाडी नहीं चलती। जब प्राण की कोई क्रिया नहीं है, तब समझ लेते हो कि यह मर गया। गहरी नींद में मन काम करता हुआ नहीं दीखता, तब भी क्यों उसको मरा हुआ नहीं मानते? प्राण चल रहा है इसलिये। अगर प्राण न चल रहा हो, तब तो लोग ले जाकर जला दें। प्राण और मन हमेशा साथ चलते हैं। इसलिये मन पर नियंत्रण का कारगर उपाय प्राण पर नियंत्रण है। प्राणायाम से मन पर नियंत्रण आने पर उसे इंद्रियों से विमुख करोगे तो इंद्रियाँ नियंत्रित हो जायेंगी, अपनी चेष्टाओं से विरत हो जायेंगी, तुम्हें कामना से वश में कर बहिर्मुख नहीं बनायेंगी।

सबसे पहले इन्द्रियों का नियंत्रण क्यों करना चाहिये? स्थूल चीज़ का नियंत्रण सरल होता है, सूक्ष्म का नियंत्रण कठिन होता है। जैसे महाभूतों में सबसे स्थूल है पृथ्वी। कहीं पत्थर पड़ा हो, तो जहाँ पड़ा है वहीं पड़ा रहेगा, उसको गिरने से, लुढ़कने से बचाने के लिये कोई खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता, ज़्यादा से ज़्यादा उसके सामने कोई टेक लगा दो तो काफी है। पृथ्वी की अपेक्षा सूक्ष्म है जल। जल स्वभाव से ही बहता है। जब तक उसके सामने रुकावट नहीं करो, तब तक वह बहेगा ही। पत्थर तो प्रायः जहाँ है वहीं रहेगा, परन्तु पानी स्वभाव से बहेगा। उस पर समझ बूझ कर रोक लगानी पड़ती है। जैसे पत्थर को टेकमात्र से बचा लेते हैं वैसे पानी को नहीं बचा सकते। सामान्य रोक से पानी को रोकना संभव नहीं है। बड़े-बड़े बांध बनाते हैं, बिल्कुल ठोस बांध होते हैं, फिर भी पानी का थोड़ा-सा रिसाव तो हो ही जाता है, उसे नहीं रोक सकते। पत्थर की अपेक्षा जल सूक्ष्म है, तो जल को रोकना ज़्यादा कठिन है।

जल की अपेक्षा भी अग्नि सूक्ष्म है। पानी को तो कम-से-कम तुम दीवाल बना कर थोड़ा-बहुत रोक लेते हो, परन्तु आग अर्थात् गर्मी तो दीवाल के भी दूसरे पार चली जायेगी! उसके लिये विशेष पदार्थों का प्रयोग करने पर ही रुकावट संभव होती है। थरमस के अंदर, वायुहीनता भी बना देते हैं, काँच को बंद भी कर देते हैं, फिर भी उसमें गरम पानी रखते हो आज सवेरे तो कल सवेरे तक पानी निवाया रह जाता है, गर्मी सारी निकल जाती है। गर्मी को रोकना और कठिन है। इस प्रकार जो-जो चीज़ जितनी सूक्ष्म होती है, उसको रोकना उतना ही कठिन होता है।

इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। इन्द्रियों का कम-से-कम पता लगता है कि कौन-सी इन्द्रिय कहाँ काम करती है, गोलकों का पता लगता है। आँख, कान, कहाँ रहते हैं यह सामान्यतः सभी को पता है पर मन कहाँ रहता है, इसका पता ही नहीं लगता! प्राचीन लोग कहते हैं कि मन हृदय में रहता है। आधुनिक लोग कहते हैं कि मन भेजे में रहता है। सचमुच में विचार करो तो दोनों जगह नहीं बनता। गर्मी के मौसम में, गंगा दशहरे पर हरिद्वार के ब्रह्मकुण्ड में जाओ स्नान करने के लिये, ऊपर से खोपड़ी ज़बरदस्त तपेगी,

और नीचे पैर बिल्कुल ठर जायेंगे, ठण्डे हो जायेंगे। दोनों का पता तुमको एक-साथ ही लगेगा। ठण्ड और गर्मी का अलग-अलग पता लगता हो ऐसा नहीं है। अभी ठण्डी लगी, बाद में गर्मी लगीऐसा नहीं होता। दोनों का अनुभव एक-साथ होता है। यह कब हो सकता है? जब मन दोनों चीज़ों का अनुभव इतनी जल्दी करे कि तुम समय को अलग कर ही नहीं सको। इन्द्रियाँ कहाँ रहती हैंयह तो फिर निश्चय हो जाता है पर मन कहाँ रहता है यह निश्चय करना बड़ा मुकिश्ल होता है, उसके गोलक का पता ही नहीं लगता। सबसे स्थूल इन्द्रियाँ हैं, इसलिये उन पर सबसे पहले नियमन करो। इन्द्रियों के नियमन के लिये, प्राणायाम को ही महर्षि पतंजलि ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। प्राण तो है घोड़े की जगह, और उसके ऊपर सवार की जगह मन है। इसलिये जब तुम इन्द्रियों को रोकने के लिये प्राणों का नियंत्रण करते हो तब मन भी नियंत्रित होने लग जाता है। वज़न उठाते समय साँस रोकना स्वभाव से ही हो जाता है। यह इसमें प्रमाण है कि प्राण का इंद्रियों पर सीधा नियंत्रण है। अतः प्राण के नियंत्रण से इन्द्रियों का नियंत्रण कर सकते हो। प्राण क्रियारूप है। प्राण तुमको करने की शक्ति देता है, जैसे मन तुमको सोचने की शक्ति देता है।

दूसरा प्रकार इन्द्रियों के नियंत्रण का है, कि करने को रोको : इन्द्रिय जब जो कार्य करना चाहे, उस समय उसको नहीं करने दो। जितना-जितना यह अभ्यास करोगे, उतना-उतना इन्द्रिय के ऊपर तुम्हारा नियंत्रण बढ़ता जायेगा। जब तुम पूजा इत्यादि करते हो, उस सयम बाकी क्रियाओं को छोड़कर केवल पूजा की क्रिया करते हो तो इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है। पूजा करते हुए यदि तुमको खाज भी आती है, तो तुम मन को दबा कर रखते हो, खाज नहीं करते। पूजा तो बड़ी सीधी-सादी चीज़ है, वैदिक यज्ञों के अंदर एक के बाद एक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, उनके बीच में व्यवधान नहीं होना चाहिये। बीच में व्यवधान हो जाये तो प्रायश्चित्त करना पड़ता है। जब तुम्हारा मन इतना एकाग्र होगा कि और किसी चीज़ का ख्याल बीच में नहीं आयेगा तभी यज्ञ ऐसा कर पाओगे की बीच में कोई चूक न हो। क्योंकि जैसे ही मन में कोई ख्याल आता है, वैसे ही क्षण दो क्षण के लिये तुम्हारी क्रिया भी बंद हो जाती है और उसी कारण व्यवधान होने से प्रायश्चित्त कर लेना पड़ता है। सारा विधान वैदिक यज्ञ का ऐसा बनाया गया है कि उसमें किंचित् भी तुमने अन्य बात सोच ली तो क्रम टूट जायेगा और प्रायश्चित्त ज़रूरी हो जायेगा। जब चित्त सर्वथा एकाग्र हो जायेगा, तब प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ेगा। ये सब, हम लोगों के प्राण-शक्ति के नियंत्रण और प्राण-शक्ति के नियंत्रण के द्वारा इन्द्रियों के नियंत्रण की शिक्षा के प्रकार थे।

कई बार लोग कहते हैं, कि मन से जप हो जाये तो ठीक है, हाथ में माला लेकर जप करने की क्या ज़रूरत है? किन्तु जब तुम करोगे तो पता लगेगा! मन से जप करते हुए तुमको कोई दूसरी बात याद आ जाये तो दो-तीन मिनट का तुमको पता ही नहीं लगेगा,

कि तुम्हारा जप रुक गया। पर हाथ में माला होगी तो दाना रुक जायेगा चलने से, तुरंत पता लग जायेगा कि मन इधर-उधर गया। मन से जप करना श्रेष्ठ है, यह हम लोग भी जानते हैं, लेकिन श्रेष्ठता तब हो जब मन के ऊपर इतना नियंत्रण हो कि बीच में कहीं जाये नहीं। उसके लिये लम्बा अभ्यास चाहिये। मन चला जायेगा तो पता नहीं लगेगा क्योंकि सूक्ष्म है। पर जप करते समय तुम्हारे हाथ में स्थूल माला हो तो उसके रुकने से झट पता लग जायेगा। इस प्रकार जो हमारे यहाँ पूजा, जप आदि प्रकार बताये गये हैं, ये सब इन्द्रियों के नियंत्रण के लिये हैं। इन्द्रियों के नियंत्रण के बाद मन का नियंत्रण भी आयेगा। इसलिये भगवान् ने कहा, 'आदौ'।

इस बात पर इतना ज़ोर हम इसलिये दे रहे हैं कि वर्तमान काल में एक विचार धारा यह चलती है कि बस, मन शुद्ध कर लो, इन्द्रियों से क्या लेना देना! मन शुद्ध हो गया, इन्द्रियाँ कुछ भी करें, क्या फ़र्क पड़ता है? यदि ऐसा होता तो भगवान को यहाँ नहीं कहना पड़ता, कि सबसे पहले इन्द्रियों का निरोध करना पड़ेगा। 'पहले' कहने का मतलब ही होता है, कि पहले इन्द्रियाँ, बाद में मन बुद्धि नियंत्रित करने होंगे। यहाँ पर मन बुद्धि कहे नहीं हैं इसलिये ऐसा मत समझ लेना कि केवल इन्द्रियों को ही वश में करना है! पहले इन्द्रियों को, फिर मन बुद्धि को वश में लाना है क्योंकि अधिष्ठान तीनों बतला दिये थे। इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है यह आगे के श्लोक में भगवान् खुद ही बतलायेंगे। जो चीज़ जितनी सूक्ष्म होती है, उसके साथ उतनी ही एकता ज़्यादा रहती है। इन्द्रियों से भी हमारी एकता है। हमने किसी को जम कर चाँटा मारा तो हम जानते हैं कि हाथ ने मारा, पर हाथ के साथ एक हैं, इसलिये अनुभव क्या होता है?मैंने मारा। परन्तु *हाथ से* मारा यह भी प्रतीत हो जाता है क्योंकि इन्द्रिय स्थूल है। और मन सूक्ष्म होने से, मैं दुःखी हुआतो 'मन दुःखी हुआ, मै दुःखी नहीं हुआ।' इसका पता नहीं लगता है। वहाँ तो मन दुःखी होने से मैं ही दुःखी हुआ लगता है। ऐसा इसलिये, क्योंकि मन सूक्ष्म है। जो चीज़ जितनी सूक्ष्म होगी, उससे हटना उतना ही कठिन होता है। शरीर सबसे ज़्यादा स्थूल है, इसकी अपेक्षा इन्द्रियों से एकता ज़्यादा है। मन इन्द्रियों से सूक्ष्म है, इसलिये मन से एकता और ज़्यादा है।

प्राणरूपी घोड़ा रोकने से मन भी रुकता ही है क्योंकि वह चलेगा तो प्राण से ही। परंतु प्राण रोकने से जैसे इन्द्रियाँ सर्वथा रुकेंगी, वैसे मन सर्वथा नहीं रुकेगा। यदि तुमने प्राण को रोका, तो मन रुकेगा तो सही, परन्तु सर्वथा नहीं रुक पायेगा। कुछ-न-कुछ अपनी आन्तरिक क्रिया करता रहेगा। मन भावनाओं का केन्द्र है। अतः उसे पूर्णतः रोकने के लिये परमेश्वर की तरफ भावना करनी पड़ेगी। मन देखना चाहता है। देखो, परमात्मा का रूप देखो। मन घूमना चाहता है, तो तीर्थ-यात्रा करो। मन सूंघना चाहता है, भगवान् को चढ़ी हुई माला को सूंघो। इन्द्रियों को रोकने पर मन की जो अंदर में गतिमत्ता है, उसे रोकने के लिये, उसे परमेश्वर की तरफ करो। महात्मा लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि

गुस्सा करना है तो भी परमेश्वर पर करो! और किसी को किसी भी लिये मन में मत लाओ। अपनी सारी भावनाओं को परमात्मा की तरफ लगा दो, तब मन रुकने लगता है।

संकल्प-विकल्पात्मक मन से भी सूक्ष्म है बुद्धि। बुद्धि, अहम् के साथ एक है, निश्चयात्मिका है। निश्चय किससे होता है? ठीक या गलत, विचार से ही निश्चय होता है। कोई भी बात पहले उपस्थित होती है तो निश्चय रूप नहीं होती। ऐसा ही हैयह निश्चय तब होता है जब विचार कर लें। कोई पहचाना-सा चेहरा दीखता है, देखते ही निश्चय नहीं हो जाता कि कौन है। सोचकर, सादृश्य आदि याद करने पर ही निश्चय हो पाता है। किन्तु भावना करने के लिये, विचार नहीं करना पड़ता है। भावना तो *होती* है। इसलिये कुछ लोग कहते हैं कि प्रेम अंधा होता है! अंधा होने का मतलब है कि विचार-रहित होता है। कोई चीज़ किसी को क्यों अच्छी लगती है? इसका कुछ पता नहीं चलता। अच्छा लगना, विचार से नहीं होता। दूसरे की समझ में नहीं आता कि किसी को कोई व्यक्ति या वस्तु क्यों पसंद है। इससे विपरीत, बुद्धि का काम है विचार करके निश्चय करना। परमेश्वर की तरफ भावना तो पहले होनी पड़ेगी, फिर, परमात्मा कैसा है? उसका रूप कैसा है?यह निश्चय करने के लिये विचार करना पड़ेगा। विचार करने से ही निश्चय होगा कि परमात्मा ऐसा ही है।

जब दूसरे सारे विचार छोड़ कर केवल परमेश्वर के बारे में सोचोगे, तब निश्चय होगा क्योंकि बुद्धि की अपेक्षा परमात्मा अत्यंत सूक्ष्म है। शास्त्र कहता है कि मन और वाणी का वह विषय है ही नहीं। अतिधन्य वेद कहता है कि मन के द्वारा परमात्मा कभी सोचा ही नहीं जा सकता, वाणी के द्वारा उसको कहा ही नहीं जा सकता। जब भी तुमको किसी सूक्ष्म चीज़ के बारे में निश्चय करना हो तब एकाग्र होना पड़ता है। सब्ज़ी खरीदने में जितनी सावधानी करते हो उतनी से हीरे का मूल्य नहीं आंक पाओगे! हीरे की परीक्षा करने वाले से पूछो, जिस समय वे हीरे का दाम लगा रहे हों उस समय उस हीरे को छोड़ कर और कुछ नहीं देखते। अगर कोई दूसरी बात आवे तो भी कहेंगे 'अरे! चुप रहो, हमें ज़रा इसका दाम लगा लेने दो।' जो चीज़ जितनी सूक्ष्म होगी उतना ही एकाग्रतापूर्वक विचार करोगे तब निश्चय कर पाओगे। जब मन से परमात्मा अच्छा लगेगा तभी तुम उसके बारे में विचार भी कर सकोगे। जो चीज़ अच्छी नहीं लगेगी, उसका विचार तुम एकाग्र होकर नहीं कर सकते। हीरे की तरह कीमती समझोगे, तब तुम विचार के लिये बुद्धि को लगाओगे निश्चय करने के लिये कि परमात्मा ऐसा ही है, इसके सिवाय कुछ दूसरा नहीं हो सकता। इस प्रकार इन्द्रियों को विषयों की कामना से हटा कर के भगवत्कामना वाला पहले बनाना है, फिर मन की भावनाओं को विषयों से हटाकर के परमात्मा की तरफ करना है, तब बुद्धि को अनात्म पदार्थों से हटा कर केवल परमात्मा में लगाना है, इन तीन कदमों की सूचना के लिये भगवान् ने 'आदौ' कहा।

इंद्रिय-नियमन पूर्वक काम का परित्याग करना है। काम शब्द का मतलब होता है, किसी विषय की इच्छा करना। परमात्मा की कामना, मोक्ष की कामनायह इस प्रसंग में कामना नहीं कही जाती। ठीक जिस प्रकार सांसारिक विषयों के ज्ञानों के लिये अध्यात्मशास्त्र में मनाही की जाती है, इस का यह मतलब नहीं कि परमात्म-ज्ञान की भी मनाही है, या संसार से प्रेम करने को मना करने का यह मतलब नहीं कि परमात्मा से प्रेम न करो! बल्कि अध्यात्मशास्त्र परमात्मज्ञान और परमात्म-प्रेम ही करने को कहता है; इसी प्रकार विषयों की कामना त्यागनी है, मोक्ष की, परमात्मा की कामना नहीं। जो विषय की कामना है, अनात्मा की कामना है, वह कामना त्याज्य है, परमात्मा की कामना त्याज्य न होने से अध्यात्म शास्त्र में कामना नहीं कही जाती। ऐसे समझ लो : कोई आदमी वैद्य के पास गया। उसको बुखार आता था। वैद्य ने नाडी देख कर उसे दस पुड़ियाँ दी 'दो पुड़िया पाँच दिन के लिये खाओ, और पाँच दिन के बाद एक बार फिर हमें आकर दिखला देना। बुखार के प्रारंभ में कुछ खाना नहीं चाहिये, अतः तुम कुछ खाना नहीं। कुछ भी नहीं खाना। खाली पी लेना। दूध पी लो, चाय पी लो, कौफी पी लो। लेकिन खाना नहीं।' चला गया रोगी। पाँच दिन के बाद वापिस आया, 'बुखार में कोई फ़र्क नहीं पड़ रहा।' वैद्य ने देखा, देखकर नाडी से पता तो लग ही गया कि इसका पेट तो खाली है, उससे पूछा, 'तुमने नियम से दवाई ली?' वह बोला 'नहीं, दवाई तो मैंने नहीं ली, आपने बोला था कि कुछ खाना नहीं। दवाई तो चूर्ण थी उसे पी नहीं सकता था। खाने का आपने मना किया था।' तब वैद्य सिर पर हाथ रख कर क्या कहेगा? 'अरे! न खाने का मतलब है, भोजन नहीं करना। मतलब यह नहीं है कि दवाई नहीं खाना!' ठीक इसी प्रकार से, विषयों की कामना का मना कर रहे हैं, यह नहीं कहना कि भगवान् की कामना काहे के लिये करें! दवाई ज्वर की दुश्मन है और भोजन ज्वर को मदद करेगा, खाओगे तो बुखार उतरेगा नहीं। इसी प्रकार विषय मोक्ष के प्रतिबंधक हैं। विषयों की कामना तुम्हें परमात्मा का ज्ञान नहीं होने देगी, मोक्ष नहीं होने देगी। इसलिये उसे मना कर रहे हैं। भगवान् की कामना, एवं भगवान् के बारे में निश्चय तो तुम्हारे बंधन को निवृत्त करने वाले हैं, मोक्ष को देने वाले हैं। इसलिये उनका तो सेवन करना पड़ेगा।

बहुत से लोग कह देते हैं, हमने सुना है, 'अपना-अपना शौक है, हम क्लब में जाते हैं, आप मंदिर में जाते हैं। आपको वहाँ अच्छा लगता है, आप वहाँ चले गये, हमें वहाँ अच्छा लगता है, हम वहाँ चले गये। फ़र्क कुछ नहीं है।' फ़र्क इतना ही है कि तुम नरक के चक्कर में पड़ोगे, और हम संसार के चक्कर से सदा के लिये छूट जायेंगे! बस यही फ़र्क है।

पहले इन्द्रियाँ, फिर मन, फिर बुद्धियों नियंत्रण सबका करना है। इनका नियंत्रण करके, जो सारे पापों का बीज कामना है, उसको जीतो। प्रजहिहिछोड़ दो। 'जहिहि' का ही मतलब है, छोड़ना। 'प्रजहिहि' अर्थात् प्रकर्ष से छोड़ो, ऐसा छोड़ो कि फिर इसको कभी

न पकड़ो। छोड़ कर फिर पकड़ोइसको 'जहिहि' कह सकते हैं। 'प्रजहिहि' अर्थात् पूरी तरह से छोड़ दो।

लोगों की समस्या होती है कि जब तक जीवन है, तब तक विषयों के बिना काम कैसे चलेगा? किन्तु, विषयों से काम चलता है, विषयों की *कामना* से काम नहीं चलता! हमारे पास पचास रुपये हैं, तो हम ढाबे में जाकर रोटी खा लेंगे। पर यदि हमें पचास रुपये की इच्छा है तो क्या ढाबे वाला खिला देगा हमें? विषयों से काम चलता है, काम विषयों की कामना से नहीं चलता है। विषयों की प्राप्ति कर्म करने से होती है, कामना करने से नहीं होगी। हम चाहे जितनी कामना करते रहें, 'लाख रुपये मिलें, लाख रुपये मिलें, लाख रुपये मिलें', कर्म कुछ न करें तो धेला एक भी नहीं मिलेगा। और, हम एक पैसे की भी कामना न करें पर महीना-भर डट कर व्यापार करें, रात को नौ बजे तक बिना तलपट मिलाये घर आकर सोयें नहीं, सवेरे सात बजे जाकर दुकान खोल कर बैठ जायें, जो ग्राहक आयें, उन सबसे खूब अच्छी तरह प्रेम से बातें करेंतो धन आ जायेगा कि नहीं आ जायेगा? विषयों की कामना, ज़रूरी नहीं है, विषय के लिये जो कर्म अपेक्षित है, वह कर्म करो, फल की इच्छा नहीं करो। विषय मिलते जायेंगे, काम उनसे चलता जायेगा। इसी को आचार्य शंकर ने 'निष्काम कर्म' कहा है। विषयों की कामना बिना किये हुए, परमात्मा की कामना से कर्म करना है। परमात्मा ने जो कर्म हमारे लिये विहित कर दिया है उस कर्म को करना है। उस कर्म को करने से विषय हमें अपने आप ही प्राप्त होंगे और व्यवहार चलता रहेगा। इसलिये कहा कि कामना को ऐसा छोड़ दो कि फिर यह कभी आवे ही नहीं।

कभी-कभी आ जाये तो क्या हर्जा है?ऐसा मत समझना! भगवान् बड़ा गम्भीर सूत्र कहते हैं'ज्ञानविज्ञान-नाशनम्'। शास्त्र, सत्संग इत्यादि के द्वारा जो जानकारी होती है, उसे ज्ञान कहते हैं, और जब वह हमारा अनुभव हो जाता है, तब उसे विज्ञान कहते हैं। स्पष्ट रूप से जब किसी चीज़ का अनुभव हो जाता है तब विज्ञान है। जैसे कोई कहे 'वाणी अच्छी लड़की है, दिल्ली में पढ़ती है।' इन सब बातों से किसका ज्ञान हो रहा है? वाणी का। परन्तु अनुभव हो रहा है क्या? जब वाणी सामने है, और उसको देख लिया तब अनुभव हो गया। इसे विज्ञान कहते हैं। 'ज्ञाननाशनम्'शास्त्र में कही गयी बातों को भी कामना भुला देती है। जब कामना उत्पन्न होती है, उस समय शास्त्र में कहा हुआ है कि यह नहीं करो, इसे करने का यह फल हैइस सबको भुला देती है। उल्टा, उस समय कोई शास्त्र की पंक्ति याद दिलाये तो कहते हैं, 'जानता हूँ मैं, रहने दो तुम इस बात को!' 'ज्ञाननाशनम्' शास्त्र में कही हुई बात भी नष्ट-सी हो जाती है। और 'विज्ञान-नाशनम्।' एक विज्ञान ऐसा है जो तुमको रोज़ होता है : भगवान् ने विचार किया कि संसार में जीव फँसेगा, इसे निकलने का रास्ता सुझा देना चाहिये क्योंकि जीव क्या है? परमेश्वर खुद ही बना है जीव। साधारण आदमी भी जंगल में घुसता है, तो पेड़ों आदि पर निशान छोड़ते

हुए जाता है कि वापसी में पहचानते हुए लौट आये। कुएँ में उतरता है तो डोरी साथ लेकर जाता है, कि उस डोरी के सहारे से फिर बाहर आ जाये। साधारण आदमी खतरे की जगह में जाता है तो बाहर निकलने का इंतजाम करके जाता है। इसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा सृष्टि करता है तो जीवरूप से प्रवेश भी करेगा ही। प्रवेश कर लिया तो निकलने का रास्ता भी चाहिये। निकलने का रास्ता नहीं हो तो कैसे निकलेगा? निकलने का रास्ता उसने बनायाजाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। हर जीव जगता है, सपना देखता है, और गहरी नींद सोता है। हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, अफ्रीका का हब्शी हो, बड़ा भारी ब्राह्मण हो, कोई हो, कोई जीव ऐसा नहीं है, जिसको इन तीनों का अनुभव न होता होजाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का। ये तीन अवस्थाएँ भगवान् ने क्यों बनायीं? केवल जाग्रत् बनाने से संसार का काम चल जाता। इसलिये बनायी कि ये रास्ता हैं, इन से इस संसार से निकल सकते हो। सपना हम को वैसा ही दीखता है जैसा अभी जगत् दीख रहा है। जाग्रत् में हम किसी से कहें कि, यह दीवार नहीं है, तो कहेगा, 'ज़रा जाकर माथा ठोक कर देखिये, गुमड़ी निकलती है कि नहीं निकलती!' सपने में भी जब हम किसी से कहते हैं कि, यह दीवार नहीं है, तो वहाँ भी वह यही कहता है कि 'सिर फोड़ कर देखिये!' स्वप्न से यह सिद्ध होता है कि विषय दीखने पर भी हो यह ज़रूरी नहीं है। यदि स्वप्न न होता तो विषयों के मिथ्यात्व का कभी भी मन में विचार ही नहीं आता। इसीलिये, कभी सपने की बात करो तो साधारण आदमी कहता है 'सपने की बात छोड़िये जी, जाग्रत् की बात करिये,' क्योंकि उसे भी पता है कि सपने की बात पर विचार किया, तो सारा संसार उड़ जायेगा! ठीक ऐसा ही संसार स्वप्न में दीखता है, उस समय में कोई कहे कि यह नहीं है तो क्या जँचता है? स्वप्न के अनुभव से यह पता लग जाता है कि अनुभव तो है पर विषय मिथ्या हैं। सपने से उठकर हम यह कहते हैं, 'हमने वहाँ चाचा जी को देखा।' तुम से पूछें 'देखा?' कहोगे 'हाँ जी, बिल्कुल देखा।' पर क्या 'चाचाजी को देखा?' तब कहना पड़ेगा 'नहीं जी, सपना था, चाचाजी नहीं थे।' देखने को तो मना नहीं कर सकते हो। अनुभव कभी बाधित नहीं होता, कि 'मुझे अनुभव हुआ नहीं', अनुभव तो होता है पर अनुभव जिसका हुआ, वह विषय नहीं था यह बाध होता है। स्वप्न पर विचार करे तो संसार के बारे में भी आदमी विचार करने पर बाध्य होगा कि यहाँ जिनका अनुभव हो रहा है, वे विषय हैं कि नहीं? स्वप्न जगत् मिथ्यात्व का निश्चय करने के लिये भगवान् ने तुमको अनुभव रूप से दिया। हम युक्ति से चाहे जितना कह दें कि जिसका अनुभव होता है, वह नहीं हुआ करता है, पर तुमको नहीं जँच सकता है। लेकिन स्वप्न के ऊपर विचार करो तो पता लग जाता है कि हो सकता है।

दूसरी बात : हमें सुख होता है तो किसी चीज़ से होता है। रसगुल्ला मिले, दिलकुशाल मिले, बढ़िया रेशम का कपड़ा मिले, कोई-न-कोई विषय होवे तभी सुख होता है। कोई कहे 'जहाँ कुछ नहीं होता वहाँ सुख होता है', तो क्या जँचेगा? नहीं जँच सकता। गहरी नींद

में जाकर उठते हो तो तुम्हारा अनुभव है, 'बड़े आनंद से सोया। बड़ा आनन्द आया, जी हल्का हो गया।' आगे कोई पूछे, किस चीज़ का आनन्द आया? रसगुल्ला था? कोई बढ़िया सुगंध थी? तो कहोगे, 'कुछ नहीं था पर आनन्द था।' इसलिये सुषुप्ति से यह पता चल जाता है कि आनंद के लिये, विषय ज़रूरी नहीं। न अनुभव के लिये विषय ज़रूरी है, न आनन्द के लिये विषय ज़रूरी है। सबसे ज़्यादा आनन्द सुषुप्ति में आता है। बाकी कोई भी सुख तुमको महीनों तक न मिले, तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। परन्तु यदि तुमको नींद एक हफ्ते भी न आवे, तो डाक्टर से जाकर कहोगे कि 'दवाई दीजिये।' इसका मतलब है कि सबसे ज़्यादा सुख उसमें है। बिना किसी विषय के, निर्विषय सुख, जो परमात्मा है उसका पता सुषुप्ति में लग जाता है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिभगवान् ने ऐसी डोरी रखी, जिससे जब चाहो संसार से वापिस जा सकते हो। अवस्थाओं का अनुभव भी हमारा ही है, किसी दूसरे का तो है नहीं! लेकिन जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का जो विज्ञान है, इसे भी कामना ढाँक देती है। सपना भी तुम्हारा ही अनुभव है, जैसे जाग्रत् है। गहरी नींद भी तुम्हारा ही अनुभव है। इन दोनों को मिलाओ तो जीवन का लगभग दो तिहाई भाग हो जाता है। जीवन के इतने बड़े हिस्से की उपेक्षा कर केवल जाग्रत् पर निर्भर क्यों करते हो? क्योंकि कामना यह स्वीकारने नहीं देती कि विषय मिथ्या है और बिना विषयों के सुख होता है! इसलिये यह विज्ञान को भी नष्ट करती है यह स्पष्ट हो जाता है। अतः भगवान् ने इसे सर्वथा त्यागने को कहा।।४१।।

इंद्रियादि की सूक्ष्मता का स्वयं भगवान् विचार करते हैं

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

पंडित बताते हैं कि स्थूल शरीर से इन्द्रियाँ 'पर' हैं, इन्द्रियों से पर मन है, बुद्धि तो मन से भी पर है; परमात्मा तो वह है जो बुद्धि से (भी) परे है।

स्थूल को जीतने के लिये, जो उसका सूक्ष्म रूप है, पहले उसको जीतना पड़ता है। सूक्ष्म को जीतने से, स्थूल अपने आप जीता जाता है। स्थूल शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, 'पर' हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, उससे परे है, उससे सूक्ष्म है।

इन सब पर नियंत्रण करने के लिये कहा था। किसी को नियंत्रण करने के लिये कहीं खड़े रहना पड़ता है। बुद्धि के द्वारा ही परमात्मा को सोचोगे। मन के द्वारा ही परमात्मा के अनुभव की तरफ जाओगे। इनके ऊपर खड़े होकर अर्थात् इन्हीं के सहारे इनको कैसे जीतोगे? जिसको जीतना हो उससे अलग खड़े होना पड़ता है, तब उसे मार सकते हो। तुम मन, बुद्धि और इन्द्रियों के ऊपर ही खड़े होकर इन्हीं को कैसे मारोगे?

जिसे ख़त्म करना हो, उस से दूर रहना पड़ता है। अतः लगता है कि इनको ख़त्म

करना असम्भव है, इसलिये भगवान् बतलाते हैं'यो बुद्धेः परतः तु सः'बुद्धि से परे जो है, अर्थात् बुद्धि से भी जो सूक्ष्म है, वह परमात्मा है। परमात्मा के आश्रय से ही ये जीते जाते हैं। इसलिये बार-बार कहा कि इन्हें परमात्मा की तरफ लगाओ क्योंकि परमात्मा के आश्रय से ये जीते जायेंगे, इन्हीं का आश्रयण करने से ये नहीं जीते जायेंगे। बुद्धि से जिसे पकड़ोगे वह परमात्मा नहीं है। बुद्धि जिसके द्वारा पकड़ने वाली बनती है, वह परमात्मा है। जिसके कारण बुद्धि निश्चय करती है वह परमात्मा है। निश्चय तो बुद्धि करती है, लेकिन जिसकी शक्ति हो तब निश्चय करती है, वह परमात्मा है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियों के बारे में है। परमात्मा की तरफ इंद्रियादि लगाई जाती हैं, तब तो ये जीती जायेंगी, परमात्मा की तरफ नहीं लगाओगे तो इनका नियंत्रण हो नहीं सकता।

आजकल जगह-जगह कई तरह के ध्यान, कई तरह के अभ्यास चल रहे हैं। हमारा प्रश्न होता हैकिसका ध्यान किया? आजकल धर्महीनता की हवा चली है, इसलिये 'किसका ध्यान करो'यह कोई नहीं बतायेगा! कहते हैंप्राण वायु कहाँ चल रही है, उसको देखो, मन कहाँ जा रहा है, उसको देखो। परमात्मा की तरफ लगाओयह नहीं कहते हैं! जब तक उसको सामने नहीं करोगे, तब तक तुम कितनी भी साधनाएँ कर लो, कहीं पहुँच नहीं सकते। तुम उन्हीं मन-बुद्धियों के अंदर घूमते रहोगे। इसलिये भगवान् ने सावधान कर दिया'यो बुद्धेः परतस्तु सः'बुद्धि से जो सूक्ष्म है, बुद्धि जिसकी ताकत से चलती है, वह परमात्मा है। जब उसकी तरफ बुद्धि जाती है, तभी कामना ख़त्म होती है, अन्यथा नहीं।।४२।।

भगवान् अध्याय समाप्त करते हुए बताते हैं कि इन्द्रियादि को समाहित करने पर ही आत्मज्ञान रूप विजय हासिल होती है

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

।।इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम
तृतीयोऽध्यायः।।

हे महाबाहो! इस प्रकार संस्कारयुक्त मन से (मन आदि को) भली भाँति समाहित कर, बुद्धि से परे जो आत्मा उसे समझकर, उस कामनारूप शत्रु को मारो जिसका सामना करना खतरनाक है।

'बुद्ध्वा' से यहाँ दोनों ही बातें ले लेनाउसका ध्यान करके, और उसका अनुभव करके। शास्त्र से, सत्संग से उसका ज्ञान होगा, और साधना से उसका अनुभव होगा। साधन क्या है? तो वही है'आत्मना आत्मानम् संस्तभ्य'। 'आत्मना'अर्थात् संस्कार किये हुए मन से; जो मन समाधिस्थ होने में अभ्यस्त है उसके द्वारा भली प्रकार से, खम्भे

की तरह उस परमात्मा में अपने आप को स्थिर करके। करोगे संस्कृत मन के द्वारा, कहाँ? परमात्मा में।

तब कामरूपी शत्रु मारा जा सकेगा। काम ही जिसका रूप है, ऐसा वह दुरासद है, अर्थात् उसे पकड़ पाना कठिन है। ऐसा जो कामरूप शत्रु, इसका नाश कर दो। अर्जुन ऐसा कर सकता है इसलिये उसे कहा 'महाबाहो।' लम्बी भुजाओं वाला खूब बाण चला सकता है। इसलिये महाबाहो से कहा कि 'तू जीत सकता है'। एक श्लोक पहले इसीलिये 'भरतर्षभ' कहा था। भरतकुल के अंदर अर्जुन वृषभ की तरह था; जैसे सांड बिना किसी से डरे हुए चलता है, ठीक इसी तरह से, भरतकुल के अंदर वृषभ की तरह, सांड की तरह अत्यंत बलशाली था। बड़ी-बड़ी बाहुओं वाला होने से लड़ने में समर्थ है, अतः कामरूपी शत्रु को जीते यही उचित है, बाकी लोगों को जीतने से कोई फायदा नहीं।

इस अध्याय को कर्मयोग नाम दिया गया है। भाष्य की पुष्पिका में कर्मप्रशंसायोग नाम है। इसके अंदर कर्म करने के तरीके बतलाये हैं।।४३।।

।।तीसरा अध्याय।।

ॐ

चतुर्थ अध्याय : ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

पहले अध्याय में वैराग्य का निरूपण है। मनुष्य स्वभाव से किसी भी चीज़ की तरफ, राग से प्रवृत्ति करता है। आचार्य शंकर बार-बार याद दिलाते हैं कि संसार का चक्र क्या हैअविद्या से कामना और कामना से कर्म : अविद्या-काम-कर्म। इस सारे संसार के चक्र को इन तीनों से समझा जा सकता है। अन्यत्र आचार्य ने कहा है

'कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये।
ध्रुवे स्यातां ततो रागद्वेषौ चैव ततः क्रियाः।।
धर्माऽधर्मौ ततोऽज्ञस्य देहयोगस्तथा पुनः।'

हमारे किये हुए जो कर्म हैं, उन कर्मों के फल को भोगने के लिये हमें शरीर की आवश्यकता है। इसीलिये शरीर को भोगायतन कहते हैं अर्थात् यह वह आयतन, वह स्थान है जहाँ बैठकर हम सुख-दुःख इत्यादि सब चीज़ों का भोग कर सकते हैं। बिना शरीर के, भोग नहीं हो सकता। कर्मों के कारण, कर्मों के संबंध से, हमें देह के संबंध की प्राप्ति होती है। शास्त्र कहता है 'स्वकर्मसूत्रग्रथितं शरीरम्' हमारे कर्म धागे की जगह हैं, उन धागों से यह शरीररूप कपड़ा बना है। शरीर कर्मों के कारण ही हैं, किसी-न-किसी कर्मफल को, सुख-दुःख को भोगने के लिये हैं। जैसे ही इसका भोग समाप्त होता है वैसे ही शरीर और आत्मा का योग अर्थात् संबंध हट जाता है। अगर शुभ कर्म का सूत्र है, शुभ कर्म फल देने वाले हैं, तो जो हमें अच्छा लगे, प्रिय लगे, उसका अनुभव कराते हैं, सुख का अनुभव होता है। आचार्य ने सुख-दुःख शब्दों का प्रयोग नहीं करके, प्रिय-अप्रिय शब्दों का प्रयोग किया। जो भी चीज़ हमको प्रिय लगेगी, उसी से सुख होगा। कोई विषय ऐसा नहीं है, जो नियत रूप से सब व्यक्तियों को सब समय और सब काल में सुख दे सके।

सर्दी के मौसम में, पश्मीना प्रिय होता है। और वही पश्मीना मारवाड़ में ज्येष्ठ की चिलचिलाती धूप में कोई ज़बरदस्ती उढ़ा दे तो क्या देगा? दुःख देगा। पश्मीना तो वही

है इसलिये पश्मीना सुख-दुःख नहीं देता। पश्मीना जब शरीर को प्रिय लगता है, मन को प्रिय लगता है, इन्द्रियों को प्रिय लगता है, मोटी भाषा में हमको प्रिय लगता है, तब सुख देता है और जब अप्रिय लगता है तब दुःख देता है। जैसे काल की बात है, वैसे ही देश की बात है : किसी देश के अंदर जो चीज़ हमें सुख देती है, हमें ही किसी देश में वही चीज़ दुःख देती है। पहाड़ों की बर्फ के ऊपर चलने के लिये विशेष जूते होते हैं। वहाँ वे प्रिय लगते हैं पर यदि समुद्र के किनारे उन्हीं जूतों से चलना पड़े तो महान् अप्रिय लगेंगे। देश बदल जाये तो प्रिय वस्तु भी अप्रिय हो जाती है। इसी प्रकार जब पेट खाली हो तब बाजरे का तीन दिन का बासी रोट भी बड़ा प्रिय लगता है। खूब ज़ोर की भूख लगी हुई हो तो जो स्वाद आता है वह तृप्त अवस्था में कभी आ नहीं सकता। देशभेद से वही चीज़ अच्छी लगती है, वही चीज़ बुरी लगती है। काल-भेद से, वही बुरी लगती है, वही फिर अच्छी लगती है। अवस्थाभेद से (जैसे भूख की अवस्था और तृप्ति की अवस्था) वही चीज़ अच्छी लगती है, वही चीज़ बुरी लगती है। प्रायः लोग सोचते हैं कि धन तो हमेशा प्रिय होता होगा! कभी भी, कैसी भी हालत में, किसी देश में जाओ, धन हो तो तुम्हारा काम हो जाता है। किसी भी काल में, सर्दी में, गर्मी में, पैसे से सब चल जाता है। सभी अवस्थाओं में पैसे से सब काम हो जाता है। पैसा तो सब समय प्रिय हैऐसा लगता है। परंतु कई बार पैसा ही महान् अप्रिय हो जाता है। तुम्हारे पास पचास लाख रुपये हैं, तुम्हारे यहाँ इनकम टैक्स की रेड पड़ गई। घरवाली को कहते हो 'अरे! चुपचाप इनको, भट्टी में डाल कर जला दे।' जब तक जल नहीं जाते तब तक सोचते रहते हो 'हाय! कहीं कोई देख न लेवे। कल ये रुपया लाये थे। घर में नहीं लाये होते तो अच्छा था, कल की जगह परसों ले आते।' जो धन, जिसको लोग समझते हैं सब देश काल अवस्थाओं में प्रिय होता है, वह भी ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि बड़ा अप्रिय हो जाता है। इसलिये सुख और दुःख विषय से नहीं मिलते हैं, प्रिय और अप्रिय लगने से मिलते हैं।

शरीर का संबंध होने पर ही प्रिय-अप्रिय का अनुभव होगा, बिना शरीर के कुछ प्रिय या अप्रिय कैसे लगेगा? जो प्रिय लगेगा वह सुख तुम्हारे पहले किये हुऐ पुण्य का फल है। पुण्य से तुमको प्रिय अनुभव होगा। पाप से तुमको अप्रिय अनुभव होगा अर्थात् दुःख होगा। किये हुए कर्म के अनुसार शरीर की प्राप्ति होती है, शरीर का हर धागा प्रिय और अप्रिय अनुभव करने के लिये है इसलिये उससे सुख-दुःख अवश्यं-भावी हैं। सुख-दुःख भोगने के लिये ही शरीर की प्राप्ति हुई है। कर्म किया है तो शरीर भी मिलेगा और शरीर में प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख का अनुभव भी होगा ही। प्रिय चीज़ तुम्हारे में राग पैदा करेगी कि इसका अनुभव पुनः होवे। अप्रिय तुम्हारे अंदर द्वेष पैदा करेगी कि इसका अनुभव कभी न होवे। राग अर्थात् यह अनुभव बार-बार होवे, द्वेष अर्थात् यह अनुभव कभी न होवे। प्रिय में राग, और अप्रिय में द्वेषये होते ही हैं। जिस चीज़ में राग होता है उस की प्राप्ति के लिये क्रिया करते हो, जिस चीज़ में द्वेष होता है उसकी निवृत्ति के लिये

क्रिया करते हो। भगवान् का आदेश है कि इन राग-द्वेष के वश में होकर क्रिया मत करो। राग-द्वेष नहीं होंगेयह नहीं कह रहे हैं। परंतु आगे क्रिया, राग और द्वेष के वश में आकर मत करो 'तयोर्न वशमागच्छेत्।'

सारा चक्र कहाँ से चला? आचार्यपाद कहते हैं 'अज्ञानं तस्य मूलंस्यात्' इस सबका मूल अज्ञान है। धर्म और परमात्मा दोनों का अज्ञान है। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहियेइसका हमें अज्ञान है। अभी जो हम करते हैं वह राग और द्वेष से प्रवृत्त होकर। वह करना चाहिये या नहींइसका हमें अज्ञान है। अज्ञान के कारण करते हैं, इसलिये राग-द्वेष से किया हुआ जो कर्म है वह देहयोग के लिये तैयार हो जाता है। जिससे चक्र पूरा हो जाता है। क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इस अज्ञान को दूर करने के लिये वेद का पूर्व तंत्र है जो कर्तव्य और अकर्तव्य का उपदेश देता है, धर्म और अधर्म का उपदेश देता है। कर्तव्य-अकर्तव्य विषयक अज्ञान को हटाने के लिये वेद का पूर्वभाग है। ठीक इसी प्रकार कर्म को फलरूप में परिणत करने की सामर्थ्य वाला, इन सारे विषयों को पैदा करने वाला, जब तक कर्म फल नहीं देता तब तक उसकी रक्षा करने वाला और सबका संहार करने वाला जो परमात्मा है उसका भी अज्ञान है। परमेश्वर, जिसको जान कर इस संसार चक्र से हम निवृत्त हो सकते हैं, उसका भी हमें अज्ञान है।

और करने वाला-भोगने वाला जो मैं हूँ, वह सचमुच में कैसा हूँइसका भी हमें अज्ञान है। मैं देवदत्त हूँ, यज्ञदत्त हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, गृहस्थ हूँयों जानते तो हैं कि मैं कौन हूँ, पर अपना वास्तविक स्वरूप नहीं जानते। देवदत्त नाम कब पड़ा? जब इस शरीर की प्राप्ति हुई। ब्रह्मचारी कब बने? जब जनेऊ कराया, उपनयन कराया। गृहस्थ कब बने? जब विवाह किया। इसका मतलब है कभी गृहस्थ हो, कभी नहीं हो। कभी देवदत्त हो कभी नहीं हो। संकल्प आदि के समय जब कहते हो, 'मैं देवदत्त हूँ।' तब तुम शरीर को लेकर कह रहे हो। शरीर से हट कर आत्मा के बारे में विचारकों ने कई चीज़ों को लियाप्राण, मन, बुद्धि, आदि, पर किसी को पता लगता नहीं कि सचमुच में मैं कौन हूँ, अज्ञान बना ही रहता है। अंत में कुछ लोगों ने घबरा के कहा, 'अरे! इसका पता नहीं लगता है तो यह है ही नहीं!' वे अनात्मवादी बन गये। वर्तमान काल में, अनात्मवाद का बड़ा प्रचार है। अच्छे भले लोग कहेंगे 'आगे किसने देखा है!' अर्थात् आगे कुछ नहीं होने वाला है। वे पूछ नहीं रहे हैं कि आगे जो होगा उसे किसने देखा है, वरन् आक्षेप कर रहे हैं कि आगे किसी ने नहीं देखा है। ऐसों का मानना है कि आत्मा है ही नहीं। शरीर से शून्य पर्यन्त अनेक चीज़ें आत्मा समझी जा रही हैं, इन सब में सच्चा मैं कौन हूँ यह कैसे पता लगे? जैसे इसका पता नहीं, इस विषय में अज्ञान है कि कर्मफल को देने वाला परमेश्वर कौन है, ऐसे ही यह भी पता नहीं कि इस सबको करने वाला और भोगने वाला मैं कौन हूँ। धर्म और आत्मा इन दोनों चीज़ों का अज्ञान है इसीलिये यह संसार चक्र चल रहा है।

हमें कर्म का ज्ञान ठीक हो जाय और तदनुकूल हम आचरण कर लें, तो हमारे मन में ऐसी शुद्धि आ जायेगी जिसकी शक्ति से, हमें परमात्मा के ज्ञान की बात समझ आयेगी। और जब परमात्मा का और अपने आत्मा का स्वरूप पता चल जायेगा, तब हम मुक्त हो जायेंगे, इस कर्म-चक्र से छूट जायेंगे। क्योंकि इस सबका मूल अज्ञान है इसलिये उसका नाश करने के लिये शास्त्र प्रवृत्त हुआ। अज्ञान को हटाना, यही शास्त्र का काम है।

पहले अध्याय में निरूपण हुआ राग का। राग के द्वारा अर्जुन की युद्ध में प्रवृत्ति हुई। 'इन लोगों ने हमारा बहुत अनिष्ट किया है। इसलिये मारकर ठीक कर देंगे।' यही अर्जुन का भाव था। जब धोखे से जुए में हरा कर पाण्डवों को तेरह साल तक वनवास में भेजा था, उस समय अर्जुन चल रहा था तो बड़े ज़ोर से ज़मीन पर पैर पटक रहा था जिससे चारों तरफ धूल उठ रही थी। विदुर ने देखा था। जब धृतराष्ट्र ने पूछा कि कौन-कौन कैसे जा रहा था, तब विदुर ने वर्णन किया है कि अपमानित हो करके, और झूठे ढंग से फँसाये जाकर पांडव इतने रोष में हैं कि अर्जुन ज़मीन पर पैर मार कर कहता है 'जैसे यह धूल उड़ रही है, इसी प्रकार बाणों की धूल उछाल कर तुम लोगों को ख़त्म करूंगा।' वही अर्जुन तैयार हो कर आया है युद्ध में। प्रवृत्ति किससे हुई थी? अपमान का बदला लेने की भावना से। किंतु जब मैदान में आकर खड़ा हुआ तब दूसरे प्रकार का राग सामने आया कि 'अरे! जिस दादा की गोद में मैं बचपन में खेला हूँ, जिन गुरुजी ने मेरे को धनुष के ऊपर प्रत्यंचा चढ़ाना सिखाया है, इन लोगों को कैसे मारूँ? ये तो मेरे अत्यंत प्रिय हैं।' लोगों के प्रति जो राग था वही वैराग्य का रूप लेकर सामने आया कि 'लड़ने-झगड़ने में क्या पड़ा है! भीख माँग कर गुज़ारा कर लूँगा। पापी पेट को ही तो पालना है। इनको मारना ठीक नहीं।' राग हो या वैराग्य, लोगों को कहीं-न-कहीं शास्त्र की दृष्टि मिल ही जाती है! अर्जुन को भी शास्त्र की दृष्टि मिली कि युद्ध में आये सबको मारने से कुटुम्ब नष्ट होगा, कुलस्त्रियाँ बिगड़ जायेंगी, कुलधर्म नहीं चल पायेंगे, इत्यादि। यह वस्तुतः राग का ही रूप था, वैराग्य नहीं। अध्यात्म साधना में विवेकजन्य वैराग्य का उपयोग है, दुःखजन्यका नहीं। दुःख से वैराग्य होता भी नहीं, केवल राग का विषय बदलता है। जिससे दुःख हुआ उससे न रहकर अन्य किसी चीज़ से राग हो जाता है। द्वेष भी एक प्रकार का राग है। प्रथमाध्याय में किया वैराग्य का निरूपण पूज्यों के प्रति अर्जुन के राग की ही अभिव्यक्ति थी। आचार्य शंकर ने इसीलिये स्पष्ट किया कि मोह के कारण अर्जुन इस मनःस्थिति में पहुँचा है। ऐसा वैराग्य अध्यात्म-प्रगति में निरुपयोग है। जो रागादि के द्वारा प्रवृत्त होते हैं उन्हें भी शास्त्र मिल जाते हैं। शास्त्र में विहित कामनापूर्ति के कर्मों को वे कर्तव्यों के रूप में उद्धृत करते हैं। ऐसों के लिये ही भगवान् ने 'वेदवादरताः पार्थ' कहा था। कर्मफलों की जो प्रशंसा अर्थवाद रूप में वेदों में की है, बस उसी में ऐसे लोग फँस जाते हैं। इस तरह के लोग कहते हैं 'देखो न, वेदों के अंदर भी यह कहा है 'द्विषं जहि' मेरे दुश्मन मरें, दुश्मन मारना तो वेद भी कहता ही है। इसलिये मारना ही चाहिये।' इसी प्रकार वेद कहता है

'पुत्रकामना से इष्टि करो' इसलिये बेटे तो पैदा करने ही चाहिये। वे प्रवृत्त वेदाज्ञा के *कारण* नहीं हो रहे हैं, प्रवृत्त तो अपने राग के कारण हो रहे हैं, किंतु वेदवादरत होने से राग-द्वेष से जब प्रवृत्ति करते हैं, तब भी वेद के सहारे अपनी सफाई देते हैं। इसी प्रकार जब निवृत्ति की बात आती है तब भी उनको वेदवाक्य मिल जाते हैं।

यही हालत अर्जुन की थी। पहले तो भगवान् ने उसको उत्साहित करने की बातें की। परंतु जब अर्जुन के अंदर उसी वैराग्य के द्वारा विवेक उत्पन्न हो गया, विचार उत्पन्न हो गया तब उसने कहा कि 'प्रवृत्त तो मैं मोह के कारण हुआ, मोह के कारण वैराग्य की प्रतीती हुई, परंतु अब मैं जानना चाहता हूँ कि सचमुच में क्या सत्य है। अब मैं आपके पास शिष्य-भाव से आया हूँ, जो मेरे लिये ठीक, कल्याणकारी होवे वह बताइये। आपकी ही शरण में आया हूँ।' तब भगवान् ने उसको तत्त्व का उपदेश देना प्रारंभ किया। सबसे पहले उसके लिये आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया। क्योंकि उसके स्वरूप को समझे बिना न तुम कर्म ठीक से कर सकते हो और न तुमको वैराग्य भी ठीक से हो सकता है, अतः आत्मा के स्वरूप को समझना ज़रूरी है। आत्मा का स्वरूप और उसके अंदर निरंतर स्थिर कैसे रहा जाय, यह भगवान् ने बतलाया, अर्थात् कर्मसंन्यास बतलाया जिससे आत्मरूप में निरंतर स्थित रह सके। जिस अकर्तृत्व भाव से कर्मसंन्यास होता है, उसको समझने की योग्यता के लिये भगवान् ने तीसरे अध्याय में कर्मयोग रूप उपाय बताया। ठीक प्रकार से शास्त्रोक्त कर्म करके उसको परमेश्वर के जब अर्पण करते हैं, तभी ऐसी अवस्था प्राप्त हो सकती है कि अपने अकर्ताभाव को समझ कर कर्मसंन्यास करके, निरंतर ब्रह्म में स्थिति बन सके। सारा वेदार्थ यही है। वेद के अंदर जितना कुछ लम्बा-चौड़ा है, सब इतनी ही बात है, और कुछ नहीं। ज्ञान, ज्ञान की निष्ठा रूपी विज्ञान, उसके लिये साधन कर्म, और उसकी प्राप्ति की योग्यता के लिये कर्मयोग; बस, इतना ही है वेदार्थ। वेद का सारा रहस्य प्रवृत्ति-लक्षण और निवृत्ति-लक्षण धर्मों में निहित है। यही भगवान् मनु ने भी कहा है 'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।' इतना निरूपण कर दिया भगवान् ने दूसरे और तीसरे अध्यायों में। वैराग्य का निरूपण तो अर्जुन के वचनों द्वारा प्रथम अध्याय में किया था। दूसरे अध्याय के अंदर प्रधान रूप से ज्ञान बतला दिया। उसका अनुभव विज्ञान बतला दिया, उसमें स्थिति के लिये कर्मसंन्यास बतला दिया।

भगवान् ने विचार किया, कि अर्जुन ने जो कल्याणार्थ उपदेश की प्रार्थना की थी उसके लिये जितना कुछ बतलाया जा सकता है वह सब मैं बता चुका। वेदार्थ का परिसमापन हो गया। शास्त्रों की मर्यादा है कि शास्त्र-समाप्ति होती है, तो सम्प्रदाय का कथन करते हैं जिसमें बताते हैं कि ज्ञान हमें कैसे मिला। किसी भी ज्ञान के बारे में वह ठीक है या नहीं, यह उसके सम्प्रदाय के द्वारा पता लगता है। सम्प्रदाय परंपरा से जो ज्ञान आया होता है वही प्रामाणिक होता है। एक व्यक्ति ने किसी अनुभव को किया, किसी बात को कहा, किन्तु इतने से वह ठीक है या गलत हैयह ऐसा पता नहीं लगता, इसलिये

किन-किन लोगों ने इस तथ्य को समझा और बताया है इसका विचार ज़रूरी होता है। अगर बात ठीक है, तो बहुत-से लोगों ने उसको प्रमाणित किया होगा, और यदि केवल एक को दीखी, अन्य किसी को नहीं दीखी, किसी दूसरे को वैसा अनुभव नहीं हुआ, तो उसकी यथार्थता परीक्षणीय हो जाती है। ज्ञान कितनी पीढ़ियों से, कितनी दीर्घ परंपरा से चलता आया, कितनों ने उसी अनुभव को प्रमाणित किया और आगे वालों को वही ज्ञान दियाइसके स्मरण के ऊपर बहुत ज़ोर शास्त्रकारों द्वारा दिया गया है। उपनिषद् के अंदर जहाँ कहीं अतिमहत्त्वपूर्ण विद्या का प्रसंग आता है वहाँ वंशवर्णन भी आता है जैसे बृहदारण्यक आदि में 'वंशब्राह्मण' सम्प्रदाय परंपरा का बोधक है। वर्तमान में कई लोगों का कहना रहता है कि अपने को हुआ ज्ञान ही महत्त्व का है, सम्प्रदाय से क्या लाभ? किंतु आचार्य शंकर ने कहा है कि चाहे सारे शास्त्रों को पढ़ लो परंतु यदि तुम को विद्या संप्रदाय से प्राप्त नहीं है, तो हम तुम्हें मूर्ख ही गिनेंगे! अतः भगवान् वेदार्थ की परि-समाप्ति को करने के लिये वंश का कथन करते हैं, सम्प्रदाय-परंपरा को बतलाते हैं

श्रीभगवानुवाच
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। १।।

अव्यय-फलक इस योग का मैंने प्रवचन आदित्य को दिया था। आदित्य ने मनु को इसे स्पष्ट कर बताया और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इसे बताया।

योग अर्थात् ज्ञान और उसका साक्षात्कार, जिसका साधन कर्मसंन्यास है जो कर्मयोग के द्वारा ही प्राप्त होता है। भगवान् कहते हैं कि यह सारा योग मैंने बतलाया है। भगवान् का अभिप्राय है कि अर्जुन यह न समझ ले कि मटकियाँ फोड़कर मक्खन चुराने वाला ही मैं हूँ! क्योंकि ऐसा सोचेगा तो इस भीषण परिस्थिति में मेरे अतिगंभीर निर्देश को स्वीकारना इसके लिये संभव नहीं रहेगा। अतः परंपरा का प्रारंभक स्वयं को बता रहे हैं कि 'सारा का सारा वेदार्थ मेरा ही कहा हुआ है, मैंने ही इसका उपदेश दिया है'। यह योग कैसा है? अव्ययम्। कभी कम होता नहीं, कभी खर्च होता नहीं, हमेशा एक जैसा ही रहता है। इसलिये हम लोग अपने धर्म को क्या कहते हैं? सनातन धर्म। 'सदाभवः सनातनः' सनातन का संस्कृत में अर्थ होता हैजो हमेशा है ही। सनातन और अव्यय तो एक ही बात है। आजकल लोग कह देते हैं कि धर्म में अमुक चीज़ें बदलनी चाहिये। उनसे कहना चाहिये कि 'तुम जाकर नारायण को सलाह दो! तुम्हारी बात नारायण मान कर धर्म को बदल दें तो हम वह बदली बात स्वीकारने लगेंगे।' कोई चाहे जितना बड़ा प्रमुख न्यायाधीश हो जाय, कानून की किताब के अनुसार ही फैसला दे सकता है। इसी प्रकार हम चाहे जितनी योग्यता वाले हो जायें, परमेश्वर ने जो कानून की किताब वेद बतलाई है उसके अनुसार ही सलाह दे सकते हैं। इसको बदलने का अधिकार तो जिसने इसका

प्रथम उपदेश किया, उसी को था, उसी को है और उसी को रहेगा। क्योंकि नारायण की बुद्धि पूर्ण है, वह सर्वज्ञ है, कोई ज़माना ऐसा नहीं है जिसको परमेश्वर पहले ही नहीं जानता है, इसलिये धर्म अव्यय, सनातन है। *इसे* हम बदल नहीं सकते, *हम* इसके अनुसार बदल सकते हैं। परिस्थितियों के कारण हम कोई परिवर्तन कर लेवें तो वह धर्म नहीं ही होगा क्योंकि हम नारायण तो हैं नहीं! कई बार हमसे लोग कहते हैं कि पुराने ज़माने में अमुक परिस्थितियाँ थीं नहीं इसलिये ऐसा कहा होगा। किंतु किसी भी ज़माने का पता भगवान् को था नहींयह वैदिक तो मान नहीं सकेगा। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि भगवान् का वाक्य बदला जाय। भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि जो योग मैंने बतलाया है यह सनातन है।

अर्जुन पूछे कि 'आपने कब कहा?' तो बताते हैं 'विवस्वते।' विवस्वान् नाम सूर्य का है। इस सृष्टि चक्र को प्रारंभ भगवान् सूर्य के द्वारा ही किया गया है। यह बात आधुनिक वैज्ञानिक भी कहते हैं कि पृथ्वी, शुक्र, बृहस्पति इत्यादि सारे सूर्य रूपी तारे से विस्फोट के कारण बहार आये हैं। भगवान् कह रहे हैं कि जब पृथ्वी भी नहीं थी, उसी समय इसका उपदेश मैंने विवस्वान् को, सूर्य को दे दिया था। उसके बाद जब मनुष्य जाति को पैदा करने वाला मनु आया तब सूर्य ने उसे यह विद्या सिखाई। हम लोगों का नाम मनुष्य या मानव मनु की संतति होने से है। विवस्वान् ने जब मनुष्यों की सृष्टि प्रारंभ की, तब 'मनवे प्राह' मनु को उपदेश दिया। आजकल एक बहुत बड़ा वर्ग चला है, जो 'मनुवाद' को गाली देता है। उनसे कहो, 'मनुवाद को गाली देते हो तो तुम मनुष्य कहे नहीं जा सकते। तुम अपने को मनुष्य क्यों कहते हो?' मनु ने यह ज्ञान इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु सूर्यवंश में राजा हुआ है। यह ज्ञान सबसे पहले भगवान् से सूर्य को मिला, सूर्य से मनु को, मनु से इक्ष्वाकु को मिला; यह इसकी परम्परा है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि इक्ष्वाकु को क्यों दिया? मनु को तो ठीक था, वे मनुष्यों के आदि पुरुष थे। आगे किसी अच्छे ब्राह्मण को देते, इक्ष्वाकु राजा को क्यों दिया? भाष्यकार एक बड़ा रहस्य बतलाते हैं 'जगत्पाल-यितृणां क्षत्रियाणां बलाधानाय। तेन योगबलेन युक्ताः समर्था भवन्ति ब्रह्म परिरक्षितुम्। ब्रह्मक्षत्रे परिपालिते जगत्परिपालयितुम् अलम्।' जगत् की पालना राजा ही करेगा। ब्राह्मण बातें कितनी भी कर लेवे, पर परिपालन तो क्षत्रिय को ही करना पड़ेगा। एक जगह उपनिषद्भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि सौ विद्वान् भी इकट्ठे हों, पर विरोध में एक लठैत खड़ा हो जाये, तो सारे के सारे विद्वान् नीचा सिर करके बैठ जाते हैं! ब्राह्मण को ज्ञान तो होगा, लेकिन वह उसके द्वारा जगत् की परिपालना नहीं कर सकता। जगत् का पालन करना क्षत्रियों का काम है। जो मैंने वेदरूप ज्ञान दिया यह लोगों को बलवान् बनाता है, कमज़ोरी नहीं लाता। उपनिषद् स्पष्ट कहती है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'निर्बल व्यक्ति को आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। किंतु बल से यहाँ गुण्डों की ताकत मत समझ लेना! अतः आचार्य ने कहा कि

जगत् का पालन करने वालों में बल का आधान करने के लिये यह उपदेश है। सारे जगत् का पालन राग-द्वेषपूर्वक हो ही नहीं सकता। लौकिक बल रागादि से प्रवृत्त होता है जबकि वेद से प्राप्त बल उनसे नहीं वरन् धर्म-परिपालन में तत्पर रहता है। इस बल से सम्पन्न होने से ही क्षत्रिय वेदरक्षा में समर्थ होते हैं। आजकल वेदबल की उपेक्षाकर जो ताकत बटोरी जाती है वह राग-द्वेष के वशीभूत रहकर स्वार्थपूर्ति और अत्याचार में ही परिणत होती है। वेद से ज्ञान पायें तो योगबल से युक्त हो सबकी रक्षा करने में समर्थ हों। वेद रहता है ब्राह्मण में, वही उसे याद रखता है, उसका अर्थ जानता एवं अन्यों को समझाता है। ब्राह्मण-रक्षा होने पर ही वेद सुरक्षित रह सकता है। इस प्रकार, वेदबल से परिपालित जो ब्राह्मण और क्षत्रिय, वे जगत् का पालन करने में समर्थ होते हैं। ब्राह्मण उचित शिक्षा व प्रेरणा देता रहता है तथा क्षत्रिय दण्ड व पुरस्कार के माध्यम से सबको धर्म में संलग्न रखता है। दोनों जब तक वेद की रक्षा करने में लगे रहते हैं तब तक सारे जगत् की परिपालना हो सकती है। इसलिये मनु ने इक्ष्वाकु को बतलाया ताकि वह जगत् की परिपालना कर सके। शंका हो सकती है, कि मनु तो कई होते हैं? कौन से मनु को उपदेश दिया था? जो वर्तमान में चल रहा है वह वैवस्वत मन्वन्तर है, विवस्वान् के पुत्र मनु वाला है। हर बार जब मनु का परिवर्तन होता है, तब मनु को उपदेश देने के लिये भगवान् ही प्रवृत्त होते हैं।।१।।

अव्यय होने पर भी उस योग के पुनः उपदेश का हेतु बताते हैं

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।२।।

हे परन्तप! इस प्रकार क्रम से मिले इस योग का राजर्षियों को ज्ञान रहा। (किंतु) लम्बे समय से वह योग इस लोक में नष्ट हो गया।

राजर्षिजो राजा भी होवे और ज्ञानी भी होवे। ऋषि शब्द का प्रयोग होता है मंत्रद्रष्टा के लिये। तत्त्वमस्यादि मंत्रों का जिन्होंने साक्षात्कार किया वे ऋषि हैं। यहाँ पर जिस ज्ञान को बतलाना है उसका ज्ञानी ऋषि समझना चाहिये। दूसरे ऋषि ज्ञानयोग के प्रसंग में नहीं कहे जायेंगे, जिन्होंने तत्त्व का साक्षात्कार किया है, वे ही यहाँ पर ऋषि पद के द्वारा कहे जा रहे हैं। संसार का पालन करने के लिये वे राज्य कार्य करते थे, इसलिये राजा भी थे। राजर्षियों ने इस योग को संप्रदाय परंपरा से प्राप्त किया। उन लोगों ने इसको केवल शब्दमात्र के रूप में नहीं जाना, तत्त्वमस्यादि मंत्र का जो रहस्य है वह उनके लिये प्रकट था, उसको उन्होंने जाना। जो स्वयं परमात्म तत्त्व को नहीं जान चुका है वह कृतार्थ नहीं होता अर्थात् जो कुछ करने लायक प्रयोजन हैं, वे सारे उसको प्राप्त नहीं हो चुकते। जो कृतार्थ नहीं होगा, उसका सारा समय अपना अर्थ प्राप्त करने के लिये ही लगेगा। अतः वह संप्रदाय परंपरा का प्रवर्तक कैसे हो सकता है? किंतु राजर्षियों ने तत्त्व

को जाना इसलिये वे संप्रदाय परंपरा के प्रवर्तक भी हुए।

'महता कालेन', बहुत काल बीत जाने के कारण उस योग में शैथिल्य आ गया। ज्ञान को प्राप्त करने में जो असमर्थ होते हैं, वे आगे संप्रदाय परंपरा नहीं चला पाते। कहीं तो सिखाने वाले का अभाव हो जाता है इसलिये ज्ञान नष्ट हो जाता है, कहीं सीखने वाले नहीं रह जाते, इसलिये ज्ञान नष्ट हो जाता है क्योंकि सिखाने वाला होवे पर सीखने वाला न होवे तो भी आगे परंपरा कैसे चलेगी? दीर्घ काल के अंदर धीरे-धीरे यह परिस्थिति बनती जाती है कि सिखाने वालों की कमी से सीखने वालों की कमी और सीखने वालों की कमी से फिर आगे सिखाने वालों की कमी हो जाती है। सीखने वाले ही कम होंगे तो सिखाने वाले और कम होंगे ही। थोड़ी-बहुत पीढ़ियों तक तो परंपरा चल जाती हैसौ पढ़ाने वालों में यदि दो बच गये, और फिर आगे पचास पढ़ने वाले मिल गये, तो परंपरा चलती रहेगी। लेकिन बहुत काल के अंदर धीरे-धीरे सम्प्रदाय का ह्रास होता है। जो ज्ञान जितना कठिन होता है, उसको सीखने-सिखाने वाले उतने ही कम होते हैं। खास करके यह जो परमात्मा का ज्ञान है, इसके लिये आवश्यक है वैराग्य। जैसे-जैसे आगे का काल आता है, वैसे-वैसे कामनाओं की अभिवृद्धि होती जाती है इसलिये वैराग्य उतना ही कठिन हो जाता है। पहले मनोरंजन के सीमित साधननौटंकी, लीला आदि ही थे जो साल में पाँच-छह बार देखे जाते थे। फिर बाओस्कोप आये, बिना आवाज के चलचित्र आये। फिर आवाज वाले और अंत में रंगीन चलचित्र आये। इनके लिये भी महीने में एक-दो बार तीन-तीन घंटे खर्च होते थे। अब दूरदर्शन की ऐसी व्यवस्था है कि चौबीसों घंटे चलचित्र देखे जा सकते हैं। एक-साथ भी अनेक कार्यक्रम उपलब्ध हैं! विचार करो, पुराने समय में सत्संग में जाना कोई बहुत बड़ी कठिनाई नहीं थी लेकिन धीरे-धीरे कठिन ही होता जा रहा है। जैसे मन को रमाने के अवसर बेहिसाब हो गये, वैसे चिंता बढ़ाने के भी; पहले चिट्ठी ही संपर्क-साधन था। फिर तार की व्यवस्था हुई जो अत्यावश्यक परिस्थिति में ही दिया जाता था। अब दूरभाष की ऐसी सुविधा है कि छोटी-से-छोटी बात भी तुरंत पचास व्यक्तियों तक पहुँच जाती है। मौके पर जो है, कार्य उसी को करना है, बाकी सब केवल चिंता ही करते रहेंगे। जैसे-जैसे ये बढ़ते चले जाते हैं वैसे ही वैसे वैराग्य का समय ही कहाँ रह जाता है! जब पचास सालों में ऐसा हुआ, तो दस-बीस हज़ार सालों में क्या हुआ होगा? ज़रा सोचो। इसलिये भगवान् ने कहा 'महता कालेन'। कितनी भी दृढ परंपरा होवे, लोगों के रागादि बढ़ते चले जाते हैं, शम आदि कम होते जाते हैं। इसलिये धीरे-धीरे सम्प्रदाय परंपरा रह नहीं जाती।

फिर यह 'अव्यय' कैसे? अतः भगवान् ने कहा 'इह'यहाँ, जहाँ प्रत्यक्ष में देखने में आती है, वहाँ नष्ट होने पर भी अन्यत्र विद्यमान रहती है। उसी से फिर प्रवृत्त हो जाती है। है तो यह सनातन अव्यय, इस आत्मज्ञान का कभी भी ह्रास नहीं होता, परंतु जो स्थल हम को प्रत्यक्ष में देखने में आता है वहाँ दिखाई नहीं देता। अव्यय परमात्मा है। अतः

परमात्मा का ज्ञान देने वाला यह ज्ञानसंप्रदाय भी अव्यय ही है। अव्यय फल वाला होने से भी इसको अव्यय कहा जाता है। 'इह' के द्वारा बतला दिया कि जहाँ वैराग्य इत्यादि की कमी होने से लोगों का अध्ययन-अध्यापन कम होता चला जाता है वहाँ यह योग नहीं देखने में आता। स्वरूप से अव्यय होने पर भी यहाँ, प्रत्यक्ष में, देखने में नहीं आता, इसलिये हमारे लिये तो नष्ट ही है।

अर्जुन कह सकता है'नष्ट हो गया तो होने दीजिये, आप इस गड़े मुर्दे को काहे के लिये उखाड़ रहे हैं?' अतः भगवान् कहते हैं 'परंतप।' 'पर' कहते हैं, अपना जो शत्रु है उसे। जो शत्रुओं को नष्ट करने वाला है वह परंतप हुआ, परों को जो ताप देवे। अर्जुन ने राजसूय यज्ञ के समय, जितने शत्रु थे उन सब को नष्ट किया था। बाह्य शत्रुओं को नष्ट करने वाले होने से वह परंतप था ही, कामादि जो आन्तरिक 'पर' हैं, आन्तरिक शत्रु हैं, उनको भी उसने नष्ट किया था, उनका भी तापन किया था। स्वर्गलोक की उर्वशी अप्सरा इन्द्र ने भेजी थी अर्जुन के पास, अर्जुन ने हाथ जोड़ कर कह दिया था 'इन्द्र मेरे पिता हैं, आप पिता की भोग्या होने के कारण मेरे लिये तो माँ हो।' उर्वशी ने कहा भी 'ये बेटा-बाप आदि सब तो मृत्यु-लोक की व्यवस्था है, यहाँ स्वर्ग लोक में ये सब बातें मानने की ज़रूरत नहीं है।' पर अर्जुन ने कहा 'स्वर्ग लोक हो या कोई लोक हो, मेरे लिये तो आप पूजनीय माता ही हैं।' इस प्रकार, अपने कामादि शत्रुओं को भी उसने नष्ट किया था। इसीलिये ऋषि बनने की भी योग्यता उसमें थी। शत्रुओं का तापन, नाश करने से योग्य राजा भी था और कामादि शत्रुओं को दबाने के कारण ज्ञानाधिकारी भी था। इसलिये भगवान् 'परन्तप' से कहते हैं कि ठीक योग्यता वाला सामने आ गया तो पुनः सम्प्रदाय को जीवित करने का समय आ गया। यह भी संकेतित करते हैं कि योग्य साधक को नारायण स्वयं ही गुरुरूप से उपदेश कर देते हैं। साधक योग्य हो तो भगवान् से उसको आवश्यक ज्ञान मिलता है।।२।।

उक्त योग का सहारा लिये बिना क्योंकि परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकता इसलिये मानवों पर अनुग्रह कर भगवान् ने उस योग को पुनः प्रवृत्त किया, यह स्वयं कहते हैं

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

आज यह वही प्राचीन योग मैंने तुम्हें बताया क्योंकि तुम मेरे भक्त और मित्र हो। यही योगरूप ज्ञान सर्वोत्तम रहस्य है।

भगवान् कहते हैं कि मैंने कोई नई बात नहीं कही, जो मैंने विवस्वान् को बताया था, वही योग अर्थात् परमात्म-ज्ञान और उसकी प्राप्ति का साधन तुम्हें बताया। 'पुरातनः' प्राचीन समय में उपदिष्ट होने के कारण पुरातन अर्थात् प्राचीन से प्राचीन है। इसके द्वारा संकेत मिल जाता है कि सम्प्रदाय परम्परा के प्रवर्तक होने के कारण भगवान् से ठीक जैसा

विवस्वान् को उपदेश मिला, वैस ही उपदेश अर्जुन को मिला। 'स एव' से कहामैं उसमें कोई जोड़ घटाव कराने वाला नहीं हूँ। सूर्य अपनी किरणों के द्वारा लोगों को ताप भी देता है और शुद्ध भी करता है। चाहे जैसा खराब से खराब पानी बह रहा हो, आठ दस मील के बाद देखोगे तो बिलकुल साफ हो जाता है, सूर्य की किरणें, उसको शुद्ध कर देती हैं। अर्जुन को 'परंतप' कहा थाबाह्य शत्रुओं को भी उसने ताप दिया और आंतर शत्रु कामादि को भी उसने नियंत्रित किया अर्थात् शुद्धि भी कर ली थी। जैसे सूर्य अपनी किरणों के द्वारा शोधक भी है, तापक भी, वैसे ही अर्जुन भी होने से योग्य अधिकारी था। इसलिये जैसा उपदेश सूर्य को मिला वैसा ही उपदेश अर्जुन को मिला।

'प्रोक्तः' भली प्रकार से, विस्तार के साथ कहा है, सब प्रकार की शंकायें इत्यादि हटा कर कहा है, ऐसे ही, साधारण रूप से नहीं कहा है। 'प्रोक्तः' का स्वरूप पता लगता है अनुगीता के अंदर : जब अर्जुन पूछता है 'महाराज! गीतोपदेश के बाद लड़ने में लग गया था, अतः आपका उपदेश पूरा-पूरा याद नहीं है, फिर से सुना दीजिये।' तब भगवान् ने कहा 'अरे! उस समय मैं किसी अन्य स्थिति में होकर सुना रहा था, वह अब मैं नहीं सुनाऊँगा।' इसकी अत्यंत दुर्लभता बतलाने के लिये वहाँ भगवान् ने ऐसा कहा। जब अर्जुन पूछेगा भगवान् का विराट् रूप देखकर 'आप हैं कौन?' तब भगवान् यह नहीं कहेंगे कि 'मैं कृष्ण हूँ' वरन् जो अपना शुद्ध शिव स्वरूप है वही बतलायेंगे 'कालोऽस्मि'। काल क्या करता है? सब चीज़ों को क्षय करता है। बढ़िया धोती-जोड़ा खरीद कर लाओ, रख दो बक्से में; छह साल बाद पहनोगे तो तुरंत फट जायेगा। सबको जीर्ण करने वाला जो काल है, इसने उसे जीर्ण कर दिया। काल हर चीज़ को नष्ट करता है। भगवान् कहेंगे 'लोकों को क्षय करने के लिये ही यह मेरा रूप यहाँ दीख रहा है। इस रूप में मैं सबका समाहरण अपने अंदर करता हूँ।' इसलिये, अनुगीता में भगवान् कहते हैं, 'भाई! उस समय तो उस रूप के साथ एक होकर मैंने उपदेश किया, अब मैं फिर वे बातें नहीं कह सकता।' 'नहीं कह *सकता*' तो कहने का तरीका है, मतलब है कि अब तुम्हें पुनः नहीं सुनाऊँगा। एक तरह से अर्जुन को यह डाँट लगाई, फिर अनुगीता में यथोचित उपदेश दिया भी है। यहाँ 'प्रोक्तः' से यह भी सूचित है कि जो विस्तार सूर्य को बताया गया वह सारा गीता में आ गया है। गीता के अंदर तीन-चार जगह ऐसा आता है जहाँ भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि सारे वेदार्थ का संग्रह कर रहे हैं, सारे वेदार्थ को बतला रहे हैं। जितनी कुछ वेद के अंदर प्रयोजन वाली चीज़ है, वह सारी गीता में बताई है, यही इसकी विशेषता है। इस अध्याय के प्रारंभ में भी भाष्यकार ने 'यस्मिन् वेदार्थः परिसमाप्तः ... गीतासु ... अयमेव योगो विवक्षितः' कहा है।

'अद्य' आज। आज क्यों? क्योंकि आज तेरे अंदर कर्तव्य और अकर्तव्य के प्रश्न को लेकर विवेक की जिज्ञासा हुई, उस जिज्ञासा को लेकर तू मेरे पास आया। वैदिक विधि है कि चाहे जितना प्रिय व्यक्ति हो पर शिष्य न हो तो उसे उपदेश न देवे। क्योंकि आज ही

विवेकावस्था के अंदर वैराग्य वाला होकर तूने कहा 'शिष्यस्ते' 'मैं आपका शिष्य बनता हूँ' इसलिये मैंने भी आज यह रहस्य बतलाया। भगवान् कहते हैं 'मया प्रोक्तः' मैंने कहा; यहाँ 'मैं' का मतलब क्या लिया जाये? बोल तो रहे हैं कृष्ण शरीर से, इसलिये अगले श्लोक में अर्जुन पूछेगा; उस प्रश्न का बीज यहाँ 'मया' में पड़ा हुआ है। भगवान् 'मैं' से कृष्ण-शरीर नहीं कह सकते क्योंकि सूर्य को प्राचीन काल में कृष्ण शरीर से तो उपदेश दिया नहीं था। मैं-से सूक्ष्म शरीर भी नहीं कह सकते क्योंकि स्थूल शरीर बदलने पर पूर्व की स्मृति सम्पूर्ण रूप से नहीं रहती जबकि भगवान् 'स एवायम्' अर्थात् सर्वथा वही योग यहाँ बतायाऐसा कह रहे हैं। अतः यहाँ 'मैं' से ईश्वरभाव ही समझना पड़ता है, शरीर-सम्बद्ध रूप नहीं।

भगवान् विद्याधिकारी सूचित करते हुए अर्जुन से कहते हैं 'तुम्हें क्यों उपदेश दे रहे हैं? क्योंकि तुममें दो गुण हैं, 'भक्तोऽसि, सखा चेति' तुम भक्त भी हो और सखा भी हो।' गीता के अंत में भगवान् कहेंगे कि जो भगवान् का भक्त नहीं है, उसको गीता का उपदेश कभी नहीं देना चाहिये। 'तू मेरा भक्त है, मेरे में अनन्य प्रेम रखने वाला है, इसलिये तेरी योग्यता है। साथ में तू सखा है अतः मेरा तुझ पर स्नेह है।' इसके द्वारा बतलाया कि जब जीव, भक्त बनकर परमात्मा का वरण करता है, तभी परमात्मा सखा बन कर जीव का वरण करता है। दोनों तरफ का वरण आवश्यक होता है। इसलिये जहाँ उपनिषद् के अंदर ऐसा प्रसंग आया है वहाँ भाष्यकारों ने दोनों तरह के वरण को कहा है। जिसको परमात्मा वरण करता है उसके सामने अपने को खोलता है, और जो भगवान् का वरण करता है, उसके सामने ही खुलता है। सखाभगवान् का काम करने वाला। भगवान् उसका काम करते हैं, वह भगवान् का काम करता है, तभी सखा हुए। मित्र एक-दूसरे की मदद करते हैं। सम्प्रदाय-परम्परा चलाने में कारण बन जाता है सखापना। इसलिये गीता के अंत में भगवान् को अर्जुन कहेगा, 'मैंने तत्त्व को जान लिया, अब आप जैसा कहते हैं उसी को करूँगा।' गीता के अंत में संजय भी कहेंगे कि जहाँ भगवान् हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ है वहाँ जीत अवश्य है। केवल योगेश्वर कृष्ण होने से जीत होती हैयह गीता में नहीं कहा। कृतार्थ हो जाने के बाद भी क्योंकि गुरु की आज्ञा है कि 'जैसे मैंने सम्प्रदाय प्राप्त कर के आगे दिया, वैसे तुम भी देना' इसलिये शिष्य संप्रदाय चलाता है। अर्जुन केवल भक्त नहीं, सखा भी है, अतः यह संप्रदाय प्रवर्तन उसके माध्यम से किया जा रहा है।

'एतद् उत्तमं रहस्यम्।' भगवान् बताते हैं कि ऐसे भक्त और सखा के सिवाय दूसरे को क्यों नहीं उपदेश देते : आजकल तो लोग कहते हैं कि नगर-नगर डगर-डगर वेदान्त का डंका बजा देना चाहिये। पर भगवान् कहते हैं कि वेदांत का डंका ऐसे बजाने की चीज़ नहीं है! यह तो रहस्य है। रहस्य शब्द का अर्थ संस्कृत में होता है 'रहसि भवम्' एकांत में जो होता है उसे रहस्य कहते हैं। उपदेश देने वाला और उपदेश लेने वाला, दोनों का एक ही उद्देश्य है, आत्मतत्त्व। एक उसको प्रतिपाद्य रूप से कह रहा है और दूसरा उसको इसी रूप

में समझ रहा है। इसलिये एकमात्र परमात्म तत्त्व ही दोनों के सामने है, अतः यह रहस्य है। कैसा रहस्य है? उत्तम, श्रेष्ठ रहस्य। इसलिये श्रेष्ठ रहस्य है कि इसके द्वारा, जन्म-मरण रूपी जो संसार का प्रवाह है, उससे जीव बच जाता है। कई बार जो चीज़ गंदी होती है, बुरी होती है, उसको भी गुप्त रखा जाता है, जैसे मल मूत्र के स्थान को हमेशा आदमी छिपा कर रखता है। इसी प्रकार बहुत-से तंत्र-मंत्र होते हैं, जिन्हें लोग बड़ा गुप्त रखते हैं कि किसी को पता न लगें। परंतु वे सब उत्तम नहीं हैं। जबकि यह योग कैसा है? उत्तम रहस्य है, जिस रहस्य को प्राप्त करने पर जन्म-मरण का चक्र नष्ट हो जाता है।

एक शंका हो सकती है कि युद्धभूमि में चारों तरफ फौज है, वहाँ भगवान् बोले रहे हैं, अकेले में तो बोल नहीं रहे हैं, जबकि रहस्य एकांत में सुनाना चाहिये। समाधान है कि भगवान् ने जिस दिव्य शरीर और दिव्य प्रकार से उपदेश दिया था, उसको या तो अर्जुन ने सुना, जिसको सुनाया था या वेदव्यास के द्वारा वरदान प्राप्त किया हुआ जो संजय था, उसने सुना था। बाकी किसी को पता नहीं था कि यहाँ क्या हो रहा है। एक जने ने और सुन लिया थाहनुमान् जी ने। हनुमान् जी योग्यता वाले भी थे और अर्जुन के रथ के ऊपर बैठे भी हुए थे। जब सारा उपदेश ख़त्म हुआ तब हनुमान् जी इतने विह्वल हो गये, कि नीचे उतर कर भगवान् को नमस्कार कर कहने लगे 'महाराज! रामावतार में आपने ऐसा उपदेश तो कभी नहीं दिया!' भगवान् ने डाँटा, 'अरे! तूने कैसे सुन लिया?' वे कहने लगे 'महाराज! यहीं बैठा हुआ था!' कहीं शास्त्र में कहा है, कि गुरु से ऊपर बैठ कर उपदेश न लेवे। विशेष लीला के उद्देश्य से भगवान् ने हनुमान् जी के इस अपराध को निमित्त बनाकर उन्हें शाप दिया कि 'तूने पिशाच जैसा काम किया है अतः तू पिशाच हो जा।' हनुमान् जी ने उस आज्ञा को तो शिरोधार्य किया पर पूछा 'उस योनि से छूटूंगा कब?' भगवान् ने कहा 'जो मैंने उपदेश दिया है वह बड़ा कठिन है। पिशाच योनि के अंदर इसका जैसा तूने ठीक मतलब समझा है वैसा ही लिख देना। जब पूरी गीता को समझा कर लिख देगा तब छूट जायेगा।' हनुमान् जी ने उस शरीर से जो भाष्य लिखा, वह आज भी मिलता है, उसको पैशाचपिशाच का लिखा हुआभाष्य कहते हैं। यद्यपि चारों तरफ फौजें थीं, फिर भी सुनने की योग्यता वाला न होने से, कोई सुन ही नहीं सकता था, ऐसा उनका दिव्य शरीर और दिव्य संदेश था। इसलिये महाभारत के मध्य में भी उपदेश होकर यह रहस्य ही है।।३।।

पूर्व श्लोक में 'मया प्रोक्तः' कह कर जिस प्रश्न का बीज डाला था, उस प्रश्न को अर्जुन अब पूछता है

अर्जुन उवाच
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

आपका जन्म तो कुछ ही साल पहले हुआ जबकि सूर्य अति प्राचीनकाल में पैदा हुए, तो मैं यह कैसे समझूँ कि सृष्टि के प्रारंभ में आपने ही इस योग का उपदेश दिया था?

'अपर' अर्थात् अब, बाद में होने वाला, अर्वाक्। अर्जुन का कहना हैवसुदेव के घर में आपने जन्म लिया, यह बात हम सब जानते हैं। और सूर्य का जन्म बहुत पहले हुआ, सृष्टि के आदि में हुआ। अतः यह बात सर्वथा विरुद्ध लगती है कि आपने सूर्य को उपदेश दिया। आपने ही आदि में सूर्य को उपदेश दिया थायह बात मैं कैसे समझूँ? आपने जो शब्द कहे वे तो स्पष्ट हैं, पर 'मैं'-पद से किसको कहना चाह रहे हैं, यह स्पष्ट नहीं है। सृष्टि के आदि में आप थे नहीं। यदि तब किसी जीव के रूप में थे, तो अब आपको स्मरण यथावत् नहीं हो सकता, इसलिये आदि में जो बात कही है, उसी को अब कह रहे हैंयह बात कैसे हम मान लेवें, कैसे हमें वह प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत होवे? जैसे कोई कहे 'घास खूब हरी हो गई, आज मैंने खूब आग से उसको सींच दिया!' शब्दों का तो पता लग जायेगा, कि आग से सींचने को कह रहा है, लेकिन विरुद्ध अर्थ है, आग से सींचा नहीं जा सकता बल्कि आग का संबंध हो जाये तो घास हरी नहीं रह सकती। इसी तरह से भगवान् का कथन विरुद्ध लगने से उसका अभिप्राय समझने के लिये अर्जुन का प्रश्न है। भगवान् वासुदेव में सामान्य लोगों की यही दृष्टि बनती है कि वे सर्वज्ञ ईश्वर नहीं थे। शिशुपाल इत्यादि की यही दृष्टि थी कि अभी पैदा हुआ है, बड़ी-बड़ी बातें करता है! वासुदेव ईश्वर हैयह बात लौकिक बुद्धि के लोग समझ नहीं पाते। आजकल भी लोगों की समझ में नहीं आता, अधिकतर लोगों के यही समझ में आता है कि कृष्ण को व्यास जी मिल गये तो वे भगवान् बन गये! थे तो कृष्ण हम ही लोगों की तरह, यद्यपि थे बड़े भारी राजनीतिज्ञ ऐसी बातें लोग करते हैं। यह शंका लौकिक लोगों की तब से अब तक है और संभवतः हमेशा रहेगी।।४।।

भगवान् उक्त शंका का परिहार करते हैं

श्रीभगवानुवाच
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।५।।

हे परन्तप! मेरे व तेरे बहुत जन्म बीत चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ, तू नहीं जानता।

भगवान् कहते हैं कि यह तो दो जन्मों की बात हैसृष्टि के आदि में मैंने विवस्वान् को उपदेश दिया, और अब तुझे उपदेश दे रहा हूँ; पर दो ही नहीं, समयानुसार मैंने अनेक जन्म लिये हैं, बहुत-से जन्म लिये हैं। केवल मैंने ही नहीं, तुमने भी बहुत जन्म लिये हैं। मैं उन सारे जन्मों को जानता हूँ। तुम नहीं जानते। यहाँ एक विचार की बात है : यहाँ जो 'तव' में एकवचन का प्रयोग है, उससे भगवान् एकजीववाद को सम्मत कहते हैंयह कुछ लोगों का कहना है। अन्य मानते हैं कि अर्जुन जीव-जाति का है इसलिये जीव-जाति

मात्र को लेकर एकवचन कह दिया। दोनों ही पक्ष बन सकते हैं।

अर्जुन या जीव अपने बीते सब जन्मों को क्यों नहीं जानता? भगवान् ने एक ही श्लोक में दो सम्बोधन दिये 'अर्जुन' और 'परन्तप'। अर्जुन एक पेड़ का नाम भी है। पेड़ का नाम लेकर कह रहे हैं कि 'जैसे पेड़ को किसी चीज़ का पता नहीं, ऐसी प्रसिद्धि है, इसी प्रकार तेरा स्वरूप भी आवरण शक्ति से ढका हुआ है इसलिये तुझे कुछ पता नहीं!' इस प्रकार आवरण शक्ति को बतला दिया। 'परन्तप' से कहा'ये सब मुझसे पर अर्थात् दूसरे हैं, इन सबने मेरा बुरा किया है, इसलिये मैं इनको अच्छी तरह से मारूँगा, ताप दूँगा, दुःखी 'करूँगा', इसीलिये तू यहाँ युद्ध करने आया था।' इसके द्वारा विक्षेप शक्ति को बतला दिया। वास्तविकता को तो तू जानता नहीं पेड़ की तरह और जो वास्तविक नहीं है, उसको तू जानता है अतः काम क्रोध के वशीभूत होकर, दूसरों को दुख दूँऐसा मन में रख कर दूसरों को ताप देने के लिये चेष्टा करता है। विक्षेप शक्ति से धर्म और अधर्म जीव करता है। और उसी धर्म-अधर्म से, उसकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति अवरुद्ध होती है। वास्तविकता का ज्ञान न होना, उसकी जगह जो वास्तविक नहीं है उस चीज़ को देखनायही माया की आवरण और विक्षेप शक्तियाँ हैं।

इससे विपरीत, 'अहम् वेद' मैं जानता हूँ क्योंकि नित्य-शुद्ध-मुक्त-बुद्ध-स्वभाव होने के कारण मेरी ज्ञानशक्ति आवृत नहीं है, ढकी हुई नहीं है। ज्ञानशक्ति ढकी हुई नहीं होने से सृष्टि के आदि से लेकर आज तक, सब चीज़ों को जानने वाला, सर्वज्ञ मैं हूँ। सर्वज्ञता दो प्रकार की है ऐसा समझ लेना : कई बार जीवों को भी, ऋषि-मुनियों को सर्वज्ञ कह दिया जाता है। वह सर्वज्ञता औपचारिक है। जैसे कोई एक विषय का बड़ा भारी जानकार हो तो लोग कह देते हैं कि 'यह चलता फिरता विश्वकोष है'। कोई कितना भी जानकार होवे, विश्वकोश तो नहीं हो जायेगा! इसी प्रकार जीव, चाहे जितना ज्ञानी हो जाये, लेकिन वास्तविक सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। फिर भी, औरों की अपेक्षा बहुत ज़्यादा जानता है इसलिये सर्वज्ञ कहते हैं। जबकि परमेश्वर की निरंकुश सर्वज्ञता है अर्थात् सचमुच में कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसे वे न जानते हों। जहाँ भी ज्ञान- स्वरूपता है, वह परमेश्वर ही है। परमेश्वर की सर्वज्ञता को यहाँ भगवान् ने प्रकट किया, कि मैं सर्वज्ञ ईश्वर हूँ इसलिये सब जानता हूँ।।५।।

किन्तु ईश्वर का तो जन्म नहीं हो सकता! जो धर्माधर्म किये जाते हैं उन्हीं से शरीर-रूप वस्त्र का धागा बनता है। अनेक धर्माधर्म का फल भोगने के लिये शरीर बनता है। शरीर-धारण रूप जन्म का कारण कर्म ही हैं। ईश्वर के धर्म-अधर्म हैं नहीं, न धर्म हैं न अधर्म हैं। इसलिये धर्माधर्म के अभाव में ईश्वर का जन्म कैसे? यही फ़र्क है जीव और ईश्वर में : जीव धर्म और अधर्म को अपने ऊपर ओढ़े रखता है, जबकि ईश्वर के धर्मा-धर्म नहीं हैं। इसलिये जो कहा कि 'मैंने बहुत से जन्म धारण किये हैं, वह बनता नहीं। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मेरा जन्म जीवों के जन्म की तरह नहीं है।

जीवों का जन्म तो धर्माधर्म भोगने के लिये होता है। ईश्वर का जन्म धर्माधर्म भोगने के लिये नहीं होता। ईश्वर अपनी स्वतंत्र माया शक्ति से, स्वतंत्र इच्छा से ही अपने को प्रकट करता है

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।६।।

जन्मरहित रहते हुए भी, अपरिवर्तनीय स्वभाव वाला होते हुए भी, प्राणियों का शासक होते हुए भी, अपनी माया शक्ति को वश में कर अपनी उसी माया से शरीरधारी की तरह हो जाता हूँ।

भगवान् समझाते हैंस्वरूप से मैं अज हूँ, अजन्मा रहते हुए ही, मेरी जो माया शक्ति है, उसके द्वारा प्रकट होता हूँ, अर्थात् शरीर वाले की तरह प्रतीत होता हूँ। शरीर वाला होता नहीं, शरीर वाले *की तरह* प्रतीत होता हूँ। ऐसे समझ लोरामलीला करनी है, उसमें एक रावण चाहिये, एक राम चाहिये। उन चरित्रों का अभिनय करने में कुशल जो मिलेगा उसी को मौका दिया जायेगा, चाहे उसका निजी जीवन जैसा भी पुण्यमय या पापमय हो। लीला में राम की तरह प्रतीत होता है या रावण की तरह प्रतीत होता है लेकिन राम या रावण हो नहीं जाता। बनता नहीं, लेकिन बना हुआ प्रतीत हो जाता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर देहवाला प्रतीत होता है, देहवाला हो नहीं जाता। रहता कैसा है? जन्मरहित ही रहता है। जन्मरहित होते हुए ही ऐसा दीखता है मानो पैदा हुआ हो। किंच, 'अव्ययात्मा'दीखता है कि भगवान् को जरा ने बाण मारा तो भगवान् का शरीर चला गया, भगवान् का और्ध्वदेहिक भी हो गया। यह दीखता है, परंतु वे कैसे रहते हैं? 'अव्ययात्मा।' उनके अंदर मृत्यु इत्यादि किसी प्रकार का व्यय नहीं है। देहवाला दीखते समय में भी, देह छूट रहा हैऐसा दीखने पर भी उनकी ज्ञानशक्ति अक्षीण रहती है। शरीर जन्म लेने वाला होने पर भी, 'मैं जन्म ले रहा हूँ' ऐसा भ्रम उन्हें नहीं है। शरीर मरने पर भी 'मैं मर रहा हूँ' ऐसा भ्रम नहीं है। उनका जो ज्ञानशक्ति का स्वभाव है, वह कभी क्षीण नहीं होता।

'भूतानामीश्वरोऽपि सन्'। दीखता है कि माँ ने यमलार्जुन-प्रसंग में भगवान् को पेड़ से बाँध दिया; लेकिन जब बँधे हुए प्रतीत हो रहे हैं तब भी ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक, सबका शासन वे ही कर रहे हैं। जिस समय बँधे हुए प्रतीत हो रहे हैं उस समय भी उनकी सामर्थ्य वैसी की वैसी है। पैदा होने के कुछ दिनों में ही पूतना आई थी, जब भगवान् अभी स्तनन्धय ही थे। जहर पिलाने के लिये उनको स्तन पिला रही थी, वे भी खूब प्रेम से पी रहे थे। दीखता यही है। परंतु सबके ऊपर शासन करने की शक्ति वैसी ही रही, इसलिये स्तनपान करते-करते ही उसको मार डाला! जितना जहर था वह सारा नष्ट करते चले गये, और पीना तब तक नहीं छोड़ा जब तक वह मर नहीं गई। जब वह बालक कृष्ण को लेकर गई थी तब सब लोग घबरा रहे थे, कि कहाँ खो गये। जब वह मर गई और धड़ाम से नीचे गिरी, तब सबने देखा, कि बच्चे का क्या हाल है। बच्चा बड़े

प्रेम से खेल रहा था! माँ प्रसन्न हुई, कहने लगी, 'नज़र नहीं लग जाये किसी की'। अगर नज़र लगने वाला होता तो पूतना को कहाँ से मार डालता! यही उनकी आवरण शक्ति है। सब देख रहे हैं कि राक्षसी को मार डाला, फिर भी नज़र उतारने की कोशिश कर रहे हैं! जिस समय सर्वथा शक्तिहीन दीख रहे हैं, उस समय भी पूरी सामर्थ्य वाले हैं।

स्वरूप से अज अव्यय सर्वज्ञ सर्वशक्ति रहते हुए भी अपनी माया नामक प्रकृति के द्वारा सारे संसार को पैदा कर देते हैं और खुद भी पैदा हुए जैसे प्रतीत हो जाते हैं। उनकी प्रकृति के ही वश में यह सारा जगत् है। प्राणी उसके वश में हुआ ही वासुदेव-रूप होते हुए भी, इस बात को नहीं जानता कि 'मैं वासुदेव हूँ'। प्रकृति को 'अधिष्ठाय'; भगवान् उसका अधिष्ठान रूप रहते हैं। जैसे समुद्र की लहरें मीलभर भी ऊँची उठ जाती हैं पर रहती किसकी छाती पर हैं? समुद्र की छाती पर ही। जो उठती है, वह भी समुद्ररूप ही है, जल के सिवाय और कुछ नहीं, परंतु प्रतीत होती है कि समुद्र से अलग है। इसी प्रकार से परमेश्वर अधिष्ठान रूप से मौजूद रहते हुए ही, अनन्त शरीरों वाला प्रतीत हो जाता है। जिस समय समुद्र के ऊपर लहरें उठ रही हैं, उस समय प्रतीत होता है मानो समुद्र में कुछ फ़र्क आया लेकिन आता नहीं है। इसी प्रकार अधिष्ठान परमेश्वर वैसा का वैसा रहता है और माया शक्ति से सारी जगत् की चीज़ों को जानता है। आवरण शक्ति के द्वारा, जीवों को मोहित करके रखता है। इसलिये जीव इस बात को जानता ही नहीं कि वह अधिष्ठान रूप मैं ही हूँ। क्योंकि यह आवरण शक्ति परमेश्वर के ऊपर काम करती नहीं, इसलिये परमेश्वर को आवरण होता नहीं। शरीरवाला प्रतीत होने पर भी ईश्वर शरीरवाला नहीं बन जाता और जीव शरीरवाला प्रतीत होते हुए शरीरवाला बन जाता है। यह होता है माया शक्ति से। माया कहते हैं उस सामर्थ्य को जिससे न हुई चीज़ दिखा दी जाती है। जैसे ऐन्द्रजालिक, जादूगर, पाँच-पाँच सौ के नोट फटाफट तुम्हारे हाथ में देता है। लगता है कि देखो! उसके हाथ में से पाँच सौ रुपये निकल आये! किन्तु जब खेल ख़त्म होता है तब उसकी तश्तरी घूमती है कि दो आना, चार आना दे दो! अगर उसके पास पाँच सौ रुपये की गड्डी होती, तो दो आना-चार आना थोड़े ही माँगता! वह गड्डी तो देखने के काम की है, सचमुच है नहीं। ठीक इसी प्रकार से परमेश्वर की जो माया है उसके द्वारा उसने यह सारा ब्रह्माण्ड खड़ा किया है। सब अनुभव करने के लायक तो है, पर है कुछ नहीं।

भगवान् ने इसको प्रकट किया है, उनकी माया है, इसलिये वे तो जानते हैं। पर 'न त्वं वेत्थ' हम जीव नहीं जानते। अर्जुन का प्रश्न था, 'कैसे जानूँ कि ऐसा होता है?' इसका भगवान् ने उत्तर दिया कि आत्ममाया से होता है। अपने स्वरूप में स्थिर रहते हुए ही मैंने उस समय भी उपदेश दिया, और इस समय भी उपदेश दे रहा हूँ। न मेरे अंदर स्थूल शरीर का अवच्छेद (सीमा) है, न सूक्ष्म शरीर का; मैं तो सारे अवच्छेदों से रहित होते हुए ही अवच्छेद वाला प्रतीत होकर तब भी उपदेश दे रहा था, अब भी उपदेश दे रहा हूँ।।६।।

जिज्ञासा होती है कि आप प्रकट क्यों होते हैं, प्रकट होने का उद्देश्य क्या? अतः

भगवान् अपने प्रकट होने के हेतुओं को बतलाते हैं

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म का उद्भव होता है तब मैं खुद को उत्पन्न करता हूँ।

जिस-जिस काल में वर्णाश्रमादि-लक्षण जो धर्म है, उसकी हानि होती है, वह जब कमज़ोर पड़ जाता है, तब भगवान् मानो उत्पन्न होते हैं। वर्णाश्रम-लक्षण वाला धर्म अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों देने वाला है, इस लोक में और परलोक में सब प्रकार की उन्नतियों को देने वाला एवं इस जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाने वाला है। जो चाहता है लौकिक उन्नति, उसको भी यह धर्म उपाय बतलाता है, जो चाहता है पारलौकिक उन्नति, ब्रह्मलोक-पर्यन्त जाने की जिसे इच्छा है, उसको भी उपाय बताता है। और जो इससे दुःखी हो गया है, इससे छूटना चाहता है, उसे इससे छूटने का भी उपाय बतलाता है। धर्मरूप इस साधन के बिना प्राणी न उन्नति कर सकेंगे, न मोक्ष को प्राप्त कर सकेंगे। इसलिये जब उसकी हानि होती है, जब वह कमज़ोर पड़ता है, तब भगवान् का अवतार होता है। मनुष्य बिना कुछ आधार लिये तो जीता नहीं है। जब धर्म की ग्लानि होगी तब उससे जो विपरीत है अधर्म वह ऊपर उठेगा, अधर्म को ही मनुष्य अपना जीवन का ढंग समझेगा। वर्तमान काल में दीख ही रहा है। बड़े-बड़े लोग भी यही कहते हैं कि जितनी वर्णाश्रम की मर्यादायें हैं इनके कारण ही सनातन धर्म ठीक नहीं है अधर्म का आश्रयण करें तभी उन्नति हो सकती है! 'अभ्युत्थानम्' चारों तरफ अधर्म का उत्थान होता है। अधर्म ही उन्नति करता हुआ दीखता है। पहले लोग कहते थे 'अरे! झूठ बोलते हो तो कहाँ जाओगे!' अब कहते हैं 'महाराज! हम तो गृहस्थ हैं, सच बोल कर कैसे चलेगा!' यही है अधर्म का अभितः अर्थात् सब तरफ से उत्थान। जो तुम्हारी जड़ों को खोखला करने वाला है, उसे ही उन्नति का उपाय मान लेते हो। जब अधर्म का अभ्युत्थान दीखता है तब जो थोड़ा-बहुत धर्म का आचरण करने वाला है वह भी सोचने लगता है कि अधर्म का ही सहारा लेना चाहिये, इसके बिना चलता नहीं। भगवान् कह रहे हैं कि जब ऐसा होता है तब मैं अपने आपको माया के द्वारा शरीरधारी रूप में दिखला कर धर्म का उपदेश करता हूँ, धर्म का रक्षण करता हूँ। भगवान् का जन्म कब होता है यह भी बतला दिया, और किस उद्देश्य से होता है यह अगले श्लोक में स्पष्ट करेंगे।

महाभारत काल के ऊपर दृष्टि डालो : दुर्योधन, जरासन्ध, शिशुपालये सब तब बड़े-बड़े राज्यों के मालिक थे, और युधिष्ठिर सब तरह की सामर्थ्य होने पर भी जंगलों में भटकते थे। यही प्रतीत हो रहा था कि अधर्म का अभ्युत्थान है। इसी प्रकार से रावण इतने बड़े राज्य का मालिक था, सोने की लंका थी, अधर्म का अभ्युत्थान दीख रहा था।

जिन ऋषियों का उसने खून लिया था, वे तो बिलकुल कमज़ोर-से हो रहे थे। भगवान् के प्रकट होने के काल को देखो तो काल वही मिलेगा जब धर्म का ह्रास और अधर्म का उत्थान होता है।

जो लौकिकों की शंका रहती है कि कृष्ण ईश्वर कैसे? उसका भगवान् ने समाधान बतला दिया कि अधिष्ठान रहते हुए ही शरीरधारी की प्रतीति हो जाती है। अधिष्ठान सत् रहते हुए ही घट-पट आदि में भी सत् की तरह प्रतीत हो जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर अधिष्ठान रहते हुए ही, शरीरों में प्रतीत हो जाता है। वास्तव में शरीर वाला बनता नहीं।

जब वर्णाश्रम धर्म की हानि होती है तब उसके विरोधियों का चारों तरफ उत्थान होता है। ये दोनों चीज़ें तो ऐसी हैं जैसे तराजू के बायें हाथ का पलड़ा जितना नीचे जायेगा, उतना ही दाहिने हाथ का पलड़ा ऊपर जायेगा। इसी प्रकार प्राणिमात्र को, मनुष्यमात्र को जीना तो है ही, जीना या धर्म से करेगा या अधर्म से करेगा। जो भी कर्म करेगा, वह या शास्त्रानुकूल होगा या शास्त्रविरुद्ध होगा। यदि धर्म के अनुसार नहीं करेगा तो अधर्म के अनुसार करेगा। जब धर्म का पलड़ा हल्का होता जाता है तब अधर्म का पलड़ा भारी होता जाता है। तब भगवान् आते हैं। भगवान् ने कहा 'आत्मानं सृजाम्यहम्' जो चीज़ बहार निकाल कर फेंकी जाती है वह पहले अंदर मौजूद होती है। इसी तरह से मायाशक्ति के अंदर सारे रूप निहित हैं। वे रूप बहार प्रकट होते हैं। कुछ लोग इसलिये मानते हैं कि भगवान् के रूप नित्य हैं। यदि उनका नित्य से मतलब आकाशादि की तरह नित्य होना है, तब तो कोई विरोध नहीं, जैसे आकाशादि प्रलयकाल में, अव्यक्त में लीन होते हैं, पुनः प्रकट हो जाते हैं, इसी तरह से भगवान् का रूप माया से प्रकट होता है और पुनः माया में लीन हो जाता है। परंतु यदि उनका नित्य से मतलब है कि रूप निरपेक्ष नित्य हैं, तो वह ठीक नहीं क्योंकि सिवाय एक अधिष्ठान स्वरूप के और कुछ निरपेक्ष नित्य नहीं है। 'सृजामि' से कुछ लोगों ने नित्य रूप की सिद्धि मानी है, लेकिन वह बनती नहीं। बाहर प्रकट करना और अंदर लेना यह एक तरह से व्यय ही है और भगवान् ने ठीक यहीं कहा है कि 'मैं अव्यय-स्वरूप हूँ'। इसलिये व्ययभाव वाला रूप सापेक्ष नित्य ही हो सकता है, निरपेक्ष नित्य नहीं हो सकता।।७।।

पूर्व श्लोक द्वारा तो अवतार का काल बतला दिया, कि कब भगवान् माया से प्रकट होते हैं। अब उद्देश्य बताते हैं

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।८।।

सन्मार्ग पर स्थित लोगों के सर्वविध रक्षण के लिये, पापकारियों के विनाश के लिये, और धर्म की सम्यक् स्थापना के लिये हर युग में मैं प्रकट होता हूँ।

साधु अर्थात् जो प्राण निकलने का भय होने पर भी सन्मार्ग पर ही स्थित रहते हैं, मरने की परिस्थिति आ जाय, तब भी जो धर्म को छोड़ते नहीं। बहुत-से लोग सन्मार्ग पर स्थित तो हैं, सन्मार्ग में रहते हैं, लेकिन जहाँ दस-बीस लाख का फायदा देखते हैं वहाँ दुर्मार्ग को अपना लेते हैं कि आटे में नून जितना तो चलेगा। साधु केवल सन्मार्गस्थ नहीं, छोटा-बड़ा नुकसान नहीं, प्राण भी चले जायें तो भी धर्म का परित्याग नहीं करेंगे, सन्मार्ग का परित्याग नहीं करेंगे। ऐसे जो साधु पुरुष हैं, उनका सब तरह से त्राण करने के लिये भगवान् आते हैं। ऐसे साधु पुरुष कभी किसी का अहित नहीं चाहते, सब के हित में ही रहते हैं। कठिन परिस्थिति से बचने के लिये और कोई साधन वे नहीं खोजते। जब तक मनुष्य अपने साधन के भरोसे से चलता है तब तक भगवान् को भी रक्षा करने का प्रयोजन नहीं दीखता। परंतु सब प्राणियों के हित में ही जो रत हैं, उन लोगों के लिये भगवान् स्वयं ही आकर उनको भयंकर परिस्थिति से भी बचाते हैं। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थीये तीनों भी भगवान् के भक्त हैं, सन्मार्गस्थ हैं, पर केवल भगवान् के सहारे नहीं हैं। ज्ञानी क्योंकि परमात्मा से एकरूप है इसलिये वह सर्वथा भगवान् के ही अधीन रहता है। आर्त अपने दुःख की निवृत्ति चाहता है, भगवान् दुःख की निवृत्ति करें, यह चाहता है। भगवान् तो अपना नियम आगे कहेंगेदुःख की निवृत्ति चाहने वाला मेरी तरफ आता है तो मैं उसका दुःख हटा देता हूँ, किसी चीज़ की प्राप्ति के लिये अगर मेरी तरफ आता है तो उसको उस चीज़ की प्राप्ति करा देता हूँ, किसी को कुछ जानने की इच्छा है तो उसको वह जना देता हूँ। जो लोग सोचते हैं कि दुःख दूर हो जायेगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा, अमुक पदार्थ मिल जायेगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा, इस बात का पता लग जायेगा तो मैं सुखी हो जाऊँगा, वे परमात्मा को ही एकमात्र सुख का कारण नहीं समझते। इसलिये वे सर्वथा परमात्मा के आश्रित नहीं हैं। परंतु जो और किसी चीज़ को नहीं चाहता, केवल परमात्मा को ही चाहता है, उसके परित्राण के लिये भगवान् अवश्य आते हैं। और, जैसा भगवान् ने पहले ही कहा, अनेक जन्म ले लेते हैं, अनेक तरह से प्रकट होते रहते हैं। जब घड़ियाल ने, मगर ने, हाथी का पैर पकड़ लिया था, हाथी को और कोई रक्षक नहीं लगा, तब भगवान् ने उसका त्राण करने के लिये चक्र से मगर का सिर काटा। इसी प्रकार से, प्रह्लाद का जब कोई दूसरा त्राण करने वाला नहीं था, तब भगवान् ने विचित्र नरसिंह रूप धारण किया। ब्रह्मा जी ने जब ज्ञान की इच्छा प्रकट की, तब भगवान् ने हंस-रूप धारण कर उपदेश दिया। जब जैसी आवश्यकता हो तब माया के द्वारा वैसा शरीर निर्माण कर लेते हैं। परंतु उनका अज अव्यय भाव वैसा ही बना रहता है। ठीक जिस प्रकार से नाटक में काम करने वाला 'मैं पुरुष हूँ,' यह दृढ निश्चय रखते हुए भी औरत के कपड़े पहन कर नाच लेता है, सारे हाव-भाव औरत के कर लेता है, परंतु सब करते समय उसे किंचित् भी यह *निश्चय* नहीं होता कि औरत हो गया इसी प्रकार जन्मरहित और व्ययरहित, अपने रूप में रहते हुए ही अनेक शरीरों को धारण करने पर भी, वे शरीर वाले नहीं हो जाते।

परित्राण के लिये कई रूप धारण कर लेते हैं।

जो पाप करने वाले हैं उनके नाश के लिये भगवान् जन्म लेते हैं। पापियों का नाशयह अवतार का दूसरा प्रयोजन है। एक प्रयोजन हुआ साधुओं का रक्षण, दूसरा प्रयोजन हुआ दुष्टों का नाश। जैसे धर्म और अधर्म के दो पलड़े हैं, वैसे ही यहाँ भी समझ लेना : प्रायशः जो पापकारी लोग होंगे, वे पुण्यकारियों को सतायेंगे। किसी के घर जाओ, पूछता है 'दूध पी लीजिये, चाय पी लीजिये।' तुम कहते हो 'नहीं, मैं दूध नहीं पीऊँगा, या चाय नहीं पीऊँगा।' तो उसका प्रश्न होता है 'क्या पीयेंगे? नींबू पानी ले आयें, शरबत ले आयें?' क्यों नहीं पीओगे?यह नहीं पूछता। परंतु यदि कोई शराब लाता है और तुम कहो 'नहीं, शराब नहीं पीऊँगा', तो हमेशा तुम्हारे पीछे पड़ेगा, 'क्यों नहीं पीएँगे, क्या खराबी है इसमें ?' दूध नहीं पीते तो कोई प्रवचन नहीं करता है कि दूध बड़ी अच्छी चीज़ है, पीनी चाहिये। लेकिन यदि तुम शराब नहीं पीते हो तो शराबी तुम्हारे पीछे पड़ेगा। अतः जहाँ साधु पुरुषों के परित्राण की ज़रूरत होती है वहीं दुष्कर्मियों के नाश की भी ज़रूरत होती है। जैसे गज को बचाने के लिये मगर को मारना ज़रूरी था। प्रह्लाद को बचाने के लिये हिरण्यकशिपु को मारना जरूरी था। पंरतु हैं दोनों प्रयोजन अलग। साधुओं का परित्राण उनको उस परिस्थिति से निकाल कर भी हो सकता है। परंतु दूसरा प्रयोजन भी साथ है। कहीं एक प्रयोजन भी होता है; जैसे ब्रह्माजी को परमात्मा के स्वरूप की जिज्ञासा थी, उस जिज्ञासा को दूर करने के लिये, हंसावतार रूप से उपदेश दिया। वहाँ किसी को मारने की ज़रूरत नहीं पड़ी।

तीसरा प्रयोजन है 'धर्मसंस्थापनार्थाय' भली भाँति वर्णाश्रम धर्म का संस्थापन करना। केवल साधुओं के परित्राण से, और दुष्कर्मियों के विनाश से धर्म का स्थापन हो जायेऐसा नहीं है। धर्म का भली प्रकार से स्थापन करना भी अवतार का एक प्रयोजन है। जैसे व्यासावतार के अंदर, ब्रह्मसूत्र आदि की रचना करके, पुराणों की रचना करके, धर्म का स्थापन किया। धर्म का सम्यक् स्थापन इसलिये है कि उसकी नींव आगे भी स्थिर रहे। साधुओं का परित्राण और दुष्कर्मियों का विनाशये फल तो अवतार के सामने रहते हुए होते हैं, परंतु धर्म के संस्थापन का जो कार्य है, वह भगवान् के अवतार के नज़र से ओझल हो जाने पर भी बना रहता है।

कृष्णावतार के अंदर ये तीनों प्रयोजन थे। गीता के उपदेश के द्वारा, उद्धव को उपदेश के द्वारा उन्होंने धर्म का संस्थापन किया। युधिष्ठिर आदि का कैसी भी भयंकर परिस्थिति में परित्राण किया। युधिष्ठिर जब जंगलों में भटक रहे थे तब एक बार साठ हज़ार की मंडली लेकर महर्षि दुर्वासा वहाँ पहुँचे। युधिष्ठिर राजा थे, आदत पड़ी हुई थी, दुर्वासा आये, कहने लगे 'भिक्षा करनी है।' युधिष्ठिर के मुँह से तुरंत यही निकला, 'हाँ, कर लीजिये।' तैयारी के लिये थोड़ा समय लेने के लिये कहा, 'महर्षि, नदी में स्नान-ध्यान करके आ जाइये, तब तक भोजन तैयार हो जाता है।' वे जब चले गये तब द्रौपदी से कहा,

'अरे! खाने का क्या जुगाड़ बैठेगा!' उसने कहा 'अपने खाने का तो ठिकाना नहीं, साठ हज़ार की फौज को कहाँ से खिलाऊँगी?' युधिष्ठिर के लिये बड़ा भारी प्रश्न हो गया कि कही हुई बात झूठी हो जायेगी। लेकिन थे हमेशा संन्मार्गस्थ, कितनी बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ आई लेकिन कहीं भी उन्होंने सन्मार्ग का परित्याग नहीं किया। भगवान् को स्मरण किया। भगवान् आये। आते ही द्रौपदी से कहा 'अरे! कुछ खाने को दे।' द्रौपदी कहने लगी, 'महाराज, उल्टी बात करते हो। इसीलिये तो आपका स्मरण युधिष्ठिर ने किया है कि खाने का कोई डौल है नहीं।' भगवान् ने कहा, 'मुझे कुछ खिलाना ही पड़ेगा।' बोली 'कुछ नहीं है, हम खा चुके हैं।' सूर्य ने द्रौपदी को एक बर्तन दिया था, जिससे वह स्वयं जब तक खाकर उसे धो नहीं दे, तब तक भोजन मिलता रहता था। द्रौपदी ने कहा 'हम लोग तो खा-पी चुके, बर्तन धुल गया।' भगवान् ने कहा 'अरे ला, कुछ-न-कुछ होगा ही।' लाकर देखा, एक छोटा-सा धनिये का पत्ता एक कोने में लगा हुआ था उस बटलोई के। भगवान् ने कहा, 'है तो सही, कहती है 'नही है!'' निकाल कर खा लिया। और खाते हुए संकल्प कर लिया कि सारा जगत् तृप्त हो जाये। उधर, दुर्वासा की मंडली के लोग नहा धोकर संध्या वंदन कर रहे थे, पूजा पाठ कर रहे थे। उन सबको अचानक डकारें आने लग गईं। भगवान् का संकल्प हो गया, अतः सब तृप्त हो गये। एक-दूसरे को देखने लगे कि क्या हुआ! एक कहने लगा 'मेरा पेट तो फटा जा रहा है।' दूसरा कहता है 'मेरा भी वही हाल है।' दुर्वासा जी को भी आने लगी डकारें। दुर्वासा जी से सबने कहा 'महाराज, अब खाने की तो कोई जगह नहीं है। पेट तो भर गया ठस।' दुर्वासा जी सोच ही रहे थे कि क्या हुआ, तब तक युधिष्ठिर ने भीम को भेज दिया। भगवान् ने कहा, 'जाओ बुला लाओ सब को।' भीम आया तो दुर्वासा जी ने पूछा 'क्या बात है?' बोला 'आपको बुलाने आये हैं, देरी हो रही है।' दुर्वासा तो ज्ञानी थे ही, उन्होंने कहा : 'कृष्ण तो नहीं आये?' भीम बोला, 'हाँ, आए तो हैं।' वे बोले 'तो बस, हमारा भोजन हो गया! उनसे कहा देना कि अब बुला कर क्या होगा!' इस प्रकार हमेशा साधुओं का परित्राण किया। दुष्टों का, जैसे कंस शिशुपाल का उन्होंने विनाश भी किया, उनको नष्ट भी किया। और गीतादि के उपदेश से धर्म का संस्थापन किया ही। किसी अवतार में एक, किसी में दो, किसी में तीन प्रयोजन प्रकट होते हैं। व्यासादि अवतार में धर्म-संस्थापन ही प्रयोजन है, दूसरे दोनों नहीं हैं।

इन प्रयोजनों के लिये 'युगे युगे सम्भवामि।' सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग, कलि युगप्रत्येक युग के अंदर भगवान् का अवतार होता है। ऐसा नहीं है कि द्वापर में हो गया तो अब नहीं होगा! तीनों में से किसी भी उद्देश्य के लिये भगवान् प्रकट होते रहते हैं। इसीलिये पुराणों के अंदर व्यास जी ने कहा है कि अवतारों की कोई गिनती नहीं कर सकता है, असंख्य हैं। तीनों में से किसी प्रयोजन के लिये कभी भी कहीं भी अवतरित होते ही रहते हैं, प्रकट होते ही रहते हैं। कहीं जन्म से लेकर मृत्यु तक सारा ही नटन करते हैं।

कहीं अल्पकाल के लिये ही लीला हो जाती है। सारी ही लीलाएँ हर अवतार के चरित्र में हमें दिखाई दें, ऐसा ज़रूरी नहीं है।।८।।

भगवान् के अवतार की सचाई समझने का फल बताते हैं

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, ऐसा जो निर्भ्रान्त होकर समझता है, वह शरीर छोड़कर फिर से पैदा नहीं होता वरन् मुझे प्राप्त कर लेता है।

भगवान् कहते हैं, जो मैंने रहस्य तेरे को बतलाया है वह जानना सरल नहीं है। पहले भी अर्जुन ने कहा था कि 'हमारी समझ में कैसे आवे, विरोध का परिहार कैसे होवे? आपके कहे हुए शब्द तो समझ ही रहा हूँ पर अर्थ का बोध अनुभव-जैसा स्पष्ट, निःशंक कैसे होवे?' इसी प्रकार अज अव्यय रहने वाला, माया के द्वारा प्रकट होते हुए भी अज अव्यय रहता हैयह बात समझ में नहीं आती। इसलिये अनादिकाल से यह बात कि भगवान् इस रूप में आये, समझ में नहीं आती लोगों को। हमेशा आक्षेप करते रहते हैं कि सर्वव्यापक है तो एक शरीर में कैसे दीखता है इत्यादि। समझना चाहें तो इतना मुश्किल नहीं है। रस्सी, रस्सी रहते हुए ही तो साँप दीखती है। रस्सी के स्वरूप में किंचित् परिवर्तन हुए बिना, साँप की प्रतीति होती है। इसी प्रकार उस अखण्ड सच्चिदानंद के अंदर, किंचित् परिवर्तन हुए बिना ही सारा संसार प्रतीत होता है। सारा संसार वहाँ प्रतीत हो गया, तो भगवान् का अवतार प्रतीत होना कौन-सा भारी है! किंतु विवर्त समझना साधारण भी नहीं है।

भगवान् कह रहे हैंमेरा जन्म और मेरे किये कर्म दिव्य, अप्राकृत हैं। कर्मफल से उत्पन्न होने वाले स्थूल-सूक्ष्म शरीर भौतिक होने से प्राकृत हैं, ऐसे भगवान् का शरीर न भौतिक है, न कर्म के फल से बना है। वह केवल माया से है। 'दिव्' धातु का एक अर्थ क्रीड़ा भी है। माया द्वारा यों परमात्मा का प्रकट होना उनकी क्रीड़ा ही है। अतः उसे लीला कहते हैं। अथवा देव का स्वभाव दिव्य कहा जाता है। भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है कि स्वभाव से ही परमात्मा हमें अनन्त रूपों में दीखता है अर्थात् अज्ञानी को अनन्त रूपों में दीखनायह परमेश्वर का स्वभाव है जैसे मन्दान्धकार में सर्पादि-आकार में दीखना रस्सी का स्वभाव है। इस व्याख्या में, देवका स्वभाव होने से उनके जन्म-कर्म दिव्य हैं। असीम रहते हुए भी ससीम दीख जाना, निर्गुण रहते हुए ही सगुण दीख जाना, यह भगवान् का ऐश्वर्य, ईश्वरभाव है। जो इस स्वभाव को जैसा यह वस्तुतः है वैसा समझ लेता है अर्थात् सर्वत्र जिसकी ब्रह्म-दृष्टि अक्षुण्ण है, वह अपने वर्तमान शरीर को छोड़ने के बाद, फिर किसी शरीर में आता नहीं। एक अखण्ड सच्चिदानंद ही अज्ञान के कारण इन सारे रूपों में प्रकट हो रहा हैऐसा जो समझता है उसका फिर जन्म नहीं होता, इस शरीर को

छोड़कर फिर उसका जन्म नहीं होता। जन्म नहीं होता तो वह कहाँ जाता है? 'मामेति', मुझे ही प्राप्त हो जाता है, अधिष्ठान भाव को ही प्राप्त हो जाता है।

अविद्या से, माया से ही भगवान् का अवतरण होकर उनकी सारे रूपों में प्रतीति होती है जबकि स्वयं वे हमेशा वैसे के वैसे, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अधिष्ठान बने रहते हैंयह साक्षात्कार मोक्षमार्ग है। अतः जिसे यह साक्षात्कार हो जाता है वह मुझे प्राप्त होता है, यही मोक्ष है। 'भगवान् से मैं अलग हूँ' यही समझना बंधन है। बंधन एक ग़लत ज्ञान ही है; 'मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, आँख जितना देखेगी उतना ही देख सकता हूँ'ये सब ज्ञान ही हैं पर ग़लत ज्ञान हैं। मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप हूँयह ठीक ज्ञान है। ग़लत ज्ञान से बंधन अनादि काल से चल रहा है। सही ज्ञान से मोक्ष हो जाता है। भगवान् को प्राप्त करता है अर्थात् मुक्त हो जाता है, अर्थात् अपने को अज अव्यय जान लेता है।।९।।

आगे भगवान् बताते हैं 'यह मोक्ष-मार्ग कोई नया मैं तुम को बतला रहा हूँ, ऐसा नहीं है। अनेक साधक इस मार्ग से मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं।'

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

जिनके राग भय क्रोध निवृत्त हो चुके, मुझ से स्वयं का अभेद-दर्शन जो कर चुके, केवल ज्ञान में ही निष्ठा वाले, ज्ञानरूप तप से परम शुद्ध हुए बहुत-से साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए हैं।

बहुत-से लोग इस मार्ग से मुक्त हुए यह इसलिये बताया क्योंकि किसी भी रास्ते चलने लगो और पता चले कि बहुत-से लोग इस रास्ते से पहुँचे हैं, तो आदमी को पूरा विश्वास रहता है कि पहुँच जायेंगे। मगर कोई रास्ता होवे जिस पर कोई नहीं चला है, तो हमेशा संदेह से ग्रस्त रहते हैं कि क्या पता पहुँचेंगे कि नहीं। पूर्ण विश्वास के साथ इस रास्ते पर चल सकें, इसलिये भगवान् यह बात बतला रहे हैं कि बहुत-से लोग इस रास्ते से चल करके मुझे प्राप्त हो गये हैं। मद्भाव अर्थात् ईश्वर का वास्तव रूप जो मोक्ष, उसे पा चुके हैं। ईश्वर-भाव क्या है? अनंत रूपों में रहते हुए भी अखण्ड रूप से बने रहनायही ईश्वरत्व है। अनेक रूप धारण करने से यदि ईश्वर के ऊपर किंचित् दोष भी आया होता, तो मोक्ष असंभव हो जाता। जैसे ईश्वर सारे द्वैत का अधिष्ठान बनकर भी निर्विकार है ऐसे जीव भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अधिष्ठान बना हुआ भी निर्विकार है। यदि करने-भोगने से आत्मा में फ़र्क पड़ता तो मोक्ष असंभव होता। न सर्वथा कर्म छोड़े जा सकते हैं और न अनादि जन्म-प्रवाह में बटोरे पुण्य-पाप किसी भी सीमित काल में भोगकर नष्ट किये जा सकते हैं। मोक्ष तभी संभव है जब आत्मा ने अनंत कर्मों और अनुभवों को किया परंतु वैसा ही निर्विकार रहा। यह ईश्वर-भाव ही मोक्ष है कि दागी प्रतीत होते हुए ही बेदाग रहना। चाहे जितने लम्बे समय से तुम को अधिष्ठान में अध्यस्तों का ज्ञान रहा हो,

अधिष्ठान का ज्ञान होते ही निश्चय यह होता है कि यह सब एक क्षण को भी बना नहीं था। इसी प्रकार आत्मा का निश्चय होता है कि इसके ऊपर कभी कुछ दोष आया नहीं था। इसी ज्ञान से ईश्वर-भाव अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

होगी कब? पहली चीज़ 'वीतरागभयक्रोधाः'राग; जिस चीज़ ने मुझे ऐन्द्रिय या मानस सुख दिया है, वह मुझे फिर-फिर मिलती रहेयह भावना राग है। जब तक परमात्मा का एक रूप हमें अच्छा लगता है जो बार-बार होवे और दूसरा रूप बुरा लगता है कि कभी न होवे, तब तक सब एक-जैसा परमात्मा का रूप है यह नहीं समझे। राग इस बात को बतलाता है कि परमात्मा की आनंदरूपता को हम सर्वत्र देखने में असमर्थ हैं। भूख भी उतनी ही परमात्मा का रूप है जितनी खा कर हुई तृप्ति है। सर्वत्र आनंद की दृष्टि जो रखने वाला है वही परमात्मा के इस स्वरूप को समझने में समर्थ होगा। भय'द्वितीयाद् वै भयम् भवति' अपने से दूसरा कोई हो तब उससे भय होगा। जो सर्वत्र आत्मदृष्टि रखता है उसे भय का प्रसंग ही नहीं होता है क्योंकि अपने आप से किसी को डर नहीं लगता। दूसरा यदि काल्पनिक हो, कल्पना से बना हो, तो भी डरा देता है, जैसे भूत है। भूत मुझ से दूसरा है तभी उससे भय होता है। अतः जो द्वैत-दृष्टि से रहित है वह भय से रहित रहेगा। क्रोधजो व्यक्ति अपना अपकारी दीखता है, अपना नुकसान करने वाला दीखता है, उसी पर क्रोध आता है। जिसको सर्वत्र परमात्मा उपकारी ही दीखता है, उसको क्रोध किस पर आयेगा! यहाँ उपलक्षणा से और भी सारे मानस विकारों को समझ लेना चाहिये जो या द्वैतमूलक हैं या परमात्मा की आनंदरूपता को नहीं जानने से हैं। राग, भय, क्रोध और इससे संबंधित जितने विकार हैं वे सब जिनमें से ऐसे चले गये हैं कि उनका नाम भी वहाँ बचा नहीं है, उन्हें वीतराग आदि कहते हैं। कुछ समय के लिये तो ये सभी के दूर होते हैं, विवेकी और अभ्यासी काफी देर तक इन्हें दूर रखता है, किंतु इन्हें 'वीत' तब कहते हैं जब ये इतने विगत हो गये कि अपने लिये परोक्ष जैसे ही हो गये।

हम जीव की परिस्थिति के अंदर हमेशा द्वैतग्रस्त रहने के कारण या किसी चीज़ में राग वाले होते हैं, या भय वाले होते हैं, या क्रोध वाले होते हैं। कोई चीज़ अच्छी लगती है तो रागमय हो जाते हैं। इसी प्रकार जब भय हो, एकदम सामने सिंह गरज के आ रहा हो, तब सिवाय भय के उस समय में और कोई होश नहीं रहता, खाली डर ही रहता है कि अब खाया, अब खाया; तब भयमय हो जाते हैं। ऐसे ही जब क्रोध आता है तब क्रोधमय हो जाते हैं। भाष्यकार लिखते हैं कि गुरु को भी हुंकारा तुकारा दे देते हैं गुस्से में क्योंकि कुछ होश नहीं रहता कि सामने वाला कौन है। द्वैतमूलक अवस्था में हम लोग रागमय, भयमय, क्रोधमय होते हैं। रागादिमय न रहने पर किम्मय होंगे? भगवान् ने कहा 'मन्मयाः', केवल मुझमें ही लीन रहेंगे। अर्थात् उनकी ब्रह्मनिष्ठा परिपूर्ण होगी। ऐसे लोग ही निरंतर अपने को ईश्वर से अभिन्न ही देखते हैं अर्थात् 'मैं वह अधिष्ठान हूँ' इस बात की कभी उनको विस्मृति नहीं होती। रागादि उनमें प्रतीत होने पर भी वे रागमय, भयमय

इत्यादि नहीं हो जाते।

'माम् उपाश्रिताः'उनका प्रारब्ध-कल में जीवननिर्वाह किससे है? वे मुझपर ही आश्रित रहते हैं। प्रारब्धभोग ईश्वरसंकल्प ही है। ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध इसीलिये बचा है कि सत्यसंकल्प ईश्वर का वह संकल्प है। प्रारब्धभोग के लिये आवश्यक सामग्री वह संकल्प ही जुटायेगा। अज्ञानियों को भी प्रारब्धभोग ईश्वर संकल्प से ही मिलते हैं, भोग के साधन आदि भी तभी उपलब्ध होते हैं जब ईश्वरसंकल्प हो, अन्यथा नहीं। सुख हो या दुःख, होगा ईश्वरसंकल्प ही, उसको सम्भव करने की सारी व्यवस्था वही पूरी करेगा। सुख हो या दुःख हो, भोग के लिये भोग की सामग्री भी उपलब्ध परमेश्वर का संकल्प ही करा देता है। परंतु जीव अज्ञानावस्था में इस बात को समझता नहीं है। वह सोचता है कि 'भोग की प्राप्ति मेरे पुरुषार्थ से होगी,' और इसलिये केवल भगवान् के ऊपर ही निर्भर नहीं करता है। ज्ञानी इस बात को जानता है, और क्योंकि उसमें रागादि हैं नहीं इसलिये 'मैं कुछ प्राप्त करने के लिये अलग से करूँ', इस भाव की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसलिये केवल परमेश्वर ही सहारा उसको जीवन-निर्वाह के लिये हैं, इसके सिवाय और कुछ नहीं।

इस भाव को प्राप्त करने का क्या उपाय है? 'ज्ञानतपसा'ज्ञान ही तप है। शारीरादि तप इसका पर्याप्त साधन नहीं है। इसका तो केवल परमात्म-विषयक ज्ञानरूप तप ही उपाय है। परमात्मा के तत्त्व का ज्ञान अर्थात् ईश्वरभाव और जीवभावदोनों का भली प्रकार से शोधन करके परमात्मा के स्वरूप का निश्चय करना रूप ज्ञान में स्थिर रहना ही तप है। निश्चय के बाद उसी निश्चय में स्थिर रहना ज़रूरी है। निश्चय बुद्धि में होता है पर पुराने संस्कारों के कारण, वह निश्चय हिल जाता है; संशय के कारण भी हट जाता है, विपर्यय के कारण भी हट जाता है। जब बुद्धि वहाँ से हिले तब हिली हुई स्थिति से पुनः उस अधिष्ठान रूप में ही आना, यह तप है। बार-बार अन्य चीज़ों का वारण करते हुए अपने स्वरूप में स्थित होना, तप है। जब दीर्घकाल निरंतर सत्कार पूर्वक इसको कर लेता है, तब अन्तःकरण में संस्कार भी ये ही रह जाते हैं। जब ये ही संस्कार रह जाते हैं तब सामने दूसरी चीज़ें प्रकट ही नहीं होतीं। शरीर, मन आदि का भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अनुभव करते हुए भी संस्कार ऐसे दृढ रहते हैं कि वही निश्चय बना रहता है। श्रवण-मनन के द्वारा निश्चय करना, फिर निश्चय पर स्थिर रहना और विचलित होने पर बार-बार उसी निश्चय पर आनायह उपाय है। जब कभी प्राचीन संस्कार से संशय-विपर्यय आवें तब तुरंत उन्हें वहीं काट दो।

इस तप के द्वारा ही 'पूताः' पवित्र हो जाते हैं। और कोई तप ऐसी पवित्रता करने वाला नहीं है। अन्यत्र भी भगवान् ने कहा है कि इस ज्ञान के जैसा पवित्र करने वाला और कुछ नहीं है। इस प्रकार जो परम सिद्धि को प्राप्त कर गये वे ही 'मद्भावमागताः' मुक्त होते हैं। इसके द्वारा भगवान् ने संकेतित कर दिया कि बाकी सब तपों से निरपेक्ष ही

ज्ञान-निष्ठा रहती है। कहीं पर दूसरे तपों के साथ देखी भी जा सकती हैजैसे व्यासादि के अंदर तप-प्रभाव से तरह-तरह की ऐश्वर्यमयी शक्तियाँ थींपरंतु उन तपों का प्रयोजन परमात्मभाव की प्राप्ति नहीं है। ठीक ऐसे ही समझ लो : कोई वकील परमात्मा की तरफ लगा, आत्मनिष्ठ हो गया। उसका वकीलपना रहेगा ही, कोई आकर उससे किसी मुकदमें में सलाह पूछेगा तो वह ठीक सलाह दे देगा, लेकिन उस सलाह देने की शक्ति का ज्ञान-निष्ठा से कोई संबंध नहीं है। इसी प्रकार शारीर आदि जितने तप हैं, उन सबका प्रयोजन परमात्मभाव की प्राप्ति नहीं है। इसलिये भाष्यकार लिखते हैं 'इतरतपोनिरपेक्षज्ञान-निष्ठा इत्यस्य लिङ्गं ज्ञानतपसेति।' इतर तपों से सर्वथा निरपेक्ष है ज्ञाननिष्ठा। यह ज्ञान के साधनों से ही आती है, और किसी साधन से नहीं। इस प्रकार भगवान् ने बतला दिया कि जो मेरे उपाश्रित और मन्मय हैं वे ही मद्भाव को प्राप्त कर जाते हैं।।१०।।

प्रश्न उठता है कि जो आपको जानते हैं वे तो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, और जो नहीं जानते वे नहीं करते हैं। परंतु इसका मतलब है कि आप में राग-द्वेष हैं! ज्ञान करने वाले के साथ प्रेम होने से आप उसको अपने मुक्त स्वरूप में मिला लेते हैं और दूसरे के साथ द्वेष होने से उसको नहीं मिलाते। करुणाकर होने से आपको तो चाहिये कि सबको ही अपने में मिला लें, मुक्त कर दें। इसका जवाब भगवान् देते हैं कि राग-द्वेष मुझ में नहीं हैं

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

हे पार्थ! जो जैसी मेरी शरण लेते हैं उन पर वैसा ही मैं अनुग्रह करता हूँ। मनुष्य हर तरह से मेरे रास्ते का अनुसरण करते हैं।

जो जिस प्रकार से अर्थात् जिस प्रयोजन से, जिस फल की इच्छा से मुझ परमात्मा को वासुदेव को प्रपन्न होता है अर्थात् मेरी शरण में आता है, वह जिस फल की कामना से मेरी तरफ आया है वही फल मैं कृपापूर्वक देता हूँ, वही प्रयोजन सिद्ध कर देता हूँ। जो दुःख से छूटने के लिये आता है उसे दुःख से छुड़ा देता हूँ, जो यश पाने आता है उसे यश दिला देता हूँ, जो कुछ जानना चाहता है उसे वह ज्ञान करा देता हूँ। जो इन सब चीज़ों से निरपेक्ष, केवल मुझ परमेश्वर के लिये मेरी शरण लेता है, उसे मैं अपना स्वरूप दे देता हूँ। अलग-अलग फल राग-द्वेष के कारण नहीं वरन् मेरी ओर आने वालों की इच्छाओं के भेद के कारण होते हैं। जो मोक्ष चाहते ही नहीं उन्हें मोक्ष देने का प्रसंग ही नहीं, बल्कि अगर उन्हें दूँ तो वे रोने-चिल्लाने लगेंगे क्योंकि मोक्ष में जिन चीज़ों से छूटना है उन्हीं से वे चिपके रहना चाहते हैं! अतः जो मोक्षकामी ही नहीं उसे मोक्ष कैसे दूँ, क्योंकि वह उसके लिये मेरी तरफ आया ही नहीं है। अतः फलार्थियों को मैं जिस फल को वे चाहते हैं, वह देता हूँ और जो मेरे कहे हुऐ मार्ग पर चलते हैं पर किसी फल की इच्छा नहीं रखते, केवल

मुमुक्षु हैं, उनको मैं ज्ञान देता हूँ। जिन्होंने ज्ञान प्राप्त करके सर्वस्वत्याग के द्वारा केवल मेरा ही चिंतन किया, उनको मैं अपना स्वरूप, मोक्ष दे देता हूँ। राग-द्वेष के कारण या मोह के निमित्त मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, मैं तो सामने वाले की भावना के अनुसार ही फल देता हूँ।

किसे अनुरूप फल देते हैं? 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते' भगवान् कहते हैंश्रुति स्मृति के अंदर जो मार्ग मैंने बनाया है उस पर ही चलने वालों को इष्ट फल देता हूँ। बाकी तो उचित साधन अपनाते नहीं अतः उचित फल न पाकर अनिष्ट ही पाते हैं भगवान् से। चाहे आर्त है, जिज्ञासु है, अर्थ चाहने वाला है, मुमुक्ष है, जो मैंने मार्ग बनाया है, श्रुति स्मृति के अंदर कहा है, उसके अनुसार ही जो बर्ताव करता है वह अनुरूप फल पाता है। जिस फल की इच्छा से, जिस व्यक्ति को जिस कर्म में अधिकृत किया गया है, उसके लिये जो प्रयत्न करता है वह मनुष्य है। जैसे वाजपेय याग ब्राह्मण करे, राजसूय याग क्षत्रिय करे, कारीरी याग वैश्य करेयों जिस फल के लिये जिस कर्म में जो अधिकारी है उसका अनुष्ठान करना मेरा बनाया हुआ वर्त्म, रास्ता हो गया। उस पर जो चलने का प्रयत्न करता है वह मनुष्य है, वही इष्ट पाता है। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि जो इस प्रकार से श्रुति स्मृति के अनुसार सदाचार करते हैं वे ही वस्तुतः मनुष्य कहे जाते हैं। जो अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार प्रवृत्त हैं, परमेश्वर की आज्ञा को मानकर ही चलते हैं, वे मनुष्य हैं। यदि कोई कहता है 'मैं परमेश्वर की शरण में हूँ, पर परमेश्वर को बुद्धि कम है, इसलिये बहुत-से काम मुझे खुद करने पड़ते हैं!' तो वह परमेश्वर के वर्त्म का ही अनुवर्तन करने वाला नहीं है। कई बार लोगों को यह शंका होती है कि कर्म किया और फल हुआ नहीं तो क्यों? उसके समाधान के लिये भगवान् ने यहाँ सूत्र बतला दिया 'सर्वशः'; एक काम तो तुम ने कर दिया जैसा शास्त्र में कहा है वैसे, परंतु जो नित्य नैमित्तिक कार्य कहे गये हैं उनको करते समय तुम्हारे पास बहाने होते हैं कि आज के युग में नहीं हो सकता। नहीं हो सकता, तो भगवान् भी फलदान नहीं कर सकते! जब तक हम *सब प्रकार* से परमेश्वर के मार्ग के अनुसार चलने वाले नहीं बनते तब तक जो भगवान् ने बात कही है कि 'जिस उद्देश्य से मेरी तरफ आते हैं, उस उद्देश्य को मैं पूरा करता हूँ' वह लागू नहीं होती। इसीलिये भगवान् ने शब्द प्रयोग किया था 'प्रपद्यन्ते' प्रपन्न होते हैं, शरणागत होते हैं। इसका मतलब यह है कि अन्य आश्रयों को छोड़कर परमात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा ने जो वर्त्म बनाया है, जो रास्ता बनाया है, उसके ऊपर चलना है। जैसे शरणागत व्यक्ति अपनी तरफ से कुछ नहीं कर सकता है उसी प्रकार से जो परमात्मा ने मार्ग बनाया है, उस पर चलने को छोड़ कर और कुछ सहारा नहीं लेना है। तब, जिस फल की इच्छा से परमात्मा की तरफ जाओगे वही फल मिल जायेगा। इस प्रकार 'सर्वशः' ज़रूरी है।

भगवान् ने संबोधन दिया 'पार्थ!': एक तरह से भगवान् कह रहे हैं, कि मनुष्यमात्र भी मेरे रास्ते पर चलने वाला है, फिर तू तो मेरी बुआ का लड़का भाई है, पृथा का पुत्र है,

तू मेरी बात नहीं मानता, यह महान् आश्चर्य की बात है। मनुष्यमात्र मेरे रास्ते में चलने को तैयार है तो तू क्यों नहीं? तू क्यों मन में संकोच कर रहा है?।।११।

प्रश्न उठता है कि यदि ऐसी बात है तो फिर सभी लोग मुमुक्षु ही क्यों नहीं हो जाते? सब केवल मोक्ष की इच्छा से ही आपके मार्ग में क्यों नहीं चलते? सबसे उत्तम फल मोक्ष है तो क्यों अर्थ और काम को महत्त्व देकर अर्थ की प्राप्ति या दुखःनिवृत्ति की कामना करते हैं? आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति पूर्वक परमानंद की प्राप्ति की ही इच्छा क्यों नहीं करते? लोग क्यों परमात्मा की तरफ ही नहीं जाते? यद्यपि परमात्मा की सेवा से, परमात्मा की शरण से, यह लोक, परलोक, मोक्षसब की प्राप्ति होती है, फिर भी लोग परमात्मा की तरफ नहीं जाते, क्या कारण है? उत्तर में भगवान् कहते हैं

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

इस लोक में कर्मों से फल चाहते हुए लोग (मेरी बजाये) देवताओं की पूजा करते हैं क्योंकि मनुष्य लोक में (देवताओं के लिये किये) कर्म से जन्य फल शीघ्र हो जाता है (जबकि ईश्वर-पूजा से प्राप्य ज्ञानफल मनःशुद्धि की अपेक्षा रखने से इतना शीघ्र नहीं होता)।

कर्मों के द्वारा जो कर्मफल की प्राप्ति की इच्छा करते हैं अर्थात् मैं जो कर्म कर रहा हूँ उसका फल सिद्ध होना चाहियेऐसी जो आकांक्षा रखते हैं वे शरणागत कैसे होंगे? परमात्मा कहते हैं 'सत्य बोलो।' अदालत के अंदर मुकदमे में वकील सलाह देता है कि अमुक झूठ बोलो तो जीत जाओगे, अन्यथा नहीं। यदि तुम्हें कर्म से होने वाली सिद्धि चाहिये तो परमात्मा का वर्त्म जो 'सत्य बोलो', उसे छोड़ोगे, क्योंकि तुम्हारा अभिमान है 'इस मुकदमें में सफलता मेरे झूठ बोले बिना नहीं हो सकती।' जो होता है वह मेरे किये होता हैयह आग्रह रखोगे तो ईश्वराज्ञा के बजाये अपनी समझ को महत्त्व दोगे ही। अतएव 'संसार में कुछ नहीं चाहिये, परमात्मा ही चाहिये' यह शरणागति नहीं करोगे। परमात्मा कहते हैं 'सांसारिक फलों के लिये नहीं, ज्ञान की योग्यता के लिये कर्म करो' तुम्हें यदि 'इह' अर्थात् संसार में ही फल पाने का आग्रह है तो परमात्मा की वह आज्ञा कैसे मनोगे? इसलिये सांसारिक फल ही दे सकने वाले इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं की पूजा ही करोगे, ईश्वराराधना नहीं। जो सांसारिक फल नहीं चाहता, वह भी इंद्रादि की पूजा करता है, पर यह जानते हुए कि एकमात्र परमात्मा के ही वे विशेष नाम-रूप हैं; अतः वास्तव में वह पूजा परमेश्वर की ही हो जाती है। किन्तु लौकिक फल चाहने वाले को यह निश्चय नहीं कि एक सद्रूप ब्रह्म ही इन्द्र मित्र वरुण आदि के रूपों में पूज्य है, वह उन्हें परमात्मा से एवं आपस में तथा खुद से (यजमानसे) भिन्न ही समझता है। अतिधन्य वेद कहता है कि 'देवता अन्य है और मैं अन्य हूँइस प्रकार से जो जानकर देवता की पूजा

करता है वह देवता के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता।' देवता का भी वास्तविक स्वरूप तो परमात्मा ही है। इसे समझकर अर्चना करे तो उसका परमार्थ में लाभ है, अन्यथा वही अर्चना केवल तुच्छ फल देकर रह जायेगी। जो देवता को परमात्मा से भिन्न समझ कर लौकिक फल के लिये इन्द्र, वरुण यम, आदि की पूजा करता है उसे इस लोक के अंदर जल्दी सिद्धि हो जाती है। सब देवता जब परमेश्वर के मार्गानुसार चलो, तभी प्रसन्न हों, ऐसे नहीं है! परमात्मा तो जब तुम उनके बनाये नियमों के अनुसार चलोगे तभी तुम्हारे वास्तविक हित का फल देंगे, सच्चा इष्ट फल देंगे। किन्तु हमें उस मार्ग पर चलना कठिन लगता है क्योंकि हम परमेश्वर की शरण नहीं हैं। हमें लगता है कि *हमारे* करने से होता है, तो परमेश्वर के मार्ग पर हम चलना नहीं चाहते इसलिये, शीघ्र फल देने वाले देवताओं की अर्चना में लगे रहते हैं। ईश्वर से भिन्न समझने पर देवता भी ईश्वर-मार्ग को महत्त्व बिना दिये कर्मों के लौकिक फल शीघ्र दे देते हैं। क्योंकि वे तब, ईश्वर के नियमों के अनुसार तुम चलोइसको अपेक्षित नहीं मानते। जिस कर्म को करने में जितने अंग अपेक्षित हैं, उतने तुम ने कर दियेइतना ही देखते हैं, आगे-पीछे से मतलब नहीं रखते। परमेश्वर के मार्ग में चलने पर तो तुमको अपना सारा जीवन उसी के अनुसार बनाना पड़ेगा। अत एव उसमें विलम्ब लगता है, देरी लगती है क्योंकि सारे जीवन का निर्माण करना पड़ता है। कर्म से लोक में, संसार में होने वाली सिद्धि सरल है, जबकि परमात्मा के मार्ग में चल कर अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त करके मोक्ष पाना बड़ा कठिन है। लोग इसीलिये परमात्म-मार्ग पर नहीं जाते क्योंकि कर्मफल जल्दी सिद्ध करना चाहते हैं। और, वह कार्य देवताओं के याग से हो जाता है, परमात्मा के लिये जो अपेक्षित है वह सब नहीं करना पड़ता। इसलिये लोग परमात्मा की तरफ न जाकर देवताओं को उनसे भिन्न समझ कर उन्हीं को पूजते हैं।

इद्र, वरुण, यम आदि भी, कम-से-कम जब तक तुम साधन करते हो, तब तक अपेक्षित रखते हैं कि नियमों का पालन करो। नित्य नैमित्तिक कर्म बिना किये तुमको वैदिक काम्य कर्मों में अधिकार ही नहीं होता है। इसलिये काफी कुछ नियम ज़रूरी हो जाते हैं। जो उनसे भी बचना चाहते हैं, जैसा आजकल है, वे राहु, शनि, मंगल आदि को मानते हैं! इन्द्र, वरुण, यम आदि के लिये तो काफी नियमों की ज़रूरत है। उस से भी सरल होता है क्षुद्र देवताओं को, ग्रह आदि को मनाना। वे नित्यादि-अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रखते, केवल उनके निमित्त किये कर्म को देखते हैं। इस प्रकार जो कर्म की लौकिक सिद्धि की इच्छा करते हैं वे भिन्न देवताओं का यजन करते हैं, चाहे भिन्न देवता इन्द्र, वरुण आदि वैदिक हों, या दूसरे हों।

भगवान् ने यहाँ कहा 'मानुषे लोके क्षिप्रं सिद्धिर्भवति', मनुष्य लोक में सिद्धि शीघ्र होती है। इसके द्वारा बतला दिया कि अन्य लोकों में भी सिद्धि होती है। यहाँ 'क्षिप्रं' शीघ्र होती है, इसका मतलब है कि धीरे-धीरे अन्य लोकों में भी होती है। मनुष्य लोक के अंदर

वर्णाश्रम आदि कर्माधिकार है, यह विशेष है, इसलिये उसके अंदर शीघ्र सिद्धि होती है। जो वर्णाश्रम आदि अधिकार के अनुसार कर्म करते हैं उन्हें मानुष लोक वाला समझना चाहिये। 'मानुषे लोके' का मतलब केवल पृथ्वी पर पैदा होना नहीं है वरन् वर्णाश्रम आदि कर्माधिकार वाले होना है। जो वर्णाश्रम आदि कर्माधिकार वाले लोग हैं वे देवता-यजन से शीघ्र फल प्राप्त करते हैं। जो वर्णाश्रम आदि अधिकार वाले नहीं हैं वे भी इस प्रकार के कर्मों के द्वारा, देर से सिद्धि प्राप्त करते ही हैं।

इस प्रकार, 'सब लोग परमेश्वर के मार्ग में क्यों नहीं जाते?'इसका भगवान् ने जवाब दे दिया कि ज़्यादातर लोग सब प्रकार से मेरी शरण होना नहीं सहन कर सकते।।१२।।

प्रश्न होता है कि भगवान् ने मानुष लोक में अर्थात् चातुर्वर्ण्य के अंदर वर्णाश्रम आदि कर्माधिकार वालों को शीघ्र सिद्धि बतलाई, इसमें क्या कारण है? उत्तर में भगवान् कहते हैं

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

गुणों के और कर्मों के विभाग के अनुसार मैंने चारों वर्ण बनाये हैं। (माया से) उसका कर्त्ता होने पर भी मुझे अव्यय अकर्ता समझो।

भगवान् कहते हैं कि चार वर्णों की मैंने सृष्टि की और इन वर्णों के अंदर कौन-से गुण प्राप्त करने चाहिये, और कौन-से कर्म करने चाहिये, यह मैंने अलग-अलग कर बतलाया है। चूंकि उनके गुण और कर्म मेरे बताये हुए हैं इसलिये उन गुण-कर्मों के अनुसार चलने से लोग मेरे मार्ग वाले हो जाते हैं। जो वर्णाश्रम वाले नहीं हैं, उनके गुण कर्मों का मैंने विभाग करके बताया नहीं। वे लोग अपनी कामना से प्रवृत्त होते हैं। ऐसों की दृष्टि है कि मास्टर बनना चाहता हूँ इसलिये मास्टर बनूँ वर्णाश्रम के अधिकारी का दृष्टिकोण होगा, 'क्योंकि मैं ब्राह्मण हूँ इसलिये मुझे अध्ययन-अध्यापन करना है'। आजकल यह समस्या बहुत बढ़ गयी है। लोग कहते हैं, जो जिस काम को अच्छी तरह से कर सके, उसको उस वर्ण का मान लो। पर भगवान् कहते हैं कि चारों वर्ण उन्होंने बनाये हैं। भगवान् ने यदि यह कहा होता कि 'वर्णाश्रम का निर्णय तुम लोग अपने मन से कर लिया करो', तब तो ठीक है, ऐसा हो जाता। लेकिन भगवान् ने कहा कि ब्राह्मण अपने में किस गुण को लाने का प्रयत्न करे, किन कर्मों को करके जीवन-निर्वाह करे, यह मैंने बतला दिया है। इसलिये वर्णी को अपनी कामना से प्रवृत्त नहीं होना है, परमात्मा की आज्ञा से प्रवृत्त होना है, तभी वह परमेश्वर के प्रपन्न होगा, परमेश्वर की शरण में रहेगा। जो अपने मन से प्रवृत्त हो रहा है, अपनी कामनाओं के अनुसार चल रहा है, उसमें वह शुद्धि कैसे आ सकती है जो भगवान् के मार्ग पर चलने वालों में आती है? क्यों वर्णाश्रम-विभाग वालों

को क्षिप्र सिद्धि होती है? क्योंकि वर्णाश्रम विभाग वाले भगवान् के बनाये हुए रास्ते पर चलते हैं। वर्ण भगवान् के बनाये और उनके लिये उचित गुण तथा कर्म भी उन्हीं ने बताये हैं। अतः वर्णधर्म भगवान् का बनाया रास्ता है।

ब्राह्मण का गुण सत्त्व है और शम, दम, तप आदि उसके कर्म हैं। अध्यापन, याजन व प्रतिग्रह उसके वृत्तिधर्म अर्थात् कमाई के धर्म-संमत साधन हैं, इनसे उसे अपने जीवन का निर्वाह करना है। क्षत्रिय के सत्त्व और रज दोनों गुण हैं किंतु सत्त्व कम और रज ज़्यादा। इसलिये उसके बहादुरी, प्रागल्भ्य इत्यादि कर्म हैं। दूसरों की रक्षा करना जिसमें प्रधान है ऐसा राज्य-संचालन उसका वृत्ति धर्म है, उसके द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता है। रजोगुण प्रधान हो और तमोगुण गौण हो, ऐसा मिश्रण वैश्य का गुण है। उसके कर्म वाणिज्य खेती आदि हैं। तमोगुण प्रधान हो और रजोगुण गौण हो ऐसा मिश्रण शूद्र का गुण है। उसके लिये शुश्रूषा ही कर्म है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अंतर्गत रहकर काम करना ही उसके लिये उचित है। इस प्रकार गुण और कर्म का विभाग भाष्य में स्पष्ट है। चार वर्णों की व्यवस्था मानुष लोक की विशेषता है। अन्य लोकों में यह व्यवस्था नहीं। इस व्यवस्था से चलें, अपनी कामना के अनुसार न चलें, तो भगवान् के मार्ग पर चलने से ज्ञानाधिकारी बन जायेंगे।

शंका होती है कि इस प्रकार से आपने चारों वर्ण अलग-अलग बनाये तो भेद वाला कर्म आपने किया, इससे आप दोष वाले क्यों नहीं हो जायेंगे? भगवान् समाधान करते हैं : यद्यपि मैं चार वर्णों को उत्पन्न करने वाला हूँ तथापि तू यह निश्चित जान कि मैं कुछ भी करने वाला नहीं हूँ! मतलब है कि ब्राह्मण आदि जो भेद हैं वे जीवों के अपने कर्मों के अनुसार हैं। उन्हीं के कर्मों के अनुसार भगवान् देते हैं, भेदबुद्धि से फल नहीं देते हैं। अनादि संसार के अंदर जीव हमेशा से कर्म करते रहे हैं। उन कर्मों के फल में जब सत्त्व-प्रधानता होगी तब ब्राह्मण पैदा होगा, रजः और सत्त्व होंगे तब क्षत्रिय पैदा होगा, रजः और तमः होंगे तब वैश्य पैदा होगा, तमः ही प्रधान होगा तो शूद्र पैदा होगा। अपने कर्मों के अनुसार सब को फल होता है। ठीक जिस प्रकार से बादल बरसता है तो जहाँ नीम का बीज पड़ा हो वहाँ नीम का कडुआ पेड़ खड़ा हो जाता है, जहाँ आम की गुठली पड़ी हो वहाँ आमका पेड़ खड़ा हो जाता है। यद्यपि आम के पेड़ को मीठा और नीम के पेड़ को कडुवा बनाने वाला बादल है, क्योंकि वृष्टि नहीं हुई होती तो न नीम का पेड़ उगता और न आम का पेड़ उगता, तथापि वृष्टि ने राग-द्वेष पूर्वक कोई भेद का व्यवहार किया हो ऐसा नहीं है; जैसा बीज है वैसा ही पौधा उग जाता है। इसी प्रकार से कर्मफलदाता परमेश्वर, जैसा-जैसा कर्म जीवने किया है वैसा उसे फल देता है। कर्म बीज की जगह है और भगवान् वृष्टि की जगह हैं। अतः इसके अंदर परमेश्वर में किसी भी प्रकार का वैषम्य (भेदभाव) नहीं आता। ठीक जैसे वृष्टि किसी को मीठा, किसी को कड़वा करते हुए भी एक को कड़वा दूसरे को मीठा *बनाती* नहीं है, इसी प्रकार से मायिक व्यवहार से लगता

है कि परमेश्वर ने यह किया परंतु किया उसने नहीं, जैसे लगता है कि वृष्टि ने भेदभाव किया पर वह करती नहीं। परमात्मा ने भी चातुर्वर्ण्य की सृष्टि रूप कर्म को करते हुए भी कर्म नहीं किया, वह अकर्त्ता ही बना रहा।

क्योंकि अकर्त्ता है इसीलिये अव्यय है। उसके अंदर किसी भी प्रकार का व्यय नहीं आता। संसारी जितने हैं, वे सब तो व्यय वाले हैं, जितनी चीज़ें संसार में हैं सब क्षीण होती हैं। कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो क्षीण न होवे, चाहे जितना प्रयत्न करके रखो। 'कोल्ड स्टोरेज' के अंदर फल रख देते हैं, लोग कहते हैं कोल्ड स्टोरेज में चीज़ छह महीने खराब नहीं होती। पर क्या सचमुच में छह महीने खराब नहीं होती? ताजी जैसी होती है, वैसी छह महीने के बाद निकालो तो होती नहीं है। कितनी भी चेष्टा कर लो, संसार में जितनी चीज़ें हैं वे स्वभाव से ही व्यय धर्म वाली हैं, क्षीण होती ही हैं। परंतु परमात्मा कैसा है? अव्यय है। कभी क्षीण नहीं होता। जैसा शुक, वामदेव आदि को परमात्म-दर्शन हुआ वैसा ही दर्शन आज भी होता है। ऐसा नहीं है कि याज्ञवल्क्य को हो गया, श्वेतकेतु को हो गया, पर हम लोगों को कहाँ से होगा! आजकल बहुत-से लोग कहते हैं कि कलियुग में आत्मज्ञान कैसे होगा, परमात्मा का साक्षात्कार कैसे होगा! किंतु जैसा सत्य युग में हुआ वैसा आज भी होता है क्योंकि वह अव्यय है। काल बीतने से उसमें कोई कमी या क्षीणता आई होकि उनको बड़ा परमात्मा मिल गया था, हम लोगों को अब छोटा ही मिलेगाऐसा नहीं, वह अव्यय है।।१३।।

क्यों वे कर्म करते हुए भी अव्यय ही रहते हैं? क्या यह विशेषता केवल उन्हीं ने अपने पास रखी है कि करते हुए न करें? इसके जवाब में भगवान् सूत्र बतलाते हैं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।।१४।।

'मुझे कर्म लिप्त नहीं करते (बाँधते नहीं) और न मेरी कर्मफल-विषयक तृष्णा है।'इस प्रकार मेरा जिसे अभिज्ञान है वह कर्मों द्वारा बाँधा नहीं जाता।

भगवान् कहते हैं कि व्यय हमारे अंदर आता है कर्म के कारण। पुण्य के कारण सुख बढ़ता-घटता है। जितना-जितना पुण्य का भोग हो जाता है उतना ही उतना सुख घटता चला जाता है। पाप का फल दुःख भी जितना पाप घटेगा उतना घटेगा, जितना पाप बढ़ेगा उतना दुःख बढ़ेगा। कर्म के कारण हमारे अंदर घटोतरी-बढ़ोतरी होती है क्योंकि कर्मफल के प्रति हम स्पृहा वाले हैं। भगवान् कहते हैं 'न मे कर्मफले स्पृहा' मुझे किसी कर्म के फल की कोई इच्छा नहीं है। इतनी बड़ी सृष्टि और उसमें वर्णाश्रम आदि धर्म वाले लोगों को बनाते हुए भी, 'इसका फल मुझे मिले' ऐसी कोई इच्छा नहीं है। कर्मफल में जब स्पृहा होती है तभी कर्म का लेप होता है, बिना कर्मफल की इच्छा के जो कर्म होता है वह तुम्हारे ऊपर लेप नहीं लगाता। यह भगवान् ने बहुत बड़ा सूत्र कर्मफल से बचने का बतला दिया।

कर्मफल की इच्छा को छोड़ दो, बस, फिर कर्म तुम्हारे को स्पर्श नहीं करेंगे।

अगला प्रश्न उठता है कि कर्मफल की इच्छा को छोड़ दें तो फिर कर्म करें कैसे? क्योंकि हरेक व्यक्ति कर्मफल की दृष्टि से ही तो कर्म करता है, कर्मफल की इच्छा छोड़ देगा तो कर्म क्यों करेगा? उत्तर है कि शास्त्र में जो कर्म तुम्हारे लिये नियत है वही कर्म तुम करते रहो पर फल की इच्छा से नहीं करो। इसी का अभ्यास डालने के लिये हम लोग नित्य-नैमित्तिक कर्म करने को कहते हैं। ये कर्म ऐसे हैं, जिनका कोई फल नहीं, पर नहीं करोगे तो दोष होगा। 'करने से कोई फल नहीं' का मतलब है, किसी सांसारिक विषय की प्राप्ति रूप फल नहीं। अंतःकरण की शुद्धि का हेतु तो वे कर्म होंगे ही। इस प्रकार जब नित्य नैमित्तिक कर्म करने का दृढ अभ्यास हो जाता है, तब उसी तरह बाकी कर्म भी केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से करता है, किसी फल की इच्छा से नहीं करता। संसारियों को चूंकि यह अभिमान है कि 'मैं करने वाला हूँ और इस फल की स्पृहा से करता हूँ,' इसलिये कर्म उनके अंदर व्यय ले आते हैं, घटोतरी-बढ़ोतरी कर देते हैं।

जो कोई दूसरा प्राणी भी 'इति' इस प्रकार से 'परमात्मा सब कुछ करने वाल होने पर भी कुछ नहीं करने वाला है क्योंकि कर्मफल की स्पृहा से रहित है'ऐसा जानता है, उसको भी कर्मों का बंधन नहीं होता। यहाँ जानने के लिये 'अभिज्ञा' शब्द का प्रयोग किया। परमात्मा चेतन है, और मेरा, जीव का वास्तविक स्वरूप भी चेतन है। अभी मैं कर्तारूप से चेतन को जानता हूँ, जब मैंने उसी चेतन को अकर्ता रूप से जानाजाना उस चेतन को हीतब अभिज्ञा हो गई। चेतन कर्म करता हुआ प्रतीत होते हुए भी कर्मफल की स्पृहा से रहित होने से कर्म नहीं करता हैइस तरह से जो अपने आत्मस्वरूप को जान लेता है वह भी कर्म से बंधन को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् उसके जो कर्म हैं वे यहाँ चाहे फल को उत्पन्न कर देवें, पर देहारम्भक नहीं होते, दूसरे देह को पैदा करने वाले नहीं होते, अर्थात् आगामी फल उनके नहीं बनते। अतः कहा कि अपने अकर्ता भाव को जान कर जो कर्म करता है उसके कर्म उसके बंधन के कारण नहीं बनते।।१५।।

कर्मफल की इच्छा करने पर ही कर्म का लेप होता है। इसलिये जो परमात्मा को अपना वास्तविक स्वरूप समझ कर बिना कर्मफल की स्पृहा के कर्म करता है उसको उसका लेप नहीं होता। आत्मा करता नहीं है, और शरीर-आदि आत्मा के बिना नहीं कर सकते हैं। इस बात को जो समझता है, वह शरीर-आदि को अपना रूप न समझ कर वासुदेव को ही अपना रूप समझता है इसलिये उसमें कर्मफल की स्पृहा नहीं होती। जब तक इस बात को नहीं समझता तब तक कर्मफल की स्पृहा रहती ही है। इस बात को समझने पर ही कर्मफल की स्पृहा जायेगी क्योंकि यदि मैं भोग करने वाला हूँ तो मैं सुख-भोग चाहूँगा ही, दुःख का भोग नहीं चाहूँगा। पर यदि स्वरूप से मैं भोग करने वाला हूँ ही नहीं तो मेरी उसके प्रति स्पृहा भी नहीं रहेगी। ऐसा संभव है, यह बताने के लिये भगवान् कहते हैं कि पूर्वकाल में भी इस तरह साधकों ने कर्म किये हैं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

(इस युग में हुए) पुराने तथा (गत युगों में हुए) और भी पुराने मोक्षार्थियों ने यों जानकर कर्म किये थे। इसलिये तुम कर्म ही करो जो कि प्राचीन व अति प्राचीन अधिकारी कर चुके हैं।

'मैं कर्ता नहीं और मुझे कर्मफल की स्पृहा नहीं'इस बात को जानकर के अपने ज्ञान स्वरूप को अकर्ता और अभोक्ता समझ कर पहले के मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था। मेरा आत्मस्वरूप वासुदेव, अकर्ता है, अभोक्ता हैइस बात को परोक्ष रूप से जान कर कर्म किया तो चित्तशुद्धि के लिये, और अगर इस बात को अपरोक्ष रूप से जान कर किया, तो केवल ईश्वर की इच्छा को, प्रारब्ध को पूर्ण करने के लिये। 'अपि' का मतलब होता है संग्रह करना; अतः मोक्ष की इच्छा वालों ने भी चित्तशुद्धि के लिये कर्म ही किया है और मुक्तों ने भी लोकसंग्रहार्थ कर्म किया है।

वेद ने यही कहा है कि यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन और अनशन, इन सबके द्वारा परमात्मा का वेदन संभव होता है। कर्म से ज्ञान तो हो नहीं सकता, इसलिये श्रुति ने कहा कि कर्म से ज्ञान की तीव्रतम इच्छा होती है जिससे श्रवण-मनन करके ज्ञान में स्थिरता होती है। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होगा तब तक व्यक्ति ज्ञान के साक्षात् साधन कर नहीं पायेगा। शास्त्रीय भाषा में कहते हैं कि वह अभी ज्ञान के लिये अधिकारी नहीं हुआ। अधिकारी का मतलब है फल प्राप्ति जिसको हो सके। श्रवण-मनन तो सभी कर सकते हैं, और जो कहा जा रहा है वह समझ भी सकते हैं, परंतु उससे होने वाले अपरोक्ष ज्ञान की दृढता सबको नहीं हो पाती। अपरोक्ष ज्ञान की दृढता के लिये, चित्तशुद्धि अपेक्षित होती है। इस शुद्धि को कर्म से ही पा सकते हैं। अतः मुमुक्षुओं ने, मोक्ष चाहने वालों ने कर्म किया। केवल कर्म किया ऐसा नहीं, 'एवं ज्ञात्वा' परोक्षतः ही सही, पर यह जानकर कि वास्तव में मैं अकर्ता और अभोक्ता हूँ अतः न मेरा कर्तृत्व है न फल की इच्छा रखने योग्य है, अर्थात् कर्तृत्वाभिमान और फल के प्रति स्पृहा छोड़कर मुमुक्षा की तीव्रता पाने के लिये, विविदिषा के लिये कर्म किया। ज्ञानप्राप्ति के बाद ज्ञानियों ने प्रारब्ध की पूर्त्ति के द्वारा लोकसंग्रह के लिये कर्म किया। इस प्रकार मुमुक्षुओं ने चित्त-शुद्धि के लिये कर्म किया और चित्त शुद्ध होकर जिनको ज्ञान हो गया उन्होंने इसे लोकसंग्रह के लिये किया है।

इसका नतीजा भगवान् अर्जुन को सुनाते हैंइसलिये जैसा उन्होंने किया वैसे ही यदि तुझे चित्त-शुद्धि प्राप्त करनी है, तब भी कर्म ही कर, यदि ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है तो लोकसंग्रहार्थ कर्म कर। पहले से भी पहले जो लोग हुए हैं, जनक, अश्वपति आदि, सबने कर्म ही किया है। अतः चुपचाप बैठने को मोक्ष का साधन भगवान् नहीं मानते।।१५।।

कर्महीन अवस्था समझने मात्र से कर्महीन अवस्था आती नहीं! लोक में तो यही

प्रसिद्ध है कि हाथ-पैर-जबान चला रहे हो तो कर्म कर रहे हो, और हाथ, पैर आदि नहीं चला कर बैठ गये तो कर्म नहीं कर रहे हो। किंतु भगवान् कहते हैं कि ऐसे हाथ पैर को रोक कर बैठने से न चित्त शुद्ध होगा और न लोकसंग्रह होगा। कर्म-अकर्म के बारे में बहुत मतभेद है इसलिये भगवान् स्वयं इस विषय का स्पष्टीकरण देने की भूमिका रचते हैं

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

कर्म क्या है? अकर्म क्या है? इस बारे में मेधावी भी सही निर्णय नहीं कर पाते। इसलिये तुम्हें कर्म (और अकर्म) के बारे में साफ-साफ बताता हूँ जिसे जानकर अशुभ संसार से छूट जाओगे।

कर्म कर्तव्य है इसलिये यह समझना ज़रूरी है कि कर्म क्या है। पहले से पहले के लोगों ने जो कर्म किया वह कर्म कौन-सा है? केवल हाथ-पैर हिलाने से चित्तशोधक कर्म नहीं हो जाता! कौन-सा कर्म करके उनका चित्त शुद्ध हुआ? कर्म नहीं करने का मतलब भी क्या? क्या चुपचाप बैठना कर्म नहीं करना है या और कुछ? चुपचाप बैठ कर भी यदि तुम को अभिमान है'मैंने अपने को रोककर रखा है, मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ' तो यह अकर्म नहीं होगा। गाड़ी चलाते हुए ब्रेक लगाते हो तो गाड़ी रुकती है। ब्रेक लगाने का काम *करने* पर ही गाड़ी रुकती है। कुछ नहीं करने से तो गाड़ी रुकेगी नहीं! ठीक इसी प्रकार से 'मैं कुछ नहीं करूँगा', यह संकल्प करके जो चुपचाप बैठता है, वह अपने को कर्म से रोकने का कर्म ही कर रहा है। जब तक शरीरादि के अंदर अहम्भाव है तब तक कर्म करे या कर्म नहीं करे, दोनों ही हालतों में तुम्हारा अभिमान यही रहेगा कि 'मैं *कर रहा* हूँ या मैं नहीं *कर रहा* हूँ।' अतः अकर्म भी दुर्बोध है।

कर्म क्या है, अकर्म क्या हैइस विषय में बड़े-बड़े विचारक भी मोह में पड़ जाते हैं। कवि अर्थात् बहुत समझदार मेधावी भी संदेह में पड़ जाते हैं कि ये क्या हैं। हाथ-पैर को हिलते देख करके समझते हैं कि कर्म हो रहा है और हाथ-पैर को चुपचाप देख कर सोचते हैं कि अकर्म हो रहा है अर्थात् कर्म नहीं हो रहा है, जबकि अकर्म के लिये निरभिमान चाहिये। बड़े-बड़े विद्वान्, बड़े-बड़े पंडित, विचारक लोग भी इस विषय में मोह में पड़ जाते हैं। इसलिये (भगवान् कहते हैं) जिस कर्म को पहले के मुमुक्षुओं ने किया, वह मैं तुझे बतलाता हूँ। कर्म का स्वरूप समझ कर यह जो अशुभ हैकर्म को अकर्म समझ लेना व अकर्म को कर्म समझ लेना, इससे तू छूट जायेगा। यह अशुभ इसलिये है, कि इसे न जान कर ही कामना से कर्म करते हो, फल की इच्छा से कर्म करते हो, और जन्म-मरण के बंधन के प्रवाह को चलाते रहते हो। इस बात को समझ कर पुराने, बहुत पुराने मोक्षेच्छुकों ने कर्मफल की स्पृहा को छोड़कर कर्म किया, और उससे चित्त शुद्ध होकर वे इस अशुभ संसार से मुक्त हो गये। कर्म और अकर्म के विषय में जब तक संदेह बना रहेगा। तब तक

जो कर्म चित्तशुद्धि का कारण है, वह नहीं कर पाओगे। 'तत्ते कर्म', यहाँ एक अवग्रह का छेद करके 'अकर्म' भी समझ सकते हैं। कर्म भी बताऊँगा और अकर्म भी बताऊँगा।।१६।।

कर्मादि उपेक्षणीय नहीं वरन् यत्नतः ज्ञातव्य हैं यह ज़ोर देकर कहते हैं

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

क्योंकि कर्म के बारे में भी समझना ज़रूरी है, और विकर्म के बारे में समझना ज़रूरी है तथा अकर्म के बारे में समझना आवश्यक है इसलिये कर्म का तत्त्व जानना कठिन है।

पहले कर्म को समझना ज़रूरी है। कुछ भी करना शास्त्रों में कर्म नहीं कहा गया है। शास्त्र ने जिस चीज़ के लिये तुम को अधिकृत कर दिया है कि यह तुम्हारा कर्म है, उसी को कर्म कहा जाता है। तुम कुछ भी करते होइससे कर्म नहीं हो जाता। शास्त्रों ने तुम्हारे लिये जो कार्य बतला दिया है वही तुम्हारा कर्म है। विकर्म अर्थात् विपरीत कर्म; जिसका शास्त्र ने तुम्हारे लिये निषेध कर दिया कि यह तुम को नहीं करना है, वह विकर्म है। जैसे संध्यावंदन त्रैवर्णिक के लिये कर्म कहा है, वह अवश्य कर्तव्य है, नित्य कर्म है; अग्निहोत्र भी नित्य कर्म है। ये उसके लिये कर्म हैं। इन्हें त्रैवर्णिक किसी फल की स्पृहा से नहीं करता, कुछ फल मिलेगा इसलिये नहीं करता। उसके लिये इनका विधान किया गया है इसलिये इन्हें करता है। और शूद्र के लिये मंदिर के अंदर जाने का निषेध कर दिया, वह उसके लिये विकर्म हो गया। हाथ-पैर चला कर तो वैसे ही वह भी जायेगा जैसे त्रैवर्णिक जाता है। हाथ पैर तो दोनों के एक-जैसे ही हिलेंगे, पर त्रैवर्णिक के लिये मंदिर में जाकर पूजा करना कर्म है जबकि शूद्र के लिये इस प्रकार मंदिर में जाना विकर्म हो जायगा।

इसे बहुत अच्छी तरह से समझना चाहिये; प्रायः साधारण लोगों को लगता है कि अच्छा काम सबके लिये अच्छा काम है, जबकि जिस काम का जिसके लिये विधान किया गया वह उसके लिये अच्छा काम है, और जिसके लिये शास्त्र ने उसी काम का निषेध कर दिया है, उसके लिये वही बुरा काम हो जाता है। शास्त्र छोड़कर यदि प्रत्यक्ष से विचार करोगे तो मंदिर में क्या है? एक पत्थर है। उस पर पानी डालने से क्या होगा! कुछ नहीं। प्रत्यक्ष से देखोगे तो पूजन निरर्थक है। शूद्र कहता है 'मैं अंदर जाकर पूजा करूंगा', तो प्रश्न है, क्यों करोगे? उस पत्थर में क्या रखा है जो तुम वहाँ जाकर पानी गिराना चाहते हो? वह कहे कि वह भगवान् की मूर्त्ति है; तो उसे भगवान् की मूर्त्ति है का पता कैसे लगा? यदि कहे कि शास्त्र कहता है; तो जो शास्त्र उसको मूर्त्ति कह रहा है, अगर उस शास्त्र को तुम स्वीकार करते हो तो उस शास्त्र में ही कहा है कि शद्र वहाँ जाकर पूजन न करे; इसे न मानने का क्या आधार? शास्त्र के बिना प्रत्यक्ष से तो वहाँ मूर्ति नहीं है, पत्थर है। आजकल बहुत-से लोग कहते हैं'यज्ञ में घी की आहुति डालने से क्या होगा? उसकी

जगह घी, गरीबों को खिलाओ।' प्रश्न है कि गरीबों को खिलाने से ही क्या होगा? क्यों खिलावें गरीबों को? सिवाय इसके कि शास्त्र कहता है गरीबों पर दया करो, और क्या उत्तर देंगे? प्रत्यक्ष से अपने खाने की चीज़ दूसरों को मुफ्त में क्यों खिलायेंइसका उत्तर नहीं मिल सकता। दया से देना सत्कर्म है यह कौन कहता है? शास्त्र कहता है। प्रत्यक्ष से तो दया अच्छी चीज़ सिद्ध होती नहीं। उल्टा, प्रत्यक्ष के आधार पर ग़लत ढंग से दया करने से नुकसान देखने में आता है। गुण्डे बदमाशों के ऊपर दया करते हैं तो वे बढ़ कर भले आदमियों को अधिक-अधिक ही सताते हैं। क्या तुम्हारी दया भले लोगों को सतवाने में कारण नहीं बन रही है? यदि कोई सिद्ध करना चाहे कि प्रत्यक्ष से दया ठीक सिद्ध होती है तो कभी होगी नहीं। आग में घी डाल कर उसकी राख हो जाती है, इसलिये यदि यज्ञ व्यर्थ है तो गरीब को घी खिला कर टट्टी पेशाब बन जाता है अतः वह खिलाना भी व्यर्थ ही है! प्रत्यक्ष से तो यही दीखता है।

इसलिये, शास्त्र ने जिस कार्य को, जिस परिस्थिति में करने के लिये कहा है, वह काम उस परिस्थिति के अंदर कर्म है; जिसका शास्त्र ने निषेध किया है, वह विकर्म है; और जो कर्तव्य कर्म प्राप्त हुआ, उसको नहीं करना अकर्म है। विहित का नाम कर्म है, प्रतिषिद्ध विकर्म और विहित को न करना, अकर्म है। ये तीनों ही समझने की चीज़ें हैं, भली प्रकार से इनका स्वरूप समझ लेना चाहिये। इसीलिये 'कर्मणो गतिः गहना।' चूंकि शास्त्रानुसार ही कर्म, विकर्म और अकर्म का निर्णय होता है, इसलिये यह विषय गहन है, अर्थात् बिना शास्त्र को ठीक से समझे हुए इसे समझना असंभव है। 'कर्मणो गतिः' अर्थात् कर्म, विकर्म और अकर्म तीनों की गति या वास्तविकता शास्त्र से ही पता लगती है। इसलिये गहन, समझने में कठिन है। भगवान् ने यहाँ केवल 'कर्मणः' कहा है; वह यह मान कर कि कर्म का निश्चय होने से अकर्म और विकर्म का ज्ञान बहुत अंश में हो ही जाता है। कर्म के द्वारा अकर्म और विकर्म को भी उपलक्षित समझ लेना चाहिये, तीनों की गति गहन है।।१७।।

कर्मादि का जानने योग्य तत्त्व ही अब भगवान् बता रहे हैं

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान् व योगी है तथा वह समस्त कर्म करने वाला है।

कर्म में अकर्म दीख जाता है : जैसे बहुत दूर कोई आदमी चल रहा है, तुम दूर से देखते हो तो वह चलता हुआ नहीं दीखता। वह चल रहा है, परंतु दूरी के कारण चलता हुआ नहीं दीखता। दूसरी तरफ, नाव में बैठकर जा रहे हो तो पेड़, मकान इत्यादि जो चलते नहीं हैं, वे भी चलते हुए दीखते हैं। इस तरह आदमी दूर में चल रहा है पर नहीं

चलते हुए दीखता है और पेड़-मकान इत्यादि नहीं चल रहे हैं फिर भी चलते हुए दीखते हैं। इसलिये, व्यापार करते हुए देखने मात्र से 'कर्म हो रहा है', यह नहीं कह सकते। और जहाँ कर्म नहीं हो रहा है वहाँ अकर्म हैयह भी नहीं कह सकते : चुपचाप हाथ-पैर को रोक कर कोई बैठा हुआ है, तो कर्म दीख नहीं रहा, पर वह कितना ज़ोर लगा कर अपने को रोके हुए है यह वही जानता है! बाहर से कर्म करते हुए नहीं दीखने पर भी अपने को रोकने का घोर परिश्रम कर रहा है।

दो तरह के लोग होते हैंकुछ लोगों को गुस्सा आता है तो मुँह से भी बक देते हैं, हाथ भी चला देते हैं। वे गुस्सैल लगते हैं। बहुत लोग हैं जिन्हें अंदर से गुस्सा तो बहुत आता है, परंतु बाहर से चुपचाप बने रहते हैं! खूब ज़ोर लगाते हैं कि गुस्सा व्यक्त न करें। बाहर से तो वे क्रोध करते हुए नहीं दीखते, परंतु अंदर क्रोध से भरे हुए हैं। बहुत साल पहले, ग्वालियर की तरफ एक गाँव में विद्यालय के उद्घाटन पर गये थे। वह क्षेत्र डाकुओं का गढ़ है। जब सब कार्यक्रम हो गया, तब बैठ कर चाय आदि पी रहे थे। बहुत-से लोग आकर बैठे हुए थे और कोई ऐसा बूढ़ा या जवान नहीं था जिसके हाथ में दुनाली बंदूक न हो! हमने कहा 'अब तुम्हारे यहाँ स्कूल खुल गया, तुम्हारे बच्चों को डकैती नहीं करनी पड़ेगी।' एक बूढ़ा बोला, 'क्या ठीक हो गया स्वामी जी! हम लोग कम-से-कम किसी की छाती पर बंदूक रख कर डकैती डालते हैं, अब ये पढ़-लिख जायेंगे तो चुपचाप बैठ कर के कलम से हम से भी ज़्यादा डकैती करेंगे!' आज तीस साल के बाद लगता है, वह ठीक ही कह रहा था। जितनी डकैती ये कलम चलाने वाले करते हैं, उतनी डकैती बंदूक वाले नहीं करते। एक डाका डालता हुआ दीखता है, और दूसरा डाका डालता हुआ दीखता नहीं है, लेकिन डाल तो डाका ही रहा है।

कर्त्ता स्वतंत्र होकर जो प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है वह कर्म ही है। सारा क्रिया-कारकादि व्यवहार कर्त्ता को स्वतंत्र मान करके ही है। अविद्या-भूमि में देहादि-संघात के अंदर अहम् बुद्धि रहेगी ही। देहादिसंघात क्रिया करेगा ही, चाहे प्रवृत्ति करे चाहे निवृत्ति करे। दोनों के अंदर 'मैं रोकने वाला या मैं चलाने वाला', ये भाव रहेंगे ही। भगवान् बता रहे हैं कि जो यह सब क्रियाकलाप हो रहा है अविद्या भूमि में, उसके होते हुए भी, अधिष्ठान ब्रह्म अकर्म ही हैयह जानना कर्म में अकर्म-दर्शन है। समझना यह है कि शरीरादिसंघात के करने से मैं नहीं करता क्योंकि अधिष्ठान तो वैसा का वैसा रहता है। और अकर्म मेंदेहादि-संघात को रोकने मेंचूंकि मैं स्वतंत्र होकर रोक रहा हूँ। इसलिये कर्म कर ही रहा हूँ; हाथ-पैर तो नहीं हिल रहे हैं, लेकिन कर कर्म रहा हूँ।

जो कर्म-अकर्म के अधिष्ठान को जानता है, वही बुद्धिमान् है, वही परमात्मा से युक्त हुआ योगी है। उसी ने *समस्त* कर्मों को कर लिया क्योंकि अधिष्ठान रूप से एक होने के कारण, सभी कर्म उसमें एक जैसे कल्पित हैं। यह उसकी स्तुति है। अधिष्ठान के अकर्म रूप से स्थित हो जाना ही सारे कर्मों को कर लेना है। लोक में भी, किसी काम को तुमने

सफलता से कर लिया तो यदि उसमें बहुत-से अंग बिना किये हुए भी रह जायें फिर भी क्योंकि काम पूरा हो गया अर्थात् सफलता हो गई, तो तुम यही मानते हो कि कर्म सांग सम्पन्न हो गया, सारे अंग सम्पन्न हो ही गये। जो अंग किये नहीं गये वे भी सम्पन्न हो गये, क्योंकि सम्पन्न होकर जिस फल को पैदा करते वह फल पैदा हो गया। इसी प्रकार सारे कर्मों का अंतिम परिणाम परमात्मा के स्वरूप में स्थिर होना है। उस परमात्म-स्वरूप में स्थिर हो गये तो सारे कर्म कर ही लिये।

भगवान् ने जो कहा कि कर्म में अकर्म-दर्शन, और अकर्म में कर्म-दर्शनअर्थात् देहादि-अभिमान करना ही कर्म है और देहादि-अभिमान न करना अकर्म हैयह विषय अत्यंत कठिन है। अतः यहाँ 'बोद्धव्यं' का अर्थ है वस्तुस्थिति को समझना। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'बोद्धव्यम् इति च यथाभूतदर्शनम् उच्यते' जो सत्य स्थिति है उसे समझना यहाँ 'बोद्धव्य' है, अर्थात् यह समझना है कि देहादि-संघात कर्म करने वाले ही हैं, और आत्मा अकर्ता ही है। जो इस बात को जानता है, उसके शरीरादि कर्म करते हुए भी वह अकर्म में ही स्थित रहता है। लोकसंग्रह का कार्य करते हुए भी चूंकि वह कर्ता नहीं बनता इसलिये उससे *कर्म* नहीं होता। शरीरादि की क्रियाओं से वह कर्म वाला बनता नहीं, अतः निवृत्त ही रहता है। जब तक इस बात को समझ न लिया जाये, तब तक कर्म का रहस्य प्रकट होता नहीं। हम किसी को हाथ-पैर हिलाते देखते हैं तो समझते हैं, यह कर्म कर रहा है, जबकि वह कर्म नहीं कर रहा है, देहादि-संघात ही कर रहे हैं। जो कुछ न करते हुए चुप बैठा हो उसे लोग समझते हैं कि वह कुछ नहीं कर रहा है किंतु यदि देहादि-संघात से एक होकर वह हाथ-पैर रोके हुए है तो वह कर्म कर ही रहा है। अतः भगवान् ने यहाँ कर्म, विकर्म और अकर्मतीनों को समझने के लिये कहा।

कर्म और विकर्म दोनों देहादिसंघात् के अंदर होते हैं और आत्मा हमेशा अकर्ता रहता हैइस बात को जो समझ लेता है, वह लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हुए भी, कर्म करने वाला नहीं बनता।

कर्म में अकर्म-दर्शन और अकर्म में कर्म-दर्शन बताने वाला यह श्लोक पारमार्थिक सत्य का प्रतिपादन करता है। कुछ लोगों ने गीता की व्याख्या करते समय इसको गौण प्रयोग माना था कि नित्य-नैमित्तिक कर्म, फल उत्पन्न करने वाले नहीं होने से अकर्म समझने चाहिये। आचार्यों ने विचार करके निर्णय किया कि नित्य-नैमित्तिक कर्मों का कोई फल नहीं हैयह मानने से शास्त्र में व्यर्थता दोष होगा। कर्म करने में दुःख तो होता ही है और बुद्धिपूर्वक कोई दुःख के लिये कार्य करे, यह संभव नहीं। अबुद्धि से तो करता है! अबुद्धि, अर्थात् यह पता नहीं है कि यह कर्म आगे जाकर दुःख देगा इसलिये भ्रांति से झूठ बोलना, ठगी करना इत्यादि, दुःख देने वाले कर्मों को कर लेता है; पर बुद्धिपूर्वक अर्थात् पता होते हुए कि ये दुःखरूप हैं, कोई इनमें प्रवृत्त हो नहीं सकता। अतः नित्य कर्म कोई फल नहीं देतायह मानना ग़लत है। यदि कहो कि इन्हें न करने पर नरक होगा, उससे

बचने के लिये करो; तो शास्त्र में दो प्रकार की व्यर्थता आ जाती है कि इन विहित कर्मों को करो तो दुःख, न करो तो दुःख! करो, तो कर्म करने का दुःख उठाना ही होगा और न करो तो नरक जाकर दुःख भोगना पड़ेगा। इस तरह शास्त्र दुःखफलक सिद्ध हो जायेगा। अतः नित्यादि के अकरण को पाप नहीं मान सकते।

आत्मा सर्वथा क्रिया से रहित है और अनात्मा आत्मा की सत्ता में ही सारे कर्मादि को कर सकता हैइस बात को समझना ही यहाँ भगवान् ने बतलाया है।।१८।।

कर्म में अकर्म-दर्शन की प्रशंसा करते हैं

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

जिसके सारे कर्म कामना और संकल्प से रहित होते हैं वह ज्ञानरूप अग्नि से शुभाशुभ कर्मों को जला चुका व्यक्ति पण्डित है ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं।

आत्मा में किसी भी प्रकार के कर्म का पारमार्थिक अभाव है और आत्मा में ही मायिक दृष्टि से सारे व्यावहारिक कर्म हैंयह जो समझने वाला है वही पंडित है। कर्म को समारम्भ कहते हैं क्योंकि कोई भी कर्म हो, उसे शुरू करना ही पड़ता है। जो प्रारंभ किये जाते हैं वे समारम्भ हैं। प्रारंभ कर्म का ही होगा इसलिये सभी कर्म समारंभ कहे गये हैं। जो पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि को जानता है, उसके जितने भी कर्म हैं, वे कामना और संकल्प से सर्वथा रहित रहते हैं। कामना होती है संकल्प से। अन्यत्र बतलाया है कि किसी भी विषय का चिंतन करने से, पहले उसके बारे में संकल्प होता है कि यह मुझे इष्ट है, हो जाये तो अच्छा है। फिर खोजते हैं कि इसका उपाय शास्त्र ने क्या बताया है। तब संकल्प या निश्चय करते हैं 'मै इस कर्म को आरम्भ करूं।' क्रिया के प्रति कारण काम और काम का कारण संकल्प है। पंडित इन दोनों से रहित है अर्थात् न उसको फल की कामना होती है और न उपाय-संबंधी संकल्प ही होता है। वह जो कर्म करता है उसमें काम और संकल्प का अभाव होने से वह चेष्टामात्र होता है, कर्म नहीं।

कामना और संकल्प से रहित केवल प्रारब्ध-भोग ही होगा। प्रारब्ध भोग के लिए संकल्प नहीं किया जाता, जब प्रारब्ध देता है तब देता ही है। जब सुख का प्रारब्ध होता है, तब बिना कामना किये ही वह सुख प्राप्त हो जाता है। किसी से तुम मिलने गये; उससे कोई बात करना ज़रूरी था, अतः बात करने के लिये गये, खाने के लिये वहाँ गये नहीं। न तुम्हारे मन में संकल्प था कि वहां जाकर भोजन करूँ, न यह कामना ही थी कि दिल-खुशाल खाऊँ। काम और संकल्प से रहित तुम वहाँ बात करने गये। उसके घर उस दिन भोज है इसलिये बढ़िया दिलखुशाल बना हुआ है। वह कहता है 'आओ, बैठो। दिलखुशाल तो ज़रूर खाओ।' तुम दिलखुशाल खा रहे हो; बढ़िया मिठाई है, दिल को खुश करने वाली है। उससे तुम्हें जो सुख हो रहा है वह काम-संकल्प से रहित है। प्रायः दुःख

का प्रारब्धभोग तो आदमी को समझ में आता है; कोई किसी डाक्टर को चिट्ठी नहीं लिखता कि 'छह साल हो गये, हमारे पास निमोनिया नहीं आया। निमोनिया हमको भेज दो!' तुम्हारा कोई न संकल्प है, न कामना है कि निमोनिया हो जाये, फिर भी निमोनिया हो जाता है। इसी प्रकार अन्य भी दुःख बिना तुम्हारी कामना और संकल्प के आता है, तो तुम यही मानते हो, कि प्रारब्ध से आ गया। पर जब सुख की बात आती है तब लगता है कि बिना कामना और संकल्प के सुख कैसे होगा! किसी आदमी को नुकसान होता है व्यापार में; उस समय क्यों नुकसान हो रहा है? व्यापारी वही है, उसी बुद्धि से काम कर रहा है, पहले लाभ हो रहा था, अब क्यों नुकसान हो रहा है? यही कहोगे कि मुकद्दर ही इस समय खराब है, भाग्य ही इस समय खराब है। ऐसे जब फ़ायदा होता है तब ऐसा नहीं लगता कि प्रारब्धवश हो गया; उसमें तो व्यक्ति कहता है, 'सवेरे से शाम तक खटनी करता हूँ, तब कमाई होती है।' नुकसान के समय यह नहीं कहता कि 'सवेरे से शाम तक खटनी करता हूँ तब जाकर नुकसान होता है, ऐसे थोड़े ही बैठे-बैठे नुकसान होता है!' सभी यही उपदेश देते हैं, कि 'काम नहीं करोगे तो कैसे होगा?' दुःख के समय मनुष्य प्रारब्ध की दृष्टि कर लेता है, सुख के समय समझता है कि कामना-संकल्प पूर्वक कर्म करना चाहिये।

उल्टा अर्थ नहीं समझ लेना कि कामना-संकल्प के द्वारा करके फल नहीं मिलता! यह नहीं कह रहे हैं। जो भी कर्म तुम कामना और संकल्प से करोगे वह फल उत्पन्न करेगा ही। परंतु केवल यह कह रहे हैं कि काम-संकल्प के बिना, सुख और दुःख केवल प्रारब्ध मात्र से मिलते हैं। प्रयत्न करने से भी सुख-दुःख मिल सकता है। दुःख के लिये प्रायः तो कोई प्रयत्न करता नहीं परंतु कभी-कभी करते भी हैं : सर्दी में कई औरतें शादी-ब्याह में सज-धजकर जाती हैं तो गहने-कपड़ों की शोभा के प्रदर्शन के लिये स्वेटर-शाल नहीं ओढ़ती, ठिठुरती रहती हैं और अगले दिन बीमार पड़ती हैं। जैसे तुम्हारे बिना प्रयत्न किये प्रारब्ध से दुःख आता है, वैसे प्रयत्न करके भी दुःख आता है। इसी प्रकार तुम्हारे प्रयत्न से भी कोई सुख का पदार्थ आता है, नहीं तो शास्त्र के सारे विधान ही व्यर्थ हो जायेंगे; परंतु बिना प्रयत्न के भी सुख आता है।

जो जानता है कि जो भी चीज़ आती है, वह शरीर, इन्द्रियाँ और मन, इन्हीं के लिये आती है; *मेरे* लिये तो कुछ आता नहीं है क्योंकि मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ, वह अपने से भिन्न शरीर-मन के पीछे काम-संकल्प की झंझट क्यों करेगा? दुःखनिवृत्ति की और सुख की इच्छा है तो मन में ही, और वह मन मैं हूँ नहींऐसा वह जानता है, इसलिये उसके काम और संकल्प सर्वथा नहीं होते, प्रारब्ध जो चेष्टा करवाता है, बस वही चेष्टा उससे होती है। प्रारब्धभोग के लिये अपेक्षित सुख-दुःख के प्रति शरीर-मन की चेष्टा होती है। यदि वह प्रवृत्त कर्म करता है तो लोकसंग्रह के लिये। अर्थात् शास्त्रीय कर्म करता है तब केवल इस दृष्टि से कि इस वर्ण-आश्रम वाले मुझे देख करके सन्मार्ग में

प्रवृत्त होवें। और यदि निवृत्त कर्म करता है तो भी उन अधिकारियों को प्रेरित करने के लिये जिन्हें निवृत्ति- परायण होना उचित है। काम और संकल्प से रहित उसके सारे कार्य होते हैं। चूंकि जीवन प्रारब्ध से है, इसलिये जीवनमात्रार्थ कर्म भी प्रारब्ध के अधीन ही होते हैं।

ऐसा व्यक्ति ज्ञान वाला है। कर्म में अकर्म-दर्शन, और अकर्म में कर्म-दर्शन, जैसा पूर्व श्लोक में बतलाया था, उसी को यहाँ ज्ञान कहा है। आत्मा सर्वथा अकर्ता है, शरीर मन आदि के कर्म करने से, वह कर्म वाला होता नहीं। परंतु आत्मा में अधिष्ठित हुए बिना, आत्मा में अध्यस्त हुऐ बिना, अनात्मा कर्म कर नहीं सकता। इस प्रकार कर्म में अकर्म-दर्शन और अकर्म में कर्म-दर्शन जिसका है उसी को ज्ञान है। वह ज्ञान ही मानो अग्नि है; जैसे अग्नि चीज़ों को जला देती है, वैसे ही ये ज्ञानाग्नि अज्ञान और उसके कार्य को भस्म कर देती है। चाहे शुभ कर्म हों, चाहे अशुभ कर्म हों, ज्ञानाग्नि सबको जला डालती है। इस प्रकार ज्ञानाग्नि से जिसके शुभाशुभ सारे कर्म दग्ध हो गये हैं, ब्रह्मवेत्ता लोग ऐसे व्यक्ति को पंडित कहते हैं। पंडित का मतलब होता है आत्मज्ञ। पंडा अर्थात् आत्मबुद्धि। परमात्मा को ठीक प्रकार से समझने की जो, बुद्धि-वृत्ति है, वही वास्तविक ज्ञान कहा जाता है। क्योंकि परमार्थतः वास्तविक केवल आत्मा ही है, इसलिये आत्मा की यथार्थ रूपता को जानने वाली जो बुद्धिवृत्ति है, वही पंडा कही जाती है, वास्तविक ज्ञान केवल उसी से होता है। आत्माकार जो बुद्धि की वृत्ति, वही अग्नि का काम करती है और वही शुभाशुभ कर्मों को नष्ट कर देती है। ऐसी आत्मबुद्धि जिसको है, उसको पंडित कहते हैं।।१६।।

इस प्रकार आत्मा को कर्मादि से सर्वथा रहित जानने वाला सर्वथा कर्म से रहित होता है अर्थात् शरीर-यात्रा को छोड़कर और किसी भी कर्म से रहित संन्यासी होता है, वह कर्म में प्रवृत्ति नहीं करता। उसका कर्म में कोई प्रयोजन नहीं है, इसलिये कर्मों का त्याग कर देता है। परंतु यदि किसी तीव्र प्रारब्ध के कारण कर्म का स्वरूप से परित्याग असंभव होता है, अर्थात् जीवन-मात्रार्थ के सिवाय दूसरे कर्म छोड़ना किसी प्रारब्ध के कारण असंभव होता है, तो लोकसंग्रहार्थ कर लेते हैं। उसको तो किसी फल की इच्छा नहीं है। कर्म करने के लिये कोई तो प्रवर्तक कामना होनी ही पड़ती है; उसको खुद के लिये कोई कामना है नहीं, क्योंकि जानता है कि कर्ता-भोक्ता उसका स्वरूप नहीं है। प्रारब्धवश शरीरादि को कुछ करना है तो दूसरों के लाभ के लिये, लोकसंग्रह के लिये कर देता है। लाभ का मतलब और कोई सांसारिक प्राप्ति नहीं वरन् यह कि 'दूसरे लोग भी मुझे देखकर सन्मार्ग में प्रवृत्त होवें।' उसका स्वप्रयोजन का तो अभाव है, अपना तो कोई प्रयोजन नहीं है, लेकिन दूसरों के प्रयोजन के लिये कि वे लोग सन्मार्गस्थ होवेंइस उद्देश्य से वह प्रवृत्त कर्म भी कर देता है। ऐसे प्रवृत्त हुआ भी सचमुच में कुछ नहीं करता है अर्थात् करता हुआ दीखते हुए भी कर्तृत्व भाव से रहित ही बना रहता है। वह जो प्रवृत्त कर्म करता है, काम-संकल्प से रहित

होने के कारण वह उसी समय जल जाता है। अतः वह कर्म दीखते हुए भी अकर्म ही होता है। यह समझाने के लिये भगवान् कहते हैं

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः।।२०।।

कर्म में अभिमान और फल में आसक्ति छोड़कर, विषयाकांक्षा से रहित तथा किसी भी प्रयोजन से किसी का भी सहारा न लेने वाला विद्वान्, कर्म में सर्वथा संलग्न रहने पर भी वास्तव में कुछ करता नहीं है।

कर्म में अभिमान ही कर्म के साथ संबंध है। कर्म के विषय में अभिमान कि 'मैंने किया', इसलिये आता है कि करने वाले शरीर मन के संस्थान में आत्मबुद्धि है। न करते हुए भी करने वाले से तादात्म्याध्यास होने के कारण कर्म में आसक्ति होती है कि 'मैंने किया।' जैसे दूसरे के शरीर-मन से कर्म होने पर हमें 'मैंने किया'यह बुद्धि नहीं होती, वैसे ही शरीर मन से जो अपने को अलग जानता है उसे शरीर मन के द्वारा कर्म करने पर भी, 'मैंने किया' इस प्रकार का अभिमान नहीं होता। फल का आसंग अर्थात् 'यह कर्म मैंने किया इसलिये इसका फल मुझे होवे' यह आग्रह। जो कर्म में अभिमान छोड़ चुका उसका फल में आसंग नहीं ही रहता है। विद्वान् न कर्म में अभिमान वाला है और न फल में आसक्ति वाला है कि 'इसका फल मुझे होवे।' वह कर्म और फल दोनों की आसक्ति से रहित होता है।

'निराश्रयः' आश्रय से रहित रहता है। आश्रय का मतलब है, किसी साधन के सहारे पुरुषार्थ की सिद्धि चाहना। पुरुषार्थ अर्थात् इष्ट उद्देश्य, दृष्ट अर्थात् इहलौकिक भी होता है व पारलौकिक भी। खेती की, तो इष्ट होता है कि अनाज उपजेयह दृष्ट उद्देश्य है। ज्योतिष्टोम किया तो स्वर्ग मिलेयह अदृष्ट उद्देश्य है। उद्देश्य के अनुकूल ही साधन खोज कर उसका सहारा लिया जाता है। अज्ञानी यों लौकिक-अलौकिक आश्रय, सहारे लेता रहता है। विद्वान् को कुछ चाहिये नहीं अतः वह कोई सहारा नहीं लेता। इसलिये निराश्रय है। किसी भी पुरुषार्थ को वह नहीं समझता कि मुझे यह चाहिये। वह आश्रय-रहित, निराश्रय है।

क्यों निराश्रय है? 'नित्यतृप्तः' क्योंकि जो उसका आत्मानंद है, वही उसको नित्य तृप्ति दे रहा है। ठीक जिस प्रकार जिसके मुँह में मिसरी रखी हुई है, उसको मिठास पूरा मिल रहा है; सबसे ज़्यादा मीठी मिसरी ही होती है, चीनी में तो फिर, दूसरी चीज़ें भी साथ में मिली होती हैं, मिसरी के अंदर सब चीज़ें साफ कर दी जाती हैं। बीकानेर इत्यादि में जहाँ मिसरी बनती है वहाँ जाकर देखोबढ़िया से बढ़िया साफ चीनी को घोलते हैं और फिर उसको जमाते हैं (क्रिस्टलाइज़ करते हैं)। मिसरी बनकर बचे हुए पानी के अंदर दुनिया-भर की गंदी चीज़ें दीखती हैं। ऐसा जो अत्यंत मीठा मिसरी का टुकड़ा जो मुँह में

दबाये हुए है, उसको और मीठी चीज़ की इच्छा नहीं होती क्योंकि मिठास से मुँह भरा हुआ है। इसी प्रकार जो आत्मानन्द को प्रतिक्षण अनुभव कर रहा है, उसको पूर्ण तृप्ति होने के कारण किसी विषय की इच्छा हो नहीं सकती। इसलिये कहा कि वह नित्य तृप्त है। इसीलिये जब किसी चीज़ को अपने पुरुषार्थ का विषय देखता ही नहीं तो किसी उपाय का आश्रय भी नहीं लेता है।

ऐसा जो विद्वान् वह शरीरादि द्वारा किये जाने वाले कर्मों को देखते हुए अपनी अकर्म-रूपता को समझता ही रहता है। किसी भी प्रकार का स्वप्रयोजन न होने से वह कर्मों के जितने साधन हैं उन सबका परित्याग कर देता है। यदि किसी कारण से परित्याग नहीं करता है तो केवल दूसरों में धर्मस्थापन लायक जो कर्म हैं वे लोकसंग्रहात्मक कर्म ही करता है। तब भी सब क्रियाओं से सर्वथा असंबद्ध आत्मा के साक्षात्कार से संपन्न होने के कारण 'मैं यह कर रहा हूँ' ऐसा उसको *बोध* नहीं होने से वह सचमुच कुछ भी नहीं करता। चाहे जितना उसका शरीर-मन करते हुए दीखे, परंतु उससे 'मैंने किया' ऐसी प्रतीती उसको नहीं होती।।२०।।

लोकसंग्रह के लिये उचित प्रारब्ध वाला तो लोकदृष्टि में कर्मों में संलग्न दीखता है, स्वदृष्टि से अकर्त्ता रहता है। किंतु जिसका ऐसा कोई प्रारब्ध नहीं, जिसने कर्म-निष्ठ जीवन शुरू करने से पूर्व ही परमात्मा का बोध पा लिया, वह केवल शरीर-यात्रा के लिये ज़रूरी चेष्टा ही करते हुए यतिरूप से रहता है यह बताते हैं

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

जो सब आशाओं से रहित है, स्थूल-सूक्ष्म शरीरों पर संयम वाला है, समस्त भोगोपकरण छोड़े हुए है वह, शरीर की स्थिति ही जिनका प्रयोजन है ऐसे कर्म कर्तृत्वाभिमानरहित होकर करते हुए किसी भी अनिष्ट को नहीं प्राप्त करता।

विद्वान् किसी भी प्रकार की आशा से रहित रहता है। आशा मनुष्य को होती है कार्य-कारण भाव के संबंध से। जैसे बादल को देखा, 'जब बादल होता है तब पानी बरसता है' इस कार्य-कारणभाव से आशा होती है कि अब पानी बरसेगा। पर जब समझ लिया जाता है कि वस्तुतः कार्य-कारण-भाव, व्यावहारिक है वास्तविक है नहीं, तब बादल होने पर भी पानी बरसने की आशा नहीं होती। क्योंकि वह जानता है कि कुछ ठिकाना नहीं! कई बार थोड़ा भी बादल नहीं होता है, ज़ोर से हवा चल कर बादल आ जाते हैं और पानी बरस जाता है, कभी घनघोर घटा छायी रहती है, लगता है अब बरसा-तब बरसा, पर एक बूंद भी नहीं गिरती! अतः व्यावहारिक कारण से आशा करना व्यर्थ है। कार्य-कारण-भाव की निष्ठा आत्मज्ञान के बाद रहती नहीं। यह याद रहता है कि सारे कार्य-कारण-भाव केवल व्यवहार की सिद्धि के लिये हैं, वास्तविक हैं नहीं। अतः उसको किसी चीज़ की

आशा नहीं होती। पुराण आदि में कहा है कि आशा ही सारा दुःख है और आशाराहित्य की परम सुख है। कार्य-कारण-भाव की निवृत्ति हो जाने से जो आशा से रहित हो गया है वह परम सुख का अनुभव करता है।

'यतचित्तात्मा' जिसने अपने चित्त अर्थात् अंतःकरण को और आत्मा अर्थात् बाह्य कार्य-करण संघात को संयम में ढाल लिया है अर्थात् देह, इन्द्रियाँ, मन, सभी जिसके संयत हो गये हैं। जब तक इस सारे संघात का भली प्रकार नियंत्रण नहीं हो जाता, तब तक आत्मज्ञान होता नहीं। शरीर मन आदि जो चाहें करें, और हमें आत्मज्ञान हो जायेयह नहीं बनता। ज्ञानी के अंतःकरण आदि सर्वथा संयत रहते हैं।

'त्यक्तसर्वपरिग्रहः;' परिग्रह अर्थात् चीज़ों को, 'ये मेरी हैं' समझकर एकत्रित करना। एकत्रित आदमी इसीलिये करता है कि ये मेरे अमुक काम आयेंगी। जो काम में आने की चीज़ नहीं होती उसको इकट्ठा नहीं किया जाता। सूअर की टट्टी को कोई इकट्ठा नहीं करता! जब आशा नहीं है तो परिग्रह भी नहीं होता। 'मेरी चीज़ है, मेरे काम आयेगी'इस भावना से रहित होने के कारण किसी भी प्रकार का परिग्रह उसका नहीं होता।

शंका होती है कि सारा परिग्रह छोड़ देगा तो शरीर का काम कैसे चलेगा? बहुत-से लोगों को हम जानते हैं जो कहते हैं 'अब मुझे केवल भगवान् का भजन करना है, और कुछ करने की मुझे ज़रूरत नहीं है। इस रुपये का ब्याज या पेंशन आती रहती है, उससे सब काम चलता रहेगा।' उस पेंशन को या उस ब्याज को नहीं छोड़ सकते, 'यह मेरा है और इसका लाभ मुझे ही मिले,' यह परिग्रह किये रहते हैं। अगर उनसे कहें कि ये भी छोड़ दो, तो कहते हैं कि 'महाराज! आज के ज़माने में गुज़ारा कैसे चलेगा!' प्रश्न है कि गुज़ारा किसका चलना है? शरीर-मन का। और तुम्हें प्रतीति क्या हो रही है? *मेरा* गुज़ारा कैसे चलेगा! शरीर के अंदर अहम्-बुद्धि रख कर ही यह निश्चय होता है कि सारा परिग्रह छोड़ने पर कैसे चलेगा? विचार करो, शरीर रहे, इसका तुमको आग्रह है या परमेश्वर को आग्रह है? ज्ञान होने के पहले तक तो, तुम्हें आग्रह है। क्योंकि सारे जीवन का प्रयोजन है आत्मज्ञान, अतः शरीर को ठीक तरह से रखोगे तभी साधन कर ज्ञान होगा। ज्ञान की साधना करने के लिये शरीर तुम्हें रखना है। परंतु जब ज्ञान हो गया, तो अब तुम्हारे लिये शरीर-मन का कोई प्रयोजन है नहीं, तुमको उसके रखने की भी चिंता नहीं करनी है।

फिर क्यों शरीर-मन रहता है? क्योंकि परमेश्वर ने तुम्हारे जन्म के समय में संकल्प कर रखा है कि इसको इन-इन चीज़ों का, इन-इन परिस्थितियों का सुख-दुःख भोगना है। यदि वे सुख-दुःख तुम नहीं भोगते हो तो परमेश्वर का संकल्प झूठा हो जाता है। इसीलिये परमेश्वर का प्रयोजन है कि तुम्हारा शरीर रहे। अतः परमेश्वर चिंता करेगा कि तुमको अपने प्रारब्ध-भोगों की प्राप्ति हो। तुम को चिंता करने की ज़रूरत नहीं है। इसलिये 'शारीरं केवलं कर्म'शरीरस्थिति-मात्र प्रयोजन वाला ही कर्म ज्ञानी के शरीर-मन से

होता है, उससे अधिक कुछ नहीं, क्योंकि उसका कुछ प्रयोजन है नहीं। तुम परिग्रह-रहित हो, इसलिये जिस सुख को या दुःख को तुमको प्राप्त करना है, उसके लिये सामग्री वही एकत्रित करे जिसे अपना संकल्प पूरा करना है, तुमको एकत्रित करने की क्या ज़रूरत है!

'शारीरं केवलं कर्म' का अर्थ यह नहीं ले लेना चाहिये कि शरीरमात्र से होने वाला कर्म; अतः 'केवलं' भी कहा है। वस्तुतः शरीरमात्र से कोई *कर्म* नहीं होता, मन जब तक न लगे, तब तक शरीर से कर्म हो नहीं सकता। मन और इद्रियाँ शरीर के साथ ज़रूर आ जायेंगी कर्म करने के लिये। मन से नहीं होगा तब तक शरीर भी नहीं करेगा। इसलिये इसका अर्थ केवल शरीर से करना नहीं है वरन् शरीर प्रारब्धभोग तक बना रहे इसके लिये अनिवार्य कर्म होते रहेंयह अर्थ है। शरीर की स्थिति प्रारब्ध के अधीन है। प्रारब्ध के निर्वाह के लिये ही ज्ञानी के शरीर-मन आदि प्रवृत्ति करते हैं। इसलिये शरीर के निर्वाह मात्र के लिये उसका कर्म होता है।

उसे करते हुऐ 'किल्बिषं न आप्नोति।' किल्बिष अर्थात् पाप, परंतु यहाँ 'किल्बिप' से पुण्य भी समझ लेना है। भाष्यकार ने पाप से पुण्य की उपलक्षणा में हेतुरूप से दोनों की समानता बतायी है कि पुण्य भी वैसा ही बंधनकारी है जैसा पाप 'धर्मोऽपि मुमुक्षोः किल्बिषमेव, बन्धापादकत्वात्'। वह दूसरों को ठीक प्रकार का मार्ग-दर्शन हो, इसके लिये कर्म करता है। चूंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है अतः उससे होने वाला पुण्य उसे स्पर्श नहीं करता। संन्यासी है तो दूसरे संन्यासियों को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के लिये श्रवण-मनन करता है। बार-बार वेदांत ग्रथों का विचार करता है। उसको तो कोई प्रयोजन नहीं है, वेदांत के द्वारा जो निश्चय होना था, हो चुका है, फिर भी इसीलिये करता है कि दूसरे संन्यासी भी श्रवण-मनन करें। श्रवण से शास्त्रों के अंदर बड़ा पुण्य बतलाया है। जो आत्मज्ञानी नहीं है, और श्रवण-मनन में लगा हुआ है, उसको ब्रह्मलोक तक की प्राप्ति हो जाती है उस पुण्य के फल से। परंतु आत्मज्ञानी को श्रवण के कारण ब्रह्मलोक जाना नहीं पड़ेगा! इसलिये कहा कि पुण्य का फल भी उसको नहीं होता है। इसी प्रकार जीवन-निर्वाह में कोई पाप कर्म हो सकता है : रास्ते में चल रहा है, कोई कीड़ा पैरों से मर गया तो दोष हो जायेगा। भोजन के लिये भिक्षा करेगा और उसके लिये अटन करेगा, घूमेगा। भिक्षा के लिये न सही, शौचादि के लिये चलेगा। कभी भी चलते हुए जो चींटी मर गई उसके पाप का भी उसको फल नहीं होगा। क्योंकि वह जब भिक्षाटन करता है, तब भी अपने किसी प्रयोजन से नहीं करता, इसीलिये करता है कि अन्य संन्यासी भिक्षाटन ही करें। इसी प्रकार से, यदि जनकादि की तरह ज्ञानी गृहस्थ आश्रम में है, तब रोज़ प्रातःकाल उठ कर संध्या-अग्निहोत्र करता है। नित्याग्निहोत्र के करने से स्वर्ग की प्राप्ति है। परंतु जो आत्मदर्शी है, कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को जो जानता है, उसको स्वर्गादि जाने की झंझट नहीं करनी पड़ेगी। उसके किये हुए अग्निहोत्र से पुण्य नहीं

होगा। और अग्निहोत्र करने में, किसी लकड़ी में कोई कीड़ा रह गया, जलकर मर गया, तो उसका उसको दोष भी नहीं लगेगा। ज्ञानी चाहे संन्यासी हो, चाहे गृहस्थ हो, लोकसंग्रह के लिये कर्म करते हुए, अकर्तृत्व आत्म-दर्शन के कारण उसको न पुण्य न पाप के फलों की प्राप्ति होगी। अतः यहाँ पुण्य और पाप दोनों को किल्बिष शब्द से कह दिया।।२१।।

जिस यति ने सारे परिग्रहों का त्याग कर दिया, वह भिक्षा के द्वारा शरीर-स्थिति रखता है। पाँच प्रकार की भिक्षायें बताई हैं

'माधूकरम् असंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतम् अयाचितम्।
'तात्कालिकोपपन्नं च भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम्।।'

घरों के सम्मुख जाकर 'नारायण हरि' करने से मिली भिक्षा माधूकर है। पूर्व में संकल्प किये बिना तीन, पाँच या सात घरों से भोजन ग्रहण करना असंक्लृप्त है। भोजनकाल से पहले ही किसी के निमंत्रण को स्वीकार कर उसके घर भोजन करना प्राक्प्रणीत है। बिना माँगे स्वतः प्राप्त भिक्षा अयाचित है। भोजन के समय किसी के द्वारा लाकर दी गयी भिक्षा तात्कालिकोपपन्न है। संन्यासी को भोजन करना भिक्षा से ही है और इसमें उसे क्या मिलता है यह यदृच्छा, जिसे साधारण भाषा में 'चान्स' कहते हैं उसी पर निर्भर है। भगवान् कहते हैं कि यति ऐसे लाभ से संतोष करता है

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

यदृच्छावश हुए लाभ से संतुष्ट, द्वन्द्वों से विषाद अनुभव न करने वाला, निर्वैर, यदृच्छा से लाभ की सिद्धि या असिद्धि में एक-सा रहने वाला यति, शारीर कर्म करके भी बंधन में नहीं पड़ता।

बिना कोई याचना करे हुए, बिना किसी से कुछ कहे हुए, यदृच्छा ('चान्स') से जो मिल गया, वह हुआ यदृच्छा लाभ। बिना किसी प्रयत्न के जो प्राप्त हो गया उससे ही यति संतुष्ट रहता है। जो मिल गया वह पर्याप्त समझता है, उससे अतिरिक्त और किसी चीज़ की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। उसको पता है कि व्यावहारिक शरीर के रहने का संकल्प परमेश्वर का है और परमेश्वर जितनी चीज़ जिस समय आवश्यक समझता है, अपने आप उपलब्ध कराता है। उससे अधिक के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। और वह द्वन्द्वों से अतीत रहता है। द्वन्द्व कहते हैं जो जोड़ों में मिलते हैं, जैसे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मान-अपमान आदि। इनसे पीडित होने पर भी क्योंकि वह जानता है कि आत्मा इनकी मार से दूर ही है, ये शरीर-प्राण-मन तक ही प्रभाव डाल सकते हैं, उनके साक्षी पर बेअसर हैं, और स्वयं वह साक्षिरूपता में स्थित रहता है, इसलिये द्वन्द्वों से परे ही रहता है, उसमें

इनके कारण कोई विषाद नहीं आता। समाधि में इनकी प्रतीति होने पर भी इन्हें बाधित ही जानता है अतः द्वन्द्वों से विचलन संभव नहीं होता। सत्य को मिथ्या विचलित तभी तक करता है जब तक उसे मिथ्या नहीं, सत्य समझा जाये। मिथ्या को मिथ्या समझ चुकने पर वह दुःखी करे यह संभव नहीं।

यति की एक और विशेषता है कि वह विमत्सर अर्थात् मात्सर्यसे रहित होता है। दूसरे की उन्नति सहन न करते हुए खुद की वही उन्नति चाहने को मत्सर कहते हैं। दूसरा भी उन्नति करे, मैं भी करूँयह मत्सर नहीं। दूसरा उन्नति न करे, मैं ही उन्नति करूँ, बाकी सब मुझ से अवनत ही रहेंयह भाव मत्सर है; और इसके रहते यदि दूसरा उन्नत दीखता है तो दुःख तथा क्रोध होता है एवं उसके प्रति विरोध की भावना उपजती है। यति अद्वितीय आत्मा के दर्शन में तत्पर है, पराया किसी को देखता नहीं अतः उसमें मत्सर नहीं हो सकता फलतः वह किसी के भी प्रति विरोध की, वैर की भावना नहीं रखता। भाष्य में विमत्सर का निर्वैरबुद्धि अर्थ किया ही है। ऐसा यति सिद्धि-असिद्धि में सम रहता है। सिद्धि अर्थात् यदृच्छा से उपयुक्त चीज़ मिल जाना और असिद्धि अर्थात् यदृच्छा से ही आवश्यक चीज़ न मिलना। यदृच्छा के भरोसे ही यति रहता है, अन्य उपायों से तो चीज़ें पाने की कोशिश करता नहीं। सिद्धि होने पर इसे हर्ष नहीं होता, असिद्धि से विषाद नहीं होता अतः सम अर्थात् दोनों दशाओं में बराबर रहता है।

कर्म की मौजूदगी में भी अकर्मा आत्मा को एवं अकर्मरूप आत्मा में ही अध्यारोपित सारे कर्म देखने वाला यति यद्यपि लोगों की दृष्टि में भिक्षा-अटन आदि कर्म करता दीखता है तथापि स्वयं की शास्त्रीय दृष्टि से वह अकर्ता ही बना रहता है क्योंकि अकर्ता जो आत्मा उससे स्वयं को एक ही जानता है। अत एव उसका कोई बंधन संभव नहीं। जब ब्रह्म और आत्मा की एकता को जानने से अपनी निष्क्रियता का पता लग गया, स्वरूप से अक्रिय हूँ यह पता लग गया, तब अपना कर्ताभाव और उससे किये जाने वाले में कर्मभाव संभव नहीं। उसने जान लिया कि 'शरीर-इन्द्रियों से भिन्न होने के कारण मैं कर्ता नहीं, शरीर आदि मेरे संबंध से काम करें, मैं तो केवल उनका अधिष्ठान रूप हूँ।' इसलिये उसे कर्म का कोई प्रयोजन नहीं रहा। अतः स्वाभाविक रूप से तो कर्म-परित्याग प्राप्त है, और प्रायः किसी प्रकार का कर्म उसके लिये होता नहीं; पर यदि किसी निमित्त से कर्म का त्याग नहीं होता है, तो आत्मदर्शन होने के पहले जैसी कर्म-प्रवृत्ति शरीर-मन की थी, वैसी प्रवृत्ति शरीर और मन करते हैं तथा तब भी 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसी भावना न होने के कारण वह अकर्मा ही रहता है। जैसे कर्म-त्याग करने पर कर्मत्याग के अभिमान के अभाव में, 'मैं कर्मत्यागी' यह उसमें नहीं, वैसे ही देह-मन इत्यादि के कर्म करने पर, 'मैं कर्त्ता इन कर्मों को कर रहा हूँ,' ऐसी उसे प्रतीति नहीं। अतः हर हालत में कर्माभाव है ही। शरीर-इन्द्रियादि के कर्म करने पर भी कर्माभाव है और नहीं करने पर भी कर्माभाव है।।२२।।

ऐसा जिसने कर्माभाव का दर्शन किया, उसी के बारे में और भी कहते हैं

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

जिसे कहीं आसक्ति नहीं रह गयी, जो धर्म-अधर्म आदि के बंधन से छूट चुका है और अपनी ब्रह्मरूपता पर ही जिसका चित्त स्थिर है, वह भगवान् की प्रसन्नता के लिये जिन कर्मों का आचरण करता है, फलसहित वे कर्म (तत्त्वदर्शन के प्रभाव से) सकारण विनष्ट हो जाते हैं।

तत्त्ववेत्ता की सारी आसक्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं। आसक्ति के कारण प्रतीत होता है कि शरीर-मन ऐसा करें, या न करें। शरीर-मन जब मैं नहीं, तो वे करें या न करेंइस में आसक्ति ही बनती नहीं। चूंकि शरीर-मन को लेकर ही, संध्या-वंदन से समाधि पर्यन्त सब साधन बतलाये हैं इसलिये शरीरादि में आत्मबुद्धि हटते ही उन साधनों की कर्तव्यता समाप्त हो जाती है। जब शरीर और मन के साथ संबंध नहीं रह गया तब न उसके लिये कोई धर्म रह गया, न अधर्म रह गया। धर्म-अधर्म राग-द्वेष आदि के बंधन उसके छूट जाते हैं। 'ज्ञानावस्थितचेतसः'ज्ञान में अर्थात् आत्मा की ब्रह्मरूपता का जो ज्ञान है, ज्ञानरूप स्थिति है, उसी के अंदर उसका चेतस्, चित्त, स्थिर रहता है। ब्रह्माकार वृत्ति का संस्कार उसके मन में स्वभाव से बना हुआ ही रहता है। अतः शरीर-मन आदि अमुक करें, अमुक न करेंइस आसक्ति से रहित, 'यह मेरे लिये धर्म है इसलिये मुझे करना चाहिये, यह अधर्म है, इसलिये मुझे नहीं करना चाहिये', ऐसे धर्म-अधर्मादि के बंधन से वह मुक्त हो जाता है।

'यज्ञायाचरतः कर्म।' यह सारा संसार एक यज्ञ है। इस यज्ञ में परमेश्वर ने इस शरीर-मन को जिस उद्देश्य से बनाया है वह इस शरीर-मन के द्वारा संपन्न होता रहे। अर्थात् परमेश्वर की इच्छा जो कि प्रारब्ध रूप है, उसके सिवाय और कोई कर्म उसके आचरण का विषय नहीं रहता है। अर्थात् प्रारब्ध-भोग के अतिरिक्त और कुछ भी उसके लिये कार्य नहीं है। शरीर-मन आदि परमात्मा की इच्छा के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। ऐसा जो करने वाला है उसका 'समग्र कर्म' प्रविलीन हो जाता है। कर्म से 'अग्रं' अर्थात् आगे आता है फल, इसलिये समग्र कर्म, अर्थात् आगे आने वाले फल के सहित कर्म, 'प्रविलीयते' अर्थात् होते हुए भी विनष्ट रहता है। निरन्तर बाध होते रहने से कर्म प्रतीत होते समय ही वस्तुतः सत्ताहीन रहता है। कारण रूप में डूबना विलय है, जब कारण भी न रह जाये तब प्र-विलय है। बाध ही ऐसा प्रविलय होता है जहाँ कारण समेत कार्य का नाश होता है। शरीर-मन जो भी करते हैं वह मैं नहीं कर रहाइस ज्ञानरूप अग्नि के कारण फलसहित कर्म जलता रहता है। शरीर-मन आदि से प्रवृत्ति करता हुआ दीखता है, पर चूंकि वह ब्रह्मरूप से स्थित है, इसलिये वह कर्म आदि उसी समय बाधित होता रहता

है।।२३।।

'समग्र प्रविलय' में हेतु बतलाते हैं कि किस प्रकार ब्रह्मदृष्टि से लीन होता रहता है

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

१) अर्पण; जिसका अर्पण किया जाता है वह २) हवि; जिसमें अपर्ण करते हैं वह ३) अग्नि; जो अर्पण करता है वह ४) कर्त्ता; हवन की ५) क्रिया; तथा ब्रह्मरूप विषय में समाधि वाले द्वारा जो ६) प्राप्तव्य फल हैये सब ब्रह्म ही है।

जिस किसी करण से, शरीर-इंद्रियादि जिस किसी से, ब्रह्मवेत्ता हवि को अग्नि में अर्पण करता है, वह अर्पण और वह हवि भी ब्रह्म ही है। जब तक पूर्ण रूप से ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं हो गया है तब तक साधक कुछ देर तक कर्म करता है, उसके बाद पुनः विचार आता है जिससे वह उस कर्म का बाध कर देता है। परंतु जो ज्ञान में अवस्थित चित्त वाला है, वह जब जिस साधन से हवि डालता है, तभी उस साधन और हवि दोनों को ब्रह्मरूप देखता है। उसे अधिष्ठान की दृष्टि हर चीज़ में बनी ही रहती है। जिस प्रकार सींप में चाँदी नहीं है यह जिसको पता है, सींप का जिसे निश्चय है, चाँदी दीखते हुए भी यह सींप ही हैऐसा उसे ज्ञान बना रहता है। आँख से चमक देखने पर तो उसको मानो चाँदी दीखती है, परंतु चाँदी की तरह दीखते काल में ही 'यह सींप है' ऐसा उसका निश्चय बना रहता है। ठीक इसी प्रकार से, हवि देते हुए जिससे हवि देता है, जो हवि दे रहा है, जिस हवि को दे रहा है, हवि देना, ये सब एकमात्र सच्चिदानंदरूप ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है, उससे अगल है नहींयह उसकी निष्ठा रहती है। इस तरह से अर्पण, हवि, अग्नि, और जिससे हवन किया, इन सब की ब्रह्मरूपता स्पष्ट रहती है। जिसको लोग 'अर्पण करना' कहते हैं, वह ब्रह्मवेत्ता के लिये ब्रह्मस्वरूप ही है। जिस अग्नि में हवन दिया गया वह भी ब्रह्मरूप ही है। कर्ता, करण, उपादानसभी कुछ वह हर क्षण क्योंकि ब्रह्मदृष्टि से देखता रहता है इसलिये बाधित होते ही रहते हैं।

ऐसा जो ब्रह्मविद् है, उसको इस प्रकार के ब्रह्मकर्म-समाधि से जो फल मिलता है वह भी ब्रह्म ही है। कर्म भी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मकर्म के अंदर समाधि वाला, साधन इत्यादि सब को ब्रह्मदृष्टि से समझते हुए हमेशा ब्रह्मभाव में रहता है। उसे फल भी ब्रह्म ही मिलता है।

वह लोकसंग्रह करता हुआ दीखता है, परंतु उसकी अपनी दृष्टि में कर्म है नहीं क्योंकि वह पारमार्थिक दृष्टि से जानता है, कि केवल रस्सी में साँप की तरह कर्म ब्रह्म में प्रतीत हो रहा है।

ऐसा नहीं समझना चाहिये कि यह सब कोई उपासना का विषय है कि कर्म करते हुए,

हम यह दृष्टि बनावें। कोई दृष्टि *बनाने* के लिये नहीं कहा जा रहा है। आत्मज्ञान होने पर ऐसी निरंतर वृत्ति बनी रहती है, इसको बतलाने के लिये यह कहा गया है।।२४।।

यज्ञ का प्रसंग आया इसलिये दूसरे कैसे यज्ञ करते हैंयह भी बतला देते हैं

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

ज्ञानी की अपेक्षा अन्य योगी अर्थात् कर्मी वे ही यज्ञ करते हैं जिनसे इन्द्रादि देवता पूजे जाते हैं। कर्मियों से अन्य ब्रह्मवे त्ता निर्विशेष ब्रह्मरूप अग्नि में आत्मा की निर्विशेष आत्मरूप से ही आहुति देते हैं।

जिस यज्ञ में देवता लोग पूजे जाते हैं वही दैव यज्ञ है। इन्द्र, प्रजापति, वरुण आदि देवताओं को जिसमें आहुति दी जाती है, वे जिसमें पूजे जाते हैं, वह दैव, देव-संबंधी यज्ञ है। अर्थात् सामान्यतः जिसको यज्ञ कहा जाता है वह देवताओं के लिये किया जाता है, उसके द्वारा देवता प्रसन्न होते हैं। पहले भी भगवान् कह आये हैं कि जो सामग्री तुम को मिली है, उसमें भी देवताओं का अनुग्रह है, अतः उससे तुम उनकी पूजा करो, उससे वे प्रसन्न होकर फिर तुम को सामग्री देंगेइस प्रकार यह संसार चक्र मैंने चला रखा है। जो कर्म-योगी लोग हैं, कर्म करने वाले हैं, वे देवताओं की आराधना यज्ञ के द्वारा करते हैं। 'अपरे' जो वास्तविक तत्त्व को जानने वाले हैं वे ब्रह्मरूपी जो अग्नि, उसमें आत्मा का होम करते हैं। जो सामान्य कर्मयोगी हैं वे तो यज्ञों से देवता की उपासना करते हैं।

साधनभूत यज्ञों को बताते हुए बीच में अद्वैतबोध को यज्ञ की तरह का इसलिये बता रहे हैं कि इस बोध की प्रशंसा हो जाये। 'अपरे' अर्थात् तत्त्वदर्शन में निष्ठा वाले 'यज्ञं' आत्मा को 'यज्ञेनैव' आत्मरूप से ही 'ब्रह्माग्नौ' ब्रह्मरूप अग्नि में 'उपजुह्वति' हवन कर देते हैं। आत्मा वास्तव में सारे संसारधर्मों से रहित ब्रह्म है, पर अध्यास से उपाधि-धर्मों वाला हुआ आहुति के लायक बन जाता है एवं उसे निरुपाधिक समझकर उसकी ब्रह्मरूपता देखना ही यज्ञ हो जाता है जहाँ ब्रह्म ही मानो आग है जिसमें आत्मा का होम कर दिया गया। भाष्य में इसका रूप कहा है 'सोपाधिकस्य आत्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेणैव यद् दर्शनं स तस्मिन् होमः'उपाधियुक्त आत्मा को निरुपाधिक समझ लेना यहाँ हवन है। त्वम्पदार्थ का तत्पदार्थ से अभेद देखना रूप यज्ञ अभिप्रेत है।

जिन्होंने परमात्मा के स्वरूप को परोक्ष रूप से जाना है वे सारा यज्ञ करके उस ('यज्ञं') यज्ञ का विचाररूपी ('यज्ञेन') यज्ञ से ब्रह्मरूप अग्नि में हवन करते हैं कि यह जो मैंने यज्ञ किया यह सारा परमात्मा के अर्पण है। जो कर्म किया वह ब्रह्मरूपी अग्नि अर्थात् परमात्मा के अर्पण कर देते हैं, यज्ञ के द्वारा उसकी ही आराधना करते हैं।।२५।।

और भी यज्ञ बतलाते हैं

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अन्य योगी श्रोत्र आदि इन्द्रियों की संयमरूप अग्नियों में आहुति देते हैं। कुछ और साधक शब्द आदि विषयों की आहुति इंद्रियरूप अग्नियों में डालते हैं।

बाह्य यज्ञ संपन्न करने वालों का पूर्व श्लोक में कथन किया। जो दूसरे 'अन्ये' साधक हैं, वे संयम रूपी अग्नि में प्रत्येक इन्द्रिय को प्रक्षेप करते हैं अर्थात् हर इन्द्रिय का संयम करते हैं। संयम मन की उस स्थिति को कहते हैं जहाँ प्रत्याहार स्थित होता है। बहिर्मुख इन्द्रियों को विषयों से पलट कर अंदर की ओर उन्मुख करना यहाँ संयम यज्ञ है। पतंजलि महर्षि ने बताया है कि इंद्रियाँ विषय-संबद्ध न होकर मानो चित्त का अनुकरण करेंयह प्रत्याहार है। अतः ध्यान के लिये आवश्यक जो इन्द्रियों का विषयों से निरोध वह यहाँ यज्ञ है। इन्द्रिय-निरोध के समय मन की स्थिति विभिन्न होगी अर्थात् हर इन्द्रिय को निरुद्ध करने के लिये अलग-अलग मनोदशा का उपयोग होगा अतः अनेक तरह के संयमों की अग्निरूपता बताने के लिये 'संयमाग्निषु' (संयम रूप अग्नियों में) यों बहुवचन का प्रयोग है। वे संयम अग्निस्थानीय और इंद्रियाँ हवि स्थानीय हैं तथा इनका प्रत्याहार आहुति-प्रक्षेप की जगह है।

पूर्वोक्त यज्ञ उस समय का है जब बाह्य व्यवहार नहीं किया जा रहा। कुछ योगिजन बाह्य व्यवहार के समय यज्ञ कर लेते हैंवे इन्द्रियरूप अग्नियों में विषयरूप हविः की आहुति अर्पित करते हैं। क्योंकि यज्ञ करते हैं इसलिये न निषिद्ध विषयों का ग्रहण करते हैं और न राग-द्वेषपूर्वक करते हैं वरन् प्राप्त योग्य विषयों का उपभोग करते हैं। कान से वही सुनेंगे जो सुनने लायक है, दूसरी चीज़ नहीं सुनेंगे। आँख से वही देखेंगे जो देखने लायक है, दूसरी चीज नहीं देखेंगे। इस प्रकार इंद्रियाँ रूपी जो अग्नि है, उसमें प्रत्येक विषय का हवन करते हैं। शब्दादि विषयों का इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन यहाँ यज्ञ है। अर्थात् देखते समय ध्यान रहे कि यह घड़ा, आँख रूपी जो इन्द्रियाग्नि है, उसमें हुत हो रहा है। इन्द्रियाँ अग्नि हो गई, उन इन्द्रियाग्नियों के अंदर शास्त्र से अविरुद्ध विषयों की आहुति देते हैं। हवन जिस चीज़ का किया जाता है वह शुद्ध है या नहीं, यह देखा जाता है। देख कर, तब उस सामग्री से हवन करते हैं। ऐसा नहीं कि बाज़ार से ले आये तिल, देखा नहीं, उसके बीच में कोई दूसरी चीज़ पड़ी हुई है, वह भी हवन में आ गई! ठीक इसी प्रकार से चाहे कोई विषय का भोग कर लेंयह तात्पर्य नहीं है। जो उचित विषय है उसी का, बिना राग-द्वेष के, इंद्रियों से ग्रहण करना है। इंद्रियों से विषयग्रहण के अंदर यह हवन हो रहा हैऐसी दृष्टि करनी है। २६।।

एक और यज्ञ बताते हैंः अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार ये सभी अभ्यास किये जाने चाहिये अतः भगवान् सब का उल्लेख कर रहे हैं

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अन्य साधक, विवेक द्वारा उज्ज्वल की गयी जो आत्मा में धारणा-ध्याना-समाधि रूप अग्नि, उसमें इन्द्रियों व प्राणों के सब कर्मों का होम करते हैं अर्थात् सब चेष्टाएँ रोक कर आत्मा में ही चित्त समाहित करते हैं।

आत्मा में संयम करना आत्मसंयम हुआ, वह खुद ही अग्नि है। उसमें इन्द्रियों के द्वारा जो भी कर्म होते हैं सब की आहुति देते हैं। चाहे वह आँख का देखना, कान का सुनना इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों के कर्म हों, चाहे पैर का चलना, वाणी का बोलना, हाथ का उठाना आदि कर्मेन्द्रियों के कर्म हों, चाहे प्राणों के आकुंचन, प्रसारण आदि कर्म हों, इन सबकी आत्मसंयमयोगाग्नि में आहुति डालते हैं। वह अग्नि ज्ञान से उद्दीप्त है। जैसे घी से स्थूल अग्नि की ज्वाला उद्दीप्त होती है वैसे विवेकजन्य विज्ञान से आत्मसंयम उज्ज्वल होता है। आत्मस्वरूप के श्रवण-मनन के बिना भी आत्मा में संयम अर्थात् चित्त-स्थिरीकरण किया जाता है किंतु वह संयमरूप अग्नि उज्ज्वल नहीं है। जब श्रवणादिपूर्वक आत्मा समझकर उसमें संयम हो तभी उसमें उज्ज्वलता होती है। ऐसे संयम में इन्द्रियादि के सब कर्मों का प्रविलापन यहाँ यज्ञ कहा है। यह प्रविलापन बाधरूप होता है, ऐसा मधुसूदनादि ने स्पष्ट किया है।

किसी-किसी ने, आत्मा अर्थात् अन्तःकरण के संयम को योग माना है किंतु ऐसा संयम जो विवेकज्ञान से प्रज्वलित है। उस संयम रूप अग्नि में इन्द्रियादि के कर्मों का होम अर्थात् सब कर्म न करते हुए संयम करना यज्ञ है।।२७।।

किंचिद् विस्तार से कुछ यज्ञ बताकर अब एक ही श्लोक में छह विभिन्न यज्ञ करने वाले गिना देते हैं

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

कुछ लोग द्रव्य से यज्ञ करने वाले हैं, कोई तप-रूप यज्ञ करने वाले हैं, कोई योगाभ्यासरूप यज्ञ करने वाले हैं, और दूसरे अधिकारी स्वाध्यायाभ्यासरूप यज्ञ करने वाले हैं, कोई ज्ञानात्मक यज्ञ करने वाले हैं तथा कुछ यत्नशील साधक दृढ व्रतरूप यज्ञ करने वाले हैं।

'द्रव्ययज्ञाः' उत्तम देश, काल पात्रादि को देख कर द्रव्य का, धन, वस्तु आदि का विनियोग करना यज्ञ है। किसी के काम आवे, उस प्रकार की चीज़ रुपया इत्यादि, का जो विनियोग है, प्रयोग में लाना है, उसको अनेक अनुष्ठाता यज्ञ-बुद्धि से संपन्न करते हैं। द्रव्यादि का जो विनियोग करते हैं, देश, काल के अनुसार पात्र को दान करते हैं, उसमें उनकी यज्ञ-दृष्टि रहती है। 'भूखे को भोजन दिया' यह एक दृष्टि है। 'यह उचित अन्ना-

धिकारी है इसलिये इसके अंदर मैं आहुति डाल रहा हूँ,' यह दूसरी दृष्टि है। द्रव्ययज्ञों में कुआ खुदवाकर सर्वसुलभ करना, सार्वजनिक बगीचा बनाना, अन्नक्षेत्र चलाना, मंदिर बनवाना, शरणागत की रक्षा करना इत्यादि सब समझ लेने चाहिये।

'तपोयज्ञाः'कुछ लोग तप का आचरण यज्ञ-दृष्टि से करते हैं। तपस्वी लोग कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि अनेक प्रकार के तपों का आचरण करते हैं। तप को ही वे यज्ञ-दृष्टि से संपन्न करते हैं। 'योगयज्ञाः'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान इत्यादि जो योग, उस का अभ्यास कुछ योगिजन यज्ञ-दृष्टि से करते हैं। कुछ अन्य लोग स्वाध्याय यज्ञ करते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि के मंत्रों का नियमपूर्वक पाठ करना स्वाध्याय है उसको ही यज्ञ-दृष्टि से करते हैं। 'ज्ञानयज्ञाः' कुछ लोग शास्त्र के अर्थ का परिचिंतन करते हैं। शास्त्र के अर्थ को जानना रूपी जो ज्ञान है, उसको संपन्न करते हैं, वह ज्ञान ही उनका यज्ञ हो जाता है।

'संशितव्रता यतयः' से पूर्वोक्त यज्ञ करने वाले भी समझ सकते हैं। इन यज्ञों में अत्यन्त यत्न चाहिये और इनके नियमों का पालन अतिकठिन है। बोलने में चाहे जितने सरल लगें, पर यथानियम अनुष्ठान बहुत कठिन है, मानो तेज धार की तलवार पर चलना हो! अथवा 'यतयः संशितव्रताः' से यज्ञान्तर के अनुष्ठाता कहे हैं। यह मानने पर श्लोक में छह यज्ञ सूचित हो जाते हैं। योगशास्त्र में जिन्हें 'महाव्रत' कहा है, उन्हें यह छठा यज्ञ समझना चाहिये। उनमें व्रत अत्यन्त दृढ हो जाते हैं। यमों में कहे अहिंसा आदि का तो साधारणतः सीमाओं में ही पालन संभव है किंतु जो निश्चय कर ले कि हर हालत में उनका पालन करना है और उसमें दृढता से तत्पर रहे वह 'संशितव्रत' कहा जा रहा है। ऐसे व्रतों की दृढता होने पर नरक के दरवाज़े जो काम क्रोध लोभ मोह, वे निवृत्त हो जाते हैं। इन महाव्रतों का यज्ञ-दृष्टि से अनुष्ठान अतियत्नसाध्य है अतः इनके अनुष्ठाता यति कहे गये हैं।।२८।।

और यज्ञ भी बतलाते हैं

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

कोई योगी अपान में प्राण का होम करते हैं तथा अन्य योगी प्राण में अपान का। प्राणायाम में तत्पर कुछ योगी प्राण-अपान का चलना रोक कर कुंभक का अभ्यास करते हैं।

कुछ लोग अपान में प्राण की आहुति देते हैं अर्थात् पूरक प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। अपान हुआ जो निम्न गति करने वाला है; वे प्राण को खींचकर अपान में ही हवन करते हैं। दूसरे अभ्यासी प्राण में अपान का हवन करते हैं, अर्थात् रेचक प्राणायाम करते हैं, श्वास को छोड़कर यथाशक्ति छोड़े ही रखते हैं। इस तरह कुछ लोग पूरक

प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, कुछ रेचक का अभ्यास करते हैं और कुछ लोग प्राण और अपान, दोनों की गति को रोक कर कुम्भक करते हैं। मुख-नासिका के द्वारा वायु का बाहर जाना प्राण की गति है, और अंदर की तरफ जाना अपान की गति है। वे न सांस छोड़ते हैं न लेते हैं, दोनों का रोध करके केवली कुम्भक का अभ्यास करते हैं। तीनों प्राणायाम में ही लगे रहते हैं अतः प्राणायाम में परायण अर्थात् तत्पर हैं। इनके लिये ये ही यज्ञ हैं।।२६।।

यज्ञों का वर्णन पूरा करते हुए कहते हैं

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

संयत आहार वाले अन्य साधक प्राणों में प्राणों की आहुति देते हैं। ये सभी यज्ञ के ज्ञाता हैं व इनके पाप यज्ञों से समाप्त हो जाया करते हैं।

नियत आहार अर्थात् परिमित आहार; इतना ही खाना है, न कम न ज़्यादाऐसे नियम वाले बहुत-से साधक हैं। वे नियत आहार रखने का अभ्यास करते हैं। नियत का अन्यत्र व्याख्यान है कि जितना खा सकें उससे आधा ही खाना। वाग्भट्ट ने भी बताया है

‘अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थम् अवशेषयेत्।।’

पेट में आधी जगह अन्न से और एक-चौथाई पानी से भरे तथा एक-चौथाई हवा आदि के लिये खाली रखे। स्वास्थ्य और साधना दोनों के लिये आहार यों नियत रखना उचित है। केवल मात्रा ही नहीं, जो खायें वह हितकर एवं शास्त्रसम्मत हो अर्थात् हित और मेध्य हो यह भी ज़रूरी है। और ‘प्राणान् प्राणेषु जुह्वति’ प्राण के जो अनेक वायुभेद हैं, उन सब का प्राणों में ही हवन करते हैं। अर्थात् वायु का जय करते हैं; जहाँ-जहाँ शरीर में वायु की गति प्रतीत होती है, उन सब गतियों के ऊपर नियंत्रण करते हैं। प्राणों का प्राण में ही हवन करते हैं अर्थात् शरीर के भिन्न-भिन्न जगहों के अंदर जो वायु जीत ली है उसके अंदर अन्य प्राणों के उपसंहार की दृष्टि बना कर उसी में उनका हवन करते हैं, दूसरे वायु-भेदों का उसी एक वायु के अंदर प्रक्षेप करते हैं।

इस यज्ञ-प्रकरण में आये पहले यज्ञ में तो स्पष्टतः बाह्य यज्ञ है। आगे के सब में बाहर से *यज्ञ* होता हुआ नहीं दीखता है, आन्तरिक यज्ञ है। द्रव्य-यज्ञ में बाहर से तो यज्ञ दीखता है पर वह देना *यज्ञ* रूप है या नहीं, यह तो करने वाला ही जानता है, वही जान सकता है। प्रसिद्ध यज्ञ में तो चीज़ को तुम हवन-कुण्ड में डालते हो तो पता लगता है, कि अग्नि में डाल रहा है। किंतु द्रव्य-यज्ञ में बाह्य द्रव्य होने पर भी है वह आन्तरिक यज्ञ ही।

‘एते सर्वेपि यज्ञविदः’ ये सभी यज्ञ को जानने वाले हैं तथा यज्ञ से प्राप्य लाभ पाने

वाले हैं। इन यज्ञों के आचरण से अंतःकरण शुद्ध हो जाता है अर्थात् अंतःकरण में जितने कल्मष हैं, दोष हैं वे सारे नष्ट हो जाते हैं। इस तरह भगवान् ने वेद के ब्राह्मण भाग में सूचित अनेक यज्ञों का संक्षेप में कथन कर दिया।।३०।।

उक्त यज्ञों से चित्त शुद्ध होने पर क्या होता है यह बताते हैं

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

यज्ञ सम्पन्न कर बचे समय में ही शास्त्रानुमत अन्न (आदि) का उपभोग करने वाला सनातन परमात्मा को पा जाता है। हे कुरुकुल में प्रधान अर्जुन! जो व्यक्ति उक्त यज्ञों में से एक भी नहीं करता, उसका यही लोक कल्याणमय नहीं बनता तो परलोक क्या बनेगा!

यज्ञ करके जो बचा हो वह 'यज्ञशिष्ट' अमृत है, श्रुतियों में उसको अमृत कहा है। उसी का जो सेवन करते हैं अर्थात् इन यज्ञों को करके, उससे जो काल बचा उसके अंदर जो जिस यज्ञ के अंगरूप से कहा गया है उस अमृत का सेवन करते हैं, वे परमात्म-प्राप्ति कर लेते हैं। यज्ञ करके जो काल बचा उसमें जीवन निर्वाह के अन्य कार्य करने चाहिये, उल्टा नहीं कि दूसरे काम करके जो समय बचे, उसमें यज्ञ करे! आन्तरिक यज्ञ करने वालों को यह ख्याल खास रखना चाहिये। बाह्य यज्ञ तो सबको दीखता है इसलिये उचित समय पर कर लेना इतना कठिन नहीं, पर आंतर यज्ञ अन्य किसी को दीखता नहीं अतः अन्य लोग भी उसके लिये समय आदि देना ज़रूरी नहीं समझते और कर्ता भी उसे 'फुर्सत के समय' के लिये टाल देता है। ऐसे नहीं करना चाहिये। वरन् अन्य कार्य ही यज्ञ से बचे काल के लिये रोक लेने चाहिये। यज्ञ को निष्पन्न करके जो काल बचा, उस काल में उस यज्ञ के अंगरूप से जिस अन्न को कहा गया है, जितने अन्न को कहा गया है वह अमृत रूप है, उसका ही सेवन करने वाले 'यज्ञशिष्टामृतभुजः' हैं। इस प्रकार करने के कारण 'सनातनम् ब्रह्म यान्ति', जो हमेशा रहने वाला ब्रह्म स्वरूप है, उसको प्राप्त करते हैं। अर्थात् अंतःकरण शुद्ध होकर यदि यहाँ ज्ञान हो गया तो निष्कल ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं, और यदि नहीं हुआ तो ब्रह्मलोक जाकर कल्पान्त में ब्रह्मा के उपदेश से मुक्त हो जाते हैं।

'अयज्ञस्य' अर्थात् जो इनमें से कोई यज्ञ नहीं करता; न प्राणायाम करता है, न भोजन का नियंत्रण करता है, न तीर्थों में द्रव्य का विनियोग करता है, न बाह्य यज्ञ का आचरण करता है; इनमें से किसी का जो आचरण नहीं करता, उसके लिये यह लोक भी नहीं है, अर्थात् पुनः मनुष्य लोक की प्राप्ति उसको नहीं होती और जब इस लोक में ही वापिस नहीं आ सकता तो वह स्वर्गादि लोकों को जायेगा, यह तो संभव ही नहीं है। अर्थात् कीट पतंगादि या वृक्ष-लता आदि योनियों में ही जा सकता है। सब सद् योनियाँ तो विशिष्ट साधनों से साध्य होती हैं, विशिष्ट साधन जिनका कुछ भी नहीं है वे निकृष्ट योनियाँ ही

पायेंगे।।३१।।

भगवान् सूचित करते हैं कि पूर्वोक्त यज्ञों का मूल वेद में ही है, वेद से स्वतंत्र इनका वर्णन भगवान् ने किया हो ऐसा नहीं

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

वेद के मुख में इस तरह नाना प्रकार के यज्ञ विस्तार से विहित हैं। उन सबको कर्म से पैदा होने वाला जानो। इस प्रकार (यह) समझकर (कि मुझ निष्क्रिय आत्मा से ये असंबद्ध हैं) संसार-बंधन से छूट जाओगे।

वेद के मुख में अर्थात् वेद के द्वारा यज्ञों का विस्तृत वर्णन किया गया है। अर्थात् ये जो यज्ञ भगवान् ने कहे हैं, ये सारे के सारे वेदों के अंदर विस्तार से पता लगते हैं। ये सभी कर्म से होते हैं, चाहे वह आन्तर कर्म होवे, संयम आदि, चाहे बाह्य कर्म हो, देवताओं के लिये हवन करना इत्यादि। ये सभी यज्ञ कर्म से संपन्न होते हैं। इस बात को जब समझ लेता है तब अशुभ मार्गों से अपने आपको बचा लेता है। और यदि इस बात को जान लेता है कि 'ये सब कर्म से होने वाले यज्ञ हैं, मैं तो निर्व्यापार हूँ; ये यज्ञ शरीर-मन में होते हैं, माया के द्वारा प्रतीत होने वाले हैं, जबकि मैं अधिष्ठानरूप से ही विद्यमान हूँ;' यदि यज्ञों को करते हुए ऐसे सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जाती है तो संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार भगवान् ने यज्ञों का निरूपण किया।।३२।।

भगवान् ने अनेक यज्ञों का प्रतिपादन किया। इनको उपलक्षणार्थ समझना चाहिये, क्योंकि और भी बहुत तरह के यज्ञ हैं। दसवें अध्याय में, यज्ञों में जपयज्ञ को श्रेष्ठ कहेंगे; इसका मतलब है कि जपयज्ञ भी भगवान् को स्वीकृत है। उसको यहाँ नहीं कहा है, इसलिये मानना चाहिये कि जो सभी साधन किये जाते हैं उन के उपलक्षण के लिये विशेष प्रकार के यज्ञ यहाँ बतला दिये।

प्रकरण-प्रारम्भ में 'ब्रह्मार्पणम्' आदि श्लोक से तत्त्वज्ञान का यज्ञरूप में उल्लेख किया था। फिर पुरुषार्थ-सम्पादक कई यज्ञ बताये। अब उन यज्ञों द्वारा ज्ञान की प्रशंसा करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

हे शत्रुसन्तापक अर्जुन! द्रव्य-साध्य यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानरूप यज्ञ बेहतर है (क्योंकि) बिना कुछ छूटे सारे कर्म का ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है।

द्रव्यमय अर्थात् द्रव्यों के द्वारा जो साध्य, सम्पन्न होते हैं। चाहे द्रव्य हवि इत्यादि हो, चाहे धन आदि हो जैसे दान यज्ञ में। यहाँ द्रव्ययज्ञ से केवल दान इत्यादि कर्म ही न

लेकर जहाँ भी बाहर के किसी भी द्रव्य का विनियोग करना पड़ता है उन सबका संग्रह कर लेना चाहिये। द्रव्य से जो साध्य होते हैं, जो सिद्ध किये जाते हैं, उन यज्ञों की अपेक्षा, ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि जो द्रव्य से यज्ञ किया जाता हैवह फल को आरंभ करता है अर्थात् उसका फल होता है, जबकि ज्ञानयज्ञ सारे फलों को जलाने वाला होता है, फल का आरंभ करने वाला नहीं होता। इसलिये वह श्रेयस्कर है, कल्याणकर है।

ज्ञानयज्ञ ऐसा क्यों है? क्योंकि सारे कर्म ज्ञान में अर्थात् मोक्ष का साधन जो ब्रह्माकार वृत्ति है, उसके अन्तर्भूत हो जाते हैं। 'सर्वं' कह कर 'अखिलं' भी कहा; 'खिल'बची हुई चीज़ अर्थात् कोई प्रतिबंधक; 'अखिल' अर्थात् सारे प्रतिबंधों की भी ज्ञान में समाप्ति हो जाती है। वैसे तो, अखिल का मतलब, सारे टुकड़ों वाला अर्थात् 'सम्पूर्ण' ही होता है। परंतु यहाँ 'सर्वं' के साथ पठित है इसलिये उसका अर्थ 'प्रतिबंधक से रहित' है। बाकी सारे साधन एकत्रित होने पर भी प्रतिबंधक फल नहीं होने देता। ब्रह्माकार वृत्ति के होने पर सकार्य अविद्या नष्ट हो जाती है।

छान्दोग्योपनिषत् में कहा है कि जो चौपड़ खेली जाती है उसके अंदर काम में आने वाले पासों को कृत, त्रेता, द्वापर और कलिये नाम दिये जाते हैं। कृत पासा जब जीत लेता है तब बाकी सब पासे अपने आप ही जीत लिये जाते हैं। 'यथा कृताय विजिताय अधरेयाः संयन्ति।' वर्तमान काल में चौपड़ कम खेलते हैं तो ताश से समझ लोअगर इक्का चल दिया तो सब पत्तों को जीत लेगा। इक्के के ऊपर फिर और कोई नहीं चलता है। जैसे कृत या इक्के के चलने पर बाकी के सब पासे या पत्ते तुम जीत लेते हो, इसी प्रकार जो उस ब्रह्म को जान लेता है वह बाकी सब कर्मों को अपने में लीन कर लेता है। उपनिषत् में कहानी कह कर इसे बताया है : एक राजा छत के ऊपर सो रहा था। गर्मी का मौसम था। उसके ऊपर से दो हंस उड़कर जा रहे थे। एक हंस दूसरे से कहता है 'अरे! देखो, अत्यंत दानादि कर्म करने वाला यह राजा सो रहा है, इसलिय इसको लाँघना नहीं, यह बड़ा तेजस्वी है।' जो बड़ा आदमी होता है उसको लाँघना दोष मानते हैं। दूसरा हंस उसे जवाब देता है 'अरे, क्या तेजस्वी है! यह क्या उस ब्राह्मण की तरह है, जिसके पास ऐसा 'इक्का' है ज्ञान का, कि जितना भी कोई पुण्य करता है वह सब उसके अंदर लीन हो जाता है? क्या ज्ञान से सारे कर्मों के फल को वह जीत लेता है?' वहाँ कहानी से इसी बात को कहा कि सारे कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं अर्थात् ज्ञान के अन्तर्भूत हो जाते हैं। ज्ञान होने पर सभी कर्मों का फल मिल जाता है।।३३।।

इस ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो यह बताते हैं

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

दीर्घनमस्कार, सन्दर्भोचित सर्वांगीण प्रश्न और गुरशुश्रूषा द्वारा उस ज्ञान को समझो।

तत्त्व का दर्शन जिनका स्वभाव है ऐसे ज्ञानवान् आचार्य तुम्हें ज्ञान का उपदेश देंगे।

ज्ञान को कैसे जानें? 'प्रणिपातेन' गुरु के पास जाकर साष्टांग दण्डवत् करके आदर व्यक्त करना चाहिये। जैसे दण्डा भूमि के ऊपर पूरा गिर जाता है इसी प्रकार सारे अंगों को भूमि पर गिरा कर दण्डवत् नमस्कार किया जाता है। दीर्घ नमस्कार में तात्पर्य होता है कि मैं अपने आठ अंगों को आपके अर्पण करता हूँ। प्रणाम में आठ अंग भूमि का स्पर्श करते हैंदोनों हाथ, दोनों घुटने, छाती, दोनों पैर और सिर; ये आठों अंग भूमि पर लगते हैं। ये आठ अंग जीव की अष्ट पुरियों को बतलाते हैंपाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, चार अंतःकरण, पाँच महाभूत, कामनायें, अपने पूर्व किये हुए कर्म, और सबका मूल कारण अज्ञानयह पुर्यष्टक है। प्रणाम से व्यक्त होता है कि 'ये सारे मैं आपके अर्पण करता हूँ। ये सारे अर्पण करने पर ही तत्त्व का उपदेश दिया जा सकता है। अन्यथा तत्त्व का उपदेश सफल नहीं होता।

प्रणिपात करके क्या करे? 'सेवया' गुरु की शुश्रूषा करे, सेवा करे। अर्थात् कर्मेन्द्रियों से भी उसकी सेवा करे, ज्ञानेन्द्रियों से भी उसकी सेवा करे, अन्तःकरण से भी उसकी सेवा करे, कामना भी इसकी सेवा की ही करे। इस प्रकार अपना सब कुछ उसके लिये सेवा में लगा देता है। फिर 'परिप्रश्न' करेबंधन किसको कहते हैं? मोक्ष का स्वरूप क्या है? विद्या किसको कहते हैं? अविद्या किसको कहते हैं? जीव का क्या स्वरूप है? परमात्मा का क्या स्वरूप है? इस प्रकार सब तरफ से, चारों तरफ से आत्मविषयक प्रश्न परिप्रश्न है। प्रश्न करना ज़रूरी है क्योंकि शास्त्रों में नियम बतलाया है कि, जब तक कोई ढंग से पूछे नहीं तब तक उसको उपदेश नहीं देना चाहिये। व्यक्ति ढंग से पूछेगा तभी जब जानना चाहता है।

बहुत बार लोग आते हैं, प्रश्न पूछते हैं लेकिन कुछ जानना नहीं चाहते! उन्होंने कोई बात समझ रखी है, यही देखना चाहते हैं कि तुम वही जवाब देते हो या दूसरा जवाब देते हो। जो उन्होंने जान रखा है वही जवाब दो, तो उनके जाने हुए पर मोहर लग जाती है, वे खुश हो जाते हैं कि 'मैंने ठीक जाना।' और अगर उससे भिन्न जवाब देते हो, तो वह जवाब क्यों ग़लत है इसे सोचते हैं, उसे काटने में प्रयत्नशील हो जाते हैं। यह सब इसलिये क्योंकि जानने के लिये तो उन्होंने पूछा नहीं था। ऐसों से आपस में बातचीत तो हो जायेगी लेकिन उपदेश नहीं बनेगा। इसका मतलब यह नहीं है कि जो बात कही गई उसको समझने के लिये तुम आगे प्रश्न नहीं करो, 'हाँ जी' कहकर विचार वहीं बंद कर दो! समझने के लिये प्रश्न करना अलग बात है। समझने के लिये प्रश्न पूछने वाले का तात्पर्य है कि 'बात जो आपने कही वह ठीक ही है, पर मुझे हृदयंगम कैसे होवे, मैं इस बात को सर्वथा कैसे समझूँ।' कई बार बाहर से ऐसा ही लगता है कि सामने वाला खाली विवाद कर रहा है परंतु समझने के लिये प्रश्न करने वाले को कभी नहीं लगता कि जो जवाब दिया गया वह ग़लत है। अतः मौके पर गुरु यदि जबाव न दे सके तो भी वह बात गुरु की ही

ठीक समझता है, उसके लिये युक्ति-प्रमाण भले ही खोजता रहे। वह जानता है कि जवाब तो जो गुरु जी ने दिया है वही ठीक है, मैं नहीं समझता।

इसलिये भगवान् ने कहा कि परिप्रश्न करे; बंधन, मोक्ष, जीव का स्वरूप, परमात्मा का स्वरूप, मोक्ष, विद्या, अविद्याइन सबके विषय में प्रश्न पूछे। और इस भाव से कि गुरु जो जवाब देंगे वह यथावत् होगा। फिर, समझने के लिये कुछ भी जिज्ञासा करे।

जब इस प्रकार प्रणिपात, सेवा और परिप्रश्न के द्वारा प्रसन्न होंगे तब आचार्य उपदेश देंगे। किसका उपदेश देंगे? परमात्मा का स्वरूप जैसा है वैसा ही उसका निरूपण करेंगे। गुरु कैसा होवे? 'ज्ञानिनः' शास्त्र के रहस्य को अच्छी तरह से जानने वाला होवे। और केवल शास्त्र के रहस्य को जानने वाला ही नहीं, 'तत्त्वदर्शिनः' उस परम तत्त्व का साक्षात्कार किये हुऐ होवे। तत्त्व का *दर्शन* अर्थात् जैसे आँख से चीज़ को देखकर निश्चय हो जाता है कि चीज़ ऐसी ही है, वैसे ही जिसने तत्त्व का अपरोक्ष निश्चय कर लिया कि यह ऐसा ही है। दो विशेषणों के द्वारा यह बतलाया कि बहुत-से लोग शास्त्र का अर्थ तो कर सकते हैं परंतु स्वयं अनुभव से रहित होने के कारण, तत्त्व ठीक जैसा है वैसा उसका प्रतिपादन नहीं कर पायेंगे। परमात्मतत्त्व मन और वाणी से परे है और बतलाना उसको वाणी से है। वाणी से जो बतलाया नहीं जा सकता उसे वाणी से बतलाना है! तथा मन के द्वारा जो समझा नहीं जा सकता, उसे तुम्हें मन से समझना है! अतः गुरु तरह-तरह के प्रश्न करके पता लगाता है कि शिष्य ने ठीक समझा कि नहीं। केवल एक बात कहने से पता नहीं लगता, लेकिन तरह-तरह से जब पूछते हैं, तब ठीक समझा होगा, तो हर बार ठीक ही अर्थ बतायेगा और अगर पूर्णतः समझा हुआ नहीं होगा तो प्रश्न का आकार बदलने पर जावब गड़बड़ दे देगा। गणित पढ़ने-पढ़ाने में कई बार देखा होगा कि किसी भी पाठ के प्रारंभ में एक सूत्र बतला दिया जाता है, फिर पाँच-छह दृष्टांतों के द्वारा उसको समझा देते हैं। उसके बाद अनेक प्रश्न पूछते हैं जिनमें वह सूत्र लगेगा, ऐसे घुमा-घुमा कर प्रश्न करते हैं कि सोचना-समझना पड़ता है। जो समझा हुआ है वह तो उन प्रश्नों को हल कर लेगा। जो माताएँ इस रहस्य से अनभिज्ञ होती हैं, वे जब बच्चा आकर कहता है, 'माँ यह सवाल कैसे हल करूँ?' तब खट से उसको बतला देती है, 'इसको इससे गुणा करके इससे भाग दोगे, तो जवाब आ जायेगा।' वह जवाब भी निकाल लेता है। अपनी कक्षा में जाकर दिखलाता है। उसको अध्यापक सही कर देता है। परंतु असल में उस लड़के ने उस प्रश्न को हल किया नहीं है। अतः जब परीक्षा में किसी अन्य तरह से घुमा कर के प्रश्न पूछा जाता है तब बच्चे की समझ में नहीं आता है कि क्या करना है, और बाहर निकल कर कहता है कि 'पेपर बड़ा मुश्किल था!' मुश्किल कुछ नहीं था, बच्चा पहले नहीं समझा हुआ था। जो हल किया हुआ सवाल है वही उसको पूछोगे तो ठीक जवाब दे देगा, लेकिन समझा हुआ है नहीं इसलिये नयी तरह से पूछे सवाल में गड़बड़ा जाता है।

इसी तरह आत्मविद्या में केवल शास्त्रज्ञान नहीं, तत्त्वदर्शनशील भी होना चाहिये। जो इस प्रकार से तत्त्वदर्शी है उसके द्वारा उपदेश दिया गया ज्ञान ही सफल होता है, अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। केवल शास्त्रज्ञानी के द्वारा जो उपदेश दिया गया है। वह ब्रह्मज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। इसलिये भगवान् ने 'ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' दोनों कहा। वेद में भी इसलिये 'श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम्' दो विशेषण गुरु के लिये दिये हैं।।३४।।

इस प्रकार के उपदेश से प्राप्त ज्ञान का प्रभाव बताते हैं

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

हे पाण्डुसुत! (वह ज्ञान ऐसा होगा) जिसे समझ कर फिर ऐसे मोह में नहीं पड़ोगे और उस ज्ञान से ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब भूतों को प्रत्यगात्मा में और मुझ ईश्वर में देखोगे।

तत्त्वदर्शी जिस ज्ञान का उपदेश देंगे उसको जब तुम भली प्रकार से समझ जाओगे तब उसके बाद कभी तुम को मोह नहीं होगा। कैसा मोह? एवंजैसा मोह अभी तुम को हुआ है। उपदेश तो तुम को दिया ही गया थाबड़ों का आदर करो। उनको कभी हुंकारा-तुकारा भी नहीं दो। और शास्त्र-ज्ञानियों ने यह भी उपदेश किया था कि जो भी आततायी आवे उसका बिना विचार किये हुए नाश कर दो। ये दोनों उपदेश तो तुमको मिले ही थे। उन्हीं उपदेशों के कारण तू मोह में पड़ा है, कि यह करूँ या न करूँ। जिनको हुंकारा-तुकारा ही नहीं करना चाहिये वे ही आततायियों का साथ देते हुए सामने आ गये हैं। उनका कुछ न बिगाड़ कर आततायियों को जीत नहीं सकते। इस तत्त्व को न समझने के कारण ही तुम्हारे में यह मोह, विपरीत भाव हो गया है कि 'मैं युद्ध करूँ ही नहीं।' किन्तु तत्त्वदर्शियों का उपदेश समझ चुक कर इस प्रकार का मोह फिर तुम को नहीं होगा।

ज्ञान से सारे ही प्राणीब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सारे के सारे जो भूत अर्थात् प्राणी हैं, उन सारे भूतों की वास्तविकता आत्मा ही होने से उन सबको साक्षात् आत्मा में देखोगे। 'द्रक्ष्यसि' का मतलब है साक्षात् अनुभव करोगे, आँख से देखना यहाँ अर्थ नहीं है। सब भूत अपने प्रत्यक्स्वरूप के अंदर ही स्थित हैं क्योंकि सारे एक चेतन आत्मा के कारण ही प्रवृत्त-निवृत्त हो रहे हैं।

और 'अथो मयि' मैं प्रत्यगात्मा वासुदेव स्वरूप हूँ, ब्रह्मस्वरूप हूँ, ब्रह्म ही मेरा आत्म-स्वरूप हैइस प्रकार से देखोगे। अर्थात् क्षेत्रज्ञ और ईश्वर एक ही हैइस बात को समझ लोगे। एक बार जब यह बात समझ में आ जाती है तब मरना-मारना सारे मायिक होने से मिथ्या हैं यह स्पष्ट हो जाता है। अतः उसके बाद, जो भी कर्म करो वह केवल लोक-संग्रह की दृष्टि से ही हो सकता है। यह भय नहीं रहता ऐसा करूँगा तो पाप लगेगा, दोष

लगेगा। एक बार जब तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है तब फिर कभी भी किसी भी प्रकार का मोह नहीं होता, अविवेक नहीं होता; न कर्तव्य-अकर्तव्य का अविवेक होता है, न ज्ञातव्य-अज्ञातव्य का अविवेक होता है।।३५।।

भगवान् उक्त तत्त्वज्ञान का अचिन्त्य माहात्म्य बताते हैं

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। ३६ ।।

अगर सब पापकर्मियों से भी अधिक पाप करने वाले हो, तो भी सारे पाप-समुद्र को ज्ञान-नौका से ही भली भाँति पार कर जाओगे।

यहाँ 'पापेभ्यः' में पाप अर्थात् पाप करने वाले; सभी पाप करने वालों से भी जो बड़ा पापकारी हो वह 'पापकृत्तम' हुआ अर्थात् पाप करने वालों में सबसे ज़्यादा पाप करने वाला। भगवान् कहते हैं, ऐसा भी यदि तू है तो ज्ञान ही वह नौका है जिसके कारण पापों के समुद्र को पार कर जायेगा। यहाँ जो 'वृजिनं' अर्थात् पाप कहा है, उस पर भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि 'धर्मोऽपीह मुमुक्षोः पापमुच्यते', केवल पाप से नहीं छूट जाता है, पुण्य से भी छूट जाता है क्योंकि पुण्य भी लोकान्तर की प्राप्ति का कारण होकर बंधन देने वाला ही है। जिस प्रकार से लोहे के पिंजरे से सोने का पिंजरा अच्छा लगता है, परंतु है तो पिंजरा ही, इसी प्रकार से मनुष्य-लोक से ऊर्ध्व लोक अच्छे लगते हैं, श्रेष्ठ लगते हैं, परंतु होता तो वहाँ पर भी इंद्रिय और मन से विषयों का संबंध ही है। इसलिये बंधन करने वाले होने से धर्म को भी यहाँ मुमुक्षु के लिये पाप कहा गया है। अकर्तव्य-दृष्टि से धर्म को पाप नहीं कहा, उससे भी छूटना लक्ष्य है इस दृष्टि से कहा है।।३६।।

भगवान् ने बताया कि ज्ञान-रूपी नौका से पुण्य-पाप रूपी संसार को तर जायेगा। तो प्रश्न होता है कि आखिर उन पाप-पुण्य कर्मों का बनेगा क्या? तर जाने में ऐसी प्रतीति होती है कि जिस पर से तर के निकले वह तो वैसा ही रह गया, तरने वाला उससे पार हो गया। अतः प्रश्न होता है कि जो पुण्य-पाप-रूपी जल है जिससे तर के पार हो जाते हैं उस पुण्य-पाप का क्या होगा? इसका उत्तर दूसरे दृष्टांत से बतलाते हैं कि तर जाने का यहाँ तात्पर्य उससे अलग होना नहीं है वरन् उसको नष्ट कर देना है। अर्थात् वे कर्म नष्ट हो जाते हैं

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

हे अर्जुन! जैसे उद्दीप्त आग सारे ईंधन को राख बना देती है वैसे ज्ञानरूप आग सब कर्मों को भस्म कर देती है।

'समिद्धः अग्निः' जिस आग को हवा इत्यादि करके खूब तेज़ कर दिया है। जो भली

प्रकार से दीप्त हो गई है, उस अग्नि से सारा ईंधन भस्म हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से दार्ष्टान्त में भी समझ लेना कि जो ज्ञानाग्नि संशय और विप्रतिपत्ति के प्रतिबंधों से हट कर खूब ज़ोर से चमक उठी है वह कर्म समाप्त कर देती है। ज्ञान तो श्रवण से होता है। वेदों का बार-बार विचार करने से 'श्रुतियाँ यही कहती हैं' ऐसा निश्चय श्रवण से होता है। आत्मा के बारे में प्रमा कराने वाला केवल वेदवाक्य ही है, और किसी से भी प्रमा उत्पन्न नहीं होती। प्रमा मायने यथार्थ ज्ञान। परमात्मा न बुद्धि का विषय है, और न शब्द का विषय है। अतः वह केवल श्रुतियों के तात्पर्य का ही विषय है। इसलिये जब श्रुति क्या कह रही है, क्या उसका तात्पर्य हैयह निश्चित हो जाता है तब ज्ञान हो जाता है। पर अन्य प्रमाणों के साथ उसके विरोध की प्रतीति रहती है। ज्ञान तो हो गया, क्योंकि वेद ही इसमें प्रमाण है, परंतु प्रत्यक्षादि प्रमाण भी प्रमा को उत्पन्न करते हैं, उनके साथ उस ज्ञान का संबंध समझ में नहीं आता। ऐसे समझ लो : बिजली कौंध गई, बिजली के कौंध जाने से वहाँ पड़ी हुई रस्सी दीख गई। पर बिजली की कौंध क्षणभर में नष्ट हो गई। पहले भी वहाँ साँप दीख रहा था, अब भी साँप दीख रहा है। तो ऐसा नहीं है कि बिजली की कौंध में रस्सी दीखी नहीं! रस्सी तो दीख गई, परंतु उसके पहले और पीछे साँप रूप ही दीख रहा है इसलिये 'क्या यह सचमुच में रस्सी है जो बिजली से दीखी, अथवा जो बाकी समय में दीख रहा है वह साँप है? यह रस्सी है कि साँप है?' यह संशय हो जाता है। निश्चय नहीं होता कि रस्सी ही है। परंतु जब दिन निकल आता है और सूर्य की रोशनी में स्थिर भाव से वह रस्सी दीखती है तथा 'साँप होता तो यहाँ इतना स्थिर नहीं रह सकता था, साँप चंचल होता है, साँप का रंग अन्य होता है' इत्यादि विचार के भी सहारे से 'यह साँप नहीं रस्सी ही है', यह निश्चय हो जाता है।

इसी प्रकार से श्रवण-काल में परमात्मा का निश्चय हो जाता है। परंतु तुरंत व्यवहार करने जाते हो तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से कुछ और प्रतीति होती है। अतः संशय हो जाता है कि जो हमने विचार काल में वेदवाक्यों से निश्चय किया, क्या वह सचमुच में वैसा ही है? योगी जब समाधि लगाता है, उस काल में उसकी स्वरूपस्थित होती है, अपने सच्चिदानन्द रूप में स्थिति होती है, पर समाधि से जब उठता है, तब सारा जगत् उसको सत्य ही लगता है। आगे क्योंकि विचार का मार्ग उसका है नहीं, इसलिये यही मानता है कि जब व्यवहार नहीं करते, उस समय परमात्मा का वह स्वरूप है, बाकी समय में तो प्रकृति का स्वरूप खेल रहा है। अतः वह प्रकृति को सत्य ही मानता है। बार-बार समाधि लगाता है, उसमें परम आनंद का अनुभव भी करता है, परंतु जैसे ही प्रारब्ध के कारण उसका व्युत्थान होता है, समाधि से उठता है, तब उसको संसार की प्रतीति होती है और उसका निश्चय होता है कि यह सब सच्ची प्रकृति का खेल है। अतः बाध नहीं होता।

इसी प्रकार से विचार मार्ग से श्रवण काल में सच्चिदानंद परमात्मा और आत्मा की एकता का ज्ञान होता है परंतु फिर व्यवहार काल के अंदर संशय आ जाता है। ज्ञानाग्नि

तो है, पर समिद्ध नहीं है। जब स्थिर भाव से विचार करके प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होने वाला ज्ञान क्यों वास्तविक नहीं हो सकता, यह समझ आता है, तब वही ज्ञान समिद्ध हो जाता है। दिन के समय में जब तुमने निश्चय कर लिया कि रस्सी है, फिर जब रात आती है तो कोई संदेह तुम को नहीं होता कि रस्सी है या साँप है। दीख तो उस समय में भी साँप जायेगा, परंतु चूंकि तुम निश्चय कर चुके हो कि रस्सी है, इसलिये साँप दीखने पर भी सचमुच में साँप नहीं है यह प्रतीति बनी रहती है। संशय-विप्रतिपत्ति से रहित ज्ञानाग्नि समिद्ध होती है। विप्रतिपत्ति अर्थात् विरुद्ध प्रतीति। संशय का कारण विरुद्ध प्रतीति का होना है। जब संशय मिट जाता है तो *विरुद्ध* प्रतीति होती नहीं अर्थात् प्रतीति होने पर भी वह विरोध का आपादन नहीं करती, विरोध की प्राप्ति नहीं कराती। ऐसी जो दीप्त ज्ञानाग्नि है, वह सारे कर्मों को भस्म कर देती है अर्थात् वे कर्म निर्बीज हो जाते हैं, आगे कुछ उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहते हैं।

आग का दृष्टान्त समझाने के लिये है, साक्षात् तो ज्ञानाग्नि कर्म को जलाती नहीं। ज्ञानाग्नि के रहते भी कर्म की प्रतीति तो वैसे ही होती है जैसे अज्ञान रहते। भात-दाल आया, भात-दाल को हम वैसे ही मिला कर खायेंगे जैसे अभी खाते हैं। ऐसा नहीं है कि ज्ञानी के सामने दाल-भात आता न होवे या वह उसको खाता न हो! परंतु उसको खाते हुए भी यह निश्चय है कि 'मेरा रूप खाने वाला नहीं है, मेरा रूप सच्चिदानंद है।' अतः उस भोजन से उसका कोई कर्म निष्पन्न नहीं होता। अगर अच्छी चीज़ खाने में आ गई, भगवान् का भोग खाने में आ गया, तो उसको कोई पुण्य नहीं होता, कोई ग़लत चीज़ आ गई, किसी मुसलमान के द्वारा छुआ हुआ भात आ गया, तो उसको खा कर दोष की प्राप्ति नहीं होती, पाप की प्राप्ति नहीं होती। दाल-भात को खाने की प्रतीति तो है पर 'मैं अत्ता हूँ, खाने वाला हूँ'ऐसा निश्चय अभिमान, न होने से उसको उसके द्वारा आगे पुण्य-पाप की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार सारे कर्म निर्बीज हो जाते हैं, यह इसका तात्पर्य है, यह नहीं कि कर्म की प्रतीति नहीं होती। दृष्टान्त में तो ईंधन भस्म हो गया तो उस ईंधन की, लकड़ी की, प्रतीति भी नहीं होती। ऐसे सारे कर्म जल जाते हैं तो कर्म की प्रतीति नहीं होतीयह तात्पर्य नहीं है वरन् प्रतीति होने पर भी बाध हो जाता है।

जिन कर्मों से शरीर प्रारम्भ हुआ है, वे कर्म तो प्रतीत होते रहेंगे, क्योंकि वे प्रवृत्त-फल हैं, फल देने में प्रवृत्त हो चुके हैं। ईश्वर का संकल्प है अतः प्रारब्ध कर्मों का तो उपभोग से ही क्षय होता है। ज्ञान के बाद जो कर्म कर रहा है उनका तो बाध होता चला जाता है, इसलिये वे फल नहीं दे सकते। जो कर्म फल देने में प्रवृत्त नहीं हुऐ हैं, अर्थात् प्रारब्ध कर्म से अतिरिक्त जो संचित कर्म हैं, वे सारे नष्ट हो जाते हैं क्योंकि अज्ञान स्वरूप से नष्ट हो जाता है और वे कर्म अज्ञान के स्वरूप में स्थित थे अतः वे भी स्वरूप से नष्ट हो जाते हैं, आगे फल देने को सामने नहीं आयेंगे। ज्ञानाग्नि जलाती तो सब कर्मों को है क्योंकि यहाँ भगवान् ने कहा 'सर्वकर्माणि,' लेकिन जो कर्म किये जा रहे हैं उनके भस्म

होने का मतलब है जैसे आग से चना भून देते हैं तो भुना हुआ चना आगे पौधे को उत्पन्न नहीं कर सकता, इसी प्रकार वे कर्म कोई भावी फल नहीं दे सकते। स्वरूप से तो भुने चने की तरह दीखते रहेंगे। जो संचित कर्म हैं, अतीत अनेक जन्मों के अंदर किये हुए जो कर्म हैं, वे सारे स्वरूप से ही भस्म हो जाते हैं। और प्रारब्ध कर्म बाधित हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को जलाती है इसमें तो संदेह नहीं, पर संचित कर्मों को भस्म की तरह कर देती है अर्थात् वे तो आगे प्रतीत ही नहीं होंगे; प्रारब्ध कर्म प्रतीत तो होंगे परंतु बाधित होते रहने से वे सत्य हैं ऐसा नहीं लगेगा, तथा क्रियमाण आगे फल को उत्पन्न नहीं करेंगे। साधारण आदमी प्रारब्ध का भोग करते हुए जो कर्म करता है उनमें अभिमान कि 'यह मैंने किया, मैं इसका कर्ता', रखता है। उस अभिमान के कारण वह प्रारब्ध का भोग करते हुए ही नये कर्म को उत्पन्न करता रहता है, पुण्य-पाप को उत्पन्न करता रहता है जिससे संसार चक्र चलता रहता है। ज्ञानी को अभिमान होता नहीं। इसलिये भगवान् ने जो 'सर्वकर्माणि' कहा है वह तो बिल्कुल ठीक है। भस्मसात् का अर्थ समझ लेना चाहिये कि कहीं निर्बीज कर देता है और कहीं सर्वथा भस्म कर देता है।।३७।।

ज्ञान क्योंकि सारे पुण्य-पाप कर्मों को नष्ट करने में समर्थ है, ऐसी उसकी महिमा है, अतः उसे परम पवित्र बताते हैं

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

समस्त व्यवहार-भूमि में ज्ञान जैसा शुद्धिकारक कुछ नहीं है। दीर्घ काल तक अभ्यस्त कर्मयोग व समाधियोग से स्वयं योग्य बना मुमुक्षु उस ज्ञान को खुद में ही प्राप्त करता है।

'इह' अर्थात् इस सारे संसार में ज्ञान के जैसा 'पवित्रम्' अर्थात् शुद्धि करने वाला और कुछ नहीं है। और कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो ज्ञान के जैसी पवित्रता ला सके। सारे पुण्य-पापों को नष्ट करने की सामर्थ्य वाला कोई कर्म नहीं हो सकता। कर्म जो भी होता है वह अभिमान के सहित होता है; 'मैंने किया' यह अभिमान होगा, तभी वह कर्म आगे फल देगा। करने वाले शरीर से लेकर के 'अहम्' तक, अन्तःकरण की जो अहमाकार वृत्ति है उस 'मैं' तक की जितनी चीज़ें हैं, वे ही कर्म करती हैं। जब तक अज्ञान के द्वारा उनको तुम अपना स्वरूप न समझ लो तब तक कर्म नहीं होता। अज्ञान से ही लगता है 'मैं हूँ', यहाँ मैं अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति।

'मैं' को ज़रा समझना पड़ता है। मैं शब्द का प्रयोग हम दोनों चीज़ों के लिये करते हैं, आत्मा के लिये भी करते हैं और चेतन के लिये भी करते हैं। जब दो चीजें एक शब्द का अर्थ होती हैं तब समझने में भूल होती रहती है। 'अहम्-प्रत्यय' अर्थात् अहंकार के अंदर चेतन का प्रतिबिम्ब हमेशा ही पड़ेगा। चेतन सर्वव्यापक है और अहंकार वृत्ति में शक्ति है, सामर्थ्य है कि चेतन को प्रतिबिम्बित कर दे। अतः कहीं पर भी अहम् वृत्ति नहीं मिलेगी

जिसके अंदर चेतन का प्रतिबिम्ब न पड़े। चेतन के प्रतिबिम्ब से युक्त ही अहंकार को हम जानते हैं। और चेतन को तो हम जानते ही हैं। 'मैं चेतन' इससे अतिरिक्त और तो कहीं चेतन का अनुभव होता नहीं। दूसरा कोई चेतन है या नहीं, यह अनुमान से ही पता लगता है। कैसा भी बढ़िया से बढ़िया डॉक्टर हो, आदमी मरा है या नहीं, इसके लिये नाडी की गति देखता है, फेफड़े की गति देखता है, आँख को देखता है। इनको देखकर अनुमान करता है कि ज़िन्दा है या मरा हुआ। 'मैं चेतन' में ऐसा संदेह कभी नहीं होता कि ज़िन्दा हूँ या नहीं! मैं के सिवाय और कहीं चेतन दीखता नहीं। जब 'मैं' दीखता है तब 'मैं चेतन' दीखता है और जब चेतन दीखता है तब भी 'मैं चेतन' दीखता है। इसलिये 'मैं' से 'चेतन' अलग हूँयह पता ही नहीं लगता।

केवल एक स्थल ऐसा है जो भगवान् ने बड़ी दया करके हमको दे दिया, जहाँ पता लगता है : वह है तुम्हारी सुषुप्ति, गहरी नींद। दो तरह से तुम मैं शब्द का प्रयोग करते होक्या कर रहे थे? 'मैं तो गहरी नींद में सो रहा था।' इसका मतलब है कि एक 'मैं' है जो सो रहा था। फिर अगर पूछें 'कैसे सो रहे थे?' तो कहते हो 'मुझे कुछ पता नहीं।' अतः एक 'मैं' वह हुआ जिसको पता नहीं और दूसरा 'मैं' वह है जिसको पता है कि सो रहा था! एक पता वाला हुआ, दूसरा बिना पता वाला हुआ। पता मायने जानना। सुषुप्ति के अनुभव से यह विचार आता है कि क्या सचमुच में मैं चेतन एक है या दो हैं? सुषुप्ति का विश्लेषण करके श्रुति के प्रमाण से ज्ञान होता है कि चेतन वास्तविक रूप है और मैं वृत्तिरूप है। मन है तब 'मैं' ऐसी प्रतीति होती है, मन नहीं है तो 'मैं' प्रतीति नहीं होती। चेतन फिर भी रहता है।

अज्ञान के रहते कभी भी तुम्हारी पूर्ण शुद्धि नहीं हो सकती क्योंकि अज्ञान जब रहेगा तब शरीर से लेकर अहंकार पर्यंत कहीं-न-कहीं अभिमान रहेगा, अतः इनकी क्रियाओं से तुम पुण्य-पाप के भागी बनते रहोगे। कितनी भी तुमने शुद्धि कर ली, अज्ञान के रहते हुए वह शुद्धि नित्य निरंतर नहीं रह सकती। अनन्त जन्मों में जो कर्म किये हैं उन सारों का प्रायश्चित्त करके सारे पापरूप कर्म हट जायें और केवल पुण्यरूप रह जायें, यह भी संभव नहीं। अर्थात् यदि कहें कि खाली पुण्य होवे तब पवित्र मान लिया जाये, और ऐसा मान भी लेवें, तब भी यह संभव नहीं है। वस्तुतः तो पवित्र करने वाली, शुद्ध करने वाली, कोई चीज़ ऐसी नहीं है, जो अज्ञानरूपी अशुद्धि को हटा सके। ज्ञान, अज्ञान को हटाता है। अतः अज्ञान-मूलक जितनी अशुद्धि है, वह भी ज्ञान से ही हट जाती है। यह दूसरी बात है कि ज्ञान साक्षात् अज्ञान को हटाता है और अज्ञान के हटाने से अज्ञान-मूलक जितनी अशुद्धि है वह भी हट जाती है। इसे चुम्बक से समझ सकते हैंः चुम्बक से कील चिपका दो, उस कील से पिन चिपका दो, उस पिन से सुई चिपका दो, यों अनेक चीज़ें चिपक जाती हैं पर जैसे ही कील से चुम्बक का संबंध हट जाता है वैसे ही पिन, सुई आदि का संबंध स्वतः हट जाता है, उसे हटाने के लिये कोई पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ता। अथवा

जब पति-पत्नी में तलाक हो जाता है तब समधियों का आपसी रिश्ता स्वयं टूट जाता है, कोई अलग से कार्यवाही नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार से शरीर से लेकर अहंकार-पर्यन्त जो कुछ क्रियायें हुई हैं उनके साथ हमारा सम्पर्क अज्ञान के द्वारा है। ज्ञान ने अज्ञान को नष्ट किया तो बाकी सब कर्मों के साथ अलग-अलग संबंध-विच्छेद नहीं करना पड़ता। ज्ञान अज्ञान को ही नष्ट करता है, परंतु चूंकि अज्ञान से ही सारे दूसरे कर्म संबंधित हुऐ हैं अतः उन सबसे चेतन दूर हो जाता है। पुण्य-पाप सारे हट जाते हैं। अतः ज्ञान के जैसा पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है।

यह ज्ञान कैसे होवे? 'योगसंसिद्धः', नित्य नैमित्तिक कर्मों से लेकर, साथ ही सत्य अहिंसा इत्यादि सदाचार से लेकर, मनन निदिध्यासन सहित श्रवण पर्यंत जितने कर्म हैं, वे सारे योग हैं। वे सारे करने ही पड़ेंगे। इन सब के अनुष्ठान से मुमुक्षु संसिद्ध अर्थात् संस्कार वाला, योग्यता वाला बनता है। 'कालेन'; यह योग-संसिद्धि एक-दो दिनों की बात नहीं है! चाहो कि यह जल्दी हो जाय, तो नहीं हो सकती! विद्यारण्य स्वामी ने दृष्टान्त दिया है कि जैसे लड़की का गर्भ नौ महीने दस दिन में ही पकेगा; कोई कहे 'अरे, इस लड़के का दादा मरने वाला है इसलिये झट से बच्चा पैदा हो जाये, चार महीने में ही पैदा हो जाये ताकि वह मुँह देख कर चला जाय', तो कुछ पैदा नहीं हो सकता! इसी प्रकार से खेत में बीज बो दिया, कोई बीज चार महीने में पकता है, कोई चार साल में पकता है। इसमें जल्दबाजी काम नहीं करेगी। इसी तरह ज्ञानयोग्यता के साधनों का अभ्यास लंबा समय लेता है।

यह योग-संसिद्धि अपने आप में ही प्राप्त होती है। इसको किसी दूसरे के प्रमाण पत्र की ज़रूरत नहीं है। ज्ञान हो गयायह किसी प्रमाण-पत्र से निश्चित नहीं होता, अपने अंदर जैसे भूख, प्यास, हाजत आदि का खुद को ही पता लगता है, अन्य पर निर्भर नहीं रहना पड़ता बल्कि अन्यों को पता चल भी नहीं सकता, ऐसे ज्ञान का खुद को ही पता लग जाता है। जैसे भूख प्यास इत्यादि अपने में ही आदमी जानता है, वैसे ही आत्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान खुद ही जानता है।

योगसंसिद्धि की साधना भी स्वयं, खुद ही करनी पड़ती है। जैसे बहुत-से अनुष्ठान ब्राह्मणों से करा लेते हैं, फायदा हमको हो जाता है, ऐसे ही किसी अच्छे ब्राह्मण का वरण कर लेवें, वह सत्य-वदन से लेकर श्रवण मनन पर्यन्त सब साधन कर लेवे और उसके बाद हमारे हाथ में फल दे देवेयह नहीं हो सकता। जैसे तुम्हारे बाकी काम तो दूसरा कर सकता है लेकिन तुम किसी से कहो कि 'मेरे बदले पानी पी लो।' और प्यास तुम्हारी बुझ जाये यह नहीं हो सकता! दूसरा व्यक्ति भोजन बना कर तुम्हारे लिये तैयार कर सकता है, थाली में परोस के ला सकता है। ये सब तो कर सकता है, पर अंत में गले के नीचे तो तुम्हीं को उतारना पड़ेगा, तब भूख मिटेगी। इसी प्रकार से, श्रवण कैसे किया जाययह कोई समझा सकता है, सब अंगों का निदर्शन कर सकता है, सारी सामग्री तुम्हारे सामने

सजा कर ला सकता है, परंतु आगे विचार तो तुम्हें खुद ही करना पड़ेगा। इसलिये भगवान् ने कहा 'स्वयं योगसंसिद्धः', खुद ही योग-संसिद्धि को प्राप्त करना होगा और वह भी बहुत काल से, बहुत देर से सिद्ध होती है। जब खुद ही इसको प्राप्त करता है तब ज्ञान को 'विन्दति', प्राप्त कर लेता है।।३८।।

इस योग मार्ग में सबसे बड़ी बाधा क्या है और सर्वाधिक आवश्यक क्या है जिसके बिना ज्ञान-प्राप्ति हो नहीं सकती, यह बताते हैं

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। ३९।।

श्रद्धालु, ज्ञानोपायों में तत्पर और जितेन्द्रिय साधक, ज्ञान पाकर शीघ्र ही चरम शान्ति प्राप्त कर लेता है।

ज्ञान-प्राप्ति का सबसे प्रधान साधन है श्रद्धा, अत्यन्त विश्वास। वेदांत और गुरु के ऊपर अत्यंत विश्वास चाहिये। श्रद्धा के बिना पहले तो इस योग मार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं होती। सामान्यतः मनुष्य अपने पूर्वानुभवों का विश्वास करके, किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करता है। हमने भात खाया था तो भूख मिटी थी। इसलिये भूख मिटाने के लिये हम चावल को चूल्हे पर चढ़ाते हैं कि इससे बना हुआ भात हमारी भूख मिटायेगा। पूर्वानुभव के ऊपर विश्वास है इसीलिये प्रवृत्ति करते हैं। पूर्वानुभव के ऊपर विश्वास स्वभावतः होता है। परमात्मा ऐसा है जिसका पहले कभी अनुभव हुआ नहीं। अतः पूर्वानुभव तो उसकी ओर प्रवृत्ति का कारण होता नहीं। शास्त्र ही बतलाता है कि परमात्मा है। शास्त्र के आधार पर गुरु भी बताता है, परंतु गुरु भी मूल शास्त्र को ही कहता है। परमात्मा का जैसा निरूपण किया जाता है वैसा कुछ हमें अनुभव में नहीं आया है।

परमात्मा कैसा है? सत्-रूप है। सत् अर्थात् है। हमें किसी चीज़ के 'है' का अनुभव तो हैघड़ा है, कपड़ा है, ऐसा अनुभव तो है; पर बिना किसी चीज़ के केवल है का अनुभव नहीं है। केवल है हो सकता है, यह बता भी जँचती नहीं। 'है' सुनते ही तुरंत प्रश्न होता है, क्या है? यदि बतला देवें कि परमात्मा शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करने वाला है, परमात्मा चंद्रकला को धारण करने वाला है आदि, तब तो समझ में आता है, कि वह क्या है; परंतु केवल है समझ में ही नहीं आता, क्योंकि केवल है कभी विषय नहीं होता। इसी प्रकार परमात्मा चिद्-रूप है, ज्ञान-रूप है। हमको घड़े का ज्ञान, कपड़े का ज्ञान, किसी चीज़ का ज्ञान तो है, परंतु केवल ज्ञानमात्र का हमें अनुभव है नहीं। अतः बिना किसी चीज़ के ज्ञान के केवल ज्ञानमात्र हो सकता है, यह भी समझ में आता नहीं। परमात्मा आनंद रूप है। रसगुल्ले का आनंद मलाई का आनंदये तो समझ में आते हैं पर किसी चीज का आनंद न हो, केवल आंनद हो, यह कभी अनुभव में आता नहीं। परमात्मा का सच्चिदानंद रूप कहा जाता हैवह *कुछ* नहीं है, खाली है, किसी *चीज़ का* ज्ञान नहीं,

खाली ज्ञान है, किसी *चीज का* आनंद नहीं है, खाली आनंद है। यह सुनकर कुछ भी हमें अर्थग्रह होता नहीं, समझ में आता नहीं, क्योंकि ऐसे केवल सत्, ज्ञान, आनन्द का पूर्वानुभव नहीं। पूर्वानुभवों के जैसा भी वर्णन हो तो कुछ समझ आता है। चार हाथों वाले विष्णु को हमने नहीं देखा। दो हाथ के लोगों को ही देखा है, फिर भी चार हाथ के भगवान् समझ आ जाते हैं, परंतु केवल है समझ में नहीं आता। ऐसा सच्चिदानंद है यह केवल शास्त्र के वचन से ही स्वीकार करके हमारी प्रवृत्ति होगी। अतः इस पर अत्यन्त विश्वास करना पड़ेगा।

पहले तो परमात्मा में, परमात्मा की तरफ जाने में, प्रवृत्ति ही नहीं बनती श्रद्धा के बिना। परमात्मा ऐसा हैइस विषय में सिवाय उपनिषद् के और कोई प्रमाण है नहीं। यह बात सारे ही योग के बारे में समझ लेना। नित्य-नैमित्तिक कर्म से लेकर, योगाभ्यास से लेकर के श्रवण पर्यन्त यही बात है। इतने लम्बे समय तक हमें केवल शास्त्र के वचनों पर विश्वास करके चलना है। कर्म से अंतःकरण शुद्ध होता है, यह बात ही पहले समझ नहीं आती। 'सर्फ' से कपड़ा शुद्ध होता हैयह तो समझ में आ जाता है। परंतु नित्य नैमित्तिक कर्म से अंतःकरण शुद्ध होता है, यह समझ में नहीं आता। इसके ऊपर केवल अत्यंत विश्वास करके चलना पड़ता है। वहाँ से लेकर, उपनिषदों का किसमें तात्पर्य है और जिसमें उपनिषदों का तात्पर्य है वही सचमुच में हैयहाँ तक श्रद्धा रखनी पड़ती है। शास्त्र की विरोधी युक्तियों के द्वारा जो बात कही जा रही है वह तो हमारे अनुभव से मिलती है। उन युक्तियों का विरोध करने वाली जो शास्त्रीय युक्तियाँ हैं वे अनुभव से न मिलने पर भी वे ही युक्तियाँ ठीक हैंयह हमें श्रद्धा से ही स्वीकारना पड़ता है। अंत में जब जाकर ब्रह्माकार वृत्तिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है तब पता लगता है कि जो शास्त्र ने कहा, सचमुच में वही है। पता तो लगता है मन से, अंतःकरण से, ब्रह्माकार वृत्ति से, पर मन से पता लगे दूसरे सारे सांसारिक पदार्थ सच्चे नहीं हैं और इस वृत्ति के अंदर जो प्रकाश हुआ वही सत्य हैयह दृढ श्रद्धा से ही निश्चय होता है।

यद्यपि यह ठीक है, कि कर्म भी श्रद्धा-मूलक है, लेकिन जो फल उससे होना है, वह हमारे अनुभवों से कुछ मिलता-जुलता है। अतः वहाँ विश्वास की ज़रूरत तो है परंतु *अत्यंत* विश्वास ही एकमात्र कारण नहीं, अनुभव से कुछ मिलने-जुलने वाली बात भी कारण हो जाती है। चूंकि ज्ञान-मार्ग में ऐसा नहीं है अतः यहाँ पर तो जो श्रद्धालु है उसी को ज्ञान की प्राप्ति होती है। और इसीलिये आत्मज्ञान के लिये गुरु की इतनी ज़्यादा आवश्यकता है। कर्म-मार्ग में भी गुरु की आवश्यकता है। परंतु यहाँ पदे-पदे संदेह आता है और गुरु ही बार-बार कहता है कि 'यही ठीक है, मेरे द्वारा अनुभूत है। मैंने इसका अनुभव किया है।' शास्त्र के ऊपर श्रद्धा के साथ गुरु पर श्रद्धा करना आवश्यकता होता है क्योंकि शास्त्र के भिन्न तात्पर्यों का वर्णन करने वाली अनेक संभावनायें सामने आती हैं। जिस विषय में विचार कर रहे हैं उस विषय में वैसा ही निर्णय हैयह केवल जो

अनुभव किया हुआ है वही कह सकता है। गुरु और वेदांतवाक्य, दोनों के ऊपर अत्यंत विश्वास की ज़रूरत है। इसलिये बिना श्रद्धा के ज्ञान होता नहीं। श्रद्धा एक प्रकार से प्रीति का ही रूप है, प्रेम का ही रूप है। इसलिये गुरु से जब अत्यंत प्रेम होता है तभी श्रद्धा बनती है। गुरु जिन शब्दों का प्रयोग करेगा वे शब्द भी वस्तुतः बतलाने वाले नहीं होंगे! पर जो अत्यंत प्रेम है, वही उसकी कही हुई बात को समझा पाता है।

बहुत-से श्रद्धालु तो होते हैं, गुरु में, शास्त्र में उनको प्रेम तो अथाह है, पर उस प्रेम को व्यवहार में नहीं ला पाते। इसलिये कहा 'तत्परः'। गुरु की उपासना, सेवा, और कहे हुए वाक्यों का बार-बार विचार करना, इसमें लगा रहने वाला ही ज्ञान पायेगा। गुरु ने जो कहा है उसमें तत्पर होना पड़ेगा। 'गुरु जी ने कहा, बहुत ऊँची बात है। हम कहाँ वहाँ पहुँच सकते हैं!'ऐसा समझने वाले लोगों में श्रद्धा तो है, पर वे अपने जीवन से उसका संबंध नहीं बना पाते, इसलिये गुरु जिस उपदेश को देता है उसमें वे तत्पर नहीं हैं। तत्पर क्यों नहीं हो पाते? क्योंकि इद्रियों पर उनका संयम नहीं है। इन्द्रियाँ इतने ज़ोर से खींचती हैं कि विषयों में परायण हो जाते हैं, गुरु की बात में तत्पर नहीं हो पाते। आचार्य शंकर के एक शिष्य थे पद्मपादाचार्य; उनके मन में तीर्थाटन की आ गई। आचार्य ने बहुत समझाया कि गुरु के चरणों को छोड़ कर और कोई तीर्थ काम का है नहीं, परंतु उनके मन में था कि जायेंगे, देश-विदेश देखेंगे, वहाँ के लोगों से मिलेंगे, बहुत चीज़ों का ज्ञान होगा। बहुत मना करने पर भी वे गये। आँखों से देखने का शौक मनुष्य को खींच ले जाता है। कानों से सुनने का शौक भी खींच ले जाता है। जीभ से चखने का शौक ले जाता है। तत्परता न होने में कारण इद्रियों का खींचना है। भगवान् ने पाँच इन्द्रियाँ और मन ऐसे बनाये जो मनुष्य को सब तरफ खींचते हैं अतः आत्मज्ञान में तत्पर नहीं हो पाता।

एक आदमी ने दो ब्याह किये। रोज़ पत्नियों में झगड़ा हो, एक कहे 'मुझे कम समय देते हो', दूसरी कहे 'मुझे कम समय देते हो।' रोज़-रोज़ का झगड़ा मिटाने के लिये, उसने कहा 'मैं काम करके आठ बजे आता हूँ। आठ से बारह तक एक के पास रहूँगा, वहीं भोजन करूँगा। फिर एक बजे दूसरी के पास चला जाऊँगा, चार बजे तक उसके पास रहूँगा। संध्या पूजा पाठ करके, सवेरे का भोजन उसके यहाँ करके, फिर काम पर चला जाऊँगा।' इस प्रकार उसने समय दोनों में बाँट दिया। कुछ दिन तक तो ठीक चलता रहा। एक दिन उसको आने में देरी हो गई, कहीं काम में फँस गया। आने में उसको साढ़े नौ बज गये। नहाया धोया, भोजन किया, थोड़ी देर आराम किया। तब तक बारह-एक का समय हो गया उसने कहा कि 'अब दूसरी पत्नी के पास जाता हूँ।' पहली पत्नी ने कहा 'नहीं जाने दूँगी! तुमने मुझे चार घंटे दिये हैं, उसमें मैं कोई कटौती करने को तैयार नहीं। देरी से आये तो देरी तक रहो।' हल्ला-गुल्ला सुनकर ऊपर वाली भी आ गई। उसने कहा 'समय निश्चित किया जा चुका है। चाहे तुम्हारे यहाँ देरी से आये, एक बजे से मेरा समय हो गया, मैं कोई देरी बरदाश्त नहीं करूँगी।' हाथ पकड़ कर वह उसे ऊपर खींचने लगी

तो दूसरी ने पैर पकड़ लिये, नीचे खींचने लगी। बेचारा दिनभर काम करके आया था, बोला 'अरे! तुम लोग कुछ तालमेल बैठा लो, मेरी यह हालत नहीं बनाओ।' ऊपर वाली कहे, 'नीचे वाली को मनाओ।' नीचे वाली कहे 'ऊपर वाली को समझाओ।' इस खींचतान में वह बड़ा दुखी हो रहा था। हल्ला-गुल्ला हो गया तो अड़ौसी-पड़ौसी भी आ गये। आकर देखा तो वहाँ सीढ़ी के नीचे एक आदमी छिपा था, उससे पूछा 'कौन हो? पकड़ा ही गया तो कहने लगी 'जी, मैं चोर हूँ, चोरी करने आया था। मैंने सोचा था ये सो जायें तो मैं चोरी करूँ। किन्तु इनमें झगड़ा शुरू हो गया अतः मैं कुछ नहीं कर पाया।' लोगों ने उसे थाने में दे दिया। थानेदार ने जब सारी बात सुनी तो कहा 'तेरे को तो दंड मिलेगा।' उसने कहा 'और कुछ भी दंड दीजियेगा, दो औरतों का आदमी बनने का दंड मत दे दीजियेगा!'

विचार करो, दो औरतें यदि मनुष्य की यह हालत बना सकती हैं तो तुम्हारी पाँच इद्रियाँ और छठा मनये सब मिलकर तुम्हारी क्या हालत बना रहे हैं! ऐसी स्थिति में ज्ञान के लिये तत्पर कैसे हो? विषयों की तरफ जीव स्वभावतः परायण हो जाता है, जिस मार्ग को गुरु बतलाते हैं उसके अंदर तत्पर नहीं हो पाता। इसलिये भगवान् ने कहा 'संयतेन्द्रियः।' जिसने अपनी इद्रियों पर संयम कर लिया है अर्थात् इद्रियों को जीत लिया है, इद्रियों के पीछे नहीं जाता, वही ज्ञान में परायण हो सकता है। इद्रियों को जीतने का मतलब है, विषयों से उनको निवृत्त कर देना। दीर्घ काल तक जब विचार करके विषयों में दोष-दर्शन करते हो, उनकी दुःखरूपता पूरी तरह से जम जाती है कि जितने विषय हैं वे सारे-के-सारे दुःख ही देने वाले हैं, तब इद्रियों का विषयों की तरफ जाना जीता जा सकता है। सबसे बड़ी कठिनाई इनको जीतने में यह है कि ज़िन्दा हो, तब तक इद्रियों से विषय ग्रहण किये बिना काम चलता नहीं। इद्रियों से काम तो लेना ही पड़ता है। विषयों के साथ जो इद्रियों का संबंध है, संम्पर्क है उसको बचा नहीं सकते। परंतु यदि इद्रियों के सम्पर्क के समय विषयों की दुःखरूपता का ध्यान रहेगा तो विषयों की आकर्षण-शक्ति क्षीण हो जायेगी। चाहे महाराज हो पर यदि शत्रु के हाथों सर्वथा हार जाये तो एक गाँव की ठकुराई पाकर भी संतोष कर जाता है। जीतते समय तो वह पृथ्वी के राज्य से भी संतुष्ट नहीं होता, आसमान-तारों को फतह करना चाहता है! ऐसे ही अभी हम विषयों को अधिक-से-अधिक प्राप्त करना चाहते हैं। जब विचारपूर्वक उनकी दुःखरूपता स्पष्ट समझ जाते हैं तब मानो उनसे हार चुकते हैं। तब प्रारब्ध के फलस्वरूप जो कुछ थोड़ा-बहुत मिलता है, उसी में संतोष कर लेंगे। 'अमुक विषय मिले, वह हो जाये तो अच्छा है' इत्यादि विषयाकर्षण से हम परेशान नहीं होंगे। अनिवार्य विषय-व्यवहार से संतोष कर बहिर्मुखता छोड़कर ज्ञान में तत्पर हो सकेंगे। इस प्रकार श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रिय संयम, तीनों अपना कर जब प्रयास करते हैं तब अवश्य ज्ञान मिलता है। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है 'य एवम्भूतः श्रद्धावान्, तत्परः, संयतेन्द्रियश्च, सोऽवश्यं ज्ञानं लभते।'

श्रद्धा के ऊपर इतना ज़ोर देने का कारण है कि बाकी जो साधन पहले बतलाये थेगुरु को नमस्कार करना, गुरु की सेवा करना, वे सब कपटी मनुष्य भी कर लेता है! बाहर से दीखता है कि बहुत सेवा करने वाला है, परंतु उसकी गुरु या गुरु के वाक्य में, वेदांत-वाक्यों के अंदर श्रद्धा नहीं होती है। गुरु जी से कोई काम कराना है, बस उस के लिये उसकी भावना रहती है। अन्य साधन तो कपट के द्वारा भी हो जाते हैं परंतु श्रद्धा तो आंतरिक भावना है, वह कपट के द्वारा नहीं हो सकती। दूसरे को लग सकता है कि इस मनुष्य का बड़ा प्रेम है। परंतु उसे स्वयं तो पता है कि गुरु से प्रेम नहीं है, गुरु से मिलने वाली किसी और चीज़ से प्रेम है। अतः श्रद्धा का इतना महत्त्व कहा। तत्परायणता, संयतेन्द्रियता, और श्रद्धाये निश्चित ही ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं।

ज्ञान को प्राप्त करने से शीघ्र ही परम शांति प्राप्त होती है। शांति तो सुषुप्ति में भी मिलती है। थक कर बिस्तरे में लेटना मिल जाये, तब भी शांति होती है। लेकिन वह 'परशांति' नहीं है, ऐसी शांति नहीं है कि उसके बाद विक्षेप आवे ही नहीं। परा शांति ही मोक्ष का रूप है। मुक्त को कभी किसी चीज़ का विक्षेप नहीं होता। श्रुति कहती है कि न उसके मन में होता है कि यह पाप क्यों हो गया, न उसके मन में होता है कि यह पुण्य क्यों नहीं हुआ। शांति का स्वरूप हमेशा बना रहता है। परमशांति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् हर क्षण विक्षेप-रहित ही रहता है। फिर मन के विक्षिप्त होने से 'मैं विक्षिप्त हूँ' ऐसा अनुभव उसको नहीं होता। मन के विक्षिप्त होने पर भी *वह* शांति में ही रहता है। सम्यक् ज्ञान से परा शांतिरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।३९।।

भगवान् कहते हैं कि श्रद्धा का विरोधी है संशय, अतः वह कभी नहीं करना चाहिये

अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयालुये विनष्ट होते हैं। संशयालु का न यह लोक बनता है, न परलोक अर्जित होता है और न सुख ही होता है।

'संशयात्मा' जिसको शास्त्र में और गुरु में संशय है कि पता नहीं ये ठीक हैं या नहीं हैं। आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिसका संशयशील है वह संशयात्मा है। संशय का मतलब है दो विरुद्ध कोटियों वाला ज्ञानऐसा है या ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं हैयह निश्चय होता, तब तो उसको हो जाती गुरु से विरति, शास्त्र से विरति। संसार में अनेक लोग हैं जिनको शास्त्र के बारे में पहले ही निश्चय है कि शास्त्रोक्त सब कुछ सत्य नहीं है। संशय ऐसी चीज़ है जो एक क्षण श्रद्धावाला बनाती है, अगले क्षण बिना श्रद्धावाला बना देती है जिसको 'डाँवाडोल' कहते हैं। संशयात्मा, संशयग्रस्त जिसका अंतःकरण है, वह सर्वथा निकृष्ट है। संशय का कारण कुछ अपने पहले के कर्म भी होते हैं, और अनेक विरुद्ध

बातों को सुनना भी होता है। जितनी विरुद्ध बातें होंगी वे सारी कुछ-न-कुछ युक्ति लिये हुए होंगी, अतः जैसे ही श्रद्धावाली चीज़ अंतःकरण में आयेगी वैसे ही उसके विरुद्ध जो संस्कार हैं वे जग जायेंगे। अतः हितोपाय के अनुष्ठान में लग न पाने से 'संशयात्मा विनश्यति', संशय-स्वभाव के अंतःकरण वाला सर्वथा नष्ट होता है।

अज्ञ अर्थात् जिसको अभी सच्चिदानन्द परमात्मा का ज्ञान नहीं हुआ है। चाहे जितने शास्त्रों को पढ़ लो, जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ, तब तक वेदांती अज्ञानी ही मानता है क्योंकि मूलाज्ञान बैठा हुआ है। वह अज्ञान जब तक दूर नहीं होता तब तक बाकी सारे तूलाऽज्ञानों का बीज मौजूद है। चूंकि परमात्मतत्त्व का उसको पता नहीं, अज्ञानी है, इसलिये शास्त्र पर श्रद्धा करनी आवश्यक है। और वही श्रद्धा वह करता नहीं। स्वयं वह आत्मज्ञान से रहित है और आत्मज्ञान का जो स्रोत है उस शास्त्र के ऊपर उसको श्रद्धा नहीं। जैसे जो व्यक्ति खुद अंधा है इसलिये वह तो रूप को जान नहीं सकता, और आँख वालों पर वह भरोसा करे नहीं, तो उसे रूप का कोई ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे शास्त्र पर श्रद्धा किये बिना परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। अंधा रास्ते पर चल रहा है, कोई आँख वाला उससे कहता है, 'सड़क यहाँ ख़त्म हो जाती है। यहाँ से वापिस लौटो।' अन्धे को तो सामने की दीवार दीखती नहीं, उसे संशय हो जाये कि 'मुझे लौट जाने को कहता है। पता नहीं इसके भी आँख है या नहीं है, इसको भी दीखता है या नहीं?' तो वह दीवार से भिड़ेगा ही! यदि उसको अपने को दीवार से भिड़ने से बचाना है तो श्रद्धा करनी पड़ेगी कि आँख वाला आदमी ठीक कह रहा है। वह आँख वाला है कि नहींयह उसको पता तो लग नहीं सकता, क्योंकि खुद ही आँख वाला नहीं है। यदि वह दूसरे की बात पर श्रद्धा नहीं करता है तो दीवार से भिड़ना ही है। इसी प्रकार जिसको परमात्मा के विषय में बतलाने वाले जो शास्त्र और गुरु हैं उनके ऊपर श्रद्धा है नहीं, वह संशयग्रस्त अन्तःकरण वाला संशयात्मा होता है और नष्ट हो जाता है।

संशयालु से तो अज्ञानी ही अच्छा है! संशयी अज्ञानी की अपेक्षा अधिक नष्ट होने वाला है, गया बीता है। क्यों? क्योंकि एक क्षण उसको लगता है कि 'शास्त्र ठीक होगा, गुरु भी ठीक होंगे। अगर संसार भोग लिया तो आगे दुःख भोगना पड़ सकता है।' इसलिये सांसारिक सुख को, लौकिक सुख को लेते समय, संशयात्मा को सचमुच में सुख आता नहीं। और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पता नहीं होने से शास्त्र जिस अन्य लोक की एवं परमात्म तत्त्व की बात करता है, वे हैंयह भी जँचता नहीं। अतः वह परलोक का साधन करने जाता है तो सोचता है 'अरे! यह लोक तो छूट जायेगा और परलोक का पता नहीं, है या नहीं है!' इसलिये उसमें भी परायण नहीं हो पाता। इस प्रकार परलोक के बारे में संशयी होने से न ऐहिक प्रगति कर पाता है, न परलोक के साधन कर पाता है। जो केवल अज्ञानी है, वह कम-से-कम इह लोक के सुख तो ले लेता है, परलोक के सुख से दूर रह जाता है। लेकिन संशयी के तो दोनों सुख हाथ से निकल जाते हैं। इसलिये कहा कि संशयात्मा को

सुख नहीं मिलता। इसलिये संशयात्मा को 'विनश्यति' विनष्ट होने वाला कहा।।४०।।

संशयनिवृत्ति का उपाय बताते हुए भगवान् अध्याय का उपसंहार करते हैं

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।।४१।।

हे धनंजय! जिसने ज्ञान से संशय काट डाले अतः परमार्थज्ञानरूप योग से सारे कर्म छोड़ दिये, उस अप्रमादी को कर्म बाँधते नहीं।

परमार्थ-दर्शन रूपी जो योग है उसके सिद्ध हो जाने से कर्म का संन्यास हो जाता है क्यों कि जब मैं कर्त्ता नहीं तो कर्म हो ही नहीं सकता। परमार्थ-दर्शन रूपी ज्ञान से जो सारे कर्मों से अलग अपने अकर्ता-अभोक्ता रूप में स्थित हो जाता है वह परमार्थ दर्शन से संशयरहित भी हो ही जाता है। जिस प्रकार से अंधे आदमी को किसी मुर्दे की आँख लगाकर आँखवाला बना दिया जाता है तो उसको दीख जाता है कि यहाँ गड्ढा है, उसी प्रकार जब परमार्थ-दर्शन हो जाता है तब यह संसार सर्वथा मायिक और बाधित है यह स्पष्ट हो जाता है, फिर संशय नहीं रहता। श्रद्धा की ज़रूरत तभी तक है जब तक परमात्मा का दृढ ज्ञान नहीं हो गया। जब उस ज्ञान को प्राप्त कर लिया तब फिर श्रद्धा की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसा जो आत्मवान् सर्वथा अप्रमादी है, वह जब देखता भी है, जब उसे प्रतीति होती है महाभूतों के द्वारा उत्पन्न इन्द्रिय-देहादि की, तब महाभूतों से उत्पन्न विषयों की तरफ प्रवृत्ति और निवृत्ति को देखते हुए भी वह हमेशा सावधान बना रहता है, क्योंकि हमेशा अपने स्वरूप में स्थित ही रहता है। ऐसा जो परमात्म-दर्शन में अप्रमादी है उसको प्रतीत होने वाले जो देह-इन्द्रियादि के कर्म हैं, वे किसी प्रकार के बंधन को उत्पन्न नहीं करते अर्थात् इष्ट-अनिष्ट फल को देने में समर्थ नहीं होते। इस प्रकार भगवान् ने संशय को सबसे बुरा बतला कर निरंतर परमात्म-तत्त्व में अप्रमादी बने रहने को कहा।।४१।।

नित्य-कर्मानुष्ठान से लेकर श्रवण-मनन पर्यन्त सब साधनों को यहाँ योग बताया। इसके अनुष्ठान से अशुद्धि क्षय हो जाती है, पवित्रता आ जाती है और अशुद्धि का कारण जो ज्ञान के विषय में संशय, वह भी समाप्त हो जाता है। इसलिये इस योगानुष्ठान के द्वारा जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया और संशयरहित हो गया, उसको बंधन की प्राप्ति नहीं होती। प्रारब्ध-भोग का अनुभव करते हुए भी उसको किसी दोष की प्राप्ति नहीं होती। जीवन्मुक्त का जो भी कर्म हो रहा है, वह ज्ञानाग्नि से जल जाने के कारण निरंतर बाधितानुवृत्ति होने के कारण बंधन का हेतु नहीं है।

ज्ञान का अनुष्ठान और कर्म का अनुष्ठानइन दोनों के विषय में जो संशयवान् है वह नष्ट हो जाता है। कर्म में संशयवान् है तो चित्तशुद्धि के प्रयत्न में नहीं लगता। बहुत-से लोग ऐसा सोचते हैं कि स्वरूप का ज्ञान हो जाये, अंतःकरण की शुद्धि की क्या ज़रूरत है! किन्तु अशुद्ध अंतःकरण के अंदर उस ज्ञान को धारण करने की सामर्थ्य होती

नहीं, अशुद्धि से भरा होने के कारण, अतः ज्ञानाग्नि दीप्त नहीं हो पाती, कारगर नहीं होती। कुछ दूसरों को लगता है कि 'मेरा स्वरूप ब्रह्म है ही। श्रवण-मनन करके यही पता लगेगा कि मैं ब्रह्म हूँ। मैंने समझ लिया कि मैं ब्रह्म हूँ।' इसलिये वे श्रवण-मनन के लिये प्रयत्न नहीं करते। इस तरह कुछ लोग श्रवण-मनन के लिये प्रयत्न करने पर भी कर्मानुष्ठान का प्रयत्न किये हुए नहीं होते हैं इसलिये ज्ञानाग्नि की दीप्ति नहीं हो पाती, तथा कुछ लोग ज्ञानयोग अर्थात् शम-दाम-आदि-पूर्वक श्रवण-मनन करने के विषय में संदेह वाले हैं इसलिये श्रवण-मनन नहीं करते तो उनका संशय ख़त्म होता नहीं इसलिये अप्रतिबद्ध ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। इन दोनों विषयों के अंदर जो किसी भी संशय वाला है, वह नष्ट हो जाता है। इसलिये अध्याय समाप्त करते हुए भगवान् कहते हैं

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। ४२।।

।। इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम
चतुर्थोऽध्यायः।।

इसलिये हे भरतकुल-संजात अर्जुन! अविवेक से उत्पन्न और बुद्धि में स्थित इस आत्मविषयक संशयको सम्यग् ज्ञानरूप तलवार से काटकर योग का अनुष्ठान करो और अब युद्ध के लिये खड़े हो जाओ।

क्योंकि संशय ही सबसे ज़्यादा पापिष्ठ है, सबसे ज़्यादा पाप वाला है, अतः संशयवान् नष्ट होता है। अज्ञान अर्थात् अविवेक से संशय उत्पन्न होता है। अविवेक इस बात का है कि जो प्रत्यक्ष-अनुमान का विषय नहीं उसको प्रत्यक्ष-अनुमान के द्वारा ही समझना चाहते हैं। इसलियेजैसा सुरेश्वराचार्य कहते हैंकि जैसे कोई कहे 'नासिकाग्रसे मैं सूर्य का दर्शन करूँगा, नाक से सूर्य को जानूँगा' तो वह असंभव है क्योंकि सूर्य तो आँख से जाना जाता है, नाक से जाना जा नहीं सकता, इसी प्रकार परमात्मा प्रत्यक्ष-अनुमान का विषय नहीं है। क्या किस से जाना जा सकता हैइसका अज्ञान अर्थात् अविवेक होने से ही व्यक्ति संशयालु होता है। यह संशय 'हृत्स्थं', 'हृत्' अर्थात् बुद्धि में स्थित है। बुद्धि में ही अविवेक रहता है। यह अविवेक नष्ट तो ज्ञानरूपी तलवार से ही हो सकता है। विचाररूपी जो ज्ञान का साधन है, उस विचार के द्वारा ही अविवेक हटकर संशय दूर होता है। जैसे तलवार एक चीज़ को दो टुकड़ों में बाँट देती है वैसे ही विचार प्रमा को दो टुकड़ों में बाँट देता है। एक व्यावहारिक प्रमा है जो इन्द्रियों से और तन्मूलक अनुमान आदि से पता लगती है; और दूसरी धर्म और ब्रह्म की प्रमा है जो श्रुति से ही पता लगती है। विचार की तलवार से प्रमेय दो भागों में बँट जाते हैं अतः विषय के योग्य प्रमाण का सहारा लिया जा सकता है।

मूलभूत अज्ञान किस बारे में है और किसका है? 'आत्मनः।' अपने वास्तविक स्वरूप के विषय में है और हमको ही है। हमारे अपने बारे में हमें अज्ञान है। आत्मा द्रष्टा है, दृश्य नहीं। प्रत्यक्ष-अनुमान जिसको विषय करते हैं वह दृश्य होता है। दृश्य के आधार पर ही प्रत्यक्षमूलक अनुमान होगा। दृश्य के नियम द्रष्टा पर नहीं चलते। क्योंकि वस्तुतः मैं परमात्मा हूँ, इसलिये यह सन्देह परमात्मा के विषय में भी है। दूसरे का संशय दूसरे के द्वारा नहीं कट सकता। अपना संशय अपने से ही कटेगा। तुमको जो संशय है वह तुम को ही दूर करना पड़ेगा, कोई दूसरा उसे दूर कर नहीं सकता। यदि दृश्य का प्रश्न होता तब तो उसके लिये जैसे-तैसे उपाय भी किया जा सकता था। लेकिन क्योंकि यह द्रष्टा के अपने विषय में है इसलिये इसे द्रष्टा को ही मिटाना पड़ेगा। ईश्वर कौन हैइसके बारे में तो किसी के सहारे विचार कुछ किया भी जा सकता है, परंतु 'मैं कौन हूँ?' इसके बारे में जो संशय है वह मुझे ही हटाना पड़ेगा।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि अपने विनाश का कारण जो संशय, इसको विचार से काट कर, सम्यक् दर्शन का जो उपाय योग है, अर्थात् नित्य-नैमित्तिक और योगाभ्यास से लेकर के श्रवण-मनन पर्यन्त कर्म, उस योग का तुम अनुष्ठान करो, उसका सेवन करो। उसका सेवन करने के लिये तुम्हारे सामने धर्मानुष्ठान प्राप्त है। युद्ध करना तुम्हारा कर्म है। इस युद्ध को करके ही अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होगी। इसलिये हे भारत! 'उत्तिष्ठ' उठो! 'मैं नहीं लड़ूँगा' इस भाव से अर्जुन बैठा हुआ था, अतः कहाउठो, बिना इस योगानुष्ठान के काम होगा नहीं। इस समय तुम्हें प्राप्त युद्ध कर्म है, उसमें प्रवृत्त हो जाओ। इस प्रकार यह चौथा अध्याय भगवान् ने पूरा किया।

आचार्य शंकर ने इस अध्याय का नाम बतलाया है 'ब्रह्मयज्ञप्रशंसा'। इसमें अनेक प्रकार के यज्ञों का निरूपण हुआ, और खास करके, परमात्मा की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला जो नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान से लेकर के श्रवण-मनन पर्यन्त का साधन है, वह सारा इसमें विस्तार से बताया गया। इसलिये ब्रह्मयज्ञप्रशंसा इसका अपर नाम दिया। मधुसूदन स्वामी ने इसे 'ब्रह्मार्पणयोग' कहा। गीता-पुष्पिकाओं में यह 'ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग' के नाम से प्रसिद्ध ही है। इसमें उत्तमाधिकारी के लिये ज्ञाननिष्ठा और मध्यमाधिकारी के लिये कर्मनिष्ठा हैयह सुस्पष्ट कर बता दिया।

।।चौथा अध्याय।।

ॐ

पाँचवाँ अध्याय : कर्मसंन्यासयोग

पूर्वाध्याय में बताया कि कर्मानुष्ठान से 'मैं कर्त्ता नहीं' इस ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है तथा ज्ञान होने पर सारे कर्म छूट जाते हैं। ज्ञान का साक्षात् साधन ही साधनों में श्रेष्ठ है। मानव-स्वभाव है कि अपनी योग्यता को न पहचान कर जो उत्तम साधन बताया जाये उसे ही अपनाना चाहता है। आजकल के लोग योगाभ्यास सीखना चाहते हैं पर योग की पहली सीढ़ी 'यम' का पालन नहीं करने को तैयार हैं! अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहये यम हैं, योग का प्रथम सोपान है। लोग इन कदमों को लिये बगैर सीधे ही ध्यान-समाधि सीखना चाहते हैं और ऐसों को सिखाने वाले मिल भी जाते हैं! आहार-विहार के किसी परहेज़ के बिना, अमेध्य अशुद्ध खाते रहकर, मद्य पीते रहकर, झूठ-फरेब आदि दुराचार छोड़े बिना समाधि लगवा देने का बीड़ा उठा लेते हैं! 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' आदि उक्तियों के सहारे अपनी मनमर्ज़ी करने को सही ठहराते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् ने कहा कि अपना अकर्तापन याद कर समग्र कर्मों का संन्यास करना है, तब अर्जुन भी स्वभावतः इसी की ओर आकृष्ट होवे, साधनभूत कर्मयोग को अनावश्यक समझे, यह कोई आश्चर्य नहीं। भगवान् ने तो अन्त में ज्ञान-तलवार से संशय काटकर युद्ध के लिये तैयार हो जाने को कहा था (४.४२) पर अर्जुन को उनके उस स्पष्ट निर्देश के बाद भी यही लगा कि उसे कर्म (युद्ध) करने की ज़रूरत नहीं! अतः वह प्रश्न करता है

अर्जुन उवाच
सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

हे कृष्ण! आप सभी कर्मों का त्याग बता रहे हैं और फिर यह भी कह रहे हैं कि कर्म अवश्य करने चाहिये! इनमें से जो एक बेहतर हो वह मुझे भली-भाँति निर्धारित कर बताइये।

'हे कृष्ण! सारे कर्मों का परित्याग और फिर उनका अनुष्ठानदो बातें आप कह रहे हैं कि सारे कर्मों को अकर्त्तापन के भाव से छोड़ दो एवं इसकी प्राप्ति के लिए कर्म करो। ये दोनों बातें बिलकुल विरुद्ध-सी लगती हैं।' सभी साधकों को यह समस्या आती है क्योंकि अधिकार-भेद से दिया उपदेश, यदि अधिकार-विचार छोड़ दें तो विरोधी लगता ही है। यही प्रश्न अर्जुन का है'आप कर्मों के त्याग की प्रशंसा करते हैं और फिर कर्मयोग का अनुष्ठान करने को कहते हैं! ये दोनों तो विरुद्ध हैं। इसलिए, इनमें से जो कल्याणकारी है वह एक बताइये। कर्मयोग से जो चीज़ें हमें अच्छी लगती हैं उनकी प्राप्ति हो जाएगी, युद्ध करूँगा तो राज्य मिल जाएगा। यह प्रेय का रास्ता तो समझ में आता है, पर यही श्रेय का रास्ता है यह समझ में नहीं आता। लगता तो मुझे कर्म-त्याग श्रेयस्कर है, कर्मयोग प्रेयस्कर है। आप दोनों को करणीय कह रहे हैं। क्या एक श्रेयोमार्ग व दूसरा अश्रेयोमार्ग है? दोनों में से श्रेयोमार्ग कौन-सा है? यह संशय मेरे मन में आता है। इनमें से एक कल्याणकारी कौन-सा है, वह निश्चित कर बताइए। जिसके अनुष्ठान से श्रेय की प्राप्ति आप मानते हैं, उसको बताइए। दोनों का एक-साथ अनुष्ठान तो हो नहीं सकता। या कर्म का त्याग होगा, या कर्म का अनुष्ठान होगा। एक-साथ एक पुरुष इनका अनुष्ठान कर लेवे, यह तो संभव है नहीं। इसलिए इनमें से एक को कर्तव्य बताइए। आपका वास्तविक अभिप्राय क्या है, यह निश्चय करके बताइए, वही मैं कर लूँगा।'।।१।।

उक्त विषय का निर्णय करने के लिए भगवान् अपना अभिप्राय बतलाते हैं

श्रीभगवान् उवाच
सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

कर्मत्याग और कर्मयोग, दोनों निःश्रेयस (मोक्ष) के हेतु हैं, किंतु इनमें कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग में विशेषता है।

कर्मों का परित्याग और कर्मयोग, शास्त्रीय कमो ँ का अनुष्ठानकल्याण, श्रेयःप्राप्ति, मोक्ष के लिए दोनों की ज़रूरत है। इसलिए मैं दोनों कह रहा हूँ। एक साक्षात् ज्ञाननिष्ठा का कारण है और दूसरा ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार से मोक्ष-फलक ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु दोनों हैं। ज्ञानोत्पत्ति मोक्ष का हेतु है। जिस प्रकार से बढ़िया रुई लाकर, राख में पानी डाल कर, उस राख के स्पर्श से रुई की बत्ती बनाओ, घाणी पर जा कर तेल लाओ, दिवोटिया लाओ, उसमें तेल भर कर बत्ती को उसमें डाल कर जलाओ। जैसे ही जलेगी वैसे ही अंधकार दूर हो जाएगा। अविचारशील कहेगा'जब जलाने से ही अंधकार दूर होगा तो जला देवें, बाकि सब तैयारी करने की क्या ज़रूरत है! पश्रिम करके बत्ती बनाने की झंझट में मुझे क्यों फँसाते हैं? सीधे ही रोशनी करना बतला दीजिए।' यह ठीक है कि तेल-बत्ती को जलाना है, नष्ट करना है। लेकिन पहले तेल-बत्ती

होगी, तभी जल कर प्रकाश होगा। प्रकाश के लिए तेल भी ज़रूरी, तेल का जलना भी ज़रूरी। हैं तो दोनों विरोधी चीज़ें पर क्रमशः आवश्यक हैं। अथवा, पहले काम करो, काम करने से पाँच रुपया आवे, उसे खर्चकर एक रसगुल्ला आवे, उस रसगुल्ले को खाओ तो सुख हो। अगर रसगुल्ले को खाकर ख़त्म ही करना है तो पाँच रुपया कमाओ काहे के लिए? पर सुख के लिये कमाकर खर्च करना ज़रूरी है। पाँच रुपए कमा लिए तो भी रसगुल्ले का स्वाद नहीं आएगा और पाँच रुपए नहीं होंगे तुम्हारे पास, तो भी रसगुल्ले का स्वाद नहीं आएगा। पहले पाँच रुपया लाना पड़ेगा, फिर उस पाँच रुपए को नष्ट करना पड़ेगा, तब रसगुल्ला खाया जाएगा।

इसी प्रकार से तुमको अपनी बुद्धि सर्वथा शुद्ध करनी पड़ेगी, तभी उस शुद्ध बुद्धि में ब्रह्म का ज्ञान आएगा। जब ब्रह्म का ज्ञान आएगा तब वह बाकी सबको नष्ट करते हुए उस बुद्धि को भी नष्ट कर देगा। परन्तु जब तक बुद्धि को शुद्ध करोगे नहीं तब तक वह ज्ञान होगा ही नहीं। इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि दोनों निःश्रेयस करने वाले हैं। ज्ञानोत्पत्ति का कारण होने से दोनों ही निःश्रेयसकर हैं। फिर भी, निःश्रेयस के जो दोनों कारण हैं, उनमें ज्ञान हीन कर्मसंन्यास से कर्मयोग में विशेषता है। ज्ञानहीन अवस्था में कर्म तो कर सकते हो पर अन्तःकरण की अशुद्धावस्था में ज्ञान प्राप्त कर नहीं सकते। ज्ञानरहित कर्मसंन्यास अर्थात् कर्म को न करना, तुमको आगे नहीं ले जाएगा। ज्ञान-रहित अवस्था में कर्मयोग का अभ्यास करोगे तो अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ज्ञान हो जाएगा। यही ज्ञानहीन केवल कर्मसंन्यास से कर्मयोग की विशेषता है। क्या विशेषता है? अज्ञानी भी कर्मयोग का अनुष्ठान कर सकता है, कर्मसंन्यास का अनुष्ठान नहीं कर सकता।

बहुत-से लोगों ने इस श्लोक को गड़बड़ समझा है। वे कहते हैं कि कर्म करना एक मार्ग है, कर्म-संन्यास दूसरा मार्ग है लेकिन दोनों मार्गों में कर्मयोग करना श्रेष्ठ हैऐसा भगवान् का अभिप्राय है। किंतु भगवान् स्वयं अपना तात्पर्य स्पष्ट करेंगे कि यह उनका अर्थ नहीं है।।२।।

भगवान् समझाते हुए कहते हैंमैं जिस संन्यास की बात कह रहा हूँ उसे अज्ञानी नहीं कर सकता

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।।३।।

हे वीर! जो द्वेष और आकांक्षा नहीं करता उसे (कर्मयोगी को) नित्यसंन्यासी समझना चाहिये क्योंकि रागादि द्वन्द्वों से रहित व्यक्ति बंधन से अनायास छूट जाता है।

मैं जिस संन्यास की बात कर रहा हूँ वह ज्ञानोत्तर-संन्यास है। मैंने जिस संन्यास की बात पूर्व अध्याय में की, वह नित्य-संन्यास है। नित्य-संन्यास का मतलब क्या? जबखाते

समय 'मैं खाने वाला हूँ', यों कर्त्ता बन जाता हूँ क्योंकि 'मैं कर्त्ता नहीं' यह बोध तो हुआ नहीं, और उसके बाद शान्ति से एकान्त में पद्मासन लगा कर ध्यान करते हुए 'मैं अकर्त्ता हूँ, मैं कुछ नहीं कर रहा' यह स्थिति है, तब तक हुआ 'अनित्य संन्यास'। ऐसा साधक शरीर-मन के क्रियाशील होने पर कर्त्ता भी है और शरीर-मन के क्रिया न करने पर अकर्त्ता भी है। नित्य-संन्यासी वह है जिसके शरीर और मन चाहे जितनी क्रियाएँ करें लेकिन उसकी अडिग निष्ठा है 'मैं अकर्त्ता हूँ, शरीर और मन के करने से मैं करने वाला नहीं क्योंकि मैं सच्चिदानन्दरूप हूँ'। इसलिए, शरीर-मन जब भोजन कर रहे हैं तब भी वह अकर्त्ता है और शरीर-मन जिस समय पद्मासन लगा कर समाधि लगा रहे हैं तब भी अकर्त्ता ही है। ऐसे को भगवान् ने कहा कि नित्य-संन्यासी समझना।

भगवान् उसके स्वभाव को समझाकर कहते हैं कि किसी भी परिस्थिति से उसको द्वेष नहीं होता है। किसी चीज़ को निवृत्त करने का उसके अंदर कोई प्रयत्न नहीं होता और 'न काङ्क्षति' न किसी प्रिय चीज़ को प्राप्त करने के लिए उसके अंदर कोई प्रवृत्ति होती है। न किसी चीज़ से निवृत्त होता है, चाहे जितना दुःख हो, न किसी चीज़ में प्रवृत्त होता है, चाहे जितनी सुख की चीज़ प्रतीत होवे। न सुख के प्रति उसकी प्रवृत्ति होती है और न सुख के साधनों के प्रति उसकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिए बार-बार आचार्य शंकर लिखते हैं कि ससाधन कर्म-परित्याग करना चाहिये, साधनों के साथ कर्म छोड़ना चाहिये। साधन रखोगे तो कभी उसके प्रयोग की भी संभावना हो जायेगी। एक स्नातक कक्षा उत्तीर्ण हुआ लड़का संन्यास लेने लगा तो स्नातक की उपाधि का दस्तावेज फाड़ने लगा ताकि कभी इच्छा हो भी जाये तो उसका प्रयोग न कर सके। पुराने लोग कहते थे 'अरे! चोटी-जनेऊ रहने दो, हटाने की क्या ज़रूरत है?' तात्पर्य क्या था? अगर कभी बीमार हो गए, पंडित हो ही, तो मृत्युञ्जय का अनुष्ठान कर लेना। अगर चोटी-जनेऊ कट गये तो कोई कर्म नहीं कर सकते। चाहे वर्तमान काल में बी.ए. का सर्टिफिकेट हो, चाहे प्राचीन काल में चोटी-जनेऊ हों, साधन को रखने के पीछे उद्देश्य है उस साधन से होने वाले दुःख-निवृत्ति या सुख की प्राप्ति का। इसलिए भाष्यकार ससाधन कर्म-परित्याग का महत्त्व बताते हैं। साधन छोड़ चुकने पर यदि कभी कर्म-प्रवृत्ति की इच्छा हो जाये तो आगे प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है क्योंकि साधन नहीं रहते हैं। ससाधन कर्मत्याग हो गया तो किसी समय यदि द्वेष या आकांक्षा प्राप्त भी हो तो भी प्रवृत्ति नहीं होगी। 'स निर्द्वन्द्वः' वह सुख-दुःख इत्यादि सब द्वन्द्वों से रहित हो जाता है, इसलिए बंधन से अनायास ही मुक्त हो जाता है। भगवान् ने जिसकी प्रशंसा की वह नित्य संन्यासी है, राग-द्वेष से रहित है, उनके लिए प्रवृत्ति करने वाला नहीं है। ऐसा जो अपने अकर्त्ताभाव को जानने वाला है, वह बंधन से छूट जाता है। यदि यों समझ-बूझकर रागादि छोड़े बगैर कर्म-त्याग करता है तो बार-बार मन में आता है 'हाय! मैंने यह त्याग नहीं किया होता तो आज यह हालत नहीं होती!' वास्तविकता को तो जाना नहीं, इसलिए बार-बार मन में होता है 'यह कर लेवें, यह अनुष्ठान कर लेवें, यह

शक्ति प्राप्त कर लेवें, या ये पहले कर लिये होते तो हमारे लिये बड़ा अच्छा होता।' ऐसा व्यक्ति बंधन से छूट ही नहीं सकता। अनायास वही छूट सकता है जो ज्ञानपूर्वक संन्यास करता है। भगवान् ने संन्यास के रूप को यहाँ बतलाया। जिस संन्यास को कहा वह बिना कर्मयोग के अनुष्ठान के नहीं हो सकता।।३।।

अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि कर्मयोग करना श्रेष्ठ है या कर्म न करना श्रेष्ठ है। भगवान् ने उत्तर दिया कि अज्ञानी द्वारा कर्मयोग और कर्मसंन्यास एक ही है और ज्ञानी द्वारा कर्मसंन्यास सर्वथा विलक्षण है। अज्ञानी कर्म का सर्वथा अभाव नहीं कर सकता क्योंकि जीवन-यात्रादि के लिए, शरीर-निर्वाह आदि के लिए वह कर्म करता ही है। अतः अज्ञानी के द्वारा त्याग होगा कि फल की इच्छा को छोड़कर, परमात्मा को समर्पण करने की भावना से, केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्मयोग का अभ्यास करे। वह वही कर्म करता है जो दूसरे अज्ञानी करते हैं, परंतु ईश्वरार्पण बुद्धि से, केवल अन्तःकरण की शुद्धि के प्रयोजन से करता है। ऐसा कर्म का अभ्यास साधारण आदमी के लिए सरल होता है। इसकी अपेक्षा दूसरे आश्रम धर्मों को छोड़ कर, यम-नियम आदि का अभ्यास करते हुए श्रवण मनन का नियम से अनुष्ठान करनाइस प्रकार का जो कर्म-संन्यास है वह कठिन है। इसके अंदर करना तो है ही, कर्त्तव्य है ही, परन्तु शम-दम आदि का अभ्यास करते हुए केवल श्रवण-मनन में रहना है; यह अधिक कठिन मार्ग होने से इसकी अपेक्षा कर्मयोग के द्वारा शुद्धि को प्राप्त करके ज्ञान के मार्ग में जाना श्रेष्ठ है, सुकर है। जिस संन्यास का स्वरूप भगवान् बतला रहे हैं, उसमें ज्ञान हो जाने पर अकर्त्ताभाव से स्थिति होने के कारण खाना-पीना इत्यादि भी कर्म नहीं रहता, क्योंकि 'मैं अकर्त्ता हूँ' यह बोध कायम रहता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने से सर्वात्म बुद्धि के कारण उसको न किसी से द्वेष होता है, न किसी से राग होता है। उसके शरीरादि से चाहे शम दम आदि पूर्वक श्रवण-मनन होता रहे, चाहे यदि गृहस्थ आश्रम में है तो वे कर्म होते रहें, दोनों ही हालत में वह सन्न्यासी ही है क्योंकि उसके अंदर अकर्तृत्व भाव स्थिर हो गया है। विद्वत्संन्यास को न समझ कर अर्जुन का प्रश्न था अतः भगवान् ने उसका स्पष्ट जवाब दे दिया। अज्ञानी के द्वारा कर्मयोग भी किया जा सकता है और अज्ञानी के द्वारा कर्म-संन्यास भी होता है, उन दोनों में सरल होने के कारण, हर प्राणी के द्वारा किया जाने में किसी प्रकार का प्रतिरोध न होने के कारण, कर्मयोग श्रेष्ठ है। भिक्षाटन आदि के द्वारा निर्वाह इत्यादि करने के लिए बड़ी योग्यता चाहिए अन्यथा उसकी कठिनाई से जो उसका आश्रम धर्म है निरंतर श्रवण-मनन में लगे रहना, वह ही नहीं कर पायेगा।

संन्यास और कर्मयोगये भिन्न पुरुषों के द्वारा अनुष्ठेय होने से विभिन्न फलों वाले होने चाहिये, दोनों को एक निःश्रेयस फल वाला कैसे कहा? कर्मयोग का फल अन्तःकरण की शुद्धि और संन्यास का फल ज्ञान है। अन्तःकरण की शुद्धि होकर ज्ञान हो जाने पर जो कर्म-संन्यास होता है वह फलस्वरूप है। इस प्रकार, एक ही फल के प्रति क्रमशः कारण

बनने वाले होने से इनके अन्तिम फल अलग-अलग नहीं हैं। तथा इनका अनुष्ठान भी एक ही व्यक्ति अपनी अवस्था, अधिकारिता के अनुसार करता है, ऐसा नहीं कि सर्वथा विभिन्न फल चाहने वाले इन्हें स्वतंत्र रूप से किया करते हों। इसे भगवान् स्वयं स्पष्ट करते हैं

साङ्ख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकम् अप्यास्थितः सम्यग् उभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

पण्डित नहीं वरन् बालक सांख्य (संन्यास) और योग (कर्मयोग) को पृथक् (विरुद्ध फल वाले) बताते हैं। इनमें से एक का भी सही-सही अनुष्ठान करने वाला दोनों का फल पा जाता है।

'बालाः' बालक अर्थात् अविचार वाले। बुद्धिमान् में और बालक में यही फ़र्क है कि बालक अविचार वाला है, विचार नहीं करता, जैसा देखा वैसा ही मान लेता है जबकि बुद्धिमान् विचारपूर्वक सही-गलत समझता है। सांख्य अैार योग सर्वथा अलग-अलग *प्रतीत* होते हैं इसलिए अविचारशील उन्हें भिन्न ही मान लेते हैं, इसी बात का प्रवाद करते हैं। प्रवाद शब्द का प्रायः अर्थ होता है वह बात जो प्रमाण-तर्क से समर्थित नहीं है। जिसकी प्रतीति भले ही हुई हो पर बात सही है ऐसा जिसके बारे में निर्धारण न हुआ हो। आजकल समाचार पत्रों में प्रायः अफवाहें खूब होती हैं। अंदर बैठक में क्या हो रहा है, यह तो पता है नहीं, बैठक से बाहर निकलने पर अगर उनका चेहरा खुश हुआ तो संवाददाता कहते हैं 'समझौता हो गया!' और अगर, चेहरा उदास दीखा तो कह देते हैं 'वार्ता असफल हो गई।' पता उनको है नहीं कि क्या बातचीत हुई, क्या नहीं हुई। इस प्रकार बिना-विचार किए हुए जैसा देखें वैसा ही मान कर कह देने को प्रवाद कहते हैं।

भगवान् ने अर्जुन के पूछे हुए संन्यास और कर्मयोग शब्दों को छोड़ कर सांख्य और योगइन शब्दों को लिया। साधारण आदमी की शंका होती है कि अर्जुन का प्रश्न था कर्मयोग और संन्यास के बारे में और भगवान् यहाँ सांख्य-प्रवर्तक कपिल और योग-प्र्वतक पतञ्जलि की बात कर रहे हैं! इसलिये समझ लेना चाहिए कि सांख्य शब्द का मूलतः अर्थ क्या है? जो चीज़ जैसी होवे उसका ठीक वैसा ही ज्ञान हो जाने को संख्या कहते हैं और वह ज्ञान जिस बुद्धि में हो उसे सांख्य बुद्धि कहते हैं अर्थात् यथार्थ ज्ञान वाली बुद्धि। और योग का मतलब है ज्ञान-प्राप्ति के साधन। योग अर्थात् साधन, जैसे वैद्य के पास जाते हो वह तुम्हें 'योग' बतलाता है जिससे तुम्हारा रोग दूर होगा। जिसको अंग्रेजी वाले प्रैस्क्रिप्शन (prescription) कहते हैं उसी को संस्कृत में, आयुर्वेद में, योग कहा जाता है। इसी प्रकार से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के जो साधन हैं वे योग हैं। बालक, यथार्थ ज्ञान वाले में कर्म का अभाव देखता है और अज्ञानी को कर्म के ऊपर आग्रह वाला देखता है इसलिए विवेचन किये बिना समझता है कि दोनों के भिन्न और विरुद्ध फल हैं।

लेकिन पण्डित, जो वास्तविक तत्त्व को समझने वाले हैं, आत्म-बुद्धि को जानने वाले हैं, वे ऐसी अफवाह को नहीं स्वीकार करते'न प्रवदन्ति।' वे कहते हैं कि कर्मयोगी भी ज्ञान को प्राप्त करके मुक्त होगा इसलिए दोनों का फल विरुद्ध नहीं है, अविरुद्ध ही है। अन्तःकरण की शुद्धि कर्मयोग का फल है परन्तु अन्तःकरण की शुद्धि का फल है ज्ञान की प्राप्ति, इसलिए दोनों के विरुद्ध फल नहीं हैं। इसलिये 'एकम् अपि आस्थितः', चाहे ज्ञानयोग का अभ्यास करे, चाहे कर्मयोग का अभ्यास करे, यदि उनका भली प्रकार से अनुष्ठान करता है तो अन्ततः एक ही फल पाता है। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर श्रवण-मनन करने से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जो ज्ञान के उद्देश्य से अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्मयोग का अनुष्ठान करता है, वह बाहर से कर्मी दीखने वाला होने पर भी उद्देश्य की दृष्टि से त्यागी है। तथा जो अज्ञानी कर्मत्यागी है, वह शम दम आदि साधनों का सम्यक् अनुष्ठान करता है ताकि अन्तःकरण में बची हुई अशुद्धि भी दूर हो जाए। वह श्रवण-मनन में रत रहता है तो उसे ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार कर्मयोगी भी अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर ज्ञान के लिए श्रवण-मनन के अनुष्ठान में लग जाता है, वह भी ज्ञान पा जाता है। ये दोनों 'सम्यक् आस्थित' हैं।

अन्तःकरण की शुद्धि क्या चीज़ है? मन कोई कपड़ा तो है नहीं कि रीठे से धोकर साफ दीख जाये! अन्तःकरण दीखता तो है नहीं, कि ठीक साफ हुआ कि नहीं हुआ यह पता चल जाये। अन्तःकरण का मैल क्या है? राग और द्वेष मन के मैल हैं। प्राप्ति की कामना राग है, निवृत्ति की कामना द्वेष है। राग-द्वेष की निवृत्ति से कामना-मात्र की निवृत्ति हो जाती है। यही अन्तःकरण की शुद्धि है। जब तक राग-द्वेष अर्थात् कामना रहती है तब तक आत्म-तत्त्व का ज्ञान हो नहीं पाता। जैसे रंगे काँच में से चीज़ देखोगे तो वस्तु का यथार्थ रंग नहीं दीखेगा, काँच के रंग से रंगा पदार्थ दीखेगा, वैसे ही कामनापूर्ण मन से सर्वथा यथार्थ ज्ञान हो नहीं सकता। जितनी-जितनी कामना दूर होती जाती है उतना ही उतना अन्तःकरण शुद्ध होता है, और तभी वस्तु का यथार्थ ग्रहण हो पाता है। अज्ञानी के राग-द्वेष निवृत्त होने पर उसके अंदर विविदिषा उत्पन्न होती है अर्थात् आत्मा का स्वरूप क्या हैयह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वही तत्परता से आत्मा का स्वरूप क्या हैयह जानने के लिए श्रवण-मनन में लगता है। उसे ज्ञान हो जाएगा। अन्तःकरण शुद्ध हुआ या नहीं इसका स्वयं को पता इसी से लगता है कि अपनी कामना दूर हुई या नहीं और आत्मज्ञान की इच्छा तीव्र हुई या नहीं। कर्मयोगी अन्तःकरण शुद्ध करके, जिज्ञासा की तीव्रता करके, श्रवण-मनन में लगे तो 'सम्यक् आस्थित' माना जायेगा। कर्मयोगी और विविदिषु-संन्यासी दोनों ही चित्त-शुद्धि का प्रयत्न करते हैं पर आश्रम-भेद के कारण दोनों के साधन अलग-अलग हैं। इसलिये कहा कि सांख्य और योग, ज्ञानयोग और कर्मयोग, इनमें से एक का भी यदि सम्यक् अनुष्ठान करता है तो दोनों का फल एक ही होता हैज्ञान की प्राप्ति। क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति के समकाल ही मोक्ष है

अतः दोनों के फलों में विरोध नहीं है।।४।।

संन्यास अर्थात् ज्ञान, अकर्त्तापने का ज्ञानयही संन्यास है; और उसका उपाय है कर्मयोग। इन दोनों में फलतः भेद नहीं है। इसी बात को फिर कहते हैं

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

जो मोक्षनामक स्थान सांख्यों को मिलता है वही योगियों को भी मिलता है। जो सांख्य और योग को (एकफलक होने से) एक समझता है वह सही समझता है।

सांख्य अर्थात् सम्यक् ज्ञान की बुद्धि वाले ज्ञानी। ज्ञान-निष्ठा वाले जिस स्थान को प्राप्त करते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं, उसी स्थान को योगी प्राप्त करते हैं। योग अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति का उपाय, कर्म ईश्वर को समर्पण करना, अपने लिए कर्मफल की कोई इच्छा किए बिना अनुष्ठान करना। योगी वे हैं जो चित्तशुद्धि के लिए कर्मफल को परमेश्वर के अर्पण कर देते हैं। इससे धीरे-धीरे मनुष्य की इच्छा छूटती है और परमेश्वर को अर्पण करने से परमेश्वर की प्रसन्नता होती है। ऐसे अनुष्ठान से प्रसन्न हुआ परमेश्वर श्रवण-मनन के बुद्धियोग को उन योगियों के लिए उपस्थित कर देता है। परमार्थ ज्ञान से होने वाले संन्यास की प्राप्ति का द्वार वह योग बन जाता है। इस प्रकार वे कर्मयोग के अनुष्ठान से बुद्धियोग की प्राप्ति के द्वारा उसी श्रेयस को, मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए जो 'सांख्य और योगये एक फल वाले ही हैं' इस प्रकार से जानता है, वही सही जानता है। फल की एकता को समझकर वह दोनों को एक देखता है। भिन्न अधिकारियों के द्वारा किये जाने वाले होने से अलग-अलग दीखने पर भी उनका अन्तिम फल एक ही है।।५।।

अर्जुन के मन में प्रश्न स्वभावतः होता है कि दोनों का एक फल है, मैं संन्यास ही करना चाह रहा हूँ तो आपने उसकी अपेक्षा योग को विशेष क्यों बतलाया? भगवान् उत्तर देते हैं

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

हे दीर्घबाहु! योगानुष्ठान के बिना वास्तविक संन्यास मिलना दुष्कर है। ईश्वरविषयक मनन करने वाला जो साधक कर्मयोग कर चुका है वह शीघ्र ही ब्रह्म अर्थात् परमार्थ ज्ञान-निष्ठा रूप संन्यास को पा जाता है।

कर्म का परित्याग प्राप्त करना बड़ा कठिन है। पारमार्थिक संन्यास, अकर्तृत्व आत्म-भाव वाला संन्यास, बिना योग के प्राप्त करना बड़ा कठिन है, नहीं हो सकता। जो वैदिक कर्मयोग करता है, अपने लिए फल की अपेक्षा न करके ईश्वर को समर्पण करते हुए कर्म

करता है, वह योगयुक्त मुनि ही शीघ्र संन्यासी बनता है। ईश्वर के स्वरूप के बारे में मनन करता है इसलिये योगी को मुनि कहा। परमेश्वर को कर्म अर्पण करने के लिए परमेश्वर के स्वरूप को जानना ज़रूरी है अतः योगी परमेश्वर के स्वरूप के विषय में मनन करे यह उचित है। ऐसे योगी को ब्रह्मज्ञान बहुत शीघ्र हो जाता है। यहाँ संन्यास को 'ब्रह्म' शब्द से कह दिया है। योगी ब्रह्म को अर्थात् संन्यास को प्राप्त हो जाता है, वह अपने अकर्तृत्व आत्म-भाव को जान लेता है। श्रुति ने संन्यास को ब्रह्म कहा भी है। इसलिए ऊपर की पंक्ति में कह दिया संन्यास और नीचे की पंक्ति में कह दिया ब्रह्म, क्योंकि ब्रह्म ही परमार्थ संन्यास है। व्यावहारिक संन्यास तो आश्रमरूप है जिसमें शम दम आदि का अभ्यास करते हुए श्रवण मनन में निरन्तर प्रवृत्ति निहित है। सचमुच में संन्यास क्या है? आत्मा अकर्त्ता हैयही परमार्थ संन्यास है, इसी को ज्ञाननिष्ठा कहते हैं। जो परमेश्वर के स्वरूप का मनन करते हुए कर्मयोग का अभ्यास करता है, उसे ब्रह्म को प्राप्त करने में देरी नहीं होती।।६।।

कैसे प्राप्त करता हैयह समझाते हैं

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

कर्मयोग में संलग्न, निर्मलमना, नियन्त्रित देह-इन्द्रियों वाला, और सब प्राणियों के स्वरूप प्रत्यक्चेतन का जानकार, लोकसंग्रह के लिये कर्म करते हुए भी उससे संबद्ध नहीं होता।

कर्मयोग अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धि से, अपने लिए किसी भी फल की इच्छा नहीं रखकर कर्म करना। इस प्रकार जो योगयुक्त है वह विशुद्धात्मा हो जाता है अर्थात् उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। जितना-जितना मन शुद्ध होता जाता है उतना-उतना विजितात्मा और जितेन्द्रिय हो जाता है अर्थात् अपने शरीर-इन्द्रिय के संघात को वह जीतता जाता है। चूंकि जीव शरीर-मन को अपना आत्मा समझता है इसलिए 'विजितात्मा' में आत्मा उसे कहा जिसको वह अपना आत्मा समझता है अर्थात् शरीर-मन, उनको जीतता चला जाता है। योगयुक्त होने से विशुद्धात्मा, विशुद्धात्मा होने से विजितात्मा, विजितात्मा होने से जितेन्द्रिय बन सकता है। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा'सर्वभूत, ब्रह्मा से घास के तिनके पर्यन्त जितने भी प्राणी हैं, उनका जो आत्म-भूत है अर्थात् उन सब का जो प्रत्यक् चैतन्य है, जिसका अनुभव सभी लोग अपने अंदर 'मैं' रूप से करते हैं, वही आत्मा है; शरीर, मन, अहंकारये आत्मा नहीं वरन् इनका जो प्रत्यक् चेतन है वह सब प्राणियों का एक ही है। इस प्रकार का जो सम्यक्-दर्शी हो जाता है, प्रारब्ध समाप्तिपर्यन्त लोकसंग्रह के लिए उसके शरीर से जो कर्म इत्यादि होते दीखते हैं, उनसे उसको कोई लेप की प्राप्ति नहीं होती।।७।।

करते हुए भी लेपकी प्राप्ति क्यों नहीं होती?

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।।८।।

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

देखते, सुनते, छूते, सूंघते, जाते, सोते, साँस लेते, बोलते, छोड़ते, पकड़ते और पलकें खोलते-बंद करते हुए आत्मा के यथार्थ का जानकार उसी सत्य पर एकान्त निष्ठा वाला बना रहते हुए 'इन्द्रियाँ अपने विषयों से व्यवहार कर रही हैं' ऐसा अनुसंधान करते हुए यही समझता है कि 'मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ।'

जो आत्मविषयक तत्त्ववित् है, वह ऐसा मानता है, ऐसा उसका दृढ निश्चय रहता है कि 'अकर्त्ता होने से मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ।' जिसने कर्मयोग का अभ्यास करके अन्तःकरण शुद्ध करके तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया, उसको ऐसा दृढ निश्चय रहता है कि 'मैं कुछ नहीं कर रहा क्योंकि मैं अकर्त्ता हूँ। मेरे लिए कर्म असंभव है।' जो हो रहा है वह क्या है? साँस चल रही है तो प्राण अपना काम कर रहा है, पैर चल रहे हैं तो पादेन्द्रिय अपना काम कर रही है, दीख रहा है तो आँखें अपना काम कर रही हैं इत्यादि। हम लोगों को अपने कान के साथ एकता का अध्यास होने से जब कान सुनता है तब हमें प्रतीति है कि हम सुन रहे हैं। परन्तु उसको प्रतीति है कि कान सुन रहा है क्योंकि 'कान मैं हूँ' यह उसे अध्यास है नहीं। जैसे दूसरा शरीर, जिसमें तुमको अध्यास नहीं है वह, कोई काम करता है तो तुमको यह प्रतीति नहीं होती कि 'मैं देख रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ' इत्यादि, ऐसे तत्त्ववित् को अध्यास न होने से नहीं होती। अगर *आँख* के देखने से 'मैं देख रहा हूँ' ऐसी प्रतीति होवे तो देवदत्त की आँख के देखने से यज्ञदत्त को भी प्रतीति हो जाए क्योंकि *आँख* तो देख ही रही है! *इस* आँख के देखने से ही प्रतीति होती है क्योंकि इस आँख में हमारा अध्यास है। अध्यासवश ही लगता है कि वह करता है तो मैं करता हूँ। इसी प्रकार 'प्रलपन्', प्रलाप करते हुए, 'विसृजन्' मलमूत्र आदि छोड़ते हुए, 'गृह्णन्' भिक्षा आदि ग्रहण करते हुए अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राणों के व्यवहार होते हुए उसे बोध रहता है कि 'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते', ये जो इन्द्रियाँ हैं, मन है, प्राण हैंये अपने-अपने विषयों की तरफ प्रवृत्ति कर रहे हैं। सभी कर्मों के होते हुए भी सम्यक्-दर्शी को अपने में अकर्तृभाव की ही प्रतीति बनी रहती है।

ऐसा जो तत्त्व-दर्शी है वह कभी कर्म कर ही नहीं सकता इसलिए इसके लिए कर्म-संन्यास ही है क्योंकि कर्म के अभाव का दर्शन बना रहता है। जब तक देहादि में से अध्यास गया नहीं तब तक प्रवृत्ति होती है। जैसे मृगी का जल हमें दीखता है, उसको लेने के लिए हम जाते हैं, परन्तु जैसे ही पता लग जाता है कि 'वहाँ पानी नहीं है, केवल

मृग-तृष्णा है', तो फिर तो उसकी तरफ नहीं जाते। इसी प्रकार जिसने संसार के सब विषयों को प्रतीति-मात्र समझ लिया है, 'उनसे मुझ आत्मा को कुछ भी प्राप्त होना नहीं है' ऐसा जिसे निश्चय है, वह उनकी तरफ प्रवृत्ति कर ही नहीं सकता।।९।।

जिसने इस तत्त्व को नहीं जाना है वह कर्मयोग में कैसे प्रवृत्ति करे ताकि निर्लेप बना रहे, यह समझाते हैं

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

जो आसक्ति छोड़कर ईश्वर के लिये (नौकर की तरह) सारे कर्म करता है उसे पाप का वैसे ही लेप नहीं होता जैसे कमल के पत्ते पर पानी का लेप नहीं होता।

ब्रह्म अर्थात् सृष्टि, स्थिति, लय, आविर्भाव, तिरोधान करने वाला, सब कर्मों का फल देने वाला जो ईश्वर है उसमें ही जो अपने सब कर्मों को 'आहित' कर देता है वह निर्लेप रहता है। 'आहित' अर्थात् 'उसके लिए मैं कर्म कर रहा हूँ' यह निश्चय रखकर स्वधर्म-पालन करता है। जैसे सारी दुकान को मुनीम चलाता है, परन्तु जितना फ़ायदा होता है वह सब मालिक के हाथ में रख देता है, उसको केवल मालिक जो तन्ख्वाह देता है, उसी से संतोष करता है, इसी प्रकार इस साधक का निश्चय है कि 'परमात्मा ने यह सृष्टि चक्र चलाया है, उसमें मेरे लिए कुछ कर्म निश्चित हैं, उन कर्मों को मुझे करना है। उन कर्मों के फल का मालिक परमेश्वर है। इससे होने वाली जो चित्तशुद्धि है, उसके सिवाय और किसी चीज़ से मुझे मतलब नहीं।' अतः जैसे नौकर मालिक के लिए काम करता है वैसे ही वह ईश्वर के लिये करता है। किसी प्रकार की उसे फलों के प्रति आसक्ति का नाम-निशान नहीं रहता है। भाष्यकार तो यहाँ तक कहते हैं कि 'मोक्षेऽपि फले सङ्गं त्यक्त्वा' मोक्ष फल होवे यह भी आसक्ति छोड़कर कर्म करता है। केवल जो चित्त-शुद्धि होनी है, उसी के लिए करता है। जो सारे कर्मों को इस प्रकार से करता है, वह पाप से असंबद्ध रहता है। शास्त्रों में अनेक जगह पाप शब्द से पुण्य का भी संग्रह है। ऐसे साधक के कर्मों से चाहे पुण्य हो या पाप हो, दोनों का उसके साथ कोई संबंध नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता पानी के अंदर रहते हुए भी पानी से उसके ऊपर कोई गीलापना नहीं आता, उसी प्रकार कर्म करते हुए कर्म का फल ऐसे कर्मयोगी पर नहीं आता।

यदि इसी प्रकार से भगवान् की आज्ञा मान कर अर्जुन युद्ध करे तो उसे भी पाप नहीं होगायह भगवान् समझा रहे हैं। अर्जुन को शंका है कि बड़ों को मारने से क्या होगा? शास्त्रों में बतलाया है कि क्षत्रिय का क्या कर्म है। यदि तुमको यह कर्म पाप भी दीखता है पर ईश्वराज्ञा मानकर करते हो तो पाप होगा नहीं। बहुत-से ऐसे कर्म जीवन में होते हैं जिनको करते हुए पाप की सम्भावना लगती है, जैसे झाड़ू दोगे तो कीड़े मरेंगे, भोजन पकाओगे तो कीड़े मरेंगे। ऐसे स्थलों में लगता है कि हिंसा हो रही है। अतः उस दोष की

निवृत्ति के लिए पंच महायज्ञों का विधान किया, किन्तु उन्हीं के लिये, जो कर्मफल के साथ आसक्ति रखते हुए करते हैं। परन्तु परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करो तो जैसे परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करने पर तुमको पुण्य का फल नहीं होगा वैसे ही पाप का फल भी नहीं होगा। इसलिए यहाँ यह अर्थ नहीं समझ लेना कि 'पाप से युक्त नहीं होता है, पुण्य तो हो ही जाता है!' यह इसलिए याद दिलाते हैं कि बहुतों के मन में होता है कि अच्छा कर्म तो कृष्णार्पण हो जाएगा, बुरा कर्म कृष्णार्पण कैसे होगा! किन्तु जब नौकर की तरह करोगे तो अच्छे-बुरे सभी *कर्तव्य* कर्म ईश्वरार्पण ही होंगे। अतः कर्म करते हुए प्राप्त पाप से लेप नहीं होगा। कर्तव्यों से अतिरिक्त पाप तो तुम क्योंकि करते ही हो फलासक्ति से, इसलिए वे आसक्ति छोड़कर हो ही नहीं सकते। ऐसे कर्मों का फल होता ही है।

ईश्वरार्पण किये कर्म का फल तो केवल अन्तःकरण की शुद्धि मात्र है। सारे संसार का अधिपति जो परमेश्वर है उसमें ही कर्मों का आधान करके अर्थात् 'वही एकमात्र परमेश्वर है, सब चीज़ों का स्वामी है, मुझे तो उसने नौकर की तरह जिस काम में लगा दिया, मैं अपने स्वामी की प्रसन्नता के लिए आसक्ति छोड़कर वही कर्म करता हूँ। परमात्मा जो देगा उसी में मेरी तृप्ति है, मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। जो भी कर्म कर रहा हूँ वह केवल परमेश्वर के लिए कर रहा हूँ, वह मुझे ऋद्धि-सिद्धि देवे, मोक्ष देवे, या न देवे, सर्वथा मैं तो उसके अधीन हूँ।'इस निश्चय से करता है, ऐसा व्यक्ति, कर्मयोगी पाप और पुण्य दोनों से लिप्त नहीं होता। जैसे मालिक के लिए काम करनेवाला जो भी काम करता है, उसका फल मालिक के लिए ही है, अपने लिए है नहीं, इसी प्रकार परमात्मा ने जो आज्ञा दी है, उसके अनुसार चलता है, उसे चाहे पाप होवे या पुण्य होवे, वह परमात्मा का ही है, कर्मयोगी का नहीं। इस प्रकार जो कर्म करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।।१०।।

पूर्वोक्त विषय और स्पष्ट करते हैं

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

योगी लोग फलविषयक आसक्ति छोड़कर केवल अर्थात् ममतारहित शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियों से चित्तशुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

योगी चाहे शरीर से स्नानादि काम करे, चाहे इन्द्रियों से काम करेतीर्थ यात्रा, भगवान् के विग्रहों का दर्शन, स्तुति आदि करे, चाहे मन से परमात्मा के बारे में चिंतन करे, चाहे बुद्धि से उपनिषदों का ऊहा-पोह से क्या तात्पर्य है इसका निर्णय करते हुए उसके विरोध में जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसूत शंकाएँ हैं उन सबको निवृत्त करता रहे, सभी में संगरहित रहता है। केवल अर्थात् खाली इन्द्रियों से या केवल बुद्धि से, मन से, शरीर से कर्म नहीं होते, क्योंकि सभी के संमिलित प्रयास की ज़रूरत है, इसलिए 'केवलैः' का

मतलब है 'ममता से रहित होकर' अर्थात् केवल इनसे करता है, इनमें ममता रखकर नहीं करता। 'ये मेरे हैं इसलिए मेरी इच्छा के अनुसार चलें या मेरे लिए फल का सम्पादन करें'इस प्रकार की ममता से सर्वथा रहित होकर, केवल परमेश्वर के लिए ही काम करता है। 'केवलैः' शब्द को 'कायेन मनसा बुद्ध्या इन्द्रियैः' सभी के साथ समझ लेना चाहिए। 'अपि' शब्द के द्वारा इन सबका संग्रह है। इन सबके व्यापारों में ममत्व-भाव से रहित रहता है, न शरीर में ममता रखता है, न मन में, न बुद्धि में, न इन्द्रियों में। सभी की प्रवृत्ति में ममता से रहित रहता है।

इस प्रकार से कर्मयोग का अभ्यास करने वाला योगी 'सङ्गं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति' किसी भी प्रकार के फल के बारे में आसक्ति किए बिना अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करता है। भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि तेरा अन्तःकरण शुद्ध नहीं होने से इसी कर्मयोग में तेरा अधिकार है, इसलिए ईश्वरार्पण बुद्धि से ही युद्धादि कर्मों को कर, यह सोचना छोड़ दे कि तेरे हाथ से कौन मरेगा, या किस राज्य को प्राप्त करेगा; यह सब छोड़ कर केवल मन की शुद्धि के लिए ये सारी प्रवृत्तियाँ, इस भाव से कर कि 'केवल ईश्वर के लिए, ईश्वर की इच्छा के अनुसार करता हूँ'।।११।।

उक्त प्रकार से कर्म करने का फल बताते हैं

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

कर्मफल की इच्छा छोड़कर जो इस पर समाहित रहता है कि 'ईश्वर के लिये कर्म कर रहा हूँ न कि अपने लिये', वह अन्ततः ज्ञाननिष्ठा में होने वाली शान्ति पा जाता है। जो उक्त भाव पर एकाग्र नहीं होता और कामना की प्रेरणा से फल में आसक्ति रखता है, वह कर्मफल के पाश में बाँध लिया जाता है।

'युक्तः' योग करने वाला अर्थात् 'ईश्वर के लिए कर्म करता हूँ, किसी फल के लिए नहीं' इस भाव में स्थित। कई बार लोगों को यह शंका होती है कि 'काम करते हैं पर काम ठीक से नहीं हुआ तो क्या होगा?' किंतु निश्चय रखना चाहिये कि परमेश्वर ने जो आज्ञा दी है उसके अनुसार काम करना है, उसका फल परमेश्वर का है। कर्म से फल उत्पन्न नहीं होगायह मतलब नहीं है। कर्म से फल तो उत्पन्न होगा परंतु तुम दृढ रहो कि 'उसको मैं नहीं लूंगा, मेरे काम का नहीं है।' वैसे ही, जिस प्रकार दुकान में बैठा हुआ मुनीम व्यापार में फ़ायदा तो करता ही है परन्तु 'फ़ायदा मेरा है', यह बुद्धि नहीं रखता, मालिक को दे देता है। इस संकल्प में चित्त को एकाग्र रख कर, कर्म के फल को छोड़ कर, कर्मयोग करने वाला ब्रह्म-निष्ठा से होने वाली शान्ति को प्राप्त करता है। इसके लिये इतना ऊपर से समझनाअन्तःकरण की शुद्धि, फिर श्रवण मनन से ज्ञान-प्राप्ति, फिर सर्वकर्मसंन्यास और तब ज्ञान-निष्ठा प्राप्त करता है, इस क्रम से शान्ति को प्राप्त करता

है। केवल कर्मफल छोड़ करके कर्म करने मात्र से प्राप्त नहीं करता, लेकिन उसको करके अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त करके, श्रवण मनन आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके, फिर अकर्तृत्व आत्म-बोध से सर्वकर्मसंन्यास करके, ज्ञान-निष्ठा में स्थिर होकर ज्ञान-निष्ठा से होने वाली शान्ति को प्राप्त करता है।

उससे विपरीत 'अयुक्तः', जो इस प्रकार के योग का अभ्यास नहीं करता है, योगी नहीं है, वह 'कामकारेण', चाहे शास्त्रीय कर्म करे चाहे अशास्त्रीय कर्म, कामना के द्वारा ही प्रेरित होकर करने वाला बनता है, कामना ही उससे करवाती है। कामना कभी शास्त्रीय कर्म करवाती है, कभी अशास्त्रीय कर्म करवाती है। कामना है 'मैं मुकदमा जीत जाऊँ'। वकील कहता है 'बिना झूठ बोले नहीं जीत सकोगे', तो झूठ बोलता है, अशास्त्रीय कर्म कर लेता है। ऐसे ही स्वर्गादि जाने की कामना है इसके लिए ज्योतिष्टोम कर लेता है, शास्त्रीय कर्म कर लेता है। कामना के द्वारा करने के कारण उसको फल में आसक्ति रहती है। योगी का तो मानना है कि परमात्मा ने सत्य बोलने का नियम किया है, मुकदमा हारें तो, जीतें तो, यह भगवान् का विषय है। अतः वह फल में आसक्त नहीं होता है, उसकी प्रवृत्ति कामना से नहीं होती। जिससे कामना के द्वारा कराया जाता है और फल में आसक्त रहता है वह नैष्ठिक शान्ति को प्राप्त नहीं करता। वह असमाहित है इसलिए कामना से प्रेरित होने के कारण संसार के चक्र में, जन्म-मरण के चक्र में बँधा ही रहता है।

भगवान् का तात्पर्य अर्जुन को समझाना है कि तू योग का अभ्यास कर, क्रम से नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त हो जाएगी। अगर ऐसा न करके अपनी कामना के अनुसार करेगा तो बंधन को ही प्राप्त होगा।।१२।।

परमार्थदर्शी कैसे क्या करता है? इसे भगवान् कहते हैं

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

(ब्रह्मवेत्ता) देही समस्त कर्मों को विवेकबुद्धि द्वारा छोड़कर नौ द्वारों वाले पुर (शरीर) में स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से न कुछ करते हुए, न कराते हुए, जितेन्द्रिय होकर निरायास प्रसन्न रहता है।

नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्धिसभी कर्मों को छोड़ देता है तो देहादि का व्यापार कैसे होता है? अतः कहा 'मनसा संन्यस्य।' विवेक बुद्धि के द्वारा छोड़ता है अर्थात् शरीरादि के करने पर भी करने वाला नहीं बनता। विवेक बुद्धि से जानता है कि 'ये अपने विषयों में प्रवृत्त हो रहे हैं, मेरा इस प्रवृत्ति से कुछ लेना देना नहीं है।' जो कर्म हो रहा है उसमें उसको निरन्तर अकर्म-दर्शन रहता है। वह सुखपूर्वक रहता है अर्थात् कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, देह सबकी चेष्टाओं को छोड़ा हुआ होने से निरायास प्रसन्न रहता है। इन सबसे जब चेष्टा करता है तभी आदमी को परिश्रम होता है, थकावट होती है। वह इनसे

कर नहीं रहा है इसलिऐ आयासरहित है, अतः निरंतर सुख का अनुभव करता है, प्रसन्नचित्त रहता है। जब तक कोई प्रयोजन अपने सामने है तब तक मन में आयास रहता है। क्योंकि तत्त्वज्ञ के बाह्य सारे प्रयोजन निवृत्त हो गए, कोई भी प्रयोजन है नहीं, आत्मा ही एकमात्र इसका प्रयोजन था और वह प्राप्त हो गया, इसलिये शरीरेन्द्रियों की चेष्टा न होने से भी निरायास है क्योंकि शरीर इन्द्रियाँ जो करती हैं उनमें 'मैं तो कर-करवा नहीं रहा' यह उसे बोध है; और कोई प्रयोजन सामने न होने से मन में भी कोई आयास नहीं है। इन्द्रियाँ मन इत्यादि के ऊट-पटांग आचरण से भी आयास हो सकता है, उसके भी निषेध के लिये कहावशी। उसने पहले ही इन सबको अपने वश में कर लिया है अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के समय ही कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरण, सबके ऊपर इस का वश हो गया है अतः मनमानी प्रवृत्ति ये कर नहीं सकते और स्वयं वह प्रवृत्ति कराता नहीं है।

सब आयास छोड़ कर कहाँ रहता है? 'नवद्वारे पुरे', सात छेद सिर में हैंदो आँखें, दो कान, दो नासिकायें और एक मुँह, ये सात सिर में होने वाले द्वार हैं, इन्द्रियाँ हैं। मल मूत्र के निःसरण के दो दरवाज़े नीचे हैं। इस प्रकार नौ दरवाज़ों वाले पुर में, शहर में, अर्थात् शरीर में रहता है। पुर में राजा रहता है, पुर के अन्य रहने वाले सब प्रकार के कार्य करते हैं और राजा कुछ नहीं करता। इसी प्रकार इस पुर के अंदर आत्मा रहता है, इन्द्रियादि सब कार्य करते हैं परन्तु आत्मा तो अकर्त्ता है, कुछ नहीं करता। जब तक आत्मा इसको 'मेरा पुर' ऐसा मानता है तब तक सब उसके लिए प्रवृत्ति करते हैं, वह सबका प्रवर्तक है। परन्तु जब उसका कोई प्रयोजन नहीं रह गया, तब वे कुछ नहीं करते। इसलिऐ कहा कि कुछ करता नहीं है, न इन्द्रियादि से कुछ करवाता है।

एक शंका होती है कि जितने जीव हैं सभी तो शरीर में रहते हैं, चाहे संन्यासी हों, चाहे असंन्यासी हों। तो भगवान् का यह कहना कि 'शरीर में रहता है' किस अभिप्राय से है? वस्तुतः यदि अज्ञानी से तुम प्रश्न पूछते हो कि 'तुम कहाँ बैठे हो?' तो कहता है, 'मकान में बैठा हूँ, तख़्त पर बैठा हूँ, ज़मीन पर बैठा हूँ।' यही सब कहता है क्योंकि शरीर को अपना आत्मा मानने के कारण शरीर जहाँ बैठा है, वहाँ 'मैं बैठा हूँ', ऐसा मानता है। जबकि जो सर्वकर्मसंन्यासी है वह शरीर इत्यादि को अपना आत्म-स्वरूप नहीं मानने के कारण, शरीर जहाँ बैठा है वहाँ 'मैं बैठा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं करता वरन् 'मैं शरीर में बैठा हूँ' यही उसे लगता है। जो देहमात्रात्मदर्शी है, वह शरीर में बैठा नहीं है, शरीर-रूप होकर बैठा है, किंतु तत्त्वज्ञ शरीर में बैठा है क्योंकि शरीर-रूप होकर नहीं रहता। देहादि संघात से अतिरिक्त जो अपने आत्म-स्वरूप का अनुभव करता है उसको ही यह प्रतीति होती है कि 'मैं शरीर में बैठा हूँ।' अपने से अन्य कोई काम करे तो उसमें किसी को यह अध्यारोप नहीं होता 'मैंने किया'। चोर ने चोरी की तो किसी भी घरवाले को नहीं लगता कि 'मैंने चोरी की।' जब अज्ञान के द्वारा अपने अंदर अध्यारोपित कर

लेता है, अध्यास कर लेता है, कि 'यह मैं हूँ', तभी दूसरे का किया भी लगता है कि 'मैंने किया।' जब ज्ञान के द्वारा विवेक विज्ञान स्पष्ट हो जाता है कि शरीरादि मैं नहीं हूँ तब फिर शरीरादि के करने से 'मैंने किया' यह बोध नहीं हो सकता। इस प्रकार जिसे विवेक, ज्ञान उत्पन्न हो गया है वह सर्वकर्मसंन्यासी ही होता है। अतः शरीर में बैठा हैइस का तात्पर्य है कि आत्म-ज्ञान का अनुभव प्रारब्ध द्वारा प्राप्त भोगायतन के अंदर ही होता है, जहाँ बैठ कर ज्ञान हुआ है, ज्ञानी वहीं रहता है। प्रारब्ध कर्म के जो अवशिष्ट भोग हैं, उन को वहीं भोगकर नष्ट कर देता है। न कहीं बाहर जाता है न कहीं अंदर जाता है, जहाँ बैठा है, वहीं प्रारब्ध शेष के कारण रहता है। वह शरीर में बैठा है ऐसा है नहीं, पर जिस जगह बैठ कर उसको ज्ञान हुआ, उस जगह के संस्कार अभी हैं, बस इतने मात्र से वह शरीर में बैठा हुआ है, इसलिए उस शरीर के अंदर जो विशेष विज्ञान हो रहे हैं उनको वह देखता रहता है। जो अज्ञानी है वह इस प्रकार के अध्यास से रहित नहीं होने से शरीर के साथ एक होकर घर, आसन, ज़मीन इत्यादि पर बैठा रहता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों शरीर में होने वाले विशेष विज्ञानों का अनुभव करते हुए भी दोनों की प्रतीति में भेद है।१३।।

कुछ लोगों का कहना है कि ऐसा नहीं कि 'आत्मा वहाँ हैइतने मात्र से शरीर आदि कर्म कर रहे हैं। आत्मा के होने से इनकी प्रवृत्ति है क्योंकि वह करवाता है।' किन्तु वस्तुतः आत्मा इनसे करवाता नहीं है। अज्ञानी में भी आत्मा करवाता नहीं है, आत्मा तो अध्यास के कारण उनके करने पर अपने को करने वाला और करवाने वाला मान लेता है। जिस प्रकार तेज़ गाड़ी में बैठ कर आते हैं, गाड़ी खड़ी हो जाती है तब उस तेज़ गति के संस्कार से थोड़ी देर तक लगता रहता है कि चल रहे हैं। बहुत बार तो उतरने के बाद भी लगता रहता है कि चल ही रहे हैं! ठीक इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म भोग करते हुए ही अध्यास-निवृत्ति होकर अकर्त्तापन में स्थिति हुई। प्रारब्ध भोग के जो संस्कार हैं, उनके कारण प्रतीति होती रहती है कि कुछ हो रहा है। आत्मा में वस्तुतः न कर्त्तापना है, न वह करवाता है। तब एक शंका होती है कि श्रुतियों के अंदर परमात्मा को करवाने वाला कहा हैजिसको ऊपर ले जाना चाहता है, उससे पुण्य कर्म करवाता है, जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे पाप कर्म करवाता है; अतः क्या परमात्मा को कारयिता मान ही लें? भगवान् समाधान देते हैं

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

देहादि लोक के कर्तृत्व और कर्म को प्रभु उत्पन्न नहीं करता, न कर्म के फल से संबंध ही उत्पन्न करता है, किंतु अविद्यारूप प्रकृति ही प्रवृत्त होती रहती है।

प्रभुसबका मालिक परमात्मा दोनों दृष्टियों से प्रभु हैसारे संसार के रूप में वही

बना इसलिए प्रभु है और सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला होने से भी प्रभु है। किंतु दोनों ही बातें परमात्मा में बनती नहीं हैं। लोगों में कर्त्तापने को वह उत्पन्न नहीं करता, वह जीवों को कर्त्ता नहीं बनाता है कि 'तुम करो।' और कर्मजो यह सारी सृष्टि है, जिसको लेकर के सारे कर्म होते हैं, उसे भी वह नहीं बनाता। न जीव में कर्तृत्व का आपादन करता है और न रथ आदि का निर्माण करके उनकी प्रवृत्ति का हेतु बनता है। 'न कर्मफलसंयोगं' कर्म और फल का संयोग भी करने वाला वह नहीं है। न वह जीव में कर्त्तापना लाता है, न भोग्य पदार्थों का निर्माण करता है और न कर्म के फल का संयोग करके उनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति का हेतु बनता है।

करने वाला है कौन? 'स्वभावस्तु प्रवर्त्तते' स्वभाव प्रवृत्त हो रहा है। भगवान् गौडपादाचार्य ने बताया कि परमात्मा में कोई स्पृहा हो नहीं सकती, इसलिए उसकी प्रवृत्ति संभव नहीं, स्वभाव को ही कारण मानना ठीक है। जीव का स्वभाव है अविद्या। जीव, जीव है क्यों? अविद्या वाला है इसलिए। उसकी स्वभावरूप वह अविद्या ही उसको प्रवृत्त कर देती है। इसी प्रकार परमेश्वर, परमेश्वर है क्यों? उसका स्वभाव क्या है? समष्टि अविद्या या माया ईश्वर का स्वभाव है। वह जो सृष्टि, स्थिति, लय, फलदान इत्यादि करते हुए दीखता है, वह सब माया के कारण। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाली केवल अविद्या है, माया है। इसी को आगे (७.१४) भगवान् कहेंगे 'दैवी ह्येषा गुणमयी'। स्वभाव का मतलब यहाँ अविद्या है। जब तक वह है तब तक करना-कराना है और अविद्या की निवृत्ति होने पर कहीं कुछ भी न हुआ है, न होता है।

वस्तुतः परमात्मा जीवों में कर्तृत्व आपादन करने वाला नहीं है। प्रतीति यही होती हैआत्मा शरीर में है इसलिए करता है, मुर्दा हो गया, आत्मा निकल गया, इसलिए कुछ नहीं करता। पर वस्तुतः सर्वव्यापक होने से आत्मा तो मुर्दे में भी है ही! यदि आत्मा का कर्त्तापना होता तो सर्वव्यापक होने से मुर्दे में भी आत्मा है तो वह भी करता। मुर्दे के अंदर सूक्ष्म शरीर नहीं है। सूक्ष्म शरीर का भाग है अन्तःकरण, और अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति में चेतन का आभास पड़ता है, वह चिदाभास ही सब कुछ करने वाला है। क्योंकि चिदाभास चित् के कारण है इसलिए कह दिया जाता है कि आत्मा के कारण सब कुछ हुआ, परन्तु वस्तुतः आत्मा का जब अहंकार की वृत्ति में चिदाभास पड़ता है तब शरीर में कर्तृत्व रहता है। अन्तःकरण अथवा अन्तःकरण का कारण अविद्या जीव की उपाधि है। आत्मा के बिना अन्तःकरण नहीं कर सकता यह तो ठीक है, परन्तु आत्मा में कर्तृत्व नहीं है, अहंकार के अंदर प्रतिबिम्बित होने पर उस प्रतिबिम्ब से सारा कर्तृत्व है। आत्मा में कर्तृत्व नहीं है। आत्मा का कर्तृत्व अहंकारात्मिका वृत्ति को लेकर है, अहंकारात्मिका वृत्ति ही जीव का स्वभाव है। 'मैं' यह अनुभव जो करता है, वही जीव है। इसलिए कहा 'स्वभावस्तु प्रवर्तते।'

जैसे आत्मा करता नहीं है वैसे ही आत्मा ने सृष्टि के सारे पदार्थ बनाए भी नहीं। सब

कुछ परमात्म-रूप है, इसका मतलब है कि घट पट आदि सभी में परमात्मा है, तब ये चीज़ें प्रतीत होती हैं। जैसे रस्सी है तो साँप जलधारा, दण्डा, सब दीखते हैं परंतु उनको वह रस्सी *बनाती* तो नहीं है। बिना रस्सी के वे बन नहीं सकते,इसलिए कहा जाता है कि रस्सी ही साँप को बनाने वाली है, परन्तु वस्तुतः रस्सी साँप को नहीं बनाती। रस्सी का जो अज्ञान है, उस अज्ञान की जो विक्षेप-शक्ति है, वही सर्प इत्यादि का निर्माण करती है। इसी तरह, जो व्यापक आत्मा का अज्ञान है, माया है, उसकी विक्षेप शक्ति से सारा जगत् बनता है। वह माया परमेश्वर का स्वभाव है, इसलिए कहा जाता है कि परमेश्वर ने बनाया। परमेश्वर है, इसलिए माया से बनता है। जैसे जीव के संबंध में, अंतःकरण की उपाधि मात्र कर्त्ता नहीं, अन्तःकरण की उपाधि में पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब है, वही कर्ता है, इसी प्रकार माया-उपाधि से विशिष्ट जो चेतन है वही सब पदार्थों को बनाने वाला है। उसका स्वभाव माया है जिसकी यह सब प्रवृत्ति है।

कर्म-फल-संयोग भी आत्मा नहीं करता। परमेश्वर की सिद्धि में सबसे बड़ा कारण ही दिया जाता है कि अगर परमेश्वर नहीं हो तो कर्मफल की संगति नहीं बैठेगी। कर्म तो जिस क्षण में किया गया उसी समय नष्ट हो गया, अतः कर्म खुद कालान्तर में फल दे नहीं सकता क्योंकि वह कर्म नष्ट हो चुकता है। उस कर्म से एक अपूर्व माना जाए, उस अपूर्व के अंदर किस समय फल देगा, किस जगह फल देगा आदि निर्धारण-सामर्थ्य मानी जायेये सब कल्पनाएँ करने की अपेक्षा ईश्वर को फल देने वाला मानने से सारी चीज़ें संगत हो जाती हैं। अतः उसको कर्मफलसंयोग कराने वाला कहते हैं। परन्तु कर्मफल-संयोग कराने वाला वह कैसे है? माया की शक्ति है जिससे कर्म और कर्मफल का संबंध होता है। कर्म के फल का जब समय होता है तभी माया से वह पदार्थ उपस्थित हो जाता है। माया बिना परमात्मा के स्वतः कार्य नहीं कर सकती, इसलिए कहा जाता है कि परमात्मा ने फल दिया, परंतु वस्तुतः उस माया के अंदर ही फल देने की वृत्ति है। इसलिए कर्मफल-संयोग भी आत्मा का *स्वरूप* नहीं है। माया के कारण परमेश्वर में फलदान की सामर्थ्य है।

इसलिए चाहे कर्तृत्व हो, चाहे कर्म हो, चाहे कर्मफल-संयोग हो, इन सबको करने वाला एकमात्र अज्ञान ही है। जिस आज्ञन ने अन्तःकरण का स्वरूप लिया है, वह जीव-भाव की उपाधि हो जाता है और जो अज्ञान समष्टि-रूप से विद्यमान है, वह अज्ञान ईश्वर की उपाधि हो जाता है। इसलिए कहा 'स्वभावस्तु प्रवर्तते।'।।१४।।

आत्मा कर्ता-कारयिता नहीं है तो बुद्धि से कर्म करना, परमेश्वर की पूजा करना, अर्चना करना, उससे क्षमा-याचना करना इत्यादि क्यों किया जाता है? उत्तर है कि सब पारमार्थिक दृष्टि से नहीं है, व्यावहारिक दृष्टि से है। व्यावहारिक आत्मा हो गया जीव और ईश्वर। इसलिए जब तक व्यावहारिक जीव हैं, तब तक व्यावहारिक ईश्वर है, तब तक ईश्वर शासन करने वाला है, जीव शासन में रहने वाला है। परन्तु एक बार अज्ञान की

निवृत्ति हो जाने पर उस परमात्म-भाव के अंदर न आवरण है, न विक्षेप है। परमार्थ-स्थिति यह है

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

व्यापक चेतन न किसी का पाप ग्रहण करता है, न पुण्य। अज्ञान से विवेक-विज्ञान ढका होने से जन्तु इस मोह में पड़े रहते हैं कि हम करते-कराते, भोगते-भुगवाते हैं।

'विभुः' जो विशेष रूप से, ईश्वर रूप से प्रतीत होता है। संसार के सारे रूपों को उसने धारण किया है। माया के अंदर ईक्षण में प्रतिबिम्बित हुआ अर्थात् माया उपाधि वाला तो वह सारे जगत् का कारण है, विष्णु शंकर आदि रूपों के अंदर वही सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, कर्मफलदाता इत्यादि है, यों विभिन्न विशेष रूपों वाला होने से विभु है। जिस प्रकार सारे सूक्ष्म शरीर में आत्मा एक जैसा रहता है, फिर भी 'मैं' इस वृत्ति के अंदर ही उसका विशेष प्रकाश होता है, है वह प्राण में, इन्द्रियों में भी, पर विशेषरूप से चेतनता का भान हमेशा 'मैं चेतन हूँ' इस वृत्ति में होता है; इसी प्रकार कण-कण और क्षण-क्षण में परमेश्वर है, वह सूअर के शरीर में भी वैसा ही है जैसा ब्रह्मा के शरीर में, परन्तु जैसा उसका विशेष प्रकाश विष्णु शंकर आदि रूपों में प्रतीत होता है वैसा अन्यत्र प्रतीत नहीं होता। उस विभु की ही सब लोग उपासना, ध्यान-धारणा आदि करते हैं। वर्तमान में बहुत से ऐसे लोग होते हैं जो कहते हैं कि जब परमात्मा सर्वरूप है तो बाल गोपल में भी वही परमात्मा है, उन्हीं की सेवा पर्याप्त क्यों नहीं? सर्वत्र विद्यमान परमात्मा है, इसमें संदेह नहीं, परन्तु जहाँ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वसामर्थ्य, आदि रूपों की प्रतीति होती है वहीं वह आराधनीय है, पूजनीय है। उस विभु की पूजा करते हैं तो कहते हैं 'भगवान् हमारे पाप क्षमा कर देना'। वास्तव में वह किसी का भी पाप ग्रहण नहीं करता है। आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं कि चाहे जितना भक्त होवे, उसका पाप परमात्मा लेता नहीं है, ग्रहण नहीं करता है। जब हम पुण्य करके कहते हैं 'कृष्णार्पणमस्तु' तब भी वह लेता नहीं।

इसे दृष्टान्त से समझो : काँच में तुम्हारा प्रतिबिम्ब पड़ता है। तुमने बिम्बरूप अपने सिर के ऊपर चंदन की टीकी लगाई तो प्रतिबिम्ब पर स्वतः लग जाती है। और यदि तुम टीकी को प्रतिबिम्ब के ऊपर लगाने की चेष्टा करो, काँच की तरफ हाथ ले जाकर लगाने की चेष्टा करो, तो प्रतिबिम्ब पर टीकी लगती नहीं, काँच पर रह जाती है! बिम्ब पर टीकी लगाते हो तो प्रतिबिम्ब पर पहुँच जाती है, पर प्रतिबिम्ब पर टीकी लगाते हो तो प्रतिबिम्ब पर पहुँचती नहीं, काँच में अर्थात् उपाधि में रह जाती है। इसी प्रकार तुमने जो सुकृत किया वह अगर तुमने परमेश्वर के अर्पण कर दिया, बिम्ब के अर्पण कर दिया, तब तो वह सुकृत तुम्हारी वास्तविक शोभा का कारण हो जाता है। तुम्हारी वास्तविक शोभा है अज्ञान की निवृत्ति होकर स्वप्रकाश स्वरूप की प्राप्ति। जो तुमने अपना सुकर्म परमात्मा के अर्पण

किया, वह तो तुम्हारे चेहरे के प्रतिबिम्ब की भी शोभा का कारण बन जाता है। और अगर तुमने टीकी प्रतिबिम्ब पर लगाने की चेष्टा की तो वह काँच पर रह जाएगी प्रतिबिम्ब पर नहीं जाएगी; इसी प्रकार यदि तुमने सुकृत किया और खुद उसका फल चाहा, तो वह फल अहंकार से लेकर देह पर्यन्त जो तुम्हारी उपाधि है, उसके साथ ही रह जाएगा। अर्थात् उसका फल शरीर से लेकर अहम् पर्यन्त तो मिलेगा, परन्तु तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को मिलेगा नहीं। जो यह कहा जाता है कि परमेश्वर तुम्हारा सुकृत लेते हैं, उसका मतलब इतना ही है कि वह सुकृत तुम्हारी चित्तशुद्धि में उपयुक्त हो जाता है, सारे कर्मों का जो वास्तविक फल है आत्म-स्वरूप में स्थिति, उसके लिए वह सहायक हो जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि पाप यदि परमात्मा के अर्पण करें तो क्या होगा? पहले तो पाप परमात्मा के अर्पण करने का कोई विशेष विधान है नहीं। उसका मतलब इतना ही हो सकता है कि यदि तुम परमेश्वर का आश्रय कर लेते हो तो उस पाप का फल तुम्हारे आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति का बाधक नहीं बनता। उपाधि को तो फल मिलेगा, आत्मा को फल मिलेगा नहीं क्योंकि वह उपाधि तक ही रहेगा, आत्मा को कभी प्राप्त होगा नहीं। इसलिए कहा जाता है कि वह तुम्हारे पाप को जला देता है, नष्ट कर देता है। यहाँ भगवान् ने कहा है 'न आदत्ते', ग्रहण नहीं करता है अर्थात् तुम्हारे पाप का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता।

फिर भगवान् पर तुम जल चढ़ा के, चंदन चढ़ा के, भस्म चढ़ा के पूजा किसलिए करते हो, अथवा वेद-पाठादि, स्तुति-पाठादि किसलिए करते हो, अथवा दान आदि क्यों करते हो, होम आदि क्यों करते हो, क्या प्रयोजन है उसका? 'अज्ञानेन ज्ञानम् आवृतम्' अज्ञान के द्वारा जो तुम्हारा वास्तविक विज्ञान है, कि वह परमात्मा ही एकमात्र देव है, उस को तुमने अब तक समझा नहीं इसलिए 'मैं करता हूँ, परमात्मा करवाने वाला है, फल देने वाला है', यह अज्ञान मौजूद है, इसलिए करते हो। जब तक 'मैं जीव हूँ' तब तक शासन करने वाला ईश्वर रहेगा ही, जीवभाव के रहते ईश्वर-भाव जा नहीं सकता। प्राणिमात्र निरंतर दो चीज़ों को अनुभव करते हैंकई कामों में हमारा स्पष्ट अनुभव है 'मैं करूँगा तो होगा।' जबरदस्ती तुम हमारे मुँह में कौर डाल सकते हो परंतु मैं निगलूँगा तभी नीचे जाएगा! यहाँ स्वतंत्रता का बोध होता है। छठी भूमिका तक उपाधि के साथ संबंध है तो मुँह में डाला हुआ निगल लेता है और सप्तम भूमिका में जब उपाधि के साथ कोई संबंध नहीं रहता तब मुँह में डाला हुआ वहीं पड़ा रहता है, निगला भी नहीं जाता। अनेक स्थलों में यही अनुभव होता है कि 'मैं करूँगा तब होगा।' अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ अनुभव है कि 'मैं परतंत्र हूँ।' बहुत स्थल ऐसे आते हैं। गाड़ी बिल्कुल धीमे चला रहे हो, एक तरफ से बड़ा ट्रक आ जाये, बिल्कुल सिर के ऊपर आ जाये तो क्या कर सकते हो? यही लगता है कि परतंत्र हैं। ऐसे स्थल में यदि अकस्मात् बचाव हो जाता है तो सबके मन में यही होता है कि भगवान् ने बचा लिया। उस समय यह प्रतीति नहीं होती है कि 'मैंने बचा

लिया।' स्वतंत्रता की और परतन्त्रता की हर मनुष्य को प्रतीति होती है। जब तक जीवभाव है तब तक ये प्रतीतियाँ रहेंगी। परतंत्रता का कारण तो मेरा स्थूल सूक्ष्म शरीर है, स्वतंत्रता का कारण कौन है? ईश्वर है। जीवभाव के रहते ईश्वरभाव भी निवृत्त नहीं होता। तब तक अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत है, सच्चिदानन्द रूप मैं हूँयह ज्ञान आवृत है। यहाँ गीता में अज्ञान की आवरण-शक्ति स्पष्ट कह दी।

उस आवरण के कारण ही प्राणी मोह में पड़ते हैं कि 'मैं करता हूँ, मेरे द्वारा करवाया जाता है, मैं भोग करता हूँ, मेरे द्वारा भोग करवाया जाता है।' किसी के घर चला गया, उसने दाल का सीरा खिला दिया। वहाँ भी मैं खाता हूँ, पर साथ में अनुभव होता है, कि 'उसने मुझे खिला दिया।' कई बार यदि पेट खराब हो जाता है शाम को, तो सवेरे परोसने वाले से कहते हैं 'तूने मेरा पेट खराब कर दिया, मुझे ज़बरदस्ती खिला दिया।' क्या मुँह में ठूस कर उसने तुम्हारी नाक पकड़ी थी? फिर भी अनुभव यही होता है कि मुझे खिला दिया। खाता हूँ, खिलाता हूँ, करता हूँ, करवाता हूँमुझे ये अनुभव होते हैं। यही जीवभाव है, यही मोह है, क्योंकि वस्तुतः आत्मा न करता है, और न कराता है। जब तक जीवभाव है तब तक परमेश्वरार्पण इत्यादि सब कर्त्तव्य ही हैं परन्तु हैं सारे व्यावहारिक, पारमार्थिक नहीं हैं।।।१५।।

सभी का ज्ञान आवृत है तो संसार से निवृत्ति कैसे होगी? इस पर भगवान् कहते हैं

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

जिनका वह अज्ञान आत्मविषयक ज्ञान से नष्ट हो चुकता है उनके लिये वह ज्ञान उस परम तत्त्व को वैसे ही प्रकाशित कर देता है जैसे आदित्य सारे रूपों को प्रकाशित कर देता है।

जीव कर्त्ता है, ईश्वर कारयिता है आदि तरह से आत्मा में जीव-ईश्वर भावों की प्राप्ति कराने वाला ज्ञान जिन प्राणियों का नष्ट हो चुकता है उन्हें परमार्थ वस्तु का स्फुट अवभास रहता है। जीव-ईश्वरभावों के भेद का अध्यास कराने वाला, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि मोह कराने वाला अज्ञान तत्त्वमस्यादि वाक्य से नष्ट होता है। आत्म-विषयक ज्ञान के द्वारा वह अज्ञान नष्ट होता है। आत्मा के बारे में ही अज्ञान है अतः आत्मा का ज्ञान होने पर ही वह नष्ट हो सकता है। इसी को वेदान्त की शास्त्रीय भाषा में मूलाज्ञान कहते हैं। आत्म-विषयक तत्त्वमस्यादि वाक्य से होने वाले ज्ञान से जिनका अज्ञान नष्ट हो गया वे परमार्थदर्शी हैं। जब तक अज्ञान है तब तक सारे व्यावहारिक कार्य हैं। व्यावहारिक भूमि पर पारमार्थिकता नहीं हो सकती, यह हमेशा याद रखना चाहिए। सपने की प्यास मिटाने के लिए सपने का कुआँ ही काम आएगा। तुम सपने के अंदर थार के जबरदस्त रेगिस्तान में जा रहे हो, भयंकर धूप पड़ रही है, ज़ोर की प्यास लगी हुई है, तुम्हारे सिरहाने रखा

हुआ बादले का गुलाब जल से सुंगधित ठंडा पानी सच्चा है पर तुम्हारे सपने की प्यास को मिटा नहीं सकता! सपने की प्यास बुझाने के लिए तो तुमको जब तक सपने का पानी नहीं मिलेगा, तब तक प्यास बुझेगी नहीं। इसी प्रकार व्यवहार की भूमि में तुम्हारा पारमार्थिक स्वरूप व्यवहार की भूमि के सुख दुःख को मिटा नहीं सकेगा। उसके लिए तो व्यावहारिक भूमि के परमेश्वर की ही आराधना, पूजा, दान, होम फल देने वाले होंगे। पारमार्थिक दृष्टि से सारा ज्ञान तुम्हारे पास है परन्तु वह काम का नहीं है जब तक तुम व्यवहार भूमि में हो। जिनका अज्ञान नष्ट हो गया, वे परमार्थ भूमि में स्थित हैं, उनको सदा परमार्थ का अनुभव रहता है। जैसे सूर्य का तेज प्रकाश कहीं अंधकार को नहीं रहने देता वैसे ही मूलाज्ञान के नष्ट होते ही कैसा भी अज्ञान व उसका कार्य वास्तव में रह नहीं जाता। वह जो परम परमार्थ तत्त्व है, परमात्म तत्त्व है, जीव-ईश्वर विभाग से रहित आत्म-स्वरूप है, वही प्रकाशित होता है, प्रकाश रूप से रहता है। आदित्य जो है उस सबको प्रकाशित कर देता है, सब स्पष्ट हो जाते हैं। अज्ञान के कारण जो बिना हुए प्रतीत होते थे उन्हें सूर्य प्रकाशित नहीं करता। सूर्य ठूंठ को तो प्रकाशित कर देता है पर उस ठूंठ में जो भूत दीखा था अंधेरे में, वह भूत सूर्य के प्रकाश में भी दीखता है क्या? यह नहीं कह सकते कि सूर्य सबका प्रकाशक नहीं है क्योंकि सबका प्रकाशक होता तो ठूंठ के भूत को भी दिखलाता! इसी प्रकार जो सच्चिदानन्द है वह सारा प्रकाशित हो जाता है पर अज्ञानरूप अंधकार से जो कल्पित पदार्थ हैं वे परमार्थ ज्ञान से प्रकाशित नहीं होंगे। जो परमात्म तत्त्व है, वह सूर्य की तरह सब चीज़ों को प्रकाशित कर देता है अर्थात् जो चीज़ है उसको प्रकाशित कर देता है।।१६।।

इसकी प्राप्ति कैसे होती है? ज्ञान कब उपलब्ध होता है, जो मूलाज्ञान को नष्ट कर देता है? उसके साधन का निरूपण करते हैं

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

जिनकी बुद्धि परमात्मा में ही लगी है, उसे ही जो अपना आत्मा जानते हैं, सब कर्म छोड़ कर उसी परमात्मस्वरूप से रहते हैं, उसी में जिन्हें रति है, ज्ञान से जिन्होंने अज्ञानरूप दोष मिटा दिया है, वे वह स्थिति प्राप्त करते हैं जहाँ फिर देह से संबंध नहीं है।

'तद्बुद्धिः' उसके विषय में ही जिनका निरंतर विचार चलता है, बुद्धि उसी का निश्चय करने में लगी रहती है। हम लोग असत् का निर्णय करने में लगे रहते हैं, घंटों लग जाते हैं इस चर्चा में कि प्रधान मंत्री यह बनेगा कि वह बनेगा! जहाँ थोड़ा आत्मा का विचार होने लगे, वहाँ आधे घंटे के बाद सिर में दर्द हो जाता है, कहते हैं 'अब बहुत हो गया, ज़रा हल्की-फुल्की बातें कर लो।' तो हमें अपुनरावृत्ति की प्राप्ति कैसे होवे? निरन्तर जो परमात्म-विषयक विचार में, परमात्मा के स्वरूप के विचार में ही लगे रहते हैं वे ही मुक्त

होते हैं। परमात्मा के विचार में बहुत-से उपासक द्वैतवादी लगे रहते हैं। वे रात-दिन परमेश्वर के चरित्रों का पुराणों के द्वारा विचार करते हैं। विचार तो परमात्मा के विषय में ही करते हैं पर परमात्मा के नाम-रूप का करते हैं, स्वरूप का ही नहीं करते। अतः कहते हैं 'तदात्मानः'विचार कैसा करना है? जो परब्रह्म है, वही मेरा वास्तविक स्वरूप है। जिस ब्रह्म का विचार कर रहे हैं, उस ब्रह्म का विचार अन्य रूप से नहीं, आत्म-रूप से करना है। अन्यत्र श्रुति ने कहा है कि 'जो, देवता अन्य है और मैं अन्य हूँऐसा समझता है, वह समझता ही नहीं है।' 'तद्बुद्धयः'परमात्मा के विषय में विचार करते हैं कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है। और 'तिन्नष्ठाः'उसी में निष्ठा वाले हैं। जब किसी को कहते हैं कि यह जपनिष्ठ है तब मतलब है कि बाकी व्यवहारों को किसी तरह निभाता है, हर समय जप में ही लगा रहना चाहता है। इसी प्रकार ये तन्निष्ठ हैं, जो ब्रह्म से अभिन्न आत्मा है, उसमें ही निष्ठा वाले हैं। इसलिए बाकी सब कर्मों का परित्याग करके परमात्मा में ही निष्ठा रखते हैं। भाष्यकार कहते हैं कि निष्ठा मायने अभिनिवेश। सारे कर्मों को छोड़ करके, श्रौत-स्मार्त सभी कर्मों को छोड़ कर, केवल परमात्मा के विषय में जहाँ प्रतिपादन है, उन्हीं के विचार में लगे रहते हैं।

'तत्परायणाः' उसी के अंदर निरंतर 'अय' मतलब गति करते हैं। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाते हैं, उसको अयन कहते हैं, जैसे सूर्य के उत्तर और दक्षिण अयन होते हैं। इसी प्रकार जो ब्रह्म का स्वरूप है, उसी में निरंतर उनका अयन है, उसी तरफ बार-बार जाते हैं। किसी भी अनुभव को, किसी भी विचार को तुरंत परमात्मा की तरफ ही ले जाते हैं। भाष्यकार अर्थ करते हैं कि वे आत्मा में रति वाले होते हैं। र का ल होकर हिन्दी में रति को 'लत' कहते हैं। जिसकी लत पड़ी होती है, उसी तरफ आदमी बार-बार जाता है। आजकल चाय पीने की लत होती है लोगों को। कैसी भी दुकान है, गन्दी से गंदी दुकान है, गंदे से गंदा प्याला है, फिर भी वहाँ चाय पी लेते हैं। जिसको चाट खाने की लत है, उसको कुछ पढ़ा-लिखा याद नहीं आएगा, सड़क पर खोमचे से लेकर खाने लगेगा। इसी प्रकार ये आत्म-रति हैं, किसी भी परिस्थिति के अंदर बार-बार हर चीज़ के अंदर आत्मा का ही पता लगाते रहते हैं। कहीं सत्-रूप से देखते हैं, कहीं चित्-रूप से देखते हैं, कहीं आनंद-रूप से देखते हैं और तुरंत पहचानने का प्रयत्न करते हैं कि सत् मेरा आत्मा है, चित् मेरा आत्मा है, आनंद मेरा आत्मा है। इस प्रकार से केवल आत्मा में ही, उस सच्चिदानंद में ही उनकी रति रहती है।

ज्ञान से उनके मल, आवरण, विक्षेप सारे ही नष्ट हो जाते हैं। परमात्मा का एक बार नाम लेने से कई जन्मों के पाप कटते हैं, ऐसा शास्त्र कहता है। ये तो निरंतर परमात्मा का ही चिंतन कर रहे हैं अतः मल बीज से ही नष्ट हो जाते हैं। सच्चिदानन्द के सिवाय दूसरी चीज़ उनकी बुद्धि में आती ही नहीं, इसलिए विक्षेप भी दूर हो जाता है और क्योंकि बार-बार उपनिषदों के तत्त्वमस्यादि के ऊपर विचार करते हैं इसलिए आवरण भी नष्ट हो

जाता है। मल, आवरण और विक्षेप, तीनों ही कल्मष नष्ट हो जाते हैं अतः कहा कि वे 'ज्ञाननिर्धूतकल्मष' हैं। तब फिर आगे देह सम्बन्ध का कोई कारण रह नहीं जाता क्योंकि कल्मष सारे नष्ट हो गए।।१७।।

अज्ञान मिट जाने पर प्रारब्ध-भोगकाल में, व्युत्थान दशा में सर्वत्र तत्त्व कैसे देखा जाता है यह बताते हैं

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में पण्डित समदर्शी होते हैं।

पण्डित व्यवहार-काल में समदर्शी होता है अर्थात् उपाधियों के अंदर अधिष्ठान रूप से जो सच्चिदानन्द है, उसको ही प्रधानता देकर उपाधि में होने वाली विषमताओं का बाध करता रहता है। साधारण व्यक्ति को तो केवल उपाधि ही दीखती है। जो हर चीज़ का वास्तविक सच्चिदानन्द रूप है वह अज्ञानी को ग्रहण ही नहीं होता। वह उपाधि से एक हुआ ही प्रतीत होता है। रस्सी में साँप दीखता है तो रस्सी का ग्रहण तो हो रहा है क्योंकि जो तुम कहते हो 'यह साँप है', इसमें 'यह'पना और 'है'पना रस्सी का है। क्यों रस्सी का है? रस्सी दीखने पर भी 'यह रस्सी है', यही दीखता है। अर्थात् जब तुमको सच्ची चीज़ दीखती है तब भी 'यह' हिस्सा और 'है' हिस्सा रहता ही है, 'यह है' वाला हिस्सा तो रहता ही है। कौन-सा हिस्सा हटता है? सर्प का हिस्सा हट जाता है। इसलिए 'यह साँप है' में भी 'यह है' इतना तो रस्सी का ज्ञान है। 'यह' मतलब सामने होना। साँप भी सामने ही दीखता है पर 'सामने दीखनापना' तो रस्सी का है। यद्यपि यह है तुमको दीखता है, तथापि सांप से एक होकर दीखता है, साँप से अलग होकर नहीं दीखता है। इसलिए तुमको केवल यह है का बोध नहीं होता, साँप में ही यहपना और हैपना दीखता है। हैं वे दोनों रस्सी के। रस्सी देखने से ज्ञान होता है कि यह रस्सी है; फिर विचार करते हो कि साँप तो कल्पित, झूठ ही दीखा था। और सूक्ष्म विचार करते हो तो पता लगता है कि साँप में जो 'यह है' दीखा था, वह तो प्रमा में भी प्रतीत हो रहा है, इसलिए यह रस्सी के अंदर ही सचमुच में था, साँप में झूठमूठ ही दीखा था। झूठमूठ में दीखने को ही शास्त्रीय भाषा में अध्यास कह देते हैं। ठीक इसी प्रकार से हम को 'घड़ा है' दीखता है। 'है' वस्तुतः तो सत्-रूप परमात्मा है परन्तु वह घड़े से एक हुआ दीखता है। घड़े से अलग 'है' अधिष्ठान रूप से प्रतीत नहीं होता। जिसने रस्सी देख ली है और समझ लिया है कि यह हैपना रस्सी का है, वह जानता है कि 'यह साँप है' जो दीखा था, उसमें 'यह है' हिस्सा रस्सी का ही था। इसी प्रकार जो ज्ञाननिष्ठ हो गया, वह जब 'घड़ा है' देखता है तब जानता है कि 'है-पना' ब्रह्म का है, घड़ापना कल्पित है, मिथ्या है। 'है-पना' सबमें एक

जैसा है। घड़ा है, कपड़ा है, रसगुल्ला है, आदमी है, घोड़ा है, गधा है, सब जगह 'है' एक जैसा है।

ऐसे ही जब ज्ञानी प्राणियों को देखता है, ज़िन्दगी वाली चीज़ों को देखता है, तब उनके चलने-फिरने से यह चेतन हैऐसी प्रतीति भी होती है। जो खुद चल रहे हैं, हिल रहे हैं, डुल रहे हैं, बोल रहे हैं, खा रहे हैं, हग रहे हैं; ईट पत्थर ऐसा करते नहीं, इसलिए उनमें चेतनरूपता ज़रूर है। हम लोगों को दीखता है कि देवदत्त चेतन है। जैसे 'है-पना' घड़े में दीखता है इसी प्रकार साधारण आदमी को दीखता है 'देवदत्त चेतन है, घोड़ा चेतन है, चींटी चेतन है', अर्थात् देवदत्त, घोड़ा और चींटी से चेतन एक हुआ दीखता है। जिसने चेतन को सच्चिदानन्द रूप से पहचान लिया, ज्ञाननिष्ठ है, वह जानता है कि चेतन तो एक है, उसमें ये देवदत्त, घोड़ा, चींटी, अध्यस्त हैं, इसलिए उससे एक होकर प्रतीत हो रहे हैं। 'चेतन है' यह हिस्सा दीखता तो हम लोगों को भी है, लेकिन वह चेतन ब्रह्म हैयह हम लोगों को नहीं पता लगता। ज्ञान-निष्ठ उसको समझ लेता है।

तीसरा है आनंदरूप। कलकत्ते का बाग बाज़ार का रसगुल्ला खाया, तो बड़ा आनन्द आया। अज्ञानी को तो लगता है कि 'रसगुल्ले से आनन्द आया।' ज्ञानी जानता है कि आनन्द तो ब्रह्म का रूप है। जो आनन्द आया वह तो ब्रह्मरूप है। जिस प्रकार से चींटी का चेतन ब्रह्म-रूप है, इसी प्रकार रसगुल्ले का आनंद ब्रह्मरूप है। जैसे रसगुल्ला, वैसे ही कोई अपना प्रिय मित्र दीख गया तो आनन्द होता है। वहाँ जो विषय प्रिय मित्र है वह चेतन भी है और आनंदरूप भी है। वह आनंद ब्रह्मरूप है। कैसे है? ज्ञानी इस बात को जानता है कि रसगुल्ला, मित्र आदि प्रिय पदार्थ को देखने से वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। अन्तर्मुखी वृत्ति आनन्द को ग्रहण करती है। इसलिए जहाँ प्रियता होती है वहाँ सुख का अनुभव होता है। साधारण आदमी को लगता है कि रसगुल्ले से मज़ा आता है परंतु विचारशील जानता है कि रसगुल्ले से मज़ा नहीं आया, रसगुल्ले में जो प्रियता है उससे मज़ा आया। जिसे रसगुल्ला ना-पसंद है उसे ज़बरदस्ती खिलाओ तो वह परेशान होगा, दुःखी होगा, उसे आनंद नहीं आयेगा। विचारशील जानता है कि सुख का कारण प्रियता है। देवदत्त को कुछ प्रिय है तो यज्ञदत्त को उस चीज़ से आनंद नहीं आता। जब मेरे अन्तःकरण ने विषय के अंदर प्रियता को देखा तब वृत्ति अन्तर्मुखी हुई और उसने आत्मतत्त्व को ग्रहण किया, वही आनन्द है। सत् ब्रह्म सर्वत्र देखना सबसे सरल है। इसलिए साधक को हमेशा सत् के ऊपर ज़ोर देने को कहते हैं क्योंकि सीधा समझ में आ जाता है। चेतन में कुछ कठिनाई होती है, आनन्द में और ज़्यादा कठिनाई होती है। ज्ञान-निष्ठ जानता है कि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है। इसलिए रसगुल्ले से जो आनंद आया, वह आनन्द ब्रह्मरूप है, रसगुल्ले-रूपी उपाधि से प्रकट हुआ : रसगुल्ले की उपाधि से अन्तःकरण की वृत्ति अन्तर्मुखी हुई इसलिए प्रकट हुआ। जैसे घड़े के नाम-रूप के साथ सत् एक होकर प्रतीत होता है; देवदत्त, यज्ञदत्त के अंदर चेतन उपाधि से एक होकर प्रतीत

होता है, इसी प्रकार हम लोगों को रसगुल्ला और मित्र आनन्दरूप प्रतीत होता है। परन्तु सच्चिदानन्द वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप हैं, मेरा स्वरूप हैं। किसी भी चीज़ का अनुभव होता है तो पाँच बातों का अनुभव होता है १. यह है, २. यह प्रतीत हो रहा है, ३. प्रिय है ४. इसका नाम रसगुल्ला है और ५. सफेद गोल इसका रूप है। जब हमें कोई ज्ञान होता है तब इन पाँचों चीज़ों का भान होता है। विवेकी जानता है कि 'है', 'प्रतीत होता है' और 'प्रिय है'ये तीनों ब्रह्मरूप हैं और बाकी जो बचे नाम-रूप, वे संसार का रूप हैं। इस तरह सब चीज़ों में ब्रह्म एकरूप है।

'पण्डिताः' अर्थात् जो आत्म-बुद्धि वाले हैं। पण्डा मतलब आत्मबुद्धि। ऐसे ज्ञान-निष्ठ 'समदर्शिनः' सबके अंदर एक जैसा जो ब्रह्म है उसको देखते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वे अंधे हों या बहरे हों! नाम-रूप तो देखते हैं, लेकिन नाम-रूप को देखने के साथ ब्रह्मरूप को भी देखते हैं, और उसी को तात्पर्य से देखते हैं। जो जिसे तात्पर्य से देखता है, उसी को *देखने वाला* कहते हैं। जैसे कहते हैं 'सुनार गहने में सोने को देखता है', इसका मतलब यह नहीं है कि गहने का रूप उसको दीखता नहीं है! मतलब है कि रूप को वह कोई कीमत नहीं देखता, उसको प्रधानता नहीं देता। इसी प्रकार समदर्शी का मतलब है कि वे सर्वत्र जो ब्रह्म तत्त्व है, एक जैसा है, उसको ही ध्यान से देखते हैं।

नाम-रूपों का भेद ब्राह्मण आदि कहकर बताया। अन्त में सबसे कनिष्ठ का नाम ले लिया। सबसे श्रेष्ठ है विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण। विद्याआत्मा के विषय में जिसको जानकारी है। कम-से-कम परोक्ष आत्मज्ञान जिसको है, अपरोक्ष न भी हो, वह विद्या-सम्पन्न है। शास्त्रकारों ने कहा है कि आत्म-ज्ञान से विहीन मूढ होते हैं। आत्म-ज्ञान से जो रहित हैं वे चाहे जितने पण्डित होवें, विद्वानों की दृष्टि में वे मूढ ही हैं। जिन्होंने परमात्म तत्त्व के विषय में ठीक तरह से ज्ञान प्राप्त किया है, चाहे परोक्ष ज्ञान है, 'अस्ति ब्रह्म' इतना ही ज्ञान है, लेकिन यह स्पष्ट है कि सृष्टि स्थिति प्रलय करने वाला, कर्म-फल देने वाला परमात्मा मेरे अंदर बैठा हुआ है, वे विद्या वाले हैं। कुछ लोग वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता होने पर भी उद्दण्ड होते हैं। उनको अपने उस ज्ञान का अभिमान होता है, घमण्ड होता है, गर्व होता है। ज्ञान उन लोगों के गर्व को बढ़ाने वाला होने से अज्ञान से भी ज़्यादा नुकसान करने वाला हो जाता है। शास्त्रकारों ने कहा है 'विद्या ददाति विनयम्।' विद्या से विनय आती है, नम्रता आती है। यदि विद्या ही किसी के विनय को दूर करके उसे उद्दण्ड बनाने वाली होवे तो उसका अत्यंत दुर्भाग्य ही है। अगर माँ किसी बच्चे को ज़हर देने लग जाए तो उस बच्चे को बचाने के लिए हम क्या कर सकते हैं! शिकायत भी किससे करें? दूसरा कोई बच्चे को नुकसान पहुँचाने वाला होवे तो जाकर माँ से कहते हैं, पर माँ ही ज़हर दे रही है तो किससे कहें? इसी प्रकार से यदि विद्या विनय को दूर करने वाली हो गई तो अब क्या कर सकते हैं और किससे शिकायत करें! विनय आने का तरीका तो

आत्म-ज्ञान ही है। जब तक वह प्राप्त न हो तभी तक अक्षरज्ञान विनयनाशक बन सकता है। यहाँ भगवान् ने विद्यासम्पन्न ही नहीं विनयसम्पन्न भी कहा। भगवान् गौडपादाचार्य ने भी लिखा है कि शम होना विप्रों का विनय है। जो विद्या वाला है, विनय से सम्पन्न है और ब्राह्मण है, वह अतिश्रेष्ठ है। शरीर की उपाधि ब्राह्मण श्रेष्ठ, सूक्ष्म शरीर की उपाधि विद्या और विनय भी श्रेष्ठ हैं। जिसके स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर श्रेष्ठ हैं, उत्तम संस्कारों वाला, जो सात्त्विक ब्राह्मण है, वह हो गया सबसे श्रेष्ठ क्योंकि वहाँ सत्त्वगुण पूरी तरह से विद्यमान है। ऐसी श्रेष्ठ उपाधि के अंदर भी तत्त्ववेत्ता अधिष्ठान रूप से सच्चिदानन्द परमात्मा को देखता है।

मध्यम संस्कार वाली हुई गाय। इसलिए कहा 'गवि संस्कारहीनायाम्'। संस्कार से रहित है, उसका कोई संस्कार हो नहीं सकता। ब्राह्मण के तो गर्भाधान से लेकर सारे संस्कार होंगे, सोलह संस्कारों से युक्त होगा, और गाय सर्वथा संस्कार से रहित है। उसका स्थूल शरीर भी दूध इत्यादि देता है इसलिए राजस है और सूक्ष्म शरीर भी संस्कार से रहित है। उसके अंदर भी वह उसी ब्रह्म तत्त्व को अधिष्ठान रूप से ग्रहण करता है। तीसरा दृष्टान्त दिया हाथी का, जो केवल तमोगुणी है। गाय तो दूध इत्यादि देती है, कुछ करती है तो रजोगुणी है और हाथी तमोगुणी है। हाथी को रखने वाले जानते हैं, कैसा मस्त होता है, मार-मार कर उससे कराना पड़ता है। इसीलिये गाय को रजोगुणी कहा है और हाथी को तमोगुणी कहा। चौथा कहा, कुत्ता। हाथी को भी तमोगुणी कहा, कुत्ता भी तमोगुणी है पर कुत्ते का तमोगुण हाथी के तमोगुण से भी ज़्यादा है। हाथी तो वज़न ढोने का काम कर लेता है, ज़बरदस्ती से सही, लेकिन कर लेता है, पर कुत्ता क्या करेगा? कुछ नहीं। ऐसे अत्यन्त तमोगुणी उपाधि में भी समदर्शी परमात्मा देख लेता है। एक तो कुत्ता ही महातमोगुणी और उस कुत्ते को खाने वाला जो श्वपाक है, चाण्डाल है वह और भी घोर तमोगुणी। मनुष्य जाति में होते हुए भी सारे संस्कारों से रहित है। चाण्डालों के लिए न कोई खाने के संस्कार हैं, चाहे जो खाते हैं, न पीने के संस्कार हैं। मनुष्य शरीर के होकर भी सर्वथा संस्कार-रहित होने के कारण उस को अन्त में गिना। आदि और अन्त में ब्राह्मण और श्वपाक अर्थात् दोनों जगह मनुष्यों को रखा। तात्पर्य है कि जैसे सबसे श्रेष्ठ मनुष्य हो सकता है वैसे ही सबसे हीन मनुष्य हो सकता है। इन सबमें अविकारी ब्रह्म को ही देखना जिनका स्वभाव है, वे समदर्शी हैं। 'पण्डिताः समदर्शिनः'।

वर्तमान काल में समदर्शी की बात की जाती है तो केवल मनुष्यों की बात करते हैं। सबको एक-समान समझोइसका प्रचार करने वाले इस श्लोक को बोल तो देते हैं लेकिन अर्थ उसका यही करते हैं कि छोटे-बड़े मनुष्यों में भेद नहीं करो। ऐसे समदर्शी लोग बाकी प्राणियों के अंदर तो चेतन तत्त्व को भी मानने को तैयार नहीं होते तो वहाँ ब्रह्मदृष्टि की तो बात ही क्या! सौ आदमी मर जाएँ तो जितना हल्ला मचता है उतना एक अरब बैक्टीरिया (bacteria) मर जाएँ तो भी नहीं मचाते। क्षयरोग से ग्रस्त को इन्जैक्शन

देने वाले के विरोध में कोई कहीं हल्ला नहीं मचाता है कि 'यह अरबों को मारता है।' ऐसी समदर्शिता की प्राप्ति न हो जाए, इसलिए भगवान् ने ब्राह्मण और श्वपाक के बीच में बाकी सब प्राणियों को भी रख दिया अर्थात् ब्राह्मण और श्वपाक को देखो तो बीच में जो हैं उन सबके अंदर भी सम ब्रह्म देखो, तभी समदर्शिता होगी।।१८।।

प्रश्न होता है कि धर्मशास्त्र मानता है कि समानों की समान ही पूजा करनी चाहिये, उनकी पूजा में विषमता करना दोषावह है, तथा विषमों की समान पूजा करना भी दोषावह है। ऐसा करने वालों का अन्न भी अभोज्य हो जाता है! यहाँ भगवान् ने अत्यन्त विषमों में समदर्शी की प्रशंसा की तो उक्त धर्मशास्त्र से विरोध कैसे नहीं? स्मृतिकार गौतम लिखते हैं 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' अर्थात् जो लोग एक-दूसरे के बराबर न हों, उनकी समान पूजा करो तो इतने दोष के भागी हो जाते हो कि तुम्हारा अन्न नहीं खाना चाहिए। इसी तरह जो विषम हों अर्थात् श्रेष्ठों के समान न हों, उनके जैसी पूजा तुम श्रेष्ठों की करो तो भी तुम्हारा भोजन खाने लायक नहीं रह जाता। अर्थात् बराबर के लोगों की बराबर पूजा न करना भी अपराध है और जो बराबर न होवें उनकी एक जैसी पूजा करना भी निषिद्ध है। जिनको भगवान् 'पण्डिताः समदर्शिनः' कह रहे हैं, ये क्या अत्यन्त दूषित नहीं हो जाएँगे? उत्तर है कि उनको दोष नहीं लगता। स्मृति उन अज्ञानियों के लिए है जो भेददर्शी हैं। पर जो पण्डित हैं, जिन्होंने आत्मतत्त्व को देख लिया इसलिए सर्वत्र परमात्मा को देखते हैं, वे दोष वाले नहीं होते। क्योंकि

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१६।।

जिनका अन्तःकरण समभावरूप ब्रह्म में निश्चल हो चुका उन्होंने जीवित रहते हुए ही जन्मादि संसारचक्र वश में कर लिया। क्योंकि ब्रह्म समस्त दोषों से रहित और सर्वथा समान है, इसलिये वे समदर्शी ब्रह्म में ही स्थित हैं।

भगवान् कहते हैं कि जिन समदर्शी पण्डितों का मैनें वर्णन किया उन्होंने 'इहैव' इस शरीर में जीवित रहते हुए ही सर्ग को जीत लिया। सर्ग अर्थात् सृष्टि स्थिति प्रलय आदि परमेश्वर के कार्यों को और जन्म-मरण आदि जीव के कार्यों कोदोनों ही सर्ग शब्द से कहे जाते हैंजीत लिया। सृष्टि-स्थिति, जन्म-मरण, इनको माया का कार्य समझ कर अधिष्ठान-साक्षात्कार से बाधित कर दिया अर्थात् प्रत्यक्ष कर लिया कि तीनों काल में न जन्म-मरण है न स्थिति-संहार है। जितने नियम धर्मशास्त्र बतलाते हैं वे सारे सर्ग के अंदर रहने वालों पर लागू होते हैं, जो सर्ग जीत चुके उन पर नहीं। समदर्शी का ही अर्थ कर दिया कि जिनका मन तन्निष्ठ तत्परायण होने के कारण साम्य में ही स्थित है। साम्यसर्व भूतों में रहने वाले ब्रह्म का जो समभाव है। सारे जड-चेतन जगत् का एकमात्र कारण जो सत् सर्वत्र विद्यमान है उस अधिष्ठान के अंदर ही उनका मन स्थित है और उस अधिष्ठान

को ही वे व्यवहार में देखते हैं क्योंकि तत्परायण हैं। नाम-रूप देखकर उनके नाम-रूप के संस्कार नहीं जगते बल्कि उसके अंदर जो अस्ति-भाति-प्रियरूपता है उसके संस्कार प्रबल होने के कारण जग जाते हैं।

जो संस्कार तुम्हारे में प्रबल होता है, वही संस्कार उद्बुद्ध होता है। एक बहुत बड़े लेखक थे, उनका ग्रंथ बीच में रह गया, मरने का समय आ गया। उन्होंने सोचा 'मेरी किताब कौन पूरी करेगा?' बच्चों से पूछना शुरू किया। सामने एक ठूंठ था। पूछा 'यह क्या है?' एक लड़के ने सोचा कि इनकी आँख काम नहीं कर रही होगी, अन्तिम समय आया है, बोला 'सामने सूखा पेड़ खड़ा है।' उसे कहा 'तुम जाओ।' ऐसे सब लड़कों से पूछते-पूछते एक बच्चे से पूछा तो उसने कहा 'ऐसा लगता है मानो कोई प्रोषित-भर्तृका (जिसका भर्ता कहीं दूर देश में चला गया है) खाना-पीना छोड़ कर निर्निमेष दृष्टि से उसके आने की बाट जोह रही है।' बड़े प्रेम से उसके सिर पर हाथ फेर कर कहा 'बेटा, तू मेरी किताब पूरी कर देना।' देखा तो सबने उसी ठूंठ को, परंतु जिसका साहित्यिक हृदय था, उसके मन में साहित्यिक वर्णन आया, और बाकियों को ठूंठ ही दीखता रहा। इसी प्रकार नाम-रूप को देख कर लोगों को दूसरे नाम-रूप याद आते हैं और पंडित नाम-रूप को देखते ही सच्चिदानन्द की तरफ दृष्टि करता है।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' सारी दोष वाली चीज़ों में, कुत्ता, चाण्डाल आदि दोष वाली चीज़ों में जो मूढ लोग हैं, आत्मज्ञान से विहीन हैं, उनको दोष वाली उपाधि दीखती है जबकि पण्डित, उपाधि का जो अधिष्ठान दोषों से रहित है, निर्गुण निराकार है, उसको देखते हैं। दोषों से सच्चिदानन्द अस्पृष्ट है। दूसरे लोग उस दोष वाली चीज़ को 'है' से एक देखते हैं, 'चेतन' से एक देखते हैं, 'आनन्द' से एक देखते हैं, इसलिए उनको दोष वाली चीज़ ही दीखती है। ज्ञानी चूंकि दोष वाली चीज़ का बाध करता है, इसलिए निर्दोष को ही देखता है, वह निर्दोष ही सम ब्रह्म है। इस प्रकार वह ब्रह्म में ही स्थित रहता है।

इस प्रकार स्मृति का विरोध नहीं क्योंकि स्मृति विषय करती है अज्ञानियों को और भगवान् यहाँ बतला रहे है ज्ञानियों की चर्या को। स्मृति-नियम कर्म करने वालों को विषय करता है और समदर्शन सर्वकर्मसंन्यासी को विषय करता है। एक कर्मी को विषय करता है, एक कर्मसंन्यासी को विषय करता है इसलिए दोनों में विरोध नहीं है। इस विचार से यह भी स्पष्ट कर दिया कि कर्मियों के लिए जो नियम हैं वे कर्मसंन्यासियों के लिए नहीं लग सकते। कर्मी द्वैत रूपी उपाधि को ही प्रधानता देता है और संन्यासी उपाधि को छोड़ कर जो दोषरहित ब्रह्म है उसकी तरफ ही दृष्टि रखता है। यहाँ 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी' से लेकर अध्याय की परिसमाप्ति तक जो विषय आया है वह सब सर्वकर्म-संन्यासियों के बारे में है। कर्मयोगी का प्रसंग, कर्मी का प्रसंग इसके पहले समाप्त हो गया।।१६।।

चूंकि ऐसा वह समग्र दोषों से रहित ब्रह्म ही पण्डित का आत्मा है इसलिए

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस तथ्य पर जिसकी बुद्धि टिकी रहती है, जिसमें संमोह नहीं है, अकर्मरूप ब्रह्मरूप से विद्यमान वह ब्रह्मवेत्ता इष्ट पाकर विशेष हर्ष से मस्त नहीं होता एवं अनिष्ट पाकर विषाद-ग्रस्त नहीं होता।

प्रिय को देख कर जो मोद होता है वही हर्ष है। आनन्दमय कोष का प्रिय ही सिर है और दाहिना बाजू मोद है। मोद कहें, हर्ष कहें, एक ही बात है। प्रिय को देखने से जो आनन्दमय कोष की वृत्ति बनती है वह हर्ष है, उस वृत्ति के साथ एक होकर जो हमें अपने में प्रतीति होती है, वह हो गया प्रहर्ष। 'बहुत अच्छा हुआ हमने उसको देख लिया।' ऐसी बड़ी प्रसन्नता होना प्रहर्ष है। जो अपनी इच्छा का विषय हो उसके प्राप्त होने पर 'मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई'ऐसा अनुभव न करे, यह साधक को अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार अप्रिय की, अनिष्ट प्राप्ति होने पर उद्वेग न करे, उद्विग्न न होवे। 'मेरे सामने यह क्यों आ गया'यह भावना उद्वेग है। यद्यपि 'प्रहृष्येत्, उद्विजेत्'ये विधियाँ हैं तथापि वस्तुतः यहाँ केवल कह रहे हैं कि ज्ञानी प्रसन्न नहीं होता और उद्विग्न नहीं होता। विधि का प्रयोग करके बतला रहे हैं कि जो ब्रह्म में निष्ठा वाला है, उसका तो ऐसा स्वभाव होता है पर जो साधक है, अभी ब्रह्म में नितराम् स्थित नहीं है, वह इस प्रकार के प्रसंग आने पर अपने अंदर प्रहर्ष और उद्वेग का अनुभव न करने का प्रयत्न करे। प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति होने पर हर्ष और विषाद उसी को होता है जो देहमात्र को आत्मा समझता है। इष्ट चीज़ शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इनको ही इष्ट होगी। इसलिए जो शरीरादि को अपना स्वरूप समझता है कि 'यही मैं हूँ', उसी को प्रसन्न करने वाली चीज़ से 'मैं प्रसन्न हूँ' यह बोध होता है। इसी प्रकार शरीर को ही आत्मा समझने वाला जब कोई द्वेष की चीज़ आती है तब खुद उद्विग्न हो जाता है। परन्तु जो केवल आत्मदर्शी है, उसको शरीरादि के प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति से कोई भी फ़र्क नहीं पड़ता इसलिए उसको प्रिय और अप्रिय के दर्शन से प्रहर्ष या उद्वेग नहीं होता। वह तो सारे प्राणियों में एक-जैसा रहने वाला सारे दोषों से रहित जो आत्मा है उसके स्वरूप में ही स्थित रहता है। सचमुच में तो केवल निर्दोष आत्मा ही हैऐसी उसकी स्थिर बुद्धि है। साधक को आत्मा का निश्चय तो है परन्तु उपाधि देख कर उपाधि वाले आत्मा की उसको प्रतीति होती है। अतः बार-बार उपाधि का विचार से बाध करके, जो एक-जैसा सारे दोषों से रहित ब्रह्म है उसकी तरफ दृष्टि करनी चाहिये।

ब्रह्मनिष्ठ सम्मोह से रहित रहता है। प्राचीन संस्कारों के कारण सम्मोह होता है। पहले के संस्कार अन्तःकरण में पड़े हुए हैं कि यह अच्छा है यह बुरा है। उससे व्यक्ति सम्मूढ

होता है। संस्कार का अत्यन्त वेग जब होता है तब सम्यक् मूढ हो जाता है, अर्थात् उस समय आत्मतत्त्व को भूल ही जाता है। अतः संस्कारों से होने वाला जो सम्मोह है उसको साधक हटावे, सम्मोह-वर्जित बने। ब्रह्मविद् असम्मोह की प्राप्ति के लिए बारम्बार श्रवण-मनन के द्वारा ब्रह्म का ही निश्चय करे। सारे कर्मों से रहित जो अकर्मा ब्रह्म है उसमें स्थित होवे अर्थात् सर्वकर्म-संन्यासी ही होवे। प्रहर्ष और उद्वेग प्रवृत्ति और निवृत्ति की तरफ मनुष्य को ले जाते हैं। उस प्रवृत्ति और निवृत्ति को बिना किए हुए बार-बार अपना जो प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित अकर्ता आत्मा का बोध है, उसको लावे। प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति से जो प्रवृत्ति और निवृत्ति सामने आती है उसे हटा कर सारे कर्मों से रहित जो अपना ब्रह्म स्वरूप है, उसी के अंदर बार-बार स्थित होवे। सिद्ध तो स्वभाव से ही ब्रह्मनिष्ठ है, साधक बार-बार प्रयत्न करके वह स्थिति प्राप्त करे। किसी भी तरह की प्रवृत्ति-निवृत्ति करने से बचे। प्राचीन संस्कारों से सम्मोह हो जाता है कि 'मैं स्थित नहीं रह पाता तो कुछ और *करके* स्थिति हो जाएगी। यह अनुष्ठान कर लूँगा, पूजा पाठ कर लूँगा, जप आदि कर लूँगा तो मेरी ब्रह्म में स्थिति हो जाएगी।' किंतु ये सब करने से कर्तृत्व भाव का ही विकास होगा, अकर्मा ब्रह्म में स्थिति कैसे होगी! इसलिए ब्रह्मनिष्ठ को संन्यासी ही रहना चाहिय।।२०।।

ब्रह्म में अवस्थित का ही और वर्णन कर उसे प्राप्य फल बताते हैं

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

बाहरी विषयों में जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं है वह आत्मा में जो सुख है उसे पाता है। ब्रह्म में समाहित होने में जिसका मन लगा रहता है वह क्षीण न होने वाला सुख पाता है।

स्पर्श अर्थात् विषय, क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ वृत्ति के द्वारा उन्हें स्पर्श करती हैं। जितने भी शब्दादि बाह्य विषय हैं उन सब के प्रति पंडित के अन्तःकरण में कोई आसक्ति नहीं होती। आसक्त मन से निर्दुष्ट ब्रह्म का ग्रहण किया नहीं जा सकता। विषय ही उपाधि है, विषय में आसक्ति होगी तो विषय से मन हट कर अधिष्ठान की तरफ नहीं जाएगा। इसलिए जरूरी है कि साधक सारे विषयों के प्रति प्रीति से रहित होवे।

इससे अपने आप में सुख का अनुभव करता है। विषयों के वैराग्य से अपने अंदर ही सुख होता है क्योंकि विषयों के प्रति जो वैराग्य होता है, उससे तृष्णा दूर होती है और शास्त्रकारों ने स्पष्ट बतलाया है कि जितना पदार्थों का सुख है उसकी अपेक्षा पदार्थों में वैराग्य का सुख अनेक गुणा ज़्यादा है। लौकिक भाषा में भी कहते हैं

'गौधन गजधन वाजिधन और रतनधन खान।
जब आवे सन्तोषधन, सब धन धूल समान।'

गौरूप धन, गजधनहाथी इत्यादि का धन, घोड़े इत्यादि का धन और रत्नों का धन सोना चांदी हीरा पन्ना आदि; जब सन्तोष रूपी धन पास में आ जाता है तब ये सारे धन धूल के समान उपेक्षणीय हो जाते हैं। शुरू में, जब तक विषयों में आसक्ति है, तब तक वैराग्य के, या सन्तोष के, तृष्णाक्षय के सुख को आदमी पहचान नहीं पाता परन्तु एक बार आसक्ति टूट जाती है तो इस का पता लगता है। उदाहरण से समझो : जिस आदमी ने कभी मांस खाया नहीं और उसको मांस खाने की कोई इच्छा भी नहीं, मांस का भाव बढ़ने पर उसको कोई उद्वेग होगा क्या? और जो मांस खाने वाला है उसके लिए तो बड़ा भारी प्रश्न हो जाता है कि महंगाई का सामना कैसे करे। विचार करो तो समझ आता है कि जिसको मांस के प्रति कोई आसक्ति नहीं है उसको अपने आप उस सुख की प्राप्ति है जो मांस खाने वाले को महंगाई का सामना कर मांस खाने पर होगा। ठीक इसी प्रकार सारे बाह्य विषयों के अंदर जिसको आसक्ति नहीं है उसको अपने में समग्र सुख की उपलब्धि होती है।

'स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा।' ब्रह्मयोग अर्थात् ब्रह्म में समाधि। योग का अर्थ जोड़ना भी होता है लेकिन ब्रह्म आत्मा का स्वरूप है इसलिए आत्मा और ब्रह्म मिलते तो कभी हैं नहीं। खुद से खुद कभी नहीं मिला करता। ब्रह्म का विक्षेप हट जाये, उसी को कहते हैं ब्रह्म में समाहित होना। उस ब्रह्मयोग से युक्त जो हो गया वह ब्रह्मयोग-युक्तात्मा है। आत्मा अर्थात् यहाँ अन्तःकरण। तत्त्वज्ञ का अन्तःकरण ब्रह्म में समाहित रहता है। बाह्य स्पर्शों के अंदर सर्वथा आसक्ति न होने से अन्तःकरण ब्रह्मयोग वाला हो जाता है, ब्रह्म में स्थित हो जाता है। जैसे जब बाहर का कोई आदमी नहीं रहता, तब व्यक्ति स्वभाव से बिस्तर पर जाकर लेट जाता है कि 'अच्छा हुआ सब काम निपट गया, सब चले गए।' बिस्तरे पर लेटने के लिए उसको कोई प्रवृत्त करने वाला हेतु नहीं चाहिए, बाहर के लोग थे तो बिस्तर पर नहीं लेट सकता था, बाहर के लोग चले गए, अब कोई हेतु रहा नहीं अतः बड़े आनन्द से बिस्तरे पर लेट जाता है। इसी प्रकार विषयों की आसक्ति के कारण ही हमारी सारी प्रवृत्ति-निवृत्ति हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति अन्तःकरण की उपाधि से ही होती हैं। आसक्ति मिट गई तो अन्तःकरण ब्रह्म में ही समाहित हो जाता है क्योंकि ब्रह्म ही उसका स्वरूप है। तब 'अक्षयम् सुखमश्नुते।' विषय-इन्द्रियादि के संबंध से जो सुख होता है वह तो क्षयिष्णु सुख है। विषय की प्राप्ति के पहले भी वह सुख नहीं है। रसगुल्ला जब तक नहीं मिला तब तक रसगुल्ले का सुख नहीं है और रसगुल्ला खा के ख़त्म हो गया, उसके बाद फिर भी वह सुख नहीं है। विषयभोग से आगे-पीछे सुख नहीं, बस थोड़े समय तक जब तक विषय तुम्हारे पास रहे तभी तक सुख होता है। इसलिए वैषयिक सुख क्षयिष्णु है। ब्रह्म तुम्हारा स्वरूप है। जब तक तुमने जाना नहीं था तब तक भी तुम्हारा स्वरूप ही था और जब प्राप्त हो गया, जब इसको जान लिया, तब भी आगे कभी तुम्हारे से अलग होगा नहीं। इसलिए अन्य सुख क्षयिष्णु सुख हैं और अन्तःकरण जब ब्रह्म में समाहित होता है तब अक्षय सुख

है। इससे सूचित किया कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। बाह्य स्पर्शों से आसक्ति हट जाने पर वह सुख प्रकट हो जाता है। ऐसा नहीं कि सुख कोई दूसरी चीज़ है जो विद्वान् को मिलता हो! उसका अपना स्वरूप ही है जो प्रकट होता है। इसीलिए वह अक्षय है। स्वरूप से भिन्न जो सुख होगा वह कभी अक्षय हो नहीं सकता; स्वरूप सुख ही अक्षय है क्योंकि किसी भी चीज़ का स्वरूप उससे अलग किया नहीं जा सकता। जब हमने नहीं जाना था तब भी वह सुख हमसे अलग था नहीं। कैसे पता लगता है कि अलग नहीं था? जैसे ही बाह्य स्पर्शों के साथ आसक्ति सुषुप्ति काल में नष्ट हो जाती है, वैसे ही असीम सुख होता है। गहरी नींद में चले गए तो उस गहरी नींद में तुमको किसी भी विषय का संग नहीं रहता है, कोई भी विषय तुमको आकर्षित नहीं करता है क्योंकि वहाँ विषय ही नहीं है! वहाँ किसी विषय के न रहने पर अपने आप सुख प्रकट हो जाता है। इससे पता चलता है कि जब तुमको ज्ञान नहीं है तब भी सुख तुम्हारा स्वरूप है। इसलिए कोई भी बाह्याकार वृत्ति से हटो और तुम को सुषुप्ति आ जाये तो सुख हो जाता है। जाग्रत्-स्वप्न में विषयों के प्रति तुम्हारे अंदर आसक्ति है अतः यह सुख प्रकट नहीं होता, प्रतीत नहीं होता।।२१।।

अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए बाह्य स्पर्शों से अनासक्त कैसे हुआ जाए? इसका उपाय बतलाते हैं

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

हे कुन्तीपुत्र! जो विषय-इन्द्रियों के संबंध से होने वाले भोग हैं वे दुःख के ही कारण बनते हैं यह निश्चित है। ऐसे भोग प्रारंभ और समाप्ति वाले हैं, उनमें समझदार रमण नहीं करता।

विषय और इन्द्रिय के संबंध से ही भोग होते हैं इसलिए संस्पर्शज कहे जाते हैं। स्पर्श मात्र से भी भोग होता है। विषय और इन्द्रियों का संबंध हुआ, इतने से भी भोग तो होता है लेकिन वह नहीं जैसा ही रहता है। तुम जा रहे हो गाड़ी में, सामने से पचासों गाड़ियाँ निकलती हैं। तुम्हारी आँख का उन गाड़ियों से संबंध होता ही है, देखते ही हो। लेकिन वे गाड़ियाँ तुमको याद नहीं रहती; क्योंकि उनमें तुमको कोई आसक्ति नहीं है, इसलिए उनका दृढ संस्कार नहीं बनता। उनमें कोई एक गाड़ी ऐसी निकले जिसको देखते ही तुम्हारा मन हो 'अरे! क्या बढ़िया गाड़ी है,' तो उससे संस्पर्श हुआ। जिसके साथ संर्स्पश हुआ, अर्थात् जिसे ध्यान से तुमने देखा और बढ़िया चीज़ समझा, उससे जो भोग होता है वह दुःख का ही कारण बनता है। क्यों? संस्पर्शज भोग अज्ञान के कारण होता है। विषयों के अंदर अच्छाई इत्यादि जो तुम गुणदर्शन करते हो वह सब अज्ञान के कारण, क्योंकि वस्तुतः वहाँ कुछ भी गुण नहीं है जो संस्पर्श के लायक हो। चीज़ के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण ही, अज्ञान से ही गुणदर्शन-पूर्वक भोग होता है। अज्ञान से

जो भी होता है वह दुःख का ही कारण है। आध्यात्मिक आदि जितने दुःख हैं सब अज्ञान के ही कारण हैं। सामान्यतः भी विचार करोविषय के अर्जन में जितना ज़्यादा श्रम करते हो उतना ही उसकी रक्षा में करते रहना पड़ता है तथा भोग से और अन्य हेतुओं से उसका व्यय या नाश होने पर उतना ही अधिक दुःख होता है। सब का मूल है अज्ञानवश विषय में गुणदर्शन। अज्ञानसिद्ध होने से ही सारे दुःख होते हैं। विचारकर देखो तो चीज़ें दुःख का ही कारण होती हैं। या नष्ट होकर दुःख देती हैं या खराब होकर दुःख देती हैं। बेटा चाहे जितना अच्छा हो, बीमार होता है तो बड़ा दुःख होता है कि कहीं मर न जाए। और मर जाये तो बहुत दुःख होना ही है। इसलिए सब संस्पर्शज भोगों को दुःखयोनि 'एव' कहा, वे दुःख के ही कारण बनते हैं।

भगवान् ने कह दिया 'दुःखयोनय *एव'* संस्पर्शज भोग दुःख के *ही* कारण होते हैं। अतः भगवान् भाष्यकार ने कहा कि एव-शब्द के द्वारा बतला दिया कि जैसे विषयों का संबंध इस लोक में दुःख देता है, ऐसे ही परलोक में भी। स्वर्ग चले जाओ, वैकुण्ठ जाओ, वहाँ भी विषयों का संग रहते हुए दुःख ही होता है। ऐसा नहीं कि वहाँ जाकर विषयभोग सुख का कारण बन जाये! बहुत-से लोग बड़ा वर्णन करते हैं कि दिव्य विषयों का बड़ा ज़बरदस्त सुख होगा वैकुण्ठ आदि के अंदर। लेकिन जहाँ संस्पर्शज सुख प्रतीत होगा वहाँ भगवान् ने स्पष्ट कह दिया कि दुःख ही है। इसलिए आचार्य कहते हैं 'न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमपि अस्ति', चाहे ब्रह्मलोक में चले जाओ, चाहे वैकुण्ठ लोक में चले जाओ, जितना संसार है उसके अंदर सुख की खुशबू भी नहीं है! सुख तो क्या हो, सुख की गन्धमात्र भी नहीं है। ऐसा निश्चय होने पर विवेकी विषयों के प्रति तृष्णा से इन्द्रियों को निवृत्त कर लेता है। ज्ञानी को तो यह निश्चय है इसलिए उसकी संस्पर्शज भोग के प्रति कभी प्रवृत्ति नहीं होती है। साधक को चाहिये कि बार-बार विषयों को मृग-तृष्णा की तरह निश्चय करके उनसे इन्द्रियों को निवृत्त कर ले।

'आद्यन्तवन्तः' जितने भोग हैं वे विषय और इन्द्रियों का संयोग होने पर प्रारम्भ होते हैं और विषय-इन्द्रिय संबंध टूटने पर समाप्त होते हैं। अतः वे आदि और अन्त वाले हैं। वैकुण्ठ लोक में, ब्रह्मलोक में पहुँचोगे तब वहाँ का सुख शुरू होगा और जितनी तुमने कर्म-उपासना की है, उतने समय वहाँ रह कर फिर वहाँ से जब पुण्य कम हो जायेगा तब वापिस लौट के आना पड़ेगा अतः वहाँ के सुख का अंत भी होगा। जितना ज़्यादा सुख हो उतना उसकी समाप्ति सन्ताप का हेतु बनती है। वातानुकूलित कमरे से बाहर जाओ तो ज्येष्ठ की गर्मी तुमको ज़्यादा सताती है। अगर सबेरे से तुम बाहर बैठे हो, तो भी दुःख होता है पर उतना नहीं। दो घंटे किसी के घर में वातानुकूलित कमरे में रह कर बाहर आओ तो दुःख ज़्यादा होता है। इसी प्रकार संसार में मृत्युलोक में रहते हुए हम लोगों को त्रिविधि ताप दुःख देते ही हैं परन्तु जब वैकुण्ठ लोक में, ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ के सुख का अनुभव कर वापिस इस संसार में आते हैं तब अधिक दुःख का अनुभव होता है।

भगवान् गौडपादाचार्य ने स्पष्ट किया है कि जो पहले न हो और बाद में न होवे वह बीच में दीखते हुए भी नहीं है। यह नियम हम लोग रात-दिन देखते हैंहमने जब तक रस्सी में साँप नहीं देखा था, तब तक वहाँ साँप नहीं था। हमने ठीक प्रकाश के अंदर रस्सी को देख लिया, फिर साँप नहीं है। तो निश्चय होता है कि जिस समय साँप दीखा था, उस समय में भी नहीं ही था। ठीक इसी प्रकार से विषय और इन्द्रिय का संयोग जब नहीं हुआ था तब भोग नहीं था और विषय और इन्द्रिय का संयोग ख़त्म हो गया तब भी भोग नहीं है अतः विषय-इन्द्रिय संयोग के समय में जो भोग प्रतीत होता है वह भी वास्तव में नहीं ही है। अतः भोग मात्र रस्सी में साँप की तरह है।

इसलिए 'बुधः' अर्थात् विवेकी, 'ये विषय मृग-तृष्णा की तरह हैं' इस बात को जिसने विवेक करके समझ लिया, जिसने अधिष्ठान को अपना आत्मस्वरूप भली प्रकार से निश्चय कर लिया। मूढ को तो विषयों में आसक्ति होती है, वही आसक्ति उसको विचार करने नहीं देती, विवेक उत्पन्न होने नहीं देती। जो इस प्रकार विवेक से रहित हैं, उनके लिये भाष्यकार कहते हैं कि जैसे पशु इत्यादि को विवेक नहीं होता वैसे ही मूढों को विवेक नहीं है। वे मनुष्य-रूप में दीख रहे हैं परंतु वस्तुतः मनुष्य का जो असली उद्देश्य है उससे रहित हैं, पशु की तरह ही हैं। अतः श्लोक का तात्पर्य संस्पर्शज भोगों से विवेकमूलक वैराग्य उपजाना है जो विद्वान् में सहज है।।२२।।

ज्ञान के मार्ग में जाने का सबसे बड़ा प्रतिबंधक विषयों में मन का रमना है। उसी से सारे अनर्थों की प्राप्ति होती है। इसलिए इसके लिए अधिकतर प्रयत्न करे, यह बतलाते हैं

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

मरने से पूर्व, जीवित रहते हुए ही जो कामजन्य व क्रोधजन्य वेग को सह सकता है वह नर योगी है, वह सुखी है।

'इहैव' अर्थात् जीते हुए, इस मनुष्य लोक में ही। इसके द्वारा बतलाया कि आगे स्वर्ग लोक में, वैकुण्ठ लोक में जाएँगे, वहाँ विषयों से मन को हटाएँगे इत्यादि न सोच कर यह निश्चय करे कि यहीं इसको जीतना है। जीतना क्या है? सहन करने में समर्थ होना है। काम-क्रोध से होने वाले वेग को सहने की सामर्थ्य प्राप्त करनी है। यह कब तक कर लेना है? 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्।' जब तक जीवन है तब तक काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाला वेग आता ही है क्योंकि काम-क्रोध के अनन्त निमित्त हैं। कोई-न-कोई निमित्त बन ही जाता है। शरीर की निवृत्ति की सीमा करके बतलाया कि इस बारे में साधक कभी भी ढीला न पड़ जाए कि 'मुझे काम-क्रोध का वेग नहीं आएगा।' प्रायः मनुष्य के अंदर ढील आ जाती है और ढील आते ही अनन्त निमित्त वाली कामना कहीं-न-कहीं से किसी-न-किसी

रूप में आ जाती है। यश की, प्रतिष्ठा की, गौरव की कामना आक्रमण कर देती है। अति स्थूल विषय तो छूट भी जाएँ, परंतु ऐसे सब सूक्ष्म विषयों की कामना रह जाती है। सबसे ज़्यादा रहने वाली है कि 'शिष्ट लोग मुझे बुरा न समझें'।

कामना की उत्पत्ति विषय के स्मरण से भी होती है। कोई चीज़ याद आ जाती है तो तद्विषयक रमण होने लगता है, उसके बारे में सोचने लगते हैं। कभी सुनने के कारण स्मरण आ जाता है। किसी ने 'रसगुल्ला' कह दिया तो जो स्वादिष्ट रसगुल्ला खाया था वह याद आ जाता है। मन उसी में रमण करने लगता है। तो कभी स्मरण आ जाता है, कभी सुन लेते हैं तो याद आ जाता है, कभी देखने से स्मृति जग जाती है। अनन्त निमित्त वाली कामना है क्योंकि हमने अनन्त चीज़ों से सुखों का अनुभव किया है। उनमें से कोई भी चीज़ याद आ जाए, तो उसके विषय में तृष्णा उत्पन्न हो जाती है, कामना उत्पन्न हो जाती है। किसी कारण से उस कामना में रुकावट आ जाए तो क्रोध आ जाता है। अथवा जिस चीज़ से हम को अत्यन्त दुःख हुआ था, उसकी याद आ जाए तो भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है, द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सुनने या देखने से भी द्वेष प्रकट हो जाता है। द्वेष के पदार्थ के स्मरणादि से एवं इष्ट विषय के लाभ में रुकावट से क्रोध के आकार की वृत्ति बनती है। जब तक शरीर रहता है, तब तक याद आने की, देखने की, सुनने की संभावना रहेगी ही और अन्तःकरण में पुराने संस्कार हैं, इसलिए उन संस्कारों से उधर रमण हो भी जाएगा। पर उसे उत्पन्न नहीं होने देना है। काम-क्रोध से होने वाला जो वेग है वह न आने पाये, इसका प्रयास करना है।

अच्छी चीज़ का स्मरण होने से शरीर में रोमांच हो जाता है, आँखें नाचने लगती हैं, चेहरा खिल जाता है, ये सब कामोद्भव वेग हैं। इसी प्रकार क्रोध से शरीर हिलने लगता है, शरीर से पसीना निकलने लगता है, होठ कसके बंद होने लगते हैं, आँखें लाल हो जाती हैं; ये सब क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग हैं। जैसे नदी स्वाभाविक रूप से बहती है पर अकस्मात् वृष्टि इत्यादि के कारण उसमें बाढ़ आ जाये तो नदी के किनारे वाले पेड़ों को गिरा देती है, आदमियों को डुबा देती है। नदी का जो वेग है, वह चीज़ों को नष्ट करता है। उसी को रोकने के लिए बाँध बनाए जाते हैं। इसी प्रकार काम क्रोध का वेग शरीर में विकार लाता है। उस वेग को पैदा नहीं होने देना है, उसको सहन कर लेना है। अन्तःकरण में कामना या क्रोध का उद्भव होगा; दुःख की स्मृति, दुःख के अनुभव इत्यादि से या सुख का स्मरण, सुख के अनुभव इत्यादि से काम-क्रोध सिर उठायें, तभी अन्तःकरण में ही विवेक के द्वारा उन्हें काट देना है। काम-क्रोध से होने वाला जो वेग अर्थात् शरीर के अंदर-बाहर प्रकट होने वाले असर को अंदर-ही-अंदर सहना है। जिस प्रकार बांध नदी के वेग को रोकता है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति का विवेक रूपी बाँध काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को अंदर ही अंदर रोक लेता है, वही सुखी होता है। 'सः युक्तः', वही योग कर सकता है, श्रवण-मनन में लग सकता है और 'स सुखी नरः', वही सुख को प्राप्त कर

सकता है। क्रोध के वेग से सुख नहीं होता यह स्पष्ट ही है। काम के वेग से भी, जब तक काम की प्राप्ति नहीं होती है, सुख कहाँ होगा! प्राप्ति हो गई तो भी, जैसा भगवान् ने कहा, 'आद्यन्तवन्तः' वह नष्ट हो जाएगा, वियोग हो जाएगा, तब दुःख देगा। इसलिए काम क्रोध से होने वाले वेग को जो सहन नहीं कर सकता है, वह सुखी भी नहीं हो सकता है और श्रवण-मनन आदि योग नहीं कर सकता है।

'प्राक्शरीरविमोक्षणात्।' शरीर से मोक्ष दो प्रकार से होता है : या तो शरीर मर जाए तो शरीर से मुक्त हो गए, शरीर से छूट गए। मरण की सीमा करके बतला दिया कि जब तक मरण न हो तब तक साधक सावधान ही रहे। रामकृष्ण परमहंस से किसी ने कहा 'आप बहुत बड़े महात्मा हैं।' उन्होंने कहा 'चुप रहो, ऐसी बात मत कहो। जब मैं मर जाऊँ और मेरी राख उड़ जाए, तब कह सकते हो कि अच्छा है। नहीं तो, मरने के पहले, कब गड़बड़ हो जाऊँ, कोई नहीं कह सकता।' जब शरीर मरता है तब शरीर से छूटता है, इसलिए शरीर के मरण को सीमा बनाया। परन्तु वास्तविक शरीर से विमोक्ष देहाभिमान का छूटना ही है। मृत्यु से भी शरीर रहा नहीं इसीलिए शरीर का अभिमान छूट गया। इसी प्रकार श्रवण-मनन के परिपाक में शरीर रहते हुए ही शरीर का अभिमान छूट जाता है। शरीर अर्थात् स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर, दोनों के अभिमान छूट जाने से अन्तःकरण के संस्कारों से होने वाला काम व क्रोध साक्षी को लगता नहीं, अतः वेग भी उत्पन्न हो नहीं सकता। 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्' से कहा कि जब तक देहाभिमान सर्वथा निवृत्त न हो जाए, श्रवण-मनन की पूर्णता से जब तक ब्रह्मरूप में अपनी स्थिति न हो जाए, तब तक इसकी तरफ ध्यान देना ही चाहिए।

कुछ आचार्यों ने तो कहा है कि 'इह' अर्थात् गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही अगर काम क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने की सामर्थ्य अर्जित करने के बाद संन्यास लेता है, तब वह संन्यास ज्ञान और जीवन् मुक्ति का कारण बन जाता है और अगर काम क्रोध के वेग के रहते हुए, ('काम क्रोध के रहते हुए' नहीं कर रहे हैं, काम क्रोध के *वेग* के रहते हुए) संन्यास करता है तो ब्रह्मनिष्ठा और जीवन् मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो पाती। इसलिए जवान शरीर हट कर बुड्ढा शरीर आवे, उसके पहले ही काम-क्रोध को जीत लेना चाहिए, ऐसा भी आचार्यों ने इसका तात्पर्य बतलाया है। हर हालत में, चाहे गृहस्थ आश्रम में हो, चाहे संन्यासाश्रम में हो, इतना स्पष्ट ही है कि काम-क्रोध के वेग को जीते बिना कोई व्यक्ति युक्त नहीं हो सकता, श्रवण मनन के अंदर एकाग्रता से नहीं लग सकता।।२३।।

जो श्रवण-मनन से सफल होकर अपने ब्रह्मरूप में स्थित होता है, उसका स्वरूप कैसा होता है, यह बताते हैं

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।।२४।।

जिसे अन्तरात्मा में ही सुख प्राप्त होता है, अन्तरात्मा में ही जिसकी क्रीडा है, बाह्य श्रोत्रादि साधनों व घटादि विषयों से निरपेक्ष ही जिसका ज्ञानरूप अन्तरात्मा अनावृत ही रहता है, ऐसा ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्म में ही मोक्ष का अधिगम कर लेता है।

हम संसारी लोग बाहरी सुख वाले हैं। अपने से बाहर किसी चीज़ से हमें सुख होता है। चाहे बढ़िया खाना हो, बढ़िया पहनना हो, बढ़िया रहना हो, बढ़िया वातावरण हो, बाहर की किसी चीज़ से ही हमें सुख होता है। इसलिए किसी को सुखी देखें तो तुरंत विचार करते हैं कि इसके पास क्या है जो यह सुखी है। जब तक व्यक्ति अनात्मा से ही सुखी रहेगा तब तक धन उसके सिर में हमेशा बैठा रहेगा क्योंकि धन से बाह्य पदार्थ ही मिल सकते हैं और बाह्य पदार्थों के मिलने में धन एक बड़ा कारण होता है। इसलिऐ बाह्य पदार्थों से जो सुख को लेता है उसके लिए धन के आकर्षण का त्याग असम्भव हो जाता है। धन से यहाँ खाली नोट ही नहीं समझना। शास्त्रकारों ने कहा है 'न खलु सुखत्वं जातिः, यस्य यदिष्टं तस्य तदेव सुखम्।' सुखत्व कोई जाति नहीं है जो किसी चीज़ में रहती हो। जिसकी जिस चीज़ के अंदर इच्छा की विषयता है, वही उसके लिए सुख है। प्राचीन काल में राजा प्रसन्न होकर कहता था 'हज़ार गायें ले जाओ', ऋषि बड़े प्रसन्न होते थे। आज के युग में किसी को एक-दो गायें मिल जाएँ तो भी समझता हैकहाँ झंझट में फँस गया! कौन इसकी सेवा करेगा? भगवान् कृष्ण की जगह-जगह लीलाएँ आती हैं कि माता उनसे छिपा कर दूध-दही-मक्खन रखती थीं और वे किसी तरह से उस रखी हुई चीज़ को निकाल कर खाते थे। उनको दूध-दही के अंदर सुख-बुद्धि थी। आजकल माताएँ बच्चों के पीछे-पीछे घूमती हैं, 'अरे! थोड़ा पी ले, थोड़ा तो पी ले', और बच्चा भागता है, 'मुझे नहीं पीना, मुझे नहीं पीना!' उसे टॉफी दें, चॉकलेट दें तो फटाफट खा लेगा। इससे सिद्ध होता है कि कोई वस्तु ऐसी नहीं जो सुख हो, वरन् जिसे जब जो अच्छा लगे तब वह उसको सुख लगेगा। इष्ट पदार्थ को व्यक्ति इकट्ठा करता है, वही उसका धन है। बहुत-से लोगों को ज़मीन का शौक होता है, ज़मीन इकट्ठी करते चले जाते हैं। बाह्य पदार्थ जिन्हें सुख का कारण लगता है वे बाह्य सुख वाले हैं।

'युक्त' कैसा है? 'अन्तःसुखः'अंदर, अपने आत्मा में ही उसको सुख का बोध होता है, किसी भी बाह्य पदार्थ में सुख नहीं लगता। चूंकि आत्मा में ही सुख लगता है इसलिए 'अन्तरारामः' अंदर ही रमण करता है, बाहर के पदार्थों का रमण हट कर, केवल अंदर ही अपने आत्म-तत्त्व में रमण करता है। तरह-तरह से उसके बारे में श्रवण करता है, मनन करता है, निरंतर उसका निदिध्यासन करता है। यही उसका आराम है अर्थात् बगीचा है। जैसे बगीचे में आदमी सुख से कभी इस क्यारी को देखता है, कभी उस क्यारी को, उसी प्रकार आत्मा के कभी सत्-रूप का विचार किया, कभी चित्-रूप का विचार किया, कभी व्यापक-रूप का विचार किया, कभी सर्वज्ञ-रूप का विचार किया, कभी सर्वशक्ति-रूप का विचार कियायही उसकी क्रीडा होती है। आत्मा को समझने के जो अनेक तरीके हैं,

उन्हीं में वह रमण करता है, वही उसका बगीचा है। जैसे बगीचे में खेलते हैं, वैसे ही आत्मा के भिन्न-भिन्न प्रकारों के अंदर ही वह खेलता है। ऐसे ही 'अंतर्ज्योतिरेव यः।' ज्योति अर्थात् ज्ञान भी अंदर के अर्थात् आत्मा के ज्ञान के विषय में ही निरंतर रहता है, बाह्य किसी विषय के ज्ञान के लिए उसकी प्रवृत्ति होती नहीं। यदि ज्योति का अर्थ मन होवेक्योंकि वेद में कहा है 'मनो ज्योतिः'तो अर्थ है कि उसका मन आत्मा में ही लगता है, अनात्मा में नहीं। मन को ज्योति क्यों कहा? लोक में जब मन की वृत्ति होती है तभी ज्ञान होता है इसलिये मन की वृत्ति ही ज्ञान कही जाती है। यह ठीक है कि मन की वृत्ति में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब ज्ञान होता है; परंतु चेतन तो हमेशा एक-जैसा है, इसलिए घड़े का ज्ञान, कपड़े का ज्ञानये भेद करने वाली चीज़ तो मन की वृत्तियाँ ही हैं। श्रुति में इसीलिए मन को ज्योति कहा। ज्योति अर्थात् प्रकाश, ज्ञान, वह मन की वृत्ति से ही होता है। अतः अन्तर्ज्योति से तात्पर्य है कि उसके द्वारा बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति बनायी जाती है। अन्तरात्मा का ही मन आकार लेता है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति ही बनती है।

इस प्रकार, अन्तःसुख अर्थात् आत्मा में ही उसे सुख हैइसके द्वारा श्रवण का विधान हो गया, क्योंकि जिसमें सुख देखता है, उसी के बारे में बार-बार चिंतन करता है। अंदर में, आत्मा में ही उसका आराम है, क्रीडास्थल हैइसके द्वारा मनन बतलाया, तरह-तरह की युक्तियों से उसको ही सोचता है, उसी में रस लेता है। जैसे खेल से कोई नया ज्ञान नहीं होता परंतु व्यायाम हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान तो श्रवण से हो जाता है, मनन से कोई नया ज्ञान नहीं होता, परंतु अन्तःकरण का ऐसा व्यायाम हो जाता है जिसके फलस्वरूप जब प्रारब्ध के कारण विक्षेप काल आकर व्यवहार करता है, उस व्यवहार काल में पुनः पुनः आत्म-निरीक्षण करने का उसका अभ्यास बन जाता है कि किस-किस युक्ति से किस-किस परिस्थिति में आत्मा को ही देखे। और अन्तर्ज्योति से निदिध्यासन बतला दिया।

जिसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन पक्का हो गया है वह 'योगी' है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था में पहुँचा हुआ ही योगी है। दो तरह के योगी होते हैं, एक प्रयत्न करने वाले योगी और दूसरे युक्त योगी अर्थात् स्वभाव से ही उनका योग चलता है। यहाँ उस युक्त योगी को ही समझना। श्रवण, मनन, निदिध्यासन की परिपक्वावस्था होने से वह निरंतर ब्रह्म में ही युक्त है अर्थात् कभी भी उसका ब्रह्मभाव निवृत्त नहीं होता। तब 'ब्रह्मनिर्वाण', ब्रह्म के अंदर सारे 'वाण' मायने दुःख ख़त्म हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाता है। ब्रह्मनिर्वाण कह कर केवल निर्वाण से इसको अलग कर रहे हैं। निर्वाण मायने दुःख-निवृत्ति। गौतमादि ऋषियों ने दुःख-ध्वंस को ही मोक्ष माना है कि दुःख का न होना ही मोक्ष है। उनके निर्वाण से अलग करके कहते हैं कि यहाँ मोक्ष है आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति के साथ परमानन्द की प्राप्ति। ब्रह्म आनंदस्वरूप है। इसलिए खाली दुःखनिवृत्ति

नहीं, परमानन्द के अनुभवपूर्वक सारे दुःखों की निवृत्ति होना श्रुतिसंमत मोक्ष है। ऐसा सिद्ध 'ब्रह्मभूतः' जीते हुए ही ब्रह्मरूप हो जाता है। वह मोक्ष को अधिगत कर लेता है, प्राप्त कर लेता है। 'अधिगच्छति' का अर्थ है ज्ञान कर लेना, समझ लेना। ज्ञान के समकाल ही मुक्ति वेदान्त में स्वीकृत है। शरीर की निवृत्ति को मोक्ष वेदांती स्वीकार नहीं करता, अज्ञान की निवृत्ति को ही मोक्ष स्वीकार करता है। और, वह ज्ञान से ही प्राप्त होती है।।२४।।

इसी बात को फिर कहते हैं

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

जिन दान्त अहिंसकों के पापादि दोष क्षीण हो चुके हैं, संशय मिट चुके हैं, वे सम्यग्दर्शी मोक्ष प्राप्त करते हैं।

ऋषि कहते हैं जो किसी तत्त्व का दर्शन करने वाले हैं। मंत्र का दर्शन करने वाला ऋषि कहा जाता है। जिन्होंने 'तत्त्वमसि' महामंत्र का भली प्रकार से दर्शन कर लिया है अर्थात् उसका उनको साक्षात्कार हो गया है उनको यहाँ ऋषि कहा। 'क्षीणकल्मषाः'बार-बार श्रवण-मनन के अभ्यास से जिनके सारे कलुष, सारे कल्मष, सारे संशय-विपर्ययादि दोष, दाग नष्ट हो गए हैं अर्थात् सशंय विपर्यय से रहित जिनका ज्ञान हो गया है। मन्त्रार्थ-दर्शन के बाद भी यदि संशय-विर्पय रह जाते हैं तो वह ज्ञान मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसलिए संशय-विपर्य से रहित जिन्होंने तत्त्वमस्यादि महावाक्य का दर्शन कर लिया है वे ही मुक्त होते हैं। 'छिन्नद्वैधाः।' द्वैत की प्रतीति होने पर 'यह दूसरा *है'*, ऐसी प्रतीति द्वैध प्रतीति है। यह जिनकी छिन्न हो गयी है अथात् द्वितीय कहीं दीखता ही नहीं। जहाँ भी द्वितीय दीखता है उसको अधिष्ठान के अंदर अज्ञानमात्र से प्रतीत समझने से 'दूसरा है' ऐसा बोध उन्हें नहीं होता। 'यतात्मानः'जिनकी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, शरीर सर्वथा नियन्त्रित हो गए हैं अर्थात् शरीर आदि से कभी किसी का अहित उनसे नहीं होता। इसी को स्पष्ट करने के लिए कह दिया 'सर्वभूतहिते रताः।' सारे प्राणियों के कल्याण में जो रत हैं। सारे प्राणियों का कल्याण कहा; *अनेक* प्राणियों का कल्याण *सारे* प्राणियों का कल्याण तो हो नहीं जाएगा! इसलिए भाष्यकार ने स्पष्ट किया हैसारे प्राणियों के अनुकूल अर्थात् हमेशा हर परिस्थिति में अहिंसक ही हैं। किसी के प्रति उनके मन में कोई द्वितीय-भावना न आने से हिंसा की भावना, द्वेष की भावना नहीं आती, 'इसका अनिष्ट हो'ऐसी भावना आती ही नहीं। 'हर एक का इष्ट ही हो'यही भावना रहती है। सारे प्राणियों का हितकारी क्या है? आनंद है। सब प्राणी किसको हितकारी समझते हैं? आनन्द को। चीटीं से ब्रह्मा तक सभी आनंद को अपना हित मानते हैं, दुख को तो कोई अपना हित नहीं मानता। इसलिए सर्वभूतहित हुआ आनन्द। वह जो सारे प्राणियों का हितकारी आत्मानन्द

है, उसी में वे रत हैं। सब प्राणियों का हित आत्मानन्द है। अथवा, हित का अर्थ 'अहित न करना' अर्थात् किसी भी प्राणी के प्रति किसी प्रकार की हिंसा अपने अंदर न रखना सर्वभूतहितेरत होना है। जो ऋषि हैं, क्षीणकल्मष हैं, छिन्नद्वैध हैं, यतात्मा हैं, सर्वभूतहिते रत हैं, ऐसे सर्वकर्मसंन्यासी 'ब्रह्मनिर्वाणम्' परमानन्द प्राप्ति-पूर्वक आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति प्राप्त करते हैं। चौबीसवाँ श्लोक और पच्चीसवाँ श्लोक मोक्ष के सारे साधनों को एकत्र करके बतला देता है।।२५।।

श्लोक २३ में काम-क्रोध के वेग को सहने का विधान किया था। अब बताते हैं कि स्वयं काम-क्रोध भी छोड़ने के ही योग्य हैं

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

काम-क्रोध से रहित एवं संयत अन्तःकरण वाले जो संन्यासी आत्मानुभव कर चुके, उनके लिये जीवित रहते और मरने पर, दोनों ओर मोक्ष है।

'कामक्रोधवियुक्तानां'जिनके अन्तःकरण में काम-क्रोध उत्पन्न नहीं होते, वे काम क्रोध से वियुक्त हैं। काम-क्रोध राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले ही विकार हैं। काम-क्रोध से वियुक्त वही होगा जो राग और द्वेष से वियुक्त हो जाए। शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिइन्हें जो अनुकूल लगता है वह राग का कारण होता है और जो इनके प्रतिकूल लगता है वह द्वेष का कारण होता है। अनुकूलता-प्रतिकूलता के संस्कारों से संस्कृत जो अहंकारात्मिका वृत्ति वही राग-द्वेष को बनाती है। जिसने उस अहंकार से अपने को सर्वथा अलग कर लिया, वह उन अनुकूलता-प्रतिकूलताओं से प्रभावित नहीं होता, इसलिए वहाँ पड़े हुए संस्कार काम-क्रोध को उत्पन्न नहीं होने देते। अतः काम-क्रोध-वियुक्त अर्थात् साक्षिरूप ही रहने के कारण, संस्कारों वाले अन्तःकरण में जो अहंकारात्मिका वृत्ति है, उसके साथ जिसका संबंध सर्वथा टूट गया है।

ऐसा कैसे होता है? 'विदितात्मनाम्' जिन्होंने आत्मा का भली प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो सम्यक्-दर्शी हैं अर्थात् संशय व विपरीत-भावना से रहित आत्मा के विषय में जिनको ज्ञान हो गया है। साधना की बात समझ लेनी चाहिए : व्यक्ति समझेगा अन्तःकरण के संस्कारों से। वस्तुतः तो आत्म-ज्ञान आत्मा को है ही। ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थितिइतने मात्र को आत्मज्ञान कह सकते हैं। ऐसे आत्मज्ञानका प्रयोजक अज्ञान-नाशक ब्रह्माकार वृत्ति है। उसके बिना अज्ञान नाश होकर के ज्ञान स्फुट नहीं होता। आत्मा तो ज्ञानरूप सबका ही है। प्राणिमात्र का आत्मा ज्ञानस्वरूप है, परंतु अज्ञान से ढका हुआ है। अज्ञान को निवृत्त करने के लिये ब्रह्म और आत्मा की एकता की वृत्ति चाहिये। वह भी संशय और विपर्य से रहित होनी चाहिये। उस वृत्ति के संस्कारों का आपादन करना आवश्यक है। संस्काररूप में उस ज्ञान के परिणत हो जाने से अन्तःकरण में भी भाव आ

जाता है कि आत्मा अकर्त्ता-अभोक्ता है। संस्कार तो एक बार की वृत्ति से भी होगा लेकिन दृढ नहीं होगा। पहले के अनुभव किए हुए पदार्थ राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं लेकिन उसी समय, अकर्तृभोक्तृत्व के दृढ संस्कार मौजूद होने से रागादि को दबा लेते हैं। लोक में भी होता है : पहले किसी ने हमारी बहुत मदद की, हम उसके आभारी रहते हैं; पर यदि हाल ही में उसने हमारा कोई नुकसान कर दिया तो वही प्रधान हो जाता है, उपकार की बात गौण हो जाती है! अतः उसके प्रति राग के बजाये द्वेष मुखर हो जाता है। राग का कारण मौजूद तो है लेकिन राग नहीं होने देता। ऐसे ही आत्मा के कर्त्तापने के, परिच्छिन्नता के संस्कार तो मौजूद हैं, परन्तु दृढतर संस्कार आत्मा की अपरिच्छिन्नता के और अकर्तृत्व के हैं, अतः विषयों के प्रति जो राग-द्वेष के संस्कार हैं वे अपने कार्य काम-क्रोध को नहीं उत्पन्न कर पाते। आत्मा की ज्ञानरूपता, अकर्तृत्व, अभोक्तापना तो पहले भी यथावत् था, अब भी है, परंतु अकर्त्ता-अभोक्ता-अपरिच्छिन्नता के संस्कार इतने दृढ हो जाते हैं कि पूर्व के राग द्वेष को दबा लेते हैं। अतः सम्यक्-दर्शी लोग काम-क्रोध से वियुक्त हो जाते हैं।

'यतीनां'; ऐसे राग-द्वेष के संस्कारों से रहित सर्वकर्मसंन्यासी ही हो सकता है क्योंकि व्यवहार भूमि में जाने पर राग-द्वेष के संस्कारों को समाप्त करने वाले दृढ अपरिच्छिन्न आत्म-बोध के संस्कार बन नहीं पाते। इतना याद रखना चाहिए कि किसी के बन जाएँ, तो दृष्ट फल होने के कारण 'नहीं बने', ऐसा हम लोगों का आग्रह नहीं रहता। अगर किसी के बने हैं तो ठीक है, पूर्व जन्म के प्रभाव से हो सकते हैं, परमेश्वर की विशेष कृपा हो सकती है, अनेक कारण हो सकते हैं। परंतु ऐसा होने की संभावना प्रायः होती नहीं। इसीलिए आचार्य ने कहा कि ज्ञानमात्र में अर्थात् परमात्मा का ज्ञान होने में तो सभी आश्रम वालों कोचाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थी हो, संन्यासी हो, ज्ञानमात्र में तो सबकोअधिकार है, परन्तु दृढ निष्ठा सर्व कर्मों को छोड़े बिना सम्भव नहीं होती। इसलिए यहाँ भी भगवान् ने कह दिया 'यतीनां'। 'यतीनां' को स्पष्ट कर दिया 'यतचेतसाम्' उनका चित्त सर्वथा संयत है। प्रवृत्ति करने में चित्त को अनियत भावों की तरफ ले जाना पड़ता है। कर्म के अंदर प्रवृत्ति करो तो लोगों से व्यवहार करने में लोगों के भेद का दर्शन करके ही कर्म-व्यवहार होगा। उनके भेद को देखे बिना तो व्यवहार हो नहीं सकेगा। इसलिए भेद के हेतुभूत उपाधियों को बार-बार अंतःकरण में लाना पड़ेगा। निवृत्ति के अंदर उपाधि के संस्कारों को लाना नहीं पड़ता क्योंकि वहाँ उपाधि के संस्कारों को छोड़ना है। इसलिए निवृत्ति में लगे हुए जो विदितात्मा यति हैं, उनके अंदर अभेदनिष्ठा हो सकती है।

उनको ब्रह्मनिर्वाण मिलता है। ब्रह्मनिर्वाण का मतलब परमानन्द की प्राप्ति पूर्वक आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति अर्थात् मोक्ष। पिछले श्लोक में ही कह दिया था 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं'। यहाँ फिर यही क्यों कह रहे हैं? पहला फ़र्क तो है 'ब्रह्मनिर्वाणं *वर्तते*।' पहले कहा था 'लभन्ते'प्राप्त करते हैं और अब कहा 'वर्तते' अर्थात् मौजूद है। कैसा मौजूद

है? 'अभितः'शरीर छूटने के पहले जीवन् मुक्ति में ब्रह्मनिर्वाण है और शरीर छूटने के बाद विदेहावस्था में भी ब्रह्मनिर्वाण है। अभितः अर्थात् शरीर छूटने के पहले और शरीर छूटने के बाद, दोनों तरफ आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति पूर्वक परमानन्द में स्थिति है। जब तक अन्तःकरण ऐसा दृढ नहीं हो जाता है तब तक ज्ञानके फल से प्रारब्ध की निवृत्ति के बाद तो परमानन्द-लाभ और आत्यन्तिक दुःख निवृत्त होगा, परन्तु उसके पहले, जब तक अन्तःकरण दूसरे स्पन्द करता है तब तक, आत्माकार संस्कार से उन संस्कारों को दबाना इत्यादि कार्य करने हैं, इसलिए परमानन्द प्रकट नहीं है। दुःख दो तरह के हैंएक वैराग्य का दुःख और दूसरा राग का दुःख। वैराग्य का दुःख'हाय अभी तक मेरा मन क्यों विषयों में जाता है!' यह दुःख साधक के लिए अपेक्षित दुःख है अर्थात् यदि इसको दुःख नहीं समझेगा तो साधक इसकी निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति ही नहीं करेगा। राग का दुःखभैंस से बड़ा प्रेम है, वह भैंस मर गई, तो दुःख है। वह दुःख राग-प्रवृत्त दुःख है। अतः साधक के लिये वह त्याग करने के योग्य है। 'हाय मुझे अभी तक परमात्मा का दर्शन नहीं हुआ!' यह दुःख भी साधक न करे, ऐसा उचित नहीं है क्योंकि यह दुःख करेगा, तभी परमात्मा की प्राप्ति के लिए पूरी कमर कस के लगेगा। राग से होने वाला दुःख तो त्यागने के योग्य है पर वैराग्य के कारण होनेवाला दुःख परमात्मप्राप्ति का साधन होने के कारण त्यागने योग्य नहीं है, इसके द्वारा जो प्रवृत्ति हो रही है उसे करना आवश्यक है। जब तक संशय और विपरीत भावना से रहित ज्ञान नहीं हुआ तब तक ज्ञान होने पर भी प्रतिबद्ध रहने से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, वैराग्य वाला दुःख बचा ही रहता है। और परमानन्द की प्राप्ति भी स्फुट नहीं होती क्योंकि राग आदि के द्वारा अन्य सुखों में भी सुखबुद्धि हो जाती है। परन्तु जब दृढ संस्कार अपरिच्छिन्नता के पड़ जाते हैं तब कोई भी विषय सुख देने की सामर्थ्य वाला नहीं रह जाता क्योंकि उसकी अनुकूलता प्रकट ही नहीं हो पाती। वैराग्य से होने वाला दुःख संसार की प्राप्ति से होता है। जब हमेशा बाधित होने के कारण संसार की प्रतीति भी नहीं के तुल्य ही है तब आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति सहज है। यह स्थिति दृढ ज्ञानावस्था के अंदर जीवन् मुक्त में भी है और विदेह मुक्त में भी है। यह 'अभितः' का अभिप्राय है।।२६।।

श्रवण मनन से यह निश्चय हो गया कि दृश्य मिथ्या है, फिर भी 'दरवाजा है' यह बोध हटता नहीं। दरवाजा मिथ्या, ऐसा निश्चय होने पर भी दरवाजा हैऐसा ही लगता है अर्थात् विपरीत भावना नहीं जाती है। उस विपरीत भावना को हटाने के लिए ध्यान-योग की ज़रूरत पड़ती है अर्थात् जिस परमात्मा को हमने जाना है उस परमात्मा की ही अन्तःकरण में बारम्बार वृत्ति बनानी पड़ती है जिससे उसके ही संस्कार रह जाएँ और बाकी संस्कार चले जाएँ, क्योंकि पूर्व संस्कारों के कारण ही निश्चय होने पर भी विपरीत प्रतीति हो जाती है। ऐसा लोक में भी कई बार देखने में आता है : कुछ शब्द होते हैं जिनका लोक में एक अर्थ प्रसिद्ध है। साधारण भाषा में उस शब्द का एक अर्थ प्रसिद्ध

है। शास्त्रीय भाषा में, संस्कृत भाषा में उसका दूसरा ही अर्थ प्रसिद्ध है। संस्कृत व्याकरण पढ़ लिया, संस्कृत कोष पढ़ लिया, पता लग गया कि इस शब्द का संस्कृत में यह अर्थ है, फिर भी वह शब्द सुनने पर लौकिक अर्थ उपस्थित हो जाता है। हिन्दी में 'उपाधि' का मतलब होता है जो अध्ययनपूर्ति का द्योतक विशेषण दिया जाता है (डिग्री)। पूछो, इसकी उपाधि क्या है? तो उत्तर मिलेगा, बी.ए. है एम.ए. है। हिन्दी में उपाधि का यह अर्थ होता है। संस्कृत में जो अपने अधिष्ठान में परिवर्तन लाने की योग्यता के बिना उस पदार्थ में परिवर्तन प्रतीत कराये, उसको उपाधि कहते हैं। जैसे घड़ा आकाश में कोई फ़र्क नहीं लाता फिर भी घट के कारण आकाश परिच्छिन्न प्रतीत होता है, अतः घड़ा आकाश की उपाधि है। कई बार जब शुरू-शुरू में बच्चा संस्कृत की किसी किताब को पढ़ते हुए उपाधि शब्द देखता है तब उसको पहले जिसमें बहुत प्रयोग किया है वही अर्थ याद आ जाता है मन में। हम लोग जब कहते हैं 'देवदत्त की उपाधि शरीर है' तब नये श्रोता को खटकता है कि शरीर थोड़े ही उपाधि होती है! शरीर तो सबका होता है, उपाधि मेहनत करके जब उत्तीर्ण होते हैं तब मिलती है। फिर धीरे-धीरे जब उस शब्द का उसी अर्थ में बार-बार प्रयोग करते हैं तब जाकर उपाधि शब्द का प्रथम उपस्थित अर्थ बदल जाता है। इसी प्रकार हम लोगों का दीर्घ काल से संस्कार पड़ा हुआ है कि 'दरवाजा है, दीवार है', आदि प्रतीति बताती है कि दरवाज़े में या दीवार में हैपना है। 'है' में दीवार कल्पित है यह श्रवण-मनन से निश्चय होने पर भी प्रतीति पहले जैसी होती रही है। जब दीर्घ काल तक ध्यान-योग का अभ्यास परमात्मविषयक होता है, तब पूर्व संस्कार हट कर नए संस्कार पड़ जाते हैं।

संस्कारों का खेल बड़ा विचित्र होता है। संन्यासियों को यह अनुभव होता है : जब से पैदा हुए तब से आज तक देवदत्त थे। संन्यास लिया, गुरु जी ने कह दिया 'तुम्हारा नाम हरिगिरि हो गया।' गुरु जी ने कह दिया, निश्चय भी हो गया कि 'अब मेरा नाम हरिगिरि हो गया', फिर भी किसी को ज़ोर से आवाज देते सुनता है 'देवदत्त!' तो खट उधर सिर मुड़ जाता है। जब बीस साल संन्यासी रह गया तब क्योंकि हमेशा हरिगिरि नाम का ही प्रयोग करता रहा इसलिये वही संस्कार दृढ हो गया। अब कोई उसके गाँव का आकर उसको देख कर 'देवदत्त' कहे, तो भी उसके मन में नहीं होता कि 'मुझे बुलाया होगा', उधर देखता भी नहीं। फिर वह पकड़ करके, हिला कर कहे 'अरे देवदत्त! रात-दिन तेरे साथ रहता था और तू मेरी बात ही नहीं सुन रहा है!' तब कहीं पुराना संस्कार जाग्रत् होता है, और कहता है 'हाँ-हाँ भाई! हमने पहचाना नहीं।' अन्तःकरण के संस्कारों का ऐसा खेल है।

इसी प्रकार अनादि काल से पड़े हुए संस्कार हैं 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ'। ये संस्कार बार-बार ध्यान-योग के अभ्यास से समाप्त होंगे। उस सम्यक् दर्शन की निष्ठा के लिए जो अन्तरंग साधन है उसे भगवान् को अगले अध्याय में विस्तार से बतलाना है। उसके

सूत्रपात के लिए यहाँ अत्यन्त संक्षेप में ध्यान-योग का वर्णन कर देते हैं। इसी का फिर छठे अध्याय में विस्तार करेंगे।

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

इन्द्रिय-मन-बुद्धि को संयत रखने वाला, इच्छा-भय-क्रोध से रहित, मोक्ष को ही परा गति समझने वाला जो मननशील, बाहरी विषयों को (चित्त से) बाहर कर, नेत्रों को भौंहों के बीच एकाग्र कर, नासिका के भीतर चलने वाले प्राण-अपान को बराबर की गति वाला बना लेता है, हमेशा ऐसी साधना में लगा रहता है, वह मुक्त ही है।

'स्पर्श' शब्द का प्रयोग गीता में और महाभारत में, अनेक जगह पर विषयों के लिये हुआ है। साधारणतया हिन्दी में स्पर्श मायने छूना। पर गीता में 'मात्रा स्पर्शाः' आदि स्थल में भी विषयों को स्पर्श कहा है। स्पर्श अर्थात् रूप रस गंध शब्द स्पर्शये विषय। उनको 'बहिःकृत्वा' अर्थात् अन्तःकरण से बाहर करके। कान इत्यादि दरवाज़ों से अर्थात् इन्द्रियों से विषय अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं, अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं। अन्तःकरण में प्रविष्ट जो शब्दादि विषय हैं उन्हें वहाँ से बाहर निकाल देना है। मन का कार्य है सोचना, इसलिए मन से बाहर करने का मतलब है कि विषयों का चिंतन न करना। अभी तो जो हमने देखा, सुना, सूंघा है उसका मन बार-बार चिंतन करता है, और जो उनके बारे में जितना सोचे, बाह्य प्रवृत्ति मार्ग वाले उसको उतना ही अधिक बुद्धिमान् और श्रेष्ठ मानते हैं! अधिक चीज़ों को याद रखे, किसी को लंबे समय बाद देखकर भी खट से पहचान ले, तो कहते हैं 'बड़ा अच्छा आदमी है।' किंतु साधक विषयों का अचिंतन करता है, जिससे उन चीज़ों को बाहर ही रखता है। अंदर तो आ गई थी इन्द्रियों के द्वारा, लेकिन अब उनका चिंतन नहीं करता इसलिए वे संस्कार रूप में मौजूद नहीं रह पातीं। इसी को कहाविषयों को बाहर करके अर्थात् किसी भी *विषय* का चिंतन न करते हुए रहना।

फिर 'चक्षुश्च भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा।' आँखों को भौहों के बीच में एकाग्र करता है। वर्तमान भाषा में जिसको आज्ञा-चक्र कहते हैं, वहाँ चक्षु को स्थिर रखना पड़ता है। 'नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा'नाक के अंदर चलने वाली जो प्राण और अपान वृत्तियाँ उन्हें समान रखना ज़रूरी है। साँस अंदर आती है वह प्राण है और साँस बाहर जाती है, वह अपान है। अभी प्राण और अपान की गति विषम होती हैकभी प्राण की गति ज़्यादा होती है, अपान की कम होती है, कभी अपान की ज़्यादा होती है, प्राण की कम होती है। बीच में ऐसा भी समय आता है जिसमें प्राण और अपान की गति (सम) एक जैसी हो जाती है। हठयोगी इसी को कहते हैं कि कभी इडा चलती है, कभी पिंगला

चलती है। प्राण की गति को वे 'इडा' संज्ञा से कहते हैं और अपान की गति को 'पिंगला' संज्ञा से कहते हैं। जब कभी इडा-पिंगला एक जैसी चलती हैं उस समय सुषुम्णा में गति हैऐसा हठयोगी कहते हैं। अतः उनकी भाषा में कह सकते हैं कि सषुम्णा में स्थित होना यहाँ 'समौ कृत्वा' का अर्थ है।

'यतेन्द्रियमनोबुद्धिः'इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को अपनी-अपनी क्रियाओं से वह रोक लेता है। आँख को तो तुमने भ्रूमध्य में रखा लेकिन दूसरी इन्द्रियाँ तो खुली हुई हैं, वे विषयों को ग्रहण करने जाएँगी। वे विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त न होवें यह नियंत्रण करना है। एकान्त या नीरव स्थान में जाकर ही ऐसा प्रायः सम्भव होता है। एकान्त स्थान में जाकर भी पहले की जो अनेक बातें मन में पड़ी हुई हैं, उनका चिंतन चलता है। मन को उनका चिंतन नहीं करने देना है। शुरू में इसका साधन होता है परमात्मा का कोई रूप या नाम लेकर उसके चिंतन का मन में अभ्यास डालते हैं। एक काल में मन एक चीज़ का चिंतन करे तो उसी काल में दूसरी चीज़ का चिंतन नहीं कर सकता है। तत्त्वमस्यादि, ओंकारादि मंत्र के सहारे पहले मन और बुद्धि को रोकना पड़ता है। फिर 'मुनिः' अर्थात् संन्यासी 'मोक्षपरायणः' मोक्ष को ही अपनी एकमात्र परम गति समझे। 'मोक्ष के सिवाय और कोई दूसरी चीज़ मेरे प्राप्त करने के योग्य नहीं है' यह निश्चय रखे। साधना करने पर अनेक सिद्धियाँ आती हैं जिनकी तरफ मनुष्य आकृष्ट हो सकता है कि 'ये भी रहें, क्या हर्ज़ा है।' अतः तरह-तरह के कर्म, उपासनाएँ, तरह-तरह के ध्यान, जिनसे अणिमा आदि सिद्धियाँ आती हैं, उन सबकी तरफ प्रवृत्ति होती है। उनमें से किसी में भी प्रवृत्ति होगी तो जीवन्-मुक्ति की स्थिति नहीं बन सकती। राजा, राष्ट्रपति, तुम्हारे घर आने वाला है, जिस कुर्सी पर उसको बैठाओगे, उस पर किसी दूसरे को तो नहीं बैठाओगे, अन्यथा राजा उस पर बैठेगा ही नहीं! इसी प्रकार, मोक्ष को तुम अपना उद्देश्य मानते हो, हृदय-सिंहासन के ऊपर बैठाना चाहते हो और साथ कहो, 'अरे! रसगुल्ला भी मिल जाए तो क्या हर्ज़ा है!' तो क्या मोक्ष बैठेगा वहाँ पर? रसगुल्ला हो चाहे इन्द्र का पद हो, सारे संसार की दौलत एक-जैसी ही है। सभी को एक-समान निष्प्रयोजन समझकर एकमात्र मोक्ष को अपनी एकमात्र गति समझना पड़ता है।

मोक्षपरायण कैसे होता है? 'विगतेच्छाभयक्रोधः।' किसी भी चीज़ में सुखानुभव की सम्भावना न होने से किसी चीज़ की इच्छा नहीं करता है। मोक्ष के सिवाय किसी चीज़ की इच्छा नहीं रखता है। मेरे सुख का मोक्षातिरिक्त कोई साधन हो सकता हैयह इच्छा नहीं करता है। बहुत बार, इच्छा न होने पर भी भय से मनुष्य पदार्थों की तरफ प्रवृत्ति करता है। बहुत बड़ा भय तो समाज का होता है। 'लोग क्या कहेंगे' यह भी भय होता है। नरकादि का भी भय होता है। 'सारे नित्य-नैमित्तिक कर्मों का परित्याग कर दिया और मोक्ष नहीं मिला तो हमें पाप की प्राप्ति होकर नरकादि जाना पड़ सकता है'इस भय से भी बहुत-से लोग सोचते हैं कि 'चलो, नित्य नैमित्तिक करते रहेंगे तो प्रत्यवाय नहीं होगा।'

यों अनेक प्रकार के भयों से भी प्रवृत्ति हो जाती है। निवृत्ति के लिये सर्वथा निर्भय होना पड़ता है। कई बार क्रोध से प्रवृत्ति हो जाती है। 'हमें संसार में कुछ नहीं चाहिए पर इस आदमी को तो हम नष्ट करके ही रहेंगे।' ऐसा क्रोध प्रवर्तक बन जाता है। ऐसे लोगों को जानते हैं जो कहते हैं 'मैं चाहे दिवालिया हो जाऊँ लेकिन इस आदमी को तो मैं फुटपाथ पर ले जाकर ही छोड़ूंगा!' उनसे कहो 'अरे! इतना रुपया तुम बरबाद करोगे, उससे थोड़े में समझौता हो जाएगा', तो कहते हैं 'समझौता काहे का! उसको तो बरबाद करके रहूंगा।' ये प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो एक की दूसरे को समझ में नहीं आतीं। जो क्रोधी व्यक्ति नहीं है, उसकी समझ में नहीं आ सकता कि क्रोध के कारण आदमी क्या-क्या नहीं कर लेता। उसकी समझ में ही नहीं आता कि अपनी बरबादी भी वह चाह लेगा। इसी प्रकार जिसको संसार के पदार्थों की इच्छा नहीं है, सिद्धियों की इच्छा नहीं है, उसे समझ में नहीं आता कि कोई इच्छा के पीछे काहे के लिए जाता है! ऐसे ही समाज का, या नरकादि का जिसको भय नहीं है, वह भी नहीं समझ सकता कि भय कैसे प्रवर्त्तक होता है, प्रवृत्ति कराने वाला होता है। इनमें से कोई एक भी प्रवृत्ति होवे तो मोक्ष की प्राप्ति संदिग्ध हो जाती है। इसलिए कहा कि जिसके इच्छा, भय और क्रोध चले गये हैं; और केवल 'गत' नहीं कहकर '*विगत*' कहा अर्थात् ऐसे निकल गए हैं कि अब वे 'हैं' करके बोध भी नहीं रहता; जो इस प्रकार का संन्यासी है वह सदा मुक्त है। जिसको पहले (श्लोक २६) 'अभितः' कहा था उसी को यहाँ 'सदा' कह दिया; हमेशा ही अर्थात् जीते रहते हुए भी और जीवन समाप्त होने पर भी वह मुक्त ही है।।२७-२८।।

इस प्रकार ध्यान की प्रक्रिया बतलाई कि ध्यान कैसे किया जाता है। अब ध्यान जिसका करना है उस ध्येय का निरूपण करते हैं

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

।। इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः।।

यज्ञों व तपों का भोक्ता, सब लोगों का महान् ईश्वर, सब प्राणियों का सुहृद् (मित्र) जो मैं (परमात्मा, उसे) साक्षात् जानकर साधक शान्ति प्राप्त करता है।

'मां ज्ञात्वा शान्तिमृच्छति' मुझे जान कर शांति मिलती है। 'माम्' की व्याख्या में भाष्यकार कहते हैं 'सर्वप्रत्ययसाक्षिणम्'वही सब अनुभवों का प्रकाशक है। प्रमा-रूप हों या भ्रम-रूप हों, सभी प्रतीतियों का वही साक्षी है। रस्सी को रस्सी देखना प्रमा-रूप प्रतीति है, रस्सी को साँप देखना झूठी, भ्रमरूप प्रतीति है। प्रमा और भ्रम दोनों प्रत्यय हैं, प्रतीतियाँ हैं। इस प्रकार के सारे प्रत्ययों का, प्रतीतियों का जो साक्षी आत्मरूप नारायण है, वही

ध्येय है। आत्मरूप नारायण का ध्यान करना है। नारायण कैसे हैं? 'यज्ञतपसां भोक्तारम्।' यज्ञ अर्थात् जितनी भी परमेश्वर के लिए पूजाएँ करते हैं। परमात्मा के उद्देश्य से अथवा देवता के उद्देश्य से किसी-न-किसी चीज़ का मन्त्रपूर्वक त्याग करना यज्ञ कहा जाता है। सभी पूजाओं के अंदर कुछ-न-कुछ त्याग किया जाता है, देवता के उद्देश्य से किया जाता है और किसी-न-किसी मंत्र का प्रयोग होता है। जिसमें द्रव्य का त्याग नहीं है, भोग का त्याग है अर्थात् भोग नहीं करना है वह तप है। यज्ञ में कुछ देना है, चाहे वाणी-रूप से दो, चाहे मन की वृत्तिरूप से दो, चाहे घी आदि पदार्थों के रूप में दो। तप के अंदर देना नहीं है, अपने किसी भी भोग का त्याग करना है परमात्मा के उद्देश्य से। अन्न नहीं खाया, अन्न का त्याग किया। जल नहीं पिया, जल का त्याग किया। भोजन का त्याग तो गद्दी पर बैठा हुआ सेठ भी करता है! भोजन पड़ा हुआ ठंडा हो जाता है, सेठ नहीं खाता क्योंकि ग्राहकों में फँसा रहता है। परंतु वह धन के उद्देश्य से त्याग किया है, देवता के उद्देश्य से नहीं, इसलिए उसको तप नहीं कहते। देवता उद्देश्य हो और भोग का त्याग हो, तब तप है। यज्ञ और तप, इनके कर्त्तारूप से इनके फल को प्राप्त करने वाला है परमेश्वर। ईश्वरार्पण बुद्धि से करने पर परमेश्वर को ही उस के फल का अर्पण करने से वही भोक्ता है। परमेश्वर वह जिसके निमित्त से यज्ञादि में त्याग किया, जिसके उद्देश्य से भोग का त्याग किया, इसलिए वह परमेश्वर ही उनका भोक्ता है।

और वह कैसा है? 'सर्वलोकमहेश्वरम्।' जो भी भूआदि ब्रह्मलोक पर्यन्त भिन्न-भिन्न प्राणिनिकायों के स्थान हैं, वे सब 'लोक' कहे जाते हैं। उन सारे लोकों का अन्तिम शासक महेश्वर है। ईश्वर अर्थात् जिसके शासन में कोई रहता है। राजा के शासन में राज्य है, गुरु के शासन में शिष्य है, पिता के शासन में पुत्र हैं, राजा, गुरु पिताये सब ईश्वर हुए, शासन करने वाले। स्वयं राजा आगे किसी दूसरे के अधीन है, वह भी किसी तीसरे के अधीन है, परन्तु जो अन्तिम महेश्वर है वह सबका शासक होते हुए किसी के द्वारा शासित नहीं है। सभी लोकों का वही अन्तिम शासन करने वाला है।

और वह नारायण कैसा है? 'सर्वभूतानां सुहृदम्।' सुहृद् कहते हैं बदले में किसी उपकार की अपेक्षा किए बिना जो उपकार करता है। दो तरह से उपकार करने वाले होते हैंएक, जो अपेक्षा रखते हैं कि जिसका वे उपकार कर रहे हैं वह भी उनका उपकार करेगा। उपकार चाहे वाणी से हो, चाहे किसी चीज़ या क्रिया से हो। किसी ने तुमको एक गिलास पानी दिया, तुमने वाणी से 'धन्यवाद' कह दिया। वह पानी का गिलास इसलिए देता है कि तुम धन्यवाद कहो, उपकार की अपेक्षा रखता है। अगर नहीं कहते हो तो आगे वह देना नहीं चाहता! कहीं पैसे से प्रत्युपकार की अपेक्षा होती है। पहले आबू में बहुत बड़े-बड़े राजा आते थे। मौसम का पहला फल या फूल माली उन्हें भेंट करते थे तो वे खुश हो कर एक-दो गिन्नी दे देते थे। स्वतंत्रता के बाद जब यहाँ मंत्री लोग आए तब मालियों ने समझा अब ये राजा हैं, तो उनको जाकर दिया। उन्होंने खुश होकर रख

लिया, 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कह दिया, बस, कुछ इनाम आदि देना उन्हें था नहीं। तीन चार साल तो माली लोग देते रहे, फिर सब ने समझ लिया, कि ये दूसरी तरह के राजा हैं, तो देना बंद कर दिया। यहाँ धन इत्यादि किसी चीज़ की अपेक्षा थी। प्रत्युपकार चाहे शब्द से हो, चाहे और किसी प्रकार से हो, जहाँ किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा हो वहाँ प्रत्युपकार नहीं किया तो उपकार करना बंद कर देते हैं। इस प्रकार किसी उपकार की अपेक्षा न रख कर जो उपकार करता है, उसको सुहृद् कहते हैं।

परमेश्वर सारे प्राणियों के ऊपर बिना किसी उपकार की अपेक्षा किए हुए उपकार करता रहता है। पृथ्वी पर हम रात-दिन चलते हैं। पृथ्वी किसी उपकार की अपेक्षा करके हम को थोड़े ही खड़े होने की जगह देती है! सूर्य हमें प्रकाश देता है, ताप देता है। किसी उपकार की अपेक्षा करके थोड़े ही देता है। कोई सवेरे उठ कर पृथ्वी को नमस्कार करता है, पृथ्वी से क्षमा माँगता है कि 'तुम्हारे ऊपर पैर रखना पड़ता है।' सूर्य को कोई अर्घ्य देता है, जल, कुमकुम, पत्र पुष्प इत्यादि अर्घ्य में रख कर अर्पण करता है। अर्पण करने वाले को सूर्य कोई अधिक प्रकाश नहीं देता, नहीं करने वाले को कम प्रकाश नहीं देता। प्रातःकाल नमस्कार करने वाले को पृथ्वी खड़े होने में कोई विशेष सुविधा नहीं देती और जो नहीं करता, उसकी कोई सुविधा कम नहीं करती। परमेश्वर बिना किसी उपकार की अपेक्षा किए हुए उपकार करता ही रहता है। इसलिए परमात्मा को सुहृद् कहते हैं। सबसे बड़ा उपकार है कि हमें चेतना देता है। अंदर आत्मा-रूप से नारायण रह रहा है। वह न होवे तो हम भी ईंट पत्थर की तरह जड होवें। प्रतिक्षण यह उपकार करते हुए भी अनादि काल से आज तक हमने उसकी तरफ कोई ध्यान ही नहीं दिया। चन्द्रमा में क्या है? मंगल में क्या है? परमाणु में क्या है?सब चीज़ों को जानने के लिए प्रयत्न करते हैं पर मैं के अंदर चेतन क्या है?इसको जानने का कोई प्रयत्न नहीं करते, कोई ध्यान ही नहीं है। अगर तुम से कोई मिलने आवे, और तुम उसकी तरफ ध्यान ही न दो, दूसरे-दूसरे काम करते रहो, तो उठ कर चला जाएगा, दूसरी बार आएगा ही नहीं। परंतु अनादिकाल से तुमने ध्यान नहीं दिया, फिर भी परमेश्वर तुमको ज्ञान-स्वरूप से उपकृत करता ही रहता है! तुम्हारा जो अहम् है उसके अंदर वह अपने को प्रतिबिम्बित करता ही रहता है। बिना किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा रखे हुए निरन्तर हमें चेतन रखने का उपकार कर रहा है। सारे प्राणियों के हृदय के अंदर रहने वाला है और सभी कर्मों के फल को देता रहता है। जो 'कृष्णार्पणमस्तु' करता है उसको भी कर्म-फल मिलता है और जो नहीं करता, उसको भी कर्मफल मिलता है।

ऐसा जो वह आत्मा से अभिन्न नारायण सत्य है उसको 'ज्ञात्वा'इस प्रकार ध्यान करके उसका दर्शन करके, जैसा नारायण का वास्तविक स्वरूप है, उस रूप से ही उसको जान कर, 'शान्तिमृच्छति'संसार का स्वरूप निरंतर अशान्ति है, इसे नष्ट करके संसार का उपरतरूप जो तत्त्व है, उसको प्राप्त कर लेता है। शान्त, परमशांत हो जाता है

अर्थात् उसके बाद कोई दुःख अनुभव में आता नहीं। इस प्रकार ध्येय का निरूपण हो गया।।२६।।

इस अध्याय का नाम है कर्मसंन्यासयोग, क्योंकि इसमें सर्वकर्मसंन्यास के अंदर सारे कर्मयोग की समाप्ति बताई। अन्त में ध्यान योग को परमात्म-दर्शन के प्रति अन्तरंग साधन बताया। यह जो तीन श्लोकों से साधन और साध्य का निरूपण किया, इसी की व्याख्या करते हुए सारा छठा अध्याय आयेगा। वहाँ ध्यान-योग का निरूपण करेंगे।

।।पाँचवाँ अध्याय सम्पूर्ण।।

ॐ

छठा अध्याय : आत्मसंयमयोग

श्रीभगवान् उवाच
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

जो कर्मांगभूत अग्नियों की सेवा न करे ऐसा नहीं और अग्निनिरपेक्ष तप आदि क्रियाएँ भी न करे ऐसा नहीं, किन्तु कर्मों के फल का सहारा लिए बिना कर्त्तव्य कर्म करता रहता है, उसे संन्यासी और योगी मानना चाहिये।

कर्म के फल का आश्रय लिए बिना अर्थात् कर्म के अंदर प्रवृत्ति कराने वाली जो कामना, वह कामना पूर्ण होइस उद्देश्य से जो कर्म का आश्रयण नहीं करता। कर्म करने पर भी वह नहीं चाहता कि कर्म का फल उसे हो। कर्म जो भी करोगे, वह फल के उद्देश्य से ही, अन्यथा प्रवृत्ति ही नहीं होगी। परन्तु 'वह फल *मुझे* न मिले' यह भाव रख सकते हो। जैसे, चाहे तुम खुद की दुकान करो, चाहे किसी सेठ की मुनीमगिरी करो, दोनों ही के अंदर तुम जो कर्म करते हो उसका फल है माल बिक कर फायदा होना। माल बेच कर फायदा करने के लिए ही तुम अपनी दुकान भी चलाते हो और मालिक की दुकान भी चलाते हो। फायदा होयह फल तो मुनीम के सामने है, परंतु 'फल मुझे हो' ऐसा वह नहीं चाहता क्योंकि दुकान का मालिक दूसरे को जानता है, फल उसके अर्पण करता है। इसी प्रकार 'कर्म-फल मुझे प्राप्त होवे'ऐसी कर्मफल की तृष्णा का आश्रय करके साधक को कर्म नहीं करना है, कर्मफल परमेश्वर को ही अर्पण करने के लिए कर्म करना है।

वह कौन-सा कर्म करता है? 'कार्यं कर्म करोति' जो उसका कर्त्तव्य है, उसको करता है। सामान्य रूप से नित्य नैमित्तिक कर्मों का फल शास्त्रों में बताया नहीं है, परन्तु ये कर्त्तव्य हैं। शास्त्रों में जो तत्तत् फलों वाले न कहकर भी करने के लिए कहे गये हैं, उन्हें साधक अवश्य करता है। फल पर आश्रित होकर जो करता है, वह तो जिस फल

की इच्छा होगी उसके उपायभूत कर्म को ही करेगा। जिन कर्मों का फल चाहता नहीं उन कर्मों में प्रवृत्ति नहीं करेगा। एक नियम याद रखना : तुम्हें स्वर्ग की इच्छा हुई और तुमने ज्योतिष्टोम शुरू कर दिया। इस बीच में तुमको विवेक उत्पन्न हो गया और तुम्हारी स्वर्ग की इच्छा नहीं रही। तब के लिये भी शास्त्रों ने यह निर्णय किया है कि प्रारंभ किया हुआ कर्म तो पूरा करना ही होगा। उसका भी फल तुम परमेश्वर के अर्पण कर दो क्योंकि तुमको विवेक उत्पन्न हो गया है, जिससे तुमको स्वर्ग की इच्छा नहीं रही, पर कर्म पूरा करो। इसीलिए कहीं पर कहा है कि काम्य-कर्मों को भी परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करे तो वे भी अन्तःकरण की शुद्धि में कारण हो जाते हैं। परंतु कामना न रहने पर किसी काम्य कर्म का आरंभ नहीं कर सकते। साधक प्रधान रूप से नित्य-नैमित्तिक कर्म करता है क्योंकि कर्म के फल को आश्रय नहीं करता अर्थात् 'कर्म का फल मुझे हो', ऐसा नहीं चाहता। जो कर्म श्रुति-स्मृति में कर्तव्य बताए गए हैं उनको फलेच्छा से रहित होकर जो करता है, ऐसे कर्मी को कर्मयोगी कहते हैं। योग अर्थात् चित्तवृत्ति को निरुद्ध करना। जिसका चित्त समाहित होता है उसको योगी कहा जाता है। उक्त साधक निष्काम होने से समाहितचेता ही है। और उसे संन्यासी भी कहते हैं। संन्यास का मतलब होता है परित्याग करना। कर्मफल का परित्याग करता है इसलिए संन्यासी कहा जाता है। लोक में भी कोई कह देता है 'आज से मुझे राजनीति नहीं करनी', तो कहते हैं 'इसने राजनीति से संन्यास ले लिया।' इसी प्रकार कर्मफल का आश्रय न करने वाला, कर्मफल छोड़ने वाला, संन्यासी भी कहा जाता है।

परंतु संन्यासी होने पर भी वह निरग्नि नहीं है अर्थात् कर्म के अंग जो गार्हपत्य-आहवनीय-दक्षिणा नामक अग्नियाँ हैं, उन अग्नियों को भी उसने नहीं छोड़ा है और स्मार्ताग्नि का भी परित्याग नहीं किया है। वह अग्निरहित नहीं हुआ है फिर भी संन्यासी कहा जाता है। इसी प्रकार से उसने यद्यपि तप, व्रत, दान इत्यादि क्रियाओं को नहीं छोड़ा है अर्थात् जो अग्नि-संबंध से होने वाली क्रियाएँ नहीं हैं उन क्रियाओं को छोड़े बिना भी, क्रियाओं के रहते हुए भी, वह योगी कहा जाता है। साधारण योगी तप दान आदि सारी क्रियाओं को छोड़ करके केवल योगाभ्यास में संलग्न रहता है। क्रिया न छोड़ने पर भी प्रकृत साधक योगी कहा जाता है और अग्नियों का परित्याग न करने पर भी संन्यासी कहा जाता है। यह प्रशंसा है उसकी। प्रायः करके जो अग्नियों से रहित होता है उसको संन्यासी कहते हैं और जो अन्य सारी क्रियाओं का परित्याग करता है उसको योगी कहते हैं, परंतु भगवान् कर्मयोगी को संन्यासी और योगी रूप से प्रसिद्ध कह रहे हैं। यह उसकी स्तुति है। ऐसे प्रयोगों को गौण प्रयोग कहते हैं, किसी एक गुण के होने से जहाँ किसी शब्द का विषय बना दिया जाये वह गौण प्रयोग है। किसी के मुख को देखते ही आह्लाद होता है, प्रसन्नता होती है; सुन्दर मुख देखो तो प्रसन्नता होती है, चित्त में आह्लाद होता है; इसलिए मुँह को भी चन्द्रमा कह देते हैं 'चन्द्रमुखी

स्त्री', ऐसा प्रयोग करते हैं। मुख चन्द्रमा तो नहीं है, परंतु जैसे चंद्रमा प्रसन्न करता है ऐसे ही उसका मुख हृदय में आह्लाद ले आता है, इस गुणवृत्ति से कह देते हैं। इसी प्रकार चित्तविक्षेप के हेतु दान तप आदि का त्याग न करने पर भी उसको योगी कह देते हैं और अग्नियों का त्याग न करने पर भी उसको संन्यासी कह देते हैं क्योंकि उसने फलाश्रयण छोड़ा है। ऐसी गौणवृत्ति के प्रयोग से मुख्य वृत्ति को हटाया नहीं जाता है! जैसे चंद्रमुखी कहने का मतलब यह नहीं कि शशी चंद्रमा शब्द का अर्थ नहीं रहा! कवियों ने लिख दिया है कि 'उस गाँव में कभी अमावस नहीं होती, हमेशा पूर्णिमा बनी रहती है। क्योंकि अमुक लड़की वहाँ रहती है।' पर ऐसे गौण प्रयोग से मुख्य प्रयोग हटाया नहीं जाता है, उसका अभिप्राय प्रशंसा में होता है। कोई छोटा गाँव है, वहाँ थानेदार ही सबसे बड़ा अफसर है। कोई बात होती है तो कहते हैं 'हमारे लिए तो आप ही सुपरइन्टेण्डेण्ट हैं।' इसका यह मतलब नहीं कि सच में हम वैसा समझ रहे हैं। जैसे सुपरइन्टेण्डेन्ट अन्तिम निर्णय ले लेता है वैसे ही गाँव में थानेदार ले सकता हैइस गौण वृत्ति से थानेदार को वैसा कह रहे हैं। इस गुणवृत्ति को न समझने के कारण अनेक लोग इस श्लोक में गड़बड़ अर्थ समझ जाते हैं कि भगवान् कर्मयोगी को *ही* संन्यासी कह रहे हैं! भगवान् भाष्यकार ने विस्तार से इस भ्रम को हटा कर यहाँ उक्त तात्पर्य स्पष्ट किया है।।१।।

संन्यासी व योगी कहने का अभिप्राय स्वयं भगवान् दिखाते हैं

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

हे पाण्डुपुत्र! जिसे संन्यास कहते हैं उसे योग जानो क्योंकि जिसने संकल्प छोड़ा नहीं ऐसा कोई योगी नहीं होता।

भगवान् कहते हैंसारे कर्मों के फलों का परित्याग-लक्षण जो संन्यास है, उसको तुम कर्मयोग ही जानो। सारे कर्मफलों का त्याग योग ही जानो। कर्मयोग प्रवृत्ति-लक्षण है। कर्मयोगी को हमेशा विधि-निषेधों के अनुसार ही करना या करने से रुकना पड़ता है। प्रवृत्तिलक्षण से सर्वथा विपरीत होता है निवृत्तिलक्षण परमार्थ संन्यास, जिसमें विधि-निषेधों को हमेशा दूर ही रखना है। ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण वाली चीज़ों को भगवान् क्या समझ कर, किस गौणवृत्ति से, एक कह रहे हैं? भगवान् स्वयं समझाते हैंजो परमार्थ संन्यासी होता है उसने सारे कर्म और उसके साधनों को कैसे छोड़ा? सारे कर्मों और फलों के विषय का संकल्प छोड़ दिया। उसे संकल्प कर्म का भी नहीं है और कर्मफल का भी नहीं है। इसी प्रकार कर्मफल का संकल्प इस कर्मयोगी ने भी छोड़ दिया। संन्यासी कर्म को *भी* छोड़ता है और कर्म के संकल्प को अर्थात् फल की इच्छा को भी छोड़ता है। योगी फल की इच्छा को तो छोड़ देता है, कर्म को नहीं

छोड़ता। जिसने कर्मफल का संकल्प छोड़ा नहीं है, ऐसा कोई भी कर्मयोगी नहीं होता। संन्यासी में कर्म-त्याग और कर्मफलत्याग दोनों हैं। योगी में कर्मफलत्याग है, कर्मत्याग नहीं है। किंतु क्योंकि असन्न्यस्तसङ्कल्प कोई कर्मयोगी नहीं होता इसलिए यहाँ कर्मयोगी को संन्यासी कह दिया। दोनों की एकता का जो पूर्व श्लोक में संकेत था, उसे यहाँ पर स्पष्ट कर दिया।

उसको योगी क्यों कहते हैं? फलसङ्कल्प से ही चित्त का विक्षेप होता है। ओ.एन.जी.सी. का चेयरमैन अरबों रुपयों की कम्पनी को सम्भालता है, सब जगह का नफा-नुकसान देखता है। पर रात को मज़े से नौ बजे सो कर खुर्राटे भरता है! और जिसकी पचास हज़ार की आटा-दाल की दुकान है अपनी, उसे अकस्मात् सरकार की घोषणा सुनाई देती है कि 'आटे का अमुक दाम ही हो सकता है, उसमें ही बेचना पड़ेगा', उसने महंगे आटे को लेकर रखा हुआ है, तो चाहे पचास हज़ार का ही कारोबार है, पर उसे रात में नींद नहीं आती है, सोचता रहता है, 'अरे! यह तो बहुत घाटा हो गया।' उसे चित्त का विक्षेप है और अरबों की कम्पनी वाले चेयरमैन को नहीं है। क्यों? अरबों की कम्पनी वाले का घाटा-नफा किसी और का है, *उसका* नहीं है। और पचास हज़ार की दुकान वाले का नुकसान भले ही बीस हज़ार का है परन्तु वह *उसका* है। फल के प्रति सङ्कल्प है इसलिए उसे नींद नहीं आ रही। चित्त के विक्षेप का कारण कर्मफल का सङ्कल्प ही है। इसी प्रकार से 'परमेश्वर का काम मैं कर रहा हूँ, उसकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ! मुकदमे में हार हो या जीत, युद्ध में हार हो या जीत, वह उसी की होनी है, महेश्वर वही है, मेरी होनी नहीं।' ऐसे निश्चय वाले का चित्त का विक्षेप कम हो जाता है। अतः कर्मफल का त्याग किए बिना कर्मयोगी होता नहीं इसलिए उसको संन्यासी *कह दिया* और कर्मफल का त्याग करने से अत्यधिक चित्तविक्षेप भी होता नहीं इसलिए उसको योगी भी *कह दिया।* इस प्रकार कर्मयोगी की प्रशंसा हो गई।।२।।

दो तरह के साधन होते हैंअन्तरंग साधन और बहिरंग साधन। मुख्य कार्य को करने में साक्षात् जिन चीज़ों का उपयोग है उन्हें अन्तरंग साधन कहते हैं और जिन्हें किए बिना मुख्य कार्य को करना प्रारम्भ नहीं किया जा सकता, उन्हें बहिरंग साधन कहते हैं। ध्यान-योग करने के अन्तरंग साधन आगे बतलाएँगेप्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, जो साक्षात् ध्यान-योग की सिद्धि में कारण हैं। एवम् ध्यान-योग करना प्रारम्भ ही नहीं हो सकता जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो जाए, इसलिए वह बहिरंग साधन है। फल-आशा को छोड़कर कर्म करना रूप कर्मयोग के बिना ध्यान-योग में प्रवृत्ति बन नहीं सकती। उसी कर्मयोग की भगवान् ने प्रशंसा की। प्रशंसा के द्वारा भगवान् ने उसके उपयोग का संकेत से कथन कर दिया। कर्मयोग करने में फल की कामना का परित्याग करना पड़ता है, इस परित्याग की समता से कर्मयोग को संन्यास कहा है। और चित्त-विक्षेप का बहुत बड़ा कारण फल के प्रति आसक्ति है। फल के प्रति आसक्ति

हटने से चित्त का विक्षेप न्यूनतम हो जाता है। क्योंकि कर्मयोग से चित्त-विक्षेप भी बहुत हद तक दूर होता है इसलिए इसको योग भी कहा। ससाधन कर्म और फल का सर्वथा परित्याग मुख्य संन्यास है, जबकि फलत्याग-पूर्वक काम्य व निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर्मयोग है। त्याग की समानता से कर्मयोग को संन्यास कह दिया। इस प्रकार फलाशा से रहित होकर जो कर्मयोग है, वह ध्यान-योग का बहिरंग साधन है। कर्मयोग ध्यान-योग का साधन है, इसको भगवान् अपने मुख से कहते हैं। कर्मयोग करने पर ही ध्यान-योग की सामर्थ्य आती है, अधिकारिता आती है

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

योग पर आरूढ होने के इच्छुक मुनि के लिये साधन बताया गया है कर्म, और वही जब योग पर आरूढ हो जाये तब उसी के लिये सब कर्मों से निवृत्ति साधन बतायी गयी है।

कर्मफल को इसने त्याग दिया, कर्मफल का संन्यास कर दिया है, इसलिए योगी को यहाँ मुनि कहा है। वह जब तक 'आरुरुक्षु' है, चढ़ने की इच्छा वाला है। जूता इत्यादि पहन कर आदमी घोड़े पर चढ़ने के लिए तैयार है, घोड़े की लगाम पकड़ ली, तब उसको आरुरुक्षु कहेंगे कि घोड़े पर चढ़ना चाहता है। अर्थात् वह अभी अनारूढ है, घोड़े पर बैठा नहीं है। वैसे यहाँ भाव है कि ध्यान-योग का प्रारम्भ अभी नहीं किया है, ध्यान-योग पर आरूढ होने की अर्थात् ध्यान-योग का अभ्यास करने की इच्छा वाला है। ऐसा जो मुनि है, 'कर्म कारणम्' उसके लिए कर्म अर्थात् कर्मयोग ही कारण है, साधन है। कर्मयोग करेगा तभी ध्यानयोग पर आरूढ हो सकेगा। यहाँ कर्म का मतलब कर्मयोग। अब, 'योगारूढस्य'जब ध्यान-योग करने में समर्थ हो गया, ध्यान-योग का अधिकारी हो गया, ध्यान करने में सशक्त हो गया, तब 'शमः कारणमुच्यते' सब नित्य-नैमित्तिक कर्मों का त्याग करना ही उसका साधन बनेगा! नित्य-नैमित्तिक आदि जो भी कर्म होगा वह विक्षेप का कारण होगा, ध्यान-योग पर आरूढ नहीं होने देगा। जैसे ही ध्यान शुरू करेगा, किसी कर्म का समय आ जायेगा, कर्म की आवश्यकता पड़ जायेगी, तो उसका चित्त विक्षिप्त हो जाएगा, शान्त होकर ध्यान नहीं कर सकेगा। काम्य-निषिद्ध तो पहले ही छोड़ चुका था, अब नित्य-नैमित्तिक कर्मों की भी निवृत्ति कर देता है। जिनके बिना शरीर नहीं रह सकता वे केवल शारीर कर्म, पहले ही कह आए हैं कि, निवृत्त हो नहीं सकते। खाना-हगना आदि करना ही पड़ेगा। परंतु अन्य जितने कर्म हैं, उन सबका परित्याग यहाँ साधन कहा जा रहा है। योगारूढ होकर ध्यान-योग खुलकर कर सके, इसके लिए शम ही कारण है, सारे कर्मों की निवृत्ति ही कारण है।

शंका आ जाती है कि कर्म और शमइनका अभ्यास करने के अधिकारी आरुरुक्षु

और योगारूढ क्या अलग-अलग हैं? अर्थात् क्या कर्म करने वाला फलाशा छोड़कर कर्म ही करता रहेगा के एवं शम करने वाला शम ही करता रहेगा? इस शंका को हटाने के लिए भगवान् ने कह दिया *'तस्यैव'* अर्थात् यह दो साधकों का प्रसंग नहीं है। एक ही साधक के लिये क्रमशः दोनों साधन हैं। जिसने कर्मयोग का अभ्यास किया है, उसे ही कर्मों से निवृत्ति करनी है। साधन होने से इनके बारे में समझ लेना चाहिये कि कोई बिजली का खटका नहीं है कि जैसे खटका दबा दिया तो पंखा चल पड़ता है, दूसरी ओर दबा दिया तो रुक जाता है, ऐसे कर्मयोग एकाएक किया और छोड़ा जा सके! जितनी-जितनी कर्मों से उपरामता होगी उतना ही उतना मनुष्य निरायास हो जाएगा, आयास से रहित हो जाएगा। कर्म करने में जो विक्षेप है, वह जितना कर्म कम करता जाएगा, उतना ही कम होता जाएगा। आयास-रहित तो तमोगुणी भी होता है! आलासी प्रमादी भी कर्म नहीं करता है, लेकिन उसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, मन वश में नहीं है, अतः वह ध्यान-योग नहीं कर सकता। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, वही आयास से रहित होने पर ध्यान कर सकेगा क्योंकि ध्यान करना बड़ा ही क्लिष्ट कर्म है, मुश्किल काम है। लोग सोचते हैं कि ध्यान करने में मेहनत नहीं है! ध्यान करने में पूरी मेहनत होती है। जो जितेन्द्रिय नहीं होगा उसका मन आयास न होने पर भी शांत नहीं होगा, कर्मों से उपरामता जब जितेन्द्रिय की होती है तब उसका जो श्रमरहित चित्त है वह ध्यान-योग में अधिकाधिक समाहित होता जाता है। उसपर जितना-जितना कर्म का दबाव हटता है, उतना ही उतना ध्यान योग दृढ होता जाता है। जब शम पूर्ण हो जाता है, कर्ममात्र का संन्यास पूरा हो जाता है, तब ध्यान-योग का अभ्यास भी पूरी तरह से हो सकता है।

बहुत-से लोग घोड़े पर बैठते हैं, पर मुश्किल से घोड़े पर अपने आपको सम्भाल के रखते हैं कि कहीं गिर न जावें! वे घोड़े पर रूढ तो हैं, पर ऐसे आरूढ नहीं कि उस पर नियंत्रण रख आराम से चला सकें। इसी प्रकार यदि इन्द्रियों की उपशान्ति नहीं है तो ध्यान करने के लिए बैठने पर नींद आने लगेगी। कई लोगों की शिकायत रहती है कि जब घर का या कोई भी काम करते रहते हैं तब उसमें मन खूब लगता है परंतु जब भगवान् का ध्यान करने बैठते हैं, तब दुनिया-भर की बातें याद आती हैं। इसका कारण क्या है? जितेन्द्रियता का अभाव। ऐसे लोग अभी कर्मयोग के अधिकारी हैं, ध्यान-योग के अधिकारी नहीं हैं। इसलिए भगवान् व्यास ने कहा है

'नैतादृशं ब्राह्मणस्याऽस्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानम् आर्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः।।'

वित्त कहते हैं धन को। धन होने पर बाह्य पदार्थों को खरीद सकते हो, पा सकते हो। नोट हो, डॉलर हो, जमीन हो, सब वित्त है। जिस क्रैडिट कार्ड से तुमको चीज़ मिलती है उसे भी वित्त ही कहा जाता है। इसी प्रकार यदि तुम ब्रह्म के ग्राहक हो तो क्या वित्त चाहिये, यह व्यास जीने बताया। यहाँ ब्राह्मण-शब्द का अर्थ वह है जो बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा कि जो ब्रह्म में निष्ठा वाला है वही ब्राह्मण है, 'अथ ब्राह्मणः'जिसने सारे साधन पूर्ण कर लिए, वह अब ब्राह्मण हुआ। ब्राह्मण को भी ब्राह्मण इसीलिए कहते हैं कि मनु इत्यादि के अनुसार ब्राह्मण शरीर की प्राप्ति भगवान् कृपा करके इसलिए नहीं देते हैं कि बाकी किसी चीज़ के लिए प्रयत्न करो, वरन् इसलिये कि ब्रह्मप्राप्ति के लिए प्रयत्न करो। इस उद्देश्य से जो शरीर मिला है, उसे ब्राह्मण शरीर कहते हैं। इसलिए ब्राह्मण शरीर को स्मृतियों के अंदर चलता-फिरता नारायण का रूप बतलाया है। ऐसा जो ब्राह्मण है, उसका ब्रह्मप्राप्ति के लिए वित्त क्या है? क्या चीज़ें हैं जिनसे वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेगा?

'एकता'बार-बार मैं की वास्तविकता का विचार करना; मैं नहीं, मैं की वास्तविकता ब्रह्म हैबार-बार इस एकता का जितना चिंतन होगा उतना ही ब्रह्म के ज्ञान के नज़दीक पहुँचेगा। 'समता' प्राणिमात्र के अंदर रहने वाला जो, वह मुझ से अभिन्न है। प्राणिमात्र के हृदय में एक ही है। प्राणिमात्र समान हैं क्योंकि उनके अंदर एकमात्र परमात्मा ही विद्यमान है। 'सत्यता च'जो चीज़ जैसी हो, उस चीज़ को मन, वाणी और शरीर से वैसा ही प्रकट करना और वैसा ही जानने का प्रयत्न करना। ब्रह्म सत्य है। अतः जो सत्य को जानना चाहेगा वही ब्रह्म को जानना चाह रहा है। जो वास्तविकता की तरफ जाने वाला होगा वही इस संसार का सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है, इस बात को जान पाएगा। 'शीलम्'सदाचार जिसका स्वभाव हो गया है अर्थात् दुराचार का उसके मन में उदय ही नहीं होता। सदाचार स्वभाव बने, तभी शील कहा जाता है। 'स्थितिः'अपने हर निर्णय में स्थित रहना। संसार के अंदर वह कुशल माना जाता है जो समय के अनुसार झट बदल जाए। बच्चों को समझाते भी हैं कि मौका होवे वैसा काम कर लेना चाहिए। ऐसे व्यक्ति परमात्म-प्राप्ति में लगे नहीं रह सकते। इसके लिये तो सिद्धान्त-निश्चय कर उसी पर टिके रहना, विरोधों का सामना करके स्थिर रहना आवश्यक है। 'दण्डनिधानम्'किसी को भी दंड देना जिसने छोड़ दिया है। चाहे कोई कितना भी अपकार करे, परंतु 'यह इसकी सज़ा पाए' ऐसा जिसके मन में आता ही नहीं है। बहुत-से लोग बाहर से तो दूसरे को दंड नहीं देते परंतु मन से देते हैं'इसने मेरा काम बिगाड़ा है, भगवान् इसको देखेगा'; अर्थात् चाहते हैं कि उसे दंड मिले। अगर उसका कुछ बुरा होता है तो बड़े खुश भी होकर कहते हैं 'देखो! इसने मेरा अपकार किया था तो भुगत लिया न!' इस प्रकार विचार मन में न आना दंडनिधान है। 'आर्जवम्' मन, वाणी, शरीर के अंदर सरलता। मन में कुछ रखना, वाणी से कुछ और कहना, शरीर

से कुछ अन्य ही करनायह कुटिल आदमी का स्वभाव है। जैसा मन ने सोचा, वैसा ही वाणी बोले, वैसा ही शरीर करेयह ब्राह्मण का स्वभाव है। 'ततः ततः क्रियाभ्यः उपरमः' अन्त में उन-उन बाह्य क्रियाओं से शरीर को उपरत करना। ब्राह्मण को पूर्णता प्राप्त करने के लिए उपरामता अवश्य कर्त्तव्य हो जाती है। अतः ब्रह्मप्राप्ति के लिये शम की आवश्यकता निःसन्दिग्ध है।।५।।

भगवान् बताते हैं कि साधक योगारूढ कब कहा जाता है

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

जब, क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में और कर्मों में आसक्त नहीं होता इसलिये सारे संकल्पों का स्वभाव से परित्याग कर देता है, तब योग पर आरूढ कहा जाता है।

'कर्मयोग का मेरे लिये उपयोग पूरा हो गया, अन्तःकरण शुद्ध हो गया, अब मैं योगारूढ होने के योग्य हो गया।' यह कब समझना चाहिये? योगीजिसने कर्मयोग का अभ्यास कर लिया और ध्यान-योग में तल्लीन होने को उत्सुक हैजब समाधि के लिये बैठे अर्थात् चित्त को समाहित, सम नाम ब्रह्म पर एकाग्र करने का प्रयत्न करे, और तब उसे ऐन्द्रिय विषयों व चेष्टाओं के प्रति आसक्ति महसूस न हो, तभी समझना चाहिये कि कर्मयोग का उपयोग पूरा हुआ। इन्द्रियों के रूप-रस आदि विषय एवं इहलोक-परलोक संबंधी कर्म जब प्राप्तव्य और कर्तव्य न लगें तभी चित्त शुद्ध समझा जा सकता है। यह तभी हो जब विषयों व कर्मों से जो हो सके उसे प्रयोजन समझना ख़त्म हो। जिस प्रकार जिसके घर में बारह लड़के पहले ही मौजूद हैं उसे पुत्रकामेष्टि करने की इच्छा नहीं होती, इसी प्रकार नित्य नैमित्तिक काम्य प्रतिषिद्ध इत्यादि से जो भी इहलोक में और परलोक में प्राप्त हो सकता है, उस सबको प्राप्त करने की इच्छा जब नहीं है तब प्रयोजन के अभाव का निश्चय होने से कर्मों में कर्त्तव्य-बुद्धि नहीं होती। इन्द्रिय-अर्थों में अनासक्ति कारण बनती है कर्मों में अनासक्ति के प्रति।

यह भी क्यों होता है? 'सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी।' कामना सङ्कल्प से ही होती है। शास्त्रकारों ने कहा है

'काम! जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् त्वं हि जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि।।'

हे काम! मैंने तेरी जड़ को जान लिया कि तू कहाँ से आता है। किसी भी चीज़ के बारे में वह अच्छी है, सम्यक् है, ऐसी जब कल्पना होती है तब उस चीज़ की कामना आती है। जिसने सारे पदार्थ और सारे लोकों को विवेक के द्वारा समझ कर उनके प्रति

'सम्यक्, अच्छे हैं,' यह बुद्धि हटा ली, उसे सङ्कल्प नहीं होगा। सङ्कल्प से कामना उत्पन्न होती है। मैं जब सङ्कल्प करूँगा ही नहीं तो फिर कामना आएगी कहाँ से! जितने भी शास्त्रीय और लौकिक कर्म हैं सब सङ्कल्प-मूलक हैं। पहले संकल्प होगा तब कर्म होंगे। सङ्कल्प-मूलक ही सारी कामनाएँ हैं। सङ्कल्पों के परित्याग से स्वतः सारे कर्मों का परित्याग प्राप्त हो जाता है। इसलिए भगवान् ने कहा सर्वसङ्कल्प-संन्यासी। कर्म का परित्याग कामना के परित्याग से करने को कह रहे हैं। कर्मों से जो प्राप्त होगा, उसकी अभिलाषा नहीं है, कामना नहीं है, इसलिए कर्म का त्याग है। चीज़ें प्राप्त करने के योग्य ही नहीं हैंयह निश्चय होने पर सर्वसङ्कल्पसंन्यासी बन सकता है। सर्व शब्द इसलिए कहा कि इहलोक-परलोक दोनों जगहों के विषय संकल्प-कामनापूर्वक कर्म में प्रेरित करते हैं। इस प्रकार कामहेतुक संकल्पमात्र छोड़ना ही जिसका स्वभाव बन गया है उसको कहते हैं सर्वसङ्कल्पसंन्यासी। सारी कामनाओं के परित्याग करने पर कर्म असम्भव होकर सर्वकर्मसंन्यास स्वतः प्राप्त हो जाता है।

जब ऐसा हो जाता है, उस काल में 'योगारूढ उच्यते' उसे योगारूढ कहा जाता है। तब तक कर्मयोग का अभ्यास करे जब तक इन्द्रियों के विषयों के संकल्प छूट नहीं जायें। अन्यथा, कर्म से जो प्राप्त होगा उसके अंदर सम्यक् बुद्धि नहीं हटेगी तो कामना होती रहेगी। इसी बात को उपनिषद् ने इस तरह से कहा कि कृत से अकृत की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जो *किया जाता* है, वह *नहीं किए जाने वाले* की प्राप्ति नहीं करा सकता। अनुभव भी यही होता है कि जिस चीज़ के संकल्प का त्याग हो जाता है उस की तरफ प्रवृत्ति नहीं होती। हम लोगों के देखते-देखते यह फ़र्क आया : पहले शास्त्रों के अध्ययन के प्रति संकल्प होता था कि 'मेरा बेटा शास्त्र-अध्ययन करने वाला हो', तो उसके लिए ही प्रयत्न करते थे। अब उसकी जगह हो गया कि शास्त्र-अध्ययन नहीं, इंजीनियर या डाक्टर बने, तो उसी के लिये घोर प्रयत्न करते हैं। हम लोगों की पाठशालाओं में भोजन मुफ्त, वस्त्र मुफ्त, पुस्तकें मुफ्त, पढ़ाना मुफ्त, ये सब सुविधाएँ होने पर भी पढ़ने वाले नहीं हैं! इंजीनियरी, डाक्टरी की शिक्षा के लिये लाखों रुपये देकर भर्ती कराते हैं, फिर भी होड़ लगी रहती है, जगह नहीं मिलती! जिस चीज़ का संकल्प हट जाता है उस के प्रति कर्म होता ही नहीं। जिसका ऐहिक-आमुष्मिक काम का कारण संकल्प हट गया, उससे किसी भी कर्म में प्रवृत्ति होगी नहीं। भाष्यकार लिखते हैं कि बिना संकल्प के कोई स्पंद अर्थात् शरीर हिला भी नहीं सकता। कोई बैठा हुआ उठता है तो हर-एक पूछता है 'किसलिए उठे?' वह भी कोई प्रयोजन बताता है। उठने का कोई-न-कोई संकल्प होता है, तभी उठने की क्रिया भी करता है। इसलिए सर्वसंकल्प-संन्यासी का अर्थ है कि सारी कामनाएँ और सारे कर्मों को छोड़ देता है, तब योगारूढ है।।५।।

जब योगारूढ हो जाता है तब उसे क्या करना है

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

स्वयं अपना उद्धार करे, खुद की अधोगति न कराये। आत्मा ही आत्मा का बन्धु और शत्रु है।

हमारा आत्म-स्वरूप अज्ञान के कार्यरूपी संसार के अंदर डूबा हुआ है; अज्ञान के समुद्र में और अज्ञान से होने वाली जितनी ये संसार की प्रवृत्तियाँ हैं, उनके अंदर डूबा हुआ है। 'उद्धरेत्' उसका उद्धार करे, वहाँ से दूर करे। किधर को? 'उत्'; उत् ब्रह्म का नाम है। अज्ञान सागर में जो हमारा आत्मा पड़ा हुआ है, उसको ब्रह्म के अनुभव की तरफ ले जावे। किससे ले जावे? 'आत्मना।' खुद तुमको ही उसमें से अपने को निकालना है। इसमें से निकालने में सिवाय तुम्हारे और कोई सामर्थ्य वाला नहीं है। तात्पर्य है कि योगारूढ होकर ध्यान-योग का अभ्यास पूरी तरह से कर लेवे क्योंकि इसके द्वारा ही उद्धार संभव है। कर्मों को छोड़ करके 'आत्मानं न अवसादयेत्' आत्मा को और ज़्यादा तमोगुण के अंदर डुबा न देवे। कर्मों को छोड़ दिया और ध्यान-योग का पूरी तरह से अभ्यास किया नहीं तो तमोगुण में डूब जाएगा, अवसन्न हो जाएगा। ऐसा कर स्वयं को नीचे न ले जाए वरन् ऊपर उठावे। सांख्यों ने इस सन्दर्भ में बड़ा सूक्ष्म विचार करके कई तरह के सन्तोषों को बतलाया है। 'मैंने सारे कर्म छोड़ दिए, बस अब मुझे क्या करना है!' ऐसी तुष्टि अनेकों को हो जाती है पर यह अपने अवसादन का हेतु बनता है। साधक सोचे कि 'अभी तो ज्ञान की प्राप्ति करनी है। संसार में भले ही कुछ प्राप्त नहीं करना है।' तभी साधना में लगा रह सकेगा।

मैं ही अपना उद्धार क्यों करूँ? क्योंकि तुम ही तुम्हारे बन्धु हो। जो दूसरे बन्धु हैं वे मोक्ष के मार्ग में प्रतिकूल ही रहेंगे क्योंकि वे स्नेहादि बन्धनों को लाने वाले हैं। दूसरे बन्धु तुम्हारे मुक्ति-पथ के सहायक नहीं होंगे उल्टा अपने स्नेह आदि के द्वारा तुम को संसार सागर में ही रखना चाहेंगे। इसलिए आत्मा ही, खुद ही अपना बन्धु हो सकता है। इसी प्रकार, अगर तुम पूरे प्रयत्न से ध्यान-योग में नहीं लगते हो तो तुम खुद ही अपने रिपु हो, शत्रु हो। जिस प्रकार से शत्रु तुम्हारा अपकार करता है, तुमको नुकसान पहुँचाता है, उसी प्रकार पूरे प्रयत्न से ध्यानयोग का अभ्यास न करने पर परमात्मा की प्राप्ति के रास्ते पर आगे चलते नहीं, इसलिए तुम ही अपने शत्रु बनते हो, अपकारी बनते हो, नुकसान करने वाले बनते हो। बाकी चीज़ों में बन्धु-बांधव तुम्हारी मदद कर सकते हैं, कोई भी मदद कर सकता है, लेकिन अपने आत्मा का उद्धार करने के लिए तुमको खुद ही प्रयत्न करना पड़ेगा।।५।।

ध्यान-योग का बहिरंग साधन जो कर्मयोग अर्थात् फलाशा को छोड़ कर विहित कर्मों के अंदर प्रवृत्ति, यह बड़ा कठिन काम है। दो ही चीज़ें मनुष्य की समझ में आती

हैंयदि फल प्राप्त करना है तो काम करो और यदि फल नहीं प्राप्त करना है तो काम मत करो। ये दो बातें समझ में आती हैं। काम करो और फल प्राप्त न करोयह अत्यन्त कठिन मामला है। मोक्ष की साधना में यह पहला कदम है। पहले फल की कामना छोड़ोगे तब कर्म की कामना छोड़ोगे, तभी योगारूढ होने की सम्भावना आएगी। यदि आलस्य के कारण मन में फल की इच्छा रहते हुए कर्म का त्याग करोगे तो चित्त कभी भी समाहित नहीं हो पाएगा। कर्म तो छोड़ दिया आलस्य के कारण, पर चाहते ये हैं कि फल हो जाए किसी तरह सेयह भावना प्रायः लोगों में देखी जाती है। बिना कर्म के, फल मिल जाएयह इच्छा रहती है। फल की इच्छा तो है, उसके लिए जो प्रयत्न करना चाहिए वह करने के लिए तैयार नहीं हैं। अधिकतर संसार के अंदर ऐसे लोगों को ही अन्धविश्वास के सहारे बहुत कुछ ठगा जाता है! बिना किए तुमको मिल जाएगायह प्रलोभन बहुतों को फँसा लेता है। इस खतरे से बचने के लिये, शास्त्रों में तरीका बतलाया कि पहले फल की कामना छोड़ने के लिए साधना करो और जब फल की कामना छूट जाए तभी कर्म को छोड़ो। तब चित्त फल की कामना से व्याकुल नहीं होगा। कर्म करने का अभ्यास है, अतः कर्म छोड़ने पर उसके लिए जो थोड़ी-बहुत व्याकुलता होती है, वह कर्म को छोड़ कर नियंत्रित की जा सकती है, उपशम की प्राप्ति की जा सकती है। इसी लिये ध्यान-योग के बहिरंग साधनरूप से फल-आशा को छोड़ कर कर्म करने का भगवान् ने कर्मयोग के रूप में उपदेश दिया और उसकी प्रशंसा की। त्याग आदि धर्मों की समानता से उसे भी एक तरह से संन्यास ही समझोयहाँ तक कह दिया। चित्त-विक्षेप का कम-से-कम एक कारण जो फल-आशा, वह हटी है, इसलिए उसे योग भी मान लिया। यों कदम-कदम प्रयास करते रहने पर ही योगारूढ हुआ जा सकता है। इस मार्ग में खुद तुम ही अपना साथ दे सकते हो और अगर तुम अपने लिए प्रयत्न नहीं करते हो तो तुम ही अपने को नीचे ले जाने वाले बनोगे।

कब मनुष्य अपने को ऊपर ले जाता है और कब नीचे ले जाता है इत्यादि बातों को बतलाते हैं

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्।।६।।

अपना बन्धु वह आत्मा है जिसने स्वयं अपने पर (देहादि संघात पर) विजय पा ली है। अपने पर नियंत्रण न पाये हुए के प्रति तो आत्मा ही शत्रु-सा बर्ताव करता है।

आत्मा अर्थात् शरीर-इन्द्रियादि का जो संघात है। आत्मा शब्द से 'मैं' को कहते हैं। समग्र लौकिक व्यवहारों के अंदर मैं का मतलब शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त होता है। इन्हीं का हम 'मैं' शब्द से व्यवहार करते हैं'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं काणा हूँ, मैं लूला हूँ, मैं बेवकूफ हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ' इत्यादि। अतः यही लौकिक या

व्यावहारिक आत्मा है। इसलिए यहाँ आत्मा अर्थात् कार्य-करण-संघात। जिस जीवात्माने अर्थात् उक्त उपाधियों वाले चैतन्य ने इन्हें अपने वश में कर लिया वह जितात्मा है।

मैं-शब्द के द्वारा अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति भी कही जाती है और मैं-शब्द के द्वारा चेतन भी कहा जाता है। ऐसे समझ लोः शरीर शब्द के द्वारा शव को भी कहा जाता है; मरने के बाद जो पड़ा हुआ शरीर है वह शव, मुर्दा भी शरीर कहा जाता है और शरीर का अर्थ इसमें रहने वाला चेतन भी होता है। इनमें से कोई *एक* शरीर शब्द का वाच्य नहीं है। केवल चेतन को भी शरीर नहीं कह सकते और बिना चेतन के देह को शव कहना पड़ेगा, शरीर नहीं कह सकते। शरीर-रूपी उपाधि का जब प्रयोग करते हैं तब दोनों चीज़ें सामने हैं, लेकिन अलग-अलग हो कर सामने नहीं आतीं। शरीर ही चेतन है, चेतन ही शरीर हैयों दोनों का सर्वथा ऐक्येन अध्यास है, तादात्म्येन अध्यास है। जब हम कहते हैं 'मैं गोरा हूँ', तब हमारा यह अनुभव नहीं है कि 'मैं जो चेतन, वह गोरा नहीं हूँ, मैं जो शरीर, वही गोरा हूँ'; ऐसा लगता है कि मैं ही गोरा हूँ, मैं ही ब्राह्मण हूँ। विवेक करने वाला, शरीर और चेतना को अलग-अलग कह सकता है परंतु व्यावहारिक अनुभव के अंदर दोनों का तादात्म्य अध्यास रहता है। यह बात दूसरी है कि तुलनात्मक दृष्टि से शरीर बाह्य होने से इससे विवेक जल्दी हो जाता है परंतु बिना विवेक के तो कभी भी 'मैं शरीर से अलग'ऐसा *अनुभव* नहीं होता। विष्णु की मूर्ति को देखते हैं, वहाँ सचमुच में क्या है? संगमर्मर है। उसमें चतुर्भुज आदि आकार खुदा हुआ होने से विष्णु की प्रतीति है। परंतु भक्त पूजा करता है तो ऐसा अनुभव करके नहीं कि 'है पत्थर, दीख रहा है विष्णु', वरन् 'विष्णु ही है' ऐसा मान कर पूजा करता है। उसका निश्चय होता है कि 'मैं जो पूजा कर रहा हूँ वह विष्णु की ही पूजा हो रही है।' इसीलिए इसको उपासना-शास्त्रियों ने 'अध्यास उपासना' कहा है, यहाँ तादात्म्य अध्यास होने से अध्यास-उपासना है।

इसकी अपेक्षा, मैं-रूपी अहंकारात्मिका वृत्ति सबसे आन्तरिक है। शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मनइन सबकी अपेक्षा बुद्धि की अहंकारात्मिका वृत्ति सबसे अंदर है। अतः यहाँ विवेक करना सबसे कठिन है। मैं के अंदर एक अहंकारात्मिका वृत्ति है, और दूसरा चेतन है; ऐसे दो का *भान* होना बहुत मुश्किल होता है। मैं, मैं नहीं हूँयह कैसे समझ में आवे! यही कहना पड़ेगा कि 'मैं चेतन, मैं नहीं हूँ अर्थात् मैं की वृत्ति नहीं हूँ'; तो यह 'मैं मैं नहीं हूँ' कहने जैसी बात हो जाती है। परमेश्वर अत्यन्त दयालु हैं, उन्होंने सोचा कि मनुष्य इस बात को कभी समझ नहीं सकेगा, इसलिए उन्होंने अत्यन्त दया कर एक अवस्था हमें दे दीसुषुप्ति, गहरी नींद। गहरी नींद में हमें दो 'मैं' का अनुभव होता है, 'मैं सो रहा था परंतु मुझे मैं का भान नहीं था।' जाग्रत्-स्वप्न में कभी भी ऐसा नहीं होता कि मैं का भान न हो, इसलिए मैं से चेतन का विवेक असम्भव है। परंतु गहरी नींद की यह स्मृति नहीं आती कि 'मैं नहीं था', और 'मैं गहरी नींद में हूँ'

यह भी कभी प्रतीति नहीं होती। इसलिए मानना पड़ता है कि मैं-शब्द से दो बातें कही जाती हैंजाग्रत्-स्वप्न में मन रहता है इसलिए मन की वृत्ति मैं और चेतन दोनों हैं। सषुप्ति में मन नहीं रहता इसलिए मन की वृत्ति, अन्तःकरण की वृत्तिरूप मैं नहीं है, परंतु चेतन है। सुषुप्ति का अनुभव देना परमेश्वर की अत्यन्त दया है, करुणा है जिसके कारण यह विवेक सम्भव होता है कि मैं के अंदर दो चीज़ें हैं। एक चीज़ वह है जो सुषुप्ति में रहती है, और दूसरी चीज़ वह है जो सुषुप्ति में नहीं रहती।

अहम् में दो चीज़ें हैंवृत्ति और चेतन। वृत्ति के द्वारा तो हम इन्द्रियाँ, प्राण, शरीर से और आगे शरीर-संबंधी से गौणाध्यास करके सबसे संबंधित होते हैं, वे अन्तःकरण के संबंध हैं। और जो चेतन है, वह परमात्मा का स्वरूप है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। जब तुम वृत्ति को चेतन परमात्मा की तरफ ले जाते हो, तब तुम कार्य-करण-संघात को जीतने में प्रवृत्त होते हो। इनके पीछे न जाकर के, जैसा मैं चेतन हूँ, वैसा ही अपने को समझनाआवश्यक उपाय है। मैं को जब शरीरादि से संबंध वाला करोगे, तभी शरीर आदि को जीतोगे, बिना संबंध वाला हुए तो जीत नहीं सकते, परंतु शरीरादि से संबंध वाला होने पर भी शरीरादि सारे संघात को ऐसा बनाना है कि वह उस चेतन परमात्मा की तरफ जाए, यही उस को जीतना है। शरीर इन्द्रियादि तुम को चेतन की तरफ नहीं ले जाना चाहते, ये तो तुमको संसार की तरफ ले जाना चाहते हैं। ये महाभूतों से पैदा हुए हैं, उन्हीं की तरफ जाते हैं। इनको जीतोगे तुम अहंकारात्मिका वृत्ति के सहारे ही, परंतु उसको परमात्मा की तरफ लगा कर ही। जीवात्मा में अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति में जो चेतन है वह अन्तःकरण के सहारे से संघात पर विजय हासिल करेगा। चेतन तो निर्विकार है। इसलिए चेतन अन्तःकरण रूपी उपाधि के द्वारा ही जीतने इत्यादि का कार्य कर सकता है। जीतना अथात् वश में कर लेना। इन्द्रियादि अब चेतन के श्रवण-मनन में ही लगेंगी, शरीर आदि के सुख-दुःखों की तरफ ध्यान नहीं देंगी। जिसने ऐसे जीत लिया, उसका आत्मा अर्थात् उसके देह इन्द्रियादि उस जीवात्मा के बंधु हो गए। इससे विपरीत, 'अनात्मनः'जिसने इस प्रकार से अपने आपको नहीं जीता, उसके ये देह-इन्द्रियादि उसके शत्रु की तरह हैं क्योंकि उसको ब्रह्म की तरफ न ले जा कर जगत् की तरफ ही ले जाते हैं। देह-इन्द्रियादि-संघात यदि परमात्मा की तरफ जाता है तो आत्मा का बंधु है और संसार की तरफ जाता है तो शत्रु है, अर्थात् जैसे शत्रु अपकारी होता है वैसे ही ये देहादि अपकारी हो जाते हैं।

यह जो भगवान् का वाक्य है इससे शास्त्रों के दोनों प्रकार के वचन ठीक-ठीक बैठ जाते हैं : अनेक वचन वैराग्य-प्रकरण में शरीरादि को अत्यन्त बुरा बतलाने वाले हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन ये क्या-क्या तुम्हारा नुकसान करते हैं यही बतलाते हैं। और फिर अनेक प्रकरणों में इन सबको बहुत ख्याल से रखने के लिए कहा गया! जहाँ कर्म करने का विचार आया, वहाँ कहा कि सबसे पहले शरीर की ज़रूरत पड़ती है धर्म करने के

लिए। 'शरीरम् आद्यम् खलु धर्मसाधनम्' सारे धर्मों का साधन सबसे पहले शरीर है। दोनों प्रकार के वाक्यों को देख कर कई बार संदेह हो जाता है। समाधान भगवान् ने यहाँ बतला दियाजब देहादि-संघात परमेश्वर की तरफ जाने के लिए ठीक कर दिया गया, तब तुम्हारा बन्धु है और जब संघात परमेश्वर से दूर करके संसार की तरफ ले जाने वाला हो, तब शत्रु है, निन्दनीय है। अर्थात् शरीरादि स्वरूप से न बंधु हैं, न शत्रु हैं; किस तरफ प्रवृत्त हैंइसी को लेकर बंधु या शत्रु होते हैं। शरीर का ध्यान नहीं रखोगे, बीमार पड़ोगे, तो श्रवण ही नहीं कर सकोगे। पेट खराब हो गया, हर पंद्रह मिनट में तुम को शौच करने जाना है तो कैसे मनन करोगे? इसलिऐ शरीर को ठीक भी रखना पड़ता है। किन्तु शरीर को ठीक रखना ही प्रधान नहीं हो जाना चाहिये अर्थात् धर्म का, साधनों का विरोध करके शरीरादि को ठीक रखें, ऐसा भी नहीं करना है। शारीरादि तो शत्रुता का परिचय देने के लिये वैसा करने की प्रेरणा देंगे, लेकिन विवेकपूर्वक उस ग़लती से बचे रहना पड़ेगा, तभी वे बंधु बने रहेंगे। इस प्रकार ये शत्रु भी हैं, मित्र भी हैं, इसीलिए इनकी प्रशंसा भी बनती है और निन्दा भी।।६।।

अब बताते हैं कि यह संघात बन्धु होने से क्या लाभ करता है

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्ण-सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

जिसने संघात पर विजय पा ली और बाह्य-आन्तर करणों को अत्यधिक उपरत कर लिया उसे ही परमात्मा का दृढ अपरोक्ष होता है। ऐसे साधक को सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और सम्मान-अपमान में सम रहना चाहिये।

कार्य-करण संघातको जिसने अपने वश में कर लिया, वह सर्दी-गर्मी आदि परेशानियों से अपने रास्ते से इधर-उधर नहीं भटकता। कहीं भी जाओ, कभी सर्दी कभी गर्मी होनी ही है। कहीं गर्मी ज़्यादा हो जाएगी, कहीं सर्दी ज़्यादा हो जाएगी। सर्वथा तो एक जैसा कहीं रहेगा नहीं। यह ठीक है कि जो तुम्हारे शरीर की प्रकृति के अनुकूल हो, उससे मिलती-जुलती जो परिस्थिति हो, उसमें रहो। लेकिन वहाँ भी सर्दी-गर्मी आदि से घबरा कर अगर स्थान ही परिवर्तन करते रहोगे तो साधना नहीं कर सकोगे। सर्दी-गर्मी से ऐसे कौन प्रभावित नहीं होगा? जो जितात्मा है। सर्दी-गर्मी से सुख-दुःख नहीं होगा, यह नहीं कह रहे हैं। शरीर के प्रतिकूल सर्दी या गर्मी होगी तो अनुकूल नहीं होगी इसलिए सुख-दुःख तो होगा, परंतु उससे प्रभावित न होने का मतलब है कि उसके कारण अपने श्रवण आदि का त्याग नहीं करना। जितात्मा उसे सहन करके साधना में रत रहेगा। शीतोष्ण की तरह दूसरे सुख-दुःख भी समझ लेने चाहिए। जैसे सर्दी-गर्मी दुःख देती है वैसे ही कोई ज़ोर से डण्डा मारे तो जो दुःख होता है, वह भी शरीर के कारण ही। डण्डा तो शरीर पर ही मारा जाता है। अथवा, गर्मी में पसीना बह रहा है,

किसी ने पंखे से हवा कर दी तो सुख भी होता है। वह भी शरीर को लेकर ही। कोई तुम्हें गाली देता है तो तुम्हारे शरीर को कोई चोट नहीं लगती, मन को ही चोट लगती है, दुःख होता है। कोई तुम्हारी प्रशंसा करता है तो शरीर को कोई आराम नहीं मिलता परंतु मन को सुख होता है। इसलिये यहाँ 'शीतोष्ण' के द्वारा शरीर को प्रधान करके कहा, 'सुख-दुःख' के द्वारा मन को प्रधान करके कहा। जितात्मा बनो ताकि उन सुख-दुःखों के द्वारा परमात्मा की तरफ जाने को कम न करना पड़े। किसी ने गाली दे दी। उपनिषद् का श्रवण करने बैठो तो तीन चौथाई समय मन कहता रहता है 'उसने देखो, गाली दे दी! मेरा अपमान कर दिया!' ऐसे में उपनिषद् का श्रवण ही पूरा नहीं हो पायेगा, आधी बात समझ में आयेगी, आधी समझ में ही नहीं आयेगी। शीतोष्ण में और सुख-दुःख में तुमको अपने मार्ग से विचलित करने की सामर्थ्य न होवे, यही उनको जीत लेना है, वश में कर लेना है। इसी प्रकार मान और अपमान हैं। मान अर्थात् तुमको कोई पूज्य समझे, तुम्हारी पूजा करे। अपमान, कोई तुम्हारा परिभव करे, तिरस्कार करे। पूजा और तिरस्कार से भी तुम अपनी साधना को मत छोड़ो, तब जितात्मा हो।

इस प्रकार जो जितात्मा होता है, वही प्रशान्त होता है। प्रशान्त मायने प्रसन्न; जैसे कार्तिक के महीने में तालाब प्रसन्न होते हैं, सारी गंदगी नीचे बैठ जाती है, ऊपर पानी बिल्कुल निर्मल होता है। वर्षा में गंगा जी इतनी मटमैली हो जाती हैं कि हाथ डालो तो दीखता नहीं। उसके बाद जब कार्तिक आता है तब धीरे-धीरे ऐसी निर्मल हो जाती हैं कि गहरे तले में जो पत्थर हैं वे चाहे तो ऊपर से गिन लो! गंदगी सारी बैठ जाती है। ऐसे स्वच्छ नदी, सरोवर आदि को कहते हैं कि प्रसन्न हो गये। इसी प्रकार, अन्तःकरण में राग-द्वेषादि संस्कारों का मैलापना है। जितना-जितना तुम कार्य-करण-संघात को जीतते चले जाते हो उतना-ही-उतना अंतःकरण शांत, प्रशान्त होता चला जाता है अर्थात् विकार नहीं रहते। ऐसा जो प्रसन्न अन्तःकरण वाला, अर्थात् राग-द्वेषादि से रहित, सर्वथा निर्मल अन्तःकरण वाला, परमात्मा उसके अत्यन्त पास में बैठा हुआ है अर्थात् उसकी अपनी अहंकारात्मिका वृत्ति के अंदर प्रतिबिम्बित हो रहा है। अपने ही स्वच्छ हृदय में परमात्मा प्रकाशित होता है, जिस प्रकार मुख साफ काँच में प्रकाशित होता है। मुख तो अपने को कभी नहीं देख सकता, परंतु साफ काँच में पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब है वह जैसा मुँह है वैसा ज्ञान करा देता है, ठीक बतला देता है कि मुँह कैसा है। गंदा काँच होता है तो मुँह जैसा है वैसा नहीं दीखता, काँच में पड़े हुए धब्बे भी मुँह पर दीखते हैं, काँच के दोषों वाला मुँह दीखता है। वैसे ही अन्तःकरण के दागों से, अन्तःकरण के हिलने से, दाग और हिलने वाला मैं चेतन ही प्रतीत हो रहा हूँ। अन्तःकरण में प्रतीत चेतन वही है, परंतु अन्तःकरण के दोषों वाला लग रहा है। निर्विकार होने पर भी विकारी, अकर्त्ता होने पर भी कर्त्ता, अभोक्ता होने पर भी भोक्ता दीख रहा है क्योंकि अंतःकरण के विकारादि से 'मैं ऐसा हूँ'यह दीख रहा है।

जितना-जितना अन्तःकरण प्रशान्त होता है उतना-ही-उतना अपना अकर्त्तापना-अभोक्तापना प्रकट होने लगता है। जब सर्वथा प्रशान्त हो जाता है तब 'परमात्मा समाहितः।' उसी अंतःकरण में शुद्ध ब्रह्मरूप का प्रतिभास होता है, साक्षात्कार होता है।।७।।

प्रसन्न मन वाले समाहितचेतस्क यति का ही वर्णन करते हैं

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

शास्त्रोक्त पदार्थों की समझ और अनुभूति से जिसका मन संतुष्ट है, जो हर्षादि से निर्विकार रहता है, जितेन्द्रिय है, मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण जिसके लिये समान हैं, वह परमहंस परिव्राजक समाहित कहा जाता है।

प्रशान्त अन्तःकरण की प्राप्ति कब होती है? ज्ञान अर्थात् शास्त्र में कही हुई बातों को जानना। शास्त्रोक्त विषय के जानकार को अन्यत्र श्रोत्रिय कहा है। शास्त्र के ज्ञान में तृप्तात्मा अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान जिसे पूर्ण लगता है, और कुछ जानने की इच्छा नहीं रह जाती। योगी केवल ज्ञान में ही नहीं रुकता, शास्त्र से जिनको जाना है, उनके विषय में संशयों को मनन के द्वारा दूर करके, अपने अनुभव के साथ मिला करके अनुभवगम्य बनाता है। शास्त्र ने जो बात कही, उसमें जितने संदेह हैं, वे सारे हटा लेता है और अपने अनुभव से मिलाता चलता है। अनुभवपूर्वक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। जिसे शास्त्रीय ज्ञान भी पर्याप्त है और शास्त्रीय ज्ञान का अपने अनुभव के साथ सर्वथा मिलान भी हो गया है, वह ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा है, उसका आत्मा अर्थात् अन्तःकरण तृप्त हो गया है। तृप्त अर्थात् यह निश्चय होना कि बस, और नहीं चाहिये। जैसे भोजन से तृप्त हो गया, अर्थात् और भोजन करने की इच्छा नहीं रह गई। इसी प्रकार इसके अंदर निश्चय होता है कि जितना शास्त्र को मैं समझना चाहता था समझ लिया, उससे तृप्ति हो गई, और जितना अनुभव में उसको मिलाना था वह भी मिला लिया, उससे भी तृप्ति हो गई।

इसीलिए वह कूटस्थ है। कूट कहते हैं उस लोहे के बड़े खंड को जिसके ऊपर गर्म लोहा रख कर पीटा जाता है। गर्म लोहा पीटा जाता है, परंतु नीचे जो कूट है, वह वैसा-का-वैसा रहता है। इसी प्रकार, उसका अनुभव है कि मुझ शुद्ध चैतन्य के अंदर अध्यस्त जो कार्य-करण- संघात हैं वे तरह-तरह से सुख-दुःखों के प्रवाह में चल रहे हैं परंतु मैं केवल कूट हूँ, अधिष्ठान हूँ, इसलिए प्रकम्पित नहीं होता, उससे प्रभावित नहीं होता। 'विजितेन्द्रियः', उसकी इन्द्रियाँ कभी भी कामनाओं से प्रवृत्त होकर विपरीत आचरण नहीं करती। भगवान् के पूर्व कथन में आ चुका है कि इन्द्रियों की अपनी भी कामना होती है 'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।' प्रायः करके लोग ऐसा मानते हैं कि मन में ही कामना रहती है, परंतु श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रियों की भी कामना होती

है। यहाँ विजितेन्द्रिय कह कर बतला दिया कि इन्द्रियों की भी कामनाएँ शांत कर दी गई हैं।

ऐसे यतिका व्यवहार होता है 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'; मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण इन तीनों के अंदर वह सन्मात्र ब्रह्म की ही दृष्टि रखता है इसलिए वह सम ही रहता है। मिट्टी का लोन्दा भी *है*, पत्थर भी *है*, सोना भी *है*; एकमात्र *है* के अंदर ये तीनों अध्यस्त हैं। सींप में चाँदी का अध्यास हो तो क्या, मोती का अध्यास हो तो क्या! सींप तो सींप ही रहेगी। इसी प्रकार, सन्मात्र ब्रह्म के अंदर प्रारब्धशेष से प्रतीत होने वाला लोष्ट जैसे अध्यस्त है वैसे ही अश्म, वैसे ही स्वर्ण। तीनों में एक-जैसी रहने वाली जो सद्रूपता, उसी की तरफ ध्यान होने से वह सम रहता है। भगवान् आगे कहेंगे 'निर्दोषं ही समं ब्रह्म' सम शब्द का अर्थ है ब्रह्म, वही एकमात्र दोषरहित सम है। इसलिए समलोष्टाश्मकाञ्चन अर्थात्, सब में उसकी ब्रह्म-बुद्धि अक्षुण्ण रहती है। ऐसा योगी 'समाहित हो गया, समाधि में स्थित हो गया' यह कहा जाता है।।८।

जब अपने कार्य-करण आदि संघात को सर्वथा नियंत्रण में कर लेता है तब शुद्ध अन्तःकरण में परमात्मा जैसा है वैसा प्रकाशित होता है। परमात्मा का प्रकाश होने पर साधक शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमानइस सबसे प्रभावित नहीं होता। जिसे शास्त्रीय ज्ञान जितना चाहिए उतना हो गया और शास्त्रीय ज्ञान में जो कहा गया है उसका अनुभव भी उसको तृप्ति दे चुका है, उस ज्ञानी की स्थिति बतला रहे हैं। जड पदार्थों के प्रति तो बतला दिया कि चाहे सोना हो, चाहे मिट्टी का लोंदा हो, वह सबके अधिष्ठान रूप निर्दुष्ट सम ब्रह्म को ही देखता है। अब, चेतनों के विषय में कहते हैं कि जैसे जड में समता है, वैसे ही चेतनों में भी समता है

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

सुहृत्, मित्र, अरि, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, पुण्यकारी और पापकारीइन सब के प्रति सम-बुद्धि वाला सर्वोत्तम है।

किसी भी प्राणी से किसी भी उपकार की न अपेक्षा है, न आवश्यकता है परंतु फिर भी सबके प्रति वह हमेशा उपकार करता ही रहता है। परमात्मा का स्वरूप बतलाया था (५.२९) कि वह किसी प्रकार के उपकार की अपेक्षा किए बिना सब का उपकार करता है। जैसे परमात्मा को किसी उपकार की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसको सब पहले से ही उपलब्ध है और कोई भी चीज़ उसको उपलब्ध करने लायक लगती नहीं, इसी प्रकार से जिसने इस तत्त्व-निष्ठा को प्राप्त कर लिया, ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा हो गया, उसको भी किसी उपकार की अपेक्षा है नहीं। जो कुछ भला होना था, वह हो चुका। इसके बाद, कोई उसका भला कर सके, ऐसा कुछ है ही नहीं। अन्यत्र शास्त्रों

में स्पष्ट बतलाया है कि सारे संसार की प्राप्ति हो जाए, तब भी 'मुझे कुछ मिला'ऐसी उसकी बुद्धि होती नहीं। अतः उसको किसी के द्वारा उपकार की अपेक्षा नहीं है। उपकार की अपेक्षा नहीं है तो क्या वह भी दूसरों का उपकार नहीं करता? लोक में उपकार आदान-प्रदान के रूप में ही प्रसिद्ध है। तुम किसी के लिए कुछ करो तभी वह तुम्हारे लिए कुछ करता है। इसीलिए सामान्यतः बुद्धि होती है कि जब उसे किसी से कोई चीज़ चाहिए नहीं तो वह किसी के प्रति कोई भाव क्यों रखेगा? इस शंका को हटाने के लिए सबसे पहले 'सुहृत्' कहा अर्थात् वह तो दूसरों का उपकार करता ही है। उसमें कर्त्तृत्त्व-बुद्धि नहीं है, वह उपकार *करता* नहीं, उससे उपकार *होता* है; 'मैं कर रहा हूँ', ऐसी बुद्धि उसकी होती नहीं है परंतु उसके शरीर मन आदि के द्वारा लोक उपकृत होते हैं। दर्शन करके भी लोगों को पुण्य की प्राप्ति होती है, संसार के जिस ऐश्वर्य की इच्छा से उसकी जो सेवा करता है, वही ऐश्वर्य उसको प्राप्त हो जाता है। उपनिषत् में कहा है कि सारे ही ऐश्वर्यो की कामना वाला आत्मज्ञानी की अर्चना करे, सेवा करे। जो वह वचनादि का प्रयोग करता है, बोलता है, वह भी हमेशा दूसरों को मार्ग-दर्शन के लिए ही। प्राचीनों ने बताया है कि इस प्रकार के जो ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा हैं, सद्ब्रह्म से जो एक हैं, उनके पास हमेशा ही जाना चाहिये, वे उपदेश नहीं देते हों, तब भी उनके पास जाना चाहिए क्योंकि वे प्रसंग से साधारण बातें भी जो कहेंगे, वे तुम्हारे लिए उपदेश का ही काम करेंगी। ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा होने के कारण शास्त्रसम्मत और अनुभव से पुष्ट हुआ ही उनका सामान्य वचन भी निकलता है। उनके सभी वचनादि तुम्हारे लिये उपदेश का काम करते हैं। जब वे तुम्हारी जिज्ञासाशान्ति के लिए प्रयास करते हैं तब तो ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न ही उपदेश की प्राप्ति उनसे होती है। इस प्रकार से स्वभाव से ही वे प्राणि-मात्र का उपकार ही करते हैं। अतः सबसे पहले सुहृत कहा। क्योंकि वे सबके सुहृत् हैं इसलिये अधिकतर सज्जन उनके भी सुहृत् ही होते हैं। किन्तु वे अपने सुहृदों के प्रति भी कोई पक्षपात नहीं करते, सम ही रहते हैं।

मित्रजिसके साथ स्नेह होता है, प्रेम होता है, उसको मित्र कहते हैं। जो तत्त्वनिष्ठों के प्रति स्नेह का भाव रखता है, उसके प्रति भी वे सम रहते हैं। अरिजो शत्रुभाव रखता है उसके प्रति भी सम रहते हैं। जो प्रकट में तुम्हारे साथ दुश्मनी करता है वह 'अरि' पद से कहा और जो प्रच्छन्न-रूप से, छिपकर दुश्मनी करता है, उसको द्वेष्य कहा। सभी के प्रति तत्त्वज्ञ समबुद्धि रहता है। वह जानता है कि चाहे सुहृद्-भाव से व्यवहार करे, मित्र-भाव से व्यवहार करे, चाहे अरिभाव से व्यवहार करे, व्यवहार करने वाले तो स्थूल और सूक्ष्म शरीर हैं। शरीर को क्रियाशील बनाने वाला अधिष्ठान तो मेरा अपना आत्म-तत्त्व ही है। इसलिए कार्य-करण-संघात को लेकर उसके मन में विपरीत भावना नहीं होती। शत्रु ज़्यादा-से-ज़्यादा क्या नुकसान करेगा? मार डालेगा, इससे

ज़्यादा क्या नुकसान करेगा! देह मैं हूँ नहीं। देह-रूपी उपाधि के जाने से मुझमें कोई फ़र्क आएगा नहीं। अतः प्रकट शत्रु के प्रति उसकी अरि भावना नहीं होती। कहीं-कहीं तो यह विचार भी समबुद्धि की प्राप्ति के लिए बतलाया हैः 'शरीर ने मुझे अब तक क्या सुख दिया है जो आगे सुख देगा! ऐसे शरीर से जो मुझे छुड़ा दे वह बड़ा अच्छा ही है।' अतः उसमें उसे शत्रु भावना नहीं होती।

उदासीनदो पक्ष जह ाँ होते हैं वहाँ दोनों में से किसी भी पक्ष को जो न अपनाये, अर्थात् कभी किसी का पक्षधर नहीं बने, वह उदासीन कहा जाता है। तत्त्वज्ञ के प्रति यदि कोई उदासीन है तो वह जानता है कि यह ठीक ही है, ऐसा ही होना चाहिए। उदासीन का वास्तविक तात्पर्य है कि उत् में आसीन रहना। उत् ब्रह्म का नाम बतलाया है उपनिषदों ने। जैसे परमात्मा किसी का पक्षधर नहीं बनता, उसी प्रकार जो मेरे प्रति उदासीन व्यवहार करता है, वह किसी का पक्ष नहीं लेता। इसका मतलब है कि उसका जो परमात्मस्वरूप है वही प्रकट हो रहा है। अतः उदासीन के प्रति भी विद्वान् की सम-बुद्धि ही रहती है।

मध्यस्थजो व्यक्ति उन सबका हित चाहे जो परस्पर विरोधी हैं, वह मध्यस्थ कहलाता है। किसी का हित नहीं चाहने वाले को मध्यस्थ नहीं कहते हैं! जो दोनों या सभी पक्षों का हित चाहे, लाभ पहुँचाना चाहे, वह मध्यस्थ है।

दो भाईयों में बहुत झगड़ा था। उन्होंने किसी को मध्यस्थ बना दिया। धीरे-धीरे उसने सब झगड़ा निपटा दिया। एक अंगूठी को लेकर झगड़ा रह गया, दोनों कहें 'अंगूठी हमको ही मिलनी चाहिए।' मध्यस्थ दोनों का हितैषी था, उसने कहा 'अच्छा ज़रा थोड़े दिन सोच लेते हैं, फिर इसका निर्णय करेंगे।' उसने किसी अच्छे जानकार जौहरी को बुला कर ठीक वैसा नग लगी वैसी ही अंगूठी बनवा ली। फिर एक भाई को बुलाकर कहा 'देखो, हम अंगूठी तुमको दे तो देंगे परंतु एक शर्त हैतुम यह बात किसी को कहोगे नहीं और भाई को चिढ़ाने के लिए अपनी अंगूठी पहनोगे भी नहीं। दे तुम को दूंगा लेकिन यह शर्त है।' उसने कहा 'ठीक है, हम को तो मिलनी चाहिए।' एक अंगूठी उसको दे दी। दूसरे भाई को बुलाकर भी यही बात कही 'किसी से कहना नहीं और किसी को दिखाना नहीं। अंगूठी तुमको देना चाहता हूँ।' उसने भी शर्त मान ली, उसको दूसरी अंगूठी दे दी। तीन-चार साल के बाद भाइयों का आपस में मेल-जोल हो गया। कभी बात के प्रसंग में बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा 'अंगूठी तो मुझे मिल गई, पर तू मेरा छोटा भाई है, तेरी ज़िद है तो तू ले ले, तेरे को दे देता हूँ।' उसने कहा 'जी, अंगूठी तो मेरे को मिली थी।' दोनों ने देखी तो अंगूठी एक जैसी! फिर उस मध्यस्थ से जाकर कहा 'वह अंगूठी आप ने किसको दी?' उन्होंने कहा 'तुम्हारा झगड़ा मिट गया, किसको दीइससे क्या मतलब? जिसको भी दे दी।' दोनों का भला हो जाए इसके लिये अपनी तरफ से उसने अंगूठी बनाकर दे दी। दोनों का हित चाहने वाला

ऐसा होता है, उसी को मध्यस्थ कहते हैं, दोनों के झगड़े से फायदा लेने वाले को नहीं।

द्वेष्यजो अपना अप्रिय होवे। बाहर से तो झगड़ा नहीं करता है पर अंदर ही अंदर हमारी अप्रियता को ही चाहता है, वह द्वेष्य है। हमारा कुछ-न-कुछ अनिष्ट होवे, कुछ-न-कुछ खराबी होवेयही चाहता है। बाहर से अच्छी बातें करेग पर भीतर अनिष्ट चिंतन करेगा, यह द्वेष्य का स्वभाव है। बन्धुजिसके साथ अपना किसी-न-किसी प्रकार का खून का संबंध है। उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बंधु, इनके प्रति भी यति की समदृष्टि ही रहती है, इनके प्रति उसके मन में कहीं विषम बात नहीं आती। सबके प्रति उसकी समबुद्धि ही रहती है कि सुहृत्त्व इत्यादि सब कार्य-करण-संघातों में होने वाली चीज़ें हैं, सबका अधिष्ठान तो मैं ही हूँ।

ये हो गये जो अपने साथ साक्षात् संबंध वाले हैं। जिनसे साक्षात् संबंध नहीं है वे दो तरह के होंगेसाधु और पापी। जो अच्छा कार्य करने वाले हैं, शास्त्र का अनुवर्त्तन करने वाले हैं, शास्त्र में कहे हुए ढंग से चलने वाले हैं, सत्पुरुष हैं; और उनसे विरुद्ध 'पापेषु', शास्त्र के अंदर जिनका निषेध किया है, उन कर्मों में जो लगे रहते हैं। चाहे शास्त्रानुवर्ती लोग होवें, चाहे शास्त्र से विरुद्ध चलने वाले लोग होवें, इन सबके प्रति उसकी समबुद्धि रहती है। अर्थात् संन्यासी जिससे भी व्यवहार करता है उसके अधिष्ठान की तरफ दृष्टि करता है। जैसे मिट्टी और सोना, दोनों उपाधि से तो अलग-अलग दीखते हैं, एक सात हज़ार रुपया तोला है और दूसरा सात पैसा तोला भी नहीं है; पर दोनों का अधिष्ठान जो 'सत्' वह एक है, यही उनमें समबुद्धि है, अर्थात् उपाधि को छोड़ कर जो अधिष्ठान है, उसको समझना है। इसी प्रकार इन लोगों के कार्य-करण-संघातों में सारे फ़र्क हैं। साधु पुरुष का भी कार्य-करण-संघात ही अच्छा आचरण कर रहा है, शास्त्रानुकूल कर रहा है। जो अधिष्ठान ज्ञानस्वरूप है, वह निर्विकार ही है क्योंकि ज्ञान अकर्त्ता होता है। अकर्त्ता-अभोक्तायही ब्रह्म का स्वरूप है। और पाप-कर्म करने वाले भी कार्य-करण-संघात ही हैं। अधिष्ठान अकर्त्ता तो एक जैसा ही है। वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। तत्त्वज्ञ 'कौन कर रहा है'न इसका ख्याल रखता है, 'किस कर्म को करने वाला है', न यह ख़्याल रखता है। उपाधि-धर्मों में अपनी बुद्धि को व्यापृत नहीं करता, उनमें अपनी बुद्धि नहीं लगाता।

लौकिक लोग चेतनों से व्यवहार करते समय ये दोनों चीज़ें ही अपने सामने रख लेते हैंएक तो, 'कौन है?' एक समझेगा कि यादव है तो जो भी करेगा ठीक ही है! दूसरा कहेगा 'राजपूत है, तो जो भी करे ठीक है।' कोई दुश्मन यदि अच्छा काम भी करता है तो लौकिकों को लगता है कि अपने किसी मतलब से कर रहा है, सचमुच थोड़े ही कर रहा है! क्योंकि वे देखते हैं कि सचमुच में वह दुश्मन है। जैसे लोगों का 'किसने किया'इस पर ज़ोर रहता है, वैसे ही 'कैसे कर्म करने वाला है'इसे भी वे सदा सामने रखते हैं। जिसे पाप कर्म करने वाला मानते हैं, कभी उसने अच्छा भी कर

लिया तो स्वीकारते नहीं, यही सोचते हैं कि मौके पर या ग़लती से उससे यह भलाई हो गयी। सामान्य व्यक्तियों की बुद्धि कार्यकरण-उपाधि का विवेचन करने में लगी रहती है। जो ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा है वह उपाधि को मिथ्या जान कर उसके अधिष्ठान की ही दृष्टि करता है, जो निर्दुष्ट अधिष्ठान ब्रह्म है, उसका निश्चय करता है कि रूप आदि के अंदर जो प्रतीत हो रहा है वह उपाधि वाला नहीं, उपाधि-रहित है।

'विशिष्यते' अर्थात् जो योगारूढ है, जो समबुद्धि वाला है, वही विशेष है अर्थात् सबसे उत्तम है, श्रेष्ठ है। किसी प्राचीन ग्रन्थ में **'विमुच्यते'** पाठ भी रहा ऐसा भाष्य से पता चलता है। जब ऐसा समबुद्धि हो जाता है तभी मुक्त होता है। जब तक कार्यकरण-संघात को सत्य मानता रहता है, किञ्चित् भी उसमें सत्यता का अनुवर्त्तन रहता है, तब तक मुक्ति की संभावना नहीं। जब एकमात्र अधिष्ठान को ही सत्य मान कर उपाधियों का बाध करता है, जब स्वभाव से ऐसा ही होने लगता है, तभी मुक्त होता है। मुक्त सर्वोत्तम है ही, इसलिये दोनों पाठों का तात्पर्य यही है कि सभी योगारूढों में ऐसा समबुद्धि ही उत्तम है।।९।।

यहाँ तक बतलाया कि योगारूढ होने पर किस प्रकार से योगियों में श्रेष्ठता को प्राप्त हो जाता है। चूँकि योगारूढ होने से मुक्ति की प्राप्ति होती है इसलिए अब आगे बतलाएँगे कि योग कैसे करे और योग के क्या अंग हैं। यहाँ से लेकर बत्तीसवें श्लोक तक योग का स्वरूप, योग के अंग, योग कैसे करना चाहिए इत्यादि इतिकर्तव्यता, ये सब विषय संक्षेप में भगवान् बतायेंगे

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

ध्यानाभ्यासी को चाहिये कि तृष्णा व परिग्रह से रहित होकर, अन्तःकरण व शरीर को संयत कर, बिना कोई सहायता लिये, एकांत में रहते हुए, अतंःकरण को सर्वदा समाहित (आत्मा पर एकाग्र) करे।

यहाँ से जो बातें बताई जा रही हैं वे केवल समझने की नहीं हैं, सब करने की हैं। दो प्रकार की चीज़ें होती हैंएक, जिनके ज्ञान का फल होता है, जिनको जानने से फल हो जाता है, करना कुछ नहीं पड़ता। जैसे, 'झूठ मत बोलो।' यह सुन कर कुछ *करोगे* नहीं वरन् झूठ बोलने से निवृत्त रहोगे ताकि झूठ का पाप नहीं हो। अधर्म का ज्ञान तुमको अधर्म से बचाने के लिए है, उस ज्ञान से कुछ करना नहीं है। कई बातें हैं जिन्हें जानने मात्र से कोई फायदा नहीं। 'ज्योतिष्टोम यज्ञ करने से स्वर्ग होता है'; ज्योतिष्टोम की विधि जान लो, उसका फल कुछ नहीं होगा। ज्योतिष्टोम करोगे तब स्वर्ग मिलेगा, जानने मात्र से कोई फल नहीं मिलेगा। सारे धर्म जान लो पर करो नहीं, तो कुछ फल नहीं होगा। इससे विपरीत, परमात्मा को जानने से ही मोक्ष हो जाता है। परमात्मा

अव्यवहार्य है। परमात्मा को जानने से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है। जानकर कुछ न करना पड़ेइस समानता से निषेध वाक्यों को ब्रह्मबोधक वाक्यों जैसा बताया जाता है। 'झूठ बोलना हितकर है' यह अज्ञानजन्य भ्रम है। निषेध सुनकर उसकी अहितकरता के ज्ञान से अज्ञान मिटते ही उक्त भ्रम दूर हो जाता है। अब बिना कुछ किये ही झूठ बोलने के पाप से बच जाते हैं। झूठ नहीं बोलना चाहिएयह बहुतों को पता है, पर बोलते हैं! कई बार कहते भी हैं कि 'जानते तो हैं कि झूठ नहीं बोलना चाहिए, लेकिन अदालत में जाते हैं तो झूठ बोलना पड़ता है।' उनका ज्ञान संशय से और विपर्यय से ग्रस्त है। उन्हें संशय है कि पता नहीं झूठ बोलने से नरक जाना पड़ता है या नहीं? नरक लोक भी है कि नहीं है, क्या पता! प्रत्यक्ष से लग रहा है कि झूठ बोलने से फ़ायदा है, झूठ बोलने का नुकसान शास्त्र-वचन से मालूम पड़ रहा है। शास्त्र पर दृढ श्रद्धा है नहीं, अतः संशय ही रहता है। किसी वकील के चक्कर में पड़ गए तो वह समझा देगा कि झूठ बोलोगे तो मुकदमा जीत जाओगे। यों विपर्ययज्ञान हो गया कि झूठ बोलने से फ़ायदा होता है। संशय-विपर्यय से ग्रस्त ज्ञान कि 'झूठ बोलना नरक का द्वार है', निश्चय रूप न होने से अज्ञान नहीं मिटाता। गीता में आगे भगवान् बतलाएँगे कि तीन दरवाज़े हैं नरक केकाम, क्रोध और लोभ। पर हमें लगता है कि कामना के बिना कुछ हो ही नहीं सकता, कामना के बिना कैसे होगा! ऐसे ही, यदि किसी पर गुस्सा नहीं करेंगे तो उसको ठीक कैसे करेंगे? बच्चे को एक बार, दो बार, चार-बार समझाएँगे, फिर भी नहीं मानेगा तो क्रोध करना पड़ेगा, नहीं तो बच्चा बिगड़ जाएगा।

वृंदावन में एक स्वामी जी थे। पहले निवृत्ति से रहते थे, धीरे-धीरे शिष्य बहुत हो गए तो आश्रम बन गया। जो आश्रम की व्यवस्था करते थे वे कई बार लोगों को कुछ कहें तो लोग उनकी बात उतनी मानते नहीं थे। वे जाकर स्वामी जी से शिकायत करते थे। स्वामी जी बुला करके प्रेम से समझा देते थे, कोई मानता था, कोई नहीं मानता था। धीरे-धीरे पता लग गया कि स्वामी जी तो खाली कहेंगे, और तो कुछ करेंगे नहीं! एक बार सब कार्यकर्त्ताओं ने जाकर उनसे शिकायत की 'महाराज! आप किसी को डाँटते नहीं, कुछ दंड देते नहीं, सब व्यवस्था बिगड़ रही है।' उन्होंने कहा 'भाई! जिसके बारे में तुम कोई बात बतलाते हो, या हमें पता लगता है, उसे हम समझा तो देते हैं।' वे बोले 'ऐसे समझाने से थोड़े ही होता है, डाँटना पड़ता है। ऐसे इन लोगों की समझ में नहीं आती बात।' उन्होंने कहा 'तुम्हारा कहने का मतलब है कि मैं क्रोध करूँ और नरक जाऊँ? लोगों को सुधारने के लिए मैं अपना बिगाड़ तो करने को तैयार नहीं हूँ!'

जिसे निःसंशय ज्ञान है, वह तो जानता है कि कामना हमेशा दुःख देगी, नरक का द्वार है; क्रोध नरक का द्वार है। परंतु जिसे क्रोध के विषय में संशय और विपर्यय रहता है, वह सुनकर भी क्रोध करता रहता है। इसी प्रकार लोभ के विषय में है : 'लोभ नहीं

करेंगे तो आगे की व्यवस्था कैसे करेंगे?'यह प्रतीत होता है। ऐसे लोग इन चीज़ों का परिहार सोचने लगते हैंकामना मायने बुरी कामना नहीं करे, क्रोध मायने बिना कारण क्रोध न करे, इत्यादि। बिना कारण क्रोध तो पागल किया करते हैं! इसी प्रकार तात्पर्य निकालते हैं कि अत्यधिक लोभ न करे। अत्यधिक क्या है? कोई सोचता है पाँच सौ रुपए से ज़्यादा की चीज़ का लोभ न करो, कोई कहता है पाँच लाख से ज़्यादा की चीज़ का लोभ न करो। 'झूठ बोलना बुरा है', इसका हमें जब निःसंशय और विपर्ययभावना से रहित ज्ञान होगा, तब फल होगा कि हमसे झूठ बोला ही नहीं जाएगा। हमें सामने झलकेगा कि झूठ बोला तो आगे जाकर दंडे खाने पड़ेंगे।

इसी प्रकार सब लोग कहते हैं कि 'परमात्मा है, यह तो हम जानते हैं।' उपनिषत् कहती है कि 'परमात्मा हैऐसा जिसने निश्चय कर लिया वह सत्पुरुष हो गया!' फिर सब लोग सत्पुरुष क्यों नहीं हो गये? क्योंकि संशय-विपर्यय से रहित नहीं जानते। हमें लगता है कि भगवान् कर्मफल देने वाला है, फिर भी दूसरे देवी, देवता, ग्रह, नक्षत्र, भूत, पिशाचये सब भी मदद करते ही हैं। किसी को मनाओ तो कोई-न-कोई कुछ काम कर ही देगा। अपने मन में पहले ही श्रद्धा कमज़ोर है। किस्से-कहानी सुनकर और ज़्यादा संशय आ जाता है। अज्ञान निवृत्त तब होता है जब संशय-विपर्यय से रहित ज्ञान हो। परमात्मा के विषय में संशय-विपर्यय से रहित ज्ञान होगा तो केवल आत्म-स्वरूप है, अधिष्ठान मात्र है यह निश्चय होगा, तब परमात्मा के विषय में अज्ञान ख़त्म होगा।

यहाँ से जो बतला रहे हैं वे सब करने के कार्य हैं। भगवान् का वचन मान कर उसमें संशय-विपर्यय को छोड़ो और अभ्यास में लगो। अगर संशय-विपर्यय आते हैं तो विचारपूर्वक उनको दूर करो। ये करने के काम हैं, केवल जानने से कुछ नहीं होगा। अगर तुम्हें योग का संशय-विपर्यय से रहित ज्ञान हो भी गया, पर योग का अभ्यास नहीं किया, तो काम बनेगा नहीं।

योगांग बतलाते हुए पहले ऐसे स्थान को बतलाते हैं जहाँ योगाभ्यास करना चाहिए'रहसि स्थितः योगी युञ्जीत।' 'रहः' अर्थात् जह ाँ किसी और का हस्तक्षेप न होवे, ऐसी जगह अर्थात् एकान्त में, जहाँ दूसरे के आने की जल्दी संभावना नहीं है। जैसे पहाड़ की गुफा, नदी का किनारा, नदी में कई जगह खोह बन जाती है वहाँ, अथवा पहाड़ के शिखर पर। इस प्रकार के स्थान को 'रहः' कहते हैं। यद्यपि घर के किसी कोने में भी एकान्त मिल सकता है तथापि वहाँ दूसरे के किसी भी समय आकर के विक्षेप करने की संभावना रहती ही है। जहाँ दूसरे के आने की संभावना भी न होवे वहाँ पर स्थित होकर बैठे। आज यहाँ ध्यान किया, कल वहाँ किया, ऐसा भी नहीं! जिस स्थान में योगाभ्यास किया जाता है वहाँ अपने मन का वातावरण बन जाता है। नियम से कोई भी कार्य कहीं करते हो तो वहाँ जाते ही उस काम का एक माहौल मन के अंदर खड़ा हो जाता है।

ऐसी जगह रह कर भी दो-चार जने इकट्ठे होकर ध्यान कर सकते हैं, ऐसा न करें इसलिए कहा 'एकाकी', और कोई साथ न होवे, किसी की सहायता न होवे। साधक संन्यासी है तो शिष्य, सतीर्थ्य इत्यादि को वहाँ न रखे। सर्वथा किसी की सहायता से रहित रहे। 'रहसि स्थितः' और 'एकाकी'इन शब्दों से ध्वनि हो जाती है कि यह संन्यासी अभ्यासी का प्रसंग है क्योंकि गृहस्थ के लिए सर्वथा एकान्त में स्थित रहना भी कठिन है और अकेले रहना भी। वह ध्यान करने के लिए अकेला ऐसी जगह जाए, वापिस आ जाए, यह तो कर भी सकता है लेकिन वहीं *स्थित* रहे, यह संभव नहीं है। अतः संन्यास-आश्रमी ही इस अभ्यास में अधिकारी है यह ध्वनित है।

'यतचित्तात्मा'चित्त अर्थात् अन्तःकरण और आत्मा अर्थात् शरीर। शरीर, इन्द्रियाँ और मन सारे यत होवें, संयत होवें। जैसा पहले कह आए हैं, इन्द्रियों में और मन-बुद्धि में कामना रहती है और कामना ही कर्म की तरफ प्रेरित करती है। प्रायः लगता है कि अंतःकरण में ही कामना है, परंतु भगवान् ने स्पष्ट किया कि अन्तःकरण के अंदर भी कामना होती है और इन्द्रियों में भी कामना होती है। इसलिए भगवान् ने पहले (२. ६०) कहा है कि साधना करने बैठने के बाद भी इन्द्रियाँ मन को ज़बरदस्ती खींच के बाहर ले जाती हैं। यदि इन्द्रियों में कामना न होती तो मन को कैसे खींच कर ले जातीं! प्राण में भूख-प्यास रहती हैं, भूख-प्यास प्राण के धर्म हैं। प्राण में भी जीवन-निर्वाह करने की कामना है ही। अतः साधक की भूख-प्यास भी नियन्त्रित होनी चाहिए। भूख-प्यास के नियंत्रण का इतना ही तात्पर्य है कि परिमित भोजन और वह भी केवल समय पर लेते रहने पर भूखादि न सताएँ। शरीर भी एक आसन पर बैठे-बैठे अकड़ जाता है। अंग सो जाते हैं। यह सब शरीर का धर्म है और मनुष्य को साधना में विक्षेप कर देता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने बतलाया है, यहाँ आगे भगवान् भी कहेंगे, कि आहार-विहार युक्त होवें। यदि अपने शरीर-प्राण के अनुकूल भोजन-पानादि का प्रसंग नहीं होता है तो धातुओं का कोप होता है और धातुओं के कुपित हो जाने पर विक्षेप होगा ही। इसलिए आहार प्राण के लिए और विहार शरीर के लिए नियंत्रित रखना चाहिये। आसन आदि भी शरीर के नियमन के लिए उपयोगी हैं ताकि दीर्घ काल तक बैठ सकें। प्राणायाम आदि के द्वारा भूख और प्यास के नियंत्रण का ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए कि जो उपलब्ध होता है, वही शरीर-रक्षण के काम आ जाए। यद्यपि आधुनिक विज्ञान में बात करते हैं संतुलित भोजन की जिसमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, चिकनाई, खनिज-तत्त्वादि सब हों, तथापि यदि किसी डॉक्टर से पूछो तो बतला देगा कि शरीर में ऐसी शक्ति है कि यदि शरीर में प्रोटीन ज़्यादा पहुँच जाता है तो उसे वह कार्बोहाइड्रेट बना लेता है, कार्बोहाइड्रेट को फैट बना लेता है, फैट से कार्बोहाइड्रेट तैयार कर लेता है। शरीर स्वयं संतुलन करने में समर्थ है। अतः साधक अपरिग्रही होने से सभी तरह का भोजन तो कर नहीं सकेगा पर इससे उसमें दुर्बलता भी नहीं आयेगी।

इन्द्रियाँ और मन नियंत्रण में आते हैं कामनाओं के नियंत्रण के द्वारा और शरीर-प्राण, योगासन और प्राणायाम आदि के अभ्यास से संयत होते हैं कि जैसी भी परिस्थिति हो उसमें अपने-आप अपना काम कर लेते हैं। एकाकी होने से क्या आहारादि उपलब्ध होगाइसका कोई नियम नहीं कर सकते। अतः जो कुछ भी उपलब्ध होने पर शरीर अपनी शक्ति से संतुलन ठीक कर लेवे, इस प्रकार की शक्ति शरीर में प्राणायाम और आसनों के द्वारा लानी पड़ती है।

'निराशीः'किसी भी प्रकार की आशा से रहित; एकमात्र परमात्मा को छोड़ कर और किसी चीज़ की आशा नहीं रखने वाला। 'अमुक चीज़ होती तो काम हो जाता', या 'ऐसा होवे तो अच्छा हो जाए'इस प्रकार मन की भावनाओं को सर्वथा छोड़ देवे। जिस समय जो हो रहा है, परमेश्वर की इच्छा से हो रहा है, उसमें ही सर्वथा संतुष्ट होकर अन्य किसी चीज़ की मन में आशा, तृष्णा आने ही नहीं देना है। इसलिए भाष्यकार ने कहा कि यति की तृष्णा केवल चली नहीं गई है वरन् ऐसी चली गई है कि अब तृष्णा आती ही नहीं। 'अपरिग्रहः'परिग्रह से रहित। संन्यासी के लिये परिग्रह का सामान्यतः ही निषेध है। योगी के लिये भी प्रथम सोपान में ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यों किसी प्रकार के परिग्रह का निषेध है ही। फिर यहाँ अपरिग्रह को इसलिए कहा कि जो देहरक्षणार्थ कौपीन कन्था इत्यादि प्राप्त हैं, उनमें भी 'ये मेरे ही हैं'यह बुद्धि छोड़कर रहे। जो देहरक्षा के लिये अनुमत आवश्यकता है उसके अंदर भी परिग्रह की भावना नहीं रखे कि 'यह मेरा ही है।'

इस प्रकार का होकर 'आत्मानं सततं युञ्जीत'अपने अन्तःकरण को, बुद्धि को सर्वदा अर्थात् शरीर-रक्षणार्थ जो आहार-विहार आदि अपेक्षित है तदतिरिक्त सारे काल में समाहित करे। शरीर-रक्षणार्थ प्राप्त आहार-विहार के अंदर ही निद्रा भी आ जाती है। सिवाय इनके, और किसी भी कर्म में न लगे, योगाभ्यास छोड़कर कोई भी कर्म न करे। 'योगी' योगाभ्यास करने वाला, ध्यान करने वाला, 'युञ्जीत' अन्तःकरण को योग में लगावे अर्थात् समाधि के अभ्यास को करे। समाधि के लिए अपेक्षित जो धारणा ध्यान हैं वे समाधि के लिए करने ही पड़ते हैं। अतः निरन्तर संगोपांग ध्यान के ही अभ्यास में लगा रहे। कुछ देर धारणा चलेगी, फिर ध्यान होगा, तब समाधि होगी। ऐसा नहीं कि सवेरे एक घंटा कर लिया, शाम को एक घंटा कर लिया, तो हो गया योगाभ्यास! यहाँ जिस साधक का प्रसंग है उसे सतत लगे रहना पड़ता है।।१०।।

अभ्यासार्थ कैसे आसन का प्रयोग करे यह बताते हैं

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

जो ज़्यादा ऊँचा या नीचा न हो ऐसे शुद्ध स्थान पर पहले कुशासन, उस पर मृगचर्म

और उस पर वस्त्रयों अपना आसन व्यवस्थित कर (ध्यान करने बैठे)।

कोई देश तो स्वभाव से ही शुद्ध होते हैं जैसे गंगा का किनारा, हिमालय पर्वत की गुफा आदि। इसी प्रकार तीर्थ क्षेत्र भी शुद्ध हैं। लेकिन तीर्थ स्थान में ख्याल रखना कि जहाँ दुनिया के लोग स्नान करने आते हैं वहीं आसन लगाकर नहीं बैठो। उससे लोग पैसे तो दे जाएँगे, मन एकाग्र नहीं होगा। तीर्थस्थान शुद्ध तो हैं लेकिन एकांत नहीं हैं। परंतु तीर्थों के अंदर दूर का जो स्थान, जहाँ लोगों का आवागमन नहीं हो, वह शुद्ध है, सेवन के योग्य है। और यदि स्वभाव से शुद्ध जगह न होवे तो उसको लीप कर, गोमय इत्यादि से शुद्ध करके, मन्त्रादि से शुद्ध करके वहाँ ध्यान करे। चाहे स्वभाव से शुद्ध हो, चाहे संस्कार से शुद्ध किया गया हो, शुद्ध ही स्थान पर बैठे अशुद्ध स्थान में नहीं। ध्यान के लिये अपना एक आसन रखे, अपने आसन पर बैठे। दूसरे का आसन होगा तो समय इत्यादि में उसका हस्तक्षेप होगा। जब तुम बैठना चाहोगे, यदि तभी उसे बैठने की इच्छा है तो विक्षेप का कारण हो जायेगा। इसलिए अपना आसन होवे जिसमें किसी भी प्रकार की रुकावट के बिना जब चाहो तब बैठ सको। 'आत्मनः आसनं' कहने से जो अपरिग्रह कहा था, उससे कुछ विरोध प्रतीत होगा, लेकिन विरोध इसलिए नहीं क्योंकि उस आसन का भी परिग्रह नहीं करना है, यदि कोई उसको लेकर चला जाये तो विक्षेप का कारण नहीं होना चाहिए। वही आसन मिलेइसमें आग्रह न रखे, अपने लिये निर्विवाद कोई आसन होइतनी ही कोशिश रखे। कौपीन-कन्था आदि में भी यही न्याय रखना चाहिये। ध्यानादि के अनुकूल अपना आसन होने पर भी उसमें परिग्रह-बुद्धि का तो त्याग ही करना है।

आसन का स्थान कैसा होवे? 'नात्युच्छ्रितं' बहुत ऊँचे स्थान में न होवे क्योंकि ऊँचे स्थान पर समाधि का अभ्यास करते हुए जब स्थान का सर्वथा विस्मरण हो जाएगा तब कहीं इधर-उधर होकर शरीर के गिरने का डर रहता है। इसलिए बहुत ऊँची जगह न बैठे जहाँ से गिरने का भय होवे। कुछ ऊँचा तो होवे, इसलिए अति-उच्छ्र का निषेध किया। गोबर इत्यादि से शुद्ध करोगे तो थोड़ी-सी ऊँचाई हो जायेगी। उच्छ्रित तो हो, ऊपर तो हो, लेकिन अत्युछ्रित न होवे। 'अतिनीचं न'गड्ढा इत्यादि बना कर उसमें लीप कर ध्यानार्थ बैठो, ऐसा नहीं, क्योंकि वहाँ गर्मी ज़्यादा हो सकती है हवा नहीं आने से, सर्दी ज़्यादा हो सकती है चारों तरफ कच्ची ज़मीन होने से, पत्थर इत्यादि के कारण शरीर में चोट इत्यादि लगने का भय हो सकता है। इसलिए अत्यन्त नीचा स्थान भी नहीं हो, अत्यन्त ऊँचा भी नहीं हो। और उसके ऊपर 'चैलाजिनकुशोत्तरम्'अगर संस्कार से शुद्ध किया है, गोबर से लीपा इत्यादि है, स्थण्डिल है, तो उसके ऊपर, अथवा स्वभाव से पवित्र स्थान है, गंगा का किनारा इत्यादि है, तो वहाँ पर ज़मीन को समतल करके, बालू को एक-जैसा बनाकर, फिर उसके ऊपर बैठे। लकड़ी इत्यादि के ऊपर नहीं बैठे। पहले ज़मीन पर कुशासन रखे। ज़मीन के ठीक ऊपर कुशासन रखे।

फिर कुशासन के ऊपर शेर का चमड़ा या हिरन का चमड़ा रखे। फिर उसके ऊपर कपड़ा रखे। सबसे नीचे होगा कुशासन, उसके ऊपर होगा मृगचर्म, उसके ऊपर होगा वस्त्र। आसन के लिये वस्त्र कहने से भी पता लग जाता है कि संन्यासी का प्रसंग है। सामान्यतः जप आदि में वस्त्र का आसन दरिद्रता का हेतु माना जाता है। संन्यासी के अतिरिक्त के लिए दरिद्रता अच्छी नहीं, संन्यासी के लिए ही ठीक है। अतः प्रायः सामान्य गृहस्थादि साधकों को वस्त्र पर बैठने का निषेध है। परंतु यहाँ तो 'रहसि' और 'एकाकी' की तरह ही संन्यासी होने से चैलासन का कोई विरोध नहीं। उल्टा न करे, कि पहले वस्त्र बिछाये, उस पर चर्म और सबसे ऊपर कुश! चैल, अजिन, कुशये एक-दूसरे के ऊपर हों।।११।।

ऐसी जगह आसन लगाकर क्या करे

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगम् आत्मविशुद्धये।।१२।।

जिसने चित्त व इन्द्रियों की क्रियाएँ संयत कर ली हैं वह उस आसन पर बैठकर, मन एकाग्र कर समाधि का अभ्यास करे ताकि अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाये।

आसन पर बैठ कर दूसरे काम नहीं करना शुरू कर देवे! मोबाइल पास रखकर उस पर दूसरों से बातचीत करना ही शुरू न कर देवे! अगर उस आसन पर तुमने अन्य कार्य किया तो उस पर भी असर आ जाता है, वैसा ही वातावरण बन जाता है। इसलिए आसन के ऊपर बैठ कर मन को एकाग्र ही करे। एकाग्र-शब्द में एक-से आत्मा को कहा है। जो समग्र सृष्टि का कारण है उसी को श्रुति ने एक कहा है। एक अर्थात् जीव जगत् और ईश्वरइन तीनों भावों से रहित, केवल चिन्मात्र तत्त्व। उसमें मन को स्थिर करे अर्थात् बार-बार उसी की तरफ मन को ले जाए। अभ्यास के समय मन हमेशा बहुत की तरफ जाएगा क्योंकि अनादि काल से मन की अनेक चीज़ों में लगने की ही प्रवृत्ति हो गई है। परंतु योगाभ्यासी को मन को उन सब चीज़ों से निवृत्त कर केवल एक चिन्मात्र में लगाना है। जिसका मन अत्यन्त विक्षिप्त होता है उसके लिए यह सम्भव नहीं होता। महर्षि पतञ्जलि ने क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, ये सब अवस्थाएँ बताई हैं। इन सब अवस्थाओं में सहायता के लिए सोपाधिक चिन्तन कर सकते हैं। जब अभ्यास प्रारम्भ करते हैं तब सगुण मूर्ति को सामने रख सकते हैं। प्राण, आदित्य, विष्णु, शंकर आदि का ध्यान किया जा सकता है। अन्य चिंतनों को छोड़ करके मन को इनमें से किसी एक पर लाते हैं। मूर्ति के पैर देखो, मुँह देखो, हाथ देखो, हाथ के अलंकार देखो, देख तो भगवान के पैर आदि रहे हो; इस तरह अतिबहुत्व को छोड़ कर थोड़े बहुत्व में ले आ सकते हो, परंतु इसे एकाग्र नहीं कह सकते। जो पदार्थ एक नहीं है, जिसके अंदर सजातीय, विजातीय, स्वगत में से एक भी भेद विद्यमान है, वह एक तो

रहा नहीं! अतः वहाँ मन अनेकाग्र ही कहा जा सकता है, एकाग्र नहीं। फिर भी, बहुत ज़्यादा बिखराव की अपेक्षा थोड़े-से भेद वाला है इसलिये ऐसे ध्यान की अवस्था को भी एकाग्र कह देते हैं परन्तु यह वास्तविक एकाग्रता नहीं है। वास्तविक एकाग्रता तो तब है जब जीव, जगत्, ईश्वरइन तीनों भेदों को छोड़कर जो इस सबका मूल कारण है, जिससे ये सब हैं, उस चिन्मात्र तत्त्व में मन की स्थिरता हो।

ऐसा कब हो सकता है? जब 'यतचित्तेन्द्रियक्रियः'चित्त अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियाँ, इनकी क्रियाओं को जिसने नियन्त्रित कर लिया, संयत कर लिया। 'यतचित्तात्मा' पहले कहा था, यहाँ ज़ोर दिया कि इनकी क्रियाओं को छोड़ना है। यह योगाभ्यास का प्रकरण है; पूजा आदि के समय तो चित्त-इंद्रियों आदि की क्रियायें होंगी। योगाभ्यास के समय न अन्तःकरण किसी भी प्रकार की क्रिया करे व न इंद्रियाँ करें। अन्तःकरण का काम है विषय-चिंतन जो चाहे स्मृतिरूप हो, चाहे और कोई रूप हो। अभ्यासदशा में चित्त में, इन्द्रियों में क्रिया न होवे और देह में भी क्रिया न होवे तभी मन पूरी तरह से एकाग्र हो पाएगा। 'योगं युञ्जीत' तब योग का अर्थात् समाधि का अभ्यास करे।

इस योगाभ्यास का फल क्या है? योगाभ्यास पुण्यादि क्रिया नहीं है। इसलिए योग के दार्शनिकों ने पहले ही कर्मों को चार भागों में बाँटा। एक तो है पुण्य क्रिया, शास्त्र में जो करने को कहा है उसको करना पुण्य क्रिया है। उससे स्वर्गादि सुख होंगे। दूसरे हैं जिनका शास्त्रों ने निषेध किया है, नहीं करने को कहा, वे क्रियाएँ पाप को उत्पन्न करेंगी, नरकादि को देंगी, अन्य हीन योनियों में ले जायेंगी। पुण्य कर्मों को वे लोग शुक्ल कर्म कहते हैं, पापकर्मों को कृष्ण कर्म कहते हैं। 'कृष्ण कर्म' प्रयोग वैसा ही है जैसे आजकल लोग कहते हैं 'काला धन'; धन में कहीं कालापन दीखता नहीं है! इसी प्रकार न पुण्य में शुक्लपना दीखता है, न पाप में कृष्णपना दीखता है। फिर कुछ कर्म होते हैं जो इन दोनों के मिले हुए रूप हैंमिश्र कर्म। उनमें कुछ पाप भी है, कुछ पुण्य भी। जैसे किसी भक्त के बारे में आता है कि वह लोगों को लूटता था और लूटे हुए धन से भगवान् की सेवा करता था। लूटना तो कृष्ण कर्म हो गया और भगवान् की सेवा करना शुक्ल कर्म हो गया। अतः उसका समग्र कर्म मिश्र कर्म कहलायेगा। इन तीनों से अतिरिक्त मानते हैं अशुक्लकृष्ण कर्म, जिससे न पुण्य होता है न पाप होता है। योगाभ्यास को न पुण्य-जनक मानते हैं न पाप-जनक मानते हैं। साधारण आदमी तो यही समझते हैं कि योगाभ्यास कर रहे हैं तो पुण्य कर्म कर रहे हैं। लेकिन योगियों के मत में यह पुण्य कर्म नहीं है। इसीलिये श्लोक ३७ में अर्जुन का प्रश्न संगत होता है कि कुछ दूर तक अभ्यास करके छोड़ देने वाले की क्या गति होगी? यदि योग पुण्यकर्म होता तो जितना योग किया उतने का सत्फल पाना उचित होने से उभयविभ्रंश का प्रश्न ही नहीं उठता। योगी, संन्यासी नित्य-नैमित्तिक-काम्य कर्म भी छोड़कर निरंतर

अभ्यास करने में लगा रहता है, कोई पुण्य कर्म नहीं करता है, इसीलिए प्रश्न होता है कि कर्म के द्वारा तो उसको कोई प्राप्ति हुई नहीं क्योंकि सारे कर्मों को छोड़ दिया; एकमात्र योग का सहारा लिया और वह पूरा हुआ नहीं अर्थात् निर्विकल्प समाधि तक पहुँचा नहीं, तो उसकी क्या गति होगी? यदि आसन-प्राणायाम पुण्य उत्पन्न करने वाले होते तो समाधि तक नहीं पहुँचने पर भी उतने अंगों का फल मिल जाता। किंतु ऐसा कुछ नहीं है। योग का फल पुण्य है नहीं, स्वर्गादि की, या ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कारण तो योग नहीं बनेगा। योगशास्त्र वाले इस बात को नहीं मानते हैं कि योग पुण्य उत्पन्न करने वाला है और न भगवान् ने ही ऐसा माना है।

योग का फल क्या है? यहाँ भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है 'योगमात्मविशुद्धये।' अन्तःकरण की शुद्धि सारे योग का फल है। ऐसे शुद्धान्तःकरण में किया हुआ जो श्रवण है वह सत्य अपरोक्ष को दे देता है। अन्तःकरण की शुद्धि आत्म-ज्ञान के लिए बड़ी सहायक हो जाती है। ज्ञान की प्राप्ति तो हर हालत में श्रवण से होगी, पर ऐसे शुद्ध अन्तःकरण के अंदर ही उसका प्रकाश हो पाएगा। इसलिए भगवान् ने स्पष्ट कह दिया 'योगमात्मविशुद्धये।' योग का फल अन्तःकरण की शुद्धि ही नहीं, विशेष शुद्धि है। अन्तःकरण की विशेष शुद्धि क्या है? अन्तःकरण के अंदर राग-द्वेष और उनके संस्कार भरे हुए हैं, यही अशुद्धि है। यही ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देती। योगाभ्यास करने से राग, द्वेष और उनके संस्कार निवृत्त हो जाते हैं तब शुद्ध अन्तःकरण में आत्मज्ञान प्रकाशित हो जाता है।।१२।।

आसन-शब्द से दोनों को कहते हैंजिन वस्त्रादि पर बैठा जाता है उन्हें और शरीर की स्थिति-विशेष को, जैसे पद्मासन, वज्रासन इत्यादि। पूर्व श्लोक में बिछाने वाला आसन कहा, शरीर-स्थिति वाले आसन को अब बतलाते हैं

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

धड़, गर्दन व सिर को एक सीध में स्थिर रखे व कम्पन आदि स्पंद न होने दे। दिशाओं को न देखते हुए मानो अपनी नासिका की नोक को ही देखता रहकर (आत्मध्यान करे)।

कटि-प्रदेश से लेकर अर्थात् मूलाधार से लेकर, जहाँ रीढ़ की हड्डी खत्म होती है, वहाँ से लेकर, गर्दन तक के भाग को काय या धड़ कहते हैं। काय, ग्रीवा अर्थात् गर्दन और शिर अर्थात् सिर खोपड़ा, सबको एक सीध में रखा जाए। सिर से यदि एक लम्ब गिराया जाए तो वह सीधा मूलाधार तक आ जाए, बीच में कोई रुकावट न होवे। अर्थात् बिल्कुल सीधा बैठे। ध्यान के अंदर रीढ़ की हड्डी के मध्य में जो नसों का पुंज है उसके अंदर स्पंद होते हैं। यदि उसको सीधा नहीं रखा जाएगा तो विक्षेप करेगा,

इसलिए धड़ को सीधा रखना ज़रूरी है। सिर व धड़ को सीधा रख कर भी आदमी स्पन्दन कर सकता है, दायें-बायें घूम सकता है। अतः कहा कि स्पंद भी न करे, अचल रहे। किसी प्रकार का चलन उसमें नहीं होना चाहिए, किसी भी प्रकार की गति का अभाव रखना है। दो-पाँच मिनट बैठे, फिर थोड़ा इधर-उधर हो जाये, पुनः सीधा हो जाये, ऐसा भी नहीं करना अतः कहा 'स्थिरः', एक स्थिति में टिक कर बैठा रहे। न्यूनतम दो घड़ी तक बैठने के लिये योगशास्त्र में बतलाया है। धीरे-धीरे स्थिर बैठने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये। यदि शरीर में स्पंद होगा तो सर्वथा एकाग्रता नहीं आ सकती। शरीर और मनये दोनों ऐसे संबंधित हैं कि एक का असर दूसरे पर पड़ता ही है।

आँखों की स्थिति बतलाने के लिए कहा कि आँखें आधी खुली हों, आधी बंद हों, मानों नाक के अग्रभाग को देख रहे हैं। यदि कहते कि 'नाक के अग्रभाग को देखे' तो सामने कोई बैठा होवे उसकी नाक देखते रहते! तब तो आँखें सर्वथा खुली रहेंगी। यह तात्पर्य नहीं है, इसलिए कह दिया 'स्वं नासिकाग्रं' अपने नासिकाग्र को देखो। ऐसा करने पर आँखें न खुली रहेंगी, न पूरी बंद होंगी। यहाँ एक 'इव' शब्द का लोप समझ लेना चाहिए अर्थात् नासिका के अग्रभाग को देखने की विधि नहीं है। नासिका के अग्रभाग को देखने से तुम्हारा देखना बंद नहीं होता और नज़र एक जगह पर लग जाने से इधर-उधर नहीं जाती। नेत्र की दृष्टि बाह्य पदार्थों की तरफ, विषयों की तरफ न जाते हुए सर्वथा बंद भी न होवे। सर्वथा बंद होने से नींद आने की संभावना होती है और विषयों के दर्शन से विक्षेप की संभावना रहती है। जो भी विषय तुम्हारे सामने आएगा, वह बहुत-सी स्मृतियों को ला सकता है। हम लोगों के ज्ञान-तन्तु ऐसे बने हैं कि एक तन्तु छिड़ते ही उससे संबंधित जितने ज्ञानतन्तु हैं सभी छिड़ जाते हैं। व्यवहार के लिए तो इसकी बहुत ज़रूरत है। हम जैसे ही किसी आदमी को देखते हैं, देखने से ही हमारे ज्ञान-तन्तु छिड़ कर उसके बारे में बहुत कुछ याद दिला देते हैं, बता देते हैं कि उसकी आवाज़ कैसी है; अगर जैसी आवाज़ उसकी हमेशा होती है वैसी नहीं आएगी तो तुरंत प्रश्न उठता है, 'अरे! आज तुम्हारा गला कुछ खराब लगता है।' अतः सभी व्यवहारों में संबद्ध ज्ञानों का उद्बोधन अत्यावश्यक है। किंतु ध्यान के लिये यही विक्षेपकारी प्रतिबंधक बन जाता है। विषय-दर्शन होने से अन्य संस्कारों के जाग्रत् होकर विक्षेप का खतरा रहता है इसलिए आधी खुली और आधी बंद आँखें रहें यह कहने का तात्पर्य है। यद्यपि यहाँ कहा तो है चक्षु को तथापि सभी इन्द्रियों के लिए समझ लेना चाहिए अर्थात् शब्दादि विषयों का भी ग्रहण न होवे परंतु इन्द्रियों की जागृति बनी रहे। ऐसे आधी आँखें खुली और आधी बंद रखने पर भी, विषय न देखने पर भी, दिशाओं का भान हो जाता है। उसको भी मना कर दिया 'दिशश्च अनवलोकयन्' दिशाओं की तरफ ध्यान न देते हुए रहे। यदि नेत्रों का अर्धोन्मीलन न मानकर नाक के अग्रभाग को देखना ही मानें तो मन नाक के अग्रभाग में ही समाहित रहेगा,

परमात्मा में समाहित होगा नहीं क्योंकि जो देखोगे उसी की वृत्ति अन्तःकरण में रहेगी। इसलिए यहाँ 'इव' का लोप मानना ही पड़ता है। मन का समाधान कहाँ करे? आत्मा में करे। किसी भी तरह की बाह्य चीज़ों का ग्रहण नहीं करे, दिशाओं का अर्थात् अगल-बगल का भी ग्रहण नहीं करे और आत्मा पर चित्त एकाग्र करे।।१३।।

अन्य भी साधन बताते हुए समाधिका विधान करते हैं

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

विशेषकर शान्त अन्तःकरण वाला, निर्भय, ब्रह्मचर्यका अनुष्ठाता, मनोवृत्तियाँ उपसंहत कर, मुझमें चित्त लगाकर, मुझे परम समझकर समाहित हुआ बैठे।

'प्रशान्तात्मा' प्रकर्ष से शान्त हो गया है अन्तःकरण जिसका। अन्तःकरण में तीन दोष होते हैंमल, विक्षेप और आवरण। पहले किए हुए जो पाप कर्म हैं, या पुण्य कर्म हैं, वे सब मन में संस्कार रूप से रहते हैं। वे मल दोष हैं। विक्षेप दोषजो परमात्मा है, उसे हम परमात्मा न जान कर संसार जान रहे हैं। सचमुच में परमात्मा है परन्तु हमारा भ्रम ऐसा है कि हमें संसार दीख रहा है। जिस प्रकार सामने सोना है परंतु सोने को किरीट कुण्डलादि की जो शक्ल दे दी है, उसके कारण जो वहाँ वस्तुतः सोना है वह सोना न देखकर हम केवल किरीट कुण्डल आदि गहनों को देखते हैं। देखने वाला आकारों की सुंदरता से इतना मुग्ध होता है कि सोने की परीक्षा भी नहीं करता! जिस आकार के राग से गहना खरीदते हैं वह आकार वैसा ही रहे परंतु पता चल जाये कि सोना नहीं पीतल है, तो उस आकार से सुख नहीं होता है। अतः असली चीज़ सोना है पर उसी को नहीं देखते। सुनार गहने की शक्ल के लोभ में नहीं आएगा, वह तो देखेगा कि सोना कैसा और कितना है। इसी प्रकार अन्तःकरण का सम्पर्क तो चैतन्य से होता है परंतु उस चैतन्य के ऊपर माया के द्वारा जो बने आकार हैं, वे हमारे मन को ऐसा आकृष्ट कर लेते हैं कि उन्हीं के प्रति राग हो जाता है और हम भूल जाते हैं कि असली चीज़ कौन-सी है! इसी को विक्षेप कहते हैं। वास्तविक चीज़ जो सच्चिदानन्द परमात्मा, उसकी जगह जगत् के सारे आकारों का ग्रहण करते हैं, परमात्मा मौजूद होने पर भी ग्रहण होता नहीं। इसी का नाम विक्षेप है। हमारी वास्तविकता परमात्म-स्वरूप है परंतु उस परमात्मा को ग्रहण नहीं कर पाते हैं क्योंकि वह अज्ञान से आवृत है। अहम् से ढका हुआ परमात्मा हमें दीखता है, सब समय दीखता है, एक क्षण भी ऐसा नहीं है जब हमारा परमात्मा के साथ संबंध न होवे; जाग्रत्-स्वप्न में एक क्षण भी हम 'मैं'-भाव के बिना नहीं हैं और मैं-भाव परमात्मा में ही कल्पित है; परंतु उसको न जानने के कारण ही वह अहम् से आवृत है, जिससे हम अहम् को जानते हैं परंतु अहम् जिस पर रह रहा है उसका पता नहीं करते। इसी को आवरण कहते हैं।

मल दोष की निवृत्ति शुभ कर्मों से होती है। अन्तःकरण के अंदर जो अशुद्ध चीज़ें

भरी हुई हैं, उनको शुद्ध चीज़ों से हटा दिया जाता है तो मल दोष दूर हो जाता है। मन को एकाग्र करके जब हम सच्चिदानन्द को ग्रहण करते हैं, शक्लों को, आकारों को नहीं, तब विक्षेप-दोष दूर होता है। सूक्ष्म चीज़ को देखने के लिए चित्त को एकाग्र करना ज़रूरी है। कोई टेढ़ा-मेढ़ा हिसाब कर रहे हो और पोता वहाँ गाना गाकर शोर मचा रहा हो तो उसको डाँटते हो, 'चुप रहो, काम करने दो।' रोज़-मर्रा का हिसाब लिख रहे हो तो बच्चा शोर मचाता रहे, कुछ फ़र्क नहीं पड़ता। चित्त एकाग्र करना पड़े तब विक्षेप से दूर होना पड़ता है। इसी प्रकार जौहरी जब हीरे को देखता है, परीक्षा करने के लिए चित्त एकाग्र करता है, तब थोड़ा भी इधर-उधर उसका ध्यान नहीं जाता। इसी प्रकार से हर आकार के अधिष्ठान को ग्रहण करने के लिये, अधिष्ठान सूक्ष्म होने से, चित्त को एकाग्र करने की ज़रूरत है। एकाग्रता से विक्षेप-दोष दूर हो कर जो सच्चिदानन्द वास्तव में है उसको ग्रहण कर सकेंगे।

'मैं' के द्वारा जो ढका हुआ परमात्मा है, आवरण दोष से ज्ञायमान नहीं हो रहा है, उसके ज्ञान के लिए श्रुति और गुरु से उपदिष्ट तत्त्वमस्यादि वाक्य से पदार्थ-शोधन के द्वारा पहचानना पड़ेगा कि सचमुच में 'मैं' किसको विषय कर रहा है। जैसे घड़े शब्द का अर्थ मोटे पेट, लम्बी गर्दन वाला बर्त्तन है, घोड़े का अर्थ चार पैर वाला दौड़ने वाला प्राणी है, यों जब तुम पदार्थ का नाम लेते हो तो झट पता लगता है कि किस चीज़ का नाम ले रहे हो क्योंकि तुमको पहचान करा दी गई है कि घड़ा इसको कहते हैं, घोड़ा इसको कहते हैं। यदि कोई शब्द तुम्हारा पहचाना हुआ नहीं है तो चीज़ सामने आने पर भी तुमको पता नहीं लगेगा कि इस चीज़ का अमुक नाम है।

इसी प्रकार अहम्-प्रत्यय के अंदर प्रतीति तो परमात्मा की होती है पर उसको परमात्मा करके हम पहचान नहीं पाते। श्रुतिवाक्यों से पदार्थों का शोधन करके अहम् शब्द का वास्तविक अर्थ क्या हैयह बतला दिया जाता है। उसके बाद जब तुम अहम् पदार्थ को देखोगे तब तुम्हारा पहचाना हुआ जो शुद्ध चेतन है, वह अनावृत हो जायेगा। हर बार 'मैं' शब्द आएगा तो तुम्हें तुरंत पता लगेगा कि तुम चेतन को कह रहे हो। शब्द का प्रयोग न करके भी 'मैं' का बोध होता है। जैसे, कहीं बैठे हुए गप्पें लग रही हैं, तुम्हारा घड़ी पर ध्यान जाता हैआठ बजने में तीन मिनट बाकी हैं, भोजन का घण्टा बजने वाला है; किसी से कहते नहीं हो परंतु अंदर भाव बनता है कि 'अब मैं चलूँ।' तुमने कहा नहीं, 'मैं'-शब्द का प्रयोग नहीं किया, लेकिन मैं-प्रतीति हुई। प्रतीति होते ही मैं-शब्द का जो वास्तविक चिन्मात्र अर्थ है वही तुरंत पता लग जाएगा। चाहे मैं-शब्द का प्रयोग करो, चाहे मैं-प्रत्यय में प्रतीति होवे, एक बार अनावृत होने के बाद हमेशा उसकी प्रतीति रहेगी। अत्यन्त मूढ भी 'मैं' कह तो उस चेतन को ही रहा है परंतु पहचान न होने से कभी 'मैं' का अर्थ शरीर समझ लेता है, कभी मैं का अर्थ आँख-कान समझ लेता है, कभी मैं का अर्थ मन-बुद्धि समझ लेता है। अलग-अलग अर्थ 'मैं' के

समझता रहता है क्योंकि किसी ने पहचान कराई नहीं कि 'मैं' सचमुच में कौन है। विक्षेप दोष जब दूर होता है जब शान्तात्मा बनता है तथा जब मल दोष नहीं है, विक्षेप दोष नहीं है और आवरण-दोष भी नहीं है तब *प्रशान्तात्मा।* अन्तःकरण के तीनों दोष दूर होने पर प्रशान्तात्मा होता है।

प्रशान्तात्मा होने से ही 'विगतभीः' निडर हो जाता है। एक तो चोर, डाकू, इन्कम टैक्स अफसर इन सबका भय होता है। अपरिग्रही होने के कारण ये भय तो उसको हैं नहीं। सारे परिग्रह पास में होने से ही भय सम्भव है। परंतु संन्यासी होने के कारण 'भिक्षा मिलेगी कि नहीं मिलेगी?' यह भय बना रहता है! गंगा-किनारे जाओ, वहाँ लोगों को भिक्षा देने का अभ्यास है। वहाँ जाओ तो भिक्षा मिल जाती है। जहाँ किसी गाँव से बारह बजे के करीब निकलो, कोई भी तुम को देखेगा तो ॐ नमो नारायणाय करके पहला प्रश्न करेगा 'स्वामी जी, भिक्षा कर ली? नहीं, तो चलिए भिक्षा कर लीजिए।' दिल्ली जैसे शहर में चले जाओ, खड़े होकर पाँच मिनट तक ज़ोर-ज़ोर से 'नारायण हरि' करो, तो वहाँ के लोग सोचेंगे कि भगवान् का भजन कर रहे हो ! बहुत अच्छे संस्कार वाले होंगे तो वे भी कहेंगे 'नारायण हरि स्वामी जी।' उनकी समझ में ही नहीं आएगा कि बारह बजे का समय है तो भिक्षा के लिए आया होगा। अतः शहर में जाने से भय लगता है कि भोजन मिलेगा कि नहीं मिलेगा। इसी प्रकार से अपरिग्रही होने के कारण अनेक सम्भावनाओं का भय रहता है। प्रशान्तात्मा होने से निश्चय है कि प्रारब्ध-भोग से अतिरिक्त कुछ मिल नहीं सकता और प्रारब्ध-भोग की प्राप्ति परमात्मा का संकल्प खुद ही कराता है। इसलिए कोई भय उसको नहीं रह जाता।

कई बार साधकों को यह भय भी होता है कि 'सतत योगाभ्यास में लगे हुए हैं, नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों का त्याग कर दिया; अगर योगसिद्धि नहीं मिली तो क्या होगा?' 'मैं परमेश्वर के मार्ग में चल रहा हूँ, अतः परमेश्वर खुद ही मेरी संभाल रखते रहेंगे।'ऐसी ईश्वरार्पण की भावना वाला होने के कारण 'सिद्धि होगी या नहीं', इसका भी उसको भय नहीं रहता है। भगवान् ने कहा है कि निरन्तर चिंतन करने वाले का संसार का जितना लौकिक व्यवहारखाना-पीना, पहनना-ओढ़नाहै, वह सारा का सारा मैं खुद ही प्राप्त कराता हूँ 'योगक्षेमं वहाम्यहम्', क्योंकि प्रारब्ध कर्म परमेश्वर का संकल्प है, अतः परमेश्वर ही उसकी व्यवस्था करेगा, उसी ने संकल्प कर लिया है। अतः संन्यासी को न इह लोक की चिन्ता, न परलोक की चिन्ता रहती है। इसलिए सर्वथा निर्भय होता है।

'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।' ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित रहता है। ब्रह्मचारी का व्रत है गुरुशुश्रूषा, भिक्षा, इत्यादि, सब ब्रह्मचारी के व्रत हैं। उनका वह अनुष्ठान करता है। ब्रह्मचारी का मुख्य व्रत ब्रह्मचर्य है। अतः किसी भी प्रकार का स्त्री-भोग इत्यादि का व उसकी कामना का त्याग करता है। कहीं स्मृतियों में आठ प्रकार के स्त्री-भोगों का वर्णन

किया है, कहीं पाँच प्रकार का किया है, उनमें से एवं अन्य भी किसी प्रकार के स्त्री-भोग का मन में भी न आना ब्रह्मचर्य है। इसके साथ ही गुरुसेवा, नियमित स्नान, यथाविधि भिक्षा इत्यादि जो नियम ब्रह्मचारी के लिए कहे हैं वे सब भी यह पालन करता है। 'ब्रह्मचारि-*व्रते* स्थितः' इसीलिए कहा कि ब्रह्मचारी के कुछ *कर्म* भी हैं, अग्नि-शुश्रूषा, स्वाध्याय आदि, वे यति के लिए अनुष्ठेय नहीं हैं। केवल व्रतमात्रों का ही यहाँ संग्रह करना चाहिए।

'मनः संयम्य', मन का संयमन करके अर्थात् मन की वृत्तियों का उपसंहार करके, मन में संकल्प विकल्पादि की वृत्तियों को न उठने देकर। अभ्यास से ही यह सब सिद्ध होता है; ऐसा नहीं है कि हमने कह दिया, तुम बैठ गए तो मन संयत हो जाएगा! मन वृत्तियों को उठाएगा, तुम उन वृत्तियों को हटाओइस प्रकार करते-करते, मन का उपसंहार होता है। साधन का मतलब है कि निरंतर दीर्घ काल तक अभ्यास करते रहो। 'दो महीने, चार महीने हो गए, अभी कुछ हुआ ही नहीं', ऐसा सोचकर हताश नहीं होना चाहिये। आमरण करेंगेऐसा निश्चय होना चाहिए। दस मिनट रोज़ कियाऐसा भी नहीं, निरंतर अर्थात् आवश्यक क्रियाओं को छोड़कर बाकी समय इसी के अंदर लगना पड़ेगा। और इसके ऊपर पूरी सद्भावना रखनी पड़ेगी, श्रद्धा रखनी पड़ेगी कि यह साधन ठीक ही है। अन्यथा, थोड़े दिनों में फल सामने न आने पर आदमी घबरा जाता है।

पतञ्जलि महर्षि ने मन की वृत्तियों को शान्त करने वाली तीन अवस्थाएँ कही हैं धारणा, ध्यान, समाधि। इन तीनों मन की अवस्थाओं को मिला कर कहा है 'त्रयम् एकत्र संयमः,' तीनों को मिलाकर संयम कहते हैं। इसलिए 'मनः संयम्य' अर्थात् पहले धारणा करे। धारणा में स्थलविशेष पर चित्त स्थिर करते हो, ज़्यादा समय मन विचलित होता है, अन्यान्य वृत्तियाँ बनाता है, बीच-बीच में थोड़े समय स्थिर रहता है। धारणा के दौरान अधिकतम काल मन नहीं लगता, थोड़ा-सा बीच-बीच में लगता है। परंतु बार-बार तुम लगाते उसे अपने इष्ट पर ही हो। सूर्य, चन्द्र, आकाश आदि सब बाह्य देश हैं, इनमें कहीं एक जगह एकाग्र करते हो, यह भी धारणा है। इसी प्रकार हृदय, मूर्धा, भ्रूमध्य आदि सब अंदर के देश हैं, इनमें कहीं स्थिर करना भी धारणा है। पहले मन इधर-उधर जाता रहेगा, फिर धीरे-धीरे अधिकतर समय इष्ट का ध्यान रहेगा। जब धारणा पकेगी तब इष्ट के आकार की वृत्ति लगातार रहेगी, बीच में विचलन नहीं होगा, टूटेगी नहीं; जब यह प्रत्यय की एकतानता, लगातारता हो, तब उसे ध्यान कहते हैं। इसके परिपाक में जब वृत्तिनिरोध हो जाये तब उसे समाधि कहेंगे। धारणा, ध्यान, समाधिये तीनों संयमन ही हैं।

अन्यत्र सर्वत्र से उपसंहार करके चित्त कहाँ लगावे?'मच्चित्तः'। अहम् की वास्तविकता जो परमेश्वर उसमें चित्त को लगावे। 'मत्' का मतलब अहम्-पद का लक्ष्यार्थ चिन्मात्र

भी हो सकता है, अथवा अहम् का प्रेरक अन्तर्यामी भी हो सकता है। अर्थात् चाहे सगुण का ध्यान करे, चाहे निर्गुण का ध्यान करे, लेकिन है ध्यान परमेश्वर का ही। जिस चीज़ में मनुष्य को प्रेम होता है, उसी में चित्त एकाग्र होता है। अगर किसी को स्त्री से प्रेम है, तो उसका स्त्री में चित्त एकाग्र हो जाएगा। लोग कहते हैं 'किसी का ध्यान करो, है तो वह भी परमात्मरूप। जब सारा संसार परमात्मा है तो मेरी पत्नी भी परमात्मा ही है! वह अच्छी लगती है तो उसी का ध्यान क्यों न करें?' ऐसी शंकाओं को हटाने के लिये भगवान् ने 'मच्चित्तः' कह दिया कि मोक्ष चाहने वाला यति अन्य किसी में नहीं, परमेश्वर में ही चित्त लगाये, उसी का ध्यान-चिन्तन करता रहे।

'मत्परः'। चाहे जितनी स्त्री प्रिय लगे लेकिन उस स्त्री को कोई 'यही सबसे परे है, बस इसी को प्राप्त करना चाहता हूँ, और कुछ प्राप्त करना नहीं चाहता'ऐसा नहीं मानता। धन को प्राप्त करना चाहता है, रोटी खाना भी चाहता है, कपड़ा पहनना भी चाहता है। परंतु जब परमेश्वर को हम अपना प्रिय समझते हैं तब परमेश्वर को हम 'पर' भी मानते हैं कि बस, एकमात्र परमेश्वर के सिवाय और कुछ नहीं चाहिए। संन्यासी स्वयं भोजन वस्त्रादि की भी इच्छा नहीं करता क्योंकि उसे निश्चय है कि विश्वंभर महादेव उसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता कि उसे खुद के लिये कुछ सोचना पड़े। वह विश्वंभर है, सारे संसार का भरण करता है, वह हमें थोड़े ही छोड़ देगा जबकि हम उसके भक्त हैं। इसलिए भोजनाच्छादन इत्यादि की भी यति को चिन्ता नहीं रहती है, वह मिले यह इच्छा नहीं होती है। शरीर-रक्षणार्थ जो प्रारब्धानुसार आवश्यक होगा वह भगवान् अपने-आप देंगे। उसे तो केवल परमेश्वर की ही इच्छा है, उसके सिवाय और कुछ नहीं चाहता। ऐसी विशेषताएँ अपने में पनपा कर 'युक्तः' समाहित होकर 'आसीत' बैठा रहे, जहाँ तक हो सके, व्युत्थान-दशा न आने दे।।१४।।

योग का फल कहते हैं

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।१५।।

आसनादि पूर्वोक्त विधि से हमेशा मन को समाहित करने वाला संयतचेता ध्यानाभ्यासपरायण संन्यासी, वह उपरति प्राप्त करता है जिसका स्वरूप मैं परमेश्वर हूँ और जो मोक्ष में पर्यवसित होती है।

भगवान् ने ध्यान की विस्तृत विधि बतायीशरीर की कैसी स्थिति हो, बैठने का स्थान और बिछाने के आसन कैसे हों, इन्द्रियों को जाग्रत् रखकर विषयों की ओर न जाने दिया जाये, मन को संयम में रखा जाये, ध्येय क्या हो, इत्यादि। ये सभी पूर्वोक्त विधि हैं जिनके अनुसार दीर्घकाल तक अभ्यास चाहिये। जल्दबाजी में मन की एकाग्रता, विषय-विमुखता, ये प्राप्त होते नहीं। यह भूल प्रायः साधक कर लेता है कि

एक बार विषय का दोष-दर्शन कर लिया तो वहाँ से मन हट जाएगा! ऐसे मन हटता नहीं है। बहुत-से लोग कहने लगते हैं कि दोषों का दर्शन करने से भी मन हटता नहीं है तो दोष-दर्शन का कोई लाभ नहीं! यह भूल जाते हैं कि विषयों में राग कल्प-कल्पन्तरों से हमारे अंदर बैठा हुआ है, उसका भी इतना लम्बा अभ्यास किया हुआ है। एक बार गुणदर्शन करने से राग भी नहीं होता। किसी चीज़ को सामान्य रूप से खाते हैं तो पहली ही बार ऐसा नहीं हो जाता कि उसकी याद आने लग जाए। जब उसको दीर्घकाल तक खाते हैं तब संस्कार दृढ होता है। हम लोगों को आधा कच्चा, आधा पक्का भोजन खाने का बिल्कुल अभ्यास नहीं है। पहले-पहल उसे खाते हैं तो बिल्कुल बेकार लगता है, परंतु कई बार खा लेते हैं तो आजकल के बच्चों को वही अच्छा लगता है क्योंकि उनको उसका संस्कार हो गया। विषयों का जो इतने जन्म-जन्मान्तरों का संस्कार है उसको हटाने के लिए दीर्घकाल लगता है। विषयों के दोष का वैसा ही संस्कार बन जाए जैसा अभी तक राग का संस्कार विषयों के प्रति है, इस के लिए अभ्यास करना पड़ता है, बारंबार विचार करना पड़ता है। इसी प्रकार से अभी हम लोगों को चाहे जैसे बैठने का, चाहे जहाँ बैठने का अभ्यास पड़ा हुआ है। जब दीर्घकाल तक इस प्रकार योगानुष्ठान का अभ्यास हो जाएगा तभी फिर हमारे अंदर योग का संस्कार स्थिर बनेगा। इसलिए कहा 'सदा' अर्थात् जब तक ऐसा दृढ संस्कार नहीं हो जाता। कोई फौजी आदमी रास्ते में जा रहा होवे और पीछे से कोई इतना कह-भर देवे 'अटैन्शन', तो खट उसकी दोनों एड़ी मिल जाएगी, वह खड़ा हो जाएगा। सैकेंड-भर बाद सोचेगा कि 'अरे! मैं तो यहाँ चाँदनी चौक में घूम रहा हूँ', फिर पीछे की तरफ देखेगा कि किसने क्या कह दिया। यह संस्कार का प्रभाव है। कोई ब्राह्मण संन्यासी बन जाता है; संन्यास लेने के एक-आध दिन बाद लघुशंका करने जाता है तो कंधे के ऊपर हाथ रखता है, जनेऊ उठाने के लिए! इधर-उधर देखता है, तब याद आता है 'अरे! हमने तो संन्यास ले लिया।' संस्कार नैरन्तर्य व दीर्घकाल अपेक्षित रखता है, इसलिए कहा 'सदा' अर्थात् दीर्घकाल तक; जब तक आसन इत्यादि ऐसा न हो जाए कि स्वभाव से ही आदमी उसी ढंग से बैठे और उसे अच्छा लगे।

'नियतमानसः' मन जिसने संयत कर लिया है, नियत कर लिया है। पूर्व श्लोक में जिसे कहा था 'मनः संयम्य', वह अब 'नियतमानसः' हो गया, अर्थात् संयम करते-करते अब नियम से रहना मन का स्वभाव हो गया। शुरू में बड़े ज़ोर से हम लोगों को ध्यान करने बैठना पड़ता है और जैसे ही हम ध्यान से उठें, विषयों की तरफ जाने के लिए कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता! जब बैठते हैं तब तो मन को इधर-उधर से हटाना पड़ता है पर जब उठते हैं तब उसे विक्षिप्त करने के लिये कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता! जब धीरे-धीरे योग का अभ्यास दृढ हो जाता है तब कभी भी काम करते हुए थोड़ा-सा समय मिले तो खट मन अन्तर्मुखी हो जाता है, परमात्म-चिंतन करने लगता है। मुश्किल

से परमात्मा से मन को हटा कर प्रारब्ध-भोगों के लिए जब विषय हमारे सिर पर आते हैं तब ऐसा लगता है जैसे जबरदस्ती मन को उधर खींच कर ले जा रहे हैं।

ऐसा नियतमानस योगी 'आत्मानं युञ्जन्' बार-बार अपने आपको अर्थात् अन्तःकरण को उस तत्त्व में लगाता रहता है। ऐसा सदा करते हुए 'निर्वाणपरमां शांतिं'वाण नाम दुःख का है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति निर्वाण है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति सुषुप्ति काल में भी हो जाती है परन्तु वह *परम* नहीं है क्योंकि थोड़े ही समय रहती है। परमात्म-साक्षात्कार होने पर तो दुःख का आविर्भाव ही असम्भव हो जाता है। अन्तःकरण दुःखाकार बनने पर भी 'मैं दुःखी' ऐसा अध्यासरूप अनुभव नहीं होता। अज्ञानी को तो अन्तःकरण की दुःखवृत्ति बनने पर 'मैं दुःखी' अनुभव हो जाता है क्योंकि उसे अन्तःकरण से एकता का अध्यास है, किन्तु अज्ञान दूर हो चुकने पर वह अध्यास न रह जाने से अन्तःकरणरूप उपाधि में दुःखरूप विकार का आभास होते हुए भी 'मैं दुःखी' आदि निश्चयात्मक अनुभव नहीं होता। उसे परम-निर्वाणरूप शान्ति अर्थात् अत्यन्त उपरामता रहती है, किसी भी अनात्मा में मन रमता नहीं, हमेशा आत्मा में ही रमण करता है। जिस प्रकार, विद्यारण्य स्वामी कहते हैं, कि चाहे कितने ही घर के कामों में लगी हुई हो, परन्तु स्त्री के अन्तःकरण के अंदर तो हमेशा अपने प्रिय की ही याद बनी रहती है, उसी के अंदर चित्त रमण करता है, इसी प्रकार ध्यानी का चित्त हमेशा परमात्मा में ही रमण करता है, चाहे जितना प्रारब्ध इसके सामने जगत् को उपस्थापित करता रहे!

शान्ति भी कैसी है? 'मत्संस्थाम्'। भगवान् एक परम रहस्य बतला रहे हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि मत्संस्था का अर्थ है कि यह शांति परमात्मा के ही अधीन है। योगाभ्यासादि जितना भी कर लिया जाए, अन्ततः ऐसी स्थिति बिना परमात्मा के अनुग्रह के होती नहीं। इसीलिए आचार्य श्रीहर्ष कहते हैं 'ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसाम् अद्वैतवासना' अद्वैत की वासना ईश्वर के अनुग्रह से ही होती है। अगर यह किसी कर्म का फल होती तो अनित्य होती। जो भी कर्म का फल होता है वह अनित्य होता है। कुछ करके जो मिलता है वह जितने करने से मिलता है उतने करने का फल खत्म होने पर चला भी जाता है। परंतु परमेश्वर का जो अनुग्रह है वह कुछ करके तो मिलता नहीं। ऐसे समझ लो : नौकर चाहे जितना काम कर लेवे लेकिन उसकी यथानियम तरक्की सीमित ही हो सकती है। परंतु बेटे को, पुत्र को पिता अपनी सारी धन-दौलत दे देता है! उसका तो कभी काम देखकर हिसाब से नहीं देता कि इसने इतना काम किया तो इतना दे दें। पुत्र में पिता अपना स्वरूप देखता है। उसको गौण रूप से अपना आत्मा समझता है। आत्मरूप की गौणभावना होने से उसके ऊपर अनुग्रह है। इसी प्रकार परमात्मा का ही स्वरूप प्रतिबिम्बित हुआ जीवरूप में है इसलिए जीवरूप के ऊपर उसका अनुग्रह होता है।

ऐसी शान्ति को 'अधिगच्छति', प्राप्त करता है। 'अधि' पूर्वक 'गम्' धतु से 'जानना' अर्थ भी कहा जाता है। ब्रह्माकार वृत्ति अज्ञान का नाश करती है पर इसीलिए कि वह ब्रह्म के आकार की है। घटाकार वृत्ति जब यथार्थ ज्ञान होता है तब घट के अधीन होती है, ज्ञाता के अधीन नहीं। ज्ञान में और क्रिया में यह मूलगत भेद है। अतः आचार्यपाद कहते हैं 'वस्त्वधीना भवेद् विद्या कर्त्रधीनो भवेद् विधिः'। विद्या, ज्ञान वस्तु के अधीन है। सामने घड़ा है इसलिए तुमको घड़े का ज्ञान होता है। विधि वह है जो तुम करो तब संपन्न होगी, अन्यथा नहीं होगी। चाहे जितना शास्त्र कह लेवे 'प्रतिदिन सन्ध्या करो', पर जब तक करोगे नहीं तब तक संध्योपासना होगी नहीं। इससे विपरीत, ज्ञान वस्तु के अधीन है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान, ब्रह्माकार वृत्ति, ब्रह्म के अधीन है, जैसा ब्रह्म है वैसी ही वृत्ति बनेगी। ब्रह्माकार वृत्ति का *विषय* ब्रह्म नहीं बन पाता, वह तो हमेशा ज्ञानस्वरूप ही है। ब्रह्म *का* ज्ञान भी वास्तव में निर्विषय ज्ञान है। शांति की प्राप्ति ज्ञानरूप ही है अतः 'अधिगच्छति' कहा। ब्रह्म के अधीन ही वह अधिगति है।।१५।।

योग का फल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और शाश्वत उपरति है यह पूर्व श्लोक में बतला दिया। अब योगी के लिए जो कुछ और नियम हैं उन्हें बतलाते हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

हे अर्जुन! उक्त योग ऐसों को सिद्ध नहीं होताअत्यधिक खाने वाला, सर्वथा न खाने वाला, अत्यधिक सोने वाला और अत्यधिक जगा रहने वाला।

आत्मसम्मित जो अन्न का परिमाण है वह हो गया अशन, उससे जो अधिक होगा वह है अत्यशन। आत्मसम्मितहर व्यक्ति अपने शरीर को और देश-काल-अवस्था को देख कर प्रयासपूर्वक निश्चय कर सकता है कि उसके लिये 'मित', परिमित, सही मिकदार का कितना व कौन-सा भोजन है, कितने से शरीर स्वस्थ रहता है। उतना भोजन आत्म-सम्मित, अपने लिए सम्मित है, उतना परिमाण ही लेना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण में इसीलिए कहा है कि आत्म-सम्मित, अपने लिए जो विचार-सिद्ध परिमाण हैवह हर एक का अलग-अलग होगाउतना अन्न तो तुम्हारी रक्षा करेगा, वह कभी नुकसान नहीं करता, किंतु जो उससे ज़्यादा होगा, वह नुकसान देगा और जो उससे कम होगा वह देहकी रक्षा नहीं कर पायेगा। इसलिए योगाभ्यासी के लिए अनशन आदि का नियम नहीं है। उससे पित्त इत्यादि धातु भी कुपित हो जाते हैं इसलिए योगी के लिए वैसे नियम नहीं हैं। ऐसे ही अत्यंत खाने वाले के लिए योग नहीं है। सर्वथा नहीं खाने से भी योग सफल नहीं होगा। योगाभ्यासी को आवश्यक परिमाण से कम या ज़्यादा नहीं खाना चाहिये। आत्मसम्मित कितना होता है यह जानने के लिये स्मृतिकारों ने

बताया हैव्यंजनों समेत अशन जितना पेट में समाये, उससे आधी मात्रा में खाये। चावल, गेहूँ आदि अन्न अर्थात् उनसे बने भात, रोटी आदि अशन हैं और उन्हें खाने के लिये आवश्यक दाल, साग आदि व्यंजन कहे जाते हैं। व्यंजनों समेत अशन आधा पेट ही खाना चाहिये। पेट का तीसरा भाग अर्थात् चौथाई हिस्सा जल के लिये है और चौथा भाग वायु के संचार के लिये रखना चाहिये। बहुत बार खा लेते हैं, फिर साँस लेने में ही तकलीफ़ होती है! यों ठूंसकर खाने वाला योगी नहीं हो सकता। अपना आत्मसम्मित पता लगा लेना चाहिए। इसमें नकल से काम नहीं चलेगा, गुरु भी मात्रा नहीं बता सकेगा, खुद प्रयोग कर निर्णय करना पड़ता है।

जैसे खाने का नियम है, न अत्यधिक खाए और न अतिन्यून खाए, ठीक जितना सम्मित है उतना ही खाए, इसी प्रकार से सोना और जगना भी नियमित करे। जो बहुत ज़्यादा सोता या जगता है, वह भी योगी नहीं है। योगाभ्यास करने वाले के लिए कहा है कि रात के प्रथम चार घंटे जगे, बीच के दो याम सोए और फिर अन्तिम याम में जग जाए। इस प्रकार चार यामों में से प्रथम और अन्तिम जगने में निकलें और मध्य के याम सोने में निकलें। अधिक सोने से तमोगुण बढ़ता है और सोना कम होगा तो रजोगुण बढ़ेगा। दोनों ही योगी के लिए अच्छे नहीं। भगवान् ने केवल 'जाग्रतः' कहा है पर यहाँ 'अतिमात्रम्' ऐसा विशेषण जोड़ लेना चाहिए अर्थात् उपयुक्त से अधिक मात्रा में जगने वाला योगाभ्यासी नहीं बन सकता। अत्यधिक जागने वाले को योग सिद्ध नहीं होता, वह अत्यन्त विक्षिप्त बना रहता है।।१६।।

क्या नहीं करना चाहिए यह बतला कर, अब उसी को क्या करेइस रूप से बतला देते हैं

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

जिसके आहार-विहार नियत परिमाण के हैं, कर्मों में चेष्टाएँ नियत हैं, सोना-जागना नियत समय पर होता है, उसका किया योग दुःखों का क्षय करता है।

आहार का मतलब जिसका आहरण करके अपने अंदर ले जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में जहाँ कहा 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' वहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि जैसे अन्न को मुँह से खाते हो वैसे ही आँख रूप का आहरण करती है, कान शब्द का आहरण करते हैं, आदि। जो-जो चीज़ें अंदर ली जाती हैं, वे सब आहार ही हैं। इन सबकी शुद्धि होने पर ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्यथा, प्रत्यक्ष में भी देखोगे कि बहुत-से लोग खाते तो बिल्कुल शुद्ध भोजन हैं। पर फिर भी अन्तःकरण की शुद्धि देखने में नहीं आती। वे खुद ही अपने अन्तःकरण से नित्य निरन्तर दुःखी होते रहते हैं, दूसरे भी उनसे दुःखी होते रहते हैं। कई बार लोग पूछते हैं कि अगर खाने से शुद्धि होती है तो

ये लोग ऐसे क्यों? उसका जवाब आचार्य ने स्पष्ट कर दिया कि बाकी जो चीज़ें वे अंदर लेते हैं वे दोष से युक्त हैं इसलिए विकारों को पैदा करती रहती हैं। यहाँ भी भगवान् ने आहार शब्द के प्रयोग से सारे ही आहार ग्रहण कर लिये। सारे ही आहार युक्त होने चाहिए। युक्त अर्थात् शास्त्र में विहित हों और योगाभ्यास के अनुकूल हों। शास्त्र-निषिद्ध लोगे तो अन्तःकरण के मल को बढ़ाएँगे, चित्त-शुद्धि नहीं होने देंगे। योगाभ्यास के प्रतिकूल होंगे तो शास्त्र द्वारा अनुज्ञात होने पर भी, अयुक्त रहेंगे। जैसे शास्त्र ने यह नहीं कहा कि कितनी रोटी खाओ, परंतु योग-शास्त्र कहता है, आधा पेट खाओ। तुमने आधे पेट से ज़्यादा खा लिया तो कोई पाप नहीं लगेगा, पर योग के अनुकूल न होने के कारण तुम्हारे अन्तःकरण की शुद्धि में रुकावट करेगा। इसलिए युक्त से दोनों ही ले लेने हैं, शास्त्र-विहित हो और योग का विरोधी न हो।

जैसे आहार से सभी प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों का और अन्न का ग्रहण है, वैसे ही विहार से सभी प्रकार की कर्मेन्द्रियों के आचरण को ले लेना। विहार का मुख्य अर्थ तो घूमना-फिरना ही है, पर उपलक्षण से समस्त क्रियाएँ समझनी चाहिये। जहाँ संन्यासी के लिये भिक्षाचर्या का विधान किया है वहाँ सुरेश्वराचार्य ने 'भिक्षया लक्ष्यते चर्या' कहकर समझाया है कि उसका सारा आचार भिक्षावृत्ति से चले, यह विधि का तात्पर्य है। अधिकार अर्थात् हक की भावना छोड़कर आवश्यकता पूर्ति उसी से करे जो भिक्षा में मिल जाये, वस्तुओं के अर्जन के लिये अतिरिक्त कोई साधन न अपनाये। इसी प्रकार यहाँ विहार का प्रधान अर्थ तो चलना-फिरना है, पैरों से घूमना है, पर उससे सभी क्रियाओं का संग्रह हो जाना चाहिये। अतः जिसने अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सर्वथा शास्त्रानुकूल और योगाभ्यास की विरोधी नहीं रहने दी हैं, उसका आहार-विहार युक्त है। इसलिए स्मृतियों ने बतलाया है कि संन्यासी बहुत ज़्यादा नहीं चले, थक जाएगा तो योग के अनुकूल नहीं रहेगा। ऐसे जितने स्मार्त-वचन हैं उन सबका भाव भगवान् ने एक ही पद में कह दिया 'युक्ताहारविहारस्य।'

'युक्तचेष्टस्य' चेष्टा भी युक्त होनी चाहिए अर्थात् शास्त्रानुकूल और योगाभ्यास से अविरोधी। क्रिया के पहले जो रहती है, वह चेष्टा है। चेष्टा हमेशा जानने के बाद होगी और क्रिया के पहले होगी। ज्ञान चाहे विषय-दर्शन-रूप होवे और चाहे विषय-स्मृति-रूप होवे। कई बार विषय की स्मृति से भी चेष्टा कर लेता है। उन्हीं क्रियाओं को करने की प्रवृत्ति, इच्छा और चेष्टा रूप में होनी चाहिए, जो शास्त्रानुकूल और योगाभ्यास की अविरोधी हों। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरण, सारे ही नियत हो गए हैं जिसके वह यति दुःखनाशक योग का सफल अभ्यासी हो सकता है, यह स्पष्ट किया।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य' में स्वप्न से स्वप्न और सुषुप्ति दोनों को कहा है। 'स्वपिति', सो रहा है, जब कहते हैं, तब सपना देख रहा हो या सुषुप्ति में हो, दोनों ही हालात

में हो सकता है। सोना दोनों ही अवस्थाओं को कहता है। अवबोध अर्थात् जाग्रत्। भगवान् गौडपादाचार्य की दृष्टि में तो जाग्रत्, स्वप्नये दोनों स्वप्न हैं क्योंकि अन्यथा ग्रहण स्वप्न है। जाग्रत् में भी अन्यथा ग्रहण हैहै ब्रह्म और ग्रहण हो रहा है नाम-रूप का। और स्वप्न तो सभी कहते हैं, अन्यथा ग्रहण है। लेटा हुआ है आबू में, सपने में दशाश्वमेध घाट पर स्नान कर रहा है, तो अन्यथा ग्रहण है। विवेकी को पता है कि जाग्रत् भी उसी तरह अन्यथा ग्रहण ही है। इनसे विलक्षण, जो तत्त्व का अज्ञान है, वह निद्रा है, सुषुप्ति है। इस दृष्टि से यहाँ जो स्वप्न कहा है उससे जाग्रत् का ग्रहण हो जाएगा। तब अवबोध अर्थात् जैसे विषय हैं वैसा ही उनको न समझ करके, उनका बाध करके, जो उनका वास्तविक स्वरूप है, उसको ग्रहण करना। ये दोनों ही योगी के युक्त होने चाहिये है। अवबोध अर्थात् विषयों का याथात्म्य कैसे समझे? जो शास्त्रानुकूल हो और योग के प्रतिकूल न हो, वैसा ही समझे। जाग्रत् के अंदर संस्कार इतने दृढ हो जाएँ कि स्वप्न के अंदर भी शास्त्र से विरुद्ध और योगाभ्यास के विरुद्ध वृत्तियाँ उपस्थित न होवें।

ऐसे के द्वारा अभ्यस्त जो योग है वह 'दुःखहा भवति', सारे दुःखों का हनन कर देता है। जिसको हम लोग सुख समझते हैं, वह भी विचारशील के लिए दुःख का ही प्रकार है! बादाम का सीरा खाते समय सुख देता है, इसलिए उसको सुख का पदार्थ मानते हैं परंतु बादाम के सीरे के लिए जो सारा श्रम हैबादाम को भिगाओ, छीलो, घोटो, फिर उसके बाद उसको कढ़ाई में डाल कर भूनो इत्यादि सब जो कर्म है, वह दुःखरूप ही है। उतनी सब झंझट करो तो बदाम का हलुआ खाने को मिले। खा लिया, उसके बाद बार-बार याद आता है 'फिर बादाम का हलुआ खाना है!' जब याद आती है तब दुःख होता है कि आज भी बादाम का हलुआ नहीं मिला। इसलिए जो विवेक करने वाला है, उसको तो सारा संसार ही दुःखरूप लगता है। भगवान् ने इसलिए इस सृष्टि का नाम ही रख दिया दुःखालय, दुःख का घर है। जो क्षणिक सुख प्रतीत होते हैं वे भी आद्यन्त की दृष्टि से देखते हैं तो दुःख ही सिद्ध होते हैं। अतः दुःखहा का मतलब 'सर्वसंसारदुःखक्षयकृत्' सारा संसार ही जो दुःखरूप है उसका क्षय करने वाला हो जाता है।।१७।।

यह जो समाधि का अभ्यासी है, इसे कब युक्त कहा जाता है? अर्थात् इसका अभ्यास ठीक हो रहा है, ऐसा कब कहा जाएगा? प्रयत्न करते हुए योगी कब समझे कि योग ठीक हो रहा है?

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

एकाग्र हुआ चित्त जब बाह्य चिंताएँ छोड़कर केवल आत्मा में ही स्थिर रहे और

योगी दृष्ट-अदृष्ट सब विषयों के प्रति निष्काम हो जाये, तब 'युक्त' ऐसा कहा जाता है।

जब तक प्रयत्नपूर्वक आत्मा में लगता है तब तक चित्त नियत है और वि-नियत, विशेष करके नियत तब है जब प्रयत्न छोड़ने पर भी उधर लगा रहे, अर्थात् जब क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढइन तीन भावों के अंदर अन्तःकरण स्वभाव से नहीं जाये। शरीर-निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति को छोड़कर बाकी समय में योगी का चित्त न क्षिप्त होता है, न विक्षिप्त होता है, न मूढ होता है, वरन् संयत ही होता है, तब कहा जाता है कि अब इसका चित्त एकाग्र भाव को प्राप्त हो गया। ऐसा चित्त परमात्मा में ही स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करता है, जैसे अभी हम लोगों का चित्त स्वभाव से ही विक्षेप में स्थिति-लाभ करता है। थोड़ी देरे आत्मविचार करने के बाद लोग कहते हैं 'अरे! सिर गर्म हो गया, थोड़ी हल्की-फुल्की बातें करो, कोई कहानी सुना दो।' गम्भीर विषय का चिंतन थोड़ी देर करने के बाद लोग थक जाते हैं। इधर-उधर की सांसारिक बातों को घण्टों तक करते रहेंगे, उनसे उनके चित्त में कोई विक्षेप नहीं होता! विक्षिप्त अवस्था अयोगी लोगों के लिये स्वाभाविक है। साधक इससे विपरीत हो जाए अर्थात् उसे एकाग्रता से हटने की इच्छा ही न होवे। उसका चित्त आत्मा में ही 'अवतिष्ठते'; अव-पूर्वक स्था-धातु का प्रयोग है, अर्थात् उसका चित्त उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है जब आत्मा में एकाग्रता स्वाभाविक हो चुकी है।

'सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः'दृष्ट और अदृष्ट, दोनों विषयों से तब स्पृहा अर्थात् तृष्णा हट जाती है। न किसी दृष्ट विषय को वह अपनी अभिलाषा का विषय बनाता है, न अदृष्ट को। दृष्ट अर्थात् सांसारिक सारे पदार्थ, चाहे बड़ा भारी राज्य ही होवे, वह भी उसकी स्पृहा का विषय नहीं होता। योगसूत्रों में कहा कि अणिमादि सिद्धियों के प्रति वह समझ लेता है कि ये सब भी विक्षेप का ही कारण हैं। वहाँ से भी उसको वैराग्य हो जाता है। यद्यपि बहुत बड़ा समाधिपाद भगवान् पतञ्जलि ने बतलाया है, तथापि अन्त में कहा है कि वे सब चित्त की एकाग्रता के लिए विघ्न हैं, जो सांसारिक लोगों के लिए व्युत्थान काल के अंदर सिद्धियाँ कही जाती हैं। उन्होंने ऐसे स्पष्ट कर दिया कि योगी के लिए ये सिद्धियाँ उपयोगी नहीं हैं। योगी तो उनको उपसर्ग ही समझता है, व्यवधान ही समझता है। वह दृष्ट चीज़ों के प्रति सर्वथा निःस्पृह होता है, तृष्णा से रहित होता है, उसकी प्राप्ति हो, ऐसी कोई भावना नहीं रखता। प्राप्त होने पर भी 'मैं उनका उपयोग करूँ'ऐसा कुछ मन में नहीं आता है। जैसा दृष्ट, वैसा ही अदृष्ट उसकी तृष्णा का विषय नहीं। स्वर्ग, स्वर्ग की अप्सराएँ, ब्रह्मलोक, ब्रह्मलोक के आनंदसबके प्रति उसकी वितृष्णा ही है। उसको उन सबके प्रति कोई तृष्णा नहीं होती। ब्रह्मलोक के ही अन्तर्गत वैकुण्ठ लोक, गौलोक आदि सब समझ लेने चाहिए। उन सबसे जब सर्वथा वितृष्ण हो जाता है तब कहा जाता है 'अब इसका चित्त समाहित

हो गया' अर्थात् स्वभाव से उसे परमात्मा का आनन्द आने लगता है, बाकी सब आनंद व्यर्थ हो जाते हैं। अर्थात् दो-चार घंटे चित्त एकाग्र रहाइतने मात्र से किसी को युक्त अर्थात् समाहित नहीं कह सकते।।१८।।

समाहित अवस्था कैसी है, यह एक दृष्टान्त से समझाते हैं

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।।१६।।

जहाँ हवा बह न रही हो वहाँ रखे दीपक की लौ जैसे हिलती-डुलती नहीं, आत्म-संबंधी योग के अनुष्ठाता योगी के संयत अंतःकरण के लिये वह दृष्टांत माना गया है।

भाष्यकार ने 'दीपः प्रदीपः' ऐसा अर्थ किया है। प्रायः जिसके अंदर दीया जलाते हैं उस दिवोटिए को दीप कह देते हैं। पर यहाँ दीप का अर्थ है जो ज्वाला, दीपशिखा जलती है। निवात अर्थात् जहाँ किसी प्रकार की वायु नहीं चल रही। निवात का अर्थ वात रहित भी हो सकता था लेकिन जहाँ वायु सर्वथा नहीं होगी वहाँ तो दीप बुझ जाएगा! वैसे, 'वात' शब्द के अंदर यह ध्वनि तो है ही कि जो बह रही है; 'वाति' अर्थात् बहती है इसलिये वायु को वात कहते हैं। इसलिए निवात से कहा कि वायु के होने पर भी किसी प्रकार का बहना अर्थात् चलन नहीं है। निवातस्थ अर्थात् निवात देश में स्थित दीपक दृष्टांत है। वह दीपशिखा 'न इङ्गते' बिल्कुल नहीं हिलती, चलायमान नहीं होती, एकदम एक-जैसी स्थिर जलती है। जैसे उसका बिना हिले हुए एकाकार प्रकाश होता है, वैसे ही योगी का अन्तःकरण सर्वथा एकाकार हो जाता है, प्रत्यय का एक-जैसा प्रवाह रहता है। 'यतचित्तस्य योगिनः', जिसका अन्तःकरण धारणा, ध्यान, समाधि से संयत हो गया है वह योगी जिस समय योग का अनुष्ठान कर रहा है अर्थात् जिस समय समाधि के अभ्यास में लगा है; शरीर-निर्वाह के लिए जब भिक्षाटन आदि करेगा उस समय तो ऐसी वृत्ति नहीं रह सकती कि एक ही प्रत्यय रहे, परंतु जिस समय उन कार्यों से निवृत्त होकर योग का अभ्यास करने के लिए अर्थात् समाधि के अभ्यास के लिए बैठा है, जब वह अपने अन्तःकरण को समाधि में लगा रहा है, उस समय एकदम स्थिर रहता है। धारणा के अंदर मन की वृत्ति आत्माकार बनती तो है पर अत्यंत अस्थिर रहती है, बहुत प्रयत्न करने पर आत्माकार बनती है पर तुरंत अनात्माकार हो जाती है। फिर ध्यान के अंदर लम्बे समय तक आत्माकार बनेगी, बीच-बीच में थोड़ी देर के लिए अनात्माकार बन जाएगी। समाधि में पहुँचने पर जितनी देर बैठता है उतनी देर निरंतर आत्माकार ही चलती रहेगी अनात्माकार वृत्ति बीच में आएगी ही नहीं। समाधि का अभ्यास करने वाले योगी के संयत चित्त की यह उपमा बतलाई गयी है।।१६।।

इस प्रकार से योगाभ्यास के बल से जब चित्त एकाग्र हो गया, वायुरहित स्थल में

जलते दीपक की तरह स्थिर हो गया, उस समय

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

योगानुष्ठानद्वारा सब विक्षेपों से निवारित चित्त जब समाधिकाल में उपशांत हो जाता है और जब योगी समाधि से संस्कृत अन्तःकरण द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए निजस्वरूप में तुष्ट होता ही है, तब योग की सिद्धि (=पूर्णता) होती है।

योग का सेवन, अभ्यास करने से चित्त निरुद्ध होकर 'उपरमते' सर्वथा दृष्ट और अदृष्ट सब विषयों की ओर जाने से रुक जाता है। दीपक एक जैसा जलेइसका मतलब है कि प्रकाश के बीच में अंधकार की कोई जगह नहीं आए अर्थात् आत्माकार वृत्तियों के बीच में अनात्माकार वृत्ति नहीं आए। योगसेवन से जब ऐसा चित्त निरुद्ध होकर उपराम हो जाता है तभी सिद्धि संभव होती है। दीर्घकाल तक सादर अभ्यस्त समाधि के द्वारा अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है। 'आत्मा' अर्थात् ऐसा अत्यन्त शुद्ध हुआ जो अन्तःकरण, उस अन्तःकरण से 'आत्मानम्' जो परमात्मा का ज्योति-स्वरूप है उसको योगी उपलब्ध करता है। अन्तःकरण सीधा तो उस को उपलब्ध कर नहीं सकता क्योंकि वह विषय है नहीं, इसलिए अन्तःकरण में वह जैसा प्रतिबिम्बित होता है वही उसका ग्रहण है। जैसे बिल्कुल साफ, नहीं हिलने वाले काँच में जब हम अपना चेहरा देखते हैं, तब देखते तो हैं चेहरे के प्रतिबिम्ब को, परंतु ज्ञान होता है मुख का; भस्म-त्रिपुण्ड्र दीख तो रहा है प्रतिबिम्ब में पर ज्ञान हो रहा है कि मेरे चेहरे पर त्रिपुण्ड्र ठीक लगा है। इसी प्रकार, समाहित अंतःकरण में देखकर पता परमात्मा का चल जाता है। उसकी उपलब्धि इस रूप में करते हुए 'आत्मनि एव तुष्यति' जो आत्मा का आनन्दघन स्वरूप उसको ज्ञात हो रहा है, उसी से उसको तुष्टि होती है, परमानन्द का अनुभव होता है। संतोष क्यों होता है? क्योंकि जो चीज़ दीखती है वह आनन्दघन है। उसके सामने बड़े से बड़े आनंद सर्वथा घृणित हो जाते हैं अर्थात् सुख का विषय नहीं रहते।।२०।।

योगसिद्धि का काल ही अन्य ढंग से समझाते हैं

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

जो इन्द्रियातीत, केवल स्वानुभव से ग्रहण करने योग्य, अनन्त सुख है, उसे जब अनुभव करता है और आत्मस्वरूप में स्थिर रह कर उससे प्रच्युत नहीं होता, तब योगी योग की सिद्धि प्राप्त करता है।

'आत्यन्तिकं सुखं'जिससे बड़ा कोई सुख नहीं, जिसके जैसा भी कोई सुख नहीं। अब तक हमने व्यवधान से ही सुख का अनुभव किया है। रसगुल्ला खाया; रसगुल्ले से रसनेन्द्रिय का संबंध हुआ, रसगुल्ले को रसनेन्द्रिय ने देखा। पहले हमारे व रसगुल्ले के बीच रसनेन्द्रिय आई, रसगुल्ले को सीधा *हमने* तो जाना नहीं। फिर, उस रसनेन्द्रिय को भी हमने देखा नहीं, मन ने देखा, अन्तःकरण ने देखा; तो दूसरा अन्तःकरण का व्यवधान है। अन्तःकरण को हम देखते हैं। इसलिए संसार के जितने सुख हमको मिलते हैं सब व्यवहित सुख हैं। व्यवधानों में कोई भी विकार हो तो वह भी हमारे सुख में विकार ले आता है। ज़ोर का जुकाम हो जाता है तो रसनेन्द्रिय प्रतिबद्ध हो जाती है। उस समय कुछ भी खाओ, सही स्वाद आता नहीं, सब चीज़ें बेस्वाद लगती हैं। रसनेन्द्रिय का दोष हमारे सुख का बाधक हो जाता है। अगर मन में कोई दोष आया हुआ है तो वह भी व्यवधान कर देगा। बढ़िया पकौड़ा है, स्वस्थ रसनेन्द्रिय से संबंध भी है, हमारा प्रिय भी है, लेकिन उसे जबान पर रखने के साथ ही किसी ने कहा 'आपकी फैक्ट्री में आग लग गई है', तो तत्काल स्वाद गायब हो जाता है, आगे खाया ही नहीं जाता। इस तरह, बढ़िया बना हुआ पकौड़ा भी सुख नहीं देता है। किन्तु जो आत्म-सुख है, उसमें न इन्द्रिय का व्यवधान है, न मन का व्यवधान है। यदि शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से देखें तो मन और आत्मा के बीच में भी अनेक आचार्यों ने अविद्या या अविद्यावृत्ति का व्यवधान माना है। आत्मसुख में उस का भी व्यवधान नहीं है क्योंकि अविद्या के द्वारा आत्मा का ग्रहण है नहीं। इसलिए वह आत्यन्तिक सुख है, साक्षात् सुख है, किसी व्यवधान से सुख नहीं है। वह सुख अपना स्वरूप होने के कारण न आदि वाला है, न अन्त वाला है, हमेशा एक जैसा रहता है। अन्य सुखों के अंदर तो प्रारंभ-समाप्ति हैं। पकौड़ा बनाने के लिए गर्मी के मौसम में चूल्हे पर बैठे हुए को तो कोई सुख नहीं होता है! वही जब खाने बैठता है, पंखा चला कर ठंडा हो जाता है, तब खाने पर उसे सुख होगा। खाकर पकौड़ा गले के नीचे गया और सुख खत्म! विषय-सुख अन्त वाला भी है। आदि और अन्त से रहित है आत्मा का सुख इसलिए वह अत्यधिक सुख है, अनन्त सुख है।

वह अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों का विषय नहीं, उनसे उस सुख का ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसका बुद्धि से ही ग्रहण होता है। उपनिषद् ने साफ ही कहा है कि बुद्धि से ही आत्मसुख ग्रहण होता है। बुद्धि भी कैसी? 'अग्र्यया'एकाग्र, समाहित। जो बुद्धि सर्वथा दोषरहित हो गई है वही इसको ग्रहण करती है। इन्द्रिय का अगोचर होने से वह विषय से अजनित है। संस्कार आदि का भी इसके अंदर कोई स्थान नहीं, इसलिए अन्तःकरण का दोष भी इसमें आड़े नहीं आएगा। स्वरूप सुख तो जब बुद्धि ग्रहण नहीं करती, तब भी रहता है, जैसे गहरी नींद के अंदर भी हम तो हैं; लेकिन 'हम हैं', इस बात को हम तब जानते नहीं हैं। हैं तो सही, तभी उठ कर कहते हैं 'मैं सोया', परंतु

हम उस समय जानते नहीं हैं। उसके बाद जब अन्तःकरण आता है, तब जानते हैं। इसी प्रकार से वह सुख तो हमेशा है लेकिन ऐसी समाधि के द्वारा शुद्ध की हुई जो बुद्धि है, उसी में प्रकट होता है अन्यथा प्रकट नहीं होता।

आत्म-सुख अतीन्द्रिय है, यह भगवान् ने स्पष्ट कह दिया। दिव्य लोकों के अंदर रूप, रस, गंध आदि का जो अनुभव है, वह सारा इन्द्रिय-जनित होने के कारण, अतीन्द्रिय नहीं होने के कारण, आत्म-सुख नहीं कहा जा सकता। आत्मसुख किसी विषय से जनित नहीं है क्योंकि आत्मा कभी विषय नहीं होता। बुद्धि इसको ग्रहण करने जाती है परंतु ग्रहण तो केवल प्रतिबिम्ब का ही होता है, उसके आगे जो है वह अग्राह्य है, फिर भी उसका ज्ञान है। बुद्धि के अंदर उस आनन्द का स्फुरण होता है और पता लगता है कि यह कोई विषय-आनन्द नहीं है, निर्विषय मेरा आत्म-स्वरूप है।

'स्थितः' इसलिए कह रहे हैं कि पहले जब यह अनुभव होता है तब बिजली की चमक की तरह होता है। जैसे बिजली की चमक दीखी और फिर नहीं है, फिर दीखी, फिर नहीं है। ऐसे यह अनुभूति क्षणिक होती है। धीरे-धीरे यह अनुभूति बनी रहती है। जब सर्वथा बनी रहे, तब कहा जाएगा, उसमें स्थित है। जब उसमें योगी स्थित हो गया, प्रतिष्ठित हो गया, तब 'तत्त्वतः न चलति' अर्थात् स्थित होने के बाद उस तत्त्व स्वरूप से उसका चलन नहीं होता, सच्चिदानन्दरूप को छोड़कर वह अन्तःकरण इत्यादि को अपना स्वरूप नहीं समझता। वेदान्त की भाषा में कहें तो अधिष्ठान का ज्ञान होने के बाद अध्यस्त पदार्थ दीखने पर भी 'है'ऐसा नहीं लगता। चित्र कपड़े पर आँका गया हैयह जानने वाला चित्र की विशेषताएँ देखते हुए भी समझता है कि वास्तव में कपड़ा ही है, अन्य दृश्य दीखने पर भी वास्तविक नहीं है। अहमदाबाद में स्वामी नारायण सम्प्रदाय वालों ने अक्षरधाम में प्रदर्शनी लगायी है। वहाँ, उनके जो मूल-पुरुष थे उनकी 'प्लास्टर ऑफ पैरिस' से बहुत सुंदर मूर्ति बनाई है और उसके अंदर ऐसा यंत्र लगा दिया है कि उनका हाथ भी थोड़ा हिलता है, आँखें झपकती हैं, होठ बुदबुदाते हैं। एक टेपरिकॉर्ड बजा देते हैं उनके भाषण का। लोग बतलाते हैं कि जैसे ही प्रदर्शनी में जाते हैं, ऐसा लगता है कि स्वामी जी प्रवचन कर रहे हैं! यह अध्यास का काल हुआ। फिर जब पास जाकर देखते हैं तब समझ आता है कि सब टेपरिकॉर्ड और यंत्रों का खेल है। उसके बाद भी मूर्ति तो वैसी ही दीखती है, पर अब भ्रम नहीं होता। अब आँख और होठ हिलते दीख रहे हैं पर भ्रम नहीं है। इसी प्रकार से स्थिर हुए योगी को संसार के सारे खेलों को देखते हुए भी, 'ये विषय हैं'ऐसा नहीं लगता वरन् यह बोध रहता है कि 'ये विषय दीख रहे हैं, मायिक हैं, माया से प्रतीत हो रहे हैं।' इसलिए तत्त्व से अर्थात् अपना जो आत्मस्वरूप है, उससे कभी भी चलन नहीं होता।।२१।।

प्रकारान्तर से उक्त योग का वैशिष्ट्य स्पष्ट करते हैं

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

जिस आत्मलाभ को पाकर (योगी) यह नहीं सोचता कि इससे अधिक कोई और भी लाभ है, एवं जिस आत्मतत्त्व में स्थित हुए को महान् दुःख भी विचलित नहीं करता, (उसे योग समझना चाहिये)।

आत्मस्थिति को प्राप्त करके और कोई लाभान्तर प्रतीत ही नहीं होता। पाँच टन सोना मिल जाए, पृथ्वी का राज्य मिल जाए, इन्द्र-पद मिल जाएऐसी कोई भावना संभव नहीं रह जाती। इनके मिल भी जाने पर 'मुझे कुछ प्राप्त हो गया'ऐसा उसको नहीं लगता। लोक में भी देखने में आता है; कोई अरबपति चल रहा है; सड़क पर चलते हुए उसको एक दुअन्नी पड़ी दीखे, तो क्या उसके मन में होता है 'अरे! बहुत बढ़िया हुआ, एक दुअन्नी मिल गई!' दुअन्नी के मिलने से 'मुझे कुछ मिल गया'ऐसा उसको बोध नहीं होता। दूसरी ओर, चार दिन से भूखा कोई आदमी जा रहा है, उसके पास खाने का कोई इन्तज़ाम नहीं है, उसको दुअन्नी दीखती है तो लपक कर ले लेता है कि दो आने में चबैना तो खा लेगें, कुछ तो पेट में जाएगा। उसको तो वह लाभ लगता है पर अरबपति को उसमें कोई लाभ नहीं लगता। आत्मज्ञ को जो प्राप्त है उसमें अनात्मलाभ से कुछ जुड़ गयाऐसा नहीं लगता। यह बड़ी भारी परीक्षा है अपने अन्तःकरण की। जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, तब तक भाव रहता है कि आत्मा तो ठीक है, परंतु व्यवहार के लिए कुछ चीज़ें चाहिए ही। *व्यवहार के लिए* लाभ अर्थात् अधिक लाभ हुआ, परमार्थ लाभ से अतिरिक्त लाभ हुआ। कई बार देखने में आता है कि बड़े उच्चकोटि के साधक भी, परमात्मा के मार्ग पर चलते हुए भी 'किसी का फायदा हो जायेगा' मानकर अनुष्ठान आदि में लग जाते हैं। यह द्योतक है कि वे परमात्म-दर्शन से अन्य किसी को फायदा मान रहे हैं। भगवान् ने यहाँ बतला दिया कि अपने अन्तःकरण की परीक्षा कर लेनी चाहिए कि कुछ भी मिलने पर यदि होता है कि 'यह मेरा अधिक लाभ है', तो अब तक 'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः' हुआ नहीं है। भगवान् ने बड़ी स्पष्ट परीक्षा बतला दी।

किं च आत्मतत्त्व में स्थित होने पर 'गुरुणापि दुःखेन न विचाल्यते।' जैसे बड़ी-से-बड़ी चीज़ मिलने से उसको कोई अधिक की प्रतीति नहीं, वैसे ही चाहे जितना बड़ा दुःख हो, उसमें विचलन नहीं होता। अपने सिर के ऊपर तलवार भी पड़े तो भी वह उसको अपने स्वरूप से विचलित नहीं करती। चाहे जितना बड़ा दुःख आवे, उसमें किसी प्रकार यह नहीं होता कि 'मेरे आत्मस्वरूप में कोई फ़र्क आया।' उस दुःख के कारण अन्तःकरण के अंदर जो भी विकार आवे, उससे अपने को वह सर्वथा अविकृत जानता है, अनुभव करता है।

इस प्रकार, समाधि के अंदर जब सिद्धि हो जाती है तब कैसी स्थिति होती है, यह भगवान् ने बतला दिया।।२१।।

'यत्रोपरमते चित्तं' से लेकर अर्थात् बीस, इक्कीस और बाईसइन तीन श्लोकों में जो योग बतलाया उसके बारे में कहते हैं

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

दुःखों से संबंध के वियोगरूप उस (पूर्वोक्त आत्मस्थिति) को योग नाम से समझना चाहिये। अव्याकुल और निश्चयपूर्ण चित्त से उस योग का अभ्यास करना चाहिये।

योग का मतलब होता है जोड़ना, जब रुधादिगण के 'युजिर् योगे' धातु से योग-शब्द बनायें। किन्तु दिवादिगण के 'युज समाधौ' धातु से योग-शब्द बनने पर अर्थ होता है चित्तवृत्तियों का निरोध। इसलिए योग का लक्षण महर्षि पतञ्जलि ने जोड़ना नहीं किया, चित्तवृत्ति का निरोध ही किया। निरोध, वृत्तियों को न उठने देने अर्थात् चित्त का अपने स्वरूप में स्थित होना। चित्त तो वहाँ है; उसके लीन हो जाने पर तो सुषुप्ति की अवस्था जा जाएगी, जैसे सुषुप्ति में कुछ पता नहीं लगता, ऐसे ही कुछ पता नहीं लगेगा। अतः चित्त-निरोध नहीं कहा, चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा। जब चित्त की वृत्ति बनती है तभी सारे संसार का उसमें ज्ञान होता है। वृत्ति के द्वारा ही हम घट पट आदि पदार्थों को भी जानते हैं, बाह्य विषयों को भी जानते हैं और अंदर के सुख-दुःख को भी जानते हैं, राग-द्वेष को भी जानते हैं, मान-अपमान को भी जानते हैं। दोनों ही के लिए चित्त की वृत्ति चाहिए। जब हम बाह्य घड़े इत्यादि को जानते हैं तब विषय के अनुसार चित्त की वृत्ति है, विषय को आलम्बन करके वृत्ति है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, काम-क्रोध इत्यादि आकार किसी विषय के अनुकारी नहीं होते, केवल चित्त की वृत्ति ही हैं। चित्त की सुखाकार वृत्ति ही सुख है, दुःखाकार वृत्ति दुःख है, रागाकार वृत्ति राग है, द्वेषाकार वृत्ति द्वेष है। चाहे विषय को आलम्बन करके वृत्ति बने और चाहे बिना विषय को आलम्बन किए हुए केवल अपने ही स्पंद से वृत्ति बने, जब वृत्ति बनेगी तभी कोई ज्ञान होगा।

दुःख दो तरह का है। एक तो प्रसिद्ध है कि जो प्रतिकूल प्रतीति होती है वह दुःख है। परंतु महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि विवेकियों के लिए सभी वृत्तियाँ एक जैसी दुःखरूप हैं। 'परिणामतापसंस्कारैः, गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (२.१५)। वेदान्त की दृष्टि से, जो अविद्या का कार्य होगा, आदि-अन्त वाला होगा और भी सारे परिच्छेदों वाला होगा, अतः दुःख ही होगा। जिसने संसार के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है उसके लिए संसार के सभी अनुभव दुःखरूप ही हैं। अतः विवेकी के लिए चित्त-वृत्ति दुःखरूप ही है। लोक में भी ऐसा देखने में आता है : घर में बच्चा हुआ,

थाली बजाई, बड़ी प्रसन्नता हुई। ग्यारहवें दिन पण्डित जी को बुलाया तो उन्होंने उसकी पत्री बना दी, और कह दिया 'यह तो तीसरे साल में मर जाएगा।' अब जब उस बच्चे को देखोगे, खिलाओगे तब तुरंत तुम्हारा संस्कार जग जाएगा 'यह तीसरे साल मर जाएगा' और तुम दुःखी हो जाओगे। किलकारी मारेगा, बाहर के लोग तो बड़े प्रसन्न होंगे 'कैसी किलकारी मारता है!' पर तुम्हारे हृदय में शूल चुभेगा कि 'कैसी सुंदर किलकारी मारने वाला बच्चा मर जाएगा।' उसकी किलकारी वगैरह तुम्हें सुखकारी नहीं होगी, दुःखकारी होगी। इसी प्रकार जो संसार के स्वरूप को जानता है, उसको हर चीज़ का चाहे, जितनी सुख वाली लगे, पता है कि नष्ट होने वाली है। भगवान् पहले ही (५.२२) कह आए हैं 'आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः' बुध रमण कर नहीं सकता क्योंकि उसको पता है कि अन्त वाली चीज़ है।

जब सब वृत्तियों को निरुद्ध कर लिया तब दोनों ही प्रकार का दुःख कभी हो नहीं सकता। इसलिए योग का लक्षण भगवान् ने कर दिया कि दुःखसंयोग के वियोग का नाम योग है। दुःख का संयोग हुआ वृत्ति का उठना, वृत्ति का उठना बंद हो गया तो दुःखसंयोग से वियोग हो गया। इस प्रकार, दुःखसंयोग का वियोग ही शास्त्र में योग कहा गया है।

जब हम घड़े को जानते हैं तब तीन वृत्तियाँ हैं: 'मैं'यह अहम् के आकार की वृत्ति है। 'घड़ा'यह विषयाकार वृत्ति है और 'जानता हूँ' यह ज्ञानाकार वृत्ति है। देखता हूँ, सुनता हूँ, छूता हूँ, चखता हूँ, सूंघता हूँइन सब में मतलब है कि, आँख से जानता हूँ या कान से जानता हूँ इत्यादि; ये सब ज्ञान के ही प्रकार हैं। 'मैं घड़े को देखता हूँ' इसका मतलब है कि मैं घड़े को आँखों से जानता हूँ। इस प्रकार उक्त अनुभव में मैं अर्थात् द्रष्टा, घड़ा अर्थात् दृश्य और जानना अर्थात् दर्शन, तीन वृत्तियाँ हैं। मैं को वृत्ति की आवश्यकता है क्योंकि जब तक अहम्-इत्याकारक वृत्ति नहीं बनेगी तब तक मैं द्रष्टा नहीं बनूँगा। ऐसे ही विषयाकार वृत्ति बने बिना घड़ा दृश्य नहीं बनेगा। इन दोनों वृत्तियों को तुम रोक दो अर्थात् न जानने वाले 'मैं' का भान रहे, न जानने के विषय घड़े का भान रहे, केवल दर्शनमात्र का भान रहे। दर्शनमात्र का भान भी जब तक चित्त है तभी तक है। वृत्ति के बिना अन्तःकरण जब अपने स्वरूप में स्थित है तब भी उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब तो पड़ेगा ही, दर्शन-मात्र वहाँ रह जाएगा। उसको नहीं हटाना, क्योंकि उसको हटाओगे तो सुषुप्ति हो जाएगी। द्रष्टा और दृश्य को हटाना है क्योंकि इनके कारण ही दुःख-संयोग होता है। दुःख हमेशा किसी विषय से होगा। चाहे विषय इन्द्रिय-गोचर हो या इन्द्रिय-गोचर न हो। राग-द्वेष, सुख-दुःखये सब कोई बाहरी विषय नहीं हैं पर विषय हैं ही। दुःख हमेशा *किसी को* होता है, *किसी विषय से* होता है। जब द्रष्टा और दृश्य भावों से रहित चित्त रह गया तब चित्त में ब्रह्म का दर्शन रूप प्रतिबिम्ब पड़ेगा।

भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा कि सुषुप्ति में जाने लगे तो चित्त को उठावे क्योंकि चित्त नहीं रहेगा तो दर्शन भी नहीं करेगा। चित्त को जैसे ही उठाते हैं वैसे ही या इन्द्रियादि के द्वारा बाह्य विषय अथवा पुराने पड़े हुए संस्कारों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ विक्षेप की हेतु बनने लगती हैं। विक्षेप हो जाने पर उन विक्षेप की चीज़ों को हटावे। संस्कारों से होने वाली वृत्तियाँ अथवा विषयों से होने वाली वृत्तियाँ, दोनों को हटा दिया तो चित्त रह गया। किंतु चित्त के अंदर खुद अपने अनेक संस्कार, मल भरे हुए हैं। इसलिए उसमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब तो पड़ता है परंतु जैसे दर्पण के मैले होने के कारण मैला प्रतिबिम्ब पड़ता है, ठीक जैसा बिंब है वैसा नहीं पड़ता, वैसे समल चित्त में ब्रह्म का सही प्रतिबिंब नहीं पड़ता। इसलिये ज़रूरत है कि उसमें जो सारे दोष छिपे पड़े हैं, उन सबको जान कर हटावे। दोष सारे या रजोगुण के हैं या तमोगुण के हैं। अन्तःकरण खुद तो सत्त्वगुण से बना है। अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ महाभूतों के सत्त्वगुण से बने हैं। कर्मेन्द्रियाँ और प्राण रजोगुण से बने हैं। विषय तमोगुण से बने हैं। अंतःकरण का स्वभाव सत्त्व है, उसमें रज-तम का मल होता है। अंतःकरण को रजोगुण और तमोगुण रूपी कषाय से रहित करना पड़ेगा और वृत्ति बनने नहीं देनी होगी। सत्त्वगुण की भी यदि वृत्तियाँ बनेंगी तो द्रष्टा और दृश्य भाव रह ही जाएँगे। अतः सत्त्वगुण की भी वृत्तियाँ नहीं बनने देनी हैं। तब जो शुद्ध सत्त्व रह जाएगा उसमें जो प्रतीति होगी वह परमात्मा के शुद्ध रूप की प्रतीति होगी। जैसे, जब घड़ा बनाते हो तो बनते हुए घड़े में आकाश रहता ही है। आकाश को कहीं से लाकर तो नहीं भरते! इसी प्रकार चित्त में जो तुमने रजोगुण तमोगुण और वृत्तियाँ भरी हैं उन्हें निकाल दो तो शुद्ध सत्त्व ही रह जायेगा। तमोगुण के संस्कार अर्थात् विषयों के संस्कार। रजोगुण के संस्कार अर्थात् कर्मों के संस्कार कि यह करना है, यह नहीं करना है इत्यादि। यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह रसगुल्ला हैये सब विषयों के संस्कार भी भरे हुए हैं। रजोगुण और तमोगुण के संस्कारों को हटा दिया, सत्त्वगुण की भी वृत्ति को बनने नहीं दिया, तब उस अन्तःकरण में जो सत्त्वगुण है उसमें ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। वही योगी की स्थिति है। पतंजलि ने चित्तवृत्ति-निरोध को क्यों योग कहा? क्योंकि चित्त-वृत्तियाँ ही दुःख हैं। अतः उनका अभिप्राय भी दुःखनिरोध से है, यह भगवद्वाक्य से स्पष्ट होता है।

ऐसा दुर्लभ योग सिद्ध कैसे होवे? 'निश्चयेन योक्तव्यः।' अत्यधिक दुःखनिवृत्ति करने वाला जो यह योग है उसको निश्चय के साथ करना चाहिए। यहाँ संक्षेप में भगवान् शमादि छह साधनों को बतला देते हैं। सबसे पहले श्रद्धा को बतलाया। गुरु और शास्त्र के वचन में पूरा निश्चय करके लगेगा, तभी योगसिद्धि होगी। जिसके मन में गुरु और शास्त्र के वचन में श्रद्धा नहीं होगी या अपूर्ण होगी, उसको इसमें सफलता नहीं मिलेगी। निश्चय अर्थात् श्रद्धा के साथ लगना चाहिए। अतीन्द्रिय विषय में श्रद्धा

के बिना काम नहीं चलता। ऐन्द्रिय ज्ञान तो तुमको इन्द्रियों के द्वारा हो जाता है अतः उसमें शब्द प्रमाण की ज़रूरत नहीं पड़ती, अर्थात् शब्द से ही जानोयह ज़रूरी नहीं होता है। परंतु जो इन्द्रियों से अतीत विषय है, उसको इन्द्रियाँ तो जान नहीं सकेंगी अतः दूसरा जानने का प्रकार तुम्हारे पास शब्द ही है। रोगी तुम्हारे पास आकर कहता है कि सिर में दर्द है। अगर तुमको उसकी बात पर श्रद्धा ही नहीं है तो तुम इलाज क्या करोगे! दर्द अतीन्द्रिय है, दर्द को न तुम सूंघ सकते हो, न देख सकते हो, न चख सकते हो। 'मुझे दर्द है,' यह कहने वाले का शब्द ही प्रमाण है कि उसे दर्द है। आजकल के डाक्टर रोगी पर श्रद्धा नहीं करते। परीक्षणों के आधार पर घोषित कर देते हैं 'तुम्हें कोई रोग नहीं है। दर्द तुम खुद कल्पित कर रहे हो!' अतः उपचार भी नहीं कर पाते। ठीक इसी प्रकार से स्वर्ग, धर्म, परमेश्वर इत्यादि पदार्थ शब्द से ही ज्ञात हो सकते हैं। शब्द की तुम भली प्रकार परीक्षा करो। श्रुति ने स्वयं ही विधान कर दिया 'श्रोतव्यः मन्तव्यः' सुन करके उसको अपनी बुद्धि में 'ठीक है' ऐसा बैठा लो। परंतु कही हुई बात ही नहीं हैयह नहीं कह सकते। जो श्रवण और मनन से निश्चय हो जाता है, उसी को यहाँ निश्चय कहा। हमारी श्रद्धा अंधविश्वास नहीं है। अंधविश्वास के अंदर तो जो चीज़ जैसी कही हुई है, उस पर विचार ही नहीं करना है। जो बात कही गई है, वह युक्ति से विरुद्ध नहीं हैयह समझने के लिये श्रद्धा चाहिये। युक्ति से वस्तु का पता तो नहीं लगता लेकिन वस्तु युक्तियुक्त है या नहींयह तो पता लग ही जाता है। अंधविश्वास के अंदर तुम को युक्ति का कोई प्रयोग नहीं करना है। जबकि श्रद्धा में युक्ति का प्रयोग करना है लेकिन कही हुई बात को समझने के लिए करना है, उसके खण्डन के लिए नहीं। तभी निश्चय होगा। कही हुई बात क्यों झूठी हो सकती हैजब सोचोगे तब केवल संशय रह जाएगा। चाहे कितनी युक्तियुक्त बात हो, वह हैऐसा तो निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि जो युक्तियुक्त हो, वह होता हैऐसा नहीं कह सकते। हैइसका निश्चय तो गुरु व वेदान्त के वाक्य से होगा। कहने वाले को विश्वासी समझ कर उसकी बात का विश्लेषण करके कि 'ऐसा असंभव तो नहीं प्रतीत होता', निश्चय प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार 'निश्चयेन योक्तव्यः' द्वारा श्रद्धा बता दी।

'अनिर्विण्णचेतसा।' चित्त निर्विण्ण न होवे। अध्यात्म-विद्या में प्रवेश करने वाले में धैर्य का अभाव प्रायः होता है। थोड़े समय के बाद ही धीरज छूटने लगता है'अरे! दो साल तो हो गए, कुछ हुआ ही नहीं। मुझ से तो हो ही नहीं सकता!'यह है चित्त की निर्वेदता जिसमें लगता है 'मैं कर ही नहीं सकता, मेरे बूते का नहीं है।' कई बार काशी में विद्यार्थी आते हैं। परिभाषा-प्रकरण कौमुदी का शुरू होता है, थोड़ा रटते हैं और जितना रटते हैं उतना ही अगले दिन भूल जाते हैं! पड़ती है डाँट गुरु जी से। महीना-भर तक परिभाषा प्रकरण से आगे चल नहीं पाते और निर्वेद हो जाता है'क्या

रखा है पढ़ने-लिखने में। पढ़ने वाले भी मरते हैं, नहीं पढ़ने वाले भी मरते हैं!' ऐसा व्यक्ति साधना में लगा नहीं रह सकता। इसलिए कहा 'अनिर्विण्णचेतसा।' योग के अभ्यास में जाएँगे और धैर्य नहीं हो तो काम नहीं होगा। कैसा अनिर्वेद होना चाहिए? भगवान् गौडपादाचार्य ने एक कहानी बताई है : एक टिट्टिभी (टिटहरी) पक्षी अण्डे देने वाली थी। उसने पति से कहा 'यह समुद्र का किनारा है, कहीं दूर चल कर अण्डे दे दें। समुद्र में ज्वार-भाटे आते हैं तो बहुत आगे पानी आ जाता है, हमारे अण्डे नष्ट हो जाएँगे।' टिट्टिभ खूब जवान था, मस्ती में था। उसने कहा 'यहीं दे दे, क्या हिम्मत है समुद्र की जो हमारे अण्डे को कुछ नुकसान पहुँचा देवे!' टिट्टिभी ने सोचा कि होगी कोई इनके पास सिद्धि, वहीं अण्डे दे दिए। दो-चार दिनों में ज्वार आया तो अण्डे ले गया, टिट्टिभी रोने लगी 'मैंने पहले ही कहा था, अब वह ले गया।' टिट्टिभ बोला 'अरे! रो नहीं, मैं वापिस लाऊँगा।' वह एक-एक बूँद करके समुद्र से पानी बाहर लाने लगा! लोगों ने पूछा 'क्या कर रहा है?' वह बोला 'समुद्र को सुखा दूँगा, अंदर हमारे अण्डे मिल जाएँगे।' पहले तो लोग हँसे, फिर कुछ लोग उसके साथ हो गए कि अपनी जाति का पक्षी है, इसकी मदद करें। किंतु उससे समुद्र में क्या होना था! टिट्टिभ के कर्म अच्छे थे। उधर से नारद जी निकले, तो देखा कि पक्षी लोग समुद्र खाली कर रहे हैं। जाकर पूछा 'क्या कर रहे हो?' टिट्टभ ने कहा 'समुद्र को खाली कर रहा हूँ, मेरे अण्डे लेकर चला गया।' नारदजी ने कहा 'अरे! तुम्हारे ऐसा करने से क्या समुद्र सूखने वाला है!' वह बोला 'आप चिन्ता नहीं करो, हम खाली कर लेंगे।' नारद जी को दया आ गई, जाकर पक्षियों के राजा गरुड से कहा 'देखो, समुद्र तुम्हारी प्रजा को दुःखी कर रहा है। तुम ध्यान ही नहीं देते हो।' गरुड ने कहा 'मेरे रहते समुद्र क्या कर सकता है!' नारद जी ने बताया 'टिट्टिभ पक्षी के अंडे लेकर चला गया है।' गरुड जोश में आए और अपने पंखों से प्रलयकारी वायु छोड़ने लगे जो समुद्र को सुखा दे। समुद्र हाथ जोड़कर सामने आकर कहने लगा 'महाराज! आप कृपा करो। मैं सूख जाऊँगा।' गरुड ने पूछा, 'मेरी प्रजा को क्यों दुःखी करते हो?' वह बोला 'मैंने क्या किया है?' गरुड बोले 'टिट्टिभ के अंडे क्यों ले गये?' समुद्र ने कहा'महाराज! मेरी तो लहरे हैं, आती जाती हैं। इनसे कहो ये कहीं दूर अंडे दिया करें। इस बार इनके अंडे तो मैं वापिस कर देता हूँ।' अंडे वापिस कर दिए, गरुड शांत होकर चले गए। टिट्टिभ का काम बन गया। ठीक इसी प्रकार, हम लोग अपने अन्तःकरण को शुद्ध करने में लगते हैं। अगर हमारा चित्त निर्वेद से रहित है, अनिर्विण्ण है कि हम ज़रूर कर लेंगे। तब दृढतापूर्वक धैर्य से लगते हैं तो नारदरूप गुरु के द्वारा गरुडरूप परमेश्वर की कृपा होती है और उनकी दृष्टि पड़ते ही काम हो जाता है। परंतु जब तक अनिर्वेद वाले चित्त से लगे नहीं रहते हैं तब तक सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार अनिर्वेद कहकर साधनों में तितिक्षा का विधान किया। चाहे जितनी समस्या आये, उसका सामना करके साधनाभ्यास में लगे ही रहना तितिक्षा

है, वह यहाँ बतायी।२३।।

श्रद्धा और तितिक्षा बतलाकर अब शम दम आदि बतलाते हैं

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

संकल्प अर्थात् शोभनाध्यास से पैदा होने वाली सब कामनाओं को वासना और आसक्ति सहित छोड़कर तथा मन से इन्द्रिय-समूह को हर तरफ से नियमित कर (धीरे-धीरे उपरति करनी चाहिये)।

संकल्प अर्थात् 'यह अच्छा है'इस प्रकार का भाव आना। इसलिए छठे श्लोक की व्याख्या में कहा था कि स्मृतिकारों ने भी कहा है कि कामना संकल्पमूलक होती है। प्रवृत्ति का हेतु शोभनाध्यास है। वस्तुतः तो संसार के सारे पदार्थों के बारे में भगवान् ने कह दिया 'अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्' इदन्ता-बुद्धि से जो कुछ भी लौका जाता है, देखा या विषय किया जाता है, वह सारा-का-सारा अनित्य है, असुख अर्थात् सुखरहित है। सुखरहितता का बोध न होकर हमें उसमें सुख हैऐसा बोध होता है। भगवान् ने जो वास्तविक बात बतलाई उसे ढाँक कर ही कोई चीज़ अच्छी लगती है। इसलिए भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि मनुष्य के शरीर को भगवान् ने जिन चीज़ों से बनायामांस का लोथड़ा, रक्त की नाडियाँ, आंतड़ियाँइन सबको देखकर महा घृणा आती है। परंतु इसके ऊपर एक अत्यंत सूक्ष्म चमड़े की खोली भी चढ़ा दी। कारण तो इसमें भगवान् की करुणा है : यह न बनाते तो पिण्डलियाँ देखकर नीचे से कुत्ते खाने के लिए लपकते और ऊपर से कऊए खाने के लिए लपकते। लोगों को दोनों हाथों में दो डंडे लेकर ऊपर-नीचे पक्षियों व जानवरों को भगाते रहना पड़ता। अतः अत्यन्त करुणामय होने के कारण भगवान् ने यह झिल्ली चढ़ा दी कि ये दीखें नहीं, तो आदमी अपने काम कर सके। परंतु उस पतली-सी खोली से ही स्त्री-पुरुष का इतना आकर्षण हो जाता है कि अंदर की चीज़ को भूल ही जाता है!

महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध हैएक राजा के लड़के को किसी सेठ की लड़की पसंद आ गई, उसने ज़िद पकड़ ली कि 'मुझे उसी से ब्याह करना है।' पहले तो राजा ने समझाया 'अरे! वह वैश्य है, तू क्षत्रिय है।' पर वह नहीं माना, खाना-पीना छोड़ दिया तो राजा ने उस सेठ को बुला कर कह दिया कि 'राजकुमार तुम्हारी लड़की से शादी करना चाहता है, कर दो।' सेठ घर गया और महाचिन्ता में पड़ गया कि बिरादरी में मैं क्या मुँह दिखलाऊँगा बेजात में लड़की देकर। उसको कई दिन चिन्ता में देखकर लड़की ने पूछ लिया 'पिता जी, आप बहुत चिन्ता में हैं, बात क्या है?' पिता ने कहा 'तेरी चिन्ता है, और कुछ नहीं।' 'मेरी क्या चिन्ता है?' 'राजकुमार से तेरा ब्याह करने के लिये राजा ने खबर भेजी है। राजा को मना नहीं कर सकता हूँ, ना कर भी दूँ तो

वह ज़बरदस्ती पकड़ कर मँगा लेगा। और, करता हूँ तो समाज में बड़ी भारी बदनामी होगी।' लड़की ने कहा 'आप चिन्ता नहीं करें। उसको खबर भेज दें कि आज से दसवें दिन सगाई कर लेंगे फिर शादी की बात तय कर लेंगे।' उसने कहा 'अरे! ऐसी बात मैं कैसे कहूँ!' बोली 'आप बिल्कुल निश्चिन्त होकर कह दें, कोई घबराने की बात नहीं है, मैं सँभाल लूँगी।' यह खबर भिजवा कर लड़की ने जमालघोटा ले लिया और बड़े-बड़े मटके मँगवा कर रख लिए अपने कमरे में। जमालघोटे के प्रभाव से उसे दस्त लगने लगे, सारा मल उसने मटकों में भर लिया। दस दिन में सारा शरीर निस्तत्त्व हो गया, बिल्कुल पीली पड़ गयी। राजकुमार आया तो सेठ ने लड़की को दिखला दिया। उसने कहा 'यह तो वह लड़की नहीं है, वह तो बड़ी सुंदर लड़की है, किसको यहाँ ले आया?' लड़की ने उसको पास बुला करक्योंकि आवाज़ भी मुश्किल से निकल रही थीकहा 'अरे! मैं तो वह ही हूँ जिससे तुझे मोह है वह इन मटकों में भरा हुआ है।' उसने जाकर एक मटके का ढक्कन हटाकर देखा तो उसमें से महाबदबू आई, घबरा गया। लड़की ने कहा 'यदि पहले वाली से ब्याह करना है तो ये मटके भरे रखे हैं और मुझसे करना है तो मैं वही हूँ।' राजकुमार ने कहा 'नहीं-नहीं सेठ जी, मुझे ब्याह नहीं करना है।' जो बड़ी-से-बड़ी विश्व-सुंदरी है, वह है केवल मटकों में भरा हुआ मल, और कुछ नहीं! ऊपर की झिल्ली से सारा आकर्षण और मोह होता है।

संसार के सब पदार्थों की वास्तविकता इसी तरह ढकी हुई है इसलिए उनमें शोभनाध्यास कर लेते हैं। हर चीज़ अनित्य है, हर चीज़ प्राप्त करने में दुःख झेलना पड़ता है, नष्ट हो जाए तो दुःख होता ही है, जिस कारण से उत्पन्न होती है वह अशुद्ध होता हैइस प्रकार संसार अनित्य, अशुद्ध, दुःखरूप होने पर भी यह तथ्य छिप जाने से हमें शोभन लगता है, अच्छा लगता है। जितना पदार्थों का विचार कर उनकी वास्तविकता का पता लगे, उतना शोभन-अध्यास होता नहीं है। पदार्थों की कामना सङ्कल्प से ही पैदा होती है। सङ्कल्प अर्थात् शोभन-अध्यास, अशोभन को शोभना समझना।

भगवान् ने 'सङ्कल्पप्रभवान्' इस दृष्टि से भी कह दिया कि कुछ प्राणादि के धर्म भूख-प्यास आदि हैं जो शोभन-अध्यास के कारण नहीं हैं। प्राणों का धर्म है इसलिए भूख-प्यास लग जाती है। भूख-प्यास आदि की निवृत्ति शोभन-अध्यास के कारण नहीं करते हैं। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए संकल्प-प्रभव कामनाओं के त्याग की बात कही। पहले कह आए हैं कि केवल शारीर कर्म करने से पाप नहीं होता, वे शारीर कर्म संकल्पप्रभव नहीं होते, आवश्यकता-पूर्ति के लिये होते हैं। भूख का मतलब होता हैखाने की इच्छा। सङ्कल्पप्रभव खाने की इच्छा होगी जब रसगुल्ला खाना चाहेंगे। भूख तो कुछ भी खाकर निवृत्त होती है। इस भेद को बताने के लिए भगवान् ने संकल्पप्रभव कहा। शोभन-अध्यास से होने वाली जितनी कामनाएँ हैं उन सबको छोड़ना है।

'अशेषतः।' वैसे तो अशेष का मतलब भी सर्व हो जाता है लेकिन भगवान् ने एक-साथ कहा अतः भाष्यकार ने 'अशेषतः' का अर्थ बताया 'निर्लेपेन'। जैसे किसी बर्तन में लहसन का छौंक दे दिया जाता है, उसके बाद उस बर्तन को माँज लेते हैं तो लहसन नहीं रह जाता परंतु उसकी गंध रह जाती है। इसी प्रकार कामनाओं के हट जाने पर भी उनका कुछ अवशेष रह जाता है जो पुनः कभी जग जाया करता है। इसलिए अशेषतः का भाष्यकार ने अर्थ किया कि कामनाओं का लेप भी न रह जाए, ऐसा छोड़ देवे। शोभन-अध्यास का कारण शोभन संस्कार है। अशेषतः अर्थात् शोभन संस्कार भी हट जाएँ; अशोभन संस्कार इतने दृढ हो जाएँ कि शोभन संस्कार जग ही न पाएँ। इसके द्वारा शमको बतला दिया।

अब दम को बतलाते हैं 'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य'। इन्द्रियाँ दस हैं इसलिए इन्द्रियग्राम कह दिया। उन सब का नियंत्रण कर लेना है। दो प्रकार से नियमन हो सकता है इन्द्रियों काएक तो, इन्द्रियों से पदार्थों का भोग न करना। यह इन्द्रिय-नियमन का एक प्रकार है। योगी इसी का ज़्यादा प्रयोग करते हैं। परंतु शास्त्रों में कहा कि यदि तुम विषयों से इन्द्रिय को दूर भी रखोगे तो भी जो अंदर की वासना है वह ख़त्म नहीं होगी। इसलिए भगवान् कहते हैं 'मनसा।' विवेक वाला मन वासना-सहित इन्द्रियों का नियंत्रण कर लेता है अर्थात् वासना भी नहीं रह जाती। विवेकयुक्त जो मन है उसके द्वारा नियंत्रण करना है। यहाँ भगवान् ने 'एव' दे दिया, 'मनसा एव', इसके द्वारा बतला दिया कि इन्द्रियग्राम का विनियमन करने पर भी जब तक देह रहेगा तब तक देह-संचरणार्थ इन्द्रियों का प्रयोग होगा, परंतु वासनारहित ही होगा। उनका प्रयोग करेंगे ही नहींयह वैदिकों का कहना नहीं है क्योंकि वैदिक तो रोज़ प्रार्थना करते हैं कि हम सौ सालों तक देखते-सुनते-बोलते आदि हुए जियें, कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण देखें इत्यादि। किंतु वासना से रहित होकर प्रयोग करना है। जब वासना से रहित होकर मन के द्वारा इन्द्रियग्राम का प्रवर्त्तन होगा तब, चूंकि मन नियत है इसलिए शास्त्र में जो कहा गया है तदनुकूल इंद्रियों की प्रवृत्ति होगी। शास्त्र से विरुद्ध, प्रतिकूल जो प्रवृत्ति होती है वह अपनी वासनाओं से ही होती है। 'समन्ततः', सभी प्रवृत्तियों के ऊपर इस प्रकार शास्त्र का विनियमन रहेगा। शास्त्र से जो अनुज्ञात नहीं है ऐसी किसी भी प्रकार की थोड़ी भी प्रवृत्ति नहीं होगी।।२५।।

शम-दम के बाद कर्तव्य उपरति बताते हैं

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे-धीरे उपरति करे। मन को आत्मा में स्थिर कर किसी का चिंतन न करे।

उपरति के लिए पहली बात कही 'शनैः शनैः उपरमेत्'। उपरति का अभ्यास धीरे-धीरे किया जाता है। 'धृतिगृहीतया बुद्ध्या' धैर्य के द्वारा जो बुद्धि पकड़ ली गई है उससे उपरति की जा सकती है। उपरामता बड़े धैर्य से ही होती है, जल्दी होती नहीं। भाष्यकार ने उपरामता का अर्थ संन्यास किया है। संन्यास की प्राप्ति धीरे-धीरे होती है। संन्यास में सारे कर्मों को छोड़ना है। एक-साथ कर्मों को यदि छोड़ने का प्रयत्न किया जाता है तो संभव नहीं होता। मन का स्वभाव है कि क्षणमात्र भी बिना कुछ किए हुए नहीं रहेगा, या प्रवृत्ति करेगा या निवृत्ति करेगा, कुछ तो करेगा ही। तब सर्वकर्म-संन्यास की सिद्धि कैसे होगी? जब भगवान् कह रहे हैं कि क्षणमात्र भी बिना किए हुए नहीं रह सकता, तो सर्वकर्मसंन्यास यावत् जीवन के लिए कैसे करेगा? इसके लिये समझना चाहिये कि कौन बिना कर्म किए हुए नहीं रह सकता हैः जिसको शरीर के साथ अध्यास है। जब तक शरीर के साथ अध्यास अर्थात् देहाध्यास है, देहाभिमान है, तब तक कर्म किए बिना नहीं रह सकता। और जब स्थूल, सूक्ष्म शरीर से अभिमान दूर हो जाता है तब क्षणमात्र भी कर्म कर नहीं सकता। बिना कार्य-करणसंघात में अध्यास किये आत्मा कर्म नहीं करता। इसलिए ब्रह्मसूत्र में कहा कि कौन करता है? जीव करता है; जैसा करता है, वैसा भोगता है। किंतु जीव क्या है? तो कहाअकर्त्ता है, अभोक्ता है! दोनों बातें बिल्कुल विरुद्ध लगती हैं। सूत्रकार ने परिहार बताया कि जैसे औजारों को लेकर बढ़ई सब काम कर लेता है पर बिना औजार के नहीं कर सकता, इसी प्रकार शरीर और मन का परिग्रह करके तो आत्मा सब कुछ करता है पर इनका परिग्रह किए बिना कुछ भी कर सकता नहीं। आत्मा जब तक कार्यकरण संघात को अपने से एक करके प्रयुक्त नहीं करेगा, तब तक कुछ भी कर्म नहीं होगा। कार्यकरणसंघात से अपना संबंध, सिवाय मायिक, आध्यासिक के और कोई हो नहीं सकता, न संयोग हो सकता है, न समवाय हो सकता है। बार-बार उपनिषदों का आवर्त्तन करके जितना-जितना दृढ निश्चय होगा, बुद्धि बनेगी कि मेरा, आत्मा का, शरीर से कोई सच्चा संबंध नहीं है, उतना ही कर्मत्याग कर पाएगा। चूंकि यह करने में बड़ा समय लगता है, धीरे-धीरे यह निश्चय होता है, इसलिए भगवान् ने शनैः-शनैः करने को कहा जो तभी कर पाएगा जब धैर्य हो। बहुत-से साधक समझ लेते हैं कि जब तक प्रारब्ध है तब तक कर्त्ता-भोक्ता-बुद्धि रहती ही है। किंतु यदि रहती ही हो, तो सर्वकर्म-संन्यास की बात ही न की जाये! अतः यह भ्रम नहीं रखकर उपरति का अभ्यास करते रहना चाहिये।

अब समाधान बतलाते हैंः 'मनः आत्मसंस्थं कृत्वा।' मन जहाँ भी जाता है वहाँ वास्तविकता को देखो तो सिवाय सच्चिदानन्द के और कुछ नहीं है क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही अध्यस्त होकर सारा जगत् प्रतीत हो रहा है। कोई भी चीज़ सत् अर्थात् 'है' के बिना नहीं होती। 'है' के साथ ही घड़े की प्रतीति होगी। 'नहीं है' के *साथ* घड़े की प्रतीति नहीं हो सकती, उलूक दर्शन वालों के मत को छोड़कर! नैयायिक कहते हैं

कि घटाभाव भी *दीख* जाता है। परंतु लोगों को पदार्थ की 'है' के साथ ही प्रतीति होती है; घड़ा है, तभी प्रतीत होता है। 'घड़ा नहीं है'यों कभी *घड़ा* प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार से जीवों की प्रतीति चेतनरूप से ही होती है कि ये चेतन हैं। चेतन में ही सारे जीव अध्यस्त हैं, सत् में ही सारा जड जगत् अध्यस्त है। इस विचार से मन को अधिष्ठान सच्चिदानंद में स्थित करना पड़ता है।

अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं हैइस निश्चय पर स्थिर रहना पड़ता है। तब, क्योंकि आत्मभिन्न कुछ है ही नहीं, अतः 'न किञ्चित् अपि चिन्तयेत्', उसके सिवाय और किसी का चिन्तन संभव ही नहीं है।

भगवान् ने जो समाहितता का प्रकार बतलाया है वह योग-पक्ष में नहीं बनेगा क्योंकि योगपक्ष प्रकृति को भी वास्तविक मानता है। इसलिए उनके मत में प्रकृति के कार्यों की मोक्ष में प्रतीति नहीं होगी। जबकि भगवान् कह रहे हैं कि कुछ है ही नहीं इसलिए प्रतीति नहीं है। इस प्रकार शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानये साधन बतला दिये।।२५।।

समाधान करने का तरीका समझाते हैं

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

साधक को चाहिये कि चंचल व अस्थिर मन जिस-जिस निमित्तवश आत्मा से विमुख होता है उस-उस निमित्त को आभासमात्र जानकर वैराग्य से मन को नियंत्रित कर आत्मा के ही वशीभूत करे।

मन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध के निमित्तों को लेकर आत्मा से बाहर जाता है, यह मन का स्वाभाविक दोष है। मन कैसा है? 'चञ्चलम् अस्थिरम्।' चंचल अर्थात् अत्यन्त चलायमान है। इसलिए उपनिषदों ने कहा है कि सबसे तेज़ चलने वाला मन है। मन से तेज़ कुछ नहीं चलता। मन से तेज़ तो आत्मा प्रतीत होता है क्योंकि मन जहाँ से चले वहाँ भी आत्मा है और चाहे जितनी तेज़ी से पहुँचे, वहाँ भी आत्मा है ही! अतः मन को लगता है कि 'अरे! मैं यहाँ आया, उसके पहले ही आत्मा तो पहुँच गया!' मन स्वभाव से सबसे तेज़ चलने वाला है। और कैसा है? अस्थिर है। किसी भी चीज़ में स्थिर होता नहीं। जहाँ जाता है वहाँ से फिर भागता है। बड़ी इच्छा है दाल का सीरा खाएँ। दाल भिंजाई, धोई, पीसी, कढ़ाई के अंदर घी डाल कर सेकी। अब लगता है कि मन स्थिर होकर खायेगा। पर जैसे ही आठ दस कौर खाए, मन कहता है 'अरे, अचार होना चाहिए, थोड़े नमकीन के बिना मीठा कैसे चले?' घंटों इतना परिश्रम करके सीरा बनाया है, कम-से-कम आधा घंटा तो मन चुप रहेयह संभव नहीं है। वह अत्यंत चंचल है, चलायमान है और अत्यन्त अस्थिर है, कहीं पहुँच कर शांत होता नहीं।

भगवान् एक बड़ा भारी सूत्र बतलाते हैं मनोनियंत्रण का'ततः ततः नियम्य' जिस शब्दादि निमित्त से मन आकृष्ट होता है उस निमित्त को ही 'नियम्य', उस शब्दादि निमित्त के यथार्थ का निरूपण, उसकी वास्तविकता का अवधारण करने से निमित्त की आकर्षण-क्षमता समाप्त हो जाती है। जब विषयों की यथार्थता देखोगे तब पता लग जाएगा कि ये तो केवल आभासमात्र हैं, हैं कुछ नहीं! इससे संकेतित एक को दूसरे में लय करने की प्रक्रिया भी समझ लेनी चाहिए। उपदेशसाहस्री के निदिध्यासन-प्रदर्शक प्रकरण में (गद्यभाग के 'परिसंख्यान प्रकरण' में) भाष्यकार ने विस्तार से यह प्रक्रिया बताई है। शब्द में मन जाए तो विचार करे कि शब्द क्या है? शब्द आकाश का गुण है। गुण-गुणी का अभेद है। इसलिए शब्द आकाश से अतिरिक्त कुछ नहीं है। आकाश क्या है? अव्यक्त का कार्य है इसलिए आकाश अव्यक्त से अतिरिक्त नहीं है। और वह अव्यक्त अधिष्ठान ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। यदि गंध में मन जाये तो सोचे कि गंध पृथ्वी का गुण है, पृथ्वी से अतिरिक्त नहीं है। पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई है। इसलिए जल से अतिरिक्त नहीं है। जल तेज से अतिरिक्त नहीं है, तेज स्पर्श से अर्थात् वायु से अतिरिक्त नहीं है, वायु फिर आकाश से अतिरिक्त नहीं है। यह जो लय-प्रक्रिया है इसके द्वारा गंध आभास मात्र रह जाएगी। तब उससे जो वैराग्य होगा वह स्वाभाविक हो जाता है। शब्दादि जिस निमित्त को लेकर मन गया, उस निमित्त को आभास बना देना है, प्रतीति मात्र बना देना है।

तब 'आत्मन्येव वशं नयेत्' अर्थात् मन को आत्मा के वशीभूत करना है। आत्मा जो अधिष्ठान है, बस उसमें ही स्थिर कर देना है। योगी जितना-जितना यह अभ्यास करेगा, उतना-उतना चित्त समाहित होता चला जाएगा। अतः यहाँ चित्त को कहीं जाने से रोकने की बात नहीं कही है क्योंकि इस ढंग से वह अपने आप रुक जाएगा। जिस निमित्त को बना कर वह बाहर जाना चाहता है, जब उस निमित्त को ही आभास कर दिया, तब धीरे-धीरे वह निमित्त असमर्थ हो जाएगा। पदार्थों का स्वरूप है कि उनकी वास्तविकता को जब तक न जानो तभी तक वे मन को खींचते हैं और जब वास्तविकता को जान लो तो मन उधर जाता नहीं। इसलिए कहा है कि जैसे जिसे मालूम है कि इस वेश्या के उपस्थ में कुष्ठ रोग है, उसके संमुख वह वेश्या स्वयं निवृत्त हो जाती है, सामने नहीं आती, शरमा जाती है, ऐसे जगत् के रूप की वास्तविकता का जब पता लग जाता है तब वह स्वयं निवृत्त ही हो जाता है। आचार्य ने जो तरीका बतलाया, वह किसी एक चीज़ का ही विश्लेषण करने की अपेक्षा, जो भी चीज़ सामने आ रही है, उसको ही लय-प्रक्रिया से आत्मस्वरूप करते चले जाने का है। इसी को भगवान् ने कहा 'आत्मन्येव वशं नयेत्।' अनात्मा से हट जाने पर मन स्वभाव से आत्मा में ही प्रशान्त हो जाता है। जैसे कुत्ते की पूंछ छह महीने भी सीधी पाईप में रख दो, छह महीनों तक तो वह सीधी रहेगी, परंतु जैसे ही पाईप में से हटाओगे, वैसे ही फिर टेढ़ी हो जाएगी

क्योंकि उसका स्वभाव टेढ़ा रहना है, इसी प्रकार मन को चाहे तुम जितने समय तक समाधि में रख लो, जैसे ही समाधि अवस्था से निकालोगे, वैसे ही फिर चंचल और अस्थिर हो जायेगा। किंतु जब वास्तविकता का पता लग जाता है तब मन का जो बाहर खींचने वाला निमित्त था, वह नहीं रहने से, मन उधर जाता ही नहीं है। यह उसकी 'आत्मवश्यता' है।।२६।।

जब मन ऐसा हो जाता है तब

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

जिसका मन प्रशान्त हो चुका है, जिसके मोहादि क्लेश क्षीण हो गये हैं, सभी कुछ ब्रह्म है ऐसा जिसे निश्चय है और अधर्म आदि से जो रहित है, ऐसे इस योगी को प्रसिद्ध उत्तम सुख मिलता है।

उपर्युक्त शम दम आदि साधनों से जो सम्पन्न योगी है वही प्रशांत मन वाला बनता है अर्थात् उसका मन सर्वथा प्रशान्त हो जाता है बाहर नहीं जाता है। जैसे घोड़ों को एड़ी मारते हो, ऐसे उस मन को एड़ी मारो तब भी उसकी शान्ति हटती नहीं है। कारण है कि कुछ रहा ही नहीं जिसकी तरफ वह चंचल होकर जाए। आत्मा के सिवाय अनात्मा पदार्थ है ही नहीं तो मन जाए कहाँ? उसे शास्त्रादि में प्रसिद्ध जो उत्तम सुख वह मिल जाता है। लौकिक सुख भी है तो परमात्मा का रूप ही, परंतु श्रेष्ठ नहीं है। जैसे शराब की बोतल धोकर भी यदि उसमें शुद्ध दूध भर दो तो वह दूध पीने योग्य नहीं होता, इसी प्रकार आनन्द परमात्मा का रूप है पर रसगुल्ला इत्यादि उपाधि के स्पर्श से उत्पन्न हुआ हो तो हेय है, ग्राह्य नहीं है। योगी को प्राप्य उत्तम सुख है क्योंकि किसी प्रकार के विषय-संबंध से रहित है, निर्विषय है। अगाध समुद्र से भी यदि बर्तन में पानी भरो तो परिच्छिन्न, सीमित ही आता है। इसी प्रकार आनन्द को विषय परिच्छिन्न ही करता है। विषय के बिना वह अपने आप अपरिच्छिन्न है। अपरिच्छिन्नता कोई नई विशेषता नहीं आती, परिच्छिन्नता हट गई तो अपरिच्छिन्नता अपने आप रह जाती है। निर्विषय अतः उत्तम जो सुख है उसे 'उपैति' प्राप्त कर लेता है।

कैसा योगी प्राप्त करता है? 'शान्तरजसम्' मोहादि जितने क्लेश हैं, वे सारे धूल की तरह, रज की तरह हैं। योगी के वे क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाने चाहिये। राग-द्वेषादि क्लेशों की निवृत्ति से ही 'अकल्मषम्' वह सर्वथा अधर्म से रहित होता है। इसीलिए 'ब्रह्मभूतम्', ब्रह्मरूप हो गया है; 'ब्रह्म ही सब कुछ है' इस प्रकार का निश्चय हो जाना ही ब्रह्मभूत हो जाना है। ब्रह्म से अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं और ये कुछ भी नहींयह निश्चय ब्रह्मभूतता है। ब्रह्म ही सब कुछ हैऐसे जो निश्चय वाला, उसी को ब्रह्मभूत कहते हैं। प्रायः मरने के बाद की अवस्था वाले के लिये ब्रह्मभूत शब्द का प्रयोग करते

हैं पर यहाँ जीवन् मुक्त को ब्रह्मभूत कहा है। जीवन् मुक्त के शरीर आदि के व्यवहारों को देख कर, 'यह ज़रूर ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ देखता होगा'ऐसी हम लोगों की कल्पना बनी रहती है जबकि वस्तुतः जीवन् मुक्त भी ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ अनुभव नहीं करता। न अनुभव करने वाले को और न जिसका अनुभव करता है उसे ब्रह्म से अन्य देखता है। परंतु तत्त्वज्ञ के देहादिकाल में हम लोगों को प्रतीत होता है, कि वह भी भेददर्शी है। जब देहादि नहीं रहते तब हमें लगता है कि सब कुछ ब्रह्मरूप हो गया। अतः हम लोगों की प्रतीति को लेकर विदेहावस्थ को ब्रह्मभूत कह देते हैं। जब मन आत्मवश्य हो जाता है तब जीवनमुक्ति की उपलब्धि हो जाती है।।२७।।

योगी को होने वाले उत्तम सुख को और स्पष्ट करते हैं

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

उक्त क्रम से मन को सदा योगाभ्यास में लगाते हुए योगी पापरहित हो जाता है तथा अनायास परब्रह्मरूप उत्तम सुख प्राप्त करता है।

चौबीसवें श्लोक से प्रारंभ कर बताये क्रम से अभ्यास करने पर उत्तम सुख मिलता है। साधना में क्रम से कदम लेना ज़रूरी है, इसमें जल्दबाजी या मन-माने क्रम से लाभ नहीं हो पाता। सिद्धि पाने की उतावल का रूप उत्साह तो होना चाहिये किंतु शास्त्रोक्त क्रम को लांघने का प्रयास नहीं होना चाहिये। अभ्यास को लगातार करने वाला ही योगी है। जिसका योग से हमेशा का संबंध है, 'योगेन नित्य-संबंधी', वह योगी है अर्थात् नित्य संबंध अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है। ऐसे अभ्यासी के ही योग के अंतराय अर्थात् विघ्न दूर होते हैं। चित्त को चंचल करने वालों को अन्तराय कहते हैं। पतंजलि ने व्याधि, आलस्य आदि नौ दोष गिनाये हैं जो चित्तविक्षेप करने वाले होने से अन्तराय कहे जाते हैं। मूल रूप से राग-द्वेष अन्तराय हैं जिन्हें दूर करने पर ही अभ्यास सफल हो पाता है। यहाँ जो फल बताया वह उसी योगी को मिलता है जिसके अन्तराय दूर हो चुके हैं। निरंतर अभ्यास से पापनिवृत्ति होने पर चित्त ज्ञान के योग्य होता है। ज्ञान होने पर तो पापों के साथ पुण्य भी दूर हो जाते हैं। संसरण का हेतु बनने वाले होने से पुण्य भी पाप की तरह मोक्ष के मार्ग में रुकावट ही डालते हैं यदि उनका विनियोग विविदिषा द्वारा ज्ञान में न कर लिया जाये अर्थात् पुण्यों से केवल ज्ञान पाना अभीष्ट बना लिया जाये। यहाँ ज्ञानमार्ग का योगी विवक्षित होने से इसका अभ्यास वेदान्तोक्त लय-प्रक्रिया से होगा। उपदेशसाहस्री के परिसंख्यान प्रकरण में यह ढंग स्पष्ट किया गया है। शास्त्रोक्त व गुरु द्वारा समझाये तरीके से करने पर ही आराम से, आसानी से सफल साधना हो पाती है। योग से अनावृत होने वाले सुखको 'ब्रह्मसंस्पर्श' कहा। परब्रह्म से जिसका संस्पर्श है वह ब्रह्मसंस्पर्श है। स्पर्श मायने छूना, सम्बन्ध। सम्यक् अर्थात् बहुत

भलीभाँति होने वाला सम्बन्ध तो एकरसतारूप तादात्म्य ही हो सकता है, भेदघटित सम्बन्ध कभी सम्यक् नहीं हो सकता। केवल ब्रह्मसंस्पर्श वाला सुख तभी सम्भव है जब विषयों का किंचित् भी स्पर्श न रहे। विषय-सम्बन्ध रहते केवल अर्थात् सर्वात्मना ब्रह्मस्पर्श नहीं होगा। इसलिये विषयों से सर्वथा असम्बन्ध रहते जो ब्रह्मस्वरूप है वही यहाँ अत्यंत अर्थात् निरतिशय उत्कर्ष वाला सुख है। चित्तवृत्तियाँ रहते विक्षेप का अनुभव होता है, चित्त भी न रहे तो लयका अनुभव होता है; वृत्तियाँ न रहें पर चित्त रहे यह समाधि में ही होता है, तभी यह उत्तम सुख अनावृत होता है।।२८।।

योगफल ब्रह्मसंस्पर्श २९वें श्लोक में स्पष्ट करते हैं क्योंकि सब बंधन काटने का वही उपाय है। 'ऋते ज्ञानाद् न मुक्तिः' यह वेद का निश्चित सिद्धान्त है। एकमात्र ब्रह्म ही हैइस बात का जानने के लिये ही गुरु शिष्य को कहता है। एकमात्र आत्म-तत्त्व के प्रतिपादक जो उपनिषद् वाक्य हैं उनके सिवाय बाकी जितने भी वाणी के विलास हैं, उन सबको छोड़ने का विधान श्रुति ने किया है।

ब्रह्मसंस्पर्श का मतलब क्या

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

समाहित अन्तःकरण वाला और सब भूतों में सम ब्रह्म को ही जानने वाला, सब भूतों में स्थित स्वात्मा को एवं आत्मा में सब भूतों को देखता है।

सारे प्राणियों में चेतन रूप में आत्मा एक-जैसा स्थित हूँ अर्थात् जैसे इस शरीर में स्थित हूँ, ऐसे ही सारे प्राणियों के अंदर मैं स्थित हूँ। चेतन ही मेरा एकमात्र रूप है। चाहे ब्रह्मा में हो, चाहे अत्यन्त निम्न प्राणी में हो, सारों में आत्मा की, मेरी स्थिति से ही चेतनता है। जो सारा अचेतन जगत् है उसमें मेरा जो सत्-रूप है वह एक-जैसा स्थित है। चित्-रूप से अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित हो रहा हूँ व सद्-रूप से सर्वत्र अनुविद्ध हूँ। जहाँ-जहाँ अन्तःकरण है वहाँ-वहाँ मेरा ही प्रतिबिम्ब है। जैसे, यदि सौ काँचों को सूर्य के सामने रखो तो उनमें सौ प्रतिबिम्ब हैं पर उन सब काँचों में प्रतिबिम्बित रूप से स्थित तो एक ही सूर्य है, इसी प्रकार, सारे प्राणियों में जो अन्तःकरण हैं उनमें प्रतिबिम्बित होने वाला मैं चिन्मात्र ही एकरूप से ही विद्यमान हूँ।

'सारे प्राणियों में स्थित हूँ' कहने से लगता है कि उपाधियाँ अलग हैं जिनमें मैं स्थित हूँ; सब में मैं हूँ तो *सब* कुछ हुआ *जिसमें* मैं हूँ। इस भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं 'आत्मनि सर्वभूतानि', जो मेरा सत्-चित् रूप है उसके अंदर ही सारे जड-चेतन भूत हैं। चेतन अर्थात् अन्तःकरण आदि जो सूक्ष्म महाभूतों के कार्य हैं और जड अर्थात् स्थूल महाभूत व उनके कार्य। ये सब एकमात्र मुझ में ही अविद्या से कल्पित हो रहे

हैं। मुझ सच्चिदानन्द अधिष्ठान के अंदर सारे जड और चेतन भूत कल्पित हैं। अतः जो उपाधियाँ हैं वे सारी मुझे में कल्पित हैं और उनके अंदर मैं सत्-चित्-रूप से प्रतीत हो रहा हूँ। इस प्रकार उपाधियाँ भी मुझ से भिन्न होकर कुछ नहीं हैं। जैसे रस्सी में साँप कल्पित है, वैसे ही मुझमें आकाश से लेकर मिट्टी के एक कण तक सब कुछ कल्पित है।

'योगयुक्तात्मा' योग बतलाया था 'मनसैव इन्द्रियग्रामम्' से 'युञ्जन्नेवं सदात्मानं' तक, उस योग के द्वारा जिसका चित्त सर्वथा समाहित हो गया है अर्थात् जिसके अन्तःकरण के अंदर कोई भी दोष नहीं रह गया है; अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेषकुछ भी रह नहीं गया है, जिसे 'विगत-कल्मषः' कहा था। यहाँ आत्मा मायने अन्तःकरण। योगयुक्तात्मा ही इस बात को देखता है अर्थात् साक्षत्कार करता है कि सारे प्राणी मुझ में और सब प्राणियों में मैं हूँ। सारे प्राणी मुझ में कल्पित हैं, मैं सब प्राणियों में प्रतिबिम्बित होता हुआ प्रतीत होता हूँ। सारी विषमताओं का अधिष्ठान एक सम ब्रह्म ही है। ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब बड़े विषम हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि अत्यन्त सात्त्विक, श्रेष्ठ उपाधि वाले हैं, घास का तिनका अत्यन्त निकृष्ट उपाधि वाला, करीब-करीब जड जैसा ही है; इन सारे प्राणियों के अंदर विषमता रहते हुए भी निर्विशेष ब्रह्म आत्मस्वरूप तो एक जैसा है। 'समदर्शन' में दर्शन का अर्थ अपरोक्ष ज्ञान है, आँखों से दीखना नहीं है।।२९।।

सारी उपाधियाँ मुझ में कल्पित और मैं सब उपाधियों के अंदर कल्पितइस आत्मैकत्वदर्शन का फल बतलाते हैं

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

जो सर्वत्र मुझे और सबको मुझमें देखता है उसके लिये मैं परोक्ष नहीं होता, न वह मेरे परोक्ष होता है।

'मां' जो अपना आत्म-स्वरूप वासुदेव है, आत्मा से अभिन्न वासुदेव है, उसको ही सर्वत्र देखना है। पूर्व श्लोक की प्रथम पंक्ति का ही यहाँ प्रथम अर्धाली में अनुवाद किया है। जो मुझ परमात्मा को सब भूतों में, प्राणियों में देखता है एवं ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक, सबको मुझ सर्वात्मा मेंजो वासुदेव से एक है, उसमेंही 'पश्यति' देखता है, ऐसा जो आत्मैकत्वदर्शी है, 'तस्य अहम् न प्रणश्यामि' उसके लिये मैं परमेश्वर कभी नष्ट नहीं होता। 'नश अदर्शने' धातु है, इसलिये अदर्शन अर्थात् कभी भी मैं उसके सामने अपरोक्ष रूप से विद्यमान न होऊँ, ऐसा नहीं होता। कभी भी परमेश्वर ऐसे तत्त्वनिष्ठ से परोक्ष नहीं रहता। और, ऐसा जो ज्ञानी है, वह भी मुझ परमेश्वर की आँखों से कभी ओझल नहीं होता।

यद्यपि परमात्मा तो कभी भी किसी से दूर नहीं है, सबका आत्म-स्वरूप होने से, तथापि अज्ञान के कारण अपरोक्ष होने पर भी परोक्ष हुआ-सा है। कण-कण और क्षण-क्षण में रहने वाला परब्रह्म परमात्मा कभी भी किसी की आँखों से ओझल नहीं होता और कोई भी चीज़ ऐसी नहीं हो सकती जो उसकी आँखों से ओझल होवे क्योंकि सर्वज्ञ है, तथापि कण-कण और क्षण-क्षण में रहने वाला परमेश्वर अज्ञान के कारण हम से हमेशा ओझल रहता है। लगता हैन जाने कब परमेश्वर के दर्शन होंगे। दर्शन तो उसके हर क्षण हो रहे हैं। पर जीव पहचानता नहीं है। तभी प्रार्थना करता है‘आपके कृपाकटाक्ष प्राप्त हो जाएँ तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।’ उनके कृपाकटाक्ष के सामने मैं न होऊँ, यह हो ही नहीं सकता है। वह सर्वज्ञ है, उसके कटाक्ष हमेशा ही हम पर पड़ रहे हैं। परंतु अज्ञान के कारण ऐसी प्रतीति होती हैकि हम उन्हें नहीं जान रहे, उनकी कृपा दृष्टि हम पर नहीं है। यह अज्ञान की महिमा है। अज्ञान बिल्कुल सामने की चीज़ को अतिदूर कर देता है। अल्मारी में घड़ी रखी है, कभी तुमको घड़ी लेकर जाना है। देखते हो तो वहाँ नहीं दीखती है। कपड़े इधर पलटते हो उधर पलटते हो, पता नहीं चलता कि घड़ी कहाँ चली गई! बाहर से कोई आदमी आकर पूछता है, ‘क्या ढूंढ रहे हो?’ तुम बताते हो ‘घड़ी ढूंढ रहा हूँ।’ ‘यह सामने पड़ी तो है!’ जब वह कहता है तब दीखता है कि हाँ, सचमुच ही तो सामने पड़ी है! यद्यपि घड़ी तुम्हारे सामने थी, अपरोक्ष थी, फिर भी तुम्हारे लिए परोक्ष हो गयी थी। कई बार, गले में पहनी हुई माला पीछे की तरफ चली जाये तो ही लगता है कि ‘अरे! माला कहीं गिर गई या किसी ने काट ली।’ शरीर पर पड़ी हुई चीज़ का भी कई बार ज्ञान नहीं होता, सर्वथा अपरोक्ष चीज़ भी परोक्ष हो जाती है। इसी प्रकार अन्तःकरण में पड़ने वाला जो आत्म-प्रतिबिम्ब, उसके बिना हम को किसी चीज़ का कभी ज्ञान नहीं हो सकता। उसका ज्ञान होता है तभी बाकी सब ज्ञान होता है‘तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’फिर भी अन्य ज्ञान होते हुए लगता है कि परमात्मा का ज्ञान नहीं है। हम चीज़ें देखते हैं, चीज़ों के बारे में खूब सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है, पर इस तरफ ध्यान ही नहीं जाता कि रोशनी भी दीख रही है! पहले रोशनी दीखेगी तब सब चीज़ें दीखेंगी, परंतु रोशनी दीख रही हैऐसी प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार संसार में सब चीज़ें एकमात्र परमात्मा में ही प्रतीत हो रही हैं परंतु हमें वह परमात्मा परोक्ष लगता है।

भगवान् कहते हैं कि जो इस प्रकार सर्वत्र मुझको जान लेता है और सबमें मुझे जान लेता है उसे ऐसा भ्रम नहीं होता। अंदर-बाहर सर्वत्र सिवाय उसके और कुछ नहीं हैयही कहने का तरीका बुद्धिसंगत होता है। विचार करो तो पता चलता है कि घड़ा जहाँ है वह आकाश, घड़े में जो है वह आकाश और स्वयं घड़ा भी आकाश, क्योंकि पहले तो घड़े के परमाणुओं के बीच में आकाश और फिर उन परमाणुओं में भी आकाश ही है। जैसे घड़े के अंदर, बाहर, दीवालों में सब कुछ आकाश है, ठीक इसी प्रकार

एकमात्र अभिन्न-निमित्त उपादान कारण जो आत्मा वह सर्वत्र विद्यमान है और सभी कुछ उसी में कल्पित है। इस बात को जब जान लेता है तब कभी भी वह परमात्मतत्त्व ओझल नहीं हो सकता। आत्मा ही आत्मा को प्रिय है। परमात्मा सबको ही देखता है, अपने आत्म-स्वरूप को प्रेमपूर्वक देखता है। वही कृपा-कटाक्ष है, अनुकम्पा से होने वाला देखना है। ज्ञानी ही परमात्मा को सर्वत्र देखता है, उसी को परमात्मा अत्यंत प्रेम से देखता है।।३०।।

जिसके साथ प्रेम होता है। उसके लिए कहते हैं कि 'वह मेरी आँखों से ओझल कभी न होवे।' जो चीज़ सामने होगी, वही आँखों से ओझल नहीं होगी। पर अत्यन्त प्रेम को दिखलाने के लिए कहा जाता है कि मेरी आँखों से ओझल नहीं होवे। यही भगवान् ने पूर्व श्लोक से कहा कि परमार्थदर्शी उन्हें अतिप्रिय है। पुनः उस सिद्ध की मुक्ति का कथन करते हैं

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

जो (जीव-ईश्वर के) अत्यन्त अभेद में निश्चयपूर्वक स्थित हुआ सब प्राणियों में स्थित मुझ परमात्मा का भजन करता है, जिस किसी तरह का व्यवहार करते हुए भी वह योगी मुझ में ही रहता है।

सब प्राणियों में स्थित जो परमात्म-तत्त्व वासुदेव है, उसी के प्रति जिसे एकान्त प्रेम है वही उसका भजन करेगा अर्थात् प्रेम-पूर्वक सेवन करेगा। सब प्राणियों में स्थित एकमात्र आत्मा के साथ ही वह प्रेम कर सकता है। कौन ऐसा भजन कर सकता है? 'एकत्वमास्थितः। 'आत्मा ही मेरा स्वरूप है'इस प्रकार एकता में जो स्थित होता है। सारे प्राणियों में स्थित वासुदेव कोई अन्य है और मैं कोई अन्य हूँऐसा समझना 'एकत्वमास्थितः' नहीं है। सर्वत्र सद्रूप से अनुस्यूत तत्पदार्थ से मेरा साक्षिस्वरूप सर्वथा एक हैयह 'अहं ब्रह्मास्मि' साक्षात्कार ही एकत्व में आस्थिति है, निश्चयपूर्वक निष्ठा है। वह अपने आपको, अपने वासुदेव रूप को सब के अंदर एक-जैसा देखता है। वह चाहे जैसा व्यवहार करे, रहता परमेश्वररूप ही है। जिसने सब प्राणियों में अपने को देख लिया, वह विधि-निषेध का विषय रह नहीं जाता। वह किसी भी प्रकार का व्यवहार करे, रहता योगी ही है अर्थात् वास्तविक तत्त्व को अनुभव करने वाला, सम्यक्-दर्शी ही है। अतः मुझ वासुदेव में ही रहता है अर्थात् वस्तुतः मुझ आत्मा में ही रहता है। 'वर्तमानोऽपि' का मतलब है कि उसके शरीर-मन चाहे जैसा व्यवहार करते हुए दीखें, इससे उसके वास्तविक स्वरूप में अंतर नहीं आता। वस्तुतः वह अपने व्यापक आत्मरूप में प्रतिष्ठित रहता है। कोई कर्म अब उसके लिये बंधक नहीं होता। अन्यत्र उपनिषदों ने कहा है कि कोई भी देवता उसके मोक्ष का प्रतिबंध करने में समर्थ नहीं है।।३१।।

चाहे जैसा व्यवहार करने की बात योगी की प्रशंसा के लिये कही है, ऐसा नहीं कि वह परपीडा आदि स्वैर-आचार में प्रवृत्त होता है! इसे स्पष्ट करते हुए योग का माहात्म्य व्यक्त करते हैं

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

हे अर्जुन! जो स्वयं की उपमा से सर्वत्र सुख व दुःख को सम देखता है वह उत्कृष्ट योगी समझा जाता है।

'आत्मौपम्येन'खुद आत्मा को अर्थात् खुद अपने आपको दृष्टांत बनाकर 'सर्वत्र' सारे प्राणियों में 'समं पश्यति' एक-जैसा ही अपरोक्ष अनुभव करता है। सुख जैसे मुझे प्रिय है वैसे ही, जहाँ भी मैं स्थित हूँ, वहाँ मुझे सुख प्रिय है। प्राणिमात्र को सुख की अभिलाषा रहती है। परंतु जिसको वे सुख समझते हैं, वह सचमुच में सुख होता नहीं, दुःख होता है। वास्तविक सुख तत्त्व-ज्ञान से ही संभव है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। अतः योगी को लगता है कि जिस प्रकार से मैंने आत्म-ज्ञान प्राप्त करके सुख पाया, कृतार्थता का अनुभव किया, वैसे ही प्राणिमात्र आत्मज्ञान को प्राप्त करके कृतार्थता का अनुभव करे। इस तरह सबके सुख के लिये वह अपने को उपमा बनाता है। 'जैसे भ्रान्ति से मैं समझता था कि धन मिल जाएगा तो सुखी होऊँगा परंतु धन मिलने से सुखी हुआ नहीं, वैसे ही ये समझते हैं कि धन मिलने से सुखी होंगे पर हो सकेंगे नहीं।' अपने को ही उपमा बना कर वह सबका हित निर्धारण करता है। उसे निश्चय है कि विषयों से जैसे मुझे सुख नहीं हुआ वैसे किसी को भी नहीं हो सकता। अतः किसी को भी धन आदि लौकिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये इसे वास्तविक अभिलाषा नहीं होती। वह जानता है कि वास्तविक अभिलाषा तो तभी पूरी होगी जब अज्ञान निवृत्त होगा। जैसे सुख वैसे ही 'यदि वा दुःखं', जैसे संसाररूप दुःख मुझे अप्रिय है वैसे ही सबको वस्तुतः वही अप्रिय है। जो धन को सुख समझ कर प्रवृत्त हो रहा है वह भी चाहता है दुःख की निवृत्ति, दरिद्रता की निवृत्ति तो भ्रम से चाहता है, वस्तुतः चाहता दुःख की निवृत्ति है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तत्त्वज्ञान के बिना नहीं हो सकती। इसलिए योगी का यही संकल्प होता है कि सब तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके आत्यन्तिक दुःख से निवृत्त हों और परम सुख को प्राप्त हों। वह इस बात को देखता है कि जैसे सुख ही मेरा इष्ट है, वैसे ही प्राणिमात्र को भी सुख ही इष्ट है। 'आत्मौपम्येन' कह कर इस बात को स्पष्ट कर दिया कि क्षणिक सुख और दुःख-निवृत्ति किसी प्राणी का वास्तविक इष्ट नहीं है। अतः 'सर्वथा वर्तमानोपि' का अभिप्राय हुआ कि जो कुछ भी उसके शरीर-मन से होगा, उसके व्यवहार का आधार यही रहेगा कि सभी आत्यन्तिक दुःख की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द को प्राप्त करें। इस प्रकार से जो 'वर्तते' व्यवहार करता

है, 'स योगी परमो मतः' वह योगियों में श्रेष्ठ है। जिस योगी ने इस सत्य को जान लिया वह प्राणिमात्र के हृदय में होने वाले सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख जैसा समझकर व्यवहार करता है, अतः योगियों में उत्तम है, श्रेष्ठ है। इसलिये उसके द्वारा स्वैर आचरण नहीं हो सकता है। प्राणिमात्र को उपदेश आदि के लिए व्यवहार करना, न करने की अपेक्षा योगी को श्रेष्ठ बनाता है।।३२।।

इस प्रकार योग का जो प्रकरण भगवान् ने बतलाना शुरू किया था, उसको यहाँ समाप्त किया। योग का परम फल बतला दिया, परम योगी भी बतला दिया कि आत्मनिष्ठा छोड़ कर अनात्म-व्यवहार करने वाला श्रेष्ठ नहीं है। इसको सुनकर अर्जुन के मन में आया कि सम्यक् दर्शन इस पर निर्भर है कि चित्त को एकाग्र करके श्रवण-मनन आदि किया जाए। परंतु यह होना अत्यन्त कठिन है! पहले भगवान् ने कहा कि सिर को और काय को सीधा रख करके बैठो; यही मुश्किल काम है। फिर कुम्भक का अभ्यास भगवान् ने बतलाया। वह और कठिन लगता है। एक मिनट भी साँस को रोककर बैठना भारी लगता है। फिर इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकना कहा। यह अत्यंत कठिन है। आगे जितनी-जितनी बातें हैं वे और कठिन-कठिन होती जाती हैं। इसलिए यह बड़ा कठिन मार्ग है। इसलिये अर्जुन कहता है

अर्जुन उवाच
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

हे मधु-नामक राक्षस के हन्ता श्रीकृष्ण! समता के रूप से जो यह योग आपने बताया, इसकी स्थिर स्थिति हो सके ऐसा मुझे नहीं लगता क्योंकि (यह स्थिति संपन्न करने वाला मन) चंचल है।

'योऽयं योगः'। अर्जुन इस योग को दोनों कह रहा हैयह योग 'यः', 'जो' अर्थात् परोक्ष है और 'अयं', 'यह', अर्थात् अपरोक्ष है। अर्जुन कहता है 'महाराज! आपकी बात सुनते हैं तब तो बिल्कुल साफ लगता है कि समझ आ रहा है कि आप क्या कह रहे हैं। पर जैसे ही उस बात के बारे में सोचते हैं, वह बड़ा दूर लगता, दुःसम्पाद लगता है। किसी भाषा के कवि ने भी कहा है 'कथनी मीठी खांड-सी, करनी ताता लोह' यह कहना तो खांड जैसा मीठा लगता है कि ऐसा मोक्ष हो जाएगा जब सर्वथा वर्तमान रहते हुए भी कोई विकार नहीं होगा, देवता भी मोक्ष को रोकने में समर्थ नहीं होंगे! यह सब कहने में तो बड़ा मीठा लगता है, परंतु इसको करना तो तपे लोहे पर बैठने जैसा लगता है। अर्जुन का भी भाव है कि कोई सीधा उपाय बताइए, कढ़ी-चावल खाते रहें और सब काम हो जाए। साफ करके बताया हुआ होने पर भी योग अत्यन्त दूर लगता है।

योग कैसा है? 'साम्येन'। समता से योग है। हे मधुसूदन! मधु राक्षस को आपने मार डाला था। इसी प्रकार से हमको जो अत्यन्त कठिन साधना लगती है, इसके काठिन्य को आप दूर करें। मधु राक्षस को मारा भगवान् ने और उससे त्रस्त बाकी सब लोग बिना कुछ किए ही सुखी हो गए, अलग से तो कुछ करना नहीं पड़ा। ऐसे ही आप किसी प्रकार से ऐसा कीजिये कि हमारा काम अनायास बन जाए। यह जो आपने योग बतलाया, इसकी 'स्थिराम् स्थितिं', अचल प्रतिष्ठा कैसी होगी, यह समझ नहीं आता। प्रायः साधकों का यही अनुभव रहता है कि जब तक सत्संग आदि श्रवण करते हैं तब तक लगता है कि बिल्कुल सीधी बात हैसब प्राणियों के अंदर आत्मा है; बिल्कुल समझ में आता है। परंतु सुनकर कमरे से बाहर निकले, किसी ने एक पत्थर मारा, बस, गया वह सब ज्ञान! उसी समय गुस्सा आता है 'इसको मार कर ठीक कर दूँ'। अचल स्थिति अर्थात् वहाँ से हटें ही नहीं, हमेशा उसी भाव में बने रहें, यह असंभव लगता है। यह सारा काम मन, अंतःकरण के ऊपर निर्भर करता है, मन ही समाहित हो तब काम बने। मन अत्यंत चंचल है। जब तक शास्त्रादि के विचार में लगते हैं तब तक वह इस तरफ स्थिर रहता है लेकिन चंचल होने से किञ्चित् भी दूसरा व्यवहार करते ही उधर चला जाता है। इसकी अचल स्थिति कैसे होवे?।३३।।

अर्जुन और स्पष्ट करके अपनी समस्या कहता है

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

हे कृष्ण! क्योंकि मन अत्यन्त अस्थिर, क्षुब्ध करने वाला, ताकतवर और मजबूत है इसलिये उस पर नियंत्रण पाना मैं वैसा ही अत्यंत मुश्किल मानता हूँ जैसा वायु को नियंत्रित करना है।

मन चंचल है; हमेशा, या अत्यधिक चलना इसका स्वभाव है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में यह खट-से जाता है। देर तक समता का अभ्यास करो, लेकिन विषम सामने आते ही मन झट विषम बन जाता है। और मन कैसा है? प्रमाथि, मथ डालता है। चाहे जितना विचार करो लेकिन शरीर और इन्द्रियों को मथ कर, विवशकर उनसे पुनः वैसी ही प्रवृत्ति करा देता है। शरीर भी भेद को प्रधान मान करके प्रवृत्ति करता है और इन्द्रियाँ भी भेद को ही मान कर प्रवृत्ति करती हैं; उनसे कराने वाला तो मन ही है। दही मथते समय मथनी को एक बार दाहिनी तरफ चलाते हैं, एक बार बाईं तरफ चलाते हैं। इसी प्रकार मन संकल्प-विकल्प से मथ डालता है। प्रयासपूर्वक समता की भावना बनाओ तो यह तुरंत विषमता की अनिवार्यता उपस्थित करता है। प्रमथन करता है, विक्षिप्त कर देता है, मनुष्य को लगता है कि मैं परवश हूँ।

और कैसा है? 'बलवत्' होना तो बुद्धि को बलवान् चाहिए पर संकल्प-विकल्पात्मक

मन बुद्धि से भी ज़्यादा बल वाला पड़ जाता है! इसका कारण है कि अनादिकाल से मन के बहुत्व-दर्शन से ही बुद्धि के अंदर भी बहुत्व-दर्शन दृढ हुआ है। श्रवण, मनन, योगाभ्यास करके अभी साम्य योग बुद्धि में प्रारंभ हुआ है। परंतु इतने लम्बे समय के निर्बाध अभ्यास से मन मजबूत है।

लोक में ऐसा होता है : लम्बे समय से अतिकुशलतापूर्वक कोई मुनीम सब काम सँभालता है तो धीरे-धीरे मालिक रोज़मर्रे के कामों को, ग्राहकों को उसी पर छोड़े रहता है। काफी समय बाद अगर पता भी लग जाये कि वह मुनीम कुछ हेरा-फेरी करने लगा है, तो मालिक एका-एक उसे निकाल नहीं सकता क्योंकि व्यापार की सारी-जानकारी उसे ही है। धीरे-धीरे पहले सारी बातें समझ कर ही उसको निकालना पड़ता है। वह मुनीम सचमुच में मालिक से कमज़ोर है पर दीर्घकाल तक उसके अनुसार ही मालिक व्यापार करता रहा इसलिए इस समय वही बल वाला है। इसी तरह से जो संकल्प-विकल्पात्मक मन संसार को सत्य मानने वाला है, उसमें भेद-दर्शन आदि के अतिदीर्घ काल से संस्कार पड़े हुए हैं अतः अब श्रवण-मनन से निश्चय भी कर लेने पर कि भेद मिथ्या है, वे संस्कार फिर कार्यकारी हो जाते हैं। इसीलिए अनेक लोग मान लेते हैं कि ब्रह्म तो अव्यवहार्य है, माया ही व्यवहार्य है। इसलिए साम्यदर्शन निरन्तर स्थित रहने वाला बन नहीं पाता है। मन सचमुच में बलवाला न होने पर भी, अभी अविवेकदशा में बलवत् बना हुआ है। और कैसा है? 'दृढम्'। इसको काटना, इसके अंदर किसी प्रकार का छेद करना वैसे ही असम्भव है जैसे समुद्र में होने वाले 'वरुण पाश' नामक कीड़े को काटना।

क्योंकि ऐसा है, इसलिए ऐसे मन का निरोध करना दुष्कर समझ आता है। मन तो संकल्प-विकल्प करके बहुत्व को ही सामने लाएगा। उसका निग्रह अर्थात् ऐसा निरोध करें कि वह हमारी बुद्धि के समता के निश्चय को हटा न सके, इसको अर्जुन ऐसा मानता है जैसे हवा को पकड़ कर रखना अर्थात् असंभव। कोई चाहे कि हम हवा को पकड़ लें तो नहीं पकड़ सकते, इसी प्रकार इस मन को पकड़ना अत्यन्त दुष्कर है। कहा तो यह कि वायु पकड़ने की तरह सुदुष्कर है किंतु भाष्यकार कहते हैं कि इसका अर्थ है कि उससे भी ज़्यादा मुश्किल है। 'की तरह' अर्थात् दोनों में कुछ भेद होना चाहिये; भेद यह है कि वायुनिग्रह से भी मनोनिग्रह कठिन है। अर्जुन 'कृष्ण' सम्बोधन से कहता है कि आप कर्षण करने वाले हैं, आप ही कर्षण करके इसको ठीक कर दें। हम लोगों से तो यह नियंत्रित होना संभव नहीं लगता। भाष्यकार लिखते हैं 'भक्तजनपापादिदोषाकर्षणात् कृष्णः' भक्तजनों के पापादि दोषों को कर्षण कर देते हैं, नष्ट कर देते हैं अतः कृष्ण हैं। चांचल्यादि दोष ही हैं अतः वे ही इन्हें दूर कर सकते हैं।।३४।।

अर्जुन की समस्या को वाजिब मानते हुए भगवान् समाधान बताते हैं

श्रीभगवान् उवाच
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

हे महाबाहो कौन्तेय! इसमें संशय नहीं कि मन चंचल है व इसका निग्रह कठिन है, किंतु अभ्यास और वैराग्य से यह निगृहीत हो जाता है।

भगवान् जवाब देते हैंमहाबाहो! तू अत्यन्त दृढ भुजाओं वाला है। साक्षात् महादेव से तूने इन हाथों से लड़ाई लड़ी थी। इसलिए तेरा यह कहना बिल्कुल अनुचित है कि 'मैं नहीं कर सकता।' मन की चलस्वभावता की बात जो तुमने कही, उसमें संशय नहीं है। मन का निग्रह सहज में नहीं होता, यह तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। तुमने मन को चंचल कहा, वह भी बात बिल्कुल ठीक है, मन का स्वरूप ऐसा ही है। परंतु तू केवल महाबाहु नहीं, कौन्तेय भी है। कुन्ती ने असंभव कार्य संपन्न किया था; दुर्वासा महर्षि को बड़े-बड़े राजा लोग चातुर्मास्य कराने में घबराते थे। जिस राजा से वे कहते थे, 'तुम्हारे यहाँ चातुर्मास्य करूँगा', वही राजा हाथ जोड़कर कहता था 'मेरी सामर्थ्य नहीं है।' क्योंकि दुर्वासा पहले ही कह देते थे 'तुम समझ लेना कि मैं महाक्रोधी हूँ।' उनको इस बात का घमंड था कि उनके जैसा क्रोधी कोई जल्दी मिलेगा नहीं! उन्होंने अपने ग्रंथ की पुष्पिका में लिखा है 'क्रोधभट्टारकेण दुर्वाससा।' क्रोध को वे अपना प्रधान साथी मानते थे। अतः जिस राजा के पास जाते थे, उसे पहले ही कह देते थे कि 'महाक्रोधी हूँ। कभी मैं नहाने चला गया और मुझे देर हो गई, मैं आया और तुमने कहा कि 'भोजन तो पहले बना लिया था', तो मेरा क्रोध भड़क जाएगा! उसी समय ताजे फुलके होने चाहिए। और कभी मैं वापिस आऊँगा, कहूँगा 'आज मुझे कुछ नहीं खाना', तो सारा भोजन पड़ा रह जाएगा। पर मेरे सामने ऐसा कभी नहीं कहना 'जी, आप आज आए क्यों नहीं भोजन करने?'' इसी तरह सब गिना देते थे कि 'मेरी ऐसी-ऐसी आदतें हैं, उनमें से थोड़ा भी गड़बड़ किया तो मैं महाक्रोधी हूँ।' राजा लोग हाथ जोड़कर कहते थे 'महाराज, हमसे नहीं हो सकेगा।' ऐसे महाक्रोधी दुर्वासा की कुन्ती ने चातुर्मास्य में पूरी सेवा की, अत्यन्त नहीं होने वाले काम को उसने अपने सारे सुख साधनों का परित्याग करके किया। न अपने सोने की चिन्ता, न अपने खाने की चिन्ता की। अपने समग्र राग के विषयों को उसने दूर रखा और जैसा वे कहते थे, वैसा ही अभ्यास करती रही, वैसे ही कर लेती थी। तू उसी का पुत्र है और ये ही दो साधन मन को वश में करने के हैं : हे कौन्तेय! दुर्निग्रह होने पर भी अभ्यास और वैराग्य से इसका निग्रह हो सकता है। बैठ कर सोचो कि मन को इधर-उधर नहीं जाने देंगे, तो कुछ काम नहीं बनेगा!

पहला उपाय वैराग्य है। मन जिस-जिस विषय में जाता है उसको सुख का साधन

समझता है। जिसको सुख का साधन समझता है, उधर ही मन जाता है। जब उस चीज़ पर विचार करते हो कि वह आद्यन्त वाली है, आगे जन्म-मरण देने वाली है इत्यादि, तब राग-विरोधी वृत्ति बना पाते हो, तभी धीरे-धीरे वहाँ से मन हटता है। होता यह बहुत धीरे-धीरे है। पहले भगवान् कह आए हैं योगाभ्यास के समय 'शनैः शनैः उपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया' अत्यन्त धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे इसका नियंत्रण किया जाता है। मन चंचल है। इसलिए कहीं गए बिना तो रहेगा नहीं। इसलिये जितना ज़रूरी संसार के दोषों का दर्शन करना है उतना ही परमात्मा के गुणों का चिंतन करना है। अभ्यास का मतलब है कि जो शास्त्रों में अनेक चीज़ें बताई हैं, उनमें से किसी एक पर समान प्रत्ययावृत्ति, उसमें बार-बार मन को गुणदर्शन करके स्थिर करना। वैराग्य दृष्ट-अदृष्ट दोनों चीज़ों में करना हैदृष्ट विषयों में राग होता है, रसगुल्ला, बढ़िया कपड़ा इत्यादि दृष्ट पदार्थ हैं, इनमें सुख की प्रतीति होती है। इनके अंदर भी दोषदर्शन करना है। जो अदृष्ट विषय हैंस्वर्ग, अप्सराएँ, ब्रह्मलोक, ब्रह्मलोक के सुख, वैकुण्ठ लोक, गौ-लोक, उनके सुखये सब अदृष्ट हैं, हमने अभी देखे नहीं हैं, शास्त्रों में उनको सुन कर उनके प्रति राग हो जाता है। श्रुति ने सभी विषयों की वास्तविकता काट डालने के लिये हथियार दे दिया 'नास्ति अकृतःकृतेन' जो अकृत परमात्मा है वह किसी भी कृत, कर्म के द्वारा प्राप्त हो नहीं सकता। अतः कृत के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह सब कृत ही रहेगा, अकृत नहीं होगा। चाहे वैकुण्ठ जाओ, चाहे गौ-लोक जाओ, ब्रह्मलोक जाओ, जहाँ मर्जी जाओ, पर गए हो तो फिर लौटना भी पड़ेगा।

आत्मा की *प्राप्ति* नहीं है। क्योंकि जिस समय तुम नहीं जानते हो तब भी आत्मा तुम हो ही। संसार में यह देखा जाता है कि प्रमा से अज्ञान हमेशा के लिये निवृत्त होता है। किसी शब्द का अर्थ हमें नहीं आता, कोष देखा, उस शब्द का अर्थ जान लिया तो अब उस शब्द का अर्थ नहीं जाना हुआ नहीं रहता। इसी प्रकार से आत्मा हमारा सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसका हमें अज्ञान है। जब अपने सच्चिदानन्द रूप का ज्ञान हो गया तब कोई नयी चीज़ प्राप्त हुई नहीं। वही हमेशा हमारा स्वरूप था, अतः उसके ह्रास का भी प्रश्न नहीं आता। दृष्ट और अदृष्ट सब पदार्थों के अंदर दोष-दर्शन करना पड़ता है; तब सर्वत्र तृष्णा हटकर, अब मन कहाँ जाए? मन को तब इष्ट रह जाता है केवल आत्म-तत्त्व। क्योंकि जिन दोषों को हमने देखा है वे उसी में नहीं हैं, अन्यत्र सर्वत्र हैं। जब आत्मा ही इष्ट रह जाता है। तब चित्त के विक्षेप की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार वैराग्य से चित्त की स्थिरता हो जाती है। अभ्यास भी चाहिये, बार-बार प्रत्ययावृत्ति करनी पड़ती है। समान प्रत्यय की आवृत्ति और विषम प्रत्ययों को निवृत्त करना, हटानायह अभ्यास है।

कौन्तेय से भगवान् कह रहे हैं कि तू कुन्ती का पुत्र है, कुन्ती ने ये दोनों ही काम सीमित काल में किए थे। जो उसने किया वह तू भी कर सकता है।

ये ही साधन पतंजलि ने योगसूत्रों में कहे हैं 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' जिस निरोध को वहाँ बतलाया है, उसको प्राप्त करने के दो ही साधन हैंअभ्यास और वैराग्य। वहाँ भी उन्होंने द्विवचन दिया 'अभ्यासवैराग्याभ्याम्' अर्थात् दोनों मिलकर कारगर होते हैं। यहाँ भी भगवान् ने चकार दे दिया, अतः अभ्यास और वैराग्य दोनों करने हैं। इनमें से एक करने से काम नहीं होता। इस प्रकार, युक्तिपूर्वक मन का निरोध हो सकता है, हठपूर्वक, बलपूर्वक नहीं। बहुत-से लोग सोचते हैं कि इन्द्रियों से विषयों की तरफ नहीं जाएँगे तो मन स्थिर हो जाएगा। ऐसे हठ से यह कभी स्थिर होता नहीं, इसके लिए तो युक्ति की ही ज़रूरत है। मन की तरह चंचल साँप को जैसे ज़ोर-जबरदस्ती से नहीं वरन् युक्ति से वश में किया जाता है वैसे ही मन को हठ से नहीं, युक्ति से वश में किया जा सकता है। अगर चाहो कि साँप को जबरदस्ती नचा लेंगे, तो नहीं हो सकता, युक्ति से ही होगा। इसी प्रकार मन के निग्रह के लिए युक्ति चाहिए और यही उसकी युक्ति हैअभ्यास और वैराग्य। 'गृह्यते', कठिन है परंतु इसका निरोध हो जाता है।।३५।।

किसके लिए मन का निरोध करना असम्भव है? कौन कर सकता है? इसका उत्तर देते हैं

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

मेरा निश्चय है कि असंयमित मन वाले को योग सिद्ध होना अतिकठिन (या असंभव) है किंतु जो मन को वश में कर चुका है वह (अभ्यास-वैराग्य रूप) उपाय से यत्न करता रहे तो योग सिद्ध कर सकता है।

जो संयम वाला नहीं है अर्थात् जिसने अभ्यास-वैराग्य के द्वारा मन को संयत नहीं कर लिया है, जिसका अन्तःकरण वैराग्य और अभ्यास के द्वारा संयम में नहीं ले आया गया है, उसके लिए तो योग दुष्प्राप है, उसको कभी प्राप्त नहीं हो सकता। 'इति मे मतिः' मैं निश्चय जानता हूँ कि ऐसा ही है। 'तु' लेकिन, 'वश्यात्मना' अभ्यास-वैराग्य के द्वारा जिसने मन को वश में कर लिया है, वश में करके भी चुपचाप नहीं बैठ गया है वरन् 'यतता' आगे भी यत्न करता रहता है, वह अवश्य योग पा जाता है। कभी यह न सोचे कि हमारा मन अब वश में हो गया, आगे साधन करने की ज़रूरत नहीं है। वशीभूत मन को श्रवण-मनन के अंदर बार-बार लगाना ही वह उपाय है जिसके लिये यत्न आवश्यक है। अभ्यास और वैराग्य रूप उपाय से मन को वश में करने पर फिर श्रवणादि उपाय से सिद्धि संभव है।

योग के लिए वैराग्य और अभ्यास दोनों की ज़रूरत है। बहुत-से लोग अभ्यास करते हैं पर वैराग्य की तरफ नहीं जाते। उनकी शिकायत रहती है कि मन बहुत दौड़ता

है। दौड़ता राग के विषयों की तरफ है। कुछ लोग वैराग्य का अभ्यास करते हैं परंतु आगे परमात्मा के प्रत्ययों की आवृत्ति नहीं करते, बार-बार श्रवण-मनन में नहीं लगे रहते। उनकी शंका होती है कि एक-दो बार पढ़ लिया, समझ लिया, अब बार-बार सुनने से या पढ़ने से क्या होगा? यदि मन को तुम प्रत्ययावृत्ति में नहीं लगाओगे तो अन्य प्रत्ययों में जाएगा। इसलिए खाली वैराग्य से भी कार्य नहीं होता, खाली अभ्यास से भी नहीं होता। दोनों ही करने ज़रूरी हैं। दोष-दर्शन के द्वारा अन्य विषयों से हटाना है, जबरदस्ती नहीं, और उस हटे हुए मन को परमात्मा के प्रत्यय जो शास्त्र ने बतलाए हैं, उनके अंदर बार-बार आवृत्ति करके लगाना है।।३६।।

मुमुक्षु के बारे में एक शंका प्रायः उठती है कि मोक्ष पा लिया तब तो ठीक, पर अगर साधना में कमी रहने से मोक्ष नहीं पाया तो उसकी क्या गति होगी? कर्म दृष्ट या अदृष्ट फल देता है, नित्य-नैमित्तिक भी पितृलोक या चित्तशुद्धि फल देते हैं, जिसे वैराग्य हो चुका वह कर्म इसीलिये छोड़ ही देता है कि उसे कोई फल नहीं चाहिये अतः वह कर्म में अधिकारी रह नहीं जाता। वेद भी कहता है कि जिस दिन वैराग्य हो जाये उसी दिन प्रव्रज्या कर देनी चाहिये। जिसका प्रसंग चल रहा है वह मुमुक्षु विरक्त होकर योगाभ्यास में पूर्णतः प्रवृत्त होने के लिये कर्मत्याग करता ही है, तदनन्तर श्रवण-मनन का यत्न ही कर्त्तव्य रह जाता है। ऐसे साधक को ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष मिल गया तब तो उसके बारे में प्रश्न नहीं उठता। लेकिन सम्यग्दर्शन पाये बिना जो साधक मर जाता है उसके बारे में अवश्य प्रश्न होता है कि उसकी क्या गति होगी? यद्यपि अन्तकालिक वृत्ति के अनुसार गति शास्त्र में कही है तथापि मृत्यु के समय व्यक्ति इतना परवश रहता है कि तब परमात्माकार वृत्ति बननी अतिदुर्लभ है। इसलिये ऐसे साधक के भविष्य के बारे में अर्जुन जिज्ञासा करता है

अर्जुन उवाच
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

हे कृष्ण! अल्प यत्न वाला, श्रद्धालु, जिसका मन योगमार्ग से विचलित हो गया, वह योग का फल बिना पाये कौन-सी गति (पुरुषार्थ) पाता है।

'अयतिः' जिसका यत्न पूरा नहीं हुआ है। यहाँ पर अकार का अर्थ निषेध नहीं लेना कि जो यत्न करता ही नहीं है! उसकी बात नहीं है। जितना यत्न चाहिए, उतना यत्न जिससे नहीं हो पाया उसे अयति कहा अर्थात् अकार (नञ्) का अर्थ 'अल्प, कम' है, जैसे बहुत कम नमक हो तो कह देते हैं कि इसमें नमक नहीं है। यत्न की कमी में प्रधान कारण हो सकता है कि मृत्यु हो गई, थोड़ा ही समय मिला, अभ्यास पक्व नहीं हो पाया, सफलता के लिये जितना प्रयत्न चाहिए था, उतना नहीं हो पाया। अथवा

कभी ऐसा भी होता है कि प्रबल विरोधी प्रारब्ध के कारण पूरा प्रयत्न नहीं कर पाता है। शरीर इतना बीमार हो जाये तो प्रयत्न नहीं कर सकता है क्योंकि प्रारब्ध अपना भोग देने के लिए जबरदस्ती चित्त को अन्यत्र प्रवृत्त करा देता है। किंच, वैराग्य की पूर्णता में तो प्रारब्ध-भोग के कारण प्रवृत्ति होती है पर जैसे ही प्रारब्ध-भोग पूरा हो गया, वैसे ही साधक पुनः अपने अभ्यास में लग जाता है। परंतु यदि वैसा पूर्ण वैराग्य नहीं होता है तो प्रारब्ध-भोगवश उधर जाकर फिर अटक जाता है, तब भी योग के प्रयत्न में रुकावट आ जाती है। किसी भी कारण से जिसका यत्न पूरा नहीं हुआ पर 'श्रद्धया उपेतः' गुरु और शास्त्र के वचन में पूर्ण श्रद्धा वाला है अर्थात् उसके अंदर संदेह नहीं रखता है, वह यदि 'योगाच्चलितमानसः' योग में जैसा स्थिर होना था वैसा स्थिर नहीं हो पाया, मन चलित रह गया तो 'योगसंसिद्धिम् अप्राप्य' योग की संसिद्धिसम्यक् ज्ञान और उसका फल मोक्षको नहीं पाकर 'कां गतिं गच्छति?' क्या गति पाता है? यहाँ पुण्य न करने से न पितृलोक को जा सकता है, उपासना भी न करने से न ब्रह्मलोक को जा सकता है, पाप न करने से न नरक लोक को जा सकता है; वह किस गति को प्राप्त होगा? ।३७।।

अर्जुन ने उस श्रद्धालु साधक की मरणोत्तर गति का प्रश्न उठाया जो समय या वैराग्य की कमी से तत्त्वनिष्ठा नहीं पा सका और ऐहिक-आमुष्मिक विषयों में राग न होने से शास्त्राज्ञानुसार कर्म-उपासनाएँ छोड़कर ही जीवन बिताता रहा। अतः पितृयाण और देवयान की उसे प्राप्ति संभव नहीं, पाप न करने से नरक जायेगा नहीं तो क्या कीट-पतंग आदि गतियाँ पायेगा? उपनिषत् ने ये तीन ही प्रधान गतियाँ बतायी हैं अतः मोक्षप्रद आत्मज्ञान से वंचित की गति का प्रश्न संगत है। प्रश्न को ही और स्पष्ट करता है

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

हे महाबाहो! ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग पर मोहवशीभूत (अतः गन्तव्य तक न पहुँच पाया) वह बेसहारा साधक क्या कर्म व योग इन दोनों के मार्ग से भटका वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे तेज़ हवा से हलका बादल?

बाह्य कर्म और मानसिक कर्म अर्थात् उपासना, इन्हें छोड़ चुकने के कारण इनसे भ्रष्ट हो गया और ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई इसलिए ज्ञान से भी भ्रष्ट हो गया अतः 'उभयविभ्रष्टः', दोनों तरफ से भ्रष्ट है। लोक में प्रायः यही कहा जाता है कि कर्म-उपासना तुमने छोड़ दिये और ज्ञान प्राप्त नहीं किया तो बिल्कुल भ्रष्ट हो जाओगे। ऐसा कहने वाले ज़ोर देते हैं कि कर्म-उपासना को मत छोड़ो ताकि यदि ज्ञान प्राप्त नहीं होगा तो कर्म और उपासना तुम्हें सद्गति तो दे ही देंगे। 'छिन्नाभ्रमिव नश्यति' जैसे

कोई बादल जा रहा है, उसमें से एक छोटा टुकड़ा टूट गया तो प्रायः वह छूटा हुआ टुकड़ा आगे जाने वाले किसी बादल से मिल जाता है तो उसका वर्षा में विनियोग हो जाता है। पर कई बार ऐसा होता है कि आगे का बादल तेजी से चला गया, पीछे के बादल से टुकड़ा छूट ही गया था, तो हवा उस छोटे से टुकड़े को टुकड़े-टुकड़े करके नष्ट कर देती है। इसी प्रकार, कर्म के द्वारा जो मिलता, वह छूट गया क्योंकि सर्वकर्मसंन्यास कर दिया; योग से जो फल मिलता मोक्ष, वह ज्ञान की सिद्धि न होने से नहीं मिला, तो बीच में उस बादल की तरह वह क्या नष्ट हो जाएगा? या नष्ट नहीं होगा, कोई और गति पायेगा? 'अप्रतिष्ठः' बिना प्रतिष्ठा का अर्थात् बिना आश्रय का हो चुकने से उसके बारे में प्रश्न है। मनुष्य को या कर्म का अश्रय है या ज्ञान का आश्रय है। इसका कर्म का आश्रय भी चला गया और ज्ञान का आश्रय भी सफल हुआ नहीं, इसलिए निराश्रय हो गया, इसका कोई सहारा रहा नहीं। 'ब्रह्मणः पथि विमूढः' ब्रह्म के मार्ग में चला पर विमूढ अज्ञानी ही रह गया, उसका फल भी पा न सका। और चूंकि योग-मार्ग की सिद्धि हुई नहीं इसलिए वह आश्रय भी मिला नहीं अतः निराश्रय हो कर नष्ट हो जाता है या नहीं? यह प्रश्न है।

सम्बोधन दिया 'महाबाहो!' भगवान् ने भी सम्बोधन दिया था 'महाबाहो!' भगवान् की ध्वनि थी कि तू मन को वश में कर सकता है क्योंकि तून पहले बड़े-बड़े असंभव काम किए हैं। अर्जुन भगवान् को याद दिलाता है कि आपने भी बड़े-बड़े राक्षसों को मारा है, अतः जो आपके रास्ते में चला उसका आप उद्धार कर सकते हैं, वह सर्वथा नष्ट हो जाए, यह तो ठीक नहीं। उनकी सद्गति लगती तो असंभव है क्योंकि कर्म भी नहीं, ज्ञान भी नहीं, लेकिन जैसे मन का निग्रह करना असंभव लगता है पर भगवान् ने कहा, था कि 'तू कर सकता है', ऐसे ही अर्जुन का कहना है कि 'आप महाबाहु हैं। अतः जिस कार्य को करने का उपाय सहज नहीं लगता वह भी आप कर ही सकते हैं।' ।३८।।

अर्जुन प्रश्न को समाप्त करते हुए उत्तर की प्रार्थना करता है

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

हे कृष्ण! क्योंकि आपसे अतिरिक्त कोई व्यक्ति यह संशय मिटा सके यह संगत नहीं है इसलिये यही उचित है कि मेरा यह संशय आप ही पूरी तरह मिटायें।

हे कृष्ण! आप केवल महाबाहु ही नहीं, कृष्ण भी हैं, सब प्राणियों को फल देने वाले आप ही हैं इसलिए चाहे देवयान से ले जाएँ, चाहे पितृयान से ले जाएँ, चाहे नरक ले जाएँ, सर्वत्र खींचकर, कर्षण करके ले जाने वाले तो आप ही सर्वज्ञ परमात्मा हैं। इसलिए मेरा जो यह संशय है, इसको आप ही काटने में समर्थ हैं। कोई चाहे ऋषि

हो, चाहे देवता हो, वह इस बात का जवाब नहीं दे सकता। कर्म से क्या होता है, उपासना से क्या होता हैइतना तो शास्त्र के द्वारा जान कर देव भी कह सकते हैं, ऋषि भी कह सकते हैं, लेकिन इन दोनों से जो निराश्रय है, उसकी क्या गति हैयह आप ही जान सकते हैं क्योंकि आप ही सबको ले जाने वाले हैं, कर्षण करने वाले हैं।

संशय अर्थात् द्विकोटिक ज्ञान। ठीक मार्ग में लगा है इसलिए इसका कल्याण होना चाहिएयह भी संगत है; और शास्त्र में कहे हुए कर्म-उपासना दोनों छोड़कर ज्ञान की भी सिद्धि प्राप्त की नहीं, अतः सद्गति संभव नहीं हैयह भी समझ में आता है। दोनों ही बातें एक-जैसी लग रही हैं, इसलिए संशय है। 'अशेषतः छेत्तुमर्हसि' कुछ भी संशय बाकी नहीं रह जाएऐसा इसका छेदन आप ही कर सकते हैं। बाकी लोग अपने ज्ञानानुसार थोड़ा-बहुत जवाब देंगे लेकिन निश्चित नहीं कह सकते। किसी आदमी की मर कर क्या गति हुई हैइस विषय में सिवाय भगवान् के और कोई सर्वज्ञ नहीं है जो बतला सके। 'अशेषतः' अर्थात् निश्चित रूप से, कोई शंका न रह जाए ऐसा। इस संशय को काटने वाला 'त्वदन्यः न ह्युपपद्यते' आपको छोड़कर और कोई होना उपपन्न ही नहीं है। किसी भी युक्ति से कोई दूसरा इस संशय को काट सके, यह समझ में आने वाली बात नहीं है। दूसरा जो भी कहेगा वह परोक्षता से ही कहेगा, आप ही इसको ठीक-ठीक बतला सकते हैं। इस प्रकार अर्जुन ने अपना संशय प्रकट किया।।३९।।

भगवान् जवाब देते हैं

श्रीभगवानुवाच
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

श्री भगवान् ने कहाहे पार्थ! हे तात! इहलोक और परलोक में उसका विनाश नहीं है क्योंकि कोई कल्याणकारी व्यक्ति दुर्गति नहीं पाता।

भगवान् ने अपना अन्तिम निर्णय बतला दिया, किसी संदेह का मौका नहीं छोड़ा। 'हे पार्थ!' पार्थ-संबोधन से बतलाते हैं कि तू मेरा इतना नज़दीकी व्यक्ति है इसलिए इस बात का जवाब मैं बिल्कुल स्पष्ट रूप से देता हूँ। 'इह तस्य विनाशः नैव' इस लोक में उसका नाश नहीं है। इस लोक में नाश अर्थात् शिष्टों के द्वारा उसको हेय, बुरा समझना। हम लोगों के प्राचीन दृष्टिकोण में शिष्ट पुरुषों के द्वारा निंदा बहुत ही दुःख की बात मानते हैं। 'उत्तमा यश इच्छन्ति मानमिच्छन्ति मध्यमाः अधमा धनमिच्छन्ति'; उत्तम लोग यश चाहते हैं कि अच्छे लोग उन्हें बुरा न कहें, अच्छा कहें। मध्यम लोग चाहते हैं कि लोग उनको सम्मान देवें। अधम लोग चाहते हैं कि धन मिले। आजकल यही प्रवृत्ति है कि चाहे जितना अपयश हो जाए, लोग बुरा कहें, लेकिन किसी तरह से धन मिल जाए। इस लोक में विनाश यह है कि शिष्ट पुरुष अपकीर्ति करें। जिसके बारे

में अर्जुन ने पूछा है ऐसे साधक का यही नहीं होता क्योंकि शिष्ट लोग इस बात को जानते हैं कि वह कल्याण के रास्ते में लगा था, उसने किसी संसार के पदार्थों के राग के कारण कर्मों का त्याग नहीं किया, आलस्य के कारण कर्मों का त्याग नहीं किया वरन् श्रेष्ठ योग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए किया है। अतः वे उसके कर्मत्याग की कभी भी निन्दा नहीं करते।

और 'तस्य विनाशः अमुत्र न विद्यते।' यद्यपि मूल रूप से 'का गतिः' का मतलब यही है कि मर कर क्या गति होती है, इस विषय में ही लोग 'गति' कहते हैं, तथापि साथ में कहा 'अशेषतः' इसलिए भगवान् ने मरकर क्या गति होती है वह भी बतला दिया और मरने के पहले क्या गति होती है, यह भी बतला दिया कि इह लोक में अपयश की प्राप्ति नहीं होती। और 'अमुत्र' अर्थात् मर कर भी नाश नहीं होता। जैसा अब है उससे हीन जन्म की प्राप्ति होवे तब नाश कहा जाएगा। योग मार्ग में लगा हुआ ज्ञान की सिद्धि नहीं करता है तब भी यहाँ से श्रेष्ठ जन्म ही होता है। हीन जन्म की प्राप्ति नहीं होती। अर्जुन ने कहा था 'अप्रतिष्ठः' उसके पास कोई कर्म या उपासना का आश्रय नहीं है; उसके जवाब में कह दिया कि आगे भी उसको हीन जन्म की प्राप्ति नहीं होगी, श्रेष्ठ जन्म की ही प्राप्ति होगी। इस प्रकार दोनों लोकों में योगभ्रष्ट का नाश नहीं है।

ऐसा क्यों? तो भगवान् सामान्य नियम बताते हैं कि 'कश्चिद् कल्याणकृत् दुर्गतिं न गच्छति' जो कल्याण का काम करता है, शुभ काम करता है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। भगवान् ने यह बहुत बड़ी बात सबको उत्साह देने के लिए कही है कि कल्याण का काम करते हुए कोई किसी दुर्गति को नहीं प्राप्त करता है। जिस काम को कर रहा है, उसमें सिद्धि मिले या न मिले, परंतु दुर्गति कभी नहीं हो सकती। ऐसा नहीं हो सकता कि शुभ करते हुए सफलता न मिली तो उसकी दुर्गति हो जाए। अर्जुन से भी भगवान् ने कहा था कि यह धर्म युद्ध है, धर्म के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध है। अगर इसमें तुमको सफलता नहीं मिली अर्थात् जीते नहीं, मारे गए, तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी और अगर जीत गए तो राज्य की प्राप्ति होगी। शुभ कर्म में लगने पर सफलता मिले या असफलता मिले, दुर्गति नहीं होती। यह एक बड़ा भारी संदेश है क्योंकि लोगों के मन में शंका रहती है कि अगर असफलता रही तो सब जायेगा। किंतु ऐसा नहीं है। सत्य बोलने से हम मुकदमा हारे तो भी सत्य बोलने के फल से हमारी सद्गति है और मुकदमा जीते तो जिस काम के लिए हमने प्रयत्न किया था उसमें सफल हो गये। सत्य बोल कर मुकदमा हारें या जीतें, दोनों में बुरी गति नहीं होती। झूठ बोलकर मुकदमा हारें, तो यहाँ भी कुछ नहीं मिला और आगे के लिए भी पाप इकट्ठा हो गया, दुर्गति का रास्ता खुल गया। और अगर जीत गये, तो यहाँ का रास्ता खुलने पर भी परलोक का रास्ता रुक ही गया। अतः सफलता-असफलता को इह लोक में ही न देखकर शुभ

कार्य ही करना चाहिए, अशुभ कार्य नहीं करना चाहिए, यह यहाँ भगवान् ने स्पष्ट कर दिया।

भगवान् अर्जुन को कहते हैं 'तात' 'तातस्तु जनकः पिता' तात पिता को कहा जाता है। शिष्य अर्जुन को भगवान् ने तात कैसे कह दिया? 'तनोति आत्मानं पुत्ररूपेण' पुत्र रूप से पिता अपना ही विस्तार करता है इसीलिये तात है। चूंकि अपना विस्तार पुत्र-रूप से करता है इसलिए पुत्र को भी तात कह सकते हैं। उपनिषद् के अंदर कहा है कि आदमी के तीन जन्म होते हैं। तीसरे जन्म में पुत्ररूप से वह खुद ही जन्म लेता है। इसलिए श्रुति ने कहा है 'आत्मा वै पुत्रनाम'। इसी दृष्टि से पुत्रस्थानीय शिष्य को भगवान् ने तात कह दिया। शिष्य के हृदय में गुरु का ही ज्ञान जाता है। ज्ञान अनेक नहीं है। अन्तःकरण की वृत्तियों से होने वाले तो अन्तःकरण-भेद से अलग-अलग हैं। तुम्हारे अन्तःकरण से जो क्षणिक ज्ञान हुआ वह तुम्हारे अन्तःकरण का ज्ञान या तुम्हारा ज्ञान, हमारे अन्तःकरण से जो ज्ञान हुआ वह हमारा ज्ञान, हमारे अन्तःकरण की उपाधि से होने वाला ज्ञान। परंतु ब्रह्माकार वृत्ति से जिस ज्ञान-रूप ब्रह्म का प्राकट्य होता है, वह ज्ञानरूप ब्रह्म तो एक ही है। तुम्हारे अन्तःकरण की वृत्ति ने अज्ञान को नष्ट कियायहाँ तक तो तुम्हारे अन्तःकरण की वृत्ति है, लेकिन अज्ञान को नष्ट करने के बाद ज्ञानस्वरूप ब्रह्म जो प्रकट हुआ, वह तो वही ब्रह्म है जो गुरु को प्रकट हुआ था। अलग-अलग ब्रह्म तो हैं नहीं कि तुमको एक प्रकट हो, हमें अलग प्रकट हो! अविद्या निवृत्त होने पर एक ही ब्रह्म प्रकट होता है। गुरु के लिये विधान किया कि जिस तत्त्वज्ञान से धर्म-अधर्म आदि सबको छोड़ता है उस ज्ञान को शिष्य के हृदय में छोड़े। जो तुम्हारा ज्ञान है उसे तुम शिष्य के हृदय में प्रकट करते हो, यही तुम्हारी ओर से उसका त्याग कहा जाता है। इसलिए जैसे पुत्र आत्मा का स्वरूप है वैसे ही शिष्य भी, क्योंकि गुरु का जो आत्मज्ञान वही शिष्य-हृदय में प्रकट होता है। इसलिए उसको भी तात कह देते हैं। कुछ कोशकार अनुकम्पनीय के लिये भी तात-शब्द स्वीकारते हैं, तदनुसार शिष्य के लिये तात कहना उचित ही है।।४०।।

योगभ्रष्ट यदि कुत्सित गति को प्राप्त नहीं होता तो फिर किस गति को प्राप्त होता है? यह भगवान् बताते हैं

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

योगमार्ग में प्रवृत्त किंतु जीवनकाल में तत्त्वनिष्ठ न हो पाया संन्यासी मरने के बाद पुण्यकारियों के लोकों में पहुँचकर, दीर्घ समय वहाँ रहकर, पुनः ऐसों के घर जन्म लेता है जो शास्त्रानुसारी जीवन-यापन करते हैं तथा वैभवसम्पन्न हैं।

पुण्य कर्म करने वालों को जिन दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है, वे ही साधक प्राप्त

करता है। जहाँ पञ्चाग्नि-विद्या का उपनिषदों में फल कहा है वहाँ साथ ही बताया है कि पञ्चाग्निवेत्ता अर्थात् पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले जहाँ जाते हैं वहीं सत्य और श्रद्धा का सेवन करने वाले आरण्य भी जाते हैं (छां. ५.६.१)। जो संन्यासी श्रद्धा वाला है, जिसे यहाँ कह भी दिया 'श्रद्धयोपेतः', और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि स्वरूप वाले ब्रह्म की उपासना में भी लगा हुआ है, वह पुण्यलोक पायेगा ही। कर्म और उपासना करने वाले जिन लोकों को जाते हैं, उन लोकों को प्रकृत साधक भी चला जाता है। अश्वमेध आदि यज्ञ करके जहाँ दूसरे लोग जाते हैं, वहाँ संन्यासी भी चला जाता है। वहाँ जाकर 'शाश्वतीः समाः'; शाश्वत वैसे नित्य को कहते हैं लेकिन यहाँ मतलब है, अतिदीर्घकाल, 'समाः' अर्थात् साल। वर्ष तो सीमित कालखंड है। अतः उसके साथ शाश्वत कह रहे हैं तो सापेक्ष नित्य ही हो सकता है, निरपेक्ष नित्य तो हो नहीं सकता। इसलिए अतिदीर्घकाल तक अर्थात् जितना उसका योगाभ्यास सिद्ध हुआ है, उसी हिसाब से वहाँ रहने का अनुभव करता है। जो पञ्चाग्निवेत्ता इत्यादि गए हैं पुण्य लोकों को, वे तो बचे हुए कर्मों के अनुसार पैदा होंगे। जिसका प्रसंग चल रहा है, इस साधक ने कर्म और उपासना तो सब छोड़ रखे हैं, अतः यह कहाँ पैदा होगा? 'शुचीनां श्रीमतां गेहे।' यह पैदा होगा श्रीमानों के घर में अर्थात् ऐश्वर्य वालों के घर में जैसे जनक, अश्वपति आदि। कर्म-उपासना छोड़ दिये लेकिन जो किया वह शुभ है, कल्याण है, इसलिए ऐश्वर्य वाले बड़े राजा इत्यादि के घर पैदा होता है।

राजा इत्यादि के घर पैदा होगा तो क्या भोग-परायण हो जाएगा, फिर संसार के चक्र में पड़ जाएगा? इसके जवाब में भगवान् कहते हैं कि 'शुचीनां' जो विभूति वाले होकर भी परमात्मा के मार्ग में लगे होने के कारण सत्कर्म-परायण लोग हैं, वहीं पैदा होता है। मनुष्य पैदा होकर दो चीज़ों से ही अपना निर्माण करता है : कुछ तो उसको वंशानुगत लक्षण मिल जाते हैं। माँ-बाप में जैसा गुणादि होता है, वैसा ही बच्चे में आ जाता है जिसका आजकल बड़ा भारी आनुवंशिकी का विज्ञान बना दिया है। माता-पिता शुचि होने के कारण वंशानुगत उसके अंदर सत्कर्मपरायणता ही आती है। दूसरी चीज़ मनुष्य को बनाने-बिगाड़ने वाली है परिवेश। जिस परिवेश में रहता है तदनुसार व्यक्तित्व बनता है। कई बार देखने में आता है कि वंशपरंपरा के विरुद्ध व्यक्तित्व बन जाता है। जिन कुलों की सैकड़ों पीढ़ियों में संन्ध्यावंदन नहीं छोड़ा गया उन्हीं में पैदा हुए बच्चे जनेऊ तक नहीं पहनते! जहाँ हमेशा बुजुर्गों की सेवा होती रही उन्हीं घरों के बच्चे बड़े-बूढ़ों का तिरस्कार करते देखे जाते हैं।

जैसे वंशानुगत गुण-दोष आता है वैसे ही परिवेश से भी गुण-दोष आते हैं। हमने उन बच्चों को जिन स्कूलों में भेजा वहाँ किस-किस प्रकार के बच्चे व अध्यापक एकत्र होते थे, अध्यापक क्या-क्या पढ़ाते थे इत्यादि की जाँच करें तो समझ आयेगा कि परिवेशवश यह प्रभाव है। हमारे संस्कारों से बिल्कुल विपरीत उनको वहाँ परिवेश

मिला। उसके बाद काम-काज में लगे, वहाँ भी हम से विरुद्ध परिवेश मिला। वंशक्रम ठीक मिलने पर भी यदि परिवेश विरोधी होता है तो उलटा प्रभाव पड़ता है क्योंकि वह भी मनुष्य को बनाता-बिगाड़ता है। वंश-परम्परा और परिवेश इन दो से ही व्यक्तित्व बनता है। योगभ्रष्ट क्योंकि पवित्र घरों में पैदा होगा इसलिए वंशानुगत भी इसके अंदर पवित्रता आएगी और चूंकि पवित्र वातावरण भी मिलेगा इसलिए उसका विकास उचित दिशा में ही होगा। पहले ब्रह्मपुरी में खाली ब्राह्मण ही रहते थे, कोई दूसरी जाति वाला वहाँ मकान नहीं ले सकता था। सुनारों के पास सुनार ही रहते थे, लुहारों के पास लुहार ही रहते थे। शादी-ब्याह भी अपने ही वर्ण वालों में होता था। ब्राह्मण अपने घर में सुनता भी यही था'अरे! तुम्हारे काका जी तो तीन वेद जानने वाले थे।' विद्या की प्रशंसा सुनकर विद्यार्जन की ही प्रेरणा पाता था। ननिहाल में, मामा के घर में भी वे ही बातें होती थीं। और भी सब साथी ब्राह्मण ही होते थे, उनसे भी ऐसी ही प्रेरणा मिलती थी। अतः प्रायः ब्राह्मणों का व्यक्तित्व विद्या-प्रधान होता था। इसलिए मालवीय जी कहा करते थे कि 'बाकी सब चीज़ों में हम एक हैं परंतु रोटी-बेटी अपनी-अपनी।' प्रायः जिसके साथ खाना-पीना होता है, उसी के साथ मिलना-जुलना पड़ता है। रोटी अपनी रहेगी तो दूसरों से बातें होंगी नहीं। और बेटी अपनी होगी तो अपने रिश्तेदारों का भी वातावरण वही होगा। धीरे-धीरे हमारे समाज में दोनों तरफ की गड़बड़ी आयीः खान-पान सबके साथ होने लगा अतः मैत्री आदि में प्रतिबंध न रह जाने से कोई स्पष्ट वातावरण नहीं रहा। ब्राह्मण का उठना-बैठना बनियों के साथ होगा, रोज़ धन की महिमा सुनेगा तो विद्या से विमुख होकर धन को ही प्रधान मानने लगेगा, उसका चरित्र बदल जायेगा। और अन्तर्जातीय विवाहों के कारण वंशानुगत गुणों का भी नियंत्रण समाप्त हो गया। अतः अब व्यक्तित्व के निर्माण के दोनों घटक अनियंत्रित होने से सभी का व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता जा रहा है।

किंतु भगवान् कहते हैं कि योगभ्रष्ट तो वंश और वातावरण दोनों तरह से शुचि गृहस्थों के घर ही जन्मेगा अतः उसका उचित ही विकास होगा। यह जन्म दुर्लभ है। कर्मानुसार तो कभी घर शुचि मिला तो श्रीसम्पन्न नहीं मिलेगा, श्रीसम्पन्न मिला तो शुचि नहीं मिलेगा किंतु योगभ्रष्ट तो नियम से शुचि व श्रीसम्पन्न घर में जन्म लेगा। इसलिए आगे भी उससे शुभ कर्म ही होगा। जनक विदेह के बारे में कहा जाता है कि उस कुल में अठारह पीढ़ियों तक सब विदेह हुए! इसलिए उस परिवार को ही विदेह परिवार कहने लगे। एक-जैसा वातावरण होने पर, एक-जैसी आनुवंशिक परम्परा होने पर पुनः सत्कर्म की ओर जाना सरल होता है।

योगभ्रष्ट का पुनर्जन्म वैभव-सम्पन्न घरों में क्यों होता हैइस पर टीकाकार आनन्दगिरि स्वामी ने कहा है 'वैराग्याभावविवक्षया विभूतिमतां गृहे जन्मेति विशेष्यते'। योगमार्ग पर चलते हुए भी परम निष्ठा नहीं पा सकने में एक मुख्य कारण होता है

वैराग्य की कमी। उसी से अभ्यास में भी शिथिलता हो जाती है। ऐसे साधक को पुण्य लोकों में भी भोग मिलते हैं और पुनर्जन्म भी ऐश्वर्य-संपन्न घरों में होता है। किंतु यदि वैराग्य नहीं उपजा पाया तो शुचिता रखते हुए भी भोग में लग जायेगा, प्रारंभ से ही परमात्ममार्ग पर नहीं चल देगा। शुचि घर के कारण अवसर तो उपलब्ध रहेगा पर भोगोन्मुखता की सम्भावना भी रहेगी। इसलिये यह जन्म दुर्लभ तो है पर इससे भी दुर्लभ जन्म संभव है यह अगले श्लोक में बतायेंगे।।४१।।

जो योगाभ्यासी विरक्त तो पूर्ण था पर विपरीत प्रारब्ध आदि के कारण अभ्यास पूर्ण नहीं कर पाने से योगभ्रष्ट हुआ, उसे पुण्य लोकों के व्यवधान से या उनके व्यवधान के बिना भी अत्यन्त दुर्लभ जन्म मिलता है यह बताते हैं

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अथवा वह बुद्धिमान् योगियों के ही कुल में पैदा होता है। लोक में ऐसा जो जन्म है वह अवश्य दुर्लभतर है।

'अथवा' अर्थात् जिसमें वैराग्य की पूर्णता थी, अभ्यास की कमी रह गयी थी, उसका जन्म होता है जो योगी हैं उनके कुल में। 'योगिनाम् एव' अर्थात् ऐश्वर्य वालों से भिन्न अर्थात् जिनके पास ऐश्वर्य नहीं है। आचार्य शंकर कहते हैं 'दरिद्राणां कुले।' भोग की इच्छा तो उसको थी नहीं इसलिए ऐश्वर्य वाले घर में वह जाना चाहेगा नहीं। क्योंकि प्रायः जहां ऐश्वर्य धन आदि होता है, वहाँ भोग की तरफ प्रवृत्ति होती है, भोग की संभावना होती है। भगवान् ने अन्यत्र स्पष्ट कहा है कि जिन पर मैं अनुग्रह करता हूँ उनके धन का मैं धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ। धन के कारण ही मनुष्य की भोगों में प्रवृत्ति होती है; धन न होने पर यदि भोग की कोई इच्छा भी हुई तो वहीं खत्म हो जाती है। जैसे बाजार में गए, बढिया चाट मिल रही है, तो मन में आ गया 'चाट खा लेवें।' पर यदि पास में पैसा ही नहीं है तो खा न सकने से इच्छा वहीं ख़त्म करनी पड़ेगी। अगर अविवेकी हो, तब तो धन कमाने की सोचोगे, पर यदि विवेक वैराग्य से संपन्न हो तो विचार से इच्छा को काट दोगे। सोचोगे कि धन न होने से आज चाट नहीं खायी इसलिये पेट खराब होने से बच गये। अतः दरिद्र कुल में जन्म को श्रीसम्पन्न कुल के जन्म से बेहतर माना। योगभ्रष्ट का जन्म कैसे दरिद्रों के घर होता है? 'धीमताम्।' कई ऐसे भी योगी, हठ-योगी होते हैं, जो योगी तो हैं परंतु वेदान्त के संस्कारों से रहित हैं, श्रवण-मनन से रहित हैं। उनकी व्यावृत्ति के लिये कहा 'धीमताम्'; जो न केवल दरिद्र वरन् बुद्धिमान् भी हैं, श्रवण-मनन के द्वारा आत्म-स्वरूप को जानने वाले भी हैं, निरंतर उसी के अंदर स्थित रहने का अभ्यास करने वाले हैं। ऐसे दरिद्र, श्रवण-मनन के संस्कारों से युक्त, निरंतर ब्रह्म-संस्थता को प्राप्त करने में

लगे हुए कुल में योगभ्रष्ट का जन्म होता है। साधारण लोग दरिद्रों की अपेक्षा धनिकों के घर जन्म बेहतर समझते हैं, उन्हे भ्रम न हो जाये कि पूर्व श्लोकोक्त जन्म बेहतर है इसलिये भगवान् ने स्पष्ट किया कि यही जन्म अधिक दुर्लभ है। वैराग्य की पूर्णता होने के कारण ही ऐसा जन्म संभव है। पहले जो कहा था ऐश्वर्य वाले पवित्र घरों में पैदा होना, वह भी दुर्लभ है, परंतु यह जन्म दुर्लभतर है, मिलना और भी मुश्किल है। प्रायः धीमान् हो और योगी हो तो पुत्र आदि उत्पन्न करने में प्रवृत्त ही नहीं होगा। प्रायः ऐसों की प्रवृत्ति पुत्रादि-उत्पादन में होती ही नहीं। फिर भी किसी प्राचीन कर्म के फल-स्वरूप ऐसी प्रवृत्ति होती भी है, जैसे व्यास जी से शुकदेव पैदा हो गये, अतः असंभव नहीं, दुर्लभतर है, होना अत्यन्त कठिन है।।४२।।

ऐसे माता-पिता होना कठिन है यह तो एक बात हुई, लेकिन ऐसों के घर उत्पन्न होकर कोई खास विशेषता आ जाती है क्या? इसका जवाब देते हैं

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

हे कुरुनंदन! उस जन्म में वह उसी आत्मविषयक बुद्धि से संबंध पा लेता है जिसके लिये पूर्व शरीर में साधना की थी और मोक्ष के लिये वह पूर्वकृत की अपेक्षा अधिक प्रयत्न करता है।

भगवान् बताते हैं कि बुद्धिमान् योगियों के घर जन्म में क्या विशेषता हैः पहले तो योगी-बुद्धिमान् माता-पिता मिलना दुर्लभतर होने से विशेष है, फिर वहाँ अर्थात् योगी कुल में उसे यह बुद्धि प्रारंभ से ही आ जाती है कि जीवन का एकमात्र उद्देश्य परमात्म-प्राप्ति है। पूर्व जन्म में भी उसने अभ्यास-पूर्वक निश्चय किया था कि एकमात्र परमात्मा ही पाने के योग्य है, और कोई चीज़ संसार में पाने के योग्य नहीं है। सामान्य रूप से चार पुरुषार्थ मान लिए जाते हैं। काम एक पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति का साधन अर्थ भी पुरुषार्थ मानते हैं क्योंकि पुरुष जैसे काम-भोग को चाहता है वैसे ही उसकी प्राप्ति के साधन अर्थ को भी चाहता है। पुरुष जिसकी अर्थना, प्रार्थना, इच्छा करे उसे पुरुषार्थ कहते हैं। व्यक्ति जैसे बढ़िया गद्दे पर सोना चाहता है वैसे ही उस गद्दे को खरीदने के लिए पैसा भी चाहता है। दोनों ही उसके द्वारा चाहे जाते हैं अतः दोनों ही पुरुषार्थ हुए। धन की प्राप्ति बिना धर्म के होती नहीं। इसीलिए भाषा के किसी कवि ने कहा है 'सकल पदार्थ हैं जग माहि, कर्महीन नर पावत नाहीं।' कोई ऐसी कामना तुम्हारी नहीं है जिसको पूर्ण करने वाला पदार्थ संसार में न होवे। जिसकी कभी भी किसी को भी कामना होती है, वह पदार्थ तो संसार में है, परंतु जब तक पुण्य का उदय नहीं होता तब तक उसकी प्राप्ति होती नहीं। केवल धन से भी पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती। बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जिनको प्राप्त करने की इच्छा तो होती है परंतु

धन पास में होने पर भी उनकी प्राप्ति नहीं होती। हम ऐसे कई लोगों को जानते हैं जो सारी दुनिया में जाकर टक्कर मार कर आ गए परंतु उनके बच्चा नहीं हुआ, दुनिया-भर के अनुष्ठान भी कर लिए परंतु संतति हुई ही नहीं। दूसरी तरफ, भारत सरकार परेशान है कि लोगों के बच्चे बहुत होते हैं! सरकार कहती है बच्चे कम करो और कई बेचारों ने सारा प्रयत्न कर लिया पर कोई बच्चा नहीं हुआ। तो, धन से कहाँ बेटे की प्राप्ति हुई! धन भी कई बार साधन बन जाता है परंतु असली चीज़ है पुण्य। उस पदार्थ के भोग के लिए जो पुण्य चाहिए वह नहीं किया हुआ है तो पदार्थ नहीं मिलेगा। इस तरह काम पुरुषार्थ है, काम को प्राप्त कराने वाला अर्थ पुरुषार्थ है, और इनको प्राप्त कराने वाला धर्म भी पुरुषार्थ है। पुरुष इन सबकी अर्थना रखता है इसलिए ये तीनों पुरुषार्थ हैं। इसी प्रकार से जब कभी दुःखी होता है तब दुःख की निवृत्ति चाहता है। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति रूप जो मोक्ष है वह भी पुरुषार्थ है। यद्यपि चारों पुरुषार्थ हैं तथापि प्रथम तीन चौथे के साथ इकट्ठा रहना नहीं बनता, क्योंकि मोक्ष है आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति जबकि कामजिसके लिए अर्थ और धर्म की ज़रूरत हैवह है क्षणिक दुःख-निवृत्ति। क्षणिक निवृत्ति और आत्यन्तिक निवृत्ति एक साथ नहीं रह सकती। क्षणिक निवृत्ति चाहने से जीव जब हटे तब आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति चाहेगा। अन्यथा, क्षणिक दुःखनिवृत्ति में ही मनुष्य का सारा परिश्रम चला जाता है, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति के लिए न उसको बुद्धि रहती है, न समय रहता है। क्षणिक दुःख तो मानो दण्डा लेकर सामने खड़ा हो जाता है, वह निवृत्त न हो तो मन अत्यन्त विक्षिप्त हो जाता है। रोग से पीडा तीव्र हो तो बस, उसे दूर करना ही एकमात्र इच्छा होती है। किंतु दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की यों अनिवार्य ज़रूरत प्रतीत नहीं होती, उसे जितना टालना चाहो टाल सकते हो। क्षणिक निवृत्ति की आवश्यकता तो लगातार आती रहती है अतः प्राणी उसी के लिये यत्न करता रहता है, आत्यन्तिक निवृत्ति की कोशिश में लगता ही नहीं।

यह बुद्धिसंयोग दुर्लभ है कि आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का कारण जो परमात्मा उसी को पाने का प्रयत्न करना है। दुर्लभतर जन्म वाले को यह संयोग 'पौर्वदेहिक' से प्राप्त होता है। पूर्व देह में वैराग्य की साधना के कारण ही उसे योगी के घर जन्म मिला, उसमें विरक्ति सहज है। संस्कृत में 'वि-रक्ति' का 'रक्ति से विरुद्ध' तथा 'विशेष रक्ति' दोनों अर्थ हैं : 'परमात्मनि यो रक्तः, विरक्तोऽपरमात्मनि', परमात्मा में विशेष करके जो रक्त है, और अपरमात्मा अर्थात् अनात्मा के अंदर जो रक्त, रागवान् से विरुद्ध है। पूर्व जन्म में वैराग्य प्राप्त किया था, केवल अभ्यास की जिस-किसी कारण से कमी रहने से तत्त्वनिष्ठ नहीं हुआ था। इसलिए पौर्वदेहिक वैराग्य था जो यहाँ भी उपलब्ध हो जाता है। पूर्व देह में इतनी साधना कर रखी थी इसलिए इस दुर्लभतर जन्म में परमात्मा में विशेष प्रेम और तुच्छ भोगों के प्रति सर्वथा मन में राग न होनायह बुद्धिसंयोग प्राप्त

हो जाता है। 'ततः' जो पूर्व जन्म में एकत्र संस्कार थे उनके कारण 'भूयः यतते' और ज़्यादा प्रयत्न करता है। किस के लिए? 'संसिद्धौ', ब्रह्मसंस्थता की प्राप्ति के लिए, कि ब्रह्म में ही स्थिर हो जाये।

'हे कुरुनन्दन!' हे कुरुवंश को प्रसन्न करने वाले, कुरुवंश में उत्पन्न! कुछ लोगों ने यहाँ ऐसा माना है कि जैसे भगवान् अर्जुन को जगह-जगह अन्य बातें समझाकर कहते हैं 'इसलिए युद्ध कर' अर्थात् चूंकि तू उस सर्वकर्मों से निवृत्ति का अधिकारी नहीं है, अन्तःकरणशुद्धि का अधिकारी है, इसलिये अन्तःकरण-शुद्धि के लिए कर्म कर, वैसे ही यहाँ उनका अभिप्राय है कि तू कुरुवंश को अर्थात् श्रीसम्पन्न घरवालों को प्रसन्न करने वाला है इसलिए तू अभी कर्म का ही अधिकारी है, संसिद्धि का तू अधिकारी नहीं है।।४३।।

उसका पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोग क्या करता है यह बतलाते हैं

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

उसी पूर्वकृत अभ्यास से विवश हुआ भी वह (संसिद्धि के उपायों में) आकृष्ट होता है। योग के रास्ते चलने वाला आत्मजिज्ञासु भी कर्म-विधायक वेद के क्षेत्र से बाहर हो जाता है।

मनुष्य जिस चीज़ का एक जन्म में अभ्यास करता है, उसके संस्कार विद्यमान रह करके अगले जन्म में भी प्रर्वतक हो जाते हैं। फाइल रखने के दो तरीके हैंएक ब्रिटिश, दूसरा अमेरिकन। ब्रिटेन के अंदर ऐसा तरीका है कि जो पहला कागज़ आया वह सबसे ऊपर होगा और जो सबसे ताज़ा कागज़ है, वह सबसे नीचे होगा। इसलिए अगर इंग्लैंड के तरीके की फाइल है तो तुम को पहले पृष्ठ से अन्तिम पृष्ठ तक सारा इतिहास पता चल जाता है। अमेरिका का तरीका है कि पुराने कागज़ नीचे रहते हैं, नये कागज़ उनके ऊपर लगते जाते हैं। जो सबसे अन्तिम कागज़ है वह सबसे ऊपर रहता है। अमेरिकन ढंग की फाइल देखो तो तुम को पहले देखते ही पता लग जाता है कि आज की क्या स्थिति है, इस स्थिति तक कैसे पहुँचा गयायह जानना हो तो आगे-आगे कागज़ पलटते जाओ। भगवान् भी जो संस्कारों की फाइल रखते हैं वह अमेरिकन तरीके से रखते हैं। इसलिए तुम्हारे पहले इकट्ठे किए हुए जो संस्कार हैं वे नष्ट नहीं होते लेकिन नीचे दबे रहते हैं जबकि नए बटोरे हुए संस्कार ऊपर रहते हैं। अनुभव करके भी देखते हैं कि दसियों साल हिंदी, मारवाड़ी बोलते हैं, किसी निमित्त से पाँच-छह साल इंग्लैंड रह कर आते हैं तो हिंदी बोलने में दिक्कत हो जाती है। वहाँ हिंदी बोलने का काम ही नहीं पड़ा तो उसके संस्कार दब गए और अंग्रेजी के संस्कार प्रबल होकर जम गये। संस्कार नष्ट तो नहीं हुए हैं, लेकिन नीचे दब

गए हैं। अंग्रेजी का ताज़ा अभ्यास किया है इसीलिए उसी के संस्कार ज़्यादा सामने हैं। जो नए अनुभव होते हैं उनके संस्कार स्फुट रहते हैं, झट से सामने आते हैं। योगभ्रष्ट ने ठीक पूर्व के जन्म के अंदर अभ्यास किया है, श्रवण-मनन-निदिध्यासन का, ब्रह्मसंस्थिति का अभ्यास किया है, इसीलिए वे ही संस्कार ऊपर अर्थात् प्रबल हैं, बल वाले हैं। अतः उनके द्वारा ही वह प्रवृत्त किया जाता है। दूसरे संस्कार चाहे अनंत जन्मों के हैं पर दबे हुए हैं, ऊपर नहीं आ पाते। पूर्वाभ्यास से मतलब दस जन्म पहले के अभ्यास से नहीं है वरन् अव्यवहित पूर्वजन्म में जो अभ्यास किया, उससे है। वे बलवान् होकर उसको 'ह्रियते' उधर ही खींचकर ले जाते हैं। 'अवशोऽपि' मानो जबरदस्ती ले जाया जा रहा हो; अपनी तरफ से प्रयत्न न करने पर भी उधर ही प्रवृत्ति होती है। जैसे दस साल इंग्लैंड में रहकर आया तो चाहे भी कि हिंदी बोले पर चाहने पर भी अवश की तरह बीच-बीच में अंग्रेजी निकल जाती है। उसे ख्याल ही नहीं रहता कि अंग्रेजी बोल रहा है। इसी को अवश होना कहते हैं। इसी प्रकार योगभ्रष्ट को कोई सांसारिक सामान्य किसी कारण से यदि संसार की तरफ खींचे भी तो एक-आध कदम लेते ही उसको साधना के संस्कारों के कारण विरक्ति हो जाती है। योगभ्रष्ट साधना की ओर ही ले जाया जाता है, जहाँ पैदा हुआ वहाँ के भी वे ही संस्कार हैं एवम् पूर्वार्जित भी वे ही उद्बुद्ध हुए, इसलिये अतितीव्र प्रगति कर पाता है।

एक शंका होती हैः योगाभ्यास के संस्कार से अगर अधर्मादि-लक्षण कर्मों के संस्कार बल वाले होवें, तब क्या होग? योगभ्रष्ट है, इसलिए कुछ तो अभ्यास की कमी है ही, अर्थात् दूसरे संस्कार भी हैं ही; तो क्या उनसे योग के संस्कार अभिभूत हो जाते हैं? समाधान समझना चाहिये कि ऐसे अभिभव की प्राप्ति होने पर भी जैसे ही उस अधर्म के संस्कार का क्षय होता है वैसे ही तुंरत योग के संस्कार बलवत्तर होने से प्रकट हो जाते हैं अर्थात् हर हालत में योग के संस्कार ही बलवान् पड़ते हैं। ऐसा क्यों है? 'योगस्य जिज्ञासुरपि शब्दब्रह्मातिवर्तते' परमात्मा के मार्ग में चलने वाला जो अभी जिज्ञासु ही है वह भी शब्द-ब्रह्म को लाँघ जाता है। जो योगभ्रष्ट है वह जिज्ञासु है ही क्योंकि तभी संन्यास के बावजूद अभ्यास की कमी से योगभ्रष्ट हुआ। शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद। वेद में कहे हुए जितने कर्म और उपासना के वाक्य हैं उन सब को 'अतिवर्तते', उनसे परे हो जाता है। योग के संस्कार अन्य सब से अत्यन्त प्रबल पड़ते हैं। देखा जाता है कि जो इस मार्ग के अंदर जिज्ञासु होकर प्रवृत्त हो गया, वह कभी किसी विषय की कामना से प्रवृत्त होकर उस विषय की तरफ जाता ज़रूर है लेकिन जाने के साथ ही या थोड़ा आगे चल करके ही तुंरत उसके मन में आता है 'अरे! इतनी झंझट करने की अपेक्षा छोड़ो, इसमें क्या रखा है।' प्रत्येक सत्संगी को यह बात अनुभव में आती है। जो लोग सत्संगी नहीं हैं, वे जितना खुलकर संसार के पदार्थों की तरफ दौड़ते हैं, वैसा सत्संगी नहीं दौड़ पाता। वैराग्य की ऐसी पूर्णता तो नहीं है कि सर्वथा प्रवृत्त न

होवे, लेकिन प्रवृत्ति की तेज़ी को सत्संग रोक लेता है। झूठ बोलने की मन में आती है, छोटा-मोटा झूठ बोल भी लेते हैं, लेकिन जब बिल्कुल बड़े झूठ को बोलने की बात आती है तब कहता है 'अरे! इतना झूठ तो नहीं बोलेंगे।' *इतने* झूठ से बचाने वाला सत्संग ही है। इसलिए कहा कि जो जिज्ञासु भी इस रास्ते में चल पड़ा है वह भी कर्म-उपासना के संस्कारों से तो आगे चला ही जाता है तब योगभ्रष्ट उसको 'अतिवर्तते' पार कर जाता है इसमें कहना ही क्या है! कर्मादि संस्कारों को वह सर्वथा जीत ही लेता है और अवश हुआ फिर उसी प्रवृत्ति में लग जाता है जिसमें पूर्वभव में लगा था क्योंकि उसी के संस्कार बाकी सब कर्म-उपासनाओं के संस्कारों से प्रबल पड़ जाते हैं।

इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न का मूलभूत उत्तर भगवान् ने दे दिया : अर्जुन का संशय था कि जैसे टूटा हुआ बादल हवा में खत्म हो जाता है इसी प्रकार कर्म और उपासना छोड़ चुका और ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त न कर पाया साधक क्या सर्वथा नष्ट हो जाता है? भगवान् ने जवाब दिया कि कोई भी कल्याण करने वाला इस प्रकार से दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। यहाँ तक कह दिया कि इस मार्ग के अंदर जिसको जानने की इच्छा भी हो गई, जिज्ञासु भी हो गया, परमात्म-मार्ग पर चल पड़ा, वह भी बाकी सारे जितने शास्त्रीय कर्म और उपासनायें हैं, उनसे आगे चला जाता है।।४४।।

और भी कहते हैं कि योगी क्यों दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

प्रयत्नतः प्रयास करता रहने वाला योगी पापों से निवृत हो अनेक जन्मों में एकत्र प्रभूत संस्कारों से सम्पन्न होकर उनके बल पर सम्यग्ज्ञान पाकर परम गति प्राप्त करता है।

'प्रयत्नाद्यतमानः' जो जिज्ञासु होकर रुक नहीं जाता, वरन् प्रयत्नपूर्वक यत्न करने वाला है वह मोक्ष पाता है। 'जिज्ञासु भी कर्म-क्षेत्र से बाहर हो जाता है' कहकर ध्वनित की गयी जो ज्ञानी की श्रेष्ठता, उसे यहाँ मुखतः कह दिया। 'तु' से पक्ष-व्यावृत्त कर दिया कि जिज्ञासु नहीं, वरन् प्रयत्नपूर्वक साधनाभ्यासी की बात कर रहे हैं। उस योगी के 'संशुद्धकिल्बिषः' जितने पाप हैं सब नष्ट होते चले जाते हैं। यहाँ पाप से पुण्य भी समझ लेने चाहिए क्योंकि जैसे पाप नरकादि योनियों में ले जाने के कारण बनते हैं, जन्म-मरण से छुटकारा देते नहीं, ऐसे ही पुण्य स्वर्ग आदि में ले जाने के कारण हैं, जन्म-मरण से छुटकारा वे भी नहीं देते। योगी के सारे पाप-पुण्य नष्ट होते चले जाते हैं। जो प्रयत्न से यत्न कर रहा है परंतु सफलता नहीं मिलती है वह 'अनेकजन्मसंसिद्धः' होगा। कुछ किल्बिष इस जन्म में नष्ट हो जायेंगे, कुछ किल्बिष अगले जन्म में नष्ट

हो जायेंगे, कुछ किल्बिष उससे अगले जन्म में नष्ट हो जायेंगे, इस प्रकार एक जन्म में पर्याप्त न होने पर भी पुनः पुनः अभ्यास से संस्कार बलवत्तर होते हैं। हर अगले जन्म में वे संस्कार ही उद्बुद्ध होकर उसको उधर ही प्रवृत्ति कराते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे संस्कार इकट्ठे हो जाते हैं और अनेक जन्मों में उसको संसिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। अनेक जन्मों में धीरे-धीरे प्रयत्न करते हुए वह सम्यक् दर्शन को प्राप्त कर लेता है, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव कर लेता है।

यहाँ 'अनेक' शब्द का प्रयोग है। अनेक का अर्थ होता है एक से अधिक; 'न' मायने नहीं है एक; अर्थात् एक से ज़्यादा। परंतु संस्कृत भाषा में तीन वचन हैं एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। हिन्दी में तो दो ही वचन हैं, अतः एक नहीं तो बहुत हैं किंतु संस्कृत के अंदर एक नहीं होने मात्र से बहुत नहीं होते हैं। एक नहीं तो दो हो जाते हैं, दो से ज़्यादा हों तो उन्हें बहुवचन से कहते हैं। इसलिऐ जहाँ बहुवचन का प्रयोग वेद में आ जाता है वहाँ प्रश्न होता हैकितने समझे जायें? यही निर्णय है कि दो से अधिक तीन होने पर ही बहुवचन गतार्थ हो जाता है अतः बहुवचन-मात्र से समझनी पड़े तो तीन-संख्या समझनी चाहिये। यदि संख्या कही हुई है तब तो उतनी आवृत्ति आदि समझेंगे, परंतु केवल बहुवचन दिया है तो तीन ही समझेंगे। अतः अनेक आचार्यों ने माना है कि 'अनेकजन्म-संसिद्ध' अर्थात् साधक तीन जन्मों में सिद्ध हो ही जाता है। ऐसे कई दृष्टान्त भी मिलते हैं : भरत-रूप में एक जन्म, उसके बाद मृग शरीर में दूसरा जन्म और तीसरे जडभरत जन्म में वे सिद्ध हो गये। हर हालत में, चाहे तीन मानो, चाहे तीन से ज़्यादा जन्म मानो, इतना निश्चित है कि एक बार जो जिज्ञासु हो गया और यतमान हो गया, प्रयत्नपूर्वक लग गया साधना करने में, उसे चाहे कितने भी जन्म लगें, संसिद्ध हो ज़रूर जाता है, इसमें संदेह नहीं है।

इस प्रकार सम्यक् दर्शन को प्राप्त करके 'ततः' अर्थात् उस सम्यक् दर्शन से सिद्ध होकर 'पराम् गतिम् याति' जो मोक्ष-रूप ब्रह्मसंस्थत्व है, ब्रह्मनिष्ठत्व है, उसको प्राप्त कर लेता है। गति का अर्थ जाना भी होता है और ज्ञान भी। हिंदी में भी 'जाना' के दोनों अर्थ होते हैं'मैंने जाना' और 'मुझे वहाँ जाना है'; 'मुझे वहाँ जाना है'इसमें जाना का मतलब गति है और 'मैंने जाना'इसमें मतलब ज्ञान है। ऐसे ही संस्कृत में 'गति' के दोनों अर्थ हो जाते हैं। जो संसिद्ध हो गया, ब्रह्मनिष्ठ हो गया, उसके बारे में वेद कहता है 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' उसका मर कर कहीं जाना होता नहीं। अतः अभिप्राय है कि उस परम ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, जिस ज्ञान के बारे में वेद स्पष्ट कहता है कि उसे जानने के बाद फिर और कुछ बेजाना नहीं रह जाता, उसको जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। इसीलिए वह परम ज्ञान है। उस परम ज्ञान के फलस्वरूप वह परम ब्रह्मसंस्थत्व को प्राप्त कर लेता है।।४५।।

भगवान् ने बतलाया कि जितने कर्मादि होते हैं वे पूर्ण हो जाएँ तब तो फल होता

है और पूर्ण न होवें तो विफल चले जाते हैं। तुम यहाँ से हरिद्वार गंगास्नान करने गए। वहाँ पहुँच कर स्नान कर लिया तब तो पुण्य हो गया, परंतु लक्सर पहुँचते-पहुँचते तुम थक गए और वापिस आ गए तो तुम्हारे हाथ कुछ नहीं आएगा। इसी प्रकार युद्ध करने लग गए और युद्ध पूरा हो गया, तब तो उसका फल मिल जाएगा पर यदि बीच में ही कोई विघ्न आ गया और युद्ध पूरा नहीं हुआ तो जितना तुमने आधा-चौथाई युद्ध किया वह सब बेकार जायेगा। परंतु परमात्मा की प्राप्ति की साधना में लग कर सर्वकर्मत्याग-पूर्वक जो योगाभ्यास है उसकी यह विशेषता है कि जितना कर लिया, उतना आगे के लिए लाभदायक हो जाता है, जितना करते हो उतना भी सफल है क्योंकि तुमको बार-बार भगवान् मौका देते रहते हैं जिससे जितने समय में तुम कर पाओ उतना तुम्हें उपलब्ध हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में चलने वालों की यह विशेषता बतलाई। ज्ञान के रास्ते में यही बात होती है क्योंकि ज्ञान से तुम्हारे अन्तःकरण में संस्कार बनेंगे और जितने संस्कार बनेंगे उतनी उनकी दृढता होगी, वे व्यर्थ नहीं जाएँगे। चूंकि इस प्रकार से इस रास्ते में तुमको बार-बार बढ़ने का मौका मिलता रहता है इसलिए भगवान् कहते हैं

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

हे अर्जुन! तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी से भी योगी श्रेष्ठ है अतः योगी बनो।

चान्द्रायणादि जो भिन्न-भिन्न प्रकार के पाप को नष्ट करने के साधन अर्थात् प्रायश्चित्त के रूप में शास्त्र में वर्णित तप हैं, उन सबसे ज़्यादा फल योग से हो जाता है। इसीलिए महाराजा मनु ने लिखा है कि पाप को प्राणायाम के द्वारा नष्ट किया जाता है। कई जगह बतलाया है कि अमुक गलती होवे तो सौ प्राणायाम कर लेवे, अमुक गलती होवे तो दो सौ प्राणायाम कर लेवे आदि। इसी प्रकार से सर्दी के मौसम में गंगा जी में गोता लगाना तप है। ठंड के मौसम में माघ के महीने में संगम में जाकर गोता लगाते हैं तो पापों को नष्ट करता है। संन्यासियों के अखाड़ों में अभी तक ऐसा होता हैकिसी से कोई ग़लती होती है तो पंच निर्णय कर देते हैं 'जाओ, सौ डुबकी लगा कर आओ।' इससे गलती का प्रायश्चित्त हो जाता है। इसी प्रकार पञ्चाग्नि तपते हैं, अपने चारों तरफ आग जला लेते हैं, ऊपर से सूर्य की गर्मी रहती है। जितने तप बतलाए हैं उन सबकी अपेक्षा योग का जो अभ्यास है, वह अधिक फल देता है अर्थात् अधिक पापों को नष्ट करता है।

भगवान् कहते हैं कि खाली तपस्वी से ही नहीं, ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है। यहाँ ज्ञान अर्थात् शास्त्रों का पांडित्य। शास्त्रज्ञान की अपेक्षा भी योग का फल अधिक है। चाहे उपनिषदों का ही पाण्डित्य प्राप्त कर लो परंतु जो उपनिषदों में बताई बातों का

ज्ञान योगाभ्यास के द्वारा अप्रतिबद्ध कर लेता है, वह उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि कर्मों के बड़े फल बतलाए हैं। अग्निहोत्र-मात्र से भी स्वर्ग की प्राप्ति बतलायी है। दर्शपौर्णमास से स्वर्ग फल बतलाया है। उन सब फलों को योगी योग की पूर्ण सिद्धि न होने पर भी पा लेता है। अभी दो चार श्लोक पहले ही कहा था 'प्राप्यपुण्यकृतां लोकान्'। संगोपांग अग्निहोत्रादि यावत् जीवन करके कर्मी स्वर्गादि जाता है जबकि योगी असफल होकर भी वहाँ चला जाता है अतः उससे भी अधिक ही है।

योग चूंकि कर्म, ज्ञान और तपस्या से भी अधिक है इसलिए हे अर्जुन! तुम योग का अभ्यास करो।।४६।।

यहाँ तक भगवान् ने कर्म का और ध्यानयोग का निरूपण किया। अब, जिसका ध्यान करना है उसे बतलाएँगे। ध्यान-योग कैसे किया जाएयह तो छठे अध्याय में बतला दिया, लेकिन किसका ध्यान किया जाएयह बताना बाकी है। ध्यान तो किसी भी चीज़ का किया जा सकता है। लौकिक लोग पुत्र-पत्नी का ही ध्यान करते हैं! आजकल के लोग अधिकतर नोटों का ही ध्यान करते हैं। कई व्यापारी हिसाब का ही ध्यान करते हैं, रात में बारह बजे तक बैठ कर हिसाब पूरा करते हैं। अच्छे लोग कर्माङ्ग ध्यान कर लेते हैं; बहुत-से कर्मों के अंग रूप से ध्यान बतलाया है। जैसे, तुम पूजा करने बैठो तो पहले ही पहले गणेश जी का ध्यान करो। पूजा का एक अंग ध्यान है। प्राणादि का भी ध्यान किया जाता है, स्वरोदय-शास्त्र के अनुसर्ता प्राणों का ध्यान करते हैं। कुछ ध्यान इह लोक में फल देने वाले हैं, कोई परलोक में फल देने वाले हैं। अतः भगवान् जिस योग को बतला रहे हैं उसमें किसका ध्यान करना है, इसको बतलाना ज़रूरी है। उसकी भूमिका बनाते हैं

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

।।ॐ तत् सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोऽयायः।।

जो श्रद्धालु मुझ में समाहित अन्तःकरण द्वारा मेरा भजन करता है वह मुझे सभी योगियों में श्रेष्ठ योगी स्वीकृत है।

जितने योगी हैंचाहे कर्माङ्ग ध्यान करने वाले हैं, चाहे इह लौकिक विषय का ध्यान करने वाले हैं, चाहे देवता-विशेषों का ध्यान करने वाले हैं, चाहे प्राणादि का ध्यान करने वाले हैं, सारे ही योगियों में श्रेष्ठ कौन है? जिसका अन्तरात्मा अर्थात् अन्तःकरण 'मद्गत' है। परमात्मा ही अहम्-प्रत्यय से मिल कर एक है। 'मिल कर एक'

केवल योग शब्द के अनुरोध से कह रहे हैं। जैसे कहते हैं 'जो तुमने साँप देखा वह रस्सी ही था'। इसका मतलब होता है कि साँप नहीं था, रस्सी थी। इसी प्रकार तुम अहम् पद से जिसको कर्त्ता-भोक्ता समझ रहे हो, वही पर-ब्रह्म परमात्मा है। कहने में तो आया कि कर्त्ता-भोक्ता और परमात्मा एक है, लेकिन तात्पर्य है कि कर्ता-भोक्त नहीं ही है, केवल परमात्मा ही है। ऐसा जो मैं अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द हूँ, उसके अंदर ही मन समाहित करना है, अर्थात् वही ध्येय है, अन्तरात्मा। अन्तःकरण से ही उसको जानते हो। अन्तःकरण में ही ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी। जिस प्रकार दीयासलाई के जलते ही दीपक जल जाता है उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति के बनते ही 'मैं सच्चिदानन्द परब्रह्म हूँ' यह प्रकट हो जाता है। जैसे दीपक तो अपनी ज्योति से ही प्रकाशित होता है परंतु दीया-सलाई घिसने को प्रकाश के प्रति कारण कह देते हैं, इसी प्रकार अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति के बनने से ज्ञान नहीं होता, परमात्मा स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है, वही प्रकट हो जाता है, परंतु वृत्ति के बनते ही ढाँकने वाला अज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिए कहा जाता है कि वृत्ति से ज्ञान हुआ।

इसका प्रधान साधन क्या है? 'श्रद्धावान्' परमात्मा के इस रूप में श्रद्धा प्रधान साधन है। श्रद्धा अर्थात् यह निश्चय कि 'वेदादि सत्-शास्त्र ठीक की कहते हैं कि मैं वस्तुतः कर्त्ता-भोक्ता नहीं, वासुदेव ही हूँ।' वेद कहता है, परंतु वेद का अर्थ समझने के लिए श्रद्धा चाहिए। श्रद्धा के बिना वाक्य पढ़ने पर भी ज्ञान नहीं होता। परोक्ष ज्ञान भी नहीं होता क्योंकि वाक्य सुनते ही सब विरोधी प्रत्यय उपस्थित हो जाते हैं, लगता है'मैं दीन-हीन, अनादि काल से संसार के चक्र में पड़ा हुआ, मैं कैसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् हो सकता हूँ?' वेद ने ऐसा नहीं कहा कि तुम ब्रह्म हो *जाओगे*। अगर यह कहा होता तब तो ठीक था; कुछ करने से हम ब्रह्म हो जाते। किंतु वेद ने कहा कि तुम *ब्रह्म* हो, इसी क्षण हो, जैसे हो वैसे ही ब्रह्म हो। जब तक वेदवाक्य पर पूर्ण श्रद्धा न होवे, तब तक इसका ध्यान बनेगा ही नहीं। इसीलिए इससे घबरा कर अनेक सम्प्रदाय बने जो प्रयत्न करते हैं कि 'तत्त्वमसि' का उक्त अर्थ नहीं है। कोई कहता है 'तू ईश्वर का दास है इसलिए 'तत्त्वमसि' कह दिया', कोई कहता है 'तू ईश्वर का हिस्सा है इसलिए 'तत्त्वमसि' कह दिया' इत्यादि। अनेक प्रकार के जो वाद हैं उनका आधर यही है कि वेद तो कहता है पर विरोधी प्रत्यय इतने हैं कि उसे मानना कठिन हो जाता है। जिसको वेदवाक्य पर अत्यन्त विश्वास है, वह तो मानेगा कि हमारे जितने अनुभव हैं वे गलत हो सकते हैं, वेद गलत नहीं हो सकता। वेद-वाक्य कह रहा है कि हमारे सब अनुभव मिथ्या हैं। हमारे जन्म से लेकर के आज तक के जितने अनुभव हैं, वे सभी हमें यही बतलाते हैं कि मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ, मैं जन्मने-मरने वाला हूँ। वेदान्त कहता है कि मैं अनादि हूँ, जन्म-मरण का प्रश्न ही नहीं है। सारे ही अनुभवों से विरुद्ध बात वेद कह रहा है, परंतु जिसको श्रद्धा है वह जानता है कि वेद ही ठीक कह रहा

है, हमारे सारे अनुभव गलत हैं। श्रद्धा वाला होगा तभी इस ध्यान-योग में लगेगा, नहीं तो कहेगा, 'ये सब फालतू बाते हैं!' शास्त्रों में बताया है कि इंद्र से कहो 'मैं इंद्र हूँ' या आदित्य से कहो 'मैं आदित्य हूँ' तो वे तुमको दंडित करेंगे। लोक में भी यदि मैं कहूँ कि 'मैं एस.पी. हूँ' तो एस.पी. पकड़ कर मुझे जेल में बंद करेगा कि झूठी बात बोल रहा है। इसी प्रकार बाकी जितने देवता हैं उनको यदि कहो कि 'मैं ही तुम्हारे पद वाला देवता हूँ' तो वे सब तुमको दंडित करेंगे। एक शिव ही ऐसे हैं जिनसे कहो 'शिवोहम्' तो प्रसन्न होते हैं। यह परमात्मा की ही विशेषता है, परमेश्वर की ही विशेषता है। अतः भगवान् ने 'मद्गतेनान्तरात्मना' कहा कि जिसका अन्तरात्मा मुझमें प्रविष्ट है, मुझसे अभिन्न है, वही श्रेष्ठ है। ध्यान-योग का प्रयोग जो 'तत्त्वमसि' के दृढ साक्षात्कार के लिये करता है वही योगियों के अंदर सबसे श्रेष्ठ है।

इस अध्याय के अंदर प्रारम्भ किया कर्म से, कर्मयोगी को ही संन्यासी और योगी कहा। उस कर्मयोगी की मर्यादा बतलाई कि जब तक अन्तःकरण शुद्ध न हो जाए तब तक इसका अभ्यास करे। अन्तःकरण की शुद्धि का पता कैसे लगे? वैराग्य से, क्योंकि अन्तःकरण की अशुद्धि राग ही है। जब कर्मयोग के अभ्यास से वैराग्य की प्राप्ति हो जाए तब ध्यान कैसे किया जाएयह वर्णन किया। और अन्त में बतलाया कि युक्ततम होने के लिए भगवान् का ध्यान कैसे किया जाए। इस पर अर्जुन का प्रश्न तो बनता था कि 'मद्गतेन' में 'मत्' कौन है? सामने खड़ा हुआ वसुदेव-देवकी से पैदा हुआ शरीर है, अथवा इसके अंदर आया हुआ विष्णु देवता है, अथवा सच्चिदानन्द-रूप है? अर्जुन का यह प्रश्न बनता था, परंतु वह पूछ न सका। फिर भी भगवान् अत्यन्त दयालु गुरु हैं, इसलिए उसके बिना पूछे ही उस पर अनुग्रह कर यह रहस्य अगले अध्याय में बतलायेंगे।।४७।।

।।छठा अध्याय।।

ॐ

सातवाँ अध्याय : ज्ञानविज्ञानयोग

गीता के पहले छह अध्याय प्रधानरूप से कर्मसंन्यासरूप साधन को एवं त्वम्पद के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। सातवें से बारहवें अध्याय तक उपास्य तत्त्व को, तत्पद के अर्थ को समझाया जायेगा। छठे अध्याय की समाप्ति में 'मद्गतेन' शब्द से सातवें अध्याय की भूमिका बाँध दी थी। अर्जुन को जो जिज्ञासा होना उचित है उसका समाधान करते हुए अस्मत्-शब्दार्थ, 'मद्' से कहे तत्त्व का वर्णन करेंगे एवं उसमें समाहित मन वाला कैसे हुआ जाये यह समझायेंगे।

अर्जुन के प्रश्न की प्रतीक्षा किये बिना उस पर अनुग्रह करते हुए

श्रीभगवान् उवाच
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

भगवान् ने कहा 'हे पार्थ! मुझमें आसक्त मन वाले होकर और मुझे ही अपना आश्रय बनाकर मनका समाधान करते हुए समग्रता से मुझे जिस तरह निःसन्देह जानोगे वह सुनो।'

'मद्गतेन' में जो 'मद्' अर्थात् अस्मत्-शब्द का अर्थ मैं हूँ, 'मां' उसको 'यथा ज्ञास्यसि', जिस प्रकार से तू जानेगा, अर्थात् योग के द्वारा साक्षात् अनुभव करेगा, वह सुन। करेगा कैसे? पहले कहा 'मय्यासक्तमनाः' जो मेरा स्वरूप है, जिसे मैं आगे बतलाने जा रहा हूँ, उसके अंदर आसक्त मन वाला हो कर ही जान पायेगा। योग दो तरह से होता हैएक तो, जबरदस्ती से ध्यान लगाओ। दूसरा, जिस पर ध्यान लगा रहे हो, वह तुम्हें अच्छा लगता हो। इसलिये भगवान् पतंजलि ने अनेक चीज़ों के ध्यान का निरूपण किया है पर साथ में उन्होंने यह भी कहा 'यथाऽभिमताद् ध्यानाद् वा', जो तुम को खूब अच्छा लगे उसी का ध्यान करो। जिसमें मन लग जाता है, आसक्त हो जाता है उसका ध्यान करना सरल हो जाता है। शास्त्रकारों ने बतलाया है कि कोई

ध्यान सीखने आया, उसको ध्यान बताया पर उससे ध्यान लगे ही नहीं। जब कई बार नहीं लगा तब गुरु जी ने पूछा 'अरे! तैने संसार में किसी से प्रेम किया है?' उसने कहा 'किसी और चीज़ में तो मेरा मन नहीं जाता है, परंतु मेरी एक भैंस थी, बड़ी सुंदर थी, मैं आया तब वह ब्याने वाली थी। बाकी तो मेरे मन में कुछ नहीं आता है, लेकिन बार-बार यही आता है कि वह ब्यायी कि नहीं और उसके पाड़ा हुआ या पाड़ी? केवल उस भैंस की ओर बार-बार मेरा मन जाता है।' गुरु जी ने उससे कहा 'तू उस भैंस का ही ध्यान कर।' तब उसका मन लग गया! भैंस का ध्यान करने लगा तो चित्त एकाग्र हो गया। संसारी लोग सांसारिक व्यक्तियों और पदार्थों में आसक्त मन वाले हैं। मनुष्यों में, देवताओं में या अन्यत्र मन आसक्त रहता है। जिसका मन अहम्-पदार्थ में ही अत्यंत आसक्त है वह 'मय्यासक्तमनाः' है। वह चाहता है कि आखिर मैं कौन हूँयह तो पता लगे। कर्ता भोक्तापने में तो सबकी आसक्ति हर समय रहती है। परंतु मैं खुद में कैसा हैइसे जानने में और उसी शुद्ध स्वरूप में प्रायः आसक्ति नहीं होती। मैं-पदार्थ के अंदर स्वाभाविक आसक्ति लोगों की है ही। कहने को कह देते हैं बहुत से लोग, 'मैं अपने लिये तो कोई चिंता नहीं करता, पर घर के बाल-बच्चों के लिये करता हूँ।' इतने ज़ोर-ज़ोर से कहते हैं कि उन्हें बुरा न लगे इसलिये 'हाँ' भी लोग कह देते हैं। परंतु आखिर घर वालों के लिये भी तो इसीलिये चाहते हैं कि *उनके* घर वालों को सुख होगा तो उनके मन में शांति आयेगी। 'हमें शांति मिले' यही न उनका प्राप्तव्य है। जो लोग प्रेमी या प्रेमिका के पीछे आत्महत्या कर लेते हैं वे भी इसीलिये कि उस प्रेमी या प्रेमिका को पा न सकने से वे स्वयं दुःखी होते हैं, अपने ही दुःख को दूर करने की मंशा से वे मरते हैं, दूसरे के लिये मरते हों ऐसा नहीं। 'मैं दुख से छूटूं'यही चाहते हैं। अंदर घुस कर देखोगे तो पाओगे कि सबका अपने अंदर ही चित्त आसक्त है। लेकिन अपने किस रूप में? मन सहित जो अपना कर्त्ता-भोक्ता रूप है उसमें। सुख दुःख आदि का अनुभव मन सहित आत्मा में ही होता है। कर्त्ता भोक्ता वही है। इस तरह अस्मत् प्रत्यय में आसक्ति तो सबकी है, परंतु उसके शुद्ध रूप में नहीं। सचमुच में मैं जो हूँ, उसमें आसक्ति नहीं है। 'मय्यासक्तमनाः' का मतलब है कि सचमुच में जो चेतन है, मेरी वास्तविकता है, उसके प्रति जो आसक्त मन वाला है। श्रद्धावान् होगा, तभी ऐसा होगा। अश्रद्धालु तो मानता है कि मैं कर्त्ता-भोक्ता ही हूँ। मन वाले रूप को ही 'मैं' मानता है और मन वाले रूप में ही आसक्त है। परंतु श्रद्धा वाला व्यक्ति वेदवाक्य से जानता है, कि यह मेरा असली रूप नहीं है। इसलिये वह शुद्ध रूप को ही चाहता है और है वह मैं, जिसके प्रति आसक्ति स्वाभाविक है। 'मय्यासक्तमनाः'जो परमेश्वर का आगे रूप बतलायेंगे उस रूप में जिसका मन आसक्त है।

'योगं युञ्जन्' योगाभ्यास, मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते हुए। बहुधा मनुष्य का मन किसी में आसक्त होता है, आश्रय किसी और का लेता है। मन आसक्त

तो है बढ़िया दाल का सीरा खाने में। पर आश्रय लेता है सौ रुपया के नोट का। कहीं किसी परिस्थिति में जन का आश्रय लेता है। सांसारिक प्राप्तियों के लिये भिन्न-भिन्न चीज़ों का आश्रय लेता है। स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये कर्म का आश्रय लेता हैये कर्म करेंगे तो स्वर्ग जायेंगे। जो युक्ततम है, इसके लिये आश्रय कौन है? 'मदाश्रयः,' जिस परमेश्वर में इसका मन आसक्त है, उस परमेश्वर का ही आश्रय लेता है अर्थात् अन्य सारे आश्रयों को छोड़ देता है। इसलिये धन का परिग्रह, कर्म उपासना का साधन, इन सब आश्रयों को छोड़ देता है। परब्रह्म परमात्मा ही उसका आश्रय है। अन्य सारे आश्रयों को छोड़ना भी युक्ततम बनने के लिये ज़रूरी है। गोरखनाथ जी एक बार सिंहल गये अपने शिष्य के साथ। वहाँ पर सोने के ही मकान, सोने की ही ईंटें, सब कुछ सोने का ही बना हुआ था। वहाँ से वापिस आने का समय हुआ तो चेले ने सोचा कि सोना तो सारा यहीं छूट जायेगा, ले जायेंगे तो कुछ काम आयेगा। एक ईंट उठाकर उसने अपने झोले में रख ली, कि कभी ज़रूरत पड़ेगी तो काम आयेगा। झोले में सोने की ईंट हो गई, तो हमेशा उसको संभालकर रखने लगा। नहाने को डुबकी भी लगाने जाना हो तो, कहे 'गुरुजी, ज़रा झोले का ध्यान रखियेगा।' गोरखनाथ जी ने सोचा कि ऐसा क्या है इसके पास कि इस पर इतना ख्याल रखता है? चार-पाँच दिनों के बाद, उनके मन में जिज्ञासा हुई, उन्होंने झोले को खोल कर अंदर देखा, तो सोने की ईंट रखी हुई थी। उन्होंने सोचा कि वहाँ से सोने की ईंट उठा लाया, कैसा बेवकूफ है! मैं इसके साथ हूँ मुझे पहचानता नहीं, सोने की ईंट उठा लाया, इसका आश्रय ले रहा है। गोरखनाथ जी उस शिष्य से प्रेम करते थे। अगले दिन कहीं दूसरी जगह जाने के लिये चल रहे थे तो रास्ते में उन्होंने उससे कहा, 'मैं, ज़रा लघुशंका करके आता हूँ।' शिष्य खड़ा रह गया। वे चट्टान के ऊपर गये और वहाँ उन्होंने लघुशंका कर दी, तो सारी चट्टान सोने की हो गई! आकर शिष्य से कहा 'अब उठा ले इसको! क्या एक बूंद को लेकर चल रहा है!' अब शिष्य की आँखें खुलीं कि जिस ईंट को मैं इतनी कीमती समझ रहा हूँ वह तो इनके लिये पेशाब की बूंद से ज़्यादा कीमत वाली चीज़ है नहीं। ईंट उठा कर फेंक दी।

इसी प्रकार जितने संसार के पदार्थ हैं सब परमेश्वर के एक संकल्पमात्र से उत्पन्न होने वाले हैं। अतः जो परमेश्वर में आसक्त मन वाला होगा, वह उसके आश्रय के अंदर ही रहेगा, और कोई दूसरा आश्रय नहीं लेगा। जब ऐसा होता है, तब 'समग्रम् असंशयं मां ज्ञास्यसि', मेरे समग्र रूप को संदेहग्रस्त हुए बिना जान लेगा, जिस रूप का वर्णन आगे करने वाले हैं, उसको ठीक तरह से जान सकेगा। ऐसा भगवदाश्रय वाला होना सरल नहीं है। एक दृष्टांत आता है कि एक बार भगवान् खड़े हुऐ, फिर बैठ गये। लक्ष्मी जी ने पूछा, 'खड़े होकर आप बैठ गये, बात क्या है?' कहने लगे, 'एक भक्त था, उसके ऊपर शेर झपटा तो उसने कहा 'हे राम!' मैंने सोचा कि मैं जाऊँ मदद करने

के लिये; तब तक उसने तो ईंट उठा ली! जब ईंट ही उठा ली तो अब मैं जाकर क्या करूँ, उसको तो सहारा मिल गया।' अंग्रेज़ लोगों का आश्रय लेना भी ऐसा ही है, इसलिये वे लोग कहते हैं 'Trust in God but keep your powder dry' लड़ाई लड़ने के लिए ईश्वर पर तो भरोसा रखो ही लेकिन अपना जो बारूद है उसको सूखा रखना, उसको गीला नहीं होने देना। सूखे बारूद से ही मार कर सकते हो, गीले से नहीं। ऐसे लोग भगवान् की सम्पूर्णता को नहीं जान सकते। समग्र रूप अर्थात् जो भगवान् की विभूति है, बल है, शक्ति है, ऐश्वर्य है, इन सब गुणों से सम्पन्न जो परमात्मा है वह आश्रय न हुआ तो संशय-युक्त ही ज्ञान रहेगा। भगवान् वेदव्यास ने भी बताया कि परमात्मा कौन है? जो सृष्टि स्थिति लय करने वाला है। किसी एक चीज़ की सृष्टि करने वाला नहीं, जहाँ भी जो कुछ पैदा होता है, परमात्मा ही उस रूप में अपने को पैदा करता है। जब तक वह अपने को उस रूप में रखता है, तभी तक उसका रक्षण है। जब उस रूप को वह अपने में लीन कर लेता है, तब वही उसको लय करने वाला है। कण-कण और क्षण-क्षण के सृष्टि-स्थिति-लय वही करता है। जो भगवान् पर आश्रित नहीं हो पाता उसे संशय बना रहता है कि सृष्टि के आदि में तो परमेश्वर ने जगत् उत्पन्न कर दिया, अब बुड्ढा हो गया, 'रिटायर' हो गया होगा! अब तो देवता, नक्षत्र और आजकल के ज़माने में इनकम टैक्स ऑफीसर, इन्हीं को खुश करके काम होगा, भगवान् को खुश करके क्या होगा! जो निःसंशय नहीं जानता है, वह ऐसा समझता है : भगवान् बहुत बड़े हैं, उन्होंने सृष्टि की, एक दिन संहार भी करेंगे, परंतु बाकी कामों के लिये तो और चीज़ें ज़रूरी हैं। भगवदासक्त मन वाला और उन्हीं पर आश्रित योगी उन्हें समग्र जान पाता है इसलिये भगवान् की विभूति भी इस अध्याय में बतलायेंगे, भगवान् के बल, शक्ति, सबका निरूपण करेंगे। जगत् का एकमात्र कारण परमेश्वर ही हैऐसा जो परमेश्वर का समग्र ज्ञान है वह जैसे होगा वह तरीका भगवान् बतलाने जा रहे हैं।।१।।

भगवान् ने कहा 'ज्ञास्यसि' अर्थात् भविष्य में जानेगा। इससे लग सकता है कि यदि आत्मतत्त्व (अस्मत्-पदार्थ) नित्य अपरोक्ष होता तो उसका वर्तमान में भी ज्ञान हो ही रहा होता अतः भगवान् भविष्य के ज्ञान की बात न करते, इसलिये वह तत्त्व नित्य अपरोक्ष न होने से भविष्य में भी उसका ज्ञान परोक्ष की हुआ करता होगा। किंतु तब वह ज्ञान अपरोक्ष होते अज्ञान तत्कार्यों का बाध न कर सकने से मोक्षप्रद नहीं होगा। इसलिये भगवान् स्पष्ट कर देते हैं कि वे अपरोक्ष ज्ञान की ही बात कर रहे हैं

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् इदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यद् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते।।२।।

तुझे यह स्वानुभवयुक्त ज्ञान पूर्णतः बताऊँगा जिसे जानकर व्यवहार-भूमि में फिर

और कुछ जानने लायक नहीं रह जाता।

आत्मवस्तु स्वयं भी ज्ञान है और इसे विषय करने वाली मनोवृत्ति भी ज्ञान कही जाती है। आत्मरूप ज्ञान स्वरूप से ही अपरोक्ष है क्योंकि प्रत्यक् है, अभिन्न है। अतः वेदान्तमतानुसार वही विषय भी अपरोक्ष कहा जाता है जो प्रमातृचैतन्य से अभिन्न हो और वही ज्ञान अपरोक्ष कहा जाता है जिसका स्वरूप है प्रमाण और विषय चैतन्यों का अभेद। इसलिये विषय की, पदार्थ की अपरोक्षता की परिभाषा की जाती हैअभिव्यक्त चैतन्य से अभिन्नता। चैतन्य में तो अभिन्नता स्वाभाविक है जबकि जड वस्तुओं में इसलिये अभेद होता है कि वे चैतन्य पर ही अध्यस्त होती हैं। इस प्रकार, आत्मा का स्वरूप ही अपरोक्ष ज्ञान है अतः उसकी प्रमा अपरोक्ष ज्ञानरूप ही होना उचित है क्योंकि अपरोक्ष वस्तु की अपरोक्षता का भान हुए बिना उसका अज्ञान मिटता नहीं। इसलिये 'जानेगा' से जो ज्ञान भगवान् ने कहा वह ज्ञानरूप आत्मा का विज्ञान अर्थात् स्वानुभव, अपरोक्ष ही है। 'इदं ज्ञानं' यह ज्ञान बताऊँगायों इदं-शब्द से ('यह'-शब्द से) ज्ञान की स्वाभाविक अपरोक्षता सूचित की अर्थात् ज्ञान वस्तु ही ऐसी है जो परोक्ष नहीं होती। फिर भी आत्मा के परोक्ष ज्ञान की चर्चा होती है, वह इस दृष्टि से कि जब तक असंभावना आदि से प्रतिबद्ध रहता है तब तक अपरोक्ष भी ज्ञान अविद्यानिवृत्तिरूप फल नहीं पैदा करता अतः मानो परोक्ष है। विचार आदि से प्रतिबंधक मिट जाने पर वही ज्ञान सफल हो जाने से अपरोक्ष कह दिया जाता है। वास्तव में तो अपरोक्षार्थ की प्रमा अपरोक्ष होती ही है। भगवान् ज्ञान अर्थात् आत्मा के बारे में और विज्ञान अर्थात् उसके साक्षात्कार के बारे में इस अध्याय में बतायेंगे। कथन भी 'अशेषतः' करेंगे, कुछ वक्तव्य बच नहीं जायेगा, बताने लायक सारी बातें कह देंगे अर्थात् साधन, फल, इतिकर्तव्यता आदि सबका उल्लेख कर देंगे।

उक्त विषय में श्रोता का सद्भाव बढ़ाने के लिये उसकी स्तुति करते हुए भगवान् ने कहा कि इसे जानकर कुछ न जाना नहीं बचता। परमात्मा के ज्ञान की यह महत्ता श्रुति में तत्र-तत्र कही है और इसी 'प्रतिज्ञा' का महत्त्व सूत्रकार ने जगह-जगह (१.४.२३, २.३.६) प्रकट किया है। यद्यपि ज्ञानरूप आत्मा को जानकर भी अविद्या-विलासों के भेद समझ आ जाते हों ऐसा नहीं तथापि ज्ञातव्य अर्थात् जानने योग्य कुछ रह जाये यह नहीं होता। ज्ञातव्य क्या है, भगवान् भाष्यकार ने कहा 'पुरुषार्थसाधनम्' पुरुष का प्रधान अर्थ या प्रयोजन मोक्ष है, उसके उपाय ही ज्ञातव्य हैं। आत्मरूप ज्ञान का साक्षात्कार होते ही मोक्ष सिद्ध हो जाने से अब उसके साधन जानने लायक नहीं रह जाते। साधन जानने का प्रयोजन यही है कि उन्हें अपनाकर फल पाया जाये। जब फल मिल गया तब साधन जानना बेकार है। किं च, क्योंकि आत्मरूप ज्ञान अधिष्ठान तत्त्व है इसलिये उसे जानने पर उस पर कल्पित सब वस्तुओं का बाध हो जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य कुछ जानने योग्य है ही नहीं। अत एव मैं-वस्तु की वास्तविकता

का ज्ञाता सर्वज्ञ हो जाता है। एवं च कृतार्थ हो जाने के लिये यह ज्ञान अवश्य प्राप्तव्य है यह भगवान् का अभिप्राय है।।२।।

वह ज्ञान दुर्लभ है यह दिखाते हुए भगवान् कहते हैं

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

हज़ारों मनुष्यों में कोई ही ऐसा होता है जो सिद्धि के लिये यत्न करता है तथा प्रयास करते सिद्धों में से कोई ही ऐसा होता है जो मुझे यथावत् जानता है।

मनुष्य मायने क्या? जो स्वीकार करते हैं कि वेद ही धर्म और परमात्मा का ज्ञान दे सकता है वे मनुष्य हैं। मोटी भाषा में कहें, तो जो वर्णाश्रम-धर्म को मानने वाले हैं, अर्थात् सनातन-धर्मी हैं, वेद को प्रमाण मानते हैं वे मनुष्य हैं। चार वर्णों और चार आश्रमों के अनुसार जो जीवन-निर्माण करने के प्रयत्न में है, उन्हीं को हम लोग मनुष्य कहते हैं। मनुष्य शब्द 'मनोर्जातावज्यतौ षुक् च' (४.१.१६१) सूत्रानुसार मनु की सन्तान अर्थ में व्युत्पन्न होता है। मनु के वंश वाले को मनुष्य कहते हैं। परमात्मज्ञान की अति-दुर्लभता इस लिये है, कि पहले तो चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि मिलना ही दुर्लभ है। हम लोग जब चौरासी लाख योनियाँ कहते हैं तब उनके अवान्तर भेदों को पृथक् नहीं गिनते, मछलियों के अंदर आगे हजारों तरह के भेद हैं परंतु मछली को हम एक योनि मान लेते हैं। इसी प्रकार अवांतर भेद मिलाकर अनंत योनियाँ हो जाती हैं। जितने संसार में प्राणी हैं, सब किसी-न-किसी योनि में होंगे; सब योनियों में से शास्त्र में अधिकार मनुष्य को ही है। मनुष्य को ही शास्त्राधिकार है, बाकियों को नहीं। मनुष्य पैदा होनायह पहली दुर्लभता। अनंत योनियों के अंदर मनुष्य शरीर की प्राप्ति हो जाये यही पहले दुर्लभ है। बरसात में कितनी तरह के कीट पतंग आ जाते हैं। एक-एक घर में उनकी संख्या लाखों में हो जाती है। गिनते चले जाओ तो एक मोहल्ले में ही इतने हो जायेंगे, जितने सारे मनुष्य हैं! यों गिनो तब पता लगता है कि मनुष्य का जन्म मिलना कितना दुर्लभ है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है, 'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्' इतनी योनियों में मनुष्य योनि मिल जायेयह दुर्लभ है। आचार्य 'दुर्लभं त्रयमेवैतत्' तीन चीज़ों को दुर्लभ मानते हैं'मनुष्यत्वम्, मुमुक्षुत्वम्, महापुरुषसंश्रयः'। ये दुर्लभ चीज़ें किससे मिलती हैं? आचार्य कहते हैं 'देवानुग्रहहेतुकम्' परमेश्वर के अनुग्रह से। परमेश्वर की कृपा होती है तभी मनुष्य शरीर मिलता है। इस बात को अच्छी तरह से समझना बड़ा ज़रूरी है। वर्तमान काल में चारों तरफ योरप वालों का किया हुआ प्रचार तो है कि हम लोग बंदर थे, पूंछ घिस गई, इसलिये आदमी हैं! योरप वाले बंदर रहे होंगे; वैसे, उनके चहरे-मोहरे हैं तो बंदरों की तरह ही, व्यवहार भी बंदरों की तरह का ही है। परंतु हम लोग न आज बंदरों जैसे हैं, न हमारे पूर्वज बंदर थे।

मनुष्य जीवन की दुर्लभता आजकल के लोग नकारना चाहते हैं। हम तो पशु पक्षियों की तरह ही हैंयह उनकी मान्यता है। किन्तु अगर मनुष्य पशु-पक्षियों की तरह हैं, तो उनके आचरणों के बारे में क्यों विचार करके कहते हो, कि 'इसने अमुक अपराध किया?' शेर किसी को मारता है तो उसको फांसी नहीं देते। आदमी मारता है तो फांसी देते हो। तुम्हारे देश के अंदर तो शेर भी रह रहा है। अगर मनुष्य की विशेषता नहीं मानते हो तो मनुष्यों के लिये विशेष नियम क्यों बनाते हो? मनुष्य जीवन की दुर्लभता को बार-बार विचार कर मन में बैठाना बहुत ज़रूरी है।

दुर्लभ मनुष्य शरीर मिल भी गया तो 'सहस्रेषु' उनमें हज़ारों में कोई एक ही आत्मजिज्ञासु होगा। संस्कृत के अंदर ऐसे प्रसंगों में सहस्र का मतलब होता है बहुत, अनगिनत; अतः अनेक मनुष्यों में कोई ही साधक बनेगा, यह भाव है। अनेक मनुष्यों में कोई एक ही परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, प्रवृत्त होता है। इसीलिये आचार्य ने कहा कि जैसे मनुष्य होना दुर्लभ है, वैसे ही मनुष्यों में परमात्मा की इच्छा करने वाला मुमुक्षु होना दुर्लभ है। संसार की बाकी सब चीज़ों के लिये हम लोगों को निरंतर प्रयत्न करना अनुकूल और आवश्यक होता है, कौन-सी चीज़ हम हमेशा टालते हैं? मर कर जहाँ जाना है उसका इन्तज़ाम करना हमेशा टालते रहते हैं। क्योंकि परमेश्वर संसारियों की तरह डंडा लेकर तुम से कुछ वसूल करने को खड़ा नहीं होता! किसी को लाख रुपये देने हैं और तुमने समय पर ब्याज नहीं दिया, तो वह डंडा लेकर पहुँच जाता है, 'क्या बात है? दो महीने हो गये, तुमने हमारा ब्याज नहीं दिया।' जब से जन्मे हैं तब से अब तक हम भगवान् का दिया पानी पी रहे हैं, भगवान् की ज़मीन पर रह रहे हैं, भगवान् की धूप से गर्मी और प्रकाश पा रहे हैं। पर हम लोगों को सवेरे उठ कर सूर्यनारायण को अर्घ्य देने के लिये समय नहीं है! अगर तुम इलैक्ट्रिक बोर्ड को पैसा न दो तो वह कनैक्शन काट देगा। लेकिन 'तुमने अर्घ्य नहीं दिया तो तुम्हारा आज से सूर्य का प्रकाश बंद', ऐसा तो भगवान् करते नहीं। पानी के बिल का पैसा नहीं जमा करो तो पानी वाले कनेक्शन काट देते हैं कि पानी नहीं मिलेगा। इसलिये पानी का बिल तो समय पर दे देते हो, पर दिन भर में, यहाँ तक कि स्नान के समय में भी जल की वंदना करने की हमें फुर्सत नहीं मिलती। और एक दिन नहीं, सालों-साल कभी समय नहीं है। जब कभी हम भजन करने का कहते हैं तो लोग यही कहते हैं, 'महाराज! करना तो बहुत चाहते हैं, समय नहीं मिलता।' पानी कम्पनी को कोई नहीं कहता 'जी, हम तुम्हारे पैसे तो देना चाहते थे, लेकिन हमारे पास समय अभी नहीं है। इसलिये अभी नहीं देंगे।' उसको नहीं कहेगा कोई। ज़मीन पर निरंतर खड़े हैं, लेटते हैं, सब कुछ ज़मीन के सहारे करते हैं। हम लोग कहते हैं कि सवेरे उठते ही भूमि को नमस्कार करो, बोल सको तो मंत्र बोलो

समुद्रवसने देवि! पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।।

यदि इतना भी न बोल सको तो मंत्र न भी बोलो, नमस्कार तो करो। पर वह भी करना नहीं चाहते। अगर तुमने ज़मीन का टैक्स नहीं दिया तो सरकार तुम्हारी ज़मीन वापिस ले लेगी। भगवान् तुम्हारे पास से ज़मीन कभी खींचते नहीं। इसलिये उसके लिये तुमको समय नहीं। हमेशा परमात्मा की तरफ वृत्ति बनाने को हम टालते रहते हैं और यहाँ जब तक जीवित हैं, तभी तक काम आने वाली चीज़ों के लिये हमारा सारा प्रयत्न होता है। एक क्षण को नहीं सोचते कि सौ साल पूरे होने के बाद आगे जायेंगे, उसका भी कोई इंतज़ाम करें। इसलिये भगवान् कहते हैं 'कश्चिद्यतति सिद्धये', परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले ही लोग बहुत कम हैं।

'यततामपि', जो सिद्धि के प्रयत्न में लगते हैं उन में भी 'कश्चिन्मां तत्त्वतो वेत्ति' कोई एक ही सत्य को समझ पाता है। साधना में लगने वालों में भी जब तक सत्य को नहीं जान लें तब तक लगे ही रहेंऐसे लोग और कम हैं। थोड़ा प्रयत्न किया, दो चार महीने किया, चित्त शांत नहीं हुआ तो हताश हो जाते हैं कि 'बहुत मुश्किल है, हम से नहीं होगा।' जब तक साक्षात्कार न हो जाये परमात्मा का जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न रूप है उस तत्त्व को जब तक जान न लेवें, तब तक लगे रहने वाले लोग बहुत ही कम हैं। भगवान् ने बड़ी ज़बरदस्त बात कही है। 'यततामपि *सिद्धानां*' सिद्ध का मतलब होता हैजिसने चीज़ को प्राप्त कर लिया। भगवान् ने यहाँ प्रयत्न करने वालों को ही सिद्ध कह दिया! 'साधकानां' नहीं कहा 'सिद्धानां' कह दिया। इसके द्वारा जो पूर्व अध्याय में कहा था उसकी तरफ संकेत कर दिया, कि यदि मेरे रास्ते पर चल पड़ा तो आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, ज़रूर मुझे प्राप्त कर लेगा, ज़रूर सिद्धि को प्राप्त कर लेगा। परमात्मा की तरफ चलने के जितने कदम उठाओगे, वे सब तुम्हें आगे ही बढ़ायेंगे, कभी पीछे नहीं सरकायेंगे। इसीलिये जो अभी साधक ही है उसे भी भगवान् कहते हैं, कि सिद्ध ही समझो। अन्यत्र भी भगवान् इस बात को कहते हैं कि जिसने ठीक निश्चय कर लिया, समझ लो कि उसकी सारी बुराई दूर होकर वह अच्छा हो ही गया 'साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः' (६.३०) भली प्रकार जिसने व्यवसाय, अर्थात् निश्चय कर लिया कि 'मुझे परमात्मा प्राप्त करना है', उसे साधु ही मानना चाहिये। जितना प्रयत्न करना चाहिये उतना प्रयत्न किसी कारण से नहीं भी करे तो भी भगवान् उसको कभी भी दुर्गति में नहीं जाने देते। इसलिये भगवान् ने साधक को भी सिद्ध कह दिया।

कोई कह सकता है कि सारा संसार परमात्मा का ही रूप है तो हम लोग ब्रह्म को जान ही रहे हैं। जिस भी चीज़ को जानते हैं वह ब्रह्मरूप ही है। किन्तु यह कहना

इसलिये नहीं बनता कि भगवान् ने केवल यह नहीं कहा 'कश्चिन्मां वेत्ति', क्योंकि सप्रपंच रूप में सब जान रहे हैं, वह दुर्लभ नहीं है, किंतु कहा 'तत्त्वतः वेत्ति', इन सारे नाम-रूपों का बाध करके, जो इसका अधिष्ठान सच्चिदानंद परमात्मा है उसको जानना दुर्लभ बता रहे हैं। उपाधि वाले रूपों को तो जानते हैं, निरुपाधिक रूप को नहीं जानते, वही दुर्लभ है।।३।।

जो ज्ञान बताने की प्रतिज्ञा की थी उसका अब वर्णन प्रारंभ करते हैं। हम लोगों को जो रूप हमेशा अपरोक्ष दीखता है, सामने दीखता है उस सबका भगवान् ने पहले संग्रह कर लिया

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकारबस यह ही मेरी आठ तरह बँटी हुई प्रकृति है।

इदं रूप से जो सारा जगत् प्रतीत होता है वह सब 'मे प्रकृतिः', मेरी प्रकृति है, मैं नहीं हूँ। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है कि उस परब्रह्म परमात्म देव का यह स्वभाव है कि वह अपनी मायाशक्ति, अज्ञानशक्ति के द्वारा संसार के रूप में दीखता है। जैसे रस्सी मंद अंधकार में साँप दीखती है। रस्सी का स्वभाव ही है कि मन्दान्धकार के अंदर साँप आदि जैसी दीखती है। सींप का स्वभाव है कि तेज प्रकाश के अंदर चाँदी की तरह दीखती है। बालू का स्वभाव है कि धूप के अंदर पानी की तरह दीखती है। रस्सी में साँप का नाम नहीं पर रस्सी में ही साँप दीखता है। सींप में चांदी का नाम नहीं लेकिन सींप में ही चाँदी दीखती है। बालू में पानी का नाम नहीं पर बालू ही पानी की तरह दीखती है। इसमें बालू का, रस्सी का, सींप का कोई प्रयोजन नहीं है। उसका स्वभाव ही है कि मंदान्धकार में ऐसा दीखे। इसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्मदेव का स्वभाव है कि अज्ञान के द्वारा देखने पर जगत्-रूप में दीखे। ऐसे ही यहाँ भगवान् ने बताया कि जो 'इदम्' है वह मेरा स्वभाव है। है यह *मेरी* प्रकृति, और किसी की नहीं है! जैसे रस्सी की ही प्रकृति है कि साँप की तरह दीखे, इसी प्रकार उस सच्चिदानंदघन परमात्मा की ही प्रकृति है कि संसार की तरह दीखे।

किस समय ऐसी दीखती है? 'भिन्ना'जब भेद वाली होती है तब ऐसी दीखती है। अन्यथा, अव्यक्त रूप में इनमें से कुछ नहीं दीखता, जैसे गहरी नींद में। गहरी नींद में कोई भिन्न चीज़ नहीं दीखती कोई अलग चीज़ नहीं दीखती, कुछ भी नहीं दीखतायही कह सकते हैं। एक तो वहाँ मैं देखने वाला हूँ और मुझ से भिन्न केवल कुछ नहीं है जिसको मैं देखता हूँ। सुषुप्ति का अनुभव दो बातों को बतलाता है१) मुझे २) वहाँ कुछ भी भिन्न नहीं दीखता। वहाँ भिन्न क्या है? कुछ नहीं। जब भेद होता

है तब *कुछ* होता है। जब भेद ही नहीं है तब कुछ नहीं है, पर देखने वाला मैं सुषुप्ति में भी हूँ ही। दीखने वाली चीज़ भिन्न होकर मौजूद नहीं है, उसका एक ही रूप है कुछ नहीं। ऐसा ही महाप्रलय में होता है।

भगवान् का स्वभाव (प्रकृति) जब अलग-अलग दीखता है तब उसका 'अष्टधा' आठ प्रकार का वर्गीकरण कर दिया जाता है। 'भूमिः' भूमि का यहाँ मतलब है गन्ध-तन्मात्रा। भूमि उसी को कहते हैं जिसमें गंध होती है। नाकरूप इंद्रिय से जिस किसी चीज़ का हमें अपरोक्ष होगा, वह सब पृथ्वी ही है। 'आपः' जीभ से हमें जिसका अनुभव होगा, वह रसतन्मात्रा अप् (जल) है। आँखों से जिसका अनुभव होता है वह सारा का सारा अनल अर्थात् तेज है। 'वायुः' त्वगिन्द्रिय से जिसका अनुभव होता है वह स्पर्शतन्मात्रा वायु ही है। 'ख', आकाश, शब्द तन्मात्रा; कान से जो भी अपरोक्ष होता है, वह सारा आकाश है। बाह्य जगत् के अंदर इन्द्रियों के द्वारा ही हमें अनुभव होता है। बाह्य संसार को हम बिना इंद्रियों के नहीं जान सकते। किसी-न-किसी इंद्रिय से ही हम बाह्य जगत् को जानते हैं। प्रकृति के बाहरी हिस्से को बताकर अब आंतर जगत् को कहते हैं 'मनः', हमारे अंदर संकल्प-विकल्प होते हैं, तो हमें पता चलता है कि संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। सोने का भाव डेढ़ सौ गिर गया, और ज़्यादा गिरने की संभावना है। तो संकल्प-विकल्प शुरू होता है कि 'दस-बीस तोले खरीद लूँ, दस बीस तोले बेच दूँ।' स्वयं को पता भी लगता है कि संकल्प-विकल्प हो रहा है। अगर परीक्षा देनी है तो जब इम्तिहान की तैयारी करने बैठता हूँ, उसी समय रात को हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का क्रिकेट मैच हो रहा है। अगले दिन इम्तिहान है। 'क्रिकेट देखूँ? नहीं। पढ़ूँ। यह मेरा पढ़ा हुआ है, तैयार ही है। क्रिकेट देख लूँ। नहीं नहीं, इसमें तीसरा-चौथा अध्याय तो मैंने ठीक से तैयार किया ही नहीं है। पढ़ लूँ।' यों 'पढ़ूँ नहीं पढ़ूँ।'चलता रहेगा। इस तरह पता लगता है कि संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। यह ज्ञान अपरोक्ष ही है, अपने को साक्षात् अनुभव होता है, किसी के कहने से पता लगता हो ऐसा नहीं है। अंदर में एक तो यह संकल्प-विकल्प करने वाला मन है। दूसरा अनुभव होता है'मैंने निश्चय कर लिया, सारी दुनिया मुझे समझावे, कि 'ऐसा नहीं कर, इसमें ये नुकसान हैं', पर उनका बताया हुआ कोई नुकसान मुझे समझ में नहीं आता, जँची बात पर दृढ रहता हूँ'। इस प्रकार का जो निश्चय होता है उसको ही बुद्धि कहते हैं। यह भी साक्षात् पता लगता है कि मैंने निश्चय कर लिया। लड़का निश्चय कर लेता है, 'इस लड़की से ब्याह करना है।' अब घर वाले समझाते हैं। अड़ौसी-पड़ौसी समझाते हैं, दोस्त समझाते हैं, पर नहीं मानता, उसको तो उसी से शादी करनी है। और तीसरी चीज़ हैकरने वाला और भोगने वाला मैं। कौन करता है? मैं करता हूँ। सुखी-दुःखी कौन होता है? मैं होता हूँ। इसका भी साक्षात् अनुभव होता है।

ऐसा मानने से एक विरूपता आती है कि पृथ्वी आदि तो सब प्राणियों के लिये

साधारण ही हैं, परंतु मन, बुद्धि, अहंकारये तो अपने-अपने अलग-अलग हैं। इसलिये आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि मन-शब्द से उसके कारण को समझना चाहिय। सांख्यमत की रीति में प्रकृति-महान्-अहंकार-तन्मात्राएँयह क्रम है। भूमि आदि से तन्मात्राएँ ग्रहण की अतः क्रमप्राप्त अहंकार मन-शब्द से समझना चाहिये। अतः बुद्धि से भी अहंकार के कारण अर्थात् महान् को, महत्तत्त्व को समझना चाहिये। महत् तत्त्व को ही समष्टि बुद्धिरूप हिरण्यगर्भ कहते हैं। इसी क्रम में आये अहंकार-शब्द से अविद्यारूप अव्यक्त का ग्रहण उचित है। अव्यक्त मूल कारण है पर अहंकार की वासना वाला होने से यहाँ उसे अहंकार कह दिया। अव्यक्त से प्रकट होकर अहंकार ही सारी प्रवृत्ति का बीज है। वेदांत-प्रक्रिया में ईक्षण को यहाँ बुद्धि (महान्) और संकल्प को यहाँ मन-शब्दित अहंकार कहा। अव्यक्त उपाधि वाला परमात्मा ही संकल्प करता है 'बहु स्याम्' 'मैं बहुत हो जाऊँ।' संकल्प करके आकाश वायु इत्यादि सब प्रकट करता है। संकल्प से पूर्व 'एकोऽहम्' यों ईश्वर का अहंकार समझ सकते हैं। अतः अहंकार से अव्यक्त अवस्था को, महाप्रलय के पहले जो इस संसार का रूप है उसे समझना है। अव्यक्त मायने अप्रकट। व्यक्त प्रकट को कहते हैं। कोई भी चीज़ प्रकट होने के पहले जो है उसे अव्यक्त कहना पड़ता है। भगवान् ने भी कहा है 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनानि' सारी चीज़ें प्रकट होने के पहले क्या है? अव्यक्त है। और नष्ट होने के बाद क्या है? अव्यक्त है। बस, बीच में व्यक्त है। इसलिये पहले है परमात्मा का अव्यक्त रूप जो अहंकार से युक्त है। फिर उससे समष्टि बुद्धि, 'बहु स्याम्', संकल्प आ गया। फिर उसके बाद हिरण्यगर्भ के जितने हिस्से हैं वे सब अलग-अलग प्रकट हो गये, सारे जीव अलग-अलग प्रकट हो गये। इस प्रकार से सारा 'इदम्' बतला दियाइतनी ही प्रकृति है। व्यापक रूप से ही समझने के लिये मन, बुद्धि, अहंकार के द्वारा व्यापक मन बुद्धि अहंकार को ग्रहण कर लेना चाहिये। यह सारी परमात्मा की प्रकृति है, परमात्मा का स्वभाव है, इस रूप में वह प्रकट होता है।

भगवान् शंकर की अष्ट मूर्त्तियों का ध्यान इसी प्रकृति का है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चंद्र और यजमानये भगवान् की आठ मूर्त्तियाँ हैं। यजमान कर्त्ता-भोक्ता जीव है ही। चंद्रमा को परमात्मा का मन बतलाया है, 'चंद्रमा मनसो जातः।' सूर्य बुद्धि का प्रेरक है। रोज़ प्रातः काल हम लोग कहते हैं 'धियो यो नः प्रचोदयात्' बुद्धि को प्रेरणा करने वाल वह सविता, सूर्य ही है। इस तरह यहाँ आठ तरह की जो प्रकृति बतायी वही भगवान् की आठ मूर्तियाँ है।।४।।

महाभूतों से जड संसार को और मन से जीवों को एकत्र कर लिया। जीव मतलब चेतन नहीं, जीव की उपाधि अर्थात् अंतःकरण, जिसके कारण चेतन जीव होता है। फिर उसका कारण समष्टि हिरण्यगर्भ और उसका भी कारण अविद्या से संयुक्त अव्यक्त जो महाप्रलय में भी रहता है, संकल्प करता है, कि 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, सब चीज़ों

को उत्पन्न करूँ', फिर सृष्टि करता है; उस तक को प्रकृति में गिन लिया। पूर्व श्लोक में केवल उपाधियों की उत्पत्ति बतलाई जिसके कारण चेतन जीव प्रतीत होता है। अब उपहित को परा प्रकृति रूप में बताते हैं

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

हे महाबाहो! (पूर्वोक्त) यह (प्रकृति) अनर्थकारी है। इससे अन्य मेरी परा प्रकृति जीवरूप को समझो जिससे यह जगत् धारण किया जाता है।

पंच महाभूत भी हम लोगों के अनुभव की चीज़ें हैं और मन-बुद्धि-अहंकार भी हमारे अनुभव की चीज़ें है, इसलिय 'इयम्' 'यह' कहा। अपरा अर्थात् निकृष्ट है। इसलिये निकृष्ट है कि ये हमेशा दूसरे के लिये होते हैं। पंच महाभूत, अंतःकरण, अव्यक्तये सब चेतन नहीं होने के कारण किसी प्रयोजन को सामने नहीं रख सकते। इसलिये इन्हें निकृष्ट कहते हैं। और भी इनकी निकृष्टता का कारण है कि इन्हीं में सब प्रकार की अशुद्धियाँ हैं। इनकी अशुद्धि से चेतन अशुद्ध दीखता है यद्यपि चेतन अशुद्ध होता नहीं। जो इनका शुद्ध रूप है वह तो परमात्मदर्शन में सहायक है। पर जो इनका अशुद्ध रूप है वह परमेश्वर को ढाँकता है। सत्य बोलते होयह वाणी की शुद्धि है, सत्य बोलने से परमेश्वर की तरफ जाते हो। उसी जबान से झूठ बोलते होयह वाणी की अशुद्धि है और इससे परमात्मा से दूर जाते हो। आँख से तुम भगवान् की मूर्त्ति का दर्शन करते हो तो परमात्मा की तरफ जाते हो। और इसी आँख से नंगी औरतों को या उनके चित्रों को देखते हो तो आँख की इस अशुद्धि के कारण परमात्मा से विमुख होते हो। ये जितनी चीज़ें हैं ये परमात्मा की तरफ जाने के साधन भी हैं और परमात्मा से दूर ले जाने के भी उपाय हैं। इसलिये इसको अपरा कहा। इसी को संसार के बंधन का कारण कहा जाता है, बंधनस्वरूप कहा जाता है। ये सब इसको अपरा कहने में कारण हैं।

'इतस्त्वन्यां', 'तु' मायने दूसरी तरफ 'इतः अन्यां', इससे भिन्न जो कभी भी अशुद्ध हो ही नहीं सकती वह 'परां प्रकृतिं', परा प्रकृति है। परा है क्योंकि श्रेष्ठ है। हमेशा शुद्ध रहती है, उसमें कोई अशुद्धि नहीं आती। अपरा में तो अशुद्धि आती है, भले ही परमात्मा की तरफ ले जाना चाहो तो शुद्ध भी हो जाती है। परंतु परा तो हमेशा शुद्ध ही रहती है। और अपरा तो किसी चेतन के लिये है क्योंकि जड है। कहीं भी तुम बढ़िया मकान देखो तो पूछते हो 'इसमें कौन रहता है?' कभी ऐसा नहीं होता कि मकान इसलिये बना है कि बस मकान सुंदर है, रहने वाला कोई नहीं है! ऐसे मकान होते भी हैं, जैसे ताजमहल में रहता कोई नहीं, जो देखने के लिये हैं। किन्तु वे भी बनवाने वाले की संतुष्टि के प्रयोजन से बनाये जाते हैं। इससे विपरीत, परा प्रकृति

किसी के लिये नहीं है, दूसरी चीज़ें इसके लिये हैं इसलिये यह परा है, श्रेष्ठ है। परा भी मेरी ही (भगवान् की ही) प्रकृति है। जैसे सारा पृथ्वी आदि संसार मेरा स्वरूप है, ऐसे ही परा भी स्वरूप है। किंतु परा मेरा आत्मरूप है।

शरीर ही प्रायः लोगों का स्वरूप होता है। शरीर मर गया तो वे मर जाते हैं। परंतु कुछ लोग ऐसे होते हैं, यश ही जिन का शरीर होता है। इसलिये कहा गया है

'जयंति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।'

जिन्होंने अत्यंत सुंदर रचनायें की हैं वे रससिद्ध कहे जाते हैं। साहित्य में नौ रस माने गये हैंवीर, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स, भयानकर, करुण, हास्य, शृंगार और शांति। साहित्य का अध्ययन करके लोग इनका अनुभव करते हैं। जिन्होंने इन रसों को सिद्ध कर लिया है, अर्थात् जब जिसे चाहते हैं उसी रस को अपने काव्य से पैदा कर सकते हैं, ऐसे कवियों के जो अधिपति हैं उनका जो यश का शरीर है, उसमें न बुढ़ापे का भय है, न मरने का भय है। यश ही उनका स्थायी शरीर है। इस शरीर के लिये ऐसे राजा हुए हैं जो किसी गाय की रक्षा करने में जब समर्थ नहीं हुए और शेर ने कहा 'मैं भूखा हूँ, मुझे खाने को चाहिये', तो जिन्होंने अपना सिर झुका कर कहा, 'मुझे खा लो, परंतु मेरे गुरु जी की नंदिनी गाय को छोड़ दो।' शेर ने कहा भी 'अरे! क्या बेवकूफी कर रहे हो! शरीर रखोगे तो तुम को और हज़ार फायदे होंगे। गुरु जी को एक गाय के बदले में हज़ार-पाँच सौ गायें दे देना।' पर राजा ने उसे जवाब दिया कि 'तुम्हें मुझ पर दया करनी है तो मेरे इस शरीर के ऊपर दया नहीं करो। इसको तो खा लो। यदि मेरे रहते गाय को खाओगे तो मेरा जो यश-रूपी शरीर है कि 'यह सबकी रक्षा करता है', वह नष्ट हो जायेगा। तुम मेरे यशरूपी, कीर्तिरूपी शरीर के ऊपर दया करो।' ऐसा जो यशरूपी शरीर है उसमें न बुढ़ापा होता है न उसकी मृत्यु होती है।

इसी तरह भगवान् की यह परा प्रकृति है। चेतन की ही प्रसिद्धि है। कालिदास काला था, गोरा था किसको पता है? लम्बा था, नाटा था, किसको पता है? आज तक यही झगड़ा चलता है कि कालिदास कहाँ का था। परंतु इतने पर भी कालिदास के ऊपर कोई आँच नहीं आयी। 'जीवभूतां', जीवरूप भगवान् की परा प्रकृति है, श्रेष्ठ रूप है। आगे भगवान् इसी को क्षेत्रज्ञ कहेंगे। शरीर को क्षेत्र कहेंगे, क्षेत्र मायने खेत, और जीव को क्षेत्रज्ञ कहेंगे। क्योंकि शरीर में तुम खेती करते होशुभ कर्म करते हो तो आगे शुभ फलों को पाते हो। अशुभ कर्मों को करते हो तो आगे अशुभ कर्मों के फलों को पाते हो। परमात्म-ज्ञान करते हो तो तुम बंधन से मुक्त भी हो जाते हो। ये सब करना तो इसी क्षेत्र में पड़ेगा, इसी खेत में पड़ेगा, शरीर को इसलिये भगवान् ने खेत कहा।

जीवरूप से 'इदं जगत् धार्यते' जगत् का धारण किया जाता है। संस्कृत में 'जीव प्राणने' धातु है, जीव का अर्थ होता है प्राण धारण करना। अन धातु से ही उपसर्ग के द्वारा प्र + अन = प्राण, अप + अन = अपान, वि + अन = व्यान, सम + अन = समान आदि शब्द बनते हैं। जीव का स्वरूप यही है कि यह प्राण धारण करता है। जब तक जीव शरीर में है तब तक प्राण धरण होता है और जैसे ही जीव चला जाता है, प्राण का भी धारण नहीं होता। हम लोगों को यह स्पष्ट अनुभव है। जब तक शरीर में जीव चेतन है तब तक यह धृत है, और मरने के दो घण्टों के अंदर शरीर विशीर्ण होने लगता है, सड़ने लगता है। विचार करोः इतनी बड़ी पृथ्वी है, यह विशीर्ण नहीं होती! इसमें कुछ भी करोखेत बो दो, मकान बना दो। मकान टूट जाये, खेती कहीं बंजर हो जाये,
लेकिन दस-बीस-पचीस-पचास सालों में फिर ज़मीन स्वाभाविक हो जाती है। खेती करने वाले इस बात को जानते हैं। निरंतर एक चीज़ की खेती करते हैं तो खेत खराब हो जाता है। हर दो साल बाद एक साल उसको छोड़ देते हैं तो अपने आप ताज़ी हो जाती है। विचार करके देखो तो यह इसलिये कि पृथ्वी के अंदर भी कोई चेतन तत्त्व ज़रूर है जिसके कारण यह धृत रहती है। सारा ब्रह्माण्ड, सूर्य इत्यादि के चारों तरफ घूमने वाले नक्षत्र नीहारिकायें, सबका एक अद्भुत संतुलन देखने में आता है। यदि कोई चेतन सत्ता इसमें अनुस्यूत न होवे तो, जैसा उपनिषद् कहती है, मिट्टी का ढेला जैसे पानी के बिना बिखर जाता है ऐसे ही सारा संसार बिखर जाये। जैसे शरीर प्राण से धारित होता है, चेतन से धारित होता है, वैसे ही 'यया इदं जगत् धार्यते' सारे जगत् को धारण करने वाला जीव ही है। यह बड़ी खास चीज़ समझने की है। हम कर्म करते हैं, उसके फलस्वरूप ही, स्वर्गादि होते हैं। हमें स्वर्ग का सुख भोगना है इसलिये स्वर्ग है। वैसे ही नरक का दुःख हमें भोगना है अतः नरक है। इसलिये स्वर्ग और नरक के मूल कारण तो हम हैं। हम हैं तब स्वर्ग या नरक बनता है। मोटी भाषा में समझ लो, अगर हम सड़क के ऊपर कूड़ा फैंकते हैं, तो उसमें होने वाले मक्खी मच्छर किसको काटेंगे? और यदि हम सब चीज़ों को साफ रखते हैं, बढ़िया फूल उगाते हैं तो सुगंधि को कौन सूँघेगा? चाहे आगे के लोकों को समझो, चाहे यहीं संसार में समझो, जगत् को बनाने-बिगाड़ने वाले हम हैं। जीव नाम भगवान् ने इसलिये रखा कि प्राणन-क्रिया से जैसे शरीर को जीवित रखता है वैसे ही अपने द्वारा ही सारे संसार को शुभ या अशुभ बनाता रहता है। जीव अपने शरीर में हमें प्रत्यक्षसिद्ध है। इसी को अर्थात् स्वयं को जगत् का धारण करने वाला समझ लेना चाहिये। प्रायः हम यह सोच कर कि 'कोई और करेगा', किसी भी सुधार में व बिगाड़ रोकने में प्रवृत्त नहीं होते। जिसके मन में आ जाये कि 'हम क्या कर सकते हैं?' वही अपने उद्देश्य को ख़त्म करने में प्रधान कारण बन जाता है।

अमरीका में सन १९२१ के अंदर, शराब-बंदी हुई थी। आठ साल के बाद हटा दी

गई क्योंकि बंदी का प्रयास असफल हो गया। सन् २६ के आस-पास गांधी जी से किसी अमरीकन पत्रकार ने पूछा, कि 'शराब-बंदी हमारे देश में विफल हो गई तो आप क्या सोचते हैं आपके यहाँ सफल हो जायेगी?' गांधी जी ने कहा, 'हाँ, हमारे यहाँ सफल हो जायेगी। तुम्हारे यहाँ भाई-भाई, बाप-बेटा साथ बैठकर पीते हैं। हमारे यहाँ पीने वाला छिप कर, घर वालों को किसी को पता न लगे, समाज में किसी को पता न लगे, बदनामी न हो जाये, इस तरह पीता है। छिपकर पीता है इसलिये उसके अन्तःकरण में है कि यह बुरा है। समाज का भी भय है। जब तक 'बुरा है' यह मन में है तब तक सुधार की आशा है।' जब मन में आ जाता है कि 'इसमें बुराई है क्या?' तब सुधार असम्भव हो जाता है। अब सन् १९२६ के बाद २००६ हो गया है। शराब पीने वाले दृढ रहे। उन्होंने हिम्मत नहीं हारी कि 'हम नहीं बिगाड़ सकेंगे।' दुनिया उनको कुछ भी कहती रही, वे पीते रहे और जो मिले उस से इसकी तारीफ ही करते रहे, मुफ्त में पिलाते रहे। धीरे-धीरे आज हमें भी यही कहना पड़ेगा, कि हिन्दुस्तान में अब शराब-बंदी नहीं हो सकती। जैसे शराब वैसे ही काला-बजारी शुरू में 'बुरी है' जानते हुए अत्यावश्यक होने पर ही करते थे। तब कोशिश करते तो रोकी जा सकती थी। आज उसे लगभग सब सही मान चुके हैं अतः अब रोकना असम्भव-सा हो चुका है। यही स्थिति घूसखोरी की है। यदि बुराई इस प्रकार से बढ़ाई जा सकती है तो अच्छाई भी इसी प्रकार से बढ़ाई जा सकती है। हम अच्छे बनेंगे, यह संकल्प बेकार कभी जाने वाला नहीं है। अच्छाई भी ठीक उसी तरह से बढ़ती है जैसे बुराई। जीव संसार का धारण करने वाला है, इसलिये इसके कर्मफलों के लिये ही सब कुछ पैदा होता है। यह अपने शुभ कर्मों के द्वारा संसार को स्वर्ग बना सकता है, अशुभ कर्मों के द्वारा नरक बना सकता है। क्यों? आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं 'प्रकृत्येदं धार्यते जगदन्तःप्रविष्टया'इसके कण-कण और क्षण-क्षण के अंदर परमात्मा जीवरूप से प्रविष्ट है। प्रत्येक उपाधि को धारण करने वाला कोई-न-कोई जीव है। अतः तुम किसी भी चीज़ से व्यवहार करते समय हमेशा ध्यान रखो कि जिससे तुम व्यवहार कर रहे हो, वह चेतन परमात्मा का ही शरीर है। सदा इस बात की सावधानी रखनी है। इससे न केवल व्यवहार शुद्ध रहता है वरन् परमात्म-चिंतन भी लगातार बना रहता है।।५।।

दोनों प्रकृतियों को युक्ति से भी समर्थित करते हैं

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

जन्मवान् सब चीज़ें इन प्रकृतियों के कारण बनी हैं यह निश्चय रखो। (अपनी प्रकृतियों के द्वारा) मैं सारे जगत् का उत्पत्तिकारण और विनाशकारण हूँ।

संसार में जितने भी भूत हैं, जितने भी प्राणी और अचेतन हैं वे सब मेरी

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञरूप परा प्रकृति और अपरा प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। परा प्रकृति और अपरा प्रकृति ही सारे संसार का कारण हैं। जितना जड-चेतन जगत् है वह इन दो का ही खेल है। प्रकृतियों के कारण ही सारे भूत हैंइतना ही कह कर नहीं छोड़ा, विधान भी किया 'उपधारय', निश्चय करो। हर समय इस तथ्य को सामने रख कर ही, व्यवहार करना है। 'धारण करो', का मतलब है स्वीकार करो। लेकिन भगवान् इससे ज़्यादा कहते हैं। प्रायः शुरू में ऐसा होता है कि जब हमें कोई याद दिलाता है तब बात जँचती है पर मन नहीं मानता। जैसे कोई कठिन परिस्थिति आ जाये, और कोई याद दिलावे, कि 'जैसा भगवान् चाहेंगे वैसा ही होगा।' तो यह सुन कर याद आता है कि बात तो ठीक है, फिर भी मन नहीं मानता। यहाँ भी ऐसा न समझें, इसलिये भगवान् ने कहाँ 'उपधारय'हर समय तुम्हारे सामने बिल्कुल स्पष्ट रहना चाहिये कि जहाँ-कहीं जो-कुछ भी है उसके अंदर कारण केवल परमेश्वर की परा और अपरा प्रकृति ही हैं, और कुछ कारण नहीं है। चूंकि भगवान् ने कहा 'मेरी प्रकृति ही कारण है', इसलिये कोई यह न समझ ले कि प्रकृति की ही कारणता बतायी होगी, इसलिये स्पष्ट करते हैं कि अधिष्ठानरूप मैं हूँ, तभी इस प्रकृति की कारणता है। जैसे हमारे पैर की प्रकृति है चलना, परंतु कौन चलता है? मैं चलता हूँ। पैर चलता हैऐसा तो किसी को अनुभव नहीं है। सब जानते हैंमैं चलता हूँ। क्योंकि पैर में जो चलने की शक्ति है, वह शक्ति मेरी है। इसी प्रकार से परा प्रकृति और अपरा प्रकृति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञये दोनों ही परमेश्वर की शक्ति हैं। इसलिये असली कारण तो परमेश्वर ही है। संसार में अनेक प्रकार के विचारक हुऐ हैं। प्राचीन काल में कोई परमाणुओं को कारण मानता था, कोई प्रकृति को कारण मानता था। वर्तमान काल में भी तरह-तरह के कारण माने जाते हैं। उन सब को हटाकर भगवान् कहते हैं 'मैं ही कारण हूँ समस्त जगत् का'।

'प्रभवः' उत्पत्ति। प्रभव उसका होता है जो चीज़ पहले न हो और फिर सत्ता में आवे। जिस चीज़ की सत्ता पहले न हो और फिर वह चीज़ सत्ता में आवे, उसका 'प्रभव' होना कहेंगे और जिससे उसका प्रभव हुआ उस कारण को भी प्रभव कहेंगे। इसलिये चीज़ के हिस्सों को इधर-उधर कर दो तो उसे हम लोग 'प्रभव' नहीं कहते हैं। लम्बी लकड़ी थी, हमने उसे काट कर चार टुकड़े किये, चार पाये बना दिये, उसके ऊपर लकड़ी का एक हिस्सा रख दियाइस प्रकार चौकी को हमने बनाया, लेकिन न चौकी का प्रभव हुआ और न हम चौकी के प्रभव हैं। जो लकड़ी थी पहले से, उसी के टुकड़ों को इधर-उधर करके हमने केवल एक नई शक्ल दे दी। ऐसे परमेश्वर ने किसी अन्य चीज़ को लेकर इस सृष्टि को बनाया हो, ऐसा नहीं है। पहले यह सृष्टि नहीं थी, फिर उन्होंने बनाई है। भगवान् ने सृष्टि के पहले की अवस्था को अव्यक्त कहा है। जब प्रकट नहीं है, उस समय में महाप्रलय के अंदर सारी सृष्टि भगवान् के अंदर लीन है, प्रकट नहीं है। जब वे संकल्प करेंगे तभी प्रकट होगी। हम लोग जो स्वप्न देखते हैं

उस स्वप्न का प्रभव करने वाले हम ही हैं। स्वप्न की सृष्टि हम ही बनाते हैं। वहाँ हम प्रभव करते हैं। हमारे पास चीज़ों के संस्कार हैं तभी स्वप्न की चीज़ें बना लेते हैं। संस्कार ही तो पदार्थ नहीं हैं, उनसे स्वप्न के पदार्थों का हम निर्माण करते हैं। घड़े के संस्कार को तो घड़ा नहीं कह सकते हो पर उससे सपने का घड़ा बना सकते हो। इसी प्रकार अव्यक्त में सब कुछ थाइसका मतलब है कि सब कुछ अप्रकट था। 'कुछ नहीं' से 'कुछ' हो सकता हैयह तो कोई आस्तिक नहीं मानते। कुछ भी होगा तो किसी चीज़ से ही होगा। अव्यक्त होना ही हमारे यहाँ 'नहीं होना' है; चीज़ प्रकट नहीं है, तो वह नहीं है। भगवान् ने कहा 'अहं जगतः प्रभवः'सारे जगत् को मैं ही ईक्षण करके सत्ता में लाया हूँ। वे ही संसार के अधिष्ठान हैं।

'प्रलयस्तथा' भगवान् ने कहामहाप्रलय के अंदर इस सबको मैं अपने अंदर ही लीन करूँगा, और कहीं यह जाने वाला नहीं है! मैंने ही प्रकट किया है और मैं ही इसको फिर अपने में लीन करूँगा। अन्यत्र इस को समझाने के लिये मकड़ी का दृष्टांत लिया है : जैसे मकड़ी अपने में से ही सारे जाले को प्रकट करती है, और फिर सारे जाले को अपने अंदर ही ले लेती है, इसी प्रकार परमात्मा, अपने में से ही सारा जगत् पैदा करता है और अंत में अपने में ही लीन कर लेता है। जगत् का प्रभव और प्रलय कहा, किन्तु 'तथा' शब्द से समझ लेना कि स्थिति काल, जिसको हम देख रहे हैं, उस का भी मैं ही कारण हूँ। ऐसा नहीं है कि ईश्वर ने पैदा किया और फिर 'रिटायार' (सेवानिवृत्त) हो गया! लोग यही समझते हैं, कि भगवान् संसार के दौरान कोई मतलब नहीं रखते हैं, किंतु ऐसा नहीं, भगवान् का कहना है कि स्थिति काल में भी सारी व्यवस्थायें करने वाला मैं ही हूँ। पृथ्वी इत्यादि सब विशीर्ण नहीं हो रहे हैं। इतनी बड़ी नीहारिकायें, तारे इत्यादि सब एक तरीके से चल रहे हैं; परमेश्वर हैं, इसलिये ही तो सारा तरीका कायम है। मैं प्रभव भी हूँ, प्रलय भी हूँ और इस सारे जगत् को स्थिति काल में भी धारण करने वाला हूँ।।६।।

जगत् के प्रति अपनी प्रकृतियों द्वारा भगवान् स्वयं ही कारण हैं यह समझाकर अब स्पष्ट करते हैं कि भगवान् से परे कुछ नहीं, उनसे अन्य कुछ भी नहीं है जिस प्रकार स्वप्न का एकमात्र अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण मैं हूँ अतः स्वप्न मुझ से अन्य कुछ नहीं है। संस्कार इत्यादि तो मुझ से एक ही हैं। जब हम 'मैं' कहते हैं तब मतलब शरीर, इंद्रियाँ, अंतःकरण, अंतःकरण में होने वाले सारे संस्कार इत्यादि सब से होता है। इसी प्रकार से परमेश्वर की प्रकृति परमेश्वर से अलग है नहीं इसलिये एकमात्र परमेश्वर ही जगत् के एकमात्र स्थिति, सृष्टि और प्रलय के कारण हैं। चूंकि ऐसा है इसलिये

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

हे धनंजय! मुझ परमेश्वर से अन्य कोई स्वतंत्र कारण इस जगत् का नहीं है। धागे में विभिन्न मणियों की तरह यह सारा संसार मुझमें पिरोया हुआ है।

जो मैं न होऊँ वह मुझसे पर होगा। जैसे स्वप्न के अंदर जिस हाथी पर मैं बैठता हूँ, वह हाथी मेरे सिवाय तो कुछ नहीं है, मैं ही उस पर बैठने वाला भी हूँ, और मैं ही उसके ऊपर बिठाने वाला भी हूँ। मेरे सिवाय वहाँ कुछ है नहीं; सारे भिन्न प्रतीत होते हैं, स्वप्न में सब अलग दीखते हैं, परंतु वस्तुतः हैं नहीं; इसी प्रकार परमात्मा से भिन्न और कोई कारण नहीं है, और कुछ भी नहीं है। संसार में हर चीज़ का कारण देखा जाता है और उस कारण का पुनः कारण देखा जाता है। जैसे कपड़ा धागे से पैदा हुआ है, आगे धागा रुई से पैदा हुआ है, फिर स्वयं रुई मिट्टी से पैदा हुई है। इस प्रकार संसार में जितनी चीज़ें दीखती हैं वे किसी का कारण हैं तो किसी का कार्य भी हैं, किसी से पैदा भी हुई हैं। किंतु परमेश्वर सबका कारण तो है, उसका कोई कारण नहीं है। इसलिये उपनिषद् के अंदर एक-से-एक पर (परे) बतलाते चले गये, परंतु अंत में कहा कि उस परमेश्वर से आगे और कुछ नहीं है। परमेश्वर सबका कारण है पर स्वयं किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुआ है। इसीलिये भगवान् ने कहा, उससे 'परतर' कुछ नहीं है। अतः यह प्रश्न नहीं उठता है कि सब किसी-न-किसी चीज़ से बनते हैं तो परमेश्वर भी किसी चीज़ से बनता होगा!

भगवान् बताते हैं कि यह मेरा अद्भुत ऐश्वर्य है। 'इदं सर्वम् मयि प्रोतं'जो अनुभव में आता है जड-चेतनात्मक जगत्, वह मुझ परमेश्वर में 'प्रोत' है अर्थात् अनुगत है, अनुस्यूत है, जैसे कपड़े में धागा ही सर्वत्र अनुस्यूत है। संस्कृत में 'प्रोत' कहते हैं, हिंदी में 'पोना' कहते हैं। माला बनाने के लिये सब मणियों को एक धागे के अंदर पो दिया जाता है। ऐसे ही भगवान् ने कहा कि सारा जड-चेतन जगत् मुझमें ही अनुस्यूत है। कैसे? दृष्टांत दे दिया, 'सूत्रे मणिगणा इव।' सूत्र अर्थात् धागा, जिसमें तुम मणियाँ पुवाते हो। रुद्राक्ष की माला हो, मोतियों की माला हो, स्फटिक की माला हो, लकड़ी की माला हो, सोने के दानों की माला हो, सब उस सूत्र में ही, उस धागे में ही पिरोई जाती हैं। माला में रुद्राक्ष के दाने में तुमको धागा दीखता नहीं है, पर तुम अपनी बुद्धि से इस बात को समझते हो कि नहीं दीखने पर भी वहाँ धागा है क्योंकि किसी कारण से वह टूट जाता है तो दाना अलग हो जाता है। धागा टूटने से बिलकुल अलग हो जाते हैं, इससे पता लग जाता है, बुद्धि के द्वारा, कि इसके अंदर धागा था, वही इसको धारण किये हुआ था, माला में बाँधे हुए था। इसी प्रकार संसार के पदार्थों में परमात्मा दीखता नहीं है, परंतु पदार्थ व्यवस्थित हैं, इससे पता लग जाता है कि इसके अंदर परमात्मा मौजूद है। न दीखने पर भी बुद्धि से निश्चय हो जाता है कि इसके अंदर परमात्मा है।

प्रश्न होता है, फिर भी मणिगण अलग हैं, और सूत, अलग है। सूत्र के अंदर

मणियाँ हैं, पर मणियाँ सूत से अलग हैं। इसी प्रकार हम सब में परमात्मा होगा, पर हम सब उससे अलग तो हैं ही। इस दृष्टांत से यह शंका हो सकती है। पर विचार करने पर पता लगेगा कि दाना, चाहे रुद्राक्ष का हो, चाहे मोती का हो, स्फटिक का हो, सोने का हो, चाँदी का हो, है पार्थिव ही पृथ्वी से ही सब निकले हैं, पृथ्वी से ही उत्पन्न हैं; और धागा भी रुई के द्वारा पृथ्वी से ही निकला है। इसलिये चाहे जितना अलग दीखें, हैं दोनों ही पार्थिव। पार्थिव होने से वस्तुतः दोनों एक ही हैं। यदि सोना आदि को कोई पार्थिव के बजाये तैजस माने तो भी सब भौतिक तो हैं ही। भौतिक होने से सब एक हैं। अथवा पंजाबी लोग एक माला बनाते हैं, जिसमें धागे को ही गोल-गोल करके, मणियाँ भी बना लेते हैं। इस प्रकार बनी माला सारी एक धागे की ही होती है। उसे यहाँ समझने से दृष्टांत ठीक बैठता है।

कुछ लोगों ने इसका ज़रा सूक्ष्म अर्थ किया हैः 'सूत्र' मायने 'सूत्रात्मा', हिरण्यगर्भ में। हिरण्यगर्भ के अंदर ही सारे के सारे 'मणिगण' हैं। समष्टि अंतःकरण में ही सारे व्यष्टि अंतःकरण हैं, इसलिये उससे भिन्न नहीं जैसे तुम्हारे शरीर में अनेक कोषा हैं, अनंत हैं, गिनना भी संभव नहीं। उन कोषाओं से बने हुए, यकृत, हृदय, गुर्दा आदि अंग हैं। परंतु वे सब तुम से अलग तो नहीं हैं। इसी प्रकार से हिरण्यगर्भ के सारे अंग हैं इसलिये हिरण्यगर्भ में सारे प्रोत हैं।

भगवान् यहाँ दृष्टांत प्रधानरूप से धारक का दे रहे हैं इसलिये सीधा ही अर्थ समझ लोजैसे धागा, सारे मणियों को धारण करता है। ऐसे ही परमेश्वर सब चीज़ों को धारण करते हैं।।७।।

धागे में मणियों की तरह मुझ में सब प्रोत हैंइसकी व्याख्या आगे कर रहे हैं कि किन चीज़ों से हमें प्रोतपाना दीख सकता है। आचार्यों ने बतलाया है कि यहाँ से जो प्रकरण चला है वह उपासना का प्रकरण है। अर्थात् उन-उन उपाधियों का परमात्मा में किस रूप में प्रोतत्व है, पिरोयापना है इस बात को उन चीज़ों से व्यवहार करते समय, ध्यान में रखना है। उनमें दृष्टि रखनी है कि किस रूप में उनमें परमात्मा मौजूद है। जो कुछ हमारे सामने आता है उसमें इन रूपों को देखते रहेंगे तो हमारा परमात्मभाव दृढ होता चला जायेगा

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शाशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

हे कुंतीनंदन! मैं जल में रस हूँ, चंद्र-सूर्य में प्रभा हूँ, सब वेदों में प्रणव हूँ, आकाश में शब्द और नरों में पौरुष हूँ।

सबसे पहले भगवान् ने जल में रस को अपना स्वरूप कहा, रसरूप भगवान् में जल प्रोत हैं। संस्कृत में जलवाचक अप्-शब्द नियमतः बहुवचन में प्रयुक्त होता है। अतः

जितना पानी है सर्वत्र यह नियम समझ लो। पानी का अपना स्वाद है मधुर, मीठापना। दूसरे जितने स्वाद हैं वे सारे जल में किसी दूसरी चीज़ का स्पर्श होने पर आते हैं। आज के वैज्ञानिक इस बात को नहीं मानेंगे, वे लोग कहते हैं कि पानी में कोई स्वाद नहीं होता! वे जल को स्वाद-रहित मानते हैं। पर हम लोग कहते हैं कि पानी में अपना मिठास होता है। अगर इसका पता लगाना हो तो थोड़ी-सी हरड़ पहले खा लो, उसके बाद बिल्कुल शुद्ध किया हुआ पानी लो, जिसको स्वादरहित कहते हैं, उस पानी को पियो, तब तुमको मीठा लगेगा। उसमें मिठास कहाँ से आया? हरड़ तुमने निगल लिया, वह तो मुँह में है नहीं। वह मिठास जल का अपना है। मिठास ही उसका स्वाद क्यों है, जल के अपने स्वरूप में ही मिठास क्यों है? इसका जवाब भगवान् थोड़ा आगे देंगे कि जो पुण्य रस है, शुभ रस है वह मेरा स्वरूप है। इसी तरह जो शुभ गंध है वह मेरा रूप है। पुण्य शब्द आदि में भी यही न्याय समझ लेना। क्यों? परमात्मा ने जो संसार पैदा किया वह सारा शुभ ही है। उसमें अशुभता जितनी है, वह मनुष्य ने अपने कर्मों के द्वारा लाई है। अविद्या और कर्म के कारण अपुण्यता आती है। पदार्थ स्वयं अपने अंदर हमेशा पुण्यरूप ही हैं, क्योंकि शुद्ध परमात्मा से पैदा हुए हैं। उनमें जो अपुण्यता है वह हमने अपने अविद्या, काम और कर्म के द्वारा प्रकट की है। इसलिये पुण्यरूप में परमात्मा को अनुस्यूत देखना है। इस तरह जल का जो अपना स्वाभाविक मधुर रस है वह परमात्मा का रूप है। जल के मधुर रूप के अंदर परमात्मदृष्टि अर्थात् वह परमात्मा हैऐसी उपासना करनी है।

कौन्तेय! हे कुन्तीपुत्र। कुन्ती की याद इसलिये दिलाई कि कुंती ने तीन पुत्र अपने पैदा किये थे और दो पुत्र मंत्रों के बल से पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री से उत्पन्न कराये थे। कुंती वह थी जिसके कारण माद्री से भी पुत्र पैदा हो गये। इसी प्रकार दो प्रसूतियाँ हैंमाया से प्रसूत, और माया के साथ काम-कर्म मिल करके प्रसूत। भगवान् का इशारा है कितू शुद्ध माया के द्वारा प्रसूत है, इसलिये इस बात को समझ सकता है कि मुझसे जो उत्पन्न है वह शुभ है, और जीव जो अपने अविद्या काम व कर्म से करता है वह अशुभ है।

'शशिसूर्ययोः प्रभाऽस्मि'। शशि अर्थात् चंद्रमा, और सूर्यइन दोनों के अंदर प्रभारूप से मैं मौजूद हूँ। प्रभा अर्थात् चमकदार रोशनी। जैसे अगर पानी में अपना मधुर रस न होवे, तो पानी ही नहीं होगा क्योंकि उसके द्वारा ही जल धृत है, वैसे ही सूर्य-चंद्र यदि चमक वाले नहीं होंगे तो सूर्य-चंद्र ही नहीं रह जायेंगे। प्रभा के कारण ही वे सूर्य-चंद्र हैं। 'सर्ववेदेषु प्रणवः।' स्वयं वेद ने ही कहा है कि जैसे पत्ते के अंदर जो सूक्ष्म चारों तरफ फैला जाल होता हैकभी किसी पत्ते को किसी रोशनी के सामने करके देखो तो उसमें सर्वत्र जाल दीखेगाउसी प्रकार प्रणव, ओंकार, सारे वेद में व्यापक रूप से विद्यमान है। इसीलिये वैदिक मंत्र का जप करते हैं तो पहले ॐ बोलकर

तब मंत्र का जप शुरू होता है। ॐ सारे मंत्रों के अंदर अनुस्यूत है। ओंकार को यहाँ प्रणव कहा है। 'नव' मायने नया, 'प्र' मायने प्रकर्ष से; 'प्रणव' हर मंत्र के साथ मानो नये रूप में दीखता है। सारे मंत्रों को धरण करने वाला ॐ है। इसलिये स्मृतिकारों ने लिखा है कि यदि आदि-अंत में प्रणव का उच्चारण नहीं किया जाता है तो मंत्र का प्रभाव *बह* जाता है, नहीं रहता है। इसलिये सारा मंत्रब्राह्मणात्मक जो वेद है, उसके अंदर सर्वत्र प्रोत प्रणव भगवद्रूप है। अतः भगवान् ने कहा कि मेरे ओंकार रूप में सारे वेद प्रोत हैं, पिरोए हुऐ हैं।

'खे शब्दः।' आकाश में मैं शब्दरूप में हूँ। आकाश शब्द-गुणक है। शब्द न होवे ऐसा आकाश नहीं हो सकता। पहले तो लोगों की समझ में यह कुछ कठिनता से आता था, परंतु अब भौतिक विज्ञान ने इसको समझना बड़ा सरल कर दिया हैइस कमरे के अंदर कोई आवाज़ न होवे, तो लगेगा कि यहाँ शब्द-रहित आकाश है। किंतु यहीं रेडियो का खटका दबा कर तुम आकाशवाणी चालू कर दो तो इसी आकाश में से आवाज़ निकलती है क्योंकि शब्द यहाँ मौजूद है जिसे यंत्र प्रकट करता है। जहाँ तुम समझते हो कोई शब्द नहीं है वहाँ भी इन यंत्रों के माध्यम से तुरंत शब्द प्रकट हो जाता है। आकाश जहाँ भी है वहाँ शब्द ज़रूर है क्योंकि आकाश शब्द गुण वाला ही है।

'पौरुषं नृषु'। पौरुष उद्यम को कहते हैं। उद्यम करके जिस चीज़ को प्राप्त किया जाता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। जिसमें उद्यम है, उसको पुरुष कह सकते हैं। जो उद्यमहीन है, उसको, साधारण लोग भी कहते हैं 'अरे! तुम भी कोई आदमी हो!' उद्यमहीन को लोक में, 'यह आदमी भी नहीं है', ऐसा कह दिया जाता है। सामान्य रूप से लोक में पुत्र उत्पन्न करने की सामर्थ्य को पुरुषत्व कहा जाता है। जिसमें पुत्रोत्पादन की सामर्थ्य नहीं होती उसे नामर्द कहते हैं। संस्कृत में ऐसे को कहते हैं नपुंसक। जिसके कारण व्यक्ति में पुंबुद्धि होती है, वह पौरुष है। उसे भगवान् कह रहे हैं कि मेरा रूप है। भगवान् ने खास करके नृषु, अर्थात् 'मनुष्यों में' कहा। तात्पर्य है कि जो धर्म, अर्थ, काम के लिये पौरुष करता है, या अविद्या-निवृत्ति के लिये प्रयत्न करता है, उसी को पुरुष कहा जा सकता है। जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष किसी के लिये कुछ नहीं करता, वह काहे का आदमी है!।।८।।

सातवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायों के अंदर भगवान् अपनी विभूतियों का वर्णन कर रहे हैं। दसवें में ज़्यादा विस्तार से किया है, यहाँ संक्षेप में किया है, परंतु संक्षेप में आधारभूत सारी चीज़ें इसके अंदर कह दी हैं। दसवें के अंत में स्पष्ट कह देते हैं कि 'मेरी विभूतियों का अंत नहीं हैं क्योंकि संसार के कण-कण और क्षण-क्षण के अंदर मैं विद्यमान हूँ। सारे संसार को मैं ही आविष्ट करके रखता हूँ।' इस बात को यहाँ भी भगवान् ने शुरू में ही कह दिया था। सब अपने में प्रोत बताने के लिये और भी प्रकारों का उल्लेख करते हैं

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

पृथ्वी में मैं सुगंध हूँ, अग्नि में दीप्ति हूँ, सब प्राणियों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ।

आकाश के अंदर अपना स्वरूप बतलाया था शब्द, जल के अंदर अपना स्वरूप बतलाया था रस, अर्थात् तन्मात्राओं के गुणों को बतला रहे हैं। उसी क्रम में आगे पृथ्वी को कहा। यहाँ पृथ्वी कह रहे हैं गंधतन्मात्रा को, पृथ्वीतन्मात्रा को। जो जल हमें मिलता है उस में तो बहुत सी चीज़ें मिली हुई हैंउसमें पृथ्वी आदि सब के गुण मिले हुए हैं। आजकल की भाषा में उसमें लवण, खनिज आदि मिले हुए हैं। सभी का उसमें असर आयेगा। यहाँ जल जैसे रसतन्मात्रा कही, इसी प्रकार पृथ्वी भी सूक्ष्म को कहा। सामान्य रूप से जिस पर हम खड़े हैं उसको पृथ्वी कहते हैं। लेकिन हम शास्त्रीय भाषा में जहाँ गंध होती है उसी को पृथ्वी कहते हैं। दूसरे लोकों में पृथ्वी है या नहीं, जल है या नहीं? हम लोगों का लक्षण है कि जिस इंद्रिय के द्वारा जो चीज़ गृहीत है वही उसका रूप है। जैसे जीभ स्वाद को लेती है इसलिये वह रस ही है। इसी तरह से नासिका के द्वारा जहाँ भी गंध मिलती है वह पृथ्वी है, चाहे जहाँ ब्रह्मांड में चले जाओ। सारा ब्रह्माण्ड, सब कुछ वेदांत के अनुसार पंचमहाभूत से ही बना हुआ है। भगवान् ने कहा 'पुण्यो गन्धः।' पूर्व श्लोक में समझाया था कि मधुर रस परमात्मा का रूप है। उसका कारण यहाँ आकर भगवान् ने कह दिया 'जो अच्छी सुगंध होती है, वह मेरा रूप है।' जो खराब गंध होती है वह जीव के अपने अविद्या-काम-कर्मों से प्रसूत है। भगवान् ने जो पृथ्वी बनाई, गंध तन्मात्रा, वह तो सुरभि ही है, हमारे कर्मों के कारण ही उसमें दुर्गन्ध आती है। जैसे खराब रस जितने हैं, सारे के सारे हमारे कर्मों के कारण हैं, ऐसे ही परमेश्वर ने जो बनाई वह पुण्य अर्थात् सुखद गंध है। इसलिये वही उनका स्वरूप है। अतः कहा कि सुगंधरूप मुझ में पृथ्वी प्रोत है। यहाँ पुण्य कहा है, इसी से रस, शब्द आदि सब में पुण्य-विशेषण समझ लेना चाहिये। कुछ आचार्यों ने खासकर शब्दस्थल में माना है कि चित्त सर्वथा एकाग्र होने पर हृदयाकाश के अंदर जिस अनाहत ध्वनि का योगी लोग दर्शन करते हैं उसका भगवान् ने उल्लेख किया है। हम लोग जितनी ध्वनि सुनते हैं वह आहत है, अर्थात् दो चीज़ों के भिड़ने से पैदा होने वाला शब्द है। परंतु आकाश में जो सर्वदा रहता है वह अनाहत ध्वनि है, जो किन्हीं चीज़ों के आपस में टकराने से पैदा नहीं होती। वही पुण्य शब्द है। शब्द के अंदर जो कर्कशता आदि आती हैं वे सब हमारे कर्मों के फल से आती हैं। इसी प्रकार जब नासिका के ऊपर योगीजन चित्त एकाग्र करते हैं, तब जिस सुगंध को अनुभव करते हैं, वही यहाँ भगवान् की विभूति कही है। इस प्रकार यहाँ जो पुण्य कहा वह सर्वत्र उपलक्षणा के

लिये है। कुछ आचार्यों ने यह भी कहने का प्रयत्न किया है कि 'पृथिव्यां' के आगे जो 'च' लगा हुआ है वह जलादि का संग्रह करने के लिये है। भाष्यकार ने तो यहाँ उपलक्षणा ही की है, चकार से पुण्य को सर्वत्र नहीं लगाया है।

'विभावसौ तेजः अस्मि' विभावसु कहते हैं अग्नि को, अग्नि में जो तेज अर्थात् दीप्ति है, वह मेरा रूप है। प्रभा और दीप्ति या तेज में बहुत थोड़ा फ़र्क है : प्रभा के द्वारा केवल चमकीले प्रकाश को कहा जाता है, और तेज से गर्मी-युक्त प्रकाश को कहा जाता है। यद्यपि दोनों शब्द प्रकाश को कहते हैं, तथापि सूर्य के अंदर हमारी दृष्टि से चमक बहुत तेज़ है, और अग्नि के अंदर गर्मी ज़्यादा होती है। लोक में भी जहाँ प्रकाश को कहना होता है वहाँ प्रभा शब्द का प्रयोग करते हैं। अग्नि के अंदर जो गर्मी वाला प्रकाश है, तेज, वह भगवद्-रूप है। यहाँ भी पुण्य की अनुवृत्ति कर लेना, अर्थात् जो तेज सुखद होता है; जैसे सर्दी के मौसम में आग के पास बैठने से सुखानुभूति होती है, अतः वह पुण्य का फल है जबकि गर्मी में उसी आग के पास बैठना दुखद होता है अतः वह पुण्य का फल नहीं, पाप का फल है! परमेश्वर का तेज रूप तो सुखद ही है, उसके अंदर जो दुःख, पीडा इत्यादि हैं वे जीव के अपने अविद्या ओर अधर्म से उत्पन्न हैं।

'सर्वभूतेषु जीवनं' जितने जीवित पदार्थ हैं, अर्थात् सारे प्राणियों में भगवान् जीवन हैं। प्राणी 'प्राणी' इसीलिये कहे जाते हैं कि उनमें प्राणन क्रिया हो रही है। जैसे ही प्राणन क्रिया बंद होती है वैसे ही कहते हैं 'अब तो ठंडा पड़ गया, ले जाओ।' ले जाते हैं श्मशान घाट पर। प्राण को चाहे नासिका के अंदर देखो, चाहे आँख के अंदर देखो। आँख से भी परीक्षा करते हैं प्रकाश इत्यादि डाल कर। जीवित मनुष्य होता है तो आँख के अंदर प्रतिक्रिया होती है, अन्यथा नहीं होती। आँखों में क्रिया करने वाला भी प्राण है। नासिका में मुख्य प्राण है ही। नाडी में भी प्राणन देखते हैं, हृदय में भी देखते हैं। हर हालत में, आदमी मरा है या नहींयह प्राणन क्रिया से ही पता लगता है। जिससे सब प्राणी जीते रहते हैं उसी का नाम जीवन है। जीवन को हिंदी में कहेंगे जीना। अतः भगवान् का कहना है कि जीवित प्राणियों में जीना नाम की जो चीज़ है वह मेरी विभूति है। कहीं-कहीं जल को जीवन कहा है। कुछ लोगों ने यहाँ भी जीवन का जल अर्थ किया है। भाष्यकार ने तो कह दिया 'येन अन्नरसेन जीवन्ति' जिस अन्नरस से जीते हैं वह जीवन है। कुछ प्राणी संसार में ऐसे भी मिलते हैं जिनको जल की आवश्यकता नहीं है, जल के बिना जीते हैं। अग्नि में भी कुछ प्राणी हुआ करते हैं। वहाँ पर जल का नाम-निशान नहीं है। आधुनिक लोग प्रायः मान कर चलते हैं कि जहाँ पानी है वहीं जीवन है। इसलिये जीवन का जल अर्थ किया जाये तो कोई विरोध नहीं है। परंतु उसमें वे प्राणी छूट जाते हैं जो बिना जल के रहते हैं।

'तपश्चास्मि तपस्विषु।' तपस्वी तपस्वी कब तक कहा जा सकता है? जब तक

उसमें तप है। कृच्छ्र चांद्रायणादि तप हैं। उजले पंद्रह दिनों तक एक-एक कौर बढ़ा कर खाना, और काले पक्ष में एक-एक कौर घटा कर खाना। इस प्रकार चंद्रमा की गति के साथ भोजन को घटाना-बढ़ाना, इसको कहते हैं 'चांद्रायण।' चंद्र की गति के अनुसार होने से चांद्रायण कहलाता है। कौर कितना बड़ा होवे? जितना बड़ा मुर्गी का अण्डा होता है उतने बड़े को एक कौर कहते हैं। जो भी तुमको दाल, भात, रोटी, साग खाना है, सब मिलकर उतना ही होना चाहिये। खाली 'कौर' कहते तो किसी का मुँह बड़ा होता है, वह एक पूरी पूड़ी मुँह में डाल लेता! इसलिये परिमाण बतला दिया। पंचाग्नि तपना भी तप है। चारों तरफ आग जला लो, ऊपर में सूर्य तप रहा होयों पंचाग्नि तपते हैं। सर्दी के मौसम में, माघ के महीने में पूरे महीने तक संगम में स्नान करके गंगा-यमुना के मध्य में जो ज़मीन छूट जाती है वहीं रहना भी तप है। तप का मतलब कष्ट-सहन होता है। जैसे ये तप हैं ऐसे ही 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।' मन और इन्द्रियों को परमात्मा के चिंतन में लगाना परम तप है। केवल परमात्मा ही मन व इंद्रियों की सारी क्रियाओं का उद्देश्य होवेइसको परम तप कहते हैं। परम अर्थात् श्रेष्ठ है। जैसे शरीर के तप हैं वैसे यह मन व इंद्रियों का तप है। परमात्मा को अग्र में रखने के लिये तुम को श्रवण-मनन करना पड़ता है, इसलिये श्रवण-मनन भी तप है। हर हालत में, जो जब तक तप को करेगा वह तभी तक तपस्वी कहा जायेगा। यह इसलिये कह रहे हैं कि लोक में बहुधा किसी ने कुछ समय तप किया तो उसका नाम तपस्वी पड़ जाता है, फिर भले ही वह तप छोड़ दे, नाम उसका तपस्वी चलता रहता है। किंतु भगवान् का अभिप्राय है कि जब तक तप है तभी तक तपस्वी है। अतः कहा कि तपस्वियों के अंदर तप-रूप से मैं स्थित हूँ। इसलिये तपस्वी को देखो तो याद रखो कि उसमें जो तप है वह परमात्मा का रूप है।।९।।

इस प्रकार से स्थूल चीज़ों का वर्णन करके, अब सूक्ष्म का वर्णन करते हैं

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

हे पार्थ! सभी भूतों का मुझे चिरन्तन बीज समझो। बुद्धिमानों में बुद्धि और तेजस्वियों में मैं प्रगल्भता हूँ।

बीज उसको कहते हैं जो अपने पूर्ण आकार को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता है। उपनिषदों में बीज की विशेषता को कहानी रूप से बतलाया : शिष्य से गुरु ने कहा 'सामने बरगद का पेड़ है, उसके फल को ले आओ।' वह फल ले आया। 'इसको तोड़ो।' शिष्य ने उसको तोड़ा। 'देख इसमें क्या है?' बटके फल में छोटे-छोटे बहुत बीज होते हैं, हज़ारों की तादाद में। उसने कहा 'ये छोटे बीज दीख रहे हैं।' उन्होंने कहा 'इसको भी तोड़ो।' उस छोटे से दाने को भी उसने तोड़ा। 'इसमें देखो, क्या दीख

रहा है?' शिष्य ने कहा, 'इसमें तो कुछ नहीं दीख रहा है।' तब उन्होंने कहा 'जहाँ तुम को कुछ नहीं दीख रहा है उसी में यह सारा पेड़ छिपा हुआ है। इसको बोने से ही इतना बड़ा बरगद का पेड़ निकल आता है। इसलिये उसी में छिपा हुआ है। इस बात को श्रद्धा से ही जानना पड़ता है।' बीज बो कर सारा पेड़ पैदा होता है यह बीज लगाने वाला तुम से कहता है, उसकी बात का विश्वास ही करते हो। अन्यथा, तुम खुद लगा कर देखो तो तुम को पता लगेगा, परंतु लगाने में प्रवृत्ति भी तभी करोगे, जब उसकी बात का विश्वास करोगे। अगर पहले ही कहोगे 'इसमें कुछ नहीं दीख रहा है। इसको बोने को क्यों कह रहे हो, मैं बेवकूफ हूँ क्या?' तो न तुम्हारी प्रवृत्ति होगी, न तुम्हें पता ही लगेगा। इसी प्रकार, श्रुति कहती है कि तुम्हारे हृदय रूपी गुहा के अंदर जितना बड़ा यह संसार है वह सारा मौजूद है। हृदय के अंदर ध्यानादि अभ्यास करके तुम इस चीज़ का अनुभव कर सकते हो। लेकिन उसके पहले अगर तुम शंका करो कि इतने छोटे-से हृदय में इतना बड़ा संसार कैसे हो सकता है?तो समाधान दुर्लभ है। कुछ उसका उपपादन बतला देते हैंस्वप्न के अंदर इतना बड़ा संसार कहाँ पैदा हो जाता है? तुम्हारे हृदय में, मन में ही तो होता है अतः हृदय में संसार का होना नामुमकिन नहीं है। हृदय के अंदर एक अत्यंत सूक्ष्म छिद्र है, छिद्र के अंदर खाली जगह, आकाश है। जब ध्यान के द्वारा तुम इस का साक्षात्कार करते हो, तब तुम को पता लगता है कि वहीं वह परमात्मा है जो इस सारे जगत् का कारण है। परंतु पहले श्रद्धा करोगे तब तुम ध्यान करना शुरू करोगे। जैसे बीज बोने में प्रवृत्ति के लिये, तुमको श्रद्धा रखनी पड़ती है वैसे ही इस अव्यक्त से यह सब निकलकर आया हैइस बात को समझने के लिये भी श्रद्धा से ही प्रवृत्ति करनी पड़ती है।

'भूत' अर्थात् जीते हुए लोग। जीवित व्यक्ति की सबसे बड़ी विलक्षण शक्ति क्या है? कौन-सी ऐसी शक्ति है जो जीवित सब लोगों में होती है और जड किसी चीज़ में होती नहीं? अपने जैसे ही गुण-धर्म वाले को पैदा करनायह जीवित चीज़ की विशेषता है। केंचुआ केंचुए को ही पैदा करेगा, साँप साँप को ही पैदा करेगा, ठीक अपने जैसे साँप को पैदा करेगा। मनुष्य मनुष्य को उत्पन्न करेगा। इसी को बीज शक्ति कहते हैं। जीवित प्राणी की विशेषता है कि अपने जैसा दूसरा बना देना। यह शक्ति तुम को किसी जड़ चीज़ में नहीं मिलेगी। पहाड़, पहाड़ को पैदा नहीं कर पायेगा। पर छोटा-सा अमीबा भी दूसरे अमीबा को अपने जैसा ही पैदा कर देगा। सारे प्राणियों में, प्ररोह का जो कारण है, वह शक्ति परमात्मा है। इसीलिये वेदे में पुत्रोत्पत्ति को धार्मिक कार्य माना गया है। हम लोग पुत्रोत्पत्ति को भोग के लिये नहीं मानते, क्योंकि यह परमात्मा की शक्ति है। गृहस्थ का धार्मिक कर्त्तव्य है योग्य संतति को पैदा करना। जब बच्चा पढ़कर घर जाता है तब उसको उपदेश देते हुए गुरु कहता है कि अब तुम पढ़ चुके, समावर्त्तन हो रहा है, विदा कर रहे हैं तुम्हें, आचार्य के लिये प्रिय धन अर्थात् उनके

लिये दक्षिणा देकर अब घर जाकर के 'प्रजातंतु' को मत तोड़ना। अर्थात् योग्य पुत्र को उत्पन्न करना तुम्हारा धर्म है।' प्रजा का मतलब ही होता है तुम्हारे जैसी चीज़; जा मायने जो उत्पन्न होवे। शास्त्रों में बड़े नियम बतलाये हैं, उन नियमों के अनुसार अर्थात् प्रकर्ष से उत्पन्न करो। एक वेद को जानने वाला पुत्र चाहिये तो क्या करना चाहिये, दो वेदों को जानने वाला पुत्र चाहिये तो क्या करना होगाइत्यादि शास्त्र में विस्तार से बताया है। इसी प्रकार, यदि विद्वान् लड़की चाहते हो तो तुम को क्या करना चाहिये यह भी बताया। योग्य पुत्र उत्पन्न करोगे नियमों से, फिर उसको शिक्षा-दीक्षा दोगे, तब तुम्हारे जैसा ही वह होगा। यह जो शक्ति है, यह भगवान् की विभूति है। शंका होगी कि प्राणी जब पैदा होगा तब यह शक्ति पैदा होगी, प्राणी के मरने के बाद वह शक्ति समाप्त भी हो जायेगी; परमात्मा तो नित्य हैं, इसे कैसे परमात्मा की विभूति समझें? इसके समाधान में कहा 'सनातनम् बीजं मां विद्धि।' हमेशा होने वाली शक्ति को विभूति जानो। जैसे तुम में प्रजनन-शक्ति है वैसे ही आगे जिसको तुमने पैदा किया, उसमें भी प्रजनन शक्ति है। इस तरह यह शक्ति हमेशा ही बनी रहेगी, उपाधि बदलती रहेगी। अथवा, सनातन बीज का अर्थ हैसृष्टि के पहले जो बीज रूप से अव्यक्त मौजूद है जिस अव्यक्त से सारी सृष्टि बाहर निकल कर आई है, वह इस सारी सृष्टि का बीज है। हर महाप्रलय के बाद सब कुछ बीज रूप में रह जाता है। फिर सृष्टि-काल में बीज का प्ररोह होता है, सब चीज़ें पैदा होती हैं। उसको भी 'सनातनम् बीजं' समझ सकते हैं।

'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।' बुद्धि का अर्थ हमारे यहाँ होता है धर्म और अधर्म का, आत्मा और अनात्मा का विवेक होना। आत्मा क्या है और अनात्मा क्या है, धर्म क्या है और अधर्म क्या हैइस बात को निश्चित रूप से, ठीक तरह से समझना बुद्धि है। वर्तमान काल में हिंदी भाषा में बुद्धि शब्द का प्रयोग चाहे-जहाँ करते हैं। जो वकील झूठी गवाहियाँ देकर हत्यारे को बचा लेता है उसकी बड़ी तारीफ़ की जाती है, कि 'वह बहुत बुद्धि वाला है, जिसको किसी तरह से कोई नहीं बचा सकता था, उसको इसने बचा लिया।' परंतु हमारे यहाँ उसको बुद्धि वाला नहीं कहेंगे। अधर्म को धर्म सिद्ध करने वालों को हम लोग बुद्धिमान् नहीं मानते हैं। धर्म और अधर्म को ठीक प्रकार से निश्चित रूप से जाने, आत्मा और अनात्मा को ठीक रूप में निश्चित रूप से जाने, उसको बुद्धिमान् कहते हैं। यह विवेक शक्ति परमात्मा की विभूति है। वकील की जिसे बुद्धि कहते हो वह जीव के अविद्या और पाप के कारण होती है, वह परमात्मा की विभूति नहीं है। वैदिक संस्कृति में बुद्धि कहते हैं विवेक-शक्ति को। ठीक प्रकार से धर्म और अधर्म का निश्चित ज्ञान होनायह बुद्धिमान् में रहता है और वह शक्ति परमेश्वर की विभूति है। इस बात का संकेत इसलिये भी कर देते हैं कि आगे (१०.४१) भगवान् कहेंगे कि जहाँ कहीं भी तुम्हें विशेष शक्ति का दशर्न होता है उसे मेरी विभूति समझो।

वहाँ शंका होगी कि विशेष शक्ति किसको माना जाये? दुनिया-भर को ठग कर जिसने करोड़ों रुपये इकट्ठे कर लिये हैं, क्या वह परमात्मा की विभूति होगा? वह परमात्मा की विभूति नहीं होगा। जो धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ कर उसके अनुसार जीवन व्यतीत करता है, उसको जो श्री की प्राप्ति होती है, वह परमात्मा की विभूति हम लोग मानते हैं।

'तेजस्तेजस्विनामहम्' जैसे अंतःकरण की शक्ति जब धर्माधर्म का ठीक तरह से विवेक करती है तब बुद्धि कही जाती है उसी प्रकार किसी भी चीज़ का तुरंत सही जवाब उपस्थित हो जाना अंतःकरण का तेज कहा जाता है। बहुत बार देखोगे कि किसी ने कोई बात कही, तुम्हें पता है कि वह बात गलत है, लेकिन वह ऐसी युक्ति से कहता है कि तुम उसका जवाब नहीं दे पाते! जानते हो कि ग़लत है, लेकिन तुम्हारे पास युक्ति नहीं है। पाँच-सात दिनों बाद अकस्मात् तुम्हें याद आता है, 'अरे! उसको यह जवाब दे सकते थे।' इसका मतलब है कि तुम में तेज शक्ति जिसे कहते हैंउसकी कमी है अतः समय पर विषय उपस्थित नहीं होता। ठीक बात समय पर तुरंत उपस्थित हो जाये, यह तेज भगवान् की विभूति है। कभी किसी से दबने की ज़रूरत तेजस्वी को नहीं पड़ती। तेजस्वी का जो तेज है, वह परमात्मा की विभूति है। जब तेजस्वी को देखो तब उसके तेज में परमात्मदृष्टि करो।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

हे भरतकुल-भूषण! बलवानों में मैं कामना और राग से रहित बल हूँ और प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध कामना हूँ।

बल का महत्त्व बाते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा 'बलं वाव विज्ञानाद् भूयः, अपि ह शतं विज्ञानवताम् एको बलवान् आकम्पयते' कि सौ बुद्धिमान् इकट्ठे होवें और एक तगड़ा लठैत आ जाये तो सौ बेचारे कुछ नहीं कर सकते, लठैत के सामने चुप हो जाना पड़ता है! लठैत का मतलब खाली लाठी वाला ही नहीं समझना; कई बार किसी से बात करो और भगवान् ने उसको गला अच्छा दिया है तो वह चिल्लाकर भी चुप कर देता है। इतने ज़ोर से बोलता है कि जिसकी आवाज़ हल्की होती है वह बेचारा बात ठीक कर रहा हो, तो भी उसकी कोई सुनता ही नहीं है। सब सोचते हैं कि ऊँचा बोलने वाला ही ठीक कह रहा है। किसी भी प्रकार से दूसरे को दबा लेना बल है। इसलिये आचार्य कहते हैं 'बलम् सामर्थ्यम् ओजः'। भगवान् स्पष्ट करते हैं कि कौन-सा बल मेरा रूप समझना। अत्याचार, दुराचार, दूसरों को पीडित करने इत्यादि वाले को भगवान् अपनी विभूति नहीं कह रहे। भगवान् ने कहा 'कामरागविवर्जितम् बलं' जिस बल का किसी कामना को लेकर प्रयोग नहीं किया जाता है, अपनी किसी इच्छा के कारण नहीं

किया जाता है, वह विभूति है। वैसे तो काम और राग दोनों मिलती-जुलती वृत्तियाँ हैंकाम मायने भी इच्छा ही होता है, राग मायने भी इच्छा ही होता हैपरंतु यहाँ दोनों कहा है, इसलिये दोनों में सूक्ष्म भेद है : जो विषय अपने सामने नहीं है उसकी कामना होती है और जो विषय प्राप्त है उसके प्रति राग होता है। जो अपने पास नहीं है उसकी इच्छा को कामना कहते हैं। जो चीज़ अपने पास है उसके लिये जो इच्छा होती है कि हमारी ही बनी रहे, वह राग है। विभूति होने के लिये बल इन दोनों से रहित होना चाहिये। न किसी प्राप्त विषय को अपना बनाये रखने के लिय जिस बल का प्रयोग हो और न किसी अप्राप्त विषय को प्राप्त करने के लिये हो, वह बल विभूति है।

लोक में बल तो इन्हीं दो के लिये प्रयोग किया जाता है। इसलिये आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं'देहादिधारणमात्रार्थं बलम्'कि शरीर-धारणमात्र के लिये जो बल है वह यहाँ विवक्षित है। अर्थात् इच्छाओं से प्रेरित होकर जो बल प्रयोग में लाया जाता है वह भगवान् की विभूति नहीं है, जो शरीर-धारणमात्र के लिये आवश्यक है वही बल विभूति है। इसलिये भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं 'न तु यत् संसारिणां तृष्णारागकारणम्।' सांसारी जो जीव हैं, उनके अंदर जो बल होता है, वह तृष्णा और राग को पैदा करता है। तृष्णा अर्थात् काम। सांसारिक बल काम और राग को बढ़ाता है। सामान्य रूप से देखोगे, कि बल के कारण लोग अनुचित काम करते हैं, यदि बल पास नहीं होता तो ऐसे कार्य नहीं करते। जो बल तुम्हारे काम और राग वाला होता है तथा राग और काम को बढ़ाने वाला होता है, वह भगवद्-विभूति नहीं है। बुद्धि और तेज के साथ भी काम-राग-विवर्जितता समझ लेना : काम और राग को बढ़ाने वाली बुद्धि को विभूति नहीं समझना, इसी प्रकार काम और राग को बढ़ाने वाला जो प्रागल्भ्य है, दूसरे को गलत जवाब तुरंत देकर चुप कर देना है, वह भगवान् की विभूति नहीं है। जैसे नौवें श्लोक के 'पुण्यः' शब्द का सर्वत्र संबंध समझना चाहिये वैसे 'कामरागविवर्जितम्' का भी सभी जगह संबंध समझ लेना चाहिये।

'भूतेषु कामोऽस्मि' प्राणियों में कामना मैं हूँयह भगवान् ने कहा। पहले भगवान् ने कहा था 'सर्वभूतेषु जीवनं'; वहाँ किसी विशेषण को नहीं दिया था। अर्थात् जिसके द्वारा जीवित रहते हैं वह जीवन तो प्राणियों में स्वाभाविक है। पर कामना अज्ञान के कारण होती है। अविद्या-काम-कर्म यह क्रम आचार्य शंकर बार-बार हमें याद दिलाते हैं। जब हम अपने व्यापक भाव को भूलते हैं तब कामना होती है। जब इस बात को समझते हैं कि 'इंद्र के रूप में स्वर्ग का राज्य भी मैं ही कर रहा हूँ, क्योंकि इंद्र के शरीर में जो राज्य करने वाला चेतन है वह मैं ही हूँ', तब किस विषय के लिये, कामना होगी? अतः कामना इस तथ्य को न जानकर शरीर-मन को मैं समझकर ही होती है। हमारी सब कामनाएँ शरीर-मन के उपयोगों से ही संबंधित होती हैं। शरीर-मन का संदर्भ हटा दें तो कोई काम्य विषय रह ही नहीं जाता। मेरे कारण शरीर और मन कार्य कर रहे

हैं। मैं हूँ, इसलिये वे कामना भी कर रहे हैं। उनके किये को मैं अपने सिर पर ओढ़ लेता हूँ। इस तरह अज्ञान होता है तभी *हम* कामना करते हैं। खूब विचार करके देख लोजो भी कामना आती है, वह या तो शरीर के लिये आती है कि शरीर को यह चीज़ मिले, या मन के लिये आती है, अथवा शरीर-संबंधियों के लिये आती है; पत्नी के साथ हमारा संबंध शरीर को लेकर ही है। यह शरीर छूट जायेगा, उसके बाद पत्नी से क्या संबंध है? कुछ नहीं। पुत्र के साथ संबंध शरीर को लेकर है। शरीर छूट जायेगा उसके बाद पुत्र से क्या संबंध है? कुछ नहीं। अतः संबंधियों के लिये कामना भी शरीर केन्द्रित ही है। शरीर की शांति के लिये शरीर की तृष्णा पूरी होगी, मन की शांति के लिये मन की तृष्णा पूरी होगी, वास्तविक मैं तो उससे असंबद्ध हूँ। जिससे जीते रहते हैं वह जीवन तो जब तक हम जीवित हैं रहेगा ही, पर कामना तभी तक रहेगी जब तक अविद्या है, अज्ञान है। स्वाभाविक होने से 'जीवन' को धर्माविरुद्ध इत्यादि नहीं कहना पड़ा किंतु कामना के लिये विशेषणा दे दिया 'धर्माविरुद्ध' अर्थात् धर्म से जो विरुद्ध नहीं है, उस कामना को मेरा रूप समझो। धर्म से विरुद्ध जो कामना होती है वह छोड़ने के लायक है, उपास्य नहीं है।

मन में कामना उठती कैसे है? जब हमारा संस्कार प्रारब्ध के अनुकूल फल देने में प्रवृत्त होने वाला हो तभी हमारे मन में कोई भी संकल्प आता है। कामना संकल्प से होती है। किसी चीज़ को हम अच्छा सोचेंगे तब उसकी कामना होगी कि उसे प्राप्त करें। कामना के बीज में 'अच्छा-बुरा' पड़ा है। जिसको हम अच्छा समझेंगे, उसकी ही कामना होगी। जिसको अच्छा नहीं समझेंगे उसकी कामना नहीं होगी। कभी मन में यह कामना नहीं आती। कि बहुत दिनों से पेट खराब नहीं हुआ, थोड़ी दस्त लग जाये तो बहुत अच्छा रहे। जिसको हम अच्छा समझते हैं उसकी कामना होती है। इसलिये भगवान् आगे कहेंगे 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं' मुझ से ही संकल्प आता है, मुझसे ही स्मृति आती है। स्मृति संस्कारजन्य होती है, संस्कार से पैदा होती है। प्रारब्ध का फल देने के लिये संस्कार खड़ा होता है और संकल्प रूप से किसी चीज़ में 'अच्छा' बोध कराता है। बिना अच्छा या बुरा की भावना के संकल्प बनेगा नहीं। इसलिये जो धर्म से विरुद्ध है उसमें 'यह अच्छा नहीं वरन् बुरा है' यह संकल्प बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। सारे संकल्प संस्कारों से उठते हैं। धर्म-विरोधी संस्कार हमें आगे दुःख देने वाले हैं। इसलिये धर्म से अविरुद्ध कामना को तो होने देना है, अधर्म की कामना को संकल्प के स्तर पर ही ख़त्म करो अर्थात् उससे विरुद्ध संस्कार को प्रबल करने का प्रयत्न करो। संस्कारों को धीरे-धीरे बढ़ाना पड़ता है, एक दिन में संस्कार प्रबल नहीं हो जाते। अगर पुराने संस्कार प्रबल हुए हैं तो भी इसलिये कि हम उनको बहुत प्रश्रय देते रहे। हमारे सामने कोई रसगुल्ला लाया, रसगुल्ला खाया, अच्छा लगा; संस्कार क्या बनता है? 'रसगुल्ला अच्छा होता है।' इस संस्कार को वहीं रोकने का प्रयत्न ऐसे विचार

से होता है कि रसगुल्ला अच्छा लगा क्योंकि उस समय पुण्य का प्रारब्ध था, पुण्य के फल वाला होने से रसगुल्ला हमें अच्छा लगा। जिस समय पुण्य का प्रारब्ध नहीं होता है, उस समय रसगुल्ला भी सुख नहीं देता। तुम्हारी दुकान में आग लग गई, उस समय रसगुल्ला सुख देगा क्या? उस समय रसगुल्ला जहर की तरह लगता है। रसगुल्ला अगर सुख देने वाली चीज़ होती तो सब परिस्थितियों में सुख देती। देती नहीं है। इसलिये पता चलता है कि रसगुल्ले के द्वारा सुख नहीं मिलता है सुख तो हमारे, शुभ कर्म, पुण्य के कारण मिलता है। जितना यह संस्कार दृढ होता जायेगा, उतना जो अभी संस्कार है कि 'चीज़ों से सुख होता है', उसकी जगह 'पुण्य से सुख होता है' यह दृढ होगा, तब पुण्य के विरुद्ध जो भी कामना होगी वह प्रबल हो नहीं पायेगी।।११।।

कुछ चीज़ें तो भगवान् ने गिना दीं उपासना की दृष्टि से, अब भगवान् अपनी सर्वरूपता को बतलाते हैं। शुरू में कहा था 'मत्तः परतरं नास्ति' मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। प्रश्न हुआ कि परमेश्वर सब में अनुस्यूत किस रूप से है, कैसे हम समझें कि परमेश्वर अनुस्यूत है? इसके उत्तर में भगवान् ने बताया कि परमात्मा को किस प्रकार सर्वत्र देखा जाये, समझा जाये, यदि ज्ञान की दृष्टि से देखे; और किस प्रकार से चिंतन किया जाये, उपासना की जाये। उसके लिये कुछ दृष्टांत दिये। अब भगवान् मूल विषय पर आते हैं कि वस्तुतः तो मैं सर्वरूप ही हूँ

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

जो भी सात्त्विक, राजस, व तामस पदार्थ हैं, उनके बारे में जानो कि वे मुझसे ही पैदा हैं। मैं उन पर आश्रित नहीं, वे मुझपर आश्रित हैं।

सात्त्विक भाव प्राप्त करने के लिये और अभ्यास करने के लिये बताये हैं जबकि राजस-तामस छोड़ने के लिये कहे हैं। बतलायेंगे भगवान् तीनों तरह की विभूतियाँ, लेकिन तीनों में से राजस-तामस छोड़ने के लिये हैं और सात्त्विक प्राप्त करने के लिये हैं। राजस-तामस परमात्मा के भाव नहीं हैंयह बात नहीं है, पर करने के नहीं हैं, छोड़ने के लिये जानने के हैं।

'ये सात्त्विका भावाः' जो सत्त्व गुण से होने वाले पदार्थ हैं; शम, दम, शांति, धैर्य आदि सत्त्वगुण से होने वाले भाव हैं। वे सब मुसझे ही हैं। हर्ष, दर्प आदि राजसिक भाव हैं जो छोड़ने के हैं। हिंदी में तो हर्ष का मतलब केवल खुशी होती है परंतु संस्कृत में केवल खुशी उसका अर्थ नहीं है, खुशी से जो मन में एक घमंड आता है वह हर्ष है। हर्ष की प्राप्ति होती है तो मनुष्य के अंदर दर्प अर्थात् घमंड आता है। भगवान् बतलायेंगे (१६.१३) कि सफलता से किस तरह घमंड होता है। जब हर्ष का कारण नहीं रहता है तब विषाद हो जाता है। स्वामी विद्यारण्य कहते हैं कि जिस राजा को दूसरे

ने हरा करके बंदी बना लिया है, उसको एक गाँव का अधिपति बना देवें, तो भी वह संतुष्ट हो जाता है जबकि जिस राज्य के ऊपर कोई आपत्ति नहीं आई है, किसी साम्राज्य से भी उसकी तृप्ति नहीं होती, अड़ौसी-पड़ौसी साम्राज्यों को जीतना चाहता है! इस प्रकार सफलता से होने वाला जो हर्ष-विशेष है, उससे दर्प होता है।

धर्मसूत्र नियम बतलाता है कि जब मनुष्य के अंदर दर्प आता है तब वह धर्म के विरुद्ध जाता है, धर्म का अतिक्रमण करता है। इसीलिये इसे राजस भाव कहते हैं। 'तामसाः' शोक, मोह, प्रमाद, आलस्यये सब तमोगुण से होने वाले पदार्थ हैं। ये सारे भाव प्राणियों के अपने-अपने कर्मों के वश से होते हैं। भगवान् ने कहा है कि 'कर्म करना तुम्हारे हाथ में है, फल देना मेरे हाथ में है।' कर्म करने में जीव स्वतंत्र है। कर्म करने में तुम्हारा *ही* अधिकार है पर कर्म करने के बाद फल के बारे में तुम कुछ नहीं बोल सकते। कर्मफल का नतीजा देनेवाला परमेश्वर है। पहले हमने जो-कोई राजस-तमस कर्म किय हैं, उनके राजस-तामस संस्कार हैं, वे जब फल देने वाले होंगे तब कर्मफल देने वाला परमेश्वर हमारे अंदर राजस-तामस संस्कारों को जगायेगा। आगे उनके अनुसार हम काम करें या न करेंइसमें हम स्वतंत्र हैं। मन में तो आयेगा, परंतु मन में आने पर भी अगर अच्छी तरह से समझ लिया है कि इन राजस-तामस भावों को रख कर हमारा नुकसान ही होगा, फायदा नहीं, तो तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करेंगे। किंतु फलदाता ईश्वर से ही ये भाव जीव के अंदर आते हैं।

'तान्विद्धि' उनको जानो। जो राजस-तामस भाव आ रहे हैं, ये करने के लिये नहीं हैंयों इन्हें जानना है। भाव आयेगा पहले के संस्कार से, उसको नहीं रोक सकते। इसी प्रकार सात्त्विक को भी जानो कि यह सात्त्विक भाव आ रहा है, इसके अनुसार करना है। हर बात जो मन में आई है उसे मानना ही है, ऐसा नहीं। मन में तो सब तरह की बातें आयेंगी, माननी चुनकर ही हैं। अंदर में सभी इच्छायें पैदा करता तो परमात्मा है लेकिन क्यों करता है? तुम्हारे कर्मों के फलानुसार ही परमेश्वर तत्तत् भाव तुम्हारे अंदर लाता है। अभी हम लोगये राजस-तामस भाव आ रहे हैं, इन्हें छोड़ना है, ये सात्त्विक भाव आ रहे हैं, इन्हें करना हैइस प्रकार मन के भावों को समझते नहीं हैं, जो मन में भाव आता है, हमें लगता है कि उसके अनुसार करना ही है। इस प्रवृत्ति से रुकने के लिये भगवान् ने कहा 'तान्विद्धि'।

प्रश्न होता है कि ये सब आप से आये हैं, ये सात्त्विक-राजस-तामस भाव बदलने वाले हैं तो आप भी क्या बदलने वाली चीज़ हैं, विकारी हैं? सारे शास्त्र परमेश्वर को निर्विकार कहते हैं। अतः भगवान् कहते हैं 'न त्वहं तेषु', यद्यपि ये मुझ से उत्पन्न होते हैं फिर भी उनमें मैं हूँ नहीं अर्थात् उनके अधीन मैं नहीं हूँ। मेरे अंदर वे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाते। जिस प्रकार मरु भूमि के अंदर दीखने वाला मृग-मरीचिका का जल क्यों दीख रहा है? मरुभूमि है इसलिये दीख रहा है। परंतु क्या उस पानी से

मरुभूमि थोड़ी भी गीली होती है? नहीं। इसलिये कहा 'न त्वहं तेषु' मैं उनके वश में नहीं हूँ। यही फ़र्क है कर्मफलदाता परमेश्वर में और संसारी हम लोगों में। भगवान् राजस, तामस भावों को उत्पन्न करते हुए राजस, तामस नहीं होते और सात्त्विक भाव को उत्पन्न करते हुए सात्त्विक नहीं होते। संसारी जीव सात्त्विक-राजस-तामस जो करता है, वैसा ही *हो* जाता है, वैसा ही अपने को विकारी समझ लेता है। वास्तव में सारे भाव मेरे अंदर कल्पित हैं जैसे मृगमरीचिका का पानी मरुभूमि में कल्पित है।

भगवान् ने पहले विभूतियों को बतलाते हुए कहा था कि मैं उनमें किस रूप से हूँ। यहाँ 'न त्वहं तेषु' कह कर भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि मैं अपने शुद्ध रूप से उनमें नहीं हूँ, कल्पित रसादि रूपों से ही वहाँ हूँ। रस्सी है, रस्सी का है-पना रस्सी के साथ हमेशा है, आज रस्सी है, कल भी रस्सी रहेगी; यहाँ रस्सी है, बरामदे में ले जायेंगे तो भी रस्सी रहेगी। किंतु रस्सी में जो साँप दीखता है उस साँप में भी एक है-पना दीखता है, यही दीखता है कि 'साँप है'; वह साँप का है-पना कैसा है? रस्सी के है-पने की तरह नहीं है। रोशनी आई तो साँप का है-पना गायब! रस्सी को जला दोगे तो राख बचेगी, कह सकते हो कि पहले यहाँ साँप था। किंतु ऐसे, रस्सी साँप थीयह नहीं कह सकते हो। जब तुम को साँप दीख रहा था तब भी रस्सी ही थी। रस्सी के है-पने से साँप के है-पने की प्रतीति है। रस्सी है तभी तक सर्प है, रस्सी को वहाँ से उठा लो तो सर्प को अलग से नहीं उठाना पड़ता। साँप में जो है-पना है वह रस्सी का है-पना है, परंतु वह है-पना कल्पित हैरस्सी का है-पना साँप के संबंध से कल्पित है, साँप के साथ उसका जो संबंध है वह कल्पित है, सच्चा नहीं है क्योंकि साँप ही सच्चा नहीं है! इसी प्रकार परमेश्वर में सारा जगत् है। परमेश्वर की सच्चिदानन्द-रूपता जगत् में प्रतीत होती है, है वह परमेश्वर की सच्चिदानन्द-रूपता। इसीलिये कहा जाता है कि परमेश्वर सब चीज़ों में है। जैसे रस्सी का है-पना ही साँप में है, इसी प्रकार परमेश्वर की सच्चिदानन्द-रूपता ही संसार में हैं परंतु जैसे रस्सी में है-पना सचमुच है जबकि साँप में जो दीख रहा है, वह कल्पित है, वैसे जब कहते हैं कि परमात्मा सब चीज़ों में है, तब उसका मतलब है कि परमात्मा की सच्चिदानन्दरूपता पदार्थों में कल्पित है। परमात्मा की सच्चिदानंदरूपता को हम लोग संसार के विषयों में कल्पित करते हैं। इसलिये भगवान् ने दोनों बातें कही, 'न त्वहं तेषु', वास्तविक रूप से मैं उनमें नहीं हूँ, परंतु 'ते मयि' वे सारे मेरे अंदर हैं। मेरे अंदर होने के कारण मेरी सच्चिदानंद-रूपता उनमें कल्पित हो जाती है।

हम लोगों ने अपने को एकतावादी नहीं कहा है। हम अपने को अद्वैतवादी कहते हैं। आचार्यों ने लिखा कि द्वैत जहाँ नहीं है वह अद्वैत है। एक हैयह हमारा कहना नहीं है। द्वैत नहीं हैइतना ही कहना है। द्वैत उपस्थित है तो अधिष्ठानरूप से ब्रह्म उपस्थित है ही, परंतु द्वैत के कारण ब्रह्म सामने होने पर भी प्रतीत नहीं हो रहा, प्रकट

नहीं हो रहा है। जैसे ही द्वैत का निषेध हो जाता है, तो जिसका निषेध नहीं किया जा सकता वह अपने आप बच जाता है। अतः उस एक ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं है। जैसे ही द्वैत का निषेध हो जाता है, वैसे ही जो बच जाता है वह ब्रह्म है। उपाधियों को हटाने से अधिष्ठान स्वतः बच जाता है, अधिष्ठान को कहीं से लाना नहीं पड़ता। 'न त्वहं तेषु' से द्वैत का निषेध कर दिया, 'ते मयि' से अपनी अधिष्ठानरूपता को बतला दिया।।१२।।

स्वतंत्र परमेश्वर नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है तो जगत् की अनित्यता अशुद्धता आदि क्यों और अपरा प्रकृति अर्थात् जीव की संसारिता क्यों? इसका उत्तर अगले श्लोक से देते हैं

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

गुणकार्य रागादि तीनों (प्रकार के) पदार्थों से यह सारा जगत् (प्राणिसमूह) अविवेकग्रस्त हुआ इन गुणों से विलक्षण मुझ निर्विकार को नहीं जानता है।

नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव वाला परमात्मा सारे जड-चेतन का वास्तविक रूप है। स्वयं उसके अंदर कोई रूप नहीं है। यह एक बड़ी कठिनाई हम लोगों के सामने आती हैः अधिकतर लोग समझते हैं कि हम बहुत-से देवताओं को मानते हैं जबकि वेद कहता है 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' देव तो एक ही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जब याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं कि कितने देवता हैं, तब वे कहते हैं 'तैंतीस लाख, तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस'। फिर पूछता है'कितने देवता हैं यज्ञवल्क्य?' वे कहते हैं 'तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस।' 'फिर बताओ कितने हैं?' 'तीन सौ तैंतीस।' 'फिर बताओ कितने हैं?' 'तैंतीस।' 'फिर बताओ कितने हैं?' 'तीन।' 'फिर बताओ कितने हैं? 'दो।' 'फिर बताओ कितने हैं?' 'डेढ़।' 'फिर बताओ कितने हैं?' तब कहा 'एक। बाकी सब उसी का प्राकट्य है।' एक ही परमात्मा है, उसका अपना रूप कोई नहीं है, अनेक रूपों को धारण करके उसने बतलाया कि मेरा रूप कोई नहीं। अगर परमात्मा एक ही रूप में होता तब तो निश्चय हो जाता कि यह परमात्मा का रूप है। अनेक रूपों में होने से ही यह निश्चय होता है कि वह निर्गुण निराकार है, बाकी सारे आकार उसने धारण किये हैं, वे उसके वास्तविक रूप नहीं हैं।

आजकल की भाषा में समझ लोकोई फिल्मों का एक्टर है देवदत्त। कभी वह बड़ा बहादुर बन जाता है किसी बाइसकोप में, किसी में बड़ा डरपोक बन जाता है, भागने वाला बन जाता है। किसी में बदमाश डाकू बन जाता है, किसी में डाकू को पकड़ने वाला पुलिस का आदमी बन जाता है। भिन्न-भिन्न रूप वह धारण करता है परंतु उनमें से कोई रूप उसका है नहीं। इसी प्रकार परमात्मा अनेक रूप धारण करते हुऐ दीखते

हैं उनका अपना रूप कोई नहीं है। जो उसका रूप है नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्गुण, निराकार; वह संसार रूपी जो दोष है, उसके बीज अज्ञान को जलाने वाला है। उस रूप को समझोगे तो संसार का सारा दाह ख़त्म हो जायेगा। इसीलिये उस रूप को कोई पहचानता नहीं। क्यों भगवान् पहचान में नहीं आते? क्योंकि जैसे ही भगवान् पहचान में आयेंगे वैसे ही संसार का मूल कारण अज्ञान ख़त्म हो जायेगा, जिस प्रकार रस्सी को जानते ही सर्प ख़त्म हो जाता है। अथवा किसी कपड़े पर राम जी बने हुए हैं, हाथ में धनुष-बाण लिये हुए हैं, सामने दशमुख रावण रथ के ऊपर बैठा हुआ है, भगवान् पैदल खड़े हैं यह सब तुम को वहाँ दीख रहा है पर सचमुच में वहाँ क्या है? सिवाय कपड़े के और कुछ तो नहीं है! कपड़े को देखोगे तो तुम को यह सब कुछ नहीं दीखेगा। कपड़ा राम भी बना हुआ है, रावण भी बना हुआ है। ऐसा कुछ नहीं है कि राम वाला कपड़ा कुछ अच्छा होवे, और रावण वाला कुछ बुरा होवे! कपड़े की दृष्टि लोगे तब तो वहाँ सिवाय कपड़े के कुछ नहीं है। परंतु चित्र की दृष्टि लोगे तो राम जी को नमस्कार करोगे और रावण को बहुत बुरा बतलाओगे। इसी प्रकार से यदि परमात्मा के निर्गुण निराकार रूप को तुम समझ लेते हो, पहचान लेते हो, तब तो जितना भेद का दोष है, वह सारा का सारा हट जाता है, एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं रहता है। इसलिये कपड़ा जानने में नहीं आता।

कल्पित कपड़े को तो जानते हो! रामचन्द्र जी पीला कपड़ा पहने हुए हैं। रावण नीला कपड़ा पहने हुए है। नीला कपड़ा और केसरिया कपड़ा जो तुम को दीख रहा है वह कपड़ा होने पर भी कल्पित कपड़ा है क्योंकि असली कपड़ा तो सफेद है। चित्र जिस पर आंका है वह कपड़ा तो सफेद ही है। नीले कपड़े में तुम को जो कपड़ापना दीख रहा है वह तो कपड़े का कपड़ापना है परंतु वह सच्चा कपड़ापना नहीं है क्योंकि उसमें कल्पित नीलापना है। ठीक इसी तरह से भगवान् कहते हैं 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' ये जो सात्त्विक, राजस, तामस तीनों गुणमय भाव हैं, इनसे सारे-के-सारे प्राणी मोहित हैं। अर्थात् परमात्मा के ऊपर जो यह जगत् चित्र है उससे हम सब लोग मोहित हैं। और इसलिये 'मामेभ्यः परमव्ययम् नाभिजानाति', सात्त्विक, राजस, तामस इन सब भावों से परे जो मेरा अव्यय रूप है, अविकृत रूप है, जिसमें जन्मादि सारे विकार भाव नहीं होते, उस मेरे पर रूप को कोई पहचान नहीं पाता। जब तुम चित्र में राम को देख रहे हो, तब भी कपड़ा वही है; जिस कपड़े के ऊपर सारे आकार देखे जा रहे हैं वह कपड़ा कहीं अन्यत्र नहीं है, वहीं है; पर बना हुआ चित्र तुम्हारे मन को इतना मोहित कर देता है कि उस चित्र को देखते हो, चित्र जिसमें है उसको नहीं देखते। पता ही नहीं लगता है कि चित्र का आधारभूत कपड़ा कैसा है क्योंकि कपड़ा दीखता ही नहीं है। ऐसे ही इन भावों के द्वारा मोहित होने के कारण ही जीव परमात्मा को नहीं जान पाते।

किसी चीज़ को सर्वथा नहीं जानना अज्ञान है, परंतु चीज़ को जानते हुए भी नहीं

जानना मोह है। जैसे, ऐसा नहीं है कि पिता अपने लड़के की कमज़ोरी नहीं जानता। लेकिन जानते हुए ही, उस कमज़ोरी को नज़र-अंदाज़ करता है। दूसरे के बच्चे में वही कमज़ोरी हो तो हर समय पता रहता है कि यह इसकी कमज़ोरी है परन्तु अपने लड़के की कमज़ोरी का पता होते हुए भी उसको नज़र-अंदाज़ किये रहते हैं। इस मोह से परवश होकर प्राणी समझ-बूझकर भी उचित कदम न लेकर अनुचित निर्णय ले लेता है। मोह- ग्रस्त व्यक्ति विवेक के अयोग्य ही हो जाता है। अज्ञानी तो ज्ञान ग्रहण कर लेगा पर मोही क्योंकि सच को जानकर छिपा रहा है इसलिये वह ज्ञान को भी स्वीकारता नहीं। अतः भगवान् ने बताया कि मोहित होने से परमार्थ वस्तु की अभिज्ञा से जीव वंचित है, इसी का नाम मोह है।।१३।।

माया, जीव को तो मोह में डालती है, पर ईश्वर को मोह में नहीं डालती। ईश्वर में नहीं रहतीयह बात नहीं है। रहते हुए भी उसको मोह में नहीं डालती। इस माया को पार कैसे किया जा सकता है, इसे बतलाते हैं

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

क्योंकि मेरी यह गुणात्मिका माया मुझ ईश्वर के अधीन है और इसे पार कर पाना अतिकठिन है इसलिये जो मेरे ही प्रपन्न होते हैं वे ही इस माया को पार कर जाते हैं।

'एषा' जो हम लोगों को रात-दिन दीखती है। जो तीनों गुणों के भाव बतलाये थे, उनमें से एक-न-एक जाग्रत् अवस्था में हमेशा बना ही रहता है। कभी सात्त्विक भाव बनेंगे, कभी राजस बनेंगे, कभी तामस बनेंगे। बिना इन तीन भावों के हम लोग कभी नहीं हैं। इसलिये यह माया प्रत्यक्षसिद्ध है। 'गुणमयी माया'सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण रूप ही यह माया है। है तो एक, एक होने पर भी इसके अंदर ये तीन गुण प्रकट होते हैं। इसलिये कहा कि माया तीनों गुणों से भरी हुई है। कभी एक गुण प्रकट होता है तो कभी दूसरा गुण प्रकट होता है।

क्या माया, कापिल लोग जिसे प्रकृति कहते हैं वही है? इसके उत्तर में कहा कि वही नहीं है क्योंकि यह 'दैवी' है। माया को समझने के लिये तीन गुणों को बताते हैं फिर भी सांख्यों की प्रकृति से इसमें मूल फ़र्क है कि यह दैवी है। 'दिव्' धातु का अर्थ चमकना, प्रकाश, ज्ञान, खेलना आदि होता है। माया सच्चिदानंदरूप परम ब्रह्म परमात्मा में ही रहती है इसलिये यह दैवी है। रहती किस लिये है? ताकि परमात्मा इसके द्वारा यह सारा खेल कर लें! परमात्म देव के लिये तो यह खेल है। परंतु मोहित, मुग्ध जो जीव हैं उन्हें इसमें सुख-दुःख का अनुभव होता है। पुराणों में वर्णन आता है भगवान् शंकर प्रदोष की शाम को नृत्य कर रहे हैं। नाचने में हाथ-पैर हिलते ही हैं। जब उनका हाथ ऊपर जाता है, तब ब्रह्माण्ड फटने की स्थिति हो जाती है और जब पैर की एडी

से ताल देते हैं तब पृथ्वी डावाँडोल हो जाती है! वे तो खेल के लिये नाच रहे हैं पर लोगों में ऐसा असर हो रहा है। इसलिये क्रिया एक-साथ खेल भी है और घबराहट पैदा करने वाली भी है। शिव के लिये जो नृत्य है उसी से हम लोगों को लगता है कि पृथ्वी डोल गई! एक भूकम्प हुआ और सारा का सारा सौराष्ट्र ध्वस्त हो गया। इतनी बड़ी पृथ्वी है, उस में एक छोटी-सी जगह में थोड़ा-सा डोल जाना कोई बड़ी बात नहीं है। पृथ्वी की दृष्टि से कोई बड़ा भयंकर काम नहीं हुआ। लाखों मील की पृथ्वी में दो-चार मील के अंदर ही ज़्यादा नुकसान हुआ। लेकिन वहाँ रहने वालों के लिये कैसी आपत् हो गयी। इसी प्रकार से कभी सोचो कि तुम्हारे बालों में जब जूएँ होती हैं और तुम कंघी फेरते हो तो उनका क्या हाल होता होगा! तुम कोई उनको दुःखी करने के लिये कंघी फेर नहीं रहे हो, लेकिन उनके लिये तो बड़ी भयंकर परिस्थिति हो जाती है। परमात्मा के लिये तो क्रीडा है परंतु हम लोगों के लिये 'दुरत्यया' है, जिसका अतिक्रमण करना, जिसके पार जाना बड़ा भारी दुःख है : पहले तो शुभ कर्म करो; वही महा दुःख लगता है। सवेरे चार बजे उठकर, स्नान आदि करोयही भयंकर दुःख लगता है। माया का स्वरूप क्या है? गर्मी के मौसम में रातभर गर्मी रहती है, धीरे-धीरे थोड़ी ठंडक होते हुऐ, ठीक चार बजे ठंडी हवा चलती है। छत पर सोये हुए हो तो उसी समय नींद का बहुत मीठा झोंका आता है। रात-भर तो गर्मी के मारे नींद ठीक से आ नहीं पाती। किंतु धर्म के लिये उसी समय उठ जाना है। अतः दुःख लगता है। इसी प्रकार सर्दी के अंदर रात-भर लिहाफ में हो और शरीर बिलकुल गर्म है, उसी समय चार बजे बाहर खूब ठंडक होती है तथा धर्म के लिये वही उठने का समय है। अतः दुःख लगता है। उठने से लेकर सोने तक जो धर्म का कार्य होगा उसमें दुःख ज़रूर महसूस होगा। इसलिये माया दुरत्यया है। शुभ कर्म करना ही कठिन मामला है। इस कठिनाई के कारण लोग अन्य-अन्य पंथों की तरफ चले जाते हैं। फिर, भजन करने आसन से बैठो। छठे अध्याय में यही सब भगवान् ने बतलाया था। कुर्सी पर बैठ कर क्या भजन नहीं कर सकते? लोग पूछते हैं। किन्तु भगवान् कहते हैंआसन से बैठो। कोई कहता है, 'अरे! क्या फ़र्क पड़ता है? भजन ही तो करना है। बिछौने पर लेटे-लेटे ही भजन कर लो, हर्जा क्या है?' तो लोगों को जँचता है 'हाँ, यह ठीक बात कर रहा है।' फिर भगवान् कहते हैं, कर्म ही करो, उसके फल की आशा मत करो। हम लोग दो चीज़ें चाहते हैंकर्म और फल। शास्त्र कहता है कि कर्म ही करो, यही तुम्हारा काम है। फल देना भगवान् का काम है। इसलिये फल उनको अर्पण कर दो। यह और कठिन मामला है।

जब ऐसा दुःख वाला तरीका अपनाया जाये तब जाकर तुम्हारे में विवेक शक्ति आयेगी, सत्य-असत्य का विवेक आयेगा। फिर, इस सारे असत्य संसार को छोड़ो। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धाइनमें से हर कार्य दुःख वाला है। मन जिधर चाहे उधर न जाने दोयह शम है। इद्रियाँ जहाँ चाहें, उधर न जाने दोयह दम है।

ये सभी साधन करने में अत्यन्त दुष्कर लगते हैं। उसके बाद, शास्त्रों का श्रवण करो, मनन करो, युक्ति-पूर्वक विचार करके निश्चय करो कि शास्त्र जो कह रहा है वही ठीक है तब जाकर परमात्मतत्त्व तुम्हारे सामने प्रकट होता है। इसलिये कहा 'दुरत्यया।' परमात्मा को प्राप्त करना कढ़ी खिचड़ी खाने की तरह नहीं है! आज-कल लोगों की यह समस्या बहुत ज़्यादा है। लोग कहते हैं, 'महाराज, कोई सरल तरीका होना चाहिये।' पर भगवान् ने ही कह दिया 'दुरत्यया', सरल तरीका नहीं है। बहुत कठिन है।

'ये' जो लोग यह निर्णय कर लेवें, कि परमात्मा का साक्षात्कार करना ही है। मैं ईश्वर, इस सारी माया को धारण करने वाला, तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ हूँ। किस रूप से बैठा हुआ हूँ? हृदय में जो चैतन्य रूप है, उसी रूप से बैठा हुआ हूँ। उसकी ही शरण में जो जाते हैं, प्रपन्न होते हैं अर्थात् एकमात्र उसका आश्रय लेते हैं, वे इस माया का अतिक्रमण कर जाते हैं जो सारे प्राणियों को मोहने वाली, पूर्व श्लोक में कही गई माया है। जो कठिन साधनों द्वारा अपने अंदर स्थित परमात्मदेव का साक्षात्कार करते हैं वे तर जाते हैं अर्थात् फिर उनको माया के सात्त्विक, राजस, तामस भावों से मोह नहीं होता। माया से मोह नहीं होता हैइसी का नाम मुक्ति है। वेदान्त का सिद्धांत है कि अज्ञान से बंधन है और ज्ञान से मुक्ति है। किसी लोकान्तर में जाना अथवा नहीं रह जानाये दोनों ही वेदांत में मुक्ति नहीं है। अनेक लोगों ने तरह-तरह की कल्पनायें कर रखी हैं लोकान्तरों के बारे में। यह नहीं कह रहे हैं कि लोकान्तर नहीं हैं, पर यह कि लोकान्तरों में जाना कैवल्य मुक्ति नहीं है। क्यों? परमात्मा तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है, कहीं जाकर उनकी प्राप्ति कैसे होगी! जहाँ जाओगे, वहाँ से तो फिर वापिस आना पड़ेगा। भगवान् ने कह ही दिया 'पुनरावर्तिनः' (८.१६) कि सभी लोकों का स्वभाव पुनरावर्तन है। इसलिये कहीं जाना कैवल्य नहीं है। अपने हृदय में बैठे हुए परमात्मा को न जाननायही बंधन है, और उसमें बैठे हुए को जाननायही मुक्ति है। जो इस प्रकार से दुःख से किये जाने वाले काम कर लेते हैं वे ही आत्मबोध पा सकते हैं।।१४।।

यदि इस प्रकार आपकी प्रपत्ति से बंधन निवृत्त हो सकता है तो सब लोग क्यों नहीं ऐसा करते? आपकी ही प्रपत्ति, आपकी ही शरण में सब लोग क्यों नहीं आ जाते? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

माया से जिनकी समझ चुरा ली गयी है, हिंसा झूठ आदि आसुरी भावों पर जो आश्रित हैं, ऐसे पापकारी मूढ अधम नर मेरी प्रपत्ति नहीं करते।

'दुष्कृतिनः' जो पाप कर्म ही करने वाले हैं। पाप का कारण राग द्वेष हैं। पाप कभी

स्वभाव से नहीं किया जाता। किसी से पूछो 'तुम्हारा नाम क्या है?' जो नाम है वही बतायेगा। कोई उससे नहीं कहता, 'तुमने अपना सच्चा नाम क्यों बताया?' किन्तु अगर हमें पता है कि हमारे नाम का वारंट निकला हुआ है, पूछने वाला सी.आई.डी. विभाग का है, तो पूछने पर हम झूठा नाम बता देते हैं क्योंकि पकड़े जाने से बचना चाहते हैं। सच बोलने में कारण कुछ नहीं होता, स्वभाव से बोला जाता है। झूठ बोलने में कारण होता है। ठीक इसी प्रकार से जितने दुष्कर्म हैं, सब राग या द्वेष से होते हैं। जो राग-द्वेष से प्रवृत्त होंगे वे सारे दुष्कर्म हो जाते हैं।

'मूढाः' मूढ आदमी तुरंत होने वाले फल को ही देखता है, दूर के फल को नहीं देखता। शक्कर का जो मूढ रोगी होता है, वह मिठाई सामने आने पर खा लेता है। इसी प्रकार जो अम्ल-पित्त का रोगी होता है, वह चांदनी चौक में जाकर चाट खा लेता है। उस समय भी कोई उससे पूछे 'अरे! तुम्हें तो अम्ल-पित्त है, तुम ऐसी चाट खा रहे हो!' कहेगा 'जी, कई दिनों से नहीं खाई थी आज सुबह से तो पेट ठीक है।' उसे पता है कि चाट खाने से रात में तकलीफ होगी, परंतु कल्पना करता है कि शायद न होवे। बस, यही मूढता है। राग द्वारा जो प्रवृत्त होते हैं वे आसक्ति वाली क्रिया के अंदर मूढ हो जाते हैं। इसलिये वे लोग 'नराधम' हैं। नर किसको कहते हैं? श्रुति कहती है 'न कर्म लिप्यते नरे', नर वे हैं जो कर्म से लिप्त नहीं होते। कर्म से व्यक्ति लिप्त राग के कारण होता है। अमुक कर्म किया तो अमुक फल मिलेगायह फल के प्रति जो राग है, इसके कारण कर्म में व्यक्ति लिप्त होता है। नर वह है जिसने राग को हटा दिया है इसलिये कर्मफल में उसे कोई लेप नहीं है, कोई राग नहीं है। विषयों में जो रमण न करे वही नर है। जो दुष्कृति है, वह हर काम के लिये फल देखता है।

मीमांसा शास्त्र कहता है कि नित्य नैमित्तिक कर्म करने ज़रूर हैं और उनका फल कुछ नहीं! नित्य नैमित्तिक कर्म नहीं करोगे तो दंड मिलेगा, करोगे तो कुछ नहीं मिलेगा। लोग कहते हैं कि फिर काहे के लिये करें? कर्त्तव्य कर्म भी बिना फलाशा के नहीं करना चाहते। और बहुत से ऐसे कार्य हैं जिन्हें धर्म की दृष्टि से हम लोग करने को कहेंगे। रोज़ सवेरे तुलसी चरणामृत लिया करो। लोग पूछते हैं 'तुलसी लेने से क्या फ़ायदा?' उनको बतला देवें कि तुलसी रोग-नाशक है तब तो कहेंगे 'हाँ हाँ, इसीलिये तो शास्त्र ने इसे लेने को कहा है।' अर्थात् यह मानना नहीं चाहते कि तुलसी लेना कर्त्तव्य है। हम लोग भी कह देते हैं प्रवृत्त करने के लिये कि अमुक फल होता है, परंतु विचार करोजो तुलसी चरणामृत के साथ ली जाती है वह कितनी थोड़ी होनी चाहिये? इतनी कि दाँतों के नीचे न आवे। औषधि के लिये लेना होवे तो उसकी मात्रा और तरीका ही अलग हो जाता है। फिर भी ऐसा कहना पड़ता है क्योंकि अगर फल कहो, तब तो लोगों की प्रवृति होती है, नहीं तो कोई प्रवृत्ति नहीं होती। आजकल एक चाल चली है कि धार्मिक कृत्य का इहलौकिक प्रभाव बताया जाये। किसी प्राचीन ज़माने के अंदर

भी ऐसा कोई मत था। आचार्य कुमारिल भट्ट लिखते हैं 'प्रायेणैवेह मीमांसा लोके लोकायतीकृता' लोक में साधारण लोगों ने मीमांसा को लोकायत शास्त्र बना दिया! मायने यह मानना कि जो कुछ शास्त्र में कहा है उसका फल यहीं है। लोकायत होते हैं जो कहते हैं कि बस इस लोक के अंदर ही सब कुछ है, आगे-पीछे कुछ नहीं है। सारे धर्म को केवल यहीं फल देने वाला मान कर गतार्थ समझनायह नरों में अधमता है। अगर राग है तो कम-से-कम स्वर्ग में राग करो, ब्रह्मलोक में राग करो, तब तो कर्म-उपासना करोगे। केवल इस संसार में राग करोगे तो पहले तुम तुलसी लोगे, फिर कोई कहेगा 'अरे! तुलसी की अपेक्षा तो ऐंटीबायटिक ज़्यादा फ़ायदा करेगी', तो तुलसी छोड़ वह लेने लग जाओगे। इसलिये लोकायत सिद्धांत को मानने के कारण इनको नरों में अधम कहा। इनकी अपेक्षा जो कम-से-कम स्वर्गादि लोक में फल की इच्छा रखते हैं वे नर तो नहीं हैं लेकिन सर्वथा अधम भी नहीं हैं।

ऐसे जो दुष्कर्म करने वाले मूढ नराधम वे 'मां न प्रपद्यन्ते', मेरी प्रपत्ति कर ही नहीं सकते, मेरी शरण आ ही नहीं सकते। क्यों नहीं आ सकते? परमात्मा से कुछ छिपा नहीं रहता। देवताओं से तो काम बनाया जा सकता हैः हमने हनुमान् जी से कहा 'मैं इम्तिहान पास हो जाऊँ प्रथम श्रेणी में तो आपको ग्यारह रुपये के लड्डू चढ़ाऊँगा।' मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि हनुमान् जी को क्या पता कि सालभर मैंन पढ़ा तो है ही नहीं! किंतु परमात्मा के साथ ऐसा कर नहीं सकते। इसलिये परमात्मा के सामने वह जा ही नहीं सकता, जिसने भली प्रकार से धर्माचरण नहीं किया है। इसलिये ऐसों के लिये कहा 'मां न प्रपद्यन्ते।' मुझ परमेश्वर की शरण वे लोग नहीं आ सकते क्योंकि 'माययापहृतज्ञानाः' माया ने ऐसा उनको मोह में डाला हुआ है कि ज्ञान, विचार कभी सुन भी लें तो वह अपहृत हो जाता है। जिसको पहले मोहित से कहा था उसी को यहाँ पर अपहृत से कह दिया। माया अपहरण कर लेती है तुम्हारे ज्ञान का। ज्ञान नहीं हैऐसी बात नहीं है। जब तुम अपने नौकर को डाँट कर कहते हो 'पाँच रुपये का सामान है, तुम हमें सात रुपये बतला रहे हो, झूठ बोलते शर्म नहीं आती है?' तब तुम्हें यह पता है कि झूठ बोलना बुरा है, तभी उसको कह रहे हो, डाँट रहे हो। उसकी पीठ थपथपाते तो नहीं कि 'कलियुग है, इसके अंदर सच कहाँ बोला जाता है! तुमने ठीक किया, झूठ ही बोलना चाहिये था।' परंतु जब तुम उसी झूठी बात को करते हो तब कैसा लगता है? 'अजी, कलियुग का ज़माना है, सच से चल नहीं सकता ऐसा तो करना ही पड़ता है।' ज्ञान है, परंतु त्रिगुणात्मिका माया के कारण वह ज्ञान उस समय अपहृत होता है।

इसलिये मूढ लोग कैसे होते हैं? 'आसुरं भावमाश्रिताः' आसुर भाव का आश्रयण करते हैं। असु कहते हैं प्राणों को। 'गतासून्', जिनके असु चले गये और 'अगतासून्' जिनके असु हैं, अर्थात् ज़िंदा और मरे, दोनों का ही पण्डित शोक नहीं करते ऐसा दूसरे

अध्याय में कहा था। असु अर्थात् प्राण, उसमें ही जो रमण करे, वह असुर है। अर्थात् जो खाना, पीना, मौज करनाबस इसी में रमण करते हैं। इसका दृष्टांत भारतवर्ष की वर्तमान सरकारें स्पष्ट हैं। कोई कहता है कि भारत चमक रहा है, कोई कहता है कि सब लोग अच्छा महसूस कर रहे हैं। पूछो 'क्यों?' जवाब देते हैं'इतनी सड़कें बन गईं, इतनी गाड़ियाँ बढ़ गईं, इतना लोगों के पास कपड़ा हो गया।' पूछो कि झूठ बोलना बढ़ा कि कम हो गया? कहते हैं 'चलिये, वह बात और है। हम तो प्रगति की बात कर रहे हैं।' अर्थात् प्रगति तो केवल इन बाह्य चीज़ों से होती है। पहले साम्यवादी (कम्युनिस्ट) कहा करते थे : रोटी, कपड़ा और मकानबस ये ही ठीक होने चाहिये। इसी की बढ़त को वे उन्नति मानते थे। अब वही बात हर व्यक्ति उन्नति की बात करता है तो कहता है। धर्म की, नैतिकता की बात कभी करता ही नहीं। एक डाक्टर बता रहे थे, कि विश्व स्वास्थ्य संगठन की बैठक में गये थे। वहाँ आँकड़ों से बताया गया कि भारत का बावनवाँ नम्बर है स्वास्थ्य की दृष्टि से। उसके बाद जब आपस में बात-चीत कर रहे थे तब किसी अमरीकन ने उनसे कहा, 'तुम इतने बड़े देश होकर स्वास्थ्य-दृष्टि से बावनवें क्रम में हो, तुम्हें शर्म नहीं आती?' उन्होंने कहा 'नहीं, हमें शर्म नहीं आती। तुमने उन्नति के अपने मापदंड बना रखे हैं। जिन चीज़ों में तुम उन्नत हो उन्हीं को तुमने उन्नति का मापदंड बना लिया। उसके अनुसार हम बावनवें क्रम में हैं। आगे हम पूछें कि तुम्हारे यहाँ कितनी चोरी होती है? कितनी डकैती होती है? कितनी पत्नियाँ पतियाँ को छोड़ जाती हैं, पति पत्नियों को छोड़ जाते हें? कितने लोग मानसिक तनाव से ग्रस्त रहते हैं? इन सब आँकड़ों से मापदंडों को बनायेंगे तो हम पहले-दूसरे क्रम में आ जायेंगे और तुम बावनवें नंबर पर चले जाओगे!' उन्नति का जो मानदंड पाश्चात्य देशों ने बनाया, हमारे यहाँ भी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वही मानने लग गये। अतः मोटर आ गई तो मानते हैं कि उन्नति हो गई। पर झूठ बोलना शुरू कर दिया तो अवनति हो गईयह नहीं जँचता है। रोज़ कितने घोटाले होते रहते हैं, अपराध बढ़ते जाते हैं, फिर भी सरकारी घोषणा होती है कि भारत चमक रहा है! यह आसुर भाव का आश्रयण लेने से ही संभव है।

असु अर्थात् प्राणों में, खाना-पीना-मौज करनाबस इसी में रमण करने वाला जो भाव है वह आसुर भाव है। उसका आश्रय लेते हैं तो भगवान् का आश्रय लेवें कैसे! भगवान् का आश्रय इसलिये नहीं ले पाते हैं कि उन्होंने आसुर भाव का आश्रय लिया हुआ है, उसी को अपना सहारा मानते हैं।

क्यों भगवान् की तरफ लोग नहीं जा पाते? भगवान् ने बतला दिया कि जो आसुर भाव वाले हैं वे उनकी तरफ नहीं आ सकते क्योंकि आसुर भाव होगा तो दुष्कर्म होगा; जो दुष्कर्मी होगा उसकी भगवान् की ओर आने की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। दुष्कर्मी के अंदर हमेशा आसुरी भाव प्रधान रहते हैं। भगवान् की शरण में आने के लिये

सात्त्विक भाव की प्रधानता चाहिये। क्यों उनमें राजसी-तामसी भावों की प्रधानता है? क्योंकि वे हमेशा ही आसुर भावों में रमते हैं, खाना, पीना, मौज करनाबस यही उनके जीवन में एकमात्र महत्त्व की बात है। क्योंकि माया के द्वारा उनका जो ज्ञान है वह अपहृत है, इसलिये इस रहस्य की तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता कि मैं कौन हूँ। 'मैं'-रूप से उनके अंदर विद्यमान तो परमात्मा है पर वे 'मैं' को समझना नहीं चाहते, केवल संसार की चीज़ों को ही समझते हैं। उसी तरफ जाते हैं। अतः उनको भगवान् ने कहा 'नराधमाः' कि वे अत्यंत निकृष्ट लोग हैं। इसके द्वारा भगवान् ने संकेतित कर दिया कि ऐसे अधम जनों के साथ संग करने वाला भी ऐसा ही हो जाता है क्योंकि वे बार-बार आसुरी भावों के लिये ही प्रेरणा देते हैं।।१५।।

जो नराधम नहीं हैं, नरोत्तम हैं, उनके बारे में भगवान् कहते हैं

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

भरतोत्तम अर्जुन! चार तरह के पुण्यकर्मा लोग मेरा भजन करते हैंदुःखी, ज्ञानेच्छुक, अर्थेच्छुक और तत्त्ववेत्ता।

पूर्व श्लोक में कहे गये थे दुष्कृति और ये हैं सुकृति। वे हिंसा झूठ इत्यादि में प्रवृत्त थे, ये उससे भिन्न, नित्य नैमित्तिक काम्यादि शास्त्रीय कर्मों से युक्त हैं। वे निषिद्ध कर्मों में लिप्त थे, ये वैध कर्मों को करते हैं, पुण्य कर्मों को ही करने में रुचि लेते हैं। इनकी कामना चाहे अभी ख़त्म नहीं हुई, इसलिये कामना की पूर्ति के लिये काम्य कर्म भी करते हैं। लेकिन कामना की पूर्ति के लिये *अधर्म* का सहारा नहीं लेते, दुष्कर्म नहीं करते। 'जनाः' हैं, अपने को जन्म लेने वाला मानने वाले। 'जनाः' मायने लोग। लोगों को 'जनाः' क्यों कहते हैं? वे जने जाते हैं इसलिये। अर्थात् उनको निश्चित अभिमान है कि 'मेरा जन्म हुआ है।' दुष्कृति लोग तो सर्वथा मूढ हैं क्योंकि जो चीज़ जैसी नहीं है उसे वैसा समझते हैं, किन्तु सुकृति यद्यपि अपने को जन्मने-मरने वाला समझते हैं इसलिये जन तो हैं, तथापि 'मां भजन्ते' इस बात को निश्चित जानते हैं कि इस संसार को चलाने वाला परमेश्वर है अतः उसकी आज्ञा के खिलाफ कार्य न करें। दुष्कृति तो मूढ होने के कारण उनकी शास्त्रादि की तरफ वृत्ति ही नहीं बनती, जबकि ये, चाहे जन्म-मरण के अध्यास वाले हैं परंतु, 'मां भजन्ते', समझते हैं कि सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला परमेश्वर है इसलिये परमेश्वर की आज्ञा में चलना चाहिये। इसलिये परमेश्वर का ही सेवन करते हैं।

'चतुर्विधाः भजन्ते' चार प्रकार के लोग मेरा भजन करते हैं। सब एक ही कोटि के नहीं हैं। दुष्कृतियों को तो भगवान् ने एक ही कोटि में रखा कि वे आसुर भावों का आश्रयण करने वाले हैं। भक्त केवल प्राणों में रमण नहीं करते, इतना तो ठीक है, पर

इतने मात्र से सब एक प्रकार के नहीं हो जाते। 'चतुर्विधाः' चार प्रकार के लोग भगवान् की सेवा करते हैं। पहले हैं 'आर्त' अर्थात् चोर, शेर, रोग आदि द्वारा जो आक्रांत होते हैं। सामान्य अनुभव सबका है कि साधारण व्यक्ति को जब दुःख आता है तब देवताओं की तरफ जाता है। विद्या चाहिये तो सरस्वती की तरफ जाता है, धन चाहिये तब लक्ष्मी की तरफ जाता है। उसको यह भ्रम रहता है कि अमुक कर्म से अमुक देवता से फल की प्राप्ति हो जायेगी। रोग से आक्रांत हो तो सूर्य की उपासना करता हैएक परमेश्वर की तरफ नहीं जाता, लगता है कि सरस्वती जी की उपासना करेंगे तो सरस्वती जी विद्या देंगी, सूर्य की उपासना करेंगे तो सूर्य हमें स्वास्थ्य दे देंगे। ऐसा व्यक्ति सूर्य या सरस्वती को जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला मानकर उपासना नहीं करता।

देवतोपासना की बात दृष्टांत से समझो : भगवान् आगे अपनी विभूतियाँ बताते हुए कहेंगे कि, मनुष्यों में राजा-रूप से मेरी उपासना करो। अगर राजा की उपासना करते हैं और राजा हमें अधर्म का मार्ग बतलाता है, तो क्या करें? यह शंका होती है। समाधानार्थ समझना चाहिये कि नराधिप में परमेश्वर की उपासना करनी है। परमेश्वर का कोई एक ही रूप तो है नहीं, वह सर्वरूपों में है। जिस रूप में उपासना करने को कहा है उस रूप में परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये। नराधिप की उपाधि में परमेश्वर की उपासना करनी है, नराधिप की उपासना नहीं करनी है! समझना यह है कि उसका जो विभूति, ऐश्वर्य है, वह परमेश्वर का ही है। परमेश्वर का ही ऐश्वर्य राजा में दीख रहा है। ऐसे समझ लोः शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी पत्थर में हम विष्णु की उपासना करते हैं। हम उस पत्थर को विष्णु समझते हैं परंतु जानते हैं कि वह पत्थर है। इसलिये जितनी देर तक हम ध्यान करेंगे, पूजा करेंगे, उतनी देर तक उसमें परमेश्वर बुद्धि होगी लेकिन जब स्नान करवायेंगे तब यह नहीं कहेंगे 'पीठ मल लो।' अगर विष्णु सामने होते और उनको स्नान करवाते, तब तो कई कार्य वे स्वयं करते। वह पत्थर हैइस बात को हम जानते हैं। फिर भी हम प्रार्थना विष्णु से करते हैं, पूजा विष्णु की करते हैं। करते तो पत्थर के संमुख हैं। हमने जो भगवान् से प्रार्थना की, वह जब पूरी हो गई तब हम यह नहीं मानते हैं कि 'इस पत्थर ने मेरी प्रार्थना पूरी कर दी।' हम मानते हैं कि 'विष्णु ने हमारी प्रार्थना सुन ली।' अधिक अविचारशीलों की यहाँ भी भूल होती हैबहुत-से लोग समझते हैं कि पत्थर ही कामनापूर्ति करता है! ऐसे लोग कहेंगे, 'निगमबोध घाट वाले हनुमान् जी ज़्यादा ताकत वाले हैं। कनाट प्लेस के पास वाले हनुमान् जी में इतनी शक्ति नहीं।' इसका मतलब है कि दो हनुमान् जी हुए! ऐसे लोग हनुमान् जी को नहीं समझ रहे हैं, पत्थर-विशेष को ही फल देने वाला समझ रहे हैं। जो थोड़ा भी सत्संगी है उसको ऐसी भ्रांति नहीं होती। वह जानता है कि हनुमान् जी एक हैं। जैसे मूर्ति में, इसी प्रकार नराधिप में, राजा में हमें परमेश्वर की दृष्टि करनी है, राजा को ही परमेश्वर नहीं मान लेना है। इसलिये परमेश्वर ने जो वेद में आज्ञा दी

है उसको हम मानेंगे, उस राजा की आज्ञा को अगर परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध है, तो हम नहीं मानेंगे।

इसी प्रकार देवताओं में उपासना परमेश्वर की करनी है, देवताओं की ही उपासना नहीं करनी है। सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला जो एक अखंड परमेश्वर सगुण-ब्रह्म है उसकी आराधना करनी है। यदि आदित्य, सरस्वती इत्यादि मूर्तियों में परमेश्वर फल देने वाला हैइस दृष्टि से उनकी पूजा करते हैं, तब तो परमेश्वर की ही पूजा है। परंतु जैसे हमने अभी हनुमान् जी का कहा, वैसे ही कुछ लोग कहेंगे, 'अरे, धन चाहिये तो सरस्वती की पूजा से क्या होगा! लक्ष्मी की पूजा करो।' कहने वाला मानता है कि सरस्वती के द्वारा परमेश्वर नहीं फल दे रहा है, लक्ष्मी के द्वारा परमेश्वर फल नहीं दे रहा है, फल देने वाले तो ये देवता-विशेष हैं। वास्तव में परमेश्वर की उपासना उन-उन मूर्तियों में करनी है। उपासना परमेश्वर की होगी, मूर्ति के माध्यम से होगी।

तब अलग-अलग मूर्तियाँ क्यों? तुम एक ही हो। रात में सोने जाते हो तो पायजामा-कुर्ता पहन लेते हो। सवेरे पूजा करने बैठते हो तो धोती पहन लेते हो। तैयार होकर दफ्तर जाते हो तो पेंट कोट नैक-टाई लगा लेते हो। कहीं भोजन करने जाते हो तो रेशमी धोती पहन लेते हो। अलग-अलग काम करने के लिये अगल-अलग कपड़े पहन लेते हो। पर तुम तो अलग-अलग नहीं हो जाते हो! जब तुम शादी करते हो तो जिसे तुम्हारी पत्नी बनना है वह एक लाख रुपयों का लहंगा पहन लेती है। और सारे शरीर के ऊपर पाँच लाख के हीरे भी पहनती है। तुमने उससे ब्याह किया, घर गये। वह लहंगा आदि उतार कर साधारण साड़ी पहन कर तुम्हारे कमरे में आये और तुम कहो 'अरे! अंदर क्यों आई?' 'मैं आपकी पत्नी हूँ।' तुम कहो 'नहीं, मेरी पत्नी तो लाख रुपये लहंगे वाली है। साड़ी वाली से थोड़े ही मैंने ब्याह किया था!' तो शायद वह सोचेगी तुम्हें पागल-खाने में भर्ती करना पड़ेगा! कपड़ा-गहना बदलने से औरत नहीं बदली। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न काम करने के लिये, परमेश्वर की अलग-अलग विभूतियाँ में उपासना की जाती है, परंतु याद रखने की बात है कि उपाधि के अंदर स्थित परमेश्वर ही फल देने वाला है, देवता आदि उपाधि फल देने वाली नहीं है।

भगवान् यहाँ जिन भक्तों की चर्चा कर रहे हैं वे दुःख पड़ने पर आर्त होकर इस प्रकार से देवता-बुद्धि से नहीं भजते हैं, वे तो एक ही परमेश्वर को सामने रखकर उसकी शरण जाते हैं। ऐसा वही होगा जो सुकृति है। अन्यथा अपहृतज्ञान होकर परमेश्वर को समझेगा ही नहीं।

दूसरा है जिज्ञासुजो परमेश्वर के स्वरूप को जानने की इच्छा करता है कि भगवान् कैसे हैं कैसी उनकी विभूति, ऐश्वर्य इत्यादि हैं, कैसे वे जगत् उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार परमेश्वर के विषय में जो जानना चाहता है वह जिज्ञासु है। वह यदि समझता

है कि परमेश्वर ही भिन्न-भिन्न गुरु शरीरों के द्वारा ज्ञान देते हैं, ज्ञान देने वाले एक परमेश्वर हैं, तभी उसे यहाँ जिज्ञासु भक्तों में गिना जायेगा। जिस प्रकार अलग-अलग दीखने वाले देवता नहीं, उनमें स्थित परमेश्वर ही फल देने वाला है, उसी प्रकार परमेश्वर गुरुमूर्ति से ज्ञान देते हैं। गुरुमूर्ति द्वारा ज्ञान देने वाला परमेश्वर ही है। इसलिये जैसे राजा की धर्मविरुद्ध बात हम नहीं मानेंगे, उसी प्रकार से कोई कितना ही बड़ा गुरु दीखता होवे, परंतु यदि वह वेदविरुद्ध उपदेश देता है तो उसे हम नहीं मानेंगे। गुरु मूर्ति को जब परमेश्वर कह रहे हैं तब उसके अंदर जो ज्ञानस्वरूप मूर्ति है उसको लेकर ही कह रहे हैं। जैसे राजा में उसकी विभूति, ऐश्वर्य, शक्ति के रूप में प्रकट होती है वैसे ही गुरु-शरीर के अंदर उसकी ज्ञान शक्ति प्रकट होती है।

अर्थार्थीजो अर्थ की, धन की इच्छा वाला है। धन खाली नोट नहीं समझना। हमारे यहाँ गोधन, गजधन, वाजी धन, रत्न धन आदि सब को धन माना है। हाथी धन होता है, घोड़ा भी धन होता है। आजकल के जमाने में मोटर गाड़ी धन है। खाली नोट को धन नहीं समझ लेना। जितने पदार्थ हैं उन पदार्थों में नोट भी आ जाता है। जो धन की इच्छा रखने वाला है वह हुआ अर्थार्थी। आर्त वह है जो जिसको दुःख का कारण समझता है उससे छूटना चाहता है, अर्थार्थी वह है जो जिसको सुख का कारण समझता है उसको पाना चाहता है। भगवान् ने आर्त और अर्थार्थी के बीच में जिज्ञासु को रखा। बीच में रखने का तात्पर्य है कि आर्त भी जिज्ञासु हो सकता है और अर्थार्थी भी जिज्ञासु हो सकता है, जिज्ञासु भी आर्त हो जाता है। परमेश्वर के मार्ग पर चल रहा है, जिज्ञासु है, पर भयानक रोग आ गया तो आर्त भी हो जायेगा। नारायण तीर्थ के बारे में कहते हैं कि उन्हें भयंकर उदर-विकार हो गया था। अत्यंत दुःखी होकर उन्होंने भगवान् की स्तुति की, भगवान् ने प्रसन्न होकर उनका रोग दूर कर दिया। ऐसे कोई जिज्ञासु होने पर भी आर्त हो सकता है। जिज्ञासु होने पर भी अर्थार्थी हो सकता है। प्रधानता आर्ति की रहेगी लेकिन साथ में जिज्ञासु भी हो सकता है। इसी प्रकार से अर्थार्थी प्रधानता से पदार्थों को चाहता है परंतु जिज्ञासु भी हो सकता है। इसलिये आर्त और अर्थार्थी के बीच में भगवान् ने जिज्ञासु को रखा।

इनसे अलग है 'ज्ञानी च भरतर्षभ'। ज्ञानी से यहाँ अदृढ अपरोक्ष वाला या जिसको परोक्ष ज्ञान कहते हैं उससे संपन्न को कहा है। जिसे साक्षात्कार तो नहीं हुआ है परंतु उपनिषदों का भली प्रकार जिसने श्रवण मनन किया है, जिससे निश्चय-मात्र हुआ, ऐसा परोक्ष ज्ञानी या अदृढ अपरोक्ष ज्ञानी यहाँ भक्त कहा गया है। वह दृढ अपरोक्ष के लिये, विज्ञान के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है। परमेश्वर की कृपा से ही उसमें निष्ठा की प्राप्ति होती है। ज्ञानी ने शास्त्र-दृष्टि से जान लिया है कि 'शरीर मन से भिन्न मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ।' फिर भी अनन्त जन्मों की वासना के कारण 'मैं शरीर हूँ या मन हूँ' ऐसे संस्कार का उदय हो जाता है। जब ऐसे संस्कार का उदय होता है, तब उस को तुरंत

बाधना पड़ता है। ज्ञानी भक्त निरंतर कर्ता-भोक्ता भाव का बाध करता ही है, शरीर-मन की प्रारब्ध से होती प्रवृत्ति की स्वयं कोई चिंता नहीं करता, ईश्वरेच्छा पर उसे छोड़ देता है। 'मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ'ऐसा जो दृढ अपरोक्ष है, जिसको उपनिषद् ने और भगवान् ने भी विज्ञान शब्द से कहा है, उसके लिये ज्ञानी भजन करता है। परमेश्वर मेरा आत्मरूप हैऐसा उसने जान लिया है, इसके सिवाय और कोई चीज़ सत्य नहीं है यह भी जान लिया है, परंतु उस अनुभव में स्थिर होते समय डिग जाता है। वह भगवान् का भजन करता है, अर्थात् बार-बार बाध-प्रक्रिया से अहम् प्रत्यय के अंदर आत्मा का दर्शन करता है, वृत्तिसाक्षी सच्चिदानन्द हैइस निश्चय को कायम रखता है और इसमें सफलता के लिये प्रार्थना भी करता है। इस प्रकार भगवान् ने जो सुकृति हैं उनके अंदर आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी को भी ले लिया और ज्ञानी को भी लिया है।।१६।।

क्या ये चारों एक जैसे भक्त हैं? इसके जवाब में कहते हैं

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

इन भक्तों में एकमात्र मुझमें अतिशय प्रेम वाला अत एव सदा समाहित मन वाला ज्ञानी सर्वोत्कृष्ट है। क्योंकि ज्ञानी के लिये मैं अत्यधिक प्रिय हूँ इसलिये वह भी मुझे प्रिय है।

इन चारों के बीच में ज्ञानी नित्ययुक्त है। जो इस बात को जानता है कि परमात्मा वस्तुतः मैं ही हूँ वही नित्ययुक्त, हमेशा परमात्मा में एकाग्र हो सकता है। चूंकि हर बार अनात्मा का और अपने में अनात्म धर्मों का बाध करके अपने सच्चिदानन्द रूप का निश्चय करता है इसलिये नित्ययुक्त है। वह जानता है कि जितना परिदृश्यमान जगत् है यह सारा दुःख का ही कारण है, एकमात्र सच्चिदानन्द परमात्मा मेरा वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार तत्त्व के बारे में ठीक प्रकार से जानने के कारण ही वह नित्ययुक्त है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी जो होगा वह भी भगवान् से युक्त तो होता ही है, उन्हीं से प्रार्थना करता है, लेकिन भगवान् की तरफ जाने के साथ में दुःख को हटाना भी चाहता है क्योंकि दुःख को वास्तविक समझता है; इसी प्रकार जिस चीज़ को सुख समझता है उसकी प्राप्ति भी चाहता है। जिज्ञासु परमात्मा का रूप समझने के लिये उपनिषदों को भी देखता है। कभी गौतम ऋषि के ग्रंथ में देख लेता है कि ईश्वर केवल निमित्त कारण है। जब ईश्वर को केवल निमित्त के रूप में समझता है, उस समय में परमात्मा से युक्त रहा नहीं क्योंकि परमात्मा अभिन्न निमित्त-उपादान कारण ही है। कभी कपिल के उपदेश को देख लेता है कि ईश्वर है ही नहीं, केवल जीव के लिये ही सारी सृष्टि है। सांख्य मानते हैं कि जीव के भोग-मोक्ष के लिये ही सृष्टि प्रकृति अपने आप करती है, ईश्वर को मानने की क्या ज़रूरत है! ईश्वर के विषय में ऐसी अनेक

भ्रान्तियाँ हैं, चाहे गौतम-कपिल से आवें, चाहे आजकल के विज्ञान के द्वारा आवें। और कुछ आधुनिक लोग मानते हैं कि धनाणु-ऋणाणु ही सत्य हैं, उन्हीं से सारा संसार बन गया, बनाने वाले परमेश्वर की क्या ज़रूरत है। समुद्र में एक बुद्बुदा उठ आया, वह किसी तरह से संश्लिष्ट बन गया, उसमें कार्बन (carbon) आ गया, डी. एन. ए. शृंखला बन गई, उससे एक कोषा वाले प्राणी बन गये, इत्यादि आधुनिकों की कल्पनायें हैं। यह सब प्रकृति कर रही है आधुनिक विज्ञान के अनुसार। प्रकृति चुनती रहती है, जो सफल होते हैं उनको आगे बढ़ाती रहती है। इस प्रकार से होते-होते हम आदमी बन गये। जितने प्राणी हैं वे इसी तरह से बनते चले जाते हैं। आजकल के विद्यालयों में जहाँ तुम लोग फीस देकर पढ़वाते हो, वहाँ पढ़ाते हैं कि परमेश्वर को मानने की क्या ज़रूरत है? सभी नास्तिकों की बात वही है कि कोई चेतन कारण नहीं चाहिये सृष्टि बनाने के लिये।

परमेश्वर नहीं चाहिये यह बौद्धों का भी कहना है। वे लोग मानसिक कारणों को मानते हैं। क्षणिक विज्ञान का प्रवाह चलता रहता है, उस विज्ञान-प्रवाह के लिये भी परमेश्वर की कोई ज़रूरत नहीं है। उन्होंने अणु आदि पदार्थों को कारण नहीं माना लेकिन विज्ञान-प्रवाह भी चेतन तो है नहीं, इसलिये उनके मत में भी परमेश्वर की ज़रूरत नहीं है। इसी प्रकार जैनी पदार्थों के पुद्गल मानते हैं जिनसे सारी रचना हो जाती है, परमेश्वर की कोई ज़रूरत नहीं है। जिज्ञासु जब इन मतों के बारे में विचार कर रहा है तब परमेश्वर के बारे में विचार नहीं कर रहा। इन विचारों को छोड़ कर जिस समय वेद आदि का अध्ययन करता है उस समय परमेश्वर के विषय में विचार कर रहा है। परमेश्वर के विषय में बताने वाले ग्रंथ तो एकमात्र वेद ही हैं। इसलिये जिज्ञासु भी *नित्य युक्त* नहीं है। परमात्मा की तरफ जाने में रुकावटों में शास्त्र-वासना को भी गिना है। इसको भी जान लें, उसको भी जान लेंऐसी उत्कण्ठा ब्रह्मस्थिति नहीं होने देती। कई लोग कहते हैं कि सबकी बात सुनने में क्या हर्जा है? हर्जा यह है कि अन्यों की बातों को सुनते समय हम परमात्मा की जिज्ञासा नहीं करते हैं। पहले ही अनादिकाल के परमात्मा-विरोधी संस्कारों का प्रवाह है, उस पर नये संस्कार और अर्जित कर रहे हो, यह प्रबल नुकसान है। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी नित्ययुक्त नहीं है। आर्त दुःखनिवृत्ति चाहता ही है। अर्थार्थी जिस चीज़ को सुख का साधन समझता है उसको चाहता है। अभी उसको पता नहीं है कि सुख का साधन तो एकमात्र सच्चिदानंद परमात्मा है। इसलिये जब सुख के साधन को चाहता है उस समय परमात्मा को नहीं चाहता है। अतः भगवान् ने कहा 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः' वही इस बात को समझता है कि संसार के यावत् पदार्थ दुःख देने वाले हैं इसलिये किसी अर्थ का अर्थी नहीं रह जाता है। इसी प्रकार से जानता है कि 'दुःख प्रारब्ध का फल है, अपने ही किये हुए कर्मों से प्राप्त हुआ है और भोग समाप्त होने पर अपने आप चला जायेगा। सारे कर्म

शरीर व मन के द्वारा हुए हैं इसलिये दुःख भी शरीर और मन को हो रहा है, मेरा इससे क्या लेना देना!' अतः वह नित्ययुक्त रहता है।

'एकभक्तिः' ज्ञानी एकमात्र सगुण परमेश्वर की भक्ति करता है। सारे देवतादियों को माध्यम न बना कर सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा की ही, सगुण निराकार की ही भक्ति करता है। इसलिये 'विशिष्यते' अन्यों से खास है। वह जानता है कि सिवाय सगुण परमेश्वर के कोई दूसरा भजनीय है ही नहीं और सिवाय निंगुण निराकार परमेश्वर के न कोई जानने के योग्य है। प्राप्तव्य भी वही है और जिससे प्राप्ति होगी वह भी वही है। जिससे प्राप्ति होगी वह हो गया उसका सगुण रूप, और जिसकी प्राप्ति होगी वह है उसका निर्गुण स्वरूप। क्योंकि जानता है कि उस परमेश्वर से अतिरिक्त और कोई भजनीय है ही नहीं इसलिये 'विशिष्यते', अर्थात् सब भक्तों से उच्च कोटि का हो जाता है, पूर्वोक्त तीनों तरह के भक्तों से ऊपर हो जाता है।

क्यों उसको विशेष कहते हैं? 'प्रियो हि ज्ञानिनाः अत्यर्थम् अहम्'। मैं आत्मस्वरूप हूँ। वह चूंकि मुझे आत्मस्वरूप जानता है इसलिये उस का मुझे से जो प्रेम है वह बिना किसी कारण के है। तुमको रसगुल्ला क्यों अच्छा लगता है? जीभ पर उसका स्वाद अच्छा लगता है इसलिये। रसगुल्ला प्रिय है अच्छे स्वाद के लिये। स्वाद क्यों प्रिय है? मन को मज़ा आता है इसलिये। मन के मज़े के लिये स्वाद प्रिय है। मन बिगड़ जाये तो बढ़िया चीज़ खाना भी अच्छा नहीं लगता, बल्कि बुरा लगता है। यदि मन के लिये प्रिय नहीं है तो वह स्वाद भी प्रिय नहीं लग सकता। आगे प्रश्न होता है कि मन को अच्छा लगने वाले को *तुम* क्यों चाहते हो? क्या जवाब दोगे? यही कि, 'मैं अपने को मन मानता हूँ इसलिये मन के प्रिय लगने को ही मैं अपना प्रिय समझता हूँ।' अतः जिस चीज़ को मैं अपना स्वरूप समझता हूँ उसको प्रिय लगने पर ही मुझे चीज़ प्रिय होती है। जब मैं अपने सच्चिदानन्द रूप को प्रिय समझता हूँ तब उसके लिये ही मुझे सब चीजें, प्रिय होती हैं। सबसे ज़्यादा प्रेम अंततोगत्वा आत्मा से ही होता है, अपने आप से ही होता है। इसलिये अतिधन्य वेद कहता है 'यो न्याम् देवताम् उपास्ते' जो अपने से भिन्न मान कर देवता की उपासना करता है वह परम फल को नहीं प्राप्त कर पाता; तुच्छ फल तो मिल जायेंगे। बाकी सब चीज़ें आत्मा के लिये प्रिय होती हैं अर्थात अपने लिये प्रिय होती हैं पर अपना आपा हमें क्यों प्रिय है, हम क्यों सुखी होना चाहते हैं? इसका क्या जवाब दोगे! इसलिये सबसे ज़्यादा प्रिय कौन होता है? जो आत्मा हो। ज्ञानी सच्चिदानन्द परमात्मा को ही अपना आत्मा समझता है इसलिये ज्ञानी के लिये मैं अत्यधिक प्रिय हूँ अर्थात् सर्वाधिक प्रिय हूँ, अत्यर्थ प्रिय हूँ। और मुझे भी वह अत्यर्थ ही, अत्यन्त ही, बिना कारण ही प्रिय है क्योंकि, अगले ही श्लोक में कहेंगे कि, ज्ञानी मेरा आत्मा ही है। मैं उसका आत्मा हूँ अतः उसे मैं अत्यधिक प्रिय हुआ तथा वह मेरा आत्मा है अतः वह मेरा अत्यधिक प्रिय हुआ। इस प्रकार चार तरह के भक्तों में ज्ञानी

भक्त की विशेषता स्पष्ट की।।१७।।

'ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है' सुनने से तुरंत उपस्थित हो जाता है कि बाकी तीन आपको प्रिय नहीं होंगे! यद्यपि भगवान् ने 'अत्यर्थम्' अत्यधिक कहा, इसका मतलब हो गया कि प्रिय तो दूसरे भी हैं तथापि इसे नज़रन्दाज़ करने से यह शंका उठ जाती है। जिस तरह से, वेद कहता है कि जो श्रद्धा और उपनिषद् अर्थात् उपासना-सहित कर्म किया जाता वह 'वीर्यवत्तरं भवति' अधिक बल वाला होता है। भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि तरप्-प्रत्यय का प्रयोग किया है, इससे पता लग जाता है कि बिना श्रद्धा व उपनिषद् के भी जो किया जाता है वह फल तो देता ही है। श्रद्धा व उपनिषद् के साथ करो तब अधिक फल मिलता है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् ने 'अत्यर्थम्' कह कर बतला दिया कि दूसरे भी प्रिय हैं। 'अत्यर्थं' की तरफ ध्यान नहीं जाये तो प्राप्ति हो जाती है कि अन्य प्रिय नहीं होंगे। और यह प्राप्ति केवल काल्पनिक नहीं समझना। वर्तमान में अनेक लोग आर्त, और अर्थार्थी को भगवान् का प्रिय मानते ही नहीं! कहते हैं कि आर्तिनिवृत्ति के लिये या अर्थ प्राप्ति के लिये भक्ति करने की अपेक्षा तो भक्ति नहीं करना अच्छा है! निष्काम भक्ति ही करनी चाहिये, सकाम करनी ही नहीं चाहिये ऐसा बहुत-से लोग कहते हैं। यह शंका न होवे, इसलिये भगवान् स्वयं ही इसका जवाब दे देते हैं

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

ये सभी भक्त उत्कृष्ट हैं (मुझे प्रिय ही हैं) किन्तु मेरा मानना है कि ज्ञानी मेरा आत्मा ही है क्योंकि समाहित चित्त हुआ वह सर्वोत्तम गन्तव्यरूप मुझे ही पाने को प्रवृत्त है।

भगवान् कह रहे हैं कि जो चार भक्त बतलाये वे सभी उत्कृष्ट हैं, श्रेष्ठ हैं। क्यों श्रेष्ठ हैं? आगे बतलायेंगे कि जो केवल कामनाओं के द्वारा प्रवृत्त होते हैं वे विभिन्न देवताओं की तरफ जाते हैं, मुझ परमात्मा की तरफ नहीं आते। ये लोग यद्यपि अब तक अपनी कामनाचाहे दुःखनिवृत्ति की हो, चाहे अर्थप्राप्ति की होको नहीं छोड़ पा रहे हैं, तथापि कम-से-कम, इतना तो समझते हैं कि हृदय में परमेश्वर स्थित है, परमात्मा को अपना आत्मा तो मान ही रहे हैं। ईश्वर के विषय में उनका निश्चय ठीक है ही। वेद ने भी कहा है कि ब्रह्म हैइतना भी जिसने जान लिया, वह सत्पुरुष हो गया। जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण केवल परमेश्वर है, और वही हमारे हृदय के अंदर स्थित हैयह जिसने समझा, परमात्मा चेतन है और मेरे अंदर जो चेतन रूप है वह परमात्मा ही हैइस बात को जिसने समझा है, वह उदार तो है ही, भले ही अपनी कामनाओं को नहीं छोड़ पाया हो। इस आत्मरूप परमेश्वर का भक्त उस परमेश्वर को

कभी भी अप्रिय नहीं हो सकता।

'तु' अर्थात् उक्त चारों में से पृथक् किया जो ज्ञानी है वह मेरा स्वरूप ही है। मेरा आत्मा ही है अर्थात् मुझसे सर्वथा अभिन्न है, ज्ञानी में और मुझमें कोई फ़र्क नहीं है। श्रुति कहती है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। इसी बात को भगवान् कह रहे हैं 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' जिसने अपने आत्मरूप को ब्रह्मरूप समझ लिया वह मेरा स्वरूप ही है, मैं ही हूँ। श्रुति ने तो कहा ही है, भगवान् अपनी बात भी कह देते हैं, 'मे मतम्', यह बात मैं भी निश्चय रूप से स्वीकार करता हूँ। 'मे मतम्' कहना इसलिये ज़रूरी लगा ताकि इस वाक्य का कोई अन्य अर्थ न लगा दिया जाये। ज्ञानी आत्मा क्यों है? 'स हि' वह ज्ञानी 'आस्थितः', परोक्षबुद्धि द्वारा इस सत्य के अंदर भली प्रकार से स्थित है और मुझ वासुदेव-स्वरूप के अंदर पूर्णतः आरूढ होने के लिये दृढसाक्षात्कारार्थ प्रवृत्त है। चाहे परोक्ष कहो, चाहे अदृढ अपरोक्ष कहो, उससे जिसने अद्वैत को पूरी तरह से समझ लिया है, निश्चय भी है उसको कि ऐसा ही है, परंतु सब समय उसमें स्थित नहीं रह पाता इसलिये बार-बार बाध प्रक्रिया के द्वारा परमेश्वर का भजन करता है, वह यहाँ ज्ञानी कहा गया। रागादि प्रवृत्तियों को बाधित करके वह मुझमें ही स्थित होने के लिये प्रयत्नशील है। यही सबसे बड़ा भजन है। विषयों का बाध करके बार-बार अधिष्ठान कारण का निश्चय करना यही सर्वोत्तम भजन है। 'आस्थितः' अर्थात् मुझ वासुदेव भाव में आरूढ होने के लिये प्रवृत्त है। मैं वासुदेव उससे भिन्न नहीं हूँयह तो उसने समझ ही लिया है, उसमें आरूढ होने में प्रवृत्त है। इसके लिये वह युक्तात्मा बार-बार चित्त को समाहित करके अधिष्ठान-ज्ञान के लिये ही प्रवृत्ति कर रहा है।

मैं क्या हूँ? 'अनुत्तमां गतिम्' परमेश्वर से उत्तम कोई दूसरा नहीं है, वही सर्वश्रेष्ठ प्राप्तव्य है, गन्तव्य है। परमब्रह्म ही ज्ञानी का गंतव्य है, उसे ही पाने में वह प्रवृत्त है। इस उत्तम गति के अलावा और कोई उसका अभीष्ट नहीं है। इस उत्तम गति को ही प्राप्त करना चाहता है, इससे अतिरिक्त कुछ सामने आने पर भी उसकी प्रवृत्ति का हेतु नहीं बनता। संस्कारों का क्षय न होने से, अन्यान्य विषय सामने आते हैं, परंतु वह उनका बाध करके ब्रह्मरूपता का ही निश्चय करता है। मुझ वासुदेव में स्थित होने के अलावा और कुछ नहीं चाहता, इसलिये कहा 'माम् एव अनुत्तमां गतिम्'।।१८।।

कोई पूछ सकता है कि फिर सब लोग इसी भजन को क्यों नहीं करते? इसके जवाब में भगवान् कहते हैं

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१६।।

जिनमें ज्ञानार्थ संस्कार बटोरे जाते हैं ऐसे बहुत जन्मों की समाप्ति पर परिपक्व

ज्ञान वाला हुआ जो मेरा यों भजन करता है कि 'वासुदेव ही सब कुछ हैं', वह दुर्लभ महात्मा है।

बहुत-से जन्म अर्थात् ज्ञान के लिये अपेक्षित जो अंतःकरण की शुद्धि, श्रवण मनन के संस्कार, इन्हें जिन जन्मों में अर्जित किया गया, ऐसे बहुत-से जन्म। अन्यथा, बहुत से जन्म तो सभी के हुए ही हैं! जिन जन्मों में परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये अन्तःकरण-शुद्धि आदि साधनों का अनुष्ठान किया गया है, साधनों को साधा गया है, ऐसे बहुतेरे जन्म हो चुकने पर जब वह अंतःकरण शुद्ध अवस्था में होकर वैदिक संस्कारों से युक्त हो गया है, तब जन्म-परम्परा का अंत आने का समय हो जाता है। ऐसे जन्मों के प्रवाह में जब अंतिम जन्म आता है तब साधक ज्ञानवान् हो जाता है अर्थात् उसे भली प्रकार परमात्मस्वरूप का निश्चय हो जाता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता के स्वरूप का वह निश्चय कर पाता है। इसीलिये 'मां प्रपद्यते', मैंजो उसके प्रत्यगात्मा स्वरूप से उसके हृदय में बैठा हुआ हूँ, उसी के प्रपन्न होता है, अन्य सब शरणों को छोड़कर एकमात्र इसी शरण को लेता है। प्रपत्ति का स्वरूप क्या है? वासुदेवः सर्वम् इति' संसार में कण-कण और क्षण-क्षण जिसका भी अनुभव होता है वह सब एकमात्र वासुदेव ही है। 'वासुदेवः सर्वमिति' कहते हैं तो तुरंत विरोध आता है कि चोर, डाकू, कोढ़ी आदि वासुदेव कैसे? ग़लती यह है कि ये सारे रूप शरीरों और मनों को लेकर आत्मा के माने जा रहे हैं। शरीर कोढ़ी है इसलिये हम आत्मा को कोढ़ी समझ लेते हैं, मन कामी, तो हम आत्मा को कामी समझ लेते हैं। किंतु ये उपाधियाँ, उस परमात्मा तत्त्व में कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं।

ऐसे समझ लोः मैं कहता हूँ 'मैं देखने वाला।' मेरी आँखों में कोई ख़राबी आ गई, अन्धा हो गया तो मैं कहता हूँ 'मैं अन्धा।' तो प्रश्न होता है कि दस साल पहले तुम कह रहे थे, 'मैं देखने वाला, मैं आँखों वाला', अब कह रहे हो 'मैं अन्धा', तो ऐसे विरुद्ध धर्म तुम्हारे अंदर कैसे रह सकते हैं? यही कहोगे कि जब तक आँखें थीं तब तक देखने वाला था, जब आँखें नहीं रहीं तब देखने वाला नहीं, अन्धा हूँ। इसका मतलब हुआ कि आँखें हों तो तुम देखते हो और आँखें नहीं हों तो तुम नहीं देखते। तब देखना तुम्हारा स्वरूप तो हुआ नहीं। इसी तरह कान हैं तो सुनने वाले, और कान नहीं तो बहरे हो जाते हो। इसका मतलब हुआ कि सुनना तुम्हारा स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार से देहादि जब होते हैं तब आत्मा सब व्यवहार करता है, और जब देहादि नहीं होते तब कुछ नहीं करता। भगवान् ने कृपा करके हमें यह समझाने के लिये सुषुप्ति, गहरी नींद दे दी जहाँ हमें साफ अनुभव होता है कि मैं न देख सकता हूँ, न सुन सकता हूँ, न जान सकता हूँ कि कौन आया कौन गया। न चल ही सकता हूँ। सुषुप्ति में क्योंकि हमारे पास आँख-कान नहीं हैं इसलिये हम कुछ नहीं जान या कर सकते। इस बात को ठीक से समझ लेने पर पता लगता है कि आत्मा अपने आप में कर्ता भी नहीं

और भोक्ता भी नहीं। आत्मा की एकता में जितने दोष दिखलाये जाते हैं वे सब औजारों को लेकर हैं, आत्मा में नहीं। देखने वाला, न देखने वाला, चोर, सज्जन आदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। परंतु इन सब स्वरूपों में आत्मा तो वही है। आँखें थीं तब तुम जो थे, वे चली गईं तब भी तुम वही रहे। जब तुम्हारा मन ठीक था, बुद्धि ठीक थी, तब तुम जो थे, मन और बुद्धि खराब होने पर भी तुम वही रहते हो। जब अपने शरीर में समझ लेते हो कि औजारों के भेद से तुम में भेद नहीं आता तब सर्वत्र एक आत्मा समझना संभव हो जाता है। चेतन शरीर में है, तब सब व्यवहार हो रहा है, अगर चेतनरूप आत्मा शरीर में न होवे तो न आँखें देख सकती हैं, न कान सुन सकते हैं। इसलिये आँखें देखने वाली होंयह भी बात नहीं है। चेतन होगा तब आँखें देखेंगी, कान सुनेंगे, मन सोचेगा, सब व्यवहार होगा। इन सब औजारों के बदल जाने पर भी चेतन बिना बदले हुए रहता है। जैसे एक शरीर में, ऐसे सब में एक चेतन रहता है। कोढ़ी शरीर या स्वस्थ शरीर, दोनों में चेतन एक ही है। रागी मन है या विरागी मन, चेतन एक ही है। एक ही चेतन में उपाधियों के कारण सब प्रतीतियाँ हो रही हैं। जब कहते हैं, 'वासुदेवः सर्वमिति' तब यह नहीं कह रहे कि कोढ़ी और रागी, स्वस्थ और विरागी एक हैं, वरन् यह कह रहे हैं कि इन उपाधियों के बिना, वासुदेव एक ही है।

'वासुदेवः सर्वमिति', या वेदों में आता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म;' इसे यदि समझा न जाये तो सारा व्यवहार गड़बड़ हो जायेगा। चोर आवे तो उसके साथ जो *व्यवहार* करो, भला आदमी आवे तो उसके साथ भी वही *व्यवहार* करोयह अर्थ नहीं है। व्यवहार तुम कर रहे हो शरीर-मन के साथ, जो भेद से कल्पित हैं और जिस चेतनता को अद्वितीय कहा जा रहा है वह इन उपाधियों से रहित तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। इसलिये कोढ़ी का आत्मा और स्वस्थ का आत्मा अलग नहीं है, शरीर-मन अलग हैं। जो इस निश्चय को प्राप्त कर गया है कि वासुदेव सर्वात्मा है, उसकी यही शरणागति है। अर्थात् अद्वैत- निश्चय का विचारपूर्वक पुनरावर्तन, उस निश्चय पर कायम रहने का प्रयास उसकी शरणागति है, प्रपत्ति है।

उपाधियों के बारे में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। 'स महात्मा', उसी को महात्मा कहते हैं, उसके जैसा भी कोई नहीं तो उससे बढ़ कर कौन हो सकता है! 'सुदुर्लभः' वह अत्यन्त दुर्लभ है। तीसरे श्लोक में कहा था कि वह अतिविरला ही होता है जो भगवान् को तत्त्वतः जानता है, उसी 'तत्त्व' को यहाँ भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि 'वासुदेवः सर्वम्' यही तत्त्व है।।१८।।

प्रश्न उठता है कि ऐसा महात्मा सुदुर्लभ क्यों है? क्यों यह ज्ञान इतना कठिन है? वही सर्वरूप है तो सरलता से उसे सर्वात्मा क्यों नहीं जान पाते? इसका उत्तर भगवान् देते हैं

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

विभिन्न काम्य विषयों द्वारा जिनका विवेक चुरा लिया गया है वे अपने स्वभाव के वशीभूत हुए विभिन्न नियमों का सहारा लेकर ईश्वरभिन्न देवताओं की शरण लेते हैं।

जीव इसलिये परमेश्वर को नहीं जान पाते कि उनके अंदर जो विषयों की कामना है वह उनके विवेक को चुरा लेती है, ढांक लेती है, कार्य नहीं करने देती। काम तो एक ही है, पर विषय-भेद से उसको अनेक कह देते हैं। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान कामनाओं द्वारा अपहृत कर लिया जाता है। विभिन्न शास्त्रीय व अशास्त्रीय विषयों के शास्त्रीय व लौकिक कारण प्रसिद्ध हैं। जो विषयों की कामना से ग्रस्त हैं वे उन साधनों को ही अपनाने से पुरुषार्थ-सिद्धि समझते हैं। उन्हें लगता है कि अगर शास्त्रीय फल चाहिये तो कर्म और उपासना से मिलेगा, भगवान् से क्या! और अगर लौकिक फल चाहिये तो नेताओं के, अफसरों के परिचय आदि से या रुपयों से मिलेगा, भगवान् से क्या लाभ! यों कामनाओं द्वारा विवेक लुट जाने से यह निश्चय नहीं हो पाता कि सारे संसार के सृष्टि-स्थिति-लय का एकमात्र कारण परमात्मा है। सब चीज़ों को करने वाला एकमात्र परमात्मा हैइस बात को न समझने के कारण लौकिक-अलौकिक विभिन्न कारणों को मानकर उनकी शरण लेते हैं। परमात्मा की एकता समझने के लिये पहले अपने में घटा कर देख लो : मैं आँख से देखता हूँ, आँख के बिना नहीं देख सकता, लेकिन देखता मैं हूँ। सुनने वाला मैं ही हूँ। सोचने वाला मैं ही हूँ, निश्चय करने वाला मैं ही हूँ। मन के बिना नहीं सोचता, लेकिन मन के द्वारा सोचने वाला कौन है? मैं हूँ। मेरे बिना मन नहीं सोच सकता। निश्चय तो बुद्धि से करेंगे, लेकिन निश्चय करने वाला कौन हैं? मैं हूँ। इसी प्रकार से इन्द्र, प्रजापति, लक्ष्मी, सरस्वतीये सब फल देंगे, लेकिन उनके द्वारा फल देने वाला कौन है? एकमात्र परमेश्वर है। क्योंकि ऐसा निश्चय नहीं कर पाते इसलिये 'अन्य देवताः प्रपद्यन्ते।' अविवेकी इस बात को समझ नहीं पाते कि देवताओं के द्वारा देने वाला तो परमेश्वर है, उसने जो नियम बनाये हैं उन्हीं के अनुसार वे चलेंगे। नियमों के अनुसार नहीं चलेंगे तो डंडा खायेंगे।

मार्कण्डेय के बारे में कह दिया था ज्योतिषी ने कि आठ साल की अवस्था में मर जायेगा। छोटी उम्र थी, इधर-उधर की ज़्यादा कामनायें आई नहीं थीं; तीन साल की उम्र से ही उसे भगवान् शंकर की सेवा में पिता ने लगा दिया था। मरने का दिन आया तो उससे कहा 'तुम बिल्कुल चित्त को एकाग्र करके शिव-सन्निधि में बैठो।' वह बैठा रहा। समय आया तो यमराज खुद पहुँचे क्योंकि उनके दूतों को तो उसका पता ही नहीं लग रहा था! वे बलपूर्वक परमेश्वर से मार्कंडेय के मन को हटाने लगे। तुरंत भगवान् शंकर ने प्रकट होकर यमराज को बड़े ज़ोर से लात मारी! जो परमेश्वर में स्थित हो रहा

है, उसके ऊपर यमराज का अधिकार कहाँ से आ गया! अधिकार का उल्लंघन करने पर यमराज को भी लात खानी पड़ती है। इसी प्रकार से इंद्र का हाल हुआ; उसने इतनी वृष्टि की, सोचा वृज को डुबा देगा। कहाँ डुबा पाया! उसका सारा गर्व खत्म हो गया।

जो इस बात को समझते हैं वे जानते हैं कि एकमात्र परमेश्वर कुछ भी कर सकता है। उसके सिवाय और कोई कुछ नहीं कर सकता। परंतु कामनाओं से जिसका ज्ञान अपहृत होता है वह इस बात को नहीं समझ पाता, बल्कि समझता है कि 'ये काम तो कलक्टर साहब ही करेंगे'! इसलिये लोग अन्य देवताओं की प्रपत्ति करते हैं। 'अन्य देवता' को ठीक से समझना : अन्य भाव से जिस देवता को समझते हो वही अन्य देवता हो जाता है। अर्थात् आत्मा से अन्य ये देवता हैंऐसा मानकर जब उनकी उपासना करते हो तब वे अन्यदेवता हैं; जबकि आत्मा ही उस देवता के रूप में हैइस बात को समझते हो, तब तुम आत्मा की ही शरण ले रहे हो। अन्य रूप से जिसको समझा जाता है वह अन्य देवता। इसलिये कोई एक रूप परमेश्वर का हो, ऐसा नहीं। सारे ही रूप परमात्मा के हैं। किसी एक रूप को लेकर सोचो कि उस रूप से पृथक् हैं अतः ये दूसरे देवता हैं, तो ग़लत समझ होगी क्योंकि रूप जितने हैं वे सब परमेश्वर के ही हैं। सनातन धर्म में इसकी शिक्षा के लिये हर चीज़ की परमेश्वररूप में पूजा की जाती है। यज्ञ के औजार, मकान बनाने के औजार, जड़ी-बूटी, पुरोहित-मिस्त्री आदि सभी का पूजन उन्हें परमेश्वर से अभिन्न मानकर करते हैं। पूजा वहाँ करनी की नहीं है, ईंट की नहीं है, पूजा तो उनमें स्थित परमेश्वर की है। 'अन्य देवता' का अर्थ किसी एक विग्रह से भिन्न सारे अन्य देवता हो गयेऐसा नहीं है। जब उनको परमेश्वर से अन्य समझते हैं तब वे अन्य देवता कहे जा रहे हैं।

'तं तं नियममास्थाय'। ऐसे लोग जिस देवता का आराधन करने के लिये जो नियम है, उस नियम का ही आश्रयण करते हैं, वही आस्था रखते हैं। पूर्व श्लोक में ज्ञानी को आस्थित कहा था कि वह मुझ वासुदेव में आस्थित है, और यहाँ बता रहे हैं कि कामी लोग नियमों में आस्थित हैं इसलिये उस-उस नियम का पालन करते हैं। कोई सात्त्विक पूजा करने वाला है, कोई राजस करने वाला है, कोई तामस करने वाला है। तामस वाले को तामस करने वाला नियम ही ठीक लगता है। वह कहता है 'मुझे मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण करना है, इसके लिये इस-इस प्रकार से बलि आदि दूँगा तभी काम होगा।' राजस को राजस नियम ही अच्छे लगते हैं। सात्त्विक को सात्त्विक नियम अच्छे लगते हैं। नियमों के अंदर ये भेद क्यों हैं? भगवान् कहते हैं 'स्वया प्रकृत्या नियताः'। प्रकृति मायने स्वभाव। स्वभाव किस से होता है? जन्मान्तर में अर्जित जो संस्कार हैं वे लोगों के अलग-अलग हैं। पूर्व जन्मों में जो तामस रहा उसके तामस संस्कार हैं, पूर्व जन्मों में जो राजस रहा उसके राजस संस्कार हैं, पूर्व जन्मों में जो सात्त्विक रहा उसके

सात्त्विक संस्कार हैं। प्रायः लोगों के मिश्र संस्कार होते हैं। किसी पूजा के लिये सात्त्विक साधन कर लेते हैं और कभी उनको मारण-मोहन-उच्चाटन करना हुआ तो तामस उपाय भी कर लेते हैं। दोनों के संस्कार हैं इसीलिये दोनों जँच जाते हैं। अन्यत्र (३.३३) भी भगवान् ने कहा है कि प्रकृति के अनुसार ही हर एक आचरण करता है, उसका निरोध कैसे किया जाये! धीरे-धीरे अपने संस्कार बदल कर ही प्रकृति को बदला जा सकता है। किसी दबाव से थोड़े समय के लिये तुम उसके ऊपर नियंत्रण रख भी लो, लेकिन जैसे ही दबाव थोड़ा कम होगा, फिर वही प्रकृति प्रकट हो जायेगी। आवासीय विद्यालयों में सवेरे पाँच बजे बच्चों को जगा देते हैं, सब जगते ही हैं। जब गर्मी की छुट्टियों में घर आते हैं तब जिस दिन आते हैं उसी दिन नौ बजे उठने लग जाते हैं! प्रकृति उनकी नौ बजे उठने की है। धीरे-धीरे तुम्हारे संस्कारों को परिवर्तित करना पड़ेगा, तभी तुम दूसरी प्रकृति के, दूसरे स्वभाव वाले कार्यों को स्वाभाविक ढंग से करोगे।

भगवान् ने एक पद कह दिया 'स्वया'; प्रकृति तुम हो नहीं, उसके अंदर तुमने आत्मीय दृष्टि कर ली है कि 'ये मन शरीर आदि मैं हूँ। मुझसे संबंधित हैं, मैं ही हूँ।' अगर यह समझ लेते हो कि कोई भी प्रकृति सचमुच में *मेरी* नहीं है, मुझ से संबंध वाली भी नहीं है, सारे संबंध तो अस्थिर हैं, तो उन-उन नियमों को छोड़ दोगे, केवल परमेश्वर की ही प्रपत्ति रह जायेगी। परंतु जब तक उस प्रकृति को, अर्थात् उस शरीर-मन को अपना समझते हो, तब तक उनकी प्रकृति के वश में ही रहोगे। इसलिये 'प्रकृत्या' के साथ भगवान् ने 'स्वया' लगा दिया। अर्थात् वह वास्तविक 'स्व' नहीं है, केवल अविद्या द्वारा अध्यास से उसको अपना मान लिया है। वस्तुतः मैं चेतन हूँ तो सारा ब्रह्माण्ड ही मेरा शरीर है, सारे अंतःकरण मेरे अंतःकरण हैं, तो मेरी कोई एक प्रकृति रही नहीं। इसलिये सात्त्विकादि कोई प्रकृति मेरी वास्तविक नहीं है, जिसमें अध्यास हो गया बस उसे अपना समझ लिया गया। वर्तमान से पहले वाला जो शरीर था, उसमें रह कर भी तुम खूब ज़ोर-शोर से कहते थे कि 'इस परिवार का जिम्मा भगवान् ने हमें दिया है इसलिये हमें निर्वाह करना है।' किंतु यहाँ आकर उस परिवार की क्या कोई चिंता रहती है? पिता जी मर गये, दादाजी मर गये, माँ मर गई, नानी मर गई; किसी ने एक पाँच पैसे का पोस्ट कार्ड भी तुमको डाला? उनको कोई चिंता है तुम्हारी? कुछ नहीं! यदि वास्तविक संबंध होता तो हमेशा बना रहता। जैसे शरीर के साथ तुम्हारा अध्यास जन्म के साथ होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में जब परमात्मा तुम्हारा अंतःकरण बनाता है, तुम्हारा अहम् बनाता है, तब उसके साथ तुम्हारा संबंध उसी समय से हो जाता है। यदि सूक्ष्म विचार करके देखो तो गहरी नींद में तुम चले जाते हो तो तुम्हारा अहम् भी नहीं रह जाता। तुम्हारा एक 'अहम्' इस अहंकार से अलग है, उसको प्रत्यगात्मा कहते हैं। दो 'मैं' का अनुभव सुषुप्ति में स्पष्ट हो जाता

है : उठकर यही कहते हो कि 'मैंने कुछ नहीं जाना।' अर्थात् तब एक मैं था जिसने कुछ नहीं जाना। किंतु क्या तुम उस समय जान रहे थे कि मैंने कुछ नहीं जाना? क्या ऐसा अनुभव कर रहे थे? जैसे अकस्मात् बिजली चली जाये तो तुम्हें कुछ नहीं दीखता, तुम जानते हो कि मुझे कुछ नहीं दीख रहा। ऐसे क्या सुषुप्ति के समय तुम जानते रहते हो कि 'मैं कुछ नहीं जान रहा?' कहोगे कि 'ऐसा नहीं है, मैं तो सो रहा था।' अतः एक मैं वह जिसने जाना कि 'मैंने कुछ नहीं जाना', और दूसरा वह मैं जो 'कुछ नहीं जान रहा हूँ'ऐसा भी नहीं जान रहा था। इन्हीं को शुद्ध आत्मा और जीवात्मा कह देते हैं। जीवात्मा तभी बनता है जब इस सोने वाले अहंकार के साथ संबंधित होता है जो उठकर कह रहा है 'मैंने कुछ नहीं 'जाना'। यह संबंध अनादि अविद्या से है, इसलिये लगता है कि हमारा संबंध हमेशा का है। परंतु वह भी आध्यासिक संबंध से ही है। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर में साथ रहने वाला अहंकार भी वास्तव में मैं नहीं हूँ यह शास्त्रानुसार सुषुप्ति के विचार से स्पष्ट होता है। शरीर के साथ अपना संबंध सर्वथा अनित्य है, यह तो सामान्य विचार से भी पता चल ही जाता है। अतः जन्म को, शरीर को निमित्तकर जो प्रकृति प्रकट हुई है, वह वास्तव में मेरा स्वभाव नहीं, भ्रमवश उसे अपना स्वरूप समझकर उसके वशीभूत हो रहा हूँयह बोध कराने के लिये 'स्वया' कहा। जब हमने प्रकृति को अपना स्वरूप मान लिया तब उसके द्वारा नियत हो गये। वह सात्त्विक है तो हम सात्त्विक प्रवृत्ति करने लगे, राजस हैं तो राजस प्रवृत्ति करने लग गये। इस प्रकार प्रकृति के बारे में भ्रम के कारण ही उसके परवश हो हम विभिन्न देवताओं की शरण लेते हैं।

किं च, यह भी भ्रम रहता है कि देवता हमारी कामनापूर्ति करेंगे, भले ही वह कामना ग़लत हो। परमेश्वर की शरण लेने के लिये तो परमेश्वर के नियमों का पालन आवश्यक है, सदाचार आवश्यक है। जीव कामनापूर्ति तो चाहता है पर परमेश्वर के नियम नहीं मानना चाहता, इसलिये तत्तद् देवताओं की तरफ चला जाता है, उनकी आराधना के नियम उतनी देर पालकर कामनापूर्ति चाहता है। इसमें कारण है शरीर-मन को अपना मान लेने से उनके द्वारा नियंत्रित होना। अतः अपने आत्मस्वरूप से नियमित नहीं हो पाता अर्थात् शरीर-मन के सुख पर ही दृष्टि रखता है, आत्मतत्त्व के सुख की तरफ ध्यान ही नहीं ले जाता। इसमें भी हेतु है कि कुछ लोग तो परमात्मस्वरूप को मानते ही नहीं इसलिये उधर ध्यान दें इसकी संभावना नहीं। कुछ अन्य लोग मान कर भी सोचते हैं कि आज की आवश्यकता पूरी हो जाये, कल से हम भगवान् की तरफ लगेंगे! जो थोड़ा भी आस्तिक है वह जानता है कि परमेश्वर के नियमों का पालन ज़रूरी है। परंतु शरीर-मन की आवश्यकता चूंकि उपस्थित है इसलिये सोचता है कि इसको जैसे-तैसे पूरी कर लूँगा, फिर परमेश्वर की तरफ लगूँगा। जब तक मृत्यु न आ जाये तब तक ये आवश्यकताएँ बनी ही रहती हैं इसलिये परमेश्वर हमेशा कल के

लिये टल जाता है।।२०।।

शंका हो सकती है कि विभिन्न देवताओं की आराधना से भी क्या कभी परमेश्वर की तरफ प्रवृत्ति हो जायेगी? कई बार लोग कहते हैं कि कामना से प्रवृत्त होंगे, और कामना पूरी हो गयी तो फिर उधर ही आगे बढ़ जायेंगे। किंतु भगवान् कहते हैं कि ऐसा कभी होता नहीं! यह ज़रा कड़ी बात है पर भगवान् स्पष्ट बता रहे हैं

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

जो-जो कामी भक्त श्रद्धा से जिस-जिस देवतामूर्ति की अर्चना करना चाहता है उस-उस की उसी श्रद्धा को मैं स्थिर बन देता हूँ।

भगवान् कहते हैंमैं तो सब के लिये एक-जैसा हूँ। 'जो जो' अर्थात् कामी; कोई धन का कामी है तो लक्ष्मी की तरफ जाता है, ज्ञान का कामी है तो सरस्वती की तरफ जाता है। इस प्रकार से जिन-जिन कामनाओं की पूर्ति के लिये, जो-जो कामी है, कामना वाला है, वह 'यां यां तनुं' जिस-जिस देवता शरीर को भजता है, वही उसे फलप्रद प्रतीत होती है। भगवान् ने 'तनु'- शब्द इसलिये प्रयोग किया कि वस्तुतः चाहे आधिकारिक देवता भी होवें, आधारभूत रूप से हैं तो जीव ही, इसलिये जिस शरीर में हैं, उस शरीर को वे अपना ही शरीर मानते हैं। इतना समझ लेना कि देवताओं में भी कोईजैसे इन्द्र ने ब्रह्मा से ज्ञान प्राप्त करकेअपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं। परन्तु जैसे जिस प्रारब्ध से हमारा शरीर बना है उस प्रारब्ध के भोगने तक सब कुछ इस शरीर से ऐसा ही होता रहेगा, इसी प्रकार जिस प्रारब्ध से देवता का शरीर बना है उसके कारण उसका भी जीवन चलता रहेगा। हमारी अपेक्षा उनका बहुत लम्बा जीवन होगा, उनके अधिकार भी बहुत बड़े होंगे, परंतु ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध की समाप्ति तक उनका उस शरीर के साथ संबंध रहेगा। अध्यास तो हट जायेगा पर प्रतीति बनी रहेगी। 'तनु' का मूल अर्थ होता है छोटा। शरीर हमें छोटा बना देता है। हैं तो हम सारे ब्रह्मांड में व्याप्त परंतु शरीर के कारण हम सोचते हैं कि आबू के अंदर एक छोटा-सा शंकर मठ, उसके अंदर एक छोटा-सा कमरा, उसके अंदर भी एक छोटी-सी चार वर्ग फीट की जगह पर हम हैं। इस तरह शरीर हम को छोटा बना देता है। अज्ञानियों को अर्चनीय भी परिच्छिन्न ही लगता है यह बताने के लिये 'तनु' कह दिया। शरीर अर्थात् देवता में ही उन भक्तों को श्रद्धा होती है कि इन से ज़रूर हमारा काम सिद्ध हो जायेगा अतः उन्हीं की अर्चना करने की इच्छा करते हैं, पूजा करने की इच्छा करते हैं और उनकी अर्चनाओं के नियमों का पालन करते हैं।

'तस्य तस्य' उस-उस कामी की 'अचलां श्रद्धां' स्थिर श्रद्धा उसी आराध्य में हो जाती है। भगवान् उन देवता-शरीरों में भी है ही, इसलिये जिस देवता को वह अपना

पूज्य मान कर पूजा करता है, उस देवता-शरीर के द्वारा ही उसको फल मिलता है। फल मिल जाने से उसकी उसी देवता तनु में श्रद्धा हो जाती है। परमात्मा की तरफ वृत्ति जाने का प्रसंग ही नहीं आता। वह परमेश्वर को न समझ कर उस देवता को तनु अर्थात् शरीर में सीमित समझता है। 'तामेव अहम् विदधामि' भगवान् कहते हैं कि मैं ही उसकी श्रद्धा वहाँ दृढ करता हूँ। सचमुच में कर्मफल देने वाला तो मैं हूँ, परंतु उस शरीर में श्रद्धा से वह प्रवृत्त हुआ इसलिये उस शरीर में ही स्थिरभाव से श्रद्धा करा देता हूँ। पहले स्वभाव के कारण प्रवृत्त हुआ जिस श्रद्धा में, उसी में उसको और दृढता हो जाती है। इसलिये परमेश्वर की तरफ प्रवृत्ति होती नहीं।।२१।।

यद्यपि अन्य देवता के भक्त यह समझ नहीं पाते तथापि उन्हें फल भगवान् ही देते हैं यह वे स्वयं घोषित करते हैं

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।।२२।।

वह उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस देवता-शरीर की आराधना करता है और उससे उन्हीं अभीष्ट विषयों को पाता है जो (वस्तुगत्या) मेरे द्वारा ही निर्मित हैं।

'तया' अर्थात् पूर्व श्लोक में कहे अनुसार मैंने जो उसके अंदर श्रद्धा स्थिर की है उसी श्रद्धा से युक्त हुआ 'तस्याः' उस देवता-तनु की ही 'राधनमीहते', आराधना के लिये और चेष्टा करता रहता है, वही पूजा करता रहता है। 'ततः' उस आराधित देवता से ही, 'कामान् लभते', जो उसकी कामना के विषय हैं उन्हें प्राप्त करता है। उसे देवता शरीर से क्यों कामनाओं की पूर्ति होती है? 'हि' क्योंकि 'मयैव तान् विहितान्' वेदादि शास्त्रों में मैंने ही यह विधान किया है कि अमुक प्रकार की पूजा करने से अमुक शरीर से ये फल होंगे। ऐसा मेरा ही बनाया हुआ विधान है। होता मेरे विधान के अनुसार है, पर न समझ कर कामी तो यही समझता है कि इस देवता ने ही फल दिया है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो कर्म-फल-विभाग किया है उसी के अनुसार सबको प्राप्ति होती है। परंतु अल्पज्ञ होने के कारण जीव इस बात को समझ नहीं पाता।

श्लोक के अन्त में 'हि' 'तान्' दो पद हैं, पृथक् शब्द हैं, यह मानकर पूर्वोक्त व्याख्या है। 'हितान्' ऐसा एक शब्द भी माना जा सकता है। तब वाक्य बनेगा 'हितान् कामान् लभते' अर्थात् हितरूप कामों को, काम्यों को प्राप्त करता है। किन्तु कामना कभी हितकारी नहीं होती! आचार्य लिखते हैं 'न हि कामना हिता कस्यचित्' कामना किसी के लिये हितकारी नहीं है, कामना से हमेशा नुकसान ही होगा, कभी फायदा होगा नहीं। इसलिये यदि 'हितान्' पद मानें तो कामनाओं के अंदर हितता उपचरित है, ऐसा मानकर के भगवान् ने कह दिया। कामी कामना को अपने हित में समझते हैं, इसी का भगवान् ने अनुवाद कर दिया। अर्थात् भगवान् यह नहीं कह रहे कि कोई-कोई

कामना हितकारी भी होती है; चाहे स्व के लिये कामना हो चाहे पर के लिये हो, कामना अकल्याण की तरफ ही ले जाती है। अपने शरीर-मन के स्वार्थ को घटाने के लिये परार्थ कामना का प्रयोग भले ही उपयोगी है, पर वह भी कामना होने से है अहित ही, हेय ही। किसी भी परिस्थिति में कामना कभी हितकारी होती ही नहीं है। हित कहते हैं स्थायी लाभ को। विषयकामना से प्रेरित होकर अन्य देवताओं की आराधना करने वालों की आराधना भी सीमित, सान्त होती है और आराधना के साधन भी सीमित, सान्त होते हैं, इसलिये उन्हें मिलने वाला फल भी सीमित, अस्थायी ही हो सकता है जिससे निश्चय हो जाता है कि कामना हितकारी नहीं हो सकती।।२२।।

कामनाग्रस्त व्यक्ति नियमतः अविवेकी ही होता है और अविवेकी हित समझता ही नहीं कि उसके लिये सचेष्ट हो! अतः सारे प्रयास के बाद भी वे सीमित फल ही पा सकते हैं यह बताते हैं

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

उन अल्प प्रज्ञा वालों को तो विनाशी फल मिलता है। अन्य देवताओं के पूजक देवताओं को प्राप्त करते हैं, मेरे भक्त (यदि आर्तादि त्रिविध हैं तो अपनी अभीष्ट सिद्धि के साथ) मुझे भी प्राप्त होते हैं।

जो अंत वाले साधन-व्यापार से सिद्ध होगा वह भी अंत वाला ही होगा। अतः जिसको कामियों ने हितकारी समझा, उसका अंत होते ही फिर दुःखी ही होना पड़ेगा। हमारे पास दस लाख रुपया नहीं था, हम दुःखी थे। हमने श्रीसूक्त का अनुष्ठान किया। हमको दस लाख ही नहीं, बीस लाख रुपये मिल गये। हमको बड़ा हितकारी लगा। फिर एक दिन डाकू आये, दस लाख रुपये भी ले गये और सिर के ऊपर डंडा मारकर उसको भी फोड़ गये! फिर दस लाख न होने का दुःख शुरू हो गया, डंडे की मार का दुःख और जुड़ गया। इसलिये भाष्यकार ने कहा था कि कामना तो हितकर कभी नहीं हो सकती। जो फल *मिलेगा* वह विनाशी ही होगा। उनको क्यों ग़लत समझ आती है? 'अल्पमेधसाम्'। उनकी जो बुद्धि है वह तुच्छ है, समझ नहीं पाती। 'मेधा' बुद्धि को तो कहते ही हैं, लेकिन 'मेधा' विशेषकर ग्रन्थ-धारण-सामर्थ्य को कहते हैं। ग्रन्थ में जो बात आई वह याद रहे, यह मेधा से होता है। वेदादि शास्त्रों के अंदर यह बात तो सब जगह आती है कि अनित्य का फल अनित्य होगा। पर अर्थवाद वाक्यों में कह देते हैं कि अमुक कर्म का फल हमेशा के लिये होगा, तो जो मेधावी नहीं उसको याद नहीं रहता कि कुछ भी करके जो मिलेगा वह कभी भी नित्य नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान् ने पहले (२.४२) कहा था कि अर्थवाद वाक्यों के द्वारा उनकी बुद्धि हृत कर ली जाती है। इसलिये यहाँ कहा कि जो अल्पमेधा हैं उनको ग्रंथ धारण नहीं हो पाता

अतः अपनी कामना की पूर्ति की बात कहीं शास्त्र में आती है तो वहीं अटक जाते हैं। पहले क्या कहा, आगे क्या कहाइसकी तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। इसलिये उनको अल्प ही फल होता है। अल्प बुद्धि वाले होने से उनको तुच्छ ही फल मिलता है। इसके द्वारा भगवान् संकेतित कर रहे हैं कि जिसकी बुद्धि विवेकी है, जो शास्त्र के वचनों का ठीक प्रकार से निर्णय कर सकता है कि शास्त्र का तात्पर्य किस में है, वही कामनाओं से बच सकता है। जो ऐसा मेधावी नहीं है, वह अपने अविवेक के कारण इस संसार चक्र में घूमता ही रहेगा।

'देवान् देवयजः यान्ति', देवता की पूजा करने वाले देवभाव को ही प्राप्त कर सकते हैं। 'मद्भक्ता यान्ति मामपि', जो अपने हृदय में स्थित आत्मतत्त्व को ही परब्रह्म परमात्मरूप से जानते हैं, इसलिये उसी की भक्ति करते हैं, वे 'माम्' मुझ ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, जो स्वरूप होने से कभी समाप्त नहीं हो सकता। जो, कुछ करके मिलेगा वह तो समाप्त हो जायेगा, पर जो तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है वह कभी भी तुम से दूर नहीं हो सकता। पानी में स्वभाव से स्वाद होता है। पानी चाहे जितना ठंडा हो जाये चाहे जितना गर्म हो जाये, स्वाद तो उसमें रहेगा ही। जितनी देर तुमने उसको चूल्हे पर रखा है, चूल्हे से हटाने के बाद जल्दी या देर से ठंडा हो जायेगा। तुमने चूल्हे पर चढ़ाना आदि करके उसको गर्म किया है, वह गर्मी ज़रूर ख़त्म होगी; पर जो जल का स्वरूप स्वाद है, वह नहीं जाने वाला। जब तक जल रहेगा, तब तक स्वाद वाला ही रहेगा। इसी प्रकार आत्मा चूंकि परमात्मरूप है इसलिये आत्मा परमात्मरूप तो रहेगा ही। इसलिय भगवान् ने कहा'मद्भक्ता यान्ति मामपि।' 'अपि' का तात्पर्य क्या है? आचार्य कहते हैं कि देवताभक्ति और परमेश्वर भक्तिदोनों में मेहनत तो एक जैसी है, प्रयत्न, चेष्टा तो एक जैसी है, पर फल में इतना बड़ा भेद हैएक के अंदर दुःख से शुरू होकर फिर दुःख में ही ख़त्म होता है, बीच में थोड़ी देर के लिये लगता है सुख हो गया, जबकि दूसरे में दुःख से शुरू होकर दुःख का बीज नष्ट होकर जो अपना सुख स्वरूप है वह प्रकट हो जाता है और हमेशा रहता है। ऐसा होने पर भी, समान श्रम होने पर भी, अनन्त फल की प्राप्ति करने के लिये जीव मेरी शरण में नहीं आतेइस बात का भगवान् अत्यंत दुःख प्रकट कर रहे हैं। भगवान् अपनी करुणा प्रकट करते हुऐ कह रहे हैं कि उतनी मेहनत में ही मुझे प्राप्त कर सकते हैं लेकिन फिर भी नहीं करते।।२३।।

लोग भगवान् की शरणागति क्यों नहीं करते हैं? भगवान् कारण बताते हैं कि ऐसे लोग मुझे भी एक देवता ही समझते हैं! उन्हें लगता है कि परमात्मा भी एक देवता ही है

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

अविवेकी लोग मेरे वास्तविक निरतिशय अव्यय स्वरूप को न जानते हुए मुझे अव्यक्त से व्यक्त हुआ मानते हैं!

'अबुद्धयः' जो अल्प मेधा वाले बुद्धिरहित हैं अर्थात् शास्त्र का आगे-पीछे विचार करने में समर्थ नहीं हैं, विवेक कर नहीं पाते हैं, ऐसे लोग परमात्मा को अव्यक्त समझते हैं। है तो वह अव्यक्त ही, व्यक्त है नहीं। व्यक्त मायने प्रकट, जो सामने होवे। परमात्मा तुम्हारे अंदर नित्य मैं-रूप से तो प्रकट है, प्रत्यगात्मा के रूप से प्रकट है। कभी भी बाहर, सामने प्रकट हो नहीं सकता। इसलिये अविवेकी को लगता है कि परमात्मा अव्यक्त है, उसे समझना बड़ा कठिन है। भगवान् भी कहते हैं (१२.५) 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखम्' अव्यक्त को समझने में लोग घबरा जाते हैं। इसलिये भगवती श्रुति अत्यन्त करुणा करके उसको व्यक्त के द्वारा समझाती है। कैसे? श्रुति कहती है कि सृष्टि से पहले एकमात्र परमात्मा था। शंका होती है कि, पहले था, तो अब नहीं है क्या? आचार्यों ने समाधान दिया है कि इस काल में भी एक परमात्मा ही है। परंतु यदि अबुद्धि लोगों को कहते हैं कि 'इस समय परमात्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो जैसे पानी में डुबकी लगा कर आँखें खोलकर देखने की चेष्टा करने से व्यक्ति विह्वल हो जाता है, उसी प्रकार शिष्य घबरा जायेंगे कि इतना बड़ा संसार हमें दीख रहा है और यह है ही नहींऐसा कैसे हो सकता है! इसलिये उसको समझाने के लिये श्रुति पहले कहती है कि सत् परमात्मा से ही, एकमात्र प्रत्यगात्मा से ही, आकाश आदि क्रम से सारी सृष्टि बनी है। जो व्यक्त, भेद-युक्त संसार तुम देख रहे हो, यह सब परमात्मा से बना है। इतना बुद्धि में बैठाकर श्रुति को कहना है कि इसलिये सब परमात्मा ही है। लोग इस बात को नहीं समझ कर परमात्मा को व्यक्त भाव वाला ही समझते हैं। इसलिये पूछते भी हैं कि 'परमात्मा एक है यह तो ठीक है, लेकिन कौन है? देवी है, गणपति है, विष्णु है, शंकर है, कौन है?' मायने किसी-न-किसी *व्यक्ति* को (अभिव्यक्त नाम-रूप को) बताइये। बुद्धि की अल्पता के कारण वे मुझ परमात्म तत्त्व को व्यक्त ही मानते हैं कि किसी एक रूप में परमेश्वर ज़रूर होंगे।

ऐसा इसलिये कि नित्यसिद्ध ईश्वर का जो परभाव है, प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मस्वरूप है, उस परभाव को अबुद्धि होने के कारण, अविवेकी होने के कारण, समझ ही नहीं पाते। वह किसी भी मूर्त रूप में सीमित नहीं है। उसका परभाव तो हमेशा ही अव्यक्त है, निराकार ही है। इस बात को दृष्टान्तों से समझाने के लिये प्रायः श्रुतियों में अनेक जगह परमात्मा को आकाश शरीर वाला कह दिया। निराकार क्या हैइसे सोचने पर हम लोग आकाश तक ही समझ पाते हैं कि आकाश निराकार वस्तु है। आकाश के आकार की कल्पना जल्दी होती नहीं। अगर आकाश के बारे में कोई जिज्ञासा करे कि 'घड़े में भी आकाश है, कमरे में भी आकाश है, मठ में भी आकाश है। पचास मंजिला मकान में भी आकाश है, परन्तु *असली* आकाश कौन-सा है?' तो

आकाश कौन-सा कहा जायेगा! इसीलिये भगवान् शंकर के लिंग का स्वरूप बतलाते हुऐ यही कहा है कि आकाश ही लिंग है। सामान्यतः किसी खुली जगह में खड़े होकर देखो तो आकाश आधे अण्डे या उलटे कड़ाहे की तरह दीखता है। इसलिये परमेश्वर की पूजादि करने के लिये लिंग के रूप में आकाश की शक्ल बना देते हैं। परंतु आकाश भी उस *आकार* का है तो नहीं! हमको अपनी आँखों से दीखता वैसा है, इतना ही कह सकते हैं।

वह पर भाव कैसा है? 'अव्ययम्' ऐसा नहीं कि जब परमात्मा जगत् बन गया तब उसके अंदर अकेलापन नहीं है। इस समय में भी वह अकेला ही है। उससे सब बनायह तो समझाने के लिये है कि उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ठीक जिस प्रकार, मंद अंधकार में रखी हुई रस्सी, देवदत्त को दंड दीख रही है, यज्ञदत्त को जल-धारा दीख रही है, भानुदत्त को माला दीख रही है; जिस समय ये सब भिन्न-भिन्न रूप दीख रहे हैं, क्या उस समय रस्सी में कोई परिवर्तन हुआ है? जैसी रस्सी प्रकाश में थी, वैसी ही रस्सी प्रकाश आने पर फिर दीखेगी। इन सब रूपों को धारण करता हुआ कौन है? यही कहोगे कि रस्सी ही इन सब रूपों में दीख रही थी। इन सब रूपों में दीखने पर भी रस्सी में क्या कोई परिवर्तन हुआ? नहीं। इसी प्रकार अज्ञान-अंधकार के काल में इतना बड़ा सारा ब्रह्माण्ड दीखने पर भी परमभाव में कोई व्यय नहीं हुआ है, कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

'अनुत्तमम्'। लोग समझते हैं कि पत्थर को हमने अमुक रूप दे दिया तो वह पहले की अपेक्षा बढ़िया बन गया, उसमें कुछ श्रेष्ठता आ गई। मामूली पत्थर पड़ा हुआ था, कारीगर ने ठोक-पीट कर उसमें बहुत बढ़िया सुंदर मूर्ति बना दी। पर विचार करके देखो कि उस पत्थर में क्या कोई विशेषता आई? पत्थर तो पत्थर ही रहेगा, और तो कुछ होना नहीं है। मंद अंधकार में रस्सी पड़ी थी। एक को उसमें साँप दीखा, दूसरे को उसमें मोतियों की माला दीखी। मोतियों की माला दीखने से वह रस्सी कुछ श्रेष्ठ हो गई क्या? रस्सी तो वही रही। सर्प दीखने से वह कुछ कम उत्तम रह गई क्या? सर्प दीखने से, मोतियों की माला दीखने से रस्सी में न कोई उत्तमता आती है न निकृष्टता आती है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा इतनी बड़ी सृष्टि के रूप में बनता है तो कुछ श्रेष्ठ नहीं हो जाता! भगवान् कहते हैं कि वह परमभाव 'अनुत्तमम्' जैसे है वैसा ही निरतिशय है, कोई भी चीज़ उसमें कुछ जोड़ नहीं सकती। अतः शक्ति के बिना शिव व्यर्थ है इत्यादि मान्यता भी यही मानकर है कि कार्य व्यक्त होने से शिव में कोई विशेषता आती है और कार्य न रहे तो कोई कमी है। तभी सशक्त को अशक्त से बेहतर बताते हैं। इस प्रकार सविशेष के ध्यानादि को निर्विशेष के ध्यानादि से बेहतर तभी समझा जाता है जब विशेष से परमतत्त्व में कोई अंतर माना जाता है। इस तरह के भ्रमों को भी हटाने के लिये भगवान् ने स्पष्ट किया कि परभाव अनुत्तम है, निरतिशय

है। किसी कार्यादि की प्रतीति से वह बेहतर हो सके यह संभव नहीं। ऐसे भाव को न समझ कर निर्बुद्धि लोग परमेश्वर को व्यक्त ही मान पाते हैं।।२४।।

पूर्वोक्त अबुद्धि लोगों के अज्ञान का निमित्त बताते हैं

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

योगमाया से भली भाँति ढका मैं हर किसी के लिये प्रकाशित नहीं हूँ। यह मोहग्रस्त लोक जन्म-व्ययरहित मुझको पहचानता नहीं है।

'योगमाया' में योग अर्थात् गुणों का युक्त होना। सात्त्विक, राजस, तामसये तीनों गुण सृष्टिकाल में असम रूप में मिले रहते हैं अर्थात् कभी सात्त्विक भाव प्रधान हो जाता है राजस-तामस दब जाते हैं, कभी राजस प्रधान हो जाता है तो सात्त्विक-तामस दब जाते हैं, कभी तामस प्रधान हो जाता है तो सात्त्विक-राजस दब जाते हैं। इस प्रकार से गुणों का जो मिल जाना उसे यहाँ योग कहा। उनका योग क्यों होता है? भगवान् कहते हैं कि मेरी माया शक्ति से होता है। मेरी माया शक्ति इन गुणों के अंदर उठा-पटक करती रहती है। ये निरंतर बदलते रहते हैं इसलिये परमात्मा सामने होने पर भी प्रतीत नहीं होता। ऐसे समझ लो : तुम चलचित्र देखते हो, तो जो कपड़े का पर्दा है वह कहीं जाता नहीं है, वहीं रहता है, पर चूंकि एक के बाद दूसरे चित्र आते रहते हैं जिन्हें देखते रहते हो, इसलिये वह कपड़ा कभी दीखता ही नहीं है। चल-चित्रों को देखते रहते हो इसलिये पट आवृत प्रतीत होता है। कभी यदि सामने चित्र न रहे, तब तुम को तेज़ प्रकाश के अंदर बिलकुल साफ पर्दा नज़र आ जाता है। परंतु चित्र जब तक सामने रहते हैं तब तक वह पट नज़र नहीं आता यद्यपि नज़र तो पट पर ही रहती है! पट पर जाकर पट को देखते हुऐ भी, 'पट दीख रहा है' ऐसा नहीं लगता। ठीक इसी प्रकार से माया गुणों का परिवर्तन करते हुए, इस संसार चित्र को दिखाती रहती है। इसलिये उससे मानो वह परमेश्वर ढका हुआ है, नहीं ढका होने पर भी ढका हुआ लगता है।

अतः भगवान् ने कहा कि योग-माया से समावृत हुआ मैं 'सर्वस्य प्रकाशः न', सभी लोगों को प्रकाशित नहीं होता। सभी को प्रकाशित नहीं होताइसका मतलब है कि कुछ लोगों को ही मैं प्रकाशित होता हूँ। कुछ लोग अर्थात् जो मेरे भक्त हैं उन लोगों को ही मैं प्रकाशित होता हूँ, क्योंकि वे ही उस चलचित्र से अपनी दृष्टि को हटा पाते हैं। जो सामान्य लोग हैं वे सारे 'मूढः' योगमाया से समावृत हुए मूर्खता के भाव को प्राप्त हो जाते हैं। चित्रों को देखने के अंदर जीव मशगूल हो जाता है और उन्हें अच्छा-बुरा के विभाजन में बाँटने लगता है। कोई चित्र अच्छा लगता है, कोई चित्र बुरा लगता है। एक आदमी ने बुरी गाली दी तो बुरा लगने लगता है, दूसरे आदमी ने दंडवत्

करके ॐ नमो नारायणाय किया तो अच्छा लगने लगता है! इन बदलते चित्रों को देख कर उनका अधिष्ठान जो सच्चिदानन्द परमात्मा है उस पर नज़र नहीं जाती। मुर्दा होता तो गाली देता नहीं; उसके अंदर चेतन मौजूद है, अंतःकरण में चेतन प्रतिबिम्बित है, तभी गाली दी। परंतु उस चेतन की तरफ दृष्टि नहीं जाती; प्रतिबिम्बित चेतन की तरफ भी दृष्टि नहीं जाती, तो अधिष्ठान चेतन का तो कहना ही क्या है! बस, गाली ही हमारे सामने रह जाती है। इसी प्रकार प्रणाम तभी किया जब उस में चेतन मौजूद है, मुर्दा प्रणाम नहीं करता। लेकिन उसके भी चेतन अधिष्ठान की तरफ हमारी दृष्टि नहीं जाती, बस प्रशंसा और साष्टांग दण्डवत् ही याद रहता है। यही मूढता है। कहीं नीतिकारों ने कहा है कि यदि ब्रह्मा जी भी ज्ञान देने वाले मिल जायें तो भी मूढ को ज्ञान नहीं हो सकता! 'व्यवहार करना ही है' यह जो आग्रह बुद्धि है, यही मूढता को जाने नहीं देती। अधिष्ठान को हम प्रधानता नहीं दे पाते, अध्यस्त की ही हमारे अंदर प्रधानता रहती है। इसलिये कितना भी युक्ति से समझ में आये लेकिन फिर भी व्यवहार तो करना ही हैयह जो व्यवहार का, अध्यास का बाध न करने की प्रवृत्ति है यही उस ज्ञान को दृढ होने नहीं देती। इसलिये कहा कि जो मूढ है उसको यदि विरंचि अर्थात् ब्रह्मा जैसे भी उपदेशक मिल जायें, तो भी ज्ञान नहीं होता।

इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत विरोचन का है : विरोचन ब्रह्मा जी के पास गया, उन्होंने उसको उपदेश दिया, खुश होकर चला गया। ब्रह्मा जी समझ गये कि विरोचन बिना समझे ही लौट गया। विरोचन को दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक ब्रह्माजी के पास रहना पड़ा था, तब उसे उपदेश मिला था। अतः उसके मन में था कि 'इतने समय से यहाँ हूँ, वहाँ राज्य की क्या व्यवस्था हो रही होगी? कहीं किसी दूसरे ने ज़मीन कब्जे न कर ली हो!' राज्य की सच्चाई के बारे में उसको इतनी दृढता थी कि ब्रह्माजी के उपदेश पर मनन करने में प्रवृत्त ही नहीं हुआ। उसी उपदेश को इंद्र ने भी सुना, इंद्र में ऐसी आसक्ति नहीं थी। वह विचार करके रास्ते से वापस आया और कहा, 'आपने उपदेश तो दिया, मेरी समझ में ठीक से आया नहीं।' ब्रह्मा जी ने उसको कई बार समझाया, अंत में उसको ज्ञान हुआ, क्योंकि उसे यह आग्रह नहीं था कि 'मेरे राज्य का क्या होगा? उसको संभालने जाना ही है।' इसलिये भगवान् ने कहा कि जो मूढ लोग हैं वे सत्य नहीं जानते।

जो परमेश्वर का भक्त होगा वह अध्यस्त की चिंता करेगा नहीं। हम भक्त तो हैं जगत् के और भगवान् की तरफ *भी* जाते हैं! जो भगवान् का भक्त होगा, उसको जगत् में रहना *पड़ता* है, वह जगत् में रहना चाहता नहीं है। क्योंकि वह अधिष्ठान का भक्त है इसलिये अध्यस्त का बाध करने में प्रवृत्त होता है। अध्यस्त कैसे चलेगाइसकी तरफ प्रवृत्त नहीं होता। जिसको परमेश्वर के प्रति प्रेम नहीं होगा, वह अध्यस्त संसार में प्रेम वाला होने से इसकी रक्षा में, प्रवृत होने से ही मूढ बना रहता है। जिसको

परमेश्वर से प्रेम होता है, वह अध्यस्त का बाध करने में मूढता नहीं करता। इसलिये भगवान् ने कहा कि मूढ लोगों को *अभिज्ञा* नहीं होती, अर्थात् परमेश्वर का स्वरूप उनको समझा दिया जाये तब भी उन्हें मौके पर याद नहीं आता कि नाम-रूप का बाध कर सकें। व्यवहार के समय परमात्मस्वरूप को भूल जाते हैं, भले ही सत्संग करते समय समझ पायें। किस चीज़ की अभिज्ञा नहीं होती? 'माम् अजम् अव्ययम्' यह याद नहीं आता कि मेरे अंदर रहने वाला जो जीवरूप से बैठा हुआ परमेश्वर है वह वस्तुतः जन्मरहित है। विचार करो तो सारे व्यवहार जन्म को लेकर हैं। शरीर के साथ संबंध होना ही जन्म है। जितने व्यवहार हैं उन सबका बीज तो शरीर से संबंध है। क्या मैं वस्तुतः शरीर से संबंध वाला हुआ हूँ? मैं तो अज हूँ, मेरा शरीर से संबंध हुआ नहीं, मैं जन्मरहित हूँ। किन्तु जन्म का भ्रम इतना दृढ लगता है कि 'मैं शरीररहित हूँ', यह बार-बार सुनने पर भी अपने शरीररहित स्वरूप की दृष्टि न बन कर बार-बार जन्म वाले रूप की ही दृष्टि बनती है। मैं परमात्मतत्त्व जन्मरहित हूँ। जब-जब शरीर का संबंध याद आवे तब याद करो कि इस शरीर के साथ मेरा संबंध तीन काल में नहीं। शरीर से संबंध को लेकर मैं व्यवहारों का प्रारंभ करने वाला बनता हूँ। शरीर-मन आदि की घटोतरी-बढ़ोतरी से मेरी घटोतरी-बढ़ोतरी होगी, यह मान कर मैं व्यवहार करता हूँ, जब कि मैं परमात्मा, स्वरूप से अव्यय हूँ, मेरा स्वरूप व्ययरहित है, उसके अंदर घटना-बढना हो नहीं सकता। और इस घटने-बढ़ने को दूर करने के लिये ही मेरी सारी प्रवृत्ति है! अपने जन्मरहित और व्ययरहित रूप को, अविकारी रूप को न पहचानने का कारण है कि अध्यास की तरफ जीव बड़े प्रेम वाला है। यही योगमाया है। योगमाया ने जो जन्मरहित और व्ययरहित है उसे जन्मवाला व व्ययवाला दिखा दिया है। और इतनी जल्दी-जल्दी वह संसार के चित्र चलाती है कि विचार करने के लिये समय ही नहीं मिलता। बाकी सब चीज़ों के लिये, अध्यास को पूरा करने के लिये तो समय रहता है, पर बाध को करने के लिये समय नहीं रहता। अतः भगवान् ने कहा कि जो योगमाया से समावृत मेरा आत्मस्वरूप है वह लोगों को प्रकाशित नहीं होता।।२५।।

योगमाया परमात्मा को ढाँकती है पर उनके ज्ञान को प्रतिबद्ध नहीं करती, जैसे लौकिक मायावी अपनी माया से ढका रहकर अन्यों के लिये अदृश्य होने पर भी उसकी माया स्वयं उसके ज्ञान को रोकती नहीं। अतः भगवान् बताते हैं कि उनकी सर्वज्ञता सनातन रहती है

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

हे अर्जुन! पूर्वकालिक, वर्तमान और भावी भूतों को मैं जानता हूँ पर मुझे कोई नहीं जानता।

भगवान् स्पष्ट करते हैं कि माया मुझे ढाँकने पर भी मैं इससे नहीं ढँकता! यह माया की विलक्षणता होती है। जादूगर खेल दिखलाता है, वह अपनी जगह किसी और चीज़ को दिखला देता है। बाजीगर आता है, आसमान में रस्सी को फैंक कर रस्सी पर चढ़ जाता है! ऊपर जाकर गायब हो जाता है, बिलकुल दीखता नहीं। वहाँ से पहले उसके शरीर के टुकड़े गिरते हैं और अन्त में वह स्वयं वापिस उतर आता है! सब को तो ऐसा दीखता है, लेकिन बिना किसी सहारे के रस्सी खड़ी कैसे रहेगी? और उस पर इतना वजन देकर आदमी चढ़ेगा कैसे? अतः वास्तव में बाजीगर खुद तो वहीं पेड़ के नीचे रहता है। न वह रस्सी पर चढ़ता है, न उतरता है। जो तुम को चढ़ता-उतरता हुआ और रस्सी दीखती है, वह सब उसके खेल से, इन्द्रजाल से दीखती है। परंतु उसके द्वारा वह ऐन्द्रजालिक खुद नहीं ढँकता। तुम्हें वह खेल दिखा रहा है लेकिन खुद उस खेल को देखता नहीं है। थोड़े साल पहले एक पी० सी० सरकार नाम का ऐन्द्रजालिका था। कई बार उसने खेल दिखलाया : सात बजे से खेल होने वाला है; वह साढ़े आठ बजे आया। लोगों ने हल्ला मचाया। वह बोला 'अपनी घड़ियाँ तो देखिये, मैं सही सात बजे आया हूँ।' सब को अपनी घड़ी सात बजाती दीखती थी! सैकड़ों आदमी बैठे होते थे, सब सात बजा देखते थे, परंतु क्या उसे भी सात बजा दीखता था? नहीं। जैसे माया से ढका हुआ ऐन्दजालिक खुद उसके द्वारा ढका नहीं जाता, दूसरों के लिस ढका रहता है, ठीक इसी प्रकार से परमेश्वर योगमाया के द्वारा दूसरों के लिये ढका रहता है, स्वयं वह कभी भी ढका नहीं जाता। यही इन्द्रजाल की, माया की विशेषता है।

इसलिये परमेश्वर हमेशा सर्वज्ञ बना रहता है। जबकि जिन जीवों के लिये माया से परमात्मा ढका रहता है, वे सारे सर्वज्ञ नहीं रहते। अतः भगवान् कहते हैं 'अहं समतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि च भूतानि वेद' मैं तो खेल दिखलाने वाला हूँ। इसलिये जो कुछ हो चुका है वह सब मैं जानता हूँ। इस समय जो कुछ है उसे भी मैं जानता हूँ और जो भविष्य में होगा, उस सब को भी मैं जानता हूँ। भूत, भविष्य, वर्तमानतीनों मेरे लिये हाथ में रखे हुऐ आँवले की तरह हैं। मैं तो हमेशा सर्वज्ञ बना रहता हूँ। भूत, भविष्य, वर्तमान सब को एक-जैसा जानता हूँ। मेरे लिये भूत वर्तमान और भविष्य में कोई फ़र्क नहीं है। लेकिन 'कश्चन तु मां न वेद', अपने को मुझसे भिन्न अनुभव करने वाला कोई भी जीव मुझे नहीं जानता। मैं जड-चेतन सबको जानता हूँ परंतु मुझे कोई नहीं जानता।

'तु'-कार के द्वारा बतला दिया कि जो मेरी शरण में आया हुआ मेरा भक्त है उसको छोड़ कर अन्य कोई नहीं जानता। भक्त तो मेरी वास्तविकता को जानता है। लोक में भी ऐसा ही होता है। ऐन्द्रजालिका जो खेल दिखलाता है, वह बँधी आँखों वालों के लिये ही होता है। जिसकी आँखें बँधी नहीं होतीं उसको वह खेल दीखता नहीं। एक जगह एक आदमी खेल दिखला रहा था उसने पूछा।' तुम्हें क्या खाने की इच्छा है? वही

खिला सकता हूँ।' लोगों ने कहा 'गरम-गरम गुलाब-जामुन खिलाओ।' उसने झट से गुलाब जामुन निकाले और खिलाये। सब लोग बड़े प्रसन्न होकर गुलाब जामुन खा रहे थे। तभी एक लड़का वहाँ पहुँचा; बैठे लोगों की तो आँखें बँधी हुई थीं, पर वह अकस्मात् बाहर से आया था, उसकी आँखें बँधी हुई थीं नहीं, उसने कहा 'अरे-अरे! तुम लोग क्या खा रहे हो? कैसी तुम्हारी बुद्धि है! घोड़े की लीद खा रहे हो!' सबने देखा तो सब के हाथों में घोड़े की गरम-गरम लीद थी! थू-थू कर फैंकने लगे। उस ऐन्द्रजालिक से बोले 'यह तूने क्या किया?' वह बोला 'मैंने तो सब ठीक किया था, इस लड़के ने आकर मेरा खेल बिगाड़ दिया!' जैसे जिसकी आँखें बँधी हुई नहीं थीं उसके लिये खेल नहीं था उसी प्रकार जो परमेश्वर का भक्त होता है उसके लिये यह खेल है नहीं, वह तो परमेश्वर को ही देखता है। जिनकी आँखें माया से बँधी हुई हैं उन्हें यह सारा खेल दीखता है, इसलिये परमेश्वर दीखता नहीं।।२६।।

प्रश्न होता है कि क्या कारण है कि लोग परमात्मा को नहीं जान पाते? भगवान् कहते हैं कि खाली माया होवे तो यह खेल नहीं दीखता! जब तुम को गहरी नींद आती है, उस समय तुम रहते माया में ही हो, परंतु क्या तुम को अपने जन्मदिन की याद आती है? घर वाली के सिर में भयंकर दर्द है, वह याद आता है? लड़के के पेट में व्रण हो गया है, क्या वह याद आता है? गहरी नींद में जाने पर माया तो रहती है, परंतु यह खेल नहीं रहता। गहरी नींद में तुम किसी चीज़ को जानने की सामर्थ्य वाले नहीं हो; जान सकते नहीं हो इसलिये वहाँ *संसार की* किसी चीज़ को नहीं जानते, और *अपने को* भी नहीं जानते। गहरी नींद में जैसे तुम संसार की किसी चीज़ को नहीं जानते वैसे तुम अपने को भी नहीं जानते क्योंकि जानने की शक्ति नहीं है। यदि तुम्हारी जानने की शक्ति होवे, और तुम संसार को न जानो, तब तुम अपने आत्मतत्त्व को जान सकोगे। जानने की शक्ति होने पर भी परमात्मा को जानना क्यों प्रतिबद्ध रहता है यह भगवान् समझाते हैं

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।२७।।

हे परन्तप भारत! सभी प्राणी पैदा होते ही उस मोह से संमोहित रहते हैं जो राग-द्वेष से उत्पन्न और रागद्वेषनिमित्तक है।

'सर्गे'सृष्टि काल में। समष्टि-दृष्टि से तो महाप्रलय के बाद जब जगद् उत्पन्न होता है वह सर्ग का समय है, व्यष्टिदृष्टि से हर जन्म सर्ग का समय है, और विचार करो तो हर जाग्रत्काल सृष्टि का, सर्ग का समय है। जो सोकर जगता है उसके लिये वह सर्ग का ही काल है। उस समय से ही 'सम्मोहं यान्ति', मोहको प्राप्त हो जाते हैं, मूढ बन जाते हैं। मूर्खता सृष्टि काल में ही है। जब समाधि का अभ्यास करते हो तब

सारी इन्द्रियों को, मन बुद्धि को तुम काम करने से रोक लेते हो। जैसे सुषुप्तिकाल में तुम को कुछ प्रतीत नहीं होता वैसे ही समाधिकाल में भी कुछ प्रतीत नहीं होता। अतः वह सर्गकाल में नहीं है। इसलिये महर्षि पतंजलि लिखते हैं कि उस समाधिकाल में तो द्रष्टा अपने स्वरूप में, अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। श्रुति कहती है कि इस प्रकार से तो जब तुम सुषुप्ति में जाते हो तब भी सत् से सम्पन्न हो जाते हो, सत् से एक हो जाते हो, स्वरूप में स्थित हो जाते हो। उसके बाद जैसे ही व्युत्थान होता है, समाधि से तुम जैसे ही पुनः जाग्रत् अवस्था में आते हो, वैसे ही बंधन प्रारंभ हो जाता है, सारे जगत् के अंदर सत्यत्व की प्रतीति पूर्ववत् हो जाती है। इसलिये वेदांत कहता है कि जानने की शक्ति रहे और संसार को न देखकर परमात्मा को देखो, तब मोहभंग हो। ऐसा जो विचारकाल है, उसमें ही इस माया को काट सकते हो। सर्गकाल में ही मोह है, और सर्गकाल में ही इस मोह को काटना पड़ेगा।

मोह क्या है? 'इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन'। द्वन्द्व के निमित्त से मोह होता है। संसार में मोह का कारण क्या है? जितनी चीज़ें संसार में देखो, सब जोड़े में आती हैं, सबका द्वंद्व है। सुख है तो दुःख भी है। सुगंध है तो दुर्गन्ध भी है। अच्छा आदमी है तो बुरा आदमी भी है। अच्छा विचार है तो बुरा विचार भी है। द्वन्द्व के घटक परस्पर विरुद्ध होते हैं, सुख और दुःख परस्पर विरुद्ध हैं। जब-जब अपना काल आता है तब-तब सारे प्राणियों से द्वन्द्व सम्बद्ध हो जाते हैं। सर्दी आती है तो सब लोग सर्दी से सम्बद्ध हो जाते हैं। जिनको सर्दी अच्छी लगती है वे कहते हैं कि अच्छा हुआ, जिन्हें अच्छी नहीं लगती, वे कहते हैं कि बड़ा बुरा हुआ।

द्वन्द्वमोह, अच्छा और बुराकिस से होता है? इच्छा और द्वेष से ही पैदा होता है। अगर हमें इच्छा सर्दी की है तो सर्दी अच्छी लगेगी, यदि सर्दी से द्वेष है तो सर्दी बुरी लगेगी। न सर्दी अच्छी है, न गर्मी अच्छी है। इच्छा और द्वेष से ही ये द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सुख-दुःख हैं। हम लोगों को मिठाई अच्छी लगती है। बढ़िया दाल के सीरे का भंडारा हो तो मन प्रसन्न हो जाता है। एक महात्मा मीठा नहीं खा सकते। अगर ज़बरदस्ती किसी दिन थोड़ा-सा मीठा खिला दें तो बेचारे तीन-चार दिन तक तकलीफ पाते हैं। उनको मीठे की कोई इच्छा ही नहीं होती। मीठा जिसकी इच्छा का पदार्थ है, उसके लिये वह सुखदायी है। परंतु जिसके वह द्वेष का विषय है, उसके लिये दुःखदायी है। द्वन्द्व का मोह, द्वंद्व-निमित्तक मोह, इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होता है। मोह तुम्हारी प्रज्ञा को प्रतिबद्ध कर देता है, वास्तविकता को नहीं जानने देता। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व-मोह परमार्थ आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबंध का कारण है। अज्ञान तो मोह का उपादान कारण है ही, लेकिन अज्ञान गहरी नींद और महाप्रलय में रहता है परंतु सम्मोह नहीं करता, सृष्टि होते ही सम्मोह क्यों हो जाता है? इच्छा व द्वेष के कारण, सृष्ट जगत् के अंदर जो हमें द्वन्द्वों से मोह हो जाता है,

उससे इच्छा के विषय को प्राप्त करने के लिये और द्वेष के विषय को दूर करने के लिये हम प्रयत्न करते रहते हैं, इसलिये परमात्म तत्त्व की तरफ नहीं जा पाते। इस प्रक्रिया में ऐसे मोह में पड़ जाते हैं, कि जो वस्तुतः परमार्थ तत्त्व, इस द्वंद्व से रहित है, निर्द्वंद्व है, उसकी तरफ जा ही नहीं पाते। इच्छा-द्वेष रूपी दोष से जिसका चित्त आक्रान्त हो गया, वह कभी भी वास्तविक तत्त्व जैसा है वैसा उसको नहीं जान सकता। यह बात बाह्य पदार्थों के विषय में भी समझ लेनाबाह्य पदार्थ भी सचमुच में कैसे हैंयह जब तक हमारे अंदर उस चीज़ के प्रति इच्छा-द्वेष रहेंगे तब तक हम नहीं देख सकते। कबूतर की बीट से कई चर्म-रोग ठीक होते हैं ऐसा वैद्यों का कहना है। जिसको वह चर्म-रोग है, वह कहीं कबूतर की बीट देखता है तो सोचता है कि कितनी अच्छी है और उसको झट इकट्ठा करता है क्योंकि वह उसकी इच्छा का विषय है। और हम लोगों को बीट से बड़ी घृणा होती है, यदि कबूतर कहीं बीट कर दे तो कहते हैं 'खिड़कियाँ बंद रखा करो, ये कबूतर आकर गंदगी कर जाते हैं।' कबूतर की बीट तो न अच्छी है, न बुरी है, जैसी है वैसी है। पर राग-द्वेष से हम उसे अच्छा-बुरा समझते हैं।

एक प्रश्न उठ सकता है कि भगवान् ने यहाँ कहा कि इच्छा-द्वेष से उत्पन्न होता है द्वन्द्वमोह, परंतु पहले कह आये हैं

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद् भवति संमोहः'

इच्छा विषयध्यान से होती है अर्थात् विषय उसमें कारण पड़ता। विषयध्यान से संग, संग से कामना (इच्छा), उसमें रुकावट से क्रोध और उससे संमोहयह पूर्व में क्रम कहा था। वहाँ मूल कारण विषय का ध्यान बताया। विषय सामने आने पर, आसक्ति या संग होता है। उस विषय से यदि सुख होता है तो उस सुख के प्रति राग हो जाता है और यदि विषय से दुःख हो तो उस के प्रति द्वेष हो जाता है। सुख के प्रति राग, और दुःख के प्रति द्वेषये स्वाभाविक हैं, सहज हैं। विषय से किसी काल में सुख होगा तब उसकी इच्छा हो जायेगी कि ऐसा अनुभव हमें फिर होवे। अतः उस विषय की इच्छा होकर प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार विषय का संबंध होने पर जब दुःख होता है, तब उस विषय के प्रति द्वेष हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर सुख-दुःख रूपी द्वन्द्व के प्रति कारण इच्छा-द्वेष हैं। किन्तु सुख-दुःख जिस कारण से होते हैं उस विषय के प्रति भी इच्छा और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये पहले विषयध्यान को मूल कहा था। इसका मूल कारण है कि प्रत्यगात्मा और अहंकार की वृत्ति, इन दोनों में हम को कोई भेद का ज्ञान हो नहीं पाता। इसलिये अंतःकरण का जो एक कार्य है अहंकारात्मिका

वृत्ति, मैं, उसको ही अपना प्रत्यगात्मा समझने लगते हैं। अतः उस अंतःकरण से जो सुख-दुःख होते हैं, उससे जो इच्छा-द्वेष होते हैं, उन्हें अपना समझते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही अंतःकरण और अहम् आये हैं। सम्मोह का बीज है प्रत्यगात्मा और अंतःकरण के अहंकार को अलग-अलग नहीं समझना। इसी से सारे सम्मोह होते हैं। मूल अज्ञान ने प्रत्यगात्मा के वास्तविक स्वरूप को ढाँक रखा है। इसलिये जैसे ही सृष्टिकाल में अन्तःकरण जीव की उपाधि हुई, उस अंतःकरण के अंदर अहंकार की वृत्ति के साथ प्रत्यगात्मा का विवेक न हो पानाइस मोह के कारण ही बार-बार जीव उत्पन्न होता है।।२७।।

प्रश्न होता है कि द्वन्द्वमोह से छुटकारा कैसे हो? इससे छूटे बिना वासुदेव का ज्ञान होगा नहीं अतः इससे छूटना ज़रूरी है। उपाय भगवान् बताते हैं

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

जिन पुण्य कर्मों वालों का पाप क्षीण हो चुका है वे निश्चित विज्ञान वाले लोग द्वन्द्व-मोह से छूटकर मेरा भजन करते हैं।

शास्त्र में श्रद्धा रखकर दीर्घकाल तक पुण्यकर्म करते रहना इस क्रम का प्रथम साधन है। जिन्हें पहले (७.१६) 'सुकृतिनः' कहा था, उन्हीं को अब 'पुण्यकर्मणाम्' कह दिया। जन अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में भटकने वालों में से ही कुछ होंगे जो मोक्ष के साधक बनेंगे। पुण्य कर्म करते-करते पुण्यकर्मों का संस्कार ऐसा दृढ हो जाता है कि पाप क्षीणप्राय हो जाते हैं। पुण्य कर्म में प्रवृत्ति श्रद्धा से होती है। परमात्मा को आत्म-भाव से जानने से पूर्व ही पुण्य कर्म करते रहने से पाप कर्म क्षीण होने पर अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। अंतःकरण की शुद्धि का कारण पुण्य कर्म है। शुद्ध अन्तःकरण के अंदर, राग-द्वेष की प्रवृत्ति अत्यल्प हो जाती है। इसलिये सुख-दुःख देने वाले द्वन्द्वों के प्रति प्रवृत्ति से साधक निर्मुक्त होता है, छूट जाता है। अंतःकरण की अशुद्धिकाल में यही समझ में आता है कि विषयों से सुख-दुःख होते हैं। अन्तःकरण की शुद्धिकाल में समझ में आता है कि पुण्य कर्म सुख का कारण और पाप कर्म दुःख का कारण है। इसलिये विषयों में जो हमें प्रवृत्त-निवृत्त करने की कारणता है वह कम हो जाती है। विषयों की कारणता का मोह हट जाने से विषय-चिंतन न करके, परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति बन जाती है। फिर श्रवण-मनन कर यह निश्चय हो जाता है कि यह प्रत्यगात्मा वास्तव में परमात्मतत्त्व है, अहम् नहीं है। 'दृढव्रताः' अर्थात् परमात्मा ऐसा ही है, अन्यथा नहीं हैइस प्रकार उनको निश्चय हो जाता है। इसलिये वे लोग दृढ व्रत वाले कहे जाते हैं। परमात्मा प्रत्यगात्मा ही है अन्यथा नहीं हैऐसा निश्चय दृढ व्रत है। अब वे परमात्मा का भजन प्रत्यगात्मा से अभिन्न समझकर ही करते हैं इसलिये अन्य

देवताओं के प्रति उनकी प्रपत्ति समाप्त हो जाती है।।२८।।

फिर वे भजन क्यों करते हैं? इसका उत्तर भगवान् देते हैं

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

मुझे आश्रय बनाकर जो वार्द्धक्य व मृत्यु से छूटने के लिये प्रयास करते हैं वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा अखिल कर्म को जान जाते हैं।

पुण्य कर्मों के जहाँ फल बतलाये हैं, वहाँ किसी भी पुण्य कर्म का फल, जन्म-मरण की निवृत्ति नहीं कही है। शरीर की प्राप्ति होगी तो जरा अर्थात् बुढ़ापा और मरण अर्थात् मृत्यु अवश्यम्भावी हैं। ये दोनों ही प्राणिमात्र के दुःख के कारण हैं। सभी इंद्रियों की जीर्णता ही जरा की अवस्था है। आँखें भी ठीक देखती नहीं, कान ठीक सुनते नहीं, जबान बोलने में लड़खड़ाती है, पैर भी ठीक से चलते नहीं, हाथों से ठीक पकड़ा नहीं जाताइस प्रकार इन्द्रियाँ जीर्ण हो जाती हैं। अंतःकरण भी जीर्ण होता है, क्या देखा यह याद नहीं रहता, क्या कहा था यह याद नहीं रहता, क्या करना है यह याद नहीं रहता। ये सभी दुःख के कारण बनते हैं। शरीर होगा तो जरा अवस्था ज़रूर आयेगी। किसी भी पुण्य कर्म से उससे बच नहीं सकते। इसी प्रकार जितने अपने संबंध हैं, वे सारे मृत्युकाल में एक झटके में टूट जाते हैं। वह भी दुःख का कारण बनता है। पुण्य कर्म से अनेक चीज़ों की प्राप्ति होने पर भी जरा और मरण से छूट नहीं सकते। इनसे छूटने के लिये तो जन्म से बचना होगा! किसी ने कहा है कि मृत्यु से डर कर क्या होगा! क्या डरे हुए को मृत्यु छोड़ देता है? तुम को यदि मृत्यु नहीं प्राप्त करनी है तो सोचो कि मृत्यु किसको नहीं आती? जो पैदा हुआ है उसी को मृत्यु मार सकती है, जो पैदा नहीं हुआ उसको मृत्यु मार नहीं सकती! इसलिये जन्म न हो इसके लिये प्रयत्न करो। पुण्यकर्मा लोग समझ लेते हैं कि जरा-मरण के दुःख से अन्य किसी तरह छूटा नहीं जा सकता, जरा-मरण से छूटने के लिये जन्मरहित होना पड़ेगा।

जन्मरहित होने के लिये जो जन्मरहित है उसी का सहारा पकड़ना पड़ेगा। अतिधन्य वेद कहता है कि 'अजात इति कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते।' सिवाय उस सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा के, और कोई भी जन्मरहित नहीं है। इसलिये वे जन्म मृत्यु से बचने के लिये उस अज परमात्मा की ही शरणागति करते हैं, प्रपन्न होते हैं। 'मामाश्रित्य' अज जो परब्रह्म परमात्मतत्त्व मैं हूँ, उसका आश्रय लेते हैं। उसका आश्रय लेने का तरीका क्या है? बार-बार उसका निश्चय करना ही उसका भजन है। वह प्रत्यगात्मा से अभिन्न है, यह शास्त्र से निश्चय होने के कारण अहंकारस्वरूप नहीं, प्रत्यगात्मस्वरूप जो मैं हूँ, वह परमात्मा ही हूँऐसा जो बार-बार निश्चय करना है, वही भजन है। यही उन साधकों का प्रयत्न है। 'ते तद् ब्रह्म विदुः' उस प्रयत्न से वे

प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमात्म तत्त्व है उसका साक्षात्कार करते हैं।

'तद् ब्रह्म कृत्स्नं विदुः'। ब्रह्म में, अज परमात्मा में किसी प्रकार के टुकड़े नहीं हैं। उसका एक टुकड़ा मेरा प्रत्यगात्मा हो, दूसरे टुकड़े दूसरे शरीरों में, अन्तःकरणों में होंऐसा कुछ नहीं है। शास्त्रों के अंदर कह दिया जाता है कि जीव परमात्मा का अंश है, 'ममैवांशो जीवलोके' इत्यादि। वहाँ अंश का मतलब लोग समझते हैं टुकड़ा, जैसे कपड़े का अंश होता हैः कपड़े का पूरा थान है, उसका एक अंश तीन मीटर काट कर तुम्हारी धोती बन गई। दूसरा तीन मीटर काट कर दूसरे की धोती बन गई। इसी प्रकार से लोग समझते हैं कि परमात्मा का एक हिस्सा मेरे में और दूसरा हिस्सा दूसरे में है। किंतु परमात्मा ऐसा नहीं वरन् निरंश है, अंशवाला नहीं है। फिर शास्त्र में जीव को अंश कैसे कह दिया? सूर्य, सूर्य रहते हुए की काँच में दीखता है। काँच में दीखने वाले को सूर्य का अंश कह देते हैं। हज़ारों काँच रख दो तो उन में हज़ारों सूर्य दीखेंगे। पर सूर्य का कोई हिस्सा काँच में तो घुसा नहीं है। इसी तरह जीव को अंश कहने का अर्थ केवल इतना ही है, कि वह ब्रह्म के जैसा दीखता है। परमात्मा स्परूप से अक्षुण्ण रहते हुऐ ही अंतःकरण में प्रतिबिम्बित हुआ जीवभाव से दीखता है, इसी को कह देते हैं कि जीव परमात्मा का अंश है। परमात्मा में कोई विकार आ गया हो, कोई परिवर्तन हो गया हो, कोई हिस्सा इधर-उधर हुआ हो, ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्रत्यगात्मा को जाना, तो परमात्मा के एक हिस्से को जान लिया। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के कारण वह प्रत्यगात्मा शब्द से कहा जाता है, परंतु प्रत्यगात्मा और परमात्मा दो नहीं हैं। 'अध्यात्मं विदुः' प्रत्यगात्मविषयक जो वस्तु है, उसका ज्ञान उन्हें हो जाता है। और 'अखिलं कर्म च विदुः' कर्मों के सारे स्वरूप को भी वे समझ लेते हैं। यहाँ भगवान् जिन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं उन्हें अगले अध्याय में विस्तार से बताना है।।२९।।

और भी वे साधक क्या जानते हैं इसका उल्लेख करते हैं

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जो मुझे जानते हैं वे समाहित मन वाले मरते समय भी मुझे जानते हैं।

पूर्व श्लोक में कृत्स्नता के अध्यात्म और कर्म, दो पहलू कह दिये थे, यहाँ अन्य पहलू गिना दिये। अध्यात्म अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीर से अवच्छिन्न रूप। अधिभूत, अर्थात् भूतों को अधिकृत करके परमात्मा कैसा है; अधिदैव अर्थात् दैव को अधिकृत करके परमात्मा कैसा है; और अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ को अधिकृत करके कैसा है। तो परमात्मा का अध्यात्मरूप, कर्मरूप, अधिभूतरूप, अधिदैवरूप और अधियज्ञरूपइन सबको वह यत्नशील साधक जानता है। पूर्व श्लोक में 'कृत्स्न' कहा था, उसी कृत्स्नता,

पूर्णता को यहाँ विस्तार करके, खोल कर कह दिया। ये रूप कौन-से हैं यह आगे बतलाना है। इस प्रकार से सब कुछ शिवस्वरूप है और मैं भी शिवस्वरूप हूँ यह ज्ञान चाहिये। पूजा के अंत में कहते हैं

'शिवःकर्त्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
शिवो यजति यज्ञश्च सोहमस्मि सदा शिवः।'

करने वाला भी शिव ही है, भोगने वाला भी शिव ही है, शिव से अन्य कोई विषय नहीं है। पूजा भी शिव ने की है। पूजा स्वयं भी शिव ही है। ऐसा वह जो सर्वस्वरूप शिव है, वही मैं हूँ। इस प्रकार परमात्मा के कृत्स्न रूप को जानना है, पूर्णरूप को जानना है। इसमें से किसी एक रूप को जानने मात्र से द्वन्द्वनिवृत्ति नहीं होगी। जो यों जान लेते हैं 'प्रयाणकालेऽपि' यहाँ से प्रयाण करते समय, मरते समय भी 'युक्तचेतसः', उनका चित्त समाहित रहता है। क्योंकि हर चीज़ उन्होंने ब्रह्मरूप समझी हुई है इसलिये ब्रह्म को छोड़कर और कहीं उनका चित्त समाहित हो ही नहीं सकता। 'मां विदुः' उस समय में भी वे मुझे देखते हैं। जब मृत्युकाल आता है तब वे जानते हैं कि महाकाल स्वयं पधार रहे हैं। उसमें भी वे ब्रह्म को देखते हैं।

भगवान् ने शुरू में प्रतिज्ञा की थी, 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्'; तदनुसार यहाँ शास्त्रीय ज्ञान भी बलता दिया और उसके अनुभव का प्रकार भी बतला दिया। अन्त में ब्रह्म की कृत्स्नता का जो उल्लेख किया उस पर अर्जुन प्रश्न करेगा, जिसके उत्तर में अगले अध्याय में अध्यात्म आदि शब्दों की भगवान् स्वयं व्याख्या करेंगे।।३०।

।।सातवाँ अध्याय।।

ॐ

आठवाँ अध्यायः अक्षरब्रह्मयोग

सप्तमाध्याय में शास्त्रीय ज्ञान और उसके अनुभव का प्रकार बताकर अन्त में कुछ प्रश्नों के बीज रख दिये थे जिनके अंकुर रूप से ब्रह्म-आदि पदार्थों को समझने के लिये अर्जुन इस अध्याय के प्रारंभ में सात प्रश्न पूछ रहा है

अर्जुन उवाच
किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसे कहा? और अधिदैव कौन कहा जा रहा है?

व्याकरण में तीन पुरुष माने जाते हैंजो संमुख नहीं है या जिसे संबोधित नहीं किया जा रहा, वह कर्ता प्रथम या अन्य पुरुष कहा जाता है जैसे 'वह जाता है' में 'वह'। जो सामने है, जिससे कहा जा रहा है, वह मध्यम पुरुष है, जैसे 'तुम जाते हो' में 'तुम'। और वक्ता स्वयं उत्तम पुरुष होता है जैसे 'मैं जाता हूँ' में 'मैं'। अतः उत्तम पुरुष अर्थात् मैं से अभिन्न जो पुरुषरूप है उसी को अर्जुन ने सम्बोधित किया 'पुरुषोत्तम!' यही भगवान् ने अपना रूप पूर्व अध्याय में बतलाया था। अर्जुन पूछा रहा है कि आपने कहा, 'वे ब्रह्म को जानते हैं'; उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है? इसी प्रकार अध्यात्म क्या है? और जिसे अखिल कर्म कहा था वह क्या है? किंच 'साधिभूताधिदैवं' कहा था, वहाँ अधिभूत क्या है, अधिदैव शब्द से आप किस चीज़ को कहना चाहते हैं?।।१।।

बाकी पदों का भी अर्थ पूछता है

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

हे मधुसूदन! इस शरीर में अधियज्ञ कौन है व उसका चिंतन कैसे करना है? एवं समाहित मन वालों द्वारा मरते समय आप किस तरह जाने जाते हैं?

मधु राक्षस ने सभी देवताओं को वश में कर लिया था। भगवान् सोए हुए थे। जब तक भगवान् न जगें तब तक मधु मारा न जा सकता था, क्योंकि भगवान् को ही उसे मारना था। देवताओं ने भगवान् को जगाने के लिए देवी से प्रार्थना की। निद्रा रूपी देवी हट गई, भगवान् विष्णु जग गए और मधु को मार दिया। उसने कहा 'मुझे वहाँ मारिये जहाँ कोई मरा नहीं है।' भगवान् ने उसको अपनी जांघ पर मारा क्योंकि उससे पूर्व उनकी जांघ पर कोई नहीं मरा था। अर्जुन का अभिप्राय था कि जिस प्रकार से आपने मधु को मार डाला था इसी प्रकार मेरे मोह को समाप्त कीजिये। मधु और कैटभ दोनों साथ रहते थे और साथ ही मारे भी गए। उनका द्वंद्व अर्थात् जोड़ा था। पूर्व श्लोक में मोह भी द्वंद्वसंबंधी कहा गया था। अतः मधुसूदन इस मोह को अवश्य नष्ट कर सकते हैं। हमारा अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा हमारे अंदर विद्यमान है पर अविद्या से सो रहा है, ढका हुआ है, कार्यकारी नहीं है। जब तक मोह निद्रा खत्म न होवे तब तक मोह-निवृत्ति होती नहीं। शास्त्र के द्वारा ही आत्मदेव जगेगा। शास्त्र के द्वारा हमें पता लगेगा कि मेरे अंदर सारी चेतना देने वाला वही है, जो संसार के जन्मादि का हेतु है। जैसे अपने शरीर पर मधु को मारा, वैसे ही अज्ञाननिवृत्ति ज्ञान-स्वरूप ही है। अधिष्ठान में ही वह समाप्त हो जाती है, उसका बाध हो जाता है। इसलिए भगवान् से अर्जुन कह रहा है कि आप मधुसूदन हैं, अधिष्ठान रूप से अपने अंदर ही सब चीज़ों को खत्म करने वाले हैं, मेरे भी इस मोह को समाप्त करिए।।२।।

भगवान् ने जिस क्रम से प्रश्नों के बीज डाले थे उसी क्रम से अर्जुन ने प्रश्न पूछे और जिस क्रम से अर्जुन ने प्रश्न पूछे उसी क्रम से भगवान् आगे जवाब दे रहे हैं।

श्रीभगवान् उवाच
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।।३।।

श्रीभगवान् ने समझायाब्रह्म अर्थात् वह परमार्थ तत्त्व जिसका कभी क्षरण नहीं होता। अध्यात्म अर्थात् उसी ब्रह्म का हर शरीर में स्व के, प्रत्यगात्मा के रूप से उपस्थित होना। कर्म नाम है उस परित्याग का जो स्थावर-जंगम जो कुछ भी है उसका उद्भव करता है।

अक्षरजिसका कभी क्षरण नहीं होता, जो कभी झरता नहीं। संसार के सब पदार्थ क्षर हैं। जैसे बिना चाहे हुए भी घड़े में रखा पानी घड़े के बाहर आता ही रहता है, झरता ही रहता है, इसी प्रकार संसार के सब पदार्थ निरंतर क्षरण वाले ही हैं, झरते ही रहते हैं। परमात्मा को ही अक्षर कहते हैं। परमात्मा को अक्षर नाम से बृहदारण्यक कहता है 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि,' याज्ञवल्क्य ने कहाहे गार्गी! इस अक्षर के ही शासन में रहते हुए सूर्य और चन्द्रमा अपने नियत कालों पर उदय होते हैं, अस्त होते हैं। मनुष्य को रविवार को थोड़ी-सी छूट मिलती है तो सबेरे पाँच बजे उठने वाला भी सात बजे उठता है। और लाखों सालों से सूर्य बेचारा समय पर ही उदय होता है, उसको कभी छुट्टी नहीं मिली। किसी का भयंकर शासन उसके ऊपर है तभी यह सम्भव है। संसार में सभी चीज़ें नियम में चल रही हैं क्योंकि परमेश्वर का भय है। 'ओम्' को भी अनेक जगह अक्षर कह दिया है'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म', 'ओम् इति ब्रह्म' इत्यादि। इसलिए भगवान् ने कह दिया 'परमं' ताकि अक्षर से ओंकार का ग्रहण नहीं हो क्योंकि वह परम नहीं है।

परब्रह्म ही हर एक शरीर-मन में, स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों में, प्रत्यगात्मरूप से प्रतीत हो रहा है। परब्रह्म का शरीर के अंदर प्रतीत होनाइसी को 'स्वभाव' कहते हैं। जिस प्रकार तुम घड़ा बनाओ, सुई का छेद बनाओ, कमरा बनाओ, जहाँ भी किसी प्रकार का परिच्छेद बनाओगे, उसके अंदर आकाश की प्रतीति रहेगी। आकाश कट कर तो उसमें आ नहीं जाता है! आकाश में कोई परिवर्तन नहीं होता है परंतु जैसे ही तुमने चारदीवारी बनाई, वैसे ही आकाश उसमें सीमित प्रतीत होने लगता है। इसे आकाश का स्वभाव ही कहोगे। इसी प्रकार, जैसे ही शरीर बना वैसे ही ब्रह्म उसमें मैं रूप से प्रतीत होने लगता है, यह ब्रह्म का स्वभाव ही है। इसी प्रकार जैसे दीवारें या घड़ा फोड़ देने पर सीमित आकाश ही असीम आकाश हो जाता है वैसे प्रत्यगात्मा का अवसान परब्रह्म में ही है, सीमित करने वाली उपाधि का पूर्णतः समापन होते ही जो परिच्छिन्न 'मैं' प्रतीत हो रहा था वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही हो जाता है। इसलिए उसको अध्यात्म शब्द से कहते हैं।

कर्म किसको कहते हैं? भूत अर्थात् जड-चेतन सारे ही जगत् का भाव अर्थात् होना, उसका उद्भव अर्थात् जन्म को करने वाला विसर्ग कर्म है। अर्थात् भूतमात्र की उत्पत्ति करने वाला जो विसर्ग है वह कर्म है। विसर्ग का मतलब है, बाहर निकालना, परित्याग करना। यज्ञ में देवता के उद्देश्य से पुरोडाशादिका परित्याग किया जाता है। जब तक उसका परित्याग नहीं किया तब तक तो वह हमारा, यजमान का था, परित्याग करते ही वह देवता का हो गया। यह विसर्ग ही यहाँ कर्म कहा गया है। कर्म ही संसार के रूप में परिणत होता है जैसे बीज वृक्ष के रूप में परिणत होता है।।३।।

तीन प्रश्नों का पिछले श्लोक में उत्तर दिया। अब अगले तीन का उतर देते हैं

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

शरीरधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! अधिभूत अर्थात् नश्वर पदार्थ। अधिदैव अर्थात् सारे पुरों में, शरीरों में रहने वाला हिरण्यगर्भ। तथा इस शरीर में जो यज्ञ है उसका अभिमानी मैं ही अधियज्ञ हूँ।

भगवान् अर्जुन के प्रश्नों का क्रमशः उत्तर बतला रहे हैं क्योंकि जिस क्रम से प्रश्न किया हो, उसी क्रम से उत्तर दिया जाए तो पूछने वाले को समझने में सुविधा होती है और यदि क्रम बदल दिया जाए तो प्रश्नकर्त्ता को समझ आने में ज़रा विलम्ब होता है। इसलिए भगवान् प्रश्नों के क्रम में जवाब दे रहे हैं।

प्रश्न थाअधिभूत क्या है? तब भगवान् ने कहा, 'अधिभूतं क्षरो भावः'। क्षर अर्थात् विनाशी। भूतों को, सारे प्राणियों को अधिकृत करके क्या रहता है? ये सभी विनाशी हैं। जैसे परमात्मा अक्षर है, कभी भी उसका क्षरण नहीं होता, वैसे ही सभी प्राणी क्षर हैं, विनाशी हैं, नष्ट होना ही उनका स्वभाव है। भूत वह है जो सत्ता में *आया* है। 'भू' का मतलब होता है 'होना' और भूत का मतलब होता है 'जो हुआ', चूंकि हुआ है, इसलिए नष्ट भी होगा ही। श्रुति भी कहती है, युक्ति से भी समझ में आता है कि जो भी चीज़ है, जो भी प्राणी है, वह नष्ट ज़रूर होगा, अवश्य मरेगा। सब प्राणियों का अधिभूत भाव क्या है? क्षर भाव ही अधिभूत है।

संसार में शायद कोई मनुष्य ऐसा नहीं मिलेगा जो यह निश्चित नहीं जानता है कि मरना है, पर किसी के मरने की बात सुनते ही कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं होगा जिसको आश्चर्य न होवे कि 'अरे, कैसे मर गया!' अर्थात् सब मानते हैं कि कुछ तो कारण बना होगा मरने का। और अपने मरने की बात तो कोई सुनना ही नहीं चाहता! दूसरे के मरने से आश्चर्य होता है और 'मैं मरूँगा'यह तो कोई सुनना भी नहीं चाहता। इसलिए महाराज युधिष्ठिर ने कहा था कि प्रतिदिन लोग मरते हैं, यम के पास जाते हैं, लेकिन बचे हुए सोचते हैं कि हम नहीं जाएँगे! यह महत् आश्चर्य है। निश्चय होने पर भी कि हमें मरना है, यह न सोच पाना कि 'मैं मरूंगा,' एक आश्चर्य ही है। यह ठीक उसी तरह है जैसे 'मैं चेतन हूँ' यह समझते हुए भी, 'शरीर जड है'यह समझते हुए भी, सबको लगता है 'यह शरीर मैं हूँ!' कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो 'मैं चेतन हूँ' ऐसा न समझता हो, फिर भी जड शरीर को अपना रूप समझ कर 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मानता है। अतः भगवान् ने इसे विशेष विज्ञेयों में गिना कि साधक ही इस तथ्य को समझकर याद रखता है।

अगला प्रश्न पूछा था कि 'अधिदैवतम्' देवताओं को अधिकृत करके क्या रूप है? भगवान् ने उत्तर दिया 'पुरुषश्चाधिदैवतम्।' पुरुष को पुरुष क्यों कहते हैं? क्योंकि

उसके आने पर ही सब 'पूरा' होता है। उपनिषद् में वर्णन आता है कि भगवान् ने मनुष्य को बना कर उसे आँखें, नाक, कान आदि सब दे दिए। उनमें देवताओं को भी बैठा दिया। उन्होंने सोचा कि 'ये सब चीज़ें बन गई हैं', आगे ये अपना काम शुरू करें। जिस प्रकार पंखा, लट्टू आदि उपकरण सज्जित कर दो पर बिजली का संबंध न हो तो कोई उपकरण कार्य नहीं कर सकता, इसी प्रकार भगवान् ने सारी चीज़ें बना दी पर अपना संबंध दिया नहीं तो कोई चीज़ काम नहीं कर पायी। अतः भगवान् ने घोषणा की 'मेरा संबंध हुए बिना ये सब कैसे कुछ करेंगे!' तब उन्होंने शरीर में प्रवेश किया। जैसे ही प्रवेश किया वैसे ही आँखें, नाक, कान सब काम करने लग गए। परमात्मा आने पर ही यह 'पूर्ण' हुआ इसलिए उसको पुरुष कहते हैं, 'पूर्णत्वात्पुरुषः।' उससे ही सब पूर्ण होता है, उसके बिना सब अधूरा रह जाता है।

यह बात लोग नहीं समझते हैं। इसलिए सरकारें सब तरह की उन्नति की बातें करती हैं पर उन्नति हो नहीं पाती क्योंकि परमेश्वर के लिये वे कोई स्थान रखते ही नहीं। आरक्षी (पुलिस मैन) को खड़ा करते हैं कि चोरी न हो। वह घूस लेने लगता है। तो उस पर एक अधीक्षक रख देते हैं। वह भी घूसखोर निकलता है। उस पर आयुक्त रख देते हैं, पर उसका भी वही हाल रहता है। हमेशा समस्या रहती है कि चोरी कैसे रुके? और इसी देश में आज से तीस-पैंतीस साल पहले तक की स्थिति थीः बद्रीनारायण में नहाते समय घाट के ऊपर रुपयों की थैली रखी, चलते समय भूल गए उठाना। तीन दिन के बाद वापिस आते थे तो देखते थे कि थैली वहीं पड़ी है! वहाँ कोई चौकीदार, आरक्षी नहीं होता था। तब लोगों के मन में यह बात थी कि यदि हमने गंगा के किनारे चोरी की तो हमें नरक में डंडे खाने पड़ेंगे। यह सब को भय था। परमेश्वर तो तुम्हारे अन्तःकरण में सब जगह रहेगा और उसको तुम घूस भी नहीं दे सकते हो! संसार में जहाँ-जहाँ जब तक परमात्मभाव सामने रहता था तब तक लोग अनैतिक कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होते थे। अमेरिका के संविधान में स्पष्ट लिखा है कि 'परमेश्वर पर हमारा भरोसा है!' उनके संविधान में सबसे पहले नाम परमेश्वर का आता है। हम लोगों ने परमेश्वर का बहिष्कार किया। अब बहुत कुछ वहाँ भी इसको भूल रहे हैं। पर बार-बार नोट, सिक्के आदि पर सामने भगवान् का उल्लेख आता है तो कुछ-न-कुछ भाव बनता ही है। इसलिए वहाँ के *सुधारकों* को बार-बार कहना पड़ता है कि परमेश्वर को हटाओ, नहीं तो लोगों में अपराध-बोध (guilt feeling) बन जाता है। बार-बार परमेश्वर सामने आता है तो बेचारे गलत काम करके दुःखी हो जाते हैं कि 'मैंने ग़लत काम किया।' परमेश्वर हटा दो तो यह बोध नहीं होगा। तो क्या होगा? जो आज भारत में हो रहा है! अगर किसी को कहते हैं कि 'घूस क्यों खाई?' तो जवाब है कि इसके बिना काम नहीं चलता! उनको यह बोध ही नहीं कि घूस ली तो कोई ग़लती की। इसी तरह घूस देने वाला भी जो धन गया उसी की परवाह करता है, देने

की गलती कीयह उसे नहीं लगता। बल्कि कोई घूस नहीं देता तो दूसरे लोग कहते हैं कि कंजूस है, पैसा खर्चना नहीं चाहता अर्थात् घूस *नहीं* देने को ही गलत मानने लगे हैं! इतना बड़ा फ़र्क क्यों आया है? क्योंकि हम इस बात को भूल गए कि परमेश्वर के आने पर ही पूर्णता हो सकती है अन्यथा हो ही नहीं सकती।

सूर्यमण्डल के अंदर हिरण्यगर्भ स्थित है। सारे प्राणियों के आँख, नाक, कान इत्यादि अध्यात्म देवता समष्टिरूप से वहाँ उपस्थित हैं। देवताओं के अनुग्रह से ही हमारी इन्द्रियाँ काम करती हैं। सूर्यमण्डल के अंदर स्थित जो हिरण्यगर्भ है सारे प्राणियों की इन्द्रियों पर, मनों पर अनुग्रह करने वाला, वही अधिदैवत है। सूर्य साक्षात् परमेश्वर का रूप है। अतः वैष्णव 'सूर्य-नारायण' कहते हैं, सूर्य को नारायण से अभिन्न मानते हैं। शैव सूर्य को भगवान् शंकर की अष्ट मूर्तियों में से एक मूर्ति मानते हैं। देवी की उपासना करने वाले सूर्यमण्डल में त्राटक करके उसके अंदर दुर्गा का ध्यान करते हैं। सभी उस सूर्य के अंदर अपने-अपने इष्ट देव की दृष्टि करते हैं। इसलिए वही अधिदैवत है। सबकी इन्द्रियों को अपने अनुग्रह से पूर्ण करने वाला, कार्यकारी बनाने वाला सूर्य-मंडल के अंदर स्थित हिरण्यगर्भ है।

अधियज्ञ कौन है? श्रुति कहती है 'यज्ञो वै विष्णुः।' यज्ञ को अधिकृत करके विष्णु ही विद्यमान है। सारे यज्ञों का अभिमानी देवता विष्णु ही है। इसलिए भगवान् ने कहाअधियज्ञ मैं ही हूँ। 'अत्र देहे' इस शरीर में। इस शरीर में यज्ञ है क्योंकि शरीर के द्वारा ही यज्ञ सम्पन्न किया जा सकता है। शरीर के बिना तो यज्ञ हो नहीं सकता। अतः यज्ञ का समवायी कारण शरीर ही होगा, यज्ञ देह में रहेगा। जैसे कपड़ा धागे से होता है तो कपड़ा कहाँ रहेगा? धागे में ही रहेगा। उसी प्रकार यज्ञ किससे होता है? शरीर से होता है। अतः यज्ञ कहाँ रहेगा? शरीर में ही रहेगा। कोई कह सकता है कि यज्ञ शरीर से कैसे होता है, यज्ञ के लिए तो जौ चाहिए, चावल चाहिए, घी चाहिए, आग चाहिए? विचार करके देखोये चीज़ें तो बदलती रहती हैं। कोई यज्ञ घी से होता है, कोई यज्ञ सत्तू से होता है। कोई यज्ञ दही से होता है। ये सब बदलते रहते हैं। कोई यज्ञ अग्नि में होता है, कोई यज्ञ शालिग्राम पर होता है। पर सब यज्ञों में नहीं बदलने वाला कौन है? यज्ञ करने वाला शरीर तो वही रहेगा। बिना शरीर के कोई यज्ञ नहीं होता, इसलिए यज्ञ शरीर में रहेगा। इस शरीर के अंदर यज्ञ-रूप से रहने वाले विष्णु अधियज्ञ हैं। सारे यज्ञों में रहते हैं अर्थात् सारे शरीरों में रहने वाले भगवान् विष्णु ही अधियज्ञ हैं।

भगवान् अर्जुन के लिये सम्बोधन देते हैं 'देहभृतां वर!' देह धारण करने वालों में तू श्रेष्ठ है। इसका मतलब हुआ कि सारे शरीरों के अंदर मैं हूँ, और क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्रिय है इसलिए तू श्रेष्ठ है। जैसे अन्यत्र भगवान् ने कहा 'प्रियोसि मे सखा चेति', तू मुझे प्रिय है, वैसे ही यहाँ कह दिया 'देहभृतां वर' सारे देहियों के अंदर तू

मुझे प्रिय है। क्यों प्रिय है? तू वैराग्य से सम्पन्न है। 'स्वर्ग के राज्य को भी मैं नहीं चाहता मैं केवल कल्याण चाहता हूँ'इस प्रकार वैराग्य से केवल कल्याण के लिए तू प्रवृत्त है, इसलिए तू शरीरधारियों में श्रेष्ठ है। इससे भगवान् ने कह दिया कि जो वैराग्य से सम्पन्न होकर परमात्मदर्शन में प्रवृत्त है, वही उन्हें सबसे प्रिय है। आत्मदर्शन के लिए जो प्रवृत्त है वही शरीरधारियों में श्रेष्ठ है। बाकी कितनी ही सिद्धियाँ प्राप्त कर लेवे, बड़े-बड़े राज्य प्राप्त कर लेवे, धनियों के अंदर सबसे श्रेष्ठ हो जाए, भगवान् को प्रिय नहीं होगा। भगवान् को प्रिय तो वही होगा जो वैराग्यपूर्वक उस आत्मदर्शन के लिए प्रवृत्त है।।४।।

अन्तिम प्रश्न था कि जिन लोगों ने अपने शरीर-मन को वश में कर लिया है, वे अन्त काल में आपको कैसे समझते हैं, कैसे जानते हैं, कैसे स्मरण करते हैं? उसका प्रकार भगवान् बतलाते हैं

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

मृत्यु के समय भी मुझ परमेश्वर को ही याद करते हुए शरीर छोड़कर जो जाता है वह निःसंशय मेरी वास्तविकता प्राप्त करता है।

अर्जुन ने पूछा था कि प्रयाण के समय आपको कैसे जाना जाये? भगवान् जवाब में कहते हैं 'अन्तकाले च'; चकार का तात्पर्य है कि जिसने यावद् जीवन स्मरण किया है, उसी को मृत्यु के समय स्मरण होगा। अतः यह आशा लगा कर बैठे नहीं रहना है कि अन्त में भगवान् का स्मरण कर लेंगे! यावद् जीवन भगवत्स्मरण करने पर ही सम्भव है कि अन्तिम काल में उसका स्मरण होवे। 'मामेव' मेरा ही; 'ही' शब्द संस्कृत में हमेशा किसी को हटाने के लिए कहा जाता है। दस चीज़ें रखी हुई हैं। किसी को कहते हैं 'इनमें से जो मर्ज़ी उठा लो।' वह दसों उठा कर ले जा सकता है। इसलिए कहते हैं 'इनमें से एक ही चीज़ उठा कर ले जाना।' यहाँ 'ही' मायने बाकी मत उठाना। या किसी को भोजन के लिए निमंत्रण देते हैं 'तुम ही आना।' अर्थात् पत्नी बच्चों को साथ में मत लाना। ठीक इसी प्रकार से मेरा ही, अर्थात् जो प्रत्यग् आत्मा से अभिन्न परमात्मा का रूप है उसी का। बाकी जितने यहाँ अपने अध्यात्म, अधिभूत, अधियज्ञ, अधिदैव इत्यादि रूप कहे हैं उन सबका नहीं, केवल जो शुद्ध रूप है उसी का 'स्मरन्' स्मरण करते हुए रहना है। स्मरण उसी का होता है जिसका तुमने ज़्यादा अनुभव किया हो। चाहे जैसी भयंकर परिस्थिति आवे, चूंकि उसका इतना स्मरण किया हुआ है, इसलिए वही झट स्मरण हो जाता है। अन्तिम समय बड़ा भयंकर होता है। इसलिए एक भक्त परमेश्वर से कहता है कि आज ही मेरा मन परमात्मा में सर्वथा लीन हो जावे। जिस प्रकार से पानी दूध में घुस जाता है तो फिर वहाँ पानी नहीं रह जाता, इसी

प्रकार से मैं आपमें ऐसा घुस जाऊँ कि प्रत्यगात्मा और परमात्मा में कोई भेद न रह जाए। कहा यह कि 'विशतु मानसराजहंसः'मन घुस जाये, किंतु मन तो यों एकमेक होगा नहीं, आत्मा ही परमात्मा से एक हो सकता है। तब, मन घुस जाए इसका मतलब क्या है? मन ब्रह्माकार वृत्ति बनाता है, ब्रह्माकार वृत्ति बनते ही आत्मा और ब्रह्म की एकता स्फुट हो जाती है। फिर वहाँ रहा हुआ मन भी किसी प्रकार का परिच्छेद नहीं कर पाता क्योंकि परिच्छेद करने वाला जो अज्ञान है वह उस वृत्ति से नष्ट हो चुका है। चूंकि वहाँ केवल परमात्मा रह गया इसलिए कहा जाता है कि उसी में घुस गया। रस्सी को भ्रम से साँप समझकर जब रोशनी में रस्सी देख लेते हैं तब साँप कहाँ जाता है? यह भी एक जवाब हो सकता है कि उस रस्सी में ही वह साँप घुस गया। साँप रस्सी में *घुसा* तो नहीं है, परंतु रस्सी के आते ही सर्प नहीं रहा, इसलिए उसी को 'घुस गया' ऐसा कह देते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति के बनते ही बुद्धि नहीं रह जाती, इसीलिए कहा जाता है कि वह परमात्मा में ही प्रविष्ट हो गई।

भक्त क्यों भगवान् से प्रार्थना कर रहा है कि आज ही ब्रह्माकार वृत्ति बन जाए; अन्तिम समय में बना ले, इतनी जल्दी क्या है? वह स्वयं कहता है कि जब प्राणों के प्रयाण का समय होगा, अन्तकाल होगा, तब कफ, वात और पित्ततीनों धातु प्रकुपित हो जायेंगे, कण्ठ भी अवरुद्ध हो जायेगा। पता कैसे चलता है कि कोई मर गया? अन्त में एक मृत्यु क्षण की हिचकी आती है। उस हिचकी के आते ही जानकार लोग समझ जाते हैं कि अब मर गया। मरते समय कण्ठ का अवरोध हो जाता है। उस समय हम ब्रह्माकार वृत्ति बना सकें, केवल परमेश्वर का स्मरण कर सकें, यह तो सम्भव नहीं है। इसलिए भक्त की प्रार्थना है कि पहले ही यह हो जाए।

'कलेवरम् मुक्त्वा' इस शरीर को छोड़कर। जब तक देहाध्यास रहता है, 'मैं देह हूँ' यह अभिमान रहता है, तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा कभी होता नहीं। देहाभिमान छूटने से ही ब्रह्मावबोध सम्भव है। ज्ञानकाल में जैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव होता है वैसे ही 'मैं देह हूँ' यह अनादिकाल का जो शरीर को पकड़े रहना है, वह छूट जाता है। जिसका यह अभिमान छूट गया, उसका जिस समय प्राण का अवरोध होता है, उस समय भी उसे ब्रह्मरूपता स्पष्ट ही प्रकाशित रहती है। इसलिए यहाँ भगवान् यह नहीं कह रहे हैं कि 'अन्तकाल में ऐसा बनना' वरन् कह रहे हैं कि देहाभिमान को छोड़ कर तुम इस भाव को प्राप्त कर लो।

'यः प्रयाति।' शरीर के अंदर प्राण चलते हुए सब को दीखते हैं। जब न दीखें तब लोग यही समझते हैं कि जीव अब गया। अतः बौद्ध लोगों ने दो शब्द बनाएनिर्वाण और परिनिर्वाण। बुद्ध को जिस दिन ज्ञान हुआ उस दिन निर्वाण तो हो गया। कई बार बुद्ध ने कहा है कि 'उस दिन के बाद कहीं कुछ नहीं हुआ। जो होना था तभी हो गया।' पर फिर भी उनका शरीर तो दीखता रहा। शरीर दीखना भी बंद होने पर

परिनिर्वाण कहते हैं। इसी प्रकार जब तक जीवन दीखता रहता है तब तक हम लोग आत्मवेत्ता को जीवन् मुक्त कह देते हैं। जब शरीर दीखना बंद हो जाये तब उसे विदेह मुक्त कह देते हैं। लेकिन मुक्त तो एक जैसा ही है, क्योंकि उसने ज्ञान के समय शरीर के साथ संबंध को छोड़ दिया। दूसरों की दृष्टि में *जीते हुए* मुक्त होने पर भी अपनी दृष्टि में तो केवल मुक्त है। इसी प्रकार से दूसरों की दृष्टि से वह देहरहित मुक्त होता है, विदेह मुक्त होता है। अपने स्वरूप में तो वह एक जैसा है। इस प्रकार से शरीर छोड़ कर जो जाता है 'स मद्भावं याति' वह जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न मेरा परमात्मभाव है, उसको पा जाता है। विष्णु शब्द का अर्थ ही होता है सर्वव्यापक। सर्वव्यापक कहीं जा कैसे सकता है? जो कहीं न होवे वह वहाँ जाये। जाना तब होता है जब एक स्थान को तुम छोड़ सको और दूसरे स्थान में तुम पहले से न होवो। व्यापक होने से विष्णु न किसी स्थान को छोड़ सकते हैं और न किसी जगह वे पहले से नहीं हैं कि वहाँ जाएँ। इसलिए 'मद्भावं याति' अर्थात् अब तक सबको उसकी प्रतीति देह-विषयक हो रही थी, अब लोगों की प्रतीति वैसी नहीं रही। घड़े के दृष्टान्त से समझ लोसामने घड़ा हो तो तुम्हें दो आकाश दीखते हैंएक घड़े से सीमित हुआ आकाश जिसको संस्कृत में घटाकाश कहते हैं और दूसरा उसके बाहर का आकाश, महाकाश। आकाश को तुम कहीं ले जा सकते हो क्या? घटाकाश को तुम नहीं ले जाते, घट को ले जाते हो; जहाँ-जहाँ घट को ले जाते हो, वहाँ आकाश पहले से ही है, इसलिए घटाकाश प्रकट दीखता है। तुमने जब घट को फोड़ दिया, घट दीखना बंद हो गया तब क्या घटाकाश कहीं गया? फिर भी क्या कहा जाता है? 'घटाकाश महाकाश में लीन हो गया' ऐसा कहते हैं क्योंकि अब तुमको घट *दीखना* बंद हो गया तो घटाकाश की प्रतीति बंद हो गई। परंतु आकाश में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार देह के कारण तुमको प्रतीत हो रहा था कि यह जीवन् मुक्त है, देह की प्रतीति हट जाने पर तुम्हें लगता है कि यह विदेह मुक्त है, परंतु वह सब समय देहाभिमान से मुक्त है अतः सिर्फ 'याति' न कहकर 'प्रयाति' कहा; मद्भाव में जाने का यही प्रकर्ष है।

'अत्र संशयः न अस्ति।' इस विषय में किसी भी प्रकार का संशय नहीं है। कुछ लोगों की मान्यता है कि मुक्त भी पुनः प्रकट होता है! मुक्त पुनः प्रकट हो नहीं सकता क्योंकि मुक्त तो विष्णुरूप है। विष्णु अपनी माया शक्ति के द्वारा कहीं अपने को प्रकट करता हुआ-सा दीखे तब भी *होता* नहीं है। लोग शंका करते हैं कि आधिकारिक पुरुष फिर से कैसे आते हैं? यह समझ लेना चाहिये कि आधिकारिक पुरुषों को प्रारब्ध वाले शरीर ही मिलते हैं। जिसका प्रारब्ध एक से अधिक शरीरों का है वह एक से अधिक शरीरों में प्रकट हो जाता है। 'मैं मर गया', मैंने अब जन्म लिया'; ये सब उसके लिए वैसा ही है जैसे हम कहते हैं 'मैं सो गया, मैं जग गया।' जैसे एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने पर हमें किसी नवीनता की प्रतीति नहीं होती इसी प्रकार यह देह नहीं रहा वह

देह हो गयाइससे किसी भी प्रकार का फ़र्क आधिकारिक पुरुष को नहीं होता। किसी को बचपन में ज्ञान हो गया, उसके बाद उसका शरीर जवान भी होगा, प्रौढ भी होगा, वृद्ध भी होगा। शरीर में इन सब परिवर्तनों के होने पर भी उसका ब्रह्मरूप वैसा का वैसा स्थित रहता है। इसी प्रकार अन्य शरीरों के अंदर प्रतीति होने पर भी वह अपने ब्रह्मरूप में ही स्थित रहता है।

लोगों को ऐसा समझ में आता है कि एक-एक कर मुक्त होते चले गये तो संसार खत्म हो जाएगा! शंका करने वाले वस्तुतः संसार की वास्तविकता के भ्रम से ग्रस्त हैं। जिस प्रकार जो सान्त संख्याओं के सामान्य गुणों से ही परिचित होते हैं उन्हें अनंत की बात कही जाती है तो कुछ समझ में नहीं आती। दो संख्यायें जुड़ने से बढ़नी चाहिए पर क्या अनन्त के अंदर कुछ जुड़ कर बढ़ोतरी होगी? जैसे गणित का यह रहस्य साधारणतः समझ में नहीं आता वैसे ही संसारसत्यता की दृष्टि से ग्रस्त लोग सोचते हैं कि संसार है, उसमें से एक-एक जाएगा तो अन्त में कुछ नहीं रह जाएगा। इस प्रकार के संशयों को काटने के लिए भगवान् ने अपना स्पष्ट मत बतला दिया कि उसके बाद एकमात्र विष्णु ही रह जाता है, इस विषय में संदेह की कोई जगह नहीं है।।५।।

समस्त विभूतियों का अधिष्ठान प्रत्यगात्मा से अभिन्न है, यह जिसने साक्षात् अनुभव कर लिया वह कैवल्य प्राप्त कर लेता है और जो विभूतियों वाले रूप का ही उपासक है वह शरीर छूटने पर ब्रह्मलोक प्राप्त करता हैयह बताया। यह जो कहा कि जन्म-भर भावना करने के साथ ही देह छूटते काल में भी, अर्थात् ऐसी भयंकर परिस्थिति के अंदर भी, जिसका परमात्म-चिंतन नहीं छूटता है वही परमात्म-भाव को प्राप्त होता है, इस का अतिदेश करते हैं कि यह केवल परमात्मा के चिंतन की ही बात नहीं है, जिस चीज़ का जन्मभर कोई चिंतन करता है और फलस्वरूप अन्तकाल में भी उसकी वृत्ति बनती है, व्यक्ति उसी को प्राप्त करेगा

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

हे कुन्तीनंदन! सदा जिसकी वासना का अभ्यास मन में डाला हुआ व्यक्ति प्राण छूटते समय जिस-जिस भी (चिराभ्यस्त) भाव को याद करते हुए शरीर छोड़ता है, उसी-उसी भाव को प्राप्त करता है।

'यं यं भावं' जिस-जिस भाव को अर्थात् देवता-विशेष को, जिसकी भी साधक आराधना करता है 'सदा तद्भावभावितः' उस देवता का भाव हमेशा रखने के कारण अन्तःकरण में उसी भाव की भावना दृढ होती है। इसलिए उसी भाव का स्मरण करते हुए, चिंतन करते हुए 'अन्ते कलेवरम् त्यजति' प्रारब्ध की परिसमाप्ति पर शरीर छोड़ता है। तब, जिसका उसने स्मरण किया है उसी-उसी भाव को, अपने इष्ट देवता को 'एति'

प्राप्त कर लेता है। जिसने विभूति सहित परमेश्वर को भी समझ लिया है उसके लिए तो पूर्व श्लोक में कहा था कि वह ब्रह्मलोक को जाएगा। जो अन्य देवता का भक्त है अर्थात् 'मेरे अंदर स्थित प्रत्यगात्मा से देवता भिन्न हैं'ऐसी अन्य दृष्टि वाला है, उसने विभूतियों के अधिष्ठान-रूप में परमात्मा का चिंतन नहीं किया है, उसे अपने से अन्य ही समझता है। अधिकतर लोग ऐसे ही हैं। ऐसा उपासक देवलोक को ही प्राप्त होता है।

भगवान् ने यहाँ नियम बता दिया कि व्यक्ति सदा जिस भावना से भावित हो गया, उस भाव को प्राप्त होगा क्योंकि अन्त में उसी का स्मरण होगा। जो किसी एक भाव की सदा भावना कर ही नहीं पाता, या करता ही नहीं है, कभी कुछ कर लिया, कभी कुछ और कर लिया, वह अत्यन्त विक्षिप्त अवस्था वाला होने से अन्तकाल में उसको स्मरण भी विक्षिप्त अवस्था का ही होता है और जो तृतीय मार्ग बतलाया है शास्त्रों में, उसे प्राप्त करता है अर्थात् जन्मता और मरता है। देवलोक को जाने के लिए, स्वर्ग लोक को जाने के लिए किसी एक भावना वाला होना ज़रूरी है। विक्षेप वाले को तो ज्योतिष्टोम आदि कर्म के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। अधिकतर लोग इसी प्रकार के होते हैं कि जिस समय जो चीज़ सामने आती है, उस समय उसी में स्थिर हो जाते हैं। किसी एक भाव को लेकर सदा भावित नहीं रहते हैं। चूंकि अधिकतर लोग ऐसे हैं इसलिए यहीं जन्मते और मरते रहते हैं। ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति उनके लिए सम्भव ही नहीं है। इतना समझ लेना कि कर्म से सुख-दुःख की प्राप्ति होती है परंतु सुख-दुःख कहाँ, किस योनि में भोगा जाए, इसमें अन्तिम भावना बहुत काम कर जाती है।।६।।

अन्तिम भावना कैसे होवे इसको विधिमुख से बतलाते हैं

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।।७।।

इसलिये हर समय मेरा अनुस्मरण और युद्ध दोनों करो। मुझे अर्पित मन-बुद्धि वाले हुए निःसंशय मुझे ही प्राप्त करोगे।

चूंकि अन्तिम भावना देहान्तर-प्राप्ति का कारण है, इसलिए सब कालों में, जगने से लेकर जब तक सो न जाओ तब तक, जीवन-भर 'मामनुस्मर' मेरे विभूति रूप का, सगुण रूप का स्मरण करो। सगुण रूप का स्मरण करते हुए सर्वकर्मत्याग की प्राप्ति नहीं है। इसलिए कहा 'युध्य च'। 'तेरे लिए जिस कर्म का विधान है वह कर। तू क्षत्रिय है और सामने धर्मयुद्ध प्राप्त हुआ है अतः इस समय युद्ध कर। सब समय मेरा स्मरण करते हुए युद्ध कर।' अर्जुन के लिए कहा 'युद्ध कर', पर सबके लिए तात्पर्य है कि स्वधर्म करो। जो तुम्हारा स्वधर्म है, उसको करते हुए सब समय परमात्मा का स्मरण

रखो। अधियज्ञ अधिभूत इत्यादि जो भाव बतलाए थे वे, कार्य करते हुए अपने शरीर में एवं सब चीज़ों के अंदर भगवान् की विभूति का स्मरण कराते रहेंगे। तुम्हारा शरीर, तत्तत् कार्यों के उपयोग की सारी सामग्री, विनियोग बताने वाला शास्त्र आदि सभी परमेश्वर की विभूति होने से उनका स्मरण कराते हैं। इसीलिये अधिभूत, अधियज्ञ आदि विभिन्न रूपों का वर्णन किया जाता है। जिस सामग्री से और जो हम अर्चना कर रहे हैं, वह परमेश्वर का अधियज्ञ रूप है। इन विभूतियों पर ध्यान करें तो स्वधर्म आचरण करते हुए कहीं भी परमात्मा का विस्मरण नहीं रहेगा क्योंकि किसी-न-किसी रूप में वह है और तुम जानते हो कि वह है।

पदार्थों को तो बुद्धिमान् और निर्बुद्धि दोनों देखते हैं परंतु बुद्धिमान् पदार्थों को देखते हैं परमात्मा के अधिभूत रूप से। जो निर्बुद्धि है, वह विषय-मात्र देखता है। इसी प्रकार पूजा करते हुए बुद्धिमान् अधियज्ञ रूप से परमात्मदर्शन कर पाता है, बुद्धिहीन उससे वंचित रहता है। यदि अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदेव, अधिभूत, आदि सारे विभूति के रूप तुम्हारे पहचाने हुए हैं तो उन्हें देखते हुए परमात्मा को ही उस रूप में देख सकते हो। तभी अनुस्मरण और धर्माचरण दोनों इकट्ठे होना बनता है। जो 'अन्य देवता' के भक्त हैं वे इस प्रकार से नहीं कर सकते। अर्थात् स्वधर्मानुष्ठान और अन्य देवताभक्ति साथ-साथ चलते नहीं रह सकते। जो परमात्मा के स्वभाव को प्रत्यगात्मा रूप से भी समझते हैं और सारे विषयों के रूप में भी समझते हैं, वे यह समुच्चय कर पाते हैं। जानने और समझने में फ़र्क है: शालिग्राम की बटिया सामने है; जानोगे तो उसे पत्थर ही पर समझोगे कि वह भगवान् विष्णु है। जब तुमको साक्षात्कार होता है तब तुम समझते नहीं, तब तुम जानते हो कि नाम-रूप नहीं है, एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म ही है। तब जानते हो, समझते नहीं हो। इसलिए तब शास्त्र की ज़रूरत नहीं रहती। अतः आचार्य शंकर एक जगह कहते हैं कि आत्मबोध हो जाने पर न चाहो तो भी मुक्त हो ही जाओगे! जैसे समझ लोएक ढक्कन बंद डब्बा पड़ा हुआ है कहीं; तुमने सोचा कि 'देखें इसमें क्या है?' जैसे ही खोला, वैसे ही जबरदस्त बदबू आई। तुम्हारी बदबू सूंघने की तो इच्छा थी नहीं; तुम, वहाँ क्या हैही देखने गए थे; परंतु बदबू की चीज़ है तो बदबू आयेगी ही। यह इच्छा की अपेक्षा नहीं रखता। तुम चाहो या न चाहो, बदबू आयेगी ही। इसी प्रकार यदि परमात्मा के ज्ञान के लिए तुम्हारी प्रवृत्ति हुई कि ब्रह्म क्या है, और ब्रह्माकार वृत्ति बनी, अज्ञान का परदा खुल गया, तब तुम चाहो या न चाहो, मुक्त हो ही जाओगे। जानने में तुम्हारी इच्छा काम नहीं करती, पर समझने में इच्छा काम कर जाती है। शालिग्राम में विष्णु देख रहे हो, समझ रहे हो कि यह विष्णु है। किसी ने तुम को उलटा उपदेश कर दिया कि पत्थरों को देवता समझना ग़लत है, मूर्खता है; यदि तुम्हें उनकी बात जँच गयी तो तुम शालिग्राम को विष्णु समझना छोड़ दोगे। समझी हुई बात छूट सकती है क्योंकि तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है परंतु जानी हुई

चीज़ छूट नहीं सकती। जैसे तुमने डब्बा खोला और दुर्गन्ध आई। कोई तुमको कह देवे कि वह तो अत्तर की डिब्बी है, उसमें अत्तर भरे हुए हैं; तो तुम उसे कहोगे 'बेवकूफ मत बना।' ठीक इसी प्रकार से जिसको परमात्म-विषयक ज्ञान होता है उसके लिए फिर इच्छा की ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि परमात्म-ज्ञान और मोक्ष एक ही चीज़ है। किन्तु समझने के लिये इच्छा चाहिये, इच्छा के बल पर ही हर समय, हर परिस्थिति में भगवान् का अनुस्मरण कर सकोगे।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'। मन का काम है संकल्प-विकल्प। उक्त साधक का जो भी संकल्प-विकल्प होता है वह परमात्म-विषयक होता है। 'मुझे यह पूजा करनी है, इसके लिए यह सामग्री लानी है। इस प्रकार जो भी उसके संकल्प-विकल्प उठते हैं, वे परमात्म-संबंधी ही होते हैं। बुद्धि का काम है निश्चय करना। बार-बार वह बुद्धि के द्वारा परमात्मा को बताने वाले उपनिषद् आदि जो शास्त्र हैं, उन्हीं का ऊहापोह से विचार करता है, उसी में बुद्धि को लगाता है। साधारण व्यक्ति को कोई गाली दे दे तो वह दिन-भर या और ज़्यादा समय इसी चिंतन में लगाता है कि क्यों दी, इत्यादि। भगवदर्पितबुद्धि वाला साधक सांसारिक विषयों में इस प्रकार विचार नहीं करता। वह देखता हैगाली शब्द है, परमेश्वर का अधिभूत भाव है। वह शब्द मुझे अच्छा नहीं लगा, यह अधियज्ञ भाव है। मैंने ग़लत कर्म किया है, इसलिए उस ने गाली दी है, गाली देने वाला भी भगवान् ही है। इस प्रकार वह परमेश्वर की विभूति के ही दर्शन करता है, उसी का विचार और निश्चय करता है। उसका विचार है कि यह परमेश्वर की विभूति है कि बुरे कर्म का फल मिलता ही है। गाली सुनकर उसको उस परमेश्वर का ही स्मरण आता है जिसने बुरे कर्म का फल दिया। जैसे अच्छे कर्म का फल देने वाला वह है वैसे ही बुरे कर्म का फल देने वाला भी वही है। साधारणतया जब अच्छे कर्म का फल आता है तब तो लोग कहते हैं 'भगवान् की कृपा से ऐसा हुआ।' मतलब उनका यही होता है कि भगवान् ने कर्मफल दिया; वे मानते हैं कि कुछ तो किया ही होगा तब भगवान् ने कृपा की है। कृपा का जो वास्तविक अर्थ है अनुग्रह, किसी कर्म का फल नहीं, वह तो शुरू में समझ में ही नहीं आता। पुण्यफल के लिये तो कह देते हैं कि भगवान् की कृपा से मिल गया। पर दुःख होने पर भगवान् की कृपा नहीं मानते। पाप का भी फल देने वाला तो वही है, उसी की कृपा से दुःख होता है। जो 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' है वह सदा भगवत्कृपा का अनुभव कर पाता है। मुझ वासुदेव में ही उसकी संकल्प-विकल्पात्मक और निश्चयात्मक वृत्ति स्थित रहती है। जब मन बुद्धि लगी हुई है परमात्मा में, तभी परमात्मा का स्मरण चलता है। 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' का उपाय है 'मय्यर्पित- मनोबुद्धिः'।।७।।

इसी बात को और स्पष्ट करके बतलाते हैं

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

हे पार्थ! एकमात्र परमेश्वर का ही आकार बनाना रूप अभ्यासात्मक योग में संलग्न एवं विषयान्तर की ओर न जाने वाले चित्त से शास्त्रानुसारी चिंतन करता हुआ साधक दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है।

परमात्मा में इस प्रकार से मन-बुद्धि का जो समर्पण है, अर्थात् बार-बार इस प्रकार से परमात्मविषयक वृत्तियों को ही बनाना, यह हो गया अभ्यास योग। ये सब जो रूप बतलाए थे, ये उसके लिए मदद करते हैं। स्वधर्माचरण करने में ये सब चीज़ें उपस्थित होती हैं और उन सब में परमात्मा की विभूति की दृष्टि बनेगी, तभी एकमात्र परमात्मा का चिंतन चलेगा। मोटी भाषा में यह समझ लोः आदमी की नाक है, कान हैं, आँखें हैं, ओठ हैं, हाथ हैं, पैर हैं, छाती है, कमर है। इनमें से किसी भी चीज़ का स्मरण हो तो स्मरण हो आदमी का ही रहा है। जब तुम आँख का स्मरण करते हो तो 'उसकी आँख है'इस रूप में ही स्मरण होता है। किसी मुर्दे की आँख का स्मरण तो होता नहीं! इसी प्रकार ये जो विभूतियाँ बतलाई थीं, ये सारी हैं परमेश्वर की। अधियज्ञ रूप सामने आवे, अधिदैव आवे, अधिभूत आवे, अध्यात्म आवे, जो भी आता है, उसको देखकर स्मरण किसका हो रहा है? जिसकी ये सब विभूतियाँ हैं उस परमात्मा का। भगवान् भाष्यकार यहाँ 'एकस्मिन् तुल्यप्रत्ययावृत्ति- लक्षणः' कहते हैं। ब्रह्माकार वृत्ति के अंदर वृत्ति अखण्ड अर्थात् एक ही आकार की होती है। *तुल्य* आकारों की नहीं होती है। किन्तु यहाँ परमात्मसंबंधी होने से सब वृत्तियाँ आपस में एक *जैसी* हैं। इसलिए स्वधर्म-आचरण करते हुए हर चीज़ के द्वारा परमात्मा का स्मरण होता रहता है। होगा यह विभूति वाले परमात्मा का, सगुण परमात्मा का। 'अनन्यगामिना।' चित्त अन्यगामी न होवे। अर्थात् परमात्मा से अन्य आकार की वृत्तियाँ न बनाये, 'यह परमात्मा नहीं है'ऐसी वृत्ति नहीं बनाये। जो परमात्मा के स्वरूप को नहीं समझ कर देवता-विशेष का स्मरण करता है, वह अनन्यगामी चित्त नहीं बना सकता। भगवदर्पितचेता ही केवल परमात्मा की वृत्ति बनाता है, उससे भिन्न अर्थात् परमात्मरहित वृत्ति नहीं बनाता। वृत्तियाँ अनेक तो बनाता है पर सब होती परमात्मा की हैं। परमात्मा से अन्य तरफ जाने वाली नहीं होती हैं।

'चेतसा', ऐसा जिसका चित्त है, वह 'परमं दिव्यं पुरुषं याति'; परम अर्थात् जिससे और कोई अतिशय नहीं है। सगुण परमेश्वर से अधिक कुछ नहीं है। कहीं कोई विभूति होवे, ज्ञान की विभूति, क्रिया की विभूति, किसी प्रकार के ऐश्वर्य आदि की विभूति, वह सब परमात्मा की विभूति से निकृष्ट ही होगी। उससे श्रेष्ठ किसी की विभूति हो नहीं सकती। परमात्मा निर्गुण रूप से भी सगुण की अपेक्षा ऐश्वर्य आदि के कारण श्रेष्ठ नहीं

है; उसका अधिष्ठान होने से उससे श्रेष्ठ कहा जाता है। ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की परमावधि सगुण परमेश्वर ही है। वह परम पुरुष दिव्य है, द्युलोक में है, प्रधानरूप से सूर्य-मण्डल में विद्यमान है। उसको 'याति' प्राप्त करता है। इसीलिए उसको 'सूर्य-मण्डल-भेदी' कहते हैं। सूर्य-मण्डल के अंदर जो परमात्मा का रूप है, उसको वह प्राप्त होता है।

'अनुचिन्तयन्', 'अनु' अर्थात् 'बाद में', उपदेश से भली प्रकार जब समझ लिया है, उसके पश्चात्। पहले शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जिसको समझ लिया है, उसका अनुचिंतन होता है। अगर ठीक तरह से समझा ही नहीं है तो यह चिंतन करना शक्य नहीं है। इसीलिए बार-बार कहा जाता है कि सत्संग के द्वारा परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप को समझना बहुत ज़रूरी है। प्रायः यह कमज़ोरी उपासकों में रह जाती है कि परमेश्वर के ठीक रूप को समझ कर निश्चय किए बिना ही सोचते हैं कि उपासना कर लेवें, क्योंकि मानते हैं कि उपासना का मार्ग सरल है, ज़्यादा बुद्धि नहीं खटानी पड़ती है। ऐसा भ्रम लोगों में है। निश्चय तो तुमको उतनी ही मेहनत करके परमेश्वर के सगुण रूप का करना ही पड़ेगा, तभी आगे तुम्हारा अनुचिंतन हो सकेगा, अन्यथा चिंतन भी ग़लत चीज़ का करोगे। सरलता उपासना के अंदर इसलिए नहीं है कि बुद्धि पूरी नहीं लगानी पड़ती; सरल इसलिए है कि उतना वैराग्य नहीं चाहिये। ज्ञानमार्ग में वैराग्य की कठिनता है। वैराग्य के बिना निर्गुण भाव में स्थिति नहीं बन पाती। दूसरी मुश्किल है योग्य गुरु की उपलब्धि होना। परमात्मा के सगुण रूप को जानने में तो शास्त्र और शास्त्र-ज्ञानी से ही काम हो जाएगा। परंतु निर्गुण रूप को समझने के लिऐ खाली शास्त्र-ज्ञानी से काम नहीं होगा, 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' अनुभवी की ज़रूरत है, तत्त्व-साक्षात्कार करके स्वभावतः परमात्मभाव को छोड़कर और किसी चीज़ में निष्ठा वाला जो नहीं होता वही दृढ बोध करा सकता है। ऐसा गुरु मिलना अपने हाथ में नहीं है। जबकि सगुण परमात्मा का निश्चय करके उसका अभ्यास योग करना अपने हाथ में है। बुद्धि तो उपासना मार्ग में भी लगानी पड़ेगी।

उपासना मार्ग के बड़े-बड़े जितने आचार्य हुएरामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभउन सबने ब्रह्मसूत्र आदि का विवेचन उतने ही आग्रहपूर्वक किया है जितना ज्ञानमार्गियों ने। किसी ने यह नहीं माना कि विचार की ज़रूरत नहीं है। विचार आवश्यक है, तभी उन्होंने किया है, नहीं तो काहे को करते, उनका विचार ठीक हुआ या ग़लत हुआ, यह दूसरी बात है, लेकिन विचार की आवश्यकता सब मानते हैं। यह परम्परा नयी आई है 'पढ़ना लिखना पंडित का काम, भज ले बेटा सीता-राम।' सीता-राम कौन है जिसका भजन करें? यह विचार के बिना नहीं समझ पाते। महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध हैः एक लड़की को गुरु जी ने कह दिया था कि 'नारायण मधुसूदन' भजन किया कर। करती रही। थोड़े सालों के बाद उसका ब्याह हो गया। उसके पति का नाम मधुसूदन,

ससुर का नाम नारायण था। अब उसका भजन बंद हो गया! ससुर का और पति का नाम तो ले नहीं सकती। साल-दो साल में उसका बच्चा पैदा हो गया। अब उसका भजन वापिस शुरू हो गया'लल्लू के पिता जी, दादा जी!' क्योंकि उसे लगा कि नारायण मधुसूदन तो लल्लू के पिता जी और दादा जी ही हैं। अगर नारायण मधुसूदन का रूप समझे हुए नहीं होगे तो इस प्रकार का भजन हो जाता है। परमेश्वर को भी इसीलिए अनेक लोग देवता-विशेष ही मानते हैं क्योंकि उनके वास्तविक स्वरूप का निश्चय करते नहीं हैं। इसलिए भगवान् ने 'अनुचिन्तयन्' कहा, शास्त्र और आचार्य के उपदेश से ठीक प्रकार का निश्चय करके तब उसका ध्यान ठीक प्रकार से करना है।।८।।

ज्ञान, जो चीज़ जैसी है वैसा होता है, और ध्यान, जो चीज़ जैसी नहीं है उसको वैसा मानकर चिंतन करना होता है। इसीलिए आचार्य शंकर ने कहा है कि उपासना मानसिक क्रिया है। क्रिया वह होती है जिसे करने में तुम स्वतन्त्र हो कि उसे करो, ठीक करो, ग़लत करो, नहीं करो। हमने कहा 'एक गिलास पानी लाओ।' तुम पानी ला सकते हो पर पूरा गिलास भर कर नहीं, या लोटा ही उठा कर ला सकते हो या नहीं भी ला सकते हो। जिस काम को करना, ठीक करना, अन्यथा करना, गलत करना, न करनाये तुम्हारे हाथ में हैं, इसमें तुम स्वतन्त्र हो, वह क्रिया है। मन से ही, अन्तःकरण से ही तुमको परमेश्वर का ज्ञान भी होता है और अन्तःकरण से ही परमेश्वर का ध्यान भी होता है, लेकिन परमेश्वर के ध्यान तो तुम को जैसा कहा जाए वैसा कर सकते हो, उसमें कुछ घटा-बढ़ी कर सकते हो, नहीं भी कर सकते हो, गलत ढंग से कर सकते होये तुम्हारे हाथ में हैं। परंतु ज्ञान में मन की स्वतंत्रता नहीं है। जैसी चीज़ है वैसा ही ज्ञान होगा। इसलिए मन से होने पर भी ज्ञान और क्रिया में फ़र्क है। मन को उस चीज़ में एकाग्र करने तक तो तुम क्रिया कर रहे हो लेकिन एकाग्र करने के बाद क्या होगा,उसमें तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं है। आँख के सामने उन्नतोदर काँच लगा कर तुम हीरे को देखते हो। वह काँच पहनना, उसे ठीक केन्द्रित करना ये सब तो क्रिया है, लेकिन ये सब करने के बाद हीरे में नीली झांई है या नहींइसमें तुम्हारी कोई स्वतन्त्रता नहीं, तुम कुछ नहीं कर सकते; जैसा हीरा है वैसा ही दीखेगा। ठीक इसी प्रकार से चित्त को एकाग्र करना, शम दम आदि से सम्पन्न होना, इस प्रकार बुद्धि को शुद्ध करके, जब तुम देखोगे, अर्थात् तुम्हारा मन वृत्ति बनाएगा तब परमात्मा जैसा है वैसी ही वृत्ति बनेगी। कैसी बने, यह तुम्हारे अधीन नहीं है। ध्यान तो जैसा तुम को कहा गया है वैसा तुम कर सकते हो। यह ध्यान और ज्ञान का फ़र्क हमेशा याद रखना चाहिए। धोखा इसलिए होता है कि ज्ञान भी मन से ही होता है, उपासना भी मन से ही होती है। ज्ञान अज्ञान को नष्ट करेगा, और कुछ नहीं करेगा। क्रिया किसी-न-किसी फल को उत्पन्न करेगी। वह फल तुमको इष्ट हो, अनिष्ट हो, यह बात दूसरी है। क्या

उपासना कर रहे हो, उसके ऊपर फल निर्भर करेगा। ग़लत उपासना करोगे तो अनिष्ट फल होगा। ठीक उपासना करोगे तो इष्ट फल होगा। यहाँ प्रकरण ध्यान का है, अभ्यास योग का। तो अब जिसका ध्यान करना है, उसका रूप अर्थात् उस परम पुरुष का जो सूर्य-मण्डल के अंदर हिरण्यगर्भ रूप है, उसको बतलाते हैं

कविं पुराणमनुशासितारम् अणोरणीयांसम् अनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।६।।

सर्वज्ञ, चिरंतन, प्रशासक, सूक्ष्मों से सूक्ष्म, सबको कर्मफल देने वाले, दुर्बोधस्वभाव, अज्ञान से अतीत चित्प्रकाश का जो अनुस्मरण करता है वह उसे पा जाता है।

जिस परमेश्वर का ध्यान करना है वह कवि है। कवि अर्थात् क्रांतिदर्शी; भूत, भविष्य, वर्तमान सबको जानने वाला, सर्वज्ञ। इसीलिए भाषा में भी कहते हैं 'जहाँ न जाए रवि, वहाँ जाए कवि' अर्थात् सूर्य की भी जहाँ पहुँच नहीं है वहाँ कवि की पहुँच है। हिन्दी के अंदर प्रायः कवि का अर्थ होता है छन्द की रचना करने वाला, छन्दोबद्ध जो रचना करता है उसको कवि कहते हैं। आजकल तो छन्दोहीन भी कविता प्रचलित हो गयी है। वेदों के अंदर जहाँ कवि कहा है वहाँ उसका अर्थ क्रान्तदर्शी से है। उसी के अनुसार यहाँ भी कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी। 'पुराणम्' सबसे पुराना है, उससे पुराना और कुछ नहीं है। सारी सृष्टि में जो कुछ भी बना, उससे पहले बनाने वाला था ही, उसी ने बनाया है। घड़े के पहले घड़े को बनाने वाला कुम्हार होता है। नहीं होवे तो घड़ा बनावे कैसे! इसी प्रकार इस सृष्टि के बनने से पहले वह था इसलिए पुराण है। किसी ने लक्ष्मी जी की हँसी करते हुए कहा है 'पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होए!' पुराण पुरुष, बुड्ढे के साथ बेचारी का ब्याह कर दिया उसके पिता ने, तो अपने आप ही चंचल होगी! इसीलिए लक्ष्मी टिकती नहीं है, किसी के पास से किसी और के पास जाती रहती है।

'अनुशासितारम्' वह अनुशासन, सारे संसार का शासन करने वाला है। इसीलिए वह अनुशासित व्यक्तियों से ही प्रेम करता है, स्वेच्छाचारियों से नहीं। खाली शासिता नहीं कहा, अनुशासिता कहा, क्योंकि दो तरह के शासक होते हैं; एक भारतवर्ष के शासकों की तरह कि घटना होने के बाद, जब वह घटना घटी थी उस समय क्या करना चाहिए था, इसका कानून बना दिया जाये! कानून बनाते हैं चौदह जनवरी को और वह लागू हो जाता है उसके पहले चौदह सितंबर से। चौदह सितंबर से चौदह जनवरी तक जिन्होंने वह काम किया उन्होंने तो कानून-विरुद्ध ही किया था पर चौदह जनवरी के बाद वह काम कानूनानुकूल बन गया। परमेश्वर ऐसा नहीं करता, पहले नियमों को बतलाता है और तब तुम्हें मौका देता है। वेद कहता है कि ब्रह्मा जी को पैदा कर पहले वेद दे दिया जिसमें सृष्टि के नियम बताये हैं। अतः आगे सारी सृष्टि उन नियमों के

अनुसार होती है। इसलिए, नियम बनाने के 'अनु' बाद में, वह शासन करता है कि तुमने नियम के विरुद्ध काम किया या नहीं। शासन करने में दोनों ही आ जाते हैंठीक काम करने वाले को पुरस्कार देना और ग़लत काम करने वाले को दण्ड देना। बहुत से लोग जब रसोईया महीने-भर तक अच्छा भोजन बनाएगा तब कभी नहीं कहेंगे 'तुमने अच्छा भोजन बनाया, पर खराब बनते ही टोक देंगे! कोई नई बहू शादी होकर आई। उसने अपनी जान खूब प्रयत्न करके बढ़िया से बढ़िया भोजन बनाया। पुराने ज़माने में तो सब भाई साथ खाते थे। वे लोग व्यापारी थे, खाते-खाते अपने व्यापार की बातें करते रहते थे और फिर उठ कर चले जाते थे। छह महीने देख लिया बहू ने, फिर एक दिन सूखी घास और चारा सबकी थाली में रख दिया! उन्होंने कहा 'अरे! यह क्या परोसा है?' बोली, 'जी आज कम-से-कम मुझे पता तो लगा कि आप देखते तो हैं क्या खा रहे हैं। इतने दिनों तक मैंने सारी चेष्टा कर ली, भोजन के बारे में एक बात भी आप लोगों ने नहीं कही'। कई ऐसे होते हैं जो जब ग़लत काम करो तब तो डाँटने में देरी नहीं करते, दंड दे देंगे, और ठीक काम करो तो कभी प्रशंसा नहीं करते। अधिक लोग ऐसे होते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अच्छा काम करो तब तो तुम को शाबासी देंगे पर ग़लती कभी नहीं बतलाएंगे कि तुमने यह गलत किया; तुम्हें सुधरने का भी मौका नहीं मिलता। गलती करने वाले को दंड देना भी उतना ही ज़रूरी है जितना अच्छे काम करने वाले को पुरस्कार देना। परमेश्वर ने जो शुभ कर्म बताए हैं उन्हें करने वाले को स्वर्गलोक से ब्रह्मलोक तक देता है, और उसके बताये निमयों के विरुद्ध चलने वालों को पशु-पक्षी योनि से लेकर नरक पर्यन्त ले जाता है। यों वह दंड भी देता है और पुरस्कार भी देता है, तभी अनुशासन रहता है। जहाँ दंड-व्यवस्था नहीं चलती वहाँ अनुशासन नहीं रहता। बहुत-से लोग समझते हैं कि दंड नहीं देने वाला अच्छा है लेकिन दंड नहीं देने वाला ही सारी व्यवस्थाओं को बिगाड़ने वाला हुआ करता है। वह प्रशंसनीय नहीं होता है, निन्दनीय होता है।

'अणोः अणीयांसम्' अणु, अत्यन्त छोटा, सूक्ष्म, उससे भी वह अणीयान्, छोटा है। अणु से भी अणुतर है क्योंकि सारी सृष्टि में व्यापक है। जो चीज़ व्यापक हुआ करती है वह हमेशा सूक्ष्म होती है। हम लोगों के सामान्य अनुभव में, प्रत्यक्ष में, सबसे स्थूल हैं मिट्टी पत्थर। उनसे सूक्ष्म है जल, उससे सूक्ष्म है अग्नि। मिट्टी में पानी मिलाकर गोला बना लो, उसमें पानी तो नहीं दीखता, सूक्ष्म होने से, परंतु यदि उसको अच्छी तरह से किसी कपड़े में लपेटो तो पता लग जाता है कि इसमें पानी है। जल से भी सूक्ष्म अग्नि है। पानी में अग्नि मिल जाए तो छूकर ही पता लगेगा, और कोई उपाय नहीं है। अग्नि से भी सूक्ष्म वायु है क्योंकि अग्नि में फिर भी रूप है, वायु में रूप भी नहीं है। वायु कम-से-कम छू कर पता लगती है, आकाश तो छुआ भी नहीं जा सकता। इस प्रकार हम लोग जिन चीज़ों को देखते हैं उनमें आकाश ही सबसे सूक्ष्म मिलता है।

श्रुति कहती है कि आकाश से वायु पैदा हुआ, वायु से अग्नि पैदा हुई। अतः जो कारण होता है वह व्यापक और सूक्ष्म होता है। आकाश सबसे सूक्ष्म है और सबसे ज़्यादा व्यापक है। उस आकाश से भी सूक्ष्म है परमेश्वर क्योंकि आकाश को भी उत्पन्न करने वाला है। अतः आकाश फिर भी हम लोगों को कुछ पता चलता है, परमेश्वर का तो कुछ भी पता नहीं चलता। इसलिए अणु से अणुतर है।

अथवा अणु का मतलब जीव भी लिया जाता है। आत्मा को अणु कहा है। अणु का मतलब जीवात्मा। वेद ने उसका कुछ अन्दाज़ समझने के लिए बतलाया है कि सिर के बालके खड़े सौ टुकड़े करो। बाल खुद ही बड़ा सूक्ष्म है और उसके सौ टुकड़े करोगे तो बड़ा सूक्ष्म अंश होगा। उसमें से एक टुकड़ा लेकर फिर उसके सौ टुकड़े करो। इस प्रकार सौ बार करते चले जाओ! असम्भव-सा ही है। उतना सूक्ष्म जीवात्मा को कहा है। उस जीवात्मा के भी अंदर रहने वाला, उससे भी व्यापक और सूक्ष्म परमात्मा है। अन्तःकरण की उपाधि वाला जीव हुआ और उस जीव के अंदर भी चिन्मात्र रूप से परमेश्वर स्थित है।

'सर्वस्य धातारम्।' सारे कर्मफलों का विधाता है, सारे कर्मफलों को देने वाला है, विधान करने वाला है। विधान का एक अर्थ हुआ करता है नियम बना देना। जैसे विधान बनाने के लिए सभा विधान-सभा वह नियम बना देती है; आगे, नियम काम में आ रहा है, काम में ठीक से लिया जा रहा है, ग़लत लिया जा रहा हैइस सबकी ज़िम्मेदारी विधान-सभा नहीं लेती। परमात्मा ऐसा नहीं है, वह कर्मफल का विधान भी बनाता है और फिर अनन्त प्रकार के जो प्राणी और उनके जो अनंत प्रकार के कर्म उन सबको विभक्त कर जिसका जो फल है, उसको वही फल देता है। यह व्यवस्था जीव नहीं संभाल सकता। चाहे जितनी सावधानी बरतें, जीव से ग़लती होगी, चाहे लाख बार में एक बार हो पर होगी ज़रूर। संसार में अनन्त प्राणी हैं और हर प्राणी के किए हुए अनन्त कर्म हैं फिर भी जिसको जिसका फल मिलना चाहिए उसी को मिलता है, एक भी फल इधर-से-उधर नहीं होता। एक फल भी गड़बड़ नहीं होता, जिसको जो मिलना है उसी को मिलता है। सारे विचित्र प्राणियों के विचित्र कर्मों के फल का विधान करने वाला परमेश्वर ही है।

धारण करने वाले को भी धाता कहते हैं। कर्म तो तुमने आज कर दिया, फल उसका आज मिलेगा नहीं। प्रायः लोग कह देते हैं कि क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम से कर्मफल संभव है। कर्मफल को समझाने के लिए कहते हैं कि जो भी क्रिया होगी उसकी प्रतिक्रिया होगी। इसमें भूल यह है कि प्रतिक्रिया तो उसी समय होती है। ऐसा नहीं है कि हमने आज एक पत्थर मार दिया किसी दीवार पर और दो साल बाद हम उधर से निकल रहे थे तो अकस्मात् वहाँ से पत्थर आकर हमारे सिर पर लग गया! जबकि कर्मफल तत्काल नहीं होता, सुदूर भविष्य में मिलता है। जो परमेश्वर को

स्वीकार नहीं करते उन सब कर्मकाण्डियों के लिये यह व्यवस्था समझाना समस्या है। यदि चेतन है जिसके लिए हमने काम किया तो उसका फल वह विलम्ब से दे सकता है। मालिक ने आज हमें काम बताया, हमने कर दिया, उसने कुछ नहीं दिया। थोड़े दिनों के बाद फिर उसने काम बताया, हमने कर दिया। इस प्रकार साल भर तक मैं मालिक की बात मानता रहा। साल के अन्त में तनख्वाह बढ़ाने का समय आया तो मेरी तनख्वाह पाँच सौ रुपया बढ़ गई! क्योंकि हर बार मैंने बताये अनुसार काम किया तो मालिक के मन में संकल्प हो गया 'यह आदमी अच्छा है, मेहनती है, कहा काम तुरंत करता है।' चेतन व्यक्ति में यह बात धृत रहती है कि 'यह अच्छा करने वाला है' इसलिए विलम्ब से फल दे सकता है। शास्त्रीय कर्मों का फल उसी समय नहीं, बाद में मिलता है क्योंकि वह उस मालिक के मन में रहता है सारे कर्म जिस की सेवा के लिए किए जाते हैं, जिसे प्रसन्न करने के लिए किए जाते हैं। जैसे मालिक का अन्तःकरण वैसे परमेश्वर की माया है। हम सब काम मन से करते हैं। ऐसे ही परमेश्वर सब काम माया से करता है। हमारे किए हुए कर्म परमेश्वर की माया में रहते हैं। अतः वह सारे कर्म फलों को धारण किए रहता है इसलिए धाता है। वह उन सबको याद रखता है, तभी धारण करता है। उसकी माया में वृत्ति रहेगी, तभी समय पर फल देगा। जैसे समय पर हमें याद आएगा तब फल देंगे, इसी प्रकार समय आने पर माया में वृत्ति बनेगी, तब परमेश्वर फल देगा। वह सारे कर्मफलों को अपने में धारण करके रखता है इसलिए धाता है।

'अचिन्त्यरूपम्' उसके रूप का चिन्तन कर नहीं सकते। क्यों नहीं चिन्तन कर सकते? उसका जो रूप है वह नियमपूर्वक तुम्हारे सामने हमेशा विद्यमान ही है। निश्चित रूप से विद्यमान है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं। इसका रूप नियत है। सच्चिदानन्द इसका रूप है और यह हमेशा विद्यमान है। सामने होने पर भी इसका चिन्तन करना अशक्य है, अत्यन्त कठिन है। क्यों? विद्यमान रूप किसी-न-किसी उपाधि में प्रकट होता है। उपाधि से हटकर उस चीज़ को समझना कठिन होता है। ऐसे समझ लोः सोना किसी-न-किसी आकार में ही मिलेगा, मोहर के आकार में मिले, पासे के आकार में मिले, कुण्डल के आकार में, कड़े के आकार में मिले। सोना मिलेगा तो किसी-न-किसी आकार में, बिना आकार के मिलेगा नहीं। आकार को छोड़कर सोने को सोचना हम लोगों के लिए कठिन हो जाता है। *सोना* का कोई आकार नहीं है। किन्तु सोने की जो विशेषताएँ हैं वे किसी भी आकार के सोने में मिलेंगी ही। परंतु आकारों से हटकर सोना चीज़ को समझनायह हम लोगों के लिए कठिन होता है। इसी प्रकार से संसार के जो पदार्थ हमारे सामने आते हैं, उन सबके अंदर सद्-रूप से परमेश्वर विद्यमान है। असल में सत् ही उस आकार से दीख रहा है। इसलिए बिना आकार के सत् हम सोच नहीं पाते। अतः लोगों को कभी समझाते हैं कि परमात्मा सच्चिदानन्द-रूप है, तो बहुत

से लोग कहते हैं, 'महाराज, यह तो समझ में आता है कि सच्चिदानन्द-रूप है पर उसका अपना भी तो कोई रूप होगा!' चार भुजाओं वाला, पाँच सिर वाला, मछली, कछुआ आदि कहो तब समझमें आ जाता है! परंतु सच्चिदानन्द का ध्यान कुछ समझ में नहीं आता। अतः उसको कहा 'अचिन्त्यरूप।' उसका रूप है सामने प्रकट; मैं चेतन हूँयह तो समझ में आ जाता है। पर मैं को छोड़कर चेतन नहीं समझ में आता। मैं की उपाधि में समझ में आता है।

'आदित्य-वर्णम्' जैसे सूर्य कुछ भी सामने आवे उसको प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार परमात्मा जो भी उसके सामने उपस्थित हो उसको प्रकाशित कर देता है। एक बात याद रखना कि प्रकाशित करने वाला सूर्य है परंतु कुछ होगा तब उसे प्रकाशित करेगा। अगर कोई चीज़ नहीं होगी तो प्रकाश्य के अभाव में वहाँ तुम्हें प्रकाश की प्रतीति नहीं होगी। पृथ्वी के आस-पास वायु में चारों तरफ त्रसरेणु घूम रहे हैं जिन्हें सूर्य प्रकाशित करता है तो चारें ओर रोशनी दीखती है। परंतु पृथ्वी-मंडल के बाहर जाने पर त्रसरेणु होते नहीं। अतः सूर्य के रहते भी अंधकार नज़र आता है! चमकता हुआ सूर्य तो दीखेगा परंतु जैसे यहाँ सूर्य दीखने पर चारों तरफ हम लोगों को प्रकाश दीखता है, ऐसे वहाँ नहीं दीखेगा। ठीक इसी प्रकार गहरी नींद में दृश्य का अभाव है। गहरी नींद में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसको आत्मा प्रकाशित करे। अतः वहाँ नज़र आता है 'कुछ नहीं' अर्थात् किसी प्रकार के ज्ञानरूप प्रकाश का भान नहीं होता। ज्ञान-रूप प्रकाश का भान होने के लिए कम-से-कम अहंकार की वृत्ति तो अपेक्षित है। अन्तःकरण की अहंकार वृत्ति प्रकाशित करने के लिए होगी, तब 'मैं' रूप से वह प्रकाशित होगी। परंतु जब अन्तःकरण नहीं रह जाता तब 'मैं' की वृत्ति भी नहीं रह जाती अतः प्रकाशित करने को कुछ नहीं रहता। इसलिए सामान्यतया ऐसा लगता है कि वहाँ प्रकाश नहीं था। अनेक दार्शनिकों ने इसलिए सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव मान लिया है! परंतु वहाँ दृश्य नहीं होने से 'ज्ञान नहीं है' ऐसी प्रतीति है, स्वरूप से ज्ञान तो तब भी विद्यमान ही है। क्योंकि स्वरूप से ज्ञान विद्यमान न होवे तो उठकर 'मैंने कुछ नहीं जाना, मैं आनंद में था' इस प्रकार स्मृति नहीं हो सकती। 'था' कहते हो तो मतलब स्मृति है। 'मैंने कुछ नहीं देखा' इस स्मृति से पता लगता है कि वहाँ स्वरूप से ज्ञान था। सूर्य जैसे जो भी सामने आएगा उसको प्रकाशित करेगा और अगर प्रकाशित करने को कुछ नहीं है तो प्रकाशमात्र रूप से रहेगा, उसी प्रकार ज्ञान का भी वर्णन किया जा सकता है। इसलिए ज्ञानरूप परमात्मा को आदित्यवर्ण कहा। सूर्य के जैसा मतलब यह नहीं कि जैसे सूर्य हमें सफेद पदार्थ दीखता है, वैसे परमात्मा दीखता है! वह नित्य चैतन्यरूप है, जो भी दृश्य सामने आता है, उसको प्रकाशित अर्थात् ज्ञात कर देता है और जब कुछ नहीं है तब कुछ नहीं को प्रकाशित करता है।

'तमसः परस्तात्।' तम अर्थात् अज्ञान। अज्ञान से परे है, अज्ञान का उससे कोई

लेन-देन नहीं है। यह विलक्षण बात हमेशा याद रखना कि अज्ञान कहाँ रहता है? ज्ञान में रहता है। फिर भी ज्ञान में अज्ञान नहीं है! अज्ञान रहता है ज्ञान में, लगता है कि ज्ञान में अज्ञान होगा, पर ज्ञान में बिना अज्ञान हुए ही अज्ञान रहता है। ठीक जिस प्रकार रस्सी में साँप बिना हुए ही रहता है। साँप रहेगा रस्सी में, फिर भी रस्सी में साँप है नहीं। इसी प्रकार अज्ञान ज्ञान में रहेगा परंतु वस्तुतः वह उस में नहीं है। ज्ञान में अज्ञान भी अज्ञान से ही है। अज्ञान के कारण ही ज्ञान में अज्ञान की प्रतीति है। अज्ञान दोनों काम कर लेता हैखुद को और अपने कार्यों को, दोनों को धारण करता है। अज्ञान से ही ज्ञान में अज्ञान रहता है। वास्तविक रूप में अज्ञान परमात्मा में नहीं, इसलिए 'परस्तात्' कह दिया।

'कवि' से लेकर 'तमसः परस्तात्' इस प्रकार से अनुचिन्तन करना है जिसके फलस्वरूप उसी परम पुरुष की प्राप्ति होगी, यों पूर्व श्लोक से इस श्लोक का संबंध है।।९।।

इस चिंतन के लिए क्या साधन है यह बतलाते हैं। मूल प्रश्न था कि मरते समय में कैसे जाना जाए? जिसे तब जानना है वह कैसा है यह बता दिया, ध्येय का रूप बता दिया। अब, जानना कैसे है यह बतायेंगे

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

स्थिर मन, भक्ति और योग के बल से अवश्य सम्पन्न साधक मरणवेला में प्राण को सही तरह से भौंहों के बीच स्थापित कर उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है।

मरते समय मन एक वृत्ति में स्थिर होना चाहिए, चंचल मन से परमेश्वर-प्राप्ति नहीं होगी। 'अचल मन' कहा जा रहा है, इसी से बात स्पष्ट है कि अन्तिम *क्षण* को नहीं लेना है, अन्तिम *काल* को लेना है। यदि केवल अन्तिम क्षण ही कहना होता तो एक क्षण में एक ही वृत्ति बन सकने से मन को अचल बनाने की जरूरत ही नहीं रहती। अतः अन्त का सारा काल समझना चाहिय। उस सारे समय तक मन अपनी चंचलता को छोड़कर, विक्षेप को छोड़कर परमात्मा में स्थिर होना चाहिए। चंचलता कैसे हटती है? 'योगबलेन।' योगशम, दम, उपरति, तितिक्षा, इनके अभ्यास से जो निरंतर श्रवण-मनन किया गया है, उस समाधि से होने वाले जो संस्कारों की बहुलता है, वही बल है। संस्कार जितना किसी चीज़ का अधिक होता है, उतना ही उसका चिंतन अधिक स्थिरता से हो सकता है। योग का बल यही है कि इसका अभ्यास बार-बार करने से संस्कारों का प्रचय हो जाये। जिस चीज़ का संस्कार होगा उसी का स्मरण बार-बार होगा। चित्त-स्थिरता ही बल है। 'अचलेन मनसा' के द्वारा कहकर फिर अलग से 'योग-बल' कहने की ज़रूरत क्या है? अचल तो अन्तकाल में होगा, परंतु कैसे होगा? इस

प्रश्न के जवाब में योग-बल बताया कि उस से अचल होता है। शम-दम आदि के सहित लम्बे समय तक जब संस्कारों का बाहुल्य हो जाता है तब वह बल आ जाता है। व्यवहार में देखने में आता है कि जिसके जो संस्कार प्रबल हैं उसी चीज़ की याद आती है, दूसरी चीज़ों की याद नहीं आती। रास्ते में जाते हैं, पच्चीस आदमी दीखते हैं। एक उनमें देवदत्त दीखा जो अपना दोस्त है। घर जाकर कहते हो, 'आज रास्ते में देवदत्त मिला था।' कोई पूछे 'खाली देवदत्त ही मिला था?' कहोगे 'हाँ, आज तो देवदत्त ही मिला था।' रास्ते में तो बहुत से लोग थे! 'देवदत्त ही मिला था', इसका मतलब है कि जिनका संस्कार है उनमें तो खाली देवदत्त ही था, बाकी चलते-फिरते चेहरे कितने भी हों। जितना दृढ संस्कार है उतनी स्मृति स्फुट होगी। किसी से दस साल पहले सिर्फ एक बार मिले, अगर वह रास्ते में दीख भी जाये तो तुम्हें कोई ख्याल भी नहीं आता! साथ वाला कहता है 'अरे, यह देवदत्त है', तब कहते हो 'हाँ-हाँ, नमस्ते, देवदत्त जी, क्या हाल है?' क्षीण संस्कार है तभी कोई बताये तो संस्कार जाग जाता है पर स्वतः नहीं जागता। और संस्कार-प्रचय होता है तो तुम खुद ही पहचान लेते हो।

'भक्त्या युक्तः' भक्ति से युक्त होकर। भक्ति का लक्षण है परप्रेम। वैराग्य की दृढता से अन्य सब तरफ से तुम्हारा राग हट जाने से प्रेम का विषय केवल परमात्मा ही रह जाना चाहिये। जिस चीज़ से प्रेम होता है उसी तरफ मन जाता है। भोजन में चार चीज़ें परोसी हुई हैं, उनमें दाल का सीरा तुम्हारी पसंद का है, उसमें तुम्हारा राग है, तो थाली में बार-बार नजर हलुए पर जाती है। रखी हुई अनेक चीज़ें दीख रही हैं परंतु नज़र उधर ही जाती है। और खाने के लिए पहले उसको ही उठाते हो। हम लोगों को परमात्मा का ध्यान क्यों नहीं होता? क्योंकि वैराग्य की कमी है। भगवान् *भी* हमें अच्छे लगते हैं लेकिन भगवान् *ही* हमें अच्छे नहीं लगते, रसगुल्ला भी अच्छा लगता है, आलू बोण्डा भी अच्छा लगता है। 'भक्त्या युक्तः' अर्थात् परम प्रेम से, पूर्ण वैराग्य के द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है। उस वैराग्य को प्राप्त करने के लिए बार-बार पदार्थों में दोष-दर्शन आवश्यक है। प्रायः अपने यहाँ सभी ग्रन्थों के अंदर संसार के विषयों का दोष-दर्शन कराया जाता है। बहुत-से आधुनिक लोग कह देते हैं कि पदार्थों में गुण भी तो हैं, दोष ही क्यों बतलाते हो? अखबार, पत्रिकायें, रेडियो, टेलीविजन, सबके अंदर उद्योगपति अपने माल की बड़ाई और प्रशंसा करते हैं जिसे सुन कर तुम्हें उसके अंदर राग पैदा हो जाता है, तभी वे चीज़ें लेने जाते हो। जिसकी प्रशंसा सुनोगे, उसके बारे में राग होगा। प्रशंसा सुनकर, प्रशंसा देखकर किसी को वैराग्य नहीं होता! संसार में राग स्वभाव से सबको प्राप्त है क्योंकि जितने संसारी लोग हैं सब तुम्हें विषयों की तारीफ ही सुनाएँगे। आँख भी रूप की ही प्रशंसा करेगी, कान भी शब्द की ही प्रशंसा करेंगे। राग तो चारों तरफ से प्राप्त है। ऐसे दोष-दृष्टि की प्राप्ति नहीं है, अतः दोष-दर्शन विचारपूर्वक करना पड़ेगा। परमेश्वर को ही चाहना तब होगा जब दूसरी

चीज़ों से वृत्ति हटे। इसलिए दोष-दर्शन आवश्यक है। वेदान्त के साधक में सबसे पहली विशेषता इसीलिए विवेक-जन्य वैराग्य कही। चार साधनों में पहला विवेक और दूसरा उससे उत्पन्न होने वाला वैराग्य। केवल वैराग्य नहीं कहा क्योंकि कई बार किसी चीज़ से हमें दुःख हो जाये तो उससे वैराग्य भी हो जाता है परंतु वह वैराग्य क्षणिक होता है। एक औरत को जब प्रसववेदना होती थी तब प्रजनन के प्रति अत्यंत वैराग्य हो जाता था, पति को बुरा-भला भी कह देती थी, लेकिन अगले वर्ष पुनः गर्भिणी हो जाती थी! उस समय की व्यथा से लगता है कि वैराग्य हो गया परंतु वह क्षणिक वैराग्य है। पाँच-सात दिन में शरीर ठीक हो जाता है, सब भूल-भाल जाते हैं। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा कि उस वैराग्य से काम नहीं चलता, विवेक-जन्य वैराग्य चाहिए। विवेकजन्य वैराग्य आने के बाद हटता नहीं है। भक्ति से विवेक-जन्य वैराग्य बतला दिया। योग बल से शम-दम आदि बतला दिए, इन चीज़ों से ही मन अचल होता है।

उसके बाद 'प्राणं भ्रुवो र्मध्ये आवेश्य।' प्राण को भौहों के बीच में लाओ। इस के लिए पहले अभ्यास करना पड़ता है कि सूर्य नाडी और चन्द्र नाडी दोनों में से प्राण की गति न होकर केवल मध्य नाडी सुषुम्ना में ही गति होवे। मूलाधार से प्राण को उठा कर स्वाधिष्ठान, मणिपुर, आदि के अंदर पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व, वायु तत्त्व, इस प्रकार भूतों का जय करना पड़ता है। हृदय से जो सुषुम्ना नाडी आगे गई है वह पहले जाएगी कण्ठ में। कण्ठ में स्तन की तरह जो लटक रहा है उसमें से होकर प्राण को निकालने का अभ्यास करना पड़ता है। एक दो दिनों का काम नहीं है! फिर वहाँ से भी प्राणों को उठा कर दोनों आँखों के मध्य में जो स्थान है, वहाँ ले जाओ, दोनों भौंहों के बीच में, मध्य में, दोनों आँखें जहाँ खत्म होती हैं उसके ऊपर; वहाँ प्राण को ले जाकर देर तक स्थिर रखो। वहाँ स्थिर होना इसलिए आवश्यक है कि जब भौंहों से प्राण ऊपर जाता है, ब्रह्मरन्ध्र की तरफ, तब कोई होश नहीं रहता। तुम चिंतन नहीं कर सकते। इसलिए भ्रूमध्य में प्राण रखते समय ही अनुचिंतन कर लेना पड़ता है। जब उसमें स्थिर होकर तुम्हारा ध्यान आस्थित हो जाता है, भली प्रकार से स्थित हो जाता है, तब जिस दिव्य परम पुरुष का तुम चिंतन कर रहे थे, उसके लिए प्राण वायु ब्रह्मरन्ध्र की तरफ जाती है। क्योंकि भौहों के बीच में स्थिर होकर किया है इसलिए वही चिंतन चलता रहता है, आगे तुमको चिंतन *करना* नहीं है। वहाँ से उस परम पुरुष को चले जाते हो। हमारी सिर की हड्डियाँ तीन तरफ हैं, दाहिनी तरफ, बाईं तरफ और पीछे की तरफ; जहाँ वे मिलती हैं, उनका जो जोड़ है वही ब्रह्मरन्ध्र है। उसी से जीव-रूप से प्रवेश हुआ था और जब उससे निकलता है तभी वापिस परम पुरुष को ब्रह्मलोक में जाता है। जो ऐसा करता है वही उस परम पुरुष को 'उपैति' प्राप्त कर लेता है।।१०।।

भ्रूमध्य में आस्थित होकर उस दिव्य पुरुष का चिंतन कैसे करोगे? यह कहते हैं

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

वेदवेत्ता जिस अक्षर तत्त्व को बताते हैं, वीतराग संन्यासी जहाँ प्रवेश करते हैं, जिसे जानने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह प्राप्तव्य वस्तु तुम्हें संक्षेप में बताऊँगा।

वेदवेत्ता लोग किसी भी मंत्र का पाठ शुरू करते हैं तो सबसे पहले 'ॐ' अक्षर को बोलते हैं, ॐ कहकर ही वेद का पाठ शुरू होता है। मनु ने कहा है कि यदि मंत्रों के आगे और पीछे ॐ नहीं लगाओगे तो मंत्र बह जायेगा। स्वयं श्रुति ने भी कहा कि वेद के प्रारम्भ में ॐ स्वर का उच्चारण होता है, उस ओंकार से ही सारा वेद प्रकट होता है। पहले ॐ का उच्चारण होगा, तब आगे सारे वैदिक मंत्र प्रकट होंगे। यहाँ सीधा प्रणव नहीं कह कर भगवान् ने 'अक्षर' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए यहाँ शब्द और अर्थ दोनों की ओर संकेत है। ॐ के अर्थ का चिंतन ब्रह्मचिंतन होगा। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि ईश्वर का वाचक शब्द ॐ है। 'तद् वा एतद् अक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति' इत्यादि स्थलों पर अक्षर शब्द से ही ब्रह्म का निर्देश है। प्रणव का अर्थ है परब्रह्म। वेदज्ञ विद्वान् ओंकार को बोल कर मंत्रपाठ करते हैं और वेद का अर्थ जानने वाले कहते हैं कि अक्षर अर्थात् ब्रह्म से ही यह सारा संसार शासित होता है। अर्थ जानने वाला उस अक्षर को कहता है जो कभी भी नष्ट नहीं होता, अविनाशी है। अविनाशी केवल ब्रह्म ही है। उसको अवाच्य कहते हैं, यहाँ कह दिया 'वदन्ति' अर्थात् 'कहते हैं', यह कैसे? सारे विशेषों का निवर्तन करके ही उसको कहा जाता है। 'अस्थूलम् अनणु' इस प्रकार से जो-जो मूर्त-अमूर्त प्राप्त होते हैं उस सबका निषेध करते चले जाते हैं तो निषेधावधिभूत, (जिसका निषेध किया नहीं जा सकता) वही बच जाता है। सारे विशेषों को दूर करने वाले पदों से ही उसका *वदन* होता है। एक महात्मा के पास जाकर के एक राजा ने कहा 'आप परब्रह्म का उपदेश करिए', तो वे कुछ बोले नहीं। उसने सोचा ऊँचा सुनते होंगे, थोड़ा और ज़ोर से कहा; फिर कुछ नहीं बोले। दो-तीन बार ऐसा होने पर उसने कहा 'क्या बात है ऋषि! आप चुप क्यों हैं; हमारे प्रश्न का जवाब क्यों नहीं देते?' उन्होंने कहा 'जवाब तो दे रहा हूँ, तू सुन नहीं पाता!' उसका उपदेश मौन से ही है। जो जो चीज़ शब्द के द्वारा कही जा सकती है वह सब वह नहीं है। भगवान् दक्षिणामूर्त्ति भी मौन से ही व्याख्या करते हैं। पर ब्रह्म तत्त्व को उन्होंने मौन व्याख्यान से ही प्रकट किया है। अतः उसके चिंतन का प्रकार है कि जो-जो चीज़ आती है, उसे उपाधिरूप जानकर उसका निषेध करते चले जाना। वेदार्थ-वेत्ता लोग सारे विशेषों का निषेध करके उसको बतलाते हैं। जो वेदार्थज्ञ नहीं किन्तु केवल वेद के शब्द जानते हैं वे भी अक्षर अर्थात् ओंकार का पाठ तो आवश्यक करते ही हैं।

ओंकार को ब्रह्म का अत्यन्त नज़दीकी नाम कहा है। क्यों ऐसा है? हम लोगों के सामने तीन अवस्थाएँ हैं; जाग्रत्, जैसे अभी, जब इंद्रियों से विषयों का ग्रहण हो रहा है। स्वप्न, जैसे सात-आठ घण्टे पहले रात में देख रहे थे जब इंद्रियाँ कार्यकारी नहीं रहतीं, केवल संस्कारों से उत्पन्न विषयों का अनुभव होता है। और सुषुप्ति, गहरी नींद, जब सभी प्रकार के ज्ञान का उपसंहार हो जाता है, बुद्धि केवल कारणरूप से बचती है। इन तीन के सिवाय और चौथी अवस्था तुम्हारे अनुभव में नहीं आती। इन्हें अ उ और म् से कह दिया ओम् के अंदर। अ से जाग्रत् को, उ से स्वप्न को, व म्से सुषुप्ति को कहा गया है। किंतु चौथा और है! मैं अभी जाग्रत् में हूँ, सात-आठ घण्टे पहले मैं स्वप्न में था। स्वप्न के समय जाग्रत् की कोई चीज़ नहीं थी पर मैं था। इसलिए मैं को न जाग्रत् वाला कह सकते हो, न स्वप्न वाला कह सकते हो, जबकि यह जाग्रत् वाला भी है और स्वप्न वाला भी है। उसके पहले मैं सुषुप्ति में भी था। सुषुप्ति के अंदर जाग्रत् भी नहीं, स्वप्न भी नहीं परंतु मैं वहाँ भी हूँ। सुषुप्ति में 'मैं' स्फुट इसलिए नहीं लगता कि 'मैं' की वृत्ति नहीं होती इसलिए आत्मा उसको प्रकाशित नहीं करता। परंतु जो प्रकाशरूप मैं हूँ, वह वहाँ भी है ही। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ और तीनों अवस्थाओं में रहने वाला 'मैं' चेतन जो तीनों अवस्थाओं में रह कर भी अवस्थाओं वाला नहीं बनता। इसलिए इसको *चौथा* कहना पड़ता है। इसमें चूंकि तीनों अवस्थाएँ कल्पित हैं इसलिए कहते हैं कि एक अखण्ड ॐ में अ उ और म् तीनों कल्पित हैं। अखण्ड ॐ के अंदर समझने के लिए अ उ और म् कल्पित किए गए हैं। इसी प्रकार एक परमात्मा के अंदर जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों कल्पित होते हैं। इस बात को ओम् बतलाता है। यह इसकी महत्ता है। क्यों वैदिक लोग ॐ पर ही ज़ोर देते हैं? इसलिए कि यह ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। दूसरे नाम यह कार्य नहीं कर सकते।

यह तत्त्व परोक्ष ही नहीं प्रत्यक्ष है'यत् वीतरागाः यतयः विशन्ति'। वीतराग और विराग, दोनों में फ़र्क समझ लेनाः राग आवे तो उसको काटने की सामर्थ्य विराग शब्द से, वैराग्य शब्द से कही जाती है। राग आवे पर दोष-दर्शन के संस्कार इतने प्रबल हों कि उस राग को काट दें, यह वैराग्य है। भली प्रकार से जिसने समझ लिया है कि 'मुझे भयंकर मधुमेह है इसलिए मीठा खाना जहर है, मर जाऊँगा', उसे बढ़िया गुलाब जामुन देखने पर राग आता तो है, खाने की तीव्र इच्छा होती है, परंतु दोष-दर्शन के संस्कार प्रबल हैं अतः खाता नहीं है, राग को काट देता है। वीतराग अर्थात् जिसका राग वीत हो गया है, इतनी दूर चला गया है कि उपस्थित ही नहीं होता। जो वीतराग हैं वे ही 'यतयः', संन्यासी हैं, जो उस पद में प्रवेश करते हैं। संन्यासी ही क्यों कहा? बाकी सब आश्रमों के अंदर नित्य नैमित्तिक कर्म प्राप्त हैं जो करने पड़ते हैं। उन कर्मों को करने के लिए तुम को पदार्थ इत्यादि भी चाहिए अतः उनके प्रति राग रखना ही पड़ेगा। संन्यासी के लिए कोई कर्म नहीं है। अतः राग सर्वथा न होने पर कोई कर्म करने के

लिए भी उसको राग लाने की ज़रूरत नहीं है। यद्यपि 'यतयः' से यत्न करने वाले सभी लिए जा सकते हैं तथापि वीतराग कह कर बतला दिया कि यहाँ यत्न करने वाले संन्यासी ही अभिप्रेत हैं। 'यतयः' शब्द के द्वारा यह भी संकेत दे दिया कि जो शम आदि पूर्वक श्रवण-मनन में निरंतर लगे हुए हैं वे ही विवक्षित हैं। संन्यास लेकर भी बहिर्मुखता बहुतों में होती है। वेद में तो कहा है कि एक बार साठ हज़ार संन्यासी ऐसे हो गए थे जो कर्म की ही बातों में लगे हुए थे। इन्द्र ने जाकर उनको समझाने का भी प्रयास किया। वे कहने लगे 'ज्ञान की बातें हमे नहीं सुननी हैं। हम तो बस ये कर्म ही जानते हैं।' इन्द्र ने कहा 'संन्यासी होकर भी तुम कर्म में लगे हुए हो, राजा होने के कारण मेरा काम गलती का दंड देना है', अतः उसने उन सबको मार डाला! संन्यासी निरंतर शम आदि पूर्वक श्रवण-मनन में यत्न करने वाला होवे, इसी में लगा रहे, तभी ब्रह्म में प्रवेश कर सकता है। यत्न करना तुम्हारा काम है, सफलता परमेश्वर देगा। जो यत्न में लगा हुआ है, चाहे उसकी सफलता कितनी भी कम है, वह तो आगे परमेश्वर में प्रवेश कर जाएगा, किंतु यदि यत्न ही ढीला है, यत्न ही नहीं करता है तो उसका प्रवेश सम्भव नहीं है। इसलिए कहा कि यत्नशील संन्यासी 'विशन्ति' परमेश्वर में प्रवेश करते हैं।

'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'। जिसकी इच्छा से अर्थात् 'वह हमें प्राप्त हो'इस इच्छा से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। श्रुति ने कहा है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा उस तत्त्व की प्राप्ति होती है, ब्रह्मचर्य ब्रह्मप्राप्तिका साधन है। ब्रह्मचर्य से आश्रम-विशेष भी ले सकते हैं। उपलक्षणा से अन्य आश्रम समझे जा सकते हैं। ब्रह्मचारी अपने नियमों से, गृहस्थ अपने नियमों से, वानप्रस्थ अपने नियमों से परमेश्वर-प्राप्ति का प्रयास कर सकते हैं। श्रुति ने कहा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन'; यहाँ चारों आश्रमों के लिए साधन बताये : यज्ञ और दान प्रधान करके गृहस्थ के लिए, गुरु-सेवा इत्यादि ब्रह्मचारी के लिए, और तप वानप्रस्थ के लिए। ब्रह्मचर्य आश्रम-विशेष को भी कहते हैं और ब्रह्मचर्य सब प्रकार के सांसारिक भोगों से मन को हटाने को भी कहते हैं। ब्रह्मचारी लोग गुरु के पास इस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही जाते हैं।

'तत्', जिस पद को वेदवेत्ता कहते हैं, जिसमें संन्यासी प्रवेश करते हैं, जिसके लिए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते हैं, उसी पद को 'सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।' जिसके द्वारा चीज़ भली प्रकार समझ में आ जाए उसको संग्रह कहते हैं। कई जगह संग्रह को संक्षेप भी कहते हैं, वहाँ भी तात्पर्य यही है कि फैली हुई चीज़ मनुष्य जल्दी समझकर स्थिर नहीं कर पाता और सूत्ररूप में, संक्षेप में कह दी जाए तो याद रख लेता है। जिसने विस्तार नहीं समझा है वह संग्रह ठीक प्रकार से समझ नहीं सकता है। विस्तार से समझने के बाद उसे याद रखने के लिए संक्षेप बड़ा लाभदायक होता है क्योंकि

उतना-सा याद किया तो बाकी सब याद आ जाता है। परंतु विस्तार आवश्यक इसलिए है कि जो चीज़ कही गई है उसके बारे में क्या युक्ति है, क्या दृष्टांत हैं, ये सब चीज़ें समझ में आ जाती हैं। यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि ठीक प्रकार से समझ में आ जाए, इस ढंग से कहूंगा। संग्रह से कही चीज़ के बारे में सारी बात पता नहीं चलती। किंतु यहाँ वह दोष नहीं इसलिये कहा 'प्रवक्ष्ये' प्रकर्षेण वक्ष्ये संग्रह से कहने पर भी उसको ऐसे विस्तार से समझा कर कहूंगा कि तुम्हारी समझ में ठीक-ठीक आ जाएगा।

अन्तिम पादद्वय, अर्धाली, कठोपनिषद् से ली हुई है। वहाँ कहा है

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि। ओमित्येतत्।।'

पहली अर्धाली तो यहाँ अलग है लेकिन दूसरी अर्धाली वही है। कठ में उसे संक्षेप में क्या कह दिया? 'ओम् इति एतद्' वह ॐ ही है। वहाँ सचमुच में संग्रह से ही कहा है लेकिन यहाँ भगवान् समझाने के लिए ज़रा विस्तार से कह रहे हैं। अतः श्री कृष्ण ने 'ब्रवीमि' की जगह 'प्रवक्ष्ये' कह दिया अर्थात् प्रकर्ष से कहूंगा।।११।।

परब्रह्म का वाचक भी ओम् है और परब्रह्म के ध्यान के लिए प्रतिमा की तरह प्रतीक भी है। जो उत्तम साधक हैं, वे इसके वाचकपने को लेकर वाच्य को समझ लेंगे, अकार-उकार-मकार इत्यादि प्रक्रिया से अखण्ड तत्त्व को समझ लेंगे। परंतु जो मंद व मध्यम साधक हैं, उन्हें वाच्यभाव जल्दी समझ में आता नहीं। ऐसे समझ लो : राम, लक्ष्मण, सीता जंगल में जा रहे थे। ऋषियों के आश्रम में पहुँचे। रामचन्द्र जी तो ऋषियों से बात करने लगे, सीता जी ऋषि-पत्नियों से बातें करने लगी कि 'दशरथ के कहने पर हम लोगों को जंगल में आना पड़ा।' औरतों का स्वभाव होता है पूछने का। ऋषि-पत्नियों ने पूछा 'तुम्हारा पति कौन-सा है?' भारतीय संस्कृति में पति को सीधे बतलाते नहीं। आजकल की संस्कृति में तो सीधा ही कहते हैं 'ये मेरे पति हैं', किंतु यह हम लोगों की परम्परा नहीं है। दूर से रामजी को बताने में सीता जी को मुश्किल पड़ी, अतः उन्होंने कहा 'जो गोरा है, वह मेरा देवर है' और यह कह नीची नज़र करके पैर के नाखून से ज़मीन को खुरचने लगीं। ऋषि-पत्नियाँ समझ गईं कि सांवले रामचन्द्र जी इसके पति हैं। ऋषि-पत्नियाँ तो समझ गयीं परंतु आज के लोग कहेंगे, 'हमारी बात का जवाब ही नहीं दिया!' ठीक इसी प्रकार सब चीज़ों का निषेध करके जो निषेधावधिभूत अधिष्ठान है, उसका प्रतिपादन उत्तम बुद्धि के लोग तो समझ जाएंगे। मंद, मध्यम बुद्धि वाले कहेंगे कि 'आपने कह दिया यह नहीं, यह नहीं; फिर आखिर ब्रह्म है क्या?' मंद व मध्यम बुद्धि वालों के लिए ॐ ही ब्रह्म है, ऐसा बता दिया जाता है। जैसे शालिग्राम का ध्यान करने से विष्णु का साक्षात्कार हो जाता है वैसे ॐ का ध्यान करके भी परमात्मा का साक्षात्कार हो जाएगा। फ़र्क यही है कि ऐसे मंद-मध्यम बुद्धि वालों को

दीर्घकाल के बाद साक्षात्कार होता है अर्थात् उनकी क्रम-मुक्ति होती है अर्थात् यहाँ से ब्रह्मलोक को जाएंगे, वहाँ अन्तःकरण शुद्ध होकर ब्रह्मा के उपदेश से ज्ञान होगा। जो वाच्य को समझ पाते हैं उन्हें यहीं ज्ञान हो जाता है। उपासना के तरीके को अब बतलाना है कि उसका कैसे ध्यान किया जाता है

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।

विषयोपलब्धि के सब दरवाज़ों को संयत (नियंत्रित) कर, मन को हृदय-कमल में ही स्थिर कर, अपने प्राण को मूर्धा में स्थापित कर आत्मविषयक समाधि की स्थिरता में आश्रित (साधक परम गति पाता है)।

हमारे शरीर में पाँच दरवाज़े हैं जिनसे हम बाहर जाते हैं। आँखें, कान आदि सब दरवाज़े हैं जिन से बाहर जाते हैं। हमारे बाहर जितनी चीज़ें हैं उनसे सम्पर्क के लिए हमें इन द्वारों की ज़रूरत पड़ती है। जीभ के द्वारा स्वाद लेने बाहर जाते हैं, स्पर्श के लिए त्वगिन्द्रिय से बाहर जाते हैं इत्यादि। बाहर जाने के लिए जगह, दरवाज़ा चाहिए। 'परांचि खानि' मंत्र में वेद ने इन्द्रियों को दरवाज़ा कहने के लिए 'ख' शब्द का प्रयोग किया क्योंकि ख कहते हैं खाली जगह को, आकाश को। बाहर के संसार से सम्पर्क करने के लिए वहाँ जाने के लिए हमारे पास ये पाँच दरवाज़े हैं। बाह्य संसार से दूर होने के लिये पाँचों दरवाज़ों को भली प्रकार से रोक लेना पड़ेगा। इसी को वेदांत शास्त्र में दम का अभ्यास कहा है और महर्षि पतञ्जलि ने योग शास्त्र में इसी को प्रत्याहार कहा है। संयमन करना है क्योंकि दरवाज़े ऐसे हैं जो जीवन चलाने के लिए आवश्यक हैं। एक-दो दरवाज़े न रहें तब तक तो काम चल जाएगाआँखों से अंधा होवे तो भी काम चला लेगा, कानों से बहरा हो तब भी काम चला लेगालेकिन सारे ही दरवाज़े काम न करें, तब जीवन का काम नहीं चल सकता। इसलिए इनके ऊपर नियंत्रण करना पड़ेगा, ये काम करें ही नहींऐसा इन्हें बंद नहीं कर सकते। इसलिए भगवान् ने यह नहीं कहा कि दरवाज़ों को बंद कर दो। संयमन अर्थात् तुम्हारी इच्छा के वशवर्ती होवेंः जब तुम प्रारब्ध-भोग के लिए इनसे व्यवहार करना चाहो तब व्यवहार कर लेवें परंतु जब तुम व्यवहार से हटकर समाधि लगाना चाहो तब इधर-उधर न जाएँ।

'मनो हृदि निरुध्य।' मन को हृदय में ही निरुद्ध कर लो। सामान्य रूप से मन जहाँ रहता है उसको हृदय कहते हैं। जब कुछ कार्य नहीं करे अर्थात् सर्वथा स्तब्ध हो तब मन हृदय में रहता है। हृदय का मतलब शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है कि मांस-खण्ड नहीं समझ लेना। नाभि से एक बित्ता ऊपर, नौ इंच दूर हृदय है। अंग्रेज़ी में जिसे 'हॉर्ट' कहते हैं वह यहाँ हृदय नहीं है। उपासना-प्रसंग में हृदय किसी मांस-खण्ड का नाम नहीं है। 'लिफ्ट' (उद्वाहन) तेजी से उतरती है तो जहाँ अचानक धड़कन होती है वह स्थल

यहाँ हृदय विवक्षित है। सामान्यतः व्यक्ति जब किसी से कहता है 'मैं तुम्हें देख लूँगा।' तो 'मैं' कहते समय जहाँ अपने को मानता है वह हृदय है। इसीलिए आचार्य शंकर ने अर्थ कर दिया कि हृदय कमल समझना, मांस-खण्ड नहीं। जब इन्द्रियों का संयमन करते हैं तब मन अंदर ही अंदर विषयों का ध्यान करता रहता है। जब उसको हृदय के अंदर निरुद्ध कर देते हैं तब वह इधर-उधर नहीं जाता। अर्थात् जो वशीकृत है, जिस को वश में कर लिया गया है उस मन से अभिप्राय है। मन को वश में करके चुप बैठ जाओगे तो सो जाओगे! क्योंकि मन जब वृत्ति नहीं बनाएगा तो मन लीन होने लगेगा। मन से कोई वृत्ति बनाओ तब तो वह उधर लगता है और यदि कोई वृत्ति नहीं बनाते हो तो झट-से लीन हो जाता है, सुषुप्ति हो जाती है, मन कार्यकारी नहीं रहता। जब कहते हैं 'मन कुछ न सोचे' तब मतलब यह है कि जिस चीज़ का तुम ध्यान कर रहे हो, उसके अलावा कुछ न सोचे। जिस प्रकार जब वैद्य रोगी से कहता है 'तीन दिन तक कुछ नहीं खाना' और साथ में दवाई की पुड़िया भी देता है तब 'कुछ न खाना' इसका मतलब है कि दवाई छोड़कर कुछ न खाना। यह नहीं कि वैद्य जी ने कह दिया 'कुछ नहीं खाना' इसलिए दवाई भी नहीं खाओ! ठीक इसी प्रकार जब कहते हैं 'कुछ न सोचो' तब मतलब है कि जो ध्येय है उससे अतिरिक्त कुछ न सोचो। उसको भी नहीं सोचोगे तो नींद आ जायेगी।

जब मन को निश्चल कर लिया तब मन को हृदय से गई हुई जो सुषुम्ना नाडी है उससे प्राण को मूर्धा में ले जाओ। मूर्धा अर्थात् मस्तिष्क का अग्रभाग। जब तक तुम भ्रूमध्य में पहुँचोगे तब तक तुम स्वतंत्र होकर चिंतन करते हो। उससे ऊपर जब जाओगे तब कुछ चिंतन करना तुम्हारे हाथ में नहीं रह जाएगा, जो चिंतन तुमने वहाँ भ्रूमध्य में किया है वही आगे चलता रहेगा। आप लोगों में से यदि किसी ने जप का विशेष अभ्यास किया है तो देखा होगा कि अगर रात के समय जप कर रहे हैं तो बीच में आधा घण्टा, एक घण्टा ऐसा बीतता है जिसमें जप नहीं हो रहा है पर उसके बाद अकस्मात् जप चलने लगता है। ऐसा लगता है कि 'बीच में भी जप चलता रहा होगा, मुझे भान नहीं लेकिन जप चलता रहा।' मन को एकाग्र करने के बाद वह वृत्ति बनाना छोड़ने पर भी मन तदाकार चलता ही रहेगा। भ्रूमध्य के अंदर तुमने 'कविं पुराणमनुशासितार-मणोरणीयांसम्' का अच्छी तरह चिंतन किया, उसके बाद ऊपर जाने पर भी यही चिंतन बना रहेगा। मन को चलाने में साधन कौन होता है? प्राण ही होता है। प्राण से ही मन चलता है। मन का चलना मतलब मन का क्रिया करना, और मन क्रिया तभी करेगा जब उसके साथ प्राण होगा। जैसे एक ही काँच में तुम को एक तरफ मुख दीखता है और दूसरी तरफ कुछ नहीं दीखता है, जिधर काला या लाल लगा होता है। मुँह दीखता है केवल आगे की तरफ। पीछे की तरफ वाला हिस्सा क्या बेकार है? अगर तुम उस काँच को बीच से फाड़ दो, फाड़ कर फिर सामने वाले हिस्से में देखो तो कोई

प्रतिबिम्ब नहीं दीखेगा, आर-पार दीखेगा, मुँह नहीं दीखेगा। जिधर प्रतिबिम्बित मुँह दीख रहा था, उधर दीखना चाहिए पर उधर दीखता नहीं है क्योंकि पीछे वाला हिस्सा नहीं रहा। आगे वाला हिस्सा मुँह दिखाता है पर पीछे वाला हिस्सा मौजूद हो तब, नहीं हो तो नहीं दीखेगा। पीछे वाली तरफ तुम चाहे जितना ध्यान दो, मुँह दीखेगा नहीं। मुँह दीखने के लिए वह है ज़रूरी पर फिर भी उसमें मुँह नहीं दीखता। इसी प्रकार मन के द्वारा क्रिया करने के लिए प्राण ज़रूरी है परंतु प्राण के अंदर किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होगा तो मन के अंदर ही और मन की वृत्ति बनेगी प्राण से ही क्योंकि वह भी एक क्रिया है। योगियों ने इसी सिद्धांत का लाभ उठाया, उन्होंने देखा कि मन तो सूक्ष्म है इसलिए इसको लोग जल्दी नियंत्रित नहीं कर पाते। उसकी जगह यदि प्राण को रोक लिया जाए तो मन अपने-आप रुक जाता है। प्राणों को रोकने से मन को रोकना यह मनोनिरोध का एक प्रकार है। अपना जो प्राण है उसके सहारे से मस्तिष्क के अग्र भाग में जाकर, स्थित होकर, योग की धारणा करने की सिद्धि प्राप्त होती है जिस सिद्धि से साधक परमात्मलोक को जाता है।।१२।।

अगले श्लोक में कहते हैं कि मूर्धा में प्राण को स्थापित करने के बाद क्या कर्तव्य है

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

ब्रह्म के एकाक्षरी नाम ॐ का उच्चारण करते हुए, उसके अर्थ मुझ ईश्वर का अनुचिंतन करते हुए जो प्रयाण करता है वह देह छोड़ते हुए परा गति पाता है।

'कविं पुराणम्' इत्यादि का चिंतन ओम् के आलम्बन में साधक करता है अतः उसी का व्याहार अर्थात् उच्चारण करते हुए शरीर से प्रयाण भी करेगा। यहाँ सब लोग बैठे हुए हैं, अकस्मात् हम कहें 'गजानन्द!' तो झट गजानन्द जी हमारी तरफ आ जाएंगे, यह स्वाभाविक है। जैसे ही हम उच्चारण करेंगे वैसे ही उनकी आँख हमारी तरफ हो जाएगी। ॐ परब्रह्म परमात्मा का नाम है। जैसे ही ओम् का उच्चारण होता है वैसे ही परमात्मा के कृपा-कटाक्ष हमारी तरफ हो जाते हैं, उनकी सन्निधि की प्राप्ति हो जाती है। जैसे नाम हमने ग-ज-आ-न-न्-द बोला लेकिन उस के जो वाच्य हैं वे हमारी तरफ उन्मुख हो जाते हैं, इसी प्रकार ओम् का उच्चारण करने पर परमेश्वर हमारी तरफ उन्मुख होते हैं क्योंकि वे ही ॐ का अभिधेय अर्थ हैं। उनका स्मरण करने पर और स्मरण किया नाम लेने पर उनका ध्यान भक्त की ओर चला जाता है अतः उनका अनुग्रह, कृपा-कटाक्ष उस पर पड़ते हैं, उसी समय वह शरीर छोड़ता है तो उत्तम गति पाता ही है। प्राचीन काल में साधक जब मरने लगते थे, तभी सावधान हो जाते थे। मरने के बाद तो कुछ नहीं कर सकते! नियम है कि मरते समय बिस्तरे में न होवे; अतः

गंगाजल से धरती साफ कर गोबर से लीप कर, उसके ऊपर कुशासन रख कर उसके ऊपर मरणासन्न को बैठा कर, भस्म इत्यादि लगा कर साथी लोग ज़ोर-ज़ोर से ॐ का उच्चारण करते थे कि उसका ध्यान उधर जाए। क्योंकि अधिकतर लोग साधक थे, इसलिए उनको वैसा करने का अभ्यास भी था अतः इस प्रकार उनको स्मरण दिलाया जाने पर कैसी भी स्थिति में उनका ध्यान उधर चला जाता था। हम लोगों की दृष्टि है कि मरने वालेको आगे जाने में जिससे मदद मिले, वह करो। हमारे यहाँ पुनर्जन्म है, मर कर उसका फिर जन्म होगा। जिन देशों के अंदर मनुष्य का मर कर फिर जन्म नहीं होता वे इसी जन्म को किसी तरह से लम्बा खींचते हैं। अतः बजाय मुमूर्षु को ज़मीन पर लेकर भगवान् का नाम-स्मरण कराने के, वैण्टिलेटर लगा देते हैं, अन्यान्य उपकरणों के सहारे दो-चार मिनट ज़्यादा सांस लिवाने की कोशिश करते हैं। उनको यदि कहें भी कि 'अब इसका अंतिम समय आ गया है, इसका संस्कार ठीक कर लेवें', तो मानते नहीं, सोचते हैं कि नीचे उतारेंगे तो झटका लग जाएगा, मर जाएगा! किन्तु साधक की सद्गति के लिये तो शुद्धिपूर्वक ब्रह्मध्यान सहित प्रणवोच्चारण करते हुए मरना ही श्रेयस्कर है।

भगवान् ने केवल यह नहीं कहा 'यः प्रयाति' वरन् 'देहं त्यजन् प्रयाति।' अर्थात् देह-त्याग करते हुए जाता है। मरते समय सभी लोग देह को छोड़ते हैं। परंतु सामान्य जन देहाभिमान छोड़कर नहीं मरते। थोडा-सा ही फ़र्क हैमरकर देहाभिमान छूट जाता है और देहाभिमान छूट कर मरते हैं। क्षणभर का ही खेल है। मरकर देहाभिमान तो सबका छूटता है, पर इस साधक का पहले देहाभिमान छूटता है, फिर वह जाता है। क्योंकि यावत् जीवन 'मैं शरीर नहीं, मैं चेतनरूप हूँ' ऐसा उसने निरंतर चिंतन किया इसलिए लम्बे समय के अभ्यास से उस समय भी शरीर से अध्यास उसका झट टूट जाता है। देहाध्यास को रखते हुए जो मरता है वह ब्रह्मलोक को नहीं जाता। मंद, मध्यम अधिकारी को विचार में लगता है कि 'मैं शरीर को जानता हूँ, इसलिए शरीर से अलग हूँ', बात समझ में आती है, पर जब तक जीवित है, तब तक कोई आकर ज़ोर से घूंसा मार देता है तो 'मुझे घूंसा लगा नहीं'ऐसा देहाध्यास छूटता नहीं। पहले तो यही लगता है कि 'मुझे घूंसा मारा', फिर विचार आता है कि 'शरीर तो मैं हूँ नहीं, इसने शरीर को घूंसा मारा तो मुझे नहीं मारा।' पर जितना भी विचार करो, थोड़ी देर के बाद अनुभव होता है कि 'यह तो ठीक है कि शरीर को मारा, फिर भी मारा तो मुझे ही है!' इसलिए देहादि के विकृत होने पर 'मैं विकार वाला नहीं', यह मंद, मध्यम बुद्धि वाले लोग स्थिर नहीं कर पाते। मरते समय जब तुम निश्चय करते हो 'मैं देह नहीं', तब आगे कोई प्रारब्ध-भोग तो बाकी है नहीं, इसलिए इसका विरोधी कोई प्रत्यय आएगा नहीं और ऐसी स्थिति में जो जाएगा वह परम गति को प्राप्त होगा ही। मरते समय जो ऐसा करता है वही परम गति को प्राप्त करता है। 'देहं त्यजन्' के द्वारा

भगवान् ने संकेत दे दिया कि देहाध्यास की निवृत्ति ही परम पद की प्राप्ति का कारण है।।१३।।

जो प्राणायामी है उसका कुछ हद तक स्वेच्छा-मरण है इसलिए वह तो बैठकर यथाविधि मर जाएगा। पर जो लोग ऐसे प्राणायामी नहीं हैं उनके लिये क्या उपाय है? प्राणायाम की साधना कोई सरल नहीं है, बड़ी कठिन है, जो वह न कर पायें उनका क्या होगा? वे तो प्रारब्ध-वश मरने वाले हैं। इस प्रकार अपने प्राणों को हृदय में लाकर मूर्धा में ले जाकर ओंकार से परमात्मा का चिंतन करते हुए जायें, ऐसी सामर्थ्य तो सबमें होती नहीं है। जिन्हें तत्त्व-ज्ञान हुआ नहीं और इस प्रकार के प्राणायामादि योग-अभ्यास करने में समर्थ नहीं हैं, उनके लिए क्या कोई उपाय नहीं? भगवान् अत्यन्त करुणा से कहते हैं कि उनके लिये भी उपाय है

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

हे पार्थ! अन्य विषयों में चित्त न लगाकर जो लम्बे समय तक लगातार मेरा स्मरण करता है उस सदा समाहित योगी के लिये मैं सुलभ हूँ।

जो मन्द-मध्यम अधिकारी प्राणायामादि का अभ्यास करने में असमर्थ हैं परंतु 'अनन्यचेताः' परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी तरफ जिनके चित्त की स्वाभाविक गति नहीं रह गयी है, उनके लिये उपाय है। 'परमात्मा से अन्य मैं नहीं'यह समझने से अनन्यचेता हैं, साथ ही 'परमात्मा से अन्य कुछ मेरे राग का विषय नहीं' इस निश्चय से भी अनन्यचेता हैं। वे केवल परमेश्वर को चाहते हैं। विवेकमंदताके कारण संसार-असत्यता की उनमें बुद्धि दृढ नहीं है, केवल समझते हैं कि संसार मिथ्या है किन्तु संसार को, संसार के किसी पदार्थ को नहीं पाना चाहते। साधारण साधक का यह अनुभव है कि विषय की इच्छा उठती है पर विवेक से निवृत्त हो जाती है, इच्छा पुनः परमेश्वर पर एकाग्र हो जाती है। विषयस्मृति आने पर भी अनन्यचेता उनकी तरफ प्रवृत्त नहीं होता। अनन्यचेतस्ता कितनी देर करनी है? 'सततम्', निरन्तर। मन अन्यत्र कहीं भी जाये तो तुरन्त वहाँ से हटाकर मुझ परमात्मा में स्थिर करना है। ऐसा कितने दिनों तक करना है? दस-बीस साल ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर तक करने का धैर्य रखना चाहिये। अनेक साधक साधना में प्रवृत्त होते हैं, कुछ समय करते हैं पर फिर हथियार छोड़ देते हैं। इसलिए भगवान् ने केवल 'सततं' नहीं, 'नित्यशः' भी कहा। नित्य के द्वारा दीर्घकाल को सूचित कर दिया। महर्षि पतञ्जलि ने भी दीर्घकाल का अभ्यास सफल कहा है। आचार्य शंकर लिखते हैं कि छह महीना-सालभर नहीं, जब तक जिए तब तक उपासना करे। इस प्रकार से जो मेरा स्मरण करता है, चिंतन करता है, उसको ये प्राणायाम, योगाभ्यासादि किए बिना ही मैं सुलभ हूँ। प्राणायामादि के साधन से भी मैं

मिलता हूँ, पर वह कर पाना दुर्लभ है जबकि यह उपाय सुलभ है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसीलिए 'ईश्वर- प्रणिधानाद् वा' कहा कि परमेश्वर की शरण लेने से भी समाधि सिद्ध हो जाती है।

क्यों ऐसा सुलभ हो जाता हूँ? 'नित्ययुक्तस्य।' क्योंकि हमेशा ही वह अपना चित्त मुझ में रखता है, इस प्रकार नित्ययुक्त है इसीलिये मैं सुलभ हूँ। जैसे तुम मेले में जाते हो, तुम्हारे साथ कोई बच्चा है। या तो ठिकाना लिखकर उसके सीने पर चिपका दो और उसको भी समझा दो कि 'कोई कहे, 'हमारे साथ आओ।' तो नहीं जाना। अपना ठिकाना बतला देना, सावधान रहना।' यह एक तरीका है। दूसरा तरीका है कि लड़के को अंगुली पकड़ा दो। अब न ठिकाना लिखा है न उसको कुछ याद रखना है, बस अंगुली पकड़े रहना है। दोनों ही बच्चे घर आ जाते हैंजो अंगुली पकड़े हुए है वह भी घर आ ही जाएगा और जिस पर लिखा हुआ है और कह दिया गया है कि बच कर रहना, वह भी घर आ जाता है। इसी प्रकार जो योग की साधना करके जाता है, उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है और जो अनन्यचेता परमेश्वर की हमेशा अंगुली पकड़े रहता है, वह भी नित्ययुक्त होने के कारण योगी है, हमेशा परमात्मा से उसका सम्पर्क बना रहने से वह परमात्मा को पा लेता है। यह सुलभ मार्ग भगवान् ने बतला दिया।।१४।।

भगवान् ने कहा कि मैं उसके लिए सुलभ हो जाता हूँ। प्रश्न होगा कि आपके मिलने से क्या होता है, क्या विशेषता है? मर के कहीं तो जाना ही है, आपको प्राप्त करने से क्या विशेषता होगी? उत्तर में भगवान् कहते हैं

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

परम संसिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त महात्मा मुझे पाकर पुनः ऐसा जन्म नहीं पाते जो दुःखों का आश्रय व अस्थिर स्वरूप वाला है।

'माम् उपेत्य', मुझ ईश्वर से ऐक्य का जिसने अनुभव कर लिया, वह मुझ ईश्वर के साथ एकता को प्राप्त किया हुआ फिर जन्म नहीं पाता, यह विशेषता है। जो मुझे प्राप्त नहीं करता है, वह जन्म-मरण के चक्र में रहता ही है। पितृलोक आदि चाहे जहाँ चला जाये, वहाँ से वापिस आता है, पुनर्जन्म होता है। पर मेरे भाव को प्राप्त किया हुआ फिर जन्म नहीं लेता। कोई पूछे कि जन्म तो अच्छी चीज़ है, लेने में क्या खराबी है? तब भगवान् ने कहा, जन्म कैसा है? 'दुःखालयमशाश्वतम्'। जन्म दुःख का आलय है अर्थात् दुःख का ही आश्रय है। जन्म होने पर आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक ये तीनों दुःख अवश्यम्भावी हैं। आध्यात्मिक अर्थात् शरीर के अन्दर होने वाले दुःख; सिर दूख गया, पेट दूख गया, घुटने में दर्द हो गयाये सब शरीर में होने वाले दुःख

आध्यात्मिक दुःख हैं। आधिभौतिकमच्छर ने काट लिया, बिच्छु ने काट लिया, साँप ने काट लिया, किसी ने गाली दे दी, निंदा कर दी, ये सारे आधिभौतिक दुःख, प्राणियों से होने वाले दुःख हैं। आधिदैविकरास्ते में जा रहे हैं, अकस्मात् ओले पड़ने लग गए, पहाड़ में जा रहे हैं, ऊपर से अकस्मात् कोई पत्थर गिर गया, कहीं भूकम्प आ गया; ये किसी प्राणी ने तो तुम्हें दुःख नहीं दिये हैं, न तुम्हारे शरीर के कारण ही हुए हैं, वरन् तुम्हारे पाप कर्मों का फल देने के लिए देवताओं द्वारा ही दिये गये हैं। इसी प्रकार शनि की साढ़े साती आ गई; वह किसी प्राणी ने दुःख नहीं दिया, तुम्हारे कर्मों के कारण दुःख उत्पन्न हो गया। जहाँ तुम्हारा शरीर भी कारण नहीं, दूसरा कोई देखने में आने वाला प्राणी भी कारण नहीं, फिर भी दुःख होता है वह दैव से ही होता है अतः आधिदैविक दुःख है। तीनों प्रकार के दुःख शरीर को आश्रित करके ही होते हैं। बिना शरीर का आश्रय किए हुए इनमें से कोई दुःख नहीं हो सकता। इसलिए इसको दुःखालय कहते हैं अर्थात् यह दुःख का ही घर है। जैसे जहाँ पर बर्फ ही बर्फ मिलती है उसको हिमालय कहते हैंहिम का आलय है, वैसे ही, शरीर दुःख का आलय है। हिमालय के अंदर भी बीच-बीच में पत्थर का टुकड़ा तो आता ही है परंतु फिर भी रहता वह हिमालय ही है। इसी प्रकार दुःख के झंझावातों के बीच में थोड़ा-सा सुख भी मिल ही जाता है, परंतु इतने मात्र से यह सुखालय नहीं हो जाएगा, रहेगा दुःखालय ही।

और कैसा है? 'अशाश्वतम्', स्थिर रहने वाली चीज़ नहीं है। जन्म में होने वाला सब अनवस्थित, अस्थिर है। कब क्या होता है, कुछ पता नहीं। अमेरिका में एक-दो मकान आतंककारियों ने जला दिये और हिन्दुस्तान में व्यापार डाँवाडोल हो जाता है! बिना किसी आशा के ऐसा हो जाता है। ऐसे ही परहेजपूर्वक स्वस्थ जीवन चलते-चलते अचानक रोग हो जाता है। जन्म से प्रारंभ होने वाले जीवन में सब चीज़ें अनवस्थित हैं। किसी घटना के लिये 'ऐसा ही होगा' यह निश्चय नहीं कह सकते।

जिन्होंने मुझ परमेश्वर को प्राप्त नहीं किया, वे सब दुःखालय और अशाश्वत जन्मादि के प्रवाह में चक्कर काटते रहते हैं। लेकिन जिसने मेरे साथ ऐक्य का अनुभव कर लिया उसका फिर पुनर्जन्म नहीं होता। क्योंकि जिन्होंने मेरे भाव को प्राप्त कर लिया, वे महात्मा हो गए। महात्माओं का पुनर्जन्म नहीं होता। महात्मामहान् अर्थात् निरवधिक, सबसे महान् ब्रह्म, उस ब्रह्म को जिन्होंने आत्मा के साथ एक करके समझ लिया कि जो महान् है वही आत्मा है, जो ब्रह्म है वही मेरा प्रत्यक् स्वरूप है। इस बात को जिसने समझ लिया वह महात्मा ही यति है। वह 'परमां संसिद्धिं' अर्थात् मोक्ष, परम मोक्ष को पा जाता है। शास्त्रों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, इनको भी मोक्ष कहते हैं। इष्ट के लोक में जाकर के रहना सालोक्य है। वहाँ पहुँच कर इष्ट के समीप रहो तो और ज़्यादा पास हो जाते हो अतः सामीप्य मिलता है। फिर सारूप्य, इष्ट का रूप तुम्हारा भी हो जाता है। इस प्रकार दूसरी मुक्तियों को भी शास्त्रों में कहा, वे भी

संसिद्धि हैं परंतु 'परम संसिद्धि' नहीं हैं। परम संसिद्धि तो इष्ट के साथ अभिन्न हो जाना है। जिन्होंने इस महान् को अपने आत्मा से एक करके समझ लिया वे उस परम संसिद्धि को अर्थात् इष्ट के साथ ऐक्य को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए फिर वापिस पुनरावृत्त होकर नहीं आते।।१५।।

प्रश्न उठता है कि आपको प्राप्त करके फिर नहीं आते तो क्या दूसरे भावों को प्राप्त करके वापिस आते हैं? भगवान् कहते हैं कि अन्य कुछ भी पाकर लौटते ही हैं

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

हे अर्जुन! ब्रह्मलोक समेत सब भोग-भूमियों का स्वभाव है कि वहाँ से पुनरावर्तन होता है। मुझे पाकर पुनः जन्म नहीं ही होता।

जिसमें भूत अर्थात् प्राणी होते हैं उसको भुवन कहते हैं। ब्रह्मभुवन, जहाँ ब्रह्मा होता है अर्थात् सगुण परमेश्वर जहां होते हैं। ब्रह्मलोक से ऊपर अमुक लोक, उस लोक से ऊपर अमुक लोक इत्यादि पौराणिकों की कल्पनाएँ वेद में स्वीकृत नहीं हैं। वेद के अनुसार जब तुम परमेश्वर भाव को प्राप्त करते हो तब जिस इष्ट की तुमने आराधना की है वह इष्ट का स्वरूप ही वहाँ प्रतीत होगा। ऊपर-नीचे के लोकों की दृष्टि पौराणिकों ने अत्यन्त मंद बुद्धि वालों के लिए कह दी है, वस्तुतः ऐसा नहीं है। वैकुण्ठ, गोलोक आदि सब ब्रह्मलोक ही है, ब्रह्मभुवन ही है। वहाँ जाने वाले सब अपने इष्ट को मानते तो सगुण ब्रह्म ही हैं। सगुण ब्रह्म जो परमेश्वर है, जब वहीं जाकर वापिस लौटते हैं तो अन्यत्र सर्वत्र से लौटेंगे इसमें क्या कहना! क्यों लौटते हैं? वहाँ गए हैं तो वापिस भी लौटना पड़ेगा। ब्रह्मलोक में जाने वाले दो प्रकार से जाते हैं : एक तो पञ्चाग्नि इत्यादि जो उपासना-विशेष हैं, उन उपासनाओं को करके जाते हैं क्योंकि उनका वह फल बताया गया है। दहर-शांडिल्य आदि विद्याओं की उपासना करने वाले भी ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं। दहरविद्याका फल परमेश्वर से ऐक्य का अनुभव है जबकि पंचाग्निविद्याका वह फल नहीं। पंचाग्नि-उपासक ब्रह्मलोक को तो जाता है परन्तु ईश्वर के साथ एकता नहीं पाता, स्वयं को उससे सर्वथा अलग समझता है। एकता के *ज्ञान* वाले की तो यहीं मुक्ति हो जाती है, परन्तु जिसने एकता के *भाव* को किया है, एकता का जिसे ज्ञान नहीं हुआ है, वह ब्रह्मलोक जाकर, जब सृष्टिके बाद प्रलय का समय जाता है तब इष्टदेव के उपदेश द्वारा ज्ञान पाकर मुक्त हो जाता है। वेदादि शास्त्रों में कहीं कहा है कि ब्रह्मलोक से पुनरावर्तन नहीं होता, कहीं कहा है कि होता है; अतः ब्रह्मसूत्रों में इस पर विस्तृत विचार आया है और यही निश्चय किया कि जो दहर, शांडिल्य इत्यादि विद्याओं का फल है वह तो परमशेवर से एकभाव को प्राप्त होकर सृष्टि-समाप्ति पर इष्ट देव द्वारा प्रदत्त उपदेश से कैवल्यरूप मोक्ष है, जबकि पंचाग्नि आदि विद्याओं का फल

ब्रह्मलोक में विविध आनंद भोगते हुए रहना ही है और वह क्षयिष्णु, पुनरावर्ती ही है। परमेश्वर की उपासना स्वयं से अभेदेन, ऐक्य-अनुसंधानपूर्वक करनी चाहिये। जो भेद-दृष्टि रखेगा, उसकी भेद-बुद्धि ही दृढ होगी। भेदाग्रही भी उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मलोक जा सकता है पर उसे अपुनरावर्ती फल नहीं मिल पाता। यदि तुम इष्ट के साथ भेद उपासना करते हो, तब वस्तुतः तुम इष्ट देव को परमेश्वर नहीं समझते, देवता-विशेष समझते हो इसलिए तुम उसके लोक को जाकर भी वापिस लौटते ही हो। अगर तुम परमेश्वर की अभेद-भावना से उपासना करते हो, तब वहाँ अभेद-भाव को प्राप्त करके फिर उस अभेद का अनुभव करते हो जिससे तुम को वापिस नहीं आना पड़ता। 'मामुपेत्य'एकमात्र मैं सगुण ब्रह्म ही ऐसा हूँ जिसको प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं है। ईश्वर को 'मैं' इस प्रत्यय से एकता को प्राप्त करा के उससे एक हो जाने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता, 'दुःखालयमशाश्वतं' जो पुनरावर्तन है, वह नहीं होता।

'कौन्तेय' के द्वारा भगवान् कह रहे हैं कि तू मेरी बुआ का लड़का है इसलिए मेरे साथ एकता का भाव रखना तेरे लिए कठिन नहीं होना चाहिए। क्योंकि जो अपना नज़दीकी रिश्तेदार होता है उससे मनुष्य को एकता की प्रतीति होती है'यह तो मैं ही हूँ, यह अपना ही है।'

कुछ लोगों ने अर्थ किया है कि 'आ ब्रह्मभुवनात्' अर्थात् ब्रह्मलोक से पहले तक। संस्कृत में 'आ' का दोनों अर्थो में प्रयोग मिलता है। 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' में अर्थ है समुद्र तक, समुद्र को छोड़कर वहाँ तक की धरती पर उनका राज्य था। तथा 'आनाकरथवर्त्मनाम्' में अर्थ है कि स्वर्गपर्यन्त उनका रथ जाता था। अतः 'आ' से दोनों भाव निकल सकते हैं। किंतु यहाँ ब्रह्मलोक को छोड़कर बाकी लोकयह अर्थ नहीं है क्योंकि लोक कोई भी ऐसा नहीं जहाँ जाया जाये और लौटना संभव न हो। अपुनरावृत्ति तो केवल तत्त्वज्ञान से होती है, वह चाहे जिस लोक में हो। 'तु' से कह रहे हैं कि जो 'मामुपेत्य' से पृथक् हैं वे सभी पुनरावर्ती हैं अतः ब्रह्मलोक भी उन्हीं में आ जाता है जो पुनरावर्ती लोक हैं। ब्रह्मलोक जाकर सभी नहीं लौटते, क्रममुक्ति के अधिकारी वहाँ मुक्ति पा जाते हैं यह उस लोक की विशेषता होने पर भी उसे पुनरावर्ती लोकों में गिना जाता है।।१६।।

जब कहा कि वहाँ से पुनरावर्तन होता है तब 'क्यों पुनरावर्तन होता है?' यह शंका हो सकती है। पुनरावर्तन इसलिए होता है कि ब्रह्मलोक पर्यन्त जो कुछ है, वह सब काल से परिच्छिन्न है अर्थात् उस सबका किसी काल में प्रारम्भ है और किसी काल में समाप्ति है। इसलिए वे स्वयं काल से परिच्छिन्न हैं। जब उनका काल-परिच्छेद खत्म होगा तब वहाँ गये हुए तुम्हारा भी वहाँ रहना ख़त्म होना ही है। वे काल-परिच्छिन्न हैं, तो कितना काल है उनके परिच्छेद कायह बतलना ज़रूरी हो गया। इसको शास्त्रों में कहते हैं प्रसक्तानुप्रसक्त। जो बात कहने जा रहे हैं उसमें किसी की प्रसक्ति आ गई,

किसी की प्राप्ति हो गई, तो उसको भी वहीं बता देना। प्रायः हमारे शास्त्रों में ऐसे वचन नहीं आते कि 'इसके बारे में अमुक जगह देख लेना।' जो बात जहां जाननी ज़रूरी लगती है उसे वहीं कह देते हैं। पुनरावर्तिता में यह भी संभव है कि वहाँ गये जीव का पुण्य क्षीण हो जाने से वह लौट आये पर लोक बना रहे, और यह भी कि लोक का ही काल पूरा हो जाने से वहाँ जीव रह ही न सकने से लौट आये। इस पक्ष में बताना पड़ेगा कि लोक कब खत्म होते हैं? ब्रह्मलोक की समाप्ति का क्या समय है? अतः भगवान् कहते हैं

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

जो लोग ब्रह्मा के दिन को एक हज़ार युगों तक रहने वाला और उनकी रात को भी एक हज़ार युगों तक रहने वाला जानते हैं, वे ही दिन-रात को सही समझते हैं।

चतुर्युगी को ही यहाँ युग कह दिया है। एक चतुर्युगी तैंतालीस लाख बीस हज़ार सालों की होती है। इतना लम्बा ब्रह्मा का दिन है। यहाँ 'ब्रह्मा' से अपना-अपना इष्ट देव समझ लेना चाहिये। और हज़ार युग अर्थात् उतनी ही उनकी रात्रि होती है। छियासी लाख चालीस हज़ार सालों के दिन-रात हो गए। इस बात को कौन कहते हैं? 'अहोरात्रविदः' जो दिन और रात का विश्लेषण करने वाले, गणित करने वाले ज्योतिषी लोग हैं। दिन और रात के रहस्य को वही जानते हैं। सबके लिए यह जानना सम्भव नहीं क्योंकि बहुत लम्बा चौड़ा हिसाबा करना पड़ता है।।१७।।

प्रश्न होता है कि यह बात कुछ समझ में नहीं आती। दिन का लक्षण होता है सूर्य के उदय से सूर्य के अस्त तक और रात्रि का परिमाण होता है सूर्य के अस्त से सूर्य के उदय तक। ऐसा सूर्य का अस्त और उदय ब्रह्मलोक में तो है नहीं। वहाँ दिन किसको कहते हैं और रात्रि किसको कहते हैं? तब भगवान् कहते हैं कि वहाँ उदय-अस्त सूर्य का नहीं, कुछ और है

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।।१८।।

ब्रह्मा जी का दिन होने पर स्थावर-जंगम सब व्यक्ति अव्यक्त अर्थात् सोये हुए ब्रह्माजी से प्रकट होते हैं और उनकी रात होने पर उन्हीं में लीन हो जाते हैं।

'अव्यक्ताद्'; जब प्रजापति सो जाते हैं, उस समय सारा संसार अव्यक्त हो जाता है। ठीक जिस प्रकार जब हम सो जाते हैं तब हमारी देखने की साधन आँख, सुनने का साधन कान, चखने की साधन जीभ, चलने का साधन पैर, पकड़ने का साधन हाथ, बोलने की साधन वाणी, ये सारे अप्रकट हो जाते हैं, इनमें से कोई चीज़ प्रकट नहीं

रहती है। इसी प्रकार जब हिरण्यगर्भ ब्रह्मा सोने जाएगा, तब सभी की आँखें, सभी के कान, सभी के पैर, सभी के हाथ, कार्यकारी नहीं रहेंगे। दिन किसको कहते हैं? अव्यक्त से जब प्रजापति उठते हैं। तब सारी प्रजाएँ प्रकट हो जाती हैं। सभी के आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि सब काम करने लग जाते हैं। दिन कब शुरू हुआ? जब प्रजापति जग गए अर्थात् हम सारे जग गए, सबकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि काम करने लग गए। वेदान्त ग्रन्थों में प्रायः अव्यक्त का मतलब होता है मूल अक्षर, परंतु यहाँ वह अवस्था अभिप्रेत नहीं है क्योंकि मूल प्रकृति की स्थिति तो तब होगी जब आकाश-पर्यन्त सब अव्यक्त हो जाएगा। अर्थात् जब प्रजापति के सौ साल पूरे हो जाएँगे। यह जो दिन-रात का हिसाब बतला रहे हैं, इस हिसाब से सौ साल का जीवन होता है ब्रह्मा का। यहाँ रात है बीच में होने वाले प्रलय। ठीक जैसे हमारे आँख कान इत्यादि सब काम करना बंद कर देंगे और ऐसा बंद करेंगे कि फिर प्रकट नहीं होंगे, तब उसका नाम है मृत्यु! और जब हम सोने जाते हैं तब भी ये सब काम नहीं करते, लेकिन थोड़ी देर में फिर काम करने लगते हैं, उसे कहते हैं सोना। सोकर उठोगे तो तुम्हारे आँख कान नाक सब काम करने लग जायेंगे। जब ब्रह्मा जी के सौ साल पूरे होंगे तब तो यह संसार वापिस व्यक्त नहीं होगा, सब कुछ अव्यक्त में चला जाएगा। तब मूल प्रकृति की स्थिति होगी। यहाँ तो अव्यक्त से मतलब है प्रजापति की सुषुप्ति। ब्रह्माजी की सोने की अवस्था को ही यहाँ अव्यक्त कह दिया है। सभी कुछ जो है वह जब अभिव्यक्त हो जाता है तब उसको अहरागम कहते हैं, दिन का आ जाना कहते हैं। 'तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।' जिसे प्रथम पंक्ति में अव्यक्त कहा उसी में रात आने पर सब व्यक्तियों का प्रलय हो जाता है, सब प्रलीन हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के काल-परिमाण को बतला दिया। काल-परिमाण बतलाना ज़रूरी इसलिए था ताकि पता चले कि ब्रह्मलोक में गये हुए का कब पुनरावर्तन होता है। हर बार जब प्रजापति उठते हैं तब ये सब उठ जाते हैं। परंतु जो परमात्मा से एकता को प्राप्त हो गये हैं, वे फिर नहीं उठते। यह 'मामुपेत्य' की महत्ता है।।१८।।

व्यक्ति यदि रात को लीन हो जाते हैं तो उनके किये कर्मों का क्या होता है? सुबह जो प्रकट होते हैं वे सुख-दुःख किसके अनुसार पाते हैं? लीन हुए जीव अनायास ही संसार से बच जाते हैं तो मोक्षार्थ प्रयास का विधान क्यों किया गया है? इन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् बताते हैं कि प्रकट वही होता है जो अप्रकट हुआ, नया प्रकट होता हो, ऐसा नहीं है

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

हे पार्थ! (जो पूर्वकल्प में था) वही प्राणिसमुदाय (अविद्या-काम-कर्म के) परतंत्र

रहते हुए ब्रह्माजी का दिनआने पर प्रकट होकर उनकी रात आने पर प्रलीन हो जाता है और ऐसा प्राकट्य-प्रलय का क्रम चलता रहता है।

'स एव', वह ही; जो सामने नहीं होता है उसी को 'वह' शब्द से कहते हैं। सामने वाले आदमी को तो 'यही आदमी' कहोगे और जो सामने नहीं है उसे 'वह आदमी' कहोगे। वह अर्थात् जो व्यक्त से अव्यक्त हुआ था, और 'अयं' हो गया जो प्रकट है, सामने है। वही यह भूतग्राम; सब भूतोंआकाश, वायु, तेज इत्यादि का और इनसे बने हुए सब शरीरों का समुदाय। भूतों के ही सूक्ष्म अंशों से सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन, इन्द्रियाँ, प्राणये सभी बने हैं। जो व्यक्त अव्यक्त में गया था वही फिर बाहर आता है। इसमें अपने को दृष्टान्त बना कर समझ लेना चाहिएजब हम सोने जाते हैं तब हमारी इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं। और जब गहरी नींद से उठते हैं तब वापिस वे ही व्यक्त होती हैं। अगर सोते समय हमारी आँख कमज़ोर थी तो उठते हैं तो भी वही कमज़ोर आँख मिलती है। अगर कम सुनने वाला कान था तो उठने पर फिर कम सुनने वाला ही कान होता है। अगर संस्कृत पढ़ा हुआ हमारा अन्तःकरण था तो उठने पर संस्कृत पढ़ा हुआ ही रहता है। जो भी हमारी इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि हैं, वे सोने के पहले जैसे थे वैसे ही फिर मिलते हैं। इससे पता लगता है कि दूसरी आँख नहीं आई है, वही आँख है, दूसरा कान नहीं आया है, वही कान है, दूसरा अन्तःकरण नहीं आया है, वही अन्तःकरण है क्योंकि उसमें जैसे संस्कार आदि थे वैसे ही इसमें हैं। जैसे शरीर वैसे उनमें अभिमानी जीव; जो जीव लीन होते हैं वे ही पुनः प्रकट होते हैं। कर्म-फल-व्यवस्था कायम रहती है। जैसे कर्म करने में जीव पूर्व कल्प में स्वतन्त्र था वैसे ही कर्म करने में फिर स्वतन्त्र होता है। इसलिए हर कल्प में वही कथा होगीऐसा नहीं है। पैदा तो वे ही होंगे लेकिन पैदा होने के बाद कर्म करने में स्वतन्त्र होने से, पहले जो किया है, वही अब करेंगे ऐसी बात नहीं है। सुषुप्ति से उठने पर भी यही है। सोने के पहले मैं सोच रहा था, 'उस आदमी को मार कर ठीक कर दूंगा।' सोकर उठता हूँ, इतना संस्कार तो रहता है कि 'इसने हमारी बुराई की, इसको दंड मिलना चाहिए।' लेकिन वह जो निश्चय था कि 'इसको मार कर ठीक कर दूंगा।' वह निश्चय कभी रह जाता है, कभी नहीं भी रहता है। प्रायः करके जब आदमी सो कर उठता है, कुछ-न-कुछ शांत होकर उठता है। उठने के बाद जैसे तुमने कल किया था, वैसा तुम अब नहीं करोगे, कुछ-न-कुछ फ़र्क होगा। कुछ उसके जैसा करोगे, कुछ नया भी करोगे। इसलिए वही *पैदा होगा,* यह तो निश्चित है लेकिन आगे इस कल्प में भी वैसा ही *करेगा* जैसा उस कल्प में, ऐसी कोई बात नहीं है। ब्रह्मा जी की रात्री आने पर अर्थात् जब प्रजापति सोने जाते हैं तब यह सारा अव्यक्त भाव को प्राप्त हो जाता है, लीन हो जाता है। और 'अहरागमे', जब दिन वापिस आता है तब 'प्रभवति', वह फिर उत्पन्न हो जाता है। 'अवशः' जो व्यक्त होने वाले हैं उनके वश में यह प्रक्रिया नहीं है, प्रजापति के उठने

पर व्यक्त होगा ही और प्रजापति के सोने पर अव्यक्त होगा ही। लीन होना और प्रकट होनाइसमें जीवों को स्वतन्त्रता नहीं है। परतंत्र होकर, प्रजापति के परतन्त्र होकर ऐसा होता रहता है। इस प्रकार से भगवान् ने अव्यक्त और व्यक्त भावों में कोई नवीनता नहीं होती, इतना मात्र कह दिया। सूर्योदय के दृष्टान्त से समझ लो। सूर्य उदय होता है तो नई चीज़ों को तो पैदा नहीं करता! जहाँ जो पेड़ है, वहीं वह पेड़ है, जहाँ जो घड़ा रखा है, वहीं है। सूर्य के आने से केवल प्रकट हो जाता है, रहता जैसा है वैसा ही है। इसी प्रकार प्रजापति के जगने पर भूतग्राम जैसा है वैसा प्रकट हो जाता है, इसमें जीव की स्वतन्त्रता कुछ नहीं है।।१६।।

जिस अक्षर की प्राप्ति के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ हुआ और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाया था उसके स्वरूप को बतलाते हैं

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो ऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

अविद्यारूप अव्यक्त से भिन्न, उससे विलक्षण तो जो चिरंतन अनिन्द्रिय अक्षर ब्रह्म है वह सब भूतों के नष्ट होने पर (भी) नष्ट नहीं होता।

'तस्मात्' यह सब जो व्यक्त और अव्यक्त होता है, उससे ब्रह्म 'परः भावः' परे है अर्थात् उससे भिन्न है। 'तु' यह बतलाने के लिए है कि जिस अक्षर को कहने जा रहे हैं वह व्यक्त और अव्यक्त से अलग है। व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों ही उसके स्वरूप नहीं, वह दोनों से परे है। परभाव क्या है? अक्षर ब्रह्म। भिन्न होने पर भी दोनों एक जैसे हो सकते हैं पर यहाँ ऐसा नहीं इसलिए 'अन्यः' कहा अर्थात् उससे विलक्षण है। वह भाव कैसा है? 'अव्यक्तः', यह प्रथमान्त अव्यक्त उस पंचम्यन्त अव्यक्त से अलग है अर्थात् परमेश्वर इन्द्रियों के द्वारा विषय नहीं किया जा सकता इसलिए अव्यक्त है। चूंकि अव्यक्तता दोनों जगह एक जैसी हैप्रलय काल के अंदर भी इन्द्रियों से कोई ज्ञान नहीं होगा और परमेश्वर का भी इन्द्रियों से कोई ज्ञान नहीं होगाअतः दोनों को ही अव्यक्त कहा जाता है। परंतु प्रजापति की स्वापावस्था से परमेश्वर भिन्न है। प्रजापति की जाग्रत् अवस्था से भी विलक्षण है, और प्रजापति की सोने की अवस्था जो अव्यक्त है, उससे भी भिन्न है। क्या भेद है? तो कहावह सनातन है। प्रजापति की स्वापावस्था जो अविद्या है, वह सनातन नहीं है क्योंकि उसका नाश हो जाता है। परमेश्वर के ज्ञान से अविद्या नष्ट हो जाती है। वह अविद्या सारे भूतग्रामों का बीज है। ऐसे समझ लो : सारा पेड़ किस में अव्यक्त हो जाता है? बीज में। बीज को देखो तो *उसमें* कुछ नहीं दीखेगा लेकिन उस बीज को खाद-पानी मिलने से उसके अंदर का सारा वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार बीज भी अव्यक्त है। किंतु उस बीज को तुमने भून दिया तो कहा वह भी बीज जाता है, लेकिन अब कितना भी खाद और पानी दो, भुजा

बीज आगे वृक्ष को उत्पन्न करने में असमर्थ है क्योंकि उसमें अब वृक्ष छिपा रह नहीं गया। ठीक इसी प्रकार से प्रजापति की स्वापावस्था वाला जो अव्यक्त है, अविद्या है, वह सारे भूतग्रामों का बीज रूप है इसलिए पुनः प्रजापति के उठने पर भूतग्राम प्रकट हो जाता है। परंतु ज्ञान से जब उस अविद्या का बाध हो जाता है तब उससे आगे कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता। अथवा दूसरे दृष्टान्त से समझ लोजब हम सोते हैं तब भी हमारी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण हमारे में लीन हो जाते हैं, बाहर तो रहते नहीं। लेकिन अगले दिन सवेरे फिर प्रकट हो जाते हैं क्योंकि बीजभूत मौजूद है। परंतु मरे हुए आदमी के फिर आँख कान बाहर निकल कर आते नहीं। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा का ज्ञान हो जाने के बाद फिर भूत प्रकट नहीं होते। इन्द्रियों का विषय नहीं इसलिए परमात्मा को अव्यक्त कहते हैं, और इन्द्रियों का विषय नहीं इसलिए प्रलय काल में या सुषुप्ति काल में भी अव्यक्त कहते हैं। यह तो दोनों की समानता है। किंतु हैं दोनों पृथक् अतः कहा 'अन्यः'। परमेश्वर की अव्यक्तता भुने हुए बीज की तरह है जबकि प्रजापति की स्वापावस्था, जो उगने में सफल हो जाएगा ऐसे बीज की तरह है। न पके बीज में वृक्ष दीखता है, न भुने हुए बीज में वृक्ष दीखता है परंतु भुने बीज से आगे पैदा होगा नहीं और दूसरे में व्यक्त होने वाली अव्यक्त अवस्था है।

परमात्मा 'सनातनः' सनातन है, हमेशा एक जैसा रहता है। व्यक्तावस्था के अंदर भी वह वैसा ही रहता है जैसा अव्यक्तावस्था में। अव्यक्त *अवस्था* तो व्यक्त *अवस्था* में नहीं है परंतु परमेश्वर का पर भाव सनातन होने के कारण एक-सा है। 'सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति' जितने जड-चेतन व्यक्त भाव हैं वे सारे नष्ट होने वाले हैं, लेकिन उनके नष्ट होने पर भी परमात्मभाव नष्ट नहीं होता, एक-जैसा ही बना रहता है। इसलिए वह सनातन है। व्यक्त काल में भी है और अव्यक्त काल में भी है परंतु खुद व्यक्त और अव्यक्त नहीं होता। सारे नष्ट होने वाले पदार्थों के अंदर वह एक-जैसा रहता है इसलिए सनातन है। 'सर्वेषु भूतेषु' इसलिए कहा कि प्रजापति ब्रह्मा के भी नष्ट होने पर वह नष्ट होता नहीं। जैसे हमारी सौ साल की उम्र मानी गई है वैसे ही प्रजापति ब्रह्मा की भी सौ साल की उम्र है। श्लोक १७ में जो दिन बतलाया उस हिसाब से ब्रह्मा जी की सौ साल की उम्र है। जब सौ साल ख़त्म होंगे तब वे भी नष्ट हो जाएँगे। लेकिन उनके नष्ट होने पर भी वह सनातन भाव एक-जैसा रहेगा।।२०।।

वेदोक्त होने से यह सनातन भाव प्रामाणिक है यह कहते हैं

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

जिसे पाकर संसार में नहीं लौटते वह मुझ विष्णु का खास पद (स्वरूप) है, अव्यक्त और अक्षर शब्दों से कहा गया है, उसे निरतिशय गति बताते हैं।

सारे भूतों में, सब जगह मौजूद है परंतु इन्द्रियों का अविषय होने से हमारे लिये अव्यक्त ही रहता है। हम लोगों के संस्कार में दृढ है कि जो इन्द्रियों से विषय हो जाए वह सच्चा है और बाकी काल्पनिक है, सच्चा नहीं है! ऐसा हम लोगों के अंदर एक भाव बैठा हुआ है। इसलिये लगता है कि यदि परमात्मा होता तो इन्द्रियों का विषय होता, इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिए परमात्मा है ही नहीं, काल्पनिक है! अधिकतर लोगों की यही धारणा है कि 'ये सब मानी हुई चीज़ें हैं।' परंतु कभी विचार करो, जो तुम *खुद* हो, 'मैं हूँ', वह किसी इन्द्रिय का विषय है क्या? तुम खुद अपने को क्या आँखों से देखते हो, कान से सुनते हो? किस इन्द्रिय का विषय हो? किसी इन्द्रिय का विषय नहीं कह सकते। तो क्या तुम काल्पनिक हो! अनात्मवादी तो कह देता है कि आत्मा काल्पनिक ही है। परंतु 'मैं काल्पनिक हूँ' ऐसा निश्चय क्या सामान्य तरह संभव है? बाह्य पदार्थों को इंद्रियों से विषय मैं करता हूँ। यदि मैं ही कल्पनिक हूँ तो पदार्थों का विषय होना भी काल्पनिक ही होगा, और विषय हुए रूप से अतिरिक्त पदार्थों में कोई प्रमाण ही नहीं तो बाह्य अर्थ भी काल्पनिक हो जाएंगे, अर्थात् 'मैं' को न स्वीकारने पर 'यह' भी कुछ स्वीकार्य नहीं रहेगा जो उन्हें जँचता नहीं जो सिर्फ ईश्वर को काल्पनिक मानना चाहते हैं। परमात्मा सब जगह पर रहते हुए भी प्रकट नहीं है अतः अव्यक्त कह दिया गया। इसके प्रकट होने का सीधा स्थान 'मैं' है। परमात्मा सर्वत्र मौजूद है परंतु इन्द्रियों का विषय नहीं होता। मैं आत्मा भी इन्द्रियों का विषय न होते हुए निश्चित रूप से सच्चा हूँ। 'मैं नहीं हूँ', ऐसी कल्पना कोई कर कैसे सकता है क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' की कल्पना करोगे 'मैं' होगा तभी! इसलिए यह जो 'मैं' इन्द्रियों का अविषय होते हुए मैं- रूप में प्रकट होता है, यह परमात्मा का ही रूप है। उसी अक्षर को अव्यक्त कहा है।

उस अक्षर ब्रह्म को ही 'परमां गतिम् आहुः', वही परम गति है क्योंकि वही सबका आश्रय है। कभी थोड़ा भी विचार करो तो समझ जाओगे कि किसी भी चीज़ की सिद्धि अन्ततोगत्वा मैं के साथ संबंधित होकर ही होती है। अन्तःकरण की वृत्ति बना कर मैंने साक्षात् घड़े को जान लिया, तभी मैं घड़े को सच्चा मानता हूँ। अथवा किसी भले आदमी के कहने से उसके शब्द को मैंने सच्चा मान लिया तब मानता हूँ। वास्तविकता का निर्णय इसी से होता है कि मुझ से संबंध वाला है। आगे 'मैं' किसी से संबंध वाला होकर तो निश्चय वाला नहीं हूँ, मैं तो स्वप्रकाश हूँ। 'मैं हूँ', ऐसा निश्चय करने के लिए कुछ नहीं करना पड़ता। हर-एक चेतन जानता है कि 'मैं हूँ'। कोई भी आदमी यदि डाक्टर से जाकर कहे 'डाक्टर साहब, जरा नाडी देखकर पता लगाइए कि मैं हूँ या नहीं?' तो वह कहेगा 'भाई, तू तो किसी पागलखाने में भर्ती हो जा!' बाकी सब चीज़ों की परीक्षा तो डाक्टर कर लेगा, लेकिन 'मैं हूँ या नहीं', इसकी कैसे परीक्षा करेगा! इसलिए यह जो 'मैं' के द्वारा प्रकट होने वाला प्रत्यग् आत्मा है, यही सबकी परम गति

है। इसके आगे और कोई गति नहीं है। परंतु ऐसा होने पर भी कठिनाई क्या है? 'मैं हूँ' ऐसा निश्चय होने के साथ ही बहुत-सी भ्रान्तियाँ आ जाती हैं। 'मैं आदमी हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ।' ये भाव 'मैं' के साथ हमेशा मौजूद रहते हैं। ये सब जो जुड़ी हुई चीज़ें हैं इन्हें विवेक विचार के द्वारा जब हटा देते हैं तब सबके हट जाने पर जो नहीं हटेगा, वह जो बचा हुआ है, उसी को आत्मा कहते हैं। अतः ब्रह्मभाव की प्राप्ति का केवल तात्पर्य है कि ब्रह्मता को काटने वाली जितनी चीज़ें हैं वे हट जाएँ। सामान्य दृष्टान्त समझ लो : आकाश सर्वव्यापक है। आकाश मायने खाली जगह। खाली जगह सब जगह व्यापक है। तुम कहीं घूमने जा रहे हो। दो दिन के लिए जाना है। इसलिए एक ही बक्से में पति-पत्नी दोनों सामान रख लेते हो। यदि पत्नी के सामान से ही बक्सा भर जाये तो कहते हो 'अरे, थोड़ी जगह मेरे लिए कर दो।' जगह खाली कैसे हो? जगह को कहीं से लाया नहीं जाता है कि जगह नहीं थी, ले आए। जगह तो वहाँ है ही। उसमें जो पत्नी के कपड़े थे, उनमें से चार कपड़े हटा देते हो, बस जगह हो जाती है। कहते यही हो और व्यवहार भी यही है कि 'जगह करो', पर *जगह* नहीं की जाती, कुछ चीज़ें हटाई जाने से जगह अपने आप है ही। ठीक इसी प्रकार से इन सब शरीर आदि को हटा दो तो आत्मा है ही। इसी को उसकी प्राप्ति कहा जाता है। इसलिए कहा 'यं प्राप्य'।

इस भाव को प्राप्त करके फिर 'न निवर्तन्ते। जन्म-मरण इसीलिए होता है कि हम अन्य भाव को पकड़े हुए हैं। आत्मा से अन्य, परमात्मा से अन्य किसी भाव को पकड़े हुए हैं, उसी के कारण जन्म होता है। जब एक बार इन सब भावों को छोड़ दिया तो फिर वापिस लाने वाला कोई भाव रहा नहीं, इसलिए फिर कभी संसार के अंदर आना पड़ता नहीं। 'तत्', वह जो स्थान है अर्थात् वह जो स्थिति है, वही 'मम परमं धाम' मुझ पर ब्रह्म परमात्मा का परम धाम है। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' में कहे भुवन मायने भी धाम ही है। परंतु इस परम धाम को छोड़ कर अर्थात् परमात्म-भाव को छोड़ कर और जितने धाम हैं वहाँ से तो निवृत्त होते हैं परंतु एक बार जब इस परम धाम को प्राप्त कर लिया, अर्थात् आत्मस्वरूप से परमात्मभाव का निश्चय कर लिया तब फिर निवृत्ति नहीं होती। वही भगवान् का परम धाम है जहाँ से वापिस लौटना नहीं पड़ता। यहाँ धाम का मतलब कोई देश-विशेष नहीं है! जहाँ *जाओगे* वहाँ से लौट कर आना पड़ेगा क्योंकि जो चीज़ तुमको ले गई है वह वापिस ले आएगी। जब अपने व्यापक भाव में स्थित हो गए तो कहीं जाना ही नहीं रहा इसलिए आना भी नहीं है। उसी को भगवान् ने कहा 'तद्धाम परमं मम'।।२१।।

उस धाम की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

हे पार्थ! जिसके मध्य सब भूत हैं, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, वह निरतिशय पुरुष तो अन्य अर्थात् अनात्मा को विषय न करने वाली भक्ति से लभ्य है।

'परः' अर्थात् निरतिशय। पुरुषजो शरीर आदि सबको पूर्ण कर देता है वही पुरुष है। सृष्टि के प्रारंभ में आँख, कान, नाक सब बन गए, देवता भी आ गए, फिर भी इसने कुछ नहीं किया, अपूर्ण रहा। तब परमेश्वर ने सोचा कि 'मेरे बिना यह कैसे चलेगा!' घर में टेलीविजन भी है, रेफ्रिजरेटर भी है, गीज़र भी है, बल्ब भी है, ट्यूब लाईट भी है, पंखा भी है, एयरकंडीशनर भी है; सब चीज़ें तुमने रख दीं पर सब बेकार हैं, अपूर्ण हैं क्योंकि पूर्ण तो तब होंगे जब बिजली का कनैक्शन लोगे! बिजली के बिना सब अपूर्ण है। इसी प्रकार सब चीज़ें परमात्मा से ही पूर्ण होती हैं, उनके बिना सब अपूर्ण हैं। वह परमात्मा हमारे अंदर अहम्-भाव से स्थित है। यदि इस अहम्-भाव को हटा देते हो तो वह पूर्ण रूप से स्थित है। शरीर को पूर्ण करने वाला परमात्मा ही है परंतु शरीरमात्र को पूर्ण करता है अहम् के द्वारा जबकि अहम् हटकर सारे संसार को पूर्ण करता है। पुरुष तो अहम्-भाव वाले को भी कहते हैं क्योंकि इसके आने से पूर्ण हो गया, परंतु इस भाव में *जो* आया वह परमात्मा ही पूर्ण है। जैसे आकाश ही घटाकाश है वैसे परमात्मा ही अहम् है। कहते हो 'बीस लीटर की बाल्टी है।' उसमें बीस लीटर क्या है? यही कहोगे कि बीस लीटर की जगह है। और बाहर? बाहर तो चाहे जितना रखो, असीम जगह है, सारा संसार बाहर रह रहा है। जब तक बाल्टी है तब तक तो उसमें बीस लीटर की जगह और जैसे ही बाल्टी को तुमने फोड़ दिया, वैसे ही कितनी जगह रह गई? असीम, जो पहले से थी, बाल्टी की चार-दीवारी ने जिसे सीमित कर रखा था, सीमा चली गई तो वही असीम जगह रह गयी। इसी प्रकार से उस परब्रह्म परमात्मा का अहम् के अंदर रहना है। वह तो तब भी परिच्छिन्न नहीं *है* लेकिन अहम् के कारण परिच्छिन्न *लग* रहा है। जैसे ही अहम् भाव जाता है वैसे ही वह अपरिच्छिन्न *हो* जाता है।

'अनन्यया भक्त्या लभ्यः' वह पुरुष अनन्य भक्ति से मिलता है। वह अन्य नहीं हैऐसा आत्मविषयक प्रेम अनन्य भक्ति है। इसे ज्ञानलक्षणा भक्ति भी कहा अर्थात् यह प्रामाणिक निश्चय कि मैं के द्वारा जो परमात्मा से अन्य जाना जा रहा है वह परमात्मा से अन्य है नहीं, यह हुआ अनन्य प्रेम, उसी से परमात्मा मिलता है। 'यस्य अन्तःस्थानि भूतानि' जितने जड-चेतन भूत हैं वे सारे उस पुरुष के अंदर ही हैं। प्रत्यग्रूप से उसका ज्ञान होता है परंतु है वह जिसके ऊपर सारे संसार की कल्पना है। सारा जड-चेतन-जगत् उसके अंदर ही है। बिजली आने पर बिजली से चलने वाले उपकरण

चलते हैं। इसका मतलब है कि बिजली ही सबके अंदर जाकर उन्हें चला रही है। अतः वे सब चीज़ें बिजली के अंदर ही हैं, दीखती बाहर हैं। इसी प्रकार पुरुष के अंदर सारे भूत हैं। कार्य कारण में रहता है। जैसे जितने गहने हैं वे किसमें रहते हैं? स्वर्ण के पिण्ड में, सोने के पिण्ड में रहते हैं। उसमें से कारीगर चाहे जितने गहने बना ले किंतु हैं सब सोने में ही। उसी प्रकार से सारी सृष्टि का कारण जो परमात्मा है, उसके अंदर ही यह सारा जगत् स्थित है। अज्ञान के कारण सब भूत उसी से प्रकट होते हैं और ज्ञान होने पर कोई रहते नहीं। सोने को तुमने पिण्ड में देखा है, गिन्नी में देखा है, गहनों में देखा है, सब जगह स्वर्ण को देखा है, लेकिन जब तुम रसायन-शास्त्र पढ़ते हो तब इनमें से किसी की गिनती नहीं होती! सोने की क्या विशेषतायें हैं, क्या उसके गुण-धर्म हैंइसी का विश्लेषण होता है। सोने का रंग, सोने का विशिष्ट घनत्व, सोने का गलनांक इत्यादि का ही निर्धारण किया जायेगा। जो गहने तुमने देखे हैं उनका जिक्र नहीं होगा। सोने का जो असली रूप है उसी का विचार होता है। जहाँ भी सोना मिलेगा, वहाँ वे गुण-धर्म मिलेंगे। जहाँ कड़ा मिलेगा, वहाँ बाजूबंद नहीं मिलेगा, जहाँ बाजूबंद मिलेगा वहाँ तेड़िया नहीं मिलेगा, जहाँ तेड़िया मिलेगा वहाँ अशरफी नहीं मिलेगी, इसलिये ये स्वर्ण के असली रूप नहीं हैं। 'इदं' जो व्यक्तरूप संसार है, उस सबके अंदर वह परम पुरुष कारणरूप से मौजूद है। मोटी दृष्टि से समझ लोसंसार में हर चीज़ 'है'- रूप से ही मौजूद है। 'घड़ा है', 'कपड़ा है', 'है'- रूप तो सर्वत्र मिलेगा, वही सद्रूप परमात्मा है। इसी प्रकार हर-एक का ज्ञान है, वह 'चिद्रूप' परमात्मा है। यदि कोई कहे कि अमुक चीज़ है, उस का ज्ञान से कोई संबंध नहीं है; न किसी ने उसको जाना है, न जान सकता है, न उसके जानने में कोई प्रमाण है; तो क्या कहोगे? 'गप्प मार रहे हो!' अगर कोई कहता है 'मैंने नहीं जाना लेकिन अमुक ऋषि ने कहा है', तब तो बात मान सकते हो, पर अगर कहे 'उसको न किसी ने जाना, न कोई जान सकता है। उसका ज्ञान से कभी संबंध नहीं होता है', तो इसे गप्प मानोगे। संसार में जो भी चीज़ है वह सद्रूप और चिद्रूप है। किंतु केवल सद्रूप में न होकर के किसी चीज़ के साथ वाले है- रूप में है, जैसे घड़ा है; किसी चीज़ के साथ वाले ज्ञानरूप में है, जैसे घड़े का ज्ञान; इसलिए कहा कि उस पुरुष से यह सारा संसार व्याप्त है। परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही लभ्य है। भगवान् ने पहले भी योग की प्रणाली से प्राप्य कहकर जो योग करने में समर्थ नहीं है, उसके लिए कहा था 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।' 'अनन्यचेताः' को यहाँ कह दिया 'अनन्यया भक्त्या', उसके द्वारा परम पुरुष प्राप्त होता है।

परम पुरुष से मैं अलग नहीं हूँ इस प्रकार से अपने से एक जान कर जो प्रेम किया जाता है वही अनन्य, परम है। जो अपने से भिन्न होता है वह अपने लिए प्रिय होता है परंतु मैं खुद किसी *के लिए* प्रिय नहीं हूँ। मैं खुद तो स्वभाव से प्रिय हूँ। बाकी सब

चीज़ें मुझे अपने लिये प्रिय होती हैं अतः उनसे कभी परम प्रेम नहीं होता, वह प्रेम अपने लिए होता है। जिस प्रकार से पुत्र का कोई मित्र है, उसके साथ घर आता है। पुत्र कहता है 'यह मेरा बहुत अच्छा दोस्त है', तो माँ उसे बढ़िया-बढ़िया पकौड़े बना कर खिलाती है। फिर थोड़े दिनों बाद कुछ दिन वह लड़का आता नहीं, माँ पूछती है, 'अरे, तेरा दोस्त आता क्यों नहीं?' वह कहता है, 'वह काहे का दोस्त है! उसके साथ तो लड़ाई हो गई, कुट्टी हो गई।' उस दोस्त के प्रति जो माँ का प्रेम था, वह तो लड़के के लिए था। जब वह लड़के को प्रिय नहीं रहा तब उसे भी प्रिय नहीं रहा। ठीक इसी प्रकार सूर्य जिसका इष्ट देवता है वह भी ज्येष्ठ की तपती धूप में बाहर नहीं निकलना चाहता। क्यों? जानता है कि सूर्य में इस सयम जाने से मुझे दुःख होगा। इष्ट देव भी प्रिय है क्योंकि उससे मुझे सुख होता है। मुझे दुःख होने लगे तो वहाँ से भी प्रेम हट जाता है! इसी तरह, तुम्हारे पास एक बहुत बढ़िया नीलम की अंगूठी है, बहुत सावधानी से रखते हो, बड़ी प्रिय है। यात्रा में जा रहे हो, चोर आता है, बंदूक दिखाता है, कहता है 'अंगूठी उतार दे नहीं तो मारता हूँ गोली।' खट उतार कर उसको दे देते हो! क्यों दे देते हो? 'अंगूठी नहीं दूँगा तो मुझे गोली मारेगा'यह जानते हो। अतः अंगूठी के प्रति जो प्रेम है, नीलम के प्रति जो प्रेम है, उसकी अपेक्षा मुझे अपने आप से ज़्यादा प्रेम है। परमेश्वर को जब तक अपने से अन्य समझते हो तब तक प्रेम इसलिए है कि परमेश्वर से मेरी कामना सिद्ध होगी, कामना चाहे सांसारिक हो, चाहे देवादि लोकों की हो। परंतु जब परमेश्वर को मैं अपना स्वरूप जानता हूँ तब परमेश्वर से जो प्रेम होता है, वह परम प्रेम है। परमात्मा अन्य नहीं हैयों परमात्मा को अपना स्वरूप जान कर जब भक्ति अर्थात् प्रेम किया जाता है तब वह मिलता है।

परमात्मा का स्वरूप बतलाया विश्वोदर, 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।' उसके अंदर ही सारे प्राणी स्थित हैं, इसलिए उसको विश्वोदर कहते हैं। समुद्र-मंथन के समय जब दूसरी दूसरी चीज़ें निकलती रहीं, तब तो सब लोग लेने वाले तैयार थे। सात सूंड का ऐरावत हाथी निकला तो इन्द्र ने ले लिया। लक्ष्मी जी निकलीं तो विष्णु ने ले लीं। सब चीज़ों को तो लोग लेते चले गए, फिर भी समुद्र का मंथन करते रहे। जब समुद्र ने जो हालाहल उगला, वह विष इतना भयंकर था कि उसकी हवा मात्र से लोग अत्यन्त कष्ट पा रहे थे। उसे कौन ले! समुद्रमंथन के लिए भगवान् शंकर भी आए हुए थे, आनंद से एक कोने में बैठे थे। सबने कहा 'इन्हें अब तक कोई रत्न नहीं मिला है, इन्हीं को विष देवें।' तो देवताओं के अग्रणी भगवान् विष्णु विष लेकर गए, कहा 'इसे पी लीजिए।' भगवान् शंकर उसको ले रहे थे तो पार्वती जी ने मना किया, कहा 'नहीं-नहीं, यह हलाहल जहर है। आपके पीने लायक नहीं है। सारा संसार आपके उदर में है, आप विश्वोदर हैं। अगर आपने पीया तो आपके अंदर में स्थित ये सारे लोग इस विष से पीडित हो जाएँगे। पेट में इतनी बड़ी उथल-पुथल होगी कि

उसका भगवान् शंकर पर भी असर हो जाएगाऐसा पार्वती जी समझ रही थीं। इसलिए कहने लगी 'मत पीजिए, मत पीजिए, मत पीजिए। आपके पेट में सारा संसार है।' उनको भय तो था कि उनके पति को कुछ हो जाएगा! भगवान् शंकर बड़े धर्म-संकट में पड़े। पार्वती जी पत्नी हैं, अत्यन्त प्रिय हैं ही और भगवान् विष्णु भी उनको अत्यन्त प्रिय हैं। इनकी बात मानें कि उनकी बात मानें? 'पीने' का मतलब होता है कण्ठ के नीचे ले जाना। जब कोई चीज़ कण्ठ से नीचे जाती है तब उसको कहते हैं पीना। दोनों की बात रखने के लिए भगवान् शंकर ने विष ले तो लिया, पर उसे कण्ठ तक ही ले गए, इतनी बात तो विष्णु भगवान् की मान ली; और कण्ठ से नीचे नहीं उतरने दिया, यह बात भगवती की मान ली, दोनों की बात रख ली। कभी आप लोगों ने दवाई की कोई बड़ी गोली ली होगी तो पता होगा कि कई बार गोली जाकर कण्ठ के बीच में अटक जाती है। नीचे भी नहीं जाती और कण्ठ तक गई हुई बाहर भी नहीं आती। उस समय कितनी घबराहट होती है? भयानक विष को कण्ठ में धारण करना कितना कष्टकारी है, फिर भी दोनों की बात रखने के लिए उन्होंने कण्ठ में उस विष को धारण कर लिया। पेट में नहीं गया तो संसारी प्राणियों को उसके कारण कोई कष्ट नहीं हुआ। पार्वती जी रोक रहीं थीं यही कह करके कि 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि' भगवान् के अंदर सारे प्राणी हैं। अतिधन्य वेद कहता है कि सारे प्राणी, सारा जगत् परमेश्वर से ही उत्पन्न हुआ है, इसलिए परमेश्वर ही कारण हैं। कारण में ही कार्य रहा करता है। जैसे अगर तुम्हारे पास सोने की डली है, चाहो तो उससे कड़ा बनवा लो, बाजूबंद बनवा लो, तेड़िया बनवा लो कमरबंद बनवा लो। सोने का सब कुछ उसमें से निकलता है, इसका मतलब कि सब कुछ उसमें छिपा हुआ है। इसी प्रकार परमेश्वर से जगत् उत्पन्न होता है इससे सिद्ध होता है कि सारा जगत् परमेश्वर के अंदर विद्यमान है। परमेश्वर सारे जगत् का एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इसलिए मेरी उपाधि शरीर भी उसी में है और जो मैं हूँ वह भी उसी में है। यह जो अनन्य भाव है यह इस निश्चय के ऊपर निर्भर करता है कि जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण परमेश्वर ही है। 'मैं' के अंदर दो ही चीज़ें हैंएक अंतःकरण की अहंकार वृत्ति और दूसरा उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब। अन्तःकरण भी परमेश्वर ही बना है क्योंकि सब कुछ उसमें से निकलता है और प्रतिबिम्ब तो उसमें से निकला ही है। अतः जब यह निश्चय हो जाता है कि सारे जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण परमात्मा है तब यह अर्थसिद्ध है कि सारा जगत् परमात्मा से अभिन्न है, मैं भी परमात्मा से अभिन्न हूँ।

अभिन्नता दो प्रकार की है एक के अंदर 'यह नहीं' ज्ञान होता है और दूसरे के अंदर 'यही' ज्ञान होता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में बाध-समानाधिकरण और मुख्य समानाधिकरण कहते हैं। ऐसे समझ लोसपना देखते हो; सपने में तुमको दुनिया भर की चीज़ें दीखती हैं। जितनी चीज़ें दीखती हैं उनका कारण एकमात्र तुम्हीं हो। सपने

में कपड़ों के थान जो तुम बेचते हो, वे कोई अरविंद मिल या मफत लाल के यहाँ से तो आते नहीं हैं, तुम्हारे ही अंदर से आते हैं। जिस ग्राहक को बेच रहे हो वह भी किसी माँ-बाप से पैदा होकर वहाँ आता नहीं है। तो चाहे थान, दुकान, दुकान के दरवाजे, ताले की चाबियाँ, ताला सब कुछ एकमात्र तुम हो। साथ में तुम सपने में भी खुद को बैठा कपड़ा बेचता हुआ देखते हो अर्थात् तुम अपने एक स्वप्न-दृश्य शरीर से भी वहाँ हो। अपने शरीर से जो *तुम* हो, उस समय भी तुम उसे अपना स्वरूप जानते हो, और उठने पर भी याद करते हो 'अरे! मैं थान बेच रहा था।' किसको बेच रहे थे? खरीदने वाले भी तुम ही थे। लेकिन दोनों में भेद हैः बाकी सब चीज़ों के बारे में तो निश्चय होता है कि 'वह सब नहीं था; दीख रहा था पर सचमुच में था नहीं।' जब कि 'मैं नहीं था' ऐसा निश्चय नहीं होता!

स्वप्न के अंदर दीखने वाली बाकी सब चीज़ों के बारे में तो होता है कि 'ये सब नहीं हैं', पर अपने बारे में यह नहीं होता कि 'मैं वहाँ नहीं था।' उस कार्य-करणसंघात के साथ तो अपनी एकता बनी ही रहती है। इसलिए वह सच्ची एकता है, बाकियों के साथ भी एकता है परंतु वह ऐसी एकता है जिसके गर्भ में भेद है। जहाँ पर ऐसी एकता होती है उसको शास्त्र की भाषा में बाध-समानाधिकरण कहते हैं। सपने में जो कुछ था वह मैं था परंतु सचमुच वह सब नहीं था जबकि मैं था। दूसरी ओर, उस सपने को देखने वाला मैं सचमुच में था, ऐसा नहीं कि मैं भी नहीं था! वहाँ जो शरीर आदि उपाधियाँ हैं वे तो नहीं थीं पर मैं ज़रूर था। मैं के अंदर जो परमात्मा का स्वरूप है, वह वास्तविक है इसलिए उससे मुख्य सामानाधिकरण्य कहते हैं। अतः वास्तविक अभेद जानकर पुरुष के साथ जो एकता का प्रेम है वह दृढ है। 'इदं' अर्थात् द्रष्टा से अतिरिक्त जितना भी दृश्य है वह सब उस पुरुष से ही व्याप्त है। उस पुरुष से अतिरिक्त कुछ नहीं है। ऐसा पुरुष केवल अपने अहम् प्रत्यय में गम्य है। उसकी प्राप्ति अर्थात् सारी उपाधियों को हटा कर एकमात्र उसका रह जाना, यह अनन्य प्रेम से होता है।।२२।।

ओंकार के अंदर मन को पूरी तरह से स्थित करके उसके द्वारा जिसे कहा जाता है वह परमेश्वर ही सारे जगत् का एकमात्र कारण हैइस प्रकार का जिनका दृढ निश्चय होता है, वे ही कालान्तर में ब्रह्मलोक जाकर मुक्ति के अधिकारी होते हैं, यह बताया। जिस मार्ग से वे ब्रह्मलोक को जाकर मुक्त होते हैं उस को बतलाते हैं

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

हे भरतोत्तम! (कर्म-) योगी जिस काल (-उपलक्षित मार्ग) में प्रयाणकर अपुनर्जन्म की गति पाते हैं तथा जिसमें प्रयाणकर पुनरावर्तन की गति पाते हैं, वह काल

बताऊँगा।

ब्रह्मसूत्रों में (४.३.४) बतला दिया है कि यहाँ काल का असली अर्थ तो है कालाभिमानी देवता। अतः जिन कालाभिमानी देवताओं के सहारे अनावृत्ति होती है उसको बतलाऊँगा यह तात्पर्य है। सामान्य दृष्टि से यहाँ काल को बतला ही रहे हैं। अभिमानी देवताओं को भी उपाधि के नाम से कह दिया जाता है। जैसे जब जोधपुर महाराज आएँ तो कह देते हैं कि 'जोधपुर आ रहा है' जिससे समझ लिया जाता है कि जोधपुर के राजा आ रहे हैं, क्योंकि राजा और राज्य का अभिन्न संबंध माना जाता है। अथवा यदि कोई व्यक्ति किसी विद्या में पारंगत होता है तो उसे उस विद्या का मूर्तिमान् रूप कह देते हैं जैसे वेदमूर्ति अर्थात् जो वेद में पारावारीण हैं।

इसी प्रकार से कालाभिमानी देवता को भी काल कह देते हैं। अतः भगवान् ने कह दिया 'यत्र काले', जिन कालाभिमानी देवताओं के सम्पर्क में वह जाता है, उन देवताओं के संबंध से, वह ब्रह्मलोक में जाकर के अनावृत्ति अर्थात् वापिस आता नहीं। और दूसरे भी काल के ही अभिमानी देवता हैं पर उनका संपर्क मिलने पर तो 'आवृत्तिं चैव' वापिस आ जाते हैं। बतलाना तो यहाँ अनावृत्ति का महत्त्व है क्योंकि प्रणव के अभ्यास को करने वाले वापिस नहीं आते। वापिस आने वाले लोगों को बतला कर नहीं आने वालों की प्रशंसा हो जाती है इसलिए दोनों को कहा कि इस मार्ग से जाने वाला वापिस नहीं आता, जबकि इस मार्ग से जाने वाला वापिस आ जाता है। काल के नाम को लेकर के कालाभिमानी देवताओं को बतलायेंगे। यहाँ योगी शब्द से योगाभ्यास, प्राणायाम आदि करने वाले भी समझने हैं और जो नित्य-नैमित्तिक कर्म करता रहता है, ऐसे कर्मयोगी को भी योगी कहते हैं जैसा 'कर्मयोगेन योगिनाम्' आदि भगवान् ने कहा ही है। प्राणायामादि के अभ्यास के साथ प्रणव की उपासना करने वाला अथवा नित्य नैमित्तिक कर्मों को करते हुए उसके साथ प्रणव की उपासना करने वाला योगी जिस गति को पता है वह यहाँ कही है।

अर्जुन को संबोधन किया भरतर्षभ!भरत-कुल में ऋषभ की तरह अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हो। उपनिषदों में ओंकार को, प्रणव को ऋषभ कहा है। भाषा में ऋषभ साँड को कहते हैं। साँड जैसे स्वतंत्र घूमता है, उस पर कोई नियंत्रण नहीं कर सकता है, उसी प्रकार सबसे श्रेष्ठ होने से जो प्रणव का उपासक है, उसके जैसा दूसरा कोई उपासक नहीं हो सकता है। चाहे कर्मयोग करते हुए प्रणव-उपासना करे या पातंजल योग का अभ्यास करते हुए उपासना करे, है वही सर्वश्रेष्ठ क्योंकि सर्वश्रेष्ठ जो प्रणव उसका सहारा लिये है।।२३।।

जिस 'काल' में मर कर साधक वापिस न लौटने के देवयान में जाता है और जिसमें मरकर वापिस लौटने के पितृयान में जाता है उन 'कालों' को बताने की प्रतिज्ञा की। उपनिषत् में जहाँ इन दोनों मार्गों का वर्णन किया है, वहीं आगे कहा है कि जो न

उपासक है और न कर्मी है, वह तो यहीं आता-जाता रहता है। केवल दो मार्ग कहने से कई लोग शंका करते हैं कि फिर क्या हर एक या पितृयान में जाएगा या देवयान में जाएगा? ऐसा नहीं है। जो शास्त्रानुकूल कर्म करने वाले हैं वे पितृयान के रास्ते जाते हैं, जो शास्त्रानुकूल उपासना भी करने वाले हैं वे देवयान से जाते हैं। क्योंकि प्रसंग केवल इन दो मार्गों का है अतः भगवान् ने यहाँ दो मार्ग ही कहे हैं। तीसरे मार्ग को भगवान् संकेतित करेंगे सोलहवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में कि 'क्षिपामि अजस्रम् अशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु'; तीसरे वे हुए जो इन दोनों रास्तों में न जाकर यहीं उन योनियों में जीते-मरते रहते हैं जिन योनियों के अंदर खाना, पीना और पुत्रादि उत्पन्न करनायही प्राप्त है। जो मनुष्येतर लोक हैं, कीट पतंग पशु पक्षी, उनके लिए न कर्म की सम्भावना है, न उपासना की सम्भावना है। उन योनियों में केवल प्राणों में रमण करना, प्राणों के धर्म के अनुसार चलना, खाना-पीना, बच्चे पैदा करनाबस इतना ही प्राप्त है। इसलिए भगवान् ने उनको आसुरी योनि, प्राणों में रमण करने वाली योनि, कहा। प्रतिज्ञानुरूप दोनों मार्गों को बतलाते हैं

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छह मासइन देवताओं से उपलक्षित रास्ते गये ब्रह्मोपासक जन क्रमशः ब्रह्म तक पहुँच जाते हैं।

पहले देवयान को बतलाते हैं: 'अग्निः' इस पहले ही शब्द से संदेह होता है कि भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी काल बताने की परंतु सबसे पहले कहा 'अग्निः' जो न सैकिण्ड है, न घंटा है, न मिनट है अथवा प्राचीन हिसाब से न विपल है, न पल है, न घड़ी है न दिन या रात है, न महीना है, न पक्ष है, न साल है। फिर भगवान् ने काल बताते हुए अग्नि को कैसे कह दिया? तो इसी से पता लग जाता है कि इस संदर्भ में काल शब्द का अर्थ कालाभिमानी देवता है। तो फिर भगवान् ने उस काल का ही नाम क्यों नहीं लिया जिसकी अभिमानिनी देवता अग्नि है? हमारे यहाँ एक न्याय है पच्चीस जने छतरी लेकर जा रहे हैं, उनके साथ दो जने ऐसे हैं जिनके पास छाता नहीं है। फिर भी जब किसी को बतलाना होता है तो कहते हैं 'वह देखो, छाते वाले जा रहे हैं। छाते वालों की टोली में देवदत्त हैं।' पच्चीस छाते वालों के बीच में दो बिना छाते वाले हों तो भी छाते वालों के अन्तर्गत कहे जाते हैं। अथवा किसी जंगल के अंदर अधिकतर आम के पेड़ हैं, बीच में दो चार साल के पेड़ भी हैं, तो उस जंगल को आम का जंगल कहते हैं। बीच में एक दो यदि सागवान के पेड़ आ गए तो इसका मतलब यह नहीं कि उसको आम का जंगल न कहा जाए! इसी प्रकार से इस मार्ग में अधिकतर कालाभिमानिनी देवता हैं इसलिए भगवान् ने एक-आध देवता यदि कालाभिमानिनी नहीं

है तो भी उसको कालाभिमानिनी कह दिया। दोनों ही बातें हैंः एक, अग्नि के आ जाने से यह भी स्पष्ट हो गया कि काल से भगवान् का मतलब कालाभिमानिनी देवता से है और दूसरी, कालाभिमानिनी देवताओं के बीच में एक दो बिना कालाभिमानिनी हुए तो वे भी कालाभिमानिनी देवताओं के द्वारा कह दिये जाते हैं। इस मार्ग से चलने पर पहले अग्नि देवता के द्वारा जाता है, फिर ज्योति देवता के द्वारा जाता है, फिर 'अहः' अर्थात् दिन के अभिमानिनी देवता द्वारा, फिर 'शुक्लः' शुक्ल पक्ष के देवता द्वारा और छह मास वाले उत्तरायण का जो अभिमानी देवता है उसके द्वारा जाता है। पहले अग्नि देवता ले जायेगा और ज्योति देवता को सुपुर्द करेगा, वह आगे ले जाकर अहः देवता को देगा, वह आगे जाकर शुक्ल देवता को देगा, वह आगे जाकर उत्तरायण देवता को देगा। प्रेत होकर अर्थात् मर करके जो इस क्रम से जाते हैं वे ही ब्रह्म तक पहुँचते हैं।

कौन जाते हैं? 'ब्रह्मविदः' परमेश्वर की, ब्रह्म की उपासना करने वाले। एक पूरा पाद ही ब्रह्मसूत्रों में उपासकों की गति बतलाने के लिए है। व्यास जी ने सिद्ध किया है कि विभिन्न प्रतीकों में उपासना तो ब्रह्म की है। लोक में भी मान लो देवदत्त कलैक्टर है तो बहुत से लोग उसके पास फाइलें लेकर जाते हैं, उसकी खुशामद करते हैं। उसके बाद वह कलैक्टरी से हट गया तो फिर थोड़े ही जाते हैं उसके पास! कहने को तो लोग देवदत्त के प्रशंसक थे पर वस्तुतः देवदत्त के नहीं, देवदत्त में स्थित जो कलैक्टरपना था उसके प्रशंसक थे। अर्थात् देवदत्त के द्वारा कलैक्टर साहब की उपासना हो रही थी। अतः यज्ञदत्त कलैक्टर बनकर आ जाता है तो यज्ञदत्त की भी वैसे ही प्रशंसा, सेवा इत्यादि होती है जैसी देवदत्त की होती थी। देवदत्त, यज्ञदत्त आदि तो उस कलैक्टर के प्रतीक हैं, और परम्परया तो कलैक्टर भी सरकार का प्रतीक है, राज्य का प्रतीक है। इसी प्रकार से जब अश्व की उपासना करते हैं, तब अश्व के द्वारा उस यज्ञ के अधिष्ठाता इन्द्रादि की उपासना है, और वस्तुतः तो इन्द्र को भी शक्ति देने वाला जो परमेश्वर है उसी की उपासना है। व्यास जी ने सिद्ध किया है कि उपनिषदों में जितनी उपासनाएँ आई हैं प्रायः वे सभी परमेश्वर की हैं, आलंबन आदि का वैविध्य है। इसलिए यहाँ कहा 'ब्रह्मविदः' अर्थात् ब्रह्म की उपासना करने वाले, शास्त्र में जो प्रतीक कहे हैं, उनमें से किसी भी एक प्रतीक को लेकर परमात्मा की उपासना करने वाले। ब्रह्मविद् कहने से कोई ब्रह्मज्ञानी भी समझ सकता है क्योंकि विद् का अर्थ उपासक भी हो जाता है और ज्ञानी भी हो जाता है। अतः स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने कह दिया 'ब्रह्मविदो जनाः।' जन अर्थात् पैदा होने वाले। ब्रह्मज्ञानी तो अपने को पैदा होने वाला और मरने वाला नहीं समझता। वह तो जानता है कि मैं अजर, अमर हूँ, अजन्मा हूँ। जब अपने को अजन्मा देखता है तब कोई भी वस्तु उसको उत्पन्न होने वाली नहीं लगती। इसलिए भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा 'अजं सर्वम् अनुस्मृत्य जातं नैव अनुपश्यति।' क्योंकि सब कुछ ब्रह्मरूप है और ब्रह्म अज है इसलिए कोई जन्म लेने वाली चीज़ तत्त्वज्ञ के सामने

रह ही नहीं जाती। अर्थात् न वह अपने को जन्म वाला समझता है और न और किसी चीज़ को जन्म वाला समझता है। अपने को जन्म नहीं लेने वाला मुख्य रूप से समझता है जबकि अनात्मवर्ग को जन्म न लेने वाला बाध के द्वारा समझता है यह अंतर समझा चुके हैं। अर्थात् अनात्मा तो हैं नहीं इसलिए उत्पन्न नहीं हुए और आत्मा ब्रह्मस्वरूप है इसलिए नित्य होने से पैदा नहीं हुआ। यहाँ 'ब्रह्मविदो जनाः' कहा है इसलिए जो अपने को जन्मने वाला समझते हैं उन उपासकों का ही यह प्रसंग है। वे सृष्टि स्थिति करने वाले ब्रह्म को ही भजते हैं। ब्रह्मवेत्ता की तो ब्रह्मज्ञानकाल में ही तुरंत मुक्ति हो जाती है अतः उसका कहीं जाना-आना नहीं बनता। ब्रह्मज्ञानी कहीं जाता नहीं; क्योंकि वह सर्वभाव को प्राप्त हो गया इसलिये उसका जाना-आना बनता ही नहीं। ब्रह्मज्ञान के बाद जो हमें शरीर की गतियाँ दीखती हैं वे प्रारब्ध के वेग से होती हैं, उससे ब्रह्मज्ञानी का कुछ लेना-देना नहीं। ठीक जिस प्रकार से बिजली का खटका बंद करते ही बिजली का कोई संबंध रह नहीं गया पंखे के साथ परंतु उस बिजली के कारण उस पंखे के यंत्र में वेग आ चुका है, वह थोड़े समय तक चलता रहता है। क्योंकि नई बिजली नहीं आ रही, इसलिए धीरे-धीरे वेग ख़त्म ही हो जाता है, पंखा बंद हो जाता है। इसी प्रकार जितने कर्म इस शरीरादि में फलीभूत होने हैं, वे कर्म भोग के रूप में फलीभूत होते रहते हैं परंतु ब्रह्मज्ञानी का उसके साथ संबंध तो ज्ञानकाल में तुरंत ख़त्म हो चुकता है। थोड़े समय तक शरीर चलता है उस वेग से जो इसमें प्रारब्ध के रूप में आ गया है। अतः यहाँ परमार्थ ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मवित् नहीं कहा वरन् ब्रह्म की उपासना करने वाले को ही कहा है। इस प्रकार देवयान मार्ग बतला दिया।।२४।।

अब दूसरा मार्ग बतलाते हैं

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

धूम, रात्री, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छह मासइन देवताओं से उपलक्षित रास्ते (गया) योगी चंद्रमा में होने वाला फल पाकर (पुण्यसमाप्ति पर) लौट आता है।

यहाँ भी धूम अर्थात् धूमाभिमानी देवता। धूम भी कोई काल तो नहीं है; इसी से पता लग जाता है कि भगवान् ने जो 'काले' कहा उससे तात्पर्य कालाभिमानी देवता से है। धूम देवता योगी को ले जाकर रात्रि देवता को देता है, रात्रि का अभिमानी देवता ले जाकर कृष्ण पक्ष के देवता को देता है। कृष्ण पक्ष का देवता उसको छह मास वाले दक्षिणायन के देवता को देता है। 'चान्द्रमस' चन्द्रमा में होने वाली 'ज्योतिः' अर्थात् कर्मों का फलइष्ट कर्म, आपूर्त कर्म, स्मार्त कर्म, दत्त कर्म, ये सारे जो कर्म हैं इनका फल चंद्रलोक में मिलता है। वेदों के अंदर जिन ज्योतिष्टोम आदि का फलों के लिये विधान किया, वे इष्ट कर्म हैं। उनके तत् तत् फल बतलाये हैं, उन फलों को इष्ट समझ

कर उन कर्मों को किया जाता है। इष्ट अर्थात् इच्छा का विषय। वेदों में कर्म बतलाए और वहीं उनके फल कहे। उन फलों को जो चाहता है उसके लिए वे कर्म हैं। जिस को फल नहीं चाहिए, वह उन कर्मों को करेगा भी नहीं। जैसे इष्ट कर्म, वैसे ही आपूर्त कर्म हैं, आजकल जिसको प्रायः समाज को फायदा पहुँचाने वाला कर्म कहा जाता वह आपूर्त कर्म। बावड़ी बनाना, कुआ खुदवाना, धर्मशाला बनाना, बगीचा बनाना, अन्नक्षेत्र चलानाये सारे आपूर्त कर्म हैं। तरह-तरह के दान देना दत्त कर्म हैं। अन्न का दान, गऊ का दान, सोने का दान, चांदी का दान आदि, अनेक दानों का वर्णन आया है, वे सब दत्त कर्म हैं। स्मृतियों में प्रतिपादित कर्म स्मार्त कर्म हैं। इन सभी कर्मों का जो फल है, उसको ज्योति कहते हैं। ये फल चन्द्रलोक में जाकर चन्द्रमा में भोगे जाते हैं इसलिए उनको चान्द्रमस ज्योति कह दिया। यहाँ योगी अर्थात् कर्मयोगी। वह यथाकर्म फलों को 'प्राप्य' अर्थात् भोग कर पुण्यसमाप्ति पर लौट आता है। धूम, रात्रि, कृष्ण, दक्षिणायन देवताओं के द्वारा चन्द्रलोक को ले जाया जाता है व जो उसने इष्ट आदि कर्म किए थे, उनके फल का चंद्रलोक में भोग करता है। जितना कर्म किया है उतना ही वहाँ फल भोगने को मिलेगा। किसी ने एक सोम याग किया, किसी ने बीस सोम याग किये, उसका फल भी बीस गुना हो जाएगा। किसी ने एक अश्वमेध किया, किसी ने चार अश्वमेध किए, उसका फल भी चौगुना हो जायेगा। कर्मयोगी फल भोग करके, जब इष्ट आदि कर्मों का फल समाप्त हो जाता है तब 'निवर्तते', वापिस आ जाता है अर्थात् फिर मनुष्य लोक में पैदा हो जाता है। उत्तरायण, देवयान के मार्ग से जाने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से वापिस नहीं आता। जो ब्रह्म का उपासक नहीं है, परमेश्वर की उपासना नहीं करता है, केवल कर्म करता है, उसका निवर्तन हो ही जाता है।।२५।।

मरने के समय पर इन मार्गों की प्राप्ति निर्भर नहीं क्योंकि अधिकारानुसार ये मार्ग हर समय खुले हैं यह बताते हैं

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

जगत् की ये शुक्ल व कृष्ण गतियाँ हमेशा रहने वाली मानी गयी हैं। एक से गया पुनरावृत्तिरहित गति पाता है, दूसरी से गया फिर संसारचक्र में भटकता है।

इन गतियों को शुक्ल व कृष्ण क्यों कहा जाता है? शुक्ल गति के अंदर ज्ञान का प्रकाश संभव होता है। ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा जी के उपदेश के द्वारा ज्ञान होने की संभावना है। कृष्ण गति वह है जिसमें ऐसा कोई ज्ञान होने की संभावना नहीं। ये दोनों गतियाँ 'शाश्वते मते' इस संसार में नित्य ही चलती रहती हैं। जैसे संसार नित्य है वैसे ही ये दोनों गतियाँ नित्य हैं। इन पर विभिन्न जीव तो आते-जाते रहते हैं परंतु गति

हमेशा ही बनी रहती है। मेलों में देखा होगा, एक बड़ा पहियानुमा झूला होता है जिसमें बैठने के बहुत से कटघरे होते हैं जिन पर लोग बैठते हैं तो जब झूला चलता है तब क्रमशः ऊपर-नीचे आते-जाते हैं। बैठने वाले लोग तो बदलते रहते हैं पर झूला तो चलता ही रहता है। इसी प्रकार इन गतियों में जाने वाले लोग बदलते रहते हैं परंतु गति हमेशा चलती ही रहती है। इसलिए उसको शाश्वत कहा अर्थात् जब तक जगत् चलेगा तब तक ये दोनों गतियाँ चलती रहेंगी। इनमें से एक अर्थात् शुक्ल गति से जाकर साधक ब्रह्मलोक में ब्रह्म के उपदेश से मुक्त हो जाता है, वापिस नहीं आता। और 'अन्यया' अर्थात् कृष्ण गति से जाकर जीव जैसे ही किए हुए कर्मों का फल भोग लेता है वैसे ही वापिस आ जाता है। इस प्रकार से दोनों गतियों को बतला दिया।।२६।।

इन मार्गों के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

हे पार्थ! इन मार्गों को समझने वाला कोई भी योगी (उपासनारहित कर्म ही कर्तव्य है इस) भ्रम में नहीं पड़ता। अतः अर्जुन! सब समय समाहित चित्त वाले रहो (ताकि शुक्ल गति पा सको)।

'एते' अर्थात् अभी-अभी जिनको कहा है। प्रकरण चला हुआ है देवयान और पितृयान का; ये दोनों 'सृती' अर्थात् रास्तों को 'जानन्' जानते हुए अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाला यह मार्ग है और परमात्मा की ओर, मोक्ष की ओर ले जाने वाला यह मार्ग है इस प्रकार मार्गों की विशेषता जानते हुए योगी भ्रमित नहीं होता है। यहाँ योगी दोनों को ही कह दियाकर्मयोगी इस बात को जानता है कि जितना मैं कर्म करूँगा वह सब क्षयिष्णु है, उपासक जानता है कि उपासना से अन्तःकरण की शुद्धि होकर ब्रह्मलोक में परमात्मा का ज्ञान हो जाएगा। दोनों में से कोई भी योगी, (इसलिए 'कश्चन' कह दिया) 'न मुह्यति', इन रास्तों के अंदर मोहित नहीं होता। भगवान् ने पहले कहा था कि वेदों के अंदर जो कर्मों की अर्थवादों द्वारा प्रशंसा की है उसे सुन कर जिसने इन बातों को ठीक तरह से नहीं समझा है वह समझता है कि ये इष्ट-आपूर्त कर्म ही सब कुछ हैं। परमात्मा और मोक्ष की बात कर्मकाण्डी मानता ही नहीं! उसका कहना रहता है कि परमात्मा के बारे में केवल प्रशंसा में कह दिया गया है, सचमुच में तात्पर्य नहीं, अर्थवादमात्र है। ऐसे कर्मकाण्डियों का तो कहना है'मन्त्राधीना हि देवताः' देवता मन्त्रों के अधीन हैं और मंत्र मेरे (कर्मकाण्डी के) अधीन हैं! मैं जब उनका जप, ध्यान, आदि अनुष्ठान करूँगा तभी वे फल दे सकेंगे। कर्म करूँगा, उससे फल हो जाएगा; क्या ज़रूरत है बेकार के ईश्वर को मानने की! न्याय शास्त्र में गौतम महर्षि ने भी जैसा ईश्वर माना है, विचार करने पर वह केवल मौजूद है, उसका और

कोई प्रयोजन नहीं है। कपिल महर्षि ने कहा कि फल देने के लिए पुरुष (जीव) ही काफी है! गौतम महर्षि का कहना है कि कर्म के फल देने के लिए चेतन ईश्वर चाहिए, कपिल मुनि ने कहा कि चेतन पुरुष तो विद्यमान है ही, उसके लिए ही प्रकृति सारा खेल कर लेगी। नैयायिक ने तो केवल एक स्थिररूप ईश्वर को माना, कपिल ने कहा कि उसकी भी ज़रूरत नहीं है; किसी चेतन के लिए प्रकृति प्रवृत्ति करेगी, चेतन पुरुष अर्थात् जीव है ही, और एक पुरुषोत्तम की कल्पना काहे को करें! किंतु इस प्रकार के मोह में कर्मयोगी नहीं पड़ता। कर्मयोगी इस बात को जानता है कि कर्म क्षयिष्णु फल देते हैं, कर्मद्वारा जाकर हमें वापिस आना पड़ेगा। हम फलों को चाहते हैं इसलिए कर्म करते हैं। कर्मफलदाता ईश्वर है, उसकी उपासना से मोक्ष भी होता है।

परंतु जैसे आज, वैसे हमेशा, अधिकतर लोगों को मोक्ष चाहिये नहीं। स्पष्ट कहें या न कहें, उनका कहना है कि धन की अपेक्षा है लड़कियों का ब्याह करने के लिए, पद की अपेक्षा है प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए, मोक्ष की इच्छा हमें काहे के लिए होवे! संसार में बहुतेरा सुख है। गाँव में रहने वाला सोचता है, जयपुर पहुँच जाऊँगा तो सुख होगा। जयपुर में रहने वाला सोचता है, दिल्ली में जाऊँगा तो सुख होगा। दिल्ली वाला सोचता है, वाशिंगटन जाऊँगा तो सुख होगा। जहाँ सुख हो जाएगा वहाँ जाने का रास्ता चाहिए, ईश्वर से क्या लाभ! ऐसों से कुछ आगे चलें तो कहते हैं कि देवलोक में जाएँगे तो सुख हो जाएगा।

कर्मयोगी यह सोच करके कि 'इस फल को प्राप्त करके मैं सुखी हो जाऊँगा', उन फलों की प्राप्ति के लिए कर्म करते रहते हैं परंतु साथ में जानते हैं कि परमेश्वर है और उसकी उपासना से मोक्ष होता है। इसलिए साथ में उपासना भी करते हैं। कर्म करता है अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए, लेकन उसको मोह नहीं होता कि बस यही सब कुछ है, इससे आगे और कुछ नहीं है। कर्मकाण्डी तो सोचता है कि बस यही है इसके सिवाय और कुछ नहीं। उपासक योगी तो यथार्थ को जानता ही है। वह सर्वथा परमेश्वर की उपासना में ही लगता है। 'कश्चन योगी' कर्मयोगी या उपासना का योगी दोनों में से कोई भी 'न मुह्यति' अविवेक को प्राप्त नहीं होते, मोह को प्राप्त नहीं होते।

'तस्मात्' इसलिए, हे अर्जुन! 'सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव' सब कालों में योग-युक्त रहो। जब तक अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हुई है तब तक कर्म करते हुए, उपासना का अभ्यास करने वाले कर्मयोगी बनो और जब धीरे-धीरे तुम्हारी कामनाएँ नहीं जैसी रह जाएँ तब सर्वथा उपासना में ही लग जाओ। 'सर्वेषु कालेषु' अर्थात् आगे योगी बनोऐसा नहीं, इस समय में भी जब तुम्हारे में कामनाएँ हैं तब उनकी पूर्ति करते हुए भी उपासना का अवलम्बन मत छोड़ो। 'सर्वेषु कालेषु' से यह भी कह रहे हैंः जिस काल में उत्तरायण प्रसिद्ध है, उसक काल में तो मनुष्य कहेगा कि इस समय उपासना करनी चाहिए पर जब दक्षिणायन, कृष्ण पक्ष इत्यादि होगा तब कहेगा कि इस

काल में उपासना करने से क्या होगा, अगर इस काल में मर भी गए तो फिर आना ही पड़ेगाऐसा विचार कई बार लोगों के मन में होता है। किंतु सभी कालों में ये दोनों रास्ते उन-उन देवताओं के सहारे खुले रहते हैं। अतः मोह में न पड़ कर चाहे दक्षिणायन हो, कृष्ण पक्ष हो, सब समय योगी ही रहो।।२७।।

योग के माहात्म्य को बतलाते हुए भगवान् अध्याय समाप्त करते हैं

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

'किं तद् ब्रह्म' इत्यादि प्रश्नों का निर्णय जानकर भली भाँति योगानुष्ठायी उस सारे फल को लांघ जाता है जो शुभ फल वेदों को पढ़ने पर, यज्ञ व तप करने पर, दान देने पर बताया गया है, एवं सर्वोत्तम सर्वकारण स्थिति को पा लेता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अंदर अन्तःकरण की शुद्धि और परमात्मा के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए वेदाध्ययन को एक साधन बतलाया है। ब्राह्मण लोग ब्रह्म की तरफ, परमेश्वर की तरफ इच्छा वाले बनते हैं, परमेश्वर का साक्षात्कार करना चाहने लगते हैं। 'वेदानुवचनेन', नियमपूर्वक वेद का पाठ, वेद का अध्ययन करना प्रथम साधन बताया। यथासम्भव वैदिक संहिताओं का गुरुमुख से श्रवण करके फिर उसका नियमित पाठ करना और वेदार्थ को जानने का प्रयास करना वेदानुवचन है। उसी को यहाँ भगवान् ने कह दिया 'वेदेषु।' उपनिषत् में कहा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन', उसे ही यहाँ कह रहे हैं। यज्ञ और तप में क्रम बदला हुआ है, बाकि वही है। 'यज्ञेषु' अर्थात् जैसा शास्त्र ने कहा है वैसा ही सारे अंगों के सहित यज्ञ का अनुष्ठान। सारे अंगों के सहित अनुष्ठान कर्त्तव्य है। लोग ऐसा समझते हैं कि थोड़ा करेंगे तो थोड़ा फल होगा ही, परंतु थोड़ा करने से कुछ फल नहीं होगा सिवाय परिश्रम के! फल तो तभी होगा जब यज्ञ पूरी तरह से किया जाए, जैसी सामग्री कही है उससे जैसा-जैसा कहा है, सब किया जाये। वैदिक यज्ञों की सामग्री मिलना इतना सरल भी नहीं है। एक अग्निहोत्री जी यज्ञस्तम्भ के लिये उपयुक्त खैर की (कत्थे की) लकड़ी खोजते रह गये पर उन्हें मरणपर्यन्त नहीं मिली, वे यज्ञ कर ही नहीं पाये। आज-कल के लोग सामग्री में, प्रक्रिया में मनमानी हेर-फेर करते रहते हैं पर ठीक प्रकार से यज्ञ करने वाले जानते हैं कि जैसा कहा है, वैसा ही करना ज़रूरी होता है। 'तपःसु', इसी प्रकार से चान्द्रायणादि तपस्याएँ भी जैसी बताई हैं वैसी ही करनी पड़ती हैं। 'दानेषु' उचित देश, उचित काल और उचित पात्र को दान दिया जाता है। इन सबके करने पर जो पुण्य फल शास्त्र के द्वार बलताये गये हैं, 'अत्येति' योगी उन सारे फलों को प्राप्त करके उससे भी अधिक फल प्राप्त कर लेता है। 'आद्यम् परं स्थानम्'इस सृष्टि का जो आदि कारण परम ब्रह्म परमात्मा है उसको 'उपैति', प्राप्त

कर लेता है, अर्थात् जगत् के कारण जो परमेश्वर हैं उनके पास पहुँच जाता है। इस प्रकार योगी को बाकी सब कर्मों के फलों की प्राप्ति तो होती ही है, उससे भी आगे चला जाता है। जितने कर्म बताए हैं उन सबका फल परमेश्वर की उपासना से प्राप्त किया जा सकता है और यह परमेश्वर की विशेषता है कि उन फलों को प्राप्त कराने के साथ अन्तःकरण की शुद्धि कराकर परमात्मा के साथ एकता के अनुभव को भी प्राप्त करा देता है।

चूंकि इस अध्याय के अंदर आने-जाने की गति वाले संसार से तर जाने का उपाय बतलाया है इसलिए महाभारत की पुष्पिकाओं में इसका नाम 'तारकब्रह्मयोग' रखा है। तारने वाला ब्रह्म अर्थात् सृष्टि स्थिति लय करने वाला जो परमेश्वर है, उसकी प्राप्ति कैसे हो, यह बताने से यह 'तारकब्रह्मयोग' है। भाष्यपुष्पिका में 'अक्षरब्रह्मयोग' नाम मिलता है। प्रारंभ में 'अक्षरं ब्रह्म परमं' कहा, फिर 'कविं पुराणम्' 'यदक्षरं वेदविदः' आदि से उसका वर्णन किया और उसे पाने का उपाय बताया अतः अक्षर ब्रह्म इसमें प्रध ाान विषय होने से यह नाम भी उपयुक्त है। किन्हीं टीकाओं में 'अक्षरपरब्रह्मयोग' नाम भी दिया है, तात्पर्य एक ही है।

।।आठवाँ अध्याय।।

ॐ

नौवाँ अध्याय : राजविद्याराजगुह्ययोग

पूर्वाध्याय में धारणा-नामक अंग से उपेत योग का विधान किया। मन को हृदय में निरुद्धकर भ्रूमध्य में जो आज्ञा चक्र है उसके अंदर परमात्मा की सर्वरूपता में स्थित होकर फिर उसे ब्रह्मरंध्र में ले जाना, वहाँ निर्विचार अवस्था के अंदर जाकर जो सगुण परमात्मा सारे जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय का कारण है, उसके ध्यान को बताया। उसका फल भी कहा कि अग्नि, अर्चि, अहः, शुक्ल, इत्यादि मार्ग द्वारा जाकर कालान्तर में परमात्मा की प्राप्ति होती है जहाँ जाकर वापिस नहीं आया जाता। अर्जुन के प्रश्नों का जवाब देते हुए सगुण परमेश्वर का ध्यान करके जहाँ से वापिस लौटना नहीं पड़ता ऐसे ब्रह्मलोक में जाकर कालान्तर में मुक्ति होती है, यह बतलाया। इतना सुनने पर कोई समझ सकता है कि प्राणायामादि योगाभ्यास करके जो क्रम से मुक्ति होती है बस यही मुक्ति है, और कोई दूसरी मुक्ति नहीं तथा मोक्ष का और कोई मार्ग नहीं। इस भ्रम को दूर करने के लिये अब बतलाएँगे कि परमात्मा का यहीं दर्शन होकर परमात्मा से एकभाव की प्राप्तिरूप मोक्ष ही मुख्य है।

श्रीभगवानुवाच
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

श्री भगवान् ने कहाअसूयारहित तुझे सर्वाधिक गोपनीय यह ही अनुभवयुक्त ज्ञान बताऊँगा जिसे समझकर तू संसार बंधन से छूट जायेगा।

'इदं', इसी अध्याय में बतलाने जा रहे हैं अतः इस अध्याय की दृष्टि से यह विषय सामने है। अर्जुन के सामने तो नहीं, परंतु उपदेशक के सामने है ही। उपदेशक के लिए यह सारी बात जैसे हाथ में रखा हुआ आँवला प्रत्यक्ष होता है वैसे ही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का मतलब केवल आँख से देखना, कान से सुनना नहीं समझना। जो निःसन्दिग्ध ज्ञान

होता है उसे प्रत्यक्ष कह देते हैं। हम लोग कोई चीज़ आँख से देखते हैं, तो देखने के साथ ही निश्चय होता है कि यह चीज़ ऐसी ही है। जब तक किसी प्रमाण के द्वारा कट न जाए तब तक वही निश्चय रहता है। हमें पानी दीखा। बहुत दूर जाने पर भी पानी नहीं मिला। तब सोचते हैं कि अरे! पानी हमें झूठ-मूठ ही दीखा था। परंतु जब तक कोई विरोधी प्रत्यय नहीं आता है, कोई विरुद्ध अनुभव नहीं हो जाता है, तब तक, आँख से जो हमने जैसा देखा है वैसा ही वह है, यह निश्चय हो जाता है। जैसा आँख से देख करके या जीभ से चख करके हमको निश्चय होता है, वैसा निश्चय किसी की बात पर होता नहीं। जब कोई कुछ बात कहता है, तो सुनते ही ज्ञान हो जाता है; जैसे आँख से देखने पर सड़क दीखती है, वैसे ही किसी ने कहा 'सच बोलना अच्छा फल देता है', तो उसने जो बात कही, उसका ज्ञान हो गया। परंतु चूंकि हमने अनेक जगह देखा है कि सच बोलने वाला फँस जाता है, सच बोलने वाले को डांट पड़ जाती है, इसलिए उसने जो कहा 'सच बोलने का फल अच्छा होता है', उसका ज्ञान होने पर भी निश्चय नहीं होता है कि ऐसा ही है। अतः उस ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहेंगे। शब्द की यह विशेषता है कि वह परोक्ष वस्तुओं का भी ज्ञान करा देता है लेकिन सुनने-मात्र से निश्चय नहीं हो पाता है। जैसे, जो संशय आया कि 'क्या हमेशा सच बोलना सुफल ही देता है?' उसे यदि किसी युक्ति से काट दिया जाए या अनुभव से सिद्ध हो जाए कि नियमतः सुफलप्रद ही है, तो सुनी हुई बात का निश्चय हो जाता है। निश्चय होने पर वह परोक्ष ज्ञान भी प्रत्यक्ष की तरह ही हो जाता है। जब विषय ही प्रत्यक्ष हो तब तो शब्द से उसका अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष होता ही है। भगवान् जिस बात को कहने जा रहे हैं, वह भगवान् के लिए प्रत्यक्ष की तरह है अर्थात् सर्वथा निःसन्दिग्ध होकर कह रहे हैं। इसलिए कहा 'इदम्'।

गुह्य कहते हैं जिस चीज़ को छिपाकर रखा जाए। आगरे में एक जौहरी के यहाँ आयकर विभाग का छापा पड़ा। सप्ताह भर तक पड़ताल होती रही, कुछ मिला नहीं। जब छापामार लोग जाने लगे तब बोले 'हमने सब अच्छी तरह से देख लिया, कहीं कुछ नहीं मिला। परंतु आपके पास कुछ है ज़रूर!' हँस पड़े वे जौहरी। उन्होंने कहा 'है तो ज़रूर और यह भी समझ लो कि मैंने और कहीं नहीं रखा है, इसी घर में रखा है। है भी और हमने इस घर में ही रखा हुआ है। परंतु तुम कहोगे 'बता दीजिए', तो मैं बताने वाला हूँ नहीं। मैंने आज तक अपने लड़कों को भी नहीं बताया है कि मैंने कहाँ रखा हुआ है तो तुमको क्या बताऊँगा!' यह है गुह्य। प्रायः करके ऐसी बातों को इसलिए औरतों को नहीं बताते। औरतों की शिकायत रहती है, 'इनके पास है तो बहुत, दिखलाते नहीं हैं।' ऐसे क्यों करना पड़ता है? क्योंकि स्त्रियों को युधिष्ठिर का शाप लगा है कि वे कोई बात छिपा कर रख नहीं सकती। स्त्री को अगर तुमने बता दिया तो वह ज़रूर अपने एक-दो दोस्तों को बताएगी। साथ में कह भी देगी, 'किसी से कहना नहीं।' और जिसे सुनाया वह भी लड़की है अतः और किसी को ज़रूर बताएगी। इस प्रकार से अनेक कानों में बात पहुँचेगी

और कहीं-न-कहीं किसी चोर के पास भी पहुँच जाएगी। गुह्यों में भी भगवान् कहते हैं 'गुह्यतमं' सबसे अधिक छिपाने लायक बात यही है कि जीव का स्वरूप क्या है। सारा संसार कब तक चलेगा? बाजीगर तुमको तरह-तरह के खेल दिखलाता है : एक भगोने से दूसरा भगोना निकालता है, तीसरा निकालता है, चौथा निकालता है। पचास भगोने निकाल देता है उसमें से। तुम्हारी सारी घड़ियों का समय बदल देता है। ऐसी असंभव चीज़ों को कर देता है। एक लड़की को काट देता है, उसका सिर अलग और धड़ अलग दिखला देता है। फिर थोड़ी देर बाद जोड़ देता है। परंतु ये खेल कब तक चलते हैं? जब तक तुम्हारी आँखें बँधी हुई हैं। अगर किसी भी कारण से तुम्हारी आँख बाँधी हुई न रहे तो फिर खेल नहीं दीखेगा। ठीक इसी प्रकार से जीव की आँखें अज्ञान से बँधी हुई हैं इसीलिए परमेश्वर उसको खेल दिखा पाता है। आचार्य शंकर इसीलिए उसको कहते हैं 'मायावीव विजृम्भयति अपि महायोगी इव यः स्वेच्छया;' जैसे जादूगर जो चाहे सो दिखला देता है, इसी प्रकार से परमेश्वर भी तुमको अनन्त काल से अनन्त असंभव खेल दिखला रहा है। रोज़ नई-नई चीज़ों को दिखला देता है। साइकिल आई, बड़े खुश हुए, साइकिल खरीद ली। थोड़े दिनों में स्कूटर आ गया। साइकिल है तुम्हारे पास, लेकिन 'हाय मेरे पास स्कूटर नहीं है, हाय मेरे पास स्कूटर नहीं है' का रोना चल पड़ा तो स्कूटर ले लिया। थोड़े दिनों के बाद तुम्हारा भाई मोटर ले आया! स्कूटर तुम्हारे पास है, पर अब तुम चाहते हो कि मोटर में बैठो। किंतु न जाने कितनी तरह की मोटरें आ गईं। जब तक तुम बढ़िया से बढिया मोटर ले सको, तब तक हवाई जहाज़ आ जाता है। अमेरिका में सामर्थ्य वालों के पास अपने-अपने हवाई जहाज़ हैं। तुम्हारी भी इच्छा होगी कि हम भी हवाई जहाज़ में जाएँ। ये सब नई-नई चीज़ें परमेश्वर दिखलाता जाता है।

यह खेल कब तक चलेगा? जब तक अज्ञान से तुम्हारी आँखें बँधी हुई हैं। भगवान् ने खुद ही कहा है 'अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तवः'। हो तो तुम ज्ञान-स्वरूप, लेकिन अज्ञान ने ऐसा आवृत कर दिया है कि मोह में पड़े हुए हो। यदि यह रहस्य तुम्हें बता दिया जाए और तुम्हें पता लग जाए तो खेल ख़त्म! फिर इतना बड़ा संसार जो परमात्मा दिखला रहे हैं, वह कैसे दिखला सकते हैं! जब तक तुम्हारी आँखें अज्ञान से बँधी हुई हैं, तभी तक यह खेल है। इसलिए कहा है 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्।' आचार्य शंकर ने स्पष्ट कहा है कि नटराज अपनी शक्ति से नट की तरह, बाजीगर की तरह, खेल दिखाए जा रहा है। एकमात्र वह परमात्मा ही जगत् का कारण है और अपनी शक्ति से दिखा रहा है। आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि 'जीवभ्रान्तिनिमित्तं हि बभाषे भामतीपतिः' वह दिखलाता है यह ठीक है, लेकिन यदि जीव में अविद्या नहीं होती तो कैसे दिखाता? इसलिए जीव की जो अविद्या है वही कारण है, जीव का जो अविद्या से भ्रम है, वही जगत् का कारण है। रस्सी स्वभाव से मंद अंधकार में सर्प दीख गई लेकिन दीखी तभी जब तुमको उस रस्सी का अज्ञान है और सर्प के संस्कार हैं। सृष्टि

अनादि होने से हमारे अंदर अनन्त संस्कार मौजूद हैं। इसलिए हम उस अज्ञान के कारण भ्रम में पड़े रहकर संसार को देखते हैं। इस प्रकार से वेदान्त की दोनों दृष्टियों में यह चीज़ साफ हो जाती है कि यह गुह्यतम क्यों है। जीव की दृष्टि से देखो, तो अज्ञान-जन्य भ्रम के बिना जगत् की उत्पत्ति नहीं है, स्थिति नहीं है, नाश नहीं है। ईश्वर की तरफ से देखो तो माया की शक्ति के बिना सृष्टि आदि नहीं हैं। अतः इस अज्ञान के रहस्य को बताना नहीं चाहिए, बात खुल गई तो खेल खत्म हो जाएगा। इसलिए कहा 'गुह्यतमम्'।

'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' अनुभवयुक्त ज्ञान बताने जा रहे हैं। जो ज्ञान पहले भी बतला चुके हैं उसे ही आगे स्पष्ट करके बतलायेंगे। चूंकि इसके बारे में कुछ ज्ञान पहले दे चुके हैं इसलिए अर्जुन के लिए भी यह 'इदं' ही है।

'इंद तु', तु-शब्द से बताया कि पूर्वाध्याय में कहे ध्यान की अपेक्षा यहाँ बताया जाने वाला ज्ञान अलग है, इसका फल भी विशेष है। भगवान् कहते हैं कि गीता में पहले मैंने बहुत से दूसरे ज्ञान कहे हैं, बीच में वास्तविक ज्ञान भी कहा है, किंतु अब उस ज्ञान को ही प्रधान रूप से बताऊँगा, गौणरूप से अन्य विषय भी आयेंगे। ज्ञान को समझने के लिए अज्ञान समझना अपेक्षित है, वह प्रधानतः अब तक बताया। अब ज्ञान को ही प्रधान रूप से बतलाऊँगा। 'तु' के द्वारा पूर्वोक्त ज्ञानों से इसे अलग करके कह दिया। यह ज्ञान साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए हेतु है। बाकी जो ज्ञान पहले कहे वे क्रम-मुक्ति के हेतु हैं परंतु जो सद्यो मुक्ति चाहते हैं उनके लिए वे ज़रूरी नहीं हैं। यही ज्ञान अनिवार्य है। शास्त्र में जो कहा है वह ज्ञान है। भगवान् भी गीताशास्त्र में पहले कह आए हैं 'वासुदेवः सर्वमिति' सब कुछ वासुदेव ही है। श्रुति कहती है 'आत्मैवेदं सर्वं' सारा जगत् जो तुमको दीखता है यह वस्तुतः नहीं है, केवल आत्मा ही है। ऐसा नहीं समझ लेना कि आत्मा है, साथ में कुछ और भी है! 'एकम् एव अद्वितीयम्'एक आत्मा ही है, दूसरा कुछ नहीं है। सामान्य भाषा में 'एक' मायने ही 'दूसरा नहीं।' एक रुपया दियाइसका मतलब ही है कि दूसरा रुपया नहीं दिया। 'एव' का मतलब भी यही होता है कि जो बात कही जा रही है वह ही है। फिर श्रुति ने 'एकम्, एव, अद्वितीयम्' ये तीन पद क्यों दिए? यह बतलाने के लिए कि ब्रह्म जैसा भी कोई नहीं, ब्रह्म से अतिरिक्त अब्रह्म भी कोई नहीं और ब्रह्म के अन्तर्गत भी बहुत-सा कुछ नहीं है। अन्तर्गत, जैसे मनुष्य के अन्तर्गत उसके हाथ-पैर, इंद्रियाँ मन आदि हैं। प्रायः अंगों को अलग नहीं गिनते अर्थात् अंगों की दृष्टि से अंगी में अनेकता आ गयी यह नहीं मानते। इसी प्रकार बहुत-से वादियों को धोखा हो जाता है कि सारा जगत् और जीवये सब परमात्मा के अंदर वैसे ही हैं जैसे हमारे अंदर अन्तःकरण आदि हैं। 'अद्वितीय' कह करके बताया कि उसके अंदर और कुछ भी नहीं है वह विज्ञान-घन है। लोहे का खण्ड बिल्कुल लोहा ही है पर उसमें फिर परमाणुओं के अंदर बीच में जगह होती है, किंतु आत्मा वैसा भी नहीं है, इसके बीच में कहीं जगह नहीं, विज्ञानघन ही है। इस प्रकार श्रुति ने 'एकमेवाद्वितीयम्' कह कर बाकी सबका निषेध अपने आप कर

दिया। इतना ही नहीं, श्रुति ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जो ईश्वर को अपने से अलग समझता है उसको हमेशा क्षयिष्णु संसार की ही प्राप्ति होगी 'क्षय्यलोका भवन्ति।' भगवान् प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि इस प्रकार से श्रुति-स्मृतियों में अत्यन्त छिपाने लायक जो बात की गई है, वह तुमको कहूँगा। क्रम-मुक्ति की बात को भगवान् ने गुह्यतम नहीं कहा, इस ज्ञान को गुह्यतम कह रहे हैं।

अर्जुन पूछ सकता है 'मुझे क्यों कह रहे हैं? औरों को भी कह दीजिए। आप तो सबके लिए एक जैसे हैं।' इसके जवाब में भगवान् बड़ा जबर्दस्त विशेषण देते हैं 'अनसूयवे।' तुझे इसलिए बतलाता हूँ कि तू असूया नहीं करता। असूया का मतलब होता है जहाँ दोष नहीं है वहाँ दोष की कल्पना कर लेना। गुरु कहता है कि एक ही ब्रह्म है। असूया वाले पूछते हैं 'किसको कह रहे हो?' यदि कहें 'तुमको कह रहे हैं', तो कहते हैं 'फिर तो दो हुएएक आप कहने वाले और एक मैं सुनने वाला। फिर अद्वितीय कैसे कहा?' असूया वाला कहने वाले के वास्तविक तात्पर्य को न समझ करके पहले ही दोष देने को तैयार है। इसलिए उसको समझाना व्यर्थ हो जाता है। अद्वैत का उपदेश शब्द से तब किया जा सकता है जब सामने वाला जो चीज़ जैसी है वैसी समझने का प्रयत्न करे, उसमें दोष ढूँढने का प्रयत्न न करे। क्योंकि वाणी से समझाने के ढंग में तो दोष है ही। वेद स्पष्ट कहता है कि वाणी के द्वारा उसको कह ही नहीं सकते। उसको बतलाने का यही तरीका है 'जिससे वाणी प्रवृत्त होती है वह ब्रह्म है।' अपने आप तुम कहोगे कि 'वाणी तो मुझ से प्रवृत्त होती है।' बस, जो तुमने कह दिया, 'तदेव ब्रह्म' वही ब्रह्म है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न को समझाने का वेद का विलक्षण तरीका है। लोग कह देते हैं 'परमात्मा है तो हमको दिखाइए।' कभी दिखा नहीं सकते परमात्मा को। जिसके कारण आँख देखती है वह परमात्मा है। देखने आदि का प्रवर्तक जो परमात्म तत्त्व है, उसकी तरफ ध्यान ले जाते हैं तब उसका साक्षात्कार होता है। जो असूयारहित होगा वह तो समझेगा, अन्यथा दोष निकालेगा कि 'जो वाणी को प्रवृत्त करता है' यों वाणी से ही तो कह रहे हैं, तब वह वाणी का अविषय कैसे? भगवान् ने और कोई गुण यहाँ नहीं बतलाया है; इस रहस्य को जानने के लिए साधक असूया से रहित होना चाहिए। असूया से युक्त होगा तो नहीं समझ सकेगा।

'विज्ञानसहितं', मैं इसको अनुभव-युक्त होकर कह रहा हूँ, मेरा यह अनुभव है। अनुभव रूप ज्ञान बड़ा दृढ होता है। एक आदमी का लड़का शराब पीने लग गया। पिता उसको बहुत समझावे कि 'शराब नहीं पी, शराब नुकसान की चीज़ है।' पर वह माने ही नहीं। एक दिन लड़के ने कहा 'पिता जी, आपको पता नहीं है शराब पी कर क्या मज़ा आता है। इसीलिए इसको छोड़ना मुश्किल है। आप ऐसा करिए, मेरे साथ एक दिन पी लीजिए, फिर छोड़ दीजिएगा, तो मैं भी छोड़ दूंगा।' पिता ने सोचा कि अगर एक बार मेरे पीने से इसका पीना जन्म-भर के लिए छूट जाए तो पी लेवें। उसने शराब पी ली। उसको

बड़ा मज़ा आया! बाद में लड़के ने पूछा 'आप छोड़ सकते हो?' पिता बोला 'नहीं, चाहे तो तू छोड़ दे, मैं तो छोड़ने वाला हूँ नहीं!' अनुभव इतना प्रबल होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं 'विज्ञानसहितं', शास्त्रोक्त रहस्य अनुभव से बिलकुल दृढ हो जाता है।

'यज्ज्ञात्वा', इसको अगर तूने समझ लिया, जान लिया तो 'अशुभात् मोक्ष्यसे' सारे अशुभों से छूट जाएगा। सबसे बड़ा अशुभ जन्म-मरण का चक्र है, इससे छूट जाएगा। इस संसार के अंदर तुझे जो 'मैं संसारी हूँ' यह प्रतीति है, यही सबसे बड़ा बंधन है। जिस क्षण तू इसको जान लेगा उसी क्षण से तू बंधन का अनुभव नहीं करेगा। श्रुतियों में आता है कि ज्ञान से ही कैवल्य मुक्ति है, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। परमात्म तत्त्व को जानते ही व्यक्ति संसार बंधन से छूट जाता है। इतना याद रखना कि 'इदं, प्रत्यक्षम्' इत्यादि शब्दों से भ्रम हो जाता है कि हमें कोई नया ज्ञान होगा! नया ज्ञान नहीं होता, तुम हो ही ब्रह्म! 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' यह जो तुमको अज्ञान है, बस यह हट जायेगा। जैसे घड़े के अंदर वाले आकाश को कोई बाहर का आकाश *कर* नहीं सकता पर घड़े को फोड़ दिया तो अंदर वाला आकाश बाहर वाले के साथ एक है। जिस समय तुम समझ रहे थे कि 'घड़े से हमने आकाश को काट दिया' तब भी तुमने आकाश को काटा तो है नहीं, टुकड़ा करके तुमने उसमें डाला नहीं है! जब तक घड़ा है तब तक घड़े के अंदर का आकाश है और घड़ा नहीं रहा तो वह असीम आकाश जैसा था वैसा ही रह गया। घड़ा बनने के पहले भी वही था, घड़ा बनने के बाद भी वही रह गया। इसी प्रकार जब तक यह अहंकारात्मिका वृत्ति है तब तक तुम कर्त्ता-भोक्ता हो परंतु उस समय में भी तुम अकर्त्ता-अभोक्ता हो; और अहंकारात्मिका वृत्ति गई तो तुम कर्त्ता-भोक्ता नहीं रह गए। यह कैसे मान लें? हमको यह ज्ञान स्पष्ट हो जाए इसलिए भगवान् ने हमें सुषुप्ति दे दी। गहरी नींद प्राणिमात्र को आती है। गहरी नींद में अहम् नहीं रह जाता है। क्या है वहाँ कोई संसार बंधन की प्रतीति, दुःख-शोक की प्रतीति? क्यों नहीं है? क्योंकि वहाँ अहम् नहीं है। विचार करने वाले को इतना पता लग ही जाता है कि अहंकार के बिना किसी बंधन की प्रतीति नहीं है। किंतु सुषुप्ति में अज्ञान है, जगत् का बीज है अतः सुषुप्ति हटते ही फिर संसार खड़ा हो जाता है। घड़े के अंदर का एक आकाश है, घड़े के बाहर का आकाश है। अंदर और बाहर के आकाशों में भेद दीख रहा है। रात के बारह बजे का समय है और बिजली चली गई। तुम्हें वहाँ क्या घटाकाश महाकाश कुछ दीखता है? उस समय सब कुछ एक ही हो जाता है। घट नहीं दीख रहा है तो घटाकाश महाकाश के भेद का सवाल ही नहीं है। परंतु घड़ा है मौजूद इसलिए बिजली आयी तो तुरंत घड़ा वहाँ दीखता है, और घटाकाश भी दीख जाता है और घड़े के बाहर का महाकाश भी दीखने लगता है। सुषुप्ति इसी तरह से है जैसे बिजली गुल हो गई। सुषुप्ति *में* किसी भेद का भान है नहीं, परंतु जैसे ही सुषुप्ति गयी, वैसे ही फिर अहम् वहाँ का वहाँ मौजूद है। किन्तु अगर घड़ा तुमने फोड़ दिया तो चाहे जितनी बिजली जले, फिर घटाकाश नहीं रहेगा। इसी प्रकार अहंकार के कारणभूत अज्ञान को यदि तुमने

हटा दिया तो फिर कभी मैं और ब्रह्म का भेद नहीं रह जाएगा। इसलिए भगवान् ने फल बतला दिया 'अशुभात् मोक्ष्यसे।'।।१।।

उस ज्ञान की प्रशंसा करते हैं

राजविद्या राजगुह्यम् पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

यह पावन श्रेष्ठ, धर्माविरुद्ध(ज्ञान) विद्याओं और गोपनीयों का राजा है, सुखपूर्वक सम्पाद्य इस ज्ञान का अनुभव अपरोक्ष होता है तथा इसका फल अव्यय है।

राजा को राजा क्यों कहते हैं? क्योंकि उसके अंदर अतिशय तेज होता है। एक फ्रांस देश का विदेशी राणा रणजीत सिंह के दरबार में आया था। उस ने अपने पत्रों में लिखा है, 'मैंने सुना तो ज़रूर है कि राजा काणा है पर उसके मुख पर इतना तेज है कि आज तक उसकी एक आँख है, यह बात मैं देख नहीं पाया हूँ! बहुत बार मिला हूँ। घण्टों बात की है, परंतु उसका तेज इतना ज़्यादा है कि मैं नहीं कह सकता कि मैंने उसका चेहरा स्पष्ट देखा है।' राजा ऐसा तेजस्वी होता है। लोग गालियाँ दे रहे हैं, हाय-हाय कर रहे हैंऐसे राजाओं को देख कर भ्रम हो जाता है कि असली राजा भी ऐसे ही होते होंगे! राजा इसीलिए कहा जाता है कि वह दीप्तिमान् होता है। विद्याओं का राजा इसलिए है कि अत्यन्त दीप्ति वाला है, तेज वाला है, प्रकाशरूप है। क्यों? ब्रह्मविद्या को छोड़ कर बाकी जितनी विद्याएँ हैं, वे मरने के बाद ज़्यादा से ज़्यादा क्रममुक्ति में ले जा सकती हैं। यह इतनी तेजस्वी है कि उसी समय इसका अव्यय फल हो जाता है। ज्ञान होते ही फल हो जाता है, यह विद्या इतनी दीप्ति वाली है। इसलिए इसको राजविद्या कहते हैं। और इसीलिए 'राजगुह्यं', छिपाने योग्य जो चीज़ें हैं उनमें भी यह राजा की तरह दीप्ति वाली है। गुह्यों में दीप्तिमान् क्यों है? क्योंकि यह स्वतः अपरोक्ष स्वयम् आत्मा के बारे में है!

सन् बयालीस के अंदर अंग्रेजों के खिलाफ कांग्रेस का आंदोलन चल रहा था। उस समय गांधी जी ने कह दिया था 'मरो या करो।' सब लोग पूरी तरह से अंग्रेजों के खिलाफ काम कर रहे थे। अनेक कलैक्टरों को भगा दिया, अंग्रेजों का जो झण्डा यूनियन जैक था उसको फैंक कर उसकी जगह तिरंगा झण्डा लगा दिया, सब जगह यह सब हो रहा था। ऐसे आंदोलन को ठीक तरह से कर सकें, इसके लिए इधर-उधर चारों तरफ समाचार देना ज़रूरी होता है। अखबार तो वे छाप नहीं सकते थे। रेडियो में आने का सवाल ही नहीं था। इसलिए गुप्त कागज़ छपते थे और चुपचाप छोटे लड़के जाकर बाँट आते थे ताकि पता लगे कि आज क्या करना है और कहाँ क्या हुआ। जिस भी प्रैस में, छापेखाने में यह सब छपता था, उसी के ऊपर सरकार छापा मारती थी, कुछ मिले तो मालिक को जेल भेज देती थी, पिटाई करती थी। इटावे में एक छापाखाना ऐसा साहित्य छापता था। किसी ने आकर छापने वाले मैनेजर से कहा 'आप लोग तैय्यारी कर लें, थाने से लोग चल पड़े हैं

यहाँ आने के लिए।' उस समय उनके टेबल के ऊपर उसी पर्चे के प्रूफ पड़े थे। सभी कहने लगे 'कहाँ छिपायें, कहाँ छिपायें'? उन्होंने कहा 'कुछ मत करो।' और दो चार कागज़ों के नीचे उस कागज़ को रखकर वहीं टेबल पर छोड़ दिया। तब तक छापा डालने वाले आ गए। सारे प्रेस को ढूँढ लिया। जितने छिपे कोने थे सब जगह ढूँढ लिया। वैसा पर्चा टेबल के ऊपर खुला पड़ा रहेगायह तो उनके मन में ही नहीं आ सकता था। किसी के मन में नहीं आता है। बाकी सब जगह देख कर कुछ नहीं मिला तो वे चले गए। किसी ने मैनेजर से कहा 'आपकी बड़ी हिम्मत है! अगर वे देख लेते तो?' वे बोले 'बस यही रहस्य है। जो चीज़ खुली होती है उसको छिपी चीज़ समझने वाले कभी ढूँढ नहीं सकते।'

इसी प्रकार परमेश्वर ने विचार किया कि मुझे देखते ही तो संसार का खेल बंद हो जाएगा, और मेरे बिना यह चल भी नहीं सकता इसीलिए मुझे इसमें रहना भी ज़रूरी है। तो कहाँ रहूँ? ऐसी जगह आकर बैठा जिसको तुम रात-दिन जानते हो। एक क्षण ऐसा नहीं जब तुम चेतन को 'मैं चेतन हूँ'ऐसे नहीं जानते। रात-दिन अपने को जानते हो। परंतु 'परमात्मा कहीं छिपा बैठा है। बद्रीनारायण में, केदारनाथ में, कहाँ छिपा बैठा है?' यह सोचते हो। बड़े यज्ञ करोगे, दान करोगे। सब कुछ करोगे क्योंकि यह तो ख्याल ही नहीं आता कि परमात्मा मैं बना हुआ बैठा हूँ। उस तरफ नज़र ही नहीं जाती है। इसको राजगुह्य इसलिए कहते हैं कि सबको इसका प्रकाश हो रहा है, सब इसको जान रहे हैं, फिर भी यह गुप्त है, इसे कोई नहीं जान रहा।

'उत्तमं पवित्रं', पवित्र करने वाली जितनी चीज़ें हैं उन सबमें यह सबसे श्रेष्ठ है। संसार में सबसे ज़्यादा घृणित चीज़ कौन-सी अपने को लगती है? शरीर। कोई चीज़ इतनी जल्दी सड़ कर खराब नहीं हो जाती जितना शरीर। और जो कुछ मांस आदि उसमें है वह सब यदि तुमको दीख जाए तो सिवाय घृणा के कुछ नहीं होगी। कभी किसी अजायबघर में जाकर देखो तो वहाँ आदमी की हड्डियों को लटका देते हैं। वही हड्डियाँ तुम्हारे अंदर हैं। ऊपर से थोड़ा-सा मांस लगा हुआ है। शरीर में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो घृणित न होवे। परन्तु जब तक परमात्मा बैठा हुआ है तब तक गुरु का शरीर, माता का शरीर, पिता का शरीर अत्यन्त पूज्य रहता है। क्यों पूज्य है? परमात्मा बैठा हुआ है इसलिए। वह नहीं होगा तो, आचार्य शंकर कहते हैं 'भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये' पति परमेश्वर के शरीर से पत्नी को ही भय लगता है! इससे ज़्यादा और कौन-सी पवित्र चीज़ तुमको मिलेगी जो सबको पवित्र करती हो? तृप्त करने वाली चीज़ों में, पवित्र करने वाली चीज़ों में सबसे श्रेष्ठ जो परमात्म-तत्त्व है उसका ज्ञान इसीलिए उत्कृष्टतम है। अनन्त जन्मों के अंदर जो तुमने धर्म और अधर्म के कर्म किए, जो तुमको आगे अनन्त जन्म देने की क्षमता वाले हैं, इतना बड़ा भयंकर जो कर्मों का बोझ है, उसको यह ज्ञान क्षणमात्र में भस्म कर देता है! 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (गी.४.३७) जो अनन्त जन्मों के पाप और पुण्य तुम्हारे ऊपर आसन जमाए हुए हैं, उनको क्षणभर में नष्ट कर देता है, जला देता है।

उनमें से कोई कर्म तुम्हारा कुछ न सुधार सकता है, न बिगाड़ सकता है। अतः वह उत्तम पवित्र है, इसमें कहना ही क्या है!

'प्रत्यक्षावगमम्' प्रत्यक्ष से ही इसका पता लगता है। प्रत्यक्ष, जैसा पहले कहा था, अत्यन्त निश्चय वाले ज्ञान को कहते हैं। बढ़िया दाल का सीरा कल खाया, बड़ा आनन्द आया। इस आनन्द के विषय में कुछ सन्देह रहता है क्या? निःसन्दिग्ध है। आनन्द को क्या आँख से देखा, कान से सुना, नाक से सूंघा? किसी भी इन्द्रिय से ज्ञान न होने पर भी जैसे वह आनन्द बिलकुल स्पष्ट है, इसलिए प्रत्यक्ष है और निश्चय है कि आनन्द आया, ठीक इसी प्रकार से उस परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार अपरोक्ष निश्चयरूप होता है इसलिए कहा 'प्रत्यक्षावगमम्' प्रत्यक्ष से ही इसका अवगम हो जाता है। 'प्रत्यक्ष से' अर्थात् निश्चित अनुभव के रूप में। और यह ज्ञान कैसा है? 'धर्म्यं'। धर्म से विरुद्ध नहीं है। धर्म किसको कहते हैं? जिसका फल सुख होता है। सुख पुण्य का फल है। पुण्य कहो, धर्म कहो, एक ही बात है। परन्तु जितने सुख होते हैं वे क्षणिक हैं और आत्मज्ञान जिस क्षण हो जाता है उसके बाद परम सुख कभी भी ओझल होता ही नहीं है, एक-जैसा आनन्द बना ही रहता है। इसलिये ज्ञान को धर्म्य कहा। यह धर्म से अविरुद्ध है।

इतने महत्त्व का है तो करने में बड़ा मुश्किल होता होगा? इस पर कहते हैं 'कर्तुम् सुसुखम्।' करने में यह बड़ा सरल है, कोई बड़ा भारी परिश्रम, मेहनत, यज्ञ दान तप कुछ करना हो, ऐसा नहीं है। जैसे आँख से देखने में तुमको क्या श्रम करना पड़ता है? आँख के सामने चीज़ आई और दीख गई, बस। कोई उसमें परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार परमात्म-दर्शन के अंदर कोई श्रमरूप दुःख तो करना है ही नहीं। आचार्य कहते हैं 'यथा रत्नविवेकविज्ञानम्' वाचस्पति मिश्र इसका बार-बार दृष्टान्त देते हैं। रत्न की परीक्षा के लिए कोई बोझ नहीं ढोना पड़ता है। जैसे ही समझाया जाता है कि 'हीरे में अगर हल्की नीली झाई होती है तो हीरे का भाव बढ़ जाता है। अगर बीच में कोई लकीर आदि होती है तो भाव घट जाता है।' ध्यान पूरा देकर के रत्न को देखना पड़ता है लेकिन रत्न को देखने के सिवाय और कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता कि ऐसी-ऐसी मेहनत करो तब पता लगे। इसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान करने में अत्यन्त सरल है।

जब कहते हैं कि कोई चीज़ करने में अत्यन्त सरल है, सुख से कर सकते हो, तो लगता है कि उसका फल अल्प ही होता होगा। इस भ्रम को मिटाने के लिये कहते हैं कि करने में बड़ा सरल है और 'अव्ययम्' होने के बाद इसका फल कभी क्षय होता ही नहीं। जैसे दाल-भात बनाना बड़ा सरल है परन्तु खा कर *पूरा* मज़ा आता नहीं, पेट भर जाता है। दाल का सीरा बनाने में बड़ा परिश्रम है। दाल को भिजाओ, धोओ, पीसो। फिर कढ़ाई में डाल कर पकाओ। निरन्तर चलाते रहो जो लग न जाए। कठिनता से बनता है, फिर उसको खाने में मज़ा भी पूरा आता है। दाल-भात खाने की अपेक्षा बहुत ज़्यादा मज़ा आता है। ऐसा ज्ञान में नहीं। यह अतिसरल है किन्तु इससे होने वाला आनन्द क्षणभर को

भी हटता नहीं, व्यय होता ही नहीं। बाकी जितने धर्म हैं अश्वमेध, राजसूय आदि, बड़ा परिश्रम करके सम्पन्न होते हैं। उनसे अधिकाधिक ब्रह्मलोक तक चले जाओगे। परन्तु जैसे ही जितना तुमने कर्म किया है वह ख़त्म होगा वैसे 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' वापिस यहाँ आ जाना पड़ेगा। परन्तु परमात्मा का ज्ञान है 'अव्ययम्' करने में बड़ा सरल परन्तु इससे होने वाला जो सुख है वह अनन्त है, कभी खत्म नहीं होने वाला है। इस प्रकार भगवान् ने इस ज्ञान विज्ञान की सरलता व श्रेष्ठता बतलाई।।२।।

यदि ज्ञान इतना ही सरल और अक्षय फलवाला है तो स्वभावतः प्रश्न उठता है कि फिर सब लोग इसे प्राप्त करते क्यों नहीं? ब्रह्मज्ञान में ही सब प्रवृत्ति करें। इसके उत्तर में कहते हैं

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

शत्रुतापन अर्जुन! ज्ञानरूप इस धर्म के बारे में श्रद्धारहित लोग मुझे बिना पाये मृत्युयुक्त संसार के रास्ते में अवश्य भटकते रहते हैं।

ज्ञान के मार्ग में लगने के लिये अनिवार्य किन्तु सबसे कठिन चीज़ है श्रद्धा। जो शास्त्र में श्रद्धा से रहित हैं आत्मज्ञान के अंदर भी उनकी श्रद्धा नहीं हो पाती। संसार में जो कुछ भी पाया है वह मेहनत करके ही मिलता है। मोक्ष बड़ा फल है तो लगता है कि इसके लिए भी कड़ी मेहनत करनी पड़ेगी। जब सुनते हैं कि बिना मेहनत के आसानी से होता है तब लगता है कि 'मोक्ष बेकार की चीज़ होगी। बिना मेहनत के केवल ज्ञान का फल इतना कहाँ हो सकता है! शास्त्र ने ऐसे ही कहा होगा, उसका तात्पर्य यह नहीं होगा।' यद्यपि इसका फल प्रत्यक्षवत् है और गुरु कहता है कि ऐसा ही है, अनुभव की बात है, तथापि श्रद्धारहित व्यक्ति सोचता है कि 'ऐसे ही कहते हैं, ऐसा हो थोड़े ही सकता है!' जब तक हम अपने स्वरूप को नहीं जानते, अपने शरीर मन इत्यादि से ही हम अपने को 'मैं' मानते हैं, तब तक उपदेश देने वाले को भी हम शरीर-मन से भिन्न नहीं कर सकते। अतः उसके शरीर मन में ऐसी क्रियाओं को देख करके जिसमें राग-द्वेषादि की कल्पना होती है, सुख-दुःख की कल्पना होती है, मान लेते हैं कि इसमें भी राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि वैसे ही हैं जैसे मुझ में हैं। अतः गुरु को यह अपरोक्ष हो गया हो, ऐसी बात श्रद्धेय नहीं, श्रद्धा के लायक नहीं है। सबसे बड़ी जो बाधा है आत्मज्ञान में, वह श्रद्धाहीनता है। ऋग्वेद ने स्पष्ट कहा है 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' सत्य परमात्मा श्रद्धा से ही प्राप्त होता है। बिना श्रद्धा के वह प्राप्त होता नहीं। अश्रद्धालु को पहले तो परमात्मा के स्वरूप के विषय में ही श्रद्धा नहीं होती। हमारी कुछ कल्पनाएँ हैं कि परमात्मा ऐसा होना *चाहिए,* उसके अनुरूप शास्त्र नहीं कहता है तो उसमें श्रद्धा नहीं हो पाती। कहते हैं कि 'तुम ही शरीर मन आदि के साक्षी ब्रह्मस्वरूप हो', तो झट अश्रद्धा होती है 'मैं ऐसा कैसे हो सकता हूँ!' उसके बाद जब

त्वम् पदार्थ के शोधन के द्वारा दिखलाते हैं कि 'जिसको तुम अपना स्वरूप समझ रहे हो, वह तुम नहीं हो', तब सोचते हो कि 'फिर भी, कुछ और तो होऊँगा ही!' ब्रह्म हूँयह नहीं समझ पाते, लगता है कि कुछ तो भेद होगा ही उसमें और हम में। सर्वथा अभेद है, मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँयह निश्चय नहीं हो पाता। त्वम्-पदार्थ के शोधनमात्र से अपनी ब्रह्मरूपता की समझ नहीं आती, उसके लिये महावाक्य में श्रद्धा चाहिये। इसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप में भी श्रद्धा नहीं होती। शंका होती है कि एक-एक करके सब मुक्त होते जाते तो अब तक संसार ही खाली हो जाना चाहिए था! इसलिए लगता है कि कभी तो वापिस आना होता ही होगा। इसलिए लोग मोक्ष के बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हैं। कोई मानते हैं कि कल्पान्त तक जन्म न पाकर फिर वह ऋषि मुनि बन कर आ जाता है। इस प्रकार से कल्पनाएँ चलती रहती हैं। यों आत्म-ज्ञान के स्वरूप में और फल में भी श्रद्धा नहीं होती।

पूर्व जन्म में आसुरी वृत्ति से जिन्होंने पाप कर रखे हैं, वे पाप ही उनके अंदर अश्रद्धा की दृढता करते हैं। इसीलिए बार-बार कहना पड़ता है कि अनेक जन्मों तक शुभ कर्म करने से ही, पाप कम हो जाने से ही, श्रद्धा आएगी, अन्यथा आती ही नहीं है। अगर अश्रद्धालु को ज़बरदस्ती पढ़ा भी दो तो वह उसका अर्थान्तर करेगा, कोई दूसरा अर्थ निकालेगा। कोई स्थूल शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई सूक्ष्म शरीर को ही आत्मा मानता है। ऐसों को 'स्थूल और सूक्ष्म को छोड़ कर मेरा वास्तविक स्वरूप है' सुनने पर लगता है कि फिर तो मैं कुछ नहीं हूँ! शरीर नहीं, मन नहीं, तो फिर मैं क्या हूँ? कुछ नहीं हूँ। अतः अनेक विचारक अनात्मवादी बन गए। चूँकि अश्रद्धालु थे, इसीलिए 'पुरुषाः' इस पुर में अर्थात् शरीरमात्र में ही अपने को रहने वाला मानते रहे।

अत्यन्त सरल इस ज्ञानरूप धर्म में, केवल अश्रद्धा के कारण ही 'माम् अप्राप्य मृत्यु-संसारवर्त्मनि निवर्तन्ते' मैं जो उनका आत्मस्वरूप हूँ, उसको बिना प्राप्त किए ही पुनः इस मृत्युसंसार में आ जाते हैं। मृत्युसंसार अर्थात् मृत्यु से युक्त जो संसार है। वर्त्म मायने रास्ता। पशु, पक्षी, पेड़ पौधे इत्यादि नरकों की प्राप्ति संसारमार्ग पर भटकने पर होती रहती है। अश्रद्धालु परमात्मा को न प्राप्त करके इसी संसार में वापिस लौटता है। भगवान् ने कहा 'माम् अप्राप्य'; प्रश्न उठता है कि नहीं पाने की बात तो तब कही जाए जब पाना कहीं से प्राप्त हो। अगर तुम यहाँ से दक्षिण को जा रहे हो तो यह कहना कि तुम कश्मीर नहीं जा पाओगे, व्यर्थ है, क्योंकि दक्षिण जाने वाले को उत्तर जाना प्राप्त ही नहीं है। मोक्ष-मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक विवेक आदि ही जिसमें नहीं हैं, ज्ञान के योग्य अन्तःकरण ही जिसका नहीं है, उसको मोक्षप्राप्ति की सम्भावना कहाँ है जो उसका निषेध कर रहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने कहा कि 'मुझे नहीं प्राप्त होते' अर्थात् मेरी प्राप्ति के साधन को ही नहीं प्राप्त होते। मेरी प्राप्ति का साधन है भेद-भक्ति। सृष्टि को चलाने वाला परमेश्वर है, उसकी शरणागति ही करनी है। यह भेदभक्ति ही उनमें नहीं

आ पाती है। अभेद की बात तो जाने दो, 'ऐसा परमात्मा है'यह भाव ही नहीं बनता। सृष्टि आदि करने वाला, संसाररूप में प्रकट होने वाला परमेश्वर हैयह समझने पर ही उसके स्वरूप का विवेचन करें यह सम्भव होता है। शास्त्रानुसारी विवेक से पता लगता है कि वह परमेश्वर प्रत्यक्स्वरूप ही है! परन्तु अश्रद्धालु को यही पूरा विश्वास नहीं होता कि परमेश्वर है। परमेश्वर का सही पता केवल शास्त्र से लगता है। युक्तिमात्र से रचयिता तो समझ आ भी जाये लेकिन वह खुद ही जगत् बना हैयह समझ नहीं आता। व्यवस्थित वस्तुओं और प्रक्रियाओं को बनाने वाला चेतन ही लोक में देखा गया है अतः व्यवस्थित सृष्टि बनाने वाला अवश्य हैयही ईश्वर सिद्धि में प्रधान तर्क है। इससे वह सिद्ध भी हो जाएगा तो निमित्त कारण, बनाने वाला ही चेतन निश्चित हो पायेगा। संसाररूप में बनने वाला वही हैयह उस तर्क से निर्धारित नहीं हो सकता। परमेश्वर के स्वरूप का ही जब निश्चय नहीं होगा तो फिर आगे विवेक आवे कहाँ से! अभेद रूप की प्राप्ति की सम्भावना न होने पर भेद-भावना की, परमेश्वर के प्रति भक्ति भावना की प्राप्ति हो सकती थी, उसीका निषेध किया कि वह भी नहीं हो पाती, अश्रद्धा के कारण।

वेद स्वयं ही कहता है कि जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है ही, बस इतना निश्चय भी हो तो उसे संत समझना चाहिये। मैं ब्रह्म हूँयह तो आगे की बात है; ब्रह्म है, यही निश्चय अश्रद्धालु को नहीं हो पाता। सृष्टि में सब कुछ परमेश्वर के इशारे से होता हैयह बात कहाँ लोगों को जँच पाती है? लगता है कि कोई नक्षत्र है, कोई ग्रह है, कोई योग है, कोई वस्तु है, कई चीज़ें हैं, खाली ईश्वर ही क्या करेगा! अलग-अलग देवता हैं। देवता को मनाने से कार्य हो जाएगा। अश्रद्धा का चिह्न यह भाव है कि सब कुछ को चलाने वाला एक परमेश्वर ही थोड़े ही है। ऐसे लोग मानते हैं कि 'भगवान् की पूजा तो कर लो लेकिन शनि देव को भी मना लो। या दरवाज़ा यहाँ से तोड़ कर उधर बना लो। ये सब तो करने ही पड़ेंगे। ठीक है, परमेश्वर भी है, लेकिन खाली उससे थोड़े ही काम चलेगा।' लोक में सर्वसमर्थ कोई एक न देख कर और भी विश्वास दृढ होता है कि परमेश्वर भी सर्वसमर्थ नहीं होगा। एकमात्र परमात्मा ही जगत् का अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण है, इसमें ही श्रद्धा नहीं हो पाती तो जो साधन रूप भेद-भक्ति है उसी में प्रवृत्ति नहीं होती। एक बार निश्चय हो जाए कि एक परमेश्वर ही जगज्जन्मादि-हेतु है तो परमात्मा को छोड़ कर और किसी की शरण में नहीं जा सकता। अगर विश्वास हो जाए कि 'मेरा पिता करोड़पति है, जो चाहूँ उससे मिल सकता है' तो आदमी दर-दर नहीं भटकता है। पर जो सोचता है 'पिता जी तो पाँच सौ रुपये महीना दे सकते हैं इसलिए पड़ौसी से कुछ मिले तो वह ले लूँ, दूसरे से मिले तो ले लूँ, जहाँ से मिले वहाँ से ले लूँ', वह हमेशा सर्वत्र मँगता बना रहेगा। ठीक इसी प्रकार से यदि पता लग जाए कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, सब कुछ कर सकता है, तो फिर कोई ग्रह, देवता, नक्षत्र आदि की शरण नहीं ले सकता कि इनकी भी मदद मिल जाये। इसलिए 'अप्राप्य मां निवर्तन्ते' अर्थात् मेरी

प्राप्ति का मार्ग-रूप साधन-विशेष जो भेद-भक्ति है, उसकी भी प्राप्ति नहीं होती।

परन्तप! तूने अनेक दुश्मनों को मारा है, वे सारे बाहर के दुश्मन थे। तेरे घर में घुसे हुए जो दुश्मन हैं, राग-द्वेष, काम-क्रोध, इन सबको भी उतने ही प्रयत्न से मारने में तू समर्थ है इसलिए परन्तप है। वे सब भी 'पर' हैं, तुम्हारा स्वरूप नहीं। राग-द्वेष आदि को हम क्यों नहीं छोड़ पाते? हम सोचते हैं कि ये सब तो हमारे लिए बड़े काम की चीज़ें हैं! इसलिए राग-द्वेष-रहित होने की बात होती है तो आदमी यही कहता है, 'मुझ में तो कोई *खास* राग द्वेष आदि हैं नहीं। शरीर चलाने के लिए ये सब थोड़े-बहुत तो चाहिए अतः इनको नष्ट नहीं कर पाता।' भगवान् कहते हैंजैसे दूसरे दुश्मनों को तूने पर समझकर नष्ट किया है, इसी प्रकार से राग-द्वेष आदि को भी दुश्मन समझ कर नष्ट कर। इनसे काम चलता है इत्यादि जो भावना है उसको छोड़। अतः उसको कहा 'परन्तप'।।३।।

इस प्रकार परमात्मा और परमात्मा के ज्ञान की प्रशंसा तथा परमात्मज्ञान से विमुखता की निन्दा करने पर अर्जुन का मन एकाग्र हुआ जिससे भगवान् जिस बात को कहने जा रहे हैं उसको ध्यान से सुनने लगा। भगवान् ने आगे कहा

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

करणों से अगोचर स्वभाव वाले मेरे द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। सारे भूत मुझ में स्थित हैं पर मैं उनमें किसी संबंध से मौजूद नहीं हूँ।

जगत् का मतलब होता है जाता हुए, अर्थात् जाने वाला। संसार में तुम किसी भी चीज़ को देखोगे, वह पहले थी नहीं और आगे रहेगी नहीं। अर्थात् 'नहीं है' से 'है' होती है, 'है' से फिर 'नहीं है' होती है। कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो निरन्तर गतिशील न होवे, बदलने वाली न होवे। स्वयं अपने को देखोबाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था, ये सब बदलती रहीं। किंतु यह बताओ कि इस बदलने को देखने वाले तुम यदि बदल गए होते तो बदलाव को देखते कैसे? इसलिए बदलने वाली चीज़ उपाधियाँ हैं। तुम्हारा शरीर भी उन्हीं पंचभूतों से बना है जिनसे सृष्टि बनी है। इसलिए जैसे तुम्हारा शरीर बदलने वाला है, उसी प्रवाह में वैसे ही सारा जगत् बदलने वाला है। ऐसा यह सारा जगत् मुझ से 'ततम्' व्याप्त है। जैसे बाल्यावस्था, कौमारावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था, इन सबमें मैं एक-जैसा ही रहता हूँ इसलिए मेरे द्वारा ये सब अवस्थाएँ व्याप्त हैं, सबमें मैं रहता हूँ; व्याप्त अर्थात् सब में रहने वाला; वैसे ही जाग्रत् में मैं शरीर वाला हूँ, स्वप्न में बिना शरीर के केवल मन वाला हूँ, सुषुप्ति के अंदर न स्थूल शरीर है, न सूक्ष्म शरीर है, दोनों के बिना वाला मैं हूँ। विचार करो, तुम्हारे लिए तो यह स्पष्ट है कि इन सब अवस्थाओं में मैं था लेकिन दूसरे के लिए तुम्हारा 'मैं' कैसा रहेगा? अव्यक्त रहेगा। तुम्हारा मैं, तुम्हें स्पष्ट है पर दूसरों के लिए वह अव्यक्त है, अप्रकट है, उसका स्वरूप कभी

व्यक्त होता नहीं। व्यक्त उस को कहते हैं जो सामने से दीखता है अर्थात् जिसको जान सको। श्रुति कहती है कि जानने वाला कैसे जाना जाए? यह बड़ी विचित्र घुण्डी है। जब तक मैं को ब्रह्मरूप से नहीं समझोगे तब तक उसका रूप हमेशा अप्रकट ही रहेगा। मैं व्यक्त नहीं, परंतु यह भी नहीं कह सकते कि मैं अपने आपको प्रकट नहीं हूँ! हम लोगों को वहम बैठा हुआ है कि किसी दूसरी चीज़ से, प्रमाण से, हम प्रमेय को जानेंगे। किंतु अहम् कभी किसी प्रमाण से नहीं जाना जाएगा। पर क्या उसको जान नहीं रहे हो? तुम अपने को किस प्रमाण से जानते हो? किसी प्रमाण से नहीं। फिर भी जानते हो कि 'मैं हूँ'। इसलिये 'मैं' इन सबके अंदर अव्यक्त स्वरूप से अर्थात् किसी दूसरे को न प्रकट होते हुए मौजूद है। इसी प्रकार इस सारे जगत् में अव्यक्तमूर्ति से परमात्मा व्याप्त है। आचार्य शंकर कहते हैं कि अव्यक्तमूर्त्ति का मतलब है करणों का अगोचर स्वरूप। वह कान के द्वारा विषय होता नहीं, वाणी के द्वारा प्रकट नहीं होता। मैं वाणी से प्रकट नहीं हो सकता है। वाणी से प्रकट करते हो तो तुम्हारी अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति ही व्यक्त होती है। तुम बोलते हो 'मैं जा रहा हूँ' तो उस मैं-शब्द से तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को हम नहीं समझ पाते। हम तो तुम्हारे अहंकारात्मिका वृत्ति वाले स्वरूप को ही जान पाते हैं। तुम तो अव्यक्त ही रहते हो। न यह कथन का विषय है, न सुनने का विषय है। फिर भी बिना कहे, बिना सुने ज्ञान हो नहीं सकता है, यही इसकी विलक्षणता है।

'सर्वभूतानि मत्स्थानि' ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सभी भूत मुझमें हैं। चाहे जड की तरह प्रकट हो या चेतन की तरह, सभी भूत हैं परमात्मा में ही। हम जिन्हें क्रिया से युक्त देखते हैं उन्हें चेतन मानते हैं और जिनमें क्रिया नहीं दीखती उन्हें जड समझ लेते हैं। किंतु जिसे भी हम जानते हैं वह वस्तुतः तो जड ही है। चेतन को हम कभी जानते नहीं, वह अव्यक्त ही रहता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर के स्तम्ब पर्यन्त जितना भी तुम जड और चेतन जगत् देख रहे हो, यह सब मेरी अव्यक्त मूर्ति में, मेरे अव्यक्त स्वरूप में ही स्थित है। मुझ में स्थित इसलिए है कि कोई भी चीज़ बिना *स्वरूप* के, बिना *आत्मा* के सिद्ध होती नहीं। हर चीज़ का कोई स्वरूप है, कोई आत्मा है। जो हर चीज़ का अपना स्वरूप है, अपना आत्मा है, वही मैं हूँ। इसलिए सब कुछ मुझ में ही स्थित है, जो मेरी अव्यक्त मूर्त्ति है उसमें स्थित है। शास्त्रीय भाषा में साक्षी चैतन्य में ही सब कुछ अध्यस्त है। किसी भी चीज़ का स्वरूप परमात्मा है क्योंकि उनके स्वरूप के रूप में, उनके आत्मा के रूप में परमात्मा ही सर्वत्र स्थित है। इसलिये भगवान् ने कहासारे भूतों का आत्मस्वरूप मैं हूँ।

अतः लोगों को भ्रम होता है कि सारी चीज़ों में परमात्मा है! मोटे दृष्टान्त से समझ लोः कड़ा, हँसिया, तेड़िया, बाजूबंद इन सब *में* सोना स्थित हैमूढबुद्धि यही समझ पाता है। पर असली बात क्या है? सोने में ये सब चीज़ें स्थित हैं। इस भ्रम की निवृत्ति के लिए भगवान् स्पष्ट कहते हैं 'अहं तेषु न च अवस्थितः', मैं उनमें नहीं हूँ। यह वाक्य बड़ा

गम्भीर हैः 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' सब कुछ तो मुझ में स्थित है, पर 'अहं तेषु न अवस्थितः' मैं उनमें नहीं हूँ। यह इसे स्पष्ट करने के लिए है कि सोना व्यापक है और उस व्यापक सोने के अंदर कड़ा हंसिया, तेड़िया इत्यादि स्थित हैं। इसी प्रकार परमात्मा में जगत् स्थित है।।४।।

किन्तु फिर प्रश्न होता है कि एक कार्यरूप जगत् हुआ, एक कारणरूप परमात्मा हुए। कार्य कारण में समवाय संबंध से रहता है। इसी प्रकार क्या समवाय संबंध से भूत आप में रहते हैं? तो भी दो वस्तुएँ सिद्ध हो गयीं, अद्वैत नहीं रहा। यह समस्या सारे संसार के विचारकों को परेशान करती रही है कि पदार्थ और उसका आकार परस्पर कैसे संबद्ध हैं। आकारों को वस्तु से सचमुच अलग मानकर सारी द्वैतवादी विचारधारायें चलती हैं। अद्वैत की विचारधारा में आकार वस्तु में कल्पित ही है, सचमुच कुछ नहीं जो उसका वस्तु से कोई सच्चा संबंध हो। इस तरह प्रतीतिसिद्ध द्वैत और वास्तविक अद्वैत का सामंजस्य बैठ जाता है। भगवान् वेदान्तप्रसिद्ध विलक्षण ढंग से यह रहस्य स्पष्ट करते हैं

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

(वास्तव में) भूत मुझमें स्थित नहीं ही हैं!यह मेरी ईश्वरीय यथार्थता समझो। मेरा आत्मा भूतों का उत्पादक, संवर्धक एवं भूतों का भरण करने वाला, किन्तु भूतों में स्थित नहीं है।

परमात्मा को बताने का केवल यही तरीका है। उपनिषत् भी कहती है कि 'परमात्मा बिल्कुल हिलता ही नहीं है और सबसे तेज़ चलने वाले मन की अपेक्षा भी तेज़ चलने वाला है!' ऐसा नहीं कि ऋषि लोग भाँग के नशे में ऐसा लिखते थे! पारमार्थिक-व्यावहारिक की व्यवस्था इसी तरह समझाई जा सकती है। जैसे श्रुति ने वहाँ सर्वथा विरुद्ध बात कह दी वैसे ही भगवान् ने यहाँ एक ही साथ 'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च मत्स्थानि भूतानि'मेरे अंदर सारे भूत हैं, मेरे अंदर एक छोटा-सा तिनका भी नहीं है! ये विरुद्ध बातें कह दीं। अर्जुन ने पूछा 'महाराज, ये उल्टी बातें कैसे?' भगवान् बोले 'मे ऐश्वरं योगं पश्य' यही मुझ परमेश्वर का योग है कि असम्भव को सम्भव कर देना। दृष्टान्त समझ लोः तुमको अंधेरे में साँप दीखा, प्रकाश आने पर रस्सी दीखी। कह सकते हो कि इस रस्सी में या रस्सी पर साँप दीखा। साँप रस्सी में था तभी कह रहे हो कि रस्सी में साँप दीखा। किंतु क्या साँप रस्सी में था? क्या कहोगे? 'नहीं जी, साँप रस्सी में नहीं था।' इन दोनों बातों की संगति लगाने के लिये यही कहना पड़ेगा कि साँप झूठा था। झूठी और सच्ची चीज़ों का समवाय संबंध नहीं बनता। परमात्मा की सर्वथा असंसर्गिता का प्रतिपादन करने वाला यह प्रसंग है। यहाँ भगवान् ने स्पष्ट किया कि सब कुछ मुझ में झूठ-मूठ ही दीख रहा है। यह मेरा ऐश्वर योग है कि बिना कुछ हुए सब रूपों में दीख जाना।

यह ऐश्वर योग सबमें है। लड़का मर गया, बाप दुःख में तड़प रहा है, और झपकी आती है। झपकी आते ही सारा दुःख कहाँ चला गया? फिर आँख खुली तो वही तड़पन, वही दुःख आ जाता है। अगर सचमुच का दुःख होता तो जाता कैसे? अतः बिना हुए प्रतीत हो रहा था। अगर संसार परमात्मा में प्रतीत न होकर और कहीं प्रतीत होगा तो द्वैत की सिद्धि हो जायेगी, ब्रह्म-शब्द ही असम्भव हो जाएगा! जिस प्रकार साँप कहाँ था? रस्सी में। और कहाँ नहीं था? कहीं भी नहीं था! इसी प्रकार संसार कहाँ है? परमात्मा में है। सचमुच में कहाँ है? कहीं भी नहीं है। यह है ऐश्वर योग। इसीलिए श्रुति कहती है कि आत्मा असंग है, कहीं सक्त नहीं होता। अनादि काल से हम शरीर मन आदि के संबंध वाले रहे पर आज तक क्षणमात्र के लिए भी हम शरीर वाले हुए नहीं। पिछले न जाने कितने जन्म बीते, पर क्या उन जन्मों वालों से कोई आसक्ति है? यहाँ से भी मरकर जाते हैं, फिर क्या अठन्नी का पोस्टकार्ड डालकर भी हाल-चाल पूछते हैं? मरने के साथ ही सर्वथा उनसे असंग हो जाते हो, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। अनादि काल से हमारा संबंध शरीर मन आदि से रहा फिर भी उसका कुछ असर नहीं रहता है चेतन के ऊपर, वह वैसा-का-वैसा साक्षिस्वरूप है। दीखते समय लगता है कि ज़रूर संबंध है किन्तु पिता जी ने मरने के बाद जान बूझ कर चिट्ठी न डाली हो, ऐसा कुछ नहीं है। उनका स्वरूप ही असंग है। चाहे जितने हमसे चिपक कर रहे, लेकिन सक्त नहीं हुए। इसी प्रकार संसार की सारी चीज़ें जब हमें दीखती हैं तब, जैसा आचार्य शंकर कहते हैं, 'स्वकाले सत्यवद् भाति' सत्य की तरह ही लगती हैं पर 'प्रबोधे सत्यसद् भवेत्' जैसे ही ज्ञान होता है वैसे ही असत्य हो जाती हैं। हमेशा स्वप्न के दृष्टान्त से सोचोः जितनी देर स्वप्न दीखता है उतनी देर सच्चा ही लगता है, वहाँ भी तुम इसी प्रकार तर्क करते हो 'यदि यह झूठा होवे तो इस दीवार में सिर मारने से गुमड़ी कैसे निकले?' दीवार में सिर मारते हो और गुमड़ी निकलती भी है। कहाँ? स्वप्न में। किंतु जैसे ही जागते हो वैसे ही इस बात को निश्चय रूप से जानते हो कि वहाँ कोई नहीं था जिसका सिर भिड़ा हो। वहाँ कुछ भी नहीं था, केवल उस सारे रूप में दीखने वाले तुम ही थे। उस सब रूप में तुम बने *नहीं,* दीखे। ऐसे ही ब्रह्म की अव्यक्त मूर्ति ब्रह्माण्ड के रूप में दीख रही है लेकिन ब्रह्म ब्रह्माण्ड बना नहीं है। इसे ही भगवान् ने अपना ऐश्वर योग कहा।

भगवान् और भी कहते हैंमेरा ऐश्वर योग कैसा आश्चर्य वाला है! 'भूतभृत्' मैं असंग हूँ और फिर सारे भूतों का भरण-पोषण करता हूँ। सारे भूतों को, प्राणिमात्र को, चींटी को कण और हाथी को मन, सब मैं देता हूँ, सबका भरण-पोषण करता हूँ। 'न च भूतस्थः' परन्तु मैं भूतों में स्थित नहीं हूँ। उन सबका भरण-पोषण करते हुए भी उन भूतों में मैं स्थित नहीं हूँ। ये सब मेरे में स्थित हैं, मेरे द्वारा इनका भरण-पोषण हो रहा हैयह सब कैसे कहता हूँ? देहादि-संघात को अलग रखते हुए, उसमें अहंकार का अध्यारोप करके योगबुद्धि का अनुसरण करते हुए इस प्रकार से कहा जाता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने

कहा है कि अहं-पद के तीन अर्थ हैं : जो सर्वथा सांसारिक पुरुष है वह अहम् कहता है तो उसका मतलब शरीर-मन है। वह कहता है 'मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ' तो सचमुच जाने खाने वाले शरीर को ही मैं समझता है। जब ज्ञानी कहता है 'मैं चेतन हूँ, मैं ब्रह्म हूँ', तब वह देहादि-संघात से अलग किए हुए को ही ब्रह्म कह रहा है। और जब ज्ञानी व्यवहार करता है तब देहादि-संघात में अहम् का आरोप करके ही करता है। ज्ञानी और अज्ञानी में फ़र्क यह है कि अज्ञानी तो शरीर आदि को ही मैं समझता है और ज्ञानी उसका मैं-रूप से केवल व्यवहार करता है। जब स्वरूप का वर्णन ज्ञानी करता है तब वह चिन्मात्र को ही मैं समझता है। परन्तु व्यवहार काल में अहंकार का आरोप कर लेता है क्योंकि लोक-बुद्धि ऐसे व्यवहार से ही समझती है, सामान्य आदमी इसी तरह से समझ सकता है। शरीर आदि में अहंकार का अध्यारोप करके ही व्यवहार होता है। किंतु ज्ञानी जब व्यवहार कर रहा है तब भी अपने असली स्वरूप को भूलता नहीं है। बुद्धि जिस शरीर आदि में अहम् रूप को समझती है उस रूप से ही उपदेश बन सकता है।

इस प्रकार से व्यवहार क्यों करता हूँ? 'भूतभावनः' भूतों की मान्यता के, भावनाओं के अनुरूप वे समझ सकें, इसके लिए अहम् शब्द का प्रयोग शुद्ध आत्मा के लिए करना पड़ता है। भूतों को मैंने ही उत्पन्न किया है, मुझ से ही बढ़ते हैं और मुझ से ही मुक्ति भी पाएँगे इसलिये ऐसा मुझे करना उचित है।।५।।

मिथ्यात्व को उपपन्न करने के लिये जिस प्रकार द्वितीय अध्याय में संसार की अजातता को बतलाया था 'नासतो विद्यते भावः' आदि से कि न सत् की उत्पत्ति सम्भव है न असत् की उत्पत्ति सम्भव है अतः सत्-असत् से विलक्षण जो मिथ्या वही उत्पन्न होता है; ऐसे ही यहाँ बतलाया कि सारा संसार कहाँ है? मुझ में 'मत्स्थानि सर्वभूतानि', सारे भूत जहाँ हैं वही 'प्रतिपन्न उपाधि' हो गई और उसी में 'न च मत्स्थानि भूतानि' से सारे भूतों का निषेध कर दिया, जहाँ प्राप्ति हो सकती है वहीं निषेध कर दिया। मिथ्या का स्वरूप है कि जहाँ जिसकी प्राप्ति हो वहीं उसका होना सम्भव न हो। जैसे रस्सी में ही साँप दीखा, रस्सी के बिना तो साँप दीखा नहीं और उस साँप का रस्सी में होना तीनों कालों में बनता नहीं इसलिए सर्प मिथ्या है। वैसे ही सारा संसार यदि सम्भव है तो परमात्मा में ही, और वहीं भगवान् ने निषेध कर दिया कि सम्भव नहीं! अतः संसार को मुखतः मिथ्या बता दिया। 'मुझ में है और मुझ में नहीं है'ये दोनों बातें स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आती, अतः दृष्टान्त से समझाते हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

सर्वत्र संचार करने वाला महत्परिमाणी वायु जैसे हमेशा आकाश में रहता है वैसे सारे भूत मुझ में हैं ऐसा समझो।

वायु कहाँ रहती है? यही कह सकते हो कि वायु आकाश में रहती है। आकाश में रहते हुए ही 'सर्वत्रगः' सर्वत्र व्यापी है। महान्, उसका परिमाण, माप ही महान् अर्थात् व्यापक है। आकाश निरवयव पदार्थ है। जो निरवयव पदार्थ होता है उसका किसी सावयव वस्तु के साथ संसर्ग सम्भव नहीं। दो चीज़ें जुड़ेंगी तो उनका एक-एक हिस्सा जुड़ेगा, दूसरे हिस्से नहीं जुड़ पायेंगे। आकाश निरवयव होने से किसी से संश्लिष्ट, सच्चे संबंध वाला होता नहीं। फिर भी, वायु कहाँ रहती है? सिवाय आकाश में रहने के और कहाँ बतला सकते हो! 'सर्वत्रगः' के द्वारा बतलाया कि वह सब जगह जाती है। जगह होगी तभी कोई जाएगा। आकाश अर्थात् खाली जगह। वायु महान् है, सर्वत्रग है और आकाश में स्थित है। फिर भी वायु और आकाश का कोई संश्लेष होता नहीं। वायु सूक्ष्म है, उससे मोटी चीज़ को समझ लोबादल से पानी किसमें बरसता है? आकाश में बरसता है। ऊपर से पानी कहाँ से आता है? आकाश से आता है। परंतु जैसे ही पानी बरसना बंद हुआ, आकाश पुनः वैस-का-वैसा निर्मल हो जाता है। अगर पानी के साथ *संबंध* हुआ होता तो कुछ समय लगता सूखने में। मारवाड़ के अंदर काली आँधी चलती है, आकाश भर में धूल भर जाती है। वह धूल कहाँ है? आकाश में है। परंतु थोड़ा-सा पानी बरस जाये, हवा चलनी बंद हो जाये, तो आकाश को साफ करने के लिए क्या झाड़-पौंछ करनी पड़ती है? जैसे आकाश के अंदर वायु बिना उसके साथ संश्लिष्ट हुए रहती है, बिना किसी प्रकार का सम्पर्क, संबंध किए हुए रहती है, 'तथा सर्वाणि भूतानि' वैसे ही जड और चेतन सारा संसार 'मत्स्थानि' मेरे अंदर ही स्थित है पर मेरा उसके साथ कोई संसर्ग, संबंध बनता नहीं।

'इति उपधारय' यह भली प्रकार से धारणा करो अर्थात् दृढ निश्चय करो। सारा संसार सिवाय परमात्मा के और कहीं रह नहीं सकता। क्यों? परमात्मा ही इस जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। जब तक यह निश्चय नहीं होगा कि ब्रह्म ही एकमात्र जगत् का उपादान और निमित्त कारण है तब तक हमेशा सम्भावना रहेगी कि संसार कहीं तो होगा! किंतु वास्तविकता है कि जिस उपाधि में दीखता है, उसी उपाधि में नहीं है। ब्रह्म में ही जगत् सम्भव है, उसी से उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है। वेदान्तों में जहाँ-कहीं परमात्मभाव का उपदेश होता है, वहाँ सबसे पहले यही सिद्ध करते हैं कि सृष्टि होने से पहले एकमात्र ब्रह्म, परमात्मा था। उसने *बिना किसी सहायता के,* केवल ईक्षणमात्र से सृष्टि की। यह प्रक्रिया बिलकुल ठीक तरह से समझना ज़रूरी इसलिए है कि जब ब्रह्म के अंदर संसार का अभाव प्रतीत हो तब उसे फिर और कहीं नहीं ढूँढें। इसलिए भगवान् ने कहा कि 'मत्स्थानि इति उपधारय।' मुझे में ही ये स्थित हैं और मुझ में स्थित होना बनता नहीं इसलिए ये केवल कल्पित हैं।।६।।

जिस प्रकार से भूत परमात्मा में रहते हैं उसी प्रकार लीन भी उसी में होते हैं यह बताते हैं

सर्वभूतानी कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

कुन्तीसुत! प्रलयकाल में सारे भूत मेरी अपरा प्रकृति में लीन हो जाते हैं, उत्पत्तिकाल में मैं उन्हें पुनः व्यक्त कर देता हूँ।

सारे भूत मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति में लीन होते हैं। 'कल्पक्षये,' जब ब्रह्मा जी सोते हैं तब कल्पक्षय होता है, और ये सारे भूत प्रकृति में ही विलीन हो जाते हैं। फिर जब ब्रह्मा जी जगते हैं तब दूसरा कल्प प्रारम्भ होता है, तब उन सब भूतों को मैं फिर बना देता हूँ। केवल 'प्रकृति में लीन' कहने से कोई समझ सकता था कि प्रकृति में आते-जाते हैं, इसमें ब्रह्म का क्या लेना-देना! वर्तमान काल में अनेक आधुनिक यही मानते हैं कि सब प्रकृति, 'नेचर' से ही होता है इसीलिए सब को 'नैचरल', 'नेचर' से होने वाला कहते हैं। इसलिए भगवान् ने स्पष्ट कर दिया 'अहम् विसृजामि।' प्रकृति से अपने-आप हो जाते हों ऐसा कुछ नहीं है, मैं ही ईक्षण करके फिर उनको प्रकट करता हूँ। जब कल्पान्त होता है तब सब कुछ परमेश्वर अपनी अपरा प्रकृति में लीन कर लेते हैं। और सृष्टि के प्रारम्भ में पुनः उन सबको बना देते हैं। इस प्रकार का जो कल्पादि और कल्पान्त में फिर-फिर पैदा-लीन होना है, यह अनादि काल से अनन्त काल तक चलता रहता है।।७।।

इसी उत्पादन को स्पष्ट करते हैं

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेर्वशात्।।।८।।

स्वभाव से ही परतन्त्र इस सारे भूतसमुदाय को मैं अपनी प्रकृति को वशमें रखते हुए ही बार-बार प्रकट करता हूँ।

प्रकृति मेरी अपनी है अर्थात् स्वतन्त्र नहीं है। ठीक जिस प्रकार से खाने की शक्ति मेरी है इसलिए मैं खाता हूँ। खाने की शक्ति न होवे तो मैं न खाऊँ। कई बार लोगों को ऐसा रोग हो जाता है कि कुछ भी नहीं खा सकते क्योंकि खाने की शक्ति नहीं रही। फिर जब क्षुधावर्धिनी वटी खाते हैं, तो भूख लगने लग जाती है, पुनः खाते हैं। भूख के बिना नहीं खा सकते यह तो ठीक है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि भूख ही खा लेगी! खाते तो हम ही हैं, क्योंकि भूख लगने पर भी न खावेंयह सम्भव है : भूख लगी है पर किसी दुश्मन के घर में हो; तुम समझते हो 'यह जहर दे सकता है'। वह कहता है 'खा लो, बहुत बढ़िया दाल का सीरा बना है।' तुम नहीं खाते, कहते हो 'नहीं-नहीं जी, अभी मुझे भूख नहीं है।' यदि भूख ही खाने वाली होती तो तुम कुछ नहीं कर सकते थे, जहर भी खा लेते। अतः भूख तुम्हारी है। भूख के बिना नहीं खा सकते लेकिन खाने वाली भूख नहीं है, तुम हो। इसी प्रकार अविद्यारूप प्रकृति के बिना सृष्टि की प्रतिपत्ति, सृष्टि का ज्ञान हो नहीं सकता परंतु इसका मतलब यह नहीं कि अविद्या ही उसको उत्पन्न कर देगी! उत्पन्न

तो मैं परमात्मा करूँगा।

'स्वाम् प्रकृतिम् अवष्टभ्य' अर्थात् उस प्रकृति के ऊपर हर क्षण मेरा नियंत्रण है। वह मेरे वश में है। उसको वश में रख कर ही 'पुनः पुनः विसृजामि' हर कल्प के आदि में बार-बार मैं सृष्टि करता हूँ। यह सारा ही भूतों का समुदाय है, पंचमहाभूतों से ही सारी सृष्टि है, इसीलिए संसार समुदाय है। पाँचों मिल कर ही यह सृष्टि है। अतः कहा कि जितने भी पंचभूत हैं उन सबको बार-बार उत्पन्न करता हूँ। जिसको उत्पन्न करता हूँ वह कैसा है? 'इमम्'यह प्रत्यक्षसिद्ध सारे पंचमहाभूतों का सारा कार्य सामने मौजूद है। सारा भूतग्राम 'अवशं' स्वतन्त्र नहीं है; अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इन सारे दोषों के परतन्त्र है, इनके अधीन बना हुआ है, अपनी प्रकृति के वश में है। जैसे अभी बतलाया, भूख लगी तो खा सकते हो, नहीं भी खा सकते हो, पर लगने से ही खाना संभव बनता है, ठीक इसी प्रकार से परमात्मा सृष्टि करता है। महाप्रलय में पुनर्नवीनीकरण हो जाने पर प्रकृति का स्वभाव है कि प्रपंच पुनः प्रकट होता है पर परमात्मा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है। जैसे भूख लगने पर तुम खाओ या न खाओ, तुम्हारी स्वतन्त्रता है, पर जब पूरे ज़ोर की भूख लगी है तब खाने का ही तुम्हारा स्वभाव है, इसी प्रकार जब सारे प्राणियों का प्रारब्ध फलोन्मुखी होता है, तब उनको प्रारब्ध का फल देने के लिए स्वभाव से ही परमात्मा सृष्टि बना लेते हैं। स्वतन्त्र इसलिए रहते हैं कि हम अविद्या दोष वाले होने से प्रकृति के अधीन ही अपने को अनुभव करते हैं जबकि वे निर्दोष हैं, प्रकृति को अपने अधीन रखते हैं।।८।।

लोक में देखने में आता है कि सारे भूतग्राम को आप एक-जैसा पैदा नहीं करते, विषम रूप से उत्पन्न करते हैं। विषम सृष्टि करने के कारण जिसको आपने अच्छा बनाया उसका पुण्य भी आपको लगेगा और जिसे खराब बनाया, उसे खराब बनाने का पाप भी आपको लगेगा।यह शंका परमात्मा के बारे में बहुत लोगों को होती है। प्रायःप्रश्न करते हैं कि परमेश्वर ने विषम सृष्टि क्यों बनाई? यह इसलिये कि लोगों के सोचने का प्रकार है कि कभी ऐसा समय था जब सृष्टि-प्रलय का चक्र नहीं था। इसलिए सब लोग एक-जैसे थे। ऐसी ही दृष्टि से यूरोप के अंदर कुछ लोगों ने सिद्धान्त बनाया कि सभी लोग जन्म के समय एक जैसे होते हैं, किसी में कोई फ़र्क नहीं, उनके अंदर जो फ़र्क आता है उसका कारण चारों तरफ की परिस्थितियाँ हैं। किसी को जँचा कि सबसे बड़ी परिस्थिति अर्थ-व्यवस्था है, अर्थव्यवस्था के कारण ही लोग अच्छे और बुरे बनते हैं। अतः अर्थव्यवस्था सबके लिए एक-जैसी हो जाए तो सब लोग एक-जैसे हो जाएँगे। पिचहत्तर सालों तक इसकी कोशिश करते रहे रूस में कि आर्थिक व्यवस्था एक-जैसी हो जाए ताकि सब एक जैसे हो जाएँ, पर नहीं कर पाए। विचार करने वाले सोचते हैं कि खाली आर्थिक कारण होता तो वहाँ समानता आ जाती। यूरोप वालों के यहाँ पुनर्जन्मवाद है नहीं; जो पैदा हुआ है वह पहले पैदा हुआ था और उसने कुछ किया था, यह उनके यहाँ स्वीकार है नहीं। अतः

उनकी समस्या है कि लोगों को परमेश्वर ने भिन्न ढंग से क्यों पैदा किया? चारों तरफ नज़र डालो, अधिकतर लोग उन्होंने बेवकूफ बनाए, थोड़े-से ही बुद्धिमान् बनाए। अधिकतर लोग उन्होंने आलसी बनाए, कुछ थोड़े-से हैं जिन्हें काम करने का जोश होता है। अतः परमेश्वर ने विषम सृष्टि की और उसमें भी अधिक सृष्टि खराब की, तो इसलिए क्या ज़्यादा पाप किया? थोड़ा-बहुत पुण्य भी हुआ होगा क्योंकि कुछ अच्छे लोगों को भी बना दिया। जन्म के पहले पूर्व जन्म को न मानने के कारण, परमेश्वर में धर्म और अधर्म की प्राप्ति को कोई रोक नहीं सकता। वैदिक परम्परा में तुम्हारे दुःखी-सुखी होने का कारण तुम्हारे पूर्व जन्म के अपने कर्म हैं। इसलिए हमारे यहाँ सब लोग एक-जैसे पैदा *नहीं* होते, सब अलग-अलग तरह के पैदा होते हैं, अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आते हैं। जैसे लोग नये नहीं पैदा होते वैसे ही सृष्टि भी नयी कभी पैदा नहीं होती, हमेशा से ही यह प्रवाह चल रहा है। परमेश्वर केवल तुम्हारे कर्मों का फल देता है, स्वयं धर्माधर्म करने वाला नहीं बनता। इसी बात को कहते हैं

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनम् असक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

धनंजय! जो कर्म (विषम सृष्टि में निमित्त हैं) वे उपेक्षक की तरह उन कर्मों में अनासक्त मुझ ईश्वर को किसी दृढ बंधन में नहीं ही डालते।

सृष्टि के आदि में भी असुर पैदा होंगे, देव पैदा होंगे, लेकिन असुर वही पैदा होगा जिसने पूर्व जन्म में आसुरी कर्मों को किया है और आसुरी संस्कार वाला है। परमात्मा ऐसे को ही आसुरी बनायेंगे। कर्म के अनुसार भगवान् फल देते हैं। जैसे न्यायाधीश किसी चोर को जेल देता है, कई बार फाँसी भी दे देता है तो उसे हत्या का दोष नहीं लगता है क्योंकि चोर ने जैसा किया वैसा उसे दण्ड दिया है। तुमने किसी से रुपए उधार लिए, उसको ब्याज तक नहीं दिया। न्यायाधीश ब्याज के साथ जुर्माना लगा कर कहता है 'इतने रुपए उसको देने पड़ेंगे।' उस आदमी को लाभ हुआ, जुर्माना भी मिला। वह उसके किसी अच्छे काम का पुरस्कार है। किंतु न्यायाधीश ने उसे देकर धर्म कर लिया होऐसा नहीं है। इसी प्रकार से परमात्मा विषम सृष्टि को करते हुए भी विषम सृष्टि का *करने वाला* नहीं है क्योंकि जीवों ने जैसा किया तदनुकूल ही उन्हें फल दे रहा है। यह नियम हमेशा याद रखना व्यवहार में कि जो दण्ड के योग्य है उसको दण्ड नहीं देना भी अपराध है। ऐसे ही जो पुरस्कार के योग्य है उसे पुरस्कार नहीं देते, तब भी तुमने ग़लत काम किया। जो दण्ड के योग्य है उसे दण्ड देते हो, पुरस्कार के योग्य को पुरस्कार देते हो तो तुम ऐसा करके भी *करने वाले* नहीं हो क्योंकि कर्मानुरूप दिया है। इसलिए भगवान् ने कहा कि विषम सर्ग का निमित्त जो कर्म है वह मुझे नहीं बाँधता, उस धर्माधर्म को मैं प्राप्त नहीं करता, इसलिए मैं उस कर्म के बंधन में नहीं आता।

क्यों? स्पष्ट करते हैं 'उदासीनवत् आसीनम्।' जो व्यक्ति उदासीन है अर्थात् उसकी कोई अपेक्षा नहीं है, वह आसीन रहता है, बैठा रहता है। जैसे न्यायाधीश न्याय की कुर्सी पर बैठा हुआ उदासीन है, यह जीते या वह जीते, इसमें उसे कोई आग्रह नहीं है, निरपेक्ष है। जैसा किसी ने किया होगा वैसा ही वह निर्णय देगा। मैं भी ऐसे उदासीन की तरह आसीन हूँ। जिसने जैसा कर्म किया है वैसा ही उसको फल देता हूँ, मैं निरपेक्ष रहता हूँ। निरपेक्षता का मूल कारण है कि मैं अविकारी हूँ, गुण-दोषों से मुझ में विकार नहीं आता। साधारण न्यायाधीश के लिए यह नहीं कह सकते, उसमें तो विकार आ जाते हैं : एक राजा का लड़का था। गुरु जी ने उसको दस साल तक पढ़ाया। उसकी पढ़ाई ख़त्म हुई तो उसको दनादन दस बेंत मारे। फिर राजा को खबर भेज दी 'इसकी पढ़ाई खत्म हो गई है।' राजा आया, बड़ा प्रसन्न हुआ। लड़के से पूछा 'अरे, तुमको कभी कोई दण्ड तो नहीं मिला?' उसने कहा 'कल ज़रा मिला, उसके पहले कभी नहीं मिला। दनादन दस बेंत पड़े।' राजा ने गुरु जी से पूछा 'इसने क्या गलती की जो इसको मार पड़ी?' उन्होंने कहा 'नहीं-नहीं, बहुत अच्छा लड़का है, कभी गलती नहीं की, कभी डाँटना भी नहीं पड़ा। समय से पढ़ता रहा, साधना भी करता रहा है।' 'आपने इसे बेंत से क्यों मारा?' 'वह तो शिक्षा थी! यह राजा है, अनेक प्रकार के अपराधी आएँगे, उनको दण्ड देगा। इसको पता नहीं होगा कि बेंत खाना कैसा है तो जो मुँह में आएगा बोल देगा कि 'इसको दस बेंत मार दो, इसको पाँच बेंत मार दो।' मैंने इसको दण्ड के लिए नहीं मारा है, इसको शिक्षा के लिए मारा है कि इसको पता होवे कि एक बेंत की मार कैसी, दो की कैसी, चार की कैसी।' दण्ड देते समय आदमी को उसके अनुभव का पता होना चाहिए। इसीलिए परमेश्वर भी प्रतिबिम्ब रूप से जीव बन कर कर्मों के फलों का भोग भी कर लेता है। परंतु बिम्ब रूप से कर्म करने वाला नहीं बनता इसलिए भगवान् ने समझाया कि विषम सृष्टि को करते हुए भी उन कर्मों के प्रति मैं सर्वथा असक्त हूँ, अर्थात् अभिमान से सर्वथा रहित हूँ कि 'मैंने किया'। जिसने किया, उसे उसका फल जो मिलना है, वह मिला, मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ। अपराधी ने जैसा कर्म किया वैसा फल उसे न्यायाधीश देता है तो उसे कोई क्रूर नहीं कहता, कोई दयालु नहीं कहता।निरपेक्ष न होकर अपनी तरफ से किसी को दण्ड देवे, तब उस न्यायाधीश को लोग दोष देते हैं। सर्वथा अपेक्षा से रहित होकर जो न्याय प्रदान करता है वह दोष का भागी नहीं बनता क्योंकि उसके अन्दर अभिमान नहीं है कि 'मैंने दण्ड दिया।' यही भाव रहता है कि 'इसने कर्म ऐसा किया इसलिए दण्ड दिया गया।'

भगवान् भाष्यकार ने यहाँ स्पष्ट किया है कि केवल परमेश्वर ही नहीं, अन्य भी जो आसक्ति व अभिमान से रहित है वह कर्मों से बँधा नहीं है। यदि कर्तृत्व का अभिमान नहीं है 'मैं कर रहा हूँ'ऐसा अभिमान नहीं है, और 'इससे होने वाले धर्माधर्म रूप फल मुझे होवें', यह इच्छा भी नहीं है, तो बंधन का पात्र नहीं बनता। हम लोग क्यों धर्माधर्म के बंधन में आते हैं? अभिमान और आसक्ति के कारण ही। हमें कर्तृत्व का अभिमान रहता

है कि 'मैंन किया।' कर्तृत्व-अभिमान भी बड़ा विचित्र है, जब अच्छा काम होता है तब कर्तृत्व-अभिमान पूरे ज़ोर से आता है कि 'मैंने किया' और जब ग़लत काम होता है तब हमेशा उसमें हेतु रहता है'दूसरे के कारण, परिस्थिति के कारण, अमुक चीज़ के कारण किया। मैं और कर ही क्या सकता था!' अच्छा होने पर यह भाव नहीं बनता कि 'मैं और कर ही क्या सकता था?' उसमें अभिमान रहता है कि मैंने किया। कर्त्तृत्व-अभिमान न होवे और उसका फल मुझे मिले यह इच्छा न होवे तो बंधन भी नहीं हो सकता। मैंने व्यापार किया, इसका फल मुझे होवेयह फलासक्ति है। जब होता है कि 'मैंने किया ही नहीं है', तब स्वभावतः फलासक्ति भी नहीं रहती। एक के किए से दूसरे के मन में फल की आसक्ति नहीं होती। अतः कर्तृत्व-अभिमान और फलासंगाभावये दोनों करीब-करीब साथ ही रहते हैं। ये दोनों न होने पर कर्म का बंधन नहीं होता। जो इस बात को नहीं समझते वे अपने आपको इस कर्म और फल-आसक्ति से बाँध लेते हैं जैसे रेशम का कीड़ा अपने बनाये धागे में फँस जाता है।।९।।

भगवान् ने दो बातें कहींएक तो कहा कि इन सारे भूतों को मैं पैदा करता हूँ; और दूसरा कहा कि मैं उदासीन की तरह बैठा रहता हूँ, सब चीज़ों के प्रति मैं निरपेक्ष हूँ। प्रश्न होता है कि निरपेक्ष हैं तो सृष्टि करते क्यों हैं? करते हैं, तो निरपेक्ष नहीं हो सकते। इसका उत्तर देते है

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

कौन्तेय! मुझ अविक्रिय आत्मा के रहते प्रकृति सक्रिय-निष्क्रिय जगत् उत्पन्न करती है। मेरी अध्यक्षता के निमित्त से जगत् नाना प्रकार से बदलता रहता है।

भगवान् कहते हैंमैं अध्यक्ष हूँ। जैसे किसी सभा का अध्यक्ष तटस्थ रहता है; सभासद् लोग आपस में सापेक्ष होकर कार्य करते हैं, हर चाहता है 'मैं जीतूँ, मैं जीतूँ;' अध्यक्ष के कहने से ही सब कार्यवाही होती है, वह कहता है 'इस विषय पर आप लोग विचार करो' तो उसी विषय पर विचार करते हैं। परन्तु फिर भी उस सभा में जो हुआ उसे अध्यक्ष न यह मान सकता है कि 'मैंने किया' न उसके अच्छे-बुरे से उसके ऊपर कोई आक्षेप आता है। इंग्लैण्ड में इसलिए अनेक वर्षो से एक परम्परा है कि जो वहाँ की संसद का अध्यक्ष बनता है उसके खिलाफ कोई चुनाव नहीं लड़ता। चुनाव में तो कहना पड़ेगा 'इसने यह गलती की, इसने यह अच्छा किया।' संसद कुछ भी निर्णय करे, उसको करने वाला अध्यक्ष नहीं माना जा सकता है। उसके बिना तो सभा हो नहीं सकती पर करने वाले सब सदस्य हैं। ठीक इसी प्रकार शरीर में समझ लो : मेरे बिना तो आँखें देख नहीं सकतीं, कान सुन नहीं सकते, जीभ चख नहीं सकती, पैर चल नहीं सकते, वाणी बोल नहीं सकती, परंतु करते तो ये सब ही हैं। आँख ही देखती है, मेरे रहने पर देखती है। आँख अंधी हो

जाती है तो मैं कुछ नहीं देख सकता। यदि देख सकना मेरे हाथ में होता तो अंधा होने के बाद भी देख लेता! इस सारे भूतग्राम काअपने शरीर में कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त इन सबकाअध्यक्ष मैं हूँ। मेरे बिना यह नहीं चलेगा परन्तु करने वाले ये सब हैं। इसी प्रकार से भगवान् कहते हैं कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति मुझ अध्यक्ष के होने पर ही प्रवृत्ति करती है, जड-चेतन सबकी सृष्टि करती है। चेतन की सृष्टि कैसे? सूर्य था, किन्तु काँच नहीं था तो प्रतिबिम्ब नहीं पड़ रहा था। काँच बनेगा तभी सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। इसी प्रकार परमात्मा है परन्तु जब तक अन्तःकरण नहीं बनेगा तब तक उसमें जीव की प्रतिबिम्बता आएगी नहीं। अतः अन्तःकरण को बना कर जीव को प्रकट करने वाली भी प्रकृति ही है। और अचर अर्थात् जड प्रकृति से बना है, इसमें कुछ कहना ही नहीं है। इसलिए भगवान् ने कहा 'सचराचरम्।' सचर से मतलब यह नहीं ले लेना कि जीव को उत्पन्न करती है। काँच को रख कर तुम प्रतिबिम्ब को उत्पन्न नहीं करते हो, पर काँच को रख कर तुम प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव कर देते हो। इसी प्रकार प्रकृति अन्तःकरण को बना कर जीव को बनाती हैऐसा नहीं, क्योंकि जीव तो अज है, परन्तु अन्तःकरण को बना कर जीवभाव को प्रकट होने देती है। इस तरह 'सचराचरम् सूयते' सब को पैदा करती है। लेकिन कब? 'मयाध्यक्षेण', मेरे अध्यक्ष रहने पर; मेरे बिना प्रकृति नहीं चल सकती।

मैं कैसा हूँ? भाष्यकार ने बताया 'मया सर्वतो दृशिमात्रस्वरूपेण अविक्रियात्मना' मैं हर तरह से ज्ञानैकस्वभाव हूँ, निर्विकार हूँ। मेरे में कोई विकार सम्भव नहीं है क्योंकि विकार सारा दृश्य में होता है, दृक् में नहीं होता। द्रष्टा कहने से तो अन्तःकरण भी आ जाता है और अन्तःकरण स्वयं दृश्य है। अविकारी तो साक्षी है। कहीं-कहीं प्रसंगवशात् द्रष्टा शब्द का प्रयोग साक्षी के लिए भी कर लेते हैं। परन्तु मूलतः भेद यह है कि साक्षी ज्ञानरूप है जबकि प्रमाता ज्ञेय और ज्ञानसाधन पर निर्भर ज्ञान वाला है। 'जानना'इसमें कोई विकार नहीं आता। तुम चाहे कस्तूरी की सुगंध को सूँघो, चाहे सुअर के टट्टी की गंध को सूँघो, ज्ञान एक जैसा ही होता है। ज्ञान में कोई विकार नहीं आता। ज्ञान अच्छी-से-अच्छी चीज़ और बुरी-से-बुरी चीज़ को वैसे ही जानता है। इसलिए परमात्मा दृग्रूप होने के कारण अविकारी है, विकार से रहित है।

'अनेन हेतुना' यह जो अध्यक्षरूप हेतु है, अध्यक्षतारूप निमित्त है, इससे सचराचर, व्यक्त-अव्यक्त जो भी है, वह सब 'विपरिवर्तते' सारी अवस्थाओं में बदलता रहता है। जगत् की समस्त प्रवृत्तियाँ किसलिए हैं? साक्षी चेतन के ज्ञान का विषय बनने के लिए। इसी को सांख्य लोग कह देते हैं कि पुरुष के लिए प्रकृति के सारे कार्य हैं। साक्षी चेतन का विषय होने के लिए ही सारी प्रवृत्तियाँ हैं। 'मैं इसे खाऊँगा'यह किसलिए है? इसका *खाया जाना* साक्षी ज्ञान का विषय हो जाता है इसलिये। इसलिए भगवान् ने कहा कि यह अध्यक्ष है इसलिए जगत् सारे परिवर्तन करता है। तैत्तिरीय श्रुति ने भी इसीलिए कहा है 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' परम आकाश के अंदर इस सबका अध्यक्ष है। श्वेताश्वतर

में भी परमात्मा को ही 'कर्माध्यक्षः', अध्यक्ष कहा है। श्रुति ने बड़ी विचित्र बात कह दी! 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद' 'हे प्रिय! जो इसका अध्यक्ष है वह भी इसको जानता है या नहीं!' जानना तब कहा जाता है जब सच्ची चीज़ को जाने। तुम अगर कहो कि 'मैं संस्कृत जानता हूँ' और अशुद्ध बोलो तो कोई तुम्हें संस्कृतज्ञ नहीं कहेगा। जब संस्कृत सचमुच में ठीक तरह से जानोगे तभी संस्कृतज्ञ कहे जाओगे। कोई कहता है 'मैं भोजन बनाना जानता हूँ।' बनाओ तो दाल जल जाये, साग भी कच्चा रहे, फुलका फूले नहीं, चावल में कणी रहे, तो कोई तुमको भोजन बनाने वाला नहीं मानेगा। जब किसी चीज़ को प्रमाण के द्वारा जैसी है वैसा जानते हो, तभी कहते हैं 'तुम जानते हो।' यह सृष्टि कभी भी प्रमाण से नहीं जानी जाती, बिना प्रमाण के ही चलती है। जहाँ प्रमाण से विचार करने लगो वहाँ सूर्य-किरण पड़ने पर ओस की बूँद की तरह उड़ जाती है! जब तक प्रमाण से विचार न करो तब तक तो सृष्टि खूब बढ़िया दीखती है, पर प्रमाण से विचार करने लगो तो यह सारा महल बालू की दीवार की तरह ढह जाता है, कुछ नहीं रहता। प्रमाण से इसका ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिए वह इसे जानता है कहना नहीं बनता। फिर भी प्रतीत होता है इसलिए यह भी नहीं कह सकते कि नहीं जानता है। प्रतीति से जानता है, प्रमाण से नहीं जानता है। नासमझ व्याख्याता इस वाक्य का अर्थ बताते हैं कि मंत्र द्वारा ऋषि अपना अज्ञान या संशय प्रकट कर रहे हैं! ऐसा नहीं, मंत्र इस निश्चित तथ्य का ही प्रतिपादन कर रहा है। इस बात को बहुत से आदमी नहीं जानते तो कहते हैं 'यहाँ कहा है कि परमेश्वर को भी शायद पता नहीं। ऋषि को संदेह था कि परमेश्वर भी पता नहीं, जानता है कि नहीं जानता है!' यह इस बात को न समझने के कारण कि किसको जानना कहा जाता है, किसको जानना नहीं कर सकते हैं।

उस परमात्मा के सिवाय और कोई दूसरा चेतन है नहीं। चेतन एक ही है। कहोगे हमें इतने चेतन दीखते हैं? कभी एकान्त में बैठ कर विचार करना कि तुमको कभी कोई *चेतन* दीखा है? 'मैं चेतन हूँ' यों अपने-आपकी चेतना तो तुम्हें प्रत्यक्षसिद्ध है, दूसरों की चेतनता का तो उनके शरीर के हिलने-डुलने से तुम अनुमान करते हो। दृश्यरूप से चेतन का कभी तुम को साक्षात्कार नहीं होता। एक ही जगह पर चेतन का साक्षात्कार होता हैमैं चेतन हूँ। इसलिए अनेक चेतन सिद्ध हैं नहीं। भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि सृष्टि पुरुष के लिए है और पुरुष एक और असंग है। एक हैऐसा सांख्य लोग नहीं मानते। इसलिए उनके यहाँ यह संगत हो जाता है कि एक पुरुष के लिए प्रकृति चलती रहे, दूसरे पुरुष *के लिए* ख़त्म हो जाये। किन्तु वेदान्त ने विचार करके सिद्ध किया है कि चेतन एक ही है इसलिए सृष्टि है तो चेतन के लिए और नहीं है तो किसी के लिए। चेतन पारमार्थिक दृष्टि से भोगता है नहीं। अविद्या के कारण जब तक अपने को भोक्ता मानता है तब तक सारी सृष्टि बनती-बिगड़ती रहती है,जब उसकी अविद्या हटने पर कर्त्ता भोक्ता नहीं रहता, तब सृष्टि रहीकहना बनता ही नहीं है। जब तक अविद्या है तभी तक सृष्टि है। अविद्या की

निवृत्ति के साथ ही सृष्टिजो पहले ही नहीं थी, अज्ञान के कारण प्रतीत हो रही थीरह नहीं जाती। अज्ञान सर्वथा हटने से उसकी प्रतीति भी हट जाती है। ठीक जिस प्रकार जब तक अंधेरा है तभी तक रस्सी में साँप दीखता है, उजाला आने के बाद उस साँप का कुछ भी हिस्सा कहीं बचा हुआ नहीं मिलता। साँप कहाँ से वहाँ पैदा हुआयह नहीं कह सकते। प्रतीत हुआयहाँ तक तो ठीक है। इसी प्रकार इस जगत् का कारण अविद्या है। इसीलिए आगे भगवान् कहेंगे कि अज्ञान के द्वारा ही ज्ञान आवृत है, इसलिए जन्तु मोह में पड़े हुए हैं। अज्ञानरूप, अविद्यारूप, प्रकृति के कारण ही सृष्टि-प्रलय इत्यादि सारे परिवर्तन हमें प्रतीत होते हैं।।१०।।

परमेश्वर के ईक्षण से प्रकृति सारे जड-चेतन जगत् को बनाती है। बनाने वाला परमेश्वर है परन्तु अपनी माया शक्ति से बनाता है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव वाला, सारे प्राणियों का आत्मा, वास्तविक स्वरूप वही है। अचर जगत् उपाधिरूप से और चर जगत् उपहितरूप से, प्रतिबिम्बित रूप से, उसी परमात्मा के कारण बना है। भगवान् कहते हैं कि ऐसे मेरे बारे में भी लोग अज्ञानी बने रहते हैं

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

सब प्राणियों का महान् ईश्वर रूप जो मेरा खास परमात्म तत्त्व है उसे न जानते हुए मोहग्रस्त लोग मनुष्य संबंधी देह में अवतरित मेरा अनादर करते हैं!

अज्ञान से जिनका ज्ञान आवृत है ऐसे मूढ लोग, जो मैं सबके अंदर विद्यमान, सारी सृष्टि का एकमात्र कारण, 'अवजानन्ति' उसकी अवज्ञा करते हैं। कहते हैं कि परमात्मा कुछ नहीं है और यदि है तो भी कुछ करता नहीं है! इस प्रकार मेरी अवज्ञा करते हैं। क्यों अवज्ञा करते हैं? क्योंकि मनुष्य के शरीर में देखते हैं। मनुष्य के शरीर में चेतन आत्मा को देखने पर 'यह शरीर से परिच्छिन्न होने वाला है, यह क्या कर सकता है!' इत्यादि अवज्ञा करते हैं। 'मानुषी' विशेष रूप से इसलिए कहा कि शास्त्र का विचार मनुष्य ही करता है। मनुष्य ही शास्त्र में सुनेगा कि सृष्टि स्थिति लय का कारण एकमात्र परमात्मा है और वही सबके अंदर चेतन रूप से विद्यमान है, प्रत्यगात्मरूप से विद्यमान है। और मनुष्य ही उसकी अवज्ञा करेगा कि 'यह कैसे हो सकता है! मनुष्य शरीर में राग-द्वेष काम-क्रोध आदि सारे विकार दीख रहे हैं। इतना ही नहीं, कोढ़ी, लंगड़े, अंधे, लूले भी हैं। हम कैसे मान लें कि एक परमात्मा ही सर्वत्र बैठा हुआ है?' 'तनु' शरीर को कहते हैं और तनु का मतलब है छोटा। मनुष्य के अंदर चेतन तनु-भाव को अर्थात् अति-अल्प भाव को पाता हुआ प्रतीत होता है। घड़े के अंदर दीखने वाला आकाश घड़े के कारण छोटा प्रतीत होता है। मूढ समझता है कि घटाकाश महाकाश से भिन्न है! समझने वाला जानता है कि घड़े के कारण प्रतीत हो रहा है, है तो महाकाश ही। अथवा दो इंच के काँच में छोटा-सा सूर्य

प्रतिबिंबित हुआ दीखता है। समझने वाला जानता है कि सूर्य ही वहाँ दीख रहा है; काँच के कारण छोटा *प्रतीत* हो रहा है पर दीख सूर्य ही रहा है, कोई अन्य चीज़ वहाँ नहीं है। दूसरी चीज़ क्यों नहीं है? काँच में जब तुम मुँह देखते हो तो यही कहते हो 'मेरा मुख काँच में दीख रहा है।' यह नहीं कहते हो कि काँच में कोई दूसरी चीज़ दीख रही है! यद्यपि काँच में दीखने वाला मुख पश्चिम को देख रहा है, और हमारे मुख के सामने पूर्व है। जो हमारा दाहिना हिस्सा है वह वहाँ बायाँ हिस्सा है। इस प्रकार के भेदों को देखते हुए भी यही मानते हो और निश्चय है कि 'यह मेरा ही मुख है।' इसी प्रकार अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् इत्यादि जो मनुष्य शरीर में दीख रहा है, वह मनुष्य शरीर के कारण दीखने वाला परमात्मा ही है। 'आश्रितम्' इस शरीर में रहते हुए वह शरीर के अनुसार ही व्यवहार कर रहा है। उस व्यवहार को देख कर भ्रम हो जाता है कि यह परमेश्वर नहीं हो सकता। बार-बार विचार करने से यह रहस्य पता लगता है, अन्यथा यही लगता है कि जीव ईश्वर से भिन्न है।

ऐसा क्यों होता है? 'परं भावम् अजानन्तः' मेरा जो पर अर्थात् श्रेष्ठ परमात्मभाव है वह आकाश की तरह सर्वव्यापक है। उसको नहीं जानते हैं इसलिए यह भ्रम होता है। जैसे जो महाकाश स्वरूप को नहीं समझता है, वह घटाकाश मठाकाश आदि भेदों वाले आकाश को आकाश से अलग समझता है। जो आकाश के वास्तविक स्वरूप को, उत्कृष्ट भाव को जानता है वह समझता है कि ये घड़े के या कमरे के कारण प्रतीत हो रहे हैं, वस्तुतः तो महाकाश ही है। ऐसे ही मेरे इस परभाव को नहीं जानने के कारण ही मूढ मेरी अवज्ञा करता है। मेरा परम भाव क्या है? 'मम भूतमहेश्वरम्।' सारे प्राणियों का महान् ईश्वर मैं हूँ। मनुष्य रूप से लीला करता हुआ मैं परमात्मा ही हूँ जिसकी वे अवज्ञा करते हैं। मेरा निरादर करने के कारण ही ये पामर जीव जहाँ अपने स्वरूप को शास्त्र की सहायता से पहचान सकते थे उस मनुष्य शरीर में आकर भी मेरी इस मानुषी लीला को देख कर भ्रम में पड़ जाते हैं। अजाकल बहुत ज़्यादा संख्या के लोग ऐसे हैं जो यह तो कह देते हैं कि राम एक महापुरुष थे, कृष्ण एक महापुरुष थे, लेकिन वे परब्रह्म परमात्मा सारी सृष्टि के बनाने वाले थेयह नहीं समझ में आता। क्यों? क्योंकि उन्हें मनुष्य की तरह आचरण करते हुए देखते हैंः कंस आया, भगवान् को भागना पड़ा। मगधराज ने उनके ऊपर सत्रह बार आक्रमण किया तो भगवान् को भागना पड़ा। क्या वे सर्वेश्वर हो सकते हैं? सर्वेश्वर होते तो उसी समय ख़त्म कर देते, मार देते, कुछ भी करते। मूढ यह नहीं समझ पाते कि उनकी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता लुप्त नहीं हुई है पर जब मनुष्य शरीर का व्यवहार करेंगे तब मनुष्योचित व्यवहार ही होगा। जब श्री कृष्णादि शरीरों में ही समझ में नहीं आता है तब अपने में क्या समझ में आएगा! इस शरीर के अंदर बैठा हुआ परब्रह्म परमात्मा ही सब लीला कर रहा है यह मूढ को समझ नहीं आता।।११।।

क्योंकि अंदर रहने वाले प्रत्यगात्मा को परमात्मरूप से नहीं जानते, इसलिए

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

आशायें कर्म व ज्ञान जिनके वृथा हैं ऐसे (वे) अविवेकी, मोहकर राक्षसी और आसुरी स्वभाव का ही सहारा लेते हैं।

'मोघाशाः' उनकी जितनी आशाएँ हैं सब व्यर्थ जाती हैं। आशाओं का व्यर्थ होना अर्थात् वे व्यर्थ चीज़ों की ही आशा करते हैं। चीज़ों की प्राप्ति स्वरूप से हो नहीं सकती क्योंकि वे पदार्थ अवास्तविक हैं, इसलिए उनकी आशा व्यर्थ ही होती है। एक आदमी बाइसकोप में बैठा, पूरा बाइसकोप देख कर उसने फिर दूसरी बार देखने का टिकट ले लिया, फिर देखा। फिर तीसरी बार टिकट ले लिया। टिकट बेचने वाले ने पूछा 'तुमको यह खेल इतना अच्छा कैसे लगा कि दो बार देख कर तीसरी बार टिकट ले रहे हो?' उसने कहा 'अरे! खास अच्छा लगा हो ऐसा नहीं है, लेकिन उसमें एक घटना होते समय सामने से रेल निकल जाती है तो वह घटना दिखाई नहीं देती। मैं सोचता हूँ कि कभी तो रेल लेट होगी, तब वह दीख जाएगी!' यह उसकी आशा व्यर्थ ही है। जो घटना कभी होगी नहीं, वास्तविक नहीं है, उसकी आशा मोघ है। बाइसकोष के अंदर जिस की फिल्म उतारी ही नहीं गयी वह कहाँ से दीखेगा! इसीलिए उसकी आशा व्यर्थ रह जाती है। संसार को सत्य मानने पर ही आशाएँ मोघ होती हैं। इसीलिए बार-बार शास्त्रकार कहते हैं 'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखं' आशा करना ही परम दुःख है और कोई आशा नहीं करना, जैसा होता है वैसा देख लेना, परम सुख है। जो चीज़ वास्तविक है नहीं, उसकी आशा करते हैं अतः वे मोघ रहती हैं।

कोई कहे कि होगी चीज़ें बेकार पर उनकी प्राप्ति के लिए कर्म तो बतलाये हैंपुत्र की आशा है तो पुत्रेष्टि करो आदि। सारी कामनाओं की पूर्ति शास्त्र ने कर्मों से बताई है। इस पर भगवान् कहते हैं 'मोघकर्माणः' मूढ जो अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वह भी परमात्मभाव को न जानने के कारण निष्फल ही जाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति नौकरी में जो काम आवे वह तो करदे पर मालिक का अनादर करे तो उसका किया हुआ काम व्यर्थ हो जाता है, इसी प्रकार अग्निहोत्र आदि जितने कर्म हैं उन सबके द्वारा परमात्मा की ही आराधना है, उस परमात्मा की ही अवहेलना करने पर किए हुए वे कर्म व्यर्थ हो जाते हैं, अर्थात् जैसा चाहते हो वैसा फल मिलता नहीं। कई बार अनुभव किया होगासोचते हो 'इस कर्म का यह फल हो', फल हो भी जाता है परन्तु तुम्हें नहीं मिलता। बढ़िया भोजन बना, सारी मेहनत की और ठीक खाने के समय पेट खराब हो गया! कर्म का फल होने पर भी मुझे जिस सुख की अभिलाषा थी वह तो पूरी नहीं हुई। इसी प्रकार अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करने पर भी अपने अंदर स्थित जो आत्म-तत्त्व है उसकी अवज्ञा करने से वे कर्म भी निष्फल हो जाते हैं।

'मोघज्ञानाः' मूढोंको हुआ ज्ञान भी निष्फल रह जाता है, ज्ञान का जो फल होना चाहिए, वह नहीं होता। डाक्टर सारे शरीरों की, औरतों के शरीरों की भी चीर-फाड़ करते हैं। शरीर की वास्तविकता को जानने से उनके अंदर शरीर के प्रति सर्वथा घृणा होनी चाहिए क्योंकि देख चुके हैं उसके अंदर क्या है। परन्तु इतना होने पर भी, दिल्ली में एक बहुत बड़े डाक्टर थे, उन्होंने किसी दूसरी औरत के कारण अपनी पत्नी की हत्या कर दी! पकड़े गए, जेल गए। विचार करो, किसी डाक्टर के मन में यह न आवे कि शरीर के अंदर क्या है यही ज्ञान की मोघता है। उन्होंने चीर-फाड़ कर असली माल देखा है फिर भी उनका ज्ञान व्यर्थ रह जाता है। ज्ञान का अर्थ कई बार उपासना भी होता है। परमेश्वर को न मान करके, दूसरे-दूसरे देवताओं की उपासना करते हैं, वह भी वास्तविक फल नहीं दे पातीं, निष्फल हो जाती हैं। ज्ञान निष्फल क्यों होता है? 'विचेतसः' क्योंकि उनमें विवेक नहीं होता। ज्ञान मनुष्य को दो चीज़ों की वास्तविकता की तरफ ले जाना चाहिएक्या धर्म है, क्या अधर्म है; और क्या सत्य है, क्या असत्य है। मूढों का ज्ञान उनके अंदर चेतस् अर्थात् यह विवेक नहीं लाता, अविवेक ही लाता है।

प्रश्न होता हैऐसा वे क्यों करते हैं? 'मोहिनीं प्रकृतिं श्रिताः'। मोहिनी, मोह करने वाली। मोह क्या है? शरीर मेरा स्वरूप है, देहात्मवादयही तो मोह है। शरीर को ही अपनी वास्तविकता समझना मोह है। उसी को वे आश्रित किए रहते हैं। क्योंकि देहात्मवाद का ही सहारा लेकर रखते हैं इसलिए दो प्रवृत्तियाँ आ जाती हैंराक्षसी और आसुरी। राक्षसी प्रवृत्तिदूसरों को सताने में ही सुख होना। आजकल कालेजों में इसकी शिक्षा मिलती है। कालेज में नए भर्ती हुओं को नंगा करेंगे, गन्दी चीज़ों को खाने के लिए मजबूर करेंगे। उसका नाम रखा है दीक्षा, नए ज्ञान का परिचय करा रहे हैं! कई बार तो बच्चे ज़हर खाकर आत्महत्या कर लेते हैं। उनको मरणान्त कष्ट होता है और वरिष्ठ विद्यार्थियों को मज़ा आता है। यह राक्षसी प्रवृत्ति है। दूसरे का धन छीन लोदूसरे की स्त्री छीन लो, दूसरे का पद छीन लोइस प्रकार के कार्यों में राक्षसों को बड़ा मज़ा आता है जब मोहिनी प्रकृति आई, देहात्मवाद को स्वीकारा, तब राक्षसी प्रवृत्ति भी आ जाती है। और आसुरी प्रवृत्ति भी आ जाती है। आसुरी प्रवृत्ति हैअपने प्राणों को सब तरह से तृप्त करो, इसलिए खाओ, पीओ, मजे करो। फ़र्क दोनों में है : आसुरी प्रवृत्ति वाला अपने प्राणों के सुखों को ही प्रधान समझता है जबकि राक्षसी प्रवृत्ति वाला दूसरों को कष्ट देकर ही सुख का अनुभव करता है। कुछ लोग तो अपने को दुःखी करके भी दूसरों को दुःखी करते हैं! एक गाँव में एक आदमी लोगों को लड़ाता रहता था। लड़ाने में कुछ जाता नहीं। गाँव में किसान को रात के समय पानी देने जाना पड़ता है। उसे कह दो 'अमुक आदमी आज रात ग्यारह बजे तुम्हारे घर में गया था, मैंने देखा था।' वह सोचेगा 'मेरी पत्नी ही खराब है।' ये सब राक्षसी प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरे को दुःखी देख ही राक्षसों को मज़ा आता है। गाँव छोटी-सी जगह होती है। थोड़े दिनों में लोगों को धीरे-धीरे पता लग गया कि 'अरे!

यह हम लोगों को भिड़ाता है, इसकी बात नहीं माननी चाहिए।' लोगों ने उसकी बात माननी छोड़ दी, लोग झगड़ा नहीं करें। वह बड़ा दुःखी हो गया कि 'अरे! ये झगड़ा ही नहीं करते, मेरी बात पर।' विचार किया कि कैसे इनको दुःखी करे? जंगल में चला गया। उधर से कोई महात्मा निकल रहे थे। महात्मा ने कहा 'अरे तू जंगल में क्यों आया है? यहाँ तो बड़े भयंकर जानवर रहते हैं। चलो मैं तुम्हें ले चलता हूँ, तुमको रास्ता नहीं मिलेगा।' उसने कहा, 'नहीं नहीं, मुझ को नहीं जाना है।' बोले 'क्यों?' 'मैं जान-बूझ कर आज जंगल में आया हूँ। शेर मुझे खा लेवे तो उसको मनुष्य के मांस का स्वाद आ जाएगा, तब फिर वह जाकर गाँव में लोगों को खाएगा!' अपने मरने की भी उसको चिन्ता नहीं रही। राक्षसी प्रवृत्ति वाले कहाँ तक जाते हैं, कोई ठिकाना नहीं है। इसी प्रकार आसुरी प्रवृत्ति वाले अपने सुखभोग के लिए क्या नहीं करते! वर्तमान काल में डाक्टर भी कह देते हैं 'अण्डा खा लो, माँस खा लो।' असुर कहता है कि शरीर बचाने के लिए खा लेना चाहिए। आयुर्वेद शास्त्र में सारे मांसों का प्रभाव विस्तार से वर्णित मिलता है। ऐसा नहीं है कि हम लोगों को पता नहीं था! लेकिन धर्मशास्त्र का विषय दूसरा है, कामशास्त्र का विषय दूसरा है। शरीर के सुख-भोग की दृष्टि दूसरी है और आत्मा के सुखभोग की दृष्टि दूसरी है। देहात्मवादी तो समझता है कि शरीर के सुख से ही मेरा सुख है। आचार्य शंकर आसुर प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं, 'इसको तोड़ो, इसको भेदन कर दो, टुकड़े कर दो, दूसरे की चीज़ छीन लो, अपहरण कर लो, जो मन चाहे सो पीयो, खाओबस यही सब करना है, और क्या करना है!' एक बार देहात्मवाद लोगे तो यह मोह ज़रूर राक्षसी और आसुरी प्रवृत्ति की तरफ ले जाएगा। शरीर के सुख से 'मैं सुखी'यह भाव आया तो ये सब प्रवृत्तियाँ होती हैं। गत पचास वर्षों में यही देख रहे हैं कि उन्नति के नाम पर शारीरिक आवश्यकताओं की बातें की जाती हैं कि मनुष्य को क्या चाहिएरोटी, कपड़ा और मकान, बस। रोटी कपड़ा मकानये शरीर के लिए चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य ही हो गया है कमाना। शिक्षा की बात आती है तो शिक्षाविद् भी पूछते हैं 'इस विषय को सीखने से कौन-सा रोज़गार मिलेगा?' ज्ञान, विवेक, अध्यात्म-उन्नति का कोई महत्त्व नहीं पहचान पाते। माँ-बाप भी यही कहते हैं। गोद में लोरी गाते हुए भी लोग यही कहते हैं 'मेरा बेटा कलैक्टर बनेगा, सैकरेट्री बनेगा।' देहात्मवाद का बहुत ज़्यादा प्रचार हो गया है और इसका नतीजा भी देख रहे हैं। पहले एक हत्या कभी शहर में हो जाती थी तो सारा शहर काँप जाता था, और अब दिल्ली जैसे शहर में पाँच चार आदमियों का मरना-मारना तो मामूली बात है। एक बार जहाँ तुमने देहात्मवाद को स्वीकार किया वहाँ राक्षसी आसुरी प्रवृत्तिसे बच नहीं सकते।

अर्जुन का प्रश्न था कि 'क्यों लोग आपकी तरफ नहीं जाते?'उसका जवाब हो गया कि मोहिनी प्रकृति के कारण राक्षसी और आसुरी भाव को प्राप्त करते हैं, दैवी प्रवृत्ति में नहीं जाते। जो श्रद्धालु हैं अर्थात् जो परमात्मा में और शास्त्र में श्रद्धा रखते हैं, वे ही मोक्ष

मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। कर्मकाण्डी भी शास्त्र को मानते हैं लेकिन उसे काटकर के मानते हैं, जहाँ परमात्मा की बात आती है वहाँ कहते हैं 'ये सब बेकार की बातें हैं, खाली अर्थवाद हैं, प्रशंसा करने के लिए कह दिया है।' जो और घोर देहात्मवादी हैं वे कहते हैं कि धर्म इसलिए है कि हमारे शरीर वगैरह ठीक रहें, समाज में आपस का संबंध ठीक रहे। बस, इतने मात्र के लिए धर्म की उपयोगिता हैशरीर का लाभ और उसके लिए समाज का आपस का व्यवहार ठीक रहे। उससे आगे कुछ नहीं है। यद्यपि वे लोग धर्म की बात कहते हैं तथापि शारीरिक फल के ही लिये। ज़ोर शोर से कहते हैं कि हिन्दू धर्म तो एक रहने का तरीका है, मोक्ष की तरफ जाने के लिए नहीं है। वे समझते हैं कि ऐसा कहकर हिन्दू धर्म की प्रशंसा कर रहे हैं! उनका मानना है कि हमारा धर्म परमात्मा से विमुख है, इह लोक में अच्छी तरह से रहना ही इसमें सिखाया गया है। दूसरे धर्म परलोक की बातें करते हैं, हमारा धर्म बड़ा अच्छा है, खाली इस लोक की बातें बताता है। यह सब मोहिनी प्रकृति के सहारे का प्रभाव है।।१२।

दैवी प्रकृति वाले, शास्त्र जैसा है वैसे में ही श्रद्धा रखते हैं। शास्त्र के अंदर परमात्मा का वर्णन है, देवताओं का वर्णन है। श्रद्धा होने से वे परमेश्वर में प्रेम वाले होते हैं और तभी मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होंगे। इसलिए भगवान् कहते हैं

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

पृथानन्दन! देवताओं के योग्य स्वभाव पर आश्रित महात्मा ही भूतों के मुझ अक्षय कारण को समझकर (प्रत्यगात्मासे) अनन्य जो मैं उसका सेवन करते हैं।

महात्मा अर्थात् जिनका चित्त महान् है। परमात्मस्वरूप को समझने के कारण केवल इस शरीर में होने वाले सुख आदि उनके चित्त को मोह में नहीं डालते। ऐसे महात्मा लोग ही मेरा भजन करते हैं। क्षुद्र चित्त वाले क्षुद्र देवताओं की आराधना तो कर सकते हैं परन्तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सृष्टि स्थिति लय का कर्त्ता जो परमात्मा उसकी उपासना नहीं कर सकते, उसका ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सकते। राक्षसी-आसुरी भेदों वाली मोहिनी प्रकृति वालों से सर्वथा भिन्न महात्मा होते हैं, वे ही भगवान् को भजते हैं। महात्मा दैवी प्रकृति का ही सहारा लेते हैं। दैवी प्रकृति, जो देवताओं का स्वभाव है। देव का मतलब होता है जो प्रकाशमान है। मनको रोकना शम, इन्द्रियों को रोकना दम, दुःखी को देखकर उसके प्रति दया, शास्त्र के वचन को सुनते ही उसमें श्रद्धा, कष्ट सहना तितिक्षा, इन सब दैवी गुणों का ही उन्हें आश्रय है। तभी वे भगवद्भजन करते हैं। इसके द्वारा बतला दिया कि मोहिनी आसुरी-राक्षसी प्रकृति वाले मेरा भजन नहीं कर सकते, और किसी का भजन भले ही करें! मोहिनी से दैवी सर्वथा विरुद्ध प्रकृति हैः मन के अनुसार होवे, इन्द्रियों के अनुसार होवे यह मोहिनी है, मन नियंत्रण में होवे, इन्द्रियाँ नियंत्रण में होवें यह दैवी है। दोनों रास्ते

बिल्कुल अलग हैं। एक संसार को फैलाने का मार्ग है, दूसरा संसार को बटोरने का मार्ग है। कई लोग दोनों को मिलाकर देखना चाहते हैं; शम, दम, उपरति, तितिक्षा इत्यादि का फल आसुरी-राक्षसी भावों में देखना चाहते हैं अर्थात् सांसारिक पदार्थों के अंदर उन्नति होवे तब सोचते हैं कि शम दम ठीक हुआ! उनका कसूर नहीं है, क्योंकि उनको विवेक है नहीं इसलिये वे इन्हीं चीज़ों से समझते हैं कि 'भगवान् का इनके ऊपर बड़ा अनुग्रह है।' जबकि भगवान् क्या कहते हैं? भगवान् कहते हैं 'मैं अपने भक्तों का सर्वस्व हरण कर लेता हूँ!' क्यों? सांसारिक पदार्थों की तरफ मन रहने के कारण ही तो परमात्म-चिन्तन नहीं हो पाता है।

एक बार भगवान् ब्राह्मण का रूप लेकर नारद जी के साथ किसी बड़े सेठ के घर पहुँचे। चौकीदार ने डाँटा, 'अरे! हटो यहाँ से। यहाँ कहाँ आकर खड़े हो गए? अभी सेठ जी आएँगे।' उन्होंने कहा 'भाई, बड़े भूखे हैं, कुछ खाने को मिल जाए।' चौकीदार ने कहा 'हटो-हटो।' तब तक सेठ जी आ गए। आकर चौकीदार को डाँटा, 'तुम ऐसे लोगों को हमारे मकान के सामने खड़े होने देते हो! तुम लोगों को किस बात की तनख्वाह मिलती है? मारो इनको।' तो वहाँ से भगवान् चल दिए। थोड़ी दूर जाकर कहा 'इसके घर में खूब धन-दौलत बढ़े।' वहाँ से चल कर एक भक्त के घर गए। गाँव के किसी कोने में एक छोटी-सी कुटिया बना कर वह रहता था। उसके पास एक गाय थी, और कुछ नहीं था, गो-सेवा करता रहता था। पहुँचकर कहा भगवान् ने 'भाई, बड़े भूखे हैं।' बोला 'बैठिए तो सही, अभी दूध लाता हूँ।' और कुछ तो उसके पास था नहीं, झट से गाय को दुहकर, दूध गरम करके लाया। जितना दूध लाया था वह सारा भगवान् पी गए! कहने लगे 'बहुत बढ़िया दूध लाये। हमें तो आगे जाना है।' चले, थोड़ी दूर आगे जाकर भगवान् ने कहा 'इसकी गाय मर जाए!' नारद जी ने कहा 'भगवान्! कलियुग में आपकी भी बुद्धि फिर गई लगता है। जिसने हम लोगों को गाली गलौज दिया, मारने को दौड़ा, उसके लिये तो कहा कि खूब धन बढ़े और इस बेचारे के पास एक गाय ही है, कहते हो गाय मर जाए!' भगवान् बोले 'मैंने ठीक किया। देखो, मेरा दर्शन कभी व्यर्थ नहीं होता। जिसको जो चाहिए वह मेरे दर्शन से मिलेगा ही। उस सेठ को धन ही चाहिए था। मेरा दर्शन हुआ है तो धन उसको ज़्यादा मिले, यह ठीक ही है। इतने धन से ही वह इतने दर्प में फँसा हुआ है तो और धन मिलेगा तो और इसी प्रकार के ऊट-पटांग काम करके नरक में जाएगा। जो उसने अपमान किया है उसका भी फल होगा, नरक में जाएगा। दूसरी ओर यह बड़ा अच्छा साधक है। मुझसे इसका बड़ा प्रेम है, भक्ति करता है, परंतु गाय की सेवा में लगा रहता है इसलिए इसके कई घण्टे इसमें चले जाते हैं। जो इसको भजन में लगाना चाहिए था वह समय इसमें लगा देता है। गाय मर जाएगी तो वह सारा समय बच जाएगा, और यह मेरा ज़्यादा भजन करेगा जिससे जल्दी ही मोक्ष को प्राप्त कर जाएगा। यह चाहता ही मोक्ष है, मेरा दर्शन कभी व्यर्थ नहीं होता, इसलिये इसको मोक्ष ही मिलेगा।' नारद ने कहा

'भगवन्! आपकी लीला आप ही जान सकते हैं।'

दैवी प्रकृति जिधर ले जाती है उसे मोहिनी वाले समझेंगे कि उन्नति नहीं है। और राक्षसी-आसुरी प्रकृति वाले जिसको समझते हैं कि नुकसान हो रहा है, वह दैवी वालों का असल में फायदा होता है। शम, दम, दया इत्यादि भावनाएँ सांसारिक लोगों को चीज़ों की प्राप्ति नहीं करातीं इसलिए वे समझते हैं कि ये व्यर्थ हैं। दैवी प्रकृति वाले ठीक उससे विपरीत सांसारिक उन्नति को व्यर्थ समझते हैं क्योंकि वह मन में आसक्ति लाती है। गीता के दूसरे अध्याय में ही भगवान् कह आये हैं कि 'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।' विषय मिलकर तो दुःखी करते ही हैं, याद आकर भी दुःखी करते हैं। विषय-चिन्तन करो, ध्यान करो, वह भी दुःखी करता है। क्योंकि जब उनकी स्मृति आएगी, उनका चिन्तन करोगे, तब उन चीज़ों में आसक्ति हो जायेगी। आसक्ति होने से कामना पैदा होती है। कामना पूरी हुई तो दोबारा उसकी इच्छा होगी। और यदि पूरी नहीं हुई तो जिसके कारण पूरी नहीं हुई उसके ऊपर क्रोध आएगा। क्रोध आने से आदमी को अविवेक हो जाता है, कुछ पता नहीं लगता क्या करना, क्या नहीं करना। नहीं करने लायक काम करने लगता है। जो कुछ भी परमात्मा के संबंध में, प्रारब्ध के संबंध में सोचा-समझा है,वह सब भूल जाता है। काम-क्रोध आने पर 'हर सुख-दुःख का कारण मेरा प्रारब्ध है' यह ख्याल नहीं रहता। 'इस आदमी ने मेरी कामना-पूर्ति की, यह अच्छा है; इस आदमी ने मेरी कामना में विरोध किया, यह बुरा है' यह भावना बनती है। विवेक की स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश और बुद्धिनाश से प्रणाश हो जाता है। इसलिए दैवी प्रकृति का आश्रय किए हुए ही भगवान् को भजते हैं।

भजनके लिए उनके सामने क्या प्रकार होता है? 'अनन्य-मनसः'। परमात्मा मुझ से अन्य नहीं हैं, मेरा वास्तविक स्वरूप परमात्मा है, इस प्रकार की वृत्ति बनाते हुए भजते हैं। जैसे काँच में मुँह देखते हुए ही जानते हो कि काँच में मुँह नहीं है, मुँह तो इधर है; वैसे ही अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति में चेतन को देखते हुए ही जानना है कि चेतन तो सर्वव्यापक है। जहाँ-जहाँ अन्तःकरण है वहाँ-वहाँ जिसका प्रतिबिम्ब है वह मैं हूँ। क्यों दूसरा नहीं है? 'मां भूतादिम् अव्ययं ज्ञात्वा'। मैं सारे जड-चेतन का एकमात्र कारण हूँ। कारण से कार्य अलग दीखता है, होता नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता कि कारण को हटा लो और कार्य रह जाए! सोने से गहना बना दीखता है परन्तु अलग कभी होता नहीं है। इसी प्रकर से सारा जगत् परमात्मा से अलग दीखता है परन्तु परमात्मा से अलग है नहीं। परमात्मा कैसा है? 'अव्ययम्'। प्रायः जब कारण से कार्य बनाते हो तो जो कार्य एक बार बन गया वह कार्य फिर उस कारण से नहीं बनेगा, उतना कारण का व्यय हो ही गया। मोटी भाषा में समझ लो : एक थान कपड़े में से तीन गज का कुर्त्ता बना लिया। यदि पहले उसमें पच्चीस कुर्ते बन सकते थे तो अब चौबीस ही बन सकते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर से जगत् बना तो क्या कुछ उनमें व्यय, कमी हो गयी? जो जगत् एक बार बन चुका वह

क्या फिर नहीं बन सकेगा? इस शंका की प्राप्ति न हो जाए इसलिए भूतादि कहने के बाद कह दिया 'अव्ययम्।' कार्यरूप से प्रतीत होने पर भी उसमें कोई कमी आती नहीं है। किसी प्रकार की कमी आये बिना जो कार्य-कारणभाव प्रतीत होता है, वह मिथ्या होता है, मायिक होता है। वास्तविक कार्य-कारण होंगे तो भूतादि और अव्यय दोनों बातें नहीं हो सकतीं। वह भूतादि और अव्यय दोनों हैयह कह कर बताया कि सारी सृष्टि उसकी माया से बनती है इसलिए उसके अन्दर किसी प्रकार का व्यय, किसी प्रकार का विकार नहीं आता। यह सृष्टि अनन्त काल तक ऐसे ही चलती है क्योंकि वह अव्यय है। अनन्त काल तक चलती रहती हैइसका मतलब यह नहीं है कि मोक्ष नहीं होता है! मोक्ष तो इस सारी सृष्टि के रहते हुए भी *है*। जैसे 'साँप रस्सी हो जाता है', ऐसा कहा जाता है, लेकिन वस्तुतः साँप थोड़े ही रस्सी हो गया! वह तो पहले ही रस्सी ही थी। इसी प्रकार प्रत्यगात्मा पहले ही मुक्त *है*। जैसे पहले ही मुक्त होते हुए अविद्या से संसार की प्रतीति होती है वैसे ही आगे भी अविद्या से प्रतीति होती रह सकती है। अविद्या- रूप जो मोहिनी प्रकृति है, यही आसुरी राक्षसी भावों को प्राप्त करती है और जब परमात्मा की तरफ प्रवृत्त होकर दैवी भाव को प्राप्त करती है तब अविद्या लुप्त होकर मोक्ष की *प्रतीति* हो जाती है। आत्मा का स्वरूप तो सदा मुक्त ही है।।१३।।

महात्मा भगवान् की भक्ति कैसे करते हैं यह बतलाते हैं

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

अचंचलता जिनका व्रत है, जो मुझसे परप्रेमसे सम्पन्न हैं, वे मेरा निरन्तर कीर्तन करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए, अन्य भी प्रयास करते हुए मेरा सेवन करते हैं।

'मां कीर्तयन्तः', मुझ ब्रह्मस्वरूप का, मेरी महिमा का, उपनिषद् आदि में प्रतिपादन किया गया है। मुझ से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ, सबमें मैंने ही प्रवेश किया, आदि मेरा वर्णन है। बार-बार उसी का कीर्त्तन अर्थात् उसी का श्रवण करते हैं और उसी को मुख से बोलते हैं। 'कीर्तयन्तः'कीर्ति अर्थात् महिमा का वर्णन। हिन्दी में कीर्तन शब्द से खाली बार-बार नामों को बोलने को कह देते हैं। लेकिन कीर्ति का मतलब है महिमा। ब्रह्मस्वरूप की महिमा है कि उसी से जगत् उत्पन्न हुआ और उसी में लीन होता है व उसी ने जीवरूप से प्रवेश किया है। अतः उसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। इसका निरन्तर श्रवण यहाँ कीर्तन है। जिसका श्रवण किया उसके विरोधी जो तर्क हैं, उन तर्कों के अंदर क्या गलतियाँ होती हैं इसे समझना अर्थात् मनन करना 'यतन्तः' से कहा। जहाँ तक हो सकता है, स्वयं यत्न करते हैं। स्वयं यत्न करके यदि किसी कुतर्क को नहीं हटा पाते, तो अन्य ब्रह्मनिष्ठों के पास या गुरु के पास जाकर उन कुतर्कों को दूर करते हैं। मनन में पूरा प्रयत्न करते हैं, जगत् के मिथ्यात्व और जीव की ब्रह्मरूपताइनमें किसी भी प्रकार की शंका का

निवारण करते हैं। और 'दृढव्रताः' शम, दम, उपरति, तितिक्षा इत्यादि के व्रत का दृढतापूर्वक पालन करते हैं। इससे उपलक्षणा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इत्यादि की भी समझ लेनी चाहिए। दृढव्रत हैं अर्थात् सार्वभौम रूप से इन धर्मोंका पालन करते हैं। सार्वभौम का मतलब है देश-काल के अवच्छेद के बिना सर्वत्र सर्वदा पालन करना। कई लोग इनके अवच्छेद से पालन करते हैं। देश का अवच्छेद, गंगा के किनारे मैं झूठ नहीं बोलूँगा। इसलिए कई बार सन्देह होता है कि 'यह झूठ बोल रहा है' तो उसके हाथ में गंगाजल देते हैं क्योंकि मानते हैं कि गंगा के सामने झूठ नहीं बोलेगा। इसी प्रकार से काल का भी अवच्छेद होता है कि 'इस काल में, जैसे एकादशी को मैं झूठ नहीं बोलूँगा।' बहुत से लोग नियम करते हैं, 'सवेरे नौ बजे तक झूठ नहीं बोलूँगा।' कई बार आदमी कहता है 'देखो, सबेरे-सबेरे है, इस समय तो मेरी बात विश्वसनीय है।' इसी तरह से 'मैं ब्राह्मण के धन का अपहरण नहीं करूँगा,' यह अस्तेयका अवच्छेद है। कई लोग यज्ञादि का अवच्छेद ले लेते हैं। इस प्रकार के किसी भी अवच्छेद के बिना निरन्तर शम दम आदि के अभ्यास में ही रहना, दृढव्रत होना है। यों महात्मा मेरे ब्रह्मस्वरूप का श्रवण-मनन करते हैं और मन-इंद्रियों के अन्य सारे व्यापारों को नियन्त्रित करके परमात्मा की ही भक्ति करने का प्रयत्न करते हैं। 'मां नमस्यन्तश्च', मैं जो हृदय के अंदर बैठा हुआ आत्म-तत्त्व हूँ, प्रत्यगात्मा हूँ, उसको ही नमस्कार करते हैं। नमस्कार का मतलब है त्याग, 'त्यागो हि नमसो वाच्यः।' मैं-शब्द से कही जाने वाली जो अहंकार की वृत्ति, उसका ब्रह्म के लिए त्याग करते हैं। अर्थात् प्रत्यगात्मा अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन नहीं है, प्रत्यगात्मा तो ब्रह्मस्वरूप हैयह निश्चय रखते हैं।

ये सब काम करते हैं 'भक्त्या' अर्थात् परमात्मा के अंदर अत्यन्त प्रेम से। सब चीज़ें आत्मा के लिए प्रिय होती हैं, अपने लिए प्रिय होती हैं। उस प्रियता को लोग अहंकारात्मिका वृत्ति की प्रियता समझते हैं। साधारण आदमी जिसे प्रिय समझता है वह अहंकार के लिये ही प्रिय होता है। परन्तु भक्त जानता है कि अहंकारात्मिका वृत्ति वाला 'मैं' वास्तविक 'मैं' नहीं हूँ, मैं तो ब्रह्मस्वरूप हूँ जिसका प्रतिबिम्ब अहंकारात्मिका वृत्ति में पड़ता है। अतः वह उसके लिए ही सब को प्रिय समझता है। तभी 'नित्ययुक्ताः' नित्य मुझ में ही युक्त रहता है। तभी उपासना बनती है। इस प्रकार से भक्त उपासना करते हैं। आचार्य शंकर के समय तो कीर्तन-शब्द 'हरे राम' आदि शब्दों की आवृत्ति के अर्थ में प्रसिद्ध नहीं था अतः उन्होंने इसका उल्लेख नहीं किया। शङ्करानन्द स्वामी के समय उस अर्थ में रूढ हो रहा था, इसलिए उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ नाम-कीर्तन इत्यादि को लेना प्रकरण से अत्यन्त विरुद्ध होने के कारण किसी भी हालत में विवक्षित नहीं हो सकता।।१४।।

और किस-किस प्रकार से उपासना करते हैं, यह बतलाते हैं

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्।।१५।।

अन्य उपासनायें छोड़कर ब्रह्मनिष्ठ भक्त मेरे बारे में 'एक ही परब्रह्म है' इस ज्ञानरूप यज्ञ से मेरी पूजा करते हुए मेरी ही उपासना करते हैं। कुछ साधक (आदित्य चन्द्र आदि) भेदसे (उपस्थित) मेरी उपासना करते हैं तथा अन्य लोग बहुत तरह से अवस्थित विश्व-रूप मेरी उपासना करते हैं।

यहाँ सबसे पहले उत्तमाधिकारी को फिर मध्यमाधिकारी को, फिर मन्दाधिकारी को बतलाया है। 'ज्ञानयज्ञेन'; परमात्म-विषयक जो ज्ञान है वही यज्ञ है। श्रवण-मनन के द्वारा सिद्ध होने वाले परमात्म-स्वरूप के, अखण्ड तत्त्वके ज्ञान के लिए जितना प्रयत्न करते हैं, वह सब यज्ञ है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि यह ज्ञान यज्ञ ही मेरा यजन है अर्थात् पूजन है, यही उन अधिकारियों के लिए पूजा है। क्योंकि परमेश्वर को ही आत्मस्वरूप समझते हैं, इसलिए वह 'माम्' परमेश्वर की ही उपासना है। दूसरी उपासनाओं को छोड़ करके अर्थात् और किसी उपासना को न करके निरन्तर परमात्म-स्वरूप का जो जगद्रूप में प्रतीत होना है, उसका बाध करते हुए, जो हृदयाकाश में प्रतीत हो रहा है, उसकी सच्चिदानन्दरूपता का निश्चय करते हैं। इससे अतिरिक्त जो कुछ है वह सब छोड़ देते हैं। उत्तमाधिकारियों के लिए यह ज्ञान यज्ञ हुआ। इनकी उपासना कैसी है? 'एकत्वेन मामुपासते', एक ही परब्रह्म है, इस प्रकार का जो परमार्थ दर्शन है वही करते हैं।

अब मध्यम अधिकारी को बतलाते हैं 'पृथक्त्वेन' अर्थात् जो इस जगत् का कारण है वह एक परमात्मा ही इस संसार में सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, विष्णु, गणेश इत्यादि भेदों से विद्यमान है। सभी मूर्त्तियों में वे एकमात्र उस अखण्ड सच्चिदानन्द को ही देखते हैं। पृथक्-पृथक् देवता प्रतीत होने पर भी उन सबमें सच्चिदानन्दरूपता का ही निश्चय करते हैंयह उन मध्यम अधिकारियों की उपासना है।

जो मन्द अधिकारी यह भी करने में असमर्थ हैं वे 'बहुधा' अर्थात् वह परमेश्वर ही विश्वतोमुख है विश्वरूप है यह उपासना करते हैं। ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप बताएँगे। जगत् के समग्र रूपों में वही विद्यमान है, इस प्रकार से ये भक्त निश्चय करते हैं। जो-जो प्रतीयमान है उस-उस उपाधि को हटाते हुए उसमें अवस्थित जो सद्रूप या चिद्रूप या आनन्दरूप है, उसी की दृष्टि करते हैं। बहुत प्रकार से जो प्रतीत हो रहा है उस सबके अंदर वास्तविक तत्त्व परमेश्वर ही है। जैसे गहना देखते हुए 'गहने में स्वर्ण ही है'यह निश्चय होता है, उसी प्रकार सब चीज़ों के अंदर वे निश्चय करते हैं कि परमेश्वर ही वस्तुतः विद्यमान है।।१५।।

किसी के मन में शंका हो सकती हैः यह जो सब चीज़ों के अंदर या सब देवताओं के अंदर तत्त्व को देखना है, यह आपकी उपासना कैसे कह दें? आदित्य में सच्चिदानन्दरूप देखते हैं तो आदित्य की उपासना हुई। विष्णु में सच्चिदानन्द रूप देखते हैं तो विष्णु की उपासना हुई। आपकी उपासना कैसे हुई? अथवा पदार्थों के विलय के द्वारा ब्रह्म तक जाकर उसकी सच्चिदानन्दरूपता का निश्चय करते हैं तो आपकी उपासना कैसे हुई? इसके

समाधान में कहते हैं कि इन सब रूपों से मैं ही हूँ इसलिए वह मेरी उपासना है

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

मैं क्रतु (श्रौत कर्म) हूँ, मैं यज्ञ (स्मार्त कर्म) हूँ, मैं स्वधा (पितरों को प्रदेय अन्न) हूँ, मैं औषध (सब प्राणियों द्वारा खाद्य अन्न, या दवा) हूँ, मैं मंत्र हूँ, मैं आज्य (हवि) हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं हवन का कर्म हूँ।

सोमयागादि विशेष प्रकार के जो यज्ञ होते हैं उनको क्रतु कहते हैं। जो यज्ञ अर्थात् वैश्वदेवादि स्मार्ताग्नि की उपासना है, उसमें भी मैं ही स्थित हूँ। क्रतु का एक अर्थ संकल्प है इसलिए कुछ लोगों ने कहा है कि संकल्प-पूर्वक जितनी उपासनाएँ हैं उन्हें क्रतु कहा है। यहाँ चूंकि यज्ञ, मन्त्र, हुत आदि का प्रकरण है इसलिए निश्चयात्मिका वृत्तिरूप संकल्प का ग्रहण आचार्य ने नहीं किया, क्रतु से उन विशिष्ट यज्ञों को कहा जिनके अंदर यूप आदि का स्थापन होता है। यज्ञ से उन्हें कहा जिनमें यूपस्थापन नहीं होता है, वैश्वदेवादि जो स्मार्त अग्नियों से साध्य हैं, उनका ग्रहण कर लिया। भगवान् का अभिप्राय हुआ कि सारे श्रौत कर्मों के भेद से मैं स्थित हूँ अतः उनमें जो उपासना की जाती है वह मेरी ही उपासना है। 'एकत्वेन' के अंदर तो सजातीय विजातीय स्वगत तीनों भेद हट जाते हैं परन्तु 'बहुधा' जो उपासना बतलाई है, उसके अंदर स्वगत भेद रह जाता है। ऐसे समझ लो : जब हम किसी के हाथ के ऊपर घड़ी बाँध देते हैं तो घड़ी कहाँ बाँधी? हाथ के ऊपर; परंतु हम भी मानते हैं कि देवदत्त को हमने घड़ी दी और देवदत्त भी मानता है कि मुझे घड़ी दी। न देवदत्त को लगता है कि हाथ को घड़ी दी और न देने वाले को, क्योंकि हाथ के अंदर देवदत्त ही स्थित है। जिस प्रकार हाथ, पैर, गला इत्यादि अलग-अलग दीखने पर भी है तो देवदत्त ही, इसी प्रकार से जितनी चीज़ों को यहाँ गिना रहे हैं अथवा आदित्य इत्यादियों की जो बात पहले कही थी, उन सब रूपों में परमात्मा ही स्थित है इसलिए उनकी उपासना से परमात्मा की उपासना होती है। कब वह परमात्मा की उपासना नहीं होती है? जब उनको हम परमात्मा से अलग मान कर उपासना करते हैं। दोनों तरह से आदित्य आदि की उपासना हो सकती है आदित्य एक देवता है, विष्णु एक देवता हैइस रूप से भी उपासना हो सकती है और आदित्य विष्णु इत्यादि एकमात्र अधिष्ठानरूप परब्रह्म परमात्मा के अंदर प्रतीत हो रहे हैंइस रूप से भी उपासना होती है। क्रतु हो या यज्ञ हो, इस रूप में परमात्मा ही स्थित है, इस बात को जानने वाला जब क्रतु या यज्ञ करता है तब परमेश्वर की उपासना करता है क्योंकि वह इस बात को निरन्तर ध्यान में रखता है कि ये सब परमात्मा का रूप हैं।

इसी प्रकार से स्वधाश्राद्ध करते हैं तो स्वधा उच्चारण से पितरों को अन्न आदि दिया जाता है। अतः श्राद्ध आदि भी जो किया जाता है वह मेरी ही उपासना है क्योंकि

स्वधारूप मैं ही हूँ। औषधसारे प्राणी गेहूँ चावल इत्यादि जो खाते हैं उसको औषध शब्द से कह दिया। ओषधि का स्वरूप बतलाया है कोषकारों ने कि फल पक जाने पर जो खत्म हो जाता है वह ओषधि है। गेहूँ चावल जौ इत्यादि का पौधा जब फल जाता है तब पौधा ख़त्म हो जाता है। आम इत्यादि एक बार फल गया, फिर दो बारा उसी पेड़ में आम लग जाता है, तिबारा उसी पेड़ में लग जाता है, अतः वे ओषधि शब्द के वाच्य नहीं होते। अथवा औषधम् से दवाई समझ सकते हैं। उस रूप से भी भगवान् ही स्थित हैं। इसलिए कहा है 'औषधं जाह्नवीतोयम्' औषध को गंगा जल समझो। इसी प्रकार से यहाँ ध्यान रखना है कि औषध ही सच्चिदानन्द रूप है। भाष्यकार ने दोनों ही तात्पर्य बतलाए हैं। स्वधा से जो पितरों को दिया जाता है वह ले सकते हैं या सारे प्राणी साधारणतः जो अन्न लेते हैं, जो पितरों के लिए भी है व दूसरों के लिए भी है, वह सारा स्वधा शब्द से कह दिया और रोग को दूर करने के लिए जो भैषज है उसे औषधि कह सकते हैं, वह भी मैं ही हूँ।

'मन्त्रोऽहम्' चाहे पितरों को, चाहे देवताओं को तुम जो हवि अर्पण करते हो वह किसी मन्त्र से करते हो। मन्त्रपूर्वक ही देवताओं को भी आहुति देते हो स्वाहा से और पितरों को भी आहुति देते हो स्वधा से। जिस मंत्र से देते हो वह मंत्र भी मेरा ही रूप है। 'आज्यम्' हवन के अंदर जो गौ-घृत का उपयोग होता है उसको आज्य कहते हैं या जो यज्ञ के अंदर प्रक्षेप किया जाता है वह सभी आज्य कहा जाता है। आज्य आहुति की विशेषता होती है अन्य आहुतियों की अपेक्षा इसलिए आज्य शब्द उसमें (घीमें) अधिक प्रयुक्त है परन्तु जो भी इज्या का विषय होता है वह सभी आज्य है। जिससे तुम हवन करते हो वह मंत्र भी मैं हूँ और जिस चीज़ का हवन करते हो वह भी मैं ही हूँ। 'अहम् अग्निः', जिसमें तुम हवन करते हो, वह आग भी मैं ही हूँ। 'अहम् हुतम्' जो हवन करने का कर्म है, वह भी मैं ही हूँ। इस प्रकार इन सब रूपों में चूंकि मैं स्थित हूँ इसलिए जो भी तुम यज्ञादि कर्म करते हो वह सब मेरी ही उपासना है।।१६।।

और किस-किस रूप में स्थित हैं यह बतलाते हैं

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

इस जगत् का मैं पिता, माता और दादा हूँ, कर्मफलों का प्रदाता हूँ, जानने योग्य, पावन, प्रणव, ऋक्, साम और यजु हूँ।

इस जगत् को पैदा करने वाला होने से इसका पिता मैं ही हूँ, सारे जगत् को उत्पन्न करता हूँ। पैदा करने वाली भी मैं ही हूँ! इसलिए माता हूँ। पैदा करने वाला और करने वाली इस दृष्टि से कहा जाता है कि पिता निमित्त कारण है, माता उपादान कारण है। इसलिए अभिन्न-निमित्तोपादान-कारणरूपता का प्रतिपादन है। इस जगत् का उपादान

कारण और निमित्त कारण मैं ही हूँ। धाता, सबको कर्मफल देने वाला भी मैं ही हूँ। माता अपना दूध नहीं पिलाती तो बच्चे को दूध पिलाने के लिए जिसे रखा जाता है उसको धात्री, धाय कहते हैं। पैदा करने वाले माता-पिता से अन्य उसका पोषण करने वाला धाता है। लोक में उत्पन्न करने वाला कोई और, पोषण करने वाला कोई और, यह हो सकता है पर भगवान् कहते हैं कि कर्मफल देकर इस जगत् को पुष्ट करने वाला धाता भी मैं ही हूँ, कोई दूसरा नहीं है। इतना ही नहीं, जिस हिरण्यगर्भ विराट् आदि रूप से मैं पिता माता बनता हूँ, उस पिता माता रूप को प्रकट करने वाला पितामह भी मैं ही हूँ, दादा भी मैं हूँ! पिता के पिता को दादा कहते हैं।

एक कथा प्रसिद्ध है : जब भगवान् शंकर विवाह करने को बैठे तब विवाह के समय गोत्र उच्चारण होता है। पुरोहित ने पूछा 'आपके पिता का नाम क्या?' उन्होंने कहा 'जगत् में सबका कारण ब्रह्मा जी हैं तो ब्रह्मा जी को मेरा पिता समझ लो।' कहा 'अच्छा, दादा का नाम?' 'ब्रह्मा जी को विष्णु भगवान् ने पैदा किया तो विष्णु मेरे दादा का नाम समझ लो।' तीसरी पीढ़ी आई'परदादा का नाम?' भगवान् बोले 'परदादा तो सारे संसार का मैं ही हूँ!'

विराट् रूप से पिता समझ लो, हिरण्यगर्भ रूप से दादा समझ लो तो ईश्वररूप से प्रपितामह भी हो जाएगा! यहाँ पितामह ही कहा है। पिता निमित्त कारण है; निमित्त कारण भी किसमें कल्पित हैं? निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही अधिष्ठान कारण में कल्पित हैं। निमित्त कारण भी जिसमें कल्पित है वह अधिष्ठान कारण पितामह कहा जाए यह ठीक ही है। भगवान् निमित्त कारण भी हैं, उपादान कारण भी हैं, कर्मफल के द्वारा इसका निरंतर पोषण करने वाले भी हैं और इन सबके अधिष्ठान कारण भी हैं।

'वेद्यम्' चीज़ों को जानने पर भी उनके वास्तविक रूप को अविवेकी नहीं जानते। जैसे तुम गहना ही देखते हो। पूछें, क्या देखा था? तो कहोगे हसुआ था, कड़ा था, बाजूबंद था।यही कहते हो। परंतु वस्तुतः तुमने वहाँ क्या देखा? सोना देखा। गहने के अंदर वेद्य तो सोना है, जानना तो चाहिए सोने को, तब तुम को पता लगे सचमुच में क्या है, अन्यथा आदमी केवल उसके रूपों को देख कर ठगा जाता है। इसी प्रकार संसार के नाम-रूपों को देख कर हम समझते हैं कि हमने चीज़ें जानी हैं। परन्तु जानने योग्य चीज़ तो है सत्। 'पवित्रं', एकमात्र वही वेद्य किसी भी चीज़ को पवित्र करने वाला है, पावन है। विष्णु सहस्रनाम में कहा 'पवित्राणां पवित्रं यः' जो चीज़ें लोक में पवित्र कही जाती हैं वे पवित्र करने की सामर्थ्य वाली इसीलिए हैं कि उनके अंदर सच्चिदानन्द परमात्मा विद्यमान है। 'ओङ्कारः' वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के पहले जिस ओङ्कार का प्रयोग होता है, वह ओङ्कार भी मेरा ही रूप है। इसी प्रकार से ऋक् साम और यजु मैं हूँ। जिसके अन्दर पाद और उनमें अक्षर निश्चित होते हैं वह वेदभाग ऋक् है। गीत को साम कहते हैं। वे ही मंत्र जब तक गाये नहीं जाते तब तक ऋक् हैं, जब गाये जाते हैं तब साम हैं। जिसके अंदर

पादानुसार अक्षर नियत नहीं हैं, चाहे जितने अक्षरों वाले मंत्र होते हैं, वह वेदभाग यजु है। इस प्रकार तीनों प्रकार के जो वेदों के भाग हैं वे सब मैं ही हूँ। अतः जब तुम किसी भी मंत्र का उच्चारण करते हो तब मेरी ही उपासना करते हो यदि इस निश्चय को कायम रखते हो कि उस रूपसे मैं ही हूँ। इस प्रसंगमें सर्वत्र यह नियम है कि इस निश्चय से क्रतु आदि करने पर परमेश्वर की उपासना हो जाती है।१७।।

और भी कहते हैं कि कैसे भगवान् सर्वात्मक हैं

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

मैं कर्मफल, पोषक, मालिक, प्राणियों के किये-न-किये का गवाह, प्राणियों के रहने का स्थान, आर्तिनिवारक, उपकारी, जगत्कारण, सबके लीन होने का स्थान, जगत् के रहने का स्थान, सुरक्षित रखने वाला, जन्महेतु और अक्षय हूँ।

कर्मों का फल देने वाला मैं हूँयह तो पहले 'धाता' से कह दिया, अब कहते हैं कि स्वयं कर्मफल भी मैं ही हूँ। कर्मों का फल सुखाकार या दुःखाकार वृत्ति है। पुण्य कर्म का फल सुखाकार वृत्ति, पाप कर्म का फल दुःखाकार वृत्ति, इन वृत्तियों में प्रतिफलित होने वाला मैं ही हूँ। जब तक परमात्माका प्रतिफलन न हो तब तक वे वृत्तियाँ अनुभव नहीं बन सकतीं। स्थूल रूप से रसगुल्ले आदि विषय को सुखदायक होने से सुख समझते हैं। इस दृष्टि से तात्पर्य है कि रसगुल्ले आदि का धारण करने वाला भी मैं ही हूँ अर्थात् जिस पदार्थ के द्वारा तुमको सुख-दुःख होता है वह भी मुझ सच्चिदानन्द में ही विद्यमान है। 'भर्ता', तुम्हारा भरण करने वाला मैं ही हूँ। हर जीव को जो जिसका भोजन है वह मैं पहुँचाता हूँ। कुछ ऐसे प्राणी होते हैं जो अग्नि खाते हैं, अग्नि रूप से ही मैं उनका भरण करता हूँ। कुछ प्राणी हैं जो केवल वायु-भक्षी हैं, केवल वायु ही खाते हैं, उनका वायुरूप से पोषण करता हूँ। सुख-दुःखरूप कर्मफल मैं हूँ और तुम्हारे जीवन-धारणमात्र के लिए जो आवश्यक है वह भी मैं ही हूँ।

'प्रभुः' स्वामी, मालिक, जो जिसे 'यह मेरा है' यों स्वीकारे वह उसका स्वामी होता है। भगवान् बता रहे हैं कि सारे चराचर जगत् का मैं ही एकमात्र प्रभु हूँ। अन्य जो राजा आदि प्रभु लोकमें प्रसिद्ध हैं, उनमें होने वाली प्रभुशक्ति मेरे अधीन होने से मेरी ही है। जो सारे अपने को प्रभु समझते हैं उन सबका मैं प्रभु हूँ। इस प्रकार से एकमात्र मैं ही सबका मालिक हूँ। 'साक्षी'प्राणी जो भी करते हैं या नहीं करते, उन सबका मैं साक्षी हूँ। पाप करके भी होता है और नहीं करके भी होता है। प्रायः करके लोग किए जाने वाले पाप को तो समझते हैं लेकिन नहीं किए जाने से जो पाप होता है उसको नहीं समझते। शास्त्र कहता है कि तुम्हारे में सामर्थ्य है, कोई गरीब को सता रहा है, तुमने अपने सामर्थ्य का उपयोग करके उसको नहीं बचाया तो तुमको उतना ही पाप लगता है जितना उस

अपराध करने वाले को। इसी प्रकार से अगर तुम न्यायाधीश हो, तुम्हारे सामने कोई अपराधी आया और तुमने उसको छोड़ दिया तो उस अपराधी का जो अपराध है वह तुम्हारे सिर आ जाता है, तुम्हीं को भोगना पड़ेगा। इसलिए प्राचीन काल में न्यायाधीश बनने से लोग बहुत घबराते थे क्योंकि जिस-जिस अपराधी का अपराध दण्डित न किया उस सबको भोगना पड़ेगा यह मानते थे। पापकी तरह पुण्य भी अकृत हो सकता है। जो तुमने पुण्य-पाप किया वह तो सामान्य रूप से कोई दूसरा भी देख सकता है लेकिन जो पुण्य-पाप तुमने *न करने* से पैदा किया है उसके तुम ही अर्थात् तुम्हारा साक्षी देखेगा। पारिभाषिक दृष्टि से अभावरूप अकरण यदि अपूर्वोत्पादक न भी हो तो उससे उपलक्षित अन्य करण हेतु बन सकता है जैसा कुमारिल भट्ट ने कहा है

'स्वकाले यद् अकुर्वंस्तत् करोत्यन्यद् अचेतनः।
प्रत्यवायोऽपि तेन स्याद् नाऽभावेन स जन्यते।'

अथवा यहाँ अकृत का साक्षी होना ही कहा है, अकरण से पुण्यादि का प्रसंग लाया ही जाये यह ज़रूरी नहीं।

'निवासः' मैं ही सबका निवास हूँ अर्थात् सारे प्राणी मुझ में ही रहते हैं। निवास का अर्थ होता है जहाँ कोई नियम से वास करे। वास तो तुम किसी होटल में भी कर सकते हो, परन्तु वह तुम्हारा निवास नहीं है, नियम से तुम वहाँ नहीं रहते हो। चार दिन, चार महीना, चार साल के बाद वह जगह छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हो। आजकल जिसे 'स्थायी पता' कहते हैं वह है निवास। तुम इस शरीर में भी रहते हो लेकिन यह भड़ैती की तरह रहना है। सौ साल पूरे हुए, खाली करके चल देते हो। जैसे होटल का कमरा छोड़कर जाते हो तो यह नहीं देखते हो कि पीछे उस होटल के कमरे में सफाई हुई कि नहीं हुई; अपने घरके कमरे को छोड़ कर जाते हो तो साज-सवार कर और नहीं तो जाते हुए कह जाते हो कि कमरे की झाड़ पोछाई करते रहना; इसी तरह जब इस शरीर को छोड़ कर जाते हो तो इसकी साज-संवार की कुछ चिन्ता नहीं है क्योंकि यह वासमात्र है, निवास नहीं है। नियम से रहने की जगह सच्चिदानन्दरूप ही है क्योंकि वह कभी हटता नहीं।

'शरणं', जो भी कष्ट में होते हैं और परमेश्वर की तरफ दृष्टि करते हैं, उनके उस कष्ट को वह हरण करता है इसलिए वही शरण है। शरण शब्द का अर्थ इसीलिए कोषकारों ने घर और रक्षक दोनों किया है। यहाँ निवास से घर कह दिया है इसलिए शरण से रक्षा करने वाला रूप कह रहे हैं। 'सुहृत्' जो तुमसे किसी भी उपकार की अपेक्षा किए बिना तुम्हारा उपकार करता है उसको सुहृत् कहते हैं। तुम को जीवनदान देने वाला, तुमको सत्-रूप देने वाला परमेश्वर है, पर सब देते हुए तुमसे क्या लेता है? कुछ नहीं। तुम हो क्यों? परमेश्वर ही तुमको सत्-रूप देता है, सत्ता देता है। इसी प्रकार परमेश्वर ही तुमको चित्ता, चेतनभाव देता है। जहाँ अन्तःकरण आदि नहीं है वहाँ भी सत् तो है, चित् नहीं है। जितने भी जलाशय हैं उन सभी को सूर्य प्रकाशित करता है और जो जलाशय

नहीं चट्टानें या बालू के खण्ड हैं उनको भी सूर्य ही प्रकाशित करता है। जलाशयों को प्रकाशित भी करता है और उनके अंदर सूर्य का प्रतिबिम्ब भी पड़ता है। जैसे सूर्य चमकता है वैसे ही वे भी चमकते हैं। चीज़ों को प्रकाशित सूर्य करता है पर चीज़ें उसके लिए क्या करती हैं? कुछ नहीं। अतः किसी भी उपकार की अपेक्षा बिना किए हुए वह उनको प्रकाशित करता है। इसी प्रकार परमात्मा बिना किसी उपकार की अपेक्षा किए हुए सब चीज़ों के अंदर 'है'-रूप देता है। और जिस प्रकार से जलाशयों से कोई भी उपकार सूर्य का नहीं होता फिर भी उनमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही अन्तःकरणों में परमात्मा प्रतिबिम्बित होता है। उन अन्तःकरणों से उसका कोई उपकार होने वाला नहीं है। इसलिए सुहृत् है।

'प्रभवः' जगत् की उत्पत्ति, होना भी वही है और 'प्रलयः' उसी में सब चीज़ें अन्त में लीन होती हैं, लीन होने की जगह भी वही है। 'स्थानम्', सब चीज़ों की स्थिति रखने वाला भी वही है। उसके कारण ही सब चीज़ें स्थित हैं। अथवा सृष्टि का प्रभवरूप ब्रह्मा जी, प्रलयरूप रुद्र और स्थानरूप विष्णु वही है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लयइन तीनों अवस्थाओं को बताने के लिए ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की बात कही जाती है। 'निधानं', आदमी चीज़ें रख लेता है कि कालान्तर में उन्हें भोगेगा। आजकल एक तिजोरी बहुतों के घर में हो गई हैरैफ्रिजरेटर। पहले तो भोजन बच जाता था तो कोई गरीब आये उसको दे देते थे, नहीं तो गाय भैंस को खिला देते थे क्योंकि अन्यथा पता था कि खराब हो जाएगा। अब ठण्डी अल्मारी में रख देते हैं कि शाम को खा लेंगे! इस तरह कालान्तर में भोग करने की चीज़ें बढ़ गईं। कालान्तर के अंदर जिनका उपभोग होगा, वह निधान भी मैं हूँ। सबसे बड़ा निधान तो आजकल बैंक है। सब उसमें पैसा जमा कराकर रखते हैं कि फिर कभी काम आएगा। अभी उस पैसे का कोई प्रयोजन नहीं है, बाद में काम आएगा। 'बीजम्', सब चीज़ों के अंदर उनकी बढ़ोत्तरी का जो हेतु है, जिससे चीज़ें बढ़ कर प्रकट होती हैं, वह बीज है। सब चीज़ों का बीज भी समझ सकते हो, अथवा सामान्यतः वृक्षों के बीज होते हैं यह प्रसिद्ध है अतः उन बीजों को भगवान् अपना रूप कह रहे हैं यह समझ सकते हो। कैसा बीज? 'अव्ययम्' अर्थात् जब तक संसार रहता है तब तक कभी ख़त्म नहीं होता। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीजयह अनादि परम्परा है और जब तक संसार रहता है तब तक रहती है। इसलिए इसको अव्यय बीज कह दिया। जिसका बीज नहीं हो, वह चीज़ कभी भी बढ़ कर कुछ हो नहीं सकती। हम लोगों को बीजों से पेड़ उगते हुए हमेशा दीखते हैं पर तत् तत् बीजों के नष्ट होने पर भी बीज-सन्तति बनी रहती है। अतः यहाँ अव्यय शब्द लगने के कारण केवल एक किसी विशिष्ट बीज को नहीं, बीज-सन्तति को समझना है क्योंकि अव्यय तो वही होती है। जब तक सृष्टि रहती है तब तक वह ख़त्म नहीं होती।

उसको अव्यय कहने का एक और खास कारण है कि सामान्यतः जब एक चीज़ से

कोई दूसरी चीज़ पैदा करते हो तो कारणरूप चीज़ बनी रहती है। मिट्टी से तुमने पौधा पैदा किया, घड़ा पैदा किया, दोनों में क्या फ़र्क है? फ़र्क यह है कि मिट्टी से बना घड़ा मिट्टीमात्र ही रहता है परन्तु मिट्टी से बना पेड़ मिट्टी *ही* नहीं रहता, मिट्टी से सर्वथा अलग दीखता है। अथवा, अन्न से हमारा शरीर बना परन्तु उस शरीर के अंदर जो हमारा बीज (शुक्र-शोणित) है, उससे जो पैदा हुआ वह बच्चा सर्वथा अलग, दूसरा दीखता है। अन्न खाकर हमारा पेट भी फूला, हाथ-गर्दन भी मोटे हुए, वह सब हमारा रूप ही दीखता है, यही लगता है कि देवदत्त ही मोटा हुआ, देवदत्त का पेट फूला। और अन्न से बने हुए शुक्र-शोणित के द्वारा जो उसका पुत्र यज्ञदत्त हुआ वह देवदत्त से सर्वथा भिन्न दीखता है। इस प्रकार से भिन्न दीखने वाले कारणों की ओर संकेत करने के लिये बीज कहा। वैसे तो जितने भी कारण हैं सभी अव्यय हैं, जब तक सृष्टि समाप्त नहीं होती तब तक मिट्टी, पानी आदि रहते हैं। लेकिन सर्वत्र सन्तति वाली बात नहीं आती। घड़ा फोड़कर तुमने फिर मिट्टी बना ली तो यह प्रतीति नहीं होती कि *दूसरी* मिट्टी बनी, यही लगता है कि वही मिट्टी है। गहना गलाने पर वही सोना हाथ आता है, अन्य सोना नहीं। लेकिन यज्ञदत्त के बेटे देवदत्त को देख कर 'यह वही यज्ञदत्त है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। यह फ़र्क होने के कारण बीज को भगवान् ने अलग से कह दिया।।१७।।

भगवान् ने जब कहा कि कुछ भक्त मेरी 'बहुधा', बहुत चीज़ों में उपासना करते हैं, तब प्रश्न हुआ कि उन चीज़ों की उपासना आपकी उपासना कैसे? इसके उत्तर में भगवान् बतला रहे हैं कि संसार के अंदर सब चीज़ों के अंदर मैं विद्यमान हूँ। इसी क्रममें कहते हैं

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

अर्जुन! (सूर्य होकर) मैं तपता हूँ, मैं जल ग्रहण करता और बरसाता हूँ, अमृत, मृत्यु, सत् और असत् मैं ही हूँ।

मैं सूर्य के रूप में गर्मियों के मौसम में तेज़ किरणों के द्वारा ताप देता हूँ जो ताप सबको तपाता है। कुछ तेज रश्मियों के द्वारा मैं तपाता हूँ तथा कुछ अन्य रश्मियों के द्वारा मैं वर्षा करता हूँ। गर्मियों में, वैशाख-ज्येष्ठ इन दो महीनों में मैं तपाता हूँ और फिर आषाढ और श्रावण दो मासों में मैं वर्षा करता हूँ। इस रश्मियों के भेद के बारे में आधुनिक लोगों को कुछ पता नहीं है कि किन विशेष रश्मियों से ताप होता है, किन विशेष रश्मियों से वर्षा होती है। सब रश्मियाँ एक जैसी नहीं हैं। फिर आठ मासों तक कुछ तीसरे प्रकार की रश्मियों के द्वारा, उस जल को मैं वापिस खींचता हूँ, सुखाता हूँ। अर्थात् जल का शोषण करने वाली एक प्रकारकी रश्मियाँ, वर्षा करने वाली दूसरे प्रकार की रश्मियाँ और ताप देने वाली तीसरे प्रकारकी रश्मियाँ हैं। 'अमृतं' देवताओं को

अमरता देने वाला अमृत भी मेरा ही स्वरूप है और 'मृत्युश्च', मरणधर्मा प्राणियों का मरण करने वाला भी मैं ही हूँ। देवताओं को अमर करने वाला, और प्राणियों को मारने वाला मैं ही हूँ।

'सत्' वह जिसके संबंध से कोई भी चीज़ विद्यमान रूप से प्रतीत होती है। 'है' का संबंध होने पर ही वस्तु विद्यमान प्रतीत होती है। जिसके संबंध से वस्तु विद्यमानतया प्रतीत होती है वह सत् मैं हूँ। और जिसके संबंध से 'नहीं है' ऐसी प्रतीति होती है वह असत् भी मैं हूँ। घड़े का जब 'है' से संबंध होता है तब 'घड़ा है' प्रतीत होता है और घड़े का जब 'नहीं है' से संबंध होता है तब 'घड़ा नहीं है' ऐसी प्रतीति होती है। जैसे अमृत और मृत्यु द्वन्द्व हैं वैसे सत् और असत् परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व हैं लेकिन सत् और असत् दोनों ही परमात्मा का रूप हैं। इस सत्-असत् से कार्य-कारण भी ले सकते हैं क्योंकि दार्शनिक ढंग से सत् में कारणता होती है और असत् में कार्यता होती है; जो है उसी से जो अभी नहीं है, वह पैदा होता है। किन्तु यह अर्थ नहीं लेते हैं क्योंकि यह नैय्यायिकों के आरम्भवाद जैसी बात हो जाती है क्योंकि कार्य असत् है यह आरम्भवादी मानते हैं। परिणामवादी सत् कारण में सत् ही कार्य छिपा हुआ है ऐसा मानते हैं। मिट्टी के अंदर घड़ा नया पैदा नहीं होता, मिट्टी में जो छिपा घड़ा है, वही प्रकट हो जाता हैयह परिणामवाद का मानना है। वेदान्त-प्रक्रियामें प्रायः परिणामवाद से व्यावहारिक जगत् की व्यवस्था बनाई जाती है, इसलिए यहाँ कार्य-कारण अर्थ नहीं समझकर जिसके संबंध से पदार्थ मौजूद प्रतीत होता है और जिसके संबंध से मौजूद नहींऐसा प्रतीत होता है, वे सत् और असत् समझे गये हैं। भगवान् स्वयं असत्-रूप हैं ऐसा अर्थ नहीं समझ लेना! सत् व असत् कहने से ऐसी प्रतीति होती है कि सत् भी हैं और अत्यन्त असत् शून्य भी वे ही हैं। किन्तु ऐसा तात्पर्य नहीं है। जिसके संबंध से होने की प्रतीति होती है उसे सत् कहा और मौजूद रहने पर भी जिसके संबंध से ग़ैर मौजूदगी की प्रतीति होती है उसे असत् कहा।

सभी अनुभवों के अंदर उनके नाम-रूप का बाध कर परमात्मदृष्टि करना रूपी जो यज्ञ है, उससे मेरी उपासना करते हैं। जो-जो चीज़ प्रतीत होती है चाहे वह है- रूप में, चाहे नहीं है- रूप में, उस 'है' और 'नहीं है' का बाध करते हुए एकमात्र अधिष्ठान को ही देखनायह यज्ञ है। जैसे घी को अग्नि में जलाते हैं वैसे ही यहाँ आकारों को विवेक के द्वारा जला देते हैं, एकमात्र अधिष्ठान शेष रह जाता है। इस प्रकार से ज्ञान यज्ञ के द्वारा पूजन करने वाले मुझे ही प्राप्त करते हैं।।१९।।

जो इस परमात्मरूप को नहीं समझते, अज्ञानी हैं, वे लोग कामकामी हैं अर्थात् व्यवहार में आकार आदि का बाध करते हुए मुझे नहीं देखते, आकारों को वास्तविक मानकर उनकी ही कामना करते हैं। पदार्थ वे ही हैं, उनमें परमात्म-दृष्टि करने से परमात्म-प्राप्ति हो जाती है और पदार्थों को ही वास्तविक समझ लेना अज्ञान को बढ़ाने वाला, विषय-वासना

को बढ़ाने वाला होता है। निष्काम भगवद्भक्त मोक्ष पाते हैं पर कामना रहते तो संसरण चलता ही रहता है यह बताते हैं

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम् अश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

यज्ञों द्वारा आराधना कर स्वर्गगमन चाहने वाले जिन सोमपायी वेदज्ञों के पाप धुल चुके हैं वे देवराज का पुण्य लोक पाकर उस द्युलोक में देवों के दिव्य भोगों का अनुभव करते हैं।

अज्ञानी भी शास्त्रानुसार कर्म करते हैं परन्तु काम-कामी होकर, 'मुझे इस फल की प्राप्ति होवे'यह चाहकर। 'त्रैविद्याः' वेदत्रयी-संबंधी तीनों विद्याओं वाले; जिन्होंने वेदों को और वेदों में कहे हुए कर्मों व देवताओं को ठीक से समझा है। ऐसे लोग वस्तुगत्या मेरी पूजा करने पर भी जिन वसु, रुद्र, आदित्यादि रूपों को पूजते हैं उन्हें मैं नहीं समझते, ईश्वर नहीं समझते। वे 'सोमपाः' सोमयज्ञ करके सोमपान करते हैं जिससे 'पूतपापाः' अपने पापों से छूटते हैं। बाहर से तो जो वसु आदि देवताओं को परमात्मा समझ कर यज्ञ करता है वह भी जैसा वेद में लिखा है, उसी ढंग से करता है, पर उसकी दृष्टि तो यज्ञ, क्रतु, हवन की सामग्री, आज्य आदि सबका प्रयोग करते हुए उन सबके अंदर विद्यमान जो अपना ही आत्मतत्त्व है उसको देखती है। अज्ञानी सामग्री को अलग समझते हैं, देवताओं को अलग समझते हैं, जिस अग्नि में आहुति देते हैं उसको अलग समझते हैं, सब चीज़ों को अलग-अलग समझ कर यज्ञ करते हैं। अतः उनकी दृष्टि में 'स्वर्गति' स्वर्ग में जाना ही जीवन का लक्ष्य है, उसी को 'प्रार्थयन्ते' पाना चाहते हैं। सब चीज़ों को अपने आत्मा से भिन्न समझते हैं इसलिए यज्ञानुष्ठान से भी उनको केवल स्वर्ग की ही प्राप्ति हो सकती है। परिश्रम एक जैसा है परन्तु समझ कर करते हैं तो उसका फल मोक्ष हो जाता है और बिना समझे करते हैं तो फल स्वर्ग रह जाता है। स्वर्ग अर्थात् सुरेन्द्र का, देवताओं के राजा का लोक। वह पुण्यों के फलस्वरूप मिलता है इसलिये यहाँ उसे भी पुण्य कहा। उसे पाकर वे उन विषयों का उपभोग करते हैं जो वहीं हुआ करते हैं, निम्न लोकों से विलक्षण हैं, तथा देवताओं के योग्य हैं। किन्तु स्वर्ग गये सबको बराबर भोग नहीं मिलते! इन्द्र शतक्रतुसौ क्रतुओं का अनुष्ठाता बनकर स्वर्ग जाता है अतः वही सर्वाधिक भोग पाता है। बाकी सब अपने-अपने पुण्यों के अनुपात में ही भोग प्राप्त करते हैं। इसलिये स्वर्ग में भी तारतम्य का दुःख तो बना ही रहता है। भगवत्प्राप्ति में यों भेदभाव वाला नहीं, एकरस आनन्द है अतः बुद्धिमान् को स्वर्गेच्छा छोड़कर भगवान् को पाने का ही प्रयत्न करना चाहिये।।२०।।

स्वर्ग के भोग तारतम्य वाले ही नहीं, क्षयिष्णु भी हैं, इसलिये भी विवेकी द्वारा कमनीय नहीं यह समझाते हैं

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

वे उस विस्तीर्ण स्वर्ग लोक का उपभोग कर पुण्य खर्च हो चुकने पर मरणधर्मा प्राणियों के लोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार, वेदत्रयविहित धर्मों के अनुसर्ता किंतु विषयाभिलाषी लोगों को (ऊँचे-नीचे लोकों में) जाना-आना ही मिलता है।

'विशालं', स्वर्गलोक अत्यन्त विशाल है और वहाँ पहुँचने वाले हमेशा कम ही होते हैं। इसलिए भीड़ भड़क्के की तकलीफ़ वहाँ नहीं होती। किन्तु स्वर्ग में रखने वाला पुण्य खर्च होता जाता है। जितना पुण्य मनुष्य लोक में अर्जित किया है उसके अनुसार ही स्वर्ग में रहना मिलेगा। जिसने दो ही यज्ञ किये उसकी अपेक्षा बीस यज्ञ करने वाला दस गुणा समय वहाँ रह सकेगा। किंतु चाहे जितना हो, जब वह पुण्य भोग लिया तब 'क्षीणे पुण्ये' पुण्य का व्यय हो जाने पर फिर वापिस 'मर्त्यलोकं विशन्ति', इसी मर्त्यलोक में आ जाते हैं। जिन्होंने उन्हीं कर्मों को सब चीज़ों को आत्मा से अभिन्न समझकर किया है वे, जैसा पहले कहा था, ब्रह्मलोक जाकर वापिस नहीं आएँगे। परन्तु जिन्होंने भेद-दर्शन रखकर कर्म किये हैं वे पुनः लौटेंगे ही। अज्ञानी समझते हैं कि ये सब अलग ही हैं, वसु रुद्र आदित्य मैं नहीं हूँ, वे देवता हैं, मालिक हैं अलग हैं, हम यजमान, सेवक अलग हैं। इसी प्रकार से जिस आज्य की आहुति वगैरह देते हैं उसका अपने आत्मा से कोई संबंध नहीं समझते। अतः उन अज्ञ लोगों को केवल पुण्य होता है। पुण्य से दिव्य भोग मिलते हैं। जितनी देर दिव्य भोग भोगते हैं, उतनी देर उनके पुण्य क्षीण होते रहते हैं। क्षीण, कम ही होते हैं, स्वर्ग में रहने वाले के पुण्य सर्वथा समाप्त नहीं होते। सूत्रभाष्य में कहा है कि जैसे किसी बर्तन में तुम घी रख दो, फिर उस बर्तन को खाली करो तो बर्तन खाली होने पर भी उसमें थोड़ा-सा घी चिपका हुआ रह ही जाएगा। इसी प्रकार भोग से पुण्य समाप्त होने पर भी थोड़ा तो रह ही जाएगा।

'एवं त्रैधर्म्यम् अनुप्रपन्नाः' यह भाष्यानुसारी पाठ है। ऋक्, यजु, साम वेदों में होता, अध्वर्यु और उद्गाता के लिये विहित धर्मों को एकत्रकर त्रिधर्म और उसे ही त्रैधर्म्य कहते हैं। नीलकण्ठ आदि के अनुसार 'त्रयीधर्मम्' पाठ है, त्रयी अर्थात् वेद द्वारा प्रतिपादित धर्मअर्थ है। दोनों पाठों में अर्थ एक ही है और दोनों सही पाठ हैं। वेदविहित कर्मों का नाम ही धर्म है। उस धर्म को 'अनुप्रपन्नाः' मानकर तदनुसार कर्म करने वाले 'गतागतं' आने-जाने वाले विषयों को प्राप्त करते हैं क्योंकि 'कामकामाः' उन्होंने कामनाएँ ही इन विषयों की की थीं। कामकामी होने के नाते काम्य विषयों की प्राप्ति ही होती है। कामकामियों की कामनाएँ कैसी हैं? आने-जाने वाले विषयों की ही हैं। उन्हें प्राप्य दिव्य भोगों के अंदर उनका स्वातन्त्र्य नहीं है, पुण्य के अनुसार मिलेंगे, पुण्य समाप्त होने पर चले जाएँगे।।२१।।

ऐसों से विलक्षण जो भगवान् से एकता को प्राप्त करेंगे वे स्वतंत्र रहेंगे क्योंकि भगवत्-स्वरूपमें आना-जाना नहीं है। आने-जाने वाली चीज़ों में परतन्त्रता होती है। जैसे मावे की कचौड़ी खाएँगे तब मावे की कचौड़ी का सुख मिलेगा। किन्तु मावे की अच्छी कचौड़ी मिलने में स्वतन्त्रता नहीं है। परंतु योगाभ्यास से हम अपनी रसना के ऊपर चित्त-वृत्ति को केन्द्रित करते हैं तो उससे बढ़िया स्वाद आते हैं। उन बढ़िया स्वादों में हम स्वतन्त्र हैं। सर्वथा स्वातंत्र्य तो वहाँ भी नहीं है लेकिन कम-से-कम किसी विषय के अधीन नहीं हैं। अपना स्वरूप हम शरीर, मन, प्राण को मानते हैं, उसी का रोध किया, और जब मर्ज़ी तब स्वाद ले लिया, अतः जिसे हम मैं समझ रहे हैं उसीके सहारे स्वाद को लेने से स्वतन्त्रता है। शरीर आदि के अधीन तो हैं ही, वे भी हमारा *वास्तविक* स्वरूप नहीं है, हमसे भिन्न हैं। शरीर, प्राण, अन्तःकरण आदि हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिए योगसिद्धि मिलने पर भी उनके अधीन तो रहते ही हैं। प्राणायाम करेंगे, मन्त्र जप करेंगे तब सुख होगा, इस सब के अधीन तो हैं ही।

परन्तु जो देहादि की उपाधि से रहित मेरा वास्तविक स्वरूप है उसे अपने सच्चिदानन्द के लिए किसी अन्य साधन की ज़रूरत नहीं है, वह स्वयं ही आनन्दरूप है। व्यावहारिक दृष्टि से हमारा शरीर क्योंकि जीवनभर रहता है इसलिए इसको गतागत नहीं भी कहेंगे, परन्तु वास्तविक दृष्टि से शरीर भी गतागत ही है। इसलिए उपाधियों से रहित जो अपना आनन्दस्वरूप है उसी में परम स्वातन्त्र्य है। वह आनंद किसी भी विषय की कामना से रहित है। काम शब्द का प्रयोग प्रायः करके विषयों के लिए होता है। इसलिए निष्काम का अर्थ है किसी भी विषय की इच्छा न रखना। अपने आत्मा की इच्छा होना सकामता नहीं है। परमात्मा हमारा स्वरूप है, उससे प्रेम होना, उसकी प्राप्तिकी इच्छा होना कामना नहीं है। विषय हमारा स्वरूप नहीं है, अतः उनसे प्रेम होना कामना है। विषयकामना को ही कामना कहा जाता है। इसलिए श्रुति में कहा है कि आत्मकाम आप्तकाम है। आत्मा की कामना को 'सारी कामनाएँ प्राप्त हो गईं' ऐसा कहा जाता है। निष्काम सम्यक् दर्शी परमात्मा के वास्तविक ब्रह्मस्वरूप को अपने आत्मा से अभिन्न जानने वाला होगा इसलिए परमात्मा की भेदबुद्धि से उपासना नहीं करेगा यह समझाते हैं

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

जो लोग (ईश्वर और जीव पृथक् हैं इस) भेदभाव से रहित होकर मेरा चिन्तन करते हुए मेरी हर ओर से उपासना करते हैं, सदा पूर्णतः योगलग्न उनका योग-क्षेम मैं संपन्न करता हूँ।

भगवान् ने पहले कहा था कि जो मुझ परमात्मा को अपने से अन्य समझते हैं वे भेद-बुद्धि वाले हैं। उनसे विलक्षण हैं 'अनन्याः' परमात्मा अन्य नहीं है, इस प्रकार समझकर जो

चिन्तन करते हैं। परमात्मा उनसे पृथक्-भूत नहीं रहता है। उनकी उपासना अहंग्रह से होती है अर्थात् स्वयं से, अपने प्रत्यग्रूपसे अभिन्न कर वे परमात्मा का चिन्तन करते हैं। ऐसे जो लोग होंगे वे 'पर्युपासते' मेरी सर्वतः उपासना करते हैं। अन्यबुद्धि वालों की उपासना तो उपाधियों में सीमित ही रह सकती है, परितः अर्थात् सब तरफ से नहीं हो सकती। अनन्य होने पर ही परिउपासना संभव है। 'तेषां' इस प्रकार परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले 'नित्याभियुक्तानां' नित्य अभियुक्त होते हैं। नित्य, निरन्तर और श्रद्धापूर्वक उपासना कर्तव्य है। नित्यजब तक मर न जाएँ तब तक। निरन्तरजगने से लेकर जब तक नींद न आ जाए तब तक। यहाँ 'नित्य' से नित्य और निरन्तर दोनों समझ लेना। ऐसे उपासक नित्य अभियुक्त होंगे, मुझसे हमेशा एक होंगे। उन्हें कोई विषय-कामना है नहीं, इसलिए विषयों के लिए प्रवृत्ति भी नहीं होगी। अतः वे परमहंस संन्यासी ही होंगे। उनका व्यवहार कैसे चलेगा? भगवान् बताते हैं'योग'जो उन्हें प्राप्त नहीं है वह मैं प्राप्त करा देता हूँ और 'क्षेम'जो प्राप्त है उसका रक्षण करता हूँ। उनके सारे योगक्षेभ का मैं वहन करता हूँ क्योंकि वे मुझे से अभिन्न है। मुझे से अभिन्न होने के कारण अत्यन्त प्रेमवश मेरी उपासना में ही लगे रहने से वे अपने योग-क्षेम के लिये कुछ नहीं करते अतः उनके योग-क्षेम को वहन करने वाला मैं ही हूँ। जो परमात्मा से अपने को भिन्न समझता है वह तो सोचता है कि 'अपने योग-क्षेम का वहन मुझे करना है, मैं करूँगा तो होगा, नहीं करूँगा तो कैसे होगा!' अज्ञानियों का यह भ्रम हमेशा रहता है। जिनका वह भ्रम मिट गया वे अकर्त्ता अभोक्ता स्वरूप वाले हैं इसलिए उनके प्रारब्ध का फल देने वाला मैं परमेश्वर ही उनके शरीर आदि का निर्वाह करता रहता हूँ।

परमेश्वर विभिन्न प्रकारके भक्तों में भेद-बुद्धि वाले होकर योगादि का वहन करते हैंऐसा नहीं, अन्यथा उनके ऊपर दोष आ जाएगा कि क्यों एकका योग-क्षेम खुद वहन करते हैं और दूसरे का योग-क्षेम खुद नहीं वहन करते हैं? किन्तु दूसरे स्वयं प्रवृत्त हैं अपने प्रारब्ध-भोगों की प्राप्ति के लिए इसलिए उनको प्रतीति होती है कि 'यह हमारा प्रयत्न-साध्य है, हम करेंगे तब होगा।' मिलना तो प्रारब्ध भोग ही है, लेकिन अज्ञानी समझता है 'मेरे किए बिना नहीं होगा' इसलिए उसकी प्रतीति है कि 'मैंने किया तब हुआ।' जो उस प्रारब्ध-भोग को अपने द्वारा किया हुआ नहीं समझता है उसको भी भोग प्राप्त तो होगा ही, किन्तु उसका अनुभव है कि प्राप्त कराने वाला परमेश्वर ही है। इसलिए भगवान् ने कहा कि उसका योगक्षेम मैं ही करा देता हूँ। ईश्वर अज्ञानी को भी प्रारब्ध का फल देता है और ज्ञानी को भी प्रारब्ध का फल देता है। मिलना दोनों को प्रारब्ध का फल है। ज्ञानी में विशेष यह है कि वह अपने में कर्त्तृत्व लाकर 'करूँ' की भावना से रहित है। ऐसे समझ लो गर्मी पड़ रही है, हम बैठे हुए हैं। अकस्मात् ठण्डी हवा आई, हमें लगी तो सुख हुआ। तब प्रतीति होती है 'हवा ने मुझे सुख दिया', क्योंकि अपने में कर्त्तृत्व-बोध नहीं है। यदि मैंने पंखा चलाया या वातानुकूलनयंत्र चलाया जिससे हवा आई, तो लगता है कि 'मैंने

किया तब आई।' हवा का भोग तो बाहर बैठे हुए को भी हो रहा है, पंखे के नीचे बैठे हुए को भी हो रहा है, और दोनों हैं प्रारब्ध का ही फल, परन्तु पंखा चला करके प्रतीति मनुष्य को होती है कि 'मैंने चलाया तब हुआ' और बाहर बैठ कर प्रतीति होती है कि 'हवा चली तब हुआ।' प्रारब्ध का भोग तो ईश्वर ही सबको देता है परन्तु अज्ञानी समझता है कि 'मैं करूँगा तब होगा, परमेश्वर क्या करेगा!' जो जीवन और मरण के प्रति भी किसी प्रकार की स्पृहा से, कामना से रहित हैं, वे अपने को सदा भगवत्-शरण ही रखते हैं अतः उनकी सब पूर्ति केवल ईश्वर ही करता है। 'मैं करूँगा तब होगा'इस प्रकार का उनको अज्ञान नहीं रहता है।२२।।

शंका होती है कि आपने पहले कहा कि 'वसु रुद्र आदित्य भी मेरे ही स्वरूप हैं।' अतः जो वसु रुद्र आदित्य इत्यादि को आहुतियाँ देता है वह भी क्या आप की ही उपासना नहीं कर रहा है? भगवान् समाधान करते हैं कि मेरी उपासना करने पर भी जैसे फलभोग के अंदर दोनों की दृष्टियों का फ़र्क है वैसे ही यहाँ भी फ़र्क है

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

कुन्तीपुत्र! ईश्वरसे अन्य समझकर देवताओं की भक्ति करने वाले भी जो श्रद्धासे सम्पन्न लोग पूजा करते हैं वे भी अज्ञानपूर्वक मेरी ही पूजा करते हैं।

अज्ञानी परमेश्वर से भिन्न ही देवताओं को समझता है, अपने आत्मा से अभिन्न नहीं समझता। है भक्त, इसलिए आस्तिक बुद्धि से, श्रद्धा से युक्त हुआ पूजनादि करता है। किन्तु उसे लगता है कि 'कृष्ण देवता हैं, इनको आहुति दे रहा हूँ; मैंने खुद कमा कर आहुति की सामग्री रखी है।' अगर किसी से हमने सामग्री ली होगी तो कर्म के फल में फ़र्क आ जाएगा। बड़े सोमयाग आदि में अधिकतर काम तो पुरोहित लोग ही करते हैं। यजमान स्वयं तो थोड़ी-सी आहुतियाँ डालता है। किन्तु फल उन ब्राह्मणों को तो नहीं होगा क्योंकि सामग्री *उनकी* नहीं है। फल यजमान को होगा क्योंकि उसी ने सारी सामग्री दी है, और उन पंडितों को भी वह कार्य के लिए दक्षिणा देगा, दक्षिणा नहीं देगा तो यज्ञ पूरा नहीं होगा। यद्यपि वे लोग कर रहे हैं तथापि फल यजमान को होगा। इसी प्रकार से कहीं से हमने चोरी से चीज़ ले ली और उससे यज्ञ किया तो क्योंकि सामग्री हमारी थी नहीं इसलिये फल हमें नहीं होगा। इसलिए चाहे दान करो, चाहे देवताओं को हवि दो, चाहे पितरों को दो, सर्वत्र देने का तात्पर्य यही है कि अपनी मिलकियत को, स्वत्व को हटा करके परस्वत्व, दूसरे की मिलकियत का आपादन करना; जो अपनी चीज़ है वह दूसरे को देना। यदि वह अपनी चीज़ है ही नहीं तो दान नहीं होगा। एक की चीज़ दूसरे को दीयह तुम्हारा किया दान नहीं है क्योंकि अपनी चीज़ से स्वत्व हटाया नहीं गया, कारण कि वह पहले ही अपनी चीज़ नहीं थी।

कर्म के ऐसे सब सूक्ष्म भेदों में श्रद्धा से, 'जैसा शास्त्र बतला रहा है वैसा ही कर्तव्य है' इस निश्चय से युक्त होकर जो कर्मकाण्डी यज्ञ करते हैं वे भी 'मामेव यजन्ति', वसु रुद्र आदित्यादि रूप से मौजूद मेरी ही आराधना करते हैं। परन्तु 'अविधिपूर्वकम्' अज्ञानपूर्वक करते हैं। 'श्रद्धया' कह दिया है इसलिए 'अविधिपूर्वकम्' का मतलब यह नहीं लेना कि जैसा कर्मकाण्ड में लिखा है उस विधि को न मान कर करते हैं। उस विधि को न मान कर करेंगे तो यजन ही नहीं हो पाएगा। अतः अविधि मायने अज्ञान। 'यह सब कुछ परमात्मा है, मैं भी परमात्मा हूँ'इस बात को बिना समझे हुए, अपने को यजमान, अपने से भिन्न देवता इत्यादि मान कर करते हैं अतः उनका यज्ञ अविधिपूर्वक होता है।२३।।

अविधिपूर्वकता को और स्पष्ट करते हैं

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

मैं ही सब यज्ञोंका उपभोग करने वाला और अधिपति अवश्य हूँ, किन्तु (भेददर्शी) इस यथार्थरूपसे मुझे पहचानते नहीं अतः वे (स्वर्गादि से) पुनरावृत्त होते हैं।

अज्ञानी समझता है कि 'यह आहुति इन्द्र को दी, यह सोम को दी' परन्तु वस्तुतः सारे यज्ञों के फल को भोगने वाला आत्म-तत्त्व ही है। यज्ञों का फल अन्ततोगत्वा कहाँ आना है? स्वर्गलोक में जाकर मुझे ही आना है। अतः सारे यज्ञों का भोक्ता वस्तुतः तो परमात्म-तत्त्व ही है। जो इस बात को नहीं जानता, वह सोचता है कि विभिन्न देवता आहुतियों के भोक्ता हैं। 'प्रभुरेव च' जितने भी श्रौत-स्मार्त कर्म हैं उन सबका एकमात्र स्वामी मैं ही हूँ। पहले (८.४) कह आए हैं 'अधियज्ञोऽहमेव।' श्रुति भी कहती है 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ विष्णुरूप ही है, परमात्मरूप ही है। अतः सारे यज्ञों का प्रभु, स्वामी मैं हूँ। परन्तु उस आत्मतत्त्व को नहीं जानने के कारण अज्ञानी समझते हैं कि 'ये देवता भिन्न हैं, ये खुश होंगे तब हमें फल देंगे'। ऐसे लोग आत्मतत्त्व का वास्तविक स्वरूप नहीं जानते। देवताओं को, यज्ञ-सामग्री को, यज्ञ की अग्नि कोसबको अपने से भिन्न समझते हैं। इस अज्ञान से, 'ये सब परमात्मस्वरूप हैं' इस तथ्यके अज्ञान के कारण उन्होंने यजन अविधिपूर्वक किया इसलिए याग का जो फल है, वह थोड़े समय के लिए मिल कर फिर वहाँ से 'च्यवन्ते' च्युत हो जाते हैं, सीमित भोग ही उनको प्राप्त होता है।

इस प्रकार से भगवान् ने दोनों को सर्वथा भिन्न मार्ग का अवलम्बन करने वाला बतला दिया। यद्यपि बाहर से देखने पर विवेकी भी उन्हीं यज्ञ पूजा इत्यादि को करने वाले दीखते हैं तथापि उनका करना अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति करा कर मोक्ष को ले जाने वाला होता है और जो अपने को कर्त्ता-भोक्ता समझ कर कामकामी हैं वे उन्हीं यज्ञों के फलस्वरूप स्वर्गादि जाकर लौट आते हैं। उपनिषद् में कहा है कि 'यह सब मेरा आत्मस्वरूप ही है' इस रहस्य को जान कर पूरी श्रद्धा के साथ करने पर कर्म वीर्यवत्तर

होता है अर्थात् तुमको ब्रह्मलोक ले जाने वाला होता है। वहाँ भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि इसका मतलब यह नहीं है कि जो इस बात को नहीं समझते उनका कर्म व्यर्थ जाता है। वीर्यवत् तो उनका भी है। कर्म का फल स्वर्ग आदि अथवा जिस कामना से किया है उस कामना की पूर्ति तो जो भेदबुद्धि से किन्तु श्रद्धापूर्वक करते हैं उनको भी प्राप्त होता है, पर अभेदबुद्धि से करने वाला जिस मोक्ष मार्ग को जाता है उसको वे नहीं जा सकते।।२४।।

जब सब कुछ ब्रह्मरूप है तब जिसका भी भजन करो वह ब्रह्म का ही भजन है। परन्तु 'यह ब्रह्म है' ऐसा ज्ञान न होने से अर्थात् उपाधि का बाध न समझने के कारण जो 'उपाधि का ही भजन कर रहा हूँ' ऐसा समझता है उसको उपाधि का पूजन करने का ही फल भी मिलता है। पूजन के ढंग में फ़र्क नहीं है, एक-जैसा प्रयास करने पर भी अज्ञान के कारण वह मोक्षरूप फल से वंचित रह जाता है। इसी फलभेद को स्पष्ट करते हैं

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

देवविषयक पूजा करने वाल देवताओं को प्राप्त करते हैं, पितरों को उद्देश्य कर पूजा करने वाले पितरों को पाते हैं। भूतों के पूजक भूतों को पाते हैं, मुझ ईश्वर को ही पूजने के स्वभाव वाले मुझे ही प्राप्त करते हैं। (यों प्रयत्न समान होने पर) भी (अज्ञानी दुर्दैववश तुच्छ फल ही पाते हैं)।

'देवव्रताः' देवताओं की उपाधि में ही नियमपूर्वक जिनकी भक्ति है अर्थात् 'यह देवता है', ऐसा समझ करके ही उसका भजन करते हैं। नियम है कि जिसका जैसा क्रतु होता है वैसा ही वह हो जाता है'स यथाकामोभवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तद् अभिसम्पद्यते।' (बृ. ४.४.५)। जिस-जिस इष्ट देव का भजन करता है उस-उस इष्ट देव का सालोक्य, सामीप्य इत्यादि मुक्तियों में से कोई-न-कोई मुक्ति पा जाता है। यदि भजन अत्यन्त कम है तो सालोक्य, अपने इष्ट देव के लोक को चला जाता है। अगर भक्ति कुछ ज़्यादा होती है तो सामीप्य पाता है। लोक में होने से उनकी संनिधि होना ज़रूरी नहीं है लेकिन भजन ज़्यादा हुआ है तो संनिधि भी मिल जाती है, उनके पास कोई-न-कोई काम मिल जाता है, उनके पैर दबाने इत्यादि की सेवाएँ मिल जाती हैं। और ज़्यादा भजन करता है तो देवता का आयुध विशेष बन जाता है जो हमेशा देवता के ही हाथ में रहता है; या कोई अंग आदि बन जाता है। जो देवता का नियमपूर्वक भजन करते हैं वे अपने-अपने इष्ट देव को प्राप्त कर जाते हैं क्योंकि श्रुति ने नियम किया है कि जैसा संकल्प करेगा वैसा ही बन जायेगा।

जो श्राद्ध आदि करते हैं वे पितृव्रत हैं। अग्निष्वात्त आदि जो पितर हैं, उनका श्राद्ध आदि से स्वधा आदि के द्वारा सेवन करते हैं अर्थात् पितरों की ही भक्ति करते हैं। वे पितृलोक को जाते हैं। पितृलोक को ही सामान्यतः पुराणों में चन्द्रलोक कहा है।

दक्षिणायन से जाने वाले वहाँ जाते हैं। जो श्राद्ध आदि भी नहीं करते, भूतेज्य हैं, भूतपूजक हैं, वे उन्हें प्राप्त करते हैं। विनायक, मातृकाएँ, चतुःषष्टी योगिनियाँ हैं, इस प्रकार के भूतगणों की ही आराधना में जो लगे रहते हैं, तदनुकूल बलि इत्यादि देना ऐसी तामसी पूजाओं को करते रहते हैं, वे उन्हें ही पाते हैं। जो सात्त्विक होते हैं वे देवताओं की पूजा करते हैं। आगे भगवान् स्वयं कहेंगे कि सात्त्विक देवताओं को पूजते हैं, राजस लोग पितरों की पूजा इत्यादि करते हैं और तामस लोग भूतों की पूजा करते हैं। जो शास्त्र पर श्रद्धालु हैं वे गुणों के अनुसार न चलकर शास्त्र के अनुसार ही चलते हैं।

भगवान् सत्रहवें अध्याय में यह बात स्पष्ट करेंगे। भगवान् कहेंगे कि शास्त्र के अनुकूल मनुष्य को आचरण करना चाहिए। इस पर अर्जुन प्रश्न करेगा कि जो हैं श्रद्धा वाले लेकिन शास्त्र-ज्ञान से रहित होने के कारण दूसरे को देख कर वैसा ही करने लगते हैं, उनकी क्या गति होती है? तब भगवान् जवाब देंगे कि स्वभाव से ही जो प्रवृत्त होते हैं उनके सात्त्विक, राजस, तामसतीन स्वभाव हुआ करते हैं। जो शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करता है उसको गुणों से कुछ लेना-देना नहीं। जो शास्त्रानुसार प्रवृत्ति नहीं करता है, वह दूसरों को देख कर ही प्रवृत्त होता है। तामसी देखता है कि खूब बलि चढ़ती है, खूब शराब चढ़ती है तो समझता है कि यही देवता अच्छा है। अपने गुणानुसार ही जँचता है। इसी प्रकार राजस हीरे मोती चढ़ना, बड़े-बड़े लोगों का आना अच्छा समझता है। सात्त्विक को जहाँ शांति, इन्द्रियों का दमन, त्याग-वैराग्य दीखता है वही अच्छा लगता है। जैसी सात्त्विक, राजस, तामस वृत्ति होती है वैसे पर ही श्रद्धा होकर वैसी ही प्रवृत्ति होती है।

इन प्रवृत्तियों को छोड़ कर 'मद्‌याजिनः' परमेश्वर ने जो नियम शास्त्रों में बताए हैं उनके अनुसार ही जो करता है वह मद्याजी है। भगवान् ने कहा है कि श्रुति-स्मृति मेरी अज्ञाएँ हैं। लोग पूछते हैं 'भगवान् क्या चाहते हैं यह कैसे पता लगे?' शास्त्र में भगवान् ने अपनी चाहना बतायी है। जो उनको न मान कर, उनका उल्लंघन कर व्यवहार करता है उसके लिये भगवान् ने कहा है कि उसने मेरी आज्ञा को काट दिया है इसलिए वस्तुतः वह मुझ अपने आत्म-स्वरूप का द्वेषी ही है। अन्तःकरण की सात्त्विक, राजस, तामस प्रवृत्तियों को वह प्रधान मानता है, परमेश्वर की आज्ञा को नहीं। इसलिए यहाँ बताया कि ऐसे लोग पूजा तो मेरी ही करते हैं लेकिन अविधि से। देवरूप में मेरी भक्ति करते हैं, पितररूप में मेरी भक्ति करते हैं, भूतरूप में मेरी भक्ति करते हैं; करते मेरी ही भक्ति हैं क्योंकि सारा मेरा रूप है, लेकिन आज्ञा-विरुद्ध; आत्म-स्वरूप को न जानने के कारण भक्ति करने पर भी, वे मेरे द्वेषी हैं, अतः उनको वैष्णव नहीं कह सकते अर्थात् परमेश्वर का भक्त नहीं कह सकते। जो शास्त्र के अनुसार चलने वाले हैं वे साक्षात् आत्मस्वरूप मेरा ही यजन करते हैं, भजन करते हैं। ऐसे वैष्णव 'माम् यान्ति', मुझ परमात्मस्वरूप में ही लीन हो जाते हैं जहाँ से लौट कर आना नहीं पड़ता। इस प्रकार से समान प्रयास होने पर भी, समान प्रयत्न होने पर भी अज्ञान और ज्ञान का बहुत बड़ा फ़र्क है।।२५।।

देवताओं, पितरों या भूतों की पूजा के लिए तो जैसा नियम या व्रत कहा है वैसा ही आचरण करना पड़ता है, नहीं तो वे लोग प्रसन्न नहीं होते क्योंकि उपाधि-प्रधान हो कर जब उपासना होगी तब चूंकि उपाधि परिच्छिन्न है इसलिए उपाधि वाले देवताओं को द्रव्यादि से बड़ा फ़र्क पड़ता है। लोक में भी प्रसिद्ध है कि देवी की पूजा में बलि नहीं दोगे तो देवी नाराज़ हो जाएगी। भैरव जी की पूजा में अमुक चीज़ नहीं चढ़ाओगे तो भैरव जी नाराज़ हो जाएँगे। यह इसलिये कि परिच्छिन्न *बुद्धि* वाले हैं। भगवान् इनसे विलक्षण अपनी विशेषता बताते हैंमैं आत्मस्वरूप होने से अपरिच्छिन्न हूँ। बुद्धि तो मेरी सीमा करने वाली है ही नहीं, साक्षात् मायाशक्ति वाला हूँ। इसलिए संसार में जो कुछ है उस सबका मैं ही प्रभु हूँ। अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व होने से अमुक वस्तु मिले तो ही प्रसन्नता होऐसा मेरे बारे में नहीं है। इसलिए

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

जो कोई भी नर पत्ता, फूल, फल, जल मुझे भक्तिसे प्रदान करता है, शुद्ध मति वाले उस व्यक्ति का भक्तिपूर्वक भेंट किया वह पदार्थ मैं खा लेता हूँ।

पत्ता, बेल का पत्ता भगवान् को चढ़ाओ, उसी से प्रसन्न हो जाएँगे। पुष्प, सब जगह होने वाला आकड़ा भी चढ़ाओ तो भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। फल, प्रसिद्ध ही है कि बेर का फल, जिसको साधारण आदमी कोई महत्त्व नहीं देता, वही खाकर राम जी प्रसन्न हो गये थे। आम, सेब, केला आदि अच्छे फल माने जाते हैं पर बेर का फल बिलकुल सामान्य माना जाता है। आयुर्वेद वाले तो कहते हैं कि बेर का फल हमेशा कुपथ्य है, नुकसान ही करता है। उस बेर के फल को शबरी ने खिलाया और भगवान् प्रसन्न हुए। जो इतना भी न कर सके उसके लिये उपाय है जल-समर्पण, भगवान् शङ्कर तो जलधाराप्रिय हैं, जलधारा से ही प्रसन्न हो जाते हैं। इन सब चीज़ों में कोई खास विशेषता नहीं और इन्हें अर्जित करने में खास श्रम नहीं। क्योंकि सारा संसार मेरा है इसलिए तुम हीरा लेकर आओ या पत्ता लेकर आओ, दोनों मेरे ही हैं और मुझे ही दोगे। लेकिन देना है 'भक्त्या' प्रेम से भर करके कि 'भगवान् मेरा आत्मस्वरूप है।' परमात्मा का भजन हमेशा आत्मरूप से होता है और आत्मा हमेशा प्रिय होता है। 'भगवान् मेरा आत्मा, शुद्ध स्वरूप है'ऐसा समझ कर जो 'प्रयच्छति', देता है उसका दिया मैं ग्रहण करता हूँ। काँच में पड़े हुए प्रतिबिम्ब का वास्तविक स्वरूप कौन है? बिम्ब। जैसे बिम्बभूत चेहरा प्रतिबिम्बित मुख का स्वरूप ही होता है यद्यपि दीखता अन्यत्र है, इसी प्रकार मैं अन्तःकरण में दीख रहा हूँ परन्तु मेरा स्वरूप तो परमात्मा ही है। इस प्रकार समझने के कारण प्रेम से भर कर जो मुझे देता है, चढ़ाता है, 'तद्' वह चाहे पत्ता हो चाहे पानी हो, वह क्या चीज़ हैयह मैं नहीं देखता, भक्ति के द्वारा लाया हैयही देखता हूँ। वेद भी कहता है 'न ह वै देवा अश्नन्ति न

पिबन्ति' देवता न खाते हैं न पीते हैं। परन्तु तुम भक्तिपूर्वक लाए होबस, 'यह प्रेम से लाया है' इसको देख कर मुझे तृप्ति हो जाती है। जैसे छोटा बच्चा कहीं से चॉकलेट लाकर माँ से कहे 'माँ, तुम खा लो।' तो माँ बहुत प्रसन्न होती है, बड़े प्रेम से हाथ फेर कर कहती है 'बेटा तू ही खा ले।' चॉकलेट के कारण माँ प्रसन्न नहीं हुई है, उसने प्रेम से दिया इस कारण से प्रसन्न होती है। इसी प्रकार परमात्मा तुम क्या *चीज़* लाए हो, यह देख कर प्रसन्न नहीं होते हैं, तुम ले आए हो प्रेमपूर्वकबस इसीसे प्रसन्न होते हैं।

भक्ति से कौन लाएगा? 'प्रयतात्मनः' जिसकी बुद्धि, अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध है। जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध नहीं होता वह परमात्मा से प्रेम नहीं कर सकता। वह देव, पितर, आदि उपाधि को ही प्रधान मानता है। चूँकि उपाधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं इसलिए जिस उपाधि से उसको लगता है कि अधिक फ़ायदा होने की सम्भावना है, उसी उपाधि को पूजता है। जो आत्मस्वरूप से परमेश्वर को चाहता है वह परमेश्वर से कोई विषय तो चाहता है नहीं, केवल परमात्मा को ही चाहता है। जो ऐसा शुद्धबुद्धि होगा अर्थात् जिसके अन्दर वैराग्य पूर्ण रूप से होगा, वह जब ऐसी भक्ति से लाता है तब 'अश्नामि' मैं स्वयं ग्रहण कर लेता हूँ। बच्चे ने चॉकलेट दिया, माँ ने कहा 'बेटा तू खा ले', लेकिन माता को अनुभव क्या होता है? 'बेटा खा रहा है तो मैं ही खा रही हूँ।' ठीक इसी प्रकार से जो कुछ भी भक्ति से दिया जाता है, उसको वह परमात्मा स्वयं ही ग्रहण कर लेता है। परमात्मा का ग्रहण करने का मतलब यह नहीं है कि वह ले लेता है! उसको तो कुछ चाहिए ही नहीं। परन्तु जैसे बिना खाए माता प्रसन्न होती है कि 'मानों मैंने खा लिया', इसी प्रकार परमात्मा प्रसन्न हो जाते हैं।।२६।।

पत्ते आदि लाने में, चढ़ाने में फिर भी परिश्रम करना पड़ता है। ऐसे ही पानी के लिये कुए पर जाओ, पानी निकालो, तब जाकर शङ्कर जी पर चढ़ाओ। भगवान् कहते हैं कि तू इस प्रकार अलग से कुछ भी मत कर, फिर भी मुझे प्रसन्न कर सकता है

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

हे कौन्तेय तुम जो कुछ भी करते हो, जो खाते हो, जो होम करते हो, जो दान करते हो, जो तपस्या करते हो, वह सब मुझे समर्पित कर दो।

'यत्करोषि', चाहे शास्त्र की आज्ञा से प्रवृत्त हो कर अग्निहोत्रादि, चाहे शरीर आदि के निर्वाह के लिए लौकिक हेतुओं से प्रेरित होकर भिक्षाटन आदि तुम जो भी करते हो, 'तत् मदर्पणम् कुरुष्व' उसे 'मैं भगवान् के लिए कर रहा हूँ' इस निश्चय से करो। अग्निहोत्र आदि में यही बुद्धि रखनी है कि 'मैं उनके लिए कर रहा हूँ।' भिक्षाटन आदि में जा रहे हैं तब भी 'हृदय में स्थित जो आत्म-तत्त्व है उसके लिए ही भिक्षा ला रहे हैं' यह निश्चय रखना है। अपने जीवभाव की तृप्ति उद्देश्य नहीं, परमेश्वर के लिए ही कर रहे हैंयही

भाव रखना है। 'यद् अश्नासि' जो भी तुम खाते हो, इन्द्रियों के द्वारा भोगते हो, वह मदर्पण कर दो। इन्द्रियाँ स्रुवा की तरह हैं, उनके द्वारा अन्तःकरण में तुम आहुति देते हो या खाते हो तो जठराग्नि में आहुति देते हो। आगे भगवान् कहेंगे 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' भगवान् ही वैश्वानर अग्नि है। मुँह में तुम डाल रहे हो, लोग समझ रहे हैं तुम खा रहे हो और तुम जानो कि अपने उदर में स्थित जो वैश्वानर है उसको आहुति दे रहे हो। इसी प्रकार इन्द्रिय-मात्र से जो भी भोग भोगा जाता है, उस सारे भोग के अन्त में अन्तःकरण की वृत्ति साक्षी का विषय होती है। इसलिए हर भोग में जानो कि 'साक्षी का विषय होने के लिए ही यह अन्तःकरण की वृत्ति बना रहा हूँ जिसमें साक्षी उसको जान ले।' 'यज्जुहोषि', जो सोमयाग आदि श्रौत कर्म में अथवा वैश्वदेवादि स्मार्त कर्म में हवन करते हो वह भी उस परमात्मा के अर्पण ही करो। अर्थात् उससे किसी भी प्रकार के फल की आशा नहीं रखो। परमेश्वर ने विधान किया हैकेवल इसलिए करो, उसमें लिखे फल की दृष्टि से नहीं करो। 'यत् ददासि' जो अमावस्या आदि में, कुरुक्षेत्र आदि में, वेदवेत्ता ब्राह्मण आदि को देते हो, उस दान का फल भी मत चाहो। 'उस वेदवेत्ता ब्राह्मण में जो परमात्म तत्त्व है, उसीको मिले, उसके बदले में मुझे कुछ नहीं चाहिए' यह निश्चय करो। वेदवेत्ता ब्राह्मण के अंदर जो आत्म-तत्त्व स्थित है, वह परमात्मा ही है। उसको ही दो। 'यत्तपस्यसि' इसी प्रकार से जो भी तप करते हो वह भी भगवदर्पण करो। छान्दोग्योपनिषद् में बतलाया है कि अगर बुखार आवे तो बुखार के द्वारा जो कष्ट होता है, जलन होती है, उसमें तप की दृष्टि करो। पञ्चाग्नि तपते हैं तो जलन ही होती है। चारों तरफ आग जला लीऊपर से सूर्य है, यह पंचाग्नि तपना है। अतः जो भी लौकिक कष्ट सहने पड़ते हैं उन्हें परमात्मा को अर्पण करके सहो कि 'परमात्मा ने इसको भेजा है इसलिए इसको आनन्द से सहन करता हूँ।' इसी प्रकार से मलेरिया बुखार में ठण्ड लग रही हो तो तप-दृष्टि करो। मलेरिया में शरीर काँपता है। माघ माह में प्रयाग जाकर गंगा जी में गोता लगाते हो तो भी शरीर काँपता है। जैसे गंगास्नान के बाद ठंड को सहन किया जाता है वैसे ही बुखार की ठण्ड भी तप की बुद्धि से सहो। इस तरह सारे स्वभाव-प्राप्त तप भी भगवदर्पण करने हैं। कृच्छ्र, चान्द्रायणादि शास्त्रीय तप भी इसी तरह भगवान् को अर्पित करो। श्रेष्ठ तप बताया है 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' मन और इन्द्रियों को बार-बार उपनिषद् के अंदर बतलाए हुए 'एक' ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों की तरफ ही ले जाना परम तप है। इस प्रकार इन्द्रियों और मन की जो एकाग्रता, परमात्म-मुखी करना है, यह परम तप भी भगवदर्पण करना है। जो भी तुम तप करते हो वह मेरे अर्पण ही करो।।२७।।

इस प्रकार से, जो कुछ करते हो, जो कुछ भोगते हो, जो कुछ दान आदि करते हो, वह यदि मेरे अर्पण करते हो तो महान् फल होता है। पत्ता, फूल, फल आदि चढ़ाने में तो तुमने सामान्य प्रयत्नों के सिवाय कुछ प्रयत्न किया, किंतु यदि स्वभाव से जो तुम करते हो वही परमात्मा के अर्पण करो तो भी फल महान् होता है। पूर्वश्लोकोक्त 'मदर्पण' का वह

महान् फल स्वयं बताते हैं

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

ऐसा करने से अच्छे-बुरे फलों वाले कर्मरूप बंधनों से छूट जाओगे तथा फलत्यागपूर्वक कर्म करने से शोधित चित्त वाले तुम जीवनकाल में मुक्त रहोगे व मरकर भी मुझे ही पा जाओगे।

शुभ फल अर्थात् जो फल हमें इष्ट है। सर्दी का मौसम होवे तो शाल इष्ट है, गर्मी का मौसम हो तो पंखा इष्ट है। अशुभ अर्थात् जो अनिष्ट फल है; सर्दी के मौसम में बर्फ की शिला बैठनेको मिल जाए तो अनिष्ट, गर्मी के मौसम में तुश की शाल ओढ़नी पड़े तो अनिष्ट। कर्म इष्ट या अनिष्ट फल देने वाले ही हैं। शुभ और अशुभ फल देने वाले जो कर्म हैं, दोनों ही बंधन के ही कारण हैं। जिससे अन्तःकरण सुखाकार बने, उस चीज़ के प्रति राग हो जाता है और उसके प्रति प्रवृत्ति हो जाती है। जिस चीज़ से अनिष्ट फल मिले उससे द्वेष हो जाता है, कि 'यह कभी न होवे, इससे दूर होवें' और उससे निवृत्ति होती है। सर्वरूप जो अधिष्ठान ब्रह्म है उसकी दृष्टि न होकर राग-द्वेष के कारण एक चीज़ को हम चाहते हैं और दूसरी न होवेऐसा चाहते हैं। ये ही राग-द्वेष से किये कर्म बंधन हैं जिनके कारण हम बार-बार कर्म करते हैं। जो भी कर्म करते हो वह या किसी चीज़ को पाने के लिए या किसी चीज़ से दूर जाने के लिये। जैसे औषधि लेते हो तो या शरीर को पुष्ट करने के लिए या रोग को दूर करने के लिए। जो न पुष्टि चाहे, न रोग को दूर करना चाहे, उसको औषधि से क्या प्रयोजन है! इसी प्रकार जो अन्तःकरण को सुखी करना चाहता है, उसकी राग से प्रवृत्ति होगी, जो अन्तःकरण को दुःख से हटाना चाहता है उसकी द्वेष से निवृत्ति होगी। प्रवृत्ति-निवृत्ति ही सारा कर्म-बंधन है। किंतु भगवान् कह रहे हैं, 'एवं' अर्थात् पूर्वश्लोकोक्त प्रकार से जो सब कुछ मेरे अर्पण करता है वह 'कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे', राग द्वेष इत्यादि पैदा करके जो कर्म का बंधन होता है, उससे छूट जाता है। इसीलिए भाष्यकार कहते हैं कि कर्म *का* बंधन नहीं, कर्म ही बंधन है। प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ही बंधनरूप ही हैं। अज्ञानी द्वारा बिना राग-द्वेष के कर्म हो नहीं सकता। मेरे अर्पण करने से साधक इस कर्म-बंधन से मुक्त हो जाएगा, अर्थात् राग-द्वेष से कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं करेगा, आत्मा स्वरूप से जैसा अकर्त्ता है वैसा प्रकट हो जाएगा। है तो आत्मा अभी भी अकर्त्ता अभोक्ता, उस पर अज्ञान का जो पर्दा है वह हट जाएगा।

कर्म बंधन से छूटना, मुक्त हो जाना इसलिये संभव है कि जो मैंने साधन बतलाया है इसमें संन्यास और योग दोनों बन जाते हैं। संन्यास का अर्थ होता है छोड़ना। चूंकि सब कुछ मेरे समर्पण कर देता है इसलिए छोड़ना हो गया, सम्यक् न्यास हो गया, संन्यास हो गया। और क्योंकि कर्म करता है, हवन करता है, दान करता है, तपस्या करता है, इसलिए

योग भी हो गया। परमेश्वर को समर्पण करने से कर्म ही योग भी हो गया, और मेरे लिए छोड़ता है इसलिए संन्यास भी हो गया। ऐसे यत्नशील का अंतःकरण संन्यास योग से युक्त हो जाता है। सन्न्यासयोग से युक्त जिसका अन्तःकरण है वह 'विमुक्तः' मोक्ष प्राप्त कर लेता है, कर्म बंधनों से छूट जाता है। जीते हुए ही कर्म बंधनों से छूट जाता है अर्थात् धीरे-धीरे अज्ञान की चद्दर हट कर प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने वाले राग-द्वेष रह नहीं जाते। और जब शरीर छूट जाता है तब 'मामुपैष्यसि'; जीवित रहते आत्मप्रतीति प्रारब्ध के द्वारा प्रतिबद्ध रहती है, जब प्रारब्ध का प्रतिबंध हट जाता है तब केवल शुद्ध आत्मतत्त्व ही रह जाता है। उपाधियों के अंदर जीते हुए ही उसको आकर्षण करने की शक्ति विषयों में नहीं रहती और प्रारब्ध का प्रतिबंधक ख़त्म होने के बाद भगवत्स्वरूप से ही रह जाता है।२८।।

भगवदर्पण करने वाले को भगवान् मुक्त कर देते हैं, जो यों समर्पण नहीं करता उसे बंधन में ही छोड़ देते हैं, तो क्या वे राग-द्वेष वाले हैं? यदि राग-द्वेष युक्त हों तो वे ईश्वर ही नहीं होंगे!यह शंका अनेकों को अब भी होती है, कहते हैं कि भगवान् खुशामद-पसन्द हैं! यहाँ भगवान् स्वयं इस शंका को दूर कर रहे हैं

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२६।।

सब प्राणियों के बारे में मैं एक-सा हूँ, न मेरे कोई द्वेष का भाजन है न प्रेम का। जो तो भक्ति से मुझे भजते हैं वे स्वभावतः ही मेरे पास रहते हैं और मैं स्वभावतः ही उन पर कृपालु रहता हूँ।

'सर्वभूतेषु अहं समः' सब प्राणियों के अंदर एक जैसा आत्मरूप मैं स्थित हूँ। सबके अंदर आत्मरूप से विद्यमान होने से कोई मेरा द्वेष्य है ऐसी बात नहीं और जो मेरा भक्त है उसके प्रति मुझे राग भी नहीं। ऐसा नहीं है कि भक्त में परमात्मा ज़्यादा रहता हो, अभक्त में परमात्मा कम रहता हो! घोर से घोर राक्षसी वृत्ति वाले में भी परमात्मा उतना ही है जितना बड़े से बड़े सदाचारी के अंदर। आत्मतत्त्व में कोई बड़ापन-छोटापन नहीं होता। आत्मा का अनुभव कहाँ होता है? 'मैं'इस प्रतीति में। अहम्-इत्याकारक वृत्ति के अंदर ही परमात्मा प्रतिफलित है, परमात्मा वहीं दीखता है और अहंकारात्मिका वृत्ति के अंदर कोई भेद सत्पुरुष और राक्षस में नहीं है। अहमाकार वृत्ति जैसी किसी की बनती है वैसी ही सब की बनती है। इसलिए, मैं किसी में कम और किसी में ज़्यादा प्रतिबिम्बित होता हूँऐसा नहीं है।

फिर फ़र्क का कारण क्या है? मान लो आग जल रही है। जो उसके पास बैठता है उसको गर्मी मिलती है, जो उससे दूर रहता है उसको गर्मी नहीं मिलती। जिसके प्रति राग वाली है उसको अग्नि गर्मी देवे और जिसके प्रति द्वेष वाली है उसे गर्मी नहीं देवेऐसा कुछ तो है नहीं। अग्नि का स्वभाव गर्म है; उसके पास होने से गर्मी मिलती है, दूर वाले

तक उसकी गर्मी नहीं पहुँचती। अथवा, सूर्य साफ चमकदार रंग वाली दीवाल के ऊपर भी पड़ता है। परन्तु उसमें सूर्य नहीं दीखता और काँच रखा होवे तो सूर्य उस पर भी पड़ता है किन्तु स्वयं स्पष्ट दीख जाता है। सूर्य को काँच के प्रति कोई प्रेम होवे, राग होवे, या दीवाल के प्रति द्वेष होवे, ऐसा कुछ नहीं। इसी प्रकार जो अन्तःकरण शुद्ध होता है उसके अंदर परमेश्वर का सच्चिदानन्द रूप पूरी तरह से चमक जाता है। जो अन्तःकरण अशुद्ध होता है उसके अंदर भी 'मैं हूँ, मैं चेतन हूँ'यह प्रतीति तो होती है, लेकिन अन्तःकरण की अशुद्धियों से ढकी रहती है, अतः *जैसा* वह सत् चित् है *वैसी* प्रतीति नहीं होती, अन्तःकरण के रंग वाली प्रतीति होती है। 'मैं बुद्धिमान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कंगाल हूँ'ये जो अन्तःकरण के अंदर बैठे हुए दोष हैं, इनकी छाया के साथ ही आत्मा की प्रतीति होती है। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँइस प्रकार से शुद्ध आत्मा की प्रतीति नहीं होती। इसमें भगवान् को कोई राग या द्वेष नहीं है, जिसका भी अन्तःकरण शुद्ध होता है वहाँ वे यथावत् प्रकाशित हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता है तो प्रकाशित नहीं होते। भगवान् हैं तो वहाँ भी पूरे रूप से मौजूद, सत् चित आनन्द रूप से ही वहाँ मौजूद हैं पर वह जिस अहंकार के अंदर अपनी आत्मबुद्धि रखता है, उस अहंकार में, अन्तःकरण में जो दोष है उसके कारण उसे सब मिला-जुला प्रतीत होता है। जो अन्तःकरण शुद्ध करके देखता है, उसे भगवान् सच्चिदानन्दरूप दीखते हैं और जो स्वयं को कंगला, धनी, बुद्धिमान्, मूर्ख, गोरा, काला, ब्राह्मण, शूद्र समझता है उसके ये सब भाव 'मैं' में प्रतिफलित होते रहते हैं। वह भी अपने को सत्-चित् रूप तो देख रहा है लेकिन अन्तःकरण की अशुद्धियों के कारण शुद्ध सच्चिदानन्द रूप नहीं देख रहा।

'ये मां भक्त्या भजन्ति'; मुझ में राग-द्वेष नहीं हैं कि मैं किसी पर अनुग्रह करूँ और किसी पर नहीं। पास में आने वाले पर अनुग्रह होता है, दूर में रहने वाले पर अनुग्रह नहीं होता। जो मुझ ईश्वर का भक्तिपूर्वक भजन करते हैं, प्रेमपूर्वक सेवन करते हैं, सेवा करते हैं, 'ते मयि' वे मुझ में रहते हैं, हमेशा मेरे अन्दर, मेरे निकट रहते हैं। बार-बार परमेश्वर को ही अपना स्वरूप समझ कर उनमें ही रहते हैं, उनसे अलग होकर नहीं रहते। यह कोई मेरे राग के कारण नहीं है, जिन रागादि से वे दूसरी चीज़ों की तरफ जाते थे वे हट गये तो हमेशा से मौजूद मेरा सच्चिदानंद रूप अब अन्य भावों से बिना ढके जैसा सचमुच है वैसा भासता रहता है। अतः वे जानते हैं 'सच्चिदानन्दरूप ईश्वर ही मैं हूँ।' इसलिए भगवान् ने कहा 'तेषु अहम्' उनकी जो अहंकारात्मिका वृत्ति है उसमें मेरा शुद्ध सच्चिदानन्द रूप प्रकाशित होता है। चूंकि उन्होंने बाकी सब वृत्तियों को हटा कर केवल ईश्वराकार वृत्ति रखी इसलिए उनके अहम् में ईश्वराकार की प्रतीति है। हूँ तो सत्-चित् रूप से मैं सर्वत्र। अतः भगवान् में कोई राग या द्वेष नहीं है, वे सबके अन्तःकरणों में एक-जैसे हैं। दूसरी चीज़ों से अन्तःकरण को आक्रान्त करने वाला उस स्वरूप को प्रकाशित नहीं कर पाता है, जब दूसरी चीज़ों का आवरण हट जाता है तब वह पूर्ण रूप प्रकाशित हो जाता

है।

'भक्त्या' भक्तिपूर्वक अर्थात् किसी अन्य वस्तु के राग को रख कर, उस फल के लिए नहीं। यहाँ जो विषय चल रहा है इसके अंदर केवल भक्ति से भजन करने वाले की बात है। जो आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी हैं वे तो दुःखनिवृत्ति के लिए, विषयप्राप्ति के लिए अथवा किसी चीज़ को जानने के लिए भक्ति करते हैं। अतः उनको अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। उनका यहाँ विषय नहीं है क्योंकि वे परिच्छिन्न वृत्ति वाले हैं। परन्तु जिन्होंने समझ लिया है कि 'वासुदेव ही सर्व है, वही कण-कण और क्षण-क्षण में व्याप्त है इसलिए वह मेरे में भी व्याप्त है' इसलिए जिनमें उसके प्रति प्रेम स्वाभाविक होता है, किसी निमित्त से नहीं, वे स्वभाव से भगवान् का भजन करते रहते हैं अतः उनका अन्तःकरण हमेशा ही भगवान् की तरफ रहता है। जैसे अन्तःकरण इन्द्रियों के द्वारा जिस विषय के सामने रहता है उस विषय के आकार का ही वह अन्तःकरण बन जाता है, उसी प्रकार से जिनका अन्तःकरण भगवान् की तरफ रहता है उनका अन्तःकरण भगवद्आकार ही बनता है। जैसे घटाकार वृत्ति बनने पर घट अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित रूप से प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही भगवान् ने कहा कि उनके अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित रूप से मेरा प्रवेश होने से 'मैं उनमें हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। यद्यपि मैं सर्वत्र हूँ तथापि वहाँ प्रतिबिम्बित रूप से मौजूद हो जाता हूँ क्योंकि उनका अन्तःकरण मेरे सामने है। जो भी मेरे सामने होता है उसमें मेरी वृत्ति बनने से मैं प्रतिबिम्बित हो जाता हूँ, यह स्वभाव है। जो घड़े के सामने आँख ले जाता है उसके अन्तःकरण में घटज्ञान हो जाता है, घटाकार वृत्ति बन जाती है, तो कोई नहीं कह सकता कि 'घट का इस आदमी के प्रति राग है इसलिए इसको घटज्ञान हुआ और दूसरे को नहीं हुआ।' वह तो विषय का स्वभाव है कि अन्तःकरण के साथ संबंधित होने पर अन्तःकरण तदाकार हो जाता है।।२९।।

इस भक्ति का माहात्म्य बतलाते हैं, महिमा बतलाते हैं

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

यदि अतीव कुत्सित आचार वाला भी अनन्य प्रेम वाला होकर मुझे भजता है तो उसे सदाचारी ही मानना चाहिये क्योंकि वह सही निश्चय वाला है।

जितने भी योग हैं, साधन हैं उनके अंदर अधिकार का निरूपण होता है। कर्म करने जाओ तो तुम किस वर्ण के हो, तुम्हारे पास क्या सम्पत्ति हैये सब तुम्हारे अधिकार में आते हैं। इसलिए अगर तुम्हारे पास सोमयाग करने के लिए पदार्थ नहीं हैं तो नहीं कर सकते। अथवा तुम्हारे पास याज्ञोपवीत नहीं है तो वेदपाठादि नहीं कर सकते। अथवा तुमने अग्निहोत्र नहीं रखा है तो श्रौत याग नहीं कर सकते। इसी प्रकार से यदि योगाभ्यास करो तब भी तुम्हारे अंदर उस योग को करने का अधिकार चाहिए। अधिकार के बिना तुम

को योग सिद्ध नहीं होगा। अगर तुम ज्ञान चाहते हो तो तुम्हारे पास साधन-चतुष्टय और प्रधान रूप से वैराग्य की ज़रूरत है। विवेक की ज़रूरत वैराग्य के लिए; शम दम आदि वैराग्य के बिना सम्पन्न हो नहीं सकते; और मुमुक्षा तो आएगी ही नहीं बिना वैराग्य के। इसलिए प्रधान साधन आचार्य ने कह दिया 'वैराग्यस्य फलं बोधः।' जब तक पूर्ण वैराग्य नहीं होता तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। चाहे जितना श्रवण-मनन कर लो, बड़े विद्वान् हो जाओ, दूसरों को श्रवण-मनन करवा दो, परन्तु वैराग्य नहीं होने से ज्ञान तो होगा नहीं। बिना वैराग्य के ज्ञान का भी अधिकारी नहीं। किन्तु वैराग्य विवेकजन्य होना चाहिए, 'श्मशान वैराग्य' नहीं, उसका ज्ञान में उपयोग नहीं है। दुःख-विशेष का अनुभव करने से जो वैराग्य होता है उसका ज्ञान में विनियोग नहीं होता क्योंकि जैसे ही वह दुःख हटता है वैसे ही राग फिर आ जाता है। स्त्री ने तुम्हारे साथ धोखा किया, तुमको स्त्री जाति से वैराग्य हो गया। उसके बाद कोई अत्यन्त ही गुणवती स्त्री तुम्हारे पास आ गई तो पुनः राग उद्भूत हो जाता है। तुम्हारा धन लुट जाये तो कुछ समय तक धन से वैराग्य होता है पर जैसे ही सुरक्षा-व्यवस्था कर पाते हो पुनः धन बटोरते हो, प्रदर्शन भी करते हो। जो वैराग्य दुःख से होता है वह दुःख का कारण दूर होने पर हटकर पुनः राग को व्यक्त कर देता है। पर जो विवेक से वैराग्य होता है कि संसार में जो कुछ भी है वह कृतक है और मैं नित्य हूँ इसलिए वह मेरी इच्छा का विषय हो ही नहीं सकता, वह वैराग्य कभी इधर-उधर नहीं होता। उसी का ज्ञान में उपयोग होता है।

भक्ति के लिए भगवान् कहते हैं कि इनमें से कोई भी साधन अपेक्षित नहीं है। किसी भी वर्ण का हो, किसी भी आश्रम का हो, दरिद्र हो, धनी हो, परमेश्वर की भक्ति का सभी को अधिकार है। भक्ति का अर्थ प्रेम है अतः, परमेश्वर से प्रेम होना चाहिएबस यही अपेक्षित है, बाकि कोई अधिकारहेतु नहीं है। इसलिए कहते हैं कि 'सुदुराचारः अपि चेत्' 'सु' अर्थात् सुष्ठु। इस शब्द का एक अर्थ कोषों के अंदर 'अत्यन्त' भी किया है, 'सुष्ठ्वत्यर्थप्रशंसयोः' ऐसा त्रिकाण्डशेष है। इसलिए सुदुराचारी का मतलब हुआ जो अत्यन्त दुराचार में प्रवृत्त है। परन्तु 'अनन्यभाक्', 'वासुदेव से भिन्न मैं कुछ नहीं हूँ' ऐसा उसको दृढ निश्चय है। उसे मालूम है कि 'मैं उनसे भिन्न नहीं हूँ, अच्छा-बुरा जो भी हूँ, उनमें ही हूँ क्योंकि उनसे भिन्न और कुछ नहीं है।' इसलिए 'भजते' मेरा भजन करता है। 'सः सम्यग् व्यवसितः', उसने सम्यक् अर्थात् जैसा चाहिए वैसा व्यवसाय अर्थात् निश्चय कर लिया है। अनन्यभाक् होने का मतलब है कि उसने निश्चय कर लिया है कि 'वासुदेव से भिन्न कहीं कुछ नहीं है, मैं भी उनसे भिन्न नहीं हूँ'। ऐसा उसने सम्यक् निश्चय किया है अतः 'स साधुरेव मन्तव्यः' वह चाहे जितना दुराचारी होवे, उसे भला आदमी ही समझना चाहिए, साधु पुरुष ही समझना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि वह दुराचारी भी रहेगा और साधु पुरुष भी रहेगा! क्योंकि उसने सबको वासुदेवरूप समझा है इसलिए उसका दुराचार अपने आप हटेगा ही। अतः जैसे डाक्टरी के प्रथम वर्ष में लड़का भर्ती हो

गया तो उसको सभी डाक्टर साहब कहने लगते हैं; अभी तो भर्ती ही हुआ है पर उसने ठीक निश्चय करके मैडिकल कॉलेज में भर्ती ले ली है तो डाक्टर बन ही जाएगा; इसी प्रकार इसने जब सबको वासुदेवरूप समझना शुरू कर दिया है, निश्चय कर लिया है, तो निष्पाप भी होगा ही क्योंकि सारे पाप भेद-बुद्धि से ही होते हैं, बिना भेद-बुद्धि के पाप होता नहीं। उसको भेद-दर्शन नहीं रह गया है इसलिए अब उसका दुराचार हटने ही वाला है इसलिए वह साधु पुरुष ही है ऐसा समझ लेना चाहिए, साधु बनने ही वाला है।।३०।।

पूर्व श्लोक को लेकर कोई कह सकता है कि भक्त दुराचारी भी हो सकता है, दुराचारी रहते हुए भी भक्त हो सकता है, तो भी क्या वह भला आदमी ही है? इस प्रश्न को निराधार बनाने के लिये अगले श्लोक में ही भगवान् कहते हैं कि बाह्य दुराचार को वह अंदर के ठीक निश्चय के कारण हटा ही देता है

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

वह शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है, नित्य उपशम पाता है। कौन्तेय! (तुम यह) प्रतिज्ञा कर सकते हो कि मुझ परमेश्वर का भक्त प्रणाश को प्राप्त नहीं होता।

'क्षिप्रं', अत्यन्त शीघ्र ही धर्मात्मा अर्थात् धर्म-चित्त वाला बन जाता है। जिसके चित्त में धर्म ही उठता है उसी को धर्मात्मा कहते हैं। इसके चित्त में फिर धर्म के संस्कार ही उठते हैं। धर्म के ही संस्कार क्यों उठते हैं? 'शान्तिं निगच्छति'; सारे पापों का कारण पदार्थों के प्रति राग है। पदार्थों में राग के कारण ही सारे पाप होते हैं। सब कुछ परमात्म-रूप होने के कारण इसको पदार्थों के प्रति राग नहीं रह जाता अतः पाप-प्रवृत्ति समाप्त होकर धर्मानुकूल ही बन जाता है। भगवान् ने यह नियम स्पष्ट कर दिया कि अगर तुमने ठीक निश्चय कर लिया है कि परमात्मा ही सर्वरूप है तो बाहर से तो तुम्हारी दुराचारिता देखने में नहीं आएगी और अंदर से विषयों के प्रति तुम्हारा राग ख़त्म होगा ही। ये दोनों मान-दण्ड भगवान् ने बिलकुल स्पष्ट दे दिए। दुराचारिता को तो पदार्थों में राग रहते हुए भी मनुष्य छोड़ सकता है; 'लोग अच्छा कहें'इसलिए सदाचारी बनते हैं बहुत-से लोग। लेकिन उनके मन से पदार्थों का राग नहीं जाता अतः उनको शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। दूसरी तरफ, कोई भी कह सकता है 'हमें विषयों से राग नहीं है' परन्तु यदि विषयों में राग नहीं है तो दुराचारिता नहीं हो सकती, क्योंकि राग के कारण ही दुराचारिता होती है। अपने अंदर पता लगता है कि विषयों का राग हमारा कितना कम होता जा रहा है। जब विषयों का राग सर्वथा न रहे तब समझना कि भगवान् के प्रति प्रेम हुआ है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में तुमको कोई दुराचार न दीखे तब समझना उसके अंदर भगवान् की भक्ति आई है।

भगवान् ने हमें बड़ा सरल उपाय बतला दिया अपनी परीक्षा का। प्रायः लोगों का

कहना रहता है कि 'आज के जीवन में दुराचारी बने बिना चलता नहीं, कोई इच्छा से नहीं करते, राग से नहीं करते, आवश्यक है इसलिये करते हैं।' यदि राग नहीं होगा तो जिसको तुम 'चलना' कहते हो उसका आग्रह रहेगा ही नहीं। चलना और नहीं चलनादोनों ही तो वासुदेवरूप हैं। भगवान् ने यहाँ जो मापदण्ड दे दिया इससे अपने अंदर भी मनुष्य समझ सकता है कि राग की कितनी कमी हो रही है और बाहर से भी समझा जा सकता है क्योंकि उससे दुराचारिता हटती है। यह कहना कि 'दुराचारी रहते हुए भक्ति हो जाती है', ठीक नहीं है।

भगवान् कहते हैं कि हे कौन्तेय, हे कुन्तीपुत्र! 'प्रतिजानीहि', तू छाती ठोक कर निश्चित प्रतिज्ञा कर इस बात को कह सकता है कि मेरा भक्त अर्थात् जिसने अपना अन्तरात्मा मुझे समर्पित कर दिया है उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता। नाश अर्थात् 'न दीखना'; ऐसे भक्त को कभी यह न दीखे, न भासे कि 'सब कुछ वासुदेवरूप है', यह संभव नहीं। 'प्रणश्यति' इसलिए कहा कि क्षणिक अदर्शन किसी समय हो भी जाए, परन्तु तुरन्त वापिस याद आ जाता है कि 'ऐसा नहीं, सचमुच में सब कुछ वासुदेवरूप है।' इसलिए प्रकर्ष से नाश अर्थात् परमात्मा की वृत्ति न रहे, यह नहीं होता। जिसने अपना अन्तरात्मा परमेश्वर को समर्पित कर दिया, वह कभी भी परमेश्वर को सामने न देखे ऐसा नहीं हो सकता। किसी प्रारब्ध-वेग के कारण क्षणमात्र को नहीं भी देखा तो तुरन्त उसे स्मरण हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट किया कि यदि कोई दुराचारी है अतः कर्म, ज्ञान आदि का अधिकारी नहीं है, तो भी यदि भगवान् के प्रति उसको भक्ति हो जाये, प्रेम हो जाये तो वह भक्ति का अधिकारी होकर दुराचारों से भी रहित हो जाएगा और वैराग्ययुक्त मन वाला भी हो जाएगा। वैराग्ययुक्त मन वाला होकर ज्ञान का अधिकारी हो जाएगा।३१।।

भक्ति में अधिकार के विषय को और स्पष्ट करके कहते हैं

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

हे पृथापुत्र! स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्रजो पाप के कारण पैदा हुए हैंवे भी क्योंकि मुझे ही अपना सहारा स्वीकार कर उत्तम फल पा जाते हैं (इसलिये मेरी भक्ति कर्तव्य है)।

'हि' मायने क्योंकि मुझे ही अपना एकमात्र आश्रय समझ कर, 'जो सर्वव्यापक, सर्वत्र विद्यमान है वही परमात्मा मेरा एकमात्र आश्रय है'यह समझकर परा गति मिलती है। ऐसे निश्चय वाले 'पापयोनयः' चाहे पापयोनि वाले ही क्यों न होवें, सद्गति पाते ही हैं। पाप के कारण जहाँ जन्म होता है उन योनियों को पापयोनि कहते हैं। स्त्री-बुद्धि अविद्या की बुद्धि को कहते हैं। प्रसिद्ध है कि बन्दरिया अपने बच्चे को चिपका कर रखती है। कहीं यह नहीं देखते कि बंदर अपने बच्चे को चिपका कर रखता है! स्त्री की इस प्रकार की

प्रवृत्ति बाहुल्य में देखी जाती है। स्त्रियों में अज्ञान, मोह अधिकतर मिलता है। दूसरी बात है कि स्त्री प्रायः स्वतन्त्र नहीं होती, किसी-न-किसी पुरुष के सहारे से ही रहती है। जिस प्रकार लता किसी-न-किसी पेड़ के सहारे से ही आगे बढ़ती है, बिना सहारे के नहीं, वैसे ही स्त्री सहारे से ही रहती है इसलिए परतन्त्र है। अतः अस्वतन्त्र व अज्ञान की बुद्धि को स्त्री का लक्षण मानते हैं।

'वैश्याः' निरन्तर धन की दृष्टि वाले। जो कामनाएँ सबसे ज़्यादा मनुष्य को तंग करती हैं, उनमें धन की कामना बड़ी प्रबल है। वैश्य निरन्तर धनोपार्जन को ही सामने रखता है, धन के नाश को ही नुकसान समझता है। ऐसी बुद्धि वाला ही वैश्य है। आजकल यह दृष्टि बहुत प्रबल है। प्रायः हर एक व्यक्ति यही समझता है और छाती ठोक कर कहता है कि धन के बिना काम नहीं चलता। यदि धन के बिना काम नहीं चलता यह मन में संस्कार दृढ रहेगा तो भगवान् के प्रति अनन्य भाव हो कैसे सकता है! विचारशील को तो लगता है कि परमात्मा के बिना काम नहीं चल सकता। धन आदि की प्राप्ति तो प्रारब्ध से हो जाती है। प्रारब्ध का फल देने वाला परमात्मा है। यदि प्रारब्ध का फल देने वाला परमात्मा न होवे और प्रारब्ध फल न देवे तो कहाँ यह संसार व्यवस्था चले! ये दो निश्चय साथ नहीं रह सकते कि धन ही आवश्यक है व परमात्मा ही आवश्यक है, क्योंकि अत्यन्त विरोधी बातें हैं। इसलिए भगवान् ने वैश्य को पापयोनियों में गिना। 'शूद्राः' शूद्र उपनयन आदि का अधिकारी नहीं होने से शास्त्र का ज्ञान करने में असमर्थ है। इसलिए बिना शास्त्रज्ञान के परमात्मा को समझेगा ही नहीं तो निश्चय कहाँ से करेगा! आजकल जैसे वैश्य वैसे ही शूद्र बहुतायत में मिलते हैं। अधिकतर लोग जो अपने को ब्राह्मण कहते हैं, वे भी शास्त्र-ज्ञान से रहित होने के कारण भगवान् जिन्हें यहाँ शूद्र कह रहे हैं उनके अन्तःपाती हो जाते हैं। इस प्रकार, आज का व्यक्ति, धन को ही प्रधान मानने वाला व्यक्ति वैश्य है, शास्त्र के ज्ञान से अपने को दूर रखने के कारण शूद्र है और ममता आदि से ग्रस्त होने से स्त्री भी है।

भगवान् कहते हैं कि ऐसे लोग भी मेरी शरण लेकर परम गति पा सकते हैं, यदि किसी पूर्वकृत पुण्य के कारण अथवा किसी महापुरुष का संग मिलने के कारण उनके अंदर परमात्मा के प्रति प्रेम आ जाये तो वे भी उत्तम गति को प्राप्त कर लेते हैं।।३२।।

शंका होती है कि अगर स्त्री, वैश्य, शूद्र भी उसको प्राप्त कर लेते हैं तो ब्राह्मण आदि की जो विशेषता कही जाती है, क्या वह व्यर्थ हो जाएगी? भगवान् समाधान करते हैं कि नहीं

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

फिर पुण्य के कारण जन्म लेने वाले ब्राह्मणों और राजर्षियों का क्या कहना!

अशाश्वत और सुखहीन इस मनुष्य लोक को पाकर मुझे भज (मेरी शरण ले)।

स्त्री, वैश्य और शूद्र भी जब मेरे साथ प्रेम करके परम गति को प्राप्त कर सकते हैं तो फिर पुण्ययोनि जो ब्राह्मण हैं उनका क्या कहना! सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को रमणीय योनि कहा है। जो पुण्यकर्त्ता होते हैं उन्हीं को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य जन्म मिलता है। इन लोगों को वेद में अधिकार होने से ये शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा के स्वरूप को समझ सकते हैं। भगवान् ने 'रमणीयचरणाः' को ही कहा 'पुण्याः' पुण्य योनियाँ। ब्राह्मण पुण्य योनि वाले हैं। अतः स्वभाव से ही उनके अंदर शम, दम, शास्त्रज्ञान आदि होते हैं। अतः 'सब कुछ वासुदेव रूप है' यह वे शास्त्रों के अध्ययन से जल्दी ही निश्चय कर लेते हैं और स्वभाव से सांसारिक प्रवृत्तियों की कमी होने से उनका मन भी शीघ्र ही शान्त होकर परमात्मा में लग जाता है। अन्यों को भक्ति से सद्गति संभव होने पर ब्राह्मण जन्म की श्रेष्ठता घट नहीं जाती।

इसी प्रकार से क्षत्रियों के अंदर जो ऋषि हैं अर्थात् विचार करने वाले हैं वे पुण्ययोनि हैं। अनेक क्षत्रिय तो केवल राज्य में ही लगे रहते हैं। परंतु जनक, अश्वपति जैसे क्षत्रिय, राजा होते हुए भी विचारक थे, बड़े-बड़े ऋषियों का बुला कर उनसे ब्रह्म के विषय में सुनते रहते थे, ज्ञान प्राप्त करते रहते थे। राजा होते हुए भी जो ऋषि हैं अर्थात् जिन्होंने ऋषियों से ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान में दृढता की तरफ प्रवृत्ति करना प्रारम्भ किया है, उन राजर्षियों का भी क्या कहना! वे तो भगवान् की भक्ति बड़ी सुलभता से कर सकते हैं। 'क्षत्रिय' के बजाय 'राजर्षि' कहकर भगवान् ने सूचित कर दिया कि श्रुतिमें रमणीयचरण कहे हुए भी वैश्य को यहाँ पापयोनि क्यों कहा।

हर हालत में, चाहे तुम ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो, अन्य पाप योनियों वाले भी हो, क्योंकि सभी भक्ति कर सकते हैं इसलिए 'मां भजस्व' मुझ परमात्मा का ही भजन करो, इस संसार में और कोई कर्त्तव्य नहीं है। अन्य सब तो सांसारिक कर्त्तव्यों में बांधते हैं पर भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा एक ही वास्तविक कर्त्तव्य है कि जहाँ भी हो, जैसे भी हो, वहीं वैसे ही मेरा भजन करो। कोई यह कर्त्तव्य दृढता से कैसे कर सकता है? विचारपूर्वक यह निर्णय करके कि 'अनित्यम् असुखं लोकम्' यह लोक, विषय-बहुल संसार नित्य नहीं है, स्थायी नहीं है, हमेशा एक-सा नहीं रहता। बड़े-बड़े राजा लोग हम लोगों के देखते-देखते नष्ट हो गए। जापान में नाममात्र का राजा बचा, अधिकार उसका भी कुछ नहीं। भारतवर्ष में तो सब राजा ख़त्म ही हैं। बड़े-से-बड़ा पद भी अनित्य है, क्षणभंगुर है, देखते-देखते नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार बड़े-बड़े धनी भी देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं। अनेक व्यापारी घराने हम ही लोगों के सामने उजड़ गये। अभी थोड़े दिनों पहले ही संसार का सबसे बड़ा बहुराष्ट्रीय एनरोन ख़त्म हो गया, दीवाला निकल गया। तुम धन, राज्य, पद इत्यादि के लिए चाहे जितना प्रयत्न करो, उनमें से कोई भी टिक कर रहने वाला है नहीं। अतः इन चीज़ों के प्रति 'कर्तव्य' कभी समाप्त होगा ही नहीं क्योंकि जब कोई 'कर्तव्य'

पूरा करके चुकोगे तब अनित्य होने से फिर दूसरे रूप में सामने आ जाएगा। अतः संसार में किसी के लिय करना हैबस यही तो सबसे बड़ा बंधन हो जाता है। विचार से, शास्त्रानुसारी विवेक से जब निश्चय हो जाता है कि इस लोक में कुछ भी पा लें, वह नष्ट ही होना है, तब संसार के प्रति अपने आप तुम्हारी प्रवृत्ति ख़त्म हो जाती है। किसी भी चीज़ की तरफ प्रवृत्ति होती है उसको 'अनित्य है' ऐसा न समझने के कारण। आदमी बड़ी कोशिश करता है कि 'मेरा प्रिय पिता बना रहे।' सब तरह से खर्च करता है इलाज के ऊपर, परन्तु जब डाक्टर कह देता है कि 'ये ठीक तो होने वाले हैं नहीं। जितने दिन इनको राम भुगाए उतने दिन ये भोग ही सकते हैं, तड़पते ही रहेंगे।' तब चाहे जितना खर्च करने वाला लड़का भी अन्त में यही कहता है 'बहुत तकलीफ पा रहे हैं, अब भगवान् इनको उठा लेवे तो अच्छा है।' जब तक आशा है तब तक खूब प्रयास करता है परन्तु जब आशा नहीं रहती तब प्रयास छोड़ देता है। इसी प्रकार संसार के जिस पदार्थ के बारे में अनित्यता का निश्चय हो जाता है, उसके प्रति प्रवृत्ति रुद्ध हो जाती है, रुक जाती है। 'यह बना रहेगा' बस यही तो उसके लिये प्रवृत्ति का हेतुभूत भ्रम है। भगवान् कहते हैं कि इस संसार में जो कुछ भी है, सभी अनित्य हैं 'लोकम्' का अर्थ अन्यत्र किया है कि विषयों को लोक कहते हैं, जो प्रतीत होते हैं वे ही लोक हैं। अतः लोक अर्थात् सभी चीज़ें अनित्य ही हैं इसलिए उनके साथ किसी प्रकार का संबंध रखना व्यर्थ है।

दूसरी चीज़ जो मनुष्य को खींचती है वह है 'इससे सुख होगा, यह चीज़ सुख देगी' यह भ्रम। दुःख देने वाली चीज़ के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता : कभी नहीं चाहता 'भगवान् करे खूब मच्छर होवें, मुझे काटें।' जो चीज़ सुख वाली लगती है, उसी की तरफ प्रवृत्ति होती है। भगवान् कहते हैं कि संसार में जितनी चीज़ें हैं, सब 'असुखं', सुखवर्जित हैं, उनके अंदर सुख है नहीं, उनमें सुख भ्रान्ति से प्रतीत होता है। जितने विषय है, सब सुखरहित हैं। भ्रान्ति से उनमें सुख की प्रतीति होती है। जैसे मृग-मरीचिका के अंदर जल की प्रतीति होती है लेकिन वहाँ जल की एक बूंद भी नहीं है, इसी प्रकार संसार के किसी भी विषय में सुख की एक बूंद भी नहीं है। सुख का कारण होता है हमारे मन का राग। जो चीज़ हमें अच्छी लगती है उसी से हमें सुख होता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है 'यस्य यद् इष्टं तद् एव तस्य सुखम्'। सुख कोई जातिविशेष नहीं है कि विषयों में रहती हो। जैसे घटत्व सब घटों में रहता है वैसे सुखत्व सारी सुख की चीज़ों में रहता हो, ऐसा कुछ नहीं है। फिर क्या है? जो जिस चीज़ को चाहता है वही चीज़ उसको सुख वाली दीखती है। किंतु यथार्थ है कि जहाँ तुमको सुख दीख रहा है वहाँ सुख नहीं है। ठीक जिस प्रकार से पीलिया का रोग हो जाता है तो सफेद कमीज भी पीली दीखती है। जहाँ उस रोगी को पीला दीख रहा है वहाँ पीला नहीं है। पीला कहाँ है? रोग के कारण आँख में पीला है। इसी प्रकार से तुम्हारे मन में राग है इसलिए तुम को बाहर सुख दीखता है, वहाँ सुख है नहीं। जैसे ही तुम्हारा राग किसी दूसरी तरफ जाता है, फिर वहाँ सुख नहीं

दीखेगा। सुख किसी पदार्थ में नहीं, तुम्हारे मन के राग में है। अतः पदार्थों के अंदर सुख की दृष्टि सर्वथा भ्रम है।

जब कोई लौकिक पदार्थ सुखरूप नहीं है तब क्या करें? 'भजस्व माम्'। भगवान् कहते हैंमैं नित्य भी हूँ और आनन्दरूप भी हूँ। संसार में तो सभी कुछ अनित्य और असुख है, परमात्मा नित्य आनन्दरूप है। अतः मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि पहले विचार करके निश्चय करे कि 'अनित्यम् असुखं लोकम्।' अनित्य है इसलिए किसी चीज़ को नष्ट होते देख कर कोई विकार नहीं आयेगा क्योंकि जानेगा कि यही पदार्थों का स्वभाव है, नष्ट होते ही हैं। मकान बनते हैं गिरने के लिए, कपड़े बनते हैं फटने के लिए, अतः गिरने या फटने पर दुःख करना फालतू है। राज्य के जाने पर दुःखी होना व्यर्थ है। अगर राज्य प्राप्त हुए हैं तो नष्ट होने ही हैं। भगवान् ने कहा कि लोक अनित्य और असुख हैं यह मैं प्रमाणित करके कह रहा हूँ और तू इसका निश्चय कर ले तब जँचेगा कि एकमात्र कर्तव्य मेरा भजन ही है।।३३।।

भजन कैसे करना चाहिए यह संक्षेप में कहते हैं

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

।।इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो
नाम नवमोध्यायः।।

मेरी शरण में रहकर मुझ में मन वाले, मुझ से प्रेम वाले और मेरे पूजक बनो, मुझे नमस्कार करो। यों मुझ में चित्त समाहित कर मुझ आत्मरूप को पा जाओगे।

'मन्मना भव', अपने हृदय में स्थित जो चिन्मात्र है, उसकी तरफ ही अपना मन ले जाना सीखो। अभी तो हम बहिर्मना हैं, हमेशा हमारा मन बाहर ही जाता है। इन्द्रियों से जाता है तो रूप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्शये चीज़ें हमारे सामने उपस्थित होती हैं। अथवा उनसे होने वाले राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्यये सब भी जो हम से बहिर्भूत हैं, अन्तःकरण के धर्म हैं, उनकी तरफ जाता है। भगवान् कहते हैं कि उस तरफ मन को न ले जाओ, केवल चिन्मात्र की तरफ ही मन को ले जाओ, तद्विषयक ही स्वभावतः संकल्प-विकल्प होवें। इसके लिए उस परमात्मतत्त्व को प्रतिपादित करने वाले जो उपनिषद् आदि हैं उन्हीं का बार-बार जब विचार किया जाता है तब उधर मन जाता है। जैसा किसी सन्त ने कहा है कि जो मन नारी के रूप को देखता है, वह नारी के आकार का बनता है। और वही मन यदि अपने अंदर चेतनरूप को निहारता है तो चिद्रूप बनता है। इसलिए भगवान् ने कहा 'मन्मना भव।'

इतना ही नहीं, 'मद्भक्तो भव' उस चेतन के प्रति प्रेमभाव से मन उधर ले जाना है। यह भावना दृढ रखनी है कि वह चेतन ही हमें प्राप्त होवे, तद्-अतिरिक्त हमें कुछ नहीं चाहिए। अभी हम सांसारिक विषयों के *भक्त* हैं, 'यह मिल जाए, वह मिल जाए, यह हो जाए, वह

हो जाए'इसी तरफ हमारा चित्त *प्रेम से* जाता है। जैसा हो जाये यह चाहते हैं वैसा हो गया तो प्रसन्न हो जाते हैं, उससे विपरीत हो गया तो दुःखी हो जाते हैं। वही तुमको सुखी-दुःखी कर सकता है जिसके प्रति तुम्हारी भक्ति है, प्रेम है। संसार में कितने टी.बी. के रोगी हैं, कोढ़ के रोगी है, उनमें से कई इलाज से ठीक भी हो जाते हैं, उनके ठीक होने पर भी तुमको कोई सुख नहीं होता, उनके ठीक नहीं होने से तुमको कोई दुःख भी नहीं होता। तुम्हारे लड़के को यदि कोढ़ हो जाता है, टी. बी. हो जाती है तो दुःखी होते हो और अगर किसी दवाई से ठीक हो जाता है तो सुखी हो जाते हो। यह इसलिये कि उस लड़के के साथ तुम्हारा प्रेम है, दूसरों के साथ कोई संबंध नहीं है। यदि केवल परमेश्वर से तुम्हारा प्रेम होगा तो परमेश्वर-विषयक ही तुमको सुख-दुःख हो सकते हैं। इसलिए कहा 'मद्भक्तः' मेरे ही भक्त बनो, हृदय के अंदर स्थित चिन्मात्र जो परमेश्वर का रूप है उसके प्रति ही तुम्हारा प्रेम होवे।

'मद्याजी', मेरी ही पूजा करो अर्थात् पूज्य-दृष्टि मुझ में ही रखो। अभी संसार के विषयों को लेकर पूज्य-दृष्टि होती है। धन में भक्ति वाला होता है तो धन को ही पूज्य समझता है। पद में भक्ति वाला होता है तो जो पद में अपने से श्रेष्ठ है उसी को पूज्य समझता है। कहते भी हैं कि कुर्सी को सलाम है। कुर्सी से जिसकी भक्ति होगी वह कुर्सी को सलाम करेगा, नहीं तो काहे के लिए करेगा! इसी प्रकार यदि विद्या में हमारा प्रेम है तो जहाँ ज़्यादा विद्या होती है वहाँ हमारी पूज्य-दृष्टि होती है। जो विद्वान् नहीं है उसको हम पूज्य नहीं मानते। भगवान् कहते हैं मद्-याजी, मेरे में ही पूज्य दृष्टि करके मेरी प्राप्ति के लिए ही पूजा करो। 'मां नमस्कुरु', इसी प्रकार से मुझे ही नमस्कार करो। पूर्व श्लोक में कहा था 'भजस्व मां', प्रश्न हुआ कि कैसे भजन करें? उत्तर में यहाँ चार चीज़ें भगवान् ने बतला दीं।

इस प्रकार होने पर 'माम् एव एष्यसि', तुम मुझ परमेश्वर को ही प्राप्त करोगे, परमेश्वर को ही जाओगे। क्योंकि वही तुमने लक्ष्य किया है, और मन उसमें लगाया है, भक्ति-यजन-नमन सब कुछ उसके लिये किया है, इसलिये अन्ततः उसको ही प्राप्त कर जाओगे। 'एवम् आत्मानं युक्त्वा' अपने आपको इस प्रकार से युक्त करके, लगा करके 'मत्परायणः' जो चार साधन बताये उनके अनुष्ठान से मत्परायण हो जाओगे। 'अयन' अर्थात् गति। 'मत्-पर-अयन' अर्थात् एकमात्र परमेश्वर ही जिसकी परम गति का केन्द्र है। उसके लिये भगवान् ने निर्णय दियामत्परायण साधक अपने-आपको युक्त कर मुझे ही प्राप्त होगा। परमात्मा सब भूतों का आत्मा है, परम गति है, यही उसका स्वरूप है। जो सारे भूतों की गति है, आत्मा है, हृदय में स्थित उसी चिन्मात्रस्वरूप को उक्त साधक प्राप्त हो जाता है। साधकावस्था में आत्मा में युक्त होने से आत्मा की ही प्राप्ति होती है तथा अन्त में उसी में स्थिति हो जाती है।।३४।।

अध्याय-प्रारम्भ में जिस राजविद्या राजगुह्य को बताने की प्रतिज्ञा की थी उसे इस नवम अध्याय में बताकर पूरा किया। अतः इस अध्याय का नाम 'राजविद्या-राजगुह्य-योग' है।

।।नौवाँ अध्याय।।

ॐ

दसवाँ अध्यायः विभूतियोग

सप्तम अध्याय में भगवान् ने अपना स्वरूप और अपनी विभूतियाँ भी बतलाई थीं। फिर आठवें अध्याय में अपने कुछ अधियज्ञ, अध्यात्म, अधिभूत इत्यादि रूपों का वर्णन किया। नौवें अध्याय में फिर भगवान् ने अपना स्वरूप बतलाया और कुछ विभूतियाँ भी बतलाईं। अब उन्हीं विभूतियों को विस्तार से बतलाने के लिए दसवाँ अध्याय प्रवृत्त होता है। जिन चीज़ों को लेकर भगवान् का चिन्तन करना है, अर्थात् जिनको प्रतीक बना करके उस प्रतीक का जो अधिष्ठान है, उसकी तरफ चित्त ले जाने के लिए उपासना करनी है, उन्हें प्रधानतः बतलाएँगे। बीच-बीच में अपना जो वास्तविक अधिष्ठान स्वरूप है, उसकी तरफ भी संकेत करेंगे। इस प्रकार सातवें, आठवें, नौवें, दसवें- इन सब अध्यायों के अन्दर भगवान् की विभूतियों का भी निरूपण है, और भगवान् के वास्तविक स्वरूप का भी निरूपण है। विभूतियों में उस स्वरूप का चिन्तन करना है। भगवान् के तत्त्व को बार-बार इसलिए कहना पड़ता है कि वह अत्यन्त दुर्विज्ञेय है। हमें जब लगता है कि हमने भगवान् के स्वरूप को समझ लिया तभी झट कोई-न-कोई स्खलन होने से पता लगता है कि 'नहीं-नहीं, अभी पूरा नहीं समझा'। इसीलिए इसको दुर्विज्ञेय कहते हैं। कई चीज़ें होती हैं, जिनके बारे में लगता है 'बस, अब तो मिल ही गई', और जैसे ही यह लगता है, उसी समय कोई हेतु बन जाता है जिससे लगता है कि वह दूर चली गई! जैसे व्यवहार में सुख आदि पदार्थों के प्रति पदे पदे यह अनुभव होता है, उसी प्रकार परमात्मा को समझने में भी यही अनुभव होता है। जब लगता है कि समझ में आ गया, उसी समय कुछ ऐसी बात सामने आ जाती है जिससे लगता है कि नहीं समझे। और इसका कारण है कि जितने विरुद्ध धर्म हैं, सब उसमें कल्पित हैं। कल्पित चीज़ें एक ही अधिष्ठान में रह सकती हैं। इसलिए जब किसी एक रूप को हम समझते हैं कि 'हाँ, यह परमेश्वर में है', तभी कोई-न-कोई विरुद्ध कल्पित चीज़ सामने आ जाती है जो परमेश्वर में हो सके, यह समझ में नहीं आता। सारे विरुद्ध धर्मों का वही अधिष्ठान है, जो सारे जगत् का अधिष्ठान है। मन का स्वभाव पड़ा हुआ है कि विरुद्ध

धर्मों को एक ही स्थान पर देखने से घबरा जाता है, 'वस्तु समझ में नहीं आई' ऐसा लगता है। परमेश्वर का तत्त्व जैसा कहा गया वैसा उपासक *मानता* है। ज्ञानमार्ग में तो 'ये विरुद्ध धर्म मिथ्या होने से *हैं* नहीं', ऐसा निश्चय होता है, इसलिए जो नहीं हैं वे उस तत्त्व में किसी विकल्प को उपस्थापित ही नहीं करते हैं। अतः ज्ञानमार्गी के लिए विरोधदर्शन से कठिनाई नहीं आती, लेकिन जो उपासक है वह तो *मानता* है अतः विरुद्ध चीज़ें सामने आते ही 'इसको कैसे मानूँ?' यह तुरन्त उपस्थित हो जाता है। इसलिए भगवान् उस तत्त्व की बार-बार विभूतियों को बतलाते हैं और बार-बार तत्त्व की तरफ निर्देश करते हैं ताकि विभूति को परमेश्वर न समझ लिया जाये। जिसके अन्दर ये विभूतियाँ कल्पित हैं वह परमेश्वर है। इसलिए बार-बार परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करना ज़रूरी है क्योंकि वह दुर्विज्ञेय है। अतः अर्जुन के बिना पूछे हुए ही, यहाँ भगवान् वर्णन आरम्भ करेंगे। नियम है कि बिना पूछे कोई बात नहीं बतानी चाहिए पर अपनी अत्यन्त करुणा को प्रकट करते हुए, न पूछने पर भी बता रहे हैं। जिसके ऊपर अपना अत्यन्त प्रेम होता है, उसके नहीं पूछने पर भी गुरु समझाता है। अतः भगवान् स्वयं अर्जुन से कहते हैं -

श्रीभगवान् उवाच -
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

हे महाबाहो अर्जुन ! (मेरे वचन सुनने से) प्रसन्न होने वाले तुम्हारे हित की इच्छा से मैं जो भी कहूँगा (वे) मेरे खास वचन पुनरपि सुनो।

भगवान् कहते हैं कि हे महाबाहो! हे महान् भुजाओं वाले! मनुष्य की कर्मेन्द्रिय की शक्ति अत्यन्त प्रबल हो तब उसको महाबाहु कहेंगे। मनुष्य अधिकतर कार्य अपनी बाहों से ही अर्थात् हाथों से ही करता है। अर्जुन अनेक राजाओं को जीत कर राजसूय यज्ञ के अंदर अपना महाबाहुपना सिद्ध कर चुका है। और आगे महाभारत के युद्ध में उसको पूरी तरह से कर्म करना है। दोनों बातें अर्जुन को बतलाते हैं। आगे भी तुम्हें महाबाहु बनना है, और पहले से महाबाहु हो ही। 'भूय एव' फिर से ही। तत्त्व और विभूतियाँ मैं पहले बतला चुका हूँ, उसी बात को आगे बतलाना है। 'मे वचः शृणु', मैं जो बात कहने जा रहा हूँ वह मेरा वचन सुनो। सामने बैठा हुआ है, बोलेंगे तो सुनेगा ही। ऐसे स्थल में जब 'शृणु' कहते हैं, तो उसका मतलब होता है, *ध्यान देकर* के सुनो। सामने बैठे व्यक्ति से बात कर रहे हो, और उसको कोई खास बात बताना चाहते हो, तब कहते हो,'अरे, सुनो मेरी बात।' सुन तो रहा है, वहाँ 'सुनो' का मतलब है, 'ध्यान दो, ध्यान देकर के सुनो।' क्यों ध्यान दें? 'परमं वचः'। वचन की परमता विषय को लेकर है। 'आपने बहुत बड़ी बात कही', इसका मतलब यह नहीं होता कि आपका वाक्य बड़ा

लम्बा था, आपने जो कहा उसमें कई पदों का समास कर दिया था; यह मतलब नहीं होता है। उसका मतलब होता है कि बात के द्वारा जो प्रतिपादन किया गया वह विषय प्रधान था। इसी प्रकार 'परमं वचः' अर्थात् जिस बात को कहने जा रहा हूँ उससे महान् और कोई तत्त्व समझने का नहीं है। अतः जो बात मैं कहने जा रहा हूँ, वह सबसे उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है। परमेश्वर का तत्त्व और परमेश्वर की विभूति, इससे और कोई श्रेष्ठ चीज़ समझने की नहीं है। अगर यह तत्त्व समझ में आ जाता है तो यह अनादि काल से जो चला आ रहा जन्म-मरण- चक्र है, वह छूट जाता है। इस जन्म-मरण के प्रवाह को छुड़ाने वाला सिवाय परमेश्वर के ज्ञान के और कुछ नहीं है। सारे दुःख शुरू तभी होते हैं, जब जन्म लेते हो। सभी दुःखों का आधार क्या है? शरीर है। मन के भी जितने दुःख हैं वे सारे देह-आधारित ही हैं। किसी व्यक्ति के प्रति राग होता है क्योंकि उसने तुम्हारे *शरीर को* कुछ सुख दिया है। जो चीज़ शरीर को सुखदायी है उसी को तुम सुख समझते हो। इसी प्रकार से जो शरीर को दुःखदायी है, उसे निमित्त बनाकर ही सारे द्वेष आते हैं। जन्म होने पर अर्थात् शरीर से सम्बंध होने पर ही रागादि बनते हैं। पहले जिस शरीर से सम्बंध था, उस के सम्बंध से हमारे अन्दर संस्कार, राग, द्वेष आदि सब बने। आगे भी जिस शरीर से सम्बंध होगा, उस शरीर से जो हो सकते हैं वे ही राग, द्वेष प्रकट होंगे। दूसरे तो प्रकट होंगे नहीं। यद्यपि अंतःकरण में सारे संस्कार रहते हैं, तथापि प्रकट वे ही होंगे जो इस शरीर के द्वारा संम्बन्धित होते हैं। किसी जन्म में हम मछली भी थे, इसलिये तैरने के संस्कार भी हमारे अंदर हैं, परन्तु तैरने के संस्कार स्वभाव से मनुष्य शरीर में प्रकट होते नहीं। कभी पक्षी भी थे, इसलिये हमारे अंदर उड़ने के भी संस्कार तो हैं ही। परन्तु वे संस्कार मनुष्य शरीर में उदय होते नहीं। कभी ऐसा नहीं होता कि हम हाथ को फड़फड़ा कर सोचें कि हम उड़ जायेंगे। क्योंकि इस शरीर में वह सम्भव नहीं है इसलिये वे संस्कार उद्भूत भी नहीं होते हैं। दूसरे पक्षी आदि को देखकर के जो उड़ने का संस्कार होता है उसके कारण हम कोई ऐसा यंत्र, ऐसी औषधि, गुटिका इत्यादि बनाने में प्रयत्नशील होते हैं जिससे हम उड़ सकें। उड़ने वाला ज्ञान भी हमसे अलग है, उड़ाने वाली गुटिका भी हमसे अलग है। लेकिन 'मैं हाथ को हिलाकर उड़ जाऊँ' ऐसा संस्कार उद्बुद्ध होता नहीं। जिस शरीर के द्वारा जो संस्कार प्रकट हो सकेगा, उस शरीर को आधार करके वही संस्कार उद्बुद्ध होगा। सारे सुख-दुःखों का केन्द्र इसलिए जन्म ही है अर्थात् शरीर सम्बंध ही है। यदि शरीर का सम्बंध न रहे, तो आत्मा का आनन्दरूप प्रतिक्षण प्रकट हो जाये, अनन्तरूप प्रतिक्षण प्रकट हो जाये। इसको प्रकट करने वाला जो तत्त्व-ज्ञान है वही 'परमं वचः' परम वचन है।

वह तुमको क्यों बतलाते हैं? तुमको सुनाना चाहते हैं, सुनाने जा रहे हैं। इसमें दो कारण बतलाये, एक तो 'हितकाम्यया', तुम्हारे हित की इच्छा है इसलिये। तुम्हारा हित

होवे, इस इच्छा के कारण। दूसरी खास बात बतलाते हैं 'प्रीयमाणाय', मेरी बात सुन कर तुमको प्रसन्नता होती है, तुम उसको अमृत की तरह समझते हो। इतने प्रेम से उसको ग्रहण करते हो इसलिये बता रहे हैं। इसके द्वारा भगवान् कहते हैं कि चाहे जितनी तुम्हारे अन्दर हितकामना हो, और चाहे जितना व्यक्ति तुम्हारा नज़दीकी हो, परंतु यदि वह तुम्हारी बात को अमृत की तरह पीना नहीं चाहता है, तुम्हारी बात से प्रसन्न नहीं होता है, तो उसको सुनाने का प्रयत्न व्यर्थ जाता है। बहुत से लोग सोचते हैं, कि हमें तो दूसरों के कल्याण के लिये बोलना ही है! हितकामना से बोलना अर्थात् श्रोता के लाभ के लिये बोलना। भगवान् कहते हैं कि खाली हितकामना होवे, तब बोलना नहीं है, सुननेवाले को उससे प्रीति होवे, तब बोलना है, अन्यथा अपनी बात अपने पास रखो। जो सामान्यतः नियम किया जाता है, कि बिना पूछे न बताओ, वह भी इसलिये कि पूछने वाला उस उत्तर को सुनना चाहता है। पूछता है, इससे पता लगता है कि वह उत्तर को सुनना चाहता है, उसको इससे प्रसन्नता है। बिना पूछे नहीं कहना चाहिये, फिर भी इस अध्याय में अपनी तरफ से भगवान् कह रहे हैं, क्योंकि अर्जुन उनकी बात सुनने में प्रीति वाला है।।१।।

कोई शंका करे कि आप ही क्यों कह रहे हैं? परमात्मा के विषय में बताने वाले बहुत से लोग हैं, आप ही आगे काहे के लिये आ रहे हैं? अतः भगवान् कहते हैं-

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।२।।

मेरा प्रभाव (और उत्पत्ति) देवता व महर्षि भी नहीं जानते क्योंकि उनका हर तरह से कारण मैं ही हूँ।

ब्रह्मा, विष्णु, आदि जो देवता हैं, वे मेरे प्रभव को, मेरी उत्पत्ति को जानते नहीं इसलिये नहीं बतला सकते। 'प्रभव' के दोनों ही तात्पर्य हैं- प्रभाव को भी प्रभव कहते हैं। परमेश्वर की शक्ति अतिशय है। किसी के भी द्वारा जो किया जा सकता है वह तो परमेश्वर कर ही सकते हैं, जो कोई नहीं कर सकता, वह भी परमेश्वर कर सकते हैं, और जिसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते, वह भी परमेश्वर कर सकते हैं। जो किया जा सकता है, वह तो दूसरे लोग भी बता सकते हैं। परन्तु जो नहीं किया जा सकता और जो कल्पनातीत वे कर सकते हैं, उसे कैसे कोई जान सकता है! उनके करने के बाद तो जान लेंगे परन्तु पहले से पता लग नहीं सकता। शक्ति कहते ही उसको हैं, जिसका जब कार्य हो जाय तब अनुमान होता है। जब तक कोई कार्य किसी ने किया नहीं, तब तक उसमें उसे करने की शक्ति है यह कैसे कहा जा सकता है? बच्चा परीक्षा अच्छी नहीं करता, तो माँ क्या कहती है? 'तुम इससे अच्छा पढ़ सकते हो, पढ़ते नहीं हो।' वह बेहतर पढ़ सकता है यह माँ को कैसे पता! कौन क्या कर सकता है, किसमें

क्या शक्ति है, यह तब तक पता ही नहीं लग सकता जब तक वह उस कार्य को कर न लेवे। एक लड़के के सौ नम्बर आ गये, इससे हम *कल्पना* करते रहते हैं कि 'मेरे लड़के के भी सौ नम्बर आ सकते हैं, यह लगकर मेहनत करता नहीं है'। मालिक भी यही सोचता है कि नौकर कर सकता है, करता नहीं है, ध्यान नहीं देता। इसी प्रकार नेता के बारे में हम सोचते हैं कि वह कर सकता है, कर नहीं रहा है। किंतु जो शक्ति के इस रहस्य को जानता है उसे यह भ्रम कभी नहीं होता कि दूसरे में यह शक्ति है अतः इसमें भी है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। देवदत्त सत्रह मील चल सकता है तो यज्ञदत्त भी सत्रह मील चल सकता है, यह कैसे कहोगे? जबर्दस्ती ले जाओ तो वह चौदह मील जाते-जाते बेचारा मूर्छित होकर गिर जाता है। इसलिये शक्ति कार्य से ही अनुमेय है, अतः बिना कार्य देखे देवता या महर्षि भी नहीं कह सकते कि क्या शक्ति है।

नास्तिकों को सबसे बड़ी शंका यह रहती है, कि परमेश्वर ऐसा कैसे कर सकता है? ऐसा नहीं हो सकता। किंतु परमेश्वर वैसा भी करके दिखला देता है! तब नास्तिक किसी कार्यकारणभाव की कल्पना करते रहते हैं। किसी को देखते हो, कि अत्यंत दुराचारी है, तुमको निश्चय है कि वह बिलकुल नरक ही जाने वाला है। अकस्मात् उसका जीवन सर्वथा बदल जाता है, वह उत्तम संत हो जाता है। परमेश्वर ने अपनी अनुग्रह शक्ति से उसको बदल दिया। जो परमेश्वर की ऐसी शक्ति स्वीकार नहीं करना चाहते वे कहते हैं, 'इसने पूर्व जन्म में कुछ किया होगा तभी फल हुआ होगा,' अर्थात् बिना कर्म के फल परमेश्वर नहीं दे सकता! यह ईश्वर को न समझने से होने वाला आग्रह है। ईश्वर रूप भी कल्पनातीत ले लेता है। जब तक भगवान् नृसिंह का विग्रह न देखो तब तक यह कल्पना नहीं हो सकती कि आधा शेर व आधा मनुष्य ऐसा कोई शरीर हो सकता है। गणेश जी की मूर्ति बिना देखे वैसे शरीर की कल्पना नहीं होती। इसी तरह से सप्तशती के अन्दर आता है कि आगे भगवती छह पैरों वाले मकड़ी इत्यादि का रूप लेकर आयेंगी। हम लोग कल्पना भी नहीं कर पाते हैं आज कि उस मकड़ी के रूप में भगवती कैसी होंगी? उनके हाथ-पैर कैसे होंगे, कैसे नहीं होंगे? कुछ कल्पना नहीं कर सकते। इस प्रकार, जो हो सकता है वह भी, जो नहीं हो सकता है वह भी, और जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, वह भी करने में परमेश्वर समर्थ है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि उस परमेश्वर की, प्रभु की जो शक्ति है वह अतिशय है। और प्रभव का मतलब उत्पत्ति भी होता ही है। अतः भगवान् कह रहे हैं कि मेरी उत्पत्ति कोई नहीं जानता।

शंका होती है कि भृगु इत्यादि महर्षि लोग हैं, उनको तो पता होगा? भगवान् कहते हैं कि वे भी नहीं जानते। महर्षि इत्यादि जितने हैं वे सर्वज्ञकल्प, करीब-करीब सर्वज्ञ हैं। जो हुआ उस सबको तो जानते हैं। इसलिये सर्वज्ञ *कहे* जाते हैं। लेकिन आगे

क्या-क्या हो सकता है - यह वे जानते नहीं। जैसे, कोई रसायन शास्त्र को जानने वाला है, अधिकतर रसायन की प्रतिक्रियाओं को उसने पहले देखा है, अतः उसके अनुसार बतला देगा कि अमुक पदार्थ में अमुक रस मिलाओगे तो यह फल होगा। परन्तु कभी-कभी जैसा आज-तक देखा गया है वैसा नहीं होता! मैडम क्यूरी के जीवन में यही आता है; वह जो प्रयोग कर रही थी उसमें बिलकुल बेकार नतीजे निकल रहे थे। प्रयोगों का सारा कूड़ा वह बाहर फेंक देती थी। प्रयोग की विफलता से बड़ी दुःखी थी; रात में नींद नहीं आती थी। चाँदनी रात थी। खिड़की पर आकर खड़ी हुई, तो देखा कि जहाँ सारा कचरा डाला था, उसमें कोई चीज़ चमक रही थी। पहले उसने सोचा कोई जुगनू, कोई कीड़ा होगा। लेकिन थी वैज्ञानिक, इसलिये हर चीज़ को देखना, सुनना, समझना, ध्यान देना, उसके स्वभाव में था। उसने ध्यान देकर देखा कि वह चीज़ हिल-डुल नहीं रही है। जुगनु वगैरह कोई कीड़ा होता तो हिलता। चली गयी नीचे; कचरे में जाकर देखा, कोई प्राणी नहीं कोई पदार्थ ही था। वह नई चीज़ थी 'रेडियम'। रेडियम का आविष्कार करके वह दुनिया में बहुत प्रसिद्ध वैज्ञानिक हो गई। यों उनको पता लगा कि क्या-क्या मिलने से रेडियम प्रकट हो जाता है। रासायनिक ज्ञान वाला व्यक्ति रसायनों के मिलाने से क्या होगा - यह बहुत कुछ जान ही लेता है, इसलिये रसायन के बारे में सर्वज्ञकल्प है। परन्तु कोई-कोई चीज़ ऐसी होती है जो नई है, नहीं जानी हुई है, जैसे रेडियम इससे पहले कोई नहीं जानता था। इसी प्रकार महर्षि लोग सर्वज्ञकल्प हैं। सर्वज्ञ तो सिवाय परमेश्वर के कोई नहीं है। इसीलिये पुराने ज्योतिषि सारी भविष्यवाणी लिखने के बाद अंत में लिखते थे, 'आगे भैरव जी जानें'। ईश्वरवादी कोई अपने को सर्वज्ञ नहीं कहता जैसे आजकल के लोग कह देते हैं, 'मैंने कह दिया अतः ऐसा ही होगा'। इसलिये भगवान् ने स्पष्ट किया कि महर्षि सर्वज्ञ हैं, लेकिन फिर भी सब कुछ नहीं जानते।

मेरी उत्पत्ति को क्यों नहीं जानते? 'अहमादिर्हि देवानाम्'। बाप कहाँ कब पैदा हुआ था, इसको बेटा कभी नहीं *देख* सकता। सुनी-सुनाई बात तो बोल सकता है, परन्तु देख नहीं सकता। क्योंकि जब बाप पैदा हुआ था, तब बेटा था ही नहीं, तो कैसे देखता! इसी प्रकार से परमेश्वर से ही देवता उत्पन्न होते हैं। परमेश्वर ही देवताओं का उत्पादक अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण है। इसलिये देवता परमेश्वर की उत्पत्ति कैसे जान सकते हैं? जैसे देवताओं की उत्पत्ति का एकमात्र कारण मैं ही हूँ, इसी प्रकार से महर्षियों की भी उत्पत्ति मुझसे ही हुई है। वे भी मेरी उत्पत्ति नहीं जान सकते। 'सर्वशः' - चीज़ों के दो प्रकार के कारण होते हैं। एक *जो* बनता है और दूसरा जो *बनाता* है। स्वैटर ऊन से बनता है। स्वैटर कौन बना? ऊन बना। और किसने बनाया? देवदत्त ने बनाया। किन साधनों से बनाया? सलाइयों से बनाया। इसी प्रकार से सब चीज़ों के दो कारण होते हैं। रोटी आटे से बनी। बेलन-चकले के द्वारा देवदत्त ने बनाई। बनाने

वाला देवदत्त हुआ, चकले इत्यादि की सहायता से बनाई और आटा उपादान कारण हुआ। जो बनता है वह उपादान कारण, जो बनाता है वह निमित्त कारण कहा जाता है। बाकी सहायक कारण होते हैं। 'सर्वशः' से भगवान् बता रहे हैं कि देवताओं और महर्षियों को उत्पन्न किया तो कौन बना? मैं बना। मेरे सिवाय वहाँ कुछ था ही नहीं। और किसने बनाया? मैंने बनाया। और किन साधनों से बनाया? मेरे सिवाय और कोई साधन भी नहीं थे! इसका यदि थोड़ा-बहुत नमूना तुम देखना चाहो, तो सपने में समझ सकते हो। सपने में जो धोती सूख रही है तार के ऊपर, वह धोती किससे बनी? कोई रुई तो थी नहीं, तुम ही थे वहाँ। कोई मशीन भी वहाँ नहीं थी। और बनाने वाला भी तुम्हारे सिवाय कोई जुलाहा नहीं था। जैसे स्वप्न को तुमने बिना किसी दूसरी चीज़ के बनाया और बने, उसी प्रकार परमेश्वर ही देवता, ऋषि इत्यादियों के रूप में बना और उसी ने सबको बनाया। यह उसका अतर्क्य माहात्म्य है जिसको बिना शास्त्र दृष्टि से हम नहीं सोच-समझ सकते।

स्वप्न भी हमारी समझ में नहीं आ पाता! क्यों नहीं समझ में आता? हमें पता ज़रूर है कि 'मेरे सिवाय वहाँ कुछ नहीं था तो मैंने ही बनाया और मैं ही बना' परन्तु न हमें वहाँ भान होता है, 'मैं बना रहा हूँ', न भान होता है कि 'मैं बन रहा हूँ'। बिना भान के ही बनना और बनाना वहाँ हो रहा है। इतना तो पता लग जाता है कि 'ऐसा होता है,' पर *कैसे* होता है - यह कुछ समझ में नहीं आता। शिवमहिम्नःस्तोत्र में 'किमीहः किंकायः' आदि श्लोक में परमेश्वर के इस ऐश्वर्य का महत्त्व स्पष्ट किया है। उस बारे में तुम्हारी बुद्धि की तर्कना काम नहीं करती। कोई ढंग नहीं है जिससे वह समझ में आवे। अनेक प्रश्न वहाँ किये : उसने बनाया तो, उसका प्रयोजन क्या था? प्रयोजन कुछ भी समझ में नहीं आता कि क्यों बनाया। इसीलिये यही कह-करके बड़े से बड़े विचारक को शान्ति करनी पड़ती है कि- 'देवस्यैष स्वभावोऽयम्' देव का ऐसा स्वभाव है। इसके सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। हम लोग अपनी दृष्टि से देखते हैं कि बिना किसी उद्देश्य के हम कुछ नहीं करते हैं तो परमात्मा का भी कोई उद्देश्य रहा होगा। पर उसका उद्देश्य कुछ नहीं, उसका स्वभाव है। 'किंकायः?' किस शरीर में बैठकर बनाया? शरीर तो कोई था ही नहीं। वे बनायेंगे तब शरीर बनेगा। 'किमुपायः?' किन साधनों को इक्ट्ठा किया? कोई साधन भी नहीं थे। उपादान भी कुछ नहीं था। इसलिये बिना किसी प्रयोजन के, बिना किसी साधन के, बिना किसी दूसरे उपादान कारण के, बिना किसी शरीर के ही उसका स्वभाव है जगत् की उत्पत्ति करना, स्थिति करना, फिर अपने में लय कर लेना। इसलिये कहा कि चूंकि देवता और महर्षियों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण सब प्रकार से मैं ही हूँ अतः वे मुझे नहीं जान सकते। मेरी शक्ति को नहीं जान सकते हैं। मेरी शक्ति ने काम करना शुरू किया, उसके बाद ही देवता भी आये, ऋषि भी आये, इसलिये मेरी शक्ति को, मेरे वैभव को नहीं जान सकते। उनकी असमर्थता जानकर ही यहाँ भगवान् स्वयमेव बताने का उपक्रम कर रहे हैं ।।२।।

'प्रभव' से जन्म समझें तो देवता व ऋषि भगवान् का जन्म इसलिये नहीं बता सकते कि भगवान् अजन्मा हैं, कभी उत्पन्न होते ही नहीं - यह सूचित करते हुए इस बात को समझने का फल बताते हैं -

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।३।।

मनुष्यों में जो मुझे जन्महीन, कारणरहित और सब लोकों का महान् शासक जानता है, वह सम्मोहशून्य हो जाता है तथा सब पापों से छूट जाता है।

जो मेरे इस वास्तविक स्वरूप को, जो सारी सृष्टि का कारण है, उसको अज अर्थात् वह आत्मतत्त्व जन्म रहित है, इस बात को जान लेता है वही मोह से छूटता है। परमात्मतत्त्व 'मैं' इस प्रतीति का विषय है। हम लोगों को आत्मा के बारे में भ्रम क्यों हैं? क्योंकि हम मैं के साथ हमेशा उपाधि को ही रखते हैं। 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान न होकर 'मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं लम्बा हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं कमज़ोर हूँ' इस प्रकार देहद्वय और इनके धर्मों के साथ ही, 'मैं' को जानते हैं, परमात्मतत्त्व को जानते हैं। चूँकि उन चीज़ों का जन्म है अतः 'मैं' का अपना जन्म मान लेते हैं। शरीर की उत्पत्ति होती है इसलिये मेरा जन्म हुआ- ऐसा ही समझते हैं। इसी प्रकार 'पहले मैं नहीं जानता था जर्मन भाषा, बाद में मैंने जर्मन भाषा जानी तो जर्मन के ज्ञान वाला मैं' - इस प्रकार से बुद्धि के जन्य ज्ञान के कारण अपना भी ज्ञान पैदा होने वाला मान लेते हैं। जो इस बात को ठीक तरह से समझ लेता है कि आत्मतत्त्व सच्चिदानंदस्वरूप है, वही वस्तुतः अस्मत्प्रतीति का विषय है, ये उपाधियाँ नहीं, उसका भ्रम मिट जाता है। जैसे, काँच में हम मुँह देखते हैं तो काँच के धब्बों से युक्त अपना प्रतिबिम्ब दीखता है जिससे हम यही मानते हैं कि 'मैं ऐसे धब्बों वाला हूँ', ऐसी ही प्रतीति हो जाती है। फिर कोई कहता है, 'अरे! तुम्हारे चेहरे पर तो कोई धब्बा नहीं है।' पहले तो हम यही कहते हैं, 'मुझे क्यों बेवकूफ बनाते हो! मैंने उस काँच में देखा है।' तब वह चूना लाता है, उस काँच के ऊपर लगाता है, फिर उसको कपड़े से साफ करता है। दाग चले जाते हैं, बिलकुल निर्मल काँच सामने आ जाता है। उसमें हम अपना चेहरा देखते हैं तो बिना धब्बे वाला दीखता है। तब पता लग जाता है कि 'मेरा चेहरा सर्वथा साफ है। काँच के धब्बों से ऐसा दीखा'। अपने चेहरे को साफ देखने के बाद किसी कारण से काँच पर कोई दाग आ भी गया तो यह भ्रम नहीं होता है कि 'मेरे चेहरे पर धब्बा है', क्योंकि जानते हैं कि काँच पर दाग है इसलिये ऐसा दीखता है। इसी प्रकार से मैंने अपने को हमेशा उपाधि से युक्त देखा, अतः जन्मवाला भी देखा और कारण वाला भी देखा। मेरा जन्म क्यों हुआ? कर्मफल-भोग के लिये हुआ। इस प्रकार अपना आदि, अर्थात् अपना कारण और अपना जन्म, दोनों दीखते हैं। कोई

ब्रह्मनिष्ठ तुमसे कहता है कि तुम जन्म और कारण से रहित हो। कहते हो 'ऐसा कैसे हो सकता है! हमको साक्षात् प्रतीति है। हमारे माँ बाप सब कहते रहे, 'तू छब्बीस जनवरी को पैदा हुआ था।' सब बेवकूफ हैं क्या?' वह आचार्य तुम्हारे मन-रूप काँच को कर्मोपासना के द्वारा साफ करता है। जब अंतःकरण साफ हो जाता है, तब तुमको उपाधिरहित अपना रूप प्रतीत होता है।

चित्त साफ करना विवेक के अभ्यास से भी हो सकता है और योगाभ्यास से भी हो सकता है। दोनों में से किसी से भी साफ हुए मन में हमें अपना जब स्वरूप दीखता है, तब पता लगता है कि मैं तो जन्म और कारण से रहित हूँ। वशिष्ठ जी ने भी कहा है कि योग और विवेक दोनों रास्ते हैं। इन दोनों में खास फ़र्क है कि योग में हम अशुद्ध चित्त वाली प्रतीति को 'यह है ही नहीं' ऐसा नहीं समझकर, उसे सचमुच में गलत मानकर सचमुच में ही चित्त को शुद्ध करते हैं। तब शुद्ध चित्त में हमें आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है। ज्ञान तो आत्मा का वैसा ही होता है जैसा वास्तव में आत्मा है, लेकिन हम उस ज्ञान के लिये शुद्ध चित्त पर निर्भर रहते हैं। अतः विक्षेप आने पर, व्यवहार दशा में हमें कार्यकारण का बंधन वास्तविक लगता है और हम चित्त को पुनः समाहित करने पर मज़बूर होते हैं। परन्तु जब विवेक मार्ग से चलते हैं तब यह निश्चय होता है कि अशुद्ध चित्त में जो प्रतीत हो रहा है, वह वस्तुतः नहीं है। अतः चित्त शुद्ध होकर आत्मा के यथार्थ दर्शन के बाद अन्तःकरण के अंदर काम क्रोध आदि की प्रतीति होने पर भी, 'मैं कामी, मैं क्रोधी हो गया,' ऐसा निश्चय नहीं होता। दोनों उपायों में यह खास फ़र्क है। इसलिये पतंजलि ने कहा कि योग के फलस्वरूप *समाधि काल में* तुम अपने स्वरूप में स्थित होते हो। 'समाधिकाल में' कहने से पता चल जाता है कि व्यवहार काल में फिर हिलते हो। किन्तु विवेकी का हिलना होता नहीं क्योंकि वह जानता है कि 'कभी भी मैं ऐसा हो ही नहीं सकता।' यहाँ जो भगवान् ने 'वेत्ति' कहा उसका तात्पर्य ऐसे विवेकपूर्ण निश्चय से है जो चित्तस्थिति पर निर्भर नहीं है।

आगे भगवान् कहते हैं कि अज व अनादि मैं ही सारे लोकों का महेश्वर हूँ। अज्ञान और उसके कार्यों से रहित जो तुरीय रूप है, वह महेश्वर है। ऐसा जो अपना स्वरूप है उसे जानना है। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति - यह सारा अज्ञान का कार्य है। मेरी उपाधि जाग्रत् काल में इन्द्रियों के साथ है। जाग्रत् काल के अंदर हमेशा इंद्रियों से हम विषयों को ग्रहण करते हैं। इंद्रियों की उपाधि वाला तब मैं बाह्य विषयों को देखता हूँ। जब इंद्रियों की उपाधि हट गई, केवल चित्त और उसके संस्कारों की उपाधि रह गई, तब बिना इंद्रियों के ही स्वप्न देखता हूँ। चश्मा तो टेबल पर ही पड़ा रहता है और स्वप्न में सब चीज़ें साफ दीखती हैं। ऐसा नहीं होता कि चश्मा भूल आया हूँ इसलिये सपना साफ नहीं दीख रहा! बिना इंद्रियों के केवल अन्तःकरण से ही स्वप्न दीख जाता है। है तो अन्तःकरण भी आत्मा से बाहर, पर बाह्य विषयों की अपेक्षा उसको अंदर

मानकर कह देते हैं कि स्वप्न-काल में अंदर ही अनुभव होता है, बाहर का अनुभव नहीं। फिर जब गहरी नींद में जाता हूँ, तब मन से भी, अन्तःकरण से भी रहित हो जाता हूँ। इन तीनों का ईश्वर कौन है? मैं ही हूँ। इंद्रियों को चलाने वाला कौन? मैं। स्वप्न में मन के द्वारा देखने वाला, मनको चलाने वाला कौन? मैं। सुषुप्ति के अंदर इन उपाधियों से रहित रहने वाला कौन? मैं। इसलिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं का ईश्वर मैं। पर वस्तुतः तीनों उपाधियों के बदलने पर भी इनसे नहीं बदलता हूँ, इसलिये इन तीनों से अस्पृष्ट मैं हूँ। यह मेरा तुरीय अर्थात् महेश्वर रूप है। ज्ञान और अज्ञान के सब कार्यों से रहित अपना महेश्वर रूप है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों देखे जाते हैं, अनुभव का विषय बनते हैं। इन सबका महेश्वर मैं हूँ।

जो इस प्रकार अपने अंदर स्थित वासुदेव को जान लेता है, 'स मर्त्येषु असम्मूढः'। मर्त्य अर्थात् मरणधर्मा, जो अपने को मरने वाला मानते हैं। सारे ही प्राणी, विशेष करके मनुष्य, मर्त्त्य कहे जाते हैं। उन सब प्राणियों में यह तत्त्ववेता ही ऐसा है जो असम्मूढ है। उसका सम्मोह, अर्थात् अज्ञान के साथ सम्बंध समाप्त हो गया है। अज्ञान को मोह कहते हैं। अतः असंमूढ अर्थात् अज्ञानरहित। मूढ या मुग्ध व्यक्ति उसको कहते हैं जो वास्तविक चीज़ को नहीं जानता। मोह में पड़ा हुआ व्यक्ति कभी भी वास्तविकता को नहीं जानता। तत्त्वज्ञ वास्तविकता को जानता है इसलिये सम्मोह-वर्जित है। अतः 'सर्वपापैः प्रमुच्यते', जितने पाप अनादि काल से हुए हैं, और अभी भी हो रहे हैं, उनसे छूट जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि एक पाप सबसे बड़ा है, वह होता है तो बाकी पाप होते ही रहते हैं। वह पाप क्या है? शुद्ध आत्मा को न जानना, उसकी जगह दूसरी चीज़ों को जानना।

'योऽन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते।
किन्तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा।।'

आत्मतत्त्व को न जानना ही मानो आत्मतत्त्व का तुमने अपहरण कर रखा है। तुमने आत्मा को चुरा लिया, इसलिये सारे पाप तुमने कर लिये। आत्मा का स्वरूप तो सच्चिदानंद है। उसको जन्म और मरण वाला मान लेते हो, अतः सारे पाप कर लिये। क्योंकि सारे पाप तभी तक किये जाते हैं जब तक आत्मा का स्वरूप नहीं जानते। आत्मा का स्वरूप न जान कर सारे पाप किये गये, आत्मा का स्वरूप जानते ही पता लगता है कि आजतक कुछ भी नहीं किया गया! ज्ञात अज्ञात सारे ही पाप किये ही नहीं गये। - यह स्पष्ट अनुभव हो जाता है। प्रायश्चित्त आदि द्वारा भी पाप मिटते हैं, पर सभी पाप नहीं मिटते और नये पापों की सम्भावना खुली ही रहती है। परंतु ज्ञान से तो अनादि काल से लेकर जितने भी पाप हुए हैं उन सब का सम्बंध कभी हुआ ही नहीं - यह समझ आ जाता है। इसलिये 'प्रमुच्यते' कहा। ऐसे प्रकर्ष से मुक्त होता है कि फिर कभी उसकी सम्भावना भी नहीं।

अज और अनादि में पुनरुक्ति का भ्रम हो सकता है अतः इन्हें स्पष्ट समझना ज़रूरी है। भाष्यकार ने अनादिता को अजरूपता में हेतु बताकर इनका अन्तर स्पष्ट किया है। अर्थात् अनादि होने से ही अज है। आत्मा का कोई कारण न होने से ही वह जन्मरहित है। जिस चीज़ का कारण होता है, वही कारणाकार को छोड़ कर कार्याकार लेगी। कारणाकार को छोड़कर कार्याकार लेना - यही जन्म है। जब तक हम गर्भरूप में थे, तब तक कारणरूप में थे, अप्रकट थे। जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है क्योंकि मिट्टी में घड़ा है पर प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रकट नहीं है, मिट्टी को चाक पर चढ़ा दिया तो घड़ा प्रकट हो जाता है; इसी प्रकार मैं माता के पेट में था तो किसी को प्रकट नहीं था, कैसा हूँ क्या हूँ यह किसी को मालूम नहीं था। जैसे ही बाहर आया, सब के लिये प्रकट हो गया। इसलिये उसको जन्म माना जाता है। माता के पेट में कारणरूप से था, अतः कार्यरूप से बाहर प्रकट होता हूँ। जो कारणरहित है वह कारणरूप से कभी है ही नहीं तो कार्यरूप कभी बनेगा नहीं। कारण से कार्य बनता, तभी उसका आदि होता। अतः कहा कि अनादि होने से ही अज है। कार्य-कारण-भाव से रहित होने से ही वह स्वरूपतः जन्महीन है।।३।।

देवता और महर्षियों की उत्पत्ति से बाह्य जगत् को अपने से उत्पन्न बतलाया। अब भगवान् कहते हैं कि केवल बाह्य जगत् ही नहीं, आन्तर जगत् भी मुझसे ही पैदा हुआ है। देवता और महर्षि जैसे पैदा हुए हैं, वैसे ही हमारा जो आन्तर-जगत् है, वह भी उस परमेश्वर से ही पैदा हुआ है। इस बात को समझ लेने से जैसे बाह्य जगत् के पदार्थों का बाध हो जाता है, वैसे ही आन्तर जगत् के पदार्थों का भी बाध होता है। जब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहते हैं तब 'इदम्' का मतलब केवल बाहर के पदार्थ नहीं, अन्दर होने वाले भी सारे पदार्थ आत्मा की दृष्टि से बाह्य ही हैं। महेश्वर ही सबको पैदा करता है। अन्यथा लोगों को एक शंका रह जाती है कि 'बाहर की चीज़ें तो परमात्मा ने पैदा की परंतु मन के काम क्रोध आदि तो हम ही पैदा करते हैं! अर्थात् आन्तर जगत् हमारा ही किया हुआ है'। इसीलिये, यदि किसी का पैर फिसल जाये, वह गिर जाये, तब ऐसी प्रतीति हो जाती है कि इसका प्रारब्ध दुःख का था तो गिरा है, उसके प्रति हमदर्दी भी होती है। परन्तु कोई आदमी आन्तरिक स्तर पर गिर पड़े अर्थात् काम-क्रोध आदि की चपेट में आ जाये तो प्रारब्ध की मजबूरी में गिरा - ऐसा नहीं लगता, वरन् उसने गलती की - यह निश्चय होता है। किसी के प्रति तुम्हारे मन में हिंसा की भावना आ गई; उसने गाली दी, तुम्हें गुस्सा आ गया। सब कहते हैं 'गुस्सा नहीं करना चाहिये।' जैसे पैर फिसला, वैसे गुस्सा आया। किंतु चूंकि लोग समझते हैं कि बाह्य जगत् तो परमेश्वर ने किया, परन्तु आन्तर जगत् हम ही करने वाले हैं, इसलिये पैर फिसलने व गुस्सा करने को समकक्ष नहीं मान पाते। ऐसी विचारधारा वाले लोग दो प्रकार के कारण मान लेते हैं : बाह्य जगत् का कारण तो प्रकृति या माया है

और आन्तर जगत् का कारण अविद्या है। वर्तमान में एक सम्प्रदाय है जो मोक्षमार्ग के बारे में कहता है कि मान लो एक जेल है, उसमें एक कोठरी है। तुम कोठरी में बंद हो, कोठरी खोल दी गई, इतने-मात्र से तुम जेल से बाहर नहीं हो जाओगे। क्योंकि जिस जेल मे बंद हो उसका तो दरवाज़ा सांकल से बंद किया गया है। ऐसे ही यदि बाहर का दरवाज़ा खोल भी दिया जाय परन्तु तुम्हारी कोठरी को न खोला जाये, तो भी तुम बाहर नहीं निकल सकते हो। इसी तरह से तुम्हारी अविद्या एक ताला है जिससे ये काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि होते हैं; इनके द्वारा भी बंद हो। दूसरा बाहर का ताला भी बंद है; सारे जगत् को देखते हो, इससे व्यवहार करते है, यह दूसरा माया का बंधन है। यदि केवल तुम्हारी अविद्या हटी, और माया बनी रही तो भी बन्धन रहेगा ही। बहुत-कुछ ऐसा ही सांख्यवादी भी कह देते हैं। किंतु सांख्यवादी मानते हैं कि प्रकृति *सामने* से हट जाती है। ये आधुनिक लोग ऐसा भी नहीं मानते। सारा बाह्य जगत् तुम्हारे अनुकूल हो जाये, पर तुम्हारी अविद्या नहीं हटी, तो भी बन्धन रहेगा। और केवल तुम्हारी अविद्या हटे, तो भी बाहर के संसार का बंधन रह जायेगा। इसलिये दोनों हटें - यह ज़रूरी है। बाह्य जगत् के बंधन को हटाने के लिये कुछ लोग योग को उपाय बतलाते हैं, जिससे बाह्य जगत् की तुमको प्रतीति न होवे। कुछ लोग भगवद्भक्ति को उपाय बतलाते हैं कि तुम्हारा बाहरी बंधन भगवान् हटा देंगे परन्तु अंदर के जो दोष हैं इनको तो तुम ही हटाओगे। ऐसे किसी भी भ्रम को दूर करने के लिये भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि जैसे बाह्य जगत् माया का खेल है वैसे ही तुम्हारा आन्तर जगत् भी माया का ही खेल है। -

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।४।।

समझ, जानकारी, सही गलत की पहचान, सहिष्णुता, सच, इंद्रियों पर व मन पर नियन्त्रण, आह्लाद, सन्ताप, उत्पत्ति, नाश, डर, निडरता (-सब मुझसे ही होते हैं)।

इस श्लोक का अगले श्लोक के साथ अन्वय है; 'भवन्ति भावाः'। कौन-कौन से भाव? यह बताना प्रारंभ किया 'बुद्धिः' इत्यादि से।

'बुद्धि' - अन्तःकरण के अंदर जो विवेक करके सूक्ष्म वस्तु को देखने की सामर्थ्य है। स्थूल चीज़ आँख से देखने पर भी सूक्ष्मता के दर्शन के लिये बुद्धि चाहिये। हीरा कितना ऊँचा है, कितना लम्बा-चौड़ा है। - यह सब तो स्थूल दृष्टि से सभी को दीखता है। पर यह हीरा दस लाख का है, या एक लाख का है, यह जौहरी को दीखता है, हम लोगों को नहीं दीखता। दीखता उसे भी आँख के द्वारा ही है, लेकिन जिसने दीर्घकाल तक हीरों की परख का संस्कार पैदा कर लिया है, उसको दीखता है। सूक्ष्म में भी कई भेद होते हैं। इसलिये आचार्य ने 'सूक्ष्म आदि अर्थ समझने की सामार्थ्य'

को बुद्धि कहा। 'सूक्ष्म आदि', यहाँ आदि मायने, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम। हीरे की परख करने वाले भी सब एक जैसे नहीं होते हैं। हीरा जैसी चीज़ के बारे में यह बात है तो शास्त्र की सूक्ष्म चीज़ों को समझने में बुद्धि की आवश्यकता का क्या कहना! शास्त्र का स्थूल अर्थ तो सब समझते हैं, लेकिन जिनके अंदर शास्त्र को समझने के संस्कारों का अच्छी प्रकार से आधान हो गया है। वे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम जो अर्थ हैं उन सबको स्पष्ट समझ पाते हैं। ज्ञान तो उनको भी उन्हीं शब्दों से होता है; जैसे उस हीरे की मणि से ही ज्ञान जानने वाले को भी होता है, नहीं जानने वाले को भी होता है, इसी प्रकार यहाँ भी शब्द दूसरे नहीं हैं, शब्द वे ही हैं। स्थूल बुद्धि वाले को स्थूल अर्थ ही ग्रहण होता है, सूक्ष्म अर्थ ग्रहण होता नहीं। जितने-जितने संस्कार होंगे उतने-उतने सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, सारे अर्थ ग्रहण होंगे। जो इस प्रकार सूक्ष्मतम चीज़ों तक पहुँच सकता है, उसी को लोक में बुद्धिमान् कहते हैं। सभी संस्कार सभी में नहीं हैं। सुनार सोने की परीक्षा खूब जानता है। लुहार, लोहे की परीक्षा खूब जानता है। प्रयत्न करके लुहार ऐसा लोहा बना सकता है जो सोने से भी मँहगा है। घड़ी के अन्दर एक स्प्रिंग होता है, जो घड़ी के ऊपर अपना नियंत्रण रखता है। यदि तोल के हिसाब से देखो तो वह सोने से भी, प्लेटिनम से भी मँहगा पड़ता है। किंतु उस की विशेषता घड़ीसाज ही समझ सकता है। जौहरी नगों को जानता है। इसी प्रकार जो शास्त्र-वेत्ता है वह शास्त्र को जानता है। अतः उसके द्वारा प्रकट किये अर्थों को देख करके कई बार जो स्थूल बुद्धि वाले होते हैं, वे ना-समझी से विह्वल हो जाते हैं। जैसे कोई हीरे वाला कहता है, 'यह दस लाख का है, दूसरा पाँच लाख का है'। अनजान को तो दोनों एक जैसे दीखते हैं अतः कह देता है 'ये तो सब इनकी बातें हैं जी, क्या फर्क हैं दोनों में? बिल्कुल एक जैसे हैं।' किंतु रहेगा दस लाख वाला उतने का ही, अनजान को समझ न आने से उसकी कीमत कम नहीं होती है। इसी प्रकार से जो शास्त्र के संस्कारों से रहित होते हैं, कहते हैं कि 'बात तो सीधी है, ये लोग उसे लम्बी चौड़ी बिना मतलब के बढ़ाते रहते हैं।' ऐसे अनजानों को न समझ आने से बुद्धिमानों द्वारा बताये सूक्ष्म आदि अर्थों का महत्त्व घट नहीं जाता। जैसे जिसे सोना चाहिये वह भरोसेमंद सुनार पर विश्वास करके ही खरीदेगा, अपनी समझहीन बुद्धि पर निर्भर होकर सौदा नहीं कर लेगा, वैसे जिसे शास्त्र का तात्पर्य समझना है वह शास्त्रीय समझ वाले पर श्रद्धा करके ही अध्ययन करेगा, ना-समझी पर भरोसा नहीं करेगा। सभी विषयों की बुद्धि किससे आती है, भगवान् ने कहा - मुझ लोकमहेश्वर से ही आती है। जो सच्चिदानंद परमात्मा अपने अन्दर बैठा हुआ है, उसके कारण ही बुद्धि है।

'ज्ञानम्', ज्ञान अर्थात् किसी भी चीज़ का अवबोध, वस्तु ठीक कैसी है इसको जानना। आत्मादि पदार्थों का भी यथावत् ज्ञान कि आत्मा का स्वरूप यही है, अनात्मा का स्वरूप यही है, इस प्रकार से अवबोध होना भी परमात्मा, लोकमहेश्वर ही करता

है। जब परमेश्वर ज्ञान न कराये तब जो चीज़ जैसी है वैसी समझना मुश्किल हो जाता है, असम्भव हो जाता है। अनेक प्रयत्न करने पर भी, परमात्मा की कृपा न होवे तो अवबोध हो ही नहीं पाता।

'असम्मोहः', जो पदार्थ सामने है उसके बारे में विवेकपूर्वक निर्णयकर प्रवृत्ति होना। सर्वथा वही चीज़, सर्वथा वही परिस्थिति तो दुबारा आती नहीं है। जिसके अंदर असम्मोह नहीं होता वह हर नई परिस्थिति में सोचता है 'अब क्या करें?' गणित पढ़ाते समय हर अध्याय में कुछ नियम समझाये जाते हैं और फिर पचास-साठ प्रश्न हल कराते हैं। आजकल मातायें ठीक से सोचती नहीं। जब लड़के को सवाल नहीं आता है तो माँ उसको बतलाती है कि 'इसको इससे गुणा करो और इतना इसमें से घटा दो।' लड़का कर लेता है, जवाब सही आ जाता है। परन्तु लड़के का क्या नहीं गया? सम्मोह नहीं गया, 'ऐसा क्यों किया गया' यह उसकी समझ में आया नहीं। अगर ठीक वैसा ही सवाल आ जायेगा परीक्षा में, तब तो उत्तर लिख देगा, और थोड़ा इधर-उधर करके दूसरे ढंग से प्रश्न पूछ लिया, तो उसे पता नहीं कि क्या करना है। किंतु सब प्रकार से जिसकी समझ में ठीक आ गया है, कैसा ही घुमावदार प्रश्न होगा, उसकी उसमें विवेकपूर्वक प्रवृत्ति हो जायेगी, कि ऐसा करना है। परिस्थिति तुमको इतना समय नहीं देती कि तुम बैठ करके चार घंटे के बाद निर्णय करो कि क्या करना है। जैसे परीक्षा में इतने सवाल तुमको तीन घंटे में पूरे करने होते हैं, इसी प्रकार जीवन में हर परिस्थिति जब सामने आती है तब थोड़ी ही देर में उससे व्यवहार कर लेना पड़ता है, ठीक करो या गलत करो। व्यवहार रुकेगा नहीं। मोटर चला रहे हो, गर्मी का मौसम है, सड़क के ऊपर पानी दीखा। वह सच्चा पानी है या मृगमरीचिका है - इसका निर्णय करने के लिये लम्बा समय नहीं मिलेगा। उसी समय तुमको निर्णय कर लेना है। जिनमें असम्मोह नहीं होता है उनका कहना रहता है, 'मैं ठीक कर लेता लेकिन क्या करूँ 'समय पूरा नहीं मिला'। दो घंटे बाद उनको समझ में आता है, 'ऐसा करता तो ठीक होता।' लेकिन दूसरी बार ठीक वही घटना तो होनी नहीं है, कुछ-न-कुछ बदल जायेगा, तो फिर वह निर्णय कर नहीं पायेगा। यह असम्मोह भी भगवान् से ही पैदा होता है।

'क्षमा', कोई तुमको मारे, अथवा कोई तुम्हारे ऊपर गुस्सा करके कुछ बोले, सभी परिस्थितियों के अंदर चित्तवृत्ति में कोई विकार न आना। कोई गाली देता है तो सुनकर विकार आता है। कोई थप्पड़ मारता है तो भी विकार आता है। क्षमा का मतलब है, ऐसी परिस्थिति में विकार का न आना। उर्दू का 'माफ़ी' शब्द इसके लिये प्रयोग करते हैं, लेकिन वह क्षमा के वास्तविक अर्थ को नहीं बतलाता। 'तुम्हारा अपराध है, तुमको दण्ड देना चाहिये, पर नहीं दे रहे'- तो माफ़ी है। परन्तु क्षमा के अन्दर चित्त के अन्दर विकार ही नहीं आता है। ठीक जिस प्रकार से बैंक से हमने लाख रुपये का उधार लिया, उसे चुकाते हुए बैंक में हमने बीस हज़ार जमा कराये। हमारे खाते में एक

धेला भी नहीं चढ़ाया जाता, तब क्या यह विकार आता है कि 'अरे यह बैंक मैनेजर चोर हो गया है, मैंने जमा कराया, यह खा गया, जमा ही नहीं किया'? तुम जानते हो कि जमा करने से उधार में कमी हो गई, तुम्हारे खाते में वह जमा कहाँ से होगा! इस ज्ञान के कारण ही चित्त अविकृत रहता है। इसी प्रकार से मुझे गाली सुनाई दी या मुझे थप्पड़ का अनुभव हुआ। मेरे पिछले पापों का उधार इतना घट गया। इस बात को जानने वाले का चित्त अविकारी रहेगा। और जो इस बात को नहीं जानता है कि मेरे पाप का उधार वसूल हो गया, वह विकृत चित्त वाला हो जाता है कि इस आदमी ने मेरा अपमान कर दिया, इस आदमी ने मुझे पीट दिया। इस प्रकार की क्षमा भी लोकमहेश्वर से ही होती है।

'सत्यम्', सत्य का अर्थ है-

'यथादृष्टस्य यथाश्रुतस्य च आत्मानुभवस्य परबुद्धिसंक्रान्तये तथैव उच्चार्यमाणा वाक्'। जैसा हमने अनुभव किया है वैसा ही दूसरे समझें इसके लिये कही बात सच है। चतुराई से ऐसा कहना जो सच सिद्ध किया तो जा सके, पर जिसे सुना रहे हैं, उसे गलत ही ज्ञान कराये, सत्य नहीं है। जो कहते समय भी यह जानता है कि सामने वाला ठीक नहीं समझेगा, पर उस ढंग से कहता है, वह अपने मन में समझता है कि सत्य बोल दिया क्योंकि अगर उसको कोई चुनौती देगा तो वह कहेगा 'मेरा मतलब तो यह था,' पर उसका कहा सत्य की कोटि में नहीं है। कही बात ठीक होवे इतना ही नहीं, दूसरा उस बात को वैसा ही समझे इस प्रयत्न से बोलना सत्य है। प्रयत्न करने पर सामने वाला नहीं समझे, वह बात दूसरी है, पर तुम्हारा उद्देश्य होना चाहिये कि बात जैसी मैंने सुनी, अनुभव की है वैसी ही श्रोता समझे। जैसे प्रत्यक्ष अनुभव की बात, वैसे ही 'मैंने बात जैसी सुनकर समझी है, वैसी ही उस बात को दूसरा समझे', इस दृष्टि से कहना सत्य है। सुनी हुई बात को भी लोग इस प्रकार से कहते हैं कि सामने वाला कुछ का कुछ समझे, तब सत्य का व्यवहार नहीं माना जा सकता।

'दमः', इंद्रियों का शांत होना। इंद्रियों का अपने वश में हो जाना दम है। इंद्रियों के ऊपर अभी तुम्हारा *ही* वश नहीं है, तुम्हारा भी वश है, और मन का भी वश है। तुम बैठे ध्यान करने के लिये, अतः तुम तो चाहते हो कि श्री कृष्ण की मूर्ति सामने रहे मन में। ज़ोर से बिजली चमक गई, तो आँख अपने आप ही मूर्ति को छोड़कर उस बिजली की चमक को देख लेती है! तुम तो ध्यान करना चाहते हो, पर मन जानना चाहता है कि 'क्या हुआ, क्या चीज़ है! ऐसा न हो कि बिजली की चिंगारी हो और कहीं आग लग जाये'! तुम तो बैठे हो ध्यान करने के लिये पर इंद्रिय मन के भी वश में है, अतः तुम्हारे न चाहने पर भी प्रवृत्त हो जाती है। जब इंद्रियाँ तुम्हारे वश में हो जाती हैं तब चूंकि तुम जानते हो कि सारा संसार प्रतीतिमात्र है, कुछ भी देखने लायक कहीं है ही नहीं, इसलिये आँख बाहर प्रवृत्त नहीं होगी। जब तक संसार को व्यावहारिक

सत्य समझेंगे तब तक सोचेंगे कि 'मिथ्या तो ठीक है, परंतु बिजली के तार में चिंगारी उठ रही है या नहीं - यह तो देखें ही'। परंतु जब परमात्मा की वास्तविकता समझ लेते हो तब तुम्हारे अन्दर भाव आता है, तुम जानते हो कि 'सारा आबू जल जाये तो भी मेरा कुछ नहीं जलता!' जनक की उक्ति प्रसिद्ध है कि 'सारा मिथिला राज्य जल जाये तो भी मेरा कुछ भी नहीं जलता है।' है एक आत्मा, वह न जल सकता है, न सूख सकता है; कोई भी क्रिया उसके साथ नहीं हो सकती। और जो नहीं है, उस अनात्मा का जलना भी, जलना नहीं है। इस निश्चय से ही बाह्य इंद्रियों का उपशम हो जाता है। वे फिर मन के कारण प्रवृत्ति नहीं करतीं, सर्वथा शान्त हो जाती हैं। यदि संसार में कहीं कुछ है तो इस उपशम की प्रप्ति नहीं होगी।

जैसे बाह्य इंद्रियों का उपशम, वैसे ही 'शम', अर्थात् आन्तर इंद्रिय का भी शांत हो जाना। (भाष्य में 'दमो बाह्येन्द्रियोपशमः, शमोऽन्तःकरणस्य' कहा है, वहाँ 'उपशमः' इस अंश का बाह्येन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों से सम्बंध है।) इस प्रकार के शम व दम की प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है। ज्ञान होने पर निश्चय होता है कि 'सारा संसार है ही नहीं, प्रतीतिमात्र है। जब जो प्रतीति होनी है, हो जाती है। उसमें तुमको कुछ करना-धरना है नहीं।' तब न तुमको मन से कुछ सोचना पड़ता है, न इंद्रियों से कुछ प्रवृत्ति करनी पड़ती है। यह उपशांति उस लोकमहेश्वर से ही होती है।

सब कुछ परमात्मा से होता है सुनकर प्रश्न उठ सकता है, कि यदि सारे भाव परमात्मा से उठते हैं, सब कुछ परमात्मरूप है, तो सम्मोह आदि भी उन्हीं से उठते हैं, परमात्मा से अपने को अलग समझना यह भी उन्हीं से उठता है। तब जीव का क्या कर्त्तव्य रह जाता है? क्या ज्ञातव्य रह जाता है? यदि सब कुछ वह कर रहा है, तो रावण जो कर रहा है वह भी परमेश्वर कर रहा है! फिर न हमारा कुछ कर्त्तव्य है, और न कुछ हमारा ज्ञातव्य है। न कुछ हमारे करने के योग्य है, न कुछ हमारे जानने योग्य है। यदि कर्त्तव्य और ज्ञातव्य नहीं है, तो वेद जो केवल धर्म और ब्रह्म दो का ही प्रतिपादन करता है, वह किसको उपदेश कर रहा है? क्या सारा ही वेद व्यर्थ है? इसके उत्तर में पहले समझ लेना चाहिए कि कर्त्तव्य और ज्ञातव्य की जिज्ञासा यह मान कर है कि 'मैं कर्त्ता और मैं ज्ञाता हूँ'। अतः यह भ्रम जब तक है तभी तक के लिये वेद का उपदेश है। इसीलिये विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि सारे प्रश्न और उत्तर अज्ञान-अवस्था में हैं, द्वैत की भाषा में हैं। जो इस बात को समझ गया कि सब परमात्मरूप है, उसके लिये न कोई प्रश्न है, न उसके लिये उत्तर है। जो नहीं समझा है उसे 'मानो यह समझ सकता है,' ऐसा मानकर उपदेश दिया जाता है। यह बिलकुल ठीक है कि समझ आयेगा परमात्मा की कृपा से ही, उसकी कृपा के बिना तुम कुछ भी करने और जानने में स्वतंत्र नहीं हो, यह बात बिलकुल ठीक है; परन्तु यह जब तक तुम्हारा अनुभव हो नहीं गया है तभी तक तुम्हारा कर्त्तव्य-ज्ञातव्य का प्रश्न है, अनुभव के बाद प्रश्न ही नहीं होगा।

और जब तक भ्रम-काल में कर्त्तव्य और ज्ञातव्य की जिज्ञासा है तब तक भ्रम-काल का ही उपदेश है, कि ऐसा करो, ऐसा जानो। अधिष्ठान की दृष्टि से जब देखते हैं, तब न प्रश्न है, न उत्तर है। जिस-अज्ञान अवस्था में प्रश्न है, उसी अज्ञान अवस्था में उसका उत्तर भी होगा। ऐसे समझ लो : सपने की प्यास झूठी है। खूब अच्छी तरह से पानी पीकर सोये हो, और सपने में देखते हो 'मैं प्यासा हूँ'। अतः सपने की प्यास झूठी है। पर यदि सपने में पूछते हो, 'प्यास लगी है, क्या करूँ?' तो सपने में जवाब होता है 'कुएँ से पानी निकाल कर पी लो।' कुआँ, कुएँ का पानी निकालना, सब ठीक वैसा ही असत्य है, जैसी प्यास असत्य है। पर झूठी प्यास को मिटाने के लिये झूठे पानी को पीने के लिये ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार अज्ञानावस्था के प्रश्नों का उत्तर उसी अवस्था में वेद देता है। इसीलिये अतिधन्यवेद संसार का एकमात्र ग्रंथ है, जो स्वयं ही कहता है, 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' उस स्थिति को प्राप्त करके वेद, वेद नहीं रह जाता; क्योंकि अज्ञान निद्रा से उठ चुकने पर वेद जिस कर्त्तव्य और ज्ञातव्य का उपदेश देता है, वह तुम्हारे लिये व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार, सब कुछ परमात्मा से होने पर भी अज्ञान रहने से हमारे लिये कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद रहता ही है।

'सुखं', 'ख' का अर्थ संस्कृत के अन्दर इंद्रियाँ भी होता है। जैसे कठोपनिषद् में कहा कि 'ब्रह्माजी ने बाहर जाने वाले 'ख' बनाये', वहाँ ख मायने इंद्रियाँ। 'सु' मायने अच्छा। इंद्रियों को जो अच्छा लगता है, उसको ही हम सुख समझते हैं। हमारे किये हुये जो पहले के कर्म हैं, उनमें से जब पुण्य कर्म सामने आता है तब इंद्रियों को अच्छा लगने वाला अनुभव होता है। और 'दुःख'; 'ख' मायने इंद्रियाँ, 'दुः' मायने बुरा। इंद्रियों को जो बुरा लगता है वह दुःख है। हमारे पाप कर्म का फल जब परमात्मा देते हैं, तब इंद्रियों को बुरा लगने वाला अनुभव होता है। चूँकि कर्म का फल देने वाला परमात्मा है, इसलिये उसीसे ये दोनों आते हैं। सुख और दुःख ये दोनों ही अनुभव परमात्मा से आते हैं। हमारे कर्मफल के रूप में आते हैं, परन्तु देने वाला परमात्मा ही है। जैसे हमने महीने-भर काम किया, उसके बाद एक तारीख को मालिक हमें वेतन देता है। यह ठीक है कि हमारे कर्म की मज़दूरी दे रहा है, परन्तु दे तो वह रहा है। इसलिये जो वेतन देता है उस मुनीम की खुशामद नौकर विशेषतः करता है। भले ही वह स्वयं किसी के अन्तर्गत हो या खुद भी राज्य आदि का कर्मचारी ही हो, पर प्रत्यक्ष में देता हुआ वही दीखता है अतः उसका महत्त्व प्रतीत होता है। इसी प्रकार से सभी कर्मफल देने वाला परमात्मा है। परमात्मा *ही* दे रहा है - इस अनुभव से शान्ति बनी रहती है। इस व्यक्ति ने या इन मच्छरों ने हमें नहीं काटा, हमारे पहले के पाप कर्मों को कम करने के लिये परमेश्वर ने ही मच्छर के द्वारा हमें कटवाया है। किस लिये कटवाया है? हमारे पाप कर्म को कम करने के लिये। ठीक जिस प्रकार से छोटा बालक बाहर खेल कर धूल से लिपटा आया, माँ उसको नहलाती है, साबुन लगाती है। बच्चे को कितना दुःख होता

है, हाथ-पैर मारता है, रोता है, चिल्लाता है, परन्तु माँ उसको छोड़ती नहीं है। खूब अच्छी तरह से नहला देती है, शरीर पोंछ देती है, फिर तेल लगा देती है, नये कपड़े पहना देती है, फिर छाती से चिपका कर चूमती है, चुप करा देती है। दुःख देने की नीयत से माँ ने वह सब नहीं किया परन्तु वह नहीं करने से उसके शरीर का मैल नहीं जाता, इसलिये किया है। इसलिये बड़े होकर जब याद आता है तो माता के प्रति मन में भाव आता है कि देखो! माता ने कितना कष्ट सहकर मुझे बड़ा किया। इसी प्रकार अध्यापक अगले दिन पूछता है 'कल क्या पढ़ाया था?' जो बच्चा ठीक याद नहीं करता उसको कह देता है, 'जाओ पहले इसको रट कर आओ', पहाड़ा सुनाओगे, तब पढ़ायेंगे। तब तक घर नहीं जा सकते।' उस समय तो लगता है कि 'मुझे कितनी कठिनाई में अध्यापक डाल रहा है।' पर जब जीवन में गणित के ज्ञान से सुविधा होती है तब मन में आता है कि अध्यापक ने बहुत अच्छा पढ़ाया। ठीक इसी प्रकार से जब तक हम अविचार दशा में हैं तब तक लगता है कि भगवान् हमारे ऊपर कितना दुःख ला रहा है। पर जो इस तरह की उपासना करने वाला है वह इस बात को समझता है कि हमारे पाप कर्मों को हटा कर हमें शुद्ध बनाने के लिये ही परमात्मा हमें दुःख दे रहा है। सुख तो प्रायः परमात्मा की कृपा है यह आदमी की समझ में जल्दी से आ जाता है। परन्तु दुःख भी परमात्मा की कृपा है, यह विचार करने से समझ में आता है।

'भवः', कोई भी चीज़ जो उत्पन्न होती है, उसे उत्पन्न करने वाला परमात्मा ही है। बीज हम बोते हैं। वह बीज आगे पेड़ बनने लिये कितनी-कितनी प्रक्रियाओं में से निकलता है! कौन उसको बड़ा करता है? परमात्मा ही बड़ा करता है। इसी प्रकार से अपने बच्चों के लिये हम प्रयत्न करते हैं, परन्तु सचमुच में वे बड़े परमात्मा की कृपा होती है, तभी होते हैं। बच्चों को हम शिक्षा देते हैं। तीन बच्चे हैं, दो तो शिक्षा में आगे बढ़ जाते हैं और एक पढ़ नहीं पाता। हम तो तीनों के लिये एक जैसा ही प्रयत्न करते हैं। अतः केवल हमारा प्रयत्न करना ही कारण नहीं है, परमात्मा की कृपा कारण है ही। उपासक हमेशा इस बात को सामने रखता है कि सभी प्रकार की उत्पत्ति, उन्नति के लिये परमात्मा ही कारण है। 'अभावः', चीज़ों का अभाव, समाप्ति, हट जाना भी परमेश्वर से है। कई चीज़ों का अभाव तो हमको भगवान् की कृपा झट लग जाती है, 'छह महीने से मेरी कमर में इतना दर्द था, उठा नहीं जाता था, भगवान् की कृपा से ठीक डाक्टर मिल गया, अब मैं ठीक हो गया।' रोग दूर हो जाता है तो हमें लग जाता है, कि भगवान् की कृपा है। परन्तु जब हमने एक बैंक में खाता खोला, वहीं दो लाख रुपये जमा कराये, बैंक डूब गया। वहाँ भी रुपया चला गया, अच्छा ही हुआ। लेकिन वह भगवान् की कृपा नहीं लगती। उल्टा लगता है कि भगवान् क्यों हमसे गुस्सा हो गये? उपासक इस बात को जानता है कि यह भी भगवान् की कृपा ही है। जैसे दुःख को भगवान् की कृपा समझा था, वैसे ही अभाव भी भगवान् की कृपा से ही है।

'भयम्' किसी भी अनिष्ट की सम्भावना से जो होता है, वह भय, डर। अनिष्ट के आने पर तो दुःख होता है, परन्तु अनिष्ट की सम्भावना से भय होता है। शेर आया, सामने आकर के दहाड़ा, तब भय होता है। जब उछल कर हमारी गर्दन को अपने दाँतों में दबा लिया, तब दुःख होगा। 'आश्रम के भीतर तक भालू आ जाता है' इस ज्ञान से भय लगता है कि 'अच्छा, यहाँ तक आ जाता है!' यही त्रास है। न भालू को देखा है, न भालू ने पकड़कर मारा है। लेकिन उसकी सम्भावना से जो होता है वह भय है। भय परमात्मा की कृपा इसलिये है कि आने वाले दुःख से बचाव का तुमको मौका दे देता है। एक रोग होता है, जिसमें मनुष्य को दर्द की अनुभूति नहीं होती। चाहे हड्डी टूट जाये, उसको कोई दर्द नहीं होता है। लोग समझते हैं कि बड़ी अच्छी बात है कि सिरदर्द नहीं है, पेटदर्द नहीं है, कोई दर्द नहीं हैं। किंतु डाक्टर उससे कहता है, 'बड़े सावधान रहना।' क्योंकि अगर वह गिर जायेगा, उसकी हड्डी टूट जायेगी, तो भी पता नहीं लगेगा। रोग बहुत बढ़ जायेगा। फिर उसकी चिकित्सा भी मुश्किल हो जायेगी। ऐसे रोग वाले को कहीं गहरी खरोंच लग जाती है, खून निकल जाता है, दर्द नहीं होता तो उसको पता ही नहीं लगता। यद्यपि सामान्य रूप से लगता है कि भय तो बुरी चीज़ है, लेकिन बुरी चीज़ नहीं है क्योंकि वह तुमको आने वाले दुःख से बचने का मौका दे देता है। उससे विपरीत है 'अभयम्'; अगर बच्चे को पता है कि पिता जी साथ हैं, तो जैसे ही बच्चे में भय भावना होती है, वह झट ज़ोर से पिता के हाथ को या कपड़े को पकड़ता है और उसको पकड़ने के साथ ही उसका भय चला जाता है। इसी प्रकार से 'सभी भयों की परिस्थिति में परमात्मा हमारे साथ है अतः हम बचेंगे ही।' यह जो अभय का भाव है, यह परमात्मा की संनिधि का अनुभव करने से होता है। जैसे बच्चे ने कोई चीज़ देखी तो भय होता है लेकिन जैसे ही हाथ लगा कर उसने देखा कि पिता जी हैं, बस निर्भय हो गया; इसी प्रकार भय की परिस्थिति आते ही जो इस बात को समझ सकता है कि परमात्मा हमारे साथ हमको बचाने वाला है, वह अभय हो जाता है। यहाँ बताये सब आन्तरिक भाव हैं जो भगवान् से ही उपजते हैं ।।।४।।

और भी कहते हैं -

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।५।।

अहिंसा, सन्तुलितमनस्कता, सन्तोष, कष्ट सहना, दान, सत्कीर्ति, अपकीर्ति - (बुद्धि आदि ये सभी) नाना प्रकार के भाव प्राणियों में (उनके कर्मानुसार) मुझसे ही होते हैं।

अहिंसा- किसी भी प्राणी को कष्ट न हो ऐसा शरीर से, इंद्रियों से और मन से प्रयत्न करना। यह कायिक भी है, वाचिक भी है, मानसिक भी है। तीनों से ऐसा व्यवहार करना कि किसी भी प्राणी को पीडा न हो, कष्ट न हो, अहिंसा है। सामान्य

भाषा में अहिंसा का अर्थ केवल होता है किसी को जान से नहीं मारना। एक सज्जन के घर में चोर आ गया। कोई जगा हुआ था। उसने देख लिया, हल्ला मचा दिया, चोर पकड़ा गया। चोर के पकड़े जाने पर स्वाभाविक है, घरवालों को गुस्सा आया। बच्चे उसको पीटने लगे। तब तक दादा जी आ गये। पिटते देखा तो उन्होंने कहा 'अरे! ऐसा नहीं करो। किसी को पीटना नहीं चाहिए, बुरी बात है। ऐसा करो, इसको बोरे में बन्द करके, बोरा सील कर उसमें पत्थर डाल करके नदी में फैंक आओ। मार-पिटाई करना ठीक नहीं है।' चोर विचार करने लगा कि ऐसे अहिंसक से अच्छे तो ये हिंसक ही हैं। प्रायः हम लोग केवल कायिक अहिंसा को ही समझते हैं, वाचिक और मानसिक अहिंसा की तरफ ध्यान नहीं रहता। हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि कोई आदमी किसी कमज़ोर को सता रहा है, और हृष्ट पुष्ट पहलवान उसको देख कर चला जाता है जबकि उसको उस पीडा से बचाने में समर्थ है, तो उसने हिंसा कर दी। जितना उस मारने वाले का दोष है उतना पहलवान का भी दोष है। अहिंसा हमारे यहाँ केवल एक 'न करने' की बात नहीं है। सामर्थ्य होते हुए न करना भी करना हो जाता है। अतः कहा कि प्राणी को पीडा न हो इसके लिये प्रयत्न अहिंसा है। अतः जब हम पीडित को बचाने के लिये प्रयत्न करते हैं तब अहिंसा कर रहे हैं। और वहाँ से ऐसे ही चले जाते हैं तो हिंसा का ही प्रकार है क्योंकि उसे पीडा न हो इसके लिये हमने तो कुछ नहीं किया।

'समता' हर परिस्थिति के अन्दर चित्त एक जैसा बना रहे यह समता अन्तःकरण का, चित्त का धर्म है। समता कभी भी व्यवहार में नहीं होती। ऐसे समझ लो : पैर को हम हमेशा सड़क के ऊपर या कच्चे रास्ते में ही चलाते हैं। हाथ तो वहाँ नहीं चलाते! हमेशा हम अपने नितम्बों के ऊपर ही बैठते हैं। सिर के ऊपर तो नहीं बैठते कि हमेशा शीर्षासन में रहें! बाहर से तो लगता है कि पैर के प्रति, नितम्बों के प्रति हमको विषम दृष्टि है, हाथों के प्रति, सिर के प्रति रागमयी दृष्टि है। ऐसा बाहर से कोई देख कर कह सकता है। परन्तु ऐसा है क्या? तुमको अपना पैर उतना ही प्रिय है, अपने नितम्ब उतने ही प्रिय हैं जितना तुमको अपना सिर व हाथ। सब में तुम्हारी सम दृष्टि है यद्यपि व्यवहार अलग-अलग है। समचित्तता का पता कैसे लगता है? जैसे ही पैर के अंदर काँटा लगता है, तुम झट से पहला काम करते हो आँख को उधर एकाग्र करने का, फिर हाथ से काँटा निकालते हो। समचित्तता है अतः जैसे ही ज़रूरत पड़ी वैसे ही उतने ही प्रेम से हाथ पैर के लिये कार्य करने लगता है। घुटने में दर्द होता है तो हाथ मालिश करता है। व्यवहार में विषमता होने पर भी चित्त में जब समता होती है तब दूसरे के कष्ट को भी तुम उतने ही प्रेम से दूर करोगे, जितने प्रेम से अपने कष्ट को दूर करते हो या जिसको अपना समझते हो उसके कष्ट को दूर करते हो। व्यवहार तो जो चीज़ जिसके उपयोगी है उसको उसी उपयोग में लेना है। झाडू से सफाई ही की जायेगी। चँवर से मक्खी ही उड़ाई जायेगी। चँवर से झाडू तो नहीं लगाओगे! परन्तु

जितने प्रेम से तुम झाडू को ठीक करोगे, उसमें कोई खराबी आने पर, उतना ही चँवर के लिये करोगे। समता चित्त का धर्म है।

आजकल समता का नारा सबसे ज़्यादा लगाते हैं साम्यवादी लोग। वे सोचते हैं कि धन यदि सबके पास एक जैसा हो जाये तो लोग एक जैसे हो जायेंगे। धन को बराबर बाँटने को ही वे समझते हैं, यह पूरी समता है। परन्तु अन्य चीज़ों का क्या होगा? किसी की बुद्धि ज़्यादा है, किसी की बुद्धि कम है, किसी का शरीर पुष्ट है, किसी का शरीर कमज़ोर है, किसी का शरीर छोटी चीज़ों से प्रतिक्रियाग्रस्त हो जाता है। किसी का शरीर कभी वैसा पीडित होता ही नहीं। इन भेदों को कैसे मिटायेंगे? धन तो एक चीज़ है पर जीवन में अनेक चीज़ें हैं। जैसे उन सब की विषमता तुमको स्वीकार करनी ही पड़ती है इसी प्रकार से शास्त्रों का कहना है कि कोई धन कमाने में चतुर है, कुशल है। दूसरे को तुम वही काम दो तो वह उसको संभाल कर नहीं रख सकता। जो धन को ठीक कमाने में और सुरक्षित रखने में कुशल है उसको खूब धन कमाने दो रक्षा करने दो धन की और उसे प्रेरित करो तथा ऐसा महौल बनाओ कि वह उस धन का उपयोग दूसरों के लिये करे। इसी को गाँधी जी 'ट्रस्टी-शिप' कहते थे कि धनिक यह मानना छोड़ दे कि 'अपने कमाये धन का प्रयोग केवल मुझे अपने लिये करना है'। ठीक जैसे तुम्हारी आँख, पैर में चुभे काँटे को उसी समय निकालने मे तत्पर होती है, पर आँख है आँख ही। इसी प्रकार कमाने वाले के कमाने में रुकावट मत डालो, पर वह उसका उपयोग दूसरों के लिये भी करे - इसके उपाय करो। इसी प्रकार से जो बुद्धिमान् है, वह खूब विद्या को प्राप्त करे, परन्तु ज्ञान से प्राप्त अनुभव से वह फ़ायदा सबको उठाने दे। आजकल बड़ा भारी हल्ला मच रहा है, कि हमने जो अपनी बुद्धि से पैदा किया, जो आविष्कार किया, वह हमारा ही रहे, मुफ़्त में किसी के काम न आवे। इसीलिये उसको 'पेटेण्ट' कराते हैं। वैदिक लोगों की यह मान्यता नहीं है। हम लोग कहते हैं कि जैसे धन तुम्हारे पास है तो उसका सब के लिये उपयोग करो, वैसे ही बुद्धि से तुमने किसी चीज़ को प्राप्त किया तो तुम ही उपयोग करके लोगों से पैसा लेते रहो यह ठीक नहीं है। वह ज्ञान सबको दो। तुम्हें दवा पता चली तो जो-जो रोगी हैं वे उससे फायदा उठावें। चाहे धन हो, चाहे कुछ भी हो, सभी के अन्दर हमारी दृष्टि समता की है कि जो जिस कार्य को अच्छी तरह से कर सकता है उसे अच्छी तरह से करे। परन्तु उसका लाभ जिसको भी उसकी ज़रूरत है उसको मिले।

किंतु लाभ दूसरे को मिले यह कब हो सकता है? बुरा नहीं मानना! ऐसी औरतों को हम जानते हैं, दिल्ली में, कलकत्ते में, जो इस समय में नौ सौ रुपये महीने में अपना सारा खर्च चलाती हैं। भाड़ा, कपड़ा, और खाना, सब उसमें चलाती हैं। वे जब मंदिर में आती हैं, या हम लोगों के पास भी आती हैं, तो एक रुपया चढ़ाती हैं। हो सकता है उसका नोट बड़ा पुराना-सा हो। दूसरों को लगता है - इसने एक रुपया ही कैसे

चढ़ाया? हमें पता है उसकी स्थिति का, उतने कम में से भी वह रुपया भगवान् को अर्पित करती है। और जिनको सत्तर हज़ार रुपया महीना मिलता है, मकान मुफ़्त का मिलता है, मोटर के लिये पेट्रोल का खर्च भी मिलता है, उनके सामने किसी कार्य का विषय आता है, तो कहते हैं, 'क्या बतावें! मन तो बहुत करता है, पर दो जून की रोटी का जुगाड़ ही इस महँगाई में कठिन हो गया है, दान के लिये बचायें कैसे?' जैसे दामोदर-लीला में भगवान् को बाँधने के लिये रस्सी हमेशा छोटी ही पड़ती रही, वैसे इन लोगों को धन की हमेशा कमी ही बनी रहती है। क्या कारण है? यह स्पष्ट करते हुये आगे भगवान् ने कहा 'तुष्टिः'। जो हमारे पास है वह पर्याप्त है यह बुद्धि तुष्टि या सन्तोष है। उसको नौ सौ रुपये में पर्याप्त बुद्धि है। सत्तर हज़ार वाला उतने को कम समझता है। तुष्टि, अर्थात् जितना हमें प्राप्त हो गया वह हमारे लिये काफी है, ऐसा मन में हमेशा भाव रहना। आज का उपदेश क्या है? 'महत्त्वाकांक्षी बनो, जहाँ हो वहीं सन्तोष मत कर लो। सारी उन्नति महत्त्वाकांक्षा से होती है।' यों प्रारम्भ से असंतोष सिखाते हैं। उन्नति काम करने से होती है, महत्त्वाकांक्षा से कुछ होता-हवाता नहीं है। तुष्टि होगी तभी मनुष्य में समता आ सकेगी। तुष्टि नहीं होगी तो समता नहीं आयेगी।

तुष्टि के साथ ही चाहिये 'तपः'। इंद्रियों का संयम करते हुए शरीर की पीडा को सहन करने का अभ्यास तप है। अगर हमें किसी भी चीज़ की आदत है और अकस्मात् उसके बिना रहना पड़े, तो हमारे लिये असह्य होगा और ऐसा न हो, इसके लिये हम चाहे कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु यदि हमने शरीर को पीडा सहन करने के अभ्यास वाला बना रखा है तो हम नहीं घबरा जायेंगे। इसलिये तप प्रधान साधन है जिससे मनुष्य धर्म का पालन कर सकता है। जब कभी कोई धर्म को छोड़ने का बहाना बताता है, तब एक ही बात कहता है, 'महाराज! आजकल चल नहीं सकता!' जिसने तप का अभ्यास किया है वह उस पीडा से बिना घबराये हुए धर्म का पालन कर लेता है, अन्यथा कहेगा 'क्या करें! अधर्म करना पड़ता है'। अतः शास्त्रों में बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि तप का अभ्यास हमेशा करना ही चाहिये। पंखा लगा हुआ है, बिजली आ रही है, थोड़ी-सी गर्मी लग रही है, पंखा नही चलाया। थोड़ी ज़्यादा गर्मी हुई, फिर भी पंखा नहीं चलाया। जब इतनी गर्मी हो गई कि सहन नहीं कर पा रहे हैं, तब चला लिया। ऐसे धीरे-धीरे तुम्हें अभ्यास होगा गर्मी को सहन करने का। नहीं तो, हमारे एक भक्त थे; दिल्ली में रात में जैसे ही बिजली जाती थी गर्मी के मौसम में, वे अपने दोस्तों को टेलीफोन करते थे कि 'तुम्हारे घर बिजली है या नहीं?' किसी ने कहा 'हमारे यहाँ बिजली है,' तो वे अपना तकिया उठाकर वहाँ चले जाते थे! जिसको नहीं सहन करने का अभ्यास है उसके लिये बिजली के बिना एक घंटा बिताना असंभव हो जाता है। किन्तु यदि अभ्यास करोगे तो धीरे-धीरे ऐसा हो जायेगा कि बिजली के जाने से तुमको कोई घबराहट नहीं होगी। कभी विचार करो; अनादि काल से डेढ़ सौ साल

पहले तक बिजली नहीं थी, बिजली के पंखें भी नहीं थे। सारा संसार यथावत् चल रहा था। तुम्हारे अंदर इतनी घबराहट आ कहाँ से गई? तप का अभ्यास नहीं करने से। जैसे पंखे के बारे में, वैसे सब चीज़ों को समझ लेना चाहिए। हमेशा शरीर को थोड़ा कष्ट सहने का अभ्यास पड़ना चाहिए। तप के साथ इंद्रियसंयम चाहिये। कई बार आदमी कष्ट सहता है बिना इंद्रियों का संयम किये हुये। इंद्रियों में यहाँ अन्तःकरण भी समझ लेना। बहुत-से लोग व्रत करते हैं। अतः तप तो किया, पर इंद्रियों को स्वतंत्रता दिये रहते हैं। हम ऐसे लोगों को जानते हैं, जिन्होंने बारह साल तक मौन रखा। कभी किसी शब्द का उच्चारण बारह साल तक नहीं किया। उसके बाद जब उनका व्रत पूरा हो गया। तब जो उन्होंने बोलना शुरू किया तो यह परिस्थिति हो गयी कि उनको कोई देख ले तो झट कमरे में घुस कर बैठ जाये! जहाँ इंद्रियों का संयम नहीं होता है वहाँ जैसे ही कष्ट सहने का समय गया, वैसे ही फिर उसी मार्ग में व्यक्ति चल देता है। इसलिये जो भी शरीर को पीडा दो वह विचारपूर्वक दो। यह समझ कर कि इस क्रिया या भोग के बिना रहना ठीक है।

'दानम्'। अपनी शक्ति के अनुसार योग्य देश में, योग्य काल में, योग्य पात्र में, अपनी वस्तु दूसरे को देना। दान शब्द का अर्थ है कि अपनी सत्ता को हटा कर के, दूसरे की सत्ता का आपादन करना। पहले उस वस्तु पर अपनी सत्ता होनी चाहिये। प्रायः इस बात को आदमी भूल जाता है। 'मेरी सत्ता इस पर है या नहीं' इस बात का विचार बड़ा ज़रूरी है। कोई ब्राह्मण राजा के पास गया, राजा ने पूछा 'क्या चाहिये?' उसने कहा 'जो भी हो, आप अपनी चीज़ मुझे देना।' राजा विचार में पड़ गया! राजा के यहाँ तो दूसरों के यहाँ से ही कर आयेगा, या कोई गलती करेगा तो दण्ड आयेगा। अपना तो कुछ है ही नहीं! उसने कहा 'ऐसा करो कि कल आना।' राजा शाम के समय वेष बदल करके चला, इधर-उधर देखने लगा। एक जगह लुहार काम कर रहा था। उससे कहा, 'भैया, मुझे कुछ काम दे दो,' तो लुहार ने देखा भुजदंड वगैरह खूब कसे हुये हैं, सोचा कि काम करने लायक है। उसने राजा को घन पकड़ा दिया, कहा 'कूटो।' राजा घन कूटने लगा; हर बार घन मारे तो उसके सारे शरीर में सिहरन हो जाये! आधा घंटा उसने काम किया, और उससे हुआ नहीं, बिलकुल थककर चूर हो गया, पसीना-पसीना हो गया, उसने कहा 'बस भाई! इतना ही करना है।' लुहार ने उसको चार पैसे दे दिये! लेकर राजा आ गया। प्रातःकाल ब्राह्मण आया तो राजा ने उससे कहा, 'ये चार पैसे ही मेरे हैं।' जिस चीज़ पर अपनी सत्ता है, उस पर दूसरे की सत्ता का आपादन करना है, इसलिये 'मेरी सत्ता है या नहीं' यह बड़े विचार की बात है। अन्यथा तो 'मेरे पास है,' इतने मात्र से हम स्वयं को मालिक मान लेते हैं। योग्य देश-काल में, योग्य पात्र को, अपनी जो चीज़ है वह देना दान है।

'यशः' अर्थात् धर्मनिमित्तक जो कीर्ति है कि यह अच्छा आदमी है, इसका अच्छा

चरित्र है, धर्मानुकूल चरित्र है, धर्मानुकूल आचरण है, सत्य बोलने वाला है। यह सब यश कहा जायेगा। और 'अयशः', अधर्म के निमित्त से जो तुम्हारी अपकीर्ति होती है, वह अयश कहा जाता है। जैसे जितने लोग राम जी को जानते हैं उतने ही लोग रावण को जानते हैं। कोई फ़र्क नहीं है, प्रसिद्धि तो दोनों की है। रावण की प्रसिद्धि अधर्म निमित्तक है कि वह महापापी था। राम का धर्म-निमित्तक यश है कि वे महान् धर्मात्मा थे। नाम होना मात्र यश नहीं है। धर्म-निमित्तक जो तुम्हारी कीर्ति है, तुम्हारा नाम है वह यश है, अन्यथा अयश है।

भगवान् कहते हैं कि ये सब मुझ से ही हैं। इनमें अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यहाँ तक भगवान् ने जो बातें कहीं वे सब मानसिक हैं, स्वयं तुम्हारे मन में होने वाली हैं। यश और अयश तुम्हारे मन के भाव नहीं हैं, तुम्हारे मन में नहीं हैं, दूसरे के मन में यश या अयश हैं। फिर भगवान् ने इन्हें इस क्रम में क्यों जोड़ा? क्योंकि ये तुम्हारे चरित्र-निमित्तक हैं, तुम्हारा चरित्र धार्मिक होगा तब तुम्हारा यश धार्मिक होगा। तुम्हारा चरित्र अधार्मिक होगा, तब अधर्म को लेकर अयश होगा। तुम्हारे मन के साथ तो सम्बन्ध इतना ही है कि 'यश के लिये ऐसा आचरण करूँ' - यह तुम्हारे मन में भावना होनी चहिये। उत्तम मनुष्य चाहता है कि मेरा यश हो कि 'यह धर्मात्मा है'। 'मेरे पास धन हो, मैं धनी हूँ ऐसी प्रसिद्धि हो' यह उत्तम लोगों को इच्छा नहीं होती है। इस प्रकार अहिंसादि क्रम में कहकर भगवान् ने बताया कि उत्तम आचरण करने की जो मानसिक भावना है वह भी परमेश्वर की कृपा से ही है। दूसरी बात, यश और अयश, दूसरों के भी मानसिक भाव ही हैं। अतः इसके द्वारा भगवान् कहते हैं कि खाली तुम्हारे ही मानसिक भाव नहीं, संसार में जहाँ कहीं मानसिक भाव हैं वे सब मुझ से ही हैं। प्राणियों के अन्दर जो मानसिक भाव हैं, वे सारे मुझ से ही होते हैं। 'पृथग्विधाः भावाः' अलग-अलग भाव अर्थात् जितने गिनाये हैं, उनसे अतिरिक्त भी, काम, क्रोध, लोभ आदि जो भाव यहाँ नहीं गिनाये हैं, वे भी साथ में ले लेना। दान का विरोधी लोभ है, इसी प्रकार से अहिंसा का विरोधी क्रूरता है, उन सबको भी भगवान् पैदा करते हैं। पैदा होंगे तो अपने-अपने कर्म के अनुरूप, परन्तु जैसे बाहर के पदार्थ परमात्मा के कारण ही होते हैं, उसी प्रकार ये भाव भी परमात्मा से ही आते हैं, हम तो उसका निमित्त ही बनते हैं। रसगुल्ला बन कर भगवान् आ गये, हमें सुख हो गया, जली रोटी बन कर आ गये तो हमें दुःख हो गया। आये तो भगवान् ही और हमारे कर्म के अनुरूप ही आये हैं। इसी प्रकार हमारे कर्म के अनुरूप ही सद्भाव भी आते हैं, और दुर्भाव भी आते हैं। इसलिये सर्वत्र परमात्मा की, कर्मफलदाता की दृष्टि बार-बार लानी है।

मानस भाव जितने भी उत्पन्न होते हैं, उनमें प्रायः सभी को ऐसा लगता है, कि 'मुझ से ही उत्पन्न हुए'; 'मैं गुस्सा हुआ' ऐसी ही प्रतीति होती है। बाह्य जगत् के

पदार्थों में तो अधिकतर प्रतीति ऐसी होती है कि बाहर की चीज़ें मेरे कारण नहीं हैं। बाहर की चीज़ खुद ही है - ऐसा लगता है। पहाड़ मेरे कारण तो नहीं हैं, मैंने तो नहीं बनाये! बाह्य पदार्थों के बारे में अपने कर्त्तृत्व की प्रतीति नहीं होती है। केवल वहाँ होती है जहाँ प्रयत्नपूर्वक मैंने कुछ किया। जैसे घड़ा मैंने बनाया तो घड़े का बनाने वाला मैं हूँ। परन्तु जिस मिट्टी से बनाया, उस मिट्टी को बनाने वाला तो नहीं हूँ। इसी प्रकार जितनी चीज़ों को हमने चेतना के साथ निर्माण किया है, चेतना है कि 'मैं बना रहा हूँ,' उनका खुद को कर्ता मानते हैं। जिसमें 'मैं बना रहा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है, उस सारी सृष्टि को मानते हैं कि 'मैंने नहीं बनाई, प्रकृति से है, परमात्मा ने बनायी है, देवता ने बनायी है, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि चाहे जिसने बनायी है, मैंने तो नहीं बनायी।' परन्तु बुद्धि ज्ञान इत्यादि जो भाव हैं, उनमें प्रतीति होती है कि 'मैं ही इन्हें करता हूँ, मेरे कारण ही हैं' भगवान् ने बाह्य चीज़ों को भी अपना बनाया कह दिया और आन्तर चीज़ों को भी कह दिया। इसके द्वारा भगवान् ने बतलाया, कि अन्दर की चीज़ें भी उतनी ही भगवान् के अधीन हैं जितनी बाहर की चीज़ें, उनमें भी तुम्हारा स्वातंत्र्य नहीं है। कोई कह सकता है कि 'आंतरिक भाव भी मैं चेतन हूँ, तभी होते हैं, अतः मैं कारण अवश्य हूँ।' किन्तु इस दृष्टि से बाह्य जगत् का भी स्वयं को कारण मानना पड़ेगा! तुम्हारा कोई ऐसा कर्म फलीभूत होने लगता है तभी तुम्हें पहाड़ भी दीखता है, तुम उसे भोगने वाले हो, तभी वह पहाड़ है। अनेक लोगों के एक-से कर्म फलीभूत होते हैं, तो उन सबको यह पहाड़ दीखता है। जिस चीज़ का किसी को अनुभव नहीं वह चीज़ है यही सिद्ध नहीं होता, उसकी सत्ता में प्रमाण ही नहीं है। अतः हमारा होना कारण है तो आन्तर ही नहीं बाह्य जगत् के प्रति भी है, और यदि सर्वथा स्वतंत्र होकर जो उत्पन्न करे वही कारण है तो भगवान् स्वयं कह ही रहे हैं कि परमेश्वर ही कारण है। आन्तर-बाह्य में फ़र्क इतना है कि अंदर की चीज़ें वे कही जाती हैं जो अन्तःकरण के परिणाम हैं। इसी दृष्टि से भगवान् ने कहा है 'भूतानां भावाः', भाव अन्तःकरण के परिवर्तन हैं। बाहर की चीज़ें स्थूल पंचमहाभूतों के परिणाम हैं। अन्तःकरण के अंदर हमारा अध्यास प्रबल है, इसलिये अन्तःकरण में जो होता है, उसमें हमें साक्षात् प्रतीति होती है कि 'मैं ही कर रहा हूँ'। क्योंकि बाहरी पंचमहाभूतों के साथ हमारा वैसा तादात्म्य नहीं है इसलिये बाह्य विषयों में ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अधिष्ठान चेतन तो एक जैसा ही कारण है। अपना जो स्थूल शरीर है, वह बीच में स्थित है; बाहरी जगत् एक तरफ, अन्तःकरण दूसरी तरफ। अन्तःकरण में तो हमारा सर्वथा ऐक्य रहने से, अन्तःकरण में जो भी होता है, उसमें 'मैंने किया' ऐसी ही प्रतीति होती है। बाह्य जगत् में ऐसी प्रतीति नहीं होती कि मैंने किया। शरीर बीच में है। स्थूल पंचमहाभूतों का कार्य है इसलिये बाहर भी है और इसके साथ, हमारा एकता का अध्यास, एकता का ज्ञान है, कि यह शरीर मैं ही हूँ, इसलिये इसमें अनेक कार्य ऐसे

हैं, जो लगते हैं कि 'मैंने ही किया', जैसे, हमने किसी को चिट्ठी लिखी, तब तो यह निश्चित बोध होता है, 'मैंने चिट्ठी लिखी, चिट्ठी लिखने वाला मैं हूँ।' परन्तु मैं ठोड़ी पर हाथ रख कर बैठा हुआ हूँ, और हाथ फिसल गया; तो प्रतीति यह नहीं होती कि 'मैंने हाथ को हटाया', बल्कि होती है कि 'हाथ फिसल गया'। शरीर के अन्दर अनेक कार्यों के प्रति अध्यास की प्रबलता से लगता है कि 'मैंने स्वतंत्र होकर किया', और अनेकों में लगता है कि 'हो गया, मैंने किया नहीं।' पैर जब फिसल जाता है चलते हुए, तब 'मैंने फिसला दिया,' ऐसी प्रतीति नहीं होती। दूसरी ओर, चिट्ठी लिखने में यह प्रतीति नहीं होती कि 'चिट्ठी लिख गई,' वरन् होती है कि 'मैंने लिखी।' शरीर के अंदर दोनों तरह की प्रतीति है इसलिये इसे मध्य में माना। इस प्रकार भगवान् ने बुद्धि आदि अन्दर की और देव, महर्षि बाहर की, दोनों विभूतियों को बतलाया ।।५।।

बाहर की विभूतियों को और ज़रा विस्तार से बतलायेंगे।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।६।।

लोक में (फैली) ये जिनकी प्रजायें हैं (वे) अतीतकालीन सात महर्षि तथा चार मनु - जो हमेशा मुझमें ही प्रेम रखते रहे - (मेरे) मनसे ही उत्पन्न हुए।

'महर्षयः', भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ - ये सात महर्षि सृष्टि के आदिकाल में भगवान् ने प्रकट किये थे। इन्हीं को सप्तर्षि कहा जाता है। ये प्रवृत्ति-मार्ग के धर्म का उपदेश करने वाले हैं। धर्म से अधर्म भी समझ लेना - क्या अधर्म है, क्या-क्या नहीं करना चाहिये, और क्या धर्म है, यह भी इन्होंने बतलाया। 'पूर्वे चत्वारः' का भाष्य में अर्थ बताया है- अतीतकाल-सम्बन्धी चार मनु। किन्तु विष्णुपुराण आदि के अन्दर बतलाया है, कि प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश करने के पहले परमेश्वर ने दक्षिणामूर्ति रूप से निवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, और सनातन, इन चारों को निवृत्ति-मार्ग का उपदेश, भगवान् शंकर ने दक्षिणामूर्ति रूप से पहले दिया, उसके बाद ब्रह्मारूप से उन्होंने प्रवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया। दोनों उपदेश करने वाले वही हैं। इसके अनुसार कुछ आचार्यों ने अर्थ किया है कि प्रवृत्ति-मार्ग के प्रवर्तक सप्त महर्षियों से पहले, सनकादि चार कुमारों को उत्पन्न किया। और 'मनवस्तथा' मनुओं को उत्पन्न किया। मनु तो चौदह हैं, चार को ही क्यों लिया? भाष्यकार ने स्पष्ट किया है 'सावर्णा इति प्रसिद्धाः' चार 'सावर्ण' नाम से प्रसिद्ध मनु यहाँ कहे जा रहे हैं। चौदह मनुओं के अलग-अलग नाम हैं। (१. स्वायम्भुव, २. स्वारोचिष, ३. उत्तम, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ६. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रसावर्णि, १३. देवसावर्णि, १४. इन्द्रसावर्णि।) उनमें सावर्णि, धर्मसावर्णि, दक्षसावर्णि और रुद्र-सावर्णि, इन चार का

'सावर्ण' यह सामूहिक नाम विष्णुपुराण में आया है। इन चार मनुओं के बारे में पुराणों के अन्दर कहा है कि ये भगवान् वासुदेव के विशेष भक्त थे। अतः चौदह में से चार को भगवान् अपनी विभूति बतला रहे हैं।

'मद्भावाः', सात महर्षि, चार सनाकादिक, और चार मनु ये सारे 'मद्भावाः' थे, इनकी सारी भावनायें मुझ परमेश्वर में अर्पित थीं। अर्थात् ये सब परमेश्वर के अत्यन्त भक्त थे। परमेश्वर के भक्त होने के कारण ये परमेश्वर की सामर्थ्य से युक्त थे। अत्यन्त भक्त होने से, परमेश्वर ने उनको विशिष्ट सामर्थ्य से युक्त किया था। इस अध्याय के अन्त में भगवान् कहेंगे, कि जहाँ कहीं विशेष ऐश्वर्य देखने में आता है, उसे मेरा रूप समझें। यद्यपि सारा संसार ही परमेश्वर का रूप है, तथापि जहाँ वे विशेष रूप से विद्यमान हैं, वहाँ उपास्य-बुद्धि हो जाती है, अतः वह उपासना का विषय है। मोटी भाषा में समझ लो, संगमरमर के अन्दर चतुर्भुज मूर्ति बनाकर विष्णु की प्रतिष्ठा कर दी गई, वह तो पूज्य होता है, और बाकी भी है तो संगमरमर पत्थर ही, पर इसके अन्दर पूज्य दृष्टि नहीं होती है। मूर्ति और फ़र्श पर जड़ा, दोनों ही संगमरमर पत्थर हैं, परन्तु जो शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुये, प्राण-प्रतिष्ठित मूर्ति है उसको पूज्य कहेंगे, दूसरे को पूज्य नहीं कहेंगे। इसी प्रकार किसी भी चीज़ की असलियत क्या है? सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है। रावण में जैसा परमात्मा है, वैसा ही राम में है। दोनों जगह परमेश्वर की सत्ता एक जैसी है। परन्तु फिर भी राम पूज्य है, रावण पूज्य नहीं है, राम का चरित्र अनुकरणीय है, रावण का चरित्र अनुकरणीय नहीं है। यहाँ जो सात ऋषि आदि कहे इनकी भी महत्ता है कि मुझ में भावना वाले होने से ये विशेष सामर्थ्य से युक्त हैं।

ये कैसे पैदा हुए? 'मानसा जाताः', हिरण्यगर्भ से ही ये उत्पन्न हुए। जब परमेश्वर, समष्टि मन वाले होते हैं तभी उनको हिरण्यगर्भ कहते हैं। जैसे तुम ही जाग रहे हो, तुम ही सपना देखते हो, और तुम ही गहरी नींद लेते हो। तुम जब जाग्रत् अवस्था में हो, तब तुम्हारा नाम विश्व है। तुम जब स्वप्न अवस्था में हो तब नाम तैजस है। तुम जब गहरी नींद में हो तब तुम्हारा नाम प्राज्ञ है। हो तुम एक ही। लौकिक व्यवहार में भी आफिस में बड़े पद पर 'साहब' कहा जाता है। घर में आता है तो पिता उसको कहते हैं 'ए बबुआ! इधर आ।' व्यवहार जहाँ जैसा होता है, उसके अनुसार नाम हो जाता है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ - ये व्यवहारानुसारी नाम हैं। अतः किसी एक के ये विशेष नाम नहीं, जो कोई भी जगा है, उसका नाम विश्व ही है, हर सपना देखने वाला तैजस ही है और सभी गहरी नींद वाले प्राज्ञ ही हैं। विश्व कहने से केवल यह पता लगता है कि जाग्रत् अवस्था वाले की बात हो रही है। इसी प्रकार से तैजस कह देते हैं तो पता चल जाता है कि स्वप्न अवस्था वाले की बात हो रही है। सभी का नाम स्वप्न-काल में तैजस हो जायेगा। जीव के जैसे विश्व आदि तीन नाम, ऐसे ही भगवान्

के विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर - ये तीन नाम पड़ते हैं। समष्टि जाग्रत् वाले परमेश्वर को विराट् कहते हैं। इसी के लिये वैश्वानर नाम भी प्रसिद्ध है। विराट् हो गया सारे स्थूल शरीरों वाला अर्थात् सारी स्थूल सृष्टि उसका शरीर है। सारी जाग्रत् अवस्थाओं को वह वैसे ही अनुभव करता है जैसे हम करते हैं। फ़र्क इतना है कि हम जाग्रत् अवस्था के अन्दर साढ़े तीन हाथ के शरीर मात्र को 'मैं' समझते हैं जबकि सात ऊपर के लोक, सात नीचे के लोक और उनमें रहने वाले सब लोग परमेश्वर के लिये 'मैं' ही हैं। इसी प्रकार से सारे लोगों के सपने परमेश्वर के लिये अपने ही हैं। समष्टि सूक्ष्माभिमानी को हिरण्यगर्भ कहते हैं जैसे व्यष्टि सूक्ष्माभिमानी को तैजस कहते हैं। स्वप्न के अन्दर जैसे मन ही सब चीज़ों को बनाता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ की सृष्टि को भी मानस कहते हैं क्योंकि हिरण्यगर्भ की अवस्था में समष्टि मन प्रधान उपाधि है। जैसे तुम स्वप्न के अन्दर देवदत्त का निर्माण कर देते हो; सपने में जो तुम्हें देवदत्त दीखा, उसे किसने बनाया? तुमने बनाया। वह किसी गर्भ से तो पैदा हुआ नहीं! सीधा बीस साल का आदमी सामने खड़ा हो गया। न वह किसी के पेट से पैदा हुआ है, न कभी बच्चा था, क्योंकि मानस है। इसी प्रकार भगवान् ने ऋषियों को उत्पन्न किया तो किन्हीं माँ-बाप से नहीं। यह नहीं कह सकते कि जो पैदा हुआ उसके माँ-बाप ज़रूर होंगे क्योंकि जिस देवदत्त को तुमने स्वप्न में देखा था उसके कौन माँ-बाप थे? जैसे उसके कोई माता पिता नहीं, वैसे ही ऋषियों के भी नहीं। इसी प्रकार मनु मानस उत्पन्न हुये हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये भगवान् ने कह दिया - 'मद्भावा मानसा जाताः' ।

'येषां लोक इमाः प्रजाः' लोक के अन्दर जितनी प्रजायें दीख रही हैं सब इन्हीं की संतानें हैं। 'लोक' से सात ऊपर के, सात नीचे के लोक सभी समझ लेना। उनके अन्दर जितनी भी ये प्रजायें हैं, जितने भी जीव देखने में आते हैं, वे सारे इन महर्षियों से और मनुओं से उत्पन्न हुये हैं। मनुओं से तो वंश-परम्परायें चलीं। बाप, बेटा, पोता, पड़पोता यह वंश-परम्परा मनुओं से चली। और महर्षियों से विद्या-परम्परा चली। जैसे वंश-परम्परा शरीर से उत्पन्न होती है, वैसे ही हमारा जो मानस जगत् है, वह सारा ज्ञान से उत्पन्न होता है। बाह्य जगत् को स्वयं देखकर अर्जित ज्ञान तो बहुत थोड़ा होता है, हम लोगों का बारह आना ज्ञान पढ़े-लिखे का ही ज्ञान है। विज्ञान, इतिहास, भूगोल, आदि सब पढ़ा हुआ या सुना हुआ है। चाहे तुम किताब से पढ़ो, चाहे कान से सुनो, सारी ही विद्या-परम्परा है। मनुष्य जीवन के अन्दर, बारह आना तो विद्या-परम्परा ही हमारे अन्दर प्रविष्ट है। उपनिषदों के अन्दर हर विद्या के उपदेश के बाद उसकी वंश-परम्परा आती है कि ज्ञान किस परम्परा से आया। सबसे पहले किसको हुआ, उसने किसको बताया, उसने किसको बताया। विद्या की परम्परा जानना बड़ा ज़रूरी है। आज कल लोग विद्या-परम्परा की तरफ दृष्टि देते ही नहीं। खास करके जो चीज़ें प्रत्यक्ष और अनुमान

के द्वारा समझी ही नहीं जा सकतीं उन्हें जानने के लिये विद्या ही साधन है। कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिनके बारे में किताब में पढ़ने के बाद यदि तुमको शंका हो, कि ऐसा है या नहीं, तो तुम उस जगह चले जाओ और देख लो कि वहाँ ऐसा है कि नहीं; परन्तु 'अकबर बड़ा अच्छा राजा था'; है तुम्हारे पास यह देखने का तरीका था कि नहीं था? किन्हीं लोगों की बातों को ही तो तुमको मानना पड़ेगा। अगर तुम कह दो कि 'इनमें से किसी की बात मैं नहीं मानूँगा, कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दीजिये,' तो अकबर था - इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण कोई क्या देगा! कोई कह दे कि सिकन्दरा में उसकी कब्र बनी है, तो उससे केवल यह पता लगेगा कि यह *किसी की* कब्र है, वह अकबर की कब्र है - यह कैसे पता है? हम लोगों को कुछ ऐसा ज्ञान है जिसे हम प्रत्यक्ष-अनुमान से देख सकते हैं परन्तु बहुत ज़्यादा ज्ञान ऐसा है जिसके बारे में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वहाँ शब्द ही प्रमाण है।

अधिकतर आध्यात्मिक चीज़ें ऐसी हैं जिन्हें तुम प्रत्यक्ष अनुमान से नहीं जान सकते। अतः कुछ लोगों का कहना रहता है कि चूँकि ऐसी चीज़ों के बारे में अनेक लोगों के अनेक कथन हैं इसलिये कुछ पता नहीं लगता। हमारे वैदिक धर्म की विशेषता है कि हम कहते हैं कि जो कुछ भी कहा गया है उसको तुम प्रत्यक्ष की तरह जान लो इसके लिये निश्चित साधना है, उस साधना को सफलता-पूर्वक कर लो, तब तुम्हें वह चीज़ प्रत्यक्ष हो जायेगी। हमारे यहाँ किसी भी ऋषि ने यह नहीं कहा कि 'यह हमने अनुभव किया है, और कोई नहीं कर सकता'। स्वामी विवेकानन्द जी एक जगह लिखते हैं कि हम सबकी पाँच अंगुलियाँ होती हैं, कोई-कोई छंगा होता है, जिसकी छह अंगुलियाँ होती हैं। छंगे को असामान्य माना जाता है, पाँच अंगुलियों वालों को नहीं। इसी प्रकार से यदि कोई कहता है कि 'यह केवल मैंने अनुभव किया, कोई दूसरा नहीं कर सकता,' तो इसका मतलब है कि उस आदमी में ही कोई गड़बड़ी है। अतः कोई ऐसा कहे तो उसकी बात हम कैसे मान लेवें? क्योंकि उसके कथन से पता लगता है कि वह व्यक्ति असामान्य है। वैदिक परम्पराओं में यह बात स्पष्ट कर दी जाती है कि अमुक साधना करने से अनुभव होता है। तुम्हें इतना ही मानना है जितने से उस साधना में प्रवृत्ति करो। साधना करके जब फल मिल जायेगा तब तुम्हें पता चल जायेगा कि ठीक है कि नहीं। इतना विश्वास पैदा करने के लिये सम्प्रदाय-परम्परा बतलाती है कि किन-किन लोगों ने यह अनुभव इन साधनाओं के द्वारा प्राप्त किया। अनेक श्रद्धेय लोगों द्वारा अपनाये साधन और उन्हें हुए अनुभव पर विश्वास करके आदमी को प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। इससे विपरीत, जिस के बारे में पता नहीं है कि किस-किस ने कैसे वह अनुभव किया, जिसका उपदेशक ही कहता है कि 'मैंने ही अनुभव किया, मैंने ही देखा,' उस पर श्रद्धा नहीं की जा सकती। इसलिये सम्प्रदाय-परम्परा पर बहुत ज़ोर दिया गया है। वंश-परम्परा का स्मरण अन्तःकरण की शुद्धि का कारण होता है, अर्थात् अन्तःकरण

के अन्दर अश्रद्धा-रूप जो अशुद्धि है वह इसके द्वारा कटती है। महर्षियों से विद्या-परम्परा आयी है, ज्ञान की परम्परा आयी है, मनुओं से शरीर की परम्परा आयी है। यहाँ 'प्रजाओं' से पेड़-पौधे सब समझ लेना, हमारे यहाँ पेड़-पौधे भी जीव हैं। सभी प्रजाओं के आदि - पुरुषों को भगवान् ने यहाँ अपनी विभूति कह दिया।। ६।।

विभूतियों को जानने का फल बतलाते हैं-

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। ७।।

मेरा यह वैभव-विस्तार तथा सब कुछ बनाने की सामर्थ्य जैसे हैं वैसे जो समझ लेता है वह सम्यग् ज्ञान की स्थिरतारूप योग से सम्पन्न हो जाता है इसमें संदेह नहीं।

'एतां विभूतिं' यह जो विभूति मैंने बतलाई, कि कैसे सारे संसार के विस्तार का एकमात्र कारण मैं हूँ, इसे जानना सफल है। 'योगं च' योग अर्थात् किस प्रकार आत्मा इस सारे संसार को उत्पन्न करता है। परमेश्वर के ऐश्वर्य और उसकी सामर्थ्य को हम समझते हैं तो महान् फल पाते हैं। 'यः तत्त्वतः वेत्ति' ये जैसे हैं वैसा इन्हें जो जानता है। सभी उपनिषदों में हमेशा प्रसंग यहीं से शुरू होता है कि पहले केवल परमात्मा था और उसी से सारी सृष्टि हुई। परमात्मा से सृष्टि कैसे हुई - इस क्रम को बार-बार सोच कर इसका निश्चय करना पड़ेगा। इसके द्वारा परमेश्वर की सर्वज्ञता और सर्वेश्वरता हमारे अन्दर स्थिर भाव से बैठ जाती है। हमारे अन्दर भाव है कि 'यह मेरा किया हुआ है या किसी दूसरे जीव का किया हुआ है,' यह हट जाता है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का हटना सबसे प्रधान चीज़ है।

'तत्त्वतः', अर्थात् ठीक-ठीक समझना पड़ता है कि कैसे-कैसे सब कुछ उत्पन्न हुआ। इसका उद्देश्य है कि तुम लय-प्रक्रिया के द्वारा धीरे-धीरे अन्तःकरण को लीन करके समाधि का अभ्यास कर पाते हो। जब समाधि का अभ्यास पड़ जाता है तब 'अविकम्पेन योगेन' तुम्हारा योग स्थिर हो जाता है। अभी भी हम लयप्रक्रिया और सृष्टि-प्रक्रिया समझते हैं किन्तु जब तक बैठ कर अभ्यास करते हैं, तब तक तो याद रहता है कि परमात्मा से आकाश हुआ, आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, फिर उसका पंचीकरण हुआ, अपंचीकृत तत्त्वों से इंद्रियाँ बनीं; इत्यादि, किन्तु उस अवस्था को छोड़ कर किसी भी व्यवहार को करने गये तो उस समय नहीं लगता कि 'मन सोच रहा है तो ये अपंचीकृत भूतों के अन्दर क्रिया हो रही है!' ऐसी प्रतीति नहीं होती। तब लगता है 'मैं सोच रहा हूँ'। इसी प्रकार देवदत्त के मुँह से कुछ गालियाँ निकलती हैं तो ऐसी प्रतीति नहीं होती, कि अग्नि तत्त्व से बनी हुई जीभ है, उसके अन्दर स्पन्दन हो रहा है, क्रिया हो रही है, उससे उत्पन्न होने वाला आकाश का धर्म शब्द आ रहा है। वरन् झट प्रतीति होती है, 'देवदत्त मुझे गाली दे रहा

है।' तत्त्वतः ज्ञान से पूर्व जो होता है, वह विकम्प योग है। योग तो है, जितनी देर बैठते हो उतनी देर बोध है, लेकिन फिर कम्प हो जाता है, हिल जाता है। 'ये सब परमात्मा ने ही रूप लिये हैं' यह ज्ञान चला जाता है। जब यह स्थिर होता है तब अविकम्प योग है। कभी भी इससे कम्पायमान नहीं होते, सब समय पता है कि जो कुछ भी है, वह सब परमात्मारूप ही है। इस प्रकार जो कभी न हिले ऐसी सम्यक् दर्शन की स्थिरता की प्राप्ति हो जाती है। 'न संशयः', ऐसा ही होता है, इसमें तुमको अपनी बुद्धि से संशय करने की ज़रूरत नहीं है। यद्यपि भगवान् की सभी बातें सच्ची ही हैं लेकिन यह बात सामान्यतः असम्भव लगती है, कि व्यवहार करते हुये सबको परमात्मा देख लें। इसलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसा अभ्यास करोगे तो यह स्थिति आ जायेगी, तुम्हें ऐसा अनुभव हो जायेगा, इसमें शंका मत रखो।।७।।

अविकम्प योग के लिये आवश्यक विभूतियों के ज्ञान को स्पष्ट करते हैं-

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।। ८ ।।

मैं सबका जनक हूँ, मुझसे सब संचालित हो रहा है- यह समझकर परमार्थ तत्त्व के निश्चय वाले बुद्धिमान् मुझे भजते हैं।

'भावसमन्विताः' भावना से युक्त साधक। भावना, अर्थात् परमार्थ तत्त्व के अन्दर अभिनिवेश करना, आग्रह पूर्वक मन को इस परमार्थ तत्त्व में ही लगाना। भगवान् भाष्यकार ने एक जगह कहा है कि जैसा दृढ हमें भान है कि 'मैं शरीर हूँ,' वैसा ही दृढ भान हो जाए कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तभी मोक्ष सम्भव है। हम स्वप्न में भी अपना एक शरीर देखते हैं, वह शरीर इस शरीर के जैसा ही होता है। इस शरीर से यत्किंचित् भेद भी हो जाता है। जिसकी टाँग कटी है वह स्वप्न के अन्दर टाँग वाला भी अपने को देख लेता है। स्वप्न में यह शरीर न होने पर भी, इस शरीर के जैसे शरीर वाले ही अपनी प्रतीति होती है। आत्मनिष्ठ की दृष्टि से संसार स्वप्न ही है। जैसे जाग्रत् के संस्कारों से स्वप्न की प्रतीति, उसी प्रकार प्रारब्ध के संस्कारों से आत्मनिष्ठ को जगत् की प्रतीति है। जब तक अज्ञान रहता है तब तक तो जाग्रत् प्रतीत होगा परन्तु जब अपने ब्रह्मस्वरूप को जान लेता है तब जाग्रत् भी प्रारब्ध के जो संस्कार हैं उनके अनुसार ही प्रतीत होता है। सारा व्यवहार करते हुए, 'संस्कार- मात्र से ही प्रतीति हो रही है', ऐसा उसका दृढ निश्चय रहता है। स्वभाव से वह आत्ममात्ररूप रहता है, और अन्तःकरण में पड़ते प्रतिबिम्ब को भी जैसा आत्मा है वैसा ही देखता है, क्योंकि एक तो उसका अन्तःकरण इतना शुद्ध है कि यथावत् प्रतिबिम्ब बनने देता है; दूसरा, वह अपने स्वरूप के बारे में ऐसा निःसन्दिग्ध हो चुकता है कि अन्तःकरण के यदि किन्हीं अनिवार्य दोषों के कारण प्रतिबिम्ब में कोई विकृति दीखे तो भी वह जानता है कि वास्तव में बिम्ब

विकृत नहीं, शुद्ध ही है। उसे मालूम है 'मैं सच्चिदानंद हूँ'। वैसा ही सच्चिदानंद अंतःकरण में प्रतीत होता है। अन्तःकरण की उपस्थिति में प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती ही है। इस प्रकार यहाँ 'भाव' से परमार्थ-अवबोध की दृढता कही है, उससे सम्पन्न को भावसमन्वित कहा है।

कौन ऐसा होगा? 'बुधाः', जिन्होंने पहले श्रवण-मनन से परमात्मा के स्वरूप को यथावत् समझ लिया है। बुध होने से पता है कि परमात्मा का स्वरूप क्या है, और उसी स्वरूप में अभिनिवेश करके वे रहते हैं, साधकावस्था में ऐसी प्रमाणाधारित भावना रहती है, और सिद्ध में यह अपरोक्ष ज्ञान रहता है, इतना इनमें अन्तर है। ऐसे अधिकारी 'मां भजन्ते', मेरा भजन करते हैं। मैं कौन हूँ? 'अहं सर्वस्य प्रभवः'। 'अहं' कौन है? अहम् परमेश्वर ही है जो सारे जगत् को उत्पन्न करने वाला है। सारे जगत् की उत्पत्ति जिस परमेश्वर से होती हैं वही मैं हूँ। जिससे उत्पन्न होता है वह उपादान कारण कहा जाता है। जैसे मिट्टी से घड़ा पैदा होता है, तो मिट्टी उपादान कारण है। अहम् केवल उपादान कारण नहीं है, 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' सब चीज़ों की, सारे जगत् की स्थिति मुझसे ही है। मुझमें ही सबका नाश है। मुझसे ही सबको अपने कर्मों का फल भोगने को मिलता है। मैं ही, जिसने जैसा कर्म किया है तदनुरूप उसको फल देता हूँ। इस प्रकार मैं ही सारे जगत् का एकमात्र उपादान कारण हूँ, और मैं ही इसका निमित्त कारण हूँ। इस प्रकार से 'मैं' को परमात्मा रूप से जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण समझना है। संसार में जितने भी अवैदिक प्रसिद्ध धर्म हैं, कोई भी परमात्मा को अभिन्न-निमित्तोपादान कारण नहीं मानता। परमात्मा ने बनाया - यह तो बहुत-से धर्म मानते हैं, परन्तु परमात्मा स्वयं बना - यह नहीं मानते। सर्वात्मा, सर्वकारण, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ भगवान् का भजन वे ही करते हैं जो इस सत्य को जानते हैं कि मिथ्या होने से नाम-रूप प्रपंच असार है। तभी परमार्थ तत्त्व में उन्हें प्रेम व आदर होता है। इस तरह भजन के साधन स्पष्ट किये।।८।।

भगवद्भजन में इतने ही नहीं, और भी साधन हैं यह बताते हैं -

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।९।।

जिनके चित्त व इंद्रियाँ मुझमें उपसंहृत हैं, जो आपस में हमेशा मेरा ही कथन करते हैं और मेरे बारे में समझाते हैं, वे स्वभाव से ही सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं।

'मच्चित्ताः', जिनका चित्त अर्थात् निश्चय मेरे बारे में ही है। हम लोग इस विचार में अपना मनुष्य जीवन व्यर्थ में खोते हैं कि संसार की चीज़ें कैसी हैं। इसने मुझ से यह कहा तो क्यों कहा? इसने मुझे नमस्ते नहीं की तो क्यों नहीं की, इत्यादि। भावसमन्वित बुध जानता है कि यदि किसी ने कोई बात नहीं कही तो परमात्मा ने नहीं

कही, नमस्ते नहीं किया तो परमात्मा ने नहीं किया। वह निश्चय इस बात का करता है कि यह अभिन्न-निमित्तोपादान कारण केवल मैं वासुदेव ही हूँ। अतः बार-बार उसका निश्चय मद्विषयक, परमात्मविषयक ही बनता है। हम लोग कह तो देते हैं 'परमात्मा सर्वस्वरूप है,' लेकिन किसी की ठोकर लगते ही हमारा निश्चय बनता है कि इसने मुझे धक्का दिया। इस प्रकार हमारा कभी भी अविकम्प योग नहीं हो पाता। जो उत्तम साधक है, उसका हमेशा यही निश्चय रहता है, 'वासुदेवः सर्वमिति'। ऐसा निश्चय कायम रखने में रुकावट यह आग्रह डालता है कि इससे लोकव्यवहार नहीं चलेगा! किंतु विचार करो, अनादि काल से असंख्य जन्मों में व्यवहार चला ही रहे हो। चला कर तुमको मिला क्या? जिस स्थिति में हो, यही स्थिति आई व्यवहार चला कर। कुछ समय तक व्यवहार नहीं चला कर देखो, क्या होता है। चला कर जब कोई फ़ायदा नहीं है तो नहीं चला कर नुकसान क्या होगा ! इसलिये 'मद्‌गतप्राणाः' का एक अर्थ आचार्य करते हैं 'मद्‌गतजीवनाः' मेरे लिये ही जिनका सारा जीवन जिन्हें परमात्मा के लिये है, अपने हृदय में स्थित वासुदेव के लिये ही सारा जीवन व्यतीत करना है, बाकी किसी के लिये कोई व्यवहार नहीं करना है। ऐसा हो सकेगा, जब तुम यह निश्चय करोगे कि वह अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है, इसलिये उसके लिये जीवन अर्पण करने से कुछ होना है। बाकी चीज़ों को तो जीवन अर्पण करके देख लिया, अनादिकाल से यही करते रहे हैं। जैसा आचार्य शंकर कहते हैं -

'कति नाम सुता न लालिताः, कति वा नेह वधूरभुंजि हि ।
क्व नु ते क्व च ताः क्व वा वयम् भवसंगः खलु पान्थसंगमः' ।।

हर जन्म में कितने बेटों से हमने लाड़-प्यार नहीं कर लिया। क्या मिला उनके लाड़-प्यार से? वे अच्छे निकल गये तो क्या हुआ! जितना भी इनके लिये करो, जब तुम्हारे सौ साल पूर हो जायेंगे, तब खट से सम्बन्ध टूट जायेगा। इस विचार से जिनका संसार-आकर्षण क्षीण हो गया, वे ही मेरे लिये सारा जीवन अर्पित कर सकते हैं।

अथवा प्राण का अर्थ, इंद्रियाँ और मन भी है। उपनिषद् के अन्दर कहा है कि रुद्र ही प्राण है, और एकादश रुद्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण। इनको रुद्र कहते हैं क्योंकि ये ही आजीवन रुलाते रहते हैं। अनादिकाल से हमारा जितना रोना है वह या इंद्रियों के कारण या मन के। किसी ने गाली दी; हमारे कान ने सुना तभी हमें दुःख हुआ। अगर हमारे कान ने न सुना होता तो किसी की गाली से कुछ नहीं होता। इसी प्रकार किसी ने मारा, मेरी त्वक् इंद्रिय ने मार को जाना तभी दुःख हुआ। ये एकादश प्राण हमें हमेशा रुलाते रहते हैं। इसलिये इनको रुद्र कहा। तब 'मद्‌गतप्राणाः' का मतलब है, कि अपने सारे ज्ञानसाधनों को, क्रियासाधनों को परमात्मा में ही उपसंहृत कर देना है। जो कुछ भी दीखता है, सुनाई देता है, छुआ जाता है, वह सब एकमात्र शिव ही है। जिस-जिस चीज़ को इंद्रिय विषय करती है,

अन्तःकरण विषय करता है, वह सब एकमात्र शिव-रूप ही है। दोनों व्याख्याओं का करीब-करीब तात्पर्य एक ही हो जाता है।

मद्गतप्राण होने से वाणी का प्रयोग कैसे करते हैं? 'परस्परम् बोधयन्तः', एक दूसरे को बोधन करते हैं, जगाते हैं, बार-बार याद दिलाते हैं। सभी साधक होने के नाते, कभी कोई कमज़ोर पड़ा तो उसको साथ वाला बोधन करा देता है 'अरे! क्या इन बेकार की चीज़ों में फँसते हो।' कभी हम कमज़ोर हो जाते हैं, तो उस समय वह याद दिला देता है, 'अरे! किस चक्कर में फँस गये?' ऐसा तभी होगा जब तुम ऐसे लोगों का संग करो, जो साधक हैं। असाधक के साथ यदि तुम संग करोगे तो वह तुम्हें बार-बार संसार की सत्यता ही समझायेगा। उस समय पहले ही तुम कुछ कमज़ोर हो, तभी संसार की सत्यता को लेकर सुख-दुःख हो रहा है, उसने और उन्हीं संस्कारों को बढ़ाया तो तुम उधर ही चले जाओगे। जैसे क्षमा की साधना करो तो दूसरा दबाये ही जायेगा। तुम कुछ विचलित होगे ही। तब यदि साथ वाला भी कह दे, 'हाँ, भाई ऐसा ही है संसार। बीच-बीच में थोड़ी लत्ती भी मारनी पड़ती है'। तो तुम क्षमा का नियम छोड़ ही दोगे। इससे विपरीत, यदि साधक साथ होगा, तो कहेगा 'अपने अन्दर है ही कौन-सी चीज़ जो कुचले जाने लायक नहीं है। यदि दूसरा कुचल रहा है तो अच्छा ही कर रहा है, दुश्मन को कुचल रहा है। हमारे शरीर का, हमारे अन्तःकरण का, हमारी इंद्रियों का अपमान कर रहा है, इन्हीं को कुचल रहा है। हम भी तो कुचलना चाहते हैं, खत्म करना चाहते हैं। उसने इस कार्य में मदद ही की है, कोई नुकसान तो किया नहीं।' तब फिर तुम्हें भी जागृति आ जायेगी। इसलिये कहा 'बोधयन्तः परस्परम्'। अगर बोधन का समय नहीं है तो 'मां कथयन्तः।' मेरे ज्ञान, बल, वीर्य इत्यादि जो धर्म हैं, उन सबको ही एक-दूसरे को कहते हैं। 'कथयन्तः' वहाँ भी सम्भव हो जाता है जहाँ एक सिद्ध है, दूसरा साधक है। जब सिद्ध साधक को समझाता है, तब भगवत्कथा हो जाती है। वह जब बात करेगा, परमात्मा की ही करेगा।

मेरा कथन, मेरा बोधन करते हुये, 'तुष्यन्ति', तोष को प्राप्त करते हैं। उससे उन्हें बहुत सन्तोष होता है। जैसे गर्मी के मौसम में ठंडी हवा आने से संतुष्टि होती है उसी प्रकार उन्हें नाम-रूपात्मक संसार, दावाग्नि की तरह लगता है, और परमात्मविषयक बात चाहे सहज साधकों के बोधन के रूप में सुनें, या ज्ञानी गुरु द्वारा कथन के रूप में सुनें, दोनों ही रूप में ठंडी हवा की तरह लगती है। जैसे जब शुकदेव परीक्षित को भागवत सुना रहे थे, तब तीन दिन हो गये, परीक्षित ने न कुछ खाया, न कुछ पिया, वैसा का वैसा बैठा सुनता रहा। घड़ियों का तो जमाना था नहीं! आजकल तो अगर दस बजे प्रवचन समाप्त होना है, तो पौने दस से ही लोग घड़ियाँ देखने लगते हैं। लेकिन परीक्षित तो भूख प्यास से भी अछूता रहा। उसने कहा कि हालाँकि भूख प्यास सहना अत्यन्त कठिन होता है, फिर भी मुझे उनसे कोई कष्ट नहीं है क्योंकि आपके

मुख से निकलने वाला जो परमात्मा के गुण-कर्म का वर्णन है, वह अमृत की तरह लग रहा है। भगवत् सन्दर्भ जब ऐसा लगता है तब 'रमन्ति च'। जैसे दीर्घकाल से प्रवास में गया हुआ पति जब घर आता है, तब सब कार्यों को छोड़कर उसके साथ बैठने में ही मन रमता है, काम करना पड़े तो सहन नहीं होता। यहाँ तक शास्त्रों में कहा है कि भगवान् का दर्शन करते हुये ब्रह्मा जी को कोसते हैं कि आपने पलकें क्यों बनाईं? पलक झपकती है तो क्षणभर को भगवान् नहीं दीखते, जिसे भगवान् के दर्शन में रमण होगा उसे इतना-सा व्यवधान भी असह्य लगता है। कभी कदाचित् ऐसा तोष-रमण होता हो यह नहीं, 'नित्यम्' हमेशा ही तोष और रमण उसी में होता है।

तोष और रमण करीब-करीब एक जैसी चीज़ें हैं। पर दोनों में खास फ़र्क समझ लेना चाहिए। अपने आप जो हो वह तोषप्रद माना जाता है और जिसके लिये तुम्हारा प्रयत्न हुआ करे, उस प्रयत्न का कारण रमण माना जाता है। इसलिये प्रारब्ध-भोग के कारण जो भी प्राप्त होता है उसमें 'यह परमात्मा का ही है,' ऐसा जान कर तोष होता है और अपनी तरफ से जब प्रवृत्ति करता है, मंदिर में दर्शन के लिये जाता है, तीर्थ-यात्रा को जाता है, श्रवण मनन करता है, तब वह करने का कारण रमण है। चीज़ अत्यन्त अच्छी लगती है, उसमें मन रमता है, इसी लिये उधर के लिये प्रवृत्ति करता है। 'बोधयन्तः परस्परम्' में तोष प्रधान है क्योंकि साथ वाला कहता है, तब जागृति आती है। खुद उसने उस समय प्रयत्न नहीं किया। और 'कथयन्तः' में वह स्वयं प्रयत्न करता है क्योंकि उसी की बात उसे अच्छी लगती है, ठीक जैसे संसारी व्यक्ति को संसारी बात अच्छी लगती है।

तीन पीढ़ी पहले हमारे एक मंडलेश्वर थे; कोई आता था, तो गद्दी पर बैठे हुये मसनद पर सिर रखकर सो जाते; कुछ खास कहते नहीं थें। वहाँ के जो कार्य करने वाले कोठारी थे, उन्होंने उनसे कहा 'महाराज! लोग आते हैं, कुछ उपदेश करिये, कुछ उनको सुनाइये। आप तो सो जाते हैं।' उन्होंने कहा 'अरे, वे बेचारे आते हैं, सुना जाते हैं, सुनने को कोई आता नहीं है।' उन्होंने कहा 'नहीं महाराज, ऐसा थोड़े ही होता है, बाकी सब सुनाते हैं।' वे बोले 'तुम कहते हो तो सुना देंगे।' अगले दिन कोई आया तो उन्होंने आत्मतत्त्व की बात सुनाना शुरू की तो जो घंटाभर बैठ कर अपनी बात सुनाता रहता था, उसने दस मिनट के बाद ही कहा 'महाराज! आज हमें ज़रा काम है, कहीं जाना है।' इस प्रकार तीन चार व्यक्ति जो सुनाते रहते थे, वे जल्दी चले गये। दो तीन दिन ऐसा होने के बाद उन्होंने कोठारी को बुला कर कहा 'देख लो, घंटाभर बैठने वाले दस मिनट में चल देते हैं! ये कोई सुनने नहीं आते, अपनी बातें सुनाने आते हैं। मैं सो भी जाता था तो, उन्हें लगता था कि सुन रहा हूँ अतः जी-भरकर सुना लेते थे, सुनाकर खुश हो जाते थे, मेरी कोई हानि नहीं; पर सुनने कोई नहीं आता।'

इसलिये भगवान् ने कहा कि श्रवण-मनन में वही लगेगा जो भगवत्स्वरूप में रमण

करने वाला है। अपनी तरफ से प्रवृत्ति वही करेगा। हमारे एक स्वामी जी कभी-कभी कहते हैं कि किताब का पढ़ना तो तभी होता है, जब कोई सवाल उठे या किसी को पढ़ाना हो! अर्थात् अपने अन्दर से प्रवृत्ति नहीं होती। पढ़ने में रति हो, रमण हो तब स्वतः पढ़ने की प्रवृत्ति होगी ही। ऐसा व्यक्ति सब समय श्रवण-मनन की प्रवृत्ति ही करेगा, उसके लिये ही प्रवृत्त रहेगा। इस तरह, प्रेमपूर्वक भगवान् का भजन कैसे किया जाता है, यह स्पष्ट किया।।९।।

इस प्रकार से जो भजन करने वाले भक्त हैं, उन्हें क्या फल मिलता है यह बताते हैं-

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०।।

मुझ परमेश्वर में ही जिनकी अनवरत एकाग्रता है और स्नेह से मेरा भजन करते हैं, उनका संबंध मैं अपनी वास्तविकता के सम्यक् ज्ञान से करा देता हूँ जिससे वे मुझे पा लेते हैं।

नित्य ही, सतत परमात्मा से युक्त वही होगा जिसको बाहर के पदार्थों के प्रति परम वैराग्य है। मन इकट्ठे ही दो विपरीत तरफ नहीं जा सकता। जैसे जब सौत आ जाती है, तब पति का ध्यान अवश्य बँट जाता है, दोनों से प्रेम करे तो भी ध्यान बँटना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार से, श्रवण-मनन के अंदर सतत युक्त रहने से रोकने वाली चीज़ है बाहरी विषयों की कामना। बाह्य किसी न किसी पदार्थ की इच्छा आने पर ही परमात्मा के श्रवण-मनन से मन हटेगा। 'सततयुक्तानां' कह कर भगवान् ने स्पष्ट बतला दिया कि यह भक्त परम वैराग्य वाला है। जब बाह्य कामना निवृत्त हो गई तब सांसारिक प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, अतः वह निवृत्ति-धर्मों का ही पालन करेगा। न उसको कोई अर्थ चाहिए, और न कोई काम की पूर्ति चाहिए। प्रेम के कारण ही वह भगवान् का भजन करता है। बंगाल में एक महापुरुष हुए हैं रामकृष्ण परमहंस; उनके एक शिष्य थे नरेन्द्र, जो बाद में विवेकानंद हुए। रामकृष्ण उनसे बहुत ज़्यादा प्रेम करते थे। एक बार नरेन्द्र उनसे मिलने गये तो उन्होंने नरेन्द्र से बात ही नहीं की! उन्होंने कुछ बात करने की चेष्टा की भी तो परमहंस मुँह फेर कर बैठ गये! और ऐसा सात दिनों तक निरन्तर चलता रहा। नरेन्द्र नियम से जाते रहे, जैसे हमेशा करते थे वैसे अपनी तरफ से बात करने की कोशिश करते रहे। सात दिनों के बाद परमहंस ने कहा 'अरे, मैं तुमसे बोलता नहीं, तुम्हारी तरफ मुँह करता नहीं, तुम बोलते हो तो मुँह फेर लेता हूँ, फिर यहाँ आते क्यों रहते हो?' नरेन्द्र ने कहा 'मैं कोई आपसे बातचीत करने के लिये थोड़े ही आता हूँ, यह तो आपकी मर्ज़ी है कि आप बोलें या न बोलें। मुझे तो आपसे प्रेम है, इसलिये मैं आये बिना नहीं रह सकता।' तब उन्होंने बड़े प्रेम से उसको छाती से लगा कर कहा 'मुझे भी तू इतना ही प्रिय है, मैं देखना चाहता था कि

तुम्हारा प्रेम मेरे लिये है, या तुमको ज़रा मैं प्रधानता देता हूँ इसलिये है।' इस प्रकार से जो किसी हेतु के बिना परमात्मा के प्रति प्रेम होता है, उससे प्रेरित होकर भजन करने वाला ही अविकम्प योग पाता है।

इस प्रकार परम वैराग्य और आत्मबल के प्रति परम प्रेम जब होता है, तब 'बुद्धियोगं ददामि,' उसको बुद्धियोग देता हूँ। बुद्धि अर्थात् ब्रह्माकार निश्चयात्मिका वृत्ति। जो परमात्म- विषयक निश्चयात्मिका वृत्ति है, सम्यक् दर्शन है, उस बुद्धि को ही यहाँ योग कहा है। 'मैं ही परब्रह्म हूँ,' इसके अर्थ का बोध हो जाना, ऐसी बुद्धि ही योग है। 'बुद्धियोग को दे देता हूँ' अर्थात् परमात्मा का सम्यक् दर्शन उसे हो जाता है। वास्तव में परमात्मा जैसा है, वैसा ही उसे पता लग जाता है। यद्यपि अभी वह उपासना कर रहा है, तथापि उपास्य का साक्षात्कार उसे नहीं हुआ। बुद्धि मिलने पर उपास्य का उसे साक्षात्कार हो जाता है। 'मैं परमात्मा हूँ,' इस बात का दर्शन न होना ही हमारे यहाँ अज्ञान कहा जाता है। जर्मन भाषा सुनने पर उसका अवबोध नहीं होता है, कि क्या कहा जा रहा है। ध्वनि सुनाई देती है, परन्तु क्या कहा जा रहा है यह समझ में नहीं आता। इसी प्रकार उपनिषदों का अध्ययन करते हैं तो बात सुनाई दे जाती है, लेकिन उसका जो लक्ष्यार्थ है उसका प्रबोध नहीं होता। इसी का नाम अज्ञान है। बुद्धियोग की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् अन्तःकरण अखंड ब्रह्माकार ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है, जो अखंड ब्रह्म अब तक उपास्य था वह अब उपास्य नहीं रहता, अपना प्रत्यक् स्वरूप हो जाता है। जिस चीज़ को तुम भली प्रकार से देख लेते हो, उसके बारे में किसी परिस्थिति में कभी संदेह नहीं होता। जब तक निश्चय दृढ नहीं है तब तक तो संदेह हो सकता है, पर जब निश्चय हो जाता है तब संदेह संभव नहीं होता। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि संशय ही सबसे बड़ा बंधक हो जाता है। संशय में विरुद्ध कोटि के ज्ञान होते हैं, एक कोटि सही ज्ञान की और दूसरी गलत की। यदि गलत कोटि का ज्ञान दृढ हो जाये तो उसे विपर्यय कहते हैं। संशय में तो दोनों कोटियाँ बराबरी की लगती हैं। और विपर्यय के अन्दर गलत कोटि का ही निश्चय हो जाता है। जब श्रवण-मनन करते हैं तब संशय होता है। अभी तो इस संसार के बारे में संशय बिलकुल नहीं है कि संसार है या नहीं? विपयर्य ज्ञान है कि संसार है ही। जब शास्त्र सुनते हैं, तब संशय होता है, कि 'इतने बड़े-बड़े ऋषियों ने, इतने बड़े-बड़े महापुरुषों ने इस बात को ही दृढ किया है कि संसार है ही नहीं तो क्या ऐसा भी हो सकता है?' संसार मुझे स्पष्ट दीख रहा है, अतः है - यह कोटि भी रहती है और महापुरुष कह रहे हैं, अतः वास्तव में नहीं हैं - यह कोटि भी रहती है। दोनों विरुद्ध कोटियों में से किसी एक का निश्चय नहीं हो पाता है। अतः संशय होता है कि संसार है या नहीं है? इस प्रकार शास्त्र का श्रवण-मनन करने से संशय आता है। वह संशय यदि हट जाये कि शास्त्र कह रहा है तो, 'नेह नानास्ति किंचन' ही ठीक है, तो सम्यक् निश्चय हो जायेगा। ऐसे

समझ लो : मंद अंधकार में पड़ी रस्सी को हमने साँप समझ लिया। उस समय लगता है, यह साँप ही है। फिर प्रकाश में देख लिया तो निश्चय होगा, 'रस्सी ही है,' उसके बाद कोई कितना ही समझाने की कोशिश करे कि यह साँप है, बात जमती नहीं है। ऐसे दार्शनिक हुये हैं जो कहते हैं, रस्सी में साँप इसलिये दीखता है कि उसमें छोटा-सा साँप होता है, जो दोष से बड़ा दीख जाता है! परन्तु ऐसी बातें सुनकर भी किसी को सन्देह नहीं होता क्योंकि स्वयं स्पष्ट देख लेता है कि रस्सी में साँप का नाम निशान नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से इस सम्यक् दर्शन लक्षण बुद्धियोग की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार जब अखण्ड बोध से अपरोक्ष हो जाता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ, सारा दृश्य मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है,' तब संशय विपर्यय दूर हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं, 'येन माम् उपयान्ति' अर्थात् सिवाय इस अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति के और कोई उपाय नहीं है जिससे मुझे प्राप्त कर जायें। ऐसी जगह 'उपयान्ति' या प्राप्ति का अर्थ अज्ञाननिवृत्तिरूप प्राप्ति ही होता है। अतः भाष्यकार कहते हैं, 'मां परमेश्वरम् आत्मभूतम् आत्मत्वेन उपयान्ति प्रतिपद्यन्ते,' है तो पहले भी हम ब्रह्मरूप ही, लेकिन हमें जो भ्रम है वह हट जाता है, इसी को प्राप्ति कहते हैं। इस प्रकार भगवान् ने प्रतिज्ञा की कि जो निरन्तर निदिध्यासन में लगे हुए हैं, उस तत्त्व को समझ कर के निरन्तर उसी का चिन्तन, उसी का कथन करते रहते हैं, उसी के लिये अपना जीवन समर्पित कर चुके हैं, उनको मैं कृपा करके, साक्षात् दर्शन दे देता हूँ।। १०।।

प्रीतिपूर्वक भगवान् का भजन करने वाले को बुद्धियोग की प्राप्ति बतायी। 'प्रीतिपूर्वक' अर्थात् प्रेम से वह भजन करता है। अन्य अनिवार्य व्यवहार प्रीतिपूर्वक, प्रेम से, रुचि से नहीं करता। अज्ञानावस्था में संसार से सर्वथा व्यवहार न हो यह सम्भव नहीं पर यदि संसार के प्रति प्रीति न रहे तो वह व्यवहार बन्धनकारी नहीं रह जाता है। इच्छा से, कामना से, विषय-सम्बंध हो तभी बंधनका हेतु बनता है। निवृत्तकाम व्यक्ति, विषयदर्शन मात्र से परमात्मविमुख नहीं हो जाता है। परमेश्वर को अपना आत्मा जानने से उसे उसका हमेशा भान रहता है। और आत्मा होने से उससे हमेशा असीम प्रेम बना रहता है। ऐसा भक्त भले ही कुछ न चाहे पर उसे दुःख-दर्शन की संभावना भी नहीं रहे इसलिये कृपा कर भगवान् स्वयं उसे बुद्धियोग देते हैं। आत्मस्वरूप की समग्रता का साक्षात् ज्ञान ही बुद्धियोग या सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन की कमी ही सारे संसार के दुःखों का कारण है। वे भक्त सतत युक्त हैं, अतः सत्य को जानते तो हैं, परन्तु परोक्षतया जानते हैं, अपरोक्षतया नहीं जानते। 'यह सब ब्रह्म-स्वरूप है सच्चिदानंदरूप है', यह परोक्ष ज्ञान हुआ। 'मैं ही परम ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष है। थोड़ा ही फ़र्क रहता है, परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान में। 'सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है, मैं *भी* ब्रह्म स्वरूप हूँ' यह ज्ञान है तब तक परोक्षता है। इस स्थिति में सब कुछ *है*, परन्तु उसकी वास्तविकता ब्रह्मरूप है और सब कुछ के अन्दर मैं भी कुछ हूँ ज़रूर जिसकी वास्तविकता ब्रह्म है।

किन्तु मैं *ही* ब्रह्म हूँ, मेरे अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं हैं। यह अपरोक्ष ज्ञान है। बुद्धियोग से उस सतत युक्त भक्त को यही अपरोक्ष दर्शन हो जाता है। इसी बात को कहते हैं:

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। ११।।

उन्हीं पर कृपा करने के लिये उनके अन्तःकरण की अखण्डाकार वृत्ति में स्थित हुआ मैं सम्यक् दर्शनरूप प्रभा वाले ज्ञानरूप दीपक से अज्ञान से उत्पन्न तम को नष्ट कर देता हूँ।

जो सतत युक्त रह कर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, 'तेषां' उन लोगों पर ही यह विशेष कृपा होती है। जब तक साधक इस स्थिति में नहीं पहुँचा है तब तक उसको भगवान् बुद्धियोग देते नहीं। जब किसी पर दया आती है तब तीव्र इच्छा होती है कि इसके दुःख को मैं निवृत्त करूँ। बिना दया आये ऐसा होता नहीं। परमेश्वर को दया तब आती है जब भक्त सतत युक्त प्रीतिपूर्वक भजन करता है। बहुत से लोगों के मन में यही रहता है कि भगवान् सब को मुक्त क्यों नहीं कर देते? प्राचीन काल में एक राजा रन्ति देव हुऐ हैं, उन्होंने भगवान् से प्रार्थना ही यह की थी कि 'जितने पाप हैं उन सब को भोगने को मैं तैयार हूँ, ताकि सारा संसार मुक्त हो जाये! सबके बदले मैं भोग लूँगा।' भगवान् ने कहा, ऐसा नहीं होता; जब उन्हें दया आयेगी तभी वे बुद्धियोग देंगे जिससे मोक्ष होगा। इसलिये भगवान् ने कहा कि उनके ही ऊपर अनुकम्पा करने के लिये कि 'इनका श्रेय कैसे होवे, कल्याण कैसे होवे', मैं बुद्धियोग देता हूँ। ज्ञान के प्रति, अपरोक्ष प्रतीति के प्रति, कारण एकमात्र परमेश्वर की दया है। दया तब होती है जब उसके लिये सततयुक्त प्रीतिपूर्वक भजन किया जाता है। तभी वह बुद्धि तैयार होती है कि दया उसके ऊपर प्रकट हो सके। शास्त्रीय भाषा में कहो तो अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति जड होने से अज्ञान का नाश नहीं कर सकती। अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति में ब्रह्म प्रतिबिम्बित होकर ही अज्ञान को नष्ट कर सकता है। चूंकि ब्रह्म खुद ही प्रतिबिम्बित होकर नष्ट करता है इसलिये अज्ञान का नाशक ब्रह्म ही है।

एक और पारिभाषिक प्रश्न उठता है कि ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिबिम्ब पड़ता है, या नहीं? आचार्यो ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्मज्ञान-स्थल में वृत्तिव्याप्ति ही है, फलव्याप्ति नहीं। असली बात है कि जिस प्रकार से धूप में बैठे हुऐ हो, वहाँ एक पाँच नम्बर का लट्टू जल रहा है, या पाँच सौ नम्बर का जल रहा है, कोई फ़र्क नहीं पड़ता! लट्टू तो निश्चित जल रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं है, लेकिन *उससे* कोई अंधेरा वहाँ मिट नहीं रहा क्योंकि धूप खिली होने से वहाँ अंधेरा है ही नहीं। लट्टू जलता है तो अंधेरा नष्ट *हो सकता* है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन वहाँ अंधेरा है ही नहीं तो, लट्टू का प्रकाश क्या नष्ट करेगा! इसी प्रकार से वृत्ति बनेगी तो उसके अंदर प्रतिबिम्ब पड़ेगा,

लेकिन जिस ब्रह्म को वह प्रकाशित करता वह स्वयम् ही असीम ज्ञानरूप है, अतः प्रतिबिम्ब के करने लायक कोई कृत्य नहीं है। जैसे करोड़ों सूर्यों का प्रकाश जहाँ पहले से ही मौजूद है वहाँ पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी बेकार है, कोई काम करता नहीं, इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिबिम्बत चेतन कुछ कर नहीं पाता, इसी दृष्टि से कहा जाता है कि फलव्याप्ति नहीं है अर्थात् *उससे* वह प्रकाशित नहीं होता, वह स्वयं ही अपने अंधकार को नष्ट कर देता है।

मैं परमेश्वर किसे नष्ट करता हूँ? 'अज्ञानजं तमः।' एकता का जो अज्ञान है, अखण्डता का जो अज्ञान है, उससे होने वाला जो तम है अर्थात् मोहान्धकार है, उसे नष्ट करता हूँ। मोह के अन्धकार का सारा क्रम समझ लेना; अज्ञान समेत उससे जो कुछ उत्पन्न हुआ वह सब नष्ट करता हूँ। अज्ञान से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वहाँ से चल कर ठेठ पृथ्वी तक सब एक के बाद एक पैदा होते रहे, उन सबका पंचीकरण हो गया, इंद्रियाँ बन गईं, यह सब किस से हुआ? अज्ञान से। होता वैसे ही है जैसे सोमशर्मा की कथा है : भिक्षा माँगने गया तो किसी सोम शर्मा को सत्तू ज़्यादा मिल गया। जितना खाना था, खा लिया। बाकी लाकर किसी के बारामदे में एक खूँटी पर पोटली में बाँधकर टाँग दिया। स्वयं का घर तो था नहीं, किसी के घर के बाहर बरामदे में सो जाया करता था। लेट गया तो ख्वाब देखने लगाः आज सत्तू खूब मिला है। अगर शाम के समय इसको बाजार में बेच दूँगा तो दो-तीन कौड़ी मिल जायेंगी। कल भी खाने को तो भीख मिल ही जायेगी। इन दो-तीन कौड़ियों से थोड़ा चना लेकर बाजार में बेच दूँगा तो दो आने मिल जायेंगे। फिर परसों दो आने से कुछ मुड़ी (मुरमुरा) ले लूँगा तो चार आने मिल जायेंगे पड़ा हुआ यों सोच रहा था बरामदे में। आगे सोचा की ज़रा पैसे हो जायेंगे तो दुकान बना लूँगा। मेरी दुकान हो जायेगी तो लोग मुझे लड़की दे देंगे तो ब्याह हो जायेगा, बच्चे हो जायेंगे। दुकान में काम कर रहा होऊँगा और बच्चे शोर मचायेंगे तो मैं मारूँगा एक लात, 'जाओ यहाँ से, काम करने दो'। यह सोचते हुये उसने जो लात मारी वह सत्तू की पोटली में लगी और सारा सत्तू नाली में गिर गया! बेचारा बड़े ज़ोर से रोने लगा। दूसरे जितने उसके साथी भिखारी थे वे आकर पूछने लगे 'क्या हो गया? इतना क्यों रो रहा है, आज तो सत्तू भी अच्छा मिल गया था?' उसने नाली में पड़े सत्तू को दिखाकर कहा 'सब नष्ट हो गया!' उन्होंने कहा 'अरे, खा तो चुका था, इतना-सा सत्तू गया तो रोने की बात क्या है?' कहने लगा, 'मैं सत्तू को थोड़े ही रो रहा हूँ! मेरी दुकान गई, घरवाली गई, सब कुछ चला गया।' जैसे यह ख्वाब था, वैसे ही अज्ञान से आकाश दीखा, आकाश से वायु आदि क्रम से पृथ्वी दीखी। बड़े-बड़े शहर दीखे। मोटरें घूमती हुई दीख गईं, उन मोटरों के अन्दर मोह हो गया कि 'मेरी मर्सिडीज़ गाड़ी बढ़िया है।' किस की गाड़ी है! किस का क्या है! मिथ्या प्रतीति मात्र ही जिसका लक्षण है, ऐसा यह मोह अंधकार है। थोड़ा-सा भी विचार करो

तो झट से समझ में आ जाता है कि मोहान्धकार है, इसमें तथ्य कुछ नहीं है।

इसे समझाने के लिये भगवान् ने दो चीज़ें बहुत बढ़िया बनाई - एक तो तीन अवस्थाएँ और दूसरा, जन्म-मृत्यु का प्रवाह। जाग्रत् का धन स्वप्न में काम नहीं आता है। अगर सच्चा होता तो किसी भी अवस्था में बना रहना चाहिए। तुम्हारे पास सोना है, तो तुम संसार में किसी भी देश में जाओ, बेच सकते हो। तुम्हारे पास पाँच सौ रुपये का नोट है, तो तुम भारत से अन्यत्र जाकर उससे कुछ नहीं खरीद सकते। इसलिये लोग नोट देकर सोना खरीदते हैं। सोना आज भी मूल्यवान् है, दस साल बाद भी रहेगा। नोट ऐसा नहीं, क्योंकि सच्चा धन नहीं है। इसी प्रकार से जाग्रत् की कोई चीज़ स्वप्न के काम की नहीं और स्वप्न की कोई चीज़ जाग्रत् के काम की नहीं। दोनों जगह मैं तो एक ही हूँ। मुझ में कोई फ़र्क आता नहीं। और जब मैं गहरी नींद में चला जाता हूँ तब न जाग्रत् रहता है, न स्वप्न रहता है, दोनों ही नहीं हैं। इस प्रकार तीन अवस्थाओं के द्वारा भगवान् ने हमारे सामने अपने को जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति से अलग करके दिखा दिया।

दूसरा प्रश्न लोग उठाते रहते हैं कि स्वप्न से तो हम घंटे-आधे घंटे में उठ जाते हैं, फिर स्वप्न की चीज़ तो कभी सामने नहीं आती, पर जाग्रत् की चीज़ें ठीक है कि स्वप्न में अनुभव में नहीं आती हैं, परन्तु जब हम वापिस जाग्रत् में आते हैं, तब चीज़ें ऐसी की ऐसी मिलती हैं। अतः जाग्रत् को स्वप्न की तरह सर्वथा मिथ्या कैसे मान लें? इसलिये भगवान् ने दूसरी सुन्दर चीज़ दी - जन्म-मृत्यु का प्रवाह। यह मोटर, यह मकान, यह घरवाली, ये गहने, जाग्रत् में तुम्हारे हैं और सौ साल जब तक पूरे होंगे तब तक तुम्हारे रहेंगे, पर यहाँ से जाओगे तो क्या बाँध कर ले जाओगे? घरवाली को ले जाओगे? घरवाली के गहने ले जाओगे? कुछ भी तो यहाँ से लेकर नहीं जा सकोगे। और क्या ये तुमको फिर कभी दीखेंगे? हम कम-से-कम हज़ार आदमियों को जानते हैं जिनके पिता उनसे बहुत प्रेम करते थे। कहते थे, 'बच्चों के बिना मैं रह ही नहीं सकता। मेरे बच्चे बहुत ही अच्छे हैं।' फिर मर गये। किसी को मरे बीस साल हो गये, किसी को पन्द्रह साल हो गये, किसी को दस साल हो गये। आज तक किसी के पास, पाँच पैसे का पोस्टकार्ड तक नहीं आया कि 'बेटा मैं तो ठीक हूँ, तुम लोग कैसे हो?' अतः जैसे स्वप्न शीघ्र मिटकर पुनः सामने नहीं आता वैसे जाग्रत् के पदार्थ कुछ लम्बे समय के लिये दीखकर जैसे ही मृत्यु का क्षण आता है उसके बाद कुछ नहीं रहते। इसलिये संसार को है समझना, संसार के ही एक अंश शरीर-मन को मैं और मेरा समझना, यही मोह है। जैसे ही विचार करते हैं वैसे ही इसकी सिद्धि हो जाती है, कि ये सब कुछ सच्चे नहीं हैं।

यद्यपि भगवान् ने अवस्थात्रय और मृत्यु देकर विवेक का अत्यंत सुन्दर मौका दे रखा है तथापि अज्ञान का ऐसा प्रभाव है कि इनके बारे में सोचने ही नहीं देता। मृत्यु

की चर्चा को ही लोग अमंगल मानते हैं, स्वप्न के बारे में भी प्रसिद्ध कर रखा है कि अमुक स्वप्न का अमुक फल होता है, अर्थात् स्वप्न को भी जाग्रत् से जोड़ रखा है, ताकि उसका सर्वथा बाध्य रूप न रह जाये, उसमें भी कोई सत्यांश प्रतीत हो जाये। ऐसे ही वेद ने जो सृष्टि-प्रक्रिया कही है, संसार को मिथ्या व एकमात्र परमात्मा की व्यापकता को बताने के लिये, उसी प्रक्रिया से लोग संसार को सत्य सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि शास्त्र ने कहा है कि आकाश से वायु उत्पन्न हुआ तो ज़रूर हुआ! भगवान् कह रहे हैं कि वे ही कृपा कर अज्ञान के इस सारे मोहजाल को नष्ट कर देते हैं। कहाँ रहकर नष्ट करते हैं? 'आत्मभावस्थः', अन्तःकरण में स्थित होकर। जो सतत युक्त प्रीतिपूर्वक भजन कर चुका है, उस अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर अज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

कैसे नष्ट करते हैं इसे भगवान् एक दृष्टांत से स्पष्ट करते हैंः 'भास्वता ज्ञानदीपेन', जिस प्रकार से अन्धकार को अत्यन्त तेजस्वी दीपक नष्ट कर देता है। तेजस्वी दीपक आते ही अन्धकार चला जाता है, कुछ पता नहीं लगता कि कहाँ गया। कोई ठिकाना पता लगता है जहाँ गया हो अंधेरा? इसी प्रकार से आचार्य शंकर लिखते हैं कि ज्ञान होने पर लगता है कि अभी-अभी यह जगत् था और अब अचानक ही रह नहीं गया! कहाँ गया? कौन ले गया?

'क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनम् इदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महद् अद्भुतम्।।'

इसकी कोई भस्मी भी बची नहीं रहती, सारा का सारा खत्म हो जाता है। जैसे अन्धकार का कोई लवलेश रहता नहीं वैसे ही इस मोहान्धकार का लवलेश रहता नहीं। दीपक बहुत छोटा हो तो थोड़ी-सी रोशनी देगा जो अत्यंत छोटे-मोटे किसी काम में सहायता देगी, पर ज़्यादातर व्यवहार के लिये बेकार है। इसी प्रकार से जब तक ज्ञान प्रतिबद्ध रहता है तब तक भी वह ज्ञान दीपक है, इसमें कोई सन्देह नहीं; जिस क्षण तुम्हारे विचार की पूर्ण तीव्रता होती है, उस समय तुमको सत्य प्रतीत भी हो जायेगा, पर वह ज्ञान अज्ञान के अन्धकार को नष्ट नहीं करता। इसलिये कह दिया 'भास्वता ज्ञानदीपेन', अत्यंत दीप्तिमान् जो ज्ञान है, विवेक-प्रत्यय है, उसके द्वारा ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। ज्ञान दीपक जलाने का तरीका भाष्यकार ने समझाया है। भगवान् ने इसको खोला इसलिये नहीं था कि 'सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्' इत्यादि के द्वारा तुम्हारा दीपक तैयार होगा तो भास्वान् ज्ञानदीप जल ही जायेगा। लेकिन हम लोग जल्दी समझ नहीं पाते इसलिये आचार्य ने ज़रा स्पष्ट किया। दीपक में तेल होता है; 'भक्तिप्रसादस्नेहाभिषिक्तेन', भक्ति का जो प्रसाद अर्थात् अनुग्रह है, वही ज्ञानदीप के लिये तेल है। किंतु ऐसी भक्ति जिसके अन्दर कहीं किसी प्रकार की अर्थ काम आदि की इच्छा का लेश नहीं रहता है, ऐसा प्रेम जिसमें और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है,

उसी भक्ति से जो भगवान् का अनुग्रह प्राप्त होता है वही तेल है। यदि ज्ञानदीप जलाना चाहते हो तो ऐसा तेल होना चाहिए। जब तक हवा नहीं होवे तब तक दीपक नहीं जलता है। बिना वायु के दीपक नहीं जलता है। अगर तुम ऐसी जगह दीपक जलाना चाहो जहाँ ऑक्सीजन नहीं है तो नहीं जलेगा। सच्चिदानंद परमेश्वर की भावना का अभिनिवेश, आग्रह ही यहाँ वायु है। सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा ही एकमात्र उपादाननिमित्त कारण है। इस भावना का अभिनिवेश रखना है। परमात्मा कारण है, इतना तो सब मान लेते हैं, किन्तु वही एकमात्र कारण है, उससे अतिरिक्त कोई कारण है ही नहीं - यह स्वीकारने के लिये भक्ति की, विवेक की अत्यंत दृढता चाहिये। जब तक तत्त्वज्ञान दृढ नहीं होता, तब तक अन्य कारणों की प्रतीति होती है। भूख लगी, रोटी खाई, भूख मिटी; तो रोटी से भूख मिटती है - ऐसी प्रतीति होती है। उक्त अभिनिवेश वाला कहता है कि परमात्मा ही रोटीरूप से मेरी भूख को मिटाते हैं। उनके सिवाय और कोई कारण नहीं। स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है, पर अभिनिवेश रखना पड़ता है। क्योंकि अन्य-कारणता जहाँ स्वीकारी वहाँ सततयुक्तता खण्डित हो जायेगी। इसीलिये उपनिषदों में अज्ञान से आकाश आदि की सारी उत्पत्ति का जो क्रम है, वह यही बतलाने के लिये है कि चावल का दाना भी परमात्मा ही है। व्यवहार के अन्दर जो हम लोगों को अन्यत्र कारणता की प्रतीति होती है, उसे हटाने के लिये अभिनिवेश करना पड़ता है, कि और कोई नहीं, केवल परमात्मा ही कारण है।

दीपक के लिए बत्ती भी होनी चाहिये। यहाँ बत्ती की जगह तुम्हारी बुद्धि है। 'ब्रह्मचर्यादिसाधनसंस्कारवत्प्रज्ञावर्तिना'। जैसे तुम रुई को बट कर एकाग्र करते हो एक बिन्दु पर और उसके ऊपर हल्के हाथ से राख, कपूर भी लगाते हो, वैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शौच, संतोष, इन सब साधनों के पुनः पुनः अभ्यास से इनके संस्कारों वाली बनी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि ही यहाँ वर्ती, बत्ती है। जैसे रुई बटनी पड़ती है, वैसे चान्द्रायण, पंचाग्नि आदि तपस्याओं का अभ्यास बुद्धि को इस लायक बनाने के लिये ही है कि ज्ञानदीप प्रज्वलित हो जाये। जब बत्ती तैयार है, तेल तैयार है, तब एक दिया, दिवोटिया भी चाहिये जिसके अन्दर तुम तेल डाल के उसमें बत्ती लगाकर रखो। 'विरक्तान्तःकरणाधारेण' जो विरक्त अन्तःकरण है वही यहाँ आधार है। बुद्धि ही बत्ती है, बुद्धि ही दिवोटिया है। प्राचीन काल में रुई को थोड़े से आटे के साथ मिलाकर उसी का दिया बना लेते थे। इसी प्रकार यहाँ बत्ती भी बुद्धि है, और दीपक भी अन्तःकरण या बुद्धि ही है। सारी तैयारी होने पर जलाने के लिये क्या करते हो? कभी देखा होगा लोगों को बीड़ी पीते हुऐ; पहले चारों तरफ से हथेली से घेर लेते हैं, फिर दियासलाई लगाते हैं ताकि हवा से बुझे नहीं। 'विषयव्यावृत्तचित्तरागद्वेषाकलुषितनिवातापवारकस्थेन' विषयों से व्यावृत्त और रागादि से अकलुषित जो चित्त वही उस घिरी जगह की तरह है जहाँ ज्ञानदीप जलेगा। विषयों से व्यावृत्त, अर्थात् विषयों की तरफ जो सर्वथा नहीं

जा रहा। जिस समय ब्रह्माकार वृत्ति बनती है, उस समय में किंचित् भी अन्यत्र वृत्ति चली गई, तो एकाकार नहीं हो पायेंगे। कोई-कोई कहते हैं कि 'हमें चरखा कातते-कातते ही ध्यान हो जाता है।' या चरखा कातना रुक जायेगा, या ध्यान की गम्भीरता नहीं हो पायेगी। इसलिये जिस समय तुम ज्ञानदीप को तैयार करके जलाने जा रहे हो उस समय चित्त विषयों से व्यावृत्त कर ही देना पड़ेगा। यदि विषयों की उपस्थिति किंचित् भी रह गई तो ज्ञान को नहीं होने देगी। रामकृष्ण परमहंस के जीवन में यहाँ तक आता हैः उन्होंने बहुत भक्ति की थी। जब उनके गुरुजी, तोतापुरी जी ने उपदेश दिया और कहा कि 'अब यह वृत्ति बना कर बैठ', तो थोड़ी देर में रामकृष्ण कहने लगे, 'मुझसे नहीं होता।' उन्होंने पूछा 'क्या याद आता है?' वे बोले 'बाकी सब जगह से तो मन हट जाता है, देवी जी सामने आ जाती हैं।' गुरु जी बोले 'नहीं-नहीं, उसको भी हटा दे।' एक-दो बार प्रयास करके परमहंस ने कहा 'वह नहीं हटती। बार-बार देवी जी आ जाती हैं।' तोतापुरी पंजाबी थे, बड़े गुस्सैल थे। उन्होंने रामकृष्ण के भ्रूमध्य में काँच ठोक दिया और कह दिया कि 'सच्चिदानंद निर्विषय है। देवी में सच्चिदानंद के साथ नाम-रूप भी है। विवेक की तलवार से नाम-रूपको काट कर अलग कर दे।' ऐसा जब अभ्यास किया तब समाधि में स्थित हो गये। चाहे कितना दिव्य या शुद्ध विषय हो, विषय से व्यावृत्ति नहीं होगी तो वहीं भटक जाओगे। चित्त को इधर-उधर बहाने वाली हवा को रोक देना पड़ता है, और यह क्षण-दो क्षण का काम नहीं है, बैठ कर बिलकुल स्थिररूप से करना पड़ता है। तब 'नित्यप्रवृत्तैकाग्र्यध्यानजनितसम्यग्दर्शनभास्वता ज्ञानदीपेन' हमेशा कायम रखी एकाग्रता पूर्वक ध्यान से सम्यग्दर्शन पैदा होता है। यह ज्ञानदीप है जिससे अज्ञानजन्य तम नष्ट होता है। अतः भगवान् ने कहा कि ये सब साधन होते हैं, तब ज्ञानदीप द्वारा मैं उनके अन्तःकरण में स्थित होकर अज्ञानतम को नष्ट कर देता हूँ।।११।।

श्रेष्ठ उपासक के लिये तो इतने साधन बताने से काम हो जायेगा, परन्तु जो मंद, मध्यम उपासक हैं वे अभी सतत युक्त हो नहीं सकते, क्योंकि उनके मन में कुछ कामनायें भी होती हैं, सारी कामनाओं से रहित नहीं होते अतः भक्ति की पूर्णता भी नहीं होती; उनके लिये क्या साधन है - यह पूछने की इच्छा से अर्जुन आगे प्रसंग उठाता है-

अर्जुन उवाच-

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।। १२।।

आहुस्त्वाम् ऋषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। १३।।

अर्जुन ने कहा- आप परमात्मा हैं, सर्वोत्तम तेज हैं, अत्यन्त शुद्ध व कूटस्थ हैं। सारे ऋषि आपको प्रपंच से अतीत, सर्वकारण, स्वप्रकाश, अजन्मा, व्यापक, सनातन पुरुष कहते हैं। देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास भी यही कहते हैं। और खुद आप भी मुझे यही समझा रहे हैं।

मन्द-मध्यम अधिकारी द्वारा उपासनीय विभूतियाँ जानने के लिये अर्जुन भगवान् को प्रसन्न करने वाले वचनों से बता रहा है कि आपने जैसा कहा वैसा मैं तो समझ लेता हूँ, परन्तु अन्य अधिकारियों के लिये मेरा प्रश्न है।

'परं ब्रह्म भवान्' आप परब्रह्म हैं। ब्रह्म की वास्तविकता तो हमेशा ही मैं के रूप में प्रतीत होगी, मैं - इस प्रतीति का विषय ही ब्रह्म होता है, इदम्-प्रतीति का विषय नहीं होता है। किन्तु जब तक तत्-त्वम् पदार्थों का पूर्ण शोधन नहीं हो जाता तब तक 'अहं ब्रह्म' बोध नहीं हो पाता, ब्रह्म में पराक्-रूपता लगती है इसलिये 'भवान् ब्रह्म' कहा कि आप ब्रह्म हैं। इस स्थिति में ब्रह्म में अस्मत् प्रतीति का आरोप करना पड़ता है। अस्मत् प्रतीति के साथ जो उपासना की जाती है, वह परमेश्वर को सर्वाधिक प्रिय है, परन्तु वह सब के लिये सम्भव नहीं हो पाती है। इस बात को जानते हुये 'भवान्' कहा कि 'आप परमेश्वर होने से अन्तःकरण में, हृदय के अन्दर ही निवास करने वाले हैं। फिर भी मैं आपको अपने से अलग समझकर उपासना कर पा रहा हूँ।' अनेक ध्यानों के अन्दर परमेश्वर को अपने हृदय में बैठा समझने को कहते हैं। कई बार उपासक प्रश्न करते हैं कि हृदय में परमेश्वर बैठे हैं तो हम कहाँ हैं? अपने को बाहर देखना पड़ेगा ! अपने को अपने ही हृदय से बाहर देखना, प्रारम्भ में बड़ा कठिन होता है। शरीर में कोई और बैठा हुआ है - ठीक-ठीक इसका चिन्तन करने जाओ तो बिजली का झटका-सा लगता है। देहरादून में एक सज्जन का मकान था, ताला बन्द करके वह दो महीने के लिये कहीं घूमने चला गया। किसी बदमाश ने किसी ग्राहक को समझा दिया कि वह उसी का मकान है, और बेच दिया! जब वह दो महीने के बाद आया तो उसने देखा कि अन्दर में कोई आदमी-औरत बैठे हुऐ हैं। उसने पूछा 'तुम कौन हो?' वे बोले 'तुम कौन हो? हम लोगों ने तो मकान खरीदा है। हम यहाँ के वाशिंदे हैं।' उसने कहा 'अरे! मकान मेरा, तुमने कैसे खरीदा! तुम्हारा कहाँ से हो गया मकान!' उस बेचारे को कहीं अन्यत्र जाकर रहना पड़ा। मुकदमा हुआ, कई सालों के बाद मकान फिर खाली हो पाया। जैसे उस मकान के अन्दर दूसरे लोगों को बैठा देखकर उसको बड़ा झटका लगा, ऐसे ही अपने शरीर में कोई और बैठा हुआ है यह देखने से बिजली का - सा झटका लगता है। धीरे-धीरे जब आदमी इस साधना को करता रहता है, तो इसमें बैठे हुये परमेश्वर के प्रति अस्मत्-बुद्धि बनती चली जाती है, और इस शरीर आदि के प्रति होने वाली अस्मत्-बुद्धि हटती चली जाती है। 'परं ब्रह्म'; जीव भी प्रतिबिम्बरूप से तो ब्रह्म है, परन्तु परमेश्वर साक्षात् ही ब्रह्म है। जैसे दर्पण में भी सूर्य है,

प्रतिबिम्बरूप से वह भी चका-चौंध पैदा करता है, प्रकाश देता है, परन्तु आकाश में जो है वही साक्षात् सूर्य है। ऐसे जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण ब्रह्म है, पर उपाधि को लेकर है। और परमेश्वर प्रतिबिम्ब होने से नहीं, स्वरूप से ही ब्रह्म है। अन्तःकरण की उपाधि होने पर तो जीवरूप से ब्रह्म की प्रतीति है, परन्तु अन्तःकरण का कारण मूलाज्ञान जब नष्ट हो जाता है, तब जो है, वह साक्षात् परमेश्वर है। इसलिये जीवरूप से वैलक्षण्य बताने के लिये केवल 'ब्रह्म' नहीं कह कर 'परं ब्रह्म' कहा।

'परं धाम', धाम का एक अर्थ होता है, जहाँ रहा जाता है। जैसे किसी से पूछते हैं 'आपका नाम-धाम क्या है?' जिसको आजकल के लोग पता-ठिकाना (एड्रेस) कहते हैं, वह धाम है। एकमात्र परमेश्वर ही सबका अंतिम ठिकाना है। बाकी जितने ठिकाने हैं वे सब तात्कालिक हैं, अस्थायी हैं। मकान का ठिकाना लोग बतला देते हैं, कि मेरा यह पक्का ठिकाना है। थोड़े दिनों में मकान बेच देते हैं। दूसरा ठिकाना हो जाता है। पक्का कहाँ रहा? अगर शरीर को ठिकाना कहो, तो शरीर भी सौ साल में छोड़ कर चले जाते हो? वहाँ भी तुम्हारा कुछ अता-पता नहीं लगता। अगर अन्तःकरण को ठिकाना कह दो तब भी काम नहीं बनेगा। गहरी नींद में वह अन्तःकरण नहीं रहता। महाप्रलय में भी अन्तःकरण नहीं रहता। हमेशा कहाँ रहते हो? मैं - इस अनुभव में भासमान जो चेतन है, वही तुम्हारा वास्तविक निवास है। क्षणमात्र के लिये भी उस चेतन-स्वरूप में कमी नहीं आती। अतः बाकी जितने भी धाम हैं वे अपर धाम हैं, और यह परम धाम है, क्योंकि यहाँ से कभी भी कहीं जाना ही नहीं होता, हमेशा ही चेतन बना रहता है। अनादि काल से हम लोग खूब कोशिश कर रहे हैं जड बनने की, कोशिश कर रहे है कि अहंकारात्मिका वृत्ति मैं हूँ। जैसे सूक्ष्म शरीर, वैसे ही स्थूल शरीर बनने की भी कोशिश करते हैं। छाती ठोक कर कहते हैं 'यह मैं हूँ'। अहम्-इत्याकार वृत्ति से लेकर देह पर्यन्त उपाधियों से एकता बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भी कभी क्षणमात्र को भी चेतनभाव छोड़ नहीं पाते! और हम लोगों के दुःख का यह एक बड़ा कारण है। उपाधियाँ अनात्मा हैं, अपने नियमों से, संस्कारों से चलेंगी। इनका चलना अनुकूल होगा तो तुम खुद को सुधरा समझकर खुश हो जाओगे, इनमें प्रतिकूलता आयी तो स्वयं को बिगड़ा मानकर दुःखी हो जाओगे। ये मायिक होने से कभी हमेशा सुधरे रह नहीं सकते, इनमें मायिक, माया के दोष रहेंगे ही। इनसे तादात्म्य रखोगे तो हमेशा दुःखी बने रहना पड़ेगा। वस्तुतः तुम कभी इनसे एक नहीं हो सकते क्योंकि तुम चेतन हो, जड नहीं हो सकते। जो यह मानेगा कि 'शरीर ठीक होगा तब मैं ठीक होऊँगा, मन ठीक होगा तब मैं ठीक होऊँगा, बुद्धि ठीक होगी तो मैं ठीक होऊँगा;' उसकी हमेशा समस्या रहेगी, हमेशा दुःखी होता रहेगा। जब तुम जान लेते हो 'मैं चेतन हूँ, इनसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है,' तब तुम अपने परम धाम को पहुँच जाओगे। अतः अर्जुन कहता है, 'भगवन् आप ही परम धाम हैं।'

धाम का दूसरा अर्थ होता है प्रकाश, तेज। बाकी जितने प्रकाश हैं वे किसी अन्य से प्रकाशित होते हैं। किताब प्रकाशित होती है सूर्य-प्रकाश से। सूर्य प्रकाशित होता है आँख के प्रकाश से। किसी अन्धे आदमी के लिये जेठ के बारह बजे भी प्रकाश नहीं है! जब तक आँख नहीं होगी तब तक सूर्य का प्रकाश भी अन्धकार ही रहेगा। आँख का प्रकाश भी अपेक्षा रखता है अन्तःकरण के प्रकाश की, मन के प्रकाश की। मन के द्वारा ही आँख का प्रकाश प्रकाशित होता है, जाना जाता है। आगे मन की वृत्ति का, बुद्धि की वृत्ति का प्रकाश करने वाला तो परमेश्वर ही है। उसको कौन प्रकाशित करे! ब्रह्म को कौन जानता है? इस प्रश्न का वेद में स्पष्ट जवाब है : ब्रह्म को कोई नहीं जानता। ब्रह्म को ब्रह्म ही जानता है। जब तक ब्रह्म नहीं होवोगे तब तक ब्रह्म को जानोगे नहीं। उसका कोई प्रकाशक नहीं । वह जानने वाला है, कभी जाना नहीं जाता। इसलिये कहा 'परम धाम आप परम तेज हैं'। आगे भगवान् पन्द्रहवें अध्याय में बतलायेंगे कि सूर्य चन्द्रमा आदि सबको वे प्रकाशित करते हैं। सचमुच में, वे ही सबको प्रकाशित करते हैं, और कोई दूसरा प्रकाश करने वाला नहीं है। दोनों ही अर्थ 'परं धाम' के समझ लेना।

'पवित्रं'; जिसके रहने मात्र से सब कुछ पावन कहा जाता है, वही सचमुच में पवित्र है। जैसे जिस चीनी के पड़ने से सारी मिठाइयाँ मीठी होती हैं, वह चीनी ही वस्तुतः मीठी है, दूसरे तो उसके स्पर्श से मीठे हैं, इसी प्रकार गंगा, यमुना आदि नदियाँ, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ, ऋषि मुनि आदि सब पवित्र तभी होते हैं जब परमात्मा से सम्बन्धित हैं। पत्थर के अन्दर जब कारीगर ने शंख, चक्र, गदा, पद्म बना दिये, विष्णु-मूर्ति हो गई, तब पत्थर पवित्र हो गया। उसको धोकर उस पानी को छिड़क लो तो पवित्र हो जाते हो। दूसरा भी पत्थर रखा हुआ है, वह क्यों नहीं पवित्र समझा जाता है? क्योंकि उसका भगवान् विष्णु से सम्बंध नहीं हुआ। माता की वन्दना करते हैं। वह पवित्र है कब तक? जब तक उसका परमात्मा से सम्बन्ध है। जैसे ही वह सम्बन्ध गया, वैसे ही कहते हैं, 'इसकी मिट्टी को रास्ते लगाओ।' जिसको इतना पूज्य मानते थे कि अगर कभी मुँह से उसके लिये तुकारा निकल जाये तो प्रायश्चित्त करना पड़ता था, उसी माता के कपाल का भेदन करने का विधान है। क्यों? क्योंकि वह जो पवित्र करने वाली चीज़ थी वह चली गयी। परमात्मा ही सर्वत्र पवित्रता का हेतु है अतः वही परम पवित्र है।

'परमं पुरुषम्;' आप परम पुरुष हैं। पुरुष उसको कहते हैं जो पूर्ण होता है। जिसकी पूर्णता सापेक्ष है, वह पुरुष तो है परन्तु परम पुरुष नहीं है। ऋषि, महर्षि, देवऋषि जितने भी हैं, सारे के सारे पूर्ण किसको लेकर हुये? परमेश्वर को ही प्राप्त करके पूर्ण हुए। अतः उनको सापेक्ष पुरुष कह सकते हैं। और जिसको प्राप्त करके ये पुरुष बने, वह परम पुरुष है।

'शाश्वतं' हमेशा एक जैसे हैं, किसी प्रकार का विकार कभी आप में आता ही नहीं। अनन्त काल से अनन्त सृष्टियाँ आपके अन्दर उत्पन्न हुई, लीन हुई, पर आप में किसी प्रकार का किसी से सम्बन्ध नहीं हुआ; आप में कोई परिवर्तन हो गया हो, ऐसा नहीं हुआ। जैसा भगवान् भाष्यकार कहते हैं, चाहे सैकड़ों वर्षों तक रेगिस्तान के अन्दर जल दीखता रहे, परन्तु क्या सैकड़ों साल दीखा वह जल वहाँ की बालू के एक कण को भी गीला करता है? ठीक इसी प्रकार अनादि काल से न जाने कितने शरीर आदि और उनके कितने विकार आदि मुझ आत्मतत्त्व में होते रहे, परन्तु क्या वे मुझे कुछ परिवर्तित कर पाये! हम तो वैसे के वैसे हैं। अनादि काल से न जाने हमने कितने पाप किये, परमेश्वर को प्रणाम तक नहीं किया। एक आचार्य कहते हैं, 'हमने इसके पहले परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति नहीं की इसमें मेरा शरीर पैदा होना ही प्रमाण है। जन्म लिया, इससे यह सिद्ध होता है कि इसके पहले कभी भी भगवान् की तरफ मैं गया ही नहीं, प्रणाम किया ही नहीं। इतना ही नहीं, यह निश्चित है कि भगवान् की तरफ आ गया, भगवान् को प्रणाम कर लिया तो आगे भी कभी जन्म होगा नहीं। इस प्रकार इस शरीर के पहले किसी शरीर में भगवान् को प्रणाम नहीं किया और इस शरीर के बाद शरीर होगा ही नहीं तो फिर कभी प्रणाम नहीं कर सकूँगा - इन दोनों ही अपराधों के लिये क्षमा-याचना करता हूँ'। इस प्रकार पूर्व जन्मों में असंख्य अपराधों से क्या आत्मतत्त्व कुछ मलिन हो गया? नहीं । यह तो ऐसा शाश्वत तत्त्व है, जिसमें कभी क्षणिक विकार भी आता ही नहीं।

'दिव्यम्'; आप हमेशा अप्राकृत ही रहते हैं। जिस समय आप प्राकृत दीख रहे हैं, उस समय भी आप प्राकृत होते नहीं। जैसे रस्सी साँप दीखते हुये भी साँप होती नहीं ऐसे ही यहाँ आप प्राकृत दीख रहे हैं। प्रकृति के विकार आप में दीख रहे हैं। आपका रूप भी दीख रहा है। आप में रस भी है, गन्ध भी है, आपका धीर गम्भीर शब्द सुनाई दे रहा है, स्पर्श भी है, प्रकृति की सारी चीज़ें आप में दीख रही हैं। परन्तु ये सब दीखने पर भी आप दिव्य अप्राकृत, प्रकृति से अतीत ही हैं। इसमें शाश्वतत्व को हेतु भी समझ लेना; निर्विकार होने से ही दिव्य बने रहते हैं। सारे विकारों की आप में प्रतीति होने पर भी किसी प्रकार से आप विकृत होते नहीं। 'आदिदेवम्' आप सबका मूल होने से आदि तथा स्वयंप्रकाश होने से देव हैं। किंच आप ही सब देवताओं के आदि अर्थात् कारण भी हैं। भगवान् खुद कह आये हैं, 'मैं ही अपने स्वरूप को जानता हूँ, क्योंकि देवता ऋषि इत्यादि सब तो मेरे बाद पैदा हुये।' 'अजम्' सबका आदिकारण स्वयं तो जन्मरहित होगा ही। जो सब का बाप है, अगर वह किसी से पैदा हो जाये, तो *सब* का बाप नहीं हो सकता; इसलिये अर्जुन ने कहा कि आप कारणरूप हैं, कारण से रहित हैं। बाकी सब को तो आपने पैदा किया परन्तु आप कभी पैदा हुये नहीं। भगवान् की जन्म-कथा में आता है, कि देवकी ने जब पैदा किया उस समय वहाँ चतुर्भुजी मूर्ति

दीखी और वसुदेव आदि ने प्रार्थना की कि 'अब आप बच्चे की तरह दीख जाइये'। इसके द्वारा पता लग जाता है कि हम जिस का जन्म मना रहे हैं वह अज है। वसुदेव की प्रार्थना पर बालकरूप हैं, अन्यथा तो पूर्व से स्थित हैं ही।

'विभुम्' भाष्यकार लिखते हैं, 'विभुं विभवनशीलम्'; विभु का सीधा अर्थ है व्यापक। कभी तेज़ प्रकाश में किसी बहुत बढ़िया हीरे को देखो तो एक क्षण ऐसा नहीं रहता कि एक जैसा प्रकाश दीखे। वही हीरा है, हीरे में कुछ फ़र्क नहीं पड़ रहा है, पर देखने वाले को उसमें निरन्तर बदलते हुये रंगों की प्रतीति होती है। ठीक उसी प्रकार से परमेश्वर बिल्कुल एक जैसा बना रहता है, और देखने वालों को अनादि काल से सृष्टि के अनंत दृश्य वहाँ दीख रहे हैं। महर्षि वशिष्ठ ने इसी लिये उनको एक बृहत् शिला कहा। अखंड शिला के ऊपर अनंत रूप खोद दिये जाते हैं। कभी जाकर देखो घुष्मेश्वर में, एलोरा में, वहाँ जो कैलास मंदिर है, वह एक ही पत्थर से बना है। सीढ़ी, बरामदे, खम्भे, गर्भगृह, शिखर, दीवारों पर मूर्तियाँ आदि सब जैसा कोई बड़ा मंदिर होता है, वैसा ही बना है, पर समूचा मंदिर एक अखंड पत्थर में ही खोदा गया है, उस शिला से अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं है। उसमें रामलीला भी खुदी हुई है। एक जना कहता है, 'देखो-देखो, यहाँ भगवती को रावण ले जा रहा है।' दूसरा कहता है कि 'राज्याभिषेक हो रहा है।' जिस दृश्य के सामने जो द्रष्टा आ गया, वही उसके लिये है। इसी प्रकार से परमात्मारूप शिला के अन्दर सारा त्रैलोक्य अंकित है। ब्रह्म के अन्दर केवल अज्ञान से संसार कल्पित है। जैसे हीरे के अन्दर कोई परिवर्तन नहीं, केवल तुम्हारे देखने से प्रतीति होती है, इसी प्रकार परमात्मा में केवल देखने से संसार प्रतीत होता है। जब भगवान् कंस के वहाँ गये तब बतलाया है कि-

'मल्लानामशनिः, नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् ।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः।।
मृत्युर्भोजपतेः, विराड् अविदुषां, तत्त्वं परं योगिनां ।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः।।'

जो बड़े-बड़े मल्ल थे, उनको लग रहा था कि बड़ा पहलवान आ गया, जो स्त्रियाँ थीं उनको लग रहा था कि अत्यंत नागर पुरुष आ गया। कंस को लग रहा था कि साक्षात् मृत्यु ही आ गई। सब लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दीख रहे थे। पर भगवान् में कोई भेद नहीं था। परमेश्वर की ऐसी व्यापकता है, व्याप्य-व्यापकभाव वाली व्यापकता नहीं है। कोई दूसरा होवे जिसमें वे व्याप्त होवें या उनमें कई छोटी चीज़ें होवें इसलिये व्यापक होवें - इस प्रकार से नहीं, वरन् अनन्त रूपों में प्रतीत होना ही उसका व्यापक स्वभाव है। बिना बदले हुये बदले हुऐ की प्रतीति होना - बस, यही उसका स्वभाव है, यही उसकी व्यापकता है।

अर्जुन अपने द्वारा किये वर्णन को साधार बताते हुये कहता है कि अब तक जिन ऋषियों को सुना-पढ़ा, सब आपके बारे में ये ही बातें कहते हैं। 'ऋषयः' की व्याख्या में भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'वसिष्ठादयः'। भगवान् वसिष्ठ ने जो उपदेश दिया, उसी को महारामायण भी कहते हैं, योगवसिष्ठ भी कहते हैं। दक्षिण में ज्ञानवशिष्ठ कहते हैं। उसके अन्दर परमात्मा के इस स्वरूप का बड़े विस्तार से वर्णन है। बाकी सब ने भी कहा है, पर जितना सुन्दर प्रतिपादन वसिष्ठ जी का है उतना दूसरों का नहीं है। वेदान्त सम्प्रदाय के अन्दर सबसे पहले आचार्य वसिष्ठ जी हैं जिनका हम स्मरण करते हैं। नारायण तो साक्षात् परमेश्वर हैं, पद्मभव ब्रह्मा जी देवता हैं। इनके बाद पहला नाम आता है वसिष्ठ का, वे ऋषि थे। इस तरह हम लोग परम्परा में स्मरण करते हैं तो प्रथम ऋषि के रूप में वसिष्ठ ही आते हैं। वसिष्ठ जी द्वारा दृष्ट ऋग्वेद में सप्तम मंडल है, उसके वशिष्ठ जी प्रधान ऋषि हैं, उसमें भी वेदान्त का विषय काफी आया है। इसलिये भी भाष्यकार ने वशिष्ठ का यहाँ ग्रहण किया। 'तथा देवर्षिर्नारदः' उसी प्रकार से देवऋषियों में नारद ने कहा है। सनत्कुमारों से नारद ने ज्ञान प्राप्त किया था। अद्वैत तत्त्व का उन्होंने सर्वत्र प्रतिपादन किया है। हो सकता था कि भगवान् अर्जुन से पूछें 'तुमको किसने सुनाया?' अतः कहता है हमारे कुलगुरु हैं असित देवल, उन्होंने भी इसी बात को बार-बार कहा कि आप ही परम ब्रह्म परम धाम हैं। (असित देवल नामक ऋषि धौम्य के अग्रज थे। 'असित देवल का विशेषण है' ऐसा महाभारत में प्रतीत होता है।) और हमारे सम्बंधी भगवान् वेदव्यास ने भी इसी बात को बार-बार कहा। ब्रह्मसूत्रों में अत्यन्त विस्तार से यह कहा है। इस तरह अद्वैत तत्त्व सब तरफ से मैंने पाया है, अतः मेरी इस पर परम श्रद्धा होना स्वाभाविक है। एक नियम है 'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'। जिस बात को तुम माता से सुनो, उसी बात को तुम पिता से सुनो, और वही तुम गुरु से सुनो तब पूरी श्रद्धा के द्वारा तुम उसका अनुभव कर सकते हो। माँ कुछ कहे, बाप कुछ अन्य कहे, गुरु उससे भी कुछ अलग कहे, तो पूरी तरह से श्रद्धा जमती नहीं। जीवन के पहले तीन साल ऐसे होते हैं जिनमें सर्वाधिक संस्कार अन्तःकरण पर पड़ते हैं। किसी भी अन्य तीन सालों में जितने संस्कार पड़ते हैं, उससे ज़्यादा पहले तीन साल में पड़ते हैं। माता से जिन बातों को सुनोगे उनके संस्कार दृढ पड़ेंगे। एक बार पड़ा हुआ संस्कार धुलता नहीं है; दब तो जाता है, पर धुलता नहीं। उसके बाद दो या तीन साल तक पिता के ऊपर अत्यंत सद्भावना होती है, पिता जो कहता है, उसे बच्चा पूर्णतः मानता है। उसके बाद बच्चा अध्यापक के पास पहुँचता है, उसे अपने अध्यापक के ऊपर पूरा भरोसा होता है। यदि माता-पिता के बताये से विपरीत भी अध्यापक कहता है तो बच्चा उसी की बात मानता है, माँ-बाप की कही बात को गलत समझने लगता है। इस प्रकार, जीवन के विभिन्न वर्षों में विभिन्न संस्कारों की दृढता होती है। यदि बचपन में भी यही संस्कार पड़े कि परमेश्वर

ही सर्वरूप है, वही संस्कार मझली अवस्था में भी पड़े और बड़ी अवस्था में भी पड़े, तब तो वह दृढ होगा, नहीं तो व्यक्ति डाँवा-डोल बने रहते हैं। आज के बच्चों की श्रद्धा अदृढ रहने का यह एक बड़ा कारण है कि उन्हें एक ढंग के संस्कार निरन्तर नहीं मिलते वरन् विरोधी संस्कार ही मिलते हैं। किंतु अर्जुन को सही संस्कार मिले थे अतः वह अद्वैत के प्रति श्रद्धा वाला था। 'स्वयं चैव ब्रवीषि मे' और आप जो खुद ही अद्वितीय आत्मतत्त्व हैं, स्वयं भी मुझे इसी बात को समझा रहे हैं। मेरी श्रद्धा पूर्ण है, उसे भी आप दृढ कर रहे हैं।

इस प्रकार से परमेश्वर का क्या रूप समझा है, इसे अर्जुन ने बतलाया और कहाँ-कहाँ से समझा है यह भी बतलाया। अपनी पूर्ण श्रद्धा को दिखलाया। आगे जो प्रसंग अर्जुन उठा रहे हैं वह विभूतियोग अत्यंत श्रद्धा वाला ही समझ सकेगा, अन्य नहीं समझ सकेगा। परमेश्वर सर्वरूप है, यह बात तो विचार से समझ में आ जाती है। परन्तु वह किसी विभूति के द्वारा उपासना करने पर प्रसन्न होता है, वैसी ही दूसरी किसी चीज़ की उपासना से नहीं- यह विचार का विषय नहीं है, इसमें तो श्रद्धा ही काम करेगी। सब कुछ परमात्मरूप है- यहाँ तक बुद्धि चल जायेगी। जैसे अपने अन्दर ही देखो : 'सारे शरीर में मैं हूँ।' यह तो बात हम लोगों की समझ में आती है।। किंतु जब वेद या भगवान् ही कहते हैं कि 'हृदय में ईश्वर रूप से मैं हूँ।' तो तरह-तरह के सन्देह होते हैं। हृदय में ही क्यों? इधर क्यों नहीं? उधर क्यों नहीं? वहीं क्यों ध्यान किया जाय? हार्दाकाश में ध्यान करके फल होता है यह तो ध्यान करके ही देखा जा सकता है, इसलिये श्रद्धा-पूर्वक करना ही पड़ेगा। इस बात को स्पष्ट करने के लिये अर्जुन ने बताया कि मैं श्रद्धा से पूर्ण हूँ।। १२–१३।।

भगवान् की विभूतियों को - संक्षेप में जिनको सातवें और नौवें में सुन चुका था - विस्तार से सुनने के लिये अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न करने से पूर्व अपनी श्रद्धा व्यक्त की-

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।। १४।।

हे केशव ! हे भगवन् ! मुझे आप जो समझा रहे हैं उस सबको मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि आपके प्रभाव को, स्वभाव को, देव दानव कोई नहीं जानते।

केशव भगवान् का ऐसा नाम है जिसमें 'क' का अर्थ प्रजापति ब्रह्मा, 'ईश' शंकर और 'व' विष्णु हैं अतः त्रिमूर्ति का संयुक्त नाम हो जाता है केशव। अर्थात् सृष्टि, स्थिति, विलय को आप ही करने वाले हैं अतः आपके लिये वास्तविकता हाथ में रखे हुये आँवले की तरह स्पष्ट है। ऋषि भी जानते हैं, लेकिन इसीलिये कि आपने बताया है। संसार को बनते हुये तो वे देख नहीं सकते, क्योंकि तब थे ही नहीं। भगवान् के सिवाय और सभी सृष्टि, स्थिति, लय, प्रवेश, नियमन - इन विषयों में शब्द प्रमाण के

अधीन हैं। परन्तु परमेश्वर स्वयं करने वाले हैं इसलिये शब्द प्रमाण के अधीन होकर नहीं जानते। केशव सम्बोधन के द्वारा यही कहा। 'यन्मां वदसि', जो आप कह रहे हैं। भगवान् ने अभी यही बतलाया कि 'सब चीज़ों को मैं ही बनाता हूँ, इसलिये मुझे, बाद में पैदा होने वाले ऋषियों के द्वारा साक्षात् नहीं जाना जा सकता।' यह जो आपने सब कहा, उसको 'ऋतं मन्ये', ऋत जानता हूँ अर्थात् सत्य जानता हूँ। संस्कृत के अन्दर दो शब्द हैं - ऋत और सत्य। यद्यपि दोनों एकार्थक भी हैं तथापि कहीं दोनों का एक-साथ प्रयोग भी होता है। दोनों में फ़र्क है कि जिसका कभी भी बाध नहीं होता है वह सत्य है। और जो सृष्टि के नियम इत्यादि हैं उन्हें ऋत कहते हैं। भगवान् सृष्टि आदि करने वाले हैं अतः इसके नियमों के वे ही पूर्णतः ज्ञाता हैं। परमेश्वर की विचित्रता है कि वे कोई काम सीधे-सीधे नहीं करते! किसी-न-किसी निमित्त के द्वारा ही करते हैं। और इसलिये कारण-परम्परा का विचार करने वाले लोग उन निमित्तों को ही कारण मान लेते हैं। मुझे मलेरिया क्यों हुआ? मच्छर ने काटा, इसलिये। उस मच्छर से बचने का प्रयत्न भी होता है। संसार का सारा व्यवहार ऐसे ही चलता है। इसमें यदि कोई पूछे कि ऋत क्या है? तो उत्तर होगा - मेरे किये हुऐ पाप का फल देने के लिये ज्वर को परमेश्वर ने नियत किया। निमित्त उन्होंने मच्छर को बना दिया। हम मच्छर की तरफ ही देख पाते हैं; न अपने कर्म की तरफ देख पाते हैं कि 'मेरे पाप का यह फल है,' न परमेश्वर की तरफ देख पाते हैं कि कर्मफल देने वाले परमेश्वर ने ही किया है। जैसा दुःख के बारे में, वैसा सुख के बारे में : किसी ने हमें बढ़िया रसगुल्ला खिला दिया। तो हम उससे उपकृत हो जाते हैं कि इसने मेरा उपकार किया। मुझे रसगुल्ला खा कर जो सुख हुआ, वह मेरे ही पुण्य का फल है। पुण्य का फल देने के लिये भगवान् ने उस व्यक्ति को और रसगुल्ले को निमित्त बना लिया। हम सुख का कारण रसगुल्ले को मान लेते हैं या उस आदमी को मान लेते हैं। न हम परमेश्वर को मान पाते हैं और न हम अपने कर्म को मान पाते हैं। कोई बहुत बड़ी सुख की या दुःख की घटना हो जाये, तब तो जो सत्संगी है, उसको कम-से-कम याद आ जाता है कि मेरा ही कोई पाप होगा, इसलिये यह कष्ट पड़ा; लेकिन सामान्य चीज़ों में भी निरन्तर इस बात का अनुसन्धान रखना नहीं बन पाता। ऋत कहकर ध्वनि है कि सृष्टि, स्थिति, लय, आविर्भाव, तिरोभाव, नियमन - ये सब आपके ही कृत्य हैं, यही हमेशा मान्य नियम है, कभी नहीं बदलने वाला नियम है। ऐसा मैं 'मन्ये' स्वीकार करता हूँ।

'देवाः ते व्यक्तिं न हि विदुः', देवता भी आपके व्यक्त होने को नहीं जानते। परमेश्वर की बड़ी ज़बरदस्त शक्ति है - बिना बदले हुये बदले हुये की तरह प्रतीत होना। प्रतीत बदला हुआ होता है। परन्तु उस प्रतीति-काल में भी वह नहीं बदला हुआ ही रहता है। कैसे आप सारा बदलाव व्यक्त करते हैं - यह देवता लोग भी समझ नहीं सकते। शास्त्रकार कहते हैं कि आप अपनी माया से ऐसा करते हैं। इतना सुन्दर शब्द है

'माया', 'मा' मायने 'नहीं', 'या' मायने 'जो'; जो 'नहीं है' उसको उन्होंने 'है' कर दिया! अज्ञान के द्वारा जब हम देखते हैं तब माया के प्रभाव 'है' दीखते हैं। परन्तु वास्तव में वे नहीं हैं। देवता भी इस बात को नहीं समझ सकते कि भगवान् कैसे ऐसा करते हैं। कोई उपाय इसे समझने का है ही नहीं इसलिये इसको अनिर्वचनीय कहते हैं। रात-दिन हमारी बुद्धि का प्रयास रहता है कि जो कभी समझा नहीं जा सकता वह कैसे समझ में आवे। इसी तरह देवों से सर्वथा विरुद्ध जो दानव हैं, वे भी नहीं जानते। देवता सत्त्वगुण से सम्पन्न हैं अतः शास्त्रादि में श्रद्धा रखने वाले हैं। उनको अन्ततः यही कहना पड़ता है कि समझ में नहीं आता, अचिन्त्य है। और दानव वे हैं जो शास्त्र में श्रद्धा वाले नहीं हैं, जिनकी संख्या हमेशा बड़ी होती है। वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा रखने वाले पचास करोड़ आदमी मिलना मुश्किल होंगे और बाकी सारी दुनिया वेदादि में श्रद्धा नहीं रखने वाली है। ऐसे लोग दानव ही हैं। परमेश्वर को नहीं मानते तो सृष्टि के अन्दर नियमों को ढूँढने में लगे रहते हैं। ऐसा भगवान् ने यह गोरख धन्धा बनाया है कि इसमें चाहे जितना प्रयास करो, कभी पता लगता नहीं। श्रद्धा रखने वाले भी वेदादिशास्त्रों को यथावत् मान मात्र सकते हैं; कैसे होता है? - यह नहीं समझा जा सकता। और शास्त्र के बिना स्वतः इन नियमों को, प्रक्रियाओं को ढूँढ कर समझ लें, यह तो असम्भव है।। १४।।

अतः अर्जुन कहता है-

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। १५।।

हे पुरुषोत्तम! भूतोत्पादक! भूतशासक! देवाधिदेव! जगत्स्वामी! आप स्वयं अपने से ही अपने आपको जानते हैं।

जो पूर्ण होवे वह पुरुष है। स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीरों को पूर्ण करने वाला आत्मा है। इसलिये उसको पुरुष कहते हैं। आदमी में सब कुछ होवे, खाली वह ज़िन्दा न हो तो उसे कोई पुरुष नहीं कहेगा, शव ही कहेगा। भगवान् पुरुषों के अन्दर उत्तम हैं। अर्थात् केवल एक स्थूल-सूक्ष्म शरीर को पूरा करने वाले नहीं, सारा ब्रह्माण्ड उनके कारण ही पूर्ण है। सब चीज़ें 'है' से सम्बंध वाली होकर ही पूरी होती हैं। घड़ा है तब सब काम उससे कर लोगे और वही घड़ा 'नहीं है' तो उससे कोई काम नहीं कर सकते! सच्चिदानंद परमात्मा जब तक किसी चीज़ से सम्बंधित नहीं होता है तब तक वह चीज़ सर्वथा शून्य रूप ही है। यह बात संसार के सारे पदार्थों में है। ब्रह्मलोक से लेकर घास के तिनके तक, बिना सत् के सम्बन्ध के सब व्यर्थ है। इसलिये परमेश्वर को भी पुरुषोत्तम कहते हैं।

'स्वयमेव' खुद ही। हमारा ज्ञान शब्द के द्वारा होता है। वेदादि जो शब्द हैं वे ही

हमें ज्ञान करायेंगे। परमेश्वर का ज्ञान खुद ही होता है, शब्द से नहीं होता। इसीलिये महर्षि पतंजलि ने भी कहा कि ईश्वर सबके आदिगुरु हैं। हमने अपने गुरु से जाना। गुरु को कैसे पता लगा? दादा गुरुजी ने कहा। इस प्रकार पहले से पहले जो जानकार हुए उनके भी गुरु परमेश्वर हैं, वे तो स्वयं ही जानते हैं। श्रुति भी कहती है कि परम शिव पहले ब्रह्मा को बनाते हैं और फिर उसे वेद का उपदेश देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्दर वंश-परम्परा आई है। उसके अंत में आता है 'स्वयंभु ब्रह्मणे नमः' ब्रह्म के आगे और गुरुपरम्परा नहीं है। क्योंकि उन्होंने किसी से ज्ञान प्राप्त नहीं किया। हम लोग परतः जानते हैं, वेदादि शास्त्रों के अधीन होकर जानते हैं, जबकि भगवान् स्वयमेव जानते हैं। यह परमेश्वर की निरतिशय ज्ञानशक्ति है। ब्रह्मज्ञान हमें भी होता है, ब्रह्मस्वरूप में स्थिति हमारी भी हो जायेगी। लेकिन जिससे अज्ञान निवृत्त हुआ, उस ब्रह्मज्ञान का मूल कारण तत्त्वमस्यादि वेद-वाक्य ही है। ऐसे समझ लो : किसी बच्चे को मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण माता-पिता ने जन्म होते ही कहीं अन्यत्र ही भेज दिया, वहीं बड़ा होता रहा, स्वयं को उसी घर का बच्चा जानता रहा। एक बार कोई उसके गाँव का आदमी आया जिसे सारी बात का पता था। उसने बताया 'अरे! तू सचमुच में अमुक का लड़का है। मूलों में पैदा हुआ था इसलिये भेज दिया गया था।' पता लगाने से निश्चय भी हो गया कि 'मैं वही हूँ'। लेकिन उस आदमी ने नहीं बताया होता तो वह पता लगाने की कोई कोशिश भी नहीं करता। ठीक यही हम लोगों का हाल है। ब्रह्मस्वरूप होते हुऐ ही मूलाज्ञान के कारण हम अपने को जानते नहीं कि ब्रह्म तो मैं ही हूँ। जब शास्त्र कहता है, 'तू ही ब्रह्म है' तो हम जान लेते हैं। इस प्रकार जीव तो प्रमाण पर निर्भर होकर जानता है, परन्तु परमेश्वर स्वयमेव जानते हैं। अतः अर्जुन ने कहा, प्रत्यगात्मस्वरूप से आप स्वयं ही अपने को जानते हैं।

'भूतभावन', सारे भूतों को आप ही उत्पन्न करते हैं। सारे भूतों को बनाने वाले होने से आपकी शक्ति निरतिशय है। हम लोगों की शक्ति सीमित है। बीस मील चलने वाला आदमी चार हफ्ते बिना अन्न के रख दिया जाये तो बीस कदम चलना मुश्किल हो जायेगा! परन्तु परमेश्वर की शक्ति निरतिशय है।

'भूतेश' सारे प्राणियों को निरन्तर शासन में रखने वाले हैं, उनके शासन का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। अतिधन्य वेद कहता है 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' जो अत्यंत सामर्थ्य वाले सूर्य चंद्रादि हैं वे भी परमेश्वर के प्रशासन के अंतर्गत ही चल रहे हैं। पंचांग बनाने वाला सौ साल का पंचांग बना कर लिख देता है अमुक दिन सूर्य पाँच बजकर साढ़े सत्रह मिनट पर उदय होगा। सौ वर्ष पहले ही उसने लिख दिया। ठीक पाँच बजकर साढ़े सत्रह मिनट पर ही उदय होता है। किसी का भय है, तभी। अगर उस परमेश्वर का भय नहीं होता तो रेल की तरह कभी देर भी करता! सरकारी दफ्तर में नियमतः दस बजे कार्य प्रारम्भ हो जाना

चाहिए पर प्रायः तब तक बाबू लोग कुर्सी पर नहीं आते! क्यों? क्योंकि किसी का भय नहीं है कि दण्ड मिलेगा। लोगों को सबसे ज़्यादा भय लगता है मृत्यु से। बड़ी सामर्थ्य वाला माना जाता है मृत्यु, सबको मार डालता है। कभी खूब ज़ोर से पानी बरस रहा हो, ओले गिर रहे हों, रात के बारह बजे का समय हो तो क्या तुम निश्चिन्त रह सकते हो कि इतने पानी और ओले में कहाँ आयेंगे यमराज! किसी का भय है, तभी आता है बेचारा। सबका शासन करने वाले भगवान् हैं। उनका ऐश्वर्य असीम है। बाकी सबका ऐश्वर्य सीमित है परन्तु परमेश्वर का ऐश्वर्य असीम तथा बिना किसी प्रयास के है।

'देवदेव' आप केवल शासन करने वाले ही नहीं हैं, देवों के अन्दर जो दैवी शक्ति है, देवतापना है, वह भी आप ही हैं। देवों का देवपना भी परमेश्वर से ही है। अतः श्रुति कहती है 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते', कि परमेश्वर जिसको ऊपर ले जाना चाहता है, उससे शुभ कर्म करवाता है, तभी वह ऊपर जाता है। लोग समझते हैं, कि शुभ कर्म ऊपर ले गया। इसी प्रकार जिसको परमेश्वर नीचे ले जाना चाहता है, उससे अशुभ कर्म करवाता है। अशुभ कर्म करके व्यक्ति नीचे जाता है। प्रसिद्ध यही होता है कि अशुभ कर्म उसे नीचे ले गया। परन्तु शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों कब होते हैं? जब आत्मा है। परन्तु निमित्त चूंकि शुभ कर्म और अशुभ कर्म बनाया, इसलिये बतलाना पड़ता है कि शुभ कर्म करो, अशुभ कर्म से बचो। ईंट-पत्थर को तो कभी नहीं कहना पड़ता, 'अशुभ कर्म से बचो, शुभ कर्म करो।' क्योंकि वहाँ चेतना ही नहीं। आत्मा है, तभी शुभ कर्म हुआ, आत्मा है तभी अशुभ कर्म हुआ। सारे अशुभ कर्मों को कराने वाला कौन है? मन है। अतः हमारे यहाँ सबसे पहला कदम साधना का है, कि जो शास्त्र ने कहा है, वह करो, अपने मन की मत करो। कामना को उत्पन्न करती है अविद्या। अविद्या, काम, कर्म, यह क्रम भगवान् भाष्यकार जगह-जगह कहते हैं। यह है बन्धन का तरीका। अगर कामना से कर्म नहीं करोगे तो जो विद्यास्वरूप वेदादि शास्त्र हैं, उनके अनुसार ही कर्म करोगे। जब उनके अनुसार करोगे, तब शुभ कर्म होंगे जिनसे सद्गति मिलेगी। शास्त्र के अनुसरण में रुकावट यह है कि अनादि काल से हमने मन को खुली छूट दे रखी है, मालिक बना दिया है। मन जो चाहता है, वह हमें लगता है, 'मैं चाहता हूँ'। मन जो नहीं चाहता उसको समझते हैं, 'मैं नहीं चाहता।' मान लो किसी दुकान में कोई तुम्हारा मुनीम बीस साल से काम कर रहा है। तुम्हारा लड़का काम करने लायक हुआ तो तुमने सोचा कि मुनीम को लड़के के अन्तर्गत करें। अब तक तो मुनीम सीधा सेठ जी की बात सुनता था। इसलिये अब सेठ जी के लड़के की बात नहीं सुनना चाहता। मुनीम को अकस्मात् निकाल भी नहीं सकते क्योंकि काम वही जानता है। तब धीरे-धीरे उसके पंख काटे जाते हैं, उसकी शक्ति सीमित की जाती है, और लड़के की बढ़ाई जाती है। लेकिन यह काम धीरे-धीरे

करना पड़ता है। इसी प्रकार अभी तो मन बना हुआ है मुख्य कार्यकारी अधिकारी, सब काम उसके द्वारा ही होते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे सारे काम शास्त्रानुकूल होवें, तो एक दिन में वह सुनेगा नहीं। तरह-तरह की शंकायें मन उठाता है। अतः शास्त्र सबसे पहले कहता है कि चाहे शुभ कर्म करो, शुभ ज्ञान प्राप्त करो या शुभ उपासना करो, सबसे पहले तुम्हारे मन में श्रद्धा होनी चाहिये। अन्यथा मन तुम्हारे अन्दर इतने सन्देह पैदा करता रहेगा कि तुम शास्त्रानुकूल जीवन नहीं बना सकोगे। देवभाव आत्मप्रधान है, दानवभाव मायाप्रधान है। यह निश्चय कि शास्त्र ही वस्तुतः *हमारा* निर्णय है, श्रद्धा का रूप है। सच्चा निर्णय शास्त्र का है, मन का निर्णय सच्चा नहीं है। वर्तमान काल में मन को खुली छूट देने का सर्वत्र विस्तार होता जा रहा है। इसीलिये देवभाव कम होता जा रहा हैं दानव भाव बढ़ता जा रहा है। देव हुआ सत्त्वगुणी वृत्ति वाला जीव, वह सत्त्वगुणी तभी तक रहता है जब तक उसके अन्दर आत्मा है। अतः 'देव' अर्थात् सात्त्विक आदि को देव बनाने वाले होने से भगवान् देवदेव हैं।

'जगत्पते' भूतों को आपने उत्पन्न किया; भूतों पर आपका शासन है; भूतों की देवरूपता आपको लेकर है; और इतना सब होने के साथ आप सारे जगत् का पालन करने वाले हैं। पालन करने वाले को पति कहते हैं। परमेश्वर कैसा पालक है? एक भक्त था, उसका नियम था कि जो भी अतिथि आये, उसको भोजन कराता था। एक दिन एक अतिथि आया, महात्मा के रूप में था, बड़े आदर से उसने उसे भोजन करने बैठाया। अतिथि ने ब्रह्मार्पण नहीं किया, आचमन नहीं किया, कुछ भी नहीं किया, सीधे खाने लगा। भक्त को मन में बहुत बुरा लगा, बोला 'मैंने आपको महात्मा समझा, पर आपने परमेश्वर का किसी भी प्रकार का स्मरण नहीं किया!' अतिथि कहने लगा 'मैं नास्तिक हूँ। मैं तुम्हारे ईश्वर को नहीं मानता।' भक्त को यह सुनकर गुस्सा आ गया, बोला 'ऐसे बेकार नास्तिकों को खिलाने के लिये मेरी जगह नहीं है, जाओ।' वह उठ कर चल दिया। शाम के समय जब भक्त ध्यान कर रहा था, तब भगवान् ने उससे कहा, 'आज सबेरे जो खाने आया था, उसकी उम्र क्या थी?' भक्त ने कहा 'चालीस साल होगी।' उन्होंने कहा 'चालीस साल तक जिसको मैं सबेरे-शाम दो समय भोजन दे सकता हूँ, उसको तू एक समय नहीं खिला सका! नहीं मानता तो मुझे नहीं मानता था, तेरा क्या लेता था?' भक्त को अपनी गलती महसूस हुई। भगवान् सारे जगत् का पक्षपातहीन पालन करते रहते हैं। कोई कह सकता है कि भगवान् ने कहा है कि 'भक्त का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।' अतः बाकी सब अपना-अपना पालन करते हैं तो वे 'जगत्पति' कहाँ हुऐ, केवल भक्तों का ही पालन करने वाले हैं? इसके उत्तर में आचार्य स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि सारे संसार का पालन करने वाले वे ही हैं, तथापि भक्त इस बात को समझता है और दूसरे इस बात को समझते नहीं कि वे पालन करने वाले हैं। जिस-किसी निमित्त से वे पालन करते हैं, बस लोग उस निमित्त की बड़ाई करते रहते

हैं। छोटे-से-छोटा कीटाणु हो या बड़े से बड़ा प्रजापति हो, सबका पालन करने वाले एकमात्र परमेश्वर ही हैं।। १५।।

अब अर्जुन निवेदन करता है कि क्योंकि आप स्वयं अपने आपको जानते हैं, अतः आप ही अपने वैभव का खुलासा कीजिये -

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकान् इमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।।१६।।

अपने माहात्म्य के जिन विस्तारों से इन लोकों को घेरकर आप रहते हैं, अपने वे असाधारण विस्तार आपको पूरी तरह बताने चाहिये।

'विभूति' अर्थात् जिस-जिस जगह आप विशेषरूप से प्रकट हैं। 'वि' अर्थात् विशिष्ट रूप से, भूति अर्थात् होना; जहाँ भगवान् खास तरह से मौजूद हैं वह विभूति है। यों तो सारे ब्रह्माण्ड में वे हैं ही, परन्तु जहाँ विशेष प्राकट्य है, वह विभूति है। यहाँ उपासना का प्रकरण माना है अतः जिस आधार में उपासना करने से आपका साक्षात्कार होता है, विशेष प्राकट्य वहाँ है। तभी उसके सहारे उपासना की जाने पर आप फल अतिशीघ्र दे देते हैं। इस प्रकार विभूति से वे खास स्थल ही पूछे जा रहे हैं। कौन-सी 'आत्मविभूतयः?' स्पष्ट किया 'दिव्या ह्यात्मविभूतयः।' तीन प्रकार की उपासनायें होती हैं - सात्त्विक उपासना, राजस उपासना और तामस उपासना। तामस उपासना में भी जो उपास्य हैं उनमें परमेश्वर की आत्मविभूति तो है, पर है वह तामस। अभी भी अनेक देवी-देवता शराब पीने वाले प्रसिद्ध हैं, वे तामस विभूतियों में ही गिने जायेंगे। सात्त्विक लोग उनकी उपासना नहीं कर सकते। परमेश्वर सबका रूप है, इसलिये तामस उपास्य भी होते हैं। इसी तरह से राजस उपास्य भी होते हैं। परन्तु गीता शास्त्र के अन्दर सात्त्विक पुरुषों का अधिकार है। अतः उनके लिये दिव्य विभूतियाँ ही उपास्य होंगी। शास्त्र में राजस, तामस उपासनाओं का बहुत विस्तार से विचार है। संसार में अधिकतर लोग राजस-तामस होने से उसी तरह की उपासना कर भी सकते हैं। 'दिव्य' से अर्जुन ने स्पष्ट कर दिया कि यहाँ सात्त्विक उपासना करने वालों का विषय पूछ रहा है।

'अशेषेण वक्तुमर्हसि' कुछ बाकी न रह जाये, इस प्रकार आप विभूतियाँ बतावें। आगे भगवान् कहेंगे कि विभूतियों का तो अंत ही नहीं हो सकता, इसलिये उन्हें अशेष तो बता ही नहीं सकते। फिर अर्जुन ने कैसे कहा 'अशेषेण?' अर्जुन का तात्पर्य है कि शेष का एक अर्थ होता है अंग, अंगांगिभाव को भी शेषशेषिभाव कहा जाता है। जैसे भगवान् विष्णु का पूजन करो तो सोलह उपचार या पाँच उपचार पूजन का अंग हैं, ये हों तभी पूजन पूरा होगा। जिसके बिना पूरा नहीं होता है वह अंग कहा जाता है। अतः अर्जुन का भाव है कि केवल उपास्य ही नहीं, उपास्य के बारे में जितनी चीज़ें समझने योग्य हैं, सब बतला दीजिये। यद्यपि ऐसा प्रतिपादन यहाँ भगवान् ने नहीं किया है

तथापि अन्यत्र इन सब चीज़ों का प्रतिपादन है। उस सबका यहाँ उपसंहार समझ लेना चाहिये। 'याभिः विभूतिभिः' जिन विभूतियों से 'इमान् लोकान्' इन लोकों को 'व्याप्य' व्याप्तकर 'तिष्ठसि' आप रहते हैं। जितना कुछ संसार हम जानते हैं, उससे आगे भी ब्रह्माण्ड का बहुत बड़ा विस्तार है; न जाने कितने ब्रह्मा हैं, न जाने कितने कहाँ लोक हैं! लेकिन 'इमान्' अर्थात् हमारे लिये जो प्रत्यक्षसिद्ध लोक है, जिन लोकों का हम अनुभव करते हैं, उनमें जिन विभूतियों से आप विद्यमान हैं, उन्हें कहिये। अन्य लोकों में तो आपकी और अनन्त विभूतियाँ हैं पर उनकी उपासना अशक्य होने से उन्हें जानने का लाभ नहीं। जो हमारे अनुभव के लोक हैं, उनमें आप जिन विभूतियों से स्थित हैं उन्हें बताइये। 'व्याप्य तिष्ठसि,' अर्थात् व्यापक आप बने रहते हैं, विभूतियाँ सब व्याप्य हैं।। १६।।

विभूति-जिज्ञासा का तात्पर्य यह जानना है कि किन उपाधियों में उपासना करके भगवान् की प्राप्ति होती है। इसी को और स्पष्ट करता है -

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया।। १७।।

हे योगी! मैं हमेशा हर तरह से चिन्तन करते हुये आपको कैसे जानूँ? हे भगवन्! किन-किन वस्तुओं में आप मेरे द्वारा ध्येय हैं।

अघटित घटना करने की शक्ति से सम्पन्न होने से भगवान् को 'योगी' सम्बोधन किया। जो सामान्यतया घट नहीं सकता उसको घटा देना - इसको योग कहते हैं। उपाधियों के बारे में मैं इसलिये पूछ रहा हूँ कि केवल एक उपाधि का ध्यान तो किया जा सकता है, परन्तु उसका सदा परिचिन्तन नहीं हो सकता क्योंकि अन्य-अन्य पदार्थों से व्यवहार करते समय वह उपाधि ध्यान में रहेगी नहीं। 'सदा परिचिन्तयन्,' हमेशा आपका परिचिन्तन करना है, क्योंकि आपने कहा था, 'सततयुक्तानाम्'। इस सततयुक्तता के लिये जानना चाहता हूँ कि हमेशा आपका परिचिन्तन करते हुऐ कैसे रह सकूँ? आपकी विभूतिरूप अनेक भाव ज्ञात हों तो उनमें से कोई-न-कोई भाव सामने आने पर आपकी तो याद आती रहेगी। 'अहम् विद्याम्' मैं जानूँ। विद्या का अर्थ उपासना होता ही है, इसलिये चिंतन करते हुये कैसे उपासना करूँ - यह भाव है। 'मया केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि', मैं किन-किन भावों में आपका चिन्तन कर सकता हूँ? चिन्तन अर्थात् ध्यान; किन-किन वस्तुओं के अंदर आपका ध्यान कर सकता हूँ?।१७।।

प्रश्न का उपसंहार करता है -

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।। १८।।

हे जनार्दन! अपनी शक्ति और ध्येय उपाधियों के विस्तार को बिना संक्षेप किये फिर से कहिये क्योंकि आपका वचनामृत सुनते हुये मुझे तृप्ति नहीं हो रही।

'आत्मनो योगम्' योग अर्थात् विशेष शक्ति, अघटित घटना करने की शक्ति, ऐश्वर्य शक्ति, 'विभूतिं च' और विभूतियाँ अर्थात् ध्येय उपाधियाँ, इन्हें 'विस्तरेण कथय' विस्तार से कहिये। संक्षेप से तो भगवान् कह चुके हैं सातवें और नौवें में, इसलिये प्रार्थना की कि यहाँ ज़रा विस्तार से कहिये। 'भूयः' अर्थात् आपने पहले कहा है यह बात मैं भूला नही हूँ, अब फिर से कहिये। फिर से क्यों कहूँ? 'हि' मायने जिस कारण से 'अमृतम् शृण्वतः तृप्तिः नास्ति'। अमृत को सुनते हुये मुझे तृप्ति नहीं है। यह विचित्र लगता है! अमृत पीने की चीज़ होती है और कथन सुनने की चीज़ होती है। इसलिये इसका तात्पर्य है कि मैं कानों से पी रहा हूँ। भगवान् के वचन दोनों दृष्टियों से अमृत हैं। उन वचनों से कैवल्य का मार्ग पता चलता है जिस पर चलकर मृत्यु से परे पहुँचा जा सकता है। अमृत वही है जो मृत्यु को समाप्त कर दे। और दूसरा मृत्यु का एक अर्थ 'प्रमाद' है, 'प्रमादो वै मृत्युः'। भगवान् के वचन में ऐसा सामर्थ्य है कि श्रोता को प्रमाद नहीं होता। प्रायः किसी गंभीर विषय में, खासकर अध्यात्म के विषय में सुनते हुये कुछ ही देर में थकान हो जाती है, प्रमाद होकर नींद का झोंका भी आ जाता है। पर भगवान् की वाणी इस मृत्यु को भी नहीं आने देती, इसलिये अमृत है। ऐसा अमृत होने से ही इससे 'तृप्तिर्नास्ति' तृप्ति नहीं होती। यह नहीं लगता कि और न सुनें। पचास रसगुल्ले खा चुकें तो तृप्ति महसूस होती है कि अब और रसगुल्ले नहीं खा सकते। भगवान् की वाणी को चाहे जितना सुन लें, ऐसा नहीं होता कि और सुनने की इच्छा न रह जाये।

'जनार्दन!' अर्द धातु के दो अर्थ होते हैं - गमन और याचन। अतः भाष्यकार ने इस शब्द के दो अर्थ कहे। एक तो 'असुराणां देवप्रतिपक्षभूतानां जनानां नरकादिगमयितृत्वात् जनार्दनः' असुरों को नरकादि ले जाने वाले होने से भगवान् को जनार्दन कहा। जन अर्थात् देवताओं का विरोध करने वाले जो असुर लोग हैं उनको भगवान् नरकादि पहुँचाते हैं इसलिये उनको जनार्दन कहते हैं। अर्द का दूसरा अर्थ है याचना अतः 'अभ्युदयनिःश्रेयसपुरुषार्थप्रयोजनं सर्वजनैर्याच्यत इति वा'- लोगों के द्वारा इस लोक की उन्नति के लिये भी भगवान् से याचना की जाती है, और मोक्ष की प्राप्ति के लिये भी भगवान् से ही प्रार्थना की जाती है। अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्रकार के पुरुषार्थों के प्रयोजन से आपकी याचना करते हैं अतः जनों के द्वारा आप याचित होते हैं इसलिये आप जनार्दन हैं। अर्जुन की ध्वनि है कि मैं आपकी उपासना करने जा रहा हूँ, अतः चाहता हूँ कि अन्तःकरण में निरन्तर दैवी वृत्तियाँ आवें, देवभाव आवे। उसके विरोधी राग-द्वेष-प्रसूत आसुर भाव यदि आ जाते हैं तो उन आसुर भावों को आप हमेशा के लिये विदा कर दीजिये, उनका जो स्थान नरक हैं वहाँ भेज दीजिये ताकि इस प्रकार का

विघ्न मेरी साधना में न आवे। अनादि काल से हमारे अंदर न जाने कितने राग-द्वेष आदि के संस्कार पड़े हुऐ हैं। हमारी शक्ति बड़ी सीमित है। उन अनन्त संस्कारों को हटाना हमारे लिये असंभव है। परन्तु जो हमारे लिये अत्यन्त कठिन काम है वह परमेश्वर के तो संकल्पमात्र से हो जाता है। अतः कहा कि आप उनको हमारे अन्तःकरण से हटा करके नरकों में भेज दीजिये जिससे हमारी साधना ठीक चले। संसार के स्वरूप को मैं समझ चुका हूँ यह पहले अध्याय में ही बता दिया। इसलिये मैंने प्रश्न ही किया था, 'यच्छ्रेयः स्याद् निश्चितं ब्रूहि तद् मे;' श्रेयः-पथ का साधक हूँ, इसलिये उसके लिये आप से याचना करता हूँ। मुझे कल्याण के मार्ग में ले जाइये और अनादि काल से भरे हुए जो आसुरी भाव हैं उनको आप नष्ट कर दीजिये। इन भावों के सूचनार्थ भगवान् को जनार्दन कहा ।। १८।।

इस प्रकार जब अर्जुन ने पूछा तब भगवान् जवाब देना प्रारम्भ करते हैं

श्रीभगवान् उवाच -

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। १६।।

हे कुरुकुल में श्रेष्ठ! अब तुम्हें अपनी प्रधान ही असाधारण विभूतियाँ बताऊँगा क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।

'हन्त' अर्थात् अब, इसी समय। तुमने जो बात पूछी है उसका मैं अभी ही जवाब देता हूँ। जो तुमने दिव्य विभूतियों को पूछा है वे तुम्हारे प्रति बतलाता हूँ। दिव्य विभूतियाँ इसलिये बताता हूँ कि सात्त्विक उपासक के लिये वे ही उपास्य हैं। इसीलिये तुमने भी उन्हीं को पूछा है और मैं भी उन्हीं को बतलाता हूँ। सारी विभूतियाँ तो मैं नहीं बतला सकता। इसलिये 'प्राधान्यतः,' दिव्य विभूतियों में भी जो प्रधान हैं उनको बतलाता हूँ। जिस-जिस क्षेत्र में जो-जो विभूति प्रधान है, उसको ही बतला देता हूँ। अर्थात् ऐसे नहीं समझ लेना कि ये ही विभूतियाँ हैं, दूसरी नहीं। दृष्टांत के तौर पर, यहाँ परशुरामावतार को कहेंगे, रामावतार को कहेंगे, कृष्णावतार को कहेंगे। मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, इन सब अवतारों का कोई वर्णन नहीं आयेगा। इससे ऐसा नहीं समझ लेना की वे भगवान् की विभूतियाँ नहीं हैं। विभूतियों में जो प्रधान हैं, उनको मैं बतला रहा हूँ, दूसरी विभूतियाँ हैं ही। अर्जुन कह सकता था 'मैंने तो विस्तार से सुनाने को कहा था, सारी ही बतला क्यों नहीं देते?' तब कहते हैं 'मे विस्तरस्य अन्तः नास्ति' मेरे विस्तार का तो अन्त ही नहीं है। अर्थात् अशेष वर्णन कोई मेरी विभूतियों का कर सके, यह सम्भव नहीं है।

एक कथा कही जाती है कि पहले दिग्गजों के सिर के ऊपर सारे संसार का बोझ था। उसको वे धारण करते थे। दीर्घकाल तक धारण करने के कारण बड़े थक गये।

कोई भी आता था तो उससे कहते थे 'अरे! मेरा ज़रा भार कम कर दो,' पर कौन करता, सारे संसार का भार कौन अपने सिर लेता! कोई तैयार नहीं होता था। एक बार नारद जी उधर से गुज़रे। उन्होंने नारद जी से पूछा 'महाराज! बोझ लिये इतना समय हो गया, कोई उपाय हो तो करिये। कहीं कोई तैयार होवे तो उसको बोझ दे दें।' नारद ने कहा 'मैं भगवान् से पूछूँगा।' नारद जी ने जाकर भगवान् से कहा 'आप किसी दूसरे को नियुक्त कर दें तो उन्हें ज़रा छुट्टी मिले, बड़े परेशान हैं।' भगवान् ने कहा 'अच्छा ऐसा करो, उनसे कहो कि थोड़े समय के लिये किसी को तैयार कर लेवें। बजाय यह कहने के कि बोझ ले लो, यह कहें कि थोड़े समय के लिये ले लो।' नारद जी ने कहा 'ठीक है।' आकर दिग्गजों से कहा 'थोड़े समय के लिये किसी को दिया जा सकता है।' उन्होंने कहा 'थोड़े समय तक देने का क्या फ़ायदा! लम्बे समय के लिये कोई ले तभी ठीक है।' नारद जी ने कहा 'मैं तुमको युक्ति बतलाता हूँ। तुम उससे कहना कि भगवान् के सारे नामों का एक बार पाठ कर ले, इतनी देर के लिये बोझ ले ले, फिर वापिस कर दे।' दिग्गजों ने कहा 'नाम तो जल्दी ही खत्म हो जायेंगे!' नारद ने कहा 'घबराओ नहीं, खत्म होने वाले नहीं हैं'। नागलोक जाकर नारद जी ने तैयार कर लिया अनन्त नाग को। उससे कहा 'दिग्गज बड़े परेशान हैं, खाली थोड़े समय के लिये आराम चाहते हैं। एक बार भगवान् के नामों का आवर्तन समाप्त हो जाये; बस इतनी सी देर बाद बोझ वापिस ले लेंगे।' अनन्त नाग ने विचार किया 'मेरे हज़ार तो मुख हैं और हर मुख में हज़ार जीभें हैं। हर एक से उच्चारण होगा तो कितने भी नाम होंगे, जल्दी ही खत्म हो जायेंगे।' पर तब से जो वह बोझ लिये खड़ा है, आजतक वे नाम खत्म नहीं हुये, न उसका समय समाप्त हुआ! भगवान् का ऐसा विस्तार है इसलिये भगवान् कहते हैं 'मे विस्तरस्य अंतः नास्ति' न मेरे नामों का अंत है, न मेरे रूपों का अंत है, न मेरी क्रियाओं का अन्त है। परमात्मा का सब कुछ अनन्त ही है। इसलिये यद्यपि तुमने तो कहा था विस्तार से अशेष बताइये, परन्तु विस्तार यही हो सकता है कि कुछ प्रधानों को गिना दूँ।। १६।।

भगवान् मुख्य चिन्तनीय विभूति बताने से प्रसंग शुरू करते हैं -

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। २०।।

हे गुडाकेश ! सब प्राणियों के मन में स्थित आत्मा मैं हूँ। भूतों का कारण, उनकी स्थिति व उनका प्रलय भी मैं ही हूँ।

सबसे पहले सर्वोत्तम विभूति बतलायी है। इस विभूति का चिन्तन हर क्षण हर व्यक्ति करता ही है। जान कर भले ही नहीं करता, पर करता है। हर-एक के अन्दर जो 'मैं' को उठा रहा है वही प्रत्यगात्मा है। अहंकारात्मिका वृत्ति उसी के कारण उठ रही

है। सामने घड़ा हो तो अन्तःकरण में घटाकार वृत्ति बनती है, वस्त्र हो तो वस्त्राकार वृत्ति बनती है। जो चीज़ सामने हो उसके अनुसार वृत्ति बनती है। इसी प्रकार जो अपने अन्दर प्रत्यगात्मा है उसे विषय करने वाली वृत्ति का आकार अहम् है। भाष्यकार ने सूत्रभाष्य में स्पष्ट किया कि आत्मा सर्वथा ही अविषय नहीं क्योंकि 'मैं'-अनुभव का वह विषय बनता है। 'मैं'-प्रतीति का विषय है ही परमात्मा। हम कुछ भी करें, कुछ भी जानें, कुछ भी चाहें, पहले मैं की वृत्ति होगी, तभी आगे कोई भी वृत्ति बनेगी कि 'मैं यह करूँ, मैं यह जानूँ'। बिना 'मैं' की प्रतीति हुये और किसी चीज़ की प्रतीति हो नहीं सकती। उससे जो प्रत्यगात्मा प्रतीत हो रहा है, उसे भगवान् कहते हैं उनकी विभूति है। श्रुति ने कहा ही है, 'तत् सृष्ट्वा तद् एव अनुप्राविशत्' इस सारी सृष्टि को बनाकर वह इसमें प्रविष्ट हुआ। किस रूप से प्रविष्ट हुआ? प्रत्यगात्मा रूप से प्रविष्ट हुआ। स्मृति ने कहा है 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः' सारे संसार के रूप को लेकर फिर जीवरूप से उसी ने इसमें प्रवेश किया। अर्जुन ने पूछा था कि आपका सदा परिचिन्तन कैसे किया जाये? सदा परिचिन्तन का सबसे सीधा उपाय यही है कि जब अहम् मन में आवे, तब जानो कि यह अहम् ब्रह्म है, परमात्मा है। 'सर्वभूताशयस्थितः' सारे प्राणियों के हृदय में यह स्थित है। जैसे घड़ा सामने रखा है, तो देवदत्त, यज्ञदत्त, भानुदत्त आदि जितने लोग हैं सभी की घटाकार वृत्ति बनती है। इसी प्रकार इस ब्रह्म की हर अन्तःकरण के अंदर अहम् इत्याकारक वृत्ति बन रही है। सब अहंवृत्तियों का विषय ब्रह्म ही है। प्रत्यगात्मा रूप से उसकी उपासना करनी है, लेकिन ख्याल रखना है कि सब प्राणियों के हृदय के अंदर जो अहम् का अनुभव हो रहा है, वह उसी प्रत्यगात्मा का है।

'हे गुडाकेश!' गुडाका कहते हैं निद्रा को, निद्रा का जो ईश होवे अर्थात् निद्रा के ऊपर जिसका पूरा नियंत्रण होवे, उसी को गुडाकेश कहेंगे अर्थात् जिसने निद्रा को जीत लिया है, निद्रा उसके अनुसार चलती है, वह निद्रा के अनुसार नहीं। निद्रा के अंदर आदमी को होश नहीं रहता। अतः भगवान् का अभिप्राय है कि तू ऐसा है जो कि हमेशा होश में रहता है। इसीलिये तू अहम् का ध्यान करने का अधिकारी है। पहली वृत्ति सबकी बनती ज़रूर 'मैं' की है परन्तु व्यक्ति उस मैं मात्र को तुरन्त भूल जाता है अतः होश खोने वाला व्यक्ति यह ध्यान नहीं कर सकता। साधक से अपेक्षा है कि उसका छोटे-से-छोटा काम भी होश के साथ हो। हम लोगों के बहुत से काम ऐसे अभ्यस्त हो जाते हैं कि उसका होश रहता ही नहीं। अतः कर कुछ रहे हैं, मन कहीं घूम रहा है! इसलिये कोई भी शास्त्रीय कर्म प्रारम्भ कराते हैं, तो लोगों से संकल्प कराते हैं। आज क्या देश है, क्या काल है, तुम कौन हो? संकल्प में कई चीज़ों का चिन्तन है। यह चिन्तन हर कार्य में रखना उचित है। अपने देश-काल और परम्परा के ही अनुसार खान, पान, उठना, बैठना, पहनना, ओढ़ना, आदि सब हो, यही उचित है।

रात सोने का समय है, तब बिजली-बत्ती जलाकर जगो और दिन में खिड़कियाँ बंदकर सो जाओ - यह काल के विरुद्ध कार्य है। अपनी कुलपरम्परा के अनुरूप कार्यों में ही प्रवृत्ति करना उचित है, परम्परा के अनुसार शोभा न दे ऐसे कार्यों में नहीं। और जो कार्य करने जा रहे हैं वह अभीष्ट फल का हेतु है, यह भी निश्चित कर तब प्रवृत्ति करनी चाहिये। यह सब तभी संभव है जब व्यक्ति होश में रहकर, सावधान होकर कार्य करे, अन्यथा संभव नहीं। अतः अर्जुन को 'गुडाकेश' संबोधन किया। जो प्रत्यगात्मा की दृष्टि रखेगा, उसके सामने तुरन्त प्रश्न आएगा कि इस देश काल और प्रयोजन का निर्णय किस से होवे? उत्तर है कि शास्त्र से होवे। मैं प्रत्यगात्मा हूँ, मैं ये देहादि नहीं हूँ। प्रत्यगात्मा परमात्म-स्वरूप है और परमात्मा की इच्छाओं को बतलाने वाला वेद है, शास्त्र है। अभी तुम मन से पूछते हो, जो मन को अच्छा लगे सो करोगे। जब तुम इस बात को याद रखोगे कि मन मैं नहीं हूँ, मैं तो प्रत्यगात्मा हूँ तब उस प्रत्यगात्मा को क्या अच्छा लगता है यह पता लगाओगे। तब तुम्हारे सारे व्यवहार स्वभाव से शास्त्रानुकूल होंगे। होगा यह तभी जब गुडाकेश बनो। नहीं तो अधिकतर काम हम लोगों के नींद में ही होते रहते हैं! जो इस भाव से चिन्तन कर सकता है उसे और कुछ चिन्तन करने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

जो इस चिन्तन को न कर सके उसके लिये कहा - 'अहं भूतानाम् आदिः मध्यं अन्तश्च'। भगवान् ही सभी भूतों के, सभी पदार्थों के, सभी जीवों के आदि हैं, अर्थात् वे ही सब को उत्पन्न करने वाले हैं। मध्य भी हैं, अर्थात् वे ही सब को स्थित रखने वाले हैं। और अन्त भी हैं, सब वापिस उन्हीं में जाते हैं। भगवान् का लक्षण ही है 'जन्माद्यस्य यतः' जगत् के जन्म-स्थिति-भंग का कारण ही परमेश्वर है। हर जीव या हर भूत को जब देखो, तिनके से लेकर हिमालय पर्यन्त जिसको देखो, तुरन्त याद करो कि यह परमात्मा से ही पैदा हुआ है, और परमात्मा ही इसको स्थिर रख रहा है, एवं अन्त में यह परमात्मा में ही जायेगा। इस प्रकार जिस भी चीज़ का अनुभव करोगे, उसके अन्दर बार-बार 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' की आवृत्ति होती रहेगी। पहली विभूति बतलाई प्रत्यगात्मा; उसका चिंतन करने में जो अशक्त होवे, वह सारे भूतों को उसी से उत्पन्न, उसी में स्थित और उसी में लीन होता देखे। इस तरह उसका भी हमेशा चिन्तन होता रहेगा।

इतना याद रखना कि कल्याण चाहने वाला, श्रेयोमार्ग का पथिक इह लोक में सफलता को ज़्यादा महत्त्व नहीं दे सकता। लौकिक काम ठीक और जल्दी करने के लिये अभ्यासवश उन्हें बेहोशी से करना ज़रूरी है। हवाई जहाज या मोटरकार भी चलाते हुये हर बार यदि सोच-विचार कर गेयर बदलो या दाँये-बाँये मोड़ो तो टक्कर ही होगी! इसके लिये तो अभ्यास ऐसा चाहिये कि मौके के अनुसार स्वतः प्रतिक्रिया हो जाये, तुम्हें कुछ सोचने में समय न गवाँना पड़े। बिना सोच कर करोगे तभी जल्दी कार्य हो

जायेगा, सोचने का समय नहीं लगेगा। इसलिये सांसारिक कार्यों की शिक्षा के अंदर कितना काम अभ्यास से अपने आप बिना सोचे कर लेते हो यह सिखाना आवश्यक होता है। जल्दी काम करने वाले को बेहोशी से काम करना पड़ता है। होश से काम करने वाले में इतनी तेज़ी नहीं रहेगी। परन्तु जो श्रेयःपथ का साधक है वह केवल इस संसार में कार्य जल्दी कर लेवे इसको विशेषता नहीं मानता। कैसे करते हैं इसके ऊपर उसका ज़्यादा ज़ोर है, कितना करते हैं इस पर ज़्यादा ज़ोर नहीं है। लौकिक लोग सोचते हैं कि जो जितना ज़्यादा काम करता है वह उतना अच्छा है। परन्तु श्रेयःपथ में चलने वाला इस दृष्टि से चलता है कि हर काम अच्छे से अच्छा होवे। इसलिये भगवान् ने गुडाकेशता, सावधानता की ओर ध्यान दिलाया। उत्तम व मध्यम विभूतियों की उपासना सावधान साधक ही कर सकता है।। २०।।

बहुत कम लोग इतने सावधान हो पाते हैं! इसलिये जो ये उपासनायें नहीं कर पायें, उनके लिये साधारण विभूतियाँ बतलाते हैं-

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।। २१।।

अदितिसुतों में मैं विष्णु हूँ, प्रकाश वालों में किरण-सम्पन्न सूर्य हूँ, मरुद्गणों में मरीचि हूँ तथा नक्षत्रों का अधिपति चन्द्र हूँ।

महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ थी दिति और अदिति। दिति से दैत्य पैदा हुये और अदिति से आदित्य पैदा हुये। धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु - ये आदित्य बारह हैं। उनके अन्दर विष्णु नाम का आदित्य मेरी विभूति है। अन्य अदिति के पुत्रों की अपेक्षा विष्णु ही श्रेष्ठ है अतः विष्णु ध्येय है। और जो प्रकाश करने वाली चीज़ें हैं उनके अंदर किरणों से भरा हुआ सूर्य ही सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि सर्वाधिक प्रकाश इसी का है। नक्षत्र आदि में भी प्रकाश है, परन्तु उनका प्रकाश ऐसा तेजस्वी नहीं है कि अन्धकार को नष्ट करे। अंशुमान् कह कर बतलाया कि किरणें ही उसका रूप है। सूर्य किरणों का ही समूह है। मरुत् देवता अर्थात् वायु देवता; उनन्चास भिन्न-भिन्न वायु हैं। उनके अंदर मरीचि नाम का देव मैं हूँ। एक समस्या है कि तीन-चार सूचियाँ उनन्चास मरुतों की पुराणों में मिलती हैं, उनके अंदर 'मरीचि' यह नाम नहीं मिलता है। अतः समझ सकते हैं कि मरीचि का अर्थ 'वेग' भी होता है। वायु के अन्दर प्रधान चीज़ वेग है। सभी उनन्चास वायुओं के अंदर जो वेग है, वह मेरा रूप है, यह भगवान् का भाव है। लोक में भी जब कहते हैं कि 'इस कमरे में हवा नहीं है, या हवा है'। तब हवा का मतलब है चलने वाली हवा। वायु के अनुभव के लिये हमें वेग की अपेक्षा होती है। जो हमें वायु का अनुभव कराता है वह वेग भगवान् की विभूति है।

'नक्षत्राणामहं शशी' नक्षत्रों के अंदर मैं चन्द्रमा हूँ। सत्ताइस नक्षत्र गिने गये हैं, नक्षत्रों का पति चन्द्रमा को माना गया है क्योंकि सभी नक्षत्रों से उनका विवाह हुआ था। अधिलोक की दृष्टि से देखो तो सत्ताइसों नक्षत्रों के पास से चन्द्रमा गुज़र चुकता है, तब एक मास पूरा होता है। सत्ताइस नक्षत्रों का भोग हो जाता है चन्द्रमा द्वारा, तब एक मास होता है। इसीलिये सारे नक्षत्रों का पति चन्द्रमा है। नक्षत्रों का पति होने से चंद्र को नक्षत्रों में अपनी विभूति कहा। सीधा 'चंद्र' न कह कर के शशी शब्द का प्रयोग किया। चन्द्रमा के बीच में जो काला हिस्सा है, उसको शश कहते हैं। थोड़ी कल्पना की दृष्टि से देखो तो वह खरगोश की तरह दीखेगा। वह धब्बा विवाह के निमित्त से दक्ष के शापवश लगा था। नक्षत्रों के पतिरूप का संकेत करने के लिये सीधा 'चन्द्र' नहीं कह कर शशी कह दिया। स्वयं नक्षत्र न होने पर भी उनका पति होने से शशी को नक्षत्र-सम्बन्धी विभूति कहा है।

अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग विभूतियों का चिन्तन ज़्यादा उपादेय हो सकता है पर बताये सभी करने के लिये ही जाते हैं। जो ज्योतिष का ज़्यादा प्रयोग करते हैं, उनको सब समय नक्षत्रों का चिन्तन करना पड़ता है। हमेशा नक्षत्रों का शशी के साथ सम्बंध याद रख कर नक्षत्रों के पति रूप से भगवान् का वे चिन्तन करते रह सकते हैं। इसी प्रकार से जिनको वायु का प्रयोग करना है, चाहे प्राणायाम आदि के अंदर, चाहे बाह्य जगत् के अंदर जैसे मौसम विभाग वाले करते रहते हैं, वे उसमें वेगरूप से बार-बार भगवान् का चिन्तन कर सकते हैं। यद्यपि सब विभूतियों की उपासना सब के द्वारा करने में कोई रुकावट नहीं है, की जा सकती है और करनी भी चाहिये, तथापि जो जिस चीज़ का अधिक प्रयोग रात-दिन कर रहा है, उसके लिये वह करने से 'सदा परिचिन्तन' सरल हो जाता है।। २१।।

अन्य विभूतियाँ गिनाते हैं-

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।। २२।।

वेदों में सामवेद, देवताओं में इंद्र, इंद्रियों में मन और भूतों में चेतना हूँ।

ऋग्वेद के ही मन्त्र सामवेद में गाये जाते हैं इसलिये ऋग् को साम की योनि कहा है। मंत्रों के अन्य प्रकार के उच्चारणों से मन्त्रों का गान भगवान् को ज़्यादा प्रिय है। लोक में भी अच्छे स्वर से गाया गाना लोगों को प्रिय रहता है। सामवेद शास्त्र-पद्धति से गाया जाता है, जबकि आजकल के गान केवल मन को रिझाने वाले हैं। वेदों में सामवेद अर्थात् जिस ढंग का गान वेदों में प्रतिपादित है उस प्रकार का गान मेरी विशेष विभूति है। देवताओं में देवताओं का राजा इंद्र मेरा रूप है। राजा होने से वह श्रेष्ठ है यह स्पष्ट ही है। इंद्रियों के अन्दर मैं मन हूँ। इस प्रसंग में प्रायः निर्धारण में षष्ठी है

अर्थात् घटकों में से किसी एक को विभूति निर्धारित कर दिया है, जैसे आदित्य-गण में आये विष्णु को विभूति कह दिया। कहीं सम्बंध-द्योतन के लिये षष्ठी है, जैसे नक्षत्रों से सम्बद्ध शशी को विभूति कहा। वहाँ शशी को नक्षत्रविशेष नहीं कहा है। सामवेद भी वेद है, चार वेदों में उसे श्रेष्ठ बता दिया। इंद्र भी देवता है, उसे देवताओं में श्रेष्ठ कह दिया। किंतु इंद्रियों का अधिपति होने से मन श्रेष्ठ है। मन को इंद्रिय नहीं माना गया है। जहाँ मन को इंद्रियों के साथ गिन लेते हैं, वहाँ भी गिनती वैसी ही मानी जाती है जैसे महाभारत बहुत श्रेष्ठ है, इसलिये कई जगह पर महाभारत को चार वेदों के साथ पंचम वेद कहा है। वहाँ तात्पर्य यह नहीं है कि महाभारत वेद है, केवल उसको वेदों के जैसा श्रेष्ठ बतलाने में तात्पर्य है। इसी प्रकार मन को इंद्रियों के साथ गिनते हैं तो तात्पर्य है कि मन सब इंद्रियों को चलाने वाला है। इंद्रियाँ बाह्य विषयों को प्रकट करती हैं। घट पट के रूप रस आदि को दिखलाती हैं। मन बाहर की चीज़ों को तो प्रकट करता नहीं, वह केवल अंतःकरण है, अन्दर की चीज़ों को प्रकट करने का साधन है। इसलिये उसको इंद्रियों से अलग कहते हैं। विषयों को प्रकट दोनों करते हैं, यह तो दोनों में सम्बंध हो गया, अन्दर की चीज़ों को मन प्रकट करता है, बाहर की चीज़ों को इंद्रियाँ प्रकट करती हैं। प्रकट करने वाले होने से दोनों का सम्बंध बन जाता है। मन इंद्रियों पर नियंत्रण करता है क्योंकि संकल्प-विकल्प-पूर्वक ही इंद्रिय की प्रवृत्ति होती है, इसलिये उनका वह अधिपति माना जाता है।

'भूतानाम् चेतना अस्मि', भूत अर्थात् शरीर इंद्रियादि का संघात। जैसे मोटर का जो बाह्य शरीर हम लोगों को दीखता है वह चलने वाला है और अन्दर जो यंत्र लगा हुआ है वह चलाने वाला है, इसी प्रकार जो शरीर हमें दीखता है वह चलने वाला है, इसके अंदर जो सूक्ष्म शरीर है, वह इसको चलाता है। इस कार्यकरणसंघात अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरों के सम्मिलित रूप में हमेशा एक बुद्धिवृत्ति मौजूद रहती है, जो अनुभव कराती है 'मैं चेतन हूँ'; वह शरीर को भी चेतन अनुभव कराती है, इंद्रियों को भी चेतन अनुभव कराती है। संघात चेतन है तो नहीं लेकिन बुद्धिवृत्ति के कारण इसका सम्बन्ध चेतन से हो जाता है। जाग्रत् काल में चेतना हमेशा बनी ही रहती है। नित्य अभिव्यक्त होने के कारण इसे भगवान् ने विभूति बताया ।। २२।।

और विभूतियाँ बताते हैं -

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।। २३।।

रुद्रों में शंकर, यक्षों व राक्षसों में धनपति कुबेर, वसुओं में पावक, और चोटी वालों में मेरु हूँ।

जैसे द्वादश आदित्य हैं, वैसे ही वीरभद्र, शंभु गिरीश, अज, एकपाद, अहिर्बुध्न्य,

पिनाकी, भवानीश, कपाली, दिक्पति, और स्थाणु ये एकादश रुद्र हैं। उन ग्यारह रुद्रों के अंदर शंकर अर्थात् शंभु नाम का रुद्र मैं हूँ। शंकर रुद्र तो है ही, साथ में रुद्रों का अधिपति भी है जैसे देवताओं का अधिपति इंद्र है। इसलिये शंकर की विशेषता है। और वह हमेशा प्राणियों का कल्याण करने वाला है इसलिये भी विशेष है। शम् अर्थात् कल्याण, कल्याण करने वाला शंकर है। रुद्र देवता भीषण रूप वाले हैं, उनमें शंकर रूप से भी सौम्य है, और क्रिया से भी सौम्य है, इसलिये इसकी विशेषता है। यक्ष और राक्षसों के अन्दर मैं वित्तेश अर्थात् कुबेर हूँ। देवलोक में धन इत्यादि का सारा कार्य यक्ष लोग करते हैं। धन आदि का रक्षण करने वाले जो हैं उन्हें रक्षः कहा है, वे रक्षा करने वाले हैं। धन जहाँ भी होगा वहाँ उसकी रक्षा ज़रूरी हो जाती है। धन एक ऐसी चीज़ है जिसके प्रति सब लोगों का आकर्षण होता है। खाली आजकल के ज़माने के नोट को ही धन नहीं समझ लेना, पशु भी धन है, रत्न, स्वर्ण आदि सभी धन है। ये सब चीज़ें ऐसी हैं जिनके प्रति लोगों का सहज आकर्षण रहता है। अतः ज़रूर ये किसी-न-किसी के द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं। इसलिये 'यक्ष-रक्षसाम्' यों साथ गिना है। वित्तेश अर्थात् कुबेर इनका अधिपति होने से श्रेष्ठ कहा गया। 'वसूनां पावकश्चास्मि' द्वादश आदित्य हैं, एकादश रुद्र हैं, वैसे ही धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास - ये आठ वसु हैं। उन आठ वसुओं के अन्दर पावक अर्थात् अग्नि (अनल) विशेष रूप है। 'मेरुः शिखरिणाम्', जो बड़े-बड़े शिखर वाले, चोटी वाले पहाड़ हैं उनके अंदर मैं मेरु हूँ। मेरु पर्वत के चारों ओर सारे ग्रह नक्षत्र इत्यादि चक्कर लगाते हैं। मेरु पर्वत के बारे में जैसा वर्णन आता है वैसा हम लोगों के देखने में तो कोई पहाड़ नहीं आता परन्तु शास्त्रसिद्ध है। नक्षत्र ग्रह इत्यादियों की सारी गतियाँ मेरु के चारों ओर हो रही हैं। वही सबका केन्द्र है, इसलिये वह श्रेष्ठ है ।।२३।।

अन्य विभूतियों का उल्लेख करते हैं-

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।। २४।।

हे पार्थ! पुरोहितों में प्रधान जो बृहस्पति उन्हें मैं समझो। सेनापतियों में स्कन्द एवं जलाशयों में सागर हूँ।

पुरोधा अर्थात् पुरोहित; जो आगे चल कर तुम्हारा हित सोचे उसको पुरोहित या पुरोधा कहते हैं। अतः पुरोहित हमारे यहाँ बहुत ही मान्य पद है। तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति इत्यादि आने वाली हो तो वह पहले से ही सारी व्यवस्था रखता है। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही इसलिये अग्नि को पुरोहित कहा है। पुरोहितों के अंदर मुख्य बृहस्पति हैं। देवताओं के वे पुरोहित हैं। सेनानी अर्थात् सेनापति; उनके अंदर देवताओं की सेना का अधिपति होने से स्कन्द अर्थात् कार्तिक स्वामी श्रेष्ठ हैं। 'सरसाम्' जो देवताओं के

द्वारा खोदे गये तालाब हैं, उनको सरस कहते हैं। उनके अन्दर देवताओं के द्वारा खोदा हुआ सबसे बड़ा तालाब सागर है। पश्चिम में उड़ीसा, मद्रास और पूर्व में बर्मा - इनके बीच के समुद्र को साहित्य में प्रायः 'सागर' कहते हैं। इसकी ठीक सीध में उत्तर में हिमालय की चोटी पड़ती है जिसको आजकल माउन्ट एवरेस्ट कहते हैं, और हिंदी में 'सागर माथा' कहते हैं मानो वह सागर का सिर है। इसी में गंगा जी का संगम होता है, अतः इसकी श्रेष्ठता सुगम है ।। २४।।

विभूति-कथन का ही क्रम चलाते हुये बताते हैं -

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।। २५।।

महर्षियों में भृगु, शब्दों में ओंकार, यज्ञों में जप यज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय हूँ।

महर्षियों के अंदर भृगु नाम का महर्षि मैं हूँ, क्योंकि उसी के कुल में आगे चल कर परशुराम पैदा हुए। भृगु की शक्ति इतनी थी कि स्वयं भगवान् विष्णु की परीक्षा करने के लिये उनको भी लात मारी थी! इस प्रकार अत्यधिक शक्ति से सम्पन्न होने से अन्य ऋषियों की अपेक्षा भृगु को भगवान् ने अपनी विभूति बतलाया। एक बात याद रखना कि दानवों का पुरोहितत्व भी भृगु ने किया है इसलिये भी उनकी श्रेष्ठता है। 'गिराम्' अर्थात् शब्दों में, पदों में, 'एकम् अक्षरम्', एक अक्षर जो ओंकार है वह साक्षात् परमात्मा का प्रतीक होने के कारण श्रेष्ठ कहा गया है। यद्यपि उसके अन्दर तीन अक्षरों की कल्पना होती है- अ, उ, म्, तथापि उसका स्वरूप तो एकाक्षर ही है। कई जगह ॐ को एकाक्षर कहा गया है। है वह एकाक्षर, उसके अन्दर अकार उकार मकार की कल्पना होती है। परमेश्वर के तीनों रूपों को प्रकट करने के लिये जीवों की तीनों अवस्थाओं को भी बतलाने वाली वह कल्पना हो जाती है। इस प्रकार कहने को तो एक अक्षर है, पर उसमें अनेक तरह की चीज़ें कल्पित हो जाती हैं इसलिये वह श्रेष्ठ है। भगवान् का साक्षात् नाम होने से भी श्रेष्ठ है।

यज्ञ - परमेश्वर के निमित्त से या देवताओं के निमित्त से जो पूजा पाठ इत्यादि किये जाते हैं वे सब यज्ञ हैं। तीन चीज़ें जहाँ होती हैं, वहाँ यज्ञ सम्पन्न हो जाता है : एक तो मन्त्र का उच्चारण होना चाहिए; दूसरा, किसी द्रव्य का त्याग होना चहिए; और तीसरा, त्याग किसी देवता के उद्देश्य से होना चाहिए। ये तीन चीज़ें जहाँ होती हैं, वह यज्ञ हो जाता है। जितनी भी पूजा इत्यादि करते हैं, उसमें मन्त्र का भी उच्चारण होता है, कोई-न-कोई फूल, चन्दन आदि द्रव्य चढ़ाया जाता है और किसी-न-किसी देवता के उद्देश्य से अर्पित किया जाता है। इस प्रकार के जो अनेक यज्ञ हैं, स्वयं भगवान् ने भी पहले कई यज्ञ गिनाए थे, उन सब में जप यज्ञ की श्रेष्ठता है। जप यज्ञ

की श्रेष्ठता एक तो इसलिये है कि इसके अन्दर हिंसा इत्यादि की कोई सम्भावना नहीं है। यदि अग्नि को जलाकर यज्ञ करते हैं तो कितना भी सावधान रहें पर कोइ-न-कोई कीड़े मकौड़े इत्यादि मर ही जाते हैं। द्रव्य की शुद्धि भी बड़ी कठिन होती है। अपनी तरफ से कितना भी सावधान रहें लेकिन अधिकतर पदार्थ लेने तो दूसरों से ही पड़ेंगे, उसमें दोष की सम्भावना रह ही जाती है। थोड़ा भी बड़ा यज्ञ हो तो कई पुरोहितों का उसमें योगदान रहता है। उनमें से किसी का उच्चारण ठीक न होवे तो भी यज्ञ ठीक तरह से सम्पन्न नहीं हो पाता है। कई बार उससे बहुत बड़े अनिष्ट भी हो जाते हैं। एक बहुत बड़े ऋषि थे, उन्होंने अच्छे-अच्छे पुरोहितों को चुन कर पुत्रेष्टि यज्ञ किया, ऋषियों में सामवेदी बूढ़ा था। इसलिये कहीं-कहीं पर उसका स्वरभंग हो जाता था, बुढ़ापे के कारण। जो कामनापूर्वक कर्म करता है, वह चाहता है कि त्रुटि न रहे ताकि फल अवश्य मिले। यजमान ऋषि जानकार थे अतः स्वरदोष पहचान लेते थे जिसके फलस्वरूप उन्हें गुस्सा आ गया। स्वाभाविक है। गुस्से में उससे कहा कि 'अरे! तुम्हें पता है कि मैं पुत्र के लिए यज्ञ कर रहा हूँ, फिर भी तुम स्वरभंग कर रहे हो!' उसने कहा 'भाई, शरीर बूढ़ा हो गया है तो बीच में स्वरभंग हो जाता है। इस बात के लिये तुम इतना क्रोध कर रहे हो तो जाओ तुम्हें लड़का तो होगा लेकिन गूंगा होगा।' यजमान, ऋषि ने हाथ जोड़ कर किसी तरह उनको खुश किया तो उन्होंने कहा 'बारह साल के बाद वह बोलने लगेगा।' ये सब कठिनाइयाँ जप यज्ञ में नहीं हैं। बाह्य किसी द्रव्य का तुमको उपयोग नहीं करना है, किसी दूसरे का तुमको साथ नहीं लेना है। परन्तु जप के लिये खुद अपनी शुद्धि पूरी चहिए। इसलिये कहा है कि जिस हाथ से जप करते हो वह चाहे जो प्रतिग्रह लेने से अशुद्ध हो जाता है। दूसरों की स्त्रियों इत्यादि का चिन्तन करने से मन दुष्ट हो जाता है। और जिस जीभ से तुम जप करते हो उससे अगर असत्य बोलते हो तो वह वाणी अपवित्र हो जाती है। जप में सिद्धि के लिये इन तीनों अपवित्रताओं से बचना चाहिये। अशुद्ध प्रतिग्रह से, झूठ से, परायी स्त्री आदि वस्तुओं के चिन्तन से दूर रहकर ही जप का सफल अभ्यास सम्भव है। ये सब अपने करने के कार्य होने से सरलता, स्वतंत्रता है। बाह्य यज्ञों में तो दूसरों का सहारा लेना पड़ता है, अतः परतंत्रता है। यही जप यज्ञ की विशेषता है।

'स्थावराणां' जो चीज़ें चलती फिरती नहीं हैं, स्थिर रहती हैं, उनमें हिमालय भगवान् की विभूति है। स्थिरता को देने वाली चीज़ वजन है और हिमालय का वजन सबसे ज़्यादा है। हिमालय को कालिदास ने सारे संसार को तोलने वाला दण्ड कहा है। वह अत्यन्त स्थिर है, उससे ज़्यादा कोई स्थिर या भारी चीज़ है ही नहीं, इसलिये उसकी श्रेष्ठता है। इस प्रसंग में ख्याल रखना है कि विशेषता बताई है इस लिये उपपत्ति या कारण खोज लेते हैं, ऐसा नहीं कि इन कारणों से विशेषता का निर्धारण है! विशेषता तो भगवान् ने बता दी, उसे हृदयंगम करने के लिये हेतु समझ लिये जाते हैं।।२५।।

अन्य विभूतियाँ कहते हैं -

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।। २६ ।।

सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ एवं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

पेड़ों के अंदर पीपल मेरी विभूति है। इस संसार की उपमा प्रायः अश्वत्थ से वेदों में दी है। वेद कहता है कि 'एषोऽश्वत्थः सनातनः' संसार सनातन अश्वत्थ है। भगवान् भी पन्द्रहवें अध्याय में बतलायेंगे कि यह संसार अश्वत्थ है। कभी पीपल के पत्ते को देखोगे तो चाहे बिलकुल भी हवा नहीं चल रही हो, उसका पत्ता कुछ-न-कुछ हिलता ही रहेगा। इसलिये संसार की चंचलता इसको देखने से मन में तुरन्त स्फुरित होती है। यह इसकी श्रेष्ठता है। इसका नाम भी इसलिये रखा गया 'श्वो न तिष्ठति इति अश्वत्थः', 'श्वः' मायने आगामी कल, आगामी कल तक जो नहीं रहता है उसको अश्वत्थ कहते हैं। इसका पत्ता चाञ्चल्य को दिखला देता है और इसका नाम भी अस्थिरता को प्रकट कर देता है। पीपल को पानी देना, पीपल के नीचे दीपक रखना इत्यादि अनेक प्रकार के स्मार्त कर्मों के अंदर पीपल की श्रेष्ठता वैसे भी प्रकट है।

देवर्षियों के अन्दर नारद हूँ। देवर्षियों के अन्दर नारद की श्रेष्ठता इसलिये है कि नारद ने सनत्कुमारों से आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति की। जब तक वह ज्ञान नहीं मिला तब तक संतोष नहीं किया। सारे शास्त्रों का उन्होंने अध्ययन कर लिया, सब कुछ पढ़ लिया, जान लिया, परन्तु उन्होंने देखा कि सब प्राप्त करके भी शोक-मोह तो दूर हुआ ही नहीं! प्रायः जितना बड़ा विद्वान् होता है उतना बड़ा उसमें औद्धत्य होता है। 'मैं सब जानता हूँ' यह भावना स्वभाव से रहती है विद्वानों के अन्दर। नारद सबसे बड़े विद्वान् होकर भी इस अभिमान से रहित थे। बल्कि उनके मन में यही आया कि 'ये सब पढ़ कर क्या हुआ! शोक-मोह तो दूर हुआ ही नहीं।' विद्या ने उनके अन्दर मद नहीं लाया। इसलिये उनकी श्रेष्ठता है। वैसे पुराणों में अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनमें स्पष्ट है कि भगवत्-लीला के अन्दर हमेशा ही कहीं-न-कहीं नारद का कोई-न-कोई सहाय अपेक्षित रहता है। भगवान् की लीला को पूरी करने के लिये वे अवश्य सचेष्ट रहते हैं। इसलिये उनकी श्रेष्ठता है।

गंधर्वों में चित्ररथ नाम का जो गन्धर्व है उसने भगवान् शंकर की दीर्घ काल तक सेवा की थी। परमेश्वर की तरफ गन्धर्वों की प्रवृत्ति प्रायः नहीं होती है। गन्धर्व गान, नृत्य और इसी प्रकार की कलाओं के आनन्द को लेने में हमेशा लगे रहते हैं अतः भगवान् की तरफ प्रवृत्ति नहीं कर पाते, पर चित्ररथ ने गन्धर्व होकर भी नाच-गाना आदि से अपनी पूर्णता नहीं समझी और भगवान् की तरफ गया, इसलिये उसकी

श्रेष्ठता है।

सिद्ध भी एक वर्ग-विशेष है; जैसे यक्ष हैं, राक्षस हैं, गन्धर्व हैं, उसी प्रकार से सिद्ध भी देववर्ग में आते हैं। जन्म से ही उनमें धर्म भी बहुत होता है, ज्ञान भी बहुत होता है, वैराग्य भी बहुत होता है, ऐश्वर्य भी बहुत होता है। ये सब जिसके अन्दर होते हैं वे ही सिद्ध कहे जाते हैं। लोक में भी ऐसी विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न को लोग सिद्ध कहते हैं। जो किसी-न-किसी ज्ञान, वैराग्य, धर्म इत्यादि ऐश्वर्यों के अन्दर पूर्ण होता है वह जिस कार्य को करता है वह लोगों को चमत्कार लगता है। जिस मनुष्य में भी ऐसी एक-आध शक्ति भी देखने में आती हैं, उसको सिद्ध कह देते हैं। कपिल मुनि के अन्दर सारे ही ये गुण मौजूद थे, इसलिये इनकी श्रेष्ठता है। पुराणों में एक कपिल को भगवान् का अवतार भी कहा है। उनसे अलग करने के लिये केवल कपिल नहीं कहा, मुनि कह दिया। सांख्य शास्त्र को बनाने वाले कपिल को यहाँ विभूति कहा है। भगवान् के अवतार कपिल, जिन्होंने सगरपुत्रों का संहार किया था, विभूतिरूप कपिल मुनि से अलग हैं।। २६।।

ध्येय विभूतियाँ और भी हैं यह बतलाते हैं -

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।। २७।।

घोड़ों में मुझे उच्चैःश्रवा समझो जो अमृतनिमित्त समुद्र-मंथन से उत्पन्न हुआ था। श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत एवं नरों में नरों का अधिपति, राजा मुझे समझो।

‘अमृतोद्भवम्’ मायने अमृत के निमित्त जब मंथन किया गया था तब जो पैदा हुआ था; यह इसकी श्रेष्ठता में निमित्त है। इसी प्रकार जो बड़े-बड़े हाथी हैं गजेन्द्र हैं, उनमें ऐरावत मेरी विभूति है। सामान्य हाथी को गज कहते हैं और बहुत बड़े हाथी को गजेन्द्र कहते हैं। इरावती से पैदा हुआ हाथी ऐरावत है। इन्द्र उसके ऊपर सवारी करता है। बाकी सब हाथियों के एक सूँड होती है, ऐरावत की सात सूँडे हैं अतः उसकी श्रेष्ठता स्पष्ट ही है। इसी श्रेष्ठता के कारण दिव्य माला आदि उसे मिल जाती हैं।

‘नराणां च नराधिपम्’, नरों में राजा मेरी विभूति है। अन्यत्र शास्त्र में बतलाया है कि आठों वसुओं के अंश राजा के शरीर में हुआ करते हैं। राजा बनता है तो उसको जिन वैदिक मंत्रों से अभिषिक्त करते हैं, उनसे उसके अन्दर सारे देवताओं का आवाहन करके स्थापन कराया जाता है। इसलिये उसकी श्रेष्ठता है कि अभिषेक के द्वारा देवताओं का उसके अन्दर वास कराया गया है। वहाँ राजा को सबका राजा बतलाया है पर उस मंत्र के अन्त में आता है, ‘सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा’, अभिषेक करने वाला ब्राह्मण कहता है कि बाकी सबके तुम राजा हो पर हम ब्राह्मणों के राजा तो

भगवान् शंकर ही हैं। राजा सबको हुक्म देगा, लेकिन किसके आधार से? ब्राह्मण उसे जो ठीक बतलाएँगे उसके आधार पर। जब तक सोम राजा वाले ब्राह्मणों के अनुरूप रहेगा तभी तक वसुओं का नराधिपमें वास रहेगा, अन्यथा वे छोड़कर चले जाते हैं। राजा में तभी तक देवताओं का वास रहता है जब तक वह परमेश्वर के भक्त ब्राह्मणों के अनुसार रहे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार आठ वसुओं का वास होने के कारण राजा श्रेष्ठ है।। २७।।

भगवान् अपनी विभूतियों का विस्तार करते हुए कहते हैं -

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।। २८।।

आयुधों में वज्र, धेनुओं में कामधेनु तथा सर्पों में वासुकि हूँ। किं च प्रजोत्पादक काम मैं हूँ।

युद्ध के अन्दर जिसको फेंक कर मारते हैं उसे आयुध कहते हैं। आयुधों के अन्दर इंद्र के हाथ में रहने वाला वज्र भगवान् की विभूति है। वज्र बनाने के लिये दधीचि महर्षि ने अपनी रीढ़ की हड्डी प्रदान की थी और उसके अन्दर सभी देवताओं ने अपनी शक्ति स्थापित की थी। इसलिये सब देवताओं के द्वारा प्राप्त शक्ति वाला और दधीचि के द्वारा दिया गया होने से उसकी श्रेष्ठता है। देवताओं के ऊपर जब दानवों का आधिपत्य होने लगा तब उन्होंने अपने शस्त्रों को छुपाने के लिये दधीचि के आश्रम में रख दिया। दधीचि महर्षि ने सोचा की दानवों को पता लगेगा तो हम लोगों को मारेंगे और ये अस्त्र-शस्त्र भी उनके हाथ लग जायेंगे। अतः उन्होंने उन सब अस्त्रों को घोल कर पी लिया। बाद में देवताओं को ज़रूरत पड़ने पर उन्होंने अपनी हड्डी प्रदान की जिससे वज्र बना। इस तरह देवताओं के सारे अस्त्र वज्र रूप से बने और फिर उनके अन्दर देवताओं ने विशेष शक्तियों का आधान किया, इन सब कारणों से वज्र की श्रेष्ठता है।

धेनु कहते हैं दूध देने वाली गाय को। दूध देने वाली गायों के अन्दर कामधुक्, कामधेनु विभूति है। सामान्य गायों से केवल दूध दुहा जाता है, पर कामधेनु सारी कामनाएँ पूरी करती है, अतः इसका महत्त्व है। वशिष्ठ ने कामधेनु के द्वारा ही विश्वामित्र पर विजय प्राप्त की थी। विश्वामित्र से वशिष्ठ ने स्वभाव से ही कहा 'यहीं ठहर जाइये।' कोई भी आवे तो आदमी ऐसा कहता ही है। विश्वामित्र को बड़ा घमण्ड था। उसने कहा 'अरे! मैं अकेला थोड़े ही हूँ, मेरी बड़ी फौज पलटन है, कहाँ ठहरूँगा?' वशिष्ठ जी से उसका मद सहन नहीं हुआ। उन्होंने कहा 'ले आओ सबको' कामधेनु की सहायता से उन्होंने वहीं सबके रहने की जगह बना दी, खान-पान की भी सारी व्यवस्था कर दी। विश्वामित्र ने देखा कि अरे! इनके पास तो यह सारा वैभव है, उन्होंने

पूछा 'इतना सब वैभव कहाँ से आया?' ऋषि झूठ बोलना तो जानते नहीं थे, उन्होंने कहा 'यह मेरी गाय है, इससे सब मिल जाता है।' विश्वामित्र पीछे पड़ गये कि 'गाय मैं ले जाऊँगा, क्योंकि जो भी रत्नभूत चीज़ होती है, श्रेष्ठ चीज़ होती है, वह राजा की होती है।' वशिष्ठ ब्राह्मण थे इसलिये उनके गौ रत्न के ऊपर राजा विश्वामित्र का अधिकार तो था नहीं, पर राजमद में इस बात का विचार नहीं किया। कामधेनु को जब ज़बरदस्ती ले जाने लगा तब महर्षि वशिष्ठ ने कह दिया 'माँ! मैं तो असमर्थ हूँ, तू ही अपनी रक्षा कर ले।' तब उसने जो फुंफकारा, उससे असंख्य प्राणी निकले जिन्होंने विश्वामित्र की फौज को ठण्डा कर दिया। इस प्रकार से दण्ड देने की शक्ति भी उन्होंने उससे दुह ली, भोग देने की शक्ति भी उन्होंने उससे दुह ली, इसलिये उसको यहाँ विशेष विभूति बतलाया है। लोक में कुछ विशेष गायें होती हैं, जिनसे जब चाहो तब दुह सकते हो। देतीं थोड़ा दूध हैं परन्तु दिन में चाहे दस बार दुह सकते हो। ऐसी गायों को भी कामधेनु कहते हैं। अतः यहाँ यह भी अभिप्राय है कि दुधारू गायों में ऐसी गाय श्रेष्ठ है, गायों में उस की भी उपासना हो सकती है। इसलिये भाष्यकार ने दोनों ही अर्थ बतला दिये हैं।

इसी प्रकार 'कन्दर्पः,' काम भी मेरा रूप है। लेकिन कौन-सा काम? तो कहा 'प्रजनः,' जो पुत्रोत्पत्ति के हेतु काम है। पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से नहीं किया हुआ काम मेरा रूप नहीं है। पुत्रोत्पत्ति को यज्ञविशेष माना गया है, उसमें कौन-कौन से अंग यज्ञ से कैसे सम्बद्ध हैं इत्यादि सब उपनिषदों में बताया है। गर्भाधान एक संस्कार है। समावर्त्तन के समय भी यही आदेश गुरु देते हैं कि हमें मनचाही दक्षिणा देकर के जाओ और जाकर प्रजातन्तु मत तोड़ना, प्रजा होवे, इसके लिये प्रयत्न करना। पुत्र उत्पन्न करना एक विहित कर्म है, धर्म है। पितृऋण पुत्र से चुकाया जाता है यही कंदर्प की श्रेष्ठता में हेतु है। परन्तु इस उद्देश्य को छोड़ करके अन्यत्र जहाँ काम है, वह भगवान् का रूप नहीं है। इसी प्रकार सर्पों के अन्दर मैं उनका राजा वासुकि हूँ। अगले श्लोक में नागों को पृथक् कहेंगे। नाग व सर्प विभिन्न जातियाँ हैं सरीसृपों की ।।२८।।

अन्य विभूतियाँ कहते हैं -

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।२९।।

नागों में अनन्त हूँ, जलचरों में (या जल देवताओं में) वरुण हूँ, पितरों में अर्यमा हूँ, और संयमन करने वालों में यम हूँ।

सर्पों का विशेष भेद है नाग, जिनके गले पर त्रिशूल का चिह्न होता है। नागों में मैं अनन्त नाग हूँ, जो सारे संसार के बोझ को लिए रहता है। अनन्त पर ही भगवान् विष्णु शयन भी करते हैं। अनन्त को भगवान् विष्णु का ही रूप मानते हैं। जो चतुर्व्यूह

की दृष्टि से उपासक हैं, उनके यहाँ भगवान् वासुदेव चार व्यूहों में प्रकट होते हैं - वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध; इनमें संकर्षण अनन्त नाग हैं। अतः इनका विभूति होना उचित है। 'यादसाम्' अर्थात् जितने भी जल-सम्बंधी जन्तु हैं अथवा जल-सम्बंधी देवता हैं, उनमें वरुण विभूति हैं। जहाँ भी बड़ा तालाब इत्यादि जल का समूह होता है वहाँ उस सबका एक अधिष्ठाता देवता भी होता है। जिस प्रकार से गाँव बनता है तो गाँव का एक देवता भी हो जाता है, ग्राम देवता। जब तुम घर बनाते हो तब घर का भी एक देवता हो जाता है, जिसे गृहदेवता भी कहते हैं, स्थान-देवता भी कहते हैं। नियमित रूप से जहाँ संघात होगा वहाँ उसका अधिष्ठाता अवश्य होगा, ऐसी हम लोगों की मान्यता है। इसी प्रकार से जलों का जहाँ समूह होता है, वहाँ उन सबके देवता होते हैं। इसीलिये किसी भी अज्ञात जल में जहाँ प्रवेश करना होता है, वहाँ पहले उस देवता को नमस्कार करके फिर उस जल में प्रवेश करते हैं। उन देवताओं के राजा वरुण हैं, वे भगवान् की विभूति हैं। 'पितृणाम् अर्यमा अस्मि,' पितरों के लोक का राजा अर्यमा है। हम लोग भी रोज़ शान्तिपाठ में कहते हैं, 'शन्नो भवतु अर्यमा'। अर्यमा देवता पितरों का राजा है, वह भी परमेश्वर की विभूति है। और 'संयमताम्', जो लोग दूसरों को नियन्त्रण में रखने वाले हैं, ऐसे नियन्त्रण में रखने वालों में यम नामक सबका अधिपति मैं हूँ। नियमन करने वालें में यम की प्रसिद्धि है, वह सभी प्राणियों को ठीक समय पर मृत्यु इत्यादि के द्वारा फल दे देता है, कोई भी उस के शासन से बचता नहीं है।। २६।।

विभूतिभेद का ही विस्तार कहते हैं -

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। ३०।।

दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गिनने वालों में समय हूँ, जानवरों में शेर हूँ, और पक्षियों में गरुड हूँ।

दैत्य कुल के अन्दर राक्षसी प्रवृत्ति के लोग ही अधिक होते हैं। किन्तु दैत्य कुल के अन्दर प्रसिद्ध प्रह्लाद सात्त्विक गुणों वाला हुआ है। परमेश्वर का परम भक्त था। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी उसने परमेश्वर की शरणागति को नहीं छोड़ा। भक्तों में श्रेष्ठ है, इसलिये इसका विभूतिरूप युक्त है। 'कलयताम्' गिनती करने वालों में काल ही सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि अनादि काल से आज तक वह एक ही ऐसी गिनती है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। हर चीज़ काल के अनुसार परिगणित होती ही चली जाती है। प्राचीन काल से लोग हर कार्य में काल का ध्यान रखते रहे हैं। किसी भी कार्य को सही गणनापूर्वक निश्चित किये काल में ही करते हैं, जितने भी विवाह आदि कर्म हैं, सबके लिये निश्चित काल है, उसमें ही करना पड़ता है। आज कल काल की जो

मूर्ति है घड़ी, उसे हाथ में तो लोग बाँध लेते हैं, परन्तु काल के अनुसार कार्य नहीं करते। प्राचीन काल में हम लोगों में काल की पाबन्दी बहुत ज़्यादा थी, हर कार्य का मुहूर्त होता था, उस समय ही वह कार्य करते थे। वर्त्तमान काल में हम लोगों का उस तरफ बिलकुल ध्यान नहीं रहता है। मृग अर्थात् वन्य पशु, जंगल के जानवर, उनका राजा सिंह या व्याघ्र कहा जाता है। मृगेन्द्र सिंह को भी कहते हैं, व्याघ्र को भी कहते हैं। है तो वह भी वन्य पशु लेकिन उनका राजा है इसलिये श्रेष्ठ है। भगवान् विष्णु ने भी नृसिंह रूप को ही ग्रहण किया था। पक्षी अर्थात् उड़ने वाले; उड़ने वालों में जो सबसे अधिक तेज़ है, वह गरुड है। पक्षियों का राजा होने से, भगवान् विष्णु का वाहन होने से और सबसे ज़्यादा तेज़ उड़ने वाला होने से भी वह भगवान् की विभूति है, यह स्पष्ट ही है। पांचरात्र तन्त्रों के अनुसार गरुड की पूजा के बाद ही भगवान् विष्णु की पूजा होती है। अतः वह श्रेष्ठ है।। ३०।।

अन्य विभूतियाँ गिनाते हैं-

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।। ३१।।

पवित्र करने वालों में पवन हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ, मछलियों में मकर हूँ, एवं वेगवाली नदियों में गंगा हूँ।

'पवताम्', किसी भी चीज़ को शुद्ध करने वालों में पवन अर्थात् वायु मैं हूँ। जैसे ऊन के कपड़े को हवा लगा दो तो बिना धोये ही शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार से नदी के अन्दर पता नहीं कितनी गन्दगी डाल देते हैं लोग, परन्तु दस बारह मील आगे जाते-जाते जल बिलकुल शुद्ध हो जाता है। उसे शुद्ध करने वाली सूर्य की रश्मियाँ और वायु, दो ही चीज़ें हैं। इसलिये शुद्ध करने वाली चीज़ों के अन्दर वायु को विभूति कहा गया है। उपनिषदों में तो वायु को ब्रह्म का प्रतीक कहकर नमस्कार किया गया है। वायु की ब्रह्मरूपता का उपनिषदों के अन्दर भी प्रतिपादन होने से उसकी श्रेष्ठता स्पष्ट ही है। 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि', ऐसा उपनिषदों में कहा गया है। 'शस्त्रभृताम्', शस्त्र धारण करने वालों में दशरथ के पुत्र राम मेरी विभूति हैं। राम नाम से तीन बड़े प्रसिद्ध भगवान् के रूप हुये- परशु धारण करने वाले राम, धनुष धारण करने वाले राम और हल धारण करने वाले बलराम। ये तीनों ही भगवान् के अवतार कहे गये हैं। इसलिये जहाँ अवतारों का वर्णन करते हैं, वहाँ 'रामो रामश्च रामश्च' तीन राम कह देते हैं परशुराम, दाशरथी राम और बलराम। यहाँ कहा है 'शस्त्रभृताम्'। धनुर्वेद के अनुसार हाथ में पकड़ कर जिसे चलाया जाता है उसे शस्त्र कहते हैं और जिसे हाथ से छोड़कर, फैंककर चलाया जाता है, उसे अस्त्र कहते हैं, अस्त्र और शस्त्र में यह भेद है। अतः कुछ लोगों का कहना है कि हाथ में रख कर चलने वाला तो परशुराम का

फरसा ही है, इसलिये यहाँ परशुराम विभूति कहे हैं। किन्तु भाष्यकार ने 'दाशरथी रामोऽहम्' व्याख्या की है। शस्त्र को धारण करने वाले दाशरथी राम हैं ही, क्योंकि हमेशा उनके हाथ में धनुष रहता ही है।

'झषाणां' जो जल के अन्दर रहने वाली मछलियाँ इत्यादि हैं, उन सब में मगर ही प्रधान है। सबसे अधिक बलवाला है, इसलिये वह मेरी विभूति है। उसमें भी एक विशेष मगर था जिसने गजराज को पकड़ा था और उसको बचाने के लिये भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से उस मगर को मारा था। भगवान् के शस्त्र से निहत होने के कारण उसकी विशेषता है ही। दूसरा एक मकर है, जिसके ऊपर भगवती गंगा बैठती हैं। सामान्य रूप से मकर समझें अथवा गजेन्द्र को पकड़ने वाला मकर समझें अथवा गंगा के वाहन मकर को समझें, हर हालत में मकर भगवान् की विशेष विभूति है। 'स्रोतसाम्' जो पर्वत गुहा इत्यादि स्रोत से निकलती हैं, उन्हें 'स्रोतसाम्' में गिना। पहाड़ों में जाओगे तो जगह-जगह स्रोत से नदियाँ निकलती हैं। ऐसी जो स्रोत से निकलने वाली नदियाँ है, उनके अन्दर मैं जाह्नवी हूँ। भगवती गंगा को जाह्नवी इसलिये कहते हैं कि किसी कारणवश जह्नु महर्षि ने उसका पान कर लिया था, पी लिया था। फिर स्तुति करने पर उन्होंने विचार किया कि पवित्र गंगा को अपने मुख से निकालूँ तो ठीक नहीं, उच्छिष्ट हो जाएँगी, निम्न छिद्रों से निकालना तो और खराब है, अतः उन्होंने अपने दोनों कानों से ही गंगा जी को बाहर प्रकट कर दिया। इस प्रकार से जह्नु महर्षि के द्वारा प्रकट होने के कारण जाह्नवी कही जाती है। गंगा बिना किसी भेदभाव के मानवमात्र के लिये एक जैसी उपकारक है। इसलिये किसी भक्त ने कहा भी है कि कोई कहते हैं कि परमात्मा निराकार है, उसके आकार हैं ही नहीं। कोई कहते हैं परमात्मा साकार है, आकार होवे ही नहीं तो उसका कैसे ध्यान, चिन्तन किया जा सकता है! इन दोनों झगड़ों से हट कर मैं तो नीराकार का उपासक हूँ। उसको आकार कह भी नहीं सकते और आकार है भी। शास्त्र तो यहाँ तक कहता है कि 'गङ्गे गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि' हज़ारों मील दूर से यदि 'गंगा गंगा' ऐसे गंगा का उच्चारण भी करते हो तो भी पापों को धो डालते हो। साक्षात् गंगा के अंदर स्नान का तो क्या महत्त्व कहा जाए! उस गंगा की धारा को ही बंद किया जा रहा है यह भारत का दुर्भाग्य है।। ३१।।

अर्जुन को सम्बोधित कर और भी विभूतियाँ सुनाते हैं -

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।। ३२।।

अर्जुन! सृष्टियों का प्रारम्भ, बीच और समाप्ति मैं ही हूँ। विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ एवं प्रकृष्ट बातें कहने वालों के बात कहने के तरीकों में मैं वाद हूँ।

सर्ग अर्थात् सृष्टि। सृष्टियों का आदि-मध्य-अन्त मैं हूँ। भगवान् श्लोक २० में कह

आए हैं 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च,' उससे इसकी पुनरुक्ति लग सकती है, परन्तु वहाँ भूतों से चेतनों की सृष्टि आदि, जीवों की सृष्टि आदि कही थी और यहाँ सारी ही सृष्टि के प्रारम्भ आदि को कह रहे हैं। इस प्रकार से वहाँ भूत शब्द का प्रयोग और यहाँ सर्ग शब्द का प्रयोग होने से पुनरुक्ति नहीं है। 'सर्गाणाम्' में भगवान् ने बहुवचन कहा है। इसके द्वारा बतलाया कि सृष्टि एक नहीं है। सृष्टि और प्रलय का प्रवाह नित्य चलता रहता है। सृष्टि होती है, फिर प्रलय होता है, फिर सृष्टि होती है, फिर प्रलय होता है। ऐसा कुछ नहीं है कि कोई सर्वप्रथम सृष्टि हो। भगवान् कह रहे हैं कि हर सृष्टि का आदि तो मैं ही हूँ। सृष्टियों के भेद से सृष्टि-निर्माता का भेद प्राप्त होता है। इस सृष्टि को एक ने बनाया तो दूसरी सृष्टि को किसी और ने बनाया होगा - यह सम्भावना होती हैं। और पुराणों में अलग-अलग सृष्टियों को अलग-अलग ब्रह्मा ने बनाया है, इस प्रकार भी कहा गया है। भगवान् कहते हैं कि चाहे जिस ब्रह्मा से, चाहे जिस निमित्त से उत्पन्न होवे, वास्तविक कारण तो मैं ही हूँ।

जैसा यह सृष्टियों के प्रति समझना है वैसा ही हर चीज़ की उत्पत्ति के लिये समझना है। किसी चीज़ को बनाते हो तो उसको सर्ग कह देते हैं। धीरे-धीरे अभ्यास करना है यह समझने का कि कोई भी चीज़ होती है तो उस का कारण परमेश्वर ही है। बहुवचन से भगवान् ने यह संकेत दे दिया। जैसे आदि मैं हूँ, वैसे ही कोई भी चीज़ वापिस मुझ में ही लय होती है। इस विचार को जाग्रत् रखने के लिये हमेशा सीधा हिसाब रखो कि कोई कारण *है* तब कुछ भी कार्य उत्पन्न होगा और कार्य पुनः किसी न किसी *है* के अन्दर ही लीन होता है। धागा *है* तो कपड़ा बना; कारण धागा नहीं, धागा का हैपना है क्योंकि यदि धागे का हैपना न होवे तो कपड़ा नहीं बनेगा, 'धागा नहीं है' से तो कभी कपड़ा बनेगा नहीं! और बने हुये कपड़े को जला दिया तो राख *है।* कपड़ा कहाँ गया? राख है, जो है उसी में गया। सब कुछ सत् से ही उत्पन्न होता है और सत् के अन्दर ही जाता है। 'मध्यं चैवाहम् अर्जुन' जब तक कपड़ा रहता है तब तक भी कपड़ा है। कपड़ा पैदा होने से पहले भी कुछ है, कपड़े के काल में कपड़ा है, और कपड़े के नष्ट होने पर राख है। अतः है आदि में भी है अन्त में भी है और मध्य में भी है। इस प्रकार यह विभूति सदा प्रत्यक्ष है।

'अध्यात्मविद्या विद्यानां'। विद्या शब्द का अर्थ ऐसे स्थलों में होता है जो मोक्ष देने वाली है। शास्त्र कहते हैं 'सा विद्या या विमुक्तये', जो मोक्ष देती है उसको विद्या मानते हैं और बंधन की तरफ ले जाती है उसको अविद्या मानते हैं। मोक्ष देने वाली विद्याओं में अध्यात्म विद्या, जो आत्मा को अधिकृत करके विचार होता है, वह साक्षात् आत्म-ज्ञान को देकर के मोक्ष देती है, अतः श्रेष्ठ है। अध्यात्म शास्त्र होने से ही ब्रह्मसूत्र का प्राचीन काल से नाम है शारीरकमीमांसा। शारीरक अर्थात् शरीर में होने वाला जो स्वरूप है, उसका विचार। शरीर के अन्दर ही चेतन का अनुभव होता है, और कहीं

कभी चेतन का अनुभव नहीं होता है। कल्पना ज़रूर करते हैं कि सामने वाला चेतन है, परन्तु है या नहीं - इसका निर्णय नाडी, आँखें, हृदय आदि की गति पर ही निर्भर है। प्रत्यक्ष रूप से पता नहीं चलता है कि वह चेतन है। पर 'मैं चेतन हूँ' यह हमेशा अपरोक्ष होता है। एक ही स्थल ऐसा है जहाँ चेतन का प्राकट्य है, वह शरीर है। इसलिये शरीर में जो चेतन का विचार है वह साक्षात् आत्मज्ञान को देने वाला है। शरीररूप उपाधि के अन्दर चेतनता स्फुट है, केवल इसका विचार करना है कि यह चेतनता है क्या। अन्यत्र जब कभी परमात्मा का विचार करोगे तो हमेशा परोक्ष रूप से ही विचार रहेगा। वहाँ चेतनता का कभी भी अपरोक्ष हो नहीं सकता। इसीलिये ब्रह्मसूत्र को शारीरक मीमांसा कहा। अतः उसकी श्रेष्ठता बताई है।

'प्रवदतां वादः' आपस में जब लोग बातचीत करते हैं तब उसको प्रवाद कहते हैं। आपस में बातचीत तीन तरह से होती हैं : एक तरह की बातचीत जो आजकल के पढ़े-लिखों में बहुत है, उसको वितण्डा कहते हैं। वितण्डा जो करता है उससे पूछो 'भाई! तू बता, जवाब क्या है?' तो कहेगा 'मैं तो वितण्डा में प्रवृत्त हूँ, जवाब देना मेरा काम नहीं है। तुम जो कहो उसमें दोष दिखाना - बस यही मेरा काम है।' आजकल के पढ़े लिखों में वितण्डावाद बहुत प्रचलित है। जब कभी शास्त्रीय बातें आएँगी तब तो वे सब प्रकार के लाञ्छन लगाते चले जाएँगे। आगे उनसे पूछो कि 'तुम्हारा क्या समाधान है?' तब कहेंगे 'हमें पता नहीं है!' ऐसे वितण्डावादियों को जवाब देने के लिये आचार्यों ने तरीके बताये हैं। आचार्य श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य सबसे प्रमुख वितण्डा ग्रन्थ है। उसमें वेदान्ती की तरफ से, जितनी दूसरों की बातें हैं उनका खण्डन करते हैं। अन्त में प्रश्न उठाया कि 'आप क्या मानते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया है कि यदि तुम शास्त्रर्थ में पूछना चाहते हो तो हम वितण्डावादी हैं। इसलिये कुछ नहीं मानते! यदि सच्ची बात जानना चाहते हो तो जो उपनिषदों में लिखा है वही हम मानते हैं। उपनिषद् में लिखा है, इसलिये हम मानते हैं। तुम युक्ति से उसका खण्डन कर दो इससे हमें कोई फ़र्क पड़ेगा नहीं क्योंकि तुम्हारी युक्तियों का हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं। इस प्रकार का वितण्डावाद भी बातचीत करने का एक ढंग है। परन्तु उसके अन्दर किसी अर्थ का निर्णय नहीं होता। दूसरे का खण्डन वगैरह तो हो जाएगा - परन्तु आखिर इससे नतीजा क्या निकला यह पता नहीं क्योंकि निकला ही नहीं! अर्थ-निर्णय का हेतु वह प्रकार नहीं है। दूसरा बात चीत का ढंग होता है - तुमने किसी सिद्धान्त को माना है, हम किसी और सिद्धान्त को मानते हैं। हम अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने की युक्तियाँ भी देंगे और तुम्हारे सिद्धान्त में दोष देने की युक्तियाँ भी कहेंगे। इसी प्रकार तुम भी अपने सिद्धान्त के अनुसार अपनी बात को पुष्ट करोगे, हम जो कहेंगे उसका जवाब दोगे। यह ढंग उठा-पटक तो कर देगा, पर दोनों ही अपने-अपने पक्ष में पहले से निश्चित हैं, इसलिये इसमें भी अर्थ-निर्णय के लिये प्रवृत्त नहीं हुआ जाता है।

अर्थ-निर्णय के लिये ढंग वाद है। गुरु-शिष्य, साथ-साथ पढ़ने वाले साथी, ये आपस में जिस ढंग से बात करते हैं, उसको वाद कहते हैं। अगर तुमने ठीक ढंग से बात कही तो हम मान लेंगे और हमने कोई बात ठीक कही तो तुम मान लोगे। यह प्रक्रिया चले तब अर्थ का निर्णय होता है। इन तीन प्रकारों का जो प्रवदन है उसमें वाद अर्थनिर्णय का हेतु होने से ही मेरी विभूति है क्योंकि इसके द्वारा ही तत्त्व-निर्णय होता है। हम लोग शान्तिपाठ में कहते हैं 'सह वीर्यं' गुरु और शिष्य दोनों मिलकर के परिश्रम करें। केवल गुरु बोलता रहे और शिष्य उसको सुनता रहे, तब भी ज्ञान नहीं होगा। शिष्य के मन के जितने प्रश्न हैं, वे जब तक हल नहीं हो जाते तब तक उसे ज्ञान नहीं होगा, इसलिये वेदादि में एक ही बात बार-बार, तरह-तरह से समझायी जाती है। 'हम पहले कह आये हैं फिर क्यों कहें?' या, आगे कहना ही है तो अभी भी क्यों समझायें?' इस प्रकार का मंत्रें तथा आचार्यों में कोई आलस्य नहीं होता है। वाद के अन्दर अर्थ-निर्णय प्रधान है। इसमें गुरु और शिष्य दोनों को प्रयत्न करना पड़ता है। यही वाद की श्रेष्ठता है।। ३२।।

और भी कहते हैं -

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।। ३३।।

अक्षरों में अकार हूँ, समाससमूह में द्वन्द्व हूँ, मैं ही क्षीण न होने वाला काल हूँ और मैं विश्वरूप विधाता हूँ।

अक्षरों के अन्दर सबसे प्रथम आता है 'अ' अतः अकार ही श्रेष्ठ है। उपनिषदों के अन्दर अकार की श्रेष्ठता बतलाते हुये कहा है कि जैसे किसी भी पेड़ के पत्ते की तुम भली प्रकार से परीक्षा करो तो उसमें चारों तरफ नाडियाँ फैली हुई होती हैं, उसके द्वारा ही सर्वत्र भोजन पहुँचता है, वैसे ही सारे शब्दों में अकार फैला रहता है। किसी भी शब्द को हम लोग 'अ' के साथ बोलना-लिखना सिखलाते हैं। क, ख, ग, घ, सब अकार के साथ सिखलाते हैं। यूरोप की भाषा में ऐसी बात नहीं है। कहीं कोई स्वर लगा देते हैं, कहीं कोई लगा देते हैं। बी, सी, डी, इन सबमें ईकार लगा दिया और फिर आगे 'फी' नहीं 'एफ' कर दिया! अपने यहाँ एकरूपता से अकार के साथ ही उच्चारण है। सबसे प्रथम आता है और सब अक्षरों मे मौजूद रहता है अतः विशिष्ट है। अकार को परमात्मा का रूप समझ लो तो जब किसी भी अक्षर का प्रयोग करोगे तब उसके अकार को परमात्मा देख लो कि यह परमात्मा का रूप है। जितनी देर तुम बातें भी करोगे उतनी देर तुम्हारा चिन्तन परमात्मा के विषय में चलता ही रहेगा।

'सामासिकस्य द्वन्द्वः', सामासिक अर्थात् समासों का समूह; कई प्रकार के समास होते हैं। समास अर्थात् कई शब्द मिलकर एक शब्द बन जाते हैं। कुछ निश्चित नियम

हैं संस्कृत में जिनके अनुसार समास होते हैं। शब्द मिलाने तो सब भाषाओं में पड़ते हैं। किसी समास में पूर्वपद प्रधान होता है, कहीं अन्तिम शब्द प्रधान हो जाता है, कहीं समास में सुने जाते शब्दों के अर्थ से अन्य ही अर्थ समास से सूचित हो जाता है। अलग-अलग समासों के अलग-अलग नियम हैं। द्वन्द्व समास ऐसा है जहाँ दोनों शब्द एक जैसे प्रधान रहते हैं। न अपने से भिन्न किसी तीसरे की प्रधानता लाते हैं, न आपस में कोई गुण प्रधानभाव है। यही इसकी विशेषता है। इससे यह भी सूचित होता है कि जहाँ दो या अधिक लोग इकट्ठे होते हैं, वहाँ पर यदि उन सबकी एक जैसी प्रधानता है तब भगवद्-विभूति है और एक-दूसरे को कम प्रभावी बनाने का प्रयत्न है, एक-दूसरे को छोटा करने का प्रयत्न है तो वह संगठन विभूति नहीं है।

'अक्षयः कालः अहमेव' दो प्रकार के काल हमारे शास्त्रों में बताए हैं। एक क्षणिक काल और दूसरा नित्य काल। नित्य काल तो परमात्मा का स्वरूप है। भगवान् कहेंगे 'कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः'।।११.३२।। अर्जुन पूछेगा आप कौन हैं? तो भगवान् कहेंगे 'मैं काल हूँ।' एक तो नित्य काल है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसको समझना हो तो वर्त्तमान काल में सिनेमा की रील को समझ लो : तुमने किसी शादी का चलचित्र बना लिया। शादी के अन्दर तो मिलनी का काल पहले था, फेरों का काल बाद में था, विदाई का काल और बाद में था। ऐसा क्रम होता है। पर रील में तो तीनों घटनाएँ इकट्ठी ही मौजूद हैं! तुम चाहो तो पहले विदाई वाली घटना देख लोग, फिर फेरों वाली देख लो। उसमें सब एक काल में है। इसी प्रकार परमात्मा का जो काल रूप है उसमें आगे-पीछे का भेद नहीं है, सब चीज़ें हमेशा हैं। दूसरा होता है क्षणिक काल जिसमें हम सारा व्यवहार कर रहे हैं। जो अक्षय काल कभी भी क्षीण नहीं होता, हमेशा एक जैसा रहता है, वह परमात्मा की विभूति है। हम लोगों के लिये क्रम है, परमेश्वर के लिये कोई क्रम नहीं है, क्योंकि वह अक्षय काल है। श्लोक ३० में कहा काल क्षय वाला था, वह भी विभूति ही है।

धाता, कर्म- फल देने वाला। लोक में प्रसिद्ध है कि बच्चा पैदा हो जाता है तो छठे दिन विधाता आकर भाल पर लिख जाते हैं कि क्या-क्या फल भोगने हैं। जो लिखने वाले हैं कर्म फल को, उन्हें विधाता कहते हैं। सारे जगत् के कर्मफल को देने वाला जो परमेश्वर का रूप है, वह विश्वतोमुख है अर्थात् सर्वत्र उसका मुख मौजूद है। चारों तरफ हर चीज़ के अन्दर उसका मुख विद्यमान है। इसलिये इसकी उपासना करने वाला जहाँ कहीं कर्मफल आता है वहीं परमेश्वर का मुख देखता है। मुख का मतलब खाली चेहरा ही नहीं समझ लेना ! जिससे हम किसी आदमी को पहचानते हैं उसको मुख कह देते हैं। मुँह देख करके आदमी निश्चित पहचान लिया जाता है। खाली हाथ-पैर इत्यादि देखों तो निश्चय नहीं होता। उसी प्रकार जहाँ भी कर्मफल का भोग हो रहा है, सुख-दुःख का भोग हो रहा है, वह भोग ही मुख है जिससे पता लग जाता है कि

परमात्मा भोग दे रहा है। इस प्रकार विधातारूप से भगवान् की उपासना संभव हो जाती है।। ३३।।

अन्य विभूतियों का उल्लेख करते हैं -

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।। ३४।।

सब कुछ हर लेने वाला मृत्यु मै हूँ, भावी कल्याणों में उत्कर्ष हूँ, नारियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

ज्योतिष शास्त्र में धन की हानि, पुत्र की हानि, पत्नी की हानि, इस प्रकार के सभी बड़े कष्टों को मृत्यु कहा जाता है। ये सभी नुकसान मनुष्य के सत्त्व का हरण करते हैं, अर्थात् व्यक्ति की जो वास्तविकता है उसको क्षीण करते हैं। पुत्र, पत्नी, धन इत्यादि ये सभी चीज़ें मनुष्य की सत्ता को प्रकट करती हैं, कि वह कितना बड़ा है, कैसा है। परन्तु ये मृत्युएँ एक दो चीजों का हरण करती हैं जबकि मुख्य मृत्यु सर्वहर है। सबको एक-साथ हर लेती है। मरने के साथ ही पत्नी का सम्बन्ध, पुत्र का सम्बंध, धन का सम्बंध, व्यापार का सम्बंध, सब सम्बंध एक झटके में ही खत्म हो जाते हैं। अतः हरण करने वालों में सर्वस्व हरण करने वाली मृत्यु भगवान् की विभूति है। अथवा, प्रलय काल में सभी चीज़ें एक-साथ ही समाप्त हो जाती हैं। प्रलय के अन्दर मृत्युरूप से परमेश्वर सारी सृष्टियों को हरण करके अपने अंदर ले लेता है। इसीलिये वेदों मे अनेक जगह कहा है कि प्रलय काल में सब कुछ 'मृत्यु' से ढका हुआ था, अर्थात् परमेश्वर का जो मृत्युरूप है, उसी में सब कुछ लीन था। दोनों - अर्थात् व्यष्टि मृत्यु और समष्टि मृत्यु - भगवान् की विभूति ही हैं। दोनों में से कोई भी मृत्यु लो, वह सृष्टि के क्रम का अन्त नहीं हैं! प्रलय के बाद सृष्टि अवश्यम्भावी है और मृत्यु के बाद जन्म अवश्यम्भावी है। इसलिये पहले ही भगवान् कह आये हैं 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च' जो मरा है, उसका जन्म निश्चित है और जो जन्मा है उसका मरण निश्चित है। यही बात समष्टि मृत्यु अर्थात् प्रलय के बारे में है; प्रलय के बाद सृष्टि अवश्यम्भावी है और सृष्टि होने पर प्रलय भी अवश्यम्भावी है। इसलिये सर्वहर कह कर आगे कहते हैं 'भविष्यताम् उद्भवः' भविष्य में जो होने वाली चीज़ें है उनकी उत्पत्ति का केन्द्र भी मैं ही हूँ अर्थात् पुनः सृष्टि भी मुझ परमेश्वर के द्वारा ही होगी। यदि व्यष्टि मृत्यु समझते हो तो जिस मृत्यु ने तुमको पूर्व प्रारब्ध की समाप्ति के कारण वहाँ से हटाया, वह पुनः तुम्हारे बचे हुऐ कर्मों के फल देने के लिये तुम्हारी उत्पत्ति का कारण भी होता है। उद्भव का एक अर्थ 'ऊपर की ओर जाना' भी है अर्थात् अभ्युदय। संसार के अंदर अनेक चीज़ों की उपलब्धि के द्वारा तुम्हारा उत्कर्ष होता है। जो मृत्यु तुम्हारे सारे उत्कर्ष के सत्त्वों का हरण कर लेती है, वही तुम्हारी अभ्युदय-प्राप्ति का कारण भी बन जाती है। जिस प्रकार प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर वर्त्तमान में जो चीज़ें तुम्हारे साथ

सम्बंधित है, तुम्हारे उत्कर्ष का कारण हैं उनसे तुम्हें मृत्यु ने दूर किया वैसे ही अगले प्रारब्ध के फलभोग के लिये वह सारे उत्कर्ष के साधन तुम्हारे अन्दर ले आयेगी, तुमको उत्कर्ष-प्राप्ति के योग्य बना देगी। सामान्य दृष्टि से यदि देखो तो मनुष्य की मृत्यु प्रायः इसलिये होती है कि शरीर अब काम का रह नहीं गया। वृद्धावस्था में तो सीधा है, पैर चलने लायक नहीं रह गये, आँखें देखने लायक नहीं रह गईं, कान सुनने के लायक नहीं रह गऐ, पेट हजम करने के लायक नहीं रह गया, चाहे जितना इलाज करा लो, वापिस पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। इनकी पूर्णता-प्राप्ति का एकमात्र उपाय यही है कि तुम्हें इस शरीर से छुड़ा कर नये शरीर की प्राप्ति करायी जाए जहाँ ये सब तरोताजा मिल जाएँ। इस प्रकार यहाँ की दृष्टि से देखो तो मृत्यु ने सर्व हरण कर लिया, और आगे की दृष्टि से देखो तो मृत्यु ने तुमको सभी चीज़ें ताजी और नवीन उत्कर्ष के योग्य दे दीं। भूटान कम-से-कम एक देश ऐसा है जहाँ मरने पर शोक नहीं मानते, बड़ा उत्सव मनाते हैं, बड़ी प्रसन्नता होती है कि मृत को नया शरीर मिल गया। प्रायः तो 'यहाँ मरा' - इसी को देखते हैं परन्तु वहाँ पर आगे के उत्कर्ष को ध्यान में रख कर प्रसन्न होते हैं। इसलिये भगवान् ने कहा कि भावी कल्याण में उत्कर्ष-प्राप्ति की योग्यता भी मैं ही हूँ।

स्त्रियों में मेरी विभूति कीर्ति आदि हैं। इसका एक तात्पर्य है कि स्त्री-जाति में ये स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इनमें वाक् को छोड़कर सब दक्ष की कन्यायें हैं। कीर्ति, श्री, मेधा और धृति, से सभी दक्ष-कन्याएँ धर्म को ब्याही गई थीं। इसलिये धर्म की पत्नियाँ थीं। धर्म की पत्नी होने से और सब प्रकार से योग्य होने से ये विभूति होवें यह ठीक ही है। स्मृति भी दक्ष की कन्या थी, उन अंगिरा को ब्याही गई थी जो अथर्ववेद के द्रष्टा हैं। इतने बड़े ऋषि को ब्याही गई थी, इसी से उसकी श्रेष्ठता प्रकट है। इसी प्रकार पुलह ऋषि को क्षमा ब्याही गई। वाक् ब्रह्मा की पुत्री है। इसकी श्रेष्ठता भी विदित ही है क्योंकि सारी विद्याओं की यही अधिपति है। इस तरह यदि महाभारत आदि की दृष्टि से देखें तो दक्षकन्याओं के रूप में और ब्रह्मा की मानस पुत्री के रूप में, धर्म आदि की पत्नी के रूप में, श्रेष्ठ नारियों को भगवान् ने विभूति गिना दिया। स्त्रियों में ये उत्तम हैं, यह एक तात्पर्य है। अथवा अभिप्राय है कि स्त्रियों के अन्दर ये गुण होने पर स्त्रियाँ उत्तम होती हैं अर्थात् स्त्रियों में इन गुणों के रूप में ही विद्यमान हूँ। पहली चीज़ है कीर्ति। कीर्ति का मतलब है धर्म के कारण देश-विदेश के अन्दर लोगों में प्रख्यात होना। धर्म-निमित्तक को ही कीर्ति कहते हैं। प्रख्यात तो व्यक्ति धर्म के कारण भी होता है, अधर्म के कारण भी होता है। जितनी राम की प्रसिद्धि है, उतनी ही रावण की भी प्रसिद्धि है। पर प्रसिद्धि-मात्र को कीर्ति यहाँ नहीं कहा गया। पूर्वव्याख्या में कीर्ति को धर्म की पत्नी बताकर भी यह तथ्य व्यक्त किया है। जो प्रख्याति स्त्री में देखने में आवे, वह परमेश्वर की विभूति है। प्रायः जिसकी कीर्ति है उसी को हम

विशिष्ट समझते हैं। यहाँ परमेश्वर कह रहे हैं कि उस कीर्ति को *उसकी* मत समझो जिसकी प्रतीत हो रही है, वरन् जानो की परमेश्वर की कीर्ति के साथ ही इसका सम्बंध हो रहा है। अर्थात् कीर्तिरूप से परमेश्वर इसमें मौजूद है। ऐसे समझ लो : कोई कहता है 'जल गया।' 'काहे से जल गया?' कहता है 'पानी से जल गया'। साधारण अविचारशील यही मानते हैं कि खौलता पानी हाथ पर गिर गया तो पानी से जल गया। परन्तु विवेकी इस बात को जानता है कि पानी कभी जला ही नहीं सकता! जलाने वाली तो आग है। जल ने जलाया - ऐसी प्रतीति होने पर भी जैसे विवेकी जानता है कि अग्नि ने पानी में बैठ कर इसको जलाया, इसी प्रकार अविवेकी को लगता है - सती अनसूया बड़ी प्रसिद्ध है, क्योंकि उसने ब्रह्मा-विष्णु को भी छोटे-छोटे बच्चे बना दिया था। ऐसी उसकी सामर्थ्य थी। साधारण व्यक्ति समझता है कि अनसूया की कीर्ति है। परमेश्वर कहते हैं कि उपासक इस बात को देखता है कि परमेश्वर के सम्बंध से ही उसमें कीर्ति प्रतीत हो रही है। वस्तुतः तो परमेश्वर की कीर्ति है, वही उसमें दीखती है इसलिये भ्रम होता है कि इसकी कीर्ति है। जैसे कीर्ति है वैसे ही श्री अर्थात् ऐश्वर्य। बहुत-सी स्त्रियाँ अपने पति से कहती रहती हैं कि अमुक-अमुक काम करने हैं, और वह हमेशा टालता रहता है। कई स्त्रियाँ जैसे ही कोई काम बताती हैं वैसे ही पति हो या कोई और हो तुरन्त वह काम कर लेता है। लोग कहते भी हैं कि 'इस स्त्री का व्यक्तित्व प्रभावशाली है, सबको इसकी बात माननी पड़ती है'। सामान्य दृष्टि वाला समझता है कि यह स्त्री का ऐश्वर्य है, ईश्वरभाव है, परन्तु उपासक को दृष्टि करनी है कि उसमें परमेश्वर का श्रीरूप से विद्यमान रहना ही उसमें ऐश्वर्य को दिखला रहा है। अतः उसकी महत्ता नहीं है, परमेश्वर की महत्ता है।

वाक् के वाणी और विद्या दोनों ही अर्थ हैं। वाक् से संस्कृत भाषा भी अर्थ समझा जाता है। संस्कृत के शब्दों में अपनी शक्ति होती है। प्राकृत-शब्दों के अंदर आरोपित शक्ति होती है, स्वतः शक्ति नहीं होती। इसलिये जपादि के लिये संस्कृत का प्रयोग जिस प्रकार से कारगर होता है, प्राकृत-शब्दों का जप नहीं। 'नमः शिवाय' मायने शिवजी को नमस्कार है। पर 'शिवजी को नमस्कार है' बोलते रहने से वे स्पन्द नहीं हो सकते जो 'नमः शिवाय' बोलने से होंगे। प्रायः स्त्रियाँ प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करती हैं। प्राचीन नाटकों में स्त्रियों को प्राकृत भाषा बोलता ही दिखाते हैं। जिस स्त्री के अंदर संस्कृत भाषा का प्रयोग देखा जाये वह उस स्त्री की विशेषता नहीं, परमेश्वर की वाक् शक्ति ही उसमें विद्यमान है। वाक् का अर्थ विद्या भी है ही। संस्कृत भाषा जानेगा, तो संस्कृत भाषा के अन्दर जितनी आध्यात्मिक विद्याएँ हैं, उनके लिये उसका रास्ता खुलेगा। यह नहीं कह रहे हैं कि प्राकृत भाषा से तुम्हें समझ में नहीं आएगा! ठीक जिस प्रकार से इन्जीनियरिंग तुम हिन्दी में भी पढ़ सकते हो, परन्तु अंग्रेज़ी भाषा में जिन हज़ारों ग्रन्थों को तुम पढ़ सकते हो इंजीनियरिंग के, वे हिन्दी से पढ़ कर समझ

नहीं पाओगे क्योंकि हिन्दी के अन्दर वे सारे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इसी प्रकार संस्कृत के अंदर तो अध्यात्म विद्या का सम्पूर्ण विस्तार है। अतः संस्कृत के द्वारा तुमको उस सबमें प्रवेश मिल जाता है। अन्य भाषाओं के अन्दर तो जितना अनुवाद मिलेगा उसी तक सीमित रहते हो। अतः विद्या भी भगवान् की विभूति है। वाक् से वाणी भी अभिप्रेत है। वाणी की तीन शोभाएँ शास्त्रकारों ने बताई हैं : पहली शोभा सत्य है, वाणी सत्य होनी चहिये। उसमें असत्य का अंश नहीं आना चहिए। शास्त्रों के अंदर तो यहाँ तक बतलाया है कि जो बारह वर्ष तक पूर्ण सावधानी से सत्य का वाणी से प्रयोग करता है उसकी वाणी मे यह शक्ति आ जाती है कि अगर उसके मुँह से कोई बात निकल जाती है तो वह सत्य हो जाती है। अर्थात् उसके मुँह से निकली बात कभी भी असत्य नहीं होती, ऐसी उसमें सामर्थ्य आ जाती है। सत्य वाणी की शोभा है। आजकल प्रचार किया जाता है कि असत्य वाणी की शोभा है! कौन से वकील को सबसे ज़्यादा फीस मिलती है? जो झूठी बात को सिद्ध करे। असत्य के कारण जो वाणी की विशेषता है वह भगवान् की विभूति नहीं है, प्रशस्त, उपास्य नहीं है। वाणी की दूसरी शोभा है प्रियता। ऐसी बोली होनी चाहिए जो दूसरे को प्रिय लगे। उपनयन के समय बटुक को उपदेश देते हैं कि हमेशा प्रिय शब्द बोलना, अन्धे को अंधा नहीं कहना, काणे को काणा नहीं कहना, बहुत सी स्त्रियों के दाढ़ी-मूँछ निकलती है, उसको कभी नहीं कहना कि तुम दाढ़ी-मूँछ वाली हो। पुराने लोग इसीलिये कोई अन्धा आवे, तो यही कहते थे 'सूरदास आ गये'। तुम कितनी भी अच्छी बात कहने वाले हो, अगर अप्रिय ढंग से उसी को बोलते हो तो कभी भी लोग पसन्द नहीं करेंगे। तीसरा वाणी का सौन्दर्य है हितकारिता। दूसरे के हित की बात कहो, अहित की बात नहीं कहो। इन तीनों गुणों से युक्त वाक् अथवा इनमें से एक गुण से भी युक्त वाक् किसी स्त्री में दिखाई देती है तो निश्चित जानो कि परमेश्वर की वाक् शक्ति है, स्त्री की विशेषता नहीं।

इसी प्रकार स्मृति विभूति है। स्मृति अर्थात् बहुत पहले हुई बात को भी यथावत् याद रखना। बहुत-सी स्त्रियों को बड़ी पुरानी बातें याद रहती हैं। पारस्कर गृह्यसूत्रों के अन्दर जहाँ विवाह का प्रकरण आया है वहाँ विवाह का कर्मकाण्ड बतलाते हुये जोड़ा है कि वहाँ की वृद्ध स्त्रियों से पूछ लेना और क्या प्राचीन कुलपरम्परा है। अभी भी किसी आदमी से पूछो 'तुम्हारा ब्याह हुआ था तो तुमने किसी रंग का कपड़ा पहना था?' तो सौ में अस्सी आदमियों को पता नहीं होगा कि उस दिन क्या पहना था! और स्त्रियों को पूछो तो सौ में से निन्यानबें बता देंगी। परमेश्वर की स्मरण शक्ति के कारण ही उन्हें याद रहता है।

मेधा। शब्दों के समूह को देख करके उनका एक अर्थ तो सामान्यतः भान हो जाता है। परन्तु उन्हीं शब्दों के अंदर कोई गूढ रहस्य छिपा हुआ है, यह कोई-कोई समझ पाता है। वह समझने की शक्ति को मेधा शक्ति कहते हैं। पहली बार किसी ग्रन्थ को

पढ़ो तो ऊपरी-ऊपरी बातों का ज्ञान हो जाएगा, गहराई का पता नहीं चलता। जितनी बार पढ़ोगे उसके और अर्थ खुलते जाएँगे, नये नये अर्थों का उद्भावन होता जाएगा। मेधा का सम्बंध श्रद्धा के साथ बतलाया गया। अतः जब ग्रन्थ को श्रद्धा की दृष्टि से पढ़ते हो तब गहन अर्थ प्रकट होते हैं। अश्रद्धा से पढ़ते हो तो केवल ऊपर-ऊपर का अर्थ ही ज्ञात होता है। वर्तमान में अधिकतर लोग हम लोगों के धार्मिक ग्रन्थों को श्रद्धा से नहीं पढ़ते इसलिये गंभीर अर्थों तक पहुँच नहीं पाते। मेधा को परमेश्वर की विभूति जानो।

इसी प्रकार धृति अर्थात् धैर्य। धैर्य की परीक्षा विपत्ति में होती है। जब कठिनाई आती है तब धैर्य की परीक्षा होती है। जब सब सुविधाएँ हैं तब तो सभी धीरज वाले हैं! विपत्ति आने पर स्थिर रहना धैर्य है। स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर जब थके होवें उस समय भी उनको उठा कर कार्य करने की जो क्षमता है वह धृति है। स्त्रियों में धृति बहुत होती है। भगवान् ने यह शक्ति उनमें विशेष दी है क्योंकि उनको बच्चों को पैदा करना, और बड़ा करना है। बच्चों को पैदा करना भी कष्टकारी काम है। नौ महीने तक निरन्तर बोझ लिऐ रहना पड़ता है। परमेश्वर ने उनको ऐसा धैर्य दिया है कि उनको कुछ ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि कोई बड़ा भारी बोझ आ गया है। इसी प्रकार छोटा बच्चा कितनी बार चाहे जहाँ टट्टी-पेशाब करेगा, उल्टी करेगा, सभी को सहना पड़ता है। इसीलिये उनके अन्दर धृति भगवान् ने पहले ही दे रखी है। इसलिये धर्म पर स्त्री जितनी निष्ठा से रहती है उतनी निष्ठा से पुरुष नहीं रहते हैं। हम कम-से-कम पचास स्थल जानते हैं जहाँ बच्चा एक दो साल का था, पति मर गया, औरत ने चाहे चक्की पीस कर, चाहे दूसरों के बर्त्तन माँज कर उस लड़के को बड़ा किया, पढ़ा लिखा कर तैयार कर लिया। परन्तु हमारे देखने में एक भी आदमी ऐसा नहीं है जिसका दो साल का बच्चा होवे और पत्नी मर जाये तथा खुद उसको बड़ा कर लेवे! या दूसरा ब्याह कर लेगा, या अपनी माँ अर्थात् बच्चे की दादी के भरोसे कर देगा, बहन के भरोसे कर देगा, परन्तु स्वयं अपनी सामर्थ्य से नहीं पाल पाता। इस सबसे लगता तो है कि स्त्रियों में धैर्य है, परन्तु भगवान् कहते हैं कि मैं वहाँ धृतिरूप में मौजूद हूँ, इसलिए उनकी विशेषता नहीं है, मेरी ही विशेषता है।

क्षमा - दूसरा हमारा कितना भी नुकसान करे, उसके नुकसान की भावना तक न करना। यदि मन में आये कि 'जिसने हमारा नुकसान किया उसको भगवान् देखेगा' तब उसको दण्ड मिले यह हृदय में भावना है अतः क्षमा नहीं है। 'मेरे प्रति किये अपकार के कारण उसका कोई भी अपकार न हो,' ऐसी भावना रहे, अपकार करने की चेष्टा ही नहीं हो, तब क्षमा कही जाती है। यदि किसी स्त्री में क्षमा होती है तो वह उसकी विशेषता नहीं, भगवत्सम्बंध से उसमें उपलब्ध है यह दृष्टि रखनी चाहिए।

केवल स्त्रियों में ये गुण भगवद्विभूति हो ऐसा नहीं, पुरुषों में भी इन्हें भगवान् की

विभूति ही समझना है। भाष्यकार ने कीर्ति आदि को स्त्रियों में उत्तम कहा है और बताया है कि इनकी छाया के सम्बंध से भी लोग स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। कीर्ति आदि शब्द स्त्रीलिंग में हैं, इससे भी इन्हें स्त्रियों में गिनना संगत है। हर हालत में भगवान् की विभूति हैं, जहाँ भी मिलें इनसे भगवान् का चिन्तन करने में ही सहारा मिलता है।।३४।।

और भी अपनी विभूतियाँ समझाते हैं -

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। ३५।।

सामों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष व ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ।

पहले कह आये हैं कि वेदों में मैं सामवेद हूँ। अब कहते हैं कि सामवेद के इतने सारे मंत्रें में भी बृहत्साम मेरा स्वरूप है। बृहत्साम एक सामविशेष है जो ऋग्वेद की ४.७.२१.१, 'त्वामिद्धि हवामहे' आदि ऋचा पर गाया जाता है। सामवेद के पूर्वार्चिक में तीसरे अध्याय का यह दूसरा ही मंत्र है। प्रधान रूप से उसमें इंद्र की सर्वेश्वररूप से स्तुति की है। वेदों में इंद्र-विषयक बहुत स्तुतियाँ हैं, क्योकि इंद्र का अर्थ है परमेश्वर। 'इदि परमैश्वर्ये' (भ्वा.प.से.) धातु से इंद्र शब्द बनकर परमेश्वर अर्थ बताता है। इंद्र की सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के रूप में बृहत्साम में स्तुति की गई है, परमेश्वर का विस्तृत वर्णन किया गया है। अतः यह सबसे श्रेष्ठ है। साक्षात् परमेश्वर की स्तुति होना उसके वैशिष्ट्य का सीधा कारण है। 'गायत्री छन्दसामहम्' छन्द का मतलब होता है नियत-पादाक्षर-योजना, जिसमें कितने पाद होंवे यह भी निश्चित हो और हर पाद में अक्षर भी निश्चित होवें। जैसे अनुष्टुप् छंद में चार ही पाद होंगे और हर पाद में आठ ही अक्षर होंगे। इसी प्रकार जहाँ नियत-पादाक्षर-योजना होती है वह छन्द कहा जाता है। छंदों में गायत्री श्रेष्ठ है। गायत्री में तीन पाद होते हैं और कुल चौबीस अक्षर होते हैं। गायत्री की विशेषता है कि मनुष्य द्वितीय जन्म को धारण करता है गायत्री के द्वारा। यज्ञोपवीत के बाद गायत्री की ही दीक्षा होती है। गायत्री से द्विजत्व की प्राप्ति है और द्विज होने पर ही सारे वैदिक कर्मों का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अतः इसकी श्रेष्ठता स्फुट है। शास्त्र में बतलाया है कि त्रिष्टुप् और जगती भी सोम लेने के लिये भेजे गये थे लेकिन इनके द्वारा सोम की प्राप्ति हुई नहीं। अन्त में गायत्री के द्वारा ही सोम की प्राप्ति हुई। इस प्रकार सोम की प्राप्ति का साक्षात् हेतु बना इसलिये भी गायत्री श्रेष्ठ है।

प्रसिद्ध गायत्री मंत्र की अत्यन्त प्रतिष्ठा है क्योंकि गायत्री मंत्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है कि परमात्मा सारे जगत् को उत्पन्न करने वाला है। सारे जगत् का प्रसव करने वाला परमेश्वर है। वेद में कहीं किसी अन्य चीज़ को नहीं कहा है कि वह

द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है; वेद में जहाँ किसी कर्म को बतलाया है, वहाँ उसका फल बतलाया है। परन्तु बिना कोई फल बताये देखने सुनने विचारने योग्य परमात्मा को ही कहा है। इसलिये बिना किसी निमित्त के ही परमात्मा हम लोगों को आदेश दे रहा है कि परमात्मा का दर्शन करना ही चाहिये। किसी कामना की पूर्ति के लिये नहीं, वरन् क्योंकि वह तुम्हारा कर्त्तव्य है। यही बात गायत्री में कही कि वही एकमात्र वरणीय है, वरण करने योग्य है। बाकी कुछ भी वरेण्य नहीं कहा। परमेश्वर ही वरेण्य है। परमेश्वर की शक्ति बतलायी है 'भर्गः' तुम्हारे सारे पापों को भूँज डालता है। जैसे भड़भूँजा चना आदि को भूँज देता है तो वे बोने लायक नहीं रह जाते, क्योंकि भूँजना उसकी आगे पैदा करने की शक्ति को नष्ट कर देता है, इसी प्रकार तुम परमेश्वर को जो भी अर्पण कर देते हो वह आगे तुमको जन्म-मरण का फल नहीं देता। जिस कर्म को करके तुम परमेश्वरार्पण नहीं करोगे, उसका तो तुमको कर्मफल भोगना पड़ेगा, परन्तु जो परमेश्वर के अर्पण कर दिया वह आगे फल पैदा नहीं करेगा। ऐसे परमेश्वर से प्रार्थना केवल यह है कि हमारी बुद्धि को प्रवृत्त करे। हमारी बुद्धि को प्राचीन संस्कार प्रवृत्त करते रहते हैं। पुराने संस्कारों के कारण ही हमारी कामना होती है, हम सब कुछ करते हैं। संस्कार अच्छे हैं तो अच्छा काम कर लेते हैं, बुरे हैं तो बुरा काम कर लेते हैं। प्रार्थना है कि संस्कार हमें न प्रवृत्त करें, परमेश्वर ही बुद्धि को प्रवृत्त करें। बुद्धि ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। अहंकार बुद्धि की ही वृत्तिविशेष है। चाहे अहंकार को प्रवृत्त करने वाला कहो, चाहे बुद्धि को प्रवृत्त करने वाला कहो, एक ही बात है। प्रार्थना है कि हमारी सारी प्रवृत्ति तुम ही कराओ। हम अपने पुराने संस्कारों के अनुसार न चलें। इस प्रकार इस छोटे से मंत्र में परमेश्वर का स्वरूप, परमेश्वर की वरणीयता और परमेश्वर की पूर्ण शरणागति, ये सब बतला दिये हैं। इसलिये इसकी श्रेष्ठता स्फुट ही है।

मासों में मार्गशीर्ष को विभूति कहा। बारह महीनों में मार्गशीर्ष को भगवान् ने अपनी विभूति कहा है इसमें एक कारण है कि प्राचीन हिसाब में मार्गशीर्ष प्रथम मास होता था। इसलिये इसका दूसरा नाम भी है अग्रहायण। पहला मास होने से विशेष है। महाभारत में भी जहाँ प्रत्येक मास में अलग-अलग दान आदि प्रकरण आए हैं वहाँ सर्वत्र मार्गशीर्ष से प्रारम्भ किया है। इसलिये मार्गशीर्ष विभूति है। मार्गशीर्ष का मास ऐसा होता है कि जब न अधिक ठण्ड होती है और न गर्मी रह जाती है। सब प्रकार से सुखद होने से भी श्रेष्ठ है। मार्गशीर्ष के मास में कन्याएँ प्रातः काल स्नान आदि करती हैं, शीघ्र और योग्य पति की प्रप्ति के लिये गौरी का पूजन करती हैं। दक्षिण भारत में अब भी मार्गशीर्ष के मास में तमिल भाषा में भगवान् की कीर्तियों का गान करते हुये लड़कियाँ प्रातः काल स्नान करने जाती हैं नदी इत्यादि में। इन सब कारणों से मार्गशीर्ष को भगवान् ने अपना विशेष मास बतलाया। और ऋतुओं के अन्दर कुसुमाकर अर्थात् वसन्त ऋतु को विभूति कहा। जैसे मार्गशीर्ष का मास गर्मी सर्दी वाला नहीं होता है,

इसी प्रकार से वसन्त ऋतु में भी गर्मी सर्दी ज़्यादा नहीं होती हैं। शिशिर हेमन्त के अन्दर वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं, वसन्त के आने पर पुनः नई कोपलें आने लगती हैं। भगवान् ने इसलिये वसन्त नहीं कह कर यहाँ उसको कहा ही दूसरे नाम से 'कुसुमाकर'। कुसुम अर्थात् फूल, फूल जब अधिक होवें वह ऋतु विभूति होना उचित ही है।।३५।।

विभूति-प्रसंग ही चलाते हुये कहते हैं -

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।। ३६।।

छलने वालों में जुआ, तेजस्वियों में तेज, सात्त्विकों मे सत्त्व मैं हूँ तथा जीत और निश्चय मैं हूँ।

'छलयताम्' छल करने के जो तरीके हैं तो उनमें द्यूत, जुआ विभूति है। दुकान में माल इत्यादि बेचते हैं, माल की कमज़ोरी छिपा कर उसकी प्रशंसा करके बेच देते हैं। व्यापार को इसलिये संस्कृत में 'सत्यानृत' शब्द से भी कहा जाता है। सच के साथ थोड़ा-बहुत झूठ मिला करके व्यापार चलता है। इसी प्रकार जो कर्जा इत्यादि देने का काम होता है उसके अन्दर भी छल का प्रयोग होता है। जब दूसरे को उधार देते हैं, तब सौर मास से देते हैं लेकिन जब ब्याज लेते हैं तब चान्द्रमास से लेते हैं, यों तीन साल में एक महीने के ब्याज का फ़ायदा हो जाता है। इसी तरह से ज़मीन की खरीद-बेच होती है, तब भी कमज़ोरियाँ छिपा दी जाती हैं। ये सब अनेक प्रकार के छल चलते हैं। परन्तु इन सबमें थोड़ा-बहुत ही तुम दूसरे को धोखा दे सकते हो। पर जुआ ऐसी चीज़ है जिसमें तुम व्यक्ति का सर्वस्व हरण कर सकते हो!

सब कुछ हरण की सामर्थ्य वाला होने से द्यूत भगवान् की विभूति है। अन्य उपायों में तो 'मैं हरण कर रहा हूँ' इसे छिपाते भी हैं, द्यूत में कुछ भी छिपाने की ज़रूरत नहीं है, सब खुले आम ही होता है। दाँव पर लगाने वाला भी जान-बूझकर लगाता है, इसलिये द्यूत को भगवान् ने अपनी विभूतियों में गिना।

इसी प्रकार जो लोग तेज अर्थात् प्रागल्भ्य के धनी होते हैं उनमें तेज भगवान् की विभूति है। किसी भी प्रकार का प्रश्न आवे, उसका उसी समय यथोचित जवाब दे सकना तेज है। तेजस्वियों के अन्दर तेज भगवान् की विभूति है। इसी प्रकार जीतने वालों को जो जय मिलता है वह भी भगवान् कहते हैं- मेरा रूप है, मेरी विभूति है। किंच जो लोग व्यवसाय, अत्यन्त उद्यम करते हैं, उनमें व्यवसाय हूँ। उद्यम करने वाले में सबसे बड़ा गुण होना चाहिये झट और निश्चय-पूर्वक निर्णय करे। जो व्यापारी डाँवा-डोल सोचता रहता है वह कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता। तुरन्त निश्चय करना और जो निश्चय किया उसके अनुसार पूरे परिश्रम से काम करना - यह भी मेरी विभूति

है। कुछ लोग तो निश्चय नहीं कर पाते और कुछ लोग यदि निश्चय करते हैं, तो उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिये पूरी तरह से लग नहीं पाते। उनमें भगवान् की विभूति नहीं है। ऐसे ही जो सात्त्विक पुरुष हैं उनके अन्दर सत्त्वगुण भी मेरी ही विभूति है। प्रायः लोग राजस-तामस होते हैं, सात्त्विक नहीं होते, सात्त्विक लोगों के अन्दर सत्त्व गुण मेरा स्वरूप है जिसके कारण वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि सात्त्विक कार्यों वाले प्रतीत होते हैं।।३६।।

और भी विभूतियाँ आगे गिनाते हैं -

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

यादवों में वासुदेव, पाण्डवों में धनंजय, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्र कवि हूँ।

यादव वंश के अन्दर वृष्णि कुल है, उस कुल के अन्दर वसुदेव का पुत्र वासुदेव विशेष विभूति है। यद्यपि भगवान् कृष्ण खुद ही वासुदेव हैं, फिर भी यहाँ उन्होंने 'वासुदेव' नाम लेकर स्पष्ट कर दिया कि गीता शास्त्र में भगवान् प्रायः 'अहम्' शब्द का प्रयोग प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमेश्वर है, उसको लेकर करते हैं, किसी एक विभूति को लेकर के नहीं। अतः यह नहीं कहा कि 'वृष्णि कुल में मैं हूँ।' क्योंकि 'मैं' वे उसे कहते हैं जो विभूति नहीं है, सारी विभूतियों का अधिष्ठान है। गीता शास्त्र के अन्दर भगवान् ने 'अहम्' का प्रयोग उसी दृष्टि से किया है अतः यहाँ बजाय यह कहने के कि 'वृष्णि कुल में मैं हूँ,' परोक्ष रूपेण वासुदेव का नाम लिया। भगवान् कृष्ण का अद्भुत माहात्म्य तो सब जानते ही हैं! पैदा होने के थोड़े समय में ही पूतना जैसी राक्षसी को मार दिया, कालिय का दमन कर दिया। ग्यारह साल की उम्र मे चाणूर आदि को मार कर के अन्त मे कंस को भी मार दिया। इस प्रकार पैदा होने के साथ ही भगवान् की विभूतिरूपता तो स्पष्ट ही है।

पाण्डवों में अर्जुन विभूति हैं। राजसूय यज्ञ के समय में अकेले ही वह सारे राजाओं को परास्त कर धन जीत कर लाया था, जिससे राजसूय यज्ञ किया गया था। अतः अपार धन को जीतने वाला होने से धनंजय कहलाने वाला मेरी ही विभूति है। इसके द्वारा संकेत से यह भी कह रहे हैं जो आगे के अध्याय में स्फुट होगा, कि 'भीष्म, द्रोण आदि जितने हैं उन सबको तो मैं ही मारने वाला हूँ। मारने वाला तू नहीं है, तू ज़िदपूर्वक युद्ध नहीं करे तो भी ये बचने वाले नहीं हैं। तू तो केवल निमित्तमात्र है।' इस प्रकार, परमेश्वर के संकल्प को पूरा करने का साधन होने से अर्जुन विभूति है। विराट्-राज्य की गायें लूटने आये भीष्म-द्रोण-कर्ण आदि सबको अकेले अर्जुन ने परास्त कर उनके कपड़े तक खोल लिये थे! भगवान् सावधान कर रहे हैं कि यह सारा अपना महत्त्व मत समझना, मेरा ही वैभव है, तुझे तो निमित्त बनाया जाता है।

मुनियों में व्यास हूँ। मनन-पूर्वक सारे ही पदार्थों को जानने में जो समर्थ हो वह मुनि है। दो प्रकार से ज्ञान होता है, इंद्रियों के द्वारा और विचार के द्वारा। इंद्रियों के द्वारा ज्ञान अत्यन्त परिच्छिन्न होता है। उसी देश, उसी काल, और केवल उतनी-सी वस्तु का ज्ञान इंद्रियों से होता है। परन्तु विचार-पूर्वक मन से जो ज्ञान होता है, वह सब पदार्थों का हो जाता है। भात का एक दाना पका - यह तो तुमको इंद्रियों से ज्ञान होता है। भात का दाना लिया और मसला, पता लग गया कि यह चावल का दाना पका हुआ है। परन्तु मन से क्या ज्ञान होता है? *सारे* चावल पक गये। इसी प्रकार थोड़ी-सी चीज़ के द्वारा तत्सम्बंधी सारे पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, यह मनन का फल है। सारे पदार्थों को ऐसे जानने वालों में, मनन करने वालों में, भगवान् ने कहा, व्यास मेरी ही विभूति है। शास्त्रकारों ने व्यास को नारायण का अवतार कहा है। उन्होंने पुराण आदि की रचना की जिनके अन्दर कोई भी शास्त्र अछूता नहीं रहा है। अग्नि पुराण में सारा पाणिनीय व्याकरण आ जाता है। इसी प्रकार सारा नाट्य शास्त्र, शिल्प शास्त्र आदि सब शास्त्र पुराणादि के अन्तर्गत आ जाते हैं। पुराणों के अन्दर भगवान् व्यास का सब पदार्थों के बारे में जो ज्ञान है वह प्रकट है।

कवियों में मैं उशना कवि हूँ। यहाँ कवि शब्द का पौनरुक्त्य प्रयोजन से है। कवि का एक प्रसिद्ध अर्थ होता है जो छन्दों के अंदर रचना करता है। इस अर्थ में लोक में कवि शब्द प्रसिद्ध है। कवि का दूसरा अर्थ है, क्रान्तदर्शी अर्थात् भूत, भविष्य, और वर्त्तमान को जानने वाला। ईशावास्योपनिषद् के अंदर परमेश्वर को जहाँ कवि कहा है, वहाँ आचार्य शंकर उसका अर्थ कहते हैं, क्रान्तदर्शी। ऐसे लोगों के अंदर शुक्राचार्य मेरी विभूति हैं। जिस समय बलि यज्ञ कर रहा था, वामन आए, उन्होंने कहा 'हमें तीन पैर ज़मीन दे दो।' शुक्राचार्य ने तुरन्त बलि से कहा 'अरे! सावधान हो जा, यह तीन पैर ज़मीन का सवाल नहीं है, यह तो सब कुछ लेने वाला है!' बलि नहीं माना, उसने कहा 'यदि मेरे सामने सारे संसार का अधिपति भिक्षुक होकर आ ही गया है तो इसे देने में अच्छा ही है। ऐसा माँगने वाला कहाँ मिलेगा!' संसार के अंदर विष्णु भगवान् ने वहीं एक बार माँगा है, अन्यथा तो जो लोग वर माँगते हैं, उनको वे ही देते हैं। अतः बलि ने कहा, 'सारी दुनिया को देने वाला आज मुझसे लेने वाला बन रहा है, यह तो हमेशा के लिये कीर्ति की बात है।' इसलिये उसने शुक्राचार्य की बात नहीं सुनी और दान दिया। भगवान् ने सब कुछ ले ही लिया उसका। क्रान्तदर्शी थे इसलिये शुक्र को तुरन्त रहस्य का पता लग गया। इसलिये शुक्रनीति विशेष करके राजनैतिक शास्त्रों को जानने वालों के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण स्मृति मानी जाती है। राजनीति का खेल ऐसा है कि जो आगे-पीछे सब बातें समझे वही ठीक निर्णय कर सकता है। अतः शुक्रनीति को श्रेष्ठ माना जाता है।।३७।।

अन्य विभूतियों को सुनाते हुये कहते हैं -

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।। ३८।।

गलत रास्ते जाने वालों को सही रास्ते पर लाने के लिये प्रयासशीलों में मैं दण्ड हूँ, जीतना चाहने वालों में नीति हूँ, गोपनीयों में मौन हूँ, ज्ञानवालों में ज्ञान हूँ।

जो अधर्माचरण को रोकना चाहते हैं उनके अन्दर मैं दण्ड हूँ, क्योंकि अधर्माचरण को दण्ड के द्वारा ही रोका जा सकता है। भारतवर्ष में यह स्पष्ट देख लो : वर्तमान में चूंकि दण्डव्यवस्था नहीं है, इसलिये ग़लत रास्ते चलना बढ़ रहा है। दण्ड की जगह उल्टी व्यवस्था है, पाप करने वाले के प्रति हमदर्दी है। पाप करने वाले के प्रति दण्ड को क्रूरता मानते हैं। बड़ा लम्बा चौड़ा आजकल शास्त्र बन गया है कि आर्थिक कारणों से बेचारे अपराध करते हैं; ऐसे ही अपराधियों की प्रवृत्तियों के प्रति नाना प्रकार के हेतु खोज लाते हैं, जिनसे सिद्ध करना चाहते हैं कि अपराधी गलत नहीं, वे हेतु उपस्थित करने वाले ही गलत थे, उन्हीं के कारण अपराध हुआ! नतीजा हो रहा है कि अपराध बढ़ते जा रहे हैं। पहले विनोबा भावे ने बागियों को माफ करा दिया, फिर जयप्रकाश नारायण ने करा दिया; जब दण्ड मिलने का डर नहीं, तब कोई अपराध क्यों छोडे? नतीजा होता है कि जहाँ दण्ड नहीं चलता है वहाँ धर्माचरण नहीं होता है। जैसा बाह्य दमन के लिये यह नियम है, वैसा ही आन्तरिक दमन के लिये समझ लेना। इंद्रियों का दमन करना पड़ता है। आजकल एक गलत विज्ञान पढ़ाया जाता है, जिसमें कहते हैं कि अपनी इंद्रियों का दमन मत करो, नहीं तो तुम्हारे अन्तःकरण में बड़ी ग्रन्थियाँ पड़ जायेंगी। अतः कहते हैं कि इंद्रियों को खुली छूट देनी चाहिये। इसका जो सबसे बड़ा प्रचारक जर्मनी का फ्राय्ड हुआ था, अपने जीवन के अन्त में उसने यही लिखा है कि मनुष्य दुःखी होने के लिये ही पैदा हुआ है : अगर इंद्रियों का दमन करता है, तब मन में ग्रन्थियाँ हो जाती हैं इसलिये दुःखी हो जाता है, और अगर दमन नहीं करता तो समाज दुःखी कर देता है। हमारे पास पैसा है नहीं, रास्ते में जा रहे हैं, मिठाई की दुकान देखी गुलाब जामुन उठा कर खा लिया। मन में तो ग्रन्थि नहीं पड़ेगी लेकिन सिर के ऊपर हलवाई का डण्डा तो पड़ ही जायेगा! इस तरह यदि मन की करो तो दुःख पाओ, और मन की न करो तो दुःख पाओ। दो ही सम्भावनाएँ हैं। इसलिये मनुष्य हमेशा दुःखी होने के लिये ही पैदा हुआ है, होता ही रहेगा। - यह उसने नतीजा निकाला। सुख पाने के लिये जो अपने अन्दर इंद्रियों की गलत प्रवृत्तियाँ हैं, उनको दण्ड देना पड़ता है। महाराज जी कहा करते थे कि ध्यान करने बैठो और अगर नींद का झोंका आवे तो आँखों में मिर्च मल लो! अगर मुँह से झूठ निकले तो उस पूरे दिन पानी मत पियो, भोजन नहीं करो। अगर इस प्रकार से तुम अपने को दण्ड देते रहोगे तब इंद्रियाँ नियंत्रण में आ जाएँगी। वशिष्ठ जी तो यहाँ तक कहते हैं कि इंद्रियों पर दमन के लिये, उन्हें गलत करने से रोकने के लिये हाथों से हाथों को मसल डालो, दाँतों को

दाँतों से रगड़ कर चूर्ण बना दो, परन्तु सर्वप्रथम अपने मन को जीत लो। इस प्रकार जो दण्ड देगा वह अपनी इंद्रियों का दमन कर लेगा। यह दण्ड भगवान् की विभूति है, तभी सफल होकर कल्याण का उपाय बनता है।

जो जीतना चाहते हैं, उनके अंदर नीति मेरा स्वरूप है। दुश्मन पर विजय प्राप्त करने के लिये जब तक तुम नीति को नहीं समझोगे तब तक सफल नहीं हो सकते। कहाँ साम का प्रयोग करना पड़ेगा, कहाँ दाम का प्रयोग करना पड़ेगा, कहाँ दण्ड का प्रयोग करना पडेगा, कहाँ भेद का प्रयोग करना पड़ेगा, इन चार में से किससे जीत होगी - यह विचार करके जो प्रयत्न करता है वह जीतेगा। हिटलर ने सारे यूरोप को जीत लिया, इंगलैण्ड पर चढ़ाई करने जा रहा था। चर्चिल के पास कोई खास संसाधन नहीं था, पर उसने अपने झूठे प्रचार इत्यादि के द्वारा हिटलर को जँचा दिया कि 'तुमने इंगलैण्ड पर धावा बोला तो रूस तुम्हारे ऊपर पीछे से धावा कर देगा। इंगलैण्ड जाने के लिये बीच में समुद्र पड़ेगा और रूस को जर्मनी में घुसने के लिये ऐसी कोई समस्या है नहीं। इसलिये जो तुम्हारे पृष्ठ का दुश्मन है, उसको पहले जीतो, इंगलैण्ड तो छोटी-सी चीज़ है, चाहे जब जीत लेना।' ऐसा उसने चक्रव्यूह बनाया कि हिटलर रूस से लड़ने के लिये चला गया और वहाँ जाकर नष्ट हो गया। इसको नीति कहते हैं। नीति के लिये बड़ा धैर्य चाहिये। प्रतिदिन इंगलैण्ड में बम पड़ रहे थे। निश्चय कर लिया गया सदन के द्वारा कि वहाँ से राजधानी केनेडा ले जाएंगे क्योंकि अब बचाना सम्भव नहीं है। चर्चिल ने सभा में सबकी बात स्वीकार ली। सब तैयारी हो गई। राजा के साथ प्रधानमंत्री का जाना ज़रूरी था। चर्चिल ने कहा 'किसी दूसरे को प्रधान मंत्री बना लो, मैं तो लंदन की गलियों में लड़ते हुये ही मरूँगा, मैं देश नहीं छोड़ने वाला।' यह भारी नीति थी। अगर वहाँ से राजधानी हट जाती तो स्वभावतः उसको बचाने का पूरा प्रयास रहता ही नहीं। उसने दुश्मन को रूस में फँसाया और यहाँ ऐसी बात कर दी कि राजा ने कहा 'जब यह ही नहीं जाएगा छोड़ कर तो मैं क्यों जाऊँ?' कोई नहीं गया! सीधे ही कहता कि लंदन मत छोड़ो तो कोई नहीं मानता क्योंकि वहाँ रहने में नुकसान स्पष्ट दीख रहे थे। अतः उसने नीतिपूर्वक काम किया। इस प्रकार नीति के कारण ही सबसे भयंकर परिस्थिति जो उस देश पर आई थी, उसको बचा सका, केवल फौज के बल से नहीं बचा पाया। इसलिये जो जीतने की इच्छा करे वह साम, दाम, दण्ड, भेद सब नीतियों का विचार करे। नीति का विचार मेरी विभूति है।

गुह्य अर्थात् जिस चीज़ को गुप्त रखा जाए, गुप्त रखने के लायक जो चीज़ है। गुप्त रखने का सर्वोत्तम साधन है उसके बारे में बोलो नहीं, मौन रहो। पुराणों में प्रसिद्ध कथा आती है सत्यव्रत की। उसका नियम था झूठ बोलना नहीं। उसके सामने से एक गाय भाग कर गई, उसके पीछे उसको मारने वाले कसाई आ गये। उसको छिपाना था इस बात को कि गाय किधर गई है, कैसे छिपावे? झूठ उसको बोलना नहीं था। गाय के

बारे में उसने कोई बात कही ही नहीं। जब कसाई ने पूछा तब कहा ‘अरे कसाई! जो आँख देखती है वह बोलती नहीं, और जो जबान बोलती है, वह देखती नहीं, तेरे प्रश्न का जवाब कौन दे सकता है?’ कसाई समझ गया कि चक्कर की बातें कर रहा है, समय गाँवाना बेकार है, आगे चला गया। इसी प्रकार से जो बात गुह्य रखनी होवे उसके बारे में कभी कुछ बोलना ही नहीं चाहिए। मौन शब्द का मूल भाव है मनन करना। साधारण आदमी झूठ बोल कर गुह्य रखना चाहता है। झूठ के अंदर कठिनाई रहती है कि कुछ-न-कुछ उसमें सच का अंश आ ही जाएगा। अतः उसके बारे में कुछ नहीं बोलोगे तभी चीज़ गुप्त रह सकेगी। इस प्रकार का जो मनन-पूर्वक, विचार-पूर्वक मौन है वह परमेश्वर की विभूति है। अथवा संन्यासाश्रम को, मुनिभाव को यहाँ मौन नामक विभूति समझ सकते हैं।

जो ज्ञानी लोग हैं उनके अंदर ज्ञानस्वरूप से मैं हूँ, मैं हूँ तब उनको ज्ञान है। घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान आदि में ज्ञानरूप से परमेश्वर ही हैं। प्रत्येक ज्ञान के अंदर ज्ञानरूप से परमात्मा को देखना, ज्ञान को परमेश्वर की विभूति समझना उपासना है। अथवा जो नित्य ज्ञान है वह तो अधिष्ठान परमात्मा का स्वरूप है, परन्तु जो उसके बारे में सम्यक् स्थिर निश्चय है, वह ज्ञान उनकी विभूति है।। ३८।।

अभी तक विविध पृथक्-पृथक् विभूतियाँ गिनायीं। प्रारम्भ में भगवान् ने कहा था कि मुख्य विभूति, वैभव है कि सब भूतों का आदि-मध्य-अंत मैं हूँ (श्लोक २०)। परमेश्वर का यही प्रधान ऐश्वर्य श्रुति, स्मृति व शास्त्र में कहा गया है। विभूति-वर्णन के समापन में पुनः अपनी वही मूलकारणरूपता प्रकट करेंगे। उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता से तात्पर्य स्पष्ट होता है यह विचारकों ने स्वीकारा है। इस रहस्य को सूचित करते हुये प्रकरण का उपसंहार करते हैं-

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। ३६।।

और अर्जुन! जो सब भूतों का बीज है वह मैं हूँ। चर-अचर कोई भूत नहीं जो मेरे बिना हो।

सभी भूत अर्थात् चाहे जड हो, चाहे चेतन हो, सारे के सारे मुझसे ही निकलते हैं अतः मैं ही उनका बीज हूँ। वृक्षरूप में बीज ही प्रकट होता है परन्तु साथ में खाद और जल की आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवों की कर्मरूप खाद से ही सबके बीजभूत परमेश्वर से सब कुछ प्रकट होता है। कर्मफल का सहारा लेकर प्रकट तो परमेश्वर ही हो रहे हैं। मायाविशिष्ट चेतन सब प्राणियों का बीज है। जब उसको ज्ञानाग्नि से भून दिया जाता है, तत्त्वमस्यादि से होने वाला जो ज्ञान है उससे इस बीज को भून दिया जाता है, तब आगे फिर कोई कर्मफल उसमें से निकलेगा नहीं। जब तक भूना नहीं गया

है तब तक कर्म फल देता रहेगा। कर्मफलों का दाता मायाविशिष्ट चेतन है और वही जब भून दिया गया तब बीजावस्था नहीं रह जाती, शुद्ध चिन्मात्र रहता है।

चर-अचर जड और चेतन, दोनों में कोई भी ऐसी चीज़ नहीं है जो मेरे बिना हो सके, क्योंकि 'है'-रूप मैं हूँ। है-रूप मुझसे सम्बंधित हुये बिना कोई चीज़ 'है' तो हो ही नहीं सकती। इसलिये मेरे बिना कहीं कुछ भी जड या चेतन नहीं है। जहाँ मैं नहीं हूँ उसका स्वरूप सिद्ध ही नहीं होता, निरात्मक हो जाता है। 'घड़ा नहीं है' का क्या रूप है? कोई रूप नहीं है। 'घड़ा है' इसका रूप तो तुमको स्पष्ट है। घड़ा नहीं है, कपड़ा नहीं है, लड्डू नहीं है, पेड़ा नहीं है, सब 'नहीं है' तो एक जैसे ही हैं! उनका कोई अलग-अलग स्वरूप नहीं है। इसके द्वारा जो बौद्धों का कथन है कि 'कुछ नहीं है' से सब कुछ पैदा होता है, उसका सर्वथा निराकरण कर दिया। जो है, उससे तो दूसरी चीज़ें पैदा होती हैं। जो नहीं है, उससे कुछ भी पैदा नहीं हो सकता। भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि मुझसे जो छूटा हुआ है वह शून्य है। जो कुछ है वह मेरा रूप है। इस विभूति को उपक्रम में और उपसंहार में कहा और अभ्यास लिंग को पूर्ण करने के लिये बीच में भी 'सर्गाणां आदिरन्तश्च' से उसी बात को कहा। सारे विभूतियोग का असली तात्पर्य है कि सब कुछ परमात्मा से ही प्रकट हुआ है, उसके बिना कहीं कुछ भी नहीं है। जिन चीज़ों में लोगों को प्रायः श्रेष्ठ बुद्धि होती है उनमें पहले मन एकाग्र कर लेना चाहिए। लेकिन अन्ततोगत्वा वासुदेव का सर्वात्मरूप समझने लायक है। जब तक मायाविशिष्ट चेतन की दृष्टि है तब तक ये सब परमेश्वर की विभूतियाँ हैं, परमेश्वर का ऐश्वर्य है। परन्तु जब पारमार्थिक दृष्टि से देखते हैं तब ये सब बाध करने के लिये हैं, इन सबका बाध करने से उस निर्विशेष का स्पष्ट बोध होता है। परमेश्वर की अनन्तता को माया के द्वारा प्रकट करने का साधनमात्र विभूतियाँ हैं, उस अनन्तता को समझने पर ये सब मिथ्या होने से नहीं हैं।। ३९।।

अर्जुन द्वारा पूछी गयी दिव्य विभूतियाँ अनंत हैं, यह कहते हुये प्रसंग का समापन करते हैं -

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। ४०।।

हे शत्रुतापन! मेरी दिव्य विभूतियों की समाप्ति नहीं है। विभूतियों के इस विस्तार-वर्णन में मैंने उनके एक हिस्से का ही कथन किया है।

अर्जुन ने विस्तार से विभूतियाँ बताने की प्रार्थना की थी। भगवान् ने थोड़ी-सी विभूतियाँ ही बताई हैं। इसलिये कहते हैं, अनन्तता को प्रकट करने के कारण मेरी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। उनका अंत नहीं हैं। कहीं-कहीं पुराणों में जहाँ भगवान् के अवतारों का वर्णन है वहाँ कहीं आठ अवतार कहे, कहीं दस कहे, कहीं चौबीस कहे,

कहीं एक सौ आठ कहे और अन्त में कह दिया कि अनन्त अवतार हैं अर्थात् परमेश्वर की विभूतियाँ अनन्त हैं। इसी बात को यहाँ कहा कि मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। कोई भी नहीं कह सकता है कि जो सर्वान्तर्यामी परमेश्वर है उसकी कोई इयत्ता हो सकती है, कोई माप हो सकता है। अन्यथा परमेश्वर परिच्छिन्न हो जायेगा। उसका निर्विशेष भाव भी अपरिच्छिन्न है और माया भी अपरिच्छिन्न है, इसलिये माया-विशिष्ट चेतन भी अपरिच्छिन्न है, अनन्त ही है। इसलिये तुमने विस्तार से बताने को कहा पर मैंने एकदेश से बतला दिया है, थोड़ी-सी विभूतियाँ बतला दी हैं।।४०।।

यदि अनन्त हैं तो जहाँ-कहीं देखें उसको 'विभूति' जानने का तरीका क्या है? बताते हैं -

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्।। ४१।।

लोक में जो-जो ऐश्वर्य वाली वस्तु लक्ष्मीसमेत या उत्साहयुक्त हो, उस-उसको मेरे तेज के अंश से उत्पन्न जानो।

अपने अन्तःकरण में जो भी वृत्ति पूर्ण उत्साह के साथ आती है, वह परमेश्वर की विभूति है। और बाहर जहाँ-कहीं हमें किसी प्रकार का ऐश्वर्य देखने में आता है वह सब परमेश्वर की विभूति है। इसीलिये मन में पूर्ण उत्साह हो तो समझ लेना चाहिये कि परमेश्वर ही उस उत्साह के रूप में प्रकट हुआ है। जहाँ 'कर्म को कब करे?' इसके बारे में भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न विचार कहे हैं वहाँ

'उषः प्रशस्यते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः।
अंगिरा मनउत्साहो ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः।।'

गर्ग महर्षि का कहना है कि उषा काल में, सूर्योदय के पहले, किसी भी कार्य को प्रारम्भ करना ठीक है। बृहस्पति का कहना है कि जिस कार्य के विषय में अच्छा शकुन होवे, सगुन होवे, वह कर लेना चाहिए। अंगिरा महर्षि कहते हैं कि जब मन में उत्साह हो उस समय कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिय। अन्त में कहा कि भगवान् कृष्ण तो कहते हैं कि शास्त्र ने जो कह दिया, वेद ने जो करने को कह दिया, उसको करने में किसी देश-काल का विचार करने की ज़रूरत नहीं है। शकुन अच्छा भी भगवान् ही लाते हैं। ब्रह्ममुहूर्त में सवेरे-सवेरे जो वृत्ति उठती है उसके अन्दर भगवान् की प्रेरणा होती है। उत्साह तो भगवान् की विभूति है ही। अपने अन्दर परमेश्वर की विभूति उत्साह को समझ लो और बाहर जहाँ श्रीमद् होवें वहाँ समझ लो। मुझ ईश्वर का जो तेज है उसके एकदेश से जो उत्पन्न है, वही वस्तु लोक में विभूति समझ ली जाती है। माया अनन्त है परन्तु जहाँ बाहर तुमको विशेष ऐश्वर्य देखने में आता है वह उस माया का एक हिस्सा है। इसी प्रकार से अंदर में जो प्रेरणा आती है वह भी माया के कार्य अन्तःकरण

के अंदर उसका ही एकदेश है, अनन्त उद्भवों में से एक उद्भव है - यही तात्पर्य 'अंश' कहने का है। तेज इसी दृष्टि से कहा कि वहाँ विशेष प्राकट्य प्रतीत होता है। है तो वह सर्वत्र एक जैसा, परन्तु हमारी दृष्टि से वह चीज़ विशेषता वाली प्रतीत होती है। परमेश्वर की दृष्टि से कहीं विशेष और सामान्य का भेद नहीं है। माया भी एक जैसी, चेतन भी एक जैसा, परन्तु हम लोगों की दृष्टि में ऐसी प्रतीति होती है क्योंकि हमारे संस्कारों के कारण हमको कोई चीज़ विशेष ऐश्वर्य वाली दीखती है, दूसरी चीज़ नहीं दीखती।।४१।।

सबको सुविधा से समझ आ जायें इसलिये अलग-अलग विभूतियाँ बताईं। अब जो बात सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि कर सकने वाले भक्त ही समझ सकते हैं वह बताकर अध्याय परिसमाप्त करते हैं -

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

ॐ तत् सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

अर्जुन! इस जाने गये बहुत से तुम्हें क्या (लाभ)? वह सब छोड़कर जानो कि एक अंश से इस सारे जगत् को पूरी तरह धारणकर मैं मौजूद हूँ।

'अथवा', अर्थात् पूर्वोक्त अनेक विभूतियों वाला पक्ष छोड़कर दूसरा पक्ष कह रहे हैंः सचमुच में यदि तुम जानना चाहते हो तो इस प्रकार से विशेष बहुत-सी विभूतियाँ जानने से तुम्हें क्या लाभ! इस प्रकार से गिनने पर तो विभूति-विस्तार तुम पूरी तरह से नहीं जान पाओगे। बहुत-सी चीज़ों को तुम परमेश्वर का विस्तार मानोगे ही नहीं। जगत् के अंदर देश व काल दोनों आने जाने वाले हैं। इसलिये इसको जगत् कहते हैं, 'गच्छति' चलता ही रहता है, बदलता ही रहता है। सृष्टि के आदि क्षण से लेकर प्रलय के अन्तिम क्षण तक, यह सारा संसार मेरे एक अंश में ही स्थित है। अर्थात् सृष्टि से प्रलय तक जो भी विभूतियाँ प्रकट हुई हैं, कण-कण और क्षण-क्षण में प्रकट होने पर भी, वह एक अंशमात्र है। हर सृष्टि में कुछ नवीनता होती है, कुछ पहले जैसा होगा। मैं इसमें कैसे स्थित हूँ? 'विष्टभ्य', इसको स्थिर रखते हुये। जगत् में हर चीज़ बदल रही है, लेकिन उन सारी बदलने वाली चीज़ों को मैं ही स्तम्भित करके रखता हूँ, अर्थात् उन सबके अंदर एक सत्त्व पिरोया हुआ है। सब चीज़ों के अंदर नहीं बदलने वाला जो स्वरूप है वह मैं हूँ। यह सारा परिवर्तन केवल एक छोटे-से हिस्से में होता है। इसीलिये पुरुष सूक्त के अंदर कहा है कि जितने अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, ये सारे के सारे मेरे एक पाद में, एक चौथाई में हैं! यहाँ गणित का चौथाई हिस्सा मत समझना! बहुत छोटे हिस्से में हैं, बस इतना तात्पर्य है। जो त्रिपादी है अर्थात् उससे बहुत बड़ा हिस्सा है, वह तो

नहीं बदलने वाले अमृत भाव के अंदर ही स्थित है। उसी को कुछ दार्शनिक मुक्तोपसृप्य ब्रह्म मानते हैं। मुक्त लोग परमेश्वर के किस भाव को प्राप्त करते हैं? उस अमृत भाव को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म का परिवर्तनशील भाव तो अविद्या के द्वारा ही है। विद्या के द्वारा त्रिपादी ही रहती है। अर्थात् विद्या के द्वारा कहीं कुछ परिवर्तन नहीं है। अविद्या से जो प्रतीति होती है वह भी उसके एक अंश में है।

इस प्रकार से विभूतियोग भगवान् ने यहाँ बतलाया। सारा प्रपंच ही उनका ध्येय रूप है। और उससे अतीत है उनका निरुपाधिक तत्त्व जो परिपूर्ण सच्चिदानंद एकरस वस्तु महावाक्य में आये 'तत्'-पद का लक्ष्यार्थ है।। ४२।।

।। दसवाँ अध्याय ।।

ॐ

ग्यारहवाँ अध्याय : विश्वरूपदर्शनयोग

विभूतियों को जब सुन लिया और भगवान् ने कह दिया कि 'सारा जगत् मेरे एक अंश मात्र में स्थित है', तब स्वभावतः अर्जुन की इच्छा देखने की हुई कि परमेश्वर का स्वरूप कैसा है, जिसके एक अंश में ये सब स्थित हैं? उसके दर्शन के लिये प्रार्थना करने की भूमिका बाँधते हुए कहता है -

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

मुझ पर करुणाकर उपकार करने के लिये जो आपने उत्तम रहस्यभूत अध्यात्म-नामक उपदेश-वचन कहा उससे मेरी यह अविवेक-बुद्धि दूर हुई।

अर्जुन स्वीकार रहा है कि भगवान् ने कृपाकर ही उसे यह रहस्यात्मक विषय समझाया है। स्वयं उसने कहा था (१०.१४) कि देव-दानव भी भगवान् का प्रभाव नहीं समझ पाते। भगवान् ने भी कहा था (१०.२) कि देवता और महर्षि भी भगवान् का प्रभाव पूरी तरह नहीं समझ सकते। उन्होंने बाताया था- 'मैं अनन्त हूँ इसलिये मेरी थोड़ी- बहुत विभूतियों का ज्ञान तो किसी को हो जाये पर पूरी विभूतियों का ज्ञान नहीं हो सकता'। फिर भी अर्जुन कहता है कि विभूतियों का वर्णन उपासना के लिये आपने किया तो यह मेरे ऊपर अनुग्रह है, कृपा है। 'अध्यात्मसञ्ज्ञितम्' अर्थात् आत्मा-अनात्मा के विवेक को विषय करने वाला यह उपदेश था। भगवान् ने सबके अन्दर निर्विकार रूप से रहने वाला आत्मतत्त्व और अविद्या के द्वारा प्रतीत होने वाली अनन्त विभूतियाँ दोनों बताकर, आत्मा और अनात्मा के विवेक को स्पष्ट कर दिया। 'परमं गुह्यं' यह अत्यन्त गोपनीय विद्या है क्योंकि यह ऐसी चाबी है जिससे सारी सृष्टि का खेल ख़त्म हो जाता है! सृष्टि का खेल तभी तक है जब तक तुम आत्मा और अनात्मा को एक करके जानते हो। मोटी भाषा में कहें तो जब तक तुम मैं को एक वस्तु जानते हो। अहम् जो प्रतीति

है, उस के विषय को हम लोग एक समझते हैं कि यह एक चीज़ है। विभूति योग को बतलाने से स्पष्ट हो जाता है कि इस अहम् में दो तत्त्वों को प्रकट करने वाली अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं जो ये सारी विभूतियाँ है। मैं में ये दो हैं- एक, चेतन और दूसरा, अन्तःकरण। अन्तःकरण विभूतियों का विस्तार करने वाला है जबकि स्थिर रहने वाला केवल आत्मतत्त्व है। जब यह समझ में आ जाता है तब पता लग जाता है कि करने वाला, जानने वाला मैं नहीं, वरन् मैं हूँ इसलिये अन्तःकरण करता है, जानता है। मुझ में अधिष्ठित न होवे तो अन्तःकरण सर्वथा तत्त्व से रहित हो जाने के कारण कुछ भी नहीं कर सकता कुछ नहीं जान सकता। मुझ में अधिष्ठित होकर वह सब कुछ कर रहा है, सब कुछ जान रहा है। जब अन्तःकरण नहीं है तब मेरा स्वरूप कैसे सिद्ध होवे? इसके लिये अज्ञानियों को समझाने के लिये भगवान् ने एक बना दी सुषुप्ति की अवस्था। सुषुप्ति की अवस्था में निश्चय है कि मैं था। किसी को सन्देह नहीं है कि मैं मर गया था! परन्तु वहाँ कोई विभूति नहीं थी। अन्तःकरण नहीं होने से किसी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं था परन्तु चेतन था। सुषुप्ति की अवस्था से जगने पर यह सब निकलता है इसलिये बीज रूप में वहाँ सब कुछ था, जैसा भगवान् ने कहा था (१०.३६) कि मैं बीज हूँ। बीज क्या है? आत्मा के स्वरूप को न जानना। जब रस्सी साफ नहीं दीखती तब हमारा मन सैकड़ों कल्पनाएँ करता है- यहाँ साँप है, जलधारा है, हार है, भूछिद्र है, अनेक कल्पनाएँ करता है क्योंकि रस्सी दीखी नहीं, परन्तु जैसे ही बत्ती जली और रस्सी दीख गई वैसे ही कोई कल्पना नहीं रह जाती। वहाँ जो कई चीज़ें तुमको दीखती रहीं उसका कारण रस्सी का अज्ञान है। इसी प्रकार 'मैं' वस्तुतः क्या हूँ, यह पता नहीं होने से, उस मैं के बारे में सारी कल्पनाएँ होती हैं परन्तु जैसे ही 'मैं' का वास्तविक ज्ञान होता है, वैसे ही पता लग जाता है कि सब कल्पनाओं के अधिष्ठान रूप में तो केवल चेतन मात्र ही है। इस ज्ञान से बीज नष्ट हो जाता है। सुषुप्ति में इतना तो पता चल जाता है कि मैं चेतन हूँ, अहंकार के बिना भी हूँ। परन्तु उस विशेषतः अज्ञात चेतन से ही सारी अन्तःकरण की वृत्तियाँ, सारा संसार निकल कर आता है, यह ज्ञान नहीं है। जैसे ही यह ज्ञान होता है कि मैं चेतन ब्रह्म हूँ, वैसे ही संसार का बीज समाप्त हो जाता है, सारी कल्पनाएँ ख़त्म हो जाती हैं। यदि दीर्घ काल तक हमें कोई भ्रम रहा है तो अधिष्ठान के जानने के बाद भी थोड़ी देर तक संस्कार कायम रहता है इसलिये रस्सी दीख गई, फिर भी एक-दूसरे से कहते हैं 'देखो, यह सिर की तरह दीख रहा है, यह पूँछ की तरह दीख रहा है।' अर्थात् अभी सिर और पूँछ के थोड़े संस्कार बचे हुए हैं! इसी प्रकार जब तक प्रारब्ध है तब तक इस तत्त्व का निश्चय करने के बाद भी संस्कारों के कारण कुछ-कुछ प्रतीति होती है। परन्तु जैसे वहाँ सिर पूँछ कहते हुए भी जानते हो कि है नहीं, इसी प्रकार अन्तःकरण के अन्दर कर्तृत्व-भोक्तृत्व को देखने पर भी जानते हो कि ये नहीं हैं प्रतीतिमात्र है, संस्कारमात्र है। चूँकि इस

अध्यात्म ज्ञान से संसार का चक्र समाप्त हो जाता है इसलिये यह परम गोपनीय है, जो अधिकृत पुरुष होता है उसके सामने ही बताने योग्य है। कई बार आधुनिक लोग प्रश्न करते हैं कि फिर सबको बताने से क्या फायदा? यह ऐसा विषय है कि जो अधिकारी नहीं है, उसको सुनने से भी समझ में वस्तुतः कुछ आयेगा नहीं! उसको इस बारे में संशय ही उत्पन्न होते रहेंगे। इसलिये तुम छिपा कर रखो यह ज़रूरी नहीं है, यह तो स्वयं ही गुह्य है, स्वयं ही छिपा रहता है। भगवान् के मुख में ब्रह्माण्ड देखकर भी यशोदा को ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि यह तो गुह्य है। उसको देखकर उसने कहा कि भगवान् को कोई भूत लग गया है, नोन मिर्च करो! ऐसा गुह्य है कि प्रकट करो तो भी सामने वाले को प्रकट होगा नहीं। जो विश्वरूप अर्जुन को दिखलाया है, वही विश्वरूप जब दूत बनकर गये थे तब दुर्योधन आदि को दिखलाया था। दुर्योधन को लगा कि 'अरे यह जादूगर है, जादू दिखलाता है।' इसलिये, सब को बतलाना नहीं चाहिये यह इस 'गुह्य' का अर्थ नहीं, *बताने पर* भी उनको बोध हो नहीं सकता, इसलिये स्वरूप से ही गुह्य है। 'परमं गुह्यं' इससे ज़्यादा और कोई गुह्य रहस्य नहीं है।

अर्जुन कहता है कि आपने जो उपदेश दिया, उससे मेरी अविवेक बुद्धि हट गई, आत्मा और अनात्मा को अलग करके न जानना मोह है, वह चला गया। यहाँ भी अर्जुन ने कहा है 'मोहोऽयं विगतो मम' और अन्त में भी कहेगा 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' यहीं मोह नष्ट हो गया तो वहाँ क्या हुआ? यहाँ विगत और वहाँ नष्ट कहा। अन्तःकरण से भिन्न हूँ यह जानने से मोह विगत हो जाता है और अन्तःकरण का अधिष्ठान हूँ- यह जानने से मोह नष्ट हो जाता है। विवेक बुद्धि के द्वारा अनात्मा से आत्मा अलग है - यह तो पता चला परन्तु अनात्मा है ही नहीं, तीन काल में इसकी सत्ता नहीं है, ऐसा निश्चय नहीं होता इसलिये मोह नष्ट नहीं होता।।१।।

भगवान् के वचनों का ही वर्णन करता है -

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

कमल की पंखुड़ी-सी आँखों वाले भगवन्! भूतों के जन्म-नाश आपसे ही होते हैं तथा आपकी अक्षय महत्ता है यह आपसे विस्तारपूर्वक सुना।

भव अर्थात् सब चीज़ों का उद्भव, उत्पत्ति और अप्यय अर्थात् सब चीज़ों का लीन होना, समाप्त होना, अर्थात् सृष्टि और प्रलय। चराचर, जड चेतन जो भी भूत है उस सबके उत्पत्ति और लय भगवान् से ही हैं। 'श्रुतौ' अर्थात् 'मैंने ठीक तरह सुन लिये'। इसका मतलब है कि जो बात कही गई उसकी महिमा को समझ लिया। आप कैसे हैं? कमलपत्राक्ष! कमल के पत्ते की तरह आपकी आँखें हैं। कमल का पत्ता जल की बूंदों को अपने ऊपर लेते ही हटा देता है। चाहे जितना पानी पड़े कमल के पत्ते को जाकर

देखोगे, हाथ लगाओगे तो कहीं से गीला नहीं होगा। पानी उस पर पड़ा नहीं, ऐसी बात तो है नहीं, लेकिन पड़ने पर भी कोई असर नहीं हुआ। इसी प्रकार आत्मरूप आपके ऊपर ये सारी विभूतियाँ प्रतीत होने पर भी इनके द्वारा आप में कोई विशेष का आपादन नहीं होता। यह बात मैंने ठीक तरह से समझ ली और साथ में आपका वैभव भी समझा। आपका माहात्म्य कैसा है? 'अव्ययम्' अनादि अनन्त है, कभी समाप्त होने वाला नहीं है। कोई चीज़ सच्ची हो तो उसका आदि अन्त हो जाता है। पर झूठी बात का आदि-अन्त नहीं होता। जगत् मिथ्या है, इसलिये इसका आदि-अन्त हो ही नहीं सकता। इसी दृटि से इस माहात्म्य को अव्यय कहा। अनादि काल से हम लोग इस सृष्टि-चक्र में चल रहे हैं। असंख्य जीवनों में अनन्त अनुभव कर लिये। पर अब भी अनुभव होता है तो सोचते हैं 'यह नयी बात है!' लगता है मोबाईल फोन कैसा नया निकला, ऐसा तो पहले था ही नहीं! इसलिये माहात्म्य अक्षय है।।२।।

भूमिका के बाद निवेदन करता है-

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

परमेश्वर! आप स्वयं को जैसा बता रहे हैं वैसे ही आप हैं। पुरुषोत्तम! मैं आपका ईश्वर-सम्बन्धी रूप देखना चाहता हूँ।

इस प्रकार अर्जुन अपनी श्रद्धा प्रकट कर रहा है- जैसा आपने कहा वैसा ही है, उसके अन्दर कुछ भी संदेह नहीं है। जो कही वह बात तो निश्चित है क्योंकि आप परमेश्वर हैं, जैसा आपने कहा वैसा ही आपका अव्यय माहात्म्य है। परन्तु आपका जो निरतिशय ज्ञान, निरतिशय ऐश्वर्य, निरतिशय बल, निरतिशय शक्ति, निरतिशय वीर्य, वाला रूप है वह देखना चाहता हूँ। गीता के शुरू में ही भाष्यकार ने कहा था कि ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, तेज आदि सबसे भगवान् हमेशा ही युक्त रहते हैं; कभी युक्त होते हैं और कभी नहीं होते ऐसा नहीं है, हमेशा युक्त रहते हैं। जब माँ का दूध पी रहे थे तब भी पूतना को समाप्त कर रहे थे। ऐसा नहीं है कि बाद में उनके अन्दर शक्ति आई। वह जो आपका ऐश्वर रूप है, ऐश्वर्य वाला रूप है उसको मैं देखने की इच्छा करता हूँ, मैं देखना चाहता हूँ। 'हे पुरुषोत्तम!' आगे पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् पुरुषोत्तम का वर्णन करेंगे। क्षर और अक्षर दोनों से जो अतीत है वह पुरुषोत्तम है। अर्जुन कहता है कि आप पुरुषोत्तम हैं, यह बात मेरी समझ में आई है, फिर भी मैं आपका ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य वाला जो स्वरूप है उसको देखना चाहता हूँ। पुरुषोत्तम सम्बोधन से बतलाया कि आपने अपना जो आत्म-रूप कहा, वह ठीक है ऐसा मैं जानता हूँ, परन्तु सारा सोपाधिक रूप सर्वथा मिथ्या है- अभी तक ऐसी मेरी निश्चित स्थिति नहीं हुई है। इसलिये ऐश्वर्य वाले रूप में मेरी अब भी आस्था बनी हुई है, कि रूप कैसा है। परमेश्वर

का अधिष्ठान रूप यदि समझ लिया जाता है तब तो ऐश्वर्य वाले रूप के प्रति मनुष्य की भावना हट जाती है। परन्तु जब तक अधिष्ठान रूप को नहीं समझा है तब तक ऐश्वर्य वाले रूप की महिमा मन में बनी ही रहती है।।३।।

प्रार्थना समाप्त करते हुए अर्जुन कहता है-

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

प्रभो! योगीश्वर! उसे मैं देख सकता हूँ ऐसा अगर आप समझते हैं तो (क्योंकि मैं उसे देखने का बहुत इच्छुक हूँ) इसलिये आप मुझे (अपना) अव्यय स्वरूप दिखलाइये।

मेरी देखने की इच्छा है अतः आप दिखा दीजिये- इतना ही नहीं कहता क्योंकि समझता है कि कठिन विषय है, इसलिये भगवान् के ऊपर छोड़ता है कि मैं देख सकता हूँ, ऐसा यदि आपको लगता है, ऐसा आप सोचते हैं तो दिखाने की कृपा करें। अगर मैं अयोग्य होऊँ तो नहीं दिखाइये। यह हर साधक को याद रखना चाहिये। भगवान् से माँगने में तो हम स्वतन्त्र हैं, जो चाहे सो माँग सकते हैं, पर भक्त माँगने के साथ कहता है 'यदि मेरे कर्मफल आदि का विचार करके आप इसको ठीक समझें तो ही करियेगा। मैंने कह दिया मैं क्या चाहता हूँ। पर मेरे लिये ठीक हो तभी आप दीजिये।' छोटा बच्चा अंगारे को पकड़ना चहता है, माँ रोकती है। माँ उस को अंगारा पकड़वा सकती है, ऐसा नहीं है कि नहीं पकड़वा सकती, परन्तु जानती है इसके लिये हानिप्रद है अतः नहीं पकड़ाती। बच्चा नहीं समझता, फिर भी माँ का रोकना उसकी भलाई के लिये है। इसी प्रकार मैं समझता हूँ अमुक चीज़ मेरे लिये अच्छी है। परन्तु यदि मेरे लिये अच्छी नहीं है ऐसा भगवान् समझकर हमें नहीं देते तो प्रसन्न होना चाहिये कि इससे मेरा कोई-न-कोई अवश्य नुकसान होता, इसलिये भगवान् ने नहीं दिया। यह फ़र्क है भक्त और सकाम कर्मी में। कर्मी में भी कामना है, परमेश्वर के भक्त में भी कामना है। लेकिन सकाम कर्मी ज़बरदस्ती, नफे-नुकसान का निर्णय भगवान् पर छोड़े बिना चाहता है। भक्त के अन्दर भी कामना है लेकिन निर्णय परमेश्वर पर छोड़ता है। सम्बोधन करता है 'प्रभो!' मालिक आप हैं। अर्जी देना हमारा काम है, आगे मर्ज़ी तुम्हारी है। जब हम किसी को अपना प्रभु समझते हैं, स्वामी, मालिक समझते हैं तब अपनी अपेक्षाएँ बताकर निर्णय उसी पर छोड़ते और उसके निर्णय को हृदय से स्वीकारते हैं। इसी प्रकार अर्जुन भगवान् को प्रभु मान रहा है। इसलिए 'हे योगेश्वर' आप योगों के ईश्वर हैं अर्थात् किसी भी चीज़ को घटित करना आपके हाथ में है। किसी भी चीज़ को घटाने में आप सामर्थ्य वाले हैं। इसलिये आप दिखा सकते हैं। लेकिन मेरी योग्यता देखें तभी दिखाइये।।४।।

अर्जुन द्वारा इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् ने कहा -

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

पार्थ! मेरे सैकड़ों, किंवा हज़ारों, अनेक प्रकार के, अनेक रंगों ओर आकारों वाले अप्राकृत रूपों को देख।

प्रार्थना सुनने के बाद भगवान् ने केवल कहा नहीं कि 'दिखा दूँगा', उसी समय उसको विश्वरूप दिखा दिया। उसने जो उन्हें योगेश्वर कहा था, उसको भगवान् ने सत्य करके दिखला दिया। इच्छामात्र से उन्होंने अपना यह रूप दिखा दिया जो सारी सृष्टि का कारण है, जिसमें यह स्थिति काल में दीखती है और अन्त में यह सब कुछ जिसमें लीन हो जाता है। इसलिये यह रूप भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों को अन्तभूर्त कर लेता है। योग-शक्ति अर्थात् जो घट न सके उसको घटा कर दिखा देना। यह जो परमेश्वर की शक्ति है वह तुरन्त उन्होंने प्रकट कर दी। अर्जुन ने कहा था 'दर्शय' इसलिये भगवान् ने भी कहा 'पश्य', देखो। न अर्जुन का तात्पर्य था कि केवल आँख से ही देखे और न भगवान् का अर्थ है केवल आँख से ही देखे। किन्तु उसके कहते ही उन्होंने कहा ' हे पार्थ! तेरे लिये क्या शक्य नहीं है! तू तो पृथा का पुत्र है, कुन्ती का पुत्र है, इसलिये तेरे लिये मैं कुछ भी कर सकता हूँ'। इस प्रकार अपने अतीव स्नेह को प्रकट करने के लिये अपना अत्यन्त नज़दीकी जो सम्बन्ध है, वह बतलाया पार्थ कहकर। 'मे' अर्थात् मेरे का मतलब है माया-विशिष्ट चेतन जो मैं हूँ उसके रूप। जैसा पहले भी कहा था, गीता शास्त्र में अहम् पद का अर्थ केवल एक वासुदेव शरीर नहीं है, इसीलिये वासुदेव को भी अपनी अनन्त विभूतियों में एक विभूति बतलाया था। जो सारे ही अवतारों का, सारे ही संसार का बीजरूप माया-विशिष्ट चेतन है उसके ये सैकड़ों और हज़ारों रूप हैं। 'शतशः अथ सहस्रशः' इसका मतलब है अनेक रूप। 'दिव्यानि', ये सभी अप्राकृत रूप हैं। प्राकृत रूप उसको कहते हैं जो किसी देश-काल से विशिष्ट होकर प्रतीत होता है। प्रकृति के कार्य प्रकृति के अनुरूप क्रम से प्रकट होते हैं, एक के बाद दूसरा। एक के बाद दूसरा न होना, यह अप्राकृत है। 'दिव्यानि' से कहा कि मेरी माया शक्ति से सीधे ही इनकी प्रतीति होती है। अनेक तो रंग हैं इन रूपों के और अनेक आकृतियाँ हैं। जिसके अन्दर अलग-अलग अवयव-संस्थान होवें, उसको आकृति कहते हैं। आकृति का मतलब अलग-अलग अवयवों के सहित रूप है।।५।।

सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाले इस रूप में क्या-क्या देखना है यह बताते हैं-

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

भरतकुल-भूषण! आदित्यों को, वसुओं को, रुद्रों को, अश्विनी कुमारों को, मरुद्गणों को तथा पहले न देखे बहुत आश्चर्यों को देखो।

बारह आदित्य हैं, अष्ट वसु हैं, और ग्यारह रुद्र हैं। ये इकतीस तथा इन्द्र और प्रजापति को लेकर जो तैंतीस हैं वे सृष्टि चलाने वाले प्रधान देवता हैं। केवल प्रधान देवता ही नहीं, गौण देवता भी देखो। अश्विनी कुमार ये दो भाई हैं, हमेशा साथ रहते हैं, पहले इनको यज्ञ में भाग नहीं मिलता था, बाद में मिलने लगा। इसके द्वारा पता लगता है कि ये प्रधान नहीं, गौण हैं। 'मरुतः', उनन्चास मरुत् हैं। इसलिए ये हमेशा बहुवचन में कहे जाते हैं। इन्द्र ने पहले इनके सात टुकड़े किये और फिर हर टुकड़े के सात टुकड़े कर दिये, इस प्रकार सात के सात टुकड़े हुये तो उनन्चास हो गये। इन्द्र को भय था इनसे, इसलिये उसने ऐसा किया। बाद में कश्यप महर्षि ने इन्द्र और मरुतों की दोस्ती करा दी। अर्थात् देवताओं का राजा इन्द्र है, उसके अनुसार ही मरुत् उससे मित्रता करके रहने लगे। ये भी अश्विनी कुमारों की तरह गौण देवता हैं। कुछ का नाम लेकर कह दिया कि सारे देवताओं को देख लो। इतना ही नहीं, अदृष्टपूर्व, जो पहले कहीं नहीं देखे गये हैं उन्हें भी देख लो। आदित्य, वसु, रुद्र देवता तो यज्ञादि के अन्दर दीख सकते हैं। बड़े-बड़े यज्ञ अर्जुन ने किये ही थे। परन्तु जिनको पहले नहीं जाना है, उनको भी देख लो, 'आश्चर्याणि' जो सर्वथा अद्भुत हैं, कल्पनातीत होने से आश्चर्य हैं, ऐसे पदार्थ भी देख लो। 'अदृष्टपूर्वाणि' से विशेष करके मनुष्य लोक में दीखने वाले आश्चर्यों का कथन है। मनुष्य लोक की चीज़ें ही दृष्ट होना संभव हैं। उन्हें शास्त्रों के द्वारा तुमने देखा है पर आँखों से नहीं देखा। इसके द्वारा भगवान् ने संकेत कर दिया कि देवताओं अथवा दूसरे अनेक प्रकार के आश्चर्यों को तुम स्वप्न में भी देखते हो। परन्तु यह स्वप्न की तरह नहीं है। ये मेरे मालिक रूप से प्रकट होने वाले हैं, स्वप्न की तरह नहीं हैं। स्वप्न में जो चीज़ें दीखती हैं, उनका कारण संस्कार होते हैं, और संस्कार तो पहले जिस चीज़ को देखा है उसी का पड़ेगा। अदृष्टपूर्व जो होगा वह संस्कार से जन्य नहीं होगा। स्वप्न या दिवा स्वप्न में जो देखते हो वे दृष्टपूर्व चीज़ें हैं, जो पहले देखी हुई हैं। अवयवों में तो हेर-फेर कर लेते हो; किसी की तुमको सुन्दर नाक दीखी है, किसी दूसरे के होंठ दीखे हैं, किसी तीसरे का कान दीखा है, संस्कारों को मिला कर लगता है नया चेहरा देख रहे हैं; परन्तु जब उस चेहरे का सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करते हैं तब पता लग जाता है कि नाक वहाँ का, होंठ वहाँ के। अदृष्टपूर्व वह होगा जिसके जैसी कोई चीज़ पहले देखी ही नहीं है, इसलिये उसके संस्कार हैं ही नहीं। अदृष्टपूर्व कह कर स्पष्ट कर दिया कि यह स्वप्न या संस्कार-जन्य दर्शन नहीं है। जो मैं दिखा रहा हूँ वह माया से ही दृश्य बन रहा है।।६।।

और भी कहते हैं -

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

गुडाकेश! आज मेरे इस शरीर में एक ही जगह विद्यमान चर-अचर सहित सारा जगत् तथा और भी जो देखना चाहता है, देख ले।

'इह' अर्थात् यहीं पर 'एकस्थम्' एक जो यह मायिक रूप मैं दिखला रहा हूँ, उस एक रूप में ही सारे जगत् को देख ले। कैसा जगत्? 'सचराचरम्', जड-चेतन सारा जगत्। 'अद्य पश्य', बस अभी ही देख ले अर्थात् भूत भविष्य वर्त्तमान सारा तुम्हें अभी ही दीख जायेगा। 'इह' को ही स्पष्ट करते हैं 'मम देहे'। मैं जो शरीर प्रकट कर रहा हूँ उसी में। मायाविशिष्ट परमेश्वर का देह मायिक ही होगा। और भी तू जो भी देखना चाहता है, भूत भविष्य वर्त्तमान इस जगत् के अन्दर, वह सब देख सकता है। माया के द्वारा सब चीज़ें एक-साथ दीख जाती हैं। पहले अर्जुन कह चुका है 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' 'पता नहीं जीतेंगे कि नहीं जीतेंगे! भीष्म इच्छामृत्यु वाले सामने खड़े हैं। इसी प्रकार द्रोण खड़े हैं। इनको मैं मार सकूँ, न मार सकूँ, यह सन्देह की बात है।' तू यदि देखना चाहता है कि वे मरेंगे या नहीं, तो अभी ही देख ले। अभी जो होगा वह कालातीत अनुभव है। तेरे मन में जो भी शंका है उस सबका समाधान इसमें देख ले।।७।।

इतना कह कर भगवान् ने देखा कि अुर्जन तो आँखें फाड़ कर देखना चाहता है! देखने के लिये जो अन्तःकरण की विशेष वृत्ति चाहिये, वह उसके पास नहीं है। इसलिये भगवान् ने अपनी तरफ से ही कहा-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

किन्तु अपनी इसी आँख से मुझे नहीं देख सकता। तुझे अप्राकृत चक्षु देता हूँ (उससे) मेरी योगशक्ति का अतिशय देख।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड वाला मेरा शरीर तू अपनी इसी आँख से, किसी भी इन्द्रिय से विषय नहीं कर सकता। इन्द्रिय वर्त्तमान को देख सकती है, भूत और भविष्य को नहीं देख सकती, यह इन्द्रिय की सीमा है। मन भूत और भविष्य को देख सकता है। पुरानी बातों को हम लोग याद करते हैं परन्तु आँख के द्वारा तो उन चीज़ों को नहीं देख सकते जो पहले देखी थीं। इसी तरह से भविष्य के बारे में भी मन कल्पना करता है परन्तु आँखों से तो उसको नहीं देख सकते। इसलिये भगवान् ने कहा कि मेरा वह रूप अप्राकृत है और तेरी आँखें प्राकृत हैं। अप्राकृत का दर्शन प्राकृत आँख नहीं कर सकती।'स्व-चक्षुषा' अर्थात् तू जिसे अपनी आँख समझता है, उससे नहीं देख सकता। इसलिये 'ते दिव्यं चक्षुः ददामि'। जिस अप्राकृत चक्षु से इसे देखा जा सकता है वह

अन्तःकरण है। मन जानी हुई चीज़ों को भूत-सम्बन्ध से जान सकता है परन्तु 'वह अभी मौज़ूद है' इस तरह से तो नहीं देख सकता। अतः जहाँ भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों एक जगह उपस्थित होवें, उसे देखने के लिये सामान्य अन्तःकरण की सामर्थ्य नहीं है। उसके अन्दर भी दिव्यता अर्थात् अप्राकृतता की शक्ति-विशेष चाहिये। इन शक्ति-विशेषों का वर्णन पतंजलि ने बड़े विस्तार से अपने योग-दर्शन में किया है। साधन-विशेष के द्वारा तुम भूत-भविष्य-वर्त्तमान को देख सकते हो, दूर देश की चीज़ों को देख सकते हो। यहाँ भगवान् कहते हैं कि जो सामर्थ्य उन साधनों से आती है, वह अपनी कृपा से मैं तुझे दे रहा हूँ। अर्थात् दिव्य-चक्षु किसी साधना से नहीं, मेरी कृपा से मैं दे रहा हूँ। साधन के द्वारा जो शक्ति प्राप्त की जाती है वह तुम्हारे साथ रहती है और यहाँ भगवान् जितनी देर के लिये देंगे उतनी देर रहेगी, हमेशा नहीं रहेगी। यह साधन से और इस तरह मिलने में फ़र्क रहेगा। चक्षु शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि आँख से दीखता है तो चीज़ हम लोगों को प्रत्यक्ष लगती है। हमने जिस चीज़ को आँख से देखा, उस को हम प्रत्यक्ष ही समझते हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण की दिव्य शक्ति से जो तुम्हें दीखेगा, वह प्रत्यक्ष की तरह दीखेगा। दिव्य चक्षु है अन्तःकरण की सामर्थ्य परन्तु प्रत्यक्षवत् प्रतीति कराती है इसलिये उसको चक्षु कह दिया।

'ऐश्वरं योगं पश्य' मुझ ईश्वर की अतिशय शक्ति देख। सृष्टि स्थित लय करने वाली जो मेरी अतिशय शक्ति है, सारे ब्रह्माण्ड को प्रकट करने वाली जो मेरी अतिशय शक्ति है, उस अतिशय शक्ति को देख। उस अतिशय शक्ति के अन्दर यह भी है कि तूने कोई साधन नहीं किया फिर भी तुझे मैं दिखा रहा हूँ। यह परमेश्वर की अतिशय शक्ति है। कर्मफल परमात्मा देते हैं वह तो निश्चित है, लेकिन कर्मफल *ही* परमात्मा देते हैं ऐसा नहीं है। कर्मफल तो अवश्य देते हैं परन्तु कर्मफल से अतिरिक्त भी अपनी सामर्थ्य से दे सकते हैं और देते हैं। लोक में भी तुमने जितना काम किया, उसका जितना मेहनताना बना, वह कोई भी अच्छा मालिक तुम्हें देगा ही। परन्तु उतना ही देवे, ऐसा नियम नहीं है। तुमको किसी कष्ट में देखता है, तुम्हारे पास दवाई की सामर्थ्य नहीं है तो मालिक कहता है 'ये दस हज़ार रुपये ले जाओ, इलाज के काम में ले लेना'। दस हज़ार रुपये तुम्हारी कमाई वाले नहीं हैं। इसी प्रकार परमेश्वर कर्मफल तो अवश्य देता है, परन्तु उससे अतिरिक्त, यदि तुम अत्यन्त कष्ट में हो तो कष्ट मिटा देता है, यदि तुमको किसी अर्थ की अत्यन्त अभिलाषा है तो उसको भी पूरा करता है। अतः भगवान् ने कहा- मेरी जो यह अतिशय शक्ति है, योग है, उससे तू देख ले।।८।।

गीता शास्त्र के अन्दर सम्बन्ध वाक्य संजय के कहे हुये हैं। प्रायः वाक्य भगवान् के हैं, कुछ वाक्य अर्जुन के हैं और केवल कथा को जोड़ने के लिये जो वाक्य हैं वे संजय के हैं। गीता कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं है, महाभारत के अन्दर आये हुये अध्याय हैं इसलिये सम्बन्ध जोड़ा जाना स्वाभाविक है। प्रारम्भ ही संजय के वचन से हुआ,

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' यह संजय का वाक्य था। अन्त में भी आयेगा संजय का वाक्य। संजय ने भीष्म के मरने के बाद सारी कथा धृतराष्ट्र को सुनाई है। यहाँ भी छह श्लोकों में संजय उस विराट् रूप का और उसे देखते हुए अर्जुन की हालत का वर्णन कर रहा है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।६।।

संजय ने कहा- हे राजा धृतराष्ट्र! यों कहकर महान् योगीश्वर श्रीहरि ने ईश्वर का परम रूप पार्थ को दिखलाया।

'महायोगेश्वरो हरिः'। योग से शक्ति-विशेष आती है पर वे शक्तियाँ सीमित हैं। परमेश्वर का ध्यान इत्यादि करके शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। जिसका ध्यान करके शक्तियाँ मिलती हैं, उसके अन्दर तो उससे बहुत ज़्यादा शक्ति होती ही है। दूसरे लोग योगेश्वर हो भी जाएँ लेकिन परमेश्वर हमेशा महायोगेश्वर कहे जाएँगे। 'हरिः' द्वारा संजय फिर इस बात को प्रकट कर रहा है कि जो रूप दिखलाया वह सृष्टि के आदिकर्ता साक्षात् नारायण ने पार्थ को दिखलाया है। यद्यपि वहाँ सारी फौजें खड़ी थीं, उनमें से किसी को दीखा हो, ऐसा नहीं है। अर्जुन को ही दीखा, क्योंकि भगवान् ने उसी को दिव्य चक्षु दिए थे। व्यास जी ने संजय को ऐसी दृष्टि दी थी जिससे महाभारत के बीच में जो कुछ भी होगा वह सब उसको ज्ञात होगा। नारायण का ही दूसरा रूप थे वेद-व्यास, उन्होंने संजय को जो शक्ति दी थी युद्धस्थल की घटनाएँ देखने को, उससे उसने देखा क्योंकि यह दर्शन भी युद्धस्थल पर ही भगवान् ने अर्जुन को कराया था। 'ऐश्वरम् परमं रूपम्'। ईश्वर का जो परम रूप है। अनेक अवतार आदि हैं पर वे सारे अपर रूप हैं अर्थात् माया-विशिष्ट चेतन जब उनको प्रकट करता है तब वे रूप हैं, जब तक प्रकट नहीं करे तब तक नहीं हैं। परन्तु सारे रूप बीजरूप से माया में तो विद्यमान ही हैं। इसलिये यहाँ जो दिखाया वह मायाविशिष्ट चेतन का परम रूप है।।९।।

उस रूप का संजय वर्णन करता है-

अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

वह रूप अनेक मुखों और आँखों वाला था, उसमें अनेक विस्मयकारी दर्शन हो रहे थे, वह अनेक अलौकिक गहनों से सजा था तथा दिव्य व अनके चलने को तैयार हथियार उसमें थे। (ऐसा रूप भगवान् ने दिखाया।)

उसमें अनगिनत मुख थे और अनगिनत आँखें थीं। 'वक्त्र' कह कर बताया कि उसमें से प्रकट होना और उसमें लीन होना संभव था। मुख से तुम प्रकट भी करते हो: सिर में दर्द है, इसको तुम मुख से प्रकट करते हो; और भोजन को तुम मुख में लीन कर लेते हो, खा लेते हो। अनेक जगह से अनन्त रूप निकल रहे थे और लीन हो रहे थे। आगे अर्जुन इस बात को और स्पष्ट करके कहेगा। 'नयन' के द्वारा उन सभी रूपों के अन्दर जो चेतनता है, उसको बतलाते हैं; अर्थात् भगवान्, खा रहे थे और देख रहे थे। खाना तो क्रियारूप होने से ज़बरदस्ती भी किया जा सकता है। मरे रोगी के मुँह में नली से भोजन ठूस सकते हैं। पर आँख से देखना, केवल चेतन ही कर सकता है। इसलिये वक्त्र और नयन दोनों के द्वारा स्फुट कर दिया कि वह चेतन रूप था। 'अनेकाद्भुतदर्शनम्'। अद्भुत अर्थात् जो तुमको स्तम्भित कर देवे। विस्मय होता है तो आदमी स्तम्भित हो जाता है। कोई ऐसी चीज़ हो जो पहले कभी भी देखी न हो तो उसे अचानक देखकर स्तम्भित हो जाते हो कि 'यह क्या है!' क्षणभर को मन निश्चल रह जाता है, बाद में विचार होने लगता है कि क्या हो सकता है। ऐसा *एक* अद्भुत दर्शन नहीं है, अनेक अद्भुत विस्मय करने वाली चीज़ें एक-साथ हैं। 'अनेकदिव्याभरणं' इन मूर्तियों के अन्दर अलग-अलग तरह के गहने भी विद्यमान हैं। ये सारे आभरण दिव्य हैं। ऐसा नहीं समझ लेना कि सोने हीरे-पन्ने के आभरण हैं, आभरण भी मायिक हैं, अप्राकृत हैं। दिव्य आयुध भी हैं। 'उद्यतायुधम्' बस, छोड़े जाने के लिये तैयार असंख्य आयुध हैं। अर्जुन विशेष करके युद्ध के विषय में जिज्ञासु था इसलिये आयुधों का हिस्सा उसको देखने में ज़्यादा आया। आयुध भी अप्राकृत हैं। उस सारे रूप की अलौकिकता समझाने के लिये बार-बार दिव्य शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।।१०।।

उसी रूप का और वर्णन सुनाता है-

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

वह रूप दिव्य पुष्प और वस्त्र धारण किये था, उस पर दिव्य सुगंध-युक्त लेप लगे थे, प्रायः उसमें सभी कुछ चकित करने वाला था, हर ओर मुखों वाला वह अन्तहीन तथा देदीप्यमान रूप (भगवान् ने अर्जुन को दिखाया)।

पुष्प, मालाएँ, वस्त्र, चन्दन, अंगराग आदि जो कुछ भी उस रूप में दीख रहा था सब आश्चर्य उत्पन्न करने वाला और दिव्य ही था। आकार में भी वह अनन्त था, जहाँ तक नज़र जाये वहाँ तक वह रूप ही दीखता था। उसकी समाप्ति की प्रतीति ही नहीं हो रही थी। 'विश्वतोमुखम्' सब जगह उसके मुख थे अर्थात् सारे प्राणी उसके साथ एक हुए थे। ऐसा रूप भगवान् ने दिखाया, अर्जुन ने देखा।।११।।

धृतराष्ट्र को उस रूप की तेजस्विता समझाते हुये संजय कहता है-

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः।। १२।।

आकाशमें अगर हज़ारों सूर्यों की प्रभा एक-साथ फैल जाये तो भी उस विश्वरूप के तेज के समान शायद ही हो!

हज़ारों सूर्य एक-साथ उग जायें तो जैसा प्रकाश होगा उससे अधिक प्रकाश उस दिव्य महान् विश्वरूप का था। यद्यपि 'यदि उत्थिता, सदृशी स्यात्' कहने से लगता है कि अगर हज़ारों सूर्यों की प्रभा एकत्र हो जाये तो विश्वरूप की प्रभा के समान हो जायेगी तथापि भाष्यकार ने समझाया है कि तात्पर्य है कि विश्वरूप की प्रभा उससे भी अधिक ही थी। उसकी तुलना कुछ कर सकें तो हज़ारों सूर्यों से कर सकते हैं पर वस्तुतः तो उससे भी ज़्यादा तेजवान् रूप था। हज़ारों सूर्यों का एक-साथ उगना असंभव है, पर उसे मान भी लें तो भी उपमान नहीं बन पायेगा यह 'यदि'- शब्द से सूचित है।।१२।।

अर्जुन ने और क्या देखा यह बताता है-

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

अर्जुन ने देवताओं में देवत्व के कारणभूत भगवान् के उस एक विश्वरूप शरीर में स्थित बहुत-से भेदों में बँटे सारे संसार को तब देखा।

जैसा भगवान् ने कहा था 'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं', वैसा अुर्जन ने देखा। जैसा भगवान् ने कहा था वैसा ही सारा जगत् वहाँ था। देवता, पितर, यक्ष, मनुष्य सब पृथक्-पृथक् दीख रहे थे। रूप एक होने पर भी सब चीज़ें अलग-अलग थीं, अर्थात् माया की एक ही वृत्ति नहीं थी, माया की अनन्त वृत्तियाँ थीं। हरि के शरीर में सब चीज़ों को, सारे जगत् को पाण्डुपुत्र अर्जुन ने देखा।।१३।।

देखकर अर्जुन की क्या स्थिति हुई यह बताता है-

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।। १४।।

वह रूप देखने से धनंजय में मानों विस्मय का आवेश हो गया! उसके रौंगटे खड़े हो गये। सिर झुकाकर भगवान् को प्रणाम कर हाथ जोड़े हुये वह बोला-।

'ततः' दिव्य चक्षु द्वारा इस प्रकार से देखने से, वह भयंकर आश्चर्य से आविष्ट हो गया। उसे ऐसा लगा कि बस, आश्चर्य ही आश्चर्य रह गया है, और कुछ नहीं रह गया। जैसे जब मनुष्य भूताविष्ट होता है तब उस भूत के द्वारा जो देखा जाता है वही दीखता है, उसी प्रकार दिव्य चक्षु से जो देखा जा रहा था, वही अर्जुन को दीख रहा

था, उससे अतिरिक्त इधर-उधर कुछ नहीं दीख रहा था। इन्द्रियाँ इत्यादि सब स्तब्ध हो गई थीं, विश्वरूप से अन्य किसी चीज़ का भान नहीं हो रहा था। इसलिये उसके रोएँ खड़े हो गये थे। जब मनुष्य को ज़बरदस्त आश्चर्य होता है तब बाल खड़े हो जाते हैं। 'धनञ्जय' कहने का अभिप्राय यह बताना है कि अर्जुन अत्यन्त बलशाली था, फिर भी अपने सारे बल को भूल कर स्तब्ध रह गया था। उसने उस हरि के रूप को सिर नीचा करके पहले नमस्कार किया, और फिर 'कृताञ्जलिः' नमस्कार के लिये जो उसने अंजली बाँधी थी, उसको वैसी ही रख कर, हाथ जोड़े हुये ही अपने अनुभवका वर्णन करने लगा।

यहाँ तक संजय का वाक्य था। अब आगे अर्जुन अपने अनुभव को प्रकट करेगा। अभी जो अनुभव कहा था, वह तो संजय का था, अब अर्जुन अपने अनुभव को बोलेगा।।१४।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

अर्जुन ने कहा- हे देव! आपके शरीर में सारे देवता देख रहा हूँ, स्थावर-जंगम अनेक शरीरों वाले प्राणियों के समूह देख रहा हूँ, कमलरूप आसन पर स्थित प्रजापति ब्रह्मा को देख रहा हूँ, सारे दिव्य ऋषियों को व सर्पों को देख रहा हूँ।

देव अर्थात् प्रकाशरूप। संसार की वस्तुएँ प्रकाश के माध्यम से दीखती हैं। परन्तु जो स्वप्रकाश चीज़ है उसे देखने के लिये इन्द्रियादि की ज़रूरत नहीं पड़ती, जैसे सुख-दुःख को देखने अर्थात् अनुभव करने के लिये किसी भी इन्द्रिय की ज़रूरत नहीं है क्योंकि सुख-दुःख अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं अतः खुद अपने प्रकाश से प्रकाशित हैं, उन्हें अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार से अर्जुन कहता है- आप देव हैं इसलिये आपका देह भी किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता, स्वप्रकाशरूप है, अन्तःकरण की वृत्ति की तरह। यह अप्राकृत दर्शन है; जैसे सुख-दुःख का हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है परन्तु किसी इन्द्रिय से नहीं, इसी प्रकार परमेश्वर के मायिक रूप का दर्शन अन्तःकरणमात्र से हो जाता है, अंतःकरण उन वृत्तियों को बनावे इतना ही ज़रूरी है, स्वप्रकाश होने से उसे देखने के लिये किसी अन्य इन्द्रियादि साधनों की अपेक्षा नहीं है। 'भूतविशेषसङ्घान्'; भूतविशेष, शेर, बघेरे, गायें, भैंसें, सारे भूतविशेष हैं। भूतसामन्य अर्थात् जाति रूप से नहीं देख रहा हूँ, तत्-तत् भूतों के आकारों को देख रहा हूँ। चाहे हिलने-डुलने वाले भूतविशेष शेर आदि हैं, या नहीं हिलने-डुलने वाले पेड़ इत्यादि हैं, दोनों को ही मैं देख रहा हूँ। वे सारे भिन्न-भिन्न अवयवों के संस्थान रूप से दीख रहे

हैं। 'सङ्घान्' समूहों में दीख रहे हैं। एक गाय दीख गई, एक भैंस दीख गई, ऐसा नहीं है, गायों का भी बड़ा समूह, भैंसों का भी बड़ा समूह, पेड़ों का भी बड़ा समूह। नैयायिक कहते हैं कि हम लोग भी गाय की जाति को जान लेने से जाति रूप से सब गायों को जान लेते हैं! किन्तु अर्जुन को वैसा यहाँ दर्शन नहीं है, सब अलग-अलग गायें, अलग-अलग भैंसें दीख रही हैं। 'ईशं कमलासनस्थं ब्रह्माणम्' ईश अर्थात् सबका शासन करने वाले, प्रजाओं के ऊपर जिनका हमेशा शासन रहता है वे कमलासन पर बैठे हुये ब्रह्मा जी। पृथ्वी कमल की तरह है। आजकल पढ़ाते हैं कि वह नारंगी की तरह होती है। हमारे ग्रंथकार उसको कमल की उपमा देते थे कि वह कमल की तरह है। पृथ्वीरूपी कमल में जो मेरु पर्वत है, वही ब्रह्माजी का आसन है। कमल के बीच में देखोगे तो जहाँ से सब पंखुड़ियाँ निकलती हैं उसी कर्णिका के ऊपर ब्रह्मा जी बैठे हुये हैं। इसके द्वारा बतलाया कि अत्यन्त दूर की चीज़ें भी दीख रही हैं क्योंकि मेरु पर्वत भारतवर्ष में रहने वालों के लिये अतिदूर पदार्थ है। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषि भी दीख रहे हैं। और जितने पेट से चलने वाले दिव्य प्राणी हैं, जैसे नाग, सर्प जिन्हें हिन्दी में रेंगने वाला कहते हैं- वे भी दीख रहे हैं।।१५।।

और क्या दीख रहा है यह बताता है -

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।। १६।।

संसार-शासक! समस्त रूप धारण करने वाले! आपको अनेक भुजाओं-पेटों-मुखों-नेत्रों वाला तथा सर्वत्र अनंत रूपों वाला देख रहा हूँ। आपका न अंत, न बीच और न शुरू ही देख पा रहा हूँ।

अनेक प्राणी हैं तो उनकी अनेक भुजाएँ हैं; उदर का अर्थ पेट होता है, यहाँ पर धड़ समझ लेना चाहिये। वक्त्र अर्थात् मुख और नेत्र अर्थात् जिससे देखते हैं। अर्जुन कह रहा है कि आपके अनेक भुजाएँ हैं, अनेक धड़ हैं, अनेक मुख हैं, अनेक नेत्र हैं। ये अनेक केवल सामने ही नहीं हैं, 'सर्वतः त्वा पश्यामि'; 'सर्वतः' मायने सर्वत्र, केवल सामने नहीं, चारों तरफ जिधर भी देखता हूँ आपका वह रूप ही दीख रहा है। 'अनन्तरूपम्' कितनी तरह के स्थावर-जंगम प्राणी दीख रहे हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं है, गिनना ही सम्भव नहीं है। चारों तरफ दीख रहा है इसलिये उस रूपका अन्त नहीं है। जैसे गोल चक्र का आदि-अन्त नहीं कहा जा सकता वैसे यह रूप चारों ओर दीखने से इसका आदि-अन्त नहीं, अत एव बीच भी नहीं है। 'यहाँ से शुरू हुआ, यहाँ ख़त्म हुआ, यह इसका बीच है', ऐसा कुछ नहीं प्रतीत हो रहा है। पंक्ति के दो किनारों की अपेक्षा से मध्य कहा जाता है। जो चारों तरफ चक्राकार होगा, उसका मध्य होना भी सम्भव नहीं। 'हे विश्वेश्वर!' आप इस विश्व के एकमात्र शासन करने वाले हैं और

'विश्वरूप!' इस समय आप सारे संसार के रूप में दीख रहे हैं। विश्वेश्वर के द्वारा कहा कि इन सब शरीरों में एक साथ ही आप अधिष्ठित हैं। सब शरीरों में आप हैं, इनको चलाने वाले निमित्त कारण आप हैं और इन सब रूपों में बनने वाले भी आप ही हैं। विश्वेश्वर से उनकी निमित्त-कारणता को स्पष्ट कर दिया और विश्वरूप से उनकी उपादान-कारणता को स्पष्ट कर दिया। अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप से आपकी प्रतीति हो रही है।१६।।

प्रकारान्तरसे भगवद्रूपका वर्णन करता है-

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।। १७।।

सब तरफ धधकती आग और चिलचिलाते सूर्य की चमक जैसी चमक वाले (अत एव) जिन्हें साफ-साफ देखना भी मुश्किल है ऐसे, प्रमाणों के अविषय आपको मुकुट गदा व चक्र धारण किये हुए हर ओर दीप्ति वाले तेज के पुंज के रूप में देख रहा हूँ।

आपके सिर के ऊपर किरीट दीख रहा है। सिर के ऊपर का आभरणविशेष किरीट होता है। मुकुट सारे सिर को घेरे होता है और किरीट केवल भाल के हिस्से के ऊपर ही होता है। मुकुट नहीं कहकर किरीट इसलिये कहा कि अगर पीछे के हिस्से को देखूँ तब मुकुट है या नहीं पता लगे, लेकिन मैं बीच में हूँ और चारों तरफ आप हैं, आपकी पीठ तो मुझे दीख नहीं रही है इसलिये लगता है कि किरीट ही पहने हुये हैं। 'गदिनं' आपके अनेक हाथों में गदाएँ हैं, 'चक्रिणं च', अनेक हाथों में आप चक्र भी धारण किये हुये हैं। 'तेजोराशिं' आप मानो प्रकाश की राशि हैं अर्थात् प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र प्रतीत हो रहा है। जितने रूप दीख रहे हैं सब प्रकाश के ही पुंज दीख रहे हैं। सूर्य का प्रकाश किसी चीज़ पर पड़ता है तो उधर पदार्थ प्रकाशरूप दीखता है, दूसरी तरफ जाकर देखो तो छायारूप दीखता है। परन्तु यह ऐसा नहीं है, 'सर्वतो दीप्तिमन्तम्'। जिस प्रकार दीपक का कहीं भी छायामय रूप नहीं दीखता क्योंकि वह स्वप्रकाश है, सूर्य की भी कभी छाया नहीं पड़ सकती क्योंकि सब तरफ से प्रकाशरूप है; उसी प्रकार आप भी सब तरफ से प्रकाशरूप ही हैं। और 'दुर्निरीक्ष्यम्।' प्रकाश के ऊपर आदमी ज़्यादा देर तक आँखें केन्द्रित रख नहीं सकता। आँख चौन्धियाने लगती है। जेठ के महीने में तुम सूर्य को देखना चाहो तो दो-चार मिनट देखने के बाद सिर घूमने लगता है, सिर में दर्द हो जाता है। यहाँ तो चारों तरफ सूर्य ही सूर्य होवें ऐसा सर्वत्र प्रकाश है इसलिये देखना अत्यन्त कठिन है। (किन्ही आचार्यों ने 'दुर्निरीक्षं' ऐसा यकार के बिना भी पाठ है यह बताया है।) सब तरफ से आप अत्यन्त तेज प्रकाश वाले हैं। अनल अर्थात् अग्नि और अर्क अर्थात् सूर्य। जंगल जलता है तब वहाँ जो दीप्त अनल दीखता है उसको देखना कठिन होता है। पर कैसा भी जंगल जल रहा होवे, धीरे-धीरे क्षीण होता है

क्योंकि जिन लकड़ियों में आग लगी है, वे जितनी-जितनी कम होती जाती हैं उतनी आग की दीप्ति भी कम होती जाती है। परन्तु सूर्य की दीप्ति एक जैसी बनी रहती है इसलिये अर्क भी कहा। दुर्निरीक्ष्य होने से ही वह रूप अप्रमेय है। प्रमा कहते हैं यथार्थ ज्ञान को; जो चीज़ जैसी है ठीक वैसी दीख जाये, तब प्रमा कहेंगे। आँखें टिका कर देखो तब तो तुमको प्रमा हो कि चीज़ कैसी है। लेकिन आँखें टिका कर देख ही नहीं पाओ तो प्रमा कैसे होगी! अतः प्रमा के द्वारा उस रूप का परिच्छेद नहीं किया जा सकता अर्थात् 'मैंने ठीक-ठीक देख लिया' ऐसा नहीं कह सकते।।१७।।

आगे अर्जुन कहता है कि इस प्रकार आपने क्षणमात्र में अपने को दिखला दिया इसलिये मुझे अनुमान होता है कि-

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।। १८।।

मेरा मानना है कि आप कभी क्षीण न होने वाले ज्ञेय ब्रह्म हैं, आप ही इस संसार के उत्तम आश्रय हैं, आप में कभी कमी नहीं आती, सनातनधर्म के रक्षक आप स्वयं भी नित्य व चित्स्वरूप हैं।

अर्जुन कहता है कि आपके अन्दर योग ऐश्वर्य देख कर निश्चय होता है कि 'त्वम् परमं अक्षरम्'। आपका कभी भी क्षरण नहीं होता, हमेशा एक-जैसे रहते हैं, कहीं किसी प्रकार की कमी आप में नहीं मिलती। लोक में कार्य बनने पर कारण में कमी आ जाती है, जैसे पाँच सेर आटा रखा है, दो सेर आटे के फुलके बन गये तो तीन सेर ही आटा बचा। किन्तु भगवान् से अनंत सृष्टियाँ हमेशा होती रहने पर भी उनमें किसी तरह की कमी नहीं आती। इसीलिये श्रुति कहती है कि पूर्ण से पूर्ण निकल कर पीछे पूर्ण ही बचता है! ऐसा नहीं है कि जिस समय जगत् बन गया उस समय ब्रह्म में कोई कमी आ गई हो कि इतना हिस्सा तो जगत् बन गया! 'अक्षर' के द्वारा अव्यक्त या माया को भी कहा जाता है। अनादि काल से अनन्त सृष्टियाँ पैदा हुईं, परन्तु फिर भी अव्यक्त वैसा का वैसा है। वह अव्यक्त भी ज्ञान से नष्ट हो जाता है, बाधित हो जाता है। परन्तु आप *परम* अक्षर हैं अर्थात् ज्ञान से भी आपका बाध होता नहीं। ज्ञान से ज्ञान का बाध नहीं होता, ज्ञान से अज्ञान का ही बाध होता है। 'वेदितव्यं', मुमुक्षुओं को आपका ही ज्ञान करना योग्य है। इस परम अक्षर को ही जानना सारे निवृत्ति मार्ग का एकमात्र उद्देश्य है अर्थात् मुमुक्षु जिसको जानेंगे वह परम अक्षर आप ही हैं। 'अस्य विश्वस्य परं निधानम् त्वम्'। जैसे घड़े में पानी रखते हैं ऐसे ही सारा जगत् आपमें निहित है। परम अक्षर तो हैं ही परन्तु सारा जगत् आपमें ही निहित भी है। प्रकृति इत्यादि कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसमें यह निहित होवे, यह बात भी वेदितव्य है। 'विद्' धातु का दूसरा अर्थ होता है उपासना। सारे जगत् का निधान परमेश्वर है, यह

उसका उपास्य रूप है। सारे जगत् के बनने पर भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। रस्सी अनेक रूपों को धारण करने पर भी रस्सी में कोई परिवर्तन नहीं आता क्योंकि वह अधिष्ठान है। अधिष्ठान रूप से परमेश्वर ज्ञेय है, जाना जाता है, और 'सारे संसार का इसी में निधान है' अर्थात् वही संसार का एकमात्र कारण है यों उसकी उपासना होती है।

'त्वम् अव्ययः', आप ही अव्यय हैं। अक्षर कहने से अव्यय का भाव तो आ ही गया पर अव्यय अपरिवर्तनशील को भी कहते हैं। कमी न आये परन्तु बढ़ोत्तरी हो जाती होगी? इस संदेह को दूर करने के लिये अव्यय कहा। व्याकरण की दृष्टि से अव्यय उन शब्दों को कहते हैं जिनमें परिवर्तन न किया जा सके। दूसरे शब्दों में तो कारक प्रत्यय जुड़ करके कुछ परिवर्तन हो जाता है। शब्द वही रहता है परन्तु प्रत्ययों के लगने पर जोड़-घटाव हो जाता है, परन्तु अव्यय उसे कहते हैं जिसमें कोई भी प्रत्यय लगाओ, कुछ भी फर्क नहीं आता, वैसा ही रहता है। इसी तरह अर्जुन का कहना है कि आप में से कुछ घटता भी नहीं और आप में कोई चीज़ जोड़ी भी नहीं जा सकती। जोड़-घटाव से आप रहित हैं। 'शाश्वतधर्मगोप्ता' जो हमेशा होता है उसको शाश्वत कहते हैं। वेद हमेशा रहता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वर नित्य है, उनका ज्ञान भी नित्य है। अतः वेदों में कहे गए प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग शाश्वत धर्म हैं। शाश्वत वेद के द्वारा जो निर्णीत धर्म है, उसके आप गोप्ता हैं अर्थात् रक्षक हैं। वैदिक धर्म की रक्षा करने वाले परमेश्वर ही हैं। 'सनातनः' धर्म शाश्वत है तो धर्म के रक्षक को भी शाश्वत ही होना पड़ेगा! ऐसे आप पुरुष हैं। जो पूर्ण होता है उसको पुरुष कहते हैं। आप पूर्ण हैं। 'मे मतः' ऐसा मुझे लगता है।।१८।।

विश्वरूप के प्रभाव का उल्लेख करता है-

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम् अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१६।।

प्रारम्भ बीच व समाप्ति से रहित, अमित प्रभाव वाले, असंख्य भुजाओं वाले, चन्द्रसूर्यरूप नेत्रों वाले, धधकती आगरूप मुख वाले, अपनी आभा से इस विश्व को सन्तप्त करने वाले आपको देख रहा हूँ।

आदमी को कोई बड़ा भारी आश्चर्य होता है तो बार-बार उसी ढंग से कहने लगता है। इसलिए यहाँ कई बातों में पुनरावृत्ति आएगी जो केवल अर्जुन के संभ्रम को बतलाती है। 'अनन्तवीर्यम्'; वीरता को वीर्य कहते हैं। आपके वीरभाव का अन्त नहीं है। अर्जुन क्षत्रिय है इसलिए उसको वीर्य में विशिष्ट बुद्धि होती है। जैसे ब्राह्मण को ज्ञान में विशिष्ट बुद्धि होती है, जहाँ ज्ञान देखता है उसे अत्यन्त श्रेष्ठ मानता है, वैसे ही क्षत्रिय होने से वीरता का महत्त्व पहचानता है। कहता है आपका जो वीर्य है आपकी

जो वीरता है, वह हर क्षण बढ़ती ही जाती है, उसका अन्त नहीं है कि 'बस, इतनी वीरता होगी, आगे नहीं'। वीरता प्रकट करने के लिए जो आवश्यक हैं ऐसे बाहु आपके अनंत हैं। चाहे तलवार चलाओ, चाहे धनुष चलाओ, कोई भी आयुध चलाओ तो बाहु की ज़रूरत है। 'शशिसूर्यनेत्रम्' सूर्य और चन्द्र ही आपके नेत्र हैं। 'दीप्तहुताशवक्त्रं', हुत अर्थात् आहुति को जो खाता है उसको हुताश कहते हैं। आहुति को खाने वाली अग्नि है। आपका मुख अत्यन्त दीप्त है अर्थात् मुख के अन्दर अग्नि ही दीखती है, अग्नि ही मानो आपका मुख है। 'इदं विश्वम् स्वतेजसा तपन्तम्'। सारा संसार अपने इस तेज से आप तप्त कर रहे हैं। सूर्य जेठ के महीने में सब चीज़ों को तप्त करता है, पर माघ के महीने में सूर्य होने पर भी तप्त नहीं होता। परन्तु आप सभी देश-कालों के अन्दर ताप देने वाले हैं। ताप का दूसरा अर्थ होता है दुःख, सारा संसार जन्म-मरण का दुःख भोग रहा है और आप ही सबके जन्म-मरण के एकमात्र कारण हैं। इसलिए इस सारे विश्व को आप तप्त कर रहे हैं।।१९।।

भगवान् के इस रूप की व्यापकता व्यक्त करता है -

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।। २०।।

उदार स्वभाव वाले भगवन्! देवलोक व पृथ्वी के बीच का सारा आकाश और सारी दिशाएँ अकेले आपने घेर रखी हैं। आपका यह विस्मयकारी क्रूर रूप देखकर त्रिलोकी बहुत डर रही है।

द्युलोक ऊपर का, जहाँ ये सारे तारे दिखाई देते हैं और पृथ्वी, जहाँ हम लोग खड़े हैं। इनके बीच में, अर्थात् सारा अन्तरिक्ष 'त्वया एकेन व्याप्तं' आपने अकेले व्याप्त कर रखा है। न ऊपर आकाश दिखाई देता है, न नीचे पृथ्वी दिखाई देती है, केवल आप ही आप दिखाई देते हैं। 'एकेन' अर्थात् विश्वरूपधर आप के द्वारा; चीज़ें तो आपमें अनेक दीख रही हैं परन्तु जैसे किसी का सिर देखो तो उसमें अनन्त बाल दीखने पर भी यही कहते हो 'एक सिर ही दीख रहा है', इसी प्रकार आपके अन्दर अनन्त बाहूदरवक्त्र आदि दीख रहे हैं फिर भी अकेले आप ही दीख रहे हैं। 'सर्वाः दिशश्च' पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व, अधः - इन दशों दिशाओं में आप ही आप दीख रहे हैं। 'तव इदम् उग्रम् अद्भुतं रूपं' आपका रूप उग्र है। आगे भगवान् खुद कहेंगे 'सबको निगलने के लिए मैं तैयार हूँ।' इसलिए यह उग्र रूप है। आगे अर्जुन इसलिए प्रार्थना करेगा 'आप अपना सौम्य रूप दिखाइए।' परमेश्वर के दोनों ही रूप हैं - उग्र और सौम्य। हम लोग सौम्य रूप देखना चाहते हैं, उग्र रूप से घबराते हैं। घर में लड़का पैदा होता है तो थाली बजाते हैं खुशी के मारे। बेटा पैदा हुआ - यह सौम्य रूप है। लेकिन कभी विचार मन में आता है कि बेटा कैसे पैदा हुआ?

कहीं कोई मरा है तभी यहाँ कोई पैदा हुआ है। उधर मरेगा तब इधर पैदा होगा। जहाँ मरा हुआ है वहाँ लोग भगवान् का मारने वाला उग्र रूप देखते हैं, वह पसन्द नहीं आता है लोगों को; और जहाँ बच्चा पैदा हुआ वहाँ उनका सौम्य रूप देखते हैं तो पसन्द आता है, खुश होते हैं। यहाँ तो सारे संसार के सब लोगों को इस महाभारत के युद्ध के अन्दर झोंक देना है, इसलिए रूप उग्र है। केवल उग्र नहीं है, 'अद्‌भुतं', आश्चर्य में डालने वाला है। उग्र है लेकिन कुछ समझ में नहीं आता। ठीक जैसे हम मृत्यु रूप को देखते हैं, वह उग्र है और आश्चर्य-जनक है। अभी-अभी जिससे बात कर रहे होते हैं, वही पाँच मिनट में लुढ़क जाता है! अत्यन्त आश्चर्य होता है। किसी को तेज बुखार आवे, दस-पन्द्रह दिन बुखार आ जाए, फिर पेट खराब हो जाए, फिर साँस में तकलीफ हो जाए; है तो वह भी उग्र, परन्तु वह जब मरता है तब आश्चर्य नहीं होता। परन्तु जिससे तुम बात कर रहे हो, बिलकुल स्वस्थ है, और झट वहीं लुढ़क जाता है, तब आश्चर्य होता है। अर्जुन कहता है कि आपका यह रूप उग्र और अद्भुत है। 'हे महात्मन्!' आपका स्वभाव क्षुद्र नहीं है, पक्षपात से आप किसी को दुःख देते हों, ऐसा नहीं है। किंच केवल मुझे ही यह उग्र रूप दीख रहा होवे ऐसा नहीं, इसको देख कर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं अर्थात् भय से चलायमान हो रहे हैं कि पता नहीं क्या हो जाएगा!।।२०।।

अर्जुन का मूल संशय था कि हम जीतेंगे या नहीं जीतेंगे, भगवान् निर्णय कराना चाहते हैं कि निश्चित रूप से तुम ही जीतोगे। इसलिये भगवान् के अन्दर ही उसको भीष्मादि का मरण दीखेगा। उससे पूर्व उनमें विलीन होते देवादि का दर्शन करता है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

देवताओं के ये समुदाय क्योंकि आप में घुस रहे हैं (इसलिए) कई देवता हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं (तथा) महर्षियों व सिद्धों के समूह 'कल्याण हो' यह कहकर अर्थ से भरपूर स्तुतियों द्वारा आपकी प्रशंसा कर रहे हैं।

'हि' क्योंकि सब प्रव्यथित हो रहे हैं इसलिये प्रार्थना कर रहे हैं। जैसे चिता में लाशें पड़ती हैं वैसे ये सारे देवता आपमें जाकर जल जाते हैं। 'केचिद्भीताः', कुछ जब आप में पड़ने वाले होते हैं तब डर के मारे 'प्राञ्जलयो गृणन्ति', हाथ जोड़ कर आपसे प्रार्थना करते हैं। महाभारत के अन्त मे बतलाया है कि महाभारत युद्ध में जितने भी बड़े-बड़े सेनापति थे, सारे किसी-न-किसी देवता के ही रूप थे। जैसे इन्द्र का रूप अर्जुन, धर्मराज का रूप युधिष्ठिर, वायु का रूप भीम, इसी प्रकार से भीष्म, द्रोण इत्यादि जितने थे, सब किसी-न-किसी शापवशात् देवताओं से आए थे। जब देवता ही आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं तब पृथ्वी पर आये उनके रूपों का कहना ही क्या! इस सारे

युद्ध में होने वाली घटनाओं को महर्षि लोग और सिद्ध लोग देख रहे हैं। सिद्ध भी एक प्रकार की योनि-विशेष है जो मनुष्य की अपेक्षा दिव्य होते हैं। महर्षियों के और सिद्धों के संघ के सब सदस्य कह रहे हैं 'स्वस्ति', 'सब कुछ ठीक हो जाए'। 'पुष्कलाभिः स्तुतिभिः', इसके लिए बहुत स्तुति करते हुए 'त्वां स्तुवन्ति', आपकी स्तुति कर रहे हैं। जब कोई भयंकर परिस्थिति आने वाली होती है तब अनेक प्रकार के बुरे शकुन होने लगते हैं। भयंकर युद्ध आदि होता है तो देवताओं की मूर्तियों से आँसू निकलने लग जाते हैं, बड़े ज़ोर का अन्धड़ चलने लग जाता है। इस प्रकार का वर्णन महाभारत में कई जगह आता है। जब इस प्रकार से होने लगता है तब वहाँ के बड़े-बड़े पुजारी इत्यादि सब 'स्वस्ति स्वस्ति' 'सब ठीक हो सब ठीक हो', इस प्रकार से कहते हैं। वैसे ही यहाँ महर्षि लोग और सिद्ध लोग आपकी स्तुति कर रहे हैं। 'पुष्कल' अर्थात् बहुत प्रकार की स्तुतियाँ कर रहे हैं। भाष्यकार ने 'पुष्कलाभिः सम्पूर्णाभिः' व्याख्या की है, अर्थात् पूरी स्तुति। जैसे महिम्नः स्तोत्र का एक-आध श्लोक बोल दिया तो भी स्तुति है परन्तु सारा स्तोत्र बोला तो सम्पूर्ण स्तुति हो गई। पुष्कल का एक अर्थ होता है पर्याप्त। पूरी स्तुति करो तब पर्याप्त होता है परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए। एक-आध श्लोक बोला, तो वह परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए पर्याप्त नहीं होता है, पुष्कल नहीं होता है। कुछ आचार्यों ने 'परिपूर्णार्थाभिः' अर्थ किया है अर्थात् स्तुतियों में सारी बात कह रहे हैं, उनमें आधी-अधूरी बातें नहीं हैं। अथवा परिपूर्ण परमात्मा जिनका प्रतिपाद्य है ऐसी स्तुतियाँ कर रहे हैं।।२१।।

उस रूप की आश्चर्यमयता का और वर्णन करता है-

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रुद्र, आदित्य, वसु, और जो साध्य देव हैं, विश्वेदेव, अश्विनी कुमार, मरुद्गण और पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के संघ, सभी आपको देख रहे हैं एवं विस्मय अनुभव कर रहे हैं।

रुद्र, आदित्य और वसु अ. १० श्लो.२१ व २३ में बताये थे। साध्या नामकी दक्षकन्या के बारह पुत्र 'साध्य' कहलाते हैं। विश्वा नाम की दक्षकन्या में धर्म से उत्पन्न दस पुत्र 'विश्वेदेव' कहे जाते हैं। सूर्यपत्नी संज्ञा के पुत्र तथा देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार दो भाई हैं जिनका अलग-अलग नाम नासत्य और दस्र है। मरुद्गणों को पूर्वाध्याय में बता चुके हैं। 'ऊष्मपाः' अर्थात् पितर। 'ऊष्मभागा हि पितरः'- पितर गर्म अन्न को ही पीते या ग्रहण करते हैं अतः ऊष्मप कहे जाते हैं। जब तक भोजन गर्म होता है तभी तक इन लोगों को सुगन्धि इत्यादि के द्वारा तृप्ति होती है। इसीलिए श्राद्धादि में गर्म भोजन ही परोसा जाता है। पहले भगवान् ने छठे श्लोक में 'आदित्यान्, वसून्,

रुद्रान्, अश्विनौ, मरुतः', इन सब देवताओं के नाम लिए थे कि इन सबको देखो इसलिए इन सब देवताओं को अर्जुन ने देखा। हाहा, हूहू इत्यादि गन्धर्व लोग हैं। दक्षकी मुनि नामक कन्या में कश्यप से ये सब उत्पन्न हुए व देवताओं के लिये गाया करते हैं। कुबेर इत्यादि यक्ष प्रसिद्ध हैं। विरोचन आदि असुर भी प्रसिद्ध हैं। कपिल इत्यादि सिद्ध भी प्रसिद्ध हैं। ये सभी समुदाय रूप में रहते हैं इसलिए सभी के संघों का कथन किया कि सभी के संघ आप का दर्शन कर रहे हैं। ये लोग आपको देख रहे हैं और विस्मित हैं। यह रूप इन लोगों को भी सामान्यतः दीखता नहीं अतः इस रूप को देख करके ये सभी विस्मित हैं। केवल मैं ही आश्चर्यचकित नहीं हूँ ,ये देवता सिद्ध इत्यादि भी आश्चर्यचकित हैं क्योंकि आपका रूप ही ऐसा है।।२२।।

त्रिलोकी की व्यथा उपपन्न करता है-

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्।।२३।।

हे महाबाहो! आपका महान् रूप बहुत मुखों आँखों भुजाओं जंघाओं और पैरों वाला है तथा बहुत दाढों से विकृत (अतः भयानक) है। इसे देख मुझ समेत सारे प्राणी व्यथित हैं।

एक साथ, एक ही जगह सब देव, दानव आदि चराचर जगत् सब दीख जाए, ऐसा नहीं होता। किन्तु यहाँ ऐसा दीख रहा है इसलिए यह महत् रूप है अर्थात् यह कितना लम्बा-चौड़ा है, कुछ नहीं जाना जा सकता। इस रूप में बहुत-से मुख हैं, बहुत-से नेत्र हैं, बहुत-सी भुजाएँ हैं, बहुत-सी जाँघें हैं, बहुत-से पैर हैं, बहुत-से पेट अर्थात् धड़ हैं और बहुतेरी बड़ी-बड़ी दाढ़ें हैं जो अत्यन्त भयंकर लगती हैं। इसलिए इस रूप को देख कर सभी लोग व्यथित हो रहे हैं, सभी प्राणी डाँवाडोल हो रहे हैं कि 'क्या होने वाला है? क्या हो जाएगा? कहीं प्रलय का समय तो नहीं आ गया, सब चीज़ें इकट्ठी ही दीख रही है!' इत्यादि। केवल अन्य लोग नहीं ,'तथा अहम्' मैंने आपसे प्रार्थना की थी इस रूप को दिखाने की, परन्तु यह ऐसा भयंकर है कि मैं भी विचलित हो रहा हूँ! घबरा रहा हूँ कि क्या हो जाएगा।।२३।।

रूप की महत्ता स्पष्ट करता है-

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

विष्णु! व्योमव्यापी, जाज्वल्यमान, अनेक रंगों वाले, पूर्णतः खुले मुखों वाले, जलते विस्तीर्ण नेत्रों वाले आपको देखकर क्योंकि मेरा मन भयभीत है इसलिए धैर्य व शांति नहीं पा रहा हूँ।

'नभःस्पृशं', ऊपर द्युलोक तक आपका यह रूप है। ऊपर जहाँ तक हम लोगों को दिखाई देता है नीले रंग का आकाश, वहाँ तक सब जगह आपसे भरी हुई है। आप दीप्त हैं मानो जल रहे हों। आप में रंग भी अनेक दीख रहे हैं। इस रूप में मुख बिलकुल चौड़े हैं मानो रसगुल्ला खाने की तैयारी कर रहे हों! इसीलिए दाढ़ें भी भयंकर दीखती हैं, मुख बन्द होवे तो दाढ़ें दीखें नहीं। 'दीप्तविशालनेत्रम्', आप की आँखें बिलकुल लाल हैं, जलते हुए अंगारे की तरह। जब नाश की लीला होती है उस समय भगवान् की आँखें भी लाल हो जाती हैं। ऐसे आपके रूप को देख कर 'प्रव्यथितान्तरात्मा'। 'हि' क्योंकि भयंकर रूप है इसलिए मेरा अन्तःकरण, मन अत्यन्त भयग्रस्त है, प्र=प्रकर्षेण व्यथित= बहुत ज़्यादा कष्ट महसूस कर रहा है। इसलिए 'धृतिं न विन्दामि', बिलकुल धीरज नहीं बँध रहा है। 'ये तो भगवान् ही हैं, कोई घबराने की बात नहीं है,' ऐसा धैर्य बिलकुल नहीं बँध रहा है। आप से मैंने ही प्रार्थना की, इसीलिए आप दिखला रहे हैं, हैं आप ही, यह जान कर भी धीरज नहीं बँध रहा है। जब भयंकर परिस्थिति सामने आती है तब वास्तविकता जान कर भी मनुष्य को धैर्य बँधना मुश्किल हो जाता है। मैंने कहा, आपने दिखाया, इसलिए मन को शान्त होना चाहिए, प्रसन्न हो जाना चाहिए कि 'हाँ, मैंने कहा और आपने दिखाया', लेकिन इस प्रकार से मन के अन्दर कोई शान्ति भी नहीं हो रही है। मेरे कहने से आपने दिखलाया है, फिर भी इसको देख कर मन शान्त नहीं हो रहा है। 'विष्णो!' मैं जानता हूँ कि आप भगवान् विष्णु ही हैं फिर भी ऐसे भयंकर रूप को देख कर धीरज नहीं बँध रहा है और बड़ी घबराहट हो रही है।।२४।।

भयंकरता को और स्पष्ट करता है

दृष्ट्वैकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

दाढों के कारण विकराल, प्रलयकालिक अग्नि जैसे आपके मुख देखकर ही मुझे दिङ्मोह हो रहा है, कोई सुख नहीं मिल रहा है। हे देवेश्वर! जगत् के निवास-स्थान! प्रसन्न हो जाइये।

आपके अनेक मुख हैं व सारे के सारे भयंकर दाढ़ों वाले हैं। प्रलय काल की जो अग्नि कालानल है वही मानो आपकी दाढ़ों के अन्दर चमक रही है। 'दिशो न जाने' दिशाओं का ही पता नहीं लगता। किधर क्या है- कुछ नहीं देखने में आ रहा है, चारों तरफ आप ही आप दीख रहे हैं। इसलिए 'शर्म न लभे', अपनी चाही चीज़ को देख करके भी सन्तोष नहीं हो रहा है, सुख नहीं हो रहा है, दुःख ही हो रहा है। कई बार कहीं कोई भीषण दुर्घटना हो जाती है तो चाह करके देखने जाते हैं कि पता चले क्या हुआ, लेकिन वहाँ जाकर जो भयंकर दृश्य देखते हैं, उससे मन विचलित हो जाता है,

यही लगता है कि 'अरे! यहाँ नहीं आते तो ही ठीक था'। इसी तरह, इच्छा-पूर्ति में जो अर्जुन को सुख होना चाहिए, वह इस भयंकर रूप के कारण नहीं हो रहा है। अतः वह प्रार्थना करता है- आपका शान्त रूप दीखे, ऐसे अब आप प्रसन्न हो जाइये। आप सारे देवताओं के ईश्वर हैं, सारा जगत् आपके अन्दर है, यह मैंने समझ लिया पर आप शान्त हो जाइए, अपने शान्त रूप को ही दिखाइए।।२५।।

भगवान् ने कहा था 'यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि' 'और जो तू देखना चाहता है देख ले।' अर्जुन के मन में तो यही था कि युद्ध में जीत होगी कि नहीं। सामने भीष्म द्रोण जैसे लोग खड़े हैं, पता नहीं क्या होता है? अब बताता है कि वह देखने की, जानने की इच्छा भी पूरी हो रही है

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

और भूपालों के समुदायों समेत धृतराष्ट्र के वे सभी पुत्र तथा हमारे पक्ष के भी मुख्य योद्धाओं सहित भीष्म, द्रोण एवं यह कर्ण आपमें लीन हो रहे हैं।

'अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्राः' दुर्योधन दुःशासन आदि जो इस सारे युद्ध के प्रधान नायक हैं, वे सभी धृतराष्ट्रपुत्र लीन होते दीख रहे हैं। इसमें धृतराष्ट्र के 'सर्वे पुत्राः' सारे पुत्र कहा परन्तु इतना जोड़ लेना चाहिये कि एक पुत्र को छोड़ कर। युद्ध के शुरू होते समय युधिष्ठिर ने घोषणा की थी कि 'इस समय में भी यदि कोई पाली बदलना चाहे, उधर नहीं इधर रहना चाहे, या इधर का व्यक्ति उधर जाना चाहे तो बदल ले। आगे मरने-जीने का सवाल है। इसलिए जिधर से भी युद्ध करो, खूब उत्साह से करना।' जब यह बात कही तब धृतराष्ट्र के एक पुत्र युयुत्सु ने कहा 'मैं आपके साथ आना चाहता हूँ।' युधिष्ठिर ने उसी समय उसको अभय दान दे दिया था कि 'तुम इधर आ जाओ क्योंकि लगता है कि इन सबका और्ध्वदेहिक कर्म तेरे हाथों से ही होगा, इनके कुल में तू ही एक बच जाएगा।' अतः उसको छोडकर बाकी धृतराष्ट्रपुत्र भगवान् में जाते दीखे यह समझना चाहिये। अर्जुन कहता है, सारे-के-सारे आपके अन्दर लीन हो रहे हैं! केवल दुर्योधन आदि ही नहीं, पृथ्वी के पालन करने वाले राजा लोगों के सब समूह भी आपमें ही जा रहे हैं। इस श्लोक में 'विशन्ति' क्रियापद नहीं कहा है, अगले श्लोक में कहेंगे, इसलिए इन दोनों श्लोकों को युग्म समझ लेना चाहिए। भाष्यकार ने 'त्वां त्वरमाणा विशन्ति' यह अन्वय बताया है। अर्जुन देख रहा है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, अन्य कौरव-पक्षीय और पाण्डवपक्षीय योद्धा सभी भगवान् के अन्दर प्रविष्ट हो रहे हैं, वे सबको खाते जा रहे हैं, सब समाप्त हो रहे हैं। वह कहता है- ये सब अत्यन्त जल्दी करते हुए आपके अन्दर प्रवेश कर रहे हैं, आपके मुख में घुसे जा रहे हैं। इच्छा-मृत्यु पाने वाले भीष्म पितामह, जो परशुराम से युद्ध करके भी हारे नहीं, वे भी आपके मुख

में घुसे जा रहे हैं। सारे शास्त्रों को तथा शस्त्रों को सिखाने वाले हमारे गुरु द्रोण भी आपके मुख में घुसे जा रहे हैं। और जिसने कसम खा रखी है कि 'मैं सारे पाण्डवों को मारूँगा', ऐसा सूतपुत्र कर्ण भी मुख में घुस रहा है। कर्ण कवच कुण्डल के साथ पैदा हुआ था और उसने इन्द्र से ऐसी अमोघ शक्ति पाई थी, उस कवच कुण्डल के बदले में, कि जो एक बार जिस पर छोड़ी जाएगी, उसको बचाने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए जब भीम का पुत्र घटोत्कच युद्ध में आया और भयंकर युद्ध होने लगा जिससे सारे ही दुर्योधन-पक्ष के लोग घोर दुःखी हो गए, तब दुर्योधन ने कर्ण से कहा 'अरे तेरे पास जो शक्ति है, उसे छोड़ इसके ऊपर, क्या देख रहा है!' बहुत देर तक तो कर्ण समझाता रहा कि 'उसको मैंने अर्जुन के लिए रखा है', पर दुर्योधन तत्काल की परिस्थिति से घबराया हुआ था, उस ने कहा 'मैं तेरे को राजा की हैसियत से आज्ञा देता हूँ कि छोड़ उस शक्ति को।' जबरदस्ती कर्ण से वह शक्ति भीम के पुत्र के ऊपर छुड़वाई गई जिससे वह मारा गया क्योंकि शक्ति अमोघ थी। घटोत्कच के उस भयंकर युद्ध को देख करके, उसके द्वारा धृतराष्ट्र की फौज पीडित हो रही थी इस बात को देख कर उसके मारे जाने पर बाकी सब तो घोर दुःखी हो गए पर एकमात्र श्री कृष्ण बड़े प्रसन्न हो गए, बहुत खुश हो गए! युधिष्ठिर ने कहा 'महाराज! हमारा लड़का मारा गया, और आप कह रहे हैं 'मुझे बड़ी खुशी है', क्या बात है?' वे बोले,'भाई, मुझे तो रात में नींद भी नहीं आती थी कि कर्ण के पास अमोघ शक्ति है, कहीं अर्जुन पर छोड़ न देवे। और अर्जुन मुझे अत्यन्त प्रिय है। आज वह अमोघ शक्ति उसके हाथ से चली गई। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि अर्जुन बच गया।'

आगे अर्जुन कहता है - ऐसी सामर्थ्य वाला कर्ण भी भगवान् में लीन होता दीख रहा है। केवल धृतराष्ट्र के पक्ष वाले ही आप में नहीं घुस रहे हैं,'अस्मदीयैरपि योधमुख्यैः', युद्ध करने वालों में जो प्रमुख हैं ऐसे हमारे पक्ष वाले भी घुस रहे हैं। धृष्टद्युम्न जिसको सेनापति बनाया गया था; वह जा रहा है आपके मुख में। इसी प्रकार से शिखण्डी जो भीष्म को मारने में निमित्त बनेगा वह भी आपके मुख में जा रहा है। हमारे भी जितने बड़े-बड़े योद्धा हैं सब जा रहे हैं।। २६।।

उसी बात को आगे बढ़ाता है -

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।। २७।।

(पूर्वोक्त तथा अन्य योद्धा) जल्दी मचाते हुए आपके उन मुखों में घुस रहे हैं जो दाढ़ों के कारण विकृत और डरावने हैं। मुखों में घुसे कोई तो चूर्ण हुए सिरों सहित दाँतों के बीच फँसे दीख रहे हैं।

आपके जो ये अनेक बहुदंष्ट्राकराल मुख हैं उनमें से कोई किसी मुख में, कोई किसी

मुख में जा रहा है। और सब दौड़ते हुए जा रहे हैं! 'दंष्ट्राकरालानि', दाढ़ों वाले भयंकर मुखों में सब घुस रहे हैं। घुस कर कुछ लोग 'दशनान्तरेषु विलग्नाः' दाँतों के बीच में फँसे हुए हैं। जैसे हम लोग कभी बीज वाला परवल खाएँ तो दाँतों के बीच में फँस जाता है, ऐसे कई वीर अन्दर जाकर दाँतों के बीच में फँसे हुए हैं। 'उत्तमांगैः चूर्णितैः' उनके जो उत्तमांग सिर हैं, उनको आपने दाढों से चबा डाला है। इसलिए वे चूर्ण हो गए हैं।।२७।।

वीरों के उस मुखप्रवेश में उदाहरण देता है-

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।। २८।।

जैसे नदियों के वेगवाले असंख्य जलकण समुद्र की ओर मुँहकर ही बहते जाते हैं वैसे मनुष्य लोक के ये वीर आपके उन मुखों में ही प्रवेश किये जा रहे हैं जो सब तरफ से जल रहे हैं।

नदियों के अन्दर अलग-अलग तरह के पानी होते हैं। जैसे गंगा जी का पानी सफेद है, जमुना जी का पानी साँवला है, महानदी का पानी लाल है। अलग-अलग नदियों के पानी अलग-अलग रंग के होते हैं। अलग-अलग स्वाद के भी होते हैं। अनेक प्रकार के पानी वाली नदियों के 'अम्बुवेगाः' वेग भी अलग-अलग तरह के हैं। कोई नदी बड़ी-बड़ी लहरों के साथ समुद्र में जाती है। समुद्र के किनारे जाकर के देखो तो कई नदियाँ तो बड़ी तरंगों को लेते हुए जाती हैं, जैसे महानदी। और कई अत्यन्त शान्त होकर जाती हैं जैसे गंगा जी जब गंगा सागर में लीन होती हैं तो कहीं कोई लहरें नहीं हैं, बिलकुल शान्त होकर जाती हैं। नदियों के जलों के वेग अनेक प्रकार के हैं। लेकिन 'समुद्रमेवाभिमुखाः' नदियों के सभी जलवेग समुद्र की तरफ मुख करके ही जाते हैं, सारी नदियाँ उधर ही जाती हैं। (अम्बु अर्थात् जल के अनेक वेगों अर्थात् प्रवाहों को अम्बुवेग कहा है। अथवा वेगवान् होने से अम्बु अर्थात् जल को ही वेग कहा है।) इसी प्रकार ये सब बड़े-बड़े योद्धा भी आपके अन्दर जा रहे हैं, कोई ज़्यादा तेज़ी से कोई कम तेज़ी से, लेकिन सब आपके दाढों और दाँतों के बीच पिस रहे हैं। मनुष्य लोक के जो बहादुर हैं, वे सब आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं। 'अभिविज्वलन्ति' आपके मुख अत्यन्त तेज प्रकाश से जलते हुए प्रतीत हो रहे हैं ('अभितो ज्वलन्ति' ऐसा भी पाठान्तर है।)।।२८।।

नदी समझ-बूझकर समुद्र में नहीं घुसती है, उसका प्रवाह उसे उधर ले जाता है। इसलिए दूसरा दृष्टान्त देता है चेतन का। दूसरी बात, नदी समुद्र में जाकर नष्ट नहीं होती। समुद्र में लीन हो जाती है पर पानी पानीरूप ही रहता है जबकि अब ये लोग अपने रूपों से तो रहने वाले हैं नहीं। इन दोनों कारणों से दूसरा दृष्टान्त देता है-

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२६।।

जैसे धधकती आग में बडे वेग वाले पतंगे अपने नाश के लिये प्रवेश कर जाते हैं वैसे ही बढ़े वेग वाले ये लोग अपने नाश के लिये ही आपके मुखों में घुस रहे हैं।

बरसात के बाद शुरू-शुरू में पृथ्वी को फोड़ कर पतंगे निकलते हैं। निकल करके, जहाँ पर दीपक जल रहा हो वहाँ अपनी इच्छा से ही जाते हैं। नदी का जैसे प्रवाह है वैसे उनका कोई प्रवाह नहीं है। वे स्वेच्छापूर्वक ही जाते हैं। इसी प्रकार ये लोग आपके मुख में स्वेच्छापूर्वक घुस रहे हैं। सब लोग यहाँ युद्ध करने के लिए, मरने-मारने के लिए आए हैं, इसलिए इच्छापूर्वक ही घुस रहे हैं। अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि में पतंगे इच्छापूर्वक ही 'नाशाय विशन्ति' स्वनाशार्थ घुसते हैं। नदी का तो समुद्र में जाकर अपना जलरूप नष्ट नहीं होता है लेकिन पतंगा जाता है अग्नि में तो जल जाता है। इच्छापूर्वक अपने नाश के लिए उसकी प्रवृत्ति है। इसी प्रकार ये लोग भी यहाँ मरने-मारने को अपनी इच्छा से ही आए हैं। और सब जल्द-बाजी में हैं 'समृद्धवेगाः', आपके अन्दर घुसने के लिए इनके अन्दर वेग बहुत बढा हुआ है। जो वीर होते हैं वे युद्ध में 'अहम्-अहमिका' से, 'मैं पहले-मैं पहले' इस भाव से लड़ते हैं। 'दूसरा मारे उसके पहले मैं मार लूँ' यह उत्साह होता है। ये सभी लोग, सभी प्राणी अपने नाश के लिए आप में प्रविष्ट हो रहे हैं।।२६।।

योद्धाओं की चेष्टायें बताकर अर्जुन सुनाता है कि भगवान् क्या कर रहे हैं-

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

जलते मुखों द्वारा समस्त लोकों को हर तरफ से खाते हुए आप आस्वादन कर रहे हैं। हे विष्णु! आपकी दीप्तियाँ सारे जगत् को प्रभाओं से भरकर सन्तप्त कर रही हैं।

जो लड़ने आए हैं वे तो सब मुखों में प्रवेश कर ही रहे हैं परन्तु यह काल रूप है इसलिए इसके अन्दर जितने प्राणी हैं, सारे के सारे प्रविष्ट हो रहे हैं! युद्ध में मरें या बिना युद्ध के, मरना सभी को है। आप सभी को ग्रस रहे हैं, अपना कौर (कवल) बनाये जा रहे हैं। जैसे लोग आस्वादन करते हुए रसगुल्ला मुँह में लेते हैं ऐसे आप सारे लोकों को खा रहे हैं। 'लेलिह्यसे' बड़ा स्वादिष्ट पदार्थ हो तो उसे आदमी प्रेम से चाटता है। 'लिह आस्वादने' (अ.उ.अ.) धातु का यङन्त रूप है 'लेलिह्यसे', रसगुल्ले को मुँह में रखकर इधर-उधर धीरे-धीरे घुमाते हुए उसका मज़ा लेता है। बाहर होठ में लगी चासनी को जीभ से चाटकर मुँह के भीतर कर लेता है। इसी प्रकार आप भी चाट-चाट कर आनन्द ले रहे हैं! दोनों तरह से खाया जाता है; रोटी के टुकड़े को तोड़ कर एक-एक टुकड़ा करके खाते हो, तथा रसगुल्ला पूरा ही मुँह में डालते हो। भगवान् इस

दूसरे ढंग से 'समन्तात्' सारा का सारा मुख में ले रहे हैं। 'समग्रान् लोकान्', सारे ही लोकों को; युद्ध के अन्दर जो हैं और युद्ध के बिना भी जो हैं, सभी को खाए जा रहे हैं। 'ज्वलद्भिः वदनैः', आपके मुख भयंकर अग्नि से, कालानल से, जल रहे हैं। उन सारे भिन्न-भिन्न मुखों के अन्दर किसी में भीष्म घुस गए, किसी में द्रोण घुस गए, किसी में अन्य प्राणी घुस गए, ऐसे दनादन आप खाए जा रहे हैं। 'तेजोभिः' विभिन्न प्रकार के तेजों द्वारा, कालानल से सब चीज़ें व्याप्त हो रही हैं। आप की जो यह अत्यन्त क्रूर अग्नि है उससे सारे ही लोक 'प्रतपन्ति' अत्यन्त ताप को प्राप्त कर रहे हैं, जल रहे हैं, अत्यन्त कष्ट को प्राप्त कर रहे हैं। हे विष्णु! मैं जानता हूँ आप विष्णु हैं पर आप दिखला भयंकर रूप को रहे हैं। सम्बोधनों से अर्जुन कह रहा है कि ऐसा नहीं है कि मैं समझता नहीं कि किसका रूप है! मैं समझता हूँ, फिर भी ऐसी भयंकर परिस्थिति को देख करके मन घबराता है।।३०।।

अर्जुन भगवान् के स्वरूप को समझने के लिये प्रश्न करता है कि यह आपका सौम्य रूप तो है नहीं जो हमने बहुत बार देखा है, वह रूप तो शान्त है। यह उससे विपरीत घोर है। जो संहार का कारण तमोगुण है वह यहाँ प्रतीत हो रहा है इसलिए शांत से विपरीत उग्र रूप वाले आप कौन हैं?

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।। ३१।।

मुझे बताइये कि (इस) क्रूर आकार वाले आप कौन हैं? आप को प्रणाम है। देवश्रेष्ठ! क्रूरता छोड़िये। क्योंकि मैं आपकी चेष्टा को समझ नहीं पा रहा इसलिये सर्वकारण आपको मैं विशेषतः जानना चाहता हूँ।

सत्त्वगुण से सम्पन्न आप विष्णु इस भयंकर रूप में दीख रहे हैं तो कहीं यह किसी दूसरे का रूप तो नहीं है? रुद्र का रूप तो नहीं है? मुझे आप बता दीजिये।'हे देववर! ते नमः अस्तु' आप जो कोई भी देववर हैं, देवताओं में श्रेष्ठ हैं, विष्णु हों चाहे रुद्र हों, या कोई भी हों, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। 'प्रसीद', अब आप शान्त हो जाइए। संहारकारी रूप को अब आप शान्त रूप करिए। आप 'आद्यं' सबके आदि हैं, सबके कारण आप ही हैं, आपको 'विज्ञातुमिच्छामि' मैं ठीक-ठीक समझना चाहता हूँ कि यह किसका रूप है। 'आद्यं' से कहा कि जिस कारण से चीज़ पैदा होती है, अन्ततोगत्वा उसी कारण में लीन होती है। ये सब आपमें लीन हो रहे हैं इसलिए आप ही इनके आदि कारण हैं। मैं आपके स्वरूप को 'विज्ञातुम्' अपरोक्ष समझना चाहता हूँ, क्योंकि आप जो यह सबको खा लेने की प्रवृत्ति, चेष्टा कर रहे हैं इसको मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। आपको देख तो रहा हूँ पर आप क्या और क्यों करना चाहते हैं? आप कौन हैं? आपका वास्तविक रूप क्या है? यह समझना चाहता हूँ। यद्यपि मैंने आपसे

प्रार्थना की थी अतः यह रूप आप भगवान् विष्णु का ही होना चाहिए, तथापि ऐसे भयंकर रूप को देख करके लगता नहीं कि यह आपका रूप है! इसलिए आप ही बतलाइये कि आपकी इस प्रवृत्ति में क्या कारण है, कौन-सी प्रवृत्ति आप करना चाहते हैं और वस्तुतः आप कौन हैं?।।३१।।

भगवान् अर्जुन के प्रश्न का जवाब देते हैं-

श्रीभगवानुवाच

कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

श्रीभगवान् ने कहा - लोकों का नाश करने वाला मैं बढा हुआ काल हूँ और इस समय लोकों का संहार करने के लिये सचेष्ट हूँ। दोनों सेनाओं में तैनात जो योद्धा हैं वे सब तेरे (लड़े) बिना भी (जीवित) रहेंगे नहीं!

भगवान् ने जवाब दिया- सारे लोकों को नष्ट करने वाला काल मैं हूँ। यहाँ दो तात्पर्य हैंः वैदिक दृष्टि से एक ही परमेश्वर सृष्टि स्थिति लय करने वाला है। यही परमेश्वर का लक्षण वेदों में बार-बार किया है। वैदिक दृष्टि से तो जो लोकों को क्षय करने वाला है वही परमेश्वर सृष्टि को स्थिर करने वाला भी है। अर्थात् लोकक्षयकृत्, लोकस्रष्टा और लोकस्थितिकृत् एक परमेश्वर ही है। वैदिक दृष्टि से यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि मैं परमेश्वर इस समय लोकों का क्षय करने में प्रवृत्त हूँ इसलिए यह मेरा कालाग्निरुद्र रूप है जो सारे संसार को नष्ट करता है। रुद्रीय में पंचब्रह्म मन्त्रों में 'कालाय नमः' भगवान् को काल कहा है। एक ही परमेश्वर सृष्टि स्थिति लय करने वाला है, पर पौराणिकों की मान्यता है कि ब्रह्मा सृष्टि करने वाला है, विष्णु स्थिति करने वाला है और शंकर नाश करने वाला है। महाभारत में स्थल-स्थल पर दोनों दृष्टियाँ आई हैं। गीता महाभारत का अंग है। पौराणिक दृष्टि से विष्णु हमेशा स्थिति करने वाले हैं इसलिये अर्जुन का प्रश्न यह मान कर है कि विष्णु तो सौम्य रूप है, अतः यह उग्ररूप विष्णु का नहीं, किसी अन्य का है। इसी दृष्टि से भगवान् कहते हैं यह मेरा लोकक्षयकृत् कालाग्निरुद्र शिवरूप है।

किन्तु प्रश्न उठता है कि अर्जुन का कहना था कि आप *अपना* रूप दिखलाईये अतः भगवान् को अपना स्थिति करने वाला रूप दिखाना चाहिए था। संहार करने वाला रूप कैसे दिखाया? इसके जवाब में समझना चाहिये कि अर्जुन ने अपने प्रश्न में कहा था 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं ऐश्वरं पुरुषोत्तम'। ऐश्वर अर्थात् ईश्वर का, शिव का रूप देखने के लिये ही उसने निवेदन किया था। क्योंकि वह जानता था कि युद्ध का निर्णय तो इसी पर होगा कि किस-किस को नष्ट होना है, किस-किस को नहीं होना है और नष्ट करने वाला क्योंकि ऐश्वर रूप है अर्थात् शिव रूप है, इसलिए उसने उसी को देखने

की प्रार्थना की थी। अतः उसने कुछ पूछा और भगवान् ने कुछ और दिखलाया ऐसी बात नहीं है। और भगवान् ने भी इसलिए जवाब में यही कहा था 'पश्य मे योगमैश्वरम्' मेरा ऐश्वर - ईश्वर का - रूप देखो। यदि पुराणों की दृष्टि से ब्रह्मा विष्णु रुद्र का भेद मानते हैं तो 'कालोस्मि' से यहाँ शंकर का रूप बताया। कृष्ण इसको दिखला सकते थे क्योंकि उन्होंने केदारनाथ में लम्बे समय रह कर उपमन्यु के उपदेश के बाद शिव की उपासना करके शिव से अपने इस ऐक्य को प्राप्त किया था। यहाँ पर 'ऐश्वरं योगम्' (११.८) कहा था कि ईश्वर-सम्बंधी योग अर्थात् शिव-ऐक्य जो मैंने प्राप्त किया उसको दिखलाता हूँ।

अर्जुन ने युद्ध के बीच में एक बार पूछा है कि 'मैं जब लड़ने जाता हूँ तब मुझे एक शूल लिए हुए दिखायी देता है, वह जिसको मारता है वही मेरे बाण से मारा जाता है। वह कौन मुझे दिखाई देता है?' तब भगवान् कृष्ण ने जवाब दिया है

'यस्तु ते सोऽग्रतो याति युद्धे सम्प्रत्युपस्थिते।
तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय देवदेवं कपर्दिनम्।।' (महाभा.१२.३४२.३६)

'जो तेरे रथ के आगे-आगे शूल लिए हुए चल रहा है, जिसके बारे में तू पूछ रहा है, हे कौन्तेय! तुम उसको जटाजूटधारी देवदेव कालाग्नि रुद्र समझो। उसके द्वारा मारे जा चुके शत्रुओं को ही तू मारता है।' वहाँ भी कहा है 'निहतांस्तेन वै पूर्वम्' और यहाँ भी भगवान् कहेंगे 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव'। वहाँ स्पष्ट कहा है कि जो पहले मार देता है उसे तुम रुद्र जानो अतः यहाँ भी उससे एकता का अनुभव करते हुए कहते हैं 'मयैवैते'।

'पूर्वमेव' इस दृष्टि से भी है कि महाभारत में (१.१६७) वर्णन है कि किसी देवस्त्री पर मुग्ध हो उसके अपहरण में प्रवृत्त इंद्र को भगवान् शंकर ने दण्डित करने के लिये एक गुफा में डाल दिया जहाँ उसे अपने से पूर्व के चार और इंद्र मिले! फिर सभी ने मिलकर प्रार्थना की तो भगवान् ने कहा कि 'तुम सब मनुष्य पैदा होकर बहुतों को मारकर तब पुनः इन्द्रलोक लौटोगे।' वे पाँचों पाण्डव हुए। इस प्रकार पूर्व में ही भगवान् ने निश्चित कर दिया था कि कौन मरेंगे और मारेंगे। 'पहले ही मरे हैं' अर्थात् 'उनकी मृत्यु मेरे द्वारा पहले ही निश्चित है।' भगवान् के निश्चय के अनुरूप ही घटनाएँ हुआ करती हैं अतः निश्चय हो चुका तो मानो मृत्यु भी हो ही चुकी। इसलिए 'त्वा ऋतेऽपि', तेरे बिना भी 'सर्वे न भविष्यन्ति' ये सब बचेंगे नहीं। तू भीष्म द्रोण आदि को अजेय समझ रहा है। किंतु इन्हें तू नहीं मारेगा तो भी इनका मरने का समय आया है अतः ये मरेंगे ही। जब जिसकी मृत्यु निश्चित है, उस समय उसको मरना ही है। जो हम लोगों को मारने वाला कारण दीखता है वह तो केवल निमित्त ही है। मरता वह इसलिए है कि परमेश्वर ने पहले ही निश्चित कर दिया है कि इस समय मरना है। जो उसको

जहर देता है, या उसको बाण मारता है, या उसके विरोध में कृत्या प्रयोग इत्यादि करता है, क्योंकि उसने संकल्पपूर्वक उसके हनन में प्रवृत्ति की इसलिए उसको पाप की प्राप्ति तो हो जाती है परन्तु उसका जो मरना है वह तो वस्तुतः काल आने पर ही होगा। यूरोप में एक बड़ा राजा हुआ है नैपोलियन बोनापार्ट; वह युद्ध में हमेशा आगे चला करता था। जिस समय वह स्विट्ज़रलैण्ड को विजय करने जा रहा था, किसी ने कहा 'यहाँ तो पहाड़ के मोड़ हैं, पता ही नहीं लगेगा और सामने से दुश्मन झट मार देगा अतः आप आगे मत चलिए, ज़रा पीछे रहिए। हम लोग मरेंगे तो कोई बात नहीं।' तब नैपोलियन बोनापार्ट ने हँस कर कहा, 'वह गोली अब तक ढली नहीं है जो नैपोलियन बोनापार्ट को मारे। जिस दिन ढल जाएगी, उस दिन तुम सब इकट्ठे होकर भी नैपोलियन को बचा नहीं सकोगे!' मृत्यु सर्वथा परमेश्वर के द्वारा हमारे कर्मों के अनुसार निश्चित कर दी गई है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि 'तुम्हारे बिना भी इनमें से कोई बचने वाला नहीं है क्योंकि मैं इनको मारने वाला हूँ।' 'प्रत्यनीकेषु'; अनीक अर्थात् सेना; दोनों परस्पर प्रतिपक्षभूत सेनाओं में लड़ने को सावधान हुए योद्धा मरेंगे ही, रहेंगे नहीं, जीवित नहीं बचेंगे। भगवान् का भाव है - तू यह सन्देह छोड़ दे कि 'मैं नहीं मारूँगा तो भीष्म द्रोण नहीं मरेंगे'। ऐसा कुछ नहीं है।।३२।।

अर्जुन पूछ सकता है कि 'यदि आप से ही सब मर चुके हैं तो मुझे लड़ने को क्यों कह रहे हैं?' इसका जवाब भगवान् देते हैं-

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

इसलिये तू उठ। यश प्राप्त कर। शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य का उपभोग कर। हे सव्यसाचिन्! मेरे द्वारा ये पहले ही मारे जा चुके हैं, तू इनके मरने में केवल निमित्त बन जा।

तू लड़ या न लड़, इनको तो मरना ही है। अतः 'मैं अपने दादा को कैसे मारूँ, अपने गुरु को कैसे मारूँ' इत्यादि जो तेरी सोचने की प्रणाली है, वह आधारभूत ढंग से गलत है क्योंकि मारने वाला मैं हूँ, तू नहीं। (अतः खड़ा हो जा। पहले अर्जुन शस्त्र छोड़ कर रथोपस्थ पर बैठ गया था इसलिए कहा खड़ा हो जा, अब लड़।) मार तो मैंने दिया है, फिर भी तुम्हें मारने को कह रहा हूँ क्योंकि 'यशो लभस्व' इससे हमेशा के लिए तेरी कीर्ति होगी कि भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसों को अर्जुन ने मारा! भीष्म परशुराम से नहीं हारे, उनको भी तू मार लेगा तो अपार कीर्ति होगी। क्षत्रिय के लिए सर्वोत्तम कीर्ति वीरता-निमित्तक है, वह तुझे प्राप्त होगी। तूने मेरी अति-भक्ति की है, अतिप्रेम किया है, इसलिए मैं तुझे यशस्वी बनाना चाहता हूँ। मारने के लिए मुझे तुम्हारी मदद चाहिए ऐसी कोई बात नहीं है! जो यश अत्यन्त पुण्य करने वालों को

मिलता है वह यश तूने मेरी भक्ति की है इसलिए तुझे मिल जाए यह चाहता हूँ। 'शत्रून् जित्वा', दुर्योधन आदि शत्रुओं को जीत। तूने तथा भीम ने द्रौपदी को कैसे-कैसे आश्वासन दिए हैं? युधिष्ठिर को कैसे-कैसे आश्वासन दिए हैं? उनको पूरा कर। इनको जीत कर 'समृद्धम्' अकंटक, जिसका किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं ऐसे राज्य का भोग कर। यह सब मेरी भक्ति का फल है। दुर्लभ यश की प्राप्ति होगी, जो तूने प्रतिज्ञाएँ की हैं, वे सारी सच हो जाएँगी और निष्कंटक राज्य की प्राप्ति भी हो जाएगी। 'मयैव पूर्वमेव निहताः'। ये लोग पैदा हुए उसके पहले ही 'महाभारत युद्ध में ये सब मारे जाएँगे' यह मैंने निर्णीत कर दिया था।

'सव्यसाचिन्' सव्य शब्द बड़ा विचित्र है, बाएँ को भी कहता है और दाएँ को भी कहता है 'वामदक्षिणयोः सव्यम्' कोश है। अर्जुन दोनों हाथों से गाण्डीव चलाता था। दाहिने हाथ से प्रत्यंचा खींच कर बाण चलाने वाले साधारण लोग होते हैं परन्तु अर्जुन की विशेषता थी कि दाहिने से भी चलाता था, बाएँ से भी चलाता था। इसलिये कुछ लोगों ने 'सव्यश्च सव्यश्च' का एकशेष कर 'साची' (अर्थात् क्षेपक) से समास किया है अर्थात् दोनों हाथों से वह बाण चलाता था। अथवा क्योंकि दायें हाथ से बाण चलाना सामान्य बात है, बाँयें से चलाने में विशेषता है, इसलिये 'बाँये से भी बाण चलाने वाला' यह अर्थ भी उचित है।।३३।।

अर्जुन को जिनसे विशेष भय संभावित था उनका नाम लेते हुए भगवान् उसे उत्साहित करते हैं-

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

मेरे द्वारा मारे जा चुके द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य युद्धविशारदों को मारो, डरो मत। (क्योंकि) युद्ध में शत्रुओं को (अवश्य) जीतोगे (इसलिए) लड़ो।

द्रोण अर्जुन के गुरु थे, द्रोणाचार्य से ही उसने सारा युद्ध कौशल सीखा था। जो कुछ अर्जुन जानता है वह सब द्रोणाचार्य जानते ही हैं। उसे मालूम था कि 'द्रोणाचार्य से युद्ध करने के लिये मैं कोई नया तरीका अपना सकूँगा यह तो सम्भव नहीं है'। सामान्यतः प्रसिद्ध है कि गुरु शिष्य से अधिक जानने वाला होता है, इसलिए द्रोण से उसे भय था। दूसरा एक और भी कारण है; द्रोणाचार्य ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि अश्वत्थामा के मरने पर जीवित नहीं रहेंगे, और अश्वत्थामा चिरंजीवी है। अश्वत्थामा के मरे बिना द्रोणाचार्य नहीं मर सकते और अश्वत्थामा दीर्घायु होने से मारा नहीं जा सकता, इसलिए द्रोण से अत्यन्त भयभीत रहना स्वाभाविक ही था। भगवान् कहते हैं कि चाहे अश्वत्थामा अमर हो, चाहे द्रोणाचार्य ने प्रतिज्ञा कर रखी हो, पर 'मयैवैते निहताः' मैंने इनका समय निश्चित कर दिया है, इनका प्रारब्ध समाप्त हो रहा है, इनको

मरना ही है।

'भीष्मं च', भीष्म को पिता के द्वारा वरदान मिला हुआ था कि वे जब *चाहें* तब मरें, इच्छामृत्यु थे। भीष्म कब चाहेंगे कि 'मैं मरुँ'? दिव्य अस्त्रों से वे सम्पन्न भी थे। और साक्षात् परशुराम इनको हरा नहीं सके थे। काशीराज की तीन कन्याओं को भीष्म भगा लाये थे। उनमें दो का ब्याह तो करा दिया गया, तीसरी बच गई। भीष्म ने कहा 'यहाँ दो का ही ब्याह हो सकता है, अतः तुम चली जाओ।' उसने कहा 'क्षत्रियों का नियम है कि जो भगा कर लाये उसे ब्याह करना चाहिये। इसलिए तुमको मुझसे विवाह करना पडेगा।' भीष्म ने कहा 'मेरी तो यह दृढ प्रतिज्ञा है कि मैं विवाह करूँगा नहीं।' वह दुःखी होकर परशुराम के पास गई। परशुराम ने कहा 'अभी चलकर मैं उसको ठीक कर देता हूँ!' बड़े ज़ोर-शोर से आए। अनेक दिनों तक युद्ध हुआ लेकिन भीष्म को पराजित नहीं कर सके! तब उन्होंने उस लड़की से कहा 'मैनें तो अपना पूरा पौरुष करके देख लिया, उसको जीत नहीं सकता तो करुँ क्या!' इस प्रकार से परशुराम से द्वन्द्व युद्ध हुआ परन्तु भीष्म पराजित नहीं हुए। 'परशुराम से जो पराजित नहीं हुआ, उसको मैं पराजित कर दूँगा', यह बड़ा दुष्कर काम लगता था अर्जुन को। परन्तु भगवान् कहते हैं कि इनको भी मैंने मार दिया है। 'मैं नहीं मार सकता हूँ इन्हें' यह तू ठीक ही समझ रहा है। द्रोण भीष्म को तू मार लेवे, यह सम्भव नहीं है। परन्तु मैं तो कालाग्नि रुद्र हूँ, मैं सारे संसार को ही जला देता हूँ! अतः मैंने मारा है।

'जयद्रथं च' जयद्रथके पिता सिन्धु नदी के किनारे बैठ कर तप कर रहे थे 'जो मेरे बेटे के सिर को नीचे गिरा देगा, उसके सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे' अतः जो उसको मारेगा, उसका मरना निश्चित है। ऐसे जयद्रथ को कैसे मारा जाए! जयद्रथ से भयभीत होना स्वाभाविक है। परन्तु कहते हैं 'मैं तो कालाग्नि रुद्र हूँ, मैंने इसको भी मार रखा है।' इसलिए भगवान् के समझाये ढंग से अर्जुन ने जयद्रथ का सिर ऐसे दिव्य बाण से काटा कि वह कुरुक्षेत्र से जाकर ठेठ सिन्धु के किनारे जहाँ उसके पिता तपस्या कर रहे थे वहाँ उनकी गोद में गिरा। 'जो इसका सिर *ज़मीन* पर गिराएगा, उसके सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे' यह निश्चित था किंतु अर्जुन ने ज़मीन पर तो गिराया नहीं, उसके बाप की गोद में ही गिराया अतः अर्जुन तो बचा रहा और गोद में अचानक सिर गिरने से घबराकर उसके पिता उठ खड़े हुए तो सिर नीचे धरती पर गिर गया जिससे उन्हीं के सिर के सौ टुकड़े हो गए! जब कालाग्नि रुद्र मारने वाला है तब सब व्यवस्था हो जाती है।

'कर्णम्'। पहले बतला चुके हैं कि वह अमोघ शक्ति से युक्त था। वह सूर्यपुत्र होने से भी तेजस्वी था। उसको मारना सम्भव नहीं था परन्तु उस शक्ति को घटोत्कच के लिए प्रयुक्त करवा दिया और फिर वह मारा गया।

बड़ों-बड़ों का नाम ले दिया है, छोटों को तो अर्जुन जानता ही था कि मार ही लेगा। फिर भी भगवान् कहते हैं - खाली इतनों को ही मैंने नहीं मारा है, बाकि भी जितने

इस युद्ध में आए हुए वीर लोग हैं, सभी मेरे द्वारा मार दिए गए हैं। मेरे द्वारा जो मार दिए गए हैं उनको तू मार डाल। मैं तुझे यश दिलाना चाहता हूँ इसलिए कह रहा हूँ, अन्यथा मरना तो इन्हें है ही। अतः युद्ध में दीखा था कि जिसको शूल लगता है उसको तो अर्जुन का बाण मार देता है, और जिसको शूल नहीं लगता उसकी बारी आगे किसी दिन आएगी! अतः भगवान् ने कहा मैंने जिनको मार दिया है उन्हें तू मारने वाला बन जा। 'मा व्यथिष्ठा' तू इन बड़ों-बड़ों से व्यथा को प्राप्त मत कर; 'इनके रहते मैं कैसे जीतूँगा', ऐसी जो तेरी व्यथा है, उसको करने की ज़रूरत नहीं है। 'युध्यस्व' युद्ध कर। 'रणे सपत्नान् जेतासि' युद्ध के अन्दर दुर्योधनादि जो तुम्हारे शत्रु हैं, सपत्न हैं, उन सबको तू जीतने वाला है। अतः जो तेरे मन में सन्देह है कि 'हम जीतें या न जीतें' वह संदेह छोड़ दे। तेरी जीत तो निश्चित ही है।।३४।।

भगवान् ने यों निर्भय करते हुए उत्साहित किया फिर भी अर्जुन एकाएक स्वस्थ नहीं हो पाया यह संजय धृतराष्ट्र को सुनाता है-

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।। ३५।।

संजय ने कहा - केशवका यह वचन सुनकर (भी) किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़े काँप रहा था। अत्यन्त डरे हुए अर्जुन ने (मनसे) प्रणामपूर्वक (शरीर से) नमस्कार कर फिर से श्रीकृष्ण को भरी आवाज में कहा।

'वेपमानः', उस भयंकर विश्वरूप को देख कर भगवान् के ये वचन कहने पर भी अर्जुन अभी काँप ही रहा था! 'नमस्कृत्वा' हाथ जोड़ करके पुनः नमस्कार किया तथा 'भूय एव कृष्णम् आह' फिर से अपनी बात कहना शुरू किया। 'सगद्गदं', गद्गद होकर। कई तरह से आदमी गद्गद होता हैः अत्यन्त भय होवे तो भी कण्ठ से ठीक वाक्य नहीं निकलते जिसे लोग कहते हैं 'उनकी घिग्गी बँध गई'। और जब अत्यन्त प्रेम का उद्रेक होता है तब भी कण्ठ गद्गद हो जाता है, साफ-साफ बोल नहीं पाता। अपना लड़का दो साल के लिए विदेश जा रहा हो तो घर से बिदा करते समय माँ गद्गद हो जाती है, बहुत कुछ बोलना चाहती है पर कुछ भी वाणी नहीं निकलती। और अत्यन्त हर्ष की बात हो तब भी व्यक्ति गद्गद होता है। हर्ष अत्यधिक होता है तब भी रोने लगता है और कण्ठ गद्गद हो जाता है। चाहे भय हो, अत्यन्त दुःख हो, अत्यन्त स्नेह का उद्रेक हो, इन सबमें श्लेष्मा से कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, गले में कफ भर जाता है इसलिए आवाज़ ठीक से निकल नहीं पाती। यहाँ अर्जुन में सभी चीज़ें थीं : विश्वरूप को देख कर भय से आविष्ट था। 'भगवान् सब कुछ खुद करके मुझे यश दिलाना चाहते हैं, इतना मेरे ऊपर इनका स्नेह है', यह देखकर प्रेमोद्रेक भी था। जीत कर

निष्कंटक राज्य का भोग करूँगा, यह सोचकर हर्ष भी पूरा था। इसलिए कहा 'सगद्गदम्'। परन्तु प्रधानता भय की थी। कालाग्नि रुद्र रूप अभी सामने था ही इसलिए दूसरी बातें होने पर भी प्रधान रूप से भय से आविष्ट था। इसलिए 'प्रणम्य'। स्नेहाविष्टता और हर्षोद्भव के अन्दर जो गद्गदता आती है, उसमें नमस्कार करने का औचित्य नहीं है। प्रेमातिरेक से दुलार तो कर लेगा पर प्रणाम नहीं करेगा अतः यहाँ कालाग्नि रुद्र को देख कर भीतभीत हुआ वह प्रणाम करता है।

आचार्य शंकर यहाँ कहते हैं कि संजय का यह वचन साभिप्राय हैः भीष्म, द्रोण, कर्ण के सहारे से ही धृतराष्ट्र समझता है कि मैं जीत लूँगा। संजय चाहता है कि वह इस बात को समझ ले कि इनका मरना निश्चित है और इनके मरने के बाद दुर्योधन निराश्रय हो जाएगा। ये चार जो अजेय हैं इनके मरने के बाद दुर्योधन किसके आश्रय में रहेगा! अतः दुर्योधन मर ही जाएगा। भगवान् ने यहाँ दुर्योधन का नाम नहीं लिया था, परन्तु समझने की बात है कि इनके सहारे ही वह इतना नाच कूद कर रहा था अतः उनके जाने के बाद निराश्रय होकर मारा ही जाएगा। इस बात को समझ कर धृतराष्ट्र जय की आशा छोड़ देवे और संधि का प्रयास करे। युधिष्ठिर आदि तो सन्धि के लिए पहले से ही तैयार हैं। अतः शान्ति हो जाएगी। ऐसी संजय की इच्छा थी। परन्तु भाष्यकार कहते हैं 'तदपि नाऽश्रौषीद् धृतराष्ट्रः भवितव्यवशात्' -जैसा भावी होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है। इतना स्पष्ट समझाने पर भी धृतराष्ट्र ने मानो कुछ सुना ही नहीं, सुलह की चर्चा तक नहीं की।।३५।।

गद्गद हो अर्जुन ने यह ग्यारह श्लोकों में प्रार्थना की -

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।। ३६।।

सर्वेन्द्रियप्रेरक! (अन्तर्यामिन्!) आपके माहात्म्य के कीर्तन से जगत् अत्यन्त प्रसन्न होता है, (आपमें) अनुरक्त होता है, डरे हुए सब राक्षस नाना दिशाओं में भागते फिरतें हैं और सिद्धों के समूह (आपको) प्रणाम करते हैं- यह सब युक्त ही है।

'हृषीकेश!' सब इन्द्रियों को जो प्रवृत्त करने वाला है। हृषीका अर्थात् इन्द्रियाँ। सारी इन्द्रियों का जो अधीश्वर है वह हृषीकेश है। इसके द्वारा बतलाया कि यह जो दर्शन आदि किया, वह इसीलिए कि आप सारी इन्द्रियों के अधीश्वर हैं, आपने ही मुझे यह सब दिखा दिया। आपके माहात्म्य का कीर्तन करके या सुन कर सारा जगत् प्रसन्न हो रहा है। परमेश्वर की महिमा को समझ कर सब लोग प्रसन्न होते हैं। निरन्तर अनुभव है कि संसार में दुष्ट लोग ही हमेशा आगे बढ़ते हैं इसलिए साधु पुरुषों के मन में बड़ा सन्देह रहता है कि 'परमेश्वर इन सबको ठीक क्यों नहीं कर देते? कहीं ऐसा

तो नहीं है कि दुष्ट ही हमेशा सफल होते रहें?' अमेरिका के अन्दर एक ऐसा 'म्यूच्युअल फण्ड' है जो बुरी चीज़ों के व्यापार में निवेश नहीं करता। शराब, सिगरेट इत्यादि के उद्योग से उसे परहेज है। उसको देखकर किसी दूसरे ने म्यूच्युअल फण्ड निकाला जो जितने बुरे काम हैं शराब, जुआ आदि, उन कम्पनियों के शेयर ही खरीदता है! इस वर्ष अच्छी कम्पनियों वाले ने पच्चीस प्रतिशत भाग दिया और बुरी कम्पनियों का काम करने वाले नें पैंसठ प्रतिशत दिया! प्रायः व्यवहार में सर्वत्र प्रतीति होती है कि दुष्ट ही जीतते हैं। इसलिए अर्जुन कहता है कि आपके इस भयंकर रूप को देखकर, जिसमें जितने दुर्जन हैं वे सारे नष्ट हो रहे हैं, सभी सज्जन लोग अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं। यह बात 'स्थाने' युक्त है, ठीक है, ऐसा ही होना चाहिए अर्थात् हर्ष आदि का विषय भगवान् होवें यह युक्त ही है, ठीक ही है। इसी से पता लगता है कि परमेश्वर सर्वभूतहित करने वाले हैं। इतना ही नहीं, इस प्रकार आप की महिमा से, महिमा को देख कर या सुन कर 'अनुरज्यते च', आपके प्रति अनुराग, प्रेम बढ़ता है। 'सर्वे रक्षांसि' सभी राक्षस लोग अर्थात् राक्षसी प्रवृत्ति के लोग आपके इस रूप से भय प्राप्त करके चारों दिशाओं में दौड़ते हैं। जो भले आदमी हैं वे तो प्रसन्न होते हैं और जो बुरे लोग हैं वे भय से भागने लगते हैं। लोक में देखा जाता है कि प्रायः जो दुष्टात्मा हैं वे मृत्यु सामने आने पर घबराते हैं कि 'आगे क्या होगा!' जब तक मृत्यु का सामना नहीं होता तब तक तो सोचते हैं 'हम बड़े बुद्धिमान् हैं, हमने अपना सब काम बना लिया '। इस संसार में जो काम बनाया है वह सारा-का-सारा मृत्यु के क्षण में नष्ट हो जाता है। अतः जब मृत्यु सामने झाँकती है तब अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। और भी अर्जुन बताता है, जो सिद्धों के समुदाय हैं, 'नमस्यन्ति' वे आपको नमस्कार करते हैं। यह भी 'स्थाने' ठीक ही है क्योंकि सिद्ध सारी सिद्धियाँ परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त करते हैं।। ३६।।

'स्थाने' अर्थात् उक्त संगतता को ही अर्जुन उपपन्न करता है।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।। ३७।।

हे महामना! असीम! देवाधिप! जगदाश्रय! आप भाव-अभावरूप उपाधियों वाले अक्षर और वास्तव में उन उपाधियों से परे हैं। ब्रह्मा के भी कारण, सर्वाधिक गौरवशाली आपको वे क्यों न प्रणाम करें!

क्यों न आपको वे नमस्कार करें जिन्होंने आपकी कृपा से सिद्धि प्राप्त की है! 'हे महात्मन्!' आप महात्मा हैं अर्थात् अन्य सब लोगों से आपकी श्रेष्ठता है क्योंकि ब्रह्मा के भी आप गुरु हैं, उनसे भी आप गुरुतर हैं। हम लोगों को जितना भी ज्ञान प्राप्त होता है वह सारा ब्रह्मा जी से ही होता है और इस सारे संसार को भी ब्रह्मा जी बनाते

हैं। परन्तु ब्रह्मा जी तब बना पाते हैं जब पहले पंचमहाभूत आदि की सृष्टि परमेश्वर कर लेते हैं। विराट् स्थल में आकर ब्रह्मा हुए, स्थूल पंचमहाभूतों से ही ब्रह्मा का शरीर बनेगा। इसलिए उसके पहले ईश्वर ने पंचमहाभूतों की सृष्टि, उनका पंचीकरण इत्यादि कर दिया, तब आगे सृष्टि ब्रह्मा जी कर सकते हैं। आप ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता हैं अर्थात् ये अपंचीकृत पंचमहाभूत, पंचीकरण- यह सब करने वाले हैं। किंच ब्रह्मा जी जब उत्पन्न हुए तब उनको ज्ञान कहाँ से मिला? वेद स्पष्ट कहता है 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' परमेश्वर पहले ब्रह्मा जी को बनाते हैं और फिर वेद का ज्ञान ब्रह्मा को देते हैं। वेद से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का पता लगता है। ब्रह्मा हम सबके गुरु हैं इसलिए उपनिषदों में वंश ब्राह्मण में अन्त में ब्रह्मा का नाम आता है। अतः ब्रह्मा हम सबके गुरु हुए। उनके भी गुरु होने से परमेश्वर 'गरीयसे', गरीयान् है। जब हमें प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मोंका और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो गया, तब हम उस आदिकर्त्ता को नमस्कार कैसे न करें! कपिल आदि सिद्ध और हम सब नमस्कार करते ही हैं।

'अनन्त!' वेद कहता है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। देश, काल और वस्तु तीन सीमाओं से ही कोई चीज़ परिच्छिन्न हो सकती है। देश से परिच्छेद अर्थात् यहाँ तक, इसके आगे नहीं। काल से परिच्छेद अर्थात् अब तक, इसके बाद नहीं। वस्तु से परिच्छेद अर्थात् यह है, वह नहीं। परमात्मा में इस प्रकार न देश का परिच्छेद, न काल का परिच्छेद, न वस्तु का परिच्छेद है। तीनों परिच्छेदों से रहित परमेश्वर है। ठीक जिस प्रकार से जब हम स्वप्न देखते हैं तब स्वप्न का देश हमें परिच्छिन्न नहीं करता क्योंकि जो देश हम बनाते हैं स्वप्न में वही देश है। स्वप्न का काल भी हमें परिच्छिन्न नहीं करता क्योंकि स्वप्न का काल भी बनाने वाले हम ही हैं। स्वप्न की वस्तुएँ भी हमारा परिच्छेद नहीं करतीं क्योंकि स्वप्न की वस्तुएँ भी सब हम ने ही बनाई हैं, हम ही बने हैं। जैसे जो स्वप्न का अधिष्ठान जीव है, उसको स्वप्न का देश कालादि परिच्छिन्न नहीं कर सकता, इसी प्रकार अपनी माया से बने हुए देश काल वस्तु से परमात्मा भी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुति ने कहा कि परमेश्वर अनन्त है। केवल अनन्त कहने से किसी को प्रतीत हो सकता है कि जड चीज़ भी व्यवहार में अनन्त देखी जाती है जैसे आकाश। आकाश हम लोगों को न देश से परिच्छिन्न लगता है, न काल से परिच्छिन्न लगता है, न वस्तु से परिच्छिन्न लगता है। घड़े में आकाश परिच्छिन्न प्रतीत होता है पर परिच्छिन्न होता तो नहीं है। क्या वह परमेश्वर भी अव्यक्त या सांख्यों की प्रकृति की तरह देश काल से अपरिच्छिन्न होता है? इसके उत्तर में कहा 'देवेश!' आप देवताओं के भी ईश्वर हैं। इन्द्रियों को देवता कहते हैं। इन्द्रियों का ईशन करने वाला चेतन ही होता है। मन को इन्द्रियों में ही समझ लेना चाहिए ऐसे स्थल में। अतः आप केवल उपादान कारण, जड कारण नहीं हैं, चेतन कारण हैं। आप ही एकमात्र नित्य कारण हैं। अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण अधिष्ठान हुआ करता है

इसलिए कहा 'जगन्निवास!' सारा जगत् आपमें ही अधिष्ठित है, आप ही इसके अधिष्ठान हैं।

'त्वम् अक्षरं' आप अक्षर हैं अर्थात् आप कभी भी कुछ भी कम नहीं होते। इतनी सारी सृष्टि आपसे निकली, इतने सारे जीव आपसे निकले, फिर भी आप वैसे के वैसे हैं। इसलिए श्रुति कहती है 'पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' पूर्ण परमेष्वर से ही यह पूर्ण सृष्टि निकलती है लेकिन निकलने पर भी 'पूर्णमेव अवशिष्यते'। जगन्निवास होने से ही आप ऐसे अक्षर हैं। रस्सी से सर्प, जलधारा, हार, इत्यादि सब निकलने के बाद भी वह रस्सी वैसी-की-वैसी रहती है। 'सत्'; जहाँ भी 'कोई चीज़ विद्यमान है' ऐसी सद्बुद्धि होती है, उसके विषय आप ही हैं। आप हैं इसलिए हमको सत् प्रतीत होता है। ठीक जिस प्रकार से नेत्र के सम्बन्ध से रस्सी का ज्ञान है, तभी आगे सर्प का भ्रम होता है, इसी प्रकार सत्-रूप आप हैं, इसलिए घड़ा है, कपड़ा है, लड्डू है, पेड़ा है ये सब भ्रम सम्भव हैं। इस तरह आप सत्-रूप हैं। और जहाँ बुद्धि है कि 'यह चीज़ नहीं है', जैसे मिट्टी को देख कर लगता है 'घड़ा नहीं है', वहाँ 'नहीं है' की बुद्धि भी आप हैं तभी होती है। खाली 'नहीं है' की प्रतीति कभी नहीं होती! 'मेज़ पर कलम नहीं है, मिट्टी में घड़ा नहीं है' यों मेज़ मिट्टी आदि कोई चीज़ 'है' तभी 'नहीं है' की प्रतीति होती है। 'नहीं है' की प्रतीति में भी सचमुच प्रतीति तो किसी चीज़ के होने की है। उसके बाद, 'यदि अमुक चीज़ यहाँ होती तो दीखती' इस तरह 'नहीं है' का अनुभव हो पाता है। सत् और असत् से व्यक्त और अव्यक्त, कार्य और कारण भी कहे जाते हैं। जो प्रतीत होता है वह कार्य है और नहीं प्रतीत होने वाले को कारण कहते हैं। सत् और असत्, ये दोनों ही अक्षर हैं। सत् और असत् दोनों आपके बिना असम्भव हैं। वस्तुतः तो आप न कार्य हैं न कारण हैं। कार्यरूप से भी आप प्रकट हैं, कारण-रूप से भी आप ही प्रकट हैं। पर वस्तुतः आप न कार्य हैं, न कारण हैं। जब हम माया की दृष्टि से देखते हैं तब आप कारण हैं। जब हम माया के कार्य घट-पट आदि की दृष्टि से देखते हैं तब आप कार्य हैं। और जब माया की दृष्टि को छोड़ कर देखते हैं तब आप दोनों से परे हैं अर्थात् आप न कार्य हैं न कारण हैं, न व्यक्त हैं, न अव्यक्त हैं।।३७।।

और भी स्तुति करता है-

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।। ३८।।

आप सर्वकारण चेतन हैं, पूर्ण हैं, चिरन्तन हैं, आप इस विश्व के उत्तम आश्रय हैं, ज्ञाता-ज्ञेय दोनों हैं, अंतिम प्राप्तव्य हैं, हे आनंद रूप वाले! आपके द्वारा विश्व व्याप्त है।

'त्वम् आदिदेवः;' जब आप महाप्रलय करते हैं तब सब चीज़ों का संहार करके

अकेले ही रहते हैं। फिर सृष्टि के समय आप सबको प्रकट करते हैं इसलिए आप ही आदिदेव हैं। अथवा आप सबके आदि भी हैं और चेतन होने से देव भी हैं। 'पुरुषः', आप ही हृदय पुण्डरीक के अन्दर आकर बैठे हैं तभी अन्तःकरण की 'मैं' वृत्ति में प्रकाश होता है। मैं का भान 'मैं चेतन हूँ' ऐसा ही होता है। क्योंकि हृदय पुरी के अन्दर आप विद्यमान हैं इसलिए अहंकारात्मिका वृत्ति आपको विषय करती है। 'पुराणः', 'पुरापि नव एव', पहले से पहले कभी भी चले जायें, भगवान् वैसे-के-वैसे नए वहाँ पर भी विद्यमान हैं। पुराने होने मात्र से पुराण होवें ऐसा नहीं; पहले से पहले भी वे वैसे ही नए रहते हैं जैसे आज नए हैं। ऐसा नहीं है कि बुड्ढे हो गए! पहले भी वैसे ही नए थे और अभी भी वैसे ही नए हैं। इसलिए कहा 'पुराणः'। 'अस्य विश्वस्य परं निधानम् त्वम्', यह जो सारा विश्व है वह सारा ही महाप्रलय के समय लीन हो जाता है। इसके आप ही परम निधान हैं। जैसे मिट्टी के कार्य मिट्टी में जाएँगे, वैसे मिट्टी जल में जाएगी इसलिए मिट्टी का निधान जल है। जल तेज में जाएगा, इसलिए जल का निधान तेज है। अन्त में सब चीज़ें माया में लीन होंगी और माया ब्रह्म में लीन हो जाती है। आप 'परं निधानम्', आप से परे कुछ नहीं क्योंकि आप किसी में लीन होते नहीं।

आप ही 'वेत्तासि'; अन्तःकरण के अन्दर अहमाकार से प्रकाशित होकर जानने वाले आप ही हैं। 'वेद्यं', जो जाना जाता है वह भी आप ही हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', इदं-रूप से जो कुछ जाना जाता है उसको श्रुति ब्रह्मरूप कहती है और 'अयमात्मा ब्रह्म' के द्वारा जो जानने वाला है उसको भी ब्रह्म ही कहती है। आप ही वेत्ता और आप ही वेद्य हैं। इसी को बतलाने के लिए मार्कण्डेय ऋषि को जब भगवान् ने दर्शन दिया था तब एक पत्ते के ऊपर छोटे बालक रूप में अपने पैर के अंगूठे को खुद ही चूस रहे थे। जैसे जो चूसने वाला है वही चूसा जाने वाला है, इसी प्रकार जो जानने वाला है वही, जो जाना जाता है वह भी है। 'वेद्यं' का तात्पर्य जानने के *योग्य* भी होता है। वेद ने कहीं किसी चीज़ को जानने के योग्य नहीं बताया है, केवल 'आत्मा वाअरे द्रष्टव्यः' एकमात्र आत्मा को ही जानने के लायक कहा है। अतः वेद्य के द्वारा कहा कि परमात्मा ही एक है जिसको जानना है। बाकी सब चीज़ें तो इन्द्रियों से जानी जाएँगी, मन-बुद्धि से जानी जाएँगी। परन्तु परमात्मा खाली अहम्-प्रत्यय से वेद्य है।'अहम्' इस प्रतीति से ही परमात्मा को जाना जाएगा। वेत्ता रूप से आप ही अपने को जानते हैं और वेद्य रूप से आप ही जाने जाते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक जो अखण्ड वृत्ति बनती है, उसके अन्दर ब्रह्म ही ब्रह्म को जानता है। इसलिए 'परं च धाम' आप ही परम् पद हैं, परम् धाम हैं अर्थात् आप ही एकमात्र पहुँचने के लायक स्थान हैं। इसीलिए श्रुति कहती है 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्', 'तद् विष्णोः परमं पदम्', वही परं धाम, परं पद है।

'हे अनन्तरूप! त्वया विश्वम् ततम्।' अनन्त रूपों को आपने धारण किया है इसलिए उन सारे अनन्तरूपों में आप ही व्याप्त हैं, आपके द्वारा ही वे तत हैं, व्याप्त

किए गए हैं। 'ततं' के दोनों ही अर्थ यहाँ समझ लेने चाहिए : आपने ही अपने को इन सारे रूपों में प्रकट किया है। 'तत' अर्थात् विस्तृत। आपने ही सारे संसार को प्रकट किया है और क्योंकि कोई और उसमें उपादान कारण नहीं है इसलिए सबमें आप ही हैं। जिस प्रकार से अनेक प्रकार की पकौड़ियाँ बनाते हो- आलू की पकौड़ी, भिण्डी की पकौड़ी, टमाटर की पकौड़ी, इन सारे रूपों को धारण करने वाला कौन है? बेसन है। बेसन ही लिपट कर इन सारे रूपों को प्रकट करता है। अथवा बेसन की ही कई शक्लें देकर तुम पकौड़ियाँ बनाते हो, सब अलग-अलग ढंग की दीखेंगी। बेसन ही उन सब रूपों में अपने को प्रकट करता है और बेसन सबमें व्याप्त है। इसी प्रकार सब रूप भगवान् ने ही लिये हैं अतः वे सबमें व्याप्त हैं।।३८।।

भगवान् की सर्वात्मता, सर्वदेवरूपता स्पष्ट करता है-

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।। ३६।।

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्रमा, प्रजापति ब्रह्मा व उन ब्रह्मा के भी जनक हैं। हज़ारों दफ़ा, बारम्बार, फिर-फिर आपको प्रणाम है।

वायु देवता, जिन्हें पहले मरुद्गण कह आए हैं वे आप ही हैं। यमदेवता, अग्नि देवता, वरुण देवता, चन्द्र देवता, कश्यपादि प्रजापति और 'प्रपितामह'- सबके दादा ब्रह्मा जी भी आप ही हैं। अथवा यदि प्रजापति से ब्रह्मा को लें तो ब्रह्मा भी विष्णु के नाभिकमल से प्रकट हुए इसलिए विष्णु प्रपितामह हो जाएँगे। आपको नमस्कार है, हज़ारों बार नमस्कार है, फिर नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है। इस प्रकार नमस्कार का जो बार-बार कथन किया गया है, इसके द्वारा श्रद्धा और भक्ति की अतिशयता बतला रहे हैं। बार-बार नमस्कार करके भी अर्जुन को सन्तोष नहीं हो रहा। अपनी श्रद्धा भक्ति के अतिशय को प्रकट करने के लिए वह पुनः पुनः नमन कर रहा है।।३६।।

दूसरी तरह से स्तुति व प्रणाम करता है-

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।। ४०।।

हे सर्वरूप! आगे से, पीछे से, सब तरफ से आप को नमन हैं। आप असीम सामर्थ्य वाले और अपार पराक्रम वाले हैं। क्योंकि आप सभी को व्याप्त किये हैं इसलिये आप सभी कुछ हैं।

'नमः पुरस्तात्', सामने की दिशा में, पूर्व दिशा में भी आप हैं, सूर्य रूप से; आपको नमस्कार है। 'पृष्ठतः' पीठ की तरफ, पश्चिम दिशा में भी नमस्कार है; अर्थात् उदय होने वाले सूर्य को भी नमस्कार है, अस्त होने वाले सूर्य को भी नमस्कार है, आने वाली

रात्रि को भी नमस्कार है और जाने वाली रात्रि को भी नमस्कार है। केवल पूर्व पश्चिम में ही नहीं, 'सर्वतः ते नमः अस्तु' पूर्व पश्चिम की तरह दक्षिण उत्तर आदि सब दिशाओं के अन्दर आपको नमस्कार है। क्योंकि आप सर्वरूप हैं, इसलिए आपको सब तरफ नमस्कार है। सारी दिशाओं में आप स्थित हैं। केवल स्थित ही नहीं हैं, आप अनन्त वीर्य अर्थात् सामर्थ्य वाले हैं। सब देश सब काल और सब वस्तुओं के अन्दर पूरी तरह से आपकी सामर्थ्य कारगर होती है। लोक में देखा जाता है कि बहुत-से लोग सामर्थ्य वाले तो होते हैं, शस्त्र आदि चलाना खूब जानते हैं, परन्तु पराक्रम नहीं करते, सामर्थ्य होने पर भी पराक्रम से रहित होते हैं। जैसे एक बार द्रोणाचार्य को दुर्योधन ने बहुत भला-बुरा कहा, कि 'आप जान बूझ कर अर्जुन को आगे जाने देते हैं। आपकी सामर्थ्य है परन्तु आप पराक्रम नहीं करते, विक्रम नहीं करते, नहीं तो ज़रूर मार देते'। तब द्रोणाचार्य को क्रोध आ गया, उन्होंने उससे कहा 'युद्ध के मैदान में मुझे सेनापति बनाया है इसलिए तुम सेना के अंग होने से मेरे आदेश के अनुसार चलो : जाओ, मैं कहता हूँ तुम जाकर अर्जुन से लड़ो। मैं बुड्ढा आदमी हूँ, तुम तो जवान हो, उससे लड़ो।' दुर्योधन ने नमस्कार किया और चुपचाप चल दिया कि 'यदि मैं सेनापति की आज्ञा नहीं मानूँगा तो सेनापति की आज्ञा कौन मानेगा!' जब चलने लगा तब द्रोणाचार्य को दया आई कि 'यह जाएगा तो एक मिनट में खत्म हो जाएगा'। उस समय अर्जुन बड़ा पराक्रम दिखला रहा था, इसीलिए द्रोणाचार्य को भी कठिनाई आ रही थी। उसको वापिस बुलाया और अभेद्य कवच उन्होंने मन्त्रित करके दिया ताकि कोई भी अस्त्र शस्त्र उसके ऊपर काम नहीं कर सके। ऐसे अभेद्य कवच से उसको युक्त कर उसको कहा - 'अब तुम्हारे ऊपर कोई भी दिव्यास्त्र काम नहीं करेगा, तुम जा करके युद्ध करो।' गया दुर्योधन, युद्ध करने लगा। अर्जुन तो दुर्योधन को कुछ समझता नहीं था, छोटे-मोटे अस्त्र चलाए पर कुछ काम नहीं हुआ। दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया, फिर भी कुछ काम नहीं हुआ, दुर्योधन लड़ता रहा। भगवान् ने कहा 'अरे अर्जुन! आज क्या हो गया? तू दुर्योधन को ही नहीं हटा सक रहा है!' तब अर्जुन हँसा, बोला 'लगता है द्रोणाचार्य ने इसको अभेद्य कवच से अभिमन्त्रित कर दिया है। इसलिए इसको आज मारना तो असम्भव है। दिव्यास्त्र भी इस पर काम नहीं करेंगे। परन्तु युद्ध करने के लिए केवल सामर्थ्य से काम नहीं होता है, पराक्रमी भी होना पड़ता है। अभेद्य कवच सारे शरीर को तो अभेद्य बना देता है पर हाथ तो अभेद्य नहीं हो सकते क्योंकि वे अभेद्य हो जाएँ तो कार्य नहीं कर पाएँगे। मैं अभी इसको ठीक करता हूँ।' उसने हाथों के ऊपर बाण मारना शुरू किया और वे बाण इतने लगे कि उससे सहन नहीं हुआ, उसने कहा अपने सारथी से कि 'अरे! चलो-चलो।' दुर्योधन में सामर्थ्य का आपादन तो द्रोणाचार्य कर सकते थे परन्तु पराक्रम तो खुद करना पड़ता है।

भगवान् केवल अनन्तवीर्य ही नहीं हैं, अमित विक्रम वाले भी हैं।अमित अर्थात्

जिसको कभी नाप ही नहीं सकते। किसी बड़ी चीज़ से ही छोटी को नाप सकते हो। उनका विक्रम कभी नापा ही नहीं जा सकता क्योंकि उससे बड़ा विक्रम किसी के पास होवे तब उससे तुलना कर कह सकते हैं कि भगवान् का विक्रम इतना है। अतः अमित एक तरह से अनन्त ही हो गया। अनन्त वीर्य वाले हैं, अनन्त विक्रम वाले हैं।

'सर्वं समाप्नोषि' सबको आप एक अपने आत्मस्वरूप से ही व्याप्त करके रखते हैं। क्योंकि सबको व्याप्त करके रखते हैं इसलिए 'ततः सर्वः असि' आप ही सर्व हैं। इस प्रकार अर्जुन ने भगवान् की स्तुति की।।४०।।

अब अर्जुन क्षमायाचना करता है कि आपके साथ व्यवहार में जो मुझ से भूलें हुई उन्हें आप क्षमा करें -

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि।।४१।।

आपकी यह महिमा न जानते हुए मैंने मोह से या प्रेम से भी आप मित्र हैं ऐसा मानकर जो विनयहीन ढंग से कहा 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा!' इत्यादि (उसे माफ कर दीजिये)।

एक जैसी उम्र वाले जब आपस में प्रेम-भाव से रहते हैं, तब उनको सखा कहा जाता है। समान उम्र के कारण सखा मान कर आपसे व्यवहार करता रहा। मेरी आपकी कोई बराबरी नहीं। आप आदि-पुरुष हैं, सबकी उत्पत्ति के पहले से हैं और मैं अभी पैदा हुआ हूँ। अतः मैंने जो आपको सखा समझा वह मेरा विपर्यय ज्ञान था, विपरीत बुद्धि थी। परन्तु इस विपरीत बुद्धि के कारण 'प्रसभं' अर्थात् आपको अभिभूत करते हुए, आपका अनादर करते हुए मैंने व्यवहार किया। विपरीत बुद्धि ने मेरी आपको समझने की सामर्थ्य ढाँक दी थी इसलिए आपको सखा मान कर 'यदुक्तं' जो मैं इस प्रकार कहता रहा 'हे कृष्ण!' आदि, उसकी माफी चाहता हूँ। शास्त्र में विधान है अपने से बड़े को साक्षात् नाम लेकर नहीं बुलाते। मैं आपको साक्षात् नाम लेकर बुलाता था 'हे कृष्ण!' यह एक तरह से आपका अपमान ही है। बड़े को साक्षात् नाम लेकर बुलाना उसका अपमान होता है। इतना ही नहीं, आपका रंग काला है इसलिए कृष्ण कह कर मैं आपको काला कहता था। इस प्रकार से मेरी विपरीत बुद्धि थी। इसी तरह से मैंने आपको यदुकुल का समझा- 'हे यादव!' आप यदुकुल के नहीं हैं, आप तो सर्वव्यापक हैं, परन्तु विपरीत बुद्धि के कारण मैं आपको यदुकुल में उत्पन्न हुआ मानता था। 'हे सखे!' सम्बोधन करता था। मैं आपको हम-उम्र दोस्त समझ कर 'सखा' ('सखे इति' की 'सखेति' यह सन्धि आर्ष है। सारस्वतव्याकरण के वृत्तिकार ने तो 'छन्दसि तु भवति' कहकर इस 'सखेति' का ही उदाहरण दिया है) ऐसा भी सम्बोधन करता था।

'तव इदं महिमानं अजानता' आपकी इस महिमा को न जानते हुए ही यह सब

करता रहा। 'महिमानं' के साथ 'इमं' होना चाहिए, परन्तु यहाँ 'इदं' है अतः आचार्यों ने कहा कि यदि कहीं इमं पाठ मिले तब तो सीधा ही तात्पर्य हो जाएगा। अन्यथा 'तव महिमानं अजानता' और 'तव इदं विश्वरूपं अजानता', यों दो बातें हैं- आपके इस रूप को मैं नहीं जानता था और आपकी महिमा को नहीं जानता था। 'प्रमादात्' बचपन से लेकर अब तक आपकी इतनी चमत्कारिक घटनाओं को जान कर भी मैंने समझा नहीं कि आप कौन हैं इसलिए यह प्रमाद रहा। देखकर भी नहीं देखना, समझकर भी नहीं समझना प्रमाद है। शिशुपाल को भगवान् ने मारा, कंस को मारा, ये सब बातें जानते हुए भी, 'बड़ा शक्तिशाली है' इस रूप से ही समझता था। विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति चीज़ को देख कर भी उसकी सचाई नहीं समझता। भगवान् की सामान्य लीलाओं को देख कर 'ये परमेश्वर हैं', यह दृष्टि सामने नहीं आई। दूसरा कारण इसमें प्रणय भी था, 'प्रणयेन वापि'। जहाँ स्नेह होता है वहाँ देखने पर भी महिमा पर ध्यान नहीं रहता। जैसे बिलकुल बेपढ़ी-लिखी माँ अपने अत्यंत योग्य विद्वान् राष्ट्रपति बन गये पुत्र की महत्ता जानती तो है, 'मुझसे अत्यधिक महत्त्वशाली है' ऐसा उसे ज्ञान तो है, लेकिन ख्याल नहीं रहता, उसे वैसा ही बालक समझती है जैसा उसके बचपन में समझती रही। कभी प्रमाद के कारण, कभी स्नेह के कारण और कभी दोनों कारणों के मिल जाने से मैंने ऐसा व्यवहार किया। उस सबको आप माफ करें।।४१।।

और भी व्यवहारों के लिये क्षमा माँगता है-

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

अच्युत! और जो परिहास के लिये अकेले में या सबके सामने घूमने में, सोने में, बैठने में, भोजन करने में आप मुझसे तिरस्कृत हुए, वह सब मैं प्रमाणातीत स्वरूप वाले आपसे माफ कराता हूँ।

अवहास अर्थात् हँसी में किसी को नीचा दिखाना। हँसी के कारण आपको नीचा दिखाया। कहाँ-कहाँ पर ऐसा किया? 'विहार' कभी टहलने जा रहे हैं, भगवान् कुछ पीछे रह गए तो, हँसी में कह दिया 'इतने में ही थक गए!' यों अवहासार्थ नीचा दिखाया। 'शय्या' एक ही बिछौने पर कभी सोना पड़ा तो कह दिया 'सारी जगह आपने ही घेर ली! मुझे भी तो सोना है, कितने मोटे हो गए हो!' 'आसन' जहाँ बैठने की जगह होती है तो बजाय इसके कि आपको कहता 'बैठिए', खुद ही जा करके बैठ जाता था। बाद में आकर आप नीचे बैठते थे। 'भोजनेषु' भोजन करने के लिये एक पंक्ति में बैठते हैं तो बड़े को प्रधान स्थान पर बैठाते हैं। प्रधान स्थान पर मैं खुद बैठ जाता था, आपको गौण स्थान देता था। अथवा विहार का मतलब खेल-कूद भी होता है। खेल-कूद में भी आपका परिभव कर देता था। 'असत्कृतोऽसि' इन सब तरह से आपको

नीचा दिखाने का प्रयत्न किया परन्तु किया हँसी-मज़ाक में। 'एकः' जब अकेले में थे तब भी किया। 'अथवा तत्समक्षं' या बहुत-से लोगों के, दोस्तों के, परिवार वालों के सामने भी किया। 'तत्क्षामये' इन सारे अपराधों को, ऐसे अन्य भी जो अपराध हुऐ उन्हें भी आपसे क्षमा कराता हूँ, प्रार्थना करता हूँ कि आप क्षमा करें।

आप कैसे हैं? अप्रमेय हैं। आपकी वास्तविकता आपको देखकर के, साथ रह करके भी नहीं जान पाते। परमात्मा की अप्रमेयता सबके लिए ऐसी ही है। संसार के कण-कण और क्षण-क्षण को जब हम देखते हैं तब देखते तो सच्चिदानन्द को ही हैं, पर देखने पर भी अप्रमेय है इसलिए पता नहीं लगता कि यही सच्चिदानन्द है। मन्दिर में जाकर मूर्त्ति देखते हैं तब तो लगता है 'हम भगवान् को देख रहे हैं' पर और किसी को देखते हैं तो ऐसा नहीं लगता कि 'ये भगवान् हैं', क्योंकि प्रमा के अविषय हैं। एक बार नामदेव फुलका बना रहे थे, एक कुत्ता आया, रोटी लेकर दौड़ा, वे उसके पीछे दौड़े 'भगवन्! ज़रा घी तो चुपड़ लेने दो फिर ले जाना।' जो पहचानता है उसकी तो ऐसी अनुभूति है। पर हम कुत्ते के रूप में परमेश्वर को नहीं देखते अतः लट्ठ लेकर दौड़ते हैं उसको मारने के लिए। क्यों? क्योंकि वह अप्रमेय है, प्रमा का विषय नहीं है। इसके द्वारा अपने व्यवहार का कारण भी बतला रहा है : ठीक है, मेरा प्रमाद भी था, स्नेह भी था, लेकिन किया क्या जाए! आप हैं ही अप्रमेय। इसलिए अगर मैंने आपको नहीं पहचाना तो आपको क्षमा कर देना चाहिए।।४२।।

अप्रमेय भगवान् का बड़प्पन स्पष्ट करता है-

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।। ४३।।

आप इस स्थावर-जंगम संसार के पिता हैं, सबके पूज्य गुरु हैं, अत्यधिक गरिमाशाली हैं। हे बेजोड़ प्रभाव वाले! त्रिलोकी में आप की बराबरी वाला ही कोई नहीं है तो आपसे अधिक कहाँ से होगा!

सारे संसार को आप ने ही पैदा किया। महाप्रलय के अन्दर एकमात्र आप थे, आपने ही पंचमहाभूत आदि बना कर सब चीज़ों को पैदा किया इसलिए आप सबके पिता हैं। चेतन जगत् के भी पिता हैं और जड जगत् के भी पिता हैं। पंचमहाभूतों से इन्द्रियाँ मन इत्यादि बनाए और मन बना तभी उसमें जीवभाव का प्रतिबिम्ब पड़ा इसलिए उसके भी पिता हैं और महाभूतों का पंचीकरण करके सारा संसार बनाया, दृश्य जगत् बनाया, इसलिए इसके भी आप ही पिता हैं। 'पूज्यश्च', बहुत बार पिता सत्-स्वभाव का नहीं होता, जैसे प्रह्लाद के पिता तो थे ही हिरण्यकशिपु परन्तु सत्-स्वभाव के नहीं थे इसलिए पिता में उसकी पूज्य दृष्टि नहीं थी। परन्तु आप केवल पिता ही नहीं, पूज्य भी हैं। 'गरीयान् गुरुः', गुरुतर गुरु हैं। परमेश्वर ही सारे गुरुओं का मूल स्थान हैं।

पतंजलि ने कहा है 'स पूर्वेषाम् अपि गुरुः कालेन अनवच्छेदात्' पूर्व से पूर्व चले जाओ, उसके भी पहले ज्ञान को देने वाले परमेश्वर हैं ही। दूसरे सब गुरुओं की अपेक्षा आप गुरुतर हैं क्योंकि सारी विद्याओं का आप से ही प्रारम्भ होता है। 'त्वत्समः न अस्ति', आपके जैसा कोई नहीं है, आपकी बराबरी कर सके ऐसा कोई नहीं है। बाकी सबका ज्ञान अन्तःकरण को आश्रित करके रहेगा, अन्तःकरण देश काल से परिच्छिन्न है इसलिए सबका ज्ञान देश काल से परिच्छिन्न ही रहेगा। परन्तु आप तो माया वृत्ति से जानते हैं, साक्षी-रूप होने से अन्तःकरण आपके लिए अपेक्षित ही नहीं है। इसलिए आपके लिए भूत भविष्य वर्त्तमान, यहाँ वहाँ इत्यादि देश काल का परिच्छेद है ही नहीं। इसलिए आप गुरुतर गुरु हैं। जब आपके समान ही कोई नहीं है तो 'अभ्यधिकः कुतः' आपसे बड़ा कौन हो सकता है! अगर परमेश्वर के जैसा कोई दूसरा हो जाए तो दो परमेश्वर होंगे जिससे दोनों का ईश्वरत्व खण्डित हो जाएगा। दोनों के विपरीत संकल्पादि होने पर असंभव स्थिति हो जायेगी। इसलिए शास्त्रकारों ने निर्णय किया है कि सृष्टि स्थिति लय इत्यादि जो जगत्-व्यापार है वह केवल परमेश्वर ही माया-उपाधि के द्वारा कर सकता है। ब्रह्म-स्वरूप होने पर भी मुक्त पुरुष माया-उपाधि के ऊपर नियन्त्रण वाला नहीं होता। जब दो परमेश्वर ही नहीं हो सकते तो फिर परमेश्वर से बड़ा कोई कैसे हो सकता है! 'लोकत्रयेपि', तीनों लोको में; ऐसा नहीं कि यहाँ तो आप बड़े हैं लेकिन आगे किसी जगह कोई और बड़ा हो। जैसे यहाँ राजा सबसे बड़ा है, स्वतन्त्र है, परन्तु उस राजा का राज्य स्वर्गलोक में, तपःलोक में, जन-लोक में नहीं चल सकता। ऐसा आपके विषय में नहीं है क्योंकि सब लोकों में आपका एक ही अखण्ड शासन है।

सभी लोकों में आप 'अप्रतिमप्रभाव' हैं। आपके समान प्रभाव वाला कोई नहीं है। जैसा तुम्हारा माप है वैसा ही दूसरे का माप होवे तब उसको प्रतिमा कहेंगे। तुम्हारे पास भी एक किलो का बाट, हमारे पास भी एक किलो का बाट तो दोनों बाट समान हो गए, एक जैसा नाप हुआ। इसी प्रकार से जैसा तुम्हारा प्रभाव वैसा ही दूसरे का प्रभाव होवे तब तुम्हारे जैसे प्रभाव वाला दूसरा हो। सर्वज्ञ सर्वेश्वर सारे ब्रह्माण्डों में एक ही है। अनन्त ब्रह्माण्डों के अन्दर हर ब्रह्माण्ड में एक ब्रह्मा भी होगा, एक इन्द्र भी होगा, मनु भी होंगे, हर बार जब सृष्टि होती है तब ये सब होते हैं। परन्तु ऐसे हर सृष्टि में परमेश्वर अलग नहीं होता! इसलिए इन्द्रादि के समान तो दूसरे ब्रह्माण्ड का जो स्वर्ग है उसका राजा दूसरा हो सकता है, परन्तु परमेश्वर तो सब ब्रह्माण्डों का एक ही है इसलिए अप्रतिमप्रभाव अर्थात् आपका प्रभाव निरतिशय है, इससे ज्यादा प्रभाव किसी का नहीं है।। ४३।।

ऐसे होने से ही भगवान् क्षमा करें यह उचित है ऐसा कहता है-

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

इसलिए शरीर झुकाकर प्रणाम कर आप स्तुत्य ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ। जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के और प्रिय प्रिया के अपराध सह लेता है ऐसे हे देव! आपको मेरे अपराध सह लेने चाहिए।

आप क्षमा करें इसकेलिये आपको बाध्य तो कर नहीं सकता लेकिन 'कायं प्रणिधाय प्रणम्य' मैं साष्टांग दण्डवत् आपको प्रणाम करता हूँ। प्रणाम अहंकार भाव को छोड़ने के लिए किया जाता है। इस प्रकार भाव है- मेरी कोई सत्ता ही नहीं है, आपकी ही सत्ता होने से मैंने चाहे अच्छा किया या बुरा किया, लेकिन आपकी माया के अध ीन होकर ही किया है। जब तक मनुष्य में अभिमान है कि 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ, मैं करने वाला, भोगने वाला हूँ' तब तक उसको पाप-पुण्य का फल भोगना पड़ता है। परन्तु जब अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अहंकार छोड़ देता है, 'मैं कुछ भी न कर सकता हूँ, न भोग सकता हूँ, मेरी वास्तविकता तो केवल साक्षी रूप ही है' इस प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्व का त्याग ही वस्तुतः जो प्रणाम का अर्थ है वह अंगीकार कर लेता है, तब कर्मफलव्यवस्था से छूटने लायक हो जाता है। 'कायं प्रणिधाय', शरीर को भली प्रकार से नँवा कर 'प्रणम्य' प्रणाम करके 'प्रसादये', आपको प्रसन्न कर रहा हूँ। बस यही मैं कर सकता हूँ, इसके सिवाय और कुछ कर भी नहीं सकता! मैं आपको प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहा हूँ ताकि मेरे अपराधों को क्षमा कर देवें। आप ही 'ईशम्' इस माया को चलाने वाले हैं। इसके शासक आप ही हैं। मैं तो आपके हाथ में खिलौने की तरह हूँ, जैसा आप खेल करा देते हैं, वैसा कर देता हूँ। 'ईड्यम्', आपकी केवल स्तुति ही की जा सकती है क्योंकि स्तुति के योग्य आप ही हैं। विहार शय्या आसन भोजन के अन्दर मैंने आपकी स्तुति नहीं करके अवहास किया। परन्तु अब मैंने इस बात को समझ लिया है कि आप ही स्तुत्य हैं।

'पुत्रस्य पिता इव सोढुम् अर्हसि' जैसे छोटा पुत्र पिता की महिमा को नहीं जानता तो कई बार लात भी मार देता है पर पिता उसको क्षमा कर देता है कि 'बच्चा है, कुछ समझता नहीं है'। इसी प्रकार से मैं आपके पुत्र की तरह हूँ, मैंने भी अज्ञान के कारण आपको समझा नहीं, अतः जैसे पिता पुत्र को क्षमा करता है वैसे आप क्षमा करें। 'सख्युः सखा इव', इसी प्रकार मित्र भी अपने मित्र के अपराध को क्षमा कर देते हैं। मित्र कोई ग़लती करता है तो उसके मित्र उसे दण्ड नहीं देना चाहते, माफ़ ही कर देते हैं क्षमा कर देते हैं। इसी प्रकार से मैं भी आपसे सखा की तरह प्रेम करता हूँ, इसलिए क्षमा कर देवें। प्रतिबिम्बरूप जीव का बिम्ब होने से तथा प्रतिबिम्बग्राहक उपाधि का निर्माता होने से ईश्वर को जीवका पिता समझना ठीक है। इसी प्रकार श्रुति कहती है

कि ईश्वर और जीव आपस में सखा हैं 'सयुजौ सखायौ'। दोनों एक ही जगह रहते हैं। जीव के अहंकार का सामान्य स्थान कहाँ है? हृदय है। और ईश्वर कहाँ रहते हैं? हृदय में रहते हैं। दोनों एक स्थान में रहते हैं। वे ही अन्तःकरण और इन्द्रियाँ ईश्वर से भी चलती हैं और जीव से भी चलती हैं। फ़र्क केवल क्या है? परमेश्वर वहाँ रहते हुए भी अज्ञान से रहित होने के कारण साक्षी रूप से रहता है अतः कर्मफल का उसके साथ कोई सम्बन्ध होता नहीं। और अज्ञान के कारण जीव इन्द्रियों और अन्तःकरण के द्वारा जो होता है, उसको 'मैंने किया' इस प्रकार से कर्त्ता भोक्ता बन कर कर्म के फल को भोगता है। श्रुति ही आपको सखा बतलाती है। सखा होने के नाते भी आप मुझे क्षमा करें।

इसी प्रकार से अपनी प्रिय स्त्री का जो अपराध है, वह उसका प्रिय पति क्षमा कर देता है। कई ऐसे प्रसंग आते हैं जब पत्नी पति को झिड़क देती है, लेकिन फिर भी पति उसको क्षमा करता है क्योंकि उससे प्रेम है। इसी प्रकार, बुद्धि के साथ एक होने के कारण बुद्धि रूपी पत्नी मैं बन गया और उसके प्रेरक आप पति हैं। मनुष्य सारे कार्य करता है सुख की प्राप्ति के लिए और आनन्द ब्रह्म का ही स्वरूप है। परन्तु आनन्द के वास्तविक रूप को बिना समझे करता है, बुद्धि के साथ एक होने के कारण बुद्धि जिसको आनन्द समझती है, उसी तरफ जाता है। उस बुद्धि को प्रेरणा करने वाले आप ही हैं। रोज़ प्रार्थना करते ही हैं 'धियो यो नः प्रचोदयात्' आप ही इस बुद्धि को प्रवृत्त करते हैं। जिस प्रकार के कर्म का फल देने का समय आता है, उस फल के निमित्त को प्राप्त करने के लिए हम प्रयत्न करते हैं। फल रूप से जो आएगा वह आनन्द ब्रह्मरूप है परन्तु आएगा रसगुल्ले के द्वारा। रसगुल्ले में जो आनन्द की प्रतीति होती है, वह संस्कार के कारण, बुद्धि के कारण। इस प्रकार बुद्धि से एक होने के कारण मैं प्रिया हूँ और आनन्दस्वरूप आपके लिए प्रयत्न करता हूँ, अतः आप ही मेरे प्रिय हैं। अतः मेरा अपराध आपको सहन कर लेना चाहिए, 'सोढुम् अर्हसि'। सहन करने का यहाँ मतलब है क्षमा कर देना चाहिए। अपनी पत्नी ने कोई ग़लती की तो प्रेमी पति जैसे प्रसन्नता पूर्वक उसे माफ़ करता है, उसने जो किया उसे सह लेता है, ऐसे ही आप सह जाइये, मुझे क्षमा कीजिये (यहाँ भी 'प्रियायाः अर्हसि' में सन्धि आर्ष है।)।।४४।।

अब अर्जुन विश्वरूप के उपसंहार की प्रार्थना करता है-

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

पहले न देखा यह विश्वरूप देखकर मुझे हर्ष हुआ साथ ही मेरा मन डर से व्याकुल हो गया। देव! देवशासक! जगदाश्रय! प्रसन्न होइये, मुझे वही रूप दिखाइये (जिसे अपने सखा के रूपमें मैं देखता रहा हूँ)।

आपका भयंकर कालाग्निरूप कभी भी देखा नहीं था, अदृष्टपूर्व था। आपसे मैंने कहा कि 'दिखाइए' और आपने दिखा दिया। मेरे कहने मात्र से आपने इतनी बड़ी कृपा की इसीलिए अत्यन्त हर्ष है। परन्तु आपका यह बड़ा भयंकर रूप है इसलिए 'भयेन मे मनः प्रव्यथितं' भय से मेरा मन अत्यन्त व्यथित है, अत्यन्त दुःखी है। हर्ष का एक अर्थ रोंगटे खड़े होना भी है। तदनुसार यह भी समझ सकते हैं कि भय के कारण मुझे रोमांच हो रहा है। भय से मन अत्यन्त प्रव्यथित हो रहा है क्योंकि अभी तक भगवान् का कालाग्निरूप, रुद्ररूप ही सामने है उसके। अतः कहता है- 'हे देव! तदेव रूपं मे दर्शय', जो रूप आपका मैं हमेशा देखा करता हूँ वह रूप मुझे दिखाइए। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन इस बात को समझ रहा है कि जिस परमेश्वर का रूप कालाग्निरुद्र है, उसी परमेश्वर का रूप कृष्ण हैं। दो हैं- ऐसी बुद्धि उसकी नहीं है। अधिकतर लोगों को सौम्य मूर्त्ति पसन्द होती है। अथवा इष्ट मूर्ति पसन्द होती है, वह अपने को प्रिय लगती है। कई बार ऐसा अनुभव होता हैः अपना साथी किसी बहुत बड़े पद पर पहुँच गया। तदनुरूप ठाट-बाट से ताम-झाम सहित उसे देखकर प्रसन्नता होती है किन्तु जब शाम को सारे आडम्बर के बिना घर पर उससे मिलते हैं तब ज़्यादा प्रसन्नता होती है क्योंकि चिर अभ्याससे वही रूप आकर्षक लगता है। इसी तरह अर्जुन कह रहा है कि कालाग्नि रुद्र रूप से भी आप ही हैं और मेरे साथ रात-दिन रहने वाले कृष्ण रूप से भी आप ही हैं क्योंकि आप देव हैं, अलौकिक हैं। 'देव' कहने से ऐसा नहीं कि मैं आपको इन्द्रादि देवताओं की तरह समझता हूँ, आप तो 'देवेश' हैं। सारा जगत् आप में रहता है, आप ही इस जगत् के अधिष्ठान हैं। परन्तु मुझे तो आप वह पहले वाला रूप दिखाइए।।४५।।

जिसे देखना चाहता है उसी कृष्ण के स्वाभाविक रूप का वर्णन करता है-

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

किरीटधारी, गदाधारी, हाथ में चक्र लिये (जैसा मैं अब तक देखता रहा हूँ) वैसा ही मैं आपको देखना चाहता हूँ। हे हज़ारों भुजाओं वाले! विश्वरूप धारण करने वाले! उसी चतुर्भुज रूप से हो जाइये।

सिर के ऊपर किरीट, हाथ में गदा और चक्र लिये जो आपका रूप वह दिखाइए। भगवान् कह सकते थे कि 'यह रूप ही तो यहाँ दीख रहा है तुम को!' क्योंकि पहले अर्जुन ने सत्रहवें श्लोक में विश्वरूप को देखते हुए कहा था 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च', लेकिन वह था 'दीप्तानलार्क-द्युतिम्' अत्यन्त तेज से युक्त था। उसको देख करके आँखें चौंधिया गई थी। इसलिए अर्जुन का अभिप्राय है कि जो आपका सौम्य रूप है वह दिखाइये अतः कहा 'तथैव' आपका जो रूप हमेशा देखता हूँ वही दिखाइये। आप

ही हैं कालाग्नि रुद्र, पर फिर भी जो मेरा इष्ट आपका सौम्य रूप है, रात-दिन साथ वाला रूप है, उसमें आपको देखना चाहता हूँ उसी चतुर्भुज रूप से अर्थात् वसुदेव-पुत्र के रूप में आ जाइये।

यहाँ कई लोगों ने शंका की है कि भागवत इत्यादि में भगवान् के द्विभुज रूप का वर्णन आया है फिर यहाँ चतुर्भुज रूप कैसे कहा? समाधान है कि विष्णुपुराण व महाभारत के अन्दर स्पष्ट है, और भागवत में भी ध्यान से देखें तो कहा है, कि पहले-पहल जब भगवान् प्रकट हुए थे तब चतुर्भुज रूप वाले थे। फिर वसुदेव ने कहा था 'महाराज! साधारण रूप से बन जाइए, नहीं तो आपको कंस मार डालेगा।' नन्द ने भी तपस्या इसीलिए की थी कि साधारण बालक के रूप में भगवान् उनके पुत्र की तरह रहें। वसुदेव की प्रार्थना और नन्द की तपस्या के फलस्वरूप कंस के मरने के पूर्व तक भगवान् ने अपना चतुर्भुज रूप छिपा कर द्विभुज रूप रखा। कंस को मारने के बाद उनका जो चतुर्भुज रूप था, वह वापिस प्रकट हो गया। कंसवध के बाद वसुदेव का भय भी समाप्त हो गया था और नन्द को जितना पुत्र खिलाना था खिला लिया, उसके बाद भगवान् उसके पास रहे नहीं, अतः वापिस चतुर्भुज रूप वाले हो गए। इसीलिए काशी का राजा जो पौण्ड्रक था उसने भी अपने को भगवान् बतलाने के लिए लकड़ी के हाथ लगा लिए थे, उनके अन्दर चक्र इत्यादि धारण कर रखे थे। भगवान् ने उसको खत्म किया। अर्जुन और भगवान् का सम्बन्ध तो तभी हुआ था जब कंस को मारने के बाद चतुर्भुज हो गए थे। इसलिए गोपिकाओं द्वारा तो द्विभुज मूर्ति का वर्णन है क्योंकि उन्होंने वही देखा था परन्तु अर्जुन ने वह रूप देखा नहीं था। चतुर्भुज रूप ही देखा था।

अभी आप कैसे हैं? 'विश्वमूर्ते!' सारे ब्रह्माण्ड का रूप आप लिए हुए हैं, इसलिए 'सहस्रबाहो!' आपकी अनन्त भुजाएँ हैं। उन अनन्त भुजाओं में भी कई हाथों में चक्र भी है गदा भी है, लेकिन यह हजारों हाथों वाला रूप नहीं देखना चाहता, जो चार हाथों वाला रूप है अर्थात् वसुदेवपुत्र रूप है, उसी में आप मुझे प्रतीत होवें।।४६।।

जब अर्जुन ने ऐसी प्रार्थना की तब भगवान् ने अपना विश्वरूप उपसंगृहीत कर लिया। पुनः उसी चतुर्भुज रूप से, वसुदेव के पुत्र वाले रूप से भगवान् अर्जुन को दीखने लगे। फिर उसको शान्त करते हुए, आश्वस्त करते हुए कहा-

श्रीभगवान् उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

अर्जुन! तुझ पर कृपालु हुए मैंने अपनी सामर्थ्य से तुझे यह उत्तम, तेजःप्रचुर समष्ट्यात्मक, अन्तहीन, सर्वकारणात्मक, विश्वरूप दिखाया जो मेरा रूप तुझसे अतिरिक्त किसी ने पहले नहीं देख रखा।

हे अर्जुन! क्योंकि जन्म भर मेरे ही अधीन रह कर तू सारे कार्य करता रहा है इसलिए मेरा तेरे ऊपर अनुग्रह है। प्रसन्नता, प्रसाद अर्थात् अनुग्रह करने की इच्छा, कृपा करने की इच्छा। कृपा क्यों हुई ? जन्म भर मेरे अधीन रह करके कार्य करने से तेरे ऊपर मेरी अनुग्रह बुद्धि है। अगले श्लोक में भगवान् कहेंगे कि मेरे अनुग्रह के बिना और कोई उपाय नहीं है इस सर्वरूप के दर्शन का, इसमें एकमात्र कारण मेरा अनुग्रह ही है। क्यों मेरा ही अनुग्रह इसमें कारण है? 'आत्मयोगात्' जिस माया के कारण मैं ईश्वर हूँ, वह मेरी माया शक्ति मेरे अधीन है, उस मायाधीशपने, ईश्वरपने के अन्दर ही यह सामर्थ्य है। सिवाय ईश्वर के इस रूप को दिखाना किसी के अधीन नहीं है, किसी के हाथ में नहीं है।. 'परं रूपं' साकार दर्शन में 'सब कुछ वासुदेव रूप है' यही पर दर्शन है, बाकी सब अपर रूप हैं, विश्वरूप पररूप है क्योंकि इसके आगे केवल निर्गुण बोध ही है। ऐसी इसकी परता क्यों है? बाकी जितने भी रूप हैं वे माया के कार्य हैं, और ये तेजोमय है; यह शुद्ध माया का ही रूप है, इसलिए इसके अन्दर सर्वत्र परमात्मा का तेज विद्यमान है। जो भी तुमने यहाँ देखा है सब तेज ही देखा है। अर्थात् ये सभी चीज़ें ज्ञानरूप ही हैं, और कोई इसमें दूसरा हेतु नहीं है। अन्यत्र सामने माया का कोई कार्य होता है, तब उसके अनुकूल अन्तःकरण की वृत्ति बनती है। इसलिए अन्य विषयों को ज्ञानमय नहीं कह सकते, तेजोमय नहीं कह सकते। विश्वरूप में केवल वासुदेव रूप की वृत्ति है, वही इसमें जाज्वल्यमान रूप से प्रकाशित हो रहा है इसलिए यह तेजोमय है। ऐसा ज्ञानमय रूप कभी तुमने देखा नहीं अतः ऐसा लगता था कि यह जला देगा। 'अनन्तं विश्वं' अन्त से रहित यह रूप है अर्थात् माया का कभी अन्त होता नहीं। ज्ञान से इसका बाध होता है, अन्त नहीं होता। अन्त कहते हैं सावशेष नाश को। जैसे तुम रस्सी को जलाते हो तो राख बच जाती है, तब कहते हो रस्सी का अन्त हो गया। परन्तु रस्सी में दीखने वाले साँप को जला कर नष्ट नहीं कर सकते, उसकी भस्म नहीं बनेगी! अतः उसका बाध है, अन्त नहीं।

यह केवल अनन्त ही नहीं है, 'आद्यं' अर्थात् सबका प्रथम कारण होने से आद्य है। सबसे पहले यही है, इसके पहले और कुछ नहीं। माया अनादि है, इसका कोई आदि नहीं है क्योंकि यह अज्ञानस्वरूप है। अज्ञान ज्ञान से बाधित होता है इतनी बात तो है, परन्तु अज्ञान से पहले ज्ञान था यह भ्रम कभी नहीं करना चाहिए। प्रायः यह प्रश्न लोगों को व्यथित करता रहता है कि एक ब्रह्म ही था तो यह सृष्टि क्यों की गई? वे सोचते हैं कि सृष्टि का कोई आदि है। परन्तु सृष्टि में हम देखते हैं माया के कार्यों को। माया के कार्य तो किसी-न-किसी कारण से पैदा होते हैं। इसलिए कार्य अवस्था से पहले कारण अवस्था है। परन्तु माया स्वतः कार्य नहीं है। अतः माया किसी से उत्पन्न होती नहीं। अगर माया उत्पन्न होती तब तो वह अपने कारण में जाती और उसका अन्त हो जाता। इसलिए भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि परमेश्वर स्वाभाविक रूप से है ही।

ज्ञान से माया का बाध करके ब्रह्मरूपता की स्थिति है। 'पहले ब्रह्म था, फिर माया के सम्बन्ध से ईश्वर हुआ' ऐसा नहीं है। कहते ज़रूर हैं कि ब्रह्म माया के सम्बन्ध से ईश्वर बना, परन्तु पहले ब्रह्म था और, फिर माया का सम्बन्ध हुआ - ऐसा नहीं है। माया के सम्बन्ध वाला ब्रह्म है, आत्मज्ञान से माया का बाध हो जाने पर ब्रह्म बच जाता है। इसलिये कहा कि मुझ ईश्वर का यह पर रूप है।

'त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्' तुम्हारे सिवाय इसको किसी ने नहीं देखा। यह भगवान् का विचित्र वाक्य है! यशोदा को भगवान् के मुख में विश्वरूप दीखा था। इसी प्रकार अक्रूर को तालाब में स्नान करते हुए विश्वरूप दीखा था। इसी प्रकार दूत बन कर गए हुए भगवान् ने भीष्म आदि को अपना विश्वरूप दिखाया था। कई जगह भगवान् ने इस प्रकार विश्वरूप पहले दिखा दिया है। फिर कैसे कह दिया कि 'और किसी ने देखा हो, ऐसा नहीं है'? इसलिये यहाँ मतलब है कि अर्जुन की तरह जिसके ऊपर मेरी कृपा होती है, उसको ही दीख जाता है। मेरी कृपा होवे तब मैं अपना ऐश्वर रूप दिखलाता हूँ। और इसके जानने का कोई दूसरा प्रकार नहीं है।।४७।।

और कोई उपाय होगा- इस शंका को दूर करते हैं

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

कुरुकुल में सर्वोत्तम वीर! मनुष्य लोक में तुम्हारे अलावा किसी के द्वारा इस रूप वाला मैं वेदाध्ययन, यज्ञाध्ययन, दान, क्रिया, और घोर तपस्याओं द्वारा नहीं देखा जा सकता।

वेद में आत्मविषयक सारी बातें आई हैं। भगवान् कहते हैं कि वेदों के अध्ययन से ईश्वर का परोक्ष ज्ञान हो सकता है, ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। अपरोक्ष ज्ञान वहाँ हुआ करता है जहाँ 'मैंने इसको देख लिया' ऐसी बुद्धि होती है। वेदाध्ययन से 'मैंने इसको सुन लिया' यह बुद्धि तो हो जाएगी लेकिन 'देख लिया' यह बुद्धि नहीं होगी। 'अहम् ब्रह्मास्मि' इत्याकार वृत्ति से अपरोक्ष ज्ञान इसलिए होता है कि अहम् अपरोक्ष है इसलिए उसकी ब्रह्मरूपता भी अपरोक्ष है। जैसे किसी ने पूछा 'यहाँ घनश्याम है?' हमने कहा - घनश्याम है। यहाँ घनश्याम बैठा हुआ है परन्तु सुनने वाले को ज्ञान केवल इतना होगा कि 'यहाँ जितने बैठे हैं उनमें कोई घनश्याम है'। यह बुद्धि नहीं होगी कि 'मैंने घनश्याम को देख लिया'। इसलिए उसका अगला प्रश्न होता है, 'घनश्याम कौन-सा है?' तब इशारा करके कहते हैं 'यह घनश्याम है।' इससे पूर्व यद्यपि वह घनश्याम को देख रहा है, तथापि जान नहीं रहा कि 'यह घनश्याम है', इसलिये घनश्याम परोक्ष रहता है। अंगुली के निर्देश से जब जान लेता है तब घनश्याम का अपरोक्ष हो जाता है। किन्तु यदि घनश्याम यहाँ नहीं बैठा है अर्थात् अपरोक्ष नहीं है

तब तो घनश्याम के बारे में कुछ भी कहने से उसके बारे में परोक्ष ज्ञान ही होगा। इसी प्रकार सच्चिदानन्द परमेश्वर है, यह सुनने से परोक्ष ज्ञान हो जाएगा परन्तु जब कहते हैं 'तू ब्रह्म है, सच्चिदानन्द है' तब चूँकि मैं अपरोक्ष हूँ और उसी को सच्चिदानन्द कह दिया, इसलिए अपरोक्ष पता लग जाता है कि मैं ब्रह्म हूँ। शुद्ध चेतन तो अहम्-प्रतीति का विषय हो सकता है, माया के कार्य इन्द्रियों से अपरोक्ष हो जाएँगे, परन्तु माया स्वतः तो तुमको अपरोक्ष हो नहीं सकती क्योंकि माया अव्यक्त है, अर्थात् व्यक्त वह कभी है नहीं। इसका थोड़ा अनुभव हम लोगों को गहरी नींद में हो जाता है। सुषुप्ति में केवल अज्ञान था और तुम थे। परन्तु उस अज्ञान का तुमको कोई अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'मैंने अज्ञान को जान लिया'। 'मैंने कुछ नहीं जाना' - इसी रूप में प्रतीति होती है। इससे अज्ञान की सिद्धि हो जाती है परन्तु नहीं जानने वाला जो कारण अज्ञान, उसका कोई प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता नहीं। इसलिए भगवान् ने कहा कि वेदाध्ययन से विश्वरूप अदृश्य है।

वेदाध्ययन से अतिरिक्त भगवान् ने यज्ञाध्ययन भी कहा। शंका होती है कि वेदाध्ययन से ही यज्ञाध्ययन हो जाता है। सारे यज्ञ वेद में ही बताए गए हैं, फिर पृथक् क्यों कहा? यहाँ यज्ञाध्ययन का मतलब है यज्ञ को किस प्रकार से सम्पन्न किया जाए इसको समझना। वेदार्थ जानने मात्र से किस-किस प्रकार का कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे विनियोग करना है यह पता नहीं चलता। मीमांसा, श्रौतादि सूत्र आदि सहायक शास्त्रों का विचार करने से ही यज्ञादि के क्रमका पता चलता है। अतः वेदाध्ययन से ही यज्ञाध्ययन सिद्ध नहीं है। अतः भगवान् ने यहाँ यज्ञाध्ययन का अलग से ग्रहण किया। यज्ञों के अध्ययन से धर्म कैसे करना चाहिए तो पता लग जाएगा पर धर्म का फल कैसे होता है यह पता नहीं चलता है। यज्ञ कैसे अपने फल को देता है- यह अध्ययन से समझ में नहीं आता। मायासहित रूप वाला परमेश्वर ही फल का प्रदाता है। कैसे फल होता है- यह परमेश्वर ही अपनी माया वृत्ति से जानते हैं।

'न दानैः', तुला पुरुषादि बड़े-बड़े दान देकर भी मेरा यह रूप नहीं देखा जा सकता। 'न च क्रियाभिः' अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सारी क्रियाओं को करने से भी मेरे इस विश्वरूप का दर्शन नहीं होता। क्रियाओं का निश्चित फल बताया गया है कि किस क्रिया का क्या फल है। किसी क्रिया का फल नहीं बतलाया है कि मायाविशिष्ट चेतन का दर्शन हो जाता है। जैसे अग्निहोत्र आदि बाह्य कर्म हैं वैसे ही सारी उपासनाएँ मानसिक कर्म हैं। उपासना ध्यान आदि भी क्रिया ही हैं क्योंकि उन्हें मन से करते हो। मन दोनों काम करता है- जानता भी है और करता भी है। जहाँ तुम करने में स्वतन्त्र हो वह मानसिक क्रिया, उपासना है। और जिसको करने में तुम स्वतन्त्र नहीं हो, जैसा विषय है वैसा होता है, वह ज्ञान है। न यज्ञादि बाह्य क्रियाओं से और न उपासना आदि मानसिक क्रिया से विश्वरूपदर्शन हो सकता है। 'तपो हि दुर्धर्षं

वदन्ति', शास्त्रों के अन्दर कहा है कि जो किसी भी प्रकार से प्राप्त न किया जा सके वह भी तप के द्वारा प्राप्त हो जाता है। किन्तु भगवान् कहते हैं 'उग्रैः तपोभिः न' अत्यन्त उग्र चान्द्रायण आदि तप से भी मैं नहीं दीख सकता। पिप्पलाद ने उग्र तप किया था। वह छोटा ही था जब उसके पिता दधीचि को देवताओं ने वज्रप्राप्ति करने के लिए समाप्त कर दिया था। अतः मामा के घर पला होने से पिप्पलाद मामा को ही अपना पिता कहता था। कुछ बड़ा हुआ तो उसके ममेरे भाई उसको कभी-कभी छेड़ते थे 'अरे तू अपने मामा को पिता जी क्यों कहता है?' उसने माँ से पूछा, कि 'माँ, क्या ये मेरे पिता नहीं हैं?' तब माँ ने बतलाया कि 'तेरे पिता ने देवकार्य के लिये अपने आपको ख़त्म कर दिया। बड़े भारी महर्षि थे, सामर्थ्यवान् थे परन्तु देवताओं को आवश्यकता थी वज्र की, इसलिए इस प्रकार से बड़े दिव्य भाव से उन्होंने अपने शरीर को छोड़ दिया।' पिप्पलाद को देवताओं के प्रति क्रोध हो गया। उसने निर्णय किया 'देवताओं ने मेरे बाप को मारा, अब मैं सब देवताओं को मारूँगा।' बड़ा उग्र तप प्रारम्भ किया। तप के कारण सर्वत्र सब प्राणियों को पीडा होने लगी। भगवान् शंकर ने आकर उससे कहा 'तू तप किसलिए कर रहा है, माँग ले जो माँगना होवे।' पिप्पलाद ने कहा 'महाराज! आपकी जो संहार-शक्ति है, कालाग्नि रुद्र की संहारशक्ति है, वह मुझे दे देवें।' भगवान् हँस कर कहने लगे, 'वह तुम्हारे काम की नहीं है। वह ऐश्वर शक्ति है, किसी दूसरे के काम नहीं आ सकती।' उसने कहा 'मुझे तो वही चाहिए, और कुछ नहीं चाहिए। मैं तब तक तप करता ही रहूँगा जब तक वह शक्ति न आवे।' भगवान् शंकर ने उससे कहा 'अच्छा, बैठ जा। आँखें बन्द कर ले।' जैसे ही उसने आँखें बन्द करके चित्त एकाग्र किया, उसको ऐसा लगा मानो कान फट जाएँगे, आँखें फट जाएँगी, नाक फट जाएगा, जिह्वा फट जाएगी। घबरा कर उसने आँखें खोली और कहा 'भगवान् क्या कर रहे हैं! मैंने तो दूसरों को मारने के लिए शक्ति माँगी थी, आप तो मुझे ही मारने लग गए!' भगवान् शंकर ने हँस कर कहा, 'मैंने तुझ से पहले ही कहा था। विचार कर, जब समष्टि आदित्य जलेगा तब क्या तुम्हारी व्यष्टि आँख बच सकती है? समष्टि अश्विनी कुमार जलेंगे तो क्या तुम्हारी नाक बच सकती है, घ्राण-शक्ति बच सकती है? देवताओं का संहार करेगा तो अपना संहार अपने आप ही हो जायेगा।' पिप्पलाद ने पूछा 'महाराज! फिर आप कैसे करते हैं?' उन्होंने कहा 'मैं तो इन सबका संहार पहले ही कर लेता हूँ!' पिप्पलाद समझ गया कि ऐश्वरशक्ति उग्र-तप से प्राप्त होने लायक नहीं है।

वेदाध्ययन, यज्ञाध्ययन, दान, क्रियाएँ और तप - यही सब साधन हैं जिनसे मनुष्य किसी चीज़ को प्राप्त कर सकता है। इन सबका यहाँ निषेध कर दिया। इसीलिए ब्रह्माजी ने भी कैवल्योपनिषद् में यही कहा कि न कर्म से प्राप्त हो सकता है, न तप से प्राप्त हो सकता है, न प्रजा से प्राप्त हो सकता है। आजकल मानते हैं कि सब कुछ

पैसे से मिलता है! अतः ब्रह्माजी ने धन का भी निषेध कर दिया कि इस मायावी का दर्शन पैसे से भी नहीं मिल सकता। धन यज्ञादि का साधन है इसलिए उसका निषेध कर दिया तो दान यज्ञ आदि का निषेध अपने आप ही हो गया। किससे प्राप्त होता है? वहाँ कहा 'त्यागेनैकेन' जिन लोगों ने इन सबका त्याग किया है ऐसे संन्यासी ही उसको प्राप्त कर सकते हैं। कुछ करके परमात्मा नहीं मिलता, यह भगवान् ने यहाँ स्पष्ट कह दिया।

'एवंरूपः' अर्थात् जिस रूप से तुमको यह दर्शन हुआ है इस प्रकार से कोई देख नहीं सकता। कहाँ? 'नृलोके', मनुष्यों के लोक में। जब विश्वरूप दिखलाया था तब वहाँ देवता ऋषि इत्यादि उसकी स्तुति कर ही रहे थे, अतः वे देख ही रहे थे; परन्तु मनुष्य लोक में इस प्रकार का दर्शन सम्भव नहीं। अर्जुन पूछ सकता था 'मैं भी तो नृलोक में हूँ?' अतः कहा 'त्वदन्येन द्रष्टुम् नशक्यः'। तुमसे अन्य अर्थात् जैसे तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त किया है वैसा अनुग्रह जिसने प्राप्त नहीं किया, वह कुछ करके नहीं देख सकता। यह दर्शन तो केवल मेरी कृपा से हो सकता है। (शक्यः अहम्-यहाँ विसर्गलोप छान्दस है, लोक में 'शक्योऽहम्' प्रयोग होगा।) तुम्हारे ऊपर इसीलिए कृपा है कि तुम 'कुरुप्रवीर' कुरुवंश के अन्दर सबसे अधिक वीर योद्धा हो। अर्जुन दूसरे राजाओं को हराता ही था, अपने चित्त को भी सर्वथा काबू में रखता था। जब वह स्वर्ग में गया था और इन्द्र ने उर्वशी को भेजा था, उस समय स्पष्ट हो गया था कि उसने अपने अन्दर के काम क्रोध को विजय कर लिया है। अतः भगवान् कह रहे हैं- अन्दर के, बाहर के, दोनों शत्रुओं को मारने में तू वीर है इसलिए मेरा कृपापात्र है। इसी प्रकार जिसने अपने अन्दर के शत्रुओं को जीत लिया हो और बाहर भी सर्वथा निर्भय हो, उसी को मेरे अनुग्रह की प्राप्ति सम्भव है।।४८।।

अर्जुन ने प्रार्थना की थी कि 'आपके इस रूप से मैं व्यथित हूँ'। उसका जवाब देते हैं-

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४६।।

मेरा ऐसा घोर रूप देखकर न पीडित हो, न मोह में पड़। डर छोड़कर प्रसन्न मन वाला हुआ तू मेरा वही यह रूप पुनः जी भरकर देख ले।

अभी जो मैंने विश्वरूप दिखाया वह मेरा घोर रूप है। 'मम' के दोनों ही अर्थ समझ लेना- परमेश्वररूप से यह मेरा ही रूप है और रुद्र की उपासना से प्राप्त होने के कारण शिव से अभेद हो जाने से उनका भी रूप मेरा ही है। किन्तु इससे तुझे व्यथा न होवे और मूढ मत बन। उस रूप को देख कर तुझे पूछना पड़ा कि 'आप कौन हैं?' यह मूढ भाव है - जिसको जानते हैं, उसी को नहीं जानते! ऐसा विमूढ भाव तुझे न होवे।

'व्यपेतभीः' तेरा भय हट जाए। 'पुनः प्रीतमनाः' जैसे पहले तुम्हारा मन प्रसन्न था, उसी प्रकार फिर से हो जाए। 'तदेव इदं रूपं प्रपश्य' मेरा जो वह वासुदेव रूप है, सौम्यरूप है उसे देख। उसे देखकर तू हमेशा भयरहित रहता है कि 'कृष्ण के रहते मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है?' उस रूप में इष्ट-बुद्धि होने से, प्रिय-बुद्धि होने से उसे देखते ही प्रसन्न हो जाता है। वह जो मेरा वासुदेव रूप है वही देख ले। इस भयंकर रूप में और सौम्य रूप में मुझमें कोई फ़र्क नहीं है। उसको फिर से तू 'प्रपश्य' देख ले।।४९।।

अब कथानक को जोड़ते हुए संजय कहता है -

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

वासुदेव ने अर्जुन से यों कहकर पुनः अपना वैसा ही रूप दिखा दिया और उन परमकारुणिक ने सौम्य शरीर वाले होकर डरे हुए उस अर्जुन को ढाढस बँधाया।

'मया प्रसन्नेन' से लेकर 'रूपमिदम् प्रपश्य' तक भगवान् वासुदेव ने अर्जुन को कहकर 'स्वकं तथा रूपं भूयः दर्शयामास', अपना रूप पुनः दिखा दिया। 'स्वकं' का अर्थ यह नहीं समझ लेना कि चतुर्भुज रूप भगवान् का अपना है इसलिए इसको 'स्वकं' कहा और कालाग्निरुद्र वाला विश्वरूप उनका नहीं है! विश्वरूप जैसा उनका है वैसा ही वासुदेव रूप है। रूपों में भेद है लेकिन *जिसके* रूप हैं वह एक है। 'स्वकं स्वकीयं', बुआ के बेटे के रूप में जिसे तू 'मेरे ही भाई हैं' इस तरह जानता है, वह रूप देख। मेरे लिए तो दोनों रूप एक-जैसे हैं पर इस रूप में तेरी स्वकीय बुद्धि है। परमेश्वर के अनेक रूप होने पर भी जिसको जिस रूप में इष्ट बुद्धि होती है उस रूप को ही वह देखना चाहता है। इससे परमेश्वर के रूपों में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। उनके लिए तो सारे रूप एक-जैसे हैं, पर जिसको तुम इष्ट समझ लो, उसमें तुम्हारी स्वकीय बुद्धि हो जाती है। 'भूयः' मायने जैसा वह पहले देखता था वैसा ही अपना रूप दिखला दिया। इतना ही नहीं, 'एनं भीतं' वह अभी भी डर से काँप रहा था। क्षणमात्र में तो भय जाता नहीं, थोड़ी देर तक उसकी अनुवृत्ति रहती है। इसलिए भगवान् ने 'आश्वासयामास', उसको अच्छी तरह से दुलारा, 'अरे! घबरा नहीं, घबरा नहीं, मैं वही हूँ' इत्यादि समझाकर प्रकृतिस्थ किया। 'सौम्यवपुः पुनः भूत्वा', सौम्य जो वासुदेवरूप वह धारण करके उसको आश्वस्त किया। ऐसा वे क्यों करते हैं? क्योंकि 'महात्मा' हैं। अर्जुन ने प्रार्थना की तो विश्वरूप दिखला दिया। फिर अर्जुन ने प्रार्थना की तो तुरन्त वासुदेव रूप दिखा दिया। वे महान् ऐश्वर्य वाले हैं अतः महात्मा हैं। महात्मा कभी भी क्षुद्र चीज़ों से प्रभावित नहीं होते। क्षुद्र चीज़ों से प्रभावित होने वाले अल्पात्मा होते हैं। एक चीज़ उनको खुश करती है, उससे विपरीत चीज़ उनको नाराज़ करती है। परन्तु

भगवान् वासुदेव महात्मा हैं। यह नहीं कहा 'तू विश्वरूप देखना चाहता था तो देख ले। तैने ही तो कहा था!' ऐसा व्यवहार करने वाले लोग महात्मा नहीं होते। अर्जुन ने पहले ही कहा था 'मैं आपका विनीत शिष्य हूँ'; इसलिए इसके द्वारा यह भी संकेत कर दिया कि चाहे जितनी अजीबोगरीब शंकाएँ शिष्य की होवें, गुरु उन शंकाओं को धैर्यपूर्वक निवृत्त ही करे। शिष्य की बेवकूफियों से कभी भी अपना अनुग्रह उसके ऊपर से न हटाये, हमेशा प्रसन्न ही रहे।।५०।।

निर्भय होकर अर्जुन बोला-

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

हे भक्तदुःखनाशक! आपका यह शांत मानव रूप देखकर अब मैं प्रसन्न और स्वस्थ हो गया हूँ।

'इदं मानुषं रूपं दृष्ट्वा' जो मेरे भाई वाला रूप है, यह मानुष, मनुष्य रूप है। 'हे जनार्दन! तव रूपं', मैं जान गया हूँ कि कालाग्निरुद्र और आप एक ही हैं। फिर भी यह रूप 'सौम्यं' सौम्य है, मुझे प्रिय लगता है। इसको देख कर 'इदानीं' अर्थात् देखने के साथ ही 'सचेताः संवृत्तः', मेरा होश वापिस ठिकाने आ गया है अर्थात् जैसा मैं पहले था शान्तचित्त वाला, वैसा ही अब वापिस शान्त चित्त वाला हो गया हूँ। 'प्रकृतिं गतः', मैं प्रकृति के अधीन हूँ। इसलिए कोई रूप अच्छा लगता है, कोई रूप आपका ही है यह जानकर भी भयंकर अतः अप्रिय ही लगता है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। 'प्रकृतिं' प्रकृति में 'गतः' चला गया अर्थात् मैं जैसा पहले था वैसा ही हो गया।।५१।।

भगवान् ने अपने विश्वरूप का उपसंहार किया और चतुर्भुज मूर्ति का दर्शन दिया। उसको देखकर अर्जुन शान्त हो गया। अब भगवान् विश्वरूप की उपास्यता बताने के लिये उसकी स्तुति करते हैं -

श्रीभगवान् उवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

भगवान् ने कहा- जो मेरा रूप तूने देखा यह देखना अत्यन्त मुश्किल है। देवता भी इस रूप का दर्शन हमेशा चाहते रहते हैं।

'इदं' से वर्तमान मानुष रूपका निर्देष नहीं वरन् थोड़ी देर पहले देखे गये विश्वरूप का निर्द्रेश है। 'सुदुर्दर्शम्' सुदुर्दर्श है अर्थात् अत्यन्त कठिनाई से ही उसका दर्शन होता है। बहुत साधना के बाद ही यह रूप दीखता है। 'देवाः अपि नित्यं दर्शनकांक्षिणः'

देवता भी विश्वरूप देखने की इच्छा वाले ही रहते हैं। 'नित्यं' मायने हमेशा। दर्शन की आकांक्षा वाले तो हैं, पर दर्शन उन्हें भी होता नहीं! इस समय जब तुम्हारे लिए दर्शन दिया तब देवता ऋषि इत्यादि सब आ गए थे, उन्होंने भी दर्शन कर लिया, परन्तु उनकी आकांक्षा बहुत कम ही पूर्ण होती है इसलिए हमेशा दर्शन की इच्छा वाले ही बने रहते हैं।।५२।।

दर्शन की दुर्लभता को प्रसिद्ध उपायों की साधनता के निषेध से स्पष्ट करते हैं -

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

न वेदोंसे, न तपस्यासे, न दानसे और न पूजासे मैं इस तरह का देखा जा सकता हूँ जैसा मुझे तू देख चुका है।

श्लोक ४८ का विषय दुहराया गया है। वहाँ 'क्रियाभिः' कहा था, यहाँ 'इज्यया' अर्थात् यज्ञ द्वारा, पूजा द्वारा कह दिया। विश्वरूप का दर्शन केवल मेरे अनुग्रह से ही हो सकता है, किसी कर्म का फल नहीं है क्योंकि किसी भी कर्म के फल में यह नहीं कहा है कि 'यह कर्म करने से विश्वरूप का दर्शन होगा'। केवल परमेश्वर के अनुग्रह से ही यह दर्शन हो सकता है।।५३।।

प्रश्न होगा कि उनकी कृपा कब होती है, क्या करने से होती है? वस्तुतः 'कृपा क्या करने से होती है' यह पूछना नहीं बनता क्योंकि इसका अर्थ होगा कि कृपा भी कर्मफल है! कृपा का कारण तो कोई साधन नहीं है, परन्तु कृपापात्रता अपने अंदर लाई जा सकती है। ठीक जैसे सूर्य भगवान् आकाश में चमक रहे हैं। तुम कमरे से बाहर जाओ तब तुमको धूप मिलेगी। कमरे में बैठे रहोगे तो धूप मिलेगी नहीं, पर यह नहीं कह सकते कि तुम्हारा बाहर जाना धूप मिलने का कारण है क्योंकि रात के समय चाहे जितना बाहर खड़े रहो, धूप तो मिलेगी नहीं! धूप तो सूर्य की स्वतन्त्र इच्छा से ही खिलती है। जब वह उदय हुआ है, तभी मिलती है, परन्तु जो बाहर खड़ा नहीं है उसको नहीं मिलती है। इसी प्रकार जिसने यह आगे (श्लो. ५५में) कहे हुए साधनों को नहीं किया है, उसको परमेश्वर का अनुग्रह मिलता नहीं है। फिर भी यह अर्थ नहीं कि ये साधन करोगे तो अनुग्रह ज़रूर हो जाएगा! तैयारी ज़रूर कर सकते हो। तैयारी का उपाय भगवान् स्वयं बताते हैं-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। ५४।।

परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्ति से तो मैं इस प्रकार वास्तव में जाना और देखा जा सकता हूँ तथा भक्ति से ही मुझमें सचमुच प्रवेश भी पाया जा सकता है।

'अनन्यया भक्त्या', अन्य नहीं है- इस प्रकार की भक्ति से अर्थात् 'न बाह्य जगत् परमात्मा से भिन्न है और न मैं ही परमात्मा से भिन्न हूँ' इस प्रकार के अभेद-निश्चय के द्वारा, बाहर भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', जो कुछ है वह सब ब्रह्मरूप ही है और मैं जो इसका द्रष्टा हूँ वह भी भगवान् ही हैं। दृश्य और द्रष्टा - दोनों ही परमात्मा के रूप हैं। परमात्मा से अतिरिक्त न द्रष्टा है, न परमात्मा से अतिरिक्त दृश्य हैं। इस निश्चय से भक्ति होती है तभी सारी इन्द्रियों के द्वारा तुमको परमात्मा का ज्ञान होता है। जब हम घड़े को देखते हैं तभी आँखों के द्वारा ही घड़े का हैपना भी दीख रहा है। इसी प्रकार संसार में जिस किसी चीज़ का ज्ञान होता है वह बिना 'है' के ज्ञान के नहीं होता। और 'है'- यही तो ब्रह्म है! उसी से सारी चीज़ें उत्पन्न हुई हैं। हम लोग समझते हैं घड़े में मिट्टी है; परन्तु मिट्टी तो सिकोरे में, कुल्हड़ में, कई चीज़ों में है; हाथ धोने की मिट्टी भी है! अतः घड़े में मिट्टी नहीं है, मिट्टी में घड़ा स्थित है। यदि मिट्टी चली जाए तो घड़ा नहीं रहेगा। घड़े के फूटने पर तो मिट्टी रहती है परन्तु मिट्टी के बिना घड़ा नहीं रहता। इसलिए मिट्टी से अतिरिक्त घड़ा नहीं हैं। मिट्टी में ही घड़ा दीख रहा है। इसी प्रकार से जगत् की कारणता का जब विचार करते हैं तब 'है' से ही सारे रूप बने हैं। अतः है ही घट-पट आदि आकार से दीख रहा है। इसी प्रकार शब्द भी 'शब्द है' इसी रूप से सुनाई देगा, गन्ध है इसी रूप से गंध प्रतीत होगी। परमात्मा से पृथक्-भूत कुछ नहीं है- जब इस बात को समझते हैं तब प्रत्येक ज्ञान में हम परमात्मा का अनुसंधान कर सकते हैं, प्रत्येक ज्ञान में हमें परमात्मा की प्रतीति हो सकती है और होती ही है। तब अनन्या भक्ति है। जब तक परमेश्वर से अन्य किसी चीज़ को समझेंगे तब तक अनन्य भक्ति नहीं होगी। विश्वरूप-दर्शन के अन्दर परमात्मा की सर्वरूपता प्रत्यक्ष होती है और जिस चीज़ की तुम उपासना करोगे, ध्यान करोगे, वही ध्यान की परिपक्व दशा में तुम्हारे लिए प्रत्यक्ष हो जाएगी। जब अनन्य भक्ति करोगे, कि परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं है, तब विश्वरूप-दर्शन होगा कि परमेश्वर ही सर्वरूप है। (शक्यअहम्- यहाँ विसर्गलोप छांदस है।)

इस भक्ति से क्या-क्या शक्य है, क्या-क्या हो सकता है? इसको आगे स्पष्ट करते हैं 'ज्ञातुं'; जब केवल कहते हैं 'परमेश्वर सर्वरूप है' तब मन में वहम बैठा ही रहता है कि 'मिट्टी घड़ा है परन्तु घड़े से भिन्न भी तो वह कुछ है ही'। संसार के सब दार्शनिकों के लिए यह समस्या है। विदेशों में इसको रूप और द्रव्य की समस्या कहते हैं। द्रव्य हो गया जो वस्तुतः कारण है और रूप हो गया जो आकार तुमको दीखता है। रूप या आकार और द्रव्य- इनका आपस में क्या सम्बन्ध है? अलग-अलग दार्शनिकों ने अलग-अलग सम्बन्ध माने। नैय्यायिकों ने कहा कि घटका प्रागभाव मिट्टी में है। परिणामवादी सांख्यों ने कहा कि मिट्टी में घड़ा छिपा हुआ है, भुरभुरा इत्यादि जो रूप हैं, उनसे ढका हुआ है, उन रूपों को हटा दें तो घट रूप प्रकट हो जाएगा।

नैय्यायिक कहते हैं कि मिट्टी से घड़ा बनाया गया। सांख्यवादी कहते हैं कि संगमरमर के पत्थर की शिला से दूसरे हिस्सों को निकाल दिया तो अन्दर जो मूर्ति थी वह प्रकट हो गई। दूसरी चीज़ों से मूर्ति ढकी हुई थी, मूर्ति तो वहाँ पहले ही मौजूद थी। इसी प्रकार से घड़ा तो मिट्टी में पहले ही मौजूद है लेकिन अन्य रूपों से ढका हुआ है, उन रूपों को हटा दो तो घड़े का रूप प्रकट हो जाएगा। वेदान्ती कहता है कि मिट्टी मिट्टी रहते हुए ही घड़े रूप से प्रकट हो रही है। मिट्टी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मिट्टी घड़े के रूप में दीख रही है। द्रव्य ही आकारों के रूप में प्रकट हो जाता है। जैसे जो जल है समुद्र के अन्दर, वही लहररूप से प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार सच्चिदानन्द परमात्मा का सत्-रूप इन सारे दृश्य और द्रष्टा रूपों में प्रतीत होते हुए भी सत् वैसा ही रहता है, उसमें कोई परिणाम नहीं है। 'ज्ञातुं', शास्त्र के द्वारा इस बात का पता लगता है।

अनन्य भक्ति से शास्त्र द्वारा यह जान लेते हैं कि वस्तुतः एक ब्रह्म ही सारे रूपों में प्रतीत हो रहा है। कैसे प्रतीत हो रहा है, यह शास्त्र से पता लगता है। शास्त्र से पता लगाना क्यों ज़रूरी है? आधुनिक लोगों का प्रायः कहना है कि हमें दर्शन होंगे तब पता लग जाएगा, शास्त्र की क्या ज़रूरत है? ध्यान की दृढता के लिए तुमको पहले संशयरहित निश्चय होना चाहिए। संशय वाला व्यक्ति ध्यान करेगा तो दृढ नहीं होगा। इसलिए सर्वत्र जहाँ- कहीं उपासना का विषय आया है, वहाँ कहा है कि इसमें श्रद्धालु को ही अधिकार है। श्रद्धारहित को उपासना में अधिकार नहीं। जब तक संशय रहेगा तब तक दृढ श्रद्धा नहीं होगी। अतः शास्त्र-ज्ञान से जब तुम संशय से रहित हो जाते हो तब ध्यान सफलता की तरफ जाता है और 'द्रष्टुम्' उस चीज़ का दर्शन अर्थात् साक्षात्कार होता है।

समुद्र के अन्दर स्नान करने जाओ, तो बड़ी-बड़ी लहरें आती हैं और थोड़े भी असावधान होओ तो उस लहर के द्वारा तुम खींच कर समुद्र के अन्दर ले जाए जाओगे! इसी प्रकार से विश्वरूप का दर्शन होता है तो वह तुमको खींच कर विश्वरूप ही बना देता है! इसलिए कहा 'तत्त्वेन प्रवेष्टुं'। तत्त्व रूप से अर्थात् जो सच्चिदानन्द तत्त्व है, उस रूप से ही रह जाता है। तत्त्व में प्रवेश कहो या मोक्ष कहो, एक ही बात है।

अर्जुन ऐसा करने में समर्थ है इसलिए भगवान् कहते हैं 'परन्तप'। जो अत्यन्त तपस्वी होता है, वही ऐसा कर सकता है। अर्जुन ने घोर तपस्या करके इतनी सामर्थ्य प्राप्त की थी कि साक्षात् भगवान् शंकर से युद्ध करते हुए उसने पैरों से उनको उठा लिया पछाड़ने के लिए। तब देखा कि वे भगवान् शंकर हैं! उसने भगवान् शंकर का पूजन करके जो माला पहनाई थी, वह माला उस भील के गले में देखी तो झट समझ गया, पैरों पर गिर पड़ा। तब भगवान् ने उसको पाशुपत अस्त्र दिया। इतने ज़बरदस्त शस्त्र को चलाने वाले को स्वयं पहले पूर्ण बल वाला होना पड़ता है। जो बल वाला नहीं होगा उसके हाथ में यह

शस्त्र जाएगा तो वह उसका नियमन नहीं कर सकेगा। इसका पता चला है महाभारत युद्ध के बाद : अश्वत्थमा ने अभिमन्यु के बालक को गर्भ में ही ब्रह्मास्त्र से दग्ध करने का विचार किया। उसने जब ब्रह्मास्त्र चलाया तब अर्जुन ने भी ब्रह्मास्त्र चलाया। दो ब्रह्मास्त्र आमने-सामने हो गए तो ऋषि लोग बीच में आ गए क्योंकि ऋषियों के ऊपर वे चलते नहीं। ऋषियों ने कहा 'तुम लोग इन्हें हटा लो अन्यथा सारी दुनिया नष्ट हो जाएगी, क्या फायदा'! ऋषियों के कहने से अर्जुन ने तो वापिस ले लिया। अश्वत्थामा कहने लगा 'मेरे अन्दर वह तप नहीं है कि मैं इसको वापिस ले सकूँ! अर्जुन ने तो कर लिया, मैं नहीं कर सकता।' फिर उस अस्त्र से अभिमन्यु के पुत्र को बचाने के लिए भगवान् नारायण स्वयं चक्र लेकर उसकी रक्षा करते रहे। अर्जुन ऐसा परम तपस्वी था इसलिए उसको पाशुपत अस्त्र मिला और उसने ब्रह्मास्त्र का उपसंहार भी कर लिया। 'परंतप' से भगवान् कह रहे हैं कि ऐसे जो घोर तपस्वी होते हैं, वे ही इस उपासना को कर सकते हैं। जो भोगों में पड़े हुए हैं उनसे यह उपासना सिद्ध नहीं हो सकती। परमात्मा सर्वरूप है- यह देखने के लिए तुमको अपने पहले के जो राग-द्वेष के संस्कार हैं वे हटाने पड़ेंगे।।५४।।

इस अनन्य भक्ति की प्राप्ति के लिए क्या किया जाए? उसका साधन क्या है? यह भगवान् कहते हैं -

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

।। ॐ तत् सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो
नाम एकादशोऽध्यायः ।।११।।

हे पाण्डुसुत! जो मेरे लिये ही कर्म करता है, मुझे ही अपनी वास्तविक गति जानता है, मेरा ही भजन करता है, धनादि में अनासक्त और प्राणिमात्र के प्रति वैर त्यागे रहता है, वह मुझे पा लेता है।

भगवान् भाष्यकार इस श्लोक के लिए कहते हैं 'अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थोऽनुष्ठेयत्वेन समुच्चित्य उच्यते'। गीता के अन्दर जो सात सौ श्लोकों में इतना विस्तार किया, उसका जो सार, तात्पर्य है वह यहाँ भगवान् बतला रहे हैं। यही निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए, मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन है। यह अनुष्ठेय साधन है अर्थात् करने का साधन है। पहली बात कही 'मत्कर्मकृत्'; श्रौत, स्मार्त, लौकिक जो भी कर्म करो वह परमेश्वर के लिए ही करो। किसी भी कर्म का केवल उद्देश्य हो कि 'इससे परमेश्वर ही मेरे ऊपर प्रसन्न हो'; परमेश्वर के लिए ही करो। लौकिक कर्म भी परमेश्वर के लिए करो। भोजन करने बैठो तो भी सोचो 'पेट में

वैश्वानर रूप से मौजूद जो नारायण हैं, उनको ही मैं आहुति दे रहा हूँ।' इसी प्रकार स्नान करो तो 'हृदय में उपस्थित जो नारायण हैं, उनके मन्दिर की शुद्धि कर रहा हूँ, उनके मन्दिर को साफ कर रहा हूँ'। इस प्रकार जो सामान्य लौकिक कर्म हैं वे भी परमेश्वर के लिए करो। अग्निहोत्र, वैश्वदेवादि भी स्वर्ग के लिए मत करो, परमेश्वर के लिए ही करो। स्मार्ताग्नि का परिचरण भी परमात्मा के लिए करो। श्रौत, स्मार्त, लौकिक जितने भी कर्म हैं, सब परमेश्वरार्थ करो। यह पहला कदम ही जब अनुष्ठान रूप से करते हो तब लम्बा समय लेता है! क्योंकि अनादि काल की इतनी कामनाएँ भरी हुई हैं कि उनसे पिण्ड छुड़ाकर भगवान् के लिये नियमतः किया नहीं जा पाता। बुलवाने को तो पंडित जी बुलवा देते हैं, 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु', तुम भी बोल देते हो। महीने-बीस दिन के बाद कहते हो 'पंडित जी, अनुष्ठान तो हुआ लेकिन फल नहीं हुआ?' अगर पंडितजी कहें 'तुमने तो कृष्णार्पण कह दिया, अब तुम फल अपने लिए क्यों चाह रहे हो?' तो यही कहोगे कि 'कृष्णार्पण कहा ही तो था, किया थोड़े ही था!' अनादिकाल के संस्कार होने से पहला साधन ही कठिन है।

फिर 'मत्परमः', मैं ही अन्तिम गति हूँ यह स्वीकारना अर्थात् यह निश्चय कि परमात्मा से आगे और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। राजा का नौकर सब काम राजा के लिए करता है या दुकान का मुनीम सब काम मालिक के लिए करता है परन्तु मालिक को या राजा को परम नहीं मानता। सेठ है तो राजा उससे बड़ा है। राजा है तो महाराजा उससे बड़ा है। इसलिए उन्हें 'परम' नहीं माना जाता। ऐसे केवल भगवान् के लिये कर्म करने से अनन्यता सिद्ध नहीं होगी, 'मत्परमः' मेरे को ही परम गति समझना भी ज़रूरी है। मेरे से अधिक और किसी चीज़ में उसकी दृष्टि नहीं होनी चाहिये।

तब 'मद्भक्तः'। भाष्यकार कहते हैं 'मामेव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजते' सब प्रकार से मुझे ही भजता है। बोलने को तो हम लोग रोज़ बोलते हैं

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव।।

माता पिता इत्यादि जितने भी प्रेम हैं, सम्बन्ध हैं, सब केवल परमात्मा से ही होवें। और फिर कहते हैं 'भगवान्, कुआँ खुदवाना है, इसके लिए कहीं से पैसा तो आना चाहिए।' एक बार रमण महर्षि के आश्रम में एक मन्दिर बनने जा रहा था। सब बैठ कर सूची बना रहे थे कि बम्बई में इन-इन सेठों के पास जाकर लाएँगे। जगह-जगह उनके भक्त थे, सभी को याद किया जा रहा था। महर्षि को बिलकुल अच्छा नहीं लग रहा था। थोड़ी देर के बाद किसी ने उनकी तरफ देखा तो समझ आया कि उन्हें बड़ा बुरा लग रहा है। लोगों ने कहा 'क्यों, कोई हेर-फेर करना है?' उन्होंने कहा 'नहीं-नहीं, तुमको जो करना हो सो करो।' कार्यकर्त्ता बोले 'आप कुछ तो कहिए।' उन्होंने कहा 'जितने

सेठों के तुम नाम लिख रहे हो, ये तो यहाँ आकर नाक रगड़ते हैं कि हमारा काम हो जाए, और तुम उनसे माँगने की सोच रहे हो!' यह सुनकर ठण्डे पड़ गए। यह भक्ति है। हम लोग मन में समझते हैं कि विद्या से विद्या का काम होगा, धन से धन का काम होगा। सब काम भगवान् से थोड़े ही हो जाएगा! वही सब चीज़ों की 'है' रूप से वास्तविक सत्ता है। वे सर्वात्मा हैं। जहाँ कहीं किसी चीज़ के अन्दर सामर्थ्य है तो उसी परमात्मा के कारण। जब तक परमात्मा बैठा है तभी तक सिद्ध महापुरुष की सिद्धाई रहती है, उसके बाद उसका शव पड़ा कोई प्रभाव नहीं पैदा करता! सबका आत्मा अर्थात् वास्तविक स्वरूप तो परमेश्वर ही है। 'सर्वोत्साहेन भजते' अपना जितना उत्साह है उस सारे उत्साह से हमको परमेश्वर की भक्ति करनी है, भजन करना है। प्रायः जब कोई सकाम अनुष्ठान होता है तब हम पंडित जी से कहते हैं, 'पण्डित जी, सामान की तरफ पूरा ध्यान रखना, खर्चे की कोई बात नहीं देखना। सब चीज़ बिलकुल ठीक पूरी होनी चाहिए।' लेकिन जब जन्माष्टमी आदि नित्य-नैमित्तिक भगवान् की पूजा करनी है, तब क्या वह भाव रहता है? उसमें तो अक्षत से ही सब उपचारों का काम हो जाता है! सकाम कर्म में हमारा उत्साह दूसरा होता है और नित्य रूप से जहाँ भजन करते हैं, वहाँ हमारा उत्साह ढीला पड़ जाता है। विचार करो, जिन कर्मों का परमात्मा ही फल है वे नित्य-नैमित्तिक कर्म तो सबसे बड़े काम्य कर्म हैं! उनसे स्वयं परमात्मा मिलने वाला है।

यह सब कब हो सकता है? 'संगवर्जितः' धन, पुत्र, मित्र, पत्नी, बन्धुवर्ग- इन सबसे जब तुम्हारा स्नेह हटे तब। सर्वउत्साह भजन में तब आएगा जब इन से स्नेह हटेगा। हम लोगों का स्नेह इन सबमें बँटा रहता है। परमेश्वर में स्नेह नहीं है, ऐसी बात नहीं है लेकिन और पचास चीज़ों में है तो पचासवाँ हिस्सा ही भगवान् के हिस्से में आएगा! इसलिए संगवर्जित होना पड़ेगा, इनके साथ कोई भी प्रीति नहीं रहने देनी है। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना कि इनसे तुम कठोर व्यवहार करो! देवी की स्तुति करते हुए कहा है 'चित्ते क्षमा समरनिष्ठुरता' चित्त में पूरी क्षमा रखते हुए ही समर में निष्ठुरता है। यह है संगरहित होना। उनके लिए सब कुछ करो, परन्तु इसलिए कि उनमें है-रूप से परमात्मा मौजूद है। उनमें ममता रखकर मत करो, परमात्मरूप उनमें विद्यमान है इसलिए करो। तब तुम्हारा स्नेह परमात्मा से ही रहता है। प्रायः लोग समझते हैं कि स्नेह न करने का मतलब उदासीन होना है। स्नेहरहित होने का मतलब उदासीन होना नहीं है। स्नेहरहित का मतलब है कि उस नामरूप में स्नेह नहीं रखना है, नाम-रूप जिस परमात्मा के हैं, उस परमात्मा से स्नेह रखना ही है। बाहर से तो भक्त हर काम जैसा शास्त्र ने कहा है वैसा ही करता है परन्तु अन्दर से जानता है कि परमात्मा इस रूप में है, केवल इसलिए मैं कर रहा हूँ।

'सर्वभूतेषु निर्वैरः', संगरहित कहने से तुरन्त आ जाता है कि प्राणियों के प्रति

उसको कोई दया नहीं रहेगी। इसलिये निर्वैरता कही। अपना बड़े-से-बड़ा नुकसान करने वाला भी होवे, अत्यन्त अपकार में प्रवृत्त हो, उसके प्रति भी कोई वैर नहीं रखना है क्योंकि है तो वह भी परमात्मा का ही रूप। जैसे, रास्ते में जा रहे हो, कोई पीछे से तुमको ज़ोर से मुक्का मारता है। तुम पलट कर देखते हो, कि किसने मारा। देखते हो- एक तुम्हारा सालों पुराना लंगोटिया यार है दस साल के बाद मिला है इसलिए उसने प्रेम से मुक्का मारा। तुम उससे लिपट जाते हो, झगड़ा नहीं करते हो! इसी प्रकार जो बड़े-से-बड़ा मेरा नुकसान करने आया है, वह है कौन? परमात्मा है। जब हम उसमें परमात्मा को नहीं पहचानते तभी वैर होता है जैसे यदि मित्र को एकाएक पहचानते नहीं तो झगड़ा हो जाता। पहचान लेते हैं कि 'अरे, यह तो मेरा दोस्त है', तब वैर कहाँ रह जाता है! इसी प्रकार जो बड़े-से-बड़ा अपकार कर रहा है, वह भी तो 'है' का ही रूप है। इसलिए वैर हो ही नहीं सकता।

भगवान् ने तीन कार्य करने के लिए कहे और दो नहीं करने के लिए कहे। (१) मेरे लिए ही कर्म करे, (२) मुझे ही परम गति समझे और (३) मुझमें ही सारा स्नेह रखे- ये तीन तो करने के साधन हैं। (१) किसी में राग, संग न करे और (२) किसी से द्वेष, वैर न करे- ये दो कार्य नहीं करने हैं। जो इस प्रकार का मेरा भजन करने वाला है, 'सः मामेति', वह क्योंकि मुझे ही अपनी परम गति समझता है इसलिए जैसे समुद्र की लहर किसी चीज़ को अपने अन्दर ले लेती है वैसे ही मैं उसको अपने अन्दर ले लेता हूँ। 'हे पाण्डव!' अर्जुन से कहते हैं - बस यही मेरा उपदेश तेरे लिए इष्ट है। समस्त गीता शास्त्र का सार भगवान् भाष्यकार ने इसे बतलाया है।

।। ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।।

ॐ

बारहवाँ अध्याय: भक्तियोग

दूसरे अध्याय से प्रारम्भ कर ग्यारहवें अध्याय तक, जो सारे विशेषणों से रहित है उस अक्षर ब्रह्मरूप परमात्मा की उपासना को बतलाया तथा सारे योगों का ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति जो सोपाधिक परमेश्वर है, उसकी उपासना का प्रतिपादन भी किया। विश्वरूप-अध्याय में ईश्वर का जो आदिरूप है, जो सारे जगत् का उपादान कारण है और सारा विश्व जिसके अन्दर कार्यरूप से स्थित है, उसकी उपासना बतलाई। इस प्रकार, एक हुआ विध्वस्त-सर्व-विशेषण रूप और दूसरा हुआ समस्त-जगदात्म-रूप। इन दोनों में कौन-सी उपासना विशिष्टतर है, अर्थात् इन दोनों में किसकी अपेक्षा कौन-सी उपासना श्रेष्ठ है? यह जानने की इच्छा अर्जुन को हुई। क्योंकि दो उपासनाएँ बतलाई, इसलिये इनमें श्रेष्ठ कौन-सी है यह जिज्ञासा होती है। एक तो समग्र विशेषों से रहित परमेश्वर की उपासना है, और दूसरी समग्र विश्व के कारण-रूप की है, जिसमें कार्यरूप से सारा विश्व स्थित है। अर्जुन स्वयं भगवान् से पूछता है कि इन दोनों में कौन-सी आप बेहतर समझते हैं?

अर्जुन उवाच
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

'मत्कर्मकृत्' आदि ढंग से निरन्तर प्रवृत्त जो भक्त आपका ध्यान करते हैं, और जो करण-अगोचर व्यापक तत्त्व का ध्यान करते हैं, इन दोनों में से कौन ज़्यादा योगविद् हैं?

'एवं' अर्थात् 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः निर्वैरः सर्वभूतेषु' इस प्रकार पूर्वाध्यायान्त में कहे साधनों द्वारा जो सततयुक्त हैं अर्थात् निरन्तर सचेष्ट हैं। परमेश्वर की ही तरफ उनके मन-बुद्धि लगे हैं, उसकी तरफ शरीर आदि की क्रियाएँ लगी हैं। सततयुक्त अर्थात् चित्त को समाहित करके निरन्तर ही ईश्वर के लिये कर्म करते हैं। 'भक्ता अनन्यशरणाः' परमात्मा से अन्य किसी की नहीं, उसी की शरण में हैं। 'त्वां'

विश्वरूपदर्शन में जिसको दिखलाया गया उस का 'पर्युपासते,' ध्यान करते हैं। विश्वरूप से ध्यान करना ही ईश्वर का ध्यान है। 'ये चापि' और जिनको आपने पहले बतलाया था अर्थात् जिन्होंने अपनी सारी एषणाओं का परित्याग करके सर्व कर्मों का परित्याग कर दिया, वे अक्षर ब्रह्म का अर्थात् सारे विशेषों से रहित निर्विशेष का ध्यान करते हैं। वह कैसा है? अव्यक्त है, इंद्रियों का अविषय है। विश्वरूप इन्द्रियों का विषय है। उसके लिये कर्म हो सकता है पर क्योंकि अक्षर में सारी उपाधियों का निरास है, वह इंद्रियों का विषय नहीं, इसलिये वहाँ सर्वकर्मत्याग ही हो सकता है। जो इंद्रियों का विषय होता है, उसी को संसार में व्यक्त कहा जाता है। घड़ा व्यक्त है। मिट्टी में घड़ा है परन्तु इंद्रियों से दीखता नहीं है, इसलिये घड़े को वहाँ अव्यक्त कहा जाएगा। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि में अतएव उसे व्यावृत्ति से बताया कि सत्य का मतलब है वह असत्य नहीं है, ज्ञान अर्थात् अज्ञानरूप नहीं है, अनन्त अर्थात् परिच्छिन्न नहीं है। इसी प्रकार से उसका उपदेश करना पड़ता है। अव्यक्त होने से, 'यह ऐसा है' यों नहीं कह सकते। 'ऐसा नहीं है' - बस यही कह सकते हैं। विश्वरूप में तो सब कुछ मौजूद है और यहाँ सब कुछ अव्यक्त है। ये जो दो प्रकार की उपासनाएँ करने वाले हैं, इनमें अतिशयेन योगवेत्ता कौन है? 'तेषां' मतलब अनेक होने चाहिए लेकिन यहाँ उपासकों के बाहुल्य को लेकर बहुवचन है, उपासना तो दो तरह की ही है। क्योंकि अव्यक्त के उपासक भी बहुत हैं और विश्वरूप के उपासक भी बहुत हैं इसलिये बहुवचन से कहा 'उनमें'। दोनों योगवित् तो हैं, अतिशय वाला कौन है - यह प्रश्न है ।।१।।

यहाँ जवाब देने में भगवान् की शैली वेदान्त-परम्परा के अनुरूप है। श्रेष्ठता का निर्णायक अधिकारी होता है कि किस अधिकारी के लिये कौन-सा श्रेष्ठ है। अतः पूछा जाता है तो जवाब जैसा अधिकारी होगा वैसा ही दिया जाएगा। जिस प्रकार, चार दवाईयों में से रोगी पूछता है 'इनमें सबसे अच्छी कौन-सी है?' तो डाक्टर जवाब इसी भाव से देता है कि उस रोगी के लिये सबसे अच्छी अमुक है। रोगी यदि कहता है 'मैनें तो सुना या पढ़ा था कि अमुक दवाई इससे ज़्यादा श्रेष्ठ है।' तो भी डाक्टर कहता है 'नहीं-नहीं, यही श्रेष्ठ है, यही लो।' ऐसा नहीं कि डाक्टर जानता नहीं कि वह ज़्यादा काम करने वाली है, परन्तु वह यह भी समझता है कि उस रोगी के लिये वह दवा हितकारी नहीं है, इसलिये उसके लिये तो वह श्रेष्ठ नहीं है। इसी प्रकार, एक बड़ा ही कमज़ोर बंगाली स्वामी विवेकानन्द जी के पास गया और कहने लगा 'परमात्मा की प्राप्ति का सबसे अच्छा साधन कौन-सा है?' उन्होंने कहा 'रोज़ फुटबाल खेलो, फुटबाल खेलने का नियम करो, तभी भगवान् मिलेंगे।' उनका यह तात्पर्य नहीं था कि फुटबाल खेलने से परमात्मा मिलता है! उनका मतलब तो था 'तुम इतने कमज़ोर हो कि साधन तुमसे हो नहीं सकता। पहले शरीर ठीक करो।' बीमार आदमी न श्रवण कर सकता है, न मनन कर सकता है, कुछ नहीं कर सकता। ऐसे कमज़ोर के लिये जो उन्होंने बात कही थी, वह बिलकुल ठीक है।

कमज़ोरी में कोई साधना नहीं हो सकती। भामतीकार ने भी कहा है कि ऐसी तपस्या जिससे धातु कुपित हो जाते हैं, श्रवण-मनन में बाधक है। ऐसा नहीं है कि विवेकानन्द जी जानते नहीं थे कि श्रवण-मनन ही सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक उत्तम साधन है। जानते तो थे, लेकिन जो पूछ रहा है उसके उपयोगी जवाब देना ही उचित है। इसी प्रकार, यहाँ पूछ रहा है अर्जुन। अतः उसको यदि कहते कि 'सर्वकर्मसंन्यास-पूर्वक श्रवण-मनन करना ही उत्तम साधन है, अर्थात् अव्यक्त की उपासना अच्छा साधन है', तो उसके अधिकार से बाहर की बात होती, वह उसका अधिकारी है नहीं। इसलिए उन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है - इस निर्णय को तो भगवान् रहने देते हैं, उसका निर्णय यथास्थान करेंगे, अर्जुन के लिये जो श्रेष्ठ है उसी को यहाँ श्रेष्ठ कहते हैं -

श्रीभगवान् उवाच
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। २।।

भगवान् ने कहा - मुझ विश्वरूप परमेश्वर में मन समाहित कर जो मेरे प्रेमी, 'मत्कर्मकृद्' आदि ढंग से निरन्तर यत्न करते हुये दृढ श्रद्धा से मेरा सदा स्मरण करते हैं, वे मुझे योग में सर्वाधिक संलग्न मान्य हैं।

'मयि मनः आवेश्य', मुझ में अर्थात् विश्वरूप परमेश्वर में मन को प्रवेश करा के अर्थात् मन को समाधानपूर्वक, एकाग्रतापूर्वक मुझ में लगा कर, फिर 'नित्ययुक्ताः' अर्थात् सतत युक्त रहते हैं। भगवान् ने कहा था 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः' इत्यादि, तदनुसार रहना ही नित्ययुक्तता है। शरीर से हो या मन से, कर्म वह परमेश्वर के लिये ही करता है। विचार करता है तो परमेश्वर का ही। 'श्रद्धया' अर्थात् संशय से रहित हो कर 'परया' उत्तम श्रद्धा से उपासना करता है। एक तो 'काम चलाऊ' श्रद्धा होती है प्रवृत्ति का हेतु। जब तक कोई चीज़ तुमको ठीक लगेगी नहीं, तब तक तुम उसमें प्रवृत्त होगे ही नहीं, अतः प्रवर्तक भी श्रद्धा होती है। परन्तु वह पक्की श्रद्धा नहीं है। कोई तुम्हें संशय पैदा कर दे तो तुम्हारी श्रद्धा डगमगा जाती है। एक आदमी रोज़ विष्णुसहस्रनाम का पाठ करता था, उसको नुकसान हो गया। उस का पड़ौसी नास्तिक था। उसने उससे कहा 'जानते हो, क्यों तुम्हारा नुकसान हुआ?' उसने कहा 'यह तो किस्मत की बात है।' उसने कहा 'किस्मत की नहीं, तुम जो सवेरे-सवेरे उठ कर विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हो, इसीलिये तुम्हारा नुकसान हुआ है'। उसके मन में संशय आ गया! परन्तु जिसकी श्रद्धा निश्चित होती है, उसके ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता। नरसिंह मेहता को सब लोगों ने डिगाने का प्रयत्न किया परन्तु वे निश्चित रहे, 'मैंने कृष्ण की उपासना की है, अपने-आप रक्षा करेंगे' यह उनकी श्रद्धा थी। अतः उन्होंने यहाँ तक कहा है कि यदि हमारी नहीं भी सुनेंगे तो क्या हुआ! हम तो नाम लेते ही

रहेंगे। यह है निःसंशय श्रद्धा। इसमें दृढता रहती है कि 'वे जो करेंगे, अच्छा ही है, वही मेरे लिये ठीक है'। इसलिये भगवान् ने कहा 'परया श्रद्धया' प्रकृष्ट श्रद्धा, जो कभी भी संशय से आक्रान्त नहीं होती। परम श्रद्धा से 'उपेताः' युक्त होकर जो नित्ययुक्त रहते हुये उपासना करते हैं। रागादि क्लेशों से परमेश्वर सर्वथा रहित है। अतः जो रागादि से रहित हैं उन्हीं की परमेश्वर पर श्रद्धा जमती है। राग-द्वेष वाला तो कहता है 'जो मुझे चाहिए वह होना चाहिए' और राग-द्वेष से रहित कहता है 'जो भगवान् को चाहिए वह करे'। इस तरह की श्रद्धा से ही सततयुक्तता आती है। 'ते' मायने ऐसे जो भक्त हैं, वे 'युक्ततमाः मे मताः' युक्ततम मुझे स्वीकार हैं। अर्जुन ने पूछा था 'उनमें से कौन योगवित्तम हैं?' उसको जवाब दे दिया कि ये ही युक्ततम हैं क्योंकि निरन्तर, जब तक नींद न आवे तब तक दिन या रात में परमात्मा का ही चिन्तन करते हैं।।२।।

अब प्रश्न होता है कि सर्वकर्म-संन्यास करके श्रवण-मनन से निर्विशेष की पर्युपासना करने वाले जो हैं उनकी क्या स्थिति है? भगवान् ने कह दिया 'युक्ततम' मायने उससे और कोई श्रेष्ठ हो ही नहीं सकता है। 'युक्ततराः' भी नहीं कहा, 'युक्ततमाः' कह दिया। दो के बीच बेहतर पूछा था तो 'युक्ततराः' भी कह सकते थे। इसके जवाब में भगवान् कहते हैं कि अक्षरोपासक को युक्ततम आदि नहीं कह सकते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।। ३।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।। ४।।

इंद्रियाँ संयमित कर, बुद्धि को हमेशा राग-द्वेषादि से अप्रभावित रख, सब भूतों के हित में निरंतर रहते हुए जो तो शब्दों के, अन्य प्रमाणों के एवं मानस विचार के अविषय, व्यापी, समस्त मिथ्या के अधिष्ठान, निष्क्रिय व नित्य अक्षर ब्रह्म की हर तरह से उपासना करते हैं, वे मुझे ही पा जाते हैं।

उनको युक्त युक्ततम नहीं कह सकते क्योंकि 'वे प्राप्नुवन्ति मामेव'। पहले (७.१८) भी कह आए हैं 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' अक्षरोपासक तो मुझको ही प्राप्त करते हैं, मेरे रूप वाले ही हैं। जहाँ दो चीज़ें होवें, वहाँ 'योग' होता है, अर्थात् दोनों चीज़ें जुड़ती हैं, पर फिर वियोग भी होता है! परन्तु कोई चीज़ खुद से न जुड़ सकती है, न बिछुड़ सकती है। स्व से स्व का वियोग भी सम्भव नहीं और स्व का स्व से योग भी सम्भव नहीं। इसलिये उनको युक्त-युक्ततर कुछ नहीं कह सकते, वे तो मुझे ही प्राप्त करते हैं। जो भगवत्स्वरूप हैं, उनके अन्दर युक्ततम, युक्ततर, या युक्त - ये शब्द संगत नहीं होते। इस प्रकार से अर्जुन को उसके अधिकार के अनुसार युक्ततम भी बता दिये और 'ज्ञानी मेरा स्वरूप है अतः उसको तो क्या श्रेष्ठ कहा जाए!' यों वास्तविकता भी सूचित कर दी।

अब अक्षर की उपासना बतलाते हैंः 'अक्षर', जिसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं आता। विशेषणों के कम होने से कोई चीज़ कम हो जाती है। विशेषणों के ज़्यादा होने से कोई चीज़ बढ़ जाती है। बढ़ना-घटना किसी-न-किसी विशेषण से होता है। जो सारे विशेषणों से रहित है उसमें घटना भी नहीं, बढ़ना भी नहीं, वह अक्षर है। अक्षर होने से ही 'अनिर्देश्यम्' शब्द का विषय नहीं हो सकता। जिस-जिस को तुम शब्द से बतला सकते हो वह क्षर ही होगा। शब्द की प्रवृत्ति या गुण को लेकर के होती है - यह गोरा है, काला है। या क्रिया को लेकर होती है - रसोईया है, दुकानदार है। या जाति को लेकर होती है - यह ब्राह्मण है, क्षत्रिय है। या सम्बंध को लेकर होती है - यह इसका बेटा है, उसका बाप है। जाति-गुण-क्रिया-सम्बंध - बस इन्हीं से तुम शब्द द्वारा किसी चीज़ का निर्देश कर सकते हो, किसी चीज़ को बतला सकते हो। निर्विशेष परमात्मा की न तो जाति है; कम-से-कम दो ब्रह्म होवें, एक को तुम जानते हो, तब कह सकते हैं, कि उसी ब्रह्म-जाति का यह दूसरा है। अथवा उसमें गुण होवें तो उनसे उसे बतला सकते हो; पर जो सारे गुणों से रहित है, उसको कैसे बतलाओगे? सारी क्रियाओं से रहित है इसलिये क्रिया के द्वारा भी उसको नहीं बतला सकते। कोई दूसरा है ही नहीं तो इसका सम्बंध किससे होवे! इसलिये अनिर्देश्य, शब्द का गोचर नहीं है। 'अव्यक्तं' प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और इन्हीं के भेद उपमान, अर्थापत्ति, इन प्रमाणों से जिसको व्यक्त कर सकते हो उसको व्यक्त कहते हैं। परमेश्वर 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्' (कठ ३.१५) रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श सबसे रहित है, इसलिये प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। उसका कोई लिंग, चिह्न नहीं है जिससे उसका पता लग सके। शब्द की अगोचरता पहले ही बतला दी है अनिर्देश्य से। उसकी कोई उपमा भी नहीं है, अभी अर्जुन ने भी कहा था 'अप्रतिमस्वभाव', वेद भी कहता है 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' कोई दूसरा नहीं है जिसको दिखा कर कह सको कि 'ऐसा वह है'। तो किसी भी प्रमाण के द्वारा वह व्यक्त नहीं किया जा सकता, इसलिये अव्यक्त है।

उसको 'पर्युपासते'; 'नेति नेति' के द्वारा जो प्रतिपाद्य है, उसी की उपासना करते हैं अर्थात् श्रवण-मनन में लगे रहते हैं। उपासना का अर्थ होता है, जैसा उपास्य शास्त्र में बतलाया है वैसा ही बार-बार चिन्तन करना। भाष्यकार ने दो प्रकार का चिन्तन बतलाया है - शब्दों की पुनः-पुनः आवृत्ति, यह चिन्तन का एक प्रकार है; और उस शब्द से जो तुम समझते हो उस समझ को, मन की वृत्ति को, बार-बार दुहराना - यह भी चिन्तन का प्रकार है। दुहराना कैसा हो? तेलधारा की तरह, अर्थात् बीच में कहीं टूटे नहीं; ऐसा दीर्घकाल तक जब तुम करते रहते हो, तब उसे उप-आसना कहते हैं। उपनिषदों का श्रवण-मनन करना उपासना है क्योंकि वहीं इस अक्षर ब्रह्म को बतलाया गया है।

'सर्वत्रगम्', सब जगह मौज़ूद है। यह ख़्याल रखना कि 'सर्वत्र' कहने से देश की

प्राप्ति होती है, किंतु देश को वह व्याप्त कर रहा है, देश उसको व्याप्त नहीं कर रहा है! अतः देश *में* वह नहीं है, उसमें देश है। सर्वत्रगम् कहने से प्रतीति होती है कि वह *सबमें* है; ऐसी बात नहीं, वरन् व्यावृत्ति के ढंग से समझना है कि कहीं भी वह नहीं है ऐसा नहीं। देश की प्रतीति हमेशा 'देश है' रूप में ही होगी। निर्विशेष की उपासना विश्वरूप की उपासना से भिन्न है। विश्वरूप की उपासना में, वह सब जगह है, सबमें है। अव्यक्तोपासना में उसकी जगह यह हो जाएगा - कोई ऐसी जगह हो ही नहीं सकती जहाँ 'है' न होवे। बारीक फ़र्क है। 'अचिन्त्यम्' वह चिन्तन का विषय नहीं। श्रवण-मनन करते हो तो चिन्तन नहीं होता है क्या? जो इंद्रियों का विषय होता है, इंद्रियों से जो जाना जाता है, उसी के संस्कार अन्तःकरण में होते हैं। जो तुमने देखा-सुना, जिसका तुमने अनुभव किया, उसी का संस्कार है, अतः वह पदार्थ जब इंद्रियों का विषय नहीं है तब भी उसकी स्मृति कर सकते हो। जो इंद्रियों का विषय है ही नहीं, अतः उसका संस्कार भी नहीं है, तुम उसको सोच कैसे सकते हो? अतः जैसे कोई देश ऐसा नहीं जहाँ वह नहीं, वैसे ही कोई अनुभव नहीं जहाँ वह नहीं - इसी रूप में चिन्तन करना पड़ेगा।

'कूटस्थम्'; कूट किसको कहते हैं? खोटे को। मारवाड़ी में झूठ बोलने वाले को कहते हैं 'कूड़ाबोला', कूट का ही कूड़ा अपभ्रंश है। झूठ क्या चीज़ है? जो प्रतीत सच्ची होती है पर सच्ची होती नहीं। कोई आदमी अगर असम्बद्ध वाक्य बोले तो तुम उसे झूठ बोलने वाला नहीं कहोगे। यही कहोगे 'पता नहीं क्या बोल रहा है!' झूठा व्यक्ति सम्बद्ध वाक्य बोलता है - 'आज मैंने देखा, देवदत्त बाज़ार में बैठा हुआ पकौड़ी खा रहा था।' देवदत्त बेचारा किसी के हाथ का नहीं खाता, स्वयंपाकी है। उसने बात सम्बद्ध तो कही कि 'देवदत्त को पकौड़ी खाते देखा', परन्तु है कैसी? झूठी है। ऊपर से सच लगे और हो झूठी, वह चीज़ कूट है। सारा संसार कैसा अनुभव में आता है? बिलकुल सत्य है - ऐसा ही लगता है। शास्त्र-युक्ति से परीक्षा करने पर क्या पता चलता है? संसार है ही नहीं। इसलिये संसार 'कूट' है, झूठा है। इसकी प्रतीति कराने वाली माया, अविद्या भी कूट ही है। इसलिये अविद्या और अविद्या का कार्य कूट शब्द से कहा जाता है। अनादि काल से अनन्त सृष्टियाँ हुई हैं। उनका बीज क्या है? अविद्या। संसार अविद्या का कार्य होने से झूठा होता हुआ सत्य दीख रहा है अविद्या के कारण। वस्तुतः नहीं है परन्तु लगता सच्चा है इसलिये कूट है। इस सारे कूट के अंदर वह अध्यक्ष रूप से मौज़ूद है, इसलिये कूटस्थ है। वह है, इसलिये यह सब तुम्हें दीख रहा है। वह न होता, तो यह कुछ नहीं दीखता। कूट में स्थित होने से यह कूटस्थ है। कूट हो गई माया और माया का कार्य। इसलिये श्रुति ने भी कहा है कि महेश्वर मायी, मायावी, मायाका नियामक है। निसर्ग या प्रकृति तो कूट है, उसमें विद्यमान परमात्मा है। जैसे उस आदमी के 'मैं बाज़ार गया था, देवदत्त वहाँ बैठा हुआ दुकान पर पकौड़ी खा रहा

था,' इस कथन में सच्ची बात क्या है? केवल मैं। न वह बाज़ार गया, न उसने देवदत्त को देखा, न दुकान देखी, न खाते देखा और न देखा ही! पर इतना निश्चित है कि वह है। इस सारे वाक्य में सच्चाई केवल 'मैं' है क्योंकि वह ज़रूर है। बाकी उसने जितनी बातें कहीं, सब झूठी हैं। इसी प्रकार, कूटस्थ रूप साक्षी मैं ही सच्चा हूँ, बाकी जितनी चीज़ें परिवर्तित हुई दीखती हैं, सब झूठी हैं। पूछो, कैसे मान लेवें झूठी हैं? रस्सी में तुमने साँप देखा। थोड़ी देर में कोई आता है, कहता है, 'अरे भाई, क्या बात है, आगे क्यों नहीं जा रहे हो?' कहते हो, 'वहाँ साँप पड़ा है।' हँसकर कहता है 'अरे! साँप नहीं है, मैंने पानी लेने के लिये काला पाईप डाला है।' क्या जब तुमको साँप दीखा तब वहाँ साँप आ गया था? ठीक इसी प्रकार से, मैं हूँ, इसलिये मेरी अविद्या और सारा संसार प्रतीत हो रहा है। किंतु जो मैं हूँ, उसके सिवाय कोई सच्चा नहीं है। सारे कूट में वह स्थित है अध्यक्ष रूप से। अध्यक्ष अर्थात् साक्षी रूप से, अधिष्ठान रूप से।

इसलिये 'अचलम्' वह कहीं चल कर जा नहीं सकता। यदि कोई जगह हो जहाँ वह न हो तो उसे चल कर जाना पड़े। दो तरह के चलने होते हैं : एक देश से दूसरे देश में जाना - यह एक चलना है। दूसरा चलना होता है - वहीं बैठे-बैठे शरीर को हिलाते रहो, जिसे स्पन्दन कहते हैं संस्कृत में। दो प्रकार का चलन होता है - एक देश से दूसरे देश में गए अथवा वहीं बैठे-बैठे चलायमान होते रहे। दूसरी तरह का चलन मन में बहुत ज़्यादा होता है! मन जो भिन्न-भिन्न स्पन्दन करता है उसमें स्थानान्तरण नहीं होता। मन बड़ी तेज़ी से चलता है, पर चल कर कहीं जाता नहीं, वहीं का वहीं रहता है। दुनिया भर की चीज़ें सोच रहे हो, पर कोई आकर तुमको मुक्का मारे तो तुरन्त पता चलता है 'मुक्का मारा है'। मन चल कर कहीं गया होता तो यहाँ पता नहीं चलता ! मन हरिद्वार के अंदर ब्रह्मकुण्ड में गोता लगा रहा हो, अर्थात् मन वहाँ हो तो फिर यहाँ मुक्का मारे तो पता नहीं लगना चहिए। लगता है, अतः मन रहता यहीं है। परमात्मा में ऐसा स्पन्दन भी नहीं है इसलिये कहा 'ध्रुवम्'ध्रुव है, स्पन्द भी नहीं है। उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं है।

इसका चिन्तन कौन कर सकता है? 'इंद्रियग्रामं सन्नियम्य'। इंद्रयों के समूह का भली प्रकार से जब नियमन कर लेते हो, भली प्रकार से संहार कर लेते हो तभी अक्षर का चिन्तन कर सकते हो। संस्कृत में संहार का मतलब होता है कार्य को कारण में ले जाना। इंद्रियों को प्रवृत्त करने के लिये मन चाहिए, मन होगा तभी ज्ञानेन्द्रियाँ काम करेंगी, मन होगा तभी कर्मेन्द्रियाँ काम करेंगी। इंद्रियों का उपसंहार करने का मतलब है कि मन को किसी भी इंद्रिय की तरफ न प्रवृत्त होने देना। इंद्रियग्राम को, दसों इंद्रियों को, संहार करके अर्थात् उनका नियमन करके, वे विषयों की तरफ प्रवृत्त न होवें ऐसा नियंत्रित करके, 'सर्वत्र समबुद्धयः' जो बन चुके वे अक्षरचिन्तन कर सकेंगे। यहाँ 'सर्वत्र' से देश भी समझ लेना, काल भी समझ लेना। सभी देश, सभी काल के अंदर

समबुद्धि रहना ज़रूरी है। इंद्रियों की प्रवृत्ति का नियमन करने के बाद मन संस्कारों से चिन्तन करता है। मन ही चिन्तन करता है कि 'यह सुःख देने वाला है, या यह दुःख देने वाला है।' यदि सब देश-काल में जो अनुभव किया है उसमें तुम्हारी इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ख़त्म हो जाए तो मन इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति या परिहार का चिन्तन न करने के कारण स्थिर हो जाता है। जब तक इष्ट और अनिष्ट की दृष्टि न बने, तब तक मन चले कैसे? अतः तभी बुद्धि समता को प्राप्त हो जाती है अर्थात्, स्पन्द नहीं करती, स्थिर हो जाती है क्योंकि उसको अस्थिर करने वाली चीज़ इष्ट और अनिष्ट का विचार ही है।

'सर्वभूतहिते रताः' जो कुछ भी जड-चेतन है, उसके हित में ही जो रत है वही अक्षरोपासना कर सकेगा। सारे प्राणियों का हित क्या है? आनन्द ही सारे प्राणियों का एकमात्र हित है। आनंद को ढाँकने वाला कौन है? अविद्या, अज्ञान है। इसलिये अज्ञान को निवृत्त करना ही सब भूतों का हित है। अविद्या मिटाकर जड-चेतन सबको तुम आनंद-स्वरूप बना देते हो क्योंकि सबका अधिष्ठान विज्ञान आनन्द ब्रह्म ही है। सबका इष्ट हित जो आनंद, वही है निर्विशेष परमात्मा का स्वरूप, उसी में जिसकी रति है वह सर्वभूतहिते रत है। जो ऐसे हैं, उनके बारे में भगवान् ने कहा - 'ते माम् एव प्राप्नुवन्ति', उनके बारे में क्या कहें, क्योंकि वे तो मुझे ही प्राप्त हुए रहेंगे। ऐसा चिन्तन करने वाले जो सर्वकर्मसंन्यासी हैं, वे भगवत्स्वरूप होने के कारण युक्त-युक्ततम आदि कोटियों में नहीं कहे जा सकते।।३–४।।

भगवान् स्पष्ट करते हैं कि अक्षरोपासना में अधिक कठिनाई है, इसलिये सविशेषोपासकों को अच्छा कहा था -

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

अव्यक्त में सर्वथा संलग्न चित्त वाले उन अक्षरोपासकों को क्लेश (आयास) सविशेषोपासकों की अपेक्षा अधिक ही होता है क्योंकि देहधारियों को अव्यक्त गति मुश्किल से प्राप्त होती है।

'देहवद्भिः', देह में जब तक अभिमान है, 'यह शरीर ही मैं हूँ' ऐसा जब तक अनुभव है, तब तक अव्यक्तोपासना बनती नहीं। जब तक 'स्थूल-सूक्ष्म शरीर से आत्मा अलग है' इस बात का निःसंशय निश्चय नहीं कर लिया है तब तक अक्षरचिन्तन संभव नहीं है। निःसंशय का मतलब होता है कि चाहे हमें उसका अनुभव नहीं है परन्तु 'वह ऐसा ही है' इस विषय में कोई शंका नहीं है। बहुत-सी चीज़ें ऐसी होती हैं, जो अनुभव में न आने पर भी निश्चय का रूप ले लेती हैं, जैसे 'एक और एक दो होते हैं'। सर्वथा समान इकाइयाँ ही जोड़ी जा सकती हैं। और व्यवहार में कभी भी दो चीज़ें बिलकुल

समान नहीं होती हैं! दो सेब बिलकुल एक जैसे कभी होते नहीं हैं। एक पच्चीस ग्राम का है तो दूसरा सत्ताईस ग्राम का होगा। जब सर्वथा समान नहीं तब उन्हें जोड़कर कैसे कहें? रुपये और आनों को तुम जोड़ते नहीं क्योंकि एक रुपया सोलह आने के बराबर है। एक रुपया और इकन्नी इन्हें, तुम 'दो' नहीं कहते, कि दो रुपये हो गए या दो इकन्नियाँ हो गईं क्योंकि रुपया और इकन्नी एक-से नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार पच्चीस ग्राम का और सत्ताईस ग्राम का सेब एक-जैसे तो नहीं हैं, फिर उन्हें 'दो सेब' कैसे कहते हो? अर्थात् लौकिक अनुभव में जुड़कर दो होना नहीं मिलने पर भी गणित शास्त्र के आधार पर निःसंशय स्वीकारा जाता है। इसी प्रकार पंक्ति का लक्षण किया गया है - जिसमें चौड़ाई न होवे, केवल लम्बाई हो। चाहे जितनी पतली-से-पतली तुम पंक्ति खींचो उसमें कुछ चौड़ाई तो ज़रूर होगी। फिर भी तुम स्वीकारते हो कि पंक्ति वह है जिसमें चौड़ाई नहीं होती। चौड़ाई के बिना वाली पंक्ति तुम्हारे *अनुभव* का विषय नहीं, जैसे 'दो सेब' तुम्हारे अनुभव का विषय नहीं, फिर भी तुम निःसंशय हो। त्रिकोण के अन्दर एक सौ अस्सी अंश होते हैं। चाहे जैसा त्रिकोण बनाओ, यदि तुम नापोगे तो कभी एक सौ अस्सी अंश होंगे नहीं क्योंकि कोई पंक्ति ऐसी मिलेगी नहीं जिसमें चौड़ाई नहीं है। परन्तु ऐसा जानने पर भी तुमको निःसंशय ज्ञान है कि दो सेब हैं, पंक्ति है, त्रिकोण में एक सौ अस्सी अंश हैं। अनुभव न होने पर भी निश्चय है। इसी प्रकार से 'इस सारे संसार का कारण सच्चिदानंद है' - यह बात व्यक्त तो है नहीं, अनुभव में आयी नहीं है। अनुभव में तो सत् किसी-न-किसी विशेष के द्वारा ही कारणरूप से प्रतीत होता है। मिट्टी रूप से 'है', घड़े रूप का कारण बनता है। केवल 'है' की कारणता कहीं देखने में तो आएगी नहीं। परन्तु शास्त्र और युक्ति से विचार करके निश्चय हो जाता है कि सद् ब्रह्म ही जगत् का कारण है। इसी प्रकार से विवेक के द्वारा निश्चय हो जाता है 'त्वम्'-पदार्थ का। जब हम भली प्रकार विवेक करते हैं तब निश्चय हो जाता है कि देह वस्तुतः त्वम्-पदार्थ नहीं है। अहम् की प्रतीति अहंकार के साथ होगी। परन्तु वह प्रतीति होने पर भी निश्चय हो जाता है कि वस्तुतः मैं अहंकार (देह-मन आदि संघात) नहीं हूँ। अहंकारात्मिका वृत्ति मन की वृत्ति होने से सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर के साथ अपना अनुभव होते हुए निश्चय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि मैं सूक्ष्म शरीर नहीं हूँ। 'देहवद्भिः' अर्थात् जब तक देहाभिमान है तब तक यह कठिनाई बनी रहेगी।

'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' अव्यक्त में आसक्त जिनका चित्त है अर्थात् निर्विशेष सच्चिदानंद में जिनका चित्त लगा है। 'तेषाम् अधिकतरः क्लेशः'। काफी क्लेश तो सविशेष उपासना में भी है, 'मत्कर्मकृत्' ही बड़ा कठिन है। अपने लिये कुछ न करो, जो कुछ करो परमात्मा के लिये करो, यह बहुत बड़ा क्लेश है। कहने में बड़ा सरल लगता है, पर अपने लिए कुछ नहीं करना, जो कुछ करना परमात्मा के लिये करना - यह अभ्यास

करो तो झट पता लग जाता है कि कितना कठिन है। 'संगवर्जितः' राग-द्वेष से, आसक्ति से रहित होना बहुत कठिन है। भिक्षा में यदि करेले का साग रोज़ पंद्रह दिनों तक मिले तो सोलहवें दिन सोचेंगे 'कहीं अन्यत्र ही नारायण हरि करें'! क्योंकि करेले का साग अच्छा नहीं लगता, कड़वा लगता है। ऐसे ही 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' चाहे जितना अपना अपकार करे फिर भी उसके प्रति मन में कोई शत्रुता की भावना न आना - यह करना काफी क्लेशप्रद है। अधिक क्लेश तो सविशेषोपासना में भी है, कोई सरल मामला नहीं है, परन्तु जो परमार्थदर्शी हैं, उनको देहाभिमान त्याग करके अव्यक्त में चित्त को आसक्त करना उससे भी अधिक कष्टकारी है। अधिकतर, मायने अधिक क्लेश तो सविशेष मार्ग में भी है, पर इसमें इससे भी ज़्यादा क्लेश है। 'हि' अर्थात् चूँकि अव्यक्त की जो गति है वह 'दुःखं' दुःख से, कठिनाई से मिलती है। देहाभिमान रहते हुये बहुत बड़ा दुःख होता है अव्यक्त को समझने में, अव्यक्तोपासक मेरा रूप ही होता है परन्तु देहाभिमान रहते हुये वह उपासना होती नहीं। जब तक त्वम्-पदार्थ का शोधन बिलकुल स्पष्ट न हो जाए तब तक तत् से एकता का चिन्तन करना अत्यंत ही कष्टदायक है। अक्षरोपासक किस प्रकार से प्रगति करते हैं, यह आगे बताएँगे।।५।।

विश्वरूप की उपासना करने वालों का निश्चित उद्धार बतलाते हैं -

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

हे पार्थ! जो तो मुझे ही परागति जानकर, सारे कर्म मुझे ही समर्पित कर, मुझसे अतिरिक्त जिसमें आलंबन नहीं उसी समाधि द्वारा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझ विश्वरूप में समाहित चित्त वाले उनका मैं शीघ्र ही मृत्युयुक्त सागरतुल्य संसार से उद्धार करने वाला बन जाता हूँ।

'तु' से अव्यक्तोपासकों से पृथक् कर विश्वरूपोपासकों का प्रसंग बताया। वे सारे कर्म मुझ ईश्वर को अर्पित कर देते हैं। पूर्वोक्त 'मत्कर्मकृत्' का ही 'कर्माणि मयि संन्यस्य' व्याख्यान है। 'मत्परमः' को कह दिया 'मत्पराः' से। परमेश्वर से भिन्न कुछ नहीं है, इस प्रकार का अनन्य योग ही साधन है। न जो कुछ हमारे अनुभव में आ रहा है वह परमात्मा से भिन्न है और न मैं ही परमात्मा से भिन्न हूँ, वही सर्वरूप है, अतः दूसरा कोई भी आलम्बन नहीं है। एकमात्र वह विश्वरूप देव, जिसमें सब कुछ है, वही आलंबन है। अक्षरोपासकों की तो 'उसमें कुछ नहीं है,' इस प्रकार से उपासना है। जबकि इनकी, 'उसमें ही सब कुछ है,' इस प्रकार से उपासना है। 'अनन्येनैव योगेन' अर्थात् केवल एकमात्र परमात्मा ही है, इस प्रकार की वृत्ति बनाकर 'मां' अर्थात् मुझ

विश्वरूप को ही 'ध्यायन्तः' चिन्तन करते हुए 'उपासते' उसी में चित्त एकाग्र करते हैं। जो अव्यक्त उपासक हैं, वे तो मद्रूप हो जाते हैं, परन्तु जो उक्त ढंग से विश्वरूप की उपासना करते हैं, जिनकी भावना है कि जो कुछ अनुभव में आता है, वह भी परमात्मा है और अनुभव करने वाला मैं भी परमात्मा हूँ, उनका मैं उद्धार करता हूँ। जब सब कुछ परमात्मरूप देखते हैं, विश्वरूप का दर्शन करते रहते हैं, तब मैं उनके उद्धार करने वाले रूप से उनका उद्धार कर देता हूँ। वे अपने प्रयत्न से उद्धृत नहीं होते, अपने प्रयत्न से मुझ ईश्वर को प्रसन्न करते हैं और मैं उनका उद्धार कर देता हूँ।

किससे उद्धार कर देता हूँ? 'मृत्युसंसारसागरात्' संसार मृत्युयुक्त है अर्थात् संसार के अन्दर मृत्यु अवश्यंभावी है। विश्वरूप, कालरूप है और काल का नियम है हर चीज़ को बदलते चले जाना। बदलने का मतलब ही है कि पूर्व रूप में नहीं रह करके उत्तर रूप में आ जाना। यही मृत्यु है। घड़े का घड़ेरूप में न रहकर मिट्टीरूप में हो जाना ही उसका नाश है। इसी प्रकार से देवदत्त का देवदत्त शरीर के रूप में न रहकर, देवदत्त के बुड्ढे शरीर के अंदर न रह कर, यज्ञदत्त के तुरन्त उत्पन्न हुये रूप में हो जाना - इसी का नाम देवदत्त की मृत्यु है। संसार मृत्यु-युक्त है। जैसे सागर को तैरकर पार नहीं कर सकते वैसे ही इस मृत्य-संसार को पार नहीं कर सकते। काल का कभी पार नहीं आता। 'अब काल ख़त्म हो गया, इसलिये आगे परिवर्तन नहीं होगा'- ऐसा कुछ नहीं हो सकता। इसलिये मृत्य-संसार-सागर से *पार* नहीं जा सकते। परन्तु इससे *बाहर* निकल सकते हो। उत् का मतलब ऊर्ध्व है। हर्ता मायने हरण कर ले जाने वाला। सम्यक् उद्धर्ता अर्थात् इस जन्म-मरण की परम्परा से अलग करा देने वाला। तैरकर इसको पार नहीं कर सकते, इससे ऊपर उठ सकते हैं। वही समुद्धार कर सकता है जो इससे बाहर है। कीचड़ के बाहर जो आदमी खड़ा हुआ है, वह तो तुमको कीचड़ से निकाल सकता है। कीचड़ में धँसा हुआ तुमको निकालेगा तो, खुद कीचड़ में और ज़्यादा फँसता चला जाएगा! चूँकि भगवान् इस सबसे हमेशा अलग हैं इसलिये समुद्धर्ता बन जाते हैं। इसलिये भगवान् ने कहा था : जितना कुछ है वह तो मेरे एक पाद में है और मेरी त्रिपादी तो उससे हमेशा ऊर्ध्व रहती है। दसवें के अन्त में भगवान् ने यह कहा था। परमेश्वर संसार से बाहर हैं, इसलिये वे तुम्हारा समुद्धार कर देते हैं, तुमको इससे खींच कर बाहर कर देते हैं।

कब करेंगे? 'हे पार्थ! चिरात् न भवामि,' ऐसा नहीं समझ लेना कि कई जन्मों के बाद तुम्हारा उद्धार करेंगे। 'न चिरात्' लम्बा समय नहीं लगेगा, शीघ्र ही कर देंगे। 'चिर' कितनी देर है, यह कोई नहीं कह सकता। परन्तु भगवान् आगे कहेंगे 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् माम् प्रपद्यते' कि बहुत जन्मों के अन्त में जाकर बुद्धियोग अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति होकर मुझसे एक हो जाता है। 'बहूनां' का विचार करते हुये शास्त्रकारों ने कहा है कि तीन को बताने के लिये बहुवचन हो जाता है। तीन का बोधक होकर

ही बहुवचन गतार्थ हो जाता है तो उसका चार पाँच छह आदि अर्थ करना निरर्थक कल्पना हो जाती है। अतः अधिकतम तीन जन्मों का विलम्ब हो सकता है। हो सकता है इस जन्म में ही उद्धार हो जाए, या अगले जन्म में हो जाए, परन्तु तीसरे जन्म में तो निश्चित ही हो जाएगा। किसका? 'मय्यावेशितचेतसाम्' मेरा जो विश्वरूप है, उस विश्वरूप में जिनका चित्त सर्वथा प्रविष्ट है। अर्थात् 'जो भी अनुभव में आता है, वह विश्वरूप परमेश्वर है और मैं अनुभव करने वाला भी विश्वरूप परमेश्वर हूँ' - इस प्रकार हमेशा जिनके चित्त में रहने लग गया है, उनका उद्धार शीघ्र कर देता हूँ। जब तक इसकी दृढता नहीं हुई तब तक शीघ्र उद्धार की आशा नहीं। दृश्य और द्रष्टा दोनों केवल परमात्मा ही हैं - इसका निश्चय करने में चाहे जितना समय लगाओ, लेकिन ऐसा हर क्षण जब निश्चय रहने लग गया तब दीर्घकाल नहीं लगता, उसका भगवान् उद्धार कर देते हैं।।६—७।।

क्योंकि मय्यावेशित चित्त वालों का उद्धार शीघ्र कर देते है इसलिये भगवान् अर्जुन को निर्देश देते हैं-

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

मुझ विश्वरूप ईश्वर के बारे में ही संकल्प-विकल्प और निश्चय करो (ताकि) शरीर छूटने के बाद अवश्य मुझ में ही रहोगे।

'मय्यावेशितचेतस्ता' कैसे होवे? मुझ विश्वरूप ईश्वर में ही संकल्प-विकल्पात्मक मन को स्थापित करो। और कोई संकल्प-विकल्प न करो, मन को इसी में लगाओ कि सब कुछ विश्वरूप ही है। यही तुम्हारा संकल्प-विकल्प सब समय रहे। और केवल संकल्प-विकल्प ही नहीं, 'मयि बुद्धिं निवेशय' निश्चय भी इसी बात का करो। संकल्प-विकल्प जैसे : तुमको कोई कोढ़ी दीखा। प्रश्न उठा कि यह कोढ़ी विश्वरूप कैसे? विचार करो कि यह कोढ़ी है। है, तब कोढ़ी, इसलिये सद्रूप है। यह कोढ़ी दुःख का अनुभव कर रहा है; इसलिये ज्ञान है, तब यह कोढ़ी दुःखानुभव कर रहा है, इसीलिये उसके प्रति तुम्हारी सहानुभूति होती है। किंच, इसको भी अपना आपा प्रिय है। यह भी अपने को दुःखी नहीं करना चाहता। चूंकि अपने आत्मा से प्रेम कर रहा है, इसलिये इसका आत्मा आनन्दरूप है। अगर आनन्दरूप न होता तो क्यों आत्मा से प्रेम करता और आनन्द की इच्छा करता? इसलिये यह सच्चिदानंद ही है। इस प्रकार, हर चीज़ को मन से विचार के द्वारा एकमात्र विश्वरूप परमेश्वर सच्चिदानंद ही देखना है। और बुद्धि से यही निश्चय भी करना है। यहाँ संकल्प-विकल्प को सन्देहात्मक नहीं समझ लेना वरन् सच्चिदानंदरूपता तक पहुँचने के लिये जो ऊह-अपोह करने आवश्यक हैं उन्हें समझना। और किसी विचार में मन न जाये, इसी का विचार करे। जैसे रेखागणित में

कह दिया जाता है कि त्रिकोण के तीन कोण एक सौ अस्सी अंशों के होते हैं। उसका निश्चय करने के कई तरीके हैं। त्रिकोण को समान्तर चतुर्भुज (parallelogram) के अन्तर्गत समझकर भी वह बात सिद्ध की जा सकती है, समान्तर रेखाओं के विकर्ण (diagonal) के सहारे कुछ अंशों के विभाजन से भी सिद्ध की जा सकती है। इत्यादि तरह-तरह से सिद्ध करते हैं। यह तो पता है कि जवाब एक सौ अस्सी अंश निकालना है, पर कैसे निकालना है, इसके अन्दर संकल्प-विकल्प करते हैं। इसी प्रकार से एक अखण्ड परमात्मा ही द्रष्टा-दृश्य दोनों भावों से स्थित है। हर-एक अनुभव में संकल्प-विकल्प से यही निश्चय करो कि ऐसा ही है। मन से यहाँ संशय नहीं कह रहे हैं कि मेरे बारे में संशय करो! तात्पर्य है कि परमात्मा ही सर्वरूप है - हर अनुभव के अंदर उस सच्चिदानंद को घटाकर देखो। घटाने के अलग-अलग तरीके खोजने हैं।

परमात्म-रूपता का निश्चय करके फिर उसी में स्थिर रहो 'मयि बुद्धिं निवेशय।' ऐसा होने पर 'निवसिष्यसि मयि'; द्रष्टा और दृश्य के सिवाय और कहीं तो तुम जाते नहीं हो। या द्रष्टा को देखते हो 'मैं करने वाला, मैं सुख-दुःख भोगने वाला, मैं जाने वाला, मैं पकड़ने वाला,' इस प्रकार से द्रष्टा को देखते हो। अथवा दृश्य को देखते हो - ये बादल हैं, ये पहाड़ हैं, ये मकान हैं। जब दोनों की विश्वरूपता का निश्चय करते रहते हो तब सब समय उस विश्वरूप में ही तुम्हारा निरन्तर वास है, उसमें ही रहते हो। वास का मतलब होता है जहाँ तुम रहते हो। व का अपभ्रंश ब होकर के राजस्थान में कहते हैं सुनारों का बास है, लुहारों का बास है, अग्रवालों का बास है, अर्थात् जहाँ वे रहते हैं। वहाँ रहते हैं, पर इधर-उधर भी जाते हैं, हर समय तो वहाँ नहीं रहते। परन्तु जब प्रश्न करते हैं 'तुम्हारा निवास कहाँ है?' तब अर्थ है कि निश्चित रूप से कहाँ वास करते हो। थोड़ी-बहुत देर के लिये कहीं गए भी पर फिर वापिस वहीं आ जाते हो। इसी प्रकार संकल्प-विकल्प करते समय दृश्य और द्रष्टा का भेद देखते हुये भी निवास कहाँ करते हैं? जहाँ तुरन्त आ जाते हैं, सच्चिदानंद रूप में। अर्थात् संकल्प-विकल्प के समय में भी निवास अर्थात् अंदर की बुद्धि का निश्चय छूटता नहीं है। उनके लिये संसार का अनुभव गणित की समस्या की तरह आता है। समस्या का हल वे जानते हैं। समस्या का उत्तर सिद्धान्ततः पता है पर *इस* समस्या का वह उत्तर कैसे निकालें? - इसमें मन लगाते हैं। अत्यंत क्रूर राक्षसों को देख कर अन्य तरह की बात मन में आती है। कोढ़ी को देख कर अन्य तरह की बात मन में आती है। जवाब तो पता है कि ये सब परमात्मा का रूप हैं। परन्तु पुनः पुनः उस-उस समस्या का हल निकालते रहना है कि यह इस तरह से सच्चिदानन्द रूप है। ये सारे अनुभव तुमको कब तक होते रहते हैं? जब तक शरीर में हो। समस्या तभी तक है जब तक तुम शरीर में हो। जिसने ऐसा निश्चय कर लिया वह शरीर से विदेहभाव को प्राप्त करके उसके बाद मेरे अन्दर ही रहेगा, इसमें संदेह नहीं है।।८।।

भगवान् ने विश्वरूपोपासकों को योगवित्तम कहा था। अतः अन्य योगवेत्ताओं का परिचय भी कराते हैं ताकि उनकी उत्तमता प्रकट हो। इस तरह भगवत्प्राप्ति के अन्य उपाय भी स्पष्ट हो जायेंगे।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनंजय ।। ६ ।।

धनंजय! अगर मुझ विश्वरूप में चित्त को स्थिर रूप से समाहित न कर सको तो चित्त को सब ओर से बटोर कर किसी एक स्थूल प्रतिमादि आलम्बन में बार-बार स्थापित कर समाहित करने के द्वारा मुझे पाने की कोशिश करो।

'अथ' अर्थात् पक्षान्तर बताते हैं। विश्वरूप ही द्रष्टा और दृश्य दोनों है, इस का चिन्तन व निश्चय जो करने में असमर्थ हो उसके लिये भगवान् अन्य उपायों का विधान कर रहे हैं। 'स्थिरम्' इसलिये कहा कि थोड़ी देर तक तो लग भी सकता है कि सब कुछ परमात्मा का रूप है, पर जब मच्छर गुनगुनाने लगता है, तो उसको उड़ाने की ही सोचते हो! अर्थात् विश्वरूपता चित्त में स्थिर नहीं हो पाती है। यहाँ भगवान् केवल अर्जुन के लिये नहीं कह रहे, जो भी ऐसा नहीं कर सके उसे दूसरा उपाय बता रहे हैं। विश्वरूप की उपासना करने वाला जल्दी ही मुक्त हो जाता है परन्तु ऐसा करना जिसके लिये सम्भव नहीं है वह अभ्यासयोग करे। 'ततः' अर्थात् अपनी असमर्थता पहचानने के बाद, अभ्यास योग अर्थात् मेरी विभूतियों में से किसी एक विभूति के अन्दर चित्त स्थापित करना। विश्वरूप में तो सारे जगत् को आलम्बन बनाया था कि 'ये सब परमेश्वररूप हैं,' यहाँ किसी भी एक रूप को आलम्बन बनाना है। जो विभूतियाँ गिनाई हैं उनमें से किसी को भी आलम्बन बना सकते हैं। गीता की तरह अन्यत्र भी विभूतियाँ बतायी हैं, कहीं से किसी एक को लेकर उसी पर एकाग्र होना है। भगवान् ने सूत्र बतला दिया था, जहाँ कहीं तुमको ऐश्वर्य का अतिशय, बल का अतिशय प्रतीत हो वहाँ वह बल, तेज ईश्वर का ही है अतः वह विभूति ही है। ऐसे किसी प्रतीक को सामने रख कर 'इसमें जो तेज प्रतीत हो रहा है वह ईश्वर का ही है' - यों उसे विभूति समझकर उसी एक आलम्बन में, बार-बार चित्त को स्थापित करना अभ्यास योग कहा जाता है। भगवान् ने खाली नाक कान वाले मानुष आदि रूपों को विभूति नहीं गिना है। 'प्रणवः सर्ववेदानां, वेदानां सामवेदोस्मि' आदि भी कहे हैं। सामवेद या प्रणव शब्दरूप हैं, इनके कोई नाक-कान नहीं हैं, मनुष्याकृति नहीं है। इसी प्रकार पृथ्वी में पुण्य गंध को विभूति कहा था। सामर्थ्यानुसार जहाँ-कहीं चित्त स्थिर करना आवश्यक है। ओंकार की उपासना करो तो ओंकार के वैशिष्ट्य को याद रखो। रोज़ प्रार्थना करते हो 'कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः' यह समग्र कामनाओं को देने वाला और मोक्ष को भी देने वाला है; यह ॐ की अतिशयता हुई। किंतु याद रखो कि ये सब देने

वाला कौन है? परमेश्वर है। ओंकार में तो तुम उसका चिन्तन कर रहे हो। अथवा जब सामवेद का पाठ करते हो तब भी याद रखो कि यह परमेश्वररूप है। सामवेद में वैशिष्ट्य क्यों है? गीति होने के कारण। किंतु गीत तो बहुत-से हैं। अतः उतने से ही उसकी विशेषता नहीं वरन् परमात्मा अपनी विशेषता उसमें व्यक्त करते हैं इसलिये सामवेद की विशिष्टता है। इसी प्रकार गंगा जी विभूति हैं। सात जन्मों में किये पाप तुरन्त नष्ट कर देती हैं, यह गंगा जी का ऐश्वर्य है। पानी तो सभी बह रहे हैं। उससे ज़्यादा साफ़ पानी भी मिल जाएगा, परन्तु वह तुम्हारे पापों को नष्ट नहीं कर सकेगा। गंगा जी में ही वह ऐश्वर्य है। पापों को नष्ट करने वाली शक्ति परमेश्वर की है, गंगा के पानी में प्रकट हुई है। इनमें से किसी भी एक आलम्बन के अन्दर बार-बार चित्त को स्थिर करना अभ्यास योग हुआ। अभ्यास योग से 'मामिच्छाप्तुं', माम् आप्तुम् इच्छ, अभ्यास योग के द्वारा मुझ विश्वरूप को पाने की इच्छा करो अर्थात् प्रार्थना करो। उस एकरूप के अन्दर बार-बार मन को स्थित करते हुये उसमें जो विश्वरूप है उससे प्रार्थना करो। क्या प्रार्थना करो? लड़का चाहिए, व्यापार चाहिए, पत्नी चाहिए - ये सब नहीं, माम् आप्तुं इच्छ, मुझ को ही प्राप्त करने की इच्छा करो अर्थात् 'विश्वरूप परमात्मा ही मुझे प्राप्त होवे', ऐसी प्रार्थना करो।

विश्वरूप की उपासना करने वाले को तो बहुत कठिनाई होती है। अत्यंत सुन्दर रूप को परमेश्वर देखना सरल है। परन्तु कोढ़ी में, लंगड़े में, लूले में, परमात्मा देखना बड़ा कठिन होता है। प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु पीट रहा है; तुम्हें देखना है कि पीटने वाला भी वही है, जो पिट रहा है वह भी वही है। यह करना बहुत कठिन होता है। उसकी जगह 'वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्' का ध्यान सरल होता है। सबको सुख देने वाला सुन्दर रूप है, उस रूप वाले के अन्दर उसकी विशेष शक्तियाँ हैं, विशेष बल है, यह समझना सुकर है। ग्यारह साल की उम्र में कंस व चाणूर को मार दिया। पैदा होने के साथ ही पूतना को मार दिया। सात साल की उम्र में कालिय-दमन कर दिया; इन सब विशेष शक्तियों वाला परमेश्वरस्वरूप है। - यह निश्चय शीघ्र हो सकता है। परन्तु प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु में उसी एक को देखना कठिन होता है। इसलिये भगवान् ने कहा कि यदि सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि नहीं कर सकते हो तो किसी एक विभूति के अन्दर बार-बार चित्त को स्थिर करो। यह निश्चय करो कि इनके जो सौन्दर्य, लावण्य इत्यादि हैं ये सब उस परमेश्वर की विभूति हैं; परमेश्वर के कारण इनमें ये हैं। और उससे तुम केवल परमात्म-प्राप्ति की ही इच्छा करो। अभ्यास योग का आलम्बन रूपात्मक भी हो सकता है, शब्दात्मक भी हो सकता है। 'नमः शिवाय' अनेक पापों को नष्ट करने वाला मंत्र है। इसमें शक्ति परमेश्वर की है। परमेश्वर की शक्ति यहाँ दीख रही है। जहाँ दीख रही है उसकी शक्ति नहीं हैं, शक्ति परमेश्वर की है, यहाँ दीख रही है, जिस प्रकार लोहे में गर्मी लोहे की नहीं है, अग्नि की होती है। 'लोहे की गर्मी' समझ लोगे तो मिथ्या

ज्ञान हो जायेगा। लोहे में गर्मी अग्नि की है। इसी प्रकार प्रतीक के अन्दर जो शक्ति उपलब्ध होकर हमें वहाँ केन्द्रित रखती है वह परमेश्वर की शक्ति है यह स्पष्ट उपस्थित रखना पड़ेगा, तभी परमेश्वर की उपासना बनेगी। किसी की कीर्ति बहुत बड़ी है। कीर्ति को भी भगवान् ने अपनी विभूति बताया था। यहाँ याद रखो कि इसकी इतनी कीर्ति क्यों है? क्योंकि परमेश्वर की कीर्ति-शक्ति इसके अन्दर व्यक्त है। अभ्यास योग को करते समय ख्याल रखने की बात है कि आलम्बन के अन्दर जो सौन्दर्य, ऐश्वर्य आदि हैं, वे परमेश्वर के हैं। और उससे प्रार्थना करनी है कि हमें परमेश्वर की प्राप्ति होवे। प्रतीक में अटक जाना यहाँ इष्ट नहीं है।।६।।

द्वैत में आग्रही के लिये मन को हर तरफ से समाहृत करना भी संभव नहीं होता अतः उसके लिये भगवान् अन्य उपाय बताते हैं।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थम् अपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।। १०।।

उक्त अभ्यासरूप साधन अपनाने में भी यदि असमर्थ हो तो प्रधानतः मेरे लिये ही कर्म करो। मेरे लिये कर्म करते हुये भी (चित्तशुद्धि-ज्ञानप्राप्ति द्वारा) ब्रह्मभाव प्राप्त कर सकोगे।

किसी एक आलम्बन में भी मन को स्थिर करने में तुम समर्थ नहीं हो तो 'मत्कर्मपरम' बनो। मेरे लिये जो कर्म किया जाए वह मत्कर्म, उसी को परम मान लो, उसी को प्रधान मान लो। श्रुति-स्मृति के अन्दर जो कर्म बताए गए हैं, अथवा जो नवधा या एकादशधा भक्ति के साधन बतलाये हैं उन्हें प्रधानता से करो; मेरी लीलाओं का ही श्रवण करना, मेरी लीलाओं का ही कीर्तन करना, उन्हीं का निरन्तर स्मरण रखना, परमेश्वर की पूजा आराधना में लगे रहना - ये भी मत्कर्म हैं, मेरे लिये किये हुए कर्म हैं, और श्रुति-स्मृति के अन्दर मैंने जो आज्ञा दी है उसका पालन करना भी मेरे लिये किया कर्म है। जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य हैं उनके लिये तो श्रुति-स्मृति की आज्ञा से कर्म करना हो जाएगा प्रधान और जो स्त्री शूद्र आदि हैं - जिनके लिये आश्रम-कर्मों का और वर्ण-कर्मों का खास विधान नहीं है, वे मेरे बारे में लीलाश्रवण इत्यादि सब कर सकते हैं। किंतु मत्कर्म को ही परम अर्थात् प्रधान रखना है। शरीर-यात्रादि के लिये जो कुछ अनिवार्य हो वह कर भी लें, परन्तु प्रधान रूप से, अत्यावश्यक रूप से केवल मत्कर्म करें। शरीर का निर्वाह हो जाए इतना अन्य कार्य करने पर भी शरीरयात्राको प्रधान नहीं बनने देंगे। इस प्रकार से मेरे लिये कर्म करते हुये भी चित्तशुद्धि की प्राप्ति, चित्त की एकाग्रता की प्राप्ति और अन्त में ज्ञानप्राप्ति के द्वारा मुझे प्राप्त कर लेंगे। इस साधन में कर्म प्रधान है, क्रिया प्रधान है। अधिकतर लोग बुद्धि से विचार करने में भी असमर्थ होते हैं, मन को निरन्तर एक आलम्बन में रखने में भी असमर्थ होते हैं। लेकिन

अपने करणों से क्रिया कर सकते हैं। क्योंकि मन न लगे, बुद्धि न लगे, तो भी शरीर से आदमी कर्म कर ही सकता है। ऐसों के लिये मत्कर्मपरता उपाय बताया।।१०।।

अतिकरुणामय भगवान् मत्कर्मपरमता की अपेक्षा भी सरल साधन बताते हैं -

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

अगर यह भी न कर सको तो चित्त को संयत रखते हुये मुझपर जिम्मा डालकर कर्म करो, फिर सारे कर्मों के फलों का त्याग कर दो।

पूर्व साधन में परमेश्वर के लिये ही कर्म करते रहना प्रधान था। चाहे शास्त्रीय कर्म हो, चाहे लीलाश्रवणादि हो, करने केवल उनके लिये थे। अतः काम्य कर्म उस साधक द्वारा नहीं किये जा सकते। जो इस प्रकार भगवान् के लिये करने को ही जीवन में प्रधानता नहीं दे सके, उसके लिये यहाँ 'मद्योग' का सहारा बताया। कर्म करने पर उन्हें भगवान् में संन्यस्त करना - यह मद्योग है। अर्थात् 'भगवान् ही मुझ से करा रहे हैं' यह भाव रखते हुये कर्म करने हैं। इस साधन में कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं वरन् स्वरूपतः अनुष्ठान है किन्तु निश्चय यह रखना है कि कराने वाले भगवान् हैं। इस भाव से कर्म करके, काम्य कर्म भी करके, उनका फल पुनः भगवान् को अर्पित करना है। फल की आशा नहीं रखनी। चाहे शास्त्रीय कर्म हो या लौकिक, करते समय तो 'भगवान् करा रहे हैं' यह निश्चय रखते हुये कर्मों का अनुष्ठान करना है और कर्म हो चुकने पर 'उसके फल को मैं पाऊँ' यह इच्छा नहीं रखनी है। मेरे सामने जो काम भगवान् लाये, वह मैंने किया, आगे उसका फल जो भी परमात्मा देना चाहें देवें, न देना चाहें न देवें। इस प्रकार सारे कर्मों के फल का त्याग करना है। 'मत्कर्मपरम' तो प्रधान रूप से परमेश्वर के लिये ही कर्म करता है जबकि यह साधक काम्यादि कर्म अपने लिये भी कर लेता है, लौकिक कर्म भी अपने लिये कर लेता है, पर आगे फल का त्याग कर देता है। 'यतात्मवान्' ऐसा करने के लिए भी प्रयत्न करते हुए तो रहना ही पड़ेगा अर्थात् निरन्तर प्रयत्नशीलता और उसके लिये मन-इंद्रियों का संयम तथा बुद्धि की विवेकशीलता कायम रखनी पड़ेगी।।११।।

इस प्रकार से साधकों के लिये चार क्रम बताए। जो जिसे करने की सामर्थ्य वाला है, वह उसे ही करे। क्योंकि बार-बार कहा है 'न शक्नोषि, अशक्तोऽसि', अतः श्रेष्ठ साधन करने की योग्यता होने पर भी उसको न करना - यह भगवान् नहीं कह रहे हैं। जो अधिकतर साधक कर सकते हैं, उसे इसीलिये श्रेष्ठ कह देते हैं। जैसे पहले 'युक्ततमाः' कहा, वैसे ही यहाँ जो सबसे निकृष्ट साधक है उसकी प्रशंसा करते हुये कहते हैं -

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

(अविवेकपूर्वक किये श्रवणादि के) अभ्यास से शब्द-युक्ति द्वारा आत्मनिश्चय ही बेहतर है, उसकी अपेक्षा (ज्ञानपूर्वक किया) ध्यान खासियत रखता है। उससे भी खास है कर्मफलों का त्याग। त्याग से तत्काल ही संसार की सकारण उपशान्ति हो जाती है।

'श्रेयः' अर्थात् प्रशस्यतर, ज़्यादा अच्छा है। अभ्यास से टीकाकारों ने ज्ञान के लिये किया श्रवण का या ध्यान का अभ्यास समझा है। ऐसे अभ्यास को भी बिना विवेक के किया जाये, तत्-त्वम् पदार्थों का अभिप्रेत अर्थ स्वानुभव में लाये बिना केवल आवृत्ति रूप से किया जाये, इसकी अपेक्षा ज्ञान बेहतर है अर्थात् यथाशास्त्र, यथायुक्ति आत्मतत्त्व के यथार्थ का निश्चय बेहतर है। अथवा अभ्यास से बेहतर ज्ञान को कहने का अर्थ है कि बिना समझे करने की अपेक्षा समझकर, ज्ञानपूर्वक करना बेहतर है। पदार्थों को बिना समझे ग्रंथावर्तन करने से अच्छा है पदार्थ समझकर उनकी आवृत्ति करना। यह न्याय कर्मों के अभ्यास में भी लग जायेगा। कर्म भी बिना जाने-बूझे करने से अच्छा है उनकी सारी जानकारी रखकर करना।

'ज्ञानात्' श्रवण-मनन से प्राप्त जानकारी से 'ध्यानं' ज्ञानपूर्वक किया ध्यान विशेषता रखता है। ज्ञानमात्र से संतुष्ट व्यक्ति तो समझकर उस बात की उपेक्षा कर देता है कि समझ चुका हूँ, किंतु उस पर अपना ध्यान एकाग्र करने वाला ही गहराई से समझ भी पाता है और समझे हुए को जज़्ब भी कर पाता है। बिना समझे किये ध्यान को यहाँ बेहतर नहीं कह रहे, समझने के बाद किये ध्यान की ही प्रशंसा कर रहे हैं।

ऐसे ध्यान से भी कर्मफल को त्यागना श्रेष्ठ है। जैसे पहले बताया, साधकों को सरल पड़ना यहाँ बेहतरपना है। त्याग क्यों अच्छा है? क्योंकि त्याग करने के अनंतर, उस त्याग के द्वारा चित्तशुद्धि आदि की प्राप्ति हो कर शान्ति प्राप्त हो ही जाती है। कर्मफल के त्याग से क्योंकि मन ज्ञानयोग्यता पा जाता है इसलिये बिना अधिक काल लिये संसार और इसका कारण शान्त हो जाता है, आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रूप विक्षेप उत्पन्न कर सकने में अक्षम हो जाता है क्योंकि बाधित हो चुकता है। यहाँ 'त्याग' अर्थात् 'भगवान् प्रसन्न हों' - केवल इसी उदेश्य से कर्मानुष्ठान। कर्म किये ही नहीं तो त्याग काहे का होगा! अतः इस दृढ भावना से कर्म करने पर चित्तशुद्धि ज्ञानप्राप्ति के क्रम से मोक्ष हो जाता है यह तात्पर्य है। सारे कर्मों का फलत्याग श्रेय का साधन है। अन्य साधनों में जो असमर्थ है वह भी कर्मों के फलों का त्याग तो कर ही सकता है। जो शुद्ध चित्त से रहित हैं, उनके लिये कर्मफलत्याग को अनुष्ठेय रूप से यहाँ बतलाया। जो परमात्मा के स्वरूप को भी नहीं समझ सकता है, चित्त को एकाग्र भी नहीं कर सकता है, वह कर्मों को करते हुये उनका फल परमेश्वर को अर्पण करे। इसे सर्वश्रेष्ठ

बताना इसकी स्तुति के लिये है। तात्पर्य भगवान् का है कि *सारी* कामनाओं को छोड़ने से अमृतत्व की, मोक्ष की प्राप्ति होती है। वास्तविक महत्त्व सर्वकामत्याग का है, फलत्याग भी त्याग है ही, इस समानता से फलत्याग की स्तुति की ताकि साधक इसमें सोत्साह प्रवृत्त हो।

चाहे शास्त्रीय कर्म होवें, चाहे लौकिक कर्म होवें, व्यक्ति कर्म करता है फल की कामना से। शास्त्रीय कर्म करता है तो भी किसी-न-किसी फल के लिये। जिसका कोई फल नहीं भी बताया है उसमें भी प्रत्यवाय से बचने के लिये ही प्रवृत्ति करता है। सन्ध्या का दूसरा फल नहीं भी होवे, तुम संध्या करते रहते हो तो ब्राह्मणत्व से गिरते नहीं हो। संध्या नहीं करोगे तो ब्राह्मण ही नहीं रह जाओगे। शास्त्रीय कर्म हो, चाहे लौकिक कर्म हो, जो भी करते हो उसका फल ही तुम्हारी कामना का विषय है। जिसको उसके फल की कामना नहीं है वह उसके लिये कर्म करेगा भी नहीं। जब तुम फलत्याग करोगे, फलत्याग का अभ्यास करोगे तब धीरे-धीरे कामना के त्याग का अभ्यास हो जाएगा। कामनाओं का त्याग करने से ही मनुष्य को विवेक, वैराग्य आदि साधन-सम्पत्ति प्राप्त होती है। कामनाओं का त्याग हो जाएगा, तभी सर्वकर्मसंन्यास की प्राप्ति होगी, फिर आगे के श्रवण मनन आदि साधन उसके लिये संभव हो जाएँगे। भाष्यकार यहाँ दृष्टान्त देते हैं कि अगस्त्य ब्राह्मण थे, उन्होंने समुद्र को पिया। इसलिये आज भी ब्राह्मणत्व सामान्य से ब्राह्मणों की स्तुति होती है कि 'ब्राह्मण सब कुछ कर सकता है, अगस्त ने समुद्र पी लिया था!' आज ब्राह्मणों में वह सामर्थ्य नहीं है लेकिन ब्राह्मणत्व की समानता को लेकर उनकी स्तुति हो जाती है । इसी प्रकार सर्वकर्मफलत्याग साक्षात् शान्ति को देने वाला नहीं है परन्तु त्याग तो है, त्याग सामान्य से सर्वकर्मफलत्याग की प्रशंसा की गई है। सर्वकर्मसंन्यास में और सर्वकर्मफलत्याग में है तो बहुत बड़ा फ़र्क लेकिन त्याग दोनों में है - कर्म का भी त्याग और कामना का त्याग - इसलिए फलसंन्यास की स्तुति कर दी गयी है। कर्मफल के त्याग से कर्मयोग सम्पन्न हो जाता है जो श्रेयस्कर साधन है।

'योगवित्तम' के बारे में अर्जुन का प्रश्न था। उत्तर में पहले युक्ततम को बतला दिया, फिर जो परमात्मरूप हो गया उसको युक्तादि कोटियों से परे बतला दिया। जो युक्ततम नहीं हो सकते ऐसे मंद, मध्यम, निकृष्ट अधिकारियों के लिये साधनाओं को भी बतला दिया। आत्मा और ईश्वर के भेद को मान करके विश्वरूप ईश्वर के अन्दर चित्त का समाधान करने से युक्ततमता आती है। उस भेद को मानकर ही ईश्वरार्थ कर्मानुष्ठान आदि भी होता है। अज्ञान रहते ही ये सब साधन कर्त्तव्य हैं। जो अभेददर्शी है उस अक्षरोपासक के लिये कर्मयोग नहीं है। और जो कर्मयोगी है वह अक्षरोपासना कर ही नहीं सकता। अर्थात् भेददर्शी के लिये ये साधन बताए गए हैं। कर्म द्वैत-दृष्टि से ही करोगे। अद्वैत दृष्टि से कर्म नहीं हो सकता है। जो चीज़ जैसी है, उस को बिना परिवर्तित किए हुए जानना तो

ज्ञान है और उसमें परिवर्तन करना क्रिया है। क्रिया कुछ-न-कुछ बदलाव लाती है। जो अभेददर्शी है उसके लिये किसी चीज़ को बदलने की सम्भावना ही नहीं है। अतः अभेददर्शी के लिये कर्म नहीं बनता। इसलिये बार-बार भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों बिलकुल विरुद्ध मार्ग हैं। अभेददर्शी के लिये निवृत्ति ही है। भेददर्शी के लिये प्रवृत्ति ही है। इसीलिये भगवान् ने अक्षरोपासकों की तो कैवल्यप्राप्ति में स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव;' और जो भेददर्शी हैं उनके लिये ईश्वराधीनता कही 'तेषामहं समुद्धर्ता'। भेददर्शी हमेशा ही गुलाम रहेगा और अभेददर्शी स्वतंत्र ही रहेगा। जो ईश्वरस्वरूप हो गए हैं, अभेददर्शी होने से अक्षररूप ही हैं, उनके लिये 'मैं समुद्धार करूँगा' कहना बनता ही नहीं है।।१२।।

भगवान् अर्जुन के अत्यन्त हितैषी हैं इसलिये उसे सम्यक् दर्शन में असमर्थ समझ कर भेददृष्टि वाले द्वारा कर्तव्य कर्मयोग का ही उसे कर्त्तव्यत्वेन उपदेश दिया और उसी उपाय की प्रशंसा की। जो आत्मा को ईश्वररूप जान लेता है, प्रत्यगात्मा और परमात्मा का भेद जिसके अनुभव से प्रमाणपूर्वक हट जाता है, वह किसी के भी प्रति गौण बन नहीं सकता। प्रत्यगात्मा और परमात्मा के अभेद के अनुभव के बाद 'परमेश्वर मेरी रक्षा करे' इत्यादि वृत्ति बन ही नहीं सकती है। ऐसे सम्यक्-दर्शननिष्ठ सर्वकर्मसंन्यासी जो अक्षरोपासक हैं, जिन्होंने सारी एषणाओं को छोड़ दिया है, उनके अन्दर साक्षात् अमृतत्व के कारणभूत जो धर्म उद्भूत हो जाते हैं, उन्हें अब भगवान् बतायेंगे। पूर्व श्लोक में 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' कहने से अथवा और भी पहले, विश्वरूप के उपासक को युक्ततम कहने से मन्दमति को अक्षरोपासना की महत्ता के बारे में भ्रम न हो इसलिये भगवान् अक्षरोपासकों के लक्षण बता कर उन्हें बार-बार अपना अतीव प्रिय कह रहे हैं। तीसरे से पाँचवें श्लोक तक अक्षरोपासकों का कथन कर छठे श्लोक से सगुणोपासकों के उल्लेख-पूर्वक नौवें श्लोक से साधनान्तर बताये। अब पुनः अक्षरोपासकों के सन्दर्भ में भगवान् कहने जा रहे हैं। ये धर्म ज्ञाननिष्ठों में पूर्णतः सम्भव हैं, अज्ञानियों में नहीं किंतु अज्ञानियों को यथासम्भव इनका अभ्यास करना ही चाहिये, अपने अधिकार के अविरुद्ध अंश का अनुसरण करना ही चाहिए, जैसे स्थितप्रज्ञलक्षणों के बारे में भगवान् भाष्यकार ने कहा था, 'सर्वत्रैव अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते'। अतः यहाँ भगवान् भी अक्षरोपासना करने वालों की चर्या स्पष्ट करते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। १३।।

(जो) किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं रखता, सबसे मित्रता रखता है, दुःखियों पर दया करता है, शरीर तक को अपना नहीं समझता, आचार विद्या आदि का अभिमान नहीं रखता, सुख-दुःख के कारण राग-द्वेष वाला नहीं हो जाता तथा सहनशील बना

रहता है (मुझे वह प्रिय है)।

दो जगह ज्ञान के साधनों को गीता में भगवान् ने बतलाया है - एक यहाँ 'अद्वेष्टा' इत्यादि से और दूसरा, तेरहवें में अमानित्वम् इत्यादि से। इनमें यह क्रम समझना कि अमानित्वादि साधन ज्ञान के उपकारी हैं और अद्वेष्टा आदि साधन उस ज्ञान में निष्ठा के लिए आवश्यक हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट कहा है

अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाद्वेष्ट्रादिसाधनः।

ज्ञानम् उत्पद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः।।(नै.सि.४.६८)।।

अमानित्वादि साधन जिसमें पूरी तरह से स्थिर हो गए हैं और अद्वेषादि साधनों को प्राप्त करने के लिए जो लगा हुआ है, ऐसा निवृत्तिपरायण सर्वकर्मसंन्यासी ही मोक्षहेतु ज्ञान पा सकता है।

सबसे पहला धर्म कहा 'सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा'। चाहे अपने को कितना भी बड़ा दुःख देने वाला होवे, किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करना। कई बार बड़ी उम्र में दाँत जीभ को काटते हैं, बड़ी वेदना होती है, पर चाहे जितनी वेदना होवे, मन में यह नहीं आता कि दाँतों को पत्थर से चूर कर देवें। अथवा, रास्ते में चलते हैं तो अपने दोनों पैरों के टखने कई बार ज़ोर से भिड़ जाते हैं और बड़ी वेदना होती है, पर फिर भी मन में यह नहीं आता कि टखनों को तोड़ कर हटा दें। क्यों? क्योंकि जीभ में जितना आत्मभाव है उतना ही दाँतों में है। दाहिने टखने में जितना आत्मभाव है उतना ही बाएँ टखने में है। इसलिये द्वेष नहीं होता। इसी प्रकार सारे प्राणियों में जो अपने आत्मभाव को देख रहा है उसे द्वेष नहीं हो सकता। उसे लगता है कि कितना भी कोई नुकसान कर देवे, वह नुकसान करने वाला मैं ही तो हूँ। सारे भूतों को वह अपने आत्मरूप से देखता है। एक शरीर में ही हूँ - ऐसा नहीं, सब शरीरों में मैं हूँ - ऐसा वह जानता है। इसको समझने के लिये सपने को याद करो : सपने में एक आदमी तुम्हारी तारीफ करता है, दूसरा आदमी तुम्हारी निन्दा करता है। उठने पर तुम जानते हो कि निन्दा करने वाला भी मैं ही था, स्तुति करने वाला भी मैं ही था। कोई दूसरा तो वहाँ था नहीं। इसी प्रकार इस संसार स्वप्न से जो उठा है,वह जानता है कि जितने प्राणी हैं उन सब भूतों के अन्दर एक मैं ही हूँ। इसलिये द्वेष की सम्भावना नहीं क्योंकि जितना प्रशंसा करने वाला मेरा आत्मा है उतना ही निन्दा करने वाला भी।

बहुत से लोग सोचते हैं कि द्वेष नहीं करेगा तो उदासीन हो जाएगा। इसलिये भगवान् उसका निषेध करते हैं कि उदासीन नहीं, 'मैत्रः' उनके प्रति मित्रता का व्यवहार करता है। अर्थात् उनको लाभ ही पहुँचाने का प्रयास करता है, हानि पहुँचाने को कुछ नहीं करता। जो अपने समान हैं उनके प्रति मित्रता का व्यवहार है और जो अपने से नीचे हैं उनके प्रति 'करुण एव च' जो दुःखी हैं, उनके प्रति उसमें करुणा का भाव रहता है, दया रहती है। समान के लिये सखा भाव और कमज़ोर के लिये करुणा रहती है।

वह उदासीन नहीं है, मैत्र और करुण है। इस पर भाष्यकार कहते हैं 'सर्वभूताभयप्रदः संन्यासी इत्यर्थः' दुःखित को दया के द्वारा अभय प्रदान करता है। बाकियों के लिये मित्रभाव से दयालु रहता है। सभी प्राणियों को अभय देने वाला संन्यासी ही ऐसा कर सकता है। जो प्रवृत्ति-मार्गी है, उसके लिये यह सम्भव नहीं।

'निर्ममः'। हिन्दी भाषा में तो निर्मम का बड़ा बुरा अर्थ मानते हैं, दयाहीन को निर्मम कहते हैं। यहाँ हिन्दी वाला निर्मम नहीं समझना, यहाँ निर्मम अर्थात् 'मम-प्रत्ययवर्जितः', देहादि संघात से सम्बंध वाले से 'मेरा सम्बंध है' ऐसा नहीं समझता है। वह जानता है कि मैं तो अधिष्ठान चेतन हूँ जिसमें सब कल्पित है। अतः जैसे रस्सी में दीखने वाली चार कल्पित चीज़ों का आपस में कोई सम्बंध नहीं है उसी प्रकार से मेरा देह भी कल्पित है, सामने वाले का देह भी कल्पित है, इसलिये इन दोनों का तो सम्बंध सम्भव है ही नहीं। देहादिसंघात से सम्बंध होने से मेरा सम्बंध - यही ममताका अध्यास है। शरीर के अन्दर जब हमने ममभाव किया तब उस शरीर के सम्बंध वाले के प्रति भी ममभाव स्वाभाविक है। ममभाव वहीं होता है जहाँ देहादि का सम्बंध हो। देहादि को कल्पित जानने से यह निर्मम रहता है।

दूसरों के प्रति निर्मम है और अपने शरीर के प्रति 'निरहंकारः' अहंकार से रहित है। अपने शरीर में अहंकार होने पर ही देह-सम्बंधी में ममता हो सकती है इसलिये निरहंकार और निर्मम एक दूसरे से सर्वथा सम्बद्ध हैं। भाष्यकार ने निरहंकार से 'निर्गताऽहंप्रत्ययः' ही अर्थ कहा है अतः विवेकातिशय पूर्वक तत्त्वज्ञानोदय से अहंकार का बाध विवक्षित है। किंतु भाष्यकार ने 'धर्मपूगं ... वक्ष्यामि' से इस प्रसंग को अवतरित किया इसलिये आनन्दगिरि स्वामी ने 'वृत्तस्वाध्यायकृताऽहंकाराद् निष्क्रान्तत्वम् आह' यह व्याख्या की है अर्थात् चरित्र, विद्या आदि में अहंकार का यहाँ निषेध बताया है क्योंकि इसी निरहंकारता का धर्मदृष्ट्या अनुष्ठान संभव है। अर्थात् कृतार्थलक्षण का जब साधक अनुकरण करेगा तब पहले ऐसी निरभिमानता को ही अपने में लायेगा, बाद में अहंकार का बाध कर सकेगा।

'समदुःखसुखः' जिससे दुःख होता है उसमें द्वेष होकर उससे निवृत्ति होती है। जो चीज़ दुःख देती है, उससे हम दूर हटना चाहते हैं। जो चीज़ सुख देती है उससे राग होकर उसके हम पास जाना चाहते हैं, 'वह बार-बार होवे' यह इच्छा होती है। यहाँ जिसे भगवान् अपना प्रिय कह रहे हैं, न दुःख उसकी निवृत्ति का कारण बनता है और न सुख उसकी प्रवृत्ति का कारण बनता है। न सुख की तरफ वह जाना चाहता है, न दुःख से हटना चाहता है। दुःख-सुख दोनों ही उसको निवृत्त या प्रवृत्त नहीं करते हैं। 'समदुःखसुखः' का यह अर्थ याद रखना; बहुत से लोग कहते हैं 'सुख को सुख नहीं समझता, दुःख को दुःख नहीं समझता,' किन्तु भगवान् ने यह नहीं कहा वरन् कहा कि दुःख व सुख दोनों ही उसकी निवृत्ति या प्रवृत्ति के हेतु नहीं बनते। दुःख को दुःख

जानता है, पर दुःख दूर हो - इस प्रकार की चेष्टा नहीं करता क्योंकि जानता है कि दुःख मेरी बिना अर्जी दिए हुए आया है तो बिना लत्ती मारे हुए चला भी जाएगा! *मैं* हटाऊँ तो दुःख हटेगा, ऐसा नहीं है। रस्सी के साँप को मैं हटाऊँ, तब हटेगा ऐसी तो कोई बात है नहीं, वह तो प्रकाश आते ही स्वयं हट जाएगा। इसी प्रकार जब दुःख की निवृत्ति का काल होगा तब दुःख हटेगा। सुख की निवृत्ति का काल आएगा तो लाख कोशिश करके भी वह सुख टिकने वाला है नहीं। अतः दुःख या सुख को वह निवृत्ति या प्रवृत्ति का हेतु नहीं बनाता। इसलिये कहा कि दुःख और सुख समान हैं उसके लिए, समान रूप से अप्रवृत्त रखते हैं।

'क्षमी', सहन करता है। दुःख आये तो उसको भी सहन कर लेता है, सुख आये तो उसको भी सहन कर लेता है। शंका होती है कि दुःख और सुख को तो सभी को सहन करना पड़ता है, फिर विशेषता क्या है? विशेषता यह है कि सब सहन करते हैं अपने सारे परिश्रम से उन्हें हटाने में जब असमर्थ हो जाते हैं तब। जब तक अपने में कर्तृत्व भावना है तब तक 'मैं नहीं करूँगा तो कैसे होगा?' यह दृढ बोध रहेगा ही। इस तरह भी सहन करना तो है, लेकिन उसमें तुम क्षमा के शील वाले नहीं हो, सहन करने के स्वभाव वाले नहीं हो, मज़बूरी में सहन करना पड़ता है। जबकि अक्षरोपासक में क्षमा का शील है। अतः चाहे कोई कितना ही क्रोध कर ले, चाहे जितना नुकसान कर ले, मारपीट दे, उस सबके अन्दर वह अविकार भाव से रहता है। उसमें कोई विकार नहीं आता क्योंकि जानता है कि जिस समय जिस सुख-दुःख का अनुभव होना है, तब होना ही है। अतः कर्त्ता बन करके उसको ला सकता है या हटा सकता है, ऐसा अध्यास या भ्रम उसको नहीं होता।।१३।।

अक्षरोपासक के ही अन्य गुण बताते हैं-

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

जिसे हमेशा लगता है कि जो है वही पर्याप्त है, जिसका चित्त सदा परमात्मा में एकाग्र रहता है, जो देहादिसंघात को हमेशा संयम में रखता है, आत्मतत्त्व के बारे में जिसका प्रमाण-प्राप्त ज्ञान कभी संशयित नहीं होता है, जिसके संकल्प व निश्चय मुझ परमेश्वर को ही अर्पित रहते हैं, ऐसा मुझसे अहेतु प्रेम रखने वाला मुझे प्रिय है।

'सततं' हमेशा। देह की स्थिति रखने की चीज़ें, रोटी आदि, मिल जाएँ अथवा देहस्थितिकारण की अप्राप्ति होवे, दोनों में ही उसे हमेशा अलम् प्रत्यय रहता है कि जो मिला वह ठीक है, जो नहीं मिला वह भी ठीक है। गुणवाली चीज़ मिले, बढ़िया राजभोग मिल जाए, या दुष्ट चीज़ मिले, बाजरे का बासी सोगरा मिल जाए, दोनों ही स्थितियों के अन्दर वह निरन्तर संतुष्ट ही रहता है। असंतोष किसी-न-किसी कामना

को लेकर होता है। कामना-रहित होने से इसका सहज संतोष है। 'योगी' सदा सर्वदा अधिष्ठान के चिन्तन में ही, अधिष्ठान के योग में ही लगा रहता है। अपने आपको इस सारी संसार-लीला का अधिष्ठान मानता है। 'माया के कारण यह सब खेल मुझ में ही हो रहा है जैसे निद्रा के कारण स्वप्न के सारे पदार्थ मैं ही देखता हूँ' ऐसा विचार कायम रखता है। जगे हुए को मन में यह नहीं होता कि 'सपने में उसने राजभोग दिया था अतः वह अच्छा आदमी था, उसने गाली दी थी अतः वह बुरा था।' सपने से उठा हुआ जानता है कि दोनों एक-जैसे थे। इसी प्रकार से यह भक्त निरन्तर अधिष्ठान रूप से ही रहता है। 'यतात्मा'; शरीर, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि - इन सबको भली प्रकार से अन्तर्मुखी बना कर ही रखता है। 'दृढनिश्चयः' - आत्मतत्त्व के विषय में, अपनी अधिष्ठान-रूपता और सारे संसार के मिथ्यात्व के बारे में उसका निश्चय दृढ रहता है, स्थिर रहता है। चाहे जितना संसार में कुछ भी दीखे, इसके मन का कभी भी निश्चय नहीं डोलता। चीज़ें अपने अनुकूल होवें तब तक तो सब संतोषी अपने को अनुभव करते हैं। बहुत-से कहते भी हैं 'हमें कुछ नहीं चाहिए, जो मिल जाता है घर में वही खा करके शान्त रह जाते हैं। जो भगवान् ने दिया, प्रारब्ध ने दिया, वही खाने को मिलता है।' पर यदि पत्नी महीने भर तक भोजन न बनावे तब 'पत्नी नहीं बना रही इसलिये भोजन नहीं मिल रहा' यह वृत्ति बनती है, 'मेरे प्रारब्ध में नहीं है इसलिये नहीं बन रहा है' - यह वृत्ति नहीं बनती। दृढ निश्चय का मतलब है स्थिर निश्चय। किसी भी परिस्थिति के अन्दर अपने में या किसी और में कर्त्तृत्वभावना आती ही नहीं है क्योंकि हमेशा अधिष्ठान रूप का निश्चय रहता है।

अन्तर्मुखता क्या है? यही बतलाते हैं 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'। मन संकल्प-विकल्प करने वाला है। बुद्धि निश्चय करने वाली है। संकल्प-विकल्प परमात्मा के बारे में ही करता है और अधिष्ठान रूप के बारे में ही अपना निश्चय करता है। घट की प्रतीति हुई तो घट के बारे में सोचने-समझने के बजाये वह 'प्रतीति अर्थात् ज्ञानरूप मैं हूँ' इसी को सोचता-समझता है। जब मन और बुद्धि अन्दर में विद्यमान प्रत्यगात्मा पर समर्पित हैं, तब ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ स्वभावतः उसी को अर्पित रहेंगी। जैसे ज्ञानों में वह ज्ञानरूप आत्मा पर केन्द्रित रहता है, ऐसे कर्मेन्द्रियों से क्रिया होने पर जानता है कि आत्मरूप से मैं हूँ तब क्रिया हुई। इस प्रकार से मन और बुद्धि दोनों अन्दर में विद्यमान जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमेश्वर है, उसी के बारे में चिंतन व निश्चय करते हैं।

इस प्रकार का जो 'मद्भक्तः' प्रत्यगात्मतत्त्व का ईश्वर से अभेद जान करके उसी की भक्ति में लगा हुआ है, वह 'मम प्रियः' मुझे प्रिय है। उसे मालूम रहता है कि सारा संसार परमेश्वर का माया के द्वारा दिखाया जाने वाला खेल है, और वह अधिष्ठान परमेश्वर प्रत्यगात्मा से अभिन्न है। प्रत्यगात्मरूप जानने से उसे परमेश्वर से असीम प्रेम होता है। प्रत्यगात्मा से अन्यत्र तो सीमा में ही प्रेम हो सकता है, बिना सीमा के हम

केवल स्वयं से प्रेम करते हैं। क्योंकि वह परमेश्वर को स्वयंरूप जानता है, इसलिये उसे परमेश्वर से असीम प्रेम होता है। ऐसा जो भक्त है 'स मे प्रियः' वह मेरा प्रिय है। कितना प्रिय है? कहीं पर कहा है कि 'जो इस प्रकार से परमात्मा में स्थित रहते हैं उनका मैं अनुव्रजन करता हूँ, उनके पीछे-पीछे चलता रहता हूँ!' आगे बड़ी विचित्र बात कही - 'मैं उनके चरणों की धूल से पवित्र हो जाऊँगा!' अर्थात् जिससे मेरा मायाधीश रूप कल्पित है, वह माया उनके द्वारा हर क्षण काटी जा रही है तो जो माया की अपवित्रता है वह सारी वे लोग हटाते ही रहते हैं। इसलिये उन्हें अपना अत्यंत प्रिय कहा। पहले भी (७.१७) भगवान् कह आए हैं 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' वह सिवाय मुझ अधिष्ठान के दूसरा चिन्तन करता नहीं और मैं अधिष्ठान उसके प्रत्यगात्मरूप से प्रकाशित होने के सिवाय कुछ करता नहीं! अधिष्ठान ही प्रत्यगात्मरूप से प्रतीत होता है और ज्ञानी प्रत्यगात्मा को ही अधिष्ठानरूप से देखता है। इसलिय कहा 'स मे प्रियः'।।१४।।

अक्षरोपासना में संलग्न साधक को कर्तव्योपदेश करने के लिये भगवान् बता रहे हैं कि निष्ठा होने पर बिना प्रयत्न के ही किस प्रकार की चर्या हो जाती है। ज्ञान-निष्ठा वाला और ज्ञाननिष्ठा का साधक, दोनों बाहर से तो एक जैसे ही लगते हैं, परन्तु फ़र्क इसको लेकर है कि जब तक प्रयत्न-पूर्वक करना पड़ता है तब तक साधक है और जब स्वभाव से होने लगता है तब समझना चाहिए कि ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति हो गई। ज्ञानवान् के ही अन्य धर्म बताते हैं-

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

जिससे लोग सन्तप्त, क्षुब्ध नहीं होते, जो स्वयं भी लोगों से त्रास का अनुभव नहीं करता, प्रिय के लाभ से जो प्रफुल्लित नहीं होता, दूसरों के उत्कर्ष से जिसे डाह नहीं होता, जो डरता नहीं एवं व्याकुल नहीं होता, वह मुझे प्रिय है।

ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त साधक कोई कार्य ऐसा नहीं करता जिससे लोगों को किसी प्रकार का क्षोभ होवे। उसके आचरण से, व्यवहार से 'लोकः' सामान्य लोग, प्राकृत लोग 'न उद्विजते' उद्वेग को प्राप्त नहीं करते। उद्वेग का अर्थ है गलत आचरण को देखकर मनुष्य के मन में उसके प्रति जो विरोधी भावना आती है। किसी को बहुत ही बुरा काम करते देखते हैं तो अपने को उससे जो क्षोभ होता है वह उद्वेग है। अक्षरोपासकका ऐसा कोई आचरण नहीं होता है, जिसके कारण दूसरों को किसी प्रकार का संताप होवे या क्षोभ होवे। जैसे वह अपने आचरण से किसी को उद्विग्न नहीं करता वैसे ही 'लोकान्नोद्विजते' लोगों के किसी भी प्रकार के आचरण से उसको कभी उद्वेग नहीं होता! दूसरा कितना भी ग़लत काम करे, उससे अक्षरोपासक को उद्वेग नहीं होता।

जिसे साधारण व्यवहार में उद्वेग नहीं होता वह दूसरों को उद्विग्न करता रहता है। दूसरे के कुछ करने से उसको तो उद्वेग नहीं होता इसलिये उसके मन में रहता है 'मैं कुछ भी कर लूँगा तो कोई दूसरा क्या करेगा'। किंतु भक्त में दोनों बातें नहीं हैं। वह कोई आचरण ऐसा नहीं करता जिसके लिए कोई उस से उद्विग्न होवे। साधकों के लिये यह ध्यान देने की बात है। अनेक बार मन में आता है 'हमें क्या मतलब!' और ऐसा आचार कर देते हैं जो लोकोद्वेजक हो जाता है। भगवान् का प्रेम पाना है तो यह प्रवृत्ति छोड़कर सावधान रहना चाहिए कि लोक अर्थात् सामान्य लोगों को अनावश्यक उद्वेग न पहुँचाया जाये। दूसरों के अच्छे-बुरे व्यवहार से खुद उद्वेग न महसूस करना काफी नहीं, दूसरों के उद्वेग-हेतु न बनें यह भी ज़रूरी है। इसलिए भगवान् ने दोनों चीज़ों को साथ ही कहा। प्रायः देखा जाता है, जो अपने जीवन में नियम से तपस्या-पूर्वक काफी सहन कर लेते हैं उनसे दूसरे में वह गलती सहन बिलकुल नहीं होती। जो अपने पर पूरा नियंत्रण रखता है वह चाहता है कि सामने वाला भी नियन्त्रण में रहे। किन्तु अक्षरोपासक के लिये भगवान् धर्म बता रहे हैं कि दूसरा कुछ भी करे उससे तो कोई क्षोभ नहीं माने तथा खुद ऐसा कुछ नहीं करे जिससे दूसरे को क्षोभ होवे।

हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग इनसे रहित रहता है। हर्ष - कोई चीज़ जो अपने को प्रिय हो, उसकी प्राप्ति होने पर मन में जो एक उत्कर्ष का अनुभव होता है। जैसे हमें दाल का सीरा अच्छा लगता है, तो बढ़िया दाल का सीरा मिलने पर 'वाह! आज बड़ा अच्छा हुआ, बहुत अच्छा खाना मिला' ऐसी प्रफुल्लता हर्ष है। एक सज्जन सत्तर साल के हो गए, उनके तीन लड़के थे लेकिन पोता नहीं था एक भी। उस उम्र में उनके पोता पैदा हुआ, इसका उनको इतना हर्ष हुआ कि सारे शरीर के रोम खड़े हो गए और आँखों से आँसू आने लगे। जैसे दुःख में आँसू आते हैं वैसे ही अत्यन्त प्रसन्नता होती है तब भी आँसू आते हैं। उससे पता लगता है कि कितना हर्ष हुआ है। परन्तु जो ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त है उसको चाहे जितने प्रिय पदार्थ का लाभ होवे, उससे उसको कोई उत्कर्ष का अनुभव नहीं होता, हर्ष नहीं होता। क्यों? ज्ञाननिष्ठा के अन्दर जो प्रवृत्त है वह जानता है कि जो भी प्रतीत हो रहा है, वह चाहे दुःख देने वाला प्रतीत हो रहा है या सुख देने वाला प्रतीत हो रहा है, दोनों ही एक-जैसे मिथ्या हैं। अतः उसको हर्ष नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं समझ लेना कि उसके चेहरे इत्यादि पर प्रसन्नता नहीं आती! प्रसन्नता और हर्ष में बहुत फ़र्क है। प्रसन्नता तो केवल इस बात को बतलाती है कि जो प्रतीति या अनुभव हो रहा है, वह हमारे अनुकूल है, बस इतना ही। उससे अपने में उत्कर्ष का अनुभव नहीं होता। साधारण आदमी को दाल का हलुआ मिलने पर प्रसन्नता होती है पर यदि गवर्नर साहब निमन्त्रण देकर भोजन करायें तो मन में हर्ष होता है कि 'अरे! आज तो गवर्नर साहब के यहाँ खाना खाया।' उससे अपना उत्कर्ष, अपने में किसी बड़ाई का अनुभव होता है। सामान्य रूप से घर में दाल का

हलुआ बनाया, खा लिया, तो उससे प्रसन्नता होती है, पर हर्ष नहीं, 'मैं धन्य हो गया' यह भावना नहीं है। परन्तु जब सत्तर साल की उम्र में पोता पैदा होता है तब प्रतीति होती है 'मैं धन्य हो गया'। भक्त को भी सामान्य अनुकूलता और प्रतिकूलता का ज्ञान होता है परन्तु अनुकूलता से अपने में उत्कर्ष का बोध नहीं होता।

अमर्ष का मतलब होता है सहन न कर सकना। दूसरे की उन्नति को देखकर अनेक मनुष्यों को सहन नहीं होता कि 'इसका उत्कर्ष क्यों हो गया'। मन में तुरन्त आता है कि मेरा ऐसा उत्कर्ष क्यों नहीं हुआ? दो मुनीम काम कर रहे हैं। एक मुनीम का वेतन तुमने चार सौ बढ़ा दिया और दूसरे का तुमने सौ बढ़ाया। जिसका सौ बढ़ाया वह अमर्ष के कारण सौ की बढ़ोत्तरी से खुश नहीं होता, 'इसके क्यों चार सौ बढ़ गए, मेरे क्यों नहीं बढ़े' यह अमर्ष उसे परेशान करता है। प्रसन्न तो इस बात से होना चाहिए कि 'मेरे सौ बढ़े हैं'। अगर दूसरे के चार सौ नहीं बढ़ते तो प्रसन्न होता भी, पर दूसरे के चार सौ क्यों बढ़ गए, जबकि मेरे नहीं बढ़े - यह जो असहिष्णुता है वह अमर्ष कही जाती है। योग-शास्त्रों में इसीलिये कहा है कि अभ्यास करना चाहिए कि दूसरे की कोई उन्नति होवे तो उसमें मुदिता की भावना होवे, तुम्हारे मन में प्रसन्नता होनी चाहिए कि किसी की उन्नति हो रही है। आधुनिक व्यवहार में अमर्ष को बढ़ावा मिल रहा है। लोकतंत्र में ज़्यादा लोगों को अपनी ओर रखने का सरल उपाय यही है कि जिसका उत्कर्ष हो रहा है या हुआ है उसके प्रति असहिष्णुता पैदा की जाये। उसका उत्कर्ष उसकी अच्छाई से हुआ - यह यदि दीख गया तो लोग उसके पक्षधर हो जायेंगे, इस डर से अमर्ष का प्रचार करते हैं। हमारी प्राचीन संस्कृति ने हर क्षेत्र में उन्नति ही की, राष्ट्र की समूचे विश्व में कीर्ति ही प्रतिष्ठित की। बुद्धिमान् तो सोचता है कि ज़रूर उस संस्कृति में मूलभूत अच्छाई है, जो सैकड़ों वर्षों तक लगातार सुव्यवस्थित प्रगति होती रही। किंतु जो बुद्धि का पक्षधर नहीं, अपने धड़े में भीड़ बढ़ाना चाहता है वह उस व्यवस्था के गुणों से अमर्ष का ही स्वयं अनुभव करता है और दूसरों को भी उससे अमर्ष पैदा कराता है कि किसी को उस व्यवस्था की महत्ता सहन न हो। जैसे प्राचीन संस्कृति के बारे में, वैसे ही आज के पूंजीवाद, साम्यवाद आदि के बारे में; हर-एक को दूसरे का उत्कर्ष सहन नहीं होता। और अपना अमर्ष खुलकर व्यक्त करते हैं! पहले लोग अमर्ष को बुरा मानकर छिपाते थे, आज उसे प्रकट करने में लज्जा नहीं आती। पहले भी अमर्ष होता था पर कम से कम उसको प्रकट करने में शर्म आती थी। अब तो खुले-आम दूसरों को बुरा कहना, अपने को अच्छा कहना - इसको जायज माना जाता है। यह लोकतंत्र का एक अभिशाप है कि इसमें अमर्ष की भावना बढ़ती ही चली जाती है। परन्तु जो ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त है, उसको मुदिता की भावना को लाकर अमर्ष को खत्म करना चहिए। अमर्ष का आधार भेदबुद्धि है। अगर तुम्हारे लड़के की तनख्वाह बढ़ जाती है तो तुमको अमर्ष नहीं होता, क्योंकि लड़के के अन्दर तुमको आत्मबुद्धि

है। तुम्हारी पत्नी को कोई नौलखा हार दे और तुम्हारी भाभी को दो लाख का हार दे तो 'पत्नी को क्यों मिला' इससे तुमको अमर्ष कभी नहीं होगा क्योंकि पत्नी में आत्मबुद्धि है कि, 'उसे जो मिला वह मुझे ही मिला'। अमर्ष का आधार भेदबुद्धि है। जिसको हम दूसरा समझते हैं उसकी उन्नति होने पर सहन नहीं होता। जिसको हम अपना समझते हैं उसकी उन्नति होने पर अमर्ष नहीं होता। जो जानता है कि सारे प्राणियों में रहने वाला आत्मा एक ही है, जो निरन्तर भेदबुद्धि को हटा रहा है, उसमें अमर्ष की सम्भावना ही नहीं है। फिर भी, अगर प्राचीन संस्कार के कारण अमर्ष आता है तो तुरन्त उसको हटाता है।

भय - जो हमें त्रास होता है, डर लगता है। सामने से शेर आ जाये तो त्रास होता है कि मुझे खा लेगा। ऐसा भय भक्त को नहीं होता। भय का कारण है शरीर आदि को अपना वास्तविक स्वरूप समझना। शेर किसको मारेगा? शरीर को मारेगा। जब शरीर मेरा स्वरूप नहीं है तो शरीर को मारे, इससे मुझे भय क्यों, त्रास क्यों? अतः सर्वभूतात्मभूतात्मा की दृष्टि रखने वाले में भय सम्भव नहीं। इसका मतलब यह नहीं है कि शेर सामने से आवे तो तुम दूर न हटो! भय का, त्रास का अनुभव नहीं होना चाहिए। सामान्य व्यवहार में तुम दूर हटते हो वह त्रस नहीं है। त्रास में घबराहट होती है 'सब कुछ गया, बड़ा भयंकर काण्ड हो गया' ऐसी व्यथा होती है। इस प्रकार का भय उसको नहीं होता।

उद्वेग - चूंकि लोकों से उद्वेग का तो पहले ही निषेध कर दिया है अतः यह उद्वेग है जहाँ दूसरा नहीं है, केवल अपने मन से सोच-सोच कर उद्वेग होता है। लड़के की चार बजे छुट्टी होती है, पाँच बजे तक घर आ जाता है। छह बज गए, घर आया नहीं। तुमको कुछ पता नहीं है कि क्या हुआ पर उद्विग्नता हो जाती है, 'अरे, क्या हुआ? कहीं दुर्घटना न हो गयी हो! ' मन की कल्पनाओं से ही तुम्हें उद्वेग, व्याकुलता हो रही है। कोई तुमको उद्विग्न कर नहीं रहा है, केवल अपनी कल्पनामात्र से ही उद्वेग हो रहा है। भक्त को ऐसी व्याकुलता भी नहीं होती।

हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से जो मुक्त है, 'स च मे प्रियः' वह मुझे प्रिय है। जैसा भगवान् ने पहले भी कहा था, 'प्रियो हि ज्ञानिनः अत्यर्थम्,' ज्ञानी मुझे प्रिय है, अतः 'स मे प्रियः' अर्थात् वह ज्ञानी है, ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त है अथवा ज्ञाननिष्ठा वाला है अतः प्रिय है।।१५।।

भगवान् का प्रिय बनने के लिये और कौन-से धर्म अपनाने चाहिये, यह कहते हैं-

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

निःस्पृह, पवित्र, कुशल, पक्षपातहीन, व्यथारहित एवं कामहेतुक कर्म छोड़ने के

स्वभाव वाला जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

'अनपेक्षः'; शरीर को किसी विषय की अपेक्षा है तो उस अपेक्षा को अपनी अपेक्षा समझ लेना कि इसकी मुझे ज़रूरत है, यह अज्ञान में स्वाभाविक है। शरीर को ज़रूरत है, इसका मतलब नहीं कि मुझे ज़रूरत है। शरीर अगर भूखा है तो शरीर को भोजन की ज़रूरत है परन्तु भोजन न मिलने से मुझमें तो कोई फ़र्क आएगा नहीं, शरीर में ही फ़र्क आएगा। जो जानता है 'मैं शरीर से अलग हूँ' वह शरीर की अपेक्षा से स्वयं अपेक्षावान् नहीं बनता। जैसे शरीर की अपेक्षायें हैं, वैसे ही इन्द्रियों को भी विषयों की अपेक्षा है। भक्त को ऐसी अपेक्षा नहीं होती, इन्द्रियों की, मन की, अपेक्षाओं को अपने पर नहीं ओढ़ता। जैसे सर्दी के मौसम में त्वगिन्द्रिय सर्दी को सहन कर नहीं पा रही है, अतः उसे ओढ़ने के लिये रजाई चाहिए, पर रजाई नहीं होवे तो मैं शान्त या सुखी नहीं रह सकता - ऐसी बात भक्त में नहीं है। अभक्त तो शरीर और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं पूरी हो रही हो तो स्वयं दुःखी हो जाते हैं। इसी प्रकार से सम्बंध भी ऐसे होते हैं जिनसे हमें अपेक्षा होती है। बहुतों को 'धन्यवाद' सुनने की ही अपेक्षा बनी रहती है, अगर नहीं कहा तो दुःखी हो जाते हैं कि 'मैंने इतना किया और उसने धन्यवाद भी नहीं कहा'। व्यवहार में ऐसी बहुत-सी अपेक्षाएँ बनी रहती हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं दुःखी होता रहता है। किन्तु अक्षरोपासक ऐसी अपेक्षाएँ भी नहीं रखता। इस प्रकार किसी भी चीज़ की अपेक्षा, अर्थात् कोई स्पृहा नहीं रहती। 'यस्मान्नोद्विजते लोकः' से कह आए हैं कि भक्त के लिये तो कोई छोटा-सा काम करेगा तो वह उसे धन्यवाद कहेगा ही। वह ऐसा आचरण नहीं करेगा कि सामने वाले को उद्वेग होवे। परन्तु सामने वाला ऐसा आचरण करे, यह अपेक्षा उसे नहीं रहेगी।

'शुचिः,' हमेशा पवित्र रहता है। यहाँ दोनों तरह के शौच समझ लेना - बाह्य शौच और आभ्यन्तर शौच। बाह्य शौच अर्थात् शरीर को साफ रखना। हाथ धोना, स्नान करना इत्यादि बाह्य शौच है। आभ्यन्तर शौच - राग-द्वेष आदि मन की अशुद्धि हैं, इनको मन में न रहने देना। कुछ लोगों का वर्त्तमान में कहना है कि मन साफ चाहिए, बाहर के आचरण से क्या! कहते हैं 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। किंतु ऐसा आचरण ज्ञाननिष्ठा वाले का नहीं है। वह बाह्य शौच भी रखता है, आभ्यन्तर शौच भी रखता है। भगवान् के मत में बाहरी अशुद्धि रखना ज्ञाननिष्ठा के अनुकूल नहीं है। बाह्य भी पवित्रता उतनी ही चाहिये जितनी आभ्यन्तर पवित्रता।

'दक्षः,' किसी भी काम के सामने आने पर उसको पूर्ण चतुराई के साथ कर सकना। परिस्थिति आते ही 'इस परिस्थिति के अन्दर क्या करना है' इसको समझने में भक्त हमेशा कुशल होता है। अर्थात्, ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त आदमी में बेवकूफी नहीं हुआ करती! जो कार्य सामने आ गया, उस समय अपने आप ही उसकी जो दक्षता है, वह प्रकट हो जाती है। उस काम को वह भली प्रकार से कर लेगा। वर्तमान में बहुत-से

लोग समझते हैं कि भला आदमी बेवकूफ हुआ करता है; 'बहुत भले आदमी हैं' ऐसा जब कहते हैं तब उनका मतलब होता है कि इनमें चतुराई नहीं है। परन्तु भगवान् कहते हैं 'दक्षः', भक्त के अन्दर पूरी चतुराई होती है।

'उदासीनः' कभी भी किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। किसी भी पक्ष की तरफ नहीं जाता, पक्षपात-रहित रहता है। 'यह मेरा मित्र है, पुत्र है, इसने ग़लती कर दी तो माफ कर दूँ। यह दुश्मन का पुत्र है, इसको तो जो बुरा काम किया है उसका दण्ड मिलना ही चाहिए' - ऐसा भेदभाव-पूर्ण व्यवहार उसके मन में भी नहीं आता। संसारी लोग नियम-पालन में कठोरता की बातें उन्हीं के लिये करते है जिनमें उन्हें ममता नहीं; जहाँ अपनों की बात आती है वहीं सारी ढील उन्हें उचित दीखती है। भक्त का ऐसा सोचना-करना नहीं होता, जो ठीक है वह हर परिस्थिति में करता है।

'गतव्यथः' व्यथा उसमें किसी चीज़ के लिये नहीं है। व्यथा में और दुःख में थोड़ा फ़र्क है। शरीर-इन्द्रियों को तो दुःख होता है परन्तु उस दुःख से मन में पीडा व्यथा है। जैसे बच्चे ने कहा 'मुझे रसगुल्ला खाना है'; अपने पास पैसा नहीं है। उसे कहते हैं 'बेटा, रसगुल्ला तो नहीं ला सकते'। रसगुल्ला नहीं ला सकता - यह दुःख की बात तो है पर व्यथा मन की यह दशा है कि 'हाय! मेरे पास यदि आज पैसा होता तो क्या न हो जाता'। भक्त के अन्दर व्यथा नहीं होती। व्यथा के कारण ही मनुष्य न जाने कैसे-कैसे कार्य प्रारम्भ कर देता है। व्यथा दूर करने के लिये मनुष्य बड़े-बड़े प्रयत्न करता है। लड़के ने कहा 'रसगुल्ला खिलाओ', पैसा पास है नहीं, पड़ौसी से उधार लेकर खिला देता है। उधार लेना कितना बुरा है, परन्तु उसमें प्रवृत्त हो जाता है।

क्योंकि गतव्यथ है इसलिये आगे कहा 'सर्वारम्भपरित्यागी'। आरम्भ - यहाँ हो या स्वर्गादि में, 'मेरी इच्छा पूरी होगी' इस भाव से प्रवृत्त होकर जो कर्म किया जाता है उसको आरम्भ कहते हैं। जो फलभोग के लिये नहीं किया जाता, केवल शास्त्राज्ञा से किया जाता है, उचित है इसलिये किया जाता है, वह आरम्भ नहीं है। प्रायः अधिकतर कर्तव्य ऐसे हैं जिन्हें पूरा करने में मनुष्य को दुःख का ही अनुभव होता है। सवेरे उठने से देख लो : सर्दी के मौसम में सवेरे चार बजे उठना कर्तव्य है, और दुःखदायी है। तारे रहते हुए जो संध्या शुरू की जाती है वह उत्तम मानी गई है। उठकर नहाने में कोई सुख होता हो, ऐसा नहीं है। कर्तव्य करना ही चाहिए, इसलिये करते हैं। इस प्रकार के कर्तव्यों के त्याग को आरम्भ-त्याग से नहीं कह रहे! कामना से प्रेरित होकर किये जाने वाले लौकिक-पारलौकिक कार्यों को छोड़ना आरम्भत्याग है। इह हो या अमुत्र हो, भोग के लिय, हमारी कामना-पूर्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं उनको आरम्भ कहते हैं। भक्त इस प्रकार के सारे कर्मों का परित्याग करता है। अर्थात् भोग के लिये, अपनी कामना की पूर्ति के लिये कोई कर्म नहीं करता। हिन्दी में भी कहते हैं 'मन के मते न चालिए', मन की बात सुन कर काम नहीं करना चहिए। अभी तो हम लोगों ने मान लिया है कि मन जो कहता है वही सुख मिलने

की बात है। किंतु भक्त, मन जो कहता है उसको करने नहीं चलता, उसका तो परित्याग करता है। परित्यागी अर्थात् उसको छोड़ना जिसका शील, स्वभाव हो गया है। मन के द्वारा अपने को प्रवृत्त न होने देने का जिसका स्वभाव है वह हमेशा, हर परिस्थिति में सामने रखता है कि क्या उचित है, वही करना है। हमारी कामनाओं की जो पूर्ति करे उसको नहीं करना है, जो हमारे लिये कर्तव्य है वही करना है। यह जिसका स्वभाव हो गया वह सर्वारम्भ-परित्यागी है । 'यो मद्भक्तः' जो ऐसा मेरा भक्त है 'स मे प्रियः' वह मुझे प्रिय है क्योंकि वह ज्ञानी है।।१६।।

ज्ञानी के ही लक्षणों का विस्तार करते हैं-

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।।१७।।

इष्टलाभ से जिसे हर्ष एवं अनिष्ट होने पर द्वेष नहीं होता, प्रिय का वियोग होने पर जो शोक नहीं करता और अप्राप्त की चाहना नहीं रखता, साथ ही, स्वभाव से जो शुभ-अशुभ कर्म छोड़े रहता है, ऐसा भक्तियुक्त मुझे प्रिय है।

जो पहले कह आए हैं उसी को स्पष्ट करके कहते हैं। जो पदार्थ अपने को अच्छा लगता है, अपना इष्ट है, उसकी प्राप्ति होने पर वह हर्ष नहीं करता। ये बातें दुबारा इसलिये कह रहे हैं कि इनकी महत्ता स्पष्ट हो। संस्कृत में कहते हैं 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' अगर तुम किसी रस्सी में या कपड़े में एक बार ही गाँठ लगाओ तो झट से खुल जाती है, लेकिन एक बार लगाकर ऊपर से दुबारा लगा दो, तो फिर चाहे जितना खींचो, नहीं खुलेगी। इसलिये जहाँ कहीं गाँठ लगानी हो वहाँ हम लोग दो बार लगाते हैं। इसी प्रकार जो बात दो-तीन बार कही जाए वह पक्की हो जाती है। इसी तरह यहाँ समझ आ जाता है कि यही भगवान् का तात्पर्य है। वेद में भी बहुत-सी बातों को दोहरा कर कहते हैं। साहित्य आदि के अन्दर पुनरावृत्ति को दोष माना है। पर आचार्य शंकर कहते हैं कि वेद में कोई आलस्य नहीं है कि दुबारा न बताये! वैद्य जब पथ्य समझाता है तब कई बार दुहराता है कि रोगी को पक्की तरह याद रहे, पथ्य की आवश्यकता वह समझकर याद रखे। इसी तरह भगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं। गुरु को भी ख्याल रखना चाहिये कि शिष्य दस बार पूछे, बीस बार पूछे, तो यह न सोचे कि 'एक बार तो कह दिया'; जितनी बार तक उसकी समझ में न आवे उतनी बार तक उसको समझाता रहे। हर्ष का अर्थ यहाँ भी समझ लेना कि सुख से अपने में जो उत्कर्ष-बोध है वह उसे नहीं होता, जो सामान्य प्रसन्नता है उसका निषेध नहीं। जैसे हर्ष का अनुभव नहीं करता, वैसे ही जो अपने को अच्छा नहीं लगता है ऐसा अनिष्ट प्राप्त होने पर उसके प्रति द्वेष नहीं करता। प्रतिकूल अनुभव होना तो स्वाभाविक है। सर्दी है, ठंडी हवा चली तो अच्छी नहीं लगेगी, परन्तु 'हाय! क्यों चली? नहीं चलनी चाहिए थी! कैसे इससे दूर भागूँ?' यह सब प्रवृत्ति द्वेष

से है। जैसे हर्ष उत्कर्ष की भावना है वैसे ही द्वेष ठीक उससे भिन्न, अपकर्ष की भावना है। इन दोनों से अक्षरोपासक दूर रहता है। 'न शोचति' प्रिय पदार्थ के वियोग होने पर शोक नहीं करता कि 'हाय! वियोग क्यों हो गया'! उसको निश्चय है कि प्रारब्ध के अनुसार जब जैसी प्रतीति होनी है वैसी होती ही है। दुःखमात्र से ज़्यादा जो मन में शूल चुभता है वह शोक है, उसका भक्त के लिये निषेध कर रहे हैं। यथाप्रारब्ध ही प्रतीतियाँ होती हैं। इस निष्ठा के कारण ही भक्त हर्ष, द्वेष, शोक आदि से बचा रहता है।

ठीक जिस प्रकार से बाईसकोप देखने जाओ तो जो उसमें भरा हुआ है वही तुमको दीखेगा। पुराने जमाने में नाटक होता था। कोई बहुत बढ़िया खेल करता था तो लोग तालियाँ बजाते थे, कहते थे 'फिर से, फिर से,' तो वह पुनः उस दृश्य को खेलकर दिखा देता था। दक्षिण भारत के अन्दर एक नट मरने का अच्छे ढंग से मंचन करता था। लोग तालियाँ बजाते थे तो वह फिर खड़ा होकर मर जाता था! परन्तु सिनेमा में ऐसा कुछ नहीं कर सकते। चाहे जितनी तालियाँ बजाओ, जो भरा हुआ है वही देखते जाना पड़ेगा। इसी प्रकार से प्रतिकूल-अनुकूल जो अनुभव हमको प्रारब्ध के अनुसार होने हैं वे वैसे ही होते जाएँगे, उसमें तुम कुछ भी नहीं कर सकते। इस बात को जानने के कारण भक्त को शोक नहीं होता। 'न काङ्क्षति' शोक प्रिय चीज़ के वियोग से होता है और प्रिय चीज़ प्राप्त नहीं हो तो उसकी आकांक्षा रहती है, चाहना होती है। जैसे वह जानता है कि वियोग देखना है तो देखना पड़ेगा, वैसे जानता है कि जिस समय संयोग को देखना होगा उस समय संयोग ही दीखेगा। इसलिये उसकी कोई आकांक्षा नहीं रखता है।

'शुभाशुभपरित्यागी' चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, वह सभी को छोड़े रहता है। जितने कर्म हैं वे शुभ या अशुभ दो प्रकार के होते हैं। न उसको शुभ कर्म के फल की अभिलाषा है, न अशुभ कर्म के फल की प्राप्ति न हो यह अभिलाषा है। अतः शुभ-अशुभ दोनों कर्मों में वह किसी फल की इच्छा से प्रवृत्त नहीं होता। शुभ और अशुभ दोनों ही प्रयोजन उसको कर्म में प्रवृत्त करने में असमर्थ हैं। शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का परित्याग करने का जिसका स्वभाव है वह शुभाशुभपरित्यागी है। वह पुण्य और पाप दोनों का ही परित्याग करता है। पाप का फल दुःख है, वह उसको इष्ट नहीं और पुण्य का फल सुख है, वह भी उसको इष्ट नहीं। पाप इसलिये इष्ट नहीं कि वह उसका स्वरूप नहीं है। दुःख हमेशा उपाधि को लेकर ही होता है। बिना उपाधि के दुःख का अनुभव नहीं। मन, प्राण, इन्द्रियाँ, शरीर - इनमें किसी चीज़ को निमित्त बना कर ही दुःख का अनुभव होता है। शरीर में दर्द है, सिर में दर्द है, शरीर जल गया, शरीर में फोड़ा हो गया, इन निमित्तों से दुःख होता है। अथवा इन्द्रियों से दुःख होता है। आँख ठीक से देखती नहीं, कान ठीक से सुनता नहीं, हाथ से गिलास ठीक से उठा सकते नहीं - इस प्रकार इन्द्रियों के निमित्त से दुःख होता है। किसी ने गाली दे दी,

अपमान कर दिया - तो मन दुःखी हो जाता है, मन के निमित्त से दुःख होता है। दुःख हमेशा किसी-न-किसी उपाधि से होता है।

यद्यपि जाग्रत्-स्वप्न में जो सुख है वह भी किसी उपाधि से है तथापि सुषुप्ति में पता लगता है कि बिना किसी उपाधि के ही हम आनन्दरूप से स्थित रहते हैं। सुषुप्ति का जो सुख है वह शरीर का सुख नहीं, इन्द्रियों का सुख नहीं, मन का सुख नहीं, क्योंकि ये सब वहाँ नहीं हैं पर सुख है। इसलिये सुख उपाधि से भी होता है परन्तु सुख बिना उपाधि के भी होता है। इसलिये निश्चय हो जाता है कि सुख अपना स्वरूप है, विषय से भी अपना अन्दर का सुख ही प्रकट होता है। विषय *से* सुख होता नहीं, अपने अन्दर का सुख ही प्रकटमात्र होता है। जो ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त है वह केवल इस एक निरतिशय आनन्द को ही इष्ट समझता है। न विषय से सुख लेने की उसकी इच्छा है, न विषय-प्रयुक्त दुःख से बचने की इच्छा है। जो विषयों से सुख या दुःखनिवृत्ति चाहता है वही शुभ और अशुभ करता है। अतः निरतिशय आनन्द को अपना स्वरूप अनुभव करने वाला अपरोक्ष साक्षात्कार की दृढता के लिये प्रवृत्त भक्त शुभ और अशुभ दोनों कर्मों को छोड़ता है।

'भक्तिमान् यः' जो ऐसी भक्ति वाला है वह मुझे प्रिय है। केवल घंटी बजाना, पानी चढ़ाना ही भक्ति नहीं है, यहाँ बताया जो आचरण है वह परमेश्वर की भक्ति है। ऐसी भक्ति में तत्पर को भगवान् ने अपना प्रिय कहा।। १७।।

सर्वत्र निर्विकारचित्त रहना भक्त का धर्म है यह भगवान् विधान करते हैं -

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।। १८।।

शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख सर्वत्र एकरूप और अनासक्त रहने वाला ही मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

'शत्रौ' जो हमें हानि पहुँचाता है वह शत्रु है। पर वह किसको हानि पहुँचाता है? शरीर को मुक्का मारेगा, शरीर से शत्रुपने का व्यवहार करता है। निन्दा इत्यादि करके तुम्हारे मन को दुःख देता है। उपाधि को ही दुःख देता है। उपाधि को जो अपना स्वरूप नहीं समझता वह उपाधि को दुःख देने वाले को 'मेरा शत्रु' समझता ही नहीं। मन को दुःख दिया तो *मेरा* शत्रु कैसे? अतः लोकप्रसिद्ध शत्रु के प्रति उस की समदृष्टि रहती है। पहले भगवान् कह आए हैं 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' बिना किसी दोष के सम ब्रह्म ही है। जो शरीर मन को दुःख पहुँचाने वाला है उसका भी अधिष्ठान वह सच्चिदानन्द ही है। शत्रु का व्यवहार उपाधि के साथ वाले मैं से ही करता है और स्वयं भी उपाधि वाला बन कर ही करता है। उस शरीर-मन की उपाधि और इस शरीर-मन की उपाधि, दोनों का अधिष्ठान मैं आत्मस्वरूप ही हूँ। जैसे स्वप्न में शत्रुता का व्यवहार करने वाला मेरे

ही संस्कारों से कल्पित है और मित्रता का व्यवहार करने वाला भी स्वप्न में मेरे ही संस्कारों से कल्पित है, वहाँ दूसरा तो शत्रु कोई है नहीं जो मुझे दुःख पहुँचा रहा हो या कोई दूसरा तो है नहीं जो मित्र बन रहा हो, ठीक इसी प्रकार से जाग्रत् के अन्दर भी जो प्रतीत हो रहा है वह मेरी अविद्या का ही अपने संस्कारों के साथ प्राकट्य है। अतः शत्रु और मित्र में उसका समभाव रहता है अर्थात् सच्चिदानंदरूप की, अधिष्ठानरूपता की दृष्टि रहती है।

'तथा मानापमानयोः'। इसी प्रकार से शरीर की कोई पूजा करता है अथवा शरीर को नीचा दिखाता है। मन की भी इसी तरह से कोई स्तुति करके पूजा करता है और कोई मन को नीचा दिखाता है। इस प्रकार पूजा करने वाले में और परिभव करने वाले में एक-सी ही दृष्टि रखता है। अविद्या के कारण ही मान-अपमान की प्रतीतियाँ होती हैं। कई बार कोई हमें नुकसान पहुँचाता है तो हम कहते हैं 'मैंने तो कोई बुरा काम किया नहीं; यह मेरे साथ ऐसा क्यों करता है? मैंने इसके साथ कभी कोई बुराई नहीं की, यह मेरे प्रति ऐसा क्यों करता है?' ज्ञानांकुश के अन्दर बतलाया कि तुमने सबसे बड़ी गलती यह की कि तुमने जन्म लिया! अगर तुम जन्म न लेते तो तुम्हारी बुराई की जाती क्या? मैं निरपराध नहीं हूँ क्योंकि मैंने जन्म लिया है। जन्म है, तब आगे पूजा-परिभव भी हैं। इसी प्रकार अज्ञान है; अज्ञान के कारण शरीर-मन के साथ मैं हूँ यह मेरी ग़लती है, इसी का प्रभाव है कि पूजा और परिभव होते हैं। जब मैं शरीर हूँ नहीं तो मेरी पूजा और परिभव किया कैसे जाएगा? हो ही नहीं सकता। यह निश्चय रखने से ही मान और अपमान में एक जैसा रहता है।

इसी प्रकार 'शीतोष्णसुखदुःखेषु' - सर्दी और गर्मी में सम रहता है। सर्दी और गर्मी का कारण बाह्य जड पदार्थ हैं। शत्रुता-मैत्री और मान-अपमान तो चेतन प्राणी करेंगे, पर सर्दी और गर्मी कोई चेतन करता नहीं है, इन्हें तो अपने आप ही प्रकृति कर देती है। एक के बाद दूसरा मौसम आता रहता है। शरद् आएगा फिर हेमन्त आएगा फिर शिशिर आएगा, वसन्त आएगा, ग्रीष्म आएगा, वर्षा आएगी - यह चक्र वैसे ही चलता है जैसे दिन और रात का चक्र चलता है। अपने काल से शीत और उष्ण आते हैं। शीत काल में मनुष्य की शिकायत होती है 'गर्मी क्यों नहीं?' और उष्ण काल में आदमी की शिकायत होती है 'ठण्ड क्यों नहीं?' जब ठण्ड पड़े तब ठण्ड का आनन्द लो, जब गर्मी पड़े तब गर्मी का आनन्द लो। शीत और उष्ण इन दोनों के प्रति भक्त सम है। अर्थात् जिस काल में प्रकृति जो चीज़ लाती है उस काल में उस प्रकृति के खेल को वैसे ही देखता है जैसे दूसरे खेल को। इसी प्रकार, बिना किसी चेतन के दिये ही बहुत-से सुख-दुःख होते रहते हैं। प्रकृति से अपने आप अनेक सुख-दुःखों की प्राप्ति होती है। जिस समय प्रकृति से तुमको सुख की प्राप्ति हो उस समय सुख का मज़ा लो और जिस समय दुःख की प्राप्ति होती है उस समय दुःख का मज़ा लो। सर्दी के काल में सर्दी

और गर्मी के काल में गर्मी भोग लो, उसी प्रकार सुख के काल में सुख और दुःख के काल में दुःख भोग लो। दोनों का अपना मज़ा है; बुखार आ जाए तो आराम करने का मौका मिलता है। बुखार के दुःख के अन्दर उस लेटने का मज़ा लो। सुख के अन्दर तो लोग मज़ा ले लेते हैं पर दुःख के मज़े की तरफ दृष्टि करते नहीं। भक्त सुख दुःख दोनों में सम रहता है।

सबमें सम क्यों रहता है? हेतु बतला दिया 'संगविवर्जितः' चाहना के कारण चीज़ों के साथ संग होता है। पहले भी भगवान् कह आए हैं कि जिस विषय को तुम समझते हो तुम्हारे अनुकूल अनुभव का कारण है, उसका ही तुम ध्यान करते हो। दाल का सीरा अच्छा लगता है तो दाल का सीरा बार-बार ध्यान में आता है। कलकत्ते का रसगुल्ला अच्छा लगता है तो बार-बार कलकत्ते का रसगुल्ला ध्यान में आता है। चाट, पानी-पूड़ी अच्छी लगती है तो चाँदनी चौक की चाट, पानी-पूड़ी याद आती है। जो चीज़ अच्छी लगती है उसी का चिन्तन, ध्यान होता है। अथवा कोई चीज़ तुमको अत्यन्त दुःख देने वाली हो तो उसका भी ध्यान आता है। कोई आदमी तुमको चार गालियाँ सुना कर चला जाए, घंटे भर तक दिमाग यही सोचता रहता है 'इसने मुझे क्यों गाली दी, इसने मेरा ऐसा अपमान क्यों किया? क्या बात है? मैं इसको मुँह-तोड़ जवाब दे सकता था, मैंने नहीं दिया। दे देता तो चुप हो जाता । देता तो बात बढ़ती, इसलिये नहीं दिया।' चल रहा है मन में चिन्तन। जो चीज़ तुमको अत्यंत सुख देती है, उसका तुम संग करते हो, बार-बार मन में लाते हो, या जो चीज़ तुमको अत्यंत दुःख देती है वह तुम्हारे मन में बार-बार आती है। यदि तुम अनुकूल और प्रतिकूल दोनों के प्रति संग से रहित हो तो सम बने रहोगे। दुर्गन्ध है तो मन में होता है कि हट जाए। सुगंध है तो मन में होता है कि पास आ जाए। यदि राग-द्वेष नहीं हैं तो ये भाव भी नहीं आयेंगे।

राग-द्वेष पूर्वक ध्यान से संग होता है। उसी से शत्रुभाव, मित्रभाव, मान, अपमान, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख सब अनुभव होते हैं। कारण है कि 'ऐसा होवे' इस प्रकार का संग बना हुआ है। 'सब लोग मुझे अच्छा ही कहें' यह संग है, तब किसी ने बुरा कहा तो बुरा लगता है। परन्तु 'सब कोई मुझे अच्छा कहें' यदि यह तुम्हारा संग नहीं है तो किसी के बुरा कहने पर बुरा भी नहीं लगेगा। भोजन में मिठाई भी बनाते हैं, नमकीन भी बनाते हैं, खट्टा भी बनाते हैं। इसी प्रकार कोई प्रशंसा करेगा, कोई निन्दा करेगा, कोई गाली देगा। भोजन का स्वाद तो इसी से बढ़ता है कि सब तरह के व्यंजन होवें । खाली मिठाई ही होवे तो क्या मज़ा आएगा! शरीर की निन्दा करता है, और शरीर की सारे शास्त्र निन्दा करते हैं। हम भी निन्दा करते हैं। अतः वह ठीक ही कर रहा है। मन की निन्दा करता है तो भी उचित है क्योंकि मन की निन्दा सारे शास्त्र करते हैं। इसमें बुरा मानने की क्या बात है? जो संग से विवर्जित होगा वही सम भाव से रह सकेगा। यहाँ भगवान् ने 'संगवर्जितः' नहीं कह करके 'संगविवर्जितः' कहा। विचार

करके संग को काटना तो संग का वर्जन है और विचार जब इतना दृढ हो जाता है कि संग पैदा नहीं हो पाता, तब उसका विवर्जन है अर्थात् निःसंगता। अन्तःकरण की निःसंगता वृत्ति मौजूद रहती है कि संग की संभावना होने के साथ ही काट दे। प्रारम्भ में तो विचार की ज़रूरत पड़ती है संग काटने के लिये, किंतु अभ्यास दृढ हो जाने पर जैसे ही विषय उपस्थित होता है उसके साथ ही निःसंगता आ जाती है। ज्ञान को प्राप्त करने के बाद ज्ञाननिष्ठा में जाने के लिये निःसंगता साधन हो जाती है।।१८।।

अक्षरोपासकों की और विशेषताएँ बताते हैं

तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः।।१६।।

निंदा व स्तुति जिसके लिये बराबर हैं, जिसकी वाणी संयत है, जो कुछ मिले उसी से जिसे संतोष हो जाता है, जिसका नियत निवास नहीं है, तथा परमार्थ वस्तु के बारे में जिसका निश्चय अडिग है, ऐसा नर मेरा प्रिय भक्त है।

'तुल्यनिन्दास्तुतिः' निन्दा और स्तुति दोनों उसके लिये तुल्य हैं। भगवान् भाष्यकार ने उपदेशसाहस्री में कहा है कि कोई निन्दा करेगा तो उन्हीं बावन अक्षरों से करेगा। क ख ग घ ही तो बोलेगा। और स्तुति करेगा तो भी उन्हीं से करेगा। किसी अक्षर को कभी आगे कर दिया, किसी अक्षर को पीछे कर दिया, किंतु इन बावन अक्षरों के सिवाय तो निन्दा या स्तुति कुछ है नहीं। इस शब्द को हम स्तुति मानेंगे, इस शब्द को हम निन्दा मानेंगे यह तो आरोप होता है। जो भी हो रहा है वह केवल अक्षरों का प्रयोग है। एक व्यापारी का एक दफ्तर कायरो, मिस्र में था। उनका लड़का वहाँ काम करता था। ये एक बार गए वहाँ। मिस्र की जो मूल भाषा थी वह समाप्त हो गई, अब वहाँ अरबी भाषा ही चलती है। वहाँ जो भोजन परोस रहा था वह अरब का था। बहू उनका भोजन बना रही थी। पराँठा लेकर आया परोसने के लिए, उन्होंने कहा 'ला'। वह लौटकर चला गया। थोड़ी देर के बाद फिर आया पराँठा लेकर, उन्होंने कहा 'ला'। फिर चला गया! उन्हें बड़ा गुस्सा चढ़ रहा था। अपनी बहू से कहा 'तुमने कैसा मूर्ख रख छोड़ा है! ला कर दिखलाता है, मैं कहता हूँ 'ला', तो चला जाता है। यह तो गधा है पूरा।' गधा शब्द सुन कर वह बड़े ज़ोर से हँसने लग गया! बहू चौके से बाहर आई। उसने पूछा 'क्या हुआ'? बोले 'हुआ क्या! इसको जब कहें 'ला' तो देता नहीं है, वापिस चला जाता है। मैंने कहा 'गधा' तो हँस रहा है खिलखिलाकर'। बहू वहाँ बहुत सालों से रह रही थी। उस बहू ने कहा 'इन लोगों की भाषा में 'ला' का मतलब होता है 'नहीं' और गधे का मतलब होता है बुद्धिमान्। जब आपने 'ला' कहा तो वह समझा कि नहीं लेना है। फिर उसने देखा कि थाली खाली है, उठने की कोई बात नहीं कर रहे हैं तो दुबारा बेचारा लेकर आया। फिर आपने कहा 'ला', वह चला गया।'

विचार करो, 'ला' का क्या मतलब है? कौन से अर्थ को समझो - यह केवल तुम्हारे संस्कारों पर निर्भर है। बावन अक्षरों के बारे में ही 'इस शब्द को हम अच्छा मानेंगे, इस शब्द को हम बुरा मानेंगे' यह हम आरोप किये रहते हैं। हिन्दी में निर्मम का मतलब वर्तमान में है क्रूरता। और यहीं भगवान् विधान कर रहे हैं 'निर्ममो निरहंकारः' जो निर्मम होता है वह मुझे प्रिय होता है! संस्कृत में निर्मम का मतलब होता है जिसके अन्दर किसी चीज़ के ऊपर 'यह मेरी है' ऐसी भावना नहीं है। यह सब समझकर अक्षरोपासक भक्त, निन्दा और स्तुति दोनों में तुल्य रहता है।

मौनी, मौन का प्रायः मतलब होता है न बोलना। जो नहीं बोलता है उसी को मौनी कहते हैं। परन्तु भाष्यकार अर्थ कहते हैं 'संयतवाक्' वाणी के ऊपर संयम करना, नियन्त्रण करना- यह मौनी होना है। मौन शब्द का यदि मूल देखो तो 'मुनेर्भावः' मुनि का भाव मौन कहा जाता है। मुनि अर्थात् मनन करने वाला। जो बोलने के पहले अच्छी तरह से मनन करता है, 'मैं जो बोलूँगा, उसका क्या असर होगा, मैं वह असर चाहता हूँ कि नहीं' - इसको खूब सोच करके बोलता है, वह मौनी है। आगे भगवान् कहेंगे कि बोलो तो पूरी बात कहो। हम लोग प्रायः पूरी बात नहीं कहते। आधी-अधूरी बात कहते हैं और श्रोता जब उसके अनुकूल कार्य नहीं करता तब हम कहते हैं, 'हमने तुमसे कहा था', वह कहता है 'मैंने यह समझा था'। बोलो तो पहले विचार करो कि जो कह रहे हो, उससे पूरा भाव प्रकट होगा कि नहीं होगा। जिस शब्द का प्रयोग कर रहे हो वह इस परिस्थिति के लिये ठीक है या नहीं। छोटे से बात करते समय किसी शब्द का प्रयोग करना पड़ता है जबकि बड़े से बात करते हुए उसका नहीं वरन् किसी अन्य शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। अविचारशील सोच-समझकर नहीं बोलते और जन्मभर एक ही ग़लती दुहराते रहते हैं। यह भी निर्धारित करो कि जो बात कह रहे हो वह सामने वाले को प्रिय है या नहीं। अप्रिय बात बोल कर कहना कि 'मैं तो सच्ची बात कहता हूँ, खरी-खरी सुना देता हूँ' संयतवाक् होना नहीं है। मनु ने नियम कर दिया है कि सच्ची बात होवे परन्तु इस ढंग से कहो कि सुनने वाले को प्रिय लगे। आगे मनु ने सावधान किया कि इसका मतलब यह नहीं है कि दूसरे को प्रिय लगे इसके लिये झूठ बोलो! सच्ची बात भी कहने का ढंग ऐसा होना चाहिए जो सामने वाले को प्रिय लगे। सत्य का मतलब है हमने जिस चीज़ को जैसा समझा है वैसी ही दूसरा उसको समझे, इस उद्देश्य से प्रयत्नपूर्वक बोलना। हमने कोई बात गलत समझी है और बोल दी तो वह हमारे लिये असत्य नहीं है, क्योंकि हमने जैसा समझा था वैसा ही हमने बोला। कई बार लोग बोलते तो सत्य हैं परन्तु इस ढंग से कि सामने वाला कुछ और ही समझ लेवे! फिर कहेंगे 'मैंने तो ठीक ही बात कही थी।' कई बार तुम सत्य बोलोगे, सामने वाला गलत समझेगा। पर इस उद्देश्य से बोलना कि वह गलत ही समझे, वस्तुतः सत्यवदन नहीं है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं' प्राणी के कल्याण के लिये जो

बोलते हो वह सत्य होगा अर्थात् जो बात बोलो वह दूसरे के लिय हितकारी होनी चाहिए, उसके फायदे की होनी चाहिए। जैसे यहीं अध्याय के शुरू में, अर्जुन का प्रश्न था कि कौन श्रेष्ठ है - विश्वरूप का उपासक या अक्षर ब्रह्म का उपासक? अर्जुन अधिकारी है उपासना का। अतः उसको सीधे कह देते 'अरे! तेरे बूते का नहीं है अक्षर ब्रह्म की उपासना करना। अक्षर ब्रह्म की उपासना ही श्रेष्ठ है'। तो वह कहता 'मैं वही करूँगा।' अतः उसके लिये जो हितकारी है वही भगवान् ने कहा कि युक्ततम, सबसे अच्छा योगाभ्यास करने वाला तो वह है जो विश्वरूप की उपासना करता है। और अक्षर ब्रह्म का उपासक तो मेरा स्वरूप ही है। छिपाई उन्होंने कोई बात नहीं परन्तु दूसरे को अपना स्वरूप बतला कर यह कह दिया कि अभी तुम मेरा स्वरूप तो हो नहीं इसलिये तुम्हारे लिये तो यही विश्वरूपोपासना आदि अभ्यास करना ही साधन है। इसी तरह बोलने में यह भी ख्याल रखना चाहिए कि इसके हित की बात हो तो कहूँ और इसके हित की बात नहीं है तो न कहूँ। किसी ने तुम्हारी निन्दा हमसे की। हम अगर तुमसे कहते हैं कि 'देवदत्त तुम्हारी अमुक निन्दा कर रहा था', तो सत्य तो है, तुमको प्रिय भी लगेगा, लेकिन उससे तुम्हारे अन्दर उसके प्रति द्वेष पैदा होगा, फायदा कुछ नहीं। तुम्हारा यह सुनने से कोई हित तो होना नहीं है। बात हितकारी भी होनी चाहिए। इन सबका विचार करके बोलना वाक्संयम है। कई लोग कहते हैं 'महाराज! फिर तो बोल ही नहीं सकेंगे दिन भर में!' दिनभर बोल नहीं सकेगा इसीलिये ऐसे नियम वाले को मौनी कहा है! इतना सब विचार करके बोलना होगा, तब लगभग बोलोगे नहीं, चुप रहोगे। इसलिये मुनि का भाव मौन कहा जाता है। मुनि का भाव अर्थात् मनन करके बोलना। चूंकि ऐसे वक्ता अधिकतर चुप रहते हैं इसलिये धीरे-धीरे मौन शब्द केवल चुप रहने में ही रूढ हो गया।

'येन केनचित् सन्तुष्टः' शरीर को रखने के लिय प्रारब्ध जो कुछ भी ले आता है, प्रबल प्रारब्ध खुद ले आता है, बस उतने से ही संतोष रखे कि बस, यही पर्याप्त है। शरीर की रक्षा करने के लिये, प्रारब्ध को स्वतः ही अपने आप को चरितार्थ करने के लिये शरीर की स्थिति रखने लायक पदार्थ लाना ही पड़ेगा। मौनी कहने से सम्भावना प्राप्त हो जाती है कि फिर शरीर कैसे चलेगा? कभी कोई चीज़ चाहिए, कभी कोई चीज़ चाहिए, कहना तो पड़ेगा? इसलिये कहा 'येन केनचित्' शरीर की स्थिति रखने के लिये जो कुछ भी आ जाए उससे ही सन्तुष्ट रहता है, जानता है कि जितना आया है वह शरीर की स्थिति रखेगा ही, शरीर की स्थिति नहीं रहेगी तो प्रारब्ध खुद ही व्यर्थ हो जाएगा! अतः प्रारब्ध रसगुल्ला लाए तो रसगुल्ला खा लो, बासी उड़द ले आवे तो बासी उड़द खा लो। प्रारब्ध शरीर की स्थितिमात्र का हेतु बनेगा ही। इसलिये स्मृतियों में कहा है -

'येन केनचिद् आच्छन्नो येन केनचिद् आशितः।

यत्र क्वचन शायी स्यात् तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।' (महाभा.शा.२४१.१२)।।

देवता लोग किसे ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानी समझते हैं? जो, कोई भी चीज़ मिल जाये उससे अपने को ढाँक लेता है। पुराने बहुत से महात्मा जितने कपड़ों के टुकड़े मिलते रहते थे रास्ते में, उनको सीते रहते थे गुदड़ी के लिये। उसको कन्था कहते हैं। यदि प्रारब्ध तुम्हारे लिय तुश का शाल ले आता है तो वह ओढ़ लो। गुदड़ी ही चाहिए या तुश ही चाहिए, इन दोनों के आग्रह से रहित रहना है। इसी प्रकार जिस किसी चीज़ के द्वारा जिसको अशन, भोजन करा दिया जा सके, जो स्थल मिल गया वहीं पर जो सो सके, 'ऐसा ही होवे तब सोऊँगा' यह कोई आग्रह नहीं रखे, देवता लोग ऐसे लोगों को ब्रह्मज्ञानी समझते हैं।

'अनिकेतः' जहाँ नियम से वास करे वह निकेत होता है। कभी कदाचित् धर्मशाला में रह गए तो वह निकेत नहीं हो जाता। जहाँ तुम नियम से रहते हो वह निकेत है। ऐसे भक्त का कोई निकेत नहीं है। इसलिये भर्तृहरि ने लिखा है 'निद्रा श्मशाने वने' श्मशान में सो जाता है, कभी जंगल में सो जाता है। 'यहीं रहना है, यही मेरे रहने का स्थान है' ऐसा अक्षरोपासक का आग्रह नहीं होता।

'स्थिरमतिः'। एकमात्र अधिष्ठान सच्चिदानन्द चेतन मेरा स्वरूप है - इसी के ऊपर उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। बाकी सब चीज़ें अविद्या के झोंके से आती-जाती हैं। कभी निन्दा हो गई, कभी स्तुति हो गई, कभी अच्छा खाना मिल गया, कभी खराब खाना मिल गया - ये सब अविद्या से कल्पित होते रहते हैं। यह जानता है कि उसका स्वरूप वैसा का वैसा सच्चिदानन्द निर्विकार है। भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार स्थिरमति रहने वाला जो भक्तिमान् है वह मुझे प्रिय है।

इस प्रकार भगवान् ने 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' से लेकर यहाँ तक जो अक्षर परम ब्रह्म के ज्ञान वाले हैं और जिन्होंने अपनी सारी एषणाओं को छोड़ दिया ऐसे संन्यासी परमार्थ ज्ञान की निष्ठा में रत हैं, क्या धर्म वे करते हैं, इसको बतलाया। जितना-जितना सिद्ध होता जाएगा उतना-उतना ये सब स्वभाव से होते जाएँगे और जितनी कम सिद्धि होगी उतना ही इनके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा।।१६।।

अब भगवान् उपसंहार करते हैं -

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। २०।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः।।

मैं ही जिनकी परा गति हूँ ऐसे जो श्रद्धालु भक्त तो जैसा बताया वैसे इस धर्मानुकूल अमरताहेतु साधनसमूह का अनुष्ठान करते हैं वे मुझे अतीव प्रिय हैं।

जो ऐसे सर्व-एषणा-निर्मुक्त, परमार्थ ज्ञान-निष्ठा में प्रवृत्त संन्यासी पूर्वोक्त धर्मों का पालन करते हैं वे भगवान् को अतिप्रिय हैं। धर्म्य अर्थात् धर्म से विलग नहीं हैं, धर्म से अपेत नहीं हैं। इन साधनों में कोई भी धर्म से विरुद्ध नहीं है। और ये साधन अमृत हैं। इनमें से एक भी साधन ऐसा नहीं है जो अपने को मीठा लगता हो! सभी कड़वे लगते हैं। फिर अमृत कैसे? इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि इनसे अमृत अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये इन्हें अमृत कहा है। किसी हिन्दी के कवि ने कहा है 'कथनी मीठी खाण्ड सी, करनी विष की होय'। किसी अच्छे कार्य को कर्तव्य कहना मीठी खाण्ड जैसा लगता है। पर उसे करना ज़हर के प्याले की तरह है। परन्तु 'कथनी तजे करनी करे', अगर उसको करने लग जाता है 'तो विष से अमृत होय'। ऐसे ही ये साधन धर्म से अनपेत हैं और अमृतत्व का हेतु होने से अमृत हैं। इन धर्मों को 'पर्युपासते' अनुष्ठान करते हैं, निश्चित रूप से निरन्तर इनका तब तक अभ्यास करते ही रहते हैं जब तक ये स्वभाव न बन जाएँ।

इसमें लगेंगे कैसे? भगवान् कहते हैं कि 'श्रद्दधानाः,' मैंने जो यहाँ धर्म बतलाए हैं उनमें जो श्रद्धा वाले होंगे वे ही इनमें तत्पर बनेंगे। अन्यथा लोग कहते हैं 'अरे! ज्ञान होना चहिए, ये सब होवें इसकी क्या ज़रूरत है! ये सब भी तो अविद्या का ही खेल हैं।' ऐसों के लिये सुरेश्वराचार्य जी कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करके चाहे कुछ खाने-पीने वाले सूअर मत बनो; तुम्हारे ज्ञान का क्या यही फल हुआ कि जैसे सूअर चाहे जो खाता है वैसे तुम भी खा सको? इसलिये भगवान् ने कहा 'श्रद्दधानाः' इन धर्मों के ऊपर श्रद्धा वाले होने चाहिए। श्रद्धा का कारण क्या है? 'मत्परमाः' मुझ परमेश्वर को परा गति स्वीकारने वाले। मैं इन धर्मों को कह रहा हूँ, ये धर्म मुझे प्रिय हैं; जो मेरा भक्त होगा, मुझे ही परमगति मानता होगा, वह अवश्य इन धर्मों को अपने में लाने का प्रयत्न करेगा। ठीक जैसे पत्नी को पति से प्रेम है तो पति को जो भोजन अच्छा लगता है, वही प्रयत्न करके बनाती है, सीखती है। और जिसको प्रेम नहीं है वह पति की रुचि की कोई परवाह नहीं करती। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं - जो मुझे परम मानते हैं वे तो मुझे ये धर्म पसन्द हैं, इसलिये इन्हें अपने जीवन में लायेंगे। जो भगवान् को परम नहीं मानेंगे, वे कहते हैं 'ऐसा बनने से क्या होता है!' 'भक्ताः' ऐसे जो मुझे परम मानने वाले परम भक्त हैं 'ते मे अतीव प्रियाः' वे मुझे अत्यन्त ही प्रिय हैं। बाकी जो भक्त हैं, जो इन धर्मों को स्वयं में नहीं ला पाते, उन्हें प्रियमात्र मानकर, इन धर्मों का पालन करने वालों को 'अतीव प्रिय' बताया। किसी विषय की कामना से, या अर्थ के प्रयोजन से, या कुछ जानने के लिये जो भगवान् की तरफ दृष्टि करता है, उनसे प्रेम करता है, वह भी भगवान् के रास्ते लगा हुआ है इसलिये भगवान् का प्रिय तो है परन्तु अतीव प्रिय नहीं है। जो इन धर्मों को जीवन में लाते हैं वे मेरे अतीव प्रिय हो जाते हैं, अत्यन्त प्रिय हो जाते हैं। यह जो परमार्थ ज्ञान-लक्षण भक्ति है, इसका जो आश्रयण करता है वही

भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है। इसलिये मुमुक्षु को यत्नपूर्वक इन धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए जिससे विष्णु के परम पद की, परम अधिष्ठान सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति हो जाए।।२०।।

।। बारहवाँ अध्याय ।।

ॐ

तेरहवाँ अध्याय : क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग

भगवान् ने गीता के प्रारंभ में, प्रथम छह अध्यायों में जीव का शुद्ध रूप भी बतलाया और जीव का अविद्याग्रस्त रूप भी बतलाया। उसके बाद सातवें से लेकर बारहवें तक ईश्वर का स्वरूप बतलाया; उसका उपास्य रूप भी बतलाया और उसके शुद्ध ज्ञेय-रूप का भी वर्णन किया। सातवें अध्याय में भगवान् ने प्रारम्भ में ही ईश्वर की तीन गुणों वाली और आठ प्रकार से बँटी हुई अपरा प्रकृति बतलाई जो संसार का कारण है, जन्म-मरण का कारण है, राग-द्वेष का कारण है, शोक मोह का कारण है। और उससे भिन्न ईश्वरस्वरूप जीवात्मक परा प्रकृति का निर्देश किया जिसे क्षेत्रज्ञ के रूप में समझा जाता है। इन दो प्रकृतियों से ही परमेश्वर संसार की उत्पत्ति करता है, स्थिति करता है, लय भी करता है। अतः ईश्वर की यथार्थता के निर्धारण के लिये क्षेत्रज्ञरूप व क्षेत्ररूप दोनों प्रकृतियों का निरूपण भगवान् ने आवश्यक समझकर यह तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ किया है। गीता की कुछ प्रतियों में; वैष्णव व्याख्याताओं के अनुसार, यहाँ अर्जुन का एक जिज्ञासाबोधक श्लोक पहले आकर उसके जवाब में भगवान् का उपदेश है। वह श्लोक है

अर्जुन उवाच
प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद् वेदितुम् इच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।।

अर्थात् 'हे केशव! प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय - यह सब मैं जानना चाहता हूँ।' उसका भाव है कि भगवान् ने पूर्व में इन बिन्दुओं पर संकेत किया था अतः विस्तार से बतायें यह ज़रूरी है। अर्जुन का यहाँ इन शब्दों में यह प्रश्न, अर्थात् गीता में यह श्लोक, आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ - चारों भाष्यकारों ने नहीं माना है, सारी महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने भी नहीं माना है।

अर्जुन के यह पूछने पर, अथवा अर्जुन का भाव समझ कर भगवान् ने अपनी तरफ से इस अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-लक्षण प्रकृति का निरूपण करते हुए उस प्रकृति वाले ईश्वर

का तत्त्व-निर्धारण कर दिया। क्षेत्र है अपरा प्रकृति, क्षेत्रज्ञ है परा प्रकृति। इनके विचार से जीव और ईश्वर का अभेद स्पष्ट हो जायेगा। त्वम्-पदार्थ का निरूपण करते हुए प्रथम षट्क(छः अध्यायों) के अन्दर भगवान् ने जीव के शुद्ध रूप का और उसकी उपाधियों का वर्णन किया। उसी प्रकार मध्य षट्क में तत् पदार्थ का निरूपण करते हुए ईश्वरस्वरूप को भी बतलाया और उसकी उपाधियों को भी बतलाया। त्वम्-पदार्थ के शुद्ध रूप के निरूपण में जो बातें कही हैं वही तत् पदार्थ के शुद्ध रूप के बारे में कही हैं। अतः दोनों का भेद औपाधिक है, वास्तविक नहीं, वस्तुतः दोनों एक ही हैं। यही महावाक्यार्थ है, इसका प्रधान रूप से निरूपण इस अध्याय में और आगे के सारे छह अध्यायों में आना है। भाष्यकार ने यहाँ 'क्षेत्राध्याय आरभ्यते' इस प्रकार अध्याय का नाम संकेतित किया है। प्रायः इस अध्याय को 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' कहते हैं। हो सकता है प्राचीन नाम 'क्षेत्राध्याय' ही रहा हो।

बारहवें अध्याय के अन्त में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि के द्वारा तत्त्वज्ञानी संन्यासी की निष्ठा का रूप बतलाया , जो उसका आचार, चरित्र होता है वह बताया। प्रश्न उठता है कि किस तत्त्वज्ञान से युक्त होकर उन धर्मों का आचरण करता है और भगवान् का अत्यन्त प्रिय होता है? किस तत्त्वज्ञान को अपने जीवन में लाकर धर्म से अनपेत वह अमृत आचरण करते हुए भगवान् के अत्यन्त प्रिय भक्त देखे जाते हैं। इसके उत्तर में अन्तिम षट्क और खासकर यह अध्याय प्रारम्भ हो रहा है।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

कौन्तेय! क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के जानकार इस शरीर को क्षेत्र तथा इसका अनुभव करने वाले को क्षेत्रज्ञ - ऐसा कहते हैं।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने तमोगुण से सारे जड जगत् के रूप में परिणत होती है और सत्त्व और रज के परिणाम से इन्द्रियाँ अन्तःकरण प्राण आदि भोग करने के साधनों के रूप से परिणत होती है। तमोगुण से वह सब बनता है जिसका भोग किया जाता है और सत्त्वगुण रजोगुण से वह बनता है जिसके द्वारा भोग करते हो। आँख रूप का भोग करती है; रूप तमोगुण से बना और आँख सत्त्वगुण से बनी। इसी प्रकार सब चीज़ों में समझ लेना। सारा ही जड और चेतन जगत् मिल कर क्या करता है ? पुरुष के भोग और मोक्ष का कारण बनता है। बाह्य जगत् जीव को भोग भी देता है और मोक्ष भी देता है। इसी प्रकार से जो हम लोगों के भोग करने के साधन इन्द्रिय-मन-बुद्धि-प्राण इत्यादि हैं वे भी हमें भोग देते हैं और मोक्ष भी देते हैं। पुरुष को भोग और अपवर्ग देने के लिए ही शरीर इन्द्रिय आदि संघात पैदा होता है। संघात कहते हैं जहाँ किसी प्रयोजन से बहुत-सी चीजें

व्यवस्थानुसार इकट्ठी हों। कहने को तो अपना शरीर एक है परन्तु विचार करके देखते हैं तो यहाँ हज़ारों फैक्ट्रियाँ चल रही हैं! तुम दूध पीते हो और उससे लाल रंग का खून बनता है। तुम्हारा यकृत्, उदर आदि पाचक संस्थान काम करके ऐसा करता है। इसी प्रकार बाह्य जगत् से तुम जड हवा लेते हो और अन्दर ले जा कर उसको चेतन के द्वारा चलाए जाने वाले रूप का बना देते हो। इसी प्रकार शरीर अनेक चीजों का संघात है। लगता है शरीर एक है परन्तु एक नहीं, इसमें अनेक तंत्र हैं। सब मिल कर एक संघात है, एक उद्देश्य के लिए प्रवृत्त है। हज़ार आदमी खडे हों और पचास पुलीस वाले आ जाएँ तो वे हज़ार भागते नज़र आते हैं! कारण क्या है? पचास पुलीस वाले तो एक तरफ मार करेंगे, एक-साथ चलेंगे, सब एक उद्देश्य से प्रवृत्त हो रहे हैं, अतः उनका एक संघात है, और जो हज़ार लोग हैं वे सब भीड़ हैं, सब एक उद्देश्य से प्रवृत्त नहीं हैं अतः कोई भागने की सोचेगा, कोई लड़ने की सोचेगा, कोई अनशन करने की सोचेगा; सब अलग-अलग हैं। पुलीस वाले आए भी एक उद्देश्य से हैं और दीर्घ काल तक उन्होंने किस प्रकार से मिल कर कार्य करें इसका अभ्यास किया। ठीक इसी प्रकार से हमारे शरीर के सारे अंग एक-दूसरे के साथ ताल-मेल बैठाकर भोग और अपवर्ग के लिए प्रवृत्त हैं, एक उद्देश्य से प्रवृत्त हैं। इसलिये सब एक-दूसरे की मदद करते हैं। ये भीड़ की तरह इकट्ठे नहीं हो गए हैं! तुमने सामने से आता भालू देखा। आँख ने देखा, उससे दिमाग में भय हुआ, उससे तुम्हारे गुर्दों के ऊपर स्थित ग्रन्थियों से तुरन्त स्राव शुरू हो गया, तुम्हारे खून के अन्दर चीनी बढ़ गयी क्योंकि या तुम भागोगे, तो उसके लिए तुमको खून में चीनी की ज़रूरत पड़ेगी, अथवा उससे लड़ोगे, तब भी चीनी की ज़रूरत पड़ेगी। ये सब काम क्षणभर में अपने आप होते हैं। कोई भारी वज़न उठाते हो तो अपने आप तुम्हारी साँस रुक जाती है, कुम्भक हो जाता है। भोग और अपवर्ग करने के लिए यह संघात है। कभी-कभी इसमें गड़बड़ी हो जाती है जैसे कैन्सर का रोग। शरीर के कुछ अंग निर्णय करते हैं कि 'हम परवाह नहीं करेंगे संघ की, हम तो जैसे मर्ज़ी वैसे बढेंगे'। बस इसी का नाम कैन्सर है। ठीक इसी प्रकार से समाज यदि एक उद्देश्य से चलता है तब संघात है और जहाँ कुछ लोगों ने सोचना शुरू किया कि 'हम केवल अपने लिए करें', तब वे समाज के कैन्सर बन जाते हैं। इसीलिए भगवान् ने वेद में समाज का वर्णन पुरुष-रुप से किया, यह बतलाने के लिए कि समाज को संघात बनाना, भीड़ मत बना देना।

शरीर बड़ी विचित्र चीज़ है! शरीर को हम 'मैं' रूप से भी जानते हैं और 'मेरा'-रूप से भी जानते हैं। शरीर के बाहर जितनी चीज़ें हैं उन सबको तो हम अपने से भिन्न ही जानते हैं। मकान, हीरा आदि को हम अपने शरीर से भिन्न ही जानते हैं। भिन्न मायने अलग। इसलिए वे चीज़ें मेरी भी हो सकती हैं, मेरी नहीं भी हो सकती हैं। हर हालत में वे मैं नहीं हूँ। इससे विपरीत, मन-बुद्धि को हमेशा मैं रूप से ही जानते हैं। विचार करने के बाद चाहे तुम मन बुद्धि अहंकार को मेरा-रूप से जानो, लेकिन सामान्य व्यक्ति, जिसने

विचार नहीं किया है, उसको तो 'मै दुःखी' और 'मेरा मन दुःखी' - इन दोनों में कोई फ़र्क नहीं महसूस होता। भोग के साधनों के साथ हमारा हमेशा एकता का अध्यास है। बाह्य चीज़ों के साथ हमेशा भिन्नता का ही अध्यास है। शरीर एक ऐसी चीज़ है जिसमें ये दोनों अध्यास हैं। 'मैं गोरा हूँ' यह अनुभव होता है। और यह भी अनुभव होता है कि 'पता नहीं आजकल क्या हो गया, मेरे शरीर में काले दाग आ रहे हैं'। शरीर में दोनों ही प्रकार के अध्यास हैं। यहाँ भगवान् शरीर को 'इदं' कहते हैं।

इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। क्षेत्र शब्द का एक अर्थ होता है, 'क्षतत्राणात्' क्षत से, काट से, बचाने वाला। शरीर की विशेषता है कि कोई घाव तुमको लगे तो शरीर अपने आप उसको भर देता है, ठीक कर देता है। कोई दवाई घाव को नहीं भर सकती! तुम्हारा शरीर ही घाव को भरता है। दवाई तो केवल यह कर सकती है कि भरने में जो विघ्न देने वाले कीटाणु वगैरह हैं, वे प्रवेश न करें। इसलिए अगर किसी को मधुमेह हो जाता है, शक्कर की बीमारी हो जाती है, तो डाक्टर कहते हैं 'तुम्हारा घाव देरी से भरेगा।' पूछो, 'क्यों डाक्टर साहब; आपके पास बड़ी-बड़ी दवाईयाँ हैं, जल्दी क्यों नहीं भर सकता?' डाक्टर कहेगा 'कोई दवाई घाव भर नहीं सकती। तुम्हारे शरीर की अपनी ही सामर्थ्य है जो घाव को भरे।' जो भी नुकसान शरीर में होवे उससे अपने-आप बचाने की सामर्थ्य शरीर में है। बढ़िया घेवर बन गया, अट्ठाईस घेवर खा लिए, पेट खराब हो गया। दवाई लो या न लो, पानी पीकर चुपचाप तीन दिन रहो, ठीक हो जाएगा। शरीर अपने आप का त्राण करने में समर्थ है इसलिए इसको क्षेत्र कहते हैं।

'क्षयात्', जो क्षय होता है उसको भी क्षेत्र कहते हैं। शरीर हमेशा क्षय ही होता रहता है। हम लोग जितना भोजन करते हैं उससे जितनी ऊष्मा पैदा होती है, शक्ति पैदा होती है, ऊर्जा पैदा होती है, उसको करीब-करीब हम रोज़ खत्म कर देते हैं। जो खाया है उसको नहीं खत्म करते हैं! खाए हुए को तो हम शरीर के नए हिस्सों में परिणत कर लेते हैं और जो पुराने हिस्से हैं उनको हम बाहर फैंक देते हैं। करीब-करीब जितना खाया, उतना ही बाहर फैंकते हैं। अगर उससे ज़्यादा खाओगे तो शरीर फूलता जाएगा। यदि उससे कम खाओगे तो शरीर क्षीण होता जाएगा। यह ख्याल रखना कि शरीर पुरानी चीज़ों को हटाता है और नई चीज़ें बना लेता है। जो तुमने अन्न खाया उससे नया हिस्सा बना लेगा, पुराना हटा देगा। इसलिए जानकार हमेशा कहते हैं कि खाओ, परन्तु व्यायाम आदि करके उतने को खर्च कर दो। आजकल के लोग ज़रा बेवकूफ ज़्यादा ही होते हैं, कहते हैं 'कम खाएँगे। खाएँ और फिर व्यायाम करके उसको खत्म करें, इसकी अपेक्षा खावें ही कम।' खाओगे कम तो जो पुराना माल है उसकी जगह तुम नया बना नहीं पाओगे। इसलिए ऐसों की कमज़ोरी बढ़ती जाएगी। क्षय होता रहता है, इसका पुराना माल हटता रहता है।

'क्षरणात्' - अथवा यह झरता रहता है। जैसे मटके में पानी भर कर रख दो, महीने भर के बाद उस मटके में देखो तो उसका सारा पानी खाली मिलेगा। एक बार में सारा नहीं

गया है, धीरे-धीरे झरता रहा है। अगर आज भर कर कल देखो तो लगेगा भरा ही हुआ है। दो दिनों बाद कुछ कम पानी दीखेगा, दस दिनों बाद और कम हुआ लगेगा। इसी प्रकार से शरीर की ऊर्जा भी हमेशा क्षरण होती है। रोज़ देखते हैं तो नहीं पता चलता लेकिन दस-बीस सालों के बाद देखो तो हर एक शरीर का क्षरण हुआ ही मिलता है। क्षरण होता है इसलिए शरीर को क्षेत्र कहते हैं।

अथवा 'क्षेत्रवद् वाऽस्मिन् कर्मफलनिर्वृत्तेः' क्षेत्र का मतलब खेत भी होता है। इस शरीर में हम खेती करते हैं। कर्म करते हैं और जो कर्मरूप हमने बीज बोया है वह फलरूप से आता है, उसका भोग करते हैं। खेत में तुम जैसा बीज डालोगे वैसा ही तुमको फल मिलेगा। आम को बोओगे तो आम का फल मिलेगा। बबूल को बोओगे तो आम का फल कहाँ से मिलेगा! इस शरीर को हमेशा खेत समझो। जैसा हम बोएँगे वैसा मिलेगा। कठिनाई हम लोगों की क्या है? भगवान् वेद व्यास कहते हैं

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।'

मनुष्य की विचित्रता है कि पुण्य के फल को तो चाहता है परन्तु पुण्य करना नहीं चाहता और पाप के फल की इच्छा तो नहीं है पर प्रयत्न कर-कर के नए तरीके निकालता है कि पाप कैसे करें! यह इसलिये कि शरीर को क्षेत्र नहीं समझता है।शरीर तो क्षेत्र है, इसमें जो तुम बोओगे वही तुमको आगे मिलेगा। खेत की तरह कर्म-फल को निर्वृत्त करने वाला होने से यह क्षेत्र है।

'इति' अर्थात् 'इस प्रकार'; शरीर 'क्षेत्र'-यों कहा जाता है। 'अभिधीयते' अर्थात् कहा जाता है। भगवान् ने यहाँ यह नहीं कहा कि यह क्षेत्र है, वरन् कहा कि 'ऐसा कहा जाता है'। यहीं से भगवान् विवेक का प्रारम्भ कर देते हैं। शरीर क्षेत्र कहा जाता है, क्षेत्र है नहीं। इसमें बोने वाले तुम नहीं और इसका फल भोगने वाले भी तुम नहीं! इसलिए कर्तापना और भोक्तापना भी *कहा जाता है।* जैसा करोगे वैसा भोगोगे- ऐसा भी *कहा जाता है।* सच्ची बात क्या है? न तुम इसमें कर्म करते हो और न तुम कर्मों का फल भोगते हो। चूँकि आगे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक ही प्रधान है इसलिए शुरू में ही भगवान् ने कह दिया कि 'ऐसा कहा जाता है' अर्थात् यह बात सच्ची नहीं है।

'एतद्' इस शरीर को 'यो वेत्ति' जो जानता है, पैर के तलवे से लेकर मस्तक पर्यन्त इसको जानता है, कार्य-करण-संघात को जानता है, ज्ञान से विषय करता है, वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। ज्ञान से विषय दो प्रकार से किया जाता है। एक तो स्वभाव से और दूसरा उपदेश से। जीव स्वभाव से भी शरीर को विषय करता है -'मेरी आँख ग़लत देख रही है' इत्यादि; और वेदादि शास्त्र के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है उससे भी विषय करता है। जितनी बातें कहीं 'क्षतत्राण, क्षरण, क्षेत्रवत्' ये सब पता लगती हैं उपदेश से। वेदादि शास्त्र जब हमें

बताते हैं तभी पता लगती हैं। अपने आप इसमें से कोई बात पता नहीं लगती। शरीर को स्वाभाविक रूप से भी जानते हैं और वेदादि शास्त्रों के द्वारा भी जानते हैं। इस प्रकार जो जानने वाला है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। कौन कहते हैं? 'तद्विदः'- जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को जानने वाले हैं। जो, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों को जानने वाले हैं वे कहते हैं।।१।।

पूर्व श्लोक में जो भगवान् ने कहा वह करीब-करीब कपिल मुनि की बात हो गई! क्षेत्रज्ञ पुरुष हो गया और क्षेत्र प्रकृति हो गई। करीब-करीब यह कपिल मुनि अर्थात् सांख्य दर्शन मानता है। उनके अनुसार पुरुष और प्रकृति इन्हीं को अलग-अलग जानना है। अतः भगवान् स्पष्ट करते हैं कि वेदान्त सांख्य नहीं है। केवल दो को पृथक् जानने से मोक्ष नहीं होगा, उसके लिये जो खास बात जाननी पड़ेगी उसे दूसरे श्लोक से बताते हैं-

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

ज्ञान में रत अर्जुन! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ को (न केवल क्षेत्रों से पृथक् जानो वरन् उसे) मैं (ईश्वर) भी जानो। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के बारे में सही जानकारी ही ज्ञान है ऐसा मेरा मानना है।

क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र को विषय करने वाले रूप से जानना पर्याप्त नहीं है, 'क्षेत्रज्ञं मां विद्धि' जो क्षेत्र को जानने वाला है, स्वाभाविक रूप से भी जानता है और उपदेश से भी जानता है, वह 'सर्वक्षेत्रेषु', सारे खेतों में, अनन्त शरीरों में, छोटे-से-छोटे कीटाणु से लेकर ब्रह्मा तक सारे शरीरों में जानने वाला मैं परमेश्वर हूँ! एक शरीर को जानने वाला क्षेत्रज्ञ तो सब लोग जानते हैं, उसको जानने से काम नहीं होता! सारे क्षेत्रों में रहने वाला क्षेत्रज्ञ एक परमेश्वर ही है, यह बात कपिल मुनि नहीं कहते! उनके यहाँ हर-एक क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ अलग-अलग है। वेदान्त में सारे क्षेत्रों में रहने वाला, उन्हें जानने वाला क्षेत्रज्ञ एक है। इन सारी उपाधियों में वह एक है, इससे अपने आप सिद्ध हो जाता है कि उपाधियाँ वास्तविक नहीं हैं। जैसे जब तुम कहते हो 'कड़ा, हार, बाजूबन्द, तेड़िया, बोर - सबमें होने वाला सोना एक ही है', तब पता लग जाता है कि ये सारे रूप सोने *के* नहीं हैं। सारे रूपों में सोना एक है अर्थात् सोना इनमें से किसी एक रूप वाला नहीं है। इसी प्रकार, ब्रह्मा से लेकर के छोटे कीटाणु तक सारे क्षेत्रों में एक ही क्षेत्रज्ञ है - यह कहने से पता चल जाता है कि ब्रह्मा की उपाधि हो या कीटाणु की उपाधि हो, दोनों उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। अर्थात् वह निरस्त-सर्व-उपाधि है। क्षेत्रज्ञ सारी उपाधियों से रहित है और इसीलिए न उसको 'है' शब्द से कह सकते हैं और न उसको 'नहीं है' शब्द से कह सकते हैं। उसकी प्रतीति 'है' रूप से भी नहीं हो सकती, 'नहीं है' रूप से भी नहीं हो सकती! वह न सत्-असत् शब्दों का गोचर है और न सत्-असत् प्रत्ययों का गोचर है। क्योंकि सारी उपाधियों को जानने वाला है इसलिए सब उपाधियों से रहित है। हम उपाधियों को तो जानते हैं, जान सकते हैं, उन्हें जानने वाले को कैसे जान सकते हैं? जान ही नहीं सकते। यह

विरोधाभास अन्त तक रहेगा; बार-बार कहेंगे 'परमात्मा को जानो' और साथ ही बतायेंगे - परमात्मा कौन है? जो जाना नहीं जा सकता! जो जाना नहीं जा सकता उसको जानना है। जो जाना जा सकता है उसको तो 'है' या 'नहीं है' रूप देख सकते हो, शब्द से भी कह सकते हो। परन्तु जो जाना जा ही नहीं सकता उसको न तुम 'है' रूप से कहते हो न 'नहीं है' रूप से कहते हो। जो निरस्त-सर्वोपाधि है उसको जानना है। ऐसे समझ लो : तुम्हारी आँख सबको देखती है, अपनी आँख से ही सबको देखते हो। आगे उस आँख को कैसे देखोगे? है आँख को देखने का कोई तरीका? आँख सबको देखती है, उसमें देखने की शक्ति है, परन्तु उसी आँख को देखने की शक्ति है क्या? आँख, आँख को नहीं देख सकती। इसी प्रकार जो सबको जानने वाला है उसको जाने कौन! यदि आँख को देखना ही होवे; आँख में कुछ पड़ गया, देखना ज़रूरी है, दूसरा कोई साथ है नहीं जो निकाल देवे; तो काँच के द्वारा देखना पड़ेगा। आँख को देखना तो सम्भव है ही नहीं। क्या देख सकते हो? काँच में आँख का प्रतिबिम्ब देख सकते हो। परन्तु प्रतिबिम्ब देख कर आँख में जो पड़ गया है वह निकाल सकते हो। देखा प्रतिबिम्ब को और पता लग गया आँख का। आँख को देखा तब भी नहीं, देखा तो प्रतिबिम्ब को, लेकिन प्रतिबिम्ब को देख कर पता लग गया आँख का। इसी प्रकार से समाधि में अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति बनती है तो उस शुद्ध काँच के अन्दर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जो दीखता है उसी का नाम ब्रह्मज्ञान है। जिसका ज्ञान हुआ वह तो प्रतिबिम्ब है, परन्तु उससे जिसको तुमने सचमुच जाना वह तुम खुद ब्रह्म हो। इसलिए कहा कि सारे क्षेत्रों के अन्दर रहने वाला क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ।

क्षेत्रज्ञों का संघात परमेश्वर है- यह मत समझना। सारे जीव मिलकर परमेश्वर हैं- ऐसा कुछ नहीं है! परमेश्वर ही सारे अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होता हुआ जीव कहा जाता है। ठीक जैसे मुँह के सामने पच्चीस काँच रख दो तो पच्चीस मुँह सामने दीखेंगे, छब्बीसवाँ तुम्हारा मुख है ही। उन पच्चीस काँचों में *जो* मुँह दीख रहा है वह अलग-अलग नहीं है। दीखेगा तो अलग-अलग। एक काँच में पीला रंग किया हुआ है, एक काँच में नीला रंग किया हुआ है, एक काँच में धब्बे पड़े हुए हैं। नीले काँच में नीले रंग का मुँह दीखेगा, पीले में पीला दीखेगा, लाल में लाल दीखेगा, धब्बे वाले में धब्बे वाला मुँह दीखेगा। परन्तु जो दीख रहा है वह अलग-अलग है क्या? उपाधि के कारण भेद की प्रतीति हो रही है, चीज़ तो एक ही है। इसी प्रकार एक ही परमात्मा कीटाणु से लेकर के ब्रह्मा पर्यन्त दीख रहा है। ब्रह्मा विष्णु में अत्यन्त साफ मुख दीखता है, कीटाणु में अत्यंत गन्दा मुख दीखता है, जिससे यह भ्रम हो जाता है कि अलग-अलग हैं। पच्चीस काँचों में पच्चीस अलग-अलग ढंग के मुँह दीखते हैं इसलिए लोग समझते हैं कि हर काँच में अलग *मुँह* हैं। पर जानने वाला समझता है कि मुख तो एक ही है, उसके पच्चीस *प्रतिबिम्ब* हैं। इसी प्रकार एक ही परमेश्वर को समझो जो उपाधियों के भेद से अनेक प्रकार का दीखता है पर अनेक प्रकार का बनता नहीं। इसलिए कहा 'क्षेत्रज्ञं मां विद्धि'।

'भारत!' यहाँ भगवान् का अर्जुन को सम्बोधन बड़ा अर्थ वाला है। भा नाम प्रकाश का है। हिन्दी में भी प्रसिद्ध है 'प्रभा', रोशनी को प्रभा कहते हैं। शब्द भा ही है, प्र तो उपसर्ग है। भा अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाश, उसी में जो रत है वह है भारत।

भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ईश्वर की यथार्थता को छोड़ कर कुछ भी ऐसा नहीं है जो जानने के योग्य है। कुछ भी बच नहीं जाता है जानने को अगर इन्हें जान लेते हो। क्षेत्र को तुमने जान लिया तो सारे संसार को जान लिया। क्षेत्रज्ञ को जान लिया तो सारे जीवों को एवं परमेश्वर को जान लिया। अतः यह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है, 'मम मतं' मेरा मत यही है कि 'तज्ज्ञानं' वही ज्ञान है। इन दो को जानने के बाद कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता। उपनिषदों में इस रूप से ही कहा : पिता ने पूछा 'क्या तुमने उसको जान लिया जिसके जानने से सब जान लिया जाता है?' जिसके जानने से सब जान लिया जाता है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ हैं। इनको जानने के बाद कुछ भी जानने लायक बच नहीं जाता। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जिस ज्ञान से विषय होते हैं वही सम्यक् ज्ञान है। 'मम' यह मुझ ईश्वर का मत है अर्थात् तात्पर्य, अभिप्राय है।

यदि सारे क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ एक ईश्वर ही है तो ईश्वर को छोड़ कर कोई भोगने वाला नहीं बचा और ईश्वर को छोड़ करके कोई करने वाला नहीं बचा! तो क्या ईश्वर रोगी दुःखी आदि होता है? और जब कोई संसारी जीव रहा नहीं, तो संसार का अभाव होना चाहिये। ईश्वर को यदि हम जीव मानते हैं तो दुःखी होने वाला हो जाएगा, जो कोई मानने को तैयार नहीं; और यदि जीव नहीं है तो जन्म-मरण भोगने वाला कोई नहीं रहेगा। दोनों तरफ से अनिष्ट की प्राप्ति होती है। बन्ध-मोक्ष बतलाने वाला सारा शास्त्र भी अनर्थक हो जाता है। जब भगवान् ही सब कुछ करता है तो *हमें* दुःख क्यों? बड़ा वाज़िब प्रश्न है। भगवान् कहते हैं 'सब शरीरों में मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ'; तो वे ही दुःखी होवें, *मैं* क्यों दुःखी होता हूँ? इसी तरह किसको उपदेश दिया जा रहा है कि ऐसा करो और ऐसा नहीं करो, सच बोलो, झूठ नहीं बोलो, यह किसे कहा जा रहा है? ईश्वर को कह रहे हो- यह भी नहीं बनता। जीव को तो तुम कहते हो कि जीव ईश्वर से अलग है ही नहीं; अतः उसे कहने की संभावना नहीं।' ये प्रश्न हमेशा तंग करते रहते हैं। करने-कराने वाला ईश्वर है तो भोगने वाले हम क्यों? और करने-कराने वाले हम हैं तो भगवान् सर्वकर्ता कैसे?

जवाब बड़ा सीधा है : अज्ञान से मैं कर्ता और भोक्ता हूँ तथा ज्ञान से मैं न कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ! ठीक जैसे कर्ण अपने को सूतपुत्र समझता था, क्षत्रिय नहीं समझता था। इससे बहुत उसने दुःख पाया, जगह-जगह उसका अपमान हुआ। जब उसको सूर्य ने बताया कि 'वस्तुतः तो तू कुन्ती का पुत्र, क्षत्रिय है, उसको पता लग गया, पर ऐसा नहीं कि वह तब क्षत्रिय *बन गया।* उसे यह नहीं लगा कि 'मुझे उपदेश मिला तो कुछ नया हो गया'। यही समझा कि 'मैं नहीं जानता था कि क्षत्रिय हूँ, अपने को सूत का बेटा समझता था, अब पता चला कि मैं क्षत्रिय हूँ'। इसी प्रकार, नहीं जानने के कारण हम अपने को कर्ता-भोक्ता

समझते हैं और जो मैं कर्ता-भोक्ता अपने को समझ रहा हूँ, उस मुझे ही पता लगता है कि मैं अकर्ता अभोक्ता हूँ! प्रश्न करने वाले को यह तो समझ में आता है कि सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर रहता है, वह जैसे नचाता है सब नाचते हैं, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि जैसे करने की हमें प्रतीति है पर हम करने वाले नहीं, वैसे ही भोगने की हमें प्रतीति है, हम भोगने वाले भी नहीं! वह परमात्मा ही सब रूपों के अन्दर अलग-अलग खेल कर रहा है। दृष्टान्त से समझो : तुम्हारे शरीर में दो छिद्र हैं, एक छिद्र से तुम खाते हो, दूसरे छिद्र से निकालते हो। निकलने वाली चीज़ के प्रति तुम्हारी हेय बुद्धि है और खाने वाली चीज़ के प्रति तुम्हारी उपादेय बुद्धि है। बहुत अच्छा मानते हो कि बढ़िया घेवर खाया। जो सवेरे निकला उसको देखना भी नहीं चाहते हो! वही निकला है, और कुछ नहीं निकला है, पर देखना भी नही चाहते। किन्तु क्या किसी एक छिद्र में *तुम* कम हो, दूसरे छिद्र में *तुम* ज़्यादा हो? दोनों जगह एक जैसे हो। फिर यह भेद क्यों? इसी प्रकार से रावण में भी वह है। वह नीचे से निकालने वाले छिद्र की तरह है। राम में भी वह है, वह अन्दर डालने वाले छिद्र की जगह है। दोनों ही परमेश्वर के क्षेत्र हैं लेकिन उपाधि अलग-अलग हैं इसलिए रावण और उसके चरित्र को हेय मानोगे, राम और उसके चरित्र को उपादेय मानोगे। परन्तु जैसे दोनों छिद्रों में *तुम* एक हो, उसी प्रकार से परमात्मा एक है।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जिस संसार को हम जानते हैं उससे भी विरोध आता है। प्रत्यक्ष से हमें दीखता है कि सुख दुःख होते हैं और सुख दुःख का कारण संसार है। किंच एक-साथ सबको सुख होता नहीं और न एक-साथ सबको दुःख होता है इसलिए इस भेद का कारण धर्माधर्म मानना ही पड़ता है। यदि ईश्वर और जीव एक हैं तब ये धर्माधर्म करने वाला कौन है इस का परिहार है कि ईश्वर अज्ञान से जीव और ज्ञान से ब्रह्म है। विद्या और अविद्या का यह भेद, ज्ञान और अज्ञान का भेद बार-बार उपनिषदों के अन्दर बतलाया है। यमराज कहते हैं कि एक रास्ता अविद्या का है, दूसरा रास्ता विद्या का है। अविद्या से अनेक जीवों की प्रतीति एक ईश्वर के बारे में हो जाती है। विद्या के रास्ते को श्रेयस् का रास्ता कहते हैं, अविद्या के रास्ते को प्रेयस् का रास्ता कहते हैं। अविद्या का रास्ता सबको प्रिय लगता है। विद्या का रास्ता प्रिय तो नहीं है परन्तु श्रेयस्कर है, कल्याणकर है। महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने भी कहा है कि विद्या और अविद्या ये दो अलग रास्ते हैं। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश करना चाहिए, यही श्रुति स्मृति में बार-बार कहा गया है। श्रुतियों में स्पष्ट कहा है कि अगर यहाँ तुमने ज्ञान प्राप्त कर लिया तब तो तुम्हारा यहाँ आना सफल हो गया और यदि यहाँ आकर तुमने परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया तो तुमने अपना बड़ा भारी नुकसान कर लिया! इस प्रकार से शास्त्र विद्या और अविद्या का भेद दो रास्तों के प्रकार से बतलाता है।

गीता में भी भगवान् कहते हैं 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' अज्ञान से तुम्हारा ज्ञान ढका हुआ है, जैसे बादल से सूर्य ढक जाता है। बादल यहाँ से ज़्यादा-से-ज़्यादा

पाँच मील तक मिल जाएँगे। उसके ऊपर तो बादल नहीं हैं। उसके ऊपर सूर्य वैसा ही चमक रहा है जैसा जेठ में तपता है। परन्तु बादल के कारण 'सूर्य नहीं है' ऐसा हमें लगता है। विचार करने वाला कहता है- हमें जो बाहर रास्ता दीख रहा है वह किस प्रकाश से दीख रहा है? सूर्य का ही प्रकाश है; इसका मतलब है कि सूर्य विद्यमान है। बादल के कारण उसका बिम्ब ढका हुआ है। उसी प्रकार यदि ज्ञानस्वरूप परमात्मा हृदय में विद्यमान न हो तो हमें घट पट आदि का ज्ञान कैसे हो रहा है? होता अपने मन में ही है ज्ञान। इसलिए वहाँ परमेश्वर ज़रूर है। ज्ञान और अज्ञान का फल युक्ति से ही देखने में आता है। साँप है; अंधेरे में साँप नहीं दीखा, उसके ऊपर पैर पड़ा, उसने डसा, तुमको दुःख हुआ। कुशों की झाड़ी है, तुमको नहीं दिखाई देती है, उस पर पैर पड़ता है, पैर कटता है। गड्ढे में पानी है, अँधेरे में तुमको नहीं दीखता है, उसमें पैर पड़ता है, तुम्हारे पैर में मोच आती है। अगर तुमको वहाँ प्रकाश की उपलब्धि होती है अर्थात् तुमको ज्ञान हो जाता है कि यहाँ सर्प आदि है, तो उनसे अपने को बचा लेते हो। इस तरह अज्ञान से गिरना और ज्ञान से बचना- यह युक्ति से भी समझ में आता है। ठीक इसी प्रकार से शरीर मेरा रूप नहीं है- इस बात को जो जानता है वह राग और द्वेष से बचता है। सारे दुःखों का मूल कारण राग द्वेष हैं शरीर आदि में जो आत्मबुद्धि है उसी के कारण जीव राग द्वेष आदि से प्रयुक्त होकर धर्म और अधर्म करता है और फिर उसका फल भोगने के लिए मरता और जन्मता है। जिसने जान लिया कि 'शरीर आदि से मैं भिन्न हूँ' वह बच जाता है। राग-द्वेष शरीर को मैं माने बिना हो नहीं सकते। दोनों शरीरों को जो अनुकूल पड़ता है उसी में राग होता है। शरीरों को जो प्रतिकूल पड़ता है उसी में द्वेष होता है। जब तक समझते हो 'शरीर मैं हूँ' तब तक उससे प्रयुक्त रागद्वेष करते हो और जब पता लग गया कि 'शरीर मैं नहीं हूँ' तब शरीर के अनुकूल चीज़ में राग कैसे करोगे? जब राग-द्वेष नहीं होंगे तब धर्माधर्म भी नहीं होंगे, क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति कारण 'ऐसा हो, ऐसा न हो' यह आग्रह है। जब तक यह आग्रह रहता है कि 'ऐसा हो, ऐसा न हो', तभी तक सारी प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। प्रवृत्ति कभी शास्त्रानुकूल होती है, कभी शास्त्रविरुद्ध होती हैं, इससे धर्म-अधर्म चलते रहते हैं। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान से जब व्यवस्था बन जाती है तब शास्त्र को अनर्थक नहीं कह सकते।

शास्त्र का काम है तुमको ज्ञान करा देना। ईश्वर होते हुए ही क्षेत्रज्ञ अज्ञान के कारण संसारिभाव को प्राप्त है। सभी प्राणियों में देखा जाता है कि अविद्यावश शरीर आदि अनात्मा को अपना आत्मा समझते हैं। ठीक जिस प्रकार से सच्चाई न जानने पर ठूंठ में भूत का निश्चय होता है तो तुम भय और शोक को प्राप्त करते हो। तुम्हारे भूत समझने से वह भूत हो नहीं जाता! वह तो ठूंठ ही रहता है। इसी प्रकार ईश्वर को शरीर आदि से एक समझने से ईश्वर शरीर आदि रूप हो नहीं जाता, वह शरीर आदि से रहित ही रहता है। क्षेत्रज्ञ का धर्म है चैतन्य और शरीर आदि का धर्म है जडता। यह याद रखना कि जो जाना जाए

वो जड होता है। जिसको भी तुम जान सकते हो वह जड है। जैसे, कोई भी चीज़ देखते हो तो रोशनी में देखते हो। रोशनी जिस चीज़ पर पड़ती है उसको भी प्रकाशित कर देती है। इसी प्रकार ज्ञान स्वयं ज्ञान ही रहते हुए जिस जड चीज़ का उससे सम्बन्ध होता है उसका ज्ञान करा देता है, वह चीज़ जान ली जाती है। शरीर आदि जितने हैं सब जाने जाते हैं अतः सभी जड हैं। उन सबसे ज्ञानस्वरूप आत्मा भिन्न है। ये जो ज्ञेय शरीर आदि हैं इन्हीं के धर्म हैं सुख, दुःख, मोह, इच्छा इत्यादि। अगर ये ज्ञाता के धर्म होते, जानने वाले क्षेत्रज्ञ के यदि सुख, दुःख, मोह, इच्छा इत्यादि होते, तो ये जाने नहीं जाते! ये जाने जाते हैं इसलिए ही ये क्षेत्र के ही धर्म हैं। जब सुख, दुःख, मोह, इच्छा इत्यादि सारे जड शरीर आदि के धर्म हैं तब कर्तापना-भोक्तापना रूप सारा संसार ज्ञेय में आ गया, जो जाना जाता है उसमें आ गया। उसमें होते हुए अज्ञान के कारण कूटस्थ ज्ञाता में अध्यस्त हो जाता है। है ज्ञेय में, मान ज्ञाता में लेते हैं। जैसे लोक में देखने में आता है: दुकान जल गई तो उसका मालिक सिर कूट कर कहता है 'मैं मर गया।' उसको तो किसी ने कुछ नहीं किया है! लेकिन दुकान के नाश को अपने ऊपर थोप लेता है तभी कहता है 'मैं मर गया, मैं मारा गया।' सचमुच तो वह मारा नहीं गया। इसी प्रकार से सुख-दुःख मोह इच्छादि जो धर्म जड ज्ञेय में हैं उन्हें अपने ऊपर थोप लेता है और कहता है 'मैं सुखी, मैं दुःखी'। सारे क्षेत्रों में रहते हुए भी जो क्षेत्रज्ञ परमेश्वर है उसके अन्दर संसारिता की गन्ध भी नहीं है। वह हमेशा वैसा ही शुद्ध रहता है। सारे क्षेत्रों में रहते हुए भी वह शुद्ध ही है क्योंकि ज्ञान-स्वरूप है। अज्ञान से किसी चीज़ को अपने ऊपर मान लेने से वह तुम्हारे में परिवर्तन नहीं लाती। इसलिये शास्त्र समझाता है कि सारे क्षेत्रों में रहते हुए क्षेत्रज्ञ इन सब चीज़ों से सर्वथा अस्पृष्ट है। अज्ञान के कारण ही क्षेत्रज्ञ में संसारिता की प्रतीति होती है।

अविद्या अन्धकार की तरह है, ढाँकने वाली चीज़ है। जब कोई चीज़ ढक जाती है तब या संशय या विपरीत निश्चय हो जाता है। विपरीत निश्चय जैसे, ठूंठ को देखकर 'यह भूत है'। है तो ठूंठ, निश्चय हो जाता है कि भूत है। अथवा संशय हो जाता है- 'भूत दिखाई नहीं पड़ता जबकि मुझे यह दीख रहा है इसलिए भूत नहीं होना चाहिये, लेकिन हो सकता है कि भूत ही हो'- इस प्रकार से संशय उपस्थित हो जाता है। अज्ञान से ढकी हुई चीज़ के बारे में विपरीत निश्चय भी हो जाता है, संशय भी हो जाता है। अथवा गहरा अज्ञान हो तो पता ही नहीं लगता। जैसे अन्धेरे में साँप का पता ही नहीं लगता, उसके ऊपर पैर रख देते हैं। इससे विपरीत ज्ञान, विवेक प्रकाश की तरह है। विवेकरूप प्रकाश से पता लगता है कि वस्तुतः क्या है। विवेक के द्वारा ही मनुष्य को यथार्थबोध मिलता है, नहीं तो नहीं मिलता। अविद्या के कारण एक प्रतीति तो है- 'मैं जन्मने-मरने वाला जीव ही हूँ' अर्थात् यह विपरीत निश्चय है। दूसरा बोध है 'शरीर मर जाता है, परन्तु शरीर के मरने से मैं तो मर नहीं जाता। अन्यथा अगला जन्म कैसे हो?' अर्थात् यह समझ है कि शरीर के मरने से मैं नहीं मरता इसलिए शरीर से मैं अलग हूँ। परन्तु शरीर को कोई मुक्का मारता है

तो अनुभव है कि चोट तो मुझे लगती है! इसलिए लगता है कि शरीर से मैं अभिन्न ही होना चाहिए। मैं शरीर ही हूँ - यह एक निश्चय है। 'मैं शरीर नहीं हूँ' यह दूसरी तरफ से पता लगता है; तब संशय हो जाता है कि 'वास्तव में शरीर हूँ या अलग हूँ?' किन्तु संशय के लिये भी 'शरीर नहीं हूँ' वाला पक्ष उपस्थित होना चाहिये। संसार में अधिकतर लोग ऐसे हैं जिनको पता ही नहीं है कि मैं क्या हूँ! और कभी विचार भी नहीं करते। सवेरे उठे, बासी चावल खाए, हल लेकर चल दिए खेत जोतने के लिए। बारह बजे वापिस आए, तब नहाए-धोए, भोजन किया, सो गए। फिर पाँच बजे उठे, निराई करने चले गए। रात में आये, खाये, सो गये। मैं क्या हूँ, क्या नहीं हूँ- कुछ भी उन्हें पता नहीं है। शरीर हूँ, शरीररूप नहीं हूँ, मेरा क्या रूप है- कुछ पता ही नहीं है। अज्ञान के अन्धेरे में ये तीनों बातें सम्भव हैं - सर्वथा कुछ न जानना, ग़लत निश्चय और संशय।

बहुत से लोग कहते हैं कि अविद्या जीव में ही रहती है और जीव को ही ये तीनों संशय होते हैं। अतः जीव में अविद्या स्वाभाविक क्यों न मानी जाये? इसके उत्तर में समझोः बढ़ई, बढ़ई कब होता है? जब वसूला, छैनी लेकर आवे। चाहे जितना बढ़िया बढ़ई होवे, उसके पास न हथौड़ी हो, न छैनी हो, न वसूला हो तो क्या वह लकड़ी से कोई चीज़ बना सकेगा! इसी प्रकार कुछ भी तुम करते हो तो तुमको उसके लिए औजार चाहिए। बिना औजार के नहीं कर सकते। तुम जानते हो तो किसी-न-किसी औजार से। देखते हो तो आँख से, सुनते हो तो कान से। आँख नहीं हो तो क्या देख सकते हो? कान नहीं हो तो क्या सुन सकते हो? मन है तो विचार कर सकते हो। मन नहीं तो विचार नहीं कर सकते हो। जानने वाले तुम तब बनते हो जब कोई-न-कोई औजार होता है। औजारों से रहित तुम गहरी नींद में हो तो वहाँ तुम ज्ञाता भी नहीं हो, कर्ता भी नहीं हो। गहरी नींद में आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि, कोई औजार तुम्हारे पास नहीं हैं तो तुम ज्ञाता या कर्ता नहीं बन सकते। अतः विषयों को जानना अर्थात् ज्ञाता बनना *तुम्हारा* धर्म नहीं है। तुम तो ज्ञानमात्र हो, औजारों का प्रयोग करके ज्ञाता बनते हो, अतः आँख में मोतिया बिन्द आ गया तो तुमको कुछ नहीं दीखता, द्रष्टृत्व धर्म तुम्हारा नहीं रहा। डाक्टर तुम्हारी आँख से मोतिया निकाल देता है और तुम्हें दीखने लग जाता है! देखने की क्रिया तो आँख में रहेगी पर ज्ञान-स्वरूप तुम्हारे बिना वह क्रिया नहीं हो सकती जैसे बढ़ई के बिना सारे औजार रख दो तो कुर्सी-मेज नहीं बन सकते। ज्ञान-स्वरूप तुम होगे तब तो आँख देखेगी, कान सुनेगा, नाक सूँघेगी। करने वाले तो ये ही हैं पर जब चलाने वाला वहाँ ज्ञान होगा तब करेंगे। आँख के इलाज से 'देखने वाला' 'नहीं देखने वाले' से पुनः 'देखने वाला' हो जाता है। अतः देखने का काम तो आँख का रहा, ज्ञान-स्वरूप कूटस्थ का नहीं। परन्तु ज्ञान-स्वरूप कूटस्थ के न होने पर आँख कुछ भी नहीं देख सकती। क्षेत्रज्ञ का अपना धर्म ज्ञानमात्र है, विषयों को जानना नहीं। अर्थात् वह ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञातृस्वरूप नहीं। औजारों का सम्बन्ध होने से वह ज्ञाता बनता है। इस विचार से निश्चय होता है कि जीव अविद्या स्वभाव वाला नहीं है। वरन्

ज्ञान-स्वभाव वाला है, अविद्या तो उसकी एक उपाधि है जो निवृत्त भी हो जाती है। फलतः, क्षेत्रज्ञ का ईश्वररूप होना बिलकुल ठीक ही है। जब तक इस यथार्थ का ज्ञान नहीं होता, तब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति कराने वाला शास्त्र भी सार्थक हो जाता है। जब तक आत्मा के बारे में घोर अज्ञान है तब तक धर्माधर्म के ज्ञान से तुम अधर्म से बच सकोगे और धर्म में प्रवृत्त हो सकोगे। इतना याद रखना कि शास्त्र ज्ञापक है। शास्त्र बतला देता है। शास्त्र किसी का कान पकड़ कर उससे कुछ करवाता नहीं है! 'यह करने से यह लाभ है, यह करने से यह नुकसान है'- बस इतना बतला देता है शास्त्र। उसका *तात्पर्य* इसमें नहीं है कि तुम करो। प्रवृत्ति शास्त्र से यह सिद्ध नहीं होता है कि क्षेत्रज्ञ कर्ता है। शास्त्र तो केवल बताता है कि कोई अमुक चीज़ की प्राप्ति करना चाहे तो अमुक उपाय है। अतः क्षेत्रज्ञ को कर्ता भोक्ता मानने में कोई प्रमाण नहीं, उसे अकर्ता-अभोक्ता मानना ही शास्त्र प्रमाण से संगत है।

विद्या-अविद्या दशाओं के आधार पर ही शास्त्रादि व्यवस्था सारे ही आत्मवादियों को स्वीकार करनी पड़ती है, चाहे द्वैतवादी हों या अद्वैतवादी हों। मुक्त होने के बाद संसार-संसारी व्यवहार नहीं रहता है- यह सभी आत्मवादी मानते हैं। और यह भी मानते हैं कि जब तक मुक्त नहीं होते तब तक सारा व्यवहार रहता है। दोनों बातें सभी आत्मवादियों को माननी पड़ती हैं। अतः यह भेद अविद्या और विद्या कृत है, यह सबको मानना पड़ता है। जो भी आत्मवादी हैं, सब इस बात को स्वीकार करते हैं। आचार्य ने स्पष्ट कहा है 'यथाप्रसिद्धाऽविद्वत्पुरुषविषयत्वाच्छास्त्रस्य' कि सारा शास्त्र अविद्या वाले के लिए सार्थक है। 'सत्य बोलने से पुण्य होता है'- यह शास्त्र सार्थक है जब तुमने इस बात को जान लिया कि सत्य बोलने से पुण्य होता है। इसी प्रकार से 'देहादि संघात मैं नहीं हूँ'- यह शास्त्र ने ज्ञापन कर दिया और यह बात तुमने जान ली। सारा ही प्रवृत्ति-निवृत्ति शास्त्र, देहादि को लेकर ही है। ये तुम नहीं, - तो तुम्हारे लिए शास्त्र की कोई ज़रूरत भी नहीं। इसलिए क्षेत्रज्ञ को जब हमने ईश्वररूप समझ लिया तब शास्त्र हमारे लिए ज़रूरी नहीं रह गया। जब तक हमने नहीं जाना तब तक वह ज़रूरी है ही।

फिर द्वैतवादियों में और हम में क्या फ़र्क है? वे आत्मा की दो अवस्थाएँ मानते हैं- एक बद्ध अवस्था और दूसरी मुक्त अवस्था। अद्वैत के अनुसार तो आत्मा की दो अवस्थाएँ नहीं हैं। आत्मा हमेशा ज्ञानमात्र ही है। जैसे रस्सी की दो अवस्थाएँ नहीं हैं कि अंधेरे में साँप है और उजाले में रस्सी है! ऐसी रस्सी की दो अवस्थाएँ नहीं हैं। साफ न दीखने पर साँप है और साफ दीखने पर रस्सी है। अतः जब तुमको साँप दीख रहा है तब भी रस्सी ही है। इसी प्रकार अविद्या अवस्था में हम अपने को कर्ता-भोक्ता देख रहे हैं, ज्ञानावस्था में हम अपने को ईश्वर देखते हैं और निश्चय होता है कि 'जब हम अविद्या काल में, अज्ञान काल में खुद को जीव समझ रहे थे तब भी थे तो ईश्वर ही' अतः ईश्वर की दो अवस्थाएँ नहीं हो गई। ईश्वर ही बना रहा, अज्ञान के कारण तुमको उस ईश्वर में जीव दीख गया। यदि ऐसा नहीं मानेंगे, यह मानेंगे कि सचमुच में आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं,

तो प्रश्न होगा कि बन्धन और मुक्ति क्रम से होते हैं या एक-साथ होते हैं? एक-साथ बन्धन और मुक्ति नहीं होते यह तो स्पष्ट ही है। गाड़ी इकट्ठे ही चले भी और खड़ी भी रहे यह नहीं हो सकता। क्रमशः ही दोनों बातें संभव है। एक साथ नहीं हो सकते तो बंध-मोक्ष को क्या क्रम से मान लेवें? पहले बन्धन है फिर मोक्ष हो जाये। इस पर विचारणीय है कि बन्धन का कारण क्या? यदि कहते हो कि जीव का बन्धन निर्निमित्त है तो मोक्ष असम्भव है। अतः बन्धन का कोई कारण बतलाना पड़ेगा, किन्तु तब समस्या है कि जब तक निमित्त नहीं आया था तब तक उसको बद्ध कैसे मानेंगे? इस तरह हर हालत में कभी बद्ध, कभी मुक्त यह भी नहीं बनेगा। कभी बद्ध की *प्रतीति* कभी मोक्ष की *प्रतीति* - यह तो बन जाएगा। लेकिन कभी बद्ध और कभी मुक्त - यह नहीं बनेगा। इतना ही नहीं, बन्ध और मुक्तावस्था में एक को पहले मानोगे, दूसरे को बाद में मानोगे; किन्तु मुक्ति के बाद बन्धन नहीं होता यह भी मानोगे! इसका मतलब हुआ कि बन्धन करने वाला जो निमित्त है वह अनादि तो है, परन्तु आगे हमेशा के लिए नष्ट हो जाता है क्योंकि मुक्ति के बाद फिर बन्धन नहीं होता है। और दूसरी तरफ मुक्ति को आदि वाला मानोगे और आगे अनन्त मानोगे। एक अनादि होते हुए सान्त है और दूसरा सादि होते हुए अनन्त है - ये लोकविरुद्ध बातें माननी पड़ेंगी। इसलिए बन्धन और मोक्ष दो अवस्थाएँ आत्मा की मानना बन नहीं सकता। किंच, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना तो परिवर्तन है और यदि ऐसे परिवर्तन वाला आत्मा है तो जो परिवर्तित होता है वह एक दिन नष्ट भी होता है। आत्मा नष्ट होने वाला है यह किसी भी आत्मवादी को स्वीकार नहीं है।

इस विचार का अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि 'शास्त्र अनर्थक होगा' इस समस्या का समाधान केवल वेदान्ती को ही नहीं, सभी आस्तिकों को करना पड़ेगा। हमारे यहाँ तो फिर सीधी-सी बात है कि अज्ञानी को जो फल की इच्छा है, वह प्रवृत्ति का कारण बन जाती है। फल किसको मिलेगा? अधिकतर तो शरीर को मिलेगा। जो भी तुम फल चाहते हो वह शरीर को ही मिलता है। शरीर से यहाँ दोनों शरीर समझ लेना - स्थूल और सूक्ष्म शरीर। इनके सिवाय और तो किसी को फल होना नहीं है! और शरीर आत्मा है यह कोई आस्तिक नहीं मानता। अतः अनात्मा में आत्मदर्शन किए बिना कोई इच्छा पैदा ही नहीं हो सकती। विद्वान् जानता है कि फल और फल का जो कारण है कर्म, उसका मुझ से कोई सम्बन्ध नहीं, इनका क्षेत्र से ही सम्बन्ध है, क्षेत्रज्ञ से नहीं, अतः उसके अन्दर कामना नहीं होती अत एव उसकी प्रवृत्ति असम्भव है। इसलिए जो विधि-निषेध शास्त्र है वह आत्मा को अनात्मा से एक करने वाले के लिए फल कैसे प्राप्त होगा- यह बता कर कृतार्थ हो जाता है।

यदि कोई कहता है 'देवदत्त! तुम एक गिलास पानी ले आओ।' तो वहीं शिवदत्त भी है, वह भी इस वाक्य को सुनता है, परन्तु जानता है कि देवदत्त को कह रहे हैं इसलिए सुन कर भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। सुना तो उसने भी कि 'तुम एक गिलास पानी ले आओ', किन्तु सुनने पर भी उसको यह नहीं लगता कि 'मैं जाकर एक गिलास पानी ले आऊँ'। इसी

प्रकार शास्त्र कहता है– ब्राह्मण यह करे, ब्रह्मचारी यह करे। जिसको ब्राह्मण या ब्रह्मचारी के अन्दर बुद्धि है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ', उसकी तो प्रवृत्ति हो सकती है। पर जो जानता है मैं ब्राह्मण नहीं, मैं ब्रह्मचारी नहीं, उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी! इसलिए जब ज्ञान हो गया इस बात का कि आत्मा कूटस्थ ईश्वर ही है, तब अनात्म-धर्मों के कारण मैं ब्राह्मण, मैं ब्रह्मचारी इत्यादि सब भाव ख़त्म हो जाते हैं। अतः शास्त्र उसको प्रवृत्त कर नहीं सकते। ईश्वर को क्षेत्रज्ञ समझने वाला जो ब्रह्मवित् है उसकी प्रवृत्ति इसीलिए सम्भव नहीं। ऐसे समझ लो कि जो आत्मा को नहीं मानता, परलोक को नहीं मानता, उसको तुम परलोक का फल देने वाले कर्मों में प्रवृत्त कैसे कर सकते हो? इसीलिए आज के युग में कहने वाले लाख कहें 'झूठ मत बोलो, झूठ का फल बुरा होता है!' पर सुनने वाला जानता है कि 'झूठ बोलने से ही मुकदमा जीतते हैं, झूठ बोलने से ही इनकम टैक्स बचता है। बाबाजी को क्या पता कि झूठ बोलने से क्या-क्या फायदे होते हैं!' कहने पर भी प्रवृत्ति नहीं होगी। 'प्रातःकाल चार बजे उठ करके नहाओगे, सन्ध्या-वन्दन करोगे तो तुमको बड़े भारी दान का पुण्य होगा।' चाहे जितनी बार सुना दो, फिर भी उठना तो आठ बजे ही है। निरात्मवादी को जैसे शास्त्र प्रवृत्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार से आत्मवादी भी जो जानता है कि क्षेत्रज्ञ ईश्वर है, वह शास्त्र के वचनों को सुन कर भी प्रवृत्त नहीं हो सकता।

यह भय नहीं करना चाहिए कि ज्ञानी प्रवृत्ति नहीं करेगा तो उसको देख कर दूसरे अप्रवृत्त हो जाएँगे! यह शंका इसलिए नहीं होती कि यह विवेक उत्पन्न ही बहुत कम लोगों को होता है। ठीक जैसे अभी हमने कहा, हम चाहे जितना सत्य बोलें, चाहे जितना दूसरे को पीडा देने से रुकें, क्या हमें देख कर कोई झूठ बोलना छोड़ेगा या दूसरे को पीडा देना छोड़ेगा? इसी प्रकार से प्रवृत्ति शास्त्र ब्रह्मवेत्ता को प्रवृत्त नहीं करता– इतने मात्र से दूसरे क्यों छोड़ेंगे प्रवृत्ति को? सारे शास्त्र बार-बार कहते हैं कि कामना बुरी चीज़ है, कामना नहीं करनी चाहिए, परन्तु क्या किसी को डर लगता है कि कामना की हम बुराई करेंगे तो लोग कामना छोड़ देगें? कई बार बातचीत में प्रश्न करते हैं 'महाराज! सब लोग ऐसा करें तो क्या होगा!' प्रश्न इसलिए ग़लत है कि सब लोग ऐसा करेंगे ही नहीं! जिसको जिस चीज़ की इच्छा है वह उसके लिए प्रवृत्ति करेगा। 'दूसरा नहीं करता तो मैं भी नहीं करूँ'– ऐसा कामनावान् के लिये संभव नहीं। अनेक प्राणियों में कोई एक ही विवेकी होता है और राग आदि दोष के अधीन होने के कारण जो मूढ लोग हैं वे उसका अनुवर्त्तन करेंगे ही नहीं। उनकी प्रकृति उनको प्रवृत्त कराती है, भगवान् ने खुद ही कहा है 'स्वभावस्तु प्रवर्त्तते', जो जिसका स्वभाव है उसके अनुसार वह प्रवृत्ति करेगा ही।

संसार अविद्या के कारण ही है। क्षेत्रज्ञ उससे सर्वथा भिन्न ही है। मिथ्या ज्ञान किसी चीज़ की वास्तविकता को बदलता नहीं। जब तुम अपने को जीव समझ रहे हो तब भी आत्मा ईश्वर ही है इसलिए भगवान् ने कहा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'। क्षेत्र के अन्दर आत्म-दर्शन - यही मूढता है। जब क्षेत्रज्ञ की अविकारिता को समझ लेते हैं तब न इस

शरीर के किसी भोग के लिए प्रवृत्ति होती है और न कर्म के लिए प्रवृत्ति होती है। फल के लिए ही अज्ञानी दौड़ता है। फल की इच्छा से रहित होने के कारण ज्ञानी कुछ नहीं करता। आत्मा की इस सत्यता की समझ को ही भगवान् ज्ञान कहते हैं, इसके सिवाय जितने भी ज्ञान कहलाते हैं वे सब अज्ञान के ही कार्य हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति हमेशा शास्त्रार्थ के सम्प्रदाय से ही होती है। जैसा शास्त्र का अर्थ सम्प्रदाय से प्राप्त होता है वैसा ही उसको स्वीकार करना पड़ता है। यहाँ भगवान् ने क्षेत्रज्ञ को अपना स्वरूप बताया तो इस बात को यथावत् ही स्वीकारकर समझना चाहिये। समझने में जो प्रश्न उठते हैं उनका आचार्य ने इस प्रसंग में अत्यन्त विस्तार से उत्तर दिया है।

क्षेत्र का मतलब याद रखना– जिसमें बोया और काटा जाए वह क्षेत्र है। बोया जाए– यह कर्म है और काटा जाए– यह भोग है। ये दोनों ही क्षेत्र के धर्म हैं। क्षेत्रज्ञ न करता है, न भोगता है। जब तुम समझ रहे हो कि वह करता है, तब भी कर तो क्षेत्र ही रहा है और भोग भी क्षेत्र ही रहा है। जब शरीर आदि में तुम क्रिया देखते हो तब क्षेत्रज्ञ कर्ता हो नहीं जाता है, ईश्वर ही रहता है। और जब तुम उसको भोक्ता समझते हो तब भी वह भोक्ता हो नहीं जाता हे, वैसा–का–वैसा कूटस्थ ही रहता है। अतः जहाँ कहीं तुमको क्रिया और भोग दीख रहा है वह सब क्षेत्र है। हम देखते हैं शरीरों को और उससे अनुमान करते हैं कि 'यह ऐसा ज्ञान कर रहा है'। क्षेत्र करेगा अपने स्वभाव से, भोगेगा अपने स्वभाव से। निर्विकार जो क्षेत्रज्ञ है वह तो वहाँ केवल रह रहा है, उसको सत्ता दे रहा है। उसके न होने पर ये सब कुछ नहीं कर सकते, यह बात बिलकुल ठीक है। करने और भोगने के लिये उसको किस रूप में रहना पड़ेगा? अहंकार से एक हो कर। अहंकारात्मिका वृत्ति जब होगी तब वह ज्ञानस्वरूप क्षेत्रज्ञ उसके द्वारा सब करने और भोगने का काम करेगा। तत्त्वज्ञान होने पर वह अहंकारात्मिका वृत्ति क्षेत्र से हट कर क्षेत्रज्ञ की तरफ जाती है। उसी को ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं। जब मैं ब्रह्म हूँ तब कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्भव ही नहीं है।

अब एक प्रश्न होता है कि ईश्वर क्षेत्रज्ञ हो गया, बाकि सब क्षेत्र हुआ, तो यह अज्ञान *किसका* है? अज्ञान किसको हुआ? अविद्या का आश्रय कौन है? ईश्वर को अविद्या का आश्रय मानें तो भी दोष आता है और अविद्या का आश्रय बने बिना वह क्षेत्रज्ञ हो नहीं सकता। सचमुच में यदि कोई चीज़ होती, तब तो सचमुच में उसका आश्रय होता! व्यवहार भूमि में, जिसको अविद्या की प्रतीति है उसी की अविद्या है। अगर मैं अनुभव करता हूँ कि 'मैं ब्रह्मदत्त को नहीं जानता' तो मुझे ही ब्रह्मदत्त का अज्ञान है। 'नहीं जानना' विचार करके तो होता नहीं है; अज्ञान से जो चीज़ होती है वह विचार करके नहीं होती। ठीक जिस प्रकार से राधेय अविचार करने से राधेय था, उपदेश से उसने जाना 'मैं कौन्तेय हूँ'। कौन्तेय रहते हुए उसने कैसे जाना 'मैं राधेय हूँ'? किसने जाना 'मैं राधेय हूँ?' जो कौन्तेय है उसी ने अज्ञान से अपने को सूतपुत्र समझा। इसी प्रकार से जिसको अनुभव हो रहा है अविद्या का, वह अविद्या को देखता है इसलिए उसकी ही अविद्या है। अतः जब तक तुमको अनुभव

है 'अविद्या है' तभी तक अविद्या है। अविद्या का अनुभव तुमको ही होगा क्योंकि तुम्हारे पर ही आश्रित हो कर अविद्या रहती है। तुम कौन हुए? जब तक तुमने इस बात को नहीं जाना कि 'ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ है' तभी तक तुम हो। इसलिए अविद्या को हटाना भी उसका काम है जिसे अविद्या है। तुममें अविद्या की सिद्धि शास्त्रकार नहीं करते हैं। तुम खुद कहते हो 'मैं ब्रह्म को नहीं जानता।' इसलिए ब्रह्म को जानने का प्रयत्न तुम करोगे तब पता लगेगा कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। जो अविद्या को जानता है वही अविद्या का आश्रय है। अविद्या से जानता है 'मैं जन्म-मरण वाला हूँ' परन्तु जब जान रहा है तब भी है तो ईश्वर ही। इसलिए अविद्या का आश्रय-विषय ही अविद्या को दूर करेगा। कहा जाता है कि 'आग गर्मी देती है'। अग्नि गर्मी देती नहीं है, अग्नि तो स्वभाव से गर्म है। तुम उसके पास बैठे हो इसलिए तुमको गर्मी लगती है। केवल कहा जाता है कि अग्नि गर्मी दे रही है, अग्नि तो स्वरूप से गर्म है। इसी प्रकार अविद्या ढाँकती है ज्ञान-स्वरूप ईश्वर को। जिस-जिस स्थल के अन्दर अविद्या का थोड़ा आवरण हटता है उस-उस चीज़ में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इसीलिए आत्मा में ही अविद्या के कारण हमको क्रिया-कारक-फलरूपता की प्रतीति हो जाती है। हम ही फिर उस प्रतीति को दुःखरूप होने के कारण हटाते हैं। शरीर के अन्दर हमें 'मैं' ऐसी प्रतीति है, बस, इसी का नाम अविद्या है। जब तक देह को तुम अपना स्वरूप मानते हो तब तक कर्मत्याग असम्भव है। एक कर्म को छोड़ कर दूसरा कर्म करो, यह तो हो सकता है, पर कर्ममात्र का त्याग नहीं हो सकता। जब अपने स्वरूप को जान लिया, देहादि से अतिरिक्त अपने को जान लिया, तब फिर लाख कोशिश करके भी कर्म कर नहीं सकते! शरीरादि को अपना स्वरूप मानने पर ही इसमें होने वाले ज्ञान-इच्छा-क्रिया किये जा सकते हैं। इच्छा मन में हो रही है, क्रिया कर्मेन्द्रियों में, प्राणों में हो रही है; जब तुम्हारा उनमें अध्यास नहीं रहा तब तुम करो किससे? इस प्रकार जब तक अविद्या का किंचित् भी सम्बन्ध हो कर देहादि में अहंकारादि की प्रतीति होती है, तभी तक अहंकारादि कार्य करते हैं। परन्तु अहंकारादि के कार्य करने पर भी जो इस बात को जानता है कि 'मैं अहंकारादि नहीं हूँ' वह उनके क्रियाशील होने पर भी कर्ता बनता नहीं। इस क्षेत्रज्ञता में प्रतिष्ठित रहना ही मोक्ष है, इसकी प्राप्ति कराने वाली विद्या को ही भगवान् ने यहाँ 'ज्ञान' माना है।।२।।

अब भगवान् उक्त विषय को विस्तार से समझाने के लिये पहले क्षेत्र का तात्पर्य स्पष्ट करेंगे। यहाँ पुनः भाष्यकार ने इसे 'क्षेत्राध्याय' कहा है। आगे जिसे विस्तार से बताना है उसे संक्षेप में तीसरे श्लोक में उपस्थित करते हैं –

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।३।।

वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जिन विकारों (कार्यों) वाला है, और (उसमें) जिससे जो कार्य उत्पन्न होता है- यह संक्षेप में मुझसे सुनो। तथा वह क्षेत्रज्ञ जो है, जिन प्रभावों वाला है,

वह भी संक्षेप में सुनो।

'तत्' शब्द से उसी को कह रहे हैं जिसको पहले 'इदं शरीरं' कह आए हैं। वह क्षेत्र जैसा है अर्थात् उसके अपने गुणादि क्या हैं। जैसे आग अपने आप में गर्मी है उसी प्रकार क्षेत्र का अपना धर्म क्या है? 'यद्विकारि', इससे जो विकृतियाँ होती हैं, इसमें जो परिवर्तन आते हैं वे क्या हैं? और इससे जो कार्य उत्पन्न होते हैं वे क्या हैं? इसी प्रकार जो क्षेत्रज्ञ निर्दिष्ट है उसका क्या प्रभाव है? प्रभाव अर्थात् उपाधि के कारण आई हुई शक्ति। ज्ञान-स्वरूप परमात्मा में आँखरूप उपाधि के आने पर देखनेवालापना आ जाता है, प्रतीत होता है, सचमुच में नहीं आता है! कानरूप उपाधि होने से सुनने वाला रूप प्रतीत होता है। उपाधि के द्वारा जो शक्तियाँ प्रकट होती हैं वे प्रभाव हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की जो यथार्थता है उसको 'समासेन मे शृणु', संक्षेप में बतलाता हूँ, सुनो।

उपनिषद्-ज्ञान को छोड़ कर, संसार के जितने ज्ञान हैं वे सारे क्षेत्र और उसके कार्यों के बारे में ही सिमटे रहते हैं। अतः उन ज्ञानों ने क्षेत्र के बारे में इतना कुछ पता लगाया है कि पूरी तरह से वर्णन करना तो असम्भव है। इसलिए भगवान् ने कहा, संक्षेप से मेरी बात को ध्यान देकर के सुनो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की यथार्थता को जानना बहुत ही ज़रूरी है। अन्यथा हम लोग हमेशा क्षेत्र का ही सारा वर्णन करते रहते हैं, क्षेत्र की ही बातों को समझने का प्रयत्न करते हैं, क्षेत्रज्ञ की तरफ कभी ध्यान ही नहीं देते। बन्धन का मूल कारण यही है कि हमने कभी विचार नहीं किया कि जो सुखी-दुःखी होने वाला मैं, रागद्वेष वाला मैं, वह मैं हूँ कौन? अतः जब इसकी तरफ ध्यान दिलाया जाता है तभी मनुष्य इधर समझने में प्रवृत्त होता है। अन्यथा, निरन्तर क्षेत्र का ही विचार करता रहता है। अधिकतर लोग जब तक कोई सत्संग न मिले तब तक या तो निश्चित रहते हैं कि शरीर ही क्षेत्रज्ञ है, शरीर ही जानता है। कुछ थोड़ा विचार करते हैं तो मान लेते हैं कि मन ही जानता है। इसके सिवाय कोई जानने वाला है, ज्ञान स्वरूप है- इस बात को बिना उपदेश के समझा ही नहीं जा सकता। अतः क्षेत्रज्ञ को शास्त्र स्पष्ट कर बताता है, वही उसका प्रधान विषय है। क्षेत्रज्ञ का स्वरूप समझने के लिए क्षेत्र को भी समझना जरूरी है अतः उसे भी बताया जाता है।।३।।

श्रोता की, अर्जुन की इसमें रुचि बढ़े इसकेलिये भगवान् इस यथार्थता की प्रशंसा करते हैं-

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।४।।

ऋषियों द्वारा एवं छन्दों (मन्त्रों) द्वारा विवेकपूर्वक बहुत प्रकार से इस यथार्थ का गान किया गया है। निश्चयजनक व युक्तियुक्त उन वाक्यों द्वारा भी इसे समझाया गया है जो ब्रह्म के सूचक एवं ब्रह्मज्ञान के उत्पादक हैं।

वसिष्ठ आदि ऋषियों ने 'बहुधा' बहुत प्रकार से इसका गान किया है। दो ग्रन्थ मिलते हैं वसिष्ठ जी के। बहुत बड़ा ग्रन्थ तो उनका है जिसको 'योग वासिष्ठ' कहते हैं,

'महारामायण' भी कहते हैं। और दूसरा उनका ग्रन्थ है 'वसिष्ठ स्मृति'। इन दोनों में ही क्षेत्रज्ञ के स्वरूप पर विचार किया है। जिस प्रकार से मनु स्मृति में सारे कर्मों का प्रतिपादन करने के बाद अन्त में जाकर शुद्ध जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा है उसके बारे में बताया है, जैसे वेदों ने भी पहले सारे कर्म बातये फिर जाकर आत्मस्वरूप को बताया, इसी प्रकार वसिष्ठ स्मृति में है। योग वासिष्ठ में तो शुरू से ही आत्मा का वर्णन है। जैसे वसिष्ठ ने, वैसे ही अन्य ऋषियों ने भी इसका प्रतिपादन किया है। केवल ऋषियों ने ही कहा हो ऐसा नहीं है, 'विविधैः छन्दोभिः पृथक् गीतम्'। तरह-तरह से 'पृथक्' अर्थात् विवेक करके वेदों ने इसका प्रतिपादन किया है। उपनिषदों में अनेक प्रकार से इसका प्रतिपादन किया है। 'विविधैः' इसलिए कहा कि एक-एक वेद की अनेक शाखाएँ हैं- जैसे शुक्लयजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन शाखायें हैं। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कपिष्ठकाठक, श्वेताश्वतर आदि शाखाएँ हैं। सामवेद की कौथुमी, राणायनीय आदि, ऋग्वेद की शाकल व शांख्यायन तथा अथर्ववेदकी शौनक व पैप्पलाद शाखायें आज भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार से सभी वेदों की अनेक शाखाएँ हैं। उन सबके अन्दर परमात्मा का स्वरूप बतलाया है।

'ब्रह्मसूत्रपदैः' इसके दो अर्थ हो सकते हैं- आचार्य तो इसका अर्थ लेते हैं ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले जो सूत्र वाक्य उपनिषदों में आए हैं। ब्रह्म के सूचक होने से वे सूत्र हैं और उनसे ब्रह्म 'पद्यते' जाना जाता है इसलिये वे पद भी हैं। ऐसे असंख्य वेदवाक्यों में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की यथार्थता का प्रतिपादन है जैसे 'आत्मेत्येवोपासीत', आत्मा की ही उपासना करो, इत्यादि। कई हेतु बतलाए कि क्यों आत्मा की उपासना की जाये। ऐसे ब्रह्मसूत्रों के द्वारा आत्मा जाना जाता है। 'विनिश्चितैः हेतुमद्भिः', वहाँ पर निश्चित कारण बतलाया है अर्थात् संशय आदि उत्पन्न न होवें इस प्रकार से प्रतिपादित किया है। इसलिए निश्चय-ज्ञान ही उनसे उत्पन्न होगा। उपनिषदों में आए हुए ब्रह्मप्रतिपादक सूत्र वाक्यों के द्वारा ब्रह्मविषयक यथार्थ ज्ञान ही पैदा होगा। कुछ अन्य आचार्यों ने यहाँ ब्रह्मसूत्र से वेदव्यास के शारीरक सूत्रों को समझा है। वेदान्तों के अन्दर केवल ब्रह्म का ही वर्णन है- शारीरक सूत्रों का पूरा पहला अध्याय यही बतलाने के लिए है। वेदान्तों में भिन्न-भिन्न चीज़ें जगत्कारण के रूप में हमारी समझ में आती हैं जिसको कोई प्रकृति कह देता है, कोई कुछ कह देता है। कहीं प्राण नाम से कह दिया, कहीं मन नाम से कह दिया। अनेक नामों से कहा है इसलिए भ्रम होता है कि अलग-अलग उपासनाएँ होंगी, या अलग-अलग चीज़ें कारण बताई गई होंगी। सर्वत्र ब्रह्मसूत्र के अन्दर हेतु बतला करके यही निर्णय किया है कि दूसरा कुछ भी नहीं, ब्रह्म को ही उस-उस नाम से कहा है। ठीक जिस प्रकार से परमेश्वर को विष्णु, शंकर, ब्रह्मा, देवी, सूर्य इत्यादि अनेक नामों से सुन कर साधारण आदमी को शंका होती है कि क्या ये सब अलग-अलग भगवान् हैं? कई लोग पूछ भी लेते हैं : 'आप किस भगवान् को मानते हैं?' भगवान् एक है- इस बात का निश्चय भली प्रकार से समझकर करना पड़ता है। अन्यथा, अन्य-अन्य पुराणों को

बाँच कर ऐसा लगने लगता है कि अनेक भगवानों का वर्णन है! युक्ति पूर्वक विचार करते हैं, तब पता लगता है कि तत्त्व एक ही है। नाम और रूप का भेद होने से तत्त्व नहीं बदलता। इसी तरह ब्रह्मसूत्रों में निर्णय बताया कि कहीं प्राण, कहीं, आकाश, कहीं मन - इस प्रकार से बतलाने पर भी प्रतिपादन वेद में केवल ब्रह्म का ही है। इसी प्रकार से पुराणों के अन्दर भिन्न-भिन्न नामों के द्वारा बताया जाने पर भी जिसको बताया जा रहा है वह ब्रह्म ही है। ब्रह्मसूत्र का बहुत बड़ा हिस्सा यही बतलाने में गतार्थ होता है कि उपनिषदों में जहाँ कहीं बतलाया है वहाँ ब्रह्म का ही भिन्न-भिन्न नाम-रूपों के द्वारा प्रतिपादन किया है। ऋषियों ने, वेदों ने, ब्रह्मसूत्रों ने, बताया - यह इस तत्त्व की प्रशंसा है। ये अत्यन्त प्रसिद्ध विचार वाले लोग या ग्रंथ हैं, इनके प्रामाण्य के बारे में कभी शंका नहीं होती। इन सबने इसको बतलाया है यही इसकी प्रशंसा हो जाती है।

हम लोग वेदान्त का प्रतिपादन करने वाली प्रस्थानत्रयी को मानते हैं। उसका भगवान् ने ही संकेत कर दिया है- 'छन्दोभिः' से श्रौत प्रस्थान, उपनिषदों को कह दिया; 'ऋषिभिः' से स्मार्त प्रस्थान गीता को कह दिया तथा 'ब्रह्मसूत्रपदैः' से तर्क प्रस्थान शारीरक मीमांसा को कह दिया। इस तरह यह वह तत्त्व है जो वेद कहे, जो ऋषि लोग कहें, और जो युक्ति से सिद्ध हो सके। युक्ति से सिद्ध हो सके, कह रहे हैं, युक्ति से इसका *पता* नहीं लगता। पता तो या वेद-वाक्य से लगेगा अथवा स्मार्त-वाक्य से लगेगा। जो वेद को साक्षात् नहीं देख सकते हैं वे पुराण आदि, महाभारत आदि के द्वारा भी उसको जान लेते हैं। परन्तु जो जाना वह युक्ति से विरुद्ध नहीं है- यही है युक्तियों से निश्चय करना। अन्य प्रमाणों से जितने विरोध प्राप्त होते हैं उन सब विरोधों को हटाना पड़ेगा।।४।।

इस प्रकार स्तुति करके अब उस क्षेत्र को भगवान् बतलाते हैं :-

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त- (यह) ही (आठ प्रकार की अपरा प्रकृति है। ये इनके कार्य हैं-) दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँच इन्द्रियों के विषय। (ये प्रकृति के विकार हैं-) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, देह-इन्द्रियों का व्यवस्थित संघरूप शरीर, चेतना (होश) और धैर्य। संक्षेप में यह विकारों समेत क्षेत्र बता दिया।

भगवान् कहते हैं कि सारा क्षेत्र मैं बतला देता हूँ : सबसे पहले 'महाभूतानि', जो कुछ भी अविद्या के द्वारा हमें प्रतीत होता है वह पाँच इन्द्रियों के द्वारा ही होता है, इसके सिवाय और कुछ भी हमारे पास जानने का साधन नहीं है। हम लोग कहते हैं कि संसार में पंचमहाभूत हैं। हम क्या कह रहें हैं इसको नहीं समझ कर कई लोग कहते हैं 'आज विज्ञान

में अट्ठानबे या एक सौ आठ तत्त्व मानते हैं'। विज्ञान के तत्त्वों से हमारे तत्त्वों में विरोध देखने वाले हमारी बात को समझ नहीं रहे! पाँच तत्त्व अर्थात् आँख से जो दीखता है- रूप। कान से जो सुनाई देता है- शब्द। नाक से जो प्रतीत होता है- गन्ध। जीभ से जो प्रतीत होता है- स्वाद। त्वक् से जो प्रतीत होता है- स्पर्श। एक-एक इन्द्रिय से जिस-जिस की प्रतीति होती है उसी को हमने तत्त्व कहा है। इन पाँच से अतिरिक्त तुम्हारे एक सौ आठ में कुछ नहीं मिलेगा। जो कुछ है वह सब पंच महाभूतों का ही विस्तार है, सृष्टि पांचभौतिक है। क्योंकि पांचभौतिक सृष्टि है इसलिए उससे हुई जितनी चीज़ें हैं उन सबके अन्दर ये पंचभूत ही रहेंगे। जो स्थूल प्रतीति होती है वह सारी स्थूल, पंचीकृत पंचमहाभूतों को विषय करती है। जो स्थूल रूप से प्रतीत नहीं होता है परन्तु हमें प्रतीत होता है, समझ में आता है, वह सब सूक्ष्म महाभूतों का कार्य है। 'महाभूतानि', पंचीकृत पंचमहाभूत और अपंचीकृत पंचमहाभूत, सब महाभूत ही हैं।

'अहंकारः', महाभूत कब प्रतीत होते हैं? महाभूतों का कारण कौन? कौन है तब महाभूतों की प्रतीति होती है? अहंकार। अहं प्रतीति होने पर ही आगे पंचमहाभूतों की प्रतीति होगी। बिना अहं-प्रतीति के कोई भी चीज़ प्रतीत नहीं होती। जो चीज़ जिससे पहले होगी वह उसका कारण होगी। इसलिए महाभूतों का कारण अहंकार है। अहंकार का कारण क्या है? बुद्धि। 'मैंने घड़े को देखा' अर्थात् घड़े को देखने वाला मैं। घड़े को देखना- यह बुद्धि होगी तब मैं की प्रतीति होगी। कोई-न-कोई प्रतीति (बुद्धि) होती है तब अहंकार होता है। गहरी नींद में कोई प्रतीति नहीं है तो अहंकार भी नहीं है। इसलिए अहंकार के पहले होने वाली होने से बुद्धि अहंकार का कारण है। इस प्रकार- पंचमहाभूत, उनसे पहले अहम्, उसके पहले बुद्धि।

निश्चय भी कब होता है? 'अव्यक्तमेव च' जो परमेश्वर की माया शक्ति, अज्ञान, अविद्या है वह बुद्धि पहले है बिना अविद्या के न बुद्धि होगी, न अहंकार होगा, न पंचमहाभूत होंगे। अव्यक्त अर्थात् जो कभी व्यक्त नहीं होता परन्तु कार्य को देखने से पता लगता है। पहले अविद्या थी तब बुद्धि आदि हो सके, बिना अविद्या के हो नहीं सकते। क्योंकि ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है, यदि उसमें अज्ञान नहीं हो तो ये सब चीज़ें बनेंगी नहीं। अव्यक्त अर्थात् परमेश्वर की मायाशक्ति, जिसको अविद्या भी कहते हैं, अज्ञान भी कहते हैं। इसका अनुभव सुषुप्ति में देख लो- सुषुप्ति में अविद्या है परन्तु क्या पता लगता है कि अविद्या है? क्योंकि वह अविद्या अभी अहंकार रूप से प्रकट नहीं हुई है, बुद्धिरूप से प्रकट नहीं हुई है, इसलिए सुषुप्ति के अन्दर कुछ भी नहीं प्रतीत होता है। अविद्या हमेशा कैसी रहेगी? कभी भी प्रकट होकर नहीं रहेगी। अविद्या कार्यों में प्रकट होगी, उनसे अविद्या को *समझना* पड़ता है। ठीक जिस प्रकार से सोना तुमको हमेशा किसी-न-किसी रूप में मिलेगा - कड़ा, पायजेब, गिन्नी, पासा। गिन्नी, पासा भी सोने का *रूप* है। जब सोने की उपलब्धि होती है तब किसी-न-किसी रूप में ही होती है। बिना किसी आकार के तो सोने की प्रतीति

होती नहीं। पर भिन्न-भिन्न गहनों को देख कर मानना पड़ता है कि इन सब शक्लों को लेने वाला कोई सोना पदार्थ है। प्रतीति हमेशा होगी किसी-न-किसी आकार में, और समझा जायेगा सोना जो इन किन्हीं भी आकारों में बँधा नहीं है। इसी प्रकार से बुद्धि, अहंकार, महाभूत - इनकी प्रतीति होने से समझ में आता है कि इन सबका कारण अव्यक्त है, इसीलिए इसको अव्यक्त कहा। भगवान् ने इसे पहले 'मम माया दुरत्यया' में माया शब्द से कह दिया, 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' में अज्ञान शब्द से कह दिया है।

आगे कहते हैं, 'एव च', 'एव' मायने ही। इतनी ही सचमुच में प्रकृति है। पंचमहाभूत, छठा अहंकार, सातवीं बुद्धि, आठवाँ अव्यक्त। आठ प्रकार से भिन्न हुई प्रकृति यहाँ तक है, इसलिए कह दिया 'एव'।

अब सूक्ष्म महाभूतों का कार्य बताते हैं- 'इन्द्रियाणि दश', दस इन्द्रियाँ। आँख, कान, नाक, इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ और बोलना पकड़ना चलना इत्यादि करने वाली कर्मेन्द्रियाँ। पाँच इन्द्रियों से तुम जानते हो और पाँच इन्द्रियों से तुम करते हो। 'एकं च' और एक मन। पंचमहाभूतों को सूक्ष्म अवस्था में अर्थात् बिना पंचीकृत किए हुए मिलाते हैं तब मन बन जाता है। मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ भी काम करता है और पाँचों कर्मेन्द्रियों के साथ भी काम करता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को इच्छा के द्वारा जोड़ने वाला मन हो जाता है। जो तुम जानते हो वह अगर तुम्हें अच्छा लगा तो उसकी प्राप्ति के लिए करने लगते हो, बुरा लगा तो उससे दूर होने के लिए करने लगते हो। दस इन्द्रियों के द्वारा करते हो पर दसों इन्द्रियों के साथ करने को जोड़ने वाला मन है। बस, तुम्हारी सारी शक्तियाँ आ गईं- ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति। विचार करके देखो, इन तीन के सिवाय कुछ भी तुम्हारी शक्ति है क्या? जानोगे, चाहोगे, करोगे - बस! ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और संकल्परूप मन।

'पञ्च च इन्द्रियगोचराः' और पाँच इन्द्रियों के विषय। यदि गुण-प्रक्रिया में समझना चाहो तो रजोगुण से कर्मेन्द्रियाँ और प्राण बनेंगे, सत्त्वगुण से मन और ज्ञानेन्द्रियाँ बनेंगी और तमोगुण से पाँचों महाभूतों को मिला कर, पंचीकृत करके मिलाने का एक खास ढंग है, पंचीकरण/स्थूल भूत हो जाते हैं जो इन्द्रिय-गोचर अर्थात् इन्द्रियों के विषय हैं। सांख्य लोग इन्हीं को चौबीस तत्त्व कहते हैं। सांख्यों के चौबीस तत्त्व हैं- प्रकृति, महान्, अहंकार, तन्मात्राएँ अर्थात् सूक्ष्म महाभूत, दस इंद्रियाँ, मन और पाँच महाभूत अर्थात् इंद्रियगोचर। इस प्रकार अपरा प्रकृति का वर्णन भगवान् ने किया। जो वह क्षेत्र है और जैसा है यह बताया।

क्षेत्र के विकार छठे श्लोक में कहे। वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद महर्षि ने अनेक गुण आत्मा के माने हैं क्योंकि हमें लगता है कि हम ये सब करने वाले हैं। किन्तु असल में वे भी क्षेत्र के ही धर्म हैं, क्षेत्रज्ञ के नहीं, यह बतलाने के लिए भगवान् ने इच्छादि को क्षेत्रधर्म के रूप में बताया। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख संघात, चेतना, धृति - ये भी सब क्षेत्रविकार होने से क्षेत्र ही हैं। इच्छा, जो चीज़ हमारे सुख का कारण हुई उसके जैसी दूसरी चीज़ प्राप्त करने के लिए कामना। आज रसगुल्ला खाया, रसगुल्ला अच्छा लगा तो कामना

होती है 'कल फिर रसगुल्ला बनाओ'। यह जो इच्छा है सुख के हेतु की, यह भी अन्तःकरण का धर्म है क्योंकि अन्तःकरण रहता है तभी यह रहती है, बिना अन्तःकरण के रह नहीं सकती और जब अन्तःकरण क्षेत्र है तो क्षेत्र के अन्दर ही यह रहेगी। यह बात है तो बड़ी सीधी और अनुभवसिद्ध है। जाग्रत् व स्वप्न में अन्तःकरण रहता है तो सारी प्रतीतियाँ होती हैं, ज्ञानेन्द्रियों की, कर्मेन्द्रियों की, सबकी। स्वप्न में भी हाथ से ही सामान उठाते हो। स्वप्न में भी नाक से ही सूँघते हो। और जहाँ अन्तःकरण नहीं रहता, जैसे सुषुप्ति में, वहाँ तुम्हारी इच्छा भी नहीं रहती। जहाँ अन्तःकरण रहता है वहाँ इच्छा रहती है, जहाँ अन्तःकरण नहीं रहता वहाँ इच्छा नहीं रहती; और तुम इच्छा के साथ भी रहते हो और इच्छा के बिना भी रहते हो, गहरी नींद में। इसलिए विचार करने पर यह सीधा ही अन्तःकरण का धर्म प्रतीत होता है। परन्तु लोग समझते हैं 'इच्छा तो ज़रूर *मेरा* धर्म है' अर्थात् क्षेत्रज्ञ का धर्म है!

जैसे राग, काम, इच्छा, वैसे ही जिस चीज़ से हमें दुःख हुआ उस चीज़ की जाति की वस्तु कभी न हो - यह कामना द्वेष है। अतः उस जाति की चीज़ आते ही हमारे अन्दर जो उसके प्रति विरोध की भावना होती है वह द्वेष है। द्वेष तो तभी पैदा हो गया, जब हमें पदार्थ अच्छा नहीं लगा, हमारे प्रतिकूल हुआ, लेकिन द्वेष प्रकट होता है उस या वैसी चीज़ के आने पर। आना दोनों तरह से समझना - सचमुच में आ जाए तब भी उसके प्रति द्वेष होता है। और मन से उसकी बात याद आवे तो भी द्वेष प्रकट हो जाएगा। परन्तु जब तक उसकी बात याद न आवे या वह वस्तु अथवा वैसी वस्तु प्रतीत न होवे तब तक द्वेष भी प्रकट नहीं होता, रहता ज़रूर है। जैसा कामना के बारे में कहा था वैसा द्वेष के बारे में भी समझ लेना : जब अन्तःकरण होता है तब तो द्वेष रहता है और जहाँ सुषुप्ति में अन्तःकरण नहीं वहाँ द्वेष भी नहीं। जहाँ-जहाँ अन्तःकरण है वहीं द्वेष रहता है, जहाँ अन्तःकरण नहीं वहाँ द्वेष नहीं रहता, अतः स्पष्ट है कि अन्तःकरण का धर्म है।

सुख; चीज़ हमें अनुकूल प्रतीत होती है, उससे हमें प्रसन्नता होती है, वह सुख है। वह भी जाना जा रहा है इसलिए अन्तःकरण होने पर ही प्रतीत होता है, अन्तःकरण नहीं होने पर प्रतीत नहीं होता, जैसे सुषुप्ति में। इसलिए सुख भी अन्तःकरण का धर्म है, हमारा धर्म नहीं है। परन्तु अन्तःकरण से अज्ञान के कारण एक होकर 'मैं इच्छा वाला', 'मैं द्वेष वाला', 'मैं सुख वाला'-ये प्रतीतियाँ होती हैं। और इसीलिए कणाद महर्षि ने इन्हें आत्मा का धर्म बतला दिया। लेकिन विचार करके देखो, जैसे 'मैं इच्छावाला' प्रतीत होता हूँ वैसे ही 'मैं गोरा हूँ' यह प्रतीति भी होती है। अगर इच्छादि को आत्मधर्म मानते हो तो गौरतादि को आत्मधर्म क्यों नहीं मानते? यदि पूछो कि वैशेषिकोंने ऐसा क्यों माना है? तो समझ लो : शरीर के बारे में 'यह शरीर' की प्रतीति भी है और 'मैं शरीर' की प्रतीति भी है। इसलिए 'मैं गोरा नहीं' यह जल्दी समझ में आता है। लेकिन इस प्रकार 'मैं रागी नहीं, द्वेषी नहीं' यह समझ में जल्दी नहीं आता है। इसलिए इन चीज़ों को देखने पर यही प्रतीति बनी रहती है कि 'ये तो मैं हूँ'। क्योंकि ये इच्छा द्वेष सुख दुःख जितने कह रहे हैं वे सर्वथा अपने

से अलग जैसे प्रतीत नहीं होते। 'शरीर गोरा है' अनुभव है ऐसे 'मन रागी है' यह अनुभव नहीं, बहुत विवेक करने पर समझ आ भी जाये पर अनुभव 'मैं रागी' ही होता है। शरीर की तो इदन्ता से भी प्रतीति हो जाती है और अहंता से भी प्रतीति हो जाती है, परन्तु राग द्वेष आदि की प्रतीति ऐसे नहीं होती, हमेशा ही उनकी मैं के साथ ही प्रतीति होती है। इसलिए यह भ्रम हमारे अन्दर ज़्यादा दृढ हो जाता है।

संघात; शरीर और इन्द्रियों का जो इकट्ठा होना है; उसके अन्दर ही हमको आत्म-चैतन्य का भान होता है। आत्मा की प्रतीति इस संघात में ही होती है। शरीर और इन्द्रियों का जो इकट्ठा होना है वह संघात है, उसमें अभिव्यक्त हुई अन्तःकरण की वृत्ति चेतना का भान कराती है, वही आत्म-चैतन्य के आभास से युक्त होती है। जैसे लोहा जब खूब गरम कर दिया जात है तब लोहे को अंगुलि लगाओ तो लोहा गरम लगता है। विचारशील जानता है कि लोहा कभी गरम नहीं होता! लोहे के साथ गरमी मौजूद है। सूर्य में तो जैसे गरमी हमेशा रहेगी ऐसे लोहे में गरमी नहीं रहेगी। कहीं-न-कहीं से उसमें गरमी आएगी और जब वह चीज़ दूर हो जाएगी तब वह गरमी भी हट जाएगी। लोहे को ठण्डा करने के लिए कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। जिससे वह गरम हो रहा है वह आग अलग कर दें तो लोहा ठण्डा अपने-आप होता है। इसी प्रकार से आत्म-चैतन्य का आभास इस देह-इन्द्रिय-संघात में पड़ता है। जब तक वह आभास रहेगा तब तक उसमें चैतन्य की प्रतीति है। कोई पीठ में मुक्का मारता है तो 'मुझे मारा' - इस प्रकार प्रतीति हो जाती है। आत्म-चैतन्य का जो इसमें आभास पड़ता है उससे सारे संघात के अन्दर चेतना रहती है। आत्म-चैतन्य का आभास पड़ते हुए सारे शरीर में जो होशका अनुभव होता है वह चेतना है। इसलिए शरीर भी वैसा ही चेतन लगता है जैसा इन्द्रियाँ और मन चेतन लगते हैं। उस आभास से शरीर भी सारा व्यवहार कर लेता है।

धृति; जब थक जाता है तब भी जो देह इन्द्रियों को धारण करने वाला है वह धृति, धैर्य है। वह भी आत्मा का धर्म नहीं है, शरीर इन्द्रियों का ही धर्म है। बिलकुल थक जाओ तब भी जो एक शक्ति रहती है वह धृति है। एक पिट्रिम सोरोकिन नाम का समाज विज्ञान का वेत्ता हुआ है। जब रूस में क्रान्ति हुई थी लेनिन की, उस समय वह वहाँ मंत्री था। लेनिन की क्रान्ति सफल हुई। जो भी तब मन्त्री थे सब भागे, यह भी भागा।भाग कर जंगलों में छिप गया। उस जमाने में मोटरें तो थी नहीं! वह अपनी जीवनी में लिखता है- जब कम्यूनिस्ट सिपाही हमें पकडने आते थे, हम भागते थे, और क्या कर सकते थे! सत्ता उनके हाथ में आ गई थी। कई बार ऐसा होता था कि भागते-भागते एक दम थक कर चूर हो कर गिर जाते थे। सोचते थे 'अब पकड़ो तो पकड़ो, अपने से तो और नहीं दौड़ा जाता'। पर जैसे ही घोड़ों की टाप नज़दीक आती थी, पता नहीं कौन-सी शक्ति आकर फिर हमको दौड़ा देती थी!' अन्त में वह बच कर निकल भागा। इसको धृति कहते हैं। 'हो ही नहीं सकता' ऐसी अनुभूति आने पर भी जिससे तुम कार्य कर लेते हो वह धृति है। लेकिन है

वह भी क्षेत्र का ही धर्म क्योंकि उसका पता लगता है, ज्ञेय है। और भी जितनी मन के अन्दर होने वाली भावनाएँ हैं वे सब क्षेत्र में समझ लेना। मोह,भय, शोक,सारे यहाँ नहीं गिनाये हैं, लेकिन सब समझ लेना। वे सब क्षेत्र के ही धर्म हैं। इसलिए कहते हैं 'एतत् समासेन क्षेत्रम्'। संक्षेप में अर्थात् अन्तःकरण के अनेक धर्मों में से थोड़े से धर्म बताए हैं।'समासेन'मायने संक्षेप से। 'सविकारम्', ये सारे उसी अविद्या के विकार हैं और इनके द्वारा ही फिर आगे सारे विकार पैदा होते हैं। इस प्रकार भगवान् ने स्पष्ट किया कि 'इदं शरीरं क्षेत्रम्' से केवल अपना स्थूल शरीर ही नहीं समझ सकते, यहाँ जो क्षेत्रका विस्तार बताया उस सबको समझना पड़ेगा।।।५-६।।

भगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार करते हुए, चूंकि इस षट्क में जीव और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन प्रधान रूप से करना है इसलिए, साथ ही कह दिया कि क्षेत्रज्ञ तो मैं ही हूँ अर्थात् मनुष्य के अन्दर जो ज्ञान प्रकट होता है अन्तःकरण में, वह ज्ञान मैं हूँ। क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र को जानने वाला। 'जानने वाला मैं हूँ' कह कर आगे जिस अभेदका प्रतिपादन करना है उसकी प्रतिज्ञा कर दी। भाष्यकार ने यहाँ विस्तृत विचार करके बतलाया कि क्षेत्रज्ञ ईश्वर ही हो सकता है। जो लोग कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ और ईश्वर को अलग मानना चाहिए वे द्वैतवादी अद्वैतमें जिन दोषों को बतलाते हैं वे प्राप्त ही नहीं होते। ज्ञेय के रूप में क्षेत्रज्ञ को भली प्रकार से बतलाना है। जिन विशेषणों का निराकरण करने से क्षेत्रज्ञ के ईश्वरभाव की प्राप्ति होती है वे सारी उपाधियाँ उसी का प्रभाव है। वह स्वयं निर्विशेष होने पर भी अपनी माया शक्ति के द्वारा सविशेष हुआ सारी विभूतियों का आधार है, सारे प्रभावों का आधार है। क्षेत्रज्ञ के इस रूप को जानने से मोक्ष की प्राप्ति भी भगवान् ने बतलाई। इसका आगे विस्तार करना है।

विस्तार करने के पहले उस ज्ञान के साधन क्या हैं इसका निरूपण करना भगवान् आवश्यक समझते हैं। दो प्रकार की चीज़ों को वेद में बतलाया है - एक, जिनको जानकर करना है अर्थात् साधन। साधन जाननेमात्र से लाभ नहीं, जानकर करने से ही लाभ होगा। करने,नहीं करने में तुम स्वतन्त्र हो। इसलिए बतलाने के बाद भी तुम करो या न करो। इतना ही बता दिया जाता है कि किस लिये, क्या, और कैसे करना है। दूसरा वेद का उपदेश उस बारे में है जिसे जानना ही सफल है, जानकर कुछ करना नहीं है। क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की एकता ऐसी है जिसमें करना कुछ भी नहीं है! ज्ञान में तुम स्वतन्त्र नहीं हो। ज्ञान *किया* नहीं जाता, ज्ञान तो *हो* जाता है। जैसे तुम रास्ते में चल रहे हो और कहीं गधे की लाश सड़ रही है तो तुमको बदबू आ जाती है। तुमने कोई कोशिश बदबू लेने की तो नहीं की। ज्ञान में तो चीज़ जैसी है वैसा उसका पता लगता है। उसमें *करने* के लिए कुछ नहीं है। परन्तु तुमको बदबू तब आई जब तुम चल कर वहाँ गए। बदबू सूघने में तुम स्वतन्त्र नहीं हो पर वहाँ पहुँचोगे तो बदबू आएगी, नहीं पहुँचोगे तो बदबू नहीं आएगी। ज्ञान के लिए जो साधन करने के हैं वे ज्ञान होने से पहले करने पड़ते हैं। जब साधन पूरे होंगे तब ज्ञान

अपने आप ही हो जाता है। परमात्मज्ञान महावाक्य के उपदेश से होगा परन्तु उस 'तत्त्वमसि' को समझने के लिए जो योग्यता चाहिए वह साधनों से सम्पन्न करनी पड़ती है। योग्यता में तत् पदार्थ का शोधन भी है, त्वम् पदार्थ का शोधन भी है, शम-दम-उपरति-तितिक्षा भी हैं, वैराग्य भी है। ये सब चीज़ें पहले जब तैयार होंगी तब उपदेश सुनते ही ब्रह्म का ज्ञान अपने आप ही होता है। जैसा ब्रह्म है वैसा ही ज्ञान होगा उसमें तुम कुछ नहीं कर सकते। ब्रह्म-दर्शन करने के लिए सारी तैयारी करनी है। अतः ज्ञान के साधनों का पहले प्रतिपादन करते हैं कि ये सब करोगे तब ज्ञान होगा, नहीं तो ज्ञान नहीं होगा। ज्ञान के बाद तुमको कुछ करना नहीं है। ज्ञान के साधनों को यहाँ 'ज्ञान' कहा है। भगवान् अन्त में (१३.११) कहेंगे 'यह ज्ञान है।' वहाँ ज्ञान का मतलब है ज्ञान के साधन हैं। आत्मा के अकर्तृत्व बोध के लिए ज़रूरत पड़ती है कि जहाँ तक हो सके, कर्तृत्व तुम्हारे सामने उपस्थित न हो। अगर तुमको कर्तृत्व-बोध रखना है कि "यह मुझे करना है" तो अकर्तृत्व-बोध पैदा होना करीब-करीब असम्भव है। सनातन धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और स्मार्त संन्यासी - इन सबके कर्त्तव्य बतलाये हैं अतः इस वर्णाश्रम के बन्धन में रहते हुए कर्त्तव्य-बोध का हटना प्रायः असम्भव होता है। इसलिए शास्त्र ने संन्यास का विधान किया। क्योंकि संन्यासी वर्णाश्रमव्यवस्था से बहिर्भूत हो जाता है। उसका ज़्यादा से ज़्यादा इतना ही कर्म है कि किसी तरह से शरीर-यात्रा के लिए भिक्षाटन आदि कर ले क्योंकि शरीर नहीं रहेगा तो आगे कुछ भी नहीं हो सकेगा। इससे अतिरिक्त उसका कोई कर्त्तव्य नहीं है। अतः उसको मोक्षोपयोगी ज्ञान में मुख्य अधिकारी कहा है, जिसको इस जन्म में ही ज्ञान हो कर मोक्ष की प्राप्ति की पूरी सम्भावना रहती है। मुख्य अधिकारी कहने का मतलब है कि गौण अधिकारी दूसरे भी हैं। अर्थात् दूसरे लोग भी ब्रह्म के विषय में विचार करते हुए, श्रवण मनन करते हुए, यथासम्भव शम दम आदि का अभ्यास करते हुए ज्ञानमार्ग में चल सकते हैं। उन्हें कर्त्तव्य-बोध बीच-बीच में आएगा ही। अगर समय लम्बा है याज्ञवल्क्य आदि की तरह, तो बाद में ज्ञान-निष्ठा के लिए सब कर्मों को छोड़ भी सकते हैं। सामान्य रूप से गृहस्थ के जब कर्त्तव्य खत्म हो जायें तब वह मुमुक्षु है तो वैराग्य-पूर्वक कर्म त्यागकर ब्रह्मसंस्थता के अभ्यास में लग सकता है। किंतु 'कर्त्तव्य' याद रखना; काम कभी खत्म नहीं होते। काम में प्रवृत्ति तो तुम अपने मन की इच्छाओं से करते हो। 'कर्त्तव्य' में अपने मन की इच्छा से प्रवृत्त नहीं होते। कर्त्तव्य में तो शास्त्र की आज्ञा से प्रवृत्त होते हो। इसलिए काम तो कभी खत्म नहीं होंगे पर कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं। कर्त्तव्यों की समाप्ति के बाद गृहस्थ भी याज्ञवल्क्य आदि की तरह कर्म छोड़कर ज्ञान-निष्ठा प्राप्त कर सकता है। अगर किसी कारण से उसके पहले ही शरीर की निवृत्ति हो जाये तो यहाँ किया हुआ श्रवण-मनन व्यर्थ नहीं जाएगा। भगवान् पहले कह आए हैं (६.४१-२)- वह ऐसे घर में उत्पन्न होगा जहाँ बचपन से ही उसको ये साधन मिलेंगे और उसको ज्ञान हो जाएगा। इस तरह ये जो धर्म बतला रहे हैं ये सारे सभी के लिए कर्त्तव्य हैं। जो मुख्य अधिकारी

है उसको तो ये ही करने हैं; इनके अन्दर *करने* का बोध नहीं है, करना छोड़ने का बोध है। जो मुख्य अधिकारी नहीं हैं गृहस्थ आदि, वे इनका जितना अभ्यास कर सकें उतना अच्छा है।

ज्ञानसाधनों का विधान करते हुए भगवान् बतलाते हैं –

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

आत्मश्लाघा न करना, अपनी धार्मिकता का ख्यापन न करना, प्राणियों को पीडा न पहुँचाना, अपने प्रति किये अपराध से क्रोधादि विकार न आने देना, मन-वचन-आचार में एकरूपता रखना, आचार्य की सेवा करना, बाहरी-भीतरी पवित्रता रखना, देहेन्द्रियादि को सन्मार्ग से भटकने न देना, देहादि संघात को नियंत्रण में रखना – (ये सब ज्ञान हैं)।

सबसे पहला साधन बतलाते हैं 'अमानित्वम्'। आजकल जिसे सबसे बड़ी चीज़ लोग मानते हैं, उसको सबसे पहले छोड़ने को कह रहे हैं! आजकल हर व्यक्ति कहता है कि आत्मसम्मान तो होना ही चाहिए अर्थात् मान तो होना ही चाहिए। आजकल के लोग इसको गुण मानते हैं। भगवान् कहते हैं कि सबसे पहले इसको छोड़ो। आज के नेताओं के लिए तो यह फाँसी की-सी बात है क्योंकि सब जगह अपनी श्लाघा ही करते हैं, अपनी प्रशंसा ही करते हैं, 'मैने यह किया मैंने वह किया'। आज के लोग मानिता को अच्छी बात मानते हैं परन्तु यह भूल जाते हैं कि आत्मा है कौन? आत्मा को गलत समझने से वे शरीर और मन के सम्मान को आत्मसम्मान मानते हैं। शरीर और मन की प्रशंसा हुई तो समझते हैं 'मेरी प्रशंसा हुई'। वेदान्त के अन्दर पहली चीज़ समझने की है कि तुम इन सबको जानने वाले कूटस्थ हो, क्षेत्रज्ञ हो। ये सब तुम नहीं हो। जितना 'ये सब मैं हूँ'- इसको लादने का प्रयत्न करोगे उतना इनसे अलग नहीं हो सकोगे। इसलिए भगवान् ने इसको इतना महत्त्व दिया, सबसे पहले गिनाया है 'अमानित्वम्'।

अगला कहते हैं 'अदम्भित्वम्'। दम्भ का मतलब होता है- मेरे धर्म को सब जने जानें, सबको पता चले कि मैं कितना धर्म करने वाला हूँ। दंभी का ज़ोर धर्म करने पर नहीं रहता है, लोगों को पता चले मैं धार्मिक हूँ, इस पर रहता है। लोग देवमन्दिरों में संगमरमर लगवाते हैं किंतु कई लोग एक ही शिला लगवाते हैं और उस पर अपना नाम खुदवा देते हैं ताकि लोगों को पता चले कि मैंने यह पत्थर लगवाया। इसी प्रकार से गंगा जी के घाट पर जाकर सन्ध्या करते हैं, पर कितनी देर? अगर देखने वाले लोग हैं तो आधा घण्टा और यदि कोई देखने वाला नहीं है तो दो मिनट! ये सब दम्भ के प्रकार हैं। धर्म करना चाहिए, परन्तु धर्म प्रकट होवे, यह भावना नहीं होनी चहिए। पुराने ज़माने में इसलिए अगर कोई कहता भी था 'आपने अमुक धर्म का कार्य किया', तो आदमी कम-से-कम मुँह से कहता था 'अरे भाई! भगवान् ने करा दिया, मैं करने वाला कौन हूँ!' एक भगवान् कृष्ण के भक्त

थे रहीम। वे काफी दान आदि करते थे, लेकिन हमेशा उनकी नज़र नीची रहती थी। जिसको दान देते थे उससे आँखें नहीं मिलाते थे। किसी ने उनसे पूछा कि 'आप इतना दान करते हैं' पर हमेशा नीची नज़र रखते हैं, क्या बात है?' उन्होंने कहा 'देने वाला तो परमात्मा है, वह मुझे दे रहा है तभी मैं आगे दे रहा हूँ। मैं तो केवल माध्यम हूं। पर लोग समझते हैं कि देने वाला मैं हूँ, इसलिये मुझे शर्म आती है।' तुम्हारे घर पर नल तो लगा ही रहता है लेकिन जिस दिन किसी कारण से वाटर वर्क्स पानी की सप्लाई नहीं करता उस दिन उस नल से कुछ मिलने वाला नहीं। गैरसमझदार सोचता है कि नल पानी देता है जबकि पानी तो वाटर वर्क्स वाले देते हैं। ऐसे ही लोग समझते हैं 'रहीम ने दिया' जब कि देने वाले भगवान् हैं। धर्म का प्रकटीकरण दम्भ है। दम्भ का न होना ज्ञान-साधक में अनिवार्यतः चाहिए। 'मैं धर्म कर रहा हूँ, लोग इस बात को जानें'-इस भाव से धर्म नहीं करना, कत्तर्व्य है इसलिए करना है। अमानित्व और अदम्भित्व दोनों साधनों में *करने* को कुछ नहीं है, नहीं करने को ही कहा है- मान नहीं करना है, दम्भ नहीं करना है। निवृत्ति मार्ग के अन्दर प्रवृत्ति मार्ग से ठीक उलटा व्यवहार चलेगा। इसलिए भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जैसे पटना का निवासी, एक-साथ गंगोत्री और गंगा-सागर नहीं जा सकता; जितना-जितना गंगा-सागर की तरफ जाएगा उतना-उतना गंगोत्री से दूर होता जाएगा और जितना-जितना गंगोत्री की तरफ जाएगा उतना-उतना गंगा-सागर से दूर होता जाएगा; इसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग हैं, जितना-जितना प्रवृत्ति में बढ़ोगे उतना-उतना निवृत्ति से दूर होते जाओगे और जितना निवृत्त होते चले जाओगे उतना प्रवृत्ति मार्ग से दूर होते जाओगे। अन्त में, जैसा महाभारत कहता है, 'सर्वत्यागे समापना' निवृत्ति मार्ग समाप्त इसमें होता है कि तुम्हारा सब कुछ छूट जाता है।

अहिंसा - किसी प्राणी को मेरी तरफ से पीडा न होवे। गीता शास्त्र में जगह-जगह भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि तुझे अभी प्रवृत्ति करनी है, तू युद्ध कर, तू अभी निवृत्ति के योग्य नहीं है। हम लोग 'योग्य नहीं है' कम कहते हैं! किसी से कह दें कि 'तुम इसके योग्य नहीं हो', तो उसको अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए बार-बार यह तो कहते हैं कि'तुम प्रवृत्ति के योग्य हो', इस तरह से नहीं कहते कि निवृत्ति के योग्य नहीं हो हिंसा का मतलब प्रायः करके प्रसिद्ध है कि किसी को न मारना यही अहिंसा है, मारना ही हिंसा है। पर हम लोग खाली मारने को हिंसा नहीं कहते, दूसरे को किसी प्रकार की पीडा देना हिंसा है। प्रवृत्ति मार्गियों का प्रश्न रहता है- 'लड़का नहीं पढ़े तो क्या करें? थप्पड़ मारना पड़ता है।''क्या करें?' इस प्रश्न का जवाब तो यही है कि मारो थप्पड़। यह है प्रवृत्ति मार्ग। इसी प्रकार, नौकर काम नहीं करें तो क्या करें? डाँटो, निकाल दो नौकरी से। निकालोगे तो उसको बड़ी पीडा होगी। उसके खाने-पीने का साधन ही खत्म हो जायेगा। परन्तु जो आत्मज्ञान के रास्ते वाला है उसका तो यह प्रश्न नहीं है कि 'क्या करें?' उसका प्रश्न है 'कैसे जानें?' सब प्राणियों को पीडा पहुँचाना तुम छोड़ोगे तभी ज्ञान होगा। इसलिए अंहिसा निवृत्ति धर्म ही है।

किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्राणी को पीडा नहीं देनी है।

कोई अपराध करता है तभी उसे नियंत्रित करने के लिये हिंसा का उपाय करना पड़ता है। दूसरे का किसी भी तरह का अपराध हो तो भी अहिंसा तभी होगी जब 'क्षान्तिः' क्षमा करोगे। अपना विचार करो : परमेश्वर ने आज्ञा दी है - आत्मज्ञान प्राप्त करो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'। और अनन्त जन्म हमने बिता दिए, उन अनन्त जन्मों में हमने परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न ही नहीं किया! जन्म हुआ है इसलिए पता है कि पहले कभी आत्म-दर्शन किया नहीं, आत्म-दर्शन तो एक बार ही होता है, होने के साथ ही माया निवृत्त हो जाती है। ऐसा अपराध परमेश्वर के प्रति करते हुए भी वे हमको क्षमा ही करते हैं। हम उनसे प्रार्थना करते हैं तो हमें वे क्षमा कर देते हैं। यहाँ तक भगवान् शंकर कहते हैं कि 'एक बार कोई मेरा नाम ले लेता है तो उसके सारे पाप क्षय हो जाते हैं। दूसरी बार लेता है तो मोक्ष दे देता हूँ और तीसरी बार नाम ले लेवे तो मैं कर्जदार रह जाता हूँ क्योंकि मेरे पास इन दो चीज़ों के सिवाय, भोग और मोक्ष देने के सिवाय, और तो कुछ है नहीं! तीसरी बार नाम लिया तो मैं क्या दूँ!' परमेश्वर ने हमारे इतने अनन्त अपराधों को क्षमा कर दिया तो हम थोड़े से अपराध क्यों न क्षमा करें? क्षमाशील हो वही सकता है जो निवृत्तिमार्गी है। प्रवृत्तिमार्गी के मन में कर्तृत्त्व बोध है, कर्तृत्व-अभिमान है अतः उसे लगता है 'मैंने क्षमा किया तो यह बिगड़ जायेगा, व्यवस्था बिगड़ जाएगी' अतः वह क्षमा पर स्थिर नहीं रह सकता। अहिंसा के बाद तुरन्त क्षान्ति इसलिए बतलायी कि क्षमा करोगे तभी अहिंसक बन सकते हो।

'आर्जवम्'। किसी भी प्रकार की अपने अन्दर कुटिलता न होना वरन्, सरलता ही होना। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्'। प्रवृत्ति का काम जो करने वाले हैं उनके मन में कुछ और होता है, वाणी से कुछ और बोलते हैं, काम कोई तीसरा ही करते हैं! कोई आदमी मिलने आ गया अकस्मात्। हम कुछ पढ़ रहे हैं। मन में आता है 'अरे! मेरा तो पढ़ना बाकी रह जाएगा। मन में विक्षेप है, दुःख है और वाणी से कहते हैं 'आइए-आइए! आप बहुत दिनों से नहीं आए, आप से मिल कर प्रसन्नता हुई, बहुत इच्छा थी आपसे मिलने की।' कर्त्तृत्व बुद्धि वाले कहते हैं कि ऐसा तो करना ही पड़ता है। प्रवृत्ति-मार्गियों के लिए यह स्वाभाविक हो जाता है। 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।' जो महात्मा लोग हैं वे जो बात मन में होगी उसी को वाणी से कहेंगे और जो वाणी से कहेंगे उसी को करेंगे। भयंकर से भयंकर परिस्थिति आने पर भी वाणी से कही हुई बात को हम अन्यथा कैसे करें- ऐसा बड़ा भारी बोझ उनके मन पर रहता है। 'जो मैंने कह दिया उसको तो करना ही है, चाहे जितना कष्ट भोगना पड़े' यह हुआ सरलता का व्यवहार; और कुटिलता का व्यवहार है- कहो कुछ, करो कुछ,सोचो कुछ।

'आचार्योपासनं', आचार्य अर्थात् ज्ञान का उपदेश करने वाला, तत्त्वज्ञान का उपदेश करने वाला, उसकी सेवा करना। सेवा करने के लिए संस्कृत में शब्द है शुश्रूषा। शुश्रूषा का शाब्दिक अर्थ होता है 'सुनने की इच्छा'। जो सेवा करेगा वह रात-दिन साथ होगा इसलिए

उसको निरन्तर उपदेश दिया जा सकता है। जब मौका होगा तब उपदेश हो जाएगा। जो शुश्रूषु नहीं है वह चाहता है कि 'सेवा खत्म होवे, फिर हम दूसरा काम करें'। शिष्य में गुरु की शुश्रूषा होनी चाहिये। यह इसलिए कहते हैं कि उसकी इच्छा तो केवल सुनने की, समझने की होनी चाहिये, उपदेश ग्रहण करने की ही उसको इच्छा रखनी है,और कोई दूसरी इच्छा नहीं पालनी है। हर व्यवहार के अन्दर वह गुरु से सीखे। वे टोक कर जो मना करेंगे, जो करने को कहेंगे, वह सब तत्त्वज्ञान के मार्ग की ही बातें होंगी। इसलिए लोक में कहते हैं कि सेवा करने वाला ही मेवा पाता है। मेवा उसको कहते हैं जो तुम्हें पुष्टि दे। तत्त्वज्ञान ही मेवा है, उसकी प्राप्ति शुश्रूषा से होगी। भगवान् ने इसका नाम 'शुश्रूषा' नहीं कहा, आचार्य की *उपासना* कहा। उपासना का मतलब होता है ध्यान; आचार्य का ध्यान करना। जिस ब्रह्म तत्त्व का हमको उपदेश चाहिए वह निरन्तर आचार्य के हृदय में, उसके अन्तःकरण में रहता है। उसकी बुद्धि में एक क्षण भी ऐसा नहीं है जब ब्रह्म नहीं है। अतः जब हम उसका ध्यान करते हैं तब उसके अन्दर स्थित जो आत्म-तत्त्व हमारे अन्तःकरण में अभी नहीं आया है उससे हमारा संपर्क हो जाता है, उसी से पुष्टि होती है। यद्यपि और भी उपासनाएँ शास्त्रों में बताई हैं पर निवृत्ति-परायण के लिए यहाँ भगवान् ने आचार्योपासन ही कहा है। केवल सेवा तो और भी प्रयोजनों से हो जाती है। प्रसिद्ध है कि आचार्य शंकर की एक कापालिक ने बहुत सेवा की थी ताकि वह उन्हें मार सके! धन आदि के लिये भी लोग आत्मज्ञानी की सेवा कर सकते हैं। पर उपासना में प्रेम निहित है। जिसकी उपासना करोगे उससे प्रेम रखोगे ही तो उसके आदर्शों को अपने जीवन में अवश्य लाने का प्रयास करोगे। आचार्य का एक ही आदर्श है - मोक्षप्राप्ति। अतः आचार्योपासक गुरुसेवा से मोक्षलाभ का ही उपाय सीखकर उसका जीवन में अनुष्ठान करेगा।

'शौचं', पहले (१२.१६) भी शुचि आया था। शरीर के मलों को मिट्टी और जल के द्वारा साफ रखना बाह्य शौच हैं। मलमूत्र के त्याग के बाद भी सफाई रखनी चाहिये। शरीर से प्रस्वेद आदि, पसीना वगैरह निकलता है, उसकी शुद्धि के लिए ठीक तरह से स्नान करना चाहिये। वस्त्र इत्यादि भी गन्दे हो जाते हैं, उनको शुद्ध रखना चाहिए। जैसे बाह्य पदार्थों को साफ रखना है वैसे ही मन को भी साफ रखना है। शौच का मतलब दोनों ही हैं- बाह्य शौच और अन्तर शौच। मन के अन्दर जो रागादि मल हैं, प्रतिपक्ष-भावना, वैराग्य आदि के द्वारा उन मलों को दूर करना है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वर्त्तमान काल में बाह्य शौच पर तो बहुत ज़ोर है, बाहर की सफाईयों पर बहुत ज़ोर देते हैं और ठीक भी है, देना ही चाहिए, पर अन्दर की सफाई की तरफ दृष्टि करते ही नहीं। किन्तु ज्ञानसाधक को जैसे बाहर की सफाई रखनी है वैसे ही मन की भी सफाई रखनी है। मन के मैल राग-द्वेष-काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य आदि दोष हैं। इन सबको विचार आदि के सहारे छोड़ना आन्तर शौच है।'ज़रूरी है' इस तरह ही ये दुर्भावनाएँ मन में आती हैं। लगता है 'ये नहीं करेंगे तो कैसे काम होगा?' उसकी प्रतिपक्ष भावना करनी चाहिये कि'ये ज़रूरी नहीं हैं।

प्रवृत्ति मार्ग के लिए ज़रूरी होने पर भी निवृत्ति मार्ग के लिए इन्हें हटाना ही ज़रूरी है।' ज्ञानार्थी ज्ञान के सिवाय और कोई कार्य ज़रूरी नहीं समझता। इन दुर्गुणों को, मलों को साफ करने के लिये इनके विरोधी भाव ही मनमें लगातार लाते रहने पडेंगे। काम क्रोध आदि में कोई-न-कोई अच्छाई भी बतायी जा सकती है किंतु उस ओर दृष्टि डालोगे तो कामादि को छोड़ नहीं पाओगे। अतः आन्तर शौच रखना चाहने वाले को उनकी खराबी ही देखनी पड़ेगी, उसी के बल पर वे मनसे दूर होंगे। सांसारिक पदार्थों के प्रति आकर्षण भी निवृत्तिमार्गीके लिये मनका मैल है अतः उनमें भी उसे बुराई ही देखने का अभ्यास करना पड़ेगा। पदार्थों में अगर किंचित् भी अच्छाई देखोगे तो उन्हें छोड़ ही नहीं सकोगे। अच्छाई है नहीं - यह नहीं कह रहे। सब से अच्छा जो परमात्मा वह स्वयं 'अस्ति भाति प्रिय' रूप से संसार की हर चीज़ में उपस्थित है। किन्तु साधक अभी नाम-रूप तक ही देख पाता है और नाम-रूप बंधनकारी ही हैं अतः उसे तो सांसारिक वस्तुओं से दूर ही होना पड़ेगा। मन में सांसारिक चीज़ों के बारे में चिंतन चलता रहा तो परमात्मचिंतन के लिये मन में जगह ही नहीं रहेगी। अतः साधक को तो संसार में दोषदर्शन ही कर्तव्य है। तभी वह मनसे रागादि मल धो सकेगा। दोनों प्रकार के शौच कर्तव्य हैं - राग आदि मलों को प्रतिपक्ष-भावना से हटाना और मिट्टी जल इत्यादि के द्वारा बाह्य मलों को हटाना। शरीर और मन का ऐसा सम्बन्ध है आपस में कि जब तक तुमको ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक शरीर के मल के कारण तुम में तमोगुण बढ़ेगा, तमोगुण बढ़ने से अन्तःकरण भी प्रभावित होगा। इसलिए बाह्य शौच की तरफ ध्यान न देना भी गलती है परन्तु बाह्य शौच के साथ आन्तर शौच की तरफ भी ध्यान देना अत्यावश्यक है।

'स्थैर्यम्' अर्थात् स्थिरता। एक न्याय है कि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'; मोक्ष के मार्ग में मनुष्य चलता है तो बहुत विघ्न आते हैं। उपनिषदों में आता है कि देवता भी इसमें विघ्न करते हैं। देवता भी नहीं चाहते कि मनुष्य आत्मज्ञान को प्राप्त करें। देवता भी नहीं चाहते तो दूसरे मनुष्य आदि साथी कभी चाहें कि'यह मोक्ष प्राप्त कर ले', यह तो सम्भव ही नहीं है। इसका निदर्शन आत्मज्ञान की परंपरा किस प्रकार से शुरू हुई, इससे ही हो जाता हैः ब्रह्मा जी ने जब सृष्टि की, तब ब्रह्माजी सत्त्वगुणप्रधान थे अतः निवृत्ति-परायण सनक, सनंदन, सनत् कुमार, और सनत् सुजात पहले पैदा हुए। ब्रह्माजी ने इनसे कहा 'सृष्टि का काम चलाओ'। इन्होंने कहा 'महाराज!' सृष्टि चलेगी, लोग दुःखी होंगे, तरह-तरह के विघ्न आएँगे, इस सृष्टि से क्या लाभ है? क्यों बनावें?' ब्रह्माजी को गुस्सा आया। ब्रह्मा जी ने कहा 'चले जाओ मेरे यहाँ से। मैं सृष्टि का देवता और तुम कहते हो मैं सृष्टि नहीं करूँ!' ब्रह्माजी ने भगा दिया। इसलिए आज तक भी पुत्र मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है तो पिता इसी प्रकार से उसको प्रलोभन से, अन्य उपायों से किसी तरह से मोक्ष मार्ग से रोकना चाहता है। सनकादि ने विचार किया 'अब हम क्या करें! इस मार्ग में कैसे चलें?' उन्होंने सोचा कि विष्णु भगवान् भी सृष्टि की स्थिरता ही चाहते हैं इसलिए उनके पास जाने से तो काम बनेगा

नहीं। शिव ही हमारे एकमात्र सहायक हैं। वे लोग भगवान् शंकर के पास पहुँचे। शंकर जी ने देखा 'अरे! इस समय पार्वती हमारे साथ है, इसको देख कर ये गलत समझेंगे' अतः भगवान् शंकर ने दक्षिणा मूर्ति रूप लिया और ज्ञान मुद्रा दिखाते हुए (अपने अंगुष्ठ और तर्जनी को बाँध कर) समाधि में बैठ गए। सनक सनन्दन आदि आए। उन्होंने भगवान् शंकर को समाधि में देखा। उनका ध्यान करने लगे तो उनके हाथ में जो चिन्मुद्रा थी उससे उनको पूर्व संस्कारों के कारण तत्त्वज्ञान हो गया।

जीव का प्रतीक तर्जनी है, इसीलिए तर्जनी तर्जन करने के लिए प्रयोग में आती है। जब किसी को कहते हैं 'तुमको ठीक कर दूगाँ', तब यही अंगुली उठाते हैं। जब कभी जीव को अपना अहं प्रकट करना होता है तब इस अंगुलि को काम में लेता है। इसके बिलकुल पास में सबसे बड़ी अंगुली है, मध्यमा, यह तमोगुण को बतलाती है। संसार में सारी सृष्टि तमोगुण से ही बनी है। जितनी जड सृष्टि है वह सब तमोगुण से बनी है। अतः यह अंगुली सब से बड़ी है क्योंकि तमोगुण की प्रधानता है। तमोगुण रूपी जो माया है, अविद्या है, अज्ञान है, वही आत्मा को आवृत करके रखता है तो जीवभाव स्फुट होता है। तमोगुण से घटकर रजोगुण है। अतः मध्यमा के पास की अंगुली अनामिका रजोगुण का प्रतीक है। इसीलिए इसी अंगुली के अन्दर अँगूठी पहनी जाती है अपना रजोगुण प्रकट करने के लिए। रजोगुण से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं। सारी क्रियाएँ करने वाला रजोगुण ही है। बिना रजोगुण के कोई काम नहीं हो सकता। सबसे कमज़ोर है कनिष्ठिका, जो सत्त्वगुण का प्रतीक है क्योंकि संसार में सत्त्वगुण सबसे कमज़ोर है। इस प्रकार सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से सम्बन्धित ये तीन अंगुलियाँ हैं। तर्जनी अर्थात् जीव को यदि तीनों गुणों से अलग कर दें, अविद्या और अविद्या के कार्यों से दूर कर दें, तथा अँगूठे से जोड़ दें अर्थात् ब्रह्म से एक कर दें तो मोक्ष हो जाये। जब कहना चाहते हैं 'कुछ नहीं' तब अँगूठा दिखलाते हैं। अँगूठा निष्क्रिय है, परन्तु सारी क्रियाओं का आधार है! सत्त्वगुण का भी यह आधार है, रजोगुण का भी और तमोगुण का भी यह आधार है। मनुष्य को पशुओं से पृथक् बनाने वाला अन्य चीज़ों के साथ शरीर के अन्दर अंगूठा प्रधान है। मनुष्य जाति को छोड़ कर और जितनी योनियाँ हैं उनका अंगूठा अंगुलियों के साथ रहता है। इसलिए वे चीज़ों को एक ही ओर से पकड़ सकते हैं। अंगुलियों का सामना करने वाला, अंगुलियों के सर्वथा सामने आकर पदार्थ पकड़ने देने वाला अंगूठा केवल मनुष्य जाति में ही है। इसकी विशेषता यह है कि हम पदार्थों को हर कोण से पकड़ सकते हैं, उन्हें घुमा-फिरा कर उनका परीक्षण कर सकते हैं। भगवान् ने मनुष्य जाति का जो अंगूठा बनाया है वह साक्षात् ब्रह्म का प्रतीक है! इसलिए संन्यासी के पास यदि शिवलिंग नहीं है और उसे शिवपूजन करना है तो शास्त्र में कहा है कि अंगूठे का ही पूजन कर सकता है! अंगूठा निष्क्रिय ब्रह्म का प्रतीक है और बाकी संसार को धारण भी करता है। तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुण ये तीनों तो हो गए परमेश्वर की अपरा प्रकृति, और तर्जनीबोधित जीव हो गया परा प्रकृति। परा और अपरा प्रकृति,

सबको धारण करने वाला अधिष्ठान ब्रह्म है। जीव इसके नज़दीक है इसलिये जीव का और ब्रह्म का मुख्य सामानाधिकरण्य है। जीव ब्रह्मरूप ही है। अपरा प्रकृति का बाध-सामानाधिकरण्य होता है अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत् नहीं है, ब्रह्म है। परा-अपरा में यह फ़र्क हमेशा याद रखना चाहिये। जीव तो ब्रह्मस्वरूप है। वह अविद्या से ढका होने से रजोगुण और सत्त्वगुण के कार्यों अर्थात् ज्ञान और क्रिया के साथ एक होकर बन्धन में आता है। इसका मुख्य सामानाधिकरण्य है अर्थात् जीव जब इनसे अलग हो जाता है तब वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार ज्ञान-मुद्रा, चिन्मुद्रा के द्वारा भगवान् दक्षिणामूर्ति ने उपदेश दिया समाधि में बैठ करके। क्योंकि सनकादि अत्यन्त सत्त्वगुणी थे, पहले के ऐसे संस्कार थे इसलिए वे समझ गये। यदि बोल कर भगवान् उपदेश देते तो सनकादि तुरन्त पूछ सकते थे कि 'आप काहे से बोल रहे हैं?' बिना अविद्या के तो गुरु-शिष्य-भाव आदि कुछ नहीं रहेगा, बोलना भी नहीं रहेगा। इसलिए समाधि में बैठ कर तत्त्व मुद्रा से उपदेश दे दिया। इस प्रकार सनकादि को ज्ञान हुआ। वहीं से ज्ञान की परम्परा चली। सनकादिक ने नारद को उपदेश दिया, नारद ने व्यास को दिया। इस प्रकार परम्परा चली।

अस्तु, देवता भी नहीं चाहते, ब्रह्मा जैसा बाप भी नहीं चाहता कि मनुष्य श्रेयो मार्ग में चले, मोक्ष मार्ग में चले, तो बाकि सब इसको उससे भ्रष्ट करने में लगेंगे ही।'इन सबका विरोध सह कर भी मुझे तो ब्रह्मप्राप्ति ही करनी है' ऐसी दृढता होगी तब तो इन सब विरोधों को अपने स्थिर भाव से दूर कर दोगे, अन्यथा साधना अटकती रहेगी। देवता इन्द्रियों को वशमें रखते हैं इसलिए इन्द्रियाँ संसार की तरफ जाती ही रहती हैं। बार-बार वृत्ति बनती है कि संसार के नाम-रूपों में कुछ तो ज़रूर है! आँख रूप देखती है तो साथ में वृत्ति भी बनती है कि 'अधिष्ठान ब्रह्म तो है लेकिन रूप भी तो कुछ है ही'! इसी प्रकार से जब किसी चीज़ को बदलने की इच्छा होती है, परिवर्तन करना चाहते हो, तब रजोगुण बढ़ाना पड़ता है। ऐसे ही जब कुछ जानना चाहो तब सत्त्वगुण बढ़ाना पड़ता है। इस तरह जीव गुणों को महत्त्व देता रहकर निरन्तर फँसता रहता है। कभी शरीर दुःख देगा। जहाँ देखोगे कि ध्यान लगाने की अच्छी जगह है, वहाँ पेट ठीक नहीं रहेगा। ये सब विघ्न हैं जो आते हैं। इसलिए भगवान् भाष्यकार ने स्थैर्यका अर्थ कहा कि 'मोक्षमार्ग एव कृताध्यवसायत्वम्'। मोक्ष-मार्ग में ही निश्चय पूर्वक रहना, इसका ही अध्यवसाय करना कि इसी को प्राप्त करना, धृति है। गौरव, प्रतिष्ठा, आदि सब तुमको इस रास्ते से दूसरी तरफ ले जायेंगे। यदि एकमात्र मोक्षमार्ग ही तुम्हारे सामने रहेगा, तभी ज्ञान-निष्ठा की प्राप्ति हो सकेगी। इसलिए भगवान् ने कहा कि इस मार्ग में स्थिर रहना आवश्यक साधन है।

'आत्मविनिग्रहः', आत्मा का नियन्त्रण। आत्मा शब्द के कई अर्थ हैं। आत्मा शब्द का अर्थ मन भी होता है, शरीर भी होता है, ब्रह्म भी होता है। ब्रह्मरूप जो निष्क्रिय आत्मा है, उसका तो विनिग्रह प्राप्त ही नहीं है। जो कार्य-करण-संघात है इसी का विनिग्रह हो सकता है। व्यष्टि के भी कार्य-करण-संघात और समष्टि के भी कार्य-करण-संघात का विनिग्रह कर

सकते हैं। हमारे स्थूल-सूक्ष्म शरीर स्वभाव से सांसारिक कार्यों में लगे रहते हैं, वहाँ से हटा कर उन्हें मोक्ष मार्ग में ही स्थिर करना है। समष्टि भाव से भी बंधन होता है; जैसे मन में आता है कि हम दूसरों का उपकार करें। जब तक स्वयं दृढ ब्रह्मनिष्ठा नहीं हो गयी तब तक परोपकार के नाम पर खुद को व दूसरों को ठगते रहोगे। सर्वभूतात्मभूतात्म-दृष्टि आ जाने पर ही वास्तविक उपकार कर सकते हो। तुम भोजन करते हो तो यह नहीं सोचते कि तुम उपकार कर रहे हो क्योंकि उसे खुद के लिए आवश्यक मानते हो। उपकार करने में भाव है कि दूसरे को अपने से अलग जान कर उसके लिये कुछ करते हो। दूसरे को अलग जान कर जब तक उपकार करोगे तब तक परमात्मा का वञ्चन होगा। सर्वभूतात्मभूतात्म-दृष्टि का मतलब है, 'सभी शरीरों के अन्दर एक ही अखण्ड आत्मा है' इस बात को समझना, इस बात को ही प्रकट करना। किसी कार्य-करण-संघात का उपकार तो द्वितीय-दृष्टि से होता है, द्वैत-दृष्टि से होता है। जब तुम किसी को आत्मतत्त्व की बात बतलाते हो तब *उसका,* आत्मा का उपकार करते हो। उसका आत्मा तुम्हारे आत्मा से एक है। कार्य-करण-संघात के साथ तादात्म्यवश वह अनुभव करता है कि 'मैं दूसरा हूँ'। उसके इस भेदानुभव को तुम हटाते हो तभी उसका वास्तविक उपकार है। चाहे अपने लिये,चाहे दूसरों के लिये, जब भी देहादिसंघात अनात्मप्रवृत्ति की ओर जाये तब उसको रोक कर परमात्म मार्ग में लगाना, वहीं निरोध करना - यह है आत्मविनिग्रह। आत्मा में ही सारे ज्ञान और क्रिया को अवरुद्ध करना है।।७।।

ज्ञानांगभूत साधनान्तर गिनाते हैं-

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

इन्द्रियों के विषयों के राग को काटने वाली अस्पृहा, मन में गर्व नहीं ही रखना, जन्म-मृत्य-वार्धक्य-बीमारी में दुःखादि दोषों का अनुसन्धान करते रहना (ये ज्ञान हैं)।

इन्द्रियों के जो अर्थ हैं, विषय हैं इनके प्रति वैराग्य उपजाना आवश्यक है। आँख का विषय रूप, कान का विषय शब्द, जीभ का विषय स्वाद, त्वचा का विषय स्पर्श, नाक का विषय गंध - ये सब इन्द्रियार्थ हैं। ये दृष्ट भी होते हैं, अदृष्ट भी होते हैं। दृष्ट - जो अपने अनुभव में आते हैं; सुन्दर रूप, स्वादिष्ट रस, आकर्षक गन्ध - ये सब दृष्ट विषय हैं। इसी प्रकार स्वर्ग से लेकर वैकुण्ठ पर्यन्त विषय अदृष्ट हैं क्योंकि तुम्हारे देखने में आते नहीं, शास्त्र के द्वारा प्रतीत होते हैं। दृष्ट हों या अदृष्ट, उनके प्रति विराग का भाव रखना है। 'मुझे प्राप्त होवें' इस प्रकार के राग का आभाव होना चाहिये। न इस संसार के भोगों के प्रति राग होवे और न दिव्य भोगों के प्रति राग होवे। जिस विषय का ध्यान करोगे उसी के प्रति तुमको संग हो जाएगा। जिस विषय का चिन्तन करोगे उसके प्रति ही तुम्हारा संग हो जाएगा। अगर तुम परमात्मा के विषय में चिन्तन करते रहोगे तब तो परमात्मा में ही तुम्हारा संग होगा।

नाम-रूप को हटा कर यदि तुम अधिष्ठान की तरफ दृष्टि ले जाते हो तो अधिष्ठान के प्रति ही तुम्हारा संग होगा। यदि दृष्ट या अदृष्ट विषयों के अन्दर तुम मन को ले जाओगे तो उनके साथ ही संग होगा। इसलिए शास्त्र बार-बार असत्-संग छोड़ने को और सत्संग करने को कहते हैं। सत् अर्थात् सच्चिदानन्द ब्रह्म। असत् अर्थात् सारा नाम-रूप। नाम-रूप को अनिवार्यतः देखते हुए भी सच्चिदानन्द की तरफ दृष्टि को रखना है। गुरु इत्यादि की दृष्टि सच्चिदानन्द पर ही एकाग्र है इसलिए उनकी तरफ हमारी वृत्ति जाती है तो सच्चिदानन्द ब्रह्म ही याद आता है। इसी प्रकार ईश्वर की या उसके अवतारों की मूर्तियाँ देखोगे तो तुमको उनका जो सच्चिदानन्द रूप है वह सरलता से ध्यान में आएगा। अन्य चीज़ों के अन्दर भी अधिष्ठान रूप से है तो वह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही, परन्तु प्रकट रूप से उसका भान न होने से वहाँ नाम-रूप की प्रधानता हो जाती है। परमेश्वर के विग्रहों में सच्चिदानन्द-भाव की प्रधानता हो सकती है। जिसका संग करोगे उसके भाव अपने में आएँगे ही। बाह्य संग होने से फिर चिन्तन में प्रवृत्ति होती है। इसलिए आगे स्वयं बतलाएँगे कि प्राकृत पुरुषों का तो सब प्रकार से संग छोड़े और विरक्तों का सब प्रकार से संग करे। अतः वैराग्य के लिये आत्मसंग, आत्मध्यान, अनात्मचिन्तनका त्याग और सत्संग आवश्यक है। इसलिए इन्द्रिय के अर्थो में अर्थात् जो जागतिक नाम-रूप हैं, संसार के नाम-रूप हैं, उनमें जो भोग्य-दृष्टि है उससे प्रवृत्त होने वाले भाव की निवृत्ति करे।

'अहंकार एव च'। पहले कह आए हैं 'अमानित्वम्' अपनी श्लाघा करना मानिता है। मानी समझता और व्यक्त करता है कि सद्गुणों के कारण वह अन्यों से श्रेष्ठ है। अतः वह चाहता है उसका सम्मान हो। मान के योग्य खुद को मानता है और व्यवहार भी ऐसा करता है कि उसकी सन्मानयोग्यता प्रकट हो। अमानिता से पृथक् है अनहंकार। यहाँ अहंकार का मतलब है यह भावना कि मैं उत्कृष्ट हूँ। अहंकार को व्यक्त करने की इच्छा तो मान हो जायेगी, केवल स्वयं में श्रेष्ठता का भाव होना अहंकार है। साधना में प्रवृत्त होते हुए अपने में एक स्वाभाविक श्रेष्ठता की बुद्धि आती है कि 'मैं ठीक रास्ते पर हूँ, बाकी सब गलत रास्ते पर हैं।' इससे जो अपने में एक श्रेष्ठता की बुद्धि आती है उससे दूर रहना अनहंकार है। यदि अहंकार करोगे तो आत्मैक्य का भाव नहीं दृढ होगा। याद रखना है कि दूसरों से मैं अच्छा *नहीं* हूँ क्योंकि मैं सारे प्राणियों का एक जैसा आत्मा हूँ। जो श्रेष्ठता शरीर के आचरण से या मन-बुद्धि से है, वह *मेरी* श्रेष्ठता तो है नहीं। मैं ब्रह्मरूप हूँ। अतः कार्य-करण-संघात की श्रेष्ठता से अपने में श्रेष्ठता को मान रहा हूँ यह घोर अपराध है। परमात्म मार्ग में चलने वाला या इन साधनों में प्रवृत्त कौन है? कार्य-करण-संघात से सम्बद्ध जो मेरा रूप है वह। उसकी श्रेष्ठता मुझ ब्रह्म रूप की श्रेष्ठता तो नहीं है क्योंकि अपनी श्रेष्ठता का अहंकार साधक को साधना में अवरोध डालता ही है इसलिए अमानित्व कहने के बाद भी अनहंकार कहना ज़रूरी हो गया। सूक्ष्म दृष्टि से देखोः अहंकारात्मिका वृत्ति अन्तःकरण की वृत्ति है और वृत्तिरूप मैं नहीं हूँ। अहंकारात्मिका वृत्ति का विषय मैं हूँ। 'अहं

करोतीति अहंकारः', अहं को जो कर रहा है वह अन्तःकरण मैं नहीं हूँ। इसलिए अहंकार को अमानित्व से अलग गिनना ज़रूरी हुआ। किंच,अन्य सब दोष अहंकार के माध्यम से ही आत्मा से जुड़ते हैं अतः इसे दूर करना ज़्यादा ज़रूरी होने से इसके साथ 'एव च' लगा दिया। और दोष प्रकट हो जाते हैं तो साधक सावधान हो जाता है, अहंकार बाहर प्रकट होता नहीं, मन में ही रहता है इसलिये इसके प्रति जागरूकता भी अधिक चाहिये इसलिये भी 'एव च' कहा है। अर्थात् अनहंकार का अभ्यास अत्यंत आवश्यक है।

वैराग्य को सम्पन्न और पुष्ट करने के लिये साधन बताया जन्मादि में हमेशा दोष का अनुदर्शन करो। 'अनु' मायने पश्चात् अर्थात् दोषों का पहले तो दर्शन करना पड़ेगा, गुरु के उपदेश से हो या शास्त्र ज्ञान से हो, दोषों का दर्शन करना पड़ेगा, लेकिन दर्शन करने मात्र से संस्कार दृढ नहीं हो जाते। संस्कार दृढ करने के लिए बार-बार उन दोषों का दर्शन करना पड़ता है। बार-बार उन दोषों को सुनना पड़ता है। संसार के विषयों की वास्तविकता का भाव हमारे अन्दर अनादि काल से संस्कार रूप में मौजूद है। विरोधी संस्कार इतने ही दृढ जब बनेंगे तभी वैराग्य स्थिर हो सकेगा। इसलिए भगवान् ने अनुदर्शन कहा, बार-बार उसका विचार करो। प्रायः साधक सोच लेता है 'यह तो हमको पता ही है'। पता होने से काम नहीं चलता जैसे गलत हिज्जे (वर्णन्यास) याद हो जायें तो सही हिज्जे जान लेना पर्याप्त नहीं, सौ-पाँचसौ बार लिखकर सही हिज्जे के संस्कार बनाने पड़ते हैं तभी भविष्य में गलती से बच सकते हैं। इसी प्रकार संसार के पदार्थ रमणीय हैं, भोगने लायक हैं -यह हम लोगों को गलत संस्कार पड़ गया है। शास्त्रादि से सही बात जान भी ली कि संसार में सुख की गंध का लेश भी नहीं है - भाष्यकार ने कहा है 'न संसारे सुखस्य गन्धमात्रम् अपि अस्ति' (गीताभा.५.२२) - पर जब तक यह संस्कार अतिदृढ नहीं बना लेंगे तब तक व्यवहार में पुनः संसार अच्छा लगने लगेगा और राग का ही बंधन दृढतर हो जायेगा। अत एव संसार में अच्छाई हो तो भी साधक उस ओर बिलकुल दृष्टि न करे, संसार के दोष ही देखे, उन्हीं को याद करे। यहाँ भगवान् ने दोषदर्शन के स्थलों का प्रारंभ किया 'जन्म' से। अनेक जगह शास्त्र में मिलता है कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है, प्रशंसनीय है। अतः शास्त्रानुसन्धान से हमें लगता है कि जन्म कोई अच्छी चीज़ है! अतः भगवान् ने पहले इसी में दोष देखने को कहा। विचार करो, जन्म लेने के लिये हमें कहाँ आना पड़ता है? गर्भ में आना पड़ता है। उलटा लटक कर रहना पड़ता है गर्भ में, सिर नीचे होता है और पैर ऊपर होते हैं। घण्टा आधा घण्टा नहीं, नौ महीने तक उलटा लटके रहना पड़ता है। वहाँ चारों तरफ गर्मी ही गर्मी है, उसी में रहना पड़ता है। फिर जब सब लोग प्रसन्नता से थाली बजा रहे होते हैं, उस समय हमें अत्यन्त संकीर्ण द्वार से निकलना पड़ता है। भयंकर कष्ट माता को भी होता है। माता तो फिर बीस-बाइस साल की होगी, जब उसको इतना कष्ट होता है तो निकलने में अत्यंत सुकुमार बालक को कितना कष्ट होता होगा इसका विचार करके ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार के दर्शन का बार-बार आलोचन करना चाहिये ताकि निश्चय रहे

कि जन्म कोई अच्छी चीज़ नहीं है जिसके लिए हम प्रयत्न करें।

भगवान् ने नियम कर दिया है कि, जो पैदा होगा उसको मरना ही पड़ेगा। मृत्यु के अन्दर भी भयंकर कष्ट होता है। जो कुछ हमसे सम्बन्ध वाला है वह एक झटके में छूट जाता है। अन्य आपत्तियों में तो कभी धन हाथ से निकल गया कभी पत्नी हाथ से निकल गई, कभी पुत्र हाथ से निकल गया, कभी व्यापार हाथ से निकल गया, कभी प्रतिष्ठा हाथ से निकल गई। एक-एक चीज़ निकलती है कभी-कभी। मृत्यु के समय तो पत्नी, पुत्र, धन, जायदाद, सम्मान - सब एक-साथ निकल जाता है! किसी चीज़ के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। जब एक चीज़ के वियुक्त होने से इतना दुःख होता है तब सब चीज़ों का एक झटके में निकल जाना कितना दुःख देगा! मरना ज़रूर पड़ेगा क्योंकि भगवान् ने नियम कर दिया है। यदि मृत्यु के समय तक हम इस कार्य-करण संघात से बँधे रहे तो आगे भी भगवान् ने कहा कि मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। अगर तुम कार्य-करण संघात के साथ रहते हुए मरे तो फिर कार्य-करण-संघात की प्राप्ति होगी ही। अगर कार्य-करण-संघात में रहते हुए ही तुम इससे निकल गए तभी इस चक्र से छूटोगे। मरने के बाद कुछ होगा - इस भरोसे रह गए तो कुछ नहीं होगा! इसलिए अतिधन्य वेद कहता है कि शरीर छूटे इसके पहले अगर तुम उस तत्त्व को जानने में समर्थ हो गए तब तो काम हो गया और यदि शरीर छूटने से पहले यह ज्ञान नहीं हुआ तो पुनः जन्म का दुःख भोगना ही पड़ेगा। मृत्यु के और जन्म के दुःखों को बार-बार सोच करके ही मोक्ष मार्ग में रति बढ़ती है। जब तक इन चीज़ों के अन्दर दोषों के अनुदर्शन के संस्कार दृढ नहीं हो जाते तब तक तीव्र गति से साधना नहीं हो पाती।

जरा, बुढ़ापा। बुढ़ापे के अन्दर मनुष्य की प्रज्ञा क्षीण हो जाती है। पहले एक श्लोक को देख कर दस अर्थ उपस्थित हो जाते हैं, जब वृद्धावस्था आती है तब उसी का विचार करते हो तो दो अर्थ ही याद आते हैं। अपने ही हाथ से लिखी हुई अपनी बात का ही अर्थबोध नहीं होता! पढ़ते समय जो तुमने टिप्पण लिखा उस टिप्पण को भी बाँचकर 'किसलिए लिखा, क्यों लिखा' - कुछ याद नहीं आता है। प्रज्ञा का मतलब है छिपे अर्थ, गंभीर, गहन अर्थ समझ पाना। प्रज्ञावान् को ही वे गूढार्थ प्रकाशित होते हैं। क्या कारण है कि गीता की ही पच्चीस टीकाएँ बाँच लो तो प्रत्येक टीका में कोई-न-कोई नवीन अर्थ मिलता है? ऐसा नहीं है कि लिखने वालों ने अपने मन से जोड़ा है। गीता में से ही अर्थ निकलते हैं। अलग-अलग स्तर के विचार करने से अलग-अलग अर्थ निकलते हैं। इसीलिए मनु ने कहा है कि प्रज्ञा-रहित आदमी का शास्त्र से कोई मतलब सिद्ध होता नहीं। बाँचता वह भी उसी शास्त्र को है लेकिन प्रज्ञा के अभाव में उसके आन्तरिक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। शास्त्र उसके सामने है लेकिन प्रज्ञा नहीं होने से उसके अन्दर के अर्थ स्पष्ट होते नहीं। गीता की ही तरह आचार्य शंकर का भाष्य 'प्रसन्न-गम्भीर' माना गया है। प्रसन्न है, साधारण दृष्टि वाला भी उसे समझ पाता है। साथ ही गंभीर है - प्रज्ञादृष्टि वाले उसी के गहनतर अर्थ का दर्शन करते रहते हैं। किंतु प्रज्ञा भी जरा अवस्था में क्षीण होती जाती है।

इसी प्रकार सारी शक्ति क्षीण होती जाती है। पहले दौड़ करके पहाड़ पर चढ़ जाते हो और फिर एक तल्ला चढ़ने में ही सांस फूलने लगती है। शक्ति के क्षीण होने से तरह-तरह के कष्ट होना स्वाभाविक है। तेज भी क्षीण होता जाता है। तेज का मतलब है कि जिस कार्य के लिए तुम किसी को प्रवृत्त करना चाहो, तुरन्त प्रवृत्त कर सको। जिसमें उस तेज का अभाव है वह दस बार भी बात कहे तो कुछ उसका असर नहीं होता। तेज भी क्षीण होता जाता है। इस प्रकार सभी चीजों की क्षीणता बुढापेकी अवस्था में हो जाती है। इस जरा अवस्था के ऊपर भी बार-बार चिन्तन करना वैराग्योत्पादक है। अपराधक्षमापनस्तोत्र के अन्दर जीवन के दुःखों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

व्याधि, अर्थात् रोग। रोग और जरा अलग गिने हैं। शरीर की जीर्णता व्याधि नहीं है। प्रायः इन दोनों चीज़ों को आदमी भूल जाता है, जरा को भी व्याधि समझ लेता है! सबसे बड़ा फ़र्क समझ लो कि व्याधि वह है जो आती है और निकल जाती है। पर जीर्णता आती ही है, जाती नहीं! कष्ट तो दोनों में एक-जैसा होता है परन्तु व्याधिका कष्ट कुछ समय में छूट जाता है परन्तु जरा का जो दुःख है वह कभी दूर होता नहीं। चाहे जितना सारस्वत घृत पीते रहो, ब्राह्मी का सेवन करते रहो, जीर्णता आने के बाद, पर होगा कुछ नहीं। बड़ी भारी तरीफें लिखी हैं इन सबकी शास्त्रों में, पर बुढ़ापे में इनसे भी क्या होना है! किंतु जरासे भिन्न है व्याधि, सिर में दर्द है, पेट खराब है - ये सब व्याधियाँ हैं, रोग हैं जो दूर हो जाते हैं।

दुःख; तीन प्रकार के दुःख होते हैं। एक तो अध्यात्म अर्थात् शरीर और मन से होने वाला दुःख। मन से होने वाले और शरीर से होने वाले दुःखों के अन्दर बहुत कुछ सामञ्जस्य है। जब तक मन में कोई रोग नहीं आता तब तक शरीर में प्रकट नहीं होता। इसलिए पूछते हैं 'आधि-व्याधी तो नहीं है?' आधि मन का रोग है और जब मन का रोग स्थूल होता है तब विशेष आधि अर्थात् व्याधि हो जाती है। मन में दोष आते ही यदि तुम उसका समाधान कर देते हो, (समाधि का मतलब है सम्+आधि, आधि को विशेष नहीं बनने दिया) तब तो उसके अन्दर कमी आएगी और अगर तुमने आधि को विशेष बनने दिया तब (वि+आधि) व्याधि हो जाती है। दूसरा है आधिभौतिक दुःख।तुम जा रहे हो, पीछे से मोटर ने तुमको धक्का मार दिया। यहाँ आधि के कारण तुमको धक्का नहीं लगा। तुम्हारा मन तो उसमें कोई साझेदार नहीं है। इसलिए उसको अलग गिनना पड़ता है। ऊपर से बिजली गिर गई। कई तरह के ऐसे दुःख होते हैं। महाभूतों से होने वाली अथवा दूसरे प्राणियों से होने वाली परेशानियाँ भी आधिभौतिक हैं। शेर ने झपट्टा मार दिया तुम्हारे ऊपर। भालू ने पकड़ कर रगड़ दिया, काट लिया; कुत्ते ने काट लिया। होगा तो सब दुःख मन और शरीर में ही। टक्कर शरीर को मोटर ने मारी और जब गिरे तो मन में दुःख हुआ। लेकिन फिर भी वह आध्यात्मिक इसलिए नहीं है कि मन और शरीर के द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ है, दूसरे महाभूतों से या दूसरे प्राणियों से उत्पन्न हुआ है। जब तक जीवन रहेगा तब तक

आधिभौतिक कष्टों को भी बचाया नहीं जा सकता। ये सारे आध्यात्मिक कष्ट और आधिभौतिक कष्ट कब शुरू हुए? जब तुमने शरीर को अपना आत्मा समझा। तो मोटर ने टक्कर मारी इसलिए तुमको दुःख नहीं हुआ; अज्ञान से तुमने शरीर को अपना स्वरूप समझ रखा है इसलिये तुमको दुःख हुआ, अन्यथा, शरीर को दुःख होता, मन को दुःख होता, तुमको तो दुःख नहीं होता! सबसे बड़ी गलती तुमने की कि तुम शरीर को अपना मैं समझ रहे हो। तभी कष्ट तुम्हें हो रहा है। जैसे आध्यात्मिक आधिभौतिक दुःख हैं वैसे ही आधिदैविक दुःख हैं; देवताओं द्वारा दुःख होता है - अतिवृष्टि हो गई, अनावृष्टि हो गई। किसी प्राणी ने तुम्हारे ऊपर यह दुःख नहीं डाला, मन के द्वारा भी प्रकट नहीं हुआ। ऐसे दुःख देवताओं के कोप से होते हैं। इन्हीं देवताओं के कोपों का सम्बन्ध ग्रह नक्षत्रों के साथ लगा देते हैं लोग, वह सब आधिदैविक दुःख में ही आएगा। आधिदैविक दुःख भी आएगा तो शरीर और मन के मार्फत; अनावृष्टि हो गई, भिक्षा नहीं मिली, शरीर को भोजन नहीं मिला इसीलिए शरीर को दुःख होगा। दुःख का केन्द्र तो हमेशा शरीर-मन ही हैं। जब तक जीवन है तब तक ये सभी तरह के कष्ट होने ही हैं, इनसे बचना सम्भव नहीं है। बार-बार दुःखों का दोष देखने से उन भोगों में प्रवृत्ति नहीं होगी जो संसार चक्र को चलाने में सहायक हैं। भोग बिना कार्य-करण-संघात के नहीं हो सकता। बिना स्थूल शरीर के भोग नहीं हो सकता। केवल सूक्ष्म शरीर से भोग नहीं हो सकता। भोगायतन स्थूल शरीर है। शरीर में बैठ कर के ही भोग कर सकते हैं। भोग करने के लिये शरीर और मन में तुम हो इसीलिए दूसरे प्राणी और देवता लोग दुःख भी दे सकते हैं। अतः शरीर के इन सब दोषों को देखने से वैराग्य हो सकता है। 'दोषानुदर्शन' का सम्बन्ध इनमें से प्रत्येक पद के साथ है - जन्मदोषानुदर्शनम्, मृत्युदोषानुदर्शनम्, जरादोषानुदर्शनम्-व्याधिदोषानुदर्शनम् और दुःखदोषानुदर्शनम्

अथवा यह भी समझ सकते हैं कि दुःखरूपी दोष का अनुदर्शन करना है।

'जन्मदुःखं जरादुःखं मृत्युदुःखं पुनः पुनः।
संसारसागरं दुःखं तस्माज्जागृहि जागृहि।।'

आचार्य कहते हैं कि जन्म भी दुःख ही है, जरा भी दुःख ही है। एक तो अर्थ हुआ जन्म में दुःख है, दूसरा अर्थ हुआ कि जन्म स्वयं ही दुःखरूप है। मृत्यु स्वयं ही दुःखरूप है। ये सभी दुःख हैं। अतः प्रयास करना चाहिये कि इन सबकी पुनः प्राप्ति न होवे क्योंकि ये स्वरूप से ही दुःख हैं। जन्मादि में आकर सुख हो सकता है - इस आशा मात्र को सर्वथा छोड़ देना है। जैसे यहाँ वैसे ही देवलोक और वैकुण्ठ लोक में भी शरीरों की प्राप्ति है तो दुःख है ही। यह निश्चय होने पर ही अदृष्ट में भी सुख दृष्टि हटती है।

दोषानुदर्शन वैराग्य-उत्पत्ति के लिए बहुत ज़रूरी है, इसके बिना वैराग्य नहीं हो पाता क्योंकि इन चीज़ों की अच्छाईयाँ ही हमने सुन रखी हैं। वैराग्य होने पर ही प्रत्यगात्मा के प्रति सारी इन्द्रियों की प्रवृत्ति होगी। अर्थात् आँख से देखेंगे तो हमेशा रूप का बाध करके

सच्चिदानन्द को ही देखेंगे। कोई भी बात सुनेंगे तो शब्दमात्र ही सच्चिदानन्दरूप है इस दृष्टि से। नाम-रूपात्मक जगत् तो दुःखरूप है। जिस चीज़ में हम को दुःख की प्रतीति होती है उधर प्रवृत्ति रुकती है। संसार की ओर प्रवृत्ति तब तक रुक ही नहीं सकती जब तक उसको हम दुःख रूप नहीं समझते। दुःख रूप नहीं समझने के कारण ही नाम-रूप में प्रवृत्ति होती है, अधिष्ठान की तरफ वृत्ति नहीं जाती। वैराग्य होगा तो मन से संकल्प करेंगे तो परमात्मा का, बुद्धि से निश्चय करेंगे तब भी उसी का। जब सब तरह का प्रयास परमात्माभिमुखी होगा तभी परमात्मदर्शन संभव है।।८।।

अन्य भी ज्ञानके अन्तरंग साधनों का विधान करते हैं-

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।६।।

पुत्र, पत्नी, घर आदि में प्रेम तथा घनिष्टता (तादात्म्य) न रखना, इष्ट-अनिष्ट प्राप्तियाँ होने पर हमेशा चित्त सन्तुलित रखना (-ये ज्ञान हैं)।

ज्ञान साधना में और क्या आवश्यक है यह बताते हुए कहा 'असक्तिः'। सक्ति का मतलब संग।कुछ विषय तुम्हारे अन्तःकरण में चिपकते हैं। सब विषय सब लोगों के संग का हेतु नहीं होते। किसी को भोजन से तो दूसरे को कपड़ों से तो तीसरे को मित्रों से संग होता है। इसी प्रकार से भिन्न-भिन्न रुचियों वालों को भिन्न-भिन्न विषयों से संग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के विषयों में जो प्रीति है उसको कहते हैं सक्ति और उन विषयों से प्रीति को हटाना होगा असक्ति। असक्ति और अनभिष्वंग करीब-करीब एक अर्थ वाले ही हैं फिर भी अंतर है:

'मेरा है' इतने मात्र से जो प्रेम हो जाता है वह सक्ति है जबकि इतना गहरा प्रेम कि उससे अपना भेद ही धूमिल हो जाये, वह अपने से अनन्य लगने लगे अभिष्वंग है। जिससे अभिष्वंग होता है वह मैं ही प्रतीत होने लगता है, उसके सुख-दुःख अपने ही सुख-दुःख लगते हैं। मेरा पुत्र बीमार है - यह सक्ति रहते अनुभव होगा जबकि अभिष्वंग होने पर पुत्र की बीमारी अपनी ही प्रतीत होगी। सक्ति का ही पुष्ट रूप अभिष्वंग है। सक्ति न करना असक्ति और अभिष्वंग न करना अनभिष्वंग है। इनके प्रधान विषय हैं पुत्र, पत्नी, घर आदि। घर में भी कइयों को अभिष्वंग हो जाता है। कोई दीवाल में कील ठोके तो उन्हें लगता है उनकी छाती में ही कील ठोक रहा है! बाल्टी ज़ोर से फर्श पर रखी जाये तो संगमरमर पर खरौंच लगे-न लगे, उन्हें लगता है उन्हें खरौंच लग गयी! किसानों को खेत से, व्यापारी को व्यापार से ऐसा ही अभिष्वंग हो जाता है। इसीलिये इनकी हानियों को भी ज्योतिषी मारकेशों का फल ही गिन लेते हैं क्योंकि इनके नुकसान से व्यक्ति को लगता है 'मैं ही नष्ट हो गया'। भाष्यकार तो यहाँ लिखते हैं कि अत्यंत प्रिय नौकर में भी व्यक्ति को आत्मबुद्धि अर्थात् अभिष्वंग हो जाता है। साधक को कहीं भी प्रीति, सक्ति और अभिष्वंग - ये नहीं

ही करने चाहिये।

'नित्यं च समचित्तत्वम् इष्टाऽनिष्टोपपत्तिषु'। इष्ट पदार्थ की उपपत्ति अर्थात् प्राप्ति होने पर हर्ष होता है। अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति होने पर शोक होता है। इन दोनों के अन्दर एक जैसा रहना समचित्तता है। हर्ष की चीज़ मिलने पर हर्षित न होना, दुःख की चीज़ मिलने पर क्रोध न करना, शोकग्रस्त न होना। समचित्तता लाने के लिए जब हर्ष का काल आवे तब हमेशा जानो कि सुख आया है तो चला जाएगा। आया है तो रहने वाला है नहीं, और जाने पर दुःख देगा। हर्ष का विषय आने पर सुख देता है जाने पर दुःख देता है, अनिष्ट पदार्थ आने पर दुःख देता है पर जाने पर सुख देता ही है! बुखार हुआ, उतर गया तो सुख होता है। एक चीज़ आकर सुख देती है जाकर दुःख देती है। दूसरी आकर दुःख देती है, जाकर सुख देती है। यदि विचार की दृष्टि से देखो तो जो जाकर दुःख देती है, वह तो अब हमेशा के लिए चली गई अतः उसके दिये दुःख का परिमाण बहुत बड़ा है, हमेशा आगे उसका दुःख रहेगा। दूसरी तरफ, दुःख आएगा तो थोड़ी देर के लिए रहेगा फिर चला जाएगा; उसके जाने का सुख हमेशा बना रहेगा! प्रायः आदमी इस प्रकार से विचार करता नहीं। सुख आता है तो उसके जाने की बात नहीं सोचता, सोचता है कि यह तो बना ही रहे। इसलिए हर्षित होता है। विचारशील सुख की प्राप्ति पर उसके जाने की तरफ ध्यान रखता है। ऐसा नहीं है कि वह समझता नहीं है कि इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हुई है। इष्ट पदार्थ की प्राप्ति तो हुई, लेकिन समचित्तता इसलिए रख पाता है कि ख्याल रखता है कि यह जायेगा। इसी प्रकार से जब अनिष्ट पदार्थ आता है तब वह यह ख्याल रखता है कि अनिष्ट पदार्थ भी जाएगा ही। अनिष्ट पदार्थ तो जाकर सुख देगा और जाने के बाद का समय ही अधिक होगा अतः उसके निमित्त सुख भी अधिक ही होगा। ऐसा विचार करने से उसकी समचित्तता बनी रहती है। हर्ष ने आकर सुख दिया, जाकर दुःख दिया। अनिष्ट ने आकर दुःख दिया, जाकर सुख दिया। दोनों ही सुख-दुःख दोनों देने वाले हैं, इसलिए समचित्तता संभव है। दुःख को दुःख समझता है, सुख को सुख समझता है पर उनके आने-जाने को याद रखता है इसलिए समचित्तता होती है। 'नित्यं' हमेशा ऐसी समचित्तता बनी रहे यह साधक का प्रयास है।

एक प्रश्न उठता है 'अनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु' कहा जबकि इस प्रकरण के प्रारम्भ में भाष्यकार ने कहा था कि यह संन्यासी का प्रकरण है। संन्यासी को तो पुत्र दार गृह आदि में सक्ति और अनभिष्वंग प्राप्त ही नहीं हैं क्योंकि उसके पुत्र दार गृह हैं ही नहीं, उसने छोड़ दिये हैं। फिर यहाँ ऐसा क्यों कहा? सक्ति और अभिष्वंग दोनों ही मन के संस्कारों से आते हैं। विषय के संग से तो आते ही हैं लेकिन विषय की स्मृति के संग से ही ज्यादा आते हैं। पुत्र दार गृह उसके हैं तो नहीं परन्तु पहले जो पुत्र दार गृह रहे हैं उनके संस्कारों से उत्पन्न सक्ति और अभिष्वंग दोनों ही संभव हो सकते हैं। संन्यासी को किसी ने आकर कहा 'तुम्हारा पुत्र मर गया' तो उसे दुःख की प्राप्ति हो सकती है या 'जो मेरा घर था वह जल गया' इससे दुःख हो सकता है। भूतपूर्व सम्बन्ध भी सक्ति और अभिष्वंग का कारण हो जाता

है। इसलिए यहाँ तात्पर्य है कि संन्यासी होने पर भी पुत्र दार गृह आदि में इस प्रकार की प्रतीति का तुरन्त अवरोध करे।, ये होने न पाएँ ऐसे दृढ संस्कारों का आपादन करके पहले से तैयार रखे। उसके लिए विचार करे, पूर्व जन्मों में न जाने कितने पुत्र दार गृह थे, उन सबसे सम्बन्ध-रहितता हो गई तो मेरा क्या बिगड़ा! पुत्रादि का सम्बन्ध तो होता ही छूटने के लिये है। वर्त्तमान के पुत्र गृह दार आदि के संस्कार ऐसे दृढ हो जाते हैं कि पूर्व वाले याद नहीं रहते। उनके संस्कार तो रहेंगे परन्तु कार्यकारी नहीं रहते। और अच्छा ही है, अन्यथा जीवन दूभर हो जायेगा! आगरे के अन्दर एक छोटा बच्चा कहता था 'मै उस गाँव में जाऊँगा उस गाँव का रहने वाला हूँ।' जब तक दो-चार साल का हुआ, किसी ने ध्यान नहीं दिया। उसके बाद घरवालों ने सोचा कि रोज़-रोज़ कहता है तो एक बार उस गाँव ले चलो थोड़ी देर के लिए। वहाँ ले गए उसको। जाते ही उसने कहा 'यह घर मेरा है।' अन्दर गया, कहा 'यहाँ अमुक चीज़ रखी हुई थी वह यहाँ है ही नहीं, क्या बात है?' तब तक कोई तीस-पैंतीस साल की औरत आई तो बच्चा बोला, 'अरे! मैं तेरा पति आया हूँ तू घूँघट नहीं निकाल रही?' सबको बड़ा आश्चर्य कि चार-पाँच साल का बच्चा कह रहा है 'तू मेरी पत्नी है'! वहाँ पर करीब-करीब सबको उसने पहचाना, सब चीज़ें कौन कहाँ कैसे थी, सब बतलाया। सब को जँच गया कि बात ठीक ही कह रहा है, पहले कभी नहीं आया पर सब जानता है। एक-दो दिन वहाँ रहा। उसके बाद हाथ जोड़ करके उन लोगों ने उस बच्चे के माँ बाप से कहा 'अब आप इसको ले जाइए। यहाँ व्यवहार तो चल ही नहीं सकता। तीस साल की औरत को कौन कहेगा कि चार साल के बच्चे की घरवाली है? ठीक है, आप लोग आ गए, बड़ा अच्छा है, होगा पूर्वजन्म का हमारा भाई, लेकिन अब तो यहाँ रखना व्यावहारिक नहीं है।'

पुराणों में तो और ज़बरदस्त कथाएँ आई हैं : नारद जा रहे थे, उनके साथ उनके मामा पर्वत भी थे। एक बकरे को दुकानदार ने बड़े ज़ोर से पीटा। नारद जी को हँसी आ गई। हँसी इसलिए आई कि वह बकरा उस दुकानदार का बाप था! उसी ने दुकान बनाई थी। अब बकरा बन गया था, कर्मफलों के कारण। दुकान से और पुत्र से अभिष्वंग था, पूर्व के संस्कार ज़ोर लगाते थे इसलिए बार-बार वहीं मुँह मारने जाता था। गेहूँ वगैरह जो रखा हुआ हो झट उस में मुँह मारता था। पुराने संस्कार उसको उधर ले जाते थे। लड़का तो इस बात को जानता नहीं था, बकरे को मार रहा था। कर्मफलों का विचित्र खेल देख कर नारदजी को हँसी आ गई। जिस दुकान को इसने बनाया, जमाया उसी दुकान पर आज एक मुँह भर कर गेहूँ ले तो दण्डा पड़ता है! यह संसार का व्यवहार है।

अतः संन्यासी को चाहिये कि विचार करे पूर्व जन्मों में कितने पुत्रों से हमने लाड-प्यार नहीं कर लिया। सब कहाँ चले गए? ऐसे ही यह भी पूर्व जन्म का ही पुत्र था क्योंकि संन्यास को शास्त्र नया जन्म बताते हैं। इस तरह विचार से निरन्तर उन संस्कारों को कमज़ोर बनाये ताकि वे कार्यकारी न हो सकें। अतः संन्यासी के प्रकरण में भी पुत्रादि के प्रति असक्ति कहना संगत है।।९।।

इन सबसे सक्ति और अभिष्वंग हटा लिया तो कहाँ लगाये? तब भगवान् कहते हैः-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।१०।।

वासुदेव से अन्य कुछ नहीं है, वही मेरी गति है इस निश्चय से मुझसे ही एकनिष्ठ प्रेम, शुद्ध स्थान में रहना तथा सांसारिक लोगों की गोष्ठियों में रुचि न होना (ये ज्ञान हैं)।

'मयि' मैं जो परमेश्वर हूँ, उसके अन्दर 'अनन्ययोगेन' अन्य अर्थात् दूसरा। 'मैं परमेश्वर से अन्य नहीं हूँ' इस तरह परमेश्वर के साथ ही एकमात्र अभिष्वंग अर्थात् भक्ति, प्रेम रखना है। आत्मबुद्धि केवल परमेश्वर में ही करनी है। यह निश्चय बनाना है कि परमेश्वर से अन्य कोई है ही नहीं। इतना ही नहीं, परमेश्वर से परे भी कोई नहीं है। अनन्य दोनों तरह से - मैं भी परमेश्वर से भिन्न नहीं, और जो यह संसार प्रतीत हो रहा है इसमें कोई भी चीज़ परमेश्वर से भिन्न नहीं। जैसे पंचकोषों की उपाधियों को दूर करने पर केवल ज्ञानमात्र हमारे में रह जाता है इसी प्रकार से संसार के अन्दर जो भी हमको दृश्य दीख रहा है उसमें दृश्यता, स्पृश्यता इत्यादि जितने इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान हैं अथवा मन-बुद्धि से होने वाले ज्ञान हैं उन सबको हटाने पर केवल सच्चिदानन्द मात्र ही रह जाता है। वह जो चिन्मूर्त्ति है उसके कारण ही हमें संसार-ज्ञान होता है। वेदान्त शास्त्र में जहाँ ज्ञान की प्रक्रिया बतलाते हैं वहाँ कहते हैं कि घट का अधिष्ठान जो चेतन, अन्तःकरण की वृत्ति का जब वही अधिष्ठान बन जाता है तब घटज्ञान होता है। चेतन की एकता को हम नहीं समझते, हम समझते हैं घड़ा दूसरा है जो ज्ञेय है, मैं दूसरा हूँ जो ज्ञाता हूँ। परन्तु वेदान्त शास्त्र समझाता है कि वह परमात्मा ही ज्ञेय रूप से उपस्थित है और ज्ञाता रूप से उपस्थित है, दोनों का अधिष्ठान एक ही है। इसको समझाने के लिए ही हर उपनिषत् सृष्टि-प्रक्रिया से प्रारम्भ करती है। संसार में केवल आत्मा ही था, सत् ही था, ब्रह्म ही था। यहीं से उपदेश प्रारम्भ करते हैं। फिर बताते हैं- उसने अपनी माया शक्ति के द्वारा सूक्ष्म महाभूतों से सूक्ष्म उपकरणों की सृष्टि की, फिर उन महाभूतों को मिला कर स्थूल सृष्टि की। स्थूल सृष्टि जानी जाती है, सूक्ष्म सृष्टि के द्वारा जाना जाता है। तमोगुण के द्वारा आच्छादित वही आत्मतत्त्व ज्ञेय बन गया और सूक्ष्म भूतों से बने इन्द्रिय-मन-बुद्धि उपाधियों से ज्ञाता बन गया। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों केवल परमात्मरूप ही हैं। इस तरह समझ आ जाता है कि मैं भी अनन्य हूँ और जो कुछ दीख रहा है वह भी अनन्य है। अर्थात् परमात्मा से भिन्न कहीं कुछ नहीं है। वही सबसे परे है और वही हमारा एकमात्र प्राप्तव्य है। वही परमधाम है वही अन्तिम गति है।

यह निश्चय करने से अव्यभिचारिणी भक्ति होती है। अन्यथा भक्ति व्यभिचरणशीला है। भूख लगी तो रोटी प्रिय हो गई, प्यास लगी तो पानी प्रिय हो गया। फिर ध्यान करने बैठे तो परमात्मा प्रिय हो गया। इसका नाम है व्यभिचारिणी भक्ति। और चीज़ों में भी हमारी स्नेह

की वृत्ति है और परमात्मा में भी है। प्रायः संसार में व्यभिचारिणी भक्ति ही रहती है। अव्यभिचारिणी भक्ति तब जब अगर भूख लगी है तो मालूम रहे कि परमात्मा ही अन्न रूप से विद्यमान है। अन्न को ब्रह्म रूप से जानो। वस्तुतः नाम–रूप का बाध करके अन्न को ब्रह्म जानो परंतु व्यवहार काल में नाम–रूप की उपाधि वाला ब्रह्म है, इस रूप से जानो। इस तरह हर दशा में प्रेम ब्रह्म से रहेगा, उस नाम–रूप से नहीं होगा। नाम–रूप वाला जो ब्रह्म है उसी से प्रेम होगा। इसी प्रकार जल नाम–रूप वाला जो ब्रह्म है उसी से प्रेम होगा। तब होगी अव्यभिचारिणी भक्ति अर्थात् हमेशा ब्रह्म को ही चाहते रहोगे। इसी को भगवान् ने कहा कि अनन्य योग के द्वारा मुझ परमेश्वर में ही एक जैसा प्रेम रखो। भक्ति अर्थात् प्रेम। इसीलिए भगवान् ने अपनी विभूतियाँ गिनाईं। विभूतियाँ भगवान् की हैं। अब उन विभूतियों से व्यवहार करते हुए सदा भगवान् से ही व्यवहार का अनुभव कर सकते हो। वहीं कहा था कि मेरे एकांश के अन्दर सारा जगत् स्थित है। एक अंश से मैं इसमें स्थित हूँ, बाकी अंशों से तो मैं अतीत हूँ। पुरुषसूक्त में भी यही कहा 'पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। एक पाद, एक छोटा–सा हिस्सा यहाँ है और बाकी सब इससे परे है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो, आधारांश से जगत् में स्थित हूँ और अधिष्ठानांश हमेशा अस्पृष्ट है। अतः वस्तुतः वही मोक्ष प्राप्त करने वालों का भाग है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने वालों का फिर यह जो एकांश है, इससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। परमात्मा एक है तो 'कोई सम्बन्ध नहीं रहता' मतलब क्या? सम्बन्ध जिस अविद्या के द्वारा था वह अविद्या निवृत्त हो गई इसलिए सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार, व्यवहार में और मोक्ष में, दोनों हालतों में भक्ति, प्रेम एकमात्र भगवान् से रखना अत्यावश्यक साधन है।

फिर तो, जहाँ हैं वहाँ भगवान् अधिष्ठान रूप से हैं ही तो क्या जहाँ–कहीं शहरों में, बाजारों में, साधक रहें? अतः भगवान् ने कहा कि भक्ति होने पर भी ज्ञान–निष्ठा के लिए आवश्यक है 'विविक्तदेशसेवित्वम्'। विविक्त अर्थात् पवित्र गंगा का किनारा, गुफाएँ, तीर्थ, आदि स्वभाव से ही शुद्ध स्थान होते हैं, और कुछ संस्कार से भी शुद्ध स्थान होते हैं। गोबर लीपी ज़मीन, गंगाजल छिड़की जगह, ये सब संस्कारों से शुद्ध स्थान हैं। सर्प व्याघ्र आदि जहाँ होंगे वहाँ भी भय इत्यादि की सम्भावना के कारण अशुचि आ जाएगी, पवित्रता नहीं रहेगी और जहाँ पर अशुचि के पदार्थ होवें वहाँ तो स्पष्टतः अशुचि है ही। ऐसे स्थानों का भी अधिष्ठान तो परमात्मा ही है पर अधिष्ठान होने पर भी ज्ञाननिष्ठा के पहले ये स्थान विक्षेप का कारण बन जाते हैं। स्वभाव या संस्कार से शुद्ध किया हुआ, सर्प व्याघ्र से रहित देश का ही सेवन करने का जिसका स्वभाव है शील है, स्वभाव से ही जिसकी उधर प्रवृत्ति होती है वही ज्ञान मार्ग का साधक है।

इसी प्रकार यदि परमात्मा सबके अन्दर विद्यमान है, तो दुष्ट पुरुषों के अन्दर भी वही परमात्मा है, संस्कृत पुरुषों के अन्दर भी वही परमात्मा है तो क्या सत्संग–कुसंग में भेदभाव छोड दें? इस पर भगवान् ने कहा कि जैसे अशुचि देश इत्यादि से विघ्न होता है वैसे ही

कुसंगियों के साथ रहने से विघ्न होता है। 'जनसंसदि अरतिः' जन का मतलब होता है प्राकृत लोग। हिन्दी भाषा में भी प्राकृत लोगों को जन जातियाँ कहते हैं। जैसे पैदा हुए हैं वैसे ही रहते हैं। संस्कार को प्राप्त करके तो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बनेंगे पर जो संस्कार-हीन होंगे वे जन जाति ही रह जाते हैं। अतः ब्राह्मण के घर में पैदा होकर के भी जो संस्कार-रहित होगा उसको जन ही समझना चाहिए। इसलिए महाराजा मनु ने स्पष्ट किया है कि ब्राह्मण तीन दिन तक भी यदि सन्ध्या-वन्दन नहीं करता है तो उसको शूद्र के समान समझो। इसी प्रकार जो वेदाध्ययन में श्रम नहीं करता है उसको शूद्रवत् समझो। संस्कार से तो व्यक्ति संस्कृत होगा अन्यथा जैसा पैदा हुआ है वैसा वह प्राकृत रहेगा, प्रकृति के द्वारा ही चलेगा। आजकल प्राकृत जन का ही बोलबाला है, नाम ही इसका जनतन्त्र है! संस्कृत लोगों का तो यह तन्त्र है नहीं, जनतन्त्र है। इसलिए इनके जो मुख्य पुरुष हैं वे भी संसद् में पहुँच कर वैसे ही एक-दूसरे की गर्दन पकड़ कर गाली गलौज करते हैं जैसे गलियों और सड़कों के ऊपर गुण्डे और बदमाश करते हैं। उनका दोष नहीं है, व्यवस्था ही बनायी है 'जनतन्त्र' की। भले आदमियों का तन्त्र तो स्थापित किया नहीं है। संस्कार शून्य लोग अविनीत होते हैं। संस्कार से मनुष्य विनय वाला होता है। इसलिए कहा है 'विद्या ददाति विनयं' विद्या वह है जो विनय दे। आजकल जिसको पढ़ाई कहते हैं वह अविद्या है। वह तो लोगों को उद्दण्ड बनाती है, विनीत नहीं बनाती। ऐसे लोग जहाँ एकत्रित होते हैं वह जनसंसद है, साधक का कर्तव्य है कि उसमें अरति रखे, उसके अन्दर उनके साथ रहने में कभी भी सुख का अनुभव न करे। क्योंकि ऐसे लोगों का संग करने से वैसे ही भाव अपने में आएँगे। जैसे अशुद्ध जगह से दूर रहना चाहिए वैसे ही भीड़भाड़ से भी दूर रहना चाहिए। सत्संग में भी इसकी कोशिश मत रखो कि भीड़ इकट्ठी हो वरन् संस्कारी लोग ही बैठकर सुनें-समझें यही प्रयास करो अन्यथा, लोग बैठते हैं चाहे कुछ भी बातें करते हैं, नाम सत्संग होता है पर चर्चाएँ सांसारिक होती हैं। पंजाब में इसका एक नाम रखा गया है 'रौनक'। मतलब क्या है? जनसंसद्, भीड़भड़क्का। इसके प्रति अरति रखनी चाहिये। जो संस्कृत व्यक्ति आएँगे वे शास्त्रीय बात करेंगे, शास्त्रीय बात पूछेंगे, उसका शास्त्रीय जवाब होगा। तब तो ज्ञान का परिपाक होगा। उनकी बातों के ऊपर सोच करके जब जवाब दिया जाएगा तब मनन होगा। इसलिए प्राकृत लोगों की भीड़भाड़ से दूर रहना चाहिए, संस्कृत पुरुषों की भीड़भाड़ से नहीं। संस्कृत पुरुषों की भीड़भाड़ ही नहीं होती है, यह बात दूसरी है! दो-चार भी होंगे तो लाभकारी रहेंगे।।१०।।

ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों का उपसंहार करते हैः-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

आत्माऽनात्म विषयक विवेक में निष्ठा और तत्त्वज्ञान के फल का चिन्तन- यह 'ज्ञान'

इस शब्द से कहा गया है। जो इससे विपरीत है उसे अज्ञान समझना चाहिये।

ज्ञान निष्ठा के लिए 'अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं' चाहिये। अध्यात्म, अर्थात् आत्म-विषयक जो ज्ञान वह अध्यात्म ज्ञान अर्थात् आत्मा और अनात्मा का विवेक। जब तक आत्मा और अनात्मा का विवेक नहीं किया जाएगा कि अनात्मा क्या है और आत्मा क्या है तब तक आत्मा को समझना सम्भव ही नहीं है। सामान्यतः भी संसार में नियम है कि किसी भी वाक्य को जानने के लिए ज़रूरी होता है उस वाक्य में आए हुए हर पद का, हर शब्द का पहले अर्थ स्पष्ट हो जाए। जब तक पदों का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा तब तक उनका वाक्यार्थ में विनियोग ठीक से नहीं हो पाएगा। पदार्थ-ज्ञान वाक्यार्थ-ज्ञान के प्रति कारण है। आत्मतत्त्व वाक्यार्थ है, पदार्थ नहीं। कोई पद उस तत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता। क्यों नहीं कर सकता? शब्द से हमको ज्ञान चार सम्बन्धों से होता है। जैसे अगर हम कहते हैं 'देवदत्त रसोईया है' तो हमें देवदत्त का ज्ञान क्रिया के साथ हुआ। हम यज्ञदत्त, भानुदत्त, इन्द्रदत्त को जानते हैं, जो रसोईए हैं, रसोई का काम करते हैं, इसलिए जैसे ही कहा जाता है 'देवदत्त रसोईया है', हम समझ लेते हैं कि जिस प्रकार की क्रिया यज्ञदत्त भानुदत्त इन्द्रदत्त करते हैं वैसी ही क्रिया करने वाला है। ज़ोर किस पर है? *वैसी* ही क्रिया। क्रिया हमने देखी भानुदत्त में, इन्द्रदत्त में और वैसी ही क्रिया का हमने देवदत्त में होना समझ लिया। जब कहा गया 'देवदत्त रसोईया है' तो हमको उसकी क्रियारूप विशेष बात का पता लगा। इसी प्रकार यदि कोई कहे 'देवदत्त ब्राह्मण है' तो यज्ञदत्त भानुदत्त इन्द्रदत्त ब्राह्मणों को जानते हैं, कि वे वेदादि पढ़ने वाले हैं, पवित्रता से रहने वाले हैं। वे गुण तो हमने देखे यज्ञदत्त भानुदत्त में, पर 'देवदत्त ब्रह्मण है' सुनने से हमें देवदत्त के विषय में पता चल गया कि वह वेदज्ञ है। एक जगह गुण देखे हैं, वैसे ही गुण उसमें समझ लिये। ऐसे ही 'देवदत्त शंख है' सुनकर क्योंकि हमने अनेक शंख देख रखे हैं इसलिये हम समझ लेते हैं कि शंखत्व जाति वाली वस्तु-विशेष का नाम देवदत्त है। संबंध से भी ज्ञान होता है। 'देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है।' हम यज्ञदत्त को और पितृपुत्र संबंध को जानते हैं तो हमको देवदत्त के बारे में पता लगा कि वह यज्ञदत्त से किस तरह सम्बन्धित है। जाति, गुण, क्रिया, सम्बंध, इन्हें एक जगह जानते हैं तो शब्द द्वारा दूसरी जगह जान सकते हैं। जितना भी विचार कर लो, शब्द से ये चार चीज़ें ही ज्ञात होती हैं। आत्मा अकेला होने से इसकी जाति नहीं। निर्गुण होने से इसमें गुण नहीं। निष्क्रिय होने से इसमें क्रिया नहीं। और इसके सिवाय कोई दूसरा नहीं होने से इसमें सम्बन्ध भी नहीं। अतः किसी पद के द्वारा, किसी शब्द के द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उसके ज्ञान के लिए वाक्य ही अपेक्षित है।

वाक्य के द्वारा जो पता लगता है वह जाति गुण क्रिया सम्बन्ध से अतिरिक्त हो सकता है। 'इषे त्वा' बोल कर शाखा को काटो। इस वाक्य से एक नई बात का पता लगा; और कहीं भी ऐसा बोल कर शाखा नहीं काटी जाती देखी है। अतः इस वाक्य से हमको एक नया ज्ञान हुआ। इसी प्रकार से जीव हमेशा प्रत्यक् रूप से अपरोक्ष है। जीवात्मा प्रत्यक् रूप से

अर्थात् अन्दर से प्रकाशमान होते हुए, हमेशा अपरोक्ष है। 'मैं' इस रूप से हमेशा जानते हैं उसको। प्रत्यक् तत्त्व हमेशा अपरोक्ष ही है। इस सारी सृष्टि को चलाने वाला, बनाने वाला, इसकी स्थिति रखने वाला, इस सारी सृष्टि का एकमात्र कारण जो परमेश्वर, सारी सृष्टि का कारण होने से वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ है। हमेशा परोक्ष ही है। उसका कभी भी अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। उसका ज्ञान तो परोक्ष रूप से ही होता है। सृष्टि को देखकर इस अनन्त सृष्टि का बनाने वाला वह है यों उसे समझा जाता है। अतः उसका हमेशा परोक्ष ज्ञान है। महावाक्य बतलाता है कि जिसका तुम अपरोक्ष कर रहे हो वही ब्रह्म है। तुमने सारी सृष्टि के बनाने वाले परमेश्वर को परोक्ष रूप से समझा। अपने आप को तुमने अपरोक्ष रूप से समझा। महावाक्य तुमको इस बात को बतलाता है कि जिसको तुम सारी सृष्टि बनाने वाला समझ रहे हो वही तुम्हारा अपरोक्ष आत्म-तत्त्व है। जिस मैं को हम लोग जानते हैं उस मैं में एक तो प्रत्यक् तत्त्व है 'जानना', और दूसरा हिस्सा है जानने के सारे साधन, अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त, जो सब हमारे जानने में सहयोग करते हैं। हमको हमेशा यह मिला हुआ रूप अपरोक्ष *प्रतीत* होता है। 'मैं हूँ' अनुभव में 'मैं शरीर हूँ, मैं मन हूँ, मैं बुद्धि हूँ' ये ही सब प्रतीतियाँ होती हैं। आत्मा-अनात्मा का विवेक करने से पता लगता है कि जानने वाला तत्त्व और ये सारी उपाधियाँ बिलकुल अलग-अलग हैं। इसी का नाम है पदार्थ-शोधन। त्वम् पद का अर्थ उपाधियाँ और आत्मा मिल करके है। उसमें से जो ज्ञानस्वरूप नहीं है उन अनात्माओं को, उपाधियों को हटा देंगे तब आत्मा शेष रहेगा। इसी प्रकार से सृष्टि-स्थिति-लय-तिरोधान-कर्मफलप्रदान - ये सब परमात्मा की शक्तियाँ हैं, मायांश हैं। परमात्मा का चिदंश इन सबसे अलग है। जब इस बात को जानते हैं तब तत्-पदार्थ का लक्ष्य अर्थ पता लगता है। अन्यथा तत् और त्वम् की एकता किसी तरह से समझ में नहीं आती। मुझे अपनी पीठ पर चलने वाली चींटी का पता नहीं और चींटी की पाँयजेब की आवा़ज भी परमात्मा को पता लगती है! ऐसे अल्पज्ञ और सर्वज्ञ कैसे एक हो सकते हैं? यह समझ में ही नहीं आ सकता जब तक आत्मा- अनात्मा का विवेक करके पदार्थ न समझ लिये जायें। आत्मा और अनात्मा मिले हुए ईश्वर में भी हैं, जीव में भी हैं। माया और चेतन ईश्वर में मिले हुए हैं। जीव में अन्तःकरण और चेतन मिले हुए हैं। मिली हुई चीज़ें ही हमको उपलब्ध होती हैं। परन्तु जब दोनों में आत्मांश से अनात्मांश को दूर कर देते हैं तब जो शेष रहता है वह शुद्ध है। जैसे बहुत बड़े सोने के तेड़िए में और छोटी सी सोने की अँगूठी में समानता दीखती नहीं। पर जब तेड़िए का तेड़ियापना गला देते हैं, अँगूठी का अंगूठीपना गला देते हैं, तब जो बच जाता है वह एक ही है। इसलिये, आत्मविषयक ज्ञान अर्थात् आत्मा और अनात्मा का विवेक यह नित्य मायने निरन्तर करते रहना है। निरन्तर इसलिए करते रहना है कि हमेशा हमारे सामने दोनों मिले हुए ही आएँगे। *'सामने'* पर ख्याल रखना; हमारे प्रत्यगात्मभाव में तो मिले हुए नहीं आएँगे लेकिन अन्तःकरण में अर्थात् मन में सामने आवें या आँखों के सामन आवें, जो भी सामने

आएगा उसके अन्दर उपाधि मिली हुई ही रहेगी। हर बार जब उपाधि से मिला हुआ आता है तब उपाधि को अलग करते रहना है। 'एक बार मैंने अलग कर दिया तो अलग हो गया' ऐसा नहीं समझना है, जब आए तब पृथक् कर समझते रहना है। ठीक जिस प्रकार, सोना जब आएगा तब किसी–न–किसी आकार में आएगा। हर बार उस आकार को भूलकर सुनार को सोने की अखण्डता देखनी पड़ती है। इसलिये कहा कि हमेशा आत्मा–अनात्मा के विवेक में लगे रहना पड़ेगा।

'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'। तत्त्वज्ञान - परमात्मा का ज्ञान, उसका अर्थ मतलब प्रयोजन; तत्त्वज्ञान का प्रयोजन है बन्धन-निवृत्ति, मोक्ष की प्राप्ति। जब हम तत्त्वज्ञान के इस प्रयोजन की तरफ ध्यान लगाते हैं तभी उसके साधन के अनुष्ठान में लग सकते हैं क्योंकि नियम है कि बिना किसी प्रयोजन के मूर्ख भी कोई काम नहीं करता। कोई–न–कोई प्रयोजन सामने रहता है तभी काम करेगा। तत्त्वज्ञान का प्रयोजन जो मोक्ष उसका जब हम बार–बार विचार करेंगे तभी इन अमानित्व आदि साधनों में लगे रहेंगे। साधन सारे कठिन हैं। बिना साधनों के साध्य की सिद्धि मिलती नहीं। अतः साध्य से हमको क्या फायदा होगा – जब इसकी तरफ नज़र रखेंगे तब बड़े कठिन साधन को भी कर सकेंगे। अगर वह सामने नहीं रहेगा तो साधन में प्रवृत्ति नहीं होगी। सच्चिदानन्द परमात्मा ही हमारा स्वरूप है, उसके अन्दर कभी बन्धन का स्पर्श ही नहीं हो सकता है – इस स्थिति को प्राप्त करना ही तत्त्वज्ञान का उद्देश्य है।

तत्त्वज्ञानार्थदर्शन कैसे होगा? ये अमानित्व आदि जो ज्ञान–साधन बतलाए इनके अनुष्ठान से होगा। यहाँ भगवान् कह रहे हैं 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्', ये जो बीस धर्म हमने गिनाये हैं, ये ज्ञान हैं। प्रश्न होगा कि ये तो सब करने के धर्म हैं। ज्ञान में कुछ किया नहीं जाता और यहाँ जितनी बातें कही हैं, सब क्रिया की विषय हैं। फिर इन्हें ज्ञान कैसे कह दिया? उत्तर है कि ज्ञानोपाय होने से ज्ञान कहे गये हैं। ज्ञान की साधना में अमानित्वादि भावना का जब परिपाक होगा तभी ज्ञान–निष्ठा, जो मोक्ष को देने वाली है वह हो पाएगी। इनकी भावना के परिपाक का मतलब है कि हमेशा अन्तःकरण का व्यवहार इनके अनुसार ही होवे। अन्तःकरण का व्यवहार इनसे सम्बन्धित रहेगा तो अपने आप इन्द्रियाँ शरीर इत्यादि सब इसी प्रकार की प्रवृत्ति वाले रहेंगे। ज्ञान–साधनों की भावना का परिपाक पूरा होने पर ही मोक्षदायक तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञान–निष्ठा उत्पन्न होती है और तभी संसार का उपरम होता है। जब हम मोक्षरूप फल को सामने रखते हैं तब इन सब साधनों में प्रवृत्ति होती है। अतः उसको सामने रखना भी ज्ञान–निष्ठा के लिए आवश्यक है। कई बार लोग कह देते हैं कि जो फल होना होगा, हो जाएगा, उसको क्यों सोचें? भगवान् स्पष्ट करना चाहते हैं कि कठिन साधना तब तक नहीं कर सकते जब तक उसके फल की तरफ दृष्टि न रहे। संसार के उपरम–रूपी फल की तरफ दृष्टि करेंगे तो साधनाओं के सारे कष्टों को सहन कर लेंगे, अन्यथा कर नहीं पाएँगे।

'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्', भगवान् कहते हैं ये सारे ज्ञान–साधना के परिपाक के लिए हैं

इसलिए इन्हें ज्ञान कहते हैं। ज्ञान के लिए होने से ज्ञान कहते हैं। अमानित्वादि ज्ञान नहीं हैं, लेकिन ज्ञान के लिए होने से ज्ञान कहे जाते हैं। ठीक जैसे कोई कठिन विषय आता है तो कहते हैं 'ध्यान दो, तब समझ में आएगा'। समझ में आना - ज्ञान है। ध्यान देना - क्रिया है। ध्यान देने से समझ में कैसे आएगा? अतः कहने वाले का भाव है कि ध्यान देने से ज्ञान सम्भव होगा। जैसे, हीरे को देखने में आँख टिकाओ तब हीरे की परीक्षा होती है। हीरे की परीक्षा आँख टिकाने से नहीं हुई, वह तो आँख के द्वारा जो तुमने *देखा* उससे हुई। वह ज्ञानस्वरूप है। पर अगर आँख को तुम टिकाओगे नहीं, चंचल रखोगे, तो उससे ज्ञान नहीं होगा, हीरे का पता नहीं लगेगा। इसलिए कह दिया जाता है 'आँख टिकाओ तो हीरे का पता चलेगा'। तात्पर्य है कि आँख टिकाओगे तब आँख से हीरे का ज्ञान होगा। इसी प्रकार अमानित्वादि साधन करने पर 'तत्त्वमसि' वाक्य का जो अर्थ है वह निष्ठा में परिणत होगा, इसलिए इन धर्मों को ज्ञान कहा।

'यद् अतः अन्यथा', जो इससे भिन्न है अर्थात् मानिता, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कुटिलता आदि हैं, जो बीस चीज़ें गिनाई इनसे जो भिन्न हैं; वे सब अज्ञान हैं अर्थात् अज्ञान के कार्य संसार को बढ़ाने वाला है। जैसे अमानित्वादि ज्ञान-निष्ठा के साधन हैं वैसे ही मान, दम्भ इत्यादि होने से ही तुम्हारा संसार दृढ होता जाएगा। यह भी हमेशा याद रखना चाहिए। जब प्रवृत्ति-मार्गी संसारी से बात होगी, जो संसार को बढ़ाना चाहता है, वह कहेगा 'अरे! अपनी इज़्ज़त अपने हाथ होनी ही चाहिए।' जो अज्ञान को बढ़ाना चाहते हैं अर्थात् अज्ञान के कार्य संसार को चलते रहने देना चाहते हैं वे इन बीस धर्मों से जो उलटी बातें हैं उन्हीं को कर्तव्य बतलाएँगे। अज्ञान अर्थात् अज्ञान का जो कार्य संसार है वह मान, दंभ आदि के द्वारा ही पुष्ट होता है। अतः इनकी अज्ञानरूपता याद रखकर ही साधक इनसे बचा रह सकता है। इस प्रकार भगवान् ने ज्ञान-निष्ठा के साधनों को प्रतिपादित किया।।११।।

ज्ञाननिष्ठा के साधनों को बतलाने के बाद इस ज्ञाननिष्ठा से जो जाना जाएगा अर्थात् ज्ञान का जो विषय ज्ञेय है उसे सत्रहवें श्लोक तक बतायेंगे। ये सब गुण तो रहेंगे ज्ञान के आश्रय में। जिस अन्तःकरण के अन्दर ब्रह्माकार वृत्ति बननी है उस अन्तःकरण के अन्दर ये अमानित्वादि सब रहेंगे। जिसका ज्ञान होगा वह कौन है? यह भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक बतलाते हैं–

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

जो (मुमुक्षु द्वारा) जानने योग्य है, जिसे जानकर (वह) अमरता पाता है, वह बताऊँगा : जो प्रारंभ वाला नहीं है वह निरतिशय चैतन्य ज्ञेय है। उसे 'है' और 'नहीं है' नहीं कहा जाता।

'यत् ज्ञेयं', जो अमानित्वादि साधनों के द्वारा जाना जाएगा; जाना तो जाएगा 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य से, परन्तु इन साधनों का परिपाक होने पर। अर्थात् इन साधनों से हीन होने पर महावाक्य से मोक्षफलक ज्ञान नहीं हो सकता; 'तत् प्रवक्ष्यामि', उस ज्ञेय के

बारे में अब मैं 'प्रकर्षेण वक्ष्यामि' प्रवचन करता हूँ। एक, वचन होता है दूसरा, प्रवचन होता है। वचन है किसी बात को बतला देना और प्रवचन है उसके बारे में जितनी भी जानकारी आवश्यक होवे उसको खोल कर कह देना। भगवान् कहते हैं, मैं यहाँ ज्ञेय को केवल कहूँगा नहीं, प्रकर्ष से कहूँगा। शब्द के द्वारा जिसको नहीं बताया जा सकता उसको शब्द के द्वारा बताना है! परमात्मा किसी शब्द के द्वारा बताया नहीं जा सकता और फिर शब्दों के द्वारा ही उसका प्रतिपादन करना है। अतः जब तब प्रकर्ष नहीं किया जाएगा तत्त्व के बारे में बताने में, तब तक उसको बतला नहीं सकते। श्रोता की सुनने में प्रवृत्ति होवे इसलिए उसका फल बतला देते हैं–'यज्ज्ञात्वा अमृतमश्नुते' उसको जान लेने पर अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् उसको जानने के बाद फिर मृत्यु की प्राप्ति नहीं होती। कई तरह की मृत्यु हैं – धनहानि, जन-हानि, इनको भी मृत्यु कहा है। इनमें से किसी भी प्रकार की मृत्यु प्राप्त नहीं होती, उसको जानने के बाद कभी कोई हानि हो ही नहीं सकती। क्योंकि हानियाँ जितनी हैं, नुकसान जितने हैं सारे-के-सारे उपाधियों में हैं। उपहित का कभी नुकसान होता नहीं। अनादि काल से न जाने कितनी उपाधियाँ इसके ऊपर आती रहीं और जाती रहीं, परन्तु जैसे हज़ार साल तक भी बालू में पानी दीखता रहे फिर भी बालू के एक कण को भी गीला करता नहीं इसी प्रकार अनादि काल से सारी उपाधियों की प्रतीति प्रत्यगात्मा के ऊपर होती रही है पर प्रत्यगात्मा वैसा का वैसा शुद्ध है, उसमें कहीं कोई अशुद्धि कभी आई नहीं। अतः उपाधियों के आने और जाने से उसकी मृत्यु नहीं है। उसका कुछ भी नष्ट नहीं होता है। मृत्यु रहने वाली है अनात्म तत्त्वो में, उनसे अलग करके आत्मा को जान लेता है इसलिए फिर कभी मरता नहीं, फिर कभी किसी चीज़ का वियोग होता नहीं। क्यों नहीं होता? तो 'संयोगा विप्रयोगान्ताः'। जिसका संयोग होता है, कोई चीज़ मिलती है, उसीका वियोग होता है। आत्मतत्त्व अकेला अखण्ड होने से इसका कभी किसी से संयोग हो ही नहीं सकता क्योंकि उसके सिवाय कोई दूसरा है ही नहीं। संयोग नहीं होगा तो वियोग कहाँ से होगा! इसलिए कह दिया 'अमृतत्वमश्नुते'। यहाँ 'अश्नुते' का अर्थ है 'प्राप्त कर लेता है'; परन्तु यहाँ प्राप्त कर लेने का मतलब किसी नवीन अमृतत्व को प्राप्त करता है – ऐसा नहीं। केवल प्रकट हो जाने को ही प्राप्ति कहते हैं। जैसे अल्मारी के अन्दर हमने घड़ी रखी, अगले दिन ढूँढी, नहीं मिली। दो दिन के बाद कपड़े झटक रहे थे तो उसमें से घड़ी खट करके गिर गई। घड़ी अल्मारी में ही थी, परन्तु आदमी क्या कहता है? 'अरे! वह खोई हुई घड़ी मिल गई।' न वह खोई, न वह मिली, वह तो जहाँ थी वहाँ की वहाँ रही। परन्तु चूंकि उसको खोई हुई समझ लिया था इसलिए 'मिल गई' ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार से प्रत्यगात्मा हमेशा ही अमृत रूप है परन्तु अज्ञान के कारण हमने उसमें मृत्यु की कल्पना कर ली थी, वह कल्पना हट गई इसलिए कह दिया कि अमरता पा जाता है।

उस ज्ञेय तत्त्व के बारे में सबसे पहले कहा 'अनादिमत्', जिसका आदि होवे उसको आदिमत् कहेंगे और जिसका आदि न होवे उसको अनादिमत् – कहेंगे। आदिमत् अर्थात्

आदि वाला। अनादिमत् – जो आदि वाला न होवे। यह शब्द ज़रा खटकता है क्योंकि संस्कृत भाषा के अन्दर सामान्य नियम है कि जहाँ बहुव्रीहिसमास से काम चल जाता है वहाँ मतुप् प्रत्यय नहीं लगाते। 'अनादि' का ही मतलब है 'जिसका आदि नहीं', तो मतुप् लगाकर अनादिमत् क्यों कहा? इसलिए कुछ लोगों का कहना है कि इसको ऐसे समझना चाहिए 'अनादि, मत्परं ब्रह्म' मत् हो गया वासुदेवरूप। वासुदेव नाम की पराशक्ति जिसकी है वह हुआ मत्पर, वह ब्रह्म अनादि है। इस प्रकार से अर्थ बताते हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि इस तरह शब्दों की व्यवस्था तभी ठीक होती जब 'अर्थश्चेत् सम्भवति' इसका कोई संगत अर्थ निकलता। जो बात इससे निकलेगी उसका भी तो कोई मतलब होना चाहिए। पर इस पदविभग से संगत अर्थ प्रकट होता नहीं है। क्यों? परमात्मा का उपदेश सारे विशेषों के प्रतिषेध से होता है। सारे विशेषों को नकारने से ही उस तत्त्व का उपदेश होता है। यदि उसको ही हम विशेषण के द्वारा बतलाएँगे, शक्ति के द्वारा बतलाएँगे तो अर्थ ही गड़बड़ा जाएगा, वह विवक्षित ज्ञेय नहीं रहेगा। शक्ति के साथ, गुण के साथ जो होगा वह उपास्य हो सकेगा, ज्ञेय नहीं हो सकेगा। क्योंकि जो ज्ञेय है उसको आगे खुद कह रहे हैं 'न सत्तन्नासदुच्यते' उसको 'ऐसा है' इस प्रकार से या 'ऐसा नहीं है' इस प्रकार से नहीं कहा जा सकता। एक ही वाक्य में विशिष्ट वासुदेव रूप शक्ति वाला भी दिखावें, और फिर न 'सत्तन्नासदुच्यते' से विशेष का प्रतिषेध भी करें यह उचित नहीं। इसलिये बहुव्रीहि से काम चलने पर भी भगवान् ने मतुप् जोड़कर कह दिया ताकि श्लोक के लिये आवश्यक अक्षर पूरे हो जायें। कह सकते थे 'अनादि परं ब्रह्म' पर तब छन्दोभंग हो जाता इसलिए अनादिमत् कह दिया है। अतः 'मत्परं' यों अलग शब्द मानना ठीक नहीं है। बच्चा झा ने माना है कि यहाँ अतिशय या नित्ययोग मतुप् का अभिप्राय होने से सार्थकता है।

आदि अर्थात् कारण; जो पहले होता है वह कारण होता है। जो सबका कारण है, उसका कोई कारण कैसे हो सकता है! सबके कारण का कारण मानोगे तो अनवस्था दोष हो जायेगा। अर्थात् उसका फिर कारण मानना पड़ेगा, उसका फिर कारण मानना पड़ेगा, इस प्रकार कारण-परंपरा समाप्त ही नहीं होगी। अतः सब का जो कारण है वह कारण-रहित है, उसका कोई कारण नहीं है। वह है कैसा? 'न सत् उच्यते' ज्ञेय को है-रूप से नहीं कह सकते। जो प्रमाणों से जाना जाता है उसको 'है' शब्द से कहते हैं। रोटी है। रोटी को आँख से देखते हैं, मुँह से खाते हैं। जो प्रमाणों से अर्थात् ज्ञान के साधनों से, इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से, 'है' करके जाना जाएगा उसी को सत् कहेंगे। स्वयं 'है' को तो है नहीं कह सकते! ब्रह्म सत् है- यह नहीं कह सकते। ब्रह्म है- यह कहना वैसा ही है जैसे कोई कहे 'है है'। जिसमें सत्ता होवे उसे सत् या है कहते हैं। है का अर्थ सत्ता, वह जिस घड़े, कपड़े में हो उसे 'घड़ा है, कपड़ा है' यों है कहते हैं। स्वयं है मैं तो सत्ता नहीं होती, अतः उसे है भी कैसे कहा जाये! घड़े में हैपना है इसलिए घड़े को है कह सकते हैं। ऐसे ब्रह्म में कोई हैपना होवे तब उसको है कह सकते हैं। ब्रह्म में हैपना है नहीं। इसलिए कहा 'न तत् सत्'।

जो सत् नहीं हुआ करता है वह असत् होता है। या चीज़ है, या नहीं है। दो ही बातें लोक में प्रसिद्ध हैं। तब भगवान् कहते हैं 'न असत् तद् उच्यते' 'वह नहीं है' यह भी नहीं कह सकते! 'है' भी नहीं कह सकते और 'नहीं है' भी नहीं कह सकते। नहीं है नहीं कह सकते क्योंकि नहीं हैपना किसी चीज़ में होवे तब उसको 'नहीं है' कहेंगे। 'है' के अन्दर 'नहीं–हैपना' होता ही नहीं है। 'है' में न 'हैपना' है, न 'नहीं–हैपना' है इसलिए उसको न सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं। सत्–असत् से कहीं व्यक्त–अव्यक्त भी समझते हैं, कहीं कार्य–कारण भी समझते हैं। वे सब भी यहाँ समझे जा सकते हैं परन्तु केवल वह अर्थ मानने से काम नहीं चलेगा। यहाँ तो 'हैपना' और 'नहीं–हैपना' ही लेना पड़ेगा, इनके द्वारा ब्रह्म को कहना नहीं बनता।

आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि खूब ज़ोर से कमर कस कर कण्ठरव से इस बात का उद्घोष किया कि 'मैं ज्ञेय को अच्छी तरह से कहूँगा' और कह रहे हैं कि 'न है न नहीं है कह सकते हैं'! तो क्या कहा उसके बारे में? कुछ नहीं कहा! उत्तर देते हैं 'अनुरूपम् एव उक्तम्' ब्रह्म को बताने का यही तरीका है, और कोई तरीका नहीं है। इसलिए उपनिषदों के अन्दर ज्ञेय ब्रह्म को बतलाते हैं तो 'नेति नेति' यह नहीं वह नहीं; 'अस्थूलम् अनणु अह्रस्वम्', स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है; इस प्रकार सारे विशेषों का प्रतिषेध करके ही उसका निर्देश किया जा सकता है। क्यों? क्योंकि हमेशा वाणी का अगोचर है, वाणी का विषय है नहीं। अतः जो–जो वाणी का विषय है उस सबको जब मना करते हैं तब जो बच जाता है, जिसका निषेध नहीं किया जा सकता, वह अधिष्ठान ही ब्रह्म है। बड़ी उलटी बात लगती है कि ज्ञेय को 'अस्ति' शब्द से न कहा जाए। वह है, तभी उसे ज्ञेय बताया। अगर उसका निषेध ही करना है तो वह नहीं है इस रूप से ही कहा जाएगा। न 'है रूप' से कहो, न 'नहीं है' रूप से कहो तो वह ज्ञेय काहे का रहा! प्रश्न इसलिए उठता है कि हमारी बुद्धि ऐसी बनी हुई है कि अस्ति–नास्ति बुद्धियों से अनुगत होकर ही हमें सब चीज़ों का पता लगता है। इसलिए हमें लगता है कि जो ज्ञेय है वह या अस्ति–बुद्धि का विषय होना चाहिए, या नास्ति–बुद्धि का विषय होना चाहिए। परन्तु विचार करो– अस्ति–नास्ति बुद्धियों से अनुगत रह कर ही ज्ञान होता किसका है? जो इन्द्रिय–गोचर हो सके। जो तुम इन्द्रियों से जानते हो, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जानते हो, उसे या है या नहीं है - इन रूपों में जानते हो। किन्तु परमेश्वर अतीन्द्रिय है इसलिए न 'है'– बुद्धि के द्वारा वह जाना जाएगा, न 'नहीं है' - बुद्धि के द्वारा जाना जाएगा। 'है' और 'नहीं है'– इन दोनों से अनुगत प्रतीति का वह विषय नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय–गोचर नहीं है। जो इन्द्रिय का विषय होता है वही अस्ति–नास्ति बुद्धियों से अनुगत होता है। ब्रह्म वैसा नहीं है इसलिए 'न सत्तन्नासदुच्यते' यही उसके बारे में कह सकते हैं।

इन्द्रियों का विषय नहीं है इसीलिए ज्ञेय शब्द–प्रमाण से ही गम्य है। परमात्मा के विषय में जानने के लिये शब्द से अतिरिक्त हमारे पास कोई साधन नहीं है, 'न सत्तन्नासदुच्यते'

कह कर यही बतला रहे हैं कि वह केवल शब्द-प्रमाण से गम्य है, अतीन्द्रिय विषय है। इसीलिए श्रुतियों ने भी 'जिसे तुम जानते हो उससे भी वह अलग है और जिसको तुम नहीं जानते उससे भी वह ऊपर है' -इस विलक्षण प्रकार से समझाया है। जैसे सूर्य का प्रकाश न प्रकाशित होता है, न प्रकाशित नहीं होता है, बस प्रकाशमात्र ही है। प्रकाशक उसको भ्रम से कहा जाता है। प्रकाश रूप से स्थित है इसलिए घट पट आदि का प्रकाश हो जाता है, अतः हम उसको प्रकाशक कह देते हैं परन्तु सूर्य उन्हें प्रकाश करने के लिए कुछ करता नहीं है। अथवा हम कब चलते हैं? जब खाली जगह हो; खाली जगह नहीं हो तब तो चल नहीं सकते! अतः कह दिया जाता है कि खाली जगह ने हमको चलाया। अकस्मात् बेध्याने अगर किसी गड्ढे में पैर चला जाये तो धड़ाम से गिरते हैं। क्यों गिर गए? खड्ढे ने गिराया अर्थात् खड्ढे में जो आकाश, खाली जगह है उसने गिराया। आकाश कुछ करता नहीं है, लेकिन आकाश है इतने मात्र से चलना-गिरना हो जाता है। जैसे सूर्य प्रकाशक नहीं है ऐसे ही सूर्य के ऊपर चाहे तुम दस हज़ार वॉट के लट्टू की रोशनी डाल दो तो भी सूर्य प्रकाशित नहीं होगा! वह न प्रकाशित है न प्रकाशक है, प्रकाशमात्र ही है। जो प्रकाशित नहीं है और जो प्रकाशक नहीं है उसको लोक में तो अन्धेरे का रूप मानते हैं। परन्तु सूर्य अन्धेरा भी नहीं है, प्रकाशरूप है। इसी प्रकार संसार के अन्दर कोई चीज़ 'है' या 'नहीं है' इन दो भागों में ही बँटती है। ब्रह्म सद्रूप है इसलिए दोनों भागों में बँटता नहीं है। इसलिए भगवान् जो कह रहे हैं वह श्रुति के अनुकूल ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'प्रवक्ष्यामि' कह कर फिर 'न है, न नहीं है कहा जाता है' यह कहना तो वैसा ही है जैसे यज्ञ के लिए तुमने वेदी तैयार कर दी, फिर कहा कि 'इसके आगे कोई परलोक है या नहीं, कौन जानता है!' जैसे यह वाक्य है ऐसे ही भगवान् का वाक्य लग रहा है। किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है क्योंकि श्रुति उसको विदित से और अविदित से अन्य बतलाती है फिर भी अवश्य विज्ञेय बतलाती है। 'परलोक है या नहीं कौन जानता है' इस तरह का जो वेद वाक्य है वह भी प्रसंगानुसार उचित अर्थवाला ही है, विरुद्धार्थक नहीं है वरन् विधि के लिये अपेक्षित अर्थवाद है। किंच परमात्मा को सत्-असत् शब्दों से कहना नहीं बनता यह युक्ति-संगत भी है। सारे ही शब्द अर्थ के प्रकाशन के लिए ही प्रयुक्त हैं और सुनने वाला भी शब्द से अर्थ को ही समझना चाहता है। चूंकि जिन चार चीज़ों से शब्द का अर्थ जान सकते हैं वे जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध ब्रह्म में हैं नहीं इसलिए कहा कि 'इसको न है कह सकते हैं, न नहीं है कह सकते हैं।' इसलिए भगवान् ने प्रतिज्ञापूर्वक ब्रह्म का उचित ही प्रतिपादन किया है। जिसको ज्ञेय कह रहे हैं वह वाणी का विषय भी नहीं है और मन का विषय भी नहीं है। न मन उसको जान सकता है, न वाणी उसको बता सकती है। इसलिए उसको सत् और असत् दोनों से भिन्न बतलाना ही ठीक है। जो चीज़ दृश्य होती है, सामने होती है, उसी के बारे में है या नहीं है ये बुद्धियाँ होती हैं। सामने चाहे मन के हो, चाहे इन्द्रियों के हो; 'स्वर्ग है' आदि मन के विषय हैं, इन्द्रियों के विषय

तो हैं नहीं, स्वर्ग दीखता तो है नहीं, लेकिन मन से स्वर्ग का ज्ञान है। परमात्मा तो जानने वाला है इसलिए वह कभी भी जानने का विषय नहीं बनता। जानने का विषय नहीं बनता इसलिए सत्-असत् पदों से वाच्य नहीं है। प्रत्यक् स्वरूप अर्थात् जानने वाला है, उसको जान नहीं सकते। फिर उसको ज्ञेय क्यों कहते हैं? उसके बारे में अज्ञान दूर करना ज़रूरी है इसलिये उसे ज्ञेय कहते हैं। जानने वाला - इस रूप से ही उसको जाना जाता है। 'जानने वाला' हमें हमेशा 'मैं' इस प्रतीति में प्रकट होता है। 'मैं' की जब प्रतीति होती है तब जानने वाले की ही प्रतीति है। अतः वह सत् और असत् बुद्धियों का विषय नहीं है, वरन् प्रत्यगात्मरूप से ही उसको जाना जाता है, अन्य रूप से नहीं। पहले जानने वाला होगा तब आगे जानना इत्यादि सब कार्य होंगे, जानने वाला नहीं होगा तो न जानने का कार्य हो सकता है और न जानने का विषय बन सकता है। इसलिए भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयो निश्चितिस्तथा।
यत्सान्निध्यात् प्रसिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्षते।।

चाहे प्रमाण हो, चाहे प्रमाता हो, चाहे प्रमेय हो, चाहे 'निश्चितिः' अर्थात् प्रमिति हो- ये सब उस परमात्मा का प्रकाश होने पर ही प्रकाशित होते हैं अर्थात् प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा पर ही निर्भर रहते हुए प्रवृत्त होते हैं। इसलिए प्रमाण प्रमेय इत्यादि की तो आदिमत्ता हो जाती है। हमने जब आँख से देखा तब आँख प्रमाण हुई। हमने देखा तब हम प्रमाता हुए। घड़े को देखा तब घड़ा प्रमेय हुआ। ये सब तो आदि वाले हैं। परन्तु जिसके प्रकाश से, जिसके होने से ये सब हुए, उसका आदि कोई हो ही नहीं सकता! इसलिए कहा कि जो सत् और असत् दोनों से परे है वह 'अनादिमत्' है अर्थात् उसका कोई कारण नहीं है, वह हमेशा विद्यमान ही है। जो किसी कारण से उत्पन्न होगा, वही आदि वाला होगा। जो हमेशा है ही, न कभी 'था' होता है, न कभी 'होगा' होता है, वह आदि वाला कैसे माना जाये! बुद्धि से वह अगम्य है और हमेशा है ही। कारण की अपेक्षा उसको नहीं, उसकी अपेक्षा सबको है। वही परम ब्रह्म है। इस प्रकार से भगवान् ने जो प्रतिज्ञा की थी वह संक्षेप में पूरी कर दी।।१२।।

जब परब्रह्म को उक्त ढंग से कहते हैं तब प्रायः लोग उसे शून्य मानने को तैयार हो जाते हैं! अनेक विद्वान् भी इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि बौद्धों के शून्यवाद का ही वैदिक संस्करण अद्वैतवाद है! किन्तु परमात्मा शून्य नहीं है। एक तो वह प्रत्यगात्मा है, प्रत्यक्स्वरूप से स्फुरता रहता है, उसका निषेध संभव ही नहीं है। दूसरा, वह इन्द्रियों का व मनका प्रवर्तक है, उसी से शक्ति पाकर ये व्यवहार करते हैं अतः शून्य नहीं है। तीसरी बात, संसार को सत्ता और ज्ञान उसी से मिलते हैं। यदि वह शून्य हो तो सारा संसार 'है' न लगकर शून्य लगे और संसार का ज्ञान भी न हो। चौथी बात, वही संसार का शासक है, यदि उसका प्रशासन न हो तो संसार व्यवस्थित मर्यादाओं में अनवरत नहीं चल सकता।

इन कारणों से परमात्मा शून्य होना सम्भव नहीं। यह प्रसंग प्रारंभ करते हुए भगवान् पहले समझाते हैं कि सब प्राणियों की इन्द्रियों के और मनके द्वारा वह परब्रह्म ही समझा जाता है। उपाधियों से युक्त होकर उसकी प्रतीति होने के कारण यह नहीं कह सकते कि वह नहीं है। अर्थात् सत्-असत् रूप से कहा न जा सकने पर भी उसे जानने का तरीका हैः उपाधि-समेत उसकी उपस्थिति सबके लिये सुलभ है। इस तरह मिलने से वह शून्य है यह शंका मिट जाती है। उसका उपाधि-रहित रूप समझ आनेसे वह अमृतत्व देता है अतः केवल उसे उपाधियुक्त जानना पर्याप्त नहीं किन्तु सोपाधि समझने से उसके शून्यत्व की संभावना भी मिट जाती है और विवेकपूर्वक उसे जानने का स्थल भी मिल जाता है। इस दृष्टि से उसकी उपाधि का कथन करते हैं-

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

वह परब्रह्म सब ओर हाथ-पैरों वाला, सब ओर आँख-सिर-मुखों वाला, सब ओर कानों वाला है तथा प्राणिदेहों में जो है उस सबको भली भाँति व्याप्त कर रहता है।

'सर्वतः' अर्थात् सर्वत्र जहाँ-कहीं भी 'पाणि' अर्थात् हाथ, 'पाद' अर्थात् पैर हैं, सब उसी के हैं। चाहे पशु-पक्षी हों, कीट-पतंग हों, उनके अन्दर क्रिया और ज्ञान परमेश्वर से ही होते हैं। पाणि-पाद से क्रियाशक्ति और अक्षि-श्रुति से ज्ञानशक्ति का संग्रह है। जो भी प्राणी है उसको कुछ-न-कुछ ज्ञान होता है, उसमें कुछ-न-कुछ क्रिया ज़रूर होती है। बिना ज्ञान व क्रिया का कोई भी प्राणी नहीं हो सकता। सारे पाणि-पादों वाला है वह कूटस्थ ही। सारे प्राणियों के इन्द्रियों और मन की उपाधि के द्वारा क्षेत्रज्ञ के अस्तित्व का निर्णय होता है। सब इन्द्रियों से जाना वह जा रहा है जो जानने वाला क्षेत्रज्ञ वहाँ है। क्षेत्रज्ञ एक है, क्षेत्रज्ञ अलग-अलग नहीं हैं। पहले ही कह आए हैं भगवान् 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि', एकमात्र मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ। सारे प्राणियों के इन्द्रियों व मनों के द्वारा, उन उपाधियों के द्वारा जो, व्यवहार हो रहा है उससे क्षेत्रज्ञ के अस्तित्व का पता लगता है। वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है क्षेत्र की उपाधि से। क्षेत्र हाथ-पैर इत्यादि अनेक प्रकार से भिन्न है। क्षेत्र तो भिन्न-भिन्न हैं और क्षेत्रज्ञ एक है। उपाधियों की एकता नहीं कह रहे हैं, उपाधियाँ तो अलग-अलग हैं, पर उपाधि के द्वारा ज्ञान-इच्छा-क्रिया करने वाला क्षेत्रज्ञ एक ही है। उपाधि से जो भेद हुआ करता है वह उपहित के अन्दर वास्तविक भेद को लाता नहीं। अपने में देख लोः आँखें अलग हैं, हाथ अलग हैं, इसलिए हाथों से ग्रहण करने वाला मैं अलग हूँ और आँखों से देखने वाला मैं अलग हूँ, परन्तु क्या सचमुच में हमारे अन्दर फ़र्क है? मैं वस्तुतः एक होते हुए भी देखने वाला, पकड़ने वाला, चलने वाला, सुनने वाला- इन शब्द और प्रतीतियों का विषय हो जाता हूँ परन्तु इन उपाधियों के द्वारा मेरी अद्वितीयता खण्डित नहीं होती। इसलिए क्षेत्र रूपी उपाधि के भेद से जो क्षेत्रज्ञ में विशेषताएँ मिल रही हैं वे सारी मिथ्या ही हैं,

वास्तविक नहीं हैं। इन सब विशेषों को हटाने से ही जो तत्त्व प्रकाशित होता है उसे भगवान् ने यहाँ ज्ञेय कहा है। किन्हीं खास हाथ-पैर आदि वाला तत्त्व भगवान् ने ज्ञेय नहीं कहा वरन् जहाँ-कहीं हाथ पैर से क्रिया हो रही है, आँख-नाक से देखना-सूँघना हो रहा है वहाँ सर्वत्र जो तत्त्व है उसी को ज्ञेय, जानने लायक बताया। सब तरफ उसी की आँखें हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, सिर हैं, मुख हैं। कान भी उसके सर्वत्र हैं।

उपाधि के द्वारा उसके मिथ्या रूप को बतलाया जा रहा है ताकि उसके न होने की शंका निवृत्त हो जाये। अगर वह न होता तो इन उपाधियों के द्वारा क्षेत्रज्ञ न बनता। जैसे यदि मैं न होता तो आँख के द्वारा देखने वाला नहीं बनता। उसी प्रकार यदि क्षेत्रज्ञ नहीं होता तो आँख-कान के द्वारा द्रष्टा-श्रोता कैसे बनता? इसलिए उपाधि के द्वारा जो प्रतीत होने वाला मिथ्या रूप है वह क्षेत्रज्ञ की वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिए आवश्यक है। इसीलिये उसे क्षेत्रज्ञ कहा। है तो वह क्षेत्र के बिना भी सच्चिदानन्द, पर उसका परिचय कराने के लिये उसे क्षेत्रज्ञ कहना उचित हो जाता है। जैसे देवदत्त रसोईये का काम कर रहा है। कोई पूछे 'देवदत्त कौन है?' तुम कहते हो 'वह रसोईया देवदत्त है।' ऐसा नहीं कि रसोई बनाना छोड़ दे तो वह देवदत्त नहीं रह जायेगा! रसोई बनाना उसमें आगन्तुक है, वास्तव में उसके स्वरूप का वह भाग नहीं है, किन्तु क्योंकि अभी वह रसोई बना रहा है इसलिये अभी उसका यही परिचय ठीक है। इसी प्रकार से क्षेत्र के बिना भी क्षेत्रज्ञ तो वैसा का वैसा है पर क्षेत्र की उपाधि से उसको बतलाते हैं। वह क्षेत्र को जानने वाला है, क्षेत्र से क्रिया करने वाला है - इस प्रकार उसका औपाधिक रूप बतलाते हैं। वस्तुतः तो वह उससे अलग ही है। इसीलिए साम्प्रदायिकों ने कहा है 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' प्रपंचरूप उपाधि से विलक्षण वस्तु का प्रतिपादन पहले उपाधि के आरोप फिर उसके अपवाद द्वारा ही किया जा सकता है। जैसे परिचय जिसका करा रहे हो वह तो केवल आदमी है, बाकी सब तो उसकी उपाधियाँ हैं। पर उपाधि के मार्फत ही परिचय कराया जाता है। आदमी सामने खड़ा है, दीख ही रहा है, फिर भी कहते हैं 'ज़रा इसका परिचय करा दीजिए'। इसलिए परिचय का मतलब है, उसके बारे में कुछ बताईए। 'बारे में' जो बतलाओगे वह तो उसके ऊपर आरोपित किया हुआ है, आदमी तो आदमी है, रसोईया थोड़े ही हो जाता है! रसोई बना लेता है इसलिए रसोईया कह देते हो। वह कुछ *बना* तो नहीं, वैसा का वैसा रहता है। रसोईया बनने से उसके सींग तो निकल नहीं आयेंगे! आदमी ही बना रहता है, रसोई बनाने से उसके ऊपर रसोईयापने का अध्यारोप हो जाता है। आरोप है इसलिए मिथ्या है, चाहे जब वह रूप उतर जाएगा। रसोईया, वेदपाठी आदि रूप तो कभी-भी उतर जाएगा, व्यक्ति बना रहेगा। परन्तु फिर भी परिचय किससे कराओगे? मिथ्या उपाधि के द्वारा ही करा सकते हो। इसलिए साम्प्रदायिकों ने कहा कि परमात्मा के ऊपर सारी उपाधियों का पहले आरोप करते हैं ताकि परिचय होवे। इसके बिना परिचय नहीं हो सकता। जैसे सामने दीखने मात्र को परिचय नहीं मानते वैसे प्रत्यग्रूप-स्फुरण परमात्मा का परिचय नहीं है, परिचय के लिये उपाधि-आरोप चाहिये। जब अध्यारोप करके उसका परिचय

हो गया तब अध्यारोपित हिस्सा मिथ्या होने से हटा दो, उसका अपवाद कर दो क्योंकि परिचय तो अब हो चुका, वह क्या है यह तुमको पता लग चुका। अध्यारोप हटा देने पर जो प्रपंच-रहित है उसका बोध हो जाता है।

इसलिए उस तत्त्व का परिचय कराने के लिए भगवान् कह रहे हैं कि सर्वत्र जिसके हाथ, पैर, कान, नाक, अन्तःकरण हैं अर्थात् इन सबके द्वारा जो जानता-करता है वह ज्ञेय है। सारे शरीरों के अवयवों के द्वारा ज्ञेय का सद्भाव निश्चित होता है। ये ही सब ज्ञेय-सद्भाव के लिंग हैं। आदमी ज़िन्दा है या मर गया, यह कैसे देखते हो? हाथ की अंगुलियों को पकड़ते हो। अगर उसकी हाथ की इन्द्रिय प्रतिक्रिया करती है तो कहते हो कि अभी ज़िन्दा है। नाक के सामने हाथ रख कर देखते हो। आँख को खोल कर उसमें रोशनी डाल कर देखते हो। यदि इनमें से किसी में भी तुमको प्रतिक्रिया मिलती है तो तुमको निश्चय हो जाता है अभी ज़िन्दा है। ज्ञेय जो क्षेत्रज्ञ, उसके सद्भाव में लोक में भी ये ही सब लिंग माने जाते हैं। कार्य तो ये अपने-अपने करते हैं। हाथ तुम्हारी अंगुलियों के प्रति प्रतिक्रिया करेगा, आँखें तुम्हारी रोशनी के प्रति प्रतिक्रिया करेंगी। प्रतिक्रिया करने वाला ज्ञेय नहीं है, परन्तु वे प्रतिक्रिया करेंगे कब? जब ज्ञेय वहाँ होवे, क्षेत्रज्ञ होवे। अन्यथा प्रतिक्रिया नहीं होगी। दृष्टान्त से समझ लो- बिजली आ रही है या नहीं? लट्टू का खटका दबाते हो, लट्टू जल जाता है तो कहते हो बिजली है, अथवा पंखे का खटका दबाते हो, पंखा चल जाता है तो कहते हो बिजली है, इन क्रियाओं से तुम बिजली का अनुमान करते हो, बिजली है, परन्तु बिजली को साक्षात् तो नहीं जान रहे हो। इन लिंगों के द्वारा उसका दृढ निश्चय हो जाता है, सन्देहात्मक नहीं, निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि बिजली है क्योंकि बिजली नहीं होती तो ये अपने-अपने काम कैसे करते। इसी प्रकार ज्ञेय जिसको परम ब्रह्म कहा है, यदि वह न होता तो कहीं भी हाथ-पैर-आँख-कान काम नहीं करते। करते हैं, इसलिए क्षेत्रज्ञ है।

'लोके' अर्थात् प्राणियों के शरीरों में 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर इन सबको व्याप्त करके रहता है। जैसे खटके से लेकर लट्टू पंखा इत्यादि तक तुमको बिजली की कोई क्रिया नहीं दीखती परन्तु फिर भी जानते हो कि खटके से लेकर पंखे तक बिजली है, व्याप्त करके रह रही है। ऐसा नहीं कि खटके में बिजली, और लट्टू में बिजली, बीच में तार में नहीं है! इसी प्रकार से मनुष्य की चक्षु इन्द्रिय के अन्दर बत्ती डाल कर प्रतिक्रिया दीखी तो यह नहीं समझते हैं कि इसी आँख में ज्ञेय है, परब्रह्म है, वरन् सारे शरीर में है-ऐसा ही बोध होता है। सारा ज़िन्दा है- यह बोध होता है। खाली आँख ज़िन्दा है ऐसा बोध तो नहीं होता! ठीक इसी प्रकार से दो आँखों के बीच में तुमको कुछ नहीं दीखता है अतः यह नहीं समझ लेना कि इस आँख और उस आँख में ही क्षेत्रज्ञ है, 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' बीच का जो हिस्सा है उसमें भी क्षेत्रज्ञ है ही! बहुत-से लोगों के मन में शंका रहती है कि जीवित लोगों के शरीरों में तो क्षेत्रज्ञ होगा, क्योंकि वहाँ जानना और करना होता है, परन्तु अन्यत्र तो नहीं रहता होगा? तो इस सन्देह को हटाने के लिए भगवान् ने कहा

'सर्वमावृत्य तिष्ठति'। सबको समव्याप्त करके वह रहता है।।१३।।

वेदान्त तत्त्व का उपदेश करने वाले की हमेशा यह कठिनाई रहती है; कैसे बतलाएँगे? उपाधि के द्वारा बताएँगे। जब उपाधि के द्वारा बतलाएँगे तब सामने वाले को झट लग जाता है कि उपाधि वाला ज्ञेय तत्त्व है। उपाधि के बिना बतला नहीं सकते और उपाधि से बतलाने पर उपाधि वाले तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। इसलिए अध्यारोप के बाद तुरन्त अपवाद करना ज़रूरी हो जाता है। भगवान् ने कहा कि वह सब जगह हाथ-पैर वाला है इसलिये अब कहते हैं:-

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

(बाह्य-आन्तर) सब इन्द्रियों के व्यापारों द्वारा आभासित होने वाला (वह ज्ञेय तत्त्व वस्तुतः) सब इन्द्रियों से रहित है। सब सम्बन्धों से व गुणों से रहित रहते हुए ही सबको धारण करता है और गुणों को जानता है।

'सर्वेन्द्रियगुणाभासं', आँख-कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ, और बुद्धि मन आदि अन्तःकरण इन सबमें ज्ञेय की उपाधि होना एक जैसा है, ये सभी ज्ञेय की उपाधियाँ हैं। अन्तःकरण की उपाधि के दरवाज़े से ही श्रोत्रादि उपाधि होते हैं। पहले अहंकारात्मिका उपाधि आएगी, फिर मन की उपाधि आएगी और तब आँख कान की उपाधि आएगी। उपाधिरूप जो सारी इन्द्रियाँ, उनके गुण - निश्चय करना, संकल्प करना, सुनना, बोलना इत्यादि; कर्मेन्द्रियों का व्यवहार, ज्ञानेन्द्रियों का व्यवहार, बुद्धि से निश्चय का व्यवहार और मन से संकल्प का व्यवहार, इन सबके द्वारा 'अवभासते' उसका परिचय होता है, अवभास होता है अर्थात् सारी इन्द्रियों के व्यापार के द्वारा वह ज्ञेय व्यापार करता हुआ प्रतीत होता है। इन्द्रियों के सभी गुणों से वह प्रकाशित होता है। आँख देखती है तो पता लगता है कि ज्ञेय है तब देखती है। हाथ पकड़ता है तो पता लगता है कि ज्ञेय है तो हाथ पकड़ता है। जैसे पूर्व श्लोक से विश्वरूप की प्रतीति बतलाई थी वैसे ही जब हमारी आँख देखती है तब तुरन्त पता लगना चाहिए कि परमात्मा है तब आँख देख रही है। अभी तो हम सोचते हैं कि हमारी आँख देख रही है या हम देख रहे हैं। हम अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति; पर वह भी देखती कब है? जब उसमें ज्ञेय है। साधना की दृष्टि से, पहले श्लोक के द्वारा सर्वत्र विश्वरूप को देखना है और जब अपनी आँख देखे, कान सुने, तब तुरन्त यह पता लगाना है कि वह ज्ञेय को सिद्ध कर रहा है, ज्ञेय है तब ये व्यापार हो रहे हैं। इसलिए कहा 'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'।

'अवभास' कह कर भगवान् जो ध्वनित कर रहे हैं उसको भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट करते हुए कहा 'सर्वेन्द्रियव्यापारैः व्यापृतम् इव' व्यापृत *की तरह* है, व्यापृत नहीं है अर्थात् व्यापार वाला बनता नहीं है, प्रतीत होने पर भी नहीं बनता है। इसके लिए भगवान् गौडपादाचार्य ने बहुत सुन्दर दृष्टान्त दिया है : जैसे मशालची मशाल का खेल दिखलाता है

तो मशाल को नचाता है, उससे आठ संख्या, शून्य संख्या आदि संख्याएँ बनती हैं। मशाल इन संख्याओं को बनाता हुआ भी, दीखते हुए भी, क्या संख्याओं को बनाता है? वहाँ संख्या तो बनती नहीं है। केवल तुम्हारी आँख के परदे को उतनी जल्दी विवेक करने की अशक्ति के कारण संख्या प्रतीत होती है। या आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखो : एक चक्र के ऊपर अमुक परिमाण में सातों रंग लगा दिए जाते हैं, फिर उसको जब तेज़ी से घुमाया जाता है तब तुमको सफेद रंग दीखता है। कोई दूसरा रंग नहीं दीखता, सफेद रंग दीखता है। उस समय दीखता है कि 'यह चक्र सफेद है।' जैसे ही उसको चलाना बन्द करो, फिर सात रंग का दीखता है, वहाँ सफेद रंग कहीं नहीं दीखता! वहाँ चलते समय भी सात रंग ही थे, सफेद रंग बना नहीं है, तुम्हारी आँख के परदे में इतने शीघ्र चलने वाले का विवेक करना सम्भव नहीं है इसलिए तुमको सफेद का भ्रम हो गया। सिनेमा में ऐसा भ्रम निरन्तर है : अगर फिल्म को खोल कर देखो तो कुछ नहीं चलता दीखता पैरों की दस छापें आती हैं, बस। अलग-अलग ऊँचाई पर पैरों के दस चित्र हैं पर जब तेज़ी से रील चलाई जाती है तब तुमको लगता है कि पैर चल रहा है क्योंकि तुम्हारा आँख का परदा विवेक नहीं कर पाता। इनमें से किसी भी दृष्टान्त से समझो; इसी प्रकार ज्ञेय आँख से देखता हुआ प्रतीत होता है, वास्तव में देखता नहीं है, देखने वाला नहीं बनता। इसीलिए श्रुति ने कहा 'ध्यायतीव'। कभी ध्यान करने वाला प्रतीत होता है। 'लेलायतीव' कभी चंचल प्रतीत होता है, परन्तु न वह ध्यान करता है, न चंचल बनता है।

कोई कहे कि ऐसा ही क्यों न मान लेवें कि वह करता है, करने वाला है? इस सन्देह को हटाने के लिए भगवान् ने कह दिया 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' सारी इन्द्रियों के द्वारा क्रिया करते हुए, प्रकाशित होते हुए भी सारी इन्द्रियों से सर्वथा रहित है। इसलिए इन्द्रियों के व्यापार से वह ज्ञेय व्यापार वाला नहीं है। इसीलिए श्रुति कहती है 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' बिना हाथ पैर के ही वह भागता है, पकड़ता है। 'पश्यति अचक्षुः' बिना आँख के ही वह देखता है, बिना कान के ही सुनता है। सारी इन्द्रियों के, उपाधियों के गुणों का उसके ऊपर आरोप केवल उसके परिचय के लिए है, वस्तुतः उसके अन्दर किसी प्रकार के विकार को लाने के लिए नहीं है। सचमुच में वह चलने या पकड़ने वाला नहीं है। चलने या पकड़ने से केवल उसका परिचय हो जाता है। सारी इन्द्रियों के द्वारा उसका अवभास भी होता है फिर भी सारी इन्द्रियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसीलिए 'असक्तं', किसी से इसका कोई संश्लेष नहीं है, कोई संग नहीं है। बिना संग किए हुए ही 'सर्वभृत्', सबको धारण करने वाला है! बिना सम्बन्ध के ही धारण करता है। साँप को रस्सी किस सम्बन्ध से धारण करती है? कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन साँप किस पर है? रस्सी पर ही है। रस्सी है, तभी साँप है, रस्सी को हटा दो तो वहाँ साँप भी नहीं रहेगा। सर्वभृत् है यह कैसे पता लगता है? सब चीज़ों में सद्बुद्धि अनुगत है। जिस-जिस चीज़ का भान होता है, उस चीज़ का 'है' के साथ ही भान होता है। यहाँ तक कि जहाँ

बालू में जल दीखता है, वह जल भी 'है' होकर ही दीखता है। निश्चय है कि बालू में जल नहीं है, पर दीखता कैसे है? 'जल है' इसी रूप में दीखता है। सचमुच में बालू में जल हो तब 'जल है' दीखे, ऐसा नियम नहीं है। हो या न हो, दीखेगा है के साथ ही। इसलिए असंग रहकर ही सबका धारण करने वाला है। 'निर्गुणं', सारे गुणों से रहित है और फिर 'गुणभोक्तृ' शब्दादि के द्वारा, सुख दुःख मोह के द्वारा इन सबका भोक्ता है अर्थात् जानने वाला है, प्रकाशक है। किसी गुण के साथ सम्बन्ध नहीं, फिर भी गुणों का प्रकाशक होने से गुणों का भोक्ता है। इस प्रकार से उसका परिचय कराने के लिए सारा संसार है। अतः यह सारा संसार व्यर्थ नहीं है! सारा संसार यदि न होता तो न हमारा परमात्मा से परिचय होता और न हमें अमृतत्व की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति होती। बहुत-से लोग पूछते हैं 'महाराज, भगवान् ने संसार क्यों बनाया? नहीं बनाते तो क्या हर्ज़ा था?' उत्तर है कि यदि संसार नहीं बनता तो तुम्हारा परमात्मविषयक अज्ञान कैसे मिटता? यह सारा अध्यारोप होने से ही तो अपवाद करके तुम निष्प्रपंच को समझोगे। अतः संसार का उद्देश्य संसार बनाना नहीं है, संसार का एकमात्र उद्देश्य इसके द्वारा उस ज्ञेय तत्त्व का उपदेश देना ही है। जैसे शब्दों से निष्प्रपंच का प्रपंचन किया जाता है, शब्दों के द्वारा बतलाते हैं, वैसे ही अर्थों के द्वारा भी उसी का प्रकाशन है। अर्थात् संसार में जितने पदार्थ हैं सब उस तत्त्व के ज्ञान के लिए ही हैं, और संसार का कोई प्रयोजन नहीं है।।१४।।

ज्ञेय का ही स्वरूप समझाते हैं-

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१५।।

भूतों के बाहर तथा भीतर, एवं बाहर-भीतर के विभाजक चर-अचर शरीर - सब वह ही है। अतीन्द्रिय होने से वह अनुभवका विषय नहीं है तथा दूर भी है, पास भी है।

'बाहर' कहने पर प्रश्न होता है- कहाँ से बाहर? बाहर किसी चीज़ को कहते नहीं जब तक पहले 'किससे बाहर' इसका पता न लगे। यहाँ प्राणियों के शरीर को अवधि मानकर कहा है। शरीर का जो चर्म है वहाँ तक देह है। अज्ञान से देह पर्यन्त आत्मा की प्रतीति होती है; मैं की प्रतीति कहाँ तक होती है? शरीर के बाहरी ओर जो त्वक् है वहाँ तक मैं की प्रतीति होती है। इसलिए कोई बाहर से भी शरीर को छूता है तो 'मुझे छुआ' ऐसी प्रतीति होती है। इसलिए त्वक्-पर्यन्त तो आत्मा की प्रतीति है, मैं की प्रतीति है। उससे जो बाहर है उसको यहाँ 'बाहर' कहा। आत्मरूप से जहाँ तक प्रतीति है वह शरीर तक प्रतीति है, - शरीर के बाहर 'मैं' ऐसी प्रतीति नहीं होती। जहाँ पत्नी, पुत्र आदि में होती भी है, वहाँ गौण है, क्योंकि कहने वाला भी जानता है कि वह मैं नहीं हूँ। लड़का मरने पर बाप कहता है 'मैं मर गया' किन्तु तब उसे चिता पर रखो तो झट चिल्लाएगा 'मैं सचमुच में थोड़े ही मरा हूँ!' शरीर से बाहर जो मैं की प्रतीति है वह गौण है। अविद्या से जो प्रतीति है वह

मिथ्या है अर्थात् ब्रह्मज्ञान से पहले रहेगी ही। उसकी निवृत्ति बिना ब्रह्म-साक्षात्कार के नहीं होती। अतः चाहे जितना कह लेवे 'शरीर तो जड है' पर एक जलती हुई लकड़ी उसकी पीठ पर मारो तो उसको क्या प्रतीति होगी, 'मुझे मारा' यही प्रतीति होगी। शरीर को मैं देखने वाला हूँ, शरीर को मैं जानने वाला हूँ। जानने वाला जिसको जानता है उससे अलग होता है- इस विचारमात्र से शरीर में मैं-बुद्धि की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे जिसे रस्सी में साँप दीख रहा हो, उसे चाहे जितना समझायें कि 'यहाँ पर पहले साँप नहीं था, दरवाज़ा बन्द था, साँप नहीं आ सकता है' पर यह सब विचार होने के बाद भी उसका साँप का डर जाता नहीं। केवल इतना होता है 'नहीं होगा' परन्तु साथ ही रहता है 'शायद हो भी'। परन्तु जब प्रकाश में जहाँ सर्प दीख रहा है वहीं रस्सी दीख जाती है, अधिष्ठान का ज्ञान हो जाता है, फिर सर्प का भय नहीं रहता। समझाने के लिए बाद में भी कह देते हैं 'यह देखो, यहाँ पर साँप का सिर दीख रहा था। यहाँ साँप की पूँछ दीख रही थी', परन्तु कहते हुए भी उसको पता है कि साँप नहीं था। ठीक जैसे बिना अधिष्ठान-ज्ञान के वहाँ भ्रम निवृत्त होता नहीं क्योंकि भ्रम मिथ्या है, इसी प्रकार से 'मैं वस्तुतः अधिष्ठान ब्रह्म-स्वरूप हूँ' जब तक इसका साक्षात्कार नहीं होता तब तक चाहे जितना विवेक कर लेवें, भ्रम मिटता नहीं, शरीर-पर्यन्त मैं ही लगता है। इसलिए शरीर को ही अवधि करके बाहर कहा और शरीर के अन्दर जो है उसको अन्दर कहा। भगवान् ने कहा 'बहिः अन्तश्च भूतानाम्' प्राणियों के बाहर और प्राणियों के अन्दर, दोनों तरफ मैं हूँ। शरीर के बाहर समष्टि रूप है परमेश्वर का। शरीर के अन्दर उसी का व्यष्टि रूप है।

बाहर और अन्दर कह दिया तो शंका होगी कि परमात्मा बाहर-अन्दर है परन्तु बीच में नहीं होगा? शरीर को ही बीच मानकर बाहर-भीतर का विभाग किया अतः शरीर परमात्मा नहीं होगा? इसलिए कहा 'अचरं चरमेव च'। चर अर्थात् चलने वाला आदमी, पक्षी, मछली, कुत्ता, गधा- ये सब चलनेवाले प्राणी हैं। अचर अर्थात् नहीं चलने वाले पेड़, पौधे, घास इत्यादि। चलने वाले और नहीं चलने वाले जो शरीर हैं वे भी मैं हूँ। अर्थात् शरीर के अन्दर, शरीर के बाहर, और बीच में भी शरीररूप से मैं ही हूँ। प्रत्यगात्मा से शरीर-पर्यन्त अन्दर हुआ, शरीर से बाहर 'बहिः' हुआ और शरीर 'चरम् अचरम्' से कहे। यहाँ सूक्ष्म शरीर भी समझ लेना चाहिये। देहों से ज्ञेय का आभास मिल जाता है इसलिये उसे 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' की तरह देहाभास भी कह सकते हैं। अथवा देहों के रूपमें भासने वाला चराचर ही देहाभास है जो ज्ञेय ही है। जैसे आभासभूत सर्प रज्जुरूप ही होता है ऐसे बहिः अन्तः और देह - सब ज्ञेय ही हैं। अतः यहाँ भाष्यकारने लिखा है 'यच्चराचरं देहाभासमपि तदेव ज्ञेयं, यथा रज्जुसर्पाभासः'।

'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं', स्थूल देह तो दीख जाता है परन्तु स्थूल देह के अन्दर अहंकार पर्यन्त जितना है सब सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने के कारण स्वरूप से वह अविज्ञेय है। जो विवेक वाले हैं उनके लिए तो ज्ञेय है परन्तु अविवेकियों के लिए, अज्ञानियों के लिए अविज्ञेय है।

इसलिए मन क्या है, बुद्धि क्या है, इन्द्रियाँ क्या हैं - यह अविद्वान् लोग नहीं जानते, नहीं समझते। जब इस सापेक्ष सूक्ष्म को ही नहीं समझते, तो निरपेक्ष सूक्ष्म उस ज्ञेय को क्या समझेंगे! अतः भगवान् ने परब्रह्म की अविज्ञेयता में सूक्ष्मता, अतीन्द्रियता को हेतुरूप से कहा। प्रश्न होगा कि वह अविज्ञेय है कहने का मतलब हुआ कि ये उपाधियाँ ज्ञेय हैं। किंतु भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी 'ज्ञेयं प्रवक्ष्यामि', ज्ञेय मैं बताऊँगा। भगवान् उपाधियों का प्रतिपादन कर रहे हैं यह भी संगत नहीं क्योंकि उन्होंने यह भी कहा था 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' कि ज्ञेय वह है जिसे जानकर मोक्ष होता है और उपाधियाँ तो सब जान ही रहे हैं फिर भी किसी को मोक्ष हुआ नहीं! तो भगवान् का क्या अभिप्राय है? अपना अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये ही भगवान् ने सूक्ष्मताहेतु का कथन किया : आत्मवस्तु अपने मिथ्या रूपों में तो ज्ञेय है पर उसका जो वास्तविक स्वरूप है वह क्योंकि सूक्ष्म है इसलिये शास्त्रदृष्टि के बिना अविज्ञेय ही रहता है। सब वस्तुओं के रूप में वही ज्ञेय है किंतु जैसे सर्वत्र उपस्थित, सब व्यवहार संभव कराने वाला आकाश सूक्ष्म होने से लौकिक बुद्धि से समझ नहीं आता वैसे आत्मतत्त्व भी समझ नहीं आता। पहले ज्ञेय बताने की प्रतिज्ञा की, अब उसे अविज्ञेय कहा- इसमें विरोध नहीं क्योंकि अविज्ञेयता में सूक्ष्मता हेतु देकर स्पष्ट किया कि शास्त्रनिरपेक्ष दृष्टि से वह अविज्ञेय है। जो उसे ज्ञेय कहा वह शास्त्र द्वारा समझने योग्य होने से कहा। जो विद्वान् हैं उनको तो पता ही है कि 'आत्मैवेदं सर्वमू, ब्रह्मैवेदं सर्वम्'। अन्दर-बाहर और देहाभास रूप में, सब रूपों में एकमात्र आत्मा ही, ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। अविद्या से प्रकाशित हो रहा है, पर वस्तुतः प्रतीति तो उसी की हो रही है। जैसे रस्सी में साँप दीख रहा है तो साँपरूप से रस्सी ही दीख रही है। साँप उसीका मिथ्या रूप है। दीख सचमुच में क्या रहा है? रस्सी ही दीख रही है। ठीक इसी प्रकार से बहिः, अन्तः, चर, अचर - ये सब आत्मरूप ही हैं। सचमुच में जो आत्मा - उसी के कल्पित रूप हैं। यह बात विद्वानों को ज्ञेय है, और जिनको ज्ञेय है वे 'अमृतमश्नुते'। जो अविद्वान् हैं उनके लिए अविज्ञेय है।

अविज्ञात होने से ही 'दूरस्थं' ब्रह्म अतिदूर है। इसलिये कल्पना करते हैं यहाँ से इतने योजन पर स्वर्ग है, इतने योजन पर महर्लोक है, उससे ऊपर जनलोक है उससे ऊपर तपोलोक है, उससे ऊपर सत्यलोक है, उससे ऊपर वैकुण्ठ लोक है, उससे ऊपर गोलोक है - इस प्रकार दूर-दूर की कल्पना करते हैं। और फिर कहते हैं कि उसके भी आगे परमेश्वर, परब्रह्म परमात्मा है। है तो वह सर्वत्र विद्यमान, लेकिन अज्ञानियों की ऐसी कल्पना होती है, उनके लिये वह दूरस्थ है। आचार्य कहते हैं कि अरबों सालों में भी अविद्वान् उसकी प्राप्ति नहीं कर सकते। इसलिए दूर कहना ठीक ही है, अर्थात् अज्ञानी उसको प्राप्त कर ले यह किसी तरह सम्भव नहीं है। करोड़ों कल्प भी बीत जाएँ, जब तक अविद्वान् रहेंगे, अविद्या वाले रहेंगे तब तक कभी भी उसका पता नहीं लग सकता, वह दूर ही रहेगा। और ज्ञान होने पर वह अपना स्वरूप होने से 'तत् अन्तिके च' समीप से समीप है, क्योंकि अपने आपे से ज़्यादा समीप और कोई चीज़ हो नहीं सकती है। अज्ञानियों के लिए तो कभी भी प्राप्त होने वाला नहीं है और

ज्ञानियों को स्वरूप होने से नित्य प्राप्त ही है।।१५।।

परमात्मतत्त्व के अस्तित्व में हेतु सूचित करते हुए उसका वर्णन करते हैं-

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

बिना बँटे हुए ही सब प्राणियों में वह बँटा हुआ-सा मौजूद है। वही ज्ञेय तत्त्व (स्थिति काल में) भूतों को धारण करता है, (प्रलयकाल में) उन्हें निगलने के स्वभाव वाला है और (सृष्टि काल में) उन्हें उत्पन्न करने के स्वभाव वाला है।

'अविभक्तम्'। घड़ा, सिकोरा इत्यादि आकाश के टुकड़े नहीं करते। घड़े में आकाश आ गया तो आकाश का टुकड़ा नहीं गया, आकाश कोई कट कर उसमें नहीं आया। आकाश तो अखण्ड ही रहा। इसी प्रकार से प्रत्येक शरीर के अन्दर वह आत्मतत्त्व रहते हुए भी उसके टुकड़े नहीं हो जाते। दूसरे सब दार्शनिक मानते हैं कि हर एक शरीर में अलग-अलग जीवात्मा है। कुछ दार्शनिकों को लगता है कि अन्तःकरण की उपाधि हो, अविद्या की उपाधि हो, किसी-न-किसी उपाधि से परमात्मा के अलग-अलग टुकड़े हैं। किन्तु परमात्मा अविभक्त है इसलिए उसका टुकड़ा होना सम्भव ही नहीं, आकाश की तरह। इसलिए जैसे आकाश एक होते हुए घड़े सिकोरे इत्यादि के अन्दर अलग प्रतीत होते हुए भी अलग होता नहीं, इसी प्रकार अलग-अलग अन्तःकरणों के अन्दर अलग-अलग प्रतीत होते हुए भी आत्मतत्त्व अलग होता नहीं। इसलिए कहा 'अविभक्तम्'। अविभक्त होते हुए ही 'भूतेषू विभक्तम् इव च स्थितम्'। सभी प्राणियों के अन्दर अन्तःकरण, शरीर आदि के अन्दर ऐसा लगता है कि वह अलग है। ठीक जिस प्रकार से घड़े के अन्दर आकाश, सिकोरे के आकाश से सर्वथा अलग लगता है पर होता नहीं है, इसी प्रकार रावण के शरीर में, राम के शरीर वाले से वह परमात्मा अलग दीखता है। जो रावण के शरीर में है वही राम के शरीर में है - ऐसी अविद्वानों को प्रतीति सर्वथा नहीं होती। उनको तो ऐसा लगता है कि रावण में कोई राक्षसात्मा है, राम में कोई देवात्मा है। परन्तु देव और राक्षस अन्तःकरण आदि हैं, आत्मा तो वैसा-का-वैसा है, उसमें कोई फ़र्क नहीं है। शरीरों के अन्दर उसकी प्रतीति अलग की तरह होते हुए भी वह अलग होता नहीं है। शरीरों के भेद हो जाने से उसमें भेद होता नहीं है।

'तद् भूतभर्तृ ज्ञेयं च।' जो ज्ञेय है, वही स्थिति काल के अन्दर सारे प्राणियों को धारण करता है। स्थिति काल अर्थात् मिथ्या जगत् की प्रतीति का काल, यही स्थिति काल है। मिथ्या जगत् की प्रतीति होने पर ही उसके आदि और अन्त की कल्पना होती है। प्रतीति न मिथ्या जगत् की उत्पत्ति की होती है, न मिथ्या जगत् के नाश की होती है! जैसे रस्सी में साँप स्थित दीखता है; न पैदा होते हुए दीखता है और न नष्ट होते हुए दीखता है। इसी प्रकार जगत् हमेशा जब प्रतीत होता है तब स्थितरूप में ही प्रतीत होता है। इसीलिए वैदिक कर्म-काण्डी लोग कहते हैं, जगत् हमेशा ऐसा ही है! वे लोग न सृष्टि स्वीकार करते हैं, न प्रलय स्वीकार

करते हैं। लगता है कि जैसे वे कोई उलटी बात कर रहे हैं परन्तु जगत् के सृष्टि और संहार की बात एक कल्पित विचार ही है। अनुभव तो हमेशा स्थिति काल का ही होगा। सारा व्यवहार स्थिति काल को लेकर ही है। कर्म, उपासना- ये सारी व्यवहार काल की चीज़ें हैं इसलिए स्थिति काल में ही सम्भव हैं। स्थिति काल में 'तद् ज्ञेयं' वह जो ज्ञेय है वह 'भूतभर्तृ' भूतों को धारण करने वाला है। और धारण करने के साथ भरण करने वाला भी है अर्थात् पोषण करने वाला भी है। जगत् के सब पदार्थ सत्‌रूप परमात्मा में ही धृत हैं, बिना सत् के संसार की कोई चीज़ कहीं नहीं है। इसलिए धारण भी करता है और इस संसार की अभिवृद्धि का कारण, पोषण का कारण भी है। जगत् की प्रतीतिनिर्भरता ही इसका बल भी है, कमज़ोरी भी है। यदि आत्मा-अनात्मा के विवेक से जगत् सचमुच में सच्चा नहीं है- ऐसी प्रतीति हो जाये तो फिर निवृत्तिपरायणता ही सम्भव है। जब तक इसके हैपने का तुमको निश्चय है तभी तक प्रवृत्ति मार्ग है है नहीं। का निश्चय तो दूर, नहीं है की सम्भावना आते ही निवृत्तिपरायणता शुरू हो जाती है। लोक में भी देखने में आता है- जिस चीज़ के बारे में ऐसी कल्पना भी हो जाए कि 'पता नहीं यह है कि नहीं है', तो उसके लिए फिर दृढ प्रवृत्ति नहीं होती। न केवल भूतों को, जगत् को धारण करने के लिए सद्रूपताका उपयोग है, उसके लिए प्रवृत्ति करके पोषण करने का काम भी वह सद्‌रूपता ही करती है। इसलिए भगवान् ने कहा 'तज्ज्ञेयं भूतभर्तृ च'।

ज्ञेय ही ग्रसिष्णु भी है। जैसे ही सन्मात्ररूपता का ज्ञान होता है वैसे ही यह सारा नाम-रूपात्मक जगत् ग्रस्त हो जाता है, उसके कौर (कवल) में चला जाता है। अथवा यदि सृष्टि और प्रलय की दृष्टि से देखते हैं, तो प्रलय काल में सब कुछ परमात्मा में लीन हो जाता है इसलिए वह ग्रसिष्णु है। ज्ञान-काल में प्रत्यक्ष ही सब ग्रस्त हो जाता है और ज्ञान के बिना भी प्रलयकाल में ग्रस्त हो जाता है। संसार की चीज़ें नष्ट होती ही हैं। सारा संसार भले ही उत्पन्न होता व नष्ट होता न दीखे पर अनुभवकी प्रायः चीज़ें तो उत्पत्ति-नाश वाली हैं। सृष्टि का पैदा होना भी कोई नहीं देखता और सृष्टि का प्रलय भी किसी के ज्ञान का विषय नहीं है। परन्तु अगर हमको मकान दीखता है तो हम समझ लेते हैं कि यह बना भी है। दीख तो हमें मकान रहा है, हमने इसको बनते देखा नहीं, लेकिन मकान है, ईंटों को जोड़ कर बना है तो कभी-न-कभी ज़रूर बनाया गया है। बना है तो ज़रूर बनाया गया है- ऐसा मनुष्य को प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार से यदि बना है तो एक दिन खण्डहर भी होगा ही- यह भी प्रतीत हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से सृष्टि की न कभी उत्पत्ति देख सकते हैं और न कभी प्रलय देख सकते हैं, फिर भी सृष्टि और प्रलय की प्रतीति हो तो उसको भी करने वाला वह ज्ञेय तत्त्व ही है। और यदि ग्रसिष्णु से ज्ञान काल लिया जाए तो उसमें 'यह सारा ग्रस्त हो गया' ऐसी प्रतीति हो ही जाती है।

जैसे ग्रसिष्णु वैसे 'प्रभविष्णु च'। उत्पत्ति काल में प्रभवन होता है, उत्पत्ति होती है। आचार्य स्पष्ट करते हैं 'यथा रज्ज्वादिः सर्पादेः मिथ्याकल्पितस्य'। ये उत्पत्ति, विनाश और

स्थिति जो तीनों यहाँ हैं, ये तीनों रस्सी में साँप की तरह केवल मिथ्या कल्पना मात्र हैं। भूतभर्तृत्व, ग्रसिष्णुत्व और प्रभविष्णुत्व- ये तीनों ही एक जैसे मिथ्या कल्पित हैं। क्योंकि स्थिति काल में प्रतीति होती है इसलिए उसको भूतभर्ता भी कह दिया जाता है और उसके आदि-अन्त की कल्पना करके प्रभविष्णु व ग्रसिष्णु भी कह दिया जाता है। रस्सी में मोटा साँप देखते हैं तो कहते हैं 'बुड्ढा साँप लगता है' और छोटा-सा दीखे है तो कहते हैं 'बच्चा साँप है'। बच्चा मायने अभी थोड़े दिन पहले पैदा हुआ है। वह तो कभी पैदा नहीं हुआ है! जैसे मोटा दीखता कल्पित साँप बुड्ढा नहीं वैसे ही छोटा दीखता कल्पित साँप बच्चा नहीं। फिर भी सर्प देखते समय उसके जन्म की कल्पना हो जाती है। ऐसे ही संसार देखते समय इसके जन्म-नाश को मानकर ब्रह्म को ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु समझा जाता है। जो सूक्ष्म विवेक करने वाले हैं वे तो संसार को दृष्टि मात्र ही कहते हैं कि दृष्टि के अतिरिक्त सृष्टि है नहीं। खूब हिसाब लगाते रहते हैं पौराणिक लोग- इतने कल्प बीत गए, इतने मन्वन्तर बीत गए, वे सब एक जैसी ही व्यर्थ कल्पनाएँ हैं जैसे यह समझना कि यह साँप बच्चा है या बुड्ढा! जब तक स्थिति काल में आग्रह है कि जगत् है, तब तक इन सब गणनाओं का महत्त्व रहेगा। तब तक भूतभर्तृ, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु- इन रूपों में उस ज्ञेय तत्त्व को समझकर उसके वास्तविक स्वरूप के अवगम का प्रयास करते रहना होगा।।१६।।

भगवान् ने कहा कि सूक्ष्म होने से वह नहीं जाना जा सकता है। किसी को भ्रम हो सकता है कि फिर वह अन्धकार की तरह है। जैसे अन्धकार सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी उसको जान नहीं सकते, ऐसा ही वह होगा। क्योंकि किसी भी चीज़ को जाना जाता है प्रकाश के द्वारा। ऐसे अन्धकार को तुम कभी देख नहीं सकते क्योंकि उसके ऊपर रोशनी डालो तो वह वहाँ रहता ही नहीं है! इसलिए अन्धकार नज़र नहीं आता। अन्धकार का अनुभव नहीं होता है- यह नहीं कह रहे हैं; काला-काला दीखता है, अतः अनुभव नहीं होता है- यह कैसे कहें! परन्तु वस्तु प्रकाश युक्त होने पर ही आँख से देखी जाती है और अन्धकार कभी प्रकाश युक्त होकर नहीं दीखता। अतः अंधेरा नज़र नहीं आता यह कहना बन जाता है। क्या ऐसे वह परब्रह्म भी अंधकार की तरह ही है? इस शंका के निराकरण में भगवान् कहते हैं-

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

वह तत्त्व प्रकाशों का भी प्रकाशक है, उसे अंधेरे से अछूता कहा जाता है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञात- ये सब प्राणियों की बुद्धि में विशेषतः स्थित हैं, वहीं इन्हें समझा जाता है।

ब्रह्म अंधेरा या अंधेरे जैसा नहीं है। लोक में सूर्यादि जो प्रकाश प्रसिद्ध हैं वे प्रकाश जिससे बन पाते हैं वह ब्रह्म है, प्रकाशों को प्रकाश बनाने वाला है अतः उसे ज्योतियों का ज्योति कहते हैं। उसकी प्रकाशरूपता स्थूल चाक्षुष प्रकाश से नहीं वरन् ज्ञानरूप प्रकाश से

है। क्योंकि वह स्वयं ज्ञानरूप है इसीलिये वह ज्ञान से अविज्ञेय है। हमें होने वाले ज्ञान से उसमें कोई अतिशय नहीं आता। ज्ञान से ज्ञात नहीं होता, बस यह कठिनाई है। कैसे नहीं होता? जैसे प्रकाश से प्रकाश प्रकाशित नहीं होता। सूर्य के ऊपर तुम चाहे जितनी बड़ी रोशनी डालो, उससे सूर्य प्रकाशित नहीं होगा। सूर्य प्रकाशित नहीं होता- इतने-मात्र से सूर्य अन्धेरारूप है ऐसी बात नहीं है वह प्रकाशित इसलिए नहीं होता कि कभी अप्रकाशित नहीं है। कोई चीज़ पहले प्रकाश वाली न होवे तब तो उसके ऊपर जब तुम प्रकाश डालो तब वह प्रकाशित होगी। पर जो खुद प्रकाश है वह प्रकाश डालने पर प्रकाशित होगा ऐसी बात है नहीं। सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता, अन्धेरा भी प्रकाशित नहीं होता। अन्धेरा प्रकाशित इसलिए नहीं होता कि उसके ऊपर प्रकाश जाता है तो अंधेरा ख़त्म हो जाता है। सूर्य प्रकाशित इसलिए नहीं होता कि सूर्य प्रकाशरूप है इसलिए तुम्हारे प्रकाश से उसमें कोई अतिशय नहीं आता। इसी प्रकार से वह ज्ञेय जो परमात्मा है वह ज्ञान से ज्ञात नहीं होता क्योंकि ज्ञान-स्वरूप है अतः उसको ज्ञान की अपेक्षा नहीं। इसलिए कहते हैं 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः', जो प्रसिद्ध प्रकाश है सूर्य आदि, उनका प्रकाश जिस ज्ञान से होता है वही वह ज्ञेय है। 'तद् ज्योतिः' अर्थात् वह ज्ञेय लौकिक प्रकाशों का भी प्रकाश है। सूर्य भी उस आत्मा के प्रकाश से ही ज्ञात होता है। सूर्य को बाह्य ज्योति की तो ज़रूरत नहीं है परन्तु, जैसे मनु कहते हैं, जिसकी दोनों आँखें नहीं हैं उसे प्रकाश से क्या प्रयोजन! जो दोनों आँखों से अन्धा है उसको तो सूर्य भी नहीं दीख सकता। इसका मतलब यह नहीं है कि सूर्य में प्रकाश नहीं है। लेकिन सूर्य का प्रकाश उसी के काम आ सकता है जिसमें अपनी आँख है। अतः ज्ञान ही सूर्य के प्रकाश का भी प्रकाश है। अर्थात् सूर्य के प्रकाश को भी प्रकाशित करने वाला, ज्ञात करने वाला, वह आत्मतत्त्व ही है। अन्यथा सूर्य का प्रकाश भी अन्धकार रूप ही रह जाएगा। इसलिए आत्मचैतन्य की जो ज्योति है, ज्ञान ज्योति, उसके द्वारा ही देदीप्यमान होकर आदित्य आदि जो ज्योतियाँ हैं ये दीप्त होती हैं। इसीलिए श्रुतियों ने कहा है 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' परमात्म तेज से इद्ध होकर ही सूर्य तपता है, उसकी ज्योति के बिना सूर्य तप नहीं सकता। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस ज्ञेय परमात्मा के भास से, प्रकाश से, चमक से, ये सूर्य चन्द्र आदि सब भात होते हैं। यहाँ भी भगवान् कहेंगे 'यदादित्यगतं तेजः', सूर्य में जो तेज है उसको मेरा तेज समझो।

ज्योतियों की ज्योति ज्ञान हुआ इसलिए उस ज्योति के लिए 'तमः' अर्थात् अन्धकार अज्ञान हुआ। जिस प्रकार भौतिक प्रकाश के लिए अन्धकार है उसी प्रकार ज्ञानरूपी प्रकाश के लिए अज्ञान है। जैसे तुम प्रकाश से अन्धकार को देख नहीं सकते क्योंकि प्रकाश आते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान कभी समझ में नहीं आता क्योंकि ज्ञान आते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। इसीलिए अज्ञान को अनिर्वचनीय कहते हैं। ज्ञान से अज्ञान समझ में आ जाए- ऐसी बात नहीं है। बहुत-से लोग समझते हैं कि ज्ञान होने पर अज्ञान और उसके कार्य संसार का ज्ञान हो जाता होगा! मोटी भाषा में हम कई बार

कहते हैं कि गाँव में जाओ तो पूछते हैं 'आप बड़े ज्ञानी हैं तो मेरी भैंस खो गई है, कहाँ गई यह बताईए।' सब जानते हैं तो भैंस कहाँ गई यह भी जानते होंगे! भैंस हो या संसार की अन्य कोई चीज़ हो; लोग समझते हैं कि ज्ञान का मतलब अज्ञान के कार्य को समझ लेना है। अज्ञान का कार्य तो अज्ञान में ही है। ज्ञान होने पर वह रह ही नहीं जाता। इसलिए भगवान् ने कहा 'तमसः परमुच्यते'। अज्ञानरूपी जो अन्धकार है उससे यह ज्ञान हमेशा अछूता ही रहता है, वह ज्ञान इसको कभी छू नहीं सकता। जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश को छू नहीं सकता, प्रकाश के आते ही नष्ट हो जाता है, छूएगा कैसे! इसी प्रकार ज्ञान के आते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। अतः अज्ञान के द्वारा वह अस्पृष्ट ही है।

इस प्रकार भगवान् ने 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं' से प्रारंभ कर यहाँ तक बतलाया कि वह अविज्ञेय है। अर्थात् उसकी प्राप्ति करना बड़ा कठिन है। यह सुनने पर अर्जुन ज़रा ढीला पड़ गया, अवसन्न हो गया, कि 'यदि ऐसा है तो फिर हम तो कैसे समझ सकेंगे, समझ ही नहीं सकेंगे'। तब भगवान् उसको दिलासा देने के लिए कहते हैं कि दुःसम्पाद तो है लेकिन हमने तुमको अमानित्वादि जो साधन बतलाए उनकी सहायता से प्राप्त हो जाता है। ज्ञान के जो साधन बतलाए अमानित्वादि उन्हें ज्ञान कहा था। उन साधनों से ज्ञान होने पर ही आत्मलाभ होता है, उन साधनों के बिना नहीं होता। भगवान् का संकेत है कि उन साधनों को अर्जुन अपना सकता है। प्रायः ज्ञानमार्ग में कठिनाई यह होती है कि लोग सोचते हैं- जैसे दूसरे विषय सोचने-मात्र से, विचार करने-मात्र से पता लग जाते हैं, ऐसे परमात्मा का सोचने से ही पता लगता होगा! विचार आदि के द्वारा तब उसका पता लग सकता है जब अमानित्वादि से साधक सम्पन्न हो चुका है। इसलिए भगवान् ने कहा 'ज्ञानं' अर्थात् जो अमानित्वादि साधन कहे हैं, वे सारे इसकी प्राप्ति के साधन हैं। 'ज्ञेयम्', ज्ञेय भी बतला दिया 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' से। और प्रकारों से तो अविज्ञेय है, पर अमानित्वादि के द्वारा ही उसका ज्ञान होता है इसलिए कहा 'ज्ञानगम्यं'। ज्ञान के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसको भी भगवान् ने कह दिया था 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते', उससे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञान का फल मोक्ष ही है। आचार्य ने स्पष्ट किया 'ज्ञेयमेव ज्ञातं सज्ज्ञानफलम् इति ज्ञानगम्यम् उच्यते, ज्ञायमानं तु ज्ञेयम्'- जब तक जाना जा रहा है तब तक जो ज्ञेय है वही जब जान लिया गया तब ज्ञानगम्य कहा जाता है। यही फलावस्था, अमृतत्व है। भगवान् कहते हैं- ये जो तीनों चीज़ें मैंने बतलाई हैं- अमानित्वादि साधन, 'अविभक्तं च भूतेषु' इत्यादि के द्वारा ज्ञेय और 'अमृतमश्नुते' ये ज्ञानगम्य- ये तीनों ही 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' सबके हृदय अर्थात् बुद्धि में स्थित हैं अर्थात् निश्चय रूप ही हैं। इनका रूप निश्चयात्मक ही है। 'यह ऐसा ही है' ऐसा निश्चय होने पर ये 'विष्ठितम्', विशेष करके स्थित हैं। इन तीनों का भान बुद्धि में ही होता है। जब तक इनका बुद्धि में नहीं मन में अनुभव होता है, अर्थात् जब तक ये निश्चयरूप नहीं होते वरन् संकल्प-विकल्परूप में रहते हैं, तब तक ये विशेष करके स्थित नहीं हैं, विष्ठित नहीं हैं। अथवा 'धिष्ठितम्' भी किसी का पाठ है, अतः

अधिष्ठित नहीं हैं। जब ये तीनों निश्चयरूप में स्थित होते हैं तभी इन्हें बुद्धि में विशेष रूप से स्थित कहते हैं। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य- ये सब बुद्धि के अन्दर ही स्थित करने चाहिये। बुद्धि के अन्दर ही ये तीनों प्रकाशित होते हैं तभी सफलता है। इसके द्वारा भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि ये चीज़ें अपने से बाहर प्रतीत होने वाली नहीं हैं। बुद्धि के अन्दर जब ब्रह्माकारवृत्ति स्थिर होगी तभी ब्रह्मज्ञान है। अन्यथा व्यापक परब्रह्म तो है ही, उससे तुम्हें क्या फल मिलेगा! तुम्हें तभी फल होगा जब तुम उसे जानो। वृत्ति से वह जाना नहीं जायेगा यह तो बिलकुल ठीक है लेकिन तुम्हारे हृदय में ज्ञेयरूप से विष्ठित तभी होगा जब तुम अमानित्वादि द्वारा तैयारी करके स्थिर अखण्डाकार वृत्ति बनाओ। इसी के लिये वृत्ति का जो सर्वथा अविषय है उसी को कहना पड़ता है वृत्ति का विषय है। वृत्ति जब उसको विषय करने जाती है तब वृत्ति उससे प्रकाशित हो जाती है, उसको प्रकाशित नहीं कर पाती। इसी बात को बतलाने के लिए कहा था 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'। अनात्म चीज़ों को जानने के लिए बुद्धिवृत्ति और तदारूढ चेतन की अपेक्षा रहती है पर आत्मा को जानने के लिये नहीं। ऐसे समझ लोः किसी भी चीज़ को गरम करने के लिए तुमको अग्नि की अपेक्षा होती है पर आग को गरम करने के लिए तुमको क्या किसी की अपेक्षा रहती है? आग कैसे गरम होगी? आग तो स्वरूप से गरम है! इसी प्रकार वह ज्ञेय तत्त्व तो स्वरूप से ही ज्ञान है इसलिए उसको बुद्धि-वृत्ति की *अपेक्षा* नहीं। परन्तु बुद्धिवृत्ति उसको विषय करने कब जाएगी? जब अमानित्वादि गुण होंगे अन्यथा वह उधर जाएगी ही नहीं। ठीक जिस प्रकार कह सकते हैं कि 'लकड़ी गीली होगी तो नहीं जलेगी। लकड़ी को सूखी करने से जलेगी, उसमें अग्नि प्रकट होगी।' अग्नि तो लकड़ी में मौजूद ही है, सूखने से अग्नि *आ* जाएगी ऐसी बात तो नहीं है, लेकिन लकड़ी सूखे बिना अग्नि प्रकट नहीं होगी। इसी प्रकार से ज्ञान विद्यमान तो बुद्धि में है ही, क्योंकि न होता तो बुद्धि कुछ भी नहीं जान सकती थी, ज्ञानरूप से बुद्धि में मौजूद होते हुए भी अमानित्वादि के द्वारा जब तक बुद्धि सूख न जाए, तैयार न हो जाये, तब तक प्रकट नहीं होता। इसलिए भगवान् ने कह दिया 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'। सभी प्राणियों के हृदय में ये तीनों स्थित हैं। ज्ञान ऐसी चीज़ नहीं है कि जो केवल मनुष्य के हृदय में ही रहती है! इसलिए ज्ञान के अन्दर तो सबका स्वाभाविक अधिकार है ही। परन्तु प्रकट होगा, जैसा बतलाया, अमानित्वादि गुणों से।।१७।।

भगवान् ने जो प्रतिज्ञा की थी उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं :-

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान व ज्ञेय संक्षेप में बता दिये। मेरा भक्त यह सम्यग् दर्शन पाकर परमात्मरूपता पा जाता है।

'इति' अर्थात् इस प्रकार से क्षेत्र को मैंने बतलायाः महाभूतों को बतलाया,

ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों को बतलाया, अन्तःकरण को बतलाया और अन्तःकरण के धर्म धृति पर्यन्त बताए। यह सारा क्षेत्र है। महाभूत, उनके स्थूल होकर शरीर आदि परिणाम, सूक्ष्म महाभूतों के इन्द्रिय-अन्तःकरण-प्राणादि परिणाम और फिर अन्तःकरण में होने वाली भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ; यह सारा क्षेत्र है। 'तथा ज्ञानं' जैसे क्षेत्र बतलाया वैसे ही अमानित्व अदम्भित्वादि ज्ञान के साधन बतलाए। अमानित्वादि का समापन कहा 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' से। तत्त्वज्ञान का जो अर्थ है, प्रयोजन है अर्थात् मोक्ष, उसकी प्राप्ति के लिये, उसके साक्षात्कार के लिये साधना में तल्लीनता के उद्देश्य से मोक्षस्वरूप का विचार भी ज्ञान के अन्तर्गत कर्तव्य बताया। 'ज्ञेयं', ज्ञेय भी बतलाया 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' से लेकर के 'तमसः परमुच्यते' तक। 'समासतः उक्तं', ये सब संक्षेप से बतलाया, बहुत थोड़े में बतला दिया है। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान के साधन और ज्ञेय तत्त्व- ये सारा ही वेदार्थ हैं, वेद का तात्पर्य यही बताने में है। बाकि जो लम्बा-चौड़ा वेद है वह इन्हीं चीज़ों को समझने के लिए है। वेदार्थ तो बस इतना ही है- क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान, ज्ञेय। इतने में ही सारा वेदार्थ आ गया। इन चीज़ों को समझ लेना ही वेदार्थ को जान लेना है। अन्यथा चाहे जितने वेद के शब्दों को जानो, उससे वास्तविक लाभ नहीं है। जैसा यास्क कहते हैं, जैसे गधा चन्दन ढोता है तो उसे वज़न तो पता चलता है परन्तु चन्दन की कीमत का पता नहीं। इसी प्रकार इन चीज़ों को बिना जाने हुए वेद की शब्दराशि को याद रखने वाला यह तो जानता है कि 'हमने इतना परिश्रम किया' पर उस परिश्रम के फल के बारे में कुछ नहीं जानता। जो वेद में कहा वही गीता में कहा, इसलिए यही, इतना ही बताने में गीता का तात्पर्य है।

इसको ठीक-ठीक प्रकार से साक्षात्कार करने के लिए, ठीक-ठीक प्रकार से समझने के लिए कौन व्यक्ति अधिकारी है अर्थात् कौन इसको ठीक से समझ सकता है? 'मद्भक्तः'। जो मुझ ईश्वर सर्वज्ञ परम गुरु के अन्दर ही समर्पित-सर्वात्म-भाव है। विश्वरूप के द्वारा ईश्वररूप प्रकट कर ही दिया था और इन सारे तत्त्वों का उपदेश देने वाला होने से मैं ही परम गुरु हूँ; 'परम' इसलिये कि इससे परे, इससे अधिक महत्त्वका कोई विषय उपदेश के योग्य, किसी गुरु द्वारा बताने योग्य नहीं है। मैं जो ईश्वर परम गुरु, उस मुझ में भक्ति वाला अधिकारी है। भक्त अर्थात् समर्पित-सर्वात्म-भाव - मेरे में ही जिसने अपने सारे आत्मभावों को समर्पित कर दिया है। आत्मभाव अर्थात् जिस-जिस को तुम अपना 'मैं स्वरूप' समझते हो- शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण- इन सारों को, यहाँ तक कि अहंकार को भी मुझे ही अर्पित करना भक्ति है। इस प्रकार का भक्त जानता है कि जिसको देख रहा हूँ वह भगवान् ही है, जिसको सुन रहा हूँ वह भी वही है, जिसको छू रहा हूँ वह भी वही है। इस प्रकार इन्द्रियों से, मन से, जिस चीज़ को भी जानता है, और कर्मेन्द्रियों से जो भी करता है, वह सब एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही है, वही एकमात्र अधिष्ठान है जो इन सब रूपों में दीख रहा है, यह उसका बोध रहता है। भाष्यकार कहते हैं 'एवं ग्रहाविष्टबुद्धिर्मद्भक्तः' इस प्रकार का जो ग्रहण है, समझ है, ज्ञान है कि 'जो कुछ भी मैं छूता हूँ, चखता हूँ चलता हूँ, खाता हूँ, सब एकमात्र वह अधिष्ठान सच्चिदानन्दरूप परमात्मा परम गुरु

ही है' वह जिसमें प्रतिष्ठित हो गया वह भक्त ही मोक्षाधिकारी है। जिसके निश्चय में यह आविष्ट हो गया है, प्रविष्ट हो गया है, हमेशा जिसे ऐसा ही लगता है- वह भक्त है। भक्त का मतलब यहाँ घण्टी बजाने वाला नहीं है! भगवान् फल सूचित करते हैं कि जो ऐसा मेरा भक्त है वह 'एतद्' जो यह सम्यक् दर्शन बतलाया, इसे 'विज्ञाय' अर्थात् इसका उसको साक्षात्कार हो जाता है। अधिष्ठान तत्त्व के प्रति जो समर्पितसर्वात्मभाव है उसको ही अधिष्ठान-साक्षात्कार होता है। जो अधिष्ठान से कुछ भी भिन्नता रखता है उसको कभी अधिष्ठान का साक्षात्कार नहीं होता। वह 'मद्भावाय' मद्भाव के लिए उपपन्न हो जाता है, योग्य हो जाता है।

मद्भाव मायने मेरा जो भाव अर्थात् परम गुरु सर्वज्ञ का ही भाव, उसकी ही वास्तविकता; उस भाव के लिए उपपन्न हो जाता है, योग्य हो जाता है। मद्भाव की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति है। ईश्वर ही गुरु-रूप में है। गुरु और ईश्वर के अन्दर जैसा अभेद है वैसा ही साधक को अपने में प्रकट करना है कि मैं भी अपने गुरु से, ईश्वर से अभिन्न हूँ, मेरी भी उससे भिन्न कोई सत्ता नहीं है। ईश्वर, गुरु और साधक- ये तीन मूर्तियाँ हैं एक परतत्त्वकी ही। जैसे एक विष्णु की मूर्ति श्री रंगम में सोई हुई है, एक विष्णु की मूर्ति तिरुपति में खड़ी हुई है, एक विष्णु की मूर्ति बदरीनाथ में बैठी हुई है, लेकिन इन तीन रूपों में दीखने वाले विष्णु एक ही हैं, तीन नहीं हैं। इसी प्रकार से नियमनादि करने वाला ईश्वर, उपदेश देने वाला गुरु और उस उपदेश के साथ तादात्म्य भाव प्राप्त करने वाला आत्मा- ये तीन नहीं हैं। जैसे स्वप्न में तुम्हारा मन ही सड़क बन जाता है, तुम्हारा मन ही उस पर चलने वाला रथ बन जाता है, तुम्हारा मन ही उसे चलाने वाला सारथि बन जाता है; इन सब रूपों में मन बनता है क्योंकि तुम वहाँ पर अधिष्ठान रूप से मौजूद हो। इसी प्रकार से परमेश्वर की जो शक्ति है वही ईश्वर रूप में, गुरुरूप में और उपदेश का श्रवण करने वाले रूप में अर्थात् शिष्यरूप में प्रकट होती है क्योंकि तीनों अधिष्ठान सच्चिदानन्द ही प्रतीत होते हैं। जैसे रस्सी के अन्दर दीखने वाले साँप, जलधारा, दण्ड अलग-अलग नहीं हैं, एक ही अज्ञान के कारण अधिष्ठान में प्रतीत हो रहे हैं, इसी प्रकार जो अधिष्ठान स्वरूप है वही मद्भाव, मेरा भाव है, मेरी वास्तविकता है। मेरा भक्त उसको 'उपपद्यते', प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भगवान् ने जो क्षेत्रादि बतलाना शुरू किया था उसका यहाँ आकर उपसंहार कर दिया और उपसंहार के बहाने सारे वेदार्थ को कह दिया।।१८।।

सातवें अध्याय में भगवान् ने अपनी दो प्रकृतियाँ बतलाईं 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयम्' और 'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूतां' (७.४-५) अपरा प्रकृति और परा प्रकृति। तेरहवें अध्याय के प्रारम्भ में अपरा प्रकृति को क्षेत्र कहा है और परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ कहा है। वहाँ जिसको परा और अपरा प्रकृति कहा है उसी को यहाँ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा है। वहाँ बतलाया था 'एतद्योनीनि भूतानि', ये जो मैंने दो प्रकृतियाँ बताईं ये ही दो योनियाँ हैं जिनसे सारा जड-चेतन जगत् प्रकट हुआ है अर्थात् इन दो को छोड़ कर, परमेश्वर की परा प्रकृति और अपरा प्रकृति को छोड़ कर, और यहाँ कुछ भी नहीं है, उसी

से यह सब प्रकट हुआ है। वहाँ जो प्रतिज्ञा की थी कि प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सारे संार का कारण है, उसी को अब बतलाते हैं। वहाँ केवल प्रतिज्ञा की थी कि इन दो से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ, यहाँ बताते हैं कि कैसे उत्पन्न हुआ। प्रकृति-पुरुष का विचार इस अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ शब्दों से हुआ है अतः प्रकृति-पुरुष के संदर्भ में पहले बची हुई बात को कहने का यही उत्तम स्थल है। पहले अपरा प्रकृति के बारे में फिर परा अर्थात् पुरुष के बारे में बताना प्रारम्भ करते हैं-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।१६।।

(अपरा) प्रकृति और पुरुष, दोनों का कोई कारण नहीं है यह समझ लो। विकारों और गुणों को प्रकृति का परिणाम जानो।

प्रकृति अर्थात् अपरा प्रकृति और पुरुष अर्थात् परा प्रकृति 'उभौ अपि' - ये दोनों ही अनादि हैं ऐसा निश्चय करो। दोनों ही नित्य हैं। कारण बड़ा सीधा है। देवदत्त गोरा है; कब से गोरा है? जब से पैदा हुआ। अगर देवदत्त बीस साल का है तो उसका गोरापना भी बीस साल का है। इसी प्रकार चूंकि दोनों परमेश्वर की प्रकृतियाँ हैं, इसलिए जैसे परमेश्वर नित्य है वैसे ही दोनों प्रकृतियाँ भी नित्य ही हैं। यदि ये दोनों प्रकृतियाँ नहीं होवें तो ईश्वर ही सिद्ध नहीं होगा! ईश्वर की ईश्वरता क्या है? परा प्रकृति और अपरा प्रकृति- ये ही ईश्वरता है। इन दो प्रकृतियों के द्वारा ही परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति भी करेगा, स्थिति भी करेगा, लय भी करेगा। परमेश्वर नित्य इसलिए परमेश्वर की प्रकृतियाँ नित्य, इसलिए ये प्रकृतियाँ संसार का कारण बनती हैं।

कुछ लोग कहते हैं 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि में परमेश्वर को जगत् का कारण बताया। अगर ये दो प्रकृतियाँ संसार का कारण हैं तो फिर परमेश्वर संसार का कारण कैसे? ईश्वर की कारणता तभी बन सकती है जब दोनों प्रकृतियों को भी वह पैदा करने वाला होवे। इसलिये 'जो आदिवाले नहीं हैं' ऐसा बहुव्रीहि समास नहीं मानकर यहाँ तत्पुरुष समास मानना चाहिये कि ये दोनों आदि अर्थात् कारण नहीं हैं। ये आदि नहीं हैं अर्थात् अन्तिम कारण नहीं हैं, नित्य कारण नहीं हैं, बीच के कारण भले ही हैं। कपड़े के प्रति कारण कौन है? धागा है। पर धागा *आदि* कारण नहीं है क्योंकि धागा खुद रुई से आया है। रुई भी आदि कारण नहीं है क्योंकि रुई पौधे से आई है। जैसे धागा कारण है पर आदि नहीं है अर्थात् अन्तिम कारण, नित्य कारण नहीं है इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष जगत् के प्रति कारण तो हैं परन्तु आदि कारण नहीं हैं। ऐसा कुछ लोग कहते हैं। उनका भाव है कि परमेश्वर की सृष्टि-स्थिति-लय-कर्तृता बनाए रखने के लिए पुरुष और प्रकृति को अन्तिम कारण नहीं कह सकते।

परन्तु ऐसी व्याख्या सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है। विचार करोः ईश्वर अर्थात् शासन करने

वाला। जब कुछ होगा तभी उस पर शासन करेगा! जैसे कोई कहे ‘मेरे घर में मेरा शासन है’, उससे पूछो ‘तुम्हारे घर में लोग कितने हैं?’ तो बताये ‘ब्याह नहीं किया, बच्चे नहीं है, नौकर रखे नहीं है।’ जब घर में कोई है ही नहीं तो तुम शासक काहे के रहे! इसी प्रकार से यदि प्रकृति और पुरुष नहीं हैं तो ईश्वर का ईश्वरत्व ही सिद्ध नहीं होता। प्रकृति और पुरुष का शासन करता है इसलिए ईश्वर है। प्रकृति और पुरुष के बिना तो उसका ईश्वरपना ही सिद्ध नहीं होगा। इतना ही नहीं, यदि परमेश्वर बिना किसी प्रकृति पुरुषरूप उपाधि के स्वतन्त्र कारण है, तो उसके करने में निमित्त क्या होगा? सृष्टि किस निमित्त से करेगा? अगर कहो कि वह सर्वथा स्वतन्त्र है, बिना निमित्त के ही करता है, तो कभी किसी का मोक्ष नहीं होगा! क्योंकि किसी का मोक्ष होने के बाद भी ईश्वर तो स्वतन्त्र है, फिर सृष्टि कर देगा। इसलिए अगर उस प्रकार का स्वातन्त्र्य परमेश्वर का मानोगे तो निर्निमित्त सृष्टि होने से मोक्ष ही सम्भव नहीं होगा। जब तो परमेश्वर की परा प्रकृति व अपरा प्रकृति अनादि हैं तब परा प्रकृति को पूर्व कर्मों के फल भोगने हैं, फल देने वाली अपरा प्रकृति भी है। अतः परमेश्वर कर्मों के निमित्त से सृष्टि कर लेगा। कर्मफलों का भोग होवे इसलिए सृष्टि करेगा। परन्तु यदि इस निमित्त के बिना ही सृष्टि मानोगे तो मोक्ष असम्भव हो जाएगा। आर्य समाजी दयानन्द वगैरह मोक्ष को नहीं मानते, पर मोक्ष को नहीं मानोगे तो उपनिषत् शास्त्र व्यर्थ हैं, शास्त्र का क्या प्रयोजन है! जिसको मोक्ष नहीं चाहिए वह शास्त्र काहे को मानेगा? संसार के अन्दर अधिकतर लोग ऐसे ही हैं जिनके लिए शास्त्र व्यर्थ है क्योंकि शास्त्र जिस चीज़ को देना चाहता है वह चीज़ उनको चाहिए ही नहीं। यदि मोक्ष असम्भव होगा तो शास्त्र भी व्यर्थ हो जाएगा क्योंकि बन्ध और मोक्ष का सर्वथा अभाव हो जाएगा। जैसा है वैसा ही रहना है। किसी को बद्ध भी कह सकते हो जब मुक्ति की सम्भावना होवे। जेल में बन्द होते हो तो तुमको कहते हैं ‘तुम बन्दी बने’। जेल से छूट गए तब जेल के नियम नहीं लगेंगे इसीलिए उसको जेल से मोक्ष कहते हो। यदि निर्निमित्त सृष्टि मानोगे तो मोक्ष नहीं होगा, तथा मोक्ष नहीं होने से वर्तमान स्थिति बंधन नहीं रहेगी जिससे शास्त्र व्यर्थ हो जाएगा। इससे विपरीत, यदि ईश्वर की ये दोनों प्रकृतियाँ नित्य मानते हो, अनादि का सीधा अर्थ करते हो कि ये हमेशा से हैं, तो फिर सृष्टि निर्निमित्त नहीं रहेगी, इसलिए मोक्ष की भी सम्भावना हो जाएगी और उपनिषत् शास्त्र भी मोक्ष का रास्ता बतलाने वाला हो जाएगा। जो-जो शास्त्रोक्त ज्ञान को प्राप्त करेगा वह मुक्त होगा, जिस-जिस ने ज्ञान प्राप्त नहीं किया वह बद्ध रहेगा। इस तरह सारी व्यवस्थाएँ बन जाती हैं। इसलिए ‘विद्धयनादी उभावपि’ इसका एक यही अर्थ सम्भव है कि ये अनादि हैं, कारणरहित हैं। नित्य ईश्वर की ये दोनों उपाधियाँ नित्य हैं। नित्य अर्थात् कारणरहित, इनकी उत्पत्ति नहीं है, ज्ञान से बाध होगा पर न इनका प्रारंभ है और बाध से अतिरिक्त इनका समापन भी नहीं है।

‘प्रकृतिसम्भवान्’ प्रकृति से होने वाले विकार और गुणों को जानो। अगले श्लोक में भगवान् बतलाएँगे कि अहंकारात्मिका वृत्ति से लेकर अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ,

पंचीकृत भूतों से बना शरीर- ये सारे अपरा प्रकृति के विकार हैं। इनमें ही परिवर्तन होता है। और इनके अन्दर जो सुख, दुःख और मोह- ये सारे अनुभवों के आकार होते हैं, प्रत्ययों के आकार होते हैं ये गुण हैं। सुख होता है तो सत्त्वगुण है, दुःख होता है तो रजोगुण है, मोह होता है तो तमोगुण है। सारे जो अहंकार से लेकर के शरीर पर्यन्त विकार, इनमें होने वाले सुख, दुःख और मोह रूप जो गुण हैं, इन सबको 'प्रकृतिसम्भवान् विद्धि'- प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो। अपरा और परा जो दो प्रकृतियाँ बतलाईं- प्रकृति और पुरुष, उनके द्वारा ही ये सब हुए हैं। परमेश्वर की जो विकार करने वाली शक्ति है, परिवर्तन के आकार की शक्ति है, वह सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, तीनों से संवलित है, त्रिगुणात्मिका है, उसी को माया कहते हैं। उससे ही सम्भव अर्थात् उत्पन्न होते हैं विकार। इसलिए इन्हें प्रकृतिसम्भव कहा। प्रकृति के, माया के जो तीन गुण उनसे ये सारे विकार पैदा होते हैं। रजोगुण से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ हो जाएँगी सत्त्वगुण से अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ हो जाएँगी तमोगुण से देह हो जाएगा। इन सारे विकारों की जो कारणशक्ति है, विकार करने वाली, वह प्रकृतिरूप माया शक्ति है। उक्त सब विकार तथा सुख-दुःख-मोह रूप गुण इन दोनों को प्रकृतिजन्य समझना है। सुख-दुःख-मोह जिन्हें चिदाभास प्रकाशित करता है उन्हें यहाँ गुण कहा है।।१९।।

प्रकृति से होने वाले विकार और गुण कौन से हैं यह बड़े संक्षेप में बतलाते हैं-

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२०।।

(महाभूत, विषय और स्थूल शरीर - इन) कार्यों के तथा (मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियाँ और तीनों गुण - इन) करणों के उत्पादकरूप से इनका कारण प्रकृति कही जाती है और सुख-दुःखरूप भोग्यों के भोक्तारूप से इन्हीं का कारण पुरुष कहा जाता है।

कार्य अर्थात् शरीर। पंचमहाभूतों का जो अन्तिम परिणाम हमारे सामने है वह अपना शरीर ही है। यही कार्य है। करण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार ये सारे करण हैं। करण अर्थात् साधन, जिनके द्वारा ज्ञान या क्रिया करते हैं। अहंकार के द्वारा हम प्रवर्तक बनते हैं, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानना करते हैं, कर्मेन्द्रियों के द्वारा करना करते हैं। चूंकि ये हमारे औजार हैं, साधन हैं, इसलिए इनको करण कहा। कार्य और करणों का जो कर्तृत्त्व अर्थात् उत्पादकत्व, उत्पन्न करना, उसमें हेतु अर्थात् कारण प्रकृति है, प्रकृति से ही ये सब पैदा होते हैं। शरीर आदि जितने हैं सारे भगवान् की इस अपरा प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, कार्यकरणकर्तृत्व के अन्दर प्रकृति की संसार-कारणता स्पष्ट हो जाती है। संसार क्या है? शरीर के अन्दर जो तुम्हारी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण हैं उनके द्वारा करना- बस यही तो संसार है। और इन सबका कारण प्रकृति है। कान है तो सुनते हो, कान नहीं होगा तो नहीं सुनोगे। हाथ है तो पकड़ते हो, हाथ नहीं होगा तो नहीं

पकड़ोगे। इसलिए कार्यकरणकर्तृत्व में प्रकृति हेतु कही जाती है। शरीर को आरम्भ करने वाले पंचमहाभूत विषयरूप भी हैं। तुम भूतों को जानते भी हो और उनके साथ आत्म-भाव करके व्यवहार भी करते हो। हाथ उठाते हो तो खाली इन्द्रिय तो नहीं उठाते, इन्द्रिय के द्वारा स्थूल हाथ को उठाते हो और उस स्थूल को जानते हो। शरीर को आरम्भ करने वाले जो पंच महाभूत, वे ही विषय भी हैं। इसलिये जब कभी हम लोग शरीर की बात करते हैं तब शरीर से अपने-आप सारे विषयों का संग्रह हो जाता है। इसी प्रकार, अन्तःकरण के आश्रय में ही सुख-दुःख-मोह रहेंगे। अंतःकरण कहने से इनका भी संग्रह हो गया। यहाँ भगवान् ने सिर्फ करण कहा अतः बाह्य इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सबका कथन मानना पड़ेगा। सुख-दुःख-मोह अन्तःकरण में तो रहते ही हैं, बाह्य करणों में भी इन्हें देखा जाता है। अन्तःकरणों के आश्रय में रहने वाले जो सुख-दुःख-मोह हैं उनको भी करने में प्रकृति ही हेतु है। सत्त्वगुण बन कर प्रकृति ही अन्तःकरण में सुखात्मक वृत्ति बनाएगी, रजोगुण बनकर दुःखात्मक वृत्ति बनाएगी, तमोगुण बनकर मोहात्मक वृत्ति बनाएगी। इस तरह से संसार का कारण भगवान् ने प्रकृति अर्थात् अपरा प्रकृति को बतला दिया।

'कार्यकारणकर्तृत्वे' भी पाठ मिलता है। जो कुछ भी कार्य और कारण, विकार और विकारी है उसे करने में प्रकृति हेतु बनती है- यह उस पाठ में अर्थ है जो तात्पर्यतः भिन्न नहीं है। 'पुरुषः हेतुरुच्यते'; सब कुछ अपरा प्रकृति से हो रहा है तो भगवान् की परा प्रकृति की क्या ज़रूरत है? कार्यकरणकर्तृत्व में सब आ ही गया, तो परा प्रकृति अर्थात् जीव क्यों हैं? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं 'पुरुषः हेतुरुच्यते'। पुरुष भी कारण है अर्थात् आरम्भ करता है। कैसे? 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'। जीव भोक्तापने में कारण है। भोग किसका? सुख-दुःख का। इन्हीं का भोग होता है। भोक्तृत्व अर्थात् इनकी उपलब्धि होना, इनका ज्ञान होना। सुखाकर वृत्ति तो अपरा प्रकृति बनेगी पर 'यह सुख है' अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' यह पुरुष जानेगा। जानने का जो काम है, भोक्तापने का जो काम है, यह अपरा प्रकृति नहीं कर सकती। यदि सुख-दुःखों की भोक्तृता न होवे तो संसार चल नहीं सकता। संसार के चलने में कारण यही है- भोक्तापना। इसलिए पुरुष का ही संसार कहा जाता है। पंचमहाभूतों *से* सारा संसार बना लेकिन संसार पंचमहाभूतों *का* नहीं है। संसार तो जीव का है क्योंकि जब वह भोग करता है तभी संसार होता है। इसलिए भगवान् ने कहा 'सुखदुःखानां भोक्तृत्वे'। सुख-दुःख को भगवान् ने मुखतः कहा लेकिन सुख-दुःख की सारी परम्परा समझ लेना; सुख की वृत्ति का कारण जो रसगुल्ला, वह रसगुल्ला भी तब खाया गया, चखा गया जब पुरुष है। रसगुल्ला बनाने के लिए जो तुमने गाय का दूध खरीदा, छैने के पानी से उसे फाड़ा, उन सब के भी भोक्ता तुम ही हुए। यद्यपि सुख-दुःख अन्तिम परिणाम हैं तथापि सारी जो कारण-परम्परा है उस सबका भोक्तापना तुम्हारे में ही है।

कार्य-करण-कर्तृत्व और सुख-दुःख-भोक्तृत्व - ये हो गए प्रकृति और पुरुष। कार्य-करण-कर्ता होने से प्रकृति और सुख-दुःख का भोग करने से पुरुष संसारहेतु हैं। ये संसार

का कारण कैसे हैं? कार्य-करणरूप से हेतु और सुख-दुःखरूप से फल हो जाते हैं। हमें रसगुल्ले का सुख हुआ तो जीभ हेतु हो गई और सुख फल हो गया। सुख का कारण जीभ के साथ रसगुल्ला, उसका कारण गोली बना कर उबालना। इस प्रकार से कार्य-करण और सुख-दुःख रूप से, हेतु और फल रूप से ये एक-दूसरे के कारण होते चले जाते हैं। प्रकृति का यदि परिणाम न हो और पुरुष चेतन न हो तो संसार की उपलब्धि नहीं होगी। दोनों मिल कर ही कारण होते हैं। अगर प्रकृति परिणत न होवे, कार्यकरणकर्तृत्व न होवे, तो केवल उपलब्धिरूप चेतन क्या करेगा! कुछ नहीं करेगा। ऐसे ही सुख-दुःख गुणों का भोग न होवे तो प्रकृति क्या करेगी! कुछ नहीं करेगी। संसार के लिए दोनों ही एक जैसे ज़रूरी हैं। जब कार्य-करणरूप से और सुख-दुःखात्मक फलरूप से परिणत होकर प्रकृति भोग्य हो जाती है और पुरुष उसका भोक्ता हो जाता है तब संसार है।

कार्यकरणकर्तृत्व और भोक्तृत्व का आपस में सम्बन्ध क्या है? अविद्यारूप सम्बन्ध है, और कुछ नहीं। दोनों का सम्बन्ध अविद्या का खेल है, अज्ञान का खेल है। अविद्या से आत्मा प्रकृति को अपने में मानता है और अपने धर्मों को उसमें मानता है। शरीर इन्द्रियादि को चेतन मानता है और अपने को शरीर रूप समझता है। यह जो अज्ञान है, यही सम्बन्ध है, उसी से ये सारा संसार होता है। अगर अविद्यारूप सम्बन्ध न होवे तो प्रकृति भी क्यों परिणाम करेगी, विकार करेगी, और भोक्ता भी क्यों उपलब्धि करेगा, उनका ज्ञान करेगा! अविद्या के कारण ही यह सब हो रहा है। अतः भगवान् ने कहा कि ये ही दोनों संसार के प्रति कारण हैं- कर्तृत्व और भोक्तृत्व। कर्तृत्व रहेगा प्रधानरूप से अपरा प्रकृति में, भोक्तृत्व रहेगा प्रधान रूप से, पुरुष के अन्दर। कर्तृत्व एक में है, भोक्तृत्व दूसरे में है, दोनों अलग होने पर भी एक हो जाते हैं अविद्या से, अज्ञान से। जैसे मोटी भाषा में समझ सकते होः जो तुमको रस्सी में साँप दीखा, वह साँप कहाँ पर है? यही कहोगे 'हमारे मन में है।' और तो साँप कहाँ है! मन में है। मन में जो साँप है उसका रस्सी से क्या सम्बन्ध? मन के प्रत्यय का या मन की स्मृति का कोई सम्बन्ध उससे बनता तो है नहीं, पर अविद्या के सम्बन्ध के कारण मन का साँप रस्सी में दीख जाता है। यह मोटा दृष्टान्त है। दोनों का बिना सम्बन्ध हुए रस्सी के अज्ञान से ऐसा हो जाता है। इसी प्रकार भोक्तापना परा प्रकृति में, कर्तापना अपरा प्रकृति में, दोनों का कोई सम्बन्ध बनता नहीं; और बिना सम्बन्ध बने हुए, अर्थात् कर्तृत्व और भोक्तृत्व आए बिना, संसार की प्रवृत्ति नहीं। जब तक कार्यकरणकर्तृत्व में भोक्तृत्व का अध्यास न हो जाए और जब तक भोक्ता में कर्तृत्व का अध्यास न हो जाए तब तक यह संसार चलेगा नहीं; और यह होने के लिए सिवाय अविद्या के और कोई कारण नहीं है। क्योंकि संसार का मतलब क्या? सुख-दुःख का भोग - यही संसार है। सुख दुःख की भोक्तृता होना- यही संसारीपना है। जीव संसारी है मायने क्या? सुख-दुःख का भोग करता है, बस, यही तो संसार है। भोग करने के लिए इसको कुछ चाहिए जिसका भोग करे सम्बन्ध उससे हो नहीं सकता और सम्बन्ध के बिना भोग कैसे करे! भोग तभी हो जब भोग्य

के साथ सम्बन्ध होवे। भोग्य के साथ सम्बन्ध बनता नहीं। केवल अज्ञान ही इनका संबंध कहा जा सकता है। इस प्रकार से भगवान् ने सारे संसार की कारणता बड़े संक्षेप में कार्यकरणकर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दो के द्वारा बता दी, सारी सृष्टि का चक्र कैसे चलता है इसे स्पष्ट कर दिया। इसी को पंचदशीकार ने (पंचद. १.२६) कहा है- जीव कर्म क्यों करता है? भोग के लिए। सारी अपरा प्रकृति क्यों चलती है? भोग के लिए। और भोग क्यों करता है? भोग करने से संस्कार बनकर फिर कर्म करने के लिए! कर्म करता है भोग के लिए, भोग करता है संस्कारों के द्वारा फिर कर्म करने के लिए। बस, यह चक्र चलता रहता है। कर्म करोगे, फल भोगोगे, फिर कर्म करोगे, फिर फल भोगोगे - इस प्रकार भगवान् ने यह सृष्टि चक्र बतला दिया।।२०।।

शरीर और करणों को बनाने वाली अपरा प्रकृति है पर इनके चलने का जो कार्य होता है वह अपरा प्रकृति और परा प्रकृति का आविद्यिक सम्बन्ध होने पर ही होता है। अपरा प्रकृति तो केवल स्थूल महाभूत, शरीर, और सूक्ष्म महाभूत तथा भोग के साधन- इनको बनाती है। उसके बाद जो शरीर इत्यादि चलेगा वह तो आध्यासिक सम्बन्ध होकर ही प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार, सुख, दुःख और मोह के भोग में कारण पुरुष है अर्थात् परा प्रकृति है। सुख, दुःख और मोह का भोग ही संसार कहा जाता है। संसार का मतलब सुख, दुःख मोह का भोग। क्योंकि हम सुख-दुःख-मोह में पराधीन हैं इसलिये संसार को बन्धन कहा जाता है। ज्ञान होने पर सुख-दुःख-भोग सम्भव नहीं रहता क्योंकि जिस आध्यासिक सम्बन्ध से भोग होता है वह ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, वह मुक्ति कही जाती है। इस प्रकार सुख-दुःख का भोक्तापना ही संसारीपना है अर्थात् 'मैं इनका भोक्ता हूँ' - इसी अभिमान का नाम है संसारी बन जाना। यह संसारिता किस निमित्त से है- इसको स्पष्ट करेंगे। अब तक तो बतलाया कि अपरा प्रकृति क्या बनाती है और परा प्रकृति किसमें निमित्त है। बनने के बाद यह सब चलता कैसे है, इसको बतलाते हैं -

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

क्योंकि प्रकृति में 'यही मैं हूँ' इस तरह स्थित है इसलिये पुरुष प्रकृति से उत्पन्न सुखादि गुण भोगता है। अच्छी-बुरी योनियों में जन्म के प्रति कारण है पुरुष का गुणों में आत्मभाव।

प्रकृति अर्थात् अविद्या जो कार्य-करण रूपों में परिणत है। अविद्या के कारण स्थूल शरीर और उसके अन्दर इन्द्रियादि सूक्ष्म शरीर- ये दोनों कार्य व करण अविद्या के ही परिणाम हैं। जिस प्रकार रस्सी के अन्दर जो साँप है वह रस्सी के अज्ञान का ही परिणाम है, अन्धकार से रस्सी नहीं दीखी अतः वहाँ पर सर्पादि की प्रतीति है। इसी प्रकार से परा प्रकृति और अपरा प्रकृति दोनों जिस ईश्वर की हैं उस ईश्वर का साक्षात्कार न होने से ये सारे कार्य-करण हैं। अतः प्रकृतिस्थ का मतलब है अविद्या के जो ये परिणाम हैं- कार्य

और करण, इन्हें अपना स्वरूप समझ लेना। शरीर और मन हैं तो प्रकृति के कार्य, लेकिन पुरुष इनमें आत्मभाव को प्राप्त कर गया है- 'यह मैं हूँ'- 'शरीर मैं हूँ, मन मैं हूँ' - ऐसा समझे हुए है। मन से सारा सूक्ष्म शरीर समझ लेना। प्रकृति को अपना स्वरूप समझ लिया है यही प्रकृति में स्थित होना है। अतः 'प्रकृतिजान्गुणान्', प्रकृति के द्वारा उत्पन्न जो सुख-दुःख-मोह हैं उन्हें भोगता है। सुख-दुःख- मोहाकारों से प्रकृति के सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण अभिव्यक्त होते हैं, स्वयं को प्रकृति के साथ एक समझने से पुरुष प्रकृति के सुख-दुःख-मोह रूप गुणों को भी अपना आत्मा समझता है, इसलिए 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मोही', ऐसा अनुभव करता है। शरीर और मन को जब मैं मानेगा तब शरीर और मन के अन्दर उत्पन्न होने वालों को भी अपना मानेगा। सत्त्वगुण की अधिकता पर सुख, रजोगुण की अधिकता पर दुःख, तमोगुण की अधिकता पर मोह पैदा होता है और तब पुरुष खुद को सुखी, दुःखी, मोही समझता है। बस इसी का नाम भोग है। प्रकृति के अन्दर आत्मभाव हो जाना- यही भोग है। प्रकृतिस्थ होने पर ही पुरुष भोग करेगा। सुख-दुःख और मोह रूपी गुण अविद्या के अन्दर हैं पर उनके साथ आत्मबुद्धि होकर 'मैं सुखी, दुःखी, मोही' इसके प्रकार से पुरुष को उनसे संग हो जाता है, 'सुखादि मेरे हैं' ऐसा अभिमान हो जाता है, यह जो संग हो जाना है वही संसार का प्रधान कारण है। पुरुष का सुखी, दुःखी, मोही रूप से अपने को अनुभव करना - यह उन गुणों के साथ संग है। संग है अर्थात् आत्मभाव है, उनके साथ एक हो जाना है। यह सुख, यह दुःख, यह मोह - ऐसा इनका अनुभव नहीं होता है, 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मोही' ऐसा अनुभव होता है। यही संसार का प्रधान कारण है।

भिन्न-भिन्न शरीरादि संघातों की जो प्राप्ति है वही संसरण है अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना। इसका कारण यह संग ही है। श्रुति कहती है कि 'यह जैसा संकल्प करता है वैसा ही हो जाता है' (बृ. ४.४.५)। संकल्प अर्थात् सुख-दुःख- मोह के साथ संग, आत्मभाव; उसके कारण ही आगे जन्म होता है जब हमको जन्म मिलता है तब कौन-सी योनि मिलती है इसमें गुणसंग प्रधान है और वहाँ जाकर हम क्या सुख-दुःख भोगेंगे - इसके अन्दर कर्म प्रधान हैं। जो कर्म तुमने किया है उसके अनुसार तुमको वहाँ सुख-दुःख-मोह का भोग होगा और उस योनि की प्राप्ति कराने वाली चीज़ गुणसंग है। इसलिए भगवान् ने 'सदसद्योनिजन्मसु' कहा, केवल 'सद्-असद्-जन्मसु' नहीं कहा। सद्-असद् जो योनियाँ, उनकी प्राप्ति में गुण-संग ही प्रधान कारण है। सद् और असत् को योनि का विशेषण समझना चाहिये। कुछ आचार्यों ने सद् योनि, असद् योनि और सदसद् योनियाँ देवादि, पशु आदि और मानव- इन सब योनियों का संग्रह किया है। सदसद् योनियाँ हैं तो विषयभूत क्योंकि योनि से तुम्हारा शरीर और सूक्ष्म शरीर प्रकट होगा, पर उनके साथ आत्मभाव गुणसंग से है। सदसद् योनियों में जो जन्म है वही संसार है। एक योनि से दूसरी योनि में जाओ, दूसरी से तीसरी योनि में जाओ- इसी का नाम संसरण या संसार है।

इसलिए 'सदसद्-योनि-जन्मों में कारण है' इसका तात्पर्य हो गया- संसार में कारण है। सद् योनियाँ हो गईं मनुष्य से ऊपर की; देव योनि से लेकर ऊपर जितना चले जाओ ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक, गोलोक सब आ जाएँगे। वहाँ सर्वत्र होने वाली सद्योनियाँ हो गईं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग- ये सब असद् योनियाँ हो गईं। जो सत् और असत् दोनों योनि है अर्थात् मध्य वाली- वह हो गई मनुष्य योनि। मनुष्य हो गया मध्य की योनि। मनुष्य धर्म और ज्ञान का अधिकारी है इसलिए सद् योनि है। इसीलिए श्रुति (छा.५.१०.७) ने कहा 'रमणीय-चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा'। चूँकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य - ये धर्म-ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हैं, अतः ये हो गये रमणीय योनि, सद् योनि। परन्तु मनुष्य धर्म का अधिकारी भी है और अधर्म भी कर सकता है। इसलिए अधर्म का अधिकारी होने से इसको असद् योनि भी कह सकते हैं। अतः मध्य का होने से सदसद् योनि है। इसके ऊपर की देव योनियाँ आदि सारी सद् योनियाँ हैं और इसके नीचे की पशु पक्षी आदि सब असद् योनियाँ हैं। कहाँ जन्म होता है, किस योनि में जन्म होता है, इसका निर्णय कौन करता है? भगवान् कहते हैं कि प्रकृति के अन्दर स्थित होना रूप जो गुणसंग है अर्थात् प्रकृति से आत्मभाव करके सुख-दुःख-मोह अपने में मानना है, वही कारण है। गुणसंग के कारण ही गुणों के प्रति पुरुष की कामना है; श्रुति में इसलिये 'स यथाकामो भवति तदभिसम्पद्यते' (बृ. ४.४.५) से काम को ही संसार का बीज बतलाया है। कामना कब होगी? जब प्रकृति को आत्मरूप मानेगा। प्रकृति को जो आत्मरूप नहीं मानेगा उसके लिए अविद्या का संसार है ही नहीं। लोक में भी यही बात है; जिसको तुम प्राप्ति के योग्य समझते हो उसी की कामना होती है और पता लग जाए कि यह चीज़ तुम प्राप्त कर नहीं सकते, तो उसकी कामना नहीं रह जाती। अव्यक्त रूप से चाहे रहे, लेकिन व्यक्त नहीं हो सकती। जैसे हम लोगों में कभी भी पेड़ बनने की इच्छा नहीं आती कि 'हम पेड़ बन जाएँ'। यथाकथंचित् किसी में हो जाए तो उसका वह गुणसंग मान लेना पड़ेगा। श्रुति ने जो संसार का कारण काम बतलाया है, उसी को भगवान् ने यहाँ गुणसंग शब्द से कहा है।

संसार के कारण को बतलाने में भगवान् का तात्पर्य क्या है? संसार का यही कारण है इसलिए इसका परिवर्जन करना चाहिए, इसको छोड़ देना चाहिए। इस गुणसंग की निवृत्ति का कारण है परमात्म-विषयक ज्ञान। वास्तव में सम्भव ही नहीं है कि प्रकृति के साथ हमारी एकता हो सके! आत्मस्वरूप के अज्ञान से ही एकता का भ्रम है। परमात्म तत्त्व के विषय का ज्ञान उस अज्ञान को मिटा देता है। इसके लिये ज़रूरी है संसार के प्रति होने वाली जो कामना है वह हटकर उसके प्रति वैराग्य होना। भोग असम्भव है अतः जिन चीज़ों को हम भोग्य समझते हैं वे हमारे राग के लायक हैं ही नहीं। इसलिए पदार्थमात्र में दोषदर्शन करना चाहिये। योगवासिष्ठादि में इसीलिए सबसे पहले वैराग्योत्पादक कई प्रकरण हैं- स्त्री, धन इत्यादि के दोषों को अलग-अलग प्रकरणों में विस्तार से बताया, जिससे उनसे वैराग्य हो

जाए। भगवान् ने जो कहा कि 'गुणसंग संसरण का कारण है' वह यह कहने के लिए कि चूंकि यही संसार का कारण है अतः इससे बचो। बचने का उपाय ज्ञान और वैराग्य है।

ज्ञान-वैराग्य किससे पुष्ट होता है? संन्यास से ही पुष्ट होता है, संन्यास के बिना पुष्ट नहीं हो पाता। थोड़ा-बहुत हो तो जाता है, लेकिन पुष्ट नहीं होता। गृहस्थ को गृहस्थ आश्रम की चीज़ों को चलाना ही है। वानप्रस्थ में रहोगे तो वानप्रस्थ की चीज़ों को चलाना ही है। संन्यास वह है जहाँ कुछ चलाना नहीं है। भूख-प्यास मिटाना ही एक सांसारिक काम रह जाता है। उसके लिए जो न्यूनतम भिक्षाटन आदि है वह भी नियम से कर्त्तव्य नहीं है। परमहंस के लिए भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि भिक्षा करे यह नियम नहीं है। भूख लगे, न रहा जाए तो माँग लेवे - बस इतनी ही अनुमति है। ज़रूर भिक्षाटन करे - ऐसा नियम, भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं, परमहंस के लिये नहीं है। उसके लिए 'यह करना है' ऐसा कुछ प्राप्त नहीं है। जब किसी तरह से प्राप्त नहीं है तो केवल कामना होगी तभी प्रवृत्ति करेगा। अन्य आश्रमों में तो बिना कामना के भी उस आश्रम के नियमों के अनुसार कुछ करना पड़ता है। संन्यासी को ऐसा कुछ भी कर्त्तव्य प्राप्त नहीं है। अतः वह बार-बार कामना का त्याग कर सकता है। इसलिए संन्यास के बिना वैराग्य और ज्ञान पुष्ट होते नहीं। यह बात गीता शास्त्र में भगवान् ने बार-बार ज़ोर देकर कही है। चूंकि ऐसा ज्ञान-वैराग्य अर्जुन में नहीं है इसलिए कई बार अर्जुन को कहा 'तेरे को तो युद्ध ही करना पड़ेगा। तू अभी संन्यास के लायक नहीं है।' हर हालत में, यह जो भगवान् ने यहाँ कहा है कि 'सदसद्योनिजन्मसु अस्य गुणसंगः कारणं' यह कामना को समूल निवृत्त करने के लिए कहा है।।२१।।

अब भगवान् कहते हैं कि वह पुरुष कई रूपों में प्रतीत होता है-

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

(अव्यक्त से भी) परे जो पुरुष है वह इस शरीर में (रहता हुआ इन नामें से) कहा जाता है : उपद्रष्टा (समीप रहकर देखने वाला), अनुमन्ता (अनुमोदन करने वाला), भर्ता (भरण करने वाला), भोक्ता (भोग करने वाला), महेश्वर (स्वतंत्र सर्वात्मा) और परमात्मा (सर्वोत्तम प्रत्यक्चैतन्य)।

'अस्मिन् देहे' यह जो तुम्हारा स्थूल और सूक्ष्म शरीर है, इसमें 'परः पुरुषः' वह जो सबका अधिष्ठान परम पुरुष है, वह कभी तो उपद्रष्टा की तरह प्रतीत होता है। उपद्रष्टा का मतलब होता है किसी चीज़ के पास में तो रहना, उसको स्वयं देखना, परन्तु खुद उसमें व्यापृत न होना, व्यापार वाला न होना। देखते हो कि हो रहा है पर देखते हुए भी उसमें करने वाले नहीं बनते। अपने को उसके साथ मिलाते नहीं, केवल देखते ही हो। उपद्रष्टा शब्द यज्ञ के प्रसंग से लिया है। यज्ञ में उपद्रष्टा होता है। ऋत्विक् और यजमान मिल कर यज्ञ कर्म करते हैं। यज्ञ को देखने भी लोग आए हुए होते हैं। न वे ऋत्विक् का काम कर

रहे हैं, न वे यजमान का काम कर रहे हैं। आधुनिक भाषा में ऐसों को तमाशबीन कहते हैं। परन्तु उपद्रष्टा कैसा तमाशबीन होता है? यज्ञविद्या में कुशल होता है, यज्ञविद्या को जानने वाला होता है। इसलिए देखते हुए उसको पता रहता है कि क्या ठीक हो रहा है, क्या गलत हो रहा है। करेगा कुछ नहीं। न किसी को रोकेगा, न किसी को कहेगा ठीक कर रहे हो। कुछ नहीं करेगा। जैसे तमाशा देखने वाले तमाशा देखते हैं ऐसे देखता रहेगा। दो जने आपस में गाली देने लगें तो दस आदमी चारों ओर खड़े हो जाते हैं। उनको रोकेंगे भी नहीं, उनकों कहेंगे भी नहीं कि 'मारो, मारो', पर खड़े-खड़े देखेंगे, ऐसे को यज्ञस्थल में उपद्रष्टा कहते हैं। ठीक इसी प्रकार से तुम्हारा कार्य-करण-व्यापार हो रहा है, शरीर-इन्द्रियाँ सब अपना-अपना काम कर रहे हैं। आँख देख रही है, पैर चल रहा है, शरीर हिल रहा है, सब हो रहा है। इनके व्यापार करते हुए भी पुरुष वास्तव में व्यापार करने वाला नहीं बनता है। अज्ञान से तो मानता है कि पैर चला तो मैं चला, आँख ने देखा तो मैंने देखा। किन्तु वास्तव में कार्यकरण- व्यापारों को देखता है परन्तु स्वयं व्यापारी नहीं बनता। वस्तुतः अपने को उनसे सर्वथा विलक्षण देखता है। मैं प्रकाशरूप हूँ तो ये सब अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। पुरुष कुछ करता नहीं, उनको समीप से देखता है। इसी शरीर मन के व्यापारों को क्यों देखता है? इसके समीप में है इसलिये। इसीलिय इसको उपद्रष्टा कहते हैं।

अथवा उपद्रष्टा का अर्थ हैः क्या-क्या चीज़ें चेतन की तरह व्यवहार करती हैं अर्थात् द्रष्टा हैं? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि – ये सब चेतन की तरह व्यवहार करते हैं। क्योंकि इन सबके अन्दर आत्माध्यास है इसलिये इन सबके अन्दर चेतनता है। शरीर में भी चेतनता है। इसलिए जैसे ही कोई घूँसा मारता है, खट पता चलता है। ऐसा तो नहीं कि पता नहीं चलता है! इन्द्रियों में भी चेतनता है। उधर से आवाज़ आई तो खट आँख उधर को जाती है देखने के लिए। जेब से आवाज़ आई तो खट हाथ जाता है टेलीफोन को निकालने के लिए। कान ने सुना तो कान में भी चेतनता है। मन में और बुद्धि में चेतनता तो हर एक को लगती ही है। बुद्धि अर्थात् 'मैं चेतन' यह सबको लगता है। और मन संकल्प करता है तो चेतन है। ये सब द्रष्टा हैं, चेतन हैं। इनमें सबसे बाहर का चेतन तो शरीर है, बाकी सब तो शरीर के अन्दर हैं। शरीर से बाहर तो हमें कभी चेतनता का अनुभव होता नहीं। शरीर की अपेक्षा बुद्धि, अहम् नज़दीक है। बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ ये सब एक-दूसरे की अपेक्षा बाहर होती चली जाती हैं। बाहर से अन्दर की तरफ जाओगे तो शरीर के अन्दर इन्द्रियाँ पड़ेंगी, इन्द्रियों के अन्दर मन पड़ेगा, मन के अन्दर अहंकार पड़ेगा, एक-दूसरे की अपेक्षा ये बाहर-भीतर पड़ते हैं। अहम् के अन्दर जो द्रष्टा है वह प्रत्यक् अर्थात् अत्यन्त समीप में होने से उसको उपद्रष्टा कहते हैं। अतः प्रत्यगात्मा ही सबसे समीप होकर द्रष्टा है इसलिए उसको उपद्रष्टा कह दिया। आगे उस प्रत्यगात्मा के अन्दर कोई उसको देखने वाला नहीं है। अहम् के अन्दर तो प्रत्यगात्मा है पर आगे प्रत्यगात्मा के अन्दर प्रत्यगात्मा को देखने वाला कोई नहीं है। वही सबको देखने वाला है। इसलिए 'उप' अर्थात् अतिशय

समीप, सर्वाधिक समीपता से वह द्रष्टा है इसलिए उसको उपद्रष्टा कह दिया। यज्ञ के दृष्टान्त में जैसे उपद्रष्टा सब को विषय करता है वैसे आत्मा सबको जानता है। यज्ञ का जो उपद्रष्टा है वह सारे ही ऋत्विकों को देखता है, यजमान को देखता है, सामग्री को देखता है। वहाँ की सब चीज़ों को देखता है इसलिए उपद्रष्टा है। इसी प्रकार बुद्धि के विकारों को, मन के विकारों को, इन्द्रियों के विकारों को, शरीर के विकारों को- सबको आत्मा प्रकाशित करता है। है तो सबसे अन्दर लेकिन विषय तो बाह्य तक सब को कर लेता है। इसलिए उसको उपद्रष्टा कह दिया। जो परमात्मा है वही प्रत्यगात्मरूप से उपद्रष्टा है।

अनुमन्ता। अनुमति देने वाले को अनुमन्ता कहते हैं। अर्थात् जो कुछ हो रहा है उस सभी के अन्दर जो परितोष का अनुभव कर रहा है, 'ठीक हो रहा है' ऐसा समझता है वह अनुमन्ता है। उपद्रष्टा ने तो केवल प्रकाशित किया, केवल जाना और अनुमन्ता को उसके अन्दर परितोष का भी अनुभव है। यह भी उसी परमात्मा का रूप है! जितना भी व्यवहार है उस व्यवहार को तो शरीर इन्द्रियाँ करते हैं, अनुमंता उसमें प्रवृत्त तो नहीं होता, अपने को करने वाला तो नहीं समझता, पर उस सब व्यवहार के अनुकूल रहता है। अनुमोदन करता है कि ठीक है। इसलिए उसको अनुमन्ता कहते हैं। यह भी उस परमात्मा का रूप है अनुमन्ता इसलिए है कि जो उसके शरीर मन आदि की प्रवृत्ति है, व्यापार है, उसका वह अपने को साक्षी जानता है और उनका निवारण नहीं करता। वे अपने-आप हो रहे हैं; उनका प्रवर्त्तन तो नहीं करता, लेकिन अनुमन्ता होने से उनका निवर्त्तन भी नहीं करता। इसलिए उसको अनुमन्ता कहते हैं। यह अनुमन्ता-भाव साधक में काफी देर में आने वाली विशेषता है। शरीर गिरेगा, माथा फूटेगा खून बहेगा; उस समय भी 'ठीक हो रहा है'- यों तमाशा देखना- जो अनुमन्ताभाव, वह तभी आता है जब कार्यकरण- व्यापारों के अन्दर मिथ्या-बुद्धि दृढ होती है। ऐसे समझ लोः सामान्य भक्त भगवान् की फोटो को देख रहा है, उसके ऊपर चींटी चढ़ रही है तो खट जाकर चींटी को हटाता है कि भगवान् पर चींटी न चढ़ जाए; परन्तु जब पता लग जाता है कि यह तो भगवान् नहीं कागज़ का टुकड़ा है, तब फिर चाहे दीमक खाये, भगवान् को थोड़े ही खाएगी! जब तक उसके अन्दर भगवत्त्व का आरोप है तब तक तो प्रवृत्ति करता है और जब वह आरोप हट जाता है तब कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं रह जाती। जितना-जितना संसार के कार्य करण-संघातों में मिथ्यात्वबोध दृढ होता जाता है उतना अनुमन्ता-भाव दृढ होता जाएगा। किसी भी परिस्थिति में प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होगी।

भर्ता - शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि का जो संघात है, वह सारा-का-सारा संघात ज्ञान के लिए ही है। सारा संघात जो कुछ करता है वह अन्ततः ज्ञान के लिए ही करता है। इसीलिए चैतन्य उनके रूपों में अवभासित होता है अर्थात् वे सारे ज्ञान वाले होकर ही अपना कार्य करेंगे। यह जो चैतन्य का उनमें आभास है यही उनका भरण करना है। दीवाल के अन्दर तो हम चैतन्य का आभास नहीं करते! शरीर-पर्यन्त ही करते हैं। इसका भरण करने वाला

जो चैतन्य स्वरूप है वह भर्ता कहा जाता है।

भोक्ता के स्तर में जैसे आग लोहे में प्रविष्ट होती है ऐसे सुखादि से एकमेक हो जाया जाता है। आग लोहे में बिना प्रविष्ट हुए प्रविष्ट हुई-सी प्रतीत होती है। उसी प्रकार बुद्धि के जो सुख-दुःख-मोहात्मक प्रत्यय हैं, और भी सर्वविषयक अनुभव हैं, वे सारे चैतन्य आत्मा से ग्रस्त हुए प्रतीत होते हैं। जैसे आग और लोहे को अलग जानने वाला भी गर्म लोहे को अंगुली से छूने का प्रयत्न नहीं करेगा, जानता है कि आग लोहे से अलग है परन्तु यह भी पता है कि जहाँ अंगुली रखूँगा वहाँ लोहा और आग दोनों ही हैं, इसी प्रकार शरीर से लेकर बुद्धि- प्रत्ययों तक, सब चीज़ों से चैतन्य अलग है- यह तो वह जानता है लेकिन अलग होने पर भी इन सबके अन्दर चैतन्य-आत्मभाव का अनुभव होता है, प्रतीति होती है, तब भोक्ता-भाव है। उस परमेश्वर का इन चार प्रकारों से हम लोग अनुभव करते हैं।

स्वरूप से क्योंकि वह सर्वात्मा है, सर्वभूतात्मभूतात्मा है और सर्वथा स्वतन्त्र है, व्यापक है, इसलिए उसको 'महेश्वर' कहते हैं। यदि दूसरा आत्मा होता तो परतन्त्रता का सवाल आता। जब वह अकेला ही सर्वत्र है तो स्वतन्त्र ही है। सर्वभूतात्मभूतात्मा होने से व्यापक है। इसलिए सबका शासन करने वाला- यह उस महेश्वर का रूप है।

पहले जो भाव कहे थे उनके अन्दर तो *इस* शरीर इन्द्रिय का अनुगमन था। महेश्वर के अन्दर इस शरीर का अनुगमन तो नहीं है, परन्तु सर्व का है। आत्मा एक है लेकिन इसके देह-इन्द्रियादि बहुत हैं, इसीलिए महेश्वर कहते हैं। जब यह भी न रहे तब 'परमात्मा' है। अर्थात् शरीरों से लेकर बुद्धि-पर्यन्त, हिरण्यगर्भ-पर्यन्त सबका ही प्रत्यगात्मा है। शरीरादिकी कल्पना अविद्या से है। अविद्या-तत्कार्य से निवृत्त जो शुद्ध है वह परमात्मा है।

इन सब नामों से परम पुरुष ही कहा गया है। कहाँ कहा गया है? श्रुतियों में और स्मृतियों में कहा गया है। 'अस्मिन् देहे परः पुरुषः' इस शरीर के अन्दर परं पुरुष ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को लेकर भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है।

उपद्रष्टा आदि भावों को विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों से भी समझना चाहिये। वह पुरुष ही भिन्न-भिन्न उपाधियों से भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। जब उपाधि की प्रधानता हो जाती है तब वह भोक्ता है, जब उपाधि कुछ मन्द हो जाती है तब भर्ता है, जब उपाधि नाममात्र को रह जाती है तब अनुमन्ता और जब उपाधि केवल प्रतीतिमात्र कराती है तब उपद्रष्टा है। सारे ब्रह्माण्ड के शासक की उपाधि से वही महेश्वर है। इस दृष्टि से आत्मा ही उपाधियों की क्षीणता या महत्ता के कारण इन प्रकारों का प्रतीत होता है।

कुछ लोग प्रकृति और प्रकृति के कार्यों के सिवाय पुरुष नहीं है ऐसा मानते हैं। प्रकृति की प्रधानता में भोक्तापना हम लोगों ने कहा लेकिन वे लोग प्रकृति की प्रधानता को इतना ज़्यादा मानते हैं कि पुरुष माने बिना ही काम चला लेते हैं! चार्वाक, लोकायत और इनके सब अवान्तर भेद वाले मानते हैं कि प्रकृति और गुणों का खास ढंग का संघात चेतन की तरह प्रतीत होता है, चैतन्य कोई वस्तु है नहीं। कुछ लोग मानते हैं कि महाभूतों के उस

परिमाण में इकट्ठे होने पर चैतन्य रूपी गुण प्रकट हो जाता है। चैतन्य को गुण मानने वाले तो कणाद और गौतम के अनुयायी भी हैं परन्तु वे उसको आत्मा का गुण मानते हैं जबकि चार्वाक का कहना है कि चैतन्य आत्मा का नहीं, अनात्मा का गुण है। उनका दृष्टान्त होता है कि जैसे पान भी लाल नहीं, कत्था भी लाल नहीं, चूना भी लाल नहीं, सुपारी भी लाल नहीं परन्तु इन सबके मिलने पर एक नया लाल गुण प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार से शरीर में महाभूतों के विशिष्ट परिमाण में मिलने से चैतन्य पैदा हो जाता है। वे लोग आत्मा को भोक्ता ही मानते हैं कि अनात्मा ही आत्मा जैसा है, इसके सिवाय भूतों से भिन्न पदार्थ नहीं है। जब देहादि संघात के रूप में भूत एकत्र हो जाते हैं तब उसमें आत्मगुण प्रकट हो जाता है और जब संघात के परिमाण में कोई फ़र्क आ जाता है तब वह गुण नहीं रह जाता है। तब लोग कहते हैं कि 'यह मर गया'। मरना और कुछ नहीं है। उनकी दृष्टि में भोक्ता ही आत्मा है, और आत्मा से मतलब देहादि संघात। ये प्राचीन चार्वाक तो थे ही लेकिन वर्त्तमान में भी अधिकतर पाश्चात्य वैज्ञानिक और उनके उच्छिष्टभोजी भारतीय भी यही मानते हैं कि जो दिमाग के अन्दर प्रकृति के कार्य अनात्म पदार्थ हैं उन्हीं में चेतनता रूपी गुण प्रकट हो जाता है। वे उसको 'गुण' नहीं कहते अनुघटना, उपोत्पाद कहते हैं। प्राकृतिक द्रव्यों का उपोत्पाद मन या ज्ञान को मानते हैं। हम लोगों की भाषा में गुण ही कहेंगे।

उनसे कुछ आगे चले नैयायिक। नैयायिक कहते हैं कि यह बात तो ठीक है कि चैतन्य गुण है परन्तु आत्मा एक चीज़ है जिसमें शरीरादि संघात के सम्बन्ध से खासकर मनके सम्बन्ध से चैतन्य गुण प्रकट होता है। अर्थात् आत्मा भी चैतन्य नहीं है और अनात्मा भी चैतन्य नहीं है, परन्तु चैतन्य आत्मा में मनःसंयोग से पैदा होने वाला गुण है। इसलिए इनके यहाँ वास्तविक कर्तृता और भोक्तृता स्वीकार है। आस्तिक होने से मानते हैं कि भोग कर्मफलों का होता है। कर्मफल कब होवे? जब कर्म किया जाए। इस प्रकार अनात्मा जो मन उसके संयोग से आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व है; वह कर्ता होने से कर्मफल को उत्पन्न करता है और तब भोक्ता बन जाता है। कर्मफलों के द्वारा ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भरण होता है इसलिए आत्मा भर्ता है, कर्मफलों को उत्पन्न करने वाला है। कर्म करके कर्मफल को उत्पन्न करता है और कर्मफल ही फिर आत्मा और मन का संयोग कराते हैं। कर्मफल भोगने के लिए आत्ममनःसंयोग होता है और क्योंकि उसके अन्दर कर्तृत्व है इसलिए फिर कर्म कर लेता है। इस तरह से ये आत्मा को मानते तो हैं लेकिन आत्मा को चेतनरूप नहीं मानते। अतः इनके मत में आत्मा भर्ता है अर्थात् कर्म करके, फल को उत्पन्न करके इस सारे संसार का भरण करता है, उसको पुष्ट करता है।

कुछ लोगों का कहना है कि ऐसा नहीं है कि आत्मा के अन्दर स्वाभाविक चेतनपना नहीं है। चार्वाकों के पक्ष में तो चेतन आत्मा है ही नहीं। नैयायिकों के पक्ष में आत्मा है परन्तु अनात्मा के सम्बन्ध से चेतन होता है, स्वरूप से आत्मा चेतन नहीं है। उसको इसीलिए चेतन कहा जाता है कि अनात्मा (मन) से सम्बन्ध होकर उसमें चैतन्य प्रकट होता है। तीसरों का कहना है कि जो मन का संयोग अथवा सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण का संयोग है,

उसके कारण भोक्तृता है यह तो ठीक है, परन्तु आत्मा उस भोग से लिप्त नहीं होता, असंग रहता है। भोक्ता है पर भोक्तापने से असंग है। अतः आत्मा तीनों गुणों के खेल को स्वीकृति देता है इसीलिए बन्धन में है। ठीक जिस प्रकार से मकान बनवाने वाला खुद कुछ नहीं बनाता परन्तु मज़दूरों को, कारीगरों को पैसा देता है और पैसे के लिए वे मकान बनाते हैं। यदि उनको पैसा नहीं मिले तो मकान नहीं बनाएँगे। इसी प्रकार सत्त्वादि गुण करते हैं परन्तु पुरुष भोक्ता बनते हुए उसकी अनुमति देता है, अर्थात् उसको देखता रहता है इसलिए आत्मा अनुमन्ता है। करने वाले तो सब गुण हैं परन्तु करते किसके लिए हैं? जैसे मज़दूर, मिस्त्री सब मिलकर करते किसके लिए हैं? मालिक के लिए। मालिक उनको पैसा देता है, उसकी अनुमति है। इसी प्रकार से आत्मा की अनुमति से ये सारे गुण करते हैं, आत्मा उसका अनुमन्ता है। ऐसा कपिल और पतञ्जलि के अनुयायी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मा में अनुमन्ता-भाव है।

वेदान्ती का, हम लोगों का कहना है कि गुणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा खुद चेतन है, उसको गुणों की कोई अपेक्षा नहीं है, गुणों का सम्बन्ध आत्मा में सर्वथा नहीं है। इसलिए वह सर्वथा इनके प्रति उदासीन है। सांख्य पक्ष के अन्दर तो अनुमति देता है और इस पक्ष में अनुमति भी नहीं देता है। केवल उदासीन रूप से रहता है। गुणों के प्रचार का दर्शनमात्र करता है, अनुमति वगैरह कुछ नहीं देता क्योंकि वास्तविक सम्बन्ध है ही नहीं। इस साक्षिभाव को ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप मानने के कारण उपद्रष्टा-भाव को ही प्रधान मानते हैं। कर्तृत्व भोक्तृत्व की प्रतीति भी अज्ञान से है, सचमुच में कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है। आत्मा कोई उपकार गुणों का करता हो ऐसा नहीं। वह केवल विद्यमान है और ये सब अपनी क्रियाएँ करते हैं। उनके साथ इसका कोई सत्य सम्बन्ध नहीं। अतः वेदान्ती साक्षी को, उपद्रष्टा भाव को ही आत्मा का स्वरूप समझता है।

इस प्रकार से भोक्ता भर्ता अनुमन्ता और उपद्रष्टा- भिन्न-भिन्न दार्शनिकों की दृष्टि से आत्मा को स्वीकार किया जाता है। यहाँ भगवान् ने आत्मविषयक इन सिद्धांतों को इन शब्दों में एकत्र कर दिया है- वेदान्ती के अनुसार उपद्रष्टा, सांख्य के अनुसार अनुमन्ता, नैयायिक के अनुसार भर्ता और चार्वाक के अनुसार भोक्ता।

जैसे उक्त चार शब्द जीव के बारे में बताते हैं वैसे महेश्वर और परमात्मा ईश्वर के बारे में बताते हैं। चार्वाक की दृष्टि में तो सचमुच में कोई महेश्वर नहीं है। शरीरादियों को नियमन करने के लिए जो राजा होता है वही महेश्वर है क्योंकि उसकी आज्ञा के अनुसार शरीरादियों को चलना पड़ता है। इससे अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं। द्वितीय, न्याय पक्ष के अन्दर ईश्वर किसी चीज़ का व्यावहारिक नियन्त्रण नहीं करता, उसको सबका सदा ज्ञान है और जो हो रहा है उस सबकी उसे नित्य इच्छा है, इतने मात्र से उसको ईश्वर कहते हैं। तीसरे सांख्य पक्ष वाले या तो ईश्वर को मानते ही नहीं, कपिल तो स्वीकार ही नहीं करते कि ईश्वर है; पतञ्जलि स्वीकार तो करते हैं, लेकिन उसको

'पुरुषविशेष' ही कहते हैं। सृष्टि आदि कार्य उसके होवें ऐसा नहीं मानते। और जो अन्तिम, वेदान्त पक्ष है उसके अन्दर माया उपाधि से ईश्वर वैसे ही सब चीज़ों का मालिक है जैसे अन्तःकरण की उपाधि से जीव उनका दास है। अतः उनके यहाँ महेश्वर सचमुच में, अपनी उपाधि की समान सत्ता में सबका शासन करने वाला है, सबको चलाने वाला है। करता माया की उपाधि से है, स्वरूप से नहीं। जिस प्रकार से उदासीन रहता हुआ साक्षी ही अनुमन्ता आदि भावों को अज्ञान से देखता है इसी प्रकार से महेश्वर समष्टि अज्ञानरूप माया की उपाधि से सब चीज़ों का नियन्त्रण करता है वस्तुतः स्वरूपतः नहीं करता है। ये ईश्वरविषयक विचार भी सूचित समझ सकते हैं। चार्वाक और सांख्य मतों में ईक्ष्वर है नहीं, न्याय और योग मतों में है पर अकिंचित्कर है, वेदान्त में उपाधि से आत्मा में ईश्वरत्व है।।२२।।

आत्मज्ञानका फल बताते हैं-

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

जो 'यही मैं हूँ' यों परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है और (उस अनुभव के बल पर) विकारों समेत प्रकृति को 'यह है ही नहीं' ऐसा जान लेता है, वह हर तरह से रहता हुआ भी (इस शरीर के नष्ट होने के बाद) फिर पैदा नहीं होता।

भगवान् बतलाते हैं कि 'एवम्'- मैंने जैसा बतलाया वैसा प्रकृति व पुरुष को जो समझता है वह मुक्त हो जाता है। पुरुष की दो शक्तियाँ, प्रकृतियाँ कहीं - परा और अपरा। परा जीव- रूप है और अपरा सारा संसार है। इन दोनों प्रकृतियों द्वारा भगवान् जगत् का नियन्त्रण करने वाले हैं। 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (७.६)। अतः भगवान् के बताये ढंग से वास्तविक एक भगवान् ही हैं, जीव उनसे पृथक् नहीं और जगत् की भी उनसे स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं। इस प्रकार से जानने का ही यहाँ फल बताया है। प्रकृति और प्रकृति के तीन गुण- सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण सुख, दुःख, मोह का अनुभव कराते हैं। इन गुणों के साथ और सभी कार्यों के साथ प्रकृति को और पुरुष को जो जानता है वह फल पाता है। 'वेत्ति' 'जानता है' मायने क्या? जो प्रकार भगवान् ने बतलाया है उसके अनुसार साक्षात्कार करता है। भगवान् के बताए प्रकार में वह पुरुष साक्षात् मैं हूँ। पुरुष ही अपरोक्ष रूप से 'मैं' इस अनुभूति के अन्दर प्रकाशमान है। प्रकृति अविद्या-स्वरूप ही है, अज्ञान-स्वरूप ही है। उसको जानना अर्थात् सारे गुणों के साथ प्रकृति को 'यह नहीं है' इस प्रकार से जानना! '*प्रतीत* नहीं होती है'- ऐसा नहीं, वरन् *है* नहीं। जिस प्रकार से मृगीका जल दीखता है पर है नहीं, इसी प्रकार प्रकृति और उसके सारे गुणों को देखते हुए भी विद्या के बल से 'यह नहीं है' इस प्रकार उसका अभाव समझना है। प्रतीत हो रहा है इसलिए 'असत्' नहीं कहना चाहते परन्तु प्रतीत

होते हुए 'नहीं है' का निश्चय चाहिये। जिस प्रकार सामने रामचन्द्र की मूर्त्ति है, मूर्त्ति देखते हुए ही कारीगर जानता है कि यह राम नहीं है। इसीलिए मूर्त्ति के अन्दर कोई चीज़ ठीक नहीं है तो छेनी-हथौड़ी लेकर बनाता है। यदि उसे साक्षात् राम समझे तब तो उसको ठीक ही नहीं कर सकता! दीखती तो उसको भी मूर्ति है पर जानता है कि पत्थर है। इसी प्रकार प्रकृति के सारे विकारों को, सारे गुणों को देखते हुए पुरुषयाथात्म्यवेत्ता जानता है कि यह नहीं है। जब ऐसी विद्या प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा प्रकृति को 'नहीं है' समझ लिया जाता है, तब फिर 'सर्वथा वर्तमानोऽपि', सब प्रकार से व्यवहार करते हुए, वर्तन करते हुए भी वह मुक्त ही होता है। बर्ताव गुणों के साथ करता है। इसलिए सुखाकार वृत्ति को सुखाकार जानता है, दुःखाकार वृत्ति को दुःखाकार जानता है, मोहाकार वृत्ति को मोहाकार जानता है, परन्तु जानते हुए उसका निश्चय है कि 'ये नहीं हैं'। सारी इन्द्रियों से, अन्तःकरण आदि से व्यवहार करता है, शरीर से भी व्यवहार करता है, और इसलिए ऐसा प्रतीत होगा कि 'यह इसमें व्यवहार कर रहा है', किंतु उक्त ज्ञान के बल से 'स भूयः न अभिजायते', इस शरीर के गिर जाने पर फिर पैदा नहीं होता। क्योंकि श्रुति कहती है 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा.६.१४.२) कि वर्तमान देह रहने तक की देर है, फिर तो उसका विदेह कैवल्य सिद्ध ही है। अतः इस शरीर के गिरने पर दूसरा शरीर, उसको प्राप्त नहीं करना पड़ता अर्थात् जन्मान्तर की प्राप्ति नहीं होती। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि', सब तरह से बर्ताव करते हुए भी; इसका तात्पर्य हुआ कि जो निरन्तर उस आत्मभाव में स्थित रहते हुए सर्वकर्मसंन्यास करता है उसका जन्म नहीं होगा इसमें तो कहना ही क्या है! अगर प्रारब्धातिशय से जीवन्मुक्त के देहादि क्रिया करते रहते हैं तो भी आगे जन्म नहीं लेता तो जो सर्वकर्मसंन्यास-पूर्वक निरन्तर उसी निष्ठा के अन्दर स्थित है वह मुक्त हो जाएगा इसमें तो कहना ही क्या है!

जो भगवान् ने बात कही वह कर्मकाण्डियों के मधुमक्खी के छत्ते को छेड़ने की तरह है! जो कर्म को प्रधान मानते हैं वे मोक्ष से बड़े सशंकित रहते हैं। उनका कहना है कि भगवान् ने कहा कि ज्ञान होने के बाद जो वह करता है यह उसको जन्मान्तर नहीं देता; बस, इतना ही भगवान् का तात्पर्य मानना चाहिए। यह नहीं मान सकते कि अनेक जन्मों से जो तुम कर्म करते रहे हो वे सब तुम्हारे ज्ञान के बल से ख़त्म हो जाएँगे! और यहाँ भी, ज्ञान होने के पहले जो तुमने कर्म किए हैं वे ज्ञान से ख़त्म नहीं हो सकते। भगवान् के वाक्य से केवल इतना ही आता है कि ज्ञान के बाद जो तुमने कर्म किए हैं उनका फल नहीं भोगना पड़ेगा। ज्ञान की उत्पत्ति से कृत कर्मों का नाश मानना गलत है क्योंकि अनेक वाक्य ऐसे मिलते हैं जिनमें कहा गया है कि 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' जो कर्म कर लिया वह करोड़ों कल्प बीत जाएँ लेकिन बिना भोगे समाप्त हो नहीं सकता। कर्मकाण्डी बस इतना मान लेंगे कि अनन्त जन्मों में जो तुमने पुण्य- पाप किए हैं वे सब जब भोग लोगे तब वे ख़त्म होंगे और तुम्हारा यह ज्ञान ऐसा अखण्ड बना रहा तो ज्ञान

के बाद के कर्म निष्फल रह जायेंगे अतः उसके बाद तुम्हारा जन्म नहीं होगा। इतना ही भगवान् का तात्पर्य हो सकता है। अन्यथा कृत- विप्रणाश दोष आ जाता है। तुमने कर्म किया और फल के बिना वह किया हुआ कर्म बेकार चला गया तो यह आस्तिकों की दृष्टि में बड़ा भारी दोष है। अतः कर्मों से जन्म का आरम्भ तो मानना ही पड़ेगा। यह शंका कर्मकाण्डियों की तरफ से प्राप्त होती है। अगर कृत- विप्रणाश स्वीकार कर लें तो शास्त्र में ही आस्था नहीं रह जाएगी क्योंकि शास्त्र ने बड़े विस्तार से कर्म और कर्म के फलों का प्रतिपादन किया है। यदि तुम्हारे ज्ञान से सब कर्म नष्ट हो जाने हैं तो सारा जो शास्त्र है कर्मफल- विषयक, वह अनर्थक हो जाएगा, व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए 'न स भूयोऽभिजायते' इसका अर्थ जैसा सिद्धांती करना चाहता है वैसा नहीं बनेगा।

जवाब देते हुए आचार्य कहते हैं कि कर्मों को बतलाने वाला शास्त्र जो वेद, उसी ने कहा है 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुं.२.२.८) परमात्मभाव को अपने से एक समझ लेने पर सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। अतः शास्त्रानर्थक्य नहीं है। शास्त्र के अन्दर ही यह बात भी कही गई है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु.३.२.९) ब्रह्मज्ञान होने पर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है। अतः जैसे ब्रह्म में किसी कर्म का स्पर्श नहीं वैसे उसमें भी नहीं। 'तद् यथेषीकातूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत, एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते (छा.५.२४.३) जैसे सरकन्डे का जो बीच का हिस्सा होता है वह खट से जल जाता है, इसी प्रकार ज्ञान होने पर सारे कर्म दग्ध हो जाते हैं। अतः ज्ञान होने पर सर्वकर्मदाह यहाँ भगवान् ने ही कहा हो ऐसा नहीं, कर्मप्रतिपादक शास्त्र जिसको तुम मानते हो वेद, वही इन बातों को कहता है। भगवान् ने इसको स्पष्ट भी किया है कि जैसे तेज़ आग जल करके सारे ईधन को खत्म कर देती है वैसे ही ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को खत्म कर देती है (गी.४.३७)। इस प्रकार ज्ञान से मोक्ष मानने से शास्त्र अनर्थक नहीं हो जाता।

युक्ति से विचार करो तब भी ऐसा ही है। कर्म जन्मान्तर को प्रारम्भ करते हैं, किस प्रकार से? अविद्या, कामादि क्लेशरूप बीज को निमित्त बना करके ही कर्म करना और कर्म का फल भोगना बनता है। मनुष्य कर्म करने में बड़ा क्लेश उठाता है। डेढ़ सौ रुपया किलो का घी है; पहले तो डेढ़ सौ रुपया कमाओ, उसमें क्लेश। फिर उसके बाद उसका हवन करो। गर्मी के मौसम में हवन करो तो उधर लपट लगती है, इधर धुआँ आँख में घुसता है। इतना सारा वह क्लेश क्यों करता है? उसको कामना है कि 'हम सम्राट् पद को प्राप्त कर लेवें, हम देवराज इन्द्र बन जाएँ' -यह कामना है तभी ये सारे क्लेश उठाएगा, नहीं तो काहे के लिए क्लेश उठाएगा! जैसे वर्त्तमान काल में लोगों को इन्द्रपद की प्राप्ति की इच्छा नहीं; देवपद की प्राप्ति की इच्छा नहीं, चन्द्रलोक जाने की भी इच्छा नहीं, पर घी खाने की इच्छा है इसलिए घी खरीद लेते हैं फिर उसको खाते हैं। बहुत से लोग उपदेश भी यही करते हैं 'आग में घी मत झोंको, लोगों के मुँह में डालो।' उनको लगता है मुँह में डालने से उसका उपयोग होगा। आगे अगर उनसे पूछें कि 'आग में डालने से सुगन्धि आती है और मुँह

में डाल कर सबेरे बदबू आती है। तो घी का दुरुपयोग तुमने किया कि हमने किया?' तो कोई जवाब नहीं है! चूंकि उनको सूर्यलोक चन्द्रलोक किसी की इच्छा है नही, राजतंत्र खत्म हो गया इसलिए राजा बनने की भी इच्छा नहीं है अतः उनको यज्ञमें प्रयुक्त घी व्यर्थ लगता है। कामना है कि हृष्ट-पुष्ट होवें तो खा लेते हैं। और अगर किसी डाक्टर ने कह दिया 'अरे'! तुम्हारा कोलैस्ट्रोल बढ़ गया है, घी खाओगे तो दिल का दौरा पड़ जाएगा।' तो फिर डेढ़ सौ रुपए का घी भी नहीं खरीदता है। दूसरों को भी मना कर देता है। हमारे एक सज्जन थे, उनको मधुमेह हो गया तो घर में कोई भी मिठाई आनी उन्होंने बन्द कर दी, आलू का साग कभी नहीं बनने देते थे! कुछ लोग तो अपने तक सीमित रखते हैं, कुछ और आगे चलते हैं, दूसरों को भी उपदेश देते हैं- 'देखो, तुम भी मत खाया करो।' अविद्या कामादि क्लेशरूप बीज निमित्तक ही सारा कर्म और कर्मफल का भोग है। गीता शास्त्र में भी भगवान् ने बार-बार कहा है कि अहंकार को सामने रख करके जो कर्म किए जाते है वही फलारम्भक हैं। जो अहंकारपूर्वक नहीं किए जाते वे फल उत्पन्न नहीं करते। अतः खाली कर्म ही फल देता है ऐसा नहीं, उसमें अविद्या कामादि क्लेश व अहंकार आदि निमित्त हैं। अविद्या-सम्बन्ध से ही अहंकार होता है।

पुनः प्रश्न होता है कि जन्मान्तर में किए कर्मों का नाश कैसे होगा? वे तो सब अहंकारपूर्वक किए गए थे, अविद्या-काम-क्लेश निमित्त से किए गए थे। उनका क्या होगा? उत्तर है कि भगवान् तो यही कहते हैं कि 'सर्वकर्माणि' सारे कर्म जल जाते हैं। शंकावादी कहता है 'सर्वकर्मणां' का भी अर्थ कर दीजिए कि ज्ञानोत्तर भावी सर्व कर्म, क्योंकि वे अज्ञानआदिपूर्वक या अहंकारपूर्वक नहीं किए जाएँगे। सिद्धांती कहता है कि सर्व शब्द में ऐसे संकोच का कोई कारण नहीं है। प्रारब्ध का भोगमात्र से नाश सिद्धान्ती भी मानता है अतः उसने भी 'सर्व' का प्रारब्धभिन्न में संकोच किया, ऐसे ही सर्व का संकोच कर्मकाण्डी मानना चाहता है कि ज्ञान से पूर्व किये कर्मों से भिन्न अर्थात् ज्ञान के पश्चाद्भावी कर्मों को ही सर्वकर्म कहा है। इसका सिद्धान्ती की तरफ से उत्तर है कि प्रारब्ध का भोग से नाश मानने में कारण है कि जिसने अपना कार्य करना शुरू कर दिया वह ज्ञान से नहीं रुकता। जैसे किसी व्यक्ति ने दूसरे के ऊपर बाण छोड़ा, फिर उसके मन में आ गया 'हम किसी को नहीं मारेंगे' तो भी जो बाण छूट गया वह तो अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा ही। 'अब हम नहीं मारेंगे', इस संकल्प के पाँच मिनट बाद उसे बाण लगता है, वह घायल हो जाता है या मर भी जाता है। जिस समय वह मरा उस समय में तो उसको मारने की हमारी इच्छा खत्म हो चुकी थी परन्तु उसके पहले बाण छोड़ दिया था जो अपने लक्ष्य पर पहुँचा। इसी प्रकार से प्रारब्ध कर्म वह है जिसने इस शरीर में फल देना शुरू कर दिया है इसलिए उसका तो दाह ज्ञान से सम्भव नहीं है, परन्तु अतीत जन्मों के कर्म अथवा ज्ञानपूर्वक किए कर्म तो दग्ध हो जाएँगे। जिस प्रकार छूटे हुए बाण से बच नहीं सकते इसी प्रकार जिन कर्मों ने फल देना शुरू कर दिया उस प्रारब्ध कर्म को खत्म नहीं कर सकते। जैसे वहाँ बाण में

वेग है वैसे ही यहाँ शरीर और मन के अन्दर संस्कार हैं। वे संस्कार समाप्त नहीं होते। परन्तु संस्कार रहेंगे शरीर मन आदि में और जैसे ही शरीर मन आदि का वियोग होगा प्रारब्ध- समाप्ति में, वैसे ही फिर संस्कार रह नहीं जाएँगे! इसलिए भगवान् ने कहा कि फिर वह जन्म नहीं ले सकता। भत्थे के अन्दर सौ बाण भरे हुए हैं, उन्हें तो आगे नहीं चलाएगा उस संकल्प को करने के बाद, जो छूट गया उसका कुछ भले ही न कर सके। इसी प्रकार से परमात्मा ने जिस कर्म के फल का 'यह होवे' ऐसा संकल्प कर लिया वह तो हो जाएगा किंतु अनन्त जन्मों के जो कर्म हैं उनका फल देने के लिए वह आगे संकल्प नहीं करेगा। इसलिए भगवान् ने जो बात कही है कि इस शरीर के गिर जाने पर फिर उसका जन्म नहीं होता, यह बात ठीक ही है। जीवन् मुक्ति के दौरान भी प्रतीति को वह हमेशा असत्-रूप जानता है। भगवान् ने हमें सूचक दे दिया ज्ञान की दृढता का : ज्ञानी को क्षणमात्र को भी संसार के अन्दर सत्य-बुद्धि नहीं होती। जब तक क्षणमात्र भी इसमें सत्य-बुद्धि होवे तब तक तो 'सर्वथा वर्तमानोपि' नहीं लगेगा। तब तक शम-दम-आदि-पूर्वक श्रवण मनन में ही लगे रहना पड़ेगा। परन्तु जब क्षणमात्र को भी उसको सत्यत्व प्रतीति नहीं होती, तब श्रवण मनन की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार में सत्यत्व बुद्धि ही पुनर्जन्म का कारण है। जैसे ही संसार में सत्यत्व बुद्धि की प्रतीति क्षणमात्र को भी होवे वैसे ही शास्त्र का बार-बार श्रवण करो, युक्ति से उसको उपपन्न करो और पुनः जैसे ही सत्य-बुद्धि निवृत्त हो जाये वैसे ही उसी रूप में स्थित बने रहो। जब सत्यता की प्रतीति नहीं होती है तब उसको हटाने के लिए श्रवण मनन की जरूरत भी नहीं है। तब उसका शरीर-आदि-संघात 'सर्वथा' प्रारब्ध के अधीन हो जाता है।।२३।।

भगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को बताना शुरू किया, क्षेत्रज्ञ को अपना स्वरूप बतलाया फिर विस्तार से क्षेत्र का वर्णन किया। क्षेत्र का वर्णन करना त्वम् पदार्थ के शोधन के लिए आवश्यक है। पदार्थ-शोधन के साधन क्या हैं? अमानित्वादि से युक्त होकर ही त्वम् पदार्थ का शोधन सम्भव है। अतः ज्ञान के साधनों को बतला करके फिर ज्ञेय को बताना शुरू किया। ज्ञेय का शुद्ध रूप भी बतलाया और सोपाधिक रूप भी बतलाया। फिर अधिकारी बताया कि जो मेरी भक्ति करता है उसी को इसका साक्षात् अनुभव होता है अर्थात् त्वम् पदार्थ का शोधन हो करके तत् पदार्थ से एकता की प्रतीति होती है। फिर साँतवें अध्याय में जो प्रकृति-पुरुष कहे थे, उनमें जगत्कारणता कैसी है इसका विस्तार से प्रतिपादन किया। और अंत में बताया कि जो इस विज्ञान को कर लेता है वह फिर जन्म नहीं लेता। अब, जो इस साधना को पूरी तरह से करने में असमर्थ हैं उनके लिए साधनान्तरों का विधान करते हैंः-

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

कुछ साधक ध्यान के द्वारा (सुसंस्कृत) अन्तःकरण से बुद्धि में प्रत्यक्चेतन को देख पाते हैं। अन्य साधक 'गुणों का साक्षी आत्मा उनसे अलग है' इस चिंतनरूप योग से

आत्मा को समझ लेते हैं। इनसे भी अलग कल्याणेच्छुक लोग ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करना रूप योग से (क्रमशः) आत्मदर्शन पा जाते हैं।

तीन प्रकार के साधकों के लिये इस श्लोक में साधन कह रहे हैं। कुछ साधक अर्थात् परमात्मज्ञान में प्रवृत्त योगी लोग 'ध्यानेन आत्मनि आत्मना आत्मानम् पश्यन्ति'। आत्म-शब्द का प्रयोग यहाँ एक साथ भगवान् ने भिन्न अर्थों में किया है! ध्यान ही उनके लिए आत्मज्ञान का उपाय है जो विचार करने में असमर्थ हैं अथवा जिनको विचार की सुविधा नहीं मिलती है। असमर्थ हैं अर्थात् विचार करने में स्वयं अयोग्य हैं, प्रज्ञा नहीं है; अथवा स्वयं में सामर्थ्य होने पर भी उपदेशक गुरु के अभाव में भी विचार करना सम्भव नहीं होता। ऐसे लोग ध्यान कर सकते हैं। ध्यान मायने क्या? रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द - इन विषयों से इन्द्रियों को हटा कर मन में ही एकाग्र करना पहला कदम है। उपनिषद् में (कठ.३.१३) भी इसीलिए कहा है कि 'इन्द्रियों को मन में लीन करें मन को बुद्धि में लीन करें'। इन्द्रियाँ स्वभाव से विषयों की तरफ जाती हैं। इन्द्रियों को विषयों की तरफ जाने से जब रोकते हैं तब इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती। तब उसका जो कारण अन्तःकरण, मन, उस के अन्दर वह लीन हो जाएगी। इन्द्रियों को कार्यकारी न होने देना, विषयों की तरफ जाने से रोकना पहला काम है। उसके बाद मन की जो वृत्तियाँ हैं, अन्तःकरण की जो वृत्तियाँ हैं, उनको उठने से रोकना है। जब मन की वृत्तियों को रोकोगे तब वह मन अपने कारण बुद्धि में लीन हो जाएगा। तब अहंकार ही एकमात्र रह जाएगा। पहले तो इन्द्रियों को प्रवृत्ति से रोकना है। इसी को पातञ्जल योग में प्रत्याहार कहते हैं। उसके बाद मन की वृत्तियों को रोकना है, जिसे वे लोग धारणा कहते हैं। किसी एक स्थान में चित्त को स्थिर करना धारणा है। चाहे स्थान अपने शरीर में हो हृदय, भ्रूमध्य, नाभि चक्र आदि हो या बाहर हो। उपनिषदों के अन्दर सबसे ज़्यादा ज़ोर हृदय में धारणा करने पर है। इसलिए भगवान् भाष्यकार भी अधिकतर हृदय में धारणा की बात करते हैं। अन्तःकरण जो वृत्तियाँ बनाता है उसे रोक कर जब केवल अहम् रह जाये तब उस अहम् को फिर प्रत्यगात्मा में लीन करे अर्थात् 'अहम् का साक्षी चिन्मात्र जो मेरा वास्तविक स्वरूप है, अहम् का जो प्रकाश होता है, ज्ञान होता है, वही मैं हूँ' इस प्रकार अहम् को जानने वाले प्रत्यक् चेतन पर स्थिर रहना है। स्थिर रह करके जो स्थिति है उसी को यहाँ भगवान् ने ध्यान शब्द से कहा है। श्रुति के (छा.७.६) अन्दर बगुले की तरह, पृथ्वी आदि की तरह ध्यान बताया। दृष्टांत दिए कि कैसे ध्यान करना है? जैसे पृथ्वी स्थिर है, जैसे पर्वत स्थिर है, उनमें कुछ भी हिलना-डुलना नहीं, जैसे बगुला बिलकुल एकाग्र होकर मछली को देखता है, हिलता-डुलता नहीं है, वैसे ही ध्यान करना है। पृथ्वी, पर्वत प्रत्यक्ष-सिद्ध स्थिर पदार्थ बताए। यदि केवल पृथ्वी कहते तो लोग जड़ता इष्ट समझ लेते, इसलिए साथ में श्रुति ने बगुला कह दिया। पृथ्वी कोई मन रोक कर खड़ी हो ऐसी प्रतीति नहीं होती परन्तु बगुला तो अपने आप को रोक कर स्थित रहता है। इसी प्रकार अपने आप को रोक कर उस प्रत्यक् चेतन में ही

स्थित होना है। इन दृष्टान्तों से अविच्छिन्न प्रत्ययप्रवाह बतला दिया। प्रत्ययप्रवाह एक जैसा चलता है, बीच में कोई दूसरी प्रतीति नहीं आती, तब ध्यान है।

इस प्रकार के ध्यान से 'आत्मनि', जो अहंकार-वृत्ति है उसमें देखना है। जैसे दीया जल रहा है कि नहीं यह जानने के लिये सामने हाथ करो तो दीख जाए। कई बार दीपक दिखाई नहीं देता है पर चीज़ें दीखती हैं तो समझ लेते हैं कि किसी तरफ दीपक जल रहा है। इसी प्रकार, अहंकार में प्रत्यगात्मा का ज्ञान प्रकाश पड़ रहा है इसीलिए उसको ज्ञान हो रहा है, है तो वह प्रत्यगात्मा का प्रकाश। स्वप्रकाश आत्मा सीधे दीखेगा नहीं, अतः उसको अहंकार वृत्ति में देखते हैं। कैसे? 'अहंकार-वृत्ति उससे प्रकाश पा रही है' इस रूप में। किसको देखते हैं? 'आत्मानम्', प्रत्यगात्मा को देखते हैं। जैसे हाथ आदि पर पड़ी रोशनी देख कर तुमको ज्ञान होता है उस दीपक का जो वहाँ दिखाई नहीं दे रहा, इसी प्रकार यहाँ अहम् का ज्ञान हो रहा है इसलिए ज्ञानस्वरूप प्रत्यक् चैतन्य प्रकाशित है। इस तरह 'आत्मनि' अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति में, 'आत्मानम्' अर्थात् प्रत्यक् आत्मा को, 'आत्मना' ध्यान के द्वारा जिस अन्तःकरण का संस्कार हो गया है उससे। 'संस्कार हो गया है' अर्थात् इन्द्रिय-व्यापार से रहित और मनोव्यापार से रहित जो कर दिया गया है ऐसा अन्तःकरण। असंस्कृत अन्तःकरण मन का व्यवहार करेगा या इन्द्रियों का व्यवहार करेगा। जो अन्तःकरण ध्यान के द्वारा संस्कृत कर दिया गया है, उससे 'पश्यन्ति' अर्थात् देखते हैं, उसका अनुभव करते हैं। जो श्रवण मनन करने में असमर्थ हैं अथवा जिनको उसकी सुलभता नहीं है, वे इस प्रकार से इस तत्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

यहाँ भगवान् ने 'पश्यन्ति' कहा है। कुछ लोग स्वीकार कर लेते हैं कि 'पश्यन्ति' अर्थात् 'साक्षात् कुर्वन्ति' इस प्रकार साक्षात्कार हो जाता है। दृष्टान्त देते हैंः कहीं दूर में खिड़की के अन्दर एक हीरा रखा हुआ है। दूर से व्यक्ति को हीरा तो नहीं दीखता है पर हीरे की चमक दीखती है। वह उस चमक को हीरा समझ लेता है और उस हीरे को लेने जाता है। क्या देख कर जाता है? चमक देख कर, क्योंकि उस चमक को उसने हीरा समझा था। उसका वह ज्ञान भ्रम था। परन्तु जब खिड़की के पास पहुँच जाता है तब वहाँ पास ही उसको हीरा मिल जाता है। भ्रम से भी कई बार सही फल हो जाता है। चमक हीरा नहीं है, पर चमक देख कर अगर गए और वहाँ हीरा है तो हीरा मिल ही जाता है। इसी प्रकार अहंकार के ऊपर पड़ रहा प्रकाश प्रत्यक् चेतन नहीं है लेकिन उस अहंकार के पास में प्रत्यक् चेतन है अतः अहंकार के साक्षी रूप में तुमने ध्यान किया तो उस ध्यान से उस प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति हो जाती है। अतः 'पश्यन्ति' मायने 'साक्षात् कुर्वन्ति'। जो लोग ऐसा स्वीकार नहीं करते वे कहते हैं 'पश्यन्ति' अर्थात् ध्यान से शुद्ध होकर, ब्रह्मलोक जाकर, वहाँ ब्रह्मा जी के उपदेश से ज्ञान पा जाते हैं। दोनों ही अर्थ सम्भव हैं।

'अन्ये', दूसरे लोग 'सांख्येन योगेन'। सांख्य अर्थात् यह चिन्तन कि ये सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण मेरे द्वारा जाने जाते हैं। सुख होता है तो भी मैं जानता हूँ कि सुख हो

रहा है। दुःख होता है तब भी मैं जानता हूँ कि दुःख हो रहा है। ये सांख्य वृत्तियाँ हैं। कापिल सांख्य योग यहाँ विवक्षित नहीं समझना। 'सम्यक् ख्यायते' जिससे चीज़ का ठीक ज्ञान होता है उसको सांख्य कहते हैं। सुख-दुख-मोह *का* ज्ञान होता है यह पहली समझ है। साधारण आदमी को इस प्रकार ज्ञान नहीं होता, उसको तो हमेशा यही प्रतीति होती है- 'मैं सुखी, दुःखी, मैं मुग्ध'। *ये* सुख दुःख मुझ से अलग हैं- ऐसा जिन्होंने अच्छी तरह से सांख्य रूपी विवेक कर लिया है वे ही समझ पाते हैं। उन्हें मालूम रहता है कि सुख-दुःख-मोह का मैं जानने वाला हूँ। जानने वाला होने से मैं सुखी हूँ। क्योंकि 'यह मेरा सुख है' इस प्रकार से जान रहा हूँ इसलिये 'मैं सुखी'- यह भ्रम हो जाता है। जिस तरह से, जिसके पास एक अरब रूपया होता है उसे प्रतीति होती है 'मैं धनी'। धन तो अलग है। जानता भी है कि धन अलग है, परन्तु 'धन मेरा है इसलिए मैं धनी'। बैंक में एक अरब रुपया पड़ा है उससे तो 'मैं धनी' नहीं हो जाता! लेकिन 'मेरा धन है' इसलिए मैं धनी - यह प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार सुख-दुःख-मोह - ये तो सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण का अन्तःकरण के अन्दर प्रस्फुटन होना है। पर क्योंकि अन्तःकरण मेरा है इसलिए मुझे मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मुग्ध ये प्रतीतियाँ हो जाती हैं। ये सारे जो गुण हैं इन्हें तो मैं देखता हूँ, जानता हूँ, परन्तु मैं उनसे अलग हूँ। उनके व्यापार का केवल साक्षी हूँ। सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुण सुख-दुःख-मोह आदि सब व्यापार कर रहे हैं, परन्तु मैं उनको जानने वाला, उनका साक्षी हूँ। ये गुण बदलते रहते हैं अतः अनित्य हैं, और मैं साक्षी जानने वाला वैसा-का-वैसा बना रहता हूँ। सुख आया, दुःख आया, सुख और दुःख दोनों हुए तो मुझे ही, पर मैं बदला नहीं कि मैं पहले देवदत्त था, अब यज्ञदत्त हो गया! इसलिए मैं नित्य हूँ। सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण आने-जाने वाले हैं। अतः मैं नित्य होने के कारण और वे अनित्य होने के कारण मैं सर्वथा उनसे विलक्षण हूँ। इस प्रकार का जो चिन्तन है, ध्यान है वह सांख्य है और क्योंकि ध्यान है इसलिए 'योगेन' उसे योग भी कहते हैं। यह सांख्य योग है। उस सांख्य योग से 'आत्मना आत्मानम् पश्यन्ति' अंतःकरण को संस्कृत कर उसी के बलपर उससे पृथक् उसके साक्षी के रूप में आत्मा को, स्वयं को समझते हैं। जैसे पहले विकल्प में अहंकार के ऊपर पड़ने वाला प्रकाश प्रत्यगात्मा नहीं था परन्तु प्रत्यगात्मा के नज़दीक था, उसी प्रकार इन सबका साक्षी प्रत्यगात्मा नहीं है क्योंकि प्रत्यगात्मा सारे परिच्छेदों से रहित है। आत्मा तो 'अयमात्मा ब्रह्म' व्यापक, अपरिच्छिन्न है। और साक्षी को भेदज्ञान है इसलिए अपरिच्छिन्नता का ज्ञान भी नहीं है और गुणों के कार्यों में मिथ्याबुद्धि भी नहीं है। फिर भी, क्योंकि जिस साक्षी को जानते हैं उसका शुद्ध रूप ही प्रत्यगात्मा है, ब्रह्म है, इसलिए 'पश्यन्ति' कहा। इस योग द्वारा शुद्ध अन्तःकरण में 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य कभी मिल जाएँ तो तुरन्त स्थिति हो जाएगी। इसलिए क्रम से इन्हें भी आत्मदर्शन हो जाता है।

इन दोनों विकल्पों के अन्दर चिन्तन प्रधान है। चिन्तन के प्रकार का भेद है लेकिन दोनों चिन्तन ही कर रहे हैं, मन के द्वारा ही साधन कर रहे हैं।

कुछ लोग खाली मन के द्वारा साधन नहीं कर सकते! उनको जब तक शरीर से कुछ किया न जाए तब तक साधना होती नहीं लगती। उनको हाथ में माला दो तब तो जप कर लेगें। माला चलती रहे, हाथ चलता रहे तो जप कर लेंगे। उनसे कहो 'बिना माला के जप करो', तो उनको नींद आने लगती है। इसी तरह से भगवान् की पूजा तीन घण्टे तक भी कर लेंगे। चन्दन घिस लेंगे, अक्षत लगा देंगे, सब कुछ कर लेंगे। परन्तु उनसे कहो 'मानसिक पूजा करो' तो उनकी मानसिक पूजा एक मिनट में खत्म हो जाती है। ऐसे 'अपरे' दूसरे लोग जो हैं वे 'कर्मयोगेन', उनके लिए कर्म ही योग है, अर्थात् श्रुति और स्मृति के अन्दर जो कर्म प्रतिपादित किए हैं अथवा उनसे अविरुद्ध लैकिक कर्म भी हैं, उन सबका वे ईश्वरार्पण-बुद्धि से अनुष्ठान करते हैं। कर्म करते हैं, लेकिन करते हुए उनका हमेशा संकल्प है 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' भगवान् के अर्पण हैं। लौकिक कर्म भी करते हैं तो सांसारिक लाभ के लिए नहीं वरन् ईश्वरार्पण-बुद्धि से कि 'परमेश्वर ने मुझे यह औरत दी है इसलिए इस का पोषण करना मेरे ऊपर भगवान् ने छोड़ा है अतः भगवान् के लिए मैं उसका पोषण कर रहा हूँ। बच्चे भगवान् ने दिए हैं तो भगवान् के लिए ही उनका पालन कर रहा हूँ। बीबी-बच्चे मुझे क्या देगें इससे मुझें कोई मतलब नहीं है।' इसलिए उनके मन में कभी नहीं आता कि 'मैंने इस बच्चे की पढ़ाई के लिए इतनी मेहनत की और यह अब मुझ से बात भी नहीं करता।' प्रायः आजकल ऐसी शिकायत लोगों को होती है। इस प्रकार का रोग कर्मयोगी के मन में कभी नहीं आता क्योंकि उसने परमेश्वर के लिए किया, उसे यही लगता है कि 'परमेश्वर का ही मैंने काम किया। श्रुतियों में और स्मृतियों में जो कहा है उसका पालन करता हूँ क्योंकि परमेश्वर ने आज्ञा दी है। इसी प्रकार से लौकिक कर्मों में मैं जहाँ कहीं भी स्थित हूँ वहाँ परमेश्वर ने वह मेरे जिम्मे दिया है इसलिए मैं करता हूँ। लाभ-हानि की कोई दृष्टि नहीं है।' इसका मतलब यह नहीं समझना कि वह काम ठीक से नहीं करता! काम तो पूरे ठीक से करता है परन्तु 'इस काम का फल मुझे मिले' यह नहीं चाहता है। एक बार रमण महर्षि से किसी ने पूछा कि निष्काम कर्म किसको कहते हैं? उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। उनकी आदत थी, कभी जवाब देते थे तो बहुत देते थे, नहीं देते थे तो बिलकुल नहीं देते थे। शाम का समय था, थोडी़ देर बाद घूमने चले गए। घूमने गए तो वहाँ उन्होंने एक सीधी बढ़िया लकडी़ देखी जो कँटीली झाड़ी की थी। वह डण्डा उन्होंने तोड़ लिया। तोड़ कर उसके सब काँटे निकालने लगे। जो भक्त साथ थे सब बोले 'हम निकाल दें, हम निकाल दें।' उन्होंने कहा 'हम निकालेंगें।' सारे काँटे निकालने में घण्टा भर लग गया। उसके बाद पत्ते लेकर उसको अच्छी तरह से रगड़ कर चिकना-सा बना दिया। उसको लेकर घूमते हुए आश्रम की ओर चल दिये। सभी भक्तों के मन में था कि 'यह डण्डा किसको देंगे?' चलते-चलते थोडी़ दूर तक आए तो एक गाय चराने वाला बच्चा रो रहा था, उससे पूछा 'अरे! क्यों रो रहा है?' उसने कहा 'क्या बताऊँ, गायों को हाँकने की लकडी़ थी। गाय ज़रा दूर भाग रही थी तो मैने ऐसे फैंक दी कि गड्ढे में चली गई। अब घर

जाऊँगा तो माँ डाँटेगी, कहाँ फैंक आया।' महर्षि ने कहा 'यह ले। इससे तेरा काम हो जाएगा। घर जा, कोई तुझे डाँटेगा नहीं।' सब लोग आश्चर्य में पड़ गये। लड़का चला गया। थोड़ी दूर आगे आ गए, तो जिसने सवाल पूछा था उसको उन्होंने कहा 'यह निष्काम कर्म है।' लकड़ी बनाने में तो पूरी सावधानी रखी, पत्ते लेकर के पालिश–वालिश सब कर दिया। काम तो पूरा किया। पर उसके फल के प्रति 'यह लकड़ी मेरे पास रहे या मैं अपने किसी भक्त को दूँ' ऐसा कोई भाव नहीं रखा। ईश्वरार्पण बुद्धि से ही जो कर्मका अनुष्ठान किया जाता है वही योग है। योग के लिए है इसलिए उसको योग कहते हैं। उसके द्वारा चित्त–शुद्धि होकर ज्ञानोत्पत्ति का द्वार खुल जाता है। जैसे ध्यान द्वार हो जाता है, जैसे विवेक, सांख्य योग, द्वार हो जाता है, वैसे ही इस प्रकार का जो कर्मयोग है वह भी परमात्मप्राप्ति का द्वार हो जाता है।।२४।।

ये तीन प्रकार के साधक ऐसे बतलाए जो श्रुति स्मृति को जानते हैं, परमात्मा के रूप का कुछ विवेक उन्होंने सीखा है अथवा ध्यान की प्रक्रिया उन्होंने की है। अब चौथा प्रकार उनका बतलाते हैं जो हम लोगों की तरह हैं!

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

प्राप्त उपदेश ही जिनके लिये प्रमाण है ऐसे अन्य (अविवेकी) लोग तो यथोक्त आत्मा के बारे में न जानते हुए भी दूसरों से सुनकर चिंतन करते रहते हैं तो वे भी मृत्युयुक्त संसार को लाँघ जाते हैं।

'अन्ये तु', 'तु' से व्यावृत्त करते हैं। प्रथम तीन प्रकार के साधक तो स्वतन्त्रप्रज्ञ थे अर्थात् उनमें स्वयं करने की सामर्थ्य थी और ये हैं जो स्वंय करने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए जो तीन विकल्प बताये इनमें से किसी को भी ये नहीं कर पाते हैं। 'एवम्' अर्थात् जो तीन प्रकार ऊपर बतलाए हैं उन्हें 'अजानन्तः'। न उनको ध्यान–योग का पता है, न उनको सांख्य योग का पता है, न कर्मयोग ही जानते हैं। ये तीनों बातें नहीं जानते। खाली 'अन्येभ्यः श्रुत्वा', जो आचार्य हैं, बड़े लोग हैं, उनसे केवल उन्होंने श्रवण किया है। खुद उन्होंने विचार करके इन चीज़ों को समझ कर, जान कर कुछ नहीं किया, जैसा आचार्यों ने उनको बतला दिया, उसको सुन करके पूरी श्रद्धापूर्वक 'यह ऐसा ही है', इस निश्चय से जैसा आचार्यों ने कहा वैसा ही अनुष्ठान किया। आगे सत्रहवें में भगवान् से पूछेगा अर्जुन कि जो खुद जानने में असमर्थ हैं उनके लिये क्या उपाय है? भगवान् यही कहेंगे जो बात यहाँ कह रहे हैं कि सुनकर करना ही ऐसों के लिये उपाय है। यह भी उपासना है क्योंकि पूर्ण श्रद्धा रख करके जैसा कहा वैसा ही मानते व करते हैं। 'तेऽपि', ऐसे जो श्रद्धा वाले हैं वे भी 'अतितरन्ति मृत्युं', मृत्यु का अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् मृत्यु रूपी संसार से परे चले जाते हैं। 'श्रुति- परायणाः' श्रुति अर्थात् श्रवण, बस श्रवण ही उनका अयन है

अर्थात् उनका एकमात्र रास्ता है। निरन्तर जो सत्संग में लग कर उन बातों को जैसा है वैसा ही श्रद्धापूर्वक मानते हैं, वे भी उसी परा गति को प्राप्त कर लेते हैं, मृत्यु से परे चले जाते हैं। उनके लिए मोक्ष मार्ग की जो प्रवृत्ति है उसमें केवल सुनना ही साधन है। भाष्यकार स्पष्ट करके कहते हैं 'श्रुतिपरायणाः केवलं परोपदेशप्रमाणाः'। 'आचार्यों ने ऐसा कहा है' बस यही उनके लिये प्रमाण है। प्रमाण का मतलब है जिससे तुमको यथार्थ ज्ञान होवे। जैसे तुम रास्ते पर चलते हो तो आँख से देखते हो। आँख से सड़क दीखे, गड्ढा नहीं दीखे तो तुम उसको सड़क ही मानते हो, गड्ढा तो नहीं मानते! नाक से तुमको गुलाब की सुगन्धि आती है तो उसको गुलाब की सुगन्धि ही मानते हो, सूअर की टट्टी की बदबू तो नहीं मानते! जैसे तुमको अपनी इन्द्रियों के ऊपर श्रद्धा है वैसे ही आचार्य- वाक्य पर इन लोगों की श्रद्धा होती है। उनमें अपना विवेक कुछ नहीं है। जो गुरु ने कहा बस उस उपदेश मात्र को ही प्रमाण लेकर के चलते हैं, उसके अनुसार साधना करते हैं। यों निष्ठासे करते हैं इसलिये उपासना है, इसीलिये सद्गति भी पा जाते हैं।

'अपि' के द्वारा भगवान् ने कहा कि जो ऐसे केवल सत्संग के श्रवणमात्र से ही साधन को करने वाला है जब वह भी पार हो जाता है तब फिर जो प्रमाण के प्रति स्वतन्त्र हैं विवेकी लोग अर्थात् स्वयं विवेक करने में समर्थ हैं, वे मृत्यु का अतिक्रमण कर जाएँगे इसमें कहना ही क्या है! अर्थात् प्रथम तीन के अतिक्रमण में तो कोई सन्देह ही नहीं है। स्वयं प्रज्ञा नहीं है तो जैसा कहा गया है बस वैसा ही मान सकते हैं लेकिन उसको पूरी श्रद्धा से मानें और तदनुसार जीवन बनायें तो वे भी पार कर जाते हैं। पहले तीन साधन बहुत कम लोगों के बूते के होते हैं, अधिकतर लोग इस चौथे स्तर के ही हैं परन्तु भगवान् ने जो यह साधन बतलाया यह भी इतना सरल नहीं है जितना लगता है! क्योंकि अपने मन में इतने कुतर्क भरे हुए हैं अनादि काल से, जो स्थिर श्रद्धा को होने नहीं देते, स्थिर श्रद्धा में रुकावट करते हैं। पुनः पुनः सत्संग के द्वारा धीरे-धीरे कुतर्क शान्त होते हैं। इसलिए इस साधन को निरन्तर करते रहना पड़ता है। एक बार सुन लिया - इतने मात्र से श्रद्धा स्थित होती नहीं। जब उसी बात को अनेक युक्तियों से, अनेक ढंग से समझाया जाता है तब मन में बैठ जाती है। परन्तु निश्चित है कि इस साधन में लगा हुआ भी जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं आता।।२५।।

इस प्रकार क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की एकता विषयक जो ज्ञान है वही मोक्ष का साधन है यह भगवान् ने बतलाया। उस ज्ञान को ही मोक्ष का साधन क्यों कहते हैं? बार-बार श्रुति कहती है कि ज्ञान के बिना मुक्ति होती नहीं, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ज्ञान से ही कैवल्य होता है। ज्ञान अर्थात् भगवान् ने पहले कह दिया, क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की एकता का निश्चय। ज्ञान के इस वैशिष्ट्य को बतलाने के लिए आगे कहते हैं–

यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२६।।

भरतकुलभूषण! चर-अचर सभी वस्तुएँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होती हैं यह निश्चय रखो।

जितना कुछ भी है, चाहे पेड़-पौधे आदि स्थावर है, चाहे कीट पतंग मनुष्य देवता आदि जंगम है, जो भी स्थावर और जंगम 'सत्त्व' वस्तु है, वह 'सञ्जायते' उत्पन्न होती है। किससे उत्पन्न होती है? 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होती है। बिना इन दोनों के सम्बन्ध के कुछ भी पैदा नहीं होता। जितने भी विषय हैं सब हम लोगों के कर्मफल से ही पैदा होते हैं। रास्ते में चलते हुए तुमको कोई चट्टान दीख जाती है तो निश्चित समझो वह चट्टान तुम्हारे पहले किए हुए कर्मों के फल रूप से ही दीख रही है। कर्म तुमने किससे किया है? क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोग से क्योंकि कर्म करने के लिए तुमको इन्द्रियों के साथ, शरीर के साथ एक होना पड़ेगा तभी कर्म करोगे। शरीर इन्दियाँ तब तक कर्म नहीं करेंगी जब तक तुम वहाँ न हो। जो भी कर्म किया जाएगा वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग से है और जो भी संसार है वह कर्मफल है। यदि दस हज़ार आदमी खड़े हैं तो दस हज़ार आदमियों का कर्मफल चट्टान रूप में है। कई बार लोग प्रश्न करते हैं 'महाराज! हवाई जहाज में नब्बे आदमी जा रहे थे, इकट्ठे ही कैसे मर गए?' वे सोचते हैं कि जो नया आजकल 'चांस' देवता है उसी से ये काम हो जाते होंगे। ऐसा वेदान्त स्वीकार नहीं करता। उस समय जलते हुए गिरने के कर्मफल वाले लोग वहाँ इकट्ठे हो गए थे इसीलिए उनके अपने-अपने कर्मफलों के कारण विमान का जलना हुआ। चांस नाम की चीज़ को हम लोग नहीं स्वीकार करते। एक कथा आती हैः एक जगह दस आदमी काम कर रहे थे। अकस्मात् बादल आ गए, बड़े ज़ोर से बिजली चमकने लगी तो वे लोग एक झोंपड़े में चले गए। बिजली बार-बार चमके, खूब कड़क कर चमके, परन्तु गिर नहीं रही थी। कुछ लोगों ने कहा 'अरे! यह बिजली चमक-चमक कर आती है, अपने में से किसी एक का ऐसा कर्मफल होगा। वह निकल जाए तो हम सब बच जाएँ।' ऐसी सामान्य बुद्धि होती है कि 'हम बच जाएँ।' उन्होंने एक को किसी तरह बाहर किया। फिर भी बिजली वैसी चमकती रही। होते-होते एक-एक करके नौ जाकर आ गए। अब दसवाँ बचा। उससे कहा 'तुम बाहर जाओ।' उसको तो निश्चय था कि 'बस, मेरे ही कारण हो रहा है। अगर मैं इनके साथ रहा तो शायद बच जाऊँ इनके प्रारब्ध के कारण।' अतः उसको बाहर करना असम्भव-सा हो रहा था। जबर्दस्ती उसको बाहर निकाल दिया। जब वह बाहर चला गया तब बिजली कड़की और उस झोंपड़े पर पड़ी, नौ जने मर गए! जिसको निकाला था वह एक ही बच गया। इसलिए, जो भी कर्मफल होता है वह अपने कर्म का ही है। भोगने वाले लोग इकट्ठे हो जाएँ यह बात दूसरी है, परन्तु भोग अपना-अपना ही हो रहा है। अतः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग से ही होता है इस बात को भगवान्

ने कहा 'विद्धि', तू निश्चय कर ले।

'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्'। क्षेत्र पहले बता आए हैं महाभूत से लेकर अन्तःकरण की वृत्तियों तक। वह सारा जडरूप है। क्षेत्रज्ञ को चेतनरूप कहा- ईश्वररूप बताया। किंतु जड और चेतन का संयोग कैसे होवे? भगवान् ने तो कह दिया 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्'। क्या मतलब है भगवान् का? एक तो संयोग होता है जैसे रस्सी से घड़े की गर्दन बाँध देते हो तो घड़े के कुछ अवयवों का रस्सी के कुछ अवयवों से संयोग हो जाता है। इस प्रकार से क्षेत्रज्ञ का कोई अवयव है नहीं जिससे क्षेत्र का संयोग होवे। क्षेत्रज्ञ निरवयव है इसलिए इस प्रकार का संयोग तो बनता नहीं। दूसरा होता है समवाय सम्बन्ध। कपडा धागों में रहता है। कपडा धागों से जिस सम्बन्ध वाला है वह समवाय सम्बन्ध है। यहाँ किसी अवयव का संयोग नहीं है। किन्तु यहाँ यह संबंध इसलिए नहीं हो सकता कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ एक-दूसरे के प्रति कारण- कार्यरूप नहीं है। धागा कारण है, कपड़ा कार्य है इसलिए कारण और कार्य का सम्बन्ध समवाय हो जाता है। ऐसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ एक-दूसरे के कारण- कार्य नहीं हैं। फिर भगवान् ने कैसे कह दिया कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग से होता है? विचार करने पर पता लगता है कि विषय और विषयी- ये दोनों सर्वथा भिन्न स्वभाव के होने के कारण अन्योन्याध्यास ही इनका सम्बन्ध है, संयोग है। क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ में अध्यास हो जाना, क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र में अध्यास हो जाना - यह अन्योन्याध्यास है। इसी से अन्योन्य अर्थात् एक दूसरे को बाँधते हैं। यह जो बाँधना है यह नैसर्गिक है, स्वभाव से है। 'मै शरीर हूँ' यह स्वभाव से अनुभव है। किसी ने तुमको उपदेश नहीं किया! बहुत से लोग कहते हैं 'महाराज! बच्चे को शुरू से ही सिखाओगे 'मैं शरीर नहीं हूँ' तो सब ज्ञानी हो जाएँगे।' वे सोचते हैं मैं शरीर हूँ- यह कुछ सिखाने से आया होगा! मैं शरीर हूँ - यह स्वाभाविक अनुभव है। उसको कितना ही पढ़ा दो कि 'मैं शरीर नहीं हूँ', परन्तु सब पढा़ने के बाद भी अपने को शरीर समझना ही स्वभाव है। नैसर्गिक है अन्योन्याध्यास, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अध्यास। 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ- संयोगात्' में भगवान् का तात्पर्य है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अन्योन्याध्यास ही संयोग है। यह अध्यास होने से हमेशा मिथ्याज्ञान-स्वरूप है। अन्योन्याध्यास से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो संयोग है वह मिथ्याज्ञान है। जो मिथ्याज्ञान हुआ करता है वह जब सच्ची चीज़ का विवेक किया जाता है तब दूर होता है। और कोई उसको दूर करने का उपाय नहीं है। यदि और कोई सम्बन्ध होता तो किसी उपाय से दूर हो जाता। यह चूंकि मिथ्याज्ञान रूप है, अन्योन्याध्यास रूप है, इसलिए यथार्थ ज्ञान से ही जा सकता है, और कोई दूसरा इसको हटाने का उपाय नहीं है। परन्तु जैसा श्रुति ने कहा है, यह करना पड़ता है बड़े धैर्य से। इसलिए कहा है सरकन्डे के अन्दर की तीली को निकालने में जैसे बडी़ सावधानी करनी पड़ती है, थोडा़-सा हाथ इधर-उधर हो जाए तो टूट जाती है और टूट जाए तो फिर उसको निकालना सम्भव ही नहीं रह जाता है, ठीक इसी प्रकार से बड़े धैर्य से धीरे-धीरे वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करना पड़ता है। इस विवेक को करने के लिए पहले लक्षण का ज्ञान ज़रूरी है। लक्षण जानोगे

तब दोनों चीज़ों को अलग करोगे। जैसे मूंग की दाल और छोटे हरे पत्थर मिले हों तो बीनना असम्भव हो जाता है। परन्तु जो लक्षण को जानता है वह मूंग को पकड़ कर जैसे ही देखता है वैसे ही नाखून से दबाता है। मूंग दब जाता है, पत्थर दबता नहीं। जिसको इस लक्षण का पता है वह तो उन दोनों को देख कर अलग कर लेगा। किंतु जो इस लक्षण को नहीं जानता वह उन्हें विविक्त नहीं कर सकता। लक्षण को ही श्रुति बतलाती है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए विवेक तो तुमको स्वयं करना पड़ेगा परन्तु लक्षण जाने बिना विवेक सम्भव नहीं है, अतः उसको शास्त्र के द्वारा ही जानना पड़ता है। इसलिए भगवान् ने जो कहा 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्', वह इसलिए जिससे यह निश्चय हो सके कि 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ज्ञान के बिना मोक्ष हो नहीं सकता।

अन्योन्याध्यास से ही सारा संसार बनता है– यह भगवान् ने बहुत गम्भीर बात कह दी है। अध्यास अर्थात् जो नहीं है वह है की तरह दीखता है। इसी का नाम अध्यास है। अतः भगवान् ने यहाँ कह दिया कि जो कुछ भी इस संसार में है वह सब नहीं है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होता है कहकर भगवान् ने और किसी भी कारण की व्यावृत्ति कर दी। कहा कि जो कुछ भी संसार में होता है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अध्यास से होता है। अध्यास वह होता है जो हुआ नहीं करता! रस्सी में सर्प का अध्यास है अर्थात् रस्सी में सर्प नहीं है। रस्सी में सर्प नहीं है तो वह सर्प कहाँ है। वास्तव में कहीं नहीं है! जैसे माया से हाथी बन जाता है। लम्बा-चौड़ा हाथी दीखता है पर पास में जाओ तो पता लगता है कि कुछ नहीं है। जादूगर पाँच-पाँच सौ के नोटों की गड्डियाँ दिखला देता है जबकि वहाँ होता कुछ नहीं है। तुम खुद भी स्वप्न में कितनी चीज़ों का निर्माण कर लेते हो परन्तु वहाँ होता कुछ नहीं है। राजस्थान के अन्दर गन्धर्व-नगर दीखता है। जैसे गन्धर्व नगर आदि सचमुच में नहीं होते हैं परन्तु सच की तरह अवभासित होते हैं, प्रतीत होते हैं, ऐसे ही संसार के विषय सचमुच में नहीं हैं और है की तरह दीखते हैं। जो होता नहीं है परन्तु है की तरह दीखता है, असल में तो वही मिथ्या है। उसी को मिथ्या कहते हैं। मिथ्या के लक्षण अनेक प्रकार से करते हैं। ज्ञान से जो हट जाए वह मिथ्या होता है। ज्ञान से अज्ञान ही हटता है। अज्ञान के हटने से अज्ञान का कार्य हट जाता है। सत् से भिन्न होना भी मिथ्या का लक्षण है। जो कभी भी है नहीं फिर भी है की तरह प्रतीत होता है। मिथ्या सत् और असत् दोनों है, यह हम लोग कह नहीं सकते क्योंकि ये अत्यन्त विरुद्ध चीज़ें हैं। जो सत् होता है वह असत् नहीं होता। अतः सत्-असत् दोनों से विलक्षण को मिथ्या कहते हैं। नष्ट वह चीज़ होती है जो किसी समय में हुआ करती है और फिर नहीं रहती। लेकिन जिस समय में प्रतीत हुई उस समय में थी, तब नष्ट होगी। उसी को अनित्य कहते हैं, वह कभी है, कभी नहीं है। मिथ्या वह नहीं है कि जो तुमको दीखते समय में है और बाद में नहीं है। मिथ्या का निश्चय होता है कि जिस समय देख रहे थे उस समय भी नहीं थी। इस प्रकार 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग' से भगवान् ने कहा कि जिस समय में संसार दीख रहा है उसी समय में नहीं है। दीखता है है-रूप में परन्तु उसी समय नहीं है। ऐसा जिसको सम्यक् दर्शन है उसका मिथ्या ज्ञान हट जाता है। मिथ्या ज्ञान क्या है? 'यह संसार है।' संसार

में अपने शरीर-मन भी आ गये। ये हैं ऐसा निश्चय तत्त्वज्ञान से चला जाता है। मिथ्या ज्ञान ही जन्म का कारण है। जन्म का कारण मिथ्या ज्ञान ही है। मिथ्या ज्ञान दूर हो जाने पर जन्म का कारण हट गया। इसलिए भगवान् ने कहा कि इस प्रकार से जो जानता है 'न स भूयोऽभिजायते', वह फिर पैदा नहीं होता। यदि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' यह यहाँ नहीं कह दिया गया होता तो यह बात सांख्यों की तरह लगती कि जो प्रकृति को जानता है और पुरुष को जानता है, उसका जन्म नहीं होता अर्थात् जो कपिल के अनुयायी हैं उनका जन्म नहीं होता! परन्तु आगे यह शब्द कहने से भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जिसका यह निश्चय है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग से जगत् होता है वही मुक्त होता है। सांख्यों के मत में तो प्रकृति से सारा क्षेत्र उत्पन्न होता है, उसके लिए क्षेत्र- क्षेत्रज्ञ के संयोग की ज़रूरत नहीं है।

यहाँ सम्यक् दर्शन का फल मोक्ष भगवान् ने बतलाया क्योंकि अविद्या ही संसार का बीज है। अविद्या होने से ही कामना होती है। जब हम किसी चीज़ को 'है' करके जानते हैं तभी उसकी कामना होगी। जिसे 'नहीं है' जानेंगे उसकी कामना उत्पन्न नहीं होगी। कामना नहीं होगी तो कर्म नहीं होगा। इस प्रकार से अविद्या काम कर्म - ये ही सारे संसार के हेतु हैं। ज्ञान से अविद्यारूप बीज के निवृत्त हो जाने से ही भगवान् ने कह दिया कि तत्त्वज्ञका जन्म नहीं होता। 'संसार है' यही समझना अविद्या है, अज्ञान है, उसको निवृत्त करने वाला सम्यक् दर्शन बतलाया।।२६।।

यद्यपि सम्यग् दर्शन संक्षेप से पहले भी कह आए हैं लेकिन कठिन होने से फिर शब्दान्तर से कहते हैं। वेदान्त का विषय कठिन होने से इसको बार-बार कहना पड़ता है। अलग-अलग शब्दों से, अलग-अलग हेतुओं से समझाया जाये तब इसके संस्कार दृढ होते हैं। ज्ञान तो एक ही हेतु से हो जाता है लेकिन दृढता नहीं आ पाती। इसी प्रकार श्रुति ने एक बार कह दिया तो ही पता लग जाता है कि क्या है, परन्तु दृढता नहीं होती। लगता है 'शायद और कोई मतलब होगा।' अतः जब अनेक प्रकार से, अनेक युक्तियों से, अनेक शब्दों से कहते हैं तब निश्चय होता है। निश्चय फिर संस्कार में परिणत हो जाता है अर्थात् फिर वही उपस्थित होता है, उससे विपरीत बात उपस्थित ही नहीं होती। दृढता यही है कि जैसे ही ग़लत संस्कार उपस्थित होवे वैसे ही उसको तुरन्त श्रवण मनन आदि के द्वारा काट सकें। विपरीत संस्कारों को तो तुम अनन्त जन्मों में दृढ करते ही रहे हो। सम्यक्ज्ञान तो अभी शुरू हुआ है। और माया इतनी जबरी है कि अब भी संसार को उपस्थित करती है तो सद्-रूप से ही करती है। जिस चीज़ को देखते हो वह 'है'- ऐसी बुद्धि अपने आप उत्पन्न होती है। 'संसार है' के संस्कार अनादि काल से चले आ रहे हैं और इस समय में भी चीज़ें तुमको बार-बार है के रूप में ही प्रतीत होती हैं। इसलिए उस संस्कार को काटने के लिए बड़ी सावधानी पूर्वक जब लगे रहते हैं तब है की प्रतीति होते ही उसका 'नहीं होना' संस्कार से उपस्थित हो जाता है, बिना सोचे हुए ही स्फुट हो जाता है। इसलिए भगवान् शब्दान्तर से फिर कहते हैं, दूसरी तरह से कहते है-

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब विनष्ट होते प्राणियों में एक समान रहने वाले अविनाशी परमेश्वर का जो साक्षात्कार करता है वही सही जानकार है।

'सर्वेषु भूतेषू' ब्रह्मा विष्णु से लेकर घास के तिनके तक 'समं' अर्थात् एक जैसा, निर्विशेष, बिना किसी विशेष के रहने वाला परमेश्वर है। अर्थात् ब्रह्मा विष्णु के शरीर में वह तिनका भर भी ज़्यादा हो और घास में अणुमात्र भी कम हो, ऐसा नहीं है। दोनों जगह परमेश्वर एक जैसा ही है। समभाव से वह सारे भूतों में स्थित है, स्थिति करता है। ये सारे भूत क्यों स्थित हैं? परमेश्वर वहाँ है इसलिए स्थित हैं। मिट्टी के सब बर्त्तनों में मिट्टी एक जैसी स्थित है। किसी भी शक्ल के तुम मिट्टी के बर्तन बना दो, उन सब के अन्दर मिट्टी एकरूप से स्थित है और मिट्टी है तभी वे सब चीज़ें स्थित हैं। मिट्टी निकाल लो तो न घड़ा है, न सिकोरा है। मिट्टी है तो उसमें घड़ा सिकोरा सब प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार से परमेश्वर है इसलिए ब्रह्मा विष्णु भी प्रतीत होते हैं और घास का तिनका भी प्रतीत होता है। अविद्या के कारण ये आकार बनते हैं। मनुष्य का आकारों के प्रति बड़ा तीक्ष्ण आकर्षण अनादि काल से है इसलिए वह सत्य को नहीं देख पाता। सुन्दर से सुन्दर शरीर के अन्दर क्या है? सिवाय मज्जा अस्थि माँस रुधिर के कुछ नहीं है। शरीर को खोल कर देखो तो कहीं कोई चीज़ आकर्षण करने वाली नहीं मिलती। मूर्ख भी इसमें स्थित चीज़ों से आकृष्ट नहीं होता। परन्तु उसके ऊपर एक खोल चढ़ गया, एक आकार बन गया, तो लगता है कि बड़ी सुन्दर स्त्री है। कई लोग उस सुन्दरता के पीछे- यदि विवाह नहीं होता तो- आत्महत्या कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार से कपड़ा, गहना, जो चीज़ खरीदते हैं उसका आकार इतना आकृष्ट करता है कि चीज़ को नहीं देखते कि माल क्या है। इसी प्रकार अनादि काल से संसार के आकारों को देख रहे हैं, उनकी इच्छा कर रहे हैं। वस्तुतः आकार सचमुच में कोई चीज़ नहीं हैं, केवल दीखने मात्र को हैं। सन्मात्र के अन्दर ये सब आकार दीखने मात्र को हैं, हैं नहीं! यदि वह सत् न हो तो ये कोई आकार नहीं दीख सकते। सत् है इसलिए सारे आकार दीखते हैं। जैसे मिट्टी न हो तो घड़ा सिकोरा कुछ नहीं दीख सकता ऐसे बिना परमेश्वर के संसार नहीं दीख सकता। परमेश्वर एक जैसा सर्वत्र स्थित है। उसको परमेश्वर कैसे कह रहे हैं जबकि कुछ ईशन करने का होवे तब उसको ईश कहा जाए, ईश्वर कहा जाए, परमेश्वर कहा जाए? परमेश्वर इस दृष्टि से कह दिया कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, इन सबका कारण अव्यक्त-इन सबकी अपेक्षा से वह परमेश्वर है। भूत हो गए शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि और अव्यक्त, ये सारे के सारे भूत हैं। इनकी अपेक्षा से उसको परमेश्वर कहते हैं।

वे कैसे हैं? भगवान् खुद ही अपने श्रीमुख से कहते हैं 'विनश्यत्सु'। सब प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं। यहाँ क्षण का मतलब वह नहीं लेना जो बौद्ध लोग लेते हैं कि पदार्थ हर क्षण नष्ट होता है। न्याय शास्त्र कहता है कि कोई चीज़ कम-से-कम तीन क्षण तो रहेगी ही।

एक क्षण पैदा होगी, तब दूसरे क्षण रहेगी, तब तीसरे क्षण में नष्ट होगी। वेदान्त कहता है कि कौन चीज़ कितनी देर रहती है इसका झगड़ा बेकार है। जितनी देर तुमको दीखती है, प्रतीत होती है, उतनी देर है। साबुन का बुलबुला है, वह क्षण भर में नष्ट हो जाता है। पानी की लहर पाँच-सात मिनट तक रह जाती है। आदमी हमको साठ-सत्तर सालों तक प्रतीत होता रहता है। जब तक हमको प्रतीति होती है कि चीज़ वही है तब तक उसे है मान लेना चाहिये। इसलिए 'क्षण' का मतलब यहाँ एक क्षण, तीन क्षण इत्यादि नहीं लेना। जो चीज़ जितनी देर तुमको प्रतीत हो वही क्षण है, उतनी देर तक वह रहती है। तुम्हारी प्रतीति से आगे-पीछे तो उसमें कोई प्रमाण है नहीं। परन्तु इतना निश्चय है कि ये सब चीज़ें नष्ट होने वाली हैं। क्यों नष्ट होने वाली हैं? क्योंकि पैदा हुई हैं। भाव पदार्थों का स्वभाव है कि पैदा होते हैं, रहते हैं, बढ़ते हैं, घटते हैं, अन्त में नष्ट हो जाते हैं। इसलिए यदि कोई चीज़ उत्पन्न होती है तो निश्चित है कि उसका नाश होना ही है। स्वप्न के अन्दर तुमको गाय दीखती है और बछड़ा दीखता है और दोनों ही एक साथ ही दीखते हैं। फिर भी क्या मानते हो? गाय चार साल की है और बछड़ा पाँच दिन का है। एक साथ प्रतीत होने पर भी उनके अन्दर जन्म की प्रतीति है। जन्म की प्रतीति होने से ही निश्चय हो जाता है कि ये सब नश्वर हैं। विनष्ट होने के बाद फिर कोई विकार नहीं हो सकता। ये सारे विकार किसमें रहेंगे? भाव पदार्थों में। अभाव में तो ये रह नहीं सकते। धर्मी हो तभी उसमें ये 'जायते अस्ति वर्धते परिणमते' इत्यादि सब विकार रह सकते हैं। जब धर्मी नष्ट हो गया, उसका अभाव हो गया तब फिर उसमें 'जायते' आदि कोई भी धर्म नहीं रह सकता। किंतु याद रखना कि जैसे नैयायिक जन्म से पहले और नाश के बाद वस्तु को सर्वथा न रहने वाला मानता है ऐसे परिणामवादी नहीं मानता। व्यवहार में वेदान्ती भी परिणामवाद को मानते हैं। अतः तत्त्वबोध के बिना संसार के सर्वथा नाश को हम मानते ही नही। पदार्थ का केवल परिणाम होता है, किसी-न-किसी दूसरी चीज़ में बदल जाता है। कपड़ा जलाया तो नष्ट हो गया पर सर्वथा नष्ट नहीं हुआ, राख के रूप में है। इसी प्रकार राख को पानी में घोल दो तो राख नष्ट नहीं हुई ,पानी में घोल के रूप में है। 'नश अदर्शने', उस रूप में नहीं दीखना, उस आकार में नही दीखना, इतने मात्र को विनाश कहते हैं। इस दृष्टि से जब विचार करते हैं तो जितने भी परिणाम होंगे उन सब परिणामों में 'है' एक जैसा रहेगा। कपड़ा है। फिर उसके बाद राख 'है'। फिर उसके बाद पानी में घोल 'है'। अतः 'अविनश्यन्तं', सारी नष्ट होने वाली चीजों के अन्दर 'है' रूप से वह बिना नाश को प्राप्त किए हुए एक जैसा बना रहता है।

भगवान् ने यहाँ 'अविनश्यन्तं' से नाश का अर्थात् अन्तिम भाव विकार का निषेध किया। बाकी सबमें अन्तिम भाव विकार है, और अविनाशी परमात्मा में अन्तिम विकार नहीं है। तो इससे दो चीज़ें आईं- एक तो यह कि परमात्मा में छहों भाव विकार नहीं हैं और दूसरी, कि बाकी सब पदार्थों में ये छहों भाव विकार हैं। इसलिए सारे भूतों से आत्यन्तिक विलक्षणता

परमेश्वर की सिद्ध हो गई। पदार्थ जितने हैं वे छह भाव विकारों वाले हैं और परमेश्वर छहों भाव विकारों से रहित है। न वह उत्पन्न होता है, न घटता-बढ़ता है और न उसका कभी अदर्शन होता है। यह बात जब तुम 'है' (सत्) के बारे में सोचते हो तब सुस्पष्ट हो जाती हैः 'है' को तुमने कभी पैदा होते नहीं देखा। बाकी सब चीज़ों को पैदा होते देखा पर 'है' को पैदा होते नहीं देखा। 'है' है ही रहेगा चाहे जितने सालों का हो जाए, बढ़ेगा नहीं, घटेगा नहीं और कभी भी नहीं है नहीं हो सकता। 'नहीं है' की बात आते ही दो प्रश्न आते हैं - कब कहाँ नहीं है? और कौन नहीं है? अतः नष्ट होने वाला 'है' से कुछ अलग है। अन्यथा नहीं है का झट ज्ञान हो जाए जैसे घड़े का होता है। इसी को नैयायिक लोग कहते हैं कि प्रतियोगी- अनुयोगी के ज्ञान के बिना अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। यों परमेश्वर की अत्यन्त विलक्षणता को बतला दिया कि वह निर्विशेष है और एक है।

इस प्रकार से परमेश्वर को जो 'पश्यति' अर्थात् सब पदार्थों में स्थित सत् ब्रह्म को देखता है। जैसे जो सुनार है वह गणेश जी की मूर्ति, चूहे की मूर्ति को देखते हुए भी सोने को ही देखता है। कितने टंच का सोना है- यही उसके देखने का विषय है। इसी प्रकार से जिसे परमेश्वर का निश्चय है, वह संसार के रूपों को देखते हुए भी उनमें जो सद्रूपता है, बस उसी को देखता है। दो बार भगवान् ने क्यों कह दिया 'यः पश्यति स पश्यति'? दो बार कहने का कारण है कि संसार के सभी लोग देखते तो हैं परन्तु विपरीत देखते हैं। जो चीज़ जैसी नहीं है उसको वैसा देखते हैं। इसलिए भगवान् ने कहा कि जो ऐसा देखता है वही देखता है और दूसरे देखने वाले देखते नहीं हैं अर्थात् जो चीज़ जैसी है उसको वैसा नहीं जानते हैं। ठीक जिस प्रकार से आँख में मोतियाबिन्द हो जाए तो दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं। सामने से दो आदमी आ रहे हों तो दीखता है कि चार आदमी आ रहे हैं। जब पास में पहुँचें तो दो ही मिलते हैं। चार आदमियों को जो देख रहा है उसका देखना नहीं कहा जाएगा। अपने मन में भी निश्चय होता है कि 'मुझे ठीक नहीं दीखता'। इसलिए मोतियाबिन्द से परेशान व्यक्ति को जो दीखता है वह 'नहीं दीखता' माना जाता है। डाक्टर के पास जाकर यही कहता है 'मेरी आँख ठीक नहीं देख रही।' ठीक इसी प्रकार से जो नष्ट होने वाले पदार्थों को 'है' करके देखता है वह नहीं देखता है। 'विनष्ट होने वाले पदार्थ 'है' में केवल अविद्या से प्रतीत हो रहे हैं, हैं नही', इस बात को जो देखता है वही देखता है। अतः भगवान् ने कह दिया 'यः पश्यति स पश्यति' बाकी जितने लोग अविद्या के अन्दर देख रहे हैं वे देख नहीं रहे, जान नहीं रहे।।२७।।

जो सम्यक् दर्शन भगवान् ने बताया इसकी अब स्तुति करते हैं, इसका फल बताते हैं-

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

सर्वत्र समवस्थित ईश्वर को सम देखता हुआ क्योंकि खुद से खुद की हिंसा नहीं करता

इसलिये इस अहिंसा से वह मोक्ष पा लेता है।

'हि' मायने यस्मात्; क्यों हमने कहा 'यः पश्यति स पश्यति'? इसका उत्तर दे रहे हैं: सर्वत्र सारे प्राणियों में ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक 'समं पश्यन्' एक जैसा जो उपलब्ध होता है उस को देखता है। आँख से तो सम नहीं दीखता परन्तु उसकी उपलब्धि होती है, ज्ञान होता है। घड़े को तुमने आँख से देखा, 'है' को आँख से तो नहीं देखा, लेकिन उपलब्धि है। सामने घड़े को देख करके किसी को सन्देह नहीं होता है कि घड़े को तो आँख से देखा, 'है' को किससे देख रहा हूँ? है की उपलब्धि है, ज्ञान है। इसलिए 'पश्यन्' अर्थात् ज्ञान करते हुए। सारे प्राणियों में 'समवस्थितम्', एक जैसा जो रहता है। कौन? 'ईश्वरम्'। जिसको पूर्व श्लोक में कह आए हैं वह निर्विशेष एक अद्वितीय परमेश्वर। जो इस प्रकार उपलब्धि करता है वह 'आत्मानम् आत्मना न हिनस्ति'। भगवान् ने पहले भी आत्म-शब्द का कई अर्थों में प्रयोग कर लिया था, यहाँ फिर कर लिया है। 'आत्मना', अपने से ही 'आत्मानम्' अपने आप को 'न हिनस्ति' हिंसा नहीं करता, मार नहीं डालता।

यह भगवान् ने बड़ी उलटी सी बात कही है 'अपने आपको अपने आप से नहीं मारता'। यह प्राप्त कहाँ हुआ जिसका निषेध कर रहे हैं? कोई कदाचित् दिमागफिरा अपने को मार डालता हो, खुदकुशी कर लेता हो, परन्तु अपने आपको अपने आप से कोई बुद्धिमान् नहीं मारता। अतः अपने आपको अपने आप से नहीं मारने से परम् गति की प्राप्ति होती है इसका क्या अभिप्राय? हिंस धातु का अर्थ नहीं समझने से यह समस्या हो रही है। कोई बड़ा आदमी आवे और तुम बैठे अखबार बाँचते रहो। वह कहे कि 'मैं यहाँ का गवर्नर हूँ, मिलने आया हूँ।' तुम कहो 'हूँ', अखबार हटावो ही नहीं अपने सामने से। तो गवर्नर साहब को क्या लगेगा? 'यह तिरस्कार तो मेरी हत्या है।' इसी प्रकार सब भूतों में एक जैसा जो परमेश्वर रह रहा है उसको तुम नहीं देखते हो, यही उसकी हिंसा है। ईशावास्य में कहते ही हैं 'ये के च आत्महनो जनाः'। आत्मा का तिरस्कार आत्मा का हनन है। जितने अज्ञानी हैं वे, अत्यन्त स्पष्ट साक्षात् अपरोक्ष जो आत्मा है उसका तो तिरस्कार करते हैं और जो चीज़ नहीं है उस अनात्मा को अपना स्वरूप मान कर परिग्रह करते हैं। शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त जितने अनात्म तत्त्व हैं उन सबको कितना आदर देते हैं कि 'ये मेरा आत्मा ही हैं।' इससे ज़्यादा क्या आदर देंगे! रास्ते में जाते हुए कोई शरीर को छू देता है। शरीर को छुआ, और तुमने शरीर को इतनी प्रतिष्ठा दी है कि शरीर को छू दिया तो मानते हो 'मुझे छू दिया'। इससे ज़्यादा और शरीर को क्या प्रतिष्ठा दोगे? अनात्मा को आत्मा मान कर उसकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा करते हो। और जो तुम्हारा आत्मस्वरूप है उसकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालते, उसको देखते ही नहीं। यह जो आत्मतिरस्कार है उसी को कहा आत्महत्या। सम ब्रह्म का दर्शन पा चुका फिर देहादि को इतना महत्त्व नहीं देता। उसकी जगह जो महत्ता की चीज़ है आत्मा, उसी की तरफ दृष्टि रखता है।

जब अज्ञानी शरीर आदि को आत्मरूप से ग्रहण करता है तब धर्माधर्म करता है। बिना शरीर को मैं माने हुए न धर्म होगा, न अधर्म होगा।। इसको बतलाने के लिए हर कर्म के

प्रारम्भ में संकल्प में क्या कहते हो– 'मैं यज्ञदत्त का बेटा देवदत्त, ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ यजुर्वेदी', तब आगे कर्म करोगे। अगर जब पंडित जी कहते हैं 'तुम कौन हो?' तब तुम कहो 'इसका निश्चय तो मैंने आज तक नहीं किया!' तो पंडित जी कहेंगे 'फिर रहने दो, तुमसे कर्म नहीं होगा।' इसलिए महाभारतकार कहते हैं कि जिसे आत्मदर्शन हो गया, 'नाऽसौ त्यजति कर्माणि कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ' उसे कर्म छोड़ना नहीं पड़ता, कर्म उसे छोड़ देते हैं! कौन– सा कर्म करें? ब्राह्मण हूँ तो वेदपाठ करूँ। शूद्र हूँ तो वेदपाठ न करूँ। ब्राह्मण और शूद्र दोनों कौन हैं? ब्राह्मणी में ब्राह्मण से पैदा होवे तब ब्राह्मण। पैदा कौन हुआ? शरीर। जिसको अपने शरीर के बारे में निश्चय है कि 'यह मैं नहीं हूँ' वह ब्राह्मण के कर्म भी नहीं कर सकता, शूद्र के कर्म भी नहीं कर सकता। अतः कर्माधिकार ही उसको छोड़ कर चला जाता है। ब्रह्मचारी कौन? गृहस्थ कौन? तुम जिसके लक्षण बतलाते हो वह शरीर ही है। शादी की है तो गृहस्थ हो। घर छोड़कर वनवास किया है तो वानप्रस्थ हो। गेरु कपड़ा पहन लिया है तो संन्यासी हो।– यों शरीरों से ही निरूपण करते हो। संस्कार आदि कहो तो वे सूक्ष्म शरीर के हैं। इसलिए जिसने देहात्मबुद्धि छोड़ दी, कर्म की उसको प्राप्ति ही नहीं रहती है। जब तक कोई आत्मा की यहाँ बताई हिंसा न करे तब तक कर्म कर ही नहीं सकता, कामना कर ही नहीं सकता। जब शरीर अपना मानता है तब शरीर के मरने से 'मैं मरा' यह भी मानता है। पुनः शरीर के जन्म लेने से 'मैं जन्मा' यह भी मानता है। इसलिए वह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। जिसका निश्चय है कि 'शरीर मैं नही', उसके लिए यह जन्म-मरण का क्रम बनता ही नहीं। सारे अज्ञानी आत्महत्यारे हैं यह भगवान् ने कह दिया। अज्ञान के बल से ही बार-बार अपने शरीर की हत्या करते हैं, अपने शरीर को मारते हैं। यदि इन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया होता तो फिर आगे मरते नहीं। इसलिए भगवान् ने कहा कि जो परमार्थ रूप से अपने आत्मस्वरूप को जानता है वही आत्महत्या नहीं करता, बाकी तो सब आत्महत्या ही करते हैं। और इसीलिए आत्म-स्वरूप होते हुए भी अपने तिरस्कार से जन्म, सत्ता, बढ़ोतरी, घटोतरी, परिणाम, अपक्षय और नाश– ये सब अपने ही विकार करते रहते हैं। जो यथोक्त आत्मदर्शी है वह अपनी यह हत्या नहीं करता। इसलिए परम गति को, मोक्ष को प्राप्त करता है। जब कहा जाता है कि ज्ञानी या संन्यासी अहिंसक है तब अहिंसक का मतलब कभी भी आत्मा को अनात्मा से एकमेक करके नहीं देखना है। हमेशा आत्मा को अनात्मा से अलग करके रखना है। यही परम गति देने वाला होने से परम धर्म है। केवल जानवर न मारना या खेती न करना रूप अहिंसा परम धर्म नहीं है जैसा जैनी प्रचार करते हैं। आत्मज्ञान ही परम धर्म है। जब कहते हैं अहिंसा परम धर्म है तब उसका मतलब है कि आत्मज्ञान ही परम धर्म है। यह भगवान् ने यहाँ 'न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्' से स्पष्ट कर दिया।।२८।।

शंका होती है कि क्योंकि आत्मा में सजातीय विजातीय और स्वगत - तीन प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं इसलिये इन भेदों के रहते हुए सम दर्शन कैसे होगा? सजातीय भेद :

परमेश्वर भी चेतन है और जीव भी चेतन है। इसलिए दोनों एक जाति के ही हैं। और जीवों का भी परस्पर भेद है। सबके सुख दुःखादि गुण और पुण्यपापादि कर्म अलग-अलग हैं अतः जीव आपस में विभिन्न हैं। इसलिए चैतन्य एक ही है यह बनता नहीं। इसी प्रकार विजातीय भेद हैं: परमेश्वर चेतन है, संसार जड है। अतः चेतन से जडों का भेद है। और परमेश्वर में ही परा-अपरा प्रकृतिरूप दो शक्तियाँ हैं इसलिए स्वगत भेद भी है। समाधान में इन भेदों का भगवान् निराकरण करते हैं। पहले सजातीय भेद को मिटाते हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२६।।

'कर्म सब तरह से माया द्वारा ही किये जा रहे हैं, सब उपाधियों से रहित मैं अकर्ता हूँ' ऐसा जो समझता है वही सही जानकार है।

ईश्वर का जीवों से भेद और जीवों का परस्पर भेद किस आधार से कह रहे हो? कहोगे 'देखने में आता है। एक अत्यन्त दुष्ट व्यक्ति है और एक सज्जन व्यक्ति है। एक अत्यन्त विद्वान् है, एक अत्यन्त मूर्ख है। मूर्ख और विद्वान् को एक कैसे मान लेवें, सदाचारी और दुराचारी को एक कैसे मान लेवें? इसलिए आत्माओं में भेद मानना ज़रूरी है।' यही कारण है कि आस्तिकों के अन्दर भी अधिकतर लोग आत्मा को व्यापक मानते हुए भी भेद वाला मानते हैं। किंतु भगवान् कहते हैं, जिन भेदों को तुम बतला रहे हो वह आचार आदि तो शरीर से होता है, शरीर पंच महाभूतों का बना हुआ है। जो भेद तुम मूर्ख और विद्वान् का कह रहे हो वह बुद्धि के कारण है। जीवों का कहाँ परस्पर भेद तुम बतला रहे हो? तुम तो बतला रहे हो उसकी उपाधियों का भेद। इसी प्रकार ईश्वर और जीव का भेद यही है कि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, जीव अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् है। सर्वज्ञता-अल्पज्ञता ये उपाधिभेद से प्रकट होने वाले धर्म हैं, इसके आधार पर ईश्वर और जीव में भेद कैसे कह रहे हो? ईश्वर और जीव में भी औपाधिक भेद ही है। जीवों का भी परस्पर औपाधिक भेद ही है। इसी प्रकार से एक ने सत् कर्म किया है इसलिए उसकी सद् योनि होगी। दूसरे जीव ने असत् कर्म किया इसलिए नरकयोनि होगी। सद् योनि व नरक योनि एक की तो हो नहीं रही हैं, इसके कारण जीवों में भेद कह देते हैं। किंतु यह सारी बात शरीरों के भेद ही सिद्ध करती है, आत्मभेद को नहीं। अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व चाहे ईश्वर का हो चाहे जीवों का हो, वह सारा प्रकृति में है। और प्रकृति को पहले ही कह आए हैं कि भगवान् की माया शक्ति है। उस माया में तीन गुण अलग-अलग हैं, वे घटते-बढ़ते रहते हैं। यहाँ 'प्रकृत्या एव च' एव के द्वारा किसको व्यावृत्त करते हैं? सिवाय भगवान् की इस माया शक्ति के और कोई कारण नहीं है। माया के अन्दर चाहे जितने भेद होवें लेकिन माया उन भेदों के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करती। जिन सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण की घटा-बढ़ी से भेद होता है वे माया का अपना ही स्वरूप हैं। वह माया ही भिन्न-भिन्न तत्त्वों के रूपों में

परिणत होकर वाणी बन गई, मन बन गया, शरीर बन गया; बनी वही माया बिना किसी दूसरे सहकारी कारण के। इसलिए एवकार दे दिया। इसके द्वारा ही ये क्रियमाण कर्म हैं। यही कर्म करती है। सर्वशः, सब प्रकार के कर्म यही करती है। और सब प्रकार का भोग यही करती है।

'तथा आत्मानम् अकर्तारं', आत्मा कुछ भी नहीं करता और कुछ भी नहीं भोगता। जो सब उपाधिवर्ग भोग करते हैं, कर्म करते हैं, उनके साथ तादात्म्य अध्यास होने से चेतन करता है, ऐसी प्रतीति होती है अपने को। लोगों को जब लगता है कि 'रावण कर रहा है और राम कर रहा है' तब वस्तुतः रावण का शरीर-मन कर रहे हैं। इसी प्रकार राम के शरीर-मन कर रहे हैं। आत्मा तो वैसा ही है। उपाधियों से ही कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व प्रतीत होता है। उपाधि को छोड़ कर तो तुम उसका कोई भी कर्म बतला नहीं सकते, न कोई भोग बतला सकते हो। इसलिए कोई भेद सिद्ध न होने से चेतन का सजातीय कोई दूसरा नहीं है। चेतन में सजातीय भेद नहीं है। भेद जितना दीखता है वह प्रकृति में ही दीखता है। प्रकृति ही इन आकारों में परिणत होकर सब कर रही है।

जो इन दोनों बातों को जान जाता है 'सः पश्यति', वही वस्तुतः देखता है अर्थात् परमार्थ दृष्टि वाला है। आत्मा को सारी उपाधियों से रहित देखता है। उपाधियों के साथ तो आत्मा हर-एक को दीख रहा है। उपाधियों से रहित उसका स्वरूप है इस बात को जो जानता है वह वास्तविकता जानता है। आत्मा के अन्दर सजातीय भेद बनता नहीं क्योंकि जितना तुम भेद आपादन करना चाहते हो सजातीयों का, वह सब भेद उपाधि के द्वारा ही आपादन करते हो।।२६।।

द्वितीय प्रश्न रहा कि आत्मा एक है अद्वितीय है, पर उससे भिन्न माया, अनात्मा तो है अर्थात् आत्मा में विजातीय भेद है? इसके उत्तर में कहते हैं–

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।३०।।

जब शास्त्राचार्य के उपदेशानुसार भूतों का भेद एक आत्मा में स्थित देखता है और उस आत्मा से ही सारे संसार का विस्तार देखता है, तब (साधक स्वयम्) ब्रह्म हो जाता है।

'यदा', जिस काल में, 'भूतपृथग्भावम्', ये जो उपाधियाँ हैं इनके पृथक्-भाव को; पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार- इन सबको भगवान् ने कहा था 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'; भिन्न या पृथक् ये सब पदार्थ एक भगवान की ही प्रकृति हैं। बुद्धियाँ अलग-अलग, अहंकार अलग-अलग, ऐसी जो प्रतीति हम लोगों को होती है, यह जो भूतों की पृथक्ता है, उसको 'एकस्थम्' एक आत्मा में ही स्थित, प्रतिष्ठित देखना है क्योंकि उसमें ही ये सब कल्पित हैं। इसको शास्त्र और गुरु के उपदेश से समझ कर फिर दृढता के साथ इसके संस्कार वाला होकर के देखा जाता है। इसी दृष्टि से शास्त्र में कहा 'आत्मैवेदं सर्वम्'

(छां.७.२५.२) आत्मा ही यह सब है। उस एक आत्मा में ही सब को अधिष्ठित देखते हैं अर्थात् उसके अन्दर केवल कल्पित है ऐसा समझ लेते हैं। जो कल्पित होता है वह वास्तविक के अन्दर भेद का आपादन नहीं करता। मिथ्या से सत्य में भेद नहीं आता। ये सारे कल्पित होने से वस्तुतः नहीं हैं। 'नहीं हैं' से 'है' में भेद नहीं आता। इस बात को पहले तो शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जानना पड़ेगा, फिर वह अपने अनुभव रूप में बन जायेगा, प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत होगा। शास्त्र-आचार्य के उपदेश से ही यह प्रत्यक्ष होता है। जैसे प्रत्यक्ष का स्पष्ट भान होता है वैसे ही इसका स्पष्ट भान होता है।

और, जिस आत्मा में यह अधिष्ठित है 'तत एव च विस्तारं', उस आत्मा से ही सारा विस्तार होता है, सारा फैलाव होता है। इसलिए श्रुति कहती है कि प्राण, आशा, स्मर आदि सब आत्मा से ही होते हैं। विस्तार से सामवेद के अन्दर सब चीज़ें उस आत्मा के कारण ही प्रतीत होती हैं यह कहा। जैसे सर्प, जलधारा, माला भूछिद्र- ये सब किससे फैलने वाले कहने पड़ेंगे? रस्सी से, क्योंकि रस्सी के होने पर ही ये सब होते हैं। इसी प्रकार श्रुति बार-बार कहती है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', परमात्मा के कारण ही ये सारे भूत प्रतीत होते हैं। अतः संसार का फैलाव उसी से मानना उचित है। ऐसा जब 'अनुपश्यति', शास्त्र-आचार्य उपदेश सुनने के बाद जब वह अपना प्रत्यक्ष हो जाता है, जब इस प्रकार से इन सारी चीज़ों को एक परमात्मा में ही अधिष्ठित देखता है तब समझ लेता है कि वे सब चीज़ें हैं ही नहीं। जैसे रस्सी को देखने वाले के लिए साँप, जलधारा आदि नहीं हैं उसी प्रकार से यहाँ हो जाता है। जब ऐसा होता है तब 'ब्रह्म सम्पद्यते तदा', उस काल में बस एक ब्रह्म ही रह जाता है, सम्पन्न हो जाता है, परिपूर्ण हो जाता है। पहले तो यह मानते थे कि एक उपाधि है, दूसरा उपहित है। उपाधि के भेद से उपहित में भेद नहीं है- यह तो पहले बतलाया। अब बतलाया कि उपाधि भी वास्तविक नहीं है, वह भी उसमें ही अधिष्ठित है, उसमें ही कल्पित है। इसलिए विजातीय भेद भी नहीं है। चेतन के सिवाय जड नाम की चीज़ है ही नहीं। इस प्रकार से सजातीय और विजातीय भेद को व्यावृत्त कर दिया।।३०।।

तृतीय प्रश्न रहा कि क्या स्वगत भेद रह सकता है? परमेश्वर और उसकी शक्तियाँ हैं, उनसे उसमें स्वगत भेद रह जाएगा। दूसरी एक शंका और होती है- उपाधि के सम्बन्ध से उपाधि के दोष भी उपहित में आते दीखते हैं। जैसे चिता के अन्दर जो अग्नि जल रही है वह अग्नि होने पर भी भोजन बनाने के काम में नहीं ली जाती। रसोई की अग्नि और चिता की अग्नि में अग्निरूप से कोई भेद तो है नहीं परन्तु उपाधि के कारण दोष को मानते हैं। इस प्रकार उपाधि के सम्बन्ध से दोष की प्राप्ति होती देखी जाती है। सारे देहों की उपाधि वाला जो चेतन है उसमें भी इस प्रकार से दोष की प्राप्ति हो जानी चाहिए। इन दोनों प्रश्नों का जवाब देते है-

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

कौन्तेय! कारण और गुणों से रहित होने के कारण यह परमात्मा नष्ट नहीं होता। शरीर में स्थित प्रतीत होता हुआ भी यह न कुछ करता है न किसी भोगरूप फल से सम्बद्ध होता है।

'अनादित्वात्'; आदि अर्थात् कारण; इसका कोई कारण नहीं है, इसलिए परमात्मा अनादि है। कारण से जब कोई चीज़ कार्य रूप में परिणत होती है तब उसको उसका जन्म, उसका आदि कहते हैं। ऐसे उस चेतन का कोई कारण नहीं है जिससे चेतन प्रकट हुआ हो। कारण ही कार्य के अवयव होते हैं जैसे धागे कपड़े के अवयव होते हैं। अनादि होने से आत्मा निरवयव है। 'निर्गुणत्वात्' और यह निर्गुण है। जो चीज़ गुण वाली होती है उसके अन्दर गुण–गुणी का स्वगत भेद रहेगा। लाल–कपडा़ तो एक ही है परन्तु फिर भी गुण और गुणी का भेद रहेगा। जो निर्गुण पदार्थ है उसके अन्दर ऐसा भेद सम्भव नहीं। अनादि से बतला दिया कि कारण–कार्यरूप जो स्वगत भेद हो सकता है वह इसमें सम्भव नहीं। और निर्गुण के द्वारा बतला दिया कि गुण–गुणीभाव से होने वाला जो स्वगत भेद होता है वह भी इसमें सम्भव नहीं। निष्कारण अर्थात् निरवयव और गुणरहित होने का फल स्पष्ट करने के लिए कहते हैं 'अयं परमात्मा अव्ययः'। इसमें किसी तरह की घटोतरी–बढ़ोतरी नहीं। क्रिया से कुछ–न–कुछ बदला जाता है। गुण, क्रिया, कारण–कार्यभाव– ये सब इसके अन्दर नहीं, स्वगत भेद नहीं अतः इसका व्यय, खर्च हो जाना, कम हो जाना या नाश असंभव है। निर्गुण होने से ही अव्यय है। क्योंकि जो सगुण चीज़ होती है उसका गुण घटे–बढ़े, तब कहा जाता है कि यह कम हो गया। गुणों के घटने–बढने से चीज़ को घटी–बढ़ी वाला मान लेते हैं। यह निर्गुण होने से व्यय हो ही नहीं सकता।

व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् हम लोग रोज़मर्रे का जो व्यवहार करते हैं उसमें आकाशका कोई कारण नहीं। चीज़ों को तो हम लोग बदलते हुए देखते हैं परन्तु आकाश में किसी प्रकार का वास्तविक परिवर्तन हम लोगों को नहीं दीखता। आकाश खुद भी परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है इसलिए यह नहीं कह रहे हैं कि आकाश उत्पन्न नहीं हुआ, अनादि है, परन्तु हमारे व्यावहारिक जगत् के अन्दर तो आकाश अनादि ही है। इसी प्रकार आकाश के अन्दर किसी गुण की प्रतीति नहीं। शास्त्र ज़रूर कहता है कि शब्द गुण वाला आकाश है, परन्तु शब्द गुण प्रकट हमेशा किसी–न–किसी वायु, जल,या पृथ्वी के आधार को लेकर ही होता है। वायु न होने से आकाश के अन्दर होने वाले गुण का हमको पता नहीं चलता। वायु ही एकमात्र चीज़ नहीं है जिसके माध्यम से आवाज़ आये। कभी अगर दूर से रेल आ रही है, रेल दीख नहीं रही, आवाज़ भी नहीं आ रही, परन्तु यदि तुम अपने कान को रेल की पटरी के साथ मिलाकर सुनने का प्रयत्न करो तो तुमको रेल की आवाज सुनाई देगी। उस लोहे की पटरी से आवाज आ जाती है। इसी प्रकार जल से भी आती है। ध्वनि को कोई वाहक

चाहिए। शब्द आकाश का गुण है लेकिन उसको कोई माध्यम चाहिए। विचार करके और शास्त्र के बल से पता लगता है कि आकाश का गुण शब्द है। किंतु आकाश व्यवहार में कारणरहित भी है, गुणरहित भी है और अव्यय भी है। आकाश कभी घटता-बढ़ता नहीं। किसी भी व्यवहार के अन्दर आकाश को तुम काट कर अलग नहीं कर सकते। व्यावहारिक दृष्टि से आकाश अनादि भी है, निर्गुण भी है, अव्यय भी है और आकाश में किसी तरह का लेप स्वीकार नहीं करते। गन्दे बर्तन का भोजन तो नहीं खाते लेकिन गंदे बर्तन के आकाश का तो कोई त्याग नहीं करता! अतः व्यावहारिक दृष्टि से आकाश उपाधि के साथ होने पर भी उसके अन्दर उपाधि के किसी दोष का कहीं पर भी लेप नहीं है।

इसी प्रकार से 'शरीरस्थोऽपि' शरीरों के अन्दर आत्मा की उपलब्धि होती है, आत्मा की प्रतीति होती है, इसलिए उसको 'शरीरस्थ' कहते हैं। किसी-न-किसी शरीर में ही आत्मा की उपलब्धि होती है। परन्तु शरीर में रहने पर भी 'न करोति', करता नहीं। जिस प्रकार से आकाश घड़े में रहते हुए भी, घड़ा जो करता है उससे आकाश का कोई सम्बन्ध नहीं है, आकाश वैसा-का-वैसा बना रहता है, इसी प्रकार से शरीर मन इत्यादि के द्वारा जो किया जाता है उसको करने वाला आत्मा नहीं बनता, वहाँ मौजूद रहने पर भी। इसलिए ऐसा नहीं है कि शरीर नहीं रहेगा तब पता लगेगा 'मैं अकर्ता हो गया'। उपनिषद् भी कहती है कि शरीर छोड़ने के पहले यहीं पर उस तत्त्व को प्राप्त करना पड़ेगा। क्योंकि 'न करोति', कर्ता नहीं है, इसलिये उसके फल को कहाँ से प्राप्त करेगा, 'न लिप्यते'! जो करने वाला होता है वही कर्मफल से लिप्त होता है। वहाँ विद्यमान होने मात्र से कर्ता-भोक्ता नहीं बन जाता। ठीक जिस प्रकार कहीं पर कोई दूसरे को पीट रहा है, तुम वहाँ विद्यमान हो, गवाह हो, पर तुमको कोई जेल नहीं देता। तुम्हारे विद्यमान रहने पर भी तुम अकर्ता हो, साक्षी हो, देख लिया बस, इतना ही तुमने किया। इसी प्रकार से शरीर इन्द्रियाँ मन आदि करते हैं, तुम वहाँ विद्यमान हो; यह सब हो रहा है इतने मात्र से तुम उस कर्म से लिप्त कैसे होगे? तुम तो केवल साक्षी हो। अगला प्रश्न होता है कि शरीर तो जड़ है, करेगा-भोगेगा कैसे? जड कर नहीं सकता, चेतन आप कहते हैं करता नहीं है, तो करने वाला कौन है? भगवान् क्या कह आए हैं - जो कुछ होता है 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ- संयोगात् तद्विद्धि'। बिलकुल ठीक है कि जड नहीं कर सकता। यह भी बिल्कुल ठीक है कि चेतन नहीं कर सकता। ठीक जिस प्रकार बिजली हमें रोशनी नहीं दे सकती, लट्टू हमें रोशनी नहीं दे सकता। लट्टू और बिजली का संयोग ही रोशनी देगा। इसी प्रकार चेतन भी कुछ नहीं कर सकता, जड भी कुछ नहीं कर सकता। चेतन और जड का जो आपस में संयोग है, वही करने वाला है। शरीरों में कौन करता है और कौन लिप्त होता है? यह जो संयोग है - इससे कर्तृत्व व लेप होता है। परमात्मा से अलग शरीराभिमानी जीव है जो करता और लिप्त होता है- ऐसा भगवान् का तात्पर्य हो नहीं सकता क्योंकि भगवान् स्पष्ट प्रतिज्ञा कर आए हैं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' क्षेत्रज्ञ मैं हूँ, कोई दूसरा नहीं है।

आत्मा का वास्तविक अकर्तृभोक्तृत्व, भ्रम से कर्तृभोक्तृत्व इतना दुर्विज्ञेय है कि भगवान् ने कई बार कह दिया फिर भी उपनिषद् के इस सिद्धान्त को वैशेषिक, सांख्य, जैन, बौद्ध सभी इसे न समझकर अपनी-अपनी अलग कल्पनाएँ ही करते हैं। भगवान् ने तो स्पष्ट कह दिया है 'स्वभावस्तु प्रवर्तते', अविद्यामात्र स्वभाव है। अविद्या, अज्ञान, बस इसके कारण हुआ तादात्म्य-अध्यास कर्ता और भोक्ता की प्रतीति कराता है। अज्ञान के सिवाय और कोई दूसरा कारण नहीं है। वास्तविक है एकमात्र परमात्मा। उस परमात्मा में अज्ञान से तुम देह इन्द्रियादियों की कल्पना कर लेते हो। फिर उस देह-इन्द्रियादियों से कर्म हो गया- यह कल्पना कर लेते हो, फिर देहइन्द्रयादियों के कर्म से फल उत्पन्न हो गया- यह कल्पना कर लेते हो। है एक परमात्मा के सिवाय और कुछ नहीं। भगवान् कह आए हैं कि एकमात्र अविद्या स्वभाव ही कारण है, और कोई नहीं।

परमात्मा तीनों भेदों से रहित है। कुछ लोग मान लेते हैं कि जीव और जगत् परमेश्वर का शरीर है, वह शरीरी है। यहाँ तक तो आए कि सजातीय व विजातीय भेद नहीं, लेकिन स्वगत भेद मानते हैं परमेश्वर के अन्दर। दूसरों ने कहा कि विजातीय भेद भी है। कुछ ने सजातीय भेद माना क्योंकि अलग-अलग जीवों को मानते हैं। ऐसी भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ प्राचीन काल में भी की गई और वर्त्तमानकाल में भी करते हैं। यह जो सीधा सादा उपनिषद्-दर्शन है कि एक परमात्मा ही है, बाकी सब अविद्या के कारण प्रतीत होता है, पारमार्थिक दृष्टि से एक परमात्मा में कुछ भी नहीं है, अविद्या दृष्टि से सब कुछ प्रतीत हो रहा है - इसे स्वीकार नहीं पाते।

इस परमार्थ दृष्टि के अन्दर जो स्थित ज्ञान-निष्ठ परमहंस परिव्राजक हैं वे अविद्या के सारे व्यवहारों का तिरस्कार करते हैं। अविद्या के व्यवहारों के अन्दर इन सारे भेदों की कल्पनाएँ करने की कोई आवश्यकता नहीं देखते। ठीक जिस प्रकार से स्वप्न से एक आदमी उठता है, बड़ा खुश होता है कि बड़ा बढ़िया सपना देखा। दूसरा आदमी बड़ा दुःखी उठता है कि बड़ा खराब सपना देखा। सपना देखा - यह दोनों मानते हैं। स्वप्न, मतलब सच्चा नहीं था, तभी उसको स्वप्न कह रहे हैं। और फिर आकर पूछते हैं 'महाराज! खराब सपना देखा, इसका क्या मतलब है? या अच्छा सपना देखा, इसका क्या मतलब?' और एक पूरा स्वप्न शास्त्र भी है उनके मतलबों को बतानेवाला! सपना खुद ही झूठा तो उसका मतलब क्या होना है! कुछ नहीं। लेकिन फिर भी व्यवहार चलते हैं। जो ज्ञाननिष्ठ हैं वे अविद्या के व्यवहारों का सर्वथा तिरस्कार करते हैं। स्वप्न अच्छा दीख गया तो क्या, स्वप्न बुरा दीख गया तो क्या! जब स्वप्न है ही नहीं, तो दीख जाने से उसका महत्त्व नहीं हो जाता। रस्सी में साँप दीख गया तो क्या और रस्सी में मोतियों की माला दीख गई तो क्या! न साँप तुम्हारा कुछ बिगाड़ सकता है और न वहाँ पर दीखी मोतियों की माला तुमको कोई फ़ायदा पहुँचा सकती है। इसी प्रकार से अविद्या से कल्पित शरीरादियों के व्यवहार न कुछ तुमको फायदा पहुँचा सकते हैं, न कुछ नुकसान पहुँचा सकते हैं। न कर्म हुए हैं और न उनका फल हो सकता है। इसलिए ऐसे ज्ञान-निष्ठों को कर्म का

अधिकार ही नहीं रहता। हर कर्म करने के लिए उपाधियों के द्वारा ही उस कर्म की तुमको प्राप्ति होती है। जो उस उपाधि को सर्वथा नहीं होकर प्रतीत होने वाली मानते हैं उनको कर्माधिकार नहीं है। सारे कर्मशास्त्र एक स्वर से कहते हैं कि जिसको श्रद्धा नहीं है वह कर्म में अधिकारी नहीं है। जिसको यह श्रद्धा ही नहीं है कि मैं ब्राह्मण हो सकता हूँ वह ब्राह्मणोचित कर्मों में अधिकारी नहीं। ब्राह्मण वह होता है जो ब्राह्मणी से ब्राह्मण में पैदा होवे। शरीर पैदा होता है। शरीर के ब्राह्मण होने से मैं कैसे ब्राह्मण हो गया? अतः जिसको अभिमान है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ',उसको तो लगता है कि ब्राह्मणोचित कर्म मेरा कर्त्तव्य है पर जो ज्ञान-निष्ठा वाला है वह किस कर्म को करे! जब कभी कर्माधिकार बतलाते हैं तब किसी-न-किसी उपाधि का बतलाते हैं और उस उपाधि को वह जानता है कि यह तो सर्वथा है ही नहीं। भगवान् ने यहाँ 'न करोति न लिप्यते' ऐसे ज्ञान-निष्ठ परिव्राजकों के लिए कहा है जिन्होंने सारे कर्मों का तिरस्कार कर दिया है। जैसे शास्त्रीय कर्म, वैसे ही लौकिक कर्म हैं, यह याद रखना। कई बार लोग कह देते हैं कि शास्त्रीय कर्म का अधिकार तो शास्त्र ने बतलाया इसलिए ब्राह्मणत्वादि में श्रद्धा नहीं है तो उन कर्मों का त्याग हम मान लेंगे। खासकर लोकमान्य तिलक ने इसका बड़ा पोषण किया है। शास्त्रीय कर्मों को तो छोड़ना वे मान लेते हैं परन्तु लौकिक कर्मों को छोड़ना नहीं मानते! कहते हैं कि जिस देश में तुम पैदा हुए हो उस देश के लिए तो तुम्हारा कर्त्तव्य रह ही जाएगा। उनके ग्रन्थ को पढ़ते हैं तो बड़ी हँसी-सी आती है। देश में माता से कौन उत्पन्न हुआ? हम उत्पन्न हुए कि शरीर? ऐसे लोग आजकल हो गए हैं जो संन्यासियों को भी कहते हैं कि तुम्हारा भी देश के प्रति कोई कर्त्तव्य है! यदि देश के प्रति कर्त्तव्य मानते हो तो अपने को उत्पन्न होने वाला मानते हो, किसी एक देश में रहने वाला मानते हो; यह सब मानते हो तो फिर ब्राह्मण क्षत्रिय मानने में कौन-सा हर्जा है? इसलिए जिन्हें वास्तव में आत्मानुभव हुआ है, समस्त व्यवहारों को वे तिरस्कार की दृष्टि से ही देखते हैं। उनके लिए कर्माधिकार नहीं है।।३१।।

उपाधि में रहते हुए भी न करना, न लिप्त होना, इसे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं :-

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

जैसे सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापक होते हुए भी आकाश सबसे असम्बद्ध रहता है वैसे सर्वव्यापक आत्मा शरीर में सम्बन्ध वाला नहीं होता।

आकाश सामान्य दृष्टि से सर्वव्यापक है ही और अतिसूक्ष्म है। इसलिए इसमें किसी प्रकार से लेप नहीं होता। खूब पानी बरसता है तो लगता है कि आकाश गीला ज़रूर हुआ होगा परन्तु जैसे ही पानी बरसना बन्द हुआ, धूप निकली, आकाश वैसा-का-वैसा है। ऐसा नहीं करना पड़ता कि आकाश को ज़रा धूप में दे दो, कई दिनों से पानी बरसता रहा है! और जेठ की भयंकर गर्मी पड़ती है तो आकाश सिकुड़ नहीं जाता। सूक्ष्म होने के कारण आकाश इस प्रकार से इन सबके द्वारा कोई भी सम्बन्ध वाला नहीं बनता। आत्मा तो

आकाश से भी सूक्ष्म है। इसलिए संसार के सारे शरीरों के अन्दर और हर शरीर में नखाग्र-पर्यन्त रहकर भी अलिप्त है। यदि शरीरों में अवस्थित न होवे तो शरीर प्राण-धारण नहीं कर सकता। आकाश जैसे सब जगह रहते हुए भी लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार से आत्मा भी सारे शरीरों में और पूरे शरीर में अवस्थित होकर भी लिप्त नहीं होता।।३२।।

आत्मा की निर्लेपता में सदृष्टान्त हेत्वन्तर देते हैं –

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

भारत! जैसे अकेला सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशित करता है वैसे एक परमात्मा समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप होने से जो चीज़ जैसी है उसको प्रकट करने वाले प्रकाश के समान हो जाता है। प्रकाश भी किसी चीज़ में कोई परिवर्तन नहीं करता, जो चीज़ जैसी है उसको वैसा ही प्रकट कर देता है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमात्मा भी किसी में कोई परिवर्तन नहीं करता, जैसा है वैसा प्रकट कर देता है। अतः कहा कि जिस प्रकार से रवि अर्थात् सूर्य इस सारे संसार को, सारे लोकों को प्रकाशित कर देता है अर्थात् जैसा है वैसा प्रकट कर देता है, वैसे आत्मा क्षेत्र को प्रकाशित करता है। अलग-अलग चीज़ों को प्रकट करने के लिए अलग-अलग सूर्य नहीं मानते! हिन्दुस्तान के लिए एक सूर्य होगा, पाकिस्तान के लिए दूसरा सूर्य होगा, अमेरिका के लिए तीसरा सूर्य होगा- ऐसा तो नहीं है। एक ही सूर्य इन सबको प्रकाशित करता है। इसी प्रकार जो क्षेत्री आत्मा है वह क्षेत्र को प्रकाशित कर देता है। क्षेत्र- जो भगवान् अध्याय के आरम्भ में बतला आए हैं, महाभूतों से लेकर के बुद्धि और बुद्धि के विकारों तक। इच्छा द्वेष सब क्षेत्र में ही आ गए। 'तत् क्षेत्रं' (३) 'एतत् क्षेत्रं' (४) आदि में सारे को एक मानकर कहा ही था। वैसे ही यहाँ कहा 'कृत्स्नं क्षेत्रं' संसार में जहाँ-कहीं महाभूत से लेकर धृति-पर्यन्त पदार्थ हैं वहाँ सर्वत्र, वह एक ही क्षेत्री अर्थात् क्षेत्रज्ञ उन्हें 'प्रकाशयति', प्रकाशित कर देता है। इस श्लोक में दोनों बातें बतला दी- सारे क्षेत्रों के अन्दर रहने वाला एक आत्मा ही उन सबका प्रकाशक है और सूर्य के ही दृष्टान्त से, प्रकाशक होते हुए भी प्रकाश्य से लिप्त नहीं होता। गन्दा पानी, मटमैला पानी आदि अनेक प्रकार के पानियों में सूर्य प्रतिबिम्बित होता हुआ दीखने पर भी सूर्य के ऊपर कोई दोष नहीं आता है। सब्जी मण्डी के नाले में प्रकाशित होने से सूर्य को कोई दोषी नहीं मानता कि 'आज तो सूर्य को अर्घ्य नहीं दे सकते हैं, आज हमने सूर्य को सब्जी मण्डी के नाले में देख लिया, अपवित्र अवस्था में है।' ऐसा नहीं होता है। जैसे सूर्य सब चीज़ों को प्रकाशित करते हुए, उनमें प्रतिबिम्बित होते हुए भी उनसे लिप्त नहीं है इसी प्रकार आत्मा सारे क्षेत्र को प्रकाशित करते हुए, उस क्षेत्र के अन्दर जो अन्तःकरण आदि हैं उनमें प्रतिबिम्बित होकर के जीवरूप से प्रतीत होते हुए भी किसी भी लेप वाला नहीं है।।।३३।।

अब अध्याय का समापन करते हैं:-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

।।इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।

शास्त्र-आचार्य के उपदेश से जनित आत्मबोधरूप दृष्टि द्वारा पूर्वोक्त ढंग से जो क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ के परस्पर विलक्षण स्वभावों को और भूतों की अविद्यारूप प्रकृति के मिथ्यात्वको अपरोक्ष जान लेते हैं वे परमार्थ तत्त्व प्राप्त कर लेते हैं।

इस अध्याय में जो बातें बतलाई हैं उन्हें संक्षेप में उपसंहार में कह दिया। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भगवान् ने भेद बतलाया। क्या भेद है? क्षेत्र वह है जो प्रतीत होता है, परिणामी है। क्षेत्रज्ञ वह है जो उन सब प्रतीतियों के अन्दर ज्ञान-स्वरूप से रहता है, कूटस्थ है। 'एवम्' अर्थात् जो यह भेद का स्वरूप बतलाया इस तरीके से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ से कैसे अलग है, यह जिसे मालूम है वह परमार्थदर्शी है। इस भेद को किससे जानोगे? 'ज्ञानचक्षुषा'। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद व्यवहार में कभी प्रतीत होता नहीं। व्यवहार के अन्दर क्षेत्र को ही देख कर हम क्षेत्रज्ञ के बारे में सोचते रहते हैं। भगवान् ने यहाँ जो इन्हें एक-दूसरे से विलक्षण बतलाया, यह शास्त्र और आचार्य के उपदेश से ही ज्ञान होता है। जब तक शास्त्र और आचार्य के उपदेश से होता है तब तक तो यह ज्ञान परोक्ष है। उसका फल यहाँ नहीं बतला रहे हैं। जब शास्त्र और आचार्य से कही हुई जो उपदेश की बात है वह तुम्हारा आत्म-प्रत्यय हो गया है, अनुभव हो गया, तब यहाँ बताया फल होता है, होगा तो शास्त्रादि के संस्कार से लेकिन प्रत्यक्ष हो जायेगा। ठीक जिस प्रकार से देवदत्त के बाप ने बताया 'यह मेरा बेटा देवदत्त है'। उसके बेटे ने कहा 'ये मेरे पिता जी देवदत्त हैं'। उसकी पत्नी ने कहा 'ये मेरे पति देवदत्त हैं'। तभी पता लगा कि यह देवदत्त है। बाकी तो कोई तरीका नहीं है! परन्तु जब देवदत्त के साथ हमारा पाँच साल का व्यवहार हो गया तब प्रतीति यह नहीं रह जाती है कि 'यज्ञदत्त ने अपना लड़का देवदत्त कहा था इसलिए यह देवदत्त है', वरन् उसको देखते ही 'यह देवदत्त है' ऐसा प्रत्यक्ष होता है। हम बिलकुल जानते हैं कि यह देवदत्त है। तब वह अपना प्रत्यय हुआ। इसी प्रकार, शास्त्र और आचार्य के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के जिस अन्तर को समझा है, वह जब आत्मप्रत्यय अर्थात् अपना ज्ञान हो जाता है, तब उसे ज्ञानरूप चक्षु कहते हैं। वही आँख है जिसके द्वारा इसको देखा जाता है। उस ज्ञान से एक तो यह समझ लेना है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ कैसे सर्वथा पृथक् हैं। और क्या जानना है? 'भूतप्रकृति-मोक्षम्'। पंचमहाभूतों से शुरू करके जितना गिनाया सब 'भूत' हैं। उस सबकी प्रकृति अविद्या ही है। सारी प्रतीतियों का कारण एकमात्र अविद्या है। वह भूतप्रकृति कैसी है? अधिष्ठान से अतिरिक्त न होकर अतिरिक्त प्रतीत होती है। वास्तव में वह सर्वथा नहीं

है। इसलिए, भूतप्रकृति जो अविद्या जिसके कारण सब हो रहा था, उस अविद्या का मोक्ष अर्थात् उसका रह न जाना। भूतप्रकृति का मोक्ष अर्थात् कार्यों समेत अविद्या को अभाव पर्यन्त पहुँचा देना कि 'ये सब नहीं हैं'। 'ये विदुः' जिन्होंने इस चीज़ को भली प्रकार से आत्मसात् कर लिया है, जिनको इसका दृढ ज्ञान हो गया है, 'ते परम् यान्ति', वे उस पर ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करते हैं अर्थात् फिर उनका इस भूत-प्रकृति से होने वाली देह से कभी कोई सम्बन्ध होता नहीं। इस प्रकार भगवान् ने क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त किया।।३४।।

।। तेरहवाँ अध्याय ।।

ॐ

चौदहवाँ अध्याय: गुणत्रयविभागयोग

तेरहवाँ अध्याय समाप्त करते हुए भगवान् ने अन्त में कहा ''भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्'', भूतों की त्रिगुणात्मका प्रकृति किस प्रकार से बन्धन में डालती है, और किस प्रकार से उसमें से जीव छूटता है यह भगवान् ने उस अध्याय में बताया था। चौदहवें अध्याय में उसका आगे विस्तार करने के लिये अर्जुन के बिना प्रश्न किये ही भगवान् प्रवृत्ति करते हैं। तेरहवें के अन्दर भगवान् ने यह भी कह दिया था कि जो कुछ स्थावर जंगम होता है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होता है। इससे शंका होती है कि यदि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही सब होता है तब फिर ईश्वर कहाँ रहा! उपनिषद् आदि तो ईश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय बतलाते हैं जबकि यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से अर्थात् अविद्या से ही सारे संसार को बतला दिया। इस विरोध का कैसे परिहार होगा? स्वयं गीता शास्त्र में भी भगवान् ने कहा 'अहं सर्वस्य प्रभवः' (१०.८) सारे जगत् को उत्पन्न मैं करता हूँ। अतः, ईश्वर के वशमें होकर ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग होता है, ईश्वर ही कारण है- इस बात को स्पष्टतः कहना है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग है तो कारण परन्तु उस अविद्या को प्रवृत्त करने वाला कौन है? 'उत्पन्न करने वाला' नहीं कह रहे हैं, प्रवृत्त करने वाला कौन है? भगवान् पहले कह आये हैं, कि प्रकृति-द्वय अनादि है। अतः परमेश्वर इन को *उत्पन्न* करता है ऐसा नहीं, परन्तु उनकी प्रवृत्ति कराने वाला होने से, प्रवर्तक होने से, मायाधीश होने से, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग के द्वारा उत्पन्न होने वाले को भी परमेश्वर से ही उत्पन्न होने वाला कहते हैं। इस प्रकार से समझाने पर, जो बिना ईश्वर माने हुऐ प्रधान और पुरुष को लेकर ही सारी व्यवस्था बनाने वाले कापिल हैं, उनका भी खंडन हो जायेगा। इसलिये इस अध्याय में इस बात को भी बतलाना ज़रूरी है। इतना ही नहीं, भगवान् ने कहा था, 'कारणं गुणसंगोऽस्य' (१३.२१) नरकादि या स्वर्गादि योनियों में अथवा मनुष्ययोनि में जाने का कारण गुणों से संग होना है। जन्म का कारण गुण में संग को बतलाया। आगे यह नहीं बतलाया कि किस गुण से संग होने पर, किस योनि की प्राप्ति होती है। उत्कृष्ट योनि की प्राप्ति किस गुणसंग से है, निकृष्ट योनि की प्राप्ति किस गुणसंग से है और मनुष्य योनि

की प्राप्ति किस गुणसंग से है। यह बताना रह गया। गुणों का स्वरूप और गुणों से संग कैसे होता है इसको पहले संकेतित किया परन्तु गुणों का विस्तार नहीं किया। और, गुणों से कैसे छूटता है यह बताना है। छूटने के क्या साधन हैं और छूटने पर मुक्त का कैसा आचारादि होता है, मुक्त का क्या लक्षण है, यह सब भी बतलाना बाकी है। इन सब बातों को भगवान् अपनी तरफ से कहते हैं।

श्रीभगवान् उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

भगवान् बोले - विभिन्न विषयक ज्ञानों में उत्तम और परमार्थ विषयक वह ज्ञान फिर से बताऊँगा जिसे पाकर सब मननशील साधक इस देहबन्धन से छूटकर मोक्षनामक परा सिद्धि पा चुके हैं।

भगवान् कहते हैं 'ज्ञानानाम् उत्तमं परं ज्ञानम्' ज्ञानों में जो परम है और उत्तम है, उस ज्ञान को 'प्रवक्ष्यामि' प्रवचन करके विस्तार से बताऊँगा। 'भूयः' फिर से, क्योंकि पूर्व अध्यायों के अन्दर इन चीज़ों का भगवान् संकेत कर आये हैं। भगवान् संक्षेप में बतलाते आये हैं, परन्तु आगे विस्तार से बतलाना है इसलिये कहा 'भूयः'। पहले कही हुई बात को ही 'प्रवक्ष्यामि', भलीप्रकार से विस्तार करके प्रवचन के द्वारा बताऊँगा। वह ज्ञान 'पर' क्यों है? पर वस्तु को विषय करने वाला होने से वह पर है। उसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, इसलिये उसके बाद और कुछ जानना शेष रहता नहीं। उपनिषदों के अन्दर यही परमात्मा का लक्षण किया है- जिसको जानकर सब जान लिया जाता है, कुछ भी बिना जाना हुआ नहीं रह जाता। इसलिये वह सबसे परे है, सबसे ऊर्ध्व है, सबसे उत्कृष्ट है। 'उत्तमम्' सबसे क्षेष्ठ फल देने वाला होने से वह उत्तम भी है। परब्रह्म-विषयक होने से पर है, और सबसे उत्कृष्ट मोक्षरूपी फल देने वाला होने से उत्तम है। तेरहवें अध्याय में साधनों को ज्ञान कहा था किन्तु यहाँ ज्ञान-शब्द से साधनों को नहीं लेना है। लोक में भी प्रायः साधनों को ज्ञान नहीं कहते। विषयों के अज्ञानको दूर करने वाले को ही ज्ञान कहते हैं। संसारी जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से तुमको पता लगता है, वह अत्यन्त स्थूल ज्ञान है। उसका फल व्यवहार-सिद्धि के सिवाय और कुछ नहीं है। उन ज्ञानों से सूक्ष्म वस्तुओं का पता नहीं चलता। चार्वाक आदि प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान तक ही अपने को सीमित मानते हैं। कट्टर चार्वाक सम्प्रदाय वाले तो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि अनुमान से केवल सम्भावना प्रकट होती है, अनुमान से ज्ञान, निश्चय नहीं होता। धुआँ देख कर वहाँ आग है, ऐसा अनुमान होता है, परन्तु जबतक वहाँ जाकर आग मिल न जाये तब तक आग का ज्ञान नहीं होता। इसलिये वहाँ जाकर के जब आग नहीं मिलती तब यह नहीं कहते हो कि अनुमान से जब हमको पता लग गया आग है, तो चाहे

हमें न दीखे, आग ज़रूर है! इसलिये चार्वाक कहते हैं कि ज्ञान का तो साधन एकमात्र प्रत्यक्ष ही है। अनुमान प्रवृत्ति का हेतु होता है परन्तु प्रवृत्त होने पर वहाँ न मिले तो अनुमान को किसी-न-किसी कारण से ग़लत मानना पड़ता है। कुछ अन्य चार्वाक जिनको सुशिक्षित चार्वाक कहते हैं, तो प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को मान लेते हैं। क्योंकि अनेक स्थल ऐसे व्यवहार में आते हैं जहाँ प्रत्यक्ष से पता लगाना सम्भव ही नहीं होता। कट्टर चार्वाक तो कहते हैं कि ऐसे स्थलोंका कभी ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु जो उनका व्यवहार के लायक ज्ञान मानते हैं वे कहते हैं, कि अनुमान को भी ज्ञानोपाय मान लिया जाये। हर हालत में, चाहे केवल प्रत्यक्ष को मानें, चाहे तन्मूलक अनुमान को मानें, चार्वाक स्थूल विषयों तक ही सिमटे रह सकते हैं, अतीन्द्रिय पदार्थों का विचार कर ही नहीं सकते। कहते हैं 'ये तो सब तुम्हारी कपोल-कल्पनायें हैं'। परन्तु जो सूक्ष्म दृष्टि वाले हैं, वे इस बात को समझते हैं कि खाली प्रत्यक्ष से जीवनका समाधान होता नहीं। जितने सूक्ष्मभाव हैं उन सब का प्रत्यक्ष मिलना सम्भव नहीं। दया करो- इसका प्रत्यक्ष फल क्या मिलेगा? सत्य बोलो- इसका प्रत्यक्ष फल क्या मिलेगा? समझाने के लिये कहते हैं कि सत्य बोलने वाले की लोक में प्रतिष्ठा होती है, परन्तु वस्तुतः ऐसा कोई नियम मिलता नहीं कि सत्य बोलने वाले की प्रतिष्ठा हो ही। प्रत्यक्ष से दया, सत्य आदि सफल सिद्ध नहीं होते तो इन्हें कर्तव्य कैसे मानें? अतः इन चीज़ों का ज्ञान होनेके लिये एकमात्र हमारे पास साधन शब्द है। वेदादि शब्द कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप इत्यादि फल देते हैं अतः शब्द प्रमाण के अधीन होकर हम उसको सत्य मानते हैं। जिसमें ये संस्कार नहीं होंगे कि शास्त्र मान्य है, वह उधर प्रवृत्त भी नहीं होगा। व्यवहार के अन्दर इतना ज़रूर देखा जाता है कि जब खुद व्यक्ति कष्ट में होता है तब चाहे जैसे चार्वाक होवे, दया की भिक्षा दूसरे से माँगता है! यह जो अन्दर की भावना है इसमें ऐंन्द्रिय प्रमाण न होने पर भी इसे नकारना असंभव है। चार्वाक के मनमें यह नहीं होता कि 'सामने वाला मेरे साथ अत्याचार करे'। इसका मतलब है कि कहीं-न-कहीं यह भाव छिपा हुआ है कि 'कमज़ोर पर दया होनी चाहिये'। इस भाव का कहाँ से उदय हुआ? प्रत्यक्ष व अनुमान से सम्भव नहीं है, इसलिये इसमें शब्द प्रमाण ही मानना पड़ता है।

इस तरह की यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो ज्ञेय वस्तु हैं, उन सब का शास्त्र से ज्ञान होता है। परन्तु इनसे जितने फल शास्त्र ने बतलाये हैं, सब विनाशी फल हैं। यज्ञ, दान आदि से जो फल बतलाये, सब विनाशी हैं। और उनकी नश्वरता में युक्ति भी है : सीमित साधनों से असीमित चीज़ कैसे पैदा होगी! यज्ञ आदि सब सीमित हैं इसलिये उनसे असीमित चीज़ पैदा नहीं हो सकती। इस युक्ति से अनुगृहीत श्रुति भी इनके विनाशी ही फल बतलाती है। वह शब्द प्रमाण केवल यज्ञ आदि का प्रतिपादन नहीं करता, इन सब के त्याग का भी प्रतिपादन करता है। और त्याग के साथ उस त्याग का जो आधार है, आत्मानात्मविवेक से लेकर के ब्रह्मज्ञान पर्यन्त, उस सबका प्रतिपादन करता है। चूंकि उससे संसार- बन्धन से सर्वथा मुक्ति हो जाती है, अतः वह उत्तम ज्ञान है।

भगवान् ने यहाँ ज्ञान को 'उत्तम' कहा, इसकी श्रेष्ठता को बताकर इसकी तरफ प्ररोचन करने के लिये। जबतक किसी चीज़ के गुण को समझोगे नहीं, जानोगे नहीं, तबतक उधर प्रवृत्ति होगी नहीं। प्ररोचक वचन दो तरह के होते हैं, एक तो जैसी चीज़ है वैसा बता कर प्रशंसा होती है और दूसरी होती है, जिसका जो फल नहीं है, फिर भी प्रवृत्त करने के लिये वह उसका फल कह दिया जाता है। जैसे कहा है 'अपाम सोमम् अमृता अभूम' हम सोमयज्ञ में सोमपान करके अमृत हो गये। सोमपान करके अमृत होना तो सम्भव नहीं है परन्तु ऐसा कह दिया, प्ररोचन करने के लिये, सोमयाग में प्रवृत्त होने के लिये। कहीं यथाभूत प्रशंसा होती है अर्थात् जैसी है वैसी चीज़ की बड़ाई की जाती है। और दूसरी, बढ़ा-चढ़ाकर बड़ाई की जाती है। जिस प्रकार से अगर कोई पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट आया, उसका परिचय कराने के लिये कहते हो 'ये यहाँ के एस० पी० हैं' तो उनकी प्रशंसा की, परन्तु यथार्थ में वह एस० पी० है। किन्तु कोई साधारण पुलिस का सिपाही है, उसको भी प्रशंसामें कह देते हैं 'अरे, ये तो यहाँ के दरोगा हैं', वह है नहीं दरोगा, फिर भी कह दिया जाता है। प्रशंसा या प्ररोचन के लिये दोनों तरह के वाक्य होते हैं। यहाँ जो भगवान् उत्तम और पर कह रहे हैं, वह यथाभूत प्रशंसा है। कहने का उद्देश्य प्ररोचन है।

'यत्' जिस ज्ञान को 'ज्ञात्वा' अर्थात् अपना आत्मप्रत्यक्ष बना कर; परोक्ष रूप से जान कर फल नहीं होगा, ज्ञान को प्राप्त करके, आत्मसात् करके फल अवश्य होता है। 'मुनयः' संन्यासी। कैसे संन्यासी? जो श्रवण कर चुके हैं और मनन में लगे हुऐ हैं, मनन करना जिनका शील हो गया है, स्वभाव हो गया है। श्रवण करके तो पता लगता है कि वह परमात्मतत्त्व कैसा है। परन्तु 'वह परमतत्त्व मैं हूँ', यही उसकी प्राप्ति का प्रकार है। परमतत्त्व ही एकमात्र ऐसा है जिसको वेद साक्षात् अपरोक्ष कहते हैं। बाकी सब चीज़ें जानने के लिये तुमको कोई माध्यम चाहिये। परन्तु जिस चीज़ को जानने के लिये कोई माध्यम नहीं चाहिये वह ज्ञान है, प्रत्यगात्मा का ज्ञान। 'मैं हूँ'- तुम इस बात को किसी भी दूसरे साधन से नहीं जानते, तुम खुद ही जानते हो 'मैं हूँ'। 'मैं हूँ' यह ज्ञान तो हरएक मनुष्य को है पर क्या ज्ञान नहीं है? 'मैं क्या हूँ'- यह पता नहीं है। सामान्यज्ञान होने पर भी मैं विशेषेण ज्ञात नहीं हूँ। जिस प्रकार से 'कुछ पड़ा है', इस प्रकार 'कुछ' रूप से तो हमने रस्सी जान ली, लेकिन रस्सीरूप से रस्सी नहीं जानी इसलिये उसमें सर्प, जलधारा आदि की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'मैं हूँ' यह तो जान लिया लेकिन क्या हूँ, यह नहीं जाना। इसलिये मैं के बारेमें भ्रम होता है कि शरीर हूँ, प्राण हूँ, मन हूँ इत्यादि। अतएव मैं को सही जानने केलिये शास्त्र की शरण लेनी पड़ती है। जिन संन्यासियों ने श्रवण करके 'वह ऐसा है'- यह जान लिया, परन्तु 'ऐसा हूँ' यों अपरोक्ष करने के लिये मनन करने में लगे रहते हैं, उन्हें मुनि कहा। जिस प्रकार रेखा गणित में कहते हैं- प्रमाणित करो कि एक त्रिकोण के तीनों कोणों का जोड़ एक सौ अस्सी अंश होता है। इसका तुम जवाब लिखो कि 'तीनों का जोड़ एक सौ अस्सी अंश होता है' तो तुम्हें अनुत्तीर्ण माना जायेगा। बात तो ठीक

लिखी है पर कैसे ठीक है यह तुमने तो समझा नहीं। इसी प्रकार याद कर लिया 'ब्रह्म सत्यं जगद् मिथ्या'। सत्य कौन है? ब्रह्म है। गलत तो नहीं कह रहे, बिलकुल ठीक कह रहे हो। श्रवण तो किया हुआ है, जवाब तो याद है, लेकिन केवल इस जवाब को याद रखोगे तो जैसे परीक्षा में तमको शून्य अंक मिलता है वैसे यहाँ भी मोक्ष तुम्हारे लिये शून्य की ही तरह रहेगा! युक्तियों से मनन करके जब तुम ठीक प्रकार से बुद्धि में संस्कारों को बैठा लेते हो और अनुभव करते हो कि ऐसा ही है, तब उत्तीर्ण हो जाते हो। मनन करते-करते जब चित्त सर्वथा स्थिर हो जाता है तब अनुभव का स्फुरण होता है। ऐसे मनन का शील जिनका है, उन्हीं को मुनि कहा है । वे ही 'ज्ञात्वा' इस ज्ञान को पाते हैं और पाकर सभी मननशील संन्यासी 'परां सिद्धिम्' अन्तिम सिद्धि, जिसके बाद और कोई सिद्धि नहीं है अर्थात् मोक्ष, उसे पा लेते हैं।

'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान जब तुम्हारी बुद्धि में दृढ हो जाता है, उसमें कहीं संशय विपर्यय नहीं रह जाता है, तब उसी का नाम मोक्ष है। जगत् है- यह भी किसका निश्चय है? बुद्धि का। जगत् नहीं है- यह भी किसका निश्चय होगा? बुद्धि का। मैं बद्ध हूँ यह भी बुद्धि का ही निश्चय है कि 'जो चाहता हूँ कर नहीं सकता, जो चाहता हूँ वह जान नहीं सकता, इसलिये बद्ध हूँ।' 'जो चाहता हूँ सो कर सकता हूँ, जो चाहता हूँ सो जान सकता हूँ' यह निश्चय यदि हो जाता है तो हो गया बन्धन खत्म। ऐसी शंका नहीं करना कि जो चाहता हूँ सो कर सकता हूँ तो क्या आकाश को काट सकता हूँ? मनन करने वाला इस बात को जानता है कि आकाश कट नहीं सकता। इसलिये उसे आकाश काटने की इच्छा का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार जब निश्चय हो गया कि जगत् प्रतीतिमात्र है तब उसके अन्दर कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता! जबतक उसके अन्दर सत्यता का कुछ-न-कुछ संस्कार बाकी है तभी तक करना और जानना बचता है। जब पता लग जाता है कि वस्तुतः ये सब रज्जु में सर्प की तरह ही हैं तब नैष्कर्म्य ही निश्चित है। रज्जु में सर्प को जिसने समझ लिया वह उस सर्प को भगाने की कोशिश करता हो, ऐसा कहीं देखने में नहीं आयेगा। इसलिये मुनिजन मोक्षरूप 'परां सिद्धिम्', परम सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। 'इतः गताः' 'इतः' अर्थात् यह जो प्रारब्ध का देह-बन्धन है, इसके खत्म होते ही 'गताः' मुक्त हो जाते हैं। इससे आगे कुछ करना या जानना शेष नहीं है। इस शरीर से छूट करके फिर उनको शरीर के बन्धन की प्राप्ति हो, यह सम्भव ही नहीं है।।१।।

तत्त्वज्ञान अवश्य ही मोक्षफलक है और मोक्ष परम सिद्धि ही है इसे स्पष्ट करते हैं-

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

इस ज्ञानका सहारा लेकर मेरा स्वरूप बने (वे मुनि) सृष्टिकाल में भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय में भी व्यथित नहीं होते।

'इदं ज्ञानम्', यह जो उत्तम ज्ञान हम बतलाने जा रहे हैं और जिसे पहले भी बतलाया है, उसको 'उपाश्रित्य' अर्थात् अमानित्वादि लक्षणों वाली जो ज्ञानसाधना हम बता आये हैं उसका आश्रयण अर्थात् अनुष्ठान करके ही मोक्ष मिलता है। ज्ञानसाधनों के अभ्यासपूर्वक श्रवणादि से ज्ञान को स्वयं में स्थिर कर लेना ही उस ज्ञान का सहारा लेना है। इसके द्वारा ही ज्ञान की दृढता सम्भव है, अन्यथा नहीं। अमानित्वादि जो गुण पहले बतला आये हैं और यहाँ बाइसवें श्लोक से प्रारंभ कर जो आगे भी बतलायेंगे, उन सब का जिन्होंने उपाश्रयण कर लिया, पूरी तरह से अपने में उतार लिया, वे 'मम' अर्थात् मैं जो परमेश्वर हूँ उसके 'साधर्म्यमागताः' समानधर्मा हो जाते हैं। साधर्म्य का मतलब समान-धर्मता। किन्तु क्योंकि शास्त्रों में परमेश्वर निरवयव और निर्गुण बतलाया है, इसलिये उसके अन्दर कोई धर्म है ही नहीं जो कोई उसके जैसा हो जाये! धर्म-धर्मिभाव परमेश्वर में नहीं है। अतः 'मम साधर्म्यम्' का मतलब है, मेरा स्वरूप हो जाता है, मुझ से एक हो जाता है। गीता शास्त्र के अन्दर 'मम' शब्द का, 'अहम्' शब्द का जगह-जगह प्रयोग है, उसका अर्थ परमेश्वर है, न कि कोई मूर्तिविशेष। अतः किसी मूर्ति से समानता हो जाती है ऐसा यहाँ अर्थ संगत नहीं है। इसलिये साधर्म्य का अर्थ पूर्णता की प्राप्ति है। पूर्ण परमात्मा में पूर्णत्व किसी धर्म की तरह नहीं रहता। पूर्णता परमात्मा *में* नहीं रहती, परमात्मा पूर्ण ही है। इसलिये तात्पर्य है कि धर्म-धर्मिभाव से रहित जो पूर्ण-रूपता है उसको प्राप्त कर लेते हैं। 'मम साधर्म्यमागताः', यहाँ गम् धातुका अर्थ ज्ञान ही करना चाहिये अर्थात् मेरी सधर्मता को जान लेते हैं। क्षेत्रज्ञ तो हमेशा ईश्वर ही है। क्षेत्र के कारण मिथ्या अध्यास से वह ईश्वर से अपने को अलग समझता है पर अलग हो नहीं जाता। क्षेत्रज्ञ और ईश्वर के अन्दर कोई भेद गीताशास्त्र में स्वीकार नहीं किया है। भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि क्षेत्रज्ञ ईश्वर ही है। इसलिये 'मम साधर्म्यमागताः' अर्थात् ईश्वर-भाव, पूर्ण-भाव प्रकट हो जाता है, ज्ञात हो जाता है।

जब इस पूर्ण भाव को प्राप्त कर जाते हैं तब 'सर्गेऽपि न उपजायन्ते' सृष्टि काल के अन्दर भी उत्पन्न नहीं होते। जय, विजय आदि के दृष्टांत से यह बात पुराणों में स्पष्ट की है कि चतुर्भुज आदि रूप प्राप्त करने पर भी फिर उत्पत्ति होती है। इसलिये उस प्रकार के साधर्म्य का स्वयं भगवान् ने निषेध कर दिया 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते' कहकर। जैसे ईश्वर की उत्पत्ति सम्भव नहीं वैसे ईश्वर के साधर्म्य को प्राप्त मुनियों की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं। सृष्टि-काल में भी ईश्वर उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार जो मुनि लोग हैं वे भी सृष्टि-काल में उत्पन्न नहीं होते। विचार करो, उत्पत्ति का तात्पर्य क्या है? क्षेत्र की प्रतीति होना उत्पत्ति है। उत्पन्न क्या होगा? शास्त्रों के अन्दर पृथ्वी से लेकर अहंकार पर्यन्त तक की उत्पत्ति बतलाई, कहीं पर भी जीव की उत्पत्ति नहीं बताई। क्षेत्र का प्रकट होना ही, उसके साथ अध्यास हो जाना ही उत्पत्ति है। जिसने पूर्णभाव को प्राप्त कर लिया, जिसकी अविद्या निवृत्त हो गई, न तो क्षेत्र ही उसके सामने आ सकता है और न उसके साथ अविद्या के कारण होने वाला अध्यास ही हो सकता है। इसलिये उसके बाद वह अभी, इस कल्पमें उत्पन्न नहीं

होता इतना ही नहीं है, कभी किसी भी कल्पमें पैदा नहीं होगा। ऐसा नहीं कि फिर सृष्टि होगी तब तो पैदा हो जायेगा! पैदा हो ही नहीं सकता क्योंकि अनादि होने से अविद्या एक बार निवृत्त होने के बाद फिर पैदा हो नहीं सकती। इससे यह अर्थ निकालना उचित नहीं कि भगवान् कह रहे हैं कि सर्ग तो फिर भी होगा, केवल ये मुनि पैदा नहीं होंगे! इतनी बात इस श्लोक में भगवान् ने कही नहीं है। अतः 'सर्गेऽपि' का यही अर्थ है कि सर्ग होवे तो भी इन मुक्तों के जन्मकी सम्भावना नहीं। वास्तवमें तो यदि सर्ग कभी हुआ होता तो उसकी पुनः उत्पत्ति की बात कही जाती! सर्ग तो कभी उत्पन्न हुआ नहीं, अविद्यामात्र से प्रतीत होता है। इस प्रतीति का न होना ही 'न उपजायन्ते' के द्वारा मना कर रहे हैं।

'प्रलये न व्यथन्ति च'। प्रलय अर्थात् जिस समय ब्रह्माजी भी समाप्त होते हैं उसमें भी मुक्त को कोई व्यथा नहीं है। यहाँ भगवान् ने यह नहीं कहा कि प्रलय में लीन नहीं होते; यही कहा कि व्यथा को प्राप्त नहीं होते। सारी सृष्टि नष्ट होती है तो जो इनको वास्तविक समझते हैं, उनको व्यथा होती है। ऐसे समझ लो : तुम्हारे पास एक लाख रुपये के नकली नोटों की गड्डी है। यदि रात में चोरी हो जाय, तो तुमको कोई व्यथा होगी! क्योंकि नकली रुपयों को लोग रखते हैं ताश के दाव के लिये। 'ब्रिज' खेलते हैं, उसमें असली पैसों का लेना-देना होता नहीं, झूठे नोट लेते-देते हैं। ऐसे नोटों के चले जाने पर कोई तुमको व्यथा नहीं होती। इसी प्रकार से आकाश से लेकर अहंकार पर्यन्त जितना संसार है सारा केवल व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये है, इसमें वास्तविकता कुछ भी है नहीं। अतः इसके लीन होने से व्यथा का प्रश्न ही नहीं है! 'न व्यथन्ति च' के द्वारा भगवान् ने जगत्- मिथ्यात्व को बिलकुल स्पष्ट करके कह दिया। सब चीज़ों के लीन होने पर भी मुक्त को कोई व्यथा नहीं है क्योंकि वह जानता है कि ये मिथ्या हैं। वस्तुतस्तु तत्त्वज्ञान से ही सारे संसार का प्रलय हो जाता है, भगवान् ने स्वयं ज्ञानको अग्नि कहा है (४.३७)। जिसको दृश्यमें किंचित् भी सत्यता-बुद्धि होगी वह तत्त्वज्ञान को ही नहीं सह पायेगा क्योंकि उससे उसे शरीर-मन समेत सारा संसार हाथ से जाता लगेगा। जब दृढ विवेक के द्वारा तुमने अपने प्रत्यगात्मा को दृश्यों से भिन्न समझ लिया है, अपरोक्ष कर लिया है, तब इनके नष्ट होने से तुम को व्यथा की सम्भावना ही नहीं है। जब तक इनसे तुमने अपने स्वरूप को सर्वथा अलग करके जान नहीं लिया है, तब तक इनके नष्ट होने से व्यथा होती है। ऐसा नहीं कि सर्ग और प्रलय कुछ हैं जो चलते रहें! अविद्या के अध्यास से ही सर्ग है और अविद्या के अध्यास की निवृत्ति होते ही इसकी सर्वथा निवृत्ति होती है। चूंकि सर्ग के साथ मुनिका आत्म-सम्बन्ध है नहीं इसलिये उसे सर्गका बाध होने पर व्यथा की प्राप्ति नहीं है।

जिसको संसार में अध्यास मौजूद है वह परमार्थ की बात सुनकर बिलकुल घबरा जायेगा। उसको लगता है 'मैंने इतनी कठिनाई से अश्वमेध यज्ञ किया, लाखों रुपये खर्च किये, और यह ज्ञानाग्नि उसको जला देगी! नहीं चाहिये ऐसा ज्ञान, बेकार का है'। इसलिये एक जगह विवेकानन्द जी ने कहा है कि पुण्य करने वाले, पाप करने वालों से ज़्यादा संसार

से चिपके रहते हैं। क्योंकि पाप करने वाले तो सोचते हैं कि ज्ञान से हमारा पाप कट जायेगा तब दुःख नहीं मिलेगा और पुण्य करने वाले सोचते हैं कि इतने जो सुखों के साधन किये वे सब नष्ट हो जायेंगे! इसलिये पुण्यात्मा ज्ञानाग्नि से ज़्यादा बचना चाहते हैं। भगवान् की लीला बड़ी विचित्र है! भगवान् कहते हैं कि पाप कर्म करने वाले में तो ज्ञान के लिये इच्छा ही पैदा नहीं होती, जिज्ञासा ही पैदा नहीं होती। जिसने पुण्य किया वह ज्ञान से उसको जलाने में व्यथा का अनुभव करेगा और जिसने पुण्य नहीं किया है उसको जिज्ञासा ही नहीं होगी! इसलिये पहले भगवान् ने कहा था हज़ारों आदमियों में कोई एक इधर लगता है अर्थात् पुण्य कर्म करके जिज्ञासा को प्राप्त करता है। आत्मा-अनात्मा के विवेक से, पुण्यों को अनित्यफलक जानकर वह अत्यन्त सुख फल देने वाले कर्मों को भी जलाने को तैयार हो जाता है। इसीलिये बार-बार वैराग्य पर इतना ज़ोर देते हैं। तभी व्यथा से बचा जा सकता है। व्यथा का अर्थ करते हुये भाष्यकार ने कह दिया 'न च्यवन्ति' अर्थात् हमारे सारे पुण्य कर्म जल जायेंगे इससे भी वे च्युत नहीं होते अपने ब्रह्मस्वरूप से अर्थात् क्षणिक सुखलवों के प्रति उनका वैराग्य इतना तीक्ष्ण है कि उनके न होने को वे कोई महत्त्व नहीं देते। तभी भगवत्साधर्म्य की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं।।२।।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की व्यवस्था में सांख्यवाद से विलक्षणता समझाते हुए भगवान् कहते हैं-

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

महद् ब्रह्म कहलाने वाली जो मेरी निजी शक्ति माया वही योनिस्थानीय है जिसमें मैं गर्भ धारण कराता हूँ जिससे सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है।

'महद् ब्रह्म', जो योनि है, प्रकृति है, माया है, यह महत् है क्योंकि सब में व्यापक है। कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसके साथ इसका सम्बन्ध न होवे। सब में व्यापक होने से महत् है। तीन प्रकार के नाप नैयायिक मानते हैं- अणु, मध्यम और महत्। जो देश काल आदि की तरह सर्वव्यापक होते हैं उनको महत् परिमाणी कहते हैं। इसी प्रकार से परमेश्वर की माया संसार के सब नामरूपों में हमेशा रहती है इसलिये उसको महत् कह दिया। बाकी सब कार्य हैं, वह कारण है। कार्यों में कारण की व्यापकता सर्वत्र प्रसिद्ध है। सोने के गहनों में सोना व्यापक होगा ही। मिट्टी के बर्तनों में मिट्टी व्यापक होगी ही, इसी प्रकार से सारे जगत् की योनि, सारे जगत् का कारण होने से सारे विकारों के अन्दर यह मौजूद है। इतना ही नहीं, सबका पोषण, भरण करने वाली होने से ब्रह्म है। यहाँ माया को ब्रह्मशब्द से कहा है क्योंकि उपनिषदों में अनेक जगह माया रूपी जो प्रकृति है उसको ब्रह्म शब्द से कहा है। ब्रह्म का अर्थ होता है, सबका भरण करने वाला। माया ही सबका भरण और पोषण करती रहती है इसलिये उसको ब्रह्म कह दिया। यह जो कारण है, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, यह 'मम' अर्थात् ईश्वर की ही शक्ति है, हमेशा ईश्वर के ही अधीन रहती है। प्रकृति ईश्वर की है, स्वतन्त्र नहीं, इसलिये स्वातंत्र्य की निवृत्ति करने

के लिये स्पष्ट कह दिया ''मम योनिर्महद्ब्रह्म''।

इस प्रकृति में त्रिगुणात्मिका माया में गर्भ धारण कराता हूँ। जिस प्रकार से अनाज खाकर अनाज के द्वारा प्रविष्ट जो जीव वह जब चरम धातु के रूप में परिणत हो जाता है, तब उसको मातृयोनि में स्थापित किया जाता है। मातृयोनि में स्थापित होने के बाद, माता ही उस जीव का भरण-पोषण करती है। पहले वह पिता के शरीर में प्रविष्ट था, परन्तु जब माता की योनि में जाता है उसके बाद माता ही उसका भरण-पोषण करती है। उसी को गर्भ कहते हैं। वही पहले कलिल इत्यादि अवस्थाओं में होते हुये, अन्त में पूरे रूप को धारण करता है। इसी प्रकार महाप्रलय के अन्दर सारे जीव परमेश्वर में लीन हो जाते हैं। परमेश्वर के शरीर में लीन हुये जो जीव, उनके जब कर्मभोग का काल आता है, तब सृष्टि होती है। परमशिव के अन्दर लीन जो यह सारा संसार, जब इसके कर्मों का फल देने का समय आ जाता है, तब जीवों का माया और माया के कार्यों में प्रक्षेप किया जाता है। उसी का प्रथमरूप होता है हिरण्यगर्भ। हिरण्य सारे संसार को कहते हैं। हिरण्य का निरुक्त किया गया है कि जो हितकारी भी होवे और रमणीय भी होवे। सारा संसार सूक्ष्म रूप में हिरण्यगर्भ की उपाधि है। महाप्रलय में तो परमेश्वर कारणोपाधिक है, सब कुछ इसमें लीन हुआ रहता है। उसके बाद 'बहु स्याम् प्रजायेय', सह संकल्प होकर गर्भ का आधान होता है। उस हिरण्यगर्भ से ही फिर सारे संसार का निर्माण होता है। जैसे वहाँ गर्भ में कलिलादि अवस्थायें होती हैं वैसे यहाँ हिरण्यगर्भ के अन्दर केवल सूक्ष्म प्रपंच है, स्थूल प्रपंच नहीं। फिर जब वह विराट् रूप से प्रकट होता है, तब स्थूल हो जाता है। हिरण्यगर्भ के जन्म का बीज, सारे भूतों के जन्म का कारण परमेश्वर का 'बहु स्यां प्रजायेय' (छां.६.२.३) संकल्प ही है। सब कुछ उसी से प्रकट हुआ है।

'दधामि', अर्थात् उसके अन्दर स्थिर करता हूँ, धारण कराता हूँ। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ इन दोनों प्रकृतियों की शक्ति वाला जो परमेश्वर वह अपने आप को अनेक क्षेत्रों के अन्दर प्रकट कर देता है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ-ये दोनों उसकी ही शक्तियाँ हैं। धारण कराने वाला ईश्वर है और अविद्या काम कर्म उपाधि के अनुसार क्षेत्रज्ञ है। हर क्षेत्रज्ञ के अन्दर कामनायें अलग हैं, कर्म अलग हैं। याद रखना, इस प्रकरण के अन्दर क्षेत्रज्ञ तो एक ईश्वर ही है। अनेक उपाधियों के अन्दर, प्रतित होने के कारण उसका क्षेत्रज्ञ रूप प्रकट हो जाता है। अर्थात् क्षेत्र के साथ क्षेत्रज्ञ का सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध अध्यासरूप ही है।

'ततः' परमेश्वर के द्वारा महत् योनि के अन्दर गर्भ धारण कराने से 'सर्वभूतानां' हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के द्वार से सारे प्राणियों की 'सम्भवः' उत्पत्ति 'भवति' होती है। सारे प्राणी उससे उत्पन्न होते हैं। भगवान् जो गर्भाधान करते हैं, उसी से प्रकृति इन सारी चीज़ों को प्रकट करने वाली बनती है।

इस प्रकार जो सांख्य मानते हैं कि पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व हैं, इसका भी निषेध हो गया और ये दोनों मेरे ही, परमेश्वर के ही अधीन हैं यह भी स्पष्ट हो गया।।३।।

सब भूतों का परमेश्वर से ही जन्म संगत करते हैं-

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

कौन्तेय! देव-दानव-मानव आदि सब योनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं उनका (माता-स्थानीय) कारण महद् ब्रह्म (माया) है, मैं (उसमें) बीज डालने वाला पिता हूँ।

'सर्वयोनिषु'- देवयोनि, पितृयोनि, मनुष्ययोनि, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मच्छर आदि सब योनियों में, 'याः मूर्तयः सम्भवन्ति', जो मूर्तियाँ पैदा होती हैं उनका पिता-स्थानीय परमेश्वर ही है। मूर्तियाँ अर्थात् देह-संस्थान, सबके अलग-अलग शरीर। मूर्ति शरीर को इसलिये कहते हैं, कि अनेक अवयव इकट्ठे होकर ही शरीर बनता है। जहाँ लगता है कि कोई अवयव नहीं है- जिसको एक कोषा वाले प्राणी कहते हैं जैसे अमीबा इत्यादि, उसके अन्दर भी जब ध्यान से देखते हैं तो एक मध्यभाग, केन्द्र होता है जिसको न्यूक्लिअस कहते हैं, बाकी बाहरी भाग होता है। जैसे ही भोजन की चीज़ पास आती है, वह अपने शरीर के ही दो हिस्सों को अलग-अलग लम्बा करके खाद्य पदार्थ को अपने अन्दर मिला लेता है। इसलिये वहाँ भी जब देखते हैं ध्यान देकर तो भिन्न-भिन्न अंग मिलते हैं। अतः अनेक अवयव मिले हुऐ हैं इसलिये शरीरों को यहाँ मूर्ति कहा है। इसीलिये शिवलिंग को मूर्ति नहीं माना गया है क्योंकि लिंग के अन्दर कोई अवयव-संस्थान स्फुट नहीं है। जब चतुर्भुजी, पंचमुखी इत्यादि मूर्तियाँ बनती हैं, तब तो उन्हें मूर्ति कहेंगे परन्तु जबतक इस प्रकार अंग न हों तब तक मूर्ति नहीं कह सकते। जितनी योनियाँ हैं- देवयोनि, पितृयोनि आदि, सबके अंग-संस्थानों में भेद होता है। उसी से ये भिन्न-भिन्न हैं। ये जो अनेक आकार वाले, अनेक अवयवों वाले देह हैं, ये 'सम्भवन्ति', सारे उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार से जो मूर्तियाँ होती हैं, 'ब्रह्म महद्योनिः', जिस सर्वव्यापक सर्वभरणकर्त्री प्रकृति को मैंने व्यापक योनिशब्द से कहा है, वही 'तासां' इन सब मूर्तियों का कारण है। और 'अहं बीजप्रदः पिता', मैं उस योनि में गर्भ धारण कराने वाला इस सारी सृष्टि का पिता हूँ। शुक्र के द्वारा गर्भाधान कराने वाला पिता होता है। इसकी जगह 'बहु स्याम्' यह ईश्वर का संकल्प है। उस संकल्प से ही ये अनेक चीज़ें उत्पन्न हो जाती हैं।।४।।

ईश्वराधीन हुई प्रकृति सबकी उत्पादक है यह बताया। वह किस तरह बन्धन करती है यह अब समझाते हैं-

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

हे समर्थ भुजाओं वाले अर्जुन! भगवान्‌की प्रकृतिशब्दित माया से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम गुण उस शरीरधारी को शरीर में मानों बाँध लेते हैं जो स्वरूप से अव्यय है।

भगवान् कह आये हैं (१३.२१) कि अच्छी बुरी मध्यम योनियों में जो जन्म होता है वह गुणसंग से होता है। परन्तु वहाँ यह नहीं बतलाया था कि किन-किन गुणों से कैसा-कैसा जन्म होता है इसलिये यहाँ गुणों का वर्णन आवश्यक हो गया। प्रकृति के जो तीन गुण हैं उनका पहले तो नाम बतला देते हैं, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, 'इति गुणाः'- ये तीन ही गुण हैं। सत्त्वादि केलिये गुण शास्त्रप्रसिद्ध शब्द है। प्रायः तो पराश्रित को गुण कहते हैं, द्रव्य पर आश्रित रूपादि को गुण इसीलिये कहते हैं। किन्तु सत्त्वादि तो स्वयं आश्रय हैं, आश्रित नहीं इसलिये इस अर्थ में गुण नहीं हैं। अथवा रस्सी को भी गुण कहते हैं। रस्सी बाँधने का काम करती है। इसी प्रकार ये गुण हमें बाँधने का काम करते हैं। इनकी यह गुणरूपता प्रकट करते हुए कहा 'अव्ययं देहिनं देहे निबध्नन्ति'। इन गुणों के कारण ही हम बँधे हुऐ हैं। देही स्वरूप से कैसा है? अव्यय। किसी प्रकार के विकार से, परिणाम से इसका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। देही अव्यय है, इसमें किसी भी विकार की सम्भावना नहीं है। परन्तु ये गुण क्या करते हैं? 'देहे निबध्नन्ति'। शरीर के साथ बाँध देते हैं। इतना याद रखना कि इन गुणों वाली कोई अन्य चीज़ होवे- ऐसा नहीं है। कोई चीज़ होती होगी जिसमें सत्त्वगुण रहेगा ऐसा नहीं है। चाहे तुम द्रव्य कहो, चाहे गुण कहो, सत्त्वादि उन पदार्थों के नाम हैं जो बाँधने वाले हैं। इनको गुण इसलिये भी कहते हैं कि ये परतन्त्र हैं। हमेशा किसके परतन्त्र हैं? क्षेत्रज्ञ ईश्वर के। जैसे-जैसे जो-जो कर्म फल देने वाला है, तदनुरूप गुणों की प्रवृत्ति होती है और उन गुणों के अन्दर हम बँधते चले जाते हैं। है ऐसा क्षेत्रज्ञ की अविद्या के कारण ही, परन्तु जब कोई क्षेत्रज्ञ होगा तब उसको बाँधने के लिये ये गुण होंगे।

'प्रकृतिसम्भवाः'। गुण परमेश्वर की माया से ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् ऐसा नहीं समझ लेना कि सत्त्वगुण, रजोगुण तमोगुण कहीं पड़े हुऐ हैं और हमें बाँधते हैं! जब हमारे जिस कर्म फल को परमेश्वर देना चाहते हैं, तब उस भोग के लिये वह गुण हमारे अन्दर प्रकट कर देते हैं। यही ईश्वर की सारे संसार को बाँधने की प्रक्रिया है। कर्म के अनुरूप तुम्हें उन्होंने गुण दे दिया, आगे तुम अविद्या से उससे बँधते हो।

हे महाबाहो! जिसके हाथ की अंगुलियाँ सीधा खड़े होने पर घुटने को लग जायें उसी को महाबाहु कहते हैं, आजानुबाहु भी कहते हैं। जो महाबाहु होता है वह किसी को भी परास्त कर सकता है, बड़ा अच्छा योद्धा होता है; परन्तु उस महाबाहु को यदि बाँध दिया जाता है तो वह स्वयं अपनी हथकड़ी,बेड़ी भी नहीं खोल सकता! इसी प्रकार से जीव है तो महाबाहु, ब्रह्माकार वृत्ति से सब चीज़ों को नष्ट करने में समर्थ, परन्तु गुणों से संग के कारण वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। अपने लम्बे हाथ होने पर भी जैसे खुद अपने को छुड़ा नहीं सकता, इसी प्रकार से जीव भी, सर्वसमर्थ होने पर भी इस सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के बन्धन से अपने को छुड़ा नहीं पाता। जैसे दूसरा व्यक्ति ही उसको छुड़ा सकता है वैसे ईश्वर वेद के द्वारा और गुरुरूपमें उसके यथार्थ तात्पर्य को बतलाने वाला होकर हमें छुड़ाने वाला हो जाता है। इसीलिये बार-बार कहते हैं कि बिना ईश्वर और गुरु की कृपा

के जीव इससे छूट नहीं सकता क्योंकि वह खुद तो हमेशा ही तीनों में से किसी-न-किसी गुण में बन्धा रहेगा।

भगवान् ने तो कह दिया है 'अव्ययम् देहिनं निबध्नन्ति', ये गुण उसको बाँधते हैं। पर बाँधना कैसे सम्भव है? हाथ पैर होंगे तभी न किसी चीज़ को बाँधोगे। इसीलिये सर्वज्ञ भाष्यकार कहते हैं 'निबध्नन्ति इव' मानों बँध गया है। सचमुच में कोई बाँध नहीं रहा है। ठीक जिस प्रकार से लोक में देखा जाता है, हाथ पैर सब खुले हुऐ हैं- जो चाहे सो कर सकता है, परन्तु जैसे ही कहीं आने-जाने की बात होवे, तो कहता है 'मेरी भी बद्रीनारायण जाने की बहुत इच्छा है परन्तु क्या करूँ अभी बच्चे छोटे हैं।' बच्चों ने कोई उसको बाँध थोड़े ही रखा है! कहते हैं 'महराज! हम लोग तो बँधे हुऐ हैं। फँसे हुऐ हैं।' चारों तरफ देखो, कोई कीचड़ है जिसमें फँसे हुऐ हैं? कुछ नहीं। परन्तु बँधे हुऐ की तरह हैं। नहीं जा सकते- यह ठीक बात है। पत्नी और पुत्रों के कारण बँधे हुऐ की तरह हैं, सचमुच में तो बँधे हुऐ हैं नहीं। इसी प्रकार से क्षेत्रज्ञ सचमुच में नहीं बँधा हुआ है, परन्तु गुणसंग के कारण, परमात्मज्ञान प्राप्त करने में अपने को असहाय अनुभव करता है। बार-बार यही कहता है 'महाराज! चाहते तो बहुत हैं, लेकिन फँसे हुऐ हैं, बँधे हुऐ हैं।' इसलिये भगवान् ने यद्यपि 'निबध्नन्ति' कहा है तथापि इसका मतलब समझ लेना कि बँधे हुए की तरह हैं अतः गुण भी बाँधने वाले की तरह हैं! अर्थात् इनमें जो तुम्हारा अपना संग है- पत्नी, पुत्र इत्यादि में जो तुम्हारा अपना संग है- वही बाँध रहा है, कोई दूसरा नहीं बाँध रहा। गुण नहीं बाँधते हैं, गुण के अन्दर जो हमारा संग है, वह बाँधता है।।५।।

सामान्यरूप से कह दिया कि तीनों बाँधते हैं किसी-न-किसी देह रूपी उपाधि में। इसलिये क्षेत्रज्ञ हमेशा अपने को किसी-न-किसी देह में ही अनुभव करता है। अब किस-किस प्रकार से कौन-कौन-सा गुण बाँधता है इसको बतलाते हैं-

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

हे अव्यसनी अर्जुन! इन तीन गुणों में से सत्त्वगुण क्योंकि स्वच्छ है इसलिये चैतन्य की अभिव्यक्ति करने वाला और निरुपद्रव है (सुख की अभिव्यक्ति करने वाला है)। यह सुखसे और ज्ञान से संग के द्वारा मानों बाँधता है।

'तत्र' अर्थात् इन तीन गुणों में 'सत्त्वं' सत्त्वगुण कैसा है? 'प्रकाशकम्' प्रकाशक है। ठीक जिस प्रकार से काँच यदि धूप में रख दो तो उस काँच के कारण आँखें चौंधिया जाती हैं। वहाँ प्रकाश तो चारों तरफ है, परन्तु वह प्रकाश तुमको चौंधियाता नहीं है। वहीं काँच के अन्दर प्रतिबिम्बित होकर चौंधिया देता है। इसी प्रकार सर्वत्र व्यापक जो चैतन्य है, वह तो प्रकाश की जगह ज्ञानरूप है, सब जगह एक जैसा फैला हुआ है और काँच की जगह सत्त्वगुण जहाँ होगा, वहाँ वह ज्ञान सब चीज़ों को चमका देता है। इसलिये सत्त्वगुण को

प्रकाशक कहा। ऐसा नहीं समझ लेना कि सत्त्वगुण खुद ही प्रकाशक है! प्रकाश को भली प्रकार से परावर्तित करने के कारण, चौंधिया देने वाला होने से, जैसे कह दिया जाता है कि काँच के कारण आँखें चौंधिया गईं जबकि काँच के कारण तो चौंधियाती नहीं हैं, इसी प्रकार सत्त्वगुण चेतन प्रकाश को ऐसा प्रत्यावर्तित कर देता है कि वस्तुओं का स्पष्ट प्रकाश हो जाता हैं। 'अनामयम्'। सत्त्वगुण किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करता, किसी प्रकार का दुःख नहीं देता। क्यों? तो निर्मलत्वात् निर्मल होने से वह प्रकाशक भी है और अनामय भी है।

लेकिन 'बध्नाति'। कैसै? 'सुखसंगेन' जब सत्त्वगुण होता है तब सुख होता है। सुख होता है तो 'मैं सुखी' यह वृत्ति अहंकार की होती है अतः विषयरूप है पर क्षेत्रज्ञ जीव 'मैं सुखी' ऐसा मान कर बँध जाता है। सुखी तो हुई अहंकारात्मिका वृत्ति, परन्तु जब अहंकारात्मिका वृत्ति सुखी हुई, तब हम अपने को सुखी मान लेते हैं। यही अविद्या है जो आत्मा में संश्लेष का, संबंधका आपादन कर देती है। चूंकि सुख के प्रति हमारा आकर्षण होता है इसलिये वह सचमुच में *मुझे* सुखी नहीं बनाता फिर भी सुखाकार वृत्ति को लेकर मुझे उसमें संग हो जाता है कि 'अच्छा हुआ मैं सुखी हुआ। बार-बार, मैं सुखी होता रहूँ'। सुखी कौन होगा? अन्तःकरण, अहंकार। परन्तु उसको अपना रूप समझ लिया इसलिये बार-बार 'मैं सुखी मैं सुखी' ऐसी वृत्ति बनाना चाहता है। तेरहवें अध्याय में, 'इच्छा द्वेषं सुखं दुःखम्' के बारे में कह आये हैं कि ये सब क्षेत्र के धर्म हैं। 'मैं सुखी' जो बोध हो रहा है वह अहंकारात्मिका वृत्ति का, क्षेत्र का धर्म है। यही सबसे कठिन हिस्सा है, विचार करके समझना पड़ता है। प्रायः विषय का अनुभव 'यह' के रूपमें होता है, अपने से अलग लगते हुए होता है। यह रसगुल्ला है, यह दाल मोठ है- इस प्रकार विषय अपने से अलग लगता है। इसलिये वहाँ जब कहते हैं कि विषय और विषयी अलग होते हैं, तो आदमी को समझ में आता है। समझ में आता है कि जिसको जानते हैं उससे जानने वाला अलग होता है। उस विवेक में एक कमी हमेशा रहती है : इदं-बोध्य को विषय माना और अहम्बोध्य को द्रष्टा माना, अपना स्वरूप माना। किन्तु सुख का अनुभव कभी 'यह सुख है' इस प्रकार नहीं होता, 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार ही होता है। मैं के साथ ही उसका बोध होता है। इसलिये मैं से अपने आप को अलग करना बहुत कठिन हो जाता है। मैं का प्रकाश जिसके प्रकाश से है वह ईश्वर मेरा वास्तविक रूप है। इसलिये भगवान् ने स्पष्ट करके सुख-दुःख आदि को क्षेत्र का धर्म पहले ही बता दिया है। इस अविद्या के द्वारा ही, विषय और विषयी का अविवेक होकर जो मेरा स्वरूप नहीं है उस सुख के साथ आसक्ति हो जाती है। अतः वैसे ही सुख को प्राप्त करने के लिये फिर प्रयत्न करता है। प्राप्त करेगा अहम्, परन्तु मैं फिर उसी तरफ अपने को जाता हुआ देखता हूँ। यहाँ भी समझ लेना कि 'इव' है ही, मानो बाँधता है, वास्तवमें तो बाँध नहीं सकता। अविद्या के कारण ही बंधन करता है।

'बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ', यहाँ ज्ञान भी वृत्तिज्ञान समझना। जैसे सुख से सुखाकार वृत्ति समझी है, वैसे ही ज्ञान से ज्ञानाकार वृत्ति को समझना है। नित्य ज्ञान तो आत्मा का

स्वरूप है। अन्तःकरण की जो ज्ञानात्मिका वृत्ति बनती है वह सत्त्वकार्य और बंधकरी है। आत्मस्वरूप जो सुख और ज्ञान हैं, उनके साथ संग भी नहीं हो सकता और उनको बाँधने वाला भी नहीं कह सकते। जिसे प्रकाशक कहा था उसी वृत्ति को ज्ञान कहते हैं। वह आत्मा के चित्स्वभावका प्रतिबिम्ब विशेषतः ग्रहण करती है इसलिये उसको ज्ञान कह दिया, आनन्दरूप को ग्रहण करने वाली वृत्ति को सुख कह दिया। इस तरह सत्त्वगुण सुख के साथ संग करा देता है और ज्ञान के साथ संग करा देता है।

अर्जुन को प्रोत्साहन देते हैं- इस विवेक को करने में तू समर्थ है, क्योंकि अनघ! तू पापरहित है। क्योंकि पहले कह आया है 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते' इसलिये तुझमें पूरी तरह से वैराग्य है। 'त्रिलोकी का राज्य मुझे मिले तो भी मुझे नहीं चाहिये, मैं तो आत्मज्ञान ही चाहता हूँ'- ऐसी तेरी श्रद्धा है इसलिये तू इस संग से बचने के योग्य है। इस प्रकार से सत्त्वगुण को बतला दिया।।६।।

अब रजोगुण को बतलाते हैं-

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तद् निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

कुन्तीसुत! रजोगुण का स्वरूप है रंग देना। इससे अप्राप्त विषयों की अभिलाषा और प्राप्त विषयों से प्रेम उत्पन्न होते हैं। रजोगुण देहधारीको कर्मों में तत्परता द्वारा मानों बाँध देता है।

'रजः' गुण का नाम ले दिया। वह कैसा है? 'रागात्मकं' है। जिस प्रकार से कपड़े को जब तुम रंग के घोल में डाल देते हो तो वह रंग कपड़े पर चढ़ जाता है, इसी प्रकार से रजोगुण रागरूप है। क्या उत्पन्न करता है? 'तृष्णासंगसमुद्भवम्' दो चीज़ों को पैदा करता है- तृष्णा और आसंग। तृष्णा- जो चीज़ अपने पास नहीं है उसको चाहना। किसी भी भोग के प्रति अलम्-बुद्धि (काफी हो गया, और नहीं चाहिये ऐसा निश्चय) नहीं होती है तृष्णा रहते। जो विषय प्राप्त है, उस के प्रति एक तरह का प्रेम कि यह विषय मेरे साथ हमेशा बना ही रहे, इसको आसंग कहते हैं। प्राप्त विषय के प्रति आसंग कि 'यह हमारा बना रहे' और अप्राप्त विषय के प्रति तृष्णा कि 'यह हमें प्राप्त हो जावे' इन तृष्णा और आसंग को उत्पन्न करता है रजोगुण। रजोगुण रागरूप है और तृष्णा और आसंग उत्पन्न करता है इसलिये 'तत्' अर्थात् रजोगुण 'देहिनम् कर्मसंगेन निबध्नाति'। दृष्ट विषय के प्रति तृष्णा होने से दृष्ट कारणों के द्वारा उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं। हम बी० ए० पास नहीं हैं, होना चाहते हैं तब हम बड़े शहर में जाकर कॉलेज में भर्ती होते हैं। तृष्णा के कारण ही हमने यह कर्म किया। कर्मसंग इसलिये कहते हैं कि तभी तत्परता पूर्वक मनुष्य कर्म में लगता है। तृष्णारहित सन्तुष्ट व्यक्ति को विषय इतने तुच्छ लगते हैं कि इनके लिये वह प्रयास ही नहीं करता। कर्म में आसक्ति तृष्णा से ही सम्भव है। तृष्णा कर्मसंग, कर्मतत्परता का हेतु बनती है और प्राप्त विषय का रक्षण भी आसंग से ही सम्भव है। हमारे पास हीरे की अंगूठी है उसको बचाने के लिये तत्परता पूर्वक

तभी लगेंगे जब उससे आसंग होगा। कोई दुश्मन आ जाये उसको लेने के लिये तो ऐसी लड़ाई लड़ते हैं कि मेरी अंगूठी बच जाय। कई बार लड़ाई के अन्दर अत्यधिक घायल हो जाते हैं पर गहना आदि बचाने के लिये सब सह जाते हैं दृष्ट पदार्थों के लिये इस प्रकार से दृढतापूर्वक व्यक्ति तृष्णा-आसंग से ही लगता है।

केवल दृष्ट पदार्थ ही नहीं, अदृष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिये भी ये ही प्रेरक हैं। स्वर्ग में जायेंगे, रम्भा, उर्वशी आदि का सुख प्राप्त होगा- इसके लिये दस साल परिश्रम किया हुआ सब धन खर्च करके ज्योतिष्टोमयाग कर लेता है। साल भर तक अश्वमेध चलता है। उसमें बड़े कठोर नियमों से रहना पड़ता है। उन सब को पूरी सावधानी से करता है, किस लिये? स्वर्ग की प्राप्ति होगी इसीलिये। अगर पास में धन नहीं है तो घोर तप करता है। पेड़ पर उल्टा लटक कर नीचे आग जला लेता है। केवल उस आग से निकलने वाला धुआँ पीकर के ही अपना समय निकालता है। इतना कष्ट क्यों सहन कर रहा है? आगे जनलोक, तपलोक की प्राप्ति होगी इसलिये। इस प्रकार दृढतापूर्वक कर्म में आसक्ति को उत्पन्न करने वाला कौन है? रजोगुण जो तृष्णा और आसंग को उत्पन्न करता है। रजोगण से बँधा व्यक्ति ही अप्राप्त की प्राप्ति के लिये भी कर्म करता है और प्राप्त के संरक्षण के लिये भी करता है।

लौकिक सूक्ष्म पदार्थों की भी प्राप्ति व सुरक्षा कर्म से, प्रयाससे ही होती है, वह भी तृष्णा-आसंग के कारण ही संभव है। विद्वान् लोग अधीत ग्रंथों का पुनरावर्तन करते रहते हैं, टीका-टिप्पण देखते रहते हैं, सहायक विषयों का अध्ययन करते रहते हैं- सब किसलिये? पढ़ा हुआ भूल न जायें, कोई कुछ भी पूछ ले तो जवाब दे पायें इसीलिये। जिसमें नये-नये विषय जानने की तृष्णा नहीं और पढ़े को दिमाग में बनाये रखने का आसंग नहीं वह कोई प्रयास नहीं करता पढ़ने या याद रखने का। अतः यह कर्मसंग भी रजोगुण का ही प्रभाव है। यदि तृष्णा और आसंग न होवें, तो न किसी चीज़ की प्राप्ति के लिये तत्परता पूर्वक कर्म करोगे, न किसी चीज़ के रक्षण के लिये तत्परता पूर्वक प्रयत्न करोगे।

कर्मसंगेन कह कर भगवान् ने स्पष्ट कर दिया, कि शरीर मन आदि अपने प्रारब्ध के अनुरूप कुछ क्रियायें तो करेंगे, परन्तु तुमको उन कर्मों में संग नहीं होगा, तत्परता पूर्वक नहीं करोगे, स्वाभाविक रूप से जो हो गया सो हो जायेगा, नहीं हुआ तो नहीं भी होगा। इसलिये भगवान् ने खाली कर्म नहीं कहा, 'कर्मसंगेन' कहा; कर्म से संग होगा तब लगेगा- तत्परता पूर्वक ठीक ही करूँ ताकि, फल उत्पन्न होवे। इस प्रकार कर्म के बन्धनका प्रकार समझाया।।७।।

तमोगुण का स्वभाव और वह कैसे बाँधता है यह बताते हैं-

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तद् निबध्नाति भारत।।८।।

भरतवंशी! जैसा अज्ञान आवरक है वैसा ही उससे उत्पन्न तमोगुण को समझो। सब

देहधारियों में वह अविवेक पैदा करता है। असावधानी, निरुत्साह और नींद द्वारा वह मानो देहियों को बाँधता है।

सत्त्वगुण, रजोगुण को बताने के बाद तमोगुण को बतलाते हैं। तमोगुण को कहा 'अज्ञानजं विद्धि'। अज्ञान से तो तीनों ही गुण उत्पन्न हैं, इसी को अज्ञानज क्यों कहा? सत्त्वगुण व रजोगुण अज्ञान के कार्यभूत अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषों में प्रकट होते हैं अतः सीधे ही अज्ञानसे नहीं, अज्ञान के कार्यविशेष के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति है। सुखाकार व ज्ञानाकार वृत्तियों में सत्त्वगुण एवं रागात्मक अर्थात् तृष्णाकार या आसंगाकार वृत्तियों में रजोगुण प्रकट होता है। तमोगुण अज्ञान के कार्यों से नहीं, साक्षात् अज्ञान से ही उत्पन्न है इसलिये इसको 'अज्ञानज' कहा कि अज्ञान से उत्पन्न होता है। तमोगुण अज्ञान को बढ़ाने वाला भी है इसलिए भी उसको अज्ञानज कहा।

'अज्ञानजं' कह कर भगवान् दो बातें बता रहे हैं। पहली जो चीज़ नहीं होती है उससे कोई चीज़ उत्पन्न नहीं हो सकती। अज्ञान से तम उत्पन्न होता है कह कर बता दिया कि अज्ञान भावरूप पदार्थ है। ज्ञान का अभाव नहीं, ज्ञान को ढाँकने वाली विशेष वस्तु है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं। आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति। आवरणशक्ति से तमोगुण हुआ तथा विक्षेपशक्ति से रजोगुण और सत्त्वगुण हुए। पहले आवरण होगा, तब आगे विक्षेप होगा। यहाँ भगवान् की आवरणशक्ति का भी संकेत कर दिया और अज्ञान, ज्ञान का अभावरूप नहीं, ढाँकने की सामर्थ्य वाली चीज़ है यह भी बता दिया।

क्योंकि ज्ञान को ढाँकता है, इसलिये 'सर्वदेहिनाम् मोहनं' देहमें अभिमान वाले सभी को मोह ग्रस्त कर देता है। मोह अर्थात् विवेक का न होना। विवेक करने की शक्ति को तमोगुण कुंठित कर देता है। अर्थात् तमोगुण की अधिकता में मनुष्य विवेक नहीं कर सकता अतः मूढ भाव को प्राप्त हो जाता है, मोहग्रस्त हो जाता है; जो चीज़ जैसी है, उसको वैसा जान नहीं पाता। इसीको ज़रा स्पष्ट करके कहते हैंः प्रमाद का मतलब होता है, जो कार्य करना चाहिये, उस कार्य को नहीं करना। कई बार तो जब समझाया जाता है, तब मान भी लेता है कि 'हाँ, यह काम करना है', पर परिस्थिति सामने आते ही फिर विवेक ढक जाता है और जो करने का कार्य है उसके प्रति ध्यान नहीं रहता। प्रमादी व्यक्ति लौकिक कर्मों को करने में भी असावधान होता है। जो करने का कार्य होता है उसको नहीं करता, उसके प्रति प्रमाद करता है। इसी प्रकार नित्यानित्य-वस्तु-विवेक इत्यादि में प्रवृत्त जो यति है, वह भी तमोगुण बढ़ने पर, विवेक न करके, अनित्य की तरफ मुग्ध हो जाता है। इसलिये प्रमाद अर्थात् असावधानी, जो करना चाहिये उसको न करके असावधान हो जाता है।

आलस्य अर्थात् कर्तव्य के प्रति- चाहे कर्तव्य ज्ञानस्वरूप हो, चाहे क्रियास्वरूप होवे- करने का उत्साह न होना। करना ही पड़ रहा है, इसलिये करते हैं, उत्साह कुछ नहीं है करने का। जब उत्साह नहीं होगा तब कार्य अपनी पूरी क्षमता से नहीं किया जायेगा। कर्तव्य चाहे क्रियारूप हो चाहे ज्ञानरूप हो। विवेक, वैराग्य के प्रति आलस्य हो जायेगा। आलसी उसे

भी टालता है कि 'कर लेंगे'। इसका विस्तार से वर्णन सांख्यों ने किया है। कई प्रकार का आलस्य होता है। कभी तो 'यह कार्य हम बाद में कर लेंगे'– ऐसा टालने वाला आलस्य होता है। 'धीरे-धीरे हो जायेगा, ऐसी जल्दबाजी क्या है!' यह भी एक तरह के आलस्य का रूप है। आलस्य में लस मायने चिपकना। (लस श्लेषणे (भ्वा.प.से.) धातु है। श्लेषण अर्थात् आलिंगन करना।) आलसी मनुष्य जो परिस्थिति है उससे चिपका रहना चाहता है। एक सज्जन कहा करते थे 'जो काम लेटे हुऐ हो सकता है उसको बैठ कर क्या करना! जो बैठ कर हो सकता है, उसके लिये खड़े क्यों होना! खड़े होकर जो हो सकता है उसके लिए चलना क्यों!' यह सब आलस्य का ही रूप है। इसमें मनोभाव होता है कि 'लेटा हूँ तो लेटा ही रहूँ, बैठूँ क्यों? बैठा हूँ तो खड़ा क्यों होऊँ?' आलसी में काम को हमेशा दूसरे पर टालने की प्रवृत्ति होती है क्योंकि करने में उत्साह तो है नहीं। आलसी पहले तो इन्तज़ार करता है कि कोई और कर दे, फिर यदि किसी को करते नहीं देखता और काम ज़रूरी समझता है तो कहकर या अन्य तरह से प्रेरित कर दूसरे से कराने की कोशिश करता है। यह सब आलस्य का ही रूप है, क्योंकि स्वयं करने में उत्साह नहीं है। जैसा क्रिया में आलस्य होता है, वैसा ही ज्ञान में आलस्य होता है। बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो रट लेंगे बिना समझे हुऐ। परीक्षा में रटा हुआ लिख दिया तो पास हो ही जायेंगे। उन्हें, समझने में आलस्य है क्योंकि उसके लिये ज़्यादा प्रयत्न करना पड़ता है। इसी प्रकार, कोई चीज़ श्रवण कर ली, उसके बारे में युक्ति सोचने में, मनन करने में आलस्य करते हैं। आचार्य ने तो कहा ''श्रुतिमतः तर्कः अनुसन्धीयताम्'', श्रुति के अनुकूल तर्कों को ढूँढो। श्रुति से विरुद्ध कोई बात किसी ने कही, तो बजाय इसके कि उसने जो बात कही है, उसके दोष को ढूँढे, श्रुतिसंमत तर्क ढूँढे, आलसी कह देता है 'अरे! गीता को नहीं मानते!' तर्क के प्रश्न का तर्क से उत्तर देना यत्नसाध्य है। आलसी ऐसा यत्न नहीं करता। श्रद्धा आदि पर टालकर काम निकालता है। यह सब ज्ञान के प्रति आलस्य है। नतीजा यह होता है कि वह शंका अपने मन में भी संस्कार बना जाती है! इसलिये कई सम्प्रदाय तो कह देते हैं कि दूसरे की बात सुनो ही नहीं, नहीं तो तुम्हारा मन कुतर्की हो जायेगा! परन्तु सनातन परंपरा में तो मनन बड़ा साधन माना है जिसमें पता तो है कि क्या सिद्ध करना है पर तदनुकूल युक्तियों को सोचते रहना है। किन्तु अनेकों को जैसे क्रिया में आलस्य होता है, वैसे ही ज्ञान में भी आलस्य होता है अर्थात् विचार करने में उत्साह नहीं होता है।

निद्रा। इन्द्रिय और मन जब क्रिया नहीं करते हैं तब उसको निद्रा कहते हैं। अपने अन्तःकरण और अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ– इनको क्रिया-विमुख होने न देना जगना है। लौकिक और पारलौकिक दोनों में निद्रा समझना : बहुत-से लौकिक कार्यों में भी हम अपनी इन्द्रियों से पूरा कार्य नहीं करते। रोगी का पूरी तरह से परीक्षण करने का क्या प्रकार है, यह आयुर्वेद में भी बतलाया है, ऐलोपेथी में भी बतलाया है पर निद्रालु की प्रवृत्ति रहती है कि इस झंझट को कौन करे! मशीन से टेस्ट करा लो, बस उसी से काम हो जायेगा। स्वयं

परीक्षण करना नहीं चाहते। यंत्र का उपयोग तो था कि जो तुमने समझा है उसका सत्यापन कर लो, कि उसमें गलती तो कुछ नहीं है। इतना ही उसका उपयोग है। अब धीरे-धीरे चिकित्सक यह तो निर्णय करते ही नहीं हैं कि रोग क्या है, बस परीक्षण पर निर्भर रहते हैं। ये सब निद्रा के रूप हैं। जब करते नहीं तो बाद में चल करके ये क्रियायें उनसे हो ही नहीं पाती। पुराने डाक्टर आँखें, नाखून आदि देखकर हिमोग्लोबिन की मात्रा पता लगा लेते थे, बल्कि परीक्षण में गलती हो तो पकड़ लेते थे। धीरे-धीरे डाक्टरों ने वह यत्न करना छोड़ दिया तो आज बिना परीक्षण के पता नहीं चलता कि हिमोग्लोबिन कितना है! जानते हैं कि पता लग सकता है, लेकिन फिर भी निद्रा में रहते हैं, पता लगाने का यत्न नहीं करते।

प्रमाद में असावधानी है, आलस्य में उत्साह का न होना है, निद्रा में इन्द्रियों का ठीक प्रकार से प्रवृत्ति न करना है। 'तत्' अर्थात् तमोगुण प्रमाद, आलस्य, निद्रा के द्वारा बाँधता है। लौकिक पदार्थों का नुकसान-फायदा तो मनुष्य को प्रत्यक्ष जैसा दीखता है इसलिये इसके प्रति तो प्रमाद, आलस्य, निद्रा कम होते हैं। पर जो पारलौकिक फल हैं, अदृष्ट फल हैं, वे चूंकि सामने नहीं हैं, इसलिये उनका आकर्षण भी कम होता है। अतः उनके साधनों में प्रमाद, आलस्य, निद्रा ज़्यादा होते हैं। ठीक जैसे सवेरे साढ़े चार बजे रेल पकड़नी है तो एलार्म भी लगा लोगे, उठ भी जाओगे, तैयार भी होकर स्टेशन पहुँच जाओगे। उसमे असावधानी कम होती है। परन्तु सवेरे चार बजे उठकर नहा धोकर संध्या करनी है- उसके बारे में हमेशा प्रमाद रहता है! 'भगवान् कहीं जायेंगे थोड़ी। छः बजे उठेंगे तो हर्ज क्या है? भगवान् तो यहीं हैं।' यों मन बहलाते रहते हैं। इसी प्रकार भोजन करना है तब तो चावल अच्छे-से-अच्छा लेंगे, लेकिन पूजा के चावल को बीनने की झंझट कोई नहीं करना चाहता! लौकिक फलों के अन्दर प्रत्यक्षसिद्धता होने से आकर्षण अधिक है अतः उनके लिये तमोगुण कुछ दब जाता है परन्तु पारलौकिक चीज़ों के लिये तमोगुण और प्रबल हो जाता है। और ज्ञान और मोक्ष के लिये तो यह अत्यन्त प्रबल हो जाता है! पारलौकिक चीज़ों में तो फिर लगता है कि कुछ मिलेगा, यहाँ तो पहले ही वेदान्ती कहेगा 'तुम ब्रह्म ही हो। अभी ही हो।' वेदान्त यह नहीं कहता कि 'तुम ऐसा-ऐसा करोगे तब ब्रह्म हो जाओगे' वरन् कहता है कि ब्रह्म हो ही। इसलिये झट मन में आता है कि 'ब्रह्म तो हैं ही, कभी-न-कभी अपना स्वरूप प्रकट हो ही जायेगा। उसके लिये क्यों मेहनत करें।' शम, दम आदि के अभ्यास बड़े कठिन लगते हैं। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक सिद्धान्त बना रखा है कि आखिर एक-न-एक दिन तो सब मुक्त होंगे ही, उसमें हमारा भी मौका आ जायेगा। प्रमाद, आलस्य, निद्रादि से साधनाकी आवश्यकता को नहीं सोचता। अर्जुन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, 'भारत! तू तो भा, प्रकाश में रत है, अर्थात् परमात्मज्ञान की तरफ प्रवृत्त है, इसलिए तुझे तो इससे बहुत बचना चाहिए।'।।८।।

गुणों के बारेमें कही हुई बात ही दुहरा देते हैं ताकि दृढता से बुद्धि में बैठ जाये और इसे समझाना भगवान् का तात्पर्य है यह स्पष्ट हो जाये-

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।९।।

हे भारत! सत्त्वगुण सुखमें संसक्त करता है, रजोगुण क्रियामें संसक्त करता है और तमोगुण विवेक को ढाँककर प्रमाद में संसक्त करता है।

सत्त्वगुण सुख में मनुष्य को लगा देता है, संयोजित कर देता है। और रजोगुण मनुष्य को कर्म में लगा देता है। तमोगुण ज्ञान को ढाँक करके जो अपना प्राप्त कर्तव्य है उसको न करने में लगा देता है। ज्ञानमावृत्य, अर्थात् सत्त्वगुण जिस विवेक को करता है, उसको तमोगुण ढाँक देता है। कोई बात सुनी, ठीक भी लगती है, परन्तु जब कोई मौका सामने आता है, तब वह विवेक ढक जाता है, और फिर गलती ही कर लेते हैं। इसलिये कहा कि तमोगुण विवेक को ढाँक देता है। पूर्वश्लोक में इसी को 'मोहनं' कहा था। ज्ञान का आवरण कर देता है अर्थात् मोह कर देता है। 'उत' अर्थात् और। भगवान् ने जैसे छठे श्लोक में सुखसंग कहा था वैसे ज्ञानसंग भी कहा था । यहाँ खाली 'सुखे संजयति' कह दिया है तो 'उत', अर्थात् ज्ञानसंग भी वहाँ से ले लेना चाहिये। तमोगुण में प्रमाद, आलस्य निद्रा तीन कहे थे, यहाँ खाली प्रमाद को ही कह दिया है अतः जो नहीं कहे हुऐ हैं, उन सब का 'उत' से संग्रह कर लेना चाहिये।।९।।

अब तक बतलाया कि गुण क्या करते हैं। अब बताते हैं कि कब करते हैं-

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

भारत! रजोगुण-तमोगुण को निर्वीर्यकर सत्त्वगुण बढ़ जाता है (तो अपना कार्य कर लेता है), सत्त्वगुण-तमोगुण को निस्तेज कर रजोगुण बढ़ जाता है (तो अपना कार्य कर लेता है) और सत्त्वगुण-रजोगुण को अप्रभावी कर तमोगुण बढ़ जाता है (तो अपना कार्य कर लेता है।)

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर, अर्थात् दबा कर तब अपना प्रभाव दिखाता है। जो गुण दूसरे का अभिभव कर देता है, दबा देता है, वह गुण अपने कार्य को कर लेता है। अभिभूत होने का मतलब है, कि गया नहीं है, परन्तु दबा हुआ है। सत्त्वगुण के अन्दर रजोगुण और तमोगुण को दबाने की जब सामर्थ्य होती है तब सत्त्वगुण उद्भूत होता है। ऐसा नहीं है कि जिस समय सत्त्वगुण चित्त में उठे, उस समय में तुम्हारे में कोई क्रिया न होवे, अथवा तुम सर्वथा बेध्याने हो जाओ; ऐसी बात नहीं है। लेकिन वह जो क्रिया है, वह अभिभूत हो जाती है अर्थात् गौण हो जाती है। कुछ भी करो, बिना जाने तो करोगे नहीं, जानकर ही करोगे, परन्तु फ़र्क यह है कि जानने में तुम्हारा ज़्यादा ध्यान है अथवा करने में। करने में जब ज़्यादा ध्यान दोगे तब ज्ञान गौण हो जाता है और क्रिया प्रधान हो जाती है। ऐसे ही, यह नहीं है कि जानने में क्रिया नहीं है। जैसे आँख को हम किसी चीज़ पर

टिकाने की क्रिया करेंगे तभी उस चीज़ को ठीक तरह से देख पायेंगे। परन्तु वहाँ हमारा देखना प्रधान है, आँख को केन्द्रित करना प्रधान नहीं है। बिना आँख केन्द्रित किये तो नहीं दीखेगा परन्तु प्रधानता उस चीज़ को देखने की है। जब ज्ञान प्रधान होगा तब जानने पर ज़ोर है। उसके साथ क्या क्रिया करें उस पर ज़ोर नहीं है। जब रजोगुण और तमोगुण दब जाता है तब सत्त्वगुण अपना कार्य करता है। अर्थात् ज्ञान सुख आदि को पैदा करेगा।

इसी प्रकार रजोगुण जब प्रधान होगा तब सत्त्वगुण और तमोगुण को दबा देगा। कर्म, तृष्णा इत्यादि जिन्हें गिनाया है, वे प्रधान होंगे, सुख और ज्ञान प्रधान नहीं होगा। एक करोड़ रुपया कितना होता है? इसको जो *जानना* चाहे वह तो बैंक में जाकर, एक करोड़ रुपये को देख लेवे। पता लग जायेगा कि एक करोड़ इतना होता है। रजोगुणप्रधान होगा तो उस एक करोड़ को *देखने* की कुछ तमन्ना नहीं है, एक करोड़ कैसा होता है- यह जानने की कोई इच्छा नहीं है, इच्छा है कि हम क्रिया करके एक करोड़ रुपया अपना बना लें। अतः रजोगुण कर्म में लगायेगा, इसलिये ज्ञान गौण हो जायेगा। बिना जाने तो नहीं कर सकते, लेकिन वहाँ प्रधान कर्म रहेगा। इसी प्रकार वहाँ पर तृष्णा प्रधान रहेगी। इसलिये जब रजोगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय सत्त्वगुण और तमोगुण दोनों दब जाते हैं। मौजूद तो हैं, पर प्रधान रूप से कार्यकारी नहीं हैं।

इसी प्रकार सत्त्व और रजको तम अभिभूत कर लेता है तब अपना प्रभाव दिखाता है। सोया हुआ व्यक्ति है, पाँच बज गये, उठा नहीं। दूसरा उसको जगाता है, ज़ोर से जगाता है, हिला देता है। उसको ज्ञान तो हो गया कि उठने का समय है, लेकिन नींद ज़ोर से आ रही है अतः करवट बदल कर फिर सो जाता है, कहता है 'भाई मुझे अभी सोने दो।' 'मुझे उठाया जा रहा है, उठना मेरे लिये ठीक है' इस सब को 'आवृत्य', तमोगुण इस सब को ढाँक देता है तभी निद्रारूप कार्य को सम्पन्न करता है। इस प्रकार से गुण रहते हुऐ भी दब जाते हैं।।१०।।

प्रश्न स्वाभाविक है कि पता कैसे लगे कि कौन-सा गुण उद्भूत हो रहा है, और कौन-सा गुण नहीं उद्भूत हो रहा है? भगवान् इसका उत्तर भी बतला देते हैं-

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

सभी द्वारों के निमित्तसे जब शरीर में प्रकाशरूप ज्ञान उत्पन्न होता है (और जब सुख उत्पन्न होता है,) तब सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है यह समझना चाहिये।

जिस क्षेत्र में, देहमें हम हैं इसमें अनेक द्वार, दरवाज़े हैं। आँखों से हमारे अंदर रूप घुसता है, कानों से शब्द घुसता है इत्यादि तरह से इस शरीर में ग्यारह दरवाज़े उपनिषत् में बताये हैं 'पुरम् एकादशद्वारम् अजस्य अवक्रचेतसः' (कठ.५.१)। इन सब से हम बाहर निकलकर विषयानुभवों को अंदर ले आते हैं। इनके द्वारा ज्ञान होता है इसलिये इन्हें द्वार

कहते हैं। हमें होने वाली उपलब्धि के प्रति ये ही द्वार होते हैं, इन्हीं के द्वारा हमें पता लगता है, ज्ञान होता है। अन्तःकरण को भी एक द्वार ही समझना चाहिये। इन सभी दरवाज़ों में, अन्तःकरण में भी 'प्रकाश उपजायते'। बुद्धि उन सब के द्वारा ठीक प्रकार से उन दरवाज़ों का प्रयोग करके जानती है। जैसे आँख कान का प्रयोग करती है, वैसे ही मन का भी प्रयोग करती है। मन के द्वारा ठीक प्रकार से सोचती है। सोचने का मतलब होता है किसी भी चीज़ के दोनों पक्षों को देखना और फिर निर्णय करना। यह मन का काम है दोनों पक्षों का जब तक विचार नहीं करोगे तब तक सोचना ठीक नहीं होगा। वेदान्त के ग्रन्थों को देखें तो एक विशेषता मिलेगी, अन्य जितने वादी हैं वे अपना पक्ष तो खूब रखते हैं परन्तु दूसरे के पक्ष को ऐसे ही हँसी में उड़ा देते हैं। परन्तु वेदान्त ग्रन्थों के अन्दर पूर्वपक्ष को बहुत खोलकर बतलाया जाता है और तब उसका जवाब दिया जाता है। यह इसलिये कि पूर्व पक्ष का भली प्रकार से यदि विचार नहीं करते, तो संशय के बीज रह जाते हैं। यदि सारे पक्षों को तुम सोचे बैठे हो, और सोच करके वे ठीक क्यों नहीं हैं- इस बात को तुमने जान लिया है, तब संशय का बीज नहीं रहता।

प्रकाश जो चीज़ जैसी है उसको वैसा प्रकट कर देता है। और प्रकाश कुछ नहीं करता। इसी प्रकार से ज्ञान जो चीज़ जैसी है उसको वैसा जना देता है। प्रकाश जैसे अन्धकार को दूर करता है, वैसे ही सत्त्वगुण की ज्ञानरूप बुद्धिवृत्ति लौकिक पदार्थों के आवरण को दूर करती है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य के बल से ब्रह्म का भी उद्घाटन उसी से होता है। सत्त्वगुण की अधिकता में ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का ठीक-ठीक उचित बोध हो पाता है, नहीं तो नहीं हो पाता। 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य का अर्थ समझने के लिये तो मन ही प्रधान द्वार होगा। व्यवहार भूमि के अन्दर प्रत्यक्ष की जो इन्द्रियाँ हैं, उन्हें प्रधान बनना पड़ेगा। आत्मा का स्वरूप समझने के लिये इन्द्रियों का तो कोई उपयोग नहीं है। सत्त्वगुण सांसारिक और पारमार्थिक दोनों ज्ञानों केलिये चाहिये। यहाँ भगवान् ने 'प्रकाश' का स्वयं अर्थ 'ज्ञान' किया है। जो प्रकाश उत्पन्न होता है उसी को ज्ञान कहते हैं। भाष्यकारने कहा 'सर्वद्वारेषु अन्तःकरणस्य बुद्धेः वृत्तिः प्रकाशः'। सभी द्वारों में अर्थात् द्वारों के निमित्त से जो अन्तःकरण की, बुद्धि की वृत्ति बनती है वह प्रकाश या ज्ञान सत्त्वगुण का प्रभाव कहा जा रहा है। इसे सत्त्वगुण के बढ़े होने का चिह्न माना गया है।

'उत' अर्थात् और; जैसे प्रकाश के बारे में कहा वैसे सुखके बारे में समझ लेना। सात्त्विक सुख के समय सब इन्द्रियाँ और मन स्पष्टतः सुख का अनुभव करेंगे। यद्यपि सुख बुद्धिधर्म है तथापि इंद्रियों से भी प्रकट होता ही है। हमने रसगुल्ला खाया तो जो सुख हुआ उसमें द्वार जीभ बनी। जिसकी जीभ कटी हो उसे रसगुल्ले का सुख नहीं मिल सकता। सारी इन्द्रियों से सुख स्पष्ट हो या ज्ञान स्पष्ट हो तब समझ लेना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है, प्रबल है। जितनी बुद्धिवृत्ति शांत अधिक होगी उतना सुख का प्रकाश होगा। सात्त्विक सुख लौकिक जनों को प्रायः न होने से यहाँ भगवान् ने उसका 'उत' मात्र से संग्रह किया, सत्त्ववृद्धिका मुख्य चिह्न ज्ञानको ही कहा क्योंकि वह सबको सुलभ है।।११।।

अब बताते हैं कि रजोगुण उद्भूत है यह कैसे पता लगे–

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

भरतकुलमणि! रजोगुण बढ़ने पर ये चिह्न पैदा होते हैं– दूसरे की चीज़ें लेने की इच्छा, निरन्तर प्रयत्नशीलता, कोई–न–कोई कार्य शुरू करना, इन्द्रियों व मन की कार्यशीलता (अथवा हर्ष राग आदि वृत्तियों का रुक न पाना), और सामान्यतः सभी चीज़ों के प्रति तृष्णा।

रजोगुण जब बढ़ता है तब लोभ होता है। लोभ के दोनों कार्य यहाँ समझ लेना– दूसरे का द्रव्य मेरा हो जाये– यह इच्छा भी लोभ है। और, जो अपने पास है, उसका सत्कार्य में विनियोग न करना– इसको भी लोभ कहते हैं। बहुत से लोग दूसरे के धन की तो इच्छा नहीं करते हैं, पर जो अपना है,उसमें से चाहे जैसा सत्कार्य होवे उसके लिये कुछ निकालना नहीं चाहते। दोनों ही लोभ रजोगुण के द्वारा हो जाते हैं।

'प्रवृत्तिः', अर्थात् जिन कामों का कोई खास फल नहीं है, उनको भी करने में संलग्न रहना। किसी-किसी ने इसे चापल्य कहा है। बहुत-से आदमियों की आदत है, बैठे हैं तो पैर हिलाते हैं। कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी पैर हिलाते रहेंगे। किसी-किसी को देखा है कि अपने सिर के बाल ही नोचते रहेंगे! प्रयोजन कुछ नहीं है। इस प्रकार से बहुत से कार्य जो हम करते हैं वे रजोगुण बढ़ता है तब अपने आप करते हैं। इस प्रवृत्ति से वे सब भी समझ लेना जो बिना विशेष प्रयोजनके भी करते रहते हैं जैसे जीवनभर के लिये जिसके पास पर्याप्त धन है, लड़का भी अच्छा कमा रहा है, वह व्यक्ति जब और व्यापार करने में लगा रहता है तो वह निष्प्रयोजन प्रवृत्ति ही है। इसी तरह पैंशन पाने वाला व्यक्ति भी नौकरी में लग जाता है तो निष्प्रयोजन प्रवृत्ति है। ऐसे लोग बिना किये रह नहीं पाते इसलिये स्पष्ट है कि उनमें रजोगुण प्रबल है। जब रजोगुण बढ़ता है तो इस प्रकार प्रवृत्ति होती है।

'कर्मणाम् आरम्भः' नये-नये कर्मों को प्रारम्भ करना लौकिक फलों के लिये भी, पारलौकिक फलों के लिये भी। जो कर्म कर रहे हो उससे शान्ति नहीं है। पर्याप्त वेतन की नौकरी है फिर भी नयी नौकरी खोजते हैं। उद्योगपति भी नया उद्योग लगाते हैं, कहते हैं 'कुछ दूसरा काम शुरू करो'। इस प्रकार अपनी तरफ से कामों को आरम्भ करना रजोगुण के बढ़ने का चिह्न है।

'अशमः', मन का शमन नहीं करना। कोई अच्छी बात हो गई तो सारा शरीर उनका हर्ष से भर जायेगा। साहित्य शास्त्र में कहते हैं कि ज़्यादा हर्ष होता है, तो सारे शरीर के रोएँ खड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार नई-नई चीज़ों के प्रति मन में आसक्ति को उठाते रहना। वर्तमान काल में इसका बहुत बड़ा विस्तार है : एक अच्छी भली मोटर पास में है। नई डिजाइन की मोटर बाज़ार में आ गई तो इच्छा करते हैं कि उसको लें। उस गाड़ी से कोई

उनको ज़्यादा आराम मिल जायेगा, ऐसा नहीं है पर नई-नई चीज़ों के राग उत्पन्न करते रहते हैं और बेचने वाला अपने विज्ञापनों के द्वारा जबरदस्ती तुम्हारे अन्दर अशम को उत्पन्न करता है। हर्ष, राग इस प्रकार की जो प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब अशम में आ जाती हैं।

स्पृहा, सभी सामान्य वस्तुओं के प्रति जो एक सामान्य तृष्णा होती है। कहीं बैठे हुऐ हो; तुम्हारे काम की चीज़ भी नहीं है, लेकिन तुमको मुफ़्त में देता है तो ले लेते हो! प्रयोजन नहीं है तो फिर काहे के लिये लेना? इससे पता चलता है कि उस विषय के प्रति उनके मन में कोई राग है। यद्यपि कामना के रूपमें तीव्र नहीं था, उन्हें भी पता नहीं था कि उसमें वह राग है, पर कार्य से पता चलता है कि अवश्य था अन्यथा उस वस्तु को नहीं लेते। आजकल व्यापारी कहते हैं कि अगर अमुक चीज़ खरीदोगे, तो ये चीज़ें, मुफ्त मिलेंगी। यों चीज़ें लाकर एक ने कहा 'आज मैं यह चीज़ लाया तो ये चीजें मेरे सिर पड़ गयीं।' हमने कहा, 'सिर कैसे पड़ गयीं? तुम नहीं लेते। तुम अगर दुकानदार से कहते कि साथ में मुझे मुफ्त नहीं चाहिये, तो वह बड़ा खुश होकर रख लेता अपने पास।' ज़रूरत नहीं है, मेरे सिर पड़ गयी, फिर भी लेकर तो आ ही गये! क्योंकि रजोगुण बढ़ा हुआ है। सामान्य वस्तुओं के प्रति ऐसे भावको यहाँ स्पृहा कह दिया। रजोगुण के बढ़ने पर, ये सब उत्पन्न होते हैं। ये लिंग है जिनसे पता लग जाता है कि रजोगुण बढ़ रहा है।

किसी चीज़ के लिंग को जानने का प्रयोजन क्या है? थोड़ा-सा भी बढ़ने के लिंग को देख कर तुरन्त अनिच्छित गुण को रोको। आगे भगवान् सत्रहवें के अन्दर बतलायेंगे कि शरीर को पुष्ट करने वाला जो आहार है उस आहार के द्वारा अपने अन्दर सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण को घटा-बढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार से क्रिया आदि सब चीज़ों का भगवान् विस्तार बतायेंगे। रजोगुण बढ़ने लगेगा तो जैसे ही ये लिंग देखने में आवें, वैसे ही रजोगुण की सब चीज़ों को कम कर दो। गुणों के बढ़ने का वर्तमान कारण तो यही है कि तुम्हारे पूर्वजन्मों के अनुसार जो कर्म फल देने वाला है उस कर्म के अनुरूप तुम्हारा संस्कार जगता है। जो साधक नहीं है, संसारी व्यक्ति है, वह तो उससे प्रवृत्त होकर भोग करता है, और इस प्रकार चक्र चलता रहता है जन्म-मरण का। गुणों को प्रवृत्त संस्कार के द्वारा तो परमेश्वर करता है, तुमको जिस कर्म का फल देना है उसके अनुरूप। साधक इस बात को जानता है कि गुण उत्पन्न तो हुआ है इसलिये पर इससे विरुद्ध वृत्ति बना कर इसको दबाया जा सकता है। इसीलिये शास्त्रकार बार-बार कहते हैं, 'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्। पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभेपथि।।' तुम्हारी जो वासनाओं की, संस्कारों की नदी है, वह शुभ और अशुभ दोनों मार्गों से बहती है। कोई ऐसा नहीं है जिसके मन में अशुभ विचार न आते हों, और कोई ऐसा भी नहीं है जिसके मन में शुभ विचार न आते हों। सभी वासनाओं का समय आता है, अपने-अपने कर्मभोग के अनुसार। कल्याण चाहो तो तुम केवल यह कर सकते हो कि शुभ संस्कारों के उद्भूत होने पर उनको तुरन्त पूरा करो और अशुभ संस्कारों के प्रवृत्त होने पर उन्हें कम-से-कम थोड़ी देर के लिये टाल दो। उस

समय शुभ प्रवृत्ति चाहोगे, तो नहीं कर पाओगे, परन्तु यदि मन पर नियंत्रण कर लिया, वेग टल गया, तो अशुभ से बचे रह सकते हो। नियंत्रण करने के लिये शास्त्रकार कहते हैं, कि प्रयत्न पौरुषपूर्ण आवश्यक है। जब मन कुछ गलत करने को कहे, और नहीं करना है, तो हाथ को हाथ से अच्छी तरह से रगड़ो। ज़ोर से दाँत पीसो। अर्थात् ज़बर्दस्त से भी ज़बर्दस्त प्रयत्न करके उस अशुभ संस्कार के अनुकूल अपने मन को न बनने दो। यह होगा केवल साधक से। संसारी व्यक्ति तो उसी प्रवाह में चलेगा। और जब शुभ प्रवृत्ति का समय आवे, वह संस्कार जगे, तब उसको तुरन्त कर दो। कई बार देखोगे, तुम्हारे मन में आया कि 'यह अच्छा काम है, इसके अन्दर पाँच सौ खर्च कर देंगे'। अगले दिन जब देने का समय आयेगा तब शायद मन कहेगा, 'पाँच सौ तो बहुत हैं, इसमें सबसे ज़्यादा दो सौ ही दिये हैं किसी ने, तो मैं भी दो सौ ही दूँगा'। अगर उस समय झट से पाँच सौ दे देता तो दे ही देता।

एक जवाहरात के व्यापारी बतला रहे थे; एक बार एक आदमी आया, अमरीका का, उसने माल खरीदा पाँच लाख का, और पाँच-पाँच लाखके चैक दो काटे, एक मुझे दे दिया। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ! मैंने पूछा 'आपने ये दो चैक कैसे काटे?' उसने कहा, 'जब मैं यात्रा पर निकला था तब मैंने संकल्प किया था कि जितना पैसा में अपने ऊपर खर्च करूँगा उतना ही मैं चर्च को दूँगा इसलिये जब खर्च के लिये चैक काटता हूँ तभी साथ में ही चर्च के नाम का भी काट देता हूँ'। मैंने उससे कहा 'जब वापिस जाते तब इकट्ठा काट देते। यहाँ तो तुमको चर्च को देना नहीं है?' उसने कहा 'मन बड़ा धोखेबाज है। अगर बाद के लिये रखूँगा तो फिर पता नहीं मेरे मनमें यह भाव रहेगा या नहीं!' अमरीकन की बात अनुभवमें खरी उतरती है।

एक बड़े अच्छे उद्योगपति थे, गुजरात में। वे कहते थे : जब हमने अपनी टैक्सटाइल मिल चालू की, उसके नौ साल के बाद, हमको और हमारे भाई को गुरुजी ने दीक्षा दी, मंत्र दिया। दीक्षा देने के बाद उन्होंने कहा कि 'अब तुमने दीक्षा ली है तो तुम अपनी कमाई का दस प्रतिशत धर्म के कार्य में खर्च करोगे। यह तुम्हारा नियम है।' दोनों भाइयों ने मान लिया। गुरु जी तो चले गये। हम दोनों भाइयों ने विचार किया कि गुरुजी ने तो अबसे करने को कहा पर हम तभी से कर देते हैं जब से काम शुरू किया है। किन्तु पुराना हिसाब निकालने में परिश्रम पड़ेगा इसलिये यह निश्चय करते हैं कि इस दसवें साल का सारा लाभ धर्मार्थ खर्च देंगे। इस तरह दस सालों की कमाई का दशांश धर्म में लगकर गुरुजी की बात रह जायेगी। उस साल हमें पिछले सालों से ढाई तीन गुना फ़ायदा हुआ! जब फ़ायदा हो गया, मेरे मन में ज़रा पाप आया। मैंने कहा, 'भाई सहाब, दस प्रतिशत का हिसा ही कर लेवें, उतने का ही नियम, रखें तो कैसा रहे?' बड़े भाई ने कहा 'देख इसी का नाम है बेईमानी! हम लोगों का संकल्प था कि इस साल में जो आयेगा वह हम देंगे, इसलिये वही किया जायेगा।' इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि शुभ कार्य तो तत्काल कर ही डालो। इसलिये भगवान् जो ये चिह्न बता रहे हैं वे इन्हें देखकर सावधान होकर रजोगुण-तमोगुण से बचकर

सत्त्वगुण बढ़ाने के लिये हैं।।१२।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

कुरुवंशियों को सुख देने वाले अर्जुन! तमोगुण बढ़ने पर ही ये चिह्न पैदा होते हैं- नासमझी, प्रयासराहित्य, प्राप्त कर्तव्य न करना और मोह।

सत्त्वगुण के बारे में कहा था कि उससे 'प्रकाश उपजायते'। चाहे वह इन्द्रियज्ञान हो, चाहे मन बुद्धि का ज्ञान हो, जैसा है वैसा विषयका प्रकाश हो जाता है। तमोगुण क्योंकि सत्त्वगुण को दबा लेता है इसलिये इसका प्रभाव है अप्रकाश। किसी भी चीज़ का ठीक ज्ञान नहीं होता। न विषयज्ञान ही ठीक होता है, और आत्मा के बारे में शास्त्रादि का श्रवण करके भी उसका ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। सुनता तो है परन्तु उसका अर्थ उसको ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं होता, ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। इसलिये भाष्यकार कहते हैं 'अत्यन्तम् अविवेकः'। सत्य और असत्य- इनके अन्दर अच्छी तरह से विवेक हो ही नहीं पाता।

'अप्रवृत्तिश्च', रजोगुण के संदर्भ में कहा था कि प्रवृत्ति रजोगुण से होती है। तमोगुण के बढ़ने पर क्योंकि रजोगुण दब जाता है इसलिये प्रवृत्ति भी नहीं होती। रजोगुण में प्रवृत्ति है, सत्त्वगुण में ज्ञान है। ज्ञान और क्रिया दोनों का ठीक तरह से न होना तमोगुण का प्रभाव है। चूँकि ज्ञान ठीक से नहीं होता, इसीलये सत्त्वगुण का भी कार्य नहीं हो पाता, दृष्ट फलों के प्रति, लौकिक फलों के प्रति उसको ठीक-ठीक प्रकार से विवेक नहीं हो पाता, और इसीलिये प्रवृत्ति भी नहीं होती। जैसे दृष्ट में नहीं होती, वैसे ही अदृष्ट विषयों के प्रति भी उसको ठीक-ठीक विवेक न होने से प्रवृत्ति नहीं होती। कुछ लोग प्रवृत्ति के न होने मात्र से कल्पना कर लेते हैं कि यह आदमी सात्त्विक होगा क्योंकि निवृत्ति सात्त्विक पुरुषों में होती है, सत्त्वगुण वालों में होती है। प्रवृत्ति के अभाव से इतना तो पता चलता है कि इसके अन्दर इस समय रजोगुण नहीं है, पर उतने मात्र से निवृत्ति है यह पता नहीं लगता। यदि विवेक के कारण, ज्ञान के कारण अप्रवृत्ति है, तब तो निवृत्ति है, परन्तु अप्रवृत्ति देखने मात्र से सत्त्वगुण की कल्पना नहीं करनी चाहिये। इसलिये भगवान् ने दोनों को स्पष्ट करने के लिये कहा 'अप्रकाशः अप्रवृत्तिश्च'।

तमोगुण बढ़ने पर क्या नहीं है यह बतला दिया। क्या है- यह अब बताते हैं- 'प्रमादः'। प्रमाद अर्थात् जो प्राप्त कार्य होवे- चाहे ज्ञान का कार्य हो, चाहे धर्म का कार्य हो- उसके प्रति असावधानी। ज्ञान के प्रति भी असावधानी होती है प्रमाद में। प्रायः देखने में आता है कि लोग कहते हैं 'महाराज! समझते तो हैं, पर बात स्थिर नहीं रहती।' स्थिर नहीं रहने में कारण यह तमोगुण का कार्य प्रमाद ही है। वेदान्त का चिन्तन जीवनभर के अभ्यास की बात है। हर समय सावधानी पूर्वक उसको याद रखोगे, सावधान रहोगे कि 'कहीं दूसरी चीज़ हम न पकड़ लें', तब तो बोध स्थिर रहता है, अन्यथा विषयों के प्रवाह के कारण रजोगुण

या तमोगुण प्रधान हो जाते हैं।

'मोहः', पहले भी कहा था 'मोहनं' (श्लोक ८)। मुह वैचित्ये धातु है। मोह अर्थात् चित्त विक्षिप्त रहना, व्यवस्थित विचार न कर पाना। तामसी व्यक्ति मुग्ध व्यक्ति की तरह कार्य करता है, अर्थात् अविवेक इतना होता है कि मूढता हो जाती है। बार-बार यह समझाने पर भी कि संसार के विषय दुःखरूप हैं, मूढ को लगता है कि फिर भी कुछ सुख तो इनमें है ही! विषयों के प्रति जो मोह है, वैचित्यभाव है, इसके कारण दुःख देने वाली चीज़ भी सुख लगती है, उसमें सुख-बुद्धि होती है। ऐसे ही अनित्य में नित्य-बुद्धि हो जाती है। हर विषय संसार में हमने अनित्य देखा है, फिर भी जिस विषय की मैं प्राप्ति करता हूँ, उसके अन्दर नित्यता चाहता हूँ! मोटी भाषा में कहें तो, बच्चा पैदा हुआ तब यह कल्पना तो होती है कि पढ़ने में बड़ा तेज़ होगा, आगे बड़ा भारी अफ़सर बन जायेगा, बड़ा भारी व्यापार करेगा; परन्तु कभी क्या यह भी सोचता है कि इतना पढ़ने के लिये आता-जाता है, दुर्घटनामें मर जायेगा? यह कल्पना भी नहीं करना चाहता। मृत्यु याद भी नहीं करना चाहते। उसका सामना नहीं करना चाहते। दुःख में सुख-बुद्धि की तरह अनित्य में नित्यबुद्धि होती है। अनित्य जानने पर भी मोह होने के कारण उसका मरना सोचना नहीं चाहते। इस प्रकार तमोगुण बढ़ने पर सत्त्व-रजके कार्य नहीं होते, प्रमाद और मोह होते हैं। तम के बढ़ने पर ये लिंग उत्पन्न होते हैं। इन लिंगो से अनुमान कर लेना चाहिये, 'मेरे अन्दर तमोगुण बढ़ रहा है।' प्रमाद से यहाँ आलस्य को भी ग्रहण कर लेना।

इस प्रकार से भगवान् ने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की क्या पहचान है, उनके क्या लिंग हैं, यह स्पष्ट करके बतला दिया। ये प्रधानतः मानस भाव हैं, इसलिये इनसे अपने मन की परीक्षा खट हो जाती है। प्रायः लोग इन मानस लिंगों को *अपने* में न देखकर दूसरों में कल्पना करने में ज़ोर लगाते हैं, परन्तु ये जितने भगवान् ने लिंग बताये हैं ये मानस होने के कारण, अपने में तो निश्चित पता लगेंगे, दूसरे में देखने जाओगे तो निश्चित पता नहीं लगेंगे। अनुमान करोगे, कभी ठीक होगा, कभी ग़लत भी होगा। साधक को दूसरों की चिन्ता नहीं करनी, स्वयं में देखकर रज-तम घटाकर सत्त्व बढ़ाना है।।१३।।

किस गुण के बढ़ने पर हुई मृत्यु से क्या फल होता है यह बताते हैं-

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते।।१४।।

जब तो देहधारी सत्त्वगुण बढ़ा रहते मरता है तब महत् आदि के उपासकों को उपलब्ध निर्मल लोक पाता है।

देहभृत्, देह को मैं और मेरा समझने वाला, देह धारण करने वाला। 'सत्त्वे प्रवृद्धे' जब सत्त्व बढ़ा हुआ हो, उस समय 'प्रलयं याति' मरणभाव को प्राप्त होता है तब उत्तम गति पाता है। आचार्य स्पष्ट करते हैं कि 'सत्त्वे प्रवृद्धे', सत्त्व जब जीवन में पूरी तरह से बढ़ा हुआ होगा तभी मृत्यु के समय भी रह सकेगा क्योंकि मरण काल में तो प्रायः आदमी बिलकुल

अज्ञानी होकर मरता है। मरने के कुछ क्षण पहले तो प्रायः मुमूर्षा (कोमा) हो जाती है। इसलिये उसी समय को यदि विवक्षित मानें तब तो सब का तमोगुण ही बढ़ा हुआ मिलेगा! जो कहते हैं, 'मरण काल में' वह इस दृष्टि से कि जैसा तुमने जन्मभर प्रयत्न किया है तदनुकूल ही विचार मरणकाल में रहता है, विवेक न होने पर भी वही भाव रहता है। जन्मभर यदि तुमने सत्त्व को बढ़ा कर रखा है तो सत्त्वप्रधान रहते हुए ही मूर्च्छा या मुमूर्षा में भी जाओगे। इसलिये उस अविद्या के कारण अगला जो शरीर बनता है उसमें सत्त्वगुण प्रधान रहता है। इसलिये अंतिम समय या मरते समय का अभिप्राय उस होश-हवास की स्थिति से है जिसके तुरंत बाद बेहोशी में जाते हैं। मूर्छा अवस्था में जाने के समय सत्त्वगुण बढ़ा रहेगा तो सत्त्वगुणानुरूप, रजोगुण-तमोगुण बढ़ा रहेगा तो तदनुरूप गति मिल जायेगी। इसलिये कहा 'यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति'। सत्त्व बढ़ा हुआ होने पर। जीवन भर के प्रयास के कारण जो बढ़ा हुआ है वही सफल होता है। अतः इस प्रकार के वाक्य यावत्-जीवन करने के लिये प्रवृत्ति कराने वाले हैं, ऐसा नहीं कि अन्तिम समय के लिये प्रयास रोके रखो! यह उसी तरह की बात है जैसे योग्य विद्यार्थी प्रतिदिन कक्षाके पाठ को याद कर लेता है। प्रमादी 'अरे, अभी तो इम्तिहान में दस महीने हैं, अभी तो नौ महीने हैं, पढ़ लूँगा।' ऐसा करते-करते जब दस दिन बाद परीक्षा होनी है तब लगता है रातभर! न चीज़ें ठीक से समझ में आती हैं, न याद रहती हैं। जैसे वह टालता रहता है, असफल ही रहता है, वैसे ही साधक टालेगा तो असफल होगा। जो साधक सोचता है 'अभी क्या जल्दी है, उमर भर पड़ी है, आगे कर लेंगे,' वह कभी सफल हो नहीं पायेगा।

'सत्त्वे प्रवृद्धे', सत्त्वगुण जब उद्‌भूत होवे, रजोगुण-तमोगुण को दबा कर बढ़ा हो 'तदा' मरण काल में भी जब वही वृत्ति रहे तो 'उत्तमविदाम्', हिरण्यगर्भादि की उपासना करने वाले लोग जिस लोक को जाते हैं उन्हें प्राप्त करता है। वे कैसे लोक हैं? 'अमलान्', जहाँ मल नहीं हैं। मल का अर्थ है पाप। जहाँ पाप की प्रधानता नहीं होती है ऐसे लोकों को प्राप्त करता है। जन लोक, तप लोक, सत्य लोक इन सबके अन्दर पाप नहीं हैं। उन लोकों को 'प्रतिपद्यते', प्राप्त करता है।।१४।।

अब रजोगुण बढ़ा होने पर मरने का फल कहते हैं-

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

रजोगुण बढ़ा रहते मरकर वहाँ पैदा होता है जहाँ कर्मों में आसक्ति वाले लोग होते हैं। और तमोगुण बढ़ा रहते मरा हुआ मूढता वाली योनियों में पैदा होता है।

रजोगुण-तमोगुण का बढ़ा होना भी यावत् जीवन के संदर्भ में ही समझना। यावत् जीवन जो शास्त्रीय कर्म, लौकिक कर्म सब ठीक तरह से करता रहा है। वह जब मरता है तब भी रजोगुण प्रधान रहता है अतः 'कर्मसंगिषु जायते', जहाँ पर कर्म में आसक्त पुरुष हैं वहाँ

पैदा होता है। कर्मों को प्रारम्भ करना रजोगुण का वैशिष्ट्य बतलाया था। 'यह कर लिया, अब वह करूँगा'- हमेशा रजोगुणी के अन्दर यही उत्साह रहता है। कभी भी शम की भावना नहीं आती कि 'बहुत कर लिया, अब क्या करना है!' यही कर्मसंग है। रजोगुण से यहाँ भी कर्म में ही आसक्ति रही है और आगे जो कर्म में आसक्त लोग हैं उन्हीं के बीच पैदा होगा। कर्म–आसक्त लोग मनुष्य होते हैं। शास्त्रीय कर्म में तो मनुष्यों के सिवाय दूसरे का अधिकार ही नहीं है। शास्त्रीय कर्म तो दूसरी योनियों में होंगे ही नहीं। लौकिक कर्म भी पशु–पक्षी के सीमित होते हैं। अब तो लोग मनुष्यों को भी पशु–पक्षी की तरह बनाना चाहते हैं! इसलिये कहते हैं- क्या होना चाहिये? रोटी, कपड़ा और मकान। बस, ये हो गये तो सब हो गया। इसी को उन्नति मानते हैं, विकास मानते हैं। पशु–पक्षियों को किसी तरह से भोजन मिल जाये, सर्दी–गर्मी से बचने के लिये साधन मिल जायें, बस इसी के लिये उनके सारे कर्म हैं। ऐसा ही आधुनिक लोग मनुष्य को बनाना चाहते हैं। जैसे ही ऐसों को नियम से भोजन, सर्दी–गर्मी से बचने की सुविधा हुई कि बस, पड़े रहेंगे। फिर उनके अन्दर कर्म की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, ज्ञान की तो सम्भावना ही नहीं है।

भगवान् ने मनुष्य शब्द स्पष्ट इसलिये नहीं कहा कि मनुष्यों में भी दो भेद हैं। एक, जिन्होंने जीवन में वर्णधर्म को प्राप्त किया है। दूसरे, जिन्होंने ऐसे धर्म नहीं चुने। जहाँ रमणीय योनियों की बात कही है वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य- इनको ही लिया है। और जहाँ अरमणीय योनियाँ कही हैं, वहाँ चाण्डाल, सूकर आदि इस प्रकार की योनियों को कहा है। उन योनियों के अन्दर कर्माधिकार नहीं–जैसा ही है। उनके अन्दर तमोगुण का इतना प्राधान्य होता है कि वे सोचते हैं कि रोटी, कपड़ा और मकान मिल गया तो बस। इस संसार में सुख मिल जाये, यही उनका उद्देश्य है, आगे के लिये उनकी कोई प्रवृत्ति नहीं है। मूढता के कारण पहले तो उनको जँचता ही नहीं है। जँच जाये तो उस कार्य को करने में ज़ोर नहीं लगाते। इसलिये तम जब बढ़ता है, और मरण होता है तब 'मूढयोनिषु जायते'। मूढयोनियाँ- पशु आदि योनियाँ। और जो उस प्रकार के मनुष्य दिखाई देते हैं वे भी पशु के भोगों से ही अपने को कृतकृत्य मानने वाले होने से पशु ही हैं। इसलिये तमोगुण के बढने पर पशु पक्षी योनियों की ही प्राप्ति होती है।।१५।।

जो तीन श्लोकों में कह आये इसे भगवान् फिर संक्षेप में कह देते हैं–

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

शिष्ट जन बताते हैं कि सात्त्विक पुण्यका सत्त्वकार्यभूत मलरहित (सुख) फल होता है, राजस कर्म का दुःखबहुल फल होता है और तामस कर्म का मोहानुविद्ध फल होता है।

'सुकृतस्य', सुकृत अर्थात् शुभ कर्म, सत्त्वगुण के प्रभाव से होने वाला कर्म। उसका फल क्या है? सात्त्विक निर्मल फल है। मल अर्थात् पाप। सात्त्विक पुण्य फलतः भी पापात्मक नहीं होगा।

याद रखना कि पाप की प्रवृत्ति तभी नहीं आयेगी जब शास्त्र को स्वीकार करे। पाप का फल अवश्य मिलेगा, यह शास्त्र से ही पता लगता है। जो लोग प्रत्यक्ष में देखना चाहेंगे उनको दीखेगा नहीं। इसलिये बहुत से लोग कहते हुऐ देखे जाते हैं कि 'कलियुग है, इसमें तो पाप ही फलता है'। पाप का फलन इन्होंने कहाँ देखा? लोक में ही देखा। इससे यही पता लगेगा कि *यहाँ* पाप ही फलता है। परन्तु जिसने शास्त्र की दृष्टि ली है वह तो इस बात को जानता है कि पाप आगे ज़रूर बुरा फल देगा। बिना शास्त्र के अन्दर श्रद्धा किये हुऐ, शुभ कर्म ही करे यह सम्भव नहीं है। शुभ कर्म *भी* तो कर सकता है पर शुभ कर्म *ही* नहीं करता। जब मौका देखता है तब अशुभ कर्म भी कर लेता है। सत्त्वगुण के अनुसार कार्य किये हुऐ हैं तो फल भी सात्त्विक मिलता है अर्थात् जिसमें पाप का सम्बन्ध नहीं है, ऐसा फल मिलता है। उसी को पहले कहा था, 'उत्तमविदां लोकान्'। हिरण्यगर्भ आदि के उपासक जिस लोक को जाते हैं वहाँ निर्मलता स्वाभाविक है।

'रजसस्तु फलं दुःखम्'। जो रजोगुण के कर्मों में लगा है उसे दुःख मिलता है। लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का प्रारम्भ आदि राजस कर्म हैं। राजस द्वारा किये कर्मों का प्रारम्भ भी फल की अपेक्षा से है, फल के लिये है। लोभ तो है ही फल के लिये कि यह चीज़ बची रहेगी तो हमें फायदा देगी। चूंकि उसके सामने फल है अतः रजोगुण से दुःख की ही प्राप्ति होगी। कर्म कर रहा है, फिर दुःख की ही प्राप्ति क्यों? दुःख का यहाँ मतलब समझ लेना कि क्षणिक सुख मिलने पर भी अधिकतर दुःख है, इसलिये उसे दुःखरूप कह दिया गया। फल की आशा से करोगे और फल नहीं होगा, तो दुःख होगा। फल हो गया तो वह स्थिर नहीं रहेगा तब दुःख होगा। फल की आशा वाले को दुःख अवश्यंभावी है। अतः तात्कालिक क्षणिक सुख होने पर भी, उसको यहाँ दुःख शब्द से कह दिया।

और 'तमसः फलम् अज्ञानम्'। प्रमाद आलस्य इत्यादि का फल तो अज्ञान ही है। अर्थात् ज़्यादा अविवेक बढ़ता जायेगा। यहाँ अज्ञान का मतलब मूल का अज्ञान, मूलाज्ञान नहीं बल्कि अज्ञान का कार्य। अज्ञान अर्थात् अविवेक। अविवेक के कारण उसके अन्दर प्रमाद मोह बढ़ते ही रहेंगे, यही उसका फल होगा।

मनुष्य जन्म के अन्दर ही दुःखबहुल होने पर भी, सुखलव होते हैं इसलिये पूर्व श्लोक में 'कर्मसंगिषु जायते' कह दिया था। और मूढ योनियों के लिये यहाँ अज्ञान कह दिया।।१६।।

गुणों के स्वभावानुसार ही पूर्वोक्त फल मिलते हैं यह समझाते हैं–

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

सत्त्वगुणसे ज्ञान पैदा होता है। रजोगुणसे लोभ (आदि) होते ही हैं। तमोगुणसे प्रमाद, मोह और विवेक का अभाव - ये ही होते हैं।

'सत्त्वात्' जब सत्त्वगुण बढ़ता है, 'तब ज्ञान सञ्जायते'। जैसा भगवान् ने कहा था, 'सर्व–

द्वारेषु'; अतः सत्त्व बढ़े व्यक्ति की जो बाह्य प्रवृत्ति होगी, वह भी विवेक पूर्वक होगी। उसमें भी उसका अविवेक नहीं रहेगा। और जो शास्त्रीय प्रवृत्ति होगी वह तो होगी ही विवेकपूर्वक। अविवेकी को तो पहले यही समझ में नहीं आयेगा कि शरीर के मरने के बाद कोई फल भोगने वाला कैसे बचेगा? अतः अविवेकी की परलोकार्थ प्रवृत्ति ढंगसे होना संभव नहीं।

जब रजोगुण की प्रधानता होती है तब लोभ होता है। सत्कार्य के अन्दर द्रव्य का व्यय न करना और जो अपने पास है वह कभी जाये नहीं इसकेलिये हमेशा प्रवृत्त होते रहना– दोनों ही लोभ शब्द से समझ लेना। और तमसः, तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं। प्रमाद– असावधानता। मोह– मूढता और अज्ञान– सर्वथा अविवेक होना। ये तमोगुण के बढ़ने पर होते हैं।१७।।

फलों के भेदों का संग्रह करने केलिये सामान्यतः विभाजन करते हुए उपसंहार करते हैं–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

सत्त्वगुण के अनुसार कर्म-उपासना आदि करने वाले ऊँचे लोकों को जाते हैं, रजोगुणानुसारी चरित्र वाले मध्य में रहते हैं; निकृष्ट गुण अर्थात् तमोगुण के अनुरूप आचरण वाले तामसी लोग नीची योनियों में पैदा होते हैं।

'सत्त्वस्थाः' मायने सत्वगुण के व्यवहार में जो स्थिर हैं, सात्त्विक व्यवहार में जो स्थित हैं वे ऊपर अर्थात् महः जनः तपः इत्यादि लोकों को जाते हैं। सत्त्वगुण में स्थित होने का मतलब है सत्त्वगुण के कार्यों में स्थित होना। और 'राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति'। रजोगुण में जो स्थित हैं, अर्थात् रजोगुण के कार्यों में जो लगे हुए हैं वे मध्य में, भूलोक मध्य में है, इसलिये मनुष्य लोक में ही रहते हैं। और 'तामसाः' जो तमोगुण वाले हैं वे 'जघन्यगुणवृत्तिस्थाः' अत्यन्त हीन गुण के कार्यों में आसक्त होते हैं जैसे नशा करना, शराब पीना, मांस खाना, दूसरों को दबाना, हमेशा दूसरों की निंदा करना। अगर किसी के बारे में अखबार में निकलता है कि 'यह मंत्री चोर नहीं है', तो सब कहते हैं कि 'अन्दर से सब चोर होते हैं, ये तो सब ऊपर की बातें हैं'। और किसी के बारे में पता चलता है कि घूस लेता है, तो सबको झट विश्वास हो जाता है कि ज़रूर घूस लेता होगा। यह तमोगुण का प्रभाव है– किसी कि अच्छाई न जँचना और बुराई खट जँच जाना। जघन्यगुण वृत्त में, व्यवहार में जो स्थित हैं वे 'अधो गच्छन्ति', नरक आदि योनियों में या पशुआदि योनियों में जाते हैं। इस प्रकार से भगवान् ने यहाँ पर गुणों और उनके फलों का प्रतिपादन किया।

एक प्रश्न उठता है कि भगवान् ने सातवें में (७.१३;१८.४०) कहा था कि संसार में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसके अन्दर त्रिगुण न होवें, और यहाँ सुख-दुःख और मोह को अलग करके कहा है, तो दोनों में विरोध क्यों नहीं? यदि सब त्रिगुणात्मक है तो लोभ भी त्रिगुण होना चाहये, ज्ञान भी त्रिगुण होना चाहिये, प्रमाद मोह इनमें भी त्रिगुणता होनी

चाहिये। इसका उत्तर समझ लेना चाहिये - विज्ञान में एक नियम है कि विचारणीय स्थल और व्यवहारोपयोगी स्थलों में भेद मानकर व्यवस्थायें बनायी जाती हैं। शुद्ध जल तुमको कभी नहीं मिलेगा, सामान्य संसार के व्यवहार में तो शुद्ध जल कभी नहीं मिलेगा। बिलकुल शुद्ध हाइड्रोजन व ऑक्सिजन को लेकर बिलकुल वायुरहित स्थान के अन्दर उनमें विद्युत् संचार से शुद्ध जल पैदा कर सकते हैं। परन्तु यदि तुम व्यवहार में जल को देखोगे तो हमेशा उसमें दूसरी चीज़ें मिली हुई होंगी। अतः वैज्ञानिक उस जल के बारे में कहते हैं कि वह सर्वथा स्वादरहित होता है। हमें तो या खारा या मीठा जल मिलेगा। किन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि से खारापन या मिठास जल का नहीं, उसमें मिले अन्य पदार्थों का है। इसीलिये केवल जल के स्वभाव के निर्णयार्थ वे वैसा शुद्ध जल बनाकर परीक्षण करते हैं। इस प्रकार जितनी चीज़ें हैं, उन सबको ठीक प्रकार से समझने के लिये अलग-अलग करके देखना पड़ता है। जिसे लोक में सर्वथा शुद्ध सोना कहते हैं- स्विस बैंक से मिलता है- उस पर भी 'निन्यानवे दशमलव नौ नौ' लिखा रहता है। अर्थात् शतांश तो उसमें भी कोई दूसरा तत्त्व है! व्यवहार में जितनी चीज़ें मिलेंगी, सब मिली हुइ होंगी। परन्तु शुद्ध सोने का स्वरूप समझने के लिये तुमको बिलकुल शुद्ध सोना, जो शतप्रतिशत शुद्ध हो, वही लेकर परीक्षण करना पड़ेगा। इसी प्रकार भगवान् ने जो कहा कि संसार में कुछ भी नहीं है जो त्रिगुणात्मक नहीं है- यह बात है व्यवहार की। क्योंकि जब लेने जाओगे तब ऐसा ही मिलेगा। परन्तु समझने के लिये तो एक-एक को अलग-अलग मानकर उनके स्वरूप और प्रभाव का पता लगाना पड़ेगा। अतः समझाने के लिये यहाँ भगवान् ने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण को अलग कर के कहा। व्यावहारिक दृष्टि से तो भगवान् आगे जाकर के सत्रहवें-अठारहवें में बतलायेंगे कि सुख भी तीन तरह का हैं तामस सुख, राजस सुख भी कहेंगे; वैसे तो सुख सत्त्वगुण से ही होना चाहिये, परन्तु रजोगुण और तमोगुण भी मिला हुआ उपलब्ध होता है। होता तो सत्त्वगुण से सुख है, लेकिन उसके साथ थोड़ा रज मिल गया तो उसका प्रकार बदल जाता है। थोड़ा तमः मिल गया तो उसका प्रकार बदल जाता है। सत्त्व ही प्रधान रहने पर सुख कैसा होता है यह वहाँ सात्त्विक सुख से बतला दिया। इसी प्रकार भगवान् कर्त्ता को, ज्ञाता को, ज्ञान को सब को वहाँ तीनों गुणों वाला बतायेंगे। उसको देखकर या सातवें अध्याय को देख कर विरोध मानने की ज़रूरत नहीं है। यहाँ तो उनका लक्षण केवल शुद्धरूप समझने के लिये बतलाया है। व्यावहारिक रूप आगे भगवान् को विस्तार से बतलाना है। इसलिये यहाँ सत्त्वस्थ का मतलब भी वैसा ही समझना- किंचित् रजोगुण-तमोगुण तो सारे व्यक्तियों में रहेंगे ही। इसी प्रकार से तामस लोग अधिकतर जघन्य वृत्त में ही रहते हैं। कभी-न-कभी किसी से जघन्य कार्य हो जाता है, इतने से वह जघन्य गुण के वृत्त में स्थित नहीं होता। ग़लती करना मनुष्य का स्वभाव है। उतने मात्र से वह ग़लत वृत्तस्थ नहीं होता। जैसे जीवन में एक बार युधिष्ठिर ने आधा झूठ बोला। पूरा झूठ तो नहीं बोला, आधा झूठ बोला। लेकिन झूठ का सम्बन्ध तो हो ही गया! फिर भी युधिष्ठिर को सत्यवादी कहना बन्द नहीं किया जा

रहा क्योंकि वे सत्य के वृत्त में स्थित रहे। प्रकृति से अपना अविवेक होने पर संसरण अवश्यम्भावी है। प्रकृति अर्थात् उसके कार्य शरीर, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, इनसे एकता का अनुभव मिथ्या ज्ञान है, अभिमान है जो जन्म-मृत्यु- प्रवाह से निकलने नहीं देता। शरीर आदि को जो अच्छा-बुरा होता है उसे 'मुझे ही हुआ' ऐसा इस अविवेकमूलक अभिमान से ही समझा जाता है। इसीलिये भोग्य विषयों से हम बँधते हैं। विषयों का सम्पर्क तो देहादि से ही है, आत्मा से है नहीं, पर देहादि में अभिमान से आत्मा विषयों को अपने से सम्बन्ध वाला मानकर उनसे बँधता है। शरीरादि के सुख-दुःख- मोह से अभिमानवश ही खुद को सुखी-दुःखी-मोही समझता है। यही प्रकृति से संग है, आसक्ति है। इसी से अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अतः जन्म-मृत्युप्रवाह से छूटने के लिये यह संग समाप्त करना ही एकमात्र उपाय है। इसी सम्यक् दर्शन का वर्णन भगवान् करते हैं–

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

विद्या पाकर सही समझ वाला जब देखता है कि कर्म करने वाला गुणों से अन्य नहीं है तथा गुणों से परे जो उनका साक्षी है उसका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे मेरे स्वरूप का अधिगम (ज्ञान) हो जाता है।

'यदा' अर्थात् ज्ञान होने पर 'शरीर आदि मैं हूँ' यह मिथ्या ज्ञान हट जाता है और समझ आता है कि कार्य-करण-विषय के आकारों को लिये हुए गुण ही कर रहे हैं, इनसे अन्य जो वस्तु वह कर्ता नहीं है। आत्माकी उपस्थिति में करते हैं पर करते गुण ही हैं, आत्मा करता नहीं है। अनात्मा ही सब करता है। जब इसे 'अनुपश्यति'; अनु अर्थात् पश्चात्, ज्ञान की दृढता हो जाने पर, ज्ञान की दृढता होने के पश्चात्। पहले समझ में तो आ जाता है, लेकिन समझ में आने पर भी यह बात अपने को ठीक लगती नहीं। लगता तो है कि मन दुःखी हुआ तो मैं दुःखी हुआ; केवल सोचकर समझता हूँ कि मैं दुःखी हुआ इसको जानने वाला द्रष्टा अलग है।

ठीक जिस प्रकार से किसी को रस्सी में साँप दीख गया; किसी अत्यन्त विश्वासी आदमी ने कहा 'यहाँ मैंने रस्सी रखी थी वही साँप जैसी दीख रही है'। वह आदमी विश्वासी है, इसलिये यह निश्चय तो है कि रस्सी साँप दीख रही है परन्तु फिर भी दीखता साँप है। पहले की तरह भय तो नहीं होता है परन्तु फिर भी दीख तो साँप रहा है। रस्सी है– यह जानकार के कहने से श्रद्धा पूर्वक *मान* तो लिया पर जानना अभी केवल सर्प का ही हो रहा है। जब साफ प्रकाश के अन्दर रस्सी देख ली, तब साँप दीखना भी बन्द हो जाता है, रस्सी दीखती है, साँप नहीं दीखता। जिस जगह साँप दीख रहा था उसी जगह अब रस्सी दीख रही है।

इसी प्रकार से अभी मान तो लेता हूँ कि 'मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ' परन्तु जानता तो हूँ कि मैं शरीर, इन्द्रियाँ, मन इत्यादि हूँ। जो शुद्ध मैं है, निर्मल मैं है, सच्चिदानन्द रूप

है, उस सच्चिदानन्द रूप शुद्ध मैं के अन्दर ही हमें देवदत्त, यज्ञदत्त, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, गृहस्थ इत्यादि सब दीख रहे हैं। यही अनुभव है कि 'मैं ऐसा हूँ'। जब श्रुति ने कहा, गुरु ने समझाया तो वेद पर, गुरुपर श्रद्धा होने के कारण, यह तो पता लग गया कि मैं सचमुच में शरीर नहीं हूँ। परन्तु फिर भी मैं दीखता तो गोरा, काला, लम्बा, मोटा ही हूँ; ऐसा ही मैं अपने को देखता हूँ। उसके बाद अमानित्वादि गुणों का अभ्यास करके, जब ज्ञान की दृढता होकर ब्रह्माकार वृत्ति बन गई और ब्रह्माकार वृत्ति के प्रकाश में 'मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ', ऐसा दृढ बोध हो गया तब 'मैं शरीर हूँ, मैं गौरा-काला हूँ' यह ज्ञान नहीं होता, 'मैं सच्चिदानन्द हूँ'- यही ज्ञान होता है। शरीर के सुखी-दुःखी होने पर मैं सुखी-दुःखी हुआ- ऐसा बोध नहीं होता। मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ- ऐसा ही बोध होता है। यद्यपि ऐसा बोध योगाभ्यास से भी होता है, निर्विकल्प समाधि में द्रष्टा की स्वरूपस्थिति होती है, तथापि चूंकि समाधि या ध्यान ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, अतः जब-जब समाधि का अभ्यास करेगा तब-तब अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की प्रतीति होगी, पर जब-जब व्युत्थान होगा, व्यवहार करेगा, तब फिर शरीर आदि की प्रतीति होगी। परन्तु तत्वमस्यादि महावाक्य के श्रवण और मनन कर लेने पर, अमानित्वादि के द्वारा वह ज्ञान स्थिर हो जाने पर, फिर व्यवहार काल में शरीर इत्यादियों को कर्त्ता देखते हुऐ भी 'मैं कर्त्ता' ऐसा बोध नहीं होता। इसलिये कहा 'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति'। गुणों से वह सर्वथा अस्पृष्ट रहता है। गुणों से पर अर्थात् व्यतिरिक्त है।

चूंकि गुणों से वह सर्वथा भिन्न है, इसलिये गुणों के व्यापार सुख-दुःख-मोह का वह केवल साक्षी है, उन्हें देख रहा है। इस प्रकार से जिसका ज्ञान दृढ हो जाता है 'सः' अर्थात् ऐसा विद्वान् 'मद्भावम् अधिगच्छति' मेरा जो भाव है अर्थात् मैं जो सच्चिदानन्द हूँ उसको ही अधिगत करता है, उसी को हर समय जानता है। उसे मालूम रहता है कि 'मैं सच्चिदानन्द हूँ और गुण ही कार्य-करण-संघात के रूप में क्रिया कर रहे हैं।' 'कर्त्ता' से यहाँ भोक्ता भी उपलक्षित है। क्योंकि जैसे गुणों के द्वारा कर्तृत्व है वैसे ही गुणों के द्वारा भोक्तृत्व है। गुण सब करते-भोगते हैं, प्रत्यगात्मरूप मैं केवल उसका साक्षी मात्र हूँ, वहाँ हूँ, बस इतना ही है। यह दृढ बोध का रूप भगवान् ने बतला दिया कि ऐसा जानकार मेरे भाव को प्राप्त होता है।

ईश्वर सारी सृष्टि करता है, परन्तु उसे अज्ञान नहीं होने से उसे यह मिथ्या बोध नहीं होता कि 'मैं कर रहा हूँ।' वह जानता है कि 'यह तो माया कर रही है, मेरी उपस्थिति से कर रही है, यह ठीक है, परन्तु हो सब कुछ माया में रहा है।' इसलिये हिन्दी में किसी ने कहा है, 'बाबा के दरबार में माता का ही राज'। है तो यह भगवान् शंकर का दरबार लेकिन वे तो साक्षिभाव से स्थित हैं। करने-धरने वाली सारी माया ही है। ईश्वर के बिना माया नहीं कर सकती, इतने मात्र से ईश्वर सृष्टि, स्थिति, लय को करने वाला कहा जाता है।।१६।।

यह अधिगति कैसे होती है यह बताते हैं-

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

(अज्ञावस्थामें जो) देहधारी (है वही) देह के हेतुभूत इन तीन गुणों से परे होकर जन्म-मृत्यु- जरा-दुःखों से छूटा हुआ अमृत हो जाता है।

'एतान् गुणान्', इन गुणों और गुणों के कार्यों को। गुण अर्थात् प्रकृति। तीन गुण स्पष्ट हो जायें इसलिये 'गुणान्' कह दिया। तमोगुण को पहले रजोगुण से दबाना पड़ता है। फिर रजोगुण को सत्त्वगुण से दबाना पड़ता है। फिर सत्त्वगुण को गुणातीत रूप से निवृत्त करना पड़ता है। तमोगुण से कोई चाहे 'सीधा मैं गुणों को अतीत कर जाऊँ' तो ऐसा नहीं हो सकता। अमानित्वादि का जो प्रतिपादन किया गया है वह इसीलिये कि वह सत्त्वगुण है। है तो सब व्यवहार, पर उन व्यवहारों में सत्त्व की प्रधानता है। सत्त्व की प्रधानता हो जाने पर ही साधक गुणों का अतिक्रमण करता है।

गुण कैसे हैं? 'देहसमुद्भवान्'। देह को उत्पन्न करने वाले हैं। देह है समुद्भूत इनसे ऐसे ये गुण हैं। पहले कह आये हैं कि 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः, अधो गच्छन्ति तामसाः' अतः सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के कारण ही अच्छी बुरी योनियों में जन्म हुआ, गुण ही शरीर के प्रति कारण पड़े। जो गुणों का अतिक्रमण कर गया, गुणों से परे चला गया, अतः अब गुण उसका कुछ नहीं कर सकते, अतः उसको जन्मान्तर की प्राप्ति नहीं होती। 'देही'; देही इसलिये कहा कि देह में रहते हुए ही, अर्थात् जीवित रहते हुऐ ही इन गुणों का अतिक्रमण करना है। यह कहकर योगज समाधि से इस स्थिति को अलग बतला दिया। योगज समाधि में देह का सर्वथा भान नहीं होता। ज्ञान-समाधि के अन्दर देह की प्रतीति होने पर भी यह स्थिति रहती है। यह नहीं कह रहे हैं कि ज्ञानी समाधिस्थ नहीं होता। केवल यह कह रहे हैं कि ज्ञानी का ज्ञान समाधि के अधीन नहीं है। समाधि होने पर जो ज्ञान उसको है, व्युत्थान काल में भी वह ज्ञान उसको है। देही, जीवित रहते हुऐ ही, जो इन को पार कर जाता है वह जन्मादि से परे हो जाता है। गुणसंगसे ही जन्म होता है, गुणसंग न रह जाने पर उसका जन्म होगा नहीं। अतः मृत्यु को भी पार कर गया, क्योंकि जन्म नहीं होगा तो आगे मृत्यु की भी प्राप्ति नहीं है।

शंका होती है कि अब पैदा हुऐ हैं तो एक बार मरना ही पड़ेगा, उसके बाद भले ही जन्म नहीं होगा तो नहीं मरेंगे? परन्तु भगवान् तो यहीं मृत्यु से मोक्ष कह रहे हैं। मृत्यु का मतलब है प्राण शरीर को छोड़ कर कहीं जावें। ज्ञानी का आगे जन्म नहीं होना है तो प्राण शरीर को छोड़ कर कहाँ जायेगा? प्राण शरीर को छोड़े, तब मृत्यु होवे। ज्ञानी तो पहले ही प्राणरूप जो गुण का कार्य है उससे अलग हो चुका है। इसलिये 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' उसके प्राण कहीं जाते नहीं हैं। प्रारब्ध समाप्त होने पर, आगे प्राणों का कोई कार्य बाकी रहा नहीं, इसलिये प्राण वहीं खत्म हो जाते हैं। जिस प्रकार से लौकिक भाषा में कहते हैं-

बिजली चली गई। बिजली कहीं *जाती* तो है नहीं! बिजली आना बन्द हो गया, बस इतने मात्र को ही 'बिजली चली गई' कहते हैं। बिजली कोई द्रव्य तो नहीं कि यहाँ से बाहर भाग गई! जिस प्रकार से बिजली आना बन्द हो गया, वैसे ही प्रारब्ध खत्म हो जाने पर प्राण को चलाने वाली कोई चीज़ रही नहीं। इसलिये प्राण नहीं चलता है तो लौकिक लोग कहते हैं, 'इसके प्राण चले गये'। उसके प्राण *गये* कहीं नहीं, बस प्राण चलना बन्द हो गये, इतना मात्र ही है। इसलिये ज्ञानी की यहीं मृत्यु नहीं है। बार-बार वेद और यहाँ भगवान् भी गीता में कहते हैं, कि यहीं पर मृत्यु को खत्म कर देना चाहिये। अर्थात् जीते हुऐ ही यदि तुम दृढता से प्रत्यगात्मरूप में स्थित हो गये तब तो मोक्ष स्थित है अन्यथा कोई आशा नहीं। किसी ने इसीलिये कहा है कि मृत्यु से केवल डरो मत, उससे बचने का उपाय कर लो। उपाय यही है कि अजन्मा बन जाओ!

'मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मृत्युर्न मु चति।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि ।।'

अगर मृत्यु से डरते हो तो उससे बचने का तरीका क्या है? डरने से तो मृत्यु छोड़ेगी नहीं। उपाय सचो। उपाय क्या है? जिसने जन्म नहीं लिया उसको मृत्यु मार नहीं सकती। जन्म लेने पर ही मृत्यु आयेगी। इसलिये जन्म-रहितता जो अपना स्वरूप है उसे पा लो। ज्ञान का स्वरूप जब हो जाता है कि 'जन्म लेने वाला मैं नहीं' तब अजन्मा भाव पा लिया गया। जिसने यहीं इस बात को जान लिया कि 'मेरा जन्म नहीं हुआ' वही मृत्यु से बचेगा। ऐसा नहीं है कि इस जन्म के बाद जन्म नहीं *होगा* ।यह जन्म ही नहीं हुआ है! क्योंकि शरीर मन के जन्म लेने से उसके साथ तादात्म्य के द्वारा भ्रम ज्ञान है कि 'मै जन्मा था'। जैसे सर्प जहाँ दीख रहा था, वहाँ जब रस्सी दीखती है, तब ज्ञान यह नहीं होता कि 'प्रकाश देख कर सर्प भाग गया'। ज्ञान होता है, 'जिस समय सर्प दीख रहा था, उस समय ही सर्प नहीं था।' इसी प्रकार यहाँ ज्ञान होता है कि 'जब मैंने अपने जन्म दिन को मनाया था तब भी मैंने जन्म नहीं लिया था। मिथ्या रूप से जन्म प्रतीत हो गया था।'

जन्म-मृत्यु- जब ये आदि और अन्त दोनों नहीं हैं, तब मध्य में होने वाले जरा आदि स्वतः ही नहीं हैं। युवा आदि अवस्थाओं को इसलिये नहीं गिनाया कि प्रायः करके आत्मज्ञान होते-होते, मनुष्य की जवानी बीत जाती है! इसलिये जरा को गिनाया, युवा और बाल्य अवस्था को छोड़ दिया। ज्ञानी जीर्णता के बारे में भी अनुभव, शरीर के अन्दर होते हुऐ ही जानता है, 'मैं जीर्ण नहीं हूँ, शरीर जीर्ण है'। इसी प्रकार उसे मालूम है कि और जो बीमारी इत्यादि के दुःख हैं, उन दुःखों वाला भी मैं नहीं हूँ, कभी हुआ ही नहीं। 'अब नहीं हूँ' ऐसा नहीं, कभी भी मुझे दुःख हुआ ही नहीं यह बोध होता है। इन सबसे 'विमुक्ताः' छूट कर 'अमृतमश्नुते', ऐसा जो ब्रह्मविद्वरिष्ठ वह अमृत भाव की प्राप्ति कर लेता है। इसके द्वारा आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति को बतला दिया। आत्यन्तिक इसलिये कि जब मिथ्या ज्ञान था, तब भी *हुआ* नहीं था। आत्यन्ति दुःखनिवृत्ति, तो इससे बताला दी और परम आनन्द की

प्राप्ति अमृत से बतला दी। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति-पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति– यही विद्वान् की स्थिति है। 'अश्नुते' का मतलब यहाँ अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है। पूर्व श्लोक में कहा था, 'मद्भावं' अर्थात् प्रत्यगात्मा के स्वरूप में, सच्चिदानंद स्वरूप में स्थित होता है। इसी प्रकार यहाँ परमानन्द की प्राप्ति, अर्थात् परमानंदरूप से स्थित होता है। किसी अप्राप्त आनन्द को प्राप्त करता है ऐसा नहीं, वरन् आनन्दरूप से स्थित होता है। दोंनो कहकर यहाँ मोक्ष का स्वरूप बतला दिया। बहुत से ऐसे लोग हैं जो मोक्ष में दुःख की निवृत्ति तो मानते हैं पर आनन्द की प्राप्ति नहीं मानते। परन्तु वेदांतों में और यहाँ गीता में भी दोनों बातें कही हैं। आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति अर्थात् कभी भी दुःख न हुआ, न है, न होगा। और आनंदरूप की प्राप्ति अर्थात् आनन्दरूप ही था, आनन्दरूप ही हूँ और आनन्दरूप ही रहूँगा। मैं ब्रह्म हूँ 'अहम् ब्रह्मास्मि', ब्रह्म कैसा है? आनन्दस्वरूप है, इसलिये मैं स्वयं आनंद हूँ। 'अमृतमश्नुते' और 'मद्भावमधिगच्छति' दोनों को मिला कर समझना चाहिये ।।२०।।

जब कहा कि जीते हुऐ ही गुणों को पार करके अमृतभाव में स्थित हो जाता है, तब इच्छा उठना स्वाभाविक है कि जिसने गुणों को जीत लिया उसके बारे में कुछ समझें। अतः अर्जुन प्रश्न करता है–

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतान् अतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ।।२१।।

प्रभो! इन तीन गुणों को लाँघा हुआ व्यक्ति किन चिह्नों से संपन्न होता है? वह कैसे आचार वाला होता है? और इन तीनों गुणों को किस प्रकार लाँघता है?

लिंग कहते हैं जिसका जिसके साथ हमेशा ही सम्बन्ध रहे। धुएँ का आग के साथ हमेशा सम्बन्ध रहता है, जहाँ भी धुआँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसलिये धुएँ को आग का लिंग कहा गया है। धुएँ को देखकर आग का पता लगता है। इसी प्रकार इन तीन गुणों को जो पार कर जाता है उसके लिंग का प्रश्न है। 'एतान्' अर्थात् जिनका प्रसंग चल रहा है। सुखी दुःखी मोही इत्यादि रूप से सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण का अनुभव है। इन तीनों गुणों से 'अतीतो भवति' अतिक्रान्त हो जाता है। 'इतः' अर्थात् जो चला गया। 'अतीतः' अर्थात् ऐसा गया कि जब पूर्व में वहाँ दीख रहा था तब भी नहीं था! इसलिये अतीत कहा। ज्ञानी का अनुभव यह नहीं होता है कि 'मैं पहले अज्ञानी था और अब ज्ञानी हो गया।' ऐसा अनुभव नहीं होता। यह अनुभव बुद्धि का (या अहंकारात्मिका वृत्ति, जो बुद्धि से मिली हुई है, उसका) तो होगा परन्तु साक्षी का नहीं होगा। साक्षी जानता है कि जिस समय मैं अपने को गुणों वाला समझ रहा था, तब भी नहीं था। ठीक जिस प्रकार से, किसी ने बैंक में टेलिफोन किया 'हमारे खाते से बीस हज़ार रुपये भेज दीजिये।' बैंक से बीस हज़ार रुपये जेब में डालकर वहाँ का कार्यकर्ता एकाउण्टैन्ट चल देता है खातेदार को बीस हज़ार रुपये

देने के लिये। परन्तु जेब में रखे हुऐ रुपयों को भी वह नहीं समझता कि 'ये मेरे रुपये हैं।' जानता है कि बैंक के रुपये हैं और उस आदमी को देने हैं। 'मेरे रुपये हैं', यह भ्रम नहीं होता। अगर यह भ्रम कर लेवे तो अपराधी ही माना जायेगा। ठीक इसी प्रकार से प्रत्यगात्मा के रहते हुऐ, ये गुण सब कार्य करते हैं। प्रत्यगात्मा इसमें मिथ्या प्रत्यय कर लेता है कि 'यह अश्वमेध यज्ञ मैंने किया', तो फिर उसे स्वर्ग में जाना पड़ता है। स्वर्ग के ऊपर राक्षसों का आक्रमण होता है, तो देवताओं को छिपने के लिये भागना भी पड़ता है। यहाँ तक कि इन्द्र को एक बार गधा होकर रहना पड़ा था! यह सब क्यों? 'मैंने अश्वमेध किया है' इस भ्रम के कारण। जिसने यह भ्रम किया उसी को भागना पड़ता है, गधा होना पड़ता है। जिसने इस बात को समझ लिया, कि 'अश्वमेध यज्ञ करने वाले तो शरीर, इन्द्रियाँ, मन इत्यादि हैं। मैं तो केवल साक्षिरूप हूँ', उसको न स्वर्ग जाना पड़ेगा और न राक्षसों के डर से भागना पड़ेगा।

जैसे अश्वमेध यज्ञ कर के, वैसे ही पाप करके नरक भी जाना पड़ता है। प्रायः लोगों का ऐसा स्वभाव होता है कि ग़लत काम करने पर तो कहते हैं, 'क्या करूँ, संस्कारों के कारण किया। मेरा बाप ठग था, इसलिए बचपन से मेरे में ठगी करने के संस्कार हैं तो मैं ठग बन गया। मैं इसमें क्या कर सकता हूँ!' पाप के कार्यों को तो फल भोगने के डर से मनुष्य कह देता है कि गुणों ने किया। परन्तु जो सुख देने वाले अश्वमेध आदि हैं उनको करके यह बोध नहीं होता कि 'मैंने नहीं किया'। तुम लोगों को सिखाने के लिये बेचारे पंडित जी कर्म के अन्त में कह भी देते हैं कि 'तुमने महामृत्युंजय का जप किया, अब कहो श्रीकृष्णार्पणमस्तु।' और यजमान बोल भी देता है श्रीकृष्णार्पणमस्तु अर्थात् सब कुछ भगवान् के लिये है। फिर छह महीने के बाद पूछता है, पंडित जी से 'क्या आपने मृत्युंजय का जप पूरा किया था?' पंडित जी कहते हैं 'हाँ मैंने तो किया था। तुम्हें सन्देह क्यों हुआ?' 'फल तो हुआ नहीं, मेरी व्याधि तो गई नहीं, रोग तो गया नहीं।' 'अरे! तुमने तो कह दिया था, 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'। अब उसके फल को अपने लिये क्यों देख रहे हो? भगवान् की जो मर्ज़ी सो करे'। इस प्रकार शुभ कर्म के कर्तृत्व का परित्याग बड़ा कठिन है। परन्तु जो गुणों को अतिक्रान्त कर जाता है, वह शुभ-अशुभ दोनों से परे हो जाता है।

'हे प्रभो'! अर्जुन का तात्पर्य है- मैं जिज्ञासु हूँ और आप इस सारे संसार को उत्पन्न करने वाले हैं, इसको स्थित रखने वाले हैं, इसका संहार करने वाले हैं। प्रभु अर्थात् जो प्रकर्ष से होता है। सर्ग भी होता है, स्थिति भी होती है, प्रलय भी होता है। ये सब आप के होने से होते हैं इसलिये आप प्रभु हैं। अतः मेरे प्रश्न का जवाब देने में आप ही समर्थ हैं। और कोई इस बात का जवाब नहीं दे सकता।

'किमाचारः' गुणों से जो अतीत है उसका आचार क्या है? क्या व्यवहार करता है? इस प्रकार लिंग, चिह्न और आचार- दोनों तरह से अर्जुन ने गुणातीत के बारे में पूछ लिया है। यद्यपि द्वितीयाध्याय में स्थितप्रज्ञ के प्रसंग में और बारहवें अध्याय में भगवद्भक्त के प्रसंग

में इन बातों को कह आये हैं तथापि स्पष्टतार्थ प्रश्न है। तीनों जगह जो लक्षण आये हैं, ये सारे के सारे दृढ ज्ञानी के हैं। विषय अतिगंभीर होने के कारण अर्जुन पुनः पूछता है और पुनः भगवान् जवाब देते हैं। इससे भगवान् यह आदर्श दिखा रहे हैं कि धैर्यपूर्वक शिष्य की जिज्ञासा मिटाने के सब प्रयास करने ही चाहिये। गुरु स्वयं को ईश्वर से अभिन्न जानता है अतः ईश्वर की तरह ही करुणावान् होकर शिष्यको यथावश्यक आवृत्तिपूर्वक उपदेश दे यही उचित है। आचार्य शंकरने भी कहा है कि यद्यपि आचार्य कृतार्थ होता है, उस पर कोई विधि लागू नहीं होती, तथापि सच्छिष्य मिलने पर उसे अविद्या-सागर से तारने का पूरा प्रयास करे यही गुरु के लिये उचित है। अन्त में 'कथं गुणान् अतिवर्तते' से गुणातीत होने का उपाय भी पूछा।।२१।।

अब भगवान् जवाब देते हैं। किन लिंगों से गुणातीत का पता लगता है, पहले उसको कहते हैं-

श्रीभगवान् उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।२२।।

हे पाण्डुपुत्र! सत्त्वकार्य प्रकाश (ज्ञान), रजःकार्य प्रवृत्ति, और तमःकार्य मोह- ये पूरी तरह प्रकट हों तो भी इनसे द्वेष नहीं करता और हटे हों तो इन्हें चाहता नहीं।

भगवान् स्पष्ट करते हैं कि ये लिंग अपने मन बुद्धि के ही द्वारा पता लगते हैं। दूसरे के अन्दर चूँकि हम उसके मन-बुद्धि को नहीं देखते अतः ये लिंग निश्चित नहीं होते। लिंग तो जहाँ देखा जाये वहीं माना जाता है। अपने मन-बुद्धि के अन्दर ही ये लिंग निश्चित रूप से देखे जा सकते हैं। दूसरे के मन-बुद्धि का प्रत्यक्ष दूसरे को नहीं होता। अतः भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि इन लिंगों को स्वयं में खोज कर अपनी स्थिति पता लगा लेनी चाहिये। जिस प्रकार से अपनी आँख के सामने जो चीज़ होती है वही अपने को दीखती है। पीठ पीछे क्या हो रहा है यह अपने को दीखता नहीं क्योंकि नेत्र में ऐसी सामर्थ नहीं। इसी प्रकार से जब तक देह के साथ सम्बन्ध है तब तक इस मन-बुद्धि का तो प्रत्यक्ष भान होता है। दूसरे के मन बुद्धि का प्रत्यक्ष भान है नहीं। दूसरे के मन-बुद्धि का भान न होने पर भी, शरीर को देख कर हम मन-बुद्धि की कल्पना करते हैं। शरीर का हमें प्रत्यक्ष होता है और उससे हम मन-बुद्धि की कल्पना करते हैं। शरीर हँसता हुआ दीखता है तो हम उस व्यक्ति को प्रसन्न समझ लेते हैं। शरीर रोता हुआ दीखता है तो हम उसको दुःखी मान लेते हैं। यह कहीं ठीक बैठता है, कहीं नहीं भी बैठता। बहुत बार मन में आदमी बड़ा प्रसन्न है पर बाहर से दुःख व्यक्त करता है। चार साल से पत्नी बिस्तरे में पड़ी है, उसका टट्टी पेशाब सब हमको साफ करना पड़ता है, दिन में दस बार तक साफ करना पड़ता है। ऐसा चलता रहने पर, मन में यही होता है कि 'यह पड़ी पड़ी बड़ा कष्ट पा रही है, अब यह कष्ट से छूट जाये तो ठीक है।' यही प्रार्थना करते हैं। हम लोगों को तो मुहँ से कह देते हैं

'महाराज! अब इसका कष्ट खत्म हो जाये।' हमारे मन के अनुरूप ही कार्य हुआ, वह औरत मर गई। फिर भी उसके मरने पर रोते दीखते हैं! दूसरे लोग समझेंगे कि बड़ा दुःखी हो गया। पत्नी मरने के बाद यदि ताली पीट करके हँसने लग जाये, 'अच्छा हुआ भगवान् ने उठा लिया', तो लोग निंदा ही करेंगे। इसलिये अनुकूल कार्य होने पर भी वह रोता ही दीखता है। जिसने उसकी पहले की प्रार्थना नहीं सुनी है, वह तो समझता है कि महान् दुःखी हो गया, इतनी बुरी तरह से रो रहा है। परन्तु जिसने उसकी पहले की प्रार्थना सुन ली है वह जानता है, कि दुःख तो ऐसे ही प्रकट कर रहा है।

इसी प्रकार तीन गुणों को अतीत करने वालों को यदि हम बहुत पास से दीर्घकाल तक देखें तब तो हमें ये लिंग भी प्रतीत हो सकते हैं। दीखेंगे तो शरीर आदि में। पहले जो पति ने प्रार्थना की वह भी मुँह से बोला, तभी सुनी है। परन्तु वह सुनने के कारण हम जानते हैं कि यह रोते हुऐ भी रो नहीं रहा है। इसलिये जो गुणातीत है, दीर्घकाल तक उसके साथ रह कर के ध्यानपूर्वक देखोगे तो धीरे-धीरे पता लग जायेगा कि जब उसके अन्दर सुख के प्रति राग या दुःख के प्रति द्वेष दीख रहा है तब भी उसमें सचमुच में नहीं है। परन्तु अपने मन के अन्दर दुःख है या नहीं, यह तो बिलकुल प्रत्यक्ष हो जाता है। जहाँ मन अपना है वहाँ तो हमेशा ही ये लिंग प्रत्यक्ष हैं। दूसरे के मन का प्रत्यक्ष नहीं होता फिर भी दीर्घकाल में पता लग जाता है।

'प्रकाशम्' प्रकाश अर्थात् ज्ञान। कौन-सा ज्ञान? सत्त्वगुण का कार्यरूपी ज्ञान। प्रवृत्ति, रजोगुण का कार्य है। और मोह तमोगुण का कार्य है। ये तीनों ही 'सम्प्रवृत्तानि न द्वेष्टि'। जब ये सम्प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् विषयभाव से उपस्थित होते हैं तब इनसे निर्विकार रहता है। प्रकाश अपने मनमें विषयरूप से उपस्थित होगा। प्रवृत्ति भी मन में विषयरूप से उपस्थित होगी। और मोह भी अपने अन्तःकरण में साफ दीखेगा कि इस समय मोह हो रहा है। दूसरे में कभी पता लगेगा, कभी ठीक पता नहीं भी लगेगा। ये तीनों ही समय-समय पर उद्भूत होते हैं। पता लगता है कि तमोगुण की प्रतीति, 'मै मूढ हूँ' यह प्रतीति अहंकार को हो रही है। इसी प्रकार जो राजसी प्रवृत्ति हो रही है वह रजोगुण से होने वाली रज की प्रवृत्ति है। जब तक साधक है, तब तक सत्त्वगुण की प्रवृत्ति अच्छी लगेगी, रजोगुण की प्रवृत्ति होने पर वह विचार करेगा कि 'प्रवृत्ति हमेशा दुःखात्मिका दुःखरूप है। अहम् को रजोगुण प्रवृत्त कर रहा है, क्रिया करने वाला बना रहा है। इस तरह मुझे स्वरूप से दूर कर रहा है। यह जो अहम् की प्रवृत्ति हो रही है यह मुझे स्वरूप से दूर कर रही है। मै तो निष्क्रिय हूँ, परन्तु अहम् के अन्दर प्रवृत्ति देख कर मुझे, 'मैं प्रवृत्त हूँ' यह भ्रम हो रहा है। अतः यह दुःखरूप ही है।' अगर प्रकाश होता है सत्त्वगुण का कार्य होता है, तो उसे लगता है 'बुद्धि विवेक कर रही है इसलिये मैं आत्मा-अनात्मा का विवेक कर रहा हूँ। यह भी बुद्धि में ही प्रतीत हो रहा है, अहम् में प्रतीत हो रहा है। परन्तु यह मुझे विवेकी बना कर के, सुखस्वरूप परमात्मा की तरफ ले जा रहा है। प्रवृत्त बुद्धि है।' इस तरह 'अब यह

गुण मुझे स्वरूप की तरफ ले जा रहा है, और अब यह गुण मुझे स्वरूप से चलित कर रहा है' इस प्रकार से विवेकी साधक को पता चलता है। वह विचार करता है 'विवेक कर के मुझे सुख होगा। अर्थात् प्रकाशात्मक प्रवृत्ति सुख में आसक्ति करा रही है। मेरे सुखस्वरूप को यह विवेक प्रकट नहीं करेगा, सुखस्वरूप में स्थित करेगा नहीं। अतः यह भी एक तरह का बन्धन ही है।' साधक सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की प्रवृत्तियों को देखता है पर सत्त्वगुण को भी वह बन्धक ही जानता है क्योंकि सुख के प्रति आसक्ति करता है। 'मैं सुखरूप हूँ' इसको विवेक प्रकट नहीं करता है। इसको तो वेदान्त महावाक्य ही स्पष्ट करते हैं। आसक्ति हमेशा उसमें होती है जो मेरे से अलग हो। आत्मा-अनात्मा का विवेक करके प्रकाशात्मक प्रवृत्ति मुझे आत्मा की तरफ ले जाती है, इतना तो अच्छा है। परन्तु ले जाती है आसक्ति-पूर्वक। कर्मयोग का वर्णन करते हुए भगवान् ने एक जगह कहा था कि कर्मयोग में, मोक्ष की इच्छा भी न रहे यह ज़रूरी है। वह इसीलिये कि इच्छा हमेशा बंधकरी ही होगी। जिज्ञासा बुद्धि की प्रवृत्ति है। स्वरूप में स्थित होना बुद्धि की प्रवृति से नहीं है। अज्ञाननाश से स्वाभाविक रूप में स्वरूपस्थिति हो जाती है। सत्त्वगुण भी इस प्रकार बन्धक ही है।

पार तीनों गुणों को करना है। इसमें एक फ़र्क याद रखना है कि रजोगुण प्रवृत्ति के द्वारा विवेक से दूर ले जाता है जबकि विवेक जिज्ञासा की तरफ ले जाता है। इसलिये प्राचीन लोग एक कथा सुनाते है : किसी को बाँध कर डाकू लोग गान्धार देश में ले गये। लूटकर एक डाकूने उसे मारकर खत्म करने की सोची पर दूसरे को दया आ गयी। अतः उसे मार-पीट कर छोड़ दिया। एक डाकूने उससे कहा 'अरे! तुम्हारे हाथ पैर चोटिल हो गये हैं, मैं तुम्हें रास्ता दिखा देता हूँ।' ले जाकर जो सीधी सड़क थी उसके गाँव आने वाली उस सड़क तक उसको पहुँचाया और कहा 'बस, अब इस सड़क को पकड़ कर सीधे चले जाना, तुम अपने घर पहुँच जाओगे।' उसने सोचा, इसने मेरा बड़ा उपकार किया। कहा 'भाई! तुमने मेरा बड़ा उपकार किया, चलो घर चलो। तुमको वहाँ कुछ इनाम देंगे। नहीं तो मैं यहाँ मर जाता।' वह हँस पड़ा। उसने कहा 'अरे! हूँ तो मैं भी डाकू ही। तुमको पकड़ कर ले गया था। इसलिये मैं तुम्हारे गाँव में नहीं जाऊँगा। इतनी ग़लती नहीं करूँगा।' क्योंकि वहाँ जाता तो पुलिस पकड़ भी सकती थी! ठीक इसी प्रकार से ये तीन गुण हैं। जैसे एक ने तो कहा 'मार डालो' उसी प्रकार तमोगुण कहता है 'इसको ऐसा मूढ बना दो कि कभी कुछ समझ में ही नहीं आवे'। चार्वाक आदि का यही हाल है। आत्मतत्त्व है - यही नहीं वे लोग मान पाते। ऐसा व्यक्ति आत्मकल्याण के लिये कुछ नहीं कर सकता। रजोगुण कहता है कि 'इसको जन्म-मरण के चक्कर में डाल दो। कभी पुण्य करेगा, कभी पाप करेगा। कभी ऊपर जायेगा, कभी नीचे जायेगा। जान से मारने से क्या फ़ायदा! हम लोगों का यह क्या बिगाड़ सकता है?' रजोगुण मूढ भाव से हटा कर प्रवृत्ति में लगाता है। व्यक्ति पुण्य करता है, पाप करता है, बार-बार जन्मता है, मरता है, स्वर्ग नरक जाता है। धुनाई-पिटाई तो इसकी खुब हो

रही है। परन्तु मरता नहीं है। सत्त्वगुण उसको रास्ता दिखला देता है क्योंकि प्रकाशरूप है। विवेक का रास्ता बतलाता है। उसके द्वारा चल कर के तुम अपने घर पहुँच जाओगे। विवेक के द्वारा जब चलोगे तो अन्त में तुम्हें प्रत्यगात्मा का दर्शन होगा ही, अपने घर पहुँचोगे ही। परन्तु यदि सत्त्वगुण को परमार्थ स्थिति में रखना चाहो तो रहेगा नहीं! बहुत से लोग कहते हैं 'सत्त्वगुण तो अच्छी चीज़ है, यह तो होनी चाहिये।' जैसे वह डाकू रास्ता बताने पर भी गाँव तक नहीं आया, ऐसे ही सत्त्वगुण विवेक ही करायेगा, विवेक स्वयं आत्मज्ञान नहीं करा सकता। आत्मज्ञान तो वेद का महावाक्य ही करवाता है।

इसलिये भगवान् ने कहा कि सात्त्विकादि प्रवृत्तियों को गुणातीत चाहता नहीं। क्योंकि उन्होंने आत्मदर्शन तक पहुँचाया है इसलिये उनसे द्वेष भी नहीं करता। तमोगुण हो, रजोगुण हो, सत्त्वगुण हो, इनमें किसी के प्रति वह द्वेष नहीं करता, वह जानता है कि ये तीनों डाकू हैं। अतः बुद्धि में विवेक आने पर वह खुश नहीं होता है, क्योंकि उसे पता है कि है तो यह भी डाकू ही। सत्कार्य की प्रवृत्ति देखकर भी वह खुश नहीं होता है, क्योंकि वह जनता है कि है तो यह भी डाकू ही। तमोगुण के कार्य को देख कर तो खुशी का प्रश्न ही नहीं उठता है। इन तीनों के प्रति उसको द्वेष नहीं है क्योंकि तीनों ही एक जैसे अनात्मा हैं। और 'न निवृत्तानि कांक्षति'। ये निवृत्त हो जायें ऐसी इच्छा भी नहीं करता। क्योंकि उसके लिये इनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही एक जैसी हैं। वह हमेशा एक कूटस्थ भाव में ही स्थित है। विषयों के प्रति ही नहीं, अन्तःकरण में होने वाले भावों के प्रति भी गुणातीत को राग-द्वेष नहीं होते। प्रवृत्ति हो जाये यह भी वह नहीं चाहता क्योंकि उसे मालूम है कि जो प्रवृत्ति वाला रूप है वह मेरा है ही नहीं। जो विवेकी वाला रूप है वह भी मेरा नहीं है। और मूढभाव तो मेरा नहीं ही है। इसलिये उनके प्रति राग-द्वेष नहीं करता है। जैसे रास्ते में चलते हुए, कोई बढ़िया पेड़ दिखाई देता है फलों से लदा हुआ, किसी के बगीचे में; तो उसके प्रति राग नहीं होता कि 'यह हमेशा ऐसा ही बना रहे ' क्योंकि तुम्हारा तो है नहीं। और कहीं केवल पानी न होने से सूखी हुई घास है, तो उसके प्रति भी द्वेष नहीं होता। 'यह तरो ताज़ा हो जाये' इसके लिये वहीं कमर कस के पानी नहीं देने लगते। जहाँ सम्बन्ध की प्रतीति होती है वहीं राग-द्वेष होते हैं। जब तक हमारी अन्तःकरण से सम्बन्ध की प्रतीति है तब तक तो तमोगुण, रजोगुण का फ़र्क रहता है। परन्तु जब गुणातीत भाव के अन्दर रहते हो, उस समय सत्त्वगुण अन्तःकरण में आया तो, रजोगुण आया तो, तमोगुण आया तो, न उनके प्रति राग होता है, न द्वेष होता है। चूंकि ये मन के धर्म हैं, इसलिये ये अपने आप को ही प्रत्यक्ष होते हैं। अतः ये अपने अन्दर ही प्रतीत होने वाले लक्षण हैं।।२२।।

गुणातीत का लक्षण बतलाया कि सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण में से जो आता है उसमें न वह द्वेष करता है, न उसके प्रति राग करता है। गुणातीत का आचार कैसा है, बाहर कैसा प्रकट होता है यह अब बताते हैं–

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।२३।।

उदासीन-सा रहता हुआ जो गुणों द्वारा विवेकदर्शन से विचलित नहीं होता, 'गुण परस्पर व्यवहार कर रहे हैं' यह जानकर जो निश्चल रहता है, स्वरूपसे च्युत नहीं होता, वह गुणातीत है।

उदासीन का मतलब होता है किसी का पक्ष न लेने वाला। जहाँ दो पक्ष होते हैं, उनमें से किसी एक पक्ष के प्रति यदि तुम्हारा ममता का भाव होता है, तो तुम उदासीन नहीं कहे जाते। व्यवहार में देखा जाता है, कि गाँव में कहीं दो आदमियों का आपस में मतभेद हो, तो कोई व्यक्ति ऐसा होता है जो वहाँ जाकर उन दोनों पक्षों का समझौता करा देता है। परन्तु जब खुद उसके घर में झगड़ा होता है, तब वह समझौता करने में असमर्थ हो जाता है! कई बार लोगों को आश्चर्य होता है कि दुनिया की बात सलटा देता है और घर की नहीं सलटा पाता, उसमें कारण ही है कि दूसरों के पास जब वह जाता है तब दोनों पक्ष उसके लिये एक जैसे हैं। अतः वह ऐसा निर्णय करता है जिसमें दोनों का अभीष्ट फल हो जाये। परन्तु जब अपने घर में होता है तब एक पक्ष तो उसको अपना लगता है और सामने वाले का पक्ष दूसरा लगता है। जिसके प्रति उसकी अपनत्व की भावना है, उसका थोड़ा भी नुकसान उसको बड़ा लगता है और सामने वाले का बड़ा नुकसान भी उसको छोटा लगता है। ऐसा नहीं है कि वह बेईमान है किंतु जिस पक्ष के साथ तादात्म्य करोगे उस की बात तुमको जायज़ ही लगेगी। ऐसी स्थितियों के अंदर आदमी उदासीन नहीं रह पाता है। किसी एक पक्ष के प्रति उसकी भावना अधिक होती है। इसीलिये ठीक निर्णय नहीं कर पाता।

इसी प्रकार से जिस बुद्धि के अंदर शास्त्रीय संस्कार है, उस बुद्धि का हमेशा सत्त्वगुण के प्रति पक्षपात रहेगा। रजोगुण, तमोगुण के प्रति पक्षपात नहीं रहेगा। सत्त्वगुण से ज्ञान और सुख होते हैं, इन दोनों को वह अच्छा मानता है। ठीक इसके विपरीत, जिसके शास्त्रीय संस्कार नहीं होंगे, उसका पक्षपात हमेशा रजोगुण की तरफ रहेगा। उसकी बुद्धि कहेगी 'अरे अच्छा काम है लेकिन खर्च तो समझ कर करना चाहिये, आगे घर भी तो चलाना है।' शास्त्रीय संस्कार से रहित व्यक्ति को लोभ बुरा नहीं लगता। शास्त्रीय संस्कार वाले व्यक्ति को सत्त्वगुण के कारण लगता है कि जितना अच्छा काम हो सके कर लेना चाहिये। शास्त्रीय संस्कार वाली बुद्धि को जो अपना स्वरूप मानेगा, वह हमेशा रजोगुण को हटायेगा, उदासीन नहीं रह सकता है। रजोगुण-तमोगुण आते ही प्रयत्न करेगा कि सत्त्वगुण आवे। सत्त्वगुण आने पर खुश होगा, कि 'बहुत अच्छा हुआ'। रजोगुण की प्रधानता वाला हमेशा किसी भी काम में प्रवृत्ति को अच्छा मानेगा। वह उसको उन्नति लगती है। सत्त्वगुण वाले को उन्नति नहीं लगेगी। सत्त्वगुण या रजोगुण के प्रति उदासीन तो दोनों ही लोग नहीं रह सकते। गुणातीत वह है जिसने इस बात को समझा है कि सत्त्वगुण भी अन्ततोगत्वा बाँधने वाला ही है। तीनों में कुछ बेहतर है- इतना तो ठीक है, लेकिन है तो बंधनकारी ही। अतः

सत्त्वगुण का कार्य भी उसको वैसा ही मिथ्या, फलरहित लगता है जैसा रजोगुण का कार्य। वही उदासीन रह सकेगा। मन में सत्त्वगुण की वृत्ति आने पर उसको कोई प्रसन्नता नहीं होगी। रजोगुण, तमोगुण आने पर कोई दुःख नहीं होगा। इसलिये उदासीन की तरह आसीन रहता है।

'यो गुणैः न विचाल्यते'। 'गुणैः' सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण के द्वारा विचलित नहीं होता। विवेक के कारण ही ऐसा हो पाता है। 'अनात्मा में होने वाले तीनों गुण एक जैसे मिथ्या हैं। मैं आत्मस्वरूप इनसे सर्वथा भिन्न हूँ।' इसमें प्रतिष्ठित रहने से ही वह गुणों द्वारा विचलित नहीं होता। जो गुणातीत है उसको सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण में पता नहीं लगता कि कौन-सा अच्छा है, कौन-सा ठीक है। शास्त्रादि की दृष्टि से देखता है कि सत्त्वगुण अच्छा है परन्तु उसे नहीं लगता कि अच्छा है। अतः सत्त्वगुण आने पर उसके अन्दर कोई प्रसन्नता नहीं आती। उदासीनवत् इसलिये कहा कि कभी दुःख से भी उदासीनभाव आ जाता है। पिता की राय पुत्र न माने तो पिता उदासीन होकर कहता है, 'जैसा जँचे कर लो'। पिता की उस कार्यमें रुचि खत्म हो जाती है, उससे तटस्थ हो जाता है लेकिन मन में दुःख बना रहता है। ऐसी उदासीनता गुणातीत की नहीं, इसे सूचित करने के लिये 'की तरह' कह दिया।

उद् अर्थात् ऊपर उठा हुआ। वह इन गुणों से सर्वथा ऊपर, अलग होकर बैठा रहता है। इसलिये उसको सचमुच ही नहीं लगता कि सत्त्वगुण कुछ अच्छा है, रजोगुण बुरा है, तमोगुण बहुत बुरा है। वह उद् अर्थात् ब्रह्म में आसीन है। इसलिये 'न विचाल्यते'। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के अंदर अमुक गुण हटाओ, अमुक गुण लाओ, ऐसी उसमें हलचल नहीं है- अपनी स्थिति से विचलित नहीं होता। चलने का मतलब होता है एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाना। रजोगुण आने पर रजोगुण से सत्त्वगुण की स्थिति में जाना, विचलित होना है। अथवा विपरीत समझ लो, सत्त्वगुण से रजोगुण में जाना भी विचलित होना है। वह उन गुणों को सर्वथा साक्षिभाव से ही देखता है, उनके साथ अपने किसी सम्बन्ध को छोड़ना रूप विचलन भी नहीं करता। इसलिये कहा 'न विचाल्यते'।

क्यों? क्योंकि जानता है 'गुणा वर्तन्त इत्येव' गुण ही सारा व्यवहार कर रहे हैं। आगे भगवान् सत्रहवें, अठारहवें में बतलायेंगे कि सात्त्विक कर्त्ता ऐसा होता है, राजस कर्ता ऐसा होता है, तामस कर्ता ऐसा होता है। जो गुणातीत है उसे मालूम है कि कर्ता है अहम्, जो अपरा प्रकृति का रूप है। मन बुद्धि और अहम् पर्यन्त सब अपरा प्रकृति है। अहंकार चाहे सात्त्विक हो या राजस-तामस हो, जो अहंकार से भिन्न उसका केवल साक्षी है उसे उससे क्या अंतर पड़ेगा! गुणातीत की दृष्टि में तो सारा व्यवहार गुणों का आपसी खेल है। गुण ही विषय हैं, गुण ही करण हैं। दोनों गुण ही हैं। करणरूप से बने हुए वे अहंकार पर्यन्त स्थित हैं। करणरूप से बने हुऐ गुण ही कार्य विषयरूप से बने हुऐ गुणों के साथ व्यवहार कर रहे हैं। इस से गुणातीत का क्या लेना-देना! गुण आपस में बर्ताव करते हैं। 'एव' अर्थात् इस प्रकार ही वह जानता है। गुणों का व्यवहार हो रहा है- बस इतना ही उसे प्रतीत

होता है, उन गुणों के व्यवहार से उसे कोई मतलब नहीं रहता।

'यः अवतिष्ठते' जो अवस्थित रहता है। अवपूर्वक स्था धातु आत्मनेपदी होता है, यहाँ परस्मैपदी प्रयोग है जिसे भाष्यकारने 'सर्वत्र लघु पंचमम्' नियम के अनुसार छंद के अनुरोध से उपपन्न किया है। भाष्य में 'योऽनुतिष्ठति' ऐसा पाठ भी सूचित किया है। आनंदगिरिस्वामी ने बाधितानुवृत्ति को ही यहाँ अनुष्ठान बताया है। कुछ आचार्य 'यो नु तिष्ठति' यों नु-शब्द का प्रयोग मानते हैं। कैसा भी पाठ हो, अर्थ यही है कि गुणातीत स्थिर रहता है।

'न इंगते' अर्थात् चलता नहीं है। यद्यपि 'न विचाल्यते' से यह कह चुके हैं तथापि चलना दो प्रकार का होता है। एकमें पूर्व स्थान छोड़कर दूसरी जगह जाते हैं, उसको चलना कहते हैं। यहाँ से चले, वहाँ पहुँच गये। दूसरा प्रकार है- बिना स्थान बदले शरीर को हिला सकते हैं। इसको इंगन कहते हैं, स्पंदन भी कहते हैं। 'विचाल्यते' का तो तात्पर्य हो गया, कि गुणों के व्यवहार के साथ वह एक व्यवहार से दूसरे व्यवहार की तरफ जाये ऐसा नहीं होता। राजस आ गया, इसको रोक कर सात्त्विक की तरफ जाये- ऐसा नहीं करता। और 'नेंगते' से बता रहे हैं कि स्वरूप में बैठे हुऐ ही, 'सात्त्विक आया तो अच्छा है' यों ग्रहण नहीं करता। हटाता तो नहीं है क्योंकि विचलित नहीं होता है, लेकिन सात्त्विक के आने पर थोड़ी-सी प्रसन्नता हो सकती है कि अच्छा है, या राजस के आने पर थोड़ा-सा दुःख हो सकता है कि यह अच्छा नहीं है। इसको इंगन के निषेध से मना कर दिया। अर्थात् न तो गुणों को परिवर्तित करता है, और न उनके कारण प्रसन्न या अप्रसन्न होता है। दोनों में है तो बड़ा सूक्ष्म फ़र्क। कोई बहुत ज़्यादा अर्थ का फ़र्क नहीं है। पर फिर भी, दो प्रकार के भावों के अंदर फ़र्क ज़रूर है। एक में है कि वह उसमें किसी परिवर्तन को करने में प्रवृत्त नहीं होता। और दूसरे में, 'यह हो ही नहीं रहा है। उस अधिष्ठान के अन्दर कल्पित ही है' ऐसी बाधितानुवृत्ति मात्र चलती रहती है। जैसे ही सत्त्वगुण रजोगुण आदि के कार्य को देखता है, वैसे ही, तुरंत, उसी समय वृत्ति बन जाती है कि 'ये बिना हुऐ दीख रहे हैं'।

उदासीनतुल्यता, अविचलन, अनिंगन सर्वथा मानस प्रत्यक्ष हैं। अपने लिये तो अपरोक्ष हैं। दूसरे में उसके मुखादि के विकारों से ही इनका अन्दाज़ लग सकता है। जो अत्यन्त उच्च कोटि का साधक है उसमें और सिद्ध में बाहर के आचरण से फ़र्क नहीं कर सकते। परन्तु स्वयं इस फ़र्क को जानते हैं। 'दीखने पर विवेक से मैंने विचलन या इंगनको काटा।' अथवा 'दीखा ही नहीं।'- यह फ़र्क स्वसाक्षिक ही है। सिद्ध बाध *करता* नहीं है। ठीक जिस प्रकार से मोटर चलाने वाला, 'गाड़ी की अब यह गति हो गई, इसलिये इस नम्बर का गेयर लगावें' ऐसा कुछ सोचता नहीं है। उसके हाथ का अभ्यास ऐसा पड़ा हुआ है कि अपने आप ही गेयर बदलते रहते हैं। इसी प्रकार सिद्ध का जगत् का बाध इतना हो गया है कि प्रतीति होते ही तुरन्त बाध हो जाता है। साधक को तो थोड़ा-बहुत स्वरूप का विचार करके जगत् का बाध करना पड़ता है। साधक चाहे जितना उच्च होवे, उसको थोड़ा-सा तो प्रयत्न करना

पड़ता है। अभ्यास हो गया है इसलिये कोई बहुत ज़्यादा नहीं करना पड़ता, लेकिन किंचित् होता ही है। सिद्ध में बाधितानुवृत्ति होने पर वह किंचित् प्रयास भी नहीं है, सीधे ही बाधित दीखता है। ऐसे समझ लोः फोटो में पिता जी दीखते हैं तो कभी क्षणभर को ऐसा नहीं लगता कि 'यह पिता जी हैं।' क्योंकि दृढ बोध है कि कागज़ के ऊपर फोटो है। यह बाधितानुवृत्ति हुई। और कभी अहमदाबाद में अक्षरधाम जाओ। उन्होंने अपने गुरु जी की प्लास्टर आफ पेरिस से मूर्ति बना रखी है। वहाँ उन्होंने एक रिकार्ड भी चला रखा है, उनका मुँह भी थोड़ा-थोडा हिलता है और हाथ भी थोड़ा हिलता है। कमरे में जाते ही, देखते ही पहले तो लगता है, कि स्वामी जी बैठे हुऐ हैं। उसी समय याद आता है कि इनको तो मरे हुऐ इतने साल हो गये! फिर पास जाते हो और जानते हो कि मूर्ति ही है। जैसे वहाँ किंचित् लगा लेकिन तुरन्त याद आ गया कि ज़िन्दा व्यक्ति नहीं है, वैसे साधक को किंचित् प्रतीति होने के बाद, वह उसे हटाता है। और जैसे चित्र में क्षणभर को भी 'पिता जी हैं' नहीं लगता, ऐसे सिद्ध को क्षणभर को भी गुणों में आत्मबुद्धि नहीं होती।।२३।।

गुणातीत के और भी लक्षण बतलाते हैं-

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

दुःख-सुख जिस में राग-द्वेष नहीं पैदा कर पाते, जो आत्मनिष्ठ रहता है, मिट्टी का लौंदा पत्थर व स्वर्ण- सब को जो एक-सा तुच्छ समझता है, प्रिय-अप्रिय जिसके लिये बराबर हैं, अपनी प्रशंसा व निन्दा दोनों जिसे अपने से एक जैसी असम्बद्ध लगती हैं, ऐसा बुद्धिमान् गुणातीत कहा जाता है।

सुख और दुःख दोनों उसके लिये एक जैसे हैं। एक जैसे का मतलब यह नहीं समझना कि उसको पता ही नहीं लगता कि यह सुख और यह दुःख है; परन्तु जानता है कि सुख-दुःख दोनों ही गुणों के अन्दर होते हैं इसलिये एक जैसे मुझ से असम्बद्ध हैं, माया के कारण कल्पित प्रतीत हो रहे हैं। नाटक में अभिनेता को प्रसन्न या दुःखी देखते हुए भी दर्शक जानता है कि वह न प्रसन्न है न दुःखी। या नेता लोग जब किसी दुर्घटना आदि के स्थलपर कहते हैं 'हमें हार्दिक पीडा है', तब लोग जानते हैं कि उन्हें कोई पीडा नहीं है; जैसे वहाँ सुख-दुःख दीखने पर भी क्योंकि मालूम है कि नहीं है, इसलिये होना-न होना बराबर है, वैसे गुणातीत के लिये सुख-दुःख बराबर हैं। दुःख और सुख के प्रति उसके लिये समान भाव है। दुःख को दुःख जानता है। सुख को सुख जानता है। परन्तु दोनों को एक जैसा जानता है कि ये तो गुणों का विकार हैं, दोनों एक जैसे डाकू हैं, बन्धक हैं, बन्धन के कारण हैं। दुःख से सुख ज़्यादा बन्धन करने वाला हो जाता है। यदि कर्कशा पत्नी मिल जाये, रोज़ सवेरे से शाम तक झगडा़ करती रहे, तो घर छोड़कर साधु बनना ज़्यादा सरल है। और पत्नी सवेरे उठकर के गरम पानी कर देवे, कपडे धोकर तैयार रखे, भोजन मन

का बनावे, रात को पैर दबावे, सब घर का कार्य बड़ी अच्छी तरह से करे; तो ऐसी पत्नी को छोड़कर साधु बनना बड़ा मुश्किल है। गुणातीत इस बात को जानता है कि सुख और दुःख एक जैसे बन्धन हैं इसलिये दोनों के प्रति वह समान रहता है।

सुख की तरफ प्रवृत्ति स्वाभाविक है। लोग कहते भी हैं कि सुख संसार में कौन नहीं चाहता? आखिर भगवान् को भी क्यों चाहते हो? इसीलिये चाहते हो कि भगवान् की प्राप्ति से सुख होगा। इसलिये भगवान् के अनेक रूपों की उपासनायें हैं लेकिन यमरूप की उपासना कोई नहीं करता! सुख के प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण है इसका मूल कारण क्या है? वेदान्त कहता है आत्मा का स्वरूप आनन्द है। सुख और आनन्द में फ़र्क समझना। संस्कृत में 'ख' का मतलब इन्द्रियाँ है। इंद्रियों को जो अच्छा लगता है वह सुख है। और इंद्रियों को जो बुरा लगता है, वह दुःख है। जीभ कड़वा नहीं चाहती, अतः कड़वा खाना पड़ता है तो दुःख होता है क्योंकि जीभ को जो अच्छा लगे उससे सुख होता है। इसी प्रकार से बड़ा सुन्दर दृश्य देखने में आया तो आँख को बड़ी प्रसन्नता होती है, आँख को अच्छा लगता है, और क्रूर रूप देखकर दुःख होता है। इसी प्रकार मधुर शब्द सुनकर सुख होता है, कर्कश शब्द सुनकर दुःख होता है। ये सब इद्रियों से होने वाले सुख-दुःख हैं। इन्द्रियों के द्वारा होने पर भी सुख के प्रति आकर्षण क्यों? आत्मा का स्वरूप आनन्द है जो सुख की जाति का है। फ़र्क केवल यह है कि इन्द्रियों के साथ जब एक होते हो तब तो आँख से देखने पर, कान से अच्छा संगीत सुनने पर, आँख-कान के साथ एक होकर उनके सुख से सुखी हो जाते हो। लेकिन प्रकट तो तुम्हारा आनंद भाव ही होता है। इन्द्रियों के सुख-दुःख के प्रति सम होने पर तुम अपने आनन्दरूप में स्थित हो। उपनिषदों में आनन्द की श्रेणियाँ बतायी हैं- एक मानुष आनन्द कितना है, उससे सौ गुणा आनन्द किसका है, इत्यादि। मनुष्य से ब्रह्मा तक के आनंदों में तो तारतम्य कहा लेकिन हर आनंद उसे एक जैसा प्राप्त बताया जो उस आनन्द के प्रति निष्काम वेदवेत्ता है! श्रोत्रिय होने से वह संसार को मिथ्या जानता है अतः पदार्थों की उसको कामना है नहीं जिससे वह आनन्द उसको पहले ही प्राप्त है। आनन्द रूप में स्थित होने से वह सुख और दुःख के प्रति एक जैसा है क्योंकि उस आनन्द के सामने इन्द्रियों से होने वाला सुख बिलकुल तुच्छ लगता है। जैसे बदाम का हलुआ खाने को मिले, तो गुड़-घी डाल कर चावल कौन खायेगा! यदि कोई मिठाई है ही नहीं घर में, तो आदमी कहता कि 'भाई! चावल के साथ थोड़ा घी और बूरा दे दो।' परन्तु बदाम का हलुआ मिल रहा है तो कौन गुड़-घी डाल कर चावल खायेगा! इसी प्रकार अपने ब्रह्मानंद में जो स्थित है वह इन्द्रियों के सुख से कैसे आकृष्ट होगा! इसलिये कहा 'स्वस्थः समदुःखसुखः' इसका मतलब यह नहीं है कि सुख को सुख नहीं समझता, दुःख को दुःख नहीं समझता, वरन् मतलब है कि उनके प्रति समान है क्योंकि स्वस्थ है; अपने आनन्दरूप में स्थित है।

जैसे सुखादि के प्रति एक जैसा है, वैसे ही 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'। 'लोष्ट' मिट्टी के लोंदे को कहते हैं। 'अश्म' पत्थर के टुकड़े को कहते हैं। काञ्चन सोने को कहते हैं। तीनों ही

उसके लिये एक जैसे हैं। गोरखनाथ जी एक बार लंका गये। लंका तो सोने की बनी हुई थी। वहाँ हर एक ईंट सोने की थी। श्रीलंका की बात नहीं सोचना, रावण की लंका की बात सोचना। वापिस आ रहे थे तो चेले ने सोचा कि 'यहाँ इतना सब सोना बेकार पड़ा है, थोड़ा-सा ले चलें, कभी काम आयेगा'। उसने एक ईंट को अपने झोले में रख लिया। जब आ गये वहाँ से तो कहीं उसको जाना हो तो कहे 'गुरु जी! ज़रा थैला रखा है।' दो तीन दिन हो गये। गोरखनाथ जी का माथा ठनका की बार-बार 'थैला रखा थैला रखा' क्यों बोलता है? क्या बात है? उन्होंने खोल कर देखा कि इसमें क्या है तो सोने की ईंट थी। तब उन्होंने सोचा कि 'यह कितना बेवकूफ निकला।' कहा कुछ नहीं। वहाँ से कुछ आगे चले तो उनको पेशाब आ गया। उन्होंने शिष्य से कहा कि 'ज़रा मैं पेशाब करके आता हूँ।' वहाँ जो चट्टान थी, उनके पेशाब करने से वह सारी सोने की हो गई! उन्होंने वापस आकर अपने चेले से कहा 'अरे ये दो बूँद पेशाब को लेकर क्यों चल रहा है?' जो लघुशंकामात्र से स्वर्ण को पैदा कर देता है, उसको क्या स्वर्ण की ईंट लेकर चलने की प्रवृत्ति हो सकती है? वह जानता है कि जहाँ भी पत्थर हो, मिट्टी हो, उसको उसी समय सोना कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार से जो स्वस्थ पुरुष है, आत्मा में स्थित पुरुष है, वह जानता है कि चाहे मिट्टी हो, चाहे पत्थर हो, जिस समय हमारा स्वर्ण का प्रारब्ध उदय होगा, उस समय स्वर्ण उपलब्ध है ही। अन्यथा, चाहे जितना स्वर्ण इकट्ठा कर लो, तुम्हारी ज़रूरत पर तुम्हारे काम नहीं आयेगा। बहुत से लोगों को जानते हैं, करोड़पति हैं। चाहें तो रोज़ एक किलो घी खावें। पर डाक्टर ने कह रखा है 'खून में चिकनाई ज़्यादा है, कभी भी दिल का दौरा पड़ सकता है। घी से बचना।' खा तो सकता है पर बेचारा सूखा फुलका, छिलके वाली मूंग की दाल में डाल कर खाता है! प्रारब्ध न होने पर पदार्थ होने पर भी तुम्हारे लिये व्यर्थ है। और, तुम्हारे घर में चावल भी समाप्त हो गया है, किसी दोस्त के यहाँ जाते हो, वह बादाम का हलुआ खिला देता है। तुम्हारे पास तो नहीं था परन्तु तुम्हारे प्रारब्ध को देना था तो उसने बादाम का हलुआ दे दिया। साधारण व्यक्ति प्रारब्ध के इस रूप को नहीं जानता है इसलिये सोचता है कि मिट्टी और चीज़ है, सोना और चीज़ है। किंतु स्वस्थ जानता है कि जिस समय प्रारब्ध जिस चीज़ को लाना चाहेगा, वह लायेगा ही। इसलिये मिट्टी का लोंदा हो, पत्थर हो, या स्वर्ण हो, कोई उसे फ़र्क नहीं पड़ता है। फ़र्क नहीं- का मतलब यह नहीं कि उसको फ़र्क दीखता नहीं है। लेकिन यह कि मेरे लिये प्रयोजन शून्य है। मेरा कोई प्रयोजन ये सिद्ध कर नहीं सकते। और प्रारब्ध का प्रयोजन सिद्ध करना होगा तो प्रारब्ध अपने आप ले आयेगा'-यह उसका निश्चय है।

'तुल्यप्रियाप्रियः' इसी प्रकार से प्रिय और अप्रिय के प्रति तुल्य है। सुख-दुःख से तो इन्द्रियों को ले लिया, लोष्टाश्मकाञ्चन से विषयों को ले लिया, प्रिय और अप्रिय से मन की वृत्तियों को ले लिया। क्योंकि मन के संस्कारों के कारण कोई चीज़ प्रिय लगती है, कोई चीज़ अप्रिय लगती है इसलिये हिन्दी में भी कहते हैं कि किसी आदमी को तो बैंगन अप्रिय लगता है और किसी

को बैंगन अत्यन्त प्रिय लगता है। जिसको बैंगन अप्रिय लगता है उसकी समझ में नहीं आता कि बैंगन में है क्या जो खायें! इसलिये अकबर-बीरबल की बात आती है कि एक बार बीरबल ने बैंगन का साग बनाया था। अकबर को पसंद आया, बोला 'बैंगन बहुत बढ़िया चीज़ है' बीरबल ने कहा 'हाँ हुजूर इसीलिये भगवान् ने उसके सिर पर ताज रख दिया है।' बैंगन के सर के ऊपर होता है ताज जैसा। दो-एक घण्टे के बाद अकबर के पेट में बैंगन ने वायु कर दी। उसके पेट में तकलीफ होने लगी। अकबर ने कहा कि 'अरे! बैंगन बड़ी बुरी चीज़ है। वायु करती है, बड़ा दुःख देती है।' बीरबल ने कहा 'हाँ हुजूर बिलकुल बेकार चीज़ है। इसीलिये तो भगवान् ने उसको काला बना दिया!' कोई व्यक्ति बैठा हुआ था, उसने कहा 'अरे! घण्टे भर पहले तू इसकी तारीफ कर रहा था!' उसने कहा, 'मैं बैंगन का नौकर थोड़े ही हूँ। मैं तो बादशाह का नौकर हूँ।' ठीक इसी प्रकार से ज्ञानी की बुद्धि है। जब प्रारब्ध प्रियता का पदार्थ लाता है तब कहता है, 'बहुत अच्छा। कोई चीज प्रिय होवे तो कितना सुख देती है।' जब अप्रिय आता है, तब कहता है,'कितनी बढिया चीज़ है, इसी से तो फिर वैराग्य होता है।' चीज़ों के अंदर प्रियता न होवे तो झट वैराग्य होता है। यदि कोई पूछता है कि 'अभी तो आप प्रिय को अच्छा कह रहे थे। अब अप्रिय को अच्छा कह रहे हैं?' तो ज्ञानी का जवाब होता है कि 'भाई! जब तक हम शरीर में हैं तब तक प्रारब्ध के आधीन हैं। प्रारब्ध प्रियता का अनुभव कराना चाहता है तो वह भी वाह-वाह है। प्रारब्ध के नौकर हैं। और अप्रियता का अनुभव कराता है तो वह भी वाह-वाह है। प्रारब्ध गुणों को चाहे जैसा चला दे। हमें तो प्रारब्ध से मतलब है, हमें उस चीज़ से थोड़े ही मतलब है।' इसलिये कहा प्रिय और अप्रिय जो मन का अनुभव है वह भी एक जैसा रहता है।

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।' इसी प्रकार से चाहे कोई निंदा करे, चाहे स्तुति करे, दोनों एक जैसे है। निंदा करता है तो किस की करता है? शरीर मन की ही निन्दा कर सकता है, और किस की निन्दा कर सकता है! आत्मस्वरूप तो निर्गुण है, उसकी निंदा हो नहीं सकती। निष्क्रिय है, उसकी निंदा हो नहीं सकती। न गुणों से निंदा हो सकती है न क्रिया से निंदा हो सकती है। इसलिये शरीर,इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि का जो यह स्थूल-सूक्ष्म शरीर है, उसी की निंदा होगी। उसकी निंदा हमारे लिये अच्छी ही है। हम लोगों को भी तो बार-बार इस कार्यकरणसंघात से अपने को हटाने के लिये उसकी बुराई को देखना पड़ता है। अन्यथा तो वहाँ से मन हटेगा ही नहीं। इसलिये निंदा करता है तो कोई बुरी बात नहीं है, हम भी इसकी निंदा ही करते हैं। और शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि की यदि वह स्तुति करता है, प्रशंसा करता है, तो अच्छा है ही। निंदा और स्तुति, दोनों जिस की हो रही हैं वह कार्यकरणसंघात है, उससे मैं सर्वथा भिन्न हूँ इसलिये उनकी स्तुति और उनकी निन्दा से मुझे क्या फ़र्क पड़ता है! जैसे हिन्दुस्तान में रहने वाले को बुश साहब की वहाँ के लोग बड़ी स्तुति करें तो कोई मन में प्रसन्नता नहीं होती, बड़ी निन्दा करें तो दुःख नहीं होता, क्योंकि उनसे अपना कोई मतलब नहीं। परन्तु हमने जिस नेता को वोट दिया हो उसकी कोई स्तुति करे

तो अच्छा लगता है, निंदा करे तो बुरा लगता है क्योंकि उससे अपना सम्बन्ध है; ऐसे ही गुणातीत जानता है कि निंदा और स्तुति होगी वह कार्यकरणसंघात की होगी, जो मुझ से सर्वथा भिन्न है, इसलिये मेरे लिये दोनों तुल्य हैं। 'आत्मा' अर्थात् आत्मत्वेन गृहीत, जिसे आत्मा के रूप में स्वीकार रखा है। उसकी स्तुति या निंदा हो, गुणातीत के लिये बराबर है। एक नियम है कि द्वंद्व समास के आदि में, मध्य में या अंत में जो शब्द आते हैं उनका सब से सम्बन्ध हो सकता है। इसलिये यहाँ पर आत्मनिन्दा और आत्मसंस्तुति, ऐसा अर्थ समझना। क्योंकि उसे देहादि में आत्मबुद्धि रह नहीं जाती और स्वस्थता के कारण इन से सम्बन्ध भी नहीं रहता, इसलिये इनकी निंदा-स्तुति उसे समान लगती हैं। इसीलिये भगवान् ने इन सब लक्षणों में हेतु बताते हुए कह दिया 'धीरः' अर्थात् परमार्थ बुद्धि से सम्पन्न। इसी बुद्धि के बल पर वह स्वस्थ और सम रहता है ।।२४।।

गुणातीत के आचार को बतला रहे हैं। उसे ही स्पष्ट करते हैं-

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।२५।।

जो मान-अपमान में निर्विकार, मित्र-शत्रु पक्षों के प्रति तुल्य, सब आरम्भ छोड़ने के स्वभाव वाला हो वह गुणातीत कहलाता है।

पहले बतलाया था निंदा व स्तुति के अंदर एक जैसा रहता है। निंदा और स्तुति एक तरह से वाणी से होने वाला मान अपमान ही है। फिर भी यहाँ 'मानापमानयोः' कह रहे हैं क्योंकि शब्द से अतिरिक्त शरीरादि के व्यवहार से भी मान-अपमान का बोध कराया जा सकता है। इसलिये निंदा और स्तुति से अतिरिक्त जो मान और अपमान का तरीका है, उसमें निर्विकारता कह रहे हैं। मान किसका होगा? शरीर-मन का होगा, अपना होगा नहीं। इसलिये दोनों में तुल्य रहता है अर्थात् निर्विकार रहता है। मान से उसको यह बोध नहीं होता कि मुझ में कोई अतिशय आ रहा है, और अपमान से यह नहीं होता कि मुझ में कोई खराबी आ रही है। शाब्दिक मान-अपमान तो स्तुति-निंदा से बताये, अन्य तरह से मानादि की अभिव्यक्ति के कारण विकार को प्राप्त न करना यहाँ कह दिया। मान और अपमान क्योंकि मेरा है नहीं, और दूसरे के मान-अपमान से अपने में कोई विकार आता नहीं इसलिये गुणातीत मानापमान में एक-सा रह जाता है।

'मित्रारिपक्षयोः तुल्यः'। पहले कह आये हैं कि वह उदासीन रहता है अर्थात् किसी पक्ष की तरफ जाता नहीं। फिर यहाँ 'मित्रारिपक्षयोस्तुल्यः' क्यों कहा? अपनी दृष्टि से किसी को मित्र और अरि अर्थात् शत्रु पक्ष वाला नहीं समझता, यह तो उदासीन भाव से कह दिया। परन्तु दूसरों की दृष्टि से कोई मित्र और कोई अरि हो सकता है, उनके प्रति समभाव रखता है, यह तात्पर्य है। दूसरे की दृष्टि से, अर्थात् गुणातीत तो किसी को मित्र या शत्रु नहीं मानता क्योंकि उदासीन है, लेकिन दूसरे लोग कल्पना कर लेते हैं कि देवदत्त इसका मित्र

है, यज्ञदत्त इसका शत्रु है। किंतु लोगों की इस कल्पना के कारण भी गुणातीत कोई पक्षपात नहीं करता, समान रहता है, यह भाव है। दुसरों की दृष्टि में मित्र की तरह जिसको समझा जाता है या अरि की तरह जिसको समझा जाता है, उनके प्रति भी उसकी तुल्य भावना ही रहती है। मित्र वह होता है जो अपनी सहायता करे। अरि वह होता है जो अपना नुकसान करे। सिद्ध की दृष्टि में तो उसके पक्ष का, या विरोध करने वाला कोई नहीं है। शरीरादि का मित्र या शत्रु हो सकता है, सिद्ध शरीर से ही उदासीन है तो शरीर के मित्रादि को अपना मित्रादि समझ ही नहीं पाता। फिर भी जो हमारे शरीर की हानि करे, मन की हानि करे उसको दूसरे लोग हमारा अरि समझते हैं। ऐसे में गुणातीत तुल्य दृष्टि रखता है कि दूसरा उसे मेरा मित्र समझता है, इतने मात्र से मैं उसके प्रति अलग व्यवहार करूँ यह ठीक नहीं। वह तो सम ही रहता है। बहुत से लोग यह देख कर के कि 'अगर हम इसका पक्ष लेंगे, तो चूंकि हमारे शरीर मन को यह लाभ पहुँचाता है इसलिये लोग सोचेंगे कि हम मित्र का पक्षपात कर रहे हैं', इसीलिये उसकी तरफ ध्यान नहीं देते। अर्थात् उसकी उपेक्षा या तिरस्कार उचित मानकर नहीं, वरन्'लोग क्या समझेंगे' यह सोचकर करते हैं। ऐसे ही किसी का सत्कार भी इसीलिये करते हैं कि 'लोग उसे मेरा शत्रु मानते हैं, मैं दोस्ताना व्यवहार करूँ ताकि लोग यह न समझें कि मैंने इसकी उपेक्षा की'। गुणातीत की दृष्टि में तो कोई मित्र और अरि नहीं है, परन्तु दूसरों के अभिप्राय से जो मित्र और अरि हैं उनमें जानबूझ कर भेदभाव करे-ऐसा वह गुणातीत नहीं करता, क्योंकि उसको इस बात की चिंता नहीं है कि दूसरे मुझे गुणातीत समझें। इसलिये कहा 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः'। अथवा जैसे मित्र उससे द्वेष नहीं करते ऐसे शत्रु भी उससे द्वेष नहीं करते-यह अर्थ है।

'सर्वारम्भपरित्यागी।' दृष्ट प्रयोजन के लिये या अदृष्ट प्रयोजन के लिये जो कर्म किया जाता है वह उस प्रयोजन के दृष्टि में आने पर प्रारम्भ किया जाता है इसलिये उसको आरम्भ कहते हैं। दृष्ट- इस लोक में होने वाली चीज़ें, अदृष्ट- परलोक में होने वाली चीज़ें; इस लोक के प्रयोजन के लिये या परलोक के प्रयोजन के लिये जिस कर्म को या उपासना को प्रारम्भ किया जाये, वह हुआ आरम्भ। सर्वारम्भ अर्थात् न दृष्ट प्रयोजन के लिये कर्म आरम्भ करता है, न अदृष्ट प्रयोजन के लिये। 'सर्वकर्म' नहीं कहकर के 'सर्वारम्भ' क्यों कहा? यह बतलाने के लिये कि शरीर-मन से प्रारब्धभोग के लिये तो प्रवृत्ति हो जायेगी, उसको कराने वाला प्रारब्ध है। किंतु दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन के लिये वह नहीं शुरू करेगा। प्रारब्ध के भोगमात्र के लिये जो संस्कार की प्रवृत्ति है, उस प्रवृत्ति को छोड़ करके अपनी तरफ से कोई कर्म प्रारम्भ नहीं करता। इसलिये 'कर्म' न कह करके 'आरम्भ' कहा। अदृष्ट प्रयोजन से अनुष्ठानादि और दृष्ट प्रयोजन से नयी योजनायें प्रारंभ नहीं करेगा। केवल प्रारब्ध का भोग करता है।

एक महात्मा भ्रमण करते हुए कहीं जा रहे थे। इतने में एक हाथी आया और उसने उनके गले में माला डाल दी। हाथी के साथ जो लोग थे, वे सब महात्मा जी की जय-जयकार

करने लगे। महात्मा जी को समझ में नहीं आया कि क्या बात है। उन्होंने पूछा 'क्या बात है?' लोग बोले 'जी आप हमारे राजा हो गये।' 'मैं कैसे राजा हो गया?' बोले कि 'हमारे देश में नियम है कि जब राजा मर जाता है तब हाथी को एक माला दे देते हैं, और हाथी जिसके गले में माला डाल दे वही हमारा राजा हो जाता है।' महात्मा ने सोचा कि यह तो विचित्र मामला हो गया। चलो, जैसा प्रारब्ध का भोग।लोग उनको ले गये। सुगंधित जल से स्नानादिकर बढ़िया से बढ़िया राजसी कपड़े पहनाये। उन्होंने कहा 'एक पेटी ले आओ।' पेटी आ गई। उन्होंने अपना कमंडलु और अपनी लंगोटी उसके अन्दर रख दिये, ताला बंद कर दिया, चाबी ठीक जगह, जहाँ कोई छेड़छाड़ नहीं करे, रख दी। राज्य करने लगे। राज्य अच्छा चल रहा था। अड़ौसी-पड़ौसी राज्यों को पता लगा कि 'अरे! बाबा जी राजा बन गये हैं, इन्हें कोई युद्ध करना तो आता नहीं है।' पडौ़सी राजा ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया। खबर आ गई कि आक्रमण हो गया है। सब को राजा से पूछना ही था कि क्या करें। राजा से जाकर कहा कि 'पडौ़सी ने आक्रमण कर दिया है पर घबराने की कोई बात नहीं है, हमारी फौज भी अच्छी है। हमारे पास अस्त्र शस्त्र भी अच्छे हैं। उसको हरा देंगे। कोई बडी़ बात नहीं है।' उन्होंने कहा 'हराओगे तो सही पर लोग मरेंगे। युद्ध में यह तो होता ही है। इसलिये खबर भेज दो कि उस राजा से ज़रा हम मिलना चाहते हैं लड़ाई लड़ने से पहले।' खबर भेज दी। सामने वाले राजा ने सोचा कि महात्मा डर गया होगा, बिना लडा़ई के ही शायद जीत हो जाये। महात्मा उससे मिलने आये। उससे पूछा 'तुम हमारे ऊपर क्यों चढा़ई करना चाहते हो? तुम राजा बनना चाहते हो या मंत्री- चौकीदार बनना चाहते हो?' उसने कहा 'इसमें क्या पूछने की बात है! मैं राजा हूँ तो राजा बनना चाहता हूँ।' महात्मा बोले 'यह बात पक्की है न? हमारे किसी मंत्री से तो तुम्हारा कोई लड़ाई- झगड़ा नहीं है, किसी कार्यकर्ता से कोई लड़ाई- झगड़ा नहीं है?' वह बोला 'नहीं, उनसे कुछ विरोध नहीं है।' वे बोले 'मैं तुम को राज्य दे देता हूँ लेकिन यह शर्त है कि किसी मंत्री को इधर-उधर नहीं करोगे। किसी कार्यकर्ता को इधर-उधर नहीं करोगे। जैसा हमारे यहाँ नियम से राज्य चलता है वैसे चलेगा।' उसने कहा 'हाँ, इसमें क्या बात है! मैं तो राजा ही बनना चाहता हूँ।' वापिस आकर महात्मा ने सब को बुलाया और कहा, 'मैंने उससे बात कर ली है, वह केवल राजा बनना चाहता है। तुम लोगों को नहीं हटायेगा। यहाँ के किसी नियम के खिलाफ भी कार्य नहीं करेगा। सबको अच्छी तरह से रखेगा। मुझे तो राजा बनने का कोई शौक नहीं। मैं उसको राजा बना देता हूँ। तुम्हारा जब राजा था नहीं तब तुमने हमको फँसा दिया था। अब तुम्हें राजा मिल रहा है तो हमारा कार्य खत्म।' उन्होंने अपना संदूक खोला, कमंडलु और लंगोटी निकाली, राज्य के वस्त्र इत्यादि जितने थे वे सारे छोड़कर, उस राजा का अभिषेक करके चल दिये।

जैसे उस प्रारब्ध ने उनको राजा बना दिया तो राजा बन गये परन्तु आगे राजा बने रहने के लिये आरम्भ करना बेकार समझा, वैसे गुणातीत प्रारब्ध भोगने पर भी आरंभ नहीं करता

इसलिये कहा 'सर्वारम्भपरित्यागी'। इसलिये आचार्य कहते हैं 'देहधारणमात्रनिमित्तव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः।' देहधारण के लिये अनिवार्य कार्य छोड़कर अन्य कार्य नहीं करता। देहधारण कराने वाला कौन है? प्रारब्ध है। प्रारब्ध के धागे से ही यह शरीररूप कपड़ा बना हुआ है। इसलिये देहधारण, प्रारब्ध का प्रयोजन है। देहधारणमात्र अर्थात् प्रारब्धभोगमात्र के लिये अनिवार्य कार्य वह कर लेता है। अर्थात् यदि भूख लगी है तो ज़रूर भोजन करता है। कोई कहे 'यह भी क्या दृष्टफल कर्म नहीं है?' इसका दृष्ट फल इसलिये नहीं है कि हम भोजन करेंगे तो जीयेंगे ऐसा नहीं है। हमारा जीवन शेष है इसलिये प्रारब्ध हमें भोजन खिलायेगा। अगर हम प्रारब्ध का विरोध करेंगे तब आरम्भ होगा। एक महात्मा अपने शिष्य से हमेशा कहते थे कि 'हर चीज़ प्रारब्ध के भोग के अनुसार होती है। तुम इतनी सब चिन्ता व्यर्थ करते हो।' वह भक्त मानता नहीं था। बार-बार उसको समझावें, पर वह नहीं समझा। उन्होंने कहा 'अच्छा, आज से एक महीने के बाद अमुक तिथि को, तेरे प्रारब्ध के अनुसार तुझे हलुआ पूड़ी खाना है। खूब कोशिश कर लेना कि हलुआ पूड़ी खाने को न मिले।' उसने कहा 'ठीक है। इसमें क्या है! बड़ी सरल बात है, नहीं खाना तो अपने हाथ में है।' जब वह दिन पास आया तो उसने घर में कह दिया 'आज सिवाय खिचड़ी के कुछ नहीं बनाना।' उसके बाद भी उसने सोचा 'कोई और आकर के निमंत्रण दे दे तो खाने को जाना पड़ेगा। वह भी ठीक नहीं।' अतः सवेरे ही निकल कर श्मशान में चला गया कि यहाँ तो कोई खाने-पीने का काम है ही नहीं। दिन भर श्मशान में बैठा रहा। कुछ नहीं खाया। जब रात हुई, थोड़ा डर लगने लगा। तो पेड़ पर चढ़ गया। भूत प्रेत का डर लगता ही है। थोड़ी देर के बाद देखता है कि तीन डाकू आये। उन लोगों ने कहीं से माल लूटा था। सब माल रख कर आपस में बातें करने लगे। तीनों अपना-अपना हिस्सा बाँटने लगे। बाँटने के काम में ज़रा देरी लगती ही है। एक ने कहा 'आज कुछ खाया हुआ नहीं है, पहले कुछ खा लें'। एक को कहा 'तुम बाज़ार से जाकर कुछ ले आओ।' इस बीच में जब वे लोग बाँटने का काम कर रहे थे तब शिवा बलि करने के लिये कोई हलुआ पूड़ी लेकर आया, वहाँ रख कर चला गया। डाकू भोजन लेने चला तो थोड़ी दूर आगे चलने पर वहाँ हलुआ पूड़ी देखा। उसने सोचा बाज़ार में जाकर क्यों लायेंगे, यहाँ हलुआ पूड़ी रखा ही हुआ है। छूकर देखा तो गरम-गरम था, सोचा, इसी से काम हो जायेगा, तो लेकर गया। जो वृद्ध डाकू था, उसने कहा, 'अरे इतनी जल्दी कहाँ से ले आया? बाज़ार तो दूर है।' बोला 'यहीं रखा हुआ था पत्तल में, तो मैंने सोचा बाज़ार जाकर क्या करूँगा। यहीं गरम-गरम हलुआ पूड़ी है।' खाने को तैयार होने लगे तो उस वृद्ध ने समझाया कि 'अरे! इस समय यहाँ पर कहाँ से आयेगा? हो सकता है कोई हम लोगों का भी दुश्मन होवे, उसने सोचा हो कि 'जहर देकर हलुआ पूड़ी रख दो। ये लोग खायेंगे और मर जायेंगे, फिर वह धन ले जायेगा। इसलिये ऐसे नहीं खाना चाहिये'। उन्होंने सोचा कि रख कर इधर-उध ार कहीं छिप गया होगा। चारों तरफ ढूँढने लगे, कहीं कोई मिला नहीं। एक व्यक्ति के मन में आया कि कहीं पेड़ पर न चढ़ा हो। वह पेड़ की तरफ प्रकाश डालने लगा। वह भक्त दीख गया! अब उन्होंने समझा कि बूढ़े ने ठीक ही कहा था। उन्होंने कहा 'अरे तू कौन है?' वह बोला 'मैं अमुक

गाँव का रहने वाला हूँ।' 'यहाँ क्या कर रहा है?' 'यहाँ तो ऐसे ही बैठा हूँ।' 'यह हलुआ पूड़ी तूने रखा है?' 'नहीं जी, मैंने नहीं रखा।' 'तो उतर कर नीचे आ' उसने कहा 'मै नहीं उतर कर नीचे आऊँगा।' उनको और बहम पक्का हो गया कि नहीं उतर कर नीचे आ रहा है, कोई–न–कोई बात है, दाल में काला है। उन्होंने कहा 'उतर कर आ, नहीं तो खींच कर पटकते हैं नीचे।' एक जना ऊपर चढ़ने लगा रस्सी लेकर, बेचारे ने सोचा कि अगर पटका तो हाथ पैर टूटेंगे, कहा 'अच्छा मैं उतरता हूँ।' उतर कर आया। उन्होंने कहा 'खा हलुआ पूड़ी।' उसने कहा 'मैं हलुआ पूड़ी नहीं खाउँगा।' 'अच्छा ! जहर हमारे लिये है! खुद थोडे ही खायेगा। खा, नहीं तो मारेंगे डंडे।' उसने कहा 'मैं नहीं खाऊँगा आज।' उनको पक्का निश्चय हो गया कि ज़रूर जहर इसी ने मिलाया है। खूब उसकी पिटाई की अच्छी तरह से। जब उससे और सहन नहीं हुआ तब उसने कहा 'अच्छा मैं खा लेता हूँ।' खा लिया। अगले दिन गुरु जी के पास गया, गुरु जी ने कहा 'कल हलुआ पूड़ी तो नहीं खाया?' वह बोला 'हलुआ पूड़ी भी खाये, साथ में डंडे भी खाये।' तब उन्होंने कहा कि प्रारब्ध तो देहधारणमात्र का निमित्त कारण है। हलुआ पूड़ी नहीं खाना– यह तुम्हारा आरम्भ था। प्रारब्ध का विरोध करोगे तो डंडे साथ में खाने पड़ेंगे।

इसलिये देहधारणमात्र के निमित्त जो होवे, वह तुम दृष्ट या अदृष्ट के लिये नहीं कर रहे हो, वह तो तुम्हें करना ही पड़ेगा। उसको रोकने के लिये जो करोगे वह तुम आरम्भ करोगे। जैसे किसी चीज़ की प्राप्ति के लिये प्रयत्न होता है वैसे ही निवृत्ति के लिये भी प्रयत्न होता है। जब तक व्यक्ति गुणों के अधीन है, तब तक तो प्रवृत्ति व निवृत्ति होती रहेगी। जिस चीज़ को ठीक समझता है, उसके लिये प्रवृत्ति करेगा, जिसको गलत समझता है उससे निवृत्ति करेगा। तब तक तो आरम्भ होगा। जब गुणातीत हो गया तब जानता है कि जैसे हलुआ पूड़ी खाना है वैसे ही बाजरे का सूखा रोट भी खाना है। इसलिये एक की तरफ प्रवृत्ति और दूसरे की तरफ निवृत्ति नहीं है। दृष्ट–अदृष्ट उद्देश्य से वह कोई चेष्टा नहीं करता। देहधारणमात्र के निमित्त अर्थात् प्रारब्धभोगमात्र के लिये जो प्रवृत्ति निवृत्ति आवश्यक है, वही होती है। इसलिये उसको सर्वारम्भ–परित्यागी कहते हैं।

'स गुणातीतः उच्यते'। उसको गुणातीत कहते हैं। 'उदासीनवत्' से लेकर के 'गुणातीतः स उच्यते' तक जो संन्यासी ज्ञान के अनन्तर, ज्ञाननिष्ठा रूपी जो गुणातीतता है, उसको प्राप्त करने में लगा हुआ है, उसका धर्म बताया, वह इन सब चीज़ों को करता है। जब तक कोशिश करने से ये धर्म किये जायें तब तक मुमुक्षु संन्यासी को साधनरूप से इन्हें करते रहना चाहिये। जब ये स्थिर हो जायें, अर्थात् इन्हें यत्नपूर्वक करना नहीं पड़े, अपने आप ही इनके संस्कारों से शरीर–मन की प्रवृत्ति ऐसी ही चले, तब ये ही गुणातीत के लक्षण हैं। किन्तु स्वसंवेद्य, स्वयं को ही पता चलने वाले लक्षण हैं। इसलिये पहले ही कहा था, जो उच्चकोटि का साधक होगा, उसके अन्दर उक्त धर्मों की विरोधी वृत्ति बनेगी और वहीं वह खत्म कर देगा, अतः बाहर से कुछ नहीं दीखेगा। परन्तु वृत्ति बनी है और उसने उसे हटाया। तब तक वह साधक है। और जब बाधितानुवृत्ति है अर्थात् वह बाध करता नहीं है,

अपने आप हो जाता है, तब वह गुणातीत हो गया। उच्चकोटि के साधक और सिद्ध में केवल स्वसंवेद्य फ़र्क है। परसंवेद्य लक्षण तो दोनों में होंगे। ।।२५।।

अब बताते हैं कि इस स्थिति की प्राप्ति कैसे होवे। कैसे ऐसा ज्ञान होवे जो गुणातीत बनना संभव हो? 'कथं त्रीन् गुणानतिवर्तते' (श्लोक२१) यह अर्जुन ने प्रश्न किया था। उसका उत्तर देते हैं कि यह स्थिति कैसे आती है कि केवल ज्ञाननिष्ठा होना शेष रह जाये

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

जो बहिर्मुखता छोड़कर परम प्रेम से सदा मेरा ही अनुसन्धान करता है, वह इन गुणों को पूर्णतः लाँघकर ब्रह्मभाव के समर्थ हो जाता है।

जो यति या कर्मी है वह इस स्थिति के लिये प्रयास कर सकता है। यति है तो सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक करता है। और कर्मी है तो कर्मफलत्याग-पूर्वक करता है। ज्ञान की प्राप्ति में दोनों प्रकार के लोग प्रवृत्त हो सकते हैं। जो कर्मी है उसको कर्मफल सर्वथा ईश्वरार्पण करना आवश्यक है, यह नहीं होगा तो वह कर्मयोग ही नहीं कर सकता। जिसको कर्मफल की किंचित् इच्छा भी है वह अभी ज्ञान का साधक नहीं हो सकता। यति क्योंकि सर्वकर्म–परित्याग कर चुका है अतः उसके लिये श्रवण–मनन के अतिरिक्त और कुछ कर्म प्राप्त ही नहीं है। दोनों में फ़र्क यह है कि कर्मी कर्म करके फल का त्याग करता है और यति को कर्म प्राप्त न होने से वह कर्म करता ही नहीं है। श्रवण–मनन से अतिरिक्त और कुछ भी उसके लिये कहीं विहित नहीं है। जो भी साधक है वह 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन मां सेवते'। 'अव्यभिचारेण'। एक वृति बनी–धन चाहिये। तब तक किसी ने कहा 'बेवकूफ कहीं का! गधा! ले ये पाँच रुपये।' जो पहली वृत्ति बनी थी धन की, वह वृत्ति दब गई, अपमान के विरोध की वृत्ति प्रबल हो गयी। तुम्हीं ने प्रवृत्ति की थी धन के लिये, फिर मान के लिये प्रवृत्ति हो गयी। इस प्रकार एक तरफ प्रवृत्ति होती है, कोई अन्य निमित्त आ गया तो दूसरी तरफ हो जाती है, तीसरी तरफ हो जाती है। इसको व्यभिचारी प्रवृत्ति कहते हैं। आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी- ये भी भक्तिपूर्वक अर्थात् प्रेमपूर्वक भगवान् का भजन करते हैं पर इनका भक्तियोग अव्यभिचारी नहीं है। या अर्थ चाहते हैं, या काम चाहते हैं, या किसी चीज़ को जानना चाहते हैं। इनकी भक्ति व्यभिचारिणी भक्ति है। भगवान् से तो प्रेम है, पर भगवान् से *ही* प्रेम नहीं है, दूसरी चीज़ों से भी प्रेम है। उस भक्तियोग से आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये भगवान् ने कहा 'अव्यभिचारेण'। सिवाय परमात्मा के और जिसे कभी कोई चीज़ चाहने योग्य नहीं लगती उसकी अव्यभिचारिणी भक्ति है। भक्ति शब्द का भक्तिसूत्रकारों ने अर्थ किया है, कि ईश्वर में परम अनुराग भक्ति है। *परम* अनुराग सिवाय अपने आत्मा के और किसी चीज़ के साथ हो ही नहीं सकता। बाकी जितनी चीजों से तुम्हारा प्रेम होगा, वह इसलिये होगा कि वह प्रेम करने से तुमको अच्छा लगता है। आगे,

तुम क्यों चाहते हो कि तुमको चीज़ अच्छी लगे? इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। अपने को अच्छा लगना यह स्वतः सिद्ध है। इसीलिये बड़े विस्तार से महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो भी चीज़ प्रिय है वह सब आत्मा के लिये ही प्रिय है। अतः जब भक्तिशास्त्रकार कहते हैं कि ईश्वर में परम अनुराग भक्ति है, तब स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर और आत्मा में एकता ही भक्ति का प्रकार हो सकता है। मध्यकाल में अनेक भक्ति-मत वाले आये, उन्होंने इसको उलटा दिया! वे कहते हैं, ईश्वर को अपने से अलग नहीं समझोगे तो भक्ति ही नहीं होगी! ईश्वर को अपने से अलग समझ कर भक्ति होगी। परन्तु तब अव्यभिचारी भक्ती नहीं होगी, व्यभिचारी रहेगी, और चीज़ें भी अच्छी लगेंगी, भगवान् भी अच्छे लगेंगे। ज्ञान की प्राप्ति के लिये जो आवश्यक है, वह अव्यभिचारिणी भक्ति है। व्यभिचारिणी भक्ति की कहीं प्राप्ति न हो जाये, भगवान् ने इसलिये कह दिया, 'अव्यभिचारेण'।

'भक्तियोगेन'। भक्ति ही योग है, साधन है। परमेश्वर से आत्यन्तिक आत्म-प्रेम ही साधन है। अहम्-प्रत्यय से जिसको हम समझ रहे हैं, वही परमेश्वर है-इस प्रकार भक्ति ही योग है- इसलिये परमात्मा की प्राप्ति का साधन है। शुरू में सच्चिदानंद समझ में न आवे, तब तक सच्चिदानंद जिसमें हमें प्रतीत होता है उससे प्रेम कर लें। जब कहते हो 'सच्चिदानंद आनंद-कंद भगवान् कृष्णचंद्र की जय।' तब तुम कृष्ण को सच्चिदानंद ही मान कर आनंद-कंद कह रहे हो। वस्तुतः सच्चिदानंद तुम्हारे आत्मा का रूप है, पर तुमको अहम् प्रत्यय के अन्दर इतनी ज़्यादा भावना है कि अहम् कहते ही तुम अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि रूप में ही अपने को देखते हो। जब इस बात को समझते हो कि यह हमारा सच्चारूप नहीं है, हमारा सच्चा रूप सच्चिदानन्द है तब परम प्रेम कर पाते हो। अभी तो जब तुम कृष्ण को देखते हो तब तुम्हारे मन में आता है कि 'ये सच्चिदानन्द हैं'। अपने में तो सन्देह रहता है कि मैं सच्चिदानन्द हूँ या नहीं, परन्तु श्रीकृष्ण आदि में सच्चिदानंदरूपता प्रधान रहती है। अतः उनका ध्यान करते हैं कि सच्चिदानन्दरूप श्रीकृष्ण सचमुच में हमारे अहम् प्रत्ययगम्य हैं। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का जो प्रेमपूर्वक ऐक्यचिन्तन, वही भक्तियोग है। उसके द्वारा जो 'मां सेवते' मेरा सेवन करता है। 'माम्' ईश्वर, तत्पदार्थ, सारे जगत् की सृष्टि स्थिति लय करने वाला, और अहम् प्रत्ययगम्य- दोनों एक हैं, यह चिंतन सेवन है। मेरा चिंतन किस प्रकार से? जो सच्चिदानंद सृष्टि स्थिति लय करने वाला है वही सच्चिदानंद मेरी अहम्-प्रतीति का वास्तविक विषय है। इस प्रकार से जो सेवन करता है अर्थात् परमेश्वर का भजन करता है, वह मुक्त हो जाता है। सच्चिदानंद अपने से अलग लग रहा है परन्तु बार-बार चिंतन करना है कि मुझ से एक है। जब तुम कहते हो 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' 'अहम् ब्रह्मास्मि', तब 'मैं' इस प्रतीति का जो लक्ष्य और ब्रह्म इस प्रतीति का जो लक्ष्य वे दोनों एक हैं- यही तुम्हारा तात्पर्य है। जब तक अहम्-प्रत्यय से तुमको अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् की प्रतीति है, तब तक तत्-प्रत्यय से तुमको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् की भी प्रतीति रहेगी। जैसे ही अहम्-प्रत्यय से

प्रतीत होने वाला तुम को ब्राह्मण, मनुष्य, शरीर, मन, यहाँ तक कि अहम् का प्रत्यय भी नहीं लगेगा, तब तत् कहने से सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् की भी प्रतीति नहीं होगी; दोनों से एक ही सच्चिदानंद प्रतीत होगा। जब 'मैं' शब्द का प्रयोग करो तब तुम्हारे सामने सच्चिदानंद रहे और 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करो तो तुम्हारे सामने सच्चिदानंद रहे, तभी एकता का अनुभव हो सकेगा। यहाँ मूर्ति रखकर गंधाक्षतपुष्पादि चढाना सेवा नहीं है, यही सेवा है। आनन्दगीरि स्वामी ने स्पष्ट किया है 'सेवते पराक्चित्तातां विना सदाऽनुसन्दधातीत्यर्थः'। विषय-विचार सार्वथा छोड़कर निरन्तर ब्रह्मात्मता का निश्चय करना ही यहाँ के प्रसंग में सेवा है।

'सः' जो ऐसा करता है उसे जब अहम् और ब्रह्म दोनों के वाच्यार्थ सत्य प्रतीत होना खत्म हो जाते हैं तब 'एतान् गुणान् समतीत्य', सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तीनों से परे हो जाता है। जब तक तत् पदार्थ और त्वम् पदार्थ वास्तविक हैं तब तक गुण भी हैं। जब पदार्थ नहीं रहे तब गुण भी नहीं रहे। इसलिये 'समतीत्य' अर्थात् गुणों से परे होकर। जब तक सेवन करता है, तब तक ज़्यादा-से-ज़्यादा जिस समय वृत्ति सर्वथा एकाग्र हो जाती है उस समय अपने को गुण से अलग जानते हुऐ भी, जैसे ही वह समय खत्म हुआ वैसे ही फिर गुणों के साथ एक हो जाता है। यदि दिनभर में एक-दो मिनट भी ऐसा हो जाता है तो 'अतीत्य' तो कह सकते हैं पर उसको 'समतीत्य' नहीं कहते। जब कभी क्षणभर को भी गुणसंबंध नहीं रहे तब समतीत होना है। जो वास्तविक सेवन करता है वह ऐसा गुणों से पार चला जाता है।

तब 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' वह ब्रह्मरूप होने में समर्थ हो जाता है। 'भूयाय' अर्थात् भवनाय। ब्रह्मरूप है- बस इस बात में स्थित रहने में समर्थ हो जाता है, सब समय ब्रह्मरूप में स्थिर रहने में समर्थ हो जाता है। गुणों के कारण ही सच्चिदानंद सर्वज्ञ या अल्पज्ञ बनता है। गुण अर्थात् अविद्या, जिसके अन्दर तीनों गुण हैं। अविद्या के कारण ही, माया के कारण ही सच्चिदानन्द जीव भी बनता है, और ईश्वर भी बनता है। जैसे ही गुणों से अतीत चला गया अर्थात् अविद्या से अतीत चला गया, वैसे ही वह मोक्ष के लिये समर्थ हो गया।।२६।।

ऐसा क्यों है यह बताते हैं-

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्यायस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

।। ॐ तत् सद् इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।

क्योंकि अविनाशी, अविकारी, नित्य, धर्मलभ्य, अव्यभिचारी आनन्दरूप परमात्मा प्रत्यगात्मरूप से प्रतिष्ठित है (इसलिये इस तरह आत्मा को जानने से मोक्ष हो जाता है।)

'हि' मायने जिस कारण से 'ब्रह्मणः प्रतिष्ठा अहम्।' ब्रह्म कहाँ प्रतिष्ठित है? अहम् में ही प्रतिष्ठित है। जिसमें नियम से रहता है वही प्रतिष्ठा है। अहम् जो वृत्ति है वह सिवाय प्रत्यगात्मा के और कभी किसी को विषय करती नहीं। 'मै ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ', आदि में शरीर आदि भी वृति के विषय हैं परन्तु जब ऐसा मान रहा है, तब भी अहम् का जो सचमुच में विषय है वह तो प्रत्यगात्मा है ही। ठीक जिस प्रकार रस्सी में तुम को जब साँप दीख रहा है, तब भी सचमुच में तुम्हारी आँख का सम्बन्ध तो रस्सी से ही है। तुमने इदन्तारूप से रस्सी को ही देखा है। जब तक तुम को 'यह' नहीं दीखे तब तक उसमें 'यह साँप है' इस अनुभव में आने वाला साँप भी नहीं दीखेगा! 'यह' किसका 'यह' है? रस्सी का है। वहाँ रस्सी नहीं होती तो 'यह है' की प्रतीति भी नहीं होती। 'यह' विषय कर रहा है रस्सी को। जब तुम साँप देख रहे हो तब भी 'यह' तो रस्सी ही रहती है। इसी प्रकार से अहम् का विषय तो प्रत्यगात्मा ही है; शरीर, वर्ण, आश्रम ये सब उसमें कल्पित हो कर रह जाते हैं। सचमुच में तो वहाँ प्रत्यगात्मा ही है। प्रत्यगात्मा तो ब्रह्म ही है।

क्यों ऐसा है कि भक्तियोग के द्वारा तुम मोक्ष के लिये समर्थ हो जाते हो? उसमें कारण है कि ब्रह्म की प्रतिष्ठा अहम् है। यह वाक्य बड़ा ही रहस्यमय है। कुछ लोग यहाँ तक तो आ जाते हैं कि 'मैं की प्रतिष्ठा ब्रह्म है। मैं ईश्वर से अलग नहीं। परन्तु ईश्वर तो मुझ से अलग है ही!' भगवान् यह भी कह सकते थे कि अहम् की प्रतिष्ठा ब्रह्म है। यह नहीं कहा है। कहीं संदेह न रह जाये, इसलिये कहा 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'। यही वेदान्त को अनुभव-शास्त्र बना देता है! बाकी जितने ईश्वरवादी हैं, सब कहते हैं कि ईश्वर तुमको श्रद्धा से मान लेना चाहिये। ईश्वर की सिद्धि में इतने विरोधी तर्क सामने आते हैं कि सचमुच में कोई तर्क से ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता। वेदान्त पर यह दोष लगता है, कि 'तुम भी ईश्वर को शास्त्रसिद्ध मानते हो'। परन्तु हम जिस ईश्वर को मानते हैं उसकी विशेषता है कि शास्त्रसिद्ध होने पर भी नित्य अपरोक्ष सिद्ध है। क्योंकि कोई ऐसा नहीं है जो मैं-प्रत्यय को न करता हो। मैं को सब जानते हैं। वेदान्त कहता है कि मैं को तुम स्वयं अपरोक्ष जानते हो इसलिये इसमें तुम को संदेह रहा नहीं। तुम मैं को किसी शास्त्र से तो जानते नहीं हो! शास्त्र यह करता है कि 'मैं' क्या तत्त्व है यह समझा देता है। तुम अलग-अलग चीज़ों को 'मैं' समझते रहते हो। कभी शरीर में, कभी मन में कभी बुद्धि में मैं- प्रतीति होती है। वस्तुतः 'मैं' को जब ढूंढते हैं तो वह ब्रह्म निकलता है! मैं ब्रह्म है, इसको ढूंढने के लिये प्रवृत्ति कराने वाला शास्त्र है। शास्त्र नहीं होता तो हम यही समझते कि मैं का पता ही नहीं लगता है। शास्त्र कहता है कि मैं का पता लगता है, ज़रा डट कर लगे रहना पड़ेगा। ब्रह्म चूंकि अहम् में प्रतिष्ठित है इसलिये वेदान्त-शास्त्र सर्वथा अनुभव-शास्त्र है, इसमें किन्हीं भी इधर-उधर की चीज़ों को तुम आँखें मूंद कर मानो- यह नहीं है।

वह ब्रह्म कैसा है? यह बतलाते हैं: 'अमृतस्य' यह जो आगे विशेषतायें बतला रहे हैं, ये शास्त्रसिद्ध हैं। इसी का अनुभव करना है जिसके लिये यह भक्तियोग बतलाया। ब्रह्म कैसा

है? अविनाशी है। अर्थात् तुम्हारा जो प्रत्यगात्मा है वह अविनाशी है। इसलिये जो-जो विनाशी है वह सब तुम नहीं हो। यह विचार करने का रास्ता मिल गया। तुम जिस-जिस को मानते हो 'यह मैं हूँ', यहाँ तक कि जो तुम्हारा अहम् प्रत्यय है, वह भी सुषुप्ति में नहीं रहता। परन्तु सुषुप्ति में न रहने पर भी, उठने पर जब अहम् आता है, तब अहम् का अनुभव क्या होता है? 'मैंने कुछ नहीं जाना, मैं बड़े आनन्द से सोया।' दो अनुभव होते हैं, मैंने कुछ नहीं जाना; यहाँ तक कि मैं को मैं-रूप से, वृत्तिरूप से नहीं जाना। इसलिये इस वृत्ति से अतिरिक्त कोई है जिसको फिर याद किया जा रहा है कि बड़े आनन्द से सोया। सब चीज़ों का विनाश हमको सुषुप्ति में प्रत्यक्ष है; और उन सब चीज़ों के हट जाने पर भी हम बने रहते हैं, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिये कहा कि यह अमृत है।

नाश दो तरह का होता है। एक, कपड़ा जल गया, तो भी कहते हैं कपड़ा नष्ट हो गया। कपड़ा जरजर हो जाये, तब भी कहते हैं कि कपड़ा खत्म हो गया। जला नहीं है, दीख रहा है, पर बिलकुल उसके धागे-धागे इधर-उधर से कमज़ोर हो गये, तब भी 'नष्ट हो गया' कहते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह ब्रह्म नष्ट तो नहीं होता है लेकिन जीर्ण हो जाता है? इस सन्देह को हटाने के लिये कह दिया, 'अव्ययस्य च'। उसके अन्दर किसी प्रकार का विकार भी नहीं है। यह भी अनुभव के साथ मिला लो : बचपन से लेकर अब तक हमारे अन्दर कितनी चीज़ें आयीं और कितनी चीज़ें गयीं। पर क्या कोई विकार हमें विकारी कर सका? घुटना ठीक था तो दौड़ते हुऐ पहाड़ पर चढ़ जाते थे। बुढ़ापा आ गया, घुटना काम नहीं करता है तो एक कदम चलने में ही भारी पड़ता है। परन्तु क्या हमें अपने मैं में कोई विकार दीखता है? उलटा यही लगता है कि, 'घुटना बदल देवे डाक्टर, तो हम वैसे ही हैं।' सारे विकार दूसरी जगह दीखते हैं। प्रत्यगात्मा के अन्दर किसी विकार की कभी प्रतीति होती नहीं। वही ब्रह्म का रूप है।

और कैसा है? 'शाश्वतस्य च धर्मस्य'। शाश्वत है। शाश्वत और सनातन का एक ही अर्थ है। जो धर्म हमेशा एक जैसा रहता है, नित्य रहता है, वही सनातन धर्म है। शाश्वत धर्म वह है जो इस अहम् प्रत्यय के परमात्मस्वरूप को स्पष्ट करता है। वही शाश्वत धर्म है। जो आत्मा की अपरमात्मरूपता दृढ करता है, जो प्रत्यगात्मा नहीं है उसी भाव को दृढ करता है कि तुम मनुष्य ही हो, तुम भारतीय ही हो, इत्यादि, वह शाश्वत धर्म नहीं हो सकता। जो भारतीय थे वे अचानक एक दिन पाकिस्तानी बन गये! फिर एक दिन बांग्लादेशी बन गये! यदि वस्तुतः भारतीय होते तो ऐसा नहीं हो सकता था। इसलिये 'मैं इस देश का हूँ,' यह शाश्वत नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्राह्मणी में ब्राह्मण से पैदा हुआ ब्राह्मण है। अब, ब्राह्मणी कौन? तो जो ब्राह्मण और ब्राह्मणी से पैदा हुई हो! ठेठ तुम्हारे गोत्रा-प्रवर्तक ऋषि से अब तक की सारी परंपरा इसी तरह की रही हो, तब तुम ब्राह्मण हो। इन हज़ारों पीढ़ियों में एक औरत का भी मन खराब कभी न हुआ हो, इसका जिम्मा कौन लेगा! यदि एक जगह भी गड़बड़ी हो गई है तो वहाँ से आगे आज तक का सारा क्रम गड़बड़ हो गया। ठीक है,

व्यावहारिक रूप से स्वयं को भारतीय, ब्राह्मण आदि मान लो परन्तु इस सबको शाश्वत नहीं कह सकते। वंशपरंपरा में ज़रूर गड़बड़ी हुई यह हम नहीं कह रहे, पर कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता अतः इस को शाश्वत धर्म भी नहीं कह सकते। परन्तु जो इस अहम्-प्रत्यय के विषय प्रत्यगात्मा के ब्रह्मरूप को प्रकट करने वाला है, वह धर्म तो हमेशा वही रहेगा। इसलिये चाहे लौकिक धर्म होवे देश जाति इत्यादि, चाहे शास्त्रीय होवे ब्राह्मण आदि, इन सब की अपेक्षा जो आत्मधर्म है वही शाश्वत है, नित्य है, एक जैसा है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

शाश्वत धर्म के द्वारा जो प्राप्त होने वाला सुख है वह आनंदरूप है। इस धर्म से प्राप्ति आनंदरूप की होनी है, और किसी लोक आदि की तो होनी नहीं है! वह सुख कैसा है? 'एकान्तिकस्य च'। सुख के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यद्यपि कई बार कहते हैं कि मोक्ष आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति-पूर्वक परमानंद की प्राप्ति है तथापि असल में तो परमानंदघन जब तुमने कह दिया तब आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति तो अर्थसिद्ध हो जाती है क्योंकि घन में किसी दूसरी चीज़ के रहने की जगह ही नहीं आनंद के सिवाय। उसको जो प्राप्त कराने वाला है वही शाश्वत धर्म है। ऐसा जो ब्रह्मरूप परमात्मा है, उसकी प्रतिष्ठा प्रत्यगात्मा है। सम्यक् ज्ञान से यह निश्चय हो जाता है कि मैं ब्रह्म ही हूँ, तदतिरिक्त कुछ भी नहीं हूँ इसी लिये आत्मज्ञान से मोक्ष बताया। भक्तों के ऊपर अनुग्रह आदि प्रयोजन वाली परमेश्वर की शक्ति प्रवृत्त होती है इसीलिये कि लोग इस ब्रह्मरूपता में प्रतिष्ठित हो जायें।

।। चौदहवाँ अध्याय ।।

ॐ

पन्द्रहवाँ अध्याय: पुरुषोत्तम योग

चौदहवें अध्याय के अन्त में बतलाया, कि क्योंकि कर्मियों को कर्मफल देने वाला भी मैं ही हूँ और जो निवृत्ति-परायण, ज्ञान-साधना करने वाले हैं, उनके ज्ञान का फल देने वाला भी मैं ही हूँ, इसीलिए मेरी सेवा मोक्षफलक है। 'फलमत उपपत्तेः' के द्वारा ब्रह्मसूत्र (३.२.३८) में भी यही निर्णय किया कि परमेश्वर ही प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग, दोनों का फल देने वाले हैं। प्रवृत्ति मार्ग का फल देने के लिये वे माया शक्ति से फलरूप में बन जाते हैं; और ज्ञान का फल देने के लिये वे माया-रहित शुद्धरूप रह जाते हैं। कर्म का तो मायाविशिष्ट चेतनरूप से फल देते हैं, और ज्ञान का निर्विशेष चेतनरूप से फल देते हैं। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों के द्वारा परमेश्वर की ही भक्ति होती है। जब देवताओं का आराधन भेद-बुद्धि से किया जाता है, तब भी देवताओं के अंदर स्थित परमेश्वर ही फल देता है, यह भगवान् (६.२३) कह आये हैं। तत्-तत् देवतारूप में वे भगवान् ही स्थित होकर, श्रद्धा के अनुरूप फल देकर, उस रूप में ही उसकी श्रद्धा को बढ़ाते हैं। परंतु देवता मानकर उपासना करने वाला ठीक प्रकार से समझकर उपासना नहीं करता इसलिये उसको तुच्छ फलों की प्राप्ति होती है। स्वर्ग, पुत्र आदि इहलोक परलोक के फल मिलते हैं, परन्तु परमेश्वर नहीं मिलता। भेद-बुद्धि को छोड़कर जब, परमेश्वर के स्वरूप को जानकर उनकी उपासना करता है, तब परमेश्वर के दिव्य भाव की प्राप्ति होकर कल्पांत में मुक्ति होती है और निवृत्ति-परायण की जीते हुए यहीं मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार, मेरी प्रसन्नता से ज्ञान-प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाती है, यहीं पर गुणातीत भाव से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। प्रत्यगात्मा के तत्त्व को जो ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है, वही गुणातीत है - यह भगवान् ने विस्तार से बतलाया।

अब, यद्यपि अर्जुन ने पूछा तो नहीं कि उस परमात्मा का तत्त्व है क्या? वास्तविक स्वरूप है क्या? तथापि भगवान् अपनी तरफ से उस तत्त्व का उपदेश करते हैं। जो परब्रह्म तत्त्व, शाश्वत धर्म का, सुख का, ऐकान्तिक सुख का अर्थात् मोक्ष का, फल देने वाला अमृत-स्वरूप और अव्यय स्वरूप है, उसको समझाने के लिये श्रुतियों के अंदर अश्वत्थ वृक्ष का रूपक लिया गया है। कठोपनिषद् में कहा है 'ऊर्ध्वमूलः अवाक्शाखः एषोश्वत्थः

सनातनः' (६.१) 'ऊर्ध्व' अर्थात् उत्कृष्ट; संसार वृक्ष का मूल उत्कृष्ट, श्रेष्ठ है। और जो यह संसार वृक्ष पैदा हुआ है, वह अवाक्शाख है, नीचे की ओर शाखाओं वाला है। वृक्ष रूप से क्यों कल्पना श्रुतियों ने की है, जिसका यहाँ भगवान् अनुवाद कर रहे हैं? इसलिये कि वृक्ष की विशेषता यह है कि वह काटने के योग्य है। 'ओ व्रश्चू छेदने' (तु.प.से.) धातु का अर्थ होता है छेदन करना, काटना। उसी से वृक्ष शब्द बनता है, जिसका अर्थ है - जो काटने के योग्य है। यह संसार भी काटने योग्य अतः वृक्ष है। तुमको सारे फलों को यही देता है। जैसे पेड़ तुमको पत्ते देता है, फल देता है, शाखाएँ देता है, सब कुछ देता है, पर है वह छेदन के योग्य, काटने के योग्य, उसी प्रकार संसार को देखकर ही परमात्मा समझ में आता है। यदि यह संसार सामने न हो, तो परमात्मा को समझने का कोई तरीका नहीं है। महाप्रलय के अंदर संसार नहीं होता तो साधना करके मुक्ति भी नहीं होती। अतः संसार अत्यंत आवश्यक है, जैसे पेड़ अत्यंत आवश्यक है, परन्तु है काटने के योग्य। जो कुछ भी साधना होगी वह सब संसार के अंदर ही होगी। इसलिये वृक्ष-रूपक की कल्पना संसार का स्वरूप-वर्णन करके वैराग्य के लिए है क्योंकि जिसको संसार से वैराग्य होता है वही परमात्मा के तत्त्व को जानने का अधिकारी होता है। जिसमें विरक्ति नहीं है, वह किसी हालत में परमात्मा के तत्त्व को नहीं समझ सकता। परमात्म-तत्त्व में ही संसार कल्पित है। जब तक कल्पित अच्छा लगेगा, तब तक वास्तविक चीज़ का ज्ञान ही सम्भव नहीं। बिना कल्पित से दृष्टि हटाये, वास्तविक चीज़ प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। ठीक जिस प्रकार से पत्थर की मूर्ति बड़ी सुंदर बनी हुई है। जब तक उस मूर्ति की सुन्दरता से तुम आकृष्ट रहोगे तब तक वहाँ पत्थर है - यह बात समझ ही नहीं सकते। मूर्ति सचमुच में पत्थर है, यह समझने के लिए मूर्ति से मन को हटाना ज़रूरी होता है, वैराग्य आवश्यक होता है। जब तक कल्पित से वैराग्य नहीं होगा, तब तक वास्तविक चीज़ को नहीं देख सकते। आसक्तिवश कल्पित के मोह में वास्तविकता का परीक्षण नहीं करने से हानि ही होती है। ठीक इसी प्रकार से, शास्त्र कहता है, संसार को देखो, इसका बड़ा अच्छा नाम-रूप है, मना नहीं करते लेकिन परीक्षा कर के देख लो कि इसमें सचमुच में तत्त्व कितना है? किन्तु पुत्र, स्त्री, धन, इन सब में इतनी आसक्ति है कि कोई सच्चाई की परीक्षा करने को तैयार नहीं होता। नाम-रूप में वैराग्य होगा, तब इसकी परीक्षा करके, परमात्मा, जो इसकी वास्तविकता है, उसके तत्त्व के ज्ञान को समझने में अधिकार आयेगा, नहीं तो अधिकार ही नहीं आता। वैराग्य के बिना, तत्त्वज्ञान में अधिकार नहीं। इसलिये सबसे पहले, परमात्म-तत्त्व को बताने के लिये, वैराग्य का निरूपण करते हैं -

श्रीभगवान् उवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

श्रीभगवान् ने कहा - ऊर्ध्व ब्रह्म जिसका मूल है, उसकी अपेक्षा नीचे महदादि जिसकी शाखाओं की तरह हैं, वेद जिसके पत्तों की तरह हैं, ऐसे इस अनादि-अनंत संसार को अ-श्व-त्थ (अर्थात् कल तक भी न रहने वाला) कहते हैं। मूल परमात्मा समेत संसार वृक्ष का जानकार ही वेदार्थ का ज्ञाता है।

वृक्षों में भी अश्वत्थ वृक्ष को चुना। पहले (१०.२६) भी भगवान् कह आये हैं - 'वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ'। अश्वत्थ को क्यों इतनी प्रधानता श्रुति ने दी और तदनुकूल वाक्य में भगवान् ने भी दी? वैसे तो अश्वत्थ, पीपल के वृक्ष को कहते हैं, और भगवान् ने उसको अपनी विभूति बता ही दिया है। परन्तु अश्वत्थ शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं: एक तो श्वः कहते हैं आने वाले कल को। 'श्वः न तिष्ठति इति अश्वत्थः'। कल तक जो रहे उसे 'श्वत्थ' कहेंगे, और कल तक जो न रहे उसे 'अश्वत्थ' कहेंगे। संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं है, जो कल तक रहती हो! यहाँ कल का मतलब, हम लोगों के चौबीस घंटों का कल ही मत लेना, प्रतिक्षण ही कल है। इसलिये महर्षि पतंजलि कहते हैं 'सर्वे भावाःक्षणपरिणामिनः' जितनी भी अनात्म वस्तुएँ हैं, सब हर क्षण बदलती हैं। यह बात आज का विज्ञान भी कहता है। प्रत्येक पदार्थ के जो अणु हैं उनमें गति है। हर अणु के अन्दर जो परमाणु हैं, वे भी निरन्तर घूमते हैं। आगे अणुओं के अन्दर जो ऋणाणु और धनाणु हैं वे भी हमेशा स्थान-परिवर्तन करते हैं, हर क्षण बदलते हैं। जब धनाणु और ऋणाणु का स्थान बदलेगा, तब परमाणु में परिवर्तन होगा। परमाणु में परिवर्तन हुआ तो अणु में परिवर्तन होगा। अणु में परिवर्तन हुआ तो हर पदार्थ के अन्दर फ़र्क हो गया। जल्दी दीखता नहीं आँख से, यह बात भी ठीक है। बढ़िया साड़ी खरीदो, एक बार पहन कर खूब अच्छी तरह से उसमें फिनाइल की गोलियाँ डाल कर प्लास्टिक में बंद कर रख दो। फिर किसी विशिष्ट शादी के दिन, बारह साल के बाद उसको निकाल कर पहनो, तो थोड़ा-सा ज़ोर लगते ही चर्र फट जाती है। आश्चर्य होता है, कि 'हमने तो बारह साल पहनी नहीं, बड़ी सुरक्षा से रखी, पड़े-पड़े क्या हो गया?' जब इतना परिवर्तन हो गया कि फट गई है, तब तो पता लगता है, अन्यथा जो सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, जिसके कारण ही अन्त में वह फट जाती है, उन परमाणुओं के विकारों को हम इन आँखों से देख नहीं पाते।

ठीक इसी प्रकार हम अपने शरीर के परिवर्तन को नहीं देख पाते। हर दिन, पानी समेत हम लोग कम से कम दो किलो अन्न तो अपने पेट में डाल ही लेते हैं। यदि वज़न उतने का उतना ही रहता है, तो दो किलो का क्या हुआ? दो किलो में से, कुछ तो शरीर में चला गया, और शरीर का जो दो किलो था वह उस बचे हुए अन्न में मिलकर विष्ठा, मूत्र, प्रस्वेद आदि के रूप में निकल गया। यदि दो किलो वज़न तुम्हारा रोज़ निकल रहा है तो जो तुम्हारा आज का मूलधन में पूरा शरीर है वह कुछ दिनों में पूरा ही बदल जायेगा। तुम्हारा वज़न यदि साठ किलो है तो महीने भर के बाद आज वाले शरीर में से क्या बचेगा? पुराना सब निकल चुकेगा! सब नया माल आ जायेगा। फिर भी हमें बुद्धि क्या होती है? यह वही शरीर है जैसे दीख रहा

था, 'यह वही साड़ी है!' रोज़ तो कुछ पता नहीं लगता किन्तु पचास साल के बाद, साठ साल के बाद, कभी आँख गड़बड़ाती है, कभी दाँत गड़बड़ाते हैं, कभी हड्डियाँ गड़बड़ाती हैं। आदमी सोचता है, मैंने बड़े ध्यान से शरीर को रखा है, कुछ गड़बड़ खाया नहीं, कोई गड़बड़ काम किया नहीं, शरीर को हो क्या गया? जिस चीज़ को देखो वह क्षण-परिणामी है। इसलिये 'श्वः' अर्थात् अग्रिम क्षण तक जो नहीं रहता, वह अश्वत्थ है।

दूसरा अर्थ होता है-'अश्वो यत्र तिष्ठति'। अश्व अर्थात् घोड़ा। घोड़े को जहाँ बाँध कर रखा जाता है वह भी अश्वत्थ है। अश्वत्थ का वृक्ष बड़ा मज़बूत होता है, उसमें घोड़े को बाँध दो तो फिर घोड़ा कहीं जाता नहीं। उस वृक्ष के ही चारों ओर घूम सकता है बस, तोड़ कर जा नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार से, इन्द्रियाँ हमारे घोड़े हैं। वेद (कठ ३.४) कहता है-'इन्द्रियाणि हयान् आहुः' इन्द्रियों को घोड़ा कहा है श्रुति ने। ये इन्द्रियाँ इस संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष से बँधी हुई हैं, इसलिये ये संसार वृक्ष में ही सर्वत्र घूमती रहती हैं। इन्द्रियों के द्वारा इससे बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं है। सारी इन्द्रियाँ इसी के अंदर लगी हुई हैं, बँधी हुई हैं, इससे कहीं जाने का इनको मार्ग नहीं है, इसलिये भी यह संसार अश्वत्थ कहा जाता है।

वेद ने कहा है-'एषोऽश्वत्थः सनातनः', एषः अर्थात् संसार कोई दूसरी चीज़ नहीं समझ लेना! एषः, जो हर क्षण तुम्हारे सामने मौज़ूद है। संस्कृत में 'एतत्' कहते हैं जिसे हिन्दी में 'यह' कहते हैं। संसार 'वह' नहीं है, 'यह' है। 'वह' तो वह होता है, जो हमें सामने नहीं दीख रहा हो। जो सामने दीख रहा है उसको 'यह' कहते हैं। संसार 'यह' है। जो तुमको दीख रहा है, यही अश्वत्थ वृक्ष है।

यह अश्वत्थ वृक्ष कैसा है? बड़ी अद्भुत कल्पना है, 'ऊर्ध्वमूलः'। मूल अर्थात् जिससे वृक्ष पैदा होता है। जिससे यह पैदा हुआ है, वह 'ऊर्ध्व' है। ऊर्ध्व मायने उत्कृष्ट, श्रेष्ठ है। अथवा ऊपर है। वेदान्तों के अंदर प्रायः अधिष्ठान को 'नीचे' बतलाते हैं। अधिष्ठान का मतलब ही होता है, जिसके ऊपर कुछ स्थित हो। जिस परमात्मा पर यह संसार कल्पित है वह इसका अधिष्ठान बताया जाता है। पेड़ की जड़ भी नीचे होती है, यहाँ श्रुति और भगवान् मूल को ऊर्ध्व क्यों कह रहे हैं? आचार्य शंकर ने पाँच हेतु बताये हैं परमात्मा की ऊर्ध्वता में: पहले तो 'कालतः ऊर्ध्वम्'। काल की दृष्टि से परमात्मा संसार से ऊर्ध्व है। जब सृष्टि हुई, तब संसार हुआ; और सृष्टि से पहले भी एकमात्र परमात्मा था ही, इसलिये इस संसार से, काल की दृष्टि से परमात्मा पहले है। 'सूक्ष्मत्वात्' यह सूक्ष्म होने से भी ऊर्ध्व है। दृश्य महाभूतों के अन्दर, पृथ्वी की अपेक्षा जल सूक्ष्म है। पृथ्वी तो ठोस होती है। पत्थर ठोस है। उसकी अपेक्षा जल पोला है। इसलिये जल के अन्दर तो तुम पत्थर डाल सकते हो, पर पत्थर में जल नहीं डाल सकते। पत्थर पर डाला हुआ जल सारा बह जाता है। इसलिये जल में अधिक सूक्ष्मता है। जल की अपेक्षा अग्नि सूक्ष्म है। अग्नि की अपेक्षा वायु सूक्ष्म है। वायु की अपेक्षा आकाश सूक्ष्म है। आकाश की अपेक्षा भी माया सूक्ष्म है। उसका भी कारण अव्यक्त माया-शक्ति वाला ब्रह्म ही है, वही उसका मूल है। इसलिये परमात्मा माया

की अपेक्षा भी सूक्ष्म है। संसार से सर्वथा सूक्ष्म होने के कारण वह ऊर्ध्व है। 'कारणत्वात्' कारण होने से भी ऊर्ध्व है। कारण हमेशा कार्य से सूक्ष्म होता है। इस संसार में आकाश से पृथ्वी पर्यन्त सब का वह कारण है। बाकी सब उसका कार्य है, वही कारण है। कारण की दृष्टि से भी वह ऊर्ध्व है। 'नित्यत्वात्' संसार में सारे पदार्थ, जैसा अभी कहा, क्षणपरिणामी हैं। एकमात्र परमात्मा कभी भी परिवर्तित नहीं होता। इसलिये वह नित्य है, स्वरूप से नित्य है। संसार स्वरूप से नित्य नहीं है। इसलिये भी परमात्मा संसार से श्रेष्ठ, ऊर्ध्व है। नित्य पदार्थ लोक में सर्वत्र विवेकियों द्वारा अनित्य से श्रेष्ठ माना जाता है। अविवेकी तो तत्काल काम में लेकर फैंकने योग्य चीज़ों को अच्छा मानते हैं। यहाँ तक कि एक पति या पत्नी को भी जीवनभर निभाने में उन्हें कठिनाई होती है! ऐसे लोगों को तो कभी परमात्म तत्व समझ में ही नहीं आयेगा। क्योंकि परमात्मा नित्य है, अतः वे कहेंगे कि सबसे बेकार है! और 'महत्त्वात्' सब के अंदर व्यापक है, इसलिये सबसे बड़ा होने से भी ऊर्ध्व है। सब का कारण है, इसलिये सब में व्याप्त है, सब कुछ उस से व्याप्य है। इस प्रकार, i) काल की दृष्टि से ii) सूक्ष्मता की दृष्टि से, iii) कारणता की दृष्टि से iv) नित्यता की दृष्टि से v) व्यापकता की दृष्टि से; इन सब दृष्टियों से परमात्मा इस संसार से ऊर्ध्व है। इसलिये कहा–'ऊर्ध्वमूलम्' संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष का मूल परमात्मा उत्कृष्ट है, अतः यह संसार–वृक्ष ऊर्ध्वमूल है।

यह बात कई लोगों को खटकती है, यह कल्पना बड़ी विचित्र लगती है। वृक्ष का मूल हमेशा ज़मीन में रहता है। वहीं से वह अपनी सारी शक्ति लेता है। दृष्टांत वह होता है जो देखा जाये। ऊपर मूल वाला वृक्ष कहीं दीखता नहीं। इस समस्या के समाधान में पहली बात तो यह है कि दृष्टांत वृक्ष–अंश में है, मूल में नहीं। दूसरी बात, कभी अगर मनुष्य शरीर को देखो तो इसके ज्ञान और क्रिया का केन्द्र तो सिर है, भेजा है; देखोगे तो वह ठीक जड़ों की तरह फैला हुआ है, और जो रीढ़ की हड्डी है, वह नीचे है। मनुष्य शरीर के अन्दर ऐसा वृक्ष देखा जाता है। बार–बार शास्त्रों ने इस बात को कहा है कि यह ब्रह्माण्ड यदि ठीक से देखना हो तो पिण्डाण्ड को देखो। यह आधारभूत फ़र्क है आधुनिक लोगों के समझने के तरीके में और हम लोगों के समझने के तरीके में। कई बार लोग कहते हैं कि इन सूक्ष्म यंत्रों के बिना प्राचीनों ने इन चीज़ों का कैसे पता लगाया? ऐसे–ऐसे भौतिक विज्ञान के परिणाम हैं जो वेदों के अंदर भी आये हैं, पुराणों के अंदर भी आये हैं। नतीजा एक मिल रहा है, परन्तु इन्होंने अत्यंत सूक्ष्म यंत्र बनाकर परीक्षण किया, और ऋषियों के पास ऐसे औजार थे नहीं तो उन्हें कैसे पता चला? यह कह नहीं सकते कि अन्दाज़ से बताया क्योंकि एक–दो नतीजे नहीं, बीसियों निष्कर्ष हैं जो जैसे ऋषियों ने बताये वैसे ही आधुनिकों को मिल रहे हैं, और विरुद्ध कोई मिल नहीं रहा। अतः आश्चर्य होता है। किन्तु सूत्र यह है, कि तुम बाहर की चीज़ों को देख कर शरीर के बारे में अतिदेश करते हो; प्रयोग तो बाहर करते हो ओर 'वहाँ ऐसा हुआ तो शरीर में भी ऐसा होगा' यह नतीजा निकालते हो; ऋषियों

की प्रणाली ठीक इससे विपरीत है। वे शरीर का परीक्षण करके उसका अतिदेश करते हैं, कि 'शरीर में ऐसा हो, तो बाहर ऐसा होगा'। शरीर में परीक्षण करने के लिये यंत्रों की ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि शरीर के अन्दर हर कण में हमारा मन फैला हुआ है। शास्त्रकारों ने कहा है कि मन आनखाग्र, नख के अग्रभाग तक उपस्थित है, वहाँ तक मन की गति है। मन जिस पदार्थ में पहुँचा हुआ नहीं है उसका यंत्रों के द्वारा पता मन को लगेगा परन्तु जहाँ मन पहुँचा हुआ है, उसका पता स्वयं लगाने में कोई कठिनाई नहीं होती। शरीर के परीक्षण से जो पता लगता है, उससे हम लोग जानते हैं कि बाहर के संसार में भी वही नियम है। अतः जिन लोगों ने शरीर के अन्दर का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि ऊर्ध्व स्थित सहस्रार से ही अमृत बिन्दु टपक कर सारे शरीर को जीवित रखता है। हमारे मध्य में जो सुषुम्णा-नाडी है, उसके द्वारा सहस्रार के अमृतस्राव से यह सारा शरीर जीवित रखा जाता है, सारे शरीर में शक्ति आती है। सहस्रार ऊपर है, मस्तिष्क में, इसलिये 'ऊर्ध्वमूल' है; वहीं से आती है शक्ति और नीचे सारी शाखाओं में फैलती है। इसलिये भगवान् ने कहा 'ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम्'।

यदि बाहर ही देखना चाहो, तो कोई पीपल का पेड़ तालाब के किनारे हो, उस तालाब के अन्दर उस पेड़ को देखो तो प्रतिबिम्ब में ऊपर मूल दीखेगा और नीचे शाखाएँ दीखेंगी। तालाब में पेड़ दिखाई देगा। प्रतिबिम्ब में सभी चीज़ें उलटी दीखती हैं। तुम भी खड़े होगे तो तुम्हारा पैर ऊपर दीखेगा और सिर नीचे दीखेगा। तात्पर्य यह है कि जैसे वह वृक्ष दीखने पर भी वृक्ष है नहीं। उलटा प्रतिबिम्बमात्र है, वस्तुतः न होने पर भी दृश्य है, वैसे संसार-वृक्ष वस्तुतः न होने पर भी प्रतीतिमात्र से सिद्ध है। जैसे उस वृक्ष को ढूँढने जाओ तो कुछ हाथ नहीं आता, उसी प्रकार संसार में किसी भी वस्तु की, और समग्र संसार की भी, यदि वास्तविकता क्या है - इसका पता लगाने जाओ तो यह वृक्ष मिलता नहीं! परन्तु कितना भी पानी में ढूँढ कर तुम निश्चय कर लो कि यहाँ पेड़ नहीं है, फिर भी बाहर खड़े होकर देखोगे तो पेड़ वैसा का वैसा दीखेगा, इसी प्रकार इस संसार वृक्ष का हम चाहे जितना अन्वेषण कर लें और निश्चय हो जाये कि यह नहीं है फिर भी प्रतीत तो होता ही रहता है। जब तक तालाब है तब तक वह वृक्ष दीखेगा। इसी प्रकार जब तक अविद्या का तालाब है, तब तक संसार दीखेगा ही। समूल अविद्या की निवृत्ति हो जाने के बाद, जब तक उसका संस्कार भी शेष है तब तक भी दीखेगा। अंत में जब प्रारब्ध के साथ अविद्या का संस्कार भी खत्म हो जायेगा तब फिर दीखना बंद होगा। ऐसा नहीं है कि रह जाये पर दीखे नहीं, वरन् है ही नहीं इसलिये दोष या उपाधि न रहने पर प्रतीति नहीं होती। इस बात को बताने के लिये कि संसार वास्तविक नहीं है प्रतिबिम्ब की तरह है, भगवान् ने यह दृष्टान्त दिया।

प्रतिबिम्ब की यह बात याद रखना कि जो कुछ वस्तुतः है उससे ठीक उलटा प्रतिबिम्ब में होता है। इसलिये परमात्मा से जितना प्रेम करो उतनी बंधन की निवृत्ति है, और परमात्मा के अविद्या में पड़े प्रतिबिम्ब में, जो यह संसार है इसमें जितना प्रेम करो उतना

बंधन बढ़ता है। जो चीज़ वस्तुतः उत्कृष्ट है, वही वहाँ निकृष्ट हो जाती है। सत् परमात्मा का संग करो तो मोक्ष की तरफ जाते हो, और उस परमात्मा के प्रतिबिम्ब, इस संसार का संग करो तो अधिकाधिक बंधन बढ़ता जाता है। जितना इस संसार का विचार करो उतना कुछ हाथ नहीं आता, और परमात्मा का विचार क्षणभर भी करते हो तो बहुत कुछ हाथ आता है। सर्वथा विपरीत है परमात्मा से संसार का स्वरूप।

संसार में सबसे बेकार चीज़ 'नाम' को मानते हैं। जब कहते हो कि 'इसमें बस नाममात्र ही चीनी है', तब तुम्हारा मतलब होता है, 'इसमें चीनी नहीं है', चीनी का नाम ही है अर्थात् चीनी नहीं है। ठीक इससे उलटा, परमात्मा का नाम ही प्रधान है, नाम में और नामी में कोई भेद नहीं। इसलिये परमात्मा के वाचक ओंकार का जितना तुम उपयोग करो उतना ही तुम पर परमेश्वर प्रसन्न होता है। संसार में नाम लेने से कुछ नहीं होता। परमात्मा के विषय में नाम लेना तुम्हारे बंधन का निवारक है। इसलिये कुछ महात्माओं ने कहा है कि रामचन्द्र जी ने अपने जीवन में सैंकड़ों को उबारा। परन्तु राम का नाम, तब से लेकर अब तक करोड़ों को तार चुका और आगे भी तारता रहेगा! इसीलिये सद्रूप परमात्मा है, उसका प्रतिबिम्ब जो संसार है उसके अंदर कहीं सत् मिलता नहीं। दीखता ज़रूर है सत्, परन्तु वस्तुतः नहीं है। इसी प्रकार से परमात्मा तो आनन्दघन है, और इस संसार में दुःख ही दुःख है। इसीलिये भगवान् ने इसका नाम 'दुःखालय' रखा। इस तरह यह जो संसार वृक्ष है, यह सर्वथा परमात्मा से भिन्न और विरुद्ध प्रतीति वाला है। इसलिये भी भगवान् ने यहाँ ऐसे वृक्ष को दृष्टान्त बनाया।

ऊर्ध्वमूल की तरह ही यह वृक्ष अधःशाख है, नीचे की ओर शाखाओं वाला है। भाष्यकार ने महदादि को शाखाओं की तरह बताया है। पहले (१३.२०) महत् आदि को बता चुके हैं। कठोपनिषत् (६.१) की व्याख्या में भाष्यकार ने लिखा है 'स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिरवाक्शाखः' अतः यहाँ मधुसूदन स्वामी 'अधइत्यर्वाचीनाः कार्योपाधयो हिरण्यगर्भाद्या गृह्यन्ते' से बताते हैं कि अन्तःकरण उपाधि वाले जीव शाखास्थानीय हैं। दोनों ही अभिप्राय समझ लेने चाहिए। स्वयं भाष्यकार अगले श्लोक में विभिन्न योनियों को शाखास्थानीय कहेंगे। अतः यहाँ शाखा से महत् से लेकर तत्तत् योनियों के शरीरों तक का ग्रहण समझ लेना चाहिये।

और यह संसार कैसा है? कहते हैं, 'अव्ययं प्राहुः'। अव्यय है क्योंकि मायामय है। जिस प्रकार से अश्वत्थ का वृक्ष काट सकते हैं, ऐसे उस प्रतिबिम्ब को कभी नहीं काट सकते! चाहे जितनी कुल्हाड़ी लेकर उस प्रतिबिम्ब को मारते रहो, वह कटने वाला नहीं है। और, वह कब से है? – यह भी नहीं कह सकते। तालाब सूख जाये तो किनारे के पेड़ उसमें प्रतिबिम्बरूप से दीखना बंद हो जायेंगे फिर पानी भर जाये तो पुनः दीखेंगे, पर क्या वापस पैदा हो गये? ठीक इसी प्रकार से, हर सृष्टि के अन्दर यह संसार प्रकट हो जाता है, और महाप्रलय में फिर प्रतीति नहीं रहती, कहीं कुछ नहीं रहता। परन्तु फिर भी यह नहीं कह सकते कि यह वृक्ष *लग* गया। दीखा नहीं, बस इतना ही है। क्योंकि जब दीख रहा था, तब

भी वस्तुतः नहीं था। दीखने के लिये लगने की तो ज़रूरत है नहीं। इसी प्रकार, यह सृष्टि कब हुई? यह कह नहीं सकते, अनादि काल से प्रवृत्त ही है, मायामय होने से, प्रतिबिम्ब की तरह होने से।

इस संसार वृक्ष की विशेषता है कि यह अनन्त प्रकारों में बनता रहता है फिर भी इसमें कोई कमी नहीं आती। ऐसा नहीं होता कि अब इतनी चीज़ें बन गयीं अब तो संसार ख़त्म हो जायेगा! लोग पूछते हैं 'महाराज! यह विज्ञान बढ़ते-बढ़ते कहाँ तक बढ़ेगा?' इस संसार को सच्चा समझते हैं इसलिये सोचते हैं कि कुछ बढ़ रहा है। अगर बढ़े तो उसकी सीमा भी हो किन्तु अनन्त शरीरादि को उत्पन्न करते हुए भी यह बिलकुल व्ययरहित है, वैसा का वैसा, तरो-ताज़ा है। बाप से बेटा पैदा हुआ, यह क्रम चलते क्या कभी ऐसा होता है कि अब तो दस हज़ार पीढ़ियाँ बीत गयीं अब सब हीजड़े हो गये! ऐसा तो कुछ नहीं होता। फिर जो नया बच्चा पैदा होता है वह वैसा का वैसा ताज़ा है। इस प्रकार नित्य नवीन अपने आप को करते रहने से, और कभी भी प्रारम्भ नहीं होने के कारण, इसको अव्यय कहा। इसमें कोई कमी नहीं आती।

इस संसार वृक्ष का पोषण करने वाला क्या है? वृक्ष का पोषण पत्ते करते हैं। यदि किसी वृक्ष के पत्ते न बढ़ने दो, काटते रहो, तो थोड़े समय में वह वृक्ष व्यर्थ हो जाता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखो तो वृक्ष सूर्य-किरणों को लेता है पत्ते के द्वारा और उससे अपना पोषक पदार्थ बनाता रहता है। पत्ते में जो हरापन तुम देखते हो, वह ऐसा पदार्थ है, जो सूर्य-रश्मियों को लेकर हम लोगों ने जिस दूषित वायु को छोड़ा है उसको पुनः प्राणरूप में बना देता है और वृक्ष का भोजन तैयार कर देता है! विज्ञान की दृष्टि से देखते हैं, तो जीवित प्राणी वहीं हो सकते हैं जहाँ कार्बन हो। वृक्ष उसे लेकर अपना शरीर बना लेता है। हमने प्राण वायु को लिया, उसी प्राण वायु से अपने शरीर में अन्न को जलाकर व्यर्थ की अपान वायु को निकाला। व्यर्थ वायु बनी इसीलिये कि हमने अन्न को जला दिया। वृक्ष ठीक उससे विपरीत करता है, उस दूषित वायु को लेता है, उससे प्राण वायु बनाकर बाहर कर देता है। अपान में हमने जो अन्न जलाकर कोयला, कार्बन डाला था, उससे अपने लिये पौष्टिक पदार्थ बना लेता है। यह सब करने वाला मुख्य पदार्थ रहता तो पत्ते में ही है। इसी प्रकार इस संसार वृक्ष का पत्ता कौन है?

'छन्दांसि यस्य पर्णानि' वेद ही वह पत्ता है। वेद इस संसार की पूर्ण तरह से रक्षा करता है। संसार वृक्ष का परिरक्षण वेद से ही होता है। क्योंकि वेद के द्वारा जो तुम्हारा व्यर्थ का ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का उपयोग है, उसको ऐसा मार्ग-दर्शन दिया जाता है जिससे उन्हीं ज्ञान और क्रियाओं के द्वारा उत्तम फल तुम्हें प्राप्त होते रहें। कर्म करके उसका फल भोगने के लिये देवलोक में जाओ, जब फल समाप्त हो जाये तब फिर मनुष्य लोक में आओ; फिर कर्म करो। फिर देवलोक में जाओ - इस प्रकार संसार-वृक्ष का परिरक्षण होता है। यदि पुण्य-पापादि क्रियाएँ न होवें तो संसार वृक्ष का परिरक्षण कैसे होवे? धर्म और अधर्म कैसे

होते हैं, धर्म और अधर्म का फल क्या है - इसका प्रकाशन करके, इसका ज्ञापन करके, वेद संसार वृक्ष का परिरक्षण करता है। और जैसे पत्तों के कारण पेड़ बड़ा सुन्दर दीखता है, पत्ते न होवें तो ठूँठ अत्यन्त खराब लगता है, इसी प्रकार से, यदि धर्माधर्म और फल का पता न होवे तो संसार-वृक्ष भीषण लगे! कोई प्रयोजन ही न रह जावे हम लोगों के कुछ भी करने का, जीने का। कुछ दिन पहले कोई बतला रहा था, संसार में दस लाख आदमी आत्म-हत्याएँ करते हैं। इतने लोग अन्य किसी एक कारण से नहीं मरते। इतनी संख्या आत्महत्या की क्यों बढ़ती जा रही है? व्यक्ति आत्महत्या तभी करता है जब जीवन का कोई प्रयोजन नहीं देखता। संसार के अन्दर जहाँ सबसे ज़्यादा लोगों के पास धन है, जीवन का स्तर बहुत ऊँचा है, कोई भी ऐसा नहीं है जो स्नातक स्तर तक पढ़ा न हो, वहीं सबसे ज़्यादा लोग आत्महत्या करते हैं! जब उनसे पूछा गया 'भाई! तुम लोग आत्महत्या क्यों करते हो?' जो कोशिश करने पर भी किसी कारण से बच गये, उनसे पूछा तो कहते हैं, 'संसार में हमें जो भोग चाहिये था वह सब हो गया, अब आगे क्या करें? कोई प्रयोजन ही नहीं दीखता जीने का! इस लिये भय बना रहता है कि अभी सब कुछ मिला हुआ है, आगे कहीं कोई रोगादि आ न जाये; इसीलिये मृत्यु में चले जायें तो रहेंगे नहीं, फिर रोग किसको सतायेगा!' बिना वेदोपदेश के जीवन का प्रयोजन ही नहीं रह जाता, यह संसार व्यर्थ का दीखता है, परन्तु वेद हमें स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त फल बतलाता है कि यहाँ का तो सब तुमको मिल गया, लेकिन इसके आगे और भी कुछ है। इस प्रकार से संसार की जो दुःखालयता है इसको ये पत्ते (वेद) ढाँक कर रखते हैं। संसार की जो वास्तविक बीभत्सता है वह पता नहीं लगती इन पत्तों के कारण, वेदों के कारण। जैसे पत्ते ढाँक देते हैं पेड़ की बदसूरती को, वैसे वेद ढाँक देते हैं संसार की दुःखमयता को इसीलिये वेदों के अंदर बहुत लंबे-चैड़े अर्थवाद हैं। अर्थवादों का यही प्रयोजन है कि इसकी बीभत्सता ढकी रहे। इस प्रकार संसार वृक्ष को ढाँकने वाले पत्ते वेद हैं।

'यस्तं वेद स वेदवित्'। 'यः' अर्थात् जो भी साधक 'तं' अर्थात् मूल के सहित इस वृक्ष के स्वरूप को 'वेद' जानता है 'सः' वह 'वेदवित्' वेदज्ञ है। मूल इसका उत्कृष्ट है। सबसे उत्कृष्ट जो ब्रह्म है, उससे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, वही मूल है। उस मूल को जानना मुख्य है। 'तं' अर्थात् मूल के सहित वृक्ष। वृक्ष को तो हम सब जानते हैं, परन्तु क्या नहीं जानते? वृक्ष का असली रूप नहीं जानते, और इसका मूल कौन है - इस बात को नहीं जानते। अतः मूल सहित वृक्ष की वास्तविकता को जो जानता है वही 'वेदवित्' वेद को जानने वाला है। इसलिये वेद में भी कहा है-'यस्तं न वेद किम् ऋचा करिष्यति'। सारे ऋग्वेद के मंत्र पढ़ लो, अन्य सारे मन्त्र पढ़ लो, परन्तु यदि तुमने परमात्मा को नहीं जाना तो सब परिश्रम व्यर्थ है। मूल के सहित अगर तुमने इस संसार वृक्ष को जान लिया तो फिर कुछ अणुमात्र भी नहीं बच जाता जो नहीं जाना गया।।१।।

इस प्रकार से भगवान् ने जिस दृष्टांत का प्रारम्भ किया उस के अन्य जो हिस्से हैं उन्हें

भी बतलाते हैं –

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

सत्त्वादि गुणों से पोषित व विषयरूप कोपलों वाली उस वृक्ष की शाखाएँ नीचे-ऊपर सब तरफ फैली हैं। जिनके पश्चात् कर्म होते हैं वे वासनारूप अवान्तर मूल मनुष्यलोक में ऊपर-नीचे घने होकर फैले हैं।

'तस्य शाखाः अधः ऊर्ध्वं च प्रसृताः' यह जो संसार वृक्ष है, इसकी शाखायें सब तरफ फैली हैं। अविद्या-विशिष्ट जो परमात्मा है उस अव्यक्त से जगत् व्यक्त होता है। व्यक्त में आकाशादि क्रम से उत्पन्न होते हैं। यह सब उसी तरह है जैसे डाली में से छोटी डाली निकलती है, उसमें से टहनियाँ निकलती हैं। कुछ डालियाँ नीचे जाती हैं; हम लोग मनुष्य लोक में हैं, इसलिये हम से नीचे जो पशु-पक्षी-वृक्ष पर्यन्त हैं, सब नीचे की डालियाँ हो गयीं। पेड़ को देखो तो कुछ डालियाँ नीचे को मुँह करती हैं, कुछ ऊपर को; नीचे की डालियाँ तो हो गयी मनुष्य-लोक से नीचे, स्थावर पर्यन्त। और ऊपर हो गये देवता, जनलोक-वासी से लेकर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के लोक-वासियों तक सभी ऊपर की डालियाँ हैं। ब्रह्मा जी को संसार का बनाने वाला कहते हैं। महाभूत तक का निर्माण तो परमेश्वर माया से कर देते हैं, आगे उन महाभूतों से सब प्राणियों की सृष्टि करने वाले हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ही हैं, वे सबसे ऊँचे हैं।

ये ऊपर और नीचे किस से जाते हैं? सब अपने-अपने कर्मानुसार जाते हैं। अथवा उपासना के अनुसार जाते हैं; 'यथाकर्म यथाश्रुतं' जैसा कर्म करोगे, जैसी उपासना करोगे, वैसे ही स्थान पर जाओगे। ऊपर हिरण्यगर्भ-पर्यन्त, और नीचे घोरतम नरकपर्यन्त सब कर्म और उपासना के सहारे शाखाओं में जाते हैं। दुष्कर्म, वेद में जिनका निषेध किया है, उन सबको जितना-जितना करोगे उतना-उतना नीचे जाते जाओगे।

ये इतनी शाखाएँ कैसे बढ़ती हैं? 'गुणप्रवृद्धाः' गुणों के द्वारा बढ़ती हैं। सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर देवलोक को जाने वाले कर्म-उपासनाओं को करोगे, तमोगुण के आने पर निकृष्ट लोकों को प्राप्त कराने वाले कर्म और उपासनाओं को करोगे। यद्यपि हिन्दी में उपासना शब्द केवल अच्छी उपासना के लिये है, तथापि निकृष्ट उपासनाओं को भी कहा उपासना ही जाता है 'उपासना नाम मानसी क्रिया' उपासना मन की क्रिया है। मन के द्वारा तुम चाहे ओंकार का चिंतन करो, और चाहे परस्त्री का चिंतन करो! दोनों ही उपासनाएँ हैं। रजोगुणी कर्म- उपासना फलेगी तो मध्यम अर्थात् मनुष्य लोक में आने की सम्भावना हो जाती है। अतः गुण ही मानो शाखाओं के उपादान कारण हैं क्योंकि गुण के कारण तुमने उपासना की, उपासना के कारण उस लोक में गये; लोक में गये अर्थात् तुम्हारे लिये ही वह लोक है। इसलिये गुणों से ही ये शाखायें प्रवृद्ध हैं, बढ़ती रहती हैं।

'विषयप्रवालाः'। 'प्रवालोऽभिनवपल्लवे' (हेम.) डालियों के ऊपर, छोटे-छोटे जो नये पल्लव लगते हैं अंकुर की तरह, उनको प्रवाल कहते हैं 'प्रवालमंकुरेऽप्यस्त्री' (अमर.)। जो भोग के विषय हैं वे प्रवाल की तरह हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये विषय कर्म के फलरूप ही हैं। शरीरादि से जो तुमने कर्म किया उसका ही फल विषय-प्राप्ति है। शाखाओं में डालियों में जो नया पत्ता आता है, उसका कारण अर्थात् तुम्हें जो नया विषय प्राप्त होता है उसका कारण तुम्हारे कर्म-उपासना हैं। इसीलिये कई बार कहते हैं कि ज्योतिषी को अनुभवी होना चाहिये। मान लो तुमको बड़ी अच्छी सवारी मिलनी है। पुराना ज्योतिष का ग्रन्थ देखोगे तो उसमें लिखा होगा कि हाथी की सवारी मिलेगी। जो समझदार ज्योतिषी नहीं होगा, वह सीधा कहेगा कि, हाथी की सवारी मिलेगी। हाथी की सवारी आज के ज़माने में कहाँ मिलेगी! आज जिस सवारी को उसने अपने मन से अच्छा कल्पित कर रखा है वह है मर्सिडीज़ गाड़ी। ग्रह यह तो बतला देंगे कि तुम्हारे कर्मों का फल किस प्रकार का होगा, परन्तु आगे तुमने जिस मानस चिन्तन को किया है, जिसके द्वारा तुम उसको 'अच्छी सवारी' समझते हो, जिसके मिलने पर तुमको बोध होगा 'मुझे अच्छी सवारी मिली', उसके अनुसार ही वह कर्म फल देगा। अनुभवी ज्योतिषी यह सब सोचकर ऊह के द्वारा ठीक फलादेश देगा। शरीरादि से जो होने वाले कर्म-उपासनायें हैं उनके फल के लिये ही शाखाओं में नव-पल्लव लगते हैं। जैसी-जैसी हमारी कल्पना होती जाती है, तदनुरूप ही कर्मों का फल होता चला जाता है। आज से सत्तर साल पहले तक, धोती खूब मुड़ी हुई होवे, चद्दर खूब मुड़ी हुई होवे, तब उसको अच्छा मानते थे। पुराने लोगों के कपड़े धोते थे, उसके बाद अच्छी तरह से मोड़कर एकदम रस्सी की तरह बनाकर खूंटी पर टाँग देते थे। फिर धीरे-धीरे कल्पना होने लगी, कि जो कपड़ा बिना सलवट के होता है, वह अच्छा होता है। कलकत्ते के किसी पुराने आदमी को देखो तो वह जो धोती पहनेगा उसमें सलवट, चुन्नट पड़ी होगी। उसके लिए विशेष यन्त्र होता है, उसको करने के लिये धोबी भी खास पैसा लेता है। अब जब लोगों ने कल्पना करना शुरू किया कि बिना सलवट का कपड़ा अच्छा होता है, तब पहले-पहल कपड़े को बिछौने के नीचे रखना शुरू किया; रात में बिछौने के नीचे रख दो, तो कपड़ा सीधा हो जाता था। फिर उतना सीधा होना भी अच्छा नहीं लगा, और सीधा होना चाहिये; तो लोटे में अंगारे डालकर कपड़े के ऊपर गरम-गरम घुमाते थे, ताकि सलवट न रह जाये। फिर उतना भी ठीक नहीं लगा तो कपड़े के अन्दर माँड़ डालने लगे जिसे माया कहते हैं, जिससे कपड़ा बिलकुल कड़ा हो जाये, जो फिर जब सीधा किया जाये तो सीधा बना रहे। फिर इस्तरी करने के यंत्र आने लगे। अच्छा कपड़ा तो मिलेगा कर्म के फल से पर अच्छा कपड़ा कैसा होता है - यह तुम्हारी मानस वृत्तियों के अनुसार है। इसलिये कहा 'विषयप्रवालाः' विषय हमेशा नये पत्तों की तरह ही होते हैं।

संसार की असली जो जड़ है, मूल है वह ब्रह्म को बतला दिया था। मुख्य जड़ की सहायक अवान्तर जड़ें भी वृक्ष में देखी जाती हैं। उनके स्थानापन्न यहाँ बताया 'अधश्च

मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि'; 'मूलानि' – इसके अवान्तर मूल क्या बनते हैं? कर्म के फल जो विषय प्राप्त होते हैं, उनके प्रति राग हो जाता है, और यदि गलत कर्मों से विषय मिलते हैं तो उनके प्रति द्वेष हो जाता है। जो विषय अच्छे लगेंगे उनके प्रति राग होगा, जो विषय दुःख देने वाले लगेंगे उनके प्रति द्वेष होगा। कर्मफल से जिन विषयों की प्राप्ति होती है, उन विषयों के प्रति राग और द्वेष हो जाते हैं। उन राग-द्वेषादि की जो वासना है, संस्कार है, उसके कारण हम फिर कर्म करते हैं। वे कर्म फिर विषय को उत्पन्न करते हैं। राग-द्वेषादि से प्रवृत्त होकर तुमने कर्म किया, कर्म के अनुसार तुमको फल मिला, उस फल के साथ तुम्हारा फिर राग-द्वेष हो गया, फिर राग-द्वेष के संस्कार प्रवृत्त करते हैं; इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। इसलिये कहा 'अधश्च' नीचे की तरफ 'मूलानि अनुसन्ततानि' ये मूल प्रविष्ट हैं। इनका घना जाल बना है, संस्कार परस्पर जाल की तरह सम्बद्ध रहते हैं।

'कर्मानुबन्धीनि'। कर्म, अर्थात् धर्म या अधर्म। उसके 'अनुबन्ध' अर्थात् उसके पश्चात् होने वाला जो बन्ध है। कर्म के द्वारा विषय की प्राप्ति होगी, उसके द्वारा राग-द्वेष, राग-द्वेष के द्वारा फिर कर्म में प्रवृत्ति – इस प्रकार कर्म के बाद ही वासना बनती है। बिना कर्म के विषय नहीं मिलेगा और विषय को सामने रखे बिना कोई भी पुण्य-पाप नहीं होता, किसी न किसी चीज़ के लिये ही पुण्य करोगे या पाप करोगे। वासना को कर्म का अनुबन्ध कहा इसलिये स्थान बता दिया 'मनुष्यलोके'। क्योंकि वेद में मनुष्य का ही अधिकार है इसलिये मनुष्यों के द्वारा ही कर्म से विषय और फिर उत्पन्न होती है वासना। जो मनुष्यलोक नहीं हैं, पशु पक्षी इत्यादि हैं, वे केवल भोग-शरीर हैं। वहाँ भोग हो सकता है, नया कर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार से ऊपर के जो देवता इत्यादि हैं वे भी केवल भोग कर सकते हैं, कर्म का अधिकार उनको भी नहीं है। इसलिये स्पष्ट कर दिया 'मनुष्यलोके'; भगवान् कहते हैं कि मनुष्य लोक में ही वृक्ष को आगे बढ़ाने का कार्य चलता है।।२।।

संसार वृक्ष को काटने का उपाय बताते हैं –

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम् असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

(जैसा बताया) वैसा इसका रूप (बिना शास्त्रसंस्कार के) संसार में पता नहीं चलता। इसके आदि, अन्त, बीच हैं नहीं। अतिदृढ मूल वाले इस अश्वत्थ को वैराग्यरूप शस्त्र से काटकर (परमेश्वर की खोज करनी चाहिये)।

'इह' – संसार के अन्दर, अर्थात् जीवित रहते हुए ही 'अस्य रूपं तथा न उपलभ्यते' इसका रूप जैसा दीख रहा है वैसा मिलता नहीं। विवेक, विचार करने पर संसार जैसा दीखता है वैसा नहीं मिलता। प्रवृत्ति-निवृत्ति में यह भेद रहता है। राग हुआ, विषय मिला; विषय क्या है – इसे समझने का कोई प्रयत्न किये बिना विषय भोगकर फिर कर्म करने में लग जाते हैं। कीट-पतंग आदि यही करते हैं। गाय घास चर लेगी, खुश हो जायेगी; घास

क्यों मिली, उसका क्या कारण है - इस सबका उसमें कोई विचार नहीं। इसी प्रकार प्रवृत्ति-परायण लोग एक-के-बाद-एक कर्म और भोग में लगते चले जाते हैं; सत्य क्या है - यह नहीं सोचते, इसी से यह संसार चलता रहता है।

विचार करते हैं तो इस संसार में स्वप्न से भिन्न कुछ विशेष मिलता नहीं! स्वप्न के अन्दर भी ऐसे ही विषय दीखते हैं और होते नहीं। फिर जाग्रत् में दीखते हैं तो ये हैं इसमें प्रमाण क्या? संसार के पदार्थों में प्रमाण तो यही देते हैं कि प्रतीत होते हैं। इसके सिवाय और तो इनमें कोई प्रमाण है नहीं। कहीं वेद ने तो कहा नहीं कि संसार के पदार्थ सच्चे हैं। प्रत्यक्ष हुआ, इसलिये मानते हो। आगे प्रश्न होता है कि ऐसा ही तो स्वप्न के पदार्थों का दर्शन होता है, उनको भी सत्य मानते हो क्या? हम लोगों के इतने लम्बे, पुराणों से लेकर के अब तक के काल में, एक हरिश्चन्द्र हुआ, जिसने स्वप्न में दान दिया था और जाग्रत् में उसको वसूल करने जब आ गये विश्वामित्र तो उनको देने को तैयार हो गया। बाकी तो किसी से कहो कि 'हमने तुमको स्वप्न में लाख रुपए दिये थे, चलो लाख जाने दो, उसका ब्याज तो दे दो', तो कोई धेला मिलेगा? एक हरिश्चन्द्र ही अपवाद हुआ है। विचार से जाग्रत् और स्वप्न के अन्दर कोई भेद प्रतीत होता नहीं। इस समय ही हम में से कोई निश्चय करके नहीं कह सकता कि सपने के अन्दर कथा सुन रहे हो या जाग्रत् में कथा सुन रहे हो! एक बहुत बड़ा दार्शनिक हुआ, उसने लिखा है कि 'एक दिन सपने में मैंने देखा कि मैं तितली हूँ, लेकिन तब से मैं सोच रहा हूँ कि मैं सचमुच में क्या तितली हूँ जो अपने को आदमी समझ रहा हूँ, या मैं सचमुच में आदमी हूँ जिसने अपने को तितली समझा था!' कोई निर्णय करने का तरीका नहीं है। लोग कह देते हैं 'अगर दीवाल पर सिर फोड़ोगे तो गुमड़ी निकल आयेगी, पता चल जायेगा कि सपना है या नहीं।' किन्तु सपने में भी ऐसा ही होता है! कोई दूसरा कहता है 'वहाँ जाकर सिर मारो, गुमड़ी निकल आयेगी', और वहाँ जाकर सिर मारते हैं तो गुमड़ी निकल भी आती है। स्वप्न ही नहीं जाग्रत् के अन्दर भी मृग का जल दीखता है मृगतृष्णा। वह जैसा हमको तालाब दीखता है, वैसा ही दीखता है। कोई फ़र्क नहीं नज़र आता है। उसे देखकर चले जाओ तो तुमको यही लगेगा कि 'वहाँ जलाशय है'। अगर तुमको पानी पीने की इच्छा है, और उसकी तरफ जाओ, तब कई मील चलने के बाद निर्णय होता है कि यहाँ जल नहीं है। इसलिये, संसार का रूप केवल स्वप्न की तरह, मृगतृष्णा की तरह है, इसमें सत्य कुछ भी नहीं है। कई बार रबड़ी का मालपुआ खाकर सोते हैं, सपना आता है कि 'तीन दिन से कुछ भिक्षा नहीं मिली है, बड़े ज़ोर की भूख लगी है। क्या करें, कहाँ खाने को मिले!' पेट में पड़े मालपुए कुछ मदद नहीं करते! लोग कहते हैं कि सपने की चीज़ काम नहीं आती, लेकिन जाग्रत् की चीज़ सपने में कौन-सी काम आती है! सपने में भूखे मर रहे हैं, जाग्रत् के पेट में पड़े मालपुए कुछ नहीं कर रहे हैं। इसलिये स्वप्न-काल के पदार्थ स्वप्न-काल के ही हैं, जब देखे जाते हैं; जाग्रत्-काल के पदार्थ भी जाग्रत्-काल के ही हैं, जब अनुभव किये जाते हैं।

इसीलिये 'नान्तः'। अगर दृष्टि से अतिरिक्त संसार कुछ होता तो उसकी समाप्ति भी होती। उससे अतिरिक्त है ही नहीं तो उसका अन्त क्या होना है! जब तक दीखा तब तक दीखा, आगे कुछ भी नहीं है। और 'न चादिः' इसका आदि भी नहीं है। इस समय से यह शुरू हुआ - ऐसा नहीं, इस समय यह समाप्त हुआ - ऐसा भी नहीं। जब तक दीखा तब तक है, और जैसे ही दीखना ख़त्म हुआ वैसे ही नहीं है। स्वप्न का ही यदि पता लगाना चाहो कि स्वप्न किस समय शुरू हुआ था, तो कभी पता नहीं चल सकता। और स्वप्न किस समय ख़त्म हुआ, इसका भी पता नहीं चल सकता। ख़त्म होने के थोड़ी देर बाद तो पता लग जायेगा लेकिन ठीक किस समय स्वप्न आया यह भी पता नहीं लगता और ठीक किस समय स्वप्न ख़त्म हुआ यह भी पता नहीं लगता। क्योंकि जिस घड़ी से तुम आदि-अन्त देखोगे वह तो जाग्रत् में रहेगी, स्वप्न में दीख नहीं सकती। और जब जाग्रत् में आ गये तब स्वप्न से सम्बंध नहीं रहा। और क्योंकि बिना आदि-अन्त के प्रतीत हो रहा है इसलिये 'न च सम्प्रतिष्ठा' इसकी स्थिति भी नहीं है। जिस समय प्रतीत हो रहा है उस समय में भी यह नहीं है, क्योंकि प्रतीति से अलग और कुछ उपलब्ध होता नहीं।

'एनम् अश्वत्थम्' यह जो वृक्ष है, संसार-वृक्ष, पीपल का, यह 'सुविरूढमूलं' इसका जो मूल है वह - सुविरूढ अच्छी तरह से जड़ें जमाये हुए है। परन्तु है यह वृक्ष, इसलिये 'असङ्गशस्त्रेण' असङ्ग रूप शस्त्र से कट जायेगा। वित्तैषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणा - इन सब कामनाओं को छोड़ देना ही असंग शस्त्र है। इस संसार को पुष्ट करने वाली चीज़ राग-द्वेष की आसक्ति है। और यह आसक्ति दृढमूल है, डटी हुई है हमारे अन्दर। एक चीज़ की आसक्ति हटाओ तो दूसरी चीज़ की आ जाती है। खूब बढ़िया मिर्च खाना अच्छा लगता है, फिर किसी ने कहा 'मिर्च खाना छोड़ दो', तो थोड़े दिन तो दुःख-सा प्रतीत होता है, उसके बाद लगता है कि सब्ज़ियों का स्वाद तो अब पता चलता है! पहले तो खाली मसाले का स्वाद पता लगता था। अब एक दिन मिर्च पड़ी होवे तो सब्ज़ी खाई नहीं जाती। अब सब्ज़ियों के स्वाद में आसक्ति हो गयी। मसाले से आसक्ति हटी तो उधर लग गयी। यही सुविरूढमूलता है। इसीलिये असंगशस्त्र को भी 'दृढेन', तेज़ करना पड़ेगा। 'सुविरूढमूल' वृक्ष को काटना पड़ता है तो जब तुमने उस पर सौ डेढ़-सौ बार कुल्हाड़ी चलाई तब वह कुंठित हो जाती है। फिर उसको पत्थर पर घिसना पड़ता है, तेज़ हो जाये तब फिर चलाओ। यों कई बार करो, तब वह कटता है। इसी प्रकार यहाँ पर जो यह 'असंगता' का शस्त्र है, एषणाओं का त्याग है, यह भी तीक्ष्ण बनाये रखना पड़ता है। थोड़ी देर के लिये एषणाओं से दूर हटकर के जहाँ तुमने विषय में प्रवृत्ति की, वहाँ फिर एषणा घुस जाती है, असंगता भुथरी हो जाती है। फिर विवेक का अभ्यास करके उस असंगशस्त्र को तेज़ करके पुनः चलाओ, तब कुछ वार कारगर होते हैं। यों बार-बार विवेक करके वैराग्य को दृढ करना पड़ता है, अन्यथा उसमें वह तेज़ी रहती नहीं जो संसार को समाप्त करे। इसलिये कहा 'असंगशस्त्रेण दृढेन'।

मनुष्य में कामना स्वाभाविक है। संसार से हटाने पर उसे परमात्मा में केन्द्रित करना

आवश्यक है। बोलने को तो रोज़ हम कह देते हैं: माता के प्रति जो भाव है वह हे परमात्मा! आपकी तरफ होवे; पिता की तरफ जो भाव है वह आपकी तरफ होवे, विद्या की तरफ जो भाव है वह आपकी तरफ होवे, धन के प्रति जो भाव है वह भी आपकी तरफ होवे। रोज़ बोल तो देते हैं-'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।'परन्तु वह दृढ इसलिये नहीं हो पाता कि बोल कर फिर व्यवहार में जाते ही सांसारिक माता ही माता रह जाती है, पिता पिता रह जाता है, पैसा पैसा रह जाता है। साधक को चाहिये कि फिर विवेक करके देखे 'ये सब मेरे असली सम्बन्ध वाले नहीं हैं, मेरा असली सम्बन्धी तो मेरा आत्मतत्त्व ही है, प्रत्यगात्मा ही है। बाकी सब आया है, और नष्ट हो जायेगा।' बार-बार विवेक के अभ्यास से असंगशस्त्र तेज़ हो जाता है। 'परमात्मा मेरा सब कुछ है, परमात्मा के सिवाय और किसी से मेरा कोई संबंध नहीं' ऐसा जब दृढ कर दिया जाता है, तब ही इस संसार को आदमी काट सकता है। संसार वृक्ष को काटने के लिये, विवके के द्वारा बार-बार तेज़ किया जो वैराग्य है, वही कारण है। उसके बिना यह संसार वृक्ष कटता नहीं। इसीलिये कहा 'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी' जो प्रेम अविवेकदशा में विषयों से है वही प्रेम वहाँ से हटा कर परमात्मा में लगाना है। नारी जैसे प्रेमी को, लोभी जैसे धन को चाहता है ऐसे ही भक्त परमात्मा को चाहे, अन्य कुछ न चाहे, तभी संसार से छूटेगा।

संसार वृक्ष का मूल तो परमात्मा ही हैं। वे अपनी माया से संसार का निर्माण करते हैं। चूंकि माया के वे अधीश्वर हैं अतः वे ही इस संसार के वास्तविक मूल हैं। परन्तु इसको दृढ करने वाला हम लोगों का कामनापूर्वक किया हुआ कर्म है। कर्म से विषय रूपी फल, विषय का भोग करने से सुख-दुःख, सुख की चीज़ के प्रति राग और दुःख की चीज़ के प्रति द्वेष, उस राग-द्वेष से पुनः कर्म की प्रवृत्ति होती है, विषयों के द्वारा सुख-दुःख की प्राप्ति के लिये। इसलिये यह संसार चलता रहता है और अधिक-अधिक दृढ होता जाता है। जब विवेक करके असंगता के द्वारा इस राग-द्वेष को काट दिया जाता है तब परमात्मा की तरफ जाने का निश्चय दृढ होता है। परमात्मा की तरफ जाने की प्रवृत्ति तो हो भी जाती है, पर विषय-भोग के लिये आवश्यक जो कर्म हैं वे परमात्माभिमुखी प्रवृत्ति को दृढ नहीं रहने देते। जब असंगशस्त्र के द्वारा कामना का छेदन कर दिया जाता है, तब परमात्मा की तरफ चलने की प्रवृत्ति दृढ हो जाती है।।३।।

इस प्रकार संसार-वृक्ष का छेदकर फिर साधक क्या करे, यह बताते हैं -

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

(संसार वृक्ष काटकर) फिर 'जिससे चिरंतन संसारप्रवृत्ति फैली है उसी कारण पुरुष की शरण लेता हूँ' यों उस पद का अन्वेषण करना चाहिये जिसे पाकर पुनः लौटते नहीं।

'ततः' उसके बाद; विवेक के द्वारा वैराग्य तीव्र करके, शमादि के दृढ हो जाने पर जो तीव्र मुमुक्षा होती है, उसके बाद। 'ततः' के द्वारा भगवान् ने ब्रह्मसूत्र के 'अथ' शब्द के भाव को कह दिया अर्थात् विवेक, वैराग्य, शमादि, मुमुक्षा, इस साधन-चतुष्टय की प्राप्ति के बाद। 'तत् पदं परिमार्गितव्यं'; पद कहते हैं जो प्राप्त करने के योग्य होता है। 'पद्यते' जो पाया जाये उसको पद कहते हैं। वर्तमान काल में यह शब्द प्रसिद्ध है क्योंकि सभी किसी-न-किसी पद को पाने के लिये प्रयास करते हैं। जिस चीज़ को प्राप्त करना चाहते हैं उसको पद कहते हैं। पद दो तरह के होते हैं - एक तो जिलाधीश, मंडलाधीश, निदेशक, सचिव, मंत्री आदि सारे पद हैं, जो मिलते हैं और फिर चले जाते हैं। दूसरा, जैसे व्यवहार में राजा का पद है। राजा के पद की प्राप्ति होने पर वह व्यक्ति ही राजा हो जाता है अतः वह पद फिर हटता नहीं। यह बात दूसरी है कि राजा का पद भी कोई विप्लव करके हटा सकता है, पर सामान्यतः मरने तक राजा ही रहता है। प्राप्त तो दोनों पद होते हैं, राजा का पद मिलेगा जो पटरानी के पेट से जन्मे उसे, और मंत्री पद मिलेगा जिसके पक्ष में पेटी में अधिक मत पड़े हों। एक पेट से प्राप्त करता है, दूसरा पेटी से प्राप्त करता है! पेट से जो पद मिला वह उस व्यक्ति का सहज हक माना जाता है। पेटी से मिला हुआ सहज नहीं है क्योंकि हर पाँचवें वर्ष फ़िर छूटने का डर है। किंतु यहाँ जिसे ढूँढना है वह पद है, 'तद् विष्णोः परमं पदं' व्यापक परमात्मा का परम पद। आने-जाने वाली जितनी चीज़ें हैं उनको तो अश्वत्थ से कह दिया। आने-जाने वाली चीज़ों का जो पद है, प्राप्ति है, उसको तो जिसने काट दिया, 'छित्वा', वह इस परम पद को खोज लेगा।

अतः अनित्य पदार्थों की प्राप्ति का तो यहाँ प्रश्न आता नहीं, जो नित्य अपना स्वरूप है, आत्मस्वरूप है, वैष्णव स्वरूप है, उस पद की भगवान् यहाँ बात कर रहे हैं। यदि आत्मा का अपना स्वरूप वैष्णव पद नहीं होता, व्यापक-भाव नहीं होता, यदि कुछ करके व्यापकता मिलती होती, तो वह भी विनाशी होने से 'अश्वत्थ' के अन्तर्गत आती। अतः 'पद' के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि नित्य, व्यापक, अपरिच्छिन्न भाव को प्राप्त करना है क्योंकि वही आत्मा का अपना स्वरूप है। आत्मा कुछ करके ब्रह्म नहीं बनता है, आत्मा ब्रह्म है।

उस पद को 'परिमार्गितव्यं', उसका अन्वेषण करना चाहिये। जिस प्रकार से तुम यहाँ से दिल्ली जाते हो, तो दिल्ली तुम्हारे कुछ करने से पैदा नहीं होती, दिल्ली के मार्ग से चलते हो तो दिल्ली पहुँच जाते हो। तुम्हारे जाने से या तुम्हारे कुछ करने से तो दिल्ली पैदा होती नहीं। इसलिये यहाँ भगवान् ने शब्द कहा 'परिमार्गितव्यं'। मार्ग से जाना है, और मार्ग है अन्वेषण। जो चीज़ जैसी है उसकी उस वास्तविकता को जानने को ही अन्वेषण कहते हैं। इसलिये विज्ञान में अन्वेषण करते हैं, तो यह नहीं कहते कि हम ऐसा *करेंगे,* वरन् जो है उसको *जानेंगे।* इसी को परिमार्गण कहते हैं, अन्वेषण कहते हैं, जिसमें जो चीज़ जैसी है उसको वैसा जाना जाता है। आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा उसे जानना है। आत्मा का स्वरूप अहंकार के साथ, बुद्धि के साथ, मन के साथ, प्राणों के साथ, इन्द्रियों के साथ, शरीर के साथ, तो हम लोग जानते

हैं। परन्तु आत्मा खुद कैसा है – इसको जानना है। सारा अन्वेषण इसी प्रकार का होता है। शुद्ध सोने का क्या रूप है? सोना खान में हमेशा दूसरी चीज़ों से मिला हुआ मिलता है। इसलिये सोने के जैसे गुण धर्म तुमको किसी विज्ञान की पुस्तक में लिखे मिलेंगे, उस से कुछ-न-कुछ फ़र्क ही व्यवहार में उपलब्ध सोने में मिलेगा। चाहे जितनी कम होवे, कुछ खोट तो रहती ही है। किन्तु वैज्ञानिक थोड़े-से सोने को पूर्ण शुद्ध कर उसके गुण-धर्म परख लेते हैं जिन्हें सोने का स्वभाव माना जाता है। इसी प्रकार आत्मा जब हमें मिलता है तब अहंकार, बुद्धि, मन आदि सबके साथ ही मिलता है। अन्वेषण करके, इसको उनसे अलग करके हम पता लगा सकते हैं कि आत्मा स्वयं कैसा है। जो पद, अर्थात् हमारा वास्तविक स्वरूप है, उसका ही परिमार्गण करना है, अन्वेषण करना है।

भगवान् उस पद को पाने का फल बतलाते हैं 'यस्मिन् गताः' जिस पद का ज्ञान हो जाने पर; सामान्य दृष्टि से तो 'पद में जाने पर'; पर यहाँ जाना जानना ही है। इसलिये भगवान् ने 'गम्' धातु का प्रयोग किया जिसका अर्थ जाना भी होता है और जानना भी होता है। हिन्दी में भी कहते हैं कि 'यह बात अवगत हो गयी' अर्थात् जान ली गयी। उस पद का ज्ञान हो जाने पर, 'भूयः न निवर्तन्ति' फिर जानकर संसार में लौटते नहीं। परमात्मज्ञान हो जाने पर फिर अविद्या रह नहीं जाती, जिसके कारण तुम अहंकार से लेकर शरीर तक से अपने को एक करके समझते हो। यहाँ 'गताः' शब्द का प्रयोग किया; एक जानना होता है, एक दृढ निश्चय होता है। हैं तो दोनों ही जानना, परन्तु एक 'जानना' में कहीं-न-कहीं संशय और विप्रतिपत्ति हैं। विप्रतिपत्ति अर्थात् गलत ज्ञान। संशय और विप्रतिपत्ति से रहित जो जानना है, वह दृढ निश्चय का रूप होता है जिसे 'गताः' से कहा। जब तक संशय-विपर्यय (भ्रम) से रहित आत्मपद का ज्ञान नहीं है। तब तक वहाँ प्रविष्ट नहीं हो। जैसे 'पानी में प्रविष्ट हो गये' अर्थात् अब तुम्हारे शरीर का कोई हिस्सा बाहर नहीं रह गया, इसी प्रकार 'गताः' अर्थात् आत्मस्वरूप के अनुभव में ऐसे स्थित हो गये कि अब उस से अलग होकर अविद्या के कारण अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त, किसी में तुम्हारा आत्मभाव आता ही नहीं। यह अनुभव आत्मविषयक न रहकर आत्मस्वरूप होता है। फिर देहादि प्रतीत होने पर भी उनमें आत्मभाव नहीं रहता है। इस संसार समुद्र में सब चीज़ें अश्वत्थरूप हैं, संसरण करती रहती हैं, बदलती रहती हैं। यह सारा जो मायामय संसार है, परपदप्राप्ति के बाद इसके साथ फिर कभी आत्मभाव नहीं होता। यह फल होता है इसलिये यह अन्वेष्टव्य है। आत्मा के शुद्ध रूप का साक्षात्कार होने पर फिर कभी भी अशुद्धि के साथ स्पर्श होता नहीं। स्पर्श तो पहले भी नहीं था, लेकिन अविद्या के कारण स्पर्श की प्रतीति थी, अविद्या निवृत्त हो गयी तो अब स्पर्श की प्रतीति भी नहीं है।

भगवान् ने कहा कि उसका मार्गण करो, उसके मार्ग से चलो; प्रश्न होता है मार्ग क्या है? किस मार्ग से चलें? अतः स्वयं भगवान् कहते हैं 'तमेव च आद्यं पुरुषं प्रपद्ये,' 'तम्' से पूर्वार्ध में कहे पद का निर्देश है। वह पद क्या है? 'आद्यं पुरुषं' आद्य पुरुष है। आद्य

इस सारे संसार के उत्पन्न होने के पहले, केवल आत्मा मात्र था। 'आत्मैवेदम् अग्रे आसीत्' वेद कहता है कि यह सब जब तक प्रकट नहीं हुआ था। उसके पहले केवल एक आत्मा ही था। अतः आत्मा को भगवान् ने कहा आद्य। 'पुरुष' पूर्णत्वात्पुरुषः, वह पूर्ण था। पूर्ण में से यह सारा संसार पूर्ण निकल आया फिर भी वह पूर्ण वैसा का वैसा रह गया! यह पूर्ण की विशेषता है। शांति-पाठ में बोलते ही हो-'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'। आधुनिक गणित शास्त्र में भी पूर्ण को अनन्त कहते हैं, और उसके बारे में यही मानते हैं कि उसमें से चाहे जितने अनन्त निकल जायें फिर भी वह अनन्त ही रहता है। मोटे दृष्टान्त से पहले समझ लोः एक इंच की रेखा में कितने बिन्दु हैं? अनन्त बिंदु हैं। अब उस रेखा को आधा इंच कर दो। आधा इंज की रेखा में कितने बिंदु हैं? अनन्त ही हैं! जो दूसरा आधा इंच निकला, उसमें कितने बिंदु हैं? अनंत बिन्दु हैं। इसी प्रकार उस पूर्ण पुरुष से, आदि पुरुष से, आत्मा से, यह सारा संसार निकला, और निकले ही जा रहा है, और निकलता ही जाता रहेगा, फिर भी वह वैसा-का-वैसा पूर्ण है।

उस आदि पुरुष को 'एव' ही; अर्थात् उससे निकले हुए इस पूर्ण संसार से दृष्टि हटाकर केवल उसकी शरण लेनी है। सारी सृष्टि होने के पहले जो वह आत्मरूप अकेला था, जिससे यह सब निकला है, उसकी ही 'प्रपद्ये' शरण जाता हूँ अर्थात् और किसी चीज़ की नहीं, उस आत्मा मात्र की प्रपत्ति करता हूँ। वही अपने को उघाड़ कर बतला देता है, तभी उसका ज्ञान होता है। इसलिये अन्यत्र वेद ने कहा है 'विवृणुते तनूं स्वाम्' (मुं. ३. २.२)। जब परमात्मा प्रसन्न होता है तब अपना शरीर जैसा है वैसा कार्य-कारण उपाधियाँ हटाकर दिखला देता है। जब अन्य सभी चीज़ों को छोड़ कर एकमात्र उस परमात्म तत्त्व को ग्रहण करते हैं, तब माया के द्वारा उसने जितनी उपाधियाँ ली हैं, उन सब उपाधियों को छोड़कर, वह जैसा है वैसा प्रकट हो जाता है। चूंकि आत्मरूप है, इसलिये आत्मरूप से ही प्रकट होता है। यदि वह अनात्मरूप होता तो अनात्मरूप से प्रकट होता। वह है ही आत्मा, इसलिये आत्मरूप से ही प्रकट हो सकता है।

परमात्मा पूर्ण है, यह कैसे पता लगता है? 'यतः' जो तुम्हारा आत्मस्वरूप है उस परमात्मा से ही 'प्रवृत्तिः' संसार बना है। परमात्मा है, तभी माया से यह सब प्रसृत हुआ है, फैला है। परमात्मा का आवरण करने वाले अज्ञान से ही संसार वृक्ष प्रवृत्त हुआ है। बड़ा मोटा यदि दृष्टांत लो, तो तुम्हारा जितना संसार बढ़ता है, प्रवृत्त होता है, वह सब तुमको ढाँकने वाले तुम्हारे शरीर से ही होता है! शरीर लेकर ही माता है, शरीर लेकर ही पिता है, शरीर लेकर ही पत्नी है, शरीर लेकर ही पुत्र है, शरीर लेकर के ही धन है, शरीर लेकर ही सारी सम्पत्ति है। जो सारा संसार तुम्हारा बढ़ता है, यह तुम्हारे आवरण शरीर को ही लेकर है। शरीर का आवरण मिटने के बाद, बैंक के खातों से तुम एक धेला नहीं निकाल सकते! जैसे तुम्हारा आवरण करने वाले शरीर से ही तुम्हारा सारा संसार प्रवृत्त हुआ है, इसी प्रकार परमात्मा का आवरण जो माया, उससे ही यह सारा संसार प्रवृत्त हुआ है।

आद्य पुरुष से हुई संसार की प्रवृत्ति कैसी है? 'पुराणी' पुराण का मतलब है कि पहले भी जब कभी संसार था तब ऐसा ही नया था, ऐसा ही जवान था। यही मायावी की, ऐंद्रजालिक की विशेषता होती है। कभी तुमने बाजीगर का खेल देखा है? सौ–सौ के नोटों की गड्डी तुमको दिखलाता है। कभी यह ध्यान दिया, कि सौ–सौ के नोटों की गड्डी कभी पुरानी नहीं होती! ताज़े नोट दिखलाता है, वह पुराने नोट कभी नहीं दिखलाता। इसी प्रकार परमेश्वर की यह जो ऐंद्रजालिक शक्ति है, इससे जो चीज़ दीखती है हमेशा नयी ही दीखती है। जब पहले देखी थी, तब भी ऐसी ही नयी थी, आज भी ऐसी ही नयी है, भविष्य में भी ऐसी ही नयी रहेगी। अपने बच्चों को देखो; हर बच्चेके अन्दर वैसी ही नवीनता है जैसे तुममें थी तुम्हारे बाप के लिये। कभी ऐसा नहीं होता कि अब तो हज़ार पीढियाँ हो गयी हैं, अब जो बच्चे पैदा होते हैं वे कुछ कम नये पैदा होते हैं! ऐसा कुछ नहीं है, छोटे से छोटे तुम पौधे को लो, घास को लो, हर घास तुमको नयी दीखेगी जब उगती है। इसी प्रकार परमेश्वर की यह मायावी सृष्टि होने से यह पुराणी है।।४।।

भगवान् ने परम पद की प्राप्ति के लिये कहा कि केवल उसकी शरण लेनी है। शरण लेना मायने क्या, प्रपत्ति मायने क्या? कैसे व्यक्ति को प्रपन्न कहा जायेगा? यह भगवान् स्वयं बतलाते हैं-

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

जो मान व मोह छोड़ चुके, संगरूप दोष को जीत चुके, हमेशा परमात्मस्वरूप के पर्यालोचन में तत्पर हैं, लेपसहित कामनाओं को छोड़ चुके, सुख-दुःख नामक जोड़ों से छूटे हुए हैं, वे मोहरहित (संन्यासी) उस नित्य पद को पा लेते हैं।

प्राप्तव्य पद अव्यय है। अनन्त सृष्टि अनन्त काल तक निकलने पर भी उसके अंदर कोई कमी नहीं आती। कई बार लोग पूछते हैं, 'विज्ञान पता लगाते-लगाते अन्त में कहाँ पहुँचेगा?' कहीं नहीं पहुँचने वाला है! जितना पता लगायेगा उतनी ही उसके अन्दर नवीन सृष्टि निकलती जायेगी। जैसे प्याज़ का छिलका उतार देंगे तो क्या अन्दर कुछ मिलेगा? छिलके के अन्दर कुछ होवे तो मिले! इसी प्रकार वैज्ञानिक सृष्टि की परतें एक के बाद एक खोलते जाते हैं, सोचते हैं अब कुछ मिलेगा; जब लगता है मिला तब फिर देखते हैं कि फिर परतें मिल रही हैं। किसी ज़माने में कहते थे न्यूटन ने सब पता लगा लिया। फिर हुआ कि उसका पता लगाया सब गड़बड़ निकल गया। फिर उसके बाद क्वाण्टम सिद्धान्त आ गया। ऐसे ही कभी मानते थे कि प्रकाश तरंगों में चलता है। फिर मान्यता आई कि एक-के-बाद एक गोलियाँ दागी जा रही हों इस तरह प्रकाश चलता है, फिर मानने लगे कि पानी की धार की तरह चलता है, आजकल कहते हैं कि कभी लगातार और कभी गोलियों की तरह चलता है! वैज्ञानिक लगे हुए हैं यह पता लगाने में कि इन दोनों में से कौन-सी बात पक्की मानी जाये। वर्तमान में तो दोनों मानकर

चलना पड़ता है। इसका कारण है कि संसार का जो मूल कारण परमात्मा है, वह अव्यय है। विज्ञान की परत खुलना कभी बंद नहीं होगी क्योंकि वह अव्यय है।

उसको कौन प्राप्त करता है? 'अमूढाः'। अविद्यावर्जिताः, अविद्या से जो रहित है, उसी को अमूढ कहेंगे। अविद्या के कारण ही मोह होता है, अयथार्थ ज्ञान होता है। जो चीज़ जैसी है वैसा उसको समझ नहीं पाते, इसका कारण अविद्या है। इसलिये जो लोग यह आशा करते हैं कि विज्ञान भी कभी भगवान् की तरफ जायेगा, वह पूरी नहीं हो सकती क्योंकि वह कभी नहीं जा सकता। अविद्या को ढूँढ कर अविद्या से परे नहीं जा सकते। अविद्या से जो रहित है वही उस पद को प्राप्त करता है। उस अविद्या से रहित होने के तरीके क्या हैं? प्रपत्ति ही तरीका है जिसे पूर्व श्लोक में कहा था। परमात्मा की शरण लेना क्या है? अविद्या को छोड़ना। अविद्या की निवृत्ति, यही परमात्मा की शरण है।

अविद्या निवृत्त कैसे होवे? पहला उपाय कहा 'निर्मानमोहाः' मान और मोह को जिन्होंने छोड़ दिया, मान-मोह से रहित हैं। मान का मतलब क्या? जो चीज़ मैं नहीं हूँ उसका अपने में आरोप कर लेना, यही मान है। यह शरीर किसका? मेरा। निश्चित बात है कि यह शरीर तुम्हारा है? तुमको पता है यह तुमसे कब छूट जायेगा? पता नहीं है। तुमको पता है यह तुमसे कब आज्ञा लेगा बीमार पड़ने की? नहीं। यह जब बीमार पड़ जाता है तब पीछे-पीछे तुम बीमार पड़ जाते हो, यदि तुम्हारा होता तो तुम से पूछ कर जाता, तुमसे पूछ कर बीमार होता! कोई काम करता है यह तुमसे पूछ कर? कुछ काम तुम्हारी इच्छा के अनुरूप यह शरीर कर लेता है; सामने वाले ने गाली दी तो फट तुम्हारा हाथ उठा और तुमने थप्पड़ मार दिया। कहते हो 'मेरा हाथ है, तब न मैंने थप्पड़ मारा', इसलिये अपना मानते हो। विचार करो, क्या तुमने वह थप्पड़ मारा या तुम्हारा मालिक वह रहा जिसने गाली देकर तुमसे थप्पड़ मरवा लिया? वह मालिक हुआ कि तुम मालिक हुए? जिन कामों को तुम सोचते हो 'मैं स्वतंत्र होकर कर रहा हूँ, उन कामों के अन्दर भी प्रकृति से पड़े हुए संस्कार, प्रकृति से पड़ी हुई एषणाएँ, सब मिलकर तुमको प्रवृत्त करते हैं, तुम्हारे शरीर को प्रवृत्त करते हैं। जैसे शरीर को 'मेरा' मान लिया, वैसे मन को भी 'मेरा' मान लिया है। 'मेरे मन ने यह चाहा इसलिये मैंने यह चाहा' यह मानते हो। मन को बैठाओ ज़रा दस मिनट ध्यान करने! तुम कहते हो 'सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलम्' शंख-चक्र-धारी का स्मरण करो; और वह स्मरण करता है, 'आज क्या भाव निकलेगा सोने का?' कोई संबंध नहीं 'सशंखचक्रं' से। जैसे शरीर तुम्हारी बात नहीं मानता वैसे मन भी नहीं मानता। फिर भी कहते हो, 'मेरा शरीर, मेरा मन'। और इसलिये 'मान' करते हो। अगर शरीर का कोई अपमान करता है, तो क्या समझते हो? मेरा अपमान हो गया। जो चीज़ तुम्हारी है नहीं उसे अपने में मान लेते हो यही तुम्हारा 'मान' है। विचार करोगे तो शरीर से लेकर बुद्धि और मन तक, कुछ भी तुम्हारा नहीं है।

जब मान करते हो तब मोह होता है। शरीर तक अभिमान कर लेते हो तो शरीर को

लेकर, शरीर से बाहर की जो चीज़ें हैं, धन, वस्त्र, सम्पत्ति आदि, उन सबसे मोह कर लेते हो। भगवान् ने 'निर्मानमोहाः' इस क्रम से इसलिये कहा, कि बिना मान छूटे हुए मोह छूटता नहीं। शरीर में जब तक तुमको मान है कि 'यह मैं हूँ' तब तक बाह्य चीज़ें सारी आवश्यक हो जाती हैं। यही न लोग कहते हैं– 'महाराज! शरीर के लिये यह आवश्यक है इसको कैसे छोड़ें?' शरीर के लिये आवश्यक है तो शरीर नहीं छोड़े, तुमको छोड़ने से कौन रोक रहा है? जब तक मान है कि 'शरीर मैं हूँ, मन मैं हूँ', तब तक मोह छूटता नहीं। इसलिये भगवान् ने कहा– 'निर्मानमोहाः'। ये दोनों जिसके निर्गत हो गये हैं, निकल गये हैं वही परम पद पायेगा। और 'जितसंगदोषाः'। संग ही दोष है। आसक्ति ही एक दोष है, जिसके कारण बाकी सब दोष प्रतीत होते हैं। इसलिये किसी ने कहा कि सत्पुरुषों के पास हमेशा जाओ, वे उपदेश नहीं दें तब भी, क्यों कि जो वे सामान्य इधर–उधर की बात–चीत करेंगे, उसमें भी उपदेश ही प्राप्त होगा। क्योंकि, सन्त हमेशा तुम्हारे संग–दोष का छेदन ही करेंगे। संग रूपी दोष को हटा देना आवश्यक है। 'जीत लिया है' का उलटा अर्थ नहीं कर लेना, कि जब मर्ज़ी तब आसक्ति कर लेंगे, जब मर्ज़ी तब छोड़ देंगे! जीतने का ऐसा अर्थ भी हो सकता है परन्तु यहाँ 'जितसंगदोषाः' का अर्थ यह नहीं है क्योंकि 'आसक्ति कर लेंगे' कि सम्भावना है तो आसक्ति होगी ही। आसक्ति किसी भी चीज़के गुणों को देखकर होती है। विवेक करने पर संसार में कहीं गुण वाली चीज़ दीखती ही नहीं, दोषों की कमी या आधिक्य तो हो सकता है। जैसे अनित्यता रूपी दोष हमेशा ही रहेगा, हर चीज़ में रहेगा। अनात्मा होना जो दोष है, जडता का दोष, वह हमेशा ही रहेगा। तीनों गुणों के द्वारा प्रवृत्त होने का दोष हमेशा ही रहेगा। कुछ दोष ऐसे हैं जो हर चीज़ में हर समय रहेंगे ही। उनके साथ फिर और कुछ दोष जुड़े रहते हैं। अतः 'जब चाहें तब हम आसक्ति कर लें' इसका मतलब है चीज़ों के अन्दर तुमको गुण की प्रतीति होती है। गुणों की प्रतीति होगी तो आसक्ति को बचा नहीं सकते। इसलिये कहा कि संग स्वयं ही दोष है; इसको जीत लेने का मतलब इसका निवृत्त हो जाना है, ठीक जिस प्रकार से, 'इस राजा को मैंने जीत लिया', का मतलब होता है कि अब वह *राजा* नहीं रह गया।

इसी प्रकार से 'विनिवृत्तकामाः' कामनायें जिनकी छूट गयी हैं। यद्यपि संग के अभाव में कामना नहीं होगी फिर भी अलग से कहने का तात्पर्य यह है कि शरीरादि के साथ रहने पर किंचित् कामना की सम्भावना रह जाती है। क्योंकि कामना दो तरह की होती है, एक मानस कामना और एक दैहिक कामना। मोटी भाषा में समझ लो; 'मुझे रसगुल्ला खाना है' यह मानसिक कामना है; और 'भूख से तड़प रहा हूँ। मुझे कुछ खाने को चाहये' – यह दैहिक कामना है। हैं तो दोनों कामनायें। मानसिक कामनाओं को तो तुम धीरे–धीरे हटा सकते हो, लेकिन दैहिक कामनाओं का छूटना अविद्या–निवृत्ति के पहले सम्भव नहीं है। इसलिये यति को सर्वकर्मसंन्यास करने पर भी भिक्षाटनादि के लिये छूट देनी पड़ती है क्योंकि अविद्या–निवृत्ति हुई नहीं है। 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' वह श्रवण करेगा, तब जाकर उसकी

अविद्या निवृत्त होगी भिक्षाटन दैहिक कामना की पूर्ति का उपाय है। वह कामना अज्ञान रहते निवृत्त नहीं होती है। इसलिये 'जितसंगदोषाः' के बाद भी 'विनिवृत्तकामाः' कहना आवश्यक हो गया। स्पष्ट करने के लिये, 'वि-निवृत्त' कह दिया, विशेषकर के निवृत्त, अर्थात् दैहिक कामनाओं की भी जब सर्वथा निवृत्ति हो जाती है तब परपद-प्राप्ति होती है।

'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' द्वन्द्व प्रिय-अप्रिय, शीत-उष्ण, मान-अपमान, ये सब जोड़ों में आते हैं। द्वन्द्व मायने जोड़ा। प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख इत्यादि सब द्वन्द्वों से जो विमुक्त हैं वे प्रपन्न होते हैं। विमुक्त अर्थात् इन जोड़ों से जिन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुख-दुःख, शीत-उष्ण सब आते हैं, जाते हैं परन्तु साधक उनसे प्रभावित नहीं होता क्योंकि उनसे प्रभावित होने वाले जो शरीर-मन हैं, उन शरीर-मन का मान वह छोड़ चुका है। वह तो केवल आत्मा की ही शरण लिये हुए है। द्वन्द्वों का नाम ले दिया ' सुखदुःखसञ्ज्ञैः'। शीत-उष्ण, मान-अपमान ये सब सुख-दुःख के द्वारा ही तुमको बाँधते हैं। परम्परा से सब अंत मे जाकर सुख-दुःख को लेकर ही जोड़े हैं। इसलिये भगवान् ने स्पष्ट कर दिया 'सुखदुःखसञ्ज्ञैः' सुख-दुःख ये जिनकी संज्ञा अर्थात् नाम हैं। ये तो सब कह दी क्या-क्या चीज़ें तुमको छोड़नी हैं, किनसे निवृत्ति करनी है। अब कहते हैं कि क्या करना है।

'अध्यात्मनित्याः'। 'आत्मानमधिकृत्य अध्यात्मम्' आत्मा को लेकर जो सारी चीज़ें हैं वे अध्यात्म हैं। भाष्यकार ने ब्रह्मजिज्ञासा का अर्थ करते हुए स्पष्ट किया है कि ब्रह्म की जिज्ञासा का मतलब है ब्रह्म-कर्मक, ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा। किन्तु 'यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तानि अर्थाक्षिप्तानि एव' अर्थात् जितना कुछ समझे बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता वह सब भी समझा जाये यह 'ब्रह्मजिज्ञासा करो' कहने से अर्थात् सिद्ध है। वही बात यहाँ पर है; आत्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, उसके विषय में जितनी भी बातें हैं, उन सब का बार-बार विचार करना है। कब तक? कहा 'नित्याः'। हमेशा उसी का विचार करो, तदतिरिक्त कोई जिज्ञासा न रह जाये। बाकी सब छोड़ ही दिया है, इसलिये सम्पूर्ण एकाग्रता आत्मा में ही रखनी है। अन्यत्र कहा है 'आसुप्तेरामृतेःकालं नयेद् वेदान्तचिन्तया' जब तक नींद न आ जाये और जब तक मर न जाओ तब तक वेदान्तविचार ही करते रहो। कब तक करें? जब तक मर न जाओ। रोज़ कितना करें? जब तक नींद न आ जाये। ऐसा आत्म-विचार करना अध्यात्मनित्य होना है। चाहे श्रवण करके हो, चाहे सुनाकर हो, चाहे मनन करके हो, चाहे ध्यान करके हो, कैसे भी हो, होवे बस वही, उसके सिवाय और कुछ नहीं।

जो संन्यासी है, सर्वकर्म को छोड़ चुका है, उसी से यह संभव है। आजकल लोगों के मन में है, कि जो संन्यासी समाज के लिये कार्य करता है वह श्रेष्ठ है। यहाँ भगवान् ने जो नियम गिना दिये हैं उनमें 'अध्यात्मनित्याः' कहा, बाकी सब चीज़ें छोड़ने के लिये कहा। समाज भी अविद्या का कार्य है, समाज की सेवा भी अविद्या का कार्य है। अविद्या के कार्य में लगकर अविद्या की निवृत्ति वैसा ही है, जैसा बहुत से लोग चाहते हैं कि सरकार में जाकर के सरकार को सुधार लेंगे! उसमें जाकर उसे कैसे सुधारोगे? सुधारने के लिये उससे बाहर

रहना पड़ेगा। इसी प्रकार अविद्या के साम्राज्य से जो बाहर रहता है वही अविद्या पर विजय कर सकता है, अविद्या के कार्य में पड़कर अविद्या पर विजय संभव नहीं। भगवान् ने 'अध्यात्मनित्याः' से यतियों के लिये कर्तव्य बतलाया है। और कोई दूसरा काम उनका नहीं, यही करें तो परपद पायेंगे।।५।।

संसार वृक्ष काटने योग्य और आद्य पुरुष की प्रपत्ति द्वारा परम पद परिमार्गणीय है जिसका उपाय मान-मोह-संग-काम-द्वंद्वों के त्यागपूर्वक आत्मविचार में तल्लीनता है, यह बताया। वह पद ज्ञेय हो तो ज्ञाता से भिन्न होगा जिससे द्वैत की सिद्धि होगी और ज्ञेय न हो तो उसे ढूँढने का विधान व्यर्थ है। इस समस्या का समाधान उस तत्त्व की स्वप्रकाशता समझाकर करते हैं। किंच 'भूयो न निवर्तन्ति' से कहा कि परम पद पाकर संसार में नहीं लौटते, अतः यह भी बताते हैं कि फिर जाते कहाँ हैं–

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।।६।।

जिसे पाकर संसार में लौटते नहीं वह मेरा परम धाम है जिसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि कोई प्रकाशित नहीं कर सकते।

'तत् सूर्यः न भासयते' वह जो अव्यय पद है, वह सूर्य से प्रकाशित नहीं होता। प्रकाश का मतलब क्या है? जो आवरण रूपी अंधकार को हटाता है उसी को प्रकाश कहा जाता है। अंधकार रूपी आवरण को हटाने वाली ही रोशनी कही जाती है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से देखें, तो अनेक ऐसे प्रकाश हैं जो हमारी आँख के द्वारा दीखने वाले अंधकार को नहीं हटाते परन्तु यंत्र-विशेषों के अंदर उन प्रकाशों में रखे हुए पदार्थ स्पष्ट रूप से गृहीत हो जाते हैं। हमारी आँखों के अंधकार को दूर करने में असमर्थ हैं, परन्तु किसी दूसरे की आँख के अंधकार को हटा भी देते हैं। इसीलिये ऐसे प्रकाशों को 'अति' या 'परा' शब्द से कहते हैं। जैसे बैंगनी रोशनी हम देख सकते हैं किन्तु 'परा बैंगनी' रोशनी हमें नहीं दीखती। परन्तु ऐसे प्राणी हैं जो उसे देख पाते हैं अथवा ऐसे यन्त्र भी हैं जो उस प्रकाश में कारगर हो जाते हैं। इस प्रकार के कई पदार्थ आजकल आ गये हैं। बिलकुल अंधेरे के अंदर चित्र खींचने वाला कैमरा रख दिया जाता है। कमरे में अंधेरा है, परन्तु कमरे में जो कुछ हो रहा है उस सब का चित्र वह खींचता रहता है। केवल प्रकाश के बारे में ही न समझना, ध्वनि की भी यही हालत है। जिस ध्वनि को हम नहीं सुन सकते उसको कुत्ता सुन लेता है; हम उसको नहीं सुन सकते क्योंकि हमारा जो कान है, उसकी सुनने की शक्ति से वह परे है। अतः किसके लिये कौन-सा प्रकाश है यह केवल इस पर निर्भर करता है कि उसका अंधकार दूर होता है या नहीं।

सूर्य का जो प्रकाश है, वह ब्रह्म पर पड़ने वाले आवरण को हटाने में असमर्थ है। हम चाहे आज से लेकर सौ सालों तक सूर्य पर त्राटक करते रहें, परन्तु हमारे अंतःकरण में

पड़ा हुआ जो ब्रह्म के ऊपर का आवरण है वह हट नहीं सकता। इसलिये कहते हैं कि उस पद को 'सूर्यो न भासयते' अन्य प्रसिद्ध अंधकार को सब प्रकार से हटाने की शक्ति वाला सूर्य भी ब्रह्म के आवरण को नहीं दूर कर सकता।

जब सूर्य का प्रकाश ही दूर नहीं कर सकता, तो 'न शशांकः'। शशांक अर्थात् चन्द्रमा। शश मायने खरगोश, अंक अर्थात् चिह्न। पूर्ण चन्द्रमा को ध्यान से देखो तो उसके बीच में, बड़े दो कानों वाला खरगोश दिखाई देगा। दीखेंगे दो कान और बीच में एक गोल मुँह, बाकी सब तुमको अंतःकरण के संस्कारों से देखना पड़ेगा। इसलिये चन्द्रमा को संस्कृत में शशांक कहते हैं, खरगोश का उस पर चिह्न है, अथवा उसके अंक में, गोद में शश है। 'शशांक' के द्वारा बतलाते हैं कि सूर्य सर्वथा प्रकाश वाला है फिर भी ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर पाता तो चंद्रमा, जिसके अंक में अप्रकाशित स्थल है, वह कहाँ से प्रकाशित करेगा? किंच सूर्य की रोशनी बहुत तेज़ है, चन्द्रमा की रोशनी कम है, तो इसमें प्रकाशन-सामर्थ्य असंभव है। फिर चन्द्रमा का नाम लेने की क्या ज़रूरत थी? पहली बात तो यह कि श्रुति का अनुगमन है; श्रुतियों के अंदर 'न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' इस प्रकार से चन्द्र को सूर्य से अलग करके कहा है। श्रुति के वैसे ही पीछे स्मृति चलती है जैसे पति के पीछे पत्नी चलती है। अतः श्रुति के अनुरूप भगवान् ने कह दिया। दूसरा एक और भी कारण है; बहुत से भावों का प्रकाश चन्द्रमा के अंदर होता है, उन भावों का प्रकाश सूर्य की रोशनी में नहीं होता। स्थूल पदार्थ तो ज़रूर सूर्य की रोशनी में स्पष्ट दीखते हैं, परन्तु हमारे भावों का प्रकाश उतना नहीं होता। ताजमहल को चन्द्रमा के प्रकाश में देखने पर अत्यधिक सुन्दर लगता है, सूर्य के प्रकाश में उतना सुंदर नहीं लगता है। उसका सौंदर्य चन्द्रप्रकाश से खिलता है, सूर्य के प्रकाश से नहीं। इसी प्रकार मध्य कालीन भाषा के कवियों ने भी स्त्री का सौन्दर्य रात्रि में, चन्द्रमा के प्रकाश में अधिक खिलता है, ऐसा वर्णन किया है। यदि वृक्षादि को भी देखो, तो चन्द्रमा के प्रकाश में जितने अच्छे लगते हैं, उतने सूर्य के प्रकाश में नहीं। भावों का प्रकाश शशांक ज़्यादा कर लेता है और सूर्य नहीं करता परन्तु परमात्मा के भावों का उद्घाटन करने में, परमात्मा के ऊपर जो भावों के द्वारा हमारी स्थिति है उस के उद्घाटन में भी चन्द्रमा मदद नहीं करता।

'न पावकः' अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं करती। सूर्य और चन्द्रमा के सामने अग्नि का प्रकाश तो और हल्का है। फिर इसको कहने की खास ज़रूरत क्या है? कुछ पदार्थों का ऐसा अंधकार है जो अग्निकर्म से दूर होता है। जैसे सूर्य से भी स्वर्ग-दर्शन नहीं होता, चन्द्रमा से भी स्वर्ग-दर्शन नहीं होता। पर अग्नि के अन्दर जब हम ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करते हैं तब हमें स्वर्ग का दर्शन हो जाता है। स्वर्ग जाने की, स्वर्ग-दर्शन करने की सामर्थ्य अग्निकर्म से प्रकट होती है। वैदिक कर्म प्रायः सारे ही अग्नि से ही किये जाते हैं। इस प्रकार न स्थूल पदार्थों को सर्वथा स्पष्ट करने वाला सूर्य ही ब्रह्म के आवरण को हटाता है, न मन के भावों को प्रकट करने वाला चन्द्रमा ही उसको हटाता है, न अग्नि के द्वारा किये

हुए कर्म ही उसको प्रकाशित कर पाते हैं। उसका अंधकार ये कोई दूर नहीं कर पाते हैं। चाहे जितने कर्म कर लो, उससे अज्ञान का आवरण कभी दूर होता नहीं। इसलिये श्रुतियों ने कह दिया – 'न कर्मणा' कुछ भी करके वह आवरण नहीं हटता, उल्टा 'त्यागेन' उन कामों का त्याग करने से ही उस आवरण के हटने की सम्भावना होती है।

जो कहा था (श्लो. ४) 'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः' उसी का अनुवाद कर दिया 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते'। किसका आवरण? जिसको जानकर फिर संसार में आना नहीं पड़ता। पहले जिसको पद कहा था उसी को अब कहते हैं, 'तद्धाम', धाम का मतलब होता है जो तुम्हारा नियत वास हो। इसलिये कहीं सरकारी कागज़ या बैंक में लिखना होवे, तो वहाँ लिखा होता है 'स्थायी पता लिखो'। हिन्दी में भी इसलिये कहते हैं 'तुम्हारा नाम-धाम क्या है?' जहाँ नियत वास है उसको ही धाम कहते हैं। आत्मा में ही मुक्तका नियत वास है। यद्यपि संसार में, इदमर्थ में भी सर्वव्यापक है वह, तथापि प्रत्यगात्मा से अन्यत्र सर्वत्र बाध-सामानाधिकरण्य है। अर्थात् इदम्पदार्थ नहीं हैं, केवल आत्मा है और प्रत्यगात्मा में मुख्य सामानाधिकरण्य है अर्थात् प्रत्यगात्मा स्वयं परमात्मा है। इसलिये यही नियत वास है। अन्य चीज़ों के तो बाध का अधिकरण है, बाध की अवधि है, जबकि यहाँ तो वह नियत रूप से रहता है। 'प्रत्यगात्मा नहीं' ऐसी प्रतीति नहीं है, ऐसा अनुभव नहीं है, ऐसा सत्य भी नहीं है। जिस परमात्मा के ज्ञान से यह संसार निवृत्त होता है, वह कहाँ निश्चित रूप से रहता है, नियत रूप से रहता है? जहाँ उसका बाध नहीं करना पड़ता, जहाँ उसका साक्षात् अनुभव होता है। वही मेरा, परमात्मा का परम स्थान है। 'मैं' अर्थात् प्रत्यगात्मा। जिसके प्रकाश में सब कुछ दीख रहा है, वह मैं हूँ। मैं भी, अर्थात् मैं की वृत्ति भी जिसके द्वारा प्रकाशित होती है, वह परम पद है, परम धाम है। इसलिये सारा संसार जहाँ से निकला उसका परम धाम आत्मा ही है। अतः निवृत्त नहीं होता।।६।।

ऐसा क्यों है? बाकी सब ठिकाने कभी हैं, कभी नहीं हैं जबकि प्रत्यगात्मा परम स्थान है, यह क्यों? यह बतलाते हैं –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।

जीवों के संसार में मेरा ही मानो अंश जीव बना हुआ है। हमेशा रहने वाला वह ही शरीरस्थ गोलकों में कार्यरत इन्द्रियों को और छठे मन को आकृष्टकर ले जाता है।

'जीवलोके' जीवों का जो लोक है अर्थात् जीव जिन चीज़ों का अनुभव करते हैं। 'जीवभूतः सनातनः' जीवभूत, जो जीवरूप है, जीवरूप से प्रतीत होता है। जीवलोक में जीवरूप से जो प्रतीत होने वाला है, वह 'ममैवांशः' मेरा ही अंश है। अंश का मतलब होता है हिस्सा। अवयव, एकदेश को अंश कहते हैं। जीव प्रसिद्ध है, कर्ता भोक्ता। जो कर्म करता है और भोग भोगता है उसी को जीव कहते हैं। कर्म करने वाला और फल भोगने वाला

क्या परमात्मा का अवयव है या परमात्मा का एकदेश है? यदि परमात्मा का एकदेश हो या अवयव हो, तो अवयव अलग किया जा सकता है, एकदेश भी अलग किया जा सकता है; और यदि परमात्मा से कोई चीज़ अलग की जा सकती है तो वह अव्यय नहीं रह सकता। इसलिये ब्रह्मसूत्र में अंश का अर्थ करते हुए (२.३.५०) कहा कि जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो सूर्य के जैसा ही दीखता है, पर वह सूर्य का कोई टुकड़ा टूटकर नहीं आया है! वह सूर्य का अवयव नहीं है। जब तक जल रहता है तब तक वह उसमें प्रतीत होता है। जल में तरंगे उठती हैं, तो उस प्रतिबिम्ब में भी ऊपर-नीचे जाने की क्रिया प्रतीत होती है। जल में यदि तुम नीला रंग डाल दो, लाल रंग डाल दो तो प्रतिबिम्ब भी नीला और लाल दीखता है। परन्तु उसके नीले या लाल हो जाने से, सूर्य में कोई भी नीलिमा या लालिमा नहीं आती। तरंगों के द्वारा उसके ऊपर-नीचे होने पर भी सूर्य में कोई ऊपर-नीचे होना नहीं होता। प्रतिबिम्ब में तो सब हो रहा है परन्तु सूर्य में कोई फ़र्क नहीं आता। उस पानी को यदि सुखा दो, तो उस प्रतिबिम्ब का क्या हुआ? लौकिक भाषा में कह सकते हो कि सूर्य से ही आया था, वापिस सूर्य में ही चला गया। वस्तुतः न वह सूर्य से आया, न सूर्य में गया। सूर्य, सूर्यरूप में अव्यय भाव से, अविकारी भाव से स्थित होते हुए ही, स्वभावतः जल में प्रतिबिम्बित हो जाता है, बस इतना ही है। क्योंकि प्रायः अंश शब्द का अर्थ लोग ठीक प्रकार से समझ नहीं पाते, अतः यही समझते हैं कि सारे जीवों के हृदय में रहता है तो परमेश्वर का एक-एक छोटा टुकड़ा रहता होगा! अतः यह 'अंश' जो भगवान् ने कहा है यह ठीक से समझना ज़रूरी है।

एक बात याद रखना, कि प्रतिबिम्ब कई काम ऐसे कर लेता है जो सूर्य नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, जिस नाली आदि में सूर्य- किरण नहीं पहुँच सकती उसे प्रकाशित करने का काम काँच में प्रतिबिम्बित सूर्य ही करता है। वह प्रकाश किसने किया? काँच में पड़े हुए प्रतिबिम्ब ने किया। परन्तु काँच में वह रोशनी कहाँ से आई? सूर्य से आई। पर सूर्य ने उसे अकेले प्रकाशित नहीं किया, किया तो काँच के द्वारा। इसी प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व जीव के अन्दर ही आता है, परमात्मा में नहीं आता। परमात्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है परन्तु अविद्या या अंतःकरण में जो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ा वही कर्तृत्व-भोक्तृत्व को प्रकट करता है। इसलिये कहा 'अंशः जीवभूतः' जो प्रतिबिम्ब पड़ा वह कर्ता-भोक्ता हो गया। जीव अर्थात् कर्ता-भोक्ता। परन्तु स्वरूप से कैसा है? 'सनातनः'। प्रतिबिम्ब क्योंकि है तो सूर्यप्रकाश ही, इसलिये सूर्यरूप से नित्य है। ऐसे ही ब्रह्मप्रतिबिम्ब-स्थानीय जीव नित्य है।

इस प्रकार से भगवान् ने बतलाया कि प्रत्यगात्मा मेरा परम धाम क्यों है; इसलिये है कि मेरा ही अंश है, अर्थात् मेरा ही प्रतिबिम्ब है। इसलिये, जैसे पानी के सूखने से प्रतिबिम्ब कहाँ गया? बिम्ब में ही गया, यही कहा जायेगा; इसी प्रकार से अविद्या की, अंतःकरण की निवृत्ति होने पर वह 'गया' ऐसा कह देते हैं। अविद्याकृत उपाधि के कारण ही अविद्या के एकदेश में हुआ जो अन्तःकरण, उसके परिच्छेद से ही हमारे में परिच्छिन्नता है। परन्तु

परिच्छिन्नता जैसे सूर्यादि में कल्पित है वैसे ही आत्मा में भी कल्पित ही है।

जो प्रतिबिम्बरूप अंश है, अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है। अगर निवृत्त नहीं हुआ तो वह कर्ता-भोक्ता है ही। वह मरने पर किसके साथ जाता है? कहा 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षति'। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वक्, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जो बाहर के विषयों को जानती हैं, और मन जो अंदर के विषयों को जानता है। मन छठी इन्द्रिय है। 'छठी इन्द्रिय' का मतलब यह नहीं कि वह बाह्येन्द्रियों की तरह इन्द्रिय है, वरन् इन्द्रियाँ पाँच हैं इसलिये उनके साथ गिनने पर मन छठा है। ठीक जिस प्रकार से, महाभारत युद्ध के पहले कुन्ती के हृदय को यह बात साल रही थी, घोर दुःख दे रही थी, कि मेरा एक पुत्र कर्ण, और पाँच पुत्र पाण्डव ये एक-दूसरे को मारेंगे। माता की ममता सब पुत्रों के साथ एक जैसी होती है। अब तक तो कुन्ती के मन में केवल यह था कि 'कर्ण जीवित है, अच्छे ढंग से रह रहा है, लोग सूतपुत्र कहते हैं तो उसकी बदनामी है, परन्तु तथ्य प्रकट करने में मेरी बदनामी होगी क्योंकि बिना ब्याह के पैदा हुआ था'। माँ का हृदय ऐसा होता है कि बच्चा कहीं भी होवे, यदि जीवित रहता है तो उसको संतोष बना रहता है। युद्ध में तो मरने का प्रसंग था। तब उसने कर्ण से आकर कहा 'तू मेरा छठा बेटा है'। छठा बेटा का मतलब क्या? पाँच पाण्डव और कर्ण छठा। इसी प्रकार से जो ज्ञान के साधन हैं, जानने के साधन हैं, वे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और अंदर की चीज़ों को जानने वाला अंतःकरण, मन छठा है। इसलिये कहा- 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि'। 'प्रकृतिस्थानि' ये सब प्रकृति में स्थित हैं, सारे प्राकृतिक संसार में हैं। ये शरीर में अपने-अपने स्थानों में स्थित हैं। आत्मा पुरुष होने के कारण इन प्रकृति-विकारों से सर्वथा भिन्न है। परन्तु जब ये चल कर जाते हैं, प्रतिबिम्ब को अपने साथ खींच कर के ले जाते हैं। अतः जाने वाले तो, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनसे उपलक्षित सप्तदश अवयवों वाला लिंग शरीर समझ सकते हो; यहाँ तो यही कह रहे हैं कि जाने वाली इन्द्रियाँ और मन हैं, उनके जाने से वह प्रतिबिम्ब जाता हुआ प्रतीत होता है क्योंकि पुरुष होने पर भी वह प्रकृति में है, उस से तादात्म्यापन्न है। जैसे अगर घड़े में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, और घड़े को यहाँ से वहाँ लेकर जाओ तो लगता है कि जो सूर्य का प्रतिबिम्ब यहाँ था वही सूर्य का प्रतिबिम्ब वहाँ भी चला गया। सचमुच में प्रतिबिम्ब तो गया नहीं, लेकिन घड़े के पानी के जाने से लगता है मानो प्रतिबिम्ब गया। इसी तरह अंतःकरण में परमात्मा का प्रकाश पड़ा हुआ है, वही कर्ता और भोक्ता हो गया है। जब जीव की उपाधि जाती है तब क्योंकि जो कर्ता-भोक्ता यहाँ पर था, वह कर्ता-भोक्ता वहाँ पर गया, इसलिये प्रतीत होता है कि जीव गया। जाती उपाधि है, उपहित पर जाने का आरोप हो जाता है। क्योंकि जड में क्रिया चेतनाधीन ही प्रसिद्ध है इसलिये कहा जाता है कि जीव गया और उपाधि को, पुर्यष्टक को साथ में खींचकर ले गया। 'कर्षति' जीव ले जाता है यह कहा जाता है।।७।।

खींचकर ले जाना कब की बात है यह स्पष्ट करते हैं –

**शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।**

देहादिसंघात का स्वामी जब भी स्थूल शरीर छोड़कर जाने लगता है तब इन इन्द्रियादि को साथ लेकर वहाँ चला जाता है जो नया शरीर मिला है। जैसे पुष्पादि से गंध लेकर वायु चला जाता है।

'यत् शरीरम्, आप्नोति' कहाँ खींचकर ले जाता है? जिस शरीर को वह प्राप्त करता है, वहाँ। इन्द्रियाँ और मन, जब तक किसी शरीर में नहीं पहुँचते तब तक कार्यकारी नहीं होते, मन और इन्द्रयाँ अपने गोलकों में बैठकर ही कार्य करते हैं। इस शरीर के अंदर जब किसी कारण से वे कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं तब यहाँ से जाते हैं। असमर्थ होने में कारण प्रारब्ध की समाप्ति है। इस शरीर से जो कुछ भी भोग होना था वह भोग समाप्त हो जाये तब यहाँ से जाना पड़ता है क्योंकि अभी फल देने वाले कर्म और उपासनाएँ बाकी हैं। इस शरीर में अब फल देने की सम्भावना नहीं क्योंकि इसका प्रारब्ध ख़त्म हो गया। अतः जहाँ पर वे कर्म और उपासना फल दे सकें, वहाँ जाकर इन्द्रियाँ और मन बैठ जाते हैं। ठीक जैसे तुम जब मधुमक्खी के छत्ते को उखाड़ देते हो, जला देते हो, तो मधुमक्खियाँ फिर वैसा ही छत्ता बनाकर उसमें बैठकर मधु-संचय का काम शुरू कर देती हैं। छत्ता शरीर की तरह है। इसी प्रकार से हमारी इन्द्रियाँ जब यहाँ पर कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं तब जाकर नया शरीर बना लेती हैं, जिसमें बैठकर फिर अपना भोग कर सकें। उत्क्रमण करती हैं, अर्थात् पूर्व शरीर से उठकर जाती हैं उत्क्रमण, का मतलब है, उठकर जाना। यहाँ से इन्द्रियाँ और मन उठकर गये और वहाँ जाकर बैठे; जाना-आना यह सब हुआ किस में? इन्द्रियों और अंतःकरण में, लेकिन क्योंकि इनमें तादात्म्याध्यास किये हुए जीव है इसलिये उसे उत्क्रमण करने वाला, जाने वाला, नया शरीर पाने वाला कहा जाता है।

उसी जीव को इस प्रसंग में कहा 'ईश्वरः'। जो इस शरीरादि का, इन्द्रियों का मन आदि का मालिक है, इनके जाने से उसके जाने की प्रतीति होती है, वही कर्ता-भोक्ता है। इन्द्रियाँ, मन - ये सब शरीर में बैठकर काम करते हैं पर ये सब काम करने वाले नौकर हैं, मालिक नहीं। मालिक तो उनमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही है। वही पूर्व शरीर से अगले शरीर में इन्द्रियों को व मन को लेकर जाता है। 'संयाति'-'सम्यक् - याति' थोड़ा-बहुत चलन तो इन्द्रिय और मन का यहाँ भी होता है। कहते ही हैं कि 'मेरा मन वहाँ पर चला गया'। अथवा जब हम सामने पेड़ देखते हैं तब हमारे मन और आँख किसी तरह से वहाँ गये, तभी वहाँ देख रहे हैं। परन्तु यहाँ से *अच्छी तरह* से नहीं गये, पेड़ को देखने के बाद वापिस यहाँ आ गये। जब अच्छी तरह जाते हैं तब यहाँ से ऐसे जाते हैं कि फिर कभी यहाँ आयेंगे ही नहीं, पूर्व शरीर में कभी दुबारा नहीं आयेंगे। फिर कभी नहीं आयेंगे ऐसा जो जाना है वह - 'संयाति'। इस शरीर को छोड़ कर ऐसा जायेंगे कि फिर *इस* शरीर में नहीं आयेंगे।

किसी शरीर में नहीं जायेंगे ऐसा नहीं समझ लेना! इस शरीर में नहीं आयेंगे।

इसमें लौकिक दृष्टांत देते हैंः वायु अर्थात् हवा; 'गंधान्' सुगन्धि को, 'आशयात्' सुगंधि जिसमें है वह सुगंधि का आशय जैसे फूल या इत्र। वायु इस गंध को जैसे लेकर चली जाती है वैसे जीव इन्द्रियादि को ले जाता है। चीज़ तो वैसी की वैसी रह जाती है पर गंध चली जाती है। यहाँ यह प्रश्न उठाने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि यह लौकिक दृष्टांत है, कि गंध जायेगी तो कोई द्रव्य भी जायेगा ही। ऐसी कई दार्शनिक मान्यताएँ हैं, परन्तु कम से कम, प्रत्यक्ष में ऐसी प्रतीति नहीं होती। फूल से गंध आने पर फूल में कोई कमी नज़र आ जाती हो, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार, यह शरीर तो ऐसा ही पड़ा रह जाता है। जैसे जो गन्ध का आशय है उसकी विशेषता गंध है पर गंध चली जाती है, आशय रह जाता है, ऐसे ही जीवन जिसकी विशेषता है वह शरीर निर्जीव होकर पड़ा रह जाता है। कपड़े पर आधुनिक सेंट छिड़क लो, कपड़ा गंध का आशय, आधार बन जाता है पर खुली हवा में दो-चार घण्टे रहने के बाद कपड़ा वैसा ही रहता है, खुशबू सारी उड़ जाती है। उसी प्रकार से पंचमहाभूतों का कार्य शरीर ऐसा ही रह जाता है। बहत्तर किलो का शरीर, अंतःकरण और इन्द्रियों के जाने से कुछ भी हल्का नहीं होता। क्या चला गया? जानने वाला ईश्वर चला गया। बाकी, उतने-का-उतना वजन, उतने-का-उतना तोल, सब कुछ वैसा-का-वैसा रह गया। जैसे सुगंधि की विशेषता चली गयी, कपड़ा वैसा-का-वैसा रह गया; इसी प्रकार से ज्ञान-क्रिया के साधन चले गये, शरीर तो वैसा-का-वैसा रह गया। इसलिये यह दृष्टांत दिया, 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' आशय में कोई परिवर्तन नहीं होता, और वायु गंध को लेकर चली जाती है। इसी प्रकार प्राण वायु तुम्हारे इन्द्रियों और अंतःकण को लेकर चली जाती है।।८।।

शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन इन सबका जो स्वामी है, ईश्वर है, वह पाँच इन्द्रियाँ और मन (इनसे उपलक्षित पुर्यष्टक) को लेकर इस शरीर से वैसे ही उड़ जाता है जैसे फूल में से उसकी गंध उड़ जाती है। अब उन पाँच इन्द्रियों और मन का स्वयं कथन कर देते हैं-

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

(देह में स्थित होकर) यह जीवभूत परमेश्वरांश कान, आँख, त्वक्, जीभ, नासिका व मन को व्यापारवान् बनाकर विषयों का उपभोग करता है।

पूर्व श्लोक में मन समेत जो छह कहे थे उन्हीं का नाम ले दिया : श्रोत्र, सुनने की इन्द्रिय जो आकाश से बनी है। चक्षु, देखने की इंद्रिय जो तेजस्तत्त्व से बनी है। स्पर्शन, छूने की इन्द्रिय जो वायु से बनी है। रसन, चखने की इंद्रिय जो जल से बनी है। घ्राण, सूँघने की इंद्रिय जो पृथ्वी से बनी है। मन स्वयं सोचने-विचारने का कार्य करता है, सुख-दुःख-क्रोधादि आकार लेता है, और इन सभी इंद्रियों के साथ मिलता है तभी इंद्रियाँ सफल हो पाती

हैं। एक समय में तो मन एक इंद्रिय से ही ग्रहण करता है पर यदि मन इंद्रिय से सम्बद्ध न हो तो इंद्रिय अनुभव नहीं करा पाती इसलिये सभी को मन का सम्बंध चाहिये रहता है। मन पाँचों भूतों से बना है। 'अयं' अर्थात् देह में स्थित जीव इन सब के 'अधिष्ठाय' सहारे विषयों का उपभोक्ता बनता रहता है। 'अधिष्ठाय' अर्थात् इन्हें अपने अधीन बनाकर इनमें स्थित होकर जीव भोग करता है। इनसे एकमेक हो जाना इनमें स्थित होना है, अतः आँख देखती है तो लगता यही है कि मैं देखता हूँ। वर्तमान देह में भी इन्हें अधिष्ठित कर ही भोगता है, अगला जो शरीर मिलता है वहाँ भी इन्हें अधिष्ठित कर ही भोगता है। श्लोकस्थ 'च' से सारे पुर्यष्टक को और उसे अधिष्ठित करने को समझ लेना चाहिये। जीव द्वारा अधिष्ठित होने पर ही श्रोत्र आदि में शब्दादि के प्रकाशन की सामर्थ्य आती है क्योंकि उसी की वह औपाधिक अभिव्यक्ति है। विषय-प्रकाश करता वही है पर इन सबके सहारे, यह तात्पर्य है।।९।।

स्थूल शरीर तो छोड़ता ही है इसलिये उससे आत्मा अलग है इतना समझ आता है। श्रोत्रादि का प्रवर्तक है अतः उनसे भी अलग है यह पूर्व श्लोक में बताया। ऐसा आत्मा हमारा स्वरूप होने पर भी शरीर पकड़ते-छोड़ते या इंद्रियों को प्रवृत्त करते हुए उसे हम देख नहीं पाते। इसका कारण बताते हैं-

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

ग्रहण किया शरीर छोड़ते हुए आत्मा को, या शरीर में रहते हुए (आत्मा) को, या विषयों का उपभोग करते हुए भी (आत्मा) को, सुख-दुःख-मोहरूप गुणों से युक्त आत्मा को, विषयाकर्षणवश नाना प्रकार से मोहग्रस्त जन्तु शास्त्रोपदेश के बावजूद भी देख नहीं पाते (यह अत्यंत खेद की बात है)। प्रमाणजनित ज्ञानरूप आँख से देखने वालों को इसका दर्शन होता है।

'उत्क्रामन्तं' - जिस शरीर को पहले ग्रहण किया है उसको छोड़ते हुए को नहीं देख पाते। 'स्थितं' - उस शरीर में रहते हुए को भी नहीं समझते। 'भुञ्जानं' - शब्दादि विषयों का भोग करते हुए को भी नहीं जानते। 'गुणान्वितम्' - सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण अर्थात् सुख, दुःख ओर मोह, इन गुणों से युक्त, अर्थात् इन गुणों वाला होकर वह जो ईश्वर अर्थात् इस सारे संघात का मालिक है, उसको ये सब काम करते हुए, 'विमूढा नानुपश्यन्ति' विमूढ जन नहीं देखते। शरीर से निकलता हुआ भी उसको देखते हैं, शरीर में रहता हुआ भी देखते हैं, भोग करता हुआ भी देखते हैं, सुखी, दुःखी, मोही होता हुआ भी देखते हैं, पर इन व्यापारों से अतिरिक्त जो उसका स्वरूप है उसे नहीं समझ पाते, व्यापारों को ही देखते रहते हैं। 'न अनुपश्यन्ति' - इसको भोग करते हुए देखकर, यह भोग करने वाला नहीं है - इस रूप से उसे नहीं देखते, भोग करने वाले रूप में ही देखते हैं। शरीर में स्थित रूप से इसको देखते हैं परन्तु यह सचमुच में कैसा है, यह नहीं देखते। लोक में भी ऐसा होता हैः देवू नामक किसी आदमी को रसोई बनाते हुए देखते हैं। साल

भर से तुम्हारे यहाँ रसोई बना रहा है, धोती पहनकर, कमर कसकर फुल्के बनाता है, साग छौंकता है, इस प्रकार तुमने उसको देखा हुआ है। अब तुम किसी भोज में जाते हो, वहाँ पर पतलून, कोट, टाई – इन सबसे एकदम सुसज्जित हुआ, बना-ठना कोई व्यक्ति मिलता है। तुम्हें कुछ खास आदर देता है। तुम पहचानते भी नहीं पर वह तुम्हें काफी महत्त्व देता है। अन्त में उसी को जब समझ आता है कि तुमने नहीं पहचाना तब आकर कहता है 'मैं देवू हूँ'। तब तुम आश्चर्य से पहचानते हो। बताता है कि भोज देने वाले उसके रिश्तेदार हैं अतः वह वहाँ उपस्थित है। यद्यपि तुमने उस व्यक्ति को देखा था, तथापि उसकी पहचान तुम्हारे अंदर स्फुरित नहीं हुई थी। कपड़े बदल लिये तो तुमको वह नया आदमी लगा, दूसरा ही लगा। एक बार कलकत्ते में एक ने किसी ब्याह में ढोली को ढोल बजाते देखा तो लगा व्यक्ति पहचाना हुआ है किन्तु पहनावे आदि से प्रतीत हो रहा था कि मारवाड़ के गाँव से आया हुआ है। बहुत ध्यान से देखा तब समझ आया कि वह दफ्तर का चपरासी ही है! लंबे समय से उससे व्यवहार करते हुए भी 'यह ढोली है' यह नहीं पता था अतः बदले लिबास और कार्य में उसे पहचानना मुश्किल हो गया। देखते तो हैं, परन्तु उन कपड़ों में या उस काम को करने वालों में, वह कौन है जो कर रहा है, यह नहीं पहचानते। पानी देने वाले आदमी के रूप में पहचाना, गाँव के ढोली के रूप में नहीं पहचाना। रसोई करने वाले के रूप में देखा, लेकिन रसोई करने वाले को नहीं पहचाना।

इसी प्रकार यहाँ भी 'उत्क्रामन्तं' मरने वाला देखते हैं, आत्मा अज्ञात रह जाता है। मरते तो एक ही बार हैं परन्तु शरीर को रोज़ छोड़ते हैं। जब गहरी नींद में जाते हो तो शरीर में कहाँ हो? शरीर का तुमको कोई भान नहीं है। इस प्रकार से, जाग्रत् से सुषुप्ति में जाते हुए रोज़ देखते हैं। 'स्थितं' – जाग्रत् काल में तो देखते ही हैं, विषयों का भोग करते हुए भी देखते हैं। सुखी, दुःखी, मोही रूप में भी देखते हैं, परन्तु 'न अनुपश्यन्ति'। जो यह सब कर रहा है उसे नहीं देखते। क्यों नहीं देखते? दृष्ट और अदृष्ट विषयों के भोगों की तरफ हमारा चित्त इतना आकृष्ट है, इतना खिंचा है कि आत्मदर्शन का मौका नहीं है। रसगुल्ला मुँह में रखते हैं तो उसका जो मज़े का स्वाद है उसकी तरफ चित्त इतना जाता है कि 'कौन खा रहा है' इसका ख्याल नहीं! जैसे दृष्ट विषय वैसे ही अदृष्ट विषयों का भोग हैः इन्द्र-शरीर में जाकर, रम्भा, उर्वशी इत्यादि की ओर देखता रहता है, भोग करने वाला कौन है इसकी तरफ नज़र नहीं जाती है। इसलिये कहा 'विमूढाः' जब तक अनन्त प्रकार के विषयों से चित्त न हटे तब तक आत्मदर्शन की संभावना नहीं। एक विषय से चित्त हटाते हैं तो इतने विषय हैं दूसरे, कि किसी-न-किसी तरफ चित्त चला जाता है। भगवान् मानो अत्यन्त दुःखी होकर कहते हैं कि कितने दुःख की बात है कि हर समय स्फुरित होते परमात्मा को लोग नहीं देखते! देखते समय देखने वाला अवश्य उपस्थित होता है। देखने के विषय तो बदलते रहते हैं पर देखने वाला वही है। इसलिये जब भी विषयदर्शन होता है तब देखने वाले रूप में वह मौज़ूद है। फिर भी इन विषयों का आकर्षण इतना है कि विषयी को नहीं देखते। यह विमूढ लोगों का हाल है।

कौन देखते हैं? 'ज्ञानचक्षुषः'। ज्ञान रूपी आँख जिनकी है। ज्ञान रूपी आँख – 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा जो भागत्याग-लक्षणा से समझ जाता है, वह हुआ ज्ञानचक्षु। ऐसे समझ लो : रोज़ एक पेड़ को देखते हो, उसके नीचे से जाते हो, उसके पत्तों को देखते हो, उसके फलों को देखते हो, फूलों को देखते हो, सब देखते हो। पर चूंकि तुमने वनस्पति-विज्ञान नहीं पढ़ा है इसलिये यह सब देखते हुए भी, क्या नहीं देखते? 'यह नीम है' यह नहीं देखते। सब चीज़ें दीख रही हैं, परन्तु 'यह नीम है' यह नहीं पहचानते। कोई तुम्हारा मित्र वनस्पति-विज्ञान का जानकार आता है, पेड़ के समीप पहुँचते ही तुमसे कहता है, 'अरे! तुम्हें खून की खराबी का रोग रहता है, तुम्हारे तो घर में ही लगा हुआ है नीम, इसके फूल फल और पत्ते का सेवन क्यों नहीं करते?' तब पता चलता है तुम्हें कि वह नीम है। जिसने वनस्पति-विज्ञान का अध्ययन किया है, उस अध्ययन से जनित जिसकी ज्ञानचक्षु है, वह तो उसको 'यह नीम है' ऐसा झट पहचान लेता है। जिसको इसका विज्ञान नहीं है, वह रोज़ देखने पर भी इसको पहचानता नहीं। इसी प्रकार से, देखने वाला, भोगने वाला, खुद कैसा है, इसकी पहचान बतलाने के लिये ही वेद आदि शास्त्र हैं। उनके द्वारा पता लग जाता है कि आत्मा स्वयं कैसा है, कौन है। 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदार्थों का शोधन कर जो लक्ष्य है, वह वास्तविक आत्मा है। यहाँ इन उपाधियों से यह सब करते हुए दीखता है, लेकिन सचमुच में तो वह सच्चिदानंद-मात्र है। जैसे, रसोई बनाता दीखता है पर है तो किसी लखपति चतुर्वेदी का सगा-सम्बन्धी, या हमें पानी पिलाता है, लेकिन स्वरूप से ढोली है। इसी प्रकार जिन्होंने वेदादि शास्त्रों के द्वारा प्रमाण से इस विज्ञान को प्राप्त कर लिया है वे इसको हर क्षण जानते हैं। विषयों के अंदर आकृष्ट चित्त वाले नहीं जानते, और 'तत् त्वम् असि' आदि वाक्यों के द्वारा जिनके अंतःकरण में संस्कार आ गया है, वे उसको स्पष्ट देखते हैं।।१०।।

आत्मा को देखने के लिए अभ्यास की ज़रूरत है, इस लिए कहते हैं–

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

श्रवणादि यत्न करने वाले और समाहित मन वाले अपनी बुद्धि में प्रकाशमान आत्मा को देख लेते हैं। तप आदि से जिन्होंने चित्त तैयार नहीं किया है ऐसे अविवेकी शास्त्रादि प्रमाणों द्वारा प्रयास करने पर भी इसे नहीं देख पाते।

'एनम्' जो बिलकुल अपने पास होता है, सामने होता है, उसको 'एनं' से कहते हैं। उत्क्रमण, भोग आदि सब करने वाला कौन है? तुम हो। तुमसे और समीप तो तुम्हारे कोई नहीं हो सकता! इसलिये कहते हैं 'एनं'। 'यतन्तः' – श्रवण, मनन, शम, दम, विवेक, वैराग्य इन सबके द्वारा निरन्तर जो प्रयत्नशील हैं और इन सब साधनों को करते हुए जिनका अंतःकरण हमेशा समाहित रहता है अर्थात् जो शास्त्र कह रहा है उसमें ही जिनका चित्त एकाग्र रहता है वे आत्मदर्शन कर पाते हैं। जो योगी नहीं, वे भी प्रयत्न तो करते हैं, श्रवण

मनन भी कर लेते हैं, परन्तु चूंकि उसके विपरीत संस्कार भी दिन भर भरते रहते हैं, इसलिये उनके अंतःकरण में ज्ञान-दृष्टि उत्पन्न होती नहीं। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा- 'श्रुतिमतस्तर्कोनुसंधीयताम्' श्रुति जिस बात को कह रही है उसको पुष्ट करने वाली युक्तियों का बार-बार अपने मन में चिन्तन करो और जो उससे हमें अलग करता है, दुस्तर्क है, उससे विराम करो, उससे दूर रहो। यह मन तो संस्कारों के अधीन है, यदि इसके अंदर विरुद्ध संस्कारों को भी डालोगे तो शास्त्रीय संस्कार फल नहीं देंगे। 'योगिनः' के द्वारा यह कहा कि शास्त्र के अंदर जो बातें कही हैं, उन्हीं की पर्यालोचना से वे ही संस्कार जब दृढ हो जाते हैं, विपरीत संस्कार अतिक्षीण हो जाते हैं, तब शास्त्रानुसारी दर्शन संभव है। श्रुति ने भी कहा है 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ. ४.४.२३) समाहित होकर ही अपने आप में उस परमात्मा का दर्शन हो सकता है। अतः श्रवण मननादि का अभ्यास करते हुए और शास्त्रोक्त बातों के अंदर ही चित्तको समाहित करते हुए 'आत्मनि' अपनी बुद्धि गुफा के अंदर, जो तुम्हारी अहंकारात्मिका वृत्ति है उसके अंदर ही 'अवस्थितम्' मौज़ूद 'एनं पश्यन्ति' - इस आत्मतत्त्व को देखते हैं। 'मैं' जिस से प्रकाशित हो रहा हूँ, जिसके प्रकाश से 'मैं' दीप्त होता है, बस, वही तो आत्मतत्त्व है। हर क्षण अनुभव होता है, 'मैं जड नहीं, चेतन हूँ'। परन्तु चूंकि अनुभव उपाधि के साथ होता है इसलिये उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं पकड़ पाते। जब श्रुति तुमको समझाती है कि चेतन ही तो परमेश्वर है, तब अपनी बुद्धि में स्थित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।

शंका होती है कि बहुत-से लोग देखे जाते हैं जो बहुत श्रवण-मनन करते हैं, बड़े-बड़े विद्वान् लोग हैं जो रात-दिन वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, अध्यापन करते हैं, परन्तु इतने पर भी अपने अहं में स्थित आत्मा को नहीं पहचानते! श्रवण मनन में लगे हुए हैं फिर भी, इस आत्मतत्त्व को नहीं देखते ऐसा क्यों? समाधान किया 'अकृतात्मानः'; इन्होंने अपने आत्मा को, अंतःकरण को उन संस्कारों का नहीं बनाया। तेरहवें अध्याय में कहे अमानित्वादि साधनों के द्वारा उन्होंने अपनी बुद्धि को संस्कृत नहीं किया है। संस्कार करने का उपाय ही है तप। तप के द्वारा ही अंतःकरण के अंदर अमानित्वादि जग सकते हैं। तप का मतलब होता है कष्ट सहना। 'कष्टसहनं हि तपः'। तुम सहिष्णु होगे तो दुनिया फायदा उठायेगी, और तुम्हें नुकसान रूपी कष्ट भी होगा। परन्तु जो तपस्वी है वह कहता है, मुझे भगवान् से मतलब है, यहाँ के कष्टों की चिंता कैसे करूँ? जैसे ही तुम अपने ढंग के अनुसार चलते हो वैसे ही कष्ट आयेंगे। प्रायः लोग पूछते हैं, 'महाराज, धर्म करते रहते हैं फिर भी कष्ट क्यों आता है?' धर्मानुसार चलने पर कष्ट तो आयेंगे। उन कष्टों को सहन करके अमानित्वादि के संस्कार को ही अपने अंतःकरण में लायेंगे, तब वह अंतःकरण आत्मा को ठीक प्रकार से अपरोक्ष कर पायेगा। साधन सभी इहलोक में दुःखदायी होंगे। सत्य बोलोगे, मुकदमा हारोगे; सत्य बोलने से मुकदमा तो नहीं जीतोगे पर परमात्मा की तरफ ज़रूर जाओगे। अतः मुमुक्षु को तपस्वी होना, तितिक्षु होना पड़ता है, अन्यथा साधना में स्थित नहीं रह सकता।

अन्यत्र श्रुतियों ने कहा है 'नाविरतो दुश्चरितात् नाशन्तो नासमाहितः' (कठ.२.२४) जब तक तुमने सारे दुश्चरित्रों को छोड़ नहीं दिया तब तक प्रज्ञा से आत्मा नहीं पा सकते। चाहे जितना बड़ा आकर्षण आवे, परन्तु फिर भी वह आकर्षण तुमको अपनी तरफ खींच न सके, ऐसा जिसने इन्द्रियों को जीतकर अपने को शम दम वाला नहीं बना लिया, वह इस प्रज्ञा से आत्मा की प्राप्ति नहीं कर पाता। इसलिये भगवान् ने कहा कि अकृतात्मा नहीं देखते, कारण है कि उनकी जो बुद्धि है, वह अभी संस्कृत नहीं हुई है। अमानित्वादि के संस्कारों से युक्त होने से ही आत्मदर्शन के योग्य हो पायेगी।

अकृतात्मा क्यों हैं? असंस्कृत बुद्धि वाले क्यों हैं? कहा 'अचेतसः'। जो कपड़े का जानकार नहीं है, वह बजाज से ठगा जाता है। जो सोने का परीक्षक नहीं है वह सुनार से ठगा जाता है। जो विवेक नहीं करता वह उसके कपड़े के सुन्दर रूप को देखकर के, गहने के सुन्दर रूप को देखकर के ठगा जाता है। अविवेकी का लक्षण ही यह है कि जो विवेक करके समझे नहीं क्या ठीक है, क्या गलत है, क्या नित्य है, क्या अनित्य है, क्या सत्य है, क्या असत्य है, क्या धर्म है, क्या अधर्म है। ऐसा विवेक करने में जो कुशल नहीं है, वही ठगा जाता है। अविवेकी होने से ही वह अपनी बुद्धि का संस्कार नहीं कर पाता, क्योंकि उसे लगता है कि नामरूप की उपेक्षा से हमारा नुकसान हो जायेगा। उड़िया बाबा आश्रम में अनुशासनहीनता करने वालों को भी प्रेम से समझाया करते थे, क्रोध नहीं करते थे, कहते थे कि 'क्रोध से यह भले ही नियंत्रित हो जाये, मैं तो बिगड़ जाऊँगा! काम-क्रोध-लोभ ये तीन ही - भगवान् ने कहा है - नरक के द्वार हैं। मैं इसको स्वर्ग में ले जाने के लिये खुद नरक में जाने के लिये तैयार नहीं हूँ।' जो विवेकी होता है, उसकी तो यह दृष्टि है। अविवेकी कहेगा, 'नहीं नहीं, ऐसे कैसे चलेगा?' इसिलये 'अचेतसः' हेतुगर्भ समझ लेना चाहिये; क्यों अकृतात्मा हैं? अचेतस होने के कारण। अतः समस्त दुश्चरित छोड़कर, दर्प शान्त कर समाहित होकर श्रवणादि करने से ही आत्मदर्शन होता है।।११।।

सब का प्रकाशक और सभी से अप्रकाश्य जो परम पद पाकर मुमुक्षु संसार में नहीं लौटते, जिसके मानों अंश ही सब जीव हैं, उसी आत्मरूप पद का वैभव स्पष्ट करते हैं -

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जो तेज सूर्य में, चंद्र में व अग्नि में रहकर सारे जगत् को प्रकाशित करता है उसे मेरा तेज जानो।

भगवान् पहले कह आये हैं कि परमात्मा को कोई प्रकाशित नहीं कर सकता। न सूर्य की ज्योति, न चन्द्रमा की ज्योति, न अग्नि की ज्योति उसको प्रकाशित कर सकती है। अब कहते हैं कि इतना ही नहीं है कि उसको प्रकाशित नहीं कर पाते, अपितु ये जो लौकिक प्रकाश हैं ये भी उस चेतन प्रकाश के कारण ही प्रकाश वाले बने हैं। सूर्य में रहने वाला जो तेज है, प्रकाश है, उसे मेरा तेज समझो। प्रकाश का अर्थ बतला दिया था, अंधकार रूपी

आवरण को दूर करने वाला। सूर्य के अन्दर अंधकार को दूर करने वाला प्रकाश है, हमारे में क्यों नहीं? पत्थर में क्यों नहीं? मौजूद तो वह चेतन सर्वत्र है, पर सूर्यादि में उसकी विशेष अभिव्यक्ति है। जैसे बाहर की तरफ दीवार पर चारों तरफ सूर्य-प्रकाश पड़ता है परन्तु बीच में जो काँच लगा रखा है वहीं सूर्य चमकता है। है तो सर्वत्र, वहीं क्यों चमकता है? क्योंकि ऐसी विशेषता वाला काँच वहीं है। काँच खुद भी सूर्य से प्रकाशित हो जाता है तथा प्रकाश को प्रत्यावर्तित कर अन्य चीज़ों को भी प्रकाशित कर देता है। ईंट आदि में यह सामर्थ्य नहीं है। ठीक इसी प्रकार से, जितना सत्त्वगुण अधिक होता है उतना ही वह जो परमात्म-प्रकाश है, वह भी प्रकाशित होता है। इसलिये सूर्य अत्यंत शुद्ध सत्त्वगुणी होने के कारण, उसका प्रकाश जगत् के अंधकार को हटा देता है। 'अखिलं जगत् भासयते' सारे जगत् को प्रकाशित कर देता है। हमारा प्रकाश भी प्रकाशित करता है; वही चेतन प्रकाश हमारे द्वारा सामने रखी हुई दस बीस चीज़ों को देख लेता है। उन दस बीज चीज़ों के ऊपर जो अविद्या का आवरण है उसको हम हटाकर दस बीस चीज़ें देख लेते हैं परन्तु सूर्य का प्रकाश तो इस जगत् में जितनी चीज़ें हैं सबको प्रकाशित कर लेता है, सबको देख लेता है। क्योंकि सूर्य हिरण्यगर्भ-रूप है इसलिये हम सूर्य की उपासना करते हैं। हममें व सूर्य में दोनों जगह चेतन एक ही है, चेतन में कोई फ़र्क नहीं है, परन्तु चूंकि उसके अंदर सत्त्वगुण की अधिकता है, शुद्धि अत्यधिक ज़्यादा है, इसलिये वह उपास्य है और हम उपासक हैं। जो पहले कहे थे 'आदित्य, चन्द्रमा और अग्नि' उन्हीं चीज़ों को क्रम से फिर कह दिया। सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है। उसके अंदर यह जो प्रकाशन करने की सामर्थ्य है, यह है तो उस चेतन की सामर्थ्य; परन्तु सत्त्वगुण की अधिकता के कारण सूर्य में प्रकट है। हमारी आँख दस चीज़ें देखती है, और सूर्य आँख का समष्टि अभिमानी होने से, जहाँ भी कोई आँख देख रही है सूर्य के कारण ही देख रही है, अतः उसके लिये सब चीज़ें एक साथ उपस्थित हैं।

इसी प्रकार से 'यच्चन्द्रमसि', चन्द्रमा में जो तेज है वह भी मेरा है। सूर्य के प्रकाश में दीखने वाला विषय बिलकुल स्पष्ट हो जाता है परन्तु उसके अंदर भावों को जगाने की सामर्थ्य नहीं है, जब कि चन्द्रमा में सौन्दर्य इत्यादि चीज़ें खिल जाती हैं। चन्द्रमा ऐसा क्यों कर सकता है? चन्द्रमा मन का अभिमानी है और भाव सारे के सारे मन में रहेंगे। हमारा मन तो केवल हमारे भावों के साथ है, पर चन्द्रमा मन का समष्टि है इसलिये जहाँ-कहीं भी जिस-किसी का मन है, उन सब मनोभावों को प्रकाशित करने वाला चन्द्रमा है। वह इसलिये ऐसा कर सकता है कि उसके अंदर सत्त्वगुण की अधिकता है।

'यच्च अग्नौ'; इसी प्रकार हम एक आग में हवन करते हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ हवन करने की आग है उन सब में अभिमानी अग्नि जगत्प्रकाशक है। श्रुति कहती है 'यज्ञो वै विष्णुः'। विष्णु जहाँ भी कर्म हो रहा है, यज्ञ हो रहा है, उस सब के देवता हैं। इसलिये वे सारे यज्ञों के प्रकाशक हैं। लेकिन विष्णु क्यों सारे यज्ञों के प्रकाशक हैं? क्योंकि उनके अंदर

सत्त्वगुण की उपाधि है इसलिये। अतः वे उपास्य हो जाते हैं और हमारे अंदर वह शुद्धि नहीं है तो हम उपासक रहते हैं। व्यष्टि उपाधि वाला उपासक होता है, समष्टि उपाधि वाला उपास्य होता है क्योंकि समष्टि उपाधि के अंदर तमोगुण की न्यूनता होती है, सत्त्वगुण की अधिकता होती है।

जो इन सबके अंदर प्रकाशित करने वाला तेज है 'तत् मामकं तेजो विद्धि' उसको तू 'मेरा' (परमात्मा का) तेज समझ। अर्थात् परमेश्वर का चैतन्य रूप सूर्य में है, इसलिये सूर्य इन सबको प्रकाशित करता है। वही चन्द्रमा में है इसलिये चन्द्रमा के द्वारा सबको प्रकाशित करता है; वही अग्नि में है इसलिये अग्नि द्वारा सबका प्रकाशन करता है। यद्यपि चैतन्य ज्योति, ईंट में और विष्णु में अलग नहीं है, तथापि ईंट के अंदर सत्त्वगुण न्यूनतम है, तमोगुण ही प्रधान है, और विष्णु में सत्त्वगुण ही प्रधान है, तमोगुण न्यून है। इसलिये इन ज्योतियों को अत्यन्त प्रकाश वाला, अत्यंत भास्वर देखा जाता है। विशेषता उपाधि को लेकर है, है तो सारा ही 'मामकं तेजः' मुझ परमेश्वर का ही तेज। जैसे, तुम्हारा सारा शरीर तुम्हारे साथ एक है। ऐसा नहीं है कि तुम अंगुली में ज़्यादा हो और नाक में कम हो! सारे शरीर में एक जैसा हो, फिर भी पहचान पत्र जब बनाया जाता है, तब तुम्हारे मुख का ही चित्र माँगते हैं। तुम अपने घुटने के नीचे-नीचे पैरों का चित्र दे दो ते क्या उसे मान लिया जायेगा? तुम सारे शरीर में हो, लेकिन मुख के अंदर तुम्हारा विशेष प्रकाश है इसलिये उसी की कीमत है। ठीक इसी प्रकार से परमात्मा ईंट में और विष्णु में एक जैसा होने पर भी विष्णु की उपाधि ही उपास्य होती है, ईंट की उपाधि उपास्य नहीं होती।

पहले भगवान् ने बता दिया था ' त्वम्'-पदार्थ की उपाधि को, जो मन के द्वारा इन्द्रियों के द्वारा, विषयों का भोग करता है। अब ईश्वर की उपाधि बतला दी, जो सूर्य चंद्रादि के अंदर सबका प्रकाश करता है। सर्वत्र ही उपनिषदों में 'तत्'पद का जो वाच्यार्थ होता है वह उपास्य होता है और जो लक्ष्यार्थ होता है वह ज्ञेय होता है। अतः जहाँ कहीं भी 'तत्'-पदार्थ का वर्णन आता है वहाँ दोनों चीज़ों को ध्यान में रखना पड़ता है। अतः भगवान् ने यह बतलाया कि सारे जगत् को चैतन्य प्रकाश की प्राप्ति परमात्मा से ही होती है। सूर्य इत्यादि के अंदर भी जो हमको अंधकार को निवृत्त करने की शक्ति प्राप्त होती है वह आवरण-निवृत्ति की शक्ति सूर्यादि के अंदर सत्त्वगुण अधिक होने से, समष्टि अभिमानी होने से, प्रकट होती है। ब्रह्म के विषय में जब कहा जाता है, 'तत्'-पद के विषय में जब कहा जाता है, तब वह उपासक की दृष्टि से उपास्य का स्वरूप है और ज्ञानी की दृष्टि से अपरोक्ष आत्मा का रूप है। उपासक की दृष्टि से सूर्य चन्द्रादि के तेज में भी परमात्मतेज की ही दृष्टि करनी है। और ज्ञेय ब्रह्म की दृष्टि से जहाँ आवरण की निवृत्ति होती है, वहाँ चैतन्य ही आवरण का निवर्तन करने वाला है यह अनुभव करना है। यह ठीक है कि घट का प्रकाश सूर्य ने किया, परन्तु घट के प्रकाश को नेत्र के प्रकाश से अनावृत किया गया; इसलिये अंधे आदमी के लिये घट अनावृत नहीं हुआ। और चक्षु के अंदर, मन के द्वारा, अहं के द्वारा, परमात्मा का तेज

आया तब चक्षु भी उस आवरण को दूर कर सकी। अंततोगत्वा, 'घटज्ञान वाला मैं' यह जो अहम्‌के साथ वाली प्रतीति है, इसको भी अनावृत करने वाला चेतन ही है।।१२।।

संसार के अधिकतर देशी-विदेशी धर्मों में परमात्मा के प्रकाश को बाह्य प्रकाश के साथ एक कर समझा जाता है। और इसलिये किसी भी प्रकार की पूजा-पद्धति में किसी भी देश में, किसी भी मज़हब में, सर्वत्र चाहे मोमबत्ती जलावें, दीया जलावें, किसी-न-किसी प्रकार से प्रकाश अवश्य किया जाता है, परमेश्वर की पूजा के साथ। इसलिये तेज की विशेषता सर्वत्र है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि केवल प्रकाश का परमात्मा के साथ संबंध है। इसलिये भगवान् आगे कहते हैं –

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

पृथ्वी में प्रवेश कर मैं अपने बल से सारे जगत् को धारण करता हूँ तथा रसस्वभाव चंद्र होकर मैं सारी वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।

पृथ्वी मिट्टीरूप है और मिट्टी तो फैल जानी चाहिये, मिट्टी को कहीं भी डालो तो चारों तरफ बिखर जाती है। यह पृथ्वी मिट्टीरूप होते हुए भी बिखरती क्यों नहीं? कहते हैं 'गाम् आविश्य'। इस पृथ्वी के अंदर प्रविष्ट मैं परमेश्वर हूँ। इसीलिये हम लोग कहते हैं कि पृथ्वी देवता है, इसके अंदर चेतन शक्ति है। देवतारूप से परमेश्वर ही इसमें प्रविष्ट है। ऐसा क्यों मानना? तो कहते हैं 'धारयामि' सारी पृथ्वी को मैं बटोर कर रखता हूँ। अन्यत्र उपनिषदों में इसलिये परमेश्वर को सेतु कहा है। मिट्टी क्यों नहीं बिखर जाती? इसके अंदर परमात्मदेवता इसको इकट्ठी कर के रखता है इसलिये। अपने शरीर में पहले समझ लो : हमारे शरीर में अनेक प्रकार के जंतुओं का, कीटाणुओं का निरंतर आघात होता रहता है और हमारा शरीर उसका प्रतिघात करता रहता है, इसलिये बिखर नहीं जाता। परन्तु जैसे ही इसमें से इस शरीर का अभिमानी जीवात्मा निकल जाता है, वैसे ही यह शरीर घंटे दो घंटे में ही विशीर्ण होने लगता है, फूल जाता है, अंदर का खून पानी हो जाता है। अतः लोग कहते हैं 'मिट्टी को जल्दी से जल्दी रास्ते लगाओ'। सामान्य नियम यही है, कि लाश को दो सूर्य न देखने पड़ें अर्थात् दिन में मरा है तो दिन में ही शरीर की अंत्येष्टि कर दो, रात में मरा है तो जैसे ही सूर्योदय हो उसके बाद सूर्य का दर्शन होने पर उसको जला दो। यह जो विदेश के प्रभाव से हमारे यहाँ होने लगा है कि लाश को तीन दिन रखो, यह सब शास्त्र के सर्वथा विरुद्ध है। अंदर जब तक जीवात्मा है तब तक तो शरीर की चीज़ें विशीर्ण होती नहीं और जैसे ही यह जीवात्मा वहाँ से चला जाता है वैसे ही शरीर बिखरने लगता है। शरीर में तो फिर कुछ ढक्कन है चमड़ी का, पृथ्वी के ऊपर तो कोई ढक्कन भी नहीं है! परन्तु फिर भी यह बिखरती नहीं, इससे पता लग जाता है कि इसके अंदर इस पृथ्वी का चेतन देवता मौज़ूद है।

केवल यह बिखर नहीं जाती है इतना ही नहीं, 'भूतानि गामाविश्य धारयामि'। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटाणु, मछली, पेड़ आदि सब के सब कितनी वज़नदार चीज़ें हैं! पृथ्वी के ऊपर यह सारा वज़न है और पृथ्वी का अपना वज़न है ही; फिर भी यह अपने स्थान पर स्थित है, नीचे गिरती नहीं। मिट्टी को जैसे ही हाथ से छोड़ोगे तो नीचे गिरेगी, पत्थर को हाथ से छोड़ोगे तो नीचे गिरेगा, परन्तु पृथ्वी के ऊपर इतने प्राणियों का वज़न होने पर भी यह गिरती नहीं। जैसे मुर्दे के ऊपर तुम कोई वज़न रखो तो मुर्दा वज़न सहित खुद गिर जायेगा; तुम यदि भगवान् की कृपा से जवान हो तो दो मन वज़न उठाकर भी चल लेते हो, तुम्हारे शरीर का कुछ नुकसान नहीं होता। जैसे मुर्दे के अंदर वज़न को लेने की शक्ति नहीं, और जीवित में है इसी प्रकार इतने प्राणियों का वज़न लेकर पृथ्वी नीचे गिरती नहीं क्योंकि इस पृथ्वी को पृथ्वी देवता धारण किये हुए है। भगवान् ने कहा कि जगत् को धारण करता हूँ तो किस शक्ति से? 'ओजसा'। हमारी जो शक्ति है वह काम और राग से युक्त होने के कारण हमेशा कमज़ोर रहती है। अर्थात् शक्ति होने पर भी हमारे लिये नहीं जैसी हो जाती है। एक प्रयोग जीवविज्ञान में करते हैंः मेढक के हाथ में बिजली का संचार करते हैं तो बिजली झटका देती है। थोड़ी देर बाद उतनी बिजली से हाथ में झटका नहीं होता। यदि बिजली को बढ़ाओ तो झटका देती है। बढ़ाते-बढ़ाते एक स्थिति ऐसी आती है कि उसके बाद कितना ही बिजली को बढ़ा दो लेकिन हाथ में झटका नहीं आयेगा। जब इस प्रकार झटका आना बंद हो जाता है, उसके बाद मन की वृत्ति को चलाने वाला जो स्नायु है उस स्नायुतन्तु को काट देते हैं, अब हाथ में मन की गति नहीं होती। अब झटका देने पर फिर हाथ झटकने लगता है, और बहुत देर तक - जितना पहले झटका नहीं लगा था उससे ज़्यादा देर तक - वह झटकता रहता है। फिर एक स्थिति ऐसी आती है, कि उसके बाद कितना भी झटका दो, फिर नहीं झटकता। इससे पता लगता है, कि शरीर के अंदर जो ओजस् शक्ति है, वह हमारे बाह्य बल की अपेक्षा काफी ज़्यादा है। इसीलिये योगियों का कहना है कि हमारे खाये हुए अन्न से धीरे-धीरे सात धातु बनते हैं। आगे उस चरम धातु को यदि काम और राग से रहित रखा जाता है तो वह ओजस् शक्ति बनती है। काम और राग से विवर्जित जो बल है, वह ओज है। यह परमेश्वर का बल है। काम और राग के द्वारा वह परिच्छिन्न रहता है, और काम और राग जितना कम होता जाता है उतना ही वह अधिक प्रकट होता जाता है। परमेश्वर में वह पूर्ण है। पृथ्वी के ईश्वरीय बल को जीव का ओजस् नहीं समझना। उस ओज के कारण ही इतना सारा वज़न लिये हुए भी यह पृथ्वी अपने स्थान से च्युत नहीं होती, नीचे नहीं गिरती और स्वयं बिखरती भी नहीं। इस बात को वेद भी कहता है 'येन द्यौः उग्रा पृथ्वी च दृढा' (तै.सं.४.१.८) परमात्मासे द्युलोक इतना उग्र बना रहता है और पृथ्वी दृढ बनी रहती है। 'स दाधार पृथिवीम्' (ऋ.सं. ८.७.३.१) हिरण्यगर्भ रूप से परमात्मा ही पृथ्वी को धारण करता है। इसी बात को यहाँ भगवान् ने कहा कि पृथ्वी में प्रविष्ट होकर के सारे भूतों को धारण करता हूँ अतः इतना वज़न लेते

हुए भी न यह बिखरती है पृथ्वी और न उचित स्थान से च्युत होती है। जैसे आदित्यादि के अंदर समष्टि भाव होने से सत्त्वगुण की अधिकता है, वैसे ही पृथ्वी देवता के अंदर भी सत्त्वगुण की अधिकता से यह इतना असम्भव वज़न धारण करती है। हम लोग मन दो मन वज़न धारण कर सकते हैं क्योंकि तमोगुण की अधिकता से वह ओज प्रकट नहीं होता। जितना-जितना हममें सत्त्वगुण बढ़ेगा उतना-उतना ओज बढ़ता चला जायेगा। यह जो पृथ्वी की धारण-शक्ति है, इस धारण-शक्ति में परमात्मा की दृष्टि करनी है। इसी धारण-शक्ति को वर्तमान काल में पृथ्वी की आकर्षण शक्ति कहते हैं। क्या चीज़ है यह नियमित गुरुत्वाकर्षण? इसके अंदर जो परमात्मा है, वही है। यह भी एक ध्यान की उपाधि बतलाई। अर्थात् केवल तेजरूप से ही नहीं सोचो, धारण की शक्ति रूप से भी उसका चिंतन करो। अथवा किसी एक उपाधि का ध्यान करो, वह भी ठीक है।

'सर्वाः ओषधीः'। इस पृथ्वी के ऊपर गेहूँ, चावल इत्यादि ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। 'ओषधिःफलपाकान्ता' फल आने से जो पौधा ख़त्म हो जाता है, अर्थात् एक बार बीज आ गया, फल आ गया तो वह पौधा सूख जाता है, उसको ओषधि कहते हैं। जितने भी हमारे अन्न के पदार्थ हैं, गेहूँ चावल आदि, वे सब ऐसे ही हैं। जितनी भी इस प्रकार से खा कर हमारे शरीर में शक्ति देने वाली वनस्पतियाँ हैं, वे सब भी उपलक्षणा से समझ लेनी चाहिये। हमें पुष्ट करने वाली यही खाद्य सामग्री है - प्रधानरूप से अन्न जिसको कहते हैं वे चावल आदि, और गौणरूप से फल आदि। जैसे गेहूँ चावल एक बार ही फल देता है, उसी प्रकार से बहुत-सी सब्ज़ियाँ भी ऐसी हैं जो एक बार फल देती हैं। उपलक्षणा से सभी सब्ज़ियों को समझ लेना। सब हमको पुष्ट करती हैं। उनमें क्या चीज़ है जो पुष्ट करती है? कहा 'रसात्मकः'। रसरूप परमात्मा है जो हमें पुष्ट करता है। इसीलिये जितनी ताज़ी चीज़ का सेवन किया जाता है वह ज़्याद पुष्ट करती है, और जो चीज़ जितनी सूख जाती है उसके अंदर उतनी ही शक्ति कम हो जाती है। 'रसात्मकः' याद रखना चाहिये, क्योंकि वर्तमान काल में चीज़ को सुखाकर तरह-तरह से बंद कर जितने अधिक समय तक रखा जा सके उतना रखने का प्रयत्न होता है। यह प्रयत्न वहाँ के लिये ठीक है जहाँ ताज़ी चीज़ें उपलब्ध नहीं हों। कितना भी सुखा लो, उसमें कुछ रस तो रहता ही है। परन्तु हमेशा देखोगे कि यदि खाते हो तो जितना स्वाद, जितना रस ताज़ी चीज़ में आता है उतना पुरानी चीज़ में नहीं आता। इसलिये जिन देशों के अंदर मनुष्य रहता तो है परन्तु वहाँ ओषधियाँ कुल तीन महीना पकती हैं, बाकी समय पकती ही नहीं, बर्फ ही बर्फ रहती है, उन देशों में ताज़ी खाद्य सामग्री के अभाव में वे लोग सुखाकर खाते हैं। राजस्थान में भी जब तक रेल इत्यादि नहीं आई थी, तब तक हरी सब्ज़ी धूप में सुखाकर खाते थे। सांगरी सुखा दी, काचरी सुखा दी, भें सुखा दी, खीरा सुखा दिया, कुम्हड़ा सुखा दिया, बहुत चीज़ें ऐसी हैं जो सुखाकर कालांतर में खाई जाती हैं। उपलब्धि नहीं होने पर जिस किसी ढंग से थोड़ी बहुत भी उपलब्धि होवे वह ठीक है, परन्तु अब उन देशों की नकल करके जहाँ नदियों के किनारे

हमेशा ताज़ी चीज़ें मिलती हैं वहाँ भी धन के लोभ से इसी प्रकार सुखाकर, बासी कर, पुराना कर, तरह-तरह से विकृत कर, रस को सुखा कर खाते हैं और उसको उन्नति भी कहते हैं! याद रखना चाहिये कि जितनी रसात्मकता कम होती जायेगी उतनी ही उसके अंदर पोषण करने की शक्ति कम होती जायेगी। इसलिये भगवान् ने कहा 'रसात्मकः' रसरूप हुआ मैं पुष्टि करता हूँ अर्थात् उनको पोषण करने वाली बनाता हूँ।

कैसे बनाता हूँ? 'सोमो भूत्वा'। चन्द्रमा के द्वारा जो किरणें आती हैं, वे उन ओषधियों को रसात्मक बनाती हैं। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि रस वाली जो चीज़ है उसमें स्वाद विशेष-रूप से होता है। उसके अंदर पुष्टि तो है ही, स्वाद भी अधिक है। इसीलिये मारवाड़ में लोगों को सूखी सब्ज़ी खानी तो पड़ती ही थी, परन्तु उसके अंदर खूब अच्छी तरह से मसाला डालना पड़ता था। उस मसाले के द्वारा उसको स्वादिष्ट बनाना पड़ता था। ताज़ी सब्ज़ी केवल उबाल कर खाओ तो उसमें इतना स्वाद आता है जितना किसी मसाले का स्वाद नहीं होता। जहाँ जबर्दस्ती सूखी खानी है वहाँ उसे स्वाद वाला बनाना पड़ता है। सोम ही सारे रसों का केन्द्र है। जो सारे रसों का केन्द्र है वह चंद्र, किरणों के द्वारा, उन ओषधियों में प्रवेश करके उनको रस वाला बनाता है जो रस पुष्टि का कारण है। इस प्रकार, जब भी भोजन किया जाये, तब उस भोजन के अंदर पोषण करने वाली शक्ति का परमात्मरूप से ध्यान किया जाये यह इस वर्णन से सूचित है।।१३।।

अब भगवान् हमारे शरीर में स्थित अपना रूप बताते हैं -

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट हुआ मैं प्राण-अपान से संयुक्त होकर चारों तरह का भोजन पचाता हूँ।

'प्राणिनां' प्राण धारण करने वाला जीव है। जो प्राण धारण करता है उसी को जीव कहते हैं। सभी प्राणियों के 'देहमाश्रितः' देह के अंदर, शरीर के अंदर, 'वैश्वानरो भूत्वा' पेट में मैं, वैश्वानर अग्नि के रूप में मौजूद हूँ। पेट में होने वाली अग्नि को वैश्वानर अग्नि कहते हैं। इसलिये श्रुति ने कहा है- 'अयम् अग्निर्वैश्वानरो योयम् अंतः पुरुषे येन इदं अन्नं पच्यते' (बृ. ५.९.१)। भोजन तुम्हारे पेट में पकाया (पचाया) जाता है। पकाने के लिये अग्नि चाहिये। पेट में अग्नि-रूप से कौन है? वैश्वानर अग्नि बनकर भगवान् हर एक प्राणी के पेट में हैं। जितनी इस अग्नि के अंदर तीव्रता होती है उतना ही आदमी अच्छा पचा सकता है। जितनी यह कमज़ोर होगी उतना ही पाचन कम होगा। जब मनुष्य की पाचन शक्ति समाप्त हो जाती है तब वह मृत्यु के समीप है। इसलिये अंतिम जो परिणाम पता लगता है, मनुष्य मर गया कि नहीं, वह है ठण्डा पड़ने लगना। जब शरीर ठण्डा पड़ने लगता है तब शरीर मरणासन्न है। वैसे भी देखोगे, जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे अन्न

कम पचने लगता है और शरीर में ठण्डक की मात्रा बढ़ जाती है। बुड्ढों को ठण्ड बहुत लगती है, बालक का तेज इतना है कि ठण्ड उससे घबराती है। हम लोग बच्चों को कपड़े पहनाते रहते हैं, वे उनको खोलते रहते हैं। और बुड्ढा आदमी रजाई पर रजाई ओढ़े जाता है, स्वेटर पर स्वेटर पहने जाता है, फिर भी ठंड महसूस करता है। लौकिक कहावत है, 'हाथ सूखा और बच्चा भूखा', खाकर घंटेभर बाद फिर तैयार है, खाने को मिले तो फिर खा लेगा, डेढ़ घंटा होते-होते चिल्लाने लगेगा, रोने लगेगा। और वही बुड्ढा हो जाता है, तो एक दिन दो पूरियाँ ज़्यादा खा ले तो शाम को कहता है, 'आज नहीं खाऊँगा'। वैश्वानराग्नि ही मनुष्य की जीवन शक्ति है। इसलिये प्राचीन काल के अंदर ऐसी औषधियों का सेवन करते थे कि पेट की अग्नि अधिक समय तक रह सके। वर्तमान काल की औषधियाँ सब पहला प्रभाव डालती हैं कि पेट की पाचन-शक्ति को दबा देती हैं।

वैश्वानराग्नि को तेज कैसे किया जाता है? 'प्राणापानसमायुक्तः पचामि' मैं ही वैश्वानर अग्निरूप से प्राण और अपान से युक्त होकर के पचाता हूँ। अग्नि को तुम पंखे से झलते रहो तब तो तेज़ होती है, और नहीं तो थोड़ी देर में ठण्डी पड़ने लगती है। लोहार को जब बहुत तेज़ अग्नि चाहिये तब वह धौंकनी चलाता है जिसमें खूब ज़ोर से वायु निकलती है। जैसे वहाँ धौंकनी या पंखा अग्नि को जाग्रत् करता है उसी प्रकार प्राण और अपान रूपी जो वायु है, वह वैश्वानराग्नि को तेज़ करती है। प्राण और अपान की वायु में तीव्रता हमेशा, जब शरीर ज़्यादा क्रियाशील होगा, व्यायाम आदि करेगा, तब होती है। जितनी क्रिया-शक्ति कम होती जायेगी उतनी यह शक्ति कम होती जायेगी। एक व्यक्ति है आबू में, उसको काफी बीमारी हो गयी थी, यह हाल हो गया था कि शायद मर ही जाये! किसी ने उसको कहा, 'रोज़ चलना शुरू करो'। धीरे-धीरे वह चलने का अभ्यास करते हुए, यहाँ से ठेठ तलहटी तक, १८-२० किलोमीटर पैदल जाता है, नतीजा यह हुआ, कि अनेक वर्ष हो गये अभी ज़िन्दा है, अच्छी तरह से जीवन व्यतीत कर पा रहा है। यह किस की शक्ति है? प्राण और अपान का साथ मिलने पर वैश्वानर अग्नि की शक्ति बढ़ी उसके द्वारा ही रसात्मक ओषधियों का शरीर में अधिक पाचन होता है। शरीर में पकाने का, पचाने का काम वैश्वानर अग्नि करती है, और वैश्वानर अग्निरूप से परमेश्वर विद्यमान है। वही उसमें पचाने की शक्ति देता है।

अन्न का मतलब क्या? जो खाया जाता है उसको अन्न कहते हैं। वैसे, वेद का तो विचित्र विचार है! एक जगह उपनिषद् कहती है, कि 'अद्यतेत्ति च भूतानि तस्माद् अन्नं तदुच्यते' (तै.२.२) जो खाता है वह अन्न है, और जो खाया जाता है वह भी अन्न है। श्रुति कहती है कि वैश्वानर अग्नि को तेज़ करने वाला जो भोजन है, वह तो खाया जाता है; और वैश्वानराग्नि को धीमा करने वाला जो है वह अन्न ही खाने वाले को खा जाता है। 'प्राणापानसमायुक्तः' से कहा कि संधुक्षण को बढ़ाओ। प्राण और अपान की गति को बढ़ाकर जितना अपेक्षित अन्न है, उतना लो। अन्यथा जैसे, अग्नि ठंडी पड़ गयी है, उसके

ऊपर राख जम रही है, उसके ऊपर तुम जो आहुति देते हो वह व्यर्थ जाती है, इसी प्रकार से प्राणापान के द्वारा जो तेजस्वी नहीं की गयी है, उस वैश्वानराग्नि के अंदर अन्न डालते हो तो वह तुम्हारे नाश का कारण बनता है। डाला हुआ अन्न तुम्हें तब तक पोषण नहीं देगा जब तक पचे नहीं। इसलिये अतिधन्य वेद कहता है, जो कम खाया जाता है वह पुष्ट नहीं करता है, और जो अधिक खाया जाता है वह भी पुष्ट नहीं करता है! इसीलिये उचित मात्रा में खाना चाहिये। मात्रा अन्यत्र योगियों ने बतलाई है कि आधा पेट खाना चाहिये। एक-चौथाई स्थान जल के लिये रखना चाहिये, एक-चौथाई वायु के लिये रखना चाहिये। ऐसा नहीं खा लेना चाहिये कि साँस लेने में भी तकलीफ आने लगे! आधा पेट अन्न खाने से फिर प्राणापान के सन्धुक्षण से रसात्मक अन्न जो अपेक्षित होगा वह पोषण करेगा। और यदि वैश्वानराग्नि संधुक्षित नहीं है, तो वह नुकसान भी करेगा। इसलिये भगवान् ने केवल यह नहीं कहा कि 'वैश्वानर होकर के मैं पचाता हूँ', साथ में कह दिया 'प्राणापानसमायुक्तः'।

अन्न कितने प्रकार के हैं? भगवान् कहते हैं- 'चतुर्विधम्'। हम चार तरह से खाते हैं।एक तो फुल्का आदि खाते हैं जिसको दाँतों से पहले टुकड़ा कर लेते हैं तब फिर आगे उसको खाते हैं। उसको अशन कहते हैं; दाँतों से काटकर टुकड़ा करके फिर खाया जाता है। एक है जैसे हलवा खाते हैं, अथवा खीरानंद खाते हैं; हलवा कोई तुम दाँतों से टुकड़े करोगे नहीं! उसको भोज्य कहते हैं। कई चीज़ें हैं जिनको चाटा जाता है, जैसे चटनी आदि हैं, उनको हलवे की तरह तो नहीं खाते, चाटते हो। वह खाने का एक अलग प्रकार है। एक होता है 'चोष्य' जिसको चूसा जाता है जैसे कि गन्ना। उसके अंदर का रस लेकर बाकी चीज़ को फैंक दिया जाता है। चार प्रकार से हम खाना अंदर ग्रहण करते हैं। अंदर ग्रहण तो पीना भी करते हैं, और संसार में अनेक भाषाएँ हैं जिनके अंदर खाना और पीना एक ही मानते हैं। इसलिये कुछ लोगों ने चार प्रकार के अन्नों में पेय को भी गिन लिया है। परन्तु वह इसलिये ठीक नहीं क्योंकि संस्कृत में तो खाना और पीना अलग क्रियायें हैं। भोज्य, भक्ष्य, चोष्य और लेह्य ये चार प्रकार के भोजन हैं। दाँतों से काट कर खाना, बिना दाँतों से काटे हुए खाना, चाटना, और चूसना - इन चार प्रकारों से खाये अन्नों को भगवान् ही पकाते हैं, पचाते हैं। इसके द्वारा भगवान् ने सूचित किया, जैसा वेदों के अंदर कहा है, कि खाते समय यह चिंतन करो कि खाने वाला वैश्वानर अग्नि है। इसलिये भोजन प्रारम्भ करने के पहले मृग-मुद्रा के द्वारा अन्न लेकर बिना स्वाद लिये हुए पंचप्राणों की आहुति देते हैं, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान - इन सबको आहुति देते हैं। उस समय भावना करते हैं कि 'वैश्वानराग्नि को आहुति दे रहा हूँ' और खाते समय भी हमेशा यह ध्यान रखना है कि वैश्वानर अग्नि को आहुति दे रहा हूँ। वैश्वानर अग्नि ही भोक्ता है। और जिसे खा रहे हैं, वह अन्न सोमरूप रसात्मक है। उपनिषदों ने इस बात को स्पष्ट कहा है कि सारा संसार बस दो ही हैं - अत्ता और अन्न। अत्ता वैश्वानर अग्नि है और अन्न सोम है; दोनों ही परमात्मरूप हैं। इस प्रकार से अत्ता और अन्न, अग्नि और सोम, दोनों की परमात्मरूप

से उपासना करते हुए, इनमें परमात्मदृष्टि करते हुए जो भी खाता है, वेद ने कहा है कि उसको अन्नदोष नहीं होता। उपासक के लिये यह उपासना हो गयी। विचारक समझे कि दृश्य रूप से परमात्मा ही उपादान कारण है और द्रष्टारूप से परमात्मा ही निमित्त कारण है; इस प्रकार से हर दृश्य और द्रष्टा भाव में जो जानता है वह अग्नि-सोमात्मक परमात्मा की दृष्टि ही रखता है। प्रकाश और बल की तरह वैश्वानर की उपासना यहाँ प्रसंग से बतला दी। आदित्यादि में उपासना बतलाई, पृथ्वी में बतलाई, ओषधियों में बतलाई, और स्वयं अपने शरीर में, अध्यात्म में वैश्वानर रूप से बतलाई। जो ज्ञानाधिकारी है उसके लिये इन प्रसंगों से तत्पदार्थ का वर्णन स्पष्ट किया।।१४।।

पहले आदित्यादि विशेष उपाधियों में भगवान् ने अपनी अवस्थिति समझायी, फिर सब प्राणियों के जठर में स्थित अपना रूप बताया। अब समझाते हैं कि सभी प्रतीयमान अंतःकरणों के अंदर एक परमेश्वर ही है। परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में जो जाता है, उसको भेद-बुद्धि नहीं रखनी है, सभी के अंदर, अंतःकरणों के अंदर एक परमेश्वर का प्रकाश है, इस बात को समझ कर शिष्ट, भ्रष्ट, ब्राह्मण, चाण्डाल, आदि प्रतीयमान जितने भेद हैं उन सबको हटाने का प्रयत्न करना है। इसलिये अंतःकरण में भी परमेश्वर है इसको स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं –

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

मैं सब प्राणियों के हृदय (बुद्धि) में प्रविष्ट हूँ। मेरे कारण ही स्मृति, ज्ञान और भूलना होता है। सारे ही वेदों द्वारा मैं ही ज्ञेय हूँ। वेदान्तों के अर्थ का सम्प्रदाय बनाने वाला और वेदार्थ का जानकार मैं हूँ।

सबके हृदय में, अर्थात् अंतःकरण में, बुद्धि में, अहं में, मैं ही प्रविष्ट हूँ। सभी अंतःकरणों के अंदर 'मैं'-रूप से जो भान हो रहा है, वह परमात्मा का ही है। सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करने वाले को बार-बार असावधानी को छोड़ कर 'सब रूपों के अंदर एक परमेश्वर ही है' यही भावना दृढ करनी है। और 'मत्तः' मैं जो सबका ईश्वर, सबके अंतःकरण में बैठा हुआ हूँ, उस मेरी कृपा से ही स्मृति होती है। हम सचमुच में ब्रह्म होते हुए अपने ब्रह्मरूप को मानो भूले हुए हैं। जिस प्रकार से ब्राह्मण भाँग का गोला छान कर अपने को शूद्र समझ लेता है, परन्तु उसके समझने से वह शूद्र हो तो नहीं जाता, जैसे ही नशा उतरता है वैसे ही फिर अपने को ब्राह्मण ही जानता है, इसी प्रकार अविद्या के कारण अनादिकाल से ब्रह्म ही अपने को जीवरूप से, अहमूरूप से समझ रहा है। और जैसे ही यह अज्ञान नष्ट होता है, वह पुनः अपने रूप में स्थित हो जाता है। इसी को स्मृति कहते हैं। सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार ने कहा, 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छां ७.२६.२) स्मृति आ जाने से ही मोक्ष हो जाता है। यद्यपि श्रुति ने स्मृति शब्द का

उपयोग किया है, यहाँ भगवान् ने भी कहा है, फिर भी इतना याद रखना चाहिये कि स्मृति का जो अर्थ होता है, 'जानी हुई बात को बुद्धि में लाना', यह अर्थ यहाँ नहीं है, क्योंकि पहले ज्ञान था और अज्ञान आ गया, ऐसा नहीं है, अज्ञान अनादि है। स्मृति के जैसा होने से, अर्थात् जैसा है वैसा जानना – यह जो स्मृति का रूप है, ऐसा तत्त्वज्ञान का रूप होने से उसे स्मृति कह दिया है। भगवान् ने बताया – मेरी कृपा से ही यह स्मृति होती है।

'ज्ञानम्' और मेरी कृपा से ही ब्रह्माकार वृत्ति बनती है। बिना ईश्वरकृपा, गुरुकृपा, शास्त्र-कृपा के यह वृत्ति बनती नहीं। ईश्वर की कृपा से ही, परमात्मा जैसा है वैसा, अज्ञान-नाश होकर, हमें अभिव्यक्त हो जाता है। और 'अपोहनं च'। ज्ञान होने पर भी, पुराने संस्कारों के कारण, संशय और विपर्यय आता है। 'क्या यही सच है?' यह है संशय। और 'इतने हज़ारों आदमी अपने को जीव समझ रहे हैं, सब बेवकूफ हैं क्या? हम जीव ही हैं' – यह विपरीत ज्ञान विपर्यय है। इस प्रकार संशय-विपर्यय होने पर युक्तिपूर्वक, न्यायपूर्वक सोचकर संशयादि को हटाना भी परमेश्वर की कृपा से ही होता है। स्मृति, अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति, ज्ञान अर्थात् उस निवृत्ति को करने वाली ब्रह्माकार वृत्ति, और उसको दृढ करने के लिये संशय-विपर्यय हटाने वाला अपोहन, यह सब भी 'मत्तः'– मेरे से ही हैं।

अथवा सामान्य स्मृति, ज्ञान आदि भी परमेश्वर से ही होते हैं – यह कह रहे हैं। जो पुण्यकर्मी होते हैं, जिस समय उनका पुण्य कर्म उदय होता है, उस समय उन्हें स्मृति आ जाती है। वैसे तो सभी का किया हुआ पुण्य-पाप है ही, पर जिस समय पुण्य कर्म का *उदय* होता है उस समय मनुष्य को ठीक चीज़ याद आती है, कर्तव्य-अकर्तव्य सामने आने पर, 'यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है' – ऐसा ठीक प्रकार से स्मरण आ जाता है, अन्यथा नहीं आता। भीष्म पितामह सब प्रकार से सब धर्मों को जानने वाले थे। जिस समय दुःशासन द्रौपदी को नंगी कर रहा था, उस समय द्रौपदी ने यह प्रश्न द्रोण, भीष्म, सबसे किया 'जब युधिष्ठिर ने पहले अपने को दाँव पर लगाया और युधिष्ठिर हार गये, अर्थात् युधिष्ठिर गुलाम हो गये, उस अवस्था में क्या मेरे ऊपर उनका आधिपत्य था जो उन्होंने मुझे दाँव पर लगाया?' क्योंकि युधिष्ठिर ने पहले तो भाइयों को एक-एक कर के दाँव पर लगाया, अन्त में अपने को लगाया। उसके बाद जब दुर्योधन ने उकसाया कि 'अभी तो तुम्हारी द्रौपदी बच गयी, पत्नी तो बच गयी, उसी को दाँव पर लगा दो', तब उन्होंने उसको दाँव पर लगाया। अतः द्रौपदी का प्रश्न था, 'जब स्वयं हार चुके थे तब क्या उनका अधिकार था कि मुझे दाँव पर लगावें?' विकट प्रश्न था; द्रोण, भीष्म, विदुर सबने कह दिया कि इस प्रश्न का जवाब नहीं दे सकते, किसी को भान नहीं हुआ कि इस विषय में धर्म का क्या निर्णय है! भीष्म द्रोण के शास्त्र के ज्ञान में कोई कमी न होने पर भी ठीक स्मृति नहीं हो रही थी। जब पाप कर्म का उदय होता है, तब मनुष्य को आवश्यक पड़ने पर भी, अपनी जानी हुई बात भी, पढ़ी हुई बात भी याद नहीं आती, स्मरण नहीं होता।

'ज्ञान' चीज़ की यथावत् जानकारी होना। चाहे प्रत्यक्ष से, चाहे और किसी प्रमाण से, जैसी

चीज़ होवे वैसा उसका अनुभव ही ज्ञान कहा जाता है। यद्यपि लोक में कह देते हैं, कि रस्सी में साँप का ज्ञान हुआ तथापि साँप का भ्रम होना, ज्ञान होना नहीं है। लौकिक दृष्टि से भी रस्सी को साँप देखना अज्ञान ही है। जैसे प्रत्यक्ष में गड़बड़ी होती है वैसे ही, व्याप्ति इत्यादि में गलती से मनुष्य को अनुमान भी गलत हो जाता है। जब पाप कर्म का उदय होता है उस समय किसी भी चीज़ को जैसी है वैसा नहीं जानते। इसलिये भाषा के किसी कवि ने भी कहा है, कि जिसे दारुण दुःख देना हो भगवान् उसकी मति का हरण कर लेते हैं। पापकर्म के उदय होने पर पहले मनुष्य की बुद्धि ठीक प्रकार से चीज़ को समझ नहीं पाती, नहीं समझने से गलत काम करता है, और गलत काम करने से दुःख पाता है। अतः लोग हमेशा समझते हैं कि इस गलत काम से दुःख हुआ। परन्तु गलत काम क्यों हुआ? पहले के पाप कर्म उदय हुए इसलिय। रास्ते पर चल रहे हैं, हमने समझा सड़क है, है वहाँ पर गोबर। उस पर पैर पड़ा, हम धड़ाम से गिर पड़े और हमारी हड्डी टूट गयी। पाप कर्म के उदय होने से हड्डी टूटी। पर लौकिक दृष्टि से कहा जायेगा कि गिरने से हड्डी टूटी। परन्तु पैर इसीलिये फिसला कि गोबर का ज्ञान नहीं हुआ। आँख तो वही है। यथावत् चीज़ का ज्ञान होना, यह भी 'मत्तः' मुझ परमेश्वर से ही है। क्योंकि पुण्य-पाप के संस्कारों का जो उदय होना है, पुण्य-पाप का जो फल होना है, वह फल लाता तो मैं हूँ।

स्मृति भी मुझ से, ज्ञान भी मुझ से, और स्मृति और ज्ञान का हट जाना भी मुझ से। स्मृति का भी लोप हो जाता है, ज्ञान भी नहीं होता है। पाप कर्म के अनुसार मैं ही ऐसा कर देता हूँ।

और भी अपनी विभूति कहते हैं - 'वेदान्तकृत्' वेदान्त सम्प्रदाय करने वाला मैं ही हूँ। वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक परमेश्वर हैं, इसलिये रोज़ ही हम लोग स्मरण करते हैं 'नारायणं पद्मभवं' वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक नारायण हैं। अतः भगवान् ने कहा कि वेदान्त सम्प्रदाय का प्रवर्तक मैं हूँ। हमें जिसने भली प्रकार से वेदान्त का ज्ञान दिया, हमारे लिये वेदान्त सम्प्रदाय-कर्ता वही है क्योंकि उसी ने हमें सम्प्रदान किया। अतः गुरु भी परमेश्वर की मूर्ति है। इसलिये शास्त्रों ने कहा है, कि जिस समय गुरु उपदेश देता है उस समय अपने स्वरूप से नहीं देता, अपने अंदर नारायण की दृष्टि करके ही उपदेश देता है। इसीलिये संन्यासियों को नमस्कार करने के लिये 'ॐ नमो नारायणाय' यह मंत्र बतलाया। नारायण ने आदि उपदेश दिया, जो उपदेश आज दिया जा रहा है वह उपदेश उस नारायण का ही है। अतः आदि वेदान्तकृत् होने से भी, और हमें देने वाला होने के कारण भी वे वेदान्तकृत् हैं।

'वेदवित्'। जो श्रोत्रीय है, वेद के ज्ञान वाला है वह भी मुझ परमेश्वर की विभूति है। मुसलमान या सिख लोग कुरान या ग्रन्थ साहब को पूज्य मानते हैं। सारी कुरान की या ग्रन्थ साहब की किताबें बढ़िया कागज़ पर ही लिखी होवें ऐसा तो नहीं, घटिया कागज़ के ऊपर भी कुरान छप सकती है, छपती ही है, और बढ़िया से बढ़िया कागज़ पर भी छपती ही है। कागज़ के घटिया या बढ़िया होने से कुरान को घटिया बढ़िया नहीं कह सकते। इसलिये कुरान की कोई आयत कहीं सड़क पर पड़ी मिल जाये तो मुसलमान कुरान की तौहीन मानता है। सिख लोग

भी यही करते हैं। जिस पर कुरान है उस कागज़ को नहीं देखा जाता है, जो उस पर है वह कुरान है, इसलिये पूज्य है। जिस प्रकार वे लोग कागज़ को मानते हैं, हम लोग वैसे ही वैदिक संहिता, वैदिक ब्राह्मण, वैदिक उपनिषद्, वैदिक आरण्यक इत्यादि ग्रन्थ जिसके हृदय में हैं, उस श्रोत्रिय को मानते हैं। उसका शरीर कागज़-स्थानीय हुआ, उसमें कोई अच्छा भी मिलेगा कोई बुरा भी मिलेगा। कोई अतिशुद्ध आचरण वाला मिलेगा कोई अत्यंत शुद्ध आचरण वाला नहीं भी मिलेगा। पूजा उसके अंतःकरण के अंदर विद्यमान जो वेद है, उसकी है। कागज़ की जगह जो उसका शरीर है उसकी दृष्टि से वेद में या पूज्यता में कोई कमी नहीं आती। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि जो इस प्रकार के वेदज्ञ हैं, उनमें मैं ही वेदरूप से बैठा हुआ हूँ, मैं ही 'वेदवित्' हूँ। वेदान्तकृत् भी मैं ही हूँ, और वेदवित् भी मैं ही हूँ। ऐसा क्यों है? कहते हैं 'सर्वैः वेदैः अहमेव वेद्यः'। सारे वेदों से मैं ही वेद्य हूँ अर्थात् वेद का प्रत्येक मंत्र, साक्षात् या परंपरा से परमेश्वर का ही प्रतिपादक है। इसलिये ऋग्वेद कहता है, इन्द्र मित्र, वरुण इत्यादि अनेक नामों से उस एक परमात्मा का ही पूजन किया जाता है। वेदों के अंदर इन्द्र, मित्र वरुण, अग्नि आदि देवताओं का कथन देखकर बहुत से लोग कहते हैं कि अनेक देवताओं का प्रतिपादन है, पर उन सब नामों से एकमात्र परमेश्वर को ही कहा जाता है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' - एक ही सद्ब्रह्म है, उसे ही विप्र लोग वेदों के उच्चारण के समय अलग-अलग नामों से स्मरण करते हैं। जैसे विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हुए कोई यह कल्पना नहीं करता कि हज़ार विष्णु हैं! इसी प्रकार से विभिन्न नामों को सुनकर यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि अनेक देवता हैं। अनेक नामों से स्मरण है उपाधियों का वर्णन करने के लिये। जैसे विष्णुसहस्रनाम में हर नाम का किसी दृष्टि से प्रयोग किया गया है। अलग-अलग नाम ज़रूरी इसलिये हैं कि नहीं तो भगवान् की उन विशेषताओं को समझ नहीं पायेंगे। गलती यह होती है कि हमें भ्रम हो जाता है कि ये सब अपनी-अपनी अलग सत्ता वाले हैं। भगवान् इसलिये पहले ही यहाँ गीता में कह आये हैं, कि जिस उपाधि के द्वारा जो पूजा ध्यान इत्यादि करता है, उसी उपाधि के द्वारा मैं उसको फल देता हूँ। फल तो मैं देता हूँ, पर उसी उपाधि के द्वारा देता हूँ। चाहे मंत्रभाग हो, ब्राह्मण-भाग हो, आरण्यकभाग हो, उपनिषद्भाग हो, सर्वत्र सारे ही वेदों के द्वारा एकमात्र प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमेश्वर है वही 'वेद्य' है। आचार्य सायण इसीलिये ऋग्वेद भाष्यभूमिका में स्पष्ट करते हैं, 'सर्वैः परमेश्वर एकएव हूयते'। इंद्रादि जितने नाम हैं उनके द्वारा बुलाया तो केवल परमेश्वर को ही जाता है। इसलिये भगवान् ने कहा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। चूंकि सारे वेद मुझे बतलाते हैं, इसलिये चाहे ज्ञानकाण्ड हो, चाहे उपासनाकाण्ड हो, या कर्मकाण्ड हो, साक्षात् या परम्परया उस प्रत्यगात्मा का ही प्रतिपादन है।

इस प्रकार से भगवान् ने अपनी कुछ उपास्य विभूतियों का वर्णन किया। सातवें में, दसवें में, ग्यारहवें में, तो विभूति-वर्णन विस्तार से आ ही चुके हैं। यहाँ फिर संक्षेप में उसका वर्णन कर दिया। इस तरह से 'त्वम्'-पदार्थ का निरूपण हो गया और तत्पदार्थ का निरूपण हो गया। वाच्यार्थ-विधया ईश्वर को बतला दिया और लक्ष्य-विधया परमात्मा को बतला दिया।।१५।।

अत्यंत संक्षेप में समझने के लिये उस निरुपाधिक का वर्णन करते हैं। परमेश्वर के प्रतिपादन का एकमात्र तरीका है, वह क्या नहीं है यह बताना। रोज़ आप लोग महिम्न में कहते ही हो 'अतद्-व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि'। 'अतद्व्यावृत्ति' - परमात्मा यह नहीं है, यह नहीं है, इस प्रकार से ही उसका उपदेश संभव है। निरुपाधिक को किसी भी शब्द से प्रकट नहीं किया जा सकता। इसलिये यह याद रखना चाहिये कि परमात्मा को बताने के लिये, पहले आरोप कर के बतलाना पड़ता है कि 'परमात्मा ही सर्वरूप है', तब फिर सर्व का निषेध कर दिया तो वह अपने आप बच जाता है। अत्यन्त संक्षेप में इस औपाधिक रूप को बतला कर जो उसका निर्विशेष रूप है, वास्तविक स्वरूप है उसे बतायेंगे। विभूति आदि उपाधियाँ तो वस्त्रों की जगह हैं। ये जितने उपाधिरूप वस्त्र पहने हुए हैं, इन्हें छोड़कर जो असली तत्त्व है उसका दर्शन होता है। उपाधि-सहित उल्लेख कर उपाधि से अतीत बताना प्रारंभ करते हैं -

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

संसार में ये दो ही पुरुष कहलाने वाली राशियाँ हैं- क्षर और अक्षर। सारे कार्य क्षर (विनाशी), तथा मिथ्यारूप से स्थित माया अक्षर (अविनाशी) कही जाती है।

'लोके' अर्थात् हमारे अनुभव में जो आता है। लोक का मतलब होता है जो प्रतीत होता है। 'इमौ द्वौ पुरुषौ' वह सारा का सारा दो ढेरियों में इकट्ठा हो जाता है। इन्हें 'पुरुष' शब्द से इसलिये कहते हैं कि ढेरी जिस में कल्पित है उसी की ढेरी कही जाती है। ठीक जिस प्रकार से तुम अपने हाथ पैर इत्यादि का निर्देश 'देवदत्त' के रूप में ही करते हो; या जैसे खून तो सबका एक-सा है, फिर भी तुम्हारा खून निकाल कर चिकित्सक उस बर्तन के ऊपर तुम्हारा नाम लिख देता है और अगर किसी कारण से एक के खून की परखनली के ऊपर दूसरे का नाम लिख दिया गया, तो इलाज भी उल्टा ही हो जायेगा। जैसे खून एक जैसा होने पर भी उसके ऊपर तुम्हारा ही नाम लिखा जायेगा, इसी प्रकार से सारी उपाधि उस पुरुष की है, इसलिये उपाधि को 'पुरुष' नाम से कह दिया। जो अनुभव में आता है उसमें दो ढेरियाँ हैं, एक ढेरी है 'क्षर' और दूसरी ढेरी है 'अक्षर'। क्षर अर्थात् नष्ट होने वाला, अक्षर अर्थात् नष्ट नहीं होने वाला। क्षरण को लौकिक भाषा में झरना कह देते हैं। जहाँ पदार्थ धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा कम होता है वहाँ क्षरण कहा जाता है। अक्षर मायने जो नहीं झरता।

क्षर व अक्षर कौन हैं? खुद भगवान् कहते हैं-'सर्वाणि भूतानि क्षरः'। जितने भूत हैं, सारे क्षर ही हैं। यहाँ भूत का मतलब जीवात्मा को लेकर नहीं समझना। पंचमहाभूतों से बना हुआ यह सारा संसार, यह सारा जगत् क्षर है। तत्तद् पुरुष को कहते हो तो उसका जो क्षरणशील शरीरादि है उसको लेकर ही कहते हो। जो कुछ भी झरता रहता है, जो कुछ भी बदलता रहता है, विकृत होता रहता है, सब क्षर ही है और 'कूटस्थः अक्षरः उच्यते'। दूसरा

है अक्षर, जिसमें कभी क्षरण नहीं होता। यह परमेश्वर की माया शक्ति है जो सारे जगत् का कारण है। अनादि काल से अनन्त सृष्टियाँ इस माया के कारण हो गयीं लेकिन माया में कोई कमी नहीं आई, आगे अनन्त काल तक इसमें से ऐसे ही सृष्टि निकलती रहेगी। यह जो अक्षर है, यही इस क्षर का कारण है। उस माया से ही ये सब पंचमहाभूत और उनके विकार निकलते हैं, वह कारण है, ये कार्य हैं। अतः अक्षर वह हुआ जिसमें अनन्त जीवों के काम, कर्म, संस्कार रहते हैं, इनके कारण ही सब चीज़ें उस माया से प्रकट होती हैं। सभी प्राणियों के काम, कर्मादि का आश्रय यह मायाशक्ति है। अगर आश्रय तुम्हारा अंतःकरण होता तो तुम उसमें से निकाल लेते! अतः अपूर्व, संस्कारादि रहते माया में हैं। माया का एकदेश, कार्य होने से, उन्हें अंतःकरण में रहने वाला कहा जाता है। इसलिये महाप्रलय में जब सब कुछ लीन हो जाता है, तब उस माया में हमारे ही काम, कर्म सब मौज़ूद थे इसलिये उसी में से सृष्टि काल में पुनः निकल आते हैं।

अक्षर कैसा है? इसको कहा 'कूटस्थ'। कूट अर्थात् ढेरी; ढेर की तरह है यह माया। है तो एक ही पर इतनी चीज़ें निकलती हैं कि मानों यह ढेरी है। या कूट का दूसरा अर्थ होता है झूठ, धोखा देना, कुटिलता, छल करना; ये सब झूठ के ही पर्यायवाची जैसे ही हैं। शास्त्रों में सत्य की महिमा बहुत ज़्यादा बतलाई है, कि सारे धर्म एक पलड़े में रखें और दूसरे पलड़े में खाली सत्य रखें तो सत्य भारी होगा। कभी विचार करके देखो, कोई ऐसा पाप ढूँढना मुश्किल है जिसमें कहीं-न-कहीं तुम झूठ का आश्रय न लो; जैसी चीज़ है वैसा प्रकट करो तो फिर पाप नहीं कर सकते। क्षर जगत् का कारण ऐसी ही झूठी माया है। वही इन नाना झूठी चीज़ों के रूप में स्थित है। अनन्त संसारों के बीजों वाली परमेश्वर की माया शक्ति है, उसे यहाँ अक्षर शब्द से कहा। प्रायः वेदान्तों में कूटस्थ और अक्षर शब्द का प्रयोग प्रत्यगात्मा के लिये करते हैं, परमात्मा के लिये करते हैं। वह कूटस्थ और अक्षर का अर्थ यहाँ नहीं समझ लेना।।१६।।

ये दोनों तो बतला दीं उपाधियाँ। अब बतलाते हैं जो इन उपाधियों से सर्वथा रहित है। न वह क्षर है न अक्षर है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबको धारण करता है वह 'परमात्मा' यों कहा गया अविनाशी ईश्वर उत्तम पुरुष तो इन दोनों से अन्य है।

'अन्यः उत्तमः पुरुषः' - इन दोनों राशियों से अन्य है। अन्य है अर्थात् अत्यन्त विलक्षण है। अन्य का अर्थ केवल उनसे भिन्न है, ऐसा नहीं ले लेना। सीधा तो यही लगता है, कि उनसे भिन्न है। अगर उनसे भिन्न कहोगे तो अभेद का प्रतिपादन नहीं होगा! अतः उनसे विलक्षण है। जैसे लोक में, रस्सी से साँप वैसे भिन्न नहीं है जैसे टेबल से किताब।

किताब को एक तरफ कर दो, टेबल को दूसरी तरफ कर दो, किताब किताब है, टेबल टेबल है। ऐसे तुम रस्सी के साँप को अलग कर दो रस्सी से, सह सम्भव नहीं है। इसलिये साँप रस्सी से अलग है, भिन्न है यह नहीं कह सकते। भिन्न होता तो उसको हटा देते। इतने पर भी, रस्सी और साँप एक भी नहीं हैं क्योंकि रस्सी तो हमेशा रहेगी, साँप तब तक रहेगा जब तक तुम देखते हो। इसी प्रकार जब तक तुम अविद्या में हो तब तक तुम्हारे लिये क्षर और अक्षर हैं, तब भी उस पुरुषोत्तम से वे अलग नहीं हैं, परन्तु जैसे ही अविद्या दूर होती है वैसे ही क्षर और अक्षर हैं ही नहीं, जिस प्रकार रस्सी देखने के बाद साँप है ही नहीं यह निश्चय होता है। इसलिये 'अन्यः' का अर्थ भिन्न न समझ लेना, उससे विलक्षण है अर्थात् उससे अस्पृष्ट है।

'उत्तमः पुरुषः' पुरुष उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट, इन से श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता यही है कि उसके बिना उनमें से कोई चीज़ सिद्ध नहीं है। थोड़ा-सा व्याकरण को याद कर लेना : उत्तम पुरुष होता है 'मैं'। प्रथम पुरुष होता है 'वह', मध्यम पुरुष होता है 'तुम' और उत्तम पुरुष होता है 'मैं'। सर्वत्र बहुवचन सिखलाये जाते हैं। 'वह' का बहुवचन में 'वे' होगा, अर्थात् वह+वह+वह, कम से कम तीन 'वह' हों तब सबको मिलाकर 'वे' कहते हैं। इसी प्रकार से, मध्यम पुरुष का भी बहुवचन होता है; चार जने सामने हैं, तो तुम+तुम+तुम+तुम मिलके 'तुम लोग' हो गये। तुम भी कई हैं। परन्तु 'मैं' का बहुवचन 'हम' कहते हैं। तब इसका मतलब मैं+मैं+मैं नहीं होता! 'हम' का मतलब होता है मैं+तुम+वह। अतः जो केवल 'मैं' के द्वारा ही प्रतिपादित हो सकता है, उसी को उत्तम पुरुष कहेंगे। उसका कभी वास्तविक बहुवचन हो ही नहीं सकता, वह तो एक ही है। वह है, तब तो ये क्षर अक्षर सब हैं, और प्रत्यगात्मा मैं नहीं तो न क्षर है, न अक्षर है, कुछ भी नहीं है। इसीलिये उसको उत्तम पुरुष कहा है। उत्तम पुरुष भी सामवेद में (छां. ८.१२.३) वर्णित है।

यह 'मैं' कैसा है? 'परमात्मा इति उदाहृतः' इसको जब उदाहृत करते हैं वेदान्तों में, तब परमात्मा नाम से कहते हैं। परम क्यों कहते हैं? परमात्मा - परम आत्मा। अपर आत्मा तो है शरीर, क्योंकि पहले-पहले जब तुम किसी आदमी को देखते हो तो क्या देखते हो? शरीर देखते हो। इसलिये श्रुति ने आत्मान्वेषण शरीर से ही प्रारम्भ किया। उस शरीर के अंदर क्या है? प्राण है। तभी तक लोक में शरीर कह सकते हो जब तक उसमें प्राण हैं। प्राण के जाने के बाद वह शव कहा जायेगा, शरीर नहीं कहा जायेगा। शरीर के अंदर प्राण, प्राण के अंदर मन, मन के अंदर विज्ञान, विज्ञान के अन्दर आनन्द - इस प्रकार श्रुति ने एक के अन्दर एक को बताते हुए अन्त में कहा-'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'। ब्रह्म वह है जिस पर शरीर से आनंद पर्यन्त सब प्रतिष्ठित हैं। वह है तो ये सब हैं। इसलिये वह परम है। इसके आगे कुछ नहीं बतलाया। शरीरादि जितने हैं, सब अविद्या-कृत आत्माएँ हैं। ये सब अविद्याकृत 'मैं' हूँ, ब्रह्म सारे प्राणियों के अंदर एक जैसा विद्यमान है। कैसे विद्यमान है? जैसे ही कहते हैं कि 'सारे प्राणियों का आत्मा है' वैसे ही लोगों को एक बड़ी लंबी चौड़ी चीज़ नज़र आने लगती है। जैसे

व्यापक शब्द कहते ही लोग 'बड़ा' समझते हैं। ऐसे 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' बड़ा-छोटा नहीं है। जितने भी अविद्या से कल्पित शरीरादि हैं, वे सब ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं इसलिये वह 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' है। ऐसे समझ लो : तुम आकाश में खड़े होकर हजारों तारों को एक साथ देखते हो तो क्या तुम्हारी आँख चौड़ी हो जाती है? कुछ नहीं। आँख वहाँ की वहाँ है, वहाँ रहते हुए ही सर्व रूप धारण कर लेती है। रस्सी में एक आदमी जलधारा देख रहा है, एक आदमी भूछिद्र देख रहा है, एक माला देख रहा है। क्या रस्सी बहुत लम्बी चौड़ी हो गयी जो इतनी चीज़ें दीख रही हैं? रस्सी तो जहाँ है, जिस परिस्थिति में है वैसी ही है। इन सब रूपों का बनने के लिये उसको कोई लंबा चौड़ा नहीं हो जाना पड़ता। इसी प्रकार अविद्या से सारा ब्रह्माण्ड होने पर भी, ब्रह्म तो वैसा का वैसा प्रतिष्ठित है इसलिये उसे परमात्मा कहते हैं। वेदान्त 'परमात्मा' कहते हैं, तो प्रत्यगात्मा से अभेद बतलाने के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग है, और सारी उपाधियों का अधिष्ठान होने के कारण परम शब्द का प्रयोग है। इसलिये कहा वेदान्त उसी को 'परमात्मा' इस नाम से बतलाते हैं।

वही परमात्मा - 'लोकत्रयमाविश्य' - तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबको धारण किये हुए है। भूः, भुवः, स्वः यही तीन लोक प्रसिद्ध हैं। अथवा, कुछ चीज़ें तो हमने देखी हैं, अनुभव की हैं। वह एक लोक हो गया, अर्थात् भूत लोक। एक हो गया जिसको मैं देखूँगा, वह भविष्य लोक हो गया, भावी लोक हो गया। एक, जिसको देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ वह वर्तमान लोक हो गया। भूत, भविष्य, वर्तमान, इन तीनों कालों के द्वारा जो प्रतीत होता है अथवा 'भूः भुवः स्वः' इन लोकों में जो है, उस सबके अंदर परमात्मा अपनी ज्ञानरूपी शक्ति द्वारा प्रविष्ट है। ठीक उसी प्रकार जैसे रस्सी की लम्बाई और मोटाई सर्प की लम्बाई-मोटाई में प्रविष्ट है। तुम्हें साँप कैसा दीखता है? जैसी लम्बी-मोटी वहाँ पर रस्सी है। बाकी विशेषताएँ रस्सी की तुमको प्रतीत नहीं हुईं। इसी प्रकार परमात्मा ज्ञानरूप से जब चीज़ों के अंदर प्रविष्ट है। प्रविष्ट है मायने उसने 'प्रवेश' नहीं किया है! रस्सी ने साँप में प्रवेश किया हो ऐसा नहीं है। लेकिन रस्सी के स्वरूप से युक्त साँप की प्रतीति है, इसलिये कहा जाता है कि वह उसमें प्रविष्ट है। इस प्रकार से ही 'बिभर्ति' सबको धारण करता है। धारण करना ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि बहुत वज़न उठाए हुए है! बहुत-से लोग कहते हैं, भगवान् के ऊपर सारे संसार का बोझ है। ऐसा कोई उसका धारण करना बोझ ढोना नहीं है। स्वरूप सद्भाव मात्र ही धारण करना है। इसलिये वह परमात्मा 'अव्ययः' है। इस अनन्त सृष्टि के प्रतीत होने पर भी उसके अंदर विकार का लवलेश नहीं है। चाहे जितना विकृत संसार हमको दीख जाता है परन्तु उससे किसी विकार का स्पर्श उसके ऊपर नहीं आता। वह इसको धारण करते हुए भी 'ईश्वरः' सर्वथा स्वतंत्र है। रस्सी-साँप के दृष्टान्त में एक कमी हमेशा रहती है; रस्सी साँप का अधिष्ठान तो है, इसलिये रस्सी उपादान कारण तो है, पर निमित्त कारण हमारे संस्कार हैं, रस्सी नहीं। यहाँ ऐसी संभावना न हो जाये अतः ईश्वर कहा। वेदान्तियों को छोड़कर सारे ईश्वरवादी यही सोचते हैं कि उपादान कारण तो प्रकृति है, निमित्त कारण ईश्वर है। वेदांती ऐसा नहीं वरन् उसी एक

को उपादान और निमित्त दोनों तरह से कारण मानता है। अतः यहाँ स्पष्ट कहा कि वही ईश्वर है। उसका स्वातन्त्र्य अप्रतिहत है, अतः सबका ईशन करने वाला वही है। ईशन, शासन करना उसकी स्वतन्त्र शक्ति से है, अर्थात् माया के ऊपर उसका स्वतंत्र शासन है।।१७।।

वेद में प्रतिपादित अभिन्न निमित्तोपादान कारण जो ईश्वर, उसका पुरुषोत्तम नाम प्रसिद्ध है। अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप जो परमात्मा उसी को पुरुषोत्तम कहते हैं। यह नाम निर्वचन से भी सिद्ध होता है इस बात को सत्रहवें श्लोक में बतलाया। अब भगवान् कहते हैं, कि सारे अतिशयों से रहित, अर्थात् सारे गुणों से व क्रियाओं से रहित, जो मैं-तत्त्व है वही ईश्वर है, उसी को पुरुषोत्तम कहा है। इस प्रकार से आत्मा ही पुरुषोत्तम है इसको बतलाने के लिये कहते हैं -

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

क्योंकि मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ इसलिये लोक में व वेद में पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूँ।

क्यों आत्मा को पुरुषोत्तम कहते हैं? 'यस्मात्' क्योंकि 'क्षरमतीतः'। जिसको संसाररूप माया वृक्ष बतलाया ऊर्ध्वमूल वाला, अधःशाख वाला अश्वत्थ, उससे निरतिशय परमात्मतत्त्व अतीत है, अर्थात् संसार का परमेश्वर से स्पर्श भी नहीं है। 'त्वम्'-पदार्थ की उपाधि क्षर है, क्योंकि कार्य उपाधि वाला जीव माना गया है। त्वम् पदार्थ की उपाधि देह से लेकर अहं-पर्यन्त जो माया का कार्य है उससे आत्मतत्त्व रहित है, उससे उसका सर्वथा स्पर्श नहीं है। केवल इस उपाधि से ही रहित नहीं, 'अक्षरादपि', अक्षर अर्थात्-संसार वृक्ष की बीजरूप जो कारण-उपाधि, माया, अविद्या, उससे भी 'उत्तमः,' उससे भी अस्पृष्ट है। क्षर उपाधि से अतीतता कही और अक्षर उपाधि से उत्तमता कही, दोनों का तात्पर्य तो उससे अस्पृष्ट ही है पर अक्षर उपाधि कारण होने की वजह से, क्षर उपाधि की अपेक्षा ज़्यादा स्थायी है। क्षर उपाधि सुषुप्ति में और प्रलयकाल में माया में लीन हो जाती है। उस समय क्षर उपाधि नहीं रहती पर अक्षर उपाधि एक जैसी बनी रहती है। सृष्टिकाल में भी फलदान आदि के लिये कारण उपाधि अपेक्षित होने से बनी रहती है और महाप्रलय में अविद्या-काम-कर्म के बीज अपने में रखकर पुनः सृष्टि उत्पन्न करने के लिये आवश्यक हैं। इसलिये वह क्षर उपाधि से श्रेष्ठ मानी जाती है। परन्तु उपाधिरहित रूप उससे भी उत्तम है, ऊर्ध्वतम है। इसके द्वारा जो अनेक शक्तिवादी 'शक्ति से रहित शिव बेकार है' ऐसा मानने वाले हैं, उनका निराकरण हो गया। माया से रहित जो शुद्ध स्वरूप है वही श्रेष्ठ है। जो संसार में राग वाले हैं उनको तो लगता है कि माया शक्ति से क्योंकि जगत् का सब कुछ उत्पन्न होता है, उसके बिना क्योंकि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, इसलिये माया शक्ति आवश्यक अतः श्रेष्ठ है। इसलिये उन लोगों का कहना है 'शक्तिहीनः शिवः शवः' शक्ति से रहित शिव शव हो

जाता है! वैसे, एकाक्षर कोश के अनुसार, शिव शब्द में जो इकार है वह शक्ति का बोधक है। इकार इच्छा को बतलाता है। इच्छा-शक्ति को प्रधान मानकर वे कहते हैं कि जहाँ इच्छा-शक्ति का अभाव है वह शव है। रागियों की दृष्टि यही होती है। इसीलिये परमात्मतत्त्व की तरफ जाने वाले के लिये प्रारम्भ से ही वैराग्य के ऊपर ज़ोर है। वैराग्य वाले को, उस इच्छा-शक्ति से उत्पन्न यह सारा संसार सर्वथा निष्फल लगता है। भगवान् ने शक्ति से भी अपनी श्रेष्ठता समझाने के लिये कह दिया, 'अक्षरादपि च उत्तमः'।

'अतः' इस प्रकार क्षर से अतीत, अक्षर से उत्तम, अर्थात् दोनों उपाधियों से क्योंकि आत्मतत्त्व रहित है अतः वही 'लोके' लोक में अर्थात् स्मृतियों और साधारण व्यवहार में तथा 'वेदे च' अर्थात् वेदों में, श्रुतियों में, पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है। भाष्यकार कहते हैं कि कवि लोग भी काव्यादि में परमेश्वर को पुरुषोत्तम नाम से कहते हैं, इसलिये भी लोक में प्रसिद्ध है। रघुवंश में 'हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' इत्यादि कहा है। भक्तजन भी उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। 'लोके' - अर्थात् स्मृतियों में, काव्य इत्यादि में और भक्तजनों के अंदर इसी नाम से परमेश्वर को बुलाते हैं। वेद में 'उत्तमः पुरुषः' (छां.८.१२) कहा ही है।।१८।।

अब जो इसको जान लेता है उसे उपलभ्य फल बताते हैं -

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

हे भारत! जो यथोक्त प्रकार से संमोहवर्जित हुआ 'यही मैं हूँ' यों मुझ पुरुषोत्तम का अनुभव कर लेता है, वही सर्वज्ञ है और सर्वात्मा मुझ में ही चित्त लगाकर मेरा भजन करता है।

अहम्-तत्त्व परमेश्वर सारे विशेषणों से रहित, निर्गुण निष्क्रिय परमात्मतत्त्व है; कार्यरूप से वही जीव की तरह प्रतीत होता है, कारणरूप से वही ईश्वर की तरह प्रतीत होता है, वास्तव में वह इन दोनों से अतीत है। जाग्रत् काल में हम लोग आँख कान वाले प्रतीत होते हैं, स्वप्न काल में हम मन वाले प्रतीत होते हैं, सुषुप्ति काल में जिससे मन और इन्द्रियाँ निकलती हैं उस रूप से विद्यमान रहते हैं। क्योंकि सुषुप्ति से जाग्रत्-स्वप्न में आते हैं इसलिये जाग्रत्-स्वप्न की उपाधि सुषुप्ति के अंदर लीन अवस्था में है यह मानना पड़ेगा। जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियादि के साथ प्रतीत होते हैं, स्वप्न अवस्था में मन के साथ प्रतीत होते हैं, सुषुप्ति में कारण रूप से प्रतीत होते हैं। इन तीनों रूपों में रहने वाला 'मैं' इन तीनों से अतीत हूँ। ये उपाधियाँ आयीं और गयीं, मैं तो वैसा का वैसा हूँ। इसी प्रकार से जो शुद्ध परमात्मा का रूप है वह माया उपाधि के द्वारा सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला प्रतीत होता है, अन्तःकरण की उपाधि के द्वारा कर्ता-भोक्ता रूप में प्रतीत होता है परन्तु दोनों रूपों से प्रतीत होते हुए वस्तुतः दोनों रूपों से अस्पृष्ट है। ऐसा जो मुझ परमात्मा का रूप है

उसे 'एवम् पुरुषोत्तमम्' 'यही मैं हूँ', इस प्रकार से जो जानता है, कार्य-कारण दोनों उपाधियों से रहित, अपने को जानता है, वह सर्वज्ञ है। कैसे जानता है? 'असम्मूढः' किसी भी प्रकार के सम्मोह से रहित होकर जानता है। सम्मोह से रहित अर्थात् प्रारब्ध अथवा संस्कारों से संसार की प्रतीति होने पर भी 'इससे मैं सर्वथा उत्तम हूँ' यह जानता है। जिस प्रकार से जिसने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का भली प्रकार विवेचन कर लिया, जाग्रत् की प्रतीति काल में भी जानता है कि यह औपाधिक है, मेरा स्वरूप नहीं; स्वप्न में भी जानता है कि औपाधिक है, मेरा स्वरूप नहीं; और सुषुप्ति के बारे में भी जानता है कि 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह मेरा स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार सम्मोहरहित वह है जिसे लेशाविद्या, संस्कार, प्रारब्ध-शेष, इनमें से जो भी स्वीकार किया जाय उसके द्वारा संसार प्रतीत होने पर भी, उसमें मोह नहीं होता। अमूढ कहने से भी काम चल जाता पर मूढता की निवृत्ति तो श्रौत-ज्ञान से भी हो जाती है। उतने मात्रको नहीं कह रहे। अन्य आचार्यों ने कहा है, कि 'कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व की प्रतीति पारमार्थिक है' यह शास्त्र के द्वारा निवृत्त हो जाता है। अर्थात् शास्त्र से यह पता लग जाता है कि मैं सचमुच में कर्ता भोक्ता नहीं हूँ, पर व्यवहार करते समय कर्त्तृत्व भोक्तृत्व की प्रतीति हो जाती है। जैसे ही कार्यकाल समाप्त होता है, फिर विचार करता है तो जानता है कि 'यह मैं नहीं हूँ'। साधक को पहले इतना पता चलता है कि सचमुच में मैं कर्ता-भोक्ता नहीं किन्तु व्यवहार करते समय फिर 'मैं कर्ता-भोक्ता' यह प्रतीति हो जाती है। अतः अभी सम्यक् मोहनिवृत्ति नहीं हुई। जब अपरोक्षात्मबोध होता है, अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, तब शास्त्र के वचनों के अधीन 'मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ' यह नहीं रहता वरन् 'मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ' ऐसा उसको स्पष्ट भान होता है। तब जिस समय करता है, भोगता है, उस सयम ही उसका यह भान अक्षुण्ण बना रहता है कि 'मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूँ। अहम् से लेकर देह पर्यन्त - इन सबमें क्रिया व भोग हो रहे हैं, मैं इन्हें करने वाला नहीं हूँ; मेरी उपस्थिति में हो रहा है'। अर्थात् अब व्यावहारिक मोह की निवृत्ति भी हो जाती है। अब केवल रह गयी शरीर से लेकर के अहम् में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की जो प्रतीति हो रही है। बिना आत्मा के तो प्रतीति हो नहीं सकती, प्रतीति हो रही है इसलिये सान्निध्य-मात्र मेरा है, अधिष्ठान-मात्र मैं हूँ। प्रारब्ध के निवृत्त हो जाने पर यह प्रतीति भी बन्द हो जाती है। तत्त्वनिष्ठा के बाद प्रारब्ध कर्म अपना काम करते रहते हैं, पर उसका बंधन नहीं रहता है, इतना ही बचता है कि शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त जो होता है उसकी प्रतीति हो रही है। जब प्रारब्ध-भोग समाप्त हो गया, तब वह प्रतीति भी नहीं रह जाती। मूढता ज्ञान-मात्र से हट जाती है, संमोह ज्ञाननिष्ठा से हट जाता है। फिर केवल प्रातिभासिक बंधन रह जाता है जो यावत्प्रारब्ध चलता है।

जो ऐसा है वह 'सर्ववित्', वह सब चीज़ों का जानने वाला हो जाता है। क्यों? लोक में जो भी चीज़ है उसको जानने वाले को सर्ववित् कहते हैं। ग़लत चीज़ों को जानने वालों को सर्ववित् नहीं कहते! जो ग़लत गणित जानता है; दो सत्ते चौहद नहीं जानता, दो सत्ते

पंद्रह जानता है, उसको तो कोई गणितज्ञ नहीं कहेगा! जो दो सत्ते चौहद जानता है उसको ही गणितज्ञ कहेंगे। इसी प्रकार से माया का कार्य सचमुच में न होकर प्रतीत होता है, इसलिये उसको जानना सर्ववित् होना नहीं है। उन सब रूपों में अज्ञान से प्रतीत होने वाला जो सच्चिदानंद रूप है उसे जो जानता है, वही सर्ववित् है। मुझ से भिन्न कहीं कुछ नहीं है, क्योंकि मुझ आत्मतत्त्व में ही ये सब कल्पित हैं - यह जानना सब को जानना है।

वही 'सर्वभावेन मां भजति', जितने भी अपने भाव हैं, उन सब भावों से मुझे भजता है। यह आत्मतत्त्व ही सब कुछ है - इसके सिवाय और कोई भाव नहीं है। जो चीज़ है वह केवल आत्मतत्त्व है। जो दीखता है, सुनाई देता है, सूँघा जाता है, वह सब एकमात्र आत्मतत्त्व में ही कल्पित है। इसलिये वह सर्ववित् एकमात्र उस आत्मतत्त्व का ही सेवन करता है। तदतिरिक्त उसके लिये कोई सेव्य नहीं है। 'भारत!' भारत सम्बोधन के द्वारा उसको याद दिलाते हैं कि तू ज्ञान में रत है इसलिये तुझे इस भाव तक पहुँचना कठिन नहीं है। अतः तूने जिज्ञासा की श्रेय के मार्ग की। प्रेय के मार्ग को चाहने वाला तू नहीं। श्रेय के मार्ग को चाहने वाला क्योंकि संसार से विरक्त होता है इसलिये उसको इस प्रकार का आत्मबोध करना सरल होता है। इस प्रकार यहाँ जो ज्ञान बताया उसका फल भी बता दिया।१६।।

भगवत् तत्त्व के ज्ञान की प्रशंसा करते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं -

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

ॐ तत् सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।

हे निष्पाप भरतवंशी! यों यह उत्तम रहस्यभूत शास्त्र मैंने सुनाया। इसे समझकर बुद्धिमान् कृतकृत्य हो जाता है।

'इति' अर्थात् जो हमने उपदेश करना था, जिसकी हमने प्रतिज्ञा की थी, वह समाप्त हो गया। जो हमने बतला दिया वह कैसा है, 'एतद् गुह्यतमं'। गुह्य कहते हैं जो छिपाने की चीज़ होवे। संसार कल्पित है यह बात, जब तक विवेक, वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती, तब तक बतलाने से साधारण साधक कहेगा, कि 'जब झूठ बोलना भी परमात्मा है, सच बोलना भी परमात्मा है, तो हम झूठ बोलते हैं तब भी परमात्मा का ही काम कर रहे हैं! रावण भी परमात्मा है, राम भी परमात्मा है तो आदमी को रावण ही बनना चाहये, राम नहीं'। इसलिये शास्त्रों के अंदर उसको गुह्यतम बतलाया। यह सर्वाधिक गोपनीय तत्त्व है। जब संसार से वैराग्य प्रारंभ हो जाये, तब इस तत्त्व का उपदेश कार्यकारी होगा अन्यथा जो तुम्हारा तात्पर्य नहीं है वह तात्पर्य समझ लेंगे। वर्तमान काल में बहुत ऐसे सम्प्रदाय-प्रवर्तक हो रहे हैं, जिनमें से कुछ ने तो वेदान्त को

समझने की चेष्टा की नहीं, कुछ चेष्टा करने पर भी असमर्थ रहे। बड़े ज़ोर-शोर से कहेंगे कि 'वेदों के अंदर यह कहा है कि ब्राह्मणादि भेद-भाव सच्चे नहीं हैं। इसलिये सब मानव एक हैं, यह वेदान्त का संदेश है'। किन्तु यह वेदान्त का संदेश नहीं है! वेदान्त का संदेश है कि सारे प्राणी आत्मरूप हैं। इसलिये मनुष्य हो या गधा, चेतन सब प्राणियों में आत्मा एक है। नासमझ कहेंगे 'नहीं नहीं, सब प्राणियों की बात छोड़िये, पहले मनुष्यों की तो एकता करिये' किन्तु एकता होगी, तो सब उपाधियों के त्याग से ही होगी, यदि उपाधि बचाओगे तो एकता नहीं, भेद रहेगा। ऐसा सम्भव नहीं है कि मनुष्यों में तो एकात्म-दर्शन हो जाये, और अन्य प्राणियों में न होवे। किन्तु वेदांत ठीक से न समझने के कारण ऐसे भ्रम हो जाते हैं। इसलिये इसको गुह्यतम कहा, छिपाना इसलिये नहीं कि किसी को वंचित रखना है, छिपाना इसलिये है कि कोई इसे अपने आप से अपने पैर को काटने वाली कुल्हाड़ी न बनाये, असत् पथ में गमन न करे, क्योंकि असत् पथ में जाने के बाद तो परमात्मा की तरफ आने की सम्भावना ही नहीं रह जायेगी। इसलिये गुह्यतम है।

दूसरा कारण यह है कि मनुष्य शरीर का शास्त्रों में गुहा के रूप में वर्णन किया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायाम्'। यह यजुर्वेद स्पष्ट कहता है कि उस परमात्मा के अनुभव का स्थल गुहा है। ये गुहाएँ एक के अंदर एक कई हैं। पंचदशीकार ने बताया है कि अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-कर्ता-भोक्ता - यह गुहाओं की परंपरा है। इस तरह से एक गुफा से दूसरी गुफा, दूसरी गुफा से तीसरी गुफा में जाते हैं, तब अंतिम गुफा का जो आधार है वह पुच्छ प्रतिष्ठा ब्रह्म मिलता है। गुहाओं की परम्परा में यह अंतिम है, इसलिये गुह्यतम है।

'शास्त्रम्'। 'इति' से इसी अध्याय का इति है, गीता शास्त्र का इति तो है नहीं। गीता शास्त्र में तो अभी तीन अध्याय और कहने हैं। इसलिये यहाँ का इति इस अध्याय की इति है। इसको शास्त्र कैसे कह दिया? बहुत-से लोग पूछते हैं, कि 'महाराज! आप लोग भोजन से पहले इसी अध्याय का क्यों पाठ करते हैं? गीता के किसी भी अध्याय का पाठ करें। गाँधीजी, दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को रोज़ गिनवाते थे अपनी प्रार्थना में। आप भी वही बुलवाइये। इसको क्यों कहते हैं?' एक तो बात है कि भगवान् ने इसको शास्त्र कह दिया इसलिये इसको शास्त्र कहना ठीक ही है। यह इस प्रकरण की स्तुति हो गयी। परन्तु आगे प्रश्न होता है, भगवान् ने भी इसे शास्त्र क्यों कहा? सारी गीता में जो प्रतिपादित किया है, वे सारी बातें इसमें सूक्ष्म रूप से प्रतिपादित कर दी गयी हैं। शास्त्र उसको कहते हैं जिसमें जो कुछ भी उस विषय में जानने के योग्य होवे, उस सब को संकेत में कह दिया जाये। सब चीज़ों का जहाँ शासन कर दिया, उपदेश कर दिया, उसको शास्त्र कहते हैं। गीता शास्त्र में जो विस्तार से बताया है, उस सब का सूक्ष्म रूप से यहाँ प्रतिपादन कर दिया, इसीलिये इसको शास्त्र कह दिया।

वेदान्त शास्त्र की मर्यादा है, कि जहाँ तत्-पदार्थ और तत्-पदार्थ का लक्ष्यार्थ, त्वम्

पदार्थ और त्वम् का लक्ष्यार्थ, और लक्ष्यों की एकता - इतना प्रतिपादित कर दिया जाता है उसी को शास्त्र कह देते हैं। वेदान्त शास्त्रों में 'तत् त्वम् असि' को महावाक्य कहते हैं। सारे वेदों का चरम लक्ष्य 'तत् त्वम् असि' के द्वारा कहते हैं। तुमने तत्-पदार्थ को जैसा समझा है, उसका शोधन करना है। उसको तुम्हें साफ करना है। ईश्वर ने कभी अपने को ईश्वर नहीं समझा! ईश्वर तो हमेशा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप होने से ब्रह्मभाव में ही स्थित है। अतः तत्-पदार्थ की शुद्धि, तत्-पदार्थ का शोधन भी हम ही को करना है क्योंकि गलत हमने ही समझ रखा है। त्वम् पदार्थ को हमने समझ ही रखा है और हम ही को उसका शोधन करना है क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि 'मैं बद्ध हूँ।' शास्त्र कहीं कहता नहीं कि तुम बद्ध हो। शास्त्र तो कहता है 'तुम मुक्त हो'। तुम कहते हो 'मेरा अनुभव है कि मैं बद्ध हूँ'। तब शास्त्र कहता है कि यदि बद्ध समझ रहे हो, तो इस ढंग से समझोगे तो अपने शुद्ध रूप को जान जाओगे। अतः शास्त्र का तात्पर्य तुमको मुक्त *करने* में नहीं है, तुम यदि अपने को बद्ध समझते हो तो तुम्हारा बंधन कैसे निवृत्त हो - इसका उपाय शास्त्र बतलाता है। ईश्वर के विषय में तुमने जो गलत समझ रखा है, वह ईश्वर तत्त्व का विचार करने से स्पष्ट होकर हट जायेगा और तुम्हें तत्पद के लक्ष्यार्थ तक पहुँचा देगा। सारा उपासना-काण्ड, सारा भक्ति-काण्ड, इसी में गतार्थ है। इसलिये ब्रह्मसूत्रों में बार-बार जिस-जिस उपाधि की उपासना कही है, वहाँ सर्वत्र यह बतलाया है कि उपाधि को नहीं, उस उपाधि के द्वारा ब्रह्म को ही उपास्य समझना है। पहले हम उपाधि को लेकर उपासना करते हैं तो चित्त की एकाग्रता होकर हमारा प्रेम एकमात्र ब्रह्म में रह जाता है, और धीरे-धीरे उपाधि छूट जाती है। कभी वृन्दावन में बाँके बिहारी का दर्शन करने जाओ, तो जो पहले दर्शन करके आ रहे होते हैं वे कहेंगे 'हाँ जल्दी जाओ, आज बहुत सुंदर फूलों का शृंगार हुआ है, देखने लायक है; आज दूल्हे का दर्शन है, देखने लायक है'। कोई यह नहीं कहता कि आज मूर्ति को निर्वस्त्र करके दिखाया जा रहा है! लोग उन सब शृंगारों से, उपाधियों से ही आकृष्ट होते हैं, उपाधि-रहित मूर्ति के प्रति आकर्षण नहीं है। जब धीरे-धीरे प्रेम बढ़ता है, तब फिर उपाधियों से दृष्टि हटने लगती है। विश्वनाथ में जाते हैं, तो यदि कवच चढ़ा हुआ हो तो कहते हैं 'कवच कब उतारोगे? हमें अभिषेक करना है' अर्थात् साक्षात् विश्वनाथ वहाँ दर्शनीय हैं। जब हमारा परमात्मा से प्रेम अधिक होगा तब हम परमात्मा को निरुपाधिक रूप में, वह जैसा है वैसा देखना चाहेंगे। और तभी उनकी सच्चिदानंदरूपता प्रकट होगी। अन्यथा उनकी उपाधि से प्रेम होगा। वह कर्मफल-दाता है, अनुग्रह करने वाला है; कर्म करने में ज़्यादा परिश्रम होता है, अनुग्रह फोकट में हो जाता है, इसलिये भगवान् से प्रेम हो जायेगा। ऐसे भक्त कभी भगवान् का वाक्य सुन लें कि 'जिनके ऊपर मैं कृपा करता हूँ, धीरे-धीरे उनका धन मैं हरण कर लेता हूँ', तो बहुत-से ठाकुर जी की पूजा करने वाले कहेंगे, 'ऐसा है तो फिर दूर ही रहना चाहिये'! धन तुम्हारा बंधक है इसीलिये वे हरण करते हैं।उनका असली अनुग्रह वही है। अतः विरक्त को ही

निरुपाधिक रूप से प्रेम हो सकता है। जब प्रेमपूर्वक हम *उसकी* उपासना करते हैं, भक्ति करते हैं, तब तत्-पदार्थ का शोधन हो कर लक्ष्य स्पष्ट होता है।

इसी प्रकार से त्वम्-पदार्थ का शोधन करना है। त्वम्-पदार्थ के शाधन में एक कठिनाई है और एक सरलता है; कठिनाई यह है कि यहाँ उपधियों के साथ तादात्म्य प्रत्यक्ष की तरह लगता है, अपरोक्ष लगता है। परमेश्वर क्योंकि हमें अपरोक्ष नहीं है इसीलिए हमें परमेश्वर की उपाधियाँ अपरोक्षवत् नहीं लगतीं। पर शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त 'मैं हूँ' यह अपरोक्ष की तरह लगता है इसलिये 'शरीर मैं नहीं हूँ' बार-बार श्रवण करके भी बैठता नहीं। बाकी युक्तियाँ जाने दो, यह तो सब जानते हैं कि शरीर को छोड़ कर जाओगे; इसमें तो संदेह नहीं है। यह शरीर तुम्हारी उपाधि है। चार्वाक को छोड़कर, कोई नहीं कहता कि शरीर मर गया तो आत्मा मर गयी, तुम मर गये। इस प्रकार शरीर की उपाधि बड़ी सरलता से *समझ* में आती है। परन्तु हमेशा प्रश्न यही होता है कि 'जी, वह मरने के बाद देखा जायेगा, जब तक शरीर है तब तक तो सब कुछ इसके लिए करना ही है। मैं नहीं करूँगा तो कौन करेगा?' शरीर की उपाधि इतनी स्पष्ट होकर भी हमें छोड़ना कठिन लगती है, फिर आगे की प्राण से लेकर अहंकार पर्यन्त जो उपाधियाँ हैं वे और सूक्ष्म होती चली जाती हैं, उनसे आत्मबुद्धि हटाना और कठिन ही है। अपरोक्ष होने से इन उपाधियों को छोड़ना कठिन है।

परन्तु एक सरलता भी है : सरलता यह है कि इन उपाधियों के अंदर दुःख का दर्शन करना कठिन नहीं है। परमेश्वर की जो उपाधि है उसमें तो दुःख झट समझ में नहीं आता। 'भगवान् कृपा करेंगे, सब कुछ ठीक हो जायेगा'। यह झट समझ में आता है। और शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त जो है, उसके अंदर अपरोक्षता होने के साथ दुःख भी अपरोक्ष ही है। ये दुःखरूप हैं - यह समझना सरल होता है, इसलिये वैराग्य होना भी सरल होता है।

इस अध्याय में 'तत्'-पदार्थ का वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ दोनों बतलाये, 'त्वम्'-पदार्थ के वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ दोनों बतलाये और अंत में दोनों लक्ष्यार्थों की एकता बतला दी। इसलिये संक्षेप में जो शास्त्र का विषय है वह सारा इसमें आ गया, अतः भगवान् ने इसको शास्त्र कहा है। अत एव भोजनारंभ में हम लोग इस अध्याय का पाठ भी करते हैं। इससे समग्र शास्त्रार्थ की रोज़ पुनरावृत्ति हो जाती है।

'भारत' तो पहले भी कहा था परन्तु ज्ञान में रत होने वाले को अनघ होना ज़रूरी है। अनघ मायने अपाप। वेद ने कहा है कि जब तक दुश्चरित्र छूट नहीं जाते, जब तक अंतःकरण शान्त नहीं हो जाता, जब तक परमात्मा में चित्त समाहित नहीं हो जाता, तब तक यह उपदेश फलकृत् नहीं हो पाता। 'अनघ' से सूचित किया कि पापों से रहित बन जा, तभी मेरा कहा हुआ जो शास्त्र है वह फलप्रद हो पायेगा।

'एतद् बुद्ध्वा' जो मैंने बात कही है, जैसा समझाया है, वैसा उसको ठीक प्रकार से समझ कर 'बुद्धिमान्स्यात्' तब व्यक्ति बुद्धिमान् होता है। बुद्धि का यहाँ मतलब है, ब्रह्माकार वृत्ति। बुद्धि की श्रेष्ठता यही है कि वह ब्रह्माकार वृत्ति बनाती है। ब्रह्माकार वृत्ति बनाकर बुद्धि

का कार्य समाप्त हो जाता है। इसलिये उपनिषद् कहती है कि आत्मा जानकर सब जान लिया जाता है। बुद्धि का काम है जानना। जब सब जान लिया गया तब फिर आगे जानने के लिये कुछ बचा नहीं। अतः बुद्धि का कार्य खत्म हो जाता है। जब ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न कर लेते हो तभी बुद्धिमान् होते हो, और 'कृतकृत्यश्च स्यात्' - उसके बाद कुछ करने को शेष रहता नहीं। जितने बड़े से बड़े कृत्य हैं, अश्वमेध, सर्वमेध से लेकर के संध्यावन्दन पर्यन्त, सब तुमने कर लिये। मनु महाराज कहते हैं कि श्रेष्ठ ब्राह्मण जन्म में उत्पन्न होकर परमात्म-प्राप्ति ही कृत्य है, यही वस्तुतः करने के योग्य है। अन्य जो कृत्य हैं, वे सब यहाँ तक पहुँचने के काम में लेने चाहिये, यहाँ जाने के रास्ते को रोकने वाले नहीं हो जाने चाहिये। जैसे ही परमेश्वर का तत्त्व विदित हो जाता है, वैसे ही फिर और कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता है। जो कुछ भी किया जाता है, वह सब परमेश्वर की कृपा से ही फल देता है। कोई भी कर्म करो, बिना परमेश्वर की कृपा के फल तो होता नहीं, फल देने वाला वही है। जब फल देने वाले को अपने से अभिन्न जानते हो तो फिर तुम्हारे लिये और क्या कृत्य हो सकता है! इसलिये कहा कि बुद्धिमान् 'कृतकृत्य' हो जाता है। इसलिये भगवान् पहले (४.३३) भी कह आये हैं- 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' हे अर्जुन! मेरे स्वरूप को समझ लिया तो फिर तुम्हारे लिये सारे कर्म समाप्त हो गये, क्योंकि कर्म के द्वारा जो भी प्राप्त करोगे वह सब तुमने प्राप्त कर लिया। यद्यपि परमात्मज्ञानसे सभी के जन्म की पूर्णता है तथापि मनु ने (१२.९३) 'ब्राह्मणस्य विशेषतः' कहा; ब्राह्मण जन्म की समग्रता, जन्म की पूर्णता इसी में है। यद्यपि सबके जन्म को सफल बनाने वाला है, लेकिन विशेषकर ब्राह्मण के लिये इसलिये कहा क्योंकि अन्य चीज़ों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना उसे निषिद्ध माना गया है। इसलिये ब्राह्मण के बारे में कहा है कि वेदाध्ययन को छोड़ कर और विषयों में श्रम करता है तो शूद्रभाव को प्राप्त कर जाता है! भगवान् भी आगे सत्रहवें-अठारहवें अध्यायों में जहाँ ब्राह्मण के कर्तव्य बतलायेंगे, वहाँ शम, दम आदि ही बतलायेंगे, और कोई दूसरे कर्म नहीं बतलायेंगे। ब्राह्मण का अतिदुर्लभ जन्म प्राप्त करके इस परमात्मदर्शन को अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज हैं, बिना परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार किये हुए कभी इनका जन्म सफल होता नहीं। और कुछ भी प्राप्त कर लो, उससे पूर्णता नहीं होती। मनु महाराज ने अनेक धर्मों का उपदेश दिया, परन्तु आगे जाकर स्पष्ट कर देते हैं कि, यह सब जो हमने बतलाया है, वह इसीलिये कि तुम इस कृतकृत्यता को प्राप्त करो। यह भगवदाज्ञा ही मनु का भी आधार है - 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च स्यात्' अनघ बनो किस लिये? भारत बनने के लिये, इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये। इस प्रकार शास्त्ररूप पुरुषोत्तमयोग नाम का पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

।। पन्द्रहवाँ अध्याय ।।

ॐ

सोलहवाँ अध्याय: दैवासुरसम्पद्विभागयोग

भगवान् ने पूर्व अध्याय के अंत में कहा 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'। भगवान् का उक्त प्रकार का भजन करने के लिये, मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विक वृत्ति चाहिये। पहले ही भगवान् बता आये हैं, कि प्राणियों की प्रकृति अर्थात् बार-बार करने से पड़ा हुआ स्वभाव, जन्म-जन्मान्तर में हम जो साधन करते हैं, उसके संस्कारों के अनुरूप बनती है। स्वभाव से ही किसी में दैवी-सम्पत्ति होती है, किसी में आसुरी होती है, किसी में राक्षसी होती है। नैवे अध्याय में केवल प्रतिज्ञा की थी कि तीन प्रकृतियाँ होती हैं। क्या प्रकृति दैवी है, क्या प्रकृति आसुरी है? इसे अब विस्तार से दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का विभाग प्रतिपादन कर समझायेंगे।

संसार से मुक्त होने के लिये, दैवी सम्पति के रूप में बताये साधन अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि इनके बिना भगवान् का भजन होता नहीं। और आगे आसुरी सम्पत् बतायेंगे, बचने के लिये, छोड़ने के लिये। यदि आसुरी प्रकृति है, तो उसका परित्याग करके दैवी सम्पति अपने अंतःकरण में स्थिर करने के लिये प्रयत्न करना है।

श्रीभगवान् उवाच
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

श्री भगवान् ने कहा -निडरता, मनसे शुद्ध व्यवहार, आत्मज्ञान पाने और उसी में समाहित रहने में तत्परता, अपने धन आदि का अन्यों को समर्पण, इन्द्रिय-निरोध, देवपूजन, वेदाध्ययन, तपस्या, अकुटिलता (दैवी सम्पत्ति को अभिलक्षित कर उत्पन्न व्यक्ति में ये गुण होते हैं)।

दैवी सम्पत्ति में सर्वप्रथम कहते हैं 'अभयम्'। अभय पूरी तरह से प्राप्त तो ज्ञान की निष्ठा होने पर ही होता है। इसलिये याज्ञवल्क्य जनक को उपदेश के अंत में कहते हैं, 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि' अब तूने अभय पद को प्राप्त कर लिया। अभय ज्ञान की देन है। साधक द्वारा तो इसका अभ्यास किया जाता है, साधनरूप से अभय का प्रयास किया

जाता है। नियम है कि ज्ञानी के जो लक्षण होते हैं उनका यत्नपूर्वक अभ्यास साधक को करना चाहिये। २.५५ व १४.२५ के भाष्य में आचार्य शंकर ने यह स्पष्ट कर दिया है। ये धर्म सायास करते-करते जब दृढ हो जाते हैं तब ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अभय दोनों तरह से समझना - किसी दूसरे को मैं भय न दूँ, और मैं किसी दूसरे से भयभीत न होऊँ। भय हमेशा उस से होता है, जो अपने से अलग हो। अपना भाई चाहे जितना बड़ा पहलवान हो जाये, उससे दूसरे भाई को डर नहीं लगता, क्योंकि अपना भाई है। परन्तु कोई दूसरा व्यक्ति यदि खूब पहलवानी करने लगता है, तो कहीं-न-कहीं मन में रहता है कि 'यह कहीं किसी समय मुझ से न भिड़ जाये,' अतः भय होता है। इसी प्रकार से भय देते भी उसको हैं जो अपने से दूसरा होवे। एक बार जहाज में लोग जा रहे थे। भगवान् का एक भक्त और उसकी पत्नी भी जा रहे थे। अकस्मात् बड़ा जबर्दस्त तूफान आ गया। जब तेज़ तूफान समुद्र के वक्षस्थल पर आता है, तब बड़े-से-बड़ा जहाज़ वहाँ पत्ते की तरह काँपने लगता है! एक-एक फरलाँग ऊँची लहरें उठती हैं। उनमें जहाज ऊपर जाता है और लहर के साथ ही वापस आकर गिरता है। उसमें जहाज का बचना संभव नहीं होता। ऐसे भयंकर तूफान में सभी लोग भगवान् का स्मरण करने लगे। कोई जप करने लगा, कोई ध्यान करने लगा, कोई कीर्तन करने लगा। जो भगवान् का भक्त था वह आराम से बैठा हुआ था। उसकी पत्नी को बड़ा गुस्सा चढा, कहने लगी, ''तुम ऐसे तो बड़े भगवान् के भक्त बनते हो, फिर ऐसे समय में उनको याद नहीं करते! अगर जहाज डूब गया तो हम मर जायेंगे।'' वह उठा, उसने चाकू हाथ में लिया और अपनी पत्नी की छाती पर बैठ गया। बोला 'तू औरत होकर ऐसा मुँह फुलाती है, तुझे मार डालता हूँ।' तो पत्नी को हँसी आ गयी! पत्नी ने कहा, 'मरने तो जा ही रहे हैं, आप के हाथ से मरूँ, यह तो बहुत अच्छा है।' वह छाती से उतर गया। उसने कहा 'देख, मैं तुझे मारता हूँ तो तुझे डर नहीं लगता। इसी प्रकार से यदि भगवान् हम लोगों को यहाँ मारना चाहते हैं, तो इसी में हमारा कल्याण है। इसमें भय की क्या बात है! मैं तो समुद्र में तूफान लाया नहीं, भगवान् लाये हैं।' तब पत्नी समझ गयी। परमेश्वर को जब हम समझते हैं कि हमारा है, तब क्योंकि संसार में जो कुछ होता है वह बिना परमात्मा की इच्छा के होता नहीं अतः कभी भय करते नहीं, और जैसे खुद भय नहीं करते वैसे दूसरे को भी भय नहीं देते।

इसलिये जब मनुष्य सर्वत्याग करता है, संन्यास लेता है, तब वह 'सभी प्राणियों को मेरी तरफ से अभयदान है' - ऐसा निश्चय कर लेता है। वह याद रखता है कि 'जो बड़े-से-बड़ा नुकसान कर रहा है वह भी परमेश्वर की इच्छा के बिना तो कर नहीं रहा! इसलिये मै क्यों उसको भय दूँ? सर्वभूतात्मभूतात्मा परमात्मा ही उसमें बैठा हुआ उसको प्रेरित कर रहा है। अतः मैं उसको भय क्यों दूँ?' तो 'अभय' में दोनों ही हैं, किसी दूसरे को भय नहीं देना और स्वयं भयभीत नहीं होना।

प्रायः कहते हैं कि व्यवहार चलाने के लिये दूसरे को ज़रा भय दिखाना पड़ता है। इसमें

एक कहानी भी कह देते हैं। एक साँप था, उसके कारण वहाँ बच्चे बहुत भय खाते रहते थे। उधर से एक महात्मा आये। महात्मा ने साँप से कहा, 'भाई, ऐसा नहीं करो, बच्चों को क्यों डसते हो? तुम्हें चूहे, नेवले खाने हैं, उन सब को खाओ, बच्चों को क्यों नुकसान पहुँचाते हो?' उसने कहा, 'ठीक है।' उसने बच्चों की तरफ फन उठाकर दौड़ने की चेष्टा छोड़ दी। बच्चे, बच्चे ही ठहरे! जब देखा कि यह कुछ नहीं करता है, तो शुरू-शुरू में उसको लाठी से छेड़ा, फिर उसने कुछ नहीं किया तो पत्थर मारे। अब उसने तो मान ली थी महात्मा की बात इसलिये उसने कुछ प्रतीकार किया नहीं। खूना-खून हो रहा था, पर फिर भी शान्ति रखता था। थोड़े दिनों बाद महात्मा उधर से फिर निकले, तो साँप की बुरी हालत देख कर कहा, 'अरे! तुम्हारी इतनी बुरी हालत क्यों है?' बोला, 'जी ये बच्चे समझते नहीं हैं। मुझे कभी डन्डा, कभी पत्थर मारते रहते हैं।' उन्होंने कहा ' मैंनें तुझे इन्हें डसने का मना किया था, फुफकारने का मना तो किया नहीं था। थोडा़ फुफकार दिया कर, ये फिर डर जायेंगे।' इस दृष्टान्त को लेकर लोग कहते हैं कि दूसरे को यदि सर्वथा हम भय नहीं देंगे तो वे लाभ उठायेंगे।

किंतु द्वैत-दृष्टि से साधना करने वाले के लिये यह संभव है कि वह अपना फ़ायदा न उठवाने के लिये किसी को भय दे पर जो सर्वभूतात्मभूतात्मा का साक्षात्कार चाहता है उसे परमेश्वर की सर्वत्र उपस्थिति और सर्वप्रेरकता को निरन्तर याद रखना ही पड़ेगा तथा स्वयं में कर्तृत्व लाकर किसी को भयभीत करने का प्रयास भी छोड़ना ही पड़ेगा। सुख-दुःख का कारण अपना प्रारब्ध होता है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं- 'सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता परो ददाति इति कुबुद्धिरेषा' सुख और दुःख कोई दूसरे को नहीं देता। दूसरे से दुःख होता है यह तो कुबुद्धि है, गलत ढंग से सोचना है। शरीर अपने कर्मसूत्र से बना है। इसमें जो भोग भोगने हैं, वे निश्चित हैं। दूसरे के कारण भोग हो रहा है - ऐसा नहीं सोचना है। इसलिये मुझे यदि कोई पत्थर मारता है, तो उस समय मेरा दुःख का प्रारब्ध है, इसलिये मारता है, उसको हम क्यों दोष देवें! अतः पूर्ण अभय का अभ्यास तो तभी है जब मनुष्य फुफकारे भी नहीं। जब तक उस स्थिति में नहीं पहुँचता है तब तक फुफकार लेवे, लेकिन काटे तो हर हालत में नहीं। अभय को सबसे पहला साधन भगवान् ने बतलाया।

दूसरा साधन बतलाते हैं, 'सत्त्वसंशुद्धिः'। सत्त्व अर्थात अंतःकरण। अंतःकरण के द्वारा हम जो भी व्यवहार करते हैं वह शुद्ध होना चाहिये। हमारे सारे व्यवहारों का संकल्प पहले मन में उठेगा। शुद्ध भाव से व्यवहार करना सत्त्वसंशुद्धि है। किसी भी प्रकार से दूसरे को ठगना, धोखा देना, झूठ बोलना, ये सब जो अंतःकरण के अंदर अशुद्धियाँ आती हैं, उन अशुद्धियों से व्यवहार नहीं करना अंतःकरण की शुद्धि है। जैसा मन में है, वैसा ही वाणी में होवे, और वैसा ही क्रिया में होवे। इसलिये कहते हैं 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'। महात्मा लोग, मन में जो बात, वाणी में वही बात, क्रिया में वही बात - यह नियम रखते हैं। दुरात्माओं का लक्षण है, कि मन में कुछ है, वाणी से कुछ और कहेंगे,

करेंगे तीसरा ही काम! आजकल के नेताओं का भी यही लक्षण है। कोई शिकायत लेकर जाओ, तो ऐसे बात करेंगे कि बस अब तुम्हारा ही काम होने वाला है। फिर डालना उन्हें तुम्हारे ही काम में रोड़ा है! इस प्रकार का व्यवहार देवी संपत् वाला नहीं करेगा। साधक भी प्रयास-पूर्वक ऐसे व्यवहार से बचें।

'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'। ज्ञान अर्थात् शास्त्र और गुरु जो कहते हैं उन अतीन्द्रिय आत्मादि विषयों के बारे में जानकारी। आत्मा, परलोक, पुण्य-पाप ये सब प्रत्यक्षादि या प्रत्यक्षमूलक प्रमाणों से नहीं जाने जा सकते। जैसा गुरु और शास्त्र कहते हैं वैसा ही इनके बारे में निश्चय करना ज्ञान है। बार-बार ऐसा सोचने की आदत डालते हैं, तब निश्चय होता है। जैसे, हमने भूगोल में पढ़ा कि पृथ्वी घूमती है, पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य स्थिर है। भूगोल की किताब में तो पढ़ लिया, शायद पाँचवी-छठी में पढ़ा देते हैं, पर हमेशा क्योंकि हम लोगों को सूर्य चलता हुआ दीखता है, इसलिये मन में भ्रम बैठा रहता है कि सूर्य ही चलता है। जिसको भूगोल शास्त्र की ठीक अवगति प्राप्त करनी है, उसको बार-बार सूर्य को चलते देखकर अपने में भाव लाना पड़ेगा कि सूर्य नहीं पृथ्वी चल रही है। जैसे गंगा जी में नाव पर बैठ कर जाते हैं, तो किनारे के पेड़, किनारे के मकान, चलते हुए दीखते हैं। परन्तु इतने पर भी हमें निश्चय है कि हमारे चलने से ही ये चलते हुए दीखते हैं। रेल में जाते समय भी यही होता है। तार के खंबे, बिजली के खंबे, आते हुए लगते हैं। इतना ही नहीं, दिल्ली जाना है; दिल्ली पहुँचने पर हम प्रयोग भी यही करते हैं 'दिल्ली आ गयी!' दिल्ली आयी क्या? हम दिल्ली आये। परन्तु प्रतीति होती है कि दिल्ली आ गयी। इसी प्रकार से हमें, सूर्य में गति की प्रतीति होती है क्योंकि प्रत्यक्ष में यही दीखेगा। इसीलिये प्रत्यक्ष के अविषय पदार्थों के बारे में शास्त्रीय संस्कारों को दृढ करना पड़ता है।

इसी प्रकार शास्त्र कहता है, 'आत्मा अचल है, आत्मा निष्क्रिय है।' आत्मा अर्थात् मैं, मैं के द्वारा जिसको कहा जाता है। हमें बार-बार अनुभव होता है, मैं गया, मैं आया, मैंने किया, मैंने खाया। तुम्हें 'मैं' यह सब करते हुए दीखता है। अतः तुमको अभ्यास करना है कि 'शरीर का जाना हो रहा है, शरीर के जाने से मुझ आत्मा में, अर्थात् अपने में जाने की प्रतीति हो रही है।' दीर्घकाल तक जब इसका अभ्यास करोगे तब स्थिर होगा। प्रायः थोड़ी देर मनुष्य याद रखता है, फिर भूल जाता है। 'व्यवस्थिति' अर्थात् उसमें निष्ठा वाला हो जाना। 'मैं अकर्ता अभोक्त ही हूँ, मन बुद्धि सब चलने वाले हैं शरीर को लेकर के, परन्तु मैं चलने वाला नहीं हूँ, मैं क्रिया वाला नहीं हूँ।' यों जैसा शास्त्र और आचार्य बतलाते हैं, वैसा ही निश्चय करना, वैसी ही निष्ठा करने में तत्पर होना दैवी सम्पत् के अंतर्गत विशेष गुण है।

ज्ञान-व्यवस्थिति के लिये आवश्यक है योगव्यवस्थिति। एकाग्रता के द्वारा जब अभ्यास किया जाता है, तब अपना अनुभव होकर हमें प्रतीत होता है। ज्ञान-व्यवस्थिति के अंदर तो श्रवण और मनन की आवृत्ति चाहिये, बार-बार गुरु से शास्त्र का श्रवण करना, और

स्वयं मनन करना। श्रवण और मनन से जिस चीज़ का निश्चय किया है, उसके अंदर एकाग्रता पूर्वक स्थित होना, समाहित होना योग है। अपने अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व भाव के अंदर, अपने निर्गुण निष्क्रिय भाव के अंदर, बार-बार एकाग्रता पूर्वक स्थित होना योग है। जैसे ही लगे कि 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' वैसे ही फिर श्रवण-मनन करो कि शास्त्र क्या कहता है, युक्ति क्या कहती है। फिर जैसे ही प्रतीति हो- 'मैं अकर्ता-अभोक्ता हूँ', वैसे ही उस भाव में स्थित हो जाओ। वहाँ से चित्त को चलने न दो। चल जाये, तो फिर श्रवणादि करो। यह है योगव्यवस्थिति। अन्यत्र शास्त्रकारों ने कहा है- 'अयोगी नैव जानाति' जिसने योग का अभ्यास नहीं किया, चित्त को बार-बार परमात्मा में स्थित नहीं किया, वहाँ से चलने दिया, उसको उस आनंद का पता ही नहीं लगता जो आत्मा के इस भाव में व्यवस्थित हो जाने पर आता है।

शुरू में तो लगता है कि हम लोगों को दो बातों से मज़ा आता है- या तो कुछ कर के मज़ा आता है, या पाकर, भोगकर मज़ा आता है। कोई बढ़िया स्वेटर बना लो तो चित्त बड़ा प्रसन्न होता है कि 'देखो, मैंने कितनी बढ़िया चीज़ बनाई!' या किसी चीज़ को भोग कर आनंद आता है 'क्या बढ़िया रसगुल्ला खाया, क्या बढ़िया दालमोठ खाया'। इसलिये अपने अकर्तृत्व -अभोक्तृत्व भाव में स्थिर होने में लगता है कि इसमें तो जीवन शुष्क हो जायेगा, किसी चीज़ का आनंद रहेगा ही नहीं। परन्तु बात ठीक इससे विपरीत है; करने और भोगने में जो आनन्द आता है वह भी तो अपने स्वरूप का आनंद है। करने-भोगने के बाद, हम अपने स्वरूप में क्षणमात्र को स्थित होते हैं, आनंद तो तब भी उसी से आता है। करते काल में आनन्द नहीं है, भोगते काल में भी आनन्द नहीं है। भोग की समाप्ति पर, या क्रिया की समाप्ति पर ही आनन्द आता है। स्वरूपानन्द क्रिया से या भोग से *प्राप्त* होने वाली चीज़ है नहीं। अतः अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व भाव परम आनन्द का स्वरूप हैं। यह निश्चय होने पर ही मनुष्य योग में व्यवस्थित होता है। पहले तो ज्ञान में व्यवस्थित होना मुश्किल, शास्त्र ऐसा कहता है - इस प्रकार का निश्चय होना मुश्किल। शास्त्र जो कहता है वही ठीक कहता है - पहले तो यही निश्चय नहीं होता; और यदि यह निश्चय हो गया कि शास्त्र यह कहता है और यही ठीक है, तो फिर यह निश्चय नहीं होता कि इस भाव में आनन्द आयेगा! उलटा लगता है कि यह तो जीवन को सुखा देगा, शुष्क कर देगा। इसीलिये योग में, अर्थात् उस भाव में स्थिरता, निरन्तर एकाग्र होकर लगना नहीं हो पाता। इसलिये भगवान् ने ज्ञानयोगव्यवस्थिति को आवश्यक सम्पत्ति में गिना।

आगे जितने लक्षण बतलायेंगे, वे सारे इन तीन के अंतर्भूत हो जाते हैं। अतः ये जो तीन हैं अभय, सत्त्वसंशुद्धि और ज्ञानयोगव्यवस्थिति - ये प्रधान दैवी सम्पत्ति हैं। इन तीन के अन्दर जो लोग स्थिर हो गये हैं, उनके अंदर आगे आने वाली दैवी सम्पत्ति स्वाभाविक ही होती है, स्वभाव से होती है। ये तीनों पूर्णतः तो ज्ञान-निष्ठा के बाद ही संभव हैं। मन की सर्वथा शुद्धि द्वैत-भाव के रहते होती नहीं। योग के अन्दर व्यवथिति भी इसीलिये नहीं

होती, कि उस परम-आनन्द का अपने को अनुभव नहीं हो पाता। आत्मज्ञान होने पर उस स्थिति के आनन्द का अनुभव हो जाता है। तब उसमें स्थिरता सहज होती है।

परोक्ष-अपरोक्ष अनुभवों का फ़र्क अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इंग्लैंड में एक कवि हुआ है वर्ड्स्वर्थ। वह प्रकृति का बड़ा प्रेमी था। वहाँ एक येरो नदी है जिसको बहुत सुन्दर माना जाता है, उसका वर्णन कई जगह आता है। कई बार उसके साथी जाते थे वहाँ घूमने के लिये, पर वर्ड्स्वर्थ नहीं जाता था क्योंकि वह सोचता था कि जैसा येरो नदी का वर्णन साहित्य में देखा है, वहाँ जाने पर वैसा तो मिलेगा नहीं! प्रायः ऐसा ही होता है। किसी स्थान के चित्र देखो तो स्थान बहुत हरा-भरा सुंदर लगता है पर जा कर देखो तो वैसा कुछ मिलता नहीं! इस विचार को प्रकट करने के लिये उसने एक कविता लिखी,'येरो अन्विज़िटेड' कि मैं क्यों येरो नहीं गया। उसमें कहा है कि 'यह नहीं कि वह सुन्दर है ऐसा मैं जानता नहीं हूँ, लेकिन वहाँ जाऊँगा तो वैसा नहीं मिलेगा जिससे कल्पना का सौंदर्य भी नष्ट हो सकता है।' फिर काफी समय के बाद एक बार उसके मन में आया कि 'अब बुड्ढा हो रहा हूँ, तो एक बार जा कर देख तो आना चाहिये!' वह गया। जो वर्णन उसने सब जगह पढ़ा था, उसकी अपेक्षा भी वहाँ की घाटी और ज़्यादा सुन्दर थी! तब उसने दूसरी कविता लिखी 'येरो विज़िटेड' उस में बताया कि वहाँ गया तो देखा कि सचमुच में वैसा ही सुंदर है जैसा वर्णन है, बल्कि उससे भी अच्छा है! उसके कुछ दिनों के बाद उससे रहा नहीं गया, वहाँ फिर गया तब उसने तीसरी कविता लिखी 'येरो रीविज़िटेड'। क्योंकि जितनी कल्पनाएँ उसने की थीं, उन सब से वह श्रेष्ठ था। इसी प्रकार जब शास्त्र के अन्दर हम देखते हैं, वर्णन सुनते हैं कि परमात्मसुख कैसा है, तब मन में होता है कि जैसे बाकी सुखों का लोग बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं, वैसे ही परमानन्द का होता होगा। असीम आनन्द थोड़े ही हो सकता है! इसलिये बहुत से लोग, निरन्तर उस तरफ जाने का प्रयत्न नहीं करते, सोचते हैं कि वहाँ रसगुल्ला तो मिलेगा नहीं, जा कर क्या करें! परन्तु एक बार भी योग में स्थिति होती है, थोड़ी देर के लिये चित्त एकाग्र होकर श्रवण-मनन के संस्कार वाले अंतःकरण से उसका आनन्द मिलता है, तो देखता है कि 'अरे! जैसा वर्णन था उससे कहीं ज़्यादा आनन्द है!' तो फिर बार-बार उसी स्थिति में जाने की प्रवृत्ति होती है। उस में जाने की अपेक्षा, और कहीं जाने की इच्छा ही नहीं रहती। प्रारब्ध-भोग के डण्डे से, थोड़ी-सी वृत्ति बहिर्मुखी भी होती है। जिस समय संसार की प्रतीति हो, उस समय उस आनन्द की प्रतीति नहीं होती है। संसार की प्रतीति के समय अपना परमात्म-भाव जाता नहीं है, वैसा ही रहता है; परन्तु वैसा परमानन्द आता नहीं! इसीलिये जिसने उसका अनुभव कर लिया, वह प्रारब्ध के कारण अनिवार्य व्यवहार कर लेता है, पर क्योंकि व्यवहार-काल में परमानंद-स्फुरण होता नहीं इसलिये जैसे ही प्रारब्ध-भोग का काल समाप्त हो वैसे ही वह फिर उसी समाहित स्थिति में चला जाता है। तब यह व्यवस्थिति स्वाभाविक हो जाती है। उससे पहले यत्नसाध्य है।

जब तक इसमें स्थिति नहीं हो, तब तक दैवी संपत् वाले में क्या भाव होते हैं व्यवहार

में? ‘दानं’। दान-अर्थात् जो भी चीज़ है अपने पास, उसका शास्त्रोक्त जगह में इच्छापूर्वक निरन्तर विनियोग करना। शास्त्रविरुद्ध कार्यों में विनियोग करने की इच्छा उसमें बिलकुल नहीं रहती। दान लोभ का विरोधी है। इसलिये सामवेद में कहा, कि लोभ को दान से जीतो। लोभ - जहाँ शास्त्र कहता है धनादि का वहाँ उपयोग करने की प्रवृत्ति न होना, जो प्रत्यक्षादि से लगता है कि ठीक है, वहीं करना। जो भी अन्नादि है अपने पास, उस सबका शास्त्र में जहाँ कहा गया है उन्हीं स्थलों में विनियोग करना दान है। वर्तमान काल में, दान और दया का फ़र्क लोग नहीं करते। दया तो हम जिसे दुःखी देख रहे हैं उसके दुःखको दूर करने के लिये प्रवृत्ति करना है। हमने किसी को नंगा देखा, तो हमने उसे कम्बल दे दिया। दया में दुःख देखकर प्रवृत्ति है, देश-काल-पात्र की चिंता नहीं है। दान में इन सबका विचार आवश्यक है। आगे भगवान् कहेंगे, सात्त्विक दान करने के लिये तुमको पात्र का विचार करना पड़ता है क्योंकि, तुम्हारे दान का लोग दुरुपयोग करें तो ठीक नहीं। दया भी अच्छा गुण है, दया मन में आनी ही चाहिये, तदनुसार दुःख भी दूर करने की कोशिश करनी चाहिये, पर वह दान नहीं है। दान में पदार्थ का विनियोग करने के लिये सोच लेना चाहिये, कि ‘मैं जो करने जा रहा हूँ, वह शास्त्र के अनुकूल है या शास्त्र के विरुद्ध है’। हम जो अनुभव करते हैं, वह बड़ा सीमित होता है; और शास्त्र जो विधान करता है वह आगे-पीछे की सारी व्यवस्था सोच कर बताया गया है। अतः सात्त्विक प्रवृत्ति के अन्दर दान को बतलाया। दान करने के लिये वेद कहता है ‘श्रिया देयम्’। जैसी तुम्हारी सम्पत्ति है उसके अनुसार देना चाहिये - यथाशक्ति। जहाँ शास्त्र की दृष्टि न होवे, वहाँ लोग दृष्टि लेते हैं कि ‘किसने कितना दिया’। ‘अमुक की हज़ार की कलम है, तो मेरी कलम हज़ार के ऊपर नहीं जानी चााहिए’। परन्तु वेद कहता है- अपने पास जो श्री है, उसके अनुसार दान करना चाहिये! दान यथाशक्ति होना चाहिये। पात्र की योग्यता को देखना चाहिये। दत्त चीज़ का वह जैसा उपयोग करेगा उसके अनुसार दान अपना फल देगा। हमने एक को भोजन दिया, उसने जाकर वेद-पाठ किया; दूसरे को हमने अन्न दिया, पात्र का बिना विचार किये हुए, वह खाकर गया और घर में अपनी पत्नी को पीटने लगा; दोनों अन्नदानों का फल एक नहीं हो सकता इस चीज़ को पात्र के विचार से ही हम समझ सकते हैं। भगवान् भी कहेंगे, कि दान के लिये पात्र का विचार करना चाहिये।

‘दमश्च’। दम का मतलब होता है कि जो अपनी बाह्य इन्द्रियाँ हैं, आँख कान नाक इत्यादि, उनको यथासम्भव प्रशान्त करे अर्थात् उनका संयमन करे। यह भी आजकल बड़ा कठिन है, क्योंकि हम लोग इन्द्रियों को खुली छूट देने को प्रशस्त मानते हैं, अच्छा मानते हैं। लोग टेलिविजन देखने में दलील देते हैं कि उसमें रामलीला का चित्र आता है। किन्तु रामायण देखोगे, तो ठीक उसके पहले विज्ञापन आयेगा, ठीक उसके बाद भी विज्ञापन आयेगा। विज्ञापन देखे बिना तो रामायण देख नहीं सकते। अतः इंद्रियों को किसी बहाने से भी बहिर्मुखता का मौका नहीं देना दैवी संपत् है। कर्मेन्द्रियों के बारे में भी यही है :

कर्मेन्द्रियों का भी दमन करना है। आजकल लोग यह भी कहने लग गये हैं कि इन्द्रियों का नियंत्रण करने से मन में ग्रंथियाँ बढ़ जाती है! आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने, जो भोगवादी हैं उन्होंने ऐसी सब बातें कहीं कि इन्द्रियों का संयम मत करो। भगवान् ने गीता में कहा है, 'इन्द्रियों का संयम करके मन से विषयों चिन्तन करता है तो मिथ्याचारी है।' भगवान् का कहना यह है कि मन का भी साथ में संयमन करो, आधुनिक लोग इसका अर्थ लेते हैं कि बाह्य इन्द्रियों का उपशम करने की ज़रूरत नहीं! चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ हों, चाहे कर्मेन्द्रियाँ हों, उनको अधिक प्रवृत्ति से रोकना है, शान्त करना है।

'यज्ञश्च'। यज्ञ अर्थात् अग्नि की पूजा करना, अथवा देवता का पूजन करना, अथवा माता-पिता की पूजा करना। वैदिक यज्ञ, स्मार्त यज्ञ, अग्निहोत्र आदि सभी देवपूजाएँ यज्ञ के अंतर्गत समझ लेनी चाहिये। स्वभावतः यज्ञ में प्रवृत्ति दैवी सम्पत् है।

'स्वाध्यायः'। प्रधान अर्थ तो इसका है, स्व-शाखा का अध्ययन। प्रत्येक द्विज की, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य की, एक स्व-शाखा परंपरा से निर्णीत है। उस शाखा का, उपनयन के समय से समावर्तन से पहले तक जो अध्ययन किया जाता है, उसको 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस विधि से करने के कारण स्वाध्याय कहते हैं। यदि सामर्थ्य हो तो अपनी सारी शाखा का अध्ययन करे, अगर उतना न कर सके तो केवल संहिता का अध्ययन करे। यदि उतना भी करने में असमर्थ है, तो जितने सूक्त अथवा अध्याय ग्रहण कर सकता है उतने ग्रहण करे। और अन्ततः कहा है कि जो इन सब में भी असमर्थ हो, वह केवल गायत्री के ग्रहण से ही, इस विधि की पूर्णता कर सकता है। वर्तमान काल में प्रायः परम्परा यह है कि स्वशाखा के एक या दो मन्त्रों का ग्रहण करा के, उसी समय अन्य शाखाओं के भी एक-एक मन्त्र का उच्चारण करा दिया जाता है। मनु ने कहा है कि अपना वेद तो पढ़े ही, समर्थ हो तो दो वेद पढ़े, ज़्यादा योग्य हो तो सब वेद पढ़े। अतः सब वेदों के एक-एक मंत्र ग्रहण करा देते हैं। उपनयन में विधि की पूर्णता तो अपनी शाखा के अध्ययन से ही होती है। उसी उपनयन के द्वारा अन्य सभी शाखाओं के अध्ययन का अधिकार भी प्राप्त हो जाता है। जितनी अपनी सामर्थ्य हो उतना अध्ययन करे। किंतु यह अध्ययन दृष्टार्थ है, इसका दृष्ट प्रयोजन है सार्थ वेद की प्राप्ति। यहाँ भाष्यकारने अदृष्टार्थ अध्ययन गिना है अतः ब्रह्मयज्ञ का स्वाध्याय नाम से कथन समझना चाहिये। ग्रहण किये वेद की प्रतिदिन जो आवृत्ति की जाती है वह ब्रह्मयज्ञ दैवी सम्पत् है।

वैसे, वेदमूलक शास्त्रों का अध्ययन भी इसके द्वारा प्राप्त हो जाता है। सारे वेदांगों सहित वेद का अध्ययन कर्त्तव्य है। याज्ञवल्क्य आदि ने कहा है कि चतुर्दश विद्यास्थानों का ग्रहण करना चाहिये। चतुर्दश विद्याओं में सनातन धर्म पूरी तरह से प्रतिपादित हो जाता है। चतुर्दश विद्यास्थान हैं चार वेद और छह वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। इसमें मीमांसा के द्वारा पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा दोनों ही आ जाती हैं। कुछ आचार्यों ने पुराण के द्वारा ही इतिहास का भी संग्रह कर लिया है। कुछ धर्म के आचार्यो ने अष्टादश

विद्या-स्थान भी माने हैं। तब इतिहास आदि की अलग गिनती हो जाती है। इन सब को पढ़ना और दुहराते रहना स्वाध्याय है। इसे स्वाध्याय इसलिये कहते हैं, कि इनके अन्दर ही 'स्व' का अर्थात् 'आत्मा' का पूर्ण प्रतिपादन हो जाता है। आत्मा के स्वरूप का भी इनमें प्रतिपादन है, उसके साक्षात्कार के साधनों का भी प्रतिपादन है। सारी उपासनाएँ भी इसमें आ जाती हैं। चूंकि ये सब अंततोगत्वा एकमात्र परमात्म-तत्त्व के प्रतिपादक हैं इसलिये ये 'स्वाध्याय' शब्द से कह दिये जाते हैं। कुछ लोगों ने ऐसा माना है कि परमात्मा के विषय में जो अन्य लोगों के ग्रन्थ हैं, वे भी स्वाध्याय के अन्तर्गत आ जाते हैं, परन्तु ऐसा स्पष्ट लेख नहीं है। अतः अन्य ग्रन्थों को 'मनन' के अन्तर्गत ही लेना ठीक है। स्वाध्याय के अन्तर्गत तो ये चौदह विद्यास्थान ही अधिकाधिक लिये जाते हैं क्योंकि ये साक्षात् परमात्मा का प्रतिपादन करने वाले हैं। अन्यों का अध्ययन उसी को स्पष्ट करने के लिये मनन रूप ही समझना चाहिये।

स्वाध्याय का एक अर्थ ही प्रतिदिन का वेद-पाठ है। क्योंकि जहाँ गृहस्थ के लिये, पंच यज्ञ कहे हैं, वहाँ ब्रह्मयज्ञ वेदपाठरूप है। ब्रह्म अर्थात् वेद। वेद का प्रतिदिन स्वाध्याय करने का नियम है। सर्वथा असमर्थ हो तो गायत्री के जप के द्वारा भी प्रतिदिन का स्वाध्याय सम्पन्न किया जा सकता है। जहाँ तक हो सके वहाँ तक तो ब्रह्मयज्ञ के रूप में वेद के सूक्तों का क्रमशः पाठ करना चाहिये। वेद का अध्ययन एक तो होता है वेदार्थ-ज्ञान के लिये और दूसरा पुण्य के लिये। पुण्य के लिये करने पर भी अर्थज्ञान तो होगा ही। दैवी संपत् वाला जो 'स्वाध्याय' करता है वह केवल अर्थ समझने के लिये नहीं, अदृष्ट के लिये करता है। इसलिये पाठ के नियमों को मानना पड़ता है। अर्थज्ञान के लिये तो तुम पैर लम्बे कर के भी बाँच सकते हो। चाहे प्रातः काल स्नान कर के, आसनादि पर बैठ कर पूर्वाभिमुख हो कर, वेद का अध्ययन करो, तब भी अर्थ का तो वैसा ही पता लगता है। पैर लम्बे करके पढो़ तो भी अर्थ का ज्ञान वही होगा। दृष्टार्थ में तो फ़र्क नहीं है। परन्तु स्वाध्याय करने के, ब्रह्मयज्ञ करने के जो नियम बताये हैं उनसे करोगे तभी अदृष्ट, पुण्य पैदा होगा, अन्यथा अदृष्ट पैदा नहीं होगा। मनु ने कहा है कि अन्य सारी चीज़ों का परित्याग करने पर भी, वेद का परित्याग कभी न करे। इसकी अत्यन्त प्रधानता अदृष्ट के लिये है। वेद की तरह गीतादि के भी यथाविधि पाठ से पुण्य बताया है। गीता ब्रह्मसूत्रादि भी चाहे समझ लिये हों फिर भी इनका पुण्यार्थ पाठ करते रहना चाहिये। आजकल यह वातावरण बहुत बना हुआ है कि किताब अर्थ जानने के लिये पढी़ जाती है। उसको मना नहीं कर रहे हैं, परन्तु गीता अथवा अन्य स्तोत्रादि को भी यदि अदृष्ट के लिये पढना है, तो जो नियम बताये हैं उनके अनुसार ही पढ़ना चाहिये। याज्ञवल्क्य महर्षि ने पाठ करते हुए सिर को न हिलाए, ज़्यादा धीरे-धीरे पाठ न करे, वर्णों को लम्बा खींचकर न बोले, ज़्यादा जल्दी न करे आदि बहुत नियम बताये हैं। इन सब नियमों के अनुसार जो पाठ करते हैं, वह अदृष्ट को उत्पन्न करता है।

'तपः'। जैसे दान को आगे गीता में तीन प्रकार का बतलाया है, वैसे ही सात्त्विक तप भी होता है राजस तप भी होता है और तामस तप भी होता है। यहाँ दैवी सम्पति में आने के कारण जो सात्त्विक तप बतलाया है वही करने के लायक है। शरीर, वाणी और मन तीनों से तप किये जाते हैं। शरीर का तप आगे भगवान् स्वयं बतलायेंगे देवता का पूजन, ब्राह्मणों का पूजन, गुरु का पूजन, अन्य श्रोत्रिय विद्वानों का पूजन, ये सब शरीर के तप हैं। प्रायः करके अन्य मत-मतान्तरों को देख कर लोग समझते हैं कि बस शरीर को तरह-तरह से कष्ट देने से ही तप होता है, परन्तु उत्तम तप ये सब हैं : देवादिपूजन, बाह्य शौच का अभ्यास करना, आन्तर शौच का अभ्यास करना, इत्यादि। आसुरी सम्पत्ति वाले शौच का अभ्यास नहीं करते। बाह्य शौच भी इनका नहीं होता और जब बाह्य शौच ही नहीं रखेंगे तो आन्तर शौच क्या रखेंगे! ऐसे शौच-रहित जो मत-वादी हैं उनके तप को हमारे यहाँ सात्त्विक तप में नहीं गिना गया है। यह ठीक है कि जैनी आदि लोग कष्ट बहुत सहन करते हैं, अन्न-पानी छोड़कर मरने तक का कष्ट सहन करते हैं, खूब तड़प लेते हैं। सामान्य लोग, जो नहीं जानते तप के रूप को, वे समझते हैं, कि ये बड़े भारी तपस्वी हैं! परन्तु ये सब दैवी संपत् के, सात्त्विक तपों के अन्तर्गत नहीं आते। इसी तरह से हमेशा सत्य बोलना, जो बात कहनी होवे वह पूरी तरह से कहना, उसमें कुछ छिपा कर न रखना, इत्यादि सब वाणी के तप हैं। मन को हमेशा प्रसन्न रखना, कभी भी विषादी न होना, हमेशा दूसरे से व्यवहार करते समय नरमाई का व्यवहार करना; मन से हमेशा वेदार्थ का चिन्तन करना और उसमें वेदार्थ को पुष्ट करने वाली युक्तियों का विचार करना - ये सब मानस तप भगवान् आगे बतलायेंगे। तप से यहाँ, शरीर वाणी और मन के सात्त्विक तपों का ग्रहण है।

'आर्जवम्'। हमेशा सरल भाव रखना, कुटिल भाव से बचना। कुटिलता का मतलब है, कि हम समझते कुछ हैं, और इस ढंग से भाषा का प्रयोग करते हैं कि सामने वाला हमारी बात को गलत समझे। यही कुटिलपना है। किसी से कोई बात छिपा कर कहना भी कुटिलपना है। 'आर्जवम्' अर्थात्, हमेशा मन और वाणी के अनुसार ही आचरण रखना, सरलता।।१।।

और गुण बताते है जो दैवी संपत् में हैं-

अहिंसा सत्यम् अक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

अहिंसा, सच बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शांति, चुगली न करना, भूतों पर दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचपलता (ये भी दैवी संपत् के गुण हैं)।

'अहिंसा'। सामवेद में कहा है कि जहाँ वेद ने आज्ञा दी है, उन स्थलों को छोड़कर अन्यत्र प्राणियों की हिंसा न करना अहिंसा है। हिंसा का मतलब दूसरे को पीडा देने का संकल्प करके कुछ करना। लोक में हिंसा का अर्थ प्रायः केवल मार डालना समझा जाता

है। दूसरे को नहीं मारा तो अहिंसा है। सबसे बड़ा कष्ट किसी को यही दे सकते हो कि उसे जीवन से दूर कर दो। राजा भी सबसे बड़ा दंड यही मानता है कि फाँसी दे दी। इसके आगे तो और कुछ नहीं कर सकते। अहिंसक को वह हिंसा तो नहीं ही करनी है परन्तु हिंसा का मतलब केवल वही नहीं है। किसी भी प्रकार से प्राणी को पीडा नहीं देनी है। गुरु शिष्य को पढ़ाता है तो शिष्य को पीडा देता है, कान भी पकड़ता है, थप्पड भी मारता है, मुर्गा भी बना देता है, किंतु ये सब हिंसा के अन्तर्गत नहीं आते। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ शास्त्रों ने आज्ञा की है, उनको छोड़ कर के, अन्यत्र कहीं पर भी किसी भी प्राणी को पीडा न देना अहिंसा है।

'सत्यम्'। व्यास जी ने सत्य का अर्थ किया है, 'सते हितं, सत्यं' जो हितकारी वाक्य होता है, वही सत्य है। अहित के लिये जो कहा जाता है, जिससे नुकसान हो इसलिये कहा जाता है वह सत्य के अन्तर्गत नहीं है। यहाँ तक कहा है कि 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्' यथार्थ कह देना मात्र सत्य नहीं, वह प्राणी के हित में भी होना चाहिये। सत्य बोले, लेकिन इस ढंग से बोले कि सामने वाले व्यक्ति को प्रिय लगे। सत्य भी यदि ऐसा है कि दूसरे व्यक्ति को प्रिय नहीं लगता है, तो उसको कहने की कोई ज़रूरत नहीं है। दूसरे को खुश रखने के लिये झूठ भी नहीं बोलना है। ऐसा सत्य जो प्रिय न होवे वह भी न बोलो, और जो प्रिय लगे और झूठ होवे वह भी न बोलो। सत्य प्राणियों के कल्याण के लिये होवे। जिसको कह रहे हो उसके लाभ के लिये होवे। जैसा तुमने समझा है उसके अनुसार हो, और सुनने वाले को प्रिय हो। अतः भाष्य में कहा 'सत्यम् अप्रियाऽनृतवर्जितं यथाभूतार्थवचनम्' यह समझ लेना चाहिये कि कोई भी चीज़ कैसी है इसका निर्णय तो बड़ा कठिन है। अतः यथाभूत का मतलब है, जैसा तुमने समझा है, तुम्हारे अंतःकरण में जैसा बोध हुआ है। यदि तुमको कोई भ्रम-ज्ञान हुआ है, तुमने रस्सी में साँप देख लिया, फिर तुमने किसी से कहा कि 'अरे, वहाँ साँप है', तो तुम झूठ बोल रहे हो यह नहीं कहा जा सकता। तुमने तो उसको साँप जानकर साँप कहा। पर यदि तुमको पता हो कि यह रस्सी है और फिर दूसरे को डराने को कहते हो 'साँप है' तब वह झूठ हो जाता है। जैसा तुम्हारे अंतःकरण में है उसके अनुसार ही वचन बोलना और इस दृष्टि से बोलना कि वैसा ही सामने वाला समझे, सत्य है। कई बार लोगों का कहना रहता है कि इतना सोच कर बोलेंगे, तो फिर बोल ही क्या पायेंगे? क्योंकि हम लोगों के जीवन में अधिकतर वाणी का प्रयोग होता है, गप्पें मारने के लिये। और गप्प मज़ेदार तभी हो सकती है जब उसमें थोड़ा बहुत झूठ साथ में मिले, नहीं तो मज़ा ही नहीं आता! जो दैवी सम्पत्ति चाहता है, उसको इस प्रकार बोलने से तो दूर ही रहना पड़ेगा।

'अक्रोधः' दूसरा हमारे साथ गाली गुफ्तार करे, मार-पीट करे तो मन में एक वेग आता है उसका विरोध करने का, उसको क्रोध कहते हैं। अक्रोध का अभ्यासी मन में उस क्रोध को वहीं पर शान्त कर देवे। 'प्राप्तस्य क्रोधस्य उपशमनं'। इसलिये यहाँ अक्रोध का

मतलब, निषेधार्थक नहीं ले लेना कि क्रोध का न होना। आदमी गहरी नींद में सो रहा है, क्रोध नहीं कर रहा है, तो क्या वह दैवी सम्पत्ति का कार्य कर रहा है? अक्रोध एक ऐसा भावात्मक प्रत्यय है जो दूसरे के द्वारा हमारी ताडना करने पर, गाली-गुफ्तार करने पर, मन में आने वाले वेग वहीं शान्त करने वाला है। विचार की वृत्ति मौजूद रहती है, तो क्रोध को वहीं शांत कर देती है। इसलिये भगवान् कह आये हैं (५.२३) कि शरीर छूटने के पहले जो काम-क्रोध का वेग सहने में समर्थ है वही सुखी है। शरीर छूटना चाहे ज्ञान से हो, 'मैं शरीर नहीं हूँ', ऐसा ज्ञान हो जाता है तब भी शरीर से छूटते हैं; अथवा जब मर जाते हो तब शरीर से छूट जाते हो। दोनों ही हालतों में शरीर के छूटने से पहले यह सामर्थ्य पानी है। अनादि काल से जो संस्कारों का प्रवाह है, उससे काम-क्रोध का वेग तो आता है। परन्तु उस वेग को जो वहीं पर अंतःकरण में विरोधी विचार की वृत्ति के द्वारा खत्म कर देता है वह सुखी है। जब शरीर से अध्यास हट गया - चाहे मर कर हट गया, चाहे ज्ञान से हट गया - उसके बाद तुम्हारे शरीर से कोई गाली-गुफ्तार या पिटाई करे, तो तुम्हारे में क्रोध आयेगा नहीं। इसलिये उसके बाद उसके वेग का उपशमन नहीं करना है, उसके बाद तो वह पैदा ही नहीं होगा। परन्तु जब तक शरीर के साथ अध्यास है, तब तक अनादिकाल के संस्कार से काम-क्रोध पैदा तो होंगे, परन्तु वहीं विचार के द्वारा उन्हें शान्त कर दिया जाता है। क्रोध प्राप्त होने पर उपशमन करना अक्रोध है। अतः अक्रोध भावात्मक वृत्ति है।

इसके दोनों उपाय सम्भव हैंः एक तो यह चिंतन कि 'जिसने विक्षेप किया है उसके अन्दर विद्यमान परमात्मा की सत्ता के कारण ही, मेरे पापों ने उदय होकर फल देने के लिये उसको औजार बनाया है। अतः इस पर क्रोध करना व्यर्थ है। गलती उसकी तो है नहीं। मेरे पाप कर्मों को फलीभूत करने के लिये उसमें विद्यमान परमात्मा ही उससे यह करवा रहा है।' और दूसरा यह विचार कि जो भी उसने गालीगुफ्तार या मारपीट की है वह शरीरादि के या मन के साथ की है। शरीरादि और मन मेरा कितना नुकसान वैसे ही कर रहे हैं। उनके कारण ही सारे पापों में प्रवृत्ति होती है। अतः शरीरादि मेरे दुश्मन ही हैं। दुश्मन का दुश्मन तो मित्र होता है! अतः शरीरादि के साथ दुश्मनी की, तो व्यक्ति हमारा मित्र ही हुआ। और स्वयं अपने आप के साथ, आत्मा के साथ, तो कभी कोई शत्रुता कर ही नहीं सकता! इन दोनों प्रकार के विचारों को जाग्रत् रखने वाला क्रोध के वेग सहन कर लेता है।

'त्यागः'। त्याग का यहाँ मूल अर्थ है संन्यास, क्योंकि धन सम्पत्ति इत्यादि को छोड़ना तो दान से ही आ गया। खुद छोड़ोगे तभी तुम अपनी सम्पत्ति या धन किसी दूसरे को दोगे। अतः धनादि का तो दान ही है। परन्तु एषणाओं का त्याग ही होता है, उनका दान नहीं किया जाता! अपनी जो तमन्नाएँ हैं, अपनी जो कामनाएँ हैं, वे तो किसी दूसरे को तो काम में लेनी नहीं हैं कि हम किसी को दें और वह ले। इसलिये एषणात्रय का त्याग करके सर्व-कर्म-संन्यास करना यहाँ त्याग का प्रधान अर्थ है। परन्तु जो उतना करने में असमर्थ हो, तो कम-से-कम कर्मफल का त्याग करे। प्रायः करके पद्धतियों के अनुसार, जब कोई

भी पण्डित जी तुमसे कोई भी कर्म करवाते हैं, तो जब कर्म समाप्त होता है, तब तुमसे बुलवा देते हैं- 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' जो हमने कर्म किया है यह भगवान् के अर्पण है। किन्तु लोग इसे मुँह से कहते मात्र हैं, फल तो चाहते ही हैं। कुछ तो समझते हैं कि अर्पण करने से भगवान् ज़्यादा फल दे देंगे! तब भी त्याग नहीं है। इस प्रकार के त्यागों को यहाँ नहीं कह रहे। कर्ममात्र का त्याग न हो सके तो यह निश्चय तो करे ही कि 'कर्मफल मुझे नहीं चाहिये, भगवान् को अर्पण है'।

'शान्तिः'। पहले 'दम' कह आये हैं। दम से इन्द्रियों का दमन बतला दिया। अतः यहाँ शान्ति के द्वारा मन का शमन, मन का निग्रह विहित है। परमात्म-प्राप्ति के साधनों में शान्ति, दान्ति, उपरति, (उपरति यहाँ त्याग से कह ही दी) तितिक्षा, (इसको तप के द्वारा कह ही दिया) समाधान (इसे ज्ञानयोगव्यवस्थिति के अंतर्गत कह दिया) कहे हैं। शम को शान्ति से कहा गया है। जैसे इन्द्रियों का दमन करना है वैसे मन का निग्रह करना है। मन का निग्रह मायने क्या? मन की उपशान्ति मायने क्या? मन को अशान्त करने वाली है विषय-इच्छा। किसी भी पदार्थ की इच्छा होने से ही मन में अशान्ति आती है। परमात्मा के सिवाय और किसी की भी इच्छा न करना शांति का उपाय है। जो हम चाहते हैं, वह सब केवल परमात्म-विषयक ही हो। इसीलिये अभ्यास कराने के लिये कहा जाता है कि जो भी तुम बनाओ भगवान् के भोग के लिये बनाओ, अपने लिये नहीं। बनाने में प्रवृत्ति तो कर ही रहे हो, परन्तु भावना रखो कि किसी भी परिस्थिति में 'जब तक वह भगवान् के द्वारा स्वीकृत न हो जाये तब तक मैं ग्रहण न करूँ'। रसगुल्ला खाऊँगा, रबड़ी के मालपुए खाऊँगा, तभी जब परमात्मा को मैंने भोग लगा दिया, उन्होंने स्वीकार कर लिया। इसीलिये भोजन बनाते समय चीज़ में नमक ज़्यादा है, कम है, मिर्च ज़्यादा है, कम है, इसका परीक्षण स्वयं नहीं करते। संसार में बाकी सब लोग पहले चख कर देख लेते हैं परन्तु जो दैवी सम्पत्ति वाले हैं वे पहले उसको खुद नहीं चखेंगे। भगवान् को भोग लगा कर तभी चखेंगे, तभी खायेंगे, तभी ग्रहण करेंगे। इसी प्रकार अच्छी से अच्छी सुगन्धि है, वह पहले भगवान् को चढ़ाते हैं, फिर उसको ग्रहण करते हैं। दिवाली के पूजन में खील व बतासे चढ़ाते हैं क्यों कि तब प्रधान रूप से चावल और गन्ने की खेती होती है। चावलों के खीलें बना कर और गन्ना हो सके तो गन्ना, न हो सके तो बताशे इत्यादि बनाकर पहले भगवान् को चढ़ा देंगे तब ग्रहण करेंगे। जो आया हुआ अनाज है उसका ग्रहण तभी करेंगे, जब पहले दीवाली के दिन भगवान् को चढ़ा देंगे। प्राचीन काल में जब यज्ञ प्रधान था, उस समय इसको 'नवसस्येष्टि' कहते थे - नया जो धान आया है, उसको पहले 'इष्टि' (यज्ञ) द्वारा देवताओं को चढ़ा कर फिर स्वयं लेते थे। अपने यहाँ भारतवर्ष में प्रधानतः दो खेती होती हैं - वासन्तान्न और शारदान्न। आजकल उसको उर्दु में रबि और खरीफ कहते है। वसन्त में गेहूँ, जौ, प्रधान रूप से पैदा होते हैं। उन्हें भगवान् को चढ़ाने के लिये 'होला' जलाते हैं इसी लिये उसको होली कहते हैं। अनाज को पहले भूनते हैं और तब उसका ग्रहण करते

हैं, उसके बाद ही आये हुए अनाज का प्रयोग करेंगे। जैसे कहा, कि पहले नवसस्येष्टि यज्ञ कर लिया करते थे, अब उसका रूप रह गया कि वहाँ ले जाकर भून लिया करते हैं, हर हालत में दृष्टि यही है कि भगवदर्पण करने के बाद ही ग्रहण करें। बंगाल इत्यादि के अंदर बेर तब तक नहीं खाते, जब तक सरस्वतीपूजा पर पहले सरस्वती को नहीं चढ़ा देते। इस प्रकार से नियम रखना चाहिये कि पहले भगवान् को चढ़ाओ, तब ग्रहण करो। नतीजा यह होता है कि धीरे-धीरे, हमारी कामनाएँ परमेश्वर को विषय करने लगती हैं, कि हम परमेश्वर के लिये करेंगे, उनकी प्रसन्नता के लिये करेंगे, वस्तु हमें मिल जायेगी, वह बात दूसरी है। विषयों की कामना को तुरन्त तो समाप्त कर नहीं सकते। उसको शान्त करने का तरीका यह है कि विषयों को चाहो, लेकिन परमेश्वर के प्रसाद के द्वारा चाहो। यह उपशम का ही अभ्यास है। इससे जो ऐसे विषय हैं जिनको परमेश्वर को नहीं चढ़ा सकते, स्वाभाविक रूप से उनसे दूरी होती जायेगी।

'अपैशुनम्'। पिशुनता का मतलब होता है चुगली करना। चुगली का मतलब है, किसी की ग़लती को किसी अन्य को बताना। जिसकी ग़लती है, उसको बताना कि 'यह तुम्हारी ग़लती है', यह पिशुनता नहीं है। परन्तु देवदत्त की गलतियाँ यज्ञदत्त को बतलाना पिशुनता है। मनुष्य यह दो कारणों से करता है। एक तो, जिसकी गलती बतला रहा है, उसके बारे में सामने वाले की दृष्टि हीनता की हो जाये कि वह आदमी इतना अच्छा नहीं है। और दूसरा यह भी होता है - प्रायः अपने दुश्मन की कोई बुराई सुनावे तो अपने को बड़ा अच्छा लगता है, प्रिय लगता है। इसलिये उस व्यक्ति की प्रसन्नता को प्राप्त करने के लिये, उसके दुश्मन की ग़लतियों को उसके सामने प्रकट करते हैं। ये दोनों ही दृष्टियाँ, सब प्राणियों में आत्मदर्शन की इच्छा रखने वाले के लिये अनिष्ट हैं। दोनों दृष्टियों में, यह प्रश्न करो कि यदि मेरे प्रति कोई ऐसा करता तो क्या मुझे प्रिय लगता? और जो चीज़ मुझे प्रिय नहीं लगती उस चीज़ को मैं अब करूँ, यह ग़लत बात है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है, 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। जो अपने को प्रतिकूल लगता है, अच्छा नहीं लगता है, वह कभी किसी दूसरे के साथ न करे। पिशुनता अपने को तो अच्छी लगती नहीं लेकिन दूसरे के लिये हम करते हैं। इसका अभाव जीवन में होना, दैवी सम्पत्ति का लक्षण है।

'दया'। दुःखी प्राणी का उपकार करने की भावना को दया कहते हैं। जैसे दान, दैवी सम्पत्ति का स्वरूप है वैसे ही दया भी दैवी सम्पत्ति का स्वरूप है। दान में देश, काल, पात्र, की श्रेष्ठता का विचार किया जाता है, दया में देश, काल, पात्र की क्षेष्ठता नहीं देखी जाती, दुःखी प्राणी के दुःख को दूर करना ही मुख्य है। जिस देश में उसको दुःख है, उसी देश में उसका दुःख दूर करना है। इसी प्रकार, जिस काल में है, उसी काल में दुःख दूर करना है। फाल्गुन के महीने में किसी को ठंड लग रही है, ठंड से काँप रहा है, तो गर्म कपड़े का दान माघ में करना श्रेष्ठ माना गया है इसलिये बारह महीने बाद उसे कम्बल देना दया नहीं है! दया में ऐसे काल का विचार नहीं किया जा सकता, कि श्रेष्ठकाल कब आयेगा अथवा

किसी व्यक्ति को यहाँ प्यास लगी हुइ है और कुरुक्षेत्र में दान का महत्त्व है तो उसे वहाँ ले जाकर पानी पिलाना दया नहीं है। दान में यह सब विचार होता है कि श्रेष्ठ देश होवे, श्रेष्ठ काल होवे, श्रेष्ठ पात्र होवे। परन्तु दुःखी प्राणी के दुःख को दूर करना तो उसी देश-काल में और उसी व्यक्ति का पड़ता है। इसलिये दया से दान को अलग बतलाया। हैं दोनों ही दैवी सम्पत्ति के स्वरूप।

'अलोलुप्त्वम्'। लोलुप्त्व का मतलब होता है, इन्द्रियों के सामने उत्तम विषय के आने पर जो यह विकार उत्पन्न होता है कि 'यह तुरन्त मेरा हो जाये'। कई बार तो नींबू के अचार को थाली में देखकर और उसकी सुगंधि सूंघ कर अपनी जीभ में पानी आने लगता है। यह सब लोलुपता का स्वरूप है। विषय की सन्निधि में इन्द्रियों के अंदर विकार का न होना - अलोलुप्ता है। किसी दूसरे की बहुत अच्छी गाड़ी देख कर भी, ''हाय! यह गाड़ी मेरी हो जाये, मेरी होती तो कितना अच्छा था'' - झट ऐसी विक्रिया होती है; इच्छा करते हैं 'यह गाड़ी बेच कर के वह गाड़ी खरीद लेवें'- यह लोलुपता है। विषय-सन्निधि में अविक्रिय रहना दैवी संपत् है। विषय सन्निधि में न होवे और याद आवे - वह तो अशांति है जिसे शान्ति से, शम से ही रोका जाता है। जिस समय विषय सन्निधि में है, विषय तुम्हारे भोग का साधन बना हुआ है, अर्थात् तुम रसगुल्ला खाने जा रहे हो, तुम्हारे सामने सकोरा आ गया। तब उतावल आदि विकार लोलुपता है। अथवा कोई और खा रहा है, उसे देखकर इन्द्रियों में विकार आना भी लोलुपता है। जब रसगुल्ला खा रहे हो, तब 'इस प्रकार के रसगुल्ले की मुझे हमेशा प्राप्ति होवे', इसे तो 'दम' के द्वारा रोक लिया गया। दूसरा कुछ देने आया है, उसमें कोई चीज़ तुमको स्वादिष्ट लगती है, तो 'यह हमें दे देवे' - इस भावना का होना, तो दम से ही रुक जाता है। लेकिन जहाँ विषय-सन्निधि है, केवल वह भोग के लिये प्राप्त नहीं हुआ, उस समय में इन्द्रियों में विकार का न होना अलोलुपता है। इन्द्रियों में विकार भोगकाल में भी होता है, और विषयदर्शन मात्र से भी हो जाता है, श्रवण मात्र से भी हो जाता है। श्रवण मात्र से न हो - यह तो शान्ति के अंदर आ जायेगा। लेकिन विषय-सन्निधि में जो विकार पैदा होता है उसको रोकना, अलोलुप्ता है।

'मार्दवं' हमेशा मृदु व्यवहार, कोमल व्यवहार करना, क्रूरता-पूर्वक व्यवहार न करना। बहुतों की आदत ही ऐसी हो जाती है कि बात ग़लत नहीं कहते हैं, पर हमेशा क्रूरता से कहते हैं जिससे सामने वाले को कष्ट होता है। बात उन्होंने खराब नहीं कही है, पर मार्दव नहीं है, मृदुता नहीं है। बोलने का हमने एक दृष्टांत बताया, सभी व्यवहारों में मृदुता रखना दैवी संपत् है। रास्ते में जा रहे हैं, बस के सामने लाइन में खड़े हैं, जैसे ही बस आई वैसे ही फटाफट दूसरों को धक्का मारकर बस में घुस जाओ - यह कोई मृदु व्यवहार नहीं है। चाहे वाणी से हो, चाहे शारीरिक व्यवहार से हो, दैवी प्रकृति वाले में सदा कोमलता रहेगी, मृदु-भाव रहेगा, कठोरता नहीं रहेगी।

'ह्रीः' अर्थात् लज्जा। पहले तो हम लोगों के समाज में लज्जा बड़ी मान्य चीज़ थी। ह्री

अर्थात् ग़लत काम करने से मनुष्य के अन्दर जो एक शर्म आती है कि 'अरे! यह मुझ से क्या हो गया।' तथा जिसके कारण व्यक्ति ग़लत कार्य करने से स्वयं को रोक लेता है कि 'नहीं-नहीं, मैं ऐसे कैसे कर सकता हूँ!' कुलीन व्यक्ति में लज्जा स्फुट होती है।जो सत्पुरुष होते हैं, वे चूंकि सच्छास्त्र का सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये उनके अंदर तो श्रद्धा होती है कि शास्त्र जो कहता है वही ठीक है। परन्तु जो ऐसे शास्त्रज्ञ नहीं हैं, उनके अनेक सही व्यवहारों को तो लज्जा सिद्ध कर देती है। जो अच्छे कुल में उत्पन्न हुए लोग होते हैं, उनके अंदर ग़लत कामों के प्रति लज्जा है। शास्त्रज्ञान के द्वारा उनको यह तो पता नहीं है कि ऐसा क्यों करना चाहिये, ऐसा क्यों नहीं करना चाहिये, पर इतना जानते हैं कि 'ऐसा हम लोगों में नहीं करते', करने में शर्म आती है। हिन्दुओं की संस्कृति में ऐसा था कि ब्राह्मण यह कर सकता है, यह नहीं कर सकता है। पहले-पहल जब लज्जा छूटने लगी, तब धनादि कमाने के लिये ब्राह्मण कहीं जाकर नौकरी करता था, और अगर अकार्य (जो उसके नहीं करने लायक काम है) करने में ज़्यादा पैसा मिलने से वह काम करता था, तो परिचितों से छिपकर ही करता था। सोचता था कि 'गाँव वालों को पता न लग जाये कि मैं ऐसा करता हूँ'। अकार्य करने से ही लज्जा आना श्रेष्ठ है। ह्री वास्तव में तो वही है। लेकिन कम-से-कम दूसरे को पता न लगे - इतनी लज्जा भी है तो बहुत बार बच जाते हो। जब लज्जा नहीं रहती तब कुलादि की मर्यादाओं का पालन छूटता जाता है और व्यक्ति धीरे-धीरे अनीति, अधर्म में प्रवृत्ति को स्वयं रोकने में असमर्थ हो जाता है। अधिकतर लोगों में यह भाव आ जाये तब समाज सर्वथा ह्री-रहित हो जाता है, लज्जा से रहित हो जाता है। एक महात्मा सिनेमा के टिकट की पंक्ति में खड़ा था, एक परिचित ने पहचान कर उसे चेताने के लिये प्रणाम किया, फिर भी महात्मा 'सिनेमा देखने जा रहा हूँ' इससे लज्जित न होकर बोला 'ये लोग हमें भी टिकट देने में देर करते हैं!' तो एक बार जब आदमी की ह्री चली जाती है 'हमको क्या-क्या नहीं करना है' यह विवेक चला जाता है, तो फिर उसका बचना बहुत कठिन हो जाता है।

'अचापलम्'। चपलता - बिना किसी प्रयोजन के क्रियाशीलता। नियम तो यह है कि सामान्य बुद्धि वाले को भी किसी प्रयोजन को सामने रखकर ही प्रवृत्ति करनी चाहिये। शरीर की प्रवृत्ति, इन्द्रियों की प्रवृत्ति, मन की प्रवृत्ति का हमेशा कोई प्रयोजन होना चाहिये। प्रयोजन न रहने पर भी जो इन्द्रियों का व्यवहार करते हैं वह चपलता है। कई लोग प्रयोजन-रहित शब्दों का प्रयोग करते हैं। पहले पहल उनसे बात करो तो वे कुछ कह कर कहेंगें, 'क्यों?' तुम सोचोग कुछ जवाब देवें। वे तो बिना रुके बात चलाते जायेंगे, फिर बोलेंगे 'क्यों?' तब तुमको पता लगता है कि इनका ''क्यों'' किसी अर्थ वाला नहीं है, केवल चपलता है। इसी प्रकार से शरीर के सभी अंगों के प्रति समझ लेना चाहिये। खाने में भी चपलता समझ लेनी चाहिये : शरीर को जो भूख है, या शरीर को जो आवश्यकता है, वह इसको खिलाना है, वह तो प्रयोजन है। परन्तु पेट भरा हुआ है, सामने कोई चाट आ गयी, तो लगता है 'क्या

करें! खाना ही है'। प्रयोजन नहीं है, भूख नहीं है, पेट भरा हुआ है, उसमें ऐसा कोई तत्त्व भी नहीं है जो खाना ज़रूरी हो, फिर भी खाते हैं, यह चपलता है। जिसे साधारणतः सब्ज़ी खाने को नहीं मिलती उसे किसी भोज आदि में यथेष्ट सब्ज़ी खाने का मौका मिलने पर वह पेट भरने के बाद भी खाये तो प्रयोजन समझ आता है कि शरीर की आवश्यकता पूरी कर रहा है। परन्तु हम जब भोजन के बाद चाट खाते हैं तो ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है। प्रयोजन के बिना किसी भी प्रकार के व्यापार में प्रवृत्त न होना अचपलता है।।१२।।

दैवी संपत्ति के बीस गुण गिना दिये। बाकी छह गुण गिनाते हैं –

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

प्रगल्भता, क्षमाशीलता, धैर्य, सफाई, किसी को मारने की अनिच्छा, स्वयं को अतिपूज्य न समझना – भावी कल्याण के उद्देश्य से पैदा हुए लोगों में (अभयादि) ये सब गुण होते हैं।

'तेजः'। तेज का मतलब है प्रगल्भता, कोई भी प्रश्न उपस्थित हो तो तुरन्त उसका जवाब देने की सामर्थ्य। दैवी सम्पत्ति का प्रकरण है इसलिये ऐसा भाव है अन्यथा, क्षत्रियों के प्रसंग में तेज का अर्थ होगा, दूसरा जिस अस्त्र का प्रयोग करे, उस अस्त्र को काटने की क्षमता होना। यहाँ ठीक उत्तर देने की सामर्थ्य होना तेज है। यह सामर्थ्य दो प्रकार से आती है। एक तो चित्त की एकाग्रता से; जब कोई आदमी बात कहता है, तब बड़े ध्यान से कान से भी सुनो और उसके मुखादि विकारों को भी साथ में ही देखो। क्योंकि प्रायः कई चीज़ें ऐसी होती हैं जो शब्द से प्रकट न होने पर भी मुख के भाव से प्रकट होती हैं। एकाग्र चित्त से, जो उसने कहा है उसके ऊपर सारा ध्यान केन्द्रित होगा, तो प्रायः प्रश्न का हल भी उसी के पेट में होता है! एकाग्र चित्त होने से वह समाधान समझ में आता है। परन्तु साथ में दूसरी बात यह ज़रूरी है कि तुमने बहुत मनन किया होवे, अर्थात् जो तुम्हारा विषय है उसके बारे में सम्भव जितने विरुद्ध पक्ष हैं वे भी तुमने विचार कर लिये हों। तभी प्रश्न का सही भाव जानकर उचित उत्तर स्फुरित होगा। चाहे जितना मनन करो लेकिन अगर सामने वाले के प्रश्न के ऊपर चित्त एकाग्र नहीं करोगे तो पहले प्रश्न का अभिप्राय ही नहीं समझोगे और फिर असम्बद्ध उत्तर दे दोगे। तुम्हारे वैदुष्य से, तर्कबल से प्रष्टा चुप तो हो सकता है पर तुम जो कहना चाहते हो, वह उसे हृदयंगम नहीं होगा, उसको जँचेगा नहीं, उसको वह ठीक नहीं मानेगा। दैवी सम्पत्ति के अन्दर जो तेज है, वह दूसरे को ठीक प्रकार के विचार में लगाने के लिये होता है न कि हठात् अभिभूत करने के लिये। तेज का मतलब यह नहीं है कि कोई कुछ पूछे तो हमें ज़रूर जवाब देना है! अगर लगे कि मेरे जवाब से सामने वाले को कोई ठीक दिशा मिलेगी और उसके मन में बात जँच कर ठीक तरह से सोचने लगेगा, तब तो जवाब देना है, और अगर पता है कि हम ऐसा जवाब नहीं दे सकते, तो चुप रहो। क्योंकि दूसरे को हराने की, या नीचा दिखने की प्रवृत्ति तो दैवी प्रवृत्ति नहीं

होती। अतः तेज का अर्थ है, जो भी प्रश्न करे उसका तुरन्त ऐसा उत्तर उपस्थित होना जो सामने वाले को हृदयंगम होवे अन्यथा चुप रह लेना चाहिये।

'क्षमा'। क्षमा के दो स्तर हैं : कोई हमें गाली देवे, मारपीट करे, तो उत्तम यह है कि हमारे अंदर उसके प्रति 'हम कोई प्रतिक्रिया करें' यह भाव ही न आवे। जैसे छोटा बालक दूध पीते हुए अकस्मात् अपने पैर को उछालता है, और माँ को ज़ोर से चोट लग जाती है। परन्तु माँ के मन में यह तो नहीं आता कि 'इसका पैर तोड़ कर फैंक देवें'। यह क्षमा का रूप है। इसी प्रकार यह समझने पर कि दूसरे ने जो मेरे ऊपर क्रोध या ताडन किया, वह अज्ञान के कारण किया, ऐसा करना उसके योग्य नहीं था परन्तु अज्ञान से वह इस बात को समझता नहीं था कि 'मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये', इसलिये उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया का भाव आता ही नहीं। कई बार बाहर से क्षमा न दीखने पर भी अन्दर से क्षमा होती है। दो महात्मा जा रहे थे, आपस में विचार कर रहे थे। विचार करते हुए 'हम कहाँ चल रहे हैं' इसका उनको ध्यान नहीं रहा। कोई खेत ताजा बोआ हुआ था, उसके ऊपर से निकल गये। किसान को गुस्सा आना ही था। उसने महात्मा को दो दण्डे जमा दिये कि 'देख कर नहीं चलते हो!' महात्मा चुप हो कर आगे चले गये। थोड़ा आगे निकले तब उनके साथी ने कहा 'अरे तुम क्या कर रहे हो! तुम्हारे करने लायक क्या यह काम है! यह तो बेचारा जानता नहीं है कि तुम किस स्थिति के आदमी हो। इसने तो अपने अज्ञान से तुमको मार दिया, परन्तु तुम्हारे जैसे ब्रह्मनिष्ठ को जो मारता है उसकी तो सात पीढ़ी बरबाद हो जाती है! इसने बेचारे ने अज्ञान से तुमको मार दिया। अतः तुम चल दिये तो यह बरबाद हो जायेगा। ऐसा नहीं करो।' तो वह वापस आया और किसान को चार-छह गाली दे दी, और फिर चल दिया। जब महात्माने प्रतिक्रिया कर दी तब आगे किसान को उसे मारने का फल होगा नहीं। कई बार बाहर से क्षमा नहीं है यह दीखने पर भी क्षमा होती है।

उत्तम पक्ष यही है कि कोई कुछ करे तो उसके प्रति प्रतिक्रिया का भाव न आवे। यदि प्रतिक्रिया आ जाती है तब उसको भगवान् ने पहले 'अक्रोध' से नियंत्रित करना कह दिया है। यदि प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है तो क्षमा नहीं है, परन्तु कम-से-कम क्रोध प्रकट न किया जाये, अक्रोध से उसको अंदर ही अंदर रोका जाये। जब तक शरीर से छूट नहीं जाते - छूटना चाहे ज्ञान से हो, चाहे मृत्यु से हो - तब तक प्रतिक्रिया की सम्भावना रहती है। अभ्यास करने से सामान्य छोटे-मोटे अपराध तो व्यक्ति क्षमा कर देता है, लेकिन जितनी अपनी सहन करने की शक्ति है उससे अधिक होने पर प्रतिक्रिया मन में आ जाती है। क्षमा नहीं रहे तो अक्रोध के द्वारा उसको अन्दर ही दबा देना चाहिये। क्षमा और अक्रोध कई बार एक जैसे ही लगते हैं, परन्तु इन दोनों में यह सूक्ष्म भेद है।

'धृति' धैर्य। जहाँ मनु ने सब लोगों के लिये कर्तव्य सामान्य धर्मों को गिनाया, वहाँ सबसे पहले 'धृति' को ही लिया है। मनु का तात्पर्य है कि जो धैर्यहीन व्यक्ति है, वह किसी भी धर्म का अभ्यास कर ही नहीं पायेगा क्योंकि धर्म सद्यः फल नहीं देता। इधर किया और

उधर फल दे देवे, ऐसा धर्म नहीं है। इसलिये, धर्म करने के बाद धैर्य से बैठे रहोगे, इस श्रद्धा के साथ कि धर्म अवश्य फल देगा, तब समय आने पर धर्म फल देगा। जिस प्रकार से खेती धैर्यहीन व्यक्ति नहीं कर सकता। तुमने बीज बो दिया, खाद दे दी, पानी दे दिया, फिर धैर्य रख कर देखते हो कि आगे खेती कैसी होती है। अन्यथा कहते हैं कि एक बार बन्दरों ने विचार किया कि 'सब खेती करते हैं, हम भी खेती करें'। बीज तो बो दिया, पानी भी दे दिया उसके बाद देखने लगे, कुछ हो भी रहा है कि नहीं! उन्होंने फिर उस बीज को निकाला, देखा कि कुछ नहीं हुआ, फिर डाल दिया; ऐसा करते रहे तो क्या कभी उस बीज को उगना है? जिस प्रकार से बीज बो कर शान्ति से, धैर्य से रहना पड़ता है, तभी खेती उगती है, इसी प्रकार धर्म का बीज बोकर शान्ति से रहना पड़ता है। धैर्यपूर्वक रहोगे तब वह फल देगा। अन्यथा सद्यः देखोगे कि फल नहीं हुआ तो कहोगे 'धर्म करना बेकार है, किसी काम का नहीं। मैंने इतना धर्म किया, क्या काम आया?' कोई नुकसान होते ही आदमी यह कहता है 'मैंने इतना धर्म किया, कुछ काम नहीं आया, सब बेकार गया।' तो धृति चूंकि सारे धर्मों का आधार है, इस लिये मनु ने तो इसे सर्वप्रथम गिना है।

धृति के कारण, शरीर इन्द्रियाँ मन - ये जब थक जाते हैं, अवसन्न हो जाते हैं, तब भी 'करना ही है' इस हिम्मत से आदमी लगा रहता है। इस हिम्मत का नाम धृति है, धैर्य है। जितने भी धर्म के कार्य हैं, वे तुम्हारे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि से, सामान्य की अपेक्षा अधिक श्रम की माँग करते हैं। धर्म सरलता से होने वाला काम नहीं है, इसलिये अवसन्नता जल्दी आ जाती है। कई बार लोग पूछेंगे, 'महाराज सोमवार का व्रत कर लेवें, सोलह सोमवार कर लेवें?' किसी को देखा होगा सोलह सोमवार करते हुए। उससे मनोकामना पूरी होती है। हम कहेंगे 'हाँ कर लो, अच्छा काम है।' 'कैसे किया जाय?' अभी और कुछ हमने नहीं कहा, बस इतना ही कहा कि 'दिनमें एक बार खाना है। एक सेर आटे के चार बराबर-बराबर लड्डू बनाना, एक लड्डू मन्दिर में छोड़ देना, एक लड्डू किसी ब्राह्मण को देना, एक लड्डू और भक्तों को बाँट देना और चौथा लड्डू खुद खा लेना, पूरा का पूरा।' तुरन्त कहेंगे, 'महाराज इतना कैसे खायेंगे? थोड़े से काम नहीं चलेगा?' धर्म का कोई भी कार्य होवे तो सर्वप्रथम आदमी यही सोचता है कि इसे बिना किये कैसे हो सकता है। जो अंतःकरण की वृत्ति यह कहती है कि मुझे करना ही है, वह धृति है। मनुष्य के अन्दर यह दृढ संकल्प होता है कि करना ही है, तो उससे कार्य हो ही जाता है। जिस में धृति नहीं है, वह जहाँ थोड़ी-सी तकलीफ आई, वहीं झट इधर-उधर होने लगता है। धृति के कारण ही तप, व्रत, इत्यादि में इन्द्रियाँदि के थकने पर भी हम लगे रह सकते हैं। इस प्रकार से धृति बड़ी आवश्यक है, अन्यथा किसी भी धर्म को करने में कठिनाई होती है।

विशेषकर वेदान्त विचार करने के मार्ग में जो जाने वाले हैं, उनको धृति की बहुत ज़्यादा ज़रूरत होती है। श्रवण-मनन करने में जो धृति वाला नहीं होगा वह नहीं लग पायेगा। श्रवण में बार-बार 'उपनिषदं आवर्तयेत्', आवर्तन करना होगा, उपक्रम-उपसंहार आदि के विचार

द्वारा बार–बार वेदान्त के प्रकरणों का तात्पर्य क्या है, यह निर्णय करना होगा। धृति–हीन व्यक्ति की पहली प्रतिक्रिया होती है, 'जैसा बड़ों ने कह दिया, वही तो तात्पर्य है, इसमें हमें करना क्या है?' जो श्रवण में आलसी होते हैं, उनका कहना यह होता है, कि बड़े–बड़े आचार्यों ने शास्त्र का तात्पर्य निर्णय तो कर ही दिया है, इसमें विचार क्या करना है! जैसे प्राणायाम कैसे करना चाहिये, यह प्राणायाम करने वाले शास्त्रों ने सब निर्णय कर दिया। तुम कहो कि 'हमें क्या करना है!' तो तुम्हारी ही हानि है क्योंकि तुम प्राणायम नहीं करोगे तो तुम्हारा प्राणायाम सिद्ध नहीं होगा। उन्होंने जो लिखा है वह बात तो सब ठीक है, हम यह नहीं कहते कि उन्होंने लिखा ग़लत है, लेकिन वह तुम्हारी सिद्धि तो नहीं होगी। इसी प्रकार से बार–बार उपक्रम आदि छह लिंगों के द्वारा उपनिषदों के तात्पर्य का निर्णय करो। एक बार नहीं, बार–बार करो; तुम्हारे ज्ञान का कारण श्रवण तभी बनेगा, जब तुम स्वयं बार–बार निर्णय करोगे। इसी प्रकार मनन है। जो धृति–पूर्वक रहेगा, वह श्रवण–मनन के साधन में लगा रहेगा, अन्यथा कहता है, 'सब शास्त्रों को देख लिया, लेकिन जानने से कुछ होता नहीं है, कुछ और घंटी–वंटी बजावें तब काम होगा।' प्रायः वेदान्त के साधकों में यह भावना आ जाती है कि श्रवण–मनन से काम नहीं होता, कुछ और करना पड़ता है। साधन ज्ञान का श्रवण–मनन ही है, कुछ और करके ज्ञान की सिद्धि कभी होगी नहीं। वैसे तो धृति, सभी धर्मों के लिये आवश्यक है, लेकिन परमात्म–मार्ग के पथिक के लिये तो धृति की बड़ी ज़रूरत है। सामान्यतः भी यह होता है कि जो जितना बड़ा फल देने वाला साधन हो उतना ही समय भी ज़्यादा लेता है। पान की दुकान लगाने, चला लेने और उससे कमा लेने में थोड़ा ही समय लगता है, चार–छह महीने में ही कमाई शुरू हो जाती है। बड़ा उद्योग लगाना हो तो तैयारी में ही सालों लगते हैं, काम प्रारम्भ होकर भी दो–तीन सालों के बाद नफा आने लगता है। अतः जो बड़े व्यापारी होते हैं, उनमें तो धृति होती है। अधीर अगर व्यापार करना शुरू करता है, उसमें जहाँ साल–दो साल नफा नहीं हुआ, तो सोचता है, 'इसको बेच डालें मुझे फला नहीं।' कई लोगों को हम जानते हैं जिन्होंने जीवन में पाँच–छह बार विभिन्न उपक्रम किये और छोड़े। ठीक इसी प्रकार से, जो स्वर्गादि फल देने वाले हैं, उन धर्मों की अपेक्षा अनन्त स्वर्गलोक को देने वाला जो वेदान्त शास्त्र है इसको और अधिक धृति की अपेक्षा है। भगवान् ने भी इसीलिये कहा कि बहुत जन्मों तक साधना करने के बाद, अन्तिम जन्म में जाकर ज्ञान के साधनों वाला होकर तब परमात्मा की प्राप्ति करता है।

'शौचम्' शुचि अर्थात् शुद्धि। शुद्धि दोनों प्रकर की होती है, बाह्य शुद्धि और आभ्यन्तर, शुद्धि। मन बुद्धि की शुद्धि आभ्यन्तर, आन्तरिक शौच है, और शरीरादि की जो शुद्धि है वह बाह्य शौच है। एक प्रश्न यहाँ उठता है कि जिस दैवी सम्पत्ति का वर्णन कर रहे हैं वह सारी अंतःकरण से सम्बन्धित है। अभय से लेकर जो गिनाये गये हैं वे सब आन्तरिक भाव हैं। अतः कुछ लोगों का यह कहना है कि यहाँ बाह्य शौच इष्ट नहीं है, आन्तरिक शुद्धि ही इष्ट है। इस प्रकार की भावना आधुनिक काल में बहुत ज़्यादा है कि अंदर की शुद्धि ही होनी

चाहिये। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने शौच का तात्पर्य दोनों प्रकार की शुद्धि से लिया है। उसके दो कारण हैं : प्रथम कारण है कि बाह्य शुद्धि के बिना आन्तरिक शुद्धि स्थिर होती नहीं। और दूसरा है, आन्तरिक शुद्धि के संस्कार वाले अंतःकरण में, बाह्य शुद्धि अवश्यम्भावी है, अवश्य ही होगी। क्योंकि अंदर की शुद्धि की बात करते हैं, तो अंतःकरण में रागादि से होने वाले संस्कारों को रोकना और शास्त्र में कहे हुए संस्कारों का आपादन करना - यह भी अंदर की शुद्धि का अंग है। अंतःकरण की जो कालिख है, अंतःकरण में जो दोष है, मलिनता है, वह यही है कि हमारी प्रवृत्ति प्राचीन काल के शास्त्रविरुद्ध संस्कारों से, शास्त्रविरुद्ध पदार्थों की तरफ होती है। राग-द्वेष के जो उचित कारण हैं उनके अनुसार प्रवृत्ति नहीं होती। औचित्य का निर्णय करने वाला शास्त्र ही है। औचित्य का निर्णय केवल प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। भारत में तो इसका प्रयत्न कम हुआ है, परन्तु योरप के अनेक दार्शनिकों ने बहुत विचार किया है कि राग-रहित अंतःकरण के अंदर कौन-से संस्कार होवें, इसका केवल प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान से निर्णय करें। परन्तु उन सब के सामने ऐसी समस्याएँ आयी हैं जिनका हल हो नहीं पाया। इसलिये अंततोगत्वा कुछ-न-कुछ चीज़ों को स्वतः सिद्ध मानने को बाध्य हो जाते हैं। जैसे उपकार करना, दया करना। क्यों दया करना, क्यों उपकार करना? इसका हल निकल नहीं सकता अतः इसको स्वतः सिद्ध मानते हैं। भारत में इस रास्ते इसलिये नहीं गये, कि हम लोगों ने पहले ही इस बात को समझा था कि ये सारे गुण शास्त्र-सिद्ध ही हैं। शास्त्र को न मानने पर स्वतः ये गुण सिद्ध नहीं हो सकते। अतः राग-द्वेष से रहित अंतःकरण होने में प्रधान कारण पड़ेगा कि प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रति शास्त्र-संस्कार ही कारण होवे। तब हम शास्त्र की आज्ञा से प्रत्यक्ष दृष्ट सुख का त्याग कर सकते हैं। शास्त्रानुकूल संस्कारों से अंतःकरण भरा हुआ है, तो उसमें अशास्त्रीय प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन रह नहीं जाता। इसीलये, बाह्य शुद्धि के बिना अंतः शुद्धि होती भी नहीं, और अंतः शुद्धि होने पर शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति स्वतः होगी ही। अतः शौच से दोनों प्रकार के शौच ग्राह्य हैं।

'अद्रोहः'। द्रोह का मतलब है, जो हमें अच्छा नहीं लगता है, उसका अनिष्ट होवे - यह इच्छा, उसके प्रति हिंसा की भावना। और जब उसका अनिष्ट होता है तब चित्त में प्रसन्नता होती है। प्रायः 'अनिष्ट हो' इस भावना से ही बचना कठिन होता है। दूसरे की हमने हिंसा तो नहीं की, लेकिन मन में यह रहता है कि इसका अनिष्ट हो। इस प्रकार की मन की प्रवृत्ति रुकना ही कठिन होता है। यथाकथंचित् मन की ऐसी प्रवृत्ति रुक भी जाये, तो उसके अनिष्ट होने पर 'अच्छा हुआ, उसको किये का फल मिला', यह जो मन में प्रसन्नता का भाव है, इसको रोकना और कठिन होता है। 'अद्रोह' से ये दोनों ही भाव हटाने हैं।

'नातिमानिता'। अपने अंदर अत्यधिक सम्मान की योग्यता न मान लेना। मुझ से अच्छा कैसे कोई हो सकता है - यह अतिमानिता है। जिस कार्य को हम नहीं कर पाते, उसके

बारे में यह भाव बना रहता है कि 'हम नहीं कर पाते तो कोई नहीं कर पायेगा'। पुराणादि में कही कई बातों पर लोगों का प्रश्न होता है कि 'ऐसा कैसे हो सकता है?' उस 'कैसे' का भाव है, कि हमें यह करना असम्भव लगता है तो दूसरा भी नहीं कर सकता। यह अतिमानिता का भाव है। इसिलये जहाँ सिद्धियों की बात आई है, वहाँ ब्रह्मसूत्रों में, भाष्यकार ने कहा है, कि व्यासादि में ऐसी सामर्थ्य थी, उसका हम साहस मात्र से निषेध नहीं कर सकते। वहाँ साहस का तात्पर्य अतिमानिता से ही है। 'व्यास जी भी ऐसा कर नहीं सकते' – यह अतिमानी के मन में बैठा होता है। श्रेष्ठता की भावना अपने बारे में भी होती है, और अपने अंदर रहने वाले गुण-क्रिया के प्रति भी होती है, जैसे, जो क्रिया मैंने की, इससे और अच्छी तरह से यह की ही नहीं जा सकती। अथवा, 'यह गुण जितना मेरे में है उससे ज़्यादा हो ही नहीं सकता'। इसको बढ़ाने के लिये वर्तमानकाल में अनेक प्रकार की प्रतियोगिताएँ रखी जाती हैं। सौन्दर्य की प्रतियोगिता में भाग लेने वाले को सोचना पड़ता है, कि 'मैं कैसे सबसे ज़्यादा सुन्दर लगूँ?' जिसे प्रथम पुरस्कार मिल जाये, उसे निश्चय हो जाता है कि 'मेरे जैसा सुन्दर और कौन हो सकता है!' इसी प्रकार की अन्य अनेक प्रतियोगिताएँ हैं, जिनसे मनुष्यों के अन्दर अतिमानिता की और वृद्धि होती है क्योंकि लगता है कि 'सब के द्वारा स्वीकार किया गया है, इसलिये मैं अवश्य ही श्रेष्ठ हूँ'। यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में आता है, कि असुरों ने विचार किया, 'हम किस को आहुति देवें?' अन्त में उन्होंने निर्णय किया, 'हमसे और अच्छा कौन है?' इसलिये उन्होंने खुद ही चीज़ों का भोग किया, खुद ही खाया। वहाँ श्रुति कहती है कि इस अतिमानिता के कारण वे परास्त हुए। केवल असुरों के अन्दर ही नहीं, वर्तमान काल में भी हवन इत्यादि का प्रसंग आने पर, लोग यह कहते हैं, कि, 'अरे! आग में क्या फूँकते हो! मनुष्यों के मुँह में फूँको, यही श्रेष्ठ है।' अर्थात् मनुष्य ही उन चीज़ों का सेवन करने के लिये उत्तम है, देवताओं को अर्पित करना व्यर्थ है। अतिमानी कहता है, आदमी ही श्रेष्ठ है, वही सब भोग करे। इस प्रकार के विचार असुरों ने किये, वैसे आज भी चल रहे हैं। इस प्रकार का अतिमान न होना दैवी संपत् है।

अभय से लेकर अनतिमानिता तक दैवी संपत् है। ''अभिजातस्य''। अभिजात; अभि अर्थात् सामने। जीवन में जिसका कल्याण होना हो, पुण्य कर्म फल देने वाले हों अर्थात् दैवी फलों की प्राप्ति को सामने रखकर जिसको पैदा किया गया है, वह अभिजात है। पैदा तो परमेश्वर करता है। हम कैसे वातावरण में उत्पन्न होते हैं, इसमें सिवाय परमेश्वर के और कोई निर्णय नहीं करता। तुमको देवमार्ग में जाना है, परमात्मा की तरफ जाना है तो तुम्हारे अंतःकरण में वही संस्कार प्रबल हो कर तुम उत्पन्न होते हो। अर्थात् इन लक्षणों को देखने से पता लगता है कि व्यक्ति दैवी मार्ग को प्राप्त करने वाला है, अर्थात् उसका भावी कल्याण है, भविष्य में उसका कल्याण होना है। अगर स्वभाव से ये गुण नहीं हैं, तो इनका अभ्यास करने से इनके संस्कार अंतःकरण में होंगे, तब अगले जन्म में ये संस्कार तुमको पहले की

अपेक्षा जल्दी होंगे, और मज़बूत प्रकट होंगे। इस प्रकार से जन्म-जन्मान्तर तक जब अच्छे संस्कार हो जाते हैं, तब मनुष्य वास्तविक विवेक वैराग्य को प्राप्त कर सकता है, इसलिये शास्त्रकार बार-बार कहते हैं कि अनेक जन्मों में जाकर साधना फल देती है। 'दैवीम्' अर्थात् देवताओं की जो सम्पद् है, उसको सामने रख कर जो उत्पन्न हुआ है उसके अन्दर क्योंकि परमात्म-ज्ञान का आविर्भाव होना है, अतः ये गुण सहज होते हैं। इन गुणों का आपादन करने पर ही संभव है कि हम परमात्म-प्राप्ति के योग्य बन सकते हैं। जिसमें सहज दैवी संपत् है उसी के लिये वेद कहता है, 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'। बचपन में ब्रह्मचर्य से ही परमात्म-मार्ग की तरफ जाये। आगे विकल्प किया है, कि ऐसा नहीं कर सके तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के इन गुणों का आपादन करे और इनका आपादन होने पर परमात्मप्राप्ति के मार्ग में निवृत्ति-परायण होकर लगे। इन संस्कारों से रहित व्यक्ति का निवृत्ति-मार्ग प्रशस्त होता नहीं, फलप्रद होता नहीं।

इस प्रकार भगवान् ने करने के लिये दैवी सम्पत्ति बतायी। इन धर्मों का अभ्यास कर्तव्य है।।३।।

अब आसुरी सम्पत् को बतलाते हैं जिसको छोड़ना है। पूर्व संस्कारों के कारण इस प्रकार की प्रवृत्ति आने पर व्यक्ति उसका रोध करे, रोके, कार्यरूप में परिणत न होने दे। संस्कारों का यह नियम है कि यदि तदनुकूल प्रवृत्ति करते हो तो संस्कार दृढ होता है और उस प्रवृत्ति को रोकते हो तो संस्कार कमज़ोर होता जाता है। बहुत से लोग कह देते हैं, कि 'भोग कर लो, तो उस भोग की इच्छा चली जायेगी', परन्तु मनु आदि ने स्पष्ट कहा है कि उपभोग करके कामनाओं की, पदार्थों की इच्छाओं की निवृत्ति नहीं की जा सकती बल्कि इच्छा बढ़ जाती है। दृष्टान्त भी उन्होंने दिया, कि जिस प्रकार आग में घी डालें तो आग जल कर ख़त्म नहीं हो जायेगी बल्कि भड़केगी, घी नहीं डालें तब तो ख़त्म हो भी जायेगी, बुझ जायेगी, पर डालते रहो तो बढ़ती रहेगी। इसी प्रकार, हर बार जब भोग करोगे तब उसका संस्कार फिर पड़ेगा। वह तुमको फिर प्रवृत्त करेगा। फिर उसको पूरा करोगे तो फिर संस्कार बनेगा। अतः किसी चीज़ के भोग से उसके संस्कारों की परम्परा ख़त्म नहीं होती, उल्टी मज़बूत होती है। और भोग नहीं करोगे तो आगे उसका संस्कार नहीं बनेगा। धीरे-धीरे नया संस्कार बनेगा कि यह नहीं करना है। तब वह भोग के संस्कार को रोक देगा। जो लोग कहते हैं, वे असल में इस बात को भूल जाते हैं कि कामना शरीर में भी है, अर्थात् शरीर में होने वाली इन्द्रियों में भी है, और मन बुद्धि में भी है। यदि तुम मन में संस्कारों को बनाते हो, अर्थात् इन्द्रियों से तो विषय-भोग न करो, पर मन से 'वह पदार्थ अच्छा है, इष्ट है' यह वृत्ति बनाते रहो, तब तो चूंकि तुम्हारे मन के अंदर संस्कार-वृद्धि होती रहेगी - अच्छा है, अच्छा है, अच्छा है, - अतः भोगेच्छा और प्रवृत्ति नष्ट नहीं होगी। इसलिये इन्द्रिय मन और बुद्धि, तीनों अधिष्ठानों के अन्दर से आसुरभावों को हटाना है। इन्द्रियों से भोग नहीं किया, तो संस्कार हटाने में उतना लाभ हो गया। मन के द्वारा वह अच्छा है

यह चिन्तन छोड़ने से मन का संस्कार सुधरेगा। यह चीज़ अच्छी नहीं है यह संस्कार काफी सालों तक बनाना पड़ेगा। बुद्धि से निश्चय करना पड़ेगा कि इन हेतुओं से बुरी ही है। इसीलिये, शास्त्र ग्रन्थों में अनेक जगह विषयों की निन्दा का प्रकरण आता है। उस प्रकरण का बार-बार विचार करने से उन पदार्थों में अनिष्ट भावना हो जाती है और साथ में बुद्धि का निश्चय होता है कि 'यह अनिष्ट है'। अन्यथा बुद्धि का निश्चय यह रहता है, कि अच्छी भी है, पर शास्त्र ने इसे बुरी बतलया है क्योंकि शास्त्र चाहता है कि हम इसको छोड़ें। ऐसा निश्चय रखकर वस्तु का आकर्षण समाप्त नहीं किया जा सकता। शास्त्रीय ही नहीं, लौकिक चीज़ों में भी 'फायदा भी है' जब तक लगता है तब तक उन्हें छोड़ नहीं पाते। अनेक उपकरणों के घातक प्रभाव प्रत्यक्षादिसिद्ध हैं, वैज्ञानिक स्वयं बताते हैं, फिर भी लोग उनके फायदे वाले अंशको याद कर उनका प्रयोग नहीं छोड़ते। अतः आसुरी संपत् की बुराई का *ही* निश्चय करना पड़ेगा, तभी वह छूटेगी। 'फायदा भी है' - जब तक यह भाव रहेगा, तब तक संस्कार हटेंगे नहीं। इसलिये आसुरी सम्पद् को, जो संस्कार हमें असुर-मार्ग में ले जाते हैं उन संस्कारों को बतलाते हैं, ताकि हमें निश्चित पता रहे कि ये हेय हैं, इन्हें छोड़ना ही है।

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।४।।

पार्थ! अपनी धार्मिकता का ख्यापन, गर्व, खुद को अतिपूज्य समझना, क्रोध, निष्ठुरता और अविवेक - ये गुण स्वभावतः उनमें होते हैं जो आसुर संपत्ति को (अर्थात् भावी अकल्याण को) अभिलक्षित कर पैदा हुए हैं।

'दम्भः'। दम्भ का मतलब है, - लोग मुझे धार्मिक समझें ऐसा आचरण करना। अर्थात् धर्म को इसलिये नहीं करना कि धर्म कर्तव्य है, बल्कि इसलिये करना कि इसके द्वारा समाज में प्रतिष्ठा होती है। प्रतिष्ठा तभी होगी जब सब लोगों को पता लगे कि हम धर्म कर रहे हैं। नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है कि अगर कोई देख रहा हो तो गायत्री का जप लम्बे समय तक चलता है, सन्ध्यावन्दन लम्बे समय तब चलता है। और अगर कोई देख नहीं रहा है, तो जप न्यून हो जाता है, संध्यावंदन भी झटपट ख़त्म हो जाता है। इसी को संस्कृत में कहते हैं 'धर्मध्वजिता' धर्म को झंडे की जगह रखना। जैसे झंडा दूर से ही दीख जाता है और पता लग जाता है कि ये अमुक देश के लोग हैं, वैसे दूर से दीखे ऐसा धर्म करना। धर्म कर्तव्यबुद्धि से करना, दूसरा भी कर्तव्य में प्रेरित हो इसलिये करना, दम्भ नहीं है। उसे कर्तव्य न मानकर, किसी को उचित मार्गदर्शन का प्रयास न करते हुए, ख्याति लाभ पूजा आदि के लिये धर्म का बाह्याडम्बर करना दम्भ है। शास्त्रों में अनेक चीज़ों के लिये इसलिये कहा कि इन्हें गुप्त रखना चाहिये। दान दाहिने हाथ से करे तो बायें हाथ को भी पता न चले - ऐसा पुराने ज़माने में लोग करते थे। ब्राह्मण एकादशी, पूर्णिमा आदि को यजमानों के घर जाते थे 'सीधा' अर्थात् घी, आटा आदि लेने जाते थे तो आटे आदि में छिपाकर मुहर,

रुपया आदि दे देते थे, ताकि सारा आटा मिल जायेगा तो पंडित को भी पता नहीं चलेगा कि मुहर किसने दी! सब यजमानों से लेने के बाद घर जाकर सारा सामान रख देगा, फिर कुछ समय बाद पता लगेगा इसमें सोने का सिक्का है, मुहर है, अतः 'किसने दी' यह नहीं पता लगेगा। इसी प्रकार से जप करते थे तो हाथ के ऊपर कपड़ा डाल कर कि किसी को पता न लगे कि जप कर रहे हैं। छिपाने में उद्देश्य होना चाहिये कि मेरा धर्म ध्वजा न बने। धर्म को छिपाना प्रमुख नहीं है, मुख्य मतलब यही है कि धर्म स्वभाव बन जाये, केवल मुखौटा बनकर न रह जाये, 'लोग मुझे धार्मिक समझें' इस उद्देश्य से न किया जाये। शिष्ट पुरुषों के आचार को देख कर धर्म का पता लगता है साधारण आदमियों को। हर एक आदमी शास्त्र तो पढ़ नहीं सकता, परन्तु शास्त्र के जानकार श्रद्धालु लोगों का आचरण देखकर आदमी वैसा ही आचरण करता है। यदि तुम्हारा धर्माचरण किसी को दीखेगा ही नहीं तो वह कैसे सीखेगा? अतः धर्माचरण को गुप्त रखने में तात्पर्य नहीं समझ लेना चाहिये। दम्भी वह है जो न कर पाने पर भी दिखाने का प्रयास करता है कि उसने किया। जिसमें दिखाने का भाव नहीं है, उसका धर्म प्रकट होने में कोई आसुरता नहीं है।

'दर्पः' जब मनुष्य को सफलता मिलती है, तब उस सफलता से वह फूल कर कुप्पा हो जाता है। वह फूलना, प्रफुल्लता, अति-उत्साह दर्प है। जब दर्प हो जाता है तब व्यक्ति धर्म का अतिक्रमण करता है। दर्प का कारण है, सफलता से फूल कर कुप्पा होना और दर्प का कार्य है धर्म का अतिक्रमण करना। प्राचीन काल के अन्दर कभी कोई अच्छा काम करता था तो कहता था 'मैंने क्या, भगवान् ने करा दिया'। कई लोग केवल मुख से कह देते थे, लेकिन इसके द्वारा शिक्षा यही दी जाती थी कि जब कोई कार्य सफल हो, तब परमात्मा ने यह सफलता दी है, इसलिये इस सफलता का श्रेय उनका है, तुम फूल के कुप्पा मत हो जाओ। वर्तमान में ठीक इससे उल्टा है, सफलता तो सब हम लोग करते हैं, और असफलता का कारण देवता लोग होते हैं, भगवान् होते हैं! इसिलये अगर अनाज की उपज बढ़ गयी तो हरित क्रान्ति किसने की? हमने की। और जब अकाल पड़ गया तब कहते हैं, 'यह दैवी कोप हो गया!' प्राचीन काल में ठीक इससे विपरीत दृष्टि थी। जब कोई असफलता होती थी, तो मन में आता था 'ज़रूर हमारा ही कोई दोष है इसलिये असफलता हुई है। यहीं कोई कर्म हमने ठीक से न किया हो, यह भी हो सकता है। पूर्व जन्म में हमारे किये हुए कर्म इस समय इस प्रयत्न को सफलता देने से रोक रहे हों, यह भी सम्भव है'। इस प्रकार से असफलतायें हम अपना जिम्मा मानते थे। और सफलता होने पर दर्प न होवे इसके लिये सफलता का श्रेय परमेश्वर को देते थे। दर्प का कारण तो है, सफलता से फूलकर कुप्पा होना। कोशिश करनी चाहिये कि सफलता से दर्प न हो। यदि कभी रोक न पाये और सफलता का अभिमान हो ही गया, तो कम-से-कम उस अभिमान का जो कार्य होता है, धर्म का अतिक्रमण, वह मत करो।

जैसे, धन की प्राप्ति हो गई। पहले तो 'धन की प्राप्ति परमेश्वर की कृपा से हुई' यह याद रखो ताकि दर्प न आवे। आ ही गया, 'मैंने बड़ी मेहनत की है, कमाया है', ऐसा भाव

बने, तो अधर्म में प्रवृत्त मत होवो। धन से अधर्मप्रवृत्ति जैसे – 'यह मेरा दुश्मन है, इसको मरवा दूँगा। मेरे पास धन है ही, पुलिस को भी खिला दूँगा, पण्डितों को बुलाकर इसके प्रायश्चित्त का हवन भी करा दूँगा, अपने को पाप से बचा लूँगा, और पुलिस को धन देकर लौकिक अनिष्ट को भी बचा लूँगा।' यों दर्प से धर्म का अतिक्रमण होता है।

जैसे धन का अभिमान होता है वैसे विद्या का भी अभिमान होता है। 'मैंने इतना अध्ययन किया है, कौन मेरे सामने टिक सकता है!' इस तरह विद्वान् अन्दर से फूल कर कुप्पा होते हैं। भगवान् की कृपा नहीं याद आती। धर्म का अतिक्रमण भी करते हैं, पता भी है कि बात ग़लत है, लेकिन 'सामने वाले को सिद्ध नहीं करने दूँगा, मैं अपनी बात सिद्ध कर ही दूँगा'। इस आग्रह से ग़लत बात का पक्ष लेते हैं, अपनी ग़लती मानते नहीं, समझकर भी उसे सही साबित करते हैं। यह सब विद्यादर्प से धर्मातिक्रमण है। अपने सम्बन्धी का भी दर्प होता है। 'मेरे चाचा मंत्री हैं। मैं अगर घर को दस पग भी आगे बढ़ा लूँगा तो अफसर क्या कर सकता है?' यों अपने सम्बन्धी का भी गर्व होता है। सुन्दरता का गर्व होता है, युवावस्था का गर्व होता है। रूप का भी गर्व होता है, अवस्था का भी गर्व होता है, कई चीज़ों का गर्व होता है, परन्तु सर्वत्र एक नियम रहेगा – सफलता से होता है और आगे अधर्म में प्रवृत्ति कराता है। यह दर्प आसुर प्रवृत्ति ही है।

अतिमान और क्रोध का वर्णन तीसरे और दूसरे श्लोक की व्याख्या में कर चुके हैं।

'पारुष्यमेव च'। पारुष्य – परुष भाषण करना, अर्थात् ऐसे शब्द का प्रयोग करना जिस से सामने वाले के ऊपर आक्षेप हो। काणे को काणा कहो तो भी कठोर होता है, उसको बुरा लगता है अथवा 'वाह, इनकी आँखें कितनी सुन्दर हैं' यह कहो तो भी उसे बुरा लगता है। दोनों प्रकार का पारुष्य यहाँ समझना। कठोर वचन शरीर के बारे में भी होता है, जैसे कुरूप आदमी को कुरूप कहना। जाति का उल्लेख आक्षेप के लिये करना भी पारुष्य है। इसी प्रकार से, मूर्ख को मूर्ख कहो तो अच्छा नहीं लगता है। और घुमाकर कहो 'वाह, इनकी विद्वत्ता का क्या कहना, बड़े विद्वान् हैं!' तब भी वह समझ लेता है कि मज़ाक कर रहे हैं। इस प्रकार के परुष वचन बोलना, दूसरे को आक्षेप-पूर्ण लगने वाले, मर्मभेदन करने वाले शब्दों का प्रयोग करना पारुष्यरूप आसुरी वृत्ति है।

'अज्ञानं'। अज्ञान से यहाँ मिथ्या ज्ञान विवक्षित है। आसुरी सम्पत्ति मूल अज्ञान का तो कार्य है। इसलिये यहाँ कार्य-अज्ञान को ही कह सकते हैं, मिथ्या ज्ञान ही कार्यरूप अज्ञान है। लोक में मिथ्या ज्ञान वाला भी अज्ञानी कहा जाता है यथार्थ ज्ञान को ज्ञान, और अयथार्थ ज्ञान को अज्ञान कहना लोकप्रसिद्ध है। सच और झूठ का विवेक करना जहाँ सम्भव नहीं होता है, वहीं मिथ्या ज्ञान होता है। 'यह साँप है' यह ज्ञान मिथ्या क्यों है? 'यह' शब्द का अर्थ है, जो सामने चीज़ है और 'साँप' शब्द का मतलब है, जो तुम्हारे संस्कार को निमित्त बना कर प्रतीत हो रहा है। 'यह' तुम्हारे संस्कारों से प्रतीत नहीं हो रहा। 'यह' तुमको आँख से दीख रहा है। सच 'यह' और झूठे साँप को अलग-अलग न पहचानकर एक

समझना भ्रम है। अतः मिथ्या प्रत्यय क्यों होता है? अविवेक से होता है।

मैं के द्वारा जो प्रत्यग्रूपता प्रकट होती है, वह तो ब्रह्म की ही है। परन्तु अविवेक के कारण, अहम् प्रत्यय से लेकर शरीर पर्यन्त वह अध्यस्त हो जाती है अतः 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं मूर्ख हूँ', इत्यादि की प्रतीति होती है। जैसे 'यह' पदार्थ रस्सी वास्तविक है, उसी प्रकार मैं पदार्थ, मैं शब्द का लक्ष्यार्थ परमात्मा सत्य है और साँप की तरह पाँचों कोश मिथ्या हैं। भ्रमवश दोनों एकमेक होकर 'मैं देवदत्त' आदि अनुभव 'यह सर्प' अनुभव की तरह हो रहा है। ब्रह्म किसका विषय है? ब्रह्म शास्त्र का विषय है, शास्त्र ही ब्रह्म में प्रमाण है। प्रमाण से पता लगता है कि प्रत्यग्रूपता ब्रह्म की है। जिस प्रकार से 'यह' -शब्द रस्सी को कहता है, पुरोवर्तिता रस्सी में है यह बात तुम्हारी आँख बतलाती है। अंधे व्यक्ति को तो इसका ज्ञान नहीं होगा! आँख से ही पता लगेगा। कोई कहे कि 'आँख के बिना तुम रूप सिद्ध करो। आँख की बात मत करो। बताओ सामने कौन-सा रूप है?' तो आँख के सिवाय और तो रूप में कोई प्रमाण है नहीं। अतः जो आँख को स्वीकार नहीं करेगा उसको रूप सिद्ध नहीं हो सकता। जो कहे, 'आँख से मुझे जो रंग दिखाई देता है, उस रंग को मैं नहीं मानता। सच्चा रंग कौन-सा है, बताओ?' उसे कभी रंग या रूप नहीं समझाया जा सकता। क्योंकि आँख के सिवाय और तो कोई तरीका नहीं है जिससे तुम बता सको कि किसी चीज़ का रंग क्या है। इसी प्रकार ब्रह्म में प्रमाण है वेद इसलिये, जो वेद को प्रमाण नहीं मानेगा उसको कभी भी ब्रह्म की सिद्धि हो नहीं सकती। आसुरी सम्पत्ति वाले के इतने ज़्यादा पाप हैं, जो उसको वेद में श्रद्धा करने नहीं देते, वेद में विश्वास करने नहीं देते। जिसे पीलिया रोग हो जाता है, उस व्यक्ति को सारा संसार पीला ही दीखता है। वह कहेगा 'यह पीला है', आप कहोगे, 'सफेद है'। ठीक इसी प्रकार से, जिसके अंतःकरण के अन्दर पाप-बाहुल्य है, उसको वेद प्रामाणिक नहीं दीखता, वेद में उसकी श्रद्धा होती नहीं। श्रुति ने स्पष्ट कह दिया, 'नावेदविन् मनुते तम् बृहन्तम्'। 'अवेदवित्' - जो वेदज्ञ नहीं है, वह उस ब्रह्म को नहीं जान सकता। पीलिया रोग आँख पर प्रभाव डाल रहा है, उसी प्रकार पाप अंतःकरण पर प्रभाव डाल रहा है। जब वेद प्रामाण्य नहीं माना, तब आगे धर्माधर्म का भी विवेक नहीं हो सकता क्योंकि जैसे ब्रह्म में वेद ही प्रमाण है, वैसे ही धर्म में भी वेद ही प्रमाण है। वेद प्रमाण को स्वीकार नहीं करने के कारण, धर्माधर्म का विवेक नहीं हो सकता। इसीलिये आगे (श्लो. १६) भगवान् कहेंगे कि 'आसुरी सम्पत्ति वाले को मैं बार-बार संसार के चक्र में ही डालता हूँ।' भगवान् जो बात कहते हैं वह स्वाभाविक हो जाती है। पाप के कारण उनको वेद में प्रामाण्य नहीं लगेगा, अतः उनको धर्माधर्म का ज्ञान होगा नहीं। अपनी कामनाओं से प्रवृत्त होकर वे पाप ही करेंगे, पाप फिर उनको नरक ही ले जायेगा। अन्यत्र शास्त्रों में कहा है कि ऐसे लोग भी घुणाक्षर न्याय से कभी किसी सत्संग के प्रभाव में आ जाते हैं तो धीरे-धीरे कल्याण भी पा लेते हैं।

एक चोर था। अपने पुत्र को भी उसने चोरी की ही शिक्षा दी। उसने उसे समझा दिया

'भूल कर भी कभी किसी महात्मा का सत्संग मत करना, उससे हमेशा दूर रहना, यह हम लोगों का कुलधर्म है।' वह कभी सत्संग करता ही नहीं था। एक बार कोई महात्मा सत्संग कर रहे थे, सुना रहे थे। लड़का उधर से कोई चोरी करने जा रहा था, बाबुलिये के काँटे का पेड़ वहाँ था, तो उसके पैर में काँटा गड़ गया। पैर में से काँटा निकालने के लिये बैठना पड़ गया उसको। जब वह पैर का काँटा निकाल रहा था, तब महात्मा बोल रहे थे कि 'देवता की कभी परछाई नहीं पड़ती, और देवता के पैर कभी ज़मीन का स्पर्श नहीं करते।' बस महात्मा ने इतना कहा, तब तक काँटा निकल गया, वह लड़का तुरन्त आगे चला गया। कुछ दिनों के बाद, कुछ लोगों ने उस चोर लड़के को बलि देने के लिये पकड़ लिया। उसको पकड़ कर ले आये मंदिर में बलि देने के लिये। वहाँ देवी जी की मूर्ति थी। उन्होंने एक ज़िन्दा मूर्ति वहाँ खड़ी कर रखी थी काली जी के कपड़े वगैरह सब पहना कर। उस लड़के ने देखा - सामने से काली जी आ रही है अपना फर्सा लेकर गला काटने के लिये। काली जी को देख रहा था तो - उसने देखा कि इसके पैर तो ज़मीन पर लग रहे हैं, और दूसरी तरफ देखा तो उसकी छाया भी पड़ रही है। सुना हुआ था ही कि, देवता के तो ज़मीन पर पैर नहीं पड़ते और छाया नहीं पड़ती। ये दोनों चीज़ें देखकर उसने निश्चिय किया कि 'ये दोनों चीज़ें हैं तो यह देवता नहीं हो सकती।' जो भयाक्रान्त स्थिति थी उसकी, वह चली गयी। बलि देने वाले लोग भी असावधान थे कि अब यह देवी जी को देखकर हतप्रभ हो ही गया है, भौंचक्का हो गया है, देवी जी आयेगी, सिर काट लेगी। जैसे ही इसके मन में आया कि 'यह देवी नहीं हो सकती है', तो उसने निर्णय किया आदमियों से लड़ सकता हूँ। जाकर बड़े ज़ोर से सर से धक्का मारा। जो काली जी बनी हई थी वह धड़ाम से गिर गयी। उसके हाथ से फर्सा निकाल लिया और झट मुख उधर कर के वे जो बलि देने वाले खड़े थे उनको मारने के लिये दौड़ा तो सब भाग गये। लड़का वहाँ से खूब ज़ोर से भागकर निकल आया, बच गया। उसने सोचा - 'जान बची। पर जान बची इसलिये कि उस दिन महात्मा के सत्संग की बात कान में पड़ गयी थी। पिताजी जो कहते हैं कि सत्संग बहुत बुरी चीज़ है वह ठीक नहीं, उसमें कोई अच्छी बात भी होती है'। इसको कहते हैं घुणाक्षर न्याय। न वह सुनने के लिये बैठा, न महात्मा जी ने उसको सुनाने के लिये कहा। पर शब्द का तो धर्म है कि सुना जाता है तो अर्थ ग्रहण करा देता है। यह निश्चय कर उसने अपने मन में कहा कि, पिताजी की बात सर्वथा ठीक नहीं है, सत्संग करना चाहिये, कोई मतलब की बात भी होती है। सत्संग करने लगा तो धीरे-धीरे उसका जीवन परिवर्तित हो गया।

ठीक इसी प्रकार से अनेक व्यक्ति होते हैं, उनको कोई शास्त्रों में श्रद्धा नहीं है, क्योंकि भयंकर पापों के कारण उनके चित्त में श्रद्धा होने की सम्भावना ही नहीं है। पर जब किसी कठिन परिस्थिति में पड़ते हैं और कोई उनसे कहता है कि, 'ऐसा-ऐसा हवन कर तो दो, तुम्हें ठीक फल होगा'। भयंकर परिस्थिति में पड़ा होने से हवन करवा लेते हैं। यदि इष्ट कार्य हो जाता है, तब मन में आता है, कि शास्त्र सर्वथा अप्रमाणिक नहीं होंगे, कोई बात

उनमें ठीक भी होगी। फिर जब शास्त्र में प्रवृत्ति करने लगते हैं तो धीरे-धीरे समझते हैं कि उसमें तो सभी बातें ठीक हैं। इस प्रकार घुणाक्षर न्याय से कभी-कभी उन पापों के रहते हुए भी शास्त्र की तरफ प्रवृत्ति हो जाती है। परन्तु चूंकि यह कम ही होता है अतः भगवान् का यह कहना ठीक ही है कि बार-बार आसुरी योनियों में ही जायेंगे, नियम तो यही है। कभी किसी कारण से सत्संग मिल गया तो बच जायेंगे, यह अपवाद है।

'आसुरी' अर्थात् असुरों की जो सम्पत्ति है वह आसुरी सम्पत्ति हुई। उस सम्पत्ति को सामने रख कर 'अभिजातस्य' जो पैदा हुए हैं उनके अन्दर ये सब दुर्गुण होते हैं। जिनका जीवन आसुरी भावों वाला होना है, वे जब पैदा होते हैं, तभी उनके अन्दर इन दोषों की प्रधानता रहती है। इस प्रकार से भगवान् ने बतलाया कि मनुष्य जन्म के समय से ही दैवी या आसुरी सम्पत्ति की तरफ प्रवृत्ति करेंगे। भगवान् पहले कह आये हैं कि अपनी-अपनी प्रकृति से ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। प्रकृति क्या है? भाष्य में स्पष्ट किया है कि पूर्व जन्मों में जो किया है, उसके जो संस्कार बने हैं, उसी का नाम प्रकृति है। जिसने पहले दैवी कार्य किये, वह पैदा भी होता है दैवी सम्पत्ति को लिये हुए और आगे जाता है दैवी सम्पत्ति की तरफ। पहले धर्म के कार्य करता है, अंत में मोक्ष की प्राप्ति करता है। और जो आसुरी सम्पत्ति को लिये पैदा होते हैं, वे आगे आसुरी सम्पत्ति के अनुरूप करते हैं, और बार-बार इस संसार के चक्र में पड़े ही रहते हैं। दैवी प्रकृति वालों की तरफ जाना चाहिये, आसुरी प्रकृति वालों से दूर रहना चाहिये, क्योंकि संग का असर आता है। जो साधक है, वह सुधारने के चक्कर में यदि असुरों के कुसंग में पड़ गया तो स्वयं अपना ही नुकसान कर लेगा। उनका फ़ायदा करना कठिन होगा, अपना नुकसान ज़रूर कर लेगा। अतः जब तक आत्मज्ञान दृढ नहीं हो जाता है तब तक असुरों की सम्पत्ति से बचना चाहिये। असुरों का असर देखा जाता है: कोई भला आदमी आजकल के व्यापारियों के साथ संग करे तो वे लोग बार-बार कहेंगे 'आज के ज़माने में पैसा देने से ही काम होता है, पैसा दिये बिना काम नहीं होता है।' वह सुनते-सुनते दो चार साल बाद वह भी कहने लगता है 'आजकल पैसा दिये बिना काम नहीं होता।' वह उसका अपना विचार नहीं है। वह तो उनको नहीं समझा सका कि काम अपने पुण्य-पाप का जब फल होता है तब होता है नहीं तो नहीं होता है। शास्त्र तो यह कहता है। यह बात उनको नहीं समझा पाता है। वे ही उसको समझा चुके हैं कि पैसा दिये बगैर काम नहीं होता। इसलिये दूसरे का लाभ तो कर नहीं पाओगे, अपना नुकसान ज़रूर कर लोगे। इसलिये भगवान् ने 'अभिजात' कहा। असुर तो अकल्याण के लिये पैदा हुए हैं। उनका संग करोगे तो अकल्याण के रास्ते ही चल पड़ोगे। अतः असुरों के संग से बचो यह आवश्यक है ।।४।।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।५।।

पाण्डव! यह मानी बात है कि दैवी सम्पत्ति संसारबंधन से छूटने के लिये आवश्यक है और आसुरी सम्पत्ति निश्चित रूप से बंधन का ही प्रयोजन सिद्ध करती है। तुम शोक मत करो क्योंकि तुम दैवी सम्पत्ति को अभिलक्षित कर पैदा हुए हो।

दैवी सम्पत् तुमको इस संसार बन्धन से छुड़ाएगी। और आसुरी सम्पद् – 'निबन्धाय।' 'निबन्ध', नियतबन्ध, उससे बंधन होना निश्चित है। आसुरी सम्पत्ति तुमको हमेशा बन्धन में ही डालेगी। सब से बड़ा बन्धन किसका है? शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त चीजों में बँधना ही सच्चा बन्धन है। बाकी जिनको तुम बन्धन समझते हो, वे तो कभी होंगे और कभी नहीं होंगे। पर शरीर से लेकर अहं पर्यन्त जो हैं ये बन्धन नियत हैं – होंगे ही। आुसरी सम्पत्ति वाले के ये बन्धन कभी नहीं छूट सकते। इसलिये कहा कि आसुरी सम्पत्ति निबन्धन के लिये ही है। 'मता' – अर्थात् यह मेरा निर्णय किया हुआ मत है, मैंने अच्छी तरह से संसार चक्र को देख कर यह मत निर्धारित किया है कि दैवी सम्पत्ति छुड़ाएगी ही, चाहे बीच में कितनी ही रुकावटें आ जायें। आसुरी सम्पत्ति बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में डालेगी ही, बीच में कितना ही अच्छा नज़र आ जाये।

अर्जुन के मन में स्वाभाविक प्रश्न हुआ कि 'मैं दैवी सम्पत् को अभिजात हूँ या आसुरी सम्पत् को?' ऐसा उसके मन में आया, यह जब भगवान् ने उसके चेहरे पर देखा तब कहा – 'मा शुचः'। तू शोक मत कर। तुझे चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि – 'दैवीं सम्पदम् अभिजातोसि'। तू तो दैवी सम्पद् प्राप्त करने के लिये, दैवी सम्पत् के संस्कारों से सम्पन्न होकर ही पैदा हुआ है। कई बार मनुष्य के मन में ऐसा सन्देह होता है, कह भी देते हैं लोग कि 'परमात्मा के रास्ते में चले हैं पर पता नहीं प्रारब्ध परमात्मा की प्राप्ति का है या नहीं? कहीं ऐसा नहीं हो जाये कि संसार के बढ़िया रसगुल्ले भी छोड़ दिये और उस आनन्दघन की प्राप्ति भी न हो।' क्योंकि उन्हें रसगुल्ले से अभी वैराग्य पूर्ण नहीं है। जिसको रसगुल्ले से वैराग्य पूर्ण हो गया है, उसके मन में तो सन्देह ही नहीं आता। जैसे अगर तुम्हारे पास सुअर की टट्टी है जिसे कोई छीने तो तुम्हें कष्ट नहीं होता। छीनने वाले ने तो उसको माल समझकर छीना, परन्तु तुमको उसमें इष्ट बुद्धि नहीं थी इसलिये उसके छिनने से तुम्हें कुछ दुःख नहीं है। इसी प्रकार जिसने समझ लिया है कि 'सारा संसार काकविष्ठा की तरह है। यह बोझ मेरे ऊपर पड़ा हुआ है प्रारब्ध के कारण। नहीं मिले तो अच्छा ही है।' उसे संसार छूटने से राहत ही मिलती है। वैराग्य की पूर्णता में तो मन में यह सन्देह ही नहीं उठता, पर जब वैराग्य पूर्ण नहीं होता है तब क्योंकि सांसारिक पदार्थ इष्ट लगते हैं इसलिये उन्हें छोड़ना भारी लगता है। यद्यपि असीम आनंद के लिये संसार के पदार्थ छोड़ते हैं तथापि पदार्थ स्वयं में उन्हें हेय नहीं लगते। इसलिये वह संदेह उठ जाता

है। कम-से-कम संसार छूट गया - इसकी उन्हें प्रसन्नता नहीं होती। अतः उनके मन में आता है कि संसार के पदार्थ भी न मिले, और कहीं परमात्ममार्ग में ब्रह्मानन्द भी न मिला, तो दोनों ही गये। वैराग्य की पूर्णता नहीं होती तो इस प्रकार की बात मन में आती है। ऐसे के लिये भगवान् संकेत दे रहे हैं कि यह सोचे- मैं इस मार्ग में चल पड़ा हूँ। दैवी गुणों के साथ अभिजात न होता तो इधर जाता ही नहीं। इधर जाने की प्रवृत्ति हुई, यही इस बात में प्रमाण है कि मैं 'दैवीम् अभिजात' हूँ। अतः अवश्य मोक्ष मिलेगा। अर्जुन ने भी भगवान् से कहा था, 'मुझे त्रिलोकी का राज्य भी मिल जाये तब भी मेरे में कोई शान्ति नहीं आने वाली' अतः वैराग्य की पूर्णता थी। अत एव भगवान् ने उसे दैवी संपत् वाला ही माना। संसार से वैराग्य, परमात्मा की तरफ जाने की प्रवृत्ति - ये दैवी संपत् के चिह्न हैं। अतः भगवान् ने कहा कि यह शंका मत कर कि तेरा कल्याण होगा या नहीं। तू दैवी संपत् से संपन्न है अतः अवश्य कल्याण का भागी बनेगा ।।५।।

मोक्षाधिकारी को जिन दोषों से बचना आवश्यक है उन्हें स्पष्ट करने के लिये भगवान् ने आगे कहा

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।६।।

पृथानंदन! इस संसार में मनुष्यों की दो ही तरह की सृष्टि है - एक दैव और दूसरी आसुर। दैव विस्तृत प्रकार से समझा चुका, अब मुझसे आसुर के बारे में सुनो।

'दो ही' से भगवान् ने स्पष्ट किया कि राक्षसी कोई तीसरी सम्पत्ति नहीं, आसुरी के ही अंतर्गत है। आठवें अध्याय में (श्लोक १२) भगवान् ने तामसी राक्षसी प्रकृति को राजसी आसुरी प्रकृति से अलग बताया था। अतः यहाँ उसके बारे में उल्लेख अपेक्षित लगता है। किंच लोक में प्रसिद्ध देव, असुर, राक्षस - तीनों मनुष्यों से पृथक् होते हैं। अतः मानुषी सम्पत्ति भी गिनायी जाये यह ज़रूरी लगता है। भगवान् ने दोनों प्रश्नों का जवाब 'द्वौ एव' से दे दिया। संपत्तियाँ दो ही हैं, प्राणी दो ही संपत्तियों वाले पैदा होते हैं। राक्षसों की आसुरी संपत् वालों में गिनती हो जाती है और मनुष्य भी इन्हीं दो में से किसी संपत्ति वाले ही पैदा होते हैं। अतिधन्य वेद ने कहा है, 'द्वया ह प्राजापत्याः'। ब्रह्मा ने जो सृष्टि की है, उसमें दो प्रकार के प्राणी हैं - देव और असुर। इसी के अनुसार भगवान् ने दो विभाग किये। यहाँ मनुष्य इत्यादि योनियों को लेकर के भेद नहीं कह रहे हैं। 'अस्मिन् लोके' कह रहे हैं इसलिये मनुष्य लोक स्वभावतः प्राप्त है। मनुष्य की विशेषता यही है, कि यहीं से मनुष्य पशु योनियों को जाता है और यहीं से मनुष्य देव योनियों को जाता है। मनुष्य शरीर कर्मभूमि है। यहाँ करते हो, बाकी जितना भूतसर्ग है, सब भोग-योनियाँ हैं। वहाँ भोग होता है, नया कर्म नहीं होता। इस लोक में, अर्थात् मनुष्य लोक में, 'भूतसर्गौ द्वौ' भूतों की जो सृष्टि है, प्राणियों की जो सृष्टि है, वह दो प्रकार की ही है। मनुष्य लोक में जो भी उत्पन्न होगा, वह

या दैवी सम्पद् के लिये या आसुरी सम्पद् के लिये। दैवी सम्पद् के लिये पैदा हुआ आगे ऐसे कार्य करेगा जिससे उसे देव-योनियों की प्राप्ति होवे; आसुरी सम्पद् से युक्त जो पैदा होगा वह ऐसे कार्य करेगा कि पशु पक्षी इत्यादि योनियों में जाये। यहीं जाने की तैयारी होती है।

कौन-कौन से भूतसर्ग हैं? नाम ले दिया – 'दैव, आसुर एव च'। एक दैव और दूसरा आसुर, दो को ही सामने रखकर सारी सृष्टि होती है। इनमें से 'दैवो विस्तरशः प्रोक्तः'। दैव लोगों का क्या स्वरूप है, यह तो विस्तार से पहले काफी बतलाया है; दूसरे अध्याय में बतलाया, चौथे अध्याय में बतलाया, इसके पहले वाले अध्याय में बतलाया, सातवें में बतलाया, नौवें में बतलाया, बारहवें में बतलाया। दैवी सम्पद् के अन्दर जो अभिजात है उनका तो हमने विस्तार कर दिया। यहाँ भी काफी बतला दिया, अमानित्व से लेकर; परन्तु आसुर हमने विस्तार से नहीं कहा। बस चौथे श्लोक में जो कहना था वह कहा है। इसके पहले भी कोई खास नहीं आया। इसलिये आसुर भाग को अब हम विस्तार से बताने जा रहे हैं। यह नहीं समझ लेना कि इन आसुर भावों को कर्तव्य बता रहे हैं! इनको छोड़ना है यह बतलाने जा रहे हैं। परिवर्जन के लिये इन्हें विस्तार से बता रहे हैं, करने के लिये नहीं। यहाँ से लेकर और अध्याय की समाप्ति तक, आसुरी सम्पत्ति का वर्णन है।

दो तरह से गुणों को बतलाया जा सकता है : एक तो गुण को गुण-रूप से, और दूसरा गुण जिस गुणी में है उस गुणी के रूप से। यदि गुणरूप से कहते हैं, तो उसका स्वयं में ही अनुभव करना पड़ेगा। अंतःकरण में वह गुण आये तभी उसका अपरोक्ष होगा। उसे सही तरह समझने के लिये अंतःकरण में उस गुण को लाना पड़ेगा क्योंकि गुण को अंतःकरण में ही देखा जा सकता है। जब तक अंतःकरण में उस गुण को लावें नहीं तब तक उसका हमें साक्षात् अनुभव हो नहीं सकता। किन्तु आसुरी गुणों को अंतःकरण में लाने से हमारे अन्दर ग़लत संस्कार ही आयेंगे! नियम बतलाते हैं कि 'प्रक्षालनाद् हि पंकस्य दूराद् अस्पर्शनं वरम्' पहले कीचड़ में जाओ, पैर फँसाओ तब पता लगेगा कि कीचड़ में पैर फँसाने से ऐसा होता है। तब फिर उस कीचड़ को धोओ, पैर साफ करने के लिये। इससे अच्छा यही है कि कीचड़ के पास जाओ ही नहीं। आजकल के लोगों को यह समझ में जल्दी नहीं आता! आजकल लोगों की प्रवृत्ति है कि बुरा काम करके देखो, तब उसकी बुराई का पता लगेगा, तब उसको छोड़ो, तो छोड़ना पक्का होता है। परन्तु शास्त्रकारों का कहना है कि कीचड़ को नहीं छूना ही बेहतर है। आसुरी गुणों का यदि गुणरूप से वर्णन करते तो उनको समझने के लिये अंतःकरण में आसुरी गुण लाने पड़ते तब पता लगता कि वे कैसे हैं, फिर उनका परिवर्जन करते। इससे तो आसुरी दुर्गणों को न जानना ही ठीक है। इस समस्या का हल भगवान् ने निकाला : कीचड़ में तुम पैर मत फँसाओ। पर जिसका पैर फँसा हुआ है उसको देखो कि वह उससे कैसा परेशान है। इससे भी कीचड़ की परेशानी का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायेगा। गुण वाले का यदि वर्णन करते हैं, कि 'आसुरी गुण वाला आदमी ऐसा होता है'; तो आस-पास में आसुरी व्यक्तियों को देखकर पता चल जाता है और फिर

हम वैसा आचरण नहीं करते। इसलिये भगवान्, बजाय आसुरी गुणों को बतलाने के, आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्यों का वर्णन करते हैं जिनको तुम बाह्य प्रत्यक्ष से देख सकते हो, और फिर उन दुर्गुणों का परिवर्जन भी कर सकते हो। समझने के लिये भी उन्हें अपने अन्दर लाने की ज़रूरत नहीं है। यह भगवान् ने तरीका निकाला ।।६।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

असुर जन कर्तव्य-अकर्तव्य नहीं समझते; शौच, सदाचार और सत्य उनमें नहीं होते।

''प्रवृत्ति''। प्रवृत्ति अर्थात् विशेष कर के प्रयत्नपूर्वक जिस तरफ जाया जाता है। वृत्ति मायने बरताव, व्यवहार। प्रकर्ष से किसी व्यवहार की तरफ जाना प्रवृत्ति है। और किसी व्यवहार से दूर होना निवृत्ति है। जिसको हम करने जा रहे हैं, वह व्यवहार अच्छा है या बुरा है इस बात को प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जानने का कोई तरीका नहीं। दृष्ट फल देख कर के यदि मानो कि इसका फल अच्छा दीखता है तो यह अच्छा कार्य है, तो प्रायः उल्टा ज्ञान होगा। अधिकतर लोगों को देखोगे कि घूस खाकर बड़े आदमी होते हैं। चोरी करके बड़े आदमी बनते हैं। डाके डाल कर बड़े आदमी बनते हैं। यह देखकर निर्णय कर लोगे कि ये अच्छा फल देते हुए देखे जाते हैं अतः अच्छे कार्य हैं। असुरों के निर्णय का यही तरीका होता है। जैसे, शास्त्र कहता है कि उपनयन करके वेदाध्ययन करे। परन्तु देखते हैं कि जो डाक्टर इंजीनियर इत्यादि बनते हैं, उनको जैसे अधिक धन की प्राप्ति होती है, ऐसे वेद पढ़े हुओं को नहीं होती। इसलिये जो दृष्ट फल देखते हैं वे उन विद्याओं में ही प्रवृत्ति करते हैं, वेद विद्या कि तरफ नहीं जाते। यह आसुर नीति है।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ वह वृत्ति है जो सचमुच में पुरुष के लिये फायदे की होवे। पुरुष अर्थात् - क्षेत्र को जानते हुए, क्षेत्र में रहने वाला। वह व्यर्थ ही क्षेत्र के सुख-दुःखों से सुखी-दुःखी होता है। जितने दृष्ट फल हमें देखने में आते हैं, सब क्षेत्र को ही प्राप्त होंगे। उनसे पुरुष को कुछ मिलेगा नहीं। किन्तु आसुर यह नहीं समझता कि क्षेत्र के धर्मों से मैं अस्पृश्य रहता हूँ, क्षेत्र के धर्मों से मेरा कोई लेना देना नहीं। आसुरी व्यवहार पुरुष के लिये अर्थ नहीं है, पुरुष का कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध करेगा। उससे क्षेत्र को लाभ नहीं होता - यह हम नहीं कह रहे हैं। परन्तु क्षेत्र के लाभ से पुरुष का कोई लाभ नहीं है। पुरुषार्थ को बतलाने वाला तो वेद ही है। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान देने में सिवाय वेद के और कोई समर्थ नहीं है। वेद भी कहता है, यहाँ गीता में भगवान् भी कह आये हैं कि सारे वेदों के द्वारा 'अहम्' अर्थात् पुरुष ही जाना जाता है। पुरुषार्थ का साधन बतलाने वाला वेद ही है। परन्तु जो आसुरी प्रवृत्ति वाले होंगे वे उसमें कभी प्रवृत्त नहीं होंगे क्योंकि वे कहते हैं कि क्षेत्र को जिससे फल न मिले वह व्यवहार व्यर्थ है! वर्तमान में आसुरी प्रवृत्ति की अधिकता होने से सभी की यही दृष्टि है।

आसुर जन प्रवृत्ति को समझते ही नहीं हैं। प्रवृत्ति कराने वाले विधिवाक्य हैं। वेद ने कहा- 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आत्मा ही देखने के योग्य है। परन्तु आसुरी लोगों को ऐसे वेदवाक्य प्रवृत्त नहीं कर सकते। अर्थात् वेद का वाक्य, विधिवाक्य सुनने पर भी वे इसका वास्तविक तात्पर्य समझने में असमर्थ हैं, उनको लगता है - यह व्यर्थ बात है। ठीक इसी प्रकार से - 'निवृत्तिम् आसुरा जना न विदुः'। निवृत्ति - जिस व्यवहार से अपना, पुरुष का, अनर्थ होता है, उस अनर्थ के कार्य से दूर हटना निवृत्ति है। वेद ही ऐसे कार्यों को भी कहेगा - 'मा हिंस्यात्' - किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। हिंसा से निवृत्ति करनी चाहिये। किन्तु यह वाक्य असुरों को निवृत्त नहीं कर सकता। वे कहते हैं, 'इसके बिना काम चलता नहीं संसार में।' हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जिसको शास्त्र छोड़ने योग्य बताता है, उस सब को असुर करने लायक ही मानते हैं और स्वयं करते भी हैं। पुरुषार्थ का जो विरोधी है उसे वेद बतलाता है निषेध-वाक्यों के द्वारा परन्तु निषेध-वाक्यों से 'न विदुः', असुरों को समझ में नहीं आता। बहुत लोग कहते हैं, 'किसी ज़माने में रहा होगा बुरा, अब तो नहीं है!' वेद तो चीज़ों को काल-परिच्छेद से शून्य रहकर बतलाता है पर असुरों को समझ में कभी आता ही नहीं। जब वेद-वाक्यों से किसी में प्रवृत्ति नहीं होते देखो या निषेधों से निवृत्ति न देखो तो समझ लो कि वह असुर है और सावधान रहो कि वैसा तुम्हें नहीं बनना है। इस प्रकार तुम्हें प्रवृत्ति-वाक्यों को न समझना या निवृत्ति-वाक्यों को न समझना इसकी आवश्यकता नहीं हुई। इसलिये भगवान् ने कहा 'जना न विदुरासुराः' उन्हें प्रत्यक्ष करके बतला दिया।

अथवा, 'प्रकर्षेण वृत्तिः प्रवृत्तिः'। 'सारा संसार परमात्मा से कैसे उत्पन्न हुआ? इस सारे संसार की प्रवृत्ति किसलिये और क्यों होती है?' - ये बातें असुर लोग नहीं जानते इसलिये कहते हैं कि यह दुनिया तो हमेशा से ऐसी ही चली आयी है! संसार परमात्मा ने उत्पन्न किया, किसी प्रयोजन से उत्पन्न किया। प्रयोजन कौन-सा है, उत्पन्न करने का तरीका क्या है? - ये सब चीज़ें वे कभी अपने विचार का विषय बनाते ही नहीं। इन सब चीज़ों को समझते हैं, कि कौए के दाँत गिनने की तरह बेकार के काम हैं! क्योंकि इनसे कोई धन तो कमाया नहीं जायेगा! इसी प्रकार संसार प्रलयकाल में कैसे लीन होता है? इस का वे विचार नहीं करते। सामान्यतः यह माया में लीन होता है, परन्तु यदि इस संसार को ब्रह्म में लीन कर सकें, तो क्या विशेषता होगी - इस तरफ असुरों की दृष्टि नहीं जाती। अज्ञान के द्वारा माया में लीन होता है फिर उत्पन्न होने के लिये। ज्ञान के द्वारा, ब्रह्म में निवृत्त होता है तो फिर कभी प्रकट होता नहीं। पर ऐसा मोक्ष असुरों को नहीं जँचता। रोज़ रात में जब हम सोते हैं तब हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन सब लीन हो जाते हैं, कुछ नहीं रहता है। गहरी नींद में कुछ नहीं रहता। परन्तु जगने पर फिर उसमें ने निकल आता है। उठते हैं, तो सब वैसे का वैसा सामने आ जाता है। लीन तो हुआ, पर ऐसा लीन हुआ कि फिर उत्पन्न होना पड़ता है। ऐसा लय होना कुछ समय तक दुःख से छुड़ा सकता है, हमेशा के

लिये उपाय नहीं है। कई जने दुःख भूलने के लिये नशा करते हैं। कैसा नशा करना चाहिये? वे कहते हैं – ''घर के जानें मर गया, आप रहे आनंद।'' इतना नशा करो कि घर के लोग समझें तुम मर ही गये जबकि तुम आनंद में रहो। जैसे खुद सोने वाला आनन्द में है, लेकिन दूसरों के लिये तो मरे हुए जैसा ही है, ऐसे ही आदमी नशे में पड़ा रहता है और कुछ भी नहीं करता। नशे में ऐसा आनन्द आता है, परन्तु नशा ख़त्म होने के बाद, फिर वैसा का वैसा संसार सामने आ जाता है। इसी प्रकार से लोग मोह की मदिरा पी कर सोचते हैं बड़ा आनन्द आ रहा है, परन्तु जैसे ही मोह की निद्रा खुलती है वैसे ही कष्ट पुनः मौज़ूद पाते हैं। उन्माद में लगता है 'हमारे पास करोड़ों रुपया है, बड़े सुख से हैं। मेरा कोई क्या कर सकता है?' अकस्मात् धन उड़ जाता है! निद्रा खुलती है पता चलता है – अब मैं करोड़पति नहीं रहा। जैसे ही निद्रा खुल जाती है, वैसे ही फिर सारे के सारे दुःख, वैसे ही उपस्थित हो जाते हैं। सुषुप्ति, नशा, मोह का उन्माद – सब प्रलय की तरह है। कारण माया है, उसी में दुःखादि लीन होते हैं इसलिये समय आने पर फिर उससे प्रकट हो जाते हैं। यदि निद्रा में जाकर के आदमी को उठना न पड़ता, तब तो निद्रा लेना फ़ायदे की चीज़ थी। पर यह हो नहीं सकता। इसलिये अतिधन्य वेद ने कहा कि तुम्हारा जो आनन्द स्वरूप है, उस में स्थित होकर ही दुःख से अतीत बनो। अपने स्वरूप में स्थित होने के बाद, भयंकर से भयंकर दुःख भी तुम्हें कुछ विचलित नहीं करता। उस स्वरूपस्थिति के साधन वेद बतलाता है कि क्या-क्या परित्याग करना है, किस-किस से निवृत्ति करनी है। प्रवृत्ति – संसार कैसे उत्पन्न होता है? और निवृत्ति – कैसे इसका प्रलय होता है? कैसे इसकी ऐसी निवृत्ति होती है कि फिर कभी आता नहीं। इन दोनों बातों को असुर लोग नहीं जानते। वे तो यही जानते हैं कि मर के सुखी हुआ जाता है। आसुरी लोगों के अंदर यह बुद्धि होती है कि, एक बार मर जायेंगे तो सब दुःख मिट जायेंगे। कई बार लोग पूछते हैं कि आज कल इतनी आत्महत्याएँ क्यों हो रही हैं? आत्महत्या हमेशा आसुरी लोग करते हैं, क्योंकि समझते हैं कि शरीर चला गया तो फिर सारा दुःख गया। उन्होंने प्रवृत्ति का विचार तो किया नहीं है। कर्म-भोगों के कारण हम शरीर में आये हैं, कर्म-भोग के रहते हुए शरीर से आगे जाकर के भी कर्म-भोग तो वैसे के वैसे करने हैं – इस बात को जानते नहीं हैं। न सृष्टि क्यों और कैसे होती है, इसको जानते हैं, न सृष्टि प्रलय में कैसे निवृत्त होती है इसको जानते हैं। और न कैसे यह ज्ञान से सर्वथा निवृत्त होती है, इसको जानते हैं।

इतना ही नहीं, 'शौचं न विद्यते'। उनमें शौच नहीं होता। सारे दैवी गुणों का असुरों में अभाव होता है, उनके विरोधी दोष होते हैं। शौच दैवी संपत्ति का गुण है अतः वह असुरों में नहीं रहता। शौच क्या है, इसको शास्त्र से जानते हैं। बाह्य शौच – बाहर की पवित्रता; अन्तः शौच – अन्तःकरण में राग-द्वेषादि का न होना; ये द्विविध शौच भगवान् पहले कह आये हैं। असुरों में दोनों शौच नहीं होते हैं। सफाई अलग चीज़ है, और पवित्रता अलग चीज़ है। बहुत सी चीज़ें साफ तो करेंगी पर पवित्र नहीं करेंगी। आजकल प्रायः सफाई वाला

शौच तो लोग समझते हैं, पर पवित्रता वाला शौच तो शास्त्र से ही पता लगता है। तुम रगड़-रगड़ कर अच्छी तरह चाहे सूर्य उदय होने के बाद नहाओ, चाहे सवेरे चार बजे उठ कर नहाओ, सफाई तो एक जैसी होगी। पर प्रातःकाल उठ कर नहाने से जो पवित्रता आयेगी वह बाद में नहाकर नहीं आयेगी। इसी तरह से गंगा में स्नान करके जो पवित्रता आयेगी वह नहाने घर में नलके से नहा कर नहीं आयेगी। हो सकता है कई बार गंगा में स्नान करके उतनी सफाई न आवे जितनी सफाई घर में नलके के पानी से नहा करके आ जाये। ऐसा भी होता है। पहले की तरह, गंगा यमुना आदि को कोई इस दृष्टि से तो मानता नहीं कि 'ये हमारी माँ हैं'। जो शास्त्रीय लोग नहीं हैं उनको तो सूर्य आग का गोला लगता है, और गंगा जी पानी की धारा लगती है। इसलिये उसमें थूकेंगे भी, और शहर वाले सारा का सारा टट्टी पेशाब उसी में डालेंगे। जहाँ इस प्रकार से हो रहा है, वहाँ नहाने जाओगे, तो उतनी सफाई नहीं आयेगी जितनी नलके के साफ पानी से आ जायेगी, परन्तु पवित्रता, शुचि तो गंगा के स्नान से जो आयेगी वह इस पानी से नहीं आयेगी। यह ठीक है, कि शुचि में सफाई भी एक अंश है, लेकिन सफाई ही शुचि हो यह नियम नहीं है। शौच का पता शास्त्र से ही लगता है। आजकल के लोगों में सफाई तो दीखेगी, परन्तु पवित्रता नहीं दीखेगी क्योंकि आसुरी जन हैं इसलिये।

'नापि चाचारः'। 'आचार' को दैवी गुणों के अंदर भगवान् ने अलग से गिना नहीं है, तात्पर्य से कह दिया था। 'आचारः प्रथमो धर्मः'। धर्म का विचार करने पर, सबसे पहला जो धर्म है वह आचार कहा जाता है। आचार क्या है, इसे समझने के लिये बड़ा सूक्ष्म विचार करना पड़ता है। मनु ने जहाँ धर्म का विचार किया है वहाँ कहा है - 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' इन चार प्रकारों से धर्म का ज्ञान बताया है। पहला तो है जो बात श्रुति कहती है, वेद में जो आया है। वेद हम सनातनियों के लिये परम प्रमाण है - 'धर्मे प्रमीयमाणे तु प्रमाणं परमं श्रुतिः'। मनु कहते हैं कि धर्म की प्रमा करने के लिये, यदि धर्म का यथार्थ ज्ञान चाहते हो तो उसके लिये जो प्रमाण है, यथार्थ ज्ञान देने वाला है, वह वेद ही है। इसलिये श्रुतिविरुद्ध कुछ भी होगा तो हम लोगों को स्वीकार्य नहीं है। दूसरा प्रमाण स्मृति है - जिन ऋषियों ने धर्म को यथार्थ समझा है, उन्होंने जैसा समझा है वैसा जो वर्णन किया है उसको स्मृति कहते हैं। उन्होंने वेद को समझ कर के ही स्मृति लिखी है। उनकी समझ हमसे बहुत श्रेष्ठ थी। चूंकि उन्होंने वेदों को भली प्रकार से समझा था, अतः उनकी समझ ग़लत नहीं होगी यह मानकर जहाँ तक हो सकता है वहाँ तक श्रुति-स्मृति में परस्पर विरोध जल्दी नहीं देखा करते। परन्तु यदि कोई प्रकट विरोध मिले जिसका परिहार न हो तो उस विषय में माना जायेगा कि श्रुति ही प्रमाण है। अतः धर्म को समझने के लिये परम प्रमाण तो हो गया वेद। वेद को जिन लोगों ने भली प्रकार से समझ कर जीवन में निर्वाह किया है, उन्होंने उसको जैसा स्मृतियों में समझाया है वह भी प्रमाण है। हम लोगों को स्मृतियों की ज़रूरत इस लिये पड़ती है क्योंकि वेद बहुत लम्बा-चौड़ा है और उसके अंदर

विषयवार चीज़ें नहीं लिखी। इसलिये आगे पीछे पूरा याद रहे तभी उसको ठीक से समझ सकते हो। स्मृतियों के अंदर विषयवार चीज़ों को लिखा। इसलिये हम लोगों को समझने में सरल होता है परन्तु स्मृतियों में है सब वर्णन श्रुति के आधार पर। इसलिये दूसरा प्रमाण स्मृति को गिना। श्रुति व स्मृति ये दोनों ऐसी हैं कि उन ग्रन्थों को सामने रख कर आदमी समझ सकता है, समझा सकता है, विचार कर सकता है।

परन्तु केवल इतने मात्र में धर्म पूर्णतः ज्ञात नहीं होता। क्योंकि कितना ही स्मृतिकारों ने लिखा, फिर भी कई चीज़ें नहीं लिखी हुई रह जाती हैं क्योंकि हर चीज को विस्तार से बताया ही नहीं जा सकता। जिस काल में जिन चीज़ों को प्रायः स्वीकार किया ही जाता है, उसके बारे में मन में भी नहीं आता कि इसके बारे में भी कभी गड़बड़ होगा। परन्तु कालान्तर में वे बातें भी शंकास्पद हो जाती हैं। जैसे हम लोगों का ही अनुभव है; आज से साठ साल पहले, कभी सोचा ही नहीं था कि कोई हिंदू मुसलमान-ईसाई से ब्याह करके औरत घर में ले आयेगा और घर में सब लोग उसके हाथ का खायेंगे, पीयेंगे, सब व्यवहार करेंगे। तब कोई अगर ब्याह करता था, तो उसे घर से बाहर रखा जाता था, कोई उसके हाथ का खाता पीता नहीं था। एक लड़का अण्डा खाने लगा था तो उसके पिता ने उसे घर से बाहर किसी मकान में रख दिया और कभी यदि उसे घर जाना ही पड़े तो बाप वहाँ पानी तक नहीं पीता था। उस समय यह कल्पना नहीं कर सकते थे कि हिंदुओं के ऐसे घर होंगे जहाँ चाहे-जो लड़कियाँ ब्याहकर आयेंगी और अभक्ष्यभक्षण खुले-आम होगा। और अब बीसों घर हैं जहाँ बहुएँ ईसाई-मुसलमान हैं। सब लोग उन्हीं का खाते पीते हैं, सब कुछ हो रहा है! इसी तरह से कपड़ा पहन कर नहीं खाना चाहिये, यह तो स्मृतियों में मिल जाता है, आचार ग्रन्थों में मिल जाता है। पर किसी ने कल्पना नहीं की थी कि जूता पहन कर भी लोग खायेंगे। हम ही लोग कभी कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि जूता पहन कर लोग खायेंगे! अब जूता पहन कर खाते हैं। खाते हुए चलने वालों को कालिदास ने मूर्खों में गिना है। कभी सोचते ही नहीं थे कि कोई पढ़ा लिखा आदमी ऐसा हो सकता है जो खड़ा खाये! जब आचार का विचार करते हैं तब यह कठिनाई आती है, कि आचार सारे लिखे हुए नहीं मिल सकते। एक तो सारा विस्तार करना सम्भव नहीं, और कुछ इसलिये भी नहीं होता कि कई इतनी स्वीकृत बातें हैं कि कभी मन में ही नहीं आता है कि इन्हें भी लिखा जाये। इसलिये आचार शिष्ट पुरुषों के व्यवहार को देखकर ही समझ में आता है। अतः मनु ने, श्रुति स्मृति के साथ सदाचार को भी धर्म में प्रमाण कहा।

सदाचार अर्थात् सत्पुरुषों का आचार। सत्पुरुष अर्थात् शिष्ट, जिन्होंने भली प्रकार से वेद का अध्ययन किया, और उसके अनुसार जीने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसलिये जब विद्यार्थी को, समावर्तन करके गुरु विदा करते हैं तब वेद कहता है – 'ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः'। यदि कभी धर्म के बारे में शंका हो तो वैसा आचार स्वीकार लेना जैसा उस बारे में ब्राह्मण

करते हों। कैसे ब्राह्मण? 'सम्मर्शी' अर्थात् विचार करने में सक्षम, सूक्ष्मदृष्टि वाले। केवल विचरक नहीं 'युक्ताः' सत्कर्म में लगे हुए और वह भी किसी दूसरे के निर्देश में करने वाले नहीं वरन् 'आयुक्ताः' अर्थात् स्वतन्त्र रहकर करने वाले। क्यों कि कभी-कभी किसी अन्य के निर्देश में ऐसा भी काम कर लिया जाता है जिसे हम स्वयं तो ठीक नहीं मानते। अतः स्वतन्त्र व्यक्ति को मिसाल बनाना चाहिये। इतना ही नहीं, 'अलूक्षाः' अर्थात् जो ब्राह्मण रूखे न हों, क्रूर न हों। अतः गीता में भक्त के लक्षण बतलाये, तो उनको मैत्री-करुणा वाला ही बतलाया। किसी के प्रति उनके मन में द्वेष नहीं होता है। सब के प्रति उनके मन में करुणा मित्रता रहती है। रूखा व्यक्ति परिस्थिति अधिकारी आदि का परीक्षण बिना किये केवल लिखित अनुसार निर्णय सुना सकता है जो सबको हृदयंगम नहीं हो पाता। अतः वेद में 'अलूक्षाः' से कहा कि ऐसों के अनुसार निर्णय मत करना। और वे ब्राह्मण 'धर्मकामाः स्युः' केवल धर्म की ही कामना करते हों, और किसी दूसरी चीज़ की कामना नहीं रखते हों। अर्थात् उनके जो व्यवहार हैं वे धर्म-प्रेरित हों। यह तभी होगा जब और किसी इच्छा से वे कुछ करते नहीं। ऐसे ब्राह्मण जैसा बर्ताव करते हैं - वैसा ही तुम भी लोगों के साथ व्यवहार करो। सदाचार कहो या शिष्टाचार कहो, सत् या शिष्ट को यहाँ वेद ने बिलकुल स्पष्ट बता दिया। आचार स्पष्ट तभी समझ आता है जब किसी को करते देखा जाये। असुर अनाचार करके स्पष्ट कर देते हैं कि मुमुक्षु को कैसा आचार नहीं करना चाहिये। असुरों में 'आचार' अर्थात् सदाचार देखने को भी नहीं मिलता। शिष्ट पुरुषों के आचार को देखकर के जो आचार समझा गया है, वह आसुरी लोगों में नहीं देखा जायेगा।

'न सत्यं तेषु विद्यते'। सत्य के बारे में पहले बता चुके है। सत्य अर्थात् जैसी बात हो वैसा ही सामने वाला समझे, इसके प्रयत्न से पूरे वाक्य का उच्चारण करना, कोई बात छिपाना नहीं, विचार करके इसका कोई दूसरा अर्थ करे इस तात्पर्य से न कहा गया हो, प्राणियों के हित में हो, सुनने में अप्रिय न हो इत्यादि पहले बतला ही आये हैं। सत्य भी असुरों में देखने में नहीं आयेगा, सत्य का पता भी शास्त्र जानने वाले को ही होगा। और लोग सत्य का भी अर्थ नहीं समझ पायेंगे। शौच और सत्य का ज्ञान तो शास्त्र से भी हो जायेगा, परन्तु आचार शिष्ट पुरुषों को देखकर ही सीखना पड़ेगा। 'तेषु' अर्थात् जो आसुर जन हैं, उनके अंदर ये तीनों चीज़ें नहीं होंगी। भगवान् भाष्यकार इससे यह स्पष्ट नतीजा निकालते हैं - 'अशौचा, अनाचाराः, मायाविनः अनृतवादिनो हि आसुराः।' आसुर लोग किनको कहते हैं? जो पवित्रता से हीन होवें, आचार से हीन होवें, माया, ठगी करने वाले हों और असत्य की तरफ प्रवृत्त होवें। ऐसे लोग दीखें तो तुरन्त समझ लो-ये आसुर हैं।

आचार का स्वरूप बतलाते हुए, महर्षि याज्ञवल्क्य ने, आचाराध्याय के प्रारम्भ में ही यह बात लिखी कि सारे आचार का उद्देश्य क्या है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं

'इज्याऽऽचारदमाऽहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।।'(या.स्मृ.१.१.८)

अर्थात् इज्या आदि सब कर्मों में परम धर्म है योगद्वारा आत्मदर्शन करना। इज्या अर्थात् यज्ञ, देवपूजन आदि। 'दम' - इन्द्रियों का दमन, इन्द्रियों का निग्रह। अहिंसा का आचरण। दान, स्वाध्याय - ये सब कर्म धर्म हैं। परन्तु इन सबकी अपेक्षा परमधर्म यही है कि परमात्मा का दर्शन किया जाये। उसी के सहायक रूप में ये सब हैं। परम-धर्म कहने का तात्पर्य यही है कि यदि यह उद्देश्य सामने रहता है, तब तो बाकी सब कर्म सहायक हो जाते हैं, परन्तु यदि आत्मदर्शन के मार्ग में ये कर्म बाधक बनने लग जायें तो फिर ये कर्म उचित नहीं रहते। जितने भी हम कर्म, पूजा, पाठ,जप,स्वाध्याय, आदि करते हैं, उन सब में यह ध्यान रखना चाहिये कि हम आत्मज्ञान के नज़दीक जा रहे हैं या नहीं। इसलिये अन्यत्र बतलाया है, 'सर्वथा सर्वभावेन अध्यासापनयनं कुरु'। सर्वथा, अर्थात् किसी भी परिस्थिति सें, किसी भी प्रकार के व्यवहार में, जीवन में रहना पड़े; 'सर्वभावेन' - तब भी अपने हृदय के सारे भावों को एकत्रित करके, आत्मा के ऊपर जो शरीर से लेकर के अहंकार पर्यन्त अध्यास हैं, उन अध्यासों को हटाने का ज़रूर प्रयास करो। इसीलिये, याज्ञवल्कय शौच का विचार करते हुए कहते हैं

'सत्यं शौचं मनःशौचं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचं जलशौचं तु पंचमम्।।'

सब से पहले कहा 'सत्यं शौचं'। हमेशा सत्य के प्रति आग्रह वाला रहना। बोलने में तो सत्य आचरण करना ही, परन्तु जो किसी भी तरह का सत्य है उसका सामना करने से पीछे न हटना। यह शौच का प्रथम रूप है। इसी प्रकार मन के राग-द्वेष आदि को हर समय हटाने का प्रयत्न करना - 'मनः शौच'। 'शौचम् इन्द्रिय निग्रहः' - इन्द्रियों को जितना हो सके उतना विषयों से दूर रखने का प्रयत्न करना। कितना दूर रख सकते हो, यह तुम्हारे हाथ में है। प्रयत्न हमेशा होना चाहिये कि इन्द्रियों को विषयो की तरफ ले जाने में बढ़ोत्तरी नहीं करना। जितना घटा सको उतना घटाओ। 'सर्वभूतदया शौचं' - सारे प्राणियों के प्रति हमेशा दया का व्यवहार करना। क्रूरता के भाव को किसी भी प्राणी के प्रति नहीं लाना। इन चार शौचों के बाद में कहा, 'जलशौचन्तु पंचमम्'। पानी से जो शरीरादि, हाथादि की शुद्धि है, वह शौच की प्रधानताओं में पाँचवीं होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि जलशौच की तरफ ध्यान मत दो, परन्तु प्रायः उस शौच को सामने रख कर जो प्रधान शौच हैं उनको भूल जाते हैं। अगर हमारे शौचादि व्यवहारों से सत्य-इन्द्रियनिग्रह इत्यादि का त्याग होता है, तो चाहे बाह्य शौच छोड़ना पड़े, इनको न छोड़ो।

भगवान् स्वयं कहेंगे (१८.४८) कि सभी कर्म ऐसे होते हैं जिनमें दोष कुछ-न-कुछ होता ही है। चाहे जितनी सावधानी करो, फिर भी कहीं-न-कहीं दोष होगा। बाह्य चीज़ों से ही आचरण करते हैं, शरीर प्राण इत्यादि सब बाह्य हैं, वे सब अपने ऐसे नियमों से और प्रकृति से चलते हैं कि उनसे कितनी भी सावधानी बरतने के बाद भी कुछ-न-कुछ ग़लती होती ही है। कर्मफल देने वाला परमेश्वर है। शुभकर्म करने से परमेश्वर की प्रसन्नता होकर के

अनुग्रह होता है, अशुभकर्म करने से परमेश्वर की कृपा प्रतिबद्ध हो जाती है। परमात्मा चेतन है। चेतन की विशेषता यह है कि अगर तुमने कोई ग़लती की परन्तु हृदय से क्षमा माँगते हो, तो क्षमा कर देता है। जैसे लोक में भी दीखता है, बड़ी से बड़ी गलती करके आदमी जब इस बात को समझ लेता है 'मैंने ग़लती की' और माँ से जाकर कहता है, 'भूल हो गई', तो माता उसको क्षमा कर देती है। परन्तु यह क्षमा-प्रार्थना वास्तविक हृदय से होनी चाहिये, उस भूल को पुनः करने की तैयारी रूप में नहीं। क्योंकि परमेश्वर तुम्हारे अन्तःकरण में हमेशा विद्यमान है इसलिसे अतिधन्य वेद कहता है, 'मनुष्य रूपी जो शरीर है, उसके अन्दर जीव और ईश्वर दोनों बैठे हुए हैं। जीव तुम हो और इसमें ईश्वर भी बैठा हुआ है।' आगे (१८.६१) भगवान् भी कहेंगे - 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुन तिष्ठति'। चेतन तो एक ही है, जब वह अहंकार से लेकर देह तक तादात्म्य का अनुभव करता है तब उसी को जीव कहा जाता है, और जब इन सब के साक्षी रूप से रहता है तब वह ईश्वर कहा जाता है। इसलिये तुम्हारे मन का कोई भाव उससे छिपाना सम्भव नहीं है। इसी दृष्टि से शास्त्रों ने कहा,

'ब्रह्महापि शुचिर्भूत्वा निर्माल्यं यस्तु धारयेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोकं स गच्छति'।

ब्रह्म-हत्या करने वाला भी निर्माल्यधारण कर पाप से छूट जाता है। 'ब्रह्म' से यहाँ तात्पर्य मुख्य ब्रह्म से भी है; ईशावास्य में जहाँ 'आत्महनो जनाः' कहा, वहाँ भाष्यकार कहते हैं - 'विद्यमान आत्मा की तरफ दृष्टि न करना ही उसका हनन है।' हमारे हृदय में सच्चिदानंदघन ब्रह्म बैठा हुआ है, और हम संसार की सारी चीज़ों की तरफ ध्यान रखते हैं, उसकी तरफ नहीं! मनुष्य जब कहता है 'महाराज! हमारा यह कर्तव्य बाकी है, यह कर्तव्य बाकी है', तब कभी नहीं गिनाता कि अभी सबसे बड़ा कर्तव्य बाकी है - मैंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। है तो यह प्रथम कर्तव्य। परन्तु इसको कर्तव्यों में नहीं गिनता। बच्चों की शिक्षा, बच्चों को काम पर लगाना, व्यापार की सँभाल करना - ये सब कर्तव्य बाकी गिनायेगा, लेकिन 'अभी मैंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया' इसे नहीं गिनाता। यह जो साक्षात् ब्रह्म की हत्या है वह करने वाला भी ब्रह्म है। उस ब्रह्म को बतलाने वाला वेद भी ब्रह्म ही है - 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' कोशकार कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् वेद। उसका भी हनन करते हैं। वेद को धारण करने वाले ब्राह्मण की हत्या करना प्रसिद्ध ब्रह्महत्या है ही। सबसे बड़े पापों में ब्रह्महत्या को गिना है। शास्त्रकार कहते हैं - 'ब्रह्महाऽपि' मतलब इतना बड़ा दोष करने वाला भी 'शुचिर्भूत्वा' - पवित्र हो कर के, अर्थात् वास्तविक भावना से युक्त हो कर के, 'निर्माल्यं यस्तु धारयेत्' - भगवान् शंकर का पूजन कर के, भगवान् शंकर को चढ़ाये हुए जो पदार्थ हैं उनको प्रसाद रूप से ग्रहण करता है, तो पाप से छूटता है। वस्तुतः भगवान् शंकर, सच्चिदानंद ब्रह्मरूप हैं। माण्डूक्य उपनिषद् कहती है, 'प्रपंचोपशमं शान्तं शिवम्' पंच

महाभूतों का जो इतना बड़ा फैलाव है प्रपंच, यह जहाँ निवृत्त हो जाता है अर्थात् सारी उपाधियों से रहित जो है वही शिव है। उसे जो भी पदार्थ चढ़ा है, जो भी नाम-रूप है, सब उसी में अध्यस्त है। अतः नाम-रूप का ग्रहण करते समय, यह याद रखना कि 'ये सब उस शिव में अध्यस्त हैं', सब नाम-रूपों को शुद्ध करता है।

इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है,

'ब्रह्म सर्वमिति ज्ञानात् भावनाबलतोपि वा।
विना विशुद्धिर्द्रव्यानां न सिद्ध्यति कदाचन।।'

सब कुछ ब्रह्मरूप है। यह श्रुति प्रमाण से ठीक प्रकार से समझना है कि कैसे सच्चिदानन्द इस सारे संसार में अधिष्ठानरूप से मौजूद है। किंतु प्रमाण से ज्ञान कठिन होता है, इसलिये शास्त्रकार कृपाकर कहते हैं 'भावनाबलतोपि' - तुमने इस बात का अज्ञाननिवर्तक ज्ञान प्राप्त नहीं किया कि सब कुछ ब्रह्मरूप है, परन्तु 'ये सब ब्रह्मरूप हैं' ऐसी भावना तो कर ही सकते हो। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' के प्रसंग में (१५.१४) भाष्यकार ने कहा था - कि 'भोक्ता वैश्वानर है, भोज्य अन्न चंद्रमा है, सब कुछ इन दो ही में सिमटा है' इस प्रकार से देखते हुए जो भोजन करता है, उसे कभी अन्न का दोष नहीं लगता। जो ज्ञान के बल से ऐसा कर सके वह ज्ञान के बल से करे, अन्यथा भावना का बल तो लगा ही सकता है। 'यह सब ब्रह्म है', इस भावना या ज्ञान के बिना द्रव्यों की विशुद्धि कभी भी सिद्ध होती नहीं। हर विषय की शुद्धि इस बात के ज्ञान से होती है कि ये सब परमेश्वर की ही नाम-रूप से कल्पित उपस्थिति है। इसी से शुद्धि होती है। अन्यत्र भी कहा है, 'ब्रह्मरूपेण संग्राह्य सर्वं शुद्धं सदा भवेत्' ब्रह्मरूप से जिस चीज़ को भी हम सम्यक् प्रकार से ग्रहण करते हैं, वह सब शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार का भाव दृढ हो सके इसके लिये जो ब्रह्मनिष्ठ लोग होते हैं उनकी शुश्रूषा करनी चाहिये, उनकी बात का श्रवण करने और उनकी सेवा करने से ही सह सिद्ध होता है।

इसलिये शास्त्रकारों ने कहा,

'अतउक्तेषु सर्वेषु शुश्रूषा शिवयोगिनः।
शिवप्रीतिकरी साक्षाद् इति वेदार्थसंग्रहः।।

वेद के अंदर कहा गया जो अर्थ, तात्पर्य है उसका संक्षेप से संग्रह यही है कि जितने भी आचार गिनाये हैं उन सब में, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, हमेशा शिव से युक्त हैं, उनकी शुश्रूषा की जाये। शुश्रूषा के दोनों अर्थ याद रखना - वे जिस उपदेश को देते हैं उसको इच्छापूर्वक ग्रहण करना, और उनकी सेवा करना। ऐसे शिवयोगियों का श्रवण करना और उनकी सेवा करना, यह भगवान् शिव के लिये अत्यन्त और साक्षात् प्रीतिकर है। साक्षात् इस लिये, कि श्रवण के द्वारा जो ज्ञान होता है वह हमारे अन्तःकरण में ज्ञान को साक्षात् देता है, जब हम सेवा

करते हैं तो शिवयोगी की प्रसन्नता भी प्रत्यक्ष ही दीख जाती है। सारे वेद के तात्पर्य को इसमें बतलाया है। इस प्रकार से निरन्तर जब मनुष्य सर्वथा सब स्थितियों के अंदर, सभी प्रकार के व्यवहार करते हुए, आत्मानुसंधान करता रहता है तब धीरे-धीरे बंधन-निवृत्ति रूप फल अवश्यं भावी है।

यद्यपि सभी प्राणियों के प्रति दया करनी है, फिर भी प्राणियों में उपाधि के कारण तारतम्य है। मनु ने बताया है 'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः।। ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः।।' (मनुस्मृ.१.९६-७) जो भी पदार्थ हैं वह सब परमात्मा का ही नाम रूप है इसलिये ईश्वर रूपी चेतन सर्वत्र विद्यमान है। हम लोग जब पूजा करते हैं तो घर के देवता को भी नमस्कार करते हैं - गृहदेवता। घर भी पांचभौतिक है, वहाँ चेतन मौजूद है, वह चेतन घर की उपाधि वाला होने से गृहदेवता है, अन्यथा तो ईश्वर है। सारा ही संसार परमेश्वर का नाम-रूप होने से, परमेश्वर में कल्पित होने से, परमेश्वररूप तो है ही। परमेश्वर अर्थात् चेतन। लेकिन उसमें जहाँ प्राणन क्रिया देखी जाती है - पेड़ पौधों में भी देखी जाती है, छोटे जन्तुओं में भी देखी जाती है, वे उपाधियाँ श्रेष्ठ हैं। प्राणन क्रिया के साथ जहाँ बुद्धि की भी क्रिया देखी जाती है, बुद्धि का भी अनुमान होता है, वे उनसे श्रेष्ठ हैं। उन बुद्धिजीवियों में भी मनुष्य और उनमें भी ब्राह्मण जो शास्त्रानुकूल चीज़ों को जानने वाले हैं, जिन्होंने ठीक से समझा है, वे श्रेष्ठ हैं। विद्वानों की अपेक्षा कृतबुद्धि श्रेष्ठ हैं। अर्थात् जिन्होंने बुद्धि से समझ लिया है, उनकी अपेक्षा भी उसके अनुसार जो करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। और 'मैं कर्ता हूँ', इस भाव से जो करते हैं, उनकी अपेक्षा 'ब्रह्मवेदिनः' जिन्होंने कर्तृत्व भाव छोड़ दिया है ऐसे जो संन्यासी हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इस सारी व्यवस्था का मूल कारण श्रद्धा है, 'श्रद्धा सर्वस्य कारणम्' सारी सत्प्रवृत्ति का मूल कारण तो श्रद्धा है। आखिर प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी हमारी श्रद्धा ही तो है। हमारी आँख ने देखा तो मानते हैं कि ठीक देखा। आँख ने देखा वह ठीक क्यों है? इस प्रश्न का क्या जवाब दे सकते हो? जीभ ने मीठा खाया तो चीज़ मीठी ही है, सचमुच ही मीठी है, यह जीभ के ज्ञान में श्रद्धा है। ऐसी ही श्रद्धा जब ईश्वर में हो, गुरु में हो, शास्त्र में हो, और स्वयं अपने में हो कि 'मैंने जो अच्छी तरह से समझा है, चीज़ वैसी ही है' तभी सत्प्रवृत्ति होगी अन्यथा, बहुत बार, शास्त्र को ठीक तरह से समझ लिया और निश्चय भी हो गया कि शास्त्र यही कहता है, ईश्वर में भी श्रद्धा है, गुरु में भी श्रद्धा है, लेकिन अपने में श्रद्धा नहीं है कि 'मैंने जो समझा वही ठीक है', अतः लगता है कि 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि कोई दूसरी बात होवे' जिसके फलस्वरूप प्रवृत्ति नहीं होती। बहुत से साधकों में आत्मश्रद्धा का अभाव होता है। ईश्वर में श्रद्धा, शास्त्र में श्रद्धा, गुरु में श्रद्धा, और खुद अपने में श्रद्धा - ये चार श्रद्धाएँ होती हैं, तभी निश्चित ज्ञान और भावना की प्राप्ति होती है। क्योंकि यह श्रद्धा आसुरी लोगों में नहीं होती, अतः उनको इस प्रकार का ज्ञान सम्भव ही नहीं होता। दूसरे का आसुर भाव

देखने में आवे या न आवे, अपना आसुर भाव तो दीख ही जाता है। यह जो श्रद्धा का अभाव है यह स्वसंवेद्य है। खुद ही पता लगता है। अतः जिसमें थोड़ा भी आसुर भाव प्रतीत हो तो सावधान होकर उसे दैव भाव से काट देना चाहिये।।७।।

श्रद्धा के अभाव में असुरों का कैसा निश्चय होता है –

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

असरु कहते हैं कि जगत् असत्य है, धर्मव्यवस्था पर स्थित नहीं है, इसका कोई रचयिता, पालक ईश्वर नहीं है, स्त्री-पुरुष के आपसी सम्बन्ध से ही यह पैदा हुआ है और कामना को छोड़कर इसका अन्य कोई हेतु नहीं है।

जिनके अंदर श्रद्धा का अभाव होता है, वे कहते हैं 'असत्यम्' जगत् सत्य नहीं है। वेदान्ती भी कहता है कि यह जगत् सत्य नहीं है क्योंकि माया का कार्य है, अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है। परन्तु यह असुरों का कहना नहीं है! इनका तो मानना है, कि जैसे हम झूठ को ही अपना सहारा सब तरह से बनाते हैं, उस प्रकार इस संसार में जितने लोग हैं सब झूठ को ही अपना सहारा बनाते हैं। एक हमारे परिचित सज्जन कहते हैं – 'विश्वास तो अपने बाप का भी नहीं करना चाहिये'; यह है 'असत्यं' का भाव कि क्योंकि मैं किसी के साथ विश्वास के अनुकूल कार्य नहीं करता अतः कोई विश्वासी हो ही नहीं सकता। अतः शास्त्र, ईश्वर, गुरु, सब के ऊपर लांछन लगाते हैं। कई लोग कहते हैं – 'भगवान् की स्तुति करो तो वे प्रसन्न होते हैं, नहीं तो नाराज़ होते हैं, इसका मतलब भगवान् भी खुशामदी हैं, उनकी खुशमद करो तो खुश होते हैं।' अतः सत्य-अधिष्ठान वाला न मानने से वे जगत् को असत्य कहते हैं न कि अनिर्वचनीय मानने से।

और 'अप्रतिष्ठम्'। इस जगत् की प्रतिष्ठा किससे है? धर्माधर्म से ही संसार की प्रतिष्ठा है। परन्तु असुर कहते हैं 'धर्म-अधर्म कोई चीज़ है ही नहीं। इसलिये जगत् के अंदर-धर्म करोगे तो अच्छा फल मिलेगा, अधर्म करोगे तो बुरा फल मिलेगा, ऐसा कुछ नहीं है। बस, युक्ति से अपना काम कर लोगे तो सफल हो जाओगे, धर्माधर्म कारण नहीं है।' वर्तमान में अधिकतर हम जब व्यवहार करते हैं तो यही भावना रहती है। महाभारत में विचार आता है कि काल का कारण राजा होता है या राजा के कारण काल होता है? अंतिम निर्णय वहाँ दिया है – 'राजा कालस्य कारणम्' राजा ही काल का कारण है। जिस प्रकार के नियम बनाकर वह समाज को प्रेरित करता है, संसार में अधिकतर लोग तदनुसार ही जीवन चलाते हैं। इहलोक के फल को देखकर ही परलोक को समझा जाता है। राजा यदि धर्म-अधर्म की प्रतिष्ठा नहीं करता, अर्थात् ठीक काम करने वालों को पुरस्कृत नहीं करता, ग़लत काम करने वालों को दंडित नहीं करता तो लोगों के मन में आता रहता है, कि जैसे यहाँ का राज्य है वैसे ही संसार का भी होगा, अच्छा काम करने वाले को भी दुःख होता

रहेगा, बुरा काम करने वाले भी सफल होते रहेंगे! जिस समाज में ऐसा नहीं या कम होता है वहाँ मनुष्य को संसार धर्म पर स्थित मान लेना सहज हो जाता है। शास्त्रसंस्कार अधिक दृढ हो अथवा कुतर्क संस्कार अधिक दृढ हो तो परिस्थिति के विपरीत भी निश्चय रखने वाले होते हैं लेकिन कम, ज़्यादातर लोग तो परिस्थिति के प्रवाह में ही बहते हैं। आसुरी लोग मानते हैं कि जगत् हमारी तरह झूठों से ही भरा हुआ है और अप्रतिष्ठित है, कोई यहाँ नियम नहीं है। जैसे-तैसे सफलता पा लेना ही सार है। इसलिये, 'ते जगद् अनीश्वरम् आहुः' - वे कहते हैं कि इस जगत् को नियन्त्रण में रखने वाला, शासन करने वाला कोई ईश्वर नहीं है। अर्थात् धर्माधर्म की अपेक्षा कर के, अधर्मी को दण्ड देने वाला और धर्मात्मा को पुरस्कार देने वाला कोई परमेश्वर नहीं है। इस प्रकार जगत् को ईश्वररहित मानते हैं।

प्रश्न होगा कि यदि इसकी प्रतिष्ठा नहीं है तो ये जीव कहाँ से पैदा होते हैं? एक करोड़पति के घर में पैदा होता है, दूसरा फुटपाथ के ऊपर भिखमंगन के पैदा होता है। बिना कर्मानुसार फल देने वाले ईश्वर के कैसे व्यवस्था मानोगे? असुर कहते हैं कि कोई जीव आता-जाता नहीं है! ये सब तो, 'कामहैतुकम्' पति-पत्नी की कामना के कारण ही ये सब पैदा होते हैं। 'अपरस्परसम्भूतं'-कामना से प्रवृत्त जो स्त्री-पुरुष का अन्योन्य संयोग है, बस उसी से प्राणी पैदा होते हैं, धर्माधर्म के अनुसार कोई प्राणी आते हों ऐसा कुछ नहीं है। कामना से अन्य किसी और को कारण मानने की ज़रूरत नहीं है। असुरों को लगता है कि वेद भी यही कहता है, ' सोऽकामव्यत' - उसने कामना की। अर्थात् कामना से ही जगत् उत्पन्न होता है। इसलिये कामना से ही प्रयुक्त स्त्री-पुरुष बच्चों को पैदा कर लेते हैं। इसमें धर्माधर्म को कारण मानने की कुछ भी ज़रूरत नहीं है। कामना ही प्राणियों का कारण है। यही लोकायतिक दृष्टि है। अर्थात् केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से जो चलेंगे, वे यहीं तक पहुँच सकते हैं।।८।।

आसुर विचार की हेयता समझाते हैं -

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।६।।

आत्मा मानो जिनके लिये है ही नहीं, जिनकी बुद्धि तुच्छ विषयों से आगे कुछ समझने में असमर्थ है वे जगत्-शत्रु असुर पूर्वोक्त विचार के सहारे क्रूर कृत्यों वाले होकर जगत् के क्षय के लिये ही मानो उपजे हों।

'एतां दृष्टिमवष्टभ्य' - इस दृष्टि का आलम्बन करके कि कामना ही सब चीज़ों को पैदा करती है, हम भी कामना से ही प्रवृत्त होकर कार्य करते हैं, संसार ऐसा ही चलता रहेगा, कामना से ही प्रयुक्त होकर करते रहो। इसी दृष्टिकोण का सहारा लेकर 'नष्टात्मानः' इनकी आत्मा नष्ट है अर्थात् आत्मा की तरफ इनका ध्यान ही नहीं जाता। अगर थोड़ा भी विचार

करें, तो तुरन्त प्रकट होगा कि 'मैं हूँ'। कोई ऐसा मनुष्य नहीं जिसको यह अनुभव न होवे कि 'मैं हूँ।' 'मैं कामना से *उत्पन्न हुआ* हूँ' ऐसा किसी को भी अनुभव नहीं होता! 'मैं हूँ' का ही अनुभव रहता है। इसी प्रकार, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव हर प्राणी को होता है, परन्तु 'मैं कौन हूँ, जो जाग्रत् अवस्था में संसार को देखता हूँ, स्वप्न अवस्था में बाह्य संसार को न देखकर अपने मन के संसार को देखता हूँ, गहरी नींद में जाकर किसी को नहीं देखता, कुछ नहीं जानता, वह ''मैं'' कौन हूँ?' – यों मैं की तरफ कभी उनकी दृष्टि जा ही नहीं सकती। विषयों की तरफ ही उनकी दृष्टि जाती है। 'यह मिला' – यह तो सोचते हैं, पर 'किसे मिला?' यह कभी नहीं सोचते। भोक्ता की तरफ उनकी दृष्टि जाती ही नहीं, भोग्य में ही लगे रहते हैं। वर्तमान काल में इसी दृष्टि से बहुत से लोग कहते हैं कि सच्चा तो वैषयिक जगत् है, विषयी (द्रष्टा) का जगत् तो झूठा ही है। कभी भी यह नहीं सोचते कि विषय तभी होगा जब पहले विषयी होवे! बिना ज्ञाता के हुए पदार्थ किसको ज्ञेय है? – यह विचार उन्हें कभी आता ही नहीं। वर्तमान काल में इसका बाहुल्य है ही। इसलिये कहा – 'नष्टात्मानः'। आत्मा उन के लिये नष्टप्राय है; उस तरफ इनकी दृष्टि ही नहीं हो सकती। निरन्तर अनात्मा को ही देखते रहते हैं।

ऐसा क्यों करते हैं? 'अल्पबुद्धयः'। इनकी जो बुद्धि है, वह अल्प, परिच्छिन्न चीज़ों का ही विचार करती है। कालिदास ने दिलीप की कथा में इसका वर्णन किया है। राजा दिलीप गुरु की गाय को बचाने के लिये शेर से बोले 'तुझे भूख लगी है तो मुझे खा ले, गुरु जी की गाय को छोड़ दे।' शेर ने कहा 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्'। एक छोटी-सी गुरु जी की गाय के पीछे अपना ही शरीर छोड़ने को तैयार हो रहे हो, इसलिये तुम्हारी बुद्धि किसी काम की नहीं! राजा ने उसका जवाब दिया कि, यह नश्वर शरीर तो खत्म होने वाला है ही, इसको बचा कर भी क्या लाभ होना है? परन्तु गुरु की गाय का रक्षण हमारा धर्म है। साथ ही, शरीर के पीछे गुरु की गाय मरने दी तो हमेशा के लिये अपयश और हो जायेगा। तू मेरे इस पांचभौतिक शरीर को देख रहा है, मेरे यश-रूप शरीर का विचार कर। 'अपने प्राणों की आहुति देकर भी गाय का रक्षण किया', यह जो मेरा यशोमय शरीर होगा, उसे बनाये रखो। असुर तो तत्काल के सुख के लिये हमेशा का अपयश और पाप अर्जित करने को बुद्धिमानी समझते हैं, जबकि दैवी प्रकृति वाले अल्प सुखों को महत्त्व न देकर महान् उद्देश्यों की पूर्ति का ही प्रयास करते हैं। संसार के लोग, आत्मा का विचार करने वालें को विचारमूढ कहते हैं जैसे शेर ने कहा। संसार कितना आगे बढ़ रहा है, कितनी उन्नति कर रहा है, इसकी खूब तारीफ करेंगे। उन तरक्कियों के साथ क्या-क्या विनाशलीलाएँ हो रही हैं उस ओर ध्यान नहीं देना चाहते, ध्यान दिलाओ तो यह कहकर टाल देते हैं 'यह तो नहीं होना चाहिये।' यदि वैषयिक प्रगति होनी चाहिये, तो उसके साथ विषयीकी अवनति होगी ही। हैं तो वस्तुतः वे विचारमूढ, पर समझते हैं कि 'मुमुक्षु बाह्य उन्नति नहीं करते तो विचरमूढ हैं!' इसलिये कहा कि अल्पबुद्धि हैं, इस शरीर की सीमा

में ही सोच पाते हैं।

चूंकि अल्पबुद्धि हैं, इसलिये – 'जगतः क्षयाय उग्रकर्माणः प्रभवन्ति'। जगत् का नाश करने में लगे रहते हैं। जितने संहारक यंत्र बन रहे हैं, सब जगत् का नाश करने के लिये ही बन रहे हैं। एक बम फूट जाये तो हज़ारों मील का क्षेत्र जल जाये – यही बड़ी भारी उन्नति की है, बड़ी भारी तरक्की की है! पृथ्वी के पेट को चीर कर जितना तुमने मिट्टी का तेल निकाला, उसी के धुएँ से परेशान होकर कहते हो कि 'ओज़ोन परत जा रही है, बड़ा नुकसान हो जायेगा'। किसने किया यह नुकसान? किसी दूसरे ने नहीं, तुम्हीं ने किया। जगत् का नाश करने के लिये ही ऐसे लोग 'उग्रकर्माणः' अत्यन्त हिंसात्मक कर्म करेंगे। आजकल तो उग्रकर्मा चारों तरफ हो ही रहे हैं जिनको आतंकवादी कहते हो। वे जगत् के क्षय के लिये उग्र कर्म करते हैं। खुद अपने को भी नष्ट करके दूसरे का नाश करते हैं जिसे कहते हैं आत्मघाती हमला।

एक आदमी था, उसको बड़ा शौक था लोगों को भिड़ाने का। एक के बारे में झूठी बात दूसरे को कह दी, दूसरे के बारे में भी ऐसी ही बात इसको कह दी, दोनों झगड़ पड़े तो बड़ा खुश हो जाता था। कुछ समय तक तो उसका खेल ठीक चला। कुछ लोगों को मज़ा ही तब आता है जब कुछ गरमागरमी होवे। न खुद शान्त रहना उनको अच्छा लगता है, न दूसरों को शान्त रखना अच्छा लगता है। परन्तु गाँव छोटा होता है, थोड़े दिनों के बाद सब समझ गये कि 'यह तो हमें बिना मतलब झगड़वाता रहेगा', तो उसका विश्वास करना छोड़ दिया। लोग उसकी बात मानें नहीं तो आपस में झगड़ा न होवे। उसने सोचा कि 'जीवन का तो मज़ा ही चला गया! अब क्या करूँ?' पास के ही जंगल में चला गया। वहाँ बैठा हुआ था। उधर से कोई महात्मा निकले, उन्होंने कहा, 'अरे तुम कहाँ आ गये! यहाँ तो जंगली जानवर आते हैं। तुमको खा जायेंगे। चलो, तुम रास्त भूल गये होगे, मैं तुमको गाँव में पहुँचा देता हूँ।' उसने कहा, 'बाबाजी आप अपने रास्ते जाओ, हमें यहीं रहना है। मैं तो आया ही इसलिये हूँ कि कोई शेर मुझे खा कर नरभक्षी बन जाये फिर वह गाँव में जाकर के दूसरे लोगों को खाये!' यही है आत्मघाती हमला करना।

ऐसे लोग जगत् के शत्रु हैं, जगत् का हित करने वाले नहीं हैं। कहते तो ये हैं कि 'हम जगत् की उन्नति कर रहे हैं', परन्तु सच में क्या करते हैं? जिन वैज्ञानिक तरक्कियों पर गर्व करते हैं वे सब नुकसान करती हैं, यह बात ये स्वयं ही कहते हैं। पहले तकनीक से यंत्रादि बनाते हैं फिर साल-छह महीने में उसके नुकसान गिना देते हैं। चलता-फिरता दूरभाष बनाया जो तरंगों के सहारे काम करे, फिर कहते हैं कि इसके प्रयोग से, इसके निकट रहने से भी कितने अधिक नुकसान होते हैं, किन्तु प्रचलन बन्द करते नहीं क्योंकि जगत् के शत्रु हैं। सब लोग दुःखी हों इससे उनको बड़ा मज़ा आयेगा। जिसे ये उन्नति कहते हैं, वस्तुतः वह जगत् का अहित है। अपना अहित करते ही हैं, साथ में जगत् का भी अहित ही करते हैं।।६।।

असुरों के और भी लक्षण बतलाते हैं :-

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

दम्भ, अभिमान और मद से युक्त हुऐ वे असुर, जिसे पूरा करना अशक्य है ऐसी कामना का सहारा लेकर अविवेकपूर्वक अशुभ निश्चय अपनाकर अपवित्र व्रतों वाले हुए संसार के बारे में ही प्रवृत्ति करते रहते हैं।

विषयों की इच्छा को कामना कहते हैं। विषयों को भी कई जगह 'काम' कहते हैं, क्योंकि उनकी कामना की ही जाती है। विषयों की इच्छा का ही असुर सहारा लेते हैं। 'प्रवर्तन्ते' अर्थात्, शास्त्र को लेकर प्रवृत्ति नहीं करते। शास्त्रीय प्रवृत्ति और निवृत्ति - दोनों इनके लिये मायने नहीं रखती हैं। प्रवृत्ति, अर्थात् शास्त्र में जो करने को कहा, जिसकी विधि की है; निवृत्ति, अर्थात् शास्त्र में जिसका निषेध किया है। इन दोनों को यथार्थ रूप से वे जानते ही नहीं, 'ये यथार्थ हैं, सचमुच में हैं' ऐसा नहीं जानते। 'शास्त्र यह कहता है', इतना तो जानते हैं, 'यही ठीक है' इस प्रकार से नहीं समझते। इसलिये उनकी प्रवृत्ति का कारण तो काममात्र रहता है, केवल विषय-कामना से ही वे सारी प्रवृत्तियाँ करते हैं।

विषयों की इच्छा कैसे होती है? भगवान् कहते हैं - 'दुष्पूरम्।' उसे पूरा करना सम्भव ही नहीं है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि संसार का सारा धन, संसार के सारे पशु, संसार की सारी स्त्रियाँ, यदि एक आदमी को मिल जायें, तो भी उसके अन्दर अलम्-बुद्धि नहीं आती, 'पर्याप्त हो गया' यह भाव नहीं आता। हम लोग देखते ही हैं; पृथ्वी की सारी ज़मीन मनुष्य के पास इस समय में है परन्तु चन्द्रमा पर जाता है, मंगल पर जाता है, और आगे जाने की कोशिश करता है। और भारत में तो शायद नहीं शुरू हुआ है, अमरीका में चाँद आदि की ज़मीनें बेचना भी शुरू हो गया है! प्राचीन काल में और, आज़ादी के पहले तक जहाँ राजाओं का राज्य था, हर जगह एक गोचर भूमि होती थी, जहाँ गऊएँ चरने जाती थी। हर जगह कुछ ज़मीन होती थी, जहाँ भोजन पकाने के ईधन के लिये पेड़ लगाये जाते थे। वह ज़मीन किसी व्यक्ति की नहीं होती थी, सारे गाँव की होती थी। वहाँ की लकड़ी सब के भोजन बनाने के काम आती थी। किन्तु मनुष्य के मन में हुआ कि, 'हमें ज़मीन चाहिये, गऊओं का क्या अधिकार'; अतः हिन्दुस्तान की आज़ादी का मतलब निकला कि जितनी गोचर भूमि थी, सब सरकार ने बेच दी। कुछ में खेती होने लगी, कुछ में मकान बन गये। पहले सारी ज़मीन राजा की *नहीं* होती थी। गाँवों की, नगरों की अपनी ज़मीन होती थी। राजा की जितनी ज़मीन होती थी वह सारी चिह्नित होती थी। उसकी खेती इत्यादि करने का अधिकार राजा को था। स्वतन्त्रता का मतलब यह हुआ, कि जो संसद में चुनकर गये हैं, वे प्रभुसत्ता-सम्पन्न हैं, सब ज़मीनों के मालिक हैं, चाहे जहाँ की ज़मीन हो। इसलिये जो चाहे सो करें। भारत वर्ष के अन्दर इतना जंगलात था, अंग्रेज़ों के राज्य में भी था, वह

सब जंगलात सरकार ने ले लिया, जंगलात के चारों तरफ काँटाबंदी कर दी गई, कि जंगल में *लोग* न जाने पायें। सरकार ने कहा, 'ऐसे फल, लकड़ी नहीं ले सकते। हम बेचेंगे तभी ले सकते हो। जंगल से फल लेकर नहीं खा सकते, जंगल सरकार का है।' लकड़ी, फल बिकने लग गये, सरकार को पैसा आने लग गया। किन्तु 'अल्पबुद्धयः', समष्टि का, सब समय का तो ये लोग विचार कर नहीं सकते, इसलिये अनापशनाप कटाई हुई, नया रोपण हुआ नहीं धीरे-धीरे सारे जंगल सूखे पड़े हैं, कहीं कोई पेड़ नहीं है। इसी तरह से गोचर भूमियों के कारण भारतवर्ष में संसार भर के सब से ज़्यादा मवेशी थे। अब धीरे-धीरे मवेशी ख़त्म हो रहे हैं। गोचर भूमि है नहीं, कहाँ चरने जायें? इतना सब लेकर भी सरकार की कामना पूरी नहीं हुई! अब कहते हैं कि किसी ने किसी अन्य के लिये कोई कार्य किया और उससे मेहनताना लिया तो भी बीच में सरकार का हिस्सा आ गया! रोगी ने दवाई ली, डाक्टर ने दवाई बतायी, इसके ऊपर एक टैक्स लग गया 'सेवा कर'। इसका मतलब यह नहीं कि उन्होंने आयकर लेना छोड़ दिया। कमाई पर टैक्स तो लेते ही हैं। इस प्रकार कितना भी लेते चले जायेंगे, इनका कभी पेट भरेगा नहीं, क्योंकि ये धर्मनिरपेक्ष हैं। धर्म की दृष्टि से न सोचो तो कामना की ही दृष्टि रह जाती है और उसे भगवान् ने कहा –'दुष्पूरं कामम्'। जैसी सरकार, वैसी ही उसकी प्रजा भी हो गयी है। उनकी भी इच्छाओं की पूर्ति होती नहीं। आज से पचास साल पहले, बहुत-से लोग व्यापार करने जाते थे, कोई पंद्रह साल की मुसाफिरी करता था, कोई बीस साल की मुसाफिरी करता था। जितना कमाना था कमा कर वापिस अपने देश आ कर शान्ति से रहता था। सत्संग करता था, भजन-पूजन में लगा रहता था। छोटे-छोटे गाँव के अंदर ऐसे अनेक लोग होते थे जो निरन्तर सत्संग के अन्दर आते थे। उनकी जीवन में कामना सीमित थी। दाल-रोटी की व्यवस्था हो गयी तो घर लौटकर शान्ति से रहते थे। आजकल दैवी प्रकृति वाले लोग नहीं हैं, अस्सी साल के हो गये, फिर भी जाकर कमाना ही पड़ता है! रोज़ नई-नई कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उत्पन्न कराई जाती हैं, और पूरी नहीं होती। पहले पूछते थे, 'कैसे हो?' तो सौ में नब्बे आदमियों का जवाब होता था 'महाराज, बड़ा आनन्द है।' अब, सौ में नब्बे कहते हैं, 'क्या बतायें, खर्चा पूरा नहीं होता।' न बड़े आदमियों के खर्चे पूरे होते हैं, न गरीबों के खर्चे पूरे होते हैं। कारण है कि दुष्पूर कामना का सहारा लिये हैं। न सरकार का पेट भरता है और न उस सरकार के अंतर्गत रहने वालों का पेट भरता है, ये सोचते हैं सरकार लूटती है, सरकार सोचती है लोग चुराते हैं।

और कैसे हैं? दंभ से अन्वित हैं। धर्म के लिये धर्म नहीं करते, परन्तु, लोगों में 'मैं धार्मिक होकर प्रख्यात होऊँ' इसलिये करते हैं। जो कार्य लोगों की नज़र में आवें जैसे बड़े आयोजन या यात्रायें, वे तो बढ़ रहे हैं पर धर्म करने वालों की, सत्य बोलने वालों की, किसी के साथ ठगी न करने वालों की, क्रोध न करने वालों की संख्या घटती जा रही है। दम्भीका धर्म केवल मुँह के ऊपर पहनने का नकाब रह जाता है। कर्म-सिद्धान्त का उपयोग सत्कर्म

करने के लिये नहीं वरन् अपने फायदे के लिये करते हैं। मज़दूरों को यह समझाकर कि उनकी ग़रीबी उनके कर्मों का फल है, मालिकों की कंजूसी का नहीं, वे तन्ख्वाह कम रखकर भी दंगा–फसाद से बचने की कोशिशि करते हैं।

और असुर अभिमनी होते हैं। धन से, जन से, विद्या से, सब तरह से स्वयं ही बड़ा होने का भाव रखते हैं कि 'मैं ही सब तरह से बड़ा हूँ।' इसलिये दूसरे में उन्हें अच्छाइयाँ नहीं दीखती। दूसरे के पास धन है तो मानते हैं कि 'ज़रूर उसने ग़लत ढंग से कमाया है'। अपना धन पाक साफ समझते हैं। 'मैं तो, आवश्यकता होती है इसलिये घूस देता हूँ', और दूसरा अपना धन बढ़ाने के लिये घूस देता है! धन की तरह ही विद्या का भी मान होता है। स्वयं की विद्या परिश्रम से अर्जित लगती है, अन्य सब नकलची लगते हैं। अपने रूप का भी मान होता है, दूसरे का रूप प्रकट हो तो लगता है अकर्षण के लिये उसका उपयोग कर रहा है। अपनी सफलता का मान होता है – मुकदमा जीते तो लगता है कि सत्य की जीत हुई, हारे तो लगता है कि न्यायपालिका भ्रष्ट है। अपना सब कुछ सम्माननीय लगे, बाकी कोई मान के योग्य न लगे, यही मान से अन्वित रहना है। स्वयं अपने मुँह से ही अपनी बड़ाई करने में भी मानी को शर्म नहीं आती।

मद – 'मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। सब तरफ से मैंने बाँध दिया है, मुझे कोई परास्त नहीं कर सकता।' – यह एक तरह का नशा मद है। ऐसों को लगता है 'मैं दूसरे का खून भी कर दूँगा तो बच जाऊँगा। मुझे कौन पकड़ सकता है!'

ऐसा सब क्यों होता है? 'मोहाद् असद्ग्राहान् गृहीत्वा प्रवर्तन्ते'। मोह से अर्थात् अविवेक से। इस प्रकार की भावना का मूल कारण है अविवेक। दूसरे लोग मुझे धार्मिक समझ कर मेरा क्या लाभ कर सकते हैं? कुछ नहीं। यदि मैंने धर्म किया है तो वह मेरी रक्षा करेगा, पर दूसरे मुझे धार्मिक समझें इससे तो परलोक में कोई काम बनना नहीं है। विवेक वाला जानता है कि संसार में परमात्मा ने जितने लोगों को पैदा किया है उन सबकी अपनी विशेषता है, विशेषता उसी में है, और किसी में नहीं है। मुझ में भी अनेक ग़लतियाँ हैं, दूसरों में भी अनेक अच्छाइयाँ हैं। किन्तु असुर अविवेक के कारण इस बात को नहीं समझ पाते। ठीक और ग़लत जानने की उनके पास विवेक बुद्धि है ही नहीं। इसलिये – 'असद्ग्राहान्' – झूठे निश्चयों को पकड़ लेते हैं, अशुभ निश्चयों को पकड़ लेते हैं। विवेकी तो शुभ को पकड़ता है, अशुभ को छोड़ता है। अविवेकी होने से असुर अशुभ का ही ग्रहण करते हैं।

और 'अशुचिव्रताः' – जैसे दैवी लोग 'शुचिव्रत' होते हैं, शुद्धि के लिये उनका व्रत होता है, ऐसे ये अशुचिव्रत हैं, अपवित्र कार्य करने का इनका व्रत होता है! सवेरे चार बजे उठने में कोई धन का खर्च नहीं, कोई नुकसान नहीं, बड़ी सीधी–सी बात है, परन्तु असुरों को चार बजे नहीं ही उठना है। सोमवार से शुक्रवार तक आ़फिस में जाना पड़ता है, तब तो

आठ बजे उठते हैं, शनिवार रविवार को आफिस जाने का दिन नहीं है, तो ग्यारह बजे उठेंगे! बच्चे बोर्डिंग स्कूल में सवेरे पाँच बजे उठते हैं पर घर आने के साथ ही सवेरे आठ बजे तक सोते हैं। अशुचि अर्थात् देर से उठने का उनका व्रत है, कोई डण्डे से जल्दी उठा दे तो बेचारों को उठना पड़ता है। यही स्थिति रोज़ नहाने की है। इसी तरह जूते पहनकर पकाना-खाना असुरों का व्रत है। इसी प्रकार सभी चीज़ों में समझ लेना चाहिये, आसुरी सम्पत्ति वालों को अशुद्ध व्रतों का पालन करना अच्छा लगता है।।१०।।

असुरों की निजके बारे में मनःस्थिति बताते हैं -

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

अपने योग-क्षेम के उपायों के बारे में और मरने तक की बेहद चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं। विषय भोगने में तत्पर रहकर 'इतना ही है' (अर्थात् विषयभोग ही पुरुषार्थ है) यह निश्चय रखते हैं।

निरन्तर आसुरी प्रकार के व्यवहार करने से चिन्ता ही होगी। दैवी सम्पत्ति वाला तो जानता है, 'मैंने ठीक काम किया है भगवान् फल देने वाला है भगवान् अपने आप देखता है।' किन्तु आसुर की दृष्टि में तो कोई देखने वाला है नहीं। इसलिये हर चीज़ की असुरों को चिन्ता रहती है। तीस साल पूर्व के प्रधानमंत्री चिंतित थे कि व्यापारी अनाज भर लेते हैं ग़रीबों को अन्न नहीं मिलता, क्या करें? उन्होंने ज़िम्मा लिया, सरकार अनाज का भण्डारण करने लगी। तो आज के प्रधानमंत्री चिंतित हैं कि 'हमारे पास अनाज बहुत हो गया, सड़ रहा है, घुन लग रही है, लोग सूखाग्रस्त इलाकों में भूखे मर रहे हैं, हम उन्हें देना भी चाहते हैं पर किस व्यवस्था से दें!' व्यापारी तो सीमित ही भण्डारण कर रोके रख सकता है अन्यथा नुकसान का डर रहता है पर सरकार के पास असीम सामर्थ्य है और नुकसान का कोई डर है नहीं तो अनाज सड़ता रहेगा, चोरी होती रहेगी, लोग भी भूखे मरते रहेंगे। किन्तु इस सब के बावज़ूद सरकार की चिन्ता नहीं मिटने वाली।

'प्रलयान्ताम्' - प्रलय तक की सोचते हैं। आज से डेढ़ सौ साल बाद पीने का पानी नहीं रहेगा, फिर क्या होगा? - अभी से चिन्ता करने लगते हैं। इसी प्रकार से - ओज़ोन का छेद इतना बड़ा हो जायेगा कि लोग गर्मी से मर जायेंगे, फिर क्या होगा? इन चिन्ताओं की क्या कोई परिमिति है? जैसे इस प्रकार की राज्य को चिन्ता है, वैसे ही इन राज्यों के नागरिकों को चिन्ता है। बच्चा पैदा होने से पूर्व उसकी विद्यालय में भर्ती की चिन्ता करते हैं। ऐसों की अपरिमेय चिन्ता होती है, कभी नाप ही नहीं सकते। चूंकि ये लोकायत सम्प्रदाय की बात मानते हैं इसलिये उनके लिये तो 'आप मरे और जग पूरा'। अतः वे अपने मरण तक की चिन्ता करते हैं। हमने ऐसे लोगों को देखा है जो चिन्ता करते हैं कि, 'पता नहीं मैं मर जाऊँगा तो ये लोग मुझे जलायेंगे भी कि नहीं?' ऐसी चिन्ता करने वाले कई हो गये

होंगे अतः दिल्ली में एक संस्था बन गयी है जहाँ अपना नाम लिखा दो, तो जब तुम मर जाओगे तब वे ले जाकर जला देंगे, उसका खर्च अभी ही ले लेते हैं। इस तरह असुरों को मरने तक की चिन्ता है। चिन्ता को 'उपाश्रिताः' उसी के सहारे जीते हैं। उपाश्रय कहते हैं - जिसके सहारे जैनी साधु जीते हैं। असुर चिन्ता का ही उपाश्रयण करते हैं, बिना चिन्ता किये जी ही नहीं सकते। जहाँ उन्होंने दूसरे को चिन्ता न करते देखा, तो उनको जलन होती है! इस चिन्ता करने का एक बड़ा भारी दफ्तर सरकार का है उसका नाम है, योजना आयोग। हम लोगों को आज़ाद हुए चौवन साल हुए। हर साल योजना बनती है। जब उनसे पूछते हैं 'क्या एक साल भी ऐसा हुआ कि जब तुम्हारी योजना के अनुसार कुछ हुआ?' तब कहते हैं, 'नहीं हुआ।' आयोग का फ़ायदा यही है कि तुमको डराते रहते हैं, 'अब यह हो जायेगा, अब वह हो जायेगा'। उनकी बात सुनकर लोग भी परेशान रहते हैं। सरकार लोगों को चिंता लगाने के उपाय करती है - नफा-नुकसान होने से पहले ही नफे का अनुमान लगाकर कर भरने का नियम बनाया है। अनुमानित से कम नफा हो तो सरकार नहीं मानती, कहती है जब अनुमान लगाया तब उतना ज़रूर होना चाहिये, और अधिक हो तो दण्ड देती है कि पूर्वानुमान ग़लत क्यों लगाया! अतः व्यापारी नित्य चिंतित ही रह सकता है क्योंकि सर्वथा ठीक अनुमान लगाने का उपाय दुनिया में किसी के पास नहीं है।

'कामोपभोगपरमाः'। काम अर्थात् विषय। विषयों का जो उपभोग है उसी में तत्पर रहते हैं। बढ़िया खाना, बढ़िया पीना, बढ़िया पहनना, इसी में इनके जीवन की इति है। अतः व्यापारी चाहे जैसी चीज़ों का प्रचार करके लोगों को जँचा देते हैं कि 'यही चीज़ अच्छी है' तो लोग उन्हें काम में लेते रहते हैं, उनमें सुख न होने पर भी चलन के नाम पर भेड़ों की तरह पिछलग्गू बने रहते हैं। इसीलिये फटे कपड़े, बिगड़े रंग के कपड़े इत्यादि ऐसी चीज़ों का प्रचलन हो गया है जिनमें थोड़े भी विवेकी को कोई सुख समझ नहीं आता पर असुर निश्चय वाले इन्हीं को काम में लेकर खुद को सुखी समझते हैं। औरतें सर्दी में ठरती हैं पर गर्म पकड़े नहीं ओढ़ती, इसी में सुख मानती हैं। धर्म के लिये, भगवान् के लिये तप करने में असुरों को बड़ा श्रम पड़ता है, कर नहीं पाते, पर कामोपभोग के लिये सर्दी-गर्मी सब सह लेते हैं क्योंकि कामोपभोग को परम मानते हैं, कि इसके आगे कुछ भी नहीं है।

'एतावदिति निश्चिताः'। उनका निश्चय है कि बस, यह शरीर जब तक है तभी तक संसार है। इस शरीर की समाप्ति के बाद कोई धर्मा-धर्म स्वर्ग-नरकादि नहीं है। उन्होंने ये लोकायतिक संस्कार बड़े दृढ बना रखे हैं कि प्रत्यक्ष से जो अनुभव हो रहा है बस उसको ही मानना है। बड़े-से-बड़े कष्टों को भी सहन करेंगे लेकिन केवल कामोपभोग के लिये। संसार में लोग आकर्षक समझें इसके लिये सर्दी आदि सहन करते हैं। प्रदर्शन आदि में, जलसे में लाखों रुपये और सामान नष्ट कर देंगे पर किसी अनाथालय में जाकर हज़ारों भी नहीं देंगे। यह सब इसीलिये कि इहलोक से आगे कुछ है यह उन्हें

समझ ही नहीं आता।।११।।

असुरों की दुर्नीति बताते हैं –

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थस चयान्।।१२।।

सैकड़ों आशारूप फंदों से बँधे, काम-क्रोध का सहारा लेने वाले असुर विषयभोग के ही उद्देश्य से अनीतिपूर्वक धनसंचय करने की ही कोशिश में लगे रहते हैं।

क्योंकि ये लोग सृष्टि-नियामक परमेश्वर में विश्वास करते नहीं हैं, इसलिये यही सोचते रहते हैं कि हमारे चाहने के अनुसार हो जायेगा। संस्कृत में दो शब्द हैं, आशा और प्रतीक्षा; किसी आदमी ने सूचना दे दी 'मैं अमुक दिन आ रहा हूँ,' तब उसके आने की प्रतीक्षा होती है – अर्थात् जिस के होने की सम्भावना है उसका इंतज़ार। और कोई खबर नहीं आयी है, फिर भी जो मन में भावना होती है कि 'वह आ जाये तो बड़ा अच्छा होगा', उसको आशा कहते हैं। प्रतीक्षा करना ठीक ही है, परन्तु अपनी योग्यता उस चीज़ को प्राप्त करने कि है या नहीं – इसका बिना विचार किये हुए – 'शायद हो ही जाये' ऐसी आशा करना व्यर्थ है। परमात्मा में विश्वास न होने के कारण, ये लोग अपने हृदय में जो आशा है, 'मेरे मन का यह काम हो जाये', उसी से मनोरथ बनाते रहते हैं। ठीक जिस प्रकार से लौटरी वाला आशा करता रहता है 'मेरा नम्बर आ जायेगा', इसी तरह ये लोग आशा करते रहते हैं। जैसे चिन्ता की कोई सीमा नहीं है, इसी प्रकार आशा की भी कोई सीमा नहीं है। इसलिये आशा पाश की तरह है। जैसे पाश से शरीर को बाँध दिया जाता है, उसी प्रकार से आशा के बन्धन में असुर बँधे ही रहते हैं। इसलिये ''शत'' कह दिया – आशायें अनंत हैं। दस आशा पूरी हो गयी तब भी निन्यानबे आशायें तो अपूर्ण ही रह जायेंगी। आशा पाशसे बद्ध, इनसे नियन्त्रित हैं, और भोग्य पदार्थों की तरफ आकृष्ट होते रहते हैं।

अगर आशा पूर्ण होती है, विषय की प्राप्ति हो जाती है, तब 'कामपरायणाः' उस विषय के भोग की ओर प्रवृत्ति करते हैं। और यदि आशा पूरी नहीं हो तो 'क्रोधपरायणाः' 'क्यों नहीं पूरी हुई' इस विषय पर क्रोध होता रहता है। धर्मा-धर्म को न मानने से उनके मन में यह तो कभी नहीं आता है कि 'मेरे अधर्म के कारण पूर्ण नहीं हुई', यही सोचते हैं 'इसने कुछ कर दिया होगा, उसने कुछ कर दिया होगा'। ऐसे वहमों का बहुत अनुभव होता है। हर आदमी यही सोचता है कि किसी दूसरे ने कोई टोटका कर के हमारे काम को रोक दिया। जिन्हें वैसा वहम नहीं है उनके मन में आता है कि किसी अफ़सर ने या किसी मित्र ने हमारी इधर-उधर शिकायत करके हमारे काम को रोक दिया। मेरे ही प्राचीन कर्म के कारण रुका है, यह तो कभी मन में आता ही नहीं है। चाहे अफसर हो, चाहे कोई रिश्तेदार हो, चाहे कोई टोना टोटका करने वाला हो, ये सब विघ्न करते हैं इसलिये उनके प्रति क्रोध रहता है। परमेश्वर को मानने वाला तो निश्चित रूप से जानता है कि 'कोई मेरी कितनी भी हानि

करने का प्रयत्न करे परन्तु मेरे पाप कर्म के बिना मेरी हानि नहीं हो सकती। हुई है, तो मेरा पाप है'। परन्तु चूंकि असुर धर्मा-धर्म को मानते नहीं इसिलये ये तो किसी-न-किसी दूसरे को ही कारण बतलाते हैं। काम क्रोध ही इनका परम अयन है, अर्थात् यही इनका परम आश्रय है; या विषय उपलब्धि के कारण 'काम', या न मिलने पर 'क्रोध'। बस ये दो ही इनकी गति है, दो ही भावों में हमेशा बने रहते हैं।

'कामभोगार्थम्' - ये जो अर्थ का, धन का स चय करते हैं, वह काम-भोगों के लिये, विषय-भोगें के लिये ही। न तो अर्थ स चय के समय सोचते हैं कि 'इतना हो जायेगा तो हम अमुक यज्ञ कर लेंगे, अमुक देवता की आराधना कर लेंगे, अमुक प्रकार से दान दया इत्यादि करेंगे', ये सब उनके मन में कभी नहीं आता। 'यह हो जायेगा तो अमुक भोग करेंगे' - यही इनकी योजनायें होती हैं। आजकल आदमी सोचता है कि रुपया मिल जायेगा तो एक बड़ी गाड़ी खरीद लेंगे। यह कभी सोचता ही नहीं कि 'कहीं से धन हो जायेगा तो मैं एक यज्ञ कर लूँगा, देवपूजा कर लूँगा' यह भाव आता ही नहीं। - काम-भोग के लिये, विषय भोग के लिये ही धन को एकत्रित करते हैं। 'अर्थस चयान्' - बहुवचन के द्वारा यह बतला दिया कि अनेक स चय करते चले जाते हैं। 'अमुक काम के लिये हमें खर्च चाहिये' - ऐसा नहीं वरन् और-और अर्थ स चय ही करते जाते हैं। क्योंकि इस प्रकार के स चय की कोई सीमा नहीं इसलिये - 'अन्यायेन'। न्यायपूर्वक जो अपने प्रयत्न से कमाया जाता है, उससे इन्हें सन्तोष नहीं है, इसीलिये अन्याय का सहारा लेते हैं - दूसरे का धन हरण कर लो किसी भी प्रकार से, चाहे चोरी करनी पड़े, ठगी करनी पड़े, घूस खानी पड़े। दूसरे के प्रति यह अन्याय होगा - इसकी तरफ कोई दृष्टि नहीं है। आजकल चारों तरफ ऐसा बहुत देखा जाता है। दूसरे के हिस्से के धन को अपना कर लेने के लिये तरह-तरह के प्रयत्न होते हैं। दूसरों की किसी भी चीज़ के अपहरण में असुरों को कोई संकोच नहीं होता, सोचते हैं, कि धन के ऊपर क्या कोई मोहर लगी हुई है कि उसका है! 'सब धन मेरा ही हो जाये' इसके लिये 'ईहन्ते' निरन्तर चेष्टा करते हैं, प्रयत्न करते हैं।१२।।

असन्तोषी असुरों के इस अर्थ-स चय के रूप को ही बतलाते हैं -

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

'मैंने आज यह पा लिया, यह मनोरथ भी पूरा हो ही जायेगा। यह धन तो मेरे पास है ही, अब यह धन भी मेरा हो जायेगा' - (यह असुरों के विचारों का प्रवाह है)।

'अद्य मया इदं लब्धं', आज अर्थात् इस समय तक, यह द्रव्य, यह धन, मुझे मिल गया, मैंने प्राप्त कर लिया। अब ''इदं मनोरथं प्राप्स्ये'' इतना बाकी रह गया; अर्थात् जो प्राप्त हो गया उससे संतोष नहीं है, 'यह और मेरा हो जाये' यही आशा है। जो प्राप्त हो गया, उससे असुरों को कभी संतोष नहीं हो पाता क्योंकि उससे अधिक की तरफ दृष्टि रहती है

कि 'इतना और होवे'। 'मनोरथं' मन रूपी रथ दौड़ाते रहते हैं। 'यह और हो जाये, ज़रूर हो जायेगा, इतना तो हो ही जाये, यह भी हो जायेगा' - इस प्रकार मन में, हमेशा प्रवृत्ति बनी रहती है। 'इदं धनम् अस्ति' - इतना धन तो हो गया, और पुनः 'इदमपि धनम् भविष्यति' - आगे यह धन भी मेरा हो जायेगा। आजकल कम्पनियाँ सिर्फ यह नहीं छापती कि 'हमने इस साल में इतना कमाया', उसके आगे यह भी छापती हैं कि 'आगे इतना हमें और प्राप्त होगा'। दैव का तो इनको विश्वास है ही नहीं, यही अभिमान करते हैं 'मैंने स्वयं प्रयत्न कर के कमाया है, मैंने इतना परिश्रम कर के कमाया है' अर्थात् इसमें दैव का सहाय इत्यादि कुछ अपेक्षित नहीं है, अपने ही प्रयत्न से सब कुछ हो जायेगा, सब कुछ हो रहा है ऐसा समझते हैं। अतः यदि नहीं प्राप्त कर पाये तो कोई-न-कोई विघ्न कर रहा है, यह मानकर उसके प्रति क्रोध बना रहता है। इस प्रकार अर्थसंचयन में तल्लीन रहना, इसकेलिये अन्याय करने में संकोच न करना और साभिमान बटोरे धन से कामोपभोग ही करना, धर्म न करना असुरों का लक्षण है।।१३।।

पूर्व श्लोक से कामपरायणता का परिचय दिया। अब दूसरों के प्रति जो उनका भाव होता है, उस क्रोधपरायणता को बतलाते हैं -

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
इश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

'वह शत्रु मैंने मार दिया, अन्यों को भी समाप्त कर दूँगा। मैं समर्थ हूँ, सब तरह से सम्पन्न हूँ, ओजस्वी और नीरोग हूँ अतः मैं ही संसार का भोग करता हूँ (बाकी तो दुनिया पर बोझ हैं)।' - (यह आसुर निश्चय है।)

'हतः' से केवल प्राणान्त करना ही नहीं, सब तरह की हिंसा समझना : व्यापार के प्रतिद्वन्द्वी को विभिन्न हथकण्डों से नुकसान पहुँचाना, अपने वश में न आने वाले अफसरों का तबादला करा देना इत्यादि उपायहिंसा में भी असुरों की ही प्रवृत्ति होती है। इसमें भी मुख्य विरोधी दूर करके उन्हें संतोष नहीं होता। एक को नष्ट करके सोचते हैं कि अब जो दूसरे विरोधी हैं उनको भी 'हनिष्ये अपरान्' खत्म कर दूंगा। 'मेरी कमाई हो गई' इतने मात्र से लोगों को संतोष नहीं होता, दूसरे की कमाई बंद हो जाये यह भी चाहते हैं। और यदि उसकी कमाई बंद नहीं होती तो उसको भी मरवा देते हैं। - आचार्य शंकर कहते हैं कि असुर लोगों का विरोध हमेशा सत्पुरुषों के प्रति अधिक होता है। इस लिये उनके मन में होता है, 'ये संतोषी तपस्वी मेरा क्या कर सकते हैं? मुझे आता है कैसे सोने का जूता मारा जाता है, लोगों से काम कराया जाता है, ये तो बस सोचते रहते हैं - यह करना ठीक नहीं, यह करना ठीक नहीं! इस बीच मैं अपना काम बना लूँगा। ये बेचारे धर्मात्मा लोग क्या कर सकते हैं? ये तो काँटे हैं, इनको तो निकाल ही देना चाहिये।'

'अहम् ईश्वरः' 'मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ। सरकार मेरी जेब में है, जो चाहूँ सो

करा लूँगा'। किसी समय हिरण्यकशिपु ने यही ढिंढोरा पिटवाया था कि, 'मेरे सिवाय और कोई ईश्वर नहीं है, मेरी ही पूजा करो।' भगवान् का तो विचित्र खेल है! उन्होंने कहा, 'तू दुनिया से मनवाता है, अपने लड़के से ही मनवा ले!' थोड़ा भी विचार करता तो समझ लेता कि 'जब मैं लड़के को ही नहीं मनवा सकता हूँ तो मैं काहे का सर्वसमर्थ हूँ!' परन्तु इतना ही विचारक होता तो फिर राक्षस क्यों होता! लड़के को भी मार-पीटकर समझाने का प्रयत्न किया, यहाँ तक की उसको जान से मारने का प्रयत्न किया। अन्त में, स्वयं नष्ट हो गया। असुर स्वयं को ईश्वर अर्थात् सर्वसमर्थ समझता है अतः उसे निश्चय रहता है कि 'अहम् भोगी' - 'मैं सब चीज़ों का भोग कर सकता हूँ'। इसलिये अनेक विवाह करके अनेक स्त्रियों का भोग करना ही स्वर्ग का आनन्द है इत्यादि मानकर इस प्रकार की प्रवृत्तियों में जाता है। 'अहम् सिद्धः' - 'मैं सारी सिद्धियों वाला हूँ। जिस चीज़ को सिद्ध करना चाहता हूँ उसको कर देता हूँ। मेरा सामना कौन कर सकता है? मेरे इतने बेटे हैं, इतने पोते हैं, इतने नाती हैं, इन सबसे-युक्त हुआ मैं अत्यन्त बल वाला हूँ। और मैं ही एकमात्र सुख को प्राप्त करने वाला हूँ, बाकी लोग तो बिना मतलब देश के ऊपर बोझा बने हुए हैं! देश का कल्याण करने वाला तो मैं ही हूँ।' इस प्रकार के अहंकारप्रधान भाव असुरों में स्वाभाविक होते हैं।।१४।।

अन्य सभी की अवहेलना कराने वाला अभिमान उसमें कितना अधिक होता है यह दिखाते हैं-

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

धनाढ्य व कुलीन मैं ही हूँ, मुझ जैसा दूसरा कौन है! (ऐसा) यज्ञ करूँगा (कि धार्मिक भी फीके पड़ जायेंगे)। (नरों आदि को धन बाँटूँगा, अतिशय हर्ष पाऊँगा।' अज्ञान से अविवेकी बने असुर ऐसा सोचते-करते हैं।

'आढ्यः अस्मि' - 'मेरे पास सम्पत्ति का पारावार नहीं है। सब तरह से भरा पूरा हूँ। खाली धनादि से ही भरा पूरा नहीं हूँ - 'अभिजनवानस्मि' मेरे सात कुल में ऐसे-ऐसे विद्वान् हुए हैं, ऐसे-ऐसे धनी हुए हैं कि मेरे जैसा कोई कुलीन नहीं है। कुल-परम्परा की श्रेष्ठता में भी मैं ही हूँ। मेरे से अच्छा कुल किसका है! इतनी पीढ़ियों से धन वाला दूसरा है कौन? मेरे समान और कोई नहीं है। 'यक्ष्ये' - मैं बड़े पूजा पाठ इत्यादि करके यजमानों के द्वारा भी महिमा को प्राप्त करूँगा। उसके द्वारा मुझे और प्रतिष्ठा की प्राप्ति होगी। बड़े-बड़े यज्ञों को करवा कर मैं खूब दुनिया में धन इकट्ठा करूँगा, प्रतिष्ठा भी प्राप्त करूँगा।' असुरों के यज्ञ का उद्देश्य, पूजा का उद्देश्य, भगवान् की या देवता की प्रसन्नता नहीं है। ये उसको करते हुए भी सोचते हैं कि दूसरों को नीचा कैसे दिखायें। यज्ञ अपने धन से करें तो स्वयं को पुण्य हो। लोग चन्दा बटोरकर यज्ञ करते हैं! यज्ञ का पुण्य किसे होगा? चंदा इसीलिये लेते हैं कि स्वयं के धन से इतना बड़ा आयोजन नहीं कर सकते।

धर्म की दृष्टि हो तो चाहे छोटा ही हो सके, निजी धन से यज्ञ करेंगे। किन्तु प्रदर्शन प्रधान होने से बड़ा आयोजन करते हैं, उसके लिये चंदा बटोरते हैं। फिर हिसाब भी नहीं रखते, पंडितों को पूरी दक्षिणा भी नहीं देते! चंदा लेने में कौन अधिकारी, किससे धन लेना उचित है आदि विचार का प्रसंग ही नहीं है। अतः बाहर से दीखते हैं कि यज्ञादि कर रहे हैं परन्तु वे श्रद्धा से सर्वथा रहित हैं। 'ईश्वर और देवता हैं, उनकी प्रसन्नता के लिये कर रहा हूँ'- यह तो भाव ही नहीं है। उससे कितना फायदा होगा, बस इसी को देखते हैं।

इसी प्रकार से – 'दास्यामि' – 'मैं दान करूँगा'। दूसरों को नीचा दिखाने के लिये दानादि कार्य करते हैं। सनातन धर्म में कन्यादान को बड़े पुण्य का कार्य माना। उसमें भी असुरों के मन में रहता है 'मेरे भाई ने पचास तोला सोना चढ़ाया था, मैं सत्तर तोला चढाऊँगा, उसको नीचा दिखा दूँगा'। कन्यादान का उद्देश्य नहीं है, अपने भाई को नीचा दिखाने का उद्देश्य है। और फिर बार-बार लोगों से पूछते हैं 'वहाँ से इक्कीस हुआ कि नहीं?' इसी तरह सर्वत्र दान का उद्देश्य दूसरों का अभिभव रहता है। और जो उनकी प्रशंसा करने वाले नट आदि हैं उन्हें खूब देते हैं ताकि चारों ओर ढिंढोरा पिट जाये कि वे बड़े सम्पन्न हैं। जब लोग कहें 'आपने सब को नीचा दिखा दिया', इन्हें 'मोदिष्ये' खूब प्रसन्नता होगी।

ऐसा क्यों होता है? भगवान् कहते हैं – 'अज्ञानविमोहिताः'। अज्ञान के कारण उनको पता नहीं है कि इन सब तरीकों से अपने ही नरक का रास्ता प्रशस्त कर रहे हैं। ठीक है, लोगों ने तो प्रशंसा कर दी कि बड़ा भारी यज्ञ किया, लोगों ने प्रशंसा कर दी कि बड़े दानवीर हैं, परन्तु अपने तो नरक जाने का मार्ग प्रशस्त कर लिया। अज्ञान अर्थात् अविवेक द्वारा वे खुद ही मोह में पड़े हुए हैं।।१५।।

इस तरह की प्रवृत्ति का फल बताते हैं –

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनेकाग्र संकल्पों से घोर भ्रम में पड़े तथा अविवेकरूप जाल में फँसे असुर काम्य भोगों में ही लगे रहकर अशुद्ध नरकों में जा पड़ते हैं।

जो एक नहीं होता है उसको अनेक कहते हैं। जो सदाचारी है उसका तो एक ही चित्त है, एक ही परमात्मा है जिसके लिये वह सब कुछ करता है। उसके लिये भगवान् पहले कह आये हैं, 'जो भी इन्द्रियों से करो, जो भी लौकिक काम करो, जो भी शास्त्रीय कर्म करो, सब परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये करो।' उनकी प्रसन्नता होकर उनके अनुग्रह से जो भी मिले बस उसी से सज्जन संतोष करता है। एक परमेश्वर को नहीं मानने वाले होने से असुर अनेकचित्त होते हैं – यह काम इस देवता से सिद्ध नहीं हुआ तो उस देवता से सिद्ध करा लें, हिन्दू के देवता से नहीं हुआ तो मुसलमानों की मज़ारों से करा लें – यह इनकी सोच होती है। जैसे देवविषयक, ऐसे ही साधनविषयक अनेकचित्तता है। धन किस साधन

से कमाना है इसका भी इन्हें एक निश्चय नहीं। तरह-तरह के व्यापारों में, उद्योग-धन्धों में या नौकरियों में हाथ डालते ही रहते हैं। किसी एक कामसे ही कमाना है - ऐसा नहीं समझते। इसलिये निरन्तर इनके जीवन में तनाव बना रहता है। क्या पढ़ना है - यह भी निश्चय नहीं कर पाते, अनेक विकल्प उपलब्ध रखना चाहते हैं। यहाँ तक कि किससे ब्याह करना है इसमें भी असुरों का एक निश्चय नहीं होता!

'मोहजालसमावृताः' - मोह अर्थात् विवेकाभाव। जो उनका कर्तव्य-अकर्तव्य के प्रति, ज्ञातव्य-अज्ञातव्य के प्रति अज्ञान है, अविवेक है, वह जाल की तरह है, जिसमें वे फँसे रहते हैं। सत्पुरुष के लिये तो रास्ता सीधा होता है, परन्तु इनके तो अविवेक की कोई सीमा है नहीं इसलिये जाल में फँसे की तरह रहते हैं। जाल जैसे चीज़ को ढाँक देता है वैसे ही असुर मोह से हमेशा समावृत रहते हैं। कभी भी भ्रम की निवृत्ति का प्रसंग आता ही नहीं। एक चीज़ गड़बड़ हुई तो विचार में प्रवृत्त होने के बजाये फिर दूसरी चीज़ की आशा बाँध कर रखते हैं! इसलिये ठीक निर्णय पर कभी पहुँचना उनके लिये सम्भव ही नहीं हो पाता।

'कामभोगेषु प्रसक्ताः', प्रसक्त हैं, हमेशा कामभोग को ही सोचते रहते हैं कि कैसे विषय-भोग होवे। आजकल के युग में रोज़ कोई-न-कोई नया विषय आता रहता है इसके कारण, आवश्यकता न होने पर भी बहिर्मुखी व्यक्ति अधिकाधिक और नवीन विषयों के संग्रह में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार कामभोगों की वृद्धि ही होती चली जाती है, उसी में प्रसक्त रहते हैं, उसी में लगे रहते हैं। परमार्थ की बात तो सोच ही नहीं सकते। कामभोगों में प्रसक्त होकर उनको एकत्रित करने के लिये तरह-तरह के पापों को बटोरते रहते हैं। घूस देकर के, झूठ बोलकर के, क्या-क्या नहीं करके विषय बटोरते रहते हैं। पूछो तो कहते हैं कि 'इसके बिना काम नहीं चलता!' 'काम नहीं चलता है' का मतलब है कि जिन अनन्त कामभोगों में प्रसक्त हैं वे नहीं मिलेंगे। आसुरी प्रवृत्ति के नेता कहते हैं कि इस प्रकार की काम भोगों में प्रसक्ति होगी तभी राष्ट्र उन्नत होगा! ऐसी प्रवृत्तियों के बढ़ने से लोग ज़्यादा दुःखी हो रहे हैं तो फिर वह राष्ट्र कौन-सी चीज़ है जो सुखी हो जायेगा? पर यह सोचना ही नहीं चाहते क्योंकि मोहजालसे समावृत हैं। जो संतोषी होता है, उसको असुर कहते हैं 'यह तो राष्ट्र को पीछे ले जाने वाला है, इससे क्या उन्नति होने वाली है!' इस प्रकार से कल्मषों को इकट्ठा करते हैं तो उसका नतीजा यही होता है कि 'अशुचौ नरके पतन्ति' अशुद्ध नरकों में पड़ते हैं। नरक में मल-मूत्र में पकना पड़ता है, पीप इत्यादि की नदी में डुबाया जाता है, अत्यंत घृणित स्थिति होती है। अर्थात् वे जितना प्रयत्न कर रहे हैं सब अपने दुःखों के लिये कर रहे हैं, पर अविवेकी होने से समझते नहीं हैं कि जान बूझ कर अपना नुकसान कर रहे हैं। महाभारत के अन्त में भगवान् वेदव्यास बताते हैं कि मनुष्य कैसे हो गये हैं -

'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छिन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।'

पुण्य का फल सुख तो चाहते हैं, पर पुण्य करना कभी नहीं चाहते। पाप के फल दुःख की इच्छा तो नहीं करते, लेकिन कोशिश कर-कर के पाप करते हैं, नये-नये तरीके निकालते हैं पाप करने के। जितना ज़्यादा पाप करने का तरीका निकालते हैं उतना ही अपने को समझते हैं 'मैं बड़ा चतुर हूँ, बड़ा बुद्धिमान् हूँ'। दूसरे आसुरी वृत्ति वाले भी कहते हैं 'हाँ, देखो! यह बड़ा चतुर है। दूसरे की सम्पत्ति दबा ली, कितना बुद्धिमान् है!' कितना बुद्धिहीन है यह तो सत्पुरुष ही समझेंगे कि आगे अपने लिये क्या तैयारी कर रहा है।।१६।।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

असुर लोग स्वयं को सर्वगुणसम्पन्न मानते हैं, विनम्रतारहित होते हैं, धन के कारण स्वयं धृष्ट और अन्यों की अवहेलना करने वाले होते हैं। धर्मध्वजी होकर नाममात्र के यज्ञ करते हैं जिनमें विधियों का पालन नहीं करते।

'आत्मसम्भाविताः' - अपने में ही सारे गुण हैं, ऐसा असुर स्वयं मान लेते हैं। किन्हीं दूसरे लोगों के द्वारा, 'इनमें ये गुण हैं' ऐसा सम्भावित नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं कि किसी दूसरे ने कहा हो इनमें ये गुण हैं, पर अपने से ही अपने में गुणों का वर्तमान होना उनको लगता है। 'स्तब्धाः' - हर परिस्थिति में ठूँठ की तरह खड़े ही रहते हैं। माता-पिता, गुरु किसी के सामने कभी भी झुकना तो जानते ही नहीं। सोचते हैं 'मेरे से श्रेष्ठ कोई होवे, तब उसके सामने झुकूँ। जब मेरे से श्रेष्ठ कोई है ही नहीं, तो मैं किसके सामने झुकूँ? दूसरे लोग मेरे सामने झुकें।' जैस श्वेतकेतु के बारे में छान्दोग्य उपनिषद् में आता है कि पिता के समाने जाकर भी ठूँठ की तरह खड़ा रहा। विद्या का फल होना चाहिये मनुष्य में नम्रता। हमारे यहाँ नियम है, 'विद्या ददाति विनयं'। जितनी विद्या प्राप्त हो उतनी नम्रता आनी चाहिये। क्योंकि जितनी विद्या आती है उतना ही पता लगता है कि मैं कितना *नहीं* जानता। महाराजा भतृहरि कहते हैं 'यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं' 'जब मैं बहुत थोड़ा जानता था, तब तो हाथी की तरह मदमस्त था, अपने को सबसे ज़्यादा विद्वान् समझता था, घमण्ड में चूर था कि 'मैं बहुत जानने वाला हूँ'। जब जानने वालों के पास गया तब पता लगा कि 'अरे! मैं तो कुछ भी नहीं जानता'। विद्या से विनय आती है। मैट्रिक के अन्दर भौतिकी पढ कर बच्चा समझता है कि मैंने विज्ञान समझ लिया। जब आगे पढ़ता है तब पता लगता है, 'अरे! हम लोग कुछ भी नहीं जानते'। इसलिये विद्या से विनय आती है। असुर यों विनयी नहीं होते क्योंकि विद्या से दूर ही रहते हैं।

'धनमानमदान्विताः' - धन के कारण भी उनके अंदर अपनी योग्यता का अभिमान होता है। जैसे विद्या में अपने से श्रेष्ठ को देखो तो विनय आती है ऐसे धन में भी अपने से अधिक को देखो तो विनय आ सकती है। पर असुर दूसरे का अधिक धन देखकर विनयी

नहीं होता बल्कि चाहे जिस तरीके से और धन बटोरने में लगता है, उसका असंतोष ही बढ़ता है। सज्जन तो अधिक धनी को देखकर विचार करता है कि धन की थाह है नहीं अतः जो है उसी से संतोष करना चाहिये। किन्तु असुर की भूख ही बढ़ती है। मद अर्थात् 'मेरा कोई कुछ बिगाड ही नहीं सकता' ऐसा नशा; असुरों को धन के कारण मान व मद ज़रूर होता है।

आसुरी सम्पत्ति वाले 'नामयज्ञैः यजन्ते'। नाम मात्र के यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। आजकल 'सोमयाग' 'अश्वमेध याग' आदि बड़े यज्ञों का नाम रखकर गायत्रीमंत्र से आहुति डलवाते हैं! किंचित् भी उन यज्ञों से समानता न होने पर भी उन नामों का प्रयोग करते हैं ताकि ख्याति हो जाये। किंच नाममात्र का अर्थात् थोड़ा-सा पूजनादि कर देते हैं और प्रचार करते हैं कि बहुत बड़ा यज्ञ हो गया। विधियों का पालन करते ही नहीं। अथवा, नाम या ख्याति कमाने के लिये यज्ञ करते हैं, अपने नाम के आगे 'अग्निहोत्री', 'दीक्षित', 'वाजपेयी' आदि उपाधि जुड़ जाये इसीलिये यत्किंचित् अनुष्ठान कर लेते हैं। अथवा, आजकल एक प्रवृत्ति है कि भगवान् के नाम की आवृत्ति करते हैं, उसे ही यज्ञ घोषित कर देते हैं; उन्हें भी यहाँ नामयज्ञों में समझ लेना चाहिये। नामावर्तन उत्तम कर्म है पर उसे यज्ञ तो ख्यातिलाभ के लिये ही कहते हैं। जो तो भगवान् ने जपयज्ञ कहा उसके निश्चित नियम हैं, पर जो ये नामावर्तन के सत्र चलते हैं इनमें न वे नियम पाले जाते हैं, न जप ही होता है क्योंकि अलग-अलग लोग उच्च स्वर से बोलते रहते हैं। ऐसे सत्र पुण्यप्रद भले ही हों पर उन्हें यज्ञ के रूप में प्रचारित करना आसुरी प्रवृत्ति है। इसीलिये कहा 'नामयज्ञैः ते यजन्ते'।

ऐसा क्यों करते हैं? 'दम्भेन'। धर्मध्वजी बनने के लिये कि 'मुझे लोग बड़ा भारी धर्मात्मा समझें'। दम्भी व्यक्ति धर्म इसलिये नहीं करता है कि धर्म करना चाहिये वरन् इसलिये करता है कि लोग मुझे धार्मिक समझें। नीलकण्ठ दीक्षित कलिकाल की विडम्बना का वर्णन करते हुए लिखते हैं 'सदा जपपटे हस्तो मध्ये मध्येऽक्षिमीलनम्। सर्वं ब्रह्मेतिवादश्च सद्यः प्रत्ययहेतवः।।' सेठ जी का हाथ हमेशा गोमुखी में रहे, जप करते रहें; बीच-बीच में मिनट-आधा मिनट आँखें मूँद लें, ध्यान में मग्न हो जायें; बात-बात में कहें 'एक परमात्मा ही सत्य है, बाकी सब मिथ्या है'; तो ग्राहक को तुरन्त विश्वास हो जाता है। उनके बताये दाम पर माल खरीद लेता है। व्यापारी की तरह अन्य लोग भी धर्म का, त्याग का, अध्यात्म का प्रदर्शन लोगों को ठगने के लिये करते हैं। असुरों की ऐसी प्रवृत्ति दंभवश हो जाती है। अतएव 'अविधिपूर्वकम्' शास्त्रों में जो विधि की है, यज्ञों की जो इतिकर्तव्यता बताई है, उस प्रकार से करने में उन्हें रुचि नहीं होती। उनकी प्रवृत्ति का हेतु धर्मध्वजिता है कि सबको पता लग जाये कि यह यज्ञ उन्होंने कर लिया; विधि पूरी हुई कि नहीं - ये सब कहाँ किसी को पता चलता है! इसलिये ऐसे लोग छोटे-मोटे यज्ञों का नाम भी नहीं लेंगे। सीधे, छोटे

यज्ञादि तो ठीक हुए या नहीं सब लोग समझ सकते हैं अतः उन्हें न कर ऐसे यज्ञों का आयोजन करते हैं जिनके बारे में अधिकतर लोग कुछ समझते ही नहीं। अश्वमेध, सोमयाग, इत्यादि देखा हुआ तो साधारण लोगों का है नहीं इसलिये किसी के मन में ही नहीं आयेगा कि विधि पूरी हो रही है या नहीं। असुरों का उद्देश्य धर्म है ही नहीं कि यथाविधि करें।।१७।।

धर्ममार्ग की तरह ब्रह्ममार्ग से भी असुर दूर रहते हैं यह समझाते हैं –

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

अहंकार, ताकत, घमण्ड, कामना, क्रोध आदि दोषों पर आश्रित हुए वे अपने और अन्यों के शरीरों में मौजूद मुझ ईश्वर से प्रद्वेष करते हैं, तथा सन्मार्गियों के गुणों को सहन नहीं कर पाते।

'अहंकार' – अहं करोति इति अहंकारः। अहं इत्याकारक वृत्ति के अन्दर, प्रतिबिम्बित चैतन्य को ही अपना स्वरूप समझना मूलतः अहंकार है। हूँ तो मैं अहंकारात्मिका वृत्ति का साक्षी, परन्तु अहं इत्याकारक वृत्ति के साथ मैं एक होकर, उसमें जो प्रतिबिम्बित अहं है उसी को अपना स्वरूप मानता हूँ। अन्तःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति को तुमने अपना स्वरूप माना तो अन्तःकरण अपने आप तुम्हारे स्वरूप से एक हो गया। इसलिये मन के संस्कार तुम्हें अपने लगते हैं। वे संस्कार प्रवृत्त तो अहं को करेंगे, पर तुमको प्रतीत होगा, 'ये संस्कार मुझे प्रवृत्त कर रहे हैं।' अन्तःकरण जिस शरीर के हृदय में है, उस शरीर के साथ भी एकता हो जाती है, कि 'यह शरीर मैं हूँ'। इसलिये शरीर सुन्दर तो 'मैं सुन्दर', शरीर ब्राह्मण तो 'मैं ब्राह्मण'। उस अन्तःकरण के अन्दर जो गुण विद्यमान हैं, और जो बहुत से विद्यमान नहीं हैं, कल्पित हैं, उन सब गुणों को अपने में आरोपित कर लेता है। ऐसे ही स्थूल शरीर में भी जो गुण मौजूद हैं उनका और कल्पित अनेक गुणों का अपने पर आरोप कर लेता है। इस प्रकार से अहंकार स्थूल स्थूलतर होता चला जाता है। अहंकार, अहं के साथ अपने को एक कर लेना सारे दोषों का मूल है। जैसे तुम अगर एक चुम्बक पत्थर लो, और उसके नीचे एक कील लटका दो; कील के नीचे एक पतली कील लटका दो, वह लटक जाती है, उसके नीचे एक आलपिन लटका दो, वह भी लटक जाती है। लगता तो ऐसे है कि आलपिन छोटी कील पर लटकी हुई है, छोटी कील बड़ी कील पर लटकी हुई है बड़ी कील लोहे पर लटकी हुई है परन्तु यदि तुम बड़ी कील के ऊपर से चुम्बक पत्थर को हटा दो, तो बाकी अपने आप गिर जायेंगी, उनको अलग-अलग नहीं गिराना पड़ता। चुम्बक की उपस्थिति में ही कील आदि चुम्बक जैसी बन जाती हैं, जैसे चुम्बक लोहे को पकड़ता है वैसे वे भी पकड़ लेती हैं। जैसे ही तुमने चुम्बक पत्थर को हटा दिया वैसे ही कील आदि की चुम्बकीय शक्ति ख़त्म हो जाती है। ठीक इसी प्रकार से जब अहंकारात्मिका

वृत्ति के साथ आत्मा एक हो गया तब अहंकार में ऐसा बल आ जाता है कि सूक्ष्म व स्थूल शरीरों को अपने साथ रख लेता है। अगर अहंकार से तुमने अपनी एकता को छोड़ दिया, कि 'अहंकारात्मिका वृत्ति मैं नहीं हूँ', उससे अगर तुमने अध्यास हटा लिया, तो बाकी के अध्यास अपने आप ख़त्म हो जाते हैं क्योंकि उस अहंकार वृत्ति के आश्रय से ही वे हमसे सम्बद्ध थे। इसलिये भगवान् ने सबसे पहले अहंकार को कहा। भाष्यकार कहते हैं, कि यह जो अहंकार का अध्यास है यही अविद्या नाम से कहा जाता है! और इसलिये - 'कष्टतमः' यही हमारे सारे कष्टों का कारण है। सारे दोषों का मूल यही है। जितने अनर्थ हैं, पापादि हैं, सब में प्रवृत्ति का मूल कारण अहंकार से अध्यास होना है। अहंकार से एक हुए तो सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर में आत्मबुद्धि हो जाती है। स्थूल शरीर को पदार्थों की प्राप्ति होने से सुख होगा। उन पदार्थों की प्राप्ति यदि पापकर्म के द्वारा होती है तो हम पाप कर्म करते हैं। इस शरीर से अध्यास हटने के बाद तो इसके लिये कोई पाप नहीं करते। शरीर से अध्यास मरने पर सबका हट ही जाता है; जिस शरीर के साथ तुम्हारा मैं का सम्बन्ध नहीं रह जाता तब उस शरीर की रक्षा के लिये क्या तुम कुछ भी प्रयत्न करते हो? पाप उसी शरीर के सुख के लिये करते हो जिसमें अध्यास है। यदि आगे की सोचो तो पाप नहीं करोगे। गाँधीजी को एक बार डाक्टरों ने ज़ोर लगाया, कि अण्डा खायें। गाँधीजी ने डाक्टर से पूछा 'अरे तुम्हारे पिता ज़िन्दा हैं?' बोला 'नहीं।' 'दादा ज़िन्दा हैं?' बोला 'नहीं।' 'तुम्हारा बड़ा भाई ज़िन्दा है?' कहा 'नहीं।' गाँधीजी ने कहा 'उन सबको तुमने अण्डा क्यों नहीं खिलाया? तुम कह रहे हो कि मैं अण्डा खाऊँगा तो बच जाऊँगा, देश का कल्याण होगा। उनको तुमने अण्डा क्यों नहीं खिलाया? अगर अण्डे खाने से ही कोई बचता हो, तो उनको बचा लेते अण्डा खिलाकर।' डाक्टर ने कहा, 'जी, मरने से तो किसी को नहीं बचा सकते।' यह सुनकर गाँधीजी ने सबसे कहा, 'डाक्टर साहब कह रहे हैं कि मरने से तो बचा नहीं सकते। जब मैं जाऊँगा मर कर के और यमराज के डण्डे खाऊँगा, तब तुम लोग कोई काम नहीं आओगे। मुझे तो न अण्डे खाने हैं न यमराज के डण्डे।' प्रायः करके देखोगे कि पाप कर्मों में प्रवृत्ति साठ-पैंसठ प्रतिशत तो खाली शरीर के लिये ही होती है। बाकी जो पैंतीस चालीस प्रतिशत हैं वे सूक्ष्म शरीर को लेकर करते हैं। 'कोई मुझे गाली न दे दे, कोई मेरा अपमान न कर दे', इसी को लेकर मनुष्य दुःखी होता है और बचने के लिये पाप भी कर लेता है। अनर्थ की प्रवृत्ति मूलतः अहंकार को लेकर ही है।

अहंकार के कारण ही आसुरी बल होता है, जो दूसरे को दबाने के लिये प्रयुक्त होता है। बल शब्द से किसी भी प्रकार के सामर्थ्य को कहते हैं। शम दमादि भी बल हैं, इसलिये अतिधन्य वेद कहता है, कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यहाँ बल का मतलब है शम दमादि। आत्मज्ञान के लिये कोई तुम्हें पहलवान तो बनना नहीं है! आसुरी बल अहंकार-मूलक है, यह दूसरे को दबाने के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला है। इसलिये नीतिकारों ने भी कहा है, 'विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय खलस्य'। दुष्ट पुरुष विद्या प्राप्त

किसलिये करते हैं? विवाद करके दूसरे को दबाने के लिये। - विद्या ज्ञान के लिये नहीं प्राप्त करते, विवाद करने के लिये अर्जित करते हैं। 'धनम् मदाय' - धन एकत्रित करते हैं तो गरीबों को, ब्राह्मणों को देने के लिये नहीं वरन् मद के लिये। धन का भी एक बड़ा ज़बर्दस्त नशा होता है। इसलिये किसी हिन्दी के कवि ने कहा है, 'कनक कनक तै सौ गुनी, मादकता अधिकाय' - धतूरा और सोना, इन दोनों में सोने का जो मद है वही ज़्यादा होता है। यह कैसे पता लगता है? धतूरे को तो जब तुम खाओ तब अपना असर दिखाता है, और पैसे को प्राप्त करने से ही मद आ जाता है! धतूरा खाने पर तुम्हें नशा चढ़ाता है और धन तो हाथ में आते ही नशा चढ़ा देता है। इसी तरह खल पुरुषों की शक्ति पराभिभव के लिये है। दूसरे को पीड़ा देने के लिये है। साधुपुरुष के लिये ये चीज़ें ठीक इससे उल्टा कर देती हैं। विद्या से वह विवाद नहीं करता, उससे तो ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरे को भी ज्ञान कराने के लिये ही समझाता है। विवाद के लिये विद्या का प्रयोग नहीं करता, अपने भी ज्ञान के लिये और दूसरों के भी ज्ञान के लिये ही विद्या का उपयोग करता है। धन इकट्ठा करेगा तो दान के लिये और अगर उसके पास शक्ति होगी, तो कमज़ोर की रक्षा के लिये ही उसका प्रयोग करेगा। दूसरे को पीडा देने के लिये नहीं प्रयोग करेगा।

असुर लोग दर्प वाले होते हैं, कामना और क्रोध वाले होते हैं। दर्प काम और क्रोध जहाँ होंगे, वहाँ बल पर-पीडाका ही हेतु बनेगा। सात्त्विक लोग दर्प, काम, क्रोध, से रहित होते हैं इसलिये उनका बल दूसरे के रक्षण में लगेगा। आपस्तम्ब धर्मसूत्र कहता है, 'दर्प वह है जिसके आने पर मनुष्य धर्म का अतिक्रमण करता है।' जब कोई खुशी की परिस्थिति आती है, अर्थात् मन के अनुकूल काम हो जाता है, तब मन में एक ज़बर्दस्त हर्ष आता है, 'वाह! मार ली बाजी', और जब दर्प आता है, तब धर्म का अतिक्रमण करता है, 'मेरा कोई क्या कर सकता है!'। दर्प भी अन्तःकरण में रहेगा, अन्तःकरण के आश्रय में रहेगा। दर्पी का बल धर्म के अतिक्रमण के लिये होगा, धर्म की रक्षा के लिये नहीं। दर्प क्यों होता है? हम कामनापूर्वक प्रवृत्ति करते हैं तो कामनापूर्ति से दर्परूप हर्षविशेष होता है। यदि हम कामना से प्रेरित नहीं हैं तो दर्प का प्रश्न ही नहीं उठता। मालिक के नफे से मुनीम को दर्प नहीं हो जाता! ऐसे ही सत्पुरुष परमात्मा की आज्ञा का ही पालन करता है, फल परमात्मा को ही अर्पित करता है अतः उसे दर्प हो नहीं पाता क्योंकि ऐसी कोई कामना रखता नहीं जिसकी पूर्ति से हर्षोद्रेक हो। अतएव क्रोध से बच जाता है क्योंकि कामनापूर्ति में रुकावट के विरुद्ध ही क्रोध हुआ करता है, कामना न होने पर क्रोध का सवाल ही नहीं उठता। अतः भगवान् ने दर्प व क्रोध के मध्य काम को रखा क्योंकि यह दोनों का हेतु है। मूल कारण अहंकार, उसी के कारण फिर बल, दर्प, काम, क्रोध, ये सब होते हैं। बल का प्रयोग दर्प के कारण करता है, काम के कारण करता है, क्रोध के कारण करता है। और काम ही दर्प और क्रोध को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार इनमें एक-दूसरे की कार्यकारणता भी है। इनमें से किसी-न-किसी का अन्तःकरण में हमेशा आसन जमा ही रहता है। इसलिये कहा 'संश्रिताः'।

'आत्मपरदेहेषु' - आत्मदेह मायने अपना शरीर और परदेह मायने दूसरों का शरीर। अपने शरीर के अन्दर परमेश्वर आत्मरूप से विद्यमान है। परमेश्वर की इसीलिये परमता है। ईश्वर का अर्थ है शासन करने वाला। संसार में बहुत शासन करने वाले हैं। पुलिस वाले, मिलिटरी वाले, मंत्री लोग, राजा लोग, बहुत से शासन करने वाले हैं। फिर परमेश्वर को परम क्यों कहते हैं? बाकी सब का शासन अप्रतिहत नहीं है, अर्थात् बाकी सबके शासन को किसी अन्य सहयोग की अपेक्षा होती है, और उसका विरोध करना संभव है। क्योंकि वे सब शासन करते हैं दूसरे रह कर, और हमें परतन्त्र करना चाहते हैं। उनकी बात मानें, हम अपनी बात न मानें - यह वे चाहते हैं। हर मनुष्य चाहता है हम अपनी बात मानें और दूसरे की बात न मानें! धनादि के लोभ कारण दूसरे की बात को मानना पड़ता है। परन्तु जैसे ही हमारे ऊपर से वह रुकावट दूर हो जाती है, फिर हम अपने मन की ही करेंगे। अतः दूसरे ईश्वर अप्रतिहत नहीं हो पाते। परमेश्वर का शासन अप्रतिहत इसलिये है, कि वह हमसे अलग होकर हमारा शासन नहीं करता। संस्कार हमारे अन्तःकरण में उद्बुद्ध होकर 'हमारे हैं' - यह प्रतीति होती है, हमें लगता है कि 'हम अपने मन की कर रहे हैं, हम स्वतन्त्र हैं'। परन्तु वस्तुतः हम मन के अर्थात् मन के संस्कारों के अधीन होकर करते हैं, और मन के संस्कारों का प्रवर्तक परमेश्वर है। इसलिये वेद कहता है, जिसको आगे सुख मिलने का समय आने वाला है, उसके अन्तःकरण में पुण्य के संस्कार ही उद्बुद्ध होते हैं जिसके कारण वह पुण्य कर्म करता है और उसको सुख मिलता है। जिसको दुःख मिलने वाला होता है उसके पाप के संस्कार प्रकट होते हैं, इसलिये वह पाप कर्म करता है, और दुःख उठाता है। क्योंकि इस प्रकार हमारे अभिमान के विषय बने मन आदि का ही वह संचालन करता है इसलिये हम उसे बाहरी शासन न समझकर उसका विरोध नहीं करते। जब परमेश्वर की भी इच्छा अपनी न लगकर दूसरे की लगती है तब उसे मानने में आना-कानी करते हैं। शास्त्र में ईश्वर की इच्छायें प्रकट हैं पर वे क्योंकि हमें अपनी इच्छा नहीं लगती इसलिये उन्हें नहीं मान पाते। शास्त्रीय नियमों को मानते समय हमें लगता है कि ये तो हमारे बाधक हैं। जब मर्ज़ी हो उठना, जब मर्ज़ी हो सन्ध्या करना, करना या नहीं करना - ये हमारे मन के अनुसार होने से हमें ठीक लगते हैं। जब बुद्धि के द्वारा किये हुए निर्णय के अनुसार हम चलने लगते हैं, तब धीरे-धीरे मन में बुद्धि के संस्कार दृढ हो जाते हैं, तब पता लगने लगता है कि शास्त्रीय बातें ही ठीक हैं। जो प्रवृत्त करने वाले मन के संस्कार हैं, उनको उदय तो भगवान् करते हैं हमारे अन्दर बैठकर, हमसे अभिन्न होकर, इसलिये संस्कारों का प्रवाह हमें अपना लगता है। अतः परमेश्वर का शासन अप्रतिहत है। उन्होंने ही सर्वज्ञरूप से शास्त्र प्रतिपादित किये हैं, अतः बुद्धि में पड़े शास्त्र के संस्कारों द्वारा जो हम मन का नियन्त्रण करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह भी उन्हीं का शासन है। मन में पूर्व के संस्कारों को उठाकर के, बुद्धि में शास्त्र के संस्कारों को उठाकर के, परमात्मा हमें शासन में रखते हैं। मन-बुद्धि के ही सहारे हमारी सब चेष्टायें हैं।

इसलिये उनका शासन अप्रतिहत रहता है, इस प्रकार का शासन और कोई नहीं कर सकता। हमारे शरीर में भी परमात्मा है, और दूसरों के शरीर में भी वही है। अतः दूसरे भी जो कर रहे हैं वह उसी परमेश्वर के द्वारा उठाये हुए मन या बुद्धि के संस्कारों के अनुसार कर रहे हैं। हमने जो भी किया है, उस सब के परमात्मा साक्षी हैं। उन कर्मों के अनुरूप ही उनका शासन भी है।

ऐसा जो कर्मों का साक्षी ईश्वर, उसको 'प्रद्विषन्तः' उसके साथ असुर लोग द्वेष करते हैं। अपने से होती प्रवृत्ति के बारे में 'भगवान् मुझसे ऐसा क्यों करा रहा है, नहीं कराना चाहिये' ऐसी भावना परमेश्वर से द्वेष है। ऐसे ही अन्यों की प्रवृत्ति देखकर 'भगवान् उनसे ऐसा क्यों कराता है' यह भाव द्वेष है। उपाधि वाले की प्रधानता होगी तो साक्षी की तरफ दृष्टि नहीं जायेगी। साक्षी का स्वभाव न समझकर ही उससे द्वेष हो पाता है। स्वयं व अन्यों को स्वतंत्र कर्ता-भोक्ता समझना परमेश्वर के शासन का विरोध है, अत एव अहंकार-पर्यन्त सर्वस्व को ईश्वरार्पण करने के लिये शास्त्र कहता है। आसुरी वृत्ति वाले न स्वयं भगवान् की शरण में रहते हैं न दूसरों को उनकी शरण में स्वीकारते हैं। अतः भाष्यकार लिखते हैं 'मच्छासनातिवर्तित्वं प्रद्वेषः' भगवान् के शासन का उल्लंघन करना भगवान् से द्वेष रखना है।

'अभ्यसूयकाः' - असुर लोग परमात्मा में व उनके भक्तों में दोष-दर्शन करते हैं। 'परमात्मा ने ऐसा संसार क्यों बनाया? लोगों को दुःखी क्यों बनाया?' यों उनके अन्दर दोष-दर्शन करते रहते हैं। जो सन्मार्गस्थ लोग हैं, उनके गुणों के अन्दर भी दोष देखते हैं। करुणा, दया आदि से प्रेरित लोगों को कहते हैं कि 'ये तो अयोग्य लोगों को और आलसी बनाने वाले हैं। इनको रोटी न दो, भूखे मरेंगे तो अपने आप काम करेंगे।' कुछ तो यहाँ तक अभ्यसूया करते हैं : एक हमारे परिचित ब्राह्मण सज्जन व्यापारी थे। लोग आते थे कुछ माँगने के लिये तो वे हमेशा बिना दिये भगा देते थे। एक दिन किसी ने कहा, कि दूसरों का भी ख्याल रखना चाहिये। उन्होंने कहा 'मान लो कोई चोर भाग रहा है और पुलिस उसका पीछा कर रही है। तुम उस आदमी को छिपा लो। जब पुलिस को पता लगेगा तब उसको तो पकड़ेगी, साथ में तुमकों भी पकड़ेगी, क्योंकि तुमने अपराधी का पक्ष लिया। ठीक इसी प्रकार से जिस आदमी ने पाप किया उसे भगवान् दण्ड देना चाह रहे हैं तभी भूख से तड़प रहा है; तुमने उसको रोटी खिला दी तो उसको भूख का दुःख नहीं होगा। यों तुमने भगवान् का विरोध किया। भगवान् उसको तो दण्ड देंगे सो देंगे, तुमको भी दण्ड देंगे।' जो सन्मार्गस्थ लोग हैं, उनके ऊपर दया, करुणा, इत्यादि के निमित्त से असुर लोग अभ्यसूया करते हैं, दोष लगाते हैं। इसी प्रकार से शम दमादि करने वालों को ये कहते हैं कि ये सब तो आलसी लोग हैं, कुछ करना नहीं चाहते। कोई-कोई कर्मकाण्डी कहते हैं कि जो सब लोग नपुंसक थे उन्होंने ब्रह्मचर्य इत्यादि का विधान किया है! वर्तमान में भी अनेक मनोवैज्ञानिक ऐसे हैं, जो कहते हैं कि इन इच्छाओं को दमन करने से तरह-तरह के रोग होते हैं। सन्मार्गस्थों के जितने भी सद्‌गुण होते हैं, उनके अन्दर ये दोष-दर्शन करते हैं। क्रोधहीन व्यक्ति को

देखते हैं तो कहते हैं, 'इसका तो खून भी ठंडा हो गया, कोई गर्मी ही नहीं आती है इसको।' अक्रोध को गुण नहीं मानेंगे, दोष ही मानेंगे। इस प्रकार से परमात्मा के गुणों में भी और परमात्मा के मार्ग पर चलने वालों के गुणों में असुरों को दोष दीखते हैं। गुणों को वे सहन नहीं कर पाते।।१८।।

चूंकि मेरे साथ ऐसा द्वेष करते हैं इसलिये नतीजा बुरा होता है – क्योंकि मेरा नियम है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजामि' यह भगवान् बताते हैं –

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

उन द्वेषी क्रूर, अशुभ, नीच लोगों को मैं लगातार आसुरी योनियों के जन्मों में ही फैंकता हूँ।

'तान्' – अर्थात् जो इस प्रकार से आत्मपरदेह में स्थित उस शिव से अभ्यसूया, और 'द्विषतः' द्वेष करते हैं, उन लोगों को, 'अहं' मैं अर्थात् सबके हृदय में बैठा हुआ आत्मतत्त्व असुर-योनियों में फैंकता हूँ। कई लोग खड़े होकर के पेशाब करते रहते हैं। पेन्ट पहने रहते हैं तो उनको पता नहीं लगता, किन्तु पत्थर पर पड़े हुए पेशाब के छींटे उड़कर उनके पेन्ट के ऊपर ही आयेंगे! कोई कह सकता है कि 'पहाड़ कितना बुरा है, जो हमारे पेन्ट के ऊपर पेशाब डाल देता है।' सच्ची बात यह है कि उन्होंने ही पेशाब करके छींटों को अपने पर डलवाया। इसी प्रकार परमात्मा आत्मरूप हैं अतः परमात्मा से द्वेष करने का नतीजा अपने पर ही आता है। परमेश्वर भिन्न होकर के, भेद बुद्धि से दण्ड देता हो, ऐसा नहीं है। असुर परमात्मा से द्वेष करता है तो वह द्वेष वापिस उसी पर पड़ता है। असुर द्वेषी हैं, सन्मार्ग के विरोधी हैं, साधु पुरुषों का प्रतिरोध करते हैं। उस द्वेष के कारण क्रूर भी होते हैं। द्वेष उनको व्यवहार में भी क्रूर बना देता है। पास में अधिक रोटी होने पर भी भूखे को नहीं खिलाएँगे। यही क्रूरता है। उनका द्वेष क्रूरता तक पहुँचा देता है। अतः भगवान् कहते हैं, 'नराधमान्' वे नरों में अधम हैं। नर शब्द का तात्पर्य है, जो स्वयं विषयों में रमण न करे। कुछ तो ऐसे हुए जो खुद विषयों में रमण करते हैं, इसलिये दूसरों को विषय के अभाव में दुःखी देखकर उनके साथ सहानुभूति करते हैं। सामान्यतः यह मनुष्य का स्वभाव होता है कि अपने पैमाने से दूसरों को नापते हैं। विषयों के अन्दर जो रमण करने वाला है, वह दूसरों का विषय-निमित्तक कष्ट समझता है। परन्तु अधम वे होते हैं जो अपने कष्ट को तो कष्ट समझते हैं पर दूसरे के कष्ट को कष्ट ही नहीं समझते। अपने को दुःख होता है तो रोते हैं, और दूसरा रोए तो कहते हैं 'यह नाटक कर रहा है।' अपने घर का व्यक्ति मरता है तो हमें दुःख होता ही है, रोते ही हैं। कोई ज़रा ज़ोर से रो लेता है, सर भी पीट लेता है, छाती भी पीट लेता है, तो उसको देख कर कहते हैं 'अरे! इन्होंने तो भाड़े वाले को बुला लिया होगा, इतना दुःख थोड़े ही होता है!' इस प्रकार अपने दुःख को दुःख समझना और दूसरे के दुःख को नाटक समझना, यह नरों के अन्दर अधमता है। वास्तविक नर तो

वह है जो विषयों में रमण न करे। मध्यम नर वह हुआ जो खुद विषयों में रमण करता है, दूसरों के भी विषय के दुःख को दुःख समझता है। और अधम वह हुआ जो अपने दुःख को दुःख समझता है, विषयों की अप्राप्ति को अप्राप्ति समझता है किन्तु दूसरों के विषयों निमित्तक दुःखों के प्रति क्रूर रहता है। असुर ऐसे होते हैं इसलिये उनको नराधम कहा।

'संसारेषु'। संसार क्या है? सरकते जाना, संसरण है। एक शरीर से सरक कर दूसरे शरीर में जाते हो, दूसरे से तीसरे में जाते हो। ऐसा संसरण है कि पहले शरीर को भली प्रकार से छोड़ देते हो। संसरण जीवन काल में भी होता है। जाग्रत् अवस्था से सरक कर स्वप्न अवस्था में चले जाते हो, स्वप्न में जाते हो तो जाग्रत् का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, स्वप्न से सुषुप्ति में चले जाते हो तो जाग्रत्-स्वप्न दोनों का सम्बन्ध नहीं रहता। सुषुप्ति से सरक कर जाग्रत् में आ जाते हो तो फिर सुषुप्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह भी सरकना है पर सम्यक् सरकना नहीं है। क्योंकि पुनः पुनः उसी शरीर में जगते हैं, इसलिये भली प्रकार हमने उसे नहीं छोड़ा। और मृत्यु के काल में हम भली प्रकार इस शरीर को छोड़ देते हैं। फिर इस शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। सारे शरीरों में समानता क्या है? सारे शरीर दुःख के केन्द्र हैं। कोई भी शरीर ऐसा नहीं है जहाँ दुःख का अनुभव न होवे। जो इस प्रकार परमात्मा से द्वेष करने वाले हैं, वे बार-बार इस प्रकार दुःख को देने वाले शरीरों की प्राप्ति करते हैं, अधर्म के कारण। भगवान् कहते हैं 'क्षिपामि'; मैं उनका साक्षी आत्मा, उनका परम प्रिय, मैं ही उनको इस परिस्थिति में फैंक देता हूँ। क्षिपामि का मतलब होता है, फैंक देना। सभी लोग एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हैं, फिर इनके लिये भगवान् विशेष कर के 'फैंकना' क्यों कहते हैं? क्योंकि 'आसुरीष्वेव योनिषु' उनको भगवान् आसुरी योनियों में ही डालते हैं। दूसरे लोगों के तो कभी शुभ कर्म आगे आते हैं, कभी अशुभ कर्म आगे आते हैं; शुभ कर्म आगे आये तो कोई अच्छी योनि मिल गयी, अशुभ कर्म आगे आये तो बुरी योनि मिल गयी। पर इस प्रकार से जो, परमात्मा के साथ द्वेष और अभ्यसूया करने वाले हैं, इनमें क्योंकि निरन्तर अशुभ कर्म ही हैं इसलिये इन्हें निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालते हैं जहाँ आसुरी प्रवृत्ति स्वाभाविक है, जैसे साँप, शेर आदि। साँप का भोजन ही चूहा है, दूसरे प्राणी को मारेगा ही। ऐसा नहीं है कि कभी मारे कभी नहीं। शेर को खाना ही है हरिण इत्यादि को। इसमें क्रूरता होती ही है। जिनमें प्रायः कर के क्रूर कर्म होते हैं ऐसी आसुरी योनियों के अन्दर ही वे पैदा होते हैं। चूंकि ये योनियाँ अत्यन्त घृणित मानी जाती हैं, इसलिये कहा 'क्षिपामी' अर्थात् 'फैंकता हूँ'। इन आसुरी योनियों में दूसरे भी जाते हैं परन्तु इनको आसुरी योनियों की प्राप्ति 'अजस्रम्' एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी यों लगातार होती रहती है। क्योंकि ये स्वभाव से ही - 'अशुभान्' - अशुभ कर्मकारी हैं, परमेश्वर से द्वेष करने वाले हैं, परमेश्वर में अभ्यसूया करने वाले हैं अतः ये अशुभ कर्मों में ही प्रवृत्ति करते हैं, अशुभ कर्म ही करते हैं। अतः निरन्तर ऐसी आसुरी योनियों में ही, मैं कर्मफलदाता ईश्वर इनको डालता रहता हूँ।।१९।।

आसुरी योनि में जाकर के क्या होता है? यह बताते हैं -

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

हे कौंतेय! हर जन्म में आसुरी योनि में पैदा हुए ये अविवेकी मुझे - मेरी प्राप्ति के साधनभूत सन्मार्ग तक को - न पाकर निकृष्टतम गति पाते हैं।

'आसुरी योनिमापन्नाः' - आसुरी योनि, जिनके अन्दर प्रायः कर के क्रूर कर्म ही करते रहते हैं, ऐसी योनियाँ 'आपन्नाः', प्राप्त करते हैं। 'मूढाः'। क्यों इनको ऐसी आसुरी योनियों में बार-बार जाना पड़ता है? मूढ हैं इसलिये। मूढ अर्थात् अज्ञानी। अज्ञानी को न पता है, 'मेरे लिये क्या ठीक है', न पता है दूसरे के लिये क्या ठीक है। जो सामान्य अज्ञानी होता है, उसको कोई अच्छी बात बताओ, जो उसे पता नहीं है तो वह उसे मान लेता है। मूढ वह होता है जो अच्छी बात बताने पर उलटा तुम्हारे बताये हुए में दोष देखेगा, अभ्यसूया करेगा। ब्रह्माजी जैसा गुरु भी समझाने आ जाये तो भी मूढ को जँचेगा ही नहीं। उनमें दोष-दर्शन ही करेगा। आसुरी व्यक्ति ऐसे मूढ हैं, अविवेकी हैं। ऐसा किसी का जीवन नहीं होता कि बीच-बीच में साधु-पुरुष का कुछ-न-कुछ संग न मिले। दस बार बुरे आदमी मिलेंगे तो एक बार भला आदमी भी मिलेगा। एक बार अच्छा संस्कार भी मिल सकता है, और मिलता है। इसलिये प्रायः मनुष्यों का जीवन पुण्य-पाप से मिला हुआ होता है। बुरे आदमियों के संस्कार पड़े हुए हैं इसलिये बुराई कर ली, कुछ अच्छे आदमियों के संस्कार भी होते हैं तो कुछ अच्छाई भी कर लेते हैं। अतः संसरण में यही होता है, कि कभी अच्छा जन्म हो गया, कभी बुरा जन्म हो गया। किन्तु जो मूढता के कारण किसी अच्छी बात को ग्रहण करता ही नहीं है वह 'जन्मनि जन्मनि' हर जन्म में तमोगुणी आसुरी योनियाँ प्राप्त करता है।

इसलिये 'मामप्राप्यैव'। कभी भी, थोड़े समय के लिये भी परमेश्वर की तरफ इनका रुख नहीं होता। जीवन में कोई-न-कोई ऐसे काल आते रहते हैं जब लोगों की बुद्धि परमेश्वर की तरफ जाती है, चाहे थोड़ी देर के लिये ही जाये। दुःख पड़ने पर भी प्रायः सबकी जाती है, सुख पड़ने पर भी सज्जनों की मति भगवान् की ओर कुछ तो बन जाती है। लेकिन जो मूढ लोग हैं, ईश्वर की तरफ उनकी कभी दृष्टि होती ही नहीं है। बल्कि ये समझते हैं, कि ईश्वर मानने वाले सब बेवकूफ हैं! तमिलनाडू में एक बहुत बड़े नेता हुए हैं रामस्वामी नायकर, वे ईश्वर वगैरह के विरोधी थे, जगह-जगह चौराहों आदि पर उनकी मूर्तियाँ बनायी हैं, मूर्ति के नीचे लिखा रहता है, 'ईश्वर मानने वाले बेवकूफ होते हैं', खुलेआम लिखा हुआ है। ऐसे व्यक्ति कभी परमेश्वर की तरफ जा ही कैसे सकते हैं? इसलिये भगवान् ने कहा कि क्षण भर भी मेरी तरफ उनकी दृष्टि नहीं होती।

'ततः'। क्योंकि मेरी तरफ वृत्ति बनती नहीं अतः 'अधमां गतिम् यान्ति' अधम गतियों को ही प्राप्त करते रहते हैं। भाष्यकार लिखते हैं, कि यह तो संभावना ही नहीं कि वे भगवान्

को पायें, फिर भगवान् ने कहा क्यों कि 'मुझे नहीं पाते?' अतः भगवान् का अभिप्राय है कि 'मेरे द्वारा शासन किया हुआ जो साधुपुरुषों का मार्ग है, उसको प्राप्त नहीं करते'। परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रधान तात्पर्य यही है कि परमेश्वर के द्वारा जो कर्तव्य-अकर्तव्य बताये गये हैं उनके अनुसार जीवन चलायें। वह निरन्तर हमारे अंतःकरण में बैठा ही हुआ है, चाहे हम जिस योनि में जायें। इसलिये आचार्य शंकर ने एक जगह कहा है कि 'कोई भी योनि मुझे प्राप्त हो जाये, चाहे मैं मक्खी मच्छर ही बन जाऊँ, तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता। बस, मेरे मन की वृत्ति, हृदय में बैठा हुआ जो आत्मतत्त्व हमेशा मौजूद है, उसकी तरफ बनी रहे।' परमात्मा तो हमेशा हृदय में बैठा हुआ है, उसकी प्राप्ति और अप्राप्ति क्या? अतः 'मुझे' अर्थात् मेरे द्वारा बताया सन्मार्ग, उस पर नहीं चलते। हृदय में बैठे हुए परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग नहीं मिलता।

एक औरत को एक नगीना मिल गया। रंगदार पत्थर दीखा तो अपने बच्चे को खेलने के लिये दे दिया। चमकीली चीज़ थी, वह खेलता रहा। एक बार कोई जौहरी की औरत वहाँ आयी, उसने कहा, 'अरे! तुमने यह क्या टाँग रखा है? बड़ा बेशकीमती हीरा है, ऐसे नहीं लटकाया जाता।' वह कहने लगी, 'मेरा बेटा ही मेरे लिये सबसे कीमती चीज़ है, उसके लिये लटका दिया, तो ठीक है, और क्या करना है?' जौहरी की औरत के कहने पर भी मूढ बुद्धि होने से बात नहीं मानी। कुछ दिनों के बाद उसका पति घर आया। उसे भी वह अत्यधिक चमकता दीखा तो उसने पत्नी से पूछा। उसने बताया 'चमक हीरे जैसा रहा है। जौहरी की स्त्री तो इसे कीमती बता रही थी पर मेरे लिये बच्चा इतना कीमती है कि वही इससे खेले तो अच्छा है।' पति उस नग को जौहरी के पास ले गया, पूछा 'इसके कितने मिलेंगे?' जौहरी ने कहा 'चार लाख' उसने बेच दिया। पाँच-चार सौ रुपये के तरह-तरह के रंगदार पत्थर खरीद लिये घर में आकर घरवाली से कहा, 'क्या एक पत्थर लिये बैठी थी! ये देख, कितने पत्थर हो गये!' घरवाली बड़ी खुश हुई। ' अकस्मात् आप ये कैसे ले आये? आप तो बहुत संभलकर खर्च करते हैं।' वह बोला 'अरे! वह चमकीला पत्थर बिक गया चार लाख में, तो ये पाँच सौ के ले आया।' तब औरत के बात समझ में आई। उस औरत की तरह हमारा मन है। मन के हाथ में आत्मरूपी हीरा है। रातदिन 'मैं चेतन हूँ' यह हीरा तो उसके पास है। लेकिन इसको मन की इच्छाओं को पूरी करने में लगा रहा है। मैं चेतन हूँ, इसी लिये सभी काम कर रहा हूँ। किस लिये कर रहा हूँ? ताकि मन की इच्छायें पूरी होवें। मन खेल रहा है इस हीरे के साथ। जहाँ चाहता है वहाँ लगा देता है और हम समझते हैं, 'मैं ही लग रहा हूँ'। कभी कोई विचार करने वाला ध्यान भी दिलाता है, 'अरे! तुम अपनी तरफ देखो, चेतन तत्त्व को तुम कहाँ लगा रहे हो?' पर समझ में नहीं आता मन को, उसे लगता है कि यही सबसे ज़रूरी काम है, इससे बड़ा और क्या है कि मन की बात पूरी हो जाये। हम भगवान् की उपासना, देवताओं की उपासना किसलिये करते हैं? ताकि हमारे मन की इच्छा पूरी हो। इसके सिवाय तो और कुछ प्रयोजन है नहीं। परमेश्वर को,परमात्मा को,

चेतनरूप समझ कर के ही, उससे प्रार्थना करके भी, मन की ही इच्छा पूरी करते हैं। किसी समय में कोई साधु पुरुष तुमको समझाता है कि 'जिस परमेश्वर की प्रसन्नता से तुम्हारे मन की इच्छाएँ पूरी होती हैं, वह परमेश्वर तुम्हारे हाथ में आ जाये तो कितना अच्छा होवे। फिर तो जितनी इच्छाएँ हैं, सब तुम्हारे लिये खेल हो जायेंगी। इसलिये रोज़ शंकर भगवान् की प्रार्थना में कहते हो, 'कामदं मोक्षदं चैव' वे कामनाएँ पूरी करते हैं, मोक्ष प्रदान करते हैं। असली फल तो परमेश्वर की कृपा का मोक्ष ही है। पर जैसे पति चमकीले पत्थर ले आया था, इसी प्रकार श्रुति तमाम कामनाओं की पूर्ति के लिये औपाधिक उपासनाओं का निरूपण करती है कि इस-इस उपाधि वाले की उपासना करो, तो उसी से सब कुछ मिल जाता है। यह जँचने पर परमेश्वर से मिलने के लिये ही प्रयत्न करेंगे, जिससे सब मिल जायेगा। जब परमेश्वर मिल जाता है, तब अपने आप पता लग जाता है कि ये सब तो व्यर्थ चीज़ें हैं।

अतः सदुपदेश पाकर भी हठपूर्वक उसे ग्रहण न करना असुरों की विशेषता है जिसके फलस्वरूप उन्हें लम्बे समय तक घृणित योनियाँ भोगनी पड़ती हैं। बुद्धिमान् को अतः हमेशा सत्संस्कार बटोरकर सन्मार्ग पर स्थिर रहने का ही प्रयत्न करना चाहिये।।२०।।

आसुरी सम्पत्ति काफी लम्बी-चौड़ी बतलायी, क्या इनमें कोई प्रधान और कोई गौण है? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि सभी आसुरी सम्पत्ति, तीन दुर्गुणों में बँट जाती है, इन तीन का विस्तार सारी आसुरी सम्पत्ति है। इसलिये यदि इन तीन से बच जाओ तो सारी आसुरी सम्पत्ति से बच जाओगे। ये तीन ही सारे अनर्थ के मूल हैं। हमेशा याद रखने के लिये यह सरल संक्षेप है। गीता में जितना बतलाया है उसकी अपेक्षा धर्मशास्त्रादि के अन्दर अत्यन्त विस्तृत विधि निषेध हैं। उन सारे निषेधों को पहले तो जानना मुश्किल और जानो तो याद रखना मुश्किल। इसलिये भगवान् ने यहाँ संक्षेप करके बतला दिया कि ये तीन ही ऐसे दोष हैं, जो तुमको आसुरी योनियों की, नरकों की प्राप्ति कराते हैं, अतः इन तीन से बच गये तो सबसे बच जाओगे।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

आत्मा किसी पुरुषार्थ के योग्य न रहे, नरक ही पाये, इसके लिये यह तीन प्रकार का दरवाज़ा है, काम, क्रोध, लोभ, इसलिये इन तीनों को छोड़ना ही उचित है।

भगवान् कहते हैं कि ये तीन ऐसे दरवाज़े हैं जो नरक की तरफ खुलते हैं, नरक में इन तीन दरवाज़ों से ही जाया जाता है। भगवान् ने यहाँ तीन की संख्या भी कह दी और आगे, काम, क्रोध, लोभ ये तीन गिना भी दिये। नियम है कि यदि संख्या कह दी जाये और गिना भी दिया जाये, तो उसका मतलब हो जाता है, 'ये ही, और कोई नहीं'। जैसे किसी से कहे 'आप, आपके भाईसाहब और आपका बड़ा लड़का, ये तीन लोग कल भोजन के

लिये आना।' तीन की संख्या भी कह दी, और नाम भी बतला दिये, तो इसका मतलब हो गया कि इन तीन के अतिरिक्त और कोई न आवे। यदि बड़े लड़के को कहीं काम पड़ गया, तो उसकी जगह छोटा लड़का भी नहीं आ सकता क्योंकि तीन को गिना भी दिया और तीन की संख्या भी कह दी। इसी प्रकार यहाँ अभिप्राय हो गया कि ये तीन ही हैं, इनके अतिरिक्त और कोई नरक में जाने का द्वार नहीं। नरक क्या है? 'आत्मनः नाशनम्'। ये द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं। आत्मा का नाश तो सम्भव है नहीं! भगवान् ने स्पष्ट कहा है, कि आत्मा न मरता है न जन्म लेता है। अतः आत्मा का नाश, मतलब क्या? पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाना - यही इसका नाश है। उपनिषद् में भी 'आत्महनो जनाः' कहा तो उसका अर्थ बताया कि आत्मा को पुरुषार्थ-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्त न करना यही आत्मा का हनन है। आत्मा की तरफ दृष्टि करो तब तो आत्मा पुरुषार्थ की तरफ जायेगा और अनात्मा की तरफ दृष्टि करोगे तो आत्मा पुरुषार्थ-रहित हो जायेगा। 'पुरुषार्थ' अर्थात् पुरुष जिसके लिये, जिस अर्थ के लिये, जिस प्रयोजन के लिये, प्रयत्न करता है। शरीर से लेकर के मन तक, सब चीज़ें अनात्मरूप होने से, अनात्मा के लिये ही प्रवृत्ति करेंगी। एकमात्र अहं-प्रत्यय में जो प्रतिबिम्बित चेतन है, वह आत्मा की जाति का है। मोटी भाषा में जिसको जीव कहते हैं, अन्तःकरण की उपाधि अथवा अविद्या की उपाधि वाला चेतन। वह उभय-स्वरूप है; उपाधि के साथ एक हुआ तो अनात्मा की तरफ पुरुषार्थ करता है, और चेतन-प्रधान हुआ परमात्मा की तरफ पुरुषार्थ करता है। आत्मरूप की प्रधानता को लेकर आत्मा की ओर जायेगा और जड-प्रधानता को लेकर अनात्मा की ओर जायेगा। इसलिये उपनिषदों के अन्दर जहाँ शरीरादि को चलने वाले रथ की उपमा दी, वहाँ आत्मा को रथी कहा है, बुद्धि को सारथी कहा है, इन्द्रियों को घोड़ा कहा है, शरीर को रथ कहा है। वहाँ आत्मा अर्थात् जीव। बुद्धि रथ को परमात्मा की तरफ चलावे या अनात्मा की तरफ चलावे, यह हुक्म तो आत्मा का है। आगे चलाने का काम सारथी बुद्धि करेगी। चलने का काम शरीर इन्द्रियाँ करेंगी। किस तरफ चलाया जाये - यह आत्मा की आज्ञा के अनुसार होगा। आगे बतलाया है कि यदि इन्द्रियाँ ठीक नहीं हैं, बुद्धि ठीक नहीं है, तो रथ खड्डे में गिर सकता है, और ये सब शिक्षित हैं, तो बुद्धि इनको विष्णु के परम पद तक ले जा सकती है। अतः जीव ने हुक्म दे दिया इतने मात्र से तो काम नहीं होता, उसके बाद ये सब चीज़ें नियन्त्रित भी होनी चाहिये। परन्तु ये सब नियन्त्रित होने पर भी जब तक आत्मा इनको परमात्मा की तरफ नहीं ले जायेगा, तब तक ये उस तरफ नहीं जायेंगी। इस प्रकार 'आत्मनः नाशनम्' का मतलब है, आत्मा अनात्मा की तरफ बुद्धि देहादि का प्रवर्तन करे।

जीव ऐसी प्रवृत्ति क्यों करता है? भगवान् ने बता दिया, 'ये तीन ही द्वार हैं।' या तो काम के कारण अनात्मा की तरफ जाता है, या क्रोध के कारण अनात्मा की तरफ जाता है, या लोभ के कारण अनात्मा की तरफ जाता है। किसी विषय के लिये मन में अभिलाषा होना कि यह विषय मेरा हो जाये, काम है। विषय अनात्मा है। कामना हमेशा अनात्मा की, विषयों

की होती है। कई बार लोगों के मन में प्रश्न होता है कि परमात्मा की कामना भी कामना है; किन्तु परमात्मा अनात्मा नहीं है, विषय नहीं है। कामना विषय की होती है। विषय अनात्मा हैं। इसलिये जैसे ही कामना का द्वार खुला, वैसे ही हमारा प्रवेश आत्मा के नाश की तरफ हो गया, अर्थात् आत्मा के लिये पुरुषार्थ न कर के अब पुरुषार्थ विषय के लिये करने लग गये। इस प्रकार यह नरक का द्वार है। जैसे कामना कारण है, वैसे ही क्रोध भी कारण है। जब क्रोध आता है, तब इतना तीव्र होता है क्रोध का वेग, कि लाख समझाओ फिर भी उस समय, कहता है 'मैं भी जानता हूँ, परन्तु पहले इसको ठीक कर दूँगा फिर चाहे प्रायश्चित्त कर लूँ।' क्रोध का वेग ऐसा होता है। क्रोध भी किसी-न-किसी अनात्मा की तरफ ही होता है। चाहे किसी मनुष्य का शरीर हो, पशु पक्षी का शरीर हो, अथवा पत्थर ही हो! क्रोध खाली चेतन पर आता है ऐसा नहीं है। पत्थर पर भी क्रोध आ जाता है। रास्ते में जाते हुए, ऊपर से पत्थर गिर गया, तो उस पत्थर पर क्रोध करते हैं, उसी को गालियाँ देते हैं, नीचे पटक भी देते हैं। जड पदार्थ को गाली देकर, फैंककर होता तो कुछ नहीं है, परन्तु क्रोध शान्त होता है। क्रोध के समय भी, जिस-किसी अनात्म पदार्थ से हमको द्वेष होता है, उसको नष्ट करने में प्रवृत्ति होती है, आत्म-प्रवृत्ति नहीं होती। तीसरी चीज़ भगवान् ने कही, लोभ; अनात्म-विषयक इच्छा तो कामना है, पर जो अनात्म विषय हमारे पास है वह हमारे पास से कभी हटे ही नहीं, किसी भी सत्कार्य में इसका व्यय होवे ही नहीं - इस भावना का नाम लोभ है।

'तस्माद्', ये नरक का रास्ता होने से, आत्मा का नाश करने वाले होने से, 'एतत्त्रयं' इन तीनों को 'त्यजेत्' छोड़ दे। इसे समझाने के लिये एक कथा बृहदारण्यक उपनिषद् में आयी है। ब्रह्मा जी के पास देव, दानव और मानव गये कि 'हम को उपदेश दे दीजिये।' ब्रह्मा जी ने विचार किया कि तीनों अधिकारी अलग-अलग हैं, परन्तु यदि इनको अलग-अलग उपदेश देंगे तो हर एक सोचेगा, 'दूसरे को उपदेश बढ़िया मिल गया।' लोगों का विचित्र स्वभाव होता है। ब्रह्मा जी जानते थे। हर आदमी दबाव देकर दूसरे को जो मन्त्र मिला है उसको जानने का प्रयत्न करता है। स्त्रियों की स्थायी शिकायत रहती है कि उन्हें गायत्री क्यों नहीं जपने देते! उनके मन में बैठा है कि उन्हें जो मंत्रोपदेश मिलता है वह कमज़ोर है, पुरुषों वाला मंत्र बलवान है। प्रजापति ब्रह्मा को तो पता ही है। उन्होंने सोचा - इनको अलग-अलग उपदेश देंगे तो हर एक समझेगा 'दूसरे वाला ठीक है।' अधिकारी अलग-अलग हैं, इसलिये एक उपदेश तीनों के लिये उपयुक्त हो नहीं सकता! ब्रह्मा जी सर्वज्ञ हैं, सबके गुरु हैं, उन्होंने तीनों को कहा, 'द द द'। तीन बार 'द' बोल दिया। तीनों प्रसन्न होकर चले गये! उनके जाने के बाद ब्रह्मा जी ने सोचा कि 'देखें तो सही ये ठीक समझे कि नहीं।' सबसे पहले देवताओं को बुलाया, 'तुम हमारे उपदेश का क्या मतलब समझे?' तो उन्होंने कहा कि 'हम लोग भोगी बहुत हैं इसलिये आपने कहा कि दमन करो, द मायने दमन करो, इन्द्रियों को, मन को, भोगों की तरफ मत जाने दो।' ब्रह्मा जी ने कहा, 'हाँ ठीक

समझे।' फिर असुरों को बुलाया, 'तुम लोग हमारे उपदेश का क्या मतलब समझे?' उन्होंने कहा, 'जी, हम लोग क्रूर बहुत हैं, इसलिये आपने कहा, क्रूरता छोड़ो, दया करो। आपने हम लोगों को 'द' से दया करने का उपदेश दिया।' उन्होंने कहा, 'ठीक है, तुम लोग भी ठीक समझे।' फिर मनुष्यों को बुलाया, 'तुम लोग हमारे उपदेश का मतलब क्या समझे?' उन्होंने कहा, 'हम लोग लोभी बहुत हैं, इसलिये आपने हम लोगों को 'द' से उपदेश किया कि दान करो।' उन्होंने कहा, 'ठीक समझे।' एक ही 'द' के द्वारा तीनों काम, क्रोध, लोभ छोड़ना समझे। इस कथा के अन्त में आचार्य शंकर कहते हैं, कि यद्यपि यहाँ कहा है देव, दानव, मानव, तथापि मनुष्यों में ही देव दानव और मानव - तीनों जातियाँ हैं। जो भोगप्रधान हैं वे देव हैं, जो क्रोधप्रधान हैं वे दानव हैं, जो लोभप्रधान हैं वे मानव हैं। अनेक युक्तियों से इस बात को सिद्ध किया है, कि शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है इसलिये ये उपदेश काम-प्रधान, क्रोध-प्रधान, लोभ-प्रदान मानवों को ही दिया गया है। अपनी-अपनी प्रकृति अपने को अपने आप पता चलती है। 'मेरी प्रधानता भोग की है, मेरी प्रधानता क्रोध की है, मेरी प्रधानता लोभ की है' यह अपने को ही पता चलता है। उसके अनुसार ही, दम, दया और दान का अभ्यास करने से धीरे-धीरे ये तीनों वृत्तियाँ ख़त्म होती हैं। यद्यपि यहाँ कहा है 'एतत्त्रयं त्यजेत्', इन तीनों को छोड़े, पर छोड़ने का मतलब है, इनके जो विरोधी प्रत्यय हैं, दान दम और दया, उनका अभ्यास करे, उनका अभ्यास करने से ही ये तीनों छूटेंगे। 'ये तीनों न रहें, न रहें', ऐसा सोचने मात्र से ये छूटते नहीं! इनके विरोधी धर्मों का अभ्यास करने से ही ये छूटते हैं।

आचार्य शंकर एक सूक्ष्म बात कहते हैं : यहाँ आत्मा के नाश का द्वार इन तीन को बतलाया। इन तीनों का मूल कारण अज्ञान है। परमात्मा को न जानने के कारण ही हम शरीर के भोगों को अपना भोग समझ कर उधर प्रवृत्ति करते हैं। स्थूल-सूक्ष्म शरीर के अपमान आदि को, 'मेरा अपमान' मानकर क्रोध करते हैं। शरीरादि की आवश्यकताओं को लेकर ही लोभ करते हैं। जो चीज़ें हम ज़रूरी समझते हैं उन्हीं का काम-क्रोध-लोभ होता है। किसी को यह कामना नहीं होती की 'सूअर की टट्टी मुझे मिल जाये' क्योंकि सूअर की टट्टी के बारे में हमको यह ज्ञान नहीं है कि वह हमारे शरीरादि के काम आयेगी। यथाकथंचित् यदि हो जाये तो उसकी भी कामना हो जाती है। एक सज्जन को कोई बीमारी थी। वैद्य ने उनसे कहा कि कबूतर की बीट खाने से बीमारी ठीक हो जाती है। उन्हें जब उपयोग समझ आया तो जहाँ कबूतरों को दाना डालते हैं वहाँ स्वयं जाकर बीट बटोर लाने लगे। यदि इस प्रकार उसमें बुद्धि हो जाये कि हमारे उपयोग की चीज़ है, तो उसकी भी कामना हो जाती है। यही स्थिति लोभ की है। किन्तु उपयोग किसका देखते हैं? स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का। शरीर को रोग होगा तो उसके उपयोगी हो सकती है। ऐसे ही मन के उपयोग को सोचकर कामादि होते हैं। यदि 'स्थूल सूक्ष्म शरीर मैं नहीं हूँ' यह पता है, तब उनके उपयोग के पीछे तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होगी। काम, क्रोध, लोभ - तीनों द्वारों का महाद्वार जो

पहले होना चाहिये, वह अज्ञान है। अज्ञान को छोड़ने से नरक के दरवाज़े में नहीं जाओगे। काम और लोभ तो स्थूल और सूक्ष्म शरीर के लिये प्रवर्तक बनते हैं। क्रोध एक बड़ी ज़बर्दस्त बाढ़ की तरह है। अगर तुम्हारी कामना का अवरोध होवे, कामनापूर्ति में कोई रुकावट डाले, तब भी क्रोध आता है और तुम्हारे लोभ में कोई रुकावट डाले, तब भी क्रोध आता है। जैसे तुम चाहते हो कि बैंक से उधार मिल जाए। सरकार के बहुत कानून हैं, सारे कानून लगते हैं कि बेकार बना दिये हैं, किस काम के! सरकार पर क्रोध आता है, कि सरकार किसी को काम नहीं करने देती, रुकावट डालती है। लोभ की रुकावट, जैसे जब सरकार कर माँगती है तब उसपर क्रोध आता है। है यह भी अज्ञान-मूलक। जब काम और लोभ अनात्म-विषय का है, तभी अनात्म-विषय के न मिलने पर क्रोध आएगा। लेकिन क्रोध सीधा अज्ञान से न होकर अवरोध के द्वारा पैदा होता है। इसलिये क्रोध को रोकने का तरीका है काम और लोभ को कम करो, छोड़ो। क्रोध आने के बाद यदि चाहो कि नियन्त्रण करें, तो नहीं हो पाता। यह तो बाढ़ की तरह आता है। फायदा भी इसमें है, कि जैसे बाढ़ वेग से आती है वैसे कुछ समय में चली भी जाती है। इसी प्रकार क्रोध निरन्तर नहीं रहता। बाढ़ की तरह आयेगा और कुछ समय के बाद चला जायेगा। काम व लोभ की तरह यह स्थिर भाव से बना नहीं रहता। खराबी इसमें है कि क्रोध आने के बाद रोक नहीं सकते, बहुत मुश्किल है। परन्तु यदि काम और लोभ कम होगा, तो उनका अवरोध भी कम होगा और तब यह क्रोध आयेगा नहीं। हर हालत में, समूल नष्ट होने के लिये तो अज्ञान-निवृत्ति आवश्यक है। इसलिये केवल इन तीन को छोड़ने से नरक का रास्ता बन्द हो जायेगा यह जो भगवान् ने कहा उसे आचार्य कहते हैं 'त्यागस्तुतिः इयम्' कि त्याग की स्तुति कर रहे हैं। वैसे तो अज्ञान-निवृत्ति से ही नरक जाना बन्द हो सकता है, केवल इन तीन के चले जाने से नहीं। जाते तो ये तीनों सुषुप्ति, समाधि व प्रलय में हैं ही, पर उस से मोक्ष कहाँ होता है! इसलिये वस्तुतस्तु अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित है। परन्तु इनके छूटने से तुम्हारा आत्मा की तरफ ध्यान ज़्यादा जायेगा और तब तुम श्रवण-मनन में लग सकोगे। अन्यथा काम, क्रोध, लोभ में लगे रहते हैं इसलिये श्रवण-मनन में एकाग्रता से लग नहीं सकते, और बिना श्रवण-मनन में एकाग्रता से लगे हुए अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। इसलिये त्याग की स्तुति है, कि वह अज्ञान-निवृत्ति में सहायता देता है।।२१।।

इस बात को आगे भगवान् स्वयं स्पष्ट करते हैं –

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।

कौन्तेय! तम अर्थात् दुःख-मोहात्मक नरक के इन तीनों द्वारों से छूटा नर अपने कल्याण का आचरण करता है, उससे मोक्ष पाता है।

ये तीन ही तम के द्वार हैं। पहले इनको कहा था कि नरक के द्वार हैं। इसका मतलब

है कि पहले जिसको नरक कहा उसी को यहाँ तम कह रहे हैं। तम अर्थात् अज्ञान। जब ये अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं तो फिर अज्ञान के द्वार कैसे हैं? अज्ञान दो प्रकार के हैं- एक है मूलाज्ञान। अपनी वास्तविक ब्रह्मरूपता को न जानना - यह मूल अज्ञान है। इस मूल अज्ञान के कारण सारा अनात्मा का जगत् आता है। साँप को रस्सी समझ कर तुम उस से काम निकालना चाहो और साँप के द्वारा डसे जाओ तो मरना भी पड़ सकता है। इसी प्रकार अनात्म पदार्थ स्वरूप से दुःख देने वाले हैं क्योंकि अनित्य हैं, इस बात को न जान कर हम उन्हें नित्य समझकर पकड़ते हैं, फिर जब नित्य न होने के कारण चले जाते हैं तब रोना पड़ता है। खूब प्रयत्न करके हमने अनुष्ठान आदि द्वारा लड़का पाया। बड़ी प्रसन्नता होती है कि हम लड़का चाहते थे लड़का मिल गया। लड़का तो अनित्य है। सारी आशा करके, उसको पढ़ा लिखाकर तैयार किया, चौबीस साल का हआ, स्कूटर पर बैठकर घर आ रहा था, एक ट्रक ने टक्कर मारी, और लड़का चला गया! अब कितना दुःख होता है, कोई ठिकाना है! इस दुःख का कारण मूल अज्ञान तो है ही, अर्थात् शरीरादि में अहंकार का अभिमान तो है ही, लेकिन जो विशेष दुःख हुआ इसका कारण है अनित्य में नित्य बुद्धि। अगर लड़का पैदा होने के समय ही तुम इस बात को मन में दृढ कर लो कि पैदा हुआ है तो ज़रूर मरेगा, तब फिर वह जब चौबीस साल के बाद मरेगा तब तुमको इतना दुःख नहीं होगा। अपने आत्मस्वरूप को न जानकर अहंकार से लेकर देह और देह-संबंधियों तक जो अभिमान है, यह मूलाज्ञान से है। यह रहेगा तब तक दुःख होना ही है। और दूसरा है 'तूलाज्ञान' अनित्य को नित्य समझ लेना, अशुचि को शुचि समझ लेना इत्यादि। जो इस प्रकार के दूसरे अज्ञान हैं, वे हमारे ज़्यादा दुःख के कारण बन जाते हैं। इसलिये काम क्रोध लोभ तूलाज्ञान के द्वार हैं। मूलाज्ञान से तो चीज़ों की प्रतीति, फिर उन चीज़ों के अन्दर तूलाज्ञान के द्वारा और ज़्यादा दूसरी चीज़ों की - काम-क्रोध-लोभ की योग्यता वाली चीज़ों की - प्रतीति; इस प्रकार मूलाज्ञान, काम-क्रोध-लोभ का द्वार, और काम-क्रोध-लोभ आगे तूलाज्ञान की तरफ ले जाते हैं। जब आदमी क्रोध में होता है तो छोटा बच्चा भी उसको राक्षस की तरह दीखता है। इसी प्रकार जब काम का वेग होता है तब हवा से फुलाये कपड़े भी स्त्री दीखते हैं! कुछ लोगों ने प्रयोग करके देखा है, किसी आदमी को हफ्ते भर तक भूखा रखा, और उसके पास में थोड़ी दूर पर चमड़े के जूते को जलाया। वहाँ जो दूसरे बैठे थे उनको चमड़े जलने की दुर्गन्ध आई, पर भूखे को लगा कि कोई बढ़िया चीज़ तल रहे हैं! उसको भोजन की सुगन्ध आ रही थी। जब आदमी अत्यन्त भूखा होता है तो दुर्गन्ध भी उसको सुगन्ध के जैसे लगने लगती है। ये कामना से होने वाले तूलाज्ञान हैं। एक ही परिस्थिति में कामना वाले को कुछ और तूलाज्ञान होता है, क्रोध वाले को कुछ और होता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है कि कंसके दरबार में पहुँचने पर श्रीकृष्ण को अलग-अलग लोग अलग-अलग तरह का समझ रहे थे। इस प्रकार भगवान् का इन्हें तमोद्वार कहना संगत है।

जब काम, क्रोध, लोभ से विमुक्त हो जाता है, अर्थात् अनात्म पदार्थ जब इसको प्रवृत्त नहीं करते; तभी कल्याण की ओर चलता है, विवेक से चीज़ों की वास्तविकता अर्थात्

अनित्यता, अशुचिता, दुःखरूपता इत्यादि को समझने लगता है। तब इन के चले जाने से मनुष्य अपने कल्याण के रास्ते में प्रवृत्त होता है, कल्याण का अचारण करता है। श्रेय मार्ग में हम इसी लिये नहीं जा सकते कि प्रेय डण्डा लेकर खड़ा रहता है, अपना काम पहले करवा लेता है। जैसे दर्ज़ी के पास जो जाकर खड़ा रहे, वह अपने कपड़े पहले सिलवा लेता है। सुनार के पास जो जाकर खड़ा रहे वह अपने गहने पहले बनवा लेता है। और जो घर में बैठे-बैठे खबर पूछता रहे वह पूछता ही रहता है! प्रेय जो संसार के पदार्थ हैं, वे तो तुम्हारी छाती पर खड़े रहते हैं। भूख लगी, तो छाती पर खड़ी है, पहले भूख तो मिटाओ। प्यास लगी, तो प्यास को मिटाओ। संसार की ये जो चीज़ें हैं ये छाती पर खड़ी रहती हैं। नियम बनाते हो, कि अमुक समय पूजा करेंगे, इस समय पाठ करेंगे, इस समय भजन करेंगे, इस समय सत्संग करेंगे, इस समय दुकान जायेंगे। पर जहाँ दुकान का काम ज़रा ज़्यादा हुआ वहाँ सब से पहले कटौती किसकी होती है? ध्यान-भजन की होती है, 'कल से कर लेंगे' क्योंकि दुकान का काम आज नहीं करेंगे तो आयकर का ब्यौरा समय से नहीं जायेगा, उसे तो समय से भेजना ही है, भगवान् का भजन तो बाद में भी हो सकता है। इस तरह श्रेय मार्ग की रुकावट प्रेय मार्ग करता है। दृष्ट प्रयोजनों वाला होने से उसकी आवश्यकता तत्काल महसूस होती है, श्रेय का महत्त्व यों तत्काल प्रकट नहीं होता। जब काम, क्रोध, लोभ से तुम छूटे, तब प्रेय मार्ग की आवश्यकता तुम्हारे सिर पर नहीं चढ़ी हुई है, तभी श्रेय मार्ग में पूरी तरह से लग सकते हो। यहाँ यह मतलब नहीं समझ लेना कि जब तक प्रेय से सर्वथा न छूटें तब तक श्रेय मार्ग में न लगें! पहले ही यह संकेत कर दिया था कि बिना अज्ञान-निवृत्ति के काम-क्रोध-लोभ सर्वथा नहीं जाते। इसलिये, जितना-जितना ये कम होते जायें उतना-उतना श्रेय मार्ग में चलते जाओ, पर जड़ से तो ये तभी जायेंगे जब अज्ञान की निवृत्ति होगी। कामादि हटने से जो श्रेय की ओर जाने में प्रतिबन्ध के कारण थे वे सब छूट जाते हैं, तब इसमें ही निरन्तर व्यक्ति लग जाता है। काम-क्रोध-लोभ जब अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं, तब इधर ही लगता है।

'ततः', जब श्रेय मार्ग में पूर्णतः लग गया प्रेय मार्ग को छोड़ कर के, तब 'परां गतिम् याति' परम गति को प्राप्त करता है, जिसको प्राप्त करके फिर कभी संसार सागर में आना नहीं पड़ता। इसी लिये उसको परागति कहते हैं क्योंकि इस गति के बाद फिर आगे गति नहीं होती। संस्कृत भाषा में 'गम्' धातु का अर्थ ज्ञान भी होता है, गति भी होता है। परमात्मा की तरफ गति तो होती नहीं क्योंकि वह सर्वव्यापक है, सब जगह मौजूद है। इसलिये कहीं जा कर परमात्मा मिलने वाला नहीं है। अतः यहाँ गति का मतलब है ज्ञान। और परम गति इसलिये कि इसको जानने के बाद फिर कुछ भी जानना शेष रहता नहीं। इसे जानने से फिर आगे कुछ अज्ञात रह नहीं जाता, इसलिये इसको परा गति कहते हैं।।२२।

दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का मूल क्या है? यह जो विभाजन है दैवी सम्पत्ति

और आसुरी सम्पत्ति, इसका पता कैसे चलता है? कामना बुरी है, क्रोध बुरा है, इसका पता कैसे चलता है? प्रायः लोग यह कहकर छोड़ देते हैं कि 'सब जानते हैं कि क्रोध बुरा है'। अगर सब जानते होते तो फिर इसको बतलाना ही नहीं पड़ता कि क्रोध बुरा है! प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता नहीं कि यह बुरा है, यह अच्छा है। अच्छे-बुरे का निर्णायक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, अतः प्रत्यक्ष-मूलक अनुमानादि भी नहीं। यह बात बहुत याद रखने के योग्य है। जिसको जो संस्कार दृढ होते हैं, वह समझता है ये सब को होते होंगे। परन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। जैसे कामना को ही लो – बहुत लोगों को यह निश्चय है कि बिना किसी बड़ी कामना के, जीवन व्यर्थ होता है। इसलिये कहते हैं कि कामना को तो रखना ही चाहिये, कामना के बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है। सब लोग मानते हों कि कामना बुरी है, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार क्रोध बुरा है, यह भी सार्वजनिक अनुभव नहीं है। उलटा लोग कहते हैं कि जो क्रोध-रहित व्यक्ति है वह संसार में कभी दुष्टों को दबा नहीं सकेगा, इस लिये दुष्ट बढ़ते जायेंगे। अतः दुष्टों के प्रति क्रोध करना ही चाहिये। और लोभ को तो शायद समाज में बिलकुल बुरा नहीं माना जाता! खर्च करने वाले को ही कहते हैं 'अरे! इतना खर्चीला नहीं होना चाहिये। समय-बेसमय के लिये बचा कर रखना चाहिये।' आसुरी सम्पत्ति बुरी है यह प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष-मूलक प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। किसी और संस्कार के कारण ही 'यह अच्छा है, यह बुरा है', यह पता लगता है। वह प्रमाण सामने रखेंगे तब तो दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे, आसुरी सम्पत्ति को छोड़ने का प्रयत्न करेंगे; और अगर वह प्रमाण हमारी श्रद्धा का विषय नहीं होगा तो हम आसुरी सम्पत्ति को छोड़ेंगे भी नहीं, और दैवी सम्पत्ति का अर्जन भी नहीं करेंगे। आसुरी सम्पत्ति को छोड़ना, सदाचार को करना, इसमें भगवान् कहते हैं कि एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। दैवी सम्पत्ति को लाओ और आसुरी सम्पत्ति को छोड़ो – यह उसी को कह सकते हैं जिसकी शास्त्र में श्रद्धा है। शास्त्र प्रमाण हैं, अर्थात् शास्त्र यथार्थ ज्ञान को देता है, यह श्रद्धा का विषय है। शास्त्र यथार्थ ज्ञान को देता है इस बात को सिद्ध करने का कोई तरीका नहीं है। ठीक जैसे यदि कोई कहे, 'मुझे आँख पर श्रद्धा नहीं कि आँख ठीक रंग को देखती है। इसलिये रंग कौन-सा ठीक है इसको आप किसी अन्य प्रमाण से बताइये।' तो कोई अन्य ऐसा प्रमाण नहीं है जिस से बता सकें कि रंग कैसा होता है! रंग में, रूप में प्रमाण आँख ही है। इसी प्रकार जिसको अनुमान में श्रद्धा नहीं होती, उसको तुम अनुमान प्रमाण से किसी भी चीज़ को समझा नहीं सकते। अतः अनुमान के ऊपर जिसको श्रद्धा होती है, उसको ही अनुमान से बतला सकते हो।

संसार में कुछ लोग केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। कुछ लोग प्रत्यक्ष व अनुमान को प्रमाण मानते हैं। और यद्यपि ऐसे लोग मिलते तो नहीं, परन्तु विचारकों ने ऐसे लोग भी माने हैं जो अनुमान को तो प्रमाण मानें, प्रत्यक्ष को नहीं मानें! हर हालत में, प्रमाण पर श्रद्धा होगी तभी उसके बारे में बात हो सकती है। प्रायः हम लोगों का उपदेश व्यर्थ इसलिये जाता है, कि व्यक्ति किसको प्रमाण मानता है, किस में श्रद्धा रखता है, इस

बात का विचार बिना किये हुए हम उसे समझाते हैं। शास्त्र के अन्दर श्रद्धा ही आसुरी सम्पत्ति को छोड़ने में कारण होती है। शास्त्र को प्रमाण मानने पर ही, आसुरी सम्पत्ति को छोड़ना और दैवी सम्पत्ति को लाना, यह बन सकता है, नहीं तो नहीं हो सकता। अतः भगवान् कहते हैं :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

जो शास्त्र के निर्देश को छोड़कर कामना से प्रयुक्त हो व्यवहार करता है वह न पुरुषार्थयोग्यता पाता है, न इस लोक में सुख पाता है, न मोक्ष पाता है।

सब वर्ण, सब आश्रमों के लोगों को जो भिन्न-भिन्न देश-काल के अनुसार कर्तव्यों का उपदेश करे वही शास्त्र है। जो नियमों का शासन, उपदेश करता है, नियमों को बतलाता है, उसी को शास्त्र कहते हैं। इस लिये शास्त्र के अन्दर प्रधान विधि है। विधि से उपलक्षणा निषेध की भी समझ लेना। जहाँ कर्तव्य-अकर्तव्य का उपदेश दिया है वे वाक्य ही शास्त्र में प्रधान हैं। शास्त्र में करने या न करने के लिये बताये विधान को शास्त्रविधि कहते हैं। उसे छोड़कर जो व्यवहार, बर्ताव करता है वह सिद्धि नहीं पा सकता। जो शास्त्र में कहा इसीलिये बर्ताव करता है वह अपनी इच्छा को बीच में दखल नहीं डालने देता, श्रद्धावश शास्त्र का ही अनुसरण करता है, विधियों के अनुसार कर्म करता है, निषेधों के अनुसार पापों से दूर रहता है। किन्तु कर्तव्य-अकर्तव्य बताने वाले शास्त्र से उत्पन्न प्रमा को छोड़कर वही रहता है जो शास्त्र पर श्रद्धालु नहीं है। अतः ऐसा नहीं कि उसे प्रमा हो, फिर वह उसे छोड़े, वरन् अश्रद्धावश उसे शास्त्र से प्रमा उत्पन्न ही नहीं होती, ज्ञानमात्र होकर रह जाता है। 'सृज' का मतलब उत्पत्ति। अतः उत्+सृज का मतलब उत्पन्न न होने देना। श्रद्धालु शास्त्र में सुनता है 'प्रातः सन्ध्यावंदन करे' तो उसे प्रमा होती है 'मैं प्रातः सन्ध्यावंदन करूँ'। अश्रद्धालु को यह ज्ञान नहीं होता, केवल पता चलता है कि शास्त्र ने ऐसा-ऐसा कहा। 'करो' सुनकर 'करूँ' यह बोध तभी होगा जब वचन पर या कहने वाले पर श्रद्धा है, प्रेम है। अतः अश्रद्धा वाले अंतःकरण में शास्त्र प्रवृत्ति-निवृत्ति का सृजन ही नहीं करता। ऐसा व्यक्ति शास्त्र से प्रवृत्त न होकर 'कामकारतः वर्तते'; उसे अपने मन-बुद्धि पर श्रद्धा होती है अतः तदनुसार ही वह बर्ताव करता रहता है। मन की कामनाओं के अनुसार प्रवृत्त-निवृत्त होता है, शास्त्र के निर्देश से नहीं, जैसे श्रद्धालु शास्त्र से ही प्रवृत्त-निवृत्त होता है, अपने मन की कामना से नहीं। दैवी व आसुरी संपत्तियों का यही मूल भेद है; शास्त्र पर श्रद्धालु दैवी संपत्ति वाला बनेगा। शैतान, डेविल आदि किसी अन्य से होने वाली प्रवृत्ति, जो अन्य मतों में बतायी गयी है, वह यह मन से होने वाली प्रवृत्ति ही है। अन्य मानते हैं कि हमसे भिन्न कोई है जो हमें ग़लत रास्तों पर ले जाता है जबकि वेदान्त कहता है कि मैं आत्मा हूँ और मुझसे भिन्न अनात्मा है। अनात्मा की तरफ से ही मन में सारी कामनाएँ आती हैं क्योंकि

पांचभौतिक होने से मन भूतों की, विषयों की तरफ सहजता से जाता है। किंतु शास्त्र स्पष्ट करता है कि भोग में तुम परतंत्र और कर्म में स्वतन्त्र हो। अतः शैतान आदि से नियंत्रित होकर कर्म नहीं करते, उसमें स्वतंत्र हो, तुम्हारा ही दायित्व है। मन में अध्यास कर 'मन मैं हूँ' ऐसा निश्चय कर रखने से मन का प्रभाव अतिशय हो गया है। इसीलिये तुम मन की बात इतनी सुनते हो। इसके शिकंजे से निकलने के लिये पहले शास्त्र की आवाज़ सुनना शुरू करो, तदनुसार आचरण शुरू करो तो मन धीरे-धीरे दबेगा, दुर्बल होगा। परमेश्वर की वाणी होने से शास्त्र आत्मदृष्टि-प्रधान है। अतः तदनुसार चलने पर अनात्मरूप शैतान दबेगा और आत्मशक्ति प्रबल होगी।

जो आसुरी संपत्ति वाला व्यक्ति शास्त्र को छोड़कर मन की कामनाओं के अनुसार चलता रहता है वह 'सिद्धं न अवाप्नोति', सिद्धि अर्थात् चित्तशुद्धि नहीं पा सकता। कामना से ही प्रेरित बना रहने वाले को कभी वह शुद्धि नहीं मिल सकती जो उसे परमात्मा की ओर उन्मुख करे। वह परमात्मज्ञान पाने के अयोग्य ही रहता है। 'न सुखं' इच्छा की पूर्ती होने पर भी इसे सुख नहीं होता। विषय क्षयिष्णु हैं, ख़त्म हो जाते हैं, अतः मिल भी जायें तो कुछ देर में हाथ से निकलेंगे ही, तथा निकलने से दुःख ही होगा। सुख होकर निकल जाये तो ज़्यादा ही दुःख देता है! बेटा पैदा न हो यह एक दुःख, लेकिन किसी तरह होकर बीस-बाईस साल बाद मर जाये तो उससे बहुत ज़्यादा और लंबा चलने वाला दुःख होता है। तब मन में आता है 'इससे तो पैदा ही न हुआ होता तो अच्छा था, विधवा और एक अनाथ बच्चा तो घर में नहीं होते'! कामना का विषय मिल भी जाये तो स्थिर सुख नहीं देता, दुःख देकर ही जाता है। 'न परां गतिम्' कामकार से बर्तव करने वाले को उत्तम गति नहीं मिलती, न स्वर्गादि मिलता है, न मोक्ष मिलता है। अतः कामना से प्रवृत्ति लाभप्रद नहीं है। किन्तु यह शास्त्रश्रद्धालु ही समझ सकता है। अन्यों की तो मान्यता है कि 'शास्त्र का मतलब वह होना चाहिये जो हमें ठीक लगे'। अतः अपनी कामना से विरुद्ध शास्त्र में वे 'सुधार' ही करना चाहते हैं। अपनी कामना के अनुसार वे शास्त्र को ही अन्यथा करना चाहते हैं। अतः श्रद्धापूर्वक दैवी संपत् अर्जित करना ही विवेकी का कर्तव्य है।।२३।।

क्योंकि बिना शास्त्र का अनुसरण किये ऐहिक, आमुष्मिक, पारमार्थिक कोई कल्याण संभव नहीं इसलिये भगवान् कर्तव्य बताते हैं –

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।२४।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम
षोडशोऽध्यायः।।

इसलिये क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है इसकी व्यवस्था में तेरे लिये शास्त्र प्रमाण है।

शास्त्रद्वारा किये विधान द्वारा कही बातें समझकर इस मनुष्य लोक में कर्म कर, यही योग्य है।

'तस्मात्' अपनी कामना के अनुसार किया व्यवहार यहाँ या आगे सुख नहीं देता इसलिये 'ते' साधक के लिये, कल्याण चाहने वाले के लिये, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय शास्त्र के ही अनुसार होना अनिवार्य है। कर्तव्य-अकर्तव्य की भूमिका में इनका निर्णायक शास्त्र है। सर्वकर्मसंन्यास से जब कर्तव्य-अकर्तव्य से परे हो गये तब कर्तव्यादिविवेक का प्रसंग नहीं रहता। तब कर्म छूट चुकते हैं अतः प्रवर्तक-निवर्तक शास्त्र का महत्त्व नहीं। जब अकर्तृ-आत्मबोध यदि परोक्ष भी हो जाये तब कर्तव्यादि शास्त्र उसके लिये प्रमाण नहीं रह जाता। अतः भगवान् ने कार्याकार्यव्यवस्थिति में ही शास्त्र को प्रमाण कहा, उस व्यवस्था से परे निकल जाने पर नहीं। कर्मभूमि में स्थित साधक श्रद्धालु बने तभी उसके लिये शास्त्र प्रमाण का कार्य करेगा, प्रमा उत्पन्न करेगा। अतः 'ते प्रमाणं' का भाव है कि तुम शास्त्र पर श्रद्धा रखो।

'शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा' शास्त्र ने जिसका विधान किया उन कर्मों को समझकर तदनुसार करना चाहिये। ब्राह्मण, पुरुष, स्त्री आदि के कर्तव्य-अकर्तव्य का पता शास्त्र से ही लगता है, इसमें मन-मानी कल्पना निरर्थक, निष्फल होती है। अश्रद्धा से, शास्त्र को ढंग से बिना समझे सही कर्म नहीं हो सकता। श्रद्धापूर्वक ही समझा जा सकता है। कर्म के बारे में अनेक बातें शास्त्र से ही समझनी पड़ती हैं तभी सही अनुष्ठान सम्भव है। अंग, कैसे करना आदि सब का ज्ञान शास्त्र से पाकर कर्म करना उचित है। तभी 'इह' अर्थात् जहाँ कर्म करने का अधिकार उपलब्ध है उस मनुष्य लोक में। 'कर्तुम् अर्हसि' तुम्हें करना योग्य है। जानकर, समझ-बूझकर ही कर्म करना उचित है, अन्यथा कल्याण नहीं होता। जानकर भी अगर कर्म करता नहीं तो भी कल्याण नहीं होता। अश्रद्धालु को सारी विधि मालूम होने पर भी वह तदनुसार करता नहीं। अनेक पंडितों को यदि यजमान न मिले तो वे कोई पूजा-पाठ नहीं करते! अतः भगवान् ने 'कर्तुम् अर्हसि' कहा कि करना ही योग्य है।।२४।।

इस प्रकार इस अध्याय में सात्त्विकादि त्रिविधि स्वभावों के अनुसार होने वाली दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का स्वरूप और भेद सुस्पष्ट कर साधक को कर्तव्य का निर्देश दिया।

।। सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।।

ॐ

सत्रहवाँ अध्याय: श्रद्धात्रयविभागयोग

भगवान् ने कहा कि जो शास्त्रविधि को छोड़कर अपने मन की कामना के अनुसार कार्य करते हैं उनको न सिद्धि, न सुख और न परम गति मिलती है। भगवान् का कहना तो यह हुआ कि शास्त्र को छोड़कर चलने वाले आसुरी सम्पत्ति वाले हैं। पहले (सातवें अध्याय में) भगवान् कह आये हैं कि लोग या सत्त्वगुण या रजोगुण या तमोगुण वाले होते हैं। जब भगवान् ने कहा कि कुछ लोग शास्त्रविधि को छोड़कर अपनी कामना से कार्य करते हैं, तब अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि असुर तो अश्रद्धालु होकर शास्त्रोल्लंघन करते हैं अतः दुर्गति पायें यह समझ आता है, पर जो श्रद्धालु होने के बावजूद शास्त्र का अनुसरण करने में अक्षम होते हैं उनकी क्या गति होती है? सात्त्विकादि त्रिविध प्रकृतियों के अनुसार उनकी व्यवस्था है या अन्य कोई नियम है? अर्जुन यहाँ उनके बारे में प्रश्न उठा रहा है जिन्हें शास्त्र की समझ नहीं, पर श्रद्धा है। वे किसी श्रेष्ठ का अनुसरण कर देवपूजा करते हैं, उनकी निष्ठा, अवस्था क्या बनती है?-

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

हे कृष्ण! जो शास्त्र की विधि समझे बिना किंतु श्रद्धा से संपन्न होकर यज्ञ करते हैं, उनकी सात्त्विक, राजस, तामस में से कौन-सी निष्ठा होती है?

प्रश्न का बीज यह है कि शास्त्र को छोड़ते हैं, इससे लगता है कि वे श्रद्धा वाले नहीं हैं। परन्तु बड़े आदमी को या माता-पिता को देखकर उनके ऊपर श्रद्धा करते हैं। इससे लगता है कि वे दैवीगुणों वाले हैं। श्रद्धा दैवी गुण है जबकि शास्त्र के अनुसार नहीं चलना आसुरी गुण है। इनमें दैवी गुण भी है क्योंकि श्रद्धा है और आसुरी गुण भी है क्योंकि शास्त्रानुसारी नहीं हैं। अतः प्रश्न होता है कि ऐसे लोगों को किसमें गिना जायेगा? दैवी अथवा आसुरी में तो गिन नहीं सकते क्योंकि इनमें कुछ दैवी गुण भी हैं और आसुरी भी हैं। इनको सात्त्विक,

राजस या तामस में से ही किसी में गिनना तो पड़ेगा अतः प्रश्न उचित है।

'यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य' शास्त्र में जो विधान है, श्रुति-स्मृतियों ने जो कहा है, उसकी तरफ जिनका ध्यान नहीं है। ये वे हुए जिन्होंने श्रुतिलक्षण या स्मृति-लक्षण किसी भी शास्त्रविधि को देखा नहीं है, शास्त्र-विधि का उन्होंने कभी विचार ही नहीं किया। वृद्धों या श्रेष्ठों को जो करते देखते हैं वही ये भी करते हैं। ऐसे लोग ही यहाँ का विषय हैं। जो शास्त्रविधि को देखते हैं अर्थात् उन को किसी कार्य के प्रति शास्त्र की विधि का ज्ञान है, और फिर उस विधि को छोड़कर देवादिकों की पूजा करते हैं, उनके बारे में यहाँ प्रश्न नहीं किया जा रहा क्योंकि इन्हें श्रद्धा वाला भी कहा; विधि को जिन्होंने शास्त्र से जाना उसका विचार किया, फिर भी उसे छोड़ते हैं तो उसका कारण अश्रद्धा ही है। इसलिये, ऐसा मानना कि जो शास्त्र देखने के बाद भी वृद्ध-व्यवहार को देखकर करते हैं, उनके बारे में प्रश्न है, गलत है, क्योंकि श्रद्धालु शास्त्रविधि छोड़ेगा नहीं। इसलिये यह प्रश्न उनके बारे में नहीं है जिन्होंने शास्त्र को जानकर उसका त्याग किया है क्योंकि वे श्रद्धासंपन्न नहीं हैं। परन्तु जिन्होंने शास्त्र जाना ही नहीं, केवल वृद्ध-व्यवहार को देखकर श्रद्धा वाले होने से उसके अनुसार करते हैं, उनके बारे में प्रश्न है कि उनकी निष्ठा सत्त्वगुणी है या रजोगुणी या तमोगुणी है? वे जो देवादि विषयक पूजा, यज्ञ, दान करते हैं वह सात्त्विक है या राजस अथवा तामस है? शास्त्रविधि को देखकर जो प्रवृत्त हैं वे दैवी संपत्ति वाले हैं। इन्होंने चूंकि किसी शास्त्रविधि को देखा नहीं है इसलिये इनको दैवी संपत्ति वाला नहीं कह सकते और चूंकि श्रद्धा से युक्त हैं इसलिये आसुरी संपत्ति वाले भी नहीं कह सकते। यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाये तो वर्तमान काल में ऐसे लोग ही प्रायः मिलेंगे। शास्त्र विचार करके, शास्त्र का निर्णय करके फिर प्रवृत्त होने वाले आजकल दुर्लभ हैं। आजकल लोगों को शास्त्र पढ़ने में न रुचि है और न उसके लिये समय है। शास्त्र पढ़ने में रुचि नहीं है, दुनिया भर की दूसरी चीज़ों में रुचि है! इसलिये तीन घण्टा टेलिविजन देख लेंगे परन्तु यदि किसी से कहो कि तीन घण्टे मनुस्मृति पढ़ लो, तो नहीं पढ़ सकते! आधुनिक लोग जिन कामों में अपने आप को व्यस्त रखते हैं उनका कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है, अदृष्ट की तो सम्भावना ही नहीं है। इसलिये रुचि नहीं है यही प्रधान रूप से कहना पड़ेगा। जो तो श्रद्धा से रहित लोग हैं वे आसुरी संपत्ति में ही आ जायेंगे। उनकी जो मर्जी है वही करते हैं। किसी श्रेष्ठ, शिष्ट को देखकर नहीं करते। जो उनके मन में आता है, करते हैं। किंतु बहुत से हैं श्रद्धालु, अतः जो मन में आता है वह नहीं करते, बड़ों को, शिष्टों को देखकर तदनुकूल आचरण करते हैं। इसलिये उनकी श्रद्धा का विचार किया जा सकता है कि वह श्रद्धा किस प्रकार की होनी चाहिये और कैसे में श्रद्धा नहीं करनी चाहिये। राजस और तामस बतायेंगे कि ऐसा नहीं करना चाहिये और सात्त्विक बतायेंगे कि ऐसा करना चाहिये।।१।।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् तीनों प्रकार की श्रद्धाओं को अलग-अलग कर समझाते हैं –

श्रीभगवान् उवाच
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

श्री भगवान् ने कहा- जिसके बारे में तुमने पूछा है वह देहधारियों की स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार की होती है। उस श्रद्धा के बारे में विस्तार से सुनो।

श्रद्धा तीन तरह की होती है। किसे होती है? 'देहिनां' जो शरीराभिमानी हैं, देही हैं। 'देह वाला मैं हूँ' इस प्रकार जिन्हें अभिमान है वे देही हैं। उनके अन्दर श्रद्धा होती है और श्रद्धा स्वभावजा होती है। पूर्व जन्मों में जो धर्म आदि किये हैं उनके संस्कार वर्तमान जन्म में रहते हैं। मरते समय जैसे संस्कार हैं तदनुकूल ही जन्मते समय वे व्यक्त या प्रकट होते हैं, उसका नाम स्वभाव है। जन्मभर जैसा किया है उसके अनुसार ही मरणकाल में संस्कार अभिव्यक्त होंगे। वे चाहे सात्त्विक हों अथवा राजस या तामस हों, वे ही स्वभाव कहे जाते हैं। उस स्वभाव से श्रद्धा पैदा होती है। स्वभाव सात्त्विक आदि तीन तरह का होने से श्रद्धा भी तीन तरह की होती है। इसे आगे भगवान् विस्तार से समझायेंगे, यहाँ केवल गिनकर बता दिया कि स्वभावानुसार गुणानुरूप श्रद्धा होती है।।२।।

स्वभाव की तरह अन्तःकरण पर भी श्रद्धा निर्भर करती है यह बताते हैं-

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

हे भरतवंशी! सबकी श्रद्धा अंतःकरण के अनुरूप होती है। यह संसारी जीव श्रद्धाप्राय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह व्यक्ति होता है।

सभी प्राणियों के अंतःकरण खास संस्कारों से युक्त होते हैं। जन्मान्तर के संस्कारों से जिनके अन्तःकरण में सत्त्वगुण प्रधान होगा, उनकी तदनुकूल प्रवृत्ति होगी, रजोगुण या तमोगुण प्रधान होंगे तो तदनुकूल प्रवृत्ति होगी। जिस प्रकार का अन्तःकरण होता है वैसी ही श्रद्धा होती है। कई बार देखने में आता है: महात्मा लोग गाँवों में घूमने जाते हैं तो लोग बड़ी श्रद्धा से आकर बैठते हैं, महात्मा सोचते हैं कि भगवान् की बात पूछते होंगे। अपनी तरफ से भगवान् की कुछ बात सुनाना शुरू करें तो थोड़ी देर में कहते हैं, 'बाबा जी! चिलम नहीं है?' उनसे कहो 'हम चिलम नहीं पीते' तो कहते हैं 'अच्छा! आप महात्मा नहीं हैं। हमारे यहाँ महात्मा की चिलम सात फुट ऊपर जाती है!' यह उनकी स्वभावजा श्रद्धा है। वे सोचते हैं कि गाँजे की लपट ही सिद्धि होती है, भगवान् के दर्शन आदि कुछ नहीं हैं। इसी प्रकार घूमते हैं तो पाते हैं कि सबकी अलग-अलग भावनायें होती हैं। ऐसे कम लोग मिलते हैं जिनमें सत्त्वगुण हो। सत्त्वगुण कम होने के कारण ऐसे कम लोग होते हैं जो परमात्मा की दृष्टि या परमात्मभावना को जानना चाहें। जबरदस्ती सुनाओगे तो भी नहीं सुन

पाते। कोई दृष्टांत आ जाये तो उसी में उलझे रह जाते हैं। जो राजस-तामस प्रवृत्ति वाले होते हैं उनकी वही प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। उसे सरलता से बदल नहीं सकते। इसलिये परमात्मा के मार्ग में कोई चाहे बड़ी भारी भीड़ हो, तो कभी नहीं होने वाली है, क्योंकि वैसी स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले लोग हैं ही बहुत कम।

भगवान् व्यक्तित्व के बारे में आवश्यक रहस्य बताते हैं 'अयं पुरुषः श्रद्धामयः' जो भी मनुष्य है वह श्रद्धामय है अर्थात् जैसी इसके अन्तःकरण की श्रद्धा होगी वैसा ही इसका सारा जीवन होगा। सारा जीवन उसी के अनुसार बनता है। जिसमें जैसी श्रद्धा होती है तदनुरूप ही उसकी प्रवृत्ति होती है। वर्तमान काल में जो आधुनिक वर्ग है वह अम्बानी की जीवनी से बहुत प्रभावित होगा कि कुछ नहीं था और कितना धन कमा लिया! जो विचारशील होगा, वह सोचेगा कि जितना भी धन कमा लो, सब छोड़कर चले जाना है, व्यर्थ प्रयत्न है। चाहे जितने बड़े प्रधानमंत्री बन जाओ, सारे संसार के प्रधान बन जाओ, उससे होगा क्या! किंतु लोग यह विचार नहीं करते क्योंकि इन विषयों में श्रद्धा वाले हैं। इसलिये 'अयं पुरुषः' अर्थात् संसारी जीव, जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहने वाले जीव, सब श्रद्धाप्राय होते हैं अर्थात् जैसी श्रद्धा होती है वैसी ही प्रवृत्ति वाले होते हैं। व्यक्ति के जीवन के प्रकार से उसकी श्रद्धा का पता लग जाता है। किसी की श्रद्धा का पता लग जाता है तो उसके जीवन का प्रकार पता लग जाता है।

पहले के किये हुए तुम्हारे धर्माधर्म के कारण तुम्हारे अंतःकरण में जो संस्कार उद्बुद्ध हुए उनसे श्रद्धा बनी। पहले तो, अंतःकरण को ही हम नहीं देख सकते। दूसरे का मन तो हमें दीखता नहीं, हमें दूसरे का शरीर ही दीखेगा। मन ही नहीं दीखता तो मन के अन्दर पड़े हुए संस्कार कहाँ से दीखेंगे! अतः श्रद्धा को सीधा जानने का कोई तरीका नहीं है। लेकिन चूंकि श्रद्धामय पुरुष है, श्रद्धा के अनुसार उसका जीवन होता है, अतः वह कैसा जीवन जीता है इसको देखकर उसकी श्रद्धा का पता लग जाता है। अतः भगवान् बाह्य क्रियादि बतायेंगे जिससे श्रद्धा के बारे में पता लग सकता है। अभिव्यक्ति देखकर ही श्रद्धा का पता लगता है। तुम्हारे जीवन के क्रम को देखकर ही पता लगता है कि तुम्हारी श्रद्धा कहाँ है। जैसे हम कह देते हैं कि 'सच बोलने में हमारी श्रद्धा तो है परन्तु सच बोलने से काम नहीं चलता'; इसका मतलब है कि 'सच बोलने से काम नहीं चलता' यह तुम्हारी सच्ची श्रद्धा है; 'सच बोलना चाहते हैं,' यह सुनी- सुनाई बात का अनुकरण है। तुम्हारी वह श्रद्धा है यह कैसे पता लगता है? वर्तमान काल में सभी मुकदमों में दोनों पक्ष झूठ बोलते हैं। एक भी पक्ष सत्य का आश्रयण नहीं लेता। कोई कम, कोई ज़्यादा झूठ बोलते हैं। परन्तु लोगों की श्रद्धा चूंकि सत्य बोलने में नहीं है इसलिये यह नहीं कहते कि 'सच बोलने से मुकदमा जीत गये', यह भी नहीं कहते कि 'झूठ बोलने से मुकदमा हार गये'। क्योंकि दोनों झूठ बोले हैं इसलिये झूठ बोलने से हार भी गये, पर यह कोई नहीं कहता। बल्कि यही कहते हैं कि सच बोलने से हार गये, झूठ बोलने से जीते ही हैं। अतः यह श्रद्धा का विषय है। इसलिये

जब आदमी कह देता है कि 'हमारी श्रद्धा है परन्तु हम इसे व्यावहारिक नहीं समझते', तो इसका मतलब है कि वह उसकी श्रद्धा नहीं है। भगवान् आगे श्रद्धा को समझने के लिये श्रद्धा के कार्य को ही बतायेंगे। कार्य को देखकर कारण का अनुमान लग जाता है जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। अतः अपनी भी प्रवृत्ति के आधार पर ही श्रद्धा समझनी चाहिये केवल मनोभाव के भरोसे निर्णय कर संतोष नहीं कर लेना चाहिये।।३।।

श्रद्धाकार्य ही बताते हैं-

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

सात्त्विक निष्ठा वाले लोग देव-पूजन करते हैं। राजस जन यक्षों और राक्षसों को पूजते हैं। अन्य तामस जन प्रेतों व भूतगणों की पूजा करते हैं।

अर्जुन का प्रश्न ही था कि 'उनकी निष्ठा किस पर है', निष्ठा कहकर अर्जुन ने प्रश्न किया था, उसीका यह जवाब है। निष्ठा अर्थात् नितराम् स्थिति, जिसके अन्दर उनकी वास्तविक स्थिति है। वास्तविक स्थिति एकत्र रहते हुए वे कई काम ऐसे भी करेंगे जिनका स्थिति से सम्बन्ध नहीं लगेगा, जैसे सात्त्विक व्यक्ति भी शौच आदि करेगा! किंतु वह उसकी निष्ठा का विषय नहीं हो जाता। अनिवार्यतः अनेक कार्य होते ही हैं, वे निष्ठा या श्रद्धा के सन्दर्भ से बाहर रहते हैं। जिसे कर्तव्यबुद्धि से, श्रेष्ठ कर्म मानकर किया जाता है वह श्रद्धा का द्योतक बनता है। 'सात्त्विकाः' अर्थात् जो सत्त्वगुण में निष्ठा वाले हैं अर्थात् जब प्रयोजन-पूर्वक करेंगे तब देवताओं की पूजा करेंगे। राजस लोग यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं। सात्त्विक और राजस से अलग 'अन्ये' दूसरे लोग भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं। पूज्यदृष्टि तथा पूजाओं को देखकर पता लगता है कि इसकी निष्ठा सात्त्विक श्रद्धा को लेकर है या राजस अथवा तामस श्रद्धा को लेकर है। सबसे पहले भगवान् ने यह इसलिये कहा कि जिसमें श्रद्धा होती है उसमें पूज्यदृष्टि होती है। अतः पूज्यदृष्टि से श्रद्धा का झट पता लगता है। सात्त्विक निष्ठा वाले कम होने से लाखों करोड़ों में किसी एक की ही देवपूजा में तत्पर होकर सात्त्विक निष्ठा होती है। वर्तमान काल में तो जिसकी भी पूजा होती है उसको लोग 'देव' शब्द से कह देते हैं। जिसको भोग भी बासी लगेगा, प्रसाद भी बासी खाना पडेगा, जो बैठे भी गधे पर और सूपडा झाडू हाथ में लेकर रखे, उसको भी देव या देवता ही कहते हैं। परन्तु यहाँ देव कह रहे हैं तो भगवान् का तात्पर्य है कि श्रुति-स्मृतियों के अन्दर जो प्रसिद्ध देवता हैं। सत्त्वगुणियों से कुछ ज़्यादा रजोगुणी होते हैं और बहुत ज़्यादा तमोगुणी होते हैं। पूज्य दृष्टि का तो झट पता लगता है कि किसको पूज्य मानते हैं। अतः श्रद्धा बताने में सबसे पहले इसको बता दिया।।४।।

अब त्रिविध तप को बताते हैं-

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

जो दम्भ व अहंकार से युक्त एवं काम और राग के बल वाले अविवेकी जन शरीर में स्थित इंद्रियों को दुर्बल बनाते हुए और शरीर के अंदर स्थित मुझे भी कृश करते हुए ऐसा घोर तप करते हैं जो शास्त्र में विहित नहीं है, उन्हें आसुरी निश्चय वाला समझो ।

जैसे देवताओं के प्रति पूज्य दृष्टि है, वैसे ही तप है। 'घोरं तपः तप्यन्ते' इनकी प्रवृत्ति हमेशा यह होती है कि जो जितनी पीड़ा दे, वह तप उतना ही श्रेष्ठ होता है! ऐसे तप होते हैं कि लोहे की कीलों का बिछौना बनाकर उसके ऊपर पड़े रहते हैं। जिसमें जितना ज़्यादा कष्ट हो उसी को आसुरी सम्पत् वाले लोग बड़ा तप समझते हैं। सात्त्विक तप इनको तप ही नहीं लगता! भगवान् तो आगे शारीरिक तप बतायेंगे 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवं' देवता, ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिमानों की पूजा तपस्या ही है। सफाई से रहना, व्यवहार में सरलता रखना आदि को भी भगवान् सात्त्विक तप कहेंगे। तमोगुणी लोग कहेंगे कि इसमें कोई तप तो होता नहीं ! उनकी श्रद्धा ही उस तप में होती है जिसमें अधिक कष्ट होता है। शास्त्र में भी कहीं-कहीं चान्द्रायण आदि कष्टप्रद व्रत बताये हैं। किन्तु आसुरी लोंगो को उनपर शास्त्रोक्त होने से श्रद्धा नहीं होती वरन् घोर कष्टप्रद होने से ही श्रद्धा होती है। अशास्त्रविहित अर्थात् जिन तपों को वेद, स्मृतियों में कहा नहीं, उन्हीं में पूज्य दृष्टि रखते हैं, केवल कष्टकर होना चाहिये, उसे तप मानते हैं, उसी में श्रद्धा करते हैं।

इसलिये उनके तप में दम्भ प्रधान रहेगा कि 'सब जानें कि मैंने यह तप किया'। यदि कोई नहीं जाने तो वह तप उन्हें अच्छा नहीं लगता। एक बड़े अच्छे सज्जन थे। उन्होंने गोहत्या बन्द हो इसके लिये आजन्म उपवास रखा अर्थात् घोषणा कर दी कि बिना खाये मर जायेंगे लेकिन खायेंगे तभी जब गोहत्या बन्द होगी। उनका संकल्प बहुत अच्छा था, इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु अखबारों में उनके संकल्प का कोई वर्णन नहीं आया तो उससे वे काफी परेशान रहे। उसी उद्देश्य से आजन्म व्रत एक अन्य धर्माचार्य ने भी रखा हुआ था। उनका तो अखबारों में बड़ा वर्णन आता था, इनका नाम तक नहीं आता था जिस बात की इन्हे काफ़ी शिकायत रही। इसी का नाम दम्भ है। 'मैं नहीं खा रहा तो मेरी तपस्या है', यह भाव नहीं, 'लोगों को पता लगे कि मैं कितना बड़ा तप कर रहा हूँ' यह दम्भ का भाव है। एक बार हमने अखबार में पढ़ा था कि बम्बई में कुछ लडकों ने लड़कियों को घेरा कि 'तुम लोग भारतीय पोशाक क्यों नहीं पहनती? तुम हिन्दू हो इसलिये तुम्हें हिन्दुओं के अनुसार पहनना चाहिये।' वे जीन्स वगैरह पहने हुए थीं, लड़कियाँ बुद्धिमति थीं, उन्होंने कहा 'तुम लोगों ने पैन्ट शर्ट क्यों पहना हुआ है? तुम धोती-कुर्त्ता पहनो तो हम भी साड़ी पहन लेंगी।' तब वे चुपचाप चल दिये। यह धर्म को ध्वज बनाना है। 'मैं धर्म का पालन करूँ' यह दृष्टि नहीं है। 'मेरे लिये क्या वस्त्र पहनने को कहा है' इसकी तरफ दृष्टि नहीं

है। आजकल यह प्रकृति बहुत है। जीवन में धर्म का आचरण नहीं करने वाले भी बड़े ज़ोर शोर से कहेंगे कि 'हम धर्म की रक्षा करना चाहते हैं।' हमारे शास्त्रों में कहा है 'क्रियमाणो हि धर्मो भवति' धर्म वह होता है जिसको हम करें। धर्म किताबों में लिखी हुई बात नहीं होती। जब तक उसे करो नहीं तब तक वह धर्म नहीं होता। अश्वमेध करोगे तब धर्म होगा। अश्वमेध की किताब रखी है, पढ़ भी ली, तो इतने मात्र से धर्म नहीं होगा। इसलिये धर्म की रक्षा का मतलब होता है धर्म को अपने जीवन में लाना। आजकल दम्भ वाले लोग ज़्यादा हैं, चाहते हैं कि दूसरे लोग हमें धर्मरक्षक समझें। हम धर्म का पालन करें- यह दृष्टि नहीं है। इसी प्रकार लोग मुझे तपस्वी समझें, मेरे तप की महत्ता को समझें, यह इच्छा दम्भ है।

अहंकार - तुमने तीस दिन का व्रत रखा तो मैंने बत्तीस दिन का रखा। तुमने बत्तीस बार किया तो मैं पैंतीस बार करलूँ- यह अहंकारपूर्वक तप करना है। 'यह ठीक है, इसलिये मैंने किया,' ऐसा भाव नहीं, बल्कि भाव है कि दूसरे की अपेक्षा मैं अपने अहंकार को ही पुष्ट करूं। यह वैसा है जैसे लौकिक लोग समझते हैं कि इसने एक लाख कमाया और मैंने दो लाख कमा लिया तो मैं बडा़ हुआ। किसे कितनी आवश्यकता है इसका विचार नहीं करते। जो अहंकार रहित है वह यदि देखता है कि मुझे धन की ज़रूरत नहीं है, तो होड़ लगाकर कमाता नहीं है। परन्तु अहंकार वाला कहेगा कि यह लखपति है तो मैं करोड़पति न कहा जाऊँ तो क्या फ़ायदा! ऐसे लोगों का तप भी अहंकार के साथ होता है।

ऐसे तप का बल कहाँ से प्राप्त करते हैं? 'कामरागबलान्विताः' कामना भी इन्हें बल देती है कि ऐसी-ऐसी तपस्या कर लेंगे तो देवराज इन्द्र बन जायेंगे अथवा अमुक चीज़ की प्राप्ति कर लेंगे। परमात्मा की प्रसन्नता इनका उद्देश्य नहीं है। धन, पद, जन आदि किसी-न-किसी विषय की प्राप्ति के लिये तप करते हैं। और राग; विषय की आसक्ति भी बल देती हैः लड़का बीमार है, लड़के में आसक्ति है, अतः वे उसके स्वास्थ्य के लिये घोर तप कर लेते हैं। वैसा करने का बल राग से मिलता है। इसी प्रकार जिस किसी चीज़ में जिसकी आसक्ति होती है, उसे प्राप्त करने का उसे बल मिलता है।

शास्त्र में जिसका विधान नहीं है, कष्टकारी ही जिस तप का स्वरूप है और जो दम्भ, अहंकार, काम राग के द्वारा ही चलता है वह रजोगुणी तप है।

अब तमोगुणी तप को बताते हैंः 'शरीरस्थं भूतग्रामम् अचेतसः कर्शयन्तः' शरीर में स्थित भूतग्राम को दुर्बल बनाते हुए जो तप किया जाये वह तामस है। शरीर पंच महाभूतों का बना है, इसलिये पंच महाभूतों का समुदाय ही यह शरीर है। वे पंचमहाभूत स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार के हैं। यहाँ पर स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही भूतों को समझ लेना। सूक्ष्म महाभूत इन्द्रियाँ, प्राण और मन रूप में रहते हैं और स्थूल शरीर वह है जो दिखाई देता है। स्थूल शरीर में बैठकर भोग किया जाता है और इन्द्रियाँ, प्राण तथा मन भोग के उपाय या करण हैं, उनके द्वारा भोग किया जाता है। स्थूल शरीर भोगायतन है जिसमें बैठकर भोग किया जाता है। तमोगुणी तप करने वाले कैसे हैं? 'अचेतसः,' विवेकरहित हैं। जो किसी

चीज़ के बारे में ध्यान देकर उसके स्वरूप को समझकर करता है, उसे कहते हैं कि यह इस बारे में चेतन है। और जब ध्यान नहीं देते हैं तब उसके विपरीत- अचेतस् होते हैं। तमोगुणी लोग, सचमुच में तप क्या है? गलत ढंग का तप क्या है?- इन सब चीजों का विवेक नहीं करते, इसलिये अविवेकी हैं। यहाँ प्रसंग के अनुसार तप के विषय में ही अविवेक है अर्थात् तप का विचार नहीं करते। इसलिये ऐसे लोग तप का मतलब यह समझते हैं कि शरीर में जो भूतग्राम है उनका जितना कर्शन करें उतना अच्छा है। कर्शन का मतलब है तकलीफ देना। 'कृश तनूकरणे' (दि.प.से.) धातु का असली अर्थ तो कमज़ोर करना है। ऐसे लोग शरीर का कर्शन करते हैं अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मन को जितना दुःख हो उतना ही उसे श्रेष्ठ तप समझते हैं। केवल स्थूल सूक्ष्म शरीरों का ही कर्शन नहीं करते, 'मां च'; जो देही है, देह में अभिमान वाला है वह जीवात्मा भी अन्दर मौजूद है। पहले अहंकार में, अहंकार के द्वारा अन्तःकरण में, अन्तःकरण के द्वारा इन्द्रियों में और उनके द्वारा शरीर में, इस प्रकार क्रम से वह आत्मतत्त्व शरीर के अन्दर मौजूद है। यह जीवरूप आत्मतत्त्व तामस लोगों के द्वारा दिये जाने वाले कष्ट के कारण स्वयं अपने को कष्ट वाला समझता है। स्वयं तो आत्मा में कष्ट की कभी सम्भावना ही नहीं है किंतु 'अन्तःशरीरस्थं' अर्थात् शरीर से एकता का अध्यास होने के कारण जब इसका कर्शन होता है तब जीवात्मा का भी कर्शन होता है। अतः जीवरूप से स्थित भगवान् ही तब दुःख पाते हैं। इसलिये 'मां' कहा।

शंका होती है कि परमात्मा को कष्ट कैसे हो सकता है, वह तो साक्षिरूप है? भाष्यकारने समाधान दिया 'मदनुशासनाऽकरणमेव मत्कर्शनम्' कि भगवान् का अभिप्राय है कि मेरी आज्ञा का पालन नहीं करना ही मेरा कर्शन है। मनुष्य शरीर में आ गये, मनुष्य शरीर के अन्दर क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, यह धर्माधर्म का अनुशासन मेरा किया हुआ है। उस मेरे अनुशासन को, मेरी आज्ञा को नहीं मानना ही मेरा कर्शन है। लोक में भी बच्चा बाप की बात नहीं मानता इतने मात्र से ही बाप दुःखी होता है। बच्चे से पूछो तो कहता है कि 'मैं तो इनके खाने-पीने या कपड़े आदि की किसी व्यवस्था को नहीं रोकता, जैसा खाना चाहें खायें, जहाँ जैसे घूमना चाहें घूमें, जैसा पहनना चाहें पहनें। मैंने इन्हें कोई दुःख नहीं दिया, उल्टा मैंने तो इन्हें बड़ा सुखी कर के रखा है। पिता से पूछते हैं –'क्यों दुःखी हो?' तो कहता है 'व्यवस्था सब ठीक है, लेकिन मेरी कोई बात नहीं मानता।' इसको लोक में कष्ट ही माना जाता है। इसी प्रकार से परमात्मा की आज्ञा नहीं मानना ही परमात्मा का कर्शन हो जाता है। यह वास्तविक दृष्टि से समाधान हो गया। सामान्य लौकिक दृष्टि से भी देखो तो जीव ईश्वर का पुत्र है इसलिये जीव को जब दुःख होता है तब ईश्वर को दुःख होना स्वाभाविक है। अन्दर जो ईश्वररूप से मौजूद है वह पिता की जगह है। जीव को दुःखी देखकर उसे बुरा लगना उचित है। अचेतस् अविवेकी लोग जीव को दुःखी कर मानो परमेश्वर को ही परेशान करते हैं। सोलहवें अध्याय में जिन्हें आसुरी प्रवृत्ति वाले कहा था, वे ही ऐसे तप में श्रद्धा रखते हैं। श्रद्धा ही निश्चय का कारण है। उनकी श्रद्धा ही इसमें

है कि शरीर आदि को जितना कष्ट दिया जाये उतना ही उत्तम तप है, यही उनका निश्चय है। यदि चारों तरफ देखो तो अधिकतर लोगों का तप के बारे में यही निश्चय रहता है। किसी से कहो कि 'ये बड़े तपस्वी हैं, रोज़ संहिता पाठ करते हैं अथवा रोज़ उपनिषद् का पाठ करते हैं,' तो लोग कहेंगे 'इसमें क्या तप है!' उसकी जगह यह कहो कि 'ये सोलह दिन तक कुछ नहीं खाते, पानी भी नहीं पीते', तो झट लोगों को निश्चय हो जाता है कि बड़े तपस्वी है। मन में आसुर निश्चय ही यह है कि जितना कष्ट होता है उतना अच्छा है। जो तो शास्त्र विधान से करते हैं उनका उद्देश्य कर्शन करना नहीं है वरन् शास्त्र ने जो आज्ञा दी है उसे करना है। क्योंकि भगवदाज्ञा का पालन है इसलिये वह 'मां कर्शयन्तः' का विषय नहीं है, बल्कि उस तप से भगवान् की प्रसन्नता होती है। जिसके बारे में परमात्मा की आज्ञा नहीं है वह करते हैं तब दोष होता है। लोक में भी देखा जाता है कि डाक्टर ने माता से कहा कि बच्चे को दो दिन तक कुछ खाने को मत देना और माँ बच्चे को दो दिन तक कुछ भी खाने को नहीं देती तो कोई नहीं कहता कि 'यह माँ बड़ी क्रूर है,' क्योंकि उसने डाक्टर के अनुशासन के अनुसार किया है। जब डाक्टर ने कह दिया कि 'अब बच्चे की तबियत ठीक है इसलिये इसे जैसा खाना देना है वही दो', उस के बाद भी वह नहीं देती और सोचती है कि 'जब पाँच रुपये के फल देने से काम चल सकता है तो दस रुपये के बादाम क्यों दिये जायें? जब तीन दिन बिना बादाम के रह सकता है तो आगे भी रह सकता है,' तब लोग कहेंगे कि यह माँ नहीं डायन है। इसी प्रकार से, शास्त्र के अनुसार शरीर-मन को कष्ट दिया जाता है तो वह परमात्मा के शासन के अनुरूप होने के कारण उनका कर्शन नहीं करता और जो शास्त्र विहित नहीं है अथवा जो केवल यह मानकर किया जाता है कि कष्ट देना ही तप है, वह परमात्मा का कर्शन करता है।

'आसुरनिश्चयान्' कहकर यह संकेत कर रहे हैं कि ये रजोगुणी, तमोगुणी निश्चय हैं इसलिये इनका परित्याग करना चाहिये। 'विद्धि' अर्थात् इनको छोड़ने के लिये जानो। अगर भगवान् का तात्पर्य यह न होता कि राजस तामस तप का त्याग करो तो यहाँ 'आसुरनिश्चयान्' कहने की ज़रूरत नहीं थी। अपने यहाँ नियम है कि जहाँ निन्दा की जाती है, वहाँ उसके निषेध में तात्पर्य होता है और जहाँ प्रशंसा की जाती है वहाँ उसकी विधि में तात्पर्य होता है। अतः आसुरनिश्चय कह कर भगवान् का तात्पर्य रजोगुण और तमोगुण को छोड़ने योग्य बताने में है। आगे भी रजोगुण तमोगुण के कार्यलिंगक अनुमान बतायेंगे, वहाँ भी समझ लेना कि वह आसुरनिश्चय हैं इसलिये उनका परिहार करना है।।५-६।।

श्रद्धा व तपके बाद प्रिय आहारादि के भेद से निष्ठाभेद का वर्णन करते हैं। पूजा व तप तो स्थूल दृष्टि से दीख जाते हैं। आहारों की प्रियता यों पता नहीं चलती क्योंकि खाने तो सभी आहार सबको पड़ते हैं। आयुर्वेद छहों रसों की आवश्यकता मनुष्य शरीर के लिये बताता है। पर प्रिय कौन-सा रस है यह स्वयं के बारे में स्पष्ट मालूम चलता है, दूसरों के बारे में अंदाज़ ही लगा सकते हैं। यहाँ भगवान् सात्त्विक भोजन या राजस-तामस भोजन

नहीं बताकर सात्त्विकों को प्रिय क्या होता है या राजस- तामसों को क्या प्रिय होता है- इस तरह बतायेंगे। स्वयं की रुचि से अपनी राजस-तामसता प्रतीत हो तो तत्तद् आहार छोड़कर सात्त्विकप्रिय आहारों में रुचि उपजाने का प्रयास करना चाहिये। पहले भगवान् आगे के विषय को सूचित करते हैं-

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

सबको (स्वस्वभावानुसार) तीन प्रकार के भोजन अच्छे लगते हैं। यज्ञ, तप और दान भी तीन तरह के होते हैं। इन सबका यह भेद सुनो।

सभी भोक्ताओं या सभी जीवों का तीन प्रकार का आहार होता है। जिस प्रकार से तप के बारे में कहा था कि किसी को कामरागबलान्वित होकर तप करना प्रिय होता है और किसी को भूतग्रामों का कर्शन करके तप करना प्रिय होता है, इसी प्रकार सभी लोगों को तीन प्रकार का आहार प्रिय होता है। किसी को सात्त्विक, किसी को राजस और किसी को तामस आहार प्रिय होता है। यहाँ 'अपि' से बता दिया कि तप और देवताओं के बारे में जो बात बताई थी उसी को फिर भोजन के बारे में भी बता रहे हैं। जैसे आहार वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी सात्त्विक, राजस और तामस- तीन प्रकार के होते हैं। प्रियता को धीरे-धीरे बदलना चाहिये एवं राजस-तामस यज्ञादि छोड़कर सात्त्विक ही प्रवृत्ति करनी चाहिये यह भगवान् का तात्पर्य है।।७।।

सबसे पहले आहार बताते हैं-

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

उज्ज्वल जीवन, चित्त की स्थिरता, बल, नीरोगता, आह्लाद तथा आस-पास वालों की भी प्रसन्नता बढ़ाने वाले सरस, स्नेहयुक्त, लम्बे समय तक शरीर का उपकार करने वाले तथा हृदयप्रिय आहार सात्त्विकों को प्रिय होते हैं।

सात्त्विक लोगों को कौनसा भोजन प्रिय होता है? जो भोजन आयु को बढ़ाने वाला है वह उन्हें प्रिय होता है। आयु को बढ़ाने का क्या मतलब है? आयु का निश्चय श्वासों की संख्या से होता है। मनुष्य को कितने श्वास लेने हैं यह निश्चित है। चौबीस घण्टे में एक आदमी २१६०० साँस सामान्यतः लेता है। अतः जब कहते हैं कि इसकी आयु एक साल है तब उसका मतलब होता है कि वह २१६००x३५५ साँस लेगा (क्योंकि चान्द्रमान से ३५५ दिन का वर्ष होता है)। इसी प्रकार जब कहते हैं कि यह दस साल जियेगा तब मतलब है कि वह २१६००x३५५० बार साँस लेगा। सामान्यतः तो यह नियम ठीक चलता है। परन्तु यदि तुम अपनी साँसों को घटा लो तो सालों के हिसाब से तुम्हारी आयु बढ़ जायेगी और

यदि तुम अपनी साँसों को बढ़ा लो, एक दिन में २१६०० कि जगह २२००० कर लो तो उतनी ही तुम्हारी उम्र घट जायेगी। साँसों को ज़्यादा लेने से आयु घट जाती है और कम करने से आयु बढ़ जाती है। हुक्का, सिग्रेट आदि पीने से श्वास के खर्च बहुत बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार स्त्रीसंग आदि में श्वासों का खर्च बहुत बढ़ जाता है। जप, ध्यान करने से साँसों का खर्च कम हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा तो सीधे ही साँसों को कम कर देते हो। अतः आयु बढने का मतलब है कि उन चीज़ों का सेवन नहीं करना जो तुम्हारे साँसों को ज़्यादा खर्च करे और उन चीज़ों का सेवन करना, प्रिय लगना जो तुम्हारे साँसों के खर्च को कम करे। सबसे पहले आयु-वर्धकता को कहा क्योंकि बहुत आयु वाला होना सबको अच्छा लगेगा। लेकिन भगवान् कहते हैं कि केवल आयु को बढ़ाने से ही काम नहीं चलेगा। आहार सत्त्वविवर्द्धन अर्थात् बुद्धि को बढ़ाने वाला भी होना चाहिये। कई चीज़ें ऐसी होती हैं जो तुम्हारी आयु को तो बढ़ा देंगी परन्तु तुम्हारी बुद्धि को क्षीण कर देंगी। कई तरह के नशे ऐसे होते हैं जिन्हें लेने से साँसों की संख्या तो घट जाती है, भांग इत्यादि श्वासों की संख्या घटा देती है, परन्तु बुद्धि को क्षीण कर देती है; इसलिये केवल आयु बढ़ाने वाली चीज़ नहीं होनी चाहिये, बुद्धि को भी बढ़ाने वाली होनी चाहिये। बल - शरीर के अन्दर अधिक कार्य करने की सामर्थ्य को बल कहते हैं। केवल आयु बढ़ावे, बुद्धि बढ़ावे और शरीर बिलकुल कमज़ोर कर दे कि क्रिया कुछ न कर सके, तो वह भी सात्त्विक आहार नहीं है। इसलिये बल को बढ़ाने वाली चीज़ होनी चाहिये। आरोग्य - यह एक ऐसा विचार है जो सनातनियों के सिवाय दूसरे मतों में नहीं है। आरोग्य का मतलब रोगरहित होना नहीं है, बल्कि शरीर की ऐसी सामर्थ्य होना है कि रोग न हो सके। देखने में आता है कि कई लोग ऐसे होते हैं जिन्हें एक लड्डू ज़्यादा दे दो तो उन्हें तकलीफ होने लगती है, अर्थात् उतना ज़्यादा भी हज़म नहीं कर सकते। कुछ लोग होते हैं जो समय पर चार लड्डू भी ज़्यादा खा जायें तो उन्हें हज़म हो जाते हैं। केवल भोजन का ही नहीं, अन्य चीज़ों में भी यह होता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि थोड़ा सा पानी पीते ही उनका पेट खराब हो जाता है। उसी पानी को कई दिन तक दूसरे भी पीते हैं तो कुछ नहीं होता। ऐसा कुछ नहीं है कि कीटाणु इनके पास नहीं गये और उसके पास चले गये! परन्तु जो आरोग्य वाला शरीर होगा वह उतने कीटाणुओं को नष्ट कर देगा और जो बलहीन होगा वह उन्हें नष्ट नहीं कर पायेगा और बीमार हो जायेगा। इसलिये आरोग्य का मतलब रोगरहित होना मात्र नहीं है वरन् रोग तुम्हारे ऊपर आक्रमण ही नहीं करे या करते ही परास्त हो जाये ऐसी सामर्थ्य वाला होना है। यह केवल खाने-पीने की चीज़ों में ही नहीं होता, अन्यत्र भी हो जाता है, जैसे थोड़ी सी हवा चली तो एक को सर्दी हो गई और दूसरा उससे चौगुनी हवा चले तब भी सहन कर लेता है। चाहे खाना-पीना हो, चाहे सर्दी-गर्मी हो, आरोग्य वाला शरीर विविध परिस्थितियों के अन्दर रोग-रहित रहने की सामर्थ्य रखता है। सुखविवर्द्धन अर्थात् जो खाकर सुख बढ़े। कई बार कोई चीज़ खाने के बाद तृप्ति का या सुख का बोध होता है कि

'आज बढ़िया भोजन बना', और किसी दिन भोजन करते हैं तो होता है कि 'भूख मिटानी है तो खाना तो है ही,' उसमें तृप्तिबोध नहीं होता। जो इस प्रकार से सुख को बढ़ाने वाला हो, वह सात्त्विक लोगों को प्रिय होता है। भूख के दुःख को मिटाने मात्र वाले से अतिरिक्त जो तृप्ति का सुख दे उसे सुखविवर्धन कहा है। प्रीतिविवर्द्धन– यह समझना आजकल ज़्यादा मुश्किल है! किसी भोजन को करने के बाद हर एक आदमी से व्यवहार करें तो अच्छा लगता है। किसी भोजन को करने के बाद मन भी चिड़चिडा़ हो जाता है, जिस किसी से बात करो तो बाद में अपने को ही लगता है कि आज क्या बात हो गई। जिस भोजन को करके प्रीति-भरा व्यवहार हो, वह सात्त्विक और चिड़चिड़ापन लाये तो राजस– तामस होता है। आयु आदि सबको जो बढ़ाये वह भोजन सात्त्विक है।

'रस्याः रसोपेताः', वैसे तो सभी रस रस हैं। परन्तु मधुर को ही रस कहते हैं अर्थात् जो मधुर पदार्थ होते हैं वे रसयुक्त होते हैं। बहुत-सी चीज़ें मधुर होती हैं; रसवाली होती हैं परन्तु बिलकुल सूखी होती हैं। किंतु सात्त्विक भोजन स्निग्ध या स्नेह वाला होना चाहिये। भोजन ऐसा नहीं होना चाहिये कि खाया और फिर दो घण्टे बाद भूख लग गई, स्थिर होना चाहिये अर्थात् कुछ देर तक रहना चाहिये। भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं कि देह में जाकर चिरकाल तक रहने वाला होना चाहिये। 'हृद्याः' भोजन इस ढंग के रूप रंग वाला होना चाहिये कि देखते ही हृदय खिल जाये। इस विषय में विदेशी बहुत सावधान रहते हैं। प्रायः भारतवर्ष में भोजन परोसने के तरीके में हम लोग कोई सावधानी नहीं बरतते। एक ही तश्तरी में सब भोजन मिला कर रखना पड़े ऐसा जो आधुनिक खड़े-खड़े खाने का ढंग है उसमें तो हृद्यता और भी समाप्त हो जाती है। एक ही हलवा बिना केसर वाला और केसर वाला, यों दो तरह का तैयार करें तो सभी स्वभावतः केसरिया हलवे से प्रसन्न होते हैं, यह उसकी हृद्यता है। भोजन के विषय में आयुर्वेद शास्त्र से और सूक्ष्म भेदों को समझ लेना चाहिये कि आयु आदि बढाने वाले क्या भोजन होते हैं। सात्त्विक आहार हृद्य भी होना चाहिये। इस प्रकार का आहार सात्त्विकों या सत्त्वगुणियों को प्रिय होता है और इष्ट होता है।।८।।

राजस भोजन को कहते हैं–

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

अधिक कड़वे, खट्टे, नमकीन, गर्म, तीखे, रूखे, जलाने वाले, दुःख-शोक-रोग देने वाले आहार राजस को पसन्द आते हैं।

भगवान् ने पहली पंक्ति के बीच में 'अति' शब्द रखा है जिसे भाष्यकार समझाते हैं कि कटु आदि सभी से जोड़ लेना चाहिये।

राजस भोजन में पहले अतिकटु भोजन को कहते हैं। अत्यन्त कड़वा जैसे नीम है। अतिकटु के द्वारा बताया कि सामान्य कटु तो शरीर के लिये आवश्यक है। कड़वी चीज़ें रक्त

आदि के विकारों को कम करती हैं। यहाँ बताये गये सभी स्वादों में अतिशब्द लगाना है। सात्त्विक आहार में 'रस्याः' कहा था। रस शब्द का अर्थ पूर्व श्लोक में बताया था कि रस शब्द षड्रस को विषय कर सकता है परन्तु फिर भी मधुर रस के लिये आया है। रस्य से अन्य रसों को क्यों नहीं समझ सकते? इसलिये कि अतिमधुर को रजोगुण या तमोगुण में गिना नहीं है। कषाय को छोड़कर कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण और विदाही जो पाँच रस हैं, वे अति होने पर राजस माने जायेंगे। अतः मधुर अति होने पर भी राजस नहीं होता। इस विशेषता से सात्त्विक में रस्य से मधुर रस वाली चीज़ों को ग्रहण किया। यहाँ 'अति' कहकर सूचित कर दिया कि किंचित् खट्टे आदि पदार्थ सात्त्विक भोजन के विरोधी नहीं हैं, अति होने पर ही सात्त्विक न रहकर राजस हो जाते हैं। मधुर सात्त्विक है, मधुर न रजोगुणी और न तमोगुणी होता है। अतिकटु जैसे नीम, अतिअम्ल या अतिखट्टा जैसे नीबू इत्यादि अथवा अधिक खट्टा दही; आज जमाया और कल खा लिया तो अम्ल होगा, अतिअम्ल नहीं है। जैसे कटु रक्त आदि के विकार को दूर करता है वैसे ही अम्ल भोजन को पचाने में मदद करता है। वस्तुतः पेट में भी बहुत तेज़ अम्ल होते हैं जो भोजन को पचाते हैं और अगर अम्ल कम हो जाता है तो मनुष्य की पाचनशक्ति कमज़ोर हो जाती है, वह भोजन को पचा नहीं पाता। अतः थोडा अम्ल तो शरीर के लिये अपेक्षित है, उससे भोजन का परिपाक होगा, किन्तु अति अम्ल नहीं खाना चाहिये। यह प्रत्यक्ष भी है कि अतिअम्ल होने पर मनुष्य को खट्टी डकारें आने लगती हैं। और खट्टा पदार्थ पेट से उठकर गले तक आकर प्रत्यक्ष दुःख देने वाला हो जाता है। भोजन पचाने में सीमित मात्रा में ही अम्ल चाहिये। ज़्यादा होने पर अन्य पाचक तत्त्वों के कार्य में रुकावट डालता है। जितना कटु एक के लिये ठीक है, दूसरे के लिये ठीक नहीं भी हो सकता है। इसी प्रकार अति लवण भी हानिकारक है। शरीर के अन्दर बहुत बड़ा हिस्सा नमक का है। आधुनिक लोग मानते है, कि समुद्री नमकीन पानी से ही जीवन प्रारम्भ हुआ है। इसलिये नमक शरीर के लिये स्वाभाविक होने से अति आवश्यक है। यद्यपि शास्त्र ने कई जगह प्रत्यक्ष लवण आदि का निषेध किया है परन्तु वहाँ सर्वत्र तात्पर्य है कि सामान्य मात्रा से अधिक नमक नहीं लेना चाहिये। प्रायः करके एक घर में बचपन से ही एक भोजन करने के कारण एक विशिष्ट मात्रा में खट्टा या नमकीन या मिर्च वाला भोजन वहाँ के लोगों के लिये स्वाभाविक हो जाता है। किंतु किसी के लिये क्या स्वाभाविक है; इसे धीरे-धीरे स्वयं व्यक्ति को ही निर्णय करना पड़ता है। अतः सामान्यतः शरीर को जो आवश्यक हो उससे ज़्यादा नमक अति लवण है। लवण की ज़्यादा मात्रा मनुष्य के गुर्दे को खराब करती है। नमक की अधिकता शरीर के लिए ठीक नहीं है।

भोजन अतिउष्ण भी नहीं होना चाहिये। जैसे ये स्वाद बताये हैं वैसे ही धर्मसूत्रों में कहा है कि भोजन गर्म होना चाहिये। ठण्डा भोजन शरीर के लिये लाभदायक इसलिये नहीं होता कि शरीर का जो तापमान है उस तापमान के अनुसार जो भोजन किया जाता है वह पेट में जाते ही पचने लगेगा और अन्य तापमान का भोजन पहले शरीर के तापमान पर आयेगा,

उसके बाद उसका पचना शुरू होगा। भोजन एक ही जगह नहीं पचता। मुख से ही भोजन का पचना शुरू हो जाता है। यह जो कहा जाता है कि कौर को बत्तीस बार चबाकर खाओ, उसका तात्पर्य ही यह है कि मुख के अन्दर जो स्रावक ग्रन्थियाँ हैं उनसे ऐसा पदार्थ निकलता है जो भोजन को हजम करता है। अतः जो भोजन मुख से ही हजम होना शुरू हो जाता है उसे अगर उतना नहीं चबाओगे तो पचना कठिन हो जायेगा। भोजन के बाद पान आदि खाने की प्रथा इसलिये है कि पान तो चबाना ही पड़ेगा और चबाने से जो स्राव निकलेंगे वे पेट में जायेंगे तो पहले यदि चबाकर भोजन हजम नहीं कर लिया है तो वे स्राव भोजन को हजम करने में मदद करेंगे। लम्बे समय भोजन चबाने पर वे स्राव मुख में भोजन को पहले हजम कर जायेंगे, फिर मुख से नीचे जाकर अन्य स्रावों में मिल जाने पर उनकी सान्द्रता घटने से हर्ज नहीं। मुख से भोजन का पचना शुरू होकर काफी तो उदर में जाकर पच जाता है। परन्तु बहुत-सी चीज़ें वहाँ नहीं पचतीं। वहाँ अम्ल की तेज़ी ज़्यादा होती है अतः उसके नीचे जब भोजन आन्त्रों में जाता है तब वे पदार्थ पचते हैं जो क्षार से पचने वाले हैं। अति उष्ण होने से प्रायः पूरी देर तक चबा नहीं पाते। दक्षिण में किसी-किसी प्रान्त में ऐसी प्रथा है कि कौर मिलाया और सीधा ही गले में डालकर निगल लिया! इसलिये उनके लिये तो उन हिस्सों के पचने का प्रश्न ही नहीं है। राजस्थान में भी पहले बहुत खाने वाले लोग होते थे, सौ-सौ मोतीचूर के लड्डू खा जाते थे। चबाकर नहीं खाते थे, निगलते जाते थे। भोजन करने वाला यदि अतिउष्ण भोजन करेगा तो सारी कठिनाइयाँ आ जायेंगी इसलिये अतिउष्ण का निषेध समझना चाहिये। भोजन ठण्डा भी न हो, अतिगर्म भी न हो। आजकल की प्रथा ठीक इसके विपरीत है। आजकल शीतल पेय बहुत ही ठण्डे, लगभग बर्फ जैसे- पिये जाते हैं। और चाय आदि बहुत ही गर्म, लगभग उबलते हुए पिये जाते हैं। शरीर के तापमान पर पहुँचा भोजन खाना लोगों को बहुत कम पसन्द है। अतिगर्म (और अतिठण्डा) राजस में गिना जाता है।

तीक्ष्ण, जैसे मिर्च का स्वाद जिसे मारवाड़ में चिर्का स्वाद कहते हैं। तीक्ष्ण का अपभ्रंश 'तीखा' है। रूक्ष- जिसका रस सुखा दिया गया हो। कई बार साग आदि को भूनकर सुखा देते हैं। घी में भूनें तो स्निग्धता रहेगी पर आजकल एक विशेष बर्तन आता है जिसमें बिना घी के भूनना सरल हो जाता है। कोदों आदि कई सूखे भोजन हैं जिन्हें खाने से शरीर का स्निग्धांश भी सूख जाता है। विदाही- जो जलाते हैं, जिन्हें खाने पर जलन होती है जैसे राई, सरसों आदि। ये सभी स्वाद अल्प मात्रा में तो सुख-प्रीति को बढ़ाते हैं अतः सात्त्विक हो जाते हैं। पर अति होने पर राजस हैं। स्वरूप से ये रजोगुणी नहीं पर अतिमात्रा में लेने पर रजोगुणी हो जाते हैं। अतः भगवान् ने अति-शब्द रखा। द्वन्द्व-समास के आदि या मध्य या अन्त में आये शब्द का सभी शब्दों से संबंध संभव होता है। जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रजोगुणी है उसे इस तरह का अतिखट्टे आदि स्वादों वाला या अतिगर्म भोजन पसन्द आता है।

ऐसे आहारों का प्रभाव क्या है? दुःख, शोक और आमय देते हैं। खाते समय की

तकलीफ दुःख है। अतितीक्ष्ण आदि चीज़ें खाते समय मुँह, नाक आदि जलते हैं। खाने के बाद की तकलीफ शोक है जिससे मनमें आता है 'यह नहीं खाया होता तो अच्छा था'। कभी मात्रा का भी शोक होता है कि इतना न खाया होता तो अच्छा था। कभी-कभी शोक तीव्र हो तो लोग निश्चय कर लेते हैं कि पुनः कभी नहीं खायेंगे, लेकिन फिर सामने आने पर खा लेते हैं क्योंकि राजस प्रकृति स्वाभाविक है। आमय अर्थात् रोग, राजस भोजन से बचना साधक के हित में है।।९।।

तमोगुणी भोजन बताते हैं-

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चाऽमेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

कम पका, निर्वीर्य, दुर्गंधयुक्त, बासी, जूठा और यज्ञ के अयोग्य भोजन तामस जनों को अच्छा लगता है।

कुछ व्याख्याता 'बनाकर रखे जिसे काफी समय हो गया' या 'एक प्रहर पूर्व बना'-ऐसा यातयामका अर्थ करते हैं किंतु वह तो पर्युषित से कहा ही है और रखे रहने से सूख गया तो गतरस से कहा ही है, अतः भगवान् भाष्यकार ने मन्दपक्व अर्थात् 'कम पका' यही अर्थ स्वीकारा है। चीन देश का भोजन प्रायः अधपका होता है। ऐसा भोजन तमोगुणी को प्रिय होता है। गतरस - जिसका रस खत्म कर दिया हो। रस स्वाद को कहते हैं। मसाला आदि इतना नहीं होना चाहिये कि साग आदि के स्वाद को ही खत्म कर दे। साग-दाल आदि का अपना स्वाद बचा रहे, अन्यथा गतरस भोजन हो जायेगा। पूति- दुर्गन्धयुक्त भोजन, जैसे लहसन आदि। कई भोजन स्वतः दुर्गन्ध वाले न होने पर भी मसाले आदि के सहारे से दुर्गन्ध वाले हो जाते हैं, वे भी तामसों को पसन्द आते हैं। पर्युषित- बासी, पकाकर तैयार कर, रात बीतने के बाद उस भोजन को खाने का शौक तामसों को होता है। विदेश में तो भोजन पकाकर ठण्डी अल्मारी में रख देते हैं फिर महीनों बाद तक उसे खाते हैं! ऐसे भोजन तमोगुणी लोगों को पसंद आते हैं। आजकल पकाकर तैयार भोजन डब्बों में बंद किये बिकते हैं जिन्हें तमोगुणी लोग प्रसन्नता से खाते हैं। हमने थैलियों में छह महीने पुराना दूध भी बिकता देखा है! उच्छिष्ट- एक की खायी चीज़ दूसरा खाये उसे उच्छिष्ट, जूठा कहते हैं। जब तुम खा रहे हो तब, खाते हुए तुम्हारे हाथ का स्पर्श होने से थाली का सारा भोजन उच्छिष्ट हो जाता है। उच्छिष्ट से छुई चीज़ भी उच्छिष्ट हो जाती है। जहाँ भोजन किया वह जगह भी जूठी हो जाती है। जूठे भोजन का शौक तामसों को होता है। अमेध्य - जिस भोजन को मेध अर्थात् पूजा या यज्ञ के द्वारा शुद्ध नहीं कर लिया गया है वह अमेध्य है। यज्ञ से बचा हुआ या भगवान् को भोग लगाकर बचा हुआ भोजन मेध्य है। परोसे हुए भोजन को जल से शुद्ध कर भीतर मौजूद वैश्वानराग्नि के निमित्त उसकी आहुति देकर उसे यज्ञ-सम्बन्धी बनाकर खाया जाता है ताकि अमेध्यता न रह जाये। किंतु यज्ञ के योग्य भोजन को

ही इस तरह मेध्य बना सकते हैं, जिन चीज़ों का यज्ञ में, देवपूजन में विधान नहीं उन्हें यों शुद्ध नहीं कर सकते। स्वरूप से या स्पर्श आदि से अशुद्ध वस्तुएँ यज्ञसम्बन्धी नहीं बनायी जा सकती। अतः वे अमेध्य ही रहती हैं। भाष्य में यज्ञ के अनर्ह, अयोग्य को अमेध्य कहा है। वैश्वानरको भी अयोग्य पदार्थों की आहुति नहीं दी जा सकती। ऐसा अमेध्य भोजन तामसों को प्रिय होता है।

आहार शरीर मन दोनों का निर्माण करता है और स्थूल होने से धीरे-धीरे जबरदस्ती या बिना विशेष इच्छा के भी इसे अभ्यास से बदला जा सकता है। अतः अपनी तामस रुचियाँ बदल कर सात्त्विक अभिरुचि बनानी चाहिये इस उद्देश्य से भगवान् ने आहारों के तीनों प्रकारों का विस्तार किया।। १०।।

अब क्रम से प्राप्त यज्ञ को कहते हैं जिस क्रम से भगवान् ने सातवें श्लोक में प्रतिज्ञा की थी उसी क्रम से बताते हैं-

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

फल न चाहने वालों द्वारा 'यज्ञ ही करना है' इस निश्चय से मन एकाग्र कर विधि के अनुसार जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है वह सात्त्विक है।

सात्त्विक यज्ञ कैसा होता है? आहार और यज्ञ दोनों में फ़र्क देख लेना : आहार में तो सात्त्विक को प्रिय, राजस को प्रिय और तामस को प्रिय कहा था। यहाँ प्रियता की बात नहीं कह रहे हैं, यहाँ तो बता रहे हैं कि यज्ञ सात्त्विक, राजस या तामस कब होता है। सात्त्विक यज्ञ वह होता है जिसमें 'अमुक यज्ञ करना ही है' ऐसा शास्त्र के द्वारा जानकर उस यज्ञस्वरूप का निर्वर्तन करना ही उद्देश्य है अर्थात् जो नियमानुसार सांगोपांग किया जाये। चूंकि प्रकृत प्रसंग में करने वाला शास्त्रज्ञ तो है नहीं, इसलिये उसको जो बड़ों द्वारा बताया गया है कि 'तुमको यह पूजा या यह यज्ञ करना ही है,' अथवा बड़ों को नियमपूर्वक ऐसा करते देखकर उनके ऊपर श्रद्धा होने से यह करता है, उसी को सात्त्विक बता रहे हैं। किसी फल के लिये नहीं वरन् 'यह पूजा करनी ही है' इस निश्चय से मन लगाकर, एकाग्रता से करता है। किसी अर्थ- सिद्धि या दुःख- निवृत्ति के लिये नहीं वरन् कर्तव्य समझकर किया यज्ञ सात्त्विक होगा। बड़ों से जैसी विधि सीखी है ठीक वैसा ही करता है। स्वयं तो शास्त्र समझता नहीं पर अपने पूज्य आदि को जैसा करते देखा, उसमें मन-मानी हेरफेर बिना किये करता है तब सात्त्विक यज्ञ होता है। भाष्य में 'विधि' से शास्त्रीय विधि इसलिये कही कि सात्त्विक व्यक्ति की श्रद्धा जिन शिष्टों पर होती है वे शास्त्र का पालन ही करते हैं। अतः उनका अनुकरण करने से आचरण स्वतः शास्त्रानुकूल ही हो जाता है। अतः प्रकृत कर्ता शास्त्र भले ही न जाने, यह जिन्हें देखकर यज्ञ करता है वे तो शास्त्रज्ञ हैं अतः उनका किया विधिदृष्ट ही होता है। फलेच्छा छोड़कर करने पर प्रायः यथाविधि न कर कुछ सुविधादि से

घटा-बढ़ी कर लिया करते हैं लेकिन सात्त्विक यज्ञ वह नहीं होगा, सात्त्विक होने के लिये विधिदृष्ट होना अर्थात् जैसा बड़ों को करते देखा है वैसा ही होना पड़ेगा। फलेच्छात्याग, यथाविधि और एकाग्रतापूर्वक कर्तव्यबुद्धि से अनुष्ठित ही सात्त्विक यज्ञ है।।११।।

छोड़ने लायक यज्ञों में पहले राजसको बतलाते हैं-

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! फल के उद्देश्य से और अपनी धार्मिकता के विज्ञापन के लिये किये जाने वाले को राजस यज्ञ समझो।

सात्त्विक यज्ञ में पहली खासियत अफलाकांक्षा कही थी, उससे विपरीत राजस यज्ञ का उद्देश्य ही है फलप्राप्ति। अमुक यज्ञ से, पूजा से अमुक फल होगा - यह मानकर ही जब उस फल के लिये किया जाता है तब यज्ञ राजस हो जाता है। फल चाहे विषयादि की प्राप्ति हो या दुःखादि-निवृत्ति हो, यज्ञ का उद्देश्य फल ही होता है, कर्तव्यपूर्ति या परमेश्वर की आज्ञाका पालन नहीं। सात्त्विक यज्ञ में एकाग्रता यज्ञसम्पादन में होती है जबकि राजस में किस से क्या फल होगा इसी के निर्धारण में एकाग्रता होती है। स्वयं शास्त्र न जानने से जिन्हें श्रेष्ठ समझता है उन्हें पूछ कर और उन्हें करते देखकर फल के प्रयोजनसे किया यज्ञ राजस है। कुछ राजस लोग तो केवल इसलिये धर्म करते हैं कि लोग उन्हें धार्मिक समझें। यज्ञों के जो शास्त्रप्रसिद्ध फल हैं उन्हें उद्देश्य न कर, 'मैं धार्मिक हूँ' इसे प्रकट करने के लिये जो यज्ञ किया जाये वह राजस है। फलार्थ भी राजस है और दम्भार्थ किया भी राजस है। फलाभिसंधि से किये धर्म का तो फल हुआ या नहीं इसका विचार किया जाता है, फल न होने पर उपायान्तर खोजा जाता है, लेकिन दम्भार्थ किये यज्ञ के प्रभाव की चिंता नहीं रहती! आजकल 'विश्व-शान्ति' के लिये यज्ञ करते हैं जिन्हें दम्भार्थ मानना पड़ेगा क्योंकि उनसे शान्ति हुई या नहीं इसका विचार कोई यजमान या ऋत्विक् नहीं करता! यद्यपि दम्भख्यापन भी एक फल है फिर भी भगवान् ने अलग से कहकर सूचित किया कि फलार्थ करने वाला दम्भार्थ करने वाले से बेहतर है क्योंकि वह श्रद्धा से ही करता है जबकि दम्भी को कर्म की सामर्थ्य पर ऐसी कोई श्रद्धा नहीं; सर्वथा श्रद्धारहित तो तामस होगा पर राजस में निकृष्ट वह है जिसे यत्किंचित् ही श्रद्धा है, दृढ श्रद्धा नहीं। दृढ श्रद्धा होने पर फलार्थ प्रवृत्ति होती है, क्योंकि राजस में फलकामना तो है ही और फल का हेतु है- यह श्रद्धा हो तो उसमें प्रवृत्ति हो जायेगी। केवल दम्भार्थ करता है, अतः कामना के विषय की प्राप्ति यज्ञमात्रसे होगी यह श्रद्धा नहीं रखता, धर्म यत्किंचित् लाभ करेगा इतनी ही श्रद्धा से प्रवृत्त हो जाता है। यदि फलार्थ और दम्भार्थ, दोनों हेतुओं से किया जाये तो भी यज्ञ राजस ही है।।१२।।

अब तमोगुणी पूजा को बताते हैं-

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

जैसी विधि है उससे विपरीत ढंग से, उचित मन्त्रप्रयोग के बिना, यथोक्त दक्षिणा और ब्राह्मणों को अन्न दिये बिना किये यज्ञ को तामस कहते हैं।

सात्त्विक को तो कहा था "विधिदृष्टः" जैसी विधि है वैसा ही किया जाता है। राजस भी होता तो विधि के अनुसार है परन्तु किया फल की इच्छा से जाता है इसलिये वह राजस है। जो सात्त्विक पूजा करने वाला है उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शम, दम की प्राप्ति होकर परमात्म- प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है इसलिये वह सफल है। राजस सफल है क्योंकि जिस उद्देश्य से किया उस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु जो तमोगुणी है वह विधिदृष्ट नहीं करता है। जैसा उसने देखा है अथवा जैसे उसे बताया गया है वैसा नहीं करता। विधिहीन होने से ही असृष्टान्न करता है। हर पूजा के अन्दर यह विधान है कि ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये। कितनों को कराना- वह तो कराने वाले की सामर्थ्य और कर्म के अनुसार है, परन्तु ब्राह्मण-भोजन यज्ञ का अंग निश्चित है। तामस यज्ञ वह है जिसमें ब्राह्मणों को न भोजन कराया जाता है और न अन्न दिया जाता है। कलकत्ते में ब्याह के पहले ब्राह्मण-भोजन होता था, कुछ ब्राह्मणों को बुलाकर भोजन कराते थे। लेकिन आजकल भोजन नहीं कराते। निमन्त्रण के साथ दस रुपये का नोट नत्थी कर भेज देते हैं 'पण्डित जी, भोजन कर लीजियेगा'! नोट देने से अन्नदान नहीं हो जाता। कहीं-कहीं श्राद्ध में लोग पण्डित को पैसा दे देते हैं कि 'दुकान में खा लीजियेगा'। वह भी अन्नदान या भोजन कराना नहीं है। ये सब तमोगुणी पूजा के प्रकार हैं क्योंकि असृष्टान्न यज्ञ हैं। वैसे तो विधिहीन से ही असृष्टान्न आ गया, क्योंकि अन्नदान की विधि की ही गई है, फिर भी स्पष्ट करने के लिये पृथक् कर कह दिया। मंत्रहीन यज्ञ तामस होता है। स्वर के साथ पाठ नहीं किया जाये तो वह वेदमंत्र नहीं होता। केवल शब्दमात्र के उच्चारण से वेदमंत्र नहीं हो जाता; उसका उच्चारण उदान्त, अनुदात्त, स्वरित का ध्यान रखकर करना पड़ता है। अगर तुम्हारे कण्ठ से स्वर का उच्चारण न हो तो याज्ञवल्क्य ने उपाय दिया है कि हाथ से ही स्वर दे दो। उदान्त अनुदात्त स्वरित में जिधर हाथ ले जाना है उधर ले जाने से भी स्वर का नियम पूरा हो जाता है। हर हालत में उच्चारण सस्वर होना चाहिये और वर्ण पूरे बोले जाने चाहिये। बहुत बार उच्चारण करते हुए वर्ण भी खा जाते हैं। पूरा मंत्र बोले बगैर 'स्वाहा' कर देते हैं। अर्थात् स्वर और वर्ण से रहित करते हैं तो तमोगुणी यज्ञ है। अदक्षिणम्- जिस यज्ञ में जैसी दक्षिणा देने का नियम है उस प्रकार से दक्षिणा नहीं दी जाये तो यज्ञ तामस हो जाता है। अथवा कहीं-कहीं तो हमने देखा है कि दक्षिणा देते ही नहीं हैं! कई बार बड़े शहरों में ऐसे मौके आये हैं। सहस्त्ररुद्रयाग जैसा बड़ा यज्ञ हो गया, उसके बाद पण्डित लोग दक्षिणा लेने जाते हैं तो कहते हैं 'यजमान कहीं गये हुए हैं, बाद में ले लेना।' बहुत से पण्डित हम से आकर कहते हैं कि 'महीनाभर हो गया, दक्षिणा का तो कोई जुगाड़ ही नहीं है।' अतः या

तो जैसा विधान है उसके अनुसार दक्षिणा नहीं देते, अथवा उसके भी आगे, दक्षिणा देते ही नहीं हैं। इन यज्ञों को तामस यज्ञ कहते हैं क्योंकि तमोगुणियों के द्वारा किये हुए यज्ञ हैं।

तामस में पहली चीज़ तो विधिहीनता है और दूसरी श्रद्धाविरहितता, कि 'यह कर्म जो हम कर रहे हैं इससे कुछ होता है'। रजोगुणी यजमानों में श्रद्धा तो है, इसलिये जैसा समझाया या बताया गया है वैसा करते हैं। फल की इच्छा है, यह बात दूसरी है, लेकिन हैं वे श्रद्धा वाले। लेकिन तामस तो श्रद्धा-विरहित हैं, कर्म के प्रति उन्हें श्रद्धा ही नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि श्रद्धा-रहित हैं तो करते क्यों हैं? उत्तर है कि लोक-लाज, सामाजिक दबाव या कानूनी मान्यता आदि लौकिक हेतुओं से करते हैं। हिन्दू विवाह न हो तो उत्तराधिकार आदि में हिन्दू नियम लागू नहीं होता इसलिये कई लोग अग्निसाक्षी में विवाह करते हैं। उन्हें विवाह-यज्ञ में श्रद्धा बिलकुल नहीं, इसलिये हमने यहाँ तक सुना है कि होटल वालों ने अग्नि जलाने की अनुमति नहीं दी तो मोमबत्ती जलाकर ही फेरे कर लिये! इसी प्रकार लोग बुरा न कहें या समाज वाले लोभी आदि न कहें इसलिये कई यज्ञ कर लिये जाते हैं जिनमें कर्ता को कोई श्रद्धा नहीं है। यद्यपि इसे भी दम्भार्थ कह सकते हैं तथापि दम्भी दो तरह के होते हैं -एक राजस हैं जो चाहते हैं कि यज्ञ यथाविधि हो, साथ में यह भी चाहते हैं कि सब जानें कि हमने यज्ञ किया। वे श्रद्धा रखते हैं, विधि के प्रति सद्भाव रखते हैं, श्रद्धा से शून्य नहीं हैं। यथाविधि करने से ही धार्मिकता का ख्यापन भी संभव है, अन्यथा -जैसा बताया -मोमबत्ती के फेरे खाने वाले की धार्मिक के रूप में प्रसिद्धि नहीं हो सकती! दूसरे हैं तामस दम्भी जो विधियों के प्रति सर्वथा अश्रद्धालु हैं। उनका दम्भ इतना ही है कि लोकापवाद न हो इसकेलिये खानापूर्ति का यज्ञ कर लेते हैं। अतः बिना श्रद्धा के ही किया यज्ञ तामस है और ऐसे यज्ञ लौकिक हेतुओं से संभव हैं।।१३।।

सातवें श्लोक में आहार, यज्ञ, तप और दान- इस क्रमसे उल्लेख किया था अतः उसी क्रम से भगवान् ने आहार व यज्ञ बताये, अब तप बतायेंगे। तप का सात्त्विकादि भेद बताने से पूर्व उसका शारीरिक आदि भेद बताते हैं अर्थात् यहाँ तप का मतलब क्या है यह समझाकर वह तप सात्त्विक आदि भेद से तीन तरह का कैसे है यह स्पष्ट करेंगे। शारीरिक तप सात्त्विक आदि तीन तरह का हो सकता है, ऐसे ही वाचिक और मानस भी तीनों तरह के हो सकते हैं। लोक में प्रसिद्ध तपस्या की अपेक्षा भगवान् की दृष्टि में तपस्या क्या है यह यहाँ स्पष्ट होता है। क्योंकि तप के बारे में भ्रम अधिक है इसलिये भगवान् ने कृपा कर केवल तपका सात्त्विकादि त्रैविध्य नहीं बताया, उसका स्वरूप भी समझाया। मनु आदि स्मृतिकारों ने शारीर आदि तीन तरह के कर्म माने हैं, उसी रीति से भगवान् तप का विभाजन करते हुए पहले शारीरिक तप बताते हैं-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन व तत्त्ववेत्ताओं का पूजन; शारीरिक शुद्धि; नियमतः धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति; ब्रह्मचर्यका पालन; और प्राणियों को पीडा न देना- यह प्रधानतः शरीर से किया जाने वाला तप है।

प्रायः लोग शरीर से सम्पाद्य तपों में केवल उन को ही प्रधानता देते है जिनमें शरीर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास इत्यादि कष्ट पाये। उन तपों को भगवान् ने नहीं गिना है, उन सबको भगवान् ने शारीरिक तप कहा ही नहीं है! उस प्रकार के तपों को तामस तपों में (श्लो.५-६) कह चुके हैं। भगवान् ने शारीरिक तप बताया देवपूजन; विष्णु, सूर्य, शंकर आदि देवताओं का पूजन शरीर से करोगे। पूजा के लिये उत्तम फूलों का स्वयं चयन करना चाहिये। उत्तम फूल वे होते हैं जो तुम स्वयं लगाये बगीचे से तोड़कर देवता को चढ़ाओ। बाज़ार से खरीद कर जो फूल चढ़ाये जाते हैं उन्हें हम मध्यम मानते हैं। इसी प्रकार चन्दन भी खुद घिसा जाये। सोलन के महाराजा अपने पूजाघर में किसी को नहीं जाने देते थे। पूजाघर में सफेदी भी खुद करते थे। एक बार पूजाघर के फर्श का कुछ हिस्सा टूट गया था। राज-मिस्त्री बाहर से ही निर्देश करते रहे, मरम्मत उन्होंने स्वयं ही की। जितने कार्य तुम्हारे अपने शरीर से हों उतनी ही श्रेष्ठ पूजा होती है, श्रेष्ठ शारीरिक तप होता है। देवताओं का पूजन करने में, उसके लिये सब इन्तजाम आदि करने में जो तकलीफ होती है वह सब शारीरिक तप है।

द्विजपूजन - ब्राह्मणों का पूजन करना। द्विज मायने जो दो बार जन्मे हैं। एक जन्म तो माता-पिता से हुआ और दूसरा जन्म होता है जब गुरु यज्ञोपवीत संस्कार करके वेद पढ़ाता है। उपनयन संस्कार वेद पढ़ने के लिये किया जाता है क्योंकि बिना उपनयन के वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। उपनयन करके जिसने वेद पढ़ लिया उसको द्विज कहते हैं। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि अपनी सामर्थ्य के अनुसार पहले तो वेद ही पढ़े, फिर चाहे दूसरे विषय पढ़े। मनुस्मृति में यहाँ तक लिखा है कि जो वेद-अध्ययन बिना किये हुए दूसरे विषय पढ़ता है वह यहीं इस जन्म में ही शूद्र हो जाता है! यद्यपि उपनयन त्रैवर्णिक का होने से तीनों द्विज हैं तथापि यहाँ द्विजोत्तम ब्राह्मण के पूजन को कह रहे हैं। वेद जिसके अन्तःकरण में मौजूद है वही वास्तव में द्विज है, केवल यज्ञोपवीत संस्कार होने मात्र से नाममात्र की द्विजता है, वेद ग्रहण करने पर ही वास्तविक द्विजता आती है। ऐसे उत्तम द्विज का पूजन तप है।

गुरुपूजन - माता, पिता, अध्यापक आदि सब गुरु हैं। एक अक्षर भी जिससे सीखा वह गुरु है, उसे आदर ही देना चाहिये, उसके अपमान से पाप लगता है। जिनसे कुछ भी सीखा हो उन सबको हमेशा सम्मान देना गुरुपूजा है। प्रथम गुरु माता है, फिर पिता से सीखते हैं, उसके बाद आचार्यों से सीखते हैं। प्रायः सदाचार माता-पिता से सीखे जाते हैं। ज्ञानकाण्ड-कर्मकाण्ड समेत वेद आचार्य से सीखे जाते हैं। माता, पिता, गुरु- तीनों से समुचित शिक्षा मिलने पर ही ठीक-ठीक ज्ञान, परमात्माका भी ज्ञान हो पाता है। प्रथम तीन वर्षों में जितना बच्चा सीखता है, उतना आगे बीस साल में नहीं सीखता ऐसा आधुनिक मनोवैज्ञानिक बताते हैं। अतः छोटे बच्चों को आचार-प्रशिक्षण में बहुत सावधानी रखना

माता-पिता का दायित्व है। तीन-चार साल के बाद ही वे घर से बाहर निकल कर सीखेंगे किन्तु उससे पूर्व जो संस्कार पड़ गये वे दृढ और स्थायी होंगे। प्राचीन वर्णव्यवस्था में एक तो माता-पिता के आचार लगभग एक-से होते थे और दूसरा ग़लत आचार होने पर सामाजिक बहिष्कार का कठोर दण्ड मिलता था इसलिये बच्चे घर के वातावरण में काफी सदाचार की शिक्षा पा लेते थे। आजकल न माता-पिता के आचार-विचार समान हैं, न दण्डव्यवस्था है तथा स्वतन्त्रता के नामपर दुराचार को बढावा भी है अतः लोगों में आचारभ्रष्टता बहुत ज़्यादा हो गयी है। फिर भी, सिखाने वाले होने से माता- पिता आदि हैं गुरु, इन्हें प्रणाम करना, इनकी सेवा करना आदि इनका पूजन शारीरिक तप है।

प्राज्ञपूजन - जिन्होंने प्रज्ञान पा लिया, परमात्माके विषय में जान लिया वे प्राज्ञ हैं। प्राज्ञों को द्विजों से अलग से इसलिये गिना है कि पूर्व जन्म के पुण्य- पुञ्जों के कारण एकाध दोष या शाप से कोई व्यक्ति वेद-अनधिकारी होकर पैदा हुआ परन्तु उसके बाकी संस्कार ठीक हैं इसलिये उसने परमात्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया तो वह भी पूज्य हो जाता है। जैसे विदुर, धर्मव्याध आदि द्विज तो नहीं थे, इसलिये उन्होंने वेदाध्ययन नहीं किया था परन्तु प्राज्ञ हो गये थे, उन्होंने प्रज्ञान प्राप्त कर लिया था। ऐसे जो प्राज्ञ लोग होते हैं वे भी पूजन के अधिकारी हैं। इसलिये उनका भी पूजन तप होता है।

शौच अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का शौच तप समझना। जल, मिट्टी इत्यादि के द्वारा शरीर इत्यादि की सफाई बाह्य शौच है। जैसे यह बाह्य शौच है वैसे ही अपने अन्दर तरह-तरह के मल हैं। नाक, कान, गले, आँख, पेट, रक्त आदि के सभी मलों की शुद्धि विशेष प्राणायामों और विशेष प्रकार के षट्कर्म इत्यादि करने से होती है। शरीर के अन्दर होने वाले आभ्यन्तर मलों को साफ करना भी शारीरिक तप के अन्तर्गत है। मल स्वभाव से तमोगुण को बढ़ाता है। इतना याद रखना कि मल शरीर के लिये आवश्यक भी है। शरीर पंचमहाभूतों के तमोगुण के कार्य से उत्पन्न हुआ है। अतः तमोगुण का हिस्सा इसका अभिन्न अंग है। अतः यह नहीं सोचना चाहिये कि 'हमने स्नान कर लिया तो शाम को स्नान करने की क्या ज़रूरत है', क्योंकि दिनभर के पसीने इत्यादि के द्वारा शरीर में लगातार मल होता रहता है। इसी प्रकार नाक, कान इत्यादि के अन्दर भी मल हो जाता है तो उसे भी दो-तीन बार शुद्ध करना चाहिये। गृहस्थ के लिये दिन में सामान्यतः दो बार सारे शरीर की शुद्धि कही है। संन्यासी को चूंकि शरीर और ज़्यादा सत्त्वगुणी रखने को कहा है इसलिये उसके लिये गृहस्थ की अपेक्षा चारगुणा ज़्यादा शुद्धि के लिये कहा है। इससे यह निष्कर्ष भी निकला कि यदि गृहस्थ भी आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ना चाहता है तो उसको अपनी शारीरिक शुद्धि को अधिक-अधिक करना पड़ेगा क्योंकि तभी यह सम्भव है। अतः इन्द्रियों का निग्रह और ध्यान आदि बढ़ाने के लिये शौच आवश्यक है। इस शौच में मन की शुद्धि को नहीं गिन रहे क्योंकि आगे मन और इन्द्रियों की तपस्या अलग से बतायेंगे। यह हमेशा याद रखना चाहिये कि शरीर और मन साथ-साथ चलते हैं। अतः केवल

शरीर की शुद्धि से मन की शुद्धि नहीं होगी परन्तु शरीर की शुद्धि से मन की शुद्धि में मदद मिलेगी। ठीक इसी प्रकार से मन की शुद्धि स्थिर नहीं रह सकती यदि शरीर में अशुद्धि है। यहाँ शारीरिक तप को कहना है अतः शारीरिक शुद्धि ही प्रधान है और वह बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार की होना आवश्यक है।

'आर्जवम्'– आर्जव का प्रसिद्ध मतलब है जो मन से सोचो, जो वाणी से कहो और जो शरीर से करो उस सबमें एकरूपता। मन में कुछ है, वाणी से कुछ और कह रहे हो और शरीर से कुछ अन्य ही कर रहे हो तो फिर शारीरिक तपस्या नहीं होगी। शारीर तप का प्रसंग होने से आनंदगिरि स्वामी ने कहा है कि विहित हमेशा करना और निषिद्ध हमेशा छोड़ना – इस आचार की एकरूपता को तप कह रहे हैं। कभी धार्मिक क्रिया की, कभी नहीं की, कभी दुष्कर्म से स्वयं को रोक लिया, कभी नहीं रोका– यों एकरूपता न रखी तो शारीरिक तप सम्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य में शरीर ही प्रधान है। आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य का विधान किया गया है– स्मरणं, कीर्तनं, केलिः, प्रेक्षणं, गुह्यभाषणं, संकल्पः, अध्यवसायश्च, क्रियानिर्वृतिरेव च– ये आठ तरह के मैथुन हैं जिनका त्याग ब्रह्मचर्य है। इनमें क्रियानिर्वृति शारीरिक तप स्पष्टतः हुआ। स्मरण आदि मानसिक हैं और उनसे निवृत्ति भी मानसिक तप में ही आयेगी परन्तु मन इत्यादि में विकार होने पर शरीर में विकार अवश्य ही होता है। अतः स्मरणादि छोड़े बिना शरीर-निर्वर्त्य तप पूरी तरह से सम्भव नहीं। इसलिये शारीरिक तप का प्रसंग होने से प्रधान रूप से यहाँ शारीरिक ब्रह्मचर्य ही लेना है किन्तु सारे ही ब्रह्मचर्य अपेक्षित होते हैं क्योंकि मन और इन्द्रियाँ साथ ही रहेंगे। जो मन बार-बार सोचेगा वह अवश्य ही शरीर के द्वारा भी निष्पन्न होगा।

अहिंसा - किसी के प्रति हिंसा की भावना न होना अहिंसा का मुख्य अर्थ है परन्तु शारीरिक हिंसा न करना यहाँ तप कही गयी है। मारपीट करना या प्राणी को जान से मार देना आदि शारीरिक हिंसा है। शारीरिक तप में शारीरिक अहिंसा ही प्रधान है परन्तु इसके उचित निर्वाह केलिये मन-वाणी की भी अहिंसा अपेक्षित है। इसी रहस्य को व्यक्त करने के लिये भाष्यकारने शारीर-शब्द की व्याख्या की 'शरीरप्रधानैः सर्वैरेव कार्यकरणैः कर्त्रादिभिः साध्यम्'; 'शारीर' अर्थात् शरीर से होने वाला है किन्तु भाष्यकार कहते हैं कि अकले शरीर कुछ नहीं करता। उसे इन्द्रियों का, कर्ता (विज्ञानमय) का भी सहयोग चाहिये। ऐसे ही संस्कार आदि का सहयोग चाहिये। इसलिये जिनमें प्रधानता शरीर की है उन्हें भगवान् ने शारीर कहा, इंन्द्रिय-मन आदि की व्यावृत्ति के लिये नहीं। कर्म होगा तो सबके द्वारा ही क्योंकि शरीर से जो भी क्रिया होती है, आगे (१८.१५) चलकर भगवान् उसमें पाँच हेतु कहेंगे 'पंचैते तस्य हेतवः'। अधिष्ठान शरीर भी कारण पड़ेगा, जीव भी कारण पड़ेगा, अलग-अलग इन्द्रियाँ भी कारण पड़ेंगी। केवल एक से काम नहीं होगा! इन सबके साथ 'दैवं चैवात्रपञ्चमं' तुम जो कर्म करने जा रहे हो उसके अन्दर परमात्मा ने जो तुम्हारे द्वारा होना निश्चित किया है वह दैव भी कारण है। अतः सारा प्रयत्न करने पर भी कुछ कार्य नहीं हो पाते क्योंकि दैव

का योग नहीं है। विविध चेष्टायें भी कारण पड़ती हैं। प्रायः लोग समझते हैं कि कर्म में एक ही कारण है। प्रारब्धवादी कहते हैं कि तुम कुछ नहीं कर सकते, केवल दैव ही कारण है। पुरुषार्थवादी कहते हैं कि केवल कर्त्ता ही कारण है। परन्तु भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि पाँचों ही कारण हैं। फिर जीव को ही प्रधान कारण क्यों मानते हैं? दैव को बनाने वाले पूर्व कर्म हैं। तुम्हारे जो पहले किये हुए कर्म हैं वे फलोन्मुख हैं, इसलिये बोया तो तुम्हींने है और जो बोया है वह तुम्हें काटना ही पड़ेगा। अगर तुम आगे नहीं बोओगे तो भविष्य में नहीं भोगना पड़ेगा। पहले जो तुमने पुरुषार्थ के द्वारा सम्पन्न किया है वही आज प्रारब्ध है। वे कर्म जब फलोन्मुख हो गये तब तुम प्रतिरोध नहीं कर सकते, वे भोगने ही पड़ेंगे। जैसे लोक में चलाने वाले को ही प्रधान मानते है क्योंकि बैल, गाड़ी आदि सब चीज़ों को वही एकत्रित करता है। इसी प्रकार से जीव ही अपने कर्म के लिये प्रधान रूपसे जिम्मेदार कहा जाता है। परन्तु अन्यों की अपेक्षा तो उसको है ही। इसी प्रकार से शरीर-निर्वर्त्य तप में बाकी सब भी अपेक्षित हैं। फिर भी प्राधान्य के कारण उसे शारीर कहा।।१४।।

अब वाचिक तप कहते हैं-

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

किसी को दुःख न दे, प्रमाण पर आधारित हो, सुनने में अच्छा लगे व परिणाम में हितकर हो ऐसा वाक्य बोलना वाङ्मय तप है। यथाविधि वेद की अवृत्ति करना भी वाङ्मय तप कहा जाता है।

वाणी का तप क्या है? वाणी बोलने का काम करती है। बोलने में किन चीज़ों का ध्यान रखना चाहिये? पहली है अनुद्वेगकरता। ऐसी कोई वाणी नहीं बोलनी चाहिये जो सुनने वाले में उद्वेग आये। उद्वेग तब आता है जब किसी को दुःख होता है। दुःख होने पर ही उद्वेग होता है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं 'अनुद्वेगकरम् अदुःखकरं' दूसरे को दुःखी करने वाली वाणी नहीं होनी चाहिये। अनुद्वेगकर का तात्पर्य कुछ आचार्यों ने यह भी बताया है कि बोलने के बाद स्वयं अपने अन्दर उद्वेग न हो। कई बार मनुष्य ऐसी बात कह देता है जो दूसरे को दुःख देती है। सामने वाला यदि शान्त व्यक्ति है तो उसे उद्वेग नहीं भी होता क्योंकि शान्त व्यक्ति जानेगा कि 'मेरे अपने कर्म ही इस समय गाली सुनने के हैं इसलिये सुन रहा हूँ'। उसे गाली सुनकर उद्वेग नहीं होता, किन्तु दो घण्टे बाद जब गाली देने वाले का मन शान्त होता है तब वह सोचता है कि 'मैंने वैसा क्यों कह दिया? नहीं कहता तो अच्छा था' ऐसा उसे स्वयं उद्वेग होता है। अतः सुनने वाले को भी उद्वेग न करे और बाद में अपने को भी उद्वेग न करे ऐसा वचन बोलना तप है। वर्तमान युग में समझ लो कि जिसको बोलने के बाद तुमको अफसोस न जताना पड़े, माफ़ी न माँगनी पड़े, वह अनुद्वेगकर होगा अर्थात् जो प्रधानरूप से सुनने वाले को दुःखी करने वाला वाक्य न हो और स्वयं अपने में ग्लानि पैदा न करे।

वाङ्मय तप में दूसरी विशेषता वाक्य होना चाहिये। स्पष्ट करके, सारी अपेक्षित बातों के साथ कहो। कई बार इसकी तरफ ध्यान नहीं रहता और हम मानकर चलते हैं 'इतना तो श्रोता स्वयं समझ लेगा', पर इस तरह बोलने से तप नहीं होगा। अतः बोलने से पहले अच्छी तरह से सोच लेना चाहिये कि मैं क्या-क्या बात कहना चाहता हूँ और उसके लिये कौन से शब्द उपयुक्त होंगे जिससे सामने वाला ठीक वैसा ही समझे जैसा मैं कहना चाहता हूँ। फिर, वह सत्य होना चाहिये; जैसा मैं ने देखा और समझा है वैसा ही भाव प्रकट करने वाला वाक्य होना चाहिये। मैंने समझा कुछ है लेकिन इस ढंग से बोलूँ कि सामने वाला कुछ और समझे- इस भाव से जो बोला जायेगा वह असत्य है। इसलिये जैसा मैंने समझा है वैसा ही दूसरा समझे ऐसा भाव मन में रखकर वाक्य बनाना चाहिये। इतना विचार करेंगे तो बोलना ही कम हो जायेगा। यह अच्छा है क्योंकि कम बोलने से कभी कोई नुक्सान नहीं होता। सबसे ज़्यादा झगड़े बोलने से ही होते हैं! अतः थोड़ा बोलने में कोई हर्ज नहीं है, लेकिन जो बोलो वह सत्य हो। इतना ही नहीं, प्रिय भी हो। वाक्य में प्रियता होनी चाहिये कि सुनने वाले को प्रिय लगे। अप्रियता नहीं होनी चाहिये। केवल प्रिय ही न हो, हितकारी भी हो, दूसरे को फायदा पहुँचाने वाली बात हो। सत्य है, प्रिय है इतने मात्र से नहीं बोलना चाहिये। किसी से कहते हो 'तुम्हारे बारे में अमुक यह कह रहा था' तो उसे प्रसन्नता होती है कि इसने हमें बता दिया; बात यथार्थ भी हो सकती है, वाक्य भी पूरा बोलते हो अतः अनुद्वेगकर, वाक्य, सत्य और प्रिय तो हुआ लेकिन तुमने जो उसे सुनी हुई निन्दा सुनाई उसके कारण उस आदमी में क्रोध आदि विकार ही आयेंगे जिससे अहित ही होगा इसलिये हितकर न होने से वह तप नहीं होगा। भाष्यकार कहते हैं कि प्रिय और हित केवल दृष्ट ही न हो, अदृष्ट भी हो। दृष्ट प्रियता व दृष्ट हित करने वाला भी यदि अदृष्ट अहित का हेतु बने तो वैसा बोलना तप नहीं है। 'अफसर मेरा परिचित है, उसे धन देकर तुम्हारा काम करा सकता हूँ'- ऐसी किसी से सही बात कहो। तो सत्य, प्रिय व दृष्ट हित की होने पर भी अदृष्ट अहित की है क्योंकि घूस देना दोष का काम है अतः ऐसा बोलना तप नहीं है। आधुनिक नेता अनेक बातें दृष्ट हित किन्तु अदृष्ट अहित की करते हैं जिससे वाङ्मय तप नहीं होता। सभी वर्ण वाले पौरोहित्य करें - ऐसा नेता कहते हैं दृष्ट हित को सामने रखकर जबकि खुद भी जानते हैं कि यह अदृष्ट अहित का कार्य है इसलिये स्वयं चुनाव जीतने आदि के लिये अनुष्ठान केवल ब्राह्मणों से कराते हैं!

भगवान् ने चकार से इन सब विशेषणों का समुच्चय होने पर तप होगा यह बता दिया अर्थात् केवल अनुद्वेगकर वाक्य बोलने से तप नहीं होगा, केवल सत्य, केवल प्रिय इत्यादि बोलने से तप नहीं होगा, सभी विशेषणों से युक्त वाक्य बोलने का नियम निभे तभी तप होगा। जिस वाक्य को बोलो वह वाक्य ऐसा होना चाहिये जिसमें अनुद्वेगकरता प्रियता और हितता सब हों। भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि इनमें से दो या तीन विशेषण होने मात्र से उसे वाणी का तप नहीं समझ लेना चाहिये। यह वाणी का तप ध्यान में रखना चाहिये क्योंकि

यदि अनुद्वेगकर, प्रिय और हितकर नहीं है तो ऐसा सत्य वचन भी वाङ्मय (वाणी का) तप नहीं है। इसी प्रकार यदि प्रिय वाक्य भी है परन्तु सत्य और हितकारी नहीं है तो भी वह तप नहीं हो जायेगा। इसी प्रकार चाहे जितनी हितकारी बात है परन्तु यदि वह उद्वेगकर अथवा अप्रिय अथवा असत्य है तब भी वह वाणी का तप नहीं होगा। केवल प्रिय बोलने से अथवा केवल हित की बात कहने से वह तप नहीं होगा। यह सामान्य वाक्तप हुआ। यदि विचार करके देखो तो इन सब बातों को मिलाकर बोलोगे तो सिवाय अध्यात्मवार्ता के और कुछ नहीं करोगे! इसलिये आचार्य कहते हैं कि वाङ्मय तप का उदाहरण क्या है 'यथा शान्तो भव वत्स! स्वाध्यायं योगं च अनुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यति'। उदाहरण यह वाक्य दिया 'शिष्य! शांत बनो, स्वाध्याय व योग का अनुष्ठान करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा'। यह सत्य भी है, उद्वेगकारी भी नहीं है, प्रिय और हितकारी भी है। ऐसा वाक्य ही बोलना चाहिये। जिस काल में बोलते हो उस काल में जो उसका सुखद असर होता है वह प्रिय है और कालान्तर में जो उसका श्रेयस्कर असर होता है वह हित है। तीनों लोकों में कहीं भी चले जाओ, अध्यात्मशास्त्र के सिवाय दूसरी सारी बातों में इनमें से कोई-न-कोई विशेषण कम ही रहेगा। जैसे, यदि तुम कहते हो 'इससे तुम्हें स्वर्ग मिलेगा' तो प्रिय व सत्य तो है परन्तु क्या सचमुच में स्वर्ग मिलना हितकारी है? भगवान् कह आये हैं 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'; अतः सचमुच में स्वर्ग आदि की प्राप्ति हितकारी नहीं है। इसी प्रकार से अन्य सभी बातों में कमी रह ही जायेगी। इसलिये अध्यात्म वाक्य को ही वाङ्मय तप कह सकते हैं।

यदि ऐसा बोलने के लिये व्यक्ति हमेशा न मिले तो कैसे वाङ्मय तप करें? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा 'स्वाध्यायाभ्यसनम्'। अध्यात्मविद्या सुनने वाला न मिले तो स्वयं ग्रन्थाभ्यास करे। उसके द्वारा भी अध्यात्मविषयक वाणी का व्यवहार कर रहे हो अतः तप है। वाङ्मय तप करना हो तो अन्य वार्ताओं से दूर रहना ही पड़ेगा। अध्यात्मशास्त्र में, योगवासिष्ठ आदि में अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय और हितकर वाक्य ही मिलते हैं। 'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव' कहकर स्पष्ट कर दिया कि जहाँ साक्षात् सत्संग आदि का श्रवण-श्रावण नहीं हो पाता वहाँ स्वाध्याय का अभ्यास करो। स्वाध्याय में प्रधान वेद ही है। मनु महाराज कहते हैं 'वेदमेव सदाऽभ्यसेत्' कि वेद का ही सदा अभ्यास करें, यह द्विजों के लिये श्रेष्ठ है। वेदाभ्यास विप्रों के लिये प्रथम अर्थात् सबसे उत्तम तप है। उसकी सर्वत्र प्रशंसा है। द्विज अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेद का स्वाध्याय करता है तो परम तपस्वी है। स्वाध्याय-शब्द का अर्थ जप भी किया है। मन्त्र का जप भी स्वाध्याय है। इसलिये जो स्तोत्र आदि का भी पाठ करते हैं वह स्वाध्याय हो जाता है। स्तोत्रों के अन्दर भी अध्यात्म विचार ही आता है। अधिकारी वेदाध्ययन कर सकें तो सबसे श्रेष्ठ है अन्यथा, या वेदाधिकार न हो तो जो वेदमूलक गीता आदि ग्रन्थ हैं अथवा स्तोत्र ग्रन्थ हैं उनका अभ्यास वाणी का तप है।।१५।।

अब मन का तप बताते हैं-

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

मनको स्वच्छ करना, सभी का हितैषी होना, वाणी को प्रेरित करने वाले मन पर संयम रखना, मन का निरोध करना तथा दूसरों से व्यवहार करने में माया (ठगी) न करना- इन्हें मानस तप कहते हैं।

जिसे मन से सम्पन्न किया जाये वह मानस तप है। पहले भी कहा था, शरीर से या वाणी से जो सम्पन्न किया जायेगा उसमें भी मन का उपयोग तो रहेगा ही क्योंकि बिना मन के सम्बन्ध के न ज्ञानेन्द्रियों की और न कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति हो सकती है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सभी मन के ही अधीन चलती हैं। जो भी शारीरिक और वाचिक क्रिया होगी उसमें मन तो कार्यकारी रहेगा ही। अतः यहाँ मानस का मतलब है जो मनोमात्र से निर्वर्त्य है, जिसे मन से ही सम्पन्न किया जाता है। अन्य तपों में मन भी प्रयुक्त है, वाणी या शरीर भी प्रयुक्त हैं। मानस तप में तो मन ही प्रधान है, अन्यों का इसमें प्रवेश है ही नहीं। अतः मानस का अर्थ है जो मनोमात्र से सम्पन्न होता है। इसमें सबसे पहले मनःप्रसाद है। मन की प्रसन्नता होनी चाहिये। संस्कृत में प्रसन्नता का अर्थ होता है जहाँ सारे मल दूर हो जायें। जैसे जब बरसात का मौसम समाप्त हो जाता है तब तालाब बिलकुल साफ हो जाते हैं। तब कहते हैं 'सरः प्रसीदति'। इसी प्रकार मन की प्रसन्नता का मतलब है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जितने मन के दोष हैं वे सब बैठ जायें। इन के कारण ही मन हमेशा वृत्ति बनाता रहता है, कभी वृत्तिहीन नहीं हो पाता। काम, क्रोध आदि विकार उठते ही रहते हैं इसलिये मन के अन्दर स्थिरता नहीं होती। मन में इन सारी वृत्तियों का न उठना और ये सारे दोष मन में न होना मन की प्रसन्नता है। वृत्ति उठने का तो मतलब हुआ कि मन के अन्दर प्रकट भान है। वृत्ति न उठने पर भी मल मन में बने रहते हैं। जैसे क्रोध होता है तो कामना का भान नहीं रहता, क्रोध का ही भान रहता है। इसी प्रकार जब लोभ होता है तब काम-क्रोध आदि का भान नहीं रहता, परन्तु वे मल दूर नहीं हुए हैं। अन्तःकरण में उनके संस्कार मौजूद हैं। किसी एक काल में एक जगता है, दूसरे काल में दूसरा उद्‌बुद्ध होता है। अतः वे सारे दोष मन में हैं, केवल उस समय उनकी वृत्ति नहीं बन रही है अर्थात् उस समय उनका भान नहीं हो रहा है। मन की प्रसन्नता का मतलब है कि ये मल हट जायें, मन इनमें से कोई भी वृत्ति न बनाते हुए भी जाग्रत् रह सके। ऐसा मन प्रसन्न है। मन का स्वरूप ही है कुछ-न-कुछ संकल्प करना, बिना संकल्प किये हुए मन की सत्ता ही नहीं रहेगी। संकल्प करता अंतःकरण ही मन है। जब काम, क्रोध आदि से संकल्प नहीं हो तब मन के द्वारा परमात्मा के विषय में संकल्प होगा। शास्त्रीय भाषा में, अनात्मप्रत्यय का अभाव हो तभी आत्मप्रत्यय मौजूद हो पायेगा। परमात्म-विषयक संकल्प होने से मन की मौजूदगी सिद्ध होती है। काम, क्रोधादि का संकल्प नहीं होने से मन में मल नहीं है यह पता चलता है। वह परमात्म-विषयक संकल्प भी क्षणिक नहीं होता, क्योंकि मल स्वरूप से ही दूर हो गये हैं इसलिये मन के विचलन का हेतु नहीं रह गया है। इस दशा में मन में बिलकुल स्वच्छता है और परमात्म-वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्ति नहीं होने से सर्वथा शान्ति है। हमारा स्वरूप आत्मा है इसलिये परमात्मा-सम्बन्धी वृत्ति में तो हमें शान्ति

मिलती है। अनात्मा हमारा स्वरूप नहीं है इसलिये अनात्मा की वृत्ति में अशान्ति है। अनात्मवृत्ति से कभी पूरी तरह शान्ति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार, मन मौजूद है परन्तु परमात्मा के विषय में संकल्प करता है, अनात्मा के विषय में नहीं करता, यह मनःप्रसाद है।

इतना समझ लेना चाहिये कि प्रारम्भ में जब मन को शान्त करने जा रहे हो तब काम, क्रोधादि विकारों का मल कैसे दूर किया जाये, इसके दो साधन हैं। एक साधन विवेक है। आत्मा और अनात्मा का विवेक करके 'अनात्मा से मेरा वास्तविक सम्बन्ध है नहीं ' इसके बारे में बार-बार दृढ़ प्रत्यय- प्रवाह करना एक तरीका है। दूसरा है कि मन का सारा भाव परमात्मा में केन्द्रित कर देना। इसलिये रोज़ बोलते हैं - 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव। त्वमेव सर्वं मम देव देव।' परमात्मा ही विद्या है इसलिये केवल परमात्मा को जानने की इच्छा करनी है क्योंकि वही विद्यारूप है। वही वित्तरूप है। यह खतरनाक प्रार्थना है! इसमें यह नहीं कहा कि आपसे धन मिलेगा बल्कि आप ही धन हो अर्थात् आप मिल गये तो धन मिल गया। धन- विषयक लोभ रह ही नहीं सकता क्योंकि जानने या पाने की इच्छा परमात्ममात्र की है। इसी प्रकार माता-पिता से मोह होता है। कह दिया कि आप ही माता-पिता हो अर्थात् आपको छोड़कर और कोई मोह का विषय भी नहीं है। इस प्रकार से जितने मन के विकार हैं उनको विवेक के द्वारा धीरे-धीरे छोड़कर परमात्मा पर केन्द्रित कर देने से मन प्रसन्न, स्वच्छ हो जाता है। इसी का अभ्यास कराने के लिये पुराने ज़माने में यह पद्धति थी कि तुमको जो पहनना हो वह पहले भगवान् को अर्पण करो, फिर उनका प्रसाद लेकर ग्रहण करो कि भगवान् का प्रसाद है इसलिये हम पहन रहे हैं। इसी प्रकार जो खाना है वह पहले भगवान् को चढ़ाओ। बताया है कि अमावस्या के दिन, जितना भी महीने भर में कमाया है वह सब भगवती को चढ़ा दो, फिर उसमें से तृतीय अंश अपने लिये ले लो। भगवती को देने के बाद, वह हमें प्रतिग्रह देती है- इस रूप से ग्रहण करो। इससे भगवती प्रसन्न होती है। इस प्रकार से सब चीज़ों को परमात्म- सम्बन्धी कर सको इसलिये यह शिक्षा दी जाती है। हर हालत में, अनात्म- सम्बन्धी सब वृत्तियों को छोड़ना है, आत्म- सम्बन्धी वृत्ति बनानी है। जितना-जितना अनात्म पदार्थों को विवेक करके अपने से भिन्न करोगे उतनी ही मन के अन्दर स्वच्छता आयेगी और जितनी भावनायें परमात्मा से अतिरिक्त दूसरी तरफ नहीं जायेंगी उतनी ही शान्ति आयेगी। यह मनःप्रसाद है।

'सौम्यत्व'। मन की प्रसन्नता ऐसी चीज़ है जो मनुष्य के चेहरे और शरीर पर भी प्रकट हो जाती है। उपनिषदों में कहा है कि कुछ भी हो जाये, तत्त्वज्ञ के चेहरे पर मलिनता नहीं आती। उसका कारण यह है कि अंतःकरण की अनात्माकार वृत्ति से ही मलिनता आती है। यदि अंतःकरण की वृत्ति होगी कि 'मैंने ग़लत काम किया है' तो मुख के ऊपर उसका प्रभाव आ जायेगा। जब वृत्ति यह बनती है कि 'बहुत अच्छा हुआ', तो मुख के ऊपर भी एक शान्ति और प्रसन्नता आ जाती है। शिष्य को उपदेश देते हैं तो कहते हैं - 'हे सोम्य!' इस का

तात्पर्य है कि इस उपदेश को तभी दिया जा सकता है जब उसके अंतःकरण में इतनी शान्ति आ गई है कि वह उसके मुख के ऊपर झलकती है। कोई अत्यन्त कष्ट में पड़ा हुआ दुःख के अन्दर पीडित है, उसे अगर तुम तत्त्व का उपदेश दोगे तो कभी ग्रहण ही नहीं होगा। अतः तत्त्व का उपदेश तभी करना चाहिये कि जब श्रोता की प्रसन्नता चेहरे पर आ जाये। इसीको स्पष्ट करने के लिये हर जगह गुरु शिष्य को सोम्य कहते हैं। इसलिये मनःप्रसाद के बाद ही सौम्यता कही है।

मौन- अर्थात् शब्द का प्रयोग नहीं करना अथवा वाणी का संयम। वाणी का संयम भी मनःसंयम पूर्वक होता है इसलिये मनःसंयम को मौन शब्द से कह दिया जाता है। मौन का सीधा अर्थ तो हुआ वाणी का नियन्त्रण करना। फिर इसे यहाँ कैसे गिन दिया, क्योंकि उसको तो वाचिक में गिनना चाहिये था? वाणी का संयम मनःसंयम पूर्वक होता है। कई जगह कार्य के नाम से कारण को कह दिया जाता है, नाम तो कार्य का लिया जाता है लेकिन उससे कारण का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ मौन शब्द से मन के संयम को लेना है। शब्दार्थ तो वही रहेगा परन्तु वाक्- संयम का कारण मन का संयम है। इसलिये वाक्- संयम से मन के संयम को समझ लेना है। किसी-किसी आचार्य ने यह भी कहा है कि मुनि के भाव को मौन कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में भाष्यकार ने मौन का यही अर्थ किया है। मनन करने वाले का भाव मौन है। उसको भी यहाँ समझा जा सकता है। परन्तु मुनि के भाव का सूक्ष्म अर्थ है कि श्रवण के बाद मनन करना और यहाँ तप का प्रसंग है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने श्रवण के बाद ज्ञान होकर उसी की पुष्टि के लिये जो प्रयत्न है, केवल उस का ग्रहण यहाँ नहीं किया है। आगे यहाँ तीनों तप सात्त्विक, राजस और तामस भेद से कहे जायेंगे, मुनिभाव जो मौन है वह सात्त्विक तप तो संकेतित हो जायेगा लेकिन राजस और तामस तप वाले के लिये मन की वह स्थिति संभव नहीं। मन का संयम मात्र तो राक्षसों में भी देखा जाता है। वे लोग भी मन का बड़ा संयम करते हैं। रामायण में आता है कि मेघनाद किसी अनुष्ठान के लिये बैठा कि वह अनुष्ठान सफल हो जाये तो राम जी को मार सके। विभीषण को इसका पता लग गया। उसने अंगद से कहा 'यह अनुष्ठान सफल नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका अनुष्ठान सफल हो गया तो राम जी की जीत नहीं होनी है।' कहाँ बैठकर अनुष्ठान कर रहा है यह भी बता दिया। अंगद ने विभीषण की प्रेरणा से सारे वानरों से कहा 'किसी भी तरह वहाँ जाकर उसे विक्षेप पैदा करो।' बन्दरों ने वहाँ जाकर उसके अनुष्ठान में विक्षेप करना शुरू किया, कोई उसके बाल खींचता था, कोई और किसी प्रकार से विघ्न डालता था। लेकिन उसका संयम इतना तीव्र था कि उसमें बिलकुल विकार नहीं आया! अंत में उसकी पत्नी को ले आये और उसके सामने ही उसे तरह-तरह से परेशान करने लगे। पत्नी की वह स्थिति देखकर मेघनाद सहन नहीं कर सका, उसे गुस्सा आ गया, जो अनुष्ठान कर रहा था वह पूरा नहीं हुआ, उससे पूर्व ही वह बंदरों को भगाने लग गया। मेघनाद भी समझ गया कि राम जी को नहीं मार पायेगा। इसलिये इतना संयम

तो राक्षस भी कर लेते हैं, परन्तु उन्हें परमात्म-विषयक कोई ज्ञान नहीं होता। मनन तो उसके बाद की बात रही। चूंकि रजोगुणी- तमोगुणी मनःसंयम को भी यहाँ लेना है इसलिये भगवान् भाष्यकार ने यहाँ मौन का वह अर्थ नहीं किया है जो बृहदारण्यक उपनिषद् में स्वयं भाष्यकार ने किया है। मन की प्रसन्नता अथवा सौम्यता मन का संयम है।

आत्मविनिग्रह - मन का निरोध करना। चित्तवृत्ति निरोध को ही योग कहा गया है। मौन शब्द के प्रयोग से वाक्संयम करने वाला जो मन का संयम है वही कहा गया है। अन्य सारी वृत्तियों का भी निरोध आत्मविनिग्रह से कहा है। सामान्य रूप से मन का संयम आत्मविनिग्रह से कथित है। यहाँ आत्मविनिग्रह कहा है। मन को कौन रोकेगा? मन को रोकने वाला अहं ही है। है अहं भी अंतःकरण की वृत्ति और मन भी अंतःकरण की वृत्ति है, परन्तु मन का निरोध अहं करेगा और चूँकि अहं में ही आत्मा सीधे प्रतिबिम्बित होता है, अहं का पता लगाने पर आत्मा का पता लगता है, इसलिये आत्मा अर्थात् अहं में प्रतिबिम्बित हुआ जो जीव है वही मन का विनिग्रह करेगा। चित्तवृत्ति को रोकना योग है। लेकिन भगवान् ने केवल निरोध अर्थात् निग्रह का प्रयोग न करके 'विनिग्रह' कहा है। एक तो मन का निरोध प्राणायाम आदि से भी हो जाता है क्योंकि प्राण और मन समनियत हैं। मन में वृत्ति बनेगी तो प्राण भी ज़रूर वृत्ति बनायेगा और प्राण वृत्ति बनायेगा तो मन भी वृत्ति बनायेगा। इसलिये इसे समझाने के लिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि जैसे काँच के अगले भाग में मुख दीखता है, उसके पिछले भाग में मुख नहीं दीखता परन्तु दोनों मिलकर काँच है। यदि पिछले वाले हिस्से को काट कर निकाल दो तो अगले भाग में भी मुख नहीं दीखेगा। इसी प्रकार चेतन मन की वृत्ति में दीखता है, प्राण की वृत्ति में दीखता नहीं, प्राण में चेतनता की (ज्ञान की) प्रतीति नहीं होती। परन्तु प्राण और मन चीज़ एक ही है। मन अगला हिस्सा है और प्राण पिछला हिस्सा है। पिछले हिस्से प्राण को हिलाओगे तो मन हिलेगा और अगले हिस्से मन को हिलाओगे तो प्राण हिलेगा। इसलिये मन प्राण सम-नियत हैं। अतः यदि तुम प्राण का निरोध कर लेते हो, प्राण को नहीं हिलने देते हो तो मन का निग्रह हो जाता है। उससे भी समाधि का अभ्यास हो जाता है। परन्तु वह यहाँ मानस तप में नहीं आयेगा क्योंकि वहाँ प्राण के द्वारा मन को दबाया है। जैसे ही प्राण निरोध को हटाओगे, वैसे ही मन फिर अपने ढंग से काम करने लगेगा। इसलिये निग्रह न कहकर 'विनिग्रह' कहा। प्राणायाम आदि की सहायता से नहीं वरन् विचार- पूर्वक जो निग्रह किया जाता है, वह मानस तप है। अहंकार आत्मविनिग्रह करेगा। बुद्धि के द्वारा विचार और विवेक करेगा और उसके द्वारा मन का निग्रह या निरोध करेगा। यह सब तप तो अपने आप में एकांत में भी करना है।

जब दूसरों से व्यवहार करना है तो भावसंशुद्धि चाहिये। दूसरे से व्यवहार करने में किसी भी प्रकार की कुटिलता का अभाव होना भावसंशुद्धि है। क्योंकि मन प्रायः यह करता है कि व्यवहार काल में सारी स्थिति प्रकट नहीं करता। शिष्टता आदिके चलते भी कई बार

मन में खीज होने पर भी व्यवहार प्रसन्नता का ही करते हैं। इस प्रकार का व्यवहार मानस तप नहीं है। भावसंशुद्धि में तो जैसा मन का भाव है वैसा ही बाहर में प्रकट करना है। यह मानस तपस्या है क्योंकि जैसे ही भीतरी भाव प्रकट करने जाते हो, अन्दर में खलबलाहट मचती है कि 'यह जिलाधीश है, ऐसा कहेंगे तो यह परेशान करेगा'। 'परेशान करेगा तो मैं सहन करूँगा' यह तप है। वाणी से सत्य बोलना वाक्तप में आ जायेगा। असत्य में प्रेरक मन की अशुद्धि को दूर करना भावसंशुद्धिरूप मानस तप है। दूसरे के साथ व्यवहारकाल में भाव को छिपाने की वृत्ति का न होने देना भावसंशुद्धि है। 'इति एतत्' इतना जो बताया है वह मानस तप है। इस प्रकार कायिक वाचिक और मानसिक तीनों तपों का स्वरूप बता दिया।।१६।।

अब तीनों ही तपों का सात्त्विक स्वरूप बताते हैं-

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

फलेच्छा-रहित एवं सिद्धि-असिद्धि से निर्विकार रहने वाले नरों द्वारा विषेश श्रद्धा से अनुष्ठित पूर्वोक्त तीनों तरह के तप को शिष्ट लोग सात्त्विक कहते हैं।

चाहे सात्त्विक हो, राजस या तामस हो, तप करने वाले के अन्दर तप के प्रति अत्यंत श्रद्धा होनी चाहिये। तप में श्रद्धा आवश्यक है। सात्त्विक तप वाले की श्रद्धा यह है कि इसके द्वारा परमात्मा प्रसन्न होगा। रजोगुणी के अन्दर यह श्रद्धा है कि इसके द्वारा मुझे सम्मान व सत्कार मिलेगा अथवा मुझे लोग बड़ा अच्छा समझेंगे। यदि यह श्रद्धा उस तप के प्रति है तो वह राजस तप होगा अर्थात् वह परमात्मा की प्रसन्नता के लिये नहीं है, इस लोक या परलोक में किसी फल की प्राप्ति कराएगा। तामस तप वाले को यह प्रकृष्ट श्रद्धा है कि 'मैं इस तप से सामने वाले को उखाड़ फैंकूँगा'। यह श्रद्धा जिसकी होगी वही वैसा कठोर तप करेगा। इस प्रकार सात्त्विक तप करने वाले की श्रद्धा है कि इसके द्वारा परमात्मा प्रसन्न होगा, राजस की है कि इसके द्वारा मुझे कुछ फल मिलेगा और तामस की है कि इस के द्वारा दूसरे को कष्ट मिलेगा। परन्तु तीनों के अन्दर श्रद्धा सामान्य चीज़ है। अतः, तप के द्वारा यह प्राप्त होगा- ऐसी जिसकी श्रद्धा ही नहीं होगी, वह कभी भी ठीक प्रकार से तप कर ही नहीं सकेगा। इसलिये भगवान् ने कहा 'श्रद्धाया परया', परम श्रद्धा से जो तप किया गया है वह तीन प्रकार है।

तप कौन करेगा? 'नरैः' तप के लिये मनुष्यमात्र का अधिकार है अर्थात् तप का अधिकार सब को है। किंतु यदि धर्मविरोधी उद्देश्यसे, दैवी सम्पत्ति वालों को दुःख देने के लिसे कोई तप करे तो उसे दण्डित भी किया जाता है। तप चाहे सात्त्विक, रजोगुणी या तमोगुणी हो, नर या मनुष्यमात्र को तप का अधिकार है। अगर वह तप दुष्ट प्रवृत्ति से करता है तो उसे रोकना भी ज़रूरी है। लोक में भी कोई धन कमाने के लिये चोरी करता है, तो

उसे दण्ड दिया ही जाता है। चोरी करना उसका धन्धा है, इसलिये उसे दण्ड नहीं दें, ऐसा नहीं। क्योंकि जिसकी चोरी करता है उसे दुःख होता है इसलिये उसे दण्ड देना ज़रूरी है। ऐसे ही बुरे उद्देश्यसे किया तप भी दण्डनीय है। सात्त्विक तप वे कर सकते हैं जो युक्त हैं अर्थात् जिन्होंने अपने अन्तःकरण को प्राणायाम आदि के द्वारा और परमात्मा के चिंतन से एकाग्र कर लिया है इसलिये उनकी फल की आकांक्षा निवृत्त हो गई है। परमात्मा को समझने पर यह पता लग जाता है कि एकमात्र परमात्मा ही है, बाकी सब नहीं है। प्रतीति होती है कि सचमुच में नहीं है। अनुभव में तो रस्सी में साँप भी आता है। स्वप्न का लड्डू भी अनुभव में आता है, परन्तु वह सब वास्तविक नहीं है। वास्तविक चीज़ वह होती है जो हमेशा है। संसार के जितने पदार्थ हैं वे पैदा होने के पहले अनादि काल से नहीं हैं। घड़ा बनने के पहले असंख्य कल्पों के बीत जाने पर भी नहीं था और घड़ा फूट जाने के बाद आगे के सब कालो में नहीं रहेगा। पैदा होने के पहले नहीं है, नष्ट होने के बाद नहीं है। जो चीज़ अनन्त पूर्व काल में और अनन्त बाद के काल में नहीं है वह यदि दस-बीस-पचास हज़ार साल तक भी रह जाये तो 'है' कैसे हो जायेगी! इसलिये भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है कि जो चीज़ आदि में नहीं है और अन्त में भी नहीं है वह बीच में भी नहीं ही है। इसका मतलब यह नहीं है कि प्रतीत नहीं होती है। बिना हुए प्रतीत हो जाती है। जब परमात्मा के इस स्वरूप को समझ लेते हैं कि परमात्मा सच्चिदानन्दरूप है और उस से भिन्न सब असत् जड दुःखरूप है, तब अनात्मफल की आकांक्षा नहीं रह जाती, एकमात्र परमात्मा को ही प्राप्त होने के योग्य समझा जाता है क्योंकि वह अपना स्वरूप है। अज्ञान के कारण उसका पता नहीं लग रहा है, ज्ञान से वह उद्घाटित हो जाता है, यही परमात्मा का मिल जाना है। जो युक्त होगा वही परमात्मा के इस स्वरूप को पूर्णतः समझ सकेगा। युक्त होने के पहले भी उसको परमात्मा का स्वरूप कुछ तो समझना होगा तभी वह उसमें अपना चित्त एकाग्र कर सकता है। पहले जिसको जानता ही नहीं है उसके अन्दर चित्त एकाग्र कैसे करेगा? जब युक्त होकर परमात्मा का स्वरूप सही तरह समझता है तब सब रूपों में होने वाले परमात्मा को जान लेता है इसलिये तत्तत् चीज़ों की अभिलाषा नहीं रह जाती। इसके लिये वैराग्य की भी आवश्यकता है। क्षणिक सुख की अभिलाषा तब तक नहीं छूटेगी जब तक अनात्म फलों को स्वरूपतः ही इच्छाके अयोग्य नहीं समझ लिया जायेगा। वैराग्य के द्वारा पदार्थों के प्रति मन से इष्ट-बुद्धि या प्रिय-बुद्धि हट जाने पर ही अनाकांक्षता संभव है। मन निरालम्ब नहीं रहता अतः विषयों से प्रिय-बुद्धि हट कर एकमात्र परमात्मा में ही केंद्रित करनी पड़ती है। परमेश्वर पर अभिलाषा एकाग्र होने पर ही परमेश्वर की प्राप्ति होगी। 'एक' नाम परमात्मा का है। परमात्मा ही एकमात्र सामने रह जाये, जब ऐसी एकाग्रता हो जाती है तब फल की आकांक्षा हट जाती है। ऐसे लोग जो तप करते हैं वह सात्त्विक तप है। ऐसा श्रेष्ठों का कहना है, श्रेष्ठ ऐसा ही बताते हैं। यहाँ भगवान् ने जो विशेषण बताये हैं, उनके द्वारा सात्त्विक तप करने का प्रकार सूचित कर दिया। वैराग्य-पूर्वक

फलाकांक्षा छोड़ना और एकमात्र सच्चिदानंद ब्रह्म को ही अपना प्राप्तव्य बनाना - यह बार-बार करने से जब पक जाता है तब सात्त्विक तप हो पाता है। सात्त्विक जो सिद्ध है उसके लिये तो फलाकांक्षा की रहितता और परमात्मा में युक्तता स्वाभाविक है, प्रयत्न से नहीं है। साधक इन चीज़ों को करने का प्रयत्न करे,जब यह उसका स्वभाव हो जायेगा तब सिद्ध हो जायेगा।।१७।।

अब राजस तप बताते हैं-

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

प्रशंसा, सम्मान, पूजाके लिये और दंभसे जो तप किया जाता है वह राजस कहा गया है। वह केवल इहलोक में और अल्पकालिक ही प्रयोजन सिद्ध कर पाता है तथा उसकी सफलता भी निश्चित नहीं है।

रजोगुणी तप किसको कहते हैं? 'लोग मेरी इज्ज़त या सत्कार करें, कहें कि यह कितना बड़ा त्यागी है, योग्य ब्राह्मण है' इस उद्देश्य से किया तप राजस है। राजस तप मान केलिये किया जाता है कि कहीं भी सभा इत्यादि में जायें तो प्रथम स्थान मिले, ऊँचा बिठाया जाये, लोग उठ खड़े होकर स्वागत करें, नमस्कार करें। पूजा के लिये भी किया जाता है कि लोग चन्दन, अक्षत, माला आदि से पूजा करें, पैर धोयें, भोजन बढ़िया करायें आदि। चाहे इनमें से तीनों उद्देश्य हों, दो हों या एक हो, इनकी प्राप्ति के लिये तप किया जाये तो राजस है। ये सब कब प्राप्त हो सकते हैं? 'दम्भेन' - जब धर्मध्वजता हो अर्थात् लोगों के सामने 'मैं कितना धर्मात्मा हूँ' यह प्रसिद्ध हो। राजस तप करने वालों में ऐसी श्रद्धा है कि तप के द्वारा सत्कार, मान, पूजा की प्राप्ति होगी। बहुत से लोग दिखावे के लिये भी तप नहीं करते, सोचते हैं 'कौन किसकी पूजा करता है! कौन किसका सत्कार करता है! इसलिये यह सब करना बेकार है'। अतः सत्कारादि के लिये भी तप में प्रवृत्ति सबकी नहीं होती, तपमें श्रद्धा वालों की ही होती है। इसी प्रकार बहुत से लोग कहते हैं 'इज्ज़त कोई स्थिर चीज़ नहीं है। आज लोग इज्ज़त करेंगे, कल नहीं करेंगे। परन्तु कमाया हुआ पैसा तो हमारे पास रहेगा ही। इसलिये लोग मुझे साधु पुरुष कहें उससे कोई फ़ायदा नहीं है। फ़ायदा तो इसमें है कि अपने पास खूब पैसा हो'। उन के अन्दर तप के प्रति श्रद्धा नहीं है कि तप के द्वारा इन चीज़ों की प्राप्ति होगी और वह श्रेष्ठ है। धर्मध्वजी वे ही होंगे जो यह समझते हैं कि धार्मिक माना जाना अच्छा है। प्रसिद्ध है कि उत्तर प्रदेश के एक ब्राह्मण मुख्यमंत्री से नेहरु जी इसीलिये नाराज हुए कि वे माथे पर तिलक लगाते थे और लोग उनके पैर छूते थे! अर्थात् धार्मिक दीखना भी उनके लिये हानिप्रद रहा। आजकल यह और ज़्यादा है क्योंकि तुम अधार्मिक, धर्मनिरपेक्ष माने जाओगे तभी तुमको अच्छा कहा जायेगा। तुम्हारी धर्मध्वजिता होगी तो लोग कहेंगे 'यह तो देश को बरबाद करने वाला है'! धर्मध्वजी वही बनता है जिसे धर्म के अन्दर

कुछ सद्भाव है। दम्भ से किया तप भी राजस है।

उसका फल चल, अस्थिर है, थोड़े समय के लिये मिलता है, फिर हट जाता है। जब तक लोगों को यह पता नहीं चलता कि 'यह सचमुच धार्मिक नहीं है, ऊपर से धार्मिक दीखे इसलिये धर्म करता है अथवा सत्कार मान के लिये करता है', तभी तक सत्कार आदि मिलता है, फिर शिष्ट लोग उसे सत्कार मान नहीं देते। भाषा के कवि ने कहा है 'उघड़े अंत न होइ निबाहू काल नेमि जिमि रावण राहु'। जब देवताओं को अमृत पिलाया जा रहा था तब उनकी पंक्ति में राहु भी यह सोच कर बैठा था कि 'मुझे भी अमृत पिलायेंगे' किंतु जैसे ही पता लगा, उसे निकाल दिया गया। इसी प्रकार रावण ने बहुत तपस्या की लेकिन जब उलटा आचरण करते देखा तो उसे मार डाला। इसी प्रकार कालनेमि संन्यासी का रूप लेकर बैठा था, उसे हनुमान् जी ने मार डाला। धर्मध्वजता या दम्भ के द्वारा की गई तपस्या से प्राप्त होने वाले सत्कार, मान, पूजा अल्प समय तक ही रहते हैं और अध्रुव हैं। निश्चित नहीं है कि फल हो ही जायेगा। जो फलाकांक्षा से रहित होकर परमेश्वर के लिये करेगा वह तो अवश्य ही फल पायेगा। भगवान् पहले कह आये हैं 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' थोड़ा भी यदि धर्म का पालन किया तो तुम्हें महान् भयसे बचायेगा। इसलिये फलाकांक्षा से रहित होकर, परमात्मा को सामने रखकर जो तप किया जाता है, वह तो निश्चित फल देगा ही, अभी दे अथवा कालान्तर में दे। परन्तु जो धर्मध्वजिता या दम्भ से किया गया है, उसका निश्चित नहीं है कि फल देगा ही; दे भी सकता है, नहीं भी दे सकता है। और देगा तो भी फल थोड़े समय के लिये होगा। यह रजोगुण से निर्वृत्त होने वाला तप है। 'इह' पद के द्वारा यह भी कह दिया कि इसके अन्दर जो सत्कार, मान, पूजा मिलते हैं वे इस मनुष्य लोक में ही मिलने वाले हैं। इनका पारलौकिक फल कुछ नहीं है।।१८।।

रजोगुणी तप को बताकर तमोगुणी तप को कहते हैं।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१६।।

अविवेककृत दुराग्रह से जो खुद को पीडा देकर किया जाये अथवा दूसरे के विनाशकेलिये किया जाये वह तामस तप कहा गया है।

तमोगुण से जिसको निर्वृत्त किया जाता है वह तमोगुणी तप है। ऐसा तप कोइ किस लिये करता है? दूसरे को नष्ट करने के लिये ऐसा तप करता है। मारण, मोहन, उच्चाटन,वशीकरण आदि के प्रयोग सब दूसरों को नष्ट करने के लिये ही हैं। जो जितना अधिक नाश करने की बात करे उतना ही उसे तामसी लोगों द्वारा बड़ा तांत्रिक माना जाता है! ऐसे लोगों के अन्दर का मूल उद्देश्य नुक्सान पहुँचाना है, अपने को फायदा हो न हो, दूसरे को नुक्सान तो हो जाये यही चाहते हैं। एक ब्राह्मण ने बड़ा तप किया। भगवान् ने प्रसन्न होकर उससे कहा 'तुम वरदान माँग लो, परन्तु जितना तुम को दूँगा उससे दुगना तुम्हारे पड़ौसी को दूँगा।' वह तमोगुणी

तप वाला था। सोचने लगा कि मैंने इतनी तपस्या की, क्या मागूँ ? उसने सोचकर भगवान् से कहा – 'भगवान् मेरी एक आँख फूट जाये।' पड़ौसी की दोनों आँखें फूट गयीं। फिर उसने माँगा 'मेरे मकान के सामने एक कुआँ बन जाये'। इसे तो थोड़ा-बहुत निकलने का रास्ता मिल गया, लेकिन पड़ौसी के मकान के आगे दो कुएँ बन गये अन्धा हो ही गया था, कष्ट पाने लगा। दूसरे को नुक्सान पहुँचाना ही तमोगुणी लोगों का उद्देश्य होता है।

वह किस प्रकार तपस्या करता है? अत्यंत मूर्खता से तपस्या करता है। अविवेकी मूढ होता है। दो चीज़ों में कौन-सी ठीक है और कौन-सी गलत है, इसका उचित निर्णय नहीं कर सकता, जो उसके मन में ज़िद आ गई उसी के अनुसार रहता है। ऐसा आदमी कभी दूसरी दृष्टि को समझने का प्रयत्न नहीं करेगा क्योंकि वह तो मूढतापूर्वक ग्रहण किये हुए है कि उसकी मानी बात ही ठीक है। ग्राह वैसे मगरमच्छ को कहते हैं। मगरमच्छ जैसे प्राणी को पकड़ लेता है उसी प्रकार मूढ बात को पकड़ लेता है। इसलिये किसी भाषा के कवि ने कहा है कि मूढ व्यक्ति के हृदय में बोध नहीं होता चाहे साक्षात् ब्रह्मा जी भी उसे समझायें। उसके मन में कहीं खुलापना नहीं है कि दूसरे की बात समझनी है। इसने क्या मूढता ग्रहण कर रखी है? आत्मा को पीडा देकर समझता है कि तपस्या है। आत्मा से यहाँ शुद्ध आत्मा नहीं ले सकते क्योंकि उसे तो पीडा होती नहीं, लेकिन जिन शरीर आदि को हम अपना आत्मा समझते हैं उन्हें जितना दुःख मिलेगा, उतनी ही तपस्या होगी – ऐसा समझता है। कोई काँटों पर सोते हैं, कोई बड़ी-बड़ी साँकलों से अपनी छाती को पीटते हुए कहते हैं 'हाय हुसैन हम न हुए'। कई लोग शूल चुभो कर खून निकालते हैं। इस प्रकार की तपस्या को बड़ी भारी तपस्या समझते हैं। क्योंकि इसमें शरीर आदि को बड़ा कष्ट होता है। तमोगुणी लोग उनकी प्रशंसा भी करते हैं कि अपने को अर्थात् शरीर आदि संघात को जितनी पीडा दी जाये उतना ही तप श्रेष्ठ हो रहा है। दूसरे मूढ भी उनकी प्रशंसा करते हैं। तमोगुणी तप शरीर आदि संघात को दुःख देकर किया जाता है।।१९।।

सात्त्विक, राजस और तामस आहार, यज्ञ और तप बताये अब क्रम से प्राप्त दान को बताते हैं–

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

देना उचित है इस निश्चय से पुण्य देश-कालमें योग्य पात्र को, उससे किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा रखे बिना जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक माना गया है।

जैसे सात्त्विक तप करने वाला फल की इच्छा नहीं रखता वैसे ही सात्त्विक दाता केवल कर्तव्य बुद्धि मानकर ही दान करता है, फल की तरफ इसकी दृष्टि नहीं रहती है। देना चाहिये इसलिये देता है। किसको देता है? अनुपकारी को देता है। अर्थात् जिन से किसी उपकार की प्राप्ति नहीं हुई है तथा आगे भी संभावित नहीं है, उन्हें देता है। भूत और भावी

उपकारी दो प्रकार के होते हैं। किसी ने तुम्हारे लिये कुछ किया तो तुम उसके लिये फिर मौका आने पर करते हो। उसने पहले उपकार किया है अतः भूत उपकारी है, अब तुम कर रहे हो। और, किसी ने पहले तो उपकार नहीं किया है लेकिन भावी उपकार की दृष्टि रखते हो कि यह आगे तुम्हारा उपकार करेगा। यहाँ दोनों तरह के उपकार समझ लेना। पहले भी जिसने तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया है, आगे उपकार करेगा यह भी सामने नहीं रखते हो, तब अनुपकारी को दान होता है। आगे नहीं करेगा यह तो कह नहीं सकते, परन्तु तुम उससे उपकार की आशा नहीं रखते अतः तुम अनुपकारी ही मानते हो। बाद में भी तुम यह नहीं कहते कि 'मैंने इसके लिये इतना किया लेकिन इसने मेरे प्रति कुछ नहीं किया अर्थात् मेरे उपकार के बदले में इसने उपकार नहीं किया'। न पहले के उपकार को देखकर और न ही आगे उपकार की आशा रखकर जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक दान है। ऐसा ऋषियों ने कहा है।

यह क्यों किया जाता है? 'दातव्य' - दान करना चाहिए इस बुद्धि से किया जाता है। कुरुक्षेत्र आदि जो पुण्य देश कहे गये हैं उन देशों में अर्थात् तीर्थ स्थान आदि में जाते हैं। वहाँ दान करना चाहिए, इसलिये वहाँ करते हैं। 'काले' - संक्रांति, पूर्णिमा, अमावस्या आदि जिस काल में देने को श्रेष्ठ बताया है, उस काल में दान करते हैं। 'पात्र' - योग्य पात्र को देते हैं, वेद आदि का जिसको ज्ञान है, ऐसे योग्य को दान करते हैं। कई लोग समझते हैं कि दान उसे करना श्रेष्ठ है जिसके पास नहीं है। परन्तु दान के बारे में शास्त्र की दृष्टि बिलकुल स्पष्ट है : तुम जैसा उपयोग कर सकते हो उससे ज़्यादा श्रेष्ठ उपयोग जो कर सकता है उसे दान देना उचित है। तुम खिचड़ी खाकर दुकानदारी करते हो और वह उसी खिचड़ी को खाकर परमात्मा का भजन करता है तो उसका खाया हुआ अन्न परमात्मा का भजन करने में लगा और तुम्हारा खाया हुआ अन्न झूठ बोलकर लोगों को ठगने में लगा इसलिये वह तुम्हारे अन्नदान का योग्य पात्र हुआ। अतः जो जितना श्रेष्ठ पात्र है उसे देना चाहिये। सात्त्विक दान दातव्य बुद्धि से होता है और देश, काल का विचार करके होता है।

व्याकरण की दृष्टि से 'पात्रे' - शब्द में प्रश्न होता है कि यह पातृ-शब्द का चतुर्थ्यन्त रूप है या पात्र-शब्द का सप्तम्यन्त रूप? कुछ आचार्य पातृ का चतुर्थ्यन्त रूप इसे मानते हैं। जो दान लेकर अपना और दाता का पालन कर सके वही योग्य अधिकारी बताया गया है। अतः 'पात्रे' अर्थात् पालन करने वाले को दान देना सात्त्विक है। किंतु भाष्य में 'पात्रे च षडंगविद्वेदपारगे' व्याख्या से पात्र शब्द का सप्तम्यन्त रूप माना है। नीलकण्ठ आदि ने समझाया है कि श्लोक में प्रथम दान शब्द प्रदेय द्रव्य का वाचक है, उस केलिये चतुर्थीकी अपेक्षा 'अनुपकारिणे' से पूरी हो जाती है। श्लोक में द्वितीय दान शब्द भावव्युत्पत्ति से त्याग का वाचक है इसलिये जिसमें त्यागा जाये उस पात्र में चतुर्थी विभक्ति की ज़रूरत नहीं है। बाईसवें श्लोक में 'अपात्रेभ्यः' कहेंगे अतः यहाँ भी पात्र शब्द ही बेहतर लगता है, पातृ शब्द नहीं। 'दानं पात्रे प्रदातव्यम्' आदि पौराणिक प्रयोगों के अनुरूप यहाँ सप्तम्यन्त प्रयोग उचित ही है।।२०।।

अब रजोगुणी दान को बताते हैं-

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

जो तो प्रत्युपकार केलिये या फल को उद्देश्य कर खेदपूर्वक दिया जाता है वह दान राजस माना गया है।

रजोगुणी व्यक्ति प्रत्युपकार के लिये दान करता है। प्रत्युपकार चाहे इहलोक में हो या परलोक में हो, उसकी दृष्टि फल की तरफ ही है। सात्त्विक दान वाला तो 'देना कर्तव्य है या देना चाहिये' इसलिये देता है। रजोगुणी कर्तव्य बुद्धि से नहीं देता, 'आगे क्या फ़ायदा होगा' - इस दृष्टि से दान करता है, इहलौकिक या पारलौकिक फ़ायदे की इच्छा से दान करता है। इसलिये हमेशा पूछता रहेगा कि 'इस दान का फल उस दान के फल से ज़्यादा है या कम?' दोनों के दाम भी लगा लेगा। एक समान दाम हो, उनमें से एक का ज़्यादा बड़ा पुण्य हो तो फिर वही दान करेगा। भविष्य के प्रत्युपकार के लिये भी करते हैं। अथवा इह लोक में उपकार पाने के लिये भी दान देते हैं। मंत्री इत्यादि को देते हैं तो ऐहिक प्रत्युपकार के ही लिये कि वे हमारा कोई काम कर देंगे। चुनाव के समय जितने लोग आते हैं उन्हें देते रहते हैं यह सोचकर कि 'पता नहीं इनमें से कौन राजा बन जाये, अपना तो फ़ायदा हो ही जाये।' सात्त्विक दान तो अनुपकारी के लिये है और यह उससे उलटा, प्रत्युपकार के लिये है। तथा 'फलमुद्दिश्य वा पुनः' इसमें हमेशा फल ही उद्देश्य रहता है। 'परिक्लिष्टम्' धन में मोह होने के कारण देने में हमेशा दुःख का अनुभव भी होता है। सोचते हैं कि 'अगर बिना दिये काम हो जाता तो बड़ा अच्छा था।' अतः राजस दान देकर कभी प्रसन्नता नहीं होती, कहीं न कहीं अन्दर रहता है कि 'अगर इसका आधा भी देते तो हो ही जाता, ज़्यादा चला गया।' राजस दान देने के बाद खेद बना रहता है। रजोगुणी के अन्दर चूँकि फल और प्रत्युपकार की दृष्टि है इसलिये उसे धन के प्रति आसक्ति है। फल या प्रत्युपकार की इच्छा से कर तो देता है पर चाहता नहीं कि धन जाये। ऐसे लोगों को धर्म में भी लगता है कि 'पण्डित जी ने ज़्यादा दक्षिणा ले ली, सामग्री का पुर्जा बड़ा बना दिया।' दक्षिणा तो देते हैं। लेकिन देकर प्रसन्नता नहीं होती। लोक में जो माल का व भाव का परीक्षण नहीं कर पाते वे सौदा करने के बाद भी ठीक चीज़ ठीक दाम में ली, इस निर्णय पर स्थिर नहीं होते। कोई कह दे कि 'दस रुपये कम में यह कार्य हो जाता' तो परेशान हो जाते हैं। यही परिक्लेश है। राजस दानी ऐसा खेद करता रहता है। परि अर्थात् सब तरफ से इन्हें क्लेश रहता है - देने से पूर्व 'इतना देना पड़ेगा' सोचकर दुःखी रहते हैं, देते समय तकलीफ होती ही है, और बाद में भी खेद बना रहता है। ऐसा दान राजस कहलाता है।।२१।।

अब तमोगुणी दान को बताते हैं-

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

अयोग्य देश काल में अयोग्य पात्र को जो दिया जाता है और सत्कारपूर्वक न देकर अवज्ञासे (तिरस्कार से) दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है।

तमोगुणी दान वह है जिसे देने में योग्य देश का विचार नहीं करते, कलिंगादि, म्लेच्छादि जो अपुण्य देश हैं। वहाँ जाकर दान करते हैं, जो पुण्य देश है वहाँ देने की प्रवृत्ति नहीं करते। इसी प्रकार से जो संक्रांति आदि देने के योग्य काल कहे गये हैं। उनमें तामस दान नहीं किया जाता। अदेशकाले में 'अ' से अभिप्राय है कि योग्य देश या योग्य काल में दान नहीं करते। जैसे देश-काल का विचार नहीं करते वैसे ही जो अपात्र है अर्थात् जो प्रतिग्रह के योग्य पात्र नहीं हैं, उन्हें देते हैं। कई ऐसे लोग हैं जो ब्राह्मणों के बजाये अंधों को, कोढ़ियों को दान देना बेहतर मानते हैं, वह अपात्र दान ही है। ऐसे लोगों का धन कहाँ जाता है? भाष्यकार कहते हैं 'मूर्ख-तस्करादिभ्यः' मूर्खों को और डाकुओं को देते हैं; जो जबर्दस्ती छीनने आते हैं उन्हें देते हैं। घूस वगैरह सब इसी में आते हैं। उन्हें इस डर से देते हैं कि 'ये कहीं हमारा काम न बिगाड़ दें' किसी व्याख्याता ने नट विट आदि का संग्रह किया है। नट (अभिनेता) आदि को देने की प्रवृत्ति भी लोकमें देखी जाती है।

तामस दाता कैसे देंगे? 'असत्कृतं' जिसको देते हैं उसका सत्कार करके नहीं देते। दान के अन्दर नियम है कि जिसको तुम दान का पात्र समझते हो उसे बड़े आदर पूर्वक, प्रिय वचन बोलकर बुलाओ, उसकी पूजा आदि करो, तब उसे सत्कार पूर्वक दो। सत् का एक अर्थ साधु भी है। इसलिये ऐसा दान करके बुद्धि होगी कि 'मैंने अच्छा किया या साधु किया'। तामस दान से मन में यह भाव नहीं आता कि 'मैंने बहुत अच्छा किया'। देते हैं, परन्तु न सत्कार पूर्वक और न उसे देकर मन में यह बुद्धि बनती है कि अच्छा किया। 'अवज्ञातम्' अर्थात् जिसे दिया जाता है उसे अपमान महसूस कराकर देते हैं। बहुत से लोग देते तो हैं परन्तु लोग उनसे लेना नहीं चाहते क्योंकि जानते हैं कि मौके - बेमौके वे गिनाते रहेंगे कि 'हमने तुम्हें यह दिया था'। कई बार तो आदमी परेशान होकर कहता है कि 'यह अपनी चीज़ वापिस ले लो।' तामस दान में जिसे देते हैं उसकी अवज्ञा मन में रहती है।

हम हमेशा कहते हैं कि दान देने के विषय में जो देश काल पात्र का विचार बताया है उसे समझने के लिये 'कन्या दान' को याद रखो। कन्यादान में इन सब बातों का विचार करते हो। अंग्रेजी में जिसे चैरिटी कहते हैं उसी को लोग दान समझ लेते हैं, किंतु ऐसा तो नहीं सोचते कि आँख वाले को लड़की क्यों दी जाये, किसी अंधे या लूले-लँगड़े को अपनी लड़की दे दो! कन्यादान हमेशा अपनी सामर्थ्य के अनुसार श्रेष्ठ व्यक्ति को देते हो। देश का भी विचार करते हो कि अच्छे से अच्छा साफ-सुथरा देश होना चाहिये और पण्डित जी से अच्छा काल या मुहूर्त्त पूछते हो क्योंकि कन्या का दान करना है। इसी प्रकार से जब तुम

दान करो तब योग्य पात्र, योग्य देश और योग्य काल को जानो। परन्तु तमोगुणी मूढबुद्धि है, इसलिये ऐसा नहीं करेगा। कन्यादान करने के पहले वर के पैर धोते हो। चन्दन माला आदि से सत्कार करके उसे कन्या देते हो और बाद में भी कभी उसकी अवज्ञा करने की नहीं सोचते। उल्टा यही कहते हो कि 'जवाँई जी घर आये हैं तो उन्हें बढ़िया भोजन करायें'। उसके प्रति कभी अवज्ञा या असत्कार का भाव नहीं आता। इस ढंग से सत्कार पूर्वक देना चाहिये। बाकी जो गरीबों को दिया जाता है वह दया से देना है, दान नहीं है। दया पूर्वक देना दान के अन्तर्गत नहीं आता। दान में देश, काल और पात्र का विचार बताया है, दया से दुःखी के दुःख को घटाने के लिये दिया जाता है। तमोगुणी चूँकी मूढबुद्धि है इसलिये वह दान और दया का फ़र्क नहीं समझता। इस प्रकार तीनों प्रकार के दान भी बता दिये। आहार, यज्ञ, तप और दान सभी के सात्त्विकादि त्रिविध भेद बताये।।२२।।

यज्ञादि को सात्त्विक प्रकार से करना अतिकठिन है। यहाँ जिनका प्रसंग है वे स्वयं शास्त्रज्ञ नहीं हैं, देख-सुनकर करने वाले हैं अतः सात्त्विक करना चाहकर भी सारे अंग आदि न जानने से कहीं-न-कहीं चूक जाते हैं। सात्त्विक यज्ञ को 'विधिदृष्ट' कहा था अतः विधि के अज्ञान से विगुणता सहज है, यज्ञ में कमी स्वाभाविक है। ऐसे ही तप और दान में भी कोई-न-कोई कमी रह ही सकती है। अतः कृपाकर भगवान् ऐसी कमी को पूरा करने का अत्यन्त सरल उपाय बता रहे हैं। और यह उपाय सभी के लिये है : शास्त्रविधि जानने वालों से भी अनेक सूक्ष्म चूकें होना असंभव नहीं है। शास्त्र अतिविस्तृत है, पूरा उपस्थित रहना मुश्किल है और करते समय यत्किंचित् ग़लती होना भी संभव ही है। स्पष्ट गलती तो पता लग सकती है, उसका प्रायश्चित्त भी कर सकता है, लेकिन बहुत-सी गलतियों का पता भी नहीं लगता। अतः ऐसी विगुणता को, कमी को, पूरा करने का उपाय भगवान् बता रहे हैं। अतः शास्त्रज्ञ हों या देखकर करने वाले, सभी श्रद्धालुओं के कर्मों की कमी दूर करने का उपाय यह है-

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

ॐ तत् सत् - यह ब्रह्म का तीन तरह का नाम वेदान्तों में विचारित है। इसी त्रिविध नाम से सृष्टिकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ बनाये गये।

ॐ, तत् और सत् ये तीन शब्द 'निर्देश' हैं। निर्देश का मतलब होता है जिससे किसी चीज़ की तरफ इशारा किया जाये। जैसे हम अंगुली दिखा कर इशारा कर देते हैं कि यह कृष्ण है। नाम भी अंगुली दिखाने की तरह निर्देश होता है। चाहे अंगुली दिखाकर कहें, चाहे नाम ले कर कहें, निर्दिष्ट व्यक्ति समझ जाता है इसलिये नाम को निर्देश कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् जिसने यह सारी सृष्टि उत्पन्न की, जो इस सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है और अंत में यह सृष्टि जिसमें लीन हो जायेगी, उसका 'ॐ' यह निर्देश है। वेदान्त के अन्दर ब्रह्मवेत्ताओं ने ब्रह्म के तीन नामों का निर्देश किया है। 'तेन' अर्थात् इन तीन प्रकार के निर्देशों के द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में ब्राह्मणों

को बनाया अर्थात् तीन निर्देश वाले ब्रह्म से ही ब्राह्मण बने। कोई भी यज्ञ, दान, तप करो, तो उसमें दान ब्राह्मण को दोगे। यज्ञ के लिये पुरोहित भी ब्राह्मण को बुलाओगे। ब्राह्मण ही कर्म का अंग है, ब्राह्मण होगा तो कर्म हो पायेगा। इन तीन निर्देशों वाले ब्रह्म ने ही वेद भी बनाये, यज्ञों का विधान भी उसी ब्रह्म का किया हुआ है और दान की विधि भी ब्रह्म के द्वारा विहित है। जिस प्रकार राजा जिस फ़र्मान पर दस्तखत करेगा वह काननू बन जायेगा, जिस पर दस्तखत नहीं करेगा वह काननू नहीं बनेगा, इसी प्रकार परमात्मा जिसका विधान कर देता है वही धर्म कारगर होता है। हम अपनी बुद्धि से निर्णय करें इतने मात्र से कानून नहीं होता। कानून तभी बनेगा जब राजा उस पर दस्तखत करेगा। यज्ञ, दान, तप आदि का परमेश्वर ने विधान किया है। जिन मंत्रों के द्वारा यज्ञादि करना है वह वेद भी उसी ने प्रकट किया और जिनके द्वारा करना है उन ब्राह्मणों को भी सृष्टि में पहले उसी ने बनाया। जिस प्रकार तुम अपने लड़के की शादी रचते हो तो पहले से सारी व्यवस्था करते हो कि किस कमरे में रहेंगे, किस बिछौने पर लेटेंगे आदि, इसी प्रकार सृष्टि-प्रपंच के अन्दर जीवरूप आयेगा तो वह कैसे उन्नति प्राप्त करेगा- यह सोचकर परमेश्वर ने पहले यज्ञ, ब्राह्मण, वेद बनाये कि इन तीनों के द्वारा जीव अपनी उन्नति करें। लेकिन इसमें राजस, तामस, फूहड़ जीव आ गये जो उनसे फायदा उठाने के बजाय अपना नुक्सान करते हैं! जैसे वर्तमान काल में लोग कहते हैं कि 'देवता सोमपान करते थे, इसलिये हम शराब पी सकते हैं', देवताओं का सोमपान इसलिये नहीं बताया गया था कि तुम शराब पीना शुरू करो! इसी प्रकार रजोगुणी और तमोगुणी लोग वेद आदि से लाभ उठाने की अपेक्षा अपनी हानि कर बैठते हैं। किन्तु लोगों की उन्नति के लिये ही भगवान् ने वेद, यज्ञ और ब्राह्मण का निर्माण किया। उस मूल कारण के ॐ, तत् और सत् - तीन निर्देश हैं। इन निर्देशों से परमात्मा का स्मरण करने से यज्ञादि में किसी चीज़ की कमी रह जाये तो पूरी हो जाती है। श्रद्धा वालों की भी कमी रह जाती है क्योंकि उन्हें ज्ञान नहीं है और शास्त्रज्ञों से भी कमी रह जाती है क्योंकि सारे शास्त्रों का स्मरण करना सम्भव नहीं होता है। परमेश्वर के इन नामों के स्मरण से वे सारी कमियाँ पूरी हो जाती हैं। इन नामों की महत्ता बतायी कि इस निर्देश से भगवान् ने ब्राह्मणादि की रचना की। वेद में ब्रह्म के कई नाम हैं, ब्रह्म का स्मरण करना है तो किसी भी नाम से स्मरण कर सकते हैं, लेकिन उक्त महत्ता वाले होने से दूसरे नाम नहीं, ये तीन नाम ही यज्ञादि को पूरा करने में समर्थ हैं।।२३।।

महत्त्व बताकर नाम का उपयोग समझाते हैं-

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

इसलिये वेदानुयायियों की शास्त्रविहित यज्ञ, दान व तप रूप क्रियाएँ हमेशा ॐ - ऐसा कहकर प्रवृत्त होती हैं।

शान्ति पाठ में भी ॐ का सबसे पहले स्मरण कर लेते हैं। स्मृतियों में भी बताया है कि ॐ सबसे पहले ब्रह्मा से उनके कण्ठ को फोड़कर प्रकट हुआ।

'ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ।।'

छोटा बच्चा पैदा होता है तो उसके कण्ठ से पहले आवाज़ नहीं निकलती, उस समय कण्ठ बन्द होता है। गर्भ के अन्दर तो कण्ठ का काम नहीं है, न वहाँ खाया जाता है, और न बोला जाता है इसलिये कण्ठ बन्द होता है। बच्चा पैदा होने पर उसकी नाल काटकर उसे उल्टा करके उसकी पीठ पर ज़ोर से मारते हैं, तब वायु धक्का देती है और कण्ठ में फँसा हुआ कफ का हिस्सा बाहर निकल जाता है। यदि बच्चे को सीधा रखोगे तो कफ निकलना मुश्किल होगा क्योंकि बच्चे को तो हम लोगों की तरह साँस लेने का अभ्यास है नहीं, इसलिये उल्टा टाँगना पड़ता है। कफ निकलता है तब वह बड़े ज़ोर से रोता है और सब लोग खूब खुश होकर ताली बजाते हैं। दो-चार बार मारने पर भी यदि नहीं रोया तो मरा हुआ समझते हैं। रोना ही इस बात का प्रमाण है कि बच्चा ज़िन्दा है। इसी प्रकार शास्त्र कहता है कि ब्रह्मा जी के कण्ठ से निकलने के कारण ॐकार का स्मरण मांगलिक है, मंगलों को देने वाला है। इसलिये ॐ का पहले उच्चारण करके यज्ञ, दान, तप को करने का विधान है। मनु ने कहा कि किसी भी कर्म को प्रारम्भ करो तो सबसे पहले ॐ बोलो, उसके बाद मंत्रोच्चारण करो। जैसे फूंकनी (जिससे फूंककर चूल्हा जलाते हो) या बाँसुरी के दोनों तरफ छेद होते हैं, एक तरफ से फूंक मारो तो दूसरी तरफ से निकलती है, इसी प्रकार से कर्म दो तरफ से बहकर निकल सकते हैं - शुरू में और आखिर में। इसलिये मनु कहते हैं कि इन दोनों दरवाज़ों को बन्द करने के लिये कर्म के प्रारम्भ और समाप्ति में ॐकार का उच्चारण करो, इसके उच्चारण से कर्म में कोई कमी नहीं रह जायेगी, कर्म बहकर निकल नहीं जायेगा, पूरा हो जायेगा। ब्रह्मवादियों की यज्ञ, दान, तप आदि क्रियायें ॐ से प्रारम्भ की जाती हैं। यहाँ ब्रह्मवादी का मतलब वेदवादी है अर्थात् वेदों को जानने वाले या शास्त्रज्ञ लोग। वेदवादियों के यज्ञादि ॐ बोलकर शुरू होते हैं अतः श्रद्धा रखकर उन्हें देखकर यज्ञादि करने वाले भी ॐ बोलकर ही यज्ञादि करते हैं। ब्रह्मवादी कहकर यह भी बताया कि जो वेदवादी नहीं होते उन्हें इस रहस्य का पता नहीं है। वे पहले ही शुरू कर देते हैं या कोई और नाम लेकर शुरू कर देते हैं। शुरू करना चाहिये ॐ के उच्चारण से ही। और 'सततं' - हमेशा ही उसके उच्चारण से शुरू करना चाहिये, ऐसा नहीं कि एक बार उच्चारण करने से पर्याप्त है; हर बार जब यज्ञादि किया जाता है तब ॐ बोलकर ही किया जाता है। वेदज्ञ लोग हमेशा ऐसा करते हैं। कर्म करने में जो भी कमी रहे वह सारी की सारी ॐकार के उच्चारण से साद्गुण्य को प्राप्त कर लेती है।

ॐ ब्रह्म का नाम है यह सब लोग जानते ही हैं, ॐकार की ऐसी विशेषता रही है कि भारतवर्ष के अन्दर जितने भी भिन्न सम्प्रदाय हैं उन सबने ॐ को तो प्रशस्त माना ही है। शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और वर्तमान काल में सिक्ख सम्प्रदाय और अन्य भी अनेक पन्थ

वाले हैं जिन्होंने ॐकार की विशेषता मानी ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में अंतिम रस ॐकार को ही बताया है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि ॐकार ब्रह्म का नेदिष्ठ (निकटतम) नाम है, उससे प्रिय ब्रह्म का और कोई नाम नहीं है। सारे ही वेदों में इसकी विशेषता बतायी है। इसकी इतनी विशेषता क्यों है? इसका रहस्य माण्डूक्य उपनिषद् में बताया है। वह केवल बारह मन्त्रों की उपनिषद् है और उनमें ॐकार की ही महिमा बताई है। महिमा यह है कि चेतन तीन प्रकार के अनुभव करता है। एक अनुभव वह इन्द्रियों के द्वारा करता है। इन्द्रियों के द्वारा चेतन के अनुभव को 'अ' कहते हैं। दूसरा, इन्द्रियों से अनुभव करके मन से अनुभव करता है, जैसे बच्चे के प्रति माँ को प्रेम का अनुभव है उस प्रेम का अनुभव आँख, कान, आदि से नहीं है। इसी प्रकार बहुत से अनुभव मन से होते हैं। जहाँ इन्द्रियों से अनुभव करते हैं वहाँ मन तो रहता ही है, इसलिये वे इन्द्रिय और मन से होने वाले अनुभव हैं।

उनसे अलग केवल मन से होने वाले अनुभव हैं। इन्द्रियों के द्वारा जिनका अनुभव करते हैं वे बाह्य पदार्थ हैं। केवल मन से जिनका अनुभव करते हैं वे बाह्य पदार्थ नहीं हैं। इसीलिये उनका कोई वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं है। वैज्ञानिक कहते हैं कि चीज़ वही होती है जो नापी जा सके! प्रेम को तो नाप नहीं सकते कि वह कितना लम्बा-चौड़ा है। आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं कि जो चीज़ नापी नहीं जाती वह बेकार है। चीज़ इन्द्रियों से दीखे यह ज़रूरी नहीं है, जैसे रेडियो तरंगें किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकते, परन्तु नापी जा सके यह ज़रूरी है। जिसे नाप नहीं सकते उसे वैज्ञानिक नहीं मानेंगे। मन से जिन प्रेमादिका अनुभव करते हैं, वे नापी-जोखी जाने वाली चीज़ें नहीं हैं। परन्तु दोनों तरह का अनुभव करने वाले तुम हो, इसमें तो किसी को संदेह नहीं है। बच्चे की नाक मोटी है, काणा है, दाँत नीचे के होठ को दबाकर बाहर निकले रहते हैं। - इन सबको माँ न देखती हो ऐसा नहीं है। परन्तु इस को देखकर भी उसके हृदय के प्रेम में कोई कमी नहीं आती। इन्द्रियों से बदसूरत को देखने वाली और इन्द्रियों के बिना मन द्वारा, प्रेम से देखने वाली भी वही है। जो ऐसी आन्तर जगत् की चीजें हैं उन्हें 'उ' इस अक्षर से कहते हैं।

तीसरा अनुभव है गहरी नींद का। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जिसे गहरी नींद का अनुभव न हो। वहाँ क्या अनुभव करता है? कहता है 'कुछ नहीं जाना'। कुछ नहीं जानने की स्थिति है अर्थात् 'कुछ नहीं को' - जानने की स्थिति है। वहाँ 'कुछ नहीं है' इसे जानते हो। यह भी जानना ही है। जैसे एक मेज के ऊपर घड़ा रखा है यह जानते हो वैसे ही दूसरी मेज पर घड़ा नहीं रखा है यह भी जानते हो। जितना निश्चित रूप से तुमने जाना कि यह हरा कपड़ा है, जितना मन के द्वारा जाना कि यह बच्चा प्रिय है, उतना ही निश्चित रूप से तुम जानते हो कि गहरी नींद में कुछ नहीं जाना। इसको 'म' इस अक्षर से कहते हैं। इन्द्रियों से जानने वाला, केवल मन से जानने वाला और कुछ नहीं जानने वाला - यों जानने वाला एक है, अकार, उकार, मकार के अन्दर जानने वाला आत्मा एक ही है। 'मैंने जाना' यह

सबका एकरूप अनुभव है। अतः इंद्रियों से जानने वाले सब, मन के द्वारा जानने वाले सब और कुछ नहीं जानने वाले सब, इन सब के अंदर जानने वाला एक आत्मा है। ॐ इन तीनों तरह के जानने वालों में विद्यमान जो एक जानने वाला है, उसको बताता है, इसलिये वही ब्रह्म को बताने वाला सीधा नाम है। अतः ॐ की इतनी विशेषता बताई जाती है।।२४।।

दूसरा शब्द तत् है, उसे बताते हैं–

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।।२५।।

मोक्ष चाहने वालों द्वारा फलेच्छा छोड़कर विविध यज्ञ तप और दान की क्रियाएँ 'तत्' ऐसा कहकर की जाती हैं।

तत् परमात्मा का नाम है। सारा संसार उस परमात्मा का ही विस्तार है। यहाँ जो कुछ भी तुम्हारे सामने प्रकट है यह परमात्मा का ऐश्वर्य है, परमात्मा का ही विस्तार है। चूँकि यह सब परमात्मा का ही विस्तार है अतः करने वाला, क्रिया, करने की सामग्री, उपकरण आदि सब परमात्मरूप है, फल भी परमात्मा का ही रूप है। तत् का उच्चारण करते ही यह मन में आ जाता है कि यह सब परमात्मा का विस्तार होने से इसमें मेरा कुछ नहीं है, सब परमात्मा का ही है, फल भी उसीका है। अतः 'तत्' इस नाम का उच्चारण करके जगत् के अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ब्रह्म का स्मरण करके यज्ञ, तप, दान मुमुक्षु जन करते हैं। यज्ञ भी क्रियारूप है, तप भी क्रियारूप है और दान भी क्रियारूप है। यज्ञ, दान और तप क्रियायें अनेक तरह की हैं, यज्ञ भी अनेक तरह के - ब्रह्मयज्ञ, भूतयज्ञ, ऋषियज्ञ, श्रौतयज्ञ, स्मार्त यज्ञ इत्यादि हैं। तप भी अनेक प्रकार के, चान्द्रायण, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि हैं। इसी प्रकार दान भी अनेक प्रकार के हैं - स्वर्ण दान, अन्न दान, विद्या दान, अभय दान आदि। 'तत्' का उच्चारण करके बोध हो जाता है कि इन क्रियाओं के फलों के लिये नहीं वरन् कर्तव्यबुद्धि से यज्ञादि करने हैं।

ऐसा कौंन कर सकेगा? भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जो इस संसार समुद्र से मुक्त होना चाहता है, वही ऐसा कर सकता है, वही सब फलों को परमात्मा के समर्पण कर सकता है। जिनको खुद फल की अभिलाषा है, वे फल को कैसे छोड़ सकते हैं! तत् के उच्चारण में भगवान् ने दो बातें स्पष्ट कर दी - कि सब कुछ परमात्मरूप है और ॐ व तत् का प्रयोग मोक्षाकांक्षी के लिये है, जो स्वंय फल चाहते हैं उनके लिये नहीं है। मोक्ष की इच्छा वाला कोई भी विषय नहीं चाहता, केवल परमात्मा प्रसन्न हो, यही चाहता है। अतः स्वाभाविक है कि वह सारे फल परमात्मा को देगा, तभी परमात्मा प्रसन्न होगा। 'मोक्षकांक्षिभिः' कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि ॐ तत् सत् का प्रयोग सभी क्रियाओं को सम्पन्न कर देने वाला और सारी कमियों को पूरा करने वाला है पर इसका प्रयोग केवल मुमुक्षु के लिये है, बुभुक्षुओं के लिये है ही नहीं। फल का त्याग अर्थात् फलेच्छा का त्याग करने वाला जानता है कि चूँकि

सब मेरा ही आकार है इसलिये फल की इच्छा बिलकुल व्यर्थ है। इस प्रकार ॐ और तत् का विनियोग बता दिया।।२५।।

अब 'सत्' का प्रयोग बताते हैं-

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

पार्थ! विद्यमानता और अच्छाई बताने के लिये सत् – ऐसा यह शब्द प्रयोग किया जाता है। इसी तरह, बिना रुकावट शीघ्र सुख देने वाले कर्म के लिये भी सत्-शब्द का प्रयोग होता है।

जैसे ॐ परमात्मा का नाम है, जिस के द्वारा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के विचार से सभी अवस्थाओं के अन्दर व्यापक परमात्मभाव को बताया और 'तत्' नाम से यह सारा संसार उसी का विस्तार है, इस बात को बताया, वैसे ही 'सत्' से कहा कि जहाँ भी 'है' की प्रतीति है, वह परमात्मा की ही प्रतीति है। छांदोग्य उपनिषद् के अन्दर 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' से सत् को ही परमात्मा का स्वरूप बताकर कहा कि जिससे यह सारा संसार पैदा हुआ वही जीव का वास्तविक स्वरूप है। सत् परमात्मा से संसार उत्पन्न हुआ, अविद्या के कारण उस कार्य में जीव ने 'मैं' ऐसी भावना कर रखी है। श्रुति कहती है – 'जो उत्पन्न हुआ वह तू नहीं है। तू इन सब की उत्पति का कारण है, जिससे सब उत्पन्न हुआ।' ॐ से परमात्मा का स्वरूप बताया, तत् से उसकी व्यापकता कही और सत् के द्वारा बताया कि वही एकमात्र कारण होने से संसार में सर्वत्र 'है'-रूप से प्रतीत हो रहा है। जहाँ भी 'है' की प्रतीति हो रही है वह परमात्मा की ही प्रतीति है। जिस प्रकार तरह-तरह के सोने के गहनों में जो सोने की प्रतीति है वह तो कारण की प्रतीति है, उपादान की प्रतीति है, गहने के रूप के साथ प्रतीति है परन्तु जिस की प्रतीति है वह उन रूपों से अतीत है। इसी प्रकार हम लोगों को 'है' की प्रतीति किसी-न-किसी रूप में होती है परन्तु उन रूपों में जो 'है' की प्रतीति हो रही है वही वस्तुतः वास्तविक है। जैसे सोने में गहने की प्रतीति है वैसे ही सत् ब्रह्म के अन्दर जगत् की प्रतीति है।

'सद्भावे'; कोई चीज़ पहले नहीं है और फिर उसकी प्रतीति होती है तो उसको 'है' कहते हैं। जैसे पहले किसी के बेटा नहीं है और फिर बेटा हो जाता है तो कहते हैं कि अब यह पुत्रवान् है, पहले निपूता था। जैसे ही कोई चीज़ प्रतीत होती है 'है' रूप में प्रतीत होती है। उसे सत् कहते हैं। इतना ही नहीं, 'साधुभावे च' अर्थात् सत् से कहते हैं कि अच्छा कार्य है। जब तक आदमी बुरे काम वाला रहता है तब तक तुम उसे असत् कहते हो अर्थात् यह कुछ नहीं है। और जब वह अच्छा काम करने लगता है तब कहते हो 'यह सत्पुरुष है'। बुरा काम करने वाले को असत् पुरुष कहते हैं, सत्पुरुष नहीं कहते। अतः जिसमें शुभ आचरण होता है उसे सत् कहते हैं। सत् शब्द का एक अर्थ हुआ जो 'नहीं है' की जगह 'है' हो जाये; दूसरा अर्थ साधुभाव है, जैसे, शुभ आचरण वाला हो उसे ही सत्पुरुष कहते

हैं। साधुभाव के लिये सत् शब्द का प्रयोग होता है। सद्-रूप परमात्मा जो जगत् का उपादान है, वह हमेशा 'है' भी और हमेशा अच्छा भी है। बुराई जितनी है वह जीव अपने पापों से लाता है। सातवें अध्याय में 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च' में भी स्पष्ट किया था कि सुगन्ध तो परमात्मा का ऐश्वर्य है, दुर्गन्ध हम पाप आदि कर्मों के द्वारा लाते हैं। इसलिये असाधुभाव हम अपने अज्ञान के कारण करते हैं। स्वरूप से साधुभाव ही है। इसलिये अनाचार आदि को परमात्मा का स्वरूप नहीं कह सकते। सत् शब्द के द्वारा जगत् का आदिकारण जो सब जगह है और साधुभाव में प्रकट हो रहा है उसे कहते हैं। इसी प्रकार 'प्रशस्ते कर्मणि' जैसे अच्छा आचरण करने वाले को सत्पुरुष कहते हैं, वैसे ही जो श्रेष्ठ, प्रशस्त या प्रशंसनीय कर्म हैं, उन्हें सत्कर्म कहते हैं। चाहे जैसे पुरुष को सत्पुरुष नहीं कहते, उसी प्रकार सत् शब्द का कभी भी बुरे कर्म के लिये प्रयोग नहीं किया जाता। जो कुछ भी प्रशस्त या प्रशंसनीय कर्म हो रहा है वह सारा परमात्मा का स्वरूप है। शुभ आचरण वाले लोग और शुभ कर्म - सब उस सत् ब्रह्म का, परमात्मा का ही विस्तार है। सत् कर्म देखने पर उसमें परमात्मा को पहचानना चाहिये।।२६।।

दूसरी तरह से सत्-शब्द का विनियोग बताते हैं-

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

किंच, यज्ञ, दान, तप में निरन्तर प्रवृत्ति 'सत्' - यों कही जाती है। यज्ञादि के लिये अथवा परमात्मा के लिये किया कर्म भी 'सत्' - ऐसा ही कहा जाता है।

यज्ञकर्म में जो स्थित होता है उसे कहते हैं कि यह सत्कर्म में स्थित है। इसी प्रकार जो तपस्या में स्थित है उसे भी लोग कहते हैं कि अच्छे काम में स्थित है। इसी प्रकार दान करता है, तो भी लोग कहते हैं कि सत्कर्म कर रहा है। यज्ञ, दान, तप में स्थित- इन सबको ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा सत् ही कहा जाता है। यज्ञ, तप, दान आदि सत्कर्म को देखकर और सदाचारी को देखकर जो सद्रूपता प्रतीत होती है वह कारण ब्रह्म की ही है क्योंकि ये सब 'तदर्थीय कर्म' हैं। भाष्यकार ने 'तदर्थीयं' का 'यज्ञदानतपोऽर्थीयं' वैकल्पिक व्याख्यान किया है अर्थात् यज्ञादि के लिये जो सामग्री-सम्पादन, विप्रनिमन्त्रण आदि कर्म किये जाते हैं वे तदर्थीय कर्म हैं, उन्हें भी सत् कहते हैं। दूसरा अर्थ 'ईश्वरार्थीयम्' किया है। भगवदर्पणबुद्धि से किये कर्म को सत् कहते हैं। परमात्मा के लिये जो कर्म किया जाता है वह सब सत् कहा जाता है। क्योंकि यज्ञ, तप, दान कर्मों का फल देने वाला परमेश्वर ही है इसलिये ये कर्म परमेश्वर की प्रसन्नता के कारण बनकर ही सफल होते हैं। जो मुमुक्षु है वह चूँकि आत्मतत्त्व को ही सारी सफलताओं का स्वरूप समझता है इसलिये वह 'परमात्मा को' ही चाहता है, 'परमात्मा से' कुछ नहीं चाहता। दूसरे लोग कर्म करते हैं, लेकिन चूँकि वे फलों को चाहते हैं इसलिये परमात्मा अपने स्वरूप का उद्घाटन उनके लिये नहीं करता। फल तो

उन्हें भी परमात्मा ही देता है परन्तु वे कर्म परमात्मा के लिये नहीं, फल के लिये करते हैं अतः फलमात्र पाते हैं। जो परमात्मा के लिये करता है उसके लिये परमात्मा अपना स्वरूप उद्घाटित कर देता है। तदर्थीय अर्थात् परमात्मा के लिये ये यज्ञादि कर्म हैं।

इस प्रकार से 'ॐ तत् सत्' के उच्चारण द्वारा फलेच्छा को छोड़कर परमात्मा के लिये मुमुक्षु के द्वारा जो यज्ञ, दान, तप किये जाते हैं वे यदि किसी कारण से सात्त्विक नहीं हो पाये तो भी अन्तःकरण की शुद्धि का कारण बन जाते हैं। अगर कर्म विगुण हो गया, मन्त्रोच्चारण की कमी हो गई, विधि की कमी रह गई तो वे सारी विगुणतायें परमात्मा दूर कर देते हैं। परमात्मा में पूर्ण श्रद्धा रखकर ही परमात्मा की अर्चना की जाती है। अतः परमेश्वर के अन्दर श्रद्धा की पूर्णता तो चाहिये ही। इस अध्याय के प्रारम्भ में उसी का प्रसंग उठाया था जो शास्त्रज्ञान से रहित है परन्तु श्रद्धावाला है। जिस मुमुक्षु को यहाँ बता रहे हैं उसमें भी श्रद्धा की कमी नहीं है। परमात्मा- सम्बन्धी शास्त्रज्ञान से रहित होने के कारण बाकी जो भी कमी उसमें हो, परमात्मा में श्रद्धा की कमी तो उसमें नहीं है, इसलिये जब परब्रह्म परमात्मा के इन तीनों रूपों को याद करता है तब परमात्मकृपा से वैगुण्य निवृत्त होकर साद्गुण्य हो जाता है। तीन रूप अर्थात् - सब में व्याप्त वही है, जितने शुभ भाव हैं वे सब उसीके हैं, और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के अन्दर अनुभव करने वाला जो 'मैं' है उसका वास्तविक स्वरूप भी वही है। इस प्रकार से परमात्मा के 'ॐ तत् सत्' इन तीन नामों का प्रयोग करने से कर्म में जो भी विगुणता या कमी रह गई हो वह सब पूरी हो जाती है। उस कर्म में होने वाले राजस तामस भाव खत्म होकर वह कर्म सात्त्विक हो जाता है। इसलिये जो भी सत् कर्म है उसमें इन तीन नामों का विनियोग करना चाहिये।।२७।।

इस सबके लिये प्रधानता श्रद्धा की है। श्रद्धा की पूर्णता से फल होगा, अश्रद्धालु के लिये ये उपाय काम के नहीं हैं। इसलिये कहते हैं-

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ! न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

।।ॐ तत् सद् इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।

पार्थ! अश्रद्धा से किया जो हवन, दान, तप (आदि कर्म है) वह असत् कहा जाता है। वह न इस लोक में और न मरने के बाद फल देता है।

तुमने यज्ञ की सारी विधि चाहे पूरी तरह से ठीक कर ली, परन्तु तुम्हारे अन्दर श्रद्धा नहीं है तो सब व्यर्थ है। इसका प्रसिद्ध दृष्टांत दक्षयज्ञ है। दक्षकी भगवान् शंकर में श्रद्धा नहीं थी। उसने बहुत बड़ा यज्ञ रचाया, साक्षात् ऋषियों और देवताओं को उसमें बुलाया, सारी विधि पूरी

की परन्तु भगवान् शंकर मे श्रद्धा नहीं होने से वह सब नष्ट होकर उसके बकरा बनने का कारण हो गया! इसलिये बिना श्रद्धा के चाहे जितना बड़ा यज्ञ, हवन, आदि कर लो, वह सब असत् ही कहा जाता है। क्यों असत् कहा जाता है? क्योंकि वह मुझ परमात्मा की प्राप्ति का साधन कभी नहीं होता। जैसे हवन वैसे ही दान। उत्तम से उत्तम ब्राह्मण, पवित्र कुरुक्षेत्र देश, संक्रांति आदि पुण्य काल भी मिल जाये, लेकिन केवल श्रद्धा नहीं है तो वह दान भी असत् हो जाता है। इसी प्रकार से श्रद्धा से रहित हो कर तप का अनुष्ठान किया, या और भी जो कुछ किया, स्तोत्र पाठ, नमस्कार, प्रदक्षिणा आदि सब किये, तो भगवान् कहते हैं कि वह सब असत् ही है अर्थात् अश्रद्धा से किये ये सब मेरी प्राप्ति का कभी भी साधन नहीं हो सकते। 'न च तत्प्रेत्य नो इह' मरने के बाद भी कुछ फल नहीं देंगे। तुम सोचो कि 'हमने इतना प्रयत्न किया तो कुछ तो फल देंगे', इसलिये भगवान् ने स्पष्ट किया कि कुछ नहीं देंगे। इसलिये श्रद्धा को प्रधान कारण बताया है। सभी शास्त्र बार-बार यही कहते हैं कि श्रद्धापूर्वक कर्म होते हैं। अतः वेदों के अन्दर श्रद्धा की प्रार्थना की है। प्रातःकाल हम श्रद्धा की प्रार्थना करते हैं। और दोपहर में भी उसी की प्रार्थना करते हैं कि श्रद्धा हमारे में प्रवेश करे। श्रद्धा के प्रवेश होने पर ही बाकी सब कुछ ठीक फल दे सकता है, अन्यथा कुछ फल नहीं देगा। 'नो इह' यहाँ भी कोई साधु पुरुष अश्रद्धालु की प्रशंसा नहीं करेगा। बड़ा यज्ञ, दान करने पर भी साधु पुरुषों के द्वारा उसकी निन्दा ही की जायेगी, असाधु पुरुष भले ही प्रशंसा करें। इसलिये कहा कि दृष्ट-अदृष्ट दोनों ही फल नहीं होते हैं।

इस प्रकार से इस अध्याय के अन्दर विस्तार से भगवान् ने श्रद्धा की विशेषता बताई। यदि श्रद्धा है तो बाकी चीज़ों की कमी उस श्रद्धा से पूरी हो जाती है। यदि श्रद्धा नहीं है तो उसकी कमी किसी से पूरी नहीं होती। इसलिये इस अध्याय का नाम ही श्रद्धात्रय-विभाग योग रखा। अगर श्रद्धा है तो ॐ तत् सत् का ठीक प्रकार से प्रयोग करने से राजस, तामस आदि विगुणता ख़त्म होकर कर्म पूर्ण हो जाते हैं। और यदि श्रद्धा की मौजूदगी नहीं है तो सारा ही शास्त्रज्ञान या अनुष्ठान न आगे फल देता है और न यहाँ फल देता है।।२८।।

।। सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।।

ॐ

अठारहवाँ अध्याय: मोक्षसंन्यासयोग

यह उपसंहार का अध्याय है इसलिये जो कुछ भी गीताशास्त्र में कहा गया है उस सब का यहाँ संकेत मिलता है। जो कुछ बताना है उसका निर्देश उपक्रम में किया जाता है और जो सब कुछ बता दिया गया उसे उपसंहार में बताते हैं। इसलिये उपक्रम उपसंहार की एकवाक्यता ज़रूरी होती है। उपक्रम दूसरे अध्याय में था जो बहुत बड़ा अध्याय था और उपसंहाररूप अठारहवाँ अध्याय भी बहुत बड़ा है। गीता चूँकि वेद के तात्पर्य को बताती है अतः गीता में आया सब कुछ बताने का मतलब है कि सारा ही वेदार्थ कह देना है! इसलिये यह अध्याय भी द्वितीय अध्याय की तरह बड़ा प्रधान है।

अठारहवें अध्याय को अर्जुन के प्रश्न से आरम्भ करते हैं। दूसरा अध्याय भी अर्जुन के प्रश्न से प्रारम्भ हुआ। उसी ने कहा 'जो मेरे श्रेयस् का मार्ग हो वह आप बातईये, मैं आपके पास शिष्य-भाव से आया हूँ।' तब भगवान् ने उसे बताना शुरू किया। वहाँ प्रश्न का मतलब यही था कि 'मैं अपने क्षात्रधर्म का पालन करूँ या न करूँ?' अतः प्रकारान्तर से क्षात्रधर्म को करने या न करने का ही प्रश्न यहाँ फिर पूछता है। फ़र्क इतना है कि यहाँ संन्यास व त्याग के भेद को जानने की इच्छा व्यक्त करता है -

अर्जुन उवाच
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च ऋषीकेश पृथक् केशिनिषूदन।।१।।

अर्जुन बोला - हे महाबाहो ऋषीकेश केशिनाशक! संन्यास और त्याग का पृथक्-पृथक् याथात्म्य समझना चाहता हूँ।

'हे महाबाहो!' - बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले। भुजायें हमारे यहाँ कर्म का प्रतीक होती हैं। हमारी पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं जिनमें पैर केवल चलने का ही काम करते हैं, वाणी केवल बोलने का ही काम करती है, परन्तु हाथ अनेक काम कर लेता है। लिख कर वाणी का भी काम कर लेता है। लंगड़े लोग हाथों से चल भी लेते हैं अतः पैरों का काम कर लेता है, बाकी भी बहुत-से काम तो हाथ करता ही है। अतः महाबाहु का अर्थ होता है अत्यन्त उत्तम कर्म या महान् कर्म करने वाला। भगवान् को 'महाबाहु' सम्बोधन करके अर्जुन कहता है कि आप

अत्यन्त उत्तम कर्म करने वाले हैं इसलिये आप ही बताईये कि संन्यास की वास्तविकता क्या है, कर्म नहीं करना क्या है? संन्यास से क्या कहा जाता है? संन्यास का तत्त्व अर्थात् संन्यास का भाव या तात्पर्य क्या है, उसकी यथार्थता क्या है? अर्जुन दूसरा सम्बोधन 'ऋषीकेश' देता है। ऋषीका नाम इन्द्रियों का है। इन्द्रियों के जो स्वामी वे ऋषीकेश हुए अर्थात् जिन्होंने सारी इन्द्रियों को नियन्त्रण में कर लिया है। इन्द्रियों में मन भी आ जाता है। मन और इन्द्रियों को जिसने पूरी तरह से नियन्त्रित कर लिया, उनका ईश्वर हो गया, उसका कर्म से क्या सम्बन्ध रहा? कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा! एक तरफ महाबाहु कहा और दूसरी तरफ ऋषीकेश भी कह दिया। ऋषीकेश का अर्थ और स्पष्ट करते हुए कह दिया 'हे केशिनिषूदन!' केशि नाम के राक्षस को मारने वाले। जब भगवान् वृन्दावन में थे तब केशि नाम का असुर घोड़े का रूप लेकर आया था, भगवान् ने उसे वहीं मार दिया था इसलिये भगवान् कृष्ण का नाम केशिनिषूदन है। वेदों के अन्दर इन्द्रियों को घोड़ा कहा गया है। 'इन्द्रियाणि हयानाहुः' इसलिये घोड़ा इन्द्रियों का प्रतीक है। अतः ऋषीकेश से जिस बात को कहा उसी बात को केशिनिषूदन से स्पष्ट कर दिया। ऋषीकेश के द्वारा तो कहा कि वे इन्द्रियों के ईश्वर हैं और केशिनिषूदन के द्वारा बताया कि केवल ईश्वर ही नहीं, वरन् उन इन्द्रियों के द्वारा कोई कार्य न हो- ऐसा उनका नियंत्रण है। यह नियंत्रण समाधि में ही होता है जो सारे कर्मों को छोड़कर किया जाता है। इस तरह अर्जुन का भाव है – आप चूँकि महाबाहु हैं इसलिये कर्म के अन्दर आपका पूरा प्रवेश है और कर्मत्याग में भी आपका पूरा प्रवेश है चूँकि आप ऋषीकेश और केशिनिषूदन हैं। इसलिये आप ही इस बात को मुझे भली प्रकार से समझा सकते हैं।

जो कर्मी होता है वह नैष्कर्म्य को नहीं समझ सकता, जो निष्कर्मा होता है वह कर्मी के भाव को नहीं समझ सकता। परन्तु परमात्मा की यह विशेषता है कि वे दोनों के भावों को समझ लेते हैं। जैसे लोक में देखा जाता है कि जो खूब खटाई खाने वाला है उसकी समझ में नहीं आता कि दूसरे लोग इतना मीठा कैसे खाते हैं। बीकानेर में लड्डू बनते हैं जिसमें चारगुणा चीनी पड़ती है, इतने पर भी खाने वालों को संतोष नहीं होता। पुराने ज़माने में ओले के लड्डू बनते थे जो केवल खाण्ड के ही होते थे। एक बार वहाँ किसी ने भोजन कराया तो ओले के लड्डू खिलाये, सबने बड़े प्रेम से खाये। बाद में उसने हाथ जोड़कर पूछा कि 'सब कुछ ठीक तो बन गया?' तब कुछ लोगों ने कहा 'सब ठीक बना, लेकिन लड्डू में चीनी कम थी!' अब ओले के लड्डू में और चीनी क्या डाली जाये! खट्टा खाने वाले सीधा नींबू को चूसकर कहेंगे यह कम खट्टा है! नींबू को और कैसे खट्टा किया जाये? जैसे मीठा खाने वाले खट्टा खाने वाले को और खट्टा खाने वाले मीठा खाने वाले को पूरी तरह नहीं समझ सकते, परन्तु यदि कोई दोनों को पूरी तरह से खाने की सामर्थ्य वाला है तो वह दोनों के भावों को समझ सकता है, इसी प्रकार सारे कर्मों का परित्याग, नैष्कर्म्य, कर्मी की समझ में नहीं आता। इसलिये कर्मी को लगता है कि ये फल नहीं चाहते

हैं तो करते क्यों हैं? लोग पूछते हैं कि भगवान् ने इतनी बड़ी सृष्टि बनाई, छोड़ना ही उचित था तो बनाई किसलिये?- यह कर्मी की समझ में नहीं आता। निष्कर्मा को यह समझ में नहीं आता कि बिना कर्म किये परम आनन्द की प्राप्ति हो सकती है तो फिर ये इतनी माथा-फोड़ी में क्यों जाते हैं? कर्मी को निष्कर्मता और निष्कर्मा को कर्म समझ में नहीं आ सकता। परन्तु परमेश्वर के अन्दर दोनों भाव सम्मिलित हो जाते हैं इसिलये परमात्मा दोनों के रूप को समझता है, नैष्कर्म्य और कर्मी का भाव - दोनों को जानता है। इसलिये संन्यास और त्याग को ठीक-ठीक प्रकार से वे ही समझा सकते हैं।

यद्यपि संन्यास और त्याग को एक जैसा समझ सकते हैं, क्योंकि संन्यास मायने भी छोड़ना और त्याग मायने भी छोड़ना, तथापि अर्जुन उनमें जो पृथक्त्व है, दोनों भावों में जो भेद है, वह स्पष्ट करवाना चाहता है। अर्जुन का यह प्रश्न विशेषकर इसलिये है कि पहले कई जगह यह बात आई है : कर्मफलत्याग को भी संन्यास कह दिया जाता है और सर्वकर्म का त्याग भी संन्यास है। इस प्रकार से दोनों की समानता पहले बता आये हैं। परन्तु दोनों का वस्तुतः भेद क्या है यह स्पष्ट नहीं हो सका है। अर्जुन का मूल प्रश्न यही था कि युद्ध अर्थात् क्षात्रधर्म का पालन, अथवा संन्यास अर्थात् क्षात्रधर्म का त्याग करूँ? उसने यही कहा था कि भिक्षामात्र से ही मैं रह लूँगा, भिक्षा करके अर्थात् सर्वकर्म-संन्यास करके रहूँगा। उसी प्रश्न को फिर से यहाँ करता है क्योंकि उपक्रम-उपसंहार को इकट्ठा करके समझ लेना चाहिय।।१।।

सत्रहवें अध्याय में भगवान् ने श्रद्धा वाले के लिये सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के आहार आदि का वर्णन किया। उसी प्रवाह में अर्जुन के मन में स्वाभाविक प्रश्न हुआ कि क्या त्याग और संन्यास भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के हैं? प्रकरण का प्रारम्भ तो वहीं से हो गया जहाँ भगवान् ने बताया कि जो शास्त्र जानकर उस के अनुकूल व्यवहार करते हैं वे दैवी सम्पत् वाले हैं, और जो जानकर भी शास्त्रविरुद्ध व्यवहार करते हैं वे आसुरी संपत्ति वाले हैं। इसलिये, शास्त्र को जानकर *शास्त्रानुसार* त्याग और संन्यास करने वालों का यहाँ प्रसंग नहीं है। शास्त्र के अनुसार त्याग का अर्थ पहले भगवान् बता आये हैं। संन्यास भी दो प्रकार का है : ज्ञान होने से अपने अकर्तृत्व-आत्मबोध से जो त्याग है उसे भगवान् स्थितप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षण में कह आये हैं, अर्थात् 'मैं अकर्त्ता अभोक्ता हूँ' यह जानने से जो संन्यास होता है उसका वर्णन पहले ही कर दिया, वह शास्त्र समझने पर सिद्ध संन्यास ही हुआ। इसी प्रकार से शास्त्र के द्वारा जिसने विविदिषा प्राप्त कर ली है उसके द्वारा होने वाला संन्यास भी भगवान् पहले (२.४५) कह आये हैं। अतः ये दोनों यहाँ प्रश्न का विषय नहीं हैं। प्रश्न का विषय वे त्याग-संन्यास हैं जो करने वाले शास्त्र नहीं जानते परन्तु हैं श्रद्धालु। उनके त्यागादि के सात्त्विक, राजस, तामस भेद ही अर्जुन के प्रश्न का विषय और भगवान् के जवाब का विषय है। अतः शास्त्रानुकूल जो विविदिषु-संन्यास और विद्वत्-संन्यास हैं उनका यहाँ प्रकरण नहीं है।

भगवान् जवाब देते हैं :-

श्रीभगवान् उवाच
काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

कुछ पण्डित कामनाप्रयुक्त कर्म छोड़ने को संन्यास समझते हैं। अन्य पण्डित सभी कर्मों के फलों को छोड़ना त्याग बताते हैं।

'कवयः' अर्थात् जो लोग परमात्मविषयक मार्ग के जानने वाले हैं। कवि का अर्थ क्रान्तदर्शी होता है। यहाँ विशेषकरके, चूँकि त्याग और संन्यास का प्रकरण है अतः मोक्षविषयक क्रान्तदर्शन ही इष्ट है। कवियों ने संन्यास को ऐसा समझा है : कामना से प्रयुक्त होने वाले जो अश्वमेध आदि कर्म हैं उन्हें नहीं करना, उनके परित्याग को संन्यास शब्द का अर्थ समझना चाहिये। काम्यकर्म किस को कहा जाये? क्योंकि उन्हीं कर्मों को कामना के लिये भी कहा गया है और बिना कामना के नित्यनैमित्तिक रूप से भी कहा गया है। जैसे अग्निहोत्रकर्म प्रतिदिन करने को भी कहा गया है और अग्निहोत्र से स्वर्ग की प्राप्ति भी कही है। यज्ञविशेष में कत्थे का यूप बनाने को कहा और कत्थे के यूप का फलविशेष भी कहा है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' इस यजुर्वेद की श्रुति में सभी कर्मों का विविदिषा में विनियोग कर लिया है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का भी फल चितशुद्धि है ही, अतः काम्य कर्म और नित्यनैमित्तिक कर्मों में वस्तुतः कोई फ़र्क नहीं कहा जा सकता। अविद्या, काम, कर्म यह क्रम है। कर्म तभी करोगे जब कोई कामना होगी। बिना कामना के तो कर्म करोगे नहीं और जब तक अविद्या है तब तक कामना निवृत्त नहीं होती। अतः अविद्वान् के लिये कर्म का विधान है। कुछ कर्मों का विधान मुख्यरूप से चित्तशुद्धि तथा परमात्मा की प्रसन्नता के लिये है। कुछ कर्मों का विधान मुख्य रूप से विषयों की प्राप्ति के लिये है। मुख्य और गौण होने पर भी सभी कर्म चित्तशुद्धि के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। इसलिये यज्ञादि का विविदिषा में विनियोग बताते हुए किसी विशेष यज्ञ, दान आदि को नहीं कहा है, यज्ञ-दानादि मात्र को कहा है। अतः कामना के द्वारा प्रयुक्त होकर जो अनुष्ठेय हैं उनका अनुष्ठान न करना संन्यास है। उपनयन आदि कर्मपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश होने पर ही कुछ कर्म नित्य-नैमित्तिक रूप से प्राप्त हो जाते हैं। आगे जब विवाह होता है तब फिर कुछ नित्य-नैमित्तिक कर्म प्राप्त हो जाते हैं। जिनको काम्यकर्म कहते हैं, वे कामना के कारण प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे भी किसी कर्म को प्रारम्भ कर दिया, बाद में उस चीज़ की इच्छा जिस-किसी कारण से निवृत्त हो भी गई तो भी उस प्रारम्भ किये कर्म का परित्याग नहीं किया जा सकता क्योंकि जैसे नित्य-नैमित्तिक कर्म प्राप्त हैं वैसे ही प्रारम्भ हो चुकने से वह भी प्राप्त हो गया। यहाँ काम्यकर्मों के न्यास को संन्यास कह रहे हैं तो इस प्रकार के सभी (नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध) कर्मों को छोड़ना प्राप्त होता है।

'सर्वकर्मफलत्याग' में कर्म का स्वरूप से त्याग नहीं करके कर्मफल का ही त्याग करते हैं। कर्म का स्वरूप से यदि त्याग किया तब तो संन्यास है और यदि कर्म के फलमात्र का त्याग किया तो उसे त्याग कहते हैं। ऐसा कौन कहते हैं? विचक्षण, विशेष बुद्धि वाले जो पण्डित लोग हैं, वे ऐसा कहते हैं। अर्थात् जो भी प्राप्त कर्म हैं उनके फल का त्याग, फल परमात्मा के अर्पण करना ही त्याग शब्द से कहा जाता है। इसमें कुछ कर्मकाण्डियों की शंका होती है कि नित्य-नैमित्तिक कर्मों का फल है ही नहीं तो फिर उनके फल का त्याग कैसे हो सकता है? जैसे बाँझ के बेटा है ही नहीं तो वह अपने बेटे का त्याग कैसे करेगी? उसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मों का फल है ही नहीं तो उसका त्याग कैसे होगा? परन्तु उनकी यह मान्यता इसलिये ठीक नहीं है कि नित्य कर्मों का भी फल भगवान् आगे 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्' में बतायेंगे। अतः जो भी कर्म किया जाता है उसका फल होता ही है। कर्मों का त्याग और फलमात्र का त्याग–यही संन्यास और त्याग में भेद है। दोनों ही में छोड़ना तो है ही। इस प्रकार, काम्यकर्मों का स्वरूप से त्याग संन्यास और कर्मफल मात्र को छोड़ना त्याग - यों दोनों का भेद बताया।।२।।

इस विषय में अन्य लोगों का मत भी भगवान् बताते हैं :-

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

कुछ विचारक कहते हैं कि दोष वाले कर्म छोड़ने लायक हैं। अन्य लोग कहते हैं कि यज्ञ दान और तप - ये कर्म छोड़ने नहीं चाहिये।

मनीषी - जो कर्म के स्वरूप के विषय में विचार करने में अत्यंत चतुर हैं। कर्म और गुणों के विषय में सांख्य लोग ही सबसे अधिक विचार करते हैं, अतः वे ही यहाँ मनीषी शब्द से कहे जाते हैं। उनका कहना है कि जो दोष वाले कर्म हों वे छोड़ने चाहिये। किस कर्म में दोष हैं? तो वे कहते हैं कि सारे कर्मों में दोष हैं! जैसा यहाँ भी कहेंगे 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८.४८) जैसे आग जलाने पर धुआँ होता है वैसे ही कर्म जो भी होता है, वह दोष वाला ही होता है। कर्म हमेशा बन्धन का ही कारण है, यह उसमें दोष है ही। अथवा दोषवत् अर्थात् दोष वाले कर्म; जैसे राग द्वेष दोष वाले होने से सर्वथा छोड़ने ही चाहिये, उसी प्रकार कर्म भी दोष वाले होने से सर्वथा छोड़ने ही चाहिये। इस प्रकार से सांख्य दृष्टि वाले जो मनीषी लोग हैं, जिन्होंने कर्म और गुणों के विषय में बड़ा विचार किया है, उनका यह कहना है।

कुछ लोग कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों को नहीं ही छोड़ना चाहिये। दोष वाले कर्म तो वे हैं जो राग-द्वेष से प्रवृत्त होकर मनोनुकूल किये जाते हैं। शास्त्र के अन्दर जिनका विधान कर दिया है इसीलिये जो किये जाते हैं वे यज्ञादि नहीं छोड़ने चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी - इनमें जो अपना रूप समझ में

आता है उस रूप के लिये जो भी शास्त्र ने विधान किया है वह अनुष्ठेय ही है। राग-द्वेष से प्रवृत्त होकर मनोनुकूल प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

जो कर्मी हैं अथवा कर्म के अधिकारी हैं उनको लेकर के ही ये दोनों विकल्प बन सकते हैं। ये दोनों ही पक्ष तब प्राप्त होंगे जब मनुष्य अपना स्वरूप ब्राह्मण आदि अथवा ब्रह्मचारी आदि निश्चित कर सकता है। अतः उनको लेकर ये दो पक्ष बनते हैं। जिन्होंने यह निश्चय किया है कि 'शरीर आदि मैं हूँ इसलिये आत्मसम्बन्धी कर्म है ही नहीं', उनका व्युत्थान यहाँ कहे दोनों विकल्पों का विषय नहीं बनता। ये दोनों ही पक्ष उनके ही लिये प्राप्त होते हैं जो शास्त्रोक्त कर्म को स्वयं से सम्बद्ध समझते हैं। जो अपने को कर्म का अधिकारी मानता है अर्थात् अनात्मज्ञ है, उसके लिये कर्मत्याग और यज्ञादि-अनुष्ठान का विकल्प कहा जा रहा है। जो आत्मज्ञ हैं उनके लिये तो भगवान् पहले ही कह आये हैं कि वे सारे कर्मों का मन से संन्यास करके न करते हुए और न करवाते हुए रहते हैं (५.१२)। अनात्मज्ञ अर्थात् शरीर से लेकर अहंपर्यन्त सबमें अभिमान वालों के लिये ही शास्त्र ने विधान किया है। जो विवेक करके इस बात को समझ चुका है कि 'यह सब अनात्मा मेरा स्वरूप नहीं है', और अपने वास्तविक रूप अकर्त्ता-अभोक्ता को तत्त्वमस्यादि महावाक्य से समझ चुका है, उसका विद्वत् संन्यास ही है। जिन्होंने विवेक के द्वारा 'अनात्मा नहीं है' - इस बात को समझ लिया, वे भी विविदिषु संन्यास के अधिकारी हो गये, उनकी बात भी यहाँ नहीं कह रहे हैं।।३।।

इन विकल्प-भेदों में भगवान् अब अपना निर्णय कहते हैं :-

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम!
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।४।।

भरतकुल में सर्वाधिक सज्जन अर्जुन! इन विकल्पों में से त्याग के बारे में मेरा निश्चय सुनो : हे वीर! शास्त्रों में भली भाँति कहा है कि त्याग तीन प्रकार का है।

तत्र - पूर्व श्लोक में कहे हुए जो दो पक्ष हैं उनमें; एक, सांख्यों का पक्ष कि कर्म दोष वाले हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये और दूसरा पक्ष, कि यज्ञ, दान, तप - इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये, केवल कर्मफल का त्याग करना चाहिये; इन दोनों पक्षों में त्याग के विषय में मेरे निश्चय को सुनो। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के भेद से त्याग भी तीन प्रकार का है। ये भेद आगे समझायेंगे।।४।।

त्याग और संन्यास शब्द का जो वाच्यार्थ है वह अधिकृत कर्मी अनात्मज्ञ को लेकर बताया जा रहा है, आत्मज्ञ को लेकर नहीं। अधिकृत कर्मी अनात्मज्ञ के बारे में भगवान् त्याग को बताते हैं:-

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञ दान और तप - ये कर्म छोड़ने योग्य नहीं हैं, करने ही चाहिये क्योंकि फलेच्छा छोड़कर करने वालों को यज्ञ दान और तप पवित्र बना देते हैं।

यज्ञ दान और तप कर्म हैं, शास्त्र में इन कर्मों को बताया है, धर्मबुद्धि से शिष्ट लोग इन का आचरण करते हैं। शिष्टों के आचरण में धर्मबुद्धि से किये जाने वाले कर्म भी होते हैं और शरीर आदि के दोष से होने वाले कर्म भी होते हैं। जिनका वे धर्म-बुद्धि से अनुष्ठान करते हैं उनका ही श्रद्धा वाले अनुकरण करें यह उचित है। धर्म समझ कर किये जाने वाले कर्म, यज्ञ, दान और तप ही हैं, इनको छोड़ना नहीं चाहिये वरन् करना ही चाहिये। अर्थात्, जो इन्हें दोष वाला बताकर छोड़ने को कह रहे हैं, वह ठीक नहीं है क्योंकि यज्ञ, दान और तप तो मनीषियों को अर्थात् जो फल को नहीं चाहते, फल परमेश्वर को अर्पण करते हैं, फल की अभिलाषा को छोड़कर जो कर्म करते हैं, उनको शुद्ध बनाते हैं अर्थात् उनके अंतःकरण को शुद्ध करके मोक्ष के मार्ग में ले जाने वाले होते हैं अतः वे दोष वाले नहीं हैं। राग, द्वेष आदि सर्वथा छोड़ने के योग्य हैं क्योंकि वे दोष वाले हैं। राग-द्वेष का विधान भी नहीं है, अतः वे छोड़ने लायक हैं, परन्तु यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का तो शास्त्र में विधान है, इसलिये ये छोड़ने के लायक नहीं हैं। 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' भी इसी दृष्टि से कहा है कि कर्म का फल अनात्म पदार्थ होने से आग से धुआँ पैदा होने की तरह है। कर्म का फल परमात्मा को अर्पण किया जाता है तो किसी अनात्म विषय की प्राप्ति उससे होगी नहीं, अतः फिर वह दोष वाला नहीं है। मनीषी अर्थात् जो फल का अनुसंधान करने वाले नहीं हैं, उनके द्वारा किये जाने वाले ये कर्म उनके अंतःकरण की शुद्धि का कारण होते हैं। जो मनीषी नहीं हैं अर्थात् कर्मफल का त्याग नहीं करते हैं उनके अंतःकरण में तो अनात्म पदार्थों की प्राप्ति से दोष ही बढ़ेगा।।५।।

इसी को स्पष्ट करते हैं :-

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

पार्थ! मेरा निश्चित और निर्दोष मत है कि इन कर्मों को भी आसक्ति और फल छोड़कर ही करना चाहिये।

'मनीषिणाम्' को ही स्पष्ट करते हैं कि उन यज्ञ, दान और तप कर्मों को भी संग और फल दोनों को छोड़कर करना चाहिये। संग अर्थात् आसक्ति; कर्म के प्रति आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये। 'यह कर्म करना शास्त्र में कहा है, इसलिये मैं यह कर्म करता हूँ' यह भाव रखकर कर्म के प्रति आसक्ति नहीं करनी चाहिये अर्थात् 'यह कर्म मुझे करना ही है' ऐसी आसक्ति नहीं करनी चाहिये। साथ ही, कर्म के फल की इच्छा भी नहीं रखनी चाहिये। यहाँ भगवान् ने कर्मफल के त्याग के साथ कर्म में आसक्ति के त्याग को भी कहा। कई बार ऐसा होता है कि किसी कर्म को करते-करते आसक्ति हो जाती है। यदि वह कर्म न करें तो लगता

है कि यह ठीक नहीं हो रहा है। ऐसी कर्म के प्रति आसक्ति भी नहीं रहनी चाहिये। इसको भगवान् ने कहा कि निश्चित मत है अर्थात् निर्णय किया हुआ श्रेष्ठ मत है। आसक्ति और फल की इच्छा से यदि ये कर्म किये जाते हैं तब तो बन्धन के कारण हैं। इसलिये, जो सांख्यवादी कहते हैं कि ये कर्म बन्धन के कारण हैं, वह तब तक ही जब तक उनके प्रति आसक्ति है, उनके फलों की इच्छा है। भगवान् ने जो 'एतानि अपि' में 'अपि' शब्द कहा है उसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ, दान, तप से भिन्न कर्मों को आसक्ति और फलेच्छा से रहित होकर करने से भी वे पवित्र करने वाले नहीं हो जायेंगे। फल और आसक्ति छोड़कर कौन से कर्म हमारे अंतःकरण की शुद्धि करेंगे और मोक्ष के योग्य बनायेंगे? यज्ञ, दान और तप– ये ही कर्म हमारे अंतःकरण की शुद्धि करके मोक्ष के योग्य बनायेंगे। इसलिये भगवान् ने अपि शब्द कह दिया। ये कर्म भी पवित्र करने वाले तभी हैं जब आसक्ति और फल की इच्छा से रहित होकर किये जायें। अतः इनसे भिन्न अपने मन के द्वारा राग-द्वेष से प्रवृत्त होकर किये जाने वाले कर्म पवित्र करेंगे इसका प्रसंग ही नहीं है। यहाँ पुनः सूचित हो गया कि नित्य-नैमित्तिक कर्म भी सफल हैं क्योंकि भगवान् ने फलत्याग का विधान किया, फल हो तभी उसको त्यागने के लिये कहना बनता है।६।।

जो अपने को अनात्मा से एक करके समझने वाले हैं वे शास्त्र-विधि के अधिकारी हैं। शरीर आदि ब्राह्मण हैं, उस शरीरादि को जब मैं अपना स्वरूप समझता हूँ तभी ब्राह्मण आदि के लिये विहित कर्म मुझे प्राप्त होते हैं। ऐसे अनात्मा को आत्मस्वरूप समझने वाले भी जो मोक्ष चाहते हैं, उनके लिये बताते हैं –

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

(क्योंकि मुमुक्षु को चित्त-शुद्धि की ज़रूरत है इसलिये) नित्य कर्म का परित्याग तो संगत नहीं है। अज्ञानवश उसे छोड़ना तामस कहा गया है।

जो अनात्मा को 'मैं' अर्थात् अपना स्वरूप समझता है अतः 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ', आदि अभिमान रखता है, उसके लिये शास्त्र ने जो नियत कर दिया, उस कर्म का संन्यास करना उपपन्न नहीं होता। 'मेरे लिये यह कर्म नियत है' इस प्रकार समझने के बाद फिर उस कर्म का त्याग युक्ति से नहीं बनता। मैं अपने को ब्राह्मण मानूँ भी और फिर ब्राह्मण के कर्म का त्याग भी करूँ, यह उचित नहीं है। 'मोहात्' यह तो मोह से ही हो सकता है। मोह अविवेक है अर्थात् शास्त्र में कही हुई बात को किसी कारण से मैं नहीं समझता, यही मोह का रूप है। मोह होने के कारण ही मनमें यह आता है कि 'शास्त्र में कहा तो है परन्तु किसी देश, काल, परिस्थिति आदि के कारण यह मेरे ऊपर लागू नहीं होता'। अपने लिये प्राप्त कर्म का त्याग तामस है। मोह खुद ही तमोगुणी है इसलिये मोह के कारण अपने लिये शास्त्र के द्वारा नियत कर्म का परित्याग तामस है। इस प्रकार से भगवान् ने तामस त्याग को बता दिया।।७।।

अब राजस त्याग को बताते हैं :-

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वां राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

'कर्म दुःखरूप है' इतना मात्र समझकर शरीर को होने वाली परेशानी के डर से जो कर्म छोड़ेगा वह राजस त्याग होगा जिसे करके वह त्याग का फल नहीं पा सकेगा।

शास्त्र में कहा है कि ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान करो। परन्तु इस सर्दी में जब हाथ-पैर ठिठुर जाते हैं, उठने में अत्यंत क्लेश होता है, तब इस भय से कि स्नान करने में कष्ट होगा, व्यक्ति दलील देता है कि शुद्धि तो मार्जन से ही हो जाती है! कहते ही हैं 'यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः' पुण्डरीकाक्ष के स्मरण से शुद्धि हो जाती है फिर स्नान से कायक्लेश क्यों करना! इस तरह, शरीर के दुःख के भय से कर्त्तव्य कर्म को छोड़ता है। इसे मोह तो नहीं है, परन्तु शरीर का दुःख इसे सहन नहीं होता, उससे इसे भय है। आनन्दगिरि स्वामी ने 'यत् कर्म त्यजेत् तत् त्यक्त्वा त्यागं कृत्वा' ऐसा अध्याहार से अन्वय माना है। मधुसूदन स्वामी ने 'त्यजेद् इति यत् स त्यागः' यों क्रियाविशेषण माना है। नीलकण्ठ का अभिप्राय तत् को 'तस्मात् हेतोः' के अर्थ में मानने का है। ब्रह्मानन्दगिरिव्याख्या में 'यः इत्यर्थे यद् इति सामान्यं नपुंसकम्' कहकर श्लोकस्थ 'सः' से इस 'यत्' को जोड़ा है। ये सब अन्वय के विकल्प हैं, अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। 'यह कर्म दुःख ही है' इसलिये छोड़ा गया होने से यह राजस त्याग है। भगवान् ने यहाँ कायक्लेशभय कहा है; इससे केवल स्थूल शरीर का भय नहीं लेना। जितने सुधारवादी कर्म में सुधार की बात कहते हैं वे सब इह लोक के दुःखों को बताकर बदलने के लिये कहते हैं। 'यह करने से धन की प्राप्ति कम होगी' आदि बातें इस 'कायक्लेशभय' के पेट में विद्यमान हैं। जिसको तुम अपना शरीर समझते हो, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म, दोनों को ही 'काय' से ग्रहण कर लेना चाहिये। ज्ञानपूर्वक जो त्याग होता है वही त्याग फल देता है। 'मैं कर्त्ता भोक्ता नहीं हूँ' इस ज्ञान के कारण जो उत्तम त्याग है, उसका फल मोक्ष में अन्वित हो जायेगा। विविदिषु का त्याग यह मानकर है कि 'मैं ब्राह्मण आदि हूँ यह *सिद्ध* नहीं होता'। उसका भाव है कि 'मैं यदि ब्राह्मण हूँ तो ज़रूर करूँ, परन्तु ब्राह्मण आदि शरीर का धर्म है, शरीर को जानने वाला मैं शरीर से भिन्न हूँ'। इस प्रकार आत्मानात्म-विवेक करके 'मैं अनात्म पदार्थ नहीं हूँ' यह समझने के बाद वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन में ही प्रवृत्ति करता है। अतः उसके लिये यज्ञादि में प्रवृत्ति बनती नहीं। निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन में ही उसका लगना उचित है। जो शरीर के निर्वाह मात्र के कर्म हैं, उनके लिये भगवान् ने पहले ही कह दिया 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं,' उतना मात्र ही विविदिषु से होता है, और किसी कर्म में प्रवृत्ति बनती नहीं। उतने मात्र से अतिरिक्त प्रवृत्ति रहते हुए यदि कोई यज्ञादि को छोड़ता है तो फिर वह राजस त्याग ही हो जाता है। जो कर्म का त्याग श्रवण, मनन में लगाकर तत्त्वमसि आदि वाक्यों से

अपरोक्ष ज्ञान के लिये हो वह सफल है। ऐसे ही, अपरोक्ष ज्ञान होने पर जो त्याग अपना जो अकर्तृ-अभोक्तृ स्वरूप है, उसमें स्थिरता के लिये हो, वह भी सफल है। परन्तु यह जो कायक्लेश के भय से छोड़ना है, अर्थात् देहद्वय को दुःख होगा यह सोचकर छोड़ना है, वह त्याग फल नहीं देता अर्थात् परमात्मा की तरफ नहीं ले जाता। इस प्रकार स्पष्ट किया कि तामस त्याग मोह या अविवेक या अज्ञान से होता है और राजस त्याग दुःख के भय से होता है।।८।।

अब सात्त्विक त्याग को बताते हैं। जिसमें कर्म का त्याग नहीं, कर्म के फल और आसक्ति का त्याग है, उसी को भगवान् यहाँ सात्त्विक त्याग कह रहे हैं। उसी को भगवान् पहले खुद भी 'एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च' के द्वारा कह आये हैं। भगवान् ने जिसे अपने निश्चित मत के रूप में बताया था, वही सात्त्विक त्याग है –

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।६।।

अर्जुन! 'कर्तव्य है' यही स्वीकारकर आसक्ति व फल छोड़कर जो नित्य कर्म किया जाता है वह सात्त्विक त्याग माना गया है।

नियत कर्म अर्थात् नित्यनैमित्तिक कर्म, जिन्हें बिना किसी फल के लिये कहे हुए शास्त्र ने करने का विधान किया है। कुछ कर्मों का विधान करते हुए उनके फल को बताया है जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग की कामना हो तो ज्योतिष्टोम याग करे। जो फल का त्याग करते हैं उनके लिये उन कर्मों को करने की सम्भावना ही नहीं रहती। कुछ कर्मों के लिये शास्त्र ने इस प्रकार कामना को निमित्त नहीं बनाया है, जैसे कहा 'यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्' जन्मभर अग्निहोत्र करे। इसी प्रकार संध्यावन्दन आदि कर्म कामना हो तब करे ऐसा नहीं कहा। इसलिये वे जिसके लिये कहे गये हैं उसके लिये नियत हैं, निश्चित हैं, नित्य प्राप्त हैं। नित्य कर्मों के साथ नैमित्तिक कर्म भी समझ लेने चाहिये क्योंकि उन्हें भी फल के लिये विहित नहीं किया है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का चूँकि शास्त्र ने विधान किया है, भगवान् ने बताया है, इसलिये वे करने हैं। परमेश्वर की आज्ञा पालन करने के लिये उन्हें करना है। 'कार्यमित्येव' अर्थात् 'ये हमें प्राप्त हैं इसलिये करने ही हैं' यह जिनके बारे में निश्चय है वे नियत कर्म ही होंगे, उन्हें ठीक प्रकार से सम्पन्न करना है।

साथ ही 'संगं फलं च त्यक्त्वा' संग और फल दोनों को छोड़ना है। इससे पुनः पता चलता है कि भगवान् का यह तात्पर्य है कि नित्य कर्मों का भी फल है ही। कुछ लोग मानते हैं कि नित्य कर्म का कुछ फल नहीं है। किन्तु वह पक्ष भगवान् को स्वीकृत नहीं है। वे लोग कहते हैं कि नित्य कर्मों को करने का फल नहीं है परन्तु नहीं करने का फल प्रत्यवाय तो है ही! अतः प्रकारान्तर से वे भी मानते हैं कि प्रत्यवाय का न होना उस कर्म का फल है। जैसे तुम भोजन को ढककर रख देते हो तो उस पर मक्खी नहीं बैठती। इसलिये उसे ढाँकने

का यह फल तो है ही कि मक्खी से भोजन बच गया। इसी प्रकार नित्य कर्म करने से प्रत्यवाय का दोष नहीं लगा - यह तो उसे करने का फल उन्हें भी स्वीकृत है ही। वैसे, कर्म नहीं करने से फल उत्पन्न हो, यह सिद्धान्त असत् से सत् की उत्पत्ति का पक्ष हो जाता है जो केवल बौद्धों को स्वीकृत है। वैदिकों में कोई भी असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मानता। अतः कर्म नहीं करने से प्रत्यवाय होता है– यह पक्ष असत्-कारणवाद का पक्ष होने के कारण वैदिकों को स्वीकृत नहीं हो सकता। और भी एक कारण है; वेद किसी कर्म का विधान बिना फल के करे तो वह वेदवचन व्यर्थ हो जायेगा। वेद जिसका विधान करता है उसका हमेशा अच्छा फल ही होता है। जब वेद ने नित्यकर्म का विधान किया है तो उसका अच्छा फल ही होगा। सभी कर्मों का एक फल तो है ही कि क्योंकि सभी कर्म परमात्मा की आज्ञा हैं, इसलिये परमात्मा की आज्ञा मानने से परमात्मा की प्रसन्नता पैदा होगी। किसी कामना से कर्म किया गया है तो परमात्मा प्रसन्न होकर उस कामना को पूरा कर देंगे। परन्तु किसी कामना को सामने रखकर जो कर्म नहीं किया है उससे परमात्मा की प्रसन्नता होगी। उस प्रसन्नता से तुम्हारा अत्यंत कल्याण परमात्मा कर देंगे। जीवके अत्यन्त कल्याण की चीज़ है उसका चित्त शुद्ध होकर ज्ञान की प्राप्ति हो, अथवा ज्ञान प्राप्त है तो ज्ञाननिष्ठा हो। यही जीव के अत्यंत कल्याण की चीज़ है क्योंकि संसार बन्धन से छूटने के लिये ये दोनों चीज़ें ज़रूरी हैं। श्रवण-मनन के लिये पहले तो चित्त-शुद्धि अपेक्षित होती है। अशुद्ध चित्त के द्वारा श्रवण-मनन सम्पन्न नहीं हो सकता। जैसे जिस व्यक्ति की आँख में दोष है वह जौहरी हो नहीं सकता क्योंकि बिना आँख के ठीक हुए वह परीक्षा ही नहीं कर सकता। जिसके कान में दोष है वह कभी संगीत का ज्ञाता बन नहीं सकता क्योंकि कान का दोष उसे स्वर को समझने में असमर्थ कर देता है। इसी प्रकार से जिसके मन में दोष है वह परमात्मविषयक बात का श्रवण-मनन कर ही नहीं सकता। अतः श्रवण-मनन के लिये चित्त-शुद्धि अपेक्षित है। परमात्मा प्रसन्न होकर, किसी कामना को तुमने सामने नहीं रखा है तो तुम्हारे चित्त को शुद्ध करेंगे जिससे श्रवण-मनन सिद्ध होगा। जिसने श्रवण-मनन किया भी है, उसमें तत्त्व पर निष्ठा होना भी परमेश्वर की कृपा पर ही निर्भर करता है। अतः जिस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके द्वारा किये हुए नियत कर्म तो उसकी निष्ठा को सम्पन्न कर देंगे और जिसे ज्ञान नहीं हुआ है उसके लिये श्रवण-मनन सम्भव कर देंगे। इसीलिये श्रुति ने उनके फल का विधान नहीं किया। श्रुति का वही वचन प्रामाणिक होता है जो सफल होता है, फल को उत्पन्न करने वाला होता है। ज्ञान को भी इसीलिये प्रामाणिक माना जाता है कि अज्ञाननिवृत्ति रूप फल पैदा कर देता है। अज्ञान निवृत्त होने पर चूँकि स्वरूपभूत परमात्मा में स्थिति हो जाती है इसलिये ऐसा कह दिया जाता है कि उससे परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह वैसा ही है जैसे पीठी करके स्नान करने से शरीर का मल निवृत्त हो जाता है, परन्तु फिर भी ऐसा कहा जाता है कि उससे शरीर सुन्दर हो जाता है। शरीर तो जैसा है वैसा ही है! केवल मल के कारण उसमें जो कमी आई थी वह हट जाती

है। वस्तुतः तो अज्ञान निवृत्त ही होता है परन्तु कहा यह जाता है कि इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष तो तुम्हारा स्वरूप है, उसकी प्राप्ति हो नहीं सकती। परन्तु मुक्त होने पर भी अज्ञान के कारण अपनी उस मुक्ति का अनुभव नहीं करते इसलिये उसका लाभ नहीं उठा पा रहे हो। अज्ञान निवृत्त होने पर उस परम आनन्द में स्थित हो जाते हो।

इस प्रकार सात्त्विक त्याग में कर्तव्य कर्म करना ही है। क्या नहीं करना है? आसक्ति और फल की कामना नहीं करनी है। संग और फलेच्छा का त्याग करना है, संग और फल को छोड़ कर्तव्य कर्म ही करना है, फल परमात्मा को समर्पित कर देना है। इससे आत्मसंस्कार होता है - यह फल भी अज्ञान के द्वारा कल्पित है। जैसा पहले बताया, कि पाप का आत्मा के साथ तो कभी भी स्पर्श हो ही नहीं सकता! परन्तु अंतःकरण के दोष से अज्ञान के कारण आत्मा उस दोष वाला लगता है, उसकी यों निवृत्ति हो जाती है। जैसे फलत्याग वैसे ही संगत्याग भी ज़रूरी है। कर्म के प्रति आसक्ति भी होती है। किसी कर्म को लम्बे समय तक करने पर उस कर्म में आसक्ति हो जाती है। अतः किसी कारण से उसकी कार्यता प्राप्त न होने पर भी उसे छोड़ने का दिल नहीं करता। जैसे अगर हम कोई पाठ करते रहे हैं, किसी कारण से वह पाठ करना हमारे लिये ज़रूरी नहीं रह गया तो भी नहीं करने से मन में एक खटक होती रहती है कि 'कर ही लेते तो अच्छा था, छोड़ें कैसे'। यह जो कर्म के प्रति आसक्ति है वह भी नहीं होनी चाहिये। 'कार्यमित्येव यत्कर्म' जो हमें परमात्मा की आज्ञा से प्राप्त कर्म है वही करना है। नित्य नैमित्तिक कर्म में संग और फल को छोड़कर उसका अनुष्ठान सात्त्विक त्याग है। कर्म का त्याग तो राजस और तामस त्याग है जबकि कर्म करते हुए फल और आसक्ति का त्याग सात्त्विक त्याग है।

यहाँ भगवान् भाष्यकार ने एक शंका उठाई है कि अर्जुन का प्रश्न कर्म-त्याग-विषयक था तो कर्म-त्याग तीन प्रकार का बताना चाहिये था। राजस और तामस दो में तो भगवान् ने कर्मत्याग की बात कही, पर तीसरा कर्म का त्याग नहीं बताया वरन् कर्म को तो करने को ही कहा, संग और फल का त्याग बता दिया। यह वैसे ही हुआ जैसे कोई कहे कि 'तीन ब्राह्मण आ गये, उनमें दो तो बड़े भारी वैदिक हैं, एक क्षत्रिय है'। शुरू में जब कहा कि तीन ब्राह्मण आये हैं, तब तीनों को ब्राह्मण होना चाहिये। इसी प्रकार भगवान् का कहना हो गया कि कर्मत्याग तीन तरह का है, उनमें दो तो कर्मत्याग हैं और एक फलत्याग है! आचार्य ने समाधान दिया है कि भगवान् का तात्पर्य है कि प्रश्न त्याग-विषयक है; 'किसका त्याग' - यह गौण है, यह मानकर भगवान् ने जवाब दिया। अतः कर्मत्याग को राजस और तामस कहा तथा फलेच्छा-त्याग को सात्त्विक कहा। इसलिये भगवान् ने तीन प्रकार के *त्याग* की बात कही, तीन प्रकार के *कर्मत्याग* की बात नहीं कही।।९।।

जो इस प्रकार से नियत कर्म करता है, फल और आसक्ति से होने वाला कलंक भी उसके अंतःकरण पर नहीं चढ़ता और परमात्मा की आज्ञा के पालन से अंतःकरण का संस्कार हो जाता है। ऐसा संस्कृत अंतःकरण श्रवण-मनन के योग्य हो जाता है। ऐसे नित्य

कर्मों का अनुष्ठान करने वाले का भगवान् वर्णन करते हैं -

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

संग व फल का त्यागी जब विवेकयोग्य अन्तःकरण वाला होकर आत्मज्ञानरूप प्रज्ञा पा जाता है और उसके सभी संशय मिट जाते हैं तब वह न अशोभन कर्म से द्वेष करता है, न शोभन कर्म में आसक्ति करता है।

अर्जुन के लिये यह कठिन समस्या है कि दादाजी, गुरुजी को मारना है, ऐसा अत्यंत अशोभन कर्म करना है। लोक में यह अत्यंत अशोभन कर्म ही माना जायेगा। इसीलिये अर्जुन इस युद्ध को छोड़ना चाहता है। अतः भगवान् समझा रहे हैं कि शास्त्र क्षत्रिय के लिये आज्ञा देता है कि धर्म युद्ध करे ही। अतः अकुशल कर्म अर्थात् जो शोभन कर्म नहीं है, जो अच्छा नहीं लगता, उसके प्रति भी जो द्वेष नहीं करता है वही नित्य कर्म कर पाता है। बहुत से कर्म ऐसे होते हैं जो सामान्य लोक-दृष्टि से अच्छे नहीं माने जाते परन्तु जिनका विधान किया गया है। जैसे लोक में भीख माँगना अत्यन्त अशोभन कर्म माना जाता है। फिर भी ब्रह्मचारी और संन्यासी के लिये भिक्षा का ही विधान है। जो अकुशल कर्म से द्वेष करता है वह कहता है कि 'हम भीख नहीं माँगेंगे लेकिन हम संन्यासी बनना चाहते हैं'! संन्यासी और ब्रह्मचारी के लिये भिक्षा ही एकमात्र अनुमत साधन है। भीख चूँकि लोक में अकुशल या अशोभन कर्म माना जाता है इसलिये उसके प्रति लोगों को द्वेष रहता है। अनेक कर्म ऐसे हैं जो लोक-दृष्टि से अशोभन हैं, लोकदृष्टि से वे अच्छे नहीं माने जाते, परन्तु परमेश्वर ने उनका विधान किया है, उन्हें करने की आज्ञा दी है, इसलिये 'उन्हें मैं न करूँ' ऐसी भावना सात्त्विक में नहीं होती। और 'कुशले नानुषज्जते'; बहुत से कर्म ऐसे होते हैं जो शोभन हैं इतने मात्र से उनके प्रति आसक्ति हो जाती है। जैसे अर्जुन ने कहा था 'मैं भिक्षा लेकर रहने में और इस प्रकार के युद्ध को न करने में अपना कल्याण समझता हूँ', इसी प्रकार उसको लगा कि 'मैं युद्ध को छोड़कर एकान्त में बैठकर भजन करूँ।' यह कुशल कर्म है, सारी दुनिया में प्रशंसनीय है। लोग कहेंगे, 'अर्जुन सारा झगड़ा छोड़कर भजन में लगने को कह रहा था, तो अच्छा ही कर रहा था' लेकिन उसके प्रति अर्जुन को आसक्ति थी। कुशल कर्म के प्रति आसक्ति और अकुशल कर्म के प्रति द्वेष - दोनों को अर्जुन में भगवान् ने दिखाया है। कुशल के प्रति भी जिसकी कोई सक्ति नहीं है वही व्यक्ति संग और फल का परित्याग करने के कारण त्यागी है। संग और फल का त्याग करने वाला व्यक्ति, उसके लिये जो कर्म निश्चित किया गया उसी नित्य नैमित्तिक कर्म को करता है। न अकुशल के प्रति द्वेष और न कुशल के प्रति आसक्ति करता है।

ऐसा कब करता है? 'सत्त्वसमाविष्टः' जब उसके अंतःकरण में सत्त्वगुण होता है। जब पूर्व जन्मों के पुण्यपरिपाक से अंतःकरण में सत्त्व गुण का उद्रेक होता है तब इस प्रकार

का त्याग होता है। ऐसा जो त्यागी होगा वह मेधावी होगा अर्थात् ठीक प्रकार से उपनिषदों का श्रवण करेगा। जो सत्त्व-समाविष्ट नहीं होता वह श्रवण नहीं कर पाता। मेधा का अर्थ होता है ग्रन्थार्थ धारण की सामर्थ्य होना। ग्रन्थ को पढ़कर उसे ठीक प्रकार से याद रखने की सामर्थ्य होनी चाहिये। इसलिये वह व्यक्ति श्रवण कर ही नहीं सकता जो आगे-आगे पढ़ता जाये और पीछे-पीछे का भूलता जाये! वेदान्तादि शास्त्रों को समझने के लिये क्रम होता है। अगर पहले की बात याद नहीं रखी तो आगे की बात ठीक से समझ नहीं सकते। जैसे गणित पढ़ाते समय पहले तुम्हें जो जोड़, बाकी, गुणा, भाग पढ़ाते हैं, फिर यह मानकर चलते हैं कि वह सब तुम्हें याद है। जोड़-गुणा आदि भूल गये तो आगे के सूत्रादि नहीं समझ सकते। इसी प्रकार वेदान्त को समझने के लिये शुरू की प्रक्रियायें पहले समझाते हैं। उन्हें याद रखकर आगे समझना है। अगर पहले वाली प्रक्रियायें भूल गये तो आगे आने वाली बात सारी गड़बड़ा जायेगी और छिन्न-संशय नहीं हो पाओगे। जब सत्त्वगुण होता है तब अपने मन में आये हुए संशय को तुम ऊहापोह के द्वारा हटाते हो। अंतःकरण यदि सात्त्विक नहीं होता तो संशय कटते नहीं, बने रहते हैं। आत्मस्वरूप में स्थित रहना ही श्रेयस का साधन है। इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। अंतःकरण की शुद्धि न होने के कारण ही संशय छिन्न होते नहीं, श्रवणादि से अन्य साधनों के प्रति आकर्षण हो जाता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जिस अधिकारी पुरुष का अन्तःकरण आसक्ति और फल को छोड़कर कर्मयोग का अनुष्ठान करके ठीक प्रकार के संस्कारों वाला हो जाता है, वह जन्म आदि विकारों से रहित होकर अपने निष्क्रिय आत्मस्वरूप को भली प्रकार से समझ लेता है। ऐसे के ही बारे में भगवान् पहले कह आये हैं 'नैव कुर्वन्न कारयन्' अपने आत्मस्वरूप में स्थित होने के बाद वह न कुछ करता है और न करवाता है क्योंकि उसे पता लग जाता है कि यह सब कुछ हो ही नहीं सकता। मेधावी और छिन्नसंशय कहकर भगवान् ने कर्मयोग का प्रयोजन बता दिया। उस प्रकार का जो अधिकारी है वह कर्मबन्धन से छूट जाता है।।१०।।

जो इस प्रकार से छूटे बिना अपने को शरीर-मन मानते हुए कर्म छोड़ना चाहता है वह धोखे में रह जाता है। जिसने अपने स्वरूप को जान लिया, उसके लिये आत्मा से कुछ करवाना हो ही नहीं सकता क्योंकि वह स्वरूप में स्थित हो गया। जो अपने शरीर-मन को अपना स्वरूप समझते हुए कर्मत्याग करना चाहता है उसके लिये भगवान् कहते हैं –

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

देहात्माभिमानी द्वारा कर्म पूर्णतः छोड़े नहीं जा सकते अतः जो कर्मफलों को छोड़ता है वह त्यागी कहलाता है।

देहभृत् अर्थात् देह को जो अपना आत्मस्वरूप समझता है, देह से तादात्म्य रखने वाला

है। सचमुच में तो आत्मा कभी भी देह वाला नहीं होता, अज्ञान से ऐसा अभिमान है। इस अभिमान से लगता है कि देह से जो कर्म होते हैं वे मैंने किये और जो देह से कर्म नहीं होते वे मैंने नहीं किये। इस देह से जो कर्म होता है उसे देहभृत् मानता है 'मैं करता हूँ' और जो इस देह से नहीं होता उसे मानता है 'मैं नहीं करता'। जो इस प्रकार से देहभृत् या अज्ञानी है, उसने आत्मा में कर्तृत्व का बाध नहीं किया है। बाध होने से जैसे कर्म छूटता है वैसे बिना बाध हुए नहीं छूट सकता। क्योंकि अज्ञानी की निश्चित बुद्धि है कि 'शरीर मन से जो हो रहा है वह मैंने किया' इसलिये वह अशेष कर्म का त्याग कर ही नहीं सकता। जहाँ ज्ञानी का प्रसंग आता है वहाँ भाष्यकार सर्वकर्मसंन्यास कहते हैं, कुछ कर्मों का संन्यास नहीं कहते। ऐसा सर्वकर्मसंन्यास अकर्तृत्त्व बोध के बाद ही हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि देहभृत् के लिये अशेष कर्मों का त्याग नहीं बनता, सारे कर्मों का त्याग उसके लिये सम्भव नहीं। भगवान् पहले कह आये हैं कि जो व्यक्ति बाहर से कर्मों को न करके मन से कर्तृत्त्व बुद्धि रखे हुए है वह मिथ्याचारी है। 'शरीर से कोई काम नहीं होने देना' - इस प्रकार का *कर्म* करते हुए जो कहता है कि 'मैंने कर्म छोड़ दिया', वह मिथ्याचारी है। शरीर तो इसलिये नहीं कर रहा है कि तुम उसे रोक कर बैठे हो! इसलिये कर्मत्याग नहीं हुआ। बाह्य कर्म को छोड़ दिया लेकिन रोकने वाला कर्म तो कर ही रहे हो। यहाँ यह अर्थ नहीं है कि जब तक जीवन है तब तक कर्मत्याग नहीं हो सकता; क्योंकि जैसे जीवन में नहीं हो सकता वैसे ही मरने के बाद भी नहीं हो सकता! कर्मत्याग आत्मा में अकर्तृत्त्व के बोध से ही होता है। मरने आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

देही रहते हुए तुम सर्वकर्म-संन्यास नहीं कर सकते तो फिर तुमसे क्या हो सकता है? 'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।' जो अज्ञानी है और परमात्मा की तरफ जाना चाहता है उसके लिये तो यही उपाय है कि कर्मफल का त्याग करे। इसलिये कर्मफल का अभिसंधान न रखने वाले को सात्त्विक त्यागी कहा जाता है। कर्म का त्याग तो ज्ञान के बाद होगा, उसके पहले जिसे त्यागी कहा जाता है वह कर्मफलत्यागी ही है।।११।।

त्याग और संन्यास विषयक अर्जुन ने प्रश्न किया था, उसके जवाब में भगवान् ने कहा कि जब तक देहाभिमान है तब तक कर्मों का त्याग नहीं हो सकता, परन्तु कर्मफल का त्याग हो सकता है अतः कर्मफल का त्याग करने वाला ही सात्त्विक त्यागी कहा जाता है। यह सुनने पर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि एक तो कर्मफल-त्यागी होते हुए कर्म करने वाला है और दूसरा है कर्मत्याग करने वाला। जो कर्मत्याग करेगा वह कर्मफल का त्याग तो करेगा ही। अतः प्रश्न है कि यदि दोनों एक जैसे हैं तो कर्मत्याग की क्या विशेषता हो सकती है? सर्वकर्मत्याग फिर क्यों आवश्यक है? इसका जवाब भगवान् देते हैं -

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।।१२।।

अत्यागियों को मरकर अनिष्ट, इष्ट और मिश्र– तीन तरह का कर्मों का फल मिलता है। संन्यासियों को तो कभी कोई कर्मफल नहीं मिलता।

भगवान् कहते हैं कि यद्यपि सात्त्विक त्यागी ने कर्म का फल परमेश्वर को अर्पित कर दिया है तथापि कर्म होगा तो फल तो देगा ही। लोक में भी यही बात हैः हमने भोजन का त्याग किया तब तो पेट नहीं भरेगा। लेकिन भोजन बनने के फल का त्याग किया तो पेट खाली नहीं रह जायेगा! पति प्रसन्न हो इस प्रयोजन से यदि पत्नी भोजन करती है तो प्रसन्नतारूप फल पति को ही मिलने पर भी पत्नी का पेट तो भरता ही है। इसी प्रकार हमने कर्म किया और फल ईश्वरार्पण कर दिया इसलिये कामना की पूर्ति तो वह कर्म नहीं करेगा, केवल परमेश्वर की प्रसन्नता को लायेगा। परमेश्वर की प्रसन्नता का प्रभाव चित्तशुद्धि है। परमेश्वर यही चाहते हैं कि सब लोगों के अन्तःकरण शुद्ध होकर सभी परमात्ममार्ग में लगें। यदि सात्त्विक त्याग करते हुए यहीं तुम्हारी चित्तशुद्धि हो गई तब तो वैराग्य हो कर, श्रवण–मनन में लग कर तुम अकर्तृ–आत्मबोध को पाकर मुख्य संन्यासी बन जाओगे। परन्तु यदि किसी कारण से अंतःकरण की शुद्धि के पहले ही मर गये तो फिर उन कर्मों का फल होगा ही। इसलिये 'प्रेत्य अत्यागिनां' कहा। जिन लोगों ने कर्मफल का त्याग नहीं किया है अर्थात् जो अज्ञानी हैं, कर्म करते हैं, उनको अनिष्ट, इष्ट और मिश्र इन तीन प्रकार का कर्मों का फल मिलता है। अनिष्ट फल– नरक की प्राप्ति। जो पाप कर्म की अधिकता वाले होंगे उनको नरक की प्राप्ति होगी अथवा पशु, पक्षी आदि शरीरों की प्राप्ति होगी। नरक भी इष्ट नहीं और पशु, पक्षी की योनि भी इष्ट नहीं, इसलिये अनिष्ट फल है। इष्ट फल - स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति। जहाँ सब प्रकार के सुख उपलब्ध होते हैं, वे सब इष्ट हैं। जिन्होंने केवल शास्त्र में बताये हुए कर्म किये हैं, उन्हें तो इष्ट लोकों की प्राप्ति होगी। जिन लोगों ने निषिद्ध कर्मों का आचरण किया है उन्हें अनिष्ट लोकों की प्राप्ति होगी। अधिकतर लोग कुछ शास्त्र–विहित और कुछ शास्त्र–निषिद्ध कर्म करते हैं। सवेरे उठकर गंगा स्नान और विश्वनाथ का दर्शन करते हैं। फिर दिनभर दुकान में बैठकर नकली माल असली कहकर बेचते हैं। उनके लिये मिश्र फल होगा। उन्होंने जो शुभ कर्म किये हैं उनका फल भी भोगेंगे और जो अशुभ कर्म किये हैं उनका फल भी भोगेंगे। इसके द्वारा भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि हर एक कर्म का अलग–अलग फल भोगना पड़ता है। इष्ट और अनिष्ट से संयुक्त मनुष्य योनि है। यहाँ हम लोगों को सुख भी मिलता है और दुःख भी मिलता है। इस प्रकार से कर्म का तीन प्रकार का फल मिलता है।

ये सारे फल कैसे होंगे? फल शब्द का अर्थ है 'फल्गुतया लयम् अदर्शनं गच्छति इति फलम्'। जो व्यर्थ चीज़ होती है उसे फल्गु कहते हैं। इसलिये जिस नदी में पानी नहीं–जैसा होता है, खोदने पर थोड़ा–सा पानी निकलता है, उस नदी को भी फल्गु नदी कहते हैं। बिहार आदि प्रान्तों में ऐसी नदियाँ हैं। संसार के जितने काम्य पदार्थ हैं वे सब फल्गु ही हैं। जैसे वहाँ नदी दीखती तो है पर सूखी है, फल्गु है, इसी प्रकार इष्ट पदार्थ की प्राप्ति होती है

और फिर वह समाप्त हो जाता है। हमने जितने कर्म किये हैं उस हिसाब से उतने काल तक फल स्थिर रहेंगे और जैसे ही पुण्य का प्रभाव पूरा हुआ वैसे ही वह फल लीन हो जायेगा, उसका अदर्शन हो जायेगा। इसी प्रकार अनिष्ट नरकादि भी कुछ समय तक दुःख देते हैं और फिर ख़त्म हो जाते हैं। मिश्र कर्मों का फल तो देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है। नरक का दुःख और स्वर्ग का सुख फिर कुछ स्थायी है, परन्तु हम लोगों को उपलब्ध फल अति अस्थिर है, यहीं दीखता है कि एक चीज़ पहले सुख देती है और फिर चली जाती है। कर्म चूँकि अविद्या से ही होता है इसलिये माया की तरह या इन्द्रजाल की तरह देखते-देखते समाप्त हो जाता है। ऐन्द्रजालिक झट से खेल समेट लेता है। थोड़ा दीखता और लीन होता रहता है फिर भी मोह होता रहता है! लगता है कि बस अब की बार तो सुख हमारे हाथ में आ गया! पहले बेटा नहीं था, पुत्रप्राप्ति के लिये हमने व्रत आदि किया, पुत्र उत्पन्न हो गया। लेकिन यह भूल जाते हैं कि पुत्र का पहले अभाव था, अब आया है और आगे फिर अभाव हो जायेगा। सोचते हैं कि पुत्र बना ही रहेगा। अकस्मात् कहीं दुर्घटना होती है और वह मर जाता है, तब दुःखी होते हैं। इस प्रकार से अनिष्ट, इष्ट और मिश्र तीनों ही फल्गु होने से फल कहे जाते हैं।

जो त्यागी नहीं है, कर्म कर रहा है और फल का त्याग भी नहीं करता अर्थात् कर्मफल परमात्मा को अर्पण नहीं करता, उसे फल प्राप्त होता ही है। जो सात्त्विक त्यागी हैं उनके अंतःकरण की शुद्धि होती है क्योंकि उन्होंने कर्मफल परमेश्वर को अर्पित किया। उनके लिये निषिद्ध कर्म करने की सम्भावना ही नहीं है क्योंकि हमेशा फलेच्छा से ही ग़लत काम किया जाता है। जैसे झूठ किसी मतलब से बोलते हो। हमेशा किसी फल की इच्छा से ही मनुष्य निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त होता है। शास्त्र की आज्ञा कभी भी प्रतिषिद्ध कर्म के लिये नहीं होती। शास्त्र तो तुमको हमेशा कल्याण का मार्ग ही बताता है। अतः जो कर्मफल-त्यागी है उसको अनिष्ट फल तो हो ही नहीं सकता क्योंकि अनिष्ट देने वाले प्रतिषिद्ध कर्म को तो उसने किया ही नहीं। इष्ट फल उसने परमात्मा को दे दिया जिसके द्वारा अंतःकरण की शुद्धि के कारण उसे मनुष्य शरीर ही मिलता है। इसलिये छठे अध्याय में भगवान् ने स्पष्ट किया था कि यदि इस प्रकार की साधना करने वाले को सिद्धि नहीं मिलती तो फिर वह योगियों के घर में उत्पन्न होकर पुनः इस मार्ग को बचपन से ही लेकर परमात्म-प्राप्ति कर लेता है। चूँकि शास्त्र में केवल मनुष्य को अधिकार है, न देवताओं को और न नरक में जाने वालों को अधिकार है, न पशु-पक्षी आदि को अधिकार है, अतः ऐसे साधक को मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है। अत्यागी को अनिष्ट, इष्ट और मिश्रफल होता है। त्यागी को अनिष्ट और इष्ट प्राप्त होता नहीं, फिर भी मिश्ररूप जो मनुष्य योनि है, उसकी प्राप्ति होती है।

'संन्यासिनां' अर्थात् जिन्होंने इस बात को समझ लिया है कि आत्मा शरीर आदि से किसी सम्बन्ध वाला नहीं है, इसलिये उन्हें अकर्तृ-आत्मबोध हो गया है, 'मैं अकर्त्ता हूँ' इस तत्त्व की निष्ठा प्राप्त कर ली, ऐसे जो संन्यासी हैं, उनको मरकर फिर न अनिष्ट योनि में,

न इष्ट योनि में और न मिश्र मनुष्य योनि में आना है क्योंकि संसार का बीज अविद्या समाप्त हो चुकी है। परमार्थ दृष्टि से जो अपने को अकर्त्तारूप से जानता है उसका ही सर्वकर्मसंन्यास है। जब तक आत्मा को अकर्त्ता रूप से अनुभव नहीं कर लिया तब तक अपने को शरीर से सम्बंध वाला जानता है अतः तब तक सारे कर्म नहीं छूट सकते। अकर्तृ–आत्मबोध होने पर शरीर से सम्बन्ध नहीं रह जाता, अतः कर्म से सम्बन्ध रह नहीं जाता, क्योंकि अविद्या निवृत्त हो चुकती है। ऐसे जो सर्वकर्म–त्यागी हैं उनको फिर शरीर की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार, केवल परमार्थदर्शी को ही अशेष कर्म का संन्यास प्राप्त होता है। जब तक यह अकर्तृ–आत्मबोध नहीं होता तब तक विविदिषा उत्पन्न होने पर जो संन्यास ग्रहण करता है उसमें श्रवण करने का विधान है, प्रणव–जप का विधान है, आदि अनेक विधियाँ प्राप्त हो जाती हैं। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' आदि विधियाँ उसके लिये ही हैं। इसलिये सर्वकर्म त्याग नहीं है। वह त्याग तो अकर्तृ–आत्मबोध होने पर ही सम्भव है।।१२।।

अब प्रश्न होता है कि आखिर यदि कर्म करने वाला जीव नहीं है, वह अविद्या के अध्यारोप से अपने को कर्त्ता मान रहा है, तो फिर ये सब कर्म हो कहाँ रहे हैं? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं –

प चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

हे महाबाहो! कर्मों की समाप्ति कराने वाले वेदान्त में सब कर्मों को संपन्न करने वाले ये पाँच कारण कहे गये हैं, इन्हें मुझसे समझो।

भगवान् अर्जुन को महाबाहु नाम से सम्बोधन करते हैं। अत्यन्त सामर्थ्य वाला ही महाबाहु कहा जाता है। भगवान् अर्जुन को कहते हैं – 'तू महाबाहु है, इसलिये जिस चीज़ को हम कहने जा रहे हैं उसको पूरे प्रयत्न से समझने में लग जाना।' पहले भी बताया था कि बाहु के द्वारा कर्म का कथन होता है क्योंकि अधिकतर कर्म आदमी हाथ से ही करता है। अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म करने वाले को महाबाहु कहते हैं। अतः भगवान् का अभिप्राय है 'तूने चूँकि अत्यंत श्रेष्ठ कर्म किया है इसलिये तू इस रहस्य को समझने में समर्थ हो सकता है। जो मैं आगे बताने जा रहा हूँ वे पाँच हैं। कर्म को सम्पन्न करने वाले या क्रिया से अन्वय वाले जो कारक हैं उन्हें मैं तुम्हें समझाता हूँ, तुम ध्यान दो।' 'निबोध मे' से भगवान् कह रहे हैं कि सारे संसार का कार्य चलाने वाला मैं परमात्मा इस बात को ठीक तरह से तुम्हें समझाऊँगा। जितने स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करना सृष्टि चक्र को चलाने वाला जानता है और जितना स्पष्ट बता सकता है, उतना कोई दूसरा नहीं कर सकता। दूसरा जान भी ले तो स्पष्ट नहीं कर सकता। सर्वज्ञ होने से परमेश्वर इसको जानता भी है और ठीक तरह से समझा भी सकता है। यह कहने का मतलब है कि ध्यान देकर समझ लो।

अर्जुन पूछ सकता है कि 'क्या केवल आप ही इस बात को कहने वाले हैं या यह बात प्रमाण-सिद्ध भी है?' वैदिकों की यह मान्यता है कि जो वेदमूलक बात नहीं होती वह चाहे भगवान् भी कहें तो प्रामाणिक नहीं होती! इसलिये बुद्ध को हम अवतार मानते हैं, उनकी पूजा करते हैं परन्तु उन्होंने जो अनात्मवाद का या असत्कारणवाद का प्रतिपादन किया, उसे हम नहीं मानते। फिर भगवान् ने बौद्धवाद का प्रवर्तन क्यों किया? क्योंकि उनको सृष्टि चक्र चलाने के लिये बहुत कुछ करना पड़ता है। असुर अत्यंत शक्तिमान् होकर देवताओं के विरुद्ध अचारण करते हैं इसलिये उनको अमृत नहीं पिलना था जबकि अमृत निकला था देवताओं और असुरों दोनों के एक साथ प्रयत्न करने से। तब भगवान् ने मोहिनी अवतार लेकर देवताओं को अमृत और असुरों को शराब पिला दी। इसी प्रकार से कलियुग के प्रारम्भ में असुर लोग यज्ञ यागादि से शक्ति प्राप्त कर लेते थे और फिर उस शक्ति के द्वारा ऋषि-मुनियों को सताते थे। कर्म का फल तो निश्चित है इसलिये वे कर्म करेंगे तो शक्ति प्राप्त करेंगे ही। कर्म करें और उन्हें शक्ति प्राप्त न हो, यह कैसे सम्भव है! जब यज्ञ-यागादि करना छोड़ें तभी शक्ति नष्ट हो। इसलिये बुद्धावतार के अन्दर भगवान् ने कहा 'अरे! यज्ञ-यागादि में कुछ नहीं रखा है', ताकि उनकी बात मानकर शक्ति प्राप्त न कर सकें। इसलिये प्रश्न उठता है कि आप जो बात कह रहे हैं वह प्रामाणिक वेद के द्वारा प्रतिपादित है या नहीं? इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो बात मैं बताने जा रहा हूँ वह वेद में प्रतिपादित है।

'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि'। एक सांख्यशास्त्र कपिल मुनि द्वारा बनाया हुआ प्रसिद्ध है। परन्तु भगवान् ने और स्वयं उपनिषदों के अन्दर वेदान्त को ही सांख्य कहा है। वेदान्त को सांख्य इसलिये कहते हैं कि वास्तविक तत्त्व का सम्यक् अर्थ भली प्रकार से यहाँ ख्यापन किया जाता है, प्रकट किया जाता है। वेदान्तों के अन्दर परमात्मविषयक बात बिलकुल स्पष्ट रूप से कही है अतः वेदान्त ही सांख्य है। वहीं पर यह भी बताया है। 'कृतान्ते'; कृत का अर्थ है कर्म, जो किया जाता है, और उस कृत की परिसमाप्ति कृतान्त हुई। अर्थात् कर्मों का स्वरूप से बाध बताने वाला जो वेदान्त-शास्त्र उपनिषद् है उन उपनिषदों के अन्दर इन पाँच को कर्म का कारण कहा है। 'सिद्धये सर्वकर्मणाम्' ये पाँच चीज़ें सारे कर्मों को सिद्ध कर देती हैं।।१३।।

भगवान् उक्त पाँच को समझाते हैं -

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र प चमम्।।१४।।

शरीर, कर्ता (उपहित चेतन), अलग-अलग तरह के वागादि साधन, नाना प्रकार के अलग-अलग प्राण और इनमें पाँचवाँ अदृष्ट (- ये कर्मों के प्रति कारण हैं)।

अधिष्ठान - जहाँ रहते हैं। शरीर में ही कर्ता, करणादि सब रहते हैं। यद्यपि राग-द्वेषादि

मन में रहते हैं परन्तु मन भी शरीर में ही तो रहेगा। ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख तभी होंगे जब शरीर होगा। शरीर ही यहाँ अधिष्ठान है। इसके बिना कोई कर्म नहीं हो सकता। इस शरीर को, चार्वाकों को छोड़कर, सभी वादी अनात्मा मानते हैं। शरीर को आत्मा केवल चार्वाक मानते हैं। बाकी सब शरीर को तो आत्मा नहीं मानते। अतः जैसे अधिष्ठान शरीर अनात्मा है वैसे ही इसके साथ बाकी चार चीज़ें भी अनात्मा ही हैं। इसलिये अधिष्ठानं *तथा* कहा। कर्त्ता - अहं का जो विषय है वही आत्मा है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व है तो बुद्धि की अहंकारात्मिका वृत्ति में, परन्तु उसके साथ आत्मा स्वयं को एक कर समझता है इसलिये 'मैं कर्त्ता' बनता है। आत्मस्वरूप होने पर भी जो अनात्मा के साथ अपने को एक समझ लेता है वही कर्त्ता है। जब तक यह अज्ञान रहेगा कि मैं शरीरादि वाला परिच्छिन्न चेतन हूँ, तब तक कर्त्ता-भोक्ता रहेगा। जब इस बात का पता लगता है कि मैं वैसा नहीं हूँ तब कर्त्ता-भोक्तापना नहीं रहेगा। थोड़ा भी विचार करते हैं तो यह पता लगता है : संसार में जिससे पूछते हैं वे सब अपने को 'मैं' कहते हैं। 'मैं' यह नाम सब मनुष्यों का है। हर एक मनुष्य अपने को 'मैं' कहता है, इसलिये सबका यह एक नाम है। हर-एक यह भी कहता है कि 'मैं जानने वाला हूँ। आँख होती है तो रूप जानने वाला हूँ, आँख नहीं होती है तो रूप को नहीं जानता हूँ'। इस प्रकार से नाम भी सबका एक 'मैं' और रूप भी सब लोग एक ही बताते हैं - 'जानने वाला'। जब 'मैं जानने वाला' हर एक शरीर में है तो वह एक ही होना चाहिये, फिर यह अलगाव क्यों? शरीर अलग-अलग हैं इसलिये शरीरों के कारण ही अलगाव है, और कोई कारण इस अलगाव का नहीं है। जब यह पता लगता है कि 'मैं' इस अहंकाररूप उपाधि के कारण ही भेद प्रतीत हो रहा है, तब समझ आ जाता है कि 'सारे प्राणियों में रहने वाला एक परमात्मा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। मेरी वास्तविकता वही है'। इस बात को जानने से अकर्ता होगा, अन्यथा मैं जब तक मैं हूँ, अहंकार से एक हूँ, तब तक तो मैं कर्त्ता हूँ ही। इसीलिये विज्ञानमय अहंकारात्मिका वृत्ति की अवश्यकता है।

'पृथग्विधं करणं' - आँख, कान, नाक आदि सभी करण होंगे तभी तुम्हारा देखना, सुनना, सूँघना आदि सिद्ध होगा। अगर दूसरे की आँख देख रही है तो मैं यह नहीं कह सकता कि 'मैं देखने वाला हूँ'। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, मन सभी चाहिये। ये सभी करण अनेक तरह के हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ कर्म करने के लिये और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भोग करने के लिये हैं। इन दोनों को चलाने के लिये आवश्यक मन और प्राण चाहिये। इस प्रकार ये बारह होंगे तब कर सकते हो। 'विविधाश्च पृथक्चेष्टाः' क्रिया करने के लिये भी विविध चेष्टायें करनी पड़ेंगी। अपनी क्रियाशक्ति प्राण, अपान, उदान आदि की सहायता से भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टायें होती हैं। कभी किसी चीज़ को अन्दर लोगे, कोई चीज़ बाहर निकालने की चेष्टा करोगे, कभी अपने को फुलाने की, जैसे अँगड़ाई लेते समय, कभी संकोच की, जैसे छोटी मोटर हो और पाँच आदमी बैठने हों तो संकोच की चेष्ट करनी पड़ेगी;

इत्यादि अनेक प्रकार की अलग-अलग चेष्टायें प्राणों के द्वारा करनी पड़ती हैं। तब क्रिया होती है। लिखना प्रारम्भ करो तो पहले अँगुली-अँगूठे को चौड़ा करना पड़ता है, जब दोनों के बीच में कलम आ गई तब उन्हें सिकोड़ना पड़ता है। फिर लिखने के लिये ऊपर नीचे करने की चेष्टा करते हो, इत्यादि। अतः भगवान् ने दोनों बातें - पृथक् और अनेक प्रकार की चेष्टायें - कहीं। इस प्रकार ये चार कारण हैं।

'अत्र पंचमं दैवं चैव' इनमें पाँचवाँ कारण दैव है। दैव को समझना ज़रूरी है। परमेश्वर इस सारी सृष्टि का संचालन करने वाला है। उसका संचालन ऐसा नहीं होता कि तुमने पहले कर लिया और वह बाद में सोचता रहे कि कैसे किया? तुम्हारी हर क्रिया, हर विचार उत्पन्न होने के साथ ही तुम्हारे पुण्य और पाप का फल सामने होता है। यह फल देने के लिये उन्होंने समष्टि देवताओं का रूप लिया। जितनी आँखें हैं वे तभी काम करेंगी जब आदित्य की मोहर लग जाये। यदि उस समय तुम्हारा पुण्य कर्म है तब तो जो देखना चाहते हो वह देख पाओगो। अगर उस समय पाप कर्म है तो लाख चेष्टा करने पर भी नहीं देख पाओगे। जो भी पुण्य पाप करते हो उसका फल देने वाला परमात्म देव है। वह भिन्न-भिन्न उपाधियों के द्वारा समष्टि अभिमानी देवताओं के रूप में मौजूद है। इसलिये जब कभी तुम अपने करणों के द्वारा चेष्टाओं को करने जाओगे, उस समय यदि पुण्य है तो कर पाओगे, यदि पाप है तो नहीं कर पाओगे। इसलिये ऐसा नहीं है कि परमेश्वर तुम्हारे ऊपर से क्षणभर भी नियन्त्रण हटाये! वह सारा नियंत्रण तुम्हारे पुण्य-पाप कर्मों के अनुसार ही होता है। तुम किसी चीज़ की इच्छा कैसे करते हो? तुमको स्मृति आती है कि 'कल रसगुल्ला खाया था तो बड़ा मज़ा आया था'। इसलिये निर्णय करते हो कि रसगुल्ला सुख का कारण है। तब तुम आज रसगुल्ला खाने की इच्छा करते हो और यही सोचते हो कि स्वतंत्र होकर खाने की इच्छा कर रहा हूँ। बात ठीक है, परन्तु वह इच्छा तब कर सकते हो जब पहले खाया था यह याद है, शास्त्रीय भाषा में, जब वे संस्कार उद्बुद्ध हों। भगवान् पहले ही कह चुके हैं 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'। कई बार किसी बात को याद करने के लिये बड़ा सिर खुजलाते रहते हो, लेकिन याद आती ही नहीं और शाम को बिना मतलब वह बात याद आ जाती है। सोचते हो 'यदि उस समय याद आ जाती तो मैं उस आदमी को ठीक जवाब दे देता, अब शाम को याद आने पर क्या फायदा'। इसी प्रकार तुम्हारा रसगुल्ले का संस्कार उदय हुआ, तुमने खाने की इच्छा की। इस संस्कार को उद्बुद्ध करने वाला परमात्मा है। इच्छा होने के बाद चेष्टा इत्यादि करोगे। पुण्य का फल होगा तो उस चीज़ की उपलब्धि हो जायेगी, अन्यथा दुकान पर पहुँचोगे तो वह कहेगा 'माल ख़त्म हो गया'। तुम्हारे हर कार्य के प्रति दैव इस प्रकार कारण रहता ही है। यही परमात्मा का नियंत्रण है। सूर्य आदि जो चक्षु आदि के अनुग्राहक हैं उनके बिना काम नहीं हो सकता। इसी प्रकार मन का अभिमानी चन्द्रमा है। चन्द्रमा का अनुग्रह होगा तो तुम्हें बात याद आयेगी, नहीं तो याद नहीं आयेगी।

इसका अर्थ यह नहीं है कि फिर तुम्हारी स्वतन्त्रता कुछ नहीं है! यह स्पष्ट करने के

लिये भगवान् यहाँ पाँचों को कारण बता रहे हैं। कल रसगुल्ला खाया, आज स्मृति आ गई, फिर खाने की इच्छा हो गई। वह स्मृति भगवान् ने दे दी। यह स्मृति भी साथ आ गई कि बाजार में पता नहीं किस जाति के लोग रसगुल्ला बनाते हैं, शास्त्र में जिन म्लेच्छ, अन्त्यज आदि के हाथ का खाने का निषेध है उनकी स्मृति भी साथ आ गई। अब तुम्हारी अर्थात् कर्त्ता की स्वतंत्रता है कि तुम इसमें से किस स्मृति को लेकर चलो। शास्त्रीय स्मृति को लेकर चलोगे तो 'रसगुल्ला खाने से मज़ा आया था' यह स्मृति आने पर भी बलवत् अनिष्ट का ज्ञान उसे रोक लेता है। इसीलिये शास्त्र-संस्कार एकत्र करने पर ज़ोर दिया जाता है। दूसरी तरफ, शास्त्र विधि याद आई, लेकिन उसे छोड़कर सोचते हो- 'ये शास्त्र न जाने कितने पुराने हैं! इन्सान-इन्सान एब एक जैसे हैं, चाहे जिसके हाथ से खायें, क्या फ़र्क पड़ता है? आदमी स्वच्छ होना चाहिये'। तब शास्त्र-विधि को छोड़ोगे तो कामना से क्रिया करोगे। शास्त्र विधि के अनुसार चलोगे तो कामना को छोड़ोगे। इसके द्वारा भगवान् ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि शास्त्रविधि तुम्हारी कामना को पूरा करने के लिये नहीं है। यह दूसरी बात है कि अतिदीर्घ काल तक जो शास्त्र के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है उसके वही संस्कार बन जाते हैं और उसके मन में आती ही शास्त्रीय बातें हैं। अतः ऐसे व्यक्ति के लिये शास्त्रविधि और कामना के बीच हर समय झगड़ा नहीं रहता। परन्तु कभी-न-कभी तो झगड़ा होता है। चाहे जितना शास्त्र विधि को मानने वाला हो, दस दिन से खाना भी नहीं खाया, ठण्ड भी बड़े ज़ोर की पड़ रही है। प्रातः चार बजे मुँह से रजाई हटाता है तो सोचता है - 'दस मिनट बाद उठ जायेंगे'। शास्त्रविधि को प्रधानता दोगे तो झट से रजाई को छोड़कर उठ जाओगे, सोचोगे 'अभी तो दस मिनट ज़्यादा सो जायेंगे लेकिन मरने के बाद यमराज के डण्डे भोगने पड़ेंगे।' शास्त्रविधि को छोड़ोगे तो अपनी कामना पूरी करोगे और कामना छोड़ोगे तो शास्त्रविधि को पूरा करोगे। शास्त्रविधि के अनुसार करने वाले को इष्ट फल और विपरीत करने वाले को अनिष्ट फल होगा। कभी कामना के अनुसार और कभी विधि के अनुसार करने से मिश्र फल होगा। इस प्रकार दैव कारण तो है पर वह कर्ता की स्वतंत्रता का मौका समाप्त नहीं करता।१४।।

पाँचों से सारे कर्म होते हैं यह स्पष्ट करते हैं -

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा प चैते तस्य हेतवः।।१५।।

धर्मानुकूल हो या उससे विपरीत, शरीर वाणी और मन से जो भी कर्म नर सम्पन्न करता है, ये पाँच उसके हेतु बनते ही हैं।

'नरः प्रारभते कर्म' - कर्म का प्रारम्भ जीव ही करता है। विज्ञानमय जो अहंकार के साथ एक है, वही कर्म को प्रारम्भ करता है। उक्त पाँचों मिलकर कर्म करते हैं, परन्तु इनका प्रवर्तन कौन करता है अर्थात् इनको करने के लिये प्रेरित कौन करता है, किसकी प्रेरणा

से ये करते हैं? नर, जिसे पूर्व श्लोक में कर्त्ता कहा था। अहंकार के साथ जो चेतन एक है अतः दोनों से सम्बन्ध वाला है; चैतन्य भी उसके अन्दर प्रतिबिम्बरूप से मौजूद है और सारा अनात्म जगत् बुद्धि के अन्दर स्थित है; वह कर्ता ही कर्म का कारण बनता है। किस-किस के द्वारा कारण बनता है? शरीर, वाणी और मन के द्वारा ही जीव कर्म करता है। शरीर इंद्रियों और मन से ही कर्म सम्पन्न होगा। इन तीन से वह जिसको प्रारम्भ करेगा वह सम्पन्न होगा। कुछ कर्म शरीर के द्वारा सम्पन्न होते हैं, कुछ इन्द्रियों के द्वारा और कुछ मन के द्वारा सम्पन्न होते हैं। जैसे उपासना मन के द्वारा करते हो, इसलिये उसे मानस कर्म कहेंगे। परन्तु मन को एकाग्र करने के लिये शरीर को भी स्थिर करना पड़ेगा। शरीर को हिलाते रहोगे तो मन एकाग्र नहीं होगा। इसलिये शरीर भी कारण पड़ ही जाता है। इसमें प्रधान मन होने से इसे मानस कर्म कह देते हैं। इसी प्रकार जप वाचिक कर्म है, वाणी से सम्पन्न होने वाला है। फिर भी जप का मन के द्वारा स्मरण करोगे तभी वाणी के द्वारा बोला जायेगा। अतः वाणी प्रधान होने पर भी मन भी कारण पड़ता है और ध्वनि प्रकट होने के जो कण्ठ, तालु आदि आठों स्थान हैं वे यथावत् होंगे तभी वाचिक कर्म सम्पन्न होगा। यदि उन आठों स्थानों में से कहीं भी गड़बड़ी है तो शब्द का उच्चारण शुद्ध नहीं होगा, अशुद्धि हो जायेगी तो कर्म सम्पन्न नहीं हुआ। इसलिये शरीर भी कारण पड़ता है। अतः भगवान् ने शरीर, वाणी और मन, तीनों को एकत्रित करके बताया। हर कार्य को प्रारम्भ करते हैं तो ये तीनों ही कारण पड़ते हैं, प्राधान्य को लेकर भेद कहा जाता है। शरीर के द्वारा परिक्रमा करोगे तो प्राधान्य उसमें शरीर का है, परन्तु चलने के लिये इन्द्रियों की भी ज़रूरत पड़ेगी, देखने के लिये भी ज़रूरत पड़ेगी। कर्म प्रारम्भ करने में सभी कारण पड़ते हैं पर प्रधान रूप से वहाँ शरीर कारण है इसलिये उसे शारीरिक कह देते हैं। कर्म सम्पन्न होने में तीनों में से यदि कोई एक भी सहयोग नहीं करेगा तो वह कार्य नहीं हो सकेगा। इस श्लोक में अधिष्ठान शरीर को कह दिया और कर्त्ता नर को कह दिया, करण भी कह दिये। परन्तु लगता यह है कि दैव को नहीं कहा। दैव को अलग नहीं कहने का कारण यही है कि वह कर्म को सम्पन्न तो करेगा, लेकिन कर्म को *प्रारम्भ* करने वाला तो जीव ही है! तुम जब देखने में प्रवृत्त होगे तब यदि पुण्य का प्रारब्ध है तो आदित्य आदि का अनुग्रह होगा और अगर पाप का प्रारब्ध है तो आदित्य आदि का अनुग्रह नहीं रहेगा और नहीं देख पाओगे। अतः कर्म सम्पन्न होने के लिये दैव की आवश्यकता है, परन्तु प्रारम्भ करने के लिये नहीं। कर्म प्रारम्भ करके भी सम्पन्न हो, न हो, इसमें दैव की सहायता हेतु है। इसलिये यहाँ उक्त तीनों की आवश्यकता कह दी।

जो कार्य प्रारम्भ करते हैं वे दो प्रकार के हैं, एक जो न्याय्य हैं, शास्त्र-सम्मत हैं, जिन्हें करना उचित है, धर्म है, उन्हें भी प्रारम्भ कर सकते हैं। अथवा जो विपरीत कर्म हैं, अन्याय्य या अनुचित हैं, शास्त्रसम्मत नहीं, शास्त्रविरुद्ध ही हैं, उन्हें भी करते ही हैं। ठीक जैसे तुम सच बोलते हो वैसे ही झूठ भी बोलते हो। सच बोलते हो तो न्याय्य कर्म कर रहे

हो। झूठ बोलते हो तो विपरीत कर्म कर रहे हो। प्रारम्भ तो तुम ही करते हो। अतः धर्म हो, अधर्म हो, शास्त्रसम्मत हो, शास्त्रविरुद्ध हो, जिस कर्म को प्रारम्भ करते हो उसमें कारण तो ये पाँच ही हैं। दैव को इस श्लोक में नाम लेकर नहीं कहा है, परन्तु 'पंच' में वह है ही। कुछ क्रियायें ऐसी होती हैं जैसे पलक का गिरना या पलक का खुलना इत्यादि, जो जब तक हमारा जीवन है तब तक चलती रहती हैं। इनको यद्यपि तुम संकल्प करके प्रारम्भ नहीं कर रहे हो। परन्तु पहले किये हुए धर्माधर्म या दैव है, उसके द्वारा ही ऐसी क्रियायें सम्पन्न होती हैं। अतः जब आदित्य का अनुग्रह नहीं रहता तब आँख की पलकें भी खुलती नहीं या बन्द नहीं होती। एक सज्जन हैं जिनकी पलकें ऊपर उठाकर प्लास्टरसे चिपकाकर रखना पड़ता है क्योंकि उनकी पलकें खुद खुलती नहीं, जब देखना हो तब प्लास्टर चिपका देते हैं, उसे हटा देते हैं ते आँखें बंद हो जाती हैं। इसी प्रकार साँस लेना तब तक चलता है जब तक जीवन के हेतु पुण्य मौजूद हैं। जैसे ही वे हेतु नहीं रहते, तब आदमी एक-दो बार हाय-हाय करता है परन्तु जीवन समाप्त हो जाता है क्योंकि आगे साँस नहीं चलती। ऐसी क्रियाओं को हम संकल्प-पूर्वक तो प्रारम्भ नहीं करते हैं, फिर भी पूर्वकृत धर्माधर्म जो विज्ञानमय में विद्यमान हैं, वे ही प्रवृत्त करते हैं। यहाँ भी साँस ठीक लेना न्याय्य है, साँस उखड़-उखड़ कर आना विपरीत हो जायेगा जो पाप का फल है। इस प्रकार से जो क्रियायें संकल्पपूर्वक नहीं करते हैं, उनका भी प्रारम्भ करने वाला कारण नर के द्वारा किये हुए पूर्वकृत पुण्य-पाप ही हैं। इस प्रकार प्रारम्भ करने वाला मूल रहेगा तो नर (विज्ञानमय जीव) ही। जितने कर्म हैं वे या न्याय्य होंगे या विपरीत होंगे, उचित होंगे या अनुचित होंगे, शास्त्रानुकूल या शास्त्र-विरुद्ध होंगे। जो जीवन- निर्वाह के लिये होते हैं जैसे श्वास-प्रश्वास आदि, वे भी पूर्वकृत धर्माधर्म के कारण ही होते हैं। जैसे कर्म करने में ये पाँचों कारण पड़ते हैं वैसे ही कर्मफल भोगने में भी ये ही पाँच कारण पड़ते हैं, इन पाँच का ही प्राधान्य रहते कर्मफल का भोग भी होता है। यहाँ भोक्ता अलग से नहीं कहा है, परन्तु कर्त्ता कह दिया तो भोक्ता भी उसके अंतःपाती समझ लेना चाहिये।।१५।।

ये पाँच मिलकर कर्म करते हैं परन्तु सारी गड़बड़ी कैसे होती है, यह बताते हैं -

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

क्योंकि सब कर्म पाँचों से प्रारम्भ होते हैं इसलिये शास्त्रसंस्कारों से रहित बुद्धि वाला होने से जो केवल आत्मा को सब करने वाला समझता है वह विपरीत बुद्धि वाला सही नहीं समझता है।

'तत्र एवं सति' - कर्तृत्त्व के विषय में इन पाँचों की कारणता सिद्ध हो जाने पर जो कोई अपने अज्ञान के कारण केवल आत्मा को ही कर्त्ता समझता है और इसलिये कर्मफल-भोग को अपने लिये ही चाहता है, वह दुर्मति है। अपने को कर्त्ता मानता है इसलिये 'कर्म

फल मुझे ही मिले’ ऐसा चाहता है। पाँच मिलकर करें और तुम अकेले ही उस पर अपना ठप्पा मार दो तो यह दुर्मति है अर्थात् ठीक प्रकार का निश्चय नहीं है। अज्ञ नर क्यों अपने को ही कारण मानता है? देखते तो सब हैं और यह बात सभी जानते हैं कि ये पाँच न हों तो कुछ नहीं कर सकते, फिर स्वयं को ही क्यों कारण समझते हैं? क्योंकि उनकी बुद्धि संस्कृत नहीं है। अतः वे इन पाँचों को अपने से एक करके समझते हैं। इसलिये शरीर ने किया तो लगता है ‘मैंने किया, क्योंकि मैं शरीर ही तो हूँ’; वाणी ने किया तो ‘मैंने किया क्योंकि वाणी भी मैं ही तो हूँ’; मन ने किया तो ‘मैंने किया क्योंकि वह मन मैं ही तो हूँ’। असंस्कृत बुद्धि होने के कारण आत्मा के स्वरूप का संस्कार नहीं है, इसलिये इन सबसे अपने को एक करके समझता है, इन सबको अपना ही स्वरूप मानता है। ‘ये सब मुझ से भिन्न नहीं’ - बस यही समझना अज्ञान है। हैं तो सब अलग-अलग परन्तु अज्ञान के कारण इन सबको एक मैं ही समझते हैं। इसलिये, इन सबके द्वारा जो कर्म किया गया वह ‘मैंने किया’ ऐसी दुर्बुद्धि हो जाती है। मूल कारण यही है कि अंतःकरण में शास्त्रीय संस्कार नहीं होने के कारण इन सबसे अपने को अनन्य समझते हैं। इसलिये कहते हैं कि केवल ‘मैं ही करने वाला हूँ’। जानते हैं कि शरीर, इन्द्रियों के बिना नहीं कर सकते, लेकिन शरीर, इन्द्रियों को मैं ही समझकर ‘मैं ही करने वाला हूँ’ यह दृढ निश्चय रखते हैं।

वेदान्त शास्त्र और गुरु के उपदेश से जो ठीक बात है और न्यायसिद्ध है उसे समझते हैं कि ‘मैं तो केवल इनको सत्तामात्र देने वाला हूँ। मेरी सत्ता के बिना इनकी कहीं कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती, परन्तु ये सब अलग-अलग हेतु हैं’। संस्कृत बुद्धि वाला इस प्रकार अनात्मा और आत्मा को अलग समझ करके जानता है कि केवल आत्मा या शुद्ध आत्मा कुछ नहीं करता। जब अध्यास से शरीर-इन्द्रियादि के साथ एक होता है तब करते हुए प्रतीत होता है। करता (कर्त्ता) तो वह तब भी नहीं है। ठीक जिस प्रकार से नाव में हम चल रहे हैं तो हमें किनारे के पेड़ चलते हुए दीखते हैं। किनारे के पेड़ चल तो नहीं रहे हैं परन्तु नाव के चलने से हमें प्रतीति होती है कि वे चल रहे हैं। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार इन सबके द्वारा कर्म होने पर प्रतीति होती है कि आत्मा कर्म कर रहा है। पेड़ जैसे हैं वैसे ही खड़े हैं, वे तो चलते नहीं हैं। नाव के चलने से चलने वाले प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार आत्मा कुछ न करने पर भी शरीर आदि के साथ अपना अध्यास होकर एक प्रतीत होता है तब लगता है कि वह कर्ता है। इसका मूल कारण अकृत बुद्धि या संस्कारहीनता है। संस्कारहीन लोग ही इस प्रकार की कल्पना करते हैं। इसको दुर्मति इसलिये कहा कि यही जीव को ऊपर-नीचे पटकती है। यह बुद्धि अविद्या के कारण अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त चीज़ों को अपने से अभिन्न समझती है। इसके कारण ही कभी न्याय्य कर्म हो गया तो ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक में पहुँच जाता है, कभी पाप कर्म हो गया तो सूअर, कुत्ते की योनि में पहुँच जाता है। इस प्रकार ऊपर नीचे ले जाने वाली होने से ही इसको दुर्मति कहा है। इसी के कारण जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। अतः उसको लगता तो

यह है कि 'मैं देख रहा हूँ, 'पश्यति' समझ रहा हूँ' परन्तु 'न पश्यति' वस्तुतः वह देख नहीं रहा है। अर्थात् जो चीज़ जैसी है उसे वैसा देखो तब देखना कहा जाता है और जो चीज़ जैसी नहीं है वैसी देखो तो 'नहीं देखा' ही कहा जायेगा। जैसे रस्सी को रस्सी देखो तब लोग कहेंगे कि देखा है और रस्सी में साँप देखो तो यही कहेंगे 'तुमको भ्रम हुआ, सचमुच में वहाँ क्या था तुमने नहीं देखा'। इसी प्रकार सचमुच में सच्चिदानन्दरूप आत्मा केवल अधिष्ठान है, सत्ता-मात्र देता है। उसको वैसा नहीं देखा और उसकी जगह उसे कर्त्ता-भोक्तारूप में देखा तो वह नहीं देखने जैसा है, क्योंकि जो है उसे नहीं देखा। जब मनुष्य को मोतियाबिन्द हो जाता है तो उसे दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं। सामने से एक आदमी आ रहा हो तो उसे दो आदमी आते दिखाई देते हैं। तब कोई भी नहीं मानता कि इसको दो आदमी दीखे। यही मानते हैं कि यह भ्रम के कारण लगा। अथवा बादल दौड़ रहे होते हैं तो चन्द्रमा दौड़ता हुआ दिखाई देता है। परन्तु चन्द्रमा तो जहाँ है वहीं है, बादलों के दौड़ने से चन्द्रमा दौड़ता हुआ लगता है। ठीक इसी प्रकार से अनात्मा के अन्दर क्रिया देखकर आत्मा करता हुआ प्रतीत होता है, बस यही दुर्मति है। इसलिये भगवान् ने कह दिया 'पश्यति' जो ऐसा उल्टा देखता है वह 'न पश्यति' अर्थात् सचमुच में जो चीज़ है उसे वैसा नहीं देखता।।१६।।

सुमति किस प्रकार से देखता है अर्थात् जिसमें शास्त्र के संस्कार हैं वह कैसे देखता है?

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

'मैं कर्ता हूँ' ऐसा जिसका निश्चय बाधित हो चुका अतः जिसकी बुद्धि में (कर्म आदि किसी का कोई) लेप नहीं है, वह इन सारे प्राणियों को मारकर भी न हनन-कर्त्ता बनता है, न (कर्मवशात्) बाँधा जाता है।

जिस साधक को शास्त्र और गुरु के उपदेश से ठीक प्रकार से सोचने की पद्धति या न्याय मिल गया है, उसके संस्कार वाला है, वही सुमति है। 'यस्य' अर्थात् जिसने शास्त्र का उपदेश भी लिया, गुरु का उपदेश भी लिया और वह युक्तिसंगत है यह निश्चय भी कर लिया, ऐसा संस्कार वाला जो विद्वान् है उसको 'यह मैंने किया' ऐसी बुद्धि होती ही नहीं। 'भाव' शब्द के द्वारा भगवान् यह कहते हैं कि अहंकार सचमुच में तो है नहीं, यह भावमात्र है अर्थात् सर्वथा मानी हुई चीज़ है। 'मैं' कभी भी करनेवाला बनता नहीं, भावमात्र कर लेता हूँ कि 'मैं करनेवाला हूँ'। व्यवहार में यह अनेक जगह देखा जाता है कि पुत्र यदि दुकान का दीवाला निकालता है तो पिता को बोध होता है 'मेरा दीवाला निकल गया'। वह दस साल से दुकान पर नहीं गया है फिर भी उसका भाव बनता है कि 'मैं दीवालिया हो गया'। कुछ करने से ही 'किया' ऐसा बोध हो, यह ज़रूरी नहीं है, यह एक भावमात्र है जो किसी भी चीज़ के लिये हो जाता है। 'मैंने किया, मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा भाव विद्वान् का बनता ही नहीं।

अधिष्ठान आदि जो पाँच हैं उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध बनता हो, ऐसा नहीं है। केवल अज्ञान से कल्पित होता है, कल्पित भाव है। करने वाले तो ये पाँच हैं। मैं आत्मा तो केवल सत्तामात्र देता हूँ, और कुछ नहीं करता, उन सबका साक्षी हूँ। ज्ञानस्वरूप आत्मा इन सबके कर्मों का साक्षी है। कर्मों का साक्षी होने से ही वह अक्रिय (अकर्त्ता) है। अगर खुद करने वाला होता तो साक्षी कैसे होता? साक्षी उसे कहते हैं जो दूसरे को करते हुए सिर्फ देखे। अगर वह खुद करने वाला बन जाये तो फिर वह साक्षी नहीं रहता। आत्मा सर्वथा अविकार्य है क्योंकि साक्षी है। जो सुमति है वह तो इस प्रकार से देखता है और चूँकि उसको 'यह मैंने किया' ऐसा भाव नहीं है, इसलिये 'यस्य बुद्धिः न लिप्यते' उसकी जो बुद्धि है अर्थात् उपाधिरूप जो बुद्धि है, उससे लिप्त नहीं होता। इस बुद्धि के अन्दर जो कार्य या अकार्य होने का निश्चय है उससे आत्मा का कुछ लेना-देना नहीं है। उस बुद्धि का निश्चय यदि शास्त्रानुकूल कार्य करने वाले का है तो शास्त्रानुकूल करके वैकुण्ठादि में जाने का कारण बनेगा। यदि विपरीत है, शूकर, कूकर योनि में जाने का है तो अन्याय्य करेगा। बुद्धि के द्वारा इन सब चीज़ों का लेप अज्ञावस्था में आत्मा से होता था। जब यह जान लिया कि 'बुद्धि मुझ से भिन्न है' तब मेरा, आत्मा का बुद्धि से लेप नहीं रहता। इसलिये यदि शूकर-कूकर योनि में जाने का काम भी हुआ है तो उससे 'मैं जाऊँगा', यह भावना नहीं होगी क्योंकि मैं तो करने वाला हूँ नहीं। इसी प्रकार से यदि उससे ऐसा कार्य हो गया जिससे वह वैकुण्ठ लोक जायेगा तो मैं 'वैकुण्ठ जाऊँगा' ऐसी बुद्धि नहीं होगी क्योंकि करने वाले तो ये पाँच हैं, मैं केवल साक्षिमात्र हूँ, इन चीज़ों को देख रहा हूँ, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार, बुद्धि के अन्दर होने वाले न्याय्य और विपरीत निश्चय के प्रति लिप्त न होना सुमति का लक्षण और उसके विपरीत यह समझना कि 'मैंने ही किया', यह दुर्मति का लक्षण है। अर्जुन के सामने चूँकि इस समय युद्ध उपस्थित है इसलिये भगवान् ने कह दिया कि सुमति संसार के सारे प्राणियों को मार डाले तो भी उसे 'मैंने मारा' यह भाव नहीं बनता। तू तो केवल भीष्म, द्रोण के लेकर ही परेशान है कि इन्हें कैसे मारूँ! सारों को भी मार डाले, तो भी यथार्थ में नहीं मारता है। शरीर मन के द्वारा कैसा भी कर्म सम्पन्न होने पर भी साक्षिभाव को छोड़कर 'मैंन किया', ऐसी प्रतीति कभी भी नहीं होगी। मारा- यह बुद्धि ही नहीं है तो उस मारने से जो अधर्मरूपी फल है उससे भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ यह विरुद्ध प्रतीति होती है कि 'हत्वापि न हन्ति', मारकर भी नहीं मारता - यह उल्टी बात है। लौकिक पुरुष शरीर को करता देखकर मानता है कि आत्मा ने किया। पारमार्थिक दृष्टि में जो जानने वाला है उसकी दृष्टि में आत्मा ने नहीं मारा। अतः लौकिक और पारमार्थिक दृष्टियों को लेकर विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे हम लोग यही कहते हैं कि सूर्य अस्त हो गया। लौकिक दृष्टि से बे-पढ़े- लिखे लोग ही ऐसा कहते हैं और उन्हें ऐसा ही जँचता है। परन्तु भूगोल खगोल आदि पढ़ा व्यक्ति जानता है कि सूर्य कभी अस्त नहीं होता, पृथ्वी ही दूसरी तरफ जाती है। जिस समय वह कह भी रहा है 'सूर्य अस्त हो

रहा है', उस समय में भी उसका निश्चित ज्ञान है कि सूर्य अस्त नहीं हुआ। फिर भी ऐसा प्रयोग इसलिये करते हैं कि साधारण लोगों की समझ में आ जाये। इसी प्रकार लोगों को शरीर के द्वारा मारे जाते देखकर बोध होता है कि मारा, परन्तु संस्कृत अंतःकरण वाला उसी समय जानता है कि आत्मा नहीं मार रहा है। देह आदि को आत्मा मान कर 'मैंने मारा' ऐसा लगता है, यह लौकिक दृष्टि है और पारमार्थिक दृष्टि साक्षिरूप की है जिसे लेकर कहा जाता है कि न मारता है और न बद्ध होता है।

एक शंका होती है कि भगवान् ने कहा है 'केवलम् आत्मानं कर्तारं यः पश्यति' जो केवल आत्मा को कर्त्ता देखता है। इससे यह भ्रम होना संभव है कि इन पाँचों के सहारे से करता है, अकेला नहीं करता है; अर्थात् इन पाँचों को साथ लेकर करता है, करता तो वही है! परन्तु ऐसा विपरीत अर्थ भगवान् का नहीं समझना क्योंकि आत्मा क्रिया से सम्बन्ध वाला कभी नहीं होता और न शरीर आदि से कभी सम्बन्ध वाला हो सकता है। जो बदलने वाले पदार्थ हैं उन्हीं का आपस में सम्बन्ध हुआ करता है। न बदलने वाली चीज़ का बदलने वाली चीज़ों के साथ सम्बन्ध बनता नहीं। इसलिये 'केवल' शब्द का मतलब यहाँ इतना ही है कि आत्मा का जो स्वाभाविकरूप है, जो आत्मा का अपना रूप है, उसमें कर्त्तापन नहीं रह सकता। अविद्या से कल्पित रूप में तो कर्त्तापना रहेगा, परन्तु स्वाभाविक रूप में नहीं रहेगा। इस बात को बार-बार वेद बताता है और यहाँ भगवान् ने भी बताया है। कर्म करने में जो ज्ञान, इच्छा इत्यादि कारण पड़ते हैं उनके कारण प्रतीति होती है कि आत्मा जानता है, इच्छा करता है इत्यादि। उन सबको भगवान् पहले ही क्षेत्रधर्म गिना चुके हैं इसलिये इच्छा, ज्ञान आदि सब क्षेत्र में गिना कर भगवान् ने बता दिया कि ये जड का धर्म हैं, क्षेत्रज्ञ का नहीं। क्योंकि लगता है कि आत्मा ने इच्छा की इसीलिये उसे कर्त्ता आदि मानते हैं। और इच्छा को भगवान् ने जडधर्म बताया है, आत्मा क्षेत्रज्ञ को उससे अलग बताया। जिनके कारण प्रतीति होती है कि आत्मा करने वाला है उन सबको क्षेत्रधर्म में गिना दिया है। अतः 'केवलम् आत्मानं' से बताया कि शुद्ध आत्मा क्रिया से वास्तव में असम्बद्ध है। उसका जो अविद्या वाला रूप नहीं है उस रूप में उसका क्रिया से कभी सम्बन्ध नहीं होता। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ से भिन्न है क्योंकि जो जिससे भिन्न होता है वही उसको जानता है। जो ज्ञेय है उससे जानने वाला भिन्न होता है। इसलिये क्षेत्र के द्वारा जो किया गया वह क्षेत्रज्ञ के द्वारा किया हुआ हो ही नहीं सकता। एक के द्वारा किया हुआ काम अर्थात् ज्ञेय चीज़ से किया हुआ काम, ज्ञाता का किया हुआ हो जाये, यह किसी भी युक्ति से सम्भव नहीं हो सकता। अज्ञान के कारण जो प्रतीति होती है वह सच्ची नहीं होने से *ज्ञान* नहीं कही जा सकती। इसलिये, कर्तृत्त्वभोक्तृत्व दोनों ही क्षेत्रधर्म हैं, क्षेत्र में रहेंगे, क्षेत्रज्ञ में नहीं रह सकते। अतः भगवान् का कहना बिलकुल ठीक है कि 'मैंने किया' इस बुद्धि के लेप के अभाव से जो संस्कृत अंतःकरण वाला है वह न करता है और न उससे बद्ध होता है।

इस प्रकार भगवान् ने विद्वान् की कर्माधिकार-निवृत्ति कह दी। कर्म में उसका अधिकार

ही नहीं है अर्थात् उसके लिये कर्म करना सम्भव ही नहीं है। जब कर्म करना उसके लिये सम्भव ही नहीं है तो कर्मत्याग उसका होता ही नहीं है! जो स्वाभाविक हमेशा ही कर्म से अस्पर्श रहा है, वह केवल प्रकट हो जाता है। अतः यह जो पारमार्थिक दृष्टि वाला संन्यासी है यह केवल संस्कृत अंतःकरण होने पर प्रकट होता है। क्योंकि वह कभी भी कर्मी था नहीं इसलिये उसने कर्म छोड़ा - यह बनता नहीं। 'न हन्ति न निबध्यते' के द्वारा भगवान् ने उसका स्वाभाविक रूप प्रकट कर दिया। पाँच श्लोक पहले (११) कह आये हैं 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' जब तक अज्ञान के कारण देहभृत् है, 'मैं देह को धारण करने वाला हूँ' यह भाव है, तब तक अशेष संन्यास उपपन्न होता ही नहीं। वह सारे कर्म नहीं छोड़ सकता, क्योंकि कम-से-कम उसके लिये श्रवण-मनन आदि तो कर्त्तव्य बच ही जाते हैं जिन्हें न करने पर उसको भी दोष लगकर उसका दण्ड भोगना पड़ेगा। 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' स्मृति ने स्पष्ट कहा है कि विविदिषु संन्यास का उद्देश्य श्रवण-मनन करना है, इसलिये उसकी अशेष कर्मों की निवृत्ति नहीं होगी। ब्रह्मचारी के कर्म गृहस्थ में जाने पर छूट जाते हैं परन्तु दूसरे कर्म प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ से वानप्रस्थ में जाने पर गृहस्थ के कर्म छूटकर वानप्रस्थ के कर्म प्राप्त होंगे और वानप्रस्थ से संन्यास में जाने पर वानप्रस्थ के कर्म छूटकर संन्यास के कर्म प्राप्त हो जायेंगे। यहाँ 'नायं हन्ति' से भगवान् ने अशेष कर्मनिवृत्ति की बात उसके लिये बता दी जिसका सारे कर्मों का संन्यास हो गया है। जिसका ऐसा नहीं हुआ, अर्थात् जो देहभृत् है, उसके लिये भगवान् ने कहा था 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलं'; जब तक कर्त्ता है, तब तक सारे कर्मों का त्याग नहीं हो सकता, उससे अनिष्ट, इष्ट और मिश्र कर्म होंगे ही। जब अपने परमार्थ स्वरूप का दर्शन हो गया, वह ज्ञान दृढ हो गया, तब कर्म और फलभोग का प्रसंग समाप्त हो चुका।

यहाँ भाष्यकार कहते हैं 'स एष सर्ववेदार्थसारः' सारे वेदों का सार यही समझना है कि आत्मज्ञान होने से सारे कर्मों की निवृत्ति है और जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ तब तक कर्मफल भोगना ही पड़ेगा, उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। यह जो वेदार्थ सार है इसे, जो निपुणमति है, उसे ठीक विचार करके समझ लेना चाहिये। गीता शास्त्र में अलग-अलग प्रकरणों में अलग-अलग बातें कही हैं; उनसे संदेह में नहीं पड़ जाना चाहिये। अतः गीता आदि किसी भी शास्त्र का विचार करने के लिये कहाँ किस प्रसंग को लेकर क्या कहा गया है, यह प्रकरण-विभाग जाने बिना जो एकाध श्लोक या एकाध प्रकरण को लेकर अर्थ करते हैं वे भ्रम में ही पड़ते हैं। शास्त्र में विरुद्ध सिद्धांत नहीं प्रतिपादित किये जाते। आवश्यकता है साम्प्रदायिक रीति से प्रकरण-विभाग जानकर शास्त्रोक्त विषय को समझने की। यहाँ भगवान् ने लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि का भेद स्पष्ट करके बता दिया कि लौकिक दृष्टि से मारते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से नहीं मारता। यह इस प्रसंग में स्पष्ट किया।।१७।।

कर्म का कारण बताकर अब कहते हैं कि कर्म में क्या प्रवृत्त करता है, कर्म की प्रवृत्ति का हेतु क्या है? -

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।१८।।

ज्ञान, ज्ञानों के विषय और (उपाधि-वाला चेतनरूप) भोक्ता - ये कर्मों के तीन प्रकार के प्रवर्तक हैं। करण, (क्रिया-विषयरूप) कर्म और (उपाधिवाला चेतनरूप) कर्ता - इन तीन तरह की वस्तुओं में क्रिया रहती है।

ज्ञान - कर्म की प्रवृत्ति के लिये जिसके द्वारा सब चीज़ें जानी जाती हैं, उसकी आवश्यकता है। 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानं' जिसके द्वारा जान लिया जाता है वह ज्ञान है। सभी विषयों को वही जानने वाला है। उसी के होने से कुछ भी जाना जाता है। आत्मा के होने से आँख देखती है, कान सुनता है। आत्मा के न होने पर कान सुनेगा नहीं, आँख देखेगी नहीं। आत्मा के होने से सारे ज्ञान होते हैं। यह सभी विषयों का समान भाव से ज्ञान है। विशेष ज्ञान तो है जैसे घड़े का, कपड़े का ज्ञान होता है; उस ज्ञान की बात नहीं कर रहे हैं। उस ज्ञान के लिये तो मन अपेक्षित है। यहाँ उसे ज्ञान कह रहे हैं जिसके होने से सब कुछ जाना जाता है। ठीक जिस प्रकार से अगर कमरे में लट्टू जल रहा है तो सारी चीज़ें उसके प्रकाश में जानी जाती हैं। जानने की क्रिया करने वाला अथवा प्रकाश करने की क्रिया करने वाला लट्टू नहीं है, वह तो प्रकाशरूप है। लट्टू में कोई संदेह भी कर सकता है कि बिजली आने से जलता है इत्यादि, अतः दूसरा दृष्टांत है - सूर्य, चन्द्र प्रकाशरूप हैं ही। तथा ज्ञेय - जानने के जो योग्य है। सामान्य रूप से जो कुछ भी जानने के योग्य है वह सब ज्ञेय शब्द से कह दिया। परिज्ञाता - उपाधि वाला, जो अविद्या कल्पित जीवात्मा है। आत्मा ही उपाधि के द्वारा परिकल्पित होने पर जीव है। जिस प्रकार दर्पण में सूर्य प्रतिबिम्बित हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा अविद्या से परिकल्पित होने पर जीवात्मा है। जब ये तीनों चीज़ें होती हैं तभी सारे कर्मों की प्रवृत्ति हो सकती है। इसलिये कहा - 'त्रिविधा कर्मचोदना' तीनों में से कोई एक भी यदि नहीं होगा तो प्रवृत्ति नहीं होगी।

प्रवृत्ति होती है तो किसी चीज़ को जानते हैं। बुद्धिवृत्ति के द्वारा जानते हैं और उस बुद्धि वृत्ति में उसको जानने की सामर्थ्य है। जैसे हम लोगों को कुछ ही प्रकाश देखने की सामर्थ्य है। उससे अधिक हो तो, और कम हो तो भी हम नहीं देख सकते। सप्तशती के प्रारम्भ में ही कहा है कि कुछ प्राणी ऐसे हैं जो दिन में देखते हैं और कुछ प्राणी हैं जो रात में देखते हैं। कुछ ऐसे हैं जो रात और दिन दोनों में समान देखते हैं जैसे उल्लू रात में देखता है तो दिन में नहीं देखता। कौआ दिन में देखता है तो रात में नहीं देखता। बिल्ली दिन में भी और रात में भी देखती है। रात्रि में भी आदित्य का अनुग्रह प्राप्त करने वाले जंतु देखते हैं अतः प्रकाशरूप आदित्य तब भी मौजूद है परन्तु कौए की आँख नहीं देख सकती। यदि कौए के नहीं देखने का कारण केवल अंधकार होता तो बिल्ली कैसे देखती है? इसलिये मानना पड़ेगा कि वहाँ भी हल्का प्रकाश है जिसको कौए की आँख नहीं देख सकती, उल्लू

की आँख देख सकती है। दिन के समय उल्लू इसलिये नहीं देख पाता कि प्रकाश इतना तेज़ होता है कि उसकी आँख चौंधिया जाती है। जिसे 'सामान्य प्रकाश' कहते हैं उसमें सूक्ष्म प्रकाश मौजूद होते हैं। पहले तो कौए और उल्लू को देखकर यह बात समझ में आती थी, अब तो ऐसा कैमरा या फोटो लेने का यन्त्र बन गया है जो प्रसिद्ध अंधकार में भी चित्र ले लेता है। फ़र्क केवल इतना है कि उस विशेष कैमरे के अन्दर जो काँच लगा होता है उसके अन्दर प्रकाश को अत्यधिक बढ़ाने की शक्ति होती है। जब ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता तीनों इकट्ठे होते हैं तब 'मैंने देखा'– यह व्यवहार होता है। मैं परिज्ञाता, रसगुल्ला ज्ञेय और रसगुल्ले का ज्ञान होता है। रसगुल्ले का ज्ञान होने पर 'मैंने पहले रसगुल्ला खाया था तो बड़ा मजा आया था', यह स्मरण हुआ। स्मरण होने से रसगुल्ला खरीदने की प्रवृत्ति हुई कि 'खरीदूँ और खाऊँ'। उस कर्म में रुकावट भी हो सकती है। जेब में हाथ डाला तो पाया कि जिसे मैंने एक रुपया समझकर लिया था वह तो एक पैसा निकला! रुपये के सिक्के के माप का पैसा हाथ में आया, ज्ञान हुआ तो ज्ञेय पैसा, मैंने जाना अतः मैं परिज्ञाता। खरीदने में प्रतिबन्धक हो गया, अतः दुकान की तरफ जा रहा था लेकिन लौट आया, मैंने रोकने का काम किया। ये तीनों चीज़ें होंगी तभी यह सब होगा। ये तीनों चीज़ें इकट्ठी हो जाने पर किसी चीज़ को ग्रहण करने के लिये या किसी चीज़ को छोड़ने के लिये क्रिया होती है। सारे कर्म आरम्भ करने वाले ये ही हैं।

'कर्मसंग्रहः' – कौन-सी तीन चीज़ें मिलकर कर्म सम्पन्न होगा? 'करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः'। करण– जिसके द्वारा किया जाता है। जैसे बाँसुरी है तो बजाई जायेगी या पैसा है तो रसगुल्ला खरीदा जायेगा। 'क्रियत अनेन इति करणं' जिसके द्वारा किया जाता है उसे करण कहते हैं। हम लोगों के करण आँख, कान, हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ हैं और अन्दर में स्थित मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी करण हैं। जैसे आँख से देखते हो वैसे ही बुद्धि से अनुमान करते हो। जैसे आँख से देखकर ज्ञान होता है वैसे बुद्धि के द्वारा अनुमान करके ज्ञान होता। मान का मतलब प्रमाण होता है। लिंग को देखकर वस्तु का ज्ञान होता है जैसे धुएँ को देखकर 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है' यह स्मरण होकर, वहाँ आग है – यह जो ज्ञान होता है वह अनुमान बुद्धि का ज्ञान है क्योंकि आँख के द्वारा तो देखा नहीं। आँख के द्वारा देखे जाने से ही ज्ञान हो, यह ज़रूरी नहीं। जो भी ज्ञान का साधन है वह ठीक होना चाहिये। इसलिये यहाँ बाह्य करण आँख, कान इत्यादि और अन्दर के करण बुद्धि आदि दोनों समझ लेना। कर्म– जो कर्त्ता को सबसे अधिक इष्ट होता है उसी को कर्म कहते हैं। जैसे भोजन करने बैठे तो भात खाना इष्ट है। भात चूँकि बिना दाल के खाया नहीं जा सकता इसलिये दाल मिलाकर भात खाते हैं, परन्तु खाना तो भात ही है। रोटी साग से खाते हैं। साग स्वादिष्ट बने तो बच्चा केवल साग ही खाता है तब माँ डाँटती है कि 'साग अकेला खाने के लिये नहीं है'। जो इष्टतम होता है, जिसे हम क्रिया के द्वारा व्याप्त करना चाहते हैं उसको कर्म कहते हैं। कर्त्ता – जो इन्द्रियों को व्यापृत करता है। इन्द्रियाँ

व्यापार में प्रवृत्त होंगी। कोई आदमी ज़रूरी बात बता रहा होता है तो ध्यान से सुनने के लिये आदमी आँख बन्द कर लेता है। इसी प्रकार हल्लेगुल्ले में देखना पड़े तो कान बन्द करके हीरा देखने की कोशिश करते हैं। जो करणों या साधनों को व्यापार में लगाता है वह कर्त्ता हुआ। जैसा पहले बताया, यह (कर्त्ता) अहंकार रूपी जो अंतःकरण की वृत्ति है, उस उपाधि वाला जीवात्मा है। कर्म में प्रवृत्ति तब होगी जब ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता हों और प्रवृत्ति सम्भव तब होगी जब करण, कर्म और कर्त्ता- तीनों हों। इस प्रकार कर्म प्रवर्त्तक कौन है- यह भगवान् ने स्पष्टरूप से बता दिया।।१८।।

इसे बताने में हेतु क्या है? यह सब किसलिये बता रहे हैं? क्रिया, कारक, फल इन सबको आगे त्रिगुणात्मक बताना है। इनकी त्रिगुणात्मकता से क्रिया की त्रिगुणात्मकता का पता लगेगा। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता सात्त्विक, राजस, तामस भेद वाले हैं, तदनुकूल ही कर्म- प्रवृत्ति होगी। इसी प्रकार करण कर्त्ता और विषय भी सात्त्विक राजस तामस भेद वाले होंगे, उसके अनुसार ही वह कर्म सात्त्विक राजस तामस समझ में आयेगा। इन तीनों के ऊपर ध्यान देना ज़रूरी है। केवल परिज्ञाता सब कुछ करता है - यह भ्रम हम लोगों को होता है। लोग कहते हैं कि 'खुद को बदल लो तो सारा संसार बदल जायेगा'। खुद को कितना भी बदल लो, *सारा* संसार तो बदलेगा नहीं क्योंकि करण, कर्म इत्यादि भी तो उसके अन्दर निहित हैं। इसलिये जो कर्म के प्रवर्तकों और कर्म को सम्पन्न करने वालों को भगवान् ने बताया है वह इसीलिये कि इनकी त्रिविधता को जानना है। वही बताते हैं-

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

गुणों के बारे में सम्यक् बताने वाले शास्त्र में ज्ञान, क्रिया और कर्त्ता गुणों के भेद के अनुसार तीन तरह के ही बताये जाते हैं। शास्त्रानुसार उन्हें भी सुनो।

यहाँ श्लोकस्थ 'कर्म' का मतलब क्रियामात्र समझना। पूर्वश्लोक में तो कर्म का अर्थ किया था क्रिया से जिसे व्याप्त करना चाहते हो अर्थात् क्रिया का विषय, लेकिन यहाँ कर्म का मतलब क्रिया है। कर्त्ता अर्थात् कर्म को निष्पन्न करने वाला। इस प्रकार ज्ञान, क्रिया और कर्त्ता तीन प्रकार के हैं। 'त्रिधैव' में 'एव' के द्वारा बताते हैं कि गुण चूँकि तीन ही हैं, इसलिये ये भी तीन प्रकार के ही होंगे। इन गुणों से अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है जिसके अन्दर इनको बाँटा जा सके। ज्ञानादि या सात्त्विक होगा या राजस या तामस होगा। यदि इन तीनों गुणों से अतीत कोई है तो वह कर्त्ता नहीं हो सकता। तीन गुणों के द्वारा ही क्रिया निष्पन्न होगी। इनके बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। 'एव' पद के द्वारा बता दिया कि इन तीन के सिवाय चौथा नहीं है।

'गुणभेदतः' सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के भेद से तो कह दिया लेकिन यह कैसे पता लगा, कहाँ पता लगा? वेदों में तो गुणों का वर्णन आया नहीं है। अतः कहा

'गुणसंख्याने' गुणों को भली प्रकार बताने वाले शास्त्र से पता लगा। भली प्रकार से जहाँ प्रकाशित किया जाता है उसी को सांख्य कहेंगे। गुणों का जहाँ भली प्रकार से प्रतिपादन किया गया है वह सांख्य शास्त्र है। गुणों का विचार करने में महर्षि कपिल का बनाया हुआ सांख्य शास्त्र ही प्रमाण है। इतना याद रखना कि ब्रह्म का या धर्म का जैसा वर्णन श्रुतियों में किया गया है उससे विरुद्ध ही इन विषयों में सांख्यशास्त्र का मत है। उन विषयों में तो श्रुतियों का विरोध होने के कारण वह शास्त्र प्रमाण नहीं है। इसलिये केवल 'संख्यान' न कहकर 'गुणसंख्यान' कहा है। गुण और गुणवालों के बारे में तो सांख्य शास्त्र प्रमाण है, परन्तु धर्म, आत्मस्वरूप और जगत्कारण के बारे में वेदविरुद्ध होने से प्रमाण नहीं है। भगवान् कहते हैं - 'तानि यथावत् शृणु' जैसा वहाँ महर्षि कपिल ने बताया है वैसा ही मैं आगे बताने जा रहा हूँ अर्थात् कापिल शास्त्र के अनुसार ज्ञान, कर्म आदि का भेद और विचार मैं बता रहा हूँ, उसे तुम ध्यान देकर सुनो अर्थात् कही हुई बात पर मन एकाग्र करो। 'अपि' कहकर स्पष्ट कर दिया कि किसी शास्त्र में कोई बात कही गई हो जिसका वेद से विरोध नहीं है तो उसका भी संग्रह कर लेना चाहिये। इसलिये वैदिकों का यह न्याय है कि जितने आस्तिक शास्त्र हैं उनकी जिस मान्यता का जिस शास्त्रविशेष में निषेध न किया जाये, समझ लेना चाहिये कि उसे स्वीकारकर ही वह शास्त्र भी प्रवृत्त हो रहा है। सर्वत्र आपस में यह नियम है कि 'यन्न निषिध्यते तत् स्वीक्रियते' जिसके बारे में निषेध नहीं होता है उसे हम स्वीकार करते हैं। जहाँ भेद है वह बता देते हैं, परन्तु जो बातें दूसरों की तरह मानते हैं उन्हें सिद्ध करने की विशेष अपेक्षा हर शास्त्र में नहीं मानते। जैसे, बौद्ध कहता है कि आत्मा है ही नहीं। गौतम महर्षि बड़े ऊहापोह से सिद्ध करते हैं कि आत्मा है। इस प्रकार जब नैयायिक ने बौद्धों को न्याय-पूर्वक जवाब दे दिया तो 'आत्मा है' इस के लिये दूसरे शास्त्र को प्रयास करने की ज़रूरत नहीं है, 'आत्मा है' यह बात न्यायशास्त्र से समझ लो। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप है। नैयायिक उसे ज्ञानस्वरूप नहीं मानता। वह कहता है कि आत्ममनःसंयोग से ज्ञान पैदा होता है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है - इसे सांख्य शास्त्र सिद्ध करता है। आत्मा आनन्दरूप भी है यह वेदांत में स्पष्ट किया गया है। आत्मा है तो सच्चिदानन्दरूप, लेकिन एक शास्त्र ने 'सत्' पर दूसरे ने 'चित्' पर ज़ोर दिया और तीसरे वेदान्त ने आनन्द के ऊपर ज़ोर दिया। ये सब मिलकर सच्चिदानन्द आत्मा को सिद्ध कर देते हैं। क्योंकि गुणों के बारे में कापिल मतमें ही विचार है इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं गुणसंख्यान के अनुसार बताऊँगा, उनको भी सुनो अर्थात् जीवनक्रम व्यवस्थित करने में उनका भी संग्रह करना चाहिये।।१९।।

सब से पहले ज्ञान का सात्त्विक, राजस, तामस भेद बताते हैं -

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

बँटे हुए सब प्राणियों में जिसके द्वारा (तत्त्वज्ञ) एक, अविकारी, न बँटे हुए आत्मा को देखता है उस ज्ञान को सात्त्विक समझो।

सात्त्विक ज्ञान कौन-सा है? 'विभक्तेषु' हम लोगों को जितने पदार्थ प्रतीत होते हैं वे सब एक दूसरे से अलग प्रतीत होते हैं। सात्त्विक ज्ञान उनके अन्दर एकता को ढूँढ लेता है। जैसे मिट्टी का घड़ा, मिट्टी का सिकोरा, मिट्टी की परई – तीन चीज़ें हैं। तीनों अलग-अलग हैं यह तो हल चलाने वाला भी जानता है। परन्तु जानकार समझ लेता है कि ये तीनों एक मिट्टी मात्र से ही पैदा हुए हैं इसलिये स्वरूप से मिट्टी ही हैं। ये आपस में एक दूसरे से चाहे जितने अलग दीखें परन्तु सचमुच में मिट्टी ही है – यह सात्त्विक ज्ञान है। यह बात सबकी समझ में आती है। लोग पूछते हैं कि 'उसने शादी में क्या दिया?' कहते हैं – 'तीस तोले सोना दिया।' सीधे तीस तोले सोना तो उठाकर नहीं दे दिया, इसलिये मतलब है कि तीस तोले सोने के गहने दिये। इस प्रकार विषयों में 'विभक्तों में अविभक्त' देखना तो हरएक व्यक्ति कर लेता है, परन्तु कहाँ यह ज्ञान नहीं कर पाता? एक बहुत बड़ा चोर हत्यारा है और दूसरा किसी के धन की तरफ दृष्टि भी नहीं करने वाला और मक्खी को भी नहीं मारने वाला है, इन दोनों में एकता देखना सात्त्विक ज्ञान है क्योंकि आत्मा तो दोनों के अन्दर एक है। जहाँ उपाधि के प्रति हमारा राग-द्वेष ज़्यादा होता है वहाँ उपाधि-प्रधान ज्ञान होता है इसलिये एकता समझ में नहीं आती। जहाँ उपाधि गौण हो जाती है वहाँ उपाधि वाले का ज्ञान होता है, तब एकता समझ में आती है। जैसे घड़े, सिकोरे, परई के नामरूपों की उपाधि वाली मिट्टी तीनों उपाधियों के अन्दर एक जैसी है किन्तु घड़े का काम परई से नहीं हो सकता, परई का काम घड़े से नहीं हो सकता। जिस नाम-रूप से जो व्यवहार करना है उससे वही व्यवहार हो सकता है। फिर भी ये तीनों भेद देखते हुए ही तुमको ज्ञान है कि यह मिट्टी ही है। अथवा, करधनी को तुम कण्ठा बनाकर गले में नहीं लटका सकते। जहाँ जो गहना पहनना है वहीं पहनोगे। परन्तु इस प्रकार सब अलग पहनते हुए ही 'यह सब सोना है' यह ज्ञान तुम्हारा कभी हटता नहीं। इसी प्रकार से चोर और हत्यारे की उपाधिवाला और सर्वथा अपरिग्रही और मक्खी को भी नहीं मारने वाला अहिंसक, दोनों उपाधियों वाला आत्मा तो एक ही है। जब नाम-रूप की उपाधि से व्यवहार करोगे तब व्यवहार तदनुकूल ही होगा। जैसे करधनी जहाँ पहनी जाती है वहीं पहनी जायेगी।

वैसे ही अपराधी दण्ड ही पायेगा, सत्कर्मी पुरस्कार ही पायेगा। बहुत से लोग उपनिषद् में कथित आत्मा के इस स्वरूप को न समझकर नाम-रूपों की एकता करना चाहते हैं! व्यवहार तो नाम-रूप से होता है। जैसा शास्त्रसम्मत है वैसा ही व्यवहार होगा, विभक्तों में अविभक्त के ज्ञान से विभक्त पदार्थों के व्यवहार में कोई भेद नहीं आता है। आधुनिक लोग 'अविभक्तं विभक्तेषु' को मनुष्य के साथ तो लगाना चाहते हैं कि 'मनुष्य-मनुष्य सब एक हैं'; परन्तु भगवान् 'सर्वभूतेषु' कहकर सावधान करते हैं कि पेट में होने वाले अमीबा से

लेकर, देश के राष्ट्रपति तक, दोनों में एक ही आत्मा को देखना है, केवल आदमी-आदमी की ही एकता नहीं है! अव्यक्त से लेकर घास के तिनके तक ज्ञान के द्वारा उस अव्यय भाव अर्थात् कभी न बदलने वाले भाव को, आत्मपदार्थ को देखना है। वह अव्यय है क्योंकि अपने स्वरूप से उसमें कभी कमी नहीं आती। रोज़ मंत्र बोलते हैं 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' पूर्णब्रह्म से यह सारा विशाल पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है फिर भी परमात्मा में कहीं कमी नहीं आती। इसलिये उसे अव्यय भाव कहा। जो वास्तविक चीज़ होती है वह हमेशा रहती है। संस्कृत में 'भू' का अर्थ सत्ता होता है। सत्ता वह है जो हमेशा रहे। पहले सत्ता न हो, फिर सत्ता आये और फिर सत्ता चली जाये, तो इसका मतलब है कि उस चीज़ में वस्तुतः सत्ता नहीं है, आने जाने वाली है। परन्तु जो स्वयं सत् है, वह हमेशा सत् ही रहेगा, नाम-रूप बदलते रहेंगे। मिट्टी है, घड़ा है, घड़े को फोड़ दिया तो कपाल है, कपाल के टुकड़े कर दिये तो ठीकरा है, यों 'है' का स्वरूप अव्यय है, उसमें कभी कमी-बेशी नहीं आती। नाम-रूप में कमी-बेशी हो जाती है। इसलिये भाष्य में स्पष्ट किया 'न व्येति स्वात्मना धर्मैर्वा'। ऐसा भी नहीं होता कि आत्मवस्तु स्वरूपतः ही न रह जाये और ऐसा भी नहीं होता कि उसके सत्य-ज्ञान-अनन्त ये धर्म न रह जायें। जैसे यदि ब्राह्मण शराब पीने लगे तो कहना पड़ता है कि 'यह ब्राह्मण नहीं है'। इसका मतलब है कि वह ब्राह्मणत्व धर्म से रहित है, बाकी, ब्राह्मण माँ-बाप से पैदा हुआ है तो ब्राह्मण रहेगा ही। इसलिये यहाँ 'ब्राह्मण नहीं है' का मतलब यह नहीं है कि उसका स्वरूप ब्राह्मण नहीं है वरन् है कि ब्राह्मणधर्म से रहित है। इस प्रकार आत्मा को 'नहीं है' या 'सत्य-ज्ञान-अनन्त नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह दोनों तरह से अव्यय है। जो अव्यय पदार्थ सभी पदार्थों में विद्यमान है, उसे जिस ज्ञान के द्वारा विद्वान् देखता है वह ज्ञान सात्त्विक है।

यह चीज़ आँख से देखने में नहीं आयेगी क्योंकि आँख तो नाम रूपों को देखेगी। 'ईक्षते' अर्थात् बुद्धिवृत्ति के द्वारा देखता है। आँख तो विभक्त को ही देखेगी। परन्तु उन सब में जो एक-जैसा होने वाला सच्चिदानन्द रूप है, उसे बुद्धि देखेगी। कौन-सी बुद्धि देखेगी? जैसे जिसने सुनार का काम सीखा है वह सोने की परीक्षा करना जानता है। दूसरों के लिये तो कोई भी पीली चीज़ चमकती है तो सोना होती है! सुनार से सोने की परीक्षा सीखा हुआ ही ठीक से समझ सकता है कि सोना कहाँ है और कहाँ नहीं है। इसी प्रकार वेदों को भली प्रकार से पढ़कर जो उसके संस्कारों से संपन्न होता है, उसकी ही समझ में आता है कि वह एक अव्यय भाव कैसा है। जब तक शास्त्र के संस्कार बुद्धि में नहीं होते तब तक यह एकता समझ में नहीं आती। जो शास्त्र के संस्कारों वाली बुद्धि है, वही देखती है, शास्त्रीय संस्कारों से रहित बुद्धि नहीं देख पायेगी। भगवान् कहते हैं 'तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं' यह जो अद्वितीय आत्मा सबका अधिष्ठान है, इसके ज्ञान को जो कराता है वह सात्त्विक दर्शन है, वास्तविकता का दर्शन है। सात्त्विक कहकर बताया कि यही ज्ञान करने लायक है, अन्य ज्ञान हेय है।।२०।।

राजस और तामस ज्ञान परित्याग के योग्य हैं। जितने द्वैत दर्शन हैं वे वास्तविक यथार्थ

ज्ञान नहीं हैं। यथार्थ ज्ञान ही जन्म-मरण के चक्ररूपी संसार को काट सकता है, गलत ज्ञान नहीं काट सकता। इसलिये उपादेय अद्वितीय ज्ञान को बताने के बाद हेय राजस, तामस ज्ञानों को बताते हैं-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

(अज्ञ व्यक्ति सोच-विचारकर) सब प्राणियों में अलग-अलग तरहों के परस्पर विभिन्न अनेक आत्मायें हैं ऐसा जिस ज्ञान से समझता है उसे तो राजस जानो।

'तु' का मतलब होता है पहले आई हुई बात से सर्वथा भिन्न प्रकार की बात। हिन्दी में इसी को 'तो' कहते हैं। अर्थात् सात्त्विक ज्ञान उपादेय है और उससे सर्वथा भिन्न ये राजस और तामस ज्ञान छोड़ने के लायक हैं। यह ज्ञान कैसा है? 'नाना भावान्' अनेक वस्तुएँ हैं ऐसा समझता है। सात्त्विक ज्ञान में एक भाव कहा, यहाँ नाना भाव कहे हैं। इस ज्ञान से समझ आता है कि प्रत्येक शरीर के अन्दर आत्मायें अलग-अलग हैं। इसमें एक आत्मा की दृष्टि न होकर अनेक आत्मा की दृष्टि है। 'पृथग्विधान्' उन सबका लक्षण भी अलग-अलग लगता है। कोई सुखी तो कोई दुःखी है, कोई पुण्यात्मा तो कोई पापात्मा है। इस प्रकार से सब वस्तुतः अलग-अलग लगते हैं। इसलिये इस ज्ञान से अज्ञानी व्यक्ति आत्मा को प्रत्येक शरीर में भेद से देखता है, 'वेत्ति' जानता है। यद्यपि 'ज्ञानं वेत्ति' - ज्ञान जानता है - कहा तथापि 'ज्ञनेन वेत्ति' - ज्ञान से जानता है - यह भाव है। यह लक्षणा करना इसलिये ज़रूरी है कि ज्ञान जान नहीं सकता। जिस ज्ञान से सब प्राणियों के अन्दर अलग-अलग आत्मायें हैं इस प्रकार से अज्ञों द्वारा समझा जाता है उसको राजस ज्ञान समझो अर्थात् रजोगुण से होने वाला ज्ञान समझो। इसे रजोगुण से होने वाला क्यों कहते हैं, इसमें कारण बड़ा सीधा है कि रजोगुण ही राग-द्वेष करता है इसलिये अलग-अलग प्राणियों के अन्दर सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति द्वेष होने से सबको एक नहीं समझ सकता। भेद-बुद्धि वालों का सोचना है कि पाप कर्म अलग और पुण्य कर्म अलग हैं, इसलिये पापकर्मी पुण्यकर्मी से एक नहीं हो सकता। भेद के प्रति जो राग-द्वेष हैं, इस कारण ही रजोगुणी को आत्मायें भिन्न-भिन्न लगती हैं। इसीलिये इसको राजस ज्ञान कहा। इस ज्ञान द्वारा सूक्ष्म शरीर से एक हुआ आत्मा समझा जाता है। पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी आदि भेद शरीर को लेकर हैं। अतः ये लोग सूक्ष्म शरीरों में रहने वाले आत्मा को अलग-अलग समझते हैं, स्थूल शरीर बदलने से सूक्ष्म शरीर नहीं बदलता - यह इनकी मान्यता है। इसलिये ये रजोगुणी कहे गये।।२१।।

जो तमोगुणी हैं वे इनसे भी एक कदम आगे जाते हैं :-

यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जो ज्ञान तो निरुपपत्तिक, वास्तविक विषय से रहित, तुच्छ, तथा एक उपाधि में ऐसे संलग्न रहता है मानो वही परिपूर्ण हो, वह तामस कहा गया है।

रजोगुणी दृष्टि तमोगुणी दृष्टि से तो फिर भी अच्छी है। इसलिये 'यत्तु' पद से कहते हैं कि यह तो रजोगुणियों की अपेक्षा भी हेय है। तामस ज्ञान वालों की मान्यता है : कार्य अर्थात् स्थूल शरीर जो पुण्य-पाप के द्वारा पैदा हुआ है। 'एकस्मिन् कार्ये' - हर-एक स्थूल शरीर के अन्दर अलग-अलग आत्मा है, ऐसा ये मानते हैं। यहाँ प्राणियों के और परमात्मा का, दोनों के देह समझ लेना। तामस ज्ञानी परमात्मा का भी स्थूल शरीर ही मानते हैं। इनमें कुछ लोग तो स्थूल शरीर से प्रतिमा इत्यादि को ले लेते हैं कि अमुक प्रतिमा ही परमात्मा है। कुछ लोग प्रतिमा को न लेकर दिव्य शरीर को ले लेते हैं। कोई कहेगा कि परमेश्वर तो चार भुजाओं वाला ही है, है शरीर वाला ही। प्रतिमा से तो वह शरीर सूक्ष्म है परन्तु फिर भी शरीर स्थूल ही मानते हैं। स्थूल का मतलब याद रखना - इन्द्रियों के द्वारा जो जाना जाता है उसे स्थूल कहते हैं। जो शास्त्र के द्वारा ही जाना जाता है उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। हैं तो ये दोनों ही शरीर कार्य, फिर भी सूक्ष्म शरीर तो सृष्टि के प्रारम्भ में एक बार उत्पन्न हो गया, इसलिये सृष्टि के बीच में तो उसकी उत्पत्ति नहीं है। परन्तु स्थूल शरीर तो सृष्टि के बीच में ही अनन्त बार पैदा हो जाते हैं। 'एकस्मिन् कार्ये' एक शरीर के अन्दर अर्थात् केवल इस स्थूल शरीर में ही 'मैं' है - ऐसा अपने बारे में समझते हैं और चार हाथ वाला या स्त्री शरीर में ही परमेश्वर है अथवा प्रतिमा में ही ईश्वर है ऐसा ईश्वर के बारे में मानते हैं। इस प्रकार से 'कृत्स्नवत्' समग्र भाव से उसको ही देखते हैं कि केवल यही है, यही सम्पूर्ण है। चार भुजा वाला शरीर ही सम्पूर्ण ईश्वर है और यह स्थूल शरीर ही सम्पूर्ण मैं हूँ - ऐसी इनकी समझ है। सारी सृष्टि का परमेश्वर केवल उसी एक शरीर में है और अपना संपूर्ण आत्मा इसी एक शरीर में है - ऐसा मानते हैं। बाल्यावस्था का शरीर, युवावस्था, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था का शरीर - ये सब परिवर्तन देखने पर भी उनका आग्रह है कि केवल यह शरीर ही सब कुछ है! पुद्गलों के समूह को आत्मा मानने वाले दिगम्बरों की मान्यता भी तामस है और चार्वाक आदि जो इस शरीर को आत्मा मानते हैं वे भी तामस हैं। 'केवल इतना ही परमेश्वर है और इतना ही जीव है, इससे भिन्न और कुछ नहीं है' - यह जो उनकी मान्यता है वह युक्तियों से विरुद्ध है। जैसा अभी बताया, प्रत्यक्ष से ही शरीर में कितने परिवर्तन दीखे। इनमें से बाल्यावस्था वाले शरीर को या वृद्धावस्था वाले शरीर को, किसको कहेंगे कि यही आत्मा है, उससे भिन्न नहीं है? इसलिये उनकी मान्यता सर्वथा अयौक्तिक है। इसी प्रकार परमेश्वर के शरीर का वर्णन करने वाले जो शास्त्र हैं वे उस परमेश्वर के सभी शरीरों का प्रतिपादन एक जैसा ही करते हैं। फिर भी बिना कारण के कह देते हैं कि जिसे वे मानते हैं वह चतुर्भुजी, पंचमुखी आदि कोई एक वर्णन तो परमेश्वर का है और दूसरे वर्णन केवल उसकी प्रशंसा में कर दिये गये हैं! बिना किसी युक्ति के वे ऐसा मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं? क्योंकि जैसे इस शरीर में आसक्ति है तो इसे ही आत्मा मानते हैं; उसी प्रकार किसी पाषाण आदि प्रतिमा में अथवा किसी रूप आदि

में उनकी आसक्ति है तो उसको ही आत्मा मानते हैं। कारण कुछ और नहीं है, अपनी आसक्ति ही कारण है। कृत्स्नवत् मानते हैं अर्थात् सारे विषयों को ग्रहण करने वाला जो कृत्स्नभाव है उसको एक कार्य में मानते हैं। यदि जीव का शरीर हुआ तो बालकपन से लेकर वृद्धावस्था तक किसी एक शरीर को ही पूर्ण कहते हैं। इसलिये बहुत से लोग कहते हैं कि सोलह साल में ही पूर्ण होता है, उससे पहले पूर्ण नहीं है। सोलह का ही पूर्ण क्यों है, बत्तीस साल का क्यों नहीं? इसमें कोई हेतु नहीं है। केवल हमें अच्छा लगता है – इस आसक्ति के सिवाय और कोई कारण नहीं बता सकते।

जो चीज़ जैसी होती है उसे वैसा जानना तो तत्त्वार्थ है। तत् अर्थात् जो चीज़ है उसका अपना भाव तत्त्व है। जैसे मनुष्य का भाव मनुष्यत्व वैसे ही किसी चीज़ की जो वास्तविकता है वही तत्त्व है। वह तत्त्व वस्तुतः जिसका विषय है, वह तत्त्वार्थ है। उनकी मान्यता तत्त्वार्थ वाली नहीं, अतत्त्वार्थवत् है, आत्मा जैसा है, उसे वैसा न जानकर किसी भी चीज़ को वे आत्मा मान लेते हैं। इसीलिये वह ज्ञान अल्प है, तुच्छ है, अल्पविषयक है। साढ़े तीन हाथ का शरीर या साढ़े तीन सौ हाथ का शरीर हो, व्यापक तो नहीं है। चूँकि अल्प है इसलिये वह ज्ञान अल्प ही फल देता है। ध्यान आदि करते हो, चित्त थोड़ी देर के लिये शान्त हो जाता है, कहते हो 'बड़ा अच्छा हुआ, हमारी प्रगति हो गई, बड़ी शान्ति मिली'। किन्तु अल्पविषय है इसलिये अल्प ही उसका फल भी है। भगवान् पहले कह आये हैं कि तमोगुणी लोगों की जहाँ श्रद्धा होती है उनको भी मैं वहाँ फल दे देता हूँ। परमेश्वर सर्वव्यापक होने से उस पत्थर में भी है ही। अतः जो कुछ पूजा की, उसका फल परमेश्वर ही उस उपाधि से दे देगा लेकिन वह होगा अल्प ही। उससे मोक्ष आदि बड़े फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती। उससे थोड़ा-बहुत धन मिल जायेगा, अथवा शरीर की थोड़ी-बहुत अवस्था ठीक हो जायेगी, रोग आदि दूर हो जायेगा, बेटा आदि पैदा हो जायेगा, इतना ही फल होता है। क्योंकि वह आसक्ति वाला है, इससे ज़्यादा वह बात को समझता ही नहीं, इसीलिये उसीमें संतुष्ट होकर रहता है। इस प्रकार परमेश्वर को परिच्छिन्न रूप में मानने वाले संसार में अधिकतर लोग हैं क्योंकि तमोगुणी ही सर्वत्र हैं, तमोगुण ही चारों तरफ फैला रहता है। उसकी अपेक्षा कम रजोगुणी और सात्त्विक तो लाखों में कोई एक ही होता है। अधिकतर लोग तो अल्प फल ही चाहते हैं जैसे धन मिल जाये, रोग दूर हो जाये, पुत्र पैदा हो जाये, व्यापार ठीक हो जाये। अल्प विषय और फल वाले ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं। तात्पर्य यही है कि जो तमोगुणी प्राणी हैं, अविवेकी हैं, उनमें ऐसा ज्ञान देखा जाता है। इस प्रकार से भगवान् ने अद्वितीय ज्ञान को सात्त्विक बताया, अनेकता के ज्ञान को राजस और केवल स्थूल महाभूतों के कार्य में ही दृष्टि रखने को तामस ज्ञान बताया।।२२।।

तीन प्रकार के कर्मों को बताते हैं :-

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

कर्म में आसक्ति बिना रखे, राग-द्वेष से बिना प्रेरित हुए जो नित्य कर्म फल न चाहने वाले द्वारा किया जाता है वह सात्त्विक कहा जाता है।

नियत - जो कर्म नियत हैं, हमारे लिये निश्चित किये हुए हैं कि हमें करने हैं। जो नियत कार्य होता है उसके लिये शास्त्रों ने बताया है कि द्रव्य और सामर्थ्य की कमी से यदि वह कर्म व्यंग हो जाये, एक-दो अंग पूरे न भी हों, तो भी वह अपना फल देगा ही। चूँकि शास्त्र ने तुम्हारे लिये नियत कर दिया, अतः उसे करने में यदि तुम्हारे शरीर, मन में कोई कमी है जिसके कारण तुम उस कर्म का सारे अंगों से सम्पादन नहीं कर पाते हो, तो भी वह तुम्हें फल दे देगा। जैसे संध्यावन्दन करने का नियम बताया 'अहरहः संध्यामुपासीत'। मान लो कहीं तुम्हें जल नहीं मिला, राजस्थान के किन्हीं धोरों में फँस गये, वहाँ पानी मिलने का प्रश्न ही नहीं, वहाँ बिना जल के भी केवल मंत्रमात्र बोलने से तुमने संध्या कर ली तो फल हो जाता है। इसी प्रकार स्नान की विधि है। कहीं जल ही नहीं मिला, अथवा जल मिलने पर भी तेज़ बुखार है तो भी स्नान नहीं कर सकते। ऐसी परिस्थिति में शास्त्रों ने मंत्र-स्नान कहा है। है तो वह व्यंग कर्म, परन्तु असामर्थ्य या किसी चीज़ में असम्भवता होने के कारण नियत कर्म जितना कर सको उतना करो ही। इसलिये जहाँ जल उपलब्ध है और शरीर ठीक होने से स्नान कर सकते हैं, वहाँ मंत्र-स्नान करोगे तो फल नहीं होगा। जो कर्म तुम अपनी कामना से करते हो, वह काम्य कर्म है। वह कर्म तुम प्रारम्भ कर रहे हो इसलिये वहाँ तो सामर्थ्य है या नहीं, यह देखना तुम्हारा फर्ज है। व्यंग काम्य कर्म का फल नहीं मिलेगा। सात्त्विक कर्म वह है जो शास्त्र ने तुम्हारे लिये निश्चित कर दिया। उसके अतिरिक्त कामना से प्रयुक्त हो कर जो कर्म करोगे वह सात्त्विक होना ही नहीं है। केवल शास्त्र की आज्ञा से जिस कर्म को तुम करते हो वह कर्म ही सात्त्विक होगा।

नियत कर्म भी कैसे किया जाये? 'संगरहितं' आसक्ति से रहित होकर किया जाये। कर्म करो परन्तु कर्म में आसक्ति मत करो। संगरहित को ही भगवान् स्पष्ट करते हैं 'अरागद्वेषतःकृतम्' राग-द्वेष से जिस कर्म को करते हो वह तो आसक्ति के कारण करते हो। परन्तु जो राग-द्वेष से नहीं करते उसमें आसक्ति नहीं होती। जो चीज़ अच्छी लगती है उसमें राग होता है, जैसे वैशाख-जेठ में गंगा जी में गोता लगाना बड़ा अच्छा लगता है। लेकन जब शास्त्र कहता है कि माघ के महीने में भी प्रातःकाल गोता लगाओ, तब उसमें द्वेष होता है। अथवा बहुत से आसन हमारे शरीर के किसी रोग को दूर करते हैं। उन आसनों को हम नियत होने से नहीं करते हैं, वरन् इस दृष्टि से करते हैं कि इनसे हमारा रोग ठीक होगा। अथवा किसी डाक्टर ने कह दिया कि रुद्राक्ष पहनने से हृदयरोग या रक्तचाप में फ़ायदा होता है, तब रुद्राक्ष पहनते हैं। भस्म-रुद्राक्ष का शास्त्र ने विधान तो किया है परन्तु हम उसे इसलिये पहन रहे हैं कि उससे अमुक फ़ायदा होगा। तब वह कर्म नियत होने पर भी राग-द्वेष के द्वारा किया गया है इसलिये सात्त्विक कर्म नहीं है। अर्थात् 'यह परमात्मा के द्वारा या शास्त्र के द्वारा निश्चित किया गया है इसलिये मेरा कर्त्तव्य है'- यह

समझकर किया ही सात्त्विक होगा। अच्छा लगना या बुरा लगना उसमें कारण नहीं होगा। अतः राग-द्वेष से रहित होकर कर्म होना चाहिये। 'अफलप्रेप्सुना' जिसमें कर्म के फल की प्रेप्सा अर्थात् तृष्णा नहीं हो, 'अमुक फल मुझे होगा इसलिये कर रहा हूँ' ऐसी फल-तृष्णा से जो रहित है उसके द्वारा किया ही सात्त्विक होगा। केवल शास्त्र की आज्ञा है इसलिये करना है, अर्थात् केवल शास्त्र ही यहाँ प्रवर्त्तक है, न फल की इच्छा और न उस कर्म में होने वाला सुख या दुःख प्रेरक है। इस प्रकार से जो कर्म किया जाता है उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं।।२३।।

अब इससे भिन्न राजस कर्म बताते हैं :-

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

जो तो घमण्डी और फलेच्छुक द्वारा अत्यधिक (अनावश्यक) परिश्रम से कर्म किया जाता है वह राजस बताया गया है।

'तुकार' से कहते हैं कि पहले बताया गया सात्त्विक कर्म उपादेय है और राजस व तामस कर्मों का परित्याग करना है। काम अर्थात् जिसकी कामना की जाती है वह विषय। विषय की ईप्सा है कि 'यह फल मुझे चाहिये'; स्वर्ग चाहिये इसलिये ज्योतिष्टोम करता है। यहाँ शास्त्र या परमेश्वर की आज्ञा प्रधान नहीं है। सात्त्विक तो कर्म इसलिये करता है कि शास्त्र की आज्ञा है इसलिये करना है। शास्त्र ने यह भी कहा है कि ज्योतिष्टोम से स्वर्ग होता है इसलिये यह शास्त्र के द्वारा कहा हुआ तो है परन्तु यह स्वर्गकामना वाले के लिये कहा है। यह नहीं कहा है कि ब्राह्मण हो, इसलिये करो या मनुष्य हो तो इसलिये करो। वरन् कहा कि स्वर्ग की कामना हो, तो करो। किसी-न-किसी विषय की इच्छा से करते हो तो कामेप्सु हो। विषय दोनों तरह के ले लेना - कहीं प्राप्ति विषय होती है, कहीं निवृत्ति विषय होती है। रोगनिवृत्ति हो जाये - इस कामना से करोगे तो भी कामेप्सु हो और स्वर्ग चाहते हो, तो भी कामेप्सु हो। इसलिये वह कर्म अहंकार के साथ किया जाता है। 'साहंकार' में 'अहंकार' का अर्थ अनात्मा में आत्मबुद्धि मत समझना, क्योंकि उस अहंकार के साथ तो सभी कर्मों की प्राप्ति होती है। सात्त्विक कर्म भी तभी हो सकता है जब 'मैं ब्राह्मण' आदि बुद्धि है। अतः यहाँ जिसे लोक में अहंकार, अभिमान, गर्व कहते हैं, उसी वाला होने से राजस कर्ता को साहंकार कहा। सात्त्विक व्यर्थ का अहंकार नहीं करता। सामान्य अहंकार होने पर भी जो गर्वीला न हो वह व्यक्ति निरहंकार ही कहा जाता है। 'मैं बड़ा श्रेष्ठ या मैं बड़ा पण्डित विद्वान् हूँ' इस प्रकार के अहंकार को ही यहाँ साहंकार कह रहे हैं, क्योंकि परमार्थदृष्टि से जिसे निरहंकार कहेंगे उसके लिये तो कामेप्सुता या बहुलायासता या कर्म की प्राप्ति नहीं होती है। जिसको सामान्य भाषा में घमण्ड कहते हैं उससे युक्त है।

बहुलायास कर्म करता है। जितना अपने से न हो सके उससे भी ज़्यादा आयास या परिश्रम

पड़े, ऐसे काम को सिर पर उठाता है। सामान्यतः कर्म राजस व्यक्ति भी उतना ही करता है जितना अपने द्वारा सहज रूप से साध्य होता है। परन्तु यह राग-द्वेष के कारण प्रवृत्त होने से बहुत बड़े-बड़े कामों को अपने सिर पर उठा लेता है जो बहुत आयास या परिश्रम करके निर्वृत्त हों। साहंकारेण का बहुलायास के साथ हेतुहेतुमद्भाव है। वह क्यों ऐसा करता है? क्योंकि अहंकार वाला है, 'मैंने ऐसा कर लिया' इससे उसके अभिमान की पुष्टि होती है। एक तो उसको विषय की कामना है और दूसरे चूँकि वह अहंकारी है इसलिये बहुत बड़े-बड़े परिश्रम के काम सिर पर उठाता है। ऐसे कर्म को राजस कर्म कहा जाता है।

यहाँ 'पुनः' शब्द केवल छन्द के अनुरोध से पादपूर्ति के लिये है। इसका मतलब यह नहीं है कि साहंकार और बहुलायास के बीच में कुछ और कहने का हो। इस प्रकार, विषय की कामना, अहंकार और बहुलायास- ये तीनों चीज़ें राजस कर्म में रहेंगी। वर्तमान में ऐसे कर्म को ही लोग बहुत अच्छा कर्म मानते हैं! अधिकतर लोग राजस-तामस वृत्ति के हैं इसलिये बहुलायास करने वाले की प्रशंसा करते हैं। सामान्य लोग जैसे राजस ज्ञान के प्रशंसक हैं वैसे ही राजस कर्म के भी प्रशंसक होते हैं। भगवान् तो इसको हेय बता रहे हैं।।२४।।

अब तामस कर्म को कहते हैं -

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

प्रभाव, हानि, हिंसा और अपनी सामर्थ्य - इनका विचार किये बिना अविवेक से जो कर्म शुरू किया जाता है वह तामस कहलाता है।

तामस कर्म वह है जो केवल मोह या अविवेक से ही प्रारम्भ किया जाता है। राजस कर्म तो अपनी कामना से किया जाता है, और यह केवल अविवेक से ही प्रारंभ किया जाता है। वर्तमान में तो मोह को बड़ा भारी उन्नति का सोपान माना जाता है! ब्राह्मण क्या करे, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्या करें - यह शास्त्र ने नियत किया है। लेकिन आजकल अविवेक के कारण लोग कहते हैं कि शूद्र व ब्राह्मण में क्यों फ़र्क है! दोनों के चमड़े के ही तो शरीर हैं। जहाँ कानून के कारण भेद है वहाँ यह तर्क लागू नहीं करते। जैसे यदि तुम अनुसूचित जाति से हो तो तुम्हें पढ़ने या नौकरी की जगह में आरक्षित स्थान मिलेगा। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय हो तो वह स्थान नहीं मिलेगा। यदि कोई कहता है 'इसके शरीर और उसके शरीर में क्या फ़र्क है? इसको काम मिलता है तो उसको क्यों नहीं मिलता?' तो आधुनिक लोग कहेंगे - ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि कानून इन्हें आरक्षण देता है। यदि तुम मनुष्यों के द्वारा बनाये हुए कानून को मानते हो तो परमात्मा जब आज्ञा देता है कि मन्दिर के शिखर का दर्शन करके शूद्र को वही फल मिल जाता है जो ब्राह्मण को मन्दिर के अन्दर पूजा करने से मिलता है, तो उसे क्यों नहीं मानते? उसमें कहते हैं कि 'यह नहीं हो सकता, शूद्र को भी मन्दिर में पूजा करने देनी चाहिये।' मनुष्य के बनाये कानून से दोनों का शरीर एक जैसा दीखने पर

भी फ़र्क किया जाता है, लेकिन इतना अधिकार परमात्मा का नहीं है जबकि उसने तो यह भेद तुम्हारे प्राचीन कर्मों को देखकर किया है। आधुनिकों का यही कहना है कि उनकी किताब में लिखा हुआ है, इसलिये उसे मानना ठीक है, और हमारी किताब में लिखा हुआ है तो उसे मानना ग़लत है! परमेश्वर ने हमारा परस्पर भेद करके हमें विभिन्न कार्य करने को कहा है- ऐसा न मानकर हम उससे विरुद्ध कार्य करेंगे, यह मोह या अविवेक ही है। इसलिये कामेप्सु से भी गये बीते हैं तामस। कामेप्सु कर्म तो शास्त्रानुकूल करता है जबकि ये अविवेक से शास्त्रविरुद्ध कर्म करते हैं।

इन्हें किस-किस चीज़ का अविवेक है? सबसे पहले 'अनुबंधम्' - प्रत्येक कार्य के साथ कुछ अनुबन्ध होते हैं कि अमुक-अमुक प्रकार से कार्य किया जायेगा तब यह ठीक फल देगा। बाद में होने वाले फल के लिये जो नियम बनाये जाते हैं वे अनुबन्ध होते हैं। जैसे बी०एस-सी० में भर्ती होने जाओ तो पूछेंगे कि बारहवीं में तुमने विज्ञान पढ़ा या नहीं? यदि नहीं तो उसमें भर्ती नहीं हो सकते क्योंकि यह अनुबंध है कि इसमें भर्ती होने का अधिकारी वह व्यक्ति ही हो, दूसरा नहीं। लेकिन तामस लोग किसी अनुबंध को नहीं मानेंगे। जैसे अनुबंध के अन्दर अधिकारी का विचार है वैसे ही अनुबन्ध में यह विचार भी होता है कि अमुक कर्म का उसके फल के साथ सम्बन्ध है या नहीं। चाहे जिस कर्म से चाहे जो फल नहीं होता। तामस व्यक्ति से कहो कि 'तुम जो कार्य कर रहे हो वह ग़लत है' तो कहेगा 'उसके लिये यह ठीक है तो मेरे लिये ठीक क्यों नहीं?' केवल अधिकारी का विचार ही नहीं, बल्कि उस कर्म के बारे में यह विचार भी ज़रूरी है कि यह कर्म मुझे वह फल क्यों नहीं दे सकता जो दूसरे को दे सकता है। अविवेक से ऐसा मानते हैं कि 'क्योंकि यह भी अच्छा कर्म है, इसलिये मुझे भी वही फल देगा!' जैसे कहते हैं – 'ग्रहणकाल के बीच में ब्राह्मण दान क्यों न ले? यदि बाकी समय दान लेना ठीक है तो ग्रहणकाल में भी लेना ठीक है।' ग्रहणकल में लिया हुआ दान नुकसान करता है, बाकी समय लिया हुआ नुकसान नहीं करता, इसका विवेक वे नहीं करना चाहते। किसी के लिये कोई कर्म अच्छा फल देता है इतने मात्र से दूसरे के लिये भी वह कुछ भी अच्छा फल पैदा कर दे, यह नहीं होता है। राजस चूँकि कामेप्सु है और शास्त्र का विचार करने में सम्यक् बुद्धि वाला है अतः वह देखता है कि 'मेरी अमुक कामना इस कर्म से पूरी होगी या नहीं', यदि पूरी होगी समझता है तभी उस कर्म को करेगा। ऐसा नहीं कि वह किसी भी कामना को पूरा करने के लिये कुछ भी कर्म करे! लेकिन तामस व्यक्ति न कर्म के विषय में और न अधिकार के विषय में विवेक करता है।

'क्षयम् अनवेक्ष्य' तामस व्यक्ति यह भी नहीं देखता कि इस काम को करने में कितनी शक्ति का क्षय होगा, वह शक्ति मेरे में है या नहीं? अथवा इसमें कितना धन खर्च होगा, उतना धन मेरे पास है या नहीं, अथवा कार्य मेरे बूत का है या नहीं, इस बात का विचार नहीं करता। 'हिंसाम् अनवेक्ष्य' इस कर्म को करने से दूसरे प्राणियों को कितनी पीडा होगी,

यह भी नहीं सोचता। दूसरे प्राणियों का मतलब केवल बाहर के प्राणी ही नहीं समझना, कई बार घर के बच्चों के खर्चे की भी बिना सोचे तामस लोग कार्य सिरपर ले लेते हैं। बहुत से व्यापारी इतना बड़ा काम सिर पर ले लेते हैं, नतीजा होता है कि रहने का मकान भी बिक जाता है! उनसे पूछो तो कहते हैं 'मैंने तो अच्छे के लिये किया था।' दूसरों को और अपने को भी पीडा देने को तैयार रहते हैं। 'पौरुषं च अनवेक्ष्य' – मैं इतना बड़ा काम शुरू कर रहा हूँ, इसे समाप्ति तक ले जा सकता हूँ या नहीं? अपनी कितनी सामर्थ्य है – तामस व्यक्ति यह भी नहीं देखता। इन सब चीज़ों के अविवेक से कर्म को प्रारम्भ करता है। राजस के लिये भगवान् ने 'क्रियते' शब्द का प्रयोग किया, सात्त्विक के लिये 'कृत' और तामस के लिये 'आरभ्यते' कहा है। सात्त्विक के लिये 'कृत' कहा अर्थात् जो इस प्रकार से नियत कर्म करने में प्रवृत्त हुआ है, उसके कर्म तो सिद्ध ही हैं, किये हुए ही समझो इसलिये कृत हैं। राजस कर्म करने वाला चूँकि राग-द्वेष से युक्त है, अतः चाहे बहुलायास हो, पर कर लेता है। परन्तु तामस व्यक्ति कर्म को शुरू तो करता है लेकिन उसके अंत तक पहुँचने की आशा नहीं है क्योंकि जिस कर्म को करने में आत्मसामर्थ्य नहीं है उस कर्म को अपने सिर पर ले लेता है। ऐसे अनुबन्ध, क्षय आदि का विचार नहीं करता, अविवेक से उसका प्रारम्भ करता है, इसलिये पहले तो उस कर्म का पूर्ण होना कठिन है और यदि पूर्ण होगा भी तो सुख देगा, यह निश्चित नहीं है।२५।।

भगवान् ने तीन प्रकार के कर्म बताये। अब तीन प्रकार के कर्त्ताओं को बताते हैं। क्योंकि भगवान् ने 'करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः' (१८–१८) कहा था इसलिये कर्म को बताकर कर्त्ता को बताते हैं। सात्त्विक कर्ता बताते हैं क्योंकि कर्ता को ऐसा होना चाहिये।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

आसक्ति छोड़ा हुआ, खुद अपनी बड़ाई न करने वाला, धैर्य व उत्साह से युक्त, फललाभ होने-न-होने से हर्ष-विषाद में न पड़ने वाला कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।

सात्त्विक कर्ता ही सात्त्विक कर्म कर सकता है। सात्त्विक कर्ता कैसा होता है? सबसे पहले कहा – 'मुक्तसंगः' जिसको आसक्ति नहीं है। त्यक्तसंग भी कह सकते थे लेकिन मुक्तसंग यह बताने के लिये कहा कि संग का प्रभाव भी नहीं रह गया है। तभी मुक्त, 'छूट गया' ऐसा कहते हैं। छोड़ा है – ऐसा अभिमान भी नहीं है यह भाव है। जिसने आसक्ति बहुत पहले छोड़ दी, अब उसे आसक्ति प्राप्त ही नहीं होती है जो उसे छोड़े। 'अनहंवादी' – किसी भी कर्म को करके 'यह मैंने किया' इस प्रकार कभी कहता नहीं है। पुराने ज़माने में जब किसी को कहते थे कि 'अमुक काम तुमने बहुत अच्छा किया' तो उसका जवाब हमेशा होता था कि 'भगवान् ने करा लिया। आपके आशीर्वाद से हो गया।' 'मैंने किया' – ऐसा भाव नहीं था। वर्तमान काल में ठीक इसके विपरीत हो गया है! जो काम मैंने नहीं

भी किया, जहाँ थोड़ी बहुत प्रेरणा देने वाला ही मैं हूँ वहाँ भी अहंवदनशील बनते हैं कि मैंने किया। अनहंवादी का यह अर्थ नहीं ले लेना कि अन्दर अहंकार रखकर अनहंवादी है! बहुत से लोग मुँह से नहीं कहते कि 'मैंने किया' परन्तु उनके मन में यह भाव है कि 'मैंने किया' जिसको किसी-न-किसी प्रकार से व्यक्त कर देते हैं कि लोग इस बात को जानें। परन्तु यहाँ भगवान् का यह तात्पर्य नहीं समझ लेना। मन में भी मैंने किया यह भाव न हो और इसलिये ऐसा बोले भी नहीं। अतः भाष्यकार ने कहा 'नाहंवदनशीलः'; मनुष्य का जो स्वभाव हो गया है उसे शील कहते हैं। स्वभाव से ही हम सोचते हैं कि 'यह मैंने किया'। जो इस बात को जानता है कि पूर्वोक्त पाँच चीज़ें करने वाली हैं, कर्त्ता तो उसमें एक है, वह 'मैंने किया' नहीं समझ पाता। सात्त्विक कर्ता है अतः अभी इसके कर्तृत्त्व भाव की निवृत्ति तो हुई नहीं है इसलिये 'मैं कर्ता हूँ' यह भाव गया तो नहीं है परन्तु यह समझ इसे आ गई है कि किसी भी कर्म के अन्दर पाँच कारण होते हैं, उनमें एक मैं भी हूँ। अहंवदनशील का भाव होता है कि मेरे अतिरिक्त बाकी चारों का कोई महत्त्व ही नहीं है। अतः वह समझता है कि 'मैंने ही किया है, बाकी चार कोई खास अपनी सत्ता नहीं रखते'। इसकी सीधी पहचान यह देख लो कि जब कोई कार्य असफल होता है उस समय कोई अहंवदनशील नहीं होता कि 'मैं हारा'! तब बाकी के चार कारणों को कहता है कि 'इस-इस के कारण ऐसा हो गया। इन्द्रियों की ग़लती थी, प्राणों ने सहायता नहीं की, काम करने में पूरा ज़ोर नहीं लगाने दिया, इसलिये ऐसा हो गया, अथवा शरीर कमज़ोर हो गया है, इसलिये ऐसा हो गया।' जानता तब भी है कि 'किया तो मैंने ही' लेकिन उस समय दूसरे सब कारण याद आते हैं और मन में भी असफलता के प्रति अन्य ही कारण जँचते हैं। सात्त्विक कर्ता इसी तरह जीत में, सफलता में भी अहंवदनशील मन में भी नहीं होता।

'धृत्युत्साहसमन्वितः' धृति का मतलब है कि बड़ी से बड़ी विपत्तियाँ सामने आने पर भी उन विपत्तियों का सामना करके डटे रहना, 'धृतिः धारणं' अर्थात् विपत्ति का सामना करके जिस कार्य को हमने प्रारम्भ किया है उस कार्य को करने में लगे रहना। इसलिये नीतिकार भी कहते हैं 'विपदि धैर्यम्' जब विपत्ति आती है उस समय धैर्य होना ज़रूरी है। अन्यथा काम प्रारम्भ करके थोड़ा-सा भी विघ्न आ जाये तो घबड़ाकर छोड़ देते हैं कि 'हमसे नहीं होगा'। करने से पहले दस बार सोचो। आगे तमोगुणी कर्ता में भी कहेंगे और तमोगुणी कर्म में भगवान् कह चुके हैं कि जो तमोगुणी होता है वह बिना विवेक किये हुए काम को शुरू करता है। इन सब चीज़ों का विचार किये बिना जो कार्य प्रारम्भ किया जाता है, विघ्न आने पर धैर्य न होने से झट वह छोड़ दिया जाता है। कार्य प्रारम्भ करने के पहले तो खूब विवेकपूर्वक, विचारपूर्वक निर्णय करो कि 'यह काम हमें करना है या नहीं, इसके लिये अपेक्षित हमारे पास सामग्री, साधन आदि सब हैं या नहीं।' यह सब निर्णय करके कार्य प्रारम्भ करने के बाद यह धृति चाहिये। जो मुक्तसंग होकर कार्य करेगा वह तो शास्त्राज्ञा से करेगा अतः उसको विरोध का सामना करना ही पड़ेगा। वेद कहता है 'तन्न देवानां प्रियं

यन्मनुष्या विद्युः।' देवताओं को तनिक भी अच्छा नहीं लगता कि मनुष्य को आत्मज्ञान हो जाये, अतः देवता डटकर विरोध करते हैं। जैसे ही इस मार्ग में चलेगा वैसे ही विघ्न आने लगेंगे। कभी परीक्षा करके देखो, थोड़ी देर बैठकर विचार करो कि 'पड़ौसी दुकानदार को मैं कैसे नुकसान पहुँचा सकता हूँ।' घण्टा भर सोचोगे तो देखोगे नये-नये विचार आयेंगे और खूब अच्छा लगेगा, उसी बात को खूब सोचते रहोगे। सोचने का तुम्हारा मूड भी कायम रहेगा। इसके बाद रामचन्द्र जी के शरीर के बारे में ऊपर से नीचे तक ध्यान करो तो देखोगे कि जितना मन लगा था उसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं लगेगा! ऐसा क्यों होता है? क्योंकि देवता चाहते नहीं कि कोई परमात्ममार्ग में जाये। इसलिये कहा गया है 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' श्रेय या कल्याण के कार्य को करने जाओगे तो अनेक विघ्न आयेंगे। सात्त्विक कर्ता चूँकि शास्त्रीय कर्म में प्रवृत्त है इसलिये देवता आदि सब विरोध करेंगे, विपत्तियाँ सामने आयेंगी। उनका सामना धैर्य से करोगे तब तो सफल होगे अन्यथा 'मुझ से नहीं होता' कहकर छोड़ दोगे। केवल धृति ही नहीं, उत्साह भी चाहिये। उद्यम करना पड़ेगा। बहुत से लोगों के मन के भाव तो बहुत अच्छे होते हैं परन्तु कार्य करने जाने पर उन के अन्दर उत्साह नहीं रहता। उत्साह का मतलब है उद्यम करने के अन्दर कभी भी पीछे न हटने का भाव। सात्त्विक कर्ता धृति और उत्साह से समन्वित है, युक्त है। समन्वित कहकर भगवान् यह भी संकेत करना चाहते हैं कि ये दोनों चीज़ें उसके सारे व्यक्तित्व के अन्दर मौजूद हैं। केवल मन में धृति और उत्साह होने से भी कार्य नहीं हो पाता। कई लोगों के मन में तो बड़ा उत्साह और धैर्य रहता है परन्तु शरीर के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं तब ढीले पड़ जाते हैं। इसलिये समन्वित कहा कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण इन सबके अन्दर धैर्य व उत्साह अन्वित है, अनुगत है। शरीर आदि के अन्दर सामर्थ्य तो बहुत होती है परन्तु धृति और उत्साह प्रायः नहीं होता, सात्त्विक कर्ता में अवश्य होता है। कर्ता तो अहंकार में प्रतिबिम्बित चेतन है। कर्ता भाव तो उसी में है। परन्तु उस अहं-सम्बन्धी जितनी चीज़ें हैं उनके अन्दर भी यह पर्याप्त रूप से व्याप्त होकर रहना चाहिये।

धृति में यह भाव है कि 'चाहे जितनी विपत्ति आये मैं इस कार्य को करके रहूँगा' और उत्साह या उद्यम भी यही है कि 'इस कार्य को कर लेना है'। इस प्रकार का निर्णय होता है, तब फिर आदमी सफलता पाने पर सुखी और असफल हो जाये तो दुःखी होता है। जिसमें धृति उत्साह नहीं होता है उसको तो ज़्यादा फ़र्क नहीं पड़ता कि कितना फ़ायदा हुआ, कितना नहीं हुआ। परन्तु जब धृति व उत्साह होता है तब अंतर भी पड़ता है। किन्तु भगवान् कहते हैं कि धृति उत्साह तो हो, लेकिन 'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः' काम चाहे सफल हो चाहे असफल हो, जिस काम को कर रहा है उससे फल हो या न हो, हार हो या जीत हो, उसमें निर्विकार रहे। कार्य में असफलता होने पर चेहरे पर एक उदासी आ जाती है और कोई काम ठीक हो जाता है तो चेहरे पर एक तरावट आ जाती है। चेहरा देखकर पता लग जाता है कि काम हुआ या नहीं। भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार का कोई विकार

शरीर आदि में न आये। मुख आदि पर विकार तभी आयेगा जब पहले मन के अन्दर आयेगा, यह तो स्पष्ट ही है। प्रश्न होता है कि यदि सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार होगा तो धृति उत्साह क्यों होगा? इस कठिनाई को हटाने का उपाय है केवल शास्त्र प्रमाण से करना। शास्त्र ने जो कह दिया वह कर दिया, चाहे उसका फल हो या न हो। चूँकि शास्त्र प्रमाण के अनुसार करना है इसलिये धृति और उत्साह पूरा बना रहता है। 'निर्विकारः' से भगवान् कह रहे हैं कि वह फल के लिये प्रवृत्त हुआ ही नहीं है, शास्त्राज्ञा पूरी करने के लिये प्रवृत्त हुआ है और वह आज्ञा पूरी हो गई। इसके अतिरिक्त और कोई फल उसके सामने नहीं है अतः बाकी फल हो तो ठीक और नहीं हो तो ठीक। मोटी भाषा में समझ लो : सवेरे आठ बजे मुझे दुकान खोल देनी है और शाम को पाँच बजे दुकान बढ़ा देनी है, मालिक के इस हुक्म के अनुसार मैं यह नियम से करता हूँ। बढ़िया मौसम आता है तो ग्राहक पर ग्राहक टूट पड़ते हैं, खूब फ़ायदा होता है। जब मौसम नहीं रहता और भयंकर सर्दी पड़ती है तब ग्राहकी नहीं होती। तब भी मालिक का कहा हुआ है तो आठ बजे ही दुकान खोलूँगा, खेलने का हुक्म है इसलिये खोलूँगा। और पाँच बजे से पहले बढाऊँगा भी नहीं। ठीक इसी प्रकार, परमेश्वर ने हमारे लिये जो कार्य बात दिया उस कार्य को हमें करना ही है। उससे फल हो न हो, इससे कोई मतलब नहीं है। अतः धृति और उत्साह इसमें है कि हम शास्त्राज्ञा का पालन कर रहे हैं, इसमें नहीं कि फल होता है या नहीं। जो इस प्रकार करने वाला है उसे सात्त्विक या सत्त्वगुणी कर्ता कहते हैं, अर्थात् वह फल या राग आदि से प्रवृत्त नहीं है, शास्त्राज्ञा से प्रवृत्त है और शास्त्राज्ञा का पालन करने में धैर्य और उत्साह वाला है।।२६।।

अब राजस कर्ता को कहते हैं –

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

रागवान्, कर्मफल पाना चाहने वाला, लोभी, स्वभावतः दूसरों को पीडा देने वाला, बाहरी–भीतरी स्वच्छतासे हीन, हर्ष व विषाद से युक्त कर्त्ता राजस कहा गया है।

राजस कर्त्ता में कामनाओं के अम्बार भरे रहते हैं। सब प्रकार की चीज़ों में इसकी कामना बनी रहती है अतः रागी है। इसको प्रवृत्त करने वाली इसकी कामनायें हैं, शास्त्राज्ञा से इसे कोई मतलब नहीं है। इसमें दृष्टांत की ज़रूरत नहीं है, अपने ही मन को देख लो तो पता लग जायेगा! कर्मफल – प्रेप्सु कर्मफल की इच्छा वाला है। जिसमें राग है उसकी प्राप्ति जिस कर्म से होगी, उसी कर्म में लगता है। जिसके फल की इच्छा नहीं है उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। इसके अन्दर भी धृति उत्साह कम नहीं होता है, परन्तु होता उसी में है जिस से फल मिले। कर्मफल पैदा हो – इसकी तरफ ही उसका ध्यान है। चूँकि कर्मफल को प्राप्त करने

की इच्छा वाला है इसलिये कर्म को प्रारम्भ करके भी अगर इसे पता लग जाये कि इसके अन्दर असफलता ही होनी है तो बीच में भी छोड़ देगा। प्रवृत्त तो राग से हुआ और राग अभी भी बना हुआ है परन्तु 'इस कर्म के द्वारा इष्टफल की प्राप्ति नहीं होगी' यह समझने पर उसे छोड़कर, जिस कर्म से वह फल प्राप्त हो, उसकी तरफ जायेगा। ऐसा कर्त्ता लुब्ध होता है, चाहता है कि 'दूसरों का द्रव्य मुझे प्राप्त हो जाये'। लोभी व्यक्ति अपने धन से संतुष्ट नहीं रहता। मेरे पास एक हजार रुपये हैं और तुम्हारे पास सौ रुपये हैं तो होना तो यह चाहिये कि तुम्हारे सौ मैं क्यों चाहूँ; पर ऐसा नहीं होता, उल्टा होता है कि तुम्हारे सौ भी मेरी जेब में आ जायें। दूसरे के द्रव्य के प्रति राजस की हमेशा लिप्सा रहती है। जैसे धन के प्रति वैसे ही दूसरी चीज़ों के प्रति भी समझ लेना। दूसरे का अच्छा मकान देखता है तो सोचता है कि 'अपना मकान भी ऐसा होता तो अच्छा था'। दूसरे की स्त्री देखता है तो मन में होता है कि 'मुझे भी ऐसी पत्नी मिली होती तो अच्छा था'। दूसरे का लड़का अच्छा हो तो लगता है 'हमारा लड़का भी ऐसा होना चाहिये था'। केवल धन ही नहीं, सभी चीज़ों का लोभ हो जाता है। साथ ही, लोभी व्यक्ति सत्कर्म के लिये अपनी चीज़ देना नहीं चाहता।

'हिंसात्मकः' दूसरों को पीडा देना ही इन्हें स्वाभाविक लगता है। वर्तमान में प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्द्धा को ही सबसे अच्छा गुण माना जाता है। दूसरे से स्पर्धा करके पीछे छोड़ो तब तुम बड़े हो। यही हिंसा है कि दूसरे मुझ से पीछे रहें। हमेशा इनकी भावना यही रहती है कि दूसरे दब जायें। इसलिये हमेशा 'अशुचिः' अपवित्र ही रहते हैं अर्थात् अपने अन्तःकरण के अन्दर राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि को लाना इन्हें बड़ा अच्छा लगता है। जब मन में राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भरे रहते हैं तो बाहर की पवित्रता से भी क्या होना है और वस्तुतः बाहर की पवित्रता रहती भी नहीं। सात्त्विक कर्ता तो सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार था और यह राजस कर्ता जब कभी काम बना जाता है तब इसका चेहरा खिला होता है, जब कभी असफलता होती है तब चेहरा मुर्झाया रहता है। इसको प्रसन्नता और दुःख दोनों में से कुछ न कुछ होता ही रहता है। राजस को लगता है कि सात्त्विक बनने से संसारे में कोई मज़ा ही नहीं रहेगा क्योंकि वह हर्ष को चाहता है। क्योंकि हर्ष के साथ शोक अनिवार्य है इसलिये उसे भी स्वीकार लेता है पर हर्ष-शोक को छोड़ना नहीं चाहता क्योंकि मानता है कि वैसा करने से संसार नीरस हो जायेगा! इसलिये वह हर्ष और शोक से अन्वित है अर्थात् शरीर पर्यन्त इसका हर्ष शोक आता-जाता है और हमेशा इससे युक्त ही रहता है। अनिष्ट की प्राप्ति होने पर शोक होता है अथवा इष्ट पदार्थ का वियोग होने पर शोक होता है। इसी प्रकार इष्ट की प्राप्ति पर हर्ष और अनष्टि पदार्थ के चले जाने पर हर्ष होता है। ऐसा रहने वाला राजस कर्ता है, उसी को रजोगुणी कर्ता कहते हैं। रजोगुणी कर्ता के विषय में ज़्यादा सोचने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि चारों तरफ ऐसे रजोगुणी कर्ता हैं। सात्त्विक कर्ता तो वर्तमान काल में इतने दुर्लभ होते हैं कि होते हैं यह भी लोगों को जँचना ही बन्द हो

गया है! कहते हैं 'ये तो कहने की बातें हैं, सात्त्विक कर्ता होता ही नहीं है!' किन्तु भगवान् की दृष्टि में राजस कर्ता होना अनिष्ट है, ऐसा न बनकर सात्त्विक कर्ता बनने का प्रयास ही करना चाहिये।।२७।।

भगवान् सात्त्विक और राजस कर्ता को बताने के बाद तामस कर्ता को बताते हैं –

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते।।२८।।

एकाग्र न रहने वाला, संस्कारहीन, अविनयी, ठग, क्रूर, आलसी, अवसादग्रस्त और मन्थर प्रवृत्तिवाला कर्ता तामस कहा जाता है।

तामस कर्ता कैसा होता है? 'अयुक्तः' – निरन्तर विषय-चितंन करते रहने के कारण इसका चित्त हमेशा विक्षिप्त रहता है। एक के बाद एक इसका विषय-चिन्तन ही चलता है। विषय-चिन्तन को छोड़कर यह कभी अपने को रखता नहीं और चूँकि विषय अनेक हैं इसलिये इसका चित्त हमेशा विक्षिप्त बना रहता है। इसीलिये किसी भी कार्य को करने में इसका मन लगता नहीं। अयुक्तता तमोगुणी का लक्षण है। कुछ लोग इस तमोगुण को सत्त्व गुण समझ लेते हैं कि 'हमारा दिल किसी चीज़ में नहीं लगता इसलिये हमें वैराग्य है'। किन्तु यह वैराग्य का नहीं, विक्षिप्तचित्त का स्वरूप है। वैराग्य चित्त की एकाग्रता को लाता है। जो वैराग्यवान् होगा उसका चित्त हमेशा आत्मपदार्थ की तरफ ही लगेगा। तामस अयुक्त अर्थात् विक्षेप वाला है। इसका चित्त कभी समाहित या एकाग्र नहीं होता और यह 'प्राकृत' है अर्थात् प्रकृति के जो सामान्य नियम हैं उन्हीं का इसको ज्ञान है। इसके अतिरक्ति इसकी बुद्धि में कोई संस्कार नहीं है। इससे पूछो – 'क्या चाहिये?' तो यही कहेगा 'खाने-पीने को बढ़िया मिले, मकान मिले' इत्यादि। इसके मन में भी नहीं आता कि स्वर्ग मिले, देव-दर्शन हो; मोक्ष की बात तो बहुत आगे की बात है! प्रकृति के, जो सामान्य पशु-पक्षी के विचार हैं वैसे ही विचार इसके हमेशा रहते हैं। जैसे पशु निरन्तर शरीर-सुख की बात ही सोचता है वैसे ही यह भी सोचता है। इसका कारण यह है कि इसकी बुद्धि संस्कृत नहीं है, शास्त्रीय संस्कार से सर्वथा रहित है। पशु और मनुष्य में मूलगत भेद यही है कि मनुष्य के अन्दर शास्त्रीय संस्कार होते हैं। शास्त्रीय संस्कार वाला भी प्रकृति के कार्यों की तरफ कुछ-न-कुछ चलता है, लेकिन शास्त्रीय पदार्थों की तरफ भी इसकी प्रवृत्ति होती है जबकि तामस तो शास्त्रीय संस्कारों से सर्वथा रहित होने के कारण प्राकृत है। भाष्यकार लिखते हैं 'बालसम' छोटे बालकको तरह है। जैसे छोटे से बालक को बढ़िया चाकलेट, बढ़िया कपड़ा मिल जाये तो खुश है, ऐसे ही इसकी बुद्धि होती है। बालसम का अर्थ ठीक तरह से समझना क्योंकि कई जगह बालक की उपमा राग-द्वेष से रहित के लिये भी दी जाती है। यहाँ बालसम का वैसा अर्थ नहीं समझना वरन् निर्बुद्ध और शास्त्रीय संस्कारशून्य समझना। आजकल के कालेजों से एम०ए० भी पास हो जाओ तब भी तुम शास्त्रीय संस्कार से रहित प्राकृत बने रहोगे,

क्योंकि वहाँ तुम्हें कोई शास्त्रीय संस्कार तो देगा ही नहीं। जैसे जानवरों को चाहिये खाना-पीना ही, इसी प्रकार वर्तमान काल में बड़े-बड़े लोग भी बालक की तरह ही हैं, शास्त्र संस्कार से शून्य हैं, कहाँ मुँह मारेंगे कोई ठिकाना नहीं!

इसलिये ये प्राकृत 'स्तब्ध' हैं। जैसे डण्डा किसी के सामने झुकता नहीं, ऐसे ही माँ-बाप के पैर छूने में भी इनकी शान जाती है, गुरुजनों को आदर देने की इनमें कोई प्रवृत्ति नहीं। ऐसा व्यक्ति स्तब्ध होता है अर्थात् किसी के सामने इसमें नम्रता होती ही नहीं। जैसे इसके शरीर आदि में नम्रता नहीं दीखती, ऐसे ही इसके मन में भी नम्रता नहीं रहती। चाहे राम-कृष्ण आदि अवतार हों, चाहे वेद हो, चाहे अपने बड़े हों, इसके मन में हमेशा रहता है कि 'जैसा मैं, ऐसे ही ये सब हैं'। इसलिये मनु, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि के बारे में कहता है कि इन्होंने ब्राह्मणों का समर्थन करने वाली चीज़ें लिखी हैं, ये सब स्वार्थी थे! इसलिये उन्हें पढ़ते समय भी इसके मन में कभी नम्रता का भाव नहीं आता कि ये जो कह रहे हैं वह ठीक है। उनके भी कहने में गलती ही ढूँढता है। खुद की मान्यता को ठीक ही मानता है, बाकि चाहे जैसे प्रामाणिक आचार्य कहें, उसमें दोष ढूँढता रहता है। शिक्षा ग्रहण करने के लिये एक नम्रता चाहिये, मन-बुद्धि में विनय न हो तो सीखना संभव नहीं होता। प्राकृतका नारा होता है कि इन्सान-इन्सान एक जैसे हैं। ऋषि-मुनियों को भी यह इन्सान ही समझता है!

'शठः' अर्थात् बड़ी दुष्ट प्रकृति का होता है। दूसरे को ठगने के लिये यह ऊपर से एक भाव दिखता है लेकिन अन्दर से इसका दूसरा भाव होता है। यह जो करने जा रहा है उसे प्रकट नहीं करेगा क्योंकि सामने वाले को ठगना चाहता है। इसके अन्दर यह शाठ्य हमेशा रहता है कि 'दूसरे से मैं अपना स्वार्थ कैसे सिद्ध करूँ'। 'मेरा काम बन जाये' - केवल यही इसकी दृष्टि है। ऐसा शठ या मायावी होकर यह और क्या करता है? 'नैष्कृतिकः परवृत्तिच्छेदनकरः' दूसरे की कमाई का कोई भी साधन हो उसको काटना इसकी प्रकृति है। दूसरे को कोई मदद तो नहीं ही देगा परन्तु उसके काम में रुकावट आये इस में इसे मज़ा आता है। ठगकर दूसरे को दुःखी करने में तामस व्यक्ति को सुख होता है। 'अलसः' जो प्राप्त कर्तव्य है, उन कार्यों को करने में इसको हमेशा आलस्य होता है। विषय को प्राप्त करने के लिये इसे चाहे जितनी मेहनत करनी पड़े, कर लेगा लेकिन अपने कर्त्तव्य में हमेशा आलसी रहता है, उनको टालता रहता है। उससे पूछें कि कहाँ गये थे? कहता है - 'यूरोप अमेरिका गया था।' 'दक्षिण के मन्दिरों का दर्शन किया?' कहता है 'फुर्सत ही नहीं मिलती क्या करें!' ठेठ अमेरिका, यूरोप जाने की फुर्सत है। इसी प्रकार हवाई जहाज़ से कहीं जाना है और जहाज़ सुबह चार बजे उड़ता है तो उसके लिये उठकर ठीक समय पहुँच जायेगा, कभी हवाई जहाज़ नहीं छूटता। लेकिन उससे सवेरे चार बजे उठकर स्नान करने के लिये कहो तो कहता है 'यह तो व्यावहारिक नहीं है।' हवाई जहाज़ वालों से नहीं कहते कि 'इतनी जल्दी हवाई जहाज़ क्यों चलाते हो? मैं तुम्हारे हवाई जहाज़ से नहीं जाऊँगा।' लेकिन

शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति के लिये हमेशा कहेंगे कि यह नहीं कर सकते क्योंकि शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति उनको करनी ही नहीं है। ऐसे लोग 'विषादी' होते हैं। इनमें कभी संतोष नहीं होता। 'इतना मुझे मिल गया, अब और मुझे नहीं चाहिये' - यह भावना इनमें कभी नहीं होती। चूँकि संतोष नहीं होता इसलिये इनका चित्त अनेक चीज़ों में रहता है, यही सोचते हैं कि 'यह मिले, वह मिले'। हमेशा विषाद करते रहते हैं कि 'हाय! मुझे यह नहीं मिला।' पहले लोगों में प्रायः संतोष होता था कि दो समय भोजन मिल गया, और क्या चाहिये! आजकल असंतोष की बाढ़ होने से कहते हैं - खर्चा पूरा नहीं पड़ता। पाँच हज़ार कमाने वाले की, दस हज़ार कामने वाले की और लाख कमाने वाले की भी यही शिकायत है कि पूरा नहीं पड़ता। इसलिये हमेशा विषाद करते रहते हैं। 'दीर्घसूत्री'। जो अपना कर्तव्य है उसे हमेशा दीर्घकाल में फैलाता रहेगा, उसको करने में हमेशा विलम्ब करेगा। दीर्घसूत्री का मतलब होता है कि कल करके काम चल जाये तो आज क्यों करना? अथवा लेटकर काम किया जा सके तो बैठे क्यों और बैठकर जो काम हो सके उसके लिये खड़े क्यों होना? सभी कर्तव्य कर्मों को यह दीर्घसूत्री इस प्रकार से टालता रहता है। सोचता रहेगा 'यह करूँगा, वह करूँगा' पर उसे करना कुछ नहीं है। भाष्यकार तो लिखते हैं - कि महीना भर हो जाये तो भी कर्तव्य नहीं करेगा। 'च' से अयुक्त आदि सबका समुच्चय है। तमोगुण की पूर्णता होने पर ये सारी चीज़ें मौजूद रहेंगी। इसलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसा जो करने वाला है उसी को तमोगुणी कर्ता कहते हैं।।२८।।

भगवान् ने छह चीज़ें बताने की प्रतिज्ञा की थी - ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता और करण, कर्म, कर्ता। इनमें से भगवान् ने ज्ञान को बता दिया और कर्ता को बताकर ज्ञाता को भी कह ही दिया। कर्म को भी बता दिया। तदनुसार ज्ञेय भी समझ सकते हैं। जैसे क्रिया के द्वारा कर्म सम्पन्न होता है वैसे ही तुम्हारी ज्ञानेद्रियों के द्वारा पदार्थ ज्ञेय हो जाता है, इसलिये कर्म के अनुसार ज्ञेय को समझना चाहिये। इस प्रकार छह में से पाँच चीज़ें भगवान् ने बता दी। अब करण को बताते हैं। सब से प्रधान करण अन्तःकरण है, बहिःकरण तो अन्तःकरण के आदेश के अनुसार ही 'प्रायः' काम करते हैं। 'प्रायः' इसलिये कह रहे हैं कि भगवान् पहले भी कह आये हैं कि इन्द्रियों में भी कामना रहती है। फिर भी प्रधानरूप से कामना अन्तःकरण में रहती है। अतः भगवान् अन्तःकरण को बताते हैं, इससे सभी करणों के बारे में समझ लेना है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धन जय।।२९।।

धनंजय! गुणानुसार बुद्धि और धृति के समग्र भेद विवेकपूर्वक बताये जा रहे हैं उन्हें सुनो।

सत्त्व, रज, तमोगुण की प्रधानता से तीन प्रकार की बुद्धियों के भेद को सुनो। अन्तःकरण के साथ में भगवान् ने अन्तःकरण की वृत्ति को भी लेना ठीक समझा। क्योंकि

भगवान् ने सात्त्विक कर्ता को बताते हुए कहा था 'धृत्युत्साहसमन्वितः' इसलिये यहाँ कहा कि अन्तःकरण की जो धृतिरूप वृत्ति है उसके भी तीन प्रकार के भेद सुनो। एक वृत्ति को कह रहे हैं, उसी से सारी वृत्तियों की उपलक्षणा कर लेना। वृत्तियाँ भी सात्त्विक राजस और तामस हो जाती हैं। 'अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमानं' पूरी तरह से अर्थात् जो भेद मैं बता रहा हूँ, इसमें जितना कुछ बताना है वह सब बता दिया। इसके अतिरिक्त और कुछ जानने की ज़रूरत नहीं है, और इनका विवेक करके सत्त्व, रज, तम गुणों को बताऊँगा। 'पृथक्त्वेन' से भगवान् यह कहते हैं कि समझने के लिये तो हर गुण का अलग कार्य बताते हैं, परन्तु चूँकि व्यक्ति केवल सात्त्विक, केवल राजस या केवल तामस नहीं होता इसलिये यहाँ जो तीन भेद बताये हैं इनमें बाहुल्येन समझना। सत्त्वगुण की बहुलता वाली चीज़ें हैं तो सात्त्विक, परन्तु थोड़ी-बहुत राजस-तामस भी हो जाती हैं। इसी तरह तमोगुणी में भी यत्किंचित् अन्य गुण रहेंगे। 'पृथक्त्वेन' का सहारा लेकर वैज्ञानिक ढंग से बता दिया। जैसे वैज्ञानिक सोने को सर्वथा शुद्ध करके उसमें सोने का जो गुण देखे उसी को सोना मानता है। वैसा ही सोना व्यवहार में तो नहीं मिलता। शुद्ध से शुद्ध सोने को भी ९९.९९ प्रतिशत शुद्ध ही लिखते हैं, १०० प्रतिशत नहीं लिखते। जो सोना व्यवहार में आयेगा उसमें सर्वथा वे सारे गुण नहीं मिलेंगे जो वैज्ञानिक कहते हैं। वह तो जब सोने को बिलकुल शुद्ध करके देखोगे तभी मिलेंगे किन्तु बाकियों में बहुलता से मिलेंगे। अन्य पदार्थ कितना मिला हुआ है, उससे फ़र्क पड़ता है। दूध चाहे जैसा लो उसमें कुछ न कुछ पानी तो ज़रूर होता है। जब कहते हैं कि दूध के अन्दर इतनी शक्ति है तो वह शुद्ध दूध के लिये कहते हैं, उसमें जितना पानी मिला है उसकी शक्ति उतनी कम हो जायेगी। इसी प्रकार सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण सबको अलग-अलग करके बताया लेकिन तुमको जो सात्त्विक, राजस, तामस कर्ता आदि मिलेंगे उनके अन्दर तो दूसरे गुण भी थोड़े-बहुत रहेंगे ही। लेकिन 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' जो बहुत होता है उसी को लेकर कहा जाता है।

भगवान् ने अर्जुन को 'धनंजय' सम्बोधन किया। अर्जुन का नाम धनंजय इसलिये पड़ा कि राजसूय यज्ञ में जब वह दिग्विजय करने गया था तो इसने अनेक राज्यों को हरा कर वहाँ से तरह-तरह की मानुष सम्पत्ति - धन, पशु, अनाज इत्यादि जो सब मनुष्य लोक की सम्पत्ति है - प्राप्त की थी। तात्पर्य है - उस समय में तुम्हारा जो कार्य के प्रति उत्साह था, उस उत्साह को याद करो। इसी प्रकार से अर्जुन ने बड़ी तीव्र उपासना करके दिव्य सामर्थ्य को प्राप्त किया था। अर्जुन की उपासना इतनी तीव्र थी कि स्वयं भगवान् शंकर इसके सामने योद्धा के रूप में प्रकट हुए थे। उनको इसने पछाड़ने का प्रयत्न किया था। तब भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। इस प्रकार अनेक उपासनाओं से इसने केवल बाह्य धन को ही नहीं, आन्तर धन भी उपार्जित किये थे। भगवान् धनंजय कह कर उसकी भी याद दिलाते हैं कि ऐसे दैव और मानुष वित्त को प्राप्त करने के लिये, जितना जबर्दस्त तुम्हारा श्रम था वैसा ही श्रम परमात्म-प्राप्ति के मार्ग में भी करना पड़ेगा। जैसे तुमने बाह्य धन को जीता वैसे

ही अज्ञान को जीतकर अपने आत्मा को अनावृत करके उसकी प्राप्ति कर लो।।२९।।

अब भगवान् सात्त्विक बुद्धि को बताते हैं :-

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

पृथापुत्र! प्रवृत्तिमार्ग, निवृत्तिमार्ग, विहित-निषिद्ध कर्म, भय-अभयके योग्य विषय, बन्धन व मोक्ष को (यथावत्) जानने वाली बुद्धि सात्त्विक है।

सात्त्विकी बुद्धि या सत्त्वगुण वाली बुद्धि में क्या विशेषता होती है? 'या वेत्ति सा सात्त्विकी बुद्धिः' जो चीज़ों को जानती है वह सात्त्विकी बुद्धि है। बुद्धि तो हमेशा जानेगी ही। चीज़ जैसी हो वैसा जानना सात्त्विकी बुद्धि का कार्य है। जो चीज़ जैसी है वैसा नहीं जानना भी है तो बुद्धि लेकिन उसे 'नहीं जानना' ही कहा जाता है। जैसे है रस्सी और उसे सर्प जान लिया तो सर्प का *ज्ञान* भी वास्तव में अज्ञान कहा जाता है। अतः 'या वेत्ति' का मतलब है कि जो चीज़ जैसी है उसको वैसा ही जानती है यह सात्त्विकी बुद्धि की विशेषता है। जानने लायक क्या है? दुनिया में तो अनन्त पदार्थ हैं, सबकी वास्तविकता कैसे जानोगे? भगवान् कहते हैं कि इन चीज़ों की वास्तविकता जानना आवश्यक है : प्रवृत्ति और निवृत्ति। किन चीज़ों के अन्दर प्रवृत्ति होनी चाहिये इस बात को सात्त्विक बुद्धि जानती है। वेद में दो मार्ग बताये हैं - प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। सात्त्विक पुरुष जानता है कि प्रवृत्ति मार्ग क्या है और निवृत्ति मार्ग क्या है। दोनों को वह ठीक-ठीक जानता है। अधिकतर लोग प्रवृत्ति मार्ग ही नहीं जानते तो निवृत्ति मार्ग क्या जानेंगे! शास्त्र ने जो कर्त्तव्य बताये हैं, वे कर्तव्य करना ही प्रवृत्ति है। शास्त्र विरुद्ध कर्मों को करना प्रवृत्ति नहीं है। ठीक जिस प्रकार से तुम्हारे पिता जी दुकान में दस करोड़ रुपये छोड़ गये थे। तुमने दस साल तक खूब धन्धा किया लेकिन कंगले हो गये। दुकान तो दस साल चलाई, लेकिन कोई नहीं कहेगा कि तुमने व्यापार किया। नफा करोगे तब तो माना जायेगा कि व्यापार किया। घाटा ही घाटा करते रहे तो कोई नहीं कहेगा कि अच्छा व्यापारी है। इसी प्रकार यदि इस संसार में अब से बेहतर, फिर उससे भी बेहतर करते-करते उत्तम लोकों की प्राप्ति करते रहो, तब तो कहा जायेगा कि तुम ठीक कर्म कर रहे हो, और यदि निम्न कर्म करके उससे भी नीचे ही जाओ तो तुम्हारा किया प्रवृत्ति कहलाने लायक नहीं होगा। सात्त्विकी बुद्धि वाला शास्त्रानुकूल कार्य करने पर ऊपर-ऊपर के लोकों को जाता रहता है। हैं वे भी सारे बन्धन ही, परन्तु यदि लोहे के पिंजड़े की अपेक्षा सोने के पिंजड़े में जाओ तो लोक में अच्छा माना जाता है। पिंजड़े से निकलने वाला तो निवृत्ति मार्ग में आयेगा। प्रवृत्ति मार्ग बंधन में रहने का मार्ग है। परन्तु उसपर चलने से तुम्हारी परिस्थिति बेहतर होती जायेगी। सात्त्विक बुद्धि वाला जानता है कि प्रवृत्ति मार्ग क्या है? किन चीज़ों के लिये प्रवृत्ति करनी है?

इसी प्रकार वह निवृत्ति को भी जानता है अर्थात् मोक्ष मार्ग, (संसार से) छूटने का रास्ता

भी जानता है। जो निवृत्ति मार्ग को नहीं जानेगा वह समझेगा कि प्रवृत्ति से ही मोक्ष हो जायेगा! बहुत से लोग सोचते हैं कि अच्छे काम करते-करते मुक्त हो जायेंगे। प्रवृत्ति से तुम्हारी स्थिति बेहतर हो सकती है परन्तु उससे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। मोक्ष का कारण तो जैसा शास्त्र ने बताया है

'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतः न वेत्ति दुःखमण्वपि।।'

जिस-जिस चीज़ से निवृत्ति होती जाती है उस-उस चीज़ से छूटते जाते हो। शरीर से लेकर अहंपर्यन्त सब चीज़ों से निवृत्त हो जाते हो तो अणुमात्र भी दुःख नहीं होता, निरंतर परम आनन्द में ही रहते हो। परन्तु निवृत्ति मार्ग में जाने के लिये शुद्ध बुद्धि होनी चाहिये। किसी चीज़ को छोड़ने मात्र से निवृत्ति सिद्ध नहीं होती है। चीज़ों का विवेक करके जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वैराग्य पूर्वक जो छोड़ा जाता है वह निवृत्ति है। इसलिये भगवान् ने कहा था कि 'काम करने में दुःख होता है, कायक्लेश होता है तो इतना झंझट करने से क्या फायदा' - इस प्रकार कायक्लेश के भय से त्याग का कोई फल नहीं है। वह छोड़ना निवृत्ति नहीं है। कई बार लोग प्रश्न पूछते हैं कि कैसे पता लगे कि वैराग्य है या कायक्लेश से छोड़ा है? पदार्थ के मिलने पर तुमको यदि अच्छा लगे तो पता लगता है कि अभी उस पदार्थ के प्रति राग के संस्कार हैं और वह पदार्थ मिलने पर भी तुमको व्यर्थ लगे, तब समझो कि उस चीज़ के प्रति तुम्हें राग नहीं है। जैसे रास्ते में चलते हुए तुमको तिनके दिखाई तो दे गये परन्तु तुम उनको बटोरने नहीं जाते हो; वे तिनके किसी के नहीं हैं, खुली ज़मीन में हैं, तुम उन्हें इकट्ठा कर सकते हो, लेकिन नहीं करते क्योंकि तुम्हारे लिये वे व्यर्थ हैं। परन्तु यदि वहाँ एक भी गिन्नी चमकती दीख जाये तो खट उठा लोगे क्योंकि उसके प्रति तुम्हें राग है। यदि कोई ग्वाला उधर से जा रहा है जिसके घर में गाय है, वह घास को देखने पर काट कर इकट्ठी कर लेगा और गाय को खिलायेगा। इसलिये पदार्थ की उपलब्धि होने पर अपने मन में क्या होता है इससे पता लगता है कि राग है या वैराग्य है। भगवान् ने कहा कि सर्वकर्मसंन्यास का जो मार्ग है उसका दरवाज़ा विवेक के द्वारा वैराग्य होने पर खुलता है। जब तक विवेक-पूर्वक वैराग्य नहीं हो गया तब तक के लिये प्रवृत्ति मार्ग है।

यहाँ सामान्यतः भगवान् ने प्रवृत्ति निवृत्ति कहा है, इससे विधि और निषेध क्यों न ले लिये जायें? निवृत्ति अर्थात् वेद जिसको नहीं करने को कहता है और प्रवृत्ति अर्थात् जो वेद हमें करने को कह रहा है। यह भी अर्थ हो सकता है किन्तु भाष्यकार कहते हैं - कि इसी वाक्य में भगवान् ने आगे बन्ध और मोक्ष कहा है। इसलिये बन्ध और मोक्ष के साथ एक वाक्य में प्रवृत्ति और निवृत्ति कह रहे हैं तो बन्धन कराने वाला प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्त करने वाला मोक्ष मार्ग ही इष्ट हो सकते हैं।

भगवान् ने कहा - जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को जानती है वह सात्त्विकी बुद्धि है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वेदान्त सिद्धान्त में बुद्धि तो जानती नहीं, बुद्धि के द्वारा आत्मा जानता है। इसलिये 'यया बुद्ध्या वेत्ति' कहना चाहिये अर्थात् जिस बुद्धि से जानता है वह सात्त्विकी बुद्धि हुई। इस पर यह समझ लेना चाहिये कि कई जगह जिसके द्वारा होता है उसको भी प्रधान मानकर कर्त्ता कह देते हैं। चूँकि जानने का काम बुद्धि के द्वारा ही होता है इसलिये 'बुद्धि जानती है' ऐसा कह दिया गया। प्रवृत्ति-निवृत्ति तो शास्त्र के अनुसार होगी। प्रवृत्ति के अन्दर शास्त्र कार्य और अकार्य बताता है। जो करना चाहिये वह कार्य हुआ और जो नहीं करना चाहिये वह अकार्य हुआ। जिसका विधान किया है वह विहित है, वह कार्य है और जिसका प्रतिषेध किया है वह अकार्य है। इन चीज़ों को जो जानता है वह यथावत् जानता है। केवल शास्त्र द्वारा प्रतिपादित कार्य और अकार्य ही नहीं, जो दृष्ट फल वाले कार्य और अकार्य हैं उनको भी सात्त्विक बुद्धि जानती है। इह लोक के प्रयोजन सिद्ध करने वाले और दिक्कतों से बचाने वाले कार्य-अकार्य को सात्त्विक बुद्धि समझने में सक्षम होती है। अदृष्ट प्रयोजन के उपायों का शास्त्र के द्वारा पता लगता है और इस संसार के अन्दर दृष्ट पदार्थों की जो प्राप्ति है उसमें भी कौन-सी चीज़ क्या करने से प्राप्त होगी और क्या नहीं करने से प्राप्त होगी इसे ठीक-ठीक जानना पड़ता है। इस प्रकार के कार्य अकार्य को जानने के लिये योग्य देश, काल आदि की हमेशा अपेक्षा होती है - किस देश में क्या करने से प्रयोजन सिद्ध होगा, किस देश में क्या नहीं करने से अनिष्ट से बचेंगे। अदृष्ट कार्यों के अन्दर शास्त्र-प्रमाण के द्वारा बुद्धि निर्णय करती है और दृष्ट पदार्थों के अन्दर दृष्ट कार्यों का विवेक करके निर्णय करती है। दोनों ही जगह विवेक आवश्यक होता है। विवेक के बिना जो व्यक्ति चलता है वह यहाँ भी दुःख उठाता है और आगे भी दुःख उठाता है। यहाँ दुःख उठाता है क्योंकि उसका दृष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और शास्त्र को विवेक करके नहीं जानने से अदृष्ट अर्थ भी उसका पूरा नहीं होता। इसलिये कार्य और अकार्य में विवेक कहा।

इसी प्रकार भय और अभय में विवेक आवश्यक है। जिससे आदमी भय खाता है या डरता है उसे भय कहते हैं 'अस्मात् बिभेति इति भयम्' और जिससे डर नहीं लगता है वह अभय है। यह भय और अभय दृष्ट और अदृष्ट दोनों विषयों के समझ लेना। सामने से शेर दहाड़ता हुआ आये, यह दृष्ट भय है। इसी प्रकार अदृष्ट भय है कि रास्ते में जाते हुए देखते हो कि हीरे की अंगूठी पड़ी हुई है, मन करता है उठा लें, परन्तु तुरन्त याद आता है कि किसी का स्वर्ण ले लेना अत्यंत बड़े पापों में गिना गया है। इसको उठाया तो आगे नरक में जाना पड़ेगा। दृष्टभय और अदृष्टभय दोनों को ही सात्त्विकी बुद्धि जानती है। किससे डरना चाहिये, किससे नहीं डरना चाहिये यह सात्त्विकी बुद्धि समझती है। अन्यथा, डरने की चीज़ों से तो नहीं डरते और जिससे नहीं डरना चाहिये उससे डरते हैं। सबसे ज़्यादा किससे डरना चाहिये? वेद कहता है कि परमेश्वर ऐसा है जिससे हमेशा डरना चाहिये। वह ऐसा है जिससे सूर्य-चन्द्र भी डरते हैं, वायु भी डरता है क्योंकि उसके जो

नियम हैं वे अप्रतिहत हैं, उसके नियम से बचने का कोई उपाय नहीं है अतः परमेश्वर से डरना चाहिये। और संसार के जो लौकिक लोग हैं जिनसे साधारण आदमी भय खाता है कि 'लोग क्या कहेंगे', उनसे भय नहीं करना चाहिये! लोगों के भय से आजकल अनेकों ने त्रिपुण्ड्र, तिलक लगाना, चोटी रखना छोड़ दिया है। ऐसे लोग हैं जो साथियों के भय से मन्दिर में आने से डरते हैं कि लोग क्या कहेंगे! उनसे तो डरते हैं और परमात्मा से नहीं डरते! परमात्मा के नियमों का उल्लंघन करके सोचते हैं कि बच जायेंगे। इसलिये इसे समझना बहुत ज़रूरी है कि किससे भय खाना है और किससे अभय रहना है।

इसी प्रकार 'बन्धं या वेत्ति' सात्त्विक बुद्धि बंधन को जानती है। हमको कहीं दीखता नहीं कि हमें किसी ने बाँधा है। लोगों से कहते हैं कि तुम बंधन में हो तो पूछते हैं 'हम कैसे बंधन में हैं? हम तो १५ अगस्त सन् ४७ को मुक्त हो गये, स्वतंत्र हो गये।' एक बहुत बड़ा राजा था। एक बार एक ऋृषि उससे मिलने गये। राजा ने उनसे कहा – 'मैंने सब को जीत लिया है और कोई जीतने लायक चीज़ हो तो मुझे बताइये।' जैसा शिवमहिम्नस्तोत्र में कहा है कि सहस्रबाहु ने सारे संसार को जीत लिया, फिर भी उसके हाथ की लड़ने की खाज नहीं मिटी! वह सोचता था कोई मिले तो लड़ूँ। विद्वान् की जीभ में खाज चलती है कि कोई आये तो उससे शास्त्रार्थ करूँ। ऐसे ही वीर की भुजाओं में खाज चलती है कि कोई आये तो लड़ूँ। ऋषि समझ गये कि इसे व्यर्थ का अभिमान हो गया है। उन्होंने राजा से कहा कि 'तेरे घर में तेरे दुश्मन बैठे हैं, पहले उनको तो जीत, दुनिया को जीतने की बात करता है!' राजा ने पूछा – 'मेरे घर में दुश्मन कहाँ बैठे हैं?' तब ऋषि ने समझाया – तेरी इन्द्रियाँ और मन तेरे हुक्म में चलते हैं या तू इनके हुक्म में चलता है?' जिसको तुम स्वतंत्रता कहते हो वह तुम्हारी मनोनुकूलता है। मन के अनुसार कर सकें तो समझते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। इसलिये बन्धन के रूप को नहीं समझते। तब राजा की समझ में आया कि असली शत्रु तो घर में ही बैठे हैं। फिर वह उन सब चीज़ों को वश में करने के रास्ते में गया।

चूँकि बाहर से बन्धन नहीं दीखता इसलिये आदमी समझता है कि बन्धन है ही नहीं। इसीलिये ऋग्वेद कहता है कि वरुण के तीन पाश हैं जो दोनों पैरों को, कमर को और गर्दन पर पट्टा या बेड़ियाँ बाँध कर रखते हैं जिसके कारण हम हिल भी नहीं सकते। इसी प्रकार अज्ञान है जिसने मल, विक्षेप और आवरण-रूप तीन पाशों के द्वारा हमको बाँधा हुआ है। इन पाशों में बँधे हुए हम हिलने में भी समर्थ नहीं हैं। मल अर्थात् हमारे कर्मों का फल। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' जो हमने किया है वह हमें भोगना ही पड़ेगा। उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। दूसरा पाश विक्षेप है। यह सारा संसार हमको प्रतीत हो रहा है जिसमें कोई चीज़ हमको अपनी तरफ खींचती है और किसी तरफ से हम हटना चाहते हैं। रसगुल्ले को देखते ही खाना चाहते हैं और सुअर की टट्टी देखकर बचकर निकलना चाहते हैं। इसमें भी हम स्वतंत्र नहीं हैं। और 'मैं कौन हूँ' ऐसे अपने आपको भी जान नहीं सकते, यह आवरण रूप पाश है। इस आवरण पाश ने हमको ऐसा बाँध दिया है कि जो कण-कण और

क्षण-क्षण में व्यापक हमारा स्वरूप है उसे न जानकर साढ़े तीन हाथ के थैले में पड़े हुए हम समझते हैं कि 'यह मैं हूँ'। जो सर्वव्यापक है वह इतना छोटा-सा परिच्छिन्न हुआ हमको लगता है, और इसको हम स्वतंत्रता कहते हैं! इन तीन पाशों के बंधन को जानें तो समझ में आता है कि असली बाँधने वाला अज्ञान है। बँधन को जानने का मतलब है सहेतुक जानना अर्थात् उसके कारण अज्ञान को जानना। पहले तो बन्धन को समझना पड़ेगा। फिर उसके कारण अज्ञान को जानना पड़ेगा। हमको बाँधने वाला हमारे अपने अज्ञान के सिवाय और कोई नहीं है। कर्मों का फल हमको क्यों भोगना पड़ता है? क्योंकि अज्ञान से हम अपने को कर्मों का कर्त्ता जानते हैं।

ऐसे समझ लो, कोई आदमी थाने में जाकर कहता है कि 'मैंने अमुक आदमी को मार डाला, अब मैं समर्पण कर रहा हूँ मुझे पकड़ लो'। जिस आदमी को मारा गया उससे इसके मारने का कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु यह जाकर कहता है कि 'मैंने मारा'। पहले तो उसे पुलिस थाने में बन्द कर देगी। फिर पुलिस को कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इसने मारा। एक नियम है कि जिस अपराध में कोई वकील नहीं मिलता, वहाँ सरकारी वकील मिलता है। सरकारी वकील भी उसे समझायेगा कि किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता कि तुमने मारा इसलिये यह कहना छोड़ दो कि 'मैंने मारा'। वह कहे 'मैं कैसे छोड़ दूँ?, मैंने मारा है।' जज के पास मुकदमा जायेगा। कोई प्रमाण नहीं कि उसने मारा, फिर भी वह छाती ठोक कर कहे कि 'मैंने मारा।' तो ऐसे आदमी को जन्म-कैद देनी ही पड़ेगी। इसी प्रकार करने वाले शरीर आदि जड और हम चेतन हैं, इसलिये हम कुछ नहीं करते। परन्तु हर बार कहते हैं 'मैंने किया, मैंने किया'। शास्त्र समझाता है कि 'तू अकर्त्ता है।' हम कहते हैं - शास्त्र कहता है, ठीक है लेकिन हूँ तो मैं कर्त्ता, कोई बड़े सिद्ध महात्मा अकर्त्ता होते होंगे, मैं तो कर्त्ता हूँ। अब तुम्हें सिवाय दण्ड देने के और क्या किया जाये! इसलिये कर्मफल भी तुम इसलिये भोगते हो कि अज्ञान के कारण तुम अपना स्वरूप नहीं जानते और इसीलिये तुमको विक्षेप होता है। जो चीज़ शरीर और मन को चाहिये उन सब पर तुम अपना ठप्पा लगाते हो कि 'मुझे चाहिये'। जिस किसी चीज़ से तुम हटना या प्राप्त करना चाहते हो, वह तुम्हारे स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों के लिये ही है। जैसे रसगुल्ला जीभ को मिलेगा। जीभ के स्वाद से मन को सुख मिलेगा, तुमको क्या मिलेगा? परन्तु अज्ञान के कारण तुम उस जीभ और मन के साथ ऐसे एक हो गये कि कहते हो 'मुझे बड़ा मज़ा आया।' मल दोष अज्ञान के कारण ही तुम्हारे बन्धन का कारण बनता है। विक्षेप दोष और आवरण दोष भी अज्ञान के कारण ही बन्धन का कारण बनते हैं। अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ कारण नहीं है।

इतना याद रखना कि अज्ञान दो प्रकार के हैं। एक, अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाना, यह मूल अज्ञान है। इसके कारण मल, विक्षेप सब हैं ही। दूसरा, छोटे-छोटे तत्तत् चीज़ों के अज्ञान। व्यवहार में दुःख अज्ञान ही देता है। क्या खाने से पेट ठीक रहेगा, इसका अज्ञान है अतः ऐसी चीज़ें खाकर दुःखी होते हो। अज्ञान तुमको दुःख ही देगा और बन्धन ही करेगा।

जितना जिस चीज़ के बारे में तुम्हें यथार्थ ज्ञान होगा। उतना ही उससे इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार कर सकोगे। विज्ञान व्यावहारिक वास्तविकता का अन्वेषण करता है। पता लग सकता है या नहीं लग सकता है – यह विषय दूसरा है। सामान्य छोटे-छोटे दुःखों को दूर करने के लिये भी छोटे-छोटे ज्ञानों की ज़रूरत है और दुःखों का मूल जो आत्मस्वरूप का अज्ञान है उसकी निवृत्ति से तो फिर सारे दुःख निवृत्त हो ही जाते हैं। इस मूल अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है। जैसे बन्धन का कारण जानना है वैसे ही मोक्ष के कारण को ठीक प्रकार से जानना ही है कि अज्ञान-निवृत्ति ही मोक्ष है, और किसी चीज़ की निवृत्ति से मोक्ष नहीं होता। चाहे वैकुण्ठ में, चाहे मणिद्वीप में चले जाओ, उससे संसार के ये तीन बन्धन निवृत्त नहीं हो सकते। बन्धन का कारण अज्ञान है, अज्ञान सिवाय ज्ञान के और किसी चीज़ से नहीं हटता। चाहे जितना जप-तप कर लो वह तुमको ज्ञान कहाँ से देगा! पदार्थ का ज्ञान तो ज्ञान के साधन से ही होगा। जो बुद्धि बन्धन और मोक्ष को कारण सहित जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि है।।३०।।

अब राजस बुद्धि को बताते हैं –

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

पार्थ! धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य जैसे नहीं हैं वैसा उन्हें जिससे व्यक्ति समझता है वह राजसी बुद्धि है।

पूर्व श्लोक को बताते हुए कहा था कि यद्यपि 'या बुद्धिः' कहा है परन्तु उसका अर्थ 'यया बुद्ध्या' कर लेना चाहिये। इसका स्पष्ट पता इस श्लोक में लगता है। क्योंकि यहाँ भगवान् स्वयं 'यया' कह रहे हैं। धर्म, जिसका प्रतिपादन शास्त्र करता है और अधर्म, शास्त्र जिसका निषेध करता है। उस धर्म-अधर्म को जानती है, इतने अंश में यह सात्त्विकी बुद्धि के समान है। फ़र्क यह है कि सात्त्विक बुद्धि यथावत् जानती है, सही जानती है जबकि यह ग़लत जानती है। किंच राजस बुद्धि निवृत्ति मार्ग को नहीं जानती। मोक्ष का मार्ग नहीं जानती, बंधन मार्ग को ही जानती है। मोक्ष को नहीं जानने के कारण यह राजसी बुद्धि सात्त्विक के अंतर्गत नहीं आती। धर्म और अधर्म को भी ठीक-ठीक प्रकार से जो बुद्धि नहीं जानती है वह राजसी है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अन्दर विचार करके निर्णय करना पड़ता है कि अमुक परिस्थिति में क्या धर्म और क्या अधर्म है? अतः मनु महाराज ने कहा कि 'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किं' जिसमें खुद समझने की प्रज्ञा न हो, शास्त्र उसे क्या फ़ायदा पहुँचा सकता है! जैसे जिसकी आँखें ही नहीं हैं तो हजार वाट का लट्टू भी उसके लिये बेकार है। इसी प्रकार स्वयं जिसकी प्रज्ञा नहीं है, उसकी समझ में शास्त्र कुछ नहीं आ सकता। बुद्धि के द्वारा हर परिस्थिति में विचार करके, मीमांसा करके निर्णय करना पड़ता है कि क्या धर्म और क्या अधर्म है।

इसी प्रकार से कार्य और अकार्य का निर्णय करना पड़ता है। क्या करने से दृष्ट प्रयोजन सिद्ध होगा और क्या करने से अनिष्ट बचेंगे - जिसकी यह समझने की बुद्धि नहीं होगी वह लौकिक प्रवृत्ति में भी बार-बार असफल होगा। इन दोनों चीज़ों को सात्त्विक पुरुष तो यथावत् जानता है। लेकिन रजोगुणी बुद्धि चूँकि रागरूप है, उस राग के कारण रजोगुणी पुरुष धर्म को धर्म न समझकर अधर्म समझ लेता है। जैसे अर्जुन का युद्ध करना धर्म है परन्तु अधिकतर आधुनिक लोग समझते हैं कि वह लड़ाई न करता तो अच्छा ही था, लड़ने से क्या फ़ायदा हुआ! वर्तमान काल में भी जब दुष्टों को दण्ड देने का समय आता है तो मानवाधिकार वाले खड़े होकर कहते हैं कि दण्ड नहीं देना चाहिये, समझाना-बुझाना चाहिये। जब राग होता है तब मनुष्य धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझ लेता है। इसी प्रकार राग होता है तो कार्य को अकार्य और अकार्य को कार्य समझ लेता है। जिस चीज़ के अन्दर राग होगा उसको हम ठीक से नहीं समझ पायेंगे। राजस बुद्धि में राग पर्याप्त मात्रा में होता है इसलिये ऐसा पुरुष धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, कार्य को अकार्य और अकार्य को कार्य समझता है। इसलिये अयथावत् जानता है अर्थात् जैसे है वैसा नहीं जानता।

'प्रजानाति' से कहते हैं कि निश्चय नहीं होता। राजसी बुद्धि निश्चय नहीं करती कि ऐसा ही है। सात्त्विकी बुद्धि का तो निश्चय होता है कि ऐसा ही है जबकि इसको हमेशा यह रहता है कि 'ऐसा है या शायद ऐसा नहीं है।' यह 'शायद' इसके मन से नहीं जा सकता इसलिये निश्चय रूप से या प्रधानरूप से नहीं जानता। इसलिये भाष्यकार कहते हैं 'सर्वतो निर्णयेन न प्रजानाति' सब प्रकार से निर्णीत अवस्था उसकी नहीं हो पाती कि ऐसा ही है। जिसका ऐसा निश्चय नहीं होता उसका अज्ञान कभी भी दूर नहीं हो सकता। इसलिये राजस बुद्धि अज्ञान को नहीं हटा सकती। परमात्मा के विषय में जब तक यह निश्चय नहीं होता कि ऐसा ही है तब तक अज्ञान दूर नहीं होता। सात्त्विकी बुद्धि बनने पर तो ऐसा ही है यह निश्चय हो पाता है, राजस बुद्धि में यह नहीं हो पाता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसी बुद्धि राजस या रजोगुणी बुद्धि है। रजोगुणी बुद्धि की दो विशेषतायें हैं। एक कि यथावत् नहीं जानती और दूसरी, चूँकि जो चीज़ जैसी है वैसा नहीं जानती, इसलिये निश्चय नहीं होता। जो चीज़ जैसी है वैसा जान लेने पर तो दृढ निश्चय हो जाता है। परन्तु जब यथावत् नहीं जानते तब निर्णय नहीं हो पाता।।३१।।

अब तामसी बुद्धि को बताते हैं :-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

पार्थ! तम से ढकी जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है और सभी ज्ञेय पदार्थों को उलटा समझती है वह तामसी है।

जो बुद्धि अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म ससझती है, विहित को प्रतिषिद्ध और

प्रतिषिद्ध को विहित समझती है, वह तामसी बुद्धि है। जैसे वर्तमानकाल में जितने सुधारवादी हैं वे धर्म को अधर्म सझमते हैं, इसलिये उसमें सुधार करना चाहते हैं और अधर्म को धर्म समझते हैं इसलिये उसे लाना चाहते हैं। जैसे शास्त्र बताता है कि ब्राह्मण के लिये क्या विहित और शूद्र के लिये क्या विहित है, ब्राह्मण का क्या कर्तव्य है और शूद्र का क्या कर्तव्य है। लेकिन सुधारक कहते हैं - ब्राह्मण-शूद्र का भेद करना अधर्म है। जो ब्राह्मण के लिये ठीक है वह शूद्र के लिये भी ठीक ही है - यह उनका निश्चय है। ब्राह्मण के लिये यदि वेदपाठ करना ठीक है तो शूद्र के लिये भी वेदपाठ करना ठीक ही है - यह उनका निश्चय है। उन्हें कभी समझाओ तो कहते हैं कि वेदपाठ का फल अच्छा है तो शूद्र के लिये वह कैसे बुरा हो सकता है? विभिन्न रोगों का उपचार दवाओं से होता है, एक रोग में फ़ायदा करने वाली दवा दूसरे रोग में नुकसान कर जाती है। किन्तु तामस बुद्धि यह सब समझने में अक्षम है। इसलिये वे धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते हैं। वे ऐसा क्यों मान लेते हैं अथवा ऐसा उन्हें क्यों स्वीकृत है? क्योंकि वे समझते हैं कि हमारा ज्ञान ठीक है और दूसरों का ज्ञान ठीक नहीं है। उनके सभी व्यवहारों में यही विपरीतता पाओगे। ऐसा वे इसलिये मानते हैं कि उनकी बुद्धि तमोगुण या अज्ञान से आवृत है। जो चीज़ जैसी है उसको वैसा समझने की शक्ति उनमें नहीं है। जैसे अंधा आदमी गड्ढे या पानी को नहीं देख सकता, इसलिये वह गड्ढे या पानी की तरफ जाकर दुःख उठाता है क्योंकि उसकी आँख अन्धकार से आवृत है, देखने में असमर्थ है। ऐसे ही ये लोग धर्म-अधर्म को समझने में अशक्त होने के कारण इस प्रकार के कार्य करते हैं, और फिर हमेशा कहते रहते हैं कि चारों तरफ दुःख और अशांति क्यों बढ़ रही है? यह उनकी समझ में ही नहीं आता कि हम अधर्म बढ़ा रहे हैं इसलिये यह अशांति बढ़ रही है, चूँकि उनकी बुद्धि तमोगुण से आवृत है, तमोगुणी बुद्धि है। केवल धर्म-अधर्म के विषय में ही उनका निर्णय गलत नहीं होता वरन् जो लौकिक पदार्थ हैं अथवा इहलोक की चीज़ें हैं उन्हें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भी वे ठीक प्रकार से नहीं समझ सकते। जैसे वर्तमान में देखने में आता है कि सारी दुनिया जानती है कि मुसलमानों की कुरान में लिखा है कि बुत तोड़ना धर्म है, इसलिये वे मूर्तियाँ तोड़ते हैं फिर भी ऐसी तमोगुणी बुद्धि वाले लोग कहते हैं कि 'मूर्ति तोड़ना उनका उद्देश्य नहीं था, मंदिरों में धन गड़ा हुआ था इसलिये गये। मन्दिर आदि नष्ट करने का उनका उद्देश्य नहीं था, वे तो सर्वत्र केवल धन लूटने गये।' ऐसी उल्टी बात को भी तमोगुणी लोग ठीक समझते हैं। सारे ही ज्ञेय पदार्थों को वे विपरीत ही जानते हैं, पदार्थ जैसा है, वैसा नहीं समझते। दस चीज़ों में दो चार को ठीक भी समझ लेंगे। किसी-किसी धर्म को वे धर्म भी समझ लेंगे परन्तु बुद्धि उनकी विपरीत ही रहेगी। जो बुद्धि ऐसा जानती है वह बुद्धि तामसी बुद्धि है।

सत्त्वगुणी बुद्धि वह हुई जो प्रवृत्ति और निवृत्ति को भी ठीक-ठीक जानती है। रजोगुणी बुद्धि हुई जो निवृत्ति को सर्वथा नहीं समझ पाती और प्रवृत्ति के अन्दर भी धर्म और अधर्म के बारे में सर्वथा ठीक व निश्चित नहीं होती। तमोगुणी बुद्धि का तो विपरीत ही

निश्चय बनता है, उल्टी बात ही ठीक लगती है। यह सात्त्विक, राजस, तामस बुद्धियों का भेद भगवान् ने बता दिया।।३२।।

बुद्धि की अनेक वृत्तियों में से धृति का त्रैविध्य भगवान् बताने जा रहे हैं क्योंकि धर्मपालन के लिये धैर्य की विशेष वृत्ति ज़रूरी है। मनु ने सामान्य धर्मों में प्रथम धृति को इसीलिये गिना कि इसके बिना कोई धर्म पूरी तरह अपनाया नहीं जा सकता। पहले ग्राह्य सात्त्विक धृति बताते हैं –

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

पार्थ! नियमतः परमात्मा में ही एकाग्र जिस धृति से मन-प्राण-इन्द्रियों की चेष्टाएँ नियंत्रित रहती हैं वह सात्त्विक धृति है।

यहाँ सात्त्विक धैर्य के लिये योग की बात बताई। सात्त्विक धृति परमात्मा में चित्त को समाहित करने के उद्देश्य वाली है अतः सात्त्विकी धृति उसको हो ही नहीं सकती जो परमात्मा को ही अपने जीवन का उद्देश्य नहीं मानता। जो परमात्मा को छोड़कर और किसी चीज़ को जीवन का उद्देश्य बनाता है, उसमें सात्त्विकी धृति नहीं हो सकती। इसकेलिये वह योग अव्यभिचारी होना चाहिये। जिसका धैर्य हमेशा परमात्मा के ही अनुगत रहता है या समाधि के ही अनुगत रहता है वही सात्त्विक धैर्य वाला है। चार-छह घण्टा भगवान् का चिंतन कर लिया, फिर चार-छह घण्टा संसार का चिंतन कर लिया तो फिर सात्त्विकी धृति नहीं बन पाती। इसलिये कहा कि अव्यभिचारी योग से यह सिद्ध होती है। सात्त्विक धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया नियंत्रित है। जिसने सात्त्विकी धृति की तरफ आना शुरू किया है उसने शरीर का नियन्त्रण तो पहले ही कर लिया है इसलिये यम, नियम और आसन तो उसने सिद्ध कर ही लिये हैं। अब प्राणायाम, विशेष करके कुम्भक का अधिक-अधिक अभ्यास करके प्राणों की क्रिया को धारण करता है। इसके लिये भी धैर्य चाहिये, अन्यथा प्राण-क्रिया का नियंत्रण नहीं हो पाता। प्राण के दो अर्थ होते हैं : एक तो प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान पाँच प्राण हैं जो सारे शरीर की क्रियाओं को करने वाले हैं। दूसरा अर्थ है – जो अपने को अत्यंत प्रिय हो उसे भी प्राण कहते हैं, जैसे पुत्रादि को कहते हैं कि 'यह तो मेरा प्राण है'। उसका अर्थ है कि उससे मुझे अत्यधिक प्रेम है। यहाँ दोनों ही तात्पर्य ले लेना। इस धृति वाले के प्रेम का विषय हमेशा परमात्मा ही है। परमात्मा को देखना चाहता है, परमात्मा को सुनना चाहता है, परमात्मा को सूँघना चाहता है। परमात्मा के साथ ऐसा प्रेम होगा तभी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह वाक्य स्पष्ट हो पायेगा। जो कुछ भी हमको दिखाई दे रहा है, सुनाई दे रहा है वह सब परमात्मा ही है। धृति होगी तब धीरे-धीरे केवल परमात्मा ही प्रिय रह जायेगा और तभी हम प्राण, अपान, व्यान आदि सारी क्रियाओं को कुम्भक में स्थिर कर पायेंगे। होता यह बहुत धीरे-धीरे है। यह कहना बहुत

सरल है कि 'परमात्मा हमको प्रिय है', परन्तु परमात्मा ही प्रिय हो - इसको प्राप्त करने के लिये साधन करना बहुत ज़्यादा अपेक्षित है।

प्राण का यह अर्थ क्यों करते हैं? भगवान् ने मन और इन्द्रियों के बीच में प्राण को रखा है। इन्द्रियों की क्रिया परमात्मा की तरफ जाये, इसी को प्रत्याहार कहते हैं। क्रम तो होना चाहिये था पहले इन्द्रियाँ और फिर प्राण, लेकिन भगवान् ने ऐसा नहीं किया। अतः भगवान् चाहते हैं कि हमारा मन और सारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ सब केवल परमात्माभिमुखी हों। जब परमात्मा में प्रेम होगा तब इन्द्रियों की क्रियायें परमात्माभिमुखी होंगी, जिसे प्रत्याहार कहा जाता है। इसलिये प्राणायाम के बाद प्रत्याहार आता है। उसके बाद मन की क्रियायें, धारणा और ध्यान दोनों आ जाते हैं। मन को किसी एक विग्रह या स्वरूप के अन्दर एकाग्र किया तो धारणा हुई और उसकी सर्वरूपता, ज्ञानरूपता और आनन्दरूपता पर एकाग्र किया तो ध्यान हुआ। योगदर्शन के अनुसार स्थल-विशेष में चित्त को बाँधना धारणा है और जब मन का कार्य किसी देश-विशेष में नहीं रह जाता, केवल प्रत्यय या ज्ञान ही रह जाता है तब ध्यान है। सामान्यरूप से जब तुम मैं कहते हो तब प्रायः तुम्हें किसी एक स्थल का ध्यान नहीं आता। सिर, कान पैर आदि शरीर के किसी भी हिस्से को तुम 'मैं' कह सकते हो। 'मैं चल रहा हूँ' तो पैर को लेकर, 'मैं सुन रहा हूँ' तो कान को लेकर मैं कह रहे हो। सामान्यरूप से तुम सारे शरीर में एक जैसे हो, किसी एक स्थान में बँधे नहीं हो। परन्तु जब तुम अभिमानपूर्वक कहते हो 'मैंने किया' तब चाहे जहाँ हाथ नहीं ठोकते, छाती पर ही हाथ ठोकते हो; यह एकदेश हुआ। वहीं मैं की प्रतीति होती है। कोई नाक आदि को ठोककर नहीं कहता कि 'मैं कह रहा हूँ'। जैसे सामान्य स्थिति 'मैं' की है वैसे ही परमात्मा की सर्वत्र एक जैसी स्थिति है, किसी एक देश में नहीं है। जब मन की यह स्थिति हो तब प्रत्ययैकतानता ध्यान है। 'मनःप्राणेन्द्रियक्रिया' अर्थात् मन की क्रिया, प्राण की क्रिया और इन्द्रियों की क्रिया। इन्द्रियों की क्रिया से प्रत्याहार और मन की क्रिया से धारणा और ध्यान को कह दिया। इस प्रकार अव्यभिचारी रूप से, अर्थात् कभी इधर कभी उधर ऐसा नहीं, लगातार परमात्मा में ही जो समाहित रहे वह सात्त्विक धृति है। उसी से मन आदि सबको साधक धारण करता है, शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति से रोक पाता है। तभी चेष्टामात्र सिवाय परमात्मा के और किसी के लिये नहीं होती है।

सब चेष्टाओं को धारण क्यों करना पड़ता है? धारण न करने पर शास्त्र जैसा करने को कहता है उससे विपरीत, दूसरे मार्ग में प्रवृत्ति होती है। अनादिकाल से मन के अन्दर अनात्मा के ही संस्कार पड़े हुए हैं। इन्द्रियों में भी वही अनात्मा के संस्कार पड़े हुए हैं। इसलिये शास्त्र चाहे जितना कहें कि 'केवल परमात्मा का दर्शन करो। परमात्मा देखने वाला या जानने वाला है', फिर भी परमात्मा को समझते हैं कि वह भी इन्द्रियों का विषय होगा ही! यह इन्द्रियों का संस्कार है। आँख से देखना जैसे हमको स्वाभाविक लगता है वैसे ही आँख के द्वारा देखने वाले की तरफ ध्यान देना हमको बिलकुल स्वाभाविक नहीं लगता। वेद

ने तो कह दिया 'यच्चक्षुषा न पश्यति' अर्थात् परमात्मा को हम कभी आँख से नहीं देख सकते हैं। जिसके द्वारा आँख देखती है वह परमात्मा है। जो आँख से देखता है वह परमेश्वर है। पर हमें संस्कारवश बाह्य उपाधियाँ आवश्यक होती हैं चित्त स्थिर करने के लिये। इसलिये शास्त्र ने विष्णु आदि शुद्ध उपाधियाँ बताई। मूर्ति तक को परमात्मा समझने को कह दिया! क्योंकि अनात्मा के संस्कार पड़े हुए हैं, इसलिये चाहे जितनी चेष्टा करो, फिर झट इन्द्रिय भी बाहर देखने लगती है, मन भी अनात्माका चिंतन करने लगता है, प्राण भी अनात्मा की चेष्टा करने लगते हैं। उधर जाने से रोकना धैर्य से है और लम्बा धैर्य चाहिये। अनादि काल के संस्कारों को हटाने के लिये उतना ही समय चाहिये! यहीं पर ईश्वर का अनुग्रह कारण पड़ता है। ईश्वर जब देखता है कि तुम इस प्रकार धैर्यपूर्वक अपनी सारी चेष्टाओं को परमात्मा की तरफ लगा रहे हो तब वह अनुग्रह करके तुम्हारे उन ठीक संस्कारों को ही आगे कर देता है, दूसरे संस्कार दबे रह जाते हैं, यही उसका अनुग्रह या कृपा है। जब ऐसी धृति के द्वारा प्रवृत्त होता है तब साधक श्रवण, मनन से आत्मरूप से स्थिर हो जाता है, उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, मोक्ष हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकार बार-बार कहते हैं कि परमेश्वर के अनुग्रह के बिना यह श्रवण-मनन सफल नहीं होता। इसकेलिये उच्छास्त्र (शास्त्रविरुद्ध) मार्ग की प्रवृत्ति से अपने को रोकना है। सात्त्विक धैर्य वाला परमात्मा की वास्तविकता की तरफ जा सकता है, दूसरे के लिये तो यह सम्भव ही नहीं होगा।।३३।

राजसी धृति को बताते हैं -

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

पार्थ! अर्जुन! जिससे व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम को ही कर्तव्यरूप से अवधारित करता है एवं धर्मादि के सम्बन्ध से फल भी चाहता है, वह राजसी धृति है।

इस धृति से धर्म, काम और अर्थ तीनों को धारण करता है। यहाँ मोक्ष को छोड़ दिया क्योंकि वह तो सात्त्विकी धृति में ही होता है। जो मोक्ष का अधिकारी है वह परमात्मा की तरफ जायेगा। बाकी लोगों के लिये तो धर्म, अर्थ और काम ये तीन ही पुरुषार्थ हैं। हमारे यहाँ शास्त्रकारों ने बताया है कि जब तक निवृत्ति का अधिकारी न हो तब तक धर्म, अर्थ, काम का सेवन करे। परन्तु सेवन कैसे करे? काम के ऊपर अर्थ का नियंत्रण रहना चाहिये और अर्थ के ऊपर धर्म का नियंत्रण रहना चाहिये। निवृत्ति मार्ग में जाने से पूर्व तीनों में रहने की छूट दी है। तीनों ही पुरुषार्थ हैं परन्तु उनके सेवन का एक तरीका है। काम अर्थात् विषयों की प्राप्ति। विषयों का जो सेवन करना है, उनकी प्राप्ति का जो साधन अर्थ तुम्हारे पास है उसके विरुद्ध नहीं होना चाहिये। मोटी भाषा में समझ लो कि यदि तुम्हारी आमदनी पाँच सौ रुपये की है तो पाँच सौ एक रुपये के विषयों के सेवन की तरफ प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। पुराने

लोग कहा करते थे कि जितनी लम्बी चादर हो उतने ही पैर लम्बे करो। इसलिये वर्तमान में जो उधार लेकर खर्चने की प्रवृत्ति है यह राजस धैर्य को भी ख़त्म करने वाली है। आधुनिक प्रवृत्ति कहती है कि कामों को पहले प्राप्त कर लो, अर्थ का बाद में चिन्तन करो! हमारे शास्त्र कहते हैं कि अर्थ को पहले प्राप्त करो, तब कामना करो। जिस चीज़ को तुम चाहते हो, अगर उसका साधन तुम्हारे पास है तब तो वह चीज़ तुम्हें प्राप्त होने पर तुम सुखी होगे और जिसे प्राप्त करने का साधन तुम्हारे पास नहीं है उसे प्राप्त करना चाहोगे तो सिवाय दुःख होने के और कुछ नहीं होगा। उधार तो ले लोगे परन्तु उधार जब भरोगे तब सिवाय दुःख के और क्या होना है! काम के ऊपर अर्थ का नियन्त्रण चाहिये। इसके लिये धैर्य चाहिये। विषयों को देखकर कामना तो उत्पन्न हो जाती है कि यह भी मेरा हो, यह भी मेरा हो, जब धैर्य रखोगे तब तो पहले अर्थ अर्जित करोगे और आराम से काम का उपभोग करोगे। जो अर्थ से विरुद्ध न हो उस काम-भोग की शास्त्र ने छूट दी है।

अर्थ के ऊपर धर्म का नियंत्रण चाहिये अर्थात् खूब कमाओ, लेकिन धर्म से विरुद्ध होकर मत कमाओ। जिस प्रकार से काम पर अर्थ का नियंत्रण, ऐसे ही अर्थ पर धर्म का नियंत्रण चाहिये। संस्कृत की पहली पुस्तक में बच्चों को पढ़ाते हैं 'धनात् धर्मस्ततः सुखं' धन से सीधे सुख प्राप्त नहीं होता। धन से धर्म की प्राप्ति करो तो उस धर्म से सुख होता है। तुम्हारे पास अर्थ है इसलिये विषय की प्राप्ति हो गई लेकिन कई बार अनुभव होता है कि वह विषय सुख का कारण न होकर दुःख का कारण हो जाता है। हमें इष्ट चीज़ मिल भी गई लेकिन फिर भी दुःख होता है। इसलिये नीतिकार कहते हैं कि यदि उस समय तुम्हारा धर्म का प्रारब्ध है तभी सुख होगा। यह ठीक है कि तुम विषयभोग या कामना की पूर्ति चाहते हो लेकिन कामना की पूर्ति से भी चाहते तो सुख ही हो, दुःख को तो नहीं चाहते। जब तक धर्म का प्रारब्ध नहीं होता तब तक सुख नहीं होता। तुमने अर्थ प्राप्त किया कामना पूर्ति के लिये परन्तु तुम्हारी अंतिम कामना सुख की है, वह पूरी नहीं होगी यदि तुमने धर्म-विरुद्ध काम किया है। कामना की पूर्ति ऐसी करो जो अर्थ से विरोध न आये और अर्थ की पूर्ति ऐसे करो जो धर्म से विरोध न आये। यह करने के लिये भी धैर्य चाहिये। यद्यपि सांसारिक लोग और वातावरण धैर्य तोड़ने के प्रयास में ही रहते हैं तथापि लौकिक सुख भी चाहो तो यह राजस धैर्य रखना ही पड़ेगा। इस धैर्य में परमात्मा को सामने नहीं रखा अर्थात् निवृत्ति सामने बिलकुल नहीं है, प्रवृत्ति ही सामने है।

'प्रसंगेन फलाकांक्षी' फल की आकांक्षा तो करते हैं लेकिन प्रसंग से। प्रसंग अर्थात् प्राप्ति। प्राप्ति कैसे होती है? 'मैंने यह कर्म किया' - यह जो अहं के प्रति हमारा अत्यंत संग है इसलिये चाहते हैं कि इसका फल मुझे मिले। यह प्रसंग से फलाकांक्षी होना है। बिना प्रसंग के फलाकांक्षा है कि जिस चीज़ को मैंने नहीं किया वह फल मुझे मिल जाये। फल की आकांक्षा है परन्तु जो कर्म मैंने किया उसका फल मिले ऐसा नहीं, बल्कि कर्म तो कोई दूसरा कर ले और भोग मैं लूँ! वह राजस नहीं रहा। राजस वह है जो चाहता है कि जिसे मैंने

खुद किया है, जो मुझे प्राप्त होना चाहिये, वह फल मिले। उससे ज़्यादा फल की आकांक्षा नहीं करता। धर्म के आचरण में विरोध अवश्य आते हैं, उनका धैर्य से ही सामना होगा अन्यथा धर्म छूट जायेगा। हमारा मन बड़ा चोर है। यह झट बहाना बना देता है ताकि जो हमारा कर्तव्य धर्म है, उसे हम न करें। नित्य कर्तव्य प्राप्त है, उसकी तरफ न जाने वाली जो प्रवृत्तियाँ हैं उनसे धैर्यपूर्वक बचना पड़ता है। जैसा धर्म के विषय में वैसा ही अर्थ के विषय में है। हमारे अर्थ को नुक्सान पहुँचाने वाली अनेक प्रवृत्तियाँ आती हैं। सबसे पहली प्रवृत्ति है जिसका नाम आजकल विज्ञापन रख दिया है। जिस चीज़ को तुमने कभी देखा-सुना नहीं, तुम्हारे मन में उसकी इच्छा भी नहीं है, वह इच्छा जगे जिससे तुम उधर जाओ - इस प्रकार से विज्ञापन तुम्हारे राजस धैर्य को तोड़ना चाहते हैं। विज्ञापन का प्रयोजन चीज़ जैसी है वैसा बताना नहीं है वरन् चीज़ की तरफ तुम्हें प्रलुब्ध करना है। इसलिये वह ज्ञापन का नहीं वरन् प्रलोभन का काम करता है। जैसे धर्म का परित्याग करने के लिये अवसर आते हैं वैसे ही अर्थ का परित्याग करने में भी आते हैं। धर्मविरुद्ध कामनाओं में विज्ञापन-वश प्रवृत्त होते हैं। जो नहीं खाने की चीज़ें हैं उनकी तरफ तुम्हें प्रलुब्ध किया जाता है। ऐसे धर्म से हटने के अवसर रोज़ आयेंगे। धैर्य होगा तो धर्म पर दृढ रहोगे, शास्त्रीय धर्मों को छोड़कर अन्य तरफ प्रवृत्ति नहीं करोगे। विधर्मी भी धर्म से विरुद्ध चलने की प्रेरणा देते हैं। ईसाई, मुसलमान, आदि सब समझाते हैं कि वेदमार्ग छोड़ देना चाहिये। अनेक लोग किसी नये धर्म का नाम नहीं लेते पर सनातन धर्म से विमुख करने का प्रयास करते रहते हैं। एक प्रसिद्ध प्रवक्ता कहते थे कि चाहे राम नाम जपो चाहे कोका कोला जपो, एक ही बात है! धैर्यहीन व्यक्ति ऐसे लोगों की बातों में फँस जाता है क्योंकि धीरता से शास्त्र का मंथन नहीं करता।

इस प्रकार सात्त्विक धैर्य मुक्ति-कामियों के लिये है और राजस धृति बाकी तीन पुरुषार्थों की उचित सिद्धि के लिये आवश्यक है।।३४।।

तामसी धृति तो बाकी लोगों में होती ही है! विवेकपूर्वक प्रवृत्ति मार्ग में जाने वालों के लिये राजस, मुक्तिकामियों के लिये सात्त्विक और बाकी सब लोगों के लिये तामसी धैर्य सुलभ है।

तामसी धृति को बताते हुए कहते हैं -

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमु चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

पार्थ! कुत्सितमति व्यक्ति जिससे नींद, त्रास, सन्ताप, अवसाद और विषय-सेवन का नशा नहीं छोड़ता, वह तामसी धृति है।

'यया स्वप्नं न विमु चति' जिस धैर्य से नींद को नहीं छोड़ता है उस धैर्य को तमोगुणी कहते हैं। स्वप्न के दोनों तात्पर्य समझ लेना : सीधा अर्थ तो नींद है। इसके लिये भी धैर्य चाहिये। चाहे जितना जगाते रहो, शोर करते रहो, बिजली जलाते रहो, फिर भी चादर में

मुँह ढाँक लेंगे, रजाई ओढ़ लेंगे लेकिन निद्रा को नहीं छोड़ेंगे! स्कूल जाने के लिये जगाते रहो, फिर भी बच्चे सोते रहेंगे। धैर्य के कारण सोने को नहीं छोड़ सकते। 'न विमु चति' के द्वारा समझ लेना कि नींद छोड़ना प्राप्त होने पर भी नहीं छोड़ते। सात्त्विक हो या राजस हो, सोयेगा तो ज़रूर क्योंकि निद्रा शरीर, मन और इन्द्रियों की आवश्यकता है, परन्तु नींद छोड़ने की परिस्थिति आने पर वे छोड़ देंगे। परन्तु तामस नींद छोड़ने की परिस्थिति आने पर भी नहीं छोड़ता। प्रातःकाल सूर्योदय होने का समय हो गया, फिर भी नहीं उठता। शास्त्र तो कहता है कि सूर्योदय होने के दो घण्टे पूर्व उठ जाये, परन्तु यह सूर्योदय होने के बाद भी नहीं उठता। अलार्म आदि से उठकर पुनः सो जाते हैं।

स्वप्न का दूसरा अर्थ होता है जो चीज़ नहीं है उसे देखना। जब कोई ऐसी असंभव बात को सत्य समझता है तब कहते हैं कि क्या स्वप्न देख रहे हो? एक कल्पना जगत् में बैठे रहते हैं, उसे नहीं छोड़ते। उस कल्पना जगत् में यह जगत् स्वप्न भी है। यह भी एक कल्पना का ही जगत् है जो अविद्या के द्वारा कल्पित है। जगत् को इतना ज़बर्दस्त पकड़ कर रखते हैं कि चाहे जितना विरोध प्रतीत हो, फिर भी कहते हैं कि यह तो सच्चा ही है। जिस-जिस चीज़ को सच्चा समझा वह सब झूठी सिद्ध होती जाती है, फिर भी कहते हैं कि अब की बार जो सिद्ध हुआ है यह तो सच्चा ही है! तामस धैर्य से ही अविद्या-कल्पित को भी नहीं छोड़ते, संसार को धैर्यपूर्वक पकड़कर रखते हैं। बड़े लड़के ने ढंग से काम नहीं किया। फिर सपना देखते हैं कि दूसरा लड़का ठीक निकलेगा। उसने भी हमारी इच्छानुसार ढंग से काम नहीं किया। फिर सोचते हैं कि तीसरा लड़का अच्छा निकलेगा! इस प्रकार स्वप्न देखते रहते हैं। जगते नहीं कि कोई किसी की इच्छा पूरी नहीं करता। इस सत्य को नहीं देखते। लॉट्री खरीदने वालों को देखते हैं कि हर बार नम्बर लगाते हैं, हर बार नहीं आता। फिर भी सोचते हैं कि अबकी बार आ जायेगा। औरों की बात छोड़ो, युधिष्ठिर तो क्या-क्या चीज़ दाँव पर लगा गये, यही सोचकर कि अबकी बार मिल जायेगी! तमोगुण का धैर्य ऐसा होता है। कुछ लोग तो अपने स्वप्न को इतना सच्चा समझते हैं कि जो इस स्वप्न से जग जाता है, इस स्वप्न को छोड़ देता है, उसे भगोड़ा कहते हैं! अपना बड़ा भारी धैर्य समझते हैं कि 'हम तो डटे हुए हैं, तुम तो थोड़े से झ झट से घबड़ाकर भाग गये।'

इसी प्रकार भय है। धैर्यपूर्वक भय को भी नहीं छोड़ते। भय को भी पकड़े रहने का उनका स्वभाव है। भय, जैसे कोई जन्तर-मन्तर करके मेरा बुरा कर देगा, अमुक मेरे ऊपर तंत्र कर रहा है, मेरा बुरा कर रहा है। लाख समझाओ कि 'कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता। दूसरा कोई सुख-दुःख देता है यह तो कुबुद्धि है। शरीर तो तुम्हारे कर्म सूत्र से बना है। जो तुम्हारा कर्म है उसका भोग तुम्हें मिलेगा।' परन्तु वह सोचता रहता है कि कोई न कोई तंत्र-मंत्र करके मेरा बुरा कर रहा है! इस भय को नहीं छोड़ता। विचार से भय का कोई कारण नहीं है, फिर भी भय को छोड़ता नहीं, पकड़े ही रहता है। भय का एक अर्थ त्रास भी होता है। असह्य दुःख को भी भय कहते हैं। दुःख की असह्यता को देखकर भी उस दुःख की चीज़ को नहीं छोड़ते।

जिसके कारण अपनी जान पर आ जाये, फिर भी उसे नहीं छोड़ते।

इसी प्रकार शोक को बनाये रखते हैं। कोई दुःख की घटना घर में हो गई, कोई व्यक्ति मर गया तो सभी को शोक होता है। परन्तु दस दिन, महीना भर या सालभर में आदमी अपने धन्धे में लगता है। कहाँ तक किसी को रोता रहेगा! परन्तु तमोगुणी धैर्यपूर्वक, बरसों हो जायें, तब भी रोता ही रहता है। शोक करता ही रहता है। दीवाली के दिन कोई मर गया तो शोक होना ही है। हर साल दीवाली आती है तो वह घटना याद आती है। स्वाभाविक है कि दीवाली मनाने का उत्साह नहीं होता। किन्तु धीरे-धीरे घर का रिवाज़ बन जाता है कि दिवाली न मनायी जाये। उस समय के अन्य लोग भी मर गये, न जाने कितनी पीढ़ियाँ पहले वह घटना हुई थी, परन्तु आज भी उनके घर में दीवाली नहीं मनती। अब उन्हें घटना पूरी पता भी नहीं कि कौन मरा लेकिन फिर भी मानते रहते हैं कि आज शोक का दिन है।

इसी प्रकार विषाद को भी नहीं छोड़ता। जब मन खिन्न हो जाता है तो उसे विषाद कहते हैं। मन खिन्न होने पर किसी दूसरी चीज़ में मन लगाओ तो वह बात भूल जाती है। लेकिन तामस धैर्य वाला खेदहेतु को ही सोच-सोचकर विषाद को नहीं छोड़ेगा, पकड़े ही रहेगा। इसी प्रकार मद को भी नहीं छोड़ता। 'मेरे पास अमुक विषय-सेवन इतना है कि और किसी के पास नहीं है', ऐसा घमण्ड मद है। ऐसा व्यक्ति पागल की तरह व्यवहार करता है। मद नशे को कहते हैं। यह विषय-सेवन का नशा है। ऐसे लोग विषय-सेवन से ही अपने को धन्य समझते हैं। 'एव च' के द्वारा कहते हैं कि ऐसे लोग मन के अन्दर स्वप्न, भय, शोक, विषाद, मद इन्हीं चीज़ों को प्रधानता देते हैं। इन्हीं का कर्तव्य रूप से चिन्तन करते हैं और इसी को अच्छा मानते हैं। अगर किसी को उस भय से रहित देखते हैं तो सोचते हैं कि यह तो बेकार खतरा मोल ले रहा है। अगर जगत् को स्वप्न जानने वाले को देखते हैं तो कहते हैं कि 'ये बेकार जीवन व्यतीत कर रहे हैं, हम तो देश की उन्नति में लगे हैं और ये देश की उन्नति नहीं करते।' इस प्रकार अपने मन में इन्हीं स्वप्न आदि भावों को अपना कर्तव्य समझते हैं और जो ऐसा नहीं करते उन्हें बुरा बताते हैं। जो चीज़ें त्याग के योग्य हैं उनको अपने में देखकर अपने को धैर्यवान् समझते हैं।

ये सब चीज़ें दुःख का कारण हैं। सात्त्विक-राजस धैर्य तो सुख को प्राप्त करने के हेतु हैं। सात्त्विक धैर्य वाला परम आनन्द के लिये उसे उपजाता है कि 'चाहे जितना दुःख हो, परम आनन्द प्राप्त करूँगा'। रजोगुणी धैर्य वाला दुःख उठा करके स्वर्ग आदि का सुख प्राप्त करता है। और तामस तो दुःख की चीज़ों में धैर्य रखता है कि दुःखी रहूँगा ही! इसलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति दुर्मेधा है। मेधा अर्थात् किसी चीज़ को याद रखने की शक्ति होना। इनकी दुर्मेधा है क्योंकि ये बुरी चीज़ों को ही याद रखते हैं। किसी ने उपकार किया तो उसे तो भूल जायेंगे और अपकार किया तो उसकी गाँठ बाँधे रखेंगे, उसे हमेशा याद रखेंगे। किसी ने प्रशंसा की तो भूल सकते हैं, निन्दा की तो याद ही रखेंगे। मेधा तो इनमें है, बहुत याद रखते हैं लेकिन बुरी चीज़ों को ही याद रखते हैं, अच्छी चीज़ों को याद

नहीं रखते। ऐसी धृति को तमोगुणी कहते हैं।।३५।।

अब कर्म के फल को बताते हैं जो तीन प्रकार का है। सभी कर्मों से फल तो तुम केवल सुख को ही चाहते हो। तामसी व्यक्ति दुःख को भी इसलिये पकड़कर रखता है कि उसमें उसे एक तरह का सुख अनुभव होता है! वह उसी को कर्तव्य या सुख समझता है। जैसे कुछ लोगों की आदत होती है कि बिना लड़े हुए उन्हें जीवन में रस नहीं आता। कोई न कोई निमित्त कर जो भी पास में होगा उससे लड़ाई करेंगे। लड़ाई करने में उन्हें सुख का अनुभव होता है। लड़ाई कभी सुख देने वाली नहीं होती परन्तु उस लड़ाई से होने वाले दुःख को वे सुख मानकर ही करते हैं। कर्म का उद्देश्य सुख है। जहाँ फल दुःख दीख रहा है वहाँ भी उद्देश्य तो सुख ही है। इसलिये कर्म का फल जो सुख है उसे भी तीन गुणों वाला बताते हैं :-

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

हे भरतोत्तम! जिसमें आवृत्ति से रति होती है और जिससे निश्चय ही दुःख का उपशम होता है उस तीन प्रकार के सुख को अब मुझसे सुनो।

'इदानीं' - कर्म-संग्रह और कर्म चोदना के त्रिविध भेद सुनने के बाद तीन गुणों से होने वाले जो तीन प्रकार के सुख हैं, मेरे द्वारा कहे उनको सावधान होकर सुनो। सुख क्या चीज़ है? शास्त्रकारों ने बताया है, सुखता कोई जाति नहीं है जो पदार्थों में रहती हो! जिसको जो चीज़ अच्छी लगती है, इष्ट लगती है या इच्छा का विषय लगती है, उसके लिये वही सुख है। इसलिये जिसे रसगुल्ला अच्छा लगता है उसके लिये रसगुल्ला सुख है, जिसको मिर्च का पकौड़ा अच्छा लगता है उसके लिये वह सुख है। कोई *चीज़* ऐसी नहीं जो सबके लिये सुख है केवल परम आनंद को छोड़कर, क्योंकि तुम्हारा आत्मा ही परम आनन्दस्वरूप है। आत्मा की प्राप्ति से तो सबको परम आनन्द की प्राप्ति होती है अर्थात् परम इष्ट की प्राप्ति होती है परन्तु उसे छोड़कर और कुछ ऐसा नहीं है जो सबको इष्ट लगे या सबको सुख दे। आत्मा में यह विशेषता क्यों है? शास्त्रकारों ने बड़े ढँग से समझाया है : जैसे तुम सुख के लिये सब काम करते हो वैसे ही तुम सब काम अपने लिये करते हो। कोई भी काम हो उसका अन्तिम फल तुम अपने लिये ही तो चाहते हो। जिसके लिये सब कुछ किया जाये वही आत्मा है, वही सुख है। इसलिये आत्मा हमेशा ही सुखरूप या आनन्दरूप है परन्तु अनात्म पदार्थों के अन्दर जो सुख है वह तो, जब तक तुम उसे इष्ट नहीं समझोगे, तब तक तुम्हारे लिये नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् स्पष्ट कहते हैं 'अभ्यासाद्रमते यत्र' तुमको सुख उसी चीज़ में इष्ट लगेगा जिसका तुमने पहले अनुभव किया है। उस चीज़ को ही तुम जितनी बार भोगोगे उतनी बार सुख होगा। एक सूक्ष्म प्रश्न हो सकता है कि पहली बार सुख कैसे होता है? अनादि काल से तुम हो, अनादि काल से रूप रस आदि विषय हैं इसलिये सब विषयों का तुमने अनुभव किया ही है अतः पहली बार सुख का प्रश्न नहीं उठता। जितना अभ्यास

ज़्यादा करोगे, जिस चीज़ की जितनी ज़्यादा आवृत्ति होगी, उतना ही मन उसमें रत होगा अर्थात् मन में उसकी लत होगी और उतना ही तुम्हें सुख का अनुभव ज़्यादा होगा। अब तक चूँकि संसार के पदार्थों का अभ्यास करते रहे हो इसलिये उसमें न चाहकर भी मन रमता है, मन बार-बार उधर जाता है। चूँकि पहले कभी अभ्यास किया नहीं इसलिये परमार्थ मार्ग में मन रमता नही। परन्तु जब यज्ञ, दान, तप आदि का, श्रवण-मनन आदि का अभ्यास हो जाता है तब मन उसमें रमता है। अगर तुमने इस जन्म में थोड़ा अभ्यास किया तो थोड़ा मन रमा। अगले जन्म में उस अभ्यास का संस्कार रहेगा और तुम्हारा मन परमार्थ मार्ग में ज़्यादा लगेगा। मन लगेगा तो उसका अभ्यास भी ज़्यादा करोगे। इस प्रकार से अभ्यास बढ़ते-बढ़ते एक दिन तुम तत्त्वनिष्ठा तक पहुँच जाओगे। चाहे अनात्मा हो, चाहे आत्म-पदार्थ हो, 'अभ्यासाद्रमते' अभ्यास होने पर ही मन रमता है, रति की प्राप्ति होती है। 'यत्र' अर्थात् जिस चीज़ में सुख का अनुभव हुआ, उसी विषय में मन रमता है। क्यों रमता है? हेतु बताया 'अभ्यासाद्' अर्थात् बार-बार करने से रमता है।

भाष्यकार कहते हैं 'अभ्यासाद् परिचयात्' उसका परिचय होने से। अनात्म पदार्थ का अभ्यास तो तुम कर लोगे, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श विषय होने के कारण तुम उसका बार-बार अनुभव कर सकते हो; परन्तु जो आत्म पदार्थ है उसका तो इस प्रकार विषयरूप से अनुभव होता नहीं, उसका अभ्यास कैसे किया जाये? आत्मपदार्थ का तो श्रवण-मनन के द्वारा परिचय होता है। अर्थात् वह आत्मा क्या है, किंरूप है - इसका पता लगता है। पता लगने पर मन उसमें रमता है। जब यह पता लगता है कि परमात्मा आनंदघन है तब परमात्मा में मन रमने लगता है। इसलिये मधुसूदन सरस्वती आदि कई आचार्यों ने कई प्रकार के श्रवण माने हैं। उसमें प्रथम श्रवण के द्वारा परिचय होता है अर्थात् यह निश्चय होता है कि यह बिलकुल ठीक है कि परमात्मा ही आनन्दघन है। फिर उस श्रवण की बार-बार आवृत्ति होने से उसका संस्कार भी दृढ हो जाता है और परमात्मा से भिन्न अनात्मा में जो सुख के संस्कार हैं, वे क्षीण हो जाते हैं। पहले तो ऐसा लगता है कि आत्मा में सुख है, ठीक है, शास्त्र से बात कुछ समझ में आई; परन्तु साथ ही यह भी लगता है कि दुनिया में कुछ तो मज़ा है ही। जितना-जितना अनुभव होता है उतना उस परम आनन्द-स्वरूप आत्मा की सुखरूपता का पता लगता है, उतना ही फिर दुनिया की चीज़ें दुःखरूप प्रतीत होने लगती हैं। ऐसे समझो कि पहले तुमने केवल दूध पिया तो उसमें भी मीठे का पता लगता है कि दूध मीठा है। उसके बाद तुम्हें जलेबी खिला दी और फिर वही दूध पिलाया तो कहते हो 'दूध फीका है'। क्योंकि जलेबी का मिठास दूध से ज़्यादा है, इसलिये अब वही दूध फीका लगने लगता है। इसी प्रकार वह परम आनन्द इतना बड़ा है कि जब तुम श्रवण आदि साधन करके उस आनन्द का अनुभव करते हो तब पहले थोड़े समय के लिये संसार की चीज़ें तुम्हें आकृष्ट नहीं करती। फिर जब तीन चार घण्टे अनात्माकार वृत्ति बन जाती है तब संसार की चीज़ें पुनः कुछ अच्छी लगने लगती हैं। जितना-जितना परम

आनन्द का अभ्यास बढ़ता जायेगा उतना-उतना फिर संसार में कम सुखरूप लगेगा और अंत में घोर दुःखरूप हो जायेगा! यह अभ्यास से, परिचय से रमण है। इस सुख के अनुभव में अभ्यास से ही रति होती है।

'दुःखान्तं च निगच्छति' इस परम आनन्द की प्राप्ति होने पर आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति हो जाती है। 'निगच्छति निश्चयेन गच्छति प्राप्नोति' परम आनन्द की प्राप्ति और आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति दोनों इकट्ठी ही समझ लो। निश्चय ही उस विषयसुख का स्वाद चला जाता है। यह तो परम आनन्द या परम सुख के बारे में बता दिया।।३६।।

अब सात्त्विक सुख को कहते हैं :-

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

जो पहले जहर-सा लगता है किंतु नतीजा सामने आने पर अमृत की तरह होता है, अपनी बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न वह सुख सात्त्विक कहा गया है।

सात्त्विक सुख के जब उपाय किये जाते हैं अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, समाधि आदि किये जाते हैं तब वे जहर की तरह लगते हैं। परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग ऐसा है जिसमें शुरू में तो अत्यन्त परिश्रम करके ही प्रवेश किया जा सकता है। इसके अन्दर अत्यंत दुःख का ही अनुभव होता है इसलिये जहर की तरह लगता है। परमात्मा के विषय में कहना तो मीठा खाण्ड जैसा लगता है परन्तु उसे प्राप्त करने के लिये जुटो तो विष की गोली की तरह लगता है। साधन अत्यंत आयास पूर्वक करना पड़ता है, इसलिये विष की तरह लगता है। इसके लिये पहली ही सीढ़ी कहते हैं कि सवेरे चार बजे उठना है, तो दिल्ली के लोगों को लगता है कि महाराज तो बहुत कड़वी बात कहते हैं! सवेरे चार बजे उठना उन्हें बड़ा भारी परिश्रम लगता है। फिर अगर कह दें कि उठकर रजाई में माला जप लो, तो भी ठीक है; लेकिन नहीं, पहले स्नान करो; वह भी जहर की तरह लगता है। सर्दी का मौसम और उसमें भी चार बजे उठकर स्नान करो। तब से लेकर जितनी साधना कहते हैं, सभी विष की तरह लगती है। इसलिये भगवान् ने कहा 'यत्तदग्रे विषमिव' शुरू में ज्ञान, वैराग्य आदि साधन विष की तरह लगते हैं। परन्तु जब ज्ञान और वैराग्य पक जाते हैं तब अमृत की तरह हो जाता है। वैराग्य का पकना है कि स्वप्न के अन्दर भी अनात्म पदार्थों के प्रति सुख-बुद्धि नहीं होती। ज्ञान के पक जाने का मतलब है कि स्वप्न में भी शरीर-मन में अहं बुद्धि नहीं होती। जब यह परिणाम हो जाता है तो फिर यह सुख अमृत की तरह हो जाता है। जिसको प्राप्त करने के लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु फलकाल में जो अत्यंत सुखद है, उसे सात्त्विक सुख कहते हैं। 'प्रोक्तं' अर्थात् बड़े-बड़े आत्मनिष्ठ महापुरुष ऐसा बताते हैं। यह सुख किससे होता है? 'आत्मबुद्धिप्रसादजं' आत्मा को विषय करने वाली जो बुद्धि है उसको आत्मबुद्धि कहते हैं। बुद्धि या अनात्मा को या आत्मा को विषय करती है।

बुद्धि से ही जाना जाता है। आत्मबुद्धि अर्थात् आत्मा को विषय करने वाली बुद्धि। प्रसाद अर्थात् निर्मलता। जैसे तालाब के अन्दर मिट्टी है, अगर हवा से लहरें नहीं उठती तो तीन-चार दिन में वह मिट्टी धीरे-धीरे बैठ जाती है और जल निर्मल रह जाता है, तब कहते हैं तालाब प्रसन्न या प्रसाद वाला हो रहा है। इसी प्रकार बुद्धि के अन्दर राग-द्वेष से प्रभावित होकर अंतःकरण मैला हो रहा है। यद्यपि उस बुद्धि में ही परमात्मा विद्यमान है तथापि उस मैल के कारण वह दीखता नहीं। जितना-जितना आत्मा की तरफ निश्चयात्मिका बुद्धि लगती है उतना-उतना बुद्धि का मल बैठ जाता है, अर्थात् बुद्धि निर्मल हो जाती है। ऐसी निर्मल बुद्धि के अन्दर विद्यमान परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। इसलिये कहा 'आत्मबुद्धिप्रसादजं' मानो उससे, आत्मविषयक बुद्धि की निर्मलता से, पैदा हो गया। वह तो अज है, पहले ही मौजूद है, फिर भी मानो पैदा हो गया। ठीक जिस प्रकार से किसी तलैया में हीरे की अँगूठी गिर जाये, उसमें बहुत ढूँढने पर भी मिले नहीं और फिर मिट्टी बैठ जाने पर दीख जाये तो कहते हो 'अँगूठी मिल गयी!' वह तो तुम जहाँ ढूँढ रहे थे वहाँ उस समय भी पड़ी हुई थी। लेकिन तब पानी मटमैला था इसलिये नहीं दीखी थी। ठीक इसी प्रकार बुद्धि रूपी तलैया के अन्दर शुद्ध द्रष्टा साक्षी विद्यमान है। इसका निश्चय तो इसी से हो जाता है कि यदि वह विद्यमान न होता तो बुद्धि से कैसे जाना जाता! वहाँ है इसलिये जाना जाता है। जैसे चीज़ें साफ दीखें तो निश्चय हो जाता है कि सूर्य उग गया है, बादल आदि से उसका बिम्ब न दीखने पर भी निश्चय हो जाता है क्योंकि उदय न हुआ होता तो सब चीज़ें साफ़ दीख नहीं सकतीं थी। इसी प्रकार ज्ञान हो रहा है तो ज्ञानरूप परमात्मा बुद्धि में अवश्य मौजूद है तभी ज्ञान हो रहा है। परन्तु इतने मात्र से *परमात्मा* का ज्ञान नहीं हो गया! यह निश्चय हो गया कि परमात्मा है; क्योंकि परमात्मा ज्ञानरूप है। ज्ञानरूप परमात्मा बुद्धि के अन्दर हमेशा ही अधिष्ठान रूप से विद्यमान है, यह तो ज्ञान से पता लग गया। जब राग-द्वेष आदि विकारों वाला मन शांत हो जाता है तब वह आत्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। इसलिये कहा जाता है 'आत्मबुद्धिप्रसादजं' बुद्धि की निर्मलता से परमात्मा पैदा, प्रकट हो गया। इससे होने वाला सुख अर्थात् परमात्मा का सुख ही सात्त्विक सुख है।

सुख की विशेषता क्या है? सुख वह होता है जिसके अन्दर अभ्यास से रति प्राप्त करते हैं। अनादि काल से विषयों के संस्कार पड़ रहे हैं इसलिये अभ्यास होकर ही विषयों में मन रमता है। अभ्यास से विषय में राग होता है, इसलिये उसमें रति होती है। और विषय की इच्छा से होने वाला जो दुःख है वह विषय की प्राप्ति होने पर समाप्त हो जाता है। सात्त्विक सुख क्योंकि अंदर परमात्मा से सम्बद्ध है इसलिये उसका संस्कार नहीं है। इसलिये इसका जो अभ्यास है वह दुःखद लगता है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि सब मनुष्य को जहर की तरह लगते हैं। परन्तु जब अंतःकरण को बार-बार अभ्यास कराते हैं तब शम, दम आदि के फलस्वरूप थोड़ा सुख प्राप्त होने लगता है। पहले तो उस सुख की प्रतीति नहीं होती पर साधनाभ्यास से हो भी जाती है। मानुषादि ब्रह्मान्त सुख बताते हुए उपनिषत् ने हर सुख उसे

उपलब्ध बताया है 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' जो श्रोत्रिय है और उस सुख की कामना वाला नहीं है। किन्तु उसको वह सुख प्राप्त ही है - यह बात हमारी समझ में नहीं आती। विषय मिलने पर सुख होता है - यह तो समझ में आ जाता है, परन्तु जो अकामहत है, जिसे उसकी कामना नहीं है, उसको वह सुख प्राप्त ही है - यह इसीलिये समझ में नहीं आता कि शम, दम, उपरति आदि से भी सुख होता है यह अनुभव नहीं है। किन्तु शम, दम, उपरति इत्यादि का अतिदीर्घकाल तक अभ्यास करने के बाद उस सुख की प्रतीति होने लगती है। इसलिये 'अभ्यासाद्रमते' कहा था। शम, दम आदि का कभी अभ्यास किया नहीं, या अधिकाधिक कुछ-एक जन्मों से पहली बार कर रहे हो। इसलिये अभ्यास से जब रमण होगा तब सुख स्पष्ट होगा। विषयसुख तो प्राप्त होते ही अच्छा लगता है, उसमें रति होती है। रसगुल्ले का डिब्बा आया, उस पर के०सी० दास का नाम लिखा हुआ है। उसको देखकर ही प्रसन्नता या रति होती है कि 'आज खाने का मज़ा आयेगा', क्योंकि पहले के संस्कार हैं। ऐसा शम दम आदि में नहीं होता। यह तो लगता है कि कोई परमात्मा होगा जिसकी प्राप्ति होगी तब सुख होगा। परन्तु उपनिषद् ने 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' से कहा कि अभ्यास होने के बाद जिस-जिस चीज़ से मन निवृत्त हो जाता है उस के सुख का अनुभव होने लगता है। विषयसुख में तो 'दुःखान्तं च निगच्छति', विषय की इच्छा रूपी दुःख थोड़ी देर को रुक जाता है। परन्तु जब शम, दम आदि का परिपाक या श्रवण, मनन का परिपाक होता है तब अमृत की तरह सुख होता है। विषय-सुख में थोड़ी देर बाद फिर इच्छा आ जाती है तो फिर दुःख आ जाता है। परन्तु यहाँ श्रवण-मनन के परिपाक से दुःख का ऐसा अंत होता है कि फिर दुःख नाम की चीज़ रह ही नहीं जाती। सर्वज्ञात्म महामुनि कहते हैं कि जो सारे पदार्थों से निवृत्त हो जाता है उसे दुःख होता ही नहीं, वह दुःख नाम की चीज़ जानता ही नहीं। यह सात्त्विक सुख अमृत की तरह है अर्थात् फिर कभी दुःख होता ही नहीं।।३७।।

राजस सुख बताते हैं -

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

विषय-इन्द्रियों के सम्पर्क से जो पहले अमृत-सा किन्तु नतीजा सामने आने पर विष जैसा सुख होता है वह राजस बताया गया है।

सात्त्विक सुख तो आत्मबुद्धि-प्रसादज या बुद्धि की निर्मलता से होने वाला था। निर्मल बुद्धि जब आत्मा की तरफ जाती है तब सात्त्विक सुख होता है। राजस सुख आत्मा *से* नहीं होता, अनात्मा से होता है। विषय अनात्मा है। विषय वह है जिसको हम जानते हैं, आत्मा वह है जो जानता है। इसलिये विषय नियमतः अनात्मा ही होगा। राजस सुख विषयों से होता है। जैसे आत्मसुख आत्मा से होता है वैसे ही विषय-सुख विषयों से, अनात्मा से होता है।

आत्मा सुख-स्वरूप है, परन्तु वह सुख बुद्धि की निर्मलता से प्रकट होता है, राजस सुख विषय-इन्द्रियसंयोग से होता है, केवल विषय से नहीं होता। जैसे वहाँ बुद्धि की निर्मलता अपेक्षित है वैसे ही यहाँ विषय और इन्द्रिय का संयोग होना चाहिये। जब रसगुल्ले का जीभ के साथ संयोग होगा, जीभ पर उसे रखोगे तब मज़ा आयेगा। जैसे वह सुख आत्मबुद्धि-प्रसादज है वैसे ही यह सुख विषयेन्द्रिय-संयोग से होता है। इन्द्रिय वह है जिसके द्वारा जानते हो, आत्मा वह है जो जानता है, जैसे जीभ के द्वारा स्वाद को जानते हो। विषय और इन्द्रिय का संयोग होने पर आत्मा जानता है। विषय भी अनात्मा और इन्द्रिय भी अनात्मा हैं। अतः राजस सुख अनात्मा के संयोग से होता है, यह सात्त्विक से फ़र्क यहाँ ध्यान देना। आत्मा की तरफ जाने से बुद्धि में जो निर्मलता आई उससे आत्मा प्रकट हुआ तो सात्त्विक सुख हुआ। आत्मबुद्धि के संयोग से यदि आत्म-सुख होता तब तो कहते कि उसमें भी पचास प्रतिशत अनात्मा हेतु है। किन्तु उसे भगवान् ने संयोगज नहीं कहा। बुद्धि की निर्मलता से खुद प्रकट होता है क्योंकि आनन्दस्वरूप होने से पहले ही मौजूद है। परन्तु राजस तो विषयेन्द्रिय-संयोग से पैदा होता है। चूँकि विषय और इन्द्रियाँ दोनों अनात्मा हैं इसलिये यह अनात्मा का सुख है। चूँकि बुद्धि की निर्मलता से खुद ही प्रकट होता है इसलिये सात्त्विक तो आत्मसुख है। अनादिकाल से प्राप्त संस्कारों के कारण विषयों में रति है इसलिये जब रसगुल्ले को जीभ पर रखते हैं तब अमृत की तरह लगता है। सात्त्विक सुख तो पहले जहर की तरह लगता है क्योंकि उसके संस्कार नहीं होने के कारण राग का अभाव है। जबकि अनादि काल के संस्कार होकर रति मौजूद होने के कारण जिस समय विषय मिलता है तभी अमृत की तरह लगता है। आदमी सोचता है कि 'मैं धन्य हूँ जो इतनी बढ़िया मोटर मिल गई, धन्य हूँ मैं जो राष्ट्रपति का पद मिल गया'। जो भी विषय प्राप्त हो उसके प्रति रति है इसलिये प्राप्त होने पर अमृत की तरह लगता है।

परन्तु राजस सुख का परिणाम है कि वह तुम्हारे बल को नष्ट करता है। जितना-जितना विषय-भोग होता है उतना-उतना बल क्षीण होता है। चूँकि बल नष्ट होता है इसलिये विष की तरह है। विषय सुख के लिये बलिष्ठता, द्रढिष्ठता की ज़रूरत है और भोग से बल घट जाता है। इसी प्रकार से वीर्य क्षीण हो जाता है। किसी भी परिस्थिति का सामना करने की सामर्थ्य भी घट जाती है। अमेरिका के पास जितने हथियार हैं वे दुनिया में इस समय किसी के पास नहीं हैं, परन्तु क्या नहीं है? वीरता नहीं है। इसलिये वियतनाम में गये तो हारे। अफगानिस्तान और ईराक में अब तक कोई समझौता नहीं कर पाये। उनके पास बल की कमी नहीं है, उनकी फौज बहुत बड़ी है, शस्त्र आदि उनके पास बहुत हैं परन्तु वीरता नहीं है, अतः बचकर लड़ते हैं। बचकर लड़ने वाला अगर डट कर लड़ने वाले के सामने पड़ जाये तो उसे मुँह की खानी ही पड़ती है। उनमें यह वीर्य क्यों नहीं है? क्योंकि उनके पास खूब भोग-सामग्री है। विषय और इन्द्रियों के संयोग की खूब प्राप्ति होने से वीर्य नहीं रहा। प्रायः शारीरिक बल का प्रयोग कर लड़ने के काम में व्यापारी वर्ग अक्षम रहता है। इसका

कारण क्या है? विषयेन्द्रिय-संयोग ही कारण है। उन्हें भोग के लिये सब तरह के विषय मिल जाते हैं इसीलिये वीरता या सामर्थ्य नहीं रहती। विषय और इन्द्रियों के संयोग से जितना भोग होता जाता है उसमें मनुष्य का रूप भी क्षीण होता जाता है। भोगी के मुख के ऊपर वह सौंदर्य नहीं रह सकता जो विषयेन्द्रिय-संयोग से दूर रहने वाले के मुख पर रहता है। विषयेन्द्रिय का भोग करने वाले की प्रज्ञा भी नहीं रहती। प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि में वह सामर्थ्य कि किसी भी चीज़ के वास्तविक तात्पर्य को समझ पाये, वह सामर्थ्य उसकी बुद्धि में नहीं रह पाती। प्रज्ञा भी क्षीण हो जाती है। इसका कारण तो स्पष्ट है कि जितना ज़्यादा अनात्मा का संस्कार बुद्धि में आयेगा, अनात्मा चूँकि जड है इसलिये उतनी वह बुद्धि के अन्दर जडता ही लायेगा। जैसे प्रकाश सभी चीज़ों को स्पष्ट दिखा देता है वैसे ही बुद्धि की जो सामर्थ्य प्रज्ञा है वह किसी भी चीज़ की वास्तविकता को स्पष्ट कर देती है। इसलिये मनु महाराज तो कहते हैं कि जो प्रज्ञाहीन है वह शास्त्र का तात्पर्य समझ ही नहीं सकता। इसलिये मनु महाराज ने कहा कि अगर धर्म के विषय में संदेह हो तो सात, नहीं तो कम-से-कम तीन वैदिक विद्वान् मिलकर जो निर्णय करें वह निर्णय सबके लिये मान्य है। परन्तु आगे लिखते हैं कि यदि कोई संन्यासी है तो वह अकेला ही धर्म के विषय में जो निर्णय दे देगा, वही ठीक है! उसका कारण यही है कि जो सात या तीन विद्वान् मिलकर निर्णय करेंगे, वे विषयेन्द्रियसंयोग वाले हैं और संन्यासी विषयेन्द्रिय के संयोग छोड़ने वाला है, शम, दम आदि से संयुक्त है, अतः उसकी प्रज्ञा पूर्ण तेजस्वी है। उस अकेले की प्रज्ञा उन सात की प्रज्ञा से भी अधिक प्रखर है। इसलिये विषय-भोग करने वाले के बल, वीर्य और प्रज्ञा क्षीण हो जाते हैं।

उसकी मेधा का भी क्षय हो जाता है। मेधा का अर्थ है ग्रन्थ धारण की सामर्थ्य होना। कभी यह अनुभव करके देखो कि कोई बात तुमने सुनी है, सुनने के बाद बिना किसी दूसरे काम को किये घर में जाकर अपने को अकेले कमरे में बन्द करके उसी बात के बारे में सोचो तो वह बात ऐसी पक्की याद हो जायेगी कि दो महीने बाद भी कोई पूछेगा तो उस बात को यथावत् कह दोगे। इसके बजाये अगर कथा सुनकर चले और चाय-समोसा आदि विषय-भोग में लग गये, तो कथा में सुना विषय भूलोगे ही। विषयभोग के कारण वह सुनी हुई बात ठीक से बैठ नहीं पाती, मेधा शक्ति क्षीण हो जाती है। लोग पूछते हैं - महाराज! बात याद रहे इसके लिये हम क्या करें यह बताईये। हम क्या बतायें! इसे करने का उपाय तो सीधा-सा है कि विषयेन्द्रिय-संयोग को कम करने का प्रयत्न करो।

इतना ही नहीं, धन भी कम होता जाता है। यह बात तो आप सब लोग समझते ही हैं। और उत्साह भी नहीं रह जाता। सात्त्विक कर्ता को बताते हुए कहा था 'धृत्युत्साहसमन्वितः' वह धृति और उत्साह से समन्वित होता है। क्या कारण है कि लोगों का परमात्मा के प्रति उत्साह नहीं होता? उसका कारण यही है कि जितना विषय-चिंतन का अभ्यास होता है उतना परमात्म मार्ग में उत्साह नहीं रहता। ऐसे उत्साहरहित व्यक्ति को

हमेशा लगता रहता है कि पता नहीं परमात्मा मिलता है, नहीं मिलता है! परमात्मा है भी कि नहीं है? हम लोगों को प्राप्त हो भी सकता या नहीं? 'हम परमात्मा को प्राप्त करेंगे ही' ऐसा उत्साह नहीं रहता। विषयेन्द्रिय-संयोग से इन सब की हानि होने के कारण कहा 'परिणामे विषमिव'। अगर विषयेन्द्रिय-संयोग के लिये अधर्म कर लिया तो फिर उससे आगे नरक आदि की प्राप्ति है, पशुपक्षी आदि योनियों की प्राप्ति भी होगी। इसलिये भी आगे विष की तरह ही है। सात्त्विक सुख हुआ जो प्रारम्भ में विष की तरह और अंतमें अमृत की तरह है। और राजस अथवा विषयसुख हुआ जो प्राप्ति में अमृत की तरह है और परिणाम में या बाद में जब उसका फल सामने आता है तब विष की तरह है। इसलिये राजस सुख सात्त्विक सुख से बिलकुल उलटा है। यही दोनों में फ़र्क है।।३८।।

अब तामस सुख बताते हैं -

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

नीन्द, आलस्य और असावधानी से उत्पन्न एवं प्रारम्भ में तथा नतीजा आने पर भी जो सुख आत्मा को मोहग्रस्त ही करता है वह तामस कहा गया है।

'मोहनं सुखं' तामस सुख है। विषयेन्द्रिय संयोग से होने वाला भी प्रकट सुख है और सात्त्विक सुख श्रवण-मनन आदि द्वारा आत्मज्ञान होने से प्रकट ही रहता है। यह तामस सुख तो केवल मोहमात्र से प्रतीत होता है। अर्थात् सुख न होने पर भी समझते हैं कि सुख हो गया। इसकी प्राप्ति में भी सुख नहीं है, अंत में भी सुख नहीं है और भोगकाल में भी सुख नहीं है! उसे सुख मान लेते हैं केवल इसलिये सुख है। यह सुख कैसा होता है? निद्रा - तामस सुख, निद्रा लेने का सुख है। नींद लेने से भी सुख का प्राकट्य नहीं होता है सोते समय स्पष्ट भान नहीं रहता कि 'सुख भोग रहा हूँ'। सुख वहाँ है परन्तु सुख का प्राकट्य वहाँ नहीं है। क्योंकि प्रकट करने वाली जो बुद्धिवृत्ति वह वहाँ नहीं थी। सुषुप्ति में आत्मा अज्ञान से आवृत रहता है। सात्त्विक सुख में तो आत्मा का आवरण हट जाता है इसलिये सुखरूपता की प्राप्ति है। विषय-सुख में इच्छा की निवृत्ति पर बुद्धि आत्मा की तरफ जाती है इसलिये वह भी प्रकट सुख है। निद्रा में तो आत्मा की तरफ वृत्ति जाती नहीं, केवल कोई वृत्ति रहती नहीं है, इतना ही है।

ऐसा ही आलस्य का सुख है। हम बहुत से लोगों को जानते हैं जिनकी नींद खुल गई, उसके बाद भी तकिये पर सिर इधर से उधर करते रहेंगे, करवटें बदलते रहेंगे। उन्हें उसमें जो मज़ा आ रहा है वह न बढ़िया तकिये का मज़ा है, न बिछौने का मज़ा है। किस चीज़ का सुख है? उठना नहीं चाहते हैं, इसलिये सुख मानते हैं। जैसे निद्रा में दुःख का अनुभव नहीं होता है तो कहते हैं सुख है, इसी प्रकार उठने का दुःख नहीं करना पड़ता है, इसलिये लगता है कि सुख है। इसी प्रकार प्रमाद है। जो काम करना है वह मैंने नहीं किया अर्थात्

मुझे काम करने का दुःख नहीं उठाना पड़ा। काम टल गया तो कहते हैं 'बड़ा अच्छा हुआ'। इसलिये यह सुख केवल मोह का ही सुख है, माना हुआ ही सुख है, कोई सुख है नहीं।

और यह सुख कैसा है? 'अग्रे च अनुबन्धे' अर्थात् पहले भी ऐसा ही है और समाप्ति में भी ऐसा ही है। सात्त्विक सुख तो समाप्ति में अमृत की तरह है। लेकिन ऐसे आलस्य और प्रमाद की समाप्ति में भी कोई सुख नहीं है और पहले भी कोई सुख नहीं है। दोनों कालों में ही यह तो मोहमात्र का सुख है। इस सुख को तामसी सुख, तमोगुण से होने वाला सुख कहते हैं। इसीलिये इसे 'आत्मनः मोहनं सुखं' कहा क्योंकि निद्रा, आलस्य और प्रमाद से जो एक प्रकार का मोहरूपी भाव रहता है, केवल उसी का सुख है।

इस प्रकार, फल का विचार करते हुए तीनों प्रकार के सुखों को बता दिया।।३६।।

'प्रोच्यते गुणसंख्याने' (१८.१६) से भगवान् ने कपिलमत के अनुसार बताना प्रारम्भ किया। किन्तु कर्ता आदि मानसिक वस्तुओं की ही त्रिगुणात्मकता का भगवान् ने वर्णन किया। सांख्यवादी तो मनोवृत्तियाँ ही नहीं, दुनिया की हर चीज़ को त्रिगुणात्मक मानते हैं। अतः प्रतिज्ञापूर्ति के लिये संक्षेप में सर्वत्र त्रिगुणता का निर्देश करते हुए गुणसंख्यान का प्रकरण समाप्त करते हैं –

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

पृथ्वी में, द्युलोक में या देवताओं में भी कोई व्यक्ति या वस्तु नहीं है जो इन तीन गुणों से छूटा हो।

सारी पृथ्वी में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो तीन गुणों से मुक्त हो अर्थात् कापिलों की दृष्टि में संसार में जितने पदार्थ हैं वे सभी सात्त्विक, राजस या तामस हैं। स्वर्ग लोक में भी ऐसा कुछ नहीं है जो इन तीन गुणों से रहित हो। मनुष्य लोक के प्राणियों का तो कर्म-संग्रह और कर्म-चोदना इत्यादि के द्वारा निरूपण किया। परन्तु स्वर्गलोक में भी ऐसा कुछ नहीं है जो इनसे मुक्त हो। प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है, और साम्यावस्था से वैषम्यावस्था होने पर सत्त्व, रज और तम तीनों गुण प्रसिद्ध होते हैं, उनसे मुक्त हो ऐसी कोई चीज़ नहीं है 'सत्त्वं' के द्वारा बताया कि अभाव को तो वे भी सात्त्विक, राजस, तामस नहीं कहेंगे। जो भाव पदार्थ हैं वे ही तीन गुणों वाले हैं ऐसी उनकी मान्यता है।।४०।।

सारा संसार क्रिया, कारक और फलरूप है। संसार में जो कुछ है वह या क्रिया है या क्रिया करने के साधन हैं या क्रिया का फल है। वे सारे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप हैं, यह सारी त्रिगुणात्मिका प्रकृति अविद्या से ही परिकल्पित है। वेदान्त की दृष्टि से कहते हैं कि यह सब अविद्या-परिकल्पित है। अविद्या और यह सब अनर्थ ही है। सारी क्रिया, सारे कारक और सारे फल अनर्थरूप ही हैं। जिसको चाहा जाये, जिसकी अर्थना की जाये, जिसको प्राप्त किया जाये वह तो अर्थ है और क्रिया, कारक आदि सब प्राप्त करने के अयोग्य

हैं, अनर्थरूप हैं। इस बात को भगवान् पन्द्रहवें अध्याय में 'ऊर्ध्वमूलं' से कह आये हैं कि यह तो वृक्ष है। जैसे वृक्ष काटने के लिये होता है वैसे ही यह भी काटने के ही लायक है। यह जो त्रिगुणात्मक सारा संसार है यह सारा अविद्या के कारण है और इसलिये इससे निवृत्त ही होना योग्य है। इसीलिये भगवान् पहले कह आये कि 'हे अर्जुन! तू त्रिगुण से रहित हो जा।' इस निवृत्ति को बताने में ही सारी गीता और सारे वेदान्तों का तात्पर्य है। भगवान् सभी साधकों को कह रहे हैं कि तीनों गुणों से रहित हो जाओ। इस प्रकार सारे गीता शास्त्र और सारे वेदान्तों का प्रयोजन यही है। अब चूँकि अठारहवें अध्याय के बीच में पहुँच रहे हैं इसलिये यहाँ से सारे गीता शास्त्र का उपसंहार प्रारम्भ हो रहा है। वैसे तो ग्रन्थ में प्रसंग से अनेक बातें कही जाती है, परन्तु ग्रन्थ का जो वास्तविक प्रयोजन होता है, उसको उपसंहार में फिर से कहना चाहिये। जो कुछ गीता में कहा गया है, उसमें जो-जो प्रयोजन वाली बातें हैं, उन्हें भगवान् उपसंहार में बता देंगे। तात्पर्य-निर्णय के लिये उपक्रम और उपसंहार की एकवाक्यता ज़रूरी है। इन बातों का जगह-जगह अभ्यास भी किया है। ऐसी एकवाक्यता का प्रकार वेदान्तों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता। फल स्वयं ही भगवान् बतायेंगे और पहले बता भी आये हैं। इस प्रकार से यहाँ से जो प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है वह सारे वेदों और स्मृतियों का तात्पर्य है। अतः जो पुरुषार्थ करना चाहता है अर्थात् अपने पौरुष को काम में लाकर इस तात्पर्य को प्राप्त करना चाहता है, वह किस-किस कर्म का अनुष्ठान करे, यह बतायेंगे। अतः उस प्रकरण को प्रारम्भ करने के पहले भगवान् बताते हैं कि यह पुरुषार्थ कौन करता है –

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

शत्रुतापक! ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के और शूद्रों के कर्म प्रकृतिजन्य गुणों के अनुसार बँटे हुए हैं।

वैदिकों का जो चातुर्वर्ण्य है वह सारा इस प्रयोजन या पुरुषार्थ के लिये ही है। चातुर्वर्ण्य का निर्माण भगवान् ने किया है। आधुनिकों की जो कल्पना है कि चार वर्ण समाज ने या मनु ने बनाये हैं इत्यादि, वह सभी भगवान् के उक्त स्पष्ट उद्घोष से निराकृत हो जाती है। पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये भगवान् ने वर्ण बनाये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति हैं क्योंकि ये सारे वेदाध्ययन के अधिकारी हैं। इनका उपनयन होने के कारण ही ये द्विजाति हैं अर्थात् इनका दूसरा जन्म होता है। इसलिये द्विजातियों को इकट्ठा करके समास बना दिया 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' इसीलिये जो वेद के अधिकारी नहीं हैं ऐसे शूद्रों को भगवान् ने समास में नहीं रखा। क्योंकि वे एकजाति हैं अर्थात् उनका एक ही जन्म है, दोबारा उनका जन्म होता नहीं। आचार्ययोनि से उनकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये एक ही जन्म है। अतः वेद में उनका अधिकार नहीं है। 'कर्माणि प्रविभक्तानि' इन चारों वर्णों के कर्मों का स्पष्टतया

विभाग किया गया है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्या-क्या कर्म करें, यह प्रविभाजन किया गया है। 'गुणकर्मविभागशः' यह कर्म-विभाग भी किसी मनुष्य का बनाया हुआ नहीं है, यह कर्म-विभाग भी भगवान् ने कहा कि मेरे ही द्वारा किया गया है। यह प्रविभाग कैसे हुआ है? 'स्वभावप्रभवैः' अर्थात् विषयों की जो प्रकृति या विषयों का जो स्वरूप माया प्रकृति है, उस माया के अन्दर ही यह प्रविभाग किया गया है। इसका मोक्ष और आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो विषयों की प्रकृति माया या त्रिगुणात्मिका प्रकृति है वही इसका प्रभव है, माया को लेकर ही ये सारे भेद हैं। माया से होने वाला जो गुणों का भेद या तारतम्य है उसको लेकर ही यह विभाग है। इस प्रकार जो त्रिगुणों का प्रकरण था उसके साथ पुल भी बन गया। गुणों का स्वरूप बता रहे थे, उसके साथ आगे का विषय सम्बन्धित हो गया कि चारों वर्णों की यह सृष्टि गुणों के अनुरूप ही है। विषयों का स्वभाव अर्थात् माया में चूँकि तीन गुण हैं इसलिये चार प्रकार के वर्णों की सृष्टि है।

अथवा अर्थ है कि वर्णों का स्वभाव गुणों से है अर्थात् ब्राह्मण के स्वभाव का सत्त्वगुण कारण है। क्षत्रिय के स्वभाव का कारण सत्त्व गौण रहते रजोगुण है। वैश्य के स्वभाव का कारण तम गौण रहते रजोगुण है तथा शूद्र के स्वभाव का कारण रज गौण रहते तमोगुण है। इसलिये ब्राह्मण के जो कर्म होंगे वे सत्त्वगुणी कर्म होंगे। ब्राह्मण का स्वभाव हमेशा सत्त्वगुणी होगा, उससे उत्पन्न होने वाले कर्म सात्त्विक कर्म होंगे। उन सात्त्विक कर्मों को देखकर उसको ब्राह्मणों में ही श्रद्धा होगी। ब्राह्मण के स्वभाव के अनुसार जो कर्म बताये गये, उनको वह देखेगा इसलिये उनमें ही उसकी श्रद्धा होगी। अतः वे ब्राह्मण की तरह के कर्म करेंगे। इसी प्रकार क्षत्रिय के स्वभाव में सत्त्वगुण गौण और रजोगुण प्रधान होता है। ऐसे स्वभाव वाला क्षत्रिय होगा। जो कर्म उसके लिये विहित हैं वे उसी के स्वाभाविक कर्म होंगे। उन कर्मों को देखकर ही क्षत्रिय में श्रद्धा होगी और उसी को देखकर वह आगे कर्म करेगा। वैश्य में तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान होगा। क्षत्रिय और वैश्य दोनों में रजोगुण प्रधान तो है परन्तु क्षत्रिय में सत्त्वगुण गौण रूप से रहेगा और वैश्य में तमोगुण गौण रूप से रहेगा। शूद्र का स्वभाव तमोगुणी है, उसमें रजोगुण गौण पड़ता है। क्षत्रिय, वैश्य के तो गौण गुणों में फ़र्क है। शूद्र तमोगुणी है परन्तु उसमें रजोगुण गौणरूप से रहेगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का जो कर्म का प्रविभाग है वह परमेश्वर ने किया है। उनको देखकर जो श्रद्धामात्र से प्रयुक्त है वह उन्हीं में प्रवृत्ति करेगा जिनमें उसकी श्रद्धा होगी और श्रद्धा होगी उस प्रकार के गुणों के कारण ही। आगे भगवान् स्वयं बतायेंगे कि ब्राह्मण के कर्म प्रधान रूप से शांति आदि होंगे। क्षत्रिय के ऐश्वर्य आदि होंगे। पदार्थों की कामना को लेकर वैश्य के कर्म होंगे और शूद्र के स्वाभाविक कर्म मोह या मूढता के होंगे। इसलिये जिनको शांति पसन्द है वे ब्राह्मण को देखकर चलेंगे, जिनको ऐश्वर्य पसन्द है वे क्षत्रिय को देखकर चलेंगे। जिनको पदार्थों की भावना है वे वैश्य को देखकर चलेंगे। और मूढता की भावना वाला, जिसे निद्रा, आलस्य आदि अच्छे लगते हैं, वह शूद्र को देखकर चलेगा।

जो स्वभाव ब्राह्मणादि का है या उनको देखकर चलने वालों का है, वह क्यों है? जन्मान्तर में जो कर्म किया जाता है उस किये हुए कर्म का संस्कार अंतःकरण पर होता है और वही संस्कार वर्तमान जन्म में प्रकट होते हैं। इसलिये लोगों के अन्दर स्वभाव से इन चीज़ों की प्रवृत्ति देखी जाती है। बहुत से लोग चाहते ही शांति हैं और कुछ लोगों को शांति पसंद नहीं होती। रौनक देखें तो उनको प्रसन्नता होती, शांति से बैठना उनको अच्छा नहीं लगता। खूब लोग आयें, हल्ला-गुल्ला हो तो कहेंगे 'आज के आनन्द की जय हो।' चुपचाप बैठे हो तो कभी नहीं कहेंगे 'आज के आनन्द की जय।' इसी प्रकार कुछ लोग कहेंगे कि शांत रहना बेकार है, रौनक भी बेकार है, खूब पदार्थ या चीज़ें होनी चाहिये, माल होना चाहिये - यह उनका स्वभाव है और वही उन्हें अच्छा लगता है। उनकी चाहे जितनी जय-जय कार करो लेकिन दो कुछ नहीं तो कहेंगे कि यह क्या बेकार की जय-जय कार है! अलग-अलग प्रवृत्ति के लोग होते हैं। जन्मान्तर में जो किया गया है उससे जो संस्कार बन गये हैं वे ही प्राणियों में इस जन्म में प्रकट होते हैं और मनुष्य को कार्य के प्रति प्रवृत्त करते हैं। उस स्वभाव से प्रभव (उत्पन्न) जो प्रवृत्ति है उससे गुणों का, वृत्तिका पता लग जाता है कि यह ब्राह्मण वृत्ति वाला, यह क्षत्रिय वृत्ति वाला, यह वैश्य वृत्ति वाला और यह शूद्र वृत्ति वाला है। इसलिये 'स्वभाव-प्रभवैर्गुणैः' में यह नहीं समझ लेना कि गुणों का प्रादुर्भाव स्वभाव से हो जाता है अर्थात् गुण बिना कारण के प्रकट हो जाते हैं! ऐसा नहीं है, क्योंकि इस मायिक जगत् के अन्दर कोई भी चीज़ निष्कारण नहीं होती, किसी-न-किसी कारण से ही होती है। भगवान् ने यह भी बता दिया कि गुणों का प्रादुर्भाव पूर्व जन्म से है और यह भी बता दिया कि चूँकि मेरी माया भिन्न-भिन्न गुणों वाली है इसलिये इस चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई। एक वर्ण की सृष्टि क्यों नहीं हुई? उसका जवाब दिया कि चूँकि मेरी माया में तीन गुण हैं इसलिये चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई। आजकल प्रायः लोग कहते हैं कि एक ही जाति क्यों नहीं मानी जाती? इसका सटीक जवाब भगवान् ने यहाँ दे दिया।

जो लोग एक जाति मानते हैं उनके अन्दर भी कुछ लोग शान्त स्वभाव वाले होते हैं, कुछ ऐश्वर्यप्रधान स्वभाव वाले, कुछ धन आदि चीज़ों की कामना के स्वभाव वाले और कुछ लोग आलस्य, निद्रा आदि को ही अच्छा मानते हैं। जहाँ एक जाति मानते हो वहाँ भी ये भेद देखने में आते हैं। अभी तक कोई जाति ऐसी नहीं मिली जिसके अन्दर ये भिन्न-भिन्न गुण न देखने में आयें। चूँकि ये भिन्न-भिन्न गुण देखने में आते हैं अतः भगवान् ने कहा कि जो चातुर्वर्ण्य की सृष्टि है वह मेरी प्रकृति के कारण और लोगों के संस्कारों के कारण है। प्राणियों के अपने-अपने कार्य के अनुरूप ही कर्मादिकों का प्रविभाग किया है। सात्त्विक प्रकृति वाले के जितने कर्म बतायेंगे वे तो सारे वही होंगे जो उसकी शांति के अनुरूप होंगे। ऐश्वर्य वाले के वे कर्म बताये जो उसके अनुरूप होंगे। शांति के स्वभाव वाले को ऐश्वर्य-कर्म में लगा दोगे तो वह उसे भली भाँति कर ही नहीं सकेगा क्योंकि उसे उनको करने के संस्कार ही नहीं हैं। एक आदमी नया-नया ईसाई बना था। बस में धक्का-मुक्की हो रही थी। उसने

कुछ कह दिया तो सामने वाला तगड़ा पंजाबी था, जिसने उसे एक चाँटा मार दिया। उसने सोचा कि क्राइस्ट ने कहा है कि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके आगे कर दो। पंजाबी ने दूसरे गाल पर भी थप्पड़ मार दिया! वह ईसाई बना हुआ आदमी भी तगड़ा था। उसने उस पंजाबी को चलती बस से बाहर फैंक दिया! किसी ने उससे पूछा 'तुम्हें यही करना था तो दूसरा थप्पड़ क्यों खाया?' उसने कहा 'चूँकि मैं ईसाई बन गया हूँ! हमारे शास्त्र में यह तो लिखा नहीं है कि कोई दूसरे गाल पर थप्पड़ मारे तो क्या करें। अतः दूसरे थप्पड़ के बाद तो मैं स्वतंत्र हूँ। इसलिये उसे बाहर फैंक दिया।' उसका स्वभाव शांति का या सहन करने का नहीं था। सनातन धर्म की यह विशेष बात लोग आजकल समझना नहीं चाहते। ईसा ने यह नहीं कहा कि शांत व्यक्तियों के लिये वह नियम है, उसने तो सभी अनुयायियों केलिये एक ही नियम बना दिया। सनातन धर्म यों सब तरह के लोगों को एक ढर्रे पर नहीं चलाता, स्वभाव के अनुसार धर्मों का विधान करता है। भगवान् ने जो कर्मों का प्रविभाग किया है उसके अनुसार जिसके जो जन्मान्तरकृत संस्कार हैं उसके अनुरूप ही आदमी चल सकता है, अन्यथा नहीं चल सकता।

शंका होती है कि यदि शास्त्र ने ब्राह्मण आदि के लिये तत्तद् कर्मों का विधान किया है तो फिर यह कैसे कह सकते हैं कि ये सत्त्वादि गुणों के अनुरूप प्रविभक्त है? समाधान है कि गुणों के विचार से पता लगता है कि शास्त्र ने ब्राह्मण आदि के सत्त्वादि गुणविशेष को दृष्टि में रखकर ही यह कर्म-प्रविभाग किया है। यह तो ठीक है कि शास्त्र ने ही ब्राह्मण के लिये विधान किया है, परन्तु शास्त्र ने जो इस प्रविभाग को किया है इसके अन्दर यह दृष्टि निहित है कि जो सत्त्वगुण आदि के व्यक्ति हैं वे ऐसा करें। गुणों की अनपेक्षा करके प्रविभाग नहीं किया है। इसलिये शास्त्र-प्रविभाग को भी भगवान् ने गुण-प्रविभक्त कह दिया है। शास्त्र ने भी गुणों को, स्वभाव को, सामने रखकर ही विभिन्न कर्म करने को कहा है। जो स्वयं शास्त्र को जानने वाले नहीं हैं, किसी को देखकर कर रहे हैं, उनके अन्दर भी कोई ब्राह्मणोचित कर्म वाले, कोई क्षात्र कर्म वाले और कोई वैश्य कर्म वाले देखे जायेंगे। इससे यह पता लग जायेगा कि उनकी श्रद्धा किसके अनुरूप हुई। वे भी तत्तद् गुणों को लेकर ही उन कर्मों को कर रहे हैं। शास्त्र ने तो ब्राह्मण के लिये विधान किया, परन्तु सत्त्वगुणी को उन कर्मों पर श्रद्धा होकर वह उनमें प्रवृत्त होता है। उसे देखकर यह समझ में आ जायेगा कि यह व्यक्ति सत्त्वगुणी प्रकृति वाला है। इस प्रकार से भगवान् ने शास्त्र-प्रविभक्त और गुण-प्रविभक्त दोनों बातों का जो समन्वय दिखा दिया है, वह समझने योग्य है।।४१।।

वे कर्म क्या हैं? इसे भगवान् बताते हैं –

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

ब्राह्मण जाति के स्वभावजन्य कर्म हैं – मनोनियन्त्रण, इन्द्रियनियन्त्रण, शारीरादि तप,

बाहर-भीतर सफाई, क्षमा, सीधापन, शास्त्रीय पदार्थों का ज्ञान, उन पदार्थों का अनुभव करना तथा शास्त्र पर श्रद्धा।

ब्राह्मण का कर्म ब्राह्मण के स्वभाव से होने वाला है। ब्राह्मण के स्वभाव से होने वाले कर्म कहकर भगवान् ने कह दिया कि किसी काल में यदि ब्राह्मण में रजोगुण, तमोगुण प्रधान होंगे तो उसके अनुरूप भी कुछ कर्म देखे जा सकते हैं परन्तु वे उसके स्वभावज कर्म नहीं हैं। किसी निमित्त के आ जाने से कुछ ऐसे कर्म कर लेता है परन्तु चूँकि वे उसके स्वभाव वाले नहीं हैं इसलिये वे उसमें स्थिर नहीं होते। पुराणों के अन्दर अनेक कथायें आती हैं जहाँ कहा है कि ब्राह्मण झट किसी गलती के ऊपर शाप दे देते हैं। उस कर्म को देखकर मन में होता है कि यह कर्म तो ब्राह्मण के कर्मों में नहीं गिना है। लेकिन आगे कहानी पढ़ोगे तो करीब-करीब हर कहानी में आयेगा कि शाप सुनकर सामने वाला हाथ-पैर जोड़ता है, माफी माँगता है तो फिर ऋषि उस शाप के दूर होने का उपाय बता देते हैं। यह जो उपाय उन्होंने तुरन्त बता दिया, यह उनका स्वभावज गुण है। क्रोध नैमित्तिक है, किसी की दुष्टता की प्रतिक्रिया है। सारी सृष्टि है तो त्रिगुणात्मक, इसलिये निमित्त से रजोगुण उद्बुद्ध हो गया, पर जैसे ही थोड़े समय में वह स्वभाव प्रकट हुआ वैसे ही क्षमा कर दिया। इसलिये ब्राह्मण के अन्दर यदि स्वभाव के विपरीत कोई दूसरा कर्म देखने में आये तो समझ लेना चाहिये कि वह उस के ब्राह्मण-स्वभाव के कारण नहीं, वरन् किसी निमित्त के कारण है। इससे यह भी समझ में आ जायेगा कि उन चीज़ों की नकल वह न करे जो उसके अन्दर श्रद्धा करके कर्म में प्रवृत्त हुआ है। इसलिये भगवान् ने सात्त्विक स्वभाव से होने वाले कर्मों को तो यहाँ गिनाया। इसके अतिरिक्त कादाचित्क कर्मों की बात यहाँ नहीं है। इससे यह शंका समाप्त हो जाती है कि उसमें स्वभावज कर्म से विपरीत कर्म कैसे देखे जाते हैं।

यहाँ ब्राह्मण के कर्मों में वृत्ति-कर्मों को छोड़ दिया है। ब्राह्मण के जो षट्कर्म बताये हैं उनमें तीन कर्म वृत्ति के कर्म हैं अर्थात् जीवन-निर्वाह के लिये हैं। एक है वेद का पढ़ाना। वेद पढ़ा चुके तो शिष्य उसे दक्षिणा देता है। हमारे यहाँ पढ़ाई समाप्त होने पर दक्षिणा दी जाती है। वर्तमान पद्धति है कि पहले फीस दो तब पढ़ाया जायेगा। हमारे यहाँ ठीक इसके विपरीत है, पहले पढ़ाया जायेगा और तब दक्षिणा मिलेगी। उल्टा नहीं कि पहले दक्षिणा लाओ तब पढ़ाया जाये। वेद पढ़ाना ब्राह्मण का वृत्ति कर्म है जिससे उसे धन मिलेगा। इसी प्रकार से दूसरा कर्म है यज्ञ करवाना। कोई यज्ञ करना चाहता है तो ब्राह्मण वहाँ पुरोहित बनते हैं। उस कर्म से दक्षिणा प्राप्त होती है। वह भी वृत्ति कर्म है। तीसरा, कोई दान देता है तो उसे ग्रहण करना। वह भी वृत्ति कर्म है। इन तीनों वृत्ति कर्मों में से एक भी वृत्ति कर्म यहाँ भगवान् ने नहीं गिनाया है। उसका कारण यह है कि वृत्ति का अर्थ है कुछ प्राप्त करने के लिये जो कर्म किया जाता है और वह ब्राह्मण का *स्वभाव* नहीं है। शरीर को आवश्यकता है, उसकी आवश्यकता-पूर्ति के लिये उसको इन उपायों की अनुमति है। उसको आवश्यकता नहीं होगी तो उन कर्मों को करना ज़रूरी नहीं है। अतः वे ब्राह्मणस्वभाव के या सत्त्वस्वभाव

के कर्म नहीं है। परन्तु शरीर है और शरीर धारण के लिये भोजन आदि की अपेक्षा होती है, उसकी पूर्ति के लिये वह उन कर्मों को कर लेगा। वे स्वभावज के अन्तर्गत नहीं हैं। इसके द्वारा यह भी बता दिया कि जो केवल उसको देखकर उससे आकृष्ट होकर कर्म करने को चला है वह भी पौरोहित्य आदि कर्म न करने लग जाये कि 'हमने सात्त्विक स्वभाव को अपनाया है तो हम भी पौरोहित्य कर्म कर लें।' भगवान् नें यहाँ स्वभावज कर्म बताकर स्पष्ट कर दिया कि वृत्ति कर्म ब्रह्मस्वभावज नहीं हैं। आगे भी देखोगे कि क्षत्रिय के कर्मों में भी वृत्ति की प्रधानता नहीं है। वैश्य के जितने कर्म गिनायेंगे वे तो सारे वृत्ति कर्म हैं क्योंकि वैश्य तमोगुण से उपहित रजोगुण वाला है। रजोगुण चूँकि राग वाला है इसलिये वह जो कर्म करेगा वह वृत्ति के लिये ही करेगा। उसे यदि वृत्ति की प्राप्ति की आशा नहीं होगी तो वह प्रवृत्ति नहीं करेगा। इसलिये भगवान् ने वैश्य और शूद्र के अन्दर वृत्ति-प्रधानता प्रकट की और ब्राह्मण व क्षत्रिय में वृत्ति की गौणता रखी। ब्राह्मण में तो वृत्ति का नाम ही नहीं लिया। इसके द्वारा स्पष्ट कर दिया कि रजोगुण और तमोगुण के बिना वृत्ति आती ही नहीं, रजोगुण आने पर ही वृत्ति की प्रधानता है।

ब्राह्मण के द्वारा जो कर्मानुष्ठान होना चाहिये वह ब्रह्मकर्म है। ब्राह्मण जाति के द्वारा इन कर्मों का अनुष्ठान अवश्य ही किया जाना चाहिये। पहला कर्म शम है। शम, मन को अनात्म पदार्थों की तरफ नहीं जाने देना। स्वरूप से च्युत होना विक्षेप है और स्वरूप में स्थिर रहना शान्ति है। आत्मा का अनात्म पदार्थों की तरफ प्रवृत्त होना स्वरूप से भिन्न तरफ जाना है अतः विक्षेप है। और आत्मा की तरफ जाना स्वरूप में स्थिर रहना है इसलिये शान्ति है। शम अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित रहते हुए मन का अनात्मा की तरफ नहीं जाना। आत्मा स्वयं तो कभी अनात्मा की तरफ जाता नहीं है परन्तु आत्मा मन के जाने को देखकर अपने अन्दर अज्ञान से मान लेता है। यह जो मान लेना है इसी का नाम बन्धन है। वास्तविक बन्धन तो आत्मा का कभी नहीं है। ब्राह्मण का सबसे पहला कर्म शम बताया और वह मन आत्मा की तरफ निरन्तर प्रवहित रखने से ही होता है। इसलिये मनु महाराज ने कहा है 'वेदाभ्यासे शमे चैव आत्मज्ञाने च यत्नवान्' अर्थात् ब्राह्मण सारे कर्मों को छोड़कर भी वेदाभ्यास, शम और आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न वाला बने, इन तीन का ही निरन्तर अभ्यास करे। यह ब्राह्मण के कर्मों में प्रधान है।

अगला कर्म दम है। इन्द्रियों को उनके तत्तद् विषय की तरफ प्रवृत्त न होने देना। यद्यपि पहले मन का नियंत्रण कहने से लगता है कि इन्द्रियों का भी उसी में अंतर्भाव होना चाहिये तथापि भगवान् ने पहले भी कहा है कि कामनायें मन में भी रहती हैं और इन्द्रियों में भी रहती है। कामना अनात्म विषयों की है, वह मन में भी है और इन्द्रियों में भी है। इसलिये न केवल मन को ही रोकना ज़रूरी होता है, इन्द्रियों को रोकना भी ज़रूरी होता है। कामना के अधिष्ठान इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तीनों ही हैं। अतः दम भी आवश्यक है। तीसरा कर्म तप है। अपने धर्म का आचरण करने में चाहे जितना कष्ट आये उसको सहन कर लेना तप है। भगवान् पहले

शरीर, वाणी और मन तीनों के तप बता आये हैं। शरीर का तप बताया था कि देवता, ब्राह्मण गुरु और ब्रह्मज्ञानी का पूजन करना शारीरिक तप है। सरलता का व्यवहार रखना, धोखाधड़ी का काम नहीं करना आदि सब तप के अन्तर्गत हैं। शौच, मन से राग-द्वेष हटाकर उसकी शुद्धि करना और जल इत्यादि के द्वारा शरीर की शुद्धि करना, इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही शौच यहाँ विहित हैं। क्षांति, सहन कर लेना। चाहे कोई जितना अपमान या ताडन करे, सबको सहन कर लेना। आर्जव, सरलता का व्यवहार करना। ज्ञान, वेदों का ज्ञान। वेदों के कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड उपनिषद् का ज्ञान होना। विज्ञान, कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करने का अनुभव होना और ब्रह्मसाक्षात्कार करना। ज्ञान अर्थात् शास्त्रज्ञान और विज्ञान अर्थात् अनुभवरूप ज्ञान। कई कार्य ऐसे होते हैं कि जब तक करो नहीं तब तक नहीं आते। जैसे शास्त्र कह देगा कि अग्नि को जलाकर फिर आहुति दो। शास्त्र में यह नहीं लिखा है कि अग्नि कैसे जलानी है। अतः कोई नवीन पुरोहित होता है तो उस आग में से धुआँ ही धुआँ निकलेगा, लपट निकलेगी ही नहीं! वह बेचारा कोशिश ही करता रहेगा लेकिन कुछ नहीं होगा क्योंकि उसे अनुभव नहीं है कि किधर से हवा नहीं लगानी आदि। सब चीज़ों का ठीक-ठीक ज्ञान होगा तब अग्नि ठीक से प्रज्वलित होगी। आस्तिक्य, वेद आदि शास्त्र जो कहते हैं, वह ठीक ही है - इस प्रकार सब में अस्ति बुद्धि होना ही आस्तिक्य है। अन्यथा 'शास्त्र तो कहता है लेकिन पता नहीं ठीक है या नहीं?' ऐसी बुद्धि हो जाती है। शास्त्र में जैसा कहा है वैसा ही सत्य है - ऐसा निश्चित होना आस्तिक्य है। इन सबको ब्राह्मण के स्वभावज कर्म कहा है। क्योंकि ये ही उसके लिये आवश्यक हैं इसलिये क्षुद्र जो कामनापूर्ति, उसके लिये ब्राह्मण का शरीर है ही नहीं यह मनु ने स्पष्ट किया है।

शम आदि मुमुक्षुमात्र केलिये कर्तव्य हैं। सोलहवें अध्याय में भगवान् ने दैवी सम्पत्ति में जो गिना वह मुमुक्षुओं के लिये आवश्यक है क्योंकि उसके बिना मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। गुणों के विचार के साथ मिलाने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण के लिये तो ये कर्म स्वभावज हैं अर्थात् उसका चूँकि सात्त्विक स्वभाव है इसलिये वह तो उन्हें बिना ज़्यादा परिश्रम के सिद्ध कर लेता है। दूसरों के लिये अर्थात् जिनका सात्त्विक स्वभाव नहीं है वे प्रयत्न करके इन कर्मों को कर पाते हैं। ब्राह्मण के लिये ये कर्म सरल हैं क्योंकि पूर्व जन्म के इस प्रकार के संस्कारों के कारण ही उसे ब्राह्मण शरीर मिला है। दूसरे क्षत्रिय, वैश्य आदि के लिये भी ये कर्तव्य हैं ही। यह कर्तव्य सबके लिये है इसका पता कैसे लगे? शास्त्रों ने इन सब कर्मों को मनुष्यमात्र के सामान्य धर्मों में गिना है। महर्षि गौतम ने आत्मा के अष्ट गुणों में 'दया सर्वभूतेषु, क्षान्तिः, अनसूया, शौचम्, अनायासो, मङ्गलम्, अकार्पण्यम्, अस्पृहा' - ये गिने हैं। सारे प्राणियों के ऊपर दया करना, सहनशील होना, अनसूया (दूसरों के दोषों से दृष्टि हटा कर उनके गुणों की तरफ दृष्टि करना और जहाँ स्वभाव से गुण हैं वहाँ तो हर हालत में दोषदर्शन नहीं ही करना), शुद्धि से रहना, अनायास (किसी भी प्रकार के व्यर्थ आयास या परिश्रम से बचना)। इसलिये शास्त्रकारों ने अनायास का रूप बताया,

'शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनाऽपि कर्मणा।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यम् अनायासः स उच्यते।।'

शुभ कर्म ही नहीं, अत्यंत शुभ कर्म करने से भी यदि शरीर को अत्यधिक पीडा होती हो तो वह कर्म नहीं करना चाहिये। चूँकि शास्त्रकारों न अनायास को कर्तव्य बताया है इसलिये गौतम महर्षि ने भी आत्मगुणों में अनायास को गिना है, मांगलिक कार्यों को करना, जिन आचरणों को शिष्ट लोग प्रशस्त या प्रशंसा के योग्य समझते हैं। हमेशा अपना आचरण ऐसा करे कि शिष्ट लोग उसकी प्रशंसा करें। प्रशंसा के योग्य आचरण हमेशा करना और जो प्रशंसा के योग्य नहीं है उनसे बचकर रहना। गौतम आदि महर्षि भी इसी को मंगल कहते हैं। अकृपणता होना अर्थात् धन आदि का सत्कर्मों में विनियोग हो रहा हो तो वहाँ किसी प्रकार की रुकावट को पैदा नहीं करना। कृपणता का सामान्य अर्थ लोग कंजूसी कर लेते हैं परन्तु उस आर्थ में यह तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। धन को न खर्चने मात्र से अकार्पण्य नहीं है वरन् सत् कार्य में ही धन खर्च करना, अन्यत्र नहीं करना अकार्पण्य का रूप है। अस्पृहा – विषयों को देखकर मन में यह न आना कि 'अमुक विषय मेरा हो'। गौतम महर्षि ने ये आठों गुण प्रत्येक पुरुष केलिये कर्तव्य बता दिये।

विष्णु स्मृति में भी कहा है

'क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया।
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते।।'

क्षमा – चाहे कोई तुम्हारे प्रति जितना आक्रोश या ताडन करे उसको सहन कर लेना और उसके बदले में उसको दण्ड नहीं देना। सत्यं– प्राण जाने की नौबत आये तब तक असत्य का, आचरण नहीं करना। दमः – मन का निरोध करना। शौचं – शुद्धि से रहना। दानम् दान करना। इन्द्रियसंयमः – इन्द्रियों का संयम रखना। अहिंसा – किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना। गुरुशुश्रूषा– गुरु की सेवा करना। तीर्थ आदि में जाना। दया– प्राणिमात्र के दुःख को दूर करने की चेष्टा करना। आर्जव– हमेशा कपट-रहित व्यवहार करना। लोभशून्यत्व– सत् कार्य में धन खर्च करने की इच्छा रखना। देवता, ब्राह्मणों का पूजन करना। अनभ्यसूया– किसी भी प्रकार से किसी के गुणों में दोषदर्शन नहीं करना। किसी में सौ दोष हैं। और एक गुण हो तो उसके गुण की तरफ दृष्टि करो, सौ दोषों की तरफ दृष्टि मत करो। इन गुणों को भगवान् विष्णु ने सामान्य धर्म बताया है, सभी के लिये कर्तव्य हैं।

इसी प्रकार बृहस्पति ने भी कहा है –

'दया क्षमाऽनसूया च शौचानायास मंगलम्।
अकार्पण्यम् अस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च।।'

ये सभी धर्म साधारण अर्थात् सबके लिये एक जैसे हैं – दया करना, क्षमा अनसूया, शौच, मंगल, अकार्पण्य (जिसको पहले लोभ-शून्यता कहा), स्पृहा नहीं करना। इन सबको बृहस्पति जी ने साधारण धर्म कहा है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ऋषियों ने सबके लिये जो धर्म कहे हैं, वे सब इन ब्रह्मकर्मों में आ जाते हैं। महाभारत में भी कहा है :-

'सत्यं दमः तपः शौचं, संतोषो ह्रीः क्षमार्जवम्।
ज्ञानं शमो दया ध्यानम् एष धर्मः सनातनः।।'

सत्य, इन्द्रियों का निरोध, तप, शुद्धि रखना, जितना अपने को अपने कर्म से प्राप्त होता है उतने में ही संतुष्टि होना और उससे अधिक प्रवृत्ति नहीं करना, ह्री अर्थात् बुरे काम को करने की प्रवृत्ति का न होना, सीधापन, ज्ञान, हमेशा शांति का अभ्यास करना, दया, परमात्मा का ध्यान आदि सब सनातन धर्म हैं, हमेशा किये जाने वाले धर्म हैं। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न आचार्यों ने जो सामान्य धर्म बताये हैं वे ब्रह्मकर्म के अन्तर्गत आते हैं। जैसा मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यह है तो दैवी सम्पत् ही, फ़र्क इतना है कि ब्राह्मण के अन्दर तो ये स्वभाव से होते हैं, दूसरों के अन्दर निमित्त से या प्रयत्न से होते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये इन्हें मानकर शूद्र के लिये ये स्वाभाविक नहीं हैं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। क्षत्रिय को सत्त्व उपसर्जन होकर रजोगुणी कहा है इसलिये उसकी सात्त्विक प्रवृत्ति हो सकती है। चूँकि ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों में सत्त्वगुण है इसलिये भगवान् ने पहले भी 'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा' ब्राह्मण और क्षत्रिय को अलग गिना था। बाकियों के अन्दर सत्त्वगुण नहीं होने से उनमें ये धर्म स्वाभाविक नहीं होते। यह बात ठीक है। परन्तु उनमें सत्त्वगुण है ही नहीं – ऐसी बात भी नहीं है। इसलिये शूद्र के लिये भी ये कर्तव्य हैं। उसको भी प्रयत्नपूर्वक सत्य का पालन करना चाहिये। किसी भी परिस्थिति के अन्दर क्रोध न करे। पवित्रता से रहे। हम लोग मंत्र बोलकर आचमन कर लेते हैं, उसके लिये हाथ-पैर को धो देना मात्र आवश्यक है। अपने पितरों का श्राद्धकर्म करना शूद्र का भी कर्म है। जो उसके नौकर-चाकर हैं उनकी ठीक प्रकार से देख-रेख करना, अपनी पत्नी के सिवाय और किसी की तरफ दृष्टि नहीं करना और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की सेवा करना आदि शूद्र के लिये भी विधान किया गया है। सत्य, अक्रोध, शौच आदि सब उसके लिये भी कर्तव्य कहे गये हैं। अतः ये जितने कर्म ब्राह्मण के लिये स्वभावज कहे हैं, इन्हें दैवी गुणों में गिनाया गया है जो ब्राह्मण के लिये स्वभाव है, दूसरों के लिये प्रयत्न-साध्य हैं।।४२।।

अब राजा अथवा क्षत्रिय के कर्म बताते हैं –

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

क्षत्रिय जाति के स्वभावजन्य कर्म हैं – शूरता, तेजस्विता, धैर्य, कुशलता, युद्ध से भागना नहीं, मुक्तहस्त दान करना और अपनी शक्ति प्रकट करना।

क्षत्र क्षत्रिय को कहते हैं। उसको क्षत्रिय इसलिये कहते हैं 'क्षतात् त्रायत इति' कहीं भी किसी का नुक्सान हो रहा हो, वह उसे बचाता है। क्षत्रिय रजोमिश्रित सत्त्व वाला होने से उसकी प्रवृति हमेशा दूसरे की रक्षा के लिये ही है। यह उसमें स्वभाव से है। चूँकि दूसरे की रक्षा इसके अन्दर प्रधान है, अतः जिनको वृत्ति धर्म कह सकते हैं वे यहाँ भी भगवान् ने नहीं गिनाये जैसे ब्राह्मण के वृत्ति धर्म नहीं गिनाये। क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं - शौर्य, चाहे जितना विरोधी का ज़ोर हो, उससे बिलकुल बिना घबड़ाये हुए उसके साथ युद्ध करने के लिये तैयार होना शूरता है। केवल लड़नामात्र शौर्य नहीं है, बल्कि सामने विपक्ष चाहे जितना ज़ोरदार दीखता हो, फिर भी बहादुर व्यक्ति कभी पीछे नहीं हटता। जैसे ब्राह्मण के कर्मों में सबसे पहले शम गिनाया था वैसे ही यहाँ सबसे पहले शूरता गिनाई है क्योंकि यदि शूरता नहीं है तो बाकी चीज़ों में सफल नहीं हो पाता। तेज अर्थात् प्रगल्भता, किसी भी परिस्थिति के अन्दर दूसरे से पराभूत नहीं होना। मोटी भाषा में, दूसरे से दबना नहीं। बड़ा प्रसिद्ध दृष्टांत है कि जिस समय अलक्षेन्द्र ने पुरु को पकड़ लिया तो उससे पूछा कि 'तुम्हारे साथ क्या व्यवहार किया जाये?' पुरु ने जवाब दिया। 'एक राजा का दूसरे राजा के साथ जो व्यवहार होता है वह मेरे साथ करो।' इसी प्रकार अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जिनके अन्दर बड़े-बड़े राजाओं ने इस प्रकार की प्रगल्भता का परिचय दिया है। हारे हुए हैं, बँधे हुए भी हैं पर इनका तेज दबता नहीं।

पृथ्वीराज चौहान में ये शौर्य और तेज दोनों देखने को मिलते हैं। सत्रह बार मोहम्मद गोरी को हराया। उसने हर बार क्षमा माँगी तो पृथ्वी राज ने छोड़ दिया। अंत में पकड़े गये और उनको अन्धा कर दिया गया था। चन्दवरदाई, जो उनका सभा-पण्डित था, वेश बदलकर वहाँ पहुँचा और अपने को ज्योतिषी और मांत्रिक बताकर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। मोहम्मद गोरी के पास भी उसकी प्रसिद्धि पहुँची, लोग उसके पास ले गये। उसकी बेगमें भी वहाँ पहुँची, किसी बात के प्रसंग में चन्दवरदाई ने बताया कि 'जिस पृथ्वीराज को तुमने पकड़ रखा है वह बाण चलाने में इतना कुशल है कि सात-सात मन के तवे टँगे हों तो वह उन सब को एकसाथ भेद सकता है।' उन्हें यह बात नहीं जँची। उसने कहा - 'तुम्हें नहीं जँचता, लेकिन रख कर देख लो कि वह ऐसा कर सकता है या नहीं।' बेगमों ने बादशाह से कहा तो उसने सोचा कि यह तो देखने लायक कर्तब होगा। मुहम्मद ने कहा - 'लेकिन उसकी तो आँखें निकाल दी गई हैं!' चन्दवरदाई ने कहा 'वह तो शब्दवेधी बाण मारता है, इसलिये उन तवों का टँकारा बजाते ही वह सब को बाण से बींध देगा।' सब देखने को तैयार हो गये, बादशाह भी वहाँ पहुँचा। पृथ्वीराज को पहले कई धनुष दिये गये, जैसे ही वह उसे पकड़ता था वह धनुष टूट जाता था। अंत में उसे उसका अपना धनुष दिया गया। इसी बीच चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज को एक गुप्त संदेश दे दिया कि बादशाह इतनी दूरी पर बैठा है जिससे उनको एक अंदाज़ मिल गया कि वह कहाँ बैठा है। जब उन तवों का टंकारा किया तो उनका बाण सातों तवों को फोड़ता हुआ निकल गया। अब मोहम्मद गोरी से नहीं रहा

गया और उसके मुँह से निकल गया 'शाबाश'। उन्हें संकेत तो पहले ही कर दिया गया था कि बादशाह कितनी दूरी पर बैठा है और अब 'शाबाश' यह आवाज़ सुनते ही दूसरा बाण उसके मुख पर मारा और वह मर गया क्योंकि बाण शब्दवेधी था। अब पृथ्वीराज ने चन्दवरदाई से कहा। 'तू जल्दी से मेरा सिर काट दे, नहीं तो ये लोग कई तरह की यन्त्रणायें देंगे।' उसने कहा 'मैं राजा का सिर कैसे काट सकता हूँ!' पृथ्वीराज ने कहा – 'अब बात करने का समय नहीं है। मेरा सिर कटने के बाद मैं भी तेरा सिर काट दूँगा।' इस प्रकार दोनों ने एक दूसरे को मार दिया। इसका नाम तेज है कि किसी भी परिस्थिति में दबे नहीं और शूरता तो है ही।

धृति, धैर्य, सभी अवस्थाओं के अन्दर कभी भी अवसन्न नहीं होना। 'अब मेरे से यह नहीं हो सकता' ऐसी परिस्थिति कभी नहीं आने देना। ऐसे व्यक्ति के अन्दर धृति से हमेशा ही कार्य करने की तरफ प्रवृत्ति बनी रहती है। दाक्ष्यम् – दक्षता। कार्य सामने आने पर ठीक ढंग से प्रवृत्ति कर लेने की क्षमता होना दक्षता है। युद्ध करने में सामने वाला कब कौन-सा अस्त्र मारेगा, कोई ठिकाना नहीं। ठीक उसी समय सोच लेना है कि किस अस्त्र से इस अस्त्र को दबाया जा सकता है। ऐसा सोचकर तुरन्त उस अस्त्र को चलाना दक्षता होने पर ही होगा। यह भी क्षत्रिय के लिये स्वाभाविक कर्म है। युद्धे चाप्यपलायनं – युद्ध से कभी भी भागना नहीं। हमेशा छाती पर बाण खाकर मरना चाहिये, पीठ पर बाण खाकर नहीं। युद्ध से किसी भी परिस्थिति में पलायन नहीं करना, अर्थात् वहाँ से भागना नहीं। दानम्, दान देने में मुक्तहस्तता अर्थात् खुले हाथ से देना। अनेक बार ऐसी परिस्थिति होती है कि देना भारी होता है परन्तु फिर भी जो क्षत्रिय होगा वह देगा ही। रघु के बारे में प्रसिद्ध है कि वे एक बार सर्वस्वदान कर चुके थे। यहाँ तक कि अपने कपड़े और बर्तन भी दान कर चुके थे। इसलिये मिट्टी का कुल्हड़ लेकर संध्यावन्दन कर रहे थे। उसी समय एक ब्रह्मचारी पहुँचा। उनकी हालत देखकर वापिस जाने लगा। रघु ने पूछा 'वापिस क्यों जा रहे हो?' उसने कहा – 'मुझे काफी धन चाहिये। आपकी हालत तो वैसे ही ढीली हो रही है।' फिर भी रघु ने कहा – 'बताओ, कितना धन चाहिये?' उसने कहा – 'मुझे चौदह करोड़ रत्न चाहिये, इसलिये आपके पास आया था।' रघु ने कहा –'तुम यहाँ रुको, मुझे दो-चार दिन का समय दो।' सोचने लगा – 'ब्रह्मचारी माँगने आया है, देना ज़रूरी है। पास में अब कुछ नहीं है। प्रजा के ऊपर कर नहीं लगाना चाहिये क्योंकि प्रजा पहले यज्ञ आदि केलिये काफी दे चुकी है।' वे चक्रवर्ती राजा थे इसलिये पृथ्वी में कोई जगह नहीं बची थी जिस पर उनका राज्य न हो, सर्वत्र उनकी ही प्रजा थी। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने निर्णय किया 'मैं देवराज इन्द्र पर चढ़ाई करके वहाँ से धन लेकर आऊँगा।' प्राचीन राजाओं और आजकल के राजाओं में यही फ़र्क है। आजकल के राजा होते तो कहते कि पाँच-दस प्रतिशत कर या अधिभार और लगा दो! आज़ादी के पचास साल बाद अब इन्हें स्वप्न आया कि लोगों की पढ़ाई-लिखाई में जितना खर्च करना चाहिये था नहीं किया, इसलिये अब इस काम के लिये दो प्रतिशत टैक्स और बढ़ा दिया। प्राचीन राजा कहीं से लाकर

जनता को देते थे। दान वैसे तो सबके लिये कहा गया है, लेकिन क्षत्रिय के अन्दर दान करने की मुक्तहस्तता होती है।

ईश्वरभावः – जो अधर्म का आचरण करते हैं उनको दण्ड देते समय अपनी प्रभुशक्ति को प्रकट करना अर्थात् दण्ड देने में कभी पीछे नहीं हटना। जिनके ऊपर शासन करना है उन्हें अपराध करने पर दण्ड देना, यह ईश्वरभाव है। जैसे परमेश्वर पापियों को पाप का दण्ड देता ही है और पुण्यात्मा को पुण्य का पुरस्कार देता ही है इसी प्रकार ईश्वर का भाव होने के कारण जो क्षत्रिय होता है वह अधर्माचरण करने वाले को दण्ड देता ही है। ये क्षत्रिय जाति के स्वभावज कर्म हैं। उसके लिये इन सब कर्मों का विधान भी इसीलिये किया गया है। स्वभाव के अनुसार ही शास्त्र ने कर्मों का प्रविभाग किया है। जैसा पहले भी बताया था, क्षात्र कर्मों के अंदर वृत्ति के कर्मों को नहीं गिना। इसलिये प्रजा से कर आदि लेना इन कर्मों में नहीं गिना। वह आवश्यकता को लेकर है, विहित कर्म के अन्तर्गत ज़रूरी नहीं है।।४३।।

भगवान् ने चातुर्वर्ण्य को बताना शुरू किया। चार प्रकार के पुरुषार्थ शास्त्रों में बताये हैं – मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम। इनमें से पहले दो शास्त्रप्रधान हैं। मोक्ष के विषय में भी शास्त्र ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा मोक्ष का पता नहीं लगता। इसी प्रकार से धर्म के विषय में भी शास्त्र ही प्रमाण है क्योंकि धर्म का पता प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं लगता। इसलिये वेद को समझाने वाले दो ही शास्त्र हैं – कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा। कर्म को बताने वाली कर्ममीमांसा और मोक्ष को बताने वाली ब्रह्ममीमांसा है। श्रद्धा की अधिकता होने पर ही मोक्ष और धर्म का मार्ग सफल होता है। इसलिये धर्ममीमांसा के अन्दर भी जहाँ अधिकारी बताया है वहाँ श्राद्ध पुरुष अर्थात् श्रद्धा वाला पुरुष ही बताया और मोक्ष के लिये अधिकारी का विचार किया तो वहाँ भी श्रद्धा को साधन-चतुष्टय में लिया गया। मोक्ष के अन्दर केवल श्रद्धामात्र न कह कर शास्त्र ने कहा 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' अर्थात् श्रद्धारूपी धन जिसके पास है वही मोक्ष का अधिकारी होता है अन्यथा नहीं। कर्माधिकार के अन्दर तो श्रद्धा के साथ दूसरी चीज़ें भी बराबर के जैसी ही हैं। सामर्थ्य होनी चाहिये, उसके लिये उस कर्म का निषेध नहीं होना चाहिये, विद्वान् होना चाहिये कर्म को जानने वाला होना चाहिये – इत्यादि सब के साथ श्राद्ध अर्थात् श्रद्धा वाला होना चाहिये, यह भी कहा है। परन्तु मोक्ष के मार्ग में 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' कहा, अन्य साधनों को 'वित्त' नहीं कहा है। जब तक वेदान्त वाक्यों पर पूर्ण श्रद्धा नहीं होगी तब तक उससे होने वाला ज्ञान प्रमा के रूप में स्वीकृत नहीं होगा। वह प्रमा, यथार्थ ज्ञान है इसका पता अन्य किसी साधन से नहीं लग सकता। यह यथार्थ ज्ञान है – ऐसे बिना श्रद्धा हुए और किसी प्रकार से जानने का साधन नहीं है। इसलिये ब्रह्म को औपनिषद पुरुष भी कहा है, जो उपनिषद् से ही जाना जा सकता है, और कोई उपाय उसको जानने का है ही नहीं। धर्म और मोक्ष दोनों में श्रद्धा की अत्यंत आवश्यकता है। यह आवश्यकता ब्राह्मण में पूर्णरूप से है क्योंकि वह सत्त्वप्रधान है, सात्त्विक है। क्षत्रिय के अन्दर भी वह मौजूद है क्योंकि उसमें सत्त्व गौण रूप से और रजोगुण प्रधान रूप से है। इसलिये ब्राह्मण के जो कर्म बताये वे

सारे-के-सारे मोक्ष मार्ग में उपयोगी हैं। पहले भी संकेत किया था कि जब-जब किसी में सत्त्वगुण आयेगा तब-तब ब्राह्मण के जो कर्म यहाँ कहे हैं ये सारे उसमें आने लगेंगे। अतः मुमुक्षुमात्र के लिये ये कर्तव्य हैं।

क्षत्रिय के कर्म प्रधानतः हैं कि किसी भी व्यक्ति के कष्ट में होने पर उसका संरक्षण करना, सामने उपस्थित कार्य का तुरन्त समाधान करने की योग्यता होना, देने में मुक्तहस्त होना, दण्ड के योग्यों को निश्चितरूप से बिना किसी भेदभाव के दण्ड देना। ये सभी कर्म-मार्ग में उपयोगी हैं। कर्ममार्ग अर्थात् धर्म। धर्म वही कर सकेगा जिसके अन्दर ये गुण हैं। अतः क्षत्रिय कर्मप्रधान और ब्राह्मण मोक्ष-प्रधान हुआ।

वैश्य तमोगुण से युक्त रजोगुणी है। अतः इसके अन्दर सत्त्वगुण की मौजूदगी नहीं होने से श्रद्धा की पूर्णता नहीं होती। यह हमेशा वर्तमान दृष्टि से पदार्थों की तरफ ही जाता है। अतः वैश्य अर्थप्रधान है। शूद्र में रजोगुण भी गौण होने से और तमोगुण की पूर्णता होने से उसमें केवल कामभोग ही है। इसलिये भगवान् दोनों को अर्थ-प्रधान और काम-प्रधान रूप से बताते हैं –

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

खेती करना, पशुपालन, व्यापार – ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। शूद्र का भी स्वभावजन्य कर्म परिचर्यारूप (सेवारूप) है।

स्वभावज कर्म अर्थात् जो स्वभाव से होते हैं। प्रयत्न करके दूसरे हो जायें, परन्तु जो पूर्व जन्म में उसने किये हैं और जिन संस्कारों की प्रबलता के साथ वह पैदा हुआ है, वही कर्म प्रधान रहेंगे। वैश्य के स्वभावज कर्मों में अर्थोपार्जन के तीन प्रधान साधन बता दिये – कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य। ज़मीन का कर्षण करके जो प्राप्त किया वह कृषि है। कर्षण अर्थात् खोदना, यह अर्थोपार्जन का साधन सभी जगह है। खेती करना अर्थात् पृथ्वी से अर्थ की प्राप्ति करना। गौरक्ष्य, गाय की रक्षा करना। गाय से उपलक्षित सभी प्रकार के पशुओं को ले लेना। पृथ्वी और पशु से अर्थोपार्जन के उपाय वैश्य-धर्म हैं। वाणिज्य, व्यापार करना, जो चीज़ें मनुष्य ने पैदा की हैं उनके द्वारा अर्थ का उपार्जन करना व्यापार है। अर्थोपार्जन के ये तीन ही साधन सामान्यतः सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। आदमी या ज़मीन से कमाता है या जानवरों से अथवा दूसरे आदमियों की मेहनत से कमाता है। तीनों का यहाँ भगवान् ने संक्षेप से संकेत कर दिया। यद्यपि धर्मसूत्रों में ब्याज कमाने को भी वैश्य के अर्थोपार्जन के कर्मों में गिना है तथापि भगवान् ने उसे यहाँ नहीं गिना है। उसकी उपलक्षणा कर सकते हैं, अथवा इन तीन में तो कर्म करना पड़ता है और ब्याज लेने में तो चूँकि कर्म कुछ करते नहीं, केवल जमा-खर्च करके ही सारा धन कमाया जाता है, इसलिये उसे भगवान् ने यहाँ ग्रहण नहीं किया है। ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं। ये तीनों भगवान् ने बताये हैं जो दृष्ट

फल देते हैं। कृषि भी दृष्ट फल देती है, पशु-पालन भी दृष्ट ही फल देता है, और वाणिज्य भी दृष्ट ही फल देता है। इसलिये इन तीन कर्मों को करने के लिये श्रद्धा या सत्त्वगुण की अपेक्षा नहीं रहती। ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं।

जहाँ सत्त्व प्रधान था वहाँ तो भगवान् ने इहलौकिक फलों की प्राप्ति के साधनों को नहीं गिना परन्तु जहाँ सत्त्वगुण नहीं है अतः श्रद्धा का अतिरेक नहीं है, वहाँ भगवान् ने अर्थ को प्रधान करके इहलोक में जिसका फल मिलता है उसको ही गिना है। सामान्यतया भी देखोगे कि जो अध्यापन करने वाले हैं उनको कभी बहुत धन तो प्राप्त होगा नहीं। इसी प्रकार जो ठीक ढंग से राज्य व्यवस्था चलाने वाले हैं उनको भी खास धन प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये ये दोनों जब अर्थ-प्रधान होते हैं तब अपना काम ठीक ढंग से नहीं करते, जैसा भारतवर्ष में अब हो रहा है। अध्ययन कराने वाले ट्यूटोरियल स्कूल चला कर पैसा कमाते हैं, उसके द्वारा धन प्राप्त करते हैं। अथवा कुछ लोग पैसा लेकर पास कर देते हैं अथवा प्रमाणपत्र दिला देते हैं। वे सब गलत ढंग के कार्य हैं। अपने लिये उचित काम करके अधिक अर्थोपार्जन नहीं कर सकते। इसी प्रकार राज्य-व्यवस्था चलाने वालों को भी अधिक धन की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः वे जब अर्थप्रधान होंगे तब अपने कर्म को पहले छोड़ेंगे। घूस लेकर कार्य करते हैं क्योंकि शासनकर्म सही तरह करें तो अधिक धन मिल नहीं सकता। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि धन की तरफ जायेंगे तो ज़रूर गलत तरीकों को अपनायेंगे।

वैश्य को गलत तरीका अपनाने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि वह यदि खेती, पशु-पालन और व्यापार नियम से करता है तो उसे खूब अर्थ की प्राप्ति होगी, उसको किसी प्रकार के गलत ढंग को अपनाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। अतः वैश्यों के लिये भगवान् ने जिन कर्मों का विधान किया उनसे उन्हें अर्थ की प्राप्ति होगी, उनको गलत तरीके अपनाने की ज़रूरत नहीं। क्योंकि आगे भगवान् को बताना है कि अपने-अपने कर्मों को करके मनुष्य मोक्ष तक पहुँच जाता है इसलिये भगवान् ने बता दिया कि वह स्वभावज कर्मों को या अर्थप्रधान कर्मों को करते हुए भी रह सकता है। उसके लिये ज़रूरी नहीं कि वह शास्त्रविरुद्ध मार्ग में जाये।

शूद्र तमोगुणी है, वह सिवाय कामभोग के दूसरी किसी चीज़ को नहीं चाहता। अतः वह किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अन्तर्गत रहकर ही ठीक प्रकार से कार्य करेगा। अन्यथा जहाँ दो पैसा अर्जित किया वहाँ ठर्रा पीकर मस्त हो जाता है! जब खाने को पैसा नहीं रहेगा तब काम पर आ जायेंगे। अतः ऐसे लोगों को स्वतंत्र काम करने के लिये छोड़ने से उनकी प्रगति नहीं होगी। इसीलिये भगवान् ने कहा कि शूद्र का स्वभाव से होने वाला कर्म तो परिचर्या ही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य उसको धर्म-मार्ग में काम करने को कहेंगे, अधर्म-मार्ग में काम करने को नहीं कहेंगे। इसलिये वह उनकी परिचार्य में रहेगा तो धर्म में रहेगा। जहाँ स्वतंत्र हुआ, वहाँ विपरीत आचरण करने लगेगा। अतः इसके लिये भगवान् आगे स्वयं कहेंगे कि वह कर्म करते हुए ही मोक्ष की प्राप्ति करता है क्योंकि वह इस प्रकार त्रैवर्णिकों

के द्वारा नियंत्रित रहकर ही मोक्ष तक पहुँच जाता है। इसके अन्दर भी तारतम्य तो होता ही है : जिस शूद्र के अन्दर थोड़े भी सत्त्वगुण के संस्कार हैं वह ब्राह्मण की परिचर्या में लगेगा। यदि उसमें रजोगुण के संस्कार होंगे तो क्षत्रिय की परिचर्या में लगेगा और यदि उसमें प्रधान रजोगुण की प्रवृत्ति है तो वह वैश्य की परिचर्या में लगेगा। वह किस की परिचर्या करता है यह उसके स्वभाव से ही निर्णीत होगा। नारद आदि की तरह यदि ब्राह्मणों की सेवा में लगेगा तो उस जन्म में ही मोक्ष की प्राप्ति तक पहुँच जायेगा। यदि धर्म की प्रवृत्ति में लगेगा तो स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति कर लेगा। यदि वैश्य की सेवा में लगेगा तो इहलौकिक उन्नति करेगा और इह लौकिक उन्नति करने पर दान आदि में उसकी प्रवृत्ति होकर उसके अन्दर सत्त्व गुण भी आ सकता है।

जैसे भगवान् ने 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' का समास किया था, 'शूद्राणां' का नहीं रखा था वैसे ही यहाँ भी बाकियों को ब्रह्मकर्म, क्षत्रकर्म और वैश्यकर्म कहा जबकि शूद्र के लिये 'अपि' पद लगा दिया कि शूद्र का भी हो जाता है अर्थात् उसके लिये यह कठिन है। तीनों वर्णों की परिचर्या में रहना उसके लिये कठिन है क्योंकि परिचर्या कर्म कोई सामान्य कर्म नहीं है। हमारे यहाँ तो नीतिकारों ने यहाँ तक कहा है कि सेवा करना अत्यंत गहन विषय है। 'सेवाधर्मः परमगहनः योगिनामप्यगम्यः'। अतः यहाँ भी 'अपि' पद लगाकर कहा कि सेवा कर्म सरल नहीं समझ लेना चाहिये। सेवा लगती बहुत सरल है परन्तु जहाँ स्वतंत्र होकर करते हो वहाँ कुछ तो समझते हो, लेकिन सेवा में कुछ समझने की बात ही नहीं रह जाती। इसलिये सेवा करना बड़ा कठिन है। इसलिये भाष्यकार जगह-जगह कहते हैं कि चित्तशुद्धि के लिये 'मैं परमात्मा का भृत्य हूँ, परिचर्या या सेवा करने वाला हूँ' इस भाव से कर्म करो। यदि करता है तो जैसा भगवान् आगे बता रहे हैं, वह मोक्ष की प्राप्ति भी कर लेता है जैसे नारद आदि ने प्राप्त किया।।४४।।

अब भगवान् कहते हैं कि यहाँ चातुर्वर्ण्य क्यों बताया। यहाँ प्रसंग तो मोक्षशास्त्र का है। सारी गीता का प्रधान उद्देश्य मोक्ष बताना है। फिर इसमें चातुर्वर्ण्य क्यों बताया? भगवान् स्वयं समझाते हैं –

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

अपने-अपने कर्म में तत्पर नर ज्ञाननिष्ठायोग्यता पा जाता है। अपने कर्म में निष्ठा-पूर्वक रत व्यक्ति जिस तरह वह योग्यता पाता है वह सुनो।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिये जो कर्म बताये हैं उन अपने-अपने कर्मों को करने में जो अभिरत हैं अर्थात् बिलकुल तत्परता से उन कर्मों को करने में रुचिवाले हैं वे संसिद्धि पाते हैं। यहाँ अभिरत कहने से यह स्पष्ट हो गया कि यदि अपना कर्म करने में अरुचि होगी तो कर्म में अभिरति नहीं होगी। जैसे बहुत से लोग दूसरों को ऊटपटांग खाते देखकर

कह भी देते हैं 'हम तो ब्राह्मण हैं, यह कैसे खा सकते हैं?' उनके मन में यह है कि ब्राह्मण नहीं होते तो खा ही लेते! कर्म करते हुए भी अभिरति नहीं है। इसलिये भगवान् ने कहा 'अभिरतः'। इस प्रकार जिस जाति के लिये जो विहित कर्म है उसका जब भली प्रकार से अनुष्ठान करता है तो नर संसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। ऐसा नर ही कर सकेगा। 'न रमते विषयेषु इति नरः' जो विषयों में रमण करने वाला नहीं है वही अपने कर्म का भली प्रकार अनुष्ठान कर सकेगा। जिसको विषयों में रति है वह नहीं कर सकेगा। जो शूद्र है, उसको करनी ही परिचर्या है। पर है वह कामप्रधान और तीनो वर्णों की सेवा करने में उसकी कामपूर्ति में रुकावट आती है इसलिये उसको इसमें अभिरति नहीं हो पाती, क्योंकि वह नर नहीं है। जो अधिकारसम्पन्न पुरुष है वह विषयों में रमण नहीं करता। उसे ही संसिद्धि अर्थात् ज्ञाननिष्ठा की योग्यता की प्राप्ति होती है अर्थात् वह ज्ञाननिष्ठ हो सकता है। जब इस प्रकार से अपने कर्म का अनुष्ठान करता है तब उससे परमात्मा प्रसन्न होता है, उसकी अशुद्धि का क्षय होता है और तब उसके इन्द्रिय मन ज्ञाननिष्ठा के योग्य होते हैं।

यहाँ भगवान् ने वर्ण के धर्म गिने हैं। परन्तु जो वर्णधर्म के बारे में है वही आश्रम-धर्म के बारे में भी है। उनके लिये शास्त्र ने जो कर्म बताये हैं उनमें बराबर लगे रहना उनका कर्त्तव्य है। वर्ण-आश्रम कर्मों के फलस्वरूप उत्तमोत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। वहाँ जो कर्मफल अनुभव करने से बच जाते हैं उनके अनुसार विशेष देश, जाति, कुल में जन्म मिलता है। कुरुक्षेत्र आदि में, पुण्य क्षेत्र में जन्म हो जाये यह पुण्यफल है। ब्राह्मण जाति में भी अच्छे कुल में जन्म होता है। इसी प्रकार विशिष्ट धर्म, जहाँ वैदिक आचरण होते हों ऐसी जगह पैदा होंगे। यदि शुभ कर्म नहीं होते हैं तो आर्यावर्त से अतिरिक्त अमेरिका, योरोप इत्यादि कहीं भी पैदा हो जाते हैं। शुभ कर्म खूब होते हैं तो पूर्ण आयु के साथ पैदा होते हैं। अन्यथा पैदा होकर दस-बारह साल में ही मर गये तो आगे कुछ नहीं हो सकता। श्रुत अर्थात् जहाँ उन्हें वेद आदि अध्ययन करने का मौका मिले वहाँ जन्म लेते हैं। वृत्त - उनका बर्ताव भी शुद्ध होता है। उत्तम चरित्र भी होना चाहिये, तभी सुख को प्राप्त करते हैं। स्वकर्मानुष्ठायी लोग ही फलभोग से बचे हुए शुभ कर्मों के द्वारा ऐसी जगह पर पैदा होकर इन सब गुणों को प्राप्त करते हैं। स्मृतियों और पुराणों के अन्दर वर्णों का और आश्रमों के कर्मभेद और फलभेद का विशेष वर्णन किया गया है। ये सब सिद्धियाँ हो गईं। वर्णाश्रम के कर्मों के अनुसार चलता है तब सिद्धि मिलेगी। यदि *अभिरत* है तभी अंतःकरण की शुद्धि होगी और तब शरीर इन्द्रियाँ और मन इत्यादि ज्ञाननिष्ठा के योग्य होंगे, उस संसिद्धि को प्राप्त करेंगे। इन वाक्यों से ऐसा लगता है मानो कर्म करते हुए ज्ञाननिष्ठा या मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। वह संदेह न हो इसलिये भगवान् आगे कहते हैं। 'स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु'। अभिरति अर्थात् कर्म में ही जिसकी रति है, उसके फल की तरफ दृष्टि नहीं है, वह जिस प्रकार से इस ज्ञान-सिद्धि या ज्ञाननिष्ठा योग्यता को प्राप्त करता है उसको सुनो।।४५।।

वह प्रकार स्पष्ट करते हैं -

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

जिस अन्तर्यामी ईश्वर से प्राणियों की उत्पत्ति (या चेष्टायें) होती हैं, जिससे यह जगत् व्याप्त है, अपने कर्म से उसे पूजकर मानव संसिद्धि पा जाता है।

अपने कर्म के द्वारा उसकी अर्चना करके अर्थात् 'यह कर्म करना आराधना है' इस भाव से करने पर संसिद्धि मिलती है। यह समझ कर करना है कि किसकी आराधना हो रही है। केवल 'कृष्णार्पणमस्तु' कहने से काम नहीं चलेगा! जिस मायाविशिष्ट चेतन से सारे प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, सारे प्राणी जिससे उत्पन्न हुए हैं, यह याद रखना चाहिये कि उसकी अर्चना कर रहा हूँ। बहुत से लोग आकर पूछते हैं कि 'अमुक भगवान् है या नहीं है? साईं बाबा, रामदेव जी भगवान् हैं या नहीं?' यहाँ भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जितनों का नाम लेते हो वे सब खुद बहुत बाद में पैदा हुए हैं, इसलिये उन्होंने संसार की सृष्टि की है यह तो सर्वथा अप्रसिद्ध है। जो मायाविशिष्ट चेतन सारे संसार को उत्पन्न करता है वह ईश्वर है। प्रवृत्ति के दोनों अर्थ हैं - एक तो, जड चेतन सभी को उसने उत्पन्न किया है और दूसरा, प्राणियों को किस-किस प्रकार से चेष्टा (प्रवृत्ति) करनी है यह सब उसी अन्तर्यामी के हाथ में है, आज भी वही सब प्राणियों को प्रवृत्त कर रहा है अर्थात् सारी चेष्टाओं को सम्भव करने वाला वही है। वह न हो तो कोई चेष्टा नहीं हो सकती। ऐसा वह अन्तर्यामी जगत् उत्पन्न करने वाला ईश्वर है। यदि विचार करके देखो तो जो मेरे हृदय में बैठकर मुझे प्रवृत्त कर रहा है, उसी ने सारी सृष्टि को उत्पन्न किया है।

'येन सर्वम् इदं ततम्' उसी ईश्वर से यह सब व्याप्त है। यह सब उसके अन्दर माया से दीख रहे हैं, प्रतीत हो रहे हैं। वह तो साँप में रस्सी की तरह स्थित है। जैसे साँप के एक-एक कण के अन्दर रस्सी के सिवाय कुछ नहीं है, फिर भी रस्सी में साँप नहीं है, इसी प्रकार उस परमेश्वर से यह सारा जगत् व्याप्त है। इस व्याप्ति को ठीक से समझना। जैसे साँप में रस्सी व्याप्त है अर्थात् रस्सी का एक ज़र्रा भी ऐसा नहीं है जो बिना साँप के दीख रहा हो, परन्तु रस्सी के एक कण में भी कोई फ़र्क नहीं आया, इसी प्रकार इस सारे जगत् के माया जाल को दिखाते हुए उस परमेश्वर के अन्दर कोई फ़र्क नहीं आता। इस प्रकार से वह व्यापक है जैसे अध्यस्त में अधिष्ठान व्यापक है। ऐसा तात्पर्य क्यों समझना चाहिये? क्योंकि भेदघटित व्यापकता यहाँ संभव नहीं, कारण कि परमात्मा से अन्य कुछ वास्तविक है नहीं। परमेश्वर की अद्वितीयता लोगों को बड़ी खटकती है। क्यों कि राग द्वेष से भरे हैं इसलिये किसी कोढ़ी और किसी ऐश्वर्यवान् को देख कर कहते हैं कि दोनों में परमात्मा कैसे हो सकता है? हम कहते हैं कि ये दो क्यों, हम तो सुअर की टट्टी और गंगाजल दोनों में परमात्मा एक जैसा बता रहे हैं, कोढ़ी तो फिर आदमी है। फिर भगवान् में दोष इसलिये

नहीं आते हैं कि चाहे तुमने एक हज़ार साल तक भी बालू में मृगतृष्णा देखी हो लेकिन उस बालू में ज़रा भी गीला पन नहीं आता, इसी प्रकार इस सारे माया जाल के दीखते हुए भी वह अधिष्ठान एक जैसा ही बना रहता है। ये दो चीज़ें भगवान् ने कहीं। यहाँ परमेश्वर के रूप को पूरी तरह से संक्षेप में बता दिया है।

ऐसा वह जो परमेश्वर है उसकी अर्चना तुम अपने कर्मों के द्वारा कर सकते हो। यदि परमेश्वर ऐसा नहीं होगा तो जीवन में कुछ काम अर्चना के होंगे और कुछ दूसरे होंगे। कभी पूजा-पाठ करोगे और कभी कुछ और करोगे। दो घण्टे सवेरे, दो घण्टे शाम को माला फेर लोगे, एक घण्टा सवेरे, एक घण्टा शाम को पूजा कर लोगे, लेकिन बाकी समय दाल-रोटी कमाने आदि के लौकिक व्यवहार करोगे। स्वकर्म से अभ्यर्चना तो तभी हो सकती है जब चाहे तुम भोजन कर रहे हो तब भी तुम परमात्मा की ही पूजा करो। यह तब होगा जब परमेश्वर ने जो आज्ञा दी है उसके अनुसार ही खा रहे हो। यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय, वैश्य होने से अधीतवेद हो तो तुम्हें इसलिये परमेश्वर की आज्ञा का पता है। यदि शूद्र हो, अधीतवेद नहीं हो तो जिस ब्राह्मण आदि की परिचर्या कर रहे हो उसमें स्थित परमेश्वर ही आज्ञा दे रहा है इसलिये करोगे। सर्वथा जो भोजन आदि लगता है कि हम अपने लिये कर रहे हैं, उसके द्वारा भी परमात्मा की ही अभ्यर्चना करनी है। तब मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूपी जो सिद्धि है, उसे प्राप्त कर लेता है।।४६।।

भगवान् ने चातुर्वर्ण्य का विचार करके बताया कि जिन कर्मों को जिस जाति के लिये बताया है उनको करने से पहले बुद्धिशुद्धि की प्राप्ति होती है जिससे ज्ञान होता है और फिर संसिद्धि अर्थात् ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त हो जाती है। प्रश्न होता है कि ब्राह्मण के कार्य तो मुमुक्षु के अनुरूप हो गये, लेकिन अन्य जो वैश्य, शूद्र आदि के कर्म हैं वे तो कभी मुमुक्षु के प्रकरण या वर्णन में आते नहीं, उन्हें ज्ञान में उपयोगी कैसे समझें? उत्तर है कि हमारे पूर्व कर्म और उनके संस्कार परमेश्वर ही जानता है। अतः परमेश्वर जब हमें उस वर्ण में जन्म देता है तब वह हमारे द्वारा किये उन्ही कर्मों से प्रसन्न होता है क्योंकि परमेश्वर ने हमें उसी को करने के योग्य समझा। उसके विरुद्ध कर्म हम यदि अच्छी तरह से भी करते हैं तो भी परमेश्वर प्रसन्न नहीं होगा क्योंकि उसने जो करने को पैदा किया था वह हमने नहीं किया। इसलिये भगवान् कहते हैं -

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

जो अपने लिये नहीं, किसी और के लिये विहित है उस धर्म को भली प्रकार से करने की अपेक्षा अपने लिये विहित धर्म को अधूरा करना भी बेहतर है। स्वभावानुसार विहित कर्म करते हुए व्यक्ति को पाप नहीं लगता।

'विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्' यहाँ एक आपि-पद जोड़ लेना चाहिये,'विगुणोऽपि' अधूरा भी;

पूरी तरह से नहीं किया हुआ अर्थात् विगुण कार्य भी यदि स्वधर्म है तो कल्याण के रास्ते ले जाता है। वर्तमान में लोग यह प्रश्न बार-बार पूछते हैं कि यदि कोई अपने वर्णकार्य की अपेक्षा दूसरे वर्ण के कर्म को अच्छी तरह कर सकता है तो उसे करने में क्या दोष है? भगवान् यहाँ निर्णय दे देते हैं कि सबसे पहला दोष ही उसमें है कि तुम भगवान् के शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध काम कर रहे हो। जिस प्रकार मान लो तुम को चौकीदारी के लिये रखा गया है लेकिन तुम चौकीदारी कम करते हो और मुनीम जी से कहते हो 'मैं हिसाब लिख सकता हूँ' और वे तुमसे हिसाब लिखा देते हैं, उनकी मेहनत कम हो गई। मालिक यही कहेगा कि तुम्हें जिस काम के लिये रखा है, वही तुम्हें करना है। दूसरा काम अच्छी तरह से कर सकते हो, लेकिन अपने काम में भूल करोगे तो ठीक नहीं है। चौकीदारी का काम पूरा करते हुए यदि अतिरिक्त समय हिसाब लिखने में लगा देते हो तब तो मालिक प्रसन्न होता है क्योंकि और ज़्यादा ही काम किया। परन्तु चौकीदारी ठीक नहीं करोगे तो मालिक प्रसन्न नहीं होगा। इसी प्रकार परमेश्वर ने शास्त्र के द्वारा तुमको जो काम करने को दिया, तुमको वही करना है। तुम कहते हो कि 'उस की अपेक्षा मैं दूसरे काम को अच्छी तरह कर सकता हूँ'; यदि बताये हुए काम को निष्पन्न करते हुए तुम दूसरे काम को करो तब तो कोई हर्जा नहीं है। परन्तु यदि तुम अपने काम को छोड़ते हो, तो परमेश्वर की कृपा तुम्हारे ऊपर कैसे हो सकती है!

'विगुणः अपि स्वधर्मः श्रेयान्' अपना कर्म पूरी तरह नहीं कर सकते तब भी करना है। ब्राह्मण शरीर में जन्म हो गया लेकिन बुद्धि ठीक नहीं है, पढ़ने-लिखने में कमज़ोर है, वेदाध्ययन करना उसके लिये सम्भव नहीं है। वह कहता है कि 'मैं वेदाध्ययन नहीं कर सकता इसलिये दूसरा काम कर लेता हूँ;' तब उससे कहेंगे कि जितना वेदाध्ययन कर सको अच्छा है, मंत्र को याद करने में चाहे साल भर लग जाये, परन्तु विगुण होते हुए भी उस कर्म को करो ही। स्वर-सहित पाठ नहीं कर सकते तो बिना स्वर के ही करो। इसलिये भगवान् भाष्यकार ने यहाँ 'अपि' पद का लोप बताया है। अन्यथा तो अर्थ हो जायेगा कि विगुण कर्म करना श्रेयस्कर है, अर्थात् अच्छी तरह से करने की अपेक्षा विगुण कर्म करना ठीक है! ऐसा विपरीत अर्थ नहीं लेना वरन् पूरी तरह से न कर सको तो भी अपना कर्म कल्याणकारी है। 'परधर्मात् स्वनुष्ठितात्' दूसरे के लिये बताये हुए कर्म को अच्छी तरह से भी कर लिया तो वह श्रेयस्कर नहीं होगा। इसलिये सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने लिखा है 'यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मः' जो जिसके लिये विधान किया गया है वही उसका धर्म है। वह जो अच्छी तरह कर सके वह उसका धर्म नहीं हो जाता, जिसके लिये जो विधान किया गया है वही उसका धर्म रहेगा।

स्वधर्म अच्छा क्यों है? भगवान् कहते हैं 'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्;' जिसको पहले स्वभावज कर्म कहा था उसी को स्वभावनियत कर्म कह रहे हैं। अर्थात् पूर्व जन्म में जो कर्म तुमने किया है, उससे जो संस्कार बना है तदनुरूप ही भगवान् ने तुम्हें

वहाँ जन्म दिया है। स्वभाव का मतलब यह नहीं है कि जो तुमको अच्छा लगे वह करना है। जो तुम्हारे लिये परमात्मा ने तुम्हारे पूर्व जन्म को देखकर निर्णय किया है वह तुम्हारा स्वाभाविक कर्म है। उस कर्म को करते हुए किल्बिष, पाप की प्राप्ति नहीं होती। जैसे क्षात्र धर्म में गुरु, दादा जो सामने आये उसे मारना है। अर्जुन ने कहा भी 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव!' इस घोर कर्म में मुझे क्यों लगाते हैं? उसका जवाब पहले भी दे आये हैं और यहाँ भी कह रहे हैं कि स्वभावज कर्म होने से क्षात्रधर्म के अनुसार गुरु, दादा को मारकर भी पाप को प्राप्त नहीं करोगे। दूसरों का धर्म करोगे तो पाप को प्राप्त करोगे। ठीक इसी प्रकार से वैश्य का कर्म वैश्य के लिये विहित है, खेत जोतेगा, कृषि करेगा तो बहुत से केंचुए, मेंढक इत्यादि मर जायेंगे, परन्तु उसे पाप नहीं लगेगा। ब्राह्मण वह कर्म करेगा तो पाप लगेगा क्योंकि प्राणि-हिंसा कर रहा है। ऐसा क्यों है? क्योंकि परमेश्वर ने तुम्हारे लिये उसका विधान किया है इसलिये पाप नहीं है। प्राणिहिंसा बुरी है, यह शास्त्र से ही पता लगेगा, वैश्य कृषि करते हुए प्राणिहिंसा कर सकता है यह प्रत्यक्ष में पता लगता है। जब शास्त्र में बताया गया है तो प्रत्यक्ष में प्राणि-हत्या देखकर भी दोष नहीं लगेगा क्योंकि शास्त्र को प्रत्यक्ष नहीं बाध सकता। जहर के अन्दर कुछ कीड़े होते हैं जो जहर में ही रहते हैं, जहर को ही खाते हैं और हृष्टपुष्ट बने रहते हैं। अगर उनको देखकर कोई कहे कि 'विष ने उन्हें नहीं मारा तो हमें भी नहीं मारेगा' तो धोखा ही खायेगा। तुम विष खाओगे तो मारे जाओगे। चूँकि उन कीड़ों का विष में रहने का स्वभावज धर्म है इसलिये उन्हें नुक्सान नहीं पहुँचाता। तुम्हारे लिये वह स्वभावज या स्वाभाविक नहीं है इसलिये तुम्हें नुक्सान पहुँचायेगा। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिये जो दोष वाले कर्म दीख भी रहे हैं वे उन्हें नुक्सान नहीं पहुँचायेंगे। दूसरा उन कर्मों को करेगा तो दोष का भागी बनेगा।।४७।।

इसलिये भगवान् कहते हैं –

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

कौन्तेय! धुएँ से आग की तरह क्योंकि सभी कर्म दोष से घिरे रहते हैं इसलिये दोषयुक्त हो तो भी जन्मानुसार प्राप्त कर्म छोड़ना नहीं चाहिये।

भगवान् पहले कह आये हैं कि कोई भी व्यक्ति जो आत्मज्ञानी नहीं है, वह एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। कर्म नहीं करना भी एक कर्म ही है जब कर्म को करने से अपने को रोकना पड़ता हो। अहंकार को अपना स्वरूप समझने वाला व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। आरम्भ, जिसका आरम्भ किया जाता है अर्थात् कर्म; सारे कर्मों में दोष तो है ही, यह कर्म का स्वरूप है। किये बिना तो रह नहीं सकते, जब कर्म हर क्षण करना ही है तो दोनों प्राप्त होते हैं कि स्वधर्म करें या परधर्म करें, अर्थात् जो हमारे लिये विधान है उसको भी कर सकते हैं और जो हमारे लिये विहित नहीं है, दूसरे

के लिये विहित है उसको भी कर सकते हैं। यदि हमने सहज कर्म किया अर्थात् स्वधर्म किया तो कर्म होने से दोष वाला वह भी है क्योंकि जो कर्म होता है उसमें दोष रहता ही है, लेकिन हमारा धर्म है इसलिय सदोष, दोष वाला होने पर भी उसे नहीं छोड़ना ही उचित है। यह सभी वर्णों और सभी आश्रमों के लिये समझ लेना। सारे कर्म दोष वाले कैसे हैं? जैसे अग्नि जलाओगे तो उसमें कुछ न कुछ धुआँ होगा ही। अग्नि से ही धुआँ पैदा होता है। इसी प्रकार कर्म से ही दोष उत्पन्न होता है। कितनी भी सावधानी से करोगे, कुछ दोष तो उस कर्म में रहेगा ही। परन्तु भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि स्वधर्म किया तो तुम्हारे लिये दोषवाला नहीं। परधर्म पर (दूसरा) कर रहा है तो वह उसके लिये दोष वाला नहीं है। सर्वथा दोष रहित कर्म नहीं हो सकता। ऐसा कोई कर्म संभव नहीं जो सर्वथा निर्दुष्ट हो। अतः अपने कर्म में दोष देखकर उसे छोड़ दूसरा कर्म करने में कोई फ़ायदा नहीं। कोई भी कर्म दोष वाला न हो यह हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह कर्म का स्वरूप ही नहीं है कि दोष वाला न हो। इसलिये स्वधर्म या कर्म दोष वाला होने पर भी उसका त्याग संगत नहीं हो सकता।

जब तक तुम अहंकार के साथ हो तब तक कर्ममात्र का त्याग नहीं हो सकता। जब अहंकार तुम्हारा स्वरूप नहीं रह जायेगा तो आत्मा के स्वरूप में न कभी कर्म हुआ, न रहा है, न होगा। इसलिये अज्ञानी द्वारा सर्वथा कर्मों का छोड़ना असंभव है। जो अपने स्वाभाविक कर्म हैं उनके त्याग में ही दोष होगा क्योंकि वे प्राप्त थे और तुमने उन्हें छोड़ा। अर्थात् यदि अशेष त्याग हो सकता तब तो ठीक था। भगवान् ने कहा कि 'सारे कर्मों में दोष है,' वह यह बताने के लिये कि यदि सारे कर्मों को छोड़ सकते तब तो दोष नहीं था परन्तु सारे कर्मों को छोड़ना सम्भव ही नहीं है। जब तक तुम अहं के साथ हो तब तक अहं हमेशा चंचल ही रहेगा, हिलता रहेगा। जैसे सांख्यों के गुण स्थिर नहीं रह सकते, उनकी घटा-बढ़ी होगी ही उसी प्रकार से अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है तो उसके अन्दर चंचलता रहेगी ही। अतः सब क्रियायें छोड़ी नहीं जा सकतीं। अपनी समझ से हेर-फेर करने में गलती होने की संभावना अत्यधिक है क्योंकि जीव अल्पज्ञ ही है। एक नये-नये सिद्ध महात्मा समुद्र के किनारे बैठे हुए थे। वहाँ मछुए मछलियाँ पकड़ रहे थे, तब तक अकस्मात् बड़े ज़ोर का अंधड़ आया। मछुओं की नावें डाँवाडोल होने लगी। सब चिल्ला रहे थे कि अब डूब जायेंगे। महात्मा सिद्ध थे ही, संकल्प किया कि अंधड़ बन्द हो जाये; तो अन्धड़ बन्द हो गया। उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'इन मछुओं को तो तुमने बचा लिया लेकिन थोड़ी दूरी पर एक बड़ा पोत (जहाज) जा रहा था, तुम्हारे संकल्प से अकस्मात् अंधड़ रुकने से उसमें हज़ारों लोग मर गये!' पच्चीस को बचाया लेकिन हज़ारों मर गये। साधारण आदमी तो सामने ही देख सकता है लेकिन परमात्मा तो सब कुछ जानता है। अतः तुम जिस क्रिया को अपनी समझ से अच्छे से अच्छा समझकर कर रहे हो उसके दूरगामी परिणामों का विचार करोगे तो उसमें भी कुछ न कुछ दोष है ही और वह तुम्हारे सिर पर

ही पड़ेगा। यदि तुम स्वधर्म करते हो तो क्योंकि परमेश्वर की जो आज्ञा है उसी का पालन करते हो, इसलिये उसके दोष का भागी भी परमेश्वर होगा! इसलिये भगवान् ने कहा कि स्वधर्म करोगे तो किल्बिष प्राप्त नहीं करोगे क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा से किया गया है।

यहाँ भाष्यकार ने बहुत लम्बा विचार किया है कि क्रिया सम्भव कहाँ और कैसे है? अंत में स्पष्ट कहते हैं कि आत्मा में अविद्या से अध्यारोपित करके ही अज्ञान से कर्म अपना बनता है। कर्म तो अहं कर रहा है। हम ज़बर्दस्ती अहं बनकर दोष के भागी बन रहे हैं। चूँकि अहं बिना कुछ किये हुए रह नहीं सकता इसलिये हम भी बिना कुछ किये हुए नहीं रह पा रहे हैं। ज्ञानी ने तो यह अज्ञान निवृत्त कर दिया है कि 'मैं अहं हूँ'। उसने जान लिया है कि 'मैं अहं नहीं हूँ', इसलिये उसके लिये अशेष कर्मों का परित्याग करना सम्भव है। 'मैं' रहते हुए तो अशेष कर्म का परित्याग नहीं होता है। परन्तु जब अहंकारात्मिका वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, सच्चिदानन्द मेरा स्वरूप है तब अशेष कर्म का परित्याग ही हो सकता है क्यों कि अहं ही कर सकता है, आत्मा नहीं कर सकता। जिस प्रकार, मोतियाबिन्द होता है तो आदमी को दो चन्द्रमा दीखते हैं, जैसे ही उसका शल्य हो गया और मोतिया बिन्द को हटा दिया वैसे ही दो चन्द्रमा नहीं दीखते। इसी प्रकार जब तक अहं में रहते हैं तब तक तो कर्त्ता-भोक्ता है और जैसे ही अहं से अलग होकर साक्षीरूप में स्थित होते हैं वैसे ही न कर्त्ता और न भोक्ता है। इसलिये कहा कि कर्म तो अहंकार के बिना बनता नहीं, जब तक अज्ञान है तब तक अहं से अपने को एक किये हुए हो, तब तक कर्त्ता-भोक्तापने की निवृत्ति हो नहीं सकती अतः कर्त्ता-भोक्तापन का दोष रहेगा ही, करोगे तो फिर भोगोगे। इसलिये तब तक तो परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार ही कर्म करो। जब कर्त्ता-भोक्तापना मिट जायेगा तब सारे कर्मों का त्याग हो ही जायेगा। इसलिये किसी भी अवस्था में स्वधर्म को छोड़कर परधर्म करना नहीं बनता।।४८।।

यह जो कर्म से होने वाली शुद्धि है यह ज्ञाननिष्ठा की योग्यता है। ज्ञान-निष्ठा का फल नैष्कर्म्य-सिद्धि है अर्थात् 'मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ' इस निश्चित स्वानुभव की अकम्पता है। इसलिये पहले ज्ञाननिष्ठा की योग्यता, तब ज्ञान और तब ज्ञाननिष्ठा अर्थात् नैष्कर्म्य की प्राप्ति है, यह बताते हैं-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

जिसकी बुद्धि कहीं भी आसक्त नहीं है, जिसका अन्तःकरण वशमें है और जिसकी कामनाएँ समाप्त हो चुकी हैं, वह सर्वकर्मत्यागपूर्वक सम्यग्ज्ञान द्वारा निष्क्रिय आत्मस्वरूप से रहना-रूप सर्वोत्तम स्थिति अधिगत कर लेता है।

सर्वत्र असक्तबुद्धि अर्थात् जिसका अंतःकरण सर्वत्र असक्त हो। किसी भी देश, काल के अन्दर उसे न राग हो, न द्वेष हो। आसक्ति के निमित्त पुत्र-दारा आदि होते हैं, उनमें

राग–द्वेष न हो। जो आसक्ति के प्रसिद्ध निमित्त नहीं हैं, ऐसी भी बहुत सी चीज़ें हैं जिनमें आसक्ति होती है। पुत्र, स्त्री आदि तो आसक्ति के प्रसिद्ध निमित हैं, वहाँ की आसक्ति से तो बचना ही है परन्तु और भी अनेक आसक्तियाँ हैं; जैसे लोकमान्य तिलक बहुत बड़े विचारक हुए हैं जिन्होंने पुत्र–दारा आदि से आसक्ति को छोड़ना स्वीकार किया है परन्तु वे कहते हैं कि देश से तो आसक्ति रखनी ही चाहिये! देश के कल्याण के लिये तो कर्म करना ही चाहिये, यह नहीं छोड़ सकते। यह देश के प्रति आसक्ति है। कुछ लोगों की मानवता के प्रति आसक्ति होती है कि मानवता के लिये करना तो ठीक है। इस प्रकार की प्राप्तियों को हटाने के लिये भगवान् ने कह दिया 'सर्वत्र असक्तबुद्धिः'। प्रसिद्ध–अप्रसिद्ध सभी विषयों में अनासक्त व्यक्ति ही परम सिद्धि पा सकता है। यह तभी हो सकेगा जब जितात्मा बनोगे, आत्मा अर्थात् अंतःकरण को अपने वश में कर लोगे। जब तक, मन को जो चीज़ अच्छी लगती है वह 'मुझे अच्छी लगती है' ऐसा मानते रहोगे, अर्थात् जब तक मन के गुलाम रहोगे तब तक ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं सकती। बजाय इसके कि अंतःकरण तुमको जीते,तुम अंतःकरण को जीतो।

ये दोनों ही एक दूसरे के सहायक हैं। अन्तःकरण के वश में तुम क्यों होते हो? क्योंकि तुम्हें कहीं न कहीं आसक्ति है, आसक्ति के कारण ही तुम अंतःकरण के वश में रहते हो। मन तुम्हें किसी चीज़ की तरफ कैसे ले जाता है? चीज़ अच्छी लगाकर तुमको उस तरफ ले जाता है। तुम उसमें आसक्त हो तभी उधर जाते हो। यदि तुम उसे अच्छा स्वीकार ही नहीं करो तो अतंःकरण उधर कैसे ले जा सकता है! राग–द्वेष के द्वारा ही तुमको मन प्रवृत्त या निवृत्त कर सकता है। राग–द्वेष नहीं होने पर मन तुम्हें कैसे प्रवृत्त कर सकता है? इसलिये अनासक्ति और मन को जीतना दोनों एक–दूसरे के सहायक हैं। जितना–जितना आसक्ति को छोड़ोगे उतना–उतना अंतःकरण को जीतोगे और जितना–जितना अंतःकरण को जीतोगे उतनी–उतनी तुम्हारी आसक्ति कम होगी।

'विगतस्पृहः' - अप्राप्त की प्राप्ति होने की इच्छा को स्पृहा या तृष्णा कहते हैं।'कुछ भी अप्राप्त मुझे प्राप्त हो'यह जिसने बिलकुल भुला दिया है, वह विगतस्पृह है। स्पृहा का न होना गतस्पृह हो जाना है, किन्तु भगवान् ने गतस्पृह न कह कर विगतस्पृह कहा है अर्थात् स्पृहा कभी होती थी यह भी याद नहीं आता! अभी तो स्पृहा नहीं ही होती, लेकिन वह इतनी विस्मृत हो चुकी है कि कभी हुई थी यह ख्याल भी नहीं रहता। ठीक जैसे कोई बुड्ढा तुमसे कहे 'मैंने तुझे हाथ–पैरों पर चलते देखा था।' उसके कहने पर तुम याद करने की कोशिश भी करो कि बचपन में कैसे चलते थे तो याद नहीं आता। चले ज़रूर थे, बुड्ढा भी कह रहा है, जितने बच्चों को देखा है सब उसी ढंग से चलते हैं, परन्तु तुम याद करने की कोशिश करो कि 'गुडालिये से कैसे चला?' तो याद नहीं कर पाते। ठीक इसी प्रकार स्पृहा या तृष्णा ऐसी दूर हो जाती है कि जिसकी अब स्मृति ही नहीं रह गई। शरीर के प्रति भी तृष्णा न रहे और न शरीर को जिन भोग्य पदार्थों की आवश्यकता है उनकी प्राप्ति की ही तृष्णा रहे।

ऐसा जो आत्मज्ञ होता है वह 'संन्यासेन परमां नैष्कर्म्यसिद्धिम् अधिगच्छति' नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त करता है। नैष्कर्म्य अर्थात् जिससे सारे कर्म बाहर निकल गये। सारे कर्म केवल आत्मा में ही नहीं हैं अतः वह केवल आत्मा को ही अपना स्वरूप जानता है कि 'सच्चिदानन्द स्वरूप ही मैं हूँ' निष्क्रिय ब्रह्म को जब हम आत्मा से एक करके जानते हैं तब नैष्कर्म्य की सिद्धि है। जब यह पता लग जाये कि मैं 'मैं' नहीं हूँ, परमात्मा ही हूँ, तब यह सिद्धि होती है। जिसको ऐसा ज्ञान हो गया वही निष्कर्मा है। क्योंकि ब्रह्म ही निष्क्रिय है इसलिये जो ब्रह्मरूप है, वही निष्क्रिय है। अज्ञान से ब्रह्म में सारी क्रिया दीखते हुए भी वह निष्क्रिय ही है। ऐसे ही जब स्पष्ट भान हो जाये कि 'अज्ञान से मुझमें कर्म भले ही दीखा हो, वस्तुतः मैं हमेशा कर्म से अस्पृष्ट हूँ' तब निष्कर्मता सिद्ध होती है। उसे नैष्कर्म्य की प्राप्ति न कह कर सिद्धि कहा। जो चीज़ विचार से सिद्ध होती है उसको सामान्यतः 'प्राप्ति' नहीं कहा जाता। ठीक जिस प्रकार ब्राह्मण ने खूब अच्छी तरह से भाँग छान ली तो वह भूल गया कि मैं ब्राह्मण हूँ। अब उससे कहते हैं कि 'शाम हो गई, सन्ध्या करो' तो वह कहता है 'संध्या तो पंडित जी करेंगे, मैं तो डोम हूँ, क्या संध्या करूँ!' भूल गया कि वह ब्राह्मण है। नशा उतरने पर सारा व्यवहार ब्राह्मण का करता है। क्या उसे ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हुई, या क्या वह ब्राह्मण बन गया? ब्राह्मण होते हुए ही भूल गया था, अब याद आ गया। ठीक इसी प्रकार से अविद्या के नशे के कारण मैं अपने को कर्त्ता-भोक्ता मानता हूँ। मुझे लगता है कि इस संसार को बनाने वाला परमात्मा तो बहुत ऊँचा है! किसी भक्त ने कहा है कि 'आकाश के ऊपर तो तुम्हारी सेज है, मैं तुमसे कैसे मिलूँ?' यही अवस्था अविद्या में है क्यों कि अविद्या के कारण हम अहं में बँधे हुए हैं। छोटे से शरीर को समझ रहे हैं कि यह मैं हूँ, इसलिये अभी जब कहते हैं 'तुम ब्रह्म हो' तो तुम समझते हो कि 'ग़लत आदमी से कह रहे हैं! मैं थोड़े ही ब्रह्म हूँ, हमारे जैसा आदमी कैसे ब्रह्म हो सकता है? बड़े-बड़े लोग ब्रह्म होते होंगे।' परन्तु जैसे ही तत्त्वमसि आदि महावाक्य के श्रवण से अविद्या का नशा उतरता है वैसे ही लगता है कि 'यह सारा ब्रह्माण्ड मुझ ब्रह्म में ही प्रतीत हो रहा था, मैं तो जैसा हूँ वैसा का वैसा हूँ'। इसलिये कहा कि वह नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त करता है अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है।

इसको परम सिद्धि इसलिये कहते हैं कि जो कुछ भी करके प्राप्त करते हो वह कर्मज सिद्धि है जो समय पाकर फल देती है। जैसे सिर में दर्द है, दवाई खाई और अगले ही मिनट में कहते हो कि फ़र्क नहीं पड़ा। डाक्टर कहता है कि दवाई का असर होने में समय लगेगा। जैसे दवाई खाने का कर्म भी कुछ काल के बाद फल देता है इसी प्रकार ज्योतिष्टोम आदि कर्म भी तुमको मरने के बाद ही स्वर्ग में ले जायेगा परन्तु नैष्कर्म्य-सिद्धि तो तत्काल हो जाती है। तत्त्वमसि का श्रवण करते ही तत्काल नैष्कर्म्य-सिद्धि अर्थात् सद्यः मुक्ति है। 'संन्यासेन' - यह जो ठीक ज्ञान है इसको ही संन्यास कहा है क्यों कि यह ज्ञान कर्ममात्र की अर्थात् सारे कर्मों की निवृत्ति कर देता है। अथवा यदि संन्यास का प्रसिद्ध अर्थ करो

तो, सारे कर्मों का त्याग करके श्रवण-मनन में लगने वाला ही इस सिद्धि को प्राप्त करता है। मुख्य अर्थ तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भान नहीं होना ही संन्यास है। सर्वकर्मसंन्यास करके श्रवण-मनन में लगने से सिद्धि प्राप्त होती है। सर्वकर्मसंन्यास ज्ञान के पहले इसलिये आवश्यक है कि दिन में हम अपने को थोड़ी देर कर्त्ता मानें, फिर थोड़ी देर नहीं मानें तब यह स्थिति दृढ होती नहीं कि 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ'। जब सर्वकर्मसंन्यास कर दिया तब तुम्हें किसी कर्म की प्राप्ति तो रही नहीं, इसलिये निरन्तर केवल वेदान्त-विचार ही करते हो जिससे 'मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ' इसी का बार-बार अंतःकरण में संस्कार पड़ेगा। अन्यथा अपना कर्तृत्व ही प्रतीत होता रहेगा कि अब सवेरा हो गया है, उठना है अर्थात् उठने के कर्म का कर्त्ता मैं हूँ। इसी प्रकार उठने से लेकर एक के बाद एक कर्म तुम्हारे सामने आते रहेंगे जब तुम्हें यह वृत्ति बनानी पड़ेगी कि 'मुझे करना है या मैं कर्त्ता हूँ'। सर्वकर्मसंन्यास के बाद तो तुम्हें कोई कर्म प्राप्त है ही नहीं, इसलिये तुम निरन्तर अपने को अकर्त्ता-अभोक्ता समझ सकते हो, उसके संस्कार बना सकते हो। यदि किसी का अंतःकरण इतना शुद्ध है कि तत्त्वमसि वाक्य सुनते ही अपने स्वरूप में स्थित हो गया, कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व की बुद्धि बनना बन्द हो गया, तो मुख्य संन्यास ही उसे प्राप्त हो गया। इस प्रकार, जब स्वकर्म का अनुष्ठान परमेश्वर की अर्चनारूप में करता है तब यह नैष्कर्म्य सिद्ध होता है।।४६।।

श्लोक ४५ में जो संसिद्धि कही थी - स्वकर्मानुष्ठान से प्राप्त योग्यता, उसे पाकर ब्रह्मनिष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धि कैसे मिलती है यह समझाते हैं -

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

कौंतेय! सिद्धि पा चुका व्यक्ति, ज्ञान की जो सर्वोत्तम परिसमाप्ति है उस ब्रह्म को जिस प्रकार प्राप्त करता है वह प्रकार मुझसे संक्षेप में समझो।

पहले कर्मयोग का दीर्घ काल तक अनुष्ठान करने पर अंतःकरण की शुद्धि अर्थात् श्रवण करने की योग्यता प्राप्त होती है। उसी को सिद्धि कहा था। 'कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः'(३-२०) में भी यह बताया था। इसी अध्याय में पहले कहा था 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' कि परमेश्वर की अर्चना करके जब परमेश्वर की प्रसन्नता होती है तभी शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सभी में ज्ञान-निष्ठा की योग्यता आती है उसे यहाँ 'सिद्धिं प्राप्तः' कहा है। वह साधक जिस प्रकार से ज्ञाननिष्ठा के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करता है वह प्रकार अब बतायेंगे। अज्ञान की निवृत्ति ही ब्रह्म की प्राप्ति कही जाती है। ब्रह्म नित्यप्राप्त होने से उसकी प्राप्ति तो बनती नहीं, परन्तु नित्यप्राप्त होने पर भी अज्ञान के द्वारा आवृत होने से अप्राप्ति का भ्रम है। ज्ञान अज्ञान का निवर्त्तक है। परन्तु ज्ञान एका-एक दृढ नहीं होता, संशय और विपर्यय से ग्रस्त होता है। शब्द से ज्ञान उसी चीज़ का होता है जिसको तुमने दूसरे किसी प्रकार से जाना हुआ है। आँख से हमने जाना

है कि यहाँ पर नीले रंग का कुर्त्ता पहने हुए एक बच्चा बैठा है । परन्तु हमें यह दीख नहीं रहा है कि यहाँ सुप्रभ है इसलिये जब कोई कहता है कि नीले रंग का कुर्त्ता पहने हुए बैठा सुप्रभ है, तब हमें ज्ञान हो जाता है। शब्द से प्रत्यक्ष हो जाता है कि सुप्रभ बैठा है। कोई वस्तु पहले ही भली प्रकार से अपने अनुभव में आई हुई है, उसी का शब्द से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार से हम ब्रह्मस्वरूप हैं इसलिये जैसे ही कहा जाता है 'तू ब्रह्म है', वैसे ही अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है क्योंकि मैं हमेशा जाना हुआ है। फिर संशय होता है, क्योंकि मैं अपने को शरीर समझता हूँ, प्राण, मन और अहंकार समझता हूँ। ये सब जो हम गलत समझ रहे हैं इनमें ब्रह्मरूपता घटती नहीं। अतः संशय होता है कि 'मैं ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ?' तब, जो हमने सुना था 'तू ब्रह्म है,' वह ज्ञान कार्यकारी नहीं रहता क्योंकि संशय से ग्रस्त है। जब धीरे-धीरे विचार के द्वारा पता लगता है कि 'शरीर, प्राण, और अहंकार मैं नहीं हूँ,' जैसे ही ये सब 'मैं हूँ' यह अज्ञान हटता है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह स्पष्ट हो जाता है। यह जो शब्द के द्वारा साक्षात्कार है यह इसलिये सम्भव है कि मैं का हमको ज्ञान है। अज्ञान के कारण मैं-बोध में सब चीज़ें मिली हैं, यह बात दूसरी है। बाकी सबको मैं जब अपना स्वरूप समझना छोड़ता हूँ, तब ज्ञान होता है, शरीर आदि में 'मैं' की बुद्धि नहीं रह जाती। अहंकार आदि की शरीर आदि में मैं की बुद्धि है, मुझ आत्मा की नहीं। इसलिये ज्ञाननिष्ठा रूपी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

यह जो ज्ञान की निष्ठा है उसकी प्राप्ति का क्रम भगवान् बताने जा रहे हैं। अतः कहा, मैं जैसा कहता हूँ वैसा विचार-पूर्वक, संशय के भाव को दूर रखकर, भली प्रकार से समझ लो, निश्चय से अवधारण कर लो कि ऐसा ही है। भगवान् का यह मतलब नहीं कि 'मैं तुमको कहूँगा और तुम्हें निश्चय ही हो जायेगा', क्योंकि पहले ही कह दिया 'यथा' अर्थात् जिस क्रम से होता है उस क्रम से ही निश्चय होगा। साथ ही कहा कि 'इसको मैं बहुत विस्तार से नहीं कहूँगा, संक्षेप से कहूँगा अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति इस प्रकार से होती है इसको मैं संक्षेप में बताता हूँ, तुम इसका निश्चय करो'। निष्ठा का मतलब होता है किसी चीज़ की समाप्ति हो जाना, नितरां स्थिति हो जाना अर्थात् वहाँ से फिर हिलना नहीं होता। ब्रह्मज्ञान की जो परिसमाप्ति है वह ज्ञाननिष्ठा ही है। जैसा आत्मा है वैसा ही उसका ज्ञान हो जाये, इसी को बताने के लिये सारी उपनिषदें हैं और सारी युक्तियाँ हैं। यह निष्ठा सम्भव कैसे है? पहले तो आत्मा ज्ञान का विषय नहीं होता। सारे शास्त्र बार-बार कहते हैं कि ब्रह्म किसी ज्ञान का विषय नहीं है। और युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श का ही ज्ञान होता है और आत्मा रूप,रस,गन्ध,शब्द, स्पर्श है नहीं। इसीलिये ऊहापोह से द्वैतवादी यही सिद्ध करता है कि यदि ब्रह्म सच्चिदानन्द हो तो उसका ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता क्योंकि उसका ज्ञान किससे होगा! अतः उनका खूब ज़ोर यही है कि ब्रह्म साकार ही है, रूप,रस,गन्ध,शब्द,स्पर्श वाला ही है; इसी पर उनका ज़ोर रहता है। परन्तु यह इसलिये ठीक नहीं है कि यदि ब्रह्म मेरा स्वरूप नहीं होता तब तो ज्ञान के लिये उसे

विषय बनना पड़ता। हमें प्रत्यक्ष की तरह लगता है कि 'आज मेरा मन दुःखी है' जबकि घड़े की तरह मन विषय नहीं है। अतः मैं को जानने के लिये उसे विषय बनाने की ज़रूरत नहीं। जब भ्रम से माना मैं जो मन आदि, उसी को विषय बनाये बिना जान लेते हैं तब मुख्य मैं जो ब्रह्म उसे क्योंकर विषय बनाना पड़ेगा! विषय के रूप में ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता जैसे मुझे अपना विषय के रूप में ज्ञान नहीं होता। चूँकि आत्मा हमेशा प्रत्यक्ष है, मैं हमेशा हमें प्रत्यक्ष है इसलिये शब्द से ब्रह्म का अपरोक्ष हो जाता है। जैसे ही मैं का यथार्थ स्वरूप पता लगता है वैसे ही ज्ञान-निष्ठा हो जाती है। अगर कहीं आत्मा साकार होता तो यह निष्ठा असम्भव होती क्योंकि मैं देखने वाला और वह दीखने वाला होता; जब तक प्रमाण काम करता तभी तक उसका साक्षात्कार होता, उसके आगे-पीछे नहीं रहता, जैसे ही हम कुछ भी अन्य कार्य करते वैसे ही वह हमारी आँखों से ओझल हो जाता। परन्तु क्योंकि वह मेरा स्वरूप है इसलिये एक बार समझ लेने पर फिर निष्ठा हटती नहीं।

यह ज्ञान उत्पन्न होने के लिये जैसा शुद्ध आत्मा बिना राग-द्वेष और बिना कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव के है, वैसी ही बुद्धि की स्थिति होनी पड़ती है, तभी उसमें यथावत् प्रतिबिम्ब पड़ता है; जिसको ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं, वह बनती है। सारी प्रतीतियाँ बुद्धि में ही हैं। बुद्धि आत्माकार तो नहीं होती परन्तु बुद्धि इतनी निर्मल हो जाती है कि आत्मा का आभास, ठीक जैसा आत्मा है वैसा ही पड़ जाता है। वह आभास कैसा है? जैसे साफ काँच हमारा मुँह तो नहीं होता परन्तु साफ काँच में हमको अपना मुँह, जैसा है ठीक वैसा दीख जाता है। दीख अभी भी बुद्धि में आत्मा का आभास रहा है किंतु बुद्धि अशुद्ध होने से जैसा आत्मा है वैसा न दीखकर जैसा वह नहीं है वैसा प्रतीत हो रहा है। बुद्धि के द्वारा इन्द्रियादि और शरीर तक हमें सब आत्मा लग रहे हैं क्योंकि सब आत्मा के बुद्धि में पड़े आभास से सम्बद्ध हैं। चूँकि बुद्धि से लेकर देह पर्यन्त चेतन का आभास पड़ता है इसलिये उसमें आत्मभ्रान्ति हो जाती है। ठीक जैसे कहीं-कहीं ऐसे मन्दिर हैं जहाँ भगवान् की मूर्ति के दायें-बायें काँच लगे हैं अतः तुमको दोनों ओर राधाकृष्ण की असंख्य मूर्तियाँ दीखती हैं, परन्तु मूर्ति वहाँ एक ही है, उस काँच के कारण दूसरी मूर्तियाँ दीखती हैं। इसी प्रकार आत्मा का प्रतिबिम्ब बुद्धि से लेकर शरीर पर्यन्त चला जाता है और उनमें भ्रम हो जाता है कि ये आत्मा हैं। अतः कहा तो जाता है कि 'आत्मा को जानो', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः', परन्तु यदि वास्तविकता का विचार करो तो तात्पर्य आत्मा को जानने का नहीं है वरन् अनात्मा के अज्ञान को हटाने का ही है। नाम रूप आदि के अन्दर, जो स्वरूप से अनात्मा हैं, आत्मा का आरोपण निवृत्त हो जाये, बस यही कर्त्तव्य है। इन सब में आत्मबुद्धि हट जाना ही आत्मचैतन्य का अनुभव है। आत्मा का अनुभव तो पहले से ही है, परन्तु इन प्रतिबिम्बों के कारण ये चैतन्य हैं, ऐसी प्रतीति चार्वाकों से लेकर विज्ञानवादी बौद्धों तक में हो जाती है। इसलिये अविद्या से अध्यारोपित जो देह से लेकर अहंकार की वृत्ति पर्यन्त हैं, उन अध्यारोपों का निराकरण करना है। यही ब्रह्मज्ञान के लिये यत्न कहा जाता है। ब्रह्म कोई

विषय नहीं है जिसको जानने के लिये प्रयत्न करें, परन्तु जिसको हम आत्मा समझ रहे हैं वह आत्मा नहीं है यही समझने के लिये यत्न करना है। नाम-रूप के द्वारा ग्रस्त हमारी जो बुद्धि है, वह हमें आत्मा की तरफ न ले जाकर विषयों की तरफ ले जाती रहती है। पहले तो बाह्य विषयों से बुद्धि को हटाना है, फिर शरीर आदि विषयों से हटाना है। आत्मा यद्यपि मैं-रूप से प्रसिद्ध है, मैं-रूप से सभी आत्मा को जान रहे हैं और मैं से अधिक नज़दीक कोई है नहीं इसलिये उसे जानने में कठिनाई भी नहीं होनी चाहिये, तथापि इस नाम-रूप के कारण ही लगता है कि 'संसार के कारण को मैं नहीं जानता, ब्रह्म को मैं नहीं जानता'। वह अत्यंत दूर प्रतीत होता है कि भगवान् को देखने के लिये रामेश्वर, केदारनाथ, कैलास-मानसरोवर जायें। वे तो हमारे हृदय देश की अन्दर, अहंकार के स्फुरण के साथ ही बैठे हैं, इसे नहीं समझने के कारण ही वे अत्यन्त दूर भान होते हैं कि वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक आदि में जाकर उनका दर्शन होगा। गुरु तथा आत्मा के प्रसाद से बुद्धि अनात्मा से हटती है। उनकी कृपा से जब बुद्धि वहाँ से निवृत्त हो जाती है तब 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से सरल और कोई ज्ञान नहीं लगता! बाकी सब ज्ञानों के लिये तुम्हें कोई साधन चाहिये। 'मैं' के अतिरिक्त किसी भी चीज़ को जानने के लिये तुम को साधन या प्रमाण चाहिये। परन्तु मैं को जानने के लिये किसी भी साधन की ज़रूरत नहीं है। लेकिन इसके लिये जितने अनात्माकार बाह्य पदार्थ हैं उन सब से निवृत्ति होना ज़रूरी है।

आत्मा को न प्राप्त कर सकते हो, न उससे हट सकते हो। आत्मा अर्थात 'मैं' या मेरा स्वरूप। किसी भी प्रमाण या साधन की प्रवृत्ति होने के पहले 'मैं' हूँ। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि चाहे प्रमाण अनुमान, शब्द आदि हो, चाहे जिस चीज़ को जानना है वह प्रमेय हो, चाहे जानने वाला प्रमाता हो और चाहे जानना रूपी क्रिया, प्रमिति हो, ये सब प्रवृत्त तभी होंगे जब पहले 'मै' होऊँ; उसके बाद ही प्रमाण, प्रमाता प्रमिति सब प्रवृत्त होंगे। उस 'मैं' को जानने के लिये तुमको कौन से साधन या प्रमाण की ज़रूरत है! ज्ञान पहले है। शरीर आदि अचेतन होने के कारण उनकी ज्ञानरूपता तो सिद्ध हो ही नहीं सकती। उनको तो केवल अन्धविश्वास से मान लिया है। अन्धविश्वास इसलिये है कि अनादिकाल से चला आया है। शरीर से लेकर अहंकार की वृत्ति पर्यन्त 'मैं' सिद्ध न होने पर भी इनको मानते रहते हैं। जैसे कहीं प्रसिद्ध हो जाता है कि बबूल के पेड़ के ऊपर प्रेत रहता है। किसी ने आज तक देखा नहीं। जिससे पूछते हैं वह कहता है 'सुना है, कोई कहता था।' कोई नहीं मिलता जो कहे कि 'मैंने देखा है।' परन्तु वहाँ जाकर उस पेड़ की पूजा करने वालों को पूछो तो यही जवाब है कि 'हमारे बाप दादा कहते आये हैं, क्या वे सब मूर्ख थे? अनादिकाल से इस पेड़ पर प्रेत चला आ रहा है।' इसी का नाम अन्धविश्वास है जिसका कोई आधार नहीं है। इसी प्रकार हम हमेशा मानते रहे हैं कि हम शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ हैं। कोई पूछे 'कैसे मानते हो जब कि ये सब तुमको प्रत्यक्ष तुम से भिन्न लगते हैं?' हम यही कह सकेंगे कि वह तो ठीक है, लेकिन हैं तो हम ये सब ही, इनके सिवाय हम

और क्या हैं! सारे व्यवहारों की प्रतीति जिस ज्ञानरूप आत्मा के होने से ही होती है उसके लिये किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं है, वह तो स्वतः सिद्ध है। प्रमाण की ज़रूरत तो तुम्हारे जो बैठे हुए भ्रम हैं उनकी निवृत्ति करने के लिये होती है। इसलिये यह अत्यंत सुसाध्य होने पर भी अत्यंत कठिन हो रहा है। इसलिये यह स्पष्ट है कि आत्मा को जानने का प्रयत्न मत करो क्योंकि आत्मा तुम हो। जब तक आत्मा को जानने के लिये प्रयत्न करोगे तब तक उसे कभी जान सकते नहीं! जो अनात्मा है उसकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न करने पर स्वतः सिद्ध आत्मा प्रकट हो जाता है। बहुत से द्वैतवादियों का यही कहना है कि 'आत्मा का ध्यान कैसे करें?' क्योंकि सोचते हैं कि ध्यान उसका करना है जो भिन्न है। तुम निरंतर आत्मदर्शन कर ही रहे हो, 'मैं'-रूप से जान ही रहे हो। केवल, 'मैं' शरीर आदि हूँ आदि जो भ्रम हो रहे हैं, उनको हटाना है। उनको हटाने पर वह तो स्वप्रकाश है, अपने आप ही प्रकाशित होता है। यही ज्ञान की परा निष्ठा है।।५०।।

ज्ञान की यह परानिष्ठा कैसे होती है? उसका उपाय बताते हैं -

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।

माया से रहित बुद्धि से युक्त होकर, धैर्य से शरीरादि संघात को वश में कर (आवश्यकता से अधिक) शब्दादिविषयों को तथा राग-द्वेष को छोड़कर (साधक पहले विविक्त सेवी बने)।

यह परानिष्ठा विशुद्ध बुद्धि से होती है। बुद्धि निश्चय करती है। अंतःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। इसके द्वारा भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं कि यह केवल मन के संकल्प-विकल्प वाले ज्ञान से नहीं होगा। निश्चय से हटने वाले संशय और विपर्यय हैं। ऐसा है या नहीं - यह संशय है और 'ऐसा ही है' यह उल्टा ज्ञान विपर्यय है। 'कोई गाली देता है तो मन को दुःख होने पर मुझे ही दुःख होता है। फिर मैं कैसे मान लूँ कि मुझे दुःख नहीं हो रहा है?' यह विपर्यय ज्ञान या उल्टा ज्ञान है। जब समझाया जाता है कि दुःख हुआ, उसे तुम जान रहे हो। दुःख तो मन को हुआ, तुम उसको जानने वाले उससे अलग हो। तब बात कुछ समझ में आती है। तब संशय होता है कि 'अगर मैं साक्षी हूँ तो फिर मुझे दुःख क्यों हो रहा है? दुःख नहीं होना चाहिये।' यह संशय क्यों हो रहा है? क्योंकि अन्दर के संस्कारों के कारण अभी भी समझते हो कि मैं दुःखी हो रहा हूँ। इस प्रकार संशय और विपर्यय के कारण निश्चय नहीं हो पाता। इसलिये शास्त्र और न्याय या युक्ति दोनों की ज़रूरत पड़ती है। इसमें साधक दो प्रकार के साधन वाले होते हैं : किन्हीं में शास्त्र के संस्कार इतने प्रबल होते हैं अर्थात् शास्त्र में इतनी प्रबल श्रद्धा होती है कि शास्त्र से निश्चय हो जाता है कि मैं मन नहीं हूँ। परन्तु अधिकतर लोग शास्त्र पर ऐसी श्रद्धा वाले होते नहीं। इसलिये उन्हें तरह-तरह की युक्तियों के द्वारा इस तथ्य को बताया जाता है।

परन्तु इतनी श्रद्धा तो शास्त्र में होनी ही चाहिये कि 'मुझे निश्चय नहीं हो रहा है, यह

ठीक है, परन्तु शास्त्र ठीक कह रहा है'; क्योंकि तब तो तुम उन युक्तियों को बार-बार सोचोगे जो शास्त्र की बात को सिद्ध करती हैं। धीरे-धीरे वे संस्कार प्रबल हो जायेंगे। परन्तु यदि तुम्हें शास्त्र पर इतनी भी श्रद्धा नहीं है कि शास्त्र जो कह रहा है, वह ठीक है तो उल्टी बातों की युक्ति लगाने लगोगे। युक्ति से किसी चीज़ की *सिद्धि* नहीं होती। सिद्ध चीज़ को समझने के लिये तो वह मदद कर देती है। क्योंकि युक्ति तो जैसे वकीलों की होती हैः अपने मुवक्किल के अनुकूल तर्क ही वे सोचते हैं। इसी प्रकार जिसे निश्चय है कि शास्त्र ठीक है वह तो उन्हीं युक्तियों को सोचेगा जिनसे शास्त्र की बात सिद्ध होती है। शास्त्र को असिद्ध करने वाली युक्तियाँ भी उतनी ही मिल जायेंगी जितनी सिद्ध करने के लिये मिलती हैं! इसलिये जिसे शास्त्र पर मूलभूत श्रद्धा नहीं है कि 'यही ठीक है, मैं अपनी समझ को इसके अनुसार करूँ' वह मनन नहीं कर सकता। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्' शास्त्र की बात सिद्ध करने के लिये तरह-तरह के तर्क करो, लेकिन उसे असिद्ध करने के लिये कुतर्क मत करो। इसलिये भगवान् ने पहली बात कही कि बुद्धि के द्वारा यह सिद्धिप्राप्ति होगी।

कैसी बुद्धि यह कर सकेगी? कहा 'विशुद्धया' विशुद्ध बुद्धि के द्वारा इसकी प्राप्ति होगी। बुद्धि की विशुद्धि क्या है? किसी भी प्रकार की भेद की या कपट की बुद्धि न होना ही बुद्धि की शुद्धि है। कपट-बुद्धि कैसी होती है? हृदय से निःसन्दिग्ध हुए बिना किसी बात को ऊपरी मन से स्वीकार मात्र लेना, उसे विचारपूर्वक निश्चित नहीं करना, बुद्धि का कपट है। जिस बुद्धि में शुद्धि नहीं होगी वह कभी भी निर्णय नहीं कर पायेगी। 'विशुद्धया' पर भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'मायारहितया'; माया का अर्थ यहाँ कपट लेना अर्थात् कपट से रहित बुद्धि शुद्ध बुद्धि है। जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है और जिसने धैर्य के द्वारा 'आत्मानं' अर्थात् आत्मा की उपाधि का - शरीर, इद्रिय, अन्तःकरण की अहंवृत्ति पर्यन्त सारे कार्यकरणसंघात का - नियमन कर लिया है, अर्थात् कार्यकरणसंघात को अपने वशमें कर लिया है। जिसका यह कार्यकरणसंघात वश में नहीं है उसको भी यह ज्ञान नहीं हो सकता। कार्यकरणसंघात वश में नहीं है तो सांसारिक प्रवृत्ति ही होती रहेगी। इसलिये शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यकरणसंघात का वशीकरण भी ज़रूरी है।

फिर 'शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा' शब्द और आदि से सभी महाभूतों को छोड़कर। शब्द जहाँ रहता है, उस आकाश से लेकर जितने विषय हैं उन सबको छोड़कर। यहाँ भाष्यकार कहते हैं कि शब्द आदि विषयों को यदि सर्वथा छोड़ देंगे तो फिर शरीर की स्थिति भी नहीं रहेगी। शरीर की स्थिति नहीं रहेगी तो ज्ञान की दृढता नहीं होगी। शरीर की स्थिति रखने पर ही ज्ञान की दृढता तक पहुँच सकते हैं। अतः भगवान् का तात्पर्य है कि शरीर-स्थितिमात्र के लिये जो आवश्यक विषय हैं उनके अतिरिक्त बाकी सारे विषयों को छोड़ना है। आवश्यकता से अधिक विषय तो सुख के लिये चाहे जाते हैं। जैसे, शरीर की स्थिति के लिये खाना ज़रूरी है। अमुक चीज़ खाना ज़रूरी नहीं हुआ करता। अमुक चीज़ तभी ज़रूरी लगती है जब हम

सोचते हैं कि वह खाने से सुख होता है। अपने कार्यकरणसंघात को जीतने के लिये कई प्रयोग करते हैं जैसे खट्टा-मीठा जो भी भोजन मिले उस सबको मिलाकर खा लो अर्थात् स्वाद के लिये नहीं खाओ। कुछ लोग तो भोजन को लेकर गंगाजल मे धो देते हैं जिससे रसगुल्ले का मीठा भी बह जायेगा और मिर्च की पकौड़ी का तीखापन भी चला जायेगा, तब उसे खा लेते हैं। ये सब प्रयोग इसलिये हैं कि शरीर की स्थितिमात्र के लिये जितना उन चीज़ों का उपयोग है उससे अतिरिक्त की इच्छा न रह जाये। इन्हीं प्रयोगों को करने से कोई विशेष फ़ायदा है ऐसी बात नहीं है, परन्तु उन विषयों के प्रति जो सुख-बुद्धि है कि 'यह खा कर मज़ा आयेगा' वह चली जाये, इतना प्रयोजन है। शरीर की स्थिति के लिये जो हमको कौपीन इत्यादि प्राप्त होते हैं, उनमें भी राग और द्वेष नहीं करना चाहिये। शरीर-स्थितिमात्र से अतिरिक्त जितने विषय हैं, उनको तो सर्वथा त्यागे और शरीर-स्थितिमात्र के लिये जो आवश्यक हैं उनके अन्दर भी राग द्वेष का त्याग करे, ये साधक के प्रारंभिक कर्तव्य बताये।

सबसे पहले बताया कि किसी भी प्रकार की माया या छल-कपट से रहित निश्चय करने वाली बुद्धि के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। क्योंकि जैसे मन कपट करता है ऐसे ही बुद्धि भी कपट करती है। बहुत से लोग किसी चीज़ का निश्चय सचमुच में किये बिना ही मान लेते हैं कि 'मेरा निश्चय हो गया'। कैसे पता लगता है? कालान्तर में उस निश्चय से भिन्न उनका निश्चय होने लगता है। बुद्धि अध्यवसायात्मिका है। बुद्धि के निश्चय करने के तीन आधार हैं। एक तो इन्द्रिय से होने वाले जो ज्ञान हैं उनके बारे में मनुष्य को निश्चय रहता है। लेकिन ऐंद्रिय ज्ञान भी विचार के पश्चात् निश्चय होता है। इन्द्रिय से ज्ञान तो हो जाता है लेकिन वह ज्ञान प्रमा है या नहीं, इसका निश्चय करने के लिये विचार चाहिये। उस चीज़ को सामान्यरूप से जाना या विशेषरूप से जाना, युक्ति से वह विषय संगत है या नहीं, प्रमाण में कोई दोष तो नहीं है, इत्यादि समझने के बाद ही निश्चय होगा। अविद्या-वृत्ति से ज्ञान हुआ है तो भ्रम है और अंतःकरण की वृत्ति से हुआ है तो प्रमा है। परन्तु यह पता कैसे लगे कि किस वृत्ति से हुआ है? इसलिये अनेक उपायों से एवं तर्क से संवाद मिलने पर ही ज्ञान निश्चय का रूप लेता है। कभी एक प्रमाण भी निश्चय करा देता है, यह भी ठीक है कि तीन-चार प्रमाण भी दूषित हो सकते हैं, इसलिये निश्चय नहीं होता, परन्तु फिर भी प्रायः निश्चय के लिये अनेक अनुभव और उनकी परस्पर संगति अर्थात् विचार चाहिये ही। हर हालत में, चाहे एक प्रमाण से हो, चाहे अनेक प्रमाणों से हो, जब तक दृढ निश्चय न हो जाये तब तक जिसकी छलरहित बुद्धि है वह तो कहता है कि अभी निश्चय नहीं हुआ, और छल-कपट वाली बुद्धि है तो थोड़ा-सा देखा और निश्चय कर लिया कि ऐसा है, किंतु उसके बाद दूसरी बात सामने आई तो निश्चय बदल दिया! व्यावहारिक सत्ता में तो थोड़ा-बहुत ऐसा करके काम चल जाता है, परन्तु परमार्थ के लिये निश्चय यदि ऐसा रहा तो फिर वह कभी निष्ठा नहीं बन सकता। इसलिये सबसे पहला साधन छल-कपट रहित निश्चयात्मिका बुद्धि होना बताया, अर्थात् पक्का निश्चय चाहिये, निश्चय करने में चाहे

जितना समय लगे। जिस प्रकार सामान्य लोगों को इन्द्रियों के ज्ञान में निश्चय होता है वैसे श्रद्धा वाले को शास्त्र से निश्चय होता है। जैसे इंद्रियों की, ऐसे ही शास्त्र की भी परीक्षा करनी पड़ती है। उसके लिये कुछ निश्चित लिंग बताये हैं। उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, और उपपत्ति, इन सबसे निश्चय होता है। और भी यदि किसी प्रकार की शंका हो तो उसे भी भली प्रकार से गुरुजनों से पूछ कर निश्चय कर लेना चाहिये कि 'ऐसा ही है।' श्रद्धा वाले को ही शास्त्र में निश्चय होता है। पर वह भी विचारित होना चाहिये अन्यथा कभी कोई शंका आ गयी तो निश्चय डिगने लगेगा। अतः बार-बार उपनिषदों को देखकर निश्चय करना है। जब तक छल से रहित निश्चय न हो जाये कि 'शास्त्र का तात्पर्य इसी में है, और किसी में तात्पर्य हो ही नहीं सकता', तब तक श्रवण करते ही रहना है। शास्त्रीय निश्चय को स्वानुभव से और युक्ति से उपोद्बलित कर निश्चय को दृढ करना ज़रूरी है। ऐसा कपट-रहित निश्चय होना चाहिये।

और फिर कार्य-करण-संघात को उसी के अनुकूल नियंत्रित करके रखना चाहिये। यदि बुद्धि का निश्चय और हो और कार्यकरण-संघात से तुम किसी अन्य प्रकार से चेष्टा करो, तब भी कार्यकरण-संघात के अन्दर बुद्धि होने से उस निश्चय में फिर विचलित भाव आ जायेगा क्योंकि कार्यकरण-संघात से जो कुछ भी करोगे वहाँ बुद्धि के भी संस्कार आयेंगे जो उस दृढ निश्चय को बनाने नहीं देंगे। इसी लिये कहा कि निश्चय होने के बाद विषयों से दूर रहो। क्योंकि जब वृत्ति विषयाकार बनती है तो विषय चूँकि जड और परिच्छिन्न हैं इसलिये अंतःकरण में जडता और परिच्छिन्नता के संस्कार पड़ते रहते हैं। जिस आत्मतत्त्व का निश्चय करना है वह अपरिच्छिन्न और चेतनरूप है। इसलिये विषय-सेवा भी दृढ निश्चय को पूरी तरह से टिकने नहीं देती, उसके अन्दर कुछ-न-कुछ हिलना हो ही जाता है। सारे विषयों को छोड़ने पर भी इस निष्ठा को प्राप्त करने के लिये शरीर की ज़रूरत है। उस शरीर को रखने के लिये थोड़ा-बहुत विषय का चिन्तन होना ही है। थाली में भोजन आया है तो 'यह रोटी है, यह चावल है,' यह विषय-चिन्तन करोगे तभी खाओगे। अतः कहा कि जो आवश्यक हो उसके अन्दर कम-से-कम रागद्वेष-रहित रहो। विषयाकार वृत्ति तो बनेगी परन्तु उनमें राग-द्वेष से बचो। विषयों के प्रति 'यह अच्छा है, यह बुरा है' ऐसी भावना न बनाकर 'जो भगवान् ने दिया उससे निर्वाह करना है' इतना ही भाव रखना चाहिये, इससे ज़्यादा उन्हें महत्त्व नहीं देना चाहिये। शरीर-रक्षा के लिये जो आवश्यक है उतनी ही अनात्मवृत्ति बना लो, उसके अतिरिक्त नहीं।।५१।।

और भी कदम स्पष्ट करते हैं –

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

भीड़-भाड़-रहित स्थान का सेवन करने वाला, हित-मित-मेध्य भोजन करने वाला,

शरीर-वाणी-मन पर संयम रखने वाला, ध्यान और योग में तत्पर, हमेशा वैराग्य का ही पूरी तरह सहारा लेने वाला (साधक ब्रह्मभाव पाने में समर्थ होता है)।

कोशकार ने विविक्त शब्द के दो अर्थ किये हैं - एक तो पुण्य या पवित्र देश और दूसरा, विजन देश अर्थात, जहाँ पर दूसरे लोग या भीड़-भाड़ नहीं। यहाँ भगवान् का तात्पर्य दोनों से ही समझा जा सकता है कि अपवित्र देश का सेवन भी न करे और पवित्र देश होने पर भी जहाँ खूब भीड़-भड़क्का होता हो उस देश का सेवन भी न करे। 'सेवी' कहकर भगवान् यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आकस्मिक किसी कारण से तुम कहीं जा रहे हो और बीच में कुछ भीड़-भाड़ की जगह आ गई, इतने मात्र से 'विविक्त देश को छोड़ दिया' ऐसा नहीं समझ लेना। जंगल, नदी का तट, पहाड़ में गुफा, कोई सूना मन्दिर जहाँ लोग कम जाते हों - इस प्रकार के देश का सेवन करने का जिसने स्वभाव बना लिया है वह साधक ही ब्रह्मनिष्ठ बनेगा। उसका स्वभाव विविक्त देश में रहने का ही होता है। भीड़-भड़क्का, रौनक आदि जहाँ होते हैं, ऐसे देश में उसकी रुचि नहीं होती। पहले भी भगवान् ने कहा था 'विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर्जनसंसदि' (१३.१०)। एकांत का अर्थ यह भी नहीं है कि उसी साधना को करने वाले लोग वहाँ न हों। जैसे भाष्यकार ने एकांत के विचार में कहा कि एक प्रयोजन वाले अर्थात् सभी मुमुक्षु लोग जहाँ मिलकर रहते हों वह एकान्त है। उनके वहाँ रहने से ज्ञाननिष्ठा बनने में मदद मिलती है क्योंकि उसी विषय पर आपस में वार्तालाप आदि होगा। लेकिन जो प्राकृत जन हैं, जिनको परमार्थ से कोई मतलब नहीं है, संसार के विषय में ही जिनकी रुचि है वे जहाँ रहें उस देश का सेवन करोगे तो अपने अन्दर उसी प्रकार की वृत्ति आयेगी। इसलिये पवित्र और एकांत स्थल में रहे अर्थात् जहाँ एक उद्देश्य वाले मुमुक्षुओं का ही वातावरण हो, वहाँ रहे।

लघ्वाशी, भोजन लघु होना चाहिये अर्थात् थोड़ा खाये। लघु से यहाँ हित, मित और पथ्य की उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। जो हितकारी भोजन हो, थोड़ी मात्रा में हो और जो शरीर के लिये लाभदायक हो, इस प्रकार का भोजन करने में ही जिसकी प्रवृत्ति है वह लघ्वाशी है। इसमें यह ख्याल रखना चाहिये कि 'रोज़ बादाम का हलवा ही हमारे लिये हितकारी है' यह नहीं मान ले! वह तो राग का ही सूचक होगा। कुछ आचार्यों ने जिससे निद्रा आदि न आये, इस प्रकार के भोजन करने वाले को लघ्वाशी कहा है। निद्रा आदि ज़्यादा आयेगी तो निरन्तर श्रवण मनन बनेगा नहीं।

'यतवाक्कायमानसः' वाणी, शरीर और मन इन सबको संयत रखे, इन्हें अधिक प्रवृत्त न होने दे। वाणी का ज़्यादा प्रयोग करोगे तो वाणी का प्रयोग अनात्म विषयों के बारे में होने लगेगा। आत्म-विषयक शब्दों का प्रयोग तो करो, जो बातें आत्मज्ञान के लिये हितकारी हैं उन बातों को तो करो, परन्तु अनात्मविषयक बातों को मत करो। इससे अपने आप ही तुम्हारी बातें कम हो जायेंगी। प्रायः देखा जाता है कि यदि आत्मविषयक वार्ता को थोड़ी देर करते हो तो हर-एक आदमी का कोई न कोई ज़रूरी काम आ जाता है और वह चला जाता है!

यदि अनात्मविषयक बातों को करते रहते हो तो भीड़ जमा रहती है। जब आत्मविषयक बातों का ही प्रयोग करोगे तो अपने-आप तुम्हारा विवेक काम करेगा। इससे दो बातें होंगी। एक तो, बहुतसी बातें बोलने की नहीं होती और दूसरा, कोई सुनने वाला नहीं मिलता! इसलिये आत्मविषयक ही वाणी का प्रयोग करे, अनात्मविषयक न करे। शरीर को भी संयत रखे। यदि शरीर असंयत रहता है तो अनावश्यक कार्यों को करता है। पहले मन में संकल्प होगा तभी शरीर की क्रियायें होंगी। जहाँ अनात्मविषयों के संकल्प हुए वहाँ वे फिर तुम्हारे प्रतिबन्धक बन जाते हैं। दूसरी बात यह है कि तुम श्रवण-मनन में लगे हुए हो और शरीर संयत नहीं होगा तो शरीर के पीछे तुम को खुद भी श्रवण-मनन छोड़कर कुछ करना पड़ेगा। जैसे बहुत से लोग होते हैं जो पाँच-छह घण्टे एक आसन से भी नहीं बैठ सकते। बीच-बीच में उठकर जाना पड़ता है। इसलिये वाणी, शरीर और मन सब संयत हों अर्थात् आत्मविषयक कार्यों में ही ये सब लगें।

तब 'ध्यानयोगपरो नित्यं', तभी ध्यानयोगपरायण हो सकेंगे। ध्यान का मतलब चित्त की एकाग्रता होता है। पतंजलि ने यही कहा है कि एक ही प्रत्यय का प्रवाह हो तब ध्यान होता है। आत्मस्वरूप का चिन्तन ही ध्यान है। सत्रूप, चित्रूप आनन्दरूप और अनंत का ही स्वरूप-चिन्तन चले। 'युजिर् समाधौ' धातु है। धीरे-धीरे वृत्ति-प्रवाह ऐसा हो जाये कि उस वृत्ति-प्रवाह की ज़रूरत न रहे, अन्तःकरण केवल उसी भाव में स्थित बना रहे। प्रवाह में तो कुछ परिवर्तन हो जाता है। जब तक अन्तःकरण रहेगा तब तक तो अनात्मा होने से चंचल है परन्तु ध्यान होते-होते थोड़े समय के बाद अन्तःकरण रह नहीं जायेगा। तब स्वरूप स्थिति में रहोगे। उससे फिर उसे चलायमान नहीं करना है। वहाँ वृत्ति का आभव होने से शुरू में लगता है कि शून्यता हो गई, चिन्तन चला गया। अतः भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा है 'समप्राप्तं न चालयेत्' जब उस समभाव के अन्दर स्थित है तब वहाँ से चलाने की ज़रूरत नहीं है। अर्थात् वृत्ति बने तो आत्माकार बने अथवा यदि मन विकल्परहित हो जाता है, प्रत्ययरहित हो जाता है, स्वरूप में स्थिति है तब वहाँ से इधर-उधर होने की ज़रूरत नहीं। यह नित्य ध्यानयोगपरायण की स्थिति है। तब आत्माकार वृत्ति का प्रवाह रहता है या आत्माकार भी प्रवाह न रह कर स्वरूप स्थिति ही रह जाती है। नित्य का ग्रहण इसलिये किया गया है कि मंत्रजप तीर्थ-भ्रमण अथवा इस प्रकार की जो दूसरी प्रवृत्तियाँ प्राप्त हैं उन सबको न करे। यति के लिऐ जो द्वादश सहस्र प्रणव जप का विधान है वह भी इस स्थिति के साधक के लिये नहीं है। बाकी सब चीज़ों को छोड़कर आत्मचिन्तन में स्थित रहना है क्यों कि बाकी सब चीज़ों के अन्दर अनात्मा का अंश बढ़ता चला जायेगा। तीर्थयात्रा करोगे तो देवदर्शन के समय कुछ वृत्ति बन सकती है परन्तु रास्ते चलना, वहाँ पहुँचना आदि सब में तो अनात्मवृत्ति ही बनेगी। मंत्रजप आदि में कुछ आत्मवृत्ति का भाव है लेकिन संख्यापूर्ति आदि की भी दृष्टि रखनी पड़ती है। इसलिये 'नित्य' नहीं हो सकता।

ध्यान योग की नित्यता से मनुष्य क्यों दूर होता है? क्योंकि कोई न कोई राग का विषय

आकृष्ट कर लेता है। जो कुछ भी प्राप्त होने वाले दृष्ट और अदृष्ट पदार्थ हैं उन सबके प्रति राग-रहितता होनी चाहिये। 'समुपाश्रितः' भली प्रकार से उस राग-रहितता का आश्रय ले। अर्थात् तुरन्त उस चीज़ का विवेक करे। ऐसे विवेक के प्रकरण शास्त्र में बहुत जगह आते हैं। वहाँ वैराग्य को बताने के लिये ऐसे प्रकरण आये हैं जहाँ ऋषि कहते हैं कि इन्द्र का पद कुत्ते के मूत्र जैसा है। जब लोग इसको पढ़ते हैं तो कई बार कहते हैं कि 'ये लोग वेदविरोधी थे क्योंकि वेद में तो इन्द्र की बड़ी प्रशंसा की गई है।' किंतु वेद में ही तो उपनिषद् है और वहाँ स्पष्ट कहा है कि उस परमात्मा के भय से ये सब देवता काँपते हैं। जब तक उन पदों के प्रति तुम्हारी राग की भावना है तब तक दोषदर्शन से उनमें वैराग्य उपजाने के लिये ऐसे वर्णन ज़रूरी हैं। दृष्ट विषयों के प्रति राग घटने पर भी अदृष्ट विषयों के प्रति राग बना रहता है। अतः वैराग्य का ऐसा आश्रय या सहारा लेना है कि आत्मा के सिवाय कोई किंचित् भी श्रेष्ठ पदार्थ शास्त्र या लोक से प्रतीत हो तो उसके प्रति राग का सर्वथा अभाव हो जाये।।५२।।

अन्तिम कदमों का निर्देश करते हैं -

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अहंकार, बल, दर्प, कामना, क्रोध, विषयसंग्रह छोड़कर, ममतारहित होकर शान्त हुआ साधक ब्रह्मभाव पाने योग्य हो जाता है।

अहंकार - शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सब को अपना स्वरूप समझने का नाम ही अहंकार है। वस्तुतः तो अहं केवल प्रत्यगात्मा का नाम है। परन्तु हम प्रत्यगात्मा को नहीं जानते इसलिये शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को हम 'मैं' समझते हैं। यह समझना ही अहंकार है। बहुत से लोग उल्टा समझते हैं, वे कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका नाम अहंकार है! 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अहंकार नहीं है 'मैं शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि हुँ' - यह अहंकार है क्योंकि ये सब सचमुच में अहं हैं नहीं। जैसे कोई व्यक्ति दसवीं भी अनुत्तीर्ण हो और अपने को लब्धस्वर्णपदक (गोल्ड मैडलिस्ट) कहे तब उसे अहंकार कहा जायेगा क्योंकि वह है नहीं और कहता है। इसी प्रकार तुम सच्चिन्मात्र रहते हुए अपने को शरीर आदि वाला कहते हो, परन्तु हो तो नहीं, इसलिये इसी का नाम अहंकार है।

बल- जैसे अहंकार है वैसे ही शरीर आदि के बल को अपना बल समझते हो। शरीर आदि का बल तो काम, राग आदि से युक्त है। जिस विषय की कामना होगी उसके लिये शरीर में खूब बल होगा और जिस विषय से तुमको द्वेष होगा उसको करने में तुम्हारे शरीर की ताकत कभी नहीं लगेगी! शरीर से यहाँ स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर लेना। जिसे हृदय से महत्त्व देते हैं उसे सम्पन्न करने के लिये देहद्वय में बल उपलब्ध होता है, जिसे महत्त्व नहीं देते उसके लिये अनुपलब्ध रहता है। प्रायः अनात्मा ही महत्त्व का लगने से सभी को

सांसारिक कार्यों व विचारों के लिये बल मिल जाता है पर परमात्मा की ओर चलने की अपने में ताकत नहीं लगती। ऐसे अनात्म पक्षीय, काम राग से युक्त बल को भगवान् यहाँ छोड़ने को कह रहे हैं। जो स्वाभाविक बल है उसको तो छोड़ना सम्भव ही नहीं है।

दर्प– जब हमको किसी चीज़ में बहुत प्रसन्नता होती है, हमारे मन का काम हो जाता है, तो एक स्वाभाविक भाव आता है कि 'हम कुछ भी कर सकते हैं' और वह फिर धर्म का अतिक्रमण कराता है। दर्प न होने का मतलब है कि शरीर आदि संघत से तुम्हारा सम्बन्ध है ही नहीं तो उनके सुखादिसे हर्षातिशय असंभव हो जाता है। 'बुद्ध्या विशुद्धया' से ही धर्मातिक्रमण का हेतुभूत दर्प नियंत्रित बता चुके हैं, फिर भी भगवान् दर्प का त्याग कह रहे हैं यह स्पष्ट करने के लिये कि ऐसा साधक कभी धर्मातिक्रमण कर नहीं सकता। इसलिये सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'धर्मकार्ये कुतस्तत् स्याद् यत्र धर्मोपि नेष्यते;' पहले तुमने अधर्म छोड़ा तब तुम्हारा आचरण धर्म वाला हुआ। अब उसके भी आगे गये तब धर्म भी अर्थात् कर्ममात्र ही छोड़ दिया। यह स्थिति धर्म का कार्य है। पहले तुमने धर्म का आचरण किया तब तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान की प्राप्ति में लगे। इसलिये जो धर्म का कार्य है, जिस दशा में धर्म में भी प्रवृत्ति नहीं, वहाँ अधर्म हो कैसे सकता है! क्योंकि तुम तो उससे कहीं आगे चले गये हो।

जैसे दर्प वैसे ही कामना नहीं रह जाती। जैसे-जैसे ध्यानयोग के अन्दर आत्माकार वृत्ति की बहुलता होती है वैसे मनुष्य की अनन्त शक्तियाँ खुलती हैं। यह बात योगसूत्रों में भी विस्तार से वर्णित है और ब्रह्मसूत्रों में भी इसका उल्लेख आया है। यद्यपि उपनिषदों में उपाधिसहित ब्रह्म की उपासना से शक्ति का वर्णन आया है इसलिये उपाधि-रहित के अन्दर शक्ति का वर्णन माना जाये यह ज़रूरी नहीं, यह बात बिलकुल ठीक है, निर्गुण विद्या का *फल* शक्ति की प्राप्ति नहीं है, तथापि ब्रह्म तो एक ही है, इसलिये जितना-जितना आवरण दूर होता जायेगा, उतना-उतना सब शक्तियों का उदय होता है। वे सब जैसे ब्रह्म में कथित हैं वैसे ही प्रत्यगात्मा में भी कल्पितरूप से रह सकती हैं। किंतु ऐसा थोड़ा भी भाव आने पर मनुष्य में अहंकार, बल, दर्प आदि आ सकते हैं इसलिये इस स्थिति में भी इनका निषेध ज़रूरी हो गया। किसी भी प्रकार की कामना नहीं पालनी चाहिये। जब कामना ही नहीं तो क्रोध आये कहाँ से! कामना का विरोध होने पर ही क्रोध आता है। परिग्रह– परिग्रह तो बहुत पहले ही छोड़ दिया, फिर यहाँ परिग्रह क्यों कह रहे हैं? शरीर के धारण करने के प्रसंग से अथवा अपने मनन आदि धर्म के अनुष्ठान के निमित्त से बाह्य परिग्रह प्राप्त होता है। शरीर-धारण, सर्दी से बचाव के लिये ज़रूरी कोई न कोई चीज़ कंथा आदि भी तुम्हें चाहिये, लोकलाज आदि निवारण के लिये कौपीन भी चाहिये, श्रवण-मनन आदि के लिये ग्रन्थ आदि भी ज़रूरी हो जाते हैं; यह परिग्रह प्राप्त होता है। इसलिये कहते हैं कि उनमें भी 'मेरा ही है' ऐसा परिग्रह का भाव छोड़कर, काम चलाने के लिये हैं– इतना ही भाव रखे। 'मेरा है' यह परिग्रह का भाव नहीं होना चाहिये।

निर्ममः, ममता छोड़े। परमहंस परिव्राजक होने से और सब चीज़ों से ममता तो वह छोड़ चुका है परन्तु देहधारण-मात्र के लिये और श्रवण-मनन आदि के लिये चीज़ों की रक्षा के लिये ममभाव का न होना, यह निर्ममः से कह दिया। इसलिये भाष्यकार ने शतश्लोकी में कहा है 'तिष्ठन् गेहे गृहेशोप्यतिथिरिव' भले ही लोकदृष्टि में घर का मालिक हो पर रहे वहाँ अतिथि की तरह। अतिथि का यही भाव होता है कि सर्दी-गर्मी, बरसात से बचने के लिये इस घर में रहता हूँ, परन्तु यह घर मेरा ही नहीं है। ऐसे ही घर में जितने लोग हैं उन सबका घर है, सभी गृहेश की तरह ही रहते हैं। इसी प्रकार इस शरीर-मन के अन्दर प्रत्यगात्मा रहता है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन का परिपाक होकर ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति हो जाये, इस के लिए अहंकार, मन, बुद्धि इत्यादि भी रहते हैं और वे इसके लिये प्रवृत्ति भी करते हैं। 'मेरे बिना इनकी प्रवृत्ति नहीं होगी, परन्तु इनकी प्रवृत्ति से मैं प्रवृत्तिमान् नहीं होता,' ऐसा निर्मम होना पड़ेगा।

शान्त- इस निर्मम भाव से ही शांत हो जाता है अर्थात् उपरति आती है। शरीर में मुझे रहना है क्योंकि मुझे अपना काम, श्रवण-मनन, सिद्ध करना है। शरीररक्षा के लिये मन, बुद्धि आदि काम कर रहे हैं, मुझे उस सब में दखल देने की ज़रूरत नहीं। मेरे बिना वे नहीं कर सकते यह निश्चित बात है, परन्तु उनको करते हुए देख कर भी मैं करने वाला नहीं बनूँ यह शांति है। अतः अशांति के कारण के अभाव से शांत है।'यह घर मेरा ही है' यह मानकर यदि घर का मालिक घर में रहेगा तो बाकी सबसे उसका झगड़ा होता ही रहेगा! ऐसे ही शरीर में मैं रहता हूँ, दूसरे भड़ैती भी इसमें रहते हैं। वे कुछ न कुछ खटपट करते रहेंगे और उनकी खटपट से यदि मैं अशांत रहूँगा तो मैं कैसे शांत हो सकूँगा?

जब ये साधन जीव में आते हैं तब साधक ब्रह्म स्वरूप में स्थित होने के योग्य होता है। ये सभी साधन पहले अनिवार्य हैं अर्थात् ये सब हो जायें तब ज्ञाननिष्ठा होगी।।५३।।

भगवान् ने ज्ञान प्राप्त करने के लिये 'परिग्रहं विमुच्य निर्ममः शान्तः' के द्वारा संन्यास का विधान करके बताया कि शरीर के प्रति भी ममता से रहित हो करके और निरन्तर शम में स्थित रह करके ही ब्रह्म भाव में स्थित रहने में समर्थ होता है। सब उपाधियों के कारण उसका प्रत्यग्भाव में स्थिर रहना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि इन सबमें जब हम अहम् और मम दृष्टि करेंगे तो फिर स्वाभाविक है कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह निष्ठा नहीं हो पायेगी। जबतक एक वृत्ति स्थित रूप से न रहे, जैसा 'बुद्ध्या' के द्वारा पहले कहा कि जब तक यह अध्यवसाय अर्थात् निश्चय न हो जाये कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ', इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ, तब तक फल नहीं मिलता। इस क्रम से मुक्त हुए व्यक्ति का वर्णन करते हैं –

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

ब्रह्मको प्राप्त प्रसन्नमना मुक्त न शोक करता है, न आकांक्षा रखता है, सब भूतों के प्रति सम रहता है और मेरी परा भक्ति प्राप्त करता है।

जब ब्रह्म में निश्चयपूर्वक स्थिर रहता है तब उसका स्वभाव कैसा होता है यह बताते हैं। प्रसन्नात्मा; मनुष्य के आनन्द का कारण तो आत्मा है क्योंकि आत्मा आनन्दरूप है। और मनुष्य के दुःख का कारण शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त सब कुछ है क्योंकि ये सब स्वभाव से जड अतः दुःखरूप हैं। जब इस जड और दुःख को हम 'मैं' मानते हैं तब तो कभी दुःखी और कभी सुखी होंगे। परन्तु जब जड पदार्थों से हम हमेशा के लिये अपने को अलग कर लेते हैं तब फिर दुःख का कोई कारण नहीं रहता और, आत्मा का स्वभाव आनन्द है इसलिये आनन्द ही प्रकट होता रहता है। कार्यकरण-संघात में आत्मा इस प्रकार से इन सबसे सम्बंधरहित होकर के विद्यमान रहता है तो उसका जो प्रसन्न स्वरूप है वह प्रतीत होता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा 'प्रसन्नात्मा लब्धाध्यात्मप्रसादः' शरीर आदि में रहनेवाले को ही अध्यात्म कहते हैं। जैसा उसका भाव है वैसा ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर फिर अन्य सारी चीज़ों में प्रतिबिम्बित होता है। जब तक प्रत्यगात्मा देह आदि में अहं-बुद्धि रखता था तब तक उसमें देहादि का भाव प्रकट होता था। जब अहंकारात्मिक वृत्ति में शुद्ध सच्चिदानन्दरूपता का ही प्रतिबिम्ब पड़ रहा है तब उसका नतीजा यह होता है कि बुद्धि में भी वह प्रसन्नता रहेगी। बुद्धि से मन में, मन से इन्द्रियों में और इन्द्रियों से शरीर में आयेगी। इसलिये प्रसन्नात्मा है।

अब उसको पता है कि शरीरद्वय सहित संसार की सभी चीज़ें क्षणिक अर्थात् नश्वर हैं। इनको नष्ट अवश्य होना है। आदमी जब बहुत बीमार रहता है तब उसके प्रिय लोग भी यही कहते हैं कि 'अब तो भगवान् इनको उठा ले तो ठीक है', अर्थात् उसका उठ जाना अब शोक का विषय नहीं रह गया है, जानते हैं कि ऐसा बीमार है कि ठीक नहीं हो सकता। इसी प्रकार संसार के यावत् पदार्थ शरीर मन बुद्धि पर्यन्त, सब नष्ट होने वाले हैं अतः उनके नष्ट होने से उसके मन में कभी शोक नहीं आ सकता क्योंकि उसको पता है कि इसके सिवाय इनकी कोई गति नहीं है। शोक का प्रसिद्ध अर्थ होता है किसी इष्ट पदार्थ के नष्ट हो जाने से अपने में विगुणता समझकर दुःखातिशय की प्रतीति होना, जैसे धन के नष्ट हो जाने से 'मैं निर्धन हो गया' ऐसी प्रतीति होती है। जैसे धन, वैसे ही अपने शरीर के अन्दर होता है। पैर कट जाता है तो 'मैं अपाहिज हो गया' इस विगुणता की प्रतीति से शोक होता है। लेकिन जो इस बात को जानता है कि मेरे में कोई भी गुण है ही नहीं तो विगुणता कहाँ से आयेगी! – वह शोक नहीं कर पाता। सगुण पदार्थ में विगुणता आ सकती है। निर्गुण पदार्थ में कभी विगुणता आ ही नहीं सकती। पदार्थों का अवश्य नष्ट होने वाला स्वभाव होने से उनके नष्ट होने से शोक होने का कोई प्रसंग ही नहीं आता। अतः विगुणता उस में असम्भव है। इसलिये 'न शोचति'। और 'न कांक्षति' वह किसी भी पदार्थ की अकांक्षा भी नहीं रखता क्योंकि जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब स्वरूप से मिथ्या हैं। मिथ्यातिरिक्त उनकी सत्ता सिद्ध होती नहीं। अतः यदि प्रतीत हो रहा है तो, और प्रतीत नहीं हो रहा है तो, वह है तो नहीं ही। प्रतीति से ही किसी चीज़ की सत्ता सिद्ध होती है, अतः जो प्रतीत नहीं हो

रहा है, मिथ्या होने से उसकी आकांक्षा हो ही नहीं सकती।

कहीं-कहीं 'न शोचति' की जगह पाठ 'न हृष्यति' भी है। उसका अर्थ होगा कि उसको हर्ष नहीं होता। क्योंकि प्रसन्नात्मा कहने से किसी को यह प्रतीति हो कि वह हमेशा हर्षित होता होगा और जो हर्षित होता है वह दृप्त होकर धर्मका अतिक्रमण करता है। इसलिये कहा कि वह प्रसन्नात्मा तो है परन्तु यह प्रसन्नता हर्षवाली प्रसन्नता नहीं है। सारे दुःखों की निवृत्तिरूपी जो बुद्धि के अन्दर राग-द्वेषों के नष्ट हो जाने से शांत अवस्था है, उसमें प्रतीत होने वाली प्रसन्नता है। इसलिये न वह किसी विषय की आकांक्षा करता है और न उसके अन्दर यह भाव आता है कि 'बहुत अच्छा हो गया, मुझे इसकी प्राप्ति हो गई'। भाष्यकार कहते हैं – 'ब्रह्मभूतस्य अयं स्वभावः अनूद्यते न शोचति न कांक्षति इति' अर्थात् ब्रह्मभूत का यह स्वभाव बताया; ऐसा नहीं कि वह शोक नहीं *करता* वरन् उसको शोक होता ही नहीं है। इसलिये यह ब्रह्मभूत के स्वभाव का अनुवाद है।

'समः सर्वेषु भूतेषु' सब प्राणियों के प्रति इसकी एक जैसी दृष्टि रहती है। अर्थात् प्राणियों के सुख या दुःख को देखकर इसके अन्दर उनके निग्रह-अनुग्रह करने की कोई वृत्ति नहीं बनती। दुःख देखकर 'इसका दुःख दूर हो' और सुख देखकर 'इसका सुख बढ़े' इस प्रकार का निग्रह-अनुग्रह यह मानकर होता है कि दूसरा सुखी है या दुःखी है। परन्तु सुख-दुःख सबको एक जैसा ही होता है इस ज्ञान के कारण उसको 'समः सर्वेषु भूतेषु' कहा। यहाँ सम का मतलब यह नहीं समझ लेना कि विषमता का बाध करके उसमें अधिष्ठानरूप से रहने वाले को कहा है। एक आत्मा ही सबका अधिष्ठान है यह तो अगले श्लोक में भगवान् को कहना है। इसलिये यहाँ इतना ही कहा है कि सुख-दुःख सबको एक जैसा होता है इसलिये न सुखी के प्रति उसकी कोई अनुग्रह की भावना है और न दुःखी के प्रति निग्रह की भावना है। न पापी के प्रति निग्रह की भावना है और न पुण्यात्मा के प्रति अनुग्रह की भावना है। चूँकि सब प्राणी सुख-दुःख का एक जैसा अनुभव करते हैं इसलिये तत्त्वनिष्ठ निग्रह-अनुग्रह दोनों से रहित होता है।

'परां भक्तिं लभते'। इस प्रकार का जो ज्ञाननिष्ठा वाला है, वह पराभक्ति को प्राप्त करता है। भगवान् पहले कह आये हैं –

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन!।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।७-१६।।

कि 'ज्ञानी नित्ययुक्त व एकभक्ति होने से विशेष भक्त है अतः मुझे अत्यन्त प्रिय है, मेरी आत्मा है।' ज्ञानीकी भक्ति को ही यहाँ परा भक्ति कह रहे हैं।।५४।।

उस भक्ति का मतलब क्या है, यह भगवान् स्वयं बताते हैं –

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

वास्तवमें जितना व जो मैं हूँ, भक्ति द्वारा उस मेरी वह अभिज्ञा करता है। उससे मुझे यथावत् जानकर बिना किसी विलम्ब के (मुझमें ही) प्रवेश कर जाता है।

यह जो चतुर्थ भक्ति, परमा भक्ति या परमेश्वर की भक्ति है, उससे मैं जितना कुछ हूँ उस सबको जान लेता है। मैं माया उपाधि से ईश्वर, सूक्ष्म भूतों की उपाधि से हिरण्यगर्भ और स्थूल भूतों की उपाधि से विराट्; सत्त्वगुण की उपाधि से विष्णु, रजोगुण की उपाधि से ब्रह्मा और तमोगुण की उपाधि से रुद्र हूँ। व्यष्टि रूप के अंदर विश्व उपाधिसे जीव हूँ, परिच्छिन्न हूँ। तैजस उपाधि से स्वप्न अवस्था में हूँ और सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ हूँ। आकाश आदि सारे महाभूत मुझसे पैदा होते हैं। अन्तर्यामीरूप से मैं सबको नियंत्रण में रखता हूँ, कर्मफलदाता मैं हूँ। ये सब चीज़ें वह जान लेता है। विभिन्न उपाधियों वाले सभी भूतों में मैं हूँ। उपाधियों में प्रतीत होने वाले सारे रूप तो मिथ्या हैं, मिथ्या उपाधियों के कारण प्रतीत होने वाले हैं। तत्त्वतः सारी उपाधियों को हटाकर आकाश के समान सर्वथा असंस्पृष्ट रहते हुए मैं सर्वव्यापक हूँ। परमेश्वर की व्यापकता किसी संयोगादि सम्बन्ध पर निर्भर नहीं है। जैसे स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं उन सब में हम व्यापक हैं क्योंकि हमारे सिवाय वहाँ कुछ नहीं है, वैसे सर्वत्र परमेश्वर व्यापक है। जैसे स्वप्न में हमारी व्यापकता का मतलब यह नहीं है कि हम लम्बे चौड़े हो जाते हों! ठीक इसी प्रकार परमेश्वर का सर्वव्यापक रूप किसी देश-काल की व्यापकता को लेकर नहीं है। वही उत्तम पुरुष है जिसे पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम ब्रह्म कहा है। वह अद्वितीय है, चैतन्यमात्र-एकरस ही उसका स्वरूप है। जिन चेतनों को हम समझते हैं वे जन्म-मरण वाले, उपाधि वाले हैं। वे सब 'यावान्' से आ गये। जन्म-जरा से रहित, मरण से रहित, भय-मृत्यु से रहित जो उसका स्वरूप है उसे भी वह जानता है। अर्थात् उसे स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञानरूप उपाधि के कारण यह सब जो प्रतीत हुआ था, वह कुछ भी मेरे सिवाय न था, न है और न हो सकता है। परन्तु ये सब प्रतीत होते हुए भी सारे कल्पित हैं, मैं ही नित्य सत्य हूँ।

'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा'। उपाधियों के बाध से अधिष्ठान का ज्ञान तत्त्वज्ञान है क्योंकि अधिष्ठान ही तत्त्व है। इस ज्ञान से 'विशते तदनन्तरं' परमात्मा में प्रवेश कर जाता है। ज्ञान के बाद प्रवेश में कोई अन्तर नहीं है इसलिये अनन्तर कहा। प्रायः किसी चीज़ को जानकर फिर उसका उपयोग अलग-अलग होता है, ऐसा यहाँ नहीं है। जीव परमात्मा होने से हमेशा ही मानो प्रविष्ट है, वास्तव में तो अभिन्न होने से प्रवेश होगा नहीं, पर अज्ञान के कारण भेद की प्रतीति रहते अभेदलाभ को प्रवेश के रूप में कहा जाता है। अज्ञान निवृत्त हो जाने पर जैसा है वैसा रह जाता है। 'ज्ञात्वा' अर्थात् 'जानकर'। यह सुनकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई कहे 'स्नान करके आता हूँ' तो स्नान का कर्म ख़त्म होगा तब आने का कर्म शुरू होगा, इसी प्रकार यहाँ कहा होगा कि पहले जाने का काम ख़त्म हो जायेगा फिर प्रवेश होगा। यदि आत्मा मेरा स्वरूप न होता तब ऐसा होता। किन्तु आत्मा मेरा स्वरूप है। अज्ञान से मुझे लगता था कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ। जिस प्रकार से कर्ण को लगता था कि मैं क्षत्रिय नहीं

हूँ। जब सूर्य ने उसे उपदेश दिया कि 'तू कुन्ती का पुत्र क्षत्रिय है' तब यह ज्ञान होते ही वह क्षत्रिय *हो गया*। उसे ऐसी प्रतीति नहीं कि 'मैं *अब* क्षत्रिय हो जाऊँगा।' 'मैं क्षत्रिय हूँ' ऐसी ही प्रतीति हुई और बनी रही। इसी प्रकार जब शिष्य सुनता है 'तू ब्रह्म है' तो उस के बाद संदेह आयेगा कि 'मैं ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म तो सारे जगत् का कारण है और मैं अपने शरीर का ही कारण नहीं हूँ। अपना शरीर ही मैंने नहीं बनाया तो मैं सारे जगत् का कारण कैसे हो सकता हूँ?' इस प्रकार जो संशय-विपर्यय हैं उनको हटाने के लिये मनन-निदिध्यासन की ज़रूरत है। मनन-निदिध्यासन होने पर सारी शंकायें हट जायेंगी। तब गुरु के कहने से जो प्रथम ज्ञान हुआ था 'मैं ब्रह्म हूँ', वह स्थिर हो जाता है। जो संशय-विपर्यय हुआ था वह इस विचारित ज्ञान से हट जाता है। इसलिये ज्ञान और प्रवेश दोनों क्रियाओं के बीच में कोई अन्तर नहीं है। 'अनन्तर' अर्थात् बिना किसी अन्तर या फ़र्क के ज्ञान ही प्रवेश है। पहले भी भगवान् ने यही कहा था 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' क्षेत्रज्ञ परमेश्वर ही है। इसलिये अहंकार, बल, दर्प आदि सारे जो क्षेत्रज्ञ की परमेश्वरता में संशय-विपर्यय थे वे सब हट कर केवल 'ज्ञान' ही प्रवेश है।

यहाँ भाष्यकार ने एक शंका उठाई है कि यह कहा क्या जा रहा है कि ज्ञान की परमनिष्ठा होती है तब उसका ज्ञान होता है? हमने घट को जाना तो घट का ज्ञान हो गया। अब चाहे उस घट को घण्टा-दो घण्टा देखते रहें, ज्ञान तो जो है वही बना रहेगा। फिर इस ज्ञाननिष्ठा को भगवान् अलग कैसे कह रहे हैं कि ज्ञाननिष्ठा से मुझे जानता है, ज्ञान से नहीं जानता? यदि ज्ञान से नहीं जानता तो ज्ञाननिष्ठा से कैसे जानेगा? ज्ञाननिष्ठा का घुमाफिराकर अर्थ करोगे कि ज्ञान की आवृत्ति हो; तो ज्ञान की आवृत्ति से भी क्या होगा? घटके ज्ञान से घट ज्ञात नहीं हुआ तो घटज्ञान की आवृत्ति करने से भी ज्ञात नहीं होगा। इसलिये भगवान् जो कह रहे हैं कि ज्ञान से नहीं जानता और ज्ञानावृत्ति रूपी जो ज्ञाननिष्ठा है उससे जानता है, यह बात विरुद्ध लगती है। यहाँ आचार्य ने गम्भीर समाधान दिया है 'ज्ञानस्य स्वात्मोत्पत्तिपरिपाकहेतुयुक्तस्य, प्रतिपक्षविहीनस्य यद् आत्मानुभवनिश्चयावसानत्वं तस्य निष्ठा-शब्दाभिलापात्'। ज्ञान को पकना पड़ता है तभी वह सफल होता है। इस प्रकार उसे पकाना और उसके विरोधियों को नष्ट करना – यही निष्ठाप्राप्ति की साधना है। आत्मा की वास्तविकता जब अकम्प निश्चयरूप अनुभव हो जाये तभी ज्ञाननिष्ठा कही जाती है और तभी मूलाज्ञान समाप्त होता है। ज्ञान के विरोधी संशयादि हैं। हमें लम्बे समय तक कोई भ्रम रहा हो तो अधिष्ठानज्ञान होने पर भी भ्रमसंस्कारों की प्रबलता से संशय उठता रहता है, फिर-फिर परीक्षा करने की प्रेरणा होती है, फिर धीरे-धीरे निश्चय होने पर संशय सर्वथा रुक जाता है। इसी प्रकार जब गुरु ने कहा 'तू ब्रह्म है' तब ' मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान तो हुआ। परन्तु उसके बाद ही 'मैं शरीर हूँ' यह ज्ञान हो गया। तब शंका होती है कि 'मैं शायद ब्रह्म नहीं हूँ'। गुरु कहते हैं तो श्रद्धा हो सकती है कि मैं ब्रह्म हूँ, परन्तु प्रत्यक्ष जो शरीरद्वय मैं-रूप से अनुभव हो रहा है, वह उस श्रद्धा का विरोधी बनकर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस निश्चय को उत्पन्न नहीं होने देता। जब तक यह निश्चय न हो जाये कि 'मैं

शरीर नहीं हूँ' तब तक आत्मा का अनुभव निश्चयरूप नहीं होता। शास्त्र के शब्द से एक ज्ञान हो रहा है, मन से दूसरा ज्ञान हो रहा है। इसलिये संशय हो जाता है। इस द्विकोटिकता को हटाना ज़रूरी होता है। जब तक आत्मानुभव निष्ठा न बन जाये तब तक वह 'अभिज्ञान' नहीं होता।

शास्त्राचार्य के उपदेश से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान होता तो शास्त्र या गुरु के शब्द से ही है परन्तु उसके परिपाक के लिये सहकारी कारण चाहिये। बुद्धि-विशुद्धि आदि सहकारी कारण हैं। ये बिना हुए वह ज्ञान निश्चय में नहीं बदलता। इसी प्रकार अमानित्वादि, अद्वेष्ट्रादि सारे इस ज्ञान को निष्ठा बनाने में अर्थात् निश्चय बनाने में सहकारी कारण हैं। शास्त्र या गुरु के उपदेश से प्राप्त हुआ जो ज्ञान है वह अपने विरोधी को अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होने वाले ज्ञान को तभी उत्पन्न नहीं होने देगा जब विरोधी ज्ञान की उत्पत्ति असम्भव हो जाये। विरोधी ज्ञान को सम्भव करने के उपाय हैं अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध आदि। ये सब 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इसे दृढ करने वाले हैं। जब तक इन्हें नहीं हटाया जायेगा तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' यह निश्चय नहीं हो सकेगा इसीलिये सर्वकर्मसंन्यास की ज़रूरत पड़ती है। कोई कर्म किया जाये तो संस्कारों की अपेक्षा रखेगा और वे सब संस्कार कर्त्ता-भोक्ता के ही हैं। बार-बार वे संस्कार जगाये जायेंगे तो फिर वे नष्ट कैसे होंगे? इसलिये सर्वकर्मसंन्यास के साथ ही स्वात्मानुभव निश्चय होता है। इस निश्चय में बने रहना ही ज्ञाननिष्ठा है। इसीको भगवान् ने चतुर्थी भक्ति कहा है कि इस पराभक्ति से ही 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह जो तत्त्व का ज्ञान है, यह निष्पन्न होता है।

सारे जगत् को बनाने वाला और उस रूप से बनने वाला परमेश्वर है। वह सर्वव्यापक है, जगत् में मैजूद भी है। परन्तु एक दोष है कि ईश्वर परोक्ष है! प्रत्यगात्मा हमेशा ही अपरोक्ष है, मुझे मेरा ज्ञान हमेशा साक्षात् है, इसमें किसी प्रमाण की अपेक्षा या ज़रूरत नहीं है। परन्तु प्रत्यगात्मा शरीर के अन्दर बन्धा हुआ है, परिच्छिन्नता दोष वाला है। देश की परिच्छिन्नता है कि साढ़े तीन हाथ के शरीर में है, काल की परिच्छिन्नता है कि साठ साल पहले पैदा हुआ था, वस्तु की परिच्छिन्नता है- देवदत्त न यज्ञदत्त है, न ईंट-पत्थर है, सबसे अलग केवल देवदत्त ही है। इस प्रकार देश-काल-वस्तु की परिच्छिन्नता वाला किंतु अपरोक्ष है। वेद कहता है 'यत्साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' ब्रह्म वह है जो साक्षात् अपरोक्ष है। साक्षात् अपरोक्ष केवल 'मैं' एक ही हूँ! इसलिये जब तक मैं और ब्रह्म एक न हों तब तक ब्रह्म की परोक्षता नहीं मिटेगी और मेरी परिच्छिन्नता नहीं मिटेगी। अतः मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान होने पर ही पराभक्ति सिद्ध होती है। यही तत्त्व से, अपरोक्ष रूप से जानना है। परमेश्वर यदि मैं नहीं हूँ तो कभी भी बिना किसी प्रमाण के वह जाना नहीं जा सकता। मैं से भिन्न जो भी चीज़ होगी उसको जानने के लिये कोई-न-कोई करण या प्रमाण चाहिये। अपने आपको जानने के लिये कोई प्रमाण नहीं चाहिये। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात् अपरोक्ष ही परा भक्ति हो सकती है। इसके बाद ईश्वर और क्षेत्रज्ञ में भेद-बुद्धि हट जाती है। इसलिये इसे

ज्ञाननिष्ठालक्षणा भक्ति कहते हैं। जितना कुछ निवृत्तिशास्त्र में बताया है वह सारा इसी भक्ति से सार्थक है। इस प्रकार से ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होने पर फिर कुछ भी निवृत्त होने वाला नहीं रह जाता क्योंकि जो कुछ भी निवृत्त होना था वह हो चुका।

भाष्यकार कहते हैं कि निवृत्ति का विधान करने वाले शास्त्र वेदांत, इतिहास, पुराण और स्मृति सारे के सारे इसी अर्थ वाले हैं। इसलिये सर्वज्ञात्मा महामुनि कहते हैं कि जिस-जिस चीज़ से तुम निवृत्त होगे उस-उस चीज़ का बन्धन नहीं रह जायेगा और जब इस प्रकार से अहंकार पर्यन्त सारी चीज़ों से निवृत्त हो जाओगे तो फिर दुःख का नाम नहीं रह जायेगा, उसी को मोक्ष स्थिति कहते हैं। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं 'विदित्वा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृहदा ०उ०-३-५-१) जब इस बात को समझते हैं तब अन्य सारे कर्मों को छोड़कर केवल शरीर की स्थितिमात्र के लिये भिक्षाचर्या करते हैं। इसलिये सारे तपों में श्रेष्ठ संन्यास ही कहा है। निवृत्ति शास्त्र का परम तात्पर्य इसी संन्यास में है, वही सबसे अधिक महत्त्व का है। स्मृतियों ने भी कहा 'वेदानिमं च लोकम् अमुं च परित्यज्य' (आप०ध०१-२३-१३) कि सारे वेदों को, इस संसार में जो कुछ है उसे और जो कुछ भी आगे हो सकता है उस सबको छोड़कर आत्मनिष्ठा पानी चाहिये। महाभारत में भी कहा 'त्यज धर्मम् अधर्मं च' (म० भा० शांति पर्व ३२६-४०) धर्म-अधर्म दोनों का त्याग कर देना पड़ेगा। कर्म या धर्म होगा या अधर्म होगा, इसलिये संन्यास से ही धर्म अधर्म का त्याग संभव है। ये सब वाक्य ज्ञाननिष्ठा की जैसी स्थिति है वैसा ही बताने वाले हैं। इनको अभूत-अर्थवाद नहीं माना जा सकता। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'यह प्रशंसा में कहा है, ऐसी स्थिति नहीं हो सकती।' ज्ञाननिष्ठा की बात आने पर लोगों को लगता है कि 'ऐसा होता थोड़े ही होगा।' किन्तु ये सारे स्वप्रकरणस्थ वाक्य हैं इसलिये इन्हें अभूत-अर्थवाद नहीं कहा जा सकता, अन्यथा सारे मोक्षशास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। प्रत्यगात्मा, जो विकार-रहित ब्रह्मस्वरूप है, उसकी निष्ठा रहने का नाम ही मोक्ष है।

कुछ आचार्यों ने यह अर्थ करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञात्वा तदनन्तरं विशते अर्थात् ज्ञान होने के बाद जब शरीर नहीं रहेगा तब इसमें प्रवेश करता है अर्थात् विदेह मोक्ष होने से ही मोक्ष को स्वीकार किया जाये। परन्तु भाष्यकार ने यह स्पष्ट किया है कि जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का फ़र्क दूसरे अज्ञानियों की दृष्टि में है। जब तक उन्हें उसका शरीर आदि दीखता है तब तक उसे जीवन्मुक्त कहते हैं, जब उनको शरीर दीखना बन्द हो जाता है तब उसे विदेह मुक्त कहते हैं। शरीर, मन आदि विषयों के संकल्प प्रारब्ध के कारण चलते हैं इसलिये उसको शास्त्रकारों ने अविद्या नहीं माना है। कुछ लोग उसे अविद्या का संस्कार, लेशाविद्या, अविद्यागंध, अविद्याछाया कहते हैं; हर हालत में वह अविद्या नहीं है। इसलिये मुक्तदृष्टि में जीवन् और विदेह में कोई फ़र्क नहीं है। वह अपनी निष्ठा में स्थित है। बुद्धि आदि में जो प्रतिबिम्बित आत्मा है उसको जीवन-प्रतीति होती है, और फिर उसकी प्रतीति होना बन्द हो जाता है। इससे, जो आत्मनिष्ठ है, उसको क्या फ़र्क पड़ना है! इसके सिवाय,

निष्ठा से अतिरिक्त यदि कुछ भी कर्त्तव्य माना जायेगा तो फिर निवृत्तिशास्त्र संगत नहीं होगा। जिस प्रकार से यदि तुमको कुरुक्षेत्र से पूर्व समुद्र की तरफ, बंगाल की खाड़ी की तरफ जाना है तो तुम पश्चिम समुद्र अरब सागर की तरफ जाओगे तो काम नहीं बनेगा क्योंकि दोनों रास्ते बिलकुल अलग हैं। जितना-जितना तुम बंगाल की खाड़ी के नज़दीक पहुँचोगे उतना-उतना अरब सागर से दूर होते जाओगे और जितना-जितना अरब सागर की तरफ जाओगे उतना-उतना बंगाल की खाड़ी से दूर होते जाओगे क्योंकि दोनों विरुद्ध दिशाओं में हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति संसार के बन्धन को बढ़ाने वाली है और निवृत्ति संसार के बंधन को छुड़ाने वाली है। इसलिये संसार के बन्धन को बढ़ाकर कोई चाहे कि संसार के बन्धन से छूट जायेंगे, तो यह कभी नहीं होगा। यह साधक को हमेशा याद रखना चाहिये क्योंकि वर्तमान में प्रायः जो प्रवृत्ति धर्म वाले हैं वे प्रधान होकर कहते हैं कि निवृत्ति धर्म वालों को भी संसार में कुछ करना चाहिये। किंतु यदि संसार के लिये कुछ करना चाहिये तो फिर संसार की वृद्धि ही हो सकती है, संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती। इस बात को भगवान् भाष्यकार ने बार-बार अत्यंत स्पष्ट कहा है। अतः ब्रह्मनिष्ठ का प्रत्यगात्मा के विषय में प्रत्ययसंतान-करण में ही अभिनिवेश होना ही ज्ञाननिष्ठा है। प्रारब्ध के कारण अहंकारात्मिका बुद्धिवृत्ति में किसी परिवर्तन को देखने पर भी उस परिवर्तन से असंबद्ध ही रहना ज्ञाननिष्ठा है। यह दूसरी बात है कि शरीर की निवृत्ति के बाद बुद्धि चूँकि शरीर के बिना वृत्ति बनायेगी नहीं इसलिये वृत्ति को देखने का प्रसंग ही नहीं रहेगा। इतना ही फ़र्क जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति में है, और कोई फ़र्क नहीं है। अभिनिवेशपूर्वक इस प्रत्यय का निरंतर पालन करना है। इसलिये और कुछ करने के साथ इसका संबंध बनता ही नहीं है। दोनों में बड़ा फ़र्क यह है कि ब्रह्मानन्द मेरु पर्वत की तरह महान् है और प्रकृति से जो मिलेगा वह सरसों के दाने से भी छोटा है! सारी प्रवृत्ति का अंत भी परिच्छिन्न और नाशवान् चीज़ के लिये ही सम्भव है। इसलिये यह संगत नहीं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति में विकल्प हो। वेद प्रवृत्ति का फल बंधन और निवृत्ति का फल मोक्ष बताता है। विभिन्न फलों के उपायों में विकल्प संभव नहीं कि चाहे एक करें या दूसरा। बंधन फल चाहिये तो प्रवृत्ति ही करनी पड़ेगी, मोक्ष फल चाहिये तो निवृत्ति ही करनी पड़ेगी। दोनों में पर्वत और सर्षप (सरसों के दाने) की तरह भेद है। अतः जो समर्थ हैं उनके लिये सर्वकर्मसंन्यास के द्वारा ज्ञान-निष्ठा ही कर्तव्य है यही भगवान् यहाँ स्पष्ट रूप से बता रहे हैं। यहाँ जो विशुद्धया बुद्ध्या कहा था वह प्रसंग ज्ञाननिष्ठा के साथ खत्म हुआ। अब शास्त्र का समापन करना है इसलिये सारी चीज़ें फिर से संक्षेप से कहेंगे।।५५।।

गीता शास्त्र का उपसंहार कर रहे हैं। ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूपी जो फल है, उसका साधन भगवान् की अर्चना है। परमेश्वर की अभ्यर्चनारूप जो साधन है उसकी सिद्धि मिलने पर ही इस ज्ञाननिष्ठा की योग्यता भी आती है और ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति भी होती है। अब उस ईश्वर की भक्ति का निरूपण करते हैं जिसके द्वारा यह ज्ञाननिष्ठा-योग्यता प्राप्त होगी –

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

एकमात्र मुझ ईश्वर का ही सहारा रखने वाला साधक हमेशा सभी कर्म करते हुए भी मेरी कृपा से अनन्त सनातन ब्रह्मरूप पा जाता है।

शास्त्र के उपसंहार का अर्थ है शास्त्र में कही हुई सब बातों का संग्रह करके कहना। शास्त्र में बताये गये चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य के नियमों के अनुसार परमेश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने पर परमेश्वर की अर्चना होती है। एक अर्चना होती है केवल किसी प्रतिमा, मूर्ति इत्यादि के अन्दर पंचोपचार दशोपचार आदि द्वारा, और दूसरी होती है अभि-अर्चना अर्थात् जिसमें सारा जीवन ही अर्चना बन जाता है। शास्त्र के द्वारा वर्णाश्रम के जो धर्म बताये उन सबको जब परमेश्वर की अर्चना के लिये, मेरी आज्ञापालन के लिये करता है, न फल की इच्छा और न कर्म में आसक्ति रखता है, तब परमेश्वर की प्रसन्नता को प्राप्त किया जाता है। यह राजमार्ग हुआ। सत्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् ने बताया था कि जो श्रद्धावाले तो हैं परन्तु उनको शास्त्र का ज्ञान नहीं है, वे किसी भी आदमी को देखकर उसमें श्रद्धा होने के कारण वह जैसा आचरण करता है या जैसा आचरण बताता है वैसा कर लेते हैं। उनमें कुछ लोग सात्त्विक हैं और कुछ राजस व तामस भी होते हैं। भगवान् ने उन सबका विवेचन किया कि सात्त्विक की किस-किस में निष्ठा होगी और राजस व तामस की किसमें निष्ठा होती है। सात्त्विक श्रद्धा से तो करीब-करीब वही होगा जो वर्णाश्रम धर्म वाले करते हैं क्योंकि सात्त्विकों की धर्मानुसार आचरण वालों में ही श्रद्धा होगी और तदनुरूप ही वे करेंगे। जो राजस और तामस श्रद्धा वाले हैं वे राजस और तामस प्रकार के आचरणों को करेंगे। वे सात्त्विक की दृष्टि में ठीक भी हो सकते हैं गलत भी हो सकते हैं। इसलिये भगवान् ने यहाँ 'सर्वकर्माणि' कहा कि कर्म सात्त्विक, राजस, तामस जो भी हों अथवा शास्त्रीय कर्म हों।

भगवान् ने अपि कहकर स्पष्ट कर दिया, कि सभी कर्मों को करते हुए भी, अर्थात् शास्त्र द्वारा प्रतिषिद्ध कर्म करने पर भी भगवद्व्यपाश्रय परम पद दिला देता है। राजस और तामस कर्म शास्त्र द्वारा प्रतिषिद्ध होते हैं उनको करते हुए भी यदि भगवान् पर पूर्णतः आश्रित रहता है तो उनकी कृपा पा ही जाता है। इसलिये भाष्यकार ने कहा 'सर्वकर्माणि प्रतिषिद्धानि अपि' प्रतिषिद्ध भी; जब किसी को देखकर ही करना है तब उसकी ग़लतियों का भी अनुकरण सम्भव ही है। यदि ऐसी कोई ग़लती हो भी जाये, पर भगवद्व्यपाश्रय बना रहे; तो भगवान् कृपा कर ही देते हैं यह अर्थ है। यहाँ यह अर्थ नहीं ले लेना कि मनमाना आचरण करना है! भगवान् पहले ही कह आये हैं कि जितने भी प्राणी हैं वे या सात्त्विक या राजस या तामस हैं। श्रद्धा वाला और जिस पर श्रद्धा करता है, दोनों सात्त्विक आदि में से ही कोई होंगे। जिसमें श्रद्धा है वह राजस तामस हुआ तो उसका कोई कर्म निषिद्ध

भी होगा और उसपर श्रद्धा रखने वाला वह कर्म भी कर लेगा। किंतु भगवान् करुणालय हैं, आप लोग रोज़ प्रार्थना करते हैं 'करुणावतारं' परमेश्वर करुणा के अवतार हैं। अतः जिसमें थोड़ी भी ठीक प्रवृत्ति है उसकी सारी ग़लत प्रवृत्तियों को नज़र अंदाज़ कर देते हैं और जो उसका ठीक कर्म है उसे ग्रहण कर लेते हैं। उसका ठीक कर्म है कर्म में संग का त्याग और फल के प्रति वैराग्य। कर्म तो उसका प्रतिषिद्ध भी हो सकता है परन्तु चूँकि उस कर्म में संग का और फल का त्याग है, बस इसको लेकर वे करुणा करके उसका उद्धार कर देते हैं। इसलिये कहा 'सर्वकर्माणि अपि'।

परंतु कैसे करें? 'मद्व्यपाश्रयः कुर्वाणः' मेरा व्यपाश्रय करके, मेरा आश्रयण करके अर्थात् मैं ईश्वर ही उसका एकमात्र आश्रय रहूँ। जो अपने सब कर्म मुझ ईश्वर को ही अर्पण करता है उसी पर परमेश्वर प्रसन्न होते हैं। जो कुछ भी अनुष्ठान करता है, कर्म करता है, वह संग और फल की दृष्टि से रहित होकर ही। ऐसा जो वह त्याग करता है उससे प्रसन्न हुआ मैं उसके कर्म को नहीं देखता। जो कर्मफल चाहता है उसको तो परमेश्वर कर्मफल देता है, स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक आदि चाहता है तो उसे वह दे देता है, वहाँ तो परमेश्वर का प्रसाद केवल यह है कि जो कर्म किया उसका फल दिया। लेकिन साधक ने अपने लिये फल न चाहकर फल ईश्वर को अर्पण किया है इसलिये मुझ ईश्वर की प्रसन्नता हो जाती है। परमेश्वर की प्रसन्नता हुई तो उसका अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। कोई भी कर्म अंतःकरण को शुद्ध नहीं करता! कर्म तो उसमें राग-द्वेष के संस्कार ही बढ़ायेगा। जिस फल को तुम चाहते हो वह मिलने पर उसमें राग और बढ़ेगा तथा उससे विरुद्ध चीज़ में द्वेष भी और बढ़ेगा। इसीलिये ये कर्म करने वाले इस संसार से पार नहीं जा पाते, चाहे जितने उत्तम से उत्तम लोकों को भले ही चले जायें। परन्तु जब परमेश्वर की प्रसन्नता होती है तब अंतःकरण के दोष निवृत्त हो जाते हैं और अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। यही ईश्वर की प्रसन्नता है। अंतःकरण का शुद्ध हो जाना ही परमेश्वर की प्रसन्नता है। अतः भगवान् ने कहा - जिसने सब कुछ छोड़कर मेरा सहारा लिया, मैं भी उसके कर्म को न देखकर उसके अंतःकरण को शांत कर देता हूँ और शान्त अंतःकरण में ही श्रवण-मनन अपना फल देते हैं। इसलिये वह 'अव्ययं शाश्वतं पदम् अवाप्नोति' जिसमें कोई घटा-बढी न हो ऐसा जो अव्यय सारे संसार का अधिष्ठान, उसे पा लेता है। घटा-बढ़ी उपाधियों की ही संभव है और उपाधियाँ सब मिथ्या अध्यारोपित हैं, उनका आत्मतत्त्व में स्पर्श ही नहीं है। जिन्हें लोग संसार में सबसे बड़ी उन्नति और अवनति समझते हैं, दोनों में आत्मतत्त्व एक जैसा है क्योंकि वह अव्यय है। और वह शाश्वत है, नित्य है, हमेशा ही एकरस है, उस पद की प्राप्ति होने पर वह कभी दूर नहीं होता। संशय और विपर्यय से रहित दृढ ज्ञान ही अज्ञान की निवृत्ति है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नित्य है क्योंकि अज्ञान अनादि है अर्थात् अज्ञान का कारण कुछ नहीं है। अगर अज्ञान का कारण होता तब तो कारण के रहते हुए अज्ञान फिर पैदा हो जाता जैसा प्रत्यभिज्ञावादियों का मानना है कि

अज्ञान दूर होने के बाद फिर पैदा हो जाता है। यदि ऐसा होता तो मोक्ष अनित्य हो जाता। परन्तु ऐसा है नहीं। अज्ञान की निवृत्ति शाश्वत है। अज्ञान अनादि होने से पैदा नहीं हो सकता और अज्ञान आये बिना संसार का चक्र रह नहीं सकता। जो मेरे ऊपर सब कुछ छोड़ देता है वह ऐसे शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है। अतः भगवान् का तात्पर्य है कि मेरी प्रसन्नता केवल अंतःकरण की शुद्धि नहीं देती, अंतःकरण की शुद्धि के साथ गुरु की उपलब्धि, श्रवण,मनन आदि सब करा देती है और अव्यय पद को प्राप्त करा देती है।।५६।।

चूँकि मेरी कृपा ऐसी है इसलिये

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

(अर्जुन!) मेरे ही परायण होकर, विवेक द्वारा सारे कर्म मुझमें छोड़कर, मुझमें ही बुद्धि समाहित कर सर्वदा मुझमें चित्त लगा!

'चेतसा' अर्थात् विवेक बुद्धि से सब कुछ परमेश्वर पर छोड़ना है। अन्य सारे सहारे हेय हैं। 'मैं यह करके मोक्ष प्राप्त करूँगा' यह अभिमान छोड़ना ही साधन है। इस चेतना या विवेक से दृष्ट-अदृष्ट, विहित-प्रतिषिद्ध सारे कर्मों को परमेश्वर पर छोड़ना है। कर्म चाहे अच्छा हुआ है चाहे बुरा, चाहे संसार के किसी उद्देश्य से कर्म किया गया है, चाहे परलोक के उद्देश्य से कर्म किया गया है, उन सबका फल अपने लिये न चाहे, तभी सारे कर्म मुझ ईश्वर के अर्पण होंगे। भगवान् पहले भी (६.२७) कह आये हैं कि जो कुछ भी तुम करते हो, जो कुछ भी तुम खाते हो, अर्थात् जो कुछ भी तुम्हारा भोग होता है, सब में निश्चय और भाव रखो कि 'मैं अपने लिये नहीं कर या भोग रहा हूँ, परमेश्वर के लिये ही कर व भोग रहा हूँ।' सुन्दर रूप किसने देखा? आँख ने देखा। आँख ने देख कर क्या किया? मन को समर्पित किया। मन को समर्पित करने से क्या हुआ? अहंकारात्मिका वृत्ति में सुख उत्पन्न हुआ। अब यदि तुम अहंकारात्मिका वृत्ति के साथ हो तब तो उस सुख को पकड़कर रखोगे कि 'मुझे सुख हुआ', और यदि तुम जानते हो कि 'अहंकार वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, शुद्ध ईश्वर ही मेरा स्वरूप है', तब तुम अहं के लिये उसे पकड़ कर नहीं रखते वरन् उसे ही परमेश्वर के अर्पण कर देते हो कि साक्षी ने जान लिया; सुखाकार वृत्ति बनी इसमें पर्यवसित होना है। 'मैंने सुन्दर रूप देखा, मैंने मज़ा लिया' यहाँ तक तो अविद्या का खेल है। लेकिन यह सारा देखना उस साक्षी के लिये ही है, यह ईश्वरार्पण कर देना है।

एक बार भगवान् ने किसी भक्त से पूछ लिया कि 'तुमको संसार की चीज़ों में क्या मज़ा आता है? हमें संसारी सुख का कोई अनुभव नहीं है। अतः तुम ही बताओ।' वैसे तो परमेश्वर सर्वज्ञ हैं लेकिन भक्त के परीक्षण के लिये ऐसा पूछा। भक्त ने जवाब दिया – 'आप मुझ से मज़ाक कर रहे हैं! मैं तो एक चम्मच हूँ। उस चम्मच के द्वारा आप ही हर चीज़

का भोग लगा रहे हैं। चम्मच को तो कभी पता नहीं लगता कि खीर मालपुआ कैसा बना! खाने वाले को ही पता लगता है। इसी प्रकार से मेरे द्वारा विषयों के प्रकाशक होने से आप ही तो जानते हैं। मैं कहाँ जानने वाला हूँ!' इस स्थिति तक साधक पहुँचे तब भगवत्प्रसाद मिलता है।

सारी इन्द्रियों को ज्ञानरूप करने वाला परमेश्वर है। सारी इन्द्रियाँ मिलकर उसे जान नहीं सकती। अतः भगवान् ने कहा कि मुझ ईश्वर के अन्दर सब चीज़ों का सन्न्यास कर दो। 'चेतसा' कहकर करने वाले को भी बता रहे हैं कि यह विवेक बुद्धि से करना है। यह केवल विवेक बुद्धि है, बाहर में किया जाये ऐसा कुछ नहीं है। बाहर से तो साधक सारे कर्म करता हुआ दीखेगा। यह तो उसकी विवेक बुद्धि ही जानती है कि 'मैं इसको अपने लिये नहीं कर रहा हूँ, परमेश्वर के लिये कर रहा हूँ।' जो परमेश्वर के लिये ही कर रहा है उसी के लिये भगवान् ने कहा कि 'जिसने इस सृष्टि को प्रारम्भ किया, सृष्टि को जो धारण करके रहता है, वही एकमात्र मेरा सहारा है' इस प्रकार वह मेरे ही परायण रहता है। इसके सिवाय और किसी दूसरी चीज़ का कभी कोई सहारा नहीं लेता। यह जो बुद्धि के द्वारा सारे कर्मों का परमेश्वर में संन्यासरूप परमेश्वर की ही परायणता है, यही बुद्धियोग है। इसमें चित्त समाहित हो जाता है, सारे विक्षेपों की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ आश्रय न कहकर 'उपाश्रय' कहा। उपाश्रय का अर्थ सहारा तो है ही लेकिन कोशों में उपाश्रय का दूसरा अर्थ 'घर' भी है। इसलिये जैनी साधु जहाँ रहते हैं उसे उपासरा कहते हैं। 'उपाश्रय' का अपभ्रंश ही उपासरा है। उपासना का स्थान होने से ही उपाश्रय कहते है। अपने शरीर को वह केवल ऐसा स्थान समझता है जिसके अन्दर यह उपासना करनी है अर्थात् उसकी अनन्यशरण हो जाना है जिसने इस संसार को चलाया है, जो इसको धारण करने वाला है। अनन्यशरण होकर 'मच्चित्तः' केवल मुझ परमेश्वर के बारे में ही निश्चय करना है। परमात्मा का रूप सच्चिदानन्द है, यह भगवान् पहले ही कह आये हैं। अतः प्रत्येक ज्ञान में यह निश्चय करना है कि परमात्मा का हिस्सा कौन-सा है।

बड़ी प्रसिद्ध कथा है कि सीता जी ने एक बार हनुमान जी को एक नौलखा हार दे दिया। हनुमान जी ने हार के एक-एक नग को तोड़कर देखा और उसे फैंकते गये। सीता जी ने देखा तो सोचा कि 'इसको इतना कीमती हार देकर गलती की, बन्दर है, क्या जाने!' उन्होंने भगवान् से कहा कि 'आप तो कहते थे यह समझदार है, लेकिन यह तो महामूर्ख है।' भगवान् ने कहा 'उससे पूछेंगे। वह खुद ही बतायेगा कि उसने ऐसा क्यों किया।' पूछा तो हनुमान् ने कहा 'मैंने तोड़-तोड़ कर देखा कि इसके अन्दर राम हैं या नहीं। देखा कि उसमें राम नहीं हैं तो सब व्यर्थ है, मेरे किस काम का?' सीताजी तब समझ गई।

इसी प्रकार जो-जो प्रतीति तुम्हारे सामने आती है, जो-जो अनुभव होता है उसके अन्दर झांक कर देखो कि इसमें सच्चिदानन्द है या नहीं। सभी चीज़ों का अधिष्ठान तो सच्चिदानन्द ही है। अभी तो हम लोग यह निश्चय करते हैं कि यह असली घी है या नकली

घी है। जो बता दे कि यह असली घी है, हम समझते हैं कि वह बड़ा बुद्धिमान् है। भगवान् कहते हैं कि यह निश्चय करके क्या होगा! विचार तो यह करो कि घी है या नहीं है? घी है, इसलिये घी 'सत्' से पैदा हुआ है। घी का ज्ञान भी होता है। घी आनन्दस्वरूप है या नहीं? आनन्दस्वरूप है। सच्चिदानन्द इसमें है, इसका निश्चय करना है अर्थात् पौनः पुन्येन अधिष्ठान को सामने लाना है। ऐसा करते हैं तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि फिर व्यवहार कैसे चलेगा? थोड़ी देर, घण्टा-दो घण्टा तो विचार कर लेंगे, लेकिन सांसारिक व्यवहार में तो नाम-रूप को महत्त्व देना पड़ेगा या नहीं? भगवान् हमारे ऊपर रहम नहीं करते! कहते हैं कि 'मच्चित्तः सततं भव' हमेशा केवल इसी चीज़ का निश्चय करो। तुम मत्परायण हो तो तुम्हें दूसरे व्यवहारों से क्या मतलब? चाहे जितना नुक्सान या फ़ायदा हो जाये, सतत मच्चित्त ही रहो। यदि परमार्थ मार्ग की अंतिम सीढ़ी चढ़ना चाहते हो तो हमेशा सभी चीज़ों के अन्दर अधिष्ठानरूप से उस परमात्मा का दर्शन करना पड़ेगा।।५७।।

उक्त साधनों का प्रभाव बताते हैं -

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।।५८।।

मुझमें ही चित्त लगा चुकने पर मेरी कृपा से सारे संकट पार कर लेगा। इससे विपरीत यदि अहंकार के कारण मेरी बात नहीं मानेगा तो तू विनष्ट हो जायेगा।

इस प्रकार से जब तुम मच्चित्त होकर केवल मुझ अधिष्ठान का ही निर्णय करोगे, उसी में लगे रहोगे अर्थात् तुम्हारा सतत अनुसंधान है कि 'सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है', तब इस संसाररूपी दुर्ग में लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक जितनी भी कठिनाईयाँ हैं उन सबका तुम अतिक्रमण कर जाओगे। दुर्ग किले को कहते हैं। यदि विचार करके देखो तो यह संसार भी बड़ा भारी किला है। जैसे किले के अन्दर राजा रहता है, सारा किला राजा के लिये है। इसी प्रकार से यह जो सारा संसार है इसका एकमात्र प्रयोजन यही है कि इसके राजा परमेश्वर में तुम स्थिर हो जाओ। सांसारिक भोगों के लिये यह संसार नहीं बनाया गया है, यह तो परमेश्वर के ज्ञान के लिये बनाया गया है। उपनिषद् कहती है 'आरामम् अस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन' उसके इस सुन्दर बगीचे को सब लोग देखते हैं पर उसे कोई नहीं देखता। स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक, से लेकर रसातल तक सब चीज़ों को देखते हैं। परन्तु यह बगीचा जिसका है उसकी तरफ कोई देखता ही नहीं! यह दुर्ग तो इस लिये था कि परमेश्वर की अनन्तता तुम्हारे सामने प्रकट हो जाये। परमेश्वर अनन्त है। कितना अनन्त है? इसका तो पता इसी से लग जाता है कि कम से कम डेढ सौ साल से रजिस्ट्री इत्यादि कामों के लिये लोगों के अँगूठों के निशान लिये जाते हैं और आज तक कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं मिले जिनके अँगूठों की छाप एक जैसी हो! विचार करो कि अरबों लोगों में सैकड़ों वर्षों के अन्दर एक व्यक्ति की अंगूठे की जो छाप बन गई वह दुबारा नहीं बनी, बाकी अंगों की तो बात क्या है! एक बार हम अहमदाबाद

किसी टैक्सटाईल (कपड़ों की) मिल में गये थे। वहाँ एक आदमी से परिचय हुआ जो केवल कपड़ों के डिज़ाईन ही बनाता था। यह बात आज से चालीस साल पहले की होगी, तब उसे अपने काम के लिये चालिस हज़ार रुपये मासिक वेतन मिलता था! मिल में सबसे ज़्यादा तनख्वाह उसी की थी। वह हर बार जब नया डिज़ाईन बनाता, तब उस डिज़ाइन के हज़ारों कपड़े निकलते थे। जैसे वहाँ डिज़ाइन की अपेक्षा डिज़ाइन के बनाने वाले को ज़्यादा महत्त्व देते हैं इसी प्रकार मकानों के डिज़ाईन (या नक्शे) बनाने वाले आर्किटैक्ट को भी सबसे ज़्यादा वेतन इसलिये मिलता है कि वह मकानों की बढ़िया डिज़ाईन बनाता है। फिर भी दस-बीस डिज़ाईन तो एक प्रकार के बना ही देता है। परन्तु यहाँ परमेश्वर एक डिज़ाइन के दो अँगूठे भी नहीं बनाता! तभी पता लगता है कि परमात्मा कैसा अनंत है। यह जो परमेश्वर की अनन्तता है, इसे हम समझ सकें इसके लिये यह संसार बनाया। परन्तु हम इसी संसार मे फँस गये, परमेश्वर की अनन्तता अथवा ब्रह्मरूपता को जानने में नहीं लग सके। इस संसाररूपी दुर्ग में दुर्गाधिपति राजा बैठा हुआ है, उसको नहीं जानने से इस दुर्ग की एक-एक चीज़ ही फँसा देती है। किसी को स्वाद ही फँसा देता है, बाकी चीज़ें तो छोड़ देता है, स्वाद नहीं छोड़ पाता। भगवान् कहते हैं कि मेरे अनुग्रह से ही तू इन सब दुर्गों को पार कर जायेगा, इन सबका अतिक्रमण कर जायेगा। इसमें इहलोक में आने वाले सुख-दुःख भी हैं और परलोक में आने वाले सुख-दुःख भी हैं।

जो शंका हुई थी कि 'फिर व्यवहार कैसे चलेगा?' उस पर भगवान् कहते हैं कि मेरे अनुग्रह से तू सभी को तर जायेगा। तू चाहे जितना प्रयास कर, इन अनन्त दुर्गों को तू पार नहीं कर सकता। इसका मालिक मैं मायाधिपति हूँ। साक्षी रूपी अधिष्ठान में यह माया है, इसलिये साक्षीरूप बनकर तू इस माया को हटा सकता है। जब तक तुम जीव रहोगे तब तक यह माया नहीं हटेगी। जब अपने इस अधिष्ठान-रूप में रहोगे तभी यह माया हटेगी। इसलिये मेरे (मुझ अधिष्ठानरूप के) प्रसाद से ही तू इसका अतिक्रमण कर जायेगा। इहलोक की कठिनाईयों से भी पार हो जायेगा और अन्य भी जितने विहित-प्रतिषिद्ध कर्म हैं, जो तुम्हारे इस मार्ग में रुकावट डाल सकते हैं, उन सबसे भी तर जायेगा। यह सुलभ मार्ग बता दिया कि मेरी कृपा से ही शाश्वत अव्यय पद की प्राप्ति होगी। मैं ही इसमें आने वाले सारे विघ्नों को दूर करूँगा, क्योंकि विघ्न तो अनंत हैं तुम कहाँ तक पार करोगे?

परन्तु यदि, मैंने जो यह बात कही है, इसे अहंकारवश न सुनकर सोचो कि 'मैं साक्षीरूप नहीं होना चाहता, मुझे अहंकार में ही सब कुछ मिलना चाहिये। मैंने भी शास्त्रों का खूब अध्ययन किया है, मुझे ठीक-ठीक पता है कि किसको मारना पाप है और किसकी हत्या नहीं करनी चाहिये। सब कुछ छोड़कर भजन करना ही ठीक है।' तो तुम्हारा विनाश ही होगा! कई लोग अपनी समझ को शास्त्र से ऊँचा मानते हैं। जैसे गाँधी जी कहा करते थे कि 'शास्त्र की बात को भी मैं अहिंसा की कसौटी पर कस कर देखता हूँ। यदि अहिंसा की कसौटी पर वह बात ठीक है तो मैं मानता हूँ नहीं तो नहीं मानता।' यही अहंकार है।

ऐसे अहंकार के बल पर अर्जुन यदि साक्षात् भगवान् के निर्देशों कि उपेक्षाकर मनमाना आचरण करेगा, तो नष्ट होगा ही। 'न श्रोष्यसि' नहीं सुनेगा अर्थात् नहीं मानेगा तो विनाश को प्राप्त होगा, किसी भी प्रकार की उन्नति को प्राप्त नहीं करेगा। यह विषय दुर्गम है, अपनी बुद्धि लगाकर पार करना चाहेगा तो नहीं कर सकता, परमेश्वर ही कृपा करके पार कर सकते हैं। किसी ने तो कहा है कि परमेश्वर शाप दे रहे हैं कि 'यदि तू नहीं मानेगा तो नष्ट ही होगा'। वास्तव में भगवान् अर्जुन को कल्याण के मार्ग पर चलने को प्रेरित करने के लिये डर दिखा रहे हैं।।५८।।

यह सुनकर अर्जुन के मन में शंका हो सकती है, जो आजकल सब लोगों की शंका है, कि हर-एक व्यक्ति स्वतंत्र है। अपने भले-बुरे का निर्णय हम खुद करेंगे। शास्त्र अच्छे-बुरे का निर्णय करने वाला कौन होता है? शास्त्र को पढ़ कर हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं। इसलिये हम जो ठीक मानेंगे वही करेंगे। आजकल तो यही नारा है कि व्यक्ति स्वतंत्र है, उसको कोई परतंत्र न बनाये। तब भगवान् कहते हैं –

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

यदि अहंकार के सहारे 'नहीं लडूँगा' ऐसा सोच रहा है तो तेरा यह निश्चय वस्तुस्थिति के अनुरूप नहीं है (क्यों कि तुम्हारी क्षत्रियोचित) प्रकृति तुम्हें युद्ध में प्रेरित कर देगी।

भगवान् समझाते हैं – तुम अंतःकरण से लेकर शरीर तक अपने अहंकार को रखकर ही तो कह रहे हो कि 'मैं पंडित हूँ'। सुषुप्ति में जब अहंकार नहीं रहता तब 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' क्या यहा संकल्प रहता है? नहीं रहता। जिसको तुम अपनी स्वतंत्रता समझ रहे हो वह 'स्व' कौन है? सुषुप्ति में बिना अहंकार के जो चेतन है वह स्वतंत्र है। जाग्रत्-स्वप्न के अन्दर तो तुम अहंकार का सहारा लेकर अपने को स्वतंत्र कहते हो पर यह तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं है। यह तो अहं की गुलामी है। और अहं बुद्धिवृत्ति से लेकर शरीर पर्यन्त सबको विषय कर लेता है। उसी का सहारा लेकर हम सब बातें करते हैं। ये दो विकल्प हैं, कि तुम या तो अहंकार का आश्रय लो या साक्षी का आश्रय लो। सुषुप्ति में जो रहता है वह मेरा स्वरूप है। जाग्रत् स्वप्न में जो आता है वह तो प्रकृति से पैदा हुआ है। वह तब पैदा होता है जब प्रकृति के तीनों गुण काम करने लग गये। सुषुप्ति में तो ब्राह्मण-क्षत्रियादि की संस्काररूप प्रकृति है नहीं और प्रकृति के गुण भी कार्यकारी नहीं हैं। एकमात्र वहाँ अज्ञान है। 'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्' अपने किये हुए कर्मों का फल भोगना है इसलिये जाग्रत् स्वप्न में आते हो। जब अहंकार आ गया तब तुम कर्मभोग वाले हिस्से में आ गये। कर्म भोग वाला हिस्सा तो माया के प्रवाह के अंतःपाती है। चाहे स्वप्न हो, चाहे जाग्रत् हो, अहंकार तो रहेगा क्योंकि तब तुम प्रकृति के प्रवाह में आ गये। प्रकृति के प्रवाह में आकर कह रहे हो कि 'मैं नहीं लडूँगा'। अहंकार का आश्रय लेकर ही ऐसा कहोगे क्योंकि जाग्रत्

स्वप्न में ही तो कहोगे। यह जो तुम्हारा निश्चय है, यह सारा अहंकार को आश्रित करके है। यदि साक्षीस्वरूप को अपना आश्रय बना लो तब तो जो मैं परमेश्वर कहता हूँ वह करो। प्रकृति में पैदा हुए अहंकार का आश्रय लेकर कहोगे कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो प्रकृति ऐसी है जो तुम्हारे शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त सारे विकार उत्पन्न करती है, वही फिर तुम्हारे ऊपर शासन करेगी, इसलिये फिर भी तुम युद्ध करोगे। लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे, तुम्हें गालियाँ देंगे। मेघनाद निश्चय करके बैठा कि 'मैं इस यज्ञ को पूरा करके शक्ति प्राप्त करूँगा और राम को मारूँगा'। बन्दरों को पता लगा। उन्हें और कुछ नहीं सूझा तो उस पर पेशाब करने लगे! ब्राह्मण का लड़का था। इस प्रकार से अपमान होने लगा तो उससे सहन नहीं हुआ और उस यज्ञ को छोड़कर उनसे लड़ने लगा। बस, उनका काम बन गया। इसी प्रकार तू निश्चय कर रहा है कि 'मैं भीख माँग कर खाऊँगा'। लेकिन प्रकृति तो छोड़ेगी नहीं! पहले भी कह आये हैं कि 'अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः।' लोग तरह-तरह से तुम्हारी निंदा करेंगे, तरह-तरह से तुम्हारे ऊपर आक्षेप करेंगे। फिर तुम से नहीं रहा जायेगा। ज़्यादा दुःख बर्दाश्त नहीं होगा तो लड़ोगे ही। मेरे कहने से लड़ोगे तो, और प्रकृति पर छोड़ोगे तो, लड़ोगे ही, बिना लड़े उपाय नहीं है। पहले भी समझाया था, 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्,' तुम निमित्त ही बन सकते हो। सारे संसार का नियमन सीधे परमेश्वर के अधीन है या प्रकृति के द्वारा अधीन है, तीसरा विकल्प नहीं है। जिसको तुम स्वतंत्रता समझते हो वह मिथ्या निश्चय है।

यह प्रकृति तुम्हें कैसे नियुक्त करेगी? जो भी कर्म तुम करोगे उसके संस्कार बनेंगे। पुण्य-पापरूप कर्मफल और संस्कार, दोनों अतीन्द्रिय हैं। न संस्कारों को और न फल को इन्द्रियों से जान सकते हैं। चूँकि ये दोनों अतीन्द्रिय हैं इसलिये जीव उन्हें चलानेवाला हो नहीं सकता और संस्कार व फल दोनों जड होने से खुद चल नहीं सकते। फिर वे किसके अधिष्ठातृत्व में काम करेंगे? जो व्यापक चेतन है उसीके अधिष्ठातृत्व में काम करेंगे। प्रकृति कैसे नियुक्त करेगी? उन संस्कारों को जगा कर। परमेश्वर जानता है कि कौन-से संस्कारों को आगे जगाना है। जगेगा तो वही संस्कार जो प्रकृति में है। परन्तु परमेश्वर इसको जगाने वाला है। यह समझकर यदि परमेश्वर की शरण लेते हो तब तो वह तुम्हें इससे पार कर देता है, और यदि अहंकार का आश्रय लेकर अपने को प्रकृति के अधीन करते हो तब भी संस्कार तो वे ही जगेंगे, इसलिये करोगे भी वही, लेकिन अपने को स्वतंत्र समझकर करोगे, इसलिये पुनः जन्म-मरण के चक्र में चलते रहोगे। 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' कह कर भगवान् ने स्पष्ट कर दिया कि जिसे आजकल बड़ी भारी स्वतंत्रता कहते हैं, वह तो अहंकार की परतंत्रता है! और अहंकार प्रकृति के प्रवाह में है इसलिये प्रकृति की अधीनता को ही स्वतंत्रता कहते हैं। इसलिये यदि प्रकृति की अधीनता को छोड़कर परमेश्वर की अधीनता स्वीकार करोगे तो संसार चक्र से छूट जाओगे।।५६।।

प्रकृति की अधीनता क्यों है? इसको बताते हुए कहते हैं –

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुंम् नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

कौन्तेय! स्वभावसे उत्पन्न अपने कर्म द्वारा नितरां बँधे हुए तुम मोह से जो नहीं करना चाह रहे, परवश होकर भी वही करोगे।

पूर्वजन्म में और आजतक जो कुछ भी हमने किया है, उसमें से इस जन्म में जिसको कार्यकारी होना है वही स्वभाव कहा जाता है। इसी को कहीं प्रकृति भी कहा है। इसलिये भगवान् ने पहले कहा था कि सभी लोग अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप चलते हैं। उनके ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण न मेरे द्वारा हो सकता है, न और किसी के द्वारा हो सकता है। प्रकृति का प्रवाह, माया का प्रवाह मेरे नियम के अंतर्गत ही चलता है और वे नियम ऋत होने से कभी बदलते नहीं। प्रकृति के अधीन रह कर इससे बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं है। जिन कर्मों को इस जन्म में फलीभूत होना है वे कर्म फलीभूत होंगे ही, उनको बदलने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिये अन्यत्र शास्त्रों में बताया है कि परमात्मा धर्मरूप है। 'तस्मै धर्मात्मने नमः' महाभारत के अन्दर ही भगवान् ने यह बात भीष्म से कहलवाई है कि धर्म परमेश्वर का रूप है। किसी चीज़ का अपना रूप बदल नहीं सकता। अग्नि ठण्डी क्यों नहीं होती? जैसे यह प्रश्न व्यर्थ है, वैसे ही परमेश्वर, अपने बनाये हुए नियमों को बदलता क्यों नहीं? – यह व्यर्थ है।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं – तू चूँकि वर्णाश्रम-मर्यादा में है, इसलिये तेरा स्वभाव 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धेचाप्यपलायनं' है। युद्ध से भागना तेरे लिये तेरे स्वभाव के कारण सम्भव ही नहीं है। ठीक जिस प्रकार परमेश्वर अपनी माया के नियमों से इधर-उधर नहीं हो सकता, उसी प्रकार से अहंकार जो अंतःकरण का विकार है, वह अंतःकरण से कभी अलग नहीं हो सकता। अहंकार तो हमेशा अंतःकरण के साथ रहेगा। और इसलिये अंतःकरण जिस तरफ से चलता है उस तरफ से ही उसे चलायेगा। अगर प्रकृति के प्रवाह में ही सब कुछ होना है तो जीव की स्वतंत्रता कहाँ है? यह प्रश्न इसलिये नहीं बनता क्योंकि जीव का मतलब ही है देहद्वय के साथ वाला आत्मतत्त्व। वह आत्मतत्त्व स्वतंत्र है अर्थात् स्वयं उसके अन्तःकरण के अतिरिक्त कोई दूसरा नियामक नहीं है। अन्य के अधीन नहीं होना ही स्वतंत्रता का अर्थ होता है। अविद्यादशा में अंतःकरण और उसकी प्रकृति को हम मैं ही माने रहते हैं अतः प्रकृतिवशता भी स्वतंत्रता ही समझते है। अंतःकरण-विशिष्ट चेतन अविद्यावश तुम्हारा स्वरूप है और वह किसी दूसरे के अधीन है नहीं इसलिये 'स्वेन कर्मणा' ही निबद्ध कहा है। अंतःकरण-विशिष्ट चेतन अनादि है इसलिये अन्तःकरण का प्रवाह भी अनादि है। जैसे सुषुप्ति के अन्दर अन्तःकरण लीन हो जाता है ऐसे ही महाप्रलय में भी लीन हो जाता है। जैसे यह कर्मान्तर-भोग के लिये जाग्रत्-स्वप्न में आता है वैसे ही जन्मान्तर भोग के

लिये प्रलय से सृष्टि में आता है। जब प्रलय से सृष्टि में अंतःकरण सहित आया तब अंतःकरण का स्वभाव भी आ गया। इसलिये अनादि प्रवाह होने से हम हमेशा से अंतःकरण वाले ही हैं। पहले कभी ऐसा नहीं था जब अंतःकरण अव्यक्त रूप से मौज़ूद नहीं रहा हो। वह अव्यक्त से व्यक्त होता रहता है। इसलिये जीव अपने सारे कर्मों के लिये अपने अंतःकरण के अधीन है और अज्ञानी की यही स्वतंत्रता है। इसलिये कहा 'कर्मणा निबद्धः' तुम्हारी ही प्रकृति है और उसके कारण तुम कर्त्ता बनते हो फिर प्रकृति के कारण ही उस कर्मफल का भोक्ता बनते हो। यही नितरां बन्ध है। अन्तःकरण का तादात्म्य रखकर उससे स्वतंत्र नहीं हुआ जा सकता।

'यत्' अर्थात् जो प्रकृति से प्राप्त तुम्हारे सामने यह धर्मयुद्ध खड़ा है, इसको तुम छोड़ नहीं सकते। 'मैं युद्ध छोड़ूँगा' यह तुम्हारा निश्चय मोह के कारण है, अविवेक के कारण है। 'कौन्तेय!' इस बात के अविवेक से कि 'मैं कुन्ती का पुत्र हूँ, क्षत्रिय हूँ', धर्मयुद्ध सामने प्राप्त होने पर भी मोहवश कह रहे हो कि 'मैं इन से नहीं लड़ूँ'। यह तुम्हारा अविवेक ही है क्योंकि श्रेयस् का निर्णय करने वालाा तो शास्त्र है और शास्त्र कहता है 'युद्धे चाप्यपलायनम्'। फिर भी युद्ध नहीं करना चाहते, तो यह मोह के कारण ही है। फिर भी तुम सोच रहे हो कि धर्मबुद्धि के कारण नहीं लड़ रहे हो ! युद्ध से पलायनरूप अधर्म में तुम्हें धर्मबुद्धि हो रही है।

इस प्रकार की अधर्म में धर्मबुद्धि हम लोगों को बराबर होती रहती है। जैसे, शास्त्र कहता है कि हर व्यक्ति अपने जन्मादि के अनुसार अलग है। हमने धर्मबुद्धि बना ली है कि सब मनुष्य एक जैसे हैं! यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध नहीं होती है कि सब मनुष्य एक जैसे हैं। प्रत्यक्ष से देखो तो कोई लम्बा है, कोई बौना है, कोई मोटा है, कोई पतला है, कोई गुस्सैल है, कोई धैर्यवाला है, कोई बुद्धिमान् और कोई मूर्ख है। हमें जितने देखने में आते हैं, सब में भेद है इसलिये प्रत्यक्ष से भिन्न ही निश्चित होते हैं। और शास्त्र से सबकी एकता सिद्ध होती नहीं। क्योंकि भगवान् कह आये हैं 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः'। फिर भी 'सब मनुष्य एक जैसे हैं' यह कहना बड़ा मोह है। किसी भी प्रमाण से एकता सिद्ध नहीं हो रही है परन्तु हम एकता को देख रहे हैं। इतना ही नहीं, शास्त्रों को भी एकता बताने वाला कह देते हैं! जब शास्त्र कहता है कि सबमें एक आत्मा है तो उसका तात्पर्य है कि यह जो सब तुमको दीख रहा है, यह आपस में एक नहीं है परन्तु इन सबका आधार एक ब्रह्म ही है, जैसे मिट्टीरूप से एकता का मतलब यह नहीं कि बर्तनों में एकता है! इसलिये जिस मोह से अर्जुन अपना धर्म युद्ध नहीं करना चाहता था, आधुनिक काल में उसी मोह से हम भी अविवेक के कारण धर्म से विमुख हो जाते हैं।

इच्छा किसकी है? इच्छा मन की ही वृत्ति है 'एतत् सर्वं मन एव' यह मन की ही वृत्ति है जिससे तुम नहीं लड़ना चाहते। वह मन स्वकर्म से बँधा हुआ है, इसलिये इच्छारूपवृत्ति को दूसरी वृत्ति दबा लेगी। तब उस बुद्धि के परवश होकर तुम युद्ध ही करोगे क्योंकि अपनी

प्रकृति से निबद्ध हो। यह बात हमेशा याद रखने की है। इसीलिये साधना प्रारम्भ ही होती है, मन की इच्छा को छोड़कर अपने को शास्त्र की इच्छा के अनुसार चलाने से। मन की इच्छा को जीतने के लिये मन की इच्छा काम नहीं करेगी, क्योंकि जैसे वह इच्छा संस्कारों से होती है वैसे ही दूसरी इच्छा भी संस्कारों से होती है। जैसे न लड़ने की इच्छा अर्जुन के नहीं चाहने पर भी आई थी, वैसे ही लड़ने की इच्छा भी आ जायेगी। इस प्रकार अवश होकर करेगा अर्थात् अंतःकरण-विशिष्ट चेतन अंतःकरण के अधीन होकर करेगा। यदि इस प्रकार से प्रकृति के अधीन होगा तब जीव प्रकृति के राज्य में ही बना रहेगा।।६०।।

प्रकृति के बन्धन से छूटना है तो परमेश्वर का ही सहारा लेना पड़ेगा क्योंकि वही प्रकृति के नियामक हैं। प्रकृति और अंतःकरण जड हैं, स्वयं चल नहीं सकते, चेतन के नियंत्रण से ही चलते हैं जीव चेतन होने पर भी इन्हें चलाने में अक्षम है क्योंकि वह इन्द्रियों से विषय किये जाने वाले पदार्थों को यथाकथंचित् चला भी ले, पर अतीन्द्रिय वस्तुओं पर उसका वश चल नहीं सकता। और अनुभव भी किसी का नहीं कि 'मेरा प्रकृति या मन आदि पर नियन्त्रण है'। अतः निश्चित है और शास्त्रोक्त है कि प्रकृतिपर परमेश्वर का ही नियन्त्रण है इसलिये उन्हीं के सहारे प्रकृति के बन्धन से छूटा जा सकता है। भगवान् स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उन्हीं के नियन्त्रण में सब है –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रमयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

हे अर्जुन! जैसे यंत्र पर रखे खिलौने को यन्त्रचालक घुमाता है, ऐसे ईशन-स्वभाव वाला मैं, माया द्वारा सब प्राणियों का संचालन करते हुए सब प्राणियों के हृदयकमल में रहता हूँ।

सब को चलाने वाला परमेश्वर ही है। वही सारे संस्कारों को और कर्मफलों को जानता है, इसलिए वही इनको प्रवृत्त करता है। वह ईश्वर है अर्थात् ईशों में वह श्रेष्ठ है। शासन करने वाले दो तरह के होते हैं। एक तुम्हारी बुद्धि को चलाता है और तुम्हारी बुद्धि चलने से तुम्हें लगता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। यह एक तरह का शासन है। ऐसा शासन हमारे ऊपर अंग्रेज़ों ने किया। उन्होंने विचार किया कि क्या कारण है कि इतने वर्षों तक राज्य करके और अधिक से अधिक अत्याचार करके भी मुसलमान हिन्दू को खत्म नहीं कर सके? कारण यह है कि हिन्दू अपने संस्कारों से चलता था। इसलिये अँग्रेज़ों ने पाया कि बाहर के दण्ड से हिन्दू ख़त्म नहीं होंगे। इनके संस्कार ख़त्म करने पड़ेंगे। हिन्दू संस्कार कहाँ से प्राप्त करता है? हिन्दू दो जगह से संस्कार प्राप्त करता है : एक तो संस्कृत भाषा से और दूसरा, ब्राह्मणों से। हिंदुओं के सारे नियम संस्कृत में हैं। शास्त्रों में बड़ी से बड़ी युक्ति और प्रमाण देकर अपनी बात सिद्ध की है। इसलिये जब हिंदू शास्त्रों से संस्कृत होता है तो यह ग़लत बात को नहीं मानता क्योंकि इसके संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। अतः यदि यह संस्कृत नहीं पढ़ेगा तो उन सारी युक्तियों और विचारों को नहीं जानेगा। हम अँग्रेज़ी के द्वारा अपने

संस्कार देंगे तो हमारा पक्का गुलाम बन जायेगा। जहाँ से हिन्दू को शक्ति मिलती है, उस संस्कृत भाषा को नष्ट कर के संस्कारों का वह द्वार बन्द कर दिया।

दूसरा उपाय था ब्राह्मण। हर एक व्यक्ति तो संस्कृत पढ़कर किसी भी काल में शास्त्र को जानता नहीं था, परन्तु छोटे से छोटे हर गाँव में ब्राह्मण था, वह शास्त्रीय बातों को जानता था और उन बातों को इसे बताता था। इसलिये अंग्रेज़ों ने सोचा कि केवल संस्कृत भाषा को हटा देंगे तो भी काम नहीं बनेगा, ब्राह्मण बैठा रहा तो फिर संस्कार देता रहेगा। अतः ब्राह्मण के ऊपर से भी हिंदू की श्रद्धा हटानी पड़ेगी। इसकेलिये उन्होंने जँचाना शुरू किया कि ब्राह्मण में सब खराबियाँ ही हैं। इस प्रकार ब्राह्मण के ऊपर अश्रद्धा हो गई तो अब वह जो कहे उसे हिंदू नहीं मानेगा। संस्कृत तो यह पढ़ेगा नहीं और ब्राह्मण से जो ज्ञान मिलता है वह भी नहीं मिलेगा। नतीजा यह होगा कि केवल हमारे ही संस्कार इसकी बुद्धि में आयेंगे।

अँग्रेज़ सफल हुए यह आजकल प्रत्यक्ष ही दीख रहा है। ब्राह्मण के प्रति भी अश्रद्धा है और संस्कृत का ज्ञान ही नहीं है। अँग्रेज़ों ने पहले नियम बनाया था कि दफ्तर में पैन्ट पहन कर आना होगा। जीवन-निर्वाह के लिये नौकरी करनी पड़ी तो लोग पहनते थे, परन्तु जानते थे कि बिना कच्छ के रहना ठीक नहीं। पुराने लोगों को याद होगा कि एक छोटी धोती बना कर पहले पहनते थे, ऊपर से पैन्ट पहनते थे। नौकरी के लिये पैन्ट पहन ली, अन्दर धोती रखी। यह तो प्रारंभ था। आज करोड़ों लोग ऐसे हैं जिनके पास धोती है ही नहीं! किसी से कहते हैं कि मन्दिर में तो कम-से-कम धोती पहन कर आया करो, तो पूछते हैं कि पैन्ट पहनने में क्या हर्ज है! इस प्रकार से अंग्रेज़ों का शासन तुम्हें प्रिय लगा, तुम्हारे संस्कार भी बदल गये कि यही उचित है और उचित मानकर करते हो। अनुचित में उचित बुद्धि उन्होंने करा दी। यह अंदर से शासन करना है। शासन उनका ही है क्योंकि पढ़ाया उन्होंने ही है। परन्तु तुम्हें लगता है कि 'हम स्वतंत्र होकर यह कर रहे हैं'। परमेश्वर का शासन भी ऐसा ही है। अंतःकरण को तुम अपना रूप मानते हो और अन्तःकरण में संस्कारों का प्रवाह परमेश्वर के द्वारा हुआ है। इसलिये वह केवल शासन करने वाला नहीं, वरन् शासन करने वालों में श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ शासक वही होता है जो तुम्हारे मन को ऐसा प्रभावित कर दे कि वह जैसा चाहता है वैसा ही तुम करो। जब तुम्हारा मन करता है कि बाज़ार की जलेबी खायें, तब ऐसा नहीं लगता कि कोई ज़बर्दस्ती खिला रहा है! इसी प्रकार अंतःकरण में जो इच्छा होती है उसका नियंत्रण तो ईश्वर के पास है परन्तु तुम्हें लगता है कि यह मेरी इच्छा है। इसलिये वह श्रेष्ठ शासन करने वाला है।

वह किसका ईश्वर है? 'सर्वभूतानां ईश्वरः' सारे प्राणियों का इसी प्रकार शासन करता है। भूत से यहाँ प्राणी भी ले लेना और जड प्रकृति भी ले लेना। पृथ्वी, जल, तेज, वायु भी उसीके शासन में चलते हैं। शंका हो सकती है कि जड प्रकृति को तो वह ज़बर्दस्ती चलाता होगा। परन्तु हमारे यहाँ कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसका कोई-न-कोई अधिष्ठाता देवता न

हो। जैसे ही घर बनता है, वैसे ही गृह देवता अर्थात् कोई-न-कोई चेतन शक्ति वहाँ है। ऐसे ही ग्राम देवता हैं। इसलिये कहा कि पृथ्वी के अन्दर वह रहता है, पृथ्वी उसे नहीं जानती, वह पृथ्वी को जानता है, वही अन्तर्यामी है। वहाँ केवल प्राणियों की बात नहीं कही, सभी पदार्थों के अन्दर रहते हुए वह सबको अन्तर्यमन से चलाता है। इसलिये वह सब प्राणियों का ईश्वर है।

कहाँ रहता है? 'हृत्-देशे' हृदयदेश में रहता है। अभी तो तुम लोग जानते हो कि जो शरीर में खून का संचार करता है उसे हृदय कहते हैं। प्रश्न होता है कि ऐसे अनेक प्राणी हैं जिनके वह हृदय होता ही नहीं तो खून का संचार कहाँ से होगा! जब उनका हृदय देश ही नहीं तो फिर वहाँ परमेश्वर कैसे रहेगा? इसलिये उपनिषदों ने कहा कि 'हृदि अयं हृदयं' जहाँ परमेश्वर है बस उसी का नाम हृदय है। मनुष्यों को अधिकतर अपने हृदयदेश में ही मैं का अनुभव होता है। जब तुम कभी कोई बात कहना चाहते हो तो नाभि से दस अंगुली ऊपर हृदयदेश पर हाथ लगाकर कहते हो 'मैंने कहा', कान आदि किसी दूसरे अंग पर हाथ लगा कर 'मैं' ऐसा नहीं कहते। इसलिये उपनिषद् का तो तात्पर्य है कि जहाँ-कहीं चेतनता विशेषरूप से विद्यमान है वह हृदय देश है। अतः जिन प्राणियों में रक्त-संचार आदि नहीं है उन्हें भी जहाँ अपनी जीवरूपता का भान होता है वही उनका हृदय देश है, वहीं ईश्वर रहता है।

हृदयदेश में रहता हूँ – इसके द्वारा भगवान् क्या कहना चाहते हैं यह 'अर्जुन' सम्बोधन से ही स्पष्ट है। ऋग्वेद के अन्दर भरद्वाज महर्षि की ऋचा है 'अहश्च कृष्णम् अहरर्जुनं च' सोमयाग के प्रकरण में कहा है कि दिन ही अच्छा (श्वेत) होता है, दिन ही काला होता है। आगे ब्राह्मण ने स्पष्ट किया है कि जिस दिन सोमयाग प्रारम्भ करते हो, वह दिन तो श्वेत है, बहुत अच्छा दिन है। और जब सोमयाग नहीं करते हो वही तुम्हारा काला दिन है। इसी बात को बताने वाला श्लोक पूजा में बोलते हैं –

'तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव।
विद्याबलं देवबलं तदेव लक्ष्मीपते तेंऽघ्रियुगं स्मरामि।।'

शास्त्रकार कहते हैं कि वही लग्न अच्छा है, वही वार अच्छा है, नक्षत्र का बल भी तभी है और चन्द्रमा का बल भी तभी है जब परमेश्वर का स्मरण करते हो, वही सुदिन है। इसी तरह कहा कि जिस दिन सोमयाग करते हो वही सुदिन है और जिस दिन नहीं करते हो वही काला दिन है। अतः 'अर्जुन' से ध्वनि कर रहे हैं कि 'तू यह धर्मयुद्धरूप शुभ कर्म करने आया है। इसे पलट कर काला दिन न कर दे।' परमेश्वर हृदयदेश में रहकर क्या करता है? 'सर्वभूतानि भ्रामयन्' सारे प्राणी और जड जगत् को भ्रमण कराता है। 'भ्रामयन्' से यह भी अर्थ है कि भ्रम में डालता है। परमेश्वर की वैष्णवी शक्ति सबको भ्रम में डाले हुए है। अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त जो अपना स्वरूप नहीं है उसे स्वरूप मानते हैं और

जो चिन्मात्र स्वरूप है उसे नहीं मानते! अज्ञान की अनादिता होने से हम हमेशा अज्ञानी ही रहे हैं अतः भ्रम में पड़े हुए हैं। इस तरह प्रकृति को चलाने वाला परमेश्वर सब को भ्रम में डाले हुए है। हम शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त चीज़ों को अपना स्वरूप समझ कर इस जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए हैं। वह हमें कर्त्ता-भोक्ता बनाये हुए है।

कैसे चलाता है, कैसे भ्रमण कराता है? 'यंत्रारूढानि' जैसे यंत्र के ऊपर आरूढ या बैठे हुए लोग चलते हैं। भीमकाय पहिये के आकार का झूला मेले आदि में देखा होगा; उसमें अनेक स्तरों पर बैठने के कटघरे लटके रहते हैं और पहिये के बीच में एक आदमी उसकी ताड़ियों पर चलते हुए पहिया घुमाता है। कटघरा ज़मीन के पास आने पर लोग चढ़ते या उतरते हैं । एक बार उस पर बैठ गये, फिर बैठने वाले के नियंत्रण में कुछ नहीं है, झूले वाला जब तक जितनी तेज़ चलायेगा, तब तक वैसे घुमते रहना पड़ेगा। यन्त्र से ऐसा झूला समझ लो; अथवा रेल का दृष्टांत ले लो। रेल में बैठ गये तो रेल जहाँ ले जायेगी वहीं जा सकोगे। जहाँ रेल जायेगी वहाँ नहीं जाना है तो उस रेल से उतर तो सकते हो, परन्तु रेल को तुम दुसरे रास्ते नहीं ले जा सकते ! दिल्ली जाने वाली रेल में बैठकर तुम नहीं कह सकते की 'हमारा इष्ट दिल्ली नहीं अतः बम्बई जायेंगे।' अगर तुम्हारा विचार है कि बम्बई जाना है तो उस रेल से उतर कर बम्बई की रेल द्वारा वहाँ जा सकते हो। इसी प्रकार अंतःकरण के अंदर बैठकर चाहो कि अंतःकरण के नियमों से बच जाओ, तो नहीं होगा। उसके लिये अपने साक्षिरूप में स्थित होकर अंतःकरण से उतर जाओ। अंतःकरण जन्म-मरण के प्रवाह में भ्रमित करता है। उससे स्वयं को पृथक् समझ गये तो उसकी जो मर्ज़ी हो से हो, तुम अप्रभावित रह जाते हो। जैसे हम यंत्र पर आरूढ होते हैं, वैसे ही अंतःकरण में बैठकर उसपर आरूढ है।

भगवान् यह भ्रमण किसके द्वारा कराते हैं? 'मायया' माया से। इसलिये अन्यत्र शास्त्रों में कहा है, भगवान् की यह माया दुर्ज्ञेय है। इसे सिवाय परमेश्वर के और कोई नहीं जान सकता, एकमात्र वही इसे चलाने वाला और जानने वाला है। तुम इससे उतर कर बच सकते हो पर तुम चाहो कि इस माया के अधीश्वर होकर इसका नियंत्रण कर लो, तो यह नहीं हो सकता। जैसे कठपुतली नचाने वाला लकड़ियों के योद्धा बनाकर उन कठपुतलियों का खेल दिखाता है। कठपुतली सभी खेल करते दीखती है। परन्तु कठपुतली को धागे से बाँधकर नचाने वाला धागे के संचालन द्वारा उससे जो करवाना चाहता है, करवाता है। इसी प्रकार, जैसा पूर्वश्लोक में कहा, 'निबद्धःस्वेन कर्मणा' अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त कर्म के धागे से सब बँधे हुए हैं और उसी के अनुसार सब खेल हो रहे हैं। अतः भगवान् कह रहे हैं कि जैसे धागे से कठपुतली नाचती है वैसे ही प्रकृति के द्वारा जितने निबद्ध लोग हैं वे मुझ परमेश्वर की इच्छा से नाचते हैं। चाहे तू प्रकृति के अधीन रह तो भी वही काम करेगा, चाहे तू मेरे अधीन हो, तो भी वही करेगा। फ़र्क इतना है कि मेरे अधीन होने से मैं तूझे प्रकृति से मुक्त कर दूँगा। प्रकृति अपने से कभी मुक्त नहीं करेगी।

महात्मा लोग कहते हैं कि यह संसार माया से बना, अतः हम माया के पुत्र हैं। माँ कभी अपने बच्चे को नहीं छोड़ती। वह कहती है 'तू दूध पी ले, चॉकलेट खा ले लेकिन मेरे साथ ही रह।' बाप सोचता है - लड़का बड़ा हो रहा है, ठीक से पढ़-लिख नहीं रहा है, घर में रहकर नहीं पढ़ सकता, इसलिये गुरुकुल चला जाये। लेकिन माँ ऐसा कभी नहीं कह सकती। इसलिये माया और माया कार्य जितनी उपाधियाँ हैं, वे सब तुम्हें जकड़ कर ही रखेंगी। परन्तु मायाधीश की तरफ गये तो गुरुकुल भेज दिये जाओगे अर्थात् सर्वकर्मसंन्यास करके श्रवण-मनन निदिध्यासन में लग जाओगे। अतः भगवान् कहते हैं कि प्रकृति की शरणता को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ।।६१।।

प्रकृति का एकमात्र संचालक परमेश्वर है अतः प्रकृतिपक्षपाती जीव पर परमेश्वर का ही नियन्त्रण है, यह समझ लेने से जीव को अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भावना छोड़ना सम्भव हो जाता है। किन्तु इससे यह प्रश्न उठ जाता है कि जीव का पारतंत्र्य होने पर विधि-निषेध-मोक्ष शास्त्र सभी व्यर्थ कैसे न होंगे? जीवस्वातन्त्र्य मानकर ही उसके लिये नियम तथा दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था संगत है, अन्यथा नहीं। इस प्रश्न का भगवान् उत्तर देते हैं -

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

हे भरतवंशी! हर तरफ से उसी ईश्वर का आश्रय ग्रहण करो, उसकी कृपा से परम उपरति और नित्य स्थायिता पाओगे।

वह जो प्रकृति का चलाने वाला है उसकी ही शरण में चले जाओ। प्रकृति को चलाने वाला कौन है? वस्तुतः वह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही माया की उपाधि से सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला प्रतीत होता है। ठीक जिस प्रकार सफेद कपड़ा सफेद रहते हुए ही नीले रंग का चश्मा पहन लेने पर नीला नज़र आता है पर वह कपड़ा वैसा का वैसा सफेद बना रहता है, चश्मा खोल दो तो कपड़ा सफेद ही दीखता है; ठीक इसी प्रकार से अहंकार तो अविद्या से उत्पन्न है इसलिये यह नहीं कह सकते कि अविद्या अहंकार को ढाँकती है। अविद्या अहंकाररूप विकार से चेतन को ही ढाँकती है। इसलिये शास्त्रकारों ने शुद्ध चेतन को ही अविद्या का पोषक और अधिष्ठान, आश्रय और विषय स्वीकृत किया है। चेतन ही शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त को चलाता हुआ प्रतीत होता है। चला तो प्रकृति रही है। शरीर के नियमों से चलने पर प्रतीति यह होती है कि मैं चल रहा हूँ। एक है अहंकार जो प्रकृति के साथ, है और दूसरा है उस प्रकृति को चलाने वाला अधिष्ठान। इसलिये अंतःकरण से लेकर अहंकार तक की उपाधि ही हमारे सामने अविद्या की उपाधि है। अविद्या का कार्य इसी में प्रतीत होता है। जब हमने समझ लिया कि ये तो आत्मा के द्वारा चलाये जा रहे हैं अर्थात् मेरे सच्चे स्वरूप प्रत्यगात्मा के द्वारा चलाये जा रहे हैं, तब दोनों ही उपाधियाँ हट जाती हैं। प्रकृति को चलाने वाला परमेश्वर है, वह परमेश्वर भी प्रकृति को लेकर के ही है। और उसी

प्रकृति का कार्य अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त है इसलिये इसको चलाने वाला भी वही चेतन है। जो वस्तुतः सारी उपाधियों से रहित है एवं अपनी माया के द्वारा सब भूतों को भ्रमण करा रहा है, उसकी शरण लेनी है। माया की नहीं, बल्कि माया को छोड़कर 'तमेव शरणं गच्छ' केवल चलाने वाले की अर्थात् अपने अन्दर जो प्रत्यगात्मस्वरूप से है, केवल उसकी ही शरण में जाना है। यों शरण लेने पर वह दोनों उपाधियों से निवृत्त करने वाला है।

'शरण' शब्द के दोनों ही अर्थ ले लेने चाहिये 'शरणं गृहरक्षित्रोः'। वही परम पद या परम स्थान है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म ही प्राप्त करने योग्य परमस्थान है, उससे आगे और कुछ नहीं है। जैसा कि उपनिषद् के अन्दर भी कहा कि उस उत्तम पुरुष से आगे और कोई गति नहीं है। वहीं सब गतियों का पर्यवसान हो जाता है। अतः वही हमारा घर है। जब किसी से कहते हैं कि 'घर का पता देना' तो लोग समझते हैं कि घर वह है जिसमें दीवारें हैं। किंतु जिसमें तुम नियम से रहते हो, वह घर है। होटल में जाकर रहने से वह घर नहीं हो गया, उसका पता दोगे तो तुम्हें पारपत्र (पासपोर्ट) नहीं मिलेगा। जहाँ तुम नियम से रहते हो, जो सचमुच तुम्हारे रहने की जगह है, कहीं भी आओ जाओ, कुछ भी करो, लेकिन जो हमेशा रहने की जगह है उसी को घर कहा जाता है। इसी प्रकार हम अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त उपाधियों के साथ रहते हैं। उनपर चढे हुए तो हम बहुत घूमते हैं, परन्तु वह सचमुच में हमारा रहने का ठिकाना नहीं है। एक शरीर से दूसरे शरीर में वह हमेशा बदलता रहता है और शरीर में रहते हुए भी जाग्रत् से स्वप्न, स्वप्न से सुषुप्ति और सुषुप्ति से फिर जाग्रत् में बदलता है। जाग्रत् में भी कभी बाल्यावस्था, कभी युवावस्था, कभी प्रौढावस्था और कभी वृद्धावस्था में बदल जाता है। ये जितनी अवस्थायें हैं ये सब निरन्तर बदलने वाले स्थान हैं इसलिये हमारे सच्चे घर नहीं हैं। अतः यहाँ से आना-जाना लगा रहता है। जब उस अधिष्ठान प्रत्यगात्मस्वरूप से अभिन्न ब्रह्म को हमने अपना घर समझ लिया तब फिर वहाँ से कहीं जाना-आना नहीं होता। 'गच्छ' अर्थात् 'अवगच्छ' ऐसा तुम समझ लो।

'शरण' शब्द का दूसरा अर्थ 'रक्षा करने वाला' है। जब हम उसको सांसारिक भोग के लिये चाहते हैं तब तो वह मायाधीश हमको घुमाता रहता है। जब हम उसको अपना रक्षक मान लेते हैं कि 'तुम ही हमारी रक्षा करने वाले हो' तब वह इस चक्र से छुड़ा देता है। अब तक धन, पुत्र आदि भी हम इसलिये चाहते हैं कि हम उनको अपना रक्षक मानते हैं। धन होगा तो काम आयेगा। कहीं जाना हो तो रुपया लेकर जाते हो क्योंकि उसी से रहने-खाने की, यात्रा की सारी व्यवस्था होती है। इसी प्रकार जब तक तो परमेश्वर हमारा रक्षक नहीं था, तब तक हमको बाकी सारे मायिक पदार्थों की ज़रूरत अपनी रक्षा के लिये थी। धन, पुत्र, पत्नी आदि से हमारी रक्षा होती है। अब हमने समझ लिया कि इन सब चीज़ों की प्राप्ति परमेश्वर के संकल्प से होती है। परमेश्वर के संकल्प के प्रति कारण हमारा पूर्व कर्म है। यह समझकर जब हमने परमेश्वर की शरण ले ली, तब सचमुच में हमारी

रक्षा के लिये जो आवयश्यक समझता है, वह ईश्वर खुद ही करेगा। हम सांसारिक चीज़ों को अपना रक्षक समझते हैं परन्तु भगवान् तो जानते हैं कि असली रक्षा करने वाला आत्मज्ञान है, अतः उस आत्मज्ञान के लिये अपेक्षित जो आवश्यक सामग्री है वह परमेश्वर का संकल्प ही प्राप्त कराता रहेगा। अतः सारे संसार के दुःखों का हरण करने के लिये परमेश्वर की शरण ही एकमात्र उपाय है। उसी का सहारा लो।

'सर्वभावेन' सब भावों से उसका सहारा लो। रोज़ बोलते हैं 'त्वमेव सर्वं मम देव देव'; बोल तो हम लोग सब देते हैं, परन्तु जितना विश्वास हमें सौ रुपये की गड्डी पर है उतना विश्वास परमेश्वर में है नहीं! बड़ा अभ्यास करने से यह सिद्ध होता है कि वही मेरा सब कुछ है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'सर्वभावेन सर्वात्मना' सब प्रकार से उसकी ही शरण, उसका ही सहारा लो। 'भारत' भरतकुल में उत्पन्न होने से अर्जुन इस लायक है कि ऐसा करे। जब इस प्रकार उसको जानोगे या उसका आश्रय ग्रहण करोगे तब प्रत्यगात्मा से अभिन्नरूपता का प्रसाद या प्रसन्नता प्राप्त करोगे। उसकी प्रसन्नता यह है कि फिर क्षण- मात्र को भी तुम उस यंत्र पर, झूले पर नहीं बैठते, अर्थात् शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त किसी भी चीज़ में तुम्हे आत्मभाव नहीं होता। शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त को अपना स्वरूप समझना ही मल विक्षेप और आवरण हैं। प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा को अपना स्वरूप समझने पर ये सारे मल, विक्षेप आदि दूर हो जाते हैं। यही उसका प्रसाद है। यदि हमने उसे मायाधीश के रूप में स्वीकार किया है तब उसका प्रसाद या उसकी कृपा या अनुग्रह हमें अद्वैत में स्थापित कर देगा। ब्रह्मस्थिति की प्राप्ति अर्थात् अद्वैत-वासना ईश्वरानुग्रहसे ही होती है। अद्वैत का ज्ञान तो श्रवण-मनन से हो जाता है परन्तु उस ज्ञान की वासना नहीं बनती। जिस चीज़ की वासना होती है वह निरंतर मन के अन्दर प्रवहित होती रहती है। आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने दृष्टांत दिया है कि जैसे तुम्हारा मन किसी व्यक्ति में लगा हुआ है तो तुम काम करते हुए भी उस व्यक्ति की तरफ ही मन लगाये रखते हो, मन में उसकी ही वृत्ति बनती रहती है। इसी प्रकार से अद्वैतवासना हो जाने पर शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त प्रतीत होने वाली जो आत्मभावना व्यावहारिक स्तर पर है, उसके रहते हुए भी तुम केवल आत्मा की ही दृष्टि रखते हो। जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है उसकी तरफ तुम्हारी दृष्टि रहती है, प्रतिबिम्ब की तरफ दृष्टि नहीं रहती। यह जो अद्वैतवासना है यह परमेश्वर के अनुग्रह से ही होती है। यह संसार के सारे भयों से त्राण कर देती है। किसी युग में शायद दो-तीन को होती है! यदि मायाधीश के ऊपर अपना भार छोड़ देते हो, उन्हीं को अपना अधिष्ठान समझते हो, तब उनके इस अनुग्रह से परमशांति की प्राप्ति हो जाती है।

भाष्यकार लिखते हैं कि शांति का मतलब उपरति है। इसकी प्राप्ति होने पर फिर किसी और चीज़ में मन नहीं रह जाता, चीज़ों से रति हट जाती है। केवल उस परमेश्वर में ही प्रेम रह जाता है। उसके सिवाय और कहीं रति जाती नहीं। इसका कारण यह है कि जब

हम ईश्वर से अतिरिक्त कुछ चाहते हैं तब बाहर के पदार्थों की वृत्ति बनती है और यही अशांति है, इसी को विक्षेप कहते हैं। जब हमारी केवल परमेश्वर में प्रीति है तब वृत्ति अंतर्मुखी होती है और अंतर्मुख वृत्ति का नाम ही शांति है। यह परमशांति प्राप्त हो जाती है। 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतं' 'स्थान' जिसे पहले घर कहा था अर्थात् जहाँ रहते हो वह जो तुम्हारा अधिष्ठानरूप स्थान है, वह शाश्वत है, नहीं बदलने वाला है। बदलने वाले घर में तो बहुत रह चुके, अनंत शरीरों में रह चुके। विचार करो, हमने कितने शरीर बदल दिये, कोई ठिकाना नहीं। भगवान् ने तो दस ही शरीर लिये! जब उस मायाधीश परमेश्वर की शरण ले ली तब शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लेंगे। एवकार से कह दिया कि प्रत्यगात्मरूप से अपरोक्ष की ही शरण लेनी है, तभी उस शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लोगे। यहाँ तक भगवान् ने सारा गीताशास्त्र बता दिया।।६२।।

समझाने के बाद भगवान् कहते हैं -

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

गोपनीय से भी अधिक गोपनीय यह ज्ञान मैंने तुझे बता दिया। इसका पूरी तरह विमर्श करने के बाद जैसी इच्छा हो वैसा कर।

भगवान् का कहना है - मेरा शिष्य बनकर मेरी शरण आया है, इसलिये मैंने तुझे गीता का उपदेश दिया।'ज्ञानं' अर्थात् जानने का करण; अर्थात् जिससे ज्ञान होता है वह शास्त्र यहाँ ज्ञान कहा गया है। गीता शास्त्र से परमेश्वर का ज्ञान होता है। इसलिये इस शास्त्र को भी ज्ञान कहते हैं। 'मया आख्यातं' इस ज्ञान को मैंने तुमसे कहा। पंजाबी में 'कहा' अर्थ में 'आख्या' कहते हैं। हिंदी में 'आख्यान' शब्द प्रसिद्ध है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि यदि तू मेरे पास शिष्यभाव से नहीं आया होता तो यह गीताशास्त्र तुझे कोई नहीं बताता। मैं सर्वज्ञ ईश्वर हूँ, व्यास जी कहते हैं 'शास्त्रयोनित्वात्' सारे शास्त्रों का योनि मैं ही हूँ। मुझ से ही सारे शास्त्र प्रकट हुए हैं। यह नियम है कि तुम चाहे जितनी शास्त्र में अपनी जानी हुई बात लिख दो, लेकिन तुम्हारा पूरा ज्ञान तो उसमें नहीं आयेगा। तुम उसके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें जानते रहोगे। उस शास्त्र के बारे में तुम ही अंतिम प्रमाण हो। इसी प्रकार परमेश्वर शास्त्र की योनि है अर्थात् शास्त्र उन्हीं से निकलते हैं। शास्त्र से अतिरिक्त भी वे तो सर्वज्ञ हैं, बहुत-सी चीज़ों को जानते हैं। शास्त्र के विषय में उनका कथन कभी किसी दूसरे के द्वारा काटा नहीं जा सकता। ऐसे शास्त्रयोनि मुझ ईश्वर के द्वारा यह गीता शास्त्र कहा गया है। यह शास्त्र कैसा है? 'गुह्याद् गुह्यतरं' छिपाने वाली चीज़ों को गुह्य कहते हैं। उन छिपाने वाली चीज़ों में मंत्र, तंत्र औषधि आदि भी हैं। जैसे होम्योपैथिक डॉक्टर के पास जाओगे तो वह तुम्हें दवाई दे देगा, नुस्खा नहीं देगा, क्योंकि औषधि को गुप्त रखना चाहिये। बंगाल में कविराजों (वैद्यों) का भी नियम था कि वे औषधि किसी को

बताते नहीं थे। व्यवहार में भी देखा जाता है कि कई बार औषधि तो बहुत सामान्य होती है लेकिन उसके गुण बहुत ज़्यादा होते हैं। यदि उसका नाम बतायें तो आदमी की भावना विपरीत हो जाती है कि 'इससे क्या होगा!' नाम नहीं बताओगे तो दवाई चूँकि बढ़िया है ही, इसलिये वह लेने पर फायदा हो जायेगा इसलिये औषधि का नाम नहीं बताते। इसी प्रकार मंत्र भी गुह्य है, किसी को बताना नहीं चाहिये। यदि खुले-आम मंत्र बता दोगे तो उसकी कोई कीमत नहीं रह जायेगी। किसी भक्त ने महात्मा से मंत्र पूछा। महात्मा ने कहा 'राम-राम ही महामंत्र है। इसकी तीन माला जप लेना।' भक्त दो-एक साल बाद आया तो उन्होंने पूछा कि 'जप तो नियम से करते हो?' कहने लगा-'भूल जाता हूँ, जप नहीं हो पाता।' महात्मा ने पुनः प्रेरित किया पर वह फिर भी उपेक्षाशील रहा। महात्मा उस पर कृपालु थे। उन्होंने अपने किसी गुरुभाई से चर्चा की तो उसने उपाय करने का जिम्मा लिया। वे उस गाँव आये। भक्त महात्माओं का प्रेमी था ही, उनके पास भी आया। उन्होंने पूछा 'जप करते हो?' उसने कहा 'मन नहीं लगता अतः कभी करता हूँ कभी छोड़ देता हूँ।' उन्होंने कहा 'मुझसे मंत्र लो, मन लग जायेगा।' वह मान गया तो महात्मा बोले 'दस हज़ार रुपये दक्षिणा चढानी पड़ेगी।' उसे जँचा कि इतना महँगा मंत्र ज़रूर कारगर होगा! उसने दक्षिणा देकर मंत्र ग्रहण किया। दीक्षा के बाद महात्मा ने सावधान किया कि 'यदि एक दिन भी जप नहीं करोगे तो तेरा सारा घर नष्ट हो जायेगा। और दोबारा पूछेगा तो फिर लाख रुपये दक्षिणा लूँगा।' वह मान गया। उन्होंने भी वही 'राम-राम' मंत्र का जप बता दिया। मंत्र तो वही होना हुआ! किंतु इतना महँगा था और एक दिन भी उसका जप नहीं करे तो घर बर्बाद हो जाने का डर था, अतः वह रोज़ जप करता रहा और उसमें उसका मन भी लग गया। इसलिये कहते हैं कि मंत्र गुह्य रखना चाहिये। इसी प्रकार औषधि भी बताएँ तो रोग दूर नहीं होता। इसी प्रकार अनेक चीज़ों को गुप्त रखने को कहा गया है। यह गीता शास्त्र तो सबकी अपेक्षा गुह्य से भी गुह्य, अत्यंत गुह्यतर है अर्थात् अन्य छिपाने लायक चीज़ों में भी यह गीता शास्त्र सबसे ज़्यादा छिपाने लायक चीज़ है।

अथवा, 'इति ते ज्ञानमाख्यातं' मैंने तुझे श्रवण-मनन-निदिध्यासन से होने वाले ब्रह्मतत्त्व को स्पष्ट करके बता दिया, साधन-साध्य स्वरूप भी सब बता दिया। परन्तु यह कहाँ मिलेगा? उपनिषद् कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां' वह सत्य ज्ञान अनंत स्वरूप ब्रह्म हृदय गुहा में मिलेगा। हृदय गुहा के अन्दर है इसलिये गुह्य है। गुहा में अर्थात् अहंकार वृत्ति को छोड़कर जो उसका शुद्धरूप है वह गुह्य है। उस शुद्धरूप का मैंने तुझे वर्णन किया।

अंत मे भगवान् कहते हैं – यह गीता शास्त्र मैंने तुम्हें जितना बताना था, बता दिया। अब तुम इन सारी बातों का आनुपूर्वी (आगे-पीछे) ठीक से विमर्श या मनन करो, भली प्रकार से विचार करो। जो अधिष्ठानरूप है उसका अशेष विमर्श यह है कि जो कुछ भी अब्रह्म प्राप्त हो उस सबका निषेध करो। जो-जो चीज़ प्राप्त होती जाये उन सबका निषेध

करके निषेधावधि रूप से उसे समझो। जब तक तुम जानना चाहो कि वह क्या है, तब तक कभी अशेष नहीं समझ पाओगे। इसलिये अतद्व्यावृत्ति-मात्र से ही उसका ज्ञान सम्भव है। जो-जो चीज़ निवृत्त हो सकती है उसको निवृत्त करने के बाद वह अपने आप ही बच जाता है। अहंकार पर्यन्त, माया पर्यन्त प्राप्त होता है। जब अहंकार, माया भी चली जाती है तब परमात्मा ही बच जाता है। 'क्या बच जाता है?' जब तक यह पूछोगे तब तक तो परोक्ष रहेगा परन्तु सबको बाधित करने वाला मैं हमेशा बना रहेगा। जब अहंकारात्मिका वृत्ति भी चली जाती है तब वह अपने आप बच जाता है। आत्मतत्त्व का स्फुरण होता रहेगा, उसे विषय करने का प्रयास किया तो त्रिपुटि का परिच्छेद खड़ा होकर अखण्ड अद्वितीयता नहीं रहेगी। वह ज्ञानमात्र है, वहाँ न ज्ञाता-भाव है और न ज्ञेय-भाव है। भगवान् ने कहा 'इस तत्त्व का अथवा गीता शास्त्र का आगे-पीछे भली प्रकार विचार करके फिर तुम्हारी जो इच्छा हो वह करो।' यह वैदिक धर्म का नियम है। वैदिक धर्म किसी के ऊपर लादने की चीज़ नहीं है। सारी मनुस्मृति में मनुमहाराज सारे धर्म का वर्णन करके कहते हैं 'येनेष्टं तेन गम्यताम्' जो तुम्हें अच्छा लगे उसी रास्ते से चलो। इसी प्रकार भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि अब जैसी तुम्हारी इच्छा हो, विचार पूर्वक वैसा करो। इच्छा किसका धर्म है? इच्छा मन का ही धर्म है। मन के धर्म को मन मिटने से ही मेटा जा सकता है। इसलिये जब निषेध की अवधि की बात होती है तब आर्चाय लोग मनोनाश की बात करते हैं। क्योंकि जब बाकी सारी चीज़ों का निषेध किया है तब केवल मन ही शेष रह जाता है इसलिये मनोनाश करना पड़ता है। यदि अशेष निवर्तन की इच्छा है तब मनोनाश करो। अथवा, गीताशास्त्र में कर्म को साधन और ज्ञान को साध्य बताया है। उसका विचार करके 'मेरी क्या योग्यता है' इस बात का ख्याल करके जो तुम्हारी योग्यताका कार्य है, वह तुम करो।।६३।।

'यथेच्छसि तथा कुरु' कह कर भगवान् ने देखा कि अर्जुन का मुख विवर्ण हो गया। वह घबड़ा गया कि 'मैंने तो पूछा था कि क्या करूँ और इन्होंने मुझ पर ही छोड़ दिया! सीधा कहते 'ऐसा कर', तो मैं कर लेता। लेकिन इन्होंने मेरे ऊपर छोड़ दिया कि जैसी मर्ज़ी हो वैसा करूँ'। इसलिये विशेष कृपाकर भगवान् कहते हैं –

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

तुमपर मेरा कभी न हटने वाला स्नेह है अतः तुम्हारा हित बताता हूँ। सर्वाधिक गुह्य मेरा खास वाक्य फिर से सुनो।

पहले भी भगवान् अर्जुन को कई जगह कह आये हैं 'तू मेरा प्रिय है'। इष्ट का असली तात्पर्य होता है जो इच्छा का विषय हो। परमेश्वर की इच्छा का विषय कौन है? जिस जीव ने भगवान् के ऊपर भरोसा करके बाकी भरोसे छोड़ दिये वही परमेश्वर को प्रिय है। इसलिये जो ज्ञान का साधक है वही परमेश्वर को इष्ट है। अर्जुन तो प्रिय है ही। जो कोई

भी प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमेश्वर को समझने वाला है वह भगवान् को इष्ट है क्योंकि भगवान् ने 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' के द्वारा ज्ञानी को अपना आत्मा कहा है। सबसे प्रिय आत्मा ही होता है। यद्यपि वह आत्मा 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' है, सभी प्राणियों के अन्दर बैठा हुआ वही आत्मा है, तथापि जिस अंतःकरण में श्रवण-मनन निदिध्यासन का परिपाक है वहाँ वह जाज्वल्यमान होकर प्रकाशित होता है इसलिये वह अत्यधिक प्रिय है। 'तू केवल प्रिय ही नहीं है, दृढरूप से प्रिय है अर्थात् तुझसे प्रेम कभी व्यभिचरित नहीं होता।' जो ज्ञान का साधक है वह परमेश्वर की आँखों से कभी ओझल नहीं हो सकता क्योंकि उसका आत्मस्वरूप है। इसलिये पहले भी (६.३०) भगवान् ने कहा था कि 'मैं उसे कभी नहीं देखता ऐसा नहीं और वह मुझे कभी नहीं देखता, ऐसा भी नहीं। इसलिये अर्जुन को अव्यभिचारी प्रिय कहा है।

अतः कहते हैं - तूने जो मेरी शरण ली थी और कहा था 'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं' वह बात तो ख़त्म हो गई। लेकिन तू मेरा अव्यभिचारी प्रिय है। जिससे प्रेम होता है उसे गुह्य बात कहते हैं। गुरु-शिष्य भाव से तो कह दिया कि जैसी इच्छा हो वैसा करो, परन्तु प्रेम के कारण जो तुम्हारे लिये हितकारी बात है वह कहता हूँ, इसमें फिर आगे विचार नहीं करना। विचार करने की बातें कह चुका, अब तो मैं सीधी-सादी हित की बात कहूँगा। अब जो बताने जा रहे हैं वह अर्जुन के हित की बात है क्योंकि उसने ईश्वर की शरण ली है। जिसने भी ईश्वर की शरण ली है उसके हित की यह बात है। अथवा अधिष्ठान का अपरोक्ष करके भी जो वासना बनाना चाहता है उसके हित की है। यह जो हित की बात है यह 'सर्वगुह्यतम' है। शास्त्र की दृष्टि से तो 'गुह्य से गुह्यतर' कहा, लेकिन जो सीधा आदेश दिया जाता है वह 'गुह्यतम' इसलिये है कि जिस एक को कहा जायेगा उसी के काम का है, दूसरे के काम का है ही नहीं। शास्त्र तो सबके काम का है, परन्तु जो सीधा निर्देश दिया जाता है कि 'तुम यह करो' वह निश्चित तुम्हारे हित का होगा, दूसरे के हित का हो या न हो। इसलिये सर्वगुह्यतम है। अथवा गुह्य अर्थात् हृदय में प्रतिबिम्बित चेतन जीव गुह्य है और उससे भी गुह्य साक्षी निर्विकार चेतन है और गुह्यतम वह है जिसके अन्दर किसी भी प्रकार का चलन नहीं है। गुह्यतम का मतलब यह नहीं है कि शास्त्र में नहीं कहा है! शास्त्र में तो कहा है लेकिन शास्त्र में कही अनेक बातों में से चुनकर निकाला यह उपदेश है। मेरे प्रिय हो इसलिये मैं ही तुम्हारे काम के लिये चुनकर तुम्हें सुना रहा हूँ। 'भूयःशृणु' शास्त्र में तो बता दिया लेकिन मैं तुम्हें फिर कहता हूँ, प्रेम से तुम्हारे बारे में विचार करके यही मुझे निश्चय हुआ है। यह मेरा परम वचन है। भाष्यकार कहते हैं 'हितं परं ज्ञानप्राप्तिसाधनं, तद् हि सर्वहितानां हिततमम्'। यहाँ हित से परम हित विवक्षित है और परमार्थ ज्ञान पाने का उपाय ही परम हित है, सभी हितों से अधिक हित है। ज्ञानप्राप्ति अर्थात् ज्ञान की वासना कैसे प्राप्त हो - यह अब भगवान् सूत्ररूप में बतायेंगे।।६४।।

वह हितकारी बात क्या है? भगवान् कहते हैं -

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

ऐसे बनो कि मुझमें ही तुम्हारा मन लगा रहे, मेरा ही भजन करो, मुझे ही पूजो और मुझे ही नमस्कार करो। ऐसे बन गये तो मुझे ही पा लोगे। यह मैं तुम्हारे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम मुझे प्रिय हो।

जो कुछ मेरा तात्पर्य है वह इन दो श्लोकों में समाप्त हो जायेगा : 'मन्मना भव' अपना मन मुझ में ही लगाओ। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म को समझा है तो उस ब्रह्म के बारे में ही संकल्प-विकल्प करो आर्थात् अखण्ड तत्त्व के विरोधी जो तर्कादि आयें उन को हटाओ और अपना मन बार-बार मेरे में ही स्थिर करो। 'मद्याजी भव' मेरी ही पूजा करने वाले बनो। प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमात्म-स्वरूप है उसके लिये कर्म करने का मतलब देखना, सुनना आदि सब कुछ उसके अर्पण करो। यही मद्यज्ञ अथवा मद्याजी होना है। आँख आदि से अहंकार ग्रहण कर उसे भीतर स्थित साक्षितत्त्व को समर्पित कर दे। आँख इत्यादि चम्मच (स्रुवा) है, उसके द्वारा आहुति परमात्मा को ही दी जाती है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप है, तुम जो कुछ भी करते हो उस सबको उसके समर्पण करो। यह निश्चय रहे कि 'इन्द्रिय मन और बुद्धि से जो कुछ भी हो रहा है वह सब परमात्मा के लिये ही हो रहा है, अपने लिये मैं कुछ नहीं करता। प्राणधारण के लिये जो भोजन आदि भी किया जाता है वह भी अन्दर में स्थित जो वैश्वानर अग्नि है उसके लिये ही आहुति दी जा रही है।' यज्ञ मंत्र पूर्वक होता है। इस प्रकार के साधक को प्रणवपूर्वक यह सब करना है। जो मनन से त्राण करे उसे मन्त्र कहते हैं। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म अधिष्ठान है। ॐ अधिष्ठान है जिसमें अकार उकार मकार कल्पित हैं। इसी प्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति (में वैसे ही कल्पित हैं जैसे ॐ तुरीय ओंकार) में अ उ म कल्पित हैं। यज्ञमें त्यागका उद्देश्य देवता होता है। परमात्मा के उद्देश्य से इस प्रकार ओंकार का चिन्तन करना है। अधिष्ठान से अतिरिक्त जो कुछ है वह सब कल्पित है। माया से ही देश काल की भी कल्पना है और उस देश काल से ही यह सारा जगत् प्रकट होता है। यज्ञ में द्रव्यत्याग भी होता है। यहाँ देखना, सुनना, चलना, फिरना आदि सब द्रव्य हैं, इन सबका त्याग है। सब कल्पित हैं और कल्पित का त्याग अधिष्ठान का चिंतन ही है। इस तरह 'मद्याजी' बनना है।

'मां नमस्कुरु', इस प्रकार यज्ञ करते हुए मेरे को ही नमस्कार करो। नमस्कार का अर्थ करते हुए पद्मपादाचार्य कहते हैं 'त्यागो हि नमसो वाच्यः' नमः शब्द का अर्थ त्याग है। किसका त्याग है? अभी तो हम सब चीज़ें अहं के लिये करते हैं, उस अहं की उपाधि का ही त्याग करना है अर्थात् यह निश्चय करना है कि मैं नहीं हूँ, केवल अधिष्ठान ही है। यह सब करने से 'मद्भक्तो भव' मेरा भक्त बनो। यही मेरी भक्ति है। किसी आचार्य ने भक्ति का अर्थ किया है कि अहंकार से चेतन को विभक्त कर देना भक्ति है। इस प्रकार प्रत्यगात्मा

से अभिन्न जो परमात्मा है उस अधिष्ठान से इन सारी कल्पित चीज़ों का परित्याग कर देना है। उत्तम अधिकारी मन्मना आदि कैसे बने यह बताया।

अर्जुन को भगवान् दिलासा देते हैं कि प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमेश्वर को तुमने नहीं जाना हो तो भी मैं तुम्हारे सामने खड़ा हुआ हूँ इसलिये मेरे में मन को स्थापित करो अपने मन को मुझमें लगाओ। मेरे लिये ही कर्म करो। मद्‌याजी बनो, अर्थात् मैं जो-जो कर्म तुमसे कहता हूँ, वह-वह तुम करते जाओ। उसमें फिर तुम इस विचार को छोड़ दो कि तुम्हें क्या अच्छा लगता है। मेरे निर्देशके सामने अपनी इच्छा का त्याग करना ही नमस्कार है। यही मेरी भक्ति है। मेरे में मन को लगाओ, मैं जैसा कहूँ वैसा करो, अपने को अच्छी लगने वाली चीज़ों का त्याग कर दो।

इस प्रकार जो करता है वह मुझको ही प्राप्त करता है। जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न जगत् के कारण को समझता है वह प्रारब्ध की प्रतीति के हटने पर परमार्थ स्थिति में स्थित हो जाता है। जो उस तत्त्व में प्रतिष्ठित नहीं, वह गुरुभक्ति से यथाक्रम उसी भाव को पा जायेगा। भगवान् भी अर्जुन के गुरु के रूप में उपस्थित थे। गुरु स्वयं को प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मरूप समझता है, इसलिये उसकी भक्ति करके साधक उसी भाव को प्राप्त कर लेगा। अतः भगवान् कहते हैं – 'मामेवैष्यसि' मुझे ही प्राप्त हो जायेगा। यह जो बात मैं कह रहा हूँ इसमें संदेह नहीं करना 'सत्यं ते प्रतिजाने' मैं यह बिलकुल ठीक बात कहता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है। अर्थात् जो कोई भी मुझमें मन लगायेगा, मेरी आज्ञा के अनुसार चलेगा, अपने अहंकार का त्याग करेगा, वह अवश्य जो मेरा सच्चिदानन्द स्वरूप है, प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मतत्त्व है, उसको प्राप्त कर जायेगा। यदि सोपाधिक तत्त्व की ही ऐसी शरण लेगा तो उसे प्राप्त करेगा। 'सत्यं ते प्रतिजाने' मैं तुमको यह सत्य कह रहा हूँ, प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ, इसमें संदेह का कोई अवसर ही नहीं है। ऐसी प्रतिज्ञा मैं क्यों कर रहा हूँ? क्योंकि 'प्रियोसि मे' तुम मुझे प्रिय हो। इस प्रकार भगवान् ने सत्य प्रतिज्ञा कर ली।

आचार्य शंकर कहते हैं कि 'भगवद्भक्तेरवश्यम्भावि मोक्षफलम्' सभी भगवद्-भक्तों के लिये यही भक्ति मोक्ष फल का साधन है। इसी में सारी साधना आ गई, इसी का विस्तार बाकी सारी साधनायें हैं। जब यह साधना करते हैं तभी शरणागति का भाव आता है। इस प्रकार से भगवान् ने कर्मयोग-निष्ठा का परम रहस्य ईश्वर-शरणता बता दी।।६५।।

गीता भाष्य के प्रारम्भ में ही आचार्य शंकर ने कहा है कि वैदिक धर्म की दो शाखायें हैं– प्रवृत्ति और निवृत्ति। मनु ने भी कहा है 'प्रवृत्तं च निवृत्त च द्विविधं कर्म वैदिकम्'। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समापन तत्त्वबोध में है। ईश्वर-शरणागति रूप जो कर्मनिष्ठा है, उससे क्या फल होता है? उसका फल सम्यक् दर्शन है। वही सारे वेदांतों में प्रतिपादित किया गया है। उसी को अब भगवान् बताते हैं–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

धर्मादि सब कर्मों का परित्याग कर मुझ एक की ही शरण लो। मैं तुम्हें बन्धनरूप सब पापों से छुड़ा दूँगा। शोक मत करो।

हे अर्जुन! तूने कहा था कि तू धर्मसम्मूढचेता अर्थात् धर्मके बारे में तेरा चित्त मोहग्रस्त है, ठीक प्रकार से विवेक नहीं कर पा रहा है। एक तरफ तो लगता है कि क्षत्रिय होने से आततायियों को मारना धर्म है, दूसरी तरफ लगता है कि पूज्य होने के कारण इनके सामने से हट जाना ही श्रेयस्कर है। यह भी शास्त्र ने कहा है कि गुरु के सामने हुंकार-तुंकार भी न दे, फिर उनको बाणों से बींधना बड़ा भयंकर लगता है। इसलिये मैंने जब कहा 'यथेच्छसि तथा कुरु' तब तेरे मन में आया कि 'मैं क्या करूँ?' तू धर्मसम्मूढ है तो सारे धर्मों को छोड! यहाँ धर्म कहा है, परन्तु धर्म से अधर्म का भी ग्रहण किया है। अर्थात् न धर्म कर, न अधर्म कर। भगवद् शरणागति का जो फल सम्यक् दर्शन होता है उसके अन्दर सर्वकर्मसंन्यास हो जाता है। दो ही तरह के कर्म होते हैं, धर्म और अधर्म। जब धर्म और अधर्म दोनों छोड़ दिये तब सर्वकर्मसंन्यास हो गया। यद्यपि यहाँ कहा है कि 'छोड़ दे' लेकिन इसका तात्पर्य है कि जब कर्मयोगनिष्ठा या भक्ति पूर्ण सम्पन्न हो जाती है, तब दोनों छूट जाते हैं। जब तक ये छूट नहीं जाते, तब तक बार-बार कर्मयोग का अभ्यास करना ही एकमात्र रास्ता है। इस प्रकार से छूटने पर नैष्कर्म्यभाव प्राप्त हो जाता है। कर्म उसी को कहा जाता है जिसको तुम रागद्वेष-पूर्वक करते हो। साँस लेना, नहीं लेना इसमें तुम्हे कोई राग-द्वेष नहीं है। सीढ़ियाँ चढ़ते हैं तो साँस तेज़ हो जाती है, साँस तेज़ तुम करते नहीं हो, स्वभाव से हो जाती है। इसी प्रकार से सारे कर्मों का परित्याग करने पर शरीर के अन्दर जो कुछ दीखता है उसको करने वाला वह जीव नहीं है। इसलिये भगवान् ने कहा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'।

विचार करो कि किन धर्मों को तुम अपना मानते हो? देह-धर्मों को ही तुम अपना मानते हो। शरीर है तो स्नान भी करना है, शौच भी करना है, भिक्षा भी करनी है। इसी प्रकार मन का धर्म है ध्यान करना, विक्षिप्त होना। देहधर्म, मन के धर्म, प्राणधर्म और बुद्धि के धर्म - इन सबको छोड़ दो। ये स्वतः होते हैं, तुम कर्त्ता नहीं बनो। जब भगवद्भक्ति पूर्ण हो जाती है तब फिर शरीर आदि के धर्मों को राग आदि से प्रवृत्त नहीं करते इसलिये देह से लेकर विज्ञानमय, आनन्दमय पर्यन्त जितने धर्म हैं उन सबसे छूट जाते हो। इनसे जो छूटना है वही सारे कर्मों का संन्यास है।

'मामेकं शरणं व्रज', एक-प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परमात्मतत्त्व है उसी की शरण में जाओ। बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ देवताओं का विचार किया वहाँ अनेक देवताओं को पहले बताया। लाखों करोड़ों की संख्या बतायी। फिर पूछते चले गये कि इनमें प्रधान कौन? क्रम से बताया, तैंतीस प्रधान हैं, तीन प्रधान हैं, दो प्रधान हैं; फिर कहा कि डेढ प्रधान हैं! जब पूछा 'इनमें भी कौन असली देवता है?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा 'वह तो एक ही है।' माया को आधा माना। आधा इसलिये कि जब तक सृष्टिचक्र है तब तक रहती भी है और असलियत जानने के बाद नहीं भी रहती। एक कहने के बाद आगे कोई प्रश्न नहीं पूछा। एक परब्रह्म

परमात्मा अधिष्ठान ही है, वही वास्तविक तत्त्व है। उसी एक को भगवान् ने 'मामेकं' कहा। उपनिषदों में अनेक जगह इसलिये 'एक' शब्द का अर्थ ब्रह्म किया। 'सदेव सोम्यदेमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयं', 'ब्रह्मैवेदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मैवेदं' 'सर्वम्' 'एकमेवाद्वितीयम्'। उपनिषदों में कहा हुआ 'एक' ब्रह्म माया से रहित है। क्योंकि 'मां' से दोनों का ग्रहण हो सकता था इसलिये 'एकं' कहकर स्पष्ट कर दिया कि यहाँ ईश्वर की बात नहीं है, माया से रहित की बात है। 'शरणं व्रज' उसकी शरण का मतलब है 'न मत्तः अन्यत् अस्ति इति अवधारय' उस (मुझ) एक के सिवाय और कहीं कुछ नहीं है यह निश्चय करना। जो कुछ भी माया से प्रतीत होता है, हुआ है, और होगा, वह कुछ नहीं है। ठीक जिस प्रकार से समुद्र में झाग दिखाई देती है, वह सचमुच में कुछ भी नहीं है, प्रतीतिमात्र है। सचमुच में तो वहाँ एकमात्र पानी ही है। इसी प्रकार से संसार में जो कुछ दीख रहा है, वह सचमुच में कुछ नहीं है। माया के कारण एक ब्रह्म ही अनेक रूपों में दीख रहा है। जब तक अज्ञान है, तब तक दीखता है। अज्ञान की निवृत्ति के बाद फिर दीखता भी नहीं। यही शरण जाना है।

भगवान् फल बताते हैं – जब तू इस प्रकार से शरण ग्रहण करेगा तब 'अहं त्वां सर्व-पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'। अहंकार वाला अपने स्वरूप को समझ कर अनादिकाल से न जाने कितने पाप तुमने किये हैं। यहाँ पाप से पुण्य को भी ले लेना। क्योंकि शास्त्रकारों ने कहा कि पाप–पुण्य का मूल कारण अविद्या है इसलिये जब तक हम अविद्या से ग्रस्त हैं तब तक जिसे हम पुण्य समझते हैं वह भी पाप है। पुण्य के द्वारा हम यहाँ से वैकुण्ठलोक, गोलोक, मणिद्वीप, ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहाँ कुछ समय के लिये सुख भोगते हैं, परन्तु फिर वापिस यहीं आना पड़ता है। विचार करो, कि पुण्य यहाँ से ऊपर तो ले गया, परन्तु पुण्य के समाप्त होने पर वापस आना भी तो उसी का फल है! ऊपर गये इसीलिये तो वापिस आये। अतः पुण्य ने जो फल दिया वह दुःखान्त ही हुआ। जब लौटोगे तब दुःख ही होगा। इसलिये वह भी पाप ही है। इसलिये 'सर्वपापेभ्यः सर्वधर्माधर्मबन्धनरूपेभ्यः' भाष्यकार कहते हैं कि धर्म–अधर्म दोनों बन्धन हैं। धर्म के कारण हमें एक लाख रुपये की हीरे की अंगूठी पहनने को मिली; यह धर्म का फल है। उसे पहने हुए हम रेल से यात्रा कर रहे हैं और रेल के जिस डिब्बे में हम बैठे हैं उसमें हमारे अलावा केवल दो ही आदमी और बैठे हैं। वे दोनों फटे कपड़े पहने बैठे हैं। अकस्मात् उस डिब्बे में एक डाकू आता है। देखता तो वह सबको है लेकिन हमको पकड़कर ठोकता है क्योंकि हमारे हाथ में एक लाख का हीरा है! वह एक लाख का हीरा मिलना ही डण्डे खाने का कारण है। इसलिये धर्म–अधर्म दोनों बन्धनरूप हैं। अतः भगवान् ने कहा – अनादिकाल से किये हूए हमारे पुण्य–पाप के जितने फल एकत्रित होते हैं उनसे होने वाला जन्म–मरण का प्रवाहरूप जो बन्धन है उससे 'मोक्षयिष्यामि' मैं तुझे छुड़ा दूँगा अर्थात् मेरी जो अपनी वास्तविकता प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूपता है, उसको प्रकट कर दूँगा। वह प्रकट होना ही इस बन्धन की निवृत्ति है। यदि प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूपता को हमने जाना है तब तो वही (ज्ञान) छुड़ा देगा और अगर

हमने नहीं जाना है तो भगवान् पहले ही कह आये हैं - 'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' (१०-११) अतः भगवान् स्वयं ही श्रवण-मनन के द्वारा ज्ञान प्रदान कर देंगे, उन्होंने पहले ही प्रतिज्ञा कर रखी है। 'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इसलिये 'मा शुचः' तुम्हारे चेहरे पर जो मुर्झायापन आ गया है उसे मत करो। यदि प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूपता को जानता है तो शोक को स्थान नहीं और यदि नहीं भी जानता है तो मेरी शरण ले ले, मैं मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर।

इस प्रकार से इन दो श्लोकों में एक से तो भगवान् ने वेद में प्रतिपादित सारे प्रवृत्ति मार्ग का आधार बता दिया और दूसरे के द्वारा निवृत्ति मार्ग का अवसान बता दिया। जब धर्माधर्म का परित्याग कर देते हैं तब निरन्तर ब्रह्मविषयक श्रवण-मनन में लगना ही 'एक शरण' लेना है अर्थात् माया को बाधित करते जाना है। इस प्रकार भगवान् ने गीता शास्त्र का उपसंहार किया।।६६।।

इस गीताशास्त्र में अर्जुन ने कल्याण का जो मार्ग पूछा था कि वह ज्ञान है या कर्म है? इसका विस्तार से भाष्य में विचार किया गया है। यद्यपि भगवान् ने बार-बार कहा है 'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति', फिर भी इसके बारे में बहुत भ्रम होता है क्योंकि गीता का विचार करते हैं तो कहीं भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है 'यज्ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते' मेरे ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति है; 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं' मुझे जानकर मुझ में घुस जाता है; इस प्रकार से ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति के स्पष्ट वाक्य गीता में मिलते हैं। किंतु भगवान् अर्जुन को बार-बार कहते हैं कि तेरा अधिकार कर्म में ही है। 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं' तू कर्म ही कर। कर्म करने के लिये ही बार-बार अर्जुन को कहा है। इससे लगता है कि कर्म करते रहने का ही संदेश भगवान् का है। प्राचीन काल में भी इसलिये दोनों प्रकार के विचारक हुए। कइयों ने तो कहा कि कर्म करने से ही मोक्ष मिलेगा। जैसे बाकी सब चीज़ें कुछ करके मिलती हैं वैसे ही मोक्ष भी कुछ करके ही मिलेगा। कुछ ने कहा 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' ज्ञान से ही मोक्ष होता है। कुछ ने माना कि इसलिये दोनों को मिलाकर करना चाहिये। चूँकि वेद में भी प्रवृत्ति-निवृत्ति धर्म का विस्तार से विवेचन है और गीता शास्त्र में भी प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों मार्गों को कहा है, अतः वेद की और गीता की सार्थकता तभी है जब प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की जायें। भाष्यकार के पहले एक जबर्दस्त वेदान्त के विचारक भर्तृप्रपंच ने ज्ञानकर्म के समुच्चय पर ही ज़ोर दिया कि ज्ञान और कर्म दोनों करो। शास्त्रों में कई जगह इसलिये कहा है कि जैसे पक्षी तब उड़ता है जब उसके दोनों पंख हों, एक पंख से नहीं उड़ सकता, इसी प्रकार से कर्म व ज्ञान दो पंख हैं। इन दोनों को मिलाकर चलने से उड़ सकते हैं, संसार समुद्र के पार जा सकते हैं। वर्तमान काल में इस विचार के प्रचारक तिलक रहे। इसलिये उन्होंने गीता-टीका का नाम ही कर्मयोगशास्त्र रखा है। उसमें स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान तो जैसा आचार्य शंकर ने कहा है वैसा ही है। अद्वैत ही चरम तात्पर्य है, इसमें संदेह नहीं है, परन्तु उसकी प्राप्ति कर्म करते हुए ही हो सकती है

कर्मत्याग के द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यही समुच्चयवादी का कहना है। अतः इस विषय में विचार अवश्य कर्त्तव्य है ताकि यह निर्णय हो जाये कि कर्म करें या ज्ञान करें या कर्म और ज्ञान दोनों करें। अतः भाष्यमें विस्तार से इसकी मीमांसा की है।

पहले तो यह समझ लो कि क्या निर्णय होगा। निःश्रेयस या मोक्ष का कारण केवल ज्ञान ही है। ज्ञान जिसका होता है वह अद्वितीय है, दो वहाँ हैं नहीं। भेद-प्रत्यय हटने से ही ब्रह्म की प्राप्ति है और भेद-प्रत्यय होने पर ही कर्म कर सकते हैं। अभेद-भावना से कोई कर्म नहीं हो सकता। मोटी भाषा में समझ लो कि पैर या पीठ में कहीं भी खुजली आई तो जब तक तुम यह अलग नहीं कर लोगे कि एक हाथ है और एक पैर है अर्थात् यह भेद नहीं रहेगा, तब तक हाथ से खुजली कैसे करोगे? यदि यह भेदप्रत्यय नहीं है तो खुजली अपने-आप मिटने वाली नहीं है। यद्यपि तुम एक हो, सारा शरीर तुम हो इसलिये तुम ही खुजली कर रहे हो और तुम अपने को ही खुजली कर रहे हो, तथापि एक हाथ की उपाधि से है और एक पीठ की उपाधि से है। दोनों को अलग करके ही खुजली करोगे। इसलिये भेद-प्रत्यय के बिना कर्म हो नहीं सकता। और ज्ञान अभेद-प्रत्यय है। कैवल्य फल के अन्दर जिसका समापन होता है वह ज्ञान अभेद-बुद्धि वाला है। केवल उस ज्ञान से ही निःश्रेयस हो सकता है, कर्म से नहीं हो सकता। क्रियाकारक-फल की भेदबुद्धि कर्म में चाहिये। करने वाला और जिसे कर रहा है वह क्रिया, इन दोनों की जो भेदबुद्धि या भेदनिश्चय है, वह केवल अविद्या के कारण ही है, अविद्या में ही प्रवृत्त होता है। 'मैंने यह किया, मेरी यह क्रिया है और इसका यह फल है' - इस अविद्याकी भेदभूमि में ही कर्मप्रवृत्ति है। शास्त्रीय की तरह लौकिक कर्म भी इस भेद की अपेक्षा से ही होते हैं। इस प्रकार हम क्रिया-कारक-फल की भेद-बुद्धि से अविद्या में ही नित्य प्रवृत्त हैं। अनादि काल से हम कर्म कर रहे हैं क्योंकि यह भेदबुद्धि है। भेदबुद्धि अविद्या से है अतः अविद्या के कारण ही सारे कर्म होते हैं।

जगह-जगह भाष्यकार इसीलिये कहते हैं कि ज्ञानी कोई कर्म नहीं करता क्योंकि कर्म जितने दीखते हैं वे सब प्रकृति के कार्यों मे दीखते हैं, चेतन में तो कहीं कोई कर्म दीखता नहीं। इसका पता तब लगता है जब तुम से कोई बुरा कर्म होता है! हम एक घण्टे तक ठीक बोलते रहे, तब तो हम बोले ही हैं। परन्तु बीच में कोई एक ग़लत बात आ गई तो हमेशा वह ग़लत बात किसी कारण से आती है? 'क्या बतायें, स्मृतिशक्ति कमज़ोर हो गई, वैद्य जी! कोई ब्राह्मीबूटी दे दो।' अर्थात् ग़लती हमने की नहीं, हो गई। यहाँ से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक यही है - हरित क्राँति हम लाते हैं। परन्तु इस साल तो अकाल पड़ गया, हम क्या करें! ग़लत चीज़ आती है तो मनुष्य उससे क्यों हटता है? क्योंकि सचमुच में वह अकर्त्ता है। यह बात उसके मन से झाँक रही है कि 'मैं ग़लती नहीं कर सकता'। ग़लती का हमेशा कोई-न-कोई कारण होता है।

आप लोगों ने किस्सा पढ़ा होगा : एक जगह किसी मकान की दीवार गिर गई। राजा ने

उसके मालिक को पकड़कर बुलाया कि 'तुम्हारे मकान की दीवार गिरने से इतने आदमी मर गये इसलिये तुम्हे फाँसी मिलेगी।' उसने कहा कि 'मैं मालिक ज़रूर हूँ लेकिन इसके लिये इंजिनियर जिम्मेवार है, मैं नहीं।' इंजिनियर ने कहा 'मैंने तो सब चीज़ें ठीक परिमाण में कही थी लेकिन मिलाने वाले ने गड़बड़ कर दिया।' मिलाने वाले को बुला कर पूछा कि 'तूने इसमें सब कुछ ठीक अनुपात से क्यों नहीं मिलाया?' उसने कहा कि 'मैं तो ठीक से मिला रहा था लेकिन जैसे ही पानी डाल रहा था, उधर से एक बारात निकली, बीन (दूल्हे) को देखने लगा तो मेरा ध्यान बंट गया। इसलिये उस बारात के बीन का दोष है।' राजा ने वर को बुलवा कर पुछा कि 'तू उसी समय वहाँ से क्यों निकला? तू निकला तो दीवार कमज़ोर बनने से गिर गई और तीन आदमी मर गये, इसलिये तू ही दोषी है।' वर बेचारा क्या करे! ठीक इसी प्रकार से जब भी कोई ग़लत काम होता है तब करने वाला कोई और होता है। और कोई सामने नहीं मिला तो या मुकद्दर, तकदीर खोटी होती है या आज का नया देवता आ जाता है कि यदृच्छा से, चांस से हो गया। यह जो 'मैंने नहीं किया' का भाव है, यह है तो वास्तविक, परन्तु करते समय में भूल जाते हैं। उस समय लगता है कि 'मैं कर रहा हूँ।'

यह अविद्या अनादि काल से प्रवृत्त है, हमेशा से है। इस अनादि अविद्या का निवर्त्तक तो यही बोध है कि मैं केवल प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म हूँ। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निर जनम्' जिसमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं, किसी प्रकार का बिगाड़ (विकार) नहीं वह मेरा स्वरूप है। इस बात को जब समझ लेते हैं तो जैसे बिगड़े काम का खुद को कर्ता नहीं मानते वैसे किसी भी कर्म का स्वयं को कर्ता नहीं मानते। जानते हैं कि कर्म का कारण अविद्या है। तब कर्त्ता दीखने पर भी हम अकर्त्ता ही रहते हैं। यही आत्मविषयक प्रत्यय है जिसके उत्पन्न होते ही कर्म प्रवृत्ति का जो हेतु भेदबुद्धि है, वह निवृत्त हो जाती है। उसके बाद कर्म किसी प्रकार से सम्भव नहीं। यही भगवान् ने यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' से कहा।

वेदों का और गीता का तात्पर्य किसमें है? प्रवृत्ति के द्वारा अंतःकरण की शुद्धि करके परमात्मज्ञान की प्राप्ति में वेद का तात्पर्य है। पहले प्रवृत्ति शास्त्र में निषेध वाक्य आते हैं जो हमारी स्वच्छन्द राग-द्वेषमूलक प्रवृत्तियों को रोकते हैं। वहाँ भी शास्त्र का तात्पर्य किसी-न-किसी चीज़ से निवृत्त करने में है। पापों से तो निवृत्त होना ही है, पुण्य भी इसलिये करने हैं कि पापों से निवृत्त हों, क्योंकि कुछ-न-कुछ किये बिना रह नहीं सकते। अतः शास्त्र का चरमतात्पर्य निवृत्ति ही है। सब चीज़ों को पहले ही नहीं छोड़ सकते। इसलिये पहले कुछ चीज़ों को छोड़ना बताया, फिर और कुछ चीज़ों को छोड़ना बताया। प्रवृत्ति कर्मों का फल देने वाला परमेश्वर है और निवृत्ति का फल देने वाला भी परमेश्वर ही है। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों परमेश्वर के लिए ही हैं। प्रथम तो भगवान् ने बता दिया कि परमेश्वर को ही अपने सारे कर्मों का समर्पण करो जिससे तुमको शुद्ध बुद्धि प्राप्त होगी। उस शुद्ध बुद्धि से तुम्हारा राग निवृत्त हो जायेगा क्योंकि प्रवृत्ति में ले जाने वाली चीज़ राग ही होता है। जब राग की निवृत्ति हो जाती है तो फिर कर्म का कोई उद्देश्य ही नहीं रह जाता। अतः सर्वकर्म-

संन्यास करके 'एकमात्र परमात्मा ही मुझ से अभिन्न है और मैं परमात्मा से अभिन्न हूँ', ऐसी जो एकान्तिक शरणागति है, उसे प्राप्त करो। वह जो आत्मा का शुद्धरूप है उसका ज्ञान होते ही तुम्हारा संसार बंधन निवृत्त हो जायेगा। कर्मफलों को परमेश्वर के अर्पण करने से चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धि के बाद श्रवण-मनन करके परमात्मा जैसा है वैसा जानने से संसारबंधन की निवृत्ति, सारे शोकों की निवृत्ति हो जाती है।

गीता के प्रारंभ में भगवान् ने उपदेश दिया था 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' और कहा था 'गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'। पण्डित अर्थात् जो समझदार लोग हैं वे प्राणों के रहने और प्राणों के जाने दोनों, का शोक नहीं करते। शोक के दो ही कारण हैं। दुश्मन तगड़ा हो तो शोक होता है कि यह अभी तक हटा क्यों नहीं और मित्र मर जाये तो शोक होता है। अर्थात् जिसमें द्वेष होता है उसके रहने से दुःख और जिसमें राग होता है उसके मरने से दुःख होता है। अब शास्त्र के समापन में भगवान् फिर कहते हैं 'माशुचः' अब तू इस ज्ञान को समझकर पण्डित हो गया इसलिये अब शोक मत कर। इस प्रकार से शास्त्र का उपसंहार किया।

गीता में चूँकि कर्म करने का और कर्मत्याग का दोनों का उपदेश है, इसलिये प्रश्न होता है कि कर्म करना उत्तम है या नहीं करना उत्तम है। अथवा कर्म करना और नहीं करना दोनों साथ करना उत्तम है? भाष्यकार कहते हैं कि आत्मज्ञान तो अकेला ही मोक्ष का कारण है क्योंकि श्रुतियाँ बार-बार यही कहती हैं। मोक्ष का कारण केवल ज्ञान है क्योंकि भेदप्रतीति का निवर्त्तक ज्ञान ही हो सकता है। भेदनिवृत्ति का प्रवर्त्तक कर्म हो नहीं सकता क्योंकि कर्म तो भेदप्रतीति से ही किया जाना पड़ता है। भेदप्रतीति से भेदप्रतीति की निवृत्ति कैसे हो सकती है? केवल आत्मज्ञान ही निःश्रेयस का कारण है। न कर्म से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और न कर्म व ज्ञान साथ करके मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। क्यों कर्म न समुच्चितरूप से और न अकेले ही मोक्ष के प्रति कारण है? क्योंकि मोक्ष उत्पन्न होने वाली चीज़ नहीं है। कर्म के द्वारा, जो चीज़ या जो स्थिति पहले नहीं है, उसको पैदा करते हैं। जैसे मिट्टी पड़ी हुई है तो तुम उसे पानी से गूँथ कर, चाक पर चढा कर घड़ा बनाते हो। घड़ा तुम्हारे कर्म से पैदा हुआ। पहले घड़ा नहीं था और अब घड़ा पैदा हुआ। यदि तुम कहो कि घड़ा पैदा तो हुआ पर आगे नष्ट नहीं होगा। तो यह कभी नहीं होगा क्योंकि भगवान् पहले ही नियम बता आये हैं 'जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः' जो पैदा हुआ है उसका नाश होना निश्चित है। अगर मोक्ष कुछ करके प्राप्त होता तो फिर जितना तुमने प्रयत्न किया है उसका प्रभाव जब बीत जाता तब फिर मोक्ष ख़त्म हो जाता! इसलिये कर्म के द्वारा जो लोग मोक्ष मानते हैं वे यही मानते हैं कि यहाँ से तुम किसी लोकान्तर में जाओगे, वहाँ रहोगे और फिर बाद में लौटकर आओगे। किंतु तब मोक्ष नित्य नहीं होगा। वर्त्तमान में आर्यसमाजी स्वामी दयानन्द ने लोकान्तररूप मोक्ष नहीं माना परन्तु उन्होंने माना कि शास्त्र में बताये हुए कर्म करने से तुम्हारे में विशेष शक्ति आ जायेगी और इसलिये इस प्रलय तक जो तुम्हारी

जन्म-मरण की परम्परा नहीं रहेगी। जब अगली सृष्टि होगी तब फिर तुम संस्कार वाले होकर ऋषिकुल में उत्पन्न होगे और आगे फिर जैसा करोगे वैसा ही फल पाओगे। चाहे लोकान्तर में जाकर अतिदीर्घ काल के बाद हो, चाहे महाप्रलय के खत्म होने पर हो, हर हालत में कर्म करने वाले यही मानते हैं कि आना तो पड़ेगा ही।

सामान्य आदमी की शंका होती है कि ज्ञान भी जो फल उत्पन्न करेगा वह नष्ट क्यों नहीं हो जायेगा? परन्तु यह ज्ञान के स्वरूप को नहीं समझने के कारण है। ज्ञान कुछ पैदा नहीं करता। ज्ञान तो जो चीज़ जैसी है उसे प्रकट करता है। जैसे इस कमरे में अंधेरा है तो हमको व्यास, अप्पू, रमण आदि कोई नहीं दीख रहा है। उसके बाद बिजली का खटका दबा, प्रकाश हो गया तो प्रकाश ने व्यास, अप्पू, रमण आदि को *पैदा* नहीं किया। वे तो पहले ही यहाँ थे, केवल उन्हें प्रकट कर दिया। जैसे प्रकाश किसी चीज़ को उत्पन्न नहीं करता, जो चीज़ है उसे प्रकट कर देता है, उसी प्रकार ज्ञान जो चीज़ है उसे प्रकट कर देता है, ज्ञान किसी चीज़ में कोई परिवर्तन नहीं करता। अगर कार्य होता तो अनित्य होता। मोक्ष तो नित्य है, ज्ञान उसे प्रकट करता है, मोक्षरूप ब्रह्म को प्रकट कर देता है। ज्ञान से मुक्तरूप ब्रह्म प्रकट हो जाता है, पैदा नहीं होता। क्रिया से जो पैदा होता है वह पैदा होने से पहले नहीं होता। पहले एक लकड़ी थी। हमने कुल्हाड़ी से उसे दो कर दिया। पहले एक थी, कुल्हाड़ी की क्रिया होने पर दो हो गई। इसी प्रकार पहले आग नहीं थी। हमने दियासलाई को घिसा तो आग पैदा हो गई अर्थात् पहले नहीं थी और फिर पैदा हो गई। इसलिये कर्म के द्वारा कुछ नवीनता आती है। लेकिन ज्ञान के द्वारा जो चीज़ जैसी होती है, वैसी प्रकट हो जाती है, कोई नवीनता नहीं आती। इसलिये ज्ञान की कारणता कर्म की कारणता से बिलकुल दूसरे ढंग की है। कर्म की कारणता कार्य को उत्पन्न करती है। ज्ञान के द्वारा कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता, जो है वह प्रकट हो जाता है।

यदि कहो कि ज्ञान और कर्म दोनों साथ कर लें तो क्या हर्ज है? ज्ञान निष्ठा और क्रिया दोनों में आपस में विरोध है। ज्ञाननिष्ठा है कि ब्रह्म अकर्त्ता-अभोक्ता है और क्रिया करने के लिए उस ब्रह्म को अहं से एक ही रहना पड़ता है। शुद्ध आत्मा कहीं कुछ करता नहीं। इसलिए भगवान् ने पहले (१८-१४) बताया था कि कर्म करने के लिये पाँच चीज़ें चाहिये, अकेला आत्मा कुछ नहीं करता है। पाँचों चीज़ों की कारकता बताकर भगवान् ने आत्मा का अकर्तृत्व पहले ही स्पष्ट कर दिया। अहंकार में आत्मा का अध्यास मानकर ही कर्त्तापना है। इसलिये कर्म करने से, कर्म सहित या कर्मयुक्त होकर ज्ञाननिष्ठा हो सके, यह सम्भव ही नहीं है। जितनी ज्ञाननिष्ठा होती जायेगी उतनी कर्म की निवृत्ति ही होती जायेगी क्योंकि कर्म करने के लिये तुमको बार-बार द्वैत वृत्ति बनानी पड़ेगी।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि आदमी कुछ काम दृष्ट फल के लिये और कुछ अदृष्ट फल के लिये कर लेता है। अदृष्ट फल के लिये संध्या, अग्निहोत्रादि कर लेता है और दृष्ट भूख लगने पर भोजन कर लेता है जिसमें किसी शास्त्र की आज्ञा की ज़रूरत नहीं है। इसी

प्रकार से कर्म तो संस्कार के वश से कर लेगा और शास्त्र के बल पर अपनी व्यापकता को जान लेगा। इस पक्ष में दोष यह है कि भोजन करने में प्रवृत्ति करने के लिये भोजन के प्रति तृष्णा चाहिये। अगर तुम्हें सवेरे से शाम तक सौ टट्टियाँ लग गई हों और फिर तुमसे कोई कहे कि 'बढ़िया दूध या बादाम की लस्सी पी लो' तो क्या पियोगे? जो लौकिक क्रियायें होती हैं वे तृष्णावशात् या रागवशात् होती हैं लेकिन जहाँ एकमात्र ब्रह्म ही रह गया है तदन्य सब बाधित हो गया है, वहाँ राग किसमें रहेगा? राग का मूल कारण किसी चीज़ में सुख-बुद्धि होना है। इसलिये भगवान् पहले कह आये हैं कि जब खूब बरसात होकर तुम्हारे चारों तरफ पानी भरा हो तो क्या तुम कुएँ से पानी निकालने जाओगे? यहाँ शहरों का बरसाती पानी नहीं लेना, सुदूर किसी आश्रम में चारों तरफ बरसात का शुद्ध पानी हो तब कुएँ में जाने की प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि पानी निकट ही उपलब्ध है। इसी प्रकार राग का कारण सुख-बुद्धि है और कैवल्यज्ञान से तुम परमानन्द में हो तो फिर तुम्हारे में राग कहाँ से आयेगा? संस्कार भी तो सुख दिखाकर ही प्रवृत्त करते हैं कि 'उस चीज़ से पहले सुख हुआ था'। जब तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति है तब प्रवृत्ति कैसे होगी? जैसा कि शंकरानन्द स्वामी कहते हैं, कि कोई व्यक्ति मरवाड़ का रहने वाला है। उधर से कोई घुड़सवार निकला, उसे प्यास लगी है और उसे मृगतृष्णा का जल दीख रहा है। आगंतुक कहता है 'वहाँ से एक घड़ा पानी लाओ।' मारवाड़ का अनुभवी उसे समझाता है कि 'वहाँ पानी नहीं है, केवल पानी दीखता है।' घुड़सवार उसे डाँटता है कि 'मुझे साफ पानी दीख रहा है, मैं अन्धा नहीं हूँ, नहीं जाओगे तो कोड़े मारूँगा।' उसे निश्चय है कि वहाँ पानी नहीं है परन्तु कोड़े खाने के भय से सोचता है कि 'थोड़ी दूर तक मरुभूमि में ही चला जाऊँ'! इसी प्रकार जब निश्चय हो जाता है कि प्राप्त परमानन्द की अपेक्षा विषयों में सुख है ही नहीं, फिर भी प्रारब्ध ज़बर्दस्ती प्रवृत्त करता है। जैसे उस मरुभूमि में रहने वाले को मृगतृष्णा की तरफ जाते हुए भी केवल यही अनुभव होता है कि 'बड़ा कष्ट है, जाना पड़ रहा है।' मैं जा रहा हूँ - ऐसा प्रतीत नहीं होता, ज़बर्दस्ती भेजा जा रहा हूँ - यह लगता है। इसी प्रकार से ज्ञाननिष्ठा के अन्दर पता है कि संसार के विषयों में सुख की कोई सम्भावना नहीं है, परन्तु प्रारब्ध भुगवाने के लिये ज़बर्दस्ती ले जा रहा है। उसके मन में यह नहीं होता कि 'मैं विषयों की तरफ जा रहा हूँ'। वरन् भान रहता है कि 'संस्कार प्रारब्धभोग करने वाले शरीर मन से लेकर अहंकार पर्यन्त को ले जा रहा है। मुझे उस अहंकार के अन्दर चेतनता की जो प्रतीति है, बस यही प्रारब्ध का फल है।' इसलिये वह कर्त्ता बनता नहीं। ज़बर्दस्ती ले जाया जाना कर्त्ता बनना नहीं है। इसलिये यह कहना कि जैसे दृष्ट फल के लिये खा लेता है, वैसे अदृष्ट फल के लिये अग्निहोत्रादि कर ले, यह बनता नहीं।

ऐसा कुछ नहीं है कि ज्ञान को मोक्ष रूपी फल देने के लिये कर्म की मदद की ज़रूरत हो। इसलिये श्रुतियों ने कहा है कि ज्ञान को कर्म इत्यादि किसी सहायक की अपेक्षा नहीं है। पुरुषसूक्त का मंत्र स्पष्ट कहता है कि उस परमात्मा का ज्ञान होने से ही अमृतत्व, मोक्ष

की प्राप्ति है, ज्ञान का और कोई सहायक भी नहीं है। इसका निषेध भी कर दिया 'नान्यः पन्था विद्यते' मोक्ष का दूसरा रास्ता है ही नहीं। इसलिये अविद्या-निवृत्ति के लिये किसी कर्म की ज़रूरत नहीं है जिसके लिये ज्ञान-कर्म का समुच्चय माना जाये।

यह सिद्ध होने पर भी जो कर्मजड मीमांसक हैं उनका कहना है कि नित्य कर्म को न करने से प्रत्यवाय या दोष लगता है। इसलिये अगर तुम सारे कर्मों का परित्याग करोगे तो वह दोष लगता ही रहेगा। जैसे तुम टैक्सी में बैठ गये तो उसका मीटर चलने लगता है। तुम टैक्सी से उतरकर अपना काम करने चले जाओ, अब टैक्सी में नहीं बैठे हो तो भी अगर लौटने के लिये टैक्सी वहाँ खड़ी रखी है तो उसका किरायेका मीटर चलता ही रहेगा। इसी प्रकार ज्ञाननिष्ठा के बाद तुमको कर्म का प्रयोजन नहीं रहा परन्तु तुम ब्राह्मण आदि शरीर में तो हो ही, इसलिये उसमें नित्य कर्म का मीटर चलता रहेगा, और तुम्हारा प्रत्यवाय इकट्ठा होता रहेगा। अतः नित्य कर्म करके वह भुगतान तो करना ही पड़ेगा इसलिये केवल ज्ञान से नहीं, ज्ञान के साथ प्रत्यवायनिवृत्ति के कार्य भी होते रहने चाहिये। किंतु यह बात कहीं श्रुति ने तो कही नहीं है कि नित्य कर्मों के न करने से प्रत्यवाय या दोष लगता है। फिर क्यों मीमांसक ऐसा मानता है? उसका सोचने का प्रकार समझ लेना चाहिये : नित्य कर्म करने को कहा और नित्य कर्म का फल बताया नहीं। वेद जिस बात को भी कहेगा वह फल वाली होती है। अतः नित्यकर्म के भी फल की कल्पना करनी ही पड़ेगी अन्यथा वेदवाक्य अप्रमाण हो जायेगा। इसलिये, नित्यकर्म करने से प्रत्यवाय नहीं लगेगा - बस इतना मात्र उसका फल है। इसलिये मीमांसक मानता है कि नित्य कर्मों को करके प्रत्यवाय से बचना चाहिये।

इस प्रकार काम्य कर्मों को नहीं करने से इष्ट शरीर की, स्वर्ग आदि की प्राप्ति नहीं होगी, नित्य को करते रहने से नरक की प्राप्ति नहीं होगी। वर्त्तमान शरीर के कर्मफलों की भोगने से समाप्ति हो जायेगी। तब आगे देहान्तर की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं होगा तो मोक्ष ही हो जायेगा। यह शंका एकभविकवादी लोग करते हैं। अपने यहाँ कुछ विचारक हुए हैं जो कहते हैं कि तुम्हारे सम्पूर्ण कर्मों को लेकर ही तुम्हारा शरीर उत्पन्न हुआ है, पहले के कुछ कर्म बचे हुए नहीं हैं। एक जन्म हो गया तो सब पूर्व कर्मों के फल प्राप्त होंगे। यहाँ तुम नये काम्य कर्म करोगे तो स्वर्ग और प्रतिषिद्ध करोगे तो नरक मिलेगा। पहले किये हुए तो यहाँ भोग लोगे, लेकिन यहाँ किये हुओं से आगे नया शरीर मिलेगा। परन्तु यह मत शास्त्र के विपरीत है। एक दिन में हम इतने कर्म कर सकते हैं कि जिनके फल को हम एक जन्म में नहीं भोग सकते, एक घण्टे में हम ऐसा पुण्य भी कर लेते हैं कि स्वर्गादि जायें और ऐसा पाप भी कर लेते हैं कि कुम्भी पाक में पड़ें। किंतु दोनों के फलस्वरूप एक-साथ नरक और स्वर्ग में पैदा नहीं हो जायेंगे! इसलिये यह मानना कि एक भव में सब समाप्त हो जायेगा, सर्वथा विरुद्ध है। बीते हुए अनेक जन्मों में हमने जो कर्म किये उनका फल एक जन्म में समाप्त नहीं हो सकता। कुछ लोग मानते हैं कि नित्यकर्मों से प्रत्यवाय-निवृत्ति का मतलब

इतना है कि यदि तुम कर्म करते रहोगे तो पुराने पाप कर्म क्षय हो जायेंगे; किन्तु सारे पाप कर्म तो क्षय होंगे नहीं! इसलिये मोक्ष में कर्म का किसी भी प्रकार का विनियोग बनता नहीं। जिन कर्मों ने कर्मफल देना प्रारंभ ही नहीं किया, तुम्हारे नित्य कर्म उन्हें नष्ट कैसे कर सकते हैं? अतः यह कहना कि नित्य कर्म करने और काम्य व प्रतिषिद्ध से बचने से मोक्ष हो जायेगा, बनता नहीं, उससे मोक्ष नहीं होगा। इसलिये ज्ञान को ही श्रुति ने मोक्ष का उपाय बताया है। यदि नित्य कर्मों से, यथाकथंचित् मान भी लें कि सभी पुराने पाप कर्म ख़त्म होते हैं, तो भी पुराने पुण्य कर्म कैसे कटेंगे? किंच, नित्य कर्मों का फल बताया भी गया है। वर्णाश्रम धर्म करना पुण्य लोकों की प्राप्ति कराता है ऐसा शास्त्र ने स्पष्ट कहा है। अतः नित्य का फल नहीं बताया मानकर किया विचार निराधार है। अविद्यापूर्वक ही कर्म होते हैं अतः विद्या ही शुभ और अशुभ दोनों की निवृत्ति का कारण है।

फिर नित्य कर्मों का विधान क्यों किया गया है? वस्तुतस्तु कर्मों का *विधान* श्रुति ने किया ही नहीं! कर्म दो प्रकार के हैं - एक दृष्ट फल वाले, जिनका फल तुम्हें यहीं मिल जाता है। जैसे रोटी खाई तो भूख मिट गई। इसके लिये तुम्हें किसी शास्त्र को नहीं पढ़ना पड़ता कि भूख लगे तो रोटी खावे। इसलिये महाराजा मनु ने स्पष्ट कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जिसका पता नहीं लग सकता उसे बताने के लिये वेद है। दृष्ट फल के उपाय का पता तो हमें प्रत्यक्षादि से लग जाता है परन्तु अदृष्ट फल के उपाय का पता नहीं लगता। अतः अदृष्ट फल को बताने के लिये ही शास्त्र कर्मों का कथन करता है। जो कर्म विहित नहीं, प्रतिषिद्ध भी नहीं, तत्काल जो फल पैदा करते हैं, उनके लिये तो न शास्त्रविधि और न प्रतिषेध की ज़रूरत है। सामने गड्ढा है, उधर मत जाओ, इधर गड्ढा नहीं है इधर से निकलो- यह शास्त्र पढ़कर पता नहीं लगता! देखकर ही पता लगता है कि इधर पैर रखेंगे तो गिर जायेंगे। इसलिये तत्काल फल वाली चीज़ों के लिये शास्त्र की ज़रूरत नहीं है। शास्त्र केवल अदृष्ट फल के लिये ऐसे कर्मों का विधान या निषेध करता है जिनका सम्बंध तुम प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं जान सकते। इसलिये मनु ने कहा कि जो प्रत्यक्ष-अनुमान से पता नहीं लग सकता उसे वेद के द्वारा जानते हैं। ऐसे साधनों का वेदन, ज्ञापन कराने के कारण ही उसे वेद कहते हैं। उन कर्मों को करने में तो स्वर्ग आदि की इच्छा ही कारण है। सारे वर्णाश्रम धर्मों का फल पुण्य लोक की प्राप्ति है। अग्निहोत्र जैसा नित्यकर्म भी काम्य बनाया जा सकता है, कामनापूर्ति का साधन होने के साथ ही वह नित्य का कार्य भी कर लेगा, अलग-अलग अनुष्ठान नहीं करने पड़ेंगे। इसलिये नित्य कर्म *स्वरूप* से अलग है, ऐसी बात भी नहीं है। केवल संकल्पभेद से वह नित्य या काम्य बन जाता है। इस प्रकार से सारे कर्मों का बीज कामना है और कामना का बीज अज्ञान है। 'अविद्याकामबीजं हि सर्वमेव कर्म' सारे कर्मों का बीज अपनी आनन्दरूपता का ज्ञान न होना ही है। इसलिये अविद्यापूर्वक ही कर्म होता है। विद्या जब कामना के मूल को हटा देती है तो फिर न शुभ और न अशुभ कर्म हो सकता है। अशुभ कर्म मनुष्य इसलिये करता है कि प्रत्यक्ष में फल

देखने में आता है, इसलिये शास्त्रनिषिद्ध कर्म भी कर लेता है। वहाँ भी कारण कामना है। जैसे भोजन करते हैं क्योंकि तृष्णा या भूख है। शास्त्रीय कर्म भी करते हैं क्योंकि स्वर्ग आदि जाना अच्छा लगता है, नरक जाना अच्छा नहीं लगता। इसलिये बिना कामना के कर्म हो नहीं सकेगा। विद्या ही शुभ–अशुभ सारे कर्मों का क्षय कर देती है। अतः नित्य कर्म मोक्ष के लिये विनियुक्त हों यह नहीं हो सकता।

कर्म और ज्ञान का इसीलिये अलग–अलग प्रतिपादन किया। और भगवान् खुद ही कह आये हैं 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५–८) तत्त्ववेत्ता तो इस ज्ञान वाला ही होता है कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ'। जब तक योगारूढ नहीं हुआ, तब तक तो कर्म ही कल्याण–कारक है और योगारूढ हो जाने पर शम अर्थात् संन्यास ही कल्याण का कारण होता है। अज्ञानी के लिये ही कर्म का विधान हो सकता है, ज्ञानी को तो भगवान् 'आत्मैव मे मतम्' से अपना स्वरूप कह चुके हैं और स्वयं भगवान् के लिये कर्म का विधान असम्भव है! जो चित्तशुद्धि के लिये, भगवान् के लिये कर्म करता है, वह युक्ततम है लेकिन है वह भी अज्ञ ही। उत्तरोत्तर धीरे–धीरे ही फल का त्याग होता है। पहले तो इहलौकिक फल का त्याग होता है। बाजार में गया, हलवाई की दुकान पर गरम–गरम पकौड़ा उतर रहा है। मन करता है 'खा लें, बड़ा मज़ा आयेगा'। लेकिन सन्मार्गी बनने के लिये उस मज़े को छोड़ना पड़ेगा। पहले पकौड़ा खाना तो नहीं छोड़ना है, परन्तु चाहे जिसके हाथ से बना पकौड़ा खाना तो छोड़ना पड़ेगा! इस प्रकार से उत्तरोत्तर फल का त्याग करते हुए अंत में जो सर्वत्याग है उसमें मनुष्य पहुँच जाता है। वहाँ पहुँचता है तो फिर जो कर्म भगवान् ने बताये हैं 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' (१२–१३) आदि, उन्हीं को करने की स्थिति में पहुँचता है। तब किसी भी काम्य आदि कर्मों में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्षेत्राध्याय में भी गुणातीत को वैसा ही बताया। इस प्रकार भगवान् ने कई अध्यायों में 'निवृत्तिमार्ग वाले का कर्म करना नहीं बनता' इसे स्पष्ट किया।

मोक्ष के प्रति कर्म की कारणता न स्वतंत्र होकर है और न कर्म ज्ञान का कुछ उपकार ही करता है। ज्ञान उत्पन्न करने में कर्म मदद करता है परंतु ज्ञान का फल मोक्ष उत्पन्न करने के लिये उसकी कोई सहकारिता नहीं है। मोक्ष को उत्पन्न करने के लिये ज्ञान को किसी सहकारी कारण की ज़रूरत नहीं है। यही ज्ञान और कर्म में विरोध है। कर्म हमेशा अविद्या–पूर्वक ही होगा और ज्ञान तो विद्या ही है। अविद्या और विद्या का अंधकार और प्रकाश की तरह सर्वथा विरोध है। नित्य कर्म भी सर्वथा ऐसा नहीं कि बिना कामना के किया जाये। पुण्यलोक की इच्छा से या प्रत्यवायनिवृत्तिकी इच्छा से ही नित्य में भी प्रवृत्ति है। सारे ही कर्म अविद्यापूर्वक होने वाली कामना से किये जाते हैं। नित्यादि में प्रवृत्ति अविद्यापूर्वक कैसे? इसे भाष्य में निषिद्ध कर्मों के दृष्टान्त से समझाया। ब्राह्मण की हिंसा नहीं करनी चाहिये, यह शास्त्र ने कहा है। उससे हमें यह मानना पड़ता है कि ब्रह्महत्या अनर्थ का कारण है, इसलिये न की जाये। इसी प्रकार नित्यकर्म भी हमको शास्त्र से पता लगते हैं।

ब्रह्महत्या में प्रवृत्ति कामना से होती है तो उसको शास्त्र का निषेध-वाक्य रोक लेता है। अविद्या से कामना होती है। ब्राह्मण ने कुछ किया, हमें गुस्सा आ गया, इसलिये कामना से उसको मारने के लिये प्रवृत्ति की। तब शास्त्र ने बताया कि यह अनर्थ का कारण है। जो कहता है कि 'जो हानि होगी सो हो, नरक भोग लूँगा, लेकिन इसको तो मार ही डालूँगा', वह तो निषेध रहने पर भी ब्रह्महत्या करता ही है। जो अनर्थफल से बचना चाहता है वही निषेधवाक्य से रुक पाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण को नहीं मारने से कुछ पैदा नहीं होगा, उससे कोई धर्म नहीं होगा, परन्तु ब्राह्मण को मारने से पाप होगा। शास्त्र ने कहा 'ब्राह्मण को मत मारो।' ब्राह्मण को नहीं मारने से तो पुण्य होगा नहीं, ब्राह्मण को मारने से अनर्थ होगा, पाप होगा। अतः जो ब्राह्मण को मारने के लिये प्रवृत्त हुआ है, उसे यह वाक्य रोक लेगा। ठीक इसी प्रकार जब कहते हैं कि 'ब्राह्मण संध्या करे या विप्र संध्या करे', तब अर्थ है कि जो अपने को ब्राह्मणरूप से निश्चय करता है वह संध्यावंदन करे। और 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अभिमान अविद्या से ही होगा, क्योंकि ब्राह्मणी में ब्राह्मण के द्वारा पैदा शरीर होता है इसलिये ब्राह्मण तो शरीर है। जिसको यह ज्ञान है कि 'यह शरीर मैं हूँ' वही यह कह सकेगा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ और मुझे संध्या करनी चाहिये'। लेकिन जिसने इस बात को जाना कि 'शरीर मैं नहीं हूँ' उसका निश्चय होगा कि जब शरीर मैं नहीं हूँ तो ब्राह्मण भी मैं नहीं हूँ। ब्राह्मण मैं नहीं हूँ तो ब्राह्मण के लिये जो नित्य कर्म कहा गया है वह मेरा कर्म नहीं है।' देहादि-संघात से भिन्न जब आत्मा का ज्ञान हो गया तब नित्य आदि कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

शरीर से स्वयं को भिन्न जानकर उसमें गौण आत्मभाव रखकर कर्मप्रवृत्ति नहीं हुआ करती कि तत्त्वज्ञ कर्म कर सके। कर्मप्रवृत्ति के लिये तो मिथ्या आत्मभाव ही कारण है। जहाँ भेद अज्ञात रहते अभेद का ज्ञान और व्यवहार हो वहाँ मिथ्या होता है जैसे रस्सी को साँप समझना। जहाँ भेद ज्ञात रहते अभेद का व्यवहारमात्र होता है वहाँ गौण होता है जैसे बेटे को 'यह मैं ही हूँ' ऐसा कह देते हैं। कर्मप्रवृत्ति शरीर में मिथ्या अहम्बुद्धि से होती है, गौण से नहीं। अज्ञान-दशा में शरीरादि संघात में 'मैं' की प्रतीति गौण नहीं होती। रस्सी में सर्प की प्रतीति गौण नहीं है। यह साँप ही है - ऐसा निश्चय होता है। यदि यह मानोगे कि शरीर आदि में 'मैं' प्रतीति गौण है तो शरीर आदि से होने वाले कामों को भी गौण मानना पड़ेगा। जैसे 'आत्मा वै पुत्रनामासि' बेटा तुम्हारा आत्मा ही है। यह बात श्रुति चाहे जितना कह दे फिर भी यह भ्रम कभी नहीं होता कि 'बेटे ने रोटी खा ली तो मैंने रोटी खा ली!' अतः वहाँ तो गौण है, क्योंकि हमें पता है कि असल में तो मैं बेटे से अलग हूँ। प्रिय होने से कह तो सकता हूँ कि 'बेटा मैं हूँ', जैसे कोई मालिक कह देता है कि 'यह जो मेरा मुनीम भद्रसेन है इसको मैं समझो' अर्थात् इसके द्वारा किया हुआ लेन-देन मेरा हो जायेगा। ऐसा कहते हुए भी उसको पता है कि 'हूँ तो मैं अलग, लेकिन मेरी जगह काम करने के लिये इसे लगा दिया है।' इस प्रकार यह प्रतीति किसी को नहीं होती कि 'हूँ तो मैं अलग परन्तु किसी काम

को करने के लिये मैंने अपने को यह शरीर मान लिया'। ऐसा भान नहीं होता। इसलिये शरीरादि में 'मैं' की प्रतीति गौण नहीं होती, यह तो मिथ्या है। गौण के अन्दर कभी भी अलगाव का भाव जाता नहीं है। जैसे हम चाहे जितना कहें कि 'ब्राह्मण का मुख अग्नि है' क्योंकि ब्रह्मण को अग्निमुख कहते हैं, किन्तु कभी यह शंका भी नहीं होती कि आज माचिस ख़त्म हो गई, पंडितजी के मुँह में लकड़ी घुसाकर आग जला लें! जैसे ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती क्योंकि पता है कि 'ब्राह्मण अग्निमुख है' यह केवल गौण प्रयोग है। ब्राह्मण बोलने में बड़ा तेज़ और तीखा होता है इसलिये कहा जाता है कि ब्राह्मण अग्निमुख है। परन्तु जब तुम अग्निहोत्र करते हो तब ऐसी प्रतीति नहीं होती कि 'अग्निहोत्र मैं नहीं कर रहा हूँ।' जो भी शरीर-मन करता है उसमें निश्चित प्रतीति है कि 'मैं ही कर रहा हूँ।' इसलिये इसे गौण नहीं कह सकते। देह आदि संघात के अन्दर भ्रम से आत्मरूपता दीख रही है।

कुछ लोग कहते हैं कि संघात में जो मिथ्या मैं-बुद्धि है उससे आत्मा कर्ता नहीं बनता वरन् आत्मा में होने वाले जो ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न हैं वे ही कर्म के हेतु हैं और उन्हीं से आत्मा वास्तव में कर्ता बनता है। किन्तु यह कहने से भी मिथ्याज्ञान ही कर्तृत्वका कारण सिद्ध होता है क्योंकि ज्ञान-इच्छादि भी वास्तव में आत्मा के धर्म नहीं वरन् मनके ही धर्म हैं, मन से तादात्म्य के कारण आत्मा में उनकी मिथ्या ही प्रतीति होती है। जन्य ज्ञान मनोवृत्तियाँ हैं। मनको मैं समझने पर ही वे ज्ञान 'मुझे हुए' ऐसा लगता है। ऐसे ही इच्छा व प्रयत्न भी मन करता है, मिथ्या ज्ञान होता है कि 'मेरी इच्छा है, मैंने प्रयत्न किया'। अतः इस रीति से भी कर्तृत्व को अविद्यापूर्वक होने वाला ही मानना पड़ता है। पहले जो मिथ्या प्रतीति हुई, उससे सुख हुआ तो इष्ट बुद्धि और दुःख हुआ तो अनिष्ट बुद्धि होती है। हमने एक काम किया और लाख रुपये की प्राप्ति हुई तो लाख रुपया कमाने के लिये फिर उस कार्य में प्रवृत्ति होगी। इष्ट-अनिष्ट संस्कार के कारण ही स्मृति, इच्छा, प्रयत्न आदि होते हैं। अविद्या के न रहने पर 'मुझे सुख या दुःख हुआ' इस प्रकार सुख-दुःख के संस्कार नहीं रहे अतः वे प्रवृत्ति के कारण नहीं हो सकते। कर्तृत्वादि जैसे वर्तमान जन्म में मिथ्या हैं वैसे ही सभी जन्मों में मिथ्या हैं अतः अन्य जन्मों के कर्तृत्वादि के उदाहरण से इस जन्मके कर्तृत्वादि को हम सत्य नहीं कह सकते। अर्थात् वर्तमान कर्तृत्वादि सत्य हैं जैसे अतीत जन्मो में कर्तृत्व सत्य था - यह नहीं कह सकते क्योंकि अतीत जन्मों का कर्तृत्व भी वैसा ही मिथ्या था जैसा वर्तमान कर्तृत्वादि। भूत-भावी सारा ही कर्तृत्वादि मिथ्या ही निश्चित होता है।

अतः सर्वकर्मसंन्यास से ज्ञाननिष्ठा होकर ही संसार का अत्यंत उपरम हो जाता है। देहाभिमान चूँकि अविद्यारूप है, इसलिये उसकी निवृत्ति होने पर देह की प्राप्ति उपपन्न नहीं रह जाती। यहाँ देह कहते हैं तो स्थूल शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त दोनों देह समझने चाहिये। जब पता लग जाता है कि ये सब मैं नहीं, तब जैसे गाय हमारे चाहे जितने पास खड़ी हो जाये, हमसे चिपक जाये तब भी कभी भ्रम नहीं होता कि 'मैं गाय हूँ', इसी प्रकार मन हमे चाहे जितना नज़दीक प्रतीत होता रहे पर 'मन में होने वाले इच्छा, स्मृति, प्रयत्न

मेरे हैं' ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती। जब तक नहीं जानते हैं तब तक तो जैसे अज्ञानवश स्थाणु में पुरुष या भूत दीख जाता है वैसे ही शरीर के पास आत्मा के होने से लग जाता है कि 'यह मेरा कर्म है'। जब अविद्या विद्या से निवृत्त हो गई, तब सर्वथा मिथ्या होने से कोई भी प्रतीति हमें प्रवृत्त नहीं कर सकती। तब यह नहीं हो सकता कि 'शरीर आदि गौण आत्मा हैं इसलिये इनकी प्रवृत्ति कराऊँ' प्रारब्ध-भोगकाल में देहादि पास तो प्रतीत होंगे परन्तु सर्वथा भिन्न रूप से प्रतीत होने के कारण उसको लेकर प्रवृत्ति बनती नहीं।

ऐसा भी नहीं कि श्रुति आत्मा को कर्ता बताती हो! श्रुति तो प्रत्यक्षादि से अज्ञेय फल-कारण सम्बन्ध का ही ज्ञापन करती है। बल्कि प्रत्यक्ष जब प्रमाण हो तो उसे श्रुति काटती नहीं जैसे 'आग गर्म है' इस प्रत्यक्ष को 'आग ठण्डी है' ऐसी यदि श्रुति हो भी तो नहीं काटेगी वरन् अर्थान्तर का ही सूचन करेगी। फिर श्रुति सब कर्म करने को कहती किसे है? श्रुति अज्ञानी को ही सम्बोधित करती है। श्रुति का ब्रह्मविद्या में पर्यवसान है। जब तक हम को ब्रह्मज्ञान नहीं हो गया तब तक अंतःकरण की शुद्धि इत्यादि के लिये श्रुति हमें कर्म करने को कह रही है। जैसे यज्ञ में अंग जो बताये जाते हैं उन अंगों का अपना फल कुछ नहीं होता, वे अंग मिलकर जिस अंगी का निर्माण करते हैं उस समग्र कर्म का ही फल होता है। सरलता से समझने वाला दृष्टांत ले लो - हम जब शब्द 'कमल' कहते हैं तो तुमको ज्ञान तब होता है जब अंतिम 'ल' सुनते हो। यदि कोई कहे कि फिर केवल 'ल' ही बोल दो! तो केवल 'ल' बोलने से 'कमल' का ज्ञान नहीं होगा। क और म के बाद जब ल का उच्चारण करेंगे तब वही ल कमल का ज्ञान करायेगा। इसी प्रकार, पहले तुमने याज-प्रयाज आदि सब अंगकर्म कर लिये हैं तभी पूर्णाहुति फल उत्पन्न करेगी। अंगों को किये बिना पूर्णाहुति करोगे तो फल उत्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार से श्रुति को बताना तो यह है कि 'तू ब्रह्म है'। परन्तु 'तू ब्रह्म है' का ज्ञान तब हो जब अंतःकरण शुद्ध हो जाये। कर्मश्रुतियों का कर्मविधान में तात्पर्य नहीं है, ब्रह्मविद्या के साधन बताने में तात्पर्य है, इस तरह वे प्रमाण हो जाती हैं। विद्या के अंगरूप में पहले सारे कर्म और उपासना काण्ड आ जाते हैं। कर्म वास्तव में सफल तभी होंगे जब तुम्हें ब्रह्मज्ञान होगा। अतः आचार्यों ने स्वर्ग का अर्थ स्पष्ट किया है कि जिस सुख का कभी अंत न हो और जिस सुख से बड़ा कोई सुख न हो, वही स्वर्ग है। यह लक्षण तो केवल आत्मज्ञान में ही जायेगा क्योंकि वहीं ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होगी। जो फल कर्मों के कहे गये हैं वे सब ब्रह्मविद्या के अन्दर ही सफल होंगे।

जिस प्रकार श्रुति ने ब्रह्मज्ञान को बताकर आत्मा में जो तुमको देहादि संघात को लेकर अहं-प्रतीति होती है, उसका बाध किया, इस प्रकार श्रुति ने यह कहीं भी नहीं कहा है कि आत्मा में जो आत्मस्वरूप की प्रतीति है वह मिथ्या है! घट, घट नहीं है - यह कभी प्रमाण से कहा नहीं जा सकता। आत्मा में जो देह आदि का तादात्म्य प्रतीत हो रहा है उसका तो अकर्तृत्वादिबोधक श्रुतिने बाध किया किंतु अकर्ता-अभोक्ता आत्मा का बाध नहीं किया। अतः कर्म-विधि की श्रुतियों से आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक वाक्यों का कभी भी अप्रामाण्य सिद्ध

नहीं होता है। शास्त्र का तात्पर्य तो पूर्व-पूर्व प्रवृत्ति का निषेध करके उत्तर प्रवृत्ति को कराना है और अंत में प्रत्यगात्मा की तरफ प्रवृत्ति को ले जाना है। वेद का तात्पर्य तुम्हें इन तुच्छ फलों की प्राप्ति कराने का है ही नहीं। वह तो तुम्हें पूर्व-पूर्व प्रवृत्तियों से हटा कर उत्तर-उत्तर प्रवृत्ति कराता है जिससे अंततः तुम्हारी प्रवृत्ति प्रत्यगात्मा की तरफ हो और जब यह काम हो गया तब वेदों का सार्थक्य हो गया। इस प्रकार से ये उपाय तो मिथ्या हैं लेकिन चूँकि उपेय सत्य है इसलिये उपाय को भी सत्य कह दिया जाता है। इसलिये कहीं-कहीं शास्त्रकारों ने कहा है 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा सत्यम् अर्थम् प्रबोधयेत्,' रास्ते सभी असत्य हैं परन्तु जिसे प्राप्त कराते हैं वह सत्य है। इसलिये उसे सत्य का रास्ता कहते हैं। शास्त्रीय ढंग से चलने पर सच्चे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है इसलिये जो ढंग हैं वे भी सच्चे कह दिये जाते हैं। हैं तो वे झूठे ही। ऐसा साधारणतः सभी लोग करते हैं। छोटे बच्चे को दूध पिलाना है तो उसे कहते हैं कि 'दूध पियेगा तो तेरे बाल बढ जायेंगे।' दूध पीने से बाल बढ़ने का कोई सम्बंध नहीं है, लेकिन बच्चा छोटा है, उसके बाल छोटे हैं तो वह दूध पी लेता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक कर्म के लिये अर्थवाद है। अर्थवादों से कर्मों की प्रशंसा की जाती है। इसी प्रकार से कर्मों के जितने फल बताये गये हैं वे सभी ब्रह्मज्ञान की प्रशंसारूप हैं क्योंकि वे सारे कर्म अंत में तुम्हें ब्रह्मज्ञान में समर्थ कर देते हैं। इस प्रकार से परम्परा से ये प्रमाण हो जाते हैं। आत्मज्ञान के उदय होने से पहले ये सब प्रमाण हैं। जैसे जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ तब तक शरीर को यदि कोई चन्दन लगाता है तो यही प्रतीति होती है कि 'मुझे चंदन लगा रहा है', वैसे ही कर्मादिविधायक शास्त्र, आत्मज्ञान से पूर्व, हमें फलसाधन की प्रमा करा देता है। जैसे ज्ञान होने पर पता लगेगा कि 'सचमुच में इसने मुझे चन्दन तो लगाया नहीं है' वैसे ज्ञान होने पर 'सचमुचमें मैंने सत्कर्म भी किये नहीं' यह पता लग जायेगा।

सांख्य वादियों की एक मान्यता है कि आत्मा करता तो कुछ नहीं है परन्तु उसके मन आदि के पास में होने से मन आदि कर्म करते हैं अतः चूँकि वह पास में है इसलिये उसके अन्दर कर्त्तापना वास्तविक है ही। जैसे राजा फौज को इकट्ठा करता है, दुश्मन पर चढ़ाई करता है। खुद वह भले ही कोई लड़ाई नहीं लड़ता, परन्तु राजा है तभी सारे सैनिक चढाई करते हैं। लड़ाई जीतते तो सेना और सेनापति हैं परन्तु कहा यह जाता है कि राजा जीत गया। उसी प्रकार आत्मा सन्निधि में रहे तब ये मन आदि सब प्रवृत्ति करते हैं इसलिये 'आत्मा करता है' ऐसा कहा जाता है। अत एव वे आत्माको भोक्ता मानते हैं कि उसी को सुख-दुःख होता है। अथवा यजमान पुरोहित से कहता है कि 'मेरे लिये सहस्र रुद्रयाग कर दीजिये'। उस यज्ञ का सारा कर्म तो पुरोहित करता है परन्तु उसका फल यजमान को ही मिलेगा। यजमान ने कुछ किया तो नहीं है, फिर भी फल उसे ही मिलेगा। इसी प्रकार आत्मा कुछ करता नहीं परन्तु उसकी सन्निधि में सब कुछ होता है, इसलिये वह उसके लिये ज़िम्मेदार है, उसे फल मिलेगा। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं! यह ठीक है कि राजा तलवार

से युद्ध तो नहीं करता, लेकिन उन सारे सैनिकों को तनख्वाह तो देता है, इसलिये उसमें सर्वथा अकर्तृत्व नहीं है। तन्ख्वा देने में उसकी सीधी कर्त्तृता है। इसलिये उसे जय-पराजय मिलती है। इसी प्रकार यजमान ने सारी सामग्री खरीदकर इकट्ठी की और पुरोहित को दक्षिणा भी दी। यह सब काम तो उसने खुद किया ही। वैसे श्रौत कर्मों के अन्दर जो प्रधान आहुति, पूर्णाहुति होती है, उसके लिये तो यजमान की ज़रूरत पड़ ही जाती है। स्मार्त कर्मों के अन्दर भी पूजा प्रारम्भ करने का संकल्प तो यजमान को ही करना पड़ता है। इस प्रकार से कुछ तो करता है, तभी अनुष्ठान का फल मिलता है। इसलिये इन दृष्टांतों में राजा या यजमान की केवल सन्निधि नहीं है। अतः उक्त उदाहरणों से अकर्ता भी आत्मा भोक्ता बने - यह सांख्यों की मान्यता सिद्ध नहीं हो पाती, भ्रम के कारण मानते हैं तब तो सब उपपन्न हो जाता है। शरीर ने क्रिया की और भ्रम है कि 'शरीर मैं हूँ' इसलिये आगे जब जीभ रसगुल्ला खाती है तो 'मैं भोग कर रहा हूँ' इत्यादि यह सब भ्रम से तो बन जाता है। जैसे स्वप्न में न रथ है, न घोड़े हैं और न सड़क है। परन्तु स्वप्न में वे सब बन जाते हैं ठीक इसी प्रकार से यह जगत् भी माया के कारण ही प्रतीत होता है अतः उसमें मैं कर्त्ता भी बन जाता हूँ भोक्ता भी बन जाता हूँ। जैसे बिना कुछ बने हुए स्वप्न में बन जाता है वैसे ही यहाँ मायिक संसार में बिना कुछ हुए सब बन जाता है।

आत्मा कर्त्ता भोक्ता नहीं है यह बात हमको हरदिन गहरी नींद में पता लग जाती है। गहरी नींद में न कोई कर्त्तृत्व है और न कोई भोक्तृत्व है। यदि आत्मा का स्वरूप कर्त्ता-भोक्ता होता तो सुषुप्ति के अन्दर भी मिलता। इसी प्रकार समाधि के अन्दर भी कर्त्तृत्व भोक्तृत्व नहीं रहता। वहाँ कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व की, अनृत की, प्राप्ति नहीं होती, इससे ही यह पता लग जाता है कि आत्मा में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आत्मा के स्वभाव का नहीं है। समाधि का अनुभव भले ही सब नहीं करते, लेकिन सुषुप्ति का अनुभव तो सभी करते हैं। इस प्रकार श्रुति-युक्ति के विचार से कर्तृत्वादि सचमुच में सिद्ध नहीं होता, जब यह सम्यक् दर्शन होता है, तब अत्यंत उपरामता, सर्वकर्मसंन्यास हो जाता है, कोई भी कर्म सम्भव नहीं रहता। जैसे स्वप्न के बारे में यह विचार नहीं कि 'स्वप्न की सड़क का गड्ढा ठीक कर दूँ' या 'स्वप्न में जो ज़रूरतमंद थे उनकी कुछ मदद कर दूँ' क्योंकि निश्चित पता है कि 'भ्रांति से जब दीख रहा था वहाँ गड्ढा, लोग, तब भी कुछ नहीं थे', इसी प्रकार आत्मज्ञान दृढ हो जाने पर यह निश्चय हो जाता है कि यह संसार भ्रम था। अतः यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं है जो किया जा सके। इसलिये तब सिवाय सर्वकर्मसंन्यास के कुछ भी नहीं बनता।

इस प्रकार से भगवान् भाष्यकार ने गीता शास्त्र का विस्तार से उपसंहार किया। इस अठारहवें अध्याय में और विशेषकर अंत में जाकर शास्त्रार्थ को दृढ करने के लिये सारे शास्त्र का उपसंहार भगवान् ने भी कर दिया और उसी को युक्तियों के द्वारा आचार्य शंकर ने स्पष्ट कर दिया। निश्चित हो गया कि सारे गीता शास्त्र का तात्पर्य संन्यासपूर्वक ब्रह्मविद्या में स्थित होना ही है।।६६।।

इस ज्ञान की परम्परा के नियम बताने बाकी हैं। किस प्रकार से यह सम्प्रदाय चलता है? सम्प्रदाय शब्द का हिन्दी में तो कुछ और ही अर्थ हो गया है! परन्तु इससे मिलता-जुलता शब्द प्रचलित है 'जलदाय', वहाँ दाय का जैसा अर्थ है वैसा ही अर्थ सम्प्रदाय शब्द में है। जिस ज्ञान को दिया जाता है उसे दाय कहा जाता है। जब उस चीज़ को अच्छी तरह समझकर दो तो प्रदाय और ठीक प्रकार से या सम्यक् प्रकार से समझाकर दो तो सम्प्रदाय है। अतः ज्ञान देने वाला और ज्ञान लेने वाला दोनों सम्यक् प्रकार से हों तब वह सम्प्रदाय है। इसलिये इसका उपदेश देने वाले और इसे ग्रहण करने वाले के नियम सम्प्रदाय-विधि में बताने ज़रूरी हैं। गीता जैसे सारे वेदार्थ का सार है उसी प्रकार से यहाँ सम्प्रदाय-विधि अर्थात् वैदिक सम्प्रदाय-विधि का भी संक्षेप से वर्णन कर देते हैं –

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

तेरे हित के लिये सुनाया यह शास्त्र उसे कभी नहीं बताना चाहिये जो तपस्वी न हो, गुरु व ईश्वर का भक्त न हो, सुनना चाहता न हो और मुझ (वासुदेव) पर दोषारोपण करता हो।

इस शास्त्र को ग्रहण करने वाले में क्या-क्या गुण होने चाहिये? भगवान् कहते हैं कि यह शास्त्र मैंने तुम्हारे हित के लिये बताया है कि जिससे संसार-बंधन कट जाये। संसार-बंधन कटने के लिये, तुम्हारे कल्याण के लिये मैंने गीताशास्त्र तुम्हें बताया। यहाँ भाष्य में 'उक्तम्' के अध्याहार से वाक्य पूरा किया है। कुछ लोग 'ते' का 'त्वया' अर्थ करते हैं कि तुम इसे ऐसों को न बताना। अर्थात् मैंने तुम्हारे हित के लिये जो गीता शास्त्र कहा है, जो तपस्वी नहीं है उसको इसका उपदेश मत देना। तप क्या है? जैसा भाष्यकार अन्यत्र कहते हैं 'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा' अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मों का पालन करने वाला ही तपस्वी कहा जाता है। तप का मूल अर्थ कष्ट-सहन होता है। इसीलिये बुखार को ताप कहते हैं क्योंकि कष्ट देता है। जब तुम शास्त्र में बताये हुए वर्णाश्रम धर्म के अनुसार चलते हो तो बहुत कष्ट आते हैं। इसलिये अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के पालन को तप कहा गया है। वर्णाश्रम धर्म का पालन कढ़ी चावल खाने जैसा नहीं होता! उसका पालन करने में तरह-तरह के कष्ट आने पर उन्हें सहन करने से तप होता है। अतः जो वर्णाश्रमी हैं वे अपने उन धर्मों का पालन करने के लिये तप करें। जो कष्ट को देखकर धर्म का परित्याग करता है उनके काम का यह शास्त्र भी नहीं है। सत्रहवें अध्याय के अनुसार जो वर्णाश्रम धर्म का ज्ञान नहीं रखता, जिसने अध्ययन किया नहीं, केवल दूसरों को देखकर आचरण कर लेता है, उसके लिये भगवान् ने देवता, ब्राह्मण, गुरु, पण्डितों का पूजन करना, पवित्रता और सरलता से रहना इत्यादि शारीरिक तप; इसी प्रकार मुख से सत्य का उच्चारण करना इत्यादि वाणी का तप; और मन को हमेशा प्रसन्न रखना, शान्त रखना, हमेशा सबके प्रति नम्रता का व्यवहार करना इत्यादि मन का तप; इन तीनों तपों को बताया था। इन्हें जो

सात्त्विक भाव से करता है वही इस शास्त्र का अधिकारी है। यह पहली योग्यता हुई।

तपस्वी होने पर भी जो गुरु और ईश्वर का भक्त नहीं है उसे इसका उपदेश नहीं देना। वेद ने यह नियम किया है

‘यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।’

जिसकी देवाधिदेव महादेव में परम भक्ति और वैसी ही भक्ति उपदेश करने वाले गुरु में है, उसे ही वेदार्थ समझ आता है। गुरु जिस चीज़ का उपदेश करता है वह कोई उसकी थाती नहीं है! वह तो सृष्टि के आदि में भगवान् शंकर ने दक्षिणामूर्तिरूप से जो उपदेश दिया वही है, अतः उपदेश तो उनका है। गुरुपरम्परा से वर्त्तमान गुरु को वही उपदेश मिला। अतः वह जो ज्ञान देता है वह कोई *उसका* ज्ञान नहीं है। वह तो देवाधिदेव महादेव का ही ज्ञान है। फिर भी वह ज्ञान जिस आश्रय में है उसके प्रति भी वैसी ही भक्ति हो जैसी परमेश्वर में है, तब ज्ञान होता है। ‘अभक्ताय’ के लिए भगवान् विशेष बात बताते हैं ‘कदाचन’। अन्य सारे गुण हों, लेकिन देवता और गुरु की भक्ति से रहित हो, तो उसे किसी भी हालत में अर्थात् किसी भी अवस्था में इसका उपदेश न दे। यह रहस्य विद्या है। इसे भगवान् ने ‘गुह्याद् गुह्यतरं’ कहा है। अतः जो इस प्रकार की भक्ति से रहित है उसे यह नहीं दी जा सकती। जैसे लोक में भी जो पुत्र हमेशा पिता की आज्ञा मानता है, पिता से प्रेम करते हुए उसकी सेवा करता है, पिता अपना इच्छा-पत्र लिख कर उसके पास रख देता है क्योंकि वह जानता है कि यह मेरा भक्त है, मेरी कही बात पूरी करेगा। जैसे लोक में इच्छापत्र गुह्य होता है इसी प्रकार यह शास्त्र भी गुह्यतम है इसलिये उसी को देना चाहिये जो गुरु व देव में भक्ति वाला हो।

तीसरी बात भगवान् कहते हैं ‘अशुश्रूषवे न वाच्यं’। शुश्रूषा के दो अर्थ होते हैं - सुनने की इच्छा और गुरुसेवा। जिसकी सुनने की इच्छा न हो उसे ज़बर्दस्ती सुनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये क्योंकि जिसकी सुनने की इच्छा नहीं होगी वह उसके ठीक अर्थ को धारण नहीं कर पायेगा। सुनने की इच्छा उसी चीज़ की होती है जिसमें श्रद्धा होती है। इसलिये अतिधन्य वेद ने नियम किया है कि जो तपस्वी होता है उसी के अन्दर श्रद्धा आती है और श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है। व्रत और तप एकार्थक हैं। सत्य की प्राप्ति के लिये उस चीज़ में श्रद्धा की ज़रूरत है। कारण इसका यह है कि सत्य अतीन्द्रिय चीज़ है। ऐन्द्रिय चीज़ के लिये जैसे इन्द्रिय की ज़रूरत होती है वैसे सत्य जानने के लिये श्रद्धा ज़रूरी होती है। जैसे यह कपड़ा किस रंग का है, यह जानने के लिये आँख की ज़रूरत है। अंधे व्यक्ति को कभी भी कपड़ा दीखता नहीं है। किसी भी चीज़ के रंग का ज्ञान तभी हो सकता है जब हमारी आँखें हों, इसी प्रकार शब्द तुम तभी सुन सकते हो जब कान हों। बिना कानों के जो बहरा व्यक्ति है वह कभी शब्द नहीं सुन सकता। यदि अन्धा व्यक्ति कहे कि ‘रंग है ही

नही! होता तो मुझे ज़रूर दीखता, तुम केवल झुठ-मूठ कहते हो कि रंग होता है। रंग हो, तो दिखाओ!' अब अंधे को रंग कैसे दिखायें! ठीक इसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान का एकमात्र आधार वेद है। वेदों के द्वारा ही पता लगता है कि परमात्मा का रूप क्या है, परमात्मा कैसा है, उसका क्या कार्य है। अतः भगवान् ने कहा था 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः' (१८-५५) यदि परमेश्वर देखने की चीज़ होती, उसे आँख से ग्रहण कर सकते अथवा इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते, तब तो उसे देखना बनता, परन्तु परमेश्वर का रूप है ही नहीं, उसमें शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध कुछ हैं ही नहीं 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् तथा ऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्'। अतः इन्द्रियों के द्वारा वह जाना नहीं जा सकता, उसको तो वेद के द्वारा ही जान सकते हैं। जो वेद को सुनना ही नहीं चाहता हो, उसको उसकी इच्छा ही न हो, उसको परमात्मा का ज्ञान कभी कराया नहीं जा सकता। 'सुनने की इच्छा' यह शुश्रूषा का एक अर्थ है। इच्छा तभी होती है जब अपने अन्दर किसी चीज़ की वास्तविकता का निश्चय होता है। जिसकी वास्तविकता के बारे में हमारे में प्रामाण्य-बुद्धि नहीं है, उसे सुनने की इच्छा नहीं होती। जिसको वेद में श्रद्धा होगी, वही वेद की बात को सुनकर तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर सकेगा। अन्यथा, उसे सुनाना व्यर्थ है। शुश्रूषा का दूसरा अर्थ सेवा होता है। जो गुरु की सेवा करने वाला न हो उसे भी उपदेश देना व्यर्थ होता है।

एवं 'यो माम् अभ्यसूयति' जो मनुष्य भक्त भी है, तपस्वी भी है, सेवा भी करता है, सुनना भी चाहता है परन्तु भगवान् को प्राकृत मनुष्य समझता है, उसे भी यह शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये। जैसे दूसरे लोग हैं, वैसे ही कृष्ण भी हैं- इस प्रकार जब परमेश्वर के अन्दर प्राकृत बुद्धि होगी तब भगवान् की बात को सुनकर असूया करेंगे अर्थात् दोष-दर्शन करेंगे। भगवान् कहते हैं - मैं तो सर्वथा निर्दुष्ट हूँ, दोष का मेरे साथ कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु वह चूँकि अज्ञान वाला है इसलिये उसे मेरे अन्दर दोष का अध्यारोप हो जायेगा। सारी गीता के अन्दर परमात्मा का रूप प्रत्यगात्मा से अभिन्न करके कहा गया है और ऐसे ही वेदों में कहा गया है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो ब्रह्म का स्वरूप है वह किसी भी प्रकार स्थूल या सूक्ष्म शरीर के साथ सम्बन्ध वाला नहीं है। इसलिये जब स्थूल या सूक्ष्म शरीर की दृष्टि से परमेश्वर को देखते हैं तब वह दोष वाला प्रतीत होगा ही। एक तरफ शिष्य को उपदेश देंगे, बोलने के लिए शरीर-सम्बन्ध चाहिए, शिष्य से खुद में भेदबुद्धि चाहिये; अतः इन बातों में परस्पर विरोध देखना सहज है। प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म के बारे में भगवान् कहेंगे 'अहमादिर्हि भूतानां' सारे प्राणियों का कारण मैं हूँ। तब तुरन्त शंका होगी कि कृष्ण तो अभी सौ-पचास या दस-बीस हज़ार साल पहले हुए और यह संसार तो अरबों साल पहले पैदा हुआ, उसका ये आदि कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार से जब प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्मरूप का प्रतिपादन किया जाता है तब बड़ी सरलता से परमात्मा में अभ्यसूया हो जाती है। ऐसा लगता है मानो बोलने वाला आत्मप्रशंसा कर रहा है। वह कहेगा कि 'सारी सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-संहार करने वाला मैं हूँ' तब लगेगा कि अपनी ही तारीफ कर रहा

है! भगवान् ने गीता में बार-बार 'मैं' शब्द का प्रयोग करके बताया है अतः यह शंका होती ही है। इसलिये इसके पूर्व भी बताया था कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सभी असत्य हैं परन्तु इनके रास्ते से ही जो तत्त्व है उसका प्रतिपादन किया जा सकता है अन्यथा प्रतिपादन असम्भव है। भगवान् दक्षिणामूर्ति ने सनत्कुमारों को उपदेश करते हुए कहा कुछ नहीं, केवल उन्हें चिन्मुद्रा दिखाई। वे अत्यंत शुद्ध अंतःकरण वाले थे इसलिये समझ गये कि प्रत्यगात्मा ब्रह्म है और तीन गुण, प्रकृति के कार्य होने से सर्वथा मिथ्या हैं। परन्तु वहाँ भी यदि उन्हें द्वैत-दर्शन होता कि 'हाथ तो प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध वाला नहीं है तो प्रत्यगात्मा अपने हाथ से ज्ञान को कैसे दे सकता है?' तो वे भी कुछ समझते नहीं। अतः भगवान् कहते हैं कि सारे गीताशास्त्र में ऐसे लोगों को आत्मप्रशंसा जैसी असम्भव बातें दीखेंगी क्योंकि वे मुझ प्रत्यगात्मा की ईश्वरता को सहन नहीं कर सकेंगे। सारे द्वैतवादी हमेशा से इसीलिये अद्वैत के ऊपर दोषारोपण करते ही रहते हैं। अतः भगवान् से अभ्यसूया करने वाले को इस गीता शास्त्र का उपदेश देने से उसका कोई हित नहीं हो सकता। उल्टा, परमेश्वर पर दोष लगाने के अपराध रूपी पाप को बेचारा अपने ऊपर लेता है।

अन्यत्र 'मेधाविने तपस्विने वा' से अधिकारी बताया है। वहाँ तपस्या अैर मेधा का विकल्प किया है। इसलिये यदि कोई शुश्रूषा और भक्ति से युक्त है, तपस्वी नहीं है परंतु मेधावी है, तब भी उसे यह उपदेश देना चाहिये। मेधावी का मतलब है, जैसा उपदेश दिया हो वैसा ही स्मरण रख सके। मेधा उस बुद्धि को कहते हैं जो ग्रन्थार्थ को धारण करने में समर्थ होती है। उसको उपदेश देने से क्या लाभ होता है? आगे आयेगा कि जो मेधावी है वह यह उपदेश अन्यों को देकर अपना और दूसरों का कल्याण कर सकता है। इसलिये शास्त्रने 'तपस्विने मेधाविने वा' कहकर विकल्प किया है। जो मेधावी नहीं होगा वह आगे पीछे की बात को ठीक तरह से याद नहीं रख सकेगा अतः दूसरे को उपदेश देने में समर्थ नहीं होगा। इसलिये आगे जो विधान करेंगे वह केवल तपस्वी के लिये नहीं हो सकता, मेधावी के लिये हो सकता है। मेधावी तो अपना और दूसरे का कल्याण करेगा। तपस्वी अपना अंतःकरण शुद्ध कर लेगा और फिर आत्मज्ञान करके अपना कल्याण कर लेगा। इस प्रकार से शुश्रूषा और भक्ति तो अवश्य होनी ही चाहिये। अनसूया का भाव भी होना ही चाहिये। तप और मेधा का तो विकल्प है, अन्य चीज़ों का विकल्प नहीं है। यहाँ कही सब विशेषताएँ होनी चाहिये यह बताने के लिये भगवान् ने सबके साथ 'न' लगाया है कि एक हो तो भी अधिकारी नहीं बनेगा। सबका समुच्चय है, इन सबमें विकल्प नहीं है। जो परमेश्वर में असूया करने वाला हो अर्थात् 'प्रत्यगात्मा ब्रह्म हो ही नहीं सकता' ऐसी असूया यदि मन में रखे, तो सारे गुणों से युक्त होने पर भी उसे गीताशस्त्र का रहस्य नहीं बताना चाहिये। जो असूया से रहित है, शुश्रूषु है, देवाधिदेव महादेव में भक्ति वाला है, उसे तो अवश्य उपदेश देना चाहिये। यह शास्त्र-सम्प्रदाय की विधि है।

'वाच्यं' से भगवान् विधि कर रहे हैं ऐसे अधिकारी को अवश्य बताये। परमेश्वर की

प्राप्ति के लिये उत्तम निदिध्यासन ध्यान आदि साधन माने गये हैं और अनेक आचार्यों ने इसीलिये कहा है कि हर हालत में सारे व्यवहारों को छोड़े। उपदेश आदि परम्परा को चलाने की भी उसे ज़रूरत नहीं। ज्ञान प्राप्त करके उसी स्थिति में रहे। चूँकि उपदेश आदि देने में द्वैतबुद्धि बनेगी और किसी भी काम को करने में कामना कारण बनती है अतः उपदेश देने में भी तुम्हारी कोई-न-कोई सत्कार, मान, पूजा इत्यादि की भावना होगी; अतः ये सब न करे, ध्यान आदि करके स्थिति प्राप्त करे, किंतु भगवान् ने 'वाच्यं' कहकर विधि कर दी कि अवश्य कथन करे।।६७।।

भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार से सम्प्रदाय चलाने वाले को क्या फल होता है। इस फल से पता लगता है और आगे भी भगवान् स्पष्ट करेंगे कि ध्यान करने वाले की अपेक्षा अथवा निदिध्यासन में लगे हुए की अपेक्षा भी जो सम्प्रदाय-प्रवर्तक है वही उत्तम भक्त है। अतः ध्यान आदि की अपेक्षा भी सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन करने का फल अत्यंत श्रेष्ठ है -

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

जो इस परम पुरुषार्थ के प्रयोजन वाले गोपनीय संवाद को मेरे भक्तों के मध्य सुनायेगा वह निःसन्देह मेरी परा भक्ति करके मुझे पा जायेगा।

जो कोई भी साधक, 'इमं' यह जो गीता शास्त्र मैंने बताया है, इसको सुनाता है, वह मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही करता है। यह गुह्य है, गोपनीय है, सबको बताने के लिये नहीं है। जिस प्रकार आदमी अपने रत्न की रक्षा करता है वैसी ही इसकी रक्षा करनी चाहिये। गुह्य का दूसरा अर्थ पहले बताया ही था कि यह जो ज्ञान मैंने बताया है यह मनुष्य को अपने हृदय में ही प्रकट होता है, हृदयरूपी गुहा में प्रकट होने से यह गुह्य है। परम गुह्य है अर्थात् यह ज्ञान अंतिम है, साक्षात् मोक्ष देने वाला है। निःश्रेयस के लिये इसका उपदेश दिया गया है। अतः गीताशास्त्र धन, पुत्र आदि की प्राप्ति के लिये नहीं है। वेद में तो इन सबकी प्राप्ति के उपाय बताये हैं परन्तु उनमें से गीता शास्त्र साररूप में केवल निःश्रेयस प्रयोजन को उद्देश्य रखता है इसलिये श्रौत स्मार्त परम्परा में जो निःश्रेयस चाहने वाला है वह गीता का ही सर्वाधिक विचार करता है। ब्रह्मविद्या के प्रकरण में जो तीन प्रधान साधन हैं उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता, उनमें ब्रह्मविद्या के लिये स्मृतिरूप में गीता प्रमाण है। अन्य अनेक स्मृतियाँ है जिनमें सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये, पारलौकिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये सारे उपाय बताये हैं। विषयेच्छुकों के लिये तो वे सारी स्मृतियाँ काम दे जाती हैं, परन्तु ब्रह्मविद्या के लिये तो यही स्मृति प्रमाण है। इसलिये इसे परम गुह्य कहा। यह भगवान् कृष्ण और अर्जुन का संवाद है और यह संवाद केवल मोक्ष के लिये किया गया है। अर्जुन ने पूछा था कि 'जो मेरे निःश्रेयस की बात है, वह आप बताइयेगा।' उसके प्रश्न के अनुसार भगवान् ने निःश्रेयस का मार्ग ही बताया है। इसलिये इसमें भगवान् ने वैराग्य की साधना करने वाले

के लिये स्पष्ट कह दिया कि जितना वेद का कर्म और उपासना काण्ड है, जो उसी को सब कुछ समझता है वह अज्ञान में ही रहता है। जो हमको अच्छी चीज़ें लगती हैं, शरीर ठीक रहे, धन की प्राप्ति हो, बच्चों के लिये मकान की प्राप्ति हो, राज्य की प्राप्ति हो इत्यादि, उनके उपाय कर्म-उपासना शास्त्र में बताये हैं। सर्वाधिक लोग वही सब चाहते हैं। यदि यहाँ कह दिया जाये कि सवेरे चार बजे उठोगे तो भगवान् प्रसन्न होंगे और दूसरी जगह कह दिया जाये कि 'सवेरे चार बजे हमारे पास जो आयेगा उसे पाँच गिन्नियाँ देंगे', तो भीड़ कहाँ लगेगी? सब जानते हैं, कहने की ज़रूरत नहीं कि भीड़ गिन्नी मिलने वाली जगह लगेगी। क्योंकि गिन्नी चाहने वाले लोग ज़्यादा हैं। भगवान् ने तो सावधान कर दिया 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' विषयलाभ बताने वाली तो फूलों से सजी हुई वाणी है। वास्तव में तो सब चीज़ें प्राप्त होकर नष्ट ही होंगी, फिर वही रोना शुरू हो जायेगा! इसलिये गीता के अन्दर सारे वेद का जो वास्तविक प्रयोजन परमात्मप्राप्ति है, वही बताया गया है। अतः यह परम है। बाकी सब स्मृतियाँ तो जब तक निःश्रेयस की इच्छा नहीं है तब तक के लिये हैं। गीता परम है और गुह्य है।

इसको जो मुझ में भक्ति वाले हों उनको बताता है वह मुझे पा जाता है। 'अभिधास्यति', 'अभि' अर्थात् चारों तरफ से; मेरे कहे हुए शब्दों के द्वारा और उन शब्दों का जैसा अर्थ है वैसा समझाने के साथ बताता है। अतः भगवान् के शब्दों का उलट फेर करना भी ठीक नहीं और केवल शब्दों को कह दिया और सामने वाला अर्थ नहीं समझा तो भी 'अभिधान' नहीं होगा। जो ग्रन्थ और अर्थ दोनों का स्थापन करेगा वही भली प्रकार से इसका स्थापन कर सकेगा। जो इस तरह यह उपदेश दूसरों को बतायेगा वह 'मयि परां भक्तिं कृत्वा' मेरी परम भक्त कर लेगा, अर्थात् यही मेरी परा भक्ति है। सबसे अंतिम, सबसे श्रेष्ठ जो परमेश्वर की भक्ति है वह इस शास्त्र को ग्रन्थ और अर्थ सहित भक्तों को बताना है। उसका यह निश्चय होना चाहिये कि 'मैं इसके द्वारा परमेश्वर की भक्ति कर रहा हूँ'। ऐसा निश्चय करके यदि वह उपदेश करेगा तो जो फल आगे भगवान् बताने जा रहे हैं उसको प्राप्त करेगा। यदि इस उपदेश को वह किसी और लौकिक सम्मान आदि की प्राप्ति के लिये करता है तब उसे वह फल प्राप्त नहीं होगा। ठीक जिस प्रकार से जब ध्यान आदि सम्पन्न होते हैं तो स्वभावतः हमारे अन्दर विशेष शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। यदि उन विशेष शक्तियों की तरफ दृष्टि न करें तब तो आगे निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होती है और अगर उन विशेष शक्तियों में आकृष्ट हो गये तो परमात्म मार्ग से च्युत हो जाते हैं। वैसे ही यह गीता शास्त्र इतना महान् है कि अनेक प्रकार के सम्मान आदि की प्राप्ति कराता है। उस सम्मान आदि या विद्वत्ता आदि की इच्छा करेगा तो वास्तविक फल नहीं मिलेगा। इसका उपदेश केवल परमेश्वर की भक्ति के रूप में करेगा तो चूँकि यह परम भक्ति है इसलये परमात्मा को पा लेगा। 'परमगुरु परमेश्वर की भक्ति कर रहा हूँ', 'प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो परब्रह्म परमेश्वर है उसकी सेवा और किस प्रकार से कर सकता हूँ' इस भाव से गीता का कथन

व व्याख्यान करना कल्याण का उपाय है। इसलिए अन्यत्र भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि यद्यपि आचार्य के लिये कोई नियम नहीं, फिर भी जो सच्छिष्य हो उसे उपदेश देने का नियम तो श्रुति करती ही है। इसी प्रकार भगवान् कह रहे हैं कि जब तक शरीर है तब तक उसकी भक्ति अवश्य कर्त्तव्य है और यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

यह भक्ति करता है तो उसका फल क्या है? 'मामेवैष्यत्यसंशयः' वह मुझे ही प्राप्त करेगा अर्थात् प्रत्यगात्मा से अभिन्न भाव में ही स्थित रहेगा। कोई यह न समझ ले कि यह प्रशंसा की होगी, इसलिये भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि यह कोई अर्थवाद या प्रशंसा नहीं कर रहे हैं, यह तो फलश्रुति है अर्थात् ऐसा होता ही है। पहले भी भगवान् ने कहा था 'नाभक्ताय' और यहाँ भी 'भक्तेषु' से भक्ति का पुनर्ग्रहण किया है, वह यह बताने के लिये कि यदि तपस्या, मेधा, शुश्रूषा आदि सब नहीं भी हैं परन्तु यदि मुझ मे अत्यंत प्रेम है, भक्ति है, तो इतने मात्र से भी वह प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है, उसे उपदेश किया जा सकता है।

इस प्रकार की भक्ति करने वाला कौन हो सकता है? तीन तरह के लोग हो सकते हैं - i) साधक, ii) ज्ञानी और iii) ज्ञाननिष्ठा वाला। साधक करेगा तो विक्षेप हो सकता है अतः साधक को तो भगवान् इसका उपदेश करने में प्रवृत्त भी नहीं कर रहे हैं। जिसने परमात्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु अभी तक निष्ठा नहीं बनी है, वह इसका उपदेश करेगा तो वेदान्त विचार चलता रहेगा और यह उसके लिये उपयोगी होगा, बाधक नहीं होगा। इसलिये भगवान् ने कहा कि जो शास्त्र का अध्यापन ग्रन्थतः और अर्थतः दोनों प्रकार से करेगा, वह ज्ञाननिष्ठारूपी भक्ति को, जैसा भगवान् ने कहा 'भक्त्या मामभिजानाति' उस भक्ति को करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करेगा। अतः इसके अध्यापन का अधिकारी ज्ञान-निष्ठा का साधक ही है। और जिसकी ज्ञाननिष्ठा पक गई है, जो भूमिकारूढ है, उसके लिये तो संसार की प्रतीति न होने के कारण करना और न करना दोनों ही सम्भव नहीं हैं। 'मैं परमेश्वर की भक्ति कर कर रहा हूँ' इस भावना से जो उपदेश करने को कहा है वही, ज्ञानी की भक्ति सिद्ध हो जाता है। किसी ने माना है 'अभिधास्यति' अर्थात् उपदेश करे और फिर 'परां भक्तिं कृत्वा' परा भक्ति करे; किंतु वह व्याख्या ठीक नहीं। यह प्रसंग ही शास्त्र-प्रवर्त्तन का है, उसके बीच में शास्त्र-प्रवर्तन से अतिरिक्त किसी चीज़ की प्रशंसा करना या विधान करना दोनों ही नहीं बनते हैं। इसलिये आचार्य शंकर ने ऐसा नहीं स्वीकारा। रामानुज आदि ने भी ऐसा नहीं स्वीकारा। कुछ लोगों ने माना है कि यदि पूरी तरह से ज्ञान नहीं भी है परन्तु सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन करता है तो इससे उसकी परा भक्ति हो जाती है। परन्तु जो जिस चीज़ का अनुभव किया हुआ नहीं है वह उसको दूसरे को ठीक-ठीक उपदेश दे ही नहीं सकता। जब यह बात स्थूल वस्तुओं के लिये भी है कि जिसने अनुभव किया है वह जैसा ठीक-ठीक उपदेश दे सकता है वैसा दूसरा नहीं दे सकता, तो अतिसूक्ष्म इस प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव किये बिना इसका उपदेश बनता ही

नहीं। इसलिये जो कुछ लोगों ने कहा कि सम्मान आदि की प्राप्ति के लिये भी जो उपदेश करता है वह भी परा भक्ति हो जाती है, यह संगत नहीं बैठता।।६८।।

मुमुक्षुकी विद्यासम्प्रदान में प्रवृत्ति का औचित्य स्वयं भगवान् स्थापित करते हैं –

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६६।।

उस (सम्प्रदायप्रवर्तक) की अपेक्षा मेरा सर्वाधिक प्रिय करने वाला मनुष्यों में न कोई है न होगा अतः संसार में उससे अधिक मुझे कोई प्रियतर नहीं है।

‘मनुष्य’ इसलिये कहा है कि ‘मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्य’ मनष्य को ही शास्त्र में अधिकार है। देवादियों को ज्ञान में अधिकार तो है परन्तु स्वयंभातवेद होने से उनको वेदातिरिक्त शास्त्र की ज़रूरत नहीं रहती है। मनुष्य चूँकि स्वयंभातवेद नहीं है अतः उसे वेद को समझने के लिये सहायक शास्त्र की अपेक्षा होती है। इसलिये मनुष्यों में जो ग्रन्थ और अर्थ से शास्त्र-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक है उसकी अपेक्षा मेरा सबसे ज़्यादा प्रिय काम करने वाला दूसरा नहीं है। यद्यपि पौनःपुन्येन श्रवण, मनन, निदिध्यासन में लगना भी पराभक्ति का प्रकार है तथापि इस सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन को करना, तपस्वी भक्त को ग्रन्थ और अर्थ सहित रास्ता बताना, यह मुझ ईश्वर के लिये सबसे प्रियकारी है। इसलिये श्रवण मनन निदिध्यासन की अपेक्षा भी यह करने वाला मुझे ज़्यादा प्रिय है। वर्त्तमान में तो इससे ज़्यादा प्रिय मुझे और कोई है ही नहीं, भविष्य में भी कोई ऐसा साधक नहीं होगा जो इस कार्य को करने वाले की अपेक्षा मुझे ज़्यादा प्रिय हो। भगवान् को सबसे ज़्यादा प्रिय वही है जो भगवान् के सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन करता है। ‘भुवि’ अर्थात् भूलोक में। लोकान्तर में वेदार्थबोधन तो होता है पर गीता और इसके अर्थ का बोधन होता हो ऐसा वर्णन नहीं मिलता।।६६।।

जो इस योग्य नहीं है अर्थात् ग्रन्थ और अर्थ दोनों से दूसरे को समझाना, उसकी शंकओं का समाधान करना, उसे निश्चय हो जाये, ऐसा वर्णन जो नहीं कर सकता है, वह क्या कर सकता है, यह भगवान् कहते हैं –

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

जो हमारे इस धर्मसम्मत संवाद का अध्ययन करेंगे (उनके) उस ज्ञान यज्ञ से मैं पूजित हो जाऊँगा यह मेर निश्चय है।

जो कोई साधक होने के कारण तपस्वी, भक्त, शुश्रूषु और अनसूयु होकर गीताध्ययन करेगा वह मेरा पूजन ही करेगा। ‘इमं धर्म्यं संवादं’ यह जो हम दोनों की बात-चीत है, यह धर्म के अनकूल है, धर्मविरुद्ध नहीं है। ‘धर्म्य’ कहकर भगवान् इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि धर्मप्रतिपादक शास्त्र, पूर्वकाण्ड का उत्तर काण्ड के साथ कोई विरोध नहीं है। उल्टा,

दोनों में साध्य साधन सम्बन्ध है। अर्थात् धर्म के द्वारा ही अंतःकरण शुद्ध होकर वैराग्य की प्राप्ति होती है जो ज्ञान का प्रथम सोपान है। ठीक जिस प्रकार से दस मील पैदल चलकर फिर मील भर कड़ी चढ़ाई चढ़ते हैं तब केदारनाथ आता है। सीधा चढ़ना और खड़ी चढ़ाई पर चढ़ना विरुद्ध लगता है लेकिन विरुद्ध नहीं है। उसी प्रकार पहले वर्णाश्रम धर्म का पालन करना और उसके बाद वर्णाश्रम धर्म को छोड़ना दोनों में विरोध नहीं है। जो धर्म का ठीक प्रकार से पालन करेगा वही वर्णाश्रम धर्म को छोड़ेगा भी। इसलिये भगवान् ने इसे धर्म्य संवाद कहा।

'अध्येष्यते' जो उसको पढ़ता है। चूँकि यह संवाद धर्म से अनपेत है अतः इसका अध्ययन करते हुए इसमें बताई हुई सीढ़ियों के ऊपर धीरे-धीरे चलना है। ठीक जिस प्रकार से व्याकरण के अध्ययन का मतलब होगा कि व्याकरण को पढ़कर उससे सिद्ध होने वाले शब्दों का धीरे-धीरे प्रयोग भी करो। अगर तुम व्याकरण पढ़कर सिद्ध तो कुछ और शब्द करते हो तथा प्रयोग उन शब्दों का न करके प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों का करते हो, तो तुम्हारा व्याकरण का अध्ययन पूरा नहीं माना जा सकता। जब तुम्हें पता लगा कि व्याकरण की दृष्टि से यह प्रयोग शुद्ध है तब प्रयोग उसका ही करना चाहिये, तभी वह शुद्ध प्रयोग दृढ होगा। इसी प्रकार भगवान् ने यहाँ बार-बार ईश्वरार्पण-बुद्धि से धर्म करने पर ज़ोर दिया है अतः ईश्वरार्पण बुद्धि से धर्म करना चाहिये। अर्थात् केवल बाँचने की बात नहीं है, उसके साथ उसमें कही हुई बात का यथासामर्थ्य अनुष्ठान भी करना है। इस प्रकार से जो अध्ययन करता है वह ज्ञान यज्ञ कर रहा है।

अनेक प्रकार के जप बताये हैं : वैखरी से जप करो, ज़ोर-ज़ोर से बोलकर जप करो, धीरे-धीरे करो, हल्का-हल्का बोलो, होठ से शब्द बाहर न आये लेकिन होठ फुसफुसायें, केवल कण्ठ ही थोड़ा आगे-पीछे हो, अथवा केवल उसके अर्थ का भान होता रहे, आदि। इनमें मानस जप को सबसे अधिक श्रेष्ठ माना है क्योंकि परमात्म-मार्ग के अन्दर तुम्हारा प्रधान साधन मन या अंतःकरण है। मन के साधनों से मन की शुद्धि साक्षात् होगी। बाहर का भी जो कर्म करते हो उससे भी शुद्धि तो मन की होगी परन्तु देरी से या विलम्ब से होगी। जैसे मोटी भाषा में समझ लो कि भांग को पिया तो नशा आयेगा, नींद आयेगी परन्तु भांग के अर्क का सीधा ही इंजेक्शन दे दिया जाये तो तुरन्त बेहोश हो जाओगे। ठीक इसी प्रकार बाकी जितने यज्ञ हैं वे धीरे-धीरे मन की शुद्धि करेंगे। परन्तु यदि मन के अन्दर साधन करोगे तो वह तुरन्त फल को उत्पन्न कर देगा।

कोई पूछ सकता है कि फिर सीधे मन से करने वाले साधन ही क्यों नहीं बताते? उत्तर है कि मन से करने की शक्ति जब तक नहीं आ जाती तब तक मन से कर नहीं सकते। इसलिये जब पहले शरीर से, वाणी से करोगे तब मन में संस्कार बैठेंगे, तब यह सम्भव होगा कि केवल मन से भी कर सको। इसलिये यह श्रेष्ठ होने पर भी बाह्य यज्ञों की अपेक्षा रहती है। ज्ञान को सबसे अच्छा यज्ञ भगवान् पहले कह आये हैं। 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्

यज्ञाज्ज्ञानयज्ञःपरंतप' (४-३३) द्रव्यों या पदार्थों से जैसे घी, हव्य इत्यादियों के द्वारा जो तुम कुण्ड बना कर हवन करते हो वह द्रव्ययज्ञ है। उन द्रव्य यज्ञों की अपेक्षा यदि तुम मन से ही यज्ञ कर लेते हो तो वह श्रेष्ठ होता है। इसलिये जहाँ अश्वमेधादि प्रकरण आया है वहाँ यह भी कहा है कि इस अश्वमेध की सामग्री जिसके पास नहीं हो सकती, वह इस उपासना को करे, मन के द्वारा इस यज्ञ को निष्पन्न करे, तो उसको भी वही फल होता है जो सामग्री एकत्र करके करने वाले को होता है। अतः भगवान् ने श्रेयान् कहा है। बाहर की सामग्री को इकट्ठा करना सबके सामर्थ्य की चीज़ नहीं है। उत्तम पुरोहित आदि को भी एकत्रित करना अपने हाथ में नहीं। इसलिये द्रव्य यज्ञ के अन्दर दैव या प्रारब्ध का बहुत बड़ा हाथ होता है। परन्तु मन से करने में तुम्हारी सामर्थ्य या स्वतंत्रता अधिक है। मन में उन संस्कारों को लाने की ज़रूरत है इसलिये बाह्य करना पड़ता है। परन्तु यदि मन से कर सको तो तुम्हारी सामर्थ्य और स्वतंत्रता द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा अधिक होती है। इसलिये उसे श्रेयान् कह दिया।

जो उपदेश कर सकता है उसके लिये तो भगवान् ने मोक्ष फल बता दिया। जो वैसा नहीं कर सकता है परन्तु गीता का अध्ययन करता है और यथासम्भव इसके अनुसार आचरण करने की चेष्टा करता है, उसके लिये भगवान् कहते हैं कि ज्ञान यज्ञ से मेरा पूजन हो जाता है। इस प्रकार गीता शास्त्र के अध्ययन को भगवान् ने बहुत बड़ा साधन बता दिया। यह केवल स्तुति नहीं है, साथ में फल-विधि भी है। ज्ञान यज्ञ सम्पन्न करने से अर्थात् गीताध्ययन से 'अहम् इष्टःस्याम्' मेरी पूजा सम्पन्न हो जाती है। भगवान् की पूजा करने से अंतःकरण की शुद्धि हो जाती है। और अंतःकरण की शुद्धि से मोक्ष की सम्भावना हो जाती है। पहले वाले साधन का फल तो मोक्ष बताया और इसका फल भगवान् ने बता दिया कि इससे मेरी पूजा सम्पन्न हो जाती है। अर्थात् इससे अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि यह केवल प्रशंसा नहीं 'इति मे मतिः' यह मैं निश्चयपूर्वक कह रहा हूँ।।७०।।

जो पढ़ भी न सके उसके लिये भी कृपावश भगवान् उपाय बताते हैं –

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

जो दोषदृष्टिरहित श्रद्धालु नर गीता को सुनता भी है वह भी पुण्यकर्मियों को उपलभ्य शुभ लोक पाता है।

जो पढ़ भी नहीं सकता वह केवल सुन तो सकता है। कोई दूसरा पाठ कर रहा है तो उसे सुन सकता है। परन्तु कैसे सुनता है? अनसूया से सुनता है। सिरोही महाराज के राजपण्डित बता रहे थे; एक बार महाराज की पत्नी ने किसी को कथा करने के लिये बुला लिया। श्रावण का महीना था, सवेरे रुद्री इत्यादि का पाठ होता था। दो दिन बाद उस कथाकार ने महाराजा को खबर भेजी कि 'पण्डित जी से कहिये कि सवेरे धीरे-धीरे पाठ किया करें, विक्षेप

होता है।’ महाराज ने राजपण्डित से कहा ‘सवेरे थोड़ा धीरे पाठ कर लें क्योंकि उन्हें विक्षेप होता है।’ राजपण्डित ने महाराज से कहा ‘वेदध्वनि सुनकर जिसे विक्षेप होता है उसकी कथा से क्या लाभ होना है!’ सिरोही महाराजा खुद जानकार थे, कहने लगे ‘क्या करूँ, औरतें नहीं मानती हैं’। यह असूया है। इसी प्रकार यदि तुम गीता का पाठ करते हो तो ऊपर के कमरे वाले को सुनना पड़ता है, लेकिन असूया-पूर्वक सुनता है कि ‘सवेरे-सवेरे शोर मचा रहा है, सोने नहीं देता’, तो फल नहीं होगा। और श्रद्धावान् है कि ‘इसको कहने वाले श्री कृष्ण साक्षात् परमेश्वर के स्वरूप हैं, उन्हीं का अवतार हैं। हम लोगों का उद्धार करने के लिये उन्होंने पृथ्वी पर आ कर उपदेश दिया।’ भगवान् की दो तरह की लीलायें प्रसिद्ध हैं। एक तो वृन्दावन लीला है जहाँ उन्होंने बंसी बजाकर गोपियों के हृदयों को मुग्ध करके उन्हें रसास्वादन कराया। यह भी भगवान् ने किया। और भगवान् ने कुरुक्षेत्र लीला करके अर्जुन को निमित्त बनाकर यह गीता का उपदेश दिया। परन्तु वह जो वंशीध्वनि थी और उससे गोपिकाओं को जो आकर्षण हुआ वह वंशी और भगवान् का बजाना तो भगवान् के साथ चला गया! उस समय गोपियों ने जो रसावादन कर लिया सो कर लिया लेकिन अपने काम का तो वह अब रहा नहीं। भगवान् ने जो यह उपदेश कुरुक्षेत्र में दिया वह वैसा का वैसा भगवान् वेदव्यास की कृपा से हम आज भी सुनते हैं। अगर हम उस समय कुरुक्षेत्र में मौजूद होते तो जो सुनते, वही अब सुन रहे हैं। भाष्यकार कहते हैं कि जैसा भगवान् ने कहा वैसा ही व्यासजी ने हमारे सामने रखा है, उन्होंने अपनी तरफ से कुछ भी जोड़-घटाव नहीं किया है। जो उन्होंने वृन्दावन में किया वह तो उसी समय के लोगों के काम की लीला थी। लेकिन जो कुरुक्षेत्र में किया वह तो आज भी हमें लाभ पहुँचा रहा है। भगवान् की इस लीला में यही सबसे बड़ा उपकार है। बाकी चीज़ें जो उन्होंने की वे उनके साथ गयीं। उस समय के लोगों को उनसे लाभ हुआ यह बिलकुल ठीक है, लेकिन यह आज, पाँच हज़ार साल बाद भी हमें वैसा ही लाभ पहुँचाता है। अतः परमेश्वर की लीलाओं में सर्वप्रधान लीला यही है। इसलिये इसमें पूरी तरह से श्रद्धा होना ज़रूरी है। इसी प्रकार यदि पढ़ने की योग्यता नहीं भी है लेकिन श्रद्धापूर्वक गीता को सुनते हैं कि ‘भगवान् खुद बोल रहे हैं’ तो फल होता है। बंगाल में एक चैतन्य महाप्रभु हुए हैं, वे तीर्थ-यात्रा करते हुए तैलंग देश से निकल रहे थे जिसे आजकल आन्ध्रप्रदेश कहते हैं। एक जगह कोई गीता पाठ कर रहा था वहीं दूसरी तरफ एक बुड्ढा उसे सुनकर रोये जा रहा था! चैतन्य महाप्रभु बहुत विद्वान् थे। उन्होंने सोचा ‘यह बुड्ढा गीता सुनते हुए भगवान् के भावों में इतना सराबौर होकर रो रहा है!’ जब पाठ खत्म हुआ तो उससे पूछा कि ‘तुम्हें कौन सा अर्थ प्रतीत हो रहा था जिसमें इतना भावविभोर हो रहे थे?’ वह कहने लगा ‘मैं तो पढ़ा लिख नहीं हूँ! मैं क्या समझूँ भगवान् ने क्या कहा! परन्तु भगवान् बोल रहे हैं और उनके शब्दों को मैं सुन रहा हूँ, साक्षात् भगवान् के शब्द सुनने को मिल रहे हैं, यही मुझे पुलकित करता है।’ इस प्रकार जो केवल इसको सुनता ही है लेकिन असूया से रहित और श्रद्धा से युक्त होकर, वह श्रेष्ठ फल पाता है।

'शृणुयाद् अपि' 'अपि' पद के द्वारा स्पष्ट किया कि श्रवण या सुनकर यदि उसके अर्थ का पता लगता है तो क्या कहना! परन्तु जिसे अर्थ का कुछ भी पता नहीं लगता, केवल सुनता है, वह सुनने वाला भी पापों से छूट जाता है, उसका भी मल दोष निवृत्त हो जाता है। उसके भी पाप नष्ट हो जाते हैं और पुण्य करने वालों को जो ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक आदि प्राप्त होते हैं, वह उनको प्राप्त कर लेता है। अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सारे कर्मों को करने वाले को जो फल होता है वह फल इसको गीता सुनकर ही हो जाता है! चूँकि 'शुभान् लोकान् प्राप्नुयात्' कहा है अतः यहाँ मुक्ति से कैवल्य मुक्ति नहीं ले सकते क्योंकि कैवल्य मुक्ति में कहीं जाना-आना नहीं हो सकता। अतः इस गीता को सुनने वाला पापों से मुक्त होकर शुभ लोकों को चला जाता है। इस प्रकार से केवल सुनने वाले का फल भी कह दिया और एक 'अपि' पद लगाकर यह भी बता दिया कि जो अर्थ समझकर पढ़ेगा उसका फल तो बहुत बड़ा हो ही जायेगा इसमें तो क्या कहना है। वह बड़ा फल क्या होगा? अर्थज्ञान होने पर, जिसे पहले अध्ययन कहा, वह सम्पन्न हो जाने से उसमें श्रवण मनन की योग्यता आ जायेगी। शुभ लोकों को तो केवल सुनने वाला चला जाता है परन्तु यदि साथ में अर्थज्ञ हो गया तो फिर यहाँ ही श्रवण मनन की योग्यता पाकर यथासंभव ज्ञान-साधना कर पाता है। इस प्रकार से भगवान् ने अर्थज्ञान की भी विशेषता बता दी। अध्ययन में तात्पर्य पर्यन्त समझना पड़ता है। उसमें जो असमर्थ है, वह शब्दार्थ समझे तो भी शब्दमात्र पढ़ने-सुनने वाले से अधिक फल पाता है।।७१।।

जैसे गंगाजी का नाम लेना, दर्शन करना और गंगास्नान करना - तीनों पुण्यप्रद हैं वैसे ही भगवत्तत्त्वका जिज्ञासु, उसे समझाने वाला और केवल सुनने वाला - तीनों ही कल्याण के भागी होते हैं। इसे भगवान् ने ६८ - ७१ चार श्लोकों द्वारा समझाया। इसके बाद, आचार्य को कैसा आचरण करना चाहिये इसे बताने के लिये भगवान् आगे कहते हैं-

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धन जय।।७२।।

हे धनंजय पार्थ! तुमने एकाग्र चित्त से क्या यह सुना? क्या तुम्हारा अज्ञाननिमित्तक सम्मोह नष्ट हुआ?

आचार्य के लिये यह नियम है, भगवान् के इस शास्त्र का उपदेश करने वाले के लिये यह नियम है कि वह इस बात को देखे कि शिष्य ने शास्त्र के तात्पर्य को ठीक से ग्रहण किया या नहीं। इसका पता इस बात से लगता है कि उसके अन्दर का अज्ञान नष्ट होकर बंधन निवृत्त हुआ या नहीं। अन्य शास्त्रों में तो ज्ञान करके कुछ करना है, अन्य जितने शास्त्र हैं वे तो तुमको कुछ जानकर करने को बताते हैं जिसको करने से फल उत्पन्न होगा। परन्तु प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का जो ज्ञान है, उस ज्ञान के सिवाय उसका और कोई दूसरा फल नहीं है। अर्थात् ज्ञानमात्र से ही सच्चिदानन्दरूपता की प्राप्ति होकर बन्धन निवृत्त हो जाता

है। चूँकि यहाँ ज्ञान से ही फलप्राप्ति है अतः यदि शिष्य ने ग्रहण नहीं किया है तो गुरु को ही किसी यत्नान्तर से, किसी युक्ति से, किसी दृष्टांत के ढंग से समझाने का काम करना पड़ेगा। गुरु के पास आने तक तो शिष्य का कर्त्तव्य है परन्तु गुरु के पास पहुँच गया तो फिर उसके बन्धन की निवृत्ति गुरु को ही करनी है। क्योंकि परमात्मा अतीन्द्रिय पदार्थ होने से प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से तो उसका ज्ञान हो नहीं सकता इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है 'वक्तुर्हि दूषणं तत्र यत्र श्रोता न बुध्यते' जहाँ सुनने वाले को बुद्धि उत्पन्न न हो वहाँ बताने वाले का ही दोष मानना पड़ता है। क्योंकि जहाँ कुछ करने के लिये समझना है वहाँ तो करना खुद पड़ेगा, बताने वाला केवल बता सकता है। परन्तु ब्रह्मज्ञान खुद कुछ भी करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह ज्ञान तो केवल बताने से ही होगा। इसलिये गुरु के पास पहुँचने के पहले तो तुमको सभी साधन करने हैं लेकिन जब उसने तुमको 'तत्त्वमसि' का उपदेश दे दिया तो फिर वह तत्त्वमसि का उपदेश तुम्हारे अन्दर आये, यह तो किसी युक्त्यन्तर या दृष्टांतान्तर से ही करना पड़ता है। अतः शिष्य ने शास्त्र के तात्पर्य को ग्रहण किया या नहीं, इसको शिष्य से पूछकर ही जाना जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे हम भोजन परोस रहे हैं, तुम्हारा पेट भरा या नहीं इसमें तुम ही प्रमाण हो। तुमको लगता है पेट भर गया तो भर गया, लगता है पेट नहीं भरा तो नहीं भरा। उसी प्रकार शिष्य के बंधन की निवृत्ति होकर उसे परम आनन्द की प्राप्ति हुई या नहीं, इसमें शिष्य का केवल अपना अनुभव ही प्रमाण है। यदि उसे बंधननिवृत्ति होकर परम आनन्द का अनुभव हो गया, तब तो उसे शास्त्र के तात्पर्य का ग्रहण हो गया। अगर उसे परम आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई तो कोई कितना भी कहे कि 'तुमको बोध हो गया', उससे काम नहीं होगा। आचार्य का यह कर्त्तव्य है कि अगर शिष्य को उस परम आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर प्रकारान्तर से उसे समझाना चाहिये।

इस उद्देश्य से भगवान् पूछते हैं 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ!' कोमल भाव से जब किसी से पूछा जाता है तब 'कच्चित्' शब्द का प्रयोग होता है। एक तो दूसरे से प्रश्न करने के लिये पूछा जाता है कि तुम ठीक से जवाब दे सकते हो या नहीं, और दूसरा केवल कोमल भाव से पूछा जाता है। जैसे जब कहा जाता है कि 'पेट भर गया?' तब कुछ और भाव है और जब पूछते हैं कि 'क्यों भाई! ठीक से खाया?' तो और भाव है। यह भी प्रश्न तो है ही। इसी प्रकार यहाँ 'कच्चित्' कह कर भगवान् प्रेम से अर्जुन से पूछते हैं कि क्या तुम्हारी तत्त्वनिष्ठा हो गई या नहीं? यह जो मैंने तुम्हें उपदेश दिया, उसको तुमने चित्त को एकाग्र करके सुना या बीच-बीच में कुछ नहीं भी सुना? श्रवण ठीक होने से ज्ञान ठीक होता है। प्रमाद के कारण ही हमारा श्रवण ठीक नहीं होता, बीच में कुछ चीज़ ठीक से नहीं सुनी जाती तो पूरी बात समझ में नहीं आती। इसलिये पूछा कि 'क्या तुमने एकाग्र चित्त से सुना?'

'पार्थ' शब्द के प्रयोग से भगवान् बताते हैं कि तू पृथापुत्र है इसलिये तुम्हारे में स्त्री-धर्म होना स्वाभाविक है। 'मैं युद्ध न करूँ' यह तुम्हारा भाव भी स्त्रीभाव का ही प्रदर्शन

करता है क्योंकि डरना अथवा जहाँ दया नहीं करनी चाहिये वहाँ दया करना आदि सभी स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है। स्त्रीस्वभाव से आक्रान्त होने के कारण सुनने में प्रमाद संभावित है। स्त्री प्रमादी होती है, बात को पूरा नहीं सुनेगी, बीच-बीच में कुछ और सोचने लग जायेगी। प्रायः जब स्त्रियाँ आपस में बातें करती हैं तो विषय कहीं का कहीं चला जाता है! उन्हें स्वयं पता नहीं लगता कि कहाँ से वार्त्ता शुरू की थी। इस प्रकार का प्रमादी स्वभाव स्त्री का होता है। ऐसे ही तुम्हारे में स्त्री- स्वभाव होने से तुम्हारे में प्रमाद हो सकता है, इसलिये क्या तुमने एकाग्र चित्त से मेरी बात सुनी या बीच में इधर-उधर की बात सोचते रहे? अगर तुम्हारा श्रवण ठीक से हुआ है तब तो तुम्हारा अज्ञान और अज्ञान से होने वाला सम्मोह नष्ट हो गया होगा। समझकर तुम्हें सम्मोह हो ही नहीं सकता। आत्मा और अनात्मा का आपस में मिला जुला जो हम लोगों का अनुभव है, इसी का नाम अज्ञान है। क्या आत्मा है, क्या अनात्मा है - यह हम लोगों को स्पष्ट नहीं होता। आत्मा जानता है और अनात्मा को जानता है; बात तो सीधी है। परन्तु हम जिसको जानते हैं उसको जानने वाला भी मान लेते है! जैसे अहं को जानते हैं और अहं को जानने वाला भी मान लेते हैं। मन को जानते हैं और मन को जानने वाला भी मान लेते हैं। इस प्रकार से आत्मा में अनात्मा और अनात्मा में आत्मा का भ्रम है। 'मैं जानने वाला ब्राह्मण हूँ।' यह हमें लगता है किंतु ब्राह्मण तो जाना जाता है इसलिये वह जानने वाला तो नहीं हो सकता, लेकिन रोज़ संकल्प करते हैं कि 'अमुक गोत्र में उत्पन्न अमुक देश काल से परिच्छिन्न, अमुक कर्म को करता हूँ।' सर्वत्र समझते हैं कि आत्मा करने वाला है। आत्मा देश काल से परिच्छिन्न होने वाला है, आत्मा जन्म लेने वाला है। इस प्रकार का अन्योन्याध्यास है। इसलिये आत्मा और अनात्मा का वास्तविक स्वरूप हम अलग नहीं कर पाते। यह जो अविद्या या अज्ञान है यह श्रवण से ही नष्ट होता है। इस अज्ञान के कारण ही 'मैं इसको मारूँ या न मारूँ' इस प्रकार का धर्मविषयक अविवेक पैदा होता है। मारना व न मारना मुझ में हो कैसे सकते हैं जबकि मैं अकर्ता हूँ! इस बात को यदि जान लेता है तो फिर 'मैं करूँ या न करूँ' ऐसा सम्मोह हो ही नहीं सकता। अतः भगवान् ने समझाया था कि तुम कर्त्ता हो नहीं, करने वाली चीज़ों को प्रकृति स्वतः प्रवृत्त करती है। अथवा प्रकृति के अन्दर बैठा हुआ मैं ईश्वर करता हूँ। दो ही स्थितियाँ हैं। अज्ञानसे, जीव कर्त्ता है और वास्तव में अकर्त्ता है। वस्तुतः तो जब तुम कह रहे हो 'मैं कर्त्ता हूँ' तब भी तुम कर्त्ता नहीं हो और जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है वह है नहीं अतः कोई भी कर नहीं रहा है। जिस प्रकार रस्सी में साँप किसने पैदा किया? साँप पैदा हुआ ही नहीं, इसलिये 'किसने पैदा किया' यह प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी समझने के लिये रस्सी में ही साँप पैदा हुआ। इसी प्रकार वस्तुतः तो कहीं कुछ भी नहीं होने के कारण नामरूप के सर्वथा अभाव से कोई भी कर्त्ता नहीं है। परन्तु यदि कर्त्ता की प्रतीति होती है तो ईश्वर ही कर्त्ता है। जीव का कर्त्तृत्त्व किसी तरह सिद्ध नहीं होता। यह भगवान् ने बहुत विस्तार से बताया।

इसलिये अब पूछा कि अज्ञान और उससे होने वाला नैसर्गिक सम्मोह क्या नष्ट हुआ? जिस अंतःकरण में संदेह था उस अंतःकरण की अहं वृत्ति को मानकर ही तो कह रहे हैं। 'प्रनष्ट' कहकर भगवान् सावधान करते हैं कि एक ज्ञानाभास भी होता है। वास्तविक बोध न होने पर भी मानो हो गया यह ज्ञानाभास है। परन्तु वह ज्ञानाभास अज्ञान के कार्य को नष्ट नहीं कर पाता इसलिये लगता है कि फिर अज्ञान आ गया। इस अनुभव को बताने के लिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है

'यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्।।'

जैसे काई से भरे हुए तालाब में स्नान करने जाते हैं तो डुबकी लगाने से पहले हाथ से उस काई को हटा देते हैं और डुबकी लगाकर जैसे ही बाहर आते हैं तो देखते हैं कि काई ने पुनः सारी जगह को घेर लिया है। ठीक इसी प्रकार से हमको ज्ञानाभास होते ही लगता है कि 'मैं अकर्त्ता-अभोक्ता हो गया' परन्तु थोड़ी ही देर में माया फिर घेर लेती है और लगता है कि 'ऐसा नहीं है, अमुक कार्य तो मुझे करना ही पड़ेगा', अर्थात् फिर कर्त्ता - भोक्ता बन जाते हैं। भगवान् भाष्यकार ने बड़ी सीधी पहचान बता दी ऐसे ज्ञानाभास वाले की- 'प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्' शास्त्र को पढ़कर भी संसार जो अनात्मा है, अपने से भिन्न, पराक् है, उस तरफ मुख करते ही अज्ञान आता है। जो सच में प्राज्ञ होगा वह तो कभी भी पराङ्मुख नहीं होगा। सचमुच में यदि तुम्हारे में ज्ञान का थोड़ा स्पर्शमात्र भी आया है तो फिर संसार तुमको अपनी तरफ आकृष्ट नहीं कर सकता। परन्तु जो पराङ्मुख है, संसार की तरफ मुख वाला है और उसे लगता है 'मैं प्राज्ञ हो गया', उसी को ज्ञानाभास है। अर्थात् ज्ञान का आभास ही है, ज्ञान नहीं है। बड़ी सीधी पहचान यह है कि अज्ञान निवृत्त होकर पुनः उसका प्ररोह नहीं होता। एक बार अज्ञान नष्ट हो गया तो फिर पैदा हो ही नहीं सकता। इसलिये भगवान् ने 'प्रनष्ट' कहा। पराङ्मुखता का मूल कारण है कि एक ब्रह्म के अतिरिक्त न कुछ है और न कुछ हो सकता है - यह निश्चय नहीं होता है।

सांख्य की तरह यह निश्चय करना तो फिर भी सरल है कि मैं असंग हूँ, परन्तु संग का कारण प्रकृति रह ही जाती है क्योंकि प्रकृति तो नष्ट होगी नहीं। इसी प्रकार से बहुत से लोग वेदान्त विचार में भी यही सोचते हैं कि जगत् को उत्पन्न करने वाली अविद्या भी तो कुछ सत्ता रखती ही होगी! कई बार रोग को हटाने के लिये जब कोई उपाय बताया जाता है तो यद्यपि वह रोग को हटाने के लिये है, परन्तु उस उपाय को आदमी ऐसा पकड़ लेता है कि रोग के हटने के बाद भी उस उपाय का पकड़ना ही रोग हो जाता है! इसी प्रकार हमारा अनुभव है कि 'मुझे उस ब्रह्म का ज्ञान नहीं है,' इसको समझाने के लिये अविद्या की कल्पना की गई। लोग सोचते हैं कि वह अविद्या भी कोई चीज़ है! बस यही ज्ञानाभास का कारण है। इसलिये अनेक लोग वेदान्त की दृष्टि को नहीं समझने के कारण कह देते हैं कि व्यवहार में तो यह

है! अर्थात् व्यवहार में सच्चा है। व्यवहार अथवा व्यावहारिक का मतलब अविद्या से है, अज्ञान से होने वाली चीज़ है। जब तक यह याद रहे तब तक तो ठीक है। जैसे गणित शास्त्र में कई समस्याओं का हल करने के लिये एक कल्पित संख्या मानी जाती है। जैसे ऋण एक का वर्गमूल (√-१) अर्थात् जिन दो संख्याओं का गुणा करने से -१ आये! किन्हीं भी दो ऋणात्मक संख्याओं का गुणा करेंगे तो नतीजा धन (+) ही आयेगा, ऋण (-) कभी नहीं आयेगा। इस नियम के विरुद्ध एक संख्या की असम्भव कल्पना क्यों की? क्योंकि उससे कई समीकरण हल हो जाते हैं। समीकरण का हल देखकर उसे सच्ची संख्या मान लो तो मूलभूत गणित शास्त्र के सिद्धान्त का विरोध हो जाता है। इसी प्रकार से एकमात्र ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है, एकमात्र सत्‌रूप, चित्‌रूप आनन्दरूप है इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक कल्पना करते हैं कि अज्ञान से कुछ प्रतीति हो रही है। प्रतीति हो रही है - यह समस्या है। इस प्रतीति को समझाने के लिये गणित में कल्पित राशि (संख्या) की तरह हमने कल्पित अविद्या को रखा जिससे इसका समाधान हो जाये। बजाय यह कहने के कि 'तुमको संसरण का अनुभव नहीं हो रहा है,' कह देते हैं कि माया से हो रहा है। जबकि सच्ची बात यही है कि तुमने आजतक कुछ नहीं देखा! सुख-दुःख का अनुभव कभी हुआ ही नहीं! लेकिन इसके विरुद्ध कल्पना कर ली कि अज्ञान से हुआ। वह इसलिये ताकि जो तुमको 'हुआ' की प्रतीति है वह 'नहीं हुआ' यह तुम्हारी समझ में आये। परन्तु इस कल्पना को ही वास्तविक मानकर लोग बैठ जाते हैं और कहते हैं कि 'व्यवहार काल में तो है ही' मानो व्यवहार का कोई काल भी होता है, व्यवहार भी होता है! प्रणाश के लिये ही भगवान् ने शास्त्र के उपदेश का परिश्रम किया और अर्जुन ने सुनने का परिश्रम किया। यह परिश्रम भी सफल हो जब यह अज्ञान-सम्मोह प्रनष्ट हो जाये।

इसका अनुभव किससे है? अंतःकरण से ही इसका अनुभव है। जिस अंतःकरण से संसरण की प्रतीति है उसी से इसके प्रणाश की प्रतीति है। वास्तव में तो दोनों ही प्रतीतियाँ नहीं हैं। फिर क्या नष्ट हुआ? एक लड़का गलियारे में बैठा था। उसने देखा कि रुई से लदी एक ऊँटगाड़ी निकली, फिर दूसरी, तीसरी, चौथी गाड़ियाँ निकल गयीं। उसके दिमाग में ऐसा बैठ गया कि इतनी रुई आई है तो इसका क्या होगा, कब इसे धुना जायेगा, कब काता जायेगा, कब इसका कपड़ा बनेगा और कब यह यहाँ से जायेगी? जब दिमाग में ऐसी कोई ग़लत बात बैठ जाये तो फिर वही चूड़ी चलती रहती है। अब वह दिन-भर यही कहे कि 'कौन धुनेगा, कौन कातेगा कौन बुनेगा?' लोगों ने समझा इसे कोई रोग हो गया होगा। वैद्य ने भी दवाई आदि दी लेकिन कुछ नहीं हुआ। फिर लोगों ने सोचा इसपर कोई भूत-प्रेत आया होगा, तो झाड़े आदि दिलाये, कुछ नहीं हुआ। लोगों ने आशा छोड़ दी। कुछ समय बाद एक परमहंस महात्मा वहाँ आये। उस लड़के के माँ-बाप भी उन के दर्शन करने आये और बेटे को भी साथ लाये। उन्हें नमस्कार किया और कहा - 'स्वामीजी! इस लड़के का दिमाग खराब हो गया है।' स्वामी जी ने देखा कि बालक तो ठीक ही लगता है। पूछा- 'क्या खराबी है?' बालक फिर वही बोलने लगा - 'कौन धुनेगा, कौन बुनेगा' परमहंस को दया

आई, समझ गये और कहा – 'घबराओ नहीं, लड़का ठीक हो जायेगा।' स्वामीजी ने पहले उससे प्रेमसे पूछकर सारी बात समझी। फिर वे उसे कहानी सुनाने लगे 'रुई लदी ऊँटगाड़ियों का काफिला जो तेरे घर के सामने से निकला था वह जब ठिकाने पर पहुँचा तब रुई की बड़ी गठरियाँ खुलने लगीं। हिमालय की तरह चारों तरफ केवल रुई ही रुई रह गई।' यह सुनते-सुनते उस लड़के का रोग और तेज़ हो गया। महात्मा तुरन्त बोले 'एक गाड़ी वाले ने अपनी चिलम जलाई और उस चिलम की एक चिन्गारी जाकर उस सारे गट्ठर में पड़ी। वहाँ बड़ी भीषण आग लग गई और सारी रुई का पहाड़ जलकर राख हो गया!'। यह सुनते ही उसे शांति हो गई पूछा- 'सच में राख हो गई' बोले ' हाँ। न धुनना पड़ेगा और न कातना पड़ेगा, कुछ नहीं करना पड़ेगा।' वह लड़का ठीक हो गया, उसकी चिन्ता मिट गई।

इसी प्रकार से 'ते' अर्थात् अंतःकरण में बैठे जीव के कितने कर्म हैं, इस जन्म में कितने कर्म हमको करने बाकी हैं, इसी चिन्ता से हम परेशान हैं। इस जन्म के हमारे जितने प्रारब्ध कर्म हैं उन सबको भोगना भी है। जन्म देने वालों से अतिरिक्त भी संचित कर्म किये हैं, वे भी भोगने हैं। अनन्त जन्मों के कर्म भोगने हैं। यहाँ भी न जाने कितनी जिम्मेदारियाँ पूरी करनी हैं। दिमाग में यह चूड़ी- बाजा ग़लत भर गया है कि 'यह करना है, यह भोगना है'। इसलिये अंतःकरण कर्त्ता-भोक्ता है। ऐसे जीव को पहले शास्त्र कहता है – अनन्त सृष्टि है, इतने कर्म हैं जो कभी ख़त्म हो ही नहीं सकते। यह सब कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व कैसे पैदा हुआ? बड़े ढंग से समझाया जाता हैः शरीर के बिना कर्म नहीं कर सकते, इन्द्रियों की भी ज़रूरत है, अनेक चीज़ों की ज़रूरत है। सबका मूल क्या है? यह अविद्या ही मूल है क्योंकि अविद्या के कारण ही सारी प्रतीतियाँ हैं। जब यह निश्चय हो गया कि सब अविद्या के द्वारा प्रसूत है तो फिर एक चिन्गारी लगी कि वह अविद्या है ही नहीं! बस, अविद्या नष्ट हो गई तो जिन सब चीज़ों के कर्त्तव्य का बोझा बाँधे हुए हो वे हैं ही नहीं, जिन कर्मों के भोग से परेशान हो रहे हो वे भोग हैं ही नहीं, वे तो सब जले हुए हैं। यह निश्चय होने पर फिर कभी भी पराङ्मुखता आ ही नहीं सकती। अतः भगवान् ने केवल 'पार्थ' नहीं कहा, साथ ही 'धनंजय' भी कहा। धन जीतने वाला धनंजय है। जीत पौरुष की होती है। अतः भगवान् का संकेत है कि यदि तू पार्थ से धनंजय बन गया, स्त्रीस्वभाव से पुरुष के स्वभाव में आ गया, तो प्रमादी स्वभाव को छोड़कर जीतने के स्वभाव वाला हो जायेगा। तब तो मेरा सुनाने का प्रयास और तुम्हारा सुनने का प्रयास दोनों सफल होंगे। किंतु यदि स्त्रीस्वभाव का ही रहकर 'लडूँ कि न लडूँ' ऐसा सोच रहा है तो फिर दूसरे ढंग से समझाऊँगा। आचार्य के लिये यह नियम करने के लिये भाष्यकर कहते हैं – 'यत्नान्तरम् आस्थाय शिष्यः कृतार्थः कर्त्तव्यः' शिष्य को जिस प्रकार से भी हो उस प्रकार से कृतार्थ करना चाहिये। आचार्य का नियम है कि किसी भी दृष्टान्त आदि उपाय का आश्रय लेकर शिष्य को कृतार्थ करे।।७२।।

ज्ञान की प्राप्ति हो गई इस बात को शिष्यरूप अर्जुन कहता है –

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह मिट गया, स्मृति आ गयी, संदेहरहित हुआ आपके अनुशासन में उपस्थित हूँ, आपकी आज्ञा का ही पालन करूँगा।

हे अच्युत! जो अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता वह ब्रह्म है। जीव वह है जो अहंकार के साथ एक होकर के अज्ञान से अपने को कर्त्ता-भोक्ता देखता है जबकि ब्रह्म वह है जो अपने स्वरूप से कभी च्युत होता नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि ये दो हैं! जैसे ही अपनी ब्रह्मरूपता का पता लगता है वैसे ही समझ आता है कि मैं कभी भी च्युत हुआ ही नहीं। 'अच्युत' से अर्जुन का कहना है कि जैसे आप स्वरूप में सर्वदा स्थित हैं वैसे ही मैं अपने स्वरूप में स्थित हूँ। स्वभाव से कभी कोई चीज़ अन्यत्र हो नहीं सकती। प्रतीति तो हो सकती है, परन्तु सचमुच मे स्वभाव नहीं बदल सकता। 'अच्युत' सम्बोधन के द्वारा बताया कि अपने अच्युत भाव को मैं समझ गया अर्थात् ब्रह्म सदा ही अच्युत है इस बात को मैंने जान लिया। 'मया' अर्थात् अहंकार से युक्त जो चिदाभास है उसने जाना। इसके द्वारा यह बताते हैं कि बंधन का अनुभव जिस प्रकार से अहंकार के साथ होकर होता है, मुक्ति का अनुभव भी वैसे ही अहंकार के साथ रहकर होता है। स्वरूप से न बन्धन है, न मोक्ष है। ब्रह्मभाव से कभी भी बद्ध नदी है और जीवभाव से कभी भी मोक्ष नहीं! जीवभाव की निवृत्ति ही ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। ठीक जिस प्रकार से छोटा बच्चा काँच के अन्दर किसी बच्चे को देखकर उससे कहता है 'आओ, आओ', वह नहीं आता है तो रोता है। माँ से शिकायत करता है कि 'यह आता नहीं है।' जब उसकी उम्र बड़ी होती है तब भी उसे दीखता तो वहाँ है लेकिन अब उसे पता है कि 'जो वहाँ दीख रहा है वह कोई दूसरा नहीं है, मैं ही आभासरूप से वहाँ प्रतीत हो रहा हूँ।' ठीक इसी प्रकार से अहंकारात्मिका वृत्ति के आभास को देखकर अपने को जीव समझता है और जब बड़ा हो गया, इस बात को समझ लिया, तब अहंकार में प्रतीत होने वाले अपने स्वरूप को आभास पहचानता है। इसलिये अर्जुन ने कहा 'मया' अर्थात् अहंकार की वृत्ति के द्वारा 'स्मृतिर्लब्धा' स्मृति की प्राप्ति हो गई।

मोह नष्ट हो गया। मोह ऐसी चीज़ है जो समुद्र की तरह पार करने में अशक्य लगती है। सचमुच तो इस संसार सागर को कोई पार नहीं कर सकता। जिस प्रकार मरुमरीचिका के अन्दर दीखने वाले जलाशय को कोई पार नहीं कर सकता, क्योंकि कोई तलैया होती तो पार भी करते! यह जलाशय है ही नहीं, प्रतीत होते हुए भी नहीं है। सारे अनर्थ का कारण - जो चीज़ जहाँ नहीं है उसका वहाँ दिखना है। यही मोह है। 'नष्टो मोहः' सारे संसार के अनर्थ का कारण, समुद्र की तरह दुस्तर यह मोह नष्ट हो गया। 'नश अदर्शने' धातु है

अर्थात् अब यह अदर्शन को प्राप्त हो गया, दीखते हुए भी नहीं दीख रहा है। इसलिये अन्यत्र भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यह महान् आश्चर्य है कि जो अभी-अभी दीख रहा था वह नहीं दीख रहा है।

'स्मृतिर्लब्धा' आत्मतत्त्व- विषयक स्मृति की प्राप्ति हो गई। स्मृति का प्रसिद्ध मतलब होता है याद या स्मरण। स्मरण उस चीज़ का होता है जिसका पहले अनुभव किया हो। पहले ब्रह्मज्ञान था और फिर चला गया, ऐसा तो है नहीं, क्योंकि अज्ञान अनादि होने से यह सम्भव ही नहीं है। फिर यहाँ स्मृति शब्द का प्रयोग क्यों किया? स्मृति में किसी नई चीज़ की प्राप्ति नहीं होती। हमको पता है कि मघवा मायने इन्द्र। जब हम इसे याद करते हैं तब यह ज्ञान प्रकट हो जाता है। परन्तु जिस समय याद नहीं कर रहे थे उस समय में भी संस्कार मौजूद ही था। अतः जो प्राप्त है उसकी ही प्राप्ति स्मृति में माननी पड़ेगी। इसी प्रकार से ब्रह्म सदा प्राप्त है, उसी का ज्ञान होता है इसलिये इसमें स्मृति से साम्य हो जाता है अतः उसे स्मृति कह देते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में कहा 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (७.२६.२) वहाँ भी स्मृति का मतलब है ज्ञात का ज्ञान हो जाना। आत्मा तो हमेशा ज्ञानस्वरूप ही है। जैसे यहाँ पर बैठे हुए अकस्मात् यदि कोई बाहर से काँच के द्वारा सूर्य का चमचमाता हुआ, जगमगाता हुआ प्रकाश दिखा दे, तो देखने के साथ ही यह प्रश्न होता है कि 'यह कहाँ से आ गया!' क्या कहाँ से आ गया? प्रकाश कहाँ से आ गया। प्रकाश तो पहले ही वहाँ मौजूद है, अभी भी हमको यहाँ बैठे हुए दीख रहा है तो सूर्य के प्रकाश में ही दीख रहा है। सूर्य का प्रकाश तो दीख ही रहा है। परन्तु अकस्मात् *चमचमाता* हुआ प्रकाश आ जाता है तो कहा जाता है - यह प्रकाश आ गया। इसी प्रकार से प्रत्यगात्मा ज्ञानस्वरूप हमेशा सब जगह सर्वत्र मौजूद है। उस ज्ञान के प्रकाश में ही तो हमें घट,पट आदि सब चीज़ों का ज्ञान हो रहा है। परन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्ति के द्वारा जो तेज़ प्रकाश आता है, है वह ज्ञान ही, लेकिन उसमें ब्रह्मरूपता स्फुट होती है। अतः 'स्मृतिलम्भे' कह कर बताया कि ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा यह 'प्राप्त होना' कहा जाता है। है तो पहले से ही प्राप्त। इसकी प्राप्ति होते ही 'सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' हृदय में जितने संशय विपर्यय होते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। जिस अर्थ में छांदोग्य में स्मृति शब्द का प्रयोग है उसी अर्थ में यहाँ पर भी स्मृति शब्द का प्रयोग किया।

एक और विशेष कारण भी है : आत्मा और अनात्मा में अन्योन्याध्यास है। वह अन्योन्याध्यास निवृत्त हुआ इसलिये तो स्मृति है ही। परन्तु पहले अज्ञान के कारण होने वाला जो दूसरा अज्ञान धर्म में अधर्मबुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि होना कि मैं नहीं लड़ूँगा, यह आ गया था। अर्जुन युद्ध करने के लिये आया था और निश्चय था कि यह धर्म युद्ध है। जिस समय महाभारत युद्ध के स्थल की तैयारी हो गई थी तो धृतराष्ट्र ने अपना एक दूत भेजा था। उसने आकर युधिष्ठिर को उपदेश दिया था कि धृतराष्ट्र कहता है कि 'मेरे बच्चे तो बिलकुल नालायक हैं, बड़े दुष्ट हैं, किसी काम के नहीं हैं। तू बड़ा ही योग्य और धर्मात्मा है। हमारे कुरुकुल में तू ही धर्म का प्रदीप है। तू जानता है कि कुल को नष्ट करने

से बचाना पहला धर्म है। तू जिस युद्ध में प्रवृत्त हो रहा है उसमें अपने कुल का नाश होगा। अतः तू समझदार है, तू ही मान ले।' जैसे पिता का यदि छोटे बच्चे पर ज़्यादा प्रेम हो और वह दुष्ट व्यवहार भी करता है तो भी पिता बड़े को ही कहता है कि 'वह तो गधा है लेकिन तू समझदारी से काम कर,' ठीक इसी प्रकार धृतराष्ट्र ने दूत भेजकर युधिष्ठिर को ही समझाया। गीता के प्रथम अध्याय के अन्दर अनेक शब्द और अर्थ ऐसे हैं जो उस दूत ने कहे थे। धर्मराज युधिष्ठिर ने सुन लिया, वे तो जानते थे कि क्या धर्म है और क्या अधर्म है। इसलिये उन्होंने दूत से कहा कि 'उनसे कहो कि मैंने तो सारा प्रयत्न कर देख लिया, खुद कृष्ण को दूत बनाकर भेजा। इसलिये अब यह युद्ध नहीं टल सकता।' उस समय अर्जुन भी उपस्थित था, उसने भी कहा 'बिलकुल ठीक है, ये सब फालतू की बातें हैं।' परन्तु उसके संस्कार तो अर्जुन के मन में रह गये। युद्ध भूमि में उस नज़ारे को साक्षात् देखकर अर्थात् भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि सबको सामने खड़ा देखकर, उसके मन में मोह हो गया। कई बार ऐसा होता है कि वास्तविक परिस्थिति सामने आने पर आदमी को संस्कारों के कारण भ्रम हो जाता है। युद्ध के मैदान में आने तक तो अर्जुन को निश्चय था कि 'हम धर्म युद्ध करने जा रहे हैं और युद्ध करना ही है', परन्तु वहाँ जब संस्कार रूप से सारी बातें याद आ गयीं तो सोचने लगा कि 'हम सचमुच में अधर्म करने जा रहे हैं'। गीता सुनकर आत्मा-अनात्मा के विवेक के द्वारा स्मृति की प्राप्ति हुई वह तो है ही, परन्तु साथ में जो धर्म में अधर्म-बुद्धि और अधर्म में धर्म-बुद्धि हो गई थी, वह भी अब निवृत्त हो गई। इसलिये भी कहा 'स्मृतिर्लब्धा'।

'त्वत्प्रसादात्' अर्जुन स्पष्ट करता है कि मैंने तो कोई साधना की नहीं। मैंने केवल आपसे प्रश्न पूछा था। आपने ही कृपा करके मुझे ऐसा जवाब दिया जिससे मुझे जो आत्मा-अनात्मा विषयक भ्रम था वह निवृत्त हो गया। 'त्वत्प्रसादान्मया स्मृतिर्लब्धा' केवल आपके प्रसाद से ही अर्थात् आपने प्रसन्न होकर मुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया इसलिए मुझे इसकी प्राप्ति हुई। इसके द्वारा गुरुरूप भगवान् से वह कह रहा है कि केवल गुरु की कृपा से ही ज्ञान हो जाता है। प्रसाद तो भगवान् का अर्जुन पर था ही। अर्जुन के सखारूप में भगवान् हमेशा उस पर प्रसन्न ही रहते थे। परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये जिस वैराग्य की आवश्यकता है वह जब तक नहीं हुआ तब तक ज्ञान भी नहीं हो पाया। अतः गुरु के पास रहने पर भी जब तक वैराग्य नहीं हो जाता तब तक आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं ही होती है। इसलिये अर्जुन का भाव है कि - आपका विशेष प्रसाद इसलिये है कि मेरे में वैराग्य दृढ देखकर आपने मुझे तत्त्व का उपदेश दिया क्योंकि इसके बिना आत्मा-अनात्मा विषयक संदेह दूर नहीं हो सकते थे। वैराग्य के कारण ही आपकी यह प्रसन्नता हुई। पहले भी आपने हम लोगों को अनेक दुःखों से उबारा है। आपने पहले कभी आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं दिया। वैराग्य से होने वाली जो परमात्मा की प्रसन्नता है, वह विलक्षण प्रसन्नता है।

इस प्रकार अपना अनुभव कहकर और गुरु के प्रति अपनी पूर्ण शरणता को कहकर

घोषणा करता है 'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः' 'युद्ध करना चाहिये या नहीं करना चाहिये' यह जो मेरा संदेह था, इस संदेह का मूल यह अभिमान था कि मैं युद्ध कर सकता हूँ या नहीं कर सकता हूँ। भगवान् के उपदेश को सुनकर यह पता लगा कि न मैं कर सकता हूँ, न मैं नहीं कर सकता हूँ क्योंकि कर्त्तृत्व तो मुझमें है ही नहीं। अतः 'करूँ या न करूँ' यह जो संदेह था वह सर्वथा निवृत्त हो गया। इस प्रकार मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ - इस निश्चय में गतसंदेह स्थित हो गया अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त कर गया। जो प्रकृति का कार्य शरीर, इन्द्रियाँ आदि हैं वे अब *मेरे* नहीं हैं। वे तो सारे पांचभौतिक के मालिक होने के कारण आपके हैं, अतः 'करिष्ये वचनं तव', देहादिसंघात अपने आप आपके निर्देशों का पालन करेंगे। जो आपने कहा था 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' वह प्रकृति ही प्रवृत्त करेगी, मैं तो अपने अकर्त्ताभाव में स्थित हूँ। यह सारा युद्ध होने पर भी 'मैं युद्ध कर रहा हूँ' यह भावना नहीं आनी है।

इस प्रकार मोह के नष्ट होने के प्रश्नोत्तर से यह बता दिया कि सारे शास्त्र का तात्पर्य ज्ञान का फल अपने अकर्त्तृत्व भाव में स्थित हो जाना ही है। जब तक दृश्य की प्रतीति हो, तब तक 'ये सब परमेश्वर के संकल्प के कारण प्रतीतियाँ चल रही हैं' यह निश्चय रखना है। शरीर, मन आदि को क्रिया करते देखकर कर्त्तृत्व भाव का उदय न होने देकर अच्युत भाव से रहना चाहिये। मुझ से भिन्न कोई ईश्वर है जो इन्हें चला रहा है - ऐसा नहीं समझना चाहिये। माया की उपाधि के द्वारा मुझ ब्रह्म ने ही जो संकल्प किया उस संकल्प के फलस्वरूप जब तक प्रारब्ध है तब तक इसकी प्रतीति भी हो रही है। वस्तुतः यह है नहीं। यही सारे ज्ञान का फल है - ब्रह्मविषयक अज्ञान हट जाये और इसमें कोई संशय-विपर्यय न रह जाये। इसीलिये छांदोग्यश्रुति में भी नारद यही कहते हैं 'सोहं भगवः शोचामि' 'मैंने वेद आदि सब शास्त्र पढ़लिये परन्तु फिर भी मेरा यह शोक गया नहीं। मैं इस बात को जानता हूँ कि आत्मज्ञान शोक का नाशक है। इसलिये मैंने चाहे जितने शास्त्र पढ़ लिये लेकिन मेरा शोक गया नहीं तो निश्चय है कि आत्मज्ञान नहीं हुआ क्योंकि यदि आत्मज्ञान हुआ होता तो शोक का अनुभव नहीं होता।' वेदान्त शास्त्र दृष्ट-फलक है अर्थात् इसका फल प्रायः यहीं हो जाता है। धर्म आदि की तरह इसका फल बाद में ही नहीं होता। ठीक जिस प्रकार से वेद कहता है कि धान में से चावल निकालो। धान में से चावल निकला या नहीं - यह तो आँख से देखकर पता लग जाता है। तब तक तुष अलग करो जब तक चावल तुम्हारे सामने प्रत्यक्षरूप से मौजूद न हो। अतः यह नहीं कह सकते कि 'चार से दस दिन तक कूटो'। इसी प्रकार भगवान् वेद व्यास कहते हैं 'आवृत्तिः असकृद् उपदेशात्'। कब तक आत्मज्ञान का अनुसंधान करें? जब तक यह अनुभवरूप हो जाये, तब तक करो। जब उस एकता के अन्दर स्थित हो जाते हैं तब हृदय की सारी गाँठें खुल जाती हैं अर्थात् नष्ट हो जाती हैं। इसके बाद जो पहले माया-उपाधि से संकल्प किया गया था उसके द्वारा ही देह आदि स्थित रहेंगे।

'करिष्ये वचनं तव' से अर्जुन स्पष्ट करता है कि मेरा कोई भी इष्ट नहीं है। कोई भी

राग या द्वेष नहीं है। दृश्य में सत्यता की बुद्धि भी नहीं है। इसलिये, पहले से ही प्रारब्धने जो निर्णीत कर दिया है, बस वही यह शरीर आदि करता रहेगा। इसके द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि आत्मज्ञान होते ही जीव कृतकृत्य हो जाता है। जो कुछ करना है वह सब कर लिया। उसके बाद उसके करने का कुछ नहीं रहा। अब तो परमेश्वर के अनुसार सब ही कुछ होना है। यही वह सर्वकर्मसंन्यास है जिसको ज्ञान के फलरूप से भगवान् भाष्यकार बार-बार सर्वकर्मसंन्यास या विद्वत्- संन्यास कहते हैं। इस संन्यास के लिये किसी प्रकार की विधि प्रवृत्त नहीं होती। अकर्तृत्वात्मबोध के लिये कर्ममात्र की समाप्ति स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसके द्वारा वह भी संकेत है जो भगवान् ने कहा था कि 'बाकी सारे कर्त्तव्यों को छोड़कर एकमात्र उस परमात्मभाव की ही शरण में रहो, उसी को अपना आश्रय बनाओ'। इस प्रकार से शिष्य की स्थिति बताकर सर्वकर्मसंन्यास में परिसमापन कर दिया।।७३।।

अब कथा का संबंध बताना ही बाकी रह गया। गीता के प्रारंभ में धृतराष्ट्र का प्रश्न था कि 'युद्ध की इच्छा से मेरे पुत्र और पाण्डव दोनों एकत्रित हुए तो युद्ध किया या नहीं किया?' धृतराष्ट्र का यह प्रश्न संजय से था। संजय ने युद्धारंभ के वर्णन में सारी गीता सुनाई। वस्तुतः महाभारत के अंदर सर्वाधिक महत्त्व का प्रंसग यह गीता ही है। इसलिये कहा जाता है कि महाभारत के अन्दर हृदयरूप से इसकी स्थिति है। जैसे हृदय हमारे सरे अंगों को चलाने वाला है, हृदय की रक्षा के लिये सारे प्रयत्न किये जाते हैं, उसी प्रकार से गीता के लिये ही सारा महाभारत इतना महान् माना जाता है। इस कथा- प्रसंग को ख़त्म करते हैं–

संजय उवाच
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

संजय ने कहा 'वासुदेव और महात्मा पार्थ के इस अद्भुत व रोमांचक संवाद को मैंने सुना।

'वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः' माया शक्ति के अधिष्ठाता भगवान् वासुदेव हैं जिनके अन्दर सारे देवता बैठे हैं। सारे देवता एकमात्र ब्रह्म में ही अध्यस्त हैं। इसलिये ऋग्वेद भाष्य-भूमिका में आचार्य सायण कहते हैं 'इन्द्र वरुण आदि अनेकों नाम देखकर लगता है कि देवता अलग-अलग हैं लेकिन इन शब्दों से एकमात्र परमेश्वर को ही कहा जा रहा है।' जिस प्रकार से एक ही आदमी ऑफिस में 'बड़े बाबू', घर आता है तो पत्नी के द्वारा 'मुन्ने के बाबूजी', माता के द्वारा 'बबुआ' कहा जाता है, लेकिन व्यक्ति तो एक ही है, इसी प्रकार से बल इत्यादियों का अधिष्ठाता परमेश्वर इन्द्र नाम से कह दिया गया, सारी दृष्टियों के अभिमानीरूप से उसे आदित्य कहा गया, इस प्रकार से एकमात्र परमेश्वर ही इन सब शब्दों के द्वारा कहा जा रहा है। उसी को सब आहुति देते हैं। इस प्रकार मायाधीश सर्वव्यापक जो

परमेश्वर है, साक्षात् उन्होंने ही इस गीता को कहा। और 'महात्मनः पार्थस्य च' अर्जुन भी महात्मा है क्योंकि वैराग्य की दृढता के द्वारा इसने अपने अक्षुद्र भाव को प्राप्त कर लिया है। वासुदेव और पार्थ दोनों ही महात्मा हैं। अर्जुन तब तक था जब तक उसने अपने को अहंकार के साथ एक समझ था। जब उसने अपने को उससे अलग केवल अधिष्ठानमात्र समझ लिया तब वह महात्मा है। संजय कहता है कि इन दोनों का अद्भुत और रोमहर्ष पैदा करने वाला संवाद मैंने सुना। वही संवाद आप को (धृतराष्ट्र को) सुना दिया। वह संवाद कैसा है? अद्भुत है। अद्भुत उसे कहते हैं जिसे देखकर विस्मय होता है। जो चीज़ और कहीं देखी नहीं जाती उसे देख लें तब विस्मय होता है। ठीक जिस प्रकार से कोई आदमी एक छोटे से प्याले में से एक बड़ा भारी बन्दर निकाल कर दिखा दे तो विस्मय होता है। क्योंकि ऐसा सब समय देखा नहीं जाता।

एक बार कहीं सर्कस हो रहा था। एक महात्मा भी देखने गया। वहाँ एक जगह बोर्ड पर लिखा था कि 'यहाँ सूअर की बोली बोली जाती है,' टिकट था पाँच रुपये का। भीड़ इकट्ठी हो गई तो एक आदमी आया और सूअर की आवाज़ निकालने लगा। लोगों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की कि 'बहुत अच्छा खेल है।' महात्मा ने सोचा - इसमें तो बहुत पैसे इकट्ठे हो जाते हैं। महात्मा ने भी वहीं थोड़ी दूर पर बोर्ड लगाकर लिख दिया 'यहाँ सूअर की बोली बोली जाती है। टिकट केवल दो पैसे।' वहाँ भी लोग खूब इकट्ठे हो गये। महात्मा ने एक सूअर को लाकर डण्डा मारा और वह ज़ोर-ज़ोर से बोलने लगा। सब लोग कहने लगे - 'यह धोखा है, यह कोई खेल नहीं है'! महात्मा ने कहा 'यह दुनिया कैसी है! मैंने असली सूअर की बोली सुनाई तो कोई कीमत नहीं और वे नकली सुनाते हैं तो उसके लिये पाँच रुपये देने को तैयार हैं!' सूअर तो रोज़ बोली बोलता है अतः उसमें कोई विस्मय नहीं, आदमी वैसा बोले तो बड़ा आश्चर्य होता है।

यह गीतारूप संवाद अद्भुत है, विस्मय करने वाला है। इसमें दोनों विस्मय वाली बातें हैं - उपदेश करने वाला गुरु भी विस्मयकारी है क्योंकि गुरु वह है जो जानता है कि यह संसार है नहीं! 'संसार है' यह मानकर तो सब उपदेश देते हैं। शिष्य अज्ञानी है, यह मानकर तो सब उपदेश देते हैं। परन्तु 'संसार है ही नहीं और शिष्य ज्ञानस्वरूप है' यह जानकर ही ब्रह्मनिष्ठ उपदेश देता है। यह देखकर विस्मय होता है। और दूसरा कारण है कि बाकी सब के उपदेश के द्वारा कुछ जानकर कुछ किया जाता है जबकि इस उपदेश के बाद करना हट जाता है। यह भी बड़ा भारी विस्मय है। इसलिये जब आत्मज्ञान का विचार किया जाता है तो कई बार पंजाबी लोग पूछते हैं कि 'आत्मज्ञान की बात तो समझ में आ गई लेकिन हम करें क्या?' हमें समझ में आ जाता है कि इन्होंने कुछ नहीं समझा! अतः वेदान्त सुनने वाला भी एक विस्मय कराने वाली चीज़ है कि सारा सुनकर भी कुछ करता नहीं है। इसलिये अद्भुत है। गुरु व शिष्य दोनों ही अत्यंत विस्मय करने वाले हैं। इसलिये दोनों ही विस्मयकारी चीज़ें हैं।

और यह संवाद रोमहर्ष पैदा करने वाला है। यह संवाद ऐसा है जिसे सुनकर रोयें खड़े हो जाते हैं। हृष धातु के कई अर्थ हैं। एक अर्थ तो प्रत्याख्यान है। यदि कोई एक-दो चीज़ों को नष्ट करे या नकार दे तो भी बड़ी बात होती है। अनादि काल से चला आया और अनंतकाल तक रहने वाला ऐसा प्रतीत होते संसार का वह प्रत्यख्यान कर देता है इसलिये इस अद्‌भुत संवाद को सुनते ही रोमांचन हो जाता है। हृष् धतु का अर्थ प्रसन्नता है ही। भय से भी रोमहर्ष होता है और अत्यंत विस्मय से रोमहर्ष होता है। यहाँ पर विस्मय को तो संजय ने 'अद्‌भुत' शब्द से कह दिया है। इसके द्वारा संजय संकेत करता है कि उसने भी इस निष्ठा को प्राप्त कर लिया इसलिये उसे परम आनन्द के साथ रोमांच हो रहा है। यह संवाद कोई *श्रवण* करे और परमात्म-प्राप्ति न हो यह हो, नहीं सकता! अर्जुन को उपदेश दिया, उसे तो हुआ ही, परन्तु संजय कहता है कि 'मैंने सुना इसलिये मुझे भी तत्त्वनिष्ठा की प्राप्ति हो गई।'

भगवान् कृष्ण और अर्जुन दोनों ने प्रश्नोत्तर के रूप में संवाद किया। जब किसी चीज़ की वास्तविकता को जानने के लिये आपसे में बातचीत की जाती तो उसे वाद कहते हैं। जब किसी सत्य को समझाने के लिये बात की जाती है तब तो वह वाद कहा जाता है। यदि दूसरे की बात को काटने के लिये और अपनी बात को सिद्ध करने के लिये किया है तब उसे जल्प कहते हैं। जल्प में दूसरे की बात को काटना है और अपनी बात को सिद्ध करना है। जहाँ केवल दूसरे की बात के खण्डन के लिये बोला जाए वह वितण्डा कहा जाता है। संजय ने इसे संवाद कहा अर्थात् उन्होने भली प्रकार से भगवान् से तत्त्व का निर्णय समझा।।७४।।

संजय बताते हैं कि कृष्ण और अर्जुन की बात को उन्होंने कैसे सुन लिया –

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् एतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयं।।७५।।

स्वंय बोलते हुए साक्षात् योगेश्वर श्री कृष्ण से मैंने यह परम गुह्य योग व्यास जी की कृपा से सुना।

यद्यपि युद्ध के बीच में यह उपदेश दिया गया परन्तु जिस ढंग से उपदेश दिया गया था वह वहाँ किसी दूसरे ने नहीं सुना। इसका कारण चाहे अन्य लोगों का अन्य-अन्य कार्यों में व्यस्त होना था अथवा भगवान् ने इसे इतने ही ज़ोर से कहा कि अर्जुन ही सुन सके। भीड़ में भी यह सम्भव है कि मंदस्वर में बात करें ताकि एक ही सुने, दूसरे न सुनें। यह गुह्य ज्ञान है, गुहा में स्थित आत्मतत्त्व का ज्ञान है। सच्चिदानन्दरूप जो परब्रह्म परमात्मा है वह हृदयरूपी गुहा में स्थित है। अतः बहिर्मुख वृत्ति वाला इसको सुनकर भी ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। शब्दमात्र से इस तत्त्व को समझाया नहीं जा सकता। यह तो तभी समझा जा सकता है जब इसे अपनी हृदय गुहा के अन्दर भली प्रकार से अनुभव के साथ मिलाकर सुना जाये और भली प्रकार से अनुभव के साथ मिलाकर सुनाया जाये। और गुह्यों में भी

यह ऐसा गुह्य है कि इसे परम गुह्य कहा। सारी श्रुति गुह्य तत्त्व का ज्ञान है, इससे गुह्य और कोई चीज़ नहीं है। यह जो परम गुह्य ज्ञान है, इसको मैंने सुना। और भगवान् का विश्वरूप देखा। संजय को कहा था कि 'युद्ध में जो कुछ भी गुप्त से गुप्त घटना होगी वह सब तुमको ज्ञात होगी।' अतः इसने भगवान् को केवल बोलते नहीं सुना, भगवान् ने जब ध्यान करने के लिये अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाया तब उस विश्वरूप का दर्शन संजय ने भी किया था। इसलिये श्रुतवान् का यह मतलब है कि उसने सुना भी और देखा भी। 'श्रुतवान्' अर्थात् ऐसा श्रवण किया कि जिससे उसे तत्त्व का निर्णय हो गया।

यह उपदेश क्या है? योग है अर्थात् आत्मज्ञान को अपरोक्ष साक्षात्कार के उपाय सहित यहाँ बताया गया है। इसको सुनना और समझना ही उस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का सबसे बड़ा योग या उपाय है। श्रवण ही तत्त्वज्ञान का उपाय है। मैंने सुना, इसलिये मैं अनुभव के साथ कह सकता हूँ कि यह सुनना तत्त्वज्ञान देता है। किससे सुना? 'योगेश्वरात् कृष्णात्' जो योगों के ईश्वर हैं अर्थात् सारी साधनाओं को भली प्रकार से अनुभूत करने वाले जो ईश्वर हैं, उनसे सुना। सब कर्मों का फल परमेश्वर देता है। सभी साधनायें क्रियारूप होने से कर्म हैं। इसलिये साधनाओं का फल देने वाले परमेश्वर ही हैं। 'योगेश्वर' होने से योग का फल देने वाले वे ही हैं। इसलिये भगवान् ने कहा भी है 'ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते' कि यह जो ज्ञान, जो ब्रह्माकार वृत्तिरूप बुद्धि है, यह मैं ही देता हूँ। संजय कहता है कि उनके कहे हुए को ही मैंने सुना अर्थात् और किसी के माध्यम से नहीं सुना। जैसा अर्जुन ने योगेश्वर कृष्ण से सुना, वैसा ही मैंने भी सुना।

कृष्ण नाम लेकर यह संकेत भी कर रहा है कि ज्ञानावतार भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास और भगवान् कष्ण दोनों एक ही हैं। इसलिये व्यास का प्रसाद भी इसीलिये है कि भगवान् कृष्ण का मेरे ऊपर अनुग्रह है। अतः योगेश्वर जो कृष्ण हैं उन्हीं के कारण मुझे व्यास जी ने कृपा करके विश्वरूप देखने की शक्ति दी। अर्जुन को भी स्वचक्षु से विश्वरूप नहीं दिखाई दिया था, भगवान् की दिव्यचक्षु से ही दीखा था! छान्दोग्य में मन को दिव्य चक्षु कहा और अनेक जगह उपनिषदों में बताया है कि मन के द्वारा ही परमात्मा को जाना जाता है। जो कुछ यह संसार प्रतीत हो रहा है, यह प्रतीत होने पर भी है नहीं। 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन'। मन ही वह दिव्य चक्षु है जिससे भगवान् के दिव्य विश्वरूप का दर्शन होता है। परन्तु वह मन शास्त्र के संस्कारों से युक्त होना चाहिये और संशय विपर्यय से रहित होना चाहिये क्योंकि यह आत्मतत्त्व अत्यंत सूक्ष्म है। 'एषोणुरात्मा' यह आत्मा अत्यंत सूक्ष्म है अतः शुद्ध चित्त के द्वारा ही इसका ग्रहण किया जा सकता है, इसको जाना जा सकता है। संजय का कहना है कि भगवान् चूँकि अनुग्रह करके मुझे इस गुह्य ज्ञान को देना चाहते थे अतः उन्होंने व्यासरूप से मेरे ऊपर कृपा की।

कृष्ण कैसे हैं? 'साक्षात्' वे साक्षात् अपरोक्ष, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं। उन्होंने स्वयं इसे कहा। जितने परोक्ष विषय हैं उनको जानने के लिये तो किसी माध्यम की ज़रूरत

है। रूप देखने के लिये आँख, रस लेने के लिये जीभ, शब्द-ज्ञान के लिये कान चाहिये, इंद्रियों के माध्यम से हम देखते, चखते, सुनते हैं। इसी प्रकार अनुमान आदि प्रमाणों से जानने के लिये मन चाहिये। मन के बिना अनुमेय वस्तुओं को नहीं जान सकते। परन्तु अपने आपको जानने के लिये किसी उपाय की ज़रूरत नहीं है। जब हमको गहरी नींद आती है तो मन, बुद्धि कुछ नहीं रहते, परन्तु उठकर हम कहते हैं 'मैं बड़े सुख से सोया'। वहाँ सुख से सोने का पता न हमको मन से, न इन्द्रियों से लगा। अतः वह साक्षात् है। बिना किसी माध्यम के जानते हैं। आत्मा अपने आपको जानने के लिये किसी माध्यम की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये श्रुति उसे 'यत्साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' कहती है। ऐसे जो साक्षात् कृष्ण हैं, उन्होंने स्वयं कहा। कृष्ण शब्द का अर्थ क्या है? जीव और ईश्वर की एकता जहाँ प्रकट है वही कृष्ण है। अतः तात्पर्य है कि साक्षात् ब्रह्मरूप से ही उन्होंने उपदेश दिया। ऐसे श्री कृष्ण ने स्वयं उपदेश दिया। सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने ब्रह्मा को वेद का उपदेश दिया। ब्रह्मा ने ऋषियों को ज्ञान दिया, ऋषियों ने आगे अधिकारियों को ज्ञान दिया। इस प्रकार से परमात्मा से हम वेद के तात्पर्य को समझते हैं। ब्रह्माजी ने परमेश्वर से ही जाना, हम लोग परम्परा से ही वेदको जानते हैं। वही परब्रह्म परमात्मा कृष्णरूप से स्थित होकर जब इसका उपदेश देते हैं तो यह परम्परा वाला उपदेश नहीं कहा जाता है, ये तो वही हैं जिन्होंने सबसे पहले ब्रह्मा को उपदेश दिया; उन्हीं ने अर्जुन को उपदेश दिया। भगवान् वेदव्यास ने महाभारत की रचना सारे वेदों के तात्पर्य को बताने के लिये की। इसलिये महाभारत के अंत में वेदों का प्रवर्तन करने वाले व्यास जी ही लिखते हैं कि जो यहाँ (महाभारत में) है वह तो कहीं हो सकता है परन्तु जो महाभारत में नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है! इस प्रकार महाभारत में भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने सारे वेद का रहस्य बता दिया है। जैसे वेदों के अन्दर उपनिषद् उसके तात्पर्य को बताने वाली हैं उसी प्रकार महाभारत का तात्पर्य बताने वाली गीता ही है। उपनिषद् की तरह इसमें साक्षात् ब्रह्म का वर्णन हुआ। गीता की पुष्पिका में भी इसे बार-बार उपनिषद् ही कहा जाता है। इसलिये संजय कहते हैं कि जैसे स्वयं भगवान् साक्षात् नारायण से ब्रह्मा ने सुना वैसे ही मैंने भी सुना। इसके द्वारा अपने अहोभाग्य को बताते हैं।।७५।।

श्रवण करके बहुत से लोग भूल जाते हैं पर संजय कहते हैं कि मैं इस प्रकार से भूला नहीं हूँ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

राजन्! केशव व अर्जुन के इस पवित्र अद्भुत संवाद को बार-बार याद कर-करके मैं बार-बार आनन्दमग्न हो रहा हूँ।

हे राजन्! यह जो अद्भुत संवाद है, इसके अन्दर भगवान् ने जो विश्वरूप दिखाया है

इसके द्वारा उन्होंने इस संसार को सर्वथा मिथ्या सिद्ध कर दिया। संसार के अन्दर सब चीज़ों में देश-परिच्छेद है। जो चीज़ एक देश में है वह दूसरे देश में नहीं है। जैसे हम आबू में बैठे हुए हैं तो दिल्ली में बैठे हुए नहीं हैं। सारी चीज़ें देश-परिच्छेद वाली होती हैं। अर्जुन ने जब विश्वरूप का दर्शन किया तब वह देश-परिच्छेद प्रतिबद्ध था। वह अपना अनुभव कहता है 'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्'। कहाँ ब्रह्मलोक, कहाँ वैकुण्ठ लोक और कहाँ कैलास लोक, पुराणों में सभी को दूर-दूर देश में बताया है। वे सब भगवान् कृष्ण के शरीर में ही दीख गये! अतः देशपरिच्छेद से रहित वह परमात्म तत्त्व है यह सिद्ध हो गया। दूसरा, संसार के अन्दर काल परिच्छेद है। कल १३ तारीख थी, आज १४ तारीख है, आज १३ तारीख नहीं है, कल १४ तारीख नहीं थी। एक काल में जो चीज़ होती है वह दूसरे काल में नहीं होती। विश्वरूप में अर्जुन ने देखा 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति' भीष्म द्रोण इत्यादि भगवान् के मुख में घुस रहे हैं। इस प्रकार से जो भीष्म इत्यादि उस समय जीवित थे वे ही वहाँ मरे हुए दीख रहे थे! अर्थात् एक-साथ ही भविष्य और वर्त्तमान को उस विश्वरूप में अर्जुन और संजय दोनों ने देखा। ऐसा पदार्थों का देशकाल-परिच्छेद न रहे, यह केवल मिथ्या में ही सम्भव है। यह बात न आरम्भवाद में और न परिणामवाद में समझ में आ सकती है। अतः कहा गया है कि जो बीत गया और जो अभी आया नहीं वह सब तत्त्वधी से हाथ में रखे हुए बिल्व की तरह दीख जाता है। सारी अवस्थायें एक साथ ही माया से सम्भव हो जाती हैं। विवर्तवाद का साक्षात् अनुभव विश्वरूपदर्शन में भगवान् ने अर्जुन को करा दिया। आरम्भवाद में यह संगत नहीं हो सकता है। घड़ा जब होगा, तभी होगा। यह नहीं कह सकते कि इसी समय में घड़ा है और फिर घड़ा होगा भी! इसी प्रकार से परिणाम में भी यह नहीं कह सकते कि इसी समय में यह मिट्टी कुल्हड़ और घड़ा दोनों रूपों से विद्यमान है। एक रूप आयेगा तो दूसरा रूप जायेगा। इस प्रकार परिणामवाद और आरम्भवाद, दोनों में यह नहीं बन सकता। यदि यह माया न हो तो विश्वरूप का दर्शन संभव नहीं और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का दर्शन भी सम्भव नहीं। इसलिये वसिष्ठ जी कहते हैं कि जिस प्रकार से एक पत्थर के ऊपर सारी रामलीला खोद दो तो जैसे वहाँ एक जगह में सीता-हरण हो रहा है वैसे ही दूसरी जगह रावण का दहन हो रहा है! ऐसा तभी बन सकता है जब यह माया हो। अतीत काल की चीज़ और आगे आने वाली चीज़ दोनों का युगपत् होना तो देश कालादि का अतिक्रमण है। भूत, भविष्य, वर्त्तमान सब इकट्ठे रहें, दिल्ली, बम्बई आदि देश इकट्ठे रहें, आरम्भवादी और परिणामवादी इसका कोई दृष्टांत नहीं दे सकते।

वेदांत के दृष्टांत स्वप्न में ही यह सम्भव है। यहीं पर सोते हुए हरद्वार के ब्रह्मकुण्ड में गोता लगा सकते हैं। जो पिताजी मर गये वे अभी दिखाई देते हुए बात कर सकते हैं। जो पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, वह पुत्र दिखाई दे सकता है कि ऐसा बेटा पैदा होगा। इसी प्रकार ऐन्द्रजालिक माया के द्वारा अतीत अनागत सब दिखा देता है। नाखून के ऊपर केला, हज़ारा

सब दिखा देता है। कोई चीज़ खोई है, तो कहाँ है यह भी दिखा देता है। जैसे स्वप्नसृष्टि या माया की सृष्टि कल्पना ही है, वैसे ही संकल्पमात्र से ही यह सृष्टि है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि परमात्मा संकल्प से ही सब कुछ कर देता है। इसलिये यह प्रकृति का खेल नहीं है, यह तो जिस प्रकार से ऐन्द्रजालिक हम लोगों को दिखाता है वैसे ही ईश्वर हमको दिखा रहा है। जैसे जब ऐन्द्रजालिक दिखाता है तब हमारी आँखें 'बाँध' देता है, या निद्रा रहे तभी तक स्वप्न दीखता है, इसी प्रकार सारा जगद्रूप इन्द्रजाल उनके लिये है जिनकी आँखें बँधी हैं । जो परमात्मज्ञान वाले नहीं हैं उनके लिये ही यह सारा विश्व है। सब प्रकार से संशय-विपर्यय से रहित जो शुद्ध अधिष्ठान की दृष्टि वाले हैं, जिन्होंने तत्त्वमस्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति बना ली है, उनके लिये यह द्वैत माया नहीं है, न माया का कार्य है। अधिष्ठान ही एकमात्र इन सब रूपों से प्रतीत हो रहा है, उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसलिये संजय कहता है कि इस प्रकार अद्भुत प्रकार से सारी सृष्टि को मिथ्या बताने वाले इस अद्भुत संवाद को मैं बार-बार स्मरण कर रहा हूँ। वेदव्यास भी कहते हैं कि अनादिकाल के संशय-विपर्ययों को हटाने के लिये जब-जब वे उठें तब-तब आवृत्ति करो, इस विश्वरूप ऐन्द्रजालिकता का स्मरण करके उन्हें काटते रहो। जब संशयादि प्रतीत न हो तब कुछ भी करने की ज़रूरत नहीं है। ठीक जिस प्रकार से सिर में दर्द हो तो एस्प्रो की गोली खा लो। एस्प्रो खाते रहो - यह नियम नहीं है। डाक्टर लिखता है 'यथावश्यक' अर्थात् जब ज़रूरत हो तब ले लो। इसी प्रकार जब-जब जगत्-प्रतीति होने लगे वैसे ही ऐन्द्रजालिकता की गोली खा लो। यदि कहीं तब पराग्-दर्शियों का काम किया, 'इसको ऐसे ठीक कर लूँगा' तो बस, फिर गोरख धंधों में पड़ जाओगे! जैसे गोरख धंधा एक बार हिल गया तो उलझता ही जायेगा, सुलझेगा नहीं, इसी प्रकार एक बार क्षणमात्र को भी यदि सोच लिया कि 'इसे ऐसा करूँगा तो ठीक हो जायेगा', तो फिर पता नहीं कितने जन्मों तक ठीक करते ही रहोगे। अतः जैसे ही इसकी प्रतीति हो, तुरंत इसे इन्द्रजाल समझ लो योगवासिष्ठ के अन्दर भृगुमहर्षि की कथा आती है। वे ध्यान में छोटी-सी चीज़ को सोचने लगे तो एक के बाद एक कई जन्म होते चले गये। इसलिये केवल संस्मृत्य न कहकर बार-बार स्मरण कहा अर्थात् अधिष्ठान से अतिरिक्त किसी भी चीज़ की प्रतीति हो तो उसे तुरन्त अधिष्ठान में बदल दो कि 'जो दीखता है वह सद्रूप चिद्रूप ही है।' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इस प्रकार बार-बार आवृत्ति करके इसको दृढ कर लेना चाहिये।

'केशवार्जुनयोः पुण्यं'; केशव शब्द का प्रयोग पहले भी किया था जिसमें 'क' ब्रह्मा का 'ईश' शंकर का और व विष्णु का नाम है। ब्रह्मा अर्थात् परमेश्वर की सृष्टि करने की शक्ति, ईश अर्थात् संहार की शक्ति, 'व' अर्थात् उसे जीवित रखने की शक्ति। सृष्टि, स्थिति, लय शक्ति वाला परमेश्वर केशव है। और अर्जुन अर्थात् श्वेत शुद्ध अंतःकरण वाला। तत् पदार्थ मायाविशिष्ट चेतन सृष्टि स्थिति लय करने वाला, और त्वम्पदार्थ, दोनों को अखण्डबोध से एक कर देना है। यही पुण्य है इससे बड़ा और कोई पुण्य नहीं कि जो अनन्त काल से

आये हुए सारे कर्म बन्धनों को नष्ट कर देता है। शुद्ध अंतःकरण और तत् पदार्थ, इन दोनों का ही यह संवाद है। इसी का तत्त्व-निर्णय है। इसके द्वारा यह भी बता दिया कि साधारण व्यक्ति अगर इस संवाद को बार-बार स्मरण करता है तो वह पुण्य प्राप्त होता है जो पुण्य उसे अंततोगत्वा परमात्मगति को देने में समर्थ कर देता है। इसलिये 'मुहुर्मुहुः' बार-बार मैं हर्षित हो रहा हूँ कि अत्यंत धन्य मैं हूँ 'धन्योऽहं कृतकृत्योऽहम्' ।।७६।।

कैसे हर्षित हो रहा हूँ?

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

राजन्! हरि के उस अतीव अद्‌भुत रूप को याद कर-कर के मुझे महान् विस्मय और बार-बार हर्ष हो रहा है।

'हरेः तद् अद्‌भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य' परमेश्वर हरि का जो अद्‌भुत रूप विश्वरूप था उसका मैं बार-बार स्मरण कर रहा हूँ। इस प्रकार यही कह रहे हैं कि बार-बार संसार की मायिकता का पुनरावर्तन करने से ही अधिष्ठान में स्थिर रह सकते हैं। परमेश्वर से अतिरिक्त इसे कुछ विशिष्ट मान लिया तो बंधन फिर वैसा का वैसा हो जाता है। इसलिये संजय ने कहा कि विश्वरूप को बार-बार स्मरण करता हूँ कि देश-काल-वस्तु का परिच्छेद केवल इन्द्रजाल मात्र है, और कुछ नहीं है। हे राजन्! उसको देख कर मुझे अत्यंत विस्मय हुआ। मैं इसे समझ सका, इसका साक्षात्कार कर सका, इसलिये पुनः पुनः हर्षित होता हूँ।।७७।।

अब संजय अपनी अंतिम बात कहते हैं –

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

ॐ तत् सद् इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः

जहाँ योगेश्वर कृष्ण और जहाँ धनुर्धर पार्थ है वहीं श्री, विजय, वैभव और स्थिर नीति (नैतिकता) है यह मेरा निश्चय है।

संजय कहते हैं कि अब तुम इस संवाद को सुनकर समझ लो कि सारे कर्मों का फल देने वाले परब्रह्म परमात्मा कृष्ण जहाँ हैं और जहाँ गाण्डीवधन्वा पार्थ है अर्थात् जहाँ पर सृष्टि स्थिति लय करने वाले अधिष्ठान तत्त्व की स्थिति है और जहाँ प्रणव रूपी धनुष लेकर बाण मारने वाला अर्जुन मौजूद है ,वहीं सारी सफलतायें होती हैं। अधिष्ठान तत्त्व का श्रवण होना चाहिये और प्रणव के द्वारा चित्त को केवल अधिष्ठान साक्षात्कार में बार-बार लगाना

चाहिये। ‘प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते’ इसमें प्रमाद बिलकुल न करे ‘अप्रमत्तेन वेद्धव्यं’ इधर-उधर न देखे। जहाँ अधिष्ठान तत्त्व और एकाग्र बुद्धि है, ॐकार का सहारा है, वहीं सारी श्री और विजय है, भूति आर्थात् हाथी आदि वैभव और ‘ध्रुवा नीतिः’ वही निश्चित रूप से वह नीति है जो बदलती ही नहीं है। नीति शास्त्र की नीति तो वह है जो समय देखकर कभी बदलती रहती है! परन्तु यह *ध्रुवा* नीति है जो कभी बदलती ही नहीं। सबसे बड़ी श्री क्या है? निःश्रेयस ही सबसे बड़ी श्री है। जहाँ ये दोनों चीज़ें होंगी वहीं पर श्री अर्थात् निश्चित श्रेय, मुक्ति होगी। वहीं विजय होगी। जय अर्थात् चीज़ सबसे ऊँची होकर रहे। यह जो तत्त्वज्ञान है यही सबसे उत्कृष्ट है। इससे उत्कृष्ट और कुछ नहीं। इसलिये भगवान् ने कहा ‘राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्’। जहाँ यह है वहीं पर भूति है अर्थात् वहीं सारे वैभव हैं। शम, दम, वैराग्य आदि सारे वैभव इस अधिष्ठान तत्त्व और बुद्धि की एकाग्रता के लिये ही हैं, अतः वे हो जाने पर यह ऐश्वर्य पूरा होता है अर्थात् शम, दम आदि की पूर्णता हो जाती और यही ध्रुव नीति है, कभी न बदलने वाला सिद्धान्त है। संजय बताते हैं कि - ऐसा मेरा निश्चय है।

प्रकारान्तर से यह भी कह दिया कि जहाँ पर सारे उपायों को जानने वाले ईश्वर भगवान् कृष्ण मौजूद हैं और जहाँ उनकी आज्ञा मानने वाला अर्जुन है, उसी पक्ष की विजय होगी। कृष्ण को पता है कि कौन से अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करने से कैसे कोई मरेगा, इसको जैसा वे कहेंगे वैसा अर्जुन करेगा। इससे संजय सावधान करते हैं कि धृतराष्ट्र! जिसके लिये लड़ाई कर रहे हो वह राज्य तुम्हारे हाथ में आने वाला नहीं है। जहाँ ये दोनों हैं वहाँ वह ध्रुव नीति रहती है। इस प्रकार, संजय के वाक्य से ही प्रारम्भ किया था, संजय-वाक्य से ही समापन हुआ।।७८।।

।। अठारहवाँ अध्याय संपूर्ण ।।

श्रीमद्भगवद्गीता पूरी हुई।।